Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

cat bay th

कल्याण

VOL. 4

1930

C. K. Y. LIB.
HARIDWAR

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110346

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110346

110346

॥ ॐ श्रीहरिः ॥

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः
पुस्तक सं० कल्याण
आगत सं० ५ (२-१२)
तिथि० १९-५-२००४
गुरुकुल ग्रन्थालय काँगडी.

वर्ष ५

सं० १९८७। ८८ की

निबन्ध-सूची

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रकाशक—घनश्यामदास

कल्याण-कार्यालय

गोरखपुर।

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

वार्षिक मूल्य ४=)
विदेशोंके लिये ६)

प्रतिसंख्या ।=)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याणके पञ्चम वर्षकी लेख-सूची

क्रम संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ-संख्या
१	अद्भुत रामायणके अनुसार रामायणका तिथिपत्र	श्रीयुत बी० एच० वडेर, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०	३०४
२	अभियोग	श्रीसियारामशरणजी गुप्त	१५१
३	अमर काव्य	स्वर्गीय जष्टिस् टी० वी० शेषगिरि अय्यर	३२८
४	अमूल्य वचन	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	१०८२, ११५४,
५	अव्यक्तोपासनामें क्लेशाधिक्य	श्रीवियोगी हरिजी	६८०
६	अवधूतिनका उपदेश	स्वामीजी श्रीआत्मानन्दजी	११४४
७	अष्टादशश्लोकी गीता	श्रीआनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव, एम० ए०, एल-एल० बी०, प्रो० वाइसचैन्सलर, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी	१०७४
८	अस्तेय और अपरिग्रह	महात्मा गान्धीजी	६८४
९	अस्वाद-व्रत	,,	६००
१०	आदर्श पुरुष श्रीराम	श्री आई० जी० एस० तारापुरवाला, बी० ए०, पी० एच० डी०, बार-एट-ला, प्रिंसपल, M. G. Gama Athornam Institute.	२५३
११	आदर्श राज्य-व्यवस्था	श्री सी० एस० त्रिवेदीजी	५२०
१२	आर्य गुरु-भक्ति		१२४४
१३	आर्यजीवनकी विशेषता	स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी	११२७
१४	ईश्वर दयालु और न्यायकारी है	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	५६४
१५	ईश्वर-प्राप्ति या भक्तियोग	महात्मा गान्धीजी	८३६
१६	ईश-तत्त्व	पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, आचार्य, शास्त्री, बी० ए०	१०४३
१७	उत्कल-रामायण	पं० श्रीलोचनप्रसादजी पाण्डेय	३६६
१८	उदासीसाधु भगवान् श्रीराम	स्वामी श्रीहरिनामदासजी उदासीन, महन्त-श्रीसाधु-बेला	३८८
१९	उपयोगी प्रश्नोत्तर	बहिन जयदेवीजी	१२६६
२०	उपासना	श्रीभैरवसिंहजी राठौर, वैद्य	१२२६
२१	एक पाश्चात्य सज्जनको प्रकाशके दर्शन		६८७
२२	एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तरी	श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी	१००६
२३	करुणाक्रन्दन	आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी	८३८
२४	कल्याण-मार्ग	श्रीमाधुकरी बाबाजी	१३०३, १३५१
२५	केवटका अतुल प्रेम	पं० श्रीरामनारायणजी शुक्ल 'साहित्यरत्न'	४२२
२६	केवटका सर्वाङ्गपूर्ण प्रेम	पं० श्रीराधेश्यामजी द्विवेदी	४२६
२७	कौन बड़ा है ?	स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी चक्रवर्ती	१३८
२८	क्या करूँ ?	श्रीसनकसनन्दनजी शर्मा 'श्रोत्रिय'	१२४१
२९	खादी और परमार्थ	सम्पादक	८४१
३०	खादीकी पवित्रता	श्रीमती कुमारी रमा	१०५१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३१	गङ्गा-गोमती-संवाद	... स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी	८६६
३२	गरीबी बूटी	... स्वामीजी श्रीमाधवानन्दजी	१०५७
३३	गान्धीजीका एक सुन्दर पत्र	... श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी	१०५३
३४	गीता-जयन्ती	... श्रीविनोबाजी भावे	७६७
३५	गीता-जयन्ती या शक्तिका सन्देश	... साधु श्री टी० एल० वास्वानीजी	८४६
३६	गीतामें व्यक्तोपासना	... सम्पादक	७५८
३७	गीधराज जटायुकी अलौकिक भक्ति	... व्यौहार श्रीराजेन्द्रसिंहजी	१०६
३८	गुजरातीमें रामायण	... श्रीयुत प्रह्लाद चन्द्रशेखर दीवानजी	३६८
३९	गुसाईंजी और सीता-वनवास	... व्यौहार श्रीराजेन्द्रसिंहजी	१७६
४०	गोस्वामीजी और महिला-समाज	... पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी	३००
४१	गोस्वामीजीकी निष्काम-भक्ति	... पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र, बी० ए०, बी० एल० ...	१७३
४२	घर और समाज	... स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी	१२२०
४३	चित्र-परिचय	...	५०७, ५९२, ६७२, ७५२, ८३२, ९१२, ९९२, ११५२, १२३२, १३१२, १३९२
४४	चित्रकारसे	... श्रीत्रिभुवनशङ्करजी तिवारी	७८३
४५	जीवात्मा	... श्रीजयदयालजी गोयन्दका	७५४
४६	ठण्डे छींटे	... श्रीवियोगी हरिजी ...	१०५६, ११२५
४७	तत्त्वज्ञान	... पं० श्रीरामावतारजी शास्त्री	८७३
४८	तपस्वी ज़ाफ़र सादिक़का वचनामृत	... श्रीकृष्णगोपालजी माथुर	८७२
४९	तुलसी-रामायण	... श्रीविनोबाजी भावे	५०३
५०	तुलसी-रामायणमें भक्त-श्रेणी	... पं० श्रीजीवनशङ्करजी याज्ञिक एम० ए०	२१३
५१	तुलसीकृत रामायण और उससे संसारका उपकार	... श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त 'कुसुमाकर' बी० ए०, एल-एल० बी०	१८०
५२	तुलसीकृत रामायणकी समीक्षा	... रैवरैण्ड श्रीएडविन ग्रीव्स, मेलवर्न, इङ्गलैंड ...	३४०
५३	तुलसीकृत रामायणमें करुणा-रस	... श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा, एम० ए०, एल-एल० बी०	१०४७, १११९
५४	तेरी हँसी	... 'तेरा ही'	३
५५	त्याग	... श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी	१२८१
५६	थोड़े जीवन-सूत्र	... श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी	१०८७
५७	दशरथके समयकी अयोध्या	... ...	१४५
५८	दास और परमपद	... पं० श्रीरमाशङ्करजी मिश्र, 'श्रीपति'	१४१
५९	दिव्य-झाँकी	... पं० श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा 'शिशु'	१२७९
६०	दुःख क्या है ?	... श्रीरघुनाथप्रसादसिंहजी	९९६
६१	देहकी दशा	... ...	१०९६
६२	दो बहिनोंकी बातचीत	... बहिन जयदेवीजी	६५९
६३	द्रविड़-रामायण	... ...	३९९
६४	धर्म किसका है ?	... स्वामीजी श्रीआत्मानन्दजी	१२६४
६५	धर्मके नामपर अधर्म	... सम्पादक	१२३२ के बादके टाइटल पृष्ठपर
६६	धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे	... पं० श्रीरामनारायणजी शर्मा, शास्त्री	११३४
६७	धैर्य	... श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी	१३४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६८	ध्यान देने योग्य	श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी	९२७
६९	नम्रता	महात्मा गान्धीजी	७५७
७०	निषादका प्रेम	आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी, वृन्दावन	१४४
७१	पण्डित मोतीलालजीका देहावसान	सम्पादक	११५२
७२	पथिक	श्रीवेणीरामजी त्रिपाठी	६४४
७३	परम धर्म तथा मोक्ष-मार्ग	...	९७२
७४	परमहंस-विवेकमाला	स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी	६१७, ६८९, ७६९, ८४९, ९२९, १००९, १०८९, ११६९, १२४९, १३२९
७५	परा-भक्ति	स्वामीजी श्रीसत्यानन्दतीर्थजी	१२०५
७६	पशु-पक्षियोंका राम-प्रेम	श्रीरामेश्वरजी बाजोरिया	४१८
७७	पूर्णयोग	श्रीनलिनीकान्त गुप्त	६४९
७८	पूर्णयोगका स्वरूप	,,	८३१
७९	प्रश्नोत्तर चतुष्टय	श्रीभूतनाथ भट्टाचार्य	६३७
८०	प्रेमका सच्चा स्वरूप	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	९९४
८१	प्रेमी और कृपालु लेखकोंसे प्रार्थना	सम्पादक	१२३०
८२	फारसीमें रामायण	मौलवी श्रीमहेशप्रसादजी आलिमफाज़िल	३९१
८३	बङ्गलामें रामायण	...	३९५
८४	बन्धन	श्रीवियोगी हरिजी	७५६
८५	बलिदान	श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल	१२०९
८६	बालि-वधका औचित्य	श्रीजनकसुताशरण शीतलासहायजी सावन्त, बी० ए०, एल-एल० बी०, सम्पादक—'मानसपीयूष'	३३३
८७	बालि-वधका राजनीतिक कारण	पं० श्रीराजेन्द्रनाथ विद्याभूषण	४०६
८८	बुद्धियोग	श्रीअरविन्द	९८३, १०३४
८९	ब्रह्मचर्य	स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी	९५३
९०	भक्तके भगवान्	पं० श्रीगोविन्ददत्तजी त्रिपाठी	७१८
९१	भक्त-गाथा (भक्तराज प्रह्लादकी क्षमा)	चतुर्वेदी पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी शर्मा	८१८
	,, (भक्तराज प्रह्लादके लिये भगवान्‌का नृसिंहावतार)	,, ,, ,,	९६४
	,, (भक्तवर स्वामी हरिदासजी गायनाचार्य)	गोस्वामी श्रीमगनविहारीलालजी	७५१
	,, ,,	सम्पादक	६०२
	,, (भक्त शालीग्रामदासजी)	,,	१०५८
	,, (साध्वी सखूबाई)	,,	११३८
	,, (भक्तवर विट्ठलदासजी)	,,	११६२
	,, (बन्धु महान्ति)	,,	१२८६
९२	भक्तियोग	पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०	९२४
९३	भगवच्चरणोंमें	'एक भूला हुआ'	८३५
९४	भगवच्चरणोंमें	'भूला हुआ'	९९२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९५	भगवन्नामाधार	बहिन जयदेवीजी	११०८
९६	भगवान्‌का अवतार-शरीर	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	६७४
९७	भगवान् श्रीराम	श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया	१०८
९८	भगवान् श्रीरामकी रावणपर दया	मेहता पं० श्रीलज्जारामजी शर्मा	२९६
९९	भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वनवासकी दिनचर्या	श्रीयुत बी० एच० वडेर, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०	३०२
१००	भवतरणोपाय	स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी	५२९
१०१	भगवान्‌की दया	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	१३७२
१०२	भुक्ति-मुक्ति	पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०	७८७
१०३	भ्रान्त-पथिक	श्रीजगदीशजी झा 'विमल'	७६८
१०४	मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण	स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी ६०४, ६७७, ८००, ८९१, ९८८, १०३०, ११३५, १२११, १२८५, १३८३	
१०५	मनन करने योग्य	श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके भाषणसे	८३४
१०६	मनुष्य और जीवन-संग्राम	श्रीअरविन्द	६०९
१०७	मनुष्यका कर्तव्य	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	६१४
१०८	मनुष्य-जीवनकी विशेषता	श्रीकृष्णगोपालजी माथुर	६३६
१०९	ममता ही दुःख है	श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी	६२७
११०	मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम	रावबहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० बी०	३२
१११	मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम	कविराज पं० श्रीगयाप्रसादजी शास्त्री, साहित्याचार्य, आयुर्वेद-वाचस्पति, 'श्रीहरि'	५४५
११२	मर्यादा-पुरुषोत्तमकी मर्यादा	रायबहादुर राजा श्रीदुर्जनसिंहजी, जावली	३५
११३	मराठीमें रामायण	पं० श्रीलक्ष्मण रामचन्द्रजी पाङ्गारकर, बी० ए०, सम्पादक 'मुमुक्षु'	३९३
११४	महर्षि वशिष्ठकी महत्ता	श्रीकालीप्रसन्न चक्रवर्ती, बी० ए०	५६६
११५	महाकाव्योंमें राक्षस	श्रीयुत एस० एन० ताड़पत्रीकर, एम० ए०, प्राच्यविद्यालङ्कार भण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना	३५१
११६	महात्मा गान्धीजीके वचनामृत	...	६४६
११७	महात्माजीके विचार	...	९२१
११८	महात्मा गोमतीदासजीका देहावसान	...	१२३२
११९	महात्मा श्रीउड़िया स्वामीजी महाराजके उद्गार	...	१२३४
१२०	महारानी कौशल्या	'कौशिला-कुमार-शरण'	७४
१२१	महात्मा उड़िया बाबाजीके सदुपदेश	...	१३१४
१२२	माताका स्नेह और मातृपूजा	श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल	८९९
१२३	मानस और व्याकरण	पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी	४२९
१२४	मानसके दो रत्न	श्रीभैरवसिंहजी राठौर	५३६
१२५	मानसमें ज्ञान और भक्ति	पं० श्रीलक्ष्मीधरजी पाठक	२३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२६ मुक्तावलीका स्वरूप	... 'श्रीहरि'	१२१३
१२७ मुसलमान रामभक्त	... श्रीजमुनाप्रसादजी श्रीवास्तव	२३८
१२८ मेरी भूल सुधार दो, नाथ !	... पं० श्रीनन्दलालजी शर्मा	१०५४
१२९ मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो ?	... स्वामीजी श्रीमाधवानन्दजी	७४४
१३० यूरोपके सामान्य पाठकोंके लिये रामायणका स्वरूप	... श्रीयुत एच० जी० डी० टर्नबुल, एम० ए०, कैम्ब्रिज, इङ्गलैंड	३५०
१३१ 'र' और 'म' की रमणीयता	... पं० श्रीसुखरामजी चौबे, 'गुणाकर'	३२४
१३२ रज-कण	... श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी	११६७
१३३ राजनीतिज्ञ वाल्मीकि	... श्रीयुत 'महाराष्ट्रीय'	२६६
१३४ रानीको ब्राह्मणीका उपदेश	... श्रीमती बहिन जयदेवीजी	९७५
१३५ रानी सुमित्रा	... पं० श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक एम० ए०	७९
१३६ राम अटल रहे	महात्मा गान्धीजी	४१०
१३७ रामकथामें एक अद्भुत पाठान्तर	श्री जी० एन० बोधनकर, एम० ए०, एल-एल० बी० ...	४६९
१३८ रामचरितमानस	... महात्मा गान्धीजी	४२५
१३९ रामचरितमानस और अध्यात्म-रामायण	... व्यौहार श्रीराजेन्द्रसिंहजी ...	५८८, ६६२, ७३९
१४० रामचरितमानस मधु है	... पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी	१६२
१४१ रामचरितमानसके निर्दोष शृंगारकी विशेषता	... सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार	२४८
१४२ रामचरितमानसके लोकप्रिय होनेका कारण	... रायबहादुर अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी बी० ए०, साहित्यरत्न	१६६
१४३ रामचरितमानसका महाकाव्यत्व	... श्रीबिन्दु ब्रह्मचारीजी कनकभवन, अयोध्या	४६३, ६३६
१४४ रामचरितमानसकी विशेषता	... श्रीदामोदरसहायसिंहजी 'कविकिङ्कर'	५४८
२४५ रामचरितमानसकी कतिपय विशेषताएँ	... पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी 'श्रान्त' और श्रीमुरलीधरजी दीक्षित 'भ्रान्त'	२५४
१४६ रामनाम	... पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, एल एल० बी०, एम० आर० ए० एस०	३१२
१४७ राम-नाम-माहात्म्य	... स्वामीजी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी, पुरी	३२९
१४८ रामलीलामें सुधार	... श्रीयुत राजबहादुरजी लमगोड़ा, एम० ए०, एल-एल० बी० ...	३१४
१४९ रावणकी लङ्का कहाँ थी ?	... श्रीयुत बी० एच० वडेर, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०	३१७
१५० रावणके जीवनसे शिक्षा	... पं० श्रीउपेन्द्रनाथजी पाठक	१०४
१५१ रामायण	... महात्मा गान्धीजी	२८
१५२ रामायण	... लाला श्रीकन्नोमलजी एम० ए०	६४७
१५३ रामायण और महाभारत	... डा० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल० ...	३६१
१५४ रामायण और राजनीति	... काव्यतीर्थ प्रो० श्रीलौटूसिंहजी गौतम, एम० ए०, एल० टी०, एम० आर० ए० एस०	४[illegible]
१५५ रामायण और श्राद्धतर्पण	... पं० श्रीआशारामजी शास्त्री, साहित्यभूषण, व्याकरणाचार्य, ... वेदान्त-पथिक	४०९
१५६ रामायण और उसकी शाखाएँ	... प्रो० श्रीललितमोहनकार, एम० ए०, बी० एल०, काव्यतीर्थ	३२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५७ रामायण नैसर्गिक काव्य है	ओमन ('इण्डियन एपिक्स' रचयिता)	२९९
१५८ रामायण सर्वोच्च महाकाव्य है	गोरीसियो	२१०
१५९ रामायणसम्बन्धी यत्किञ्चित्	पं० श्रीझाबरमल्लजी शर्मा	४३०
१६० रामायण संसारका सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है	डा० श्री एच० डब्ल्यू० बी० मोरेनो, एम० ए०, पी० एच-डी०, प्रेसिडेण्ट 'एँगलो इण्डियन लीग'	३४३
१६१ रामायण-संख्या	...	५८२
१६२ रामायण-कालमें परदा-प्रथा	साहित्यभूषण चतुर्वेदी पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी शर्मा, एम० आर० ए० एस०	१९८
१६३ रामायणकालीन कला और उद्योगकी सूची	श्रीयुत बी० एच० वडेर, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०	५८३
१६४ रामायणकालीन भौगोलिक दिग्दर्शन	,, ,, ,,	४८३
१६५ रामायणकालीन स्थान-परिचय	,, ,, ,,	४९२
१६६ रामायणकालीन शपथ-विधि	पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ	१९६
१६७ रामायण हमें क्या सिखाती है ?	...	५०६
१६८ रामायणका नित्य पाठ करो	महामना पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय	२८
१६९ रामायणका रहस्य	स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी	१२८
१७० रामायणका सन्देश	साधु श्री टी० एल० वास्वानीजी	२८
१७१ रामायणकी ओर अधिक आकर्षण	नेलसन (विश्वकोषके रचयिता)	२९४
१७२ रामायणकी विशेषता	कविसम्राट् श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर	१६८
१७३ रामायणकी प्राचीनता	'एक रामायण-प्रेमी'	३६४
१७४ रामायणके कुछ रत्न	श्रीयुत रामायणशरणजी 'रामायणी'	४२०
१७५ रामायणके कुछ राजनीतिक सिद्धान्त और शासन-संस्थाएँ	श्रीयुत बी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार एम० ए०	३४७
१७६ रामायणमें राक्षस	पं० श्रीगोविन्द शास्त्रीजी दुगवेकर	३५४
१७७ रामायणके वानर-ऋक्ष	'श्रीरामायण-प्रेमी'	३५८
१७८ रामायणमें अध्यात्मवाद	पं० श्रीगोपालप्रसादजी शर्मा	१५८
१७९ रामायणमें आदर्श गृहस्थ	महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण	१३२
१८० रामायणमें आदर्श पातिव्रत-धर्म	श्रीयुत सैयद कासिमअली, विशारद, साहित्यालङ्कार	२११
१८१ रामायणमें आदर्श पितृ-भक्ति	राजाबहादुर राजा श्रीलक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगद्देव, विद्यावाचस्पति, पुरातत्त्व-विशारद, टेकाली राज्य	४६५
१८२ रामायणमें आदर्श भ्रातृप्रेम	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	४३४
१८३ रामायणमें ऐतिहासिक तथ्य	डा० एच० डब्ल्यू० बेल्लौ, सी० एस० आई०	१९३
१८४ रामायणमें क्रोधशान्तिका उपाय	पं० श्रीरामदयालुजी मजूमदार, एम० ए०, सम्पादक 'उत्सव'	१६५
१८५ रामायणमें भरत	साहित्याचार्य पं० श्रीशालग्रामजी शास्त्री	५७
१८६ रामायणमें रस	बेवर	२५३
१८७ रामायणमें सगुण ईश्वर	डा० सरजार्ज ग्रियर्सन	३१६
१८८ रामायणमें सत्य और प्रेम	श्रीसदानन्दजी सम्पादक 'मेसेज'	४११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८९	रामायणमें सत्याग्रह	श्रीमन्त यादवशङ्करजी जामदार, रिटायर्ड सबजज, नागपुर	२२३
१९०	रामायणमें हिन्दू-संस्कृति	साहित्यरत्न पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध' …	१५२
१९१	रामायणसे उच्च भावोंका प्रादुर्भाव	श्रीफिथ (रामायणके अनुवादक) … …	२३५
१९२	रामायणसे परस्पर सहानुभूतिकी वृद्धि	ग्रीव्स … …	२७०
१९३	रामायणसे राजनीतिक उत्थानमें सहायता	रावबहादुर सरदार माधवराव विनायक किबे, एम० ए०, एम० आर० ए० एस०, डि० प्राइम मिनिस्टर, होल्कर स्टेट …	२३४
१९४	रामायणसे स्वार्थपरताका नाश	स्व० श्रीबङ्किमचन्द्रजी चट्टोपाध्याय … …	१८६
१९५	रामायणी कथा	पं०श्रीविधुशेखरजी भट्टाचार्य, एम० ए०, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन … …	१७८
१९६	रामायणी प्रजा	श्रीदत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद … …	४१३
१९७	रामायणी-शक्ति	श्रीनलिनीकान्त गुप्त, श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी …	४१४
१९८	रामावतार-रहस्य	श्रीमोतीलालजी रविशङ्कर घोड़ा, बी० ए०, एल-एल० बी०	४६७
१९९	रामावतारका कारण	श्रीबनारसीदासजी 'प्रेम' … …	५८४
२००	रामावतारका महत्त्व	स्वामीजी श्रीविवेकानन्दजी … …	२४५
२०१	रामोपदिष्ट-भक्ति	स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी … …	१२
२०२	लक्ष्मण और भरतकी भक्ति	श्री 'व्रजवल्लभ' … …	६७
२०३	लक्ष्मीजी कहाँ रहती हैं ?	बहिन जयदेवीजी … …	१३४७
२०४	लोभ	पं०श्रीरामावतारजी शास्त्री, वेदान्ततीर्थ … …	९४३
२०५	बन्दौं सबहिं रामके नाते	श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' बी० ए० …	१८५
२०६	वनगमन और रावण-वधकी तिथियाँ	पं०श्रीराधाकृष्णजी मिश्र … …	३०६
२०७	वर्णाश्रम-धर्म	… … …	१२७४
२०८	वाल्मीकीय-रामायणका आधार और काल	श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, दाधीच, बी० ए०, एम० आर० ए० एस० … …	५८५
२०९	वाल्मीकीय-रामायणकी विशेषता	विद्वद्वर पं० श्रीबालकृष्णजी मिश्र … …	२९
२१०	वाल्मीकीय रामायणसे अवतारवादकी सिद्धि	साहित्याचार्य श्रीरघुवर मिट्ठूलालजी शास्त्री, काव्य-वेदान्त-तीर्थ, एम० ए०, एम० ओ० एल० … …	३६६
२११	विचार और आचारके दीपस्तम्भ	श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी … …	८६२
२१२	विदेह-भक्त राजा जनक	श्रीकृपानारायणजी चौधरी … …	९१
२१३	विभीषण	श्रीरघुनाथप्रसादसिंहजी … …	१०३
२१४	विरक्त किसे कहते हैं ?	स्वामीजी श्रीमाधवानन्दजी … …	१२१९
२१५	विरह-वेदना	श्रीवियोगी हरिजी … … …	९५८
२१६	विवाहके समय सीताजीकी अवस्था	पं०श्रीराजेन्द्रनाथ विद्याभूषण … …	२८२
२१७	विवेक-वाटिका		६७१, ७५०, ८०६, ८४८, ९८७, १०७२, ११५१, १२२९, १३१०, १३६१
२१८	विश्वात्म-रूप-मंदिरा	श्रीबालकृष्णजी बलदुवा, बी० ए०	७५६, १०५०, ११६७
२१९	विषय और भगवान्	… … …	११५९
२२०	विचित्र स्वप्न	श्रीरामकृष्ण … …	१३२२
२२१	वैकुण्ठ या साकेत	श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी … …	१०५४
२२२	वैधव्य-पालनके उपाय	स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी … …	१०६७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२२३ वैराग्यपञ्चक ... राजवैद्य पं० श्रीहरिवल्लजी जोशी, तीर्थत्रय ८०७
२२४ शेर धोबीका गधा बना ... स्वामीजी श्रीमाधवानन्दजी ६४८
२२५ श्रद्धाकी कमीका कारण ... सम्पादक ६२२
२२६ श्रीकृष्णशरणं मम ... परलोकगत लाला श्रीलजारामजी लिखित १२११
२२७ श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी स्वकथित जीवनी ... साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी ४७३
२२८ श्रीभगवन्नाम-जप ६०६, ६२८, १२३२
२२९ श्रीमद्भगवद्गीताका सर्वोत्तम उपदेश ... श्रीहरिस्वरूपजी जौहरी, एम० ए० ... ... ९१८
२३० श्रीमद्रामायण ... स्वामी पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, श्रीजानकी-घाट श्रीअयोध्याजी ३२
२३१ श्रीमद्रामायणका महत्त्व ... म०श्रीबालकरामजी विनायक, कनकभवन, अयोध्या ... २२७
२३२ श्रीमानसकी चौपाइयोंका विनोदी अर्थ पद्यार्थवाचस्पति कविसम्राट् पं०-श्रीबाबूरामजी शुक्ल ... ५०२
२३३ श्रीरामकृष्ण परमहंस ... स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी ७२३, ७७८, ८९८, ९४१, १०१७, ११००, ११७७, १२५६, १३३८
२३४ श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवके उपदेश ... श्रीराधाकृष्णजी ६१५
२३५ श्रीरामका धर्ममय रथ ... साहित्यरञ्जन पं०श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी १११३
२३६ श्रीरामका प्रणत-रक्षा-प्रण ... 'प्रणत-जन-शरण' १२०
२३७ श्रीरामका राजधर्मोपदेश ... 'रामायण-प्रेमी' ५१४
२३८ श्रीरामकी पुनः लङ्कायात्रा और सेतुभङ्ग ... 'रामकिंकर' १७२
२३९ श्रीरामचन्द्रजीका अश्वमेध-यज्ञ और उसका महत्त्व ... डा० आर० शाम शास्त्रीजी, एम० ए०, पी-एच० डी०, मैसोर १२९
२४० श्रीरामचरितमानस ... म०श्रीरूपकलाजी २९
२४१ श्रीरामचरितमानस-पात्र-परिचय ... श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया २८७
२४२ श्रीरामचरितमानस-विनोद ... श्रीमन्त यादवशङ्करजी जामदार, रिटायर्ड सबजज ... ५७१
२४३ श्रीरामचरितमानसका गुप्त-तापस ... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी ९५९
२४४ श्रीरामचरितमानसका दार्शनिक सिद्धान्त श्रीज्वालाप्रसादजी सिंहल, एम० ए० ... ... २०७
२४५ श्रीरामचरितमानसका महाकाव्यत्व ... श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी ... ५५३, ६३९, ७२७
२४६ श्रीरामचरितमानसके मार्मिक प्रसंग ... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी ११३०
२४७ श्रीरामचरितमानसमें मालोपमालङ्कार ... श्रीमुरलीधरजी दीक्षित 'भ्रान्त' ७८४
२४८ श्रीरामजीका शूर्पणखाके साथ व्यवहार ... पं०श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज शास्त्री, आचार्य, बी० ए० ... २२१
२४९ श्रीरामनवमी १०८५
२५० श्रीरामनाम ... महात्मा गान्धीजी ४६७
२५१ श्रीरामनामकी महत्ता ... विविध-विद्या-विशारद पं० श्रीआनन्दघनरामजी तासगाँवकर ४९९
२५२ श्रीरामनामकी महिमा ... आचार्य श्रीमदनमोहनजी गोस्वामी, वै० दर्शनतीर्थ, भागवतरत्न ३२३
२५३–श्रीरामनामके सम्बन्धमें महात्माजीका सन्देश ८४७
२५४–श्रीरामप्रेमी दशरथ महाराज ... 'दशरथ-कुमार-पद-रज' ८८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२५५-श्रीरामायण-तत्त्व-रहस्य ... गोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री १००८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज ४
२५६ श्रीरामायणद्वारा जगत्का कल्याण ... स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी ५२४
२५७ श्रीरामायण-माहात्म्य २
२५८ श्रीरामायण-रहस्य ... श्रीकाञ्चीप्रतिवादीभयङ्कर मठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्रामानुज सम्प्रदायाचार्य श्री १००८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज २०
२५९ श्रीरामायणका महत्त्व ... पं० श्रीश्यामसुन्दरजी याज्ञिक १४६
२६० श्रीरामायणकी अनुष्ठान-विधि ... पं० श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी ५१८
२६१ श्रीरामायणमें मांसाहार ... विद्यावाचस्पति पं० श्रीबालचन्द्रजी शास्त्री ... १३८
२६२ श्रीरामायणोपदेश ... श्रीयुत चौधरी रघुनन्दनप्रसादसिंहजी ... २६२
२६३ श्रीरामावतारके विभिन्न हेतु और उनका रहस्य ... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी ८२२, ९०३, ११८७
२६४ श्रीरामावतारके विविध भाव और रहस्य ... विद्वद्वर पं० श्रीभवानीशङ्करजी १२२
२६५ श्रीरामोपासनाकी प्राचीनता ... श्रीश्रीवैष्णव पं० श्रीरामटहलदासजी ५७६
२६६ श्रीलक्ष्मण और देवी उर्मिलाका महत्त्व ... 'उर्मिला-पद-रज-कण' ४१५
२६७ श्रीवसिष्ठजीकी महत्ता ... पण्डितवर श्रीनत्थूरामजी शर्मा, गुजरात ९३
२६८ श्रीवाल्मीकीय सुन्दरकाण्डम् ... श्रीहरिस्वरूपजी जौहरी, एम० ए० ... ... १८७
२६९ श्रीवाल्मीकीयका राम-वनगमन ... पं० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी ५३७
२७० श्रीविभीषणकी शरणागति ... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी ६५१
२७१ श्रीशत्रुघ्नजी ... 'रिपुहन-दासानुदास' ८७
२७२ श्रीशुकदेवजी और रामायण ... पं० श्री पी० एन० शङ्करनारायण अय्यर बी०ए०, बी०एल० ... ... २१८
२७३ श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा ... श्रीजयदयालजी गोयन्दका ४५
२७४ श्रीसीताजीका वनवास ... महामहोपाध्याय डा० श्रीगंगानाथजी झा, एम० ए०, डी० लिट्, वाइसचैन्सलर, प्रयाग-विश्वविद्यालय ... १४१
२७५ श्रीसीताहरण-रहस्य ... श्रीजनकसुताशरण श्रीशीतलासहायजी सावन्त, बी० ए०, एल-एल० बी०, सम्पादक—'मानस-पीयूष' ... १९४
२७६ श्रीसुतीक्ष्णजीकी प्रेमा-भक्ति ... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी ५५६
२७७ श्रीहनूमान्जीका महत्त्व ... श्रीरामचन्द्रशङ्कर टक्की महाराज, बी० ए० ... ४७९
२७८ श्रीहनूमान्जीके चरित्रसे शिक्षा ... श्रीजयरामदासजी 'दीन रामायणी ९५
२७९ श्रीहरिरायजीके सर्वोपयोगी उपदेश १२४६
२८० श्रीभरत-यश-चन्द्र ... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी १३८७
२८१ श्रेष्ठ भजन कौन-सा है ? ... स्वामीजी श्रीमाधवानन्दजी ७८२
२८२ सच्चा आवाहन ... श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल ११०५
२८३ सच्ची साधना ६७२
२८४ सतीके मरणान्त प्रायश्चित्तका गुप्त कारण ... श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत २०२
२८५ सत्यकी शरणसे मुक्ति ... श्रीजयदयालजी गोयन्दका ... १२३८, १३१५
२८६ सद्गुणवती कैकेयी ... 'कैकेयी-नन्दन पद-वन्दन' ८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२८७ सदाचार ११६१

२८८ सन्तके उपदेश ९४६, ११२२

२८९ सब कुछ भगवान् हैं ... श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल ९४४

२९० सबसे बड़ा कौन है ? ... बहिन जयदेवीजी १०२४

२९१ सबसे बड़ा रामनाम ... श्रीयुत के० वीर अन्ना २६५

२९२ समन्वय ... पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल०बी०, एम० आर० ए० एस ७२०

२९३ सर्वोत्तम तीर्थ ... बहिन जयदेवीजी १२१४

२९४ सन्तोष ... श्रीमती शिवशीला देवी भारद्वाज १३९१

२९५ संशयात्मा विनश्यति ... श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल १००१

२९६ साकेत ... रायबहादुर अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी, बी० ए०, साहित्यरत्न ७४९

२९७ साध्वी कैथेरिन ... श्रीजयदयाल डालमिया ... ९७९, १०३९

२९८ साध्वी रानी एलिज़ाबेथ ... " ... ९६५, ७३१

२९९ साध्वी लुइसा ... श्रीमती कुमारी रामा ८७८

३०० साधु दम्पति ... श्रीमनोरञ्जन चक्रवर्ती, एम० बी० ... ... १२०६

३०१ साम्प्रदायिक शंका ... म०श्रीबालकरामजी विनायक, अयोध्या ... ५७७

३०२ सामुदायिक उपासना ... श्रीकिशोरलाल घनश्याम मश्रूवाला ... ११४८, ११८१

३०३ सामुदायिक प्रार्थना ... श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी १३२१

३०४ साकेतवासी श्री० १०८ स्वामी गोमतीदासजी १३७८

३०५ सांख्य और योग ... श्रीअरविन्द ८०८

३०६ सांख्य, योग और वेदान्त ... " ८८४

३०७ सीताजीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त ... शुद्धाद्वैतभूषण पं० श्रीज्येष्ठारामजी हरिजीवन शास्त्री ... ५८६

३०८ सुवेलशैलपर श्रीरामकी झाँकी ... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी ७०६

३०९ सूर्यवंश ... श्रीयुत बी० एच० वडेर, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० ... आर० ए० एस० ... ... २८८

३१० सेवाके मन्त्र ... श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी सम्पादक 'हिन्दी नवजीवन' ७९०

३११ स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराजका वचनामृत ... ७४५, ८६६, ९७३, १०२१, ११५२, ११९३, १२७१, १३५१

३१२ स्वामी राम ... पं० श्रीरामरत्नजी अवस्थी ११९६

३१३ हनूमान्जी (हनुमन्त) ... रायबहादुर अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी, बी० ए० साहित्यरत्न ५६०

३१४ हंस-गति ... श्रीबिन्दु ब्रह्मचारीजी १३६२

३१५ हाड़ोती-भाषामें रामायण ... श्रीनन्दकिशोरजी सक्सेना ३९९

३१६ हिन्दू-समाजपर रामपूजाका प्रभाव ... स्वामीजी श्रीदयानन्दजी, काशी १३५

३१७ हे राम ! ... पृष्ठ५१२के बाद रामायणांकके टाइटलके तीसरे पृष्ठपर

३१८ क्षत्रियका धर्म ... श्रीअरविन्द ६९८

३१९ क्षमा-याचना ... सम्पादक ५११

३२० त्रिवेणीमें कुसुमाभास ... म० श्रीबालकरामजी विनायक, अयोध्या १३६६

३२१ ज्ञानदीपक-स्पष्टीकरण ... साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी २७२, ५९३, ६२९, ७१३

३२२ ज्ञानाग्नि ... श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल १२९३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद्य-सूची

क्रम सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ-सं०
१	अनन्त-दर्शन	(श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त 'कुसुमाकर', बी० ए०, एल-एल० बी०) ...	११०४
२	अनन्त-रागिनी	(श्रीसत्याचरणजी 'सत्य' बी० ए०, विशारद) ...	११०७
३	अनन्यता	(श्रीसूरदासजी महाराज) ...	५९३
४	अनुरोध	(श्रीज्वालाप्रसादजी गुप्त) ...	७२६
५	अपने प्रति	(पं० श्रीरामसेवकजी त्रिपाठी, सम्पादक 'माधुरी') ...	६०४
६	अभिलाषा	(पं० श्रीदुर्गाप्रसादजी त्रिपाठी, काव्यतीर्थ) ...	७९७
७	अव्यापक-व्यापकता	(श्री 'प्रभात'जी बी० ए०) ...	८६८
८	असीम आनन्द	(गाङ्गेय पं० नरोत्तमजी शास्त्री) ...	८४०
९	अहल्याका पद-वन्दन	(गो० श्रीतुलसीदासजी) ...	४७३
१०	आकुलता	(श्रीलक्ष्मणाचार्यजी वाणीभूषण)	१००८
११	आत्मदृढ़ता	(चतुर्वेदी श्रीरामचन्द्रजी शर्मा 'विद्यार्थी') ...	१०४६
१२	आत्म-निवेदन	(श्रीसुरेशचन्द्रजी शर्मा 'मन्जु' भारतीय) ...	९९२
१३	आत्म-सुधार	(श्रीगोपालनारायणजी पारीक)	११६०
१४	आदि-कवि वाल्मीकि	(पं० श्रीरामचरितजी उपाध्याय) ...	२६५
१५	आप अपनाते हैं	('श्रीहरि') ...	१०८८
१६	आराध्य राम	(श्रीबालकृष्णजी बलदुवा, बी० ए०) ...	२१२
१७	आह्वान	(पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०) ...	१७१
१८	इष्टदेव रामसे विनय	(श्रीरामवचनजी द्विवेदी 'अरविन्द') ...	४४
१९	उद्वेग	(श्री'आदित्य'जी) ...	८३०
२०	एक प्रस्ताव	(श्रीकालीप्रसादजी 'विरही') ...	११६२
२१	एक झाँकी	(श्रीलक्ष्मणाचार्यजी वाणीभूषण) ...	१२८४
२२	एक रामतें मोर भल	(गो० श्रीतुलसीदासजी) ...	५१३
२३	एक ही बात	(श्रीवियोगी हरिजी) ...	१०८४
२४	करोगे क्या ?	(श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त, 'कुसुमाकर' बी० ए०, एल-एल० बी०)	६३८
२५	कल्याणकी खान	(गो० श्रीतुलसीदासजी महाराज) ...	८३३
२६	कहाँ ?	('अकिञ्चन') ...	६४५
२७	कृतज्ञता	(कविरत्न पं० श्रीरमाशंकरजी मिश्र, 'श्रीपति') ...	७१९
२८	कुसङ्गति	... ...	१२४३
२९	कैसे आऊँ द्वार	(श्री 'तरङ्गी') ...	३०१
३०	कौन ?	(श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी) ...	१३१२
३१	कौन ?	(श्रीसत्याचरणजी 'सत्य', एम० ए०)	१३२८
३२	क्यों बिसारा !	('दिनेश') ...	६०१
३३	खड्ग राम-नाम है	(श्रीगोविन्दरामजी अग्रवाल) ...	१३४
३४	खैयामकी रुबाइयाँ	(पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०) ...	७७७
३५	गणेश-वन्दना	(श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त, 'कुसुमाकर' एम० ए०, एल-एल० बी०)	१०४४
३६	गीध तर्यो	(चतुर्वेदी श्रीसूर्यनारायणजी मिश्र) ...	१२२३
३७	गो-रक्षा	(श्रीदामोदरसहायसिंहजी, एल० टी०, 'कविकिंकर') ...	१२२४
३८	घनश्याम-पियारे	(श्री'आदित्य'जी) ...	६७९
३९	चित-चोर	(श्रीनारायणस्वामीजी) ...	९९३
४०	चेतावनी	(श्रीगंगाविष्णुजी पाण्डेय विद्याभूषण 'विष्णु') ...	१०१९
४१	जगतारण	(श्रीअवन्तविहारीजी माथुर 'अवन्त') ...	११९५
४२	जाँचना हो तो रामको ही जाँचो	(गो० श्रीतुलसीदासजी) ...	२२६
४३	जिज्ञासा	(पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी साहित्यरत्न) ...	१३३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४४ जीवनका फल (गो० श्रीतुलसीदासजी) ... १
४५ जीवन-धन (चतुर्वेदी पं० श्रीरामचन्द्रजी शर्मा 'विद्यार्थी') ... ८९५
४६ तरस (श्रीलक्ष्मणाचार्यजी वाणीभूषण) ... ८१७
४७ तरी (श्री'प्रभात'जी, बी० ए०) ... ११७६
४८ ताप मिटै ना (श्रीललितकिशोरीजी) ... ११५३
४९ तुझे अर्पण करें (श्रीताराचन्द्रजी पाण्ड्या, बी० ए०, 'चन्द्र') ... ४७२
५० तुलसी (श्रीअवन्तविहारीजी माथुर, 'अवन्त') ... ३०५
५१ तुलसी-काव्य (श्रीदामोदरसहायसिंहजी एल० टी०, 'कविकिंकर') ... ४३३
५२ तुलसीदाससे (श्रीमोहनलालजी महतो 'वियोगी') ... २४५
५३ तुलसी-वन्दना (श्रीयोगेन्द्र शर्मा) ... ३२१
५४ तुलसी-स्तवन (पं० श्रीरामसेवकजी त्रिपाठी, सम्पादक 'माधुरी') ... १९
५५ तुलसी-स्मृति (पं० श्रीशान्तिप्रियजी द्विवेदी) ... ३२५
५६ तेरा पथ (श्रीअवन्तविहारीजी माथुर, 'अवन्त') ... ७०५
५७ तेरी महिमा (श्रीवियोगी हरिजी) ... १०२४
५८ दीजे सुमति (श्रीसुखरामजी चौबे 'गुणाकर') ... ५१९
५९ दीनबन्धुके चरणोंमें (श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव बी० ए०) ... ९४०
६० दीनबन्धु (श्री'शील'जी) ... १२६३
६१ दीनदयालो! (पं० श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी, विशारद, एम० ए०, एल-एल० बी०) ... १३१२
६२ दुःखकी आगमें कौन नहीं जलता ? (गो० श्रीतुलसीदासजी) ... १४१
६३ दुःख भी ईश्वरीय दया है ('किङ्कर') ... ८३७
६४ दोनों लोकोंका पंथ (श्रीअर्जुनदासजी केडिया) ४७२
६५ ध्यान ,, ... ८६१
६६ नंदलालके नैन (श्रीललितकिशोरीजी) ... ९१३
६७ नन्दके कुमारको (श्रीरसखानजी) ... १२३३
६८ निजरूपमें मिला लो तुम (चतुर्वेदी श्रीरामचन्द्रजी शर्मा 'विद्यार्थी') ... १२१९
६९ पतितोद्धारक तुलसी (पं० श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम') ... ३३९
७० पथिक ! (पं० श्रीरमाशङ्करजी मिश्र, 'श्रीपति', कविरत्न) ... ९४८
७१ परमसत्य (श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम') १०२९
७२ पछतावा ... १२४५
७३ पावन-प्रेम (कुमार श्रीप्रतापनारायणजी कविरत्न) ... १०१९
७४ प्रतिज्ञा (पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०) ... १३२०
७५ प्रतीक्षा (श्रीअवन्तबिहारीजी माथुर 'अवन्त') ९७१
७६ प्रबोध (श्रीचन्द्रभानुसिंहजी 'रज' दीवानबहादुर) ... १११८
७७ प्रभुकी बानि (श्रीलक्ष्मणाचार्यजी वाणीभूषण) ... ११६८
७८ प्रभुजी! (श्रीअवन्तबिहारीजी माथुर 'अवन्त') ११२६
७९ प्रस्ताव (श्री 'प्रभात'जी बी० ए०) ... ९२०
८० प्रश्न ? (श्रीबैजनाथसिंहजी 'सारथी') ... १२५५
८१ प्रार्थना ('अकिञ्चन') ... ५०५
८२ ,, (रानी रूपकुँवरिजी, चरखारी स्टेट) ... ७४८
८३ ,, (पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी) ... १००५
८४ ,, ,, ,, ... १०८१
८५ ,, (अकिञ्चन) ... १२४८
८६ प्रेमविह्वला गोपियाँ (श्रीचन्द्रभानुसिंहजी 'रज' दीवानबहादुर) ... १०२३
८७ प्रेमालोक (श्रीपद-रज-'शिशु') ... ८७७
८८ बरसाये देत (पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी द्विवेदी) ४९८
८९ भक्त-भावना (श्री 'रसिकेन्द्र' जी) ... ३१३
९० भक्त-भावना (श्रीअमृतलालजी माथुर) ५७०
९१ भक्तकी प्रार्थना (श्रीमधुसूदनप्रसादजी मिश्र 'मधुर') ... १०३३
९२ भारी भूल (श्रीअर्जुनदासजी केडिया) १३२८
९३ मन (श्रीअर्जुनदासजी केडिया) ... ८२१
९४ मलयानिलके प्रति (श्रीसत्याचरणजी 'सत्य', एम० ए०, विशारद) ... १२४८
९५ मानसकी महत्ता (विद्यार्थी श्रीमहेशप्रसादजी मिश्र, 'रसिकेश') ... ३६५
९६ मोहन ('अकिञ्चन') ... ६७०
९७ मोहन (श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी, विशारद, एम० ए०, एल-एल० बी०) ... ८७१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९८ मौन कल्पना (श्रीरामलालजी शर्मा) ··· १३०१
९९ याचना (पं० श्रीरामलालजी शर्मा) ··· ७९७
१०० रघुवर भजो (श्रीनारायणाचार्यजी शास्त्री, वेदान्तभूषण) ··· २७९
१०१ रघुबीरके सच्चे सेवक कौन है ? (गो० श्रीतुलसीदासजी) ··· २२२
१०२ रसने ! (भक्तिगान) (कवीन्द्र श्री 'रसिकेन्द्र' जी) ··· ४२४
१०३ रहस्य (श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी, 'प्रेम') ७८३
१०४ राज्य (श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त) ··· २८२
१०५ राजिव-लोचन (पं० श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी, विशारद, एम०ए०, एल-एल० बी०) ७६६
१०६ राम ! (पं० श्रीगंगाविष्णुजी पाण्डेय विद्याभूषण 'विष्णु') ··· ३४२
१०७ राम ,, ,, ,, ··· ११३७
१०८ राम (पं० श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी, विशारद, एम० ए०, एल-एल० बी०) ··· ३९४
१०९ रामकथा सुरलोक नसैनी (पं० श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी 'श्रोत्रिय') ··· ३३२
११० रामजन्मकी प्रतीक्षा (पं० श्रीमातादीनजी शुक्ल, साहित्यशास्त्री, काव्यभूषण) ४१७
१११ राम्नाम (श्रीमोतीलालजी ओमरे) ··· २१७
११२ रामनाम ('बाबू') ··· ··· ९४५
११३ राम-विरहके आँसू (श्रीअमृतलालजी माथुर) ३२
११४ रामायण-संकीर्तन-माला ··· २८०
११५ राम-चरित-शिक्षा-सार (श्रीनन्दकिशोरजी झा, 'किशोर' काव्यतीर्थ) ··· १७६
११६ रामचरितमानस (श्रीसर्वानन्दसिंहजी 'सर्वेश') ··· ५६
११७ रामचरितमानस कवि तुलसी (श्रीबिन्दु ब्रह्मचारीजी) ··· ३४६
११८ रामके चार निवासस्थान (गो० श्रीतुलसीदासजी) ··· १४०
११९ रामके हृदयमें कौन बसते हैं ? ,, ··· ७८
१२० राम-रस-माधुरी (श्रीशालिग्रामजी) ··· १२३७
१२१ रामायण (श्रीरामपलटसिंहजी 'मधुर' एम० ए०, एम० आर० ए० एस०) ··· २६५
१२२ रामायण (श्रीगंगाविष्णुजी पाण्डेय) ५४७
१२३ रामायण और तुलसी (श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी, 'शंकर') ··· ५५६
१२४ रामायण-पञ्चदशी (गो० श्रीतुलसीदासजी, सं० श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी) ··· २७१
१२५ रामायणके रचयिता (कु० श्रीप्रतापनारायणजी पुरोहित 'कविरत्न') ··· ३२२
१२६ रामचन्द्र मंगल करें (स्व० पं० श्रीमाधवप्रसादजी मिश्र, 'सुदर्शन-सम्पादक') ··· ३२
१२७ रामायणमें शिवानुशासन ··· ५८७
१२८ लालसा (गो० श्रीलक्ष्मणाचार्यजी वाणीभूषण) ६३६
१२९ वह छवि (पं० श्रीमातादीनजी शुक्ल, साहित्यशास्त्री, काव्यभूषण) ··· ६८६
१३० विनती (श्रीवियोगी हरिजी) ··· ६८७
१३१ विनय (श्रीनोखेलालजी शर्मा, काव्यतीर्थ, कविभूषण) ··· ८८३
१३२ विनय (पं० श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी, विशारद, एम०ए०, एल-एल० बी०) ··· १०५८
१३३ विरहिणी ('शिशु') ··· ··· १२१८
१३४ विरागमें (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा, बी० ए०) १११२
१३५ विष-लतामें अमृतफल (श्रीअर्जुनदासजी केडिया) ··· ६२८
१३६ वैदेही-विलाप (पं० श्रीरमाशंकरजी मिश्र, 'श्रीपति') २०१, ५६२
१३७ श्याममय हृदय (श्रीसूरदासजी) ··· ७५३
१३८ श्याम कैसे मिलें (श्रीसूरदासजी) ··· १३१३
१३९ शान्ति (गो० श्रीतुलसीदासजी) ··· ५७७
१४० शंकर और राम (श्रीअर्जुनदासजी केडिया) ३२
१४१ श्रीगीता-ज्ञान-गङ्गोत्तरी (श्रीलक्ष्मीनारायणजी गुप्त) ··· १२९२
१४२ श्रीकृष्णाराधना-सप्तक (श्रीमुन्नालालजी 'चित्र' हिनोत्ता) ··· ७८२
१४३ श्रीचरणोंमें (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा, बी०ए०) १२६५
१४४ श्रीरामकृष्ण-ध्यान (श्रीनन्ददासजी) ··· ६७३
१४५ श्रीरामका आदर्श विजय-रथ (गो० श्रीतुलसीदासजी) ··· ४००
१४६ श्रीरामचरितमानसकी नवधा-भक्ति (गो० श्रीतुलसीदासजी) ··· ३५७
१४७ श्रीरामचरितमानस-महिमा (पं० श्रीलोचनप्रसादजी पाण्डेय) ··· २४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४८ श्रीराम-झाँकी (श्रीसत्याचरणजी 'सत्य', बी० ए०, विशारद) ... १६

१४९ श्रीरामायणकी आरती (गो० श्रीतुलसीदासजी) रामायणांकके टाइटल पेजका अन्तिम पृष्ठ

१५० सन्त कौन है ? (गो० श्रीतुलसीदासजी) १६२

१५१ संतकी पहचान (श्रीवियोगी हरिजी) ... ६१७

१५२ सच्ची शिक्षिका (कुमार श्रीप्रतापनारायणजी 'कविरत्न') ... १३०२

१५३ सन्तके लक्षण (गो० श्रीतुलसीदासजी) २७१

१५४ सन्त-वाणी १३६२

१५५ सावधान ! (पं० श्रीमातादीनजी शुक्ल) ... ८०५

सावधान ('चन्द्रकला') ... ९४५

१५६ सुन्दर श्याम (श्रीसूरदासजी) ... १०७३

१५७ सुबेल पहाड़पर श्रीरामजीकी झाँकी (गो० श्रीतुलसीदासजी) ... ३४९

१५८ संकेत (श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी, 'प्रेम') १२७०

१५९ संसार और शिशु ('चित्र') ... ६२६

१६० संक्षिप्त रामचरित-माला (श्रीमन्नटेश्वर योगेन्द्रजी) ... २८१

१६१ हितकी बात (श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त 'कुसुमाकर' बी० ए०, एल-एल० बी०) ... ८१७

१६२ हे जगदीश ! (श्री'रसिकेन्द्र'जी) ... ११६२

१६३ हो तेरी इच्छापूर्ति (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा, बी० ए०) ... ६३५

१६४ हृदयसे (श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल') ७५२

१६५ ज्ञानी-पंडित आदि कौन हैं ? (गो० श्रीतुलसीदासजी) ... १३८

चित्र-सूची

बहुरंगे

१ उद्धारकर्ता भगवान्–श्रीरामायणांकके अन्दरका और प्रत्येक अंकके उपरका मुखपृष्ठ

२ कैकेयीकी क्षमा-याचना ८५

३ कौशल्या-भरत ४४५

४ दयार्द्र गौतम बुद्ध १३६२

५ परशुराम-राम ३६

६ पवनकुमार ८३३

७ पुष्पवाटिकामें श्रीराम-सीताकी गुप्त मन्त्रणा (सुनहरी) ५५

८ बाबा भोलेनाथ ... ,, ... १२३३

९ भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि ... ३०४

१० मानस-सरोवर ५०५

११ राम-शबरी ६६८

१२ शिव-परिछन १७६

१३ शिवजीकी विचित्र बारात ६७३

१४ श्रीकृष्ण-सुदामा-मिलन ५६३

१५ श्रीचैतन्यदेव (समुद्रतीरपर) ... ९६३

१६ श्रीराम-प्रतिज्ञा ११३

१७ श्रीराम-पादुका-पूजन (सुनहरी) ... २४८

१८ श्रीरामके चरणोंमें भरत ६६

१९ श्रीरामपञ्चायतन (सुनहरी) १

२० श्रीरामावतार ११५३

२१ श्रीवाल्मीकिजी (रामनाम-लीन, दीमकोंसे घिरे हुए) १०७३

२२ श्रीसीता-अनसूया २११

२३ श्रीसीता-राम १५२

२४ श्रीसीताजीके गहने ४१७

२५ श्रीसीताजीके गोदमें लव-कुश ... ७५३

२६ सती सीता (अशोकवाटिकामें) ... ६१३

२७ सदाप्रसन्न श्रीराम २८०

२८ सीता-अन्वेषण ५१३

२९ सीताकी अग्नि-परीक्षा ४६०

३० सुबेल पहाड़पर श्रीरामकी झाँकी ... ३४९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सादे

१ अजेय रथ ४००
२ अहल्योद्धार ४७३
३ गरुड़-गर्व-हरण ४८०
४ गोसाईं तुलसीदासजी ३४०
५ पार्थके रथपर हनूमान्‌जी ४८१
६ भक्तवर रामाजी प्रेममग्न नाच रहे हैं ... १२४
७ राम-विलाप ४४०
८ रामायण-गान-शिक्षा २६६
९ रामायण-द्रुम ३८८
१० लव-कुशका धनुर्वेद-शिक्षण ५८५
११ लङ्का जलानेके बाद हनूमान्‌जी सीताजीकी चरण-वन्दना कर रहे हैं ४८०
१२ विश्वामित्रकी राम-भिक्षा २२४
१३ श्रीराम और केवट ४२६
१४ श्रीरामका ज्ञानोपदेश ४८१
१५ श्रीरामगीता ४
१६ श्रीरामजन्म (प्राचीन चित्र) ... २३६
१७ सीता-वनवास ४५
१८ सीताका पाताल-प्रवेश ५००
१९ सुतीक्ष्णका प्रेमोन्माद ५५६
२० सोहे राम-सियाकी जोरी २०
२१ हनूमान्‌जीका द्रोणगिरि लाना ... ४८०
२२ हनूमान्‌पर इन्द्रका वज्रघात ४८१
२३ हार तोड़ना और हृदय चीरना ... ४८०

अयोध्यापुरीके

२४ अयोध्या-नगर-दृश्य (१) १८६
२५ ,, ,, (२) १८६
२६ गंजशहीदाँ २६७
२७ गोस्वामी तुलसीदासजीकी कुटी ... २५७
२८ जन्म-स्थान २३६
२९ जन्मस्थान, कसौटीका खम्भा ... २३६
३० झाँकी सद्‌गुरु-सदन २६६
३१ तुलसी-चौरा २५७
३२ दतुअन-कुण्ड २५६
३३ दतुवा राजमहल पीरोमन्दिर श्रीदर्शनेश्वरनाथ २६६
३४ धर्महरि २६७
३५ मणि-पर्वत २५७
३६ मत्त-गजेन्द्र २५७
३७ मन्दिर कनकभवन (बाहरी दृश्य) ... १८६
३८ ,, ,, (भीतरी दृश्य) ... १८६
३९ मन्दिर जन्म-भूमि २३६
४० ,, दशरथ-यज्ञ-भवन २६७
४१ ,, राजद्वार २६६
४२ ,, श्रीनागेश्वरनाथ १८७
४३ ,, शीशमहल १८७
४४ लक्ष्मण-किला (पिछला दृश्य) ... २३७
४५ ,, ,, (सामनेका दृश्य) ... २३७
४६ लक्ष्मणजीका मन्दिर, लक्ष्मणघाट (बाहरी) २३७
४७ लक्ष्मणजीके मन्दिरकी झाँकी (भीतरसे) ... २३७
४८ वशिष्ठकुण्ड २५६
४९ सूरजकुण्ड २५६
५० ,, जनानाघाट २५६
५१ स्वर्गद्वारघाट २६६
५२ हनुमानगढ़ी (१) १८७
५३ ,, (२) १८७
५४ त्रेताके ठाकुर २६७

चित्रकूटके

५५ अनसूयाजी ३७७
५६ कामतानाथ (पहाड़) ३६६
५७ ,, गिरि (२) ३७७
५८ चरणचिह्न (परिक्रमामें) ३६७
५९ जानकीकुण्ड ३५९
६० ,, ,, (मन्दाकिनीका दृश्य) ... ३६६
६१ तुलसीदासजीका मन्दिर रामघाटके पास ... ३५९
६२ पर्णकुटी (१) ३५८
६३ ,, (२) ३५९
६४ परिक्रमामें तुलसीदासजीका मन्दिर ... ३५९
६५ फटिकशिला ३६६
६६ फटिकशिलाके सामनेका दृश्य ... ३६६
६७ भरत-कूप ३६७
६८ भरत-मन्दिर ३७६
६९ मत्त-गजेन्द्र-मन्दिर (राघव-प्रयाग) ... ३५८
७० मन्दाकिनीघाट ३५८
७१ राघव-प्रयाग (संगम) ३५८
७२ रामशय्या ३६७
७३ रामशय्याके ऊपर बना हुआ मन्दिर ... ३६७
७४ सीताकी रसोई ३७६
७५ हनुमान्‌धारा (१) ३७६
७६ ,, (२) ३७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनकपुरधामके

७७ धनुषक्षेत्रसे श्रीरामजीके मन्दिरके सामनेका पूर्वी दृश्य ३२६
७८ श्रीजानकीजीका नौलखा मन्दिर ... ३२८
७९ श्रीजानकीजीके मन्दिरमें जानकीजीका सिंहासन ३२८
८० श्रीजानकी-मन्दिरके भीतर जगमोहनजीके मन्दिरका पूर्वी दृश्य ३२८
८१ श्रीरामजीके मन्दिरका पश्चिमी दृश्य ... ३२६
८२ श्रीरामजीके मन्दिरमें प्राचीन मूर्तियाँ ... ३२६
८३ श्रीलक्ष्मणजीका मन्दिर ३२६

तुलसीदासजीके जीवन-सम्बन्धी काशीके

८४ गोसाईंजीका चित्र ४७७
८५ तुलसीघाट ४७६
८६ प्रह्लादघाट, काशी ४७६
८७ पं० गंगारामजी जोशीका घर (बाहरी दृश्य) ४७६
८८ विनय-पत्रिका लिखनेका स्थान (बाहरी भाग) ४७६
८९ श्रीहनूमान्जीका मन्दिर ४७७
९० संकटमोचनका (बाहरी दृश्य) ४७७
९१ ,, (भीतरी दृश्य) ४७७

नासिक पञ्चवटीके

९२ गोदावरीका पुल ४०७
९३ गोदावरीपर नारोशङ्करका मन्दिर ... ४०७
९४ ताड़कानाला ४०६
९५ नासिक-गोदावरी-दृश्य (१) ४०६
९६ ,, ,, ,, (२) ४०६
९७ पञ्चवटीमें श्रीराममन्दिर ४०६
९८ रामकुण्ड और गंगामन्दिर ४०७
९९ श्रीत्र्यम्बकेश्वर-मन्दिरका बाहरी दृश्य ... ४०७

प्रयागके

१०० भरद्वाज-आश्रम ३७७

माननीय काशीनरेशकी रामायणके

१०१ अशोक-वाटिकामें रावण १३३
१०२ ऋष्यमूकपर श्रीराम-लक्ष्मण १३२
१०३ कपट-मृग १०३
१०४ कपट-मुनि और राजा प्रतापभानु ... १३
१०५ किष्किन्धामें लक्ष्मण १३२
१०६ कुम्भकर्ण-युद्ध १४१
१०७ गुरु वशिष्ठका आगमन ७४
१०८ चित्रकूटमें भरत ९५
१०९ ,, महाराजा जनक ९५
११० जनकपुरमें दशरथजी २८
१११ जनकपुरसे विदा २९
११२ जयन्तकी दुष्टता १०२
११३ जयमाला २८
११४ दशरथ-मरण ७५
११५ पार्वतीकी तपस्या १२
११६ भरत-हनूमान्-मिलाप १६२
११७ भरद्वाज-आश्रममें श्रीराम ९४
११८ महाराजा जनकका प्रथम रामदर्शन ... १३
११९ महाराजा दशरथजीका दरबार ७४
१२० रावणको मन्दोदरीकी सीख १४०
१२१ लङ्कापर चढ़ाई १४०
१२२ लक्ष्मण-मूर्छा १४१
१२३ लक्ष्मणका क्रोध ९४
१२४ विराध-वध १०२
१२५ शिव-धनुष-भंग २९
१२६ शिव-विवाह १२
१२७ श्रीराम और केवट ७५
१२८ श्रीराम पुनः अयोध्यामें १६२
१२९ सीता-हरण १०३
१३० सेतुबन्ध रामेश्वर १३३

शृंगवेरपुरके

१३१ श्रीगौरीशंकर-पाठशाला ३४१
१३२ श्रीरामके सोनेका स्थान रामचौरा ... ३४१
१३३ शान्तादेवीका मन्दिर ३४१
१३४ शृंगीऋषिकी समाधि ३४१

सेतुबन्ध रामेश्वरके

१३५ राम-झरोखा ४५३
१३६ रामेश्वर-मन्दिरका एक पार्श्व प्रवेशद्वार ... ४५२
१३७ ,, ,, प्रधान प्रवेशद्वार ... ४५२
१३८ ,, ,, स्तम्भ ४५२
१३९ ,, ... मन्दिरकी प्रदक्षिणा ... ४५३
१४० लक्ष्मण-तीर्थ ४५३

इनके अतिरिक्त दो हेडिंग-चित्र, छः मानचित्र और दो छपि चित्र हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

श्रीरामायण-परिशिष्टांक

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

वर्ष ५
खण्ड १

कल्याण कार्यालय, गोरखपुर

भाद्रपद
१९८७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय, सत् चित् आनँद भूमा जय जय ।
जय जय विश्वरूप हरि जय, जय अखिलात्मन् जगमय जय ।
जय विराट जय जगत्पते, गौरीपति जय रमापते ॥

वार्षिक मूल्य—भारतमें ४=) विदेशमें ५≠) एकप्रतिका मूल्य ।=) इस अङ्कका मूल्य ॥)

Edited by Hanuman Prasad Poddar, Printed and Published by
Ghanshyamdas at the Gita Press, Gorakhpur.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

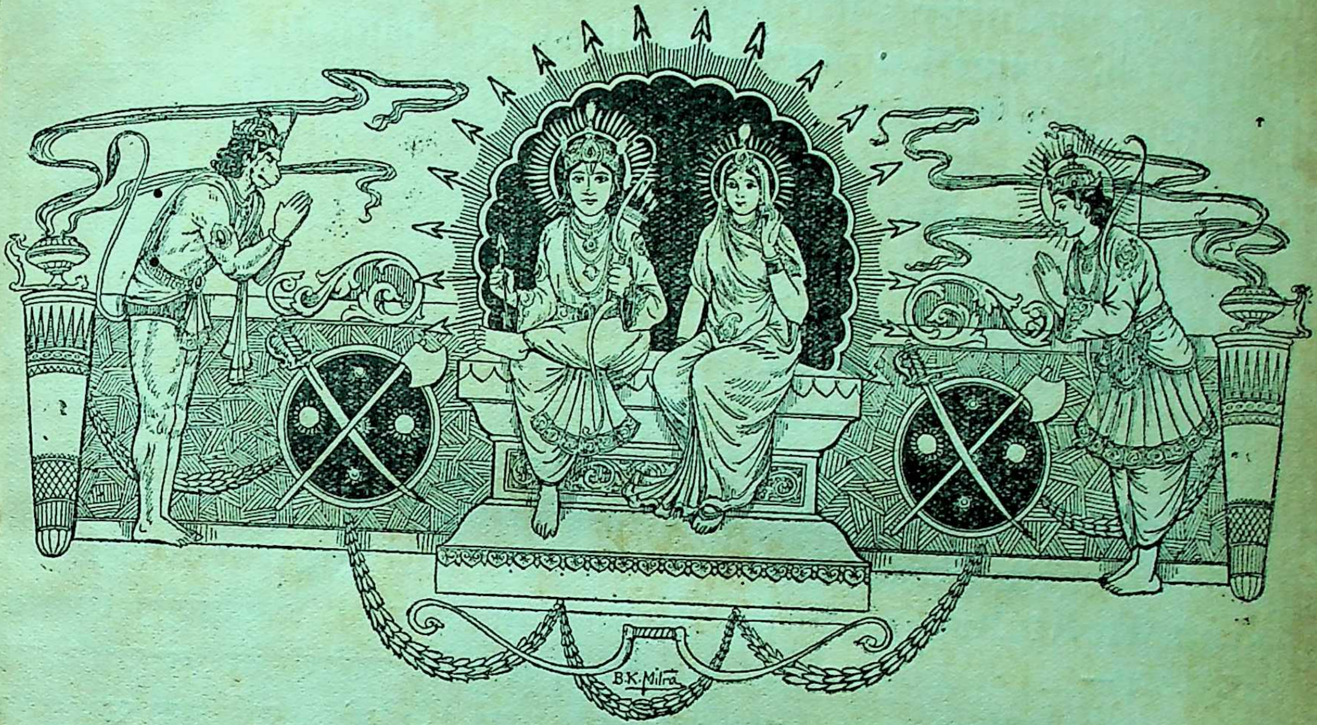

मायातीतं माधवमाद्यं जगदादिं, मानातीतं मोहविनाशं मुनिवन्द्यम् ।
योगिध्येयं योगविधानं परिपूर्णं, वन्दे रामं रञ्जितलोकं रमणीयम् ॥

वर्ष ५ खण्ड १ | भाद्रपद कृष्ण ११ संवत् १९८७ अगस्त १९३० | संख्या २ पूर्ण सं० ५०

एक रामतें मोर भल

राम मातु पितु बंधु सुजन गुरु पूज्य परम हित ।
साहेब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित ॥
देस कोस कुल कर्म धर्म धन धाम धरनि गति ।
जाति पाँति सब भाँति लागि रामहिं हमारि पति ॥
परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ रामतें सकल फल ।
कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक रामतें मोर भल ॥

—गोसाईंजी महाराज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामका राजधर्मोपदेश

त्यागमूर्ति धर्मात्मा भरतजी चित्रकूटमें श्रीरामजीके चरणोंपर पड़े हैं, आँसुओंसे उनके चरण धो रहे हैं, भरतका वेष तपस्वियोंका-सा है, अत्यन्त शोकके कारण थोड़े ही दिनोंमें उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया है। श्रीरामने प्रेमसे उठाकर भरतको हृदयसे लगा उनका मस्तक सूँघा और गोदमें बैठाकर बड़े प्यारसे उनकी इस दशाका कारण पूछा। पहले तो पिताजीके सम्बन्धमें प्रश्न किये फिर वे राजधर्मके विषयमें पूछने लगे। श्रीरामजीके प्रश्नोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय राजधर्म कैसा था? श्रीरामजीने भरतको विषादमय देखकर कहा--

‘हे सौम्य! तुम अभी बालकके समान हो, तुम्हारे हाथसे कहीं राज्य तो नष्ट नहीं हो गया? हे सत्यपराक्रम! तुम पिताजीकी सेवा तो करते हो? भाई! अपने इक्ष्वाकु-कुलके आचार्य धर्मप्रेमी, विद्वान् महातेजस्वी महर्षि वशिष्ठजीकी पूजा तो करते हो? माता कौसल्या, सुपुत्र उत्पन्न करनेवाली सुमित्रा और आर्या देवी कैकेयी तो तुमसे प्रसन्न हैं? विनयी, सर्वशास्त्रज्ञ, कर्मकाण्ड-निपुण, असूयारहित, कुलगुरु वशिष्ठजीके पुत्र, जो तुम्हारे पुरोहित हैं, उनका भलीभाँति सत्कार तो करते हो? बड़े बुद्धिमान्, वेदविधिके ज्ञाता, अत्यन्त विनयी गुरुपुत्र सुयज्ञ, जिनकी तुमने अग्निकार्यके लिये नियुक्ति की है, हवनके पूर्व और हवनके पश्चात् तुम्हें उसकी सूचना तो देते हैं? तुम देवता, गुरुजन, पितर, पिताके समान पूज्य बड़े बूढ़े लोग, वैद्य, ब्राह्मण और नौकरोंका यथायोग्य सत्कार तो करते हो? इसी प्रकार शस्त्रास्त्रके प्रयोग जाननेवाले, अर्थ-शास्त्रके विद्वान्, राजनीतिविशारद धनुर्वेदके ज्ञाता सुधन्वा पण्डित आदि सत्पुरुष तुम्हारे द्वारा आदर तो पाते हैं? तुमने अपने समान विश्वासी शूर, विद्वान्, जितेन्द्रिय, कुलीन और ऊपरकी चेष्टासे ही मनके भावको समझ जानेवाले लोगोंको तो अपना मन्त्री बनाया है? क्योंकि शास्त्रज्ञ और मन्त्रकी रक्षा कर सकनेवाले मन्त्रियोंके द्वारा सुरक्षित मन्त्र ही राजाओंकी विजयका मूल कारण है।’

‘तुम जागनेके समय सोते तो नहीं हो? रातके पिछले पहर उठकर अपने कार्योंकी सिद्धिका उपाय तो सोचते हो? अकेले ही तो किसी बातका मनमाना निश्चय नहीं कर लेते? अथवा बहुत-से अयोग्य आदमियोंके साथ मिलकर तो निश्चय नहीं करना चाहते? तुम्हारे स्थिर किये हुए विचारका काम पूरा होनेके पहले ही लोगोंको पता तो नहीं लग जाता? थोड़े प्रयत्नसे बड़ा फल उत्पन्न करनेवाला उपाय निश्चय कर लेनेपर फिर उसके अनुसार कार्य करनेमें विलम्ब तो नहीं करते? तुम्हारे सामन्त राजा तुम्हारे किसी विचारको कार्यके सिद्ध होने या सिद्धिके समीप पहुँचनेके पहले ही जान तो नहीं लेते? तुम्हारे निश्चित विषयोंको तुम्हारेद्वारा या मन्त्रियोंद्वारा कहे जानेसे पूर्वही अनुमान, तर्क, युक्ति आदिके द्वारा कोई जान तो नहीं लेते? परन्तु तुम और तुम्हारे मन्त्रीगण दूसरोंके निश्चय किये हुए विषयोंको अनुमान, युक्ति और तर्कके द्वारा जान तो लेते हो? हजारों मूर्खोंकी अपेक्षा एक पण्डितको तुम अपने पास रखना अच्छा समझते हो न? क्योंकि संकटके समय पण्डित ही उत्तमोत्तम उपाय सोचकर राजाका महान् कल्याण करता है। राजा चाहे हजारों लाखों मूर्खोंको अपने पास रक्खे, उनसे समयपर कोई सहायता नहीं मिलती, पक्षान्तरमें एक ही बुद्धिमान्, शूरवीर, दक्ष, विचक्षण मन्त्री राजा या राजपुत्रको विशाल समृद्धिकी प्राप्ति करवा सकता है। तुम उत्तम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवकोंको उत्तम कार्यपर, मध्यमको मध्यम कार्यपर और छोटे सेवकोंको छोटे कामपर यानी जिसके लायक जो काम हो, उसको उसी कामपर नियुक्त करके सबकी ठीक व्यवस्था तो रखते हो? बड़े-बड़े कामोंपर भलीभाँति परीक्षा किये हुए, बाप-दादोंके समयके मन्त्रियोंके वंशज, निष्पाप, ऊँचे विचारवाले लोगोंको ही नियुक्त करते हो न? तुम किसीको ऐसा उग्रदण्ड तो नहीं देते, जिससे दुखी होकर प्रजा या मन्त्री तुम्हारा तिरस्कार करते हों? हे भाई! जैसे कुलीन स्त्री पर-स्त्रीमें आसक्त पुरुषका तिरस्कार करती है वैसे ही यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण तुमपर कोई अपराध लगाकर तुम्हें यज्ञके योग्य नहीं समझकर तुम्हारा अपमान तो नहीं करते? धनके लोभसे राजाकी बीमारी बढ़ानेवाले वैद्यको, राजाके ऐश्वर्यको भ्रष्ट करनेके लिये विश्वासी सेवकोंको फोड़नेवाले सेवकको जो राजा प्राण-दण्ड नहीं देता वह स्वयं ही मारा जाता है। हे भरत! तुम्हारा सेनापति तुमसे सदा प्रेम करनेवाला शूर-वीर, धीर, बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन और चतुर तो है न? युद्धकलामें निपुण, बलवान्, वीरतामें परीक्षा किये हुए प्रधान योद्धाओंको तुम सदा सम्मान-दानसे प्रसन्न तो रखते हो न? सेनाको अन्न और वेतन प्रतिमास ठीक समयपर मिल जाता है न? इस कार्यमें कुछ भी देर तो नहीं होती? क्योंकि सैनिकोंको अन्न और वेतन समय-पर न मिलनेसे वे विद्रोही हो उठते हैं जिससे बड़ा अनर्थ हो जाता है। तुम्हारे कुलके प्रधान लोग तुमपर प्रेम तो रखते हैं न? वे तुम्हारे हितके लिये समयपर स्वेच्छासे सदा प्राण देनेको तैयार तो रहते हैं न? हे भाई! अपने ही देशके विद्वान्, चतुर, प्रतिभाशाली, जैसा कहा हो वैसा ही कहने-वाले पण्डितोंको ही तुमने दूत बनाया है न?

हे भरत! एक दूसरेको न पहचाननेवाले तीन-तीन गुप्तदूतोंद्वारा तुम अपने राज्यके पन्द्रह और दूसरेके राज्यके अठारह तीर्थोंका परा पता तो रखते हो न? १ मन्त्री, २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति ५ द्वारपाल, ६ रनिवासका रक्षक, ७ कारागृह-अध्यक्ष (जेल-सुपरिण्टेण्डेण्ट), ८ खजाञ्ची, ९ राज्यकी आज्ञा सुनानेवाला, १० वकील, ११ न्यायकर्त्ता (जज), १२ व्यवहार-निर्णायक (पञ्च या जूरी), १३ सेनाको वेतन चुकानेवाला, १४ कर-संग्रहकर्त्ता (तहसीलदार) १५ नगराध्यक्ष, (म्युनिसिपलिटिका चेयरमैन) १६ राष्ट्रान्तःपाल (सीमारक्षक), १७ दुष्टोंको दण्ड देनेवाला, और १८ जल, पर्वत और वनोंके किलोंकी रक्षा करनेवाला, ये अठारह तीर्थ हैं, इनमें मन्त्री, पुरोहित और युवराजको अलग कर देनेपर पन्द्रह बचते हैं। इन सबके कार्योंपर राजाको जरूर निगरानी रखनी चाहिये। हे शत्रुदमन! देशका अहित करनेवाले जिन लोगोंको तुमने देशसे निकाल दिया है, वे यदि देशमें फिर आ बसते हैं तो तुम उनको दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा तो नहीं करते? तुम नास्तिक ब्राह्मणोंका संग तो नहीं करते? परलोक-ज्ञानसे शून्य अनर्थपरायण, पाण्डित्याभिमानी लोगोंसे बहुत बुराई होती है। ऐसे दुर्बुद्धि लोग प्रामाणिक धर्म-शास्त्रोंके विद्यमान रहनेपर भी शुष्क तर्क-बुद्धिसे अर्थहीन उपदेश किया करते हैं। भाई! हमलोगोंके वीर पूर्वजोंके द्वारा सेवित यथार्थ अयोध्या (जहाँ युद्धार्थ कोई भी शत्रु नहीं आता) नामवाली और मजबूत दरवाजोंवाली, हाथी, रथ और घोड़ोंसे भरी हुई, अपने-अपने कर्ममें लगे हुए जितेन्द्रिय उत्साही और उत्तम हजारों ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंसे युक्त, अनेक प्रकार बड़े-बड़े सुन्दर महलोंवाली, अनेक प्रकारके विद्वान् और धन-ऐश्वर्यसे परिपूर्ण विशाल नगरीकी भलीभाँति रक्षा तो करते हो न? हे भाई! जिसमें अनेक देव-मन्दिर हैं, अश्वमेधादि यज्ञ करने योग्य अनेक स्थल हैं, जो बुद्धिमान् मनुष्योंसे पर्ण है, नदी, तालाब आदि जलाशयोंसे युक्त है, जिसमें सभी स्त्री-पुरुष सुप्रसन्न हैं, जहाँ अनेक सभाएँ और उत्सव हुआ करते हैं, अच्छी खेती होती है, पर जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बादलोंपर निर्भर नहीं है, जो गौ आदि पशुओंसे भरा है, जहाँ पशुहिंसा बिल्कुल नहीं होती जहाँ हिंस्र पशु नहीं हैं अर्थात् हिंसक पशुओंने हिंसा छोड़रक्खी है, किसीको किसी प्रकारका भय नहीं है, अनेक धातुओंकी खानें हैं, जहाँ पापी मनुष्य नहीं रहते, ऐसा अपने पूर्वजोंद्वारा सुरक्षित समृद्धिशाली देश तुम्हारे शासनमें सुखी तो है ? हे भाई ! अपने देशमें रहनेवाले खेती और गोरक्षापर आजीविका चलानेवाले वैश्योंपर तुम प्रेम तो करते हो न ? खेती और व्यापारमें लगे हुए वैश्योंकी सारी इच्छाओंको पूर्ण करके तुम उनका भलीभाँति संरक्षण तो करते हो न ? देशमें बसनेवाली प्रजाका पालन करना राजाका धर्म है । तुम स्त्रियोंका किसी प्रकार अपमान तो नहीं होने देते हो ? स्त्रियोंका भली-भाँति सन्तोष तो कराते हो ? वे तुमसे सुरक्षित तो रहती हैं ? तुम उनके वचनोंपर अतिविश्वास तो नहीं करते ? और उन्हींको इष्ट मानकर अपनी गुप्त बात तो नहीं कह देते हो ?

हे भारत ! जहाँ बहुत-से हाथी उत्पन्न होते हैं ऐसा अपना हाथीवन तो सुरक्षित है ? तुम अच्छे हाथी, हथिनी और घोड़ोंके संग्रहमें तृप्त तो नहीं होते ? तुम प्रतिदिन प्रातःकाल राजमार्गों-पर जाकर प्रजाको अपने सुसज्जित शरीरसे दर्शन तो देते हो ? तुम्हारे कर्मचारी, निशङ्क होकर तुम्हारे सामने बेअदबीसे तो नहीं आते ? अथवा तुमसे डरकर या तुम्हें अभिमानी समझकर तुम्हारे सामने आनेमें सङ्कोच तो नहीं करते ? कर्मचारियों-को न तो बहुत पास रखना चाहिये और न बहुत दूर ही। बीचका मार्ग ही अच्छा है । हे भाई, तुम्हारे सब किले धन-धान्य, हथियार, जल, अनेक प्रकारके यन्त्र-शिल्पी और धनुर्धारी वीरोंसे तो भरे हैं ? तुम्हारी आमदनी खर्चसे ज्यादा तो है ? तुम्हारा धन नाचने गाने और खुशामद करनेवाले अपात्रोंमें तो खर्च नहीं होता ? राजाको आमदनीसे खर्च कम करना चाहिये और वह भी प्रजाको अन्न, जल, वायु आदि दैवी वस्तुओंसे यथायोग्य सुख पहुँचानेवाले देवों, प्रजाके सुखाकांक्षी पूज्य पितृ-गणों, विद्यादान देनेवाले ब्राह्मणों, पूज्य अतिथियों, राज्यरक्षक योद्धाओं, सम्बन्धी और प्रिय मित्रोंके पोषण करनेमें और प्रजाके सुखके कार्योंमें करना चाहिये ।

हे भाई ! तुम्हारे राज्यके न्यायाधीश, किसी सदाचारी साधुपर कोई झूठा अपराध लगनेपर धर्मके ज्ञाता पुरुषोंके द्वारा निर्णय कराये विना ही धनके लोभसे उसे दण्ड तो नहीं दे देते ? अथवा घरके मालिक या तुम्हारे सिपाही द्वारा पकड़े हुए चोरको, उसके चोर सिद्ध हो जानेपर एवं चोरीका माल पकड़ा जानेपर भी लोभसे छोड़ तो नहीं देते ? सारांश कि राजाको यह खयाल रखना चाहिये कि जिसमें उसके राज्यमें निरपराधी प्रजा दण्डित न हो और अपराधी छूट न जाय ! हे भाई ! तुम्हारे शास्त्रज्ञ मन्त्रीगण धनी और गरीबके मामलेमें लोभ छोड़कर निष्पक्ष यथार्थ न्याय तो करते हैं ? क्योंकि राजाके अन्यायके कारण विना अपराध दण्डित हुए मनुष्योंकी आँखोंसे जो आँसू गिरते हैं वे भोग-विलासके लिये राज्य करनेवाले राजाके पुत्र और पशुधनको नष्ट कर डालते हैं । हे प्रिय ! तुम वृद्धों, बालकों और प्रधान वैद्योंका दान, स्नेह और मधुर वचनोंसे सत्कार तो करते हो ? इसी प्रकार देवताओं, गुरुजनों, वृद्धों, तपस्वियों, अतिथियों, देवमन्दिरों और तपस्या आदि द्वारा पवित्र हुए ब्राह्मण आदिको प्रणाम तो करते हो ?

भाई ! प्रातःकालका समय धर्मोपार्जनका है, उस समय अर्थोपार्जनके कार्यमें लगकर धर्मका बाध तो नहीं करते ? ऐसे ही मध्याह्नकाल राज-काज देखनेका यानी अर्थ-संग्रह करनेका है, उस समय धर्मकार्यमें लगकर अर्थका बाध तो नहीं करते ? अथवा इन्द्रिय-भोगार्थ, कामके वश हो धर्म अर्थ दोनों-को बाधित तो नहीं करते हो ? समयका उचित विभाग करके ही धर्म, अर्थ और कामका यथा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग्य आचरण करते हो न ? भाई ! देशके विद्वान् ब्राह्मण और समस्त प्रजाजन तुम्हारा कल्याण तो चाहते हैं ?

नास्तिकता, असत्य, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता ज्ञानियोंका संग न करना, आलस्य, इन्द्रियोंके वश होना, महत्त्वपूर्ण कार्यका अकेले ही विचार करना, विपरीत दृष्टिवाले अयोग्य पुरुषोंकी सलाह लेना, निश्चित किये हुए कार्यका आरम्भ न करना, गुप्त मन्त्रणाओंका भेद खोल देना, प्रतिदिन प्रातःकाल नित्यकर्म न करना, सब ओरके शत्रुओंपर एक ही साथ चढ़ाई कर देना, और महापुरुषोंको आते देख सिंहासनसे उठकर उसे प्रणाम न करना ये चौदह राजदोष समझे जाते हैं, तुममें इनमेंसे एक भी दोष तो नहीं है न ?

हे बुद्धिमान् भरत ! दशवर्ग[1], पञ्चवर्ग[2], सप्तवर्ग[3], चतुर्वर्ग[4], अष्टवर्ग[5], और त्रिवर्ग[6], को तो तुम तत्त्वसे जानते हो ? त्रिविध विद्या[7],की ओर तो तुम्हारा ध्यान है न ? बुद्धिसे इन्द्रियोंको जीतनेका उपाय[8], षड्गुण[9], दैवी आपत्ति[10], मानुषी आपत्ति[11], राज-कर्तव्य[12], बीसवर्ग[13], पाँच प्रकृति[14], राजमण्डल[15], पञ्चयात्रा[16], दण्डविधान, एवं सन्धि और विग्रह, ये सब नीतिशास्त्रके तत्त्व हैं। इनमें

१–शिकार, जूआ, दिनमें सोना, व्यर्थ बकवाद, अति स्त्री-संग, मदिरा आदि नशैली चीजोंका सेवन, नाचना, गाना, बाजे बजाना और बेमतलब भटकना। यह कामसे उत्पन्न होनेवाला 'दशवर्ग' है।

२–पाँच प्रकारके किले बनाना—समुद्र, नदी, तालाब आदि जलस्थानमें, पर्वतपर या पर्वतोंके बीचमें, वृक्षोंपर या वृक्षोंसे भरे जंगलमें, ऊसर जमीनमें (रणक्षेत्रमें) और हथियारोंके बीचमें। यह पञ्चवर्ग है।

३–राजा, मन्त्री, राष्ट्र, किले, खजाना, सेना और सहायक बन्धु, यह सप्तवर्ग है, इनकी परस्पर सहायतासे राज्य सुदृढ़ होता है।

४–साम, दान, भेद और दण्ड यह चतुर्वर्ग है।

५–चिढ़ना, दुःसाहस, द्रोह, ईर्षा, असूया, अर्थदोष, वचनकी कठोरता और कठोर दण्ड, यह अष्टवर्ग है। यह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका समूह है।

६–धर्म, अर्थ और काम यह त्रिवर्ग है। उत्साह, प्रभु और मन्त्रको भी त्रिवर्ग कहते हैं।

७–वैदिक धर्मज्ञान, खेती-व्यापार आदि वृत्तिका ज्ञान और राजनीतिका ज्ञान।

८–यम, नियम, आसन, प्राणायाम और विचार विवेक आदि योग और ज्ञानके साधन।

९–सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय।

१०–अग्नि, बाढ़, अकाल, भूकम्प, वज्रपात, अनावृष्टि, महामारी आदि।

११–चोर, डाकू, शत्रु, राजद्रोही, अधिकारी, और राज्यलोभी आदि मनुष्योंके द्वारा प्राप्त होनेवाली विपत्तियाँ।

१२–शत्रुपक्षके लोभी, अभिमानी, क्रोधी और डरपोक मनुष्योंको धन मान देकर, प्रियकार्य कर और भय दिखलाकर वशमें करना।

१३–बालक, वृद्ध, दीर्घकालका रोगी, जातिबहिष्कृत, डरपोक, डरपोक साथियोंवाला, लोभी, लोभी साथियोंवाला वैरागी, अत्यन्त विषयासक्त, चञ्चल, देव और ब्राह्मणोंका निन्दक, अभागी, प्रारब्धवादी, अकालपीड़ित, सेनाहीन, अयोग्य स्थानमें निवास करनेवाला, बहुत शत्रुओंवाला, कालपीड़ित, और सत्यधर्ममें प्रीति न रखनेवाला। यह बीसवर्ग है। ऐसे शत्रुओंसे सन्धि करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनपर विजय प्राप्त करना सहज है।

१४–मन्त्री, देश, किला, खज़ाना और दण्ड, यह पाँच प्रकृति है।

१५–विजिगीषु, शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र, मित्रका मित्र, शत्रुके मित्रका मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार, मध्यस्थ और उदासीन, ये द्वादश राजमण्डल हैं।

१६–विगृह्ययान (बड़ी सेना साथ लेकर जाना) संधाययान (जिस शत्रुपर आक्रमण किया था, उससे सन्धि करनेके बाद दूसरे शत्रुपर हमला करने जाना) संभूययान (शूरवीरोंको साथ लेकर जाना), प्रसंगतोयान (जिसपर हमला करने जा रहे थे, उसको छोड़कर बीचमेंही दूसरे शत्रुपर हमला करना) और उपेक्ष्ययान (जिसपर चढ़ाई की थी, उसे बलवान समझकर उसके मित्रपर चढ़ाई करना)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ ग्रहण करने योग्य, कुछ त्याग करने योग्य और कुछ प्रतीकार करने योग्य हैं। तुम इन सबके भेदोंको समझते हुए यथायोग्य ग्रहण, त्याग और प्रतीकार तो करते हो न?

हे बुद्धिमान्! तुम शास्त्रानुसार तीन चार निपुण मन्त्रियोंसे एक साथ या उनके मनकी बात जाननेके लिये अलग अलग राय लेकर तो सारे कार्य करते हो न? वेदोक्त क्रियाओंको करके तुम वेदको सफल तो करते हो? तुम्हारे सारे राज्यकार्य सफल तो होते हैं? उत्तम आचरण करके तुम श्रवण किये शास्त्रोंको तो सफल कर रहे हो? धर्मपरायणा और सन्तानवती होकर स्त्रियाँ तो सफल हैं? भाई भरत! मेरे कथनानुसार ही तुमने आयु, यश, धर्म, अर्थ और कामको प्रदान करनेवाली सद्बुद्धिका आश्रय ले रक्खा है न? तुम अपने पिता-पितामहादिके व्यवहारके अनुकूल ही व्यवहार करते हो न? क्योंकि वही शुभ और सत्पथा वृत्ति है। तुम स्वादिष्ट भोजन अकेले तो नहीं खाते? अधिक प्रेम होनेके कारण भोजन चाहनेवाले मित्रोंको यथेच्छ भोजन तो देते हो न? इसप्रकार धर्मानुसार शासन करनेवाला राजा अपनी प्रजाका पालन करके समस्त पृथ्वीपर अपना आधिपत्य स्थापित करता है और मृत्युके अनन्तर स्वर्ग या परमधामको जाता है।' यह वर्णन वाल्मीकिरामायणके आधारपर लिखा गया है।

—रामायण-प्रेमी

श्रीरामायणकी अनुष्ठान-विधि

(लेखक—पं० गौरीशंकरजी द्विवेदी)

गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें जो भक्ति-सुधा-सरिता प्रवाहित की है उसका क्षेत्र अवतारवाद और भक्ति है, यह सर्वसम्मत है। शुद्ध परमात्म-ज्ञानभानुके आलोकसे उसके चमत्कृत होनेके साथ ही उसका उद्गम और अवसान उस सनातन-तत्त्व तन्त्रमें होता है जिसके बिना यह सारी रचना अपूर्ण रह जाती है। यह है राम-नाम-जपकी महिमा। मन्त्र-जप तन्त्र-शास्त्रका मूल है। तान्त्रिकोंकी सारी शक्तिका केन्द्र मन्त्र-जपमें ही होता है। तन्त्रमें हमारी श्रद्धा आदिकालसे है। वेदसे लेकर आधुनिक कालके नानापुराणनिगमागमसम्मत रामचरितमानसतक जितने ग्रन्थ सनातनधर्मपर लिखे गये हैं सबमें तन्त्रका प्रभाव है। इसकी शक्तिके विषयमें गोस्वामीजीने स्वयं कहा है—

मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब।
महामत्त गजराजकहुँ बस कर अंकुश खर्ब॥
मंत्र महामणि विषय व्यालके। मेटत कठिन कुअंक भालके॥

इसप्रकार मन्त्र-माहात्म्यके द्वारा तन्त्रशास्त्र (आगम)का सार रामनाम श्रीरामचरितमानसका प्राण है। इस प्राणकी प्रतिष्ठा कथाके द्वारा हुई है। ज्ञान और भक्ति दो पार्श्व-सहकारी हैं।

इसप्रकार प्राण-प्रतिष्ठा हो जानेके अनन्तर मन्त्रका यजन-पूजन सनातन कृत्य है, जो 'मन्त्रा वै देवाः' के अनुसार वैदिक युगके यज्ञ-विधानके उपरान्त पौराणिक कालके नवधाभक्तिके एकीकरणमें व्यक्त होता है। इसीका प्रत्यक्ष स्वरूप पौराणिक कथाओंके माहात्म्यमें प्राप्त होता है। इन कथाओंका अनुष्ठान, इनकी पूजा-पाठ-विधि भारतके प्रत्येक प्रान्तोंमें पायी जाती है। इन कथाओंके द्वारा तन्त्रशास्त्र-विहित मन्त्र-देवकी प्राण-प्रतिष्ठा, यजन-पूजनादि विधियाँ समारोहके साथ की जाती हैं, इनमें मुख्यरूपेण भक्ति और गौणरूपसे ज्ञान-चर्चा होती है। समाजकी नैतिक और आध्यात्मिक दशाको सौम्य और समुन्नत बनानेमें इन अनुष्ठानोंका बड़ा हाथ रहा है और इनके द्वारा संस्कृतिकी रक्षा भी हो सकी है। यहाँ रामायणकी अनुष्ठान-विधिपर कुछ लिखा जाता है। परम भागवत नारदमुनिने श्रीसनत्कुमारसे ध्यानपूर्वक जो रामायणपाठकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधि बतलायी थी उसीका यहाँ संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया जाता है।

परम पुनीत चैत्र, कार्तिक या माघमासमें श्रीरामायणकी कथा नौ दिनतक नित्य श्रद्धापूर्वक कहलावे। शुक्ल-पक्षमें पञ्चमीसे कथारम्भ करे। प्रतिदिन अपामार्गकी शाखा ले दन्त-संशुद्धि कर स्नानादि करे और शुद्ध शुक्लवस्त्र धारणकर, नारायणका नाम-स्मरण करता हुआ आचमन करके अपने बन्धु-बान्धवोंको बुलाकर रामभक्तिपरायण हो स्वस्तिवाचन करे। पश्चात् सङ्कल्प करके भक्तिभावसे पञ्चदेवताओंकी अर्चनाकर श्रीमद्रामायणके पुस्तककी अर्चना करे। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताकी मूर्ति स्थापित करे और हनूमान्‌की भी प्रतिमा रक्खे। आवाहन करके आसनादि प्रदान करे और गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्यसे भक्तिपूर्वक श्रीनारायणकी पूजा करे और प्रत्यह एक बार, दो बार या तीन बार जितना हो सके अपनी शक्तिके अनुसार होम करे। तदनन्तर कर्मनिष्ठ उत्तम ब्राह्मणसे श्रीरामायणकी कथा श्रवण करे। इसीप्रकार नव दिनतक नित्य कथा सुने। नवें दिन कथा समाप्त होनेके पश्चात् कथावाचक ब्राह्मणको गो, वस्त्र, द्रव्यादि यथाशक्ति प्रसन्नतापूर्वक भक्तिभावसे दान करे और श्रीमद्रामायणकी पुस्तक अपनी शक्तिके अनुसार विद्वान् ब्राह्मणोंमें बाँटे।

श्रीरामचरितमानसके नवाह्निक पाठका क्रम इसप्रकार है—

प्रथम दिवस—बालकाण्डके 'जो सुमिरत सिधि होइ' इस सोरठेसे लेकर 'हियहर्षे कामारि' इस दोहेतक।

द्वितीय दिवस—'सुनु शुभ कथा भवानि' इस सोरठेसे 'सतानन्द पद बन्दि प्रभु' इस दोहेतक।

तृतीय दिवस—'सीय स्वयंवर देखिय जाई' इस चौपाईसे 'कीन्ह शौच सब सहज शुचि' इस दोहेतक।

चतुर्थ दिवस—'भूप बिलोकि लिए उरलाई' इस बालकाण्डकी चौपाईसे 'श्यामल गौर किशोरवर' इस अयोध्याकाण्डके दोहेतक।

पञ्चम दिवस—'कोटि मनोज लजावनि हारे' इस चौपाईसे 'राम शैल शोभा निरखि' इस दोहेतक।

षष्ठ दिवस—'तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई' इस अयोध्याकाण्डकी चौपाईसे 'हारि परा खल बहुत विधि' इस दोहेतक।

सप्तम दिवस—'जेहि विधि कपट कुरंगसंग' इस आरण्यकाण्डके दोहेसे लंकाकाण्डके 'कह मारुतसुत सुनहु प्रभु' इस दोहेतक।

अष्टम दिवस—'पवनतनयके वचन सुनि' इस लङ्काकाण्डके दोहेसे उत्तरकाण्डके 'जहँ तहँ धावन पठइ पुनि' इस दोहेतक।

नवम दिवस—'अवधपुरी अति रुचिर बनाई' इस चौपाईसे उत्तरकाण्डके अन्ततक।

इसप्रकार श्रीरामायणका पाठ समाप्त होनेपर प्रतिदिन आरती करे और मङ्गलगान करे तत्पश्चात् सुमन वर्षाकर श्रीनारायण-गुण-गानकर कथा समाप्त करे। जबतक कथा होती रहे तबतक भगवान् श्रीराम और शिवजीका नाम-जप करता रहे। इसप्रकार रामायणकथाका वाचन करवानेसे ऋद्धि-सिद्धि, सुख-सम्पत्ति और परमधाम तक, अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मनचाही सभी वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं।

दीजे सुमति

'दशरथजी' के 'लाल' 'जनकजी' के 'जामाता'।
'सीताजी' के 'देव', 'भरतजी' के वर 'भ्राता'।
'शंकरजी' के 'पूज्य', 'मारुतीजी' के 'स्वामी'।
'रावण' के 'अरि' प्रबल, 'सुरों' के 'बल' निष्कामी।
'तुलसी' के सर्वस्व 'प्रभु', विप्र 'गुणाकर' की विनति।
चरण—कमलमें होय रति, यही राम दीजे सुमति।

सुखराम चौबे 'गुणाकर'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर्श राज्य-व्यवस्था

अर्थात्

रामराज्य और प्रजासन्तोष

(लेखक—श्री० सी० एस० त्रिवेदी महोदय)

प्रत्येक देशकी, देशवासियोंकी, समाजकी और समाजके प्रत्येक व्यक्तिकी आर्थिक, शारीरिक, औद्योगिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति प्रधानतः उनकी राज्यव्यवस्थापर अवलम्बित है। चारों दिशाओंके प्रायः सभी देशोंने इस सर्वमान्य सिद्धान्तका अनुभव किया है और इसीलिये वे अपने अपने यहाँ आदर्श राज्य-व्यवस्थाकी प्रतिष्ठाके लिये प्राणपणसे प्रयत्न कर रहे हैं।

एक या अनेक कारणोंसे बढ़ते हुए दुःख, दारिद्र्य, बेकारी और असन्तोषके कारण साधारण प्रजाको जीवन-निर्वाहके आवश्यक साधनोंकी प्राप्तिमें भी उत्तरोत्तर कठिनता बढ़ती जा रही है। आत्मसम्मानकी सम्मान्य भावनाका भी सहजमें पोषण नहीं होता। इसप्रकारके अनेक कारणोंसे प्रत्येक देशकी अधिकांश प्रजाका जीवन क्रमशः मधुरिमा-शून्य बनता जा रहा है। उनमें तीव्रता और कटुता बढ़ रही है। इस प्रवृत्तिने कई जगह तो राजा-प्रजामें कटुता उत्पन्न कर दी है। प्रजामें बढ़ती हुई इस असन्तोषकी भावनाने अनेक सम्राटों और राजाओंको निर्वासित करा दिया है और अनेक साम्राज्योंके सिंहासन डुला दिये हैं।

कैसी राज्य-व्यवस्थासे प्रजा सुखी, सन्तोषी, सम्पन्न और आत्मबलयुक्त हो सकती है, इस प्रश्नने जगत्‌के महापुरुषोंको भी चक्करमें डाल रक्खा है, इसीलिये यूरोपके पृथक् पृथक् देशोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी राज्य-व्यवस्था (Forms of Government) का प्रयोग हो रहा है। करोड़ों मनुष्योंके सुख, सन्तोष और जीवनकी आहुतिसे गढ़ी जानेवाली इन राज्य-व्यवस्थाओंमें कौन-सी उपादेय है, इस बातको अभी पाश्चिमात्य प्रजा एकस्वरसे निश्चयरूपसे नहीं बतला सकी है। उसने अभीतक अपनी राज्य-व्यवस्थाका आदर्श अर्थात् आदर्श राज्यव्यवस्था (Ideal form of Government) प्रतिष्ठित नहीं की है।

समुचित स्पष्ट आदर्शके अभावसे पाश्चात्य देशोंकी स्थिति—उन राज्योंकी स्थिति ध्रुवहीन जहाजके सदृश है। ध्येय या आदर्शके अभावके कारण, ध्येयप्राप्तिके साधनोंपर भी आवश्यक विचार नहीं किया जा सकता। साधनका समुचित निर्देश किये बिना राज्य-व्यवस्थाके सिद्धान्तका निश्चय न होना स्वाभाविक ही है।

सौभाग्य-वश इस विषयमें भारतकी स्थिति पाश्चिमात्य देशोंकी अपेक्षा अच्छी है। स्वराज (Home Rule) स्वतन्त्रता (Independence) और औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) आदि पारिभाषिक शब्दोंको एक ओर रखकर भारतके जनसाधारणसे राज्य-व्यवस्थाका आदर्श पूछा जाय तो वे तुरन्त 'रामराज्य' का नाम लेंगे।

लगभग समस्त भारतद्वारा स्वीकृत और समस्त जगत् द्वारा सहज ही आदर्शरूपमें आदरित रामराज्यकी इतनी यशोगाथा क्यों गायी जाती है? इस प्रश्नका उत्तर पानेके लिये सम्पूर्ण रामायणको भिन्न-भिन्न दृष्टिविन्दुओंसे पढ़ जानेकी आवश्यकता है। विभिन्न धर्मावलम्बियोंकी दृष्टिमें भी रामायण धर्मग्रन्थकी हैसियतसे एक सर्वमान्य ग्रन्थ है। किसी भी दूसरे धर्मग्रन्थकी अपेक्षा इसका पठन-पाठन अब भी अधिक होता है। परन्तु राजनीतिक (Political Standpoint) दृष्टिसे इसका अभ्यास करनेवाले नहींके बराबर हैं। यदि इस ग्रन्थका राजनीतिक दृष्टिसे बारीकीके साथ अध्ययन किया जाय और वह जगत्‌के सामने रक्खा जाय तो आज जैसे रामराज्यके लिये भारत तलमला रहा है, रामायण-वर्णित राज्य-व्यवस्थाके लिये वैसी ही तलमलाहट सारे जगत्‌में हो जाय, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

प्रत्येक राज्यमें राजा (Ruling Power—Sovereign authority) और प्रजा (Ruled Subject) ये दो मुख्य वर्ग होते हैं। राजाका प्रजापर और प्रजाका राजापर असर (Interaction) होता है। राजाका भला-बुरा होना उसकी शिक्षा (Education) और आसपासके वातावरण (Surroundings) पर अवलम्बित है। श्रीरामको एक राजकुमार (Prince) की हैसियतसे जैसी शिक्षा मिली थी और उनके आसपास जैसा वायुमण्डल उपस्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110346

किया गया था, वैसी शिक्षा और वैसा वातावरण हो तो आज भी श्रीराम-सरीखे राजा हो सकते हैं और रामराज्यकी स्थापना हो जा सकती है। रामराज्यकी प्रजामें उस समय जैसा सन्तोष, सुख और आबादी थी वैसी ही स्थिति आज भी उत्पन्न की जा सकती है। इस दृष्टिसे देखनेपर पता चलेगा कि यह रामायण राजा और प्रजा दोनोंके लिये एक बड़ा ही उपयोगी राजनीतिक-शास्त्र है। 76165

जैसे समष्टि (Society) का मुख्य आधार व्यष्टि (Individual) है, वैसे ही राज्यका मुख्य आधार एक कुटुम्ब है। आदर्श कुटुम्ब (Ideal family) आदर्श राज्यका प्रथम सोपान है। यह आदर्श कुटुम्ब यदि राज-कुटुम्ब होता है तो उसका प्रभाव सारे समाजपर बहुत ही शीघ्र पड़ता है। रामायणका अर्थ है एक आदर्श राज्य-कुटुम्बका इतिहास। दशरथ, वशिष्ठ, विश्वामित्र, राम, सीता, लक्ष्मण, भरत आदि इस आदर्श राज्य-कुटुम्बके व्यक्ति हैं। हनूमान्, अंगद प्रसिद्ध राज्य-सेवक हैं। आदर्श राजाके प्रति आदर्श राज-भक्तिके मूर्तिमान सिद्धान्त रामायणके पन्ने-पन्नेमें भरे हैं।

रामायण जनताके सामने केवल राम, सीता, लक्ष्मण, दशरथ, भरत, विश्वामित्र, हनूमान् आदिके आदर्श (Ideals) चरित्र ही उपस्थित नहीं करती, वह इस उच्च आदर्शके साथही दैनिक जीवन-व्यवहारमें (Actual every day life) आनेवाले कितने ही साधारण और सांसारिक भोगदृष्टिवाले पात्रोंको भी उपस्थित करती है। कैकेयी, मन्थरा, शूर्पणखा, बालि, रावण आदि इसी श्रेणीके पात्र हैं।

'पहलेका समय अच्छा था। उस समय लोग भी भले थे। अब इस घोर कलिकालमें तो चरित्रका माहात्म्य ही नहीं रहा।' इसप्रकार कहनेवालोंको रामायण खूब मुँहतोड़ जवाब देती है। कलियुगमें नहीं, त्रेतायुगमें भी—किसी विदेशी राज्यमें नहीं, साक्षात् रामराज्य और खास भगवान् रामचन्द्रजीके महलोंमें भी भले और बुरे दोनों ही तरहके मनुष्य थे, नेकी-बदी, अच्छे-बुरे और पुण्य-पापकी भावना सृष्टिके प्रारम्भसे ही चली आती है और सृष्टि विनाशके पूर्व उसका सर्वथा विनष्ट होना भी कठिन ही है। यह सत्य सभीको जान रखना चाहिये। पापका—दुष्टात्माओं-का सर्वथा अभाव तो असम्भव है। हाँ, राम जैसे पुण्यशील चरित्रसे पापात्मा मनुष्य भी अपना चरित्र निर्मल और अमर कर सकता है। दुष्टकी—पापकी—केवल निन्दा करनेमें नहीं, अपने चरित्र विकाससे ही उसका पराजय करनेमें मनुष्यकी महत्ता निहित है, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रसे यही शिक्षा मिलती है।

भगवान् रामचन्द्रजी किसप्रकारकी शिक्षा और किस-प्रकारके संयोगोंसे एक आदर्श राजा, आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श शिष्य और आदर्श स्वामी हो सके थे, इसका तत्त्व जाननेके लिये तो रामायणका बहुत ही सूक्ष्म दृष्टिसे अध्ययन करना आवश्यक है, परन्तु भगवान् रामचन्द्रजीके जीवनके कतिपय मुख्य-मुख्य प्रसंगोंका सहज विहंगावलोकन (Birds-eye-view) करनेसे भी चरित्रके विकासमें—राज्य-व्यवस्थामें—आदर्श राज्यके संगठनमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

महाराज दशरथके वृद्धावस्थामें चार पुत्र हुए। इन चारों पुत्रोंमें उनकी रामचन्द्रजीपर अधिक प्रीति थी। राजकुमारके पन्द्रह-सोलह वर्षकी किशोरावस्थाको पूरी करनेके पहले ही महर्षि विश्वामित्र—राज्यके एक प्रजाजन—ने अपने यज्ञकी रक्षाके लिये राजासे उनको माँगा।

तपस्वी मुनियोंका—सत्पुरुषोंका—राज्यकी सदाचारी प्रजाका यथायोग्य संरक्षण करना राज्यका सर्वप्रथम कर्तव्य है, महाराज दशरथ इस बातको भलीभाँति जानते थे। अतः उन्होंने राम-लक्ष्मणको विश्वामित्रके साथ भेज दिया। रामराज्यकी राज्य-व्यवस्थाका—प्रजाके प्रति प्रेमका—राजाके उत्तरदायित्वके ज्ञानका—प्रजाके दुःख सुनकर उसे निर्भय रखनेके लिये राजाकी तत्परताका यह एक अमूल्य उदाहरण है। दशरथजीके दरबारमें शूरवीर सेनापति भी थे, परन्तु प्रजाका संरक्षण करनेके लिये राजा अपने लाड़ले पुत्रोंको राक्षसोंके साथ लड़ने भेज देते हैं, यह रामराज्यकी महत्ता है। जो राजा अपनी प्रजाके संरक्षणकी वेदीपर अपने प्यारे और कोमल अंगके बच्चोंको होम देनेमें जरा भी नहीं झिझकता, उस राजाके प्रति प्रजाकी कितनी और कैसी भक्ति होगी? इसका अनुमान सभी कर सकते हैं।

विश्वामित्रके आश्रममें रामचन्द्रजीने क्या किया? उन्होंने ऋषि-मुनियोंको यज्ञ करनेके लिये कहा और स्वयं उनकी पर्णकुटियोंके पहरेदार बने। जन्मसे ही राज्यवैभवमें पले हुए इन दोनों बालकोंको ऋषियोंका संरक्षण करते देख प्रजा कैसे हर्षोन्मत्त न हो जायगी? राम-लक्ष्मणकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वधर्मपरायणवृत्ति, सुख-स्वार्थके त्यागकी शक्ति और मुनि-शुश्रूषाकी उत्सुकता महान् तपस्वीके तपसे भी विशेष उग्र थी।

राज्यकी ओरसे विश्वामित्रजीको जो संरक्षण (Protection) मिला था, वे भी उसका बदला चुकाये बिना रहनेवाले व्यक्ति नहीं थे। प्रजाके प्रति वात्सल्यभाव दिखानेवाले राजा दशरथके प्रति महर्षि विश्वामित्र भी राजभक्ति दिखलानेमें पीछे नहीं हटे। राज्यके कलुषित वातावरणमें जिन सद्गुणोंका विकास नहीं हो सकता, ऐसे सद्गुणोंका विश्वामित्रजीने श्रीरामचन्द्रजीमें विकास कर दिया। श्रीराममें महान् शारीरिक शक्ति आ गयी। संयम (Control) रहित शक्ति बिना लगामवाले घोड़े जैसी है। इस बातको महर्षि भलीभाँति जानते थे। अतएव भगवान् रामचन्द्रजीके चरित्रमें उन्होंने संयमकी शक्तिका भी विकास कर दिया।

श्रीरामको सीता-स्वयंवरमें ले जानेवाले भी विश्वामित्र ही थे। हजारों योद्धाओंसे जो शिवजीका धनुष नहीं टूट सकता, रामचन्द्रजीने उसीको तोड़ डाला और परिणाम-स्वरूप सीता-रामके शुभ विवाहका शुभ सुयोग उपस्थित हुआ। इन सबका श्रेय विश्वामित्र-जैसे महर्षिको ही है। वास्तवमें यह प्रजा-रञ्जनका ही पुण्य प्रभाव था।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा सती सीताजीके भाग्यमें अभी राज्य-वैभवका सुख नहीं था। अभी उन्हें महान् संकटोंके पहाड़ लाँघने थे। रामचन्द्रजीको युवराज पद देनेकी तैयारी होते होते ही एक दुष्टा दासीकी बुरी सलाहसे सौतेली माता कैकेयी उभड़ पड़ी और उसने रामचन्द्रजीको वन और अपने पुत्र भरतको युवराज-पद देनेके लिये महाराज दशरथसे प्रार्थना की। राजा वचनबद्ध थे। कैकेयीको दिये हुए वचनका पिताजी पालन कर सकें और कुटुम्बका क्लेश दूर हो, इस विचारसे श्रीरामचन्द्रजीने स्वेच्छासे ही यह निर्वासन-वनवास-स्वीकार किया। राजसिंहासनके लिये किये जानेवाले काले कारनामोंके तो सैकड़ों दृष्टान्त इतिहासमें हैं परन्तु ऐसे महान् स्वार्थ-त्यागका उदाहरण तो कोई विरला ही होता है।

रामके इस स्वार्थ-त्यागसे-संयमसे-राजा दशरथ बहुत दुखी हुए। कैकेयीके अत्याचारसे प्रजा तिलमिला उठी, तो भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके हृदयमें कैकेयीके प्रति वैर या द्वेषके विचारकी एक लहर तक नहीं उठी।

भगवान् रामचन्द्रजी और सती सीताके लिये तो यह प्रसङ्ग बहुत ही दुःखका था; परन्तु यह दुःखद घटना न हुई होती-रामचन्द्रजी वनमें न जाते तो रामकी रामायण भी शायद नहीं लिखी जाती। सत्यके लिये-परमार्थके लिये-राजा दशरथकी शान्तिके लिये किये गये स्वार्थ-त्यागने उस स्वार्थ-त्यागीको तपस्वी बना दिया और उसके इस तपमेंसे एक ऐसा तेज प्रकट हुआ जिसने अखिल विश्वको प्रकाशित कर दिया! यह सिद्धान्त भगवान् रामचन्द्रजीके लिये जितना लागू होता है उतना ही सृष्टिके प्रत्येक प्राणीके लिये भी होता है।

श्रीरामचन्द्रजीके वनवाससे समस्त प्रजा दुखी हुई, परन्तु उन सबमें सबसे अधिक दुखी भरतजी थे। जिस राज्य-वैभवके लिये कैकेयीने यह दावानल सुलगाया था उस राज्य-वैभवको भरतजीने ठुकरा दिया। अन्यायसे प्राप्त राज्यके राजा या शासकके प्रति प्रजाका भक्तिभाव या प्रेम कभी नहीं हो सकता। भरतजी इस बातको भलीभाँति जानते थे। प्रजाका प्रेम धर्मात्मा रामचन्द्रजीके प्रति था। प्रजाके आन्तरिक प्रेमको भरतजीने बाह्य स्वरूप दिया। वे राज्य-वैभवका त्यागकर स्वयं भगवान् रामचन्द्रजीके पास चित्रकूट गये।

वाल्मीकि रामायणके अयोध्याकाण्डके १००-१०१ सर्गमें भगवान् रामचन्द्रजीके साथ भरतके मिलापका बड़ा ही सुन्दर शिक्षाप्रद वर्णन किया गया है। उस समय श्रीरामजीने अपने दुःखके सम्बन्धमें या कैकेयीके प्रति द्वेषभावको लेकर एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया।

वनमें रहनेपर भी प्रजाके प्रति रामचन्द्रजीका कितना प्रेम था, इस बातका पता उन प्रश्नोंसे लग जाता है जो (इन सर्गोंमें) श्रीरामने भरतजीसे किये थे?

शासकपर कैसा और कितना भारी विशाल उत्तर-दायित्व है, इस बातका पता श्रीरामकी उक्त प्रश्नावलीसे भलीभाँति लग जाता है। राजाका अर्थ प्रजापर भारी कर लगाकर उसका धन चूसकर मौज-शौकके लिये विदेशोंमें रहनेवाला मनुष्य नहीं। राजा वह नर-रत्न हैं जो प्रजासंरक्षणके लिये अपने राज्य-सुख और वैभवको त्यागकर, आवश्यकता पड़नेपर अपने कोमलाङ्ग बालकोंकी भी—प्रजाके सुख और सन्तोषके लिये—बलि देनेको तैयार रहते हैं। राजाका यह आदर्श (Ideal) जगत्‌की किस प्रजाको आज भी मान्य न होगा?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य-व्यवस्थामें कौन-कौन से मुख्य दोष हैं, यह बात भी भगवान् रामचन्द्रजी भरतको समझाते हैं। भगवान् रामचन्द्रजी कहते हैं कि—हे बुद्धिमान् भरत! नास्तिकता, झूठ, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, विद्वानोंका अपमान, नित्य करने योग्य कर्मोंमें आलस्य, चक्षु आदि पाँचों इन्द्रियोंके वश हो जाना, राज्य-सम्बन्धी बातोंका अकेले मनमाना विचार करना, जिसकी सम्मति लेना उचित न हो, उस विपरीत दृष्टिवालेके साथ मिलकर विचार करना, मन्त्रीके साथ निश्चित किये हुए कार्यका आरम्भ करनेमें विलम्ब करना, निश्चय किये हुए कार्यको गुप्त रखनेमें असावधानी करना, प्रातःकालके नित्यकर्ममें आलस्य, चारों ओरके शत्रुओंको दण्ड देना और महापुरुषोंको आते देख खड़े न होना, यह राजाओंके दोष हैं। इन दोषोंसे प्रत्येक राजाको दूर रहना चाहिये।

संयमका बल ही यथार्थ बल है, यह भगवान् रामचन्द्रजीके जीवनसे सिद्ध है। सुख-भोगकी लोलुपतासे नहीं, दुःख-भोगकी तत्परतासे ही भगवान् रामचन्द्रजी देव-कोटिमें गिने जाते हैं। स्वार्थ-सिद्धिसे नहीं, परमार्थकी पूरी लगनसे ही वे परमात्म-पदको प्राप्त हैं।

मनुष्यकी उन्नति पशु-बलसे नहीं, आत्मबलसे होती है, यह सिद्धान्त राम-रावणके युद्धसे स्पष्ट है। भगवान् रामचन्द्रजीसे रावण (लोकदृष्टिसे) शारीरिक बलमें अथवा बुद्धिबलमें किसी प्रकार भी कम नहीं था। वह भगवान् महादेवजीका परम भक्त था! सर्व शास्त्रोंका अखण्ड अभ्यासी था। वेदपर भी उसने भाष्य लिखे थे और युद्ध-कलामें तो पूर्ण निपुण था ही। परन्तु वह नैतिक बल—आत्मबल रावणमें नहीं था, जो श्रीरामचन्द्रजीमें अखण्ड था। भगवान् रामचन्द्रजी एकपत्नीव्रतधारी थे और रावण लम्पट था; रामचन्द्रजी प्रजापालनको परम धर्म मानते थे, तो रावण प्रजाको पीड़ा पहुँचानेमें ही आनन्द मानता था। गुरु, आचार्य, विद्वान् एवं वृद्धोंके प्रति रामका पूज्यभाव था, परन्तु रावण विभीषण और सती मन्दोदरी-जैसे हितैषियोंकी भी अधिकांश सम्मतियोंका तिरस्कार करता था। अज्ञान, अधर्म, विषयलम्पटता, इन्द्रियलोलुपता, उच्छृंखलता और अभिमान यह रामचन्द्रजीको छू भी नहीं सकते थे, पर रावणके अन्दर तो इन अवगुणोंने घर ही कर रक्खा था। ऐसे राजाका—ऐसी राज्य-व्यवस्थाका विनाश होना स्वाभाविक ही था और हुआ भी वैसा ही।

पितृभक्ति, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, स्वार्थत्याग, संयम, एक-पत्नीव्रत, महान् संकटोंको सहन करनेकी तत्परता, कैकेयी-सी दुःसह माताके प्रति भी वैरभावका अभाव और स्नेह-भावका सद्भाव, राज्यवैभवका तिरस्कार, प्रजापालनका प्रेम, दूसरोंके दुःख देखकर उनमें भाग लेनेकी उत्सुकता, दुष्टोंको दण्ड देनेकी शक्ति और तत्परता एवं अपने ऊपर आनेवाले अनेक दुःखोंकी लापरवाही आदि सद्गुण श्रीरामचन्द्रजीमें रामायणके पन्ने-पन्नेमें देखे जाते हैं।

श्रीराम गये, रावण गया, हजारों वर्ष बीत गये, परन्तु आर्य प्रजाके मुखमेंसे राम शब्द नहीं गया और न कालान्तरमें कभी जायगा। जहाँतक आर्य-प्रजाके हृदयमें राम हैं, राम-भक्ति है जहाँतक पतितपावनी रामायण श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रका वर्णन करती है, वहाँतक राम और रामराज्यके स्थापनकी इच्छा आर्यावर्तसे कभी दूर नहीं की जा सकती!

जैसे एक दीपकसे हजारों दीपक जलाये जा सकते हैं वैसे ही रामायणके रामचरित्रकी एक दिव्य ज्योतिमेंसे हजारों राम–नरवीर–धर्मवीर–पैदा करनेकी शक्ति आर्यावर्तमें है। प्रभो! आर्य-प्रजा (Civilised world) को हजारों राम पैदा करनेका सामर्थ्य दीजिये। उसे राम-राज्य-स्थापन करनेकी शक्ति दीजिये। उसकी इस शक्तिको आवश्यक सुयोग और सावकाश दीजिये। आर्यावर्तकी प्रजाकी—अखिल विश्वकी प्रजाकी जगन्नियन्तासे यही प्रार्थना है। सती-सीता-सारी दुनियाँ—समस्त विश्व-जनता आज वरमाल हाथमें लिये खड़ी है और शिवजीका धनुष तोड़कर अपने शारीरिक और मानसिक संयम शक्तिका निश्चय करानेवालेकी–भगवान् रामचन्द्रजीके अवतारकी, धर्मराज्यके स्थापनकी उत्सुकतासे बाट देख रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामायणद्वारा जगत्का कल्याण

(लेखक–स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी)

किसी भी ग्रन्थकी परीक्षा बहिरंग और अन्तरंग दो ही प्रकारसे हुआ करती है, ग्रन्थकी रचना किस समय हुई, ग्रन्थका विषय ऐतिहासिक घटनापर निर्भर है या केवल कल्पना है, साहित्यकी दृष्टिसे उसमें क्या-क्या त्रुटियाँ और क्या-क्या महत्त्व हैं, कवितामें कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं और कौन-कौन-सी न्यूनताएँ हैं, इन सब विषयोंका परीक्षण 'बहिरंग-परीक्षा' कहलाती है। अन्तरंग परीक्षामें इन बातोंका विचार न कर समालोचकका ध्येय केवल यही रहता है कि ग्रन्थका मन, बुद्धि तथा आत्मापर कैसा प्रभाव पड़ता है, ग्रन्थके विचारसे जीवन समुन्नत होता है, या अधोगतिकी ओर खिंचता है। उसके नायक-नायिकाओंके चरित्रोंसे चित्तमें शान्ति, उदारता तथा आत्मबलकी वृद्धि होती है अथवा पाशविक वृत्तियाँ जागृत होती हैं, ग्रन्थकर्त्ताने किस ध्येयको सामने रखकर उसकी रचना की है और उसका वह उद्देश्य सफल हुआ है या नहीं? इत्यादि। रामायणकी समालोचनामें हम बहिरंग-परीक्षाको बुद्धिमान् तार्किक महानुभावोंके ऊपर छोड़कर केवल अन्तरंग-परीक्षाकी ओर ही अग्रसर होते हैं। क्योंकि हमें तो बगीचेके सुमधुर पौष्टिक फलोंको खाना और खिलाना ही रुचिकर है। जिन विद्वानोंको केवल पेड़ गिननेमें रुचि हो वह भले ही ऐसा किया करें।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि रामायणके पाठ करने और मनन करनेसे अद्भुत शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है। मानसिक स्थिति दैवीसम्पत्तिसे परिपूर्ण हो जाती है, श्रद्धा-भक्तिकी वृद्धि होती है, तथा आत्मबल और आत्मज्ञानका उदय होने लगता है। रामायणसे हजारों जीवोंका उद्धार हुआ है और आज भी इस अपूर्व ग्रन्थके भक्तगण भक्ति और ज्ञानका आस्वादन कर जीवन सफल कर रहे हैं। वास्तवमें श्रीमद्भगवद्गीता और रामायणादि ग्रन्थोंने ही भारतमें आध्यात्मिक विचारोंका सञ्चार कर इस देशको धार्मिक बना रक्खा है। ये ग्रन्थ न होते तो सम्भवतः धर्मका नितान्त लोप हो जाता, पाशविक वृत्तियाँ बढ़ जातीं और अधर्म-परायणताके कारण इस पवित्र भारतकी सन्तान भी विषयवासनाओंमें लम्पट होकर अज्ञानके गहरे अन्धकारमें ठोकरें खाती फिरतीं। इन्हींके प्रतापसे भारत इस गिरी दशामें भी आज धर्मके कुछ अंगोंको पकड़े हुए है।

यद्यपि आज देशकी परिस्थिति बड़ी शोचनीय है परन्तु जबतक रामायण-जैसे ग्रन्थोंमें हमलोगोंकी रुचि है, हम उन्हें प्रेमसे पढ़ते हैं और उनके विचारोंपर गम्भीरतासे मननकर जीवनको धर्मके साँचेमें ढालनेका प्रयास करते रहते हैं तब-तक निराशाका कुछ भी कारण नहीं है। खेद इस बातका है कि आजकल बहुत-से लेखक और पत्र प्रमादवश ऐसे साहित्यकी रचना कर रहे हैं, जिससे हमारे प्राचीन साहित्यके आध्यात्मिक और धार्मिक प्रभावोंको बहुत बड़ी हानि पहुँच रही है। क्या बुराइयोंका तथा गन्दगीका नंगा चित्र खींचनेसे समाजकी किसी प्रकारकी भी गंदगी कभी धुल सकती है? कीचड़को कीचड़से धोना जैसे निष्फल और व्यर्थ है वैसे ही जाति-देशके अनुचित आचार-विचारों और व्यवहारोंका शोधन उन्हींको सामने रखनेसे नितान्त असम्भव है। मन स्वभावसे ही चञ्चल और विषयोंमें रुचि रखनेवाला है, उसकी दुष्ट वासनाओंको नष्ट करनेके लिये उसके सामने उच्च विचार और धार्मिक भाव रखने चाहिये, तभी वह धर्मपरायण हो सकता है। हमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसन्नता है कि 'कल्याण' की यह धार्मिक सेवा देशमें सराही जा रही है और इसके प्रेमियोंकी संख्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। इससे सूचित होता है कि जनतामें धर्म-प्रेम अभी मौजूद है, इसलिये नैराश्यका कुछ भी भय नहीं है। निःस्वार्थ देशसेवा कभी निष्फल नहीं हुआ करती।

संस्कृतके आदिकवि महर्षि वाल्मीकि और देश-भाषाके सुविख्यात कवि भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदासजीने रामायण रचकर जगत्का जो महान् कल्याण किया है, उनसे मनुष्य-जाति कभी उऋण नहीं हो सकती। ऐसे महात्माओंके बलसे ही धर्म-स्तम्भ खड़ा रहता है, इन्हीं जैसे विश्वोपकारक महानुभावोंके कारण भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी प्रभा जगत्में प्रकाश फैलाये रहती है। वह मनुष्य धन्य हैं जो इस प्रभाके सहारे अपना मार्ग ढूँढ़ लेते हैं और निर्दिष्ट स्थानपर जा पहुँचते हैं। रामायण वास्तवमें एक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ है, जिससे मानव-जीवनकी यथार्थ समुन्नति होती है, इसमें बहती हुई भक्ति और ज्ञानकी निर्मल और कलमषनाशिनी धारा मानसिक कूड़े-कर्कटको बहा ले जाकर आत्माको उज्ज्वल बना अन्तमें मुक्त कर देती है। इसमें तार्किक गोरखधन्धे नहीं, दार्शनिक युक्तियोंके गहन जालमें बुद्धिको फँसानेकी कोशिश नहीं। इसमें तो केवल मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके उन आदर्श चरित्रोंका वर्णन है, जिससे साधारण बुद्धिका मनुष्य भी अपने जीवनको विशाल बना सकता है, शान्ति और सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है एवं प्रेमार्णवमें अवगाहन कर जन्म-जन्मान्तरके मलोंको निःशेषरूपसे धो सकता है।

भगवान् श्रीरामने दार्शनिक युक्तियोंद्वारा जगत्को उपदेश न देकर मनुष्यमात्रके सम्मुख केवल अपना सच्चरित्र रक्खा है। इससे मनुष्य जीवनपर जैसा प्रभाव पड़ता है, वैसा सैकड़ों दर्शन-ग्रन्थों और हजारों युक्तियोंसे भी असम्भव है। महापुरुषोंका यही महत्त्व है कि वे जगत्का उपकार अपने जीवनका आदर्श सामने रखकर ही किया करते हैं। उनमें अगाध प्रेम होता है, वे परम त्यागकी मूर्त्ति होते हैं, धैर्य, पुरुषार्थ और आत्मबलसे पापियोंका भी उन्हें उद्धारकर परमधामके अधिकारी बना देते हैं, अपने भक्तोंको परमानन्द प्रदान करते हैं। समता ही उनका स्वभाव है; शत्रु-मित्र, पापी-पुण्यात्मा, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, सभीके लिये कर्णधार बन उन्हें संसार-सागरसे पार करदेते हैं। संसारमें सदैव देखा जाता है कि मनुष्योंको सन्मार्गपर ले जाना उन्हीं सत्पुरुषोंका काम है जो बहुत वाक्-पटुता न दिखा अपने सदुपदेशोंको केवल अपने जीवनमें ही चरितार्थ कर जनताको जीता-जागता आदर्श दिखा जाते हैं। प्रायः देखा जाता है कि अनेक लोग धुरन्धर व्याख्यानों और सुन्दर रसीले लेखोंद्वारा अत्यन्त ख्याति प्राप्त कर लेते हैं परन्तु उनके परिश्रमका कोई स्थायी प्रभाव देशवासियोंपर नहीं पड़ सकता। वास्तविक चिरस्थायी प्रभाव उन्हीं महापुरुषोंने देशमें फैलाया है और सत्य धर्मकी विद्युत् उन्हीं इने-गिने महात्माओंद्वारा सञ्चरित हुई है, जो स्वयं परमत्यागी थे, निश्चयात्मिका बुद्धिवाले और आत्मनिष्ठ थे, जिन्हें अपनी ख्याति और स्वार्थ-साधनासे अत्यन्त घृणा थी और जो समस्त जीवोंसे आत्मवत् प्रेम करते थे। ऐसे महात्माओंका केवल जीवन ही जगत्-कल्याणके लिये काफी है। ऐसे सत्पुरुषोंके उपदेशों और चरित्रोंमें कोई अन्तर नहीं हुआ करता।

महान् उत्कृष्ट जीवनका रहस्य त्याग ही है। जिसमें त्यागकी जितनी अधिकता है, उसके आत्माका उतना ही अधिक विकाश होता है। मोह और विषयासक्ति ही बन्धनके कारण हैं, यही अज्ञान है। आत्मा वास्तवमें नित्यमुक्त, ज्ञानस्वरूप है। अज्ञानके आवरणके कारण मेघाच्छादित रवि-मण्डलकी भाँति परिच्छिन्न-सा दीख पड़ता है, वह आवरण वैराग्यद्वारा जितना क्षीण होता है उतना ही आत्माका प्रकाश विकसित होता जाता है। अज्ञानान्धकारके नाश होते ही आत्माकी अप्रमेय शक्ति तथा ज्ञानका प्रकाश पूर्णतया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्फुटित हो जाता है, फिर आत्मा और परमात्माका भेद भी नष्ट हो जाता है।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम नित्यमुक्त परात्पर ब्रह्म निज महिमामें स्थित जगत्के हितार्थ अपनी अचिन्त्य मायाशक्तिके द्वारा भूमण्डलपर अवतीर्ण हुए। निजानन्दमें स्थित भगवान्में ग्रहण और त्यागका आभासमात्र भी नहीं हो सकता। जो स्वयं मायाधीश हैं वह किसका ग्रहण करें और किसका त्याग करें। सब कुछ उन्हींकी विभूति है। वे निर्विकार, शुद्ध, पूर्ण और आनन्दस्वरूप हैं। माया वा प्रकृति उन्हींकी अचिन्त्य शक्ति है। वे स्वयं ही अपने नाना कल्पित रूपोंमें लीला कर रहे हैं। जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है, समयानुकूल भौतिक देह धारणकर अपने भक्तोंको आनन्द और प्रेममें मग्न कर उद्धार करते हैं तथा मायाबद्ध दुष्टबुद्धि-वाले विषयासक्त पाप-निरत प्राणियोंको भी अपनी अप्रमेय दयाके कारण दण्ड देकर पापमुक्त कर परम धामके अधिकारी बना देते हैं। यह सब उनकी लीलामात्र है। श्रीरामावतारमें जगत्में धर्ममर्यादा स्थापन करना उनका उद्देश्य था। परम त्याग क्या वस्तु है। इससे आत्मिक बल कितना विकसित होता है। सब अवस्थाओंमें रहते हुए भी किस प्रकार निजानन्दमें किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं हो सकती, समस्त जगत्के जीवोंसे प्रेम और शत्रु-मित्रोंमें समभाव कैसे रहा करता है, निर्भयता, सहनशीलता तथा धैर्य देहधारियोंमें कैसे होने चाहिये, मातृ-पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम तथा दाम्पत्य-जीवनका आदर्श क्या है, प्रजा-रक्षक राजाका धर्म क्या है, राजाको किस तरह आसक्तिरहित बुद्धिसे साम्राज्य-वैभव भोग करते हुए भी केवल प्रजाके हितार्थ अपनी प्यारी-से-प्यारी वस्तुको भी त्याग करनेमें किञ्चिन्मात्र भी संकोच नहीं करना चाहिये, इत्यादि सद्भावोंको स्वकर्मोंसे चरितार्थकर दिखाना भगवान् श्रीरघुनाथजीका उद्देश्य था।

निर्बलोंपर बलवानोंका अत्याचार होते देखना और दुष्टोंका जुल्म सहना महान् कायरता है और एक प्रकार नपुंसकता है। ऐसा तभी होता है जब मनुष्य इन्द्रियोंका दास और विषय-विलास-विमूढ़ होता है, विषयासक्तमें निर्भयता और मानसिक तथा शारीरिक बलका अभाव हो जाता है। ऐसा कायर मनुष्य अपने ही आत्माका नाश नहीं करता वरं अपने ऊपर अत्याचार करनेवाले प्राणीके आत्माके पतन होनेमें मुख्य सहायक बनता है। इसप्रकार कायर मनुष्य दो पापोंका भागी हो जाता है। श्रुति भी कहती है कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' जिसमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल नहीं वह मनुष्य नितान्त निकम्मा पृथ्वीपर भाररूप ही है, अपने ही इन्द्रिय-सुखोप-भोगमें लम्पट रहकर ऐसा प्राणी मनुष्यत्वका अधिकारी नहीं बन सकता। भगवद्भक्तका लक्षण यही है कि वह सर्वथा निर्भय और विषयासक्ति-रहित रहे। दुष्ट कर्मोंकी प्रवृत्तिके सिवा उसे और किसीसे भी भय नहीं होता क्योंकि वह समस्त जगत्को भगवान्का रूप हो देखता है। फिर भयका कोई कारण ही नहीं रह जाता। एक मनुष्य रात-दिन चाहे भगवान्के विग्रहके सामने घण्टी बजा-बजाकर मुँहसे दिखाऊ स्तोत्र-पाठ करता रहे परन्तु यदि उसमें पाप रहते हैं और उसके हृदयमें निर्भयता और दुष्ट बलवानोंके अत्याचारोंसे लोक-हितार्थ असहिष्णुता नहीं है तो उसका पूजा-पाठ केवल ढोंगमात्र है। ऐसे ही अद्वैत ज्ञानका अधिकारी पुरुष भी कायर नहीं हो सकता। श्रीरघुनाथजीके चरित्रसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि दुष्टोंके अन्याययुक्त पाशविक अत्याचारोंका प्रतीकार न करना आत्मनिष्ठ धीर पुरुषके लिये असम्भव हो जाता है। भगवान्ने पापात्मा दुष्ट राक्षसोंके घोर जुल्मोंसे प्रजाकी रक्षा कर न्याय-राज्यकी स्थापना की थी। नानाप्रकारके परिश्रम और कष्ट सहकर भी केवल धर्म स्थापन करनेके अभिप्रायसे ही भगवान्का वह उद्योग था। राक्षसोंकी धन-सम्पत्ति तथा राज्य जीतकर भी उन्हींको वापस सौंप देना 'रघुपति राजा राम' का ही काम था। महापुरुषोंके सत् कर्मोंका यही स्वरूप है, वे कोई भी कर्म स्वार्थके उद्देश्यसे नहीं किया करते। इतना ही नहीं, वरं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीभगवान्‌ने रणमें प्राण दे देनेपर रावणादि प्रतिपक्षियोंको सद्गति भी प्रदान की । उदारचरित दयानिधि प्रभुका यह कर्म उन्हींके योग्य था। सूरदासजीने एक पदमें गाया है कि 'एक लोहा पूजामें राखो एक घर बधिक परो । पारस गुन अवगुन नहिं चितवै कंचन करत खरो ॥' पतितपावन भगवान्‌के स्पर्शमात्रसे राक्षसोंके उद्धार होनेमें कुछ आश्चर्य नहीं।

समस्त जगत् विशेषतः पाश्चात्य गौरांग-देशोंके लिये भगवान् श्रीरामकी महान् उदारताका अनुकरण करना ही हितकी बात है। जबतक वर्तमान स्वार्थपरायणता और अभिमान हमारे हृदयको जकड़े हुए हैं तबतक किसी प्रकारके पैक्ट कानफरेंस फलीभूत नहीं होंगे। नीच भावोंके रहते संसारमें सच्ची शान्ति नहीं फैलेगी। मायाकी प्रबल महिमा है,जो मनुष्य अपने आपको सभ्य मानते हैं, वे ही घोर स्वार्थ-वश केवल अपना ही नाश नहीं कर रहे हैं, वरं जगत्को भी अशान्तिकी अग्निमें भून रहे हैं। प्राणिमात्रसे निःस्वार्थ प्रेम बढ़ाये विना और सबके हितमें अपना हित माने विना न अपना ही कल्याण है और न जगत्का ही। श्रीरघुनाथजीके विशाल प्रेमके प्रभावने वानर, भालु आदि पशु-जातियोंको भी सहायक और मित्र बना लिया, फिर मनुष्योंकी तो बात ही कौन-सी है? मनुष्यमात्र आजतक भगवान्‌के गुणोंका स्मरण करके आनन्दमें विभोर हो जाते हैं। भारतवासी तो उनके चरित्रोंकी कथा सुन सुनकर अपना जीवन सफल मानते हैं और श्रीरामकी जन्म-भूमि भारतदेशमें जन्म लेनेको अपने पूर्व-जन्मोंकी सुकृतिका फल मानकर अपने जीवनको धन्य समझते हैं।

जिस महापुरुषमें अहिंसा और त्याग परिपक्व अवस्थामें वर्तमान है, वह सदैव निर्भय तो होता ही है, उसके हृदयमें प्राणि-मात्रके प्रति अगाध प्रेम भी होता है, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' उसका अटल स्वभाव बन जाता है, वह अपने समस्त जीवनको जगतके हितार्थ न्यौछावर कर देता है। 'परोपकाराय सतां विभूतयः' ऐसे महात्मा जिस कामको आरम्भ करते हैं, तन-मन-धन सब कुछ उसीमें लगा देते हैं, एक लक्ष्य होकर अविचलित-भावसे निष्काम कर्म करना ही उनका ध्येय होता है।

चित्तवृत्तियोंका समुचित निरोधकर एकाग्रतासे कर्म करना योगीका लक्षण है। हमलोगोंके कार्य इसीलिये अधूरे रह जाते हैं कि विविध कामनाओंमें हमारी वृत्तियाँ बिखरी रहती हैं, निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती, संशय घेरे रहते हैं, धैर्यका अभाव रहता है और इसी कारण एकाग्रता नष्ट होनेसे किसी कार्यमें सफलता नहीं होती। श्रीरघुनाथजीने जगत्के मनुष्योंको अपने चरित्रोंद्वारा शिक्षा देनेके अभिप्रायसे परम-त्यागका आदर्श दिखलाया है, त्यागसे ही महान् आत्मबल प्राप्त होता है, जिस आत्मबलके प्रभावसे महा कठिन कर्म भी सुगम हो जाते हैं। इसी परम त्यागसे अनासक्त-बुद्धि प्राप्त होती है, फिर अपनी प्रियसे प्रिय वस्तु भी त्याग करना उसके लिये अत्यन्त सुलभ हो जाता है।

रघुपति श्रीरामचन्द्रका शासनकाल एक अद्भुत आदर्श है। 'रामराज्य' एक विख्यात कहावत बन गयी है। ऐसे धर्मयुक्त प्रजा-पालनका उदाहरण संसारमें शायद कहीं भी आजतक नहीं मिलता, भगवान्‌के शासनमें स्वार्थका लेशमात्र भी नहीं पाया जाता। उन्होंने अपना समस्त जीवन केवल प्रजाके हितार्थ ही समर्पण कर दिया था। श्रीराम-राज्यका वर्णन करते हुए श्रीवाल्मीकि मुनिने रामायणमें लिखा है कि 'रामराज्यमें सब लोग सत्य-धर्मपर आरूढ़ थे, सभी सुखी थे, राजा रामकी भाँति कोई किसीको सताता नहीं था। सारी प्रजा अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मको प्रसन्नतासे निबाहती थी, किसीकी अधर्ममें रुचि नहीं थी, सभी सद्गुणोंसे सुशोभित थे।'

अध्यात्मरामायणका कथन है कि 'यद्यपि भगवान् राम साक्षात् शुद्ध-ब्रह्म ही थे, आत्माराम और नित्य मुक्तस्वभाव थे तथापि लोक-संग्रहार्थ असंख्य धन खर्च करके उन्होंने अश्वमेधादि अनेक यज्ञयाग किये। उनके राज्यमें कोई विधवा नहीं होती थी, किसीको सर्पादि हिंस्र जीवोंका भय नहीं था. कोई भी रोगादिसे पीड़ित नहीं था। चोरी आदिसे किसीको हानि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं पहुँचती थी, पाप-कर्ममें कोई भी रुचि नहीं रखता था। रामके राज्यमें पिताके जीते सन्तानकी मृत्यु नहीं होती थी। आबालवृद्ध श्रीरघुवीरको इष्टदेव मानकर उनकी पूजा करते थे। समयपर वर्षा होती थी। समस्त राज्य धन-धान्यसे भरपूर था। सबलोग स्वधर्ममें निरत और सद्गुणसम्पन्न थे। राघव भी अपनी प्रजापर पुत्रवत् प्रेम करते थे।' क्या वर्तमान समयके राज्याधीश श्रीरामके शासनका अनुकरणकर संसारकी दिनों-दिन बढ़ती हुई अशान्ति और अधर्मपरायणता नष्टकर स्वयं सुखी होंगे और प्रजाको सन्तुष्ट करेंगे ?

रघुपति राजा रामके अनेक अपूर्व चरित्रोंमें श्रीजानकी महारानीके परित्यागपर बहुत-से लोग आक्षेप करते हैं, वह लोग उनके और सारे चरित्रोंको बड़े आदर-भावसे सराहते हैं परन्तु उनकी समझमें उनका यह कर्म अत्यन्त निन्दनीय और कठोर है। पर गम्भीर विचार करनेसे सीता-परित्याग ही उनका सर्वोत्कृष्ट महान् चरित्र है। सौतेली माताकी इच्छापर पिताके वचनको सत्य करके निष्कण्टक राज्य परित्याग कर वनवास स्वीकार करना इतना महत्त्वका नहीं, जितना अपनी परम प्रिया वैदेहीका परित्याग करना है। प्रजाके सन्तोषके हेतु, राज्यमें शान्ति बनाये रखनेके अभिप्रायसे भगवान्ने एक ऐसे महान् त्यागका उदाहरण विषयासक्त जीवोंके सम्मुख उपस्थित किया है जो उन जैसे महाप्रभु आत्मारामसे ही बन सकता था। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी मानसिक स्थिति और बुद्धिके अनुकूल ही विचार किया करता है। विषयासक्त मनुष्योंके द्वारा भगवान्का यह कर्म भयङ्कर और निन्दनीय माना जाना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं, क्योंकि ऐसा परम त्याग उनकी बुद्धिकी सीमासे परे है। पर उन लोगोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि भगवान् रामचन्द्र और जगज्जननी श्रीसीता महारानी साधारण विषयासक्त मनुष्य तो थे ही नहीं, जिन्हें छोटी-से-छोटी वस्तु भी त्यागना महा कठिन होता है। ऐसे महान् त्यागके तारतम्यको परखनेके लिये कसौटी भी वैसी ही पवित्र होनी चाहिये जैसा कि वह अपूर्व कर्म था। दोनों पति-पत्नी सांसारिक प्रलोभनोंसे विरक्त और अपनी निजी महिमा एवं निजानन्दमें परिपूर्ण थे। जिन्हें राज्य-वैभव और वनस्थ जीवन समान था। स्थितधी मनुष्यके यही तो लक्षण हैं। गीतामें कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

ऐसे स्थितधी महात्मा शारीरिक वियोगको वियोग नहीं समझते। प्रजारक्षक महिपालका धर्म ही यह है कि वह अपने राज्यको निजी सम्पत्ति न मान प्रजाके हितार्थ और उसके सन्तोषके निमित्त अपना सर्वस्व समर्पण करनेसे भी न झिझके। ऐसे त्यागका प्रभाव प्रजाके हृदयपर खूब ही पड़ता है। यही कारण था कि अयोध्यावासी भगवान् श्रीरामके ऊपर तन मन धन न्योछावर करते थे। राज्यमें सब भाँति शान्ति और आनन्द विद्यमान था। 'यथा राजा तथा प्रजा' यह सोलहों आने सत्य उक्ति है। परित्यक्ता श्रीजानकीजीका रघुनाथके प्रति सन्देश भी बड़े गौरवका है। वह कहती हैं—'हे लक्ष्मण! महाराजसे कहना कि 'आप सर्वज्ञ हैं, इसलिये आप भलीभाँति जानते हैं कि मैं निष्पापा हूँ। सदैव आपकी अनुगामिनी और भक्ता हूँ। मैं जानती हूँ कि आप लोकापवाद और प्रजाके हितार्थ ही मेरा परित्याग कर रहे हैं। राजाका धर्म सब प्रकारसे प्रजाको सन्तुष्ट करना है। मैं अपने शरीर-सुखकी इतनी परवा नहीं करती, जितनी आपके सुख्याति और यशकी। स्त्रीके लिये भर्त्ता ही परम देवता है, वही उसका मित्र और वही उसका गुरु है, इसलिये सदैव स्त्रीके लिये पतिका कार्य पूरा करनेमें सहायक बनना परम धर्म है।'

धन्य माता! यह भाव तुम-जैसी नारी-रत्नके ही हो सकते हैं। तभी तो भारतवासी स्त्री-पुरुष तुम्हारे पवित्र नामका नित्य स्मरण कर अपना जीवन सफल करते हैं!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवतरणोपाय

अवधूत और रामदासका संवाद

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

रामममन्त्रोपदिष्टारं राममन्त्रैकजापकम् ।
रामस्य सेवकं सेव्यं सखिनं च नमः शिवम् ॥

दिल्लीमें रामदासने सुना कि यमुना-किनारे एक अवधूत आये हुए हैं, वह कुछ फल लेकर उनके दर्शनको गया तो देखा कि लंगोटी लगाये एक बावला-सा मनुष्य हाथमें ईंट लिये बहुत-से लोगोंके पीछे लाल-लाल आँखें किये दौड़ रहा है और वे सब डरके मारे भागे चले जा रहे हैं। जब लोग बहुत दूर निकल गये तो पगला भी यमुनाजीकी तरफ चला गया। रामदासको उसके पास जानेकी हिम्मत नहीं पड़ी, वह घर लौट आया। दूसरे दिन फिर गया, अवधूत रेतीमें बैठा हुआ कुछ गा रहा था। रामदासको गाना सुननेमें तो रस आया परन्तु समझा कुछ भी नहीं। उसने पास जाकर अवधूतके सामने फल रख दिये। अवधूतने पाँच-चार फल आप खा लिये और शेष रामदासको दे दिये, पश्चात् वह रेतीमें ही लेट गया और शामतक पड़ा रहा—कुछ भी नहीं बोला, रामदास दिनभर बैठा रहा, जब शाम हो गयी, तो घर लौट आया। तीसरे दिन फिर उसी समय गया और फल सामने रखकर बैठ गया, अवधूतने कुछ फल आप खा लिये और कुछ रामदासको देकर खानेके लिये कहा। जब रामदास खा चुका तो अवधूत कहने लगा—

बच्चा! क्या चाहता है? रोज क्यों आता है? मेरे पास धन-दौलत तो धरी है नहीं, खुद ही लंगोटी लगाये बैठा हूँ। दुनिया आती है, कोई धन माँगता है, कोई सन्तान माँगता है, कोई दड़ा पूछता है, दम नाकमें आ गया है, तुझे भी यदि किसी संसारी वस्तुकी इच्छा हो, तो तुरन्त भाग जा और फिर कभी आना नहीं।

रामदास—(हाथ जोड़कर) महाराज! मैं संसारकी कोई वस्तु आपसे नहीं माँगता, मैं तो भवसागरसे तरनेका उपाय आपसे पूछना चाहता हूँ, यदि आप जानते हों और मैं उस उपायको कर सकूँ, तो कृपया बताइये!

अवधूत एकदम खिलखिलाकर हँस पड़ा और रामदासकी परीक्षा लेनेके लिये कहने लगा—

बच्चा! भवसागरसे तरना चाहता है? सागरसे आजतक तो कोई तरा नहीं, विद्वानोंने बड़े बड़े जहाज और स्टीमर आदि सागरके पार जानेको बनाये हैं, परन्तु पार तो कहीं है ही नहीं, फिर कोई कैसे जा सकता है? हाँ, एक टापूसे दूसरे टापूको चले जाते हैं, पार तो कोई अबतक जाने पाया ही नहीं है। तू सागरके साथ 'भव' विशेषण लगाकर कहता है कि भवसागरसे तरना चाहता हूँ, तो बता भवसागरका स्वरूप क्या है और तू क्यों तरना चाहता है? तुझे क्या दुःख है? बूढ़े-बूढ़े लोग जिनके मुखमें दाँत नहीं, पेटमें आँत नहीं—मेरे पास आते हैं और भव-सागरमें फँसनेका ही उपाय पूछते हैं, तरनेका उपाय तो कोई नहीं पूछता! तू तो अभी बच्चा है, बीस वर्षसे अधिक उम्रका नहीं जँचता, तुझपर अभीसे कौन-सा संकट आ पड़ा, जो भवसागरसे तरनेका उपाय पूछता है?

भवसागर

अवधूतका प्रश्न सुनकर रामदास भवसागरका वर्णन करने लगा—

महाराज! मैंने संस्कृत नहीं पढ़ी है, थोड़ी-सी हिन्दी जानता हूँ, मैंने एक पुस्तकमें भवसागरका वर्णन इसप्रकार पढ़ा है और ऐसा ही मेरा अनुभव भी है कि यह भवसागर ब्रह्माजीका बनाया हुआ है। जैसे सागर अगाध होता है, वैसे ही इस भवसागरमें आशारूपी अगाधता है। वह आशा इतनी गहरी है कि उसकी गहराईका पता ही नहीं चलता। तीनों लोकोंके प्राप्त होनेपर भी आशा पूर्ण नहीं होती। इन्द्र तीनों लोकोंका राजा है, वह भी जब किसीको तपस्या करते सुनता है तो उसका तप भंग करनेके लिये अप्सराएँ भेजता है या घबराकर स्वयं ही दौड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि भवसागरमें आशा अगाध है। समुद्रमें जल होता है, यह भवसागर मनोरथ-रूप जलसे पूर्ण है, जिसे देखो, किसी-न-किसी मनोरथमें डूब रहा है, एक मनोरथ पूर्ण हो गया तो दूसरा तैयार है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोरथोंका कभी अन्त ही नहीं आता, इसलिये मनोरथोंकी जलसे ही उपमा देना ठीक है। जैसे सागरमें तरंगें हैं, वैसे भवसागरमें तृष्णा तरंग है। कमर झुक जाती है, हाथ-पैर काम नहीं देते, लड़के-बाले निरादर करते हैं, खाटपरसे उतार लिया जाता है—मर जाता है, तिसपर तृष्णा नहीं जाती, वह तो मरे हुएके साथ सती हो जाती है। काम, क्रोध, लोभादि इस भवसागरके जलजन्तु हैं, जो इस जीवको अनेक प्रकारके कष्ट देते रहते हैं और अन्तमें मौका पाकर खा डालते हैं। शब्दादि विषयोंका ग्रहण करना, भवसागरमें डूब जाना है। इसप्रकार मैं सबको भवसागरमें डूबता ही देखता हूँ, कोई आप-सरीखे धीर, विरक्त, विद्वान् भले ही न डूबते हों, नहीं तो सब डूब ही जाते हैं।

जैसे समुद्रमेंसे चौदह रत्न निकले थे, वैसे इस भवसागरमें भी चौदह रत्न हैं। सन्त महात्मा उत्तम रत्न हैं, उपासक अमृत है, कर्मी चन्द्रमा है और ज्ञानी कामधेनु है, दुष्टजन नष्ट रत्न हैं। विमुख जीव विष है और विषयी जीव वारुणी यानी मदिरा है। बाकी रत्नोंमें सब हैं, धर्मी ऐरावत है, पण्डित उच्चैःश्रवा है, सुकवि अप्सरा है, दानी कल्पवृक्ष है, दयावान् धन्वन्तरि है, ध्रुवादि शंख हैं, अनेक देशके राजा मणि हैं, मतपक्षी आचार्य धनुष है और पतिव्रता लक्ष्मी है। महाराज! इस भयङ्कर भवसागरको देखकर भय लगता है, इसलिये आपसे प्रार्थना करता हूँ कि भवसागरसे निकालकर मुझे सुख-शान्तिका स्थान दिखाइये! इसमें मैं किसीको सुखी नहीं देखता, कोई कामके वश हुआ स्त्रीका मर्कट बनकर नाचता है, कोई क्रोधके वश आप जलता है और दूसरोंको भी जलाता है, कोई लोभमें ऐसा अन्धा हो रहा है कि उसको हिताहित सूझता ही नहीं। कवि, पण्डित कहलानेवाले भी थोड़े-से धनके लोभसे कुत्तोंके समान लड़ते और अपनी हँसी कराते हुए देखनेमें आते हैं। अधिक क्या कहूँ, आप सब जानते ही हैं, इसलिये भवसागरसे पार होनेका उपाय पूछता फिरता हूँ। बहुत-से स्थानोंपर टक्करें खा चुका हूँ, यदि आप संसारसे तरनेका उपाय जानते हों और मुझे अधिकारी समझते हों तो बताइये!

रामदासकी कहानी सुनकर अवधूत फिर खिलखिलाकर खूब हँसा और कहने लगा—वाह! भाई वाह! तूने तो भवसागरका अच्छा रूपक बाँधा! गोस्वामीजीकी रामायणमें एक सोरठा है—

बंदौं बिधि-पद-रेनु, भवसागर जेहि कीन्ह जहँ।
संत सुधा ससि धेनु, प्रकटे खल बिष बारुनी॥

इस सोरठेका भाव तूने बड़ी उत्तम रीतिसे दिखाया है। सचमुच यह भवसागर तेरे कथनानुसार ही भयङ्कर है, जो इस भयंकर भवसागरसे पार जानेका उपाय खोजते हैं, और इससे पार हो जाते हैं, उन्हींका जन्म सार्थक है, शेष तो सब माताके मलमात्र हैं और माताको दुःख देनेके लिये ही उन्होंने जन्म लिया है! तेरे माता-पिता धन्य हैं जिन्होंने तुझ-से सुपात्र सुबुद्धि पुत्रको जन्म दिया। भाई! रामायणका पाठ किया कर, प्रेमपूर्वक रघुनाथजीके दिव्य गुणोंका गान किया कर और रघुनाथजीके 'राम' नामका जाप किया कर, बस, निश्चय जान, तेरा बेड़ा पार है!

रामदास—(प्रसन्न होकर) महाराज! कृपया राम-नामका प्रभाव सुनाइये!

राम-नामका प्रभाव

अवधूत—भाई! राम-नामका प्रभाव तो वेद, शास्त्र, मुनि, देवता आदि कोई भी नहीं जानते, केवल एक राम ही जानते हैं। महारामायणमें शिवजीके वचन हैं—

वेदाः सर्वे तथा शास्त्रा मुनयो निर्जरर्षभाः।
नाम्नः प्रभावमत्युग्रं ते न जानन्ति सुव्रते॥
राम एवाभिजानाति कृत्स्नं नामार्थमद्भुतम्।
ईषद्वदामि नामार्थं देवि तस्यानुकम्पया॥

इससे सिद्ध है कि नामका प्रभाव सम्पूर्णरूपसे कोई नहीं जानता। जब जानता ही नहीं तो कोई कह किसप्रकार सकता है? रघुनाथजी राम-नामका प्रभाव जानते हैं किन्तु वे कह नहीं सकते क्योंकि शिष्टपुरुष तो अपनी बड़ाई सुनकर ही सकुच जाते हैं। जो सुनकर ही सकुच जायँ, वह अपनी बड़ाई अपने मुखसे किसप्रकार करें, इसलिये राम-नामका प्रभाव रघुनाथजी भी कह नहीं सकते! यदि कोई रामनामका किञ्चित् प्रभाव कह सकता है तो वह भी श्रीरामकी भक्ति और कृपासे ही! गोस्वामीजीने राम-नामका प्रभाव बहुत कुछ कहा है, उसीमेंसे दिग्मात्र सुनाता हूँ। गोस्वामीजी कहते हैं—

बंदौं रामनाम रघुबरको। हेतु कृसानु भानु हिमकरको॥

रघुवरका राम-नाम जगत्का पोषण करता है क्योंकि अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा जगत्के पोषण करनेवाले हैं, जैसे अग्नि प्रथम तो भोजनको पचाता है, फिर भोजनको पचाकर देहका पोषण करता है, शीतमें सब अग्निसे तापते हैं, आहुति आदि देनेसे अग्नि सब प्रकारका फल देता है, रातके समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

वह प्रकाश करता है, इत्यादि अनेक प्रकारसे अग्नि पोषण करता है। सूर्य अँधेरेको नष्ट करता है, उष्णता देकर भूमिको शोषता है, जल बरसा कर अन्नादि अनेक ओषधि उत्पन्न करता है, पाले और जलकी सर्दीको दूर करता है, इत्यादि अनेक प्रकारसे भानु पोषण करता है। चन्द्रमासे अमृत झरता है, उससे ओषधियाँ पुष्ट होती हैं। चन्द्रमा शीतलता देकर ताप दूर करता है, प्रकाशसे आनन्द देता है। इसप्रकार अग्नि, भानु और चन्द्रमा जगत्के पोषण करनेवाले हैं। इन तीनोंका कारण राम-नाम है अर्थात् रकार अग्निका बीज है वही कृशानुके रेफ है, इसीसे अग्निमें तेज है। आकार भानुका वीर्य है, वह भानुके अन्दर भकारमें अकार है, इसलिये भानुमें प्रकाश-तापादि प्रताप हैं। मकार चन्द्रमाका बीज है, वही हिमकरके अन्दर मकार है, इसीसे चन्द्रमामें शीतलतादि गुण हैं। यह स्थूलरूप है। सूक्ष्मरूपसे इन तीनोंका रामनामके अन्दर वास है, जब कोई रामनाम स्मरण करता है, तो उसके चित्तमें तीनोंका प्रभाव प्रकट हो आता है। अर्थात् अग्निके बीज 'र'कारके प्रभावसे मनके मोह आदि मैल और शुभाशुभ कर्म जल जाते हैं, भानुके बीज 'अ'कारके प्रभावसे अविद्यारूप अँधेरा दूर हो जाता है और वेद-शास्त्रादिके अर्थका प्रकाश होता है एवं चन्द्रका बीज 'म'कार तीनों तापोंको हरकर हृदयमें शीतलता कर देता है। दिव्यरूपसे 'र'कार वैराग्यका हेतु है क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहसे काम-क्रोधादि विकारों सहित संसारके सुखके हेतु मन रागद्वेषादि व्यापारमें फँसा है, 'र'कार इस व्यापारको छुड़ाकर मनको शुद्ध करके स्वतन्त्र कर देता है। 'अ'कार ज्ञानका हेतु है, क्योंकि अकार जड़-चैतन्यकी ग्रन्थिको भेदन करता है अर्थात् ईश्वरका अंश जीव है और प्रकृतिका अंश मन है। जीव मनके अधीन होकर अपने स्वरूपको भूलकर संसारमें फँस गया है इससे देहको ही सच्चा मानने लगा है, 'अ'कार इस भ्रमको मिटाकर आत्मदृष्टिका प्रकाश करता है, तब जीवको अपने स्वरूपका ज्ञान होता है, जोकि सदा स्वतन्त्र और आनन्दराशि है। 'म'कार भक्तिका हेतु है, समस्त आशा-भरोसा छोड़कर प्रभुकी शुद्ध शरणागतिका नाम भक्ति है, इस भक्तिको 'म'कार प्राप्त कराता है। कहा है—

'र'कारहेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते।
'अ'कारो ज्ञानहेतुश्च 'म'कारो भक्तिहेतुकम्॥

'र'कार वैराग्यद्वारा परलोकमें और अग्निद्वारा लोकमें पोषण करता है, 'अ'कार ज्ञानद्वारा परलोकमें और भानुद्वारा लोकमें पोषण करता है और 'म'कार भक्तिद्वारा परलोकमें और चन्द्रमाद्वारा लोकमें सुख देता है, इस प्रकार श्रीराम-नाम जीवोंका लोक और परलोक दोनोंमें लालन, पालन और पोषण करता है, यह राम-नामका प्रथम अर्थ है।

फिर गोस्वामीजी कहते हैं—

बिधि-हरि-हरमय बेद प्रानसे। अगुन अनूपम गुननिधानसे।

श्रीराम-नामसे प्रणव सिद्ध होता है, जैसा कि महा-रामायणमें कहा है—

'र'कार गुरु राकारस्तथा वर्णविपर्ययः।
'म'कार व्यञ्जनश्चैव प्रणवं चाभिधीयते॥

प्रणवमें अकार, उकार और मकार तीन वर्ण हैं, ये तीनों वर्ण विधि-हरि-हरमय हैं, इनमें अकार सतोगुण-रूप है, इससे विष्णु उत्पन्न होकर सब ब्रह्माण्डोंका पालन करते हैं; उकार रजोगुणरूप है, इससे ब्रह्मा उत्पन्न होकर ब्रह्माण्डोंको उत्पन्न करते हैं और मकार तमोगुणरूप है, इससे रुद्र उत्पन्न होकर ब्रह्माण्डोंका नाश करते हैं। यही बात महारामायणमें कही है—

अकारः प्रणवे सत्त्वमुकारश्च रजोगुणः।
तमोहल मकारः स्यात् त्रयोहेकारमुद्भवे॥
प्रिये भगवतो रूपे त्रिविधो जायतेऽपि च।
विष्णुर्विधिरहं चैव त्रयोगुणविधारिणः॥

प्रणवके दो रूप हैं, एक अगुण और दूसरा सगुण। इनमें अगुण अनुपम यानी उपमारहित है और सगुण गुण-निधान है यानी अनेक दिव्य गुणसम्पन्न है, अगुण प्रणवका रूप ॐ है और सगुण प्रणवका रूप 'ओं' है, इस 'ओं'में जैसे बीजमें वृक्ष होता है, इसी प्रकार सर्व जगत् विद्यमान है। यह राम-नामका संक्षेपसे दूसरा अर्थ है।

फिर गोस्वामीजी कहते हैं—

महामंत्र जेहि जपत महेसू। कासी-मुक्ति-हेतु उपदेसू॥

राम-नाम महामन्त्ररूप है। इस महामन्त्रको देवोंमें श्रेष्ठ, योगी, ज्ञानी और भक्तोंमें अग्रणीय, नाद-वेदके आचार्य और प्रलयकर्ता महेश जपते हैं, इसलिये राम-नाम सर्वोपरि श्रेष्ठ है। इस प्रभावसे ही शिवजी अजर अमर हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसीलिये वे कालकूटको पान करके पचा गये थे, यह बात गोप्य है। इसी मन्त्रका कानमें उपदेश करके शिवजी काशीमें पशु-पक्षी आदिको मुक्त कर देते हैं। यह बात रामतापिनी उपनिषद्में प्रसिद्ध है, इसप्रकार राम-नामके जपसे मुक्ति प्राप्त होती है, यह तीसरा अर्थ है।

राम-नामका पूजन कर गणेशजी सबसे प्रथम पूज्य हुए, यानी राम-नामके अन्दर सब ब्रह्माण्ड है, यह चौथा अर्थ है। वाल्मीकि उलटा नाम जपकर सब पापोंसे मुक्त हो गये, इसलिये राम-नाम उलटा-सीधा किसी प्रकार भी जपनेसे वह अनेक जन्मोंके पापोंको नष्टकर भगवत्के निकट पहुँचाता है, यह पाँचवाँ अर्थ है। राम-नाम सहस्र नामोंके समान है, यह छठा अर्थ है। इसप्रकार हे भावुक ! गोस्वामीजीने राम-नामका बहुत कुछ प्रभाव वर्णन किया है, उसका पूरा वर्णन करने और समझानेको बहुत समय चाहिये, सारांश यह कि राम-नामके जपसे सब कुछ प्राप्त हो सकता है।

सिद्धियोंकी प्राप्ति—हे भावुक ! जिनको सिद्धि प्राप्त करनेकी इच्छा है, वे साधक श्रवण, नेत्रादि इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर और मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकारकी वृत्ति खींचकर एकाग्र होकर राम-नाम जपते हैं, और अणिमादि सिद्धियोंको प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं। जैसे (१) रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे थोड़े कालमें त्रिकालज्ञत्व सिद्धि प्राप्त होती है यानी तीनों कालका ज्ञान हो जाता है (२) फिर कुछ समय पीछे अद्वन्द सिद्धि प्राप्त होती है यानी शीतोष्ण नहीं व्यापता। (३) तदनन्तर कुछ काल बीतनेपर चित्ताद्यभिज्ञाता-सिद्धि मिलती है अर्थात् दूसरेके चित्तकी बात जानी जा सकती है। (४) फिर थोड़े दिनोंमें 'अग्न्यर्कांम्बुविषादीनां प्रतिष्टंभं' सिद्धि मिलती है अर्थात् अग्नि आदिसे बाधा नहीं होती (५) फिर कुछ कालमें अपराजिता-सिद्धि प्राप्त होती है यानी किसीसे भी पराजय नहीं होती इत्यादि क्षुद्र सिद्धियाँ राम-नामके जपसे स्वाभाविक प्राप्त हो जाती हैं।

(१) श्रीरामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे थोड़े ही दिनोंमें क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जन्म-मरणादि षडूर्मी ही नाश हो जाती हैं। (२) ब्रह्माण्डनादमें श्रवण देकर, रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे दूरश्रवण-सिद्धि प्राप्त होती है यानी दूरकी बात सुनी जा सकती है (३) सूर्यतेजमें रामरूप स्थित करके, उसमें मनदृष्टि लगाकर नाम जपनेसे दूरदर्शनसिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् दूरकी वस्तु दीखने लगती है (४) पवनमें रामरूप स्थित करके उसमें मन लगाकर नाम जपनेसे मनोजव-सिद्धि मिलती है, यानी मनके समान देहकी गति हो जाती है (५) अनन्तर मनोरथमें रामरूप स्थित करके उसमें मन लगाकर नाम जपनेसे मनोरथ-सिद्धि प्राप्त होती है यानी मनचाही वस्तु प्राप्त हो जाती है (६) सब देहोंमें स्थित आत्मामें रामरूप स्थित करके, उसमें मन लगाकर नाम जपनेसे परकाय-प्रवेश-सिद्धि प्राप्त हो जाती है यानी वह दूसरी देहमें प्रवेश करनेको समर्थ हो सकता है (७) प्राणायामकी विधिसे ब्रह्मरन्ध्रमें प्राण चढ़ाकर, वहाँ रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे स्वच्छन्द-मृत्यु-सिद्धि प्राप्त होती है। (८) देवसत्त्वसहित रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे देवांगना-क्रीड़ा-सिद्धि प्राप्त होती है (९) सत्य संकल्पमय रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे यथासंकल्प-सिद्धि प्राप्त होती है। (१०) अभंग आज्ञामय प्रभुमें मन लगाकर नाम जपनेसे आज्ञा-अप्रतिहता-सिद्धि प्राप्त हो जाती है यानी उसकी आज्ञाका कभी भंग नहीं हो सकता। ये दश सिद्धियाँ सामान्य गुण-सम्बन्धी हैं।

(१) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओंमें रामरूप स्थित करके, उसमें मन लगाकर नाम जपनेसे अणिमा-सिद्धि प्राप्त होती है यानी शरीर अणुमात्र हो सकता है। (२) ज्ञानमय महत्तत्त्वमें रामरूप स्थित करके उसमें मन लगाकर नाम जपनेसे महिमा-सिद्धि प्राप्त होती है—देह स्थूल हो सकता है। (३) आकाशादि पञ्चभूतोंमें रामरूप स्थित करके, उसमें मन लगाकर नाम जपनेसे लघिमा-सिद्धि प्राप्त होती है, देह लघु हो सकता है। (४) सात्त्विक अहंकारमय रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे प्राप्ति-सिद्धि प्राप्त होती है यानी इन्द्रिय और देहसहित पराये देहमें प्रवेश किया जा सकता है। (५) क्रिया-महत्तत्त्वमय रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे प्रकाश्य-सिद्धि प्राप्त होती है यानी भूमि आदिके गुप्त पदार्थ दिखायी देने लगते हैं। (६) त्रिगुण-माया-प्रेरक कालमय रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे ईशता-सिद्धि प्राप्त होती है यानी ईश्वरी-शक्ति प्रेरणादि प्राप्त हो सकती हैं। (७) तुरीय अवस्थामय रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे, वसिता-सिद्धि प्राप्त होती है यानी मन विषयोंसे विलग हो जाता है। (८) अगुणमय रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे अवश्यति-सिद्धि प्राप्त होतीहै, यानी इच्छामात्र से सर्वाङ्ग सुख प्राप्त रहते हैं। इत्यादि आठों सिद्धियाँ भगवत्-प्रधान हैं, सबसे श्रेष्ठ ईश-सिद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, परिचित रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे सब सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं परन्तु आजकल तो विषय-सुख-सिद्धि ही परम सिद्धि मानी जाती है। इसी सिद्धिमें सब जीव स्वाभाविक लग रहे हैं, तब अन्य सिद्धियोंको कौन पूछे ?

भगवत्‌के चार प्रकारके भक्त हैं—आर्त, अर्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी, इन चारोंके नाम आधार है, इनमें ज्ञानी भक्त भगवान्‌को विशेष प्यारा है। यद्यपि चारों युगोंमें राम-नामका प्रभाव समान ही है, फिर भी कलियुगमें राम-नामका प्रभाव विशेष है, क्योंकि कलियुगमें राम-नामके सिवा अन्य उपाय नहीं है। कलियुगमें राम-नाम कल्पवृक्ष है, यानी कल्पवृक्षके समान अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सब मनोरथ पूर्ण करनेवाला है। पापीसे पापी भी रामनामके प्रभावसे शुद्ध होकर भगवत्-सम्बन्धी हो जाता है। इसलिये हे भावुक ! मेरा यही कहना है कि तनसे, मनसे, वचनसे राम-नामकी शरण लेनेपर भवसागरसे पार होनेमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

रामदास–भगवन् ! आपने अभी कहा कि रामरूपमें मन लगाकर नाम जपनेसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। कृपया रामरूपका भी किञ्चित् परिचय दीजिये, क्योंकि परिचय बिना प्रीति नहीं होती, यह अटल नियम है।

अवधूत–(प्रसन्न होकर) भाई! राम-रूपका गोस्वामीजी-ने इसप्रकार वर्णन किया है, ध्यान देकर सुन—

रामका रूप

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवाःसुरा
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

गोस्वामीजी कहते हैं कि 'जो रूप श्रीराम करके आख्य यानी प्रसिद्ध है, उस रूपकी मैं वन्दना करता हूँ, वह श्रीरामरूप कैसा है कि अशेष कारणसे परे है। लोकोंकी उत्पत्तिका आदि हेतु प्रकृति है, उस प्रकृतिको कारण कहते हैं। कारणरूप प्रकृतिके संगसे आत्मा ब्रह्मकी आत्मदृष्टि भूलकर जीव हो गया। जब जीव आशामें बद्ध हुआ, तब बुद्धि हुई, जब असत् बुद्धि हुई,तब जीव असत् वासनामें बँध गया,जब जीव असत् वासनामें बँधा,तब अहंकार हुआ, अहंकार होनेसे जीवमें विषमता आयी। सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे अहंकार तीन प्रकारका है। सात्त्विक अहंकारसे दश इन्द्रियाँ और मन हुआ, राजस अहंकारसे इन्द्रियोंके देवता हुए और तामस अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस,गन्ध सूक्ष्मभूत हुए। सूक्ष्मभूतोंसे, क्रमसे आकाश, वायु,अग्नि,जल और पृथिवी पाँच स्थूलभूत हुए। इसप्रकार स्थूलशरीर हुआ। विषय-संगसे काम हुआ, कामनाका नाश होनेसे क्रोध हुआ,क्रोधसे मोह हुआ, मोहान्ध होनेसे बुद्धि नष्ट हुई,तब जीव विषयी हो गया। इस प्रकार अशेष कारण जो आदि प्रकृति है, उससे श्रीरामरूप परे हैं अर्थात् श्रीरामरूप, आनन्दरूप स्वतन्त्र, सदा अचल, एकरस है, प्रकृतिके गुण श्रीरामरूपको छूते तक नहीं है। कहा है—

रामो न गच्छति न तिष्ठति नानु शोच-
त्याकांक्षते त्यजति नो न करोति किञ्चित्।
आनन्दमूर्तिरचलः परिणामहीनो।
मायागुणाननुगतो हि तथा विभाति॥

अर्थात् श्रीरामरूप न चलता है,न बैठता है, न किसीके लिये शोक करता है, न आकांक्षा करता है,न तजता है और न कुछ करता है,वह आनन्दमूर्ति है, अचल है, परिणामहीन है और मायाके गुणोंमें अनुगत हुआ-सा प्रतीत होता है। सब रूपोंसे परे होनेसे श्रीरामरूप स्वतन्त्र है, क्योंकि श्रीरामकी इच्छासे अनेक भगवत्‌रूप लोकोंका कार्य कर रहे हैं। जैसा कि कहा है—

संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंसते नाना॥

सदाशिवसंहितामें भी इसी प्रकार कहा है—

महाशम्भुर्महामाया महाविष्णुश्च शक्तयः।
कालेन समनुप्राप्ता राघवं परिचिन्तयत्॥

कूर्मपुराणमें कहा है—

मत्स्यः कूर्मो वराहो नरहरिरतुलो वामनो जामदग्निः
सभ्राता कंसशत्रुः करुणमदवपुर्म्लेच्छविध्वंसनश्च।
एते चान्येपि सर्वे तरणिकुलभवो यस्य जाताः कुलांशैः
तं व्याप्तं ब्रह्मतेजं विमलगुणमयं रामचन्द्रं नमामि॥

श्रुतिमें कहा है—'यस्यांशेनैव ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा अपि जाता महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणांश्च स एव कार्यकारणयोः परः, परम-पुरुषो रामो दाशरथी बभूवः॥' श्रीरघुनाथजीकी मायाके वशमें अखिल विश्व यानी सम्पूर्ण संसार है। भाव यह है कि जितने विषयी जीव हैं और ब्रह्मादि जितने देवता यानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्त जीव है और जितने असुर यानी विमुख जीव हैं वे सब श्रीरामकी मायाके वशमें हैं। श्रीरामकी आज्ञासे श्री, भू-लीला आदि तैंतीस शक्तियाँ लोकोंका सब कार्य करती हैं, जैसे कि महारामायणमें कहा है—

'स्वे स्वे कार्ये रताः सर्वाः शक्तयः त्रीणित्रिशतीः ।
यस्मिन्काले भवेद्यासां सीतारामानुशासनम् ।
तस्मिन्कालेषु कुर्वीतः सर्वकार्यमशेषतः ॥'

इन रघुनाथजीकी सत्यतासे मृषा जगत् भी मोहकी सहायतासे निश्चय करके सत्य ही भासता है। जैसे रज्जुमें तमकी सहायतासे सर्प भासता है इसी प्रकार कारणरूप मायाके अन्तर्भूत भगवत्की सत्यतासे संसार सत्य भासता है। यह संसार ऐसा अथाह है कि ब्रह्मादि भी इसमें पड़े हुए डूब रहे हैं; जो कोई संसारसे पार होना चाहे, उसके लिये श्रीरघुनाथजीके पादारविन्द जहाजरूप है। यानी श्रीरघुनाथजीके चरणारविन्दोंकी शरणागति विना जीवका कल्याण नहीं होता। जैसे कि कहा है—

हिमते अनरु प्रकट बरु होई। राम-बिमुख सुख पाव न कोई॥

यही बात सत्योपाख्यानमें कही है—

विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते।
यूयं धन्या महाभागा येषां प्रीतिश्च राघवे॥

मैं ऐसे श्रीरघुनाथजीको नमस्कार करता हूँ।

हे भावुक! उपर्युक्त कथनका सारांश यह है कि श्रीराम शुद्ध, बुद्ध, नित्यमुक्त, सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, वे ही लोकोद्धारके लिये नर-रूप धारण करके अनेक प्रकारके अद्भुत चरित्र करते हैं, जिनका गान और श्रवण करनेसे पापीसे पापी जीव भी शुद्ध होकर भगवत्को प्राप्त हो जाते हैं।

रामदास—महाराज! रामायणका महत्त्व भी कृपया सुनाइये!

रामायणका महत्त्व

अवधूत—भाई! जब परात्पर श्रीरामने रघुनन्दनरूपसे अवतार लिया तभी वेदोंने भी वाल्मीकिद्वारा रामायणरूपसे अवतार लिया, इसीसे रामायणका महत्त्व प्रकट है। रामायणके वक्ता-श्रोता दोनों शिव-पार्वती, काकभुशुन्डि-गरुड़, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, गोस्वामीजीके गुरु, गोस्वामीजी और उनके शिष्य सभी ज्ञाननिधि और ज्ञातज्ञेय हैं, तब रामायणका कितना महत्त्व है, यह स्पष्ट ही है। इस रामायणके प्रभावसे लाखों-करोड़ों जीवोंका कल्याण हो चुका है, हो रहा है और आगे भी होता रहेगा! अधिक क्या कहूँ, भाई! मैं तो रामायणको भाषाका वेद मानता हूँ। वेदमें कर्म, उपासना और ज्ञान तीन काण्ड हैं, इन्हीं तीनोंका रामायणमें विस्तारसे वर्णन है। वेद प्राचीन संस्कृत-वाणीमें होनेसे सबको सुलभ नहीं हैं और रामायण तो भाषा होनेसे सबको सुलभ है, यह रामायणकी विशेषता है! इसके सिवा ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, वामन, ब्रह्म-वैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य राजसीपुराण; नारदीय, विष्णु, वाराह, गरुड़, पद्म, भागवत सात्त्विकी पुराण और मीन, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द, अग्नि तामसी पुराण एवं सनत्कुमार, नरसिंह, स्कन्द, दुर्वासा, आश्चर्य, नारद, कपिल, मानव, ब्रह्माण्ड, भार्गव, गरुड़, महेश्वर, कालिका, साम्ब, सूर्य, विष्णु, पाराशरी और देवी भागवत उपपुराण तथा अन्य सब शास्त्रोंका सम्मत रामायणमें वर्णन है। इसलिये इसकी जितनी महिमा वर्णन की जाय, उतनी थोड़ी है। इसके पढ़नेसे अन्तःकरण निर्मल होकर भगवत्के सम्मुख होकर सुखी हो जाता है। भाव यह है कि अन्तःकरण चार हैं। वस्तुमें संशय होना कि यह है अथवा नहीं इसका नाम मन है, वस्तुमें निश्चय होना बुद्धि है, वस्तुका स्मरण करना चित्त है और जब वस्तुमें ऐसा आग्रह हो कि यह ऐसी ही है, दूसरी नहीं है, इसको अभिमान कहते हैं। विषयोंकी चाहसे अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प रूप जो दुःख है, वह पुराणोंमें मन लगानेसे, निगमागममें चित्त लगानेसे, अन्य सम्मतमें बुद्धि लगानेसे और कथा-वर्णनमें अहंकार लगानेसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। अंतःकरण निर्मल होते ही जीव भगवत्के सम्मुख होता है और भगवत्के सम्मुख होते ही जीवके करोड़ों जन्मके उपार्जन किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। पापोंसे सर्व प्रकारका दुःख है, पाप नष्ट होते ही जीव सुखी हो जाता है। इतनेहीमें रामायणका महत्त्व समझ ले।

अवधूतका इतना उपदेश सुनकर रामदास अवधूतको प्रणाम करके घरको चला आया, क्योंकि सन्ध्या हो गयी थी फिर रातके दश ग्यारह बजेतक अवधूतके कथन किये हुए वाक्योंका विचार करता रहा, तदनन्तर सो गया। दूसरे दिन उसी समय फिर अवधूतके पास गया, तो वहाँ उसे न पाया। इधर-उधर ढूँढ़नेसे कहीं पता न लगा, रमते राम थे, कहीं रम गये। रामदासको बहुत शोक हुआ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु उसका समाधान तो हो ही चुका था, इसलिये उसने नियमपूर्वक रामायणके पाठ करनेका, राम-नाम जपनेका और सच्चिदानन्द राम-रूपके चिन्तन करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया!

राम-नामके निरन्तर अभ्याससे कुछ कालमें रामदासको राम-नाम स्वाभाविक हो गया और स्वप्नमें भी उसके चित्तमें राम-नामकी धारा बहने लगी। रक्तमें, प्राण-वायुमें स्थिररूप राम-नाम नृत्य करने लगा और उसके देहस्थ-परमाणु राम-नाममय हो गये! सागर और सागर-गामिनी नदियाँ राम-नाम गाने लगीं, कल-हंस मधुर-ध्वनिसे राम-नामका कीर्तन करने लगे! आकाशचारी पक्षी राम-नाम कूजने लगे और जगत्का प्राणरूपवायु राम-नामका घोष करने लगा! विश्वकी माता प्रकृति राम-नामका कीर्तन करने लगी, जगत् राम-नाममय हो गया और राम-नाम जगत्मय हो गया! इसप्रकार रामनामके प्रभावसे रामदास-को रामप्रेमकी प्राप्ति हुई और वह राममें लीन होकर सर्वमय राम ही हो गया! वह यमराजके भयको निवारण करनेवाले श्रीरामरूपका ध्यान करने लगा और बाहर-भीतर परम शुद्धिको देनेवाले श्रीरामके गुणोंका मनन करने लगा। प्रत्येक प्राणीमें स्थित श्रीरामको नमन करने लगा और सर्वत्र, सब वस्तुओंमें श्रीरामका ही दर्शन करने लगा!

इसप्रकार बड़भागी रामदास चराचरविश्वमें सच्चिदानन्द-घन कौसल्या-नन्दनका ही दर्शन करने लगा! वह चन्द्रमण्डल-में आनन्द-सागर, नटनागर, मुनि-यज्ञ-रक्षक श्रीरामको हँसते हुए देखता था। गङ्गा-नदीके जलमें लीलामय, सौम्यस्वरूप अहल्योद्धारक श्रीरामको नृत्य करते देखता था! मारुतमें जन-रञ्जन धनु-भञ्जन श्रीरामको दौड़ते देखता था! पर्वतके जलके झरनोंमें मायावर, सीता-वरको गान करते देखता था! बालकोंकी क्रीडामें निषादके सखा श्रीरामको खेलते देखता था! मार्गमें चलते हुए पथिकोंमें चित्रकूट-विहारी श्रीरामको गमन करते देखता था! सूर्यमें खरदूषण-नाशक श्रीरामको प्रकाश करते देखता था! रोगीके रोगमें रोगके नाश करनेवाले जटायुके श्राद्धकारी श्रीरामको शान्ति देते हुए देखता था! सब जीवोंके श्वासमें सबके जीवन सुग्रीवके मित्रको जीवन देते हुए देखता था! सब प्राणियोंके शरीरोंके रक्तमें लोक-स्वामी वालिके मुक्तिदाता श्रीरामको बहते हुए देखता था! जिस देवका द्यौ मूर्धा है, जिसके चन्दादित्य लोचन हैं, जिसके चरण धरणी हैं, ऐसे सर्वके लोचन रावणारि श्रीरामको ब्रह्माण्डमें परिपूर्ण देखता था! जिस देवके जठरमें ब्रह्माण्ड हैं, उस परमात्मा, परब्रह्म, अयोध्यापति, सर्वान्तर्यामी विभुको सर्वमें देखता था! अनन्त, अपराजित, अन्तर्बाह्यपूर्ण, अन्तर्बाह्यशून्य, चिन्मय आनन्दरूपको ही सर्वदा सर्वत्र देखता था! सब इन्द्रियोंसे, आनन्दायतन श्रीरामको देखता था, सब इन्द्रियोंसे रसनायक रसालको नित्य पीता था! पीता हुआ ही जगत्के आह्लादकारक श्रीरामको देखता था और देखता हुआ ही, श्रीराम-आनन्दरूप अमृतको सदा पीता था! सर्व अंगोंसे निरन्तर परमेश्वर श्रीरामका सेवन करता था, प्रत्येक प्राणीमें विश्वरूप श्रीरामका दर्शन करता था! सर्व मंगलोंके मंगल, सर्व पावनोंसे पावन, आनन्दसागरमें मग्न होकर अतिशोभन श्रीरामको निहारता था! इसप्रकार संदर्शन करनेसे अव्यय, सच्चिदानन्द, परिपूर्ण, शान्त, परमात्मा श्रीराममें चराचर विश्व लीन होगया और बड़भागी रामदास समाधिमें श्रीरामके अनुग्रहसे परब्रह्म श्रीरामको जानकर श्रीरामका अनुसन्धान करता हुआ, पृथिवीको पवित्र करता हुआ विचरने लगा!

रे भोला! यदि रामदासके चरित्रको पढ़कर भी तू भूला ही रहा, चेतमें न आया, तो कब आयगा? भाई! चेत जा! प्रयत्नपूर्वक श्रीरामके ध्यानयोगका आश्रय कर, ध्यानयोगके प्रसादसे मनुष्य दुस्तर मायाको तर जाता है। जब ध्येयमें लगा हुआ मन केवल ध्येयको ही देखता है, अन्य किसीको नहीं जानता, तब ध्यान कहलाता है। जैसे ध्यानके प्रभावसे कीट भी भ्रमर हो जाता है, उसीप्रकार ध्यानके सामर्थ्यसे जीव भी केवल हो जाता है। चेष्टासहित योगका अभ्यास करनेसे पुरुष चेष्टाहीन, सदा भावरूप स्थिरब्रह्मको प्राप्त होता है। आरण्यका आश्रय करनेसे, नासाग्र अवलोकन करनेसे, बहुत श्रवण करनेसे अथवा बाह्य उपाय करनेसे योग सिद्ध नहीं होता, योग तो परब्रह्मके चिन्तन करनेसे सिद्ध होता है। दानव, मानव, देव, पशु, वृक्ष, ग्राह, सागर, शैल, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, भूत, सर्वकर्म, भाव सब हरिके रूप हैं, सबमें सर्वत्र एक हरि ही वर्तमान है। जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ निरञ्जन, निष्कल, पर-ब्रह्म, सच्चिदानन्द लक्षण श्रीरामको ही देख! सदा आनन्दरूप, महा उज्ज्वल, अचिन्त्यशक्ति श्रीरामका एकाग्र मन होकर ध्यान कर! नर-देह-रूप तरणीको और कर्णधाररूप गुरुको प्राप्त होकर अभी अभी घोर संसार-सागरसे तरनेका उपाय कर! परात्पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीराममें भक्तिसे विचरता हुआ सदा ब्रह्मचर्यका पालन कर ! जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ श्रीराम ही हैं, सर्वत्र व्यापक विभु श्रीरामको छोड़कर मन कहाँ जायगा ? कहीं नहीं ! श्रीराम धर्म हैं, श्रीराम व्रत हैं, श्रीराम कर्म हैं, श्रीराम सनातन हैं, ज्ञात और अज्ञात श्रीराम ही हैं, निश्चय-निश्चय सब श्रीराममय ही है। इसलिये—

मत कर कोई काम, राम ही केवल भज रे ।
कर भगवतकी आश, आश सबकी ही तज रे ।।
दिन दोका संसार, सार इसमें कछु नाहीं ।
भगवत केवल सार, प्रेमकर भगवत माहीं ।।
राम नामका जाप कर, रघुबर गुण कर गान रे ।
भोला ! जा सब भूल रे, रामरूप धर ध्यान रे ।।

मानसके दो रत्न

(लेखक—श्रीभैरवसिंहजी राठौर)

सेवक कर पद नयनसे, मुखसो साहिब होय ।
तुलसी प्रीतिकी रीति मलि, सुकवि सराहैं सोय ।।
मुखिया मुखसो चाहिये, खान पान कहँ एक ।
पालै पोषै सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक ।।

बस, यह दोहे रामचरितमानसमें दो रत्न हैं। प्रथम दोहेमें राजा और प्रजा अथवा कुटुम्ब और कुटुम्बके प्रधानका सम्बन्ध बतलाया है। दूसरेमें प्रधानका कर्तव्य बतलाया है। इन दोहोंमें ऊपरी तौरसे देखनेसे ज्ञात होता है कि प्रधान अथवा राजाका तो कर्तव्य बतला दिया पर प्रजाका या कुटुम्बके अन्य व्यक्तियोंका कर्तव्य नहीं बतलाया । पर नहीं, ध्यानसे देखनेपर पता चलता है कि प्रजाका कर्तव्य प्रथम दोहेमें ही आ गया है। सेवक कैसे हों ? कर-पद-नयनसे अर्थात् केवल काम करनेवाले, पर उसका फल चाहनेवाले नहीं। इधर-उधरसे जो कुछ प्राप्त करें वह स्वयं अपने पास न रखकर मुखिया मुखको दे दें। पर मुखिया भी मुखके समान होना चाहिये। मुखका काम है कि जो कुछ कर-पद-नयनसे प्राप्त हो सब भक्षण कर ले। यदि दूसरे दोहेद्वारा उसका अगला कर्तव्य न बतलाया जाता तो अनर्थ हो जाता। इसलिये दूसरे दोहेकी आवश्यकता हुई और मुख-मुखियाका कर्तव्य बतला दिया कि वह 'खान-पान कहँ एक' अवश्य है पर उसका कर्तव्य है कि विवेकयुक्त कर-पद-नयन आदि सभी अंगोंका पालन करे ।

बस, यही नियम जहाँ भी वर्ता जायगा वहाँ सुख और शान्ति रहेगी । प्रकृतिमें देखिये, नदी-नाले सभी जगह जगह से जल लाकर समुद्र मुखियाको दे देते हैं वह उन्हें फिर वर्षाद्वारा जल देकर उनका पालन करता है। इसप्रकार नदी-नाले तथा समुद्र सभी जलसे पूर्ण रहते हैं। और यज्ञ-चक्र जारी रहता है। क्षुद्र मूढ़ तालाब इस नियमका भंग करके पानीको अपनेमें रोक लेते हैं, परिणाम यह होता है कि पानी सड़ जाता है और कुछ दिनमें सूख जाता है। ताल कंगाल हो जाता है। यही राजा-प्रजामें है। प्रजा जबतक अपनी कमाई राजाको देती है और राजा उस कमाईको प्रजाके ही कल्याणमें व्यय करता है तबतक राज्यमें सुख-चैनकी वंशी बजती है। राजा-प्रजा सभीका पोषण होता है । इस नियमका भंग होनेसे आजकल जो हालत है वह प्रकट है । कुटुम्बमें भी आज सभी अपनी कमाई अपने पास रखना चाहते हैं। फल होता है—विग्रह और निर्धनता । यदि सभी अपनी-अपनी कमाई कुटुम्बके मुखियाको दे दें और वह भी विवेकके साथ सभीका पालन करे तो आनन्द रहे। समाजमें भी सभी वर्ण अपनी कमाईको स्वयं खाना चाहते हैं। फल होता है—समाजकी छिन्न-भिन्नता। गीताका यज्ञ-चक्र यही है कि सभी छोटोंका कर्तव्य है कि निष्काम कर्म करें और उससे जो धन प्राप्त हो वह मुखियाको दे दें, अपने पास न रक्खें तथा मुखियाको चाहिये कि विवेकसे उस धनद्वारा सभीका पोषण करे।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।

इसीको महात्मा तुलसीदासजीने उपर्युक्त दो दोहोंमें बतलाया है। इसीको कायम रखनेके लिये भगवान्ने कहा है । इसप्रकार चलाये हुए यज्ञ-चक्रको जो इस जगत्में आगे नहीं चलाता, उसकी आयु पापरूप है, उस इन्द्रिय-लम्पटका जीवन व्यर्थ है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।

अतएव हम सभीका कर्तव्य है कि अपना-अपना धर्म पालन करते हुए इसको कायम रक्खें ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीवाल्मीकीयका राम-वनगमन

(लेखक—पं० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

संयोग और वियोग दोनों इस संसाररूपी रथके पहिये हैं। मनीषियोंने, प्रिय वस्तुके संयोगसे मनकी जो वृत्ति होती है उसे सुख और उसके वियोगका नाम दुःख बताया है। सभी प्रकारके द्वन्द्वोंका मूल कारण संयोग और वियोग ही है। कौन मनुष्य इस बातको चाहेगा कि जो संसारमें सबसे अधिक प्यारा समझा जाता है, जिसके दर्शनसे रोम-रोम खिल जाते हैं, वह हमारा प्यारा पात्र हमसे बिछुड़ जाय! किन्तु, मनुष्यके चाहनेसे ही सब काम नहीं हुआ करते! हम लाख प्रयत्न करें कि हमारा अपने प्रेमीसे वियोग न हो, किन्तु एक दिन वह अवश्य ही होता है। संसारमें जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग होना निश्चित ही है। इस प्राकृतिक नियमको कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। जो संयोग-सुखसे सुखी होकर हँसा है, उसे वियोग-वेदनासे व्याकुल होकर रोना भी पड़ेगा ही! हँसना-रोना, सुख-दुःख ये सभी जीवनके व्यापार हैं। ऐसा कौन संसारी पुरुष होगा, जिसे कभी किसीके भी लिये आँसू न बहाने पड़े हों?

संसारमें थोड़ा बहुत वियोगजन्य दुःख सभीको भोगना पड़ता है। जिसे संयोगमें जितना ही अधिक सुख मिला होगा, उसे वियोगमें उतने ही दुःखका भी अनुभव होगा। वियोगका सम्बन्ध उसके पूर्वके संयोगके साथ है। इसलिये जो अधिक सहृदय है, जिसका हृदय बहुत ही कोमल है, जिसका स्वभाव अत्यधिक मिलनसार है उसे वियोगका दुःख भी उतना ही अधिक सहन करना पड़ता है।

क्या वियोग सचमुच निरानन्ददायक है? यदि यह बात सत्य होती तो संसारसे आजतक नल, युधिष्ठिर, मोरध्वज और हरिश्चन्द्रकी कथाएँ कभीकी लोप हो गयी होतीं। इन करुण-कथाओंके श्रवणसे लोग अपने जीवनको अभीतक आनन्दरहित क्यों बनाते रहते? इससे जान पड़ता है, कि वियोगमें भी आनन्द है, किन्तु उस आनन्दका अनुभव सभी नहीं कर सकते। जिसने अणु परमाणुमें उस एक ही अखण्ड सत्ताका साक्षात्कार कर लिया है, जो संयोग और वियोगके उद्गम स्थानसे ऊँचा उठ गया है वही वियोगजन्य सुखका आस्वादन कर सकता है। वही संयोग और वियोगकी दो तारवाली वीणाके साथ एक ही स्वर-में गायन कर सकता है। वही इस अद्भुत आनन्दका अनुभव कर सकता है। अनुभव करके दूसरोंको उसका स्वाद चखाने वाले सन्त इस संसारमें बिरले ही पैदा होते हैं। उन्हें चाहे कवि कहिये, विधाता कहिये, दैवज्ञ अथवा मनोविज्ञान-शास्त्री जो कुछ भी कह लीजिये, उनमें सभी प्रकारकी सामर्थ्य होती है। वे हमें तनिक-सी बातपर रुला सकते हैं और जरा-सी बातपर हँसा सकते हैं।

रोनेमें कितना आनन्द है, इसे वही जान सकता है, जो किसीकी यादमें रोया है। अपने दुःखसे रोनेवाले तो बहुत मिलेंगे किन्तु उनके रोनेका कोई स्थायी महत्त्व नहीं। जो दूसरोंके दुःखसे दुखी हो उठे, जिसका हृदय करुणाके लिये अपने-परायेका भेद-भाव न रखता हो, असलमें, वही महापुरुष है। उसकी करुणा ही सचमुचमें करुणा कही जा सकती है। उसकी वेदना ही सुखकर वेदना है और उसकी वियोगजन्य पीड़ा ही सुखकरी—मधुमयी पीड़ा है। उसके अनुभवमें आनन्द है, उसके श्रवणमें सौन्दर्य है और उसकी स्मृतिमें मीठा-मीठा सुख है। इसीलिये तो कवियोंने करुण रसको सर्व रसोंमें श्रेष्ठ माना है।

आदिकवि भगवान् वाल्मीकिजीने अपने जीवनमें करुणाको प्रत्यक्ष किया था। उनका सम्पूर्ण जीवन उसी जीवनाधारके पादपद्मोंमें समर्पित था। उन्होंने करुण-कण्ठसे करुणानिधानका अहर्निश आह्वान किया था। इसी लिये उनके प्रत्येक कार्यमें करुणा थी। करुणा क्या थी उनका सम्पूर्ण शरीर ही एक प्रकारसे करुणाका विग्रह बन गया था। जिसप्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित मुँहतक लबालब भरा अमृतका प्याला तनिक-सी ठेस लगनेसे ही छलकने लग जाता है, उसी प्रकार उस करुणामूर्ति ऋषिके कोमल हृदयमें भी क्रौंच पक्षीकी कातर वाणी सुनकर एक गहरी-सी गर्म ठेस लगी। बस, उस गर्म ठेसके लगते ही उनका नवनीतके समान स्निग्ध-हृदय द्रवीभूत होकर बह निकला। उस हृदयकी धारासे जो लोकपावनी मुनि मन-हारिणी सुरसरि बही, उसने इस त्रैलोक्यको पावन कर दिया। महामुनिकी वह अमर कृति संसारके सभी जीवोंको सुख-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

–दायिनी हुई। श्रीवाल्मीकीय रामायणने संसारको एक दिव्यालोक प्रदान किया, जिसके प्रकाशकी किरणोंसे सभी दिशाएँ अनन्त कालके लिये आलोकित हो उठीं।

वाल्मीकीय रामायणका जन्म करुणाके द्वारा ही हुआ है। इसलिये उसके आदि, मध्य और अन्तमें करुणा ही करुणा भरी है। हम यह भी कह सकते हैं कि उसमें करुणाके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। अन्य रसोंका जो वर्णन हुआ है वह केवल करुणाकी पूर्तिके लियेही है। जैसे 'राजा आ रहा है' कहनेसे केवल राजाका बोध नहीं होता। उसके साथ नौकर-चाकर, पुरोहित, मन्त्री, सवारी, वाहन आदि सभीका बोध होता है किन्तु वे सभी 'राजा' के ही अन्तर्गत आजाते हैं, क्योंकि राजा अंगी है और सेवक आदि उसके अंग हैं। इसी प्रकार रामायणमें करुणारस अंगी है और शेष सभी रस उसके सहायक अंग हैं।

वाल्मीकीय रामायणमें तीन स्थल इतने करुणापूर्ण हैं कि उनके श्रवणसे वज्रहृदय पुरुष भी बिना रोये नहीं रह सकता। आदिमें राम-वनगमन, मध्यमें लक्ष्मणकी मूर्छा और अन्तमें सीता और लक्ष्मणका परित्याग। इन तीनों स्थलोंके वर्णनमें आदिकविने करुणाका ऐसा प्रचण्ड प्रवाह बहाया है कि उसमें प्रवेश करनेपर अच्छे-अच्छे तैराकोंके पैर उखड़े बिना नहीं रह सकते। इन सबमें मुझे राम-वन-गमन सबसे श्रेष्ठ जँचता है। उस लोहकी लेखनीसे लिखे हुए प्रसंगको मैंने जब-जब पढ़ा है, तब-तब मैं खूब ही रोया हूँ। अब भी कोई मुझे उस प्रकरणको सुनाने लगे तो अश्रुओंके वेगको रोकना मेरे लिये कठिन हो जायगा। महाकविने उन पोले श्लोकोंके भीतर, कभी न चूकनेवाला ऐसा जादूका रस भर दिया है, जो सीधा हृदयपर ही वार करता है और बेचारी आँखोंपर आफ़त आ जाती है। धन्य हैं आदिकवि, जिन्होंने इस करुण-कथाका कथन किया है; और धन्य हैं वे वाचकवृन्द, जिन्होंने उसके श्रवणसे अपने श्रोत्रोंको सफल बनाया है!

भगवान् वाल्मीकिके 'राम' छद्मवेषधारी राम नहीं हैं। वे संसारसे परेके, राग-द्वेष-शून्य तथा दुःख-सुखको समान समझनेवाले, मायापति महेश नहीं हैं। यद्यपि वाल्मीकिके राम विष्णुके अवतार साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं, किन्तु जब उन्होंने नर-तन धारण ही कर लिया, तब तो फिर उन्होंने अपना सभी पुराना ऐश्वर्य मानों भुला दिया है। वे नरवेषमें आकर पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम बन गये। मायिक विकारोंसे उन्होंने अपनेको पृथक् नहीं दिखलाया, किन्तु वे दुःखमें दुःख और सुखमें सुखकी लीला करने लगे। हाँ, यह बात जरूर थी कि वे साधारण अज्ञ पुरुषोंकी भाँति दुःखमें एकदम कातर होकर अधीर नहीं हो उठते थे और न सुखमें आपेसे बाहर होकर अपने विवेकको ही खो बैठते थे। यही तो उनकी श्रेष्ठता थी, इसीलिये तो वे पुरुषोत्तम कहलाये। आदिकविने भी हमें कहीं बीचमें इस बातको फिर समझानेका कष्ट नहीं किया है, कि श्रीराम दुःख-सुखसे परे हैं, इन्हें हर्ष-शोकके भाव नहीं व्याप सकते। यही नहीं, किन्तु वे रामपर विपत्ति पड़नेपर स्वयं रोये हैं और साथ ही उन्होंने पाठकोंको भी खूब रुलाया है। यही तो उस महान् कविकी महत्ता है।

राम-वन-गमनके वर्णनमें कविने जो अपनी अद्भुत प्रतिभा-शक्ति दिखलायी है उसका दिग्दर्शन हम इस संकुचित स्थलमें कैसे करा सकते हैं? क्या कभी गागरमें भी सागर भरा जा सकता है? उसका पूरा आनन्द तो उस अयोध्याकाण्डके अद्भुत स्थलको आदिसे अन्ततक पढ़नेमें ही आ सकता है, किन्तु पाठकोंकी प्रसन्नताके निमित्त हम उसका यत्किञ्चित् दिग्दर्शन कराते हैं।

यकायक राजाका बुलावा सुनकर श्रीराम अपने पिता दशरथजीके समीप जाते हैं। कैकेयीके द्वारा अपने वनगमनकी बात सुनकर वे पिता दशरथ और सौतेली माता कैकेयीको प्रणाम करके अपनी जननी कौसल्यासे वनगमनकी आज्ञा लेने उनके महलोंमें जाते हैं।

जीवनकी सभी मनोहर आशाओंका पुत्रके अभ्युदयमें ही सुख-स्वप्न देखनेवाली माता उस समय पुत्रकी मङ्गल-कामनाके निमित्त देव पूजनमें व्यस्त थी। न जाने उन्होंने कितने देवताओंकी मनौती मान रक्खी थी। जैसे तैसे करके वह सुहावना समय अब सन्निकट आ पहुँचा। सभी देवताओंको पूजाके द्वारा प्रसन्न करना चाहिये। विघ्न-बाधाके भयसे महारानी कौसल्या पूर्ण विधानसे असंख्य ब्राह्मणोंको मनमानी दक्षिणा देकर विधिपूर्वक अग्निमें हवन करा रही थीं। वे पूजागृहमें ही थीं, उसी समय पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र उनसे वन जानेकी आज्ञा लेने जा पहुँचे। माताको अभी इन बातोंका कुछ भी पता नहीं था, वे अभी तक पुराने मनसूबे ही बाँध रही थीं।

प्रिय पुत्र रामचन्द्रको आया देख माता प्रेमके कारण अधीर हो उठीं। उन्होंने पुत्रका आलिङ्गन किया, उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माथा सूँघा और बड़े-बड़े आशीर्वाद देकर अन्तमें वात्सल्य-प्रेमके अधीन हो रामचन्द्रको जल्दी ही कुछ खा लेनेके लिये कहा।

भोजनके लिये जो राजसी आसन बिछा था, उसे स्पर्श कर रामचन्द्रजी हाथ जोड़ विनीत वचनोंसे बोले—'माता! आपको पता नहीं है, मेरे सभी प्रिय जनोंके लिये इस समय बड़ा ही भय आया है, किन्तु आप सबको इससे दुखी न होना चाहिये। मैं दण्डकारण्यको जा रहा हूँ। अब मुझे राजसी आसनसे क्या काम? अब तो मेरे लिये कुशासन ही पर्याप्त होगा। मैं चौदह वर्ष वनमें रहूँगा, जंगली वस्त्र धारण करूँगा और कन्द-मूल-फल खाकर ही अपना निर्वाह करूँगा।'

ओह, इन वेदनापूर्ण वचनोंको सुनकर देवी कौसल्याको कितना अपार दुःख हुआ होगा, इसकी पूर्ण कल्पना क्या कोई कर सकता है? महाकविने निम्नलिखित तीन श्लोकोंमें उसके दुःखका चित्र खींचा है—

सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने।
पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता॥
तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव।
रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम्॥
उपावृत्योत्थितां दीनां वडवामिव वाहिताम्।
पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना॥
(बा० रा० २।२०।३२-३४)

'इस (भयङ्कर) संवादके सुननेसे देवी कौसल्या कुल्हाड़ीसे काटी हुई सालकी शाखाके समान सहसा भूमिपर गिर पड़ीं, मानों स्वर्गसे कोई देवाङ्गना गिरी हो। दुःखके अयोग्य, बेहोश कौसल्या कटे केलेके समान गिर पड़ी। श्रीरामचन्द्रने अपनी माताको उठाया। करवट बदलकर दुःखिनी कौसल्या उठीं, जिस प्रकार बोझसे लदी घोड़ी उठती है, उनके सम्पूर्ण शरीरमें धूल लग गयी थी, श्रीरामचन्द्रने उसे अपने हाथसे झाड़ा।'

उस समय माताके धैर्यका बाँध सचमुच टूट गया होगा। जिन बातोंको अबतक वे अपने पुत्रसे छिपाये रखती थीं, भारी दुःख पड़नेपर वे बातें आपसे आप ही बाहर निकली पड़ीं! वे बड़े ही दुःखके साथ कहने लगीं—'पुत्र! यदि तुम उत्पन्न न हुए होते तो मुझे दुःख होता अवश्य, किन्तु तब यह पुत्र-वियोगरूपी असह्य दुःख न होता। वन्ध्याको पुत्रहीन होनेके अतिरिक्त और कोई दूसरा दुःख नहीं होता। मैंने पतिके प्रेमसे होनेवाले सुख और कल्याण कभी नहीं देखे। हे राम! मैंने सोचा था कि पुत्रके समयमें मैं सुख भोगूँगी, पर अब हृदय छेदनेवाली अपनेसे छोटी सौतोंकी बहुत-सी अरुचिकर बातें, उनसे बड़ी होनेपर भी सहनी पड़ेंगी। हे पुत्र! जब तुम्हारे रहनेपर ही यहाँ मेरा इतना अधिक तिरस्कार था, तब तुम्हारे चले जानेके बाद मेरा क्या हाल होगा? उस समय तो निश्चय ही मेरी मृत्यु हो जायगी। राम! तुम्हें उत्पन्न हुए अट्ठाईस वर्ष हो गये और ये वर्ष अपने दुःखोंकी समाप्तिकी कामनासे मैंने जैसे-तैसे करके बिताये। सौतोंके द्वारा अपमानको सहते-सहते मैं बूढ़ी हो गयी, अब मुझसे ये दुःख नहीं सहे जायँगे। तुम्हारा पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर मुख न देखनेसे दुःखिनी मैं किस प्रकार अपना जीवन बिताऊँगी? राम! मेरा हृदय बड़ा ही कठोर है इसी कारण वह फटता नहीं। अवश्य ही मेरी मृत्यु नहीं है। मृत्युके घरमें शायद मेरे लिये जगह ही नहीं रही! इसीसे तो यमराज आज मुझे उठा नहीं ले जाते। मेरा हृदय लोहेका बना हुआ है, तभी तो यह ऐसे भयंकर दुःखके आनेपर न तो टूटता ही है और न फटता ही है। यह बात बिल्कुल ठीक है कि निश्चित समयके पहले किसी प्रकार भी मृत्यु नहीं हो सकती। पुत्र-कल्याणकी कामनासे मैंने जो व्रत, दान, संयम किया, वह सब अनर्थक हुआ। मैंने जो तपस्या की वह भी व्यर्थ गयी।' इसप्रकार अनेक विलाप करती हुई माता अधीर होकर कहने लगी—

अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा
त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ।
अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः
सुदुर्बला वत्समिवाभिकांक्षया॥
(बा० रा० २।२०।५४)

'चन्द्रमुख राम! तुम्हारे बिना मेरा यह गर्हित जीवन व्यर्थ है। इसलिये जिसप्रकार बछड़ेके पीछे दुबली गौ चलती है उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे वन चलूँगी।'

वन जानेवाले रामसे माताने हृदयको पिघला देनेवाली बातें कहीं, किन्तु सत्यप्रतिज्ञ राम उनसे तनिक भी विचलित नहीं हुए। पास ही खड़े हुए लक्ष्मण इन सभी बातोंको सुन रहे थे। रामके कल्याणमें ही सदा तत्पर रहनेवाले लक्ष्मण इसको सहन नहीं कर सके। उन्होंने राजाको खूब ही खरी-खोटी सुनायी, कैकेयीको भी बुरा-भला कहा और रामको उनका अधिकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुझाया । उन्होंने आवेशके साथ कहा—"पुरुषोत्तम, राजा किस बल-भरोसेपर और किस कारणसे तुम्हारा यह प्राप्त राज्याधिकार कैकेयीको देना चाहते हैं ? हे शत्रुविजयिन् ! आपसे और मुझसे वैर करके राजा भरतको राज्य देनेकी कौन-सी शक्ति रखते हैं ? इसलिये आप अभी राज्यपर जबरदस्ती अधिकार कर लें । यमराजके समान धनुष-बाण लेकर आपकी सहायता करनेको मैं तैयार हूँ ।' माता रामके स्वभावको जानती थी , इसलिये उन्होंने न तो लक्ष्मणकी इन बातोंका समर्थन ही किया और न विरोध ही । उन्होंने केवल इतना ही कहा 'राम ! अपने भाई लक्ष्मणकी सब बातें तुम सुनो,इसके अनन्तर जो कुछ तुम उत्तम समझो वह करो ।' रामको और करना ही क्या था ? प्रेममें—आज्ञा-पालनमें अधिकारका ध्यान कैसा ? इन कार्योंका पूर्ण निर्वाह तो एक त्यागके ही द्वारा हो सकता है। इसलिये उन्होंने लक्ष्मणकी बड़ाई करते हुए उन्हें उनका कर्तव्य सुझाया । माताको सान्त्वना दी और उन्हें समझाते हुए विवेकी राम बड़ी ही सरलताके साथ बोले—'माता ! तुम सोचो तो सही, हम सबके गुरु धर्मात्मा महाराज दशरथ अभी जीवित हैं,उनके रहते तुम विधवा स्त्रियोंकी भाँति मेरे साथ वनमें कैसे चल सकोगी ? पिताकी आज्ञाका पालन करना मेरा और तुम्हारा सभीका परम धर्म है । माता ! मैं राज्यलोभके कारण पिताकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता।' माताने जब देखा कि राम किसी भी प्रकार अपने निश्चयसे डिगनेवाले नहीं हैं तो उन्होंने रोते-रोते रामकी बातें स्वीकार कीं । दुःखिनी माताने कड़ी छाती करके रामकी मंगल-कामनाके लिये उनका स्वस्त्ययन किया । निरन्तर अश्रुओंके प्रवाहसे जिसकी छाती भीग रही है, ऐसी माताने विलाप करते हुए अपने इकलौते पुत्रको छातीसे चिपटा लिया। रोते हुए रामके माथेको सूंघकर अपनेको अभागिनी समझने वाली माताने पुत्रको अनेक आशीर्वाद दिये । बार-बार चुचकारकर और उनके मुरझाये हुए मुखकमलको निहारकर माताने उन्हें बिदा किया । वहाँसे रामचन्द्रजी सीताजीके महलोंमें गये ।

मनुष्य चाहे कितना भी साहसी क्यों न हो, कैसा भी पण्डित अथवा विवेकी हो, किन्तु हर्ष और शोकके भाव उसके चेहरेपर प्रकट हो ही जाते हैं । रामचन्द्र अपने परिजनोंसे पृथक् होनेवाले थे अतः उनके चेहरेपर वियोग-जन्य भावके लक्षण प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे थे । उन्हें ऐसी दशामें देखते ही सीताने उसका कारण पूछा तथा आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—

अद्य बार्हस्पतः श्रीमान् युक्तः पुष्येण राघव ।
प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः केन त्वमसि दुर्मनाः ॥
(वा० रा० २।२६।९)

'हे राघव ! यह क्या ? विद्वान् ब्राह्मण तो कह रहे हैं कि आज पुष्य नक्षत्र है, जिसके देवता बृहस्पतिजी हैं, इसलिये इसमें आरम्भ किया हुआ कार्य सफल होता है। यह समय अभिषेकके योग्य है, अतएव आपको प्रसन्न होना चाहिये था । मैं देखती हूँ कि बात इसके बिल्कुल विपरीत है । कहिये तो सही, आप उदास क्यों हैं ?'

सीताके पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीने आदिसे अन्ततक सभी वृत्तान्त सुनाया और उन्हें अपने पीछे उनका कर्तव्य सुझाकर अयोध्यामें ही रहनेका उपदेश दिया। रामचन्द्रजीके इन वचनोंको सुनकर पतिप्राणा सीताने न तो कैकेयीको ही बुरा-भला कहा, न अपने श्वसुर धर्मात्मा महाराज दशरथहीकी निन्दा की, और न श्रीरामचन्द्रजीसे ही पुरमें रहनेका आग्रह किया । किन्तु वे इस बातसे दुखी हुई कि श्रीराम मुझे अयोध्यामें रहनेके लिये क्यों कह रहे हैं। इसीलिये स्नेहसे कुपित होकर दृढ़ताके साथ बोलीं–'राघव ! यदि आप आज ही वन जा रहे हैं, तो मैं आपके रास्तेके कुश-कण्टकोंको रौंदती हुई आगे-आगे चलूँगी । मैं आपके साथ वन जाऊँगी, इसमें कुछ भी सन्देह न कीजिये। महाभाग ! मैं वन जानेके लिये तैयार हूँ । अब मैं किसी प्रकार रुक नहीं सकती ।' सीताके इन दृढ़ वचनोंको सुनकर भी राम उन्हें साथ ले चलनेको राजी न हुए। वे उन्हें जंगलोंके भयङ्कर दुःखोंको सुनाकर डरानेका प्रयत्न करने लगे । उन्होंने खूब विस्तारके साथ बीहड़ वनोंमें होनेवाले भयङ्कर दुःखोंका वर्णन किया ।

ये बातें सुनकर सीता न तो डरी ही और न अपने निश्चयसे तनिक विचलित ही हुई । वे रो रोकर पतिसे कहने लगीं–'मैं आपकी सेविका हूँ, पतिव्रता हूँ, दीना हूँ और सुख-दुःखको समान समझनेवाली हूँ। हे राघव ! आप मुझे साथ ले चलें, क्योंकि मैं आपके सुखदुःखकी संगिनी हूँ । यदि आप इसप्रकारकी दुःखिनी मुझको अपने साथ वन ले जाना नहीं चाहते, तो मैं अपनी मृत्युके लिये विष, आग या जलका उपयोग करनेका विचार करूँगी ।' इतनेपर भी जब सीताने देखा कि पुरुषश्रेष्ठ रामचन्द्र मुझे वन ले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलनेको राजी नहीं हैं, तब तो वे बहुत ही अधीर हो उठीं। उनका क्रोध आवश्यकतासे अधिक बढ़ गया था, किन्तु वह क्रोध स्नेहसे भीगा हुआ और ममत्वसे भरा हुआ था। वे श्रीरामचन्द्रको स्नेहके साथ तीक्ष्ण तानें मारती हुई प्रेम और अभिमानके साथ बोलीं—

किं त्वा मन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्॥
(वा० रा० २।३०।३)

'मेरे पिता मिथिलाधिप राजा जनकने आपको पुरुष-शरीरधारी स्त्री नहीं समझा था, अतएव उन्होंने आपको अपना दामाद बनाया।'

इसप्रकार सीताने जब भाँति-भाँतिसे श्रीरामचन्द्रको मजबूर किया और किसी प्रकार भी अयोध्यामें रहनेको राज़ी न हुई तो रामने उन्हें साथ चलनेकी अनुमति दे दी। लक्ष्मण कब चूकनेवाले थे? उन्होंने कौसल्याके घरसे ही रामचन्द्रका पल्ला पकड़ लिया था। उन्हें विशेष समझाना व्यर्थ था, इसलिये सहजमें ही साथ जानेकी अनुमति मिल गयी।

अब रामचन्द्रजीने वन-गमनकी तैयारियाँ शुरू कर दीं। लक्ष्मण उसी तत्परताके साथ वन-गमनकी तैयारी करने जुट गये जिस तत्परतासे अबसे थोड़ी देर पहले राज्याभिषेककी तैयारीमें जुटे हुए थे। अब वन जाना ही है—यह सोचकर राम साहसी पुरुषकी भाँति सभी सामान ठीक करने लगे। उन्होंने कोषाध्यक्षसे अपना निजी धन मँगवाया और उसे क्रमसे सभी वेदज्ञ ब्राह्मणोंको बाँट दिया। अपने तथा लक्ष्मणके घरोंकी रक्षाके निमित्त बहुत-सा धन देकर विशेष-विशेष नौकर नियुक्त कर दिये। सभी ब्राह्मण अपनी इच्छानुकूल धन-सम्पत्ति पाकर बहुत ही प्रसन्न हुए और रामचन्द्रको भाँति-भाँतिके आशीर्वाद देने लगे।

ऐसे समयमें भी रामचन्द्रका विनोदी स्वभाव कुछ कम नहीं हुआ। अयोध्यामें उस समय गर्गगोत्री त्रिजट नामका एक गरीब ब्राह्मण रहता था। उसके सन्तान तो बहुत थी। किन्तु घरमें खानेका पूरा ठिकाना नहीं था। बेचारा ब्राह्मण होकर भी कुदाल और हल लेकर दिनभर कड़ी धूपमें खेतपर काम किया करता था। दुःखके कारण वह दुर्बल ब्राह्मण पीला पड़ गया था। उसकी स्त्रीने उससे कहा—'आप मेरी बात सुनिये, राजकुमार राम आज सभी ब्राह्मणोंको मनमानी दक्षिणा बाँट रहे हैं। आप भी चले जायँ। आपके भाग्यमें होगा तो कुछ-न-कुछ मिल ही जायगा।' स्त्रीके वचन सुनकर उस दुर्बल ब्राह्मणने एक फटा-सा चिथड़ा अपने शरीरपर लपेट लिया और राजकुमार रामके महलोंकी ओर चल पड़ा। राजकुमार साधारण मनुष्योंकी तरह बाहर खुले मैदानमें तो घूमते ही नहीं थे उनसे मिलना कोई हँसी खेल नहीं थी। रामचन्द्र पाँच पहरोंके भीतर रहते थे। किन्तु अब तो वनवासी बन चुके हैं, इसलिये आज उनके पास जानेके लिये किसीको भी मनाई नहीं है। इसीलिये वह त्रिजट ब्राह्मण पाँचों खण्डोंको पारकर सीधा रामचन्द्रके पास पहुँच गया। किसी भी खण्डमें पहरेवाले सिपाहियोंने उसे नहीं रोका। वह तेजस्वी ब्राह्मण रामचन्द्रके समीप जाकर बोला—'महाबली राजपुत्र! मैं निर्धन हूँ, मेरे बहुत-से पुत्र हैं, मैं वनमें रहता हूँ, मेरी कोई निश्चित वृत्ति नहीं है, आप मेरी ओर देखें।' श्रीरामचन्द्रने उस ब्राह्मणकी ओर देखकर मुसकराते हुए कहा—'विप्रवर, अभी मैंने अपनी हजार गौओं-मेंसे एक भी गौ किसीको नहीं दी। इसलिये आप एक काम कीजिये। यह डण्डा लीजिये—इसको आप जोरसे फेंकें। यह जहाँ जाकर गिरेगा, वहाँ तककी सभी गौएँ आपकी होंगी।' यह सुनकर उस दुर्बल ब्राह्मणमें न जाने कहाँसे बल आ गया। उसने जल्दीसे अपनी फटी धोतीको खूब जोरोंसे कसकर बाँध लिया और अपने सारे बलको हाथमें एकत्रित करके जोरसे डण्डा फेंका। कई हजार गौओंके झुण्डको पार करता हुआ डण्डा सरयूके उस पार जा गिरा। रामचन्द्र उस दुर्बल ब्राह्मणके इस कृत्यको देखकर हँस पड़े और प्रसन्न होकर बोले—'विप्रवर! आप कुछ और न समझें यह तो मैंने आपके साथ विनोद किया था। मैं इन सूखी हड्डियोंको देखना चाहता था, कि इनमें कितना बल है? ये गायें सब आपकी हुई और भी जो आपको आवश्यकता हो, सो यहाँसे ले जायँ, क्योंकि मैं ब्राह्मणोंका दास हूँ। मेरा सारा धन ब्राह्मणोंके लिये ही है।' रामचन्द्रने उस ब्राह्मणको इसप्रकार सन्तुष्टकर विदा किया।

सारा धन बाँटकर राम अपनी पत्नी और भाईके साथ पैदल ही राजासे विदा होनेके लिये राजभवनमें चले। पुरवासियोंके उस समयके दुःखको कौन कह सकता है? महाकविने उसका बड़ा ही सजीव और हृदयग्राही वर्णन किया है। स्थानाभावके कारण यहाँ उसका तनिक भी उल्लेख नहीं हो सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुमन्तने जाकर दुखी और बेहोश राजाको समाचार दिया कि अपना सभी धन ब्राह्मणोंको बाँटकर राम वन जा रहे हैं और वे आपके दर्शन करनेके लिये द्वारपर खड़े हैं।

'हा ! क्या वह भयङ्कर समय सचमुचमें सन्निकट आ पहुँचा जब मैं अपने निर्दोष प्यारे पुत्रको इन्हीं आँखोंसे वनवासीके वेषमें देखूँगा।' कड़ी छाती करके राजाने सुमन्तसे कहा—'सूत ! मेरी सब स्त्रियोंको बुला लाओ, मैं एक बार इन सबके सहित रामचन्द्रको देखना चाहता हूँ।' महाराजकी आज्ञा क्षण भरमें ही पूरी की गयी। देखते-ही-देखते साढ़े तीन सौ रानियाँ दुःखसे लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ती हुई वहाँ आ उपस्थित हुईं। उनके वस्त्र अश्रुओंसे भीगे हुए थे। रानियोंके आ जानेपर राजाने भाई और सीतासहित रामको भीतर बुला भेजा। रामको देखते ही राजा दौड़कर बड़े वेगसे उनकी ओर चले, किन्तु बीचमें ही मूर्छा आ जानेके कारण बेहोश होकर गिर पड़े। जल्दीसे दौड़कर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणने उन्हें सँभाला, सुकुमार सीताने भी इस काममें सहायता की। राजाके दोनों नेत्रोंसे सावन-भादोंकी वर्षाके समान अश्रुओंकी झड़ी लग रही थी। वे बेहोश हुए पलँगपर पड़े थे। शोक-समुद्रमें डूबे हुए राजाको क्षण भरमें होश हुआ। तब विनीत भावसे श्रीरामचन्द्र हाथ जोड़कर पितासे बोले—

आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः।
प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन माम्॥

(वा० रा० २।३४।२२)

हे महाराज ! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ, क्योंकि आप हम सब लोगोंके स्वामी हैं, हम दण्डकारण्यको जानेके लिये तैयार हैं। आप प्रसन्न होकर हमारी ओर देखें और हमें जानेकी आज्ञा दें।

धर्मपाशमें बँधे हुए राजाकी उस वेदनाका अनुभव तो उनके निम्नलिखित शब्दोंसे लगता है। वे दुखी होकर रामचन्द्रसे बोले—

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥

(वा० रा० २।३४।२६)

'हे राघव ! कैकेयीने वरदानके द्वारा मुझे मोहित कर लिया है, मैं राज्यके अयोग्य हूँ, क्योंकि मैं अब अपने अधीन नहीं हूँ, इसीलिये हे पुत्र ! मुझे कैदकर तुम अयोध्याके राजा बनो।'

राजाके इन वचनोंको सुनकर रामचन्द्र बोले—'महाराज ! हजारों वर्षोंतक आप पृथ्वीका राज्य भोगें। राज्य करनेकी मेरी इच्छा ही नहीं है, मैं तो वनमें जाकर रहूँगा और चौदह वर्ष पूरे होनेपर फिर आपके श्रीचरणोंके दर्शन करूँगा।' पिताने देखा राम वन जानेसे रोके नहीं जा सकते। वेदनाके सागरमें डुबकियाँ लगाते हुए बूढ़े बाप अपने सिंह-सदृश पराक्रमी पुत्रको इसप्रकार बिल्कुल ही तैयार देखकर दीनता और करुणाके साथ बोले—

अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा।
एकाहदर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम्॥
मातरं मां च संपश्यन् वसेमामद्य शर्वरीम्।
तर्पितः सर्वकामैस्त्वं श्वः काल्ये साधयिष्यसि॥

(वा० रा० २।३४।३३-३४)

'बेटा ! तुम वन जाये बिना मानोगे नहीं, किन्तु मेरी एक अभिलाषा है, तुम आज मत जाओ, जिससे एक दिन और एक रात्रिका समय मैं तुम्हें देखकर सुखसे बिता सकूँ। राम ! इस (दुःखिनी) अपनी माताकी ओर एवं मेरी ओर देखकर, बस, आज एक ही रात्रिके लिये यहाँ मेरे पास और रह जाओ। आज रहकर और मेरे सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करके कल प्रातःकाल भले ही खुशीके साथ चले जाना।' २८ वर्षतक दिन-रात्रि पास रहनेपर जिन महाराजके मनोरथ पूर्ण नहीं हुए, वे एक दिनमें ही अपने सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण होनेका सुख-स्वप्न देख रहे हैं। सच है, 'डूबतेको तिनकेका सहारा भी बहुत होता है।' एक रातके रहनेकी अनुनयमें कितनी करुणा भरी पड़ी है ! सचमुच यदि राम उस रात्रि रहकर बूढ़े बापके पास बैठकर उसकी थालीमें साथ ही भोजन कर लेते, तो महाराज दशरथ अवश्य ही कृतकृत्य हो जाते। किन्तु विधिका विधान विचित्र है, जो पुत्र सदा अपने पिताके मुखकी ओर इसलिये देखता रहता था कि देखें पिता किस समय क्या आज्ञा करते हैं। ऐसा न हो कि उसके पालन करनेमें तनिक भी विलम्ब हो जाय, वही पुत्र आज धर्म-पाशमें बँधनेके कारण ऐसा कठोर हो गया है कि इतनी चिरौरी करनेपर भी एक रात्रि रहनेको राज़ी नहीं होता, इसीका नाम भवितव्यता है !

कैकेयी जानेके लिये जल्दी कर रही थी, उस समय वह यमराजकी सहोदरा तथा विषधर सर्पिणी बनी हुई थी। उसे वहाँ श्रीरामका क्षणभर भी रुकना अच्छा नहीं लगता था। महाराजने रामको रोकनेके सैकड़ों प्रयत्न किये, किन्तु सभी निष्फल हुए तब उन्होंने अपने बूढ़े मन्त्री सुमन्तकी ओर इशारा किया। सुमन्त जोरसे सिर घुमा, कई बार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लम्बी लम्बी साँसें छोड़, हाथसे हाथ मल, दाँत कटकटाकर, क्रोधसे लाल आँखें बना—अधिक क्रोधके कारण भयङ्कर दुःख भोगते हुए, महाराजके अभिप्रायको समझ अपने तीक्ष्ण वचनरूपी बाणोंसे कैकेयीके हृदयको कँपाते हुए तथा उसके अन्तस्तलको अपने अनुपम वाक्य-वाणोंसे बेधते हुए बड़े ही क्रोधके साथ बहुत-सी उल्टी-सीधी बातें कहने लगे। कैकेयीकी माताकी क्रूरताका कथन करके क्रोधित सुमन्तने उसे 'कुलघातिनी' बताया और कहा तू उसीकी क्रूर कर्म करनेवाली कलंकिनी कन्या है। तुझसे ऐसी ही आशा की जा सकती है। सच है, बेटी माँके ही समान गुण वाली होती है। किन्तु उसपर सुमन्तकी इन बातोंका कुछ भी असर नहीं हुआ। वशिष्ठ, वामदेव, सिद्धार्थ आदि सभी समझदार व्यक्तियोंका समझाना व्यर्थ हुआ। वह अपने विचारको किसी प्रकार भी न बदल सकी। तब दुखी होकर महाराजने कहा—'अच्छा, सेना धन, कोष, वस्त्र, आभूषण और सभी राजसी सामग्रियाँ रामचन्द्रके साथ वनमें जायँ और इस शून्य राज्यको भरत भोगे।' तब डरी हुई कैकेयी बोली—'जब सभी वस्तुएँ चली जायँगी तो इस सारहीन राज्यको लेकर भरत क्या करेगा। उसको ऐसा राज्य नहीं चाहिये।'

जब दुखी राजाने इस बातपर कैकेयीको बहुत बुरा-भला कहा और स्वयं रामचन्द्रके साथ वन जाने तकको उद्यत हो गये, तब रामचन्द्र बड़े ही विवेकपूर्ण वचनोंसे बोले—

त्यक्तभोगस्य मे राजन् वने वन्येन जीवतः।
किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसंगस्य सर्वतः॥
यो हि दत्वा द्विपश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम्॥
(वा० रा० २।३७।२-३)

पिताजी! मैंने तो सभी प्रकारके भोगोंका त्याग कर दिया है। मेरा निर्वाह जंगली वस्तुओंसे ही हो जायगा, जब मैंने सभी प्रकारकी आकांक्षाओंका त्याग कर दिया है, तब मेरे साथ सेनाकी क्या आवश्यकता है? जिसने अपना सबसे बढ़िया हाथी दे डाला उसे हाथी बाँधनेकी रस्सीसे भला मोह कैसा? वह क्या रस्सीके लिये आग्रह कर सकता है? अतएव सज्जनश्रेष्ठ राजन्! मुझे इस सेनाकी आवश्यकता नहीं। ये सब सेना आदि वस्तुएँ मैंने भरतको दे दी हैं। मेरे लिये तो आपलोग वल्कल-वस्त्र ले आवें। मेरा काम एक खनती और खाँचीसे ही चल जायगा। यही चीजें मुझे मिलनी चाहिये।

निर्लज्जा कैकेयी इतने आदमियोंके बीचमेंसे उठकर स्वयं वल्कल-वस्त्र ले आयी! उस वज्रहृदयाको इसमें तनिक भी लज्जा न लगी। रामचन्द्र और लक्ष्मणने सब आदमियोंके देखते-ही-देखते अपने महीन वस्त्र उतारकर रख दिये और मुनियोंके पहनने योग्य वल्कल-वस्त्र पहन लिये।

ओः! उस समयका दृश्य कैसा हृदयविदारक होगा, जब सुकुमारी सीताके सामने चीर-वस्त्र आये होंगे। जिसने कभी दुःख नहीं देखा था, जो सदा लाड़-चाव और प्यारसे पली थी, वही राजकुमारी विदेहकन्या और चक्रवर्ती महाराज दशरथकी पतोहू आज दशरथके सामने मुनि-पत्नियोंकी तरह वल्कल-वस्त्र धारण करेगी! सचमुच उस समय वहाँके सभी उपस्थित स्त्री तथा पुरुषोंका हृदय फटकर चकनाचूर हो गया। विश्वकविकी अमर लेखनीने सीताके मनोभावोंका कैसा सजीव चित्र खींचा है—

अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी।
संप्रेक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृषती वागुरामिव॥
साव्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः।
कैकेय्याः कुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा॥
(वा० रा० २।३७।९-१०)

सदा पीताम्बरोंको पहननेवाली सीता अपने वल्कल-वस्त्रोंको देखकर ऐसे भयभीत हो गयी जैसे विशालाक्षी हरिणी जालको देखकर डर जाती है। शुभलक्षणा जानकी कैकेयीसे वे वस्त्र पाकर लज्जित और दुःखित हुई, जानकीकी आँखोंमें आँसू भर आये। वह लज्जित हो गन्धर्वराजके समान अपने पतिसे बोली—

कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः।

'वनवासी मुनि किसप्रकार चीर पहना करते हैं?' बेचारी-ने काहेको किसीको चीर बाँधते देखा था, इसलिये अपने चीर पहिननेके अज्ञानको स्मरणकर वह लज्जित हुई और वहीं ठिठुक गयी, एक चीरको तो उसने कन्धेपर रख लिया और दूसरेको हाथमें लिये हुए वह सरलताके साथ रामचन्द्रजीके मुखकी ओर देखने लगी। सीता चीर पहनना नहीं जानती है, यह सोचकर धर्मात्मा राम सीताके समीप गये और अपने हाथसे पीताम्बरके उपर चीर कस दिया। जानकीको यति-वेषमें चीर पहने देखकर समूचा राजभवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुदनके भीषण रवसे गूँज उठा ! उस हृदय हिला देनेवाले दृश्यसे सभी दुखी हुए ! गम्भीरताके सागर भगवान् वशिष्ठ भी अपने आवेशको नहीं रोक सके और उन्होंने अनेक प्रकारकी जली-कटी बातें कैकेयीको सुनायी ।

बेहोश और दुखी राजाको प्रणामकर रामचन्द्रजी भाई और पत्नीसहित वन जानेके लिये रथपर बैठे । उनके वियोगसे व्याकुल अपार भीड़ आँखोंसे अश्रु बहाती हुई और कलंकिनी कैकेयीको जली-कटी सुनाती हुई रथके पीछे-पीछे चली । रोकना और समझाना सभी बेकार हुआ । उस वियोगकी बाढ़में कोई किसीकी नहीं सुनता था । सभी एक अद्भुत आकर्षणसे स्वयं ही खिंचे जा रहे थे ।

श्रीरामचन्द्रके चले जानेपर दुखी राजा पागलोंकी तरह यह कहते हुए घरसे पैदल ही दौड़े कि 'मैं अपने प्यारे पुत्रको देखूँगा ।' उनके पीछे-पीछे साढ़े तीनसौ रानियाँ भी चलीं । सम्पूर्ण नगर समानरूपसे दुखी था । इतनी अपार भीड़ होनेपर भी कहीं धूलिका नामतक नहीं था । कारण, वहाँकी धूलि सबके आँसुओंसे कीच हो गयी थी । रामचन्द्रने अपनी माता और पिताको रथके पीछे-पीछे आते देखा । सदा सवारियोंपर चलनेवाली माताको अनाथिनीकी तरह रथके पीछे-पीछे दौड़ते देखकर मातृभक्त श्रीराम दुःखसे तिलमिला उठे । वे धर्मपाशमें बँधे थे, इसलिये सामने देखते हुए भी मातासे आँखें न मिला सके । पुरवासी हाहाकार कर रहे थे । माता कौसल्या रामके रथके पीछे बिना बच्छे-वाली गौकी तरह करुण स्वरमें 'हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा सीते ! कहती हुई जोर-जोरसे रुदन कर रही थी । राम-लक्ष्मण और सीताके लिये उनकी आँखोंसे निरन्तर आँसू बह रहे थे । रामचन्द्रने कई बार अपने रथके चारों ओर चक्कर लगाती हुई अपनी दुःखिनी माताको देखा । वह पगलीकी भाँति इधरसे उधर किसी खोई हुई चीजको ढूँढ रही थी । रामचन्द्र सारथीसे बार-बार कहते हैं, 'जल्दी रथ बढ़ाओ ! जल्दी करो !' किन्तु चारों ओरकी उमड़ी हुई भीड़ रथको आगे बढ़ने दे तब तो ! इतनेमें ही महाराज दशरथने भी जोरसे चिल्लाकर सुमन्तसे रथ रोकनेके लिये कहा । सुमन्त दुविधामें पड़ गया । राम चलनेके लिये कहते हैं और प्रजाजन तथा महाराज चिल्ला-चिल्लाकर ठहरनेका आग्रह कर रहे हैं । शोक-सन्तप्त राम उस समय सूतसे बोले—

'भैया सूत ! यह भीषण दुःख अब अधिक समय तक नहीं देखा जाता । तुम रथको जल्दी हाँको !

बेचारा सारथी क्या करता ? उसे बचावके लिये रास्ता मिल गया । सूतने छाती कड़ीकर घोड़ोंके चाबुक मारी । घोड़े तिलमिलाकर चलने लगे । जनसमूह एक स्वरमें ऊँचे स्वरसे पुकार उठा 'हा राम !'

रथ जब राजमहलको पारकर राजपथपर चलने लगा तब भीड़ने चारों तरफसे आकर फिर घेर लिया । वे लोग रामचन्द्रके साथ वन जानेका निश्चयकर दृढ़तासे रथके पीछे-पीछे दौड़ने लगे । रामने सबको यथाविधि समझा-बुझाकर लौटानेका प्रयत्न किया । उन्होंने देखा—भीड़के साथ बड़े-बड़े श्रोत्रिय और वेदज्ञ ब्राह्मण पैदल चल रहे हैं । उन्होंने रामके साथ वनमें रहनेका पूर्ण निश्चय कर लिया है । बृहस्पति और अंगिराके समान तेजस्वी महाराजाओंके भी पूजनीय और श्रद्धेय ब्राह्मण दुःखसे व्याकुल होकर रामचन्द्रके रथके साथ दौड़ रहे हैं । उन वृद्ध ब्राह्मणोंको वे किसी प्रकार भी न रोक सके । यद्यपि रामने हृदय कठोर कर लिया था, किन्तु अभी आँखोंकी लिहाजको न छोड़ सके थे । वृद्ध ब्राह्मणोंको पीछे-पीछे आते देख वे रथसे उतर पड़े और भाँति-भाँतिसे अनुनय-विनय करने लगे । राम किसी भी प्रकारसे लौटनेको राजी नहीं हैं, यह सोचकर वृद्ध ब्राह्मण दुःखके साथ कातरस्वरमें अपने सफेद बालोंको दिखाकर कहने लगे—

त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्यात् धर्मपथे स्थितम् ।।
याचिता नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः ।
शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः ।।
(वा० रा० २।४६।२६-२७)

धर्मात्मा रामचन्द्र ! यदि आप-जैसे श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुष भी धर्मका तिरस्कार करेंगे—ब्राह्मण-वचनरूपी धर्मकी ओरसे विमुख होंगे—तब अन्य साधारणलोग धर्मका पालन किसप्रकार करेंगे ? हम प्रार्थना करते हैं, आप लौट चलें । आप धर्मानुष्ठानमें अचल हैं । हम जमीनपर लोटनेके कारण धूलसे भरे हंसके समान श्वेत केशोंसे युक्त सिरों-वाले ब्राह्मण आपसे प्रार्थना करते हैं, आप लौट चलें ।

ब्राह्मणोंने दीनताके साथ दुःखपूर्ण शब्दोंमें अपनी परिस्थिति बतायी, वे बोले—'बहुत ब्राह्मणोंका यज्ञ फैला हुआ है, वे तभी यज्ञ कर सकेंगे जब आप लौटकर अयोध्याको चलेंगे । आप स्थावर और जंगम सभी प्राणियोंके प्रिय हैं ।' इसप्रकार ब्राह्मणोंने भाँति-भाँतिसे प्रार्थनाएँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कीं, किन्तु रामचन्द्रजी अपने निश्चयसे तनिक भी विचलित नहीं हुए।

एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने।
ददर्श तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम्॥
(वा० रा० २।४५।३२)

इसप्रकार लौटनेके लिये श्रीरामचन्द्रसे ब्राह्मणोंने प्रार्थना की, उसी समय रामचन्द्रको आगे जानेसे रोकती हुई तमसा नामकी नदी दीख पड़ी।

इसप्रकार श्रीरामचन्द्रकी राहको तमसाने रोक लिया और हमारी लेखनीको स्थल-संकोच बार-बार रोक रहा है, इसलिये इस लेखको हम यहीं समाप्त करते हैं। अन्तमें पाठकोंसे इतना ही निवेदन करना है कि यदि राम-वन-गमनके अद्भुत आनन्दका पूर्णरीत्या रसास्वाद करनेकी इच्छा हो तो श्रीमद्वाल्मीकि-रामायणके इस प्रकरणको आद्यन्त अवश्य ही पढ़ जाइये। कविने एक-एक श्लोकमें करुणरसके वे भाव भर दिये हैं जिन्हें हजार बार पढ़नेपर भी वही अनिर्वचनीय आनन्द आता है। नित्य पढ़ते रहिये, आपको वे श्लोक रोज नये ही मालूम पड़ेंगे!

हे राम! तुम वनमें रहकर भाँति-भाँतिके क्लेशोंको सहते रहे, दुःख उठाकर भी हमारे लिये आनन्द ही छोड़ गये। यही तो तुम्हारी रमणीयता है। तुम्हारे सभी कर्म अद्भुत हैं। संसारी मनुष्य तुम्हारी लीलाओंके रहस्य कैसे समझ सकते हैं? प्रभो! तुम्हारे सभी प्रकारके चरित्र सुननेमें प्रीति हो, यही इस पामर प्राणीकी अन्तिम प्रार्थना है!

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम

(लेखक—कविराज पं० श्रीगयाप्रसादजी शास्त्री साहित्याचार्य, आयुर्वेद-वाचस्पति 'श्रीहरि')

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामके पवित्र चरित्रकी विशेषता तथा लोकप्रियताका इससे अधिक और प्रमाण ही क्या हो सकता है कि आज धर्मप्राण समस्त हिन्दू-जाति भगवान् रामको अवतार पुरुष या महापुरुषके रूपमें ही नहीं किन्तु साक्षात् परब्रह्म परमेश्वरके रूपमें भक्तिभरित हृदयसे स्मरण करती है। जन्मसे लेकर मृत्यु पर्यन्त लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये असंख्य शताब्दियोंके अनन्तर आज भी हिन्दूजातिका प्रत्येक व्यक्ति भगवान् रामको ही स्मरण करता है। सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति एवं जीवन-मरणके समयमें भी जिन महापुरुषका नाम स्मरण करके असंख्य प्राणी आज भी असीम सुख-शान्तिका अनुभव करते हों, उनके पवित्र चरित्रकी महनीयताके सम्बन्धमें किसीको सन्देह ही क्या हो सकता है? धार्मिक और साम्प्रदायिक मतभेदोंके होते हुए भी आज समस्त हिन्दू-जाति मर्यादा-पुरुषोत्तम रामको अपना आदर्श महापुरुष मानती है। संसारका इतिहास देखनेसे पता चलता है कि जो गौरव भगवान् रामको प्राप्त है, वह गौरव संसारके किसी भी महापुरुष या नेताको अबतक नहीं प्राप्त हो सका है। धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक तीनों जगत्में ही भगवान् रामका चरित्र अतुलनीय है। यही कारण है, धार्मिक जगत्में भगवान् रामको उनके भक्तगण परब्रह्म परमेश्वरके रूपमें, सामाजिक जगत्में मर्यादा-पुरुषोत्तमके रूपमें एवं राजनैतिक जगत्में आदर्श नेता या राजाके रूपमें लोग उन्हें स्मरण करते हैं। भगवान् रामके राज्यशासनकी सर्वोत्कृष्टताका पता तो इसी बातसे चल जाता है कि इस बीसवीं शताब्दी या वैज्ञानिक युगमें भी किसी सुख-शान्ति-पूर्ण समृद्ध राज्यके लिये 'रामराज्य' की उपमा दी जाती है। उत्तर भारतके ग्रामोंमें 'रामदुहाई' की प्रथा अबतक भी प्रचलित है। जिस समय कोई भी दण्डनीय अपराधी 'रामदुहाई' कहकर अपने अपराधकी क्षमा माँगता है, तो उसे तुरन्त छोड़ दिया जाता है। कई युग बीत जानेपर भी भगवान् रामके नामका व्यापक प्रभाव अबतक भी वैसा ही बना हुआ है। भगवान् रामके चरित्रका चिन्तन तथा अध्ययन वह आत्मिक शान्ति प्रदान करता है, जो अतुलनीय शान्ति संसारके किसी भी महापुरुष या अवतारपुरुषके चरित-चिन्तनके द्वारा प्राप्त करना सर्वथा कठिन है। यही कारण है, भारतके विभिन्न प्रान्तवासी, भगवान् रामके भावुक भक्तोंने अपने-अपने प्रान्तकी भाषाओंमें अपनी-अपनी सुरुचिके अनुसार भगवान् रामके पवित्र चरित्रका गान किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामकी पितृभक्ति

जिन लोगोंने रामायण आदि ग्रन्थोंमें भगवान् रामके चरितका भली प्रकार मनन तथा अध्ययन किया है, उन्हें यह भली भाँति विदित है कि संसारके इतिहासमें मर्यादा-पुरुषोत्तम रामकी पितृभक्ति अतुलनीय है। किसी कविने बहुत ही ठीक कहा है—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोप्याकारविभ्रमः॥

राज्याभिषेकके लिये बुलाये जाकर और जंगलके लिये भेज दिये जानेवाले भगवान् रामकी मुखाकृतिके ऊपर तनिक भी हर्ष-विषाद-जनित विकार नहीं दिखलायी पड़े। कितना अपूर्व त्याग है, कितना अश्रुत चरित-बल है। युवराज राम अपने मूर्छित पूज्य पिताजीके समीपमें खड़े हैं। समीपमें ही विमाता कैकेयी बैठी हुई हैं। पूज्य पिताजीकी इस दयनीय दीन-दशाको देखकर करुणामय राम माता कैकेयीसे अत्यन्त विनम्र शब्दोंमें पूछते हैं कि 'मातः! मेरे पूज्य पिताजी आज इतने दुखी क्यों हैं?' कैकेयी उत्तर देती है—'राम! पिताके दुःखके कारण तुम हो। मैंने तुम्हारे पिताजीसे दो वरदान माँगे हैं। एक वरदानके द्वारा भरतके लिये अयोध्याका राज्य और दूसरे वरदानके द्वारा चौदह वर्षका तुम्हारे लिये वनवास।' माताके इन वचनोंको सुनकर भगवान् राम गोस्वामी-तुलसीदासजीके शब्दोंमें क्या कहते हैं—

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु-मातु-बचन-अनुरागी॥
तनय मातु-पितु-तोषनि-हारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहिं सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़समाजा॥

पूज्य पिताजीके वचनोंकी रक्षा या आज्ञापालनके लिये अपने आदर्श चरितके कारण गुरुजनोंकी आँखोंके तारे, अयोध्याकी समस्त प्रजाके प्राणोंसे भी अधिक प्यारे भगवान् राम, 'जिनका आज राज्याभिषेक होनेवाला था' वनवासी मुनियोंके वेषमें अनुज लक्ष्मण तथा मिथिलेश-राजकुमारी भगवती सीता देवीके सहित अयोध्याका समस्त राज्य-वैभव छोड़कर जंगलको जा रहे हैं। घनश्याम रामकी यह अपूर्व पितृभक्ति तथा आदर्श त्याग अनन्त शताब्दियोंके अनन्तर आज भी हम भारतीयोंके चरित्र-निर्माणमें विशेषरूपसे सहायक हो रहा है। जिस समय हमारा मन अनेक प्रकारकी भोग-तृष्णाओंसे मलिन होकर कर्तव्य-भ्रष्ट होने लगता है, उस समय भगवान् रामका पवित्र-चरित्र ही हमारे पथप्रदर्शकका काम करता है।

रामका भ्रातृप्रेम

इतिहास-ग्रन्थोंमें भ्रातृप्रेमके अनेक सुन्दर-सुन्दर उदाहरण हमें देखने और सुननेको मिल सकते हैं किन्तु भगवान् रामका भ्रातृप्रेम जो एक अमूल्य शिक्षासे हम भारतीयोंको कृतकृत्य कर रहा है, वह सर्वथा वर्णनातीत है। छोटी-छोटी-सी बातोंके ऊपर आज संसारके विभिन्न देशोंमें कितने ही भाई अपने प्यारे भाइयोंके प्राणोंके गाहक बन जाते हैं किन्तु इस पुण्यदेश भारतमें हमें जहाँ कहीं भी भ्रातृप्रेमके कुछ हृदयग्राही उदाहरण मिलते हैं उनका साक्षात् सम्बन्ध एकमात्र भगवान् रामके आदर्श चरितकी शिक्षासे है। आधीरातका समय है, मेघनादकी शक्तिसे आहत, प्रिय अनुज लक्ष्मणका अचैतन्य शरीर अपनी पवित्र गोदमें लिये हुए भगवान् राम सञ्जीवनी बूटी लेनेके लिये गये हुए हनूमान्‌के आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हनूमान्‌जी अभीतक नहीं आये हैं, प्रातःकाल होते ही लक्ष्मणके जीवनकी आशा जाती रहेगी, इस काल्पनिक वियोग-वेदनासे पीड़ित होकर भगवान् राम अपने आँसुओंकी वर्षासे समस्त चराचरको शोकसागरमें डुबोते हुए कहते हैं—

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता॥

कैसी करुणामयी उक्ति है और कैसा अकृत्रिम विचित्र भ्रातृप्रेम है। यदि आज भगवान् रामका दिव्य चरित 'रामायण' आदि पुण्य ग्रन्थ हमारे समक्षमें न होते तो साधारण जनसमाजको भ्रातृप्रेमकी ऐसी सुन्दर शिक्षा कहाँसे मिलती?

रामका प्रजारञ्जन और भगवती सीतादेवी

जिन आदर्श सती भगवती सीतादेवीने अपने पिता तथा श्वसुरके राजमन्दिरोंके समस्त विषय-विलास तथा सुखोपभोगोंको छोड़कर आज अपने प्यारे पतिदेव भगवान् घनश्याम रामके साथ कण्टकाकीर्ण दण्डकारण्यकी कर्कश भूमिको ही फूलोंके पाँवड़े मान रक्खा है, वही कल रावणके द्वारा हरी जाकर लङ्का पहुँचायी जा रही हैं। लङ्का-विजय होनेपर भी अयोध्याकी राजराजेश्वरी बिना किसी सवारीके पैदल ही भगवान् रामके सामने लायी जाती हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उनकी अग्नि-परीक्षा होती है। अभी रामको राज्याभिषेक हुए थोड़े भी दिन नहीं हुए हैं और न अयोध्या राज्यकी राजलक्ष्मी जनककिशोरीको एक दिनके लिये भी नयनाभिराम रामकी सुखमयी मुखच्छवि देखनेका अवसर ही मिला है कि अकस्मात् पुनः बज्रपात होता है। एक साधारण रजकके द्वारा लगाये हुए अपवादके कारण जन्मदुःखिनी जानकी आज, फिर भी पतिदेवसे परित्यक्ता होकर अपने देवर लक्ष्मणके साथ जंगलको जा रही हैं। भाईकी आज्ञाको शिरोधार्य मानकर भ्रातृभक्त लक्ष्मण अचेतनावस्थामें ही शेर और भालुओं-जैसे हिंसक पशुओंसे भरे हुए उस भीषण जंगलमें राजराजेश्वरी, अवधकी राजलक्ष्मी जनकनन्दिनीको छोड़कर अयोध्या वापिस जा रहे हैं। चैतन्यलाभ होनेपर रोती और कलपती हुई भगवती सीतादेवी भगवान्से प्रार्थना करती हैं कि हे सर्वान्तर्यामिन्! भक्तवाञ्छा-कल्पतरु !! भगवन् !!! यदि मैं अपने दुर्भाग्यके कारण इस जीवनमें घनश्याम रामकी सेवाका पुण्य-फल नहीं पा सकी हूँ तो भी जन्म-जन्मान्तरमें मुझे मर्यादा-पुरुषोत्तम राम ही पति रूपमें प्राप्त हों, हे अनाथोंके नाथ! जगन्नाथ !! यही मुझ अनाथिनीकी आपसे प्रार्थना है। हे करुणामय! प्रभो !! मेरे प्यारे देवर लक्ष्मण मुझ अभागिनीको जङ्गलमें छोड़कर अकेले अयोध्या जा रहे हैं, उन्हें मार्गमें किसी प्रकारका कष्ट न हो, वे निरापद अपनी यात्राको समाप्त करके मेरे पतिदेवकी राजधानी अयोध्या नगरीतक पहुँच जायँ और उन्हें सब प्रकारसे राज्यकार्यमें सहायता पहुँचावें, यही मेरी आपसे अन्तिम विनती है। सतीत्वका यह अपूर्व आदर्श, भारतकी देवियोंका यह उज्ज्वल चरित्र आज हम भारतीयोंको कहाँ मिलता यदि भगवान् रामके भावुक भक्तोंके द्वारा संसारमें रामचरितका प्रचार न होता। परस्पर विरोधिनी इन घटनाओंके सम्मिश्रणसे किस प्रकारके सुन्दर और सुमधुर भावोंकी सृष्टि हुई है, इन बातोंके रहस्यका पता लगाना केवल उन भावुक रामभक्तोंके लिये ही सुलभ है, जिन्होंने पूर्ण भक्ति तथा श्रद्धाके साथ मनोयोगपूर्वक रामायण आदि ग्रन्थोंमें भगवान् रामके चरितका अध्ययन तथा मनन किया है। जिन भगवान् रामने पञ्चवटीमें रावणके द्वारा सीतादेवीके हरी जानेपर अपनी पर्णकुटीके चारों ओर—

सीतेति हा जनकवंशजवैजयन्ति!
हा मद्विलोचन-चकोर-नवेन्दुलेखे!
इत्थं स्फुटं बहु विलप्य विलप्य राम-
स्तामेव पर्णवसतिं परितश्चचार॥

—हा सीते! हा मिथिलेशनन्दिनि! हा रामके लोचन-चकोरके लिये अभिनव चन्द्रलेखे! तुम कहाँ हो? इस-प्रकारके प्रकट करुण विलाप-कलापके साथ जनककिशोरीको खोजते हुए श्रीरामने दण्डकारण्यके साधारण प्राणियोंको कौन कहे तरु-लताओं तकको रुला दिया था। वेही भक्तवत्सल, दीनबन्धु दयामय राम अपनी जीवनसहचरी, प्राणाधिक-प्रियतमा, आदर्श सती भगवती सीतादेवीको एक साधारण प्रजापवादके कारण पूर्णगर्भा होनेपर भी पुनः वनवासको भेज रहे हैं, यह कैसी हृदयद्रावक घटना है? राग-विराग, कोमलता-कठोरता एवं दया-निर्दयताका एक ही स्थानपर कैसा अपूर्व सम्मिश्रण है? अविचारक लोग इस घटनाको लेकर चाहे भगवान् रामके चरितके ऊपर किसी प्रकारका आक्षेप क्यों न करें किन्तु सम्पूर्ण रामचरितके अन्दर यही एक ऐसी घटना है जिसने भगवान् रामको 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' एवं भगवती सीतादेवीको 'आदर्श सती' के सर्वोच्च पदपर आसीन किया है। अन्तमें मैं इस माङ्गलिक श्लोकके साथ-साथ सर्वसाधारणसे भगवान् रामके चरितका चिन्तन करनेकी प्रार्थना करता हूँ।

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानाम्,
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदं प्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानाम्,
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम॥

रामायण

चित्रमें ललाम है चरित्रमें ललाम शुभ,
नाममें ललाम पद्यपाठमें ललाम है।
पाठसे कुवासना भी नष्ट होती चित्तकी है,
बुद्धिहीन नर होता रामका गुलाम है॥
चौपाई ललाम, छंद-सोरठा ललाम 'विष्णु'
दास तुलसीका खूब कामिल कलाम है।
वर्ण हैं ललाम और काण्ड हैं ललाम सब,
शास्त्रमें पुराणमें रामायण ललाम है॥

—गंगाविष्णु पाण्डेय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम-चरित-मानसकी विशेषता

(लेखक—श्रीदामोदरसहायसिंहजी, कविकिंकर)

राम-चरित-मानस अर्थात् गोसाईं तुलसीदासकी विश्व-वन्दित परम प्रसिद्ध चौपाई-रामायण साहित्य-संसारका अनुपम काव्यरत्न है, जिसकी मधुर प्रखर ज्योतिसे भारतवर्ष ही क्यों, सारा संसार चकित और मुग्ध हो रहा है और जिसकी तुलनाका दूसरा ग्रन्थ हिन्दी भाषामें तो क्या, अन्य भाषाओंमें भी शायद ही मिले। हिन्दी भाषासे इसे हटा दीजिये, बस, हिन्दी-साहित्यकी शोभा ही नहीं, महिमा भी आधी ही रह जाती है। निःसन्देह यह ग्रन्थ-शिरोमणि भूत-भावन भवानी-पति भगवान् शिवजीकी कृपाका प्रत्यक्ष फल है, जैसा कि स्वयं कविने स्वीकार किया है—

संभु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी। राम-चरित-मानस कबि तुलसी ॥

सचमुच ऐसी सर्वाङ्गसुन्दर काव्य-निर्माण-प्रतिभाकी प्राप्ति बिना विशेष देवबलके सम्भव नहीं। यदि यह ग्रन्थ आध्यात्मिक गगनका अज्ञान-तिमिर-नाशक देदीप्यमान मार्त्तण्ड है तो साहित्यिक आकाशका भी चमकता रस बरसाता हुआ पूर्ण शरच्चन्द्र है। यदि इसमें बाह्य जगत्‌का प्रकाण्ड प्रदर्शन है तो अन्तर्जगत्‌की भी अमिट सत्यता है। यदि इसमें बाहरी घोर युद्ध—देवासुर-संग्राम—का वर्णन है तो भीतरी भीषण मानसिक समरकी भी भरपूर चर्चा है जो मानव-मानसमें सदासे होता आ रहा है।

राम-चरित-मानस स्वर्ग और मर्त्यका अपूर्व सम्मेलन है। अनुराग और विरागका अनुपम गँठ-बन्धन है। दिल और दिमागका लासानी जुटाव है। भक्ति, ज्ञान और कर्म-काण्डकी अलौकिक पवित्रतासम्पन्न त्रिवेणी है। द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैतकी एक विचित्र शृंखला है। वेद-शास्त्रोंका सार और उपनिषदोंका निचोड़ है। इसकी बहुत-सी चौपाइयाँ मन्त्र-रूपिणी हैं। कविने बड़े ही कौशलसे तत्कालीन विरोधी सम्प्रदायोंमें मेल करा दिया है। वैष्णव होनेपर भी मानसकार शिव, शक्ति और विष्णुमें भेद नहीं मानते थे। उन्होंने बड़ी चतुराईसे शिवजीको 'सेवक स्वामि सखा सिय पीके' लिखकर बहुत-सा सन्देह और बहुत-सी मलिनता मिटा दी है। 'भवभव विभव पराभव-कारिनि' लिख कर शाक्तोंको भी अपना लिया है। सचमुच मत-मतान्तरोंके सम्बन्धमें कविने बड़ी ही उदारतासे काम लिया है। मानसमें साम्प्रदायिकता नहीं है—पक्षपात नहीं है। यह कहावतों और नीति-वाक्योंका भण्डार है। यथा—

टेढ़ जानि संका सब काहू। बक्र चन्द्रमहि ग्रसइ न राहू॥

लोकप्रियता इसमें कूट-कूटकर भरी है। इस गुणमें यह ग्रन्थ अद्वितीय है, यदि ऐसा कहा जाय तो भी मैं समझता हूँ, अत्युक्ति नहीं होगी। लाखों मनुष्योंने इसे पाठ करनेके लिये नागरी सीखी है। इसप्रकारसे साक्षरताके प्रचारमें इसने कम सहायता नहीं पहुँचाई है। सहज तो ऐसा कि निपट गँवार भी इसका अर्थ कर लेते हैं और कठिन ऐसा कि महामहिम पण्डितोंकी बुद्धि भी कुण्ठित होकर चक्कर काटने लगती है।

यह ग्रन्थ कभी पुराना नहीं होता। आज तीन सौ वर्षोंके बाद भी वैसा ही नया है। बल्कि यों कहना चाहिये कि प्रतिदिन नवीन होता जाता है। सैकड़ों बार पढ़नेके बाद फिर पढ़ना शुरू कीजिये आपको नित्य नयी नवीनताएँ मिलती ही जायँगी। इसे स्त्री-पुरुष, गृहस्थ-संन्यासी, ब्राह्मण-शूद्र, बालक-नवयुवक, जवान-बूढ़े सभी प्रकारके लोग दिलचस्पीसे पढ़ते हैं। मैं इसे चालीस-पैंतालीस वर्षोंसे बराबर नित्य पढ़ रहा हूँ पर कभी जी नहीं ऊबता, प्रत्युत बार-बार पढ़नेकी इच्छा बनी ही रहती है। कभी तो पाठ करनेमें हर्षातिरेक और रोमाञ्च, और कभी-कभी करुणातिरेक और अश्रुपात अनायास हो जाते हैं। जीवनभर अध्ययन और मननकी सामग्रियाँ इसमें प्रस्तुत हैं। इतना ही नहीं, इसका विषय कई जन्मोंमें हल किये जानेकी चीज है। इसमें क्या नहीं है? सच्चे खोजनेवालेके लिये सब कुछ है। भुक्ति-मुक्ति दोनों ही अपने-अपने स्थानपर सुशोभित हैं। प्रयत्न करनेसे इसके द्वारा भोग और मोक्ष दोनों मिल सकते हैं। निर्मल आध्यात्मिकता और नीतिपूर्ण लौकिकताका इसमें मणि-काञ्चन-योग है। गूढ़-से-गूढ़ वेदान्त और सांख्यके सिद्धान्त सरल-से-सरल भाषामें भरे पड़े हैं। साथ ही नीतिमत्तापूर्ण व्यवहारोंका प्रचुर प्रदर्शन है। राजनीति इसमें आदर्श-स्वरूप है। देखिये, नीचे लिखे दोहेमें सम्पूर्ण राजनीति-सागरको गोसाईंजीने मानो घड़ेमें भरकर कमाल किया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुखिया मुखसो चाहिये खान पानको एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक ॥

इसके पात्र सर्वदा आदर्श हैं। इसके नायक-नायिका राम-सीता ब्रह्म-मायाके स्वरूप अथवा परमेश्वर और परमेश्वरीके रूप हैं। राजा और प्रजा, पिता और पुत्र, भाई और भाईका उत्तमोत्तम नमूना जैसा मानसमें है वैसा अन्यत्र देखनेको नहीं,मिलता। भले पात्रोंकी तो बात ही क्या, बुरे पात्र भी संसारमें अपने सानी नहीं रखते। रावण-सा शक्तिशाली और विद्वान् दूसरा कौन है? मानस मनोयोग-पूर्वक पढ़नेपर मालूम होता है कि इसके पात्र मानो आँखोंके सामने नाच रहे हैं अथवा मानसिक जगत्में एक बड़ी विशद रामलीला हो रही है।

प्रकृति-वर्णन तो कविने मनोहर और हृदयग्राही किया ही है, मनोभाव-विश्लेषणमें भी बड़ी दुर्लभ दक्षता दिखायी है, जो किसी-किसी सुकविके लिये बड़े गर्वकी वस्तु है। वर्णना-शैली बड़ी रुचिकर है। विषय-विशेषका विस्तृत वर्णन अथवा संक्षिप्त वर्णन कविके बाँए हाथका खेल है। 'अर्थ अमित अति आखर थोरे' का सिद्धान्त खूब निबाहा गया है। मानसकी भाषामें अवधी और ब्रजभाषा मिली हुई है। कहीं-कहीं बुन्देलखण्डी और भोजपुरीकी भी पुट है। भाषाकी ग्रामीणता, प्रसाद और माधुर्य-गुणोंमें स्वाभाविकरूपसे परिणत हो गयी है। यह भी मानसकी एक विशेषता है। इसमें शब्दविन्यास, अर्थसौष्ठव, काव्य-रीति, घटनाक्रम, और व्यंग्य-वक्रोक्तियोंकी छटा देखते ही बनती है। घटना क्रमबद्ध अर्थात् सिलसिलेवार कथाभाग सफलतापूर्वक लिखनेकी योग्यता गोसाईंजीमें विलक्षण पायी जाती है। यदि यह योग्यता महात्मा सूरदासमें होती तो सम्भवतः वह तुलसीदाससे भी बढ़ जाते। इस ग्रन्थमें नवरसोंकी धाराएँ अनवरत बहती रहती हैं। शृंगार-रसका इसमें बाहुल्य है परन्तु प्रशंसाकी बात तो यह है कि अश्लीलताका कहीं नामो निशान नहीं! रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार ऐसे सहज स्वाभाविक ढंगसे पाये जाते हैं मानो कविको इनके लिये कोई प्रयत्न ही नहीं करना पड़ा था। साहित्यशास्त्रके अधिकांश अलंकारोंसे यह ग्रन्थ पग-पगपर सुशोभित है। और तो क्या, सम्पूर्ण राम-चरित-मानस ही एक बड़ा-सा मानसरोवरका रूपक है, जैसा कि इसके नामसे प्रकट है। यह पुस्तक मुगल-राज्यत्वकालमें लिखी गयी थी तो भी यह सर्वतः धर्ममयी बन गयी और समयका जादू इसपर न चल सका। यह आश्चर्य, सौभाग्य और विशेषताका विषय है। एक बात और है। गोसाईंजीने बहुत-से ग्रन्थ लिखे पर सभीका विषय रामचरित ही रहा। हाँ, कृष्ण-गीतावलीमें कृष्णचरित अवश्य है पर कविके लिये राम और कृष्णमें भेद नहीं था। यह भी कम विशेषताकी बात नहीं। इस भाँति इस ग्रन्थशिरोमणिकी बहुत-सी विशेषताएँ हैं, जिनमेंसे कुछ मैंने ऊपर गिनानेकी चेष्टा की है।

जिस भाँति खोटे और खरे सोनेकी जाँच कसौटीपर कसनेसे होती है उसी भाँति काव्य कसनेकी भी कसौटी होती है! इसकी जाँचके छः प्रकार होते हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

अर्थात् काव्य कीर्ति बढ़ाता है, धनोपार्जन कराता है, व्यावहारिक ज्ञान देता है, अमंगल वा दुःखको दूर करता है, परमानन्दकी तत्काल प्राप्ति कराता है और भार्याके समान मनोहर एवं हितकर उपदेश देता है। ये काव्य-निर्माणके प्रयोजन हैं। यदि इन गुणोंमेंसे दो एक भी भलीभाँति प्रभूतरूपसे किसी काव्यमें पाये जायँ तो भी उस काव्यकी सार्थकता हो जाती है, पर राम-चरित-मानसमें तो सभी गुण लागू होते हैं। मानसकारकी सुकीर्तिका तो कहना ही क्या? वह संसारमें वायुकी तरह दिगन्त-व्यापिनी हो रही है। भारतवर्षमें कौन ऐसा स्त्री, पुरुष या बालक है जो गोसाईंजीको उनके रामायणके कारण नहीं जानता? भारतवर्ष तो स्वदेश ही है, विदेशोंमें—यूरोप-अमेरिकामें—भी उनका यशोगान निरन्तर हो रहा है। उनके ग्रन्थका बहुत-सी विदेशी भाषाओंमें अनुवाद हो चुका है और वहाँके लोग उसे बड़ी श्रद्धासे देखते हैं तथा गोसाईंजीको संसारके इने-गिने महाकवियोंमें मानते हैं। जो कवि राजाओंके आश्रित रहते थे वे पारितोषिक इत्यादिसे बहुत-सा धन उपार्जन करते थे। परन्तु सच्चे विरक्त गोसाईंजी तो धनकी परवा नहीं करते थे। उन्होंने अपना सब धन एक बार चोरोंको दे दिया था। इसलिये वह किसी राजाके आश्रित रहकर अन्य कवियोंकी तरह उसकी झूठी-सच्ची प्रशंसा नहीं करते थे। उनका तो सिद्धान्त था—

कीन्ह जो प्राकृत नर गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना॥'

वह अपने 'राजा-राम'के आगे किसी सम्राट्की क्या परवा करते थे? उनके सामने बादशाह जहाँगीरको मुँहकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खानी पड़ी थी। इसलिये उनके धनोपार्जनकी बात ही क्या रही? हाँ, यह अवश्य है कि उनके बाद बहुत-से प्रकाशकोंने राम-चरित-मानसको प्रकाशित करके और बेच करके बहुत-सा धन प्राप्त किया है। मेरा तो अनुमान है कि यदि इस ग्रन्थका प्रकाशन किसी व्यक्तिविशेषकी सम्पत्ति होता तो वह अवश्य इससे प्रचुर लाभ उठाकर संसारके बड़े धनियों और पूँजीपतियोंमें गिना जाता। व्यवहार-कौशल इस ग्रन्थमें आदर्शस्वरूप है। स्वामी-सेवकके, शत्रु-मित्रके, राजा-प्रजाके, भाई-भाईके बर्ताव जो इसमें मिलते हैं उन्हें ध्यानमें रखनेसे कौन ऐसा मनुष्य है जो लाभ नहीं उठाता? इस ग्रन्थ-रत्नमें अमङ्गलके नाश करनेकी, दुःख दूर करनेकी अमोघ शक्ति है। हनुमानबाहुककी रचना करके गोसाईंजीने अपनी बाहुका कड़ा दर्द दूर किया था। मानसकी बहुत-सी चौपाइयाँ मन्त्रोंका-सा चमत्कार दिखाती हैं—

कठिन दुर्भाग्य दूर करनेके लिये—

मंत्र महामनि बिषय ब्यालके। मेटत कठिन कुअंक भालके॥

विषयवासना दूर करनेके लिये—

मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो एहि सर परई॥

भारी संकट हटानेके लिये—

दीनदयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

काव्यनिर्माणमें सहायता-प्राप्तिके लिये—

जेहिपर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहि बानी॥

समयविशेषपर परमेश्वरकी सहायता-प्राप्तिके लिये—

मोरें हित हरि सम नहि कोऊ। एहि अवसर सहाय सो होऊ॥

सब भाँति अपना सुधार करनेके लिये—

मोरि सुधारिहिं सो सब भाँती। जासु कृपा नहि कृपा अघाती॥

अधिक कहाँतक कहा जाय, इसके द्वारा लाखों मनुष्योंकी लौकिक और पारलौकिक कठिनाइयाँ दूर होकर भारी भलाई हुई है और हो रही है। इसका पाठ करते समय चरित्रचित्रण, भावोंकी सजीवता, और अद्भुत रचना देखकर मनुष्योंका मन तत्काल ही प्रफुल्लित हो आनन्द-सागरमें गोते खाने लगता है। मनोहर और उच्च उपदेशरत्न तो इस ज्ञान समुद्रमें अनगिनत भरे पड़े हैं। गोसाईंजी डंकेकी चोट कहते हैं—

देह धरेकर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥

क्यों, क्या इससे बढ़कर भी कोई सदुपदेश हो सकता है?

व्यंग्यके अभाव वा न्यूनाधिक्यसे काव्य क्रमशः साधारण, मध्यम और उत्तम श्रेणीके होते हैं। व्यंग्यप्रधान काव्य उत्तम कोटिका होता है। मानस उत्तम कोटिका काव्य है, क्योंकि इसमें जहाँ-तहाँ व्यंग्योंका प्राधान्य है। विशेषकर लक्ष्मण-परशुराम-संवाद और अंगद-रावण-संवादमें तो व्यंग्योंकी भरमार ही है। फिर इसमें काव्यके प्रधान गुण ओज, माधुर्य और प्रसाद प्रचुरतासे पाये जाते हैं। प्रसाद-गुणके लिये तो यह ग्रन्थ परम प्रसिद्ध ही है, जिस हेतु निपट गँवार भी पढ़कर कुछ अर्थ समझ ही लेते हैं। मानस पढ़नेपर माधुर्यका प्रभाव पाठकोंके हृदयपर पड़े बिना नहीं रहता। ओजकी अपेक्षा प्रसाद और माधुर्यसे मानसका अधिकांश व्याप्त है। उदाहरणोंकी आवश्यकता नहीं—मानसके पाठक अपने हृदयसे पूछ लेवें। उत्तम काव्यका लक्षण तो गोसाईंजी स्वयं बतलाते हैं—

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥

कविताको सरल करनेके ही अभिप्रायसे ग्रन्थकारने मानसकी भाषा ग्राम्य रक्खी है। सचमुच इसके गुणोंपर मोहित होकर विरोधी भी मानसकी प्रशंसा करते देखे गये हैं।

महाकाव्य तो अनेक हैं, पर राम-चरित-मानस अपने ढंगका एक अद्वितीय महाकाव्य है। इसलिये यदि इसे महामहाकाव्य कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। इसमें नव रसोंका समावेश यथास्थान बड़े ही मनोहर ढंगसे किया गया है। विभाव, अनुभाव, सञ्चारी और स्थायी-भावका अपूर्व प्रदर्शन है। महाकवि भवभूतिके उत्तर-राम-चरितकी तरह इसमें एक ही रस (करुणा) व्याप्त नहीं है। राम-सीताके सम्बन्धमें बड़े सुन्दर संयोग और वियोग-श्रृंगारका वर्णन किया है। सीताजीकी अनुपम शोभा यों वर्णित है—

सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथै पानि-पंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुखमूल।
तदपि सँकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल॥

क्या कोई भी उत्तम-से-उत्तम खुला श्रृंगार उपर्युक्त वर्णनका सामना कर सकता है? क्या उन वर्णनोंमें अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविकला है ? मनु सतरूपाने जिस राम-सीतारूपका दर्शन किया था उसका वर्णन संयोग-शृंगारका एक उत्कृष्ट नमूना है—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।
लाजहि तनु सोभा निरखि कोटि-कोटि-सत काम ॥इत्यादि।

जनकपुरकी फुलवारीमें शृंगार-रसका विशद वर्णन है । पूर्वानुराग बड़ी ही मार्मिक रीतिसे वहाँ दिखाया गया है । सम्पूर्ण ग्रन्थमें यत्र-तत्र रामके रूप और शोभाका वर्णन बड़ी सुन्दरतासे किया गया है । सीताहरणके बाद रामका विलाप और उन्माद, तथा हनूमानजीद्वारा लाये गये राम-सन्देश और सीता-सन्देश वियोग-शृंगारके उत्तम उदाहरण हैं। शिवजी और रामजीके विवाहमें जहाँ-तहाँ हास्यरसकी छटा विराजती है। करुणारससे तो समूचा अयोध्याकाण्ड परिप्लावित है । इस काण्डमें ग्रामवासी नर-नारियोंका प्रसंग तथा चित्रकूटमें भरत-राम-संवाद गोसाईंजीकी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ प्रतीत होती हैं। मेरी क्षुद्र बुद्धिमें तो भरतका चरित्र रामायणके सब पात्रोंसे उत्तम और निष्कलंक है । राजकुमार भरतमें अलौकिक वैराग्य और अनुराग, सदाचार और सेवाका अनुपम सामञ्जस्य है, उनका चरित्र शेष और शारदाको भी अगम है—

प्रेम अमिय मंदर बिरह भरत पयोधि गँभीर ।
मथि प्रगटे सुरसाधुहित कृपासिंधु रघुबीर ॥

× × ×

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं।सेस गनेस गिरा गम नाहीं ॥

युद्ध-प्रकरणमें जहाँ-जहाँ क्रोधका स्थायी भाव परिपुष्ट हुआ है तहाँ-तहाँ रौद्र रस देखनेको मिलता है । लोग कहते हैं कि व्रजभाषा वा प्राकृतमें, भूषण कविकी कविताओंको छोड़कर, वीर-रसकी रचनाएँ नहींके बराबर हैं, किन्तु मानसके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता । युद्धके प्रसंगमें तथा अनेक संवादोंमें वीर-रसकी कविताएँ प्रचुरतासे पायी जाती हैं। एक दान-वीरका उदाहरण लीजिये—

जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दस माथ ।
सोइ संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ ॥

अयोध्याकाण्डमें भरतका आगमन सुनकर मल्लाहोंने जो उत्साह और वीरत्व दिखाया था वह बड़ा विलक्षण है—

भलेहि नाथ सब कहहिं सहरषा । एकहिं एक बढ़ावहि हरषा ॥

× × ×

जीवत पाउ न पाछे धरहीं। रुंड-मुंडमय मेदिनि करहीं॥

लङ्कादहनमें भयानक-रसका समावेश है किन्तु मानससे अधिक कवितावलीमें विस्तृत और विशद वर्णन है । मैं उसे पाठकोंसे पढ़नेका अनुरोध करता हूँ । वानरी-सेनाकी जहाँ गीध सम्पातिसे भेट हुई है वहाँ भी भयानक-रस है । युद्धमें सैनिकोंके मारे-काटे जानेपर वीभत्स-रसकी धार बह चली है—

बीर परहिं जनु तीर तरु मज्जा बह जनु फैन ।
कादर देखत डरहि तेहि सुभटनके मन चैन ॥

× × ×

काक कंक लेइ भुजा उड़ाहीं । एकेत छीनि एक लेइ खाहीं ॥
एक कहहिं ऐसिउ सौंघाई । सठहु तुम्हार दरिद्र न जाई ॥

× × ×

भट कपाल करताल बजावहिं । चामुंडा नाना बिधि गावहिं ॥

× × ×

कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोलहिं । सीसपरे महि जय जय बोलहिं ॥

अद्भुत-रस मानसके बहुत स्थानोंमें प्रदर्शित हुआ है । ईश्वरके गुण-वर्णनमें, राम-विवाहमें, हनुमत्-यात्रामें, लङ्का-दहनमें, विराटरूपोंके वर्णनमें जहाँ देखिये वहीं अद्भुत-रसका साम्राज्य है । कैलास, तीर्थ, मुनि-कुटीर स्तुति-गान और राम-राज्यके वर्णनोंमें शान्त-रस बहुतायतसे पाया जाता है—

बैठे सोह काम-रिपु कैसे। धरे सरीर सान्त रस जैसे ॥

कहा जाता है कि व्रजभाषा या प्राकृतमें प्रकृति-वर्णन की कमी है, पर मानस-रामायणमें सो बात नहीं है । इसमें अनेक स्थानोंमें प्रकृतिके जीते-जागते चित्र हैं । चित्रकूटके उपवन, पम्पासरोवर, और लङ्का-नगरीके वर्णन पढ़िये । राजा प्रतापभानुके शिकारमें एक सूअरका वर्णन बड़ा विचित्र है—

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहिं ग्रसि राहू ॥
बड़ बिधु नहिं समात मुखमाहीं । मनहु क्रोध बस उगिलत नाहीं ॥

चित्रकूटके एक वट वृक्षके फल-पत्तोंका वर्णन उत्प्रेक्षा-द्वारा किया गया है । देखिये—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नील सघन पल्लव फल लाला । अबिचल छाँह सुखद सब काला ॥
मानहु अरुन तिमिरमय रासी। बिरची बिधि सकेलि सुखमा-सी ॥

किष्किन्धाकाण्डमें वर्षा और शरद-वर्णन विस्तारसे किया गया है, जिसकी प्रायः प्रत्येक चौपाईमें अनोखी उपमा है। केवल छः पंक्तियोंमें संक्षिप्त षट्ऋतुका वर्णन अरण्यकाण्डके अन्तमें नारी-निन्दाके व्याजसे नारदके प्रति रामने किया है। बालकाण्डके प्रारम्भहीमें मानसकी मुख्य घटनाओंका विभाग छः ऋतुओंके अनुसार केवल पाँच पंक्तियोंमें किया गया है, यथा—

हिम हिमसैल-सुता-सिव-ब्याहू। सिसिर सुखद प्रभु-जनम-उछाहू॥
बरनब राम-बिबाह-समाजू । सो मुदमंगलमय रितुराजू ॥
ग्रीषम दुसह राम-बन-गवनू । पंथकथा खर आतप पवनू ॥
बरषा घोर निसाचर रारी । सुरकुल सालि सुमंगलकारी ॥
राम-राजसुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई॥

मानस अलंकारोंकी खान है। कुछ थोड़े-से नगण्य अलंकारोंको छोड़कर प्रायः सभी अलंकार इसमें पाये जाते हैं। मैं पहले कह चुका हूँ कि सम्पूर्ण ग्रन्थ ही एक बड़े रूपकमें दिखाया गया है। बालकाण्डके प्रारम्भमें इस रूपकको कविने स्वयं समझाया है—

पुरइनि सघन चारु चौपाई । जुगुति मंजु मनि सीप सोहाई ॥
छन्द सोरठा सुन्दर दोहा । सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ॥
इत्यादि।

ऐसे तो एक-से-एक अनूठे अलंकार मानसमें भरे पड़े हैं, पर मुझे सबसे बढ़कर गोसाईंजीके रूपक पसन्द आते हैं, जो जहाँ-तहाँ सम्पूर्ण ग्रन्थमें बहुतायतसे बिखरे पड़े हैं। भरद्वाज मुनिके आश्रममें राजकुमार भरतकी कैसी पहुनाई हुई सो सुनिये—

संपति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार ।
तेहि निसि आस्रम पींजरा राखे भा भिनुसार ॥

जनकपुरके और ससैन्य अयोध्याके निवासियोंको रामजी चित्रकूटमें अपने आश्रमको लिये जा रहे हैं। इस प्रसंगके रूपककी छटा देखिये—

आस्रम सागर सान्त रस पूरन पावन पाथ ।
सेन मनहु करुना सरित लिये जात रघुनाथ ॥
बोरति ग्यान बिराग करारे । बचन ससोक मिलत नद नारे ॥
सोच उसाँस समीर तरंगा । धीरज तट तरुवर कर भंगा ॥
बिषम बिषाद तोरावति धारा । भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा ॥
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा । सकइ न खेइ एक नहि आवा ॥
बनचर कोल किरात बिचारे । थके बिलोकि पथिक हिय हारे ॥
आस्रम उदधि मिली जब जाई । मनहु उठेउ अंबुधि अकुलाई ॥

कैसा सुन्दर उत्प्रेक्षान्तर्गत सांगरूपक है, कहते नहीं बनता।

राम-चरित-मानस अध्यात्म-तत्त्वका खजाना है, जिसमें अगणित रत्न जहाँ-तहाँ भरे पड़े हैं। ईश्वर (राम) के नाममें अखण्ड श्रद्धा और विश्वास उपजानेका प्रकाण्ड प्रयत्न सैकड़ों स्थानोंमें मानसकारने किया है, जो उनके मतसे ईश्वर-प्राप्तिका सर्वोत्तम और सर्वसुगम साधन है। मानसमें बहुत-सी ईश-स्तुतियाँ हैं जो आध्यात्मिक विचारोंसे परिपूर्ण हैं। प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी डाक्टर ग्रियर्सनका कथन है कि यह ग्रन्थ भारतवर्षके लिये वेदोंसे भी बढ़कर है, बहुत ठीक है। साहित्यिक और आध्यात्मिक तत्त्वोंका इसमें बड़ा मनोहर सम्मेलन है। कौन अधिक विशद है, कहते नहीं बनता। कहीं पहला बाजी मार ले जाता है और कहीं दूसरा। मानो समतूल मल्लोंकी भिड़न्त है। बात तो यह है कि कविकर्मकुशल और अध्यात्मशिरोमणि मानसकारने गूढ़ अध्यात्मज्ञानका बड़े विशद साहित्यिक शैलीसे उद्घाटन किया है। मानसमें सात गीताएँ यथास्थान गुम्फित हैं। गीतासे मेरा अभिप्राय उस ज्ञान-वर्णनसे है जो 'माया ब्रह्म जीव जगदीसा' के सम्बन्धमें किया जाता है। अयोध्याकाण्डमें लक्ष्मणगीता, अरण्यकाण्डमें रामगीता, और लंकाकाण्डमें रथ-गीता कही गयी है। उत्तरकाण्डमें चार गीताएँ हैं—यथा—पुरजनगीता, सिद्धान्तगीता वा भुशुण्डिगीता, ज्ञानगीता वा ज्ञानदीपक, और भक्तिगीता वा भक्तिमणि। स्थान-संकोचके कारण मैं इन गीताओंको उद्धृत नहीं कर सकता। पाठक मूलग्रन्थमें इसका अध्ययन करें। मानसका आध्यात्मिक तर्क इतना बलवान और हृदयग्राही है कि उसने अकेले लाखों हिन्दू नर-नारियोंको विधर्मी मुसलमान-क्रिस्तान होनेसे रोककर सनातन वैदिक धर्मको सुरक्षित रखा है। ज्ञान और योगका प्रसंग छेड़ते हुए मानसकारने भक्तिपर बड़ी विशद व्याख्या की है और इसे ही कलिकालमें सुगम मार्ग बतलाया है। उनका सिद्धान्त है कि भक्ति सुगम होनेपर भी स्वतन्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तिम आध्यात्मिक तत्त्व है, जिसके अधीन ज्ञान और विज्ञान है। देखिये वे अपने चरितनायकके मुँहसे अवध-वासियोंके प्रति क्या कहलवाते हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपवासा॥
सरल सुभाउ न मन कुटिलाई। जथालाभ सन्तोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहाँ बिसवासा॥
बहुत कहौं का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई॥

रामको वश करनेका सुगम स्वाभाविक ढंग सुना आपने?

मनके कुरोगोंको दूर करनेके लिये गोसाईंजीका सिद्धान्त—रामबाण-औषध सुनने ही योग्य है। वह यह भी कहते हैं कि इसकी दूसरी दवा नहीं है—

सद्‌गुरु बेद-बचन बिसवासा। संयम यह न बिषयकी आसा॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान स्रद्धा अति रूरी॥
एहि बिधि भले कुरोग नसाहीं। नाहिं तो कोटि जतन नहिं जाहीं॥

लेख बढ़ गया। सम्पादकजीकी आज्ञा है कि संक्षिप्त लिखो। पर क्या करूँ—कितना संक्षिप्त करूँ? इस ग्रन्थकी विशेषताओंका भलीभाँति उल्लेख करनेके लिये एक बड़ीसी पोथी चाहिये। मेरी इच्छा है कि राम-चरित-मानसकी साहित्यिक विशेषता, आध्यात्मिक विशेषता, साम्प्रदायिक विशेषता, व्यावहारिक विशेषता और विलक्षण लोकप्रियतापर कुछ विस्तृत आलोचनाएँ लिखकर कल्याणको समर्पित करूँ।

इसमें सन्देह नहीं कि सब मिला-जुलाकर गोसाईं तुलसीदास-सदृश दूसरा कवि हिन्दीमें देखनेमें नहीं आया। मेरे मित्र पण्डित रामनरेश त्रिपाठीजीका कथन है कि हिन्दीभाषामें केवल तुलसीदास ही कवि कहलाने योग्य हैं। दूसरे कवि जैसे बिहारी केशव आदि तो अलंकारोंके कृत्रिम बलपर कवि कहलाते हैं। इस कथनमें अत्युक्ति हो सकती है, पर श्रीहरिऔधजीका यह कथन नितान्त सत्य है—

कविता करके तुलसी न लसे
कविता लसी पा तुलसीकी कला।

धन्य कविकुलचूड़ामणि भक्तप्रवर तुलसीदास! और धन्य उनकी काव्यनिर्माणकारिणी कला!!

श्रीरामचरितमानसका महाकाव्यत्व

(लेखक—श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी)

(पृष्ठ ४६३ से आगे)

मानसका अङ्गीरस—शृङ्गार, वीर और शान्त इन तीन रसोंमेंसे एक रस महाकाव्यमें अङ्गी भावसे रक्खा जाता है और सब अङ्गरूपसे आते हैं। अब यह देखना है कि मानसका अङ्गीरस कौन है? उसका साधारणतः अध्ययन करनेसे यह प्रतीत होता है कि उसका अङ्गीरस वीर है। रामायणमें तीन युद्ध प्रधानरूपसे हुए हैं। पहला कौशिकाश्रमपर मारीच-सुबाहुसे, दूसरा पञ्चवटीपर खर-दूषणसे और तीसरा लङ्कामें रावणसे। अस्तु, ये तीनों संग्राम बाल, अरण्य और लङ्काकाण्डमें क्रमशः वर्णित हैं। बालकाण्डके सीता-स्वयंवरमें, किष्किन्धाके वालिवध-प्रसङ्गमें और सुन्दरकाण्डके मारुति-चरितमें भी वीररस आया है। अयोध्याकाण्डमें भरतकुमारपर निषाद-राजके सन्देह और लक्ष्मणकुमारके रोषसे तो बहुत ही विशदरूपसे वीररस छना है। रहा उत्तर, सो उसमें चरित-भाग बहुत थोड़ा है। उसके आदिमें 'गये जहाँ सीतल अमराई' पर वह समाप्त हो गया है। बालका पूर्व और उत्तरका उत्तरांश चरितभागसे रहित है। वे क्रमशः ग्रन्थकी भूमिका और उपसंहारमात्र हैं। कथासूत्रसे वे अलग हैं। इस हेतु रामायणमें वीररसका ही प्राधान्य है और वही उसका अङ्गीरस सिद्ध है।

कुछ लोग रामायणमें करुणरसको प्रधान मानते हैं। उनका कहना है कि सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड कारुणिक प्रसङ्गोंहीसे भरा हुआ है—श्रीराम-वन-गमन, दशरथ-मरणकी कथाएँ करुणरससे सराबोर हैं। फिर अरण्य और लङ्का-काण्डोंमें श्रीजानकी-हरण और लक्ष्मण-शक्ति-वेध भी करुणरसके मार्मिक स्थल हैं। अतः करुणरस ही रामायणमें प्रधान मानने योग्य है।

परन्तु ऐसा नहीं। करुणकी मात्रा वीररससे स्वल्प ही है। इससे उसे प्रधानता नहीं दी जा सकती। वीररस ही रामायणका अङ्गीरस सिद्ध है।

विशेष अध्ययनसे उपर्युक्त उभयपक्ष यथार्थ नहीं जान पड़ते। न तो वीर ही और न करुण ही मानसका अङ्गीरस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ! चाहे उनमेंसे कोई श्रीमद्रामायण (वाल्मीकीय) का अङ्गीरस हो, परन्तु श्रीरामचरितमानसका अङ्गीरस तो नहीं है। उसका तो अङ्गीरस उन दोनोंसे भिन्न कोई तीसरा ही है। वह है भक्तिरस अथवा शान्तरस। चरित-निर्माणके सङ्कल्पके समय कविके हृदयमें जिस रसका सञ्चार रहता है वही उसकी रचनामें अवतरित होता है और लोकमें निसर्गतः उसीका प्रभाव व्याप्त होता है। विचार करनेसे यह उद्बोधित होता है कि मानस रचनेके समय कविकी वृत्ति स्वान्तःसुख अथवा आत्मानन्दमें ही लीन थी। उसीकी प्राप्ति ग्रन्थ-निर्माणका प्रयोजन और उद्देश्य था। उन्होंने अपनी आत्मामें सनातन शब्द-ब्रह्मकी अर्चना की है। सरयूजीके रूपकमें कविकी दशा व्यक्त हो गयी है, यथा—

भयउ हृदय आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम-प्रमोद-प्रबाहू॥
चली सुभग कबिता-सरितासी। राम बिमल जस जल भरितासी॥

मानसका आदि-मध्य-अन्त राम-महिमा और रामभक्तिसे भरपूर है—परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीरामके पादारविन्दोंको, महाकवि महाराज, मानसके पुण्य नीरसे, निरतिशयानुरक्ति-पूर्वक चालित कर रहे हैं। जैसे ईखके हर एक पोरमें रस होता है वैसे ही मानसके प्रत्येक शब्दमें रामभक्ति भरी हुई है। उसीका सहज प्रभाव उसके पाठकोंपर पड़ता है। अतएव उसीको उसका अङ्गीरस कहना युक्तियुक्त होगा।

वृत्तकी ऐतिहासिकता—चरित अत्यन्त प्रसिद्ध और ऐतिहासिक है; इसमें कुछ कहना ही नहीं। कविने प्रधान-रूपसे श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणका आधार लिया है। इसको उन्होंने स्वीकार किया है, यथा—'यद्रामायणे निगदितं।'

काव्य-फल—चतुर्वर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) मेंसे मानसमें कौन फलित है ?

रामायणमें सामान्यतः धर्मका निरूपण है। उसमें उसका संस्कार और विकार अथवा व्यवहार, दोनों दिखलाये गये हैं, अर्थात् विधि और अनुष्ठान, धर्मके इन उभय रूपोंका उसमें निदर्शन एवं सङ्घटन हुआ है। श्रीरामचरित-मानसमें धृति, क्षमा आदि सद्गुणरूप सामान्य धर्म तथा विशेष (व्यक्तिगत) धर्मका सुचारुरूपसे उत्कृष्ट प्रदर्शन हुआ है। निगमागमके तत्त्व और उपदेश उसमें मूर्तिमान् होकर, अत्यन्त मनोहर रूप धारणकर हमको अपनी ओर सहज ही आकर्षित करते हैं। उसके नायक हमारे पूज्य और इष्ट हो जाते हैं, वे हमसे मिलते हैं और हम उनके संग संग डोलते फिरते हैं। वे हमारे दुःख पूछते हैं और हमारे हृदयको सान्त्वना देते हैं। इसप्रकार हमारी श्रद्धा उनमें टिक जाती है। उनके सखा-सहायक हमारे सखा-सहायक और उनके शत्रु हमारे शत्रु बन जाते हैं। उनके प्रिय पात्रोंसे हमारी पूरी घनिष्ठता हो जाती है—इतनी कि हमको अनुभव होने लगता है कि हम भी त्रेतामें प्राप्त हैं और उनके समाजमें सम्मलित हैं।

रामायणका यह धार्मिक समाज प्रवृत्तिपथसे निवृत्तिकी ओर गया हुआ है, उसके सामाजिक धर्ममें प्रवृत्ति और निवृत्तिका भेद मिटा हुआ है, उसके सभी सत्पात्र शुद्ध निवृत्ति-सुखका उपभोग करते हैं, सबकी अन्तर्वृत्ति पुरुषोत्तम श्रीरामके चरणोंमें लगी हुई है। इसप्रकार सभी परमात्म-परायण और जीवन्मुक्त हो रहे हैं, कवि स्वयम् निर्देश करते हैं—

कोसल-पुरवासी नर नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहुतें प्रिय लागहीं सबकहँ राम कृपाल॥
उमा अवधवासी नर-नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्मसच्चिदानन्दघन रघुनायक जहँ भूप॥

कविने यह दिखाया है कि सम्पूर्ण चराचर-जगत्का नियन्ता—नायक सर्वेश्वर ही राजराजेश्वर होकर इस धरातलकी शोभा बढ़ा रहा है, वह समस्त जीवलोकका पिता और पति ही अपने स्वाभाविक प्रजापतिरूपसे प्रकट होकर प्रजावर्गको कृतार्थ कर रहा है। अतएव तत्परायण होना और उसके चरणोंमें भक्ति करना जीवकुलका परम धर्म है। उन्हीं कल्याणास्पद पदपद्मोंकी ओर उन्होंने दयापूर्वक हमको आकर्षित किया है, इस भयङ्कर भवार्णवसे पारकर शाश्वत आनन्दके दिव्य देशमें हमें ले जानेका उन्होंने पुण्य प्रयत्न किया है। इस हेतु परमार्थ या मोक्ष ही श्रीरामचरित-मानसका पुरुषार्थ-फल है। कविने उसकी फल-स्तुतिमें यह प्रकट भी कर दिया है। यथा—

'श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये,
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥'

'राम-चरन-रति जो चहै अथवा पद निरबान।
भाव-सहित सो यह कथा करै श्रवन-पुट पान॥'

'भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ताकहँ दृढ नावा॥'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'भवसागर'से तरने और 'भवबन्धन' से छूटनेके सुगम उपायका उपदेश अवसर पाते ही मनीषी कविने जगह-जगह दे डाला है। वे कवि-कर्तव्यका पालन करते हुए धर्माचार्य और तत्त्वाचार्यका भी कार्य करते चलते हैं। परमार्थकी ओर पूर्णरूपसे उनका लक्ष्य है। भगवान् रामके सर्वेश्वरत्व एवं परब्रह्मत्वका अखण्ड ज्ञान उन्हें बना रहता है। गोस्वामीजीने अपूर्व चमत्कार यह दिखाया है कि उन्होंने भूतलके अवताररूप रामजीको अवतारी वेदोदित '......सच्चिदानन्दाद्वैतैकरसात्मा'* परमात्मा रामसे बिल्कुल मिला दिया है। वह अपनी उदार ब्रह्म-बुद्धिसे ही सब कुछ देखते हैं और उसीसे उन्होंने अपने रामचरितमानसका निर्माण किया है। अस्तु, यह माननेमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं दिखायी देती कि मानस भक्तिरससे ही भरा है और भवसिन्धुसे जीवोंके उद्धारहीकी ओर उसका लक्ष्य है।

यद्यपि श्रीमद्गोस्वामिपादकी उपदिष्ट रामभक्ति अपवर्ग-फलसे उत्कृष्ट है तथापि यहाँ उसे स्थूल-भावसे मोक्षका ही भेद मानकर आलोचना की गयी है। सूक्ष्म आलोचना करते समय उसे बन्ध-मोक्षसे अतीत सहजा ब्राह्मी स्थिति ही कहना उचित होगा। कविने धर्मरूप वृक्षको मोक्षका फल माना है और भक्तिको उसका मधुर रस, यथा—

'सब कर फल हरिभक्ति सोहाई।'

'सब साधन कर फल यह सुन्दर। तव-पद-पङ्कज प्रीति निरन्तर॥
'सबतें सो दुर्लभ खग राया। राम-भगतिरत गत मद माया॥
'राम-भगति सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरियाई॥
'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
'तथा मोक्ष-सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरिभगति बिहाई॥
'अस बिचारि हरि-भगत सयाने। मुकुति निरादरि भगति लोभाने॥
'भगति करत बिनु जतन-प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥
'भोजन करिय तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥
'असि हरिभगति सुगम-सुखदाई। को अस मूढ न जाहि सोहाई॥

अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन॥

मानसकारने जिस भक्तिकी ऐसी महिमा कही है और जो उनके मानसकी फल-स्वरूपा है वह प्रेमलक्षणा और परा भक्ति ही है, जिसका महर्षि शाण्डिल्य तथा देवर्षि नारदने अपने सूत्रोंमें वर्णन किया है, यथा—

'सा परानुरक्तिरीश्वरे' 'फलरूपत्वात्', स्वयं फलरूपेति (ब्रह्मकुमाराः) सा कस्मै परमप्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा च, यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, तृप्तो भवति '......आत्मारामो भवति।'

निर्वाणगति इस भक्तिमें सहज ही सिद्ध है 'अनइच्छित आवै बरियाई' तथा 'रहि न सकै हरिभगति बिहाई।' परन्तु कवित्व-शक्तिकी तरह यह भी ईश्वरदत्त दिव्य गुण है। भक्तिमें बड़ी विशेषता तथा सौलभ्य यह है कि उसमें अहम्मति और इच्छाका अत्यन्त अभाव होता है और अहङ्कार ही जीवेश्वरभेद तथा इच्छा ही बन्धनका मुख्य कारण है। भक्तकी मति-गति सर्वतोभावसे एकमात्र भगवत्‌हीमें लीन रहती है, इसके अतिरिक्त न उसे और कुछ दीखता, न भाता है। गोस्वामीजीने इसी भक्तिकी उत्कृष्टता वर्णन की है, जो ज्ञानलब्ध ब्राह्मी गतिसे अभिन्न है। पर सौलभ्य और अबाधताके कारण उन्होंने उसे (भक्तिको) अधिक कहा है। (क्रमशः)

रामायण और तुलसी

विश्व सकलकी पूज्य, पुण्य-प्रद-प्रभा प्रकासिनि,
भक्ति-भाव भरि भव्य, विज्ञता विमल विकासिनि,
मंजुल, मृदुल, मनोज्ञ, निखिल नित नीति सुहावनि,
देती सुख-प्रद सतत, सबहिं रामायण पावनि,
भुवि विदित सकल कल्याणमय, नित कालिकलुष नसावनी।
है मुद मङ्गलमय सदा-श्रीरामचरित बिस्तारिणी॥
मथि पुराण, श्रुति, वेद, निर्मयी स्वर्ग-नसैनी,
भक्ति-प्रेम-साहित्यमयी, बन गयी त्रिवैनी,
यहि जल जो जन न्हात, सुखद सद्गति सो पावत,
'तुलसी' के उपकार मान, गुण गरिमा गावतें,
नित इसके आश्रयसे उन्हें,
मिलती कीर्ति अगम्य है।
'शङ्कर' व्यापी विश्वमें,
'श्रीतुलसी-स्मृति' रम्य है॥

गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर'

*श्रीरामतापिनी उपनिषद्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीसुतीक्ष्णजीकी प्रेमा-भक्ति

(लेखक-पं० श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

श्रीराम-चरित-मानसके अरण्य-काण्डान्तर्गत श्रीसुतीक्ष्ण मुनिके प्रसङ्गकी आलोचना करनेपर आपमें नवधा, प्रेमा, परा आदि सर्व प्रकारकी भक्तियोंका आदर्श तथा सगुणोपासनाके अनेक रहस्य स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। नवधासे यह तात्पर्य है कि भक्ति नौ प्रकारकी मानी गयी है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(भागवत)

श्रीसुतीक्ष्णजीमें यह इसप्रकार पायी जाती है—

(१) **श्रवण**–प्रभु आगमन स्रवन सुनि पावा।
(२) **कीर्तन**–कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।
(३) **स्मरण**–हे बिधि! दीनबन्धु रघुराया।
मोसे सठपर करिहँहि दाया॥
(४) **पाद-सेवन**–परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी।
(५) **अर्चन**–निज आस्रम प्रभु आनिकै, पूजा बिबिध प्रकार।
(६) **वन्दन**–कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी।
अस्तुति करउँ कवनि बिधि तोरी॥
(७) **दास्य**–मन-क्रम-बचन राम-पद-सेवक।
(८) **सख्य**–मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला।
(९) **आत्मनिवेदन**–को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।
प्रेमा–अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।
परा–मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा।
पुलक सरीर पनसफल जैसा॥

मानसमें नवधा भक्ति दो प्रकारकी कही गयी है। एक तो उपर्युक्त भागवत-कथित है जो श्रीलक्ष्मणगीताके प्रसङ्गमें आयी है। जब उन्होंने ईश्वर, जीवादिका भेद पूछते समय भगवान् श्रीरामसे पूछा था कि 'कहहु सो भगति करहु जेहि दाया' तब उसके उत्तरमें कहा गया था कि—

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलै जो संत होहिं अनूकूला॥

पुनः—

—भक्तिक साधन कहौं बखानी।
प्रथमहि बिप्र-चरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत स्रुति रीती॥
तेहिकर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥
स्रवणादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं—

यहाँ इसी नवधा भक्तिका लक्ष्य है। यह उस भक्तके लिये है जो सन्त-शरण नहीं प्राप्त कर सकता हो, अर्थात् गृहस्थाश्रम त्यागकर अपनेको सन्त-सेवामें लगा उनकी कृपाका भागी न हो सकता हो। ऐसा भक्त वर्णाश्रम-धर्मका पालन करता हुआ विप्र-चरणोंमें निष्ठा कर उसके फल-स्वरूप विषयोंसे वैरागी बन उपर्युक्त श्रवण आदि भक्तियोंके द्वारा क्रमशः प्रेम और परा भक्तिको प्राप्त होकर कृतार्थ होता है।

दूसरी नवधा भक्ति श्रीमुख द्वारा ही श्रीशबरीजीके प्रति यों कही गयी है—

नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मनमाहीं॥
प्रथम भगति संतन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु-पद-पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन-गन, करै कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन-धर्मा॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोहिते संत अधिक कर लेखा॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखे पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हर्ष न दीना॥

यह नवधा-भक्ति जब साधक सन्तके सर्वथा अनुकूल हो जाता है, (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा) उसमें जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, (तत् विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं) तब सद्गुरुका संयोग होनेसे उत्पन्न होती है। अर्थात् गृहस्थाश्रमसे उपराम-चित्त और निवृत्ति-मार्गकी दृढ़ उत्कण्ठासहित सर्वतोभावेन विरक्त सन्तकी शरण होकर उसके सान्निध्यमें उपस्थित रह सेवामें रत रहना, सन्तके संगरूप प्रथम भक्ति है। जब उस सन्त गुरुदेवसे भगवत्-कथा सुन-सुनकर उसमें रति होती है तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

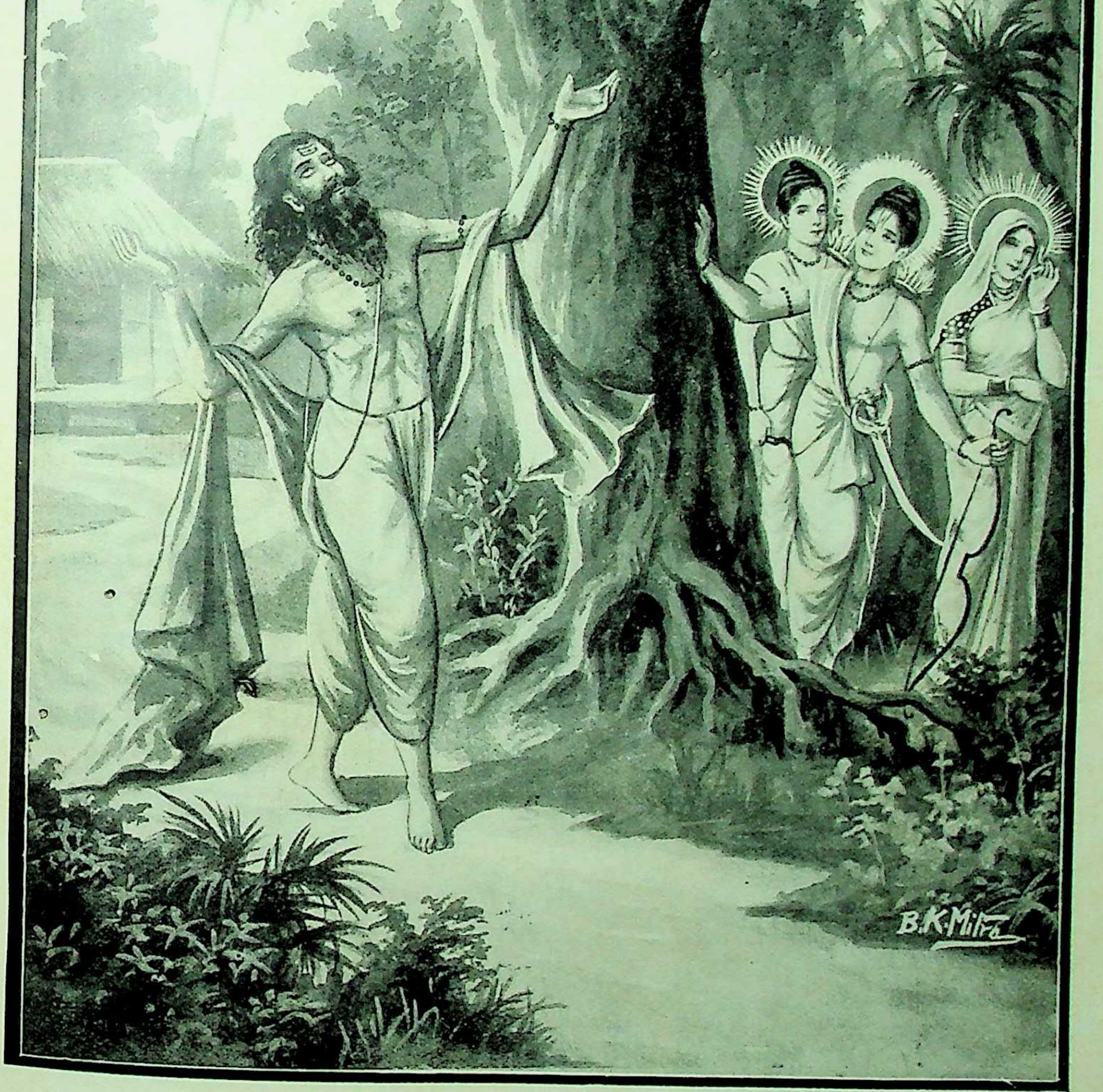

सुतीक्ष्णका प्रेमोन्माद ।

अविरल प्रेम-भगति मुनि पाई । प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई ॥

Lakshmibilas Press Ltd., Cal.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह दूसरी भक्ति कहलाती है। तीसरी भक्ति कथा आदिके श्रवणका सुख मिलते-मिलते गुरुमें अधिक प्रेम होकर उनके पद-कमलकी सेवा होना है। चौथी भक्ति श्रवण करते-करते गुण-गान करनेकी उत्कण्ठा होनेपर निष्कपट-रूपसे स्वयं गुण-गान करने लगना है। पाँचवीं भक्ति श्रीगुरुदेवसे प्राप्त राम-मन्त्रके जापमें दृढ़ विश्वास-पूर्वक आरूढ़ होना है। सत्संगके प्रभावसे इन्द्रियोंका दमन और नानाविध कर्मोंकी प्रवृत्तिसे वैराग्य होकर सत्धर्ममें मन लगना छठी भक्ति है। सातवीं राग-द्वेषकी निवृत्ति होकर सम-बुद्धि होना और जगत्का भगवद्रूप ही दीखना है। इस समय सन्तोंमें अधिक निष्ठा हो जाती है। आठवीं यथा-लाभमें ही सन्तुष्ट होकर दोषदृष्टिका आत्यन्तिक त्याग होना है। नवमी भक्ति सरल चित्त, सबसे निश्छल व्यवहार, केवल भगवान्का भरोसा करना और हृदयके हर्ष-विषाद, तथा दीनता-रहित हो जाना है।

विरक्त भक्त शबरीके प्रति कही गयी इस भक्तिके द्वारा और अनुरक्त भक्त लक्ष्मण-गीतोक्त भक्तिके द्वारा प्रेमा और परा भक्तिको प्राप्त कर सकते हैं, रामायणमें दोनोंके वर्णन करनेका यही अर्थ है।

अब श्रीसुतीक्ष्णजीकी योग्यता, नम्रता, दीनता विचारने योग्य है—

हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मोसे सठपर करिहँहि दाया॥
मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मनमाहीं॥
नहि सतसंग जोग जप जागा। नहि दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥
एक बानि करुनानिधानकी। सो प्रिय जाके गति न आनकी॥

भक्तिकी परकाष्ठाके यही लक्षण हैं, सच्चे भक्त अपनेमें कोई योग्यता होना कब मान सकते हैं?

'नहि सतसंग' कहनेमें एक रहस्य है, श्रीसुतीक्ष्णजी किसी कारण-वश अपने गुरुदेव महर्षि अगस्त्यजीसे विद्या पढ़ चुकनेके बादसे ही अलग रहनेके लिये विवश हो गये थे। वह कारण आगे मालूम हो जायगा। सन्त-समागमका सुयोग न पानेके कारण ही आपमें श्रवणादि नवधा भक्तिकी ही तारतम्यता पायी जाती है।

श्रीसुतीक्ष्णजी जब प्रभु-आगमन सुनकर प्रेमानन्दमें मग्न हो गये तब श्रीरघुनाथजी आपकी अतिशय प्रीति देख-कर—पैदल चलकर पास पहुँचनेमें देर होना जान ऐसी परम प्रेमा-दशामें तत्काल प्राप्त न होनेसे अपना विरद झूठा होता समझकर त्वराके कारण हृदयमें ही प्रकट हो ध्यानद्वारा साक्षात् हो गये। फिर क्या था—

मुनि मगु माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥

श्रीसुतीक्ष्णजी हृदयमें ही सरकारको पाकर रोमाञ्चित हो मार्गमें ही अचल होकर बैठ गये। जब श्रीरघुनाथजी निकट आ गये और बहुत प्रकारसे जगाने लगे तो ध्यान-जनित सुखकी समाधिके कारण मुनि नहीं जागे। तब विरद संभारन पुनीत-प्रेमानुगामी प्रभु श्रीराम, जिन्होंने पैदल चलकर आनेमें कुछ बिलम्ब होता देख प्रेमविवश हो प्रेमीके हृदयमें ही प्रकट होकर अपना विरद संभाला था, भला उसके हृदयमेंसे उसका प्रेमज्यों-का-त्यों रहते सर्वथा कैसे निकल सकते थे? अतः—

भूप रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप दिखावा॥

भगवान् अपने लीला-अवतार-विग्रह राजपुत्र-रूपको छिपाकर अपने ही नित्य अवतारी विग्रह चतुर्भुजरूपसे हृदयमें दर्शन देते हैं, जिससे अवताररूप दाशरथी रामके द्विभुज रूपके उपासक सुतीक्ष्णजी घबड़ाकर जग भी जायँ और भगवान् अपने दूसरे नित्यरूपसे हृदयमें बने भी रहें। वैसा ही हुआ भी—

मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिवर जैसे॥

जैसे मणिधर सर्प मणिहीन हो जानेपर विकल हो जाता है वैसे ही राम-रूप छिप जानेसे सुतीक्ष्णजी अकुला उठे। यहाँ मुनिको चतुर्भुज-रूपका द्वेषी बताना अपनी अल्पज्ञताको ही सूचित करना है। कारण, यह उपमा ही इस प्रसङ्गको स्पष्ट कर रही है कि साँप मणिके जानेसे विकल होता है न कि किसी चीजको देखनेसे। सुतीक्ष्णजी 'भूप-रूपके दुराने' से विकल हुए हैं न कि चतुर्भुज-रूपको देखनेसे। भला, जो नित्य विग्रहके अवतारका प्रेमी होगा वह अवतारी स्वरूपसे द्वेष क्यों करेगा? कहीं अवतारी और अवतारमें भी कोई भक्त द्वैत-बुद्धि कर सकता है? कदापि नहीं। देखिये श्रीसुतीक्ष्णजीका ही वचन यहाँ ऐक्यका प्रमाण दे रहा है—

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सबके हृदय निरंतर बासी॥
तदपि अनुज श्रीसहित खरारी। बसहु मनसि मम कानन चारी॥

इन्होंने जिनसे सब कुछ सीखा था, उन गुरुदेव अगस्त्यजीके भी ऐसे ही अभेदके वचन हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनन्ता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥
अस तव रूप बखानौं जानौं। पुनि पुनि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥

ऐसे ऐक्यके बोधमें द्वेष कैसे सम्भव है?

जैसे ही श्रीसुतीक्ष्णजी अकुलाकर जगे वैसे ही सामने श्रीसीता और लक्ष्मणलालजी सहित श्रीरघुनाथजीको देखकर—

परे लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिवर बड़ भागी॥

जैसे हाथसे छोड़ देनेपर छड़ी बेलाग-शीघ्रतासे पृथ्वीपर गिर पड़ती है वैसे ही वे बेसुध होकर चरणोंपर गिर पड़े। 'दण्ड इव' न कहकर 'लकुट इव' कहनेसे उनका कृश गात होना सूचित किया गया है। श्रीस्वायम्भुवमनुके प्रसङ्गमें—

'परे दंड इव गहि पद पानी' कहकर—

'हृष्टपुष्ट तन भये सोहाये। मानो अबहिं भवनते आये॥

—सूचित किया गया था।

कृपालु भगवान्‌ने उन्हें अपनी विशाल भुजाओंसे उठाकर हृदयसे लगा लिया, उस समय ऐसी शोभा हुई मानो तमाल-तरुसे कनक-लता भेंट रही हो। यहाँ श्रीमुनिजीके गौर शरीर तथा श्रीसरकारके श्याम तनुकी तारतम्यता की गयी है। मुनि भगवान्‌को आश्रमपर लाकर विविध प्रकारसे उनकी पूजाकर बोले, 'हे प्रभो! सरकारकी महिमा अमित है और मेरी बुद्धि तुच्छ है, मैं किस प्रकार स्तुति करूँ?' मुनिने चौदह चौपाइयोंमें ऐसी दीनतासे स्तुति समाप्त की है कि प्रत्येक दो-दो चौपाइयोंके अन्तिम चरणमें एक बार 'नौमि' तो दूसरी बार 'त्रातु' शब्द क्रमपूर्वक आते गये हैं। जिन पदोंमें स्वरूपके सौन्दर्यका कथन है उनके अन्तमें नमस्कारात्मक 'नौमि' तथा जिन पदोंमें विरद कथित है उनके अन्तमें रक्षात्मक 'त्रातु' शब्द बराबर चला आया है। इस अपूर्व भावके अतिरिक्त एक विशेष बात यह भी है कि 'नौमि' के अहं-कर्त्ताके आरोपको भी 'त्रातु' से सँभाला जा रहा है। अर्थात् 'मैं किसी योग्य नहीं हूँ' रूपी अपने निश्चयकी पुष्टि 'त्रातु' से करते जा रहे हैं कि कहीं भूलकर भी यह भाव न आ जाय कि मैं स्तुतिका कर्त्ता हूँ। धन्य है ऐसी दीनता!

अब आपकी अभीष्ट याचनाका रहस्य देखिये—

आप सगुण-ध्यानके बड़े प्रेमी हैं, अतः यही वर माँगते हैं कि 'हे भगवन्! यद्यपि आप एक अन्तर्यामी व्यापकरूपसे तो सबके हृदयमें बसते ही हैं, तथापि मेरे मानसमें तो इसी वनमें विचरनेवाले रूपसे श्रीसीता-लक्ष्मण-लालजीसहित निवास कीजिये। परन्तु प्राप्तिमें विघ्नकी शंकासे डरनेवाले आर्त याचककी तरह श्रीसुतीक्ष्णजीने सोचा कि 'काननचारी' सङ्केत देकर श्रीअवतार-विग्रहको तो मैंने निश्चित कर लिया, पर काननमें विचरना तो केवल चौदह वर्षोंके लिये ही है, कहीं ऐसा न हो कि सरकारके काननसे लौटकर राज्यासीन होनेपर जटाजूट उतारकर किरीट, मुकुट आदि धारण करनेसे प्रभुका 'काननचारी' रूप न रहनेके कारण मेरे हृदयसे भी ध्यानका तिरोभाव हो जाय। अतः पुनः सँभाल लेते हैं—

जो कोसल-पति राजिवनयना। करौ सो राम हृदय मम अयना॥
अस अभिमान जाय जनि मोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

यहाँ 'कोसलपति' और 'रघुपति' शब्दोंसे वह कसर पूरी कर दी गयी है!

श्रीलीलाधाम प्रभुजीने देखा कि मुनिजी थोड़ी देर पहले तो ध्यानमें इतने मग्न थे कि मेरे जगानेपर भी नहीं जागते थे, परन्तु इस समय उनकी याचनामें कितनी दूरकी सोच-सँभाल प्रकट होती है! अतः इन्हें और सचेतकर अवसर दे अति आर्तताके रहस्यका आनन्द लेना चाहिये। भगवान् भी भक्तोंके साथ विनोद करनेमें वैसे ही सुखी होते हैं जैसे भक्त भगवान्‌की लीलामें। भगवान् श्रीमुखसे बोले—

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर माँगु देउँ सो तोही॥

'हे मुने! और भी जो कुछ इच्छा हो सो माँगनेमें कसर न करो, मैं सब कुछ देनेको तैयार हूँ।'

सुतीक्ष्णजीने विचारा, मालूम होता है माँगनेमें अब भी कोई-न-कोई कसर रह गयी है, तभी तो प्रभुजी ऐसे कह रहे हैं। अहा! मैं अल्पज्ञ जीव कहाँतक सोच विचार कर सकता हूँ। उचित और उत्तम तो यही है कि प्रभुके ही ऊपर छोड़कर अपने अभीष्टको सर्वाङ्ग पुष्ट कर लूँ। अतः मुनि बोले—

कह मुनि मैं बर कबहुँ न जाँचा। समुझ न परै झूँठ का साँचा॥
तुमहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देव दास सुखदाई॥

तब श्रीसरकारने यह कौतुक किया कि और तो सब प्रकारके उत्तम वर दे दिये, पर ध्यानका प्रसङ्ग यह देखनेके लिये नहीं आने दिया कि मुनिजीको वास्तवमें तो ध्यानकी ही आतुरता है, देखें उसके अभावमें यह क्या सोचते हैं! प्रभु बोले—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अबिरल भगति बिरति बिग्याना। होहु सकल गुनग्यान निधाना॥

यह सुन सुतीक्ष्णजी व्याकुल-चित्त हो सोचने लगे कि और सब कुछ तो सरकार दे रहे हैं परन्तु मैंने जो सतत ध्यानका मुख्य वर माँगा था उसकी तो चर्चा भी नहीं की! उसी कमीको तो पूरी करनेकी बात थी। फिर सोचने लगे कि प्रभुने जिस त्रुटिको सुधारनेके लिये अवसर दिया था वह तो यही है कि कोसलपति या रघुपतिस्वरूप तो अवधिबद्ध ही है—

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति॥
(वा० रा०)

प्रभु ग्यारह हजार वर्षोंतक ही तो कोसलपतिरूपसे रहेंगे। पीछे परधाम पधारनेके बाद ऐसा न हो कि श्रीराज्यासीनरूपका ध्यान भी हृदयसे तिरोहित हो जाय। इसलिये मुनिने पुनः याचना की—

प्रभु जो दीन्ह सो बर मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा॥

अनुज-जानकी सहित प्रभु चाप-बान-धर राम।
मम हिय गगन इन्दु इव बसहु सदा यह काम॥

हे श्रीधनुष-बाण-धारी रामजी! आप श्रीलषणलालजी और श्रीसीताजीसहित मेरे हृदयमें आकाशचन्द्रवत् सदैव निवास करें। यही मेरी कामना है। तब श्रीसरकार—

एवमस्तु कहि रमा-निवासा। हर्षि चले कुंभज ऋषि पासा॥

—हर्षित हो एवमस्तु कह अगस्त्यजीके पास चले।

अब सुतीक्ष्णजीका अपने गुरुवर्य श्रीअगस्त्यजीसे पृथक् रहनेका कारण सुनिये। आप पहले जब विद्याध्ययन करते थे, तब सब कुछ पढ़ चुकनेपर आपने गुरुजीको गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये बहुत मजबूर किया। गुरुजीने बार-बार कहा कि हम यों ही उऋण कर देते हैं, तुम गुरुदक्षिणाका हठ न करो। परन्तु जब आपने किसी प्रकार आग्रह करना नहीं छोड़ा तो अगस्त्यजी सरोष होकर बोले कि 'नहीं मानते हो तो जाओ दक्षिणामें श्रीरामजीको लाकर मुझसे मिलाओ।'

तभीसे सुतीक्ष्णजी वहाँसे चले आये और श्रीसरकार-की प्राप्तिके लिये अरण्यमें भजन करने लगे। उक्त बातके कारण लौटकर गुरुदेवके पास नहीं गये। इसीलिये श्रीरघुनाथजीका वन-आगमन सुनकर आप और भी अधिक प्रेम-मग्न हो नाचने लगे थे।

जब प्रभु चलने लगे तो सुतीक्ष्णजी बोले—

बहुत दिवस गुरु दरसन पाए। भए मोहि यहि आश्रम आए॥
अब प्रभु संग जाउँ गुरुपाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥

हे नाथ! मुझे इस आश्रममें आये बहुत दिन हो गये। मैंने बहुत दिनोंसे गुरुजीके दर्शन नहीं पाये। प्रभुके संग मैं भी चलूँ? इसमें सरकारके लिये कोई संकोचकी बात नहीं है; मैं तो अपने प्रयोजनसे चलना चाहता हूँ।

देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई॥

कृपानिधान श्रीरामजी मर्मको जान गये। दोनों भाई हँस पड़े एवं मुनिको साथ ले लिया और—

पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा॥

अगस्त्यजीके आश्रमके निकट पहुँचे तो—

तुरत सुतीक्ष्ण गुरुपहँ गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ॥
नाथ कौसलाधीस कुमारा। आए मिलन जगत आधारा॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसदिन देव जपत रहु जेही॥

श्रीसुतीक्ष्णजीने तुरन्त आगे बढ़कर गुरुदक्षिणासे उऋण होनेके लिये अपने गुरुदेवके पास जा दण्डवत् की और 'हे देव! आप जिन तीन मूर्तियोंका रात-दिन जाप करते हैं वे श्रीजानकीजी और लषणलालसहित भगवान् रामचन्द्रजी आपसे मिलने आ पहुँचे हैं' कहकर आपने ऋणको सूद-दर-सूद चुका दिया।

सुनत अगस्त तुरत उठि धाए। हरि बिलोकि लोचन जल छाए॥

श्रीअगस्त्यजी सुनते ही दौड़े और दर्शन पाकर प्रेममग्न हो गये। इसप्रकार मुनि सुतीक्ष्णजी गुरुदक्षिणाके बन्धनसे मुक्त हो गये।

उसकी प्रेमाभक्ति अनुपम और परम सराहनीय है जिसने अपने प्रभुको प्रेमके बलसे सचमुच प्राप्तकर दक्षिणाका धन बना दिया।

इस प्रसङ्गसे माता-भक्तिके सर्वाङ्ग तथा उपासनाके गूढ़ प्रभाव और आर्त प्रेमके रहस्यके सिवा एक और भी भारी उपदेश मिलता है, अर्थात् गुरु और शिष्यके बीच यदि दक्षिणाका व्यवहार हो तो ऐसी ही सेवाकी भेंट माँगी जाय।

वह शिष्य धन्य है जो ऐसे सत्य कर्मका सौभाग्य प्राप्तकर स्वयं भी कृतार्थ होता है और अपने गुरुदेवको भी कृतकार्य कर सन्तुष्ट कर देता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हनूमानूजी (हनुमन्त)

(लेखक--राय बहादुर अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी बी० ए०)

हनूमानूजी श्रीरघुनाथजीके परमभक्त, बड़े वीर और बड़े ज्ञानी थे। इनके जन्मकी कथा वाल्मीकीय रामायण-किष्किन्धाकाण्डमें यों लिखी है कि जब सीताजीकी खोज करते-करते वानर सेना समुद्र-तटपर पहुँची तो अथाह जल देखकर सब घबरा गये। अङ्गदने धीरज धरके उनसे कहा कि यह समय विक्रमका है विषादका नहीं। विषादसे पुरुषका तेज नष्ट हो जाता है और तेज-हीन पुरुषका कोई काम सिद्ध नहीं होता। तुम लोग हमें यह बताओ कि तुममेंसे कौन वीर समुद्र फाँद सकता है? इसपर अनेक वानर बोल उठे, किसीने कहा कि हम तीस योजन फाँद सकते हैं, किसीने चालीस कहा; जाम्बवन्तने नब्बे योजन फाँदनेका बल बताया। इसपर अङ्गदने कहा कि समुद्रकी चौड़ाई सौ योजन है सो हम फाँदनेको तो फाँद जायँगे किन्तु यह निश्चय नहीं है कि लौट भी सकेंगे। जाम्बवान् बोला कि आप सबके स्वामी हैं, आपको न जाना चाहिये। इसपर अङ्गदने उत्तर दिया कि न हम जावें, न और कोई जाय तो हम लोगोंको यहीं मर जाना चाहिये, क्योंकि सुग्रीवकी आज्ञा है कि बिना सीताका पता लगाये हमको मुहँ न दिखाना। जब यह बातें हो रही थीं तो हनूमानूजी एकान्तमें बैठे थे। जाम्बवानूने कहा कि तुम चुपचाप क्यों बैठे हो, तुम्हारी भुजाओंमें इतना बल है जितना कि गरुड़के पंखोंमें। तुम्हारी माता अञ्जना, पहले पञ्जिकस्थला नामकी अप्सरा थीं। अत्रिमुनिके शापके कारण वानरी हो गईं। और कुञ्जर नाम वानरश्रेष्ठके घरमें जनमीं, उनका विवाह केशरीके साथ हुआ था। वर्षाऋतुमें वह एक बार पहाड़पर घूम रही थीं कि पवनने उनका अञ्चल उड़ा दिया। अञ्जनाने कहा कि हमारा पातिव्रत-धर्म कौन नष्ट करना चाहता है? इसपर पवनदेवने उत्तर दिया कि तुम्हारा पातिव्रत-धर्म भंग न होगा। हमारे संसर्गसे तुम महासत्त्व, महातेजस्वी और महापराक्रमी पुत्र जनोगी। वही पुत्र तुम हो। जब तुम बालक ही थे, वनमें सूर्यको उदय होते देख उसे फल समझकर, उसके खानेको दौड़े थे। इसपर इन्द्रने तुम्हारे ऊपर वज्र प्रहार किया और तुम्हारी बाईं हनु (दाढ़) टूट गयी। तबसे तुम्हारा नाम हनुमान् पड़ा। ❀

ब्रह्मपुराणमें यह कथा विशेष विस्तारके साथ दी हुई है।

गोदावरी और फेना (पेनगङ्गा) के संगमपर एक बड़ा तीर्थ है, जिसमें स्नान-दान करनेसे पुनर्जन्म नहीं होता। इस तीर्थके अनेक नाम हैं, वृषाकपि, हनुमत, मार्जार और अब्जक। यह तीर्थ गोदावरीके दक्षिण तटपर है और इसकी कथा यह है—

'केशरीके दो स्त्रियाँ थीं, अञ्जना और अद्रिका। दोनों पहले अप्सराएँ थीं। शापके वश अञ्जनाका मुँह वानरका-सा हो गया था, और अद्रिकाका बिल्लीका-सा। दोनों अञ्जन पर्वतपर रहती थीं। एक बार अगस्त्य मुनि वहाँ पहुँचे। दोनोंने उनकी पूजा की और मुनिने प्रसन्न होकर दोनोंको एक एक पुत्रका वर दिया। दोनों उसी पर्वतपर नाचती-गाती रहीं। वहीं वायुदेव और निर्ऋतिदेव पहुँच गये। वायुके संसर्गसे अञ्जनाके हनूमान् पुत्र हुए और निर्ऋतिदेवके संयोगसे अद्रिकाके अद्रि नाम पिशाचराज पुत्र हुआ। पीछे गोदावरीमें स्नान करनेपर दोनोंकी शाप-निवृत्ति हुई। जहाँ अद्रिने अञ्जनाको नहलाया उस तीर्थका नाम आञ्जन और पैशाच पड़ा। और जहाँ हनूमानूजीने अद्रिकाको स्नान कराया था वह मार्जार, हनूमत् और वृषाकपिके नामोंसे प्रसिद्ध हुआ। †

वृषाकपिका अर्थ है जिसका सम्बन्ध वृषकपिसे हो और वृषकपिकी कथा अध्याय १२९ में दी हुई है।

दैत्योंका पूर्वज बड़ा बलवान् हिरण्य तपस्याके बलसे देवताओंका अजेय हो गया था। उसका बेटा महाशनि भी बड़ा बली था। उसने एक युद्धमें इन्द्रको हाथीसे बाँधकर अपने पिताको भेंट कर दिया। पिताने इन्द्रको बन्द रक्खा। पीछे महाशनिने वरुणपर चढ़ाई कर दी। परन्तु वरुणदेवने उसे अपनी बेटी देकर सन्धि कर ली। इन्द्रके बँध जानेसे देवता बहुत दुखी हुए और उन्होंने विष्णुसे सहायता

* वाल्मीकीय रामायण-किष्किन्धाकाण्ड ६६

† यह संगम अकोलाके दक्षिण निजामराज्यमें है।

CC-0: In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माँगी। विष्णुने उत्तर दिया कि वरुणदेवकी सहायताके विना हम कुछ नहीं कर सकते। तब देवता वरुणके पास गये। *

वरुणके कहनेसे महाशनिने इन्द्रको छोड़ तो दिया परन्तु उनको बहुत फटकारा और उनसे कहा कि तुम वरुणको आजसे गुरु मानो। इन्द्र मुँह लटकाये अपने घर आये और इन्द्राणीसे अपनी दुर्दशा कही। इन्द्राणीने कहा कि 'हिरण्य मेरा चचा था तो भी मैं अपने चचेरे भाईकी मृत्युका उपाय बताती हूँ। तपस्या और यज्ञसे सब कुछ हो सकता है। तुम दण्डक-वनमें शिव और विष्णुकी आराधना करो।' इन्द्रने शिवकी पूजा की। शिवने कहा कि 'हम अकेले कुछ नहीं कर सकते। तुम विष्णुकी पूजा करो।' तब इन्द्र और इन्द्राणीने आपस्तम्बके साथ गोदावरीके तटपर—गोदावरी और फेनाके संगमपर विष्णु भगवान्‌की आराधना की। शिव और विष्णुके प्रसादसे जलमेंसे शिव विष्णु दोनोंका स्वरूप धारण किये हुए (अर्थात् चक्रपाणि और शूलधर) एक पुरुष उत्पन्न हुआ। उसने रसातलमें जाकर महाशनिको मारा, यह इन्द्रका प्यारा मित्र अब्जक वृषाकपि कहलाया।

वृषाकपि अरिन्दनका नाम अध्याय ७० में उन लोगोंके साथ भी आया है जिन्होंने गोदावरी तटपर तीर्थ-स्थापन किये थे।

विचारनेसे यह ध्वनित होता है कि वृषाकपि † और हनुमन्त एक ही थे। वृषाकपिका अर्थ है पुल्लिंग बन्दर। क्या हनूमान्‌जी ऐसे ही बन्दर थे जैसे आजकल अयोध्या आदि नगरोंमें उपद्रव करते हैं। जो ऐसे ही थे तो क्या कारण है जो आजकल कोई बन्दर ज्ञानी नहीं निकलता? हम तो यह समझते हैं कि हनूमान्‌जी और उनके सैनिक दक्षिण देशके निवासी थे। आजकलके विज्ञानसे यह सिद्ध होता है कि हज़ारों वर्ष पहले भारतका दक्षिण प्रान्त अफ्रीका Africa से मिला हुआ था, पीछे धरती बैठ जानेसे अरब सागर बन गया। अफ्रीकाके हब्शियोंका मुँह बन्दरोंसे बहुत मिलता जुलता है। दोनोंकी चिपटी नाक, दबे मत्थे और थूथनकी भाँति आगे निकले हुए मुँह अब भी देखे जाते हैं। क्या इस बातके माननेसे कोई आपत्ति हो सकती है कि ये वानर उन्हीं हब्शियोंके भाई हों जो अफ्रीकामें अबतक बसे हैं और भारतमें नष्ट हो गये या वर्णसंकर होकर यहाँके निवासियोंसे मिल गये। इसमें एक शंका हो सकती है कि रामायणके बन्दर पिंगल वर्ण थे और अफ्रीकाके हब्शी काले होते हैं परन्तु यह आबहवाका असर है।

अब रहा हनूमन्त नाम। जो हम मान लें कि हनूमान् और उनके सैनिक प्राचीन द्रविड़ थे तो सम्भव है कि रावणकी ‡ भाँति हनूमन्त भी किसी तामिल-शब्दका संस्कृत रूप हो और जब हनूमन्त शब्द बना तो उसकी उत्पत्ति दिखानेको इन्द्रके वज्रसे दाढ़ टूटनेकी कथा रची गयी हो। इस कथासे भी यह ध्वनित होता है कि हनूमान्‌जी पहले ऐसे कुरूप न थे। मुँह टूट जानेसे बन्दरका-सा हो गया। ऐसे ही वृषाकपि भी किसी द्रविड़ शब्दका संस्कृत अनुवाद हो सकता है। क्योंकि यह तो सिद्ध ही है कि वानर गोदावरीके दक्षिणके रहनेवाले थे, जहाँ आजकल कनाड़ी या तामिल भाषा बोली जाती है। हम इस विषयमें १६१३ के जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटीसे प्रसिद्ध विद्वान् मिष्टर पार्जिटरका मत उद्धृत करते हैं।

वृषा पुल्लिंगके लिये द्रविड़ शब्द आण है। और यह शब्द कनाड़ी, तामील और मलयालम तीनों भाषाओंमें बोला जाता है। तेलगूमें इसके बदले मन और पोटु बोलते हैं। कपि बन्दरके लिये इन चारों भाषाओंमें दो शब्द हैं—एक कुरंगु, दूसरा मंडी। वानरवाची कुरंगु तामिल भाषाका है। शेष तीनोंमें कुरंगु हरिनको कहते हैं। मलयालममें इस शब्दके दो रूप हैं। कुरंग हरिन और कुरन्नु बन्दर§। तामिल भाषामें मंडी विशेषकर बँदरियाको कहते हैं। मलयालममें मंडी काले मुहँके बन्दरोंके अर्थमें बोला जाता है। कनाड़ी और तेलगूमें मंडी संयुक्त शब्दोंमें हिन्दी 'लोग'के अर्थमें आता है। यह अर्थ विचारनेके योग्य है। कनाड़ीमें बन्दरके लिये दो शब्द हैं कोटि और तिम्मा। और दोनों नये हैं। यह बात सर्व-सम्मत है कि तामिलमें प्राचीन शब्द बहुत हैं। अब आण और मंडीके मिलानेसे एक द्रविड़ शब्द बन जाता है। और उसका संस्कृतानुवाद वृषाकपि होता है।

* ब्रह्मपुराण अध्याय ८४

† क्योंकि हनूमान्‌के संसर्गसे वह वृषाकपि तीर्थ कहलाया।

‡ इस शब्दपर विचार आगे किसी लेखमें किया जायगा।

§ बन्दरके लिये संस्कृतमें शाखामृग-शब्दका प्रयोग इसका उदाहरण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आग-मंडीका संस्कृतरूप हुआ हनुमन्त। द्रविड़ शब्दके संस्कृत शब्द बनानेके लिये बहुधा एक 'ह' पहले जोड़ दिया जाता है। इसके कई उदाहरण मिस्टर पार्जिटरने दिये हैं। जैसे तामिल-भाषामें इडुम्बीका अर्थ है 'गरबीली स्त्री।' यही नाम उस स्त्रीका था जो हिडिम्बा कहलायी।

आजकल हनुमान्‌को तामिलमें अनुमण्डन कहते हैं जिससे प्रकट है कि तामिलमें संस्कृतका 'ह' गिर जाता है। इसीसे यह सिद्ध होता है कि श्रीहनुमान्‌जी दक्षिणदेशके प्राचीन निवासी थे और उनका असली नाम आण-मंडी था। जिसका अक्षरार्थ लेकर संस्कृतमें वृषाकपि* बनाया गया और संस्कृतरूप हनुमन्त हुआ।

हम यहाँ इतना और कहना चाहते हैं कि प्राचीन यूरोपमें एक असभ्य लड़ाकी जाति वंडल Vandal थी। उनके आक्रमणोंसे रोम-साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया था। बंदर और बंडल शब्द बहुत मिलते-जुलते हैं, बच्चे बहुधा बन्दरको बण्डल ही कहते हैं।

वैदेही-विलाप

(पृष्ठ २०१ से आगे)

(१०)

तडित्पीता-गात्रा, रुचिर-नयनी अम्बुज-युता,
जगन्माता, धात्री, रघुकुलवधू, मैथिलि-सुता,
अयोध्या-सी रम्या, ललित नगरी हाय ! तजके,
बिहा वस्त्राभूषा, बरु विपिनके साज सजके,

(११)

बनालीमें आई, सुख बस यही क्या निरखने,
अनाथा दीना-सी, अहह प्रभु ! योंही बिलखने,
भला यों भी कोई, निज प्रियतमा नाथ ! तजते,
तुम्हें भी क्या ऐसे, अयशकर हैं साज सजते ?

(१२)

मनोवाञ्छा मेरी, विमल नव आशा सुनहरी,
जलाने आई हैं, बरबस विषादानल भरी,
प्रणाली प्यारी वे, प्रिय-प्रणयकी हैं अब कहाँ ?
निराशाका कैसा, यह मच रहा क्रन्दन यहाँ !!

(१३)

उपेक्षा ऐसी तो, अबतक न की नाथ ! तुमने,
सुनी देखी ऐसी, कब निठुरता हाय हमने,
रँगी रागोंमें जो, अविकच अभी मञ्जु नवला,
बनी जाती देखो, नव-कमलिनी काल-कवला !

(१४)

सहे कैसे कोई, यह विरह दावानल कहो ?
जली जाती वाञ्छा-ललित-लतिका कोमल अहो !
दयाशाली भी क्या, अहह विधि ! पाषाण बनते ?
भला कैसे कोई, प्रणय-प्रणमें दोष गिनते ?

(१५)

कहो क्या पाया है, विपिन-मगमें कंकण भला ?
लता-गुल्मोंमें क्या, प्रभुवर तुम्हें नूपुर मिला ?
कहीं पा जाते जो, सुरति तब क्या हा ! न करते ?
बिनाही दोषोंके, निज प्रियतमा क्यों विसरते !!

(१६)

बचाती आशा ही, तुहिन-निहिता-काम-कलिका,
बिहाती हैं रातें, निरख नित तारा-अवलिका,
बढ़ाता है चिंता, दुखद बन चिंता-मणि महा,
गिराती अंगारे, नितप्रति अशोकावलि यहाँ !

(१७)

कभी क्या आयेंगी, रुचिर सुखकारी सुघड़ियाँ ?
लुटायेंगी आँखें, जब न अपनी शुभ्र लड़ियाँ !
प्रतीक्षामें हारे, प्रिय-विरह-जारे अब दहे,
तुम्हें धारे प्यारे, यह नयन-तारे तिर रहे !!

(१८)

मुझे जन्मा तो क्या, अवनि कितनी निष्ठुर बनी,
कभी होती है क्या, जननि शिशुसे भी अनमनी ?
समा जाती मैं तो, अब अवनिमें हाय ! सुखसे।
सदाको पा जाती, बस सहज ही त्राण दुखसे।।

—रमाशङ्कर मिश्र 'श्रीपति'

* आधुनिक संस्कृतमें 'वृषाकपि के अनेक अर्थ हैं—इन्द्र, शिव, विष्णु आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानदीपक-स्पष्टीकरण

(लेखक—साहित्यरञ्जन पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी)

(पृष्ठ २७१ से आगे)

९—सात्विक श्रद्धा धेनु सोहाई।
जो हरि कृपा हृदय बसि आई॥

अर्थ—सात्त्विकी श्रद्धा बियाई हुई अच्छी गौ है, यदि वह हरि-कृपासे हृदयमें आकर बसे।

सात्त्विक श्रद्धा—श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—(१) तामसी (२) राजसी और (३) सात्त्विकी। यहाँ तामसी एवं राजसी श्रद्धाका उपयोग नहीं है। यहाँ तो सात्त्विकी श्रद्धाकी ही आवश्यकता है, क्योंकि यह पुरुष श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही वह है, अतएव सात्त्विकी श्रद्धावाला पुरुष भी सात्त्विक होगा।

धेनु सोहाई—सोहाई ब्याई गौ है। भाव यह कि राजसिक-तामसिक श्रद्धा भी गौ हैं, पर वे सोहाई नहीं हैं, दूध न देंगी, यथा—

तामस धर्म करहिं नर, तप मख व्रत जप दान।
देव न बरसहिं धरनिपर बोए न जामहिं धान॥

बहु रज स्वल्प सत्त्व कछु तामस। द्वापर हर्ष शोक भय मानस॥

हरिकृपा—हरि सत्त्वगुणके अधिष्ठाता हैं, अतएव सात्त्विकी श्रद्धाकी प्राप्तिके लिये हरिकी कृपाकी आवश्यकता है। हर तमोगुणके अधिष्ठाता हैं, सुषुप्तिके विभु हैं, उनकी कृपासे हरिकी कृपा होती है, सुषुप्तिकी कृपासे जागृति होती है और जागृति ही तुरीयका द्वार है। जब शङ्कर कृपा करके तमको दबावेंगे, तब सत्त्वका उदय होगा।

जो हृदय बसि आई—अर्थात् जो हरिकी कृपासे हृदयमें आकर बसे, क्योंकि 'जीव हृदय तम मोह बिसेषी, हृदयमें अन्धकार भरा हुआ है। बछड़ेवाली गौ तमोमय अँधेरी जगहमें जाना नहीं चाहेगी। (इस चौपाईमें श्रद्धा[1] सम्पत्तिका वर्णन किया है।)

१०—जप तप व्रत जम नियम अपारा।
जे श्रुति कह सुभ धरम अचारा॥

अर्थ—जप, तप, व्रत, यम, नियम और वेदविहित धर्माचार, ये सब अपार हैं। जप, तप, व्रत, शुभ धर्माचार ये सब उपरामताके अङ्ग हैं, यम-नियम दोनों समाधानके अङ्ग हैं।

जप तप व्रत—यहाँ जपसे वाचा, तपसे मनसा और व्रतसे कर्मणा धर्माचरण बतलाया है, नहीं तो नियममें तीनोंका समावेश हो जानेसे पुनरुक्ति दोष आ जायगा, और गोस्वामीजीने यही अर्थ लिया भी है।

जप, यथा—

तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनङ्ग अराती॥

तप, यथा—बिसरी देह तपहिं मन लागा। (इससे तितिक्षाका * वर्णन किया)

व्रत, यथा—हरि तोषण व्रत द्विज सेवकाई।

यम पाँच हैं—'ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहात्'

(१) ब्रह्मचर्य—स्मरणादि अष्टविध मैथुनके अभावको कहते हैं †। यथा—

ब्रह्मचर्य व्रतरत मति धीरा। तुमहि कि करइ मनोभव पीरा॥

(२) अहिंसा—सदा सर्वदा किसी भी प्राणीसे द्रोह न रखनेको कहते हैं, यह सब यम नियमोंकी जड़ है, यथा—

'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।'
'धर्म कि दया सरिस हरियाना॥'

---

१ यह षट् सम्पत्तियोंमेंसे पाँचवी है।

* शीतोष्ण सुख-दुःखादि सहनेको तितिक्षा कहते हैं, यह षट् सम्पत्तियोंमेंसे चौथी है।

† स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

स्त्रीके रूप, लावण्य हावभाव आदिका स्मरण करना, दूसरेके प्रति कहना, स्त्रीके साथ क्रीड़ा करना, स्त्रीका दर्शन करना, एकान्तमें सम्भाषण करना, स्त्रीके सङ्गके लिये दृढ़ निश्चय करना, उसकी प्राप्तिके लिये उद्योग करना तथा अभीष्ट निश्चयकी पूर्ति करना, इन आठ प्रकारके आचरणोंसे बचनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसीकी सिद्धिके लिये शेष यम-नियमोंका उपयोग है। अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनेसे उसके सन्निकट प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं, यथा—

चरहिं एक सँग गज पंचानन। बैर बिगत बिचरहिं सब कानन॥

(३) सत्य-इन्द्रिय और मनके द्वारा जैसा निश्चय किया गया, वैसी ही वाणी और वैसे ही मनके होनेको सत्य कहते हैं। वह वाणी वञ्चिता,* भ्रान्ता,† और प्रति-पत्तिवन्ध्या ‡ न होनी चाहिये। प्राणियोंके उपकारके लिये होनी चाहिये, उपघातके लिये नहीं। यथा—'कहहिं सत्य प्रिय बात बिचारी।' इससे क्रियाके फलको आश्रय मिलता है, यथा—'सत्य मूल सब सुकृत सुहाये।'

४-अस्तेय-शास्त्र-विधिके प्रतिकूल दूसरेके द्रव्यको लेना स्तेय कहलाता है, और उस स्तेयके निषेधको अस्तेय कहते हैं। स्पृहा न रखना भी अस्तेय कहलाता है। यथा-'धन पराव बिषते बिष भारी।' इससे सब रत्न उपस्थित होते हैं, यथा—'डारहिं रत्न तटहिं नर लहहीं।'

५-अपरिग्रह-विषयोंके अर्जन, रक्षण, क्षय और संगसे हिंसादि दोष होते हैं, अतएव उनके अस्वीकारको अपरिग्रह कहते हैं, यथा—

यद्यपि अर्थ अनर्थ मूल तम कूप परब एहि लागे।
तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जागतहू नहि जागे॥'
(विनय०)

इससे जन्मकथंताका बोध होता है, यथा—'निज निज मुखन कही निज होनी।'

नियम भी पाँच हैं—'शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।'

१-शौच-देह और मनके मलको दूर करना शौच है। यथा—'सकल शौच करि जाइ अन्हाये।' शौचकी स्थिरतासे बुद्धिकी शुद्धि, उससे मनकी प्रसन्नता, उससे एकाग्रता, उससे इन्द्रियजय, और उससे आत्म-दर्शनकी योग्यता होती है। अपने शरीरसे घृणा और दूसरेके संसर्गसे घृणा होती है। यथा—'रहहिं न अंतहु अधम सरीरू।'

२-सन्तोष-प्राप्त साधनसे अधिक पैदा करनेकी अनिच्छाको सन्तोष कहते हैं, यथा—'आठवँ यथा लाभ सन्तोषा।' इसके द्वारा सबसे बढ़कर सुखकी प्राप्ति होती है, यथा—'मन सन्तोष सुनत कपि बानी।'

३-तप-जाड़ा-गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वके सहनेको कहते हैं। यथा—

कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा॥

इससे देह-इन्द्रियकी सिद्धि और अशुद्धिका क्षय होता है, यथा—

बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एकपग दोऊ॥
मागँहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥

४-स्वाध्याय-मोक्षशास्त्रका पढ़ना अथवा प्रणवका जप करना। इससे देवता-ऋषियोंके दर्शन होते हैं। यथा—

नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भक्त-सिरोमनि भे प्रहलादू॥

५-ईश्वरप्रणिधान-सब कर्मोंका ईश्वरार्पण कर देना, यथा—'प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।' इससे समाधिकी सिद्धि होती है। यथा—'सहज बिमल मन लागि समाधी।'

अपारा-कहनेका भाव यह है कि इन दशों यम-नियमोंमेंसे एक-एक असाध्य है। इनका पार नहीं पाया जा सकता। यह रोगी जीव क्या पार पावेगा?

जो श्रुतिकह-अर्थात् जिसके लिये वेदमें विधि है। वेदकी आज्ञा ही धर्म है। वेदकी आज्ञा दो प्रकारकी होती है (१) विधि और (२) निषेध। जिनमें निषेध सर्वथा त्याज्य है, इसलिये 'शुभ धरम अचारा' कहा।

शुभ धर्म अचारा-इसमें सम्पूर्ण कर्मकाण्ड आ गया। यज्ञ-दानादि शेष धर्म सब इसीके अन्तर्गत हैं। यथा—

*—वञ्चनापूर्ण, जैसे अपने पुत्र अश्वत्थामाका मरण सुनकर द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरसे पूछा—'हे आयुष्मन्! हे सत्यवादी! सचमुच अश्वत्थामा मारा गया?' इसके उत्तरमें, युधिष्ठिरका अश्वत्थामा नामक हाथीको अभिलक्ष्यकर, 'हां, सच अश्वत्थामा मारा गया' ऐसा कथन वञ्चनापूर्ण है, यही वाणी वञ्चिता कही जाती है। वक्ताका अभिप्राय अन्य हो और श्रोता अन्य समझ जाय। जैसे यहाँपर युधिष्ठिरने हाथीको लक्ष्यकर कहा, और द्रोणाचार्यने अपना पुत्र समझ लिया। पर इसको कहनेमें युधिष्ठिरने छलसे काम लिया, इसलिये यह वाक्य सत्य नहीं है।

† भ्रान्तिप्रयुक्त। वक्ताको स्वयं भ्रम हो और दूसरेको समझाना चाहे।

‡ अप्रसिद्ध पदोंके रहनेसे यथार्थ बोध करनेमें अक्षम। जैसे आर्य लोगोंके प्रति म्लेच्छभाषा बोध करानेमें असमर्थ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहँ लगि कह्यो पुरान श्रुति एक एक सब याग।
बार सहस्र सहस्र नृप कियो सहित अनुराग॥

इस चौपाईसे उपरम ❀ कहा।

११—तेइ तृण हरित चरइ जब गाई।
भावबच्छ शिशु पाइ पेन्हाई॥

अर्थ-उस हरे तृणको जब गाय चरे और भाव-रूपी बछड़ा पाकर उसके थनमें दूध आ जाय।

तेइ तृण हरित-वे ही हरे तृण अर्थात् जप,तप,व्रत,यम, नियम और शुभ धर्माचार ये छहों प्रकारके सरस तृण उस श्रद्धारूपिणी गौके लिये चारारूप हैं। लौकिक गौका चारा तृण, औषधि और वनस्पति-भेदसे तीन प्रकारका होता है, और उनके भी बीजरुह तथा काण्डरुह-भेदसे दो प्रकार होते हैं। कुल छः प्रकार हुए। इसी भाँति श्रद्धारूपिणी गौके चाराके भी जप, तपादि भेदसे छः प्रकार कहे हैं।

हरा तृण कहनेका भाव यह कि तृण सूखा न हो, वरन् सरस हो; नहीं तो गौ चावसे न खायगी, फलतः यथार्थ तृप्ति न होगी, दूध भी कम होगा, जिससे बछड़ेकी तृप्ति भी कठिन हो पड़ेगी, फिर और कामोंके लिये दूधका मिलना तो दूरकी बात है। अतः जप-तपादि आनन्दरहित न हों, यथा—

अस्थिमात्र है रहौ सरीरा। तदपि मनाक मनहि नहि पीरा॥

चरै जब-भाव यह कि जैसे गौ गोठ छोड़कर बाहर जाय और गोचरभूमिमें चरे, इसीभाँति श्रद्धा भी हृदयसे बाहर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूपी गोचरमें, जिस रुचिसे भूखी गाय हरी घास चरती है, उसी रुचिसे शुभ धर्माचरण करे और तृप्त हो, यथा—

नित नव राम प्रेमपन पीना। बढ़इ धर्म दल मन न मलीना॥

गाई-गाय कहा, धेनु नहीं कहा, क्योंकि बचा घर छोड़ आयी है। अकेली घास चर रही है, पर चित्त बच्चेकी ओर लगा है, यथा—

जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गई।

यह गाय जब अघाकर तृण चरे, तभी इतना दूध दे सकेगी कि जिसमें बच्चेका भी काम चले और अपने काम भी आवे, स्मरण रखना चाहिये कि चरा हुआ चारा गौके पेटमें है। यह सामर्थ्य गौमें ही है कि उस चारेका सात्त्विक परिणाम दूधके रूपमें जगत्के कल्याणके लिये देवे, राजसिक परिणाम अपने शरीरके पोषणके लिये अलग करले, और तामसिक परिणाम गोबर आदि पृथक् दे। किसी भी शिल्पीकी सामर्थ्य नहीं है कि इस भाँति सात्विक, राजस और तामस परिणाम किसी उपायसे पृथक् कर सके। इसी भाँति श्रद्धासे आचरित शुभधर्म श्रद्धाके उदरमें जाकर परिणामको प्राप्त होता है, और उसके सात्त्विक परिणाम—परम धर्म—से जगत्का हित होता है, नहीं तो जिस भाँति तृणादि मनुष्यके ग्रहण योग्य नहीं रहते, उसी भाँति श्रद्धाहीन शुभ धर्म भी मनुष्यके कामके नहीं होते, यथा—श्रद्धा विना धर्म नहि होई। विनु महि गन्ध न पावै कोई॥

गौने जितने प्रकारका तृण खाया है, उन सबके सात्त्विक परिणामका स्वारस्य दूध है, इसी प्रकार श्रद्धासे जो यम-नियमादि आचरित हुए हैं उनके सात्त्विक परिणामका स्वारस्य परम धर्ममें है।

भावबच्छ शिशु-श्रद्धारूपिणी धेनुका सात्त्विक भाव अबोध बच्चा है, वह छल-कपट नहीं जानता, अतएव बहुत प्यारा है। चरनेके समय भी उसीकी ओर ध्यान लगा रहता है। इसी भाँति श्रद्धासे धर्माचरण हो और वह भाव हत न होने पावे, यथा—

किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
संग बस किय शुभ, सुनाये सकल लोक निहोरि॥
करौं जो कछु धरौं संचि पचि सुकृत सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस कृपानिधि दम्भ लेत अँजोरि॥

पाइ पन्हाई-जब गौ हरी हरी घास चरके तृप्त होकर सन्ध्याके समय घर लौटती है, तो बालक-बच्छको पाकर द्रवीभूत हो जाती है। उसके थनोंमें दूध आ जाता है। इसी भाँति श्रद्धा धर्माचरण करके कृतकृत्य होकर भाव-पुष्टिके लिये अन्तर्मुख होती है। उस समय वह परम धर्म प्रसवमें समर्थ होती है, यथा—

दिन अन्त पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भई।

(क्रमशः)

❀ उपरम स्वधर्मानुष्ठानको कहते हैं, यह षट् सम्पत्तियोंमेंसे तीसरा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि वशिष्ठकी महत्ता

(लेखक—श्रीकालीप्रसन्नजी चक्रवर्त्ती बी० ए०)

रामत्वं रामचन्द्रो दशरथतनयः कौशिको ब्राह्मणत्वम्,
संख्यातीतास्तथान्ये भुवि समधिगता यत्प्रसादान्महत्त्वम् ।
जेतारं षड्रिपूणां तरणिकुलगुरुं ज्ञानविज्ञाननिष्ठम्,
भूदेवादर्शमीडे विधितनुजनुषं तं यतीन्द्रं वशिष्ठम् ॥

श्रीरामचन्द्रके पवित्र चरित्र वर्णन करते हुए देवर्षि नारदने महर्षि वाल्मीकिसे कहा था—'इस समय समस्त भूमण्डलमें श्रीरामचन्द्र ही सब शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले आदर्श राजा हैं । धनुर्वेदके, दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंके पारदर्शी पण्डित होते हुए भी दयासागर हैं । उनके अन्तःकरणमें कदापि अनुचित हिंसाभाव पैदा नहीं होता । वे विनयी और नितान्त नम्र हैं, परन्तु दीनताको अपने पास भी फटकने नहीं देते । ओजस्विता, तेजस्विता, सहिष्णुता, संयमशीलता, अहङ्कारशून्यता और राजनीतिमत्ता आदि अनन्त गुणोंके आजकल वे ही एकमात्र निवासस्थान हो रहे हैं । धर्मविमुख अत्याचार-प्रचारक, दुष्ट दुर्विनीत दुर्दान्त दैत्यदलका दमन करना तो उन्होंने अपना ध्येय ही बना लिया है । अपने शत्रुओंको तो वे कराल कालके विकराल गालमें भेज देते हैं, किन्तु शरणागतोंको देखकर उनके हृदयमें क्षमा और करुणाका समुद्र उमड़ पड़ता है । प्रजापालन उनके अवतारका एकमात्र उद्देश्य हो रहा है । उनकी सत्यपरायणता ऐसी बढ़ी-चढ़ी हुई है कि 'रामो द्विर्नाभिभाषते' इसप्रकारकी लोकोक्ति विख्यात हो गयी है । श्रीरामचन्द्रजी सत्यवादी होते हुए भी प्रियवादी तथा प्रियदर्शन हैं । एकाधार मनुष्यका आकार इतने संख्यातीत अगणित गुणोंका आगार हो, यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है ।'

इस समय भारतमें और अन्यान्य पाश्चात्य देशोंमें यह बड़ा भारी आन्दोलन उपस्थित हुआ है कि जब प्रत्येक देशकी उन्नति उसके निवासियोंकी शिक्षापर ही निर्भर है तो किसप्रकारकी शिक्षाका प्रचार होना चाहिये, जिससे मनुष्य सुशिक्षित हों और अपने देशकी उन्नति कर सकें । सुशिक्षा प्रदान करनेके लिये आदर्श शिक्षककी आवश्यकता होती है । इस विचारसे इन दिनों सर्वत्र 'गुरु ट्रेनिङ् विद्यालयों' की स्थापना की जा रही है ।

अध्यापक वशिष्ठ

ऐसी परिस्थितिमें आदर्श शिक्षाप्राप्त श्रीरामचन्द्रजीके गुरु कौन थे, और उनको कैसी शिक्षा दी गयी थी, इन बातोंपर थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक और सामयिक प्रतीत हो रहा है । यद्यपि मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी भगवान् विष्णुके ही अवतार थे, उनके लिये वास्तवमें किसी भी शिक्षाकी आवश्यकता नहीं थी, तथापि मानव-शरीर कैसा और कितना पूर्ण हो सकता है इस बातको दिखानेके लिये ही परमात्मा नरदेह धारण करते हैं। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था*कि 'हे अर्जुन! सब मनुष्य मेरे ही पथके पथिक हैं । यदि मैं वर्णाश्रमोचित कर्म न करूँ तो सारा मानव-समाज कर्त्तव्यविमुख और नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा ।' सभी अवतार अपने लीला-शरीरके अनुरूप काम करते हैं । इसीलिये महर्षि वाल्मीकिने श्रीरामचन्द्रजीका चरित्र आदर्श मनुष्यके रूपमें चित्रण किया है । देवर्षि नारदने श्रीरामको मनुष्य समझकर ही प्रशंसा की है† । श्रीराम भी अपनेको मनुष्य ही समझते थे । इसी विचारसे वशिष्ठजीने उनको आदर्श शिक्षा दी थी ।

रघुवंशियोंके कुलगुरु आदर्श ब्राह्मण महर्षि वशिष्ठ अयोध्यामें ही निवास करते थे । एक दिन महाराज दशरथने उनसे प्रार्थना की कि आप मेरे कुलगुरु हैं इसलिये श्रीराम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इनकी शिक्षा-दीक्षाका उचित सुप्रबन्ध कीजिये । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि सूर्यवंशियोंको आदर्श शिक्षा देना ही महर्षि वशिष्ठके जीवनका एकमात्र लक्ष्य था । महाराज दशरथकी प्रार्थनाको महर्षिने सानन्द स्वीकार किया । उन्होंने राजकुमारोंको पन्द्रह वर्ष तक सब प्रकारकी आश्रमोचित शिक्षाएँ दीं । श्रीरामचन्द्र

* यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

† बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्त्तिता गुणाः ।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें ही शस्त्र और शास्त्रके पूर्ण पारदर्शी हो गये।

गुरु-गृहकी शिक्षा समाप्त होनेपर जनपद-चारित्र्य (नागरिकता) की शिक्षाके लिये वशिष्ठद्वारा चुने गये अच्छे विद्वानोंकी देख-रेखमें समानवयस्क कतिपय अन्य राजकुमारोंके सहित श्रीरामचन्द्रजी तीर्थ-यात्राके लिये भेजे गये❀। प्रायः सालभरमें भारतके सब तीर्थोंमें, हिमालयसे समुद्रतट कुमारिका पर्यन्त और द्वारकासे गंगा-सागर तक श्रीरामने पर्यटन किया। इस भ्रमणमें उन्होंने काशी, उज्जयिनी आदि विद्यापीठों, बहुविध वाणिज्य व्यापारकेन्द्रों, सैनिकोंके विविध व्यूहों, अनेक राजाओंकी शासन-पद्धतियों और सर्वभूत-हित-रत अनेक ऋषि-महर्षियोंके प्रशान्त गम्भीर आश्रमोंका सशिक्षण निरीक्षण किया। इस समय श्रीरामके कोमल हृदयपर वनौकस विरक्त महर्षियोंके पवित्र चरित्रका अधिक प्रभाव पड़ा। तीर्थाटनसे लौटते ही माराभिराम श्रीरामके मनमें तत्कालसुलभ वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे दुःखमय संसारकी अनित्यताका अनुभव कर दिन-प्रति-दिन मलिन होने लगे। रामकी यह अवस्था वशिष्ठजीको विदित हुई। अन्य गुरुओंकी तरह गुरु वशिष्ठने समावर्तनके साथ-ही-साथ अपनी शिक्षा समाप्त न की थी। रामके हृदयमें जो उद्वेगप्रद अशान्तिकारक असामयिक वैराग्य उत्पन्न हुआ, उसको दूर करनेके लिये आदर्श अध्यापक महर्षि वशिष्ठने जो समयोचित उपदेश दिया, वही एक अपूर्व महान् ग्रन्थ योगवाशिष्ठके नामसे विख्यात है। अर्जुनके वैराग्यजनित व्यामोहको हटाकर निष्काम कर्मयोगमें प्रवृत्त करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश किया था। किन्तु उसके बहुत दिनों पहले ही महात्मा वशिष्ठने श्रीरामको वैसा ही उपदेश किया था। उन्होंने योगवाशिष्ठमें सिद्ध किया है कि यह पृथ्वी कर्म-भूमि है। यहाँ कर्म करना अत्यावश्यक है। ममतारहित होकर अपने कर्त्तव्यका पालन करना चाहिये, जिससे मनुष्य नित्य सुखी जीवन्मुक्त हो सकते हैं।

शिक्षाका उद्देश्य है जीवनको सुखमय बनाना। यह पाश्चात्य पण्डित भी मानते हैं। किन्तु उनके सुखका मूल है भोग। इधर वशिष्ठप्रवर्तित शिक्षापद्धतिका मूल है कामना-परित्याग। यही स्थायी सुख देनेवाली है। पाश्चात्य जगत्‌की शिक्षामें इस जगत्‌के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिये जिस देशमें आर्थिक उन्नति अधिक है वही सर्वोन्नत समझा जाता है। अमेरिकामें प्रत्येक विद्यार्थीका करोड़पति होना ही एकमात्र सर्वोच्च अभिलाष है। इसीलिये वहाँके गुरु अपने छात्रोंको अर्थकरी विद्या सिखला कर निश्चिन्त हो जाते हैं। परन्तु वशिष्ठप्रमुख भारतीय गुरु अर्थकरी विद्या प्रारम्भमें सिखलाकर अन्तमें स्थायी सुख देनेवाले ज्ञानका उपदेश करते थे। आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति अर्थात् दुःखका अत्यन्त अभाव ही सच्चा सुख है। इस संसारमें दुःखके कारण सर्वत्र वर्तमान हैं। दुःखका बिल्कुल न होना असुलभ अवश्य है, किन्तु दुःखके सहन करनेका अभ्यास करनेसे वह सुलभ हो जाता है। चौबीस घण्टेमें एक समय आधपेट भोजन न पानेवाले गरीब ज़मीनपर ही सुखपूर्वक निद्रा लेते हैं। लेकिन कितने ही लोग मक्खन, मिश्री, मलाई, मोदक, मालपूओंका इच्छानुसार संहार करके भी शशिकान्त-कोमल दुग्धधवलशय्यातल-पर करवटें बदलते रहते हैं। वास्तवमें दुःख-सहन-शक्ति ज्ञान और अभ्यासपर ही निर्भर है। श्रीरामचन्द्रको भी अभ्यासके लिये ब्रह्मचर्यका और ज्ञानके लिये योगवाशिष्ठका उपदेश मिला था। उपदेश देनेके बाद वशिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीको विद्वान् समझकर निश्चिन्त नहीं हो गये, बल्कि इस ज्ञानका कार्यक्षेत्रमें ठीक-ठीक उपयोग होता है या नहीं, इसका भी निरीक्षण करते रहे।

श्रीरामका विवाह किस कुलमें और कैसी कन्यासे होना चाहिये, इसका परामर्श भी वशिष्ठसे लिया गया था। रावण-वधके अनन्तर जब श्रीराम अयोध्या लौटे, तो उन्होंने उनका राज्याभिषेक भी किया। शासन-सूत्र हाथमें आनेपर भी श्रीरामको महर्षि वशिष्ठजी सदा उपदेश देते रहते थे। मुनि ऋष्यशृङ्गके बारह वर्षमें समाप्त होनेवाले यज्ञमें निमन्त्रित होकर जब वशिष्ठजी चले गये थे, तो वहाँसे भी इन्होंने अपने प्रिय शिष्य रामको राजनैतिक उपदेश भेजा था † कि राजाका प्रधान धर्म प्रजारञ्जन है। इससे जो यश प्राप्त होता है, उसीको तुम अपनी अतुल सम्पत्ति

❀ विद्यागृहाद् विनिष्क्रम्य रामो राजीवलोचनः।
वशिष्ठप्रहितैर्विप्रैः शास्त्रज्ञैश्च समन्वितः॥
स्निग्धैः कतिपयैरेव राजपुत्र वरैः सह।
निरगात् स्वगृहात् तस्मात्तीर्थयात्रार्थमुद्यतः॥
(योगवाशिष्ठ, वै० प्र०)

† जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धा-
स्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम्।
युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्या-
स्तस्माद् यशो यत् परमं धनं वः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझना। जैसा गुरु वैसा ही शिष्य, श्रीरामचन्द्रजीने भी इस सन्देशको पाकर प्रतिज्ञा की कि * 'स्नेह, दया, सुख और तो क्या, प्राणप्रिया जानकीको भी यदि त्यागना पड़े तो मैं सहर्ष त्याग कर सकता हूँ, किन्तु प्रजानुरञ्जनसे कदापि मुँह न मोड़ूँगा।' इस प्रतिज्ञाको उन्होंने कार्यरूपमें परिणतकर संसारको दिखला भी दिया। वस्तुतः स्नेह, दया, मित्रता और प्राणप्रिया—इनमें किसी एकके फन्देमें फँसकर ही मनुष्य कर्त्तव्य-पालनसे विचलित हो जाते हैं। महाराज शाक्यसिंह—जिनका नाम अन्तमें बुद्ध हुआ—इसी चक्करमें आ गये थे। श्रीराम और अर्जुनकी तरह इन्हें भी संसारकी असारता ज्ञात हुई थी। पहले दिन रोगी, दूसरे दिन वृद्ध, तीसरे दिन मृत शरीर और चौथे दिन एक संन्यासीको देख महाराज शाक्यसिंह अपना राज्य-कार्य छोड़कर विरक्त हो गये थे। यदि महर्षि वशिष्ठ अथवा श्रीकृष्णकी तरह शाक्यसिंहको गुरु मिले होते, तो वे कभी भी एकाश्रमोचित एकदेशीय बौद्ध-धर्मका प्रचार संसारमें न करते।

तत्त्वदर्शी वशिष्ठ

श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काओंको दूर करनेके लिये गुरु वशिष्ठजीने, 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' कैसे है? ब्रह्म और जगत्में क्या सम्बन्ध है? किसप्रकार सूक्ष्मसे स्थूलकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं? इन तत्त्वोंका उपदेश विशदरूपसे सरल मधुर और प्राञ्जल-भाषामें किया है। आजकल पाश्चात्य जगत्के नवनवाविष्कृत विज्ञानको देखकर लोग मुग्ध और चमत्कृत हो रहे हैं। परन्तु योगवाशिष्ठको ध्यानपूर्वक पढ़नेवाले इस बातको भलीभाँति जानते हैं कि इन सब विषयोंका पूर्ण ज्ञान भगवान् वशिष्ठको था। वर्त्तमान युगमें लार्ड केलविन्का 'आवर्तवाद' (Vorten Theory) एक महान् आविष्कार समझा जाता है। परन्तु उत्पत्ति-प्रकरणमें वशिष्ठजीने बतलाया है कि † जैसे जलाशयका जल आवर्त्ताकारमें स्फुरित होता है, वैसे ही एकमात्र जागतिक शक्तिसम्पन्न मन ही दृश्य जगत्रूपमें प्रकाशित होता है। रादरफोर्ड महोदयका 'स्पन्दनवाद' (Electron Theory) भी योगवाशिष्ठमें पाया जाता है। इन 'वादों' को बतानेके बाद वशिष्ठकी विमल बुद्धि उस सूक्ष्मतम वादमें भी पहुँची है जिसकी कल्पनाका गन्धलेश भी पाश्चात्य अन्तःकरणमें नहीं है। आधुनिक पाश्चात्य पण्डित-मण्डली स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर जानेकी चेष्टा कर रही है। इसमें उसे सफलता मिलेगी या नहीं, भगवान् जानें। परन्तु वशिष्ठप्रमुख प्राचीन ऋषिगण योगबलसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म आदि कारणमें पहुँचकर 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' के अनुसार मन्त्रको प्रत्यक्ष करते थे। अतः उनके उपदेशानुसार ब्रह्मसे चिदाकाश और चिदाकाशसे चित्ताकाश तथा भूताकाशकी कल्पना होकर उसमें स्पन्दन होता है और उसीसे इस जगत्की सृष्टि होती है। वशिष्ठजीने कहा भी है कि 'हे राम' जब तक तुम्हें पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तब तक मैं आकाशत्रयकी कल्पनाके अनुसार सृष्टिप्रकरण समझाऊँगा। ‡ कुछ दिन हुए पाश्चात्य लोग 'परमाणुवाद' (Atomic Theory) पर्यन्त पहुँचे थे। अब स्पन्दन वाद (Electron Theory) तक पहुँचकर अपनेको कृतार्थ समझते हैं, जिसकी वशिष्ठजीने मरुभूमिकी मरीचिकासे तुलना की है।

सर जगदीशचन्द्र बसु महोदयने वृक्षादि उद्भिदोंमें भी मन है, इस बातका आविष्कार कर वैज्ञानिक जगत्को स्तम्भित कर दिया है। किन्तु लाखों वर्ष पहले वशिष्ठ महाराजने कह दिया है कि आकाशमें, वायुमें, अग्निमें, वृक्षोंमें, पृथ्वी और पर्वतोंमें भी शुद्ध चैतन्य है। § स्थूल जगत्के मिथ्यात्वका परिज्ञान अनादिकालसे मानव-हृदयमें बद्धमूल है। सर्वविध वस्तुसमन्वित सुरासुरकिन्नराधिष्ठित स्थावर जङ्गमात्मक यह दृश्य जगत् महाप्रलयके समय बिलकुल नष्ट हो जायगा। तब तेज या अन्धकार कुछ भी नहीं रहेगा। केवल वही एक अखण्ड सत्ता रह जायगी जो दर्शन-दृश्यसे

---

* स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

† सर्वं हि मन एवेदमित्थं स्फुरति भूतिमत्।
जलं जलाशयस्फारैर्विचित्रैश्चक्रकैरिव॥
(यो०वा० उ० प्र०)

‡ यावद् रामाप्रबुद्धस्त्वमाकाशत्रयकल्पना।
तावदेवावबोधार्थं मया त्वमुपदिश्यसे॥
आकाशचित्ताकाशाद्याश्चिदाकाशकलंकिताम्।
प्रसृतादावदहनात् यथामरुमरीचयः॥
चिनोति मलिनं रूपं चित्ततां समुपागतम्।
त्रिजगन्तीन्द्रजालानि रचयत्याकुलात्मकम्॥

§ शुद्धं हि चेतनं नित्यं नोदेति न च शाम्यति।
स्थावरे जङ्गमे व्योम्नि शैलेऽग्नौ पवने स्थितम्॥
परमार्थघनं शैलाः परमार्थघनं द्रुमाः।
परमार्थघनं पृथ्वी परमार्थघनं नभः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथक् आदिमध्यान्तहीन चित्तविरहित अद्वैत विज्ञानस्वरूपहै, जिसमें जगत्का परिस्फुरण होता है। रूपहीन आकाशमें जिस-प्रकार नील पीतादि रूपका भान होता है, उसी प्रकार चिन्मय ब्रह्ममें मिथ्या जगत् दृष्टिगोचर होता है। जैसे समुद्रका जल कहीं तरङ्गरूपमें और कहीं आवर्तरूपमें दिखायी पड़ता है, जैसे एक ही सुवर्ण कटक, अङ्गद और केयूर प्रभृति नानारूपमें परिणत होकर दिखायी देता है, उसी प्रकार एक ही चिदात्माके भ्रममय अनन्त रूप साधारण लोगोंको दृष्टिगोचर होते हैं। वशिष्ठने रामसे कहा है कि 'हे राम, वही ब्रह्म अज, अनादि, अजर, अमर, शाश्वत और अमूर्त्त है, सबका कारण है। उसको जाननेसे आत्मज्ञान-लाभकर जीवन्मुक्त बन सकोगे। बहिर्जगत्के व्यावहारिक लोकाचारको वासना-विहीन होकर करते रहो। सुख और दुःखमें निस्पृह और राग-द्वेषशून्य होकर अपने कर्त्तव्योंका पालन करनेसे ही तुम जीवन्मुक्त हो सकते हो।'

निर्विकार सत्यव्रत वशिष्ठ

पाठक यह न समझें कि वशिष्ठजी केवल परोपदेशकुशल ही थे। उन्होंने अपने जीवनमें उसे करके भी दिखा दिया है। विश्वामित्रजी ब्रह्मर्षि कैसे हुए—इसका सविस्तर वर्णन वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारतमें पाया जाता है। इन पुस्तकोंको पढ़नेवालोंको यह भी ज्ञात होगा कि उनमें वशिष्ठजीका चरित्र कैसा उन्नत, उदार, रागद्वेषरहित, क्षमा-परायण, सत्यसम्पन्न,त्यागयुक्त और ब्रह्मबल-परिपूर्ण है। जब कान्यकुब्जके राजा विश्वामित्र मृगया-व्यापारसे तृषार्त्त होकर सेनासहित महर्षि वशिष्ठके आश्रममें आये, तब महर्षिने उनका राजोचित स्वागत किया और ससैन्य उनको आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये सविनय आग्रह किया। पहले तो वशिष्ठाश्रमकी प्राकृतिक सम्पत्ति देखकर ही विश्वामित्र चकित और चमत्कृत हो गये। सर्वर्तुसुलभ सुन्दर-सुन्दर फल-पुष्पोंसे सुशोभित वृक्षोंके प्रशान्त शीतल तलमें फलमूलशाकाहारी महर्षि, देवर्षि, सिद्ध, चारण प्रभृति तपस्या-परायण तपस्वियोंकी मण्डली देखकर विश्वामित्रजी मन्त्रमुग्ध हो गये। जब उन्होंने यह देखा कि एक ही शबला नाम्नी कामधेनुसे वशिष्ठजीने अगणित सेनासहित उनका सर्वविध आतिथ्यसत्कार सम्पन्न कर दिया; तब तो उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। विश्वामित्रजी इस अभूत-पूर्व आतिथ्यसे सन्तुष्ट तो खूब हुए; परन्तु शबलाको ले लेनेका प्रबल लोभ भी उनके मनमें उत्पन्न हुआ और उन्होंने उस कामधेनुको दे देनेका प्रस्ताव किया। वशिष्ठजीने पहले बहुत समझाया कि इस गायकी सेवा राजा-महाराजाओंसे नहीं हो सकती। यह आपके यहाँ जा भी नहीं सकती। यह इस आश्रमका जीवन है। इसीके द्वारा सब ऋषि महर्षियोंके सर्वविध देवर्षि-पितृकार्य सम्पन्न होते हैं। आप कृपाकर इसे न ले जाइये। परन्तु विश्वामित्र कब मानने लगे। उन्होंने वशिष्ठजीको तरह तरहके लोभ दिखाये। अन्तमें उस कामधेनुके बदले राज्य दे देनेको भी तैयार हो गये। किन्तु वशिष्ठजी तो आदर्श ब्राह्मण थे। उनके निकट लोभ कैसा? जब विश्वामित्र सब उपायोंसे थक गये तब उन्होंने कहा कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावतके अनुसार संसारकी सब वस्तुएँ राजाकी ही हैं, यह कहकर शबलाको बलपूर्वक ले चलनेको उन्होंने अपने सैनिकोंको हुक्म दिया। आज्ञा पाते ही वे उसको पकड़कर ले चलने लगे। शबलामें यह शक्ति थी कि विश्वामित्रकी सारी सेनाका कचूमर मिनटोंमें ही निकाल दे। किन्तु आज विश्वामित्र महर्षि वशिष्ठके अतिथि हैं। इसलिये वह बिना वशिष्ठकी आज्ञाके कोई काम करना उचित नहीं समझती थी। इतना होनेपर भी वशिष्ठजीके चेहरेपर लेशमात्र भी क्रोधका भाव नहीं था और असाधारण शान्ति विराजमान थी। किन्तु शबलाने जब अत्याचारियोंके अत्याचारसे पीड़ित होकर सजल नेत्रसे वशिष्ठजीकी ओर देखा और उनसे आत्मरक्षाके लिये आज्ञा माँगी, तो उन्होंने आज्ञा दे दी। फिर क्या था, कपिला तो सब चीजोंको पैदा करनेवाली कामधेनु थी। वशिष्ठजीकी आज्ञा पाते ही अपने रोमकूपोंसे कई सहस्र सैनिकोंको प्रकटकर उसने विश्वामित्र और उनकी सारी सेनाका चेहरा बिगाड़ दिया। यह देखकर विश्वामित्र अत्यन्त लज्जित हुए और वशिष्ठजीके ऊपर क्रुद्ध होकर शिवजीकी तपस्या करनेके लिये चले गये। अपनी घोर तपस्यासे आशुतोषको तुष्टकर और उनसे सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र प्राप्तकर बदला लेनेकी नीयतसे फिर वशिष्ठके आश्रमपर पहुँचे और किसी प्रकारकी सूचना न देकर ही ऊधम मचाने लगे। विश्वामित्रके तीव्र अस्त्र-शस्त्रोंके प्रबल आघातसे आश्रमके जीव विकल हो गये और ऋषि तथा ऋषिकुमार त्राहि-त्राहि करने लगे। अब वशिष्ठसे न रहा गया। वे अपना ब्रह्मदण्ड लेकर विश्वामित्रके सामने खड़े हो गये। उन ब्रह्मदण्डसे ठोकर खाकर विश्वामित्रके सब अस्त्र बेकाम हो गये। ब्रह्मास्त्र-पर्यन्त भी विकल हो गया। यह देखकर विश्वामित्रने समझा कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मबलके सामने कोई बल चल नहीं सकता। अतः वे ब्राह्मण बननेकी इच्छासे दक्षिणावर्त्तकी ओर तपस्या करने चले गये। तपस्वी होनेपर भी वशिष्ठके ऊपर वे सदा आगबबूला रहा करते थे और वशिष्ठकी अथवा उनके कुलकी हानिके लिये सर्वदा चेष्टा करते रहते थे। एक दिन वशिष्ठजीके ज्येष्ठ पुत्र शक्तिके द्वारा अभिशप्त राजा कल्माषपादको देखकर विश्वामित्रने सोचा कि इसीसे वशिष्ठ-कुलका नाश हो सकता है। ऐसा सोचकर राक्षसरूपधारी कल्माषपादके द्वारा उन्होंने वशिष्ठजीके एक सौ पुत्रोंको मरवा डाला! इससे वशिष्ठजी दुःखित अवश्य हुए, किन्तु विश्वामित्रके प्रति किञ्चिन्मात्र भी क्रोध नहीं किया। जब विश्वामित्रने अपनी उग्र तपस्यासे ब्रह्मादि देवताओंको भयभीत कर दिया तब देवताओंने विश्वामित्रको राजर्षि, महर्षि और अन्तमें ब्रह्मर्षि होनेका वर दिया। किन्तु विश्वामित्र ब्रह्मादि देवताओंके ब्रह्मर्षि कहनेसे सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने कहा कि जबतक वशिष्ठ ब्रह्मर्षि नहीं कहेंगे तबतक मैं अपनी तपस्या पूर्ण न समझूँगा। जब वशिष्ठजीने देखा कि विश्वामित्रमें अब क्रोध या द्वेषकी मात्रा थोड़ी भी न रही तब उन्होंने आकर विश्वामित्रको हृदयसे लगा लिया और उनको ब्रह्मर्षिका पद प्रदान किया। निर्वैर विश्वामित्रने भी महात्मा वशिष्ठजीको भक्तिपूर्वक प्रणाम किया।

व्यवहारकुशल ऋत्विक् वशिष्ठ

महर्षि-पदसे प्रायः लोग संन्यासी समझते हैं किन्तु यह भूल है। वशिष्ठजी गृहस्थ थे। कर्दम ऋषिकी कन्या, स्वायम्भुव मुनिकी दौहित्री अरुन्धतीसे उनका विवाह हुआ था। उनके सौ पुत्र थे। सब ही पितृतुल्य विद्वान् और तपस्वी थे। वशिष्ठके ज्येष्ठपुत्र शक्तिऋषिके पुत्र पराशरजी थे जिनकी संहिता प्रसिद्ध है। पराशरजीके पुत्र महामहिमशाली वेदव्यासको कौन नहीं जानता? इतने विशाल परिवार-युक्त गृहस्थ होनेपर भी वशिष्ठजी भोग-विलाससे बिल्कुल विरत थे। यदि वे चाहते तो दशरथ प्रभृति सूर्यवंशी राजाओंसे अतुल सम्पत्तिका संग्रह कर सकते थे। परन्तु उनको धनकी क्या जरूरत? वे कर्मवीर इतने थे कि महाराज दशरथने अपने अश्वमेध-यज्ञका सम्पूर्ण प्रबन्ध उन्हींके करकमलोंमें अर्पित कर दिया था। सरयू-नदीके उत्तरीय तटपर यज्ञ-भूमि बनानेके लिये कारीगर और मजदूरोंका प्रबन्ध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंको निमन्त्रण देना, उनके मर्यादानुरूप निवास तथा भोजनका प्रबन्ध, ऋषि-महर्षियोंका आह्वान और उनके कर्त्तव्यका विभाग तथा कर्त्तव्य एवं मर्यादाके अनुसार उनको ससत्कार दक्षिणा देना—इत्यादि कार्य वशिष्ठजीने उत्तम रीतिसे सम्पन्न किये। किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं रही। आगन्तुक ऋत्विक्से लेकर साधारण मजदूर तक सब लोग अत्यन्त सन्तुष्ट होकर गये। अश्वमेध सविधि सम्पन्न हुआ। वशिष्ठजी स्वयं भी इतने बड़े ऋत्विक् थे कि इन्द्रने अपने यज्ञका होता वशिष्ठजीको ही बनाया था। सूर्यवंशी राजाओंके कुलपुरोहित तो वह थे ही; परन्तु उनकी कार्यकुशलता, निस्पृहता, विद्वत्ता और तन मनसे यजमानका सर्वविध कल्याण साधन करना—इत्यादि गुणावलिसे मुग्ध होकर चन्द्रवंशीय महाराज संवरणने भी अपने कुलका पुरोहित वशिष्ठजीको ही बनाया था।

आजकलके अध्यापक यदि महर्षि वशिष्ठजीके आदर्शको अपने सामने रक्खें तो बड़ा उपकार होगा। शिक्षक यदि सदाचारी और सुशील हों तो शिष्य अवश्यमेव सदाचारी और सुशील होंगे। भारतीय शिक्षकसमुदाय महर्षि वशिष्ठके समान विद्वान्, तपस्वी, निर्लोभी, निरहङ्कारी, सत्यवादी, त्यागी, क्षमाशाली और कर्त्तव्यपरायण बन जाय तो कभी भी किसीको भी ऐसा कहनेका अवसर न मिलेगा कि आजकलके विद्यार्थी उच्छृङ्खल होते हैं और अपने अध्यापकोंका कहना नहीं मानते।

भक्त-भावना

विषय विलास आस छोड़ि विष-रास जैसे
एक बिसवास करि प्रेम-पंथ पावैंगे।
और परपंचकी कथानकों गिराय दूर
मधुर गिरासों गुन गोविंदके गावैंगे॥
काम-रसहू पैं हिये आमरस आनि पूरो
राम-रस पीवनमें जीवन बितावैंगे।
होवेंगे अनाथके सनाथ हम वाही दिन
और नाथ छोड़ि रघुनाथके कहावैंगे?

अमृतलाल माथुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामचरितमानस-विनोद

(लेखक—श्रीमन्त यादवशंकरजी जामदार, रिटायर्ड सबजज)

मनकी जो अनेकानेक वृत्तियाँ हैं उनमें विनोद भी एक वृत्ति है। जीवन-संग्रामके लिये, अवान्तर वृत्तियाँ जितनी आवश्यक होती हैं, उतनी ही आवश्यकता इस विनोदी-वृत्तिकी भी है। विनोदी-वृत्तिके अभावमें मनुष्य-जीवन क्लिष्ट तथा भारभूत-सा मालूम होने लगता है। इस वृत्तिमें दुःख भुलानेकी एक अद्भुत शक्ति है। इस विचारसे देखनेवाला पुरुष यही कहेगा, कि इस वृत्तिका निर्माण कर परमेश्वरने मानव-जातिपर बड़ा भारी उपकार किया है।

यहाँ विनोदी-वृत्तिका शास्त्रीय दृष्टिसे विशद विचार करनेका अवसर नहीं। अतः यहाँ विनोदके गुणानुसार तीन स्थूल भेद दिखलाकर ही विषयका विवेचन किया जाता है। गुणानुसार भेद करनेका प्रधान कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्यमें सत्त्वादि तीन गुण अवश्यमेव रहते हैं।

विनोदके तीन भेद

१ सात्त्विक-विनोद–(प्रेम-पर्यवसायी विनोद) जिस विनोदकी अन्तिम परिपक्वता स्थायी प्रेम और आनन्दमें हो।

२ राजस-विनोद–(मध्यम विनोद) जिसका परिणाम क्षणिक सुख अर्थात् तात्कालिक मनोरञ्जन हो।

३ तामस-विनोद–(औपहासिक विनोद) जिसका परिणाम दिल्लगी, मज़ाक, तुच्छता इत्यादिके द्वारा स्वाभाविक ही अनर्थमय होता है।

अब उपर्युक्त भेदोंको उदाहरणोंद्वारा समझिये!—

(१) सात्त्विक (प्रेम-पर्यवसायी) विनोदका उदाहरण स्वयं श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका ही है। गुसाईंजीकी धर्मपत्नीने उनसे प्रेमभरा विनोद किया, परिणाम यह हुआ कि वे महान् राम-प्रेमी बन गये और हम दीन संसारियोंको रामचरितमानसकी उपलब्धि करा दी। जिन्हें इसके सत्यकी ध्वनि देखनी हो वे इन चौपाइयोंमें देखें—

जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम मन बानी॥
रहे कर्मबस परिहरि नाहू।…………………॥

(२) राजस (मध्यम) विनोदके उदाहरण उपस्थित करनेकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि इसका सभीको अनुभव है। इस मनोरञ्जक विनोदके विना किसी भी सांसारिक मनुष्यकी दिनचर्या प्रायः सुखकर नहीं होती।

(३) तामस (औपहासिक) विनोदके प्रधान उदाहरण रामायण और महाभारतमें ही हैं।

कैकेयी देवीके विषयमें स्वयं गुसाईंजी ही कहते हैं—

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेष पुनि चेरि कहि भरतु मातु मुसुकानि॥

भरत-माता 'काने……चेरी' आदि कहकर यदि मुसकुराती नहीं तो उसका मन्थराके प्रति कड़ा रुख नहीं बदलता जिससे मन्थराको कुछ भी बोलनेका साहस न होता। कैकेयीका यह हँसना ही—यह विनोद ही राम-वनवासका कारण हुआ यह निश्चित है। इसीप्रकार महाभारतका कारण भी हँसी ही है। कहावत है कि 'भीमके कारण भारत' हुआ। इस कथनकी सत्यता निम्नलिखित वर्णनमें स्पष्ट है–

राजा दुर्योधन जब धर्मराजकी मयनिर्मित-सभामें पहुँचे, तो उन्हें मायावी मयासुरकी मायामयी रचनाके कारण ऐसा मोह हो गया कि उन्होंने स्थलको तो जल समझकर अपने वस्त्र समेट लिये और जलको स्थल समझकर चलते समय उसमें गिर पड़े। दुर्योधनकी यह दशा देखकर भीम हँसे, तदनन्तर समस्त स्त्रियाँ और अन्यान्य राजागण भी जोरसे हँसने लगे। धर्मराजने यथासाध्य हँसीका निषेध किया, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान्के प्रोत्साहनके कारण हँसी रुक न सकी। दुर्योधन लज्जासे आँखें नीची कर, क्रोधसे तमतमाते हुए सिर झुकाकर उसी समय सभासे एकदम निकल पड़े और सीधे हस्तिनापुर जा पहुँचे। उनके इस प्रकार चले जानेसे सब सज्जन हाहाकार करते हुए कहने लगे कि यह एक बड़े अनर्थका कारण हो गया है। धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरजी भी उदास हो गये। परन्तु केवल दृष्टिमात्रसे ही संसार-चक्रको घुमानेवाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भूमिका भार उतारना चाहते हैं, ऐसा सोचकर वे कुछ भी नहीं बोले।

(श्रीमद्भागवत १०।७५।३८–४०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'यह कहा जा सकता है कि हँसीके द्वारा उत्पन्न होनेपर भी रामायण और महाभारतसे तो संसारकी अर्थसिद्धि ही हो रही है, अनर्थ तो नहीं हो रहा है।' यह सत्य है, हम भी इसमें सम्मत हैं। परन्तु हँसनेवालोंका उद्देश्य हँसीसे रामायण और भारतकी उत्पत्ति करना नहीं था। उनकी हँसीसे प्रत्यक्षमें तो अनर्थापात ही हुआ, उस अनर्थके अप्रत्यक्षरूपसे अर्थावह हो जानेमें तो केवल ईश्वरकी अगाध कृपा ही कारण है। उपर्युक्त उपोद्घातसे यही स्पष्ट दिखलाना है कि तीन प्रकारके विनोदोंमेंसे सात्त्विक (प्रेम-पर्यवसायी) विनोद ही सर्वोत्कृष्ट है।

अब मूल विषयपर ही आइये-

'मानस-विनोद' शब्दसे दो भाव सूचित होते हैं—(१) मानसका विनोद और (२) मानसमें विनोद। 'मानसका विनोद' कहनेसे तुलसी-रामायणके विनोदी अर्थ ऐसा भाव सूचित होता है, और 'मानसमें विनोद' कहनेसे तुलसी-रामायणमें विनोदी भाग ऐसा भाव सूचित होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इन दोनों अर्थोंमें जमीन-आसमानका अन्तर है।

मानसके जो विनोदी-अर्थ किये जाते हैं, वे प्रायः औपहासिक तामस वा मध्यम (राजस) ही होते हैं। दुर्भाग्यवश उन विनोदोंका एक भी प्रेम-पर्यवसायी अर्थ आजतक मैंने नहीं सुना। मैंने जैसे विनोदी-अर्थ सुने हैं, उनमेंसे उदाहरणार्थ एक-दो यहाँ लिखे जाते हैं--

सब सुत मोहिं प्रानकी नाईं। राम देत नहिं बने गुसाईं॥

यह वचन महाराज दशरथजीके श्रीविश्वामित्रजीके प्रति हैं। इनका अर्थ स्पष्ट है, यहाँ दुबारा अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं। अतः केवल विनोदी-अर्थ ही लिखा जाता है।

विनोद इस प्रकार किया गया था कि 'राम देत नहिं' 'बने गुसाईं' दशरथजी राम-लक्ष्मणजीको देनेसे साफ इनकार कर गये, केवल इतना ही नहीं, किन्तु वे धृष्टतासे विश्वामित्रजीको कहने लगे कि 'वाहवा! बड़े गुसाईं बनके आये हो!

अब पाठक ही विचार करें कि यह विनोद है या काव्यकी हत्या है अथवा अर्थका अनर्थ है। इस विनोदसे—'मंगन लहहिं न जिनके नाहीं' ऐसे दानवीर रघुकुलकी महत्ता कहाँ रह जाती है?

अग्रतश्चतुरोवेदाः पृष्ठतः सशरं धनु।
इदं ब्राह्ममिदं क्षात्रं शापादपि शरादपि॥

ऐसे महाप्रतापशाली विश्वामित्रजीकी क्या कदर होती है, तथा कवि और उनके काव्यकी भी कौनसी प्रतिष्ठा रह जाती है?

× × ×

कोटि कोटि मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥

यह रामजीके प्रति बालिकी अन्तसमयकी उक्ति है। विनोदी, इस चौपाईका पदच्छेद इस प्रकार करते हैं-

को टिको। टिमुनि। जतन कराहीं। अन्तराम कहि। आवत नाहीं।

—और उसे मालिक नौकरके संवादके रूपमें इस तरह प्रकट करते हैं—

मालिक—को टिको (कौन बैठा है?)

नौकर—'टिमुनि' (टिमुनि नौकरका नाम है।)

(मालिक—यहाँ पर तेरा काम क्या था?)

नौकर—'जतन कराहीं' (मालपुएकी कढ़ाईकी रखवाली कर रहा हूँ।)

(मालिक--अन्तरामको रखवाली करनेके लिये कहाँ गया था, फिर तू यहाँ कैसे?)

नौकर--'अन्तराम कहि' (अन्तरामको हमने भी कहा, पर उसने साफ कह दिया कि) 'आवत नाहीं' (हम नहीं आते।)

हम मानते हैं कि उपर्युक्त विनोद निर्दोष है। परन्तु इतनी माथापच्ची करके शब्दोंका तोड़-मरोड़ करनेसे लाभ ही क्या है?

ऐसे विनोदके अधिक उदाहरण देकर भावुक पाठकोंका और स्वयं अपना समय नष्ट करनेकी हमारी इच्छा नहीं। अब ऐसे कुतूहलपूर्ण परिश्रमका पारितोषिक देनेका कार्य पाठकोंपर छोड़कर हम अपने वक्तव्य विषयपर आते हैं।

मानस-विनोद यानी मानसगत विनोद देखनेका हमारा प्राकृत कार्य है। परन्तु मानस-गत सभी विनोदी-प्रसंगोंको यहाँ उद्धृत करना दुष्कर है। नमूनेके लिये कुछ ही प्रसङ्गोंका उल्लेख किया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सात्त्विक विनोद

प्रथम सात्त्विक यानी प्रेमपोषक-विनोदके दो प्रसङ्ग दिखाये जाते हैं—

(१) चित्रकूटपर भरतजीका तीसरा भाषण हो चुकनेके बाद देवता नितान्त अकुला गये। भरतजीकी भक्तिके प्रभावको देख इन्द्रदेवको यह चिन्ता हुई कि कदाचित् रामजी भरतजीको सन्तुष्ट करनेके लिये वनसे घर न लौट जायँ। इस घबराहटमें इन्द्रदेवने 'किंकर्तव्यविमूढ़' हो सारी मण्डलीपर अपनी माया फैलानेकी कुचेष्टा की। इस मूर्खताको देखकर कवि कहते हैं—

लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुवानू॥

अर्थ—इन्द्रकी कुचालको देख कृपानिधान श्रीरामजीने मनमें सोचा कि कुत्ता, इन्द्र और नौजवान ये तीनों एक ही वृत्तिके हैं और मनमें यह विचार आते ही वे हँस पड़े। अब इस हँसीके कारणकी जिज्ञासा होती है।

हमारे मतसे श्रीरामजीकी इस हँसीका कारण विनोद है, और उस विनोदका कारण यह पाणिनीय सूत्र 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' है। सूत्रका अर्थ है तद्धित प्रक्रिया छोड़कर 'श्वन्' 'मघवन्' और 'युवन्' शब्दोंके रूप सब विभक्तियोंमें एकसे होते हैं। जैसे—

'श्वा, श्वानौ, श्वानः'
'मघवा, मघवानौ, मघवानः'
'युवा, युवानौ, युवानः'

कवि सूचित करते हैं कि इन्द्रकी कपट-क्रिया देख रामजीको उक्त सूत्र याद आ गया। उनके मनमें विचार उठा कि क्या पाणिनिजीको पहले ही स्वप्न हुआ था कि कुत्ता, इन्द्र और जवान ये तीनों एक ही मालाकी मणियाँ हैं। इस आशयसे महाराजजीको हँसी आयी, परन्तु देवराजको उदास करना अच्छा नहीं, इस दयापूर्ण विचारसे उन्होंने अपनी हँसीको प्रकट नहीं होने दिया। कविके मतसे श्रीरामजीके दयाका कारण यही प्रतीत होता है कि 'अतद्धित (अ+तत् (ब्रह्म, ईश्वर) + हित = ईश्वर-विमुख) पुरुष ऐसे ही हुआ करते हैं, परन्तु उन्हें घृणाके योग्य मानना ठीक नहीं क्योंकि उनकी प्रकृति ही वैसी होती है। शास्त्र कहता है कि 'पर-स्वभाव कर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्' इस शास्त्राज्ञाके अनुसार श्रीरामजीने इन्द्रदेवके सारे छल हंसीपर छोड़ दिये। 'एतदेवहि विज्ञानं यदात्मानमदर्शनम्' इसके अनुसार भी श्रीरामजीका औचित्य उनकी दयामें ही था।

× × ×

(२) उपर्युक्त प्रसङ्गसे भी बढ़कर सात्त्विक-विनोदके लक्षण केवटके सत्याग्रहमें प्रतीत होते हैं। यह सत्याग्रह सभी रामायणोंमें अङ्कित है। प्रसङ्ग यों है—

'रामजी गंगाजीसे पार होना चाहते थे, इसके लिये उन्हें नावकी आवश्यकता थी। परन्तु नाव थी केवटके अधिकारमें, अतः उन्हें केवटको मनाना पड़ा। केवटने देखा कि अपना कार्य सफल करनेके लिये यही अत्यन्त सुअवसर है, क्योंकि व्यवहारकी परिपाटी ही ऐसी है। एकको जो दुविधा होती है, वही दूसरेके लिये सुविधा हुआ करती है (Ones difficulty is anothers opportunity) इसी विचारसे केवट सत्याग्रहके लिये तैयार हो गया।

गुसाईंजीने अपनी रामायणमें केवटकी दलीलें अन्य रामायणोंके समान तो दिखलायी ही हैं, परन्तु उतनी-सी दलीलें उनके मन पर्याप्त नहीं जँची, अतः उन्होंने ये दलीलें केवटके द्वारा विशेष उपस्थित कीं—

(पद-पद्म धोइ चढ़ाइ नाव) न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आनि दसरथ सपथ सब साँची कहौं॥
बरु तीर मारहि लखनु (पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास-नाथ कृपालु पार उतारिहौं)॥

सुनि केवटके बयन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना-अयन चितै जानकी-लखन-तन॥

अब विचारिये, इस प्रपूरकके जोड़नेमें गुसाईंजीका क्या हेतु था? यह पहले ही कह दिया जाता है कि प्रपूरकके अत्यन्त गम्भीर भाव-ग्राही होनेके कारण तथा पाठकोंकी प्रकृति-भिन्नताके कारण भावोंकी एकवाक्यताका प्राप्त होना सहज नहीं है। तथापि हमारी रुचिके साथ यदि पाठकोंका सामञ्जस्य हुआ तो एकवाक्यताका होना भी दुष्कर नहीं।

प्रपूरकके कारणोंमें हमें मुख्यरूपसे तीन बातें दिखलायी देती हैं—(१) कविका मार्मिक पात्र परिचय—यानी पात्रकी शिक्षा, संस्कार, संगति, व्यवसाय इत्यादिका निरीक्षण। (२) कविकी भावग्रहण-शीलता और (३) लोक शिक्षाका कविका उद्देश्य। इन तीनों बातोंपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि 'न नाथ उतराई चहौं' से 'सपथ सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साँची कहौं' तक प्रपूरक भाग केवटकी पात्रताके सर्वथा अनुकूल है। 'बरु तीर मारहि लषनु' यह भाग लक्ष्मणजी-की पात्रताका द्योतक है, और 'बिहँसे करुना-अयन चितै जानकी-लषन-तन' यह भाग श्रीरामजीके※ नामका पूर्णतया ज्ञापक है।

उपर्युक्त बातोंके सम्बन्धमें पाठक यदि हमसे सहमत हैं तो अब उनके ध्यानमें यह भी आगया होगा कि गुसाईंजीने अपने प्रपूरकद्वारा परम संकीर्ण भावोंका एक नितान्त रमणीय शब्द-चित्र खींचा है। अपनी परम प्रेमप्लुत विनोदी अवस्थामें केवट ऐसा मस्त हो उठा कि एक रामजी ही क्या, उनके परमपूज्य पिताजीतकसे भिड़नेमें भी उसने कसर नहीं रक्खी! उसका यह ग्रामीण-व्यवहार उचित नहीं— यह बात उसे लक्ष्मणजीके चेहेरेसे मालूम हो चुकी थी, तिसपर भी उसने एक कदम और आगे बढ़कर एकदम ललकार-कर कह दिया कि 'बरु तीर मारहि लषनु'—चाहे लक्ष्मणजी बाणसे बींध डालें! उसके इस निःसीम तथा निःस्वार्थ प्रेमको देखकर रामजी भी प्रेमसे विह्वल हो गये। परिणाममें उनके मनमें भी विनोद लहरा उठा, जिसके कारण वे यकायक हँसते हुए जानकीजी तथा लक्ष्मणजीकी ओर देखने लगे!

गुसाईंजी, 'रामजी हँसते हुए देखने लगे' इतना ही कहकर चुप हो गये हैं। इससे स्पष्ट है कि रामजीकी उस अवस्थाका निश्चय करना उन्होंने अपने पाठकोंपर ही छोड़ दिया है। अतः रामजीकी वह स्थिति पागलपनकी थी, मुक्त-दशाकी थी या भावुकताकी थी, इसकी मीमांसा करनेका अनिवार्य भार पाठकोंपर ही आ पड़ा है!

यह तो सहज ही कहा जा सकता है कि रामजीकी स्थिति न तो पागलकी-सी थी और न मुक्त (अर्थात् विदेह-मुक्त) की-सी थी, क्योंकि गुसाईंजी ही आगे चलकर कहते हैं—

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करहु जेहि नाव न जाई॥
बेगि आनि जल पाँव पखारू। होत बिलंब उतारहु पारू॥

क्या पागल या विदेह-मुक्तको ये कृपायुक्त विचार सूझ सकते हैं? अतः रामजीका हँसना भावयुक्त था यही सिद्ध होता है!

अब केवल रामजीके भावनिश्चयका कार्य बाकी रहा। इस विषयमें यह तो स्वयंसिद्ध है कि केवटका निःसीम और निःस्वार्थ प्रेम देखकर ही रामजी अपने परम प्रिय भाई और भार्याकी ओर देखने लगे थे अर्थात् इस स्थलपर उनकी दृष्टि तुलनात्मक थी, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु तुलनाके लिये सिवा केवट, जानकीजी और लक्ष्मणजी इन तीनोंके प्रेमके रामजीके सामने और कुछ था ही नहीं, अतः प्रमाणित हुआ कि रामजीका कटाक्ष (चितै) तीनोंके प्रेमपर ही था। साथ ही मूल प्रबन्ध भी कह रहा है कि श्रीरामजी सीताजी और लक्ष्मणजीकी ओर देखकर ही हँसे। इससे यही निश्चित होता है कि उन्हींके प्रेममें श्रीरामजीके हँसीका कारण केन्द्रित था, और उस केन्द्रस्थानका स्वरूप प्रेमगत तुलनात्मक भावके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। इस विचार-प्रणालीसे हमारे मतसे सीताजी और लक्ष्मणजी-की ओर हँसते हुए देखनेसे रामजीने उन्हें यह सूचित किया कि 'भाई और भार्या होनेसे मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम होना अत्यन्त स्वाभाविक है परन्तु इस जंगली केवटका प्रेम देखकर यदि मैं पूछूँ कि मेरे सम्मुख प्रेमके जो ये दो (एक केवटके प्रेमका और दूसरा सीता-लक्ष्मणजीके प्रेमका) दृश्य उपस्थित हैं, इनमेंसे अधिक उत्कट, निःसीम और निःस्वार्थ अतः अधिक सुहावना और प्रिय दृश्य तुम्हें कौन-सा जँचता है, तो तुम क्या उत्तर दोगे?'

हमारी बुद्धिसे तुलसीरामायणमें भी इस कोटिके विनोदी सात्त्विक प्रेमका अद्भुत उत्कृष्ट उदाहरण दूसरा कोई नहीं है। यदि इस कथनमें हमारी भूल हुई हो तो ऐसा सूक्ष्म भावभरित अन्य प्रसंग दिखाकर कोई महाशय हमारी भूल सुधारेंगे तो हम उनके बहुत ऋणी होंगे।

× × ×

चलते-चलते सात्त्विक विनोदी प्रेमका एक और नमूना पाठकोंकी सेवामें सादर उपस्थित किया जाता है, जिसके सम्बन्धमें विशेष विवरणकी आवश्यकता नहीं क्योंकि स्वयं तुलसीदासजी सारी बातें कह चुके हैं। विज्ञ पाठक इसपर ध्यान दें—

चढ़ि बिमान सुनु सखा बिभीषन। गगन जाइ बरसहु पट-भूषन॥
नभपर जाइ बिभीषन तबहीं। बरसि दिए पट भूषन सबहीं॥
जो जेहि मन भावै सो लेहीं। मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं॥
हँसत राम सिय अनुज समेता। परम कौतुकी कृपानिकेता॥

※ 'रमणाद्राम इत्यपि' (अ० रा०) 'अखिल लोकदायक विश्रामा'—(तु० रा०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्यान न पावहिं जासु मुनि नेति नेति कह बेद ।
कृपासिन्धु सोइ कपिनसों करत अनेक बिनोद ॥
उमा जोग जप दान तप नाना व्रत मख नेम ।
राम-कृपा नहि करहिं तस जस निष्केवल प्रेम ॥

हमारी इच्छा लेख बढ़ानेकी नहीं है, परन्तु करें क्या ? प्रसङ्ग ही ऐसे निकल आये कि हमारे वशकी बात न रह गयी। पाठक क्षमा करें। अब लेखके संकोचपर विशेष ध्यान रखनेका प्रयत्न किया जायगा।

राजस-विनोद

राजस-विनोदके दो एक छोटे-छोटे नमूने दिखलाये जाते हैं।

(१) विभीषणका राज्याभिषेक हो जानेके पश्चात् अशोकवाटिकासे सीतामाताको लानेके लिये हनूमान्‌जी भेजे गये। विभीषण भी उनके साथ थे। उन्होंने माताजीको रथमें बैठाया और बड़ी ही धूमधामसे राज-वैभवमें उनकी सवारी चली, इसपर श्रीरामजी कहने लगे—

कह रघुबीर कहा मम मानहु। सीतहि सखा पयादेहि आनहु॥
देखहिं कपि जननीकी नाईं। बिहँसि कहा रघुबीर गुसाईं॥

वास्तवमें देखा जाय तो अन्तिम चरण अनावश्यक है। प्रथम 'कह रघुबीर' कहकर फिर 'कहा रघुबीर' कहनेसे द्विरुक्ति-दोषकी आपत्ति उठती है। और 'देखहिं कपि जननीकी नाईं' इस उच्च और प्रगल्भ शिक्षाजनक वाक्यकी 'बिहँसि' से हँसी उड़ाना बहुत ही विलक्षण और अनुचित प्रतीत होता है। यह स्पष्ट है कि इन शङ्काओंकी जड़ चौपाइयोंके चारों चरण सङ्कलित और सम्बन्धित होनेमें ही है। हमारे मतसे पहले तीन चरण ही परस्परापेक्षित हैं। चतुर्थ चरण स्वतन्त्र है। पहले तीन चरण आज्ञार्थक हैं, और विभीषणको सम्बोधन करके कहे गये हैं। चौथा चरण किसीको भी सम्बोधित करके नहीं कहा। वह आज्ञा देते समय रामजीकी मनोवृत्तिका सूचक है। [अर्थात् काव्यदृष्ट्या वह कविका (गुसाईंजीका) प्रतिबिम्ब है]।

अब श्रीरामजीकी मनोवृत्तिका प्रश्न आता है। यदि ऐसा कहा जाय कि चिरकालतक विना अन्न-जलके एक जगह बैठी रहनेके कारण सीताजीको अशक्त, पंगु और वृद्धाकी-सी दशामें देखनेकी भविष्य कल्पनासे रामजी हँसे, तो इसे हम कदापि नहीं मानेंगे। क्या सीताजीकी विपत्तिमें भी रामजी आनन्द मना सकते हैं ? हम तो ऐसे समाधानको पूर्वोक्त 'बने गुसाईं'की श्रेणीमें ही रखना चाहेंगे।

वास्तवमें गोसाईंजीको कथाभागके सम्बन्धमें जो कुछ कहना आवश्यक था, वह उन्होंने पहले तीन चरणोंमें कह दिया। इससे कहा जा सकता है कि चौथा चरण ('बिहँसि' इ०) उन्होंने हेतुपूर्वक जोड़ा है। अतः उसमें अपूर्वता या विचित्रता होनी ही चाहिये। परन्तु सीताजीके जुलूसके समय जो परिस्थिति थी, उसकी आलोचना कथा-प्रबन्धद्वारा करनेपर यही दीखता है कि सिवा एक बातके दूसरी कोई भी बात ऐसी नहीं थी कि जिसमें अपूर्वता वा विचित्रता समायी हुई हो। यदि ऐसी कोई दूसरी बात होती तो कथा-प्रबन्धमें वह अवश्यमेव अङ्कित की जाती। परन्तु प्रबन्धमें गुसाईंजी अपनी वर्णन-शैलीके अनुसार 'बिहँसि कहा' इ०के पश्चात् और उसीके लगभग केवल एक ही बात अङ्कित करते हैं और वह यह है—

सीतहि प्रथम अनलमहँ राखी। (प्रगट कीन्हि चह अन्तर साखी) ॥

अतः सिद्ध हुआ कि सीताजीका अग्निदेवमें सन्निवेश ही वह अपूर्वताकी बात है।

इस रीतिसे अपूर्वता प्रकट होनेपर 'बिहँसि' का भाव प्रकट होनेमें कुछ भी क्लिष्टता नहीं दीखती। आज तो सभी जानते हैं कि जो सीताजी बड़े भारी जुलूससे लायी जा रही थीं वह केवल नकली सीताजी थीं। परन्तु उस समय जुलूसके अवसरपर एक रामजी और दूसरी असली सीताजी इन दो के सिवा शेष सभी लोग नकलीको ही असली समझते थे। इस दृश्यपर ध्यान जानेसे स्वभावतः ही श्रीरामजीके मनमें यह कल्पना हुई कि, 'वाह ! किस धूमधामसे यह रस्सीके साँपका खेल खेला जा रहा है ! यह सीताजीका जुलूस है, या उनकी छायाका ?' यही कल्पना-गर्भित विनोद श्रीमान् महाराजजीके चेहरेपर हँसीके रूपमें प्रकट हो गया !

(२) रामजी पुष्पक विमानपर चढ़कर लङ्कासे आते समय राहमें सीताजीको दृश्य दिखाने लगे। दण्डकारण्य पहुँचनेपर वे अगस्त्य मुनिजीके आश्रमपर पधारे। वहाँसे आगे बढ़नेपर जब उनका विमान उत्तरकी ओर चला तब उन्हें गङ्गा-यमुनाजीके दर्शन हुए। कवि कहते हैं—

बहुरि राम जानकी दिखाई। जमुना कलि-मल-हरनि सुहाई॥
पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रणाम करु सीता॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ स्पष्ट ही है। आगे जो कुछ कहना है वह थोड़ेमें सुविधासे समझमें आनेके लिये पूर्वोत्तर-पक्षद्वारा इस-प्रकार है—

पूर्वपक्ष–उक्त चौपाइयोंमें यमुनाजीका तो केवल दर्शनमात्र, और गङ्गाजीके दर्शन और उनके प्रति वन्दन दोनों ही करनेको कहा गया है। ऐसा क्यों? क्या रामजीके कहे बिना सीताजी प्रणाम नहीं करतीं?

उत्तरपक्ष–वन्दन करनेको कहनेकी तो आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि सीताजी स्वयमेव प्रणामशीला थीं। अतः हमें विश्वास है कि सीताजी प्रणाम किये बिना रहती ही नहीं।

पूर्वपक्ष–सीताजीके प्रणामशीलताका क्या प्रमाण है?

उत्तरपक्ष–

सुन्दरि सेतु देखु यह थापेउँ सिव सुखधाम।
सीता सहित कृपायतन संमुहि कीन्ह प्रणाम॥

पूर्वपक्ष–माना जाय कि उत्तरपक्ष ठीक है, फिर गङ्गाजीको प्रणामके लिये कहनेकी क्यों आवश्यकता हुई?

उत्तरपक्ष–इसका कारण पूर्वकथामें है। वह पूर्वकथा इसप्रकार है—

सिय सुरसरिहि कहा करजोरी। मातु मनोरथ पुरबहु मोरी॥
पति देवर सँग कुशल बहोरी। आइ करौं जेहि पूजा तोरी॥

पूर्वपक्ष–इससे और हमारे प्रश्नसे क्या सम्बन्ध?

उत्तरपक्ष–उनका सम्बन्ध विनोदमें है और वह इसप्रकार है।

यह स्पष्ट ही है कि रामजी और सीताजीके बीच भाई लक्ष्मण और साथ ही अन्य मण्डली बैठी थी, यहाँ सबके सामने पति-पत्नीका विनोद उचित नहीं था। परन्तु सत्य और शुद्ध प्रेमकी लहर सदा ही अनिवार्य होती है। इसलिये उसकी चेष्टा विनोदद्वारा-मर्यादा बन्धनमें भी निकल पड़ी।

विनोदका सार यह है कि रावणको हम थोड़े ही मार सकते थे? वह जो हमारे हाथसे मरा सो केवल तुम्हारे द्वारा की हुई गङ्गाजीकी मनौतीके कारण ही! अतः उनको नमस्कार करनेमें देर न करो!

उपर्युक्त दो उदाहरण राजस-विनोदके दिये गये हैं। ध्यान रहे कि विनोदके इस प्रकारमें प्रत्यक्षतया दिल्लगी ही दिखायी देगी। साथ ही अप्रत्यक्षरूपसे शिक्षाका प्रतिलक्षित होना भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि राजस-विनोदके आनन्दका स्थायीभाव नहीं होता!

तामस विनोद

अब तामस विनोदके दो नमूने दिखलाकर इस विषय-को समाप्त करनेकी इच्छा है।

(१) अधम निसाचरि कुटिल असि चली करन उपहास।
सुनु खगेस भावी प्रबल भा चह निसिचर नास॥

शूर्पणखा राक्षसीने रामजीसे हँसी की। यह प्रसङ्ग उपर्युक्त दोहेमें है। इससे प्रत्यक्ष ही जाता है कि तामस-विनोदमें मर्यादाका बन्धन कुछ भी नहीं रहता, और इसी कारण वह प्रायः दुःख-पर्यवसायी ही होता है।

(२) अङ्गद-शिष्टाईसे लिया हुआ यह उदाहरण इसप्रकार हैः—

कपिबल देखि सकल हिय हारे। उठा आप कपिके परचारे॥
गहत चरन कह बालि कुमारा। मम पद गहत न तोर उबारा॥
गहसि न राम-चरन शठ जाई। सुनत फिरा मन अति सकुचाई॥
भये तेजहत श्री सब गई। मध्य दिवस जिमि ससि सोहई॥

ध्यानसे देखिये कि इस दिल्लगीका भी फल दुःखमें हुआ है।

यहाँ एक विचित्रता यह है कि किसी भी दूसरे रामायणमें यह प्रसङ्ग प्राप्त नहीं होता। अतः यह गोस्वामीजीकी कल्पना ही प्रतीत होती है।

ज्ञात होता है कि इस वर्णनकी कल्पना छोटे बच्चोंके कल्लोलसे ली गयी है। एक बालक दूसरेसे झूठे ही पूछता है कि तेरे मस्तकपर दाग कैसा लगा है? वस्तुतः उसके मस्तकपर कोई दाग है ही नहीं। दूसरा चकित होकर मस्तकको हाथ लगाता है। इसपर पहला लड़का एकदम कह उठता है कि 'ओहो! तूने हमें सलाम किया।' इसी प्रकारकी दिल्लगी इस प्रसङ्गमें है।

समालोचना

लेख बहुत बढ़ जानेके कारण समालोचनाका स्वरूप छोटा रखना ही हमें युक्तिसंगत मालूम होता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संख्या	प्रसङ्ग	विनोदका वर्ग (लक्षण)
१	लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान युवानू॥	विद्वद्विनोद।
२	मोहि राम राउरि आनि दसरथ शपथ सब साँची कहौं। बरु तीर मारहिं लषण	ग्रामीण-विनोद।
३	चितै जानकी लषण तन।	प्रगल्भ-विनोद।
४	चढ़ि बिमान बरसहु पट भूषण	सुहृद्-विनोद।
५	बिहँसि कहा रघुबीर गुसाईं।	स्वगत-विनोद।
६	राम कहा प्रणाम करु सीता।	गृह-विनोद।
७	अङ्गदका पाँव उठानेके लिये रावणका आह्वान।	बाल-विनोद।

शूर्पणखाके विनोदके पृथक् वर्गीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं। स्वयं गोस्वामीजी ही उसे कुटिल और औपहासिक विनोद कह चुके हैं।

निष्कर्ष

उल्लिखित समालोचनाका हमारे विचारसे यही तात्पर्य निकल सकता है कि श्रीतुलसीदास महाराजजीका स्वभाव सभी जगह—एकान्तमें और लोकान्तमें—सभी समाजोंमें आबालवृद्धोंको बहलानेवाला होनेके कारण वे सदा ही आनन्दमें रहनेवाले बड़े ही कारुणिक पुरुष थे, इसमें सन्देह नहीं।

शान्ति

अहंकारकी अगिनिमें, दहत सकल संसार।
तुलसी बाँचैं संतजन, केवल सांति-अधार॥
महा सांति जल परसिकै, सांत भए जन जोइ।
अहं-अगिनिते नहिं दहैं, कोटि करै जो कोइ॥
तेज होत तन तरनिको, अचरज मानत लोइ।
तुलसी जो पाना भया, बहुरि न पावक होइ॥

साम्प्रदायिक शंका

(लेखक—म० श्रीबालकरामजी विनायक, अयोध्या)

ईश्वरको स्वसम्प्रदायाङ्गीकृत रीति-रहस्य एवम् मतवादविशेषकी सीमाके बाहर न माननेवाले हमारे कतिपय वैष्णव बन्धु यह शङ्का किया करते हैं कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज अनन्य वैष्णव कैसे थे? क्योंकि उन्होंने शिव-गणेशादि देवान्तरकी वन्दनाएँ और स्तुतियाँ की हैं। इसके अतिरिक्त अद्वैत-वादका प्रतिपादन किया है। कोई साम्प्रदायिक वैष्णव ऐसा नहीं कर सकता। यदि वे वैष्णव (उनके मतानुसार) होते तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे शिवजीकी तथा श्रीजानकीजीसे पार्वतीजीकी पूजा क्यों कराते? अतः यदि उन्हें किसी प्रकार वैष्णव मान भी लिया जाय तथापि साम्प्रदायिक रीति-रहस्यसे अभिज्ञ अनन्य वैष्णव तो उन्हें कदापि नहीं कहा जा सकता।

समाधान

हमें दुःख है कि ऐसी कल्पना करनेवाले बन्धुओंने वैष्णवता और अनन्यताका रहस्य समझा ही नहीं। हम नहीं जानते कि दूसरेसे द्वेष करना, सो भी सत्पुरुषोंसे, वैष्णवताका कौन-सा लक्षण है? ऐसे लोगोंने मानो वैष्णवता देवीको अपनी कल्पना विशेषके कारागारमें बन्दकर रक्खा है। अतः यह विशेष प्रकारकी उनकी अपनी मानी हुई वैष्णवता केवल उन्हींकी वैष्णवता है। यह भगवद्भक्तिका अर्थ रखनेवाली व्यापक वैष्णवता कदापि नहीं हो सकती।

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् ब्रह्म ही है अथवा ब्रह्मका ही रूप है। वह 'एकमेवाद्वितीय' ब्रह्म ही सृष्टि-विस्तारमें अनेक हो गया है, यही वैदिक सिद्धान्त है और समस्त आर्यशास्त्रोंका अभिप्राय है और यही विशुद्ध तथा उदार वैष्णव सिद्धान्त है। 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे॥' 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥' 'यस्य पृथिवी शरीरम्।' 'ईशावास्यमिदं सर्वं' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि श्रुतियोंका यही अभिप्राय है कि एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही जगदाकार हुआ है। वैष्णव-पुराणोंमें भी यही लिखा है। यथा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एतत्सर्वमिदं विश्वं जगदेतच्चराचरम् ।
परब्रह्मस्वरूपस्य विष्णोः शक्तिसमन्वितम् ॥

—विष्णुपुराण

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

—श्रीमद्भागवत

अपरञ्च—

'भूमौ जले नभसि देवनरासुरेषु,
भूतेषु देवि सकलेषु चराचरेषु ।
पश्यन्ति शुद्धमनसा खलु रामरूपं,
रामस्य वै भुवितले समुपासकाश्च ॥'

भगवान् गीताचार्यका भी श्रीमुखवचन है—'वासुदेवः सर्वमिति' । गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं' सत्पुरुष-परिगृहीत वैदिक वैष्णवताका वही शुद्धस्वरूप और दिव्य आदर्श ग्रहण किया है जो एक सन्त और सद्वैष्णवके लिये स्वाभाविक है । 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' होकर उस विराट् पुरुष जगद्ब्रह्मकी भावना ही वास्तविक अनन्यता और वैष्णवता है । वही श्रीरामचरितमानसमें और गोस्वामीजी-जैसे वैष्णवशिरोमणिके जीवनमें चरितार्थ है—

'सो अनन्य जाकी अस मति न टरै हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ॥'
'उमा, जे रामचरण-रत विगत काम-मद-क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध ॥'
'विश्वरूप रघुवंशमनि करहु वचन विश्वासु ।
लोक-कल्पना वेदकर अङ्ग-अङ्ग प्रति जासु ॥'
'सीयराममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि युगपानी ।'

श्रीरामचरितमानस ही वैदिकधर्मका और वैष्णवताका शुद्ध स्वरूप प्रकट करता है और गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ही महर्षि व्यासके बाद ऐसे महाकवि हुए हैं जिन्होंने समास-रूपसे वैदिक काव्य-निर्माण किया है और उसमें श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त सिद्धान्तोंका सारांश अत्यन्त युक्ति-पटुतापूर्वक सुचारुरूपसे सञ्चित किया है । उन्होंने रामायणजीकी आरतीमें इसे स्पष्ट कह दिया है, यथा—

चारिहु वेद, पुराण अष्टदस, छहौंशास्त्र, सदग्रंथनको रस ।
तन-मन-धन सन्तनको सरबस, सार अंश सम्मत सबहीकी ॥
गावत ब्रह्मादिक मुनि नारद, वालमीकि विज्ञान-विशारद ।
शुक-सनकादि शेष अरु शारद, बरनि पवनसुत कीरति नीकी ।

मानसकारने उन वाल्मीकि-व्यासादि महर्षियोंका ही अनुसरण किया है—

मुनिन प्रथम हरिकीरति गाई । तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई ॥

गोस्वामीजी श्रीरामानन्दीय वैदिक श्रीसम्प्रदायके श्रीवैष्णव थे । जगद्गुरु भगवान् श्रीरामानन्द स्वामीकी शिष्य-परम्परामें वे चौथे थे—जगद्गुरु भगवत्पादाचार्यके, द्वादश महाभागवतावतारोंमें अग्रणी शिष्य स्वामी श्रीअनन्तानन्दजीके स्वामी श्रीनरहर्यानन्दजी और उनके शिष्य गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज थे, जिन्होंने सर्वहितकारक निर्विरोध और समुदार वैदिक वैष्णव सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हुए, अपने श्रीरामानन्दीय सम्प्रदायका स्वरूप प्रदर्शित किया है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वे सम्प्रदायी वैष्णव नहीं थे । वे अपने सत्सम्प्रदायके उदार संस्कार, सनातनधर्माविरुद्ध सिद्धान्त एवम् रीति-रहस्यके अनुसार आदर्श वैष्णव साधु थे ।

श्रीरामानन्दीय सम्प्रदायके व्यास-शुकादि परम्परानुगत पूर्वाचार्य हैं । यह सभी जानते हैं कि विष्णु-शिवादि अनेक नामरूपोंमें समान भावसे उसी 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' का उन्होंने निरूपण किया है । वेदोंमें वर्णित देववादका उन्होंने पुराणोंमें विस्तारसहित ऐतिहासिक रूपसे वर्णन किया है और द्वैताद्वैतादि ब्रह्मवादकी श्रुतियोंकी ब्रह्मसूत्रोंमें सङ्गति लगायी है । गोस्वामीजीने भी यही काम किया है । जगद्ब्रह्मवादके सिद्धान्तपर अङ्गरूपसे देवान्तरोंको मानते हुए परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीरामका माहात्म्य और चरित वर्णन किया है तथा ब्रह्मवादविषयक अद्वैत-विशिष्टाद्वैतादि भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंका यथास्थान प्रतिपादन किया है । ईश्वरके निर्गुण-सगुण दोनों रूपोंका वर्णन किया है ।

अस्तु, गोस्वामीजी अपने पूर्वाचार्योंका अनुसरण करनेवाले, उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी श्रीरामानन्दीय सम्प्रदायके उदार तथा निर्विरोध संस्कारोंसे परिपूर्ण वैदिक वैष्णव थे । वे ऐसे सत्सम्प्रदायके वैष्णव थे, जिसके सनातन धर्मकी वैदिकी वेदिकापर प्रबल प्रमाण माने जानेवाले सम्पूर्ण भागवतधर्मके ग्रन्थ (प्रस्थानत्रय और पुराणादि), साम्प्रदायिक ग्रन्थ हैं । अतः गोस्वामीजी अपने वैदिक श्रीसम्प्रदायके पूर्ववर्ती ऋषियोंकी शैलीके, प्रकृतिसे उत्पन्न किये गये हुए वैष्णव थे, सद्वैष्णवाचार्य थे । वे सम्प्रदायके पूर्ववर्ती आचार्य थे, अतः उनके वर्त्तमान अनुयायियोंको उन्हींके अनुसार चलना और अपना स्वरूप सँभालना होगा और उन्हींको प्रामाण्य मानना होगा । उन्हींकी वैष्णवता सच्ची वैष्णवता और उन्हींकी अनन्यता सच्ची

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनन्यता है। उस अनन्यतामें एक इष्टके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। कहा भी है—

उत्तमके अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।
नरक-स्वर्ग-अपवर्ग समाना। जहँतहँ-दीख धरे धनु-बाना॥

वेदोंके दो एक वाक्य तो स्वदेशी विदेशी अनेक मत-मतान्तरों और सम्प्रदायोंमें माने जाते हैं। अहिंसावाले अंशको बौद्ध भी मानते हैं। परन्तु वे वैदिक नहीं कहलाते। वैदिक वही है जो वेदोंके सम्पूर्ण अंशोंको पूर्वाचार्योंकी भावनाके अनुसार मानता है। गोस्वामीजी वैसे ही वैदिक वैष्णव महात्मा थे और उनका श्रीरामानन्दीय श्रीसम्प्रदाय वैसा ही सम्प्रदाय भी है।

'गोस्वामीजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे श्रीमहादेवजी-की और श्रीजनकनन्दिनीसे श्रीपार्वतीजीकी पूजा और स्तुति क्यों करायी?' यद्यपि इस आक्षेपका उत्तर वैष्णवताके समाधानमें यथेष्ट रूपसे हो चुका है तथापि इसके सम्बन्धमें दो एक शब्द विशेषरूपसे कह देना आवश्यक जान पड़ता है। यह बात सर्वविदित है कि गोस्वामीजी व्यासादि महर्षियोंकी शैलीके महात्मा थे और महर्षि व्यासने भागवतादि पुराणोंमें इसका वर्णन किया है कि श्रीरुक्मिणीजी देवीकी पूजा करने जाती थीं और भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने रामेश्वरकी स्थापना की। तब गोस्वामीजी वैसा क्यों न करेंगे? वे उन्हींके सम्प्रदायके तो वैष्णव और उनके सच्चे अनुयायी हैं। भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम थे, वे लोकशिक्षार्थ आदर्श नर-नाट्य करते थे। तब उस समय प्रचलित वैदिक धर्मकी मर्यादाकी वे क्यों न रक्षा करेंगे? और भगवान् शङ्कर तो उनके परम भक्त और भागवतोत्तम हैं। वे ऐसे महाभागवत हैं जो श्रीनाभा स्वामीके 'भक्ति-भक्त-भगवन्त-गुरु चतुर नाम वपु एक' वाले सिद्धान्तानुसार भगवत्से अभिन्न हो गये हैं, वे रामभक्ति-भागीरथी और राममन्त्रके आचार्य हैं†। श्रीमद्भागवतमें अक्रूरजीने भगवान्से स्तुतिमें कहा है—

त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते॥

वही एक और अद्वितीय भगवान् पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ही अनेक रूपोंमें रम रहे हैं और अनेक प्रकारसे रुचिभेदके अनुसार उन्हींकी पूजा हो रही है—'सर्वदेवनमस्कारं केशवं प्रतिगच्छति।'

†'त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्'—श्रीराम-तापिनी उपनिषद्।

श्रीरामोपासनाकी प्राचीनता

(लेखक—श्रीश्रीवैष्णव पं० श्रीरामटहलदासजी)

सृष्टिके आदिसे सनातन-धर्मका मूल वेद है, वेद-सिद्धान्तसे ही सब धर्मोंका आविष्कार हुआ है। अतएव वेद-वर्णित सभी धर्म वैदिक धर्म कहे जाते हैं। वेदमें जिन-जिन देवताओंकी उपासना वर्णित हैं, वे सभी प्राचीन हैं। हमें यहाँ श्रीरामोपासनाकी प्राचीनताके सम्बन्धमें विचार करना है। वेदमें श्रीरामोपासनाकी प्राचीनता बतायी गयी है, ऋग्वेद मण्डल ७ अनुवाक् ८६में 'मन्त्ररामायण' नामक एक प्रख्यात प्रकरण है, इसके १४१ वें मन्त्रमें श्रीराममन्त्रोद्धारका वर्णन आया है, इसपर श्रीनीलकण्ठ-सूरिने 'मन्त्र-रहस्य-प्रकाशिका' नामक व्याख्या भी की है। उक्त प्रकरणसे सिद्ध है कि सृष्टिके प्राचीनकालसे श्रीरामोपासना अविच्छिन्नरूपसे चली आ रही है। सत्ययुगमें अनेक ऋषि-मुनि एवं भक्तगण श्रीरामके उपासक थे, इसके उदाहरणस्वरूप लोमश, अगस्त्य प्रभृतिकी कथा प्रसिद्ध है। वेदके पश्चात् श्रीरामोपासनाका सबसे बड़ा ग्रन्थ श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायण है, इसके अतिरिक्त ब्रह्म-रामायण, प्रमोदरामायण, भुसुण्डिरामायण, महारामायण, आनन्दरामायण, प्रेमरामायण, अध्यात्मरामायण आदि अनेक रामायण हैं, श्रीरामचरित्रका वर्णन शतकोटि-विस्तार चौदह लोकोंमें व्याप्त है।

श्रीरामतापिनी-उपनिषद्की चतुर्थ कण्डिकामें श्रीराम-मन्त्रका वर्णन आया है—'श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः।' काशीमें श्रीराममन्त्रको शिवजीने जपा, तब श्रीरामचन्द्र भगवान् प्रकट होकर बोले, 'त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्।' हे शिवजी! आपसे या ब्रह्मासे जो कोई श्रीरामषडक्षर मन्त्रको लेंगे, वे मेरे धामको प्राप्त होंगे। ब्रह्मासे वशिष्ठ-अगस्त्यादि ऋषियोंने मन्त्र लिया था और भी जिन-जिन ऋषियोंने श्रीरामोपासना करके जिस-जिस पदको प्राप्त किया, उसका प्रमाण वृद्धहारीत-स्मृतिके षष्ठ अध्यायमें आया है—

एतन्मन्त्रमगस्त्यस्तु जप्त्वा रुद्रत्वमाप्नुयात्।
ब्रह्मत्वं काश्यपो जप्त्वा कौशिकस्त्वमरेशताम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्तिकेयो मनुत्वं च इन्द्रार्कागिरि नारदौ ।
बालखिल्यादि मुनयो देवतात्वं प्रपेदिरे ।।'

'अर्थात् इस श्रीरामोपासना करके अगस्त्यजी रुद्रशक्ति-सम्पन्न हुए, कश्यपजीने श्रीराम-मन्त्रको जपकर ब्रह्मत्व प्राप्त किया, कौशिक मुनि अमरत्वको प्राप्त हुए, कार्तिकेय मनु-पदपर नियुक्त हुए,और इन्द्र, सूर्य,नारद,बालखिल्यादि ऋषियोंने श्रीरामोपासना करके दिव्य दैवत्व पदको प्राप्त किया ।' इस प्रमाणसे सिद्ध है कि सत्ययुग, त्रेता, द्वापरादि तीनों युगोंमें समस्त ऋषिगण श्रीरामोपासक ही थे । यों तो अठारहों पुराण, महाभारत, पाञ्चरात्र आदि सभी ग्रन्थोंमें श्रीरामोपासनाका सविस्तर वर्णन है, किन्तु अगस्त्यसंहिताके १६ वें तथा २५ वें अध्याय और पञ्चरात्र वृहद्ब्रह्मसंहिता द्वितीय पाद ७ अध्याय एवं पद्मपुराण उत्तरखण्ड २३५ अ० तथा वृहन्नारदीय पुराण पूर्वभाग ३७ अ० इत्यादि ग्रन्थोंके स्पष्ट प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि श्रीरामोपासना तीनों युगोंमें होती आयी है। यह तो हुई, सत्ययुग त्रेता और द्वापरतककी श्रीरामोपासनाकी प्राचीनता। परन्तु कलिकालमें श्रीरामोपासना किनके द्वारा और कैसे आयी ? इसका इतिहास इसप्रकार है—सदाशिवसंहिताके नवम अध्यायमें लिखा है—

कलिकालोद्भवानाञ्च जीवानामनुकम्पया ।
देव्यानुबोधितः साक्षाद्विष्णुः सर्वजनेश्वरः ।। १ ।।
कृतकृत्या तदा लक्ष्मीर्लब्ध्वा मन्त्रं षडक्षरम् ।
ददौ प्रीत्या तदा देवी विष्वक्सेनाय तारकम् ।। २ ।।
वेङ्कटाद्रौ पुरा वेदा द्वापरान्ते पराङ्कुशः ।
विष्वक्सेनं समाराध्य लभिष्यति षडक्षरम् ।। ३ ।।
तत्समीपे महापीठे वेङ्कटे रङ्गमण्डपे ।
जपिष्यन्ति चिरं मन्त्रं तारकं तिमिरापहम् ।। ४ ।।
इति ते कथितं मुने मुक्त्युपायं तु भार्गव ।। ५ ।।

अर्थात् कलिकालके जीवोंको भवसागरसे तारनेकी इच्छासे भगवान् विष्णुजीने लक्ष्मीजीको श्रीराम-मन्त्रोपदेश दिया । तारक-मन्त्रको प्राप्तकर लक्ष्मीजी कृतकृत्य हुईं और प्रीतिपूर्वक लक्ष्मीजीने श्रीविष्वक्सेनजीको तारक-मन्त्र दिया। तत्पश्चात् द्वापरके अन्तमें श्रीपरांकुश (श्रीशठकोपस्वामीजी) वेंकटाचल पर्वतपर सबसे प्रथम विष्वक्सेनजीका आराधन करके उनसे वेदाध्ययन पुरःसर षडक्षर तारक-मन्त्र लेंगे। वेंकटाद्रिके समीप रंगमण्डप सिद्धपीठपर बैठकर सर्वपाप-नाशक श्रीरामतारक-मन्त्रको उक्त आचार्य शिष्योंके सहित बहुत कालपर्यन्त जपेंगे । शिवजी कहते हैं, हे भार्गवमुने ! हमने कलिकालके जीवोंके लिये तुमसे मुक्तिका उपाय कहा है । उपर्युक्त उदाहरणसे स्पष्ट सिद्ध है कि, कलिकी आदिमें विष्वक्सेनद्वारा श्रीशठकोपदेशिकजीको ही सर्व प्रथम श्रीरामोपासना मिली । ऐसेही उदाहरण वृहद्ब्रह्म-संहिताके द्वितीय पाद सातवें अध्यायमें भी आये हैं—

'विष्वक्सेनादिभिर्भक्तः शठारिप्रमुखैर्द्विजैः ।
रामानुजेन मुनिना कलौ संस्थामुपैष्यति ।।
द्वापरान्ते कलेरादौ पाखण्डप्रचुरे जने ।
रामानुजेति भविता विष्णुधर्मप्रवर्त्तकः ।।

अर्थात् श्रीमन्नारायणने श्रीलक्ष्मीको श्रीराम-मन्त्रोपदेश अर्थ-ध्यान-सहित देकर कहा है कि, 'हे प्रिये ! द्वापरके अन्तमें कलियुगके आदिमें पाखण्डी मनुष्योंके अधिक हो जानेपर सद्धर्मकी रक्षाके लिये श्रीविष्वक्सेन तथा श्री-शठकोपादि द्विजवरों एवं श्रीरामानुजप्रभृतिद्वारा कलिमें श्रीरामोपासनाकी पूर्ण अभिवृद्धि होगी ।' इस प्रमाणसे भी सिद्ध है कि सर्वप्रथम कलिके आदिमें श्रीशठकोप-प्रभृतिद्वारा ही श्रीरामोपासनाका प्रचार हुआ ।

श्रीरामोपासनाकी वृद्धिके लिये श्रीशठकोपस्वामीजीने वेंकटाद्रिके निकट तिरुपतिमें सर्वप्रथम श्रीसीतारामजीकी दिव्य मूर्त्ति स्थापन की थी। यह दिव्य स्थल श्रीशठकोप-स्वामीजीका मङ्गलानुशासित है । पाँच हज़ार वर्षोंसे यह स्थल प्रस्तुत है जो आज भी श्रीवैष्णवोंके हस्तगत है और तिरुपतिके श्रीमहन्त प्रयागदासजीके प्रबन्धमें सुरक्षित है । इसी दिव्य मन्दिरमें बैठकर श्रीशठकोपस्वामीजीने बहुत काल-पर्यन्त श्रीराममन्त्रका जप किया था । इसीलिये सदाशिव-संहितामें लिखा है कि, 'तत्समीपे महापीठे व्यङ्कटे रंगमण्डपे।' कहा जाता है कि, हिन्दुस्थानमें सबसे प्रथम श्रीराम-मूर्तिकी पूजाका समारम्भ इस युगमें यहींसे हुआ और यह भी किंवदन्ती है कि, यह त्रेतायुगकी मूर्ति श्रीशठकोपस्वामीजी-को अत्यन्त उत्कट तपस्यासे प्राप्त हुई थी। श्रीशठकोप-स्वामीजीने अपने दिव्य प्रबन्ध सहस्रगीतीके ३ शतक ६ दशक ८ वीं गाथामें लिखा है—

'दशरथस्य सुतं तं विना नान्यशरणवानस्मि ।'

अर्थात् श्रीमद्दशरथ-राजकुमारके अतिरिक्त दूसरेका शरणागत नहीं हूँ । ऐसे ही श्रीराम सर्वेश्वरके महत्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परक एक सहस्र गाथा आपने लिखी है। श्रीशठकोपदेशिकजीने श्रीरामोपासनाका समस्त भार शिष्योंमें सर्वप्रधान शिष्य श्रीनाथमुनिजीको सौंपा। श्रीनाथमुनिजीने भी श्रीरामोपासनाका प्रचार सर्वजगत्व्यापी किया, जिसका स्पष्ट उदाहरण आपने अपने संग्रहीत ग्रन्थोंमेंसे 'नाथमुनियोगपटल' नामक ग्रन्थमें दिया है। यह संहिता लगभग १० हज़ार है; इसमें श्रीरामजीके नित्योत्सव गजस्थ-तुरंग-पालकी नित्यविहारलीला एवं पाक्षिक-मासिक-त्रैमासिक-षण्मासिक-वार्षिक मंगलोत्सवोंका वर्णन है। आपकी एक 'मानसिक-ध्यानरामायण' अति विचित्र है आप मानसिक ध्यानसे एक महीनेमें उसको समाप्त किया करते थे, जिस रामायणका वृत्तान्त कभी फिर सविस्तृत लिखेंगे।

श्रीनाथमुनिजीके शिष्योंमेंसे प्रधान श्रीपुण्डरीकाक्षजी हुए, आपने श्रीरामोपासना-विषयक 'श्रीरामार्या' तथा 'श्रीराममंगलमनोहर' इत्यादि ग्रन्थ रचे हैं, जो कि दक्षिण दिव्य देशोंमें उपलब्ध है।

श्रीपुण्डरीकाक्षजीके शिष्य श्रीरामोपासक श्रीराममिश्र-स्वामीजी हुए। आपने श्रीरामोपासनाके कई ग्रन्थ लिखे थे, जिनमेंसे 'श्रीरामषडक्षरप्रपत्तिस्तोत्र' जो कि, श्रीराममन्त्रके छः अक्षरोंपर छः श्लोक तथा 'श्रीसाकेतसोपान' में विद्यमान है, जिनको हम 'नित्यस्तुतिसंग्रह' नामक पुस्तकमें मुद्रित करा चुके हैं। श्रीमद्रामायणपर आपकी बनायी, हुई 'भावप्रकाश' नामक टीका भी सुनी जाती है।

श्रीराममिश्रजीके शिष्य श्रीयामुनमुनिजी हुए, आपने श्रीमद्रामायणका अर्थ २१ बार गुरु-मुखसे अध्ययन किया। आपका बनाया 'श्रीमद्रामायण रहस्यप्रकाश' बड़ा विलक्षण ग्रन्थ है। 'श्रीरामभावनाष्टक' नामक स्तोत्र भी आपका निर्मित है, जिसको हम अभी-अभी 'श्रीसुदामाजीकी बाराखड़ी' नामक संग्रहीत ग्रन्थमें मुद्रित करा चुके हैं। और स्तोत्ररत्न 'आलवन्दार' के अन्तमें आपने श्रीरामोपासनाका लोकोत्तर दृश्य दिखाया है। इसके लिये श्रीवेदान्तदेशिककृत 'आलवन्दारभाष्य' का अवलोकन कर लेना चाहिये। 'आगमप्रामाण्यसिद्धित्रयी' आदि आपके और भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

श्रीयामुनाचारीस्वामीजीके श्रीमहापूर्णाचार्यादि पाँच शिष्य हुए, श्रीमहापूर्णाचारी स्वामीजीके ही शिष्य श्रीभाष्यकार लक्ष्मणावतार 'श्रीरामानुजस्वामीजी' महाराज हुए। भूषणटीकाकार श्रीगोविन्दराजस्वामीजीने श्रीमद्रामायणके आरम्भमें लिखा है कि, श्रीरामानुजस्वामीजीने श्रीमद्रामायणका रहस्यार्थ १८ बार अध्ययन किया था। आपने श्रीरंग-मन्दिरके गोपुरपर चढ़कर श्रीराम-मन्त्रोच्चारण-द्वारा जगत्को उपदेश देकर श्रीरामोपासनाका अपूर्व प्रचार किया। आपने श्रीरामषडक्षरमन्त्रार्थपरक छः अक्षरोंपर छः श्लोक लिखे हैं, उनमेंसे दो श्लोक अद्यावधि मिलते हैं, जिनको हम 'श्रीरामसारसंग्रह' नामक ग्रन्थके रामरहस्यत्रयार्थ, प्रकरणमें मुद्रित करा चुके हैं। और 'गद्यत्रय' में भी आपने 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥' इस श्रीराम-चरम मन्त्रको श्रीरामशरणागतिपरक दिया है; जिसपर श्रीवेदान्तदेशिकस्वामीजीने 'अभयप्रदानसार' नामक ग्रन्थमें १२ हज़ार व्याख्या की है। आपके द्वारा स्थापित यादवाद्रिमें श्रीयतिराज मठ है, वहाँपर भी श्रीरामषडक्षरकी १२ हज़ार व्याख्या उपलब्ध है। यह व्याख्या आपके पश्चात् शिष्य-प्रशिष्योंने लिखी है। श्रीमद्रामायणपर भी श्रीभाष्यकारकी टीका विस्तृतरूपमें है; दिव्य देशोंमें भगवद्विषयके नामसे जिसका कालक्षेप हुआ करता है। आपने कन्याकुमारीसे हिमालयपर्यन्त श्रीरामोपासनाका अटल प्रचारकर चराचर चेतनोंको परमपद जानेका मार्ग सुलभ कर दिया। श्रीभाष्यादि आपके और भी कई ग्रन्थ हैं।

श्रीरामानुजस्वामीजीके शिष्योंमेंसे श्रीकूरेशस्वामीजी अनन्य श्रीरामोपासक हुए, इसका पता आपके विरचित ग्रन्थोंमेंसे 'पञ्चस्तवी' ग्रन्थसे स्पष्ट लगता है कि आप एक बड़े ही उच्चकोटिके उपासक थे। आपने कृमिकण्ठ राजाकी राजसभामें श्रीराममन्त्रका महत्त्व प्रकट करके श्रीरामोपासनाकी विजय पायी—यह आपके 'कूरेशविजय' नामक ग्रन्थसे प्रमाणित होता है।

श्रीरामानुजस्वामीजीके श्रीगोविन्दाचार्य शिष्य हुए, उनके श्रीभट्टारकस्वामी बड़े ही प्रसिद्ध धुरन्धर विद्वान् हुए हैं। जिन्होंने 'भगवद्गुण-दर्पण-सहस्रनामभाष्य' में श्रीरामोपासनाका वर्णन विलक्षणरूपसे किया है। आपके और भी श्रीरामोपासनाके दिव्य प्रवन्ध हैं। श्रीभट्टारकस्वामीजीके श्रीवेदान्ती स्वामी, उनके कलिजित् स्वामी, उनके श्रीकृष्णाचारी, उनके श्रीलोकाचारी स्वामी हुए। आपने उपासनारहस्यमय १८ ग्रन्थ लिखे हैं। जिनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'श्रीवचनभूषण' श्रीरामोपासनाका अपूर्व ग्रन्थ है। आपके श्रीशैलेशजी, उनके श्रीवरवरमुनिस्वामीजी हुए। आपने श्रीरामोपासनाके परत्वपर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। भगवद्विषय-भाष्य श्रीरामपरत्वपर आपका लिखा हुआ भाव बड़ा ही विलक्षण है। श्रीरामोपासकोंको इसे अवश्य देख लेना चाहिये। आपने 'श्रीराममंगलाशासनस्तोत्र' में श्रीरामायणके सातों काण्डोंका सारांश ऐसा खींच लिया है मानो गागरमें सागर आ गया हो, जिसको हम 'श्रीरामदिव्यस्तवराज' में मुद्रित करा चुके हैं। आपके शिष्य-प्रशिष्योंमें श्रीविजयरामाचार्यजी हुए हैं, जिन्होंने 'श्रीराममहिम्नस्तोत्र' लिखकर श्रीराम-मन्त्रका महत्त्व प्रकट किया है। श्रीवरवरमुनिस्वामीजीके शिष्य श्रीदेवाचार्यजी हुए, उनके श्रीहरियाचार्यजी हुए, जिन्होंने 'श्रीरामस्तवराज' भाष्यादि अनेक ग्रन्थ श्रीरामोपासनाके लिखे हैं। आपके शिष्य श्रीराघवाचार्यस्वामीजी बड़े ही उद्भट विद्वान् हुए हैं। आपके श्रीरामानन्दस्वामीजी महाराज समस्त शिष्योंमें शिरोमणि हुए हैं, आपने श्रीरामोपासनाकी रक्षाके लिये 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' तथा 'श्रीरामार्चनपद्धति' ये दो ग्रन्थ लिखे हैं, जिनको हम मूलमात्र मुद्रित करा चुके हैं। आपके प्रतापसे भारतके कोने-कोनेमें आपके शिष्यप्रशिष्योंद्वारा श्रीरामोपासनाका ख़ूब ही प्रचार हुआ। आपकी कृपासे भारतमें श्रीरामोपासना अचल हो गयी। कबीर आदि आपके शिष्य श्रीरामोपासनासे ही सर्वलोकप्रसिद्ध हो गये। श्रीरामानन्दस्वामीजीके शिष्य श्रीनरहरियानन्दजी हुए; आपके ही शिष्य कविसार्वभौम, श्रीरामोपासक-चूड़ामणि श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी हुए। आपने श्रीरामोपासनाके श्रीरामायणादि १२ ग्रन्थ लिखकर श्रीरामोपासनाको अचल कर दिया। श्रीगोस्वामीजीकी कृपासे हिन्दुस्थानमें ही नहीं, अन्य देशोंमें भी श्रीरामोपासनाकी पताका फहरा रही है। इसप्रकार चारों युगोंसे श्रीरामोपासनाकी प्राचीन गुरु-परम्परा चली आ रही है। परम्परया प्राचीनकालकी प्राचीन श्रीरामोपासनाका मूल-मार्ग यही है। श्रीरामोपासनाके ग्रन्थ पूर्वाचार्योंकृत असंख्य भरे पड़े हैं। विस्तार-भयसे दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है।ॐ

ॐ उपर्युक्त लेखमें जिन-जिन पुस्तकोंके नाम आये हैं, जिन्हें हम मुद्रित करा चुके हैं, वे विना मूल्य, 'दारागञ्ज बड़ास्थान—प्रयाग' के पतेसे ।=) के टिकट भेजनेवालोंको मिल सकेंगी।

रामायण-संख्या

पाठकोंकी जानकारीके लिये वाल्मीकिरामायण और अध्यात्मरामायणकी श्लोक-संख्या तथा गुसाईंजीकृत रामायणके दोहे-चौपाई आदिकी संख्या दी जाती है।

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणके सर्ग और श्लोक

काण्ड	सर्ग	श्लोक
बालकाण्ड	७७	२२६७
अयोध्याकाण्ड	११९	४२८६
अरण्यकाण्ड	७५	२४४४
किष्किन्धाकाण्ड	६७	२४५५
सुन्दरकाण्ड	६८	२८२९
युद्धकाण्ड	१२८	५७१०
उत्तरकाण्ड	१११	३३७९
	६४५	२३३७०

श्रीमदध्यात्मरामायणके सर्ग और श्लोक

काण्ड	सर्ग	श्लोक
बालकाण्ड	७	३९१
अयोध्याकाण्ड	९	७२८
अरण्यकाण्ड	१०	५१६
किष्किन्धाकाण्ड	९	५६०
सुन्दरकाण्ड	५	३२७
युद्धकाण्ड	१६	१११५
उत्तरकाण्ड	९	६११
	६५	४२४८

श्रीरामचरितमानसकी छन्द-संख्या

काण्ड	चौपाई	दोहा	सोरठा	अन्यछन्द	कुल-सं०
बाल	१४९४	३५९	३५	६८	१९५६
अयोध्या	१३०६	३१४	१३	१६	१६४९
अरण्य	२६३	५०	८	४५	३६६
किष्किन्धा	१५४	३१	३	५	१९३
सुन्दर	२७१	६२	१	९	३४३
लंका	५७४	१५०	९	७४	८०७
उत्तर	५९६	२०७	१६	५४	८७३
	४६५८	११७३	८५	२७१	६१८७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायणकालीन कला और उद्योगकी सूची

(लेखक—श्रीयुत बी० एच० वडेर एम०ए० एल-एल० बी०)

कर्मान्तिक = मजदूर शिल्पकार = कारीगर वर्धकि = बढ़ई खनक = बेलदार (मिट्टी खोदनेवाले) गणक = ज्योतिषी नट = सूत्रधार शैलूष = अभिनेता नर्त्तक = नाचनेवाले	वा०रा०१ – १३ – ७
गायक = गानेवाले	१ – ६५ – २
सूत = रथ हाँकनेवाले	२—४—३
सूत = पौराणिक	२ – ६२ – २
सूत = बढ़ई	,,
दैवज्ञ दैव-चिन्तक } ज्योतिषी, भविष्यवक्ता	२ – ४ – २१
मागध = वंशावली-गुणगान करनेवाले ।	२—६—६
वन्दिन् = स्तुति पाठ करनेवाले ।	,,
वादित्र = बाजा बजानेवाले ।	२–१६–३६
स्नानशिक्षाज्ञः = स्नान करानेमें पटुलोग ।	२ – ६५ – ८
स्नापक = ,,	२–८३–१४
पाणिवादक = तालके साथ गानके समय ताली बजानेवाले	२ – ६५ – ४
भूमिप्रदेशज्ञ = पृथ्वीके स्थलोंको जाननेवाले	२ – ८० – १
व्यवहारिन् = व्यापार करनेवाले	२–७६–१६
यन्त्रक = छोटी छोटी मशीन बनानेवाले	२ – ८० – १
यन्त्रकोविद = बड़ी मशीनें बनानेवाले	२ – ८० – २
सूत्रकर्मविशारद = तम्बू छावनी आदि बनानेवाले	२ - ८० – १
मार्गिन् = पथ-रक्षक	२ – ८० – २
वृक्षतक्षक = वृक्ष काटनेवाले	२ – ८० – ३
सूपकार सूप } रसोई बनाने और परोसनेवाले	२–१२–१६
सुधाकार = चूना बनानेवाले	,,
वंशकृत् = बाँसका काम करनेवाले	२ – ८० – ३
चर्मकृत = चमार	२ – ८७ – ३
कुम्भकार = कुम्हार	२–८३–१२
शस्त्रोपजीविन् = शस्त्र बनानेवाले	२–८३–१२
मणिकार = जौहरी	,,
मयूरक = मोर-पंखकी वस्तु बनानेवाले	२–८३–१३
क्राकचिक = लकड़ी चीरनेवाले वेधक = मोती और मणिआदिमें छेद करनेवाले रोचक = काँचकी शीशियाँ बनानेवाले दन्तकार = हाथी-दाँतकी दस्तकारी करनेवाले गन्धोपजीविन् = अतर सुगन्धवाले	२–८३–१३
सुवर्णकार = सोनार	२–८३–१४
कम्बलकारक = कम्बल बनानेवाले वैद्य = वैद्य धूपक = धूपका व्यापार करनेवाले	,,
रजक = धोबी	२–८३–१५
तन्तुवाय = जुलाहे	,,
कैवर्त्तक = केवट	,,
श्मश्रुवर्द्धन = नाई	४-१२८-१३

इनमेंसे कुछ उद्योग तो राज्यकी सहायतापर निर्भर थे और कुछ राज्यसे पूर्ण स्वतन्त्र रहते थे। इनमें कुछ वंशागत थे जिनके कारण आधुनिक वर्णव्यवस्था उत्पन्न हुई। श्रीरामके समयमें इन उद्योग-धन्धोंमें अत्यन्त हीन उद्योगों-के अतिरिक्त शेष सब शूद्रोंके द्वारा सञ्चालित होते थे और हीनतम उद्योग अनार्य लोगोंके थे।

कला और उद्योगधन्धे

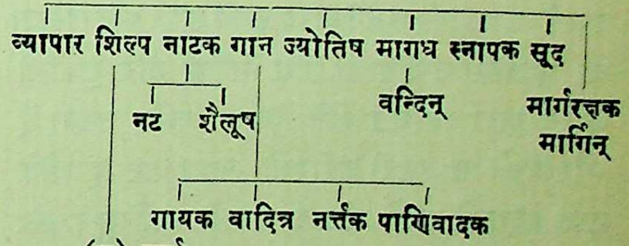

(क) बढ़ई
(ख) रथकार
(ग) यन्त्रनिर्माण करनेवाले
(घ) वृक्ष काटनेवाले
(ङ) चूना बनानेवाले
(च) बाँसका काम करनेवाले
(छ) हाथीदाँतकी दस्तकारी करनेवाले
(ज) काँचकी कारीगरी करनेवाले आदि आदि

रामायणमें जो कलाकौशल तथा उद्योग-धन्धेका विस्तृत उल्लेख है, उनमेंसे कुछके नाम ऊपर दिये गये हैं। यह बिलकुल स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज एक समुन्नत सभ्यता-की अवस्थामें था और अधिकतर मनुष्योंको ईमानदारीके साथ अपनी जीविका चलानेका पर्याप्त अवसर प्राप्त था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामावतारका कारण

संसार परिवर्तनशील है। चक्रकी तरह सदा गतिशील रहता है। यदि चक्रके किसी अंगको घुमा दिया जाय तो सारा चक्र ही घूम जाता है। इसीप्रकार संसारकी प्रत्येक वस्तु एक अदृश्य डोरीमें इसप्रकार बँधी हुई है कि जिसका सम्बन्ध अनादि और अटल है एवं उसका घुमानेवाला परमात्मा परदेकी ओटमें बैठा उसे सतत घुमा रहा है। सूर्य अपनी किरणों द्वारा संसारकी वस्तुओंमें गर्मी प्रदान करता है और जलके अंशको ऊपर खींच लेता है। काठको जलानेसे जो ज्वाला प्रकट होती है वह सूर्य-देवकी दी हुई पूँजी है, जिसे उस वृक्ष या काष्ठने दिन प्रतिदिन लेकर अपनी गाँठमें जमा कर रक्खा था। अब अपने अन्त समयका विचारकर वृक्ष अपने अस्तित्वको नष्ट करते समय एक उदारचित्त दानी-की तरह उस ज्वालाको वापस सूर्यदेवकी भेंट कर रहा है। जल,जिसे सूर्यने वाष्प-रूपमें ऊपर खींच लिया था, पृथ्वीको उष्णताका तीव्र तिरछी और नुकीली छुरियोंद्वारा व्यथित होते देखकर काँप उठता है और अपने वाष्परूपी शरीरको त्याग कर पृथ्वीके तप्त हृदयको अपने शीतल अंगसे आलिङ्गन कर उसके घावोंको अपनी नम्रता, शीतलता, आर्द्रता और उदारताके कोमल स्पर्शसे भर देता है।

एक वस्तुका प्रकट होना किसी दूसरी अवस्था या वस्तुके आगमनकी सूचना देता है। किसी वस्तुका जन्म उसकी मृत्युकी सूचना है! और मृत्यु उसके जन्मकी पताका है जो फहराकर आनन्द और हर्षकी सूचना देती रहती है।

'मेरा होना था फकत मेरे न होनेके लिये।
मेरा मरना था फकत मेरे जीनेके लिये॥'

बड़ी तीव्र गर्मी इस बातकी सूचना देती है कि वर्षा या आँधीका आगमन समीप है। जब कोई मनुष्य दुःखसे खूब तड़फड़ा रहा हो तो यह जानरखना चाहिये कि उसके लिये एक दूसरी अवस्था 'बेहोशी' या ऐसी ही कुछ और दशा समीप ही लगी हुई है, जिसके प्राप्त होनेपर उसे पीड़ाका ज्ञान ही न रहेगा। पतझड़का मौसिम जहाँ वृक्षोंकी पत्तियाँ नोचनेमें ही लगा रहता है, वहाँ उसके बाद ही वसन्त भी पुष्पोंका तरकस लिये दौड़ा चला आता है।

जिस समय रावणके शासनसे प्रजा दुखी थी,ऋषि-मुनि जंगलोंमें बैठे हुए भी कष्ट और दुःखकी सीमासे अलग नहीं थे। चारों ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था, मानो यह सब इस बातकी सूचना दे रहे थे कि सूर्यकुलमें बहुत शीघ्र एक अनुपम सूर्य प्रकट होगा जो अन्धकारको नष्ट करके पृथ्वीको पुनः स्वच्छ, पवित्र और उज्ज्वल चादर पहनाकर पहलेसे कहीं अधिक सुन्दर बना देगा। भिलनीका प्रेम, निषाद-की मुहब्बत उमड़-उमड़कर हृदय-देशकी दीवारों-को ढहाकर किसीसे भेंट करनेके लिये चारोंओर फैल रही थीं। क्या उमड़ती हुई धाराके प्रबल वेग-को रोकनेके लिये कोई सामान न होगा? क्या बुलबुलकी चहक, फूलकी महक, कोयलकी कूक और पपीहेकी हूकमें कोई असर न होगा? क्या मधुरस्वर सुनसान वायुमण्डलमें मिलकर नष्ट हो जायगा, क्या पहाड़ी चट्टानोंसे टकराकर ध्वनि प्रतिध्वनिके वस्त्र पहनकर प्रकट न होगी? क्या पुष्पके पूरे खिलनेपर भी सुगन्ध न आयगी? क्या प्रेमसे भरे हृदयके लिये प्रेम-प्रतिमा प्रकट न होगी? क्या प्रेमीके लिये वह मनमोहनी मूर्ति 'राम-नाम' से प्रसिद्ध होकर प्रेमकी कोमल डोरियोंमें बँधकर न खिंचेगी, अवश्य, अवश्य खिंचेगी! '*हाँ हाँ बता रही है तेरी नहीं नहीं*' रामावतारका मुख्य भेद और कारण संक्षिप्तमें यही है! —बनारसीदास 'प्रेम'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुत्र लव-कुशको जनकजा धनुर्वेद सिखा रहीं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

ધ. સા. મુદ્રણાલય-અમદાવાદ.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाल्मीकीय रामायणका आधार और काल

(लेखक—श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा दाधीच बी० ए०, एम० आर० ए० एस०)

जाते जगति वाल्मीकौ कविरत्यभवद्ध्वनिः ।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि ॥

महर्षि आदिकवि वाल्मीकिके नामसे सभी साक्षर भलीभाँति परिचित हैं। संस्कृतमें वेदोंको छोड़कर सबसे प्राचीन ग्रन्थ वाल्मीकीय रामायण है। यह एक चमत्कारिक ग्रन्थ है। इसके पाठद्वारा कई प्रकारके अनुष्ठानोंकी सिद्धि इस कलिकालमें अब भी होती है। यह बात प्रत्यक्ष प्रमाणित और अनुभूत है। इसके कुल चौबीस सहस्र श्लोक हैं, जिनमेंसे प्रायः प्रतिसहस्र पद्यके आद्याक्षरोंसे गायत्रीमन्त्र निकलता है। जिसको गायत्रीमन्त्र रामायण कहते हैं। पाठकोंके परिज्ञानार्थ हम वह नीचे दिये देते हैं—

ओं तत् ओं तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम् ।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

स स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दनः ।
ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा ॥ २ ॥

वि विश्वामित्रः स धर्मात्मा श्रुत्वा जनकभाषितम् ।
वत्स ! राम ! धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत् ॥ ३ ॥

तुर् तुष्टावास्य तदा वंशं सुमन्त्रः स विशांपतेः ।
शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठतः ॥ ४ ॥

व वनवासं हि सङ्ख्याय वासांस्याभरणानि च ।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ ॥ ५ ॥

रे राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम् ।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥ ६ ॥

णि निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो मुनिम् ।
उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥ ७ ॥

यं यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महाबलम् ।
अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महायशः ॥ ८ ॥

भर् भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो ।
मृगरूपमिदं व्यक्तं विस्मयं जनयिष्यति ॥ ९ ॥

गो गच्छ शीघ्रमितो वीर ! सुग्रीवं तं महाबलम् ।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव ! ॥ १ ॥

दे देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये ।
सुखदुःखसहः काले सुग्रीववशगो भव ॥ ११ ॥

व वन्द्यास्ते च तपःसिद्धास्तपसा वीतकल्मषा ।
प्रष्टव्या चैव सीतायाः प्रवृत्तिर्विनयान्वितैः ॥ १२ ॥

स्य स निर्जित्य पुरीं लङ्कां श्रेष्ठां तां कामरूपिणीम् ।
विक्रमेण महातेजा हनुमान् मारुतात्मजः ॥ ३१ ॥

धी धन्या देवाः सगन्धर्वा सिद्धाश्च परमर्षयः ।
मम पश्यन्ति ये नाथं रामं राजीवलोचनम् ॥ १४ ॥

म मङ्गलाभिमुखी तस्य सा तदासीन्महाकपेः ।
उपतस्थे विशालाक्षी प्रयता हव्यवाहनम् ॥ १५ ॥

हि हितं महार्थं मृदुहेतुसंहितं व्यतीतकालायति संप्रतिक्षमम् ।
निशम्य तद्वाक्यमुपस्थितज्वरः प्रसङ्गवानुत्तरमेतदब्रवीत् ॥

धि धर्मात्मा राक्षसश्रेष्ठः संप्राप्तोऽयं विभीषणः ।
लङ्कैश्वर्यं ध्रुवं श्रीमानयं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥ १७ ॥

यो यो वज्रपाताशनिसंनिपातान्न चुक्षुभे नापि चचाल राजा ।
स रामबाणाभिहतो भृशार्तश्चचाल चापं च मुमोच वीरः

यो यस्य विक्रममासाद्य राक्षसा निधनं गताः ।
तं मन्ये राघवं वीरं नारायणमनामयम् ॥ १९ ॥

नः न ते ददृशिरे रामं दहन्तमरिवाहिनीम् ।
मोहिता परमास्त्रेण गान्धर्वेण महात्मना ॥ २० ॥

प्र प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली ।
बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ॥ २१ ॥

चो चालनात्पर्वतेन्द्रस्य गणा देवस्य कम्पिताः ।
चचाल पार्वती चापि तदाश्लिष्टा महेश्वरम् ॥ २२ ॥

द दाराः पुत्राः प्रियं राष्ट्रं भोगाच्छादनभाजनम् ।
सर्वमेवाऽविभक्तं नौ भविष्यति हरीश्वर ! ॥ २३ ॥

यात् यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां समाविशत् ।
तामेव रात्रिं सीताऽपि प्रसूता दारकद्वयम् ॥ २४ ॥

(यावदावर्तते चक्रं यावती च वसुन्धरा ।
तावत्त्वमिह लोकस्य स्वामित्वमवधारय ॥)

इदं रामायणं काव्यं गायत्रीबीजसंयुतम् ।
त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥

इतिहास-ग्रन्थोंमें रामायणका सर्वोच्च और सर्वप्रथम स्थान है। प्रामाणिक इतिहासमें केवल रामायण और महाभारतकी गणना है, जिनमें भी रामायण प्रथम है। यह ग्रन्थ श्रीरामचन्द्रजीके समयमें ही बना था-जैसा कि इसके आन्तरिक प्रमाणोंसे प्रमाणित होता है। मूल रामायणमें १ से लेकर ६० श्लोकोंतक तो भूतकाल लिखा गया है और ६१–६७ तक भविष्यत्काल लिखा है जिससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जब रामचन्द्रजीने रावणको मार, विभीषणको लङ्काका राज्य दे, नन्दिग्राममें आ, जटा उतार, अयोध्याका राज्य पुनः प्राप्त कर लिया, उसके अनन्तर रामायणकी रचना हुई और तदनन्तर जो कृत्य किये उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भविष्यत्कालमें 'ऐसा करेंगे' इसप्रकार वर्णन है, जिससे उन कृत्योंके पूर्व रामायणकी रचना की गयी ऐसा सिद्ध होता है। यथा—

अभिषिच्य च लंकायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह ॥ ८५ ॥
देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान्।
अयोध्यां प्रस्थितो रामः पुष्पकेण सुहृद्वृतः ॥ ८६ ॥
भरद्वाजाश्रमं गत्वा रामः सत्यपराक्रमः।
भरतस्यान्तिके रामो हनुमन्तं व्यसर्जयत् ॥ ८७ ॥
पुनराख्यायिकां जल्पन् सुग्रीवसहितस्तदा।
पुष्पकं तत्समारुह्य नन्दिग्रामं ययौ तदा ॥ ८८ ॥
नन्दिग्रामे जटां हित्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघः।
रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान् ॥ ८९ ॥

यहाँतक सब भूतकालद्योतक क्रियाओंका प्रयोग हुआ है, इसके अनन्तर भविष्यत् क्रियाएँ लिखी गयी हैं। यथा—

न पुत्रमरणं केचिद्द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ॥ ९१ ॥
... ...
अश्वमेधशतैरिष्ट्वा बहुवस्त्रसुवर्णकैः ॥ ९४ ॥
गवां कोटियुतं दत्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति।
असंख्येयं धनं दत्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः ॥ ९५ ॥
राजवंशाञ्छतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः।
चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति ॥ ९६ ॥
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति ॥ ९७ ॥

अतः यह बात निर्विवादतया स्पष्ट है कि रामचन्द्रजीके राज्यप्राप्तिके अनन्तर और अश्वमेध-यज्ञ करनेके पूर्वके समयमें इस महाकाव्यकी रचना हुई थी।

सीताजीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त

(लेखक—शुद्धाद्वैतभूषण पं० श्रीजेष्ठारामजी हरिजीवन शास्त्री)

जनकपुर जाते समय श्रीरामने विश्वामित्रसे पूछा कि महाराज! आप जिसके स्वयंवरमें जा रहे हैं वह सीता कौन है? विश्वामित्रने कहा—हे श्रीराम! पूर्वकालमें एक पद्माक्ष नामक राजा था, उसने तपश्चर्यासे लक्ष्मीजीको प्रसन्न करके यह वरदान माँगा कि आप मेरे यहाँ पुत्रीरूपसे प्रकट हों। यह सुनकर लक्ष्मीजीने कहा कि 'मैं तो श्रीविष्णुके अधीन हूँ, वह जहाँ आज्ञा देते हैं वहीं प्रकट होती हूँ' यह सुनकर उस राजाने विष्णुकी तपस्या करके उन्हें प्रसन्न किया तब विष्णुने एक फल देकर उसे भक्षण करानेको कहा। उस फलसे नव मासके पश्चात् एक कन्या उत्पन्न हुई। जब यह कन्या बड़ी हुई तो उसका सौन्दर्य देखकर बड़े-बड़े राजा मोहित हो गये और उन्होंने पद्माक्ष राजापर चढ़ाई कर दी, पद्माक्ष मारा गया। पद्माक्षी एक समय अग्निकुण्डसे बाहर खड़ी थी, रावण उसे देखकर मोहित हो गया और उसे ग्रहण करनेको आगे बढ़ा, परन्तु पद्माक्षी अग्निकुण्डमें लुप्त हो गयी। तदनन्तर रावणने कुण्डमें शोधकर पञ्चरत्न प्राप्त किये और उन्हें एक सन्दूकमें बन्दकर अपने घर लाकर मन्दोदरीको दिया और कहा कि यह रत्न मैं तुम्हारे लिये लाया हूँ। मन्दोदरीने जब सन्दूक खोलकर देखा तो भीतर एक दिव्य कन्या दिखायी पड़ी। उसे देखकर मन्दोदरीने रावणसे कहा कि यह कन्या तुम्हारे कुलका नाश करेगी। सन्दूकमेंसे भी ऐसी ही आवाज़ आयी। तब रावण उस कन्याको मारनेको तैयार हुआ किन्तु मन्दोदरीके समझानेपर वह कन्याको सन्दूकमें बन्द करके बड़ी दूर उत्तरमें जनकपुरके पास नौकर-द्वारा एक खेतमें गड़वा दिया। पद्माक्षराजाने मृत्युके अनन्तर इसी जनकपुरमें एक ब्राह्मणके घर जन्म लिया था, उसीके खेतमें वह सन्दूक गाड़ी गयी थी, वह ब्राह्मण हलसे जब खेतको जोतने लगा तब वह सन्दूक प्राप्त हुई। उस सन्दूकको द्रव्य होनेकी आशंकासे उसने राजा जनकको जाकर दिया, राजाने उसे खोला तो भीतर कन्या देखी। तब उसने ब्राह्मणको द्रव्यसे सन्तुष्ट करके विदा किया और कन्याको अपनी पुत्री करके अपने घरमें रक्खा, क्योंकि उनको सन्तति नहीं थी। उसका नाम सीता रक्खा गया और जनककी पुत्री होनेसे वह जानकी भी कही जाने लगी। इस जनक राजाके यहाँ एक समय परशुरामजी आये और अपना शिव-धनुष बाहर रखकर महलके भीतर भोजनको गये, तब सीताजी इस प्रचण्ड धनुषको उठाकर उसे अश्व बना उसके ऊपर बैठकर खेलने लगी। भोजनके बाद परशुरामजीने देखा कि सीताजी धनुषका घोड़ा बनाकर खेल रही है, उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने राजा जनकसे कहा कि यह धनुष जो चढ़ावे, उसीके साथ तुम अपनी पुत्रीका विवाह करना। अतएव यह स्वयंवर हो रहा है, इस स्वयंवरमें जो धनुष चढ़ावेगा उसीको यह कन्या प्राप्त होगी, ऐसा कहते-कहते वे जनकपुर आ पहुँचे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायणमें शिवानुशासन

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥
उमा कहौं मैं अनुभव अपना। हरिको भजन सत्य जग सपना॥
उमा दारु योषितकी नाईं। सबहिं नचावत राम गुसाईं॥
उमा राम सम हितु जग माहीं। सुत पितु मातु बंधु कोउ नाहीं॥
ऐसे प्रभुकहँ जो परिहरहीं। काहे न बिपति जाल नर परहीं॥
उमा राम स्वभाव जिन जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥
उमा संतकी यहै बड़ाई। मन्द करत जो करै भलाई॥
उमा रामकर भृकुटि विलासा। होइ विस्व पुनि पावहिं नासा॥
उमा राम मृदुचित करुणाकर। बैर भाव मोहि सुमिरत निसिचर॥
देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी?॥
उमा अखण्ड राम रघुराई। नरगति भाव कृपालु दिखाई॥
उमा करत रघुपति नर लीला। खेल गरुड़ जिमि अहिगण मीला॥
जगपावन कीरति बिस्तरहीं। गाइ गाइ नर भवनिधि तरहीं॥

उमा जे रामचरणरत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध॥
सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर-परायण जेहि नर उपज बिनीत॥

× × ×

गिरिजा सुनहु रामकी लीला। सुरहित दनुज बिमोहन सीला॥
रामकथा कलि-बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराज-कुमारी॥
जासु कृपा अस भ्रम मिट जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई॥
गिरिजा रघुपतिकी यह रीती। संतत करहि प्रनतपर प्रीती॥
सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारै भुवन चारिदस आसू॥
जे अस प्रभु न भजहिं भ्रम त्यागी। ते मतिमंद सो परम अभागी॥
रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल-समन मनोमल हरनी॥

गिरिजा संतसमागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि-कृपा होइ नहिं गावहिं बेद-पुरान॥
गिरिजा जाकर नाम जपि नर काटहिं भव फाँस।
सो प्रभु आव कि बंधतर ब्यापक बिस्व निवास॥

निसिचर अधम मलायतन ताहि दीन्ह निजधाम।
गिरिजा ते नर मंदमति जे न भजहिं श्रीराम॥

× × ×

राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी॥
जेहि जागे जग जाइ हेराई। जागे जथा स्वप्न भ्रम जाई॥
बंदौं बालरूप सोइ रामू। सब बिधि सुलभ जपत जस नामू॥
मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥
जिन हरि-भक्ति हृदय नहिं आनी। जीवत शव समान ते प्रानी॥
जे नहिं करहिं रामगुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥
सगुणहिं अगुणहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुराण बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भक्त-प्रेमबस सगुन सो होई॥
जासु नाम भ्रम तिमिर पतङ्गा। तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥
राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा लवलेसा॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानन्द परेस पुराना॥

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ॥

× × ×

जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू॥
बिवसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक सँचित अघ दहहीं॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अन्तरजामी॥
सादर सुमिरन जो नर करहीं। भववारिधि गोपद इव तरहीं॥
हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होंहि मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहुँ माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अगजगमय सब रहित बिरागी। प्रेमतें प्रभु प्रकटहिं जिमि आगी॥
रघुपति-बिमुख जतनकर कोरी। कवन सके भव-बन्धन छोरी॥
जिनकर नाम लेत जगमाँही। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु भवानी॥
अस बिचारि जो परम बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी॥

उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख न धर्मरत॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरितमानस और अध्यात्मरामायण

(लेखक—श्रीव्योहार श्रीराजेन्द्रसिंहजी)

अध्यात्मरामायणका रचनाकाल वाल्मीकि-रामायणके पीछे और तुलसीकृत रामायणके पूर्व माना जाता है। अध्यात्मरामायण वाल्मीकीय रामायणके बहुत पीछे तब बनी, जब कि श्रीरामजी आदर्श राजपुत्रके पदसे ऊपर उठकर साक्षात् परमात्माके पूर्ण अवतार माने जाने लगे थे। महर्षि वाल्मीकिने श्रीरामका अवतारत्व स्पष्ट स्वीकार करते हुए भी उन्हें अवतार-रूपसे चित्रित नहीं किया है। अध्यात्मरामायणकी कथा वाल्मीकि-रामायणके ही आधारपर लिखी गयी है, पर रामचन्द्रजीको अवतार मानकर उसका रूप बिलकुल बदल दिया गया है।

इन बातोंसे ऐसा मालूम होता है कि अध्यात्मरामायणकी रचना सिर्फ इसी उद्देश्यसे हुई है कि श्रीरामका ईश्वरत्व सिद्ध किया जाय।

रामचरितमानसकी रचना किसी एक खास ग्रन्थके आधारपर नहीं की गयी। उसके भाव 'नानापुराणनिगमागम' से लिये गये हैं। इसका कथाभाग अधिकतर वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्मरामायण और भुशुण्डिरामायण आदिसे लिया गया है। वा० रा० की अपेक्षा अध्यात्मरामायणका आधार ही इसमें अधिक है। आगे चलकर ज्ञात हो जायगा कि गोसाईंजीने किसीकी अन्धी नकल नहीं की है। मानस-अध्यात्मरामायणकी अन्धी नकल नहीं है वरन् इन दोनों ग्रन्थोंमें बहुत अन्तर है। मानसके पूर्ववर्ती होनेके कारण अध्यात्मरामायणका उसपर प्रभाव अवश्य पड़ा है। इस प्रभावके कारण दोनोंमें कहीं-कहीं भावसाम्य बहुत अधिक दीख पड़ता है। यही कारण है कि बहुतसे पण्डितोंको यह भ्रम हो गया है कि मानस-रामायण, अध्यात्मरामायणकी नकल है। पर दोनों ग्रन्थोंके ध्यानपूर्वक पढ़नेसे साफ मालूम हो जायगा कि इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। दोनों रामायणें उमा-महेश्वर-संवादके रूपमें हैं। इससे भी कुछ लोग समझ बैठे हैं कि मानस अध्यात्मरामायणका अनुवाद है। अपने समर्थनमें लोग तीन बातें उपस्थित करते हैं—

(१) दोनों रामायणोंके कथाभाग और भावोंमें बहुत कुछ साम्य है।

(२) मानस अध्यात्मरामायणके पीछे बनी।

(३) दोनों, उमा-महेश्वर-संवादके रूपमें हैं। गुसाईंजीने स्वयं कहा है कि—

'यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्'

उत्तर इसप्रकार है—

(१) केवल कुछ भावों और कथाओंमें साम्य होनेके कारण कोई किसीकी नकल नहीं कही जा सकती। आगे यह भी बतलाया जायगा कि कुछ बातोंमें दोनोंमें साम्य रहते हुए भी कुछ ऐसे अन्तर हैं जो भुलाये नहीं जा सकते और जिनके कारण तुलसीदासजीकी मौलिकता प्रकट होती है।

(२) अध्यात्मरामायणके पीछे रचे जानेके कारण मानस-पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ा। जिस प्रकार गुसाईंजीने अध्यात्मरामायणसे अच्छी-अच्छी बातें लेकर अपने ग्रन्थमें सम्मिलित की हैं उसी प्रकार अन्य अनेक ग्रन्थोंसे भी सूक्तियाँ ली गयीं हैं। अतः इसके कारण भी कोई ग्रन्थ नकल नहीं कहा जा सकता।

(३) अध्यात्मरामायणकी सारी कथा केवल उमा-महेश्वरके संवादरूपमें हैं। पर मानसमें जो तीन संवाद प्रधान हैं—शंकर-पार्वतीसंवाद उनमेंसे एक है। एक महाशय कहते हैं कि उक्त श्लोकमें अन्य नामोंको छोड़कर केवल शम्भुके उल्लेख किये जानेके कारण उनकी प्रधानता है। यह बात ठीक मालूम होती है।

रामायण आरम्भ करते समय गुसाईंजीने उसके आधार-के विषयमें जो परम्परा लिखी है, वह यह है—

'शंभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा॥'
सोइ सिव कागभुसुंडिहिं दीन्हा। ... ...
तेहि सन जागबलिक मुनि पावा। तिन पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी। ... ...
भाषाबद्ध करब मैं सोई। ... ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे प्रकट होता है कि जो कथा शिवने काकभुशुण्डिसे कही, वही परम्परासे गुसाईंजीने पायी और उसीके आधारपर उन्होंने रामायण लिखी ।

गुसाईंजीने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने 'नाना पुराणों' का आधार लिया । अध्यात्मरामायण ब्रह्माण्ड-पुराणके अन्तर्गत है । इसलिये उसका भी आधार लेना सिद्ध ही है । अब हम यह बतलावेंगे कि गुसाईंजीने कहाँ-कहाँ अध्यात्मरामायणका आधार लिया । पहले काण्डोंके अनुसार कथाकी समता देखिये ।

बालकाण्डमें देवताओंकी प्रार्थनापर ईश्वरका अवतार लेनेकी प्रतिज्ञा करना, दशरथका पुत्रेष्टि-यज्ञ, रामजन्म, बाल-लीलासे लेकर विश्वामित्र-आगमन, ताड़कावध, यज्ञरक्षण, अहल्योद्धार, धनुषभंग और विवाह ये कथाएँ मानस और अध्यात्मरामायणमें प्रायः एक-सी हैं। अयोध्याकाण्डमें राम-वनगमन, गुहमिलाप, लक्ष्मणका गुहको उपदेश और भरतसंवाद दोनोंमें बिलकुल एक-से हैं । आरण्यकाण्डके विराधवध, शरभंग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्यसंवाद, लक्ष्मणको ज्ञानदान, शूर्पणखा-नासाकर्णहरण, सीताहरण, जटायुसंवाद, कबन्ध-वध, खरयुद्ध, शबरीदर्शन, दोनों रामायणोंमें एक-से हैं । किष्किन्धाकी सुग्रीव-मिताई और सीताखोज, सम्पाती और योगिनीभेंट, एक-से हैं । सुन्दरकाण्डकी कथा दोनोंकी मिलती है । लंकाकाण्डमें मन्दोदरीका उपदेश, शुकसंवाद, प्रहस्तवाद और युद्ध आदि एकसे हैं ।

उपर्युक्त कथाओंके साम्यसे यह प्रकट होता है कि मूल कथामें कुछ अधिक भेद नहीं है ।

अब वे कथाभाग दिये जाते हैं, जिनमें दोनों रामायणोंमें अन्तर है ।

अध्यात्मरामायणमें	रामचरितमानसमें
(१) आरम्भमें हनूमान्, सीता और रामका संवाद ।	(१) नहीं है ।
(२) देवताओंका क्षीर-सागरपर जाकर स्तुति करना व प्रत्यक्ष वरदान पाना ।	(२) देवोंका हरिको 'व्यापक सर्वत्र समाना' जानकर शिवलोकमें स्तुति करना और आकाश-वाणीसे आश्वासन मिलना ।
(३) ऋष्यश्रृंगको मोहित करके अयोध्यामें लाना ।	(३) नहीं है ।
(४) नहीं है ।	(४) पुष्पवाटिकामें राम-जानकी-भेंट ।
(५) अकेलेमें धनुष-भङ्ग करना ।	(५) सर्वदेशीय राजाओंकी सभामें रामका धनुष भंग करना ।
(६) अयोध्याके रास्तेमें परशुरामका आगमन और संवाद ।	(६) धनुष-भंगके बाद जनककी सभामें ही परशुराम-आगमन ।
(७) अ० का०के आरम्भमें नारदका आना ।	(७) नहीं है ।
(८) अ०का० के अन्तमें अत्रि-मिलाप ।	(८) आ०के आरम्भमें अत्रि मिलाप ।
(९) नहीं है ।	(९) अनसूयाका सीताको स्त्री-धर्मोपदेश ।
(१०) जयन्तकी कथा लङ्का-काण्डमें है ।	(१०) आरण्यकाण्डमें है ।
(११) नहीं है ।	(११) आ०अन्तमें नारदका आगमन ।
(१२) नहीं है ।	(१२) खरका दूत भेजना ।
(१३) नहीं हुआ ।	(१३) सुन्दरकाण्डमें हनूमान्‌जीका विभीषणसे मिलाप ।
(१४) रावण-अङ्गद-संवाद नहीं हुआ ।	(१४) रावण-अङ्गद-संवाद हुआ ।
(१५) हनूमान्‌जीके आनेपर रावणको स्वप्न हुआ ।	(१५) त्रिजटाको हुआ ।
(१६) वानरोंके जिलानेके लिये हनूमान्‌जी सञ्जीवनी लेने गये, और रास्तेमें भरत और भरद्वाजसे मुलाकात की ।	(१६) लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर गये। रास्तेमें किसीसे मिलाप नहीं हुआ ।
(१७) शक्ति लगनेपर रामने विलाप नहीं किया ।	(१७) विलाप किया ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१८) रावणने सुग्रीवके पास शुकको सन्धि करनेके लिये भेजा।	(१८) नहीं।
(१९) रावणका सीताको मारनेकी इच्छा करना व सुपार्श्वका बचाना।	(१९) सीताको मारने दौड़ना व मन्दोदरीका बीच-बचाव।
(२०) रावणका होम करना।	(२०) मेघनादका होम करना।
(२१) अयोध्या लौटते समय रामका भरद्वाजसे मिलाप।	(२१) नहीं हुआ।
(२२) लङ्काकाण्डहीमें रामका अयोध्या लौटना और राजगद्दी।	(२२) उत्तरकाण्डमें लौटना व राजगद्दी।
(२३) उत्तरकाण्डमें शम्बूक-वधकी कथा।	(२३) नहीं है।
(२४) सीता-त्याग।	(२४) नहीं है।
(२५) लवणवध।	(२५) ,,
(२६) दुर्वासा आगमन।	(२६) ,,
(२७) अन्तमें लक्ष्मणत्याग और स्वर्गारोहण।	(२७) ,,
(२८) नहीं है।	(२८) बालकाण्डमें प्रतापभानुकी कथा।
(२९) ,,	(२९) नारदमोह।
(३०) ,,	(३०) सतीमोह।
(३१) ,,	(३१) शंकरकृत मदनदहन पार्वतीविवाह इत्यादि।
(३२) ये सब नहीं हैं।	(३२) उत्तरके अन्तमें राम-राज्य वर्णन, कलि-वर्णन, कागभुशुण्डि-गरुड़ संवाद आदि हैं।※

अध्यात्मरामायणकी कथा लङ्काकाण्डहीमें समाप्त कर दी गयी है। क्योंकि इससे अन्तमें ग्रन्थसमाप्तिसूचक पद्य हैं। इससे मालूम पड़ता है कि अन्तसर्गमें ही ग्रन्थकारने कथा समाप्त कर दी थी, पर किसीने पीछेसे उत्तरकाण्ड जोड़ दिया। इसीप्रकार तुलसीकृत रामायणके अन्तमें लवकुशकाण्ड जोड़ दिया गया है। इस लवकुशकाण्डकी कथा और अध्यात्मरामायणके उत्तरकी कथा एक-सी ही है। जितनी कथा इसमें लङ्काके अन्ततक है उतनी ही रामकथा मानसके उत्तरकाण्डतक गयी है।

अध्यात्मरामायणके उत्तरकाण्डको प्रक्षिप्त माननेका सिर्फ यह प्रमाण उपस्थित किया गया है कि लङ्काकाण्डके अन्तमें कुछ ऐसे श्लोक आ गये हैं जिनसे मालूम होता है कि ग्रन्थ यहीं समाप्त हो गया। पर उत्तरकाण्डमें फिर कथा आरम्भ हो जाती है और यदि लङ्काकाण्डके अन्तके कुछ श्लोक निकाल लिये जायँ तो कुछ अन्तर नहीं मालूम होता और कथाका सिलसिला बराबर चला जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि ये श्लोक उत्तरकाण्डके अन्तमें न रक्खे जाकर भूलसे इस स्थलपर रख दिये गये हों।

अ० रा०के लङ्का और उत्तरकाण्डोंकी भाषा आदिमें ऐसा भेद नहीं है जिससे दोनों काण्ड दो भिन्न कवियोंकी रचनाएँ समझ पड़ें। पर तुलसीकी रामायणके पीछे जोड़ा गया लवकुशकाण्ड, रेशममें टाटके समान तुरन्त ही खटकने लगता है।

कथाभाग इतना अधिक रहते हुए भी गुसाईंजी और अध्यात्मरामायणके भाव बहुत जगह एक-से दीख पड़ते हैं। कहीं-कहीं तो गुसाईंजीने अपने ग्रन्थमें अ० रा०के श्लोकोंके बिल्कुल अनुवाद करके रख दिये हैं, कई स्थलोंपर अ० रा०के छोटे-से भावको गुसाईंजीने अपनी प्रतिभासे

※ इन बातोंके अलावा बहुत-सी छोटी-छोटी बातोंमें अन्तर पाया जाता है, जैसे अगस्त्यका रामको अस्त्र देना, भरतका हनूमान्को गाथ देना। रामका भरतको विमानपर बिठा लेना आदि अ० रामायणकी बातें रा०च० मा० में नहीं है। गुसाईंजीने लिखा है कि शंकरका धनुष 'भूप सहसदस' भी न उठा सके पर उसी धनुषको अ०रा० में ५ हजार नौकर सभामें ले आये। इसके सिवा थोड़ेसे स्थलोंपर और भी छोटे छोटे अन्तर हैं। जैसे—

अ०रामायणमें	रा०च०मा०में
(१) राजाका वशिष्ठको अपने घर बुलवाना।	(१) रामका, अभिषेकके लिये स्वयं गुरुगृह जाना।
(२) सीताको वन-गमनकी खबर रामने सुनाई।	(२) सीता खबर सुनकर खुद सासके सामने रामके पास आयी।
(३) केवटके चरण धोनेकी कथा मिथिला जाते समय।	(३) वन जाते समय।
(४) रावणकी युद्ध-सभामें कुम्भकर्ण था।	(४) वह युद्धके बाद जगाया गया, इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्धित व परिमार्जित करके अपना लिया है। कुछ उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो जायगा।

१–गोप्यं यदत्यन्तमनन्यवाच्यं
वदन्ति भक्तेषु महानुभावाः।
(अ० रा०)

गूढ़ौ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥
(रा० च० मा०)

२–'भरणाद् भरतो नाम लक्ष्मणं लक्षणान्वितम्।
शत्रुघ्नं शत्रुहन्तारमेवं गुरुरभाषत॥
यस्मिन्रमन्ते मुनयो विद्ययाऽज्ञानविप्लवे।
तं गुरुः प्राह रामेति रमणाद्राम इत्यपि॥
(अ० रा०)

बिस्व भरण पोषणकर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥
जाके सुमिरनते रिपु नासा। नाम शत्रुहन बेद प्रकासा॥

लक्षण धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखेउ, लक्ष्मण नाम उदार॥

जो आनन्दसिन्धु सुख रासी। सीकरते त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

केवट कहता है कि—

३–क्षालयामि तव पादपंकजम्,
नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम्॥
मानुषीकरणरेणुरस्ति ते,
पादयोरिति कथा प्रथीयसी॥
(अ० रा०)

चरन-कमल-रज कहँ सब कहई। मानुष-करनि मूरि कछु अहई॥
(मानस)

४–पौरोहित्यमहं जाने विगर्ह्यं दूष्य जीवनम्।
(अ० रा०)

उपरोहिती कर्म अति मंदा। बेद पुरान करहिं सब निन्दा॥
(रा० च० मा०)

कैकेयी कहती है—

५–ततोऽपि मरणं श्रेयो यत्सपत्न्याः पराभवः।
(अ० रा०)

नैहर जन्म मरब बरु जाई। जियत न करब सवति सेवकाई॥
(रा० च० मा०)

मंथरा कहती है—

६–लक्ष्मणो राममन्वेति राज्यं सोऽनुभविष्यति॥
भरतो राघवस्याग्रे किंकरो वा भविष्यति॥
त्वं तु दासीव कौशल्यां नित्यं परिचरिष्यति॥
(अ० रा०)

भरत बंदिग्रह सेइहहिं, लखन रामके नेव।
जो सुत सहित करहु सेवकाई। तो घर रहहु न आन उपाई॥
(रा० च० मा०)

दशरथजीने कहा है—

७–ब्रूहि कं धनिकं कुर्यां दरिद्रं ते प्रियंकरम्।
धनिनं क्षणमात्रेण निर्धनं च तवाहितम्॥
(अ० रा०)

कहु केहि रंकहिं करौं नरेसू। कहु केहि नृपति निकारौं देसू॥
(रा० च० मा०)

कैकेयी कहती है—

८–तमाह कैकेयी राजा रात्रौ निद्रां न लब्धवान्।
राम रामेति रामेति राममेवानुचिन्तयन्॥
(अ० रा०)

परी न राजहिं नींद निशि, हेतु जानु जगदीस।
राम राम रटि भोर किय, कहेउ न मरमु महीस॥
(रा० च० मा०)

९–स्वर्गे यथा देवपतिः सशच्या॥ (अ० रा०)
सोहत सुरपुर इन्द्र जनु, शची जयंत समेत।
(रा० च० मा०)

१०–असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क गतोसि भो॥
(अ० रा०)

—भरते न रामहिं सौंपेउ मोहीं॥
(रा० च० मा०)

भरत-प्रतिज्ञा—

११–पापं मेऽस्तु तदा मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम्॥
हत्वा वशिष्ठं खड्गेन अरुन्धत्या समन्वितम्।
भूयास्तत्पापमखिलं मम जानामि यद्यहम्॥

मानसमें भी भरतने इसी प्रकारकी प्रतिज्ञाएँ की हैं यथा—

'जे अघ मातु पिता गुरु मारे।' इत्यादि

१२–अहोऽतिसफलं जन्म लक्ष्मणस्य महात्मनः।
राममेव सदान्वेति बलस्थमपि हृष्टधीः॥
(अ० रा०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहह धन्य लक्ष्मण बड़ भागी । राम पदारविन्द अनुरागी ।।
(रा० च० मा०)

१३–शिक्षणार्थं भवादृशाम् ।।
(अ० रा०)

तुमसे शठन सिखावन दाता ।।
(रा० च० मा०)

१४–आगमिष्यति रामोऽपि क्षणं तिष्ठ सहानुजः ।
मां को धर्षयितुं शक्तो हरेर्भार्यां शशो यथा ।।
(अ० रा०)

कह सीता धरि धीरज गाढ़ा । आय गए प्रभु शठ रहु ठाढ़ा ।।
जिमि हरिबधुहिं क्षुद्र शश चाहा ।।
(रा० च० मा०)

१५–अवतीर्णाविहपरौचरन्तौ क्षत्रियाकृती ।
जगत्स्थितिलयोत्सर्गलीलया कर्त्तुमुद्यतौ ।।
स्वतन्त्रौ प्रेरकौ सर्वहृदयस्थाविहेश्वरौ ।।
नरनारायणौ लोके चरन्ताविति मे मतिः ।।
(अ० रा०)

की तुम तीन देवमहँ कोई । नर नारायण की तुम दोई ।।
जग कारन तारन भव भंजन धरणी भार ।
की तुम अखिल भुवनपति, लीन्ह मनुज अवतार ।।
(रा० च० मा०)

१६–बाली यथा हतो मेऽद्य सुग्रीवोऽपि तथा भवेत् ।
(अ० रा०)

जेहि सायक मारा मैं बाली । तेहि शर हतौं मूढकहँ काली ।।
(रा० च० मा०)

१७–उवाचाधोमुखी भूत्वा विधाय तृणमन्तरे ।
(अ० रा०)

तृण धरि ओट कहति बैदेही ।
(रा० च० मा०)

विचारों और सिद्धान्तोंमें भी इन दोनों ग्रन्थोंमें बहुत साम्य है, दोनोंमें यह सिद्धान्त माना गया है कि श्रीराम साक्षात् परब्रह्म थे और वे लोकोद्धारके लिये अवतार लेकर मनुष्य-लीला करते थे । वे अपनी लीलामें लिप्त नहीं थे । यद्यपि वे ऐसे कभी-कभी दीख पड़ते हैं—

एष रामः परो विष्णुरादिनारायणः स्मृतः ।
एषा सा जानकी लक्ष्मीर्योगमायेति विश्रुता ।।
(अ० रा०)

× × ×

इन दोनों ग्रन्थोंमें हर जगह यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है । अगर कहीं रामने विलाप किया तो तुरन्त ग्रन्थकार कहते हैं—

पूरन काम राम सुखरासी । मनुज चरित कर अज अबिनासी ।।

जिसमें किसीको यह सन्देह न होने पावे कि श्रीराम साधारण मनुष्य हैं, ये दोनों ग्रन्थ उनके ईश्वरत्वका हर जगह पाठकोंको ध्यान दिलाते हैं । यहाँतक कि राम और सीता कहीं-कहीं, स्वयं ही अपना ईश्वरत्व सिद्ध करनेके लिये प्रमाण देते हैं । सीताजी हनूमान्‌जीसे कहती हैं—

मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम् ।
तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता ।।

गुसाईंजीने भी हर जगह सीतारामको प्रकृति और पुरुष सिद्ध किया है पर सीताजीके मुखसे अपनेको कभी 'परमशक्ति' मूल प्रकृति आदि नहीं कहलवाया ।

(क्रमशः)

चित्र-परिचय

सीता-अन्वेषण—(रंगीन) पृष्ठ ४१२ सीता-हरणके बाद भगवान् श्रीराम व्याकुल हुए जहाँ तहाँ सीताको खोज रहे हैं, जहाँ कोई मिलता है, उसीसे गद्‌गद् होकर सीताका पता पूछते हैं । इस चित्रमें दिखाया गया है कि श्रीराम मुनि-बालकोंसे सीताके सम्बन्धमें पूछ रहे हैं। चित्रकी सुन्दरता देखने योग्य है ।

सुतीक्ष्णका प्रेमोन्माद—पृष्ठ ४४६ श्रीरामका आगमन सुनकर सुतीक्ष्णजी प्रेममें मतवाले हुए रामदर्शनार्थ जा रहे हैं । श्रीराम वृक्षकी ओटमें खड़े हैं और बाहरकी ओर झुककर भक्तकी प्रेमलीला देख रहे हैं । सीता और लक्ष्मणजी भी मुग्ध हैं ।

लव-कुशको धनुर्वेद-शिक्षा—पृष्ठ ४८४ लव-कुश बाण चलाना सीख रहे हैं, सीताजी पास बैठी हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

वर्ष ५ खण्ड १ | आश्विन कृष्ण ११ संवत् १९८७ सितम्बर १९३० | संख्या ३ पूर्ण सं० ५१

अनन्यता

गोविंद सो पति पाइ कहा मन अनत लगावै ।
गोपाल-भजन बिन सुख नहीं जो चहुँ दिश धावै ॥
पतिको व्रत जो धरै त्रिया सो शोभा पावै ।
आन पुरुषको नाम लेत तिय पतिहि लजावै ॥
गणिकाते उपजै सुपूत कौनको कहावै ।
बसत सुरसरी-तीर मन्दमति कूप खनावै ॥
जैसे श्वान कुलालके पाछे उठि धावै ।
आन देव हरि तजि भजै सो जनम गँवावै ॥
फलकी आशा चित्त धारि जो वृक्ष बढ़ावै ।
महामूढ़ सो मूल तजि शाखा जल नावै ॥
सहज भजे नंदलालको सो सब कछु पावै ।
सूरदास हरिनाम लिये दुख निकट न आवै ॥

—सूरदासजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर दयालु और न्यायकारी है

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

सच्चिदानन्दघन अखिल विश्वेश्वर परमदयालु परमेश्वरकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले प्रायः सभी मतोंके लोग इस बातको स्वीकार करते हैं कि ईश्वर दयालु और न्यायकारी हैं। ईश्वरमें केवल दयालुता या केवल न्यायकारिताका एकाङ्गी भाव नहीं है, उसमें ये दोनों ही गुण एक ही समय, एक ही साथ पूर्णरूपसे रहते हैं और वे जीवोंके प्रति व्यवहार करनेमें दोनों ही भावोंसे एक ही साथ काम लेते हैं। इसपर कुछ लोग ऐसी शङ्का किया करते हैं कि 'न्याय और दया दोनों गुण एक साथ कैसे रह सकते हैं? अदालतमें न्यायासनपर बैठा हुआ जज यदि दयाके वश होकर दण्डके योग्य वास्तविक अपराधी व्यक्तिको बिल्कुल दण्ड न दे या उचितसे कम दे तो क्या उसकी न्यायमें कोई बाधा नहीं आती? अथवा यदि वह अपराधीको पूरा दण्ड दे दे तो उसकी दया वहाँ क्या बिल्कुल बेकार नहीं रह जाती है? इसी प्रकार ईश्वरके लिये भी क्यों नहीं समझना चाहिये?'

इस शंकाका उत्तर देना सहज काम नहीं है। परमात्माके गुणोंका विवेचन करना और उनपर टीका टिप्पणी करना मुझ-जैसे मनुष्यके लिये तो निरा लड़कपन ही है परन्तु अपने चित्त-विनोदार्थ परमात्माके गुणगानकी भावनासे यत्किञ्चित् प्रयत्न किया जाता है। वास्तवमें मनुष्यकृत कानूनके साथ ईश्वरके कानूनकी समता कदापि नहीं की जा सकती। मनुष्य यदि स्वार्थसे कानून नहीं बनाता तो उसपर वातावरण और परिस्थितिका प्रभाव तो जरूर पड़ता है। भविष्यके विवेचनमें वह सर्वथा निर्भूल नहीं समझा जा सकता, आसक्ति या अन्य किसी कारणवश उसमें अन्यान्य प्रकारसे भी भूलके लिये गुंजाइश रह सकती है, परन्तु ईश्वरमें भूलके लिये तनिक भी गुंजाइश नहीं है। इसके सिवा ईश्वर दया, न्याय और उदारताकी अनन्त निधि होनेके कारण उसके कानूनमें भी दया, न्याय और उदारताकी बाहुल्यता रहती है। सच्ची बात तो यह है कि जगत्को सत्य समझनेवाला मनुष्य स्वार्थहीन न होनेके कारण न्याय, दया और उदारतासे भरे कानून बना ही नहीं सकता। सब प्रकारसे स्वार्थरहित, सबके सुहृद्, दयाके समुद्र महापुरुष, जिनके सुहृदता, दया, प्रेम, वात्सल्यता आदि गुणोंका थाह ही नहीं मिलता, भले ही वैसे नियम बना सकें, साधारण मनुष्योंका तो यह काम नहीं है। अतएव यद्यपि मानवी कानूनके साथ ईश्वरीय कानूनकी तुलना तो हो ही नहीं सकती, तथापि विचार करनेपर मनुष्यमें भी दया और न्याय दोनोंका एक साथ रहना सिद्ध हो सकता है। इसके लिये कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

रामलाल नामक एक व्यापारीके दो हजार रुपये नारायणप्रसाद नामक कायस्थमें लेने थे, नारायणप्रसाद सच्चा और ईमानदार आदमी था, परन्तु कई तरहकी आपत्तियाँ आ जानेके कारण उसका सारा रोज़गार नष्ट हो गया, घरकी सारी सम्पत्ति, यहाँतक कि पत्नीके सुहागके गहने भी बिक गये और वह चालीस रुपये मासिकपर एक जगह नौकरी करने लगा। इतनी कम आमदनीमें बहुत ही मुश्किलसे उसके बड़े कुटुम्बके पेटमें अनाज पहुँचता था, परन्तु चारों ओर फैली हुई बेकारीमें अधिककी कहीं गुंजाइश ही नहीं थी। रामलालने रुपयोंके लिये तकादा शुरू किया, परन्तु नारायणप्रसाद किसी तरह रुपये नहीं दे सका। रामलालने अदालतमें नालिश कर दी। जिस जजके सामने मुकद्दमा था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह बड़ा ही नेक, कानूनका जानकार, न्यायकारी और दयालु था। नारायणप्रसादने जजकी सेवामें उपस्थित होकर कहा कि 'हुजूर! मुझे सेठ रामलालके दो हजार रुपये जरूर देने हैं, और मैं मरते दम तक उन्हें दूँगा, परन्तु इस समय मेरी बड़ी ही तंग हालत है, मेरे घरमें एक पैसा भी नहीं है, न कोई मिल्कियत ही है, आप भलीभाँति जाँच कर लें। मैं चालीस रुपये महीनेपर एक जगह नौकर हूँ, घरमें लड़के-बच्चे मिलाकर सब आठ प्राणी हैं, उनकी गुज़र बड़ी कठिनतासे होती है तथापि मैं किसी तरह कष्ट सहकर भी दो सौ रुपये सालाना किश्तके हिसाबसे रामलालजीको दूँगा। इतनेपर भी रामलालजी मुझे बाध्य करेंगे और आप जेल भेजेंगे तो मैं जेल चला जाऊँगा, पर इन्सालवेण्ट (दीवालिया) नहीं होऊँगा, पर इस हालतमें मेरे बालबच्चोंपर आफतका पहाड़ टूट पड़ेगा। हुजूरको जैसा अच्छा लगे वैसा ही करें।'

नारायणप्रसादकी सच्ची बातें सुनकर जज प्रसन्न हो गया, उसने कहा कि 'भाई, तुम अपने महाजनको समझा-बुझाकर ठीक कर लो, तुम्हारी ऐसी हालतपर उसे ज़रूर तुम्हारी शर्त मान लेनी चाहिये।' नारायणप्रसादने रामलालको बहुत समझाया, बहुत विनय-प्रार्थना की, परन्तु रामलालने कहा कि 'मैं किसी तरह नहीं मानूँगा।' अदालतमें मामला पेश हुआ। रामलालके दो हजार रुपये नारायणप्रसादको देने हैं, यह साबित हो गया। जजने जाँच करके इस बातका पता लगा लिया कि नारायणप्रसादने अपनी जो हालत बतलायी थी सो अक्षरशः सत्य है, स्वयं रामलालने भी इस बातको मंजूर किया। इसपर रामलालके मने करनेपर भी जजने नारायणप्रसादके कथनानुसार २००) सालानाकी किश्त करके उसपर दो हजारकी डिग्री दे दी। जजकी दयालुता देखकर नारायणप्रसाद विह्वल हो गया। क्या इस फैसलेमें जज अन्यायी समझा जायगा? क्या उसका यह काम रिश्वतखोरीका माना जायगा, अथवा क्या इसमें दयालुता नहीं मानी जायगी? इसमें दया और न्याय दोनों ही हैं। जब यहाँकी कानूनमें ऐसा होता है, तब श्रीभगवान् अपने भक्तको उसकी इच्छानुसार फैसला दे दें तो क्या इसमें उनकी दयालुता या न्यायमें कोई दोष आता है?

अब फौजदारीके दो उदाहरण देखिये—

गोविन्दराम और रामप्रसाद एक ही मुहल्लेमें रहते थे, वे आपसमें सदा ही तर्क-वितर्क किया करते। तर्कमें लड़ाईका डर रहता ही है। एक दिन परस्पर शास्त्रार्थमें रामप्रसादको अपने विपरीत सिद्धान्त सुनकर गुस्सा आ गया। क्रोधमें मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है। अतः उसने दो-चार हाथ जोरसे गोविन्दरामपर जमा दिये। गोविन्दरामने उसपर फौजदारी दावा कर दिया। रामप्रसादको इस बातका पता लगते ही उसने मैजिष्ट्रेटकी सेवामें जाकर सारी बातें सच-सच कह दीं। उसने कहा कि 'हम लोग धर्मके सम्बन्धमें आपसमें विवाद कर रहे थे, गोविन्दरामने मुझे न्याययुक्त ही फट्कारा था। परन्तु अपने मनके बहुत विपरीत होनेसे मुझे गुस्सा आ ही गया, जिससे मेरे द्वारा यह अपराध बन गया, जो कुछ दोष है सो वास्तवमें मेरा ही है, मुझे अपनी करनी पर बड़ा ही पश्चात्ताप है, अब आप जो कुछ आज्ञा करें वही करनेको मैं तैयार हूँ।' मैजिष्ट्रेटने कहा कि 'भाई,' मैं इसमें कुछ भी नहीं कर सकता, तुम गोविन्दरामके पास जाकर उससे क्षमा-प्रार्थना करो, वह चाहे तो तुम्हें क्षमा कर सकता है, तुम्हारे लिये यही सबसे सरल उपाय है।' मैजिष्ट्रेटकी बात सुनकर रामप्रसाद गोविन्दरामके घर गया और उसके चरणोंमें पड़कर अपना दोष स्वीकार करते हुए क्षमा-प्रार्थना की और कहा कि 'अब मैं आपकी चरण-शरण आ पड़ा हूँ, मैं जरूर अपराधी हूँ, पर मुझे छोड़ना पड़ेगा।' उसकी अनुनय-विनय सुनकर और उसके हृदयमें सच्चा पश्चात्ताप देखकर गोविन्दराम राजी हो गया और उसने मुकद्दमा उठानेकी दरखास्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दे दी। मैजिष्ट्रेटने दरखास्त मंज़ूर करके रामप्रसादको बेदाग छोड़ दिया। क्या इसमें कोई भी मनुष्य यह कह सकता है कि गोविन्दराम या मैजिष्ट्रेटने कोई अन्याय किया, या उन्होंने दया नहीं की ? एक समय भक्त अम्बरीषका अपराध करनेपर दुर्वासा मुनिको भगवान् श्रीविष्णुने भी उसीकी शरणमें भेजा था, वहाँ जानेपर अम्बरीषने चक्रसे विनय करके उनके प्राण बचा दिये थे ! दया और न्याय दोनों ही क्रियाएँ साथ साथ सम्पन्न हुईं।

शिवराम नामक एक भले स्वभावका सदाचारी मनुष्य एक गाँवमें रहता था, उसी गाँवमें एक डाकूका घर था। शिवराम कभी कभी उससे डकैतीकी घटनाएँ सुनता था। कुसङ्गका फल बहुत बुरा होता है। शिवरामका मन एक दिन ललचाया, लोभने उसकी बुद्धि बिगाड़ दी, परिणाम-ज्ञानशून्य होकर वह नन्दराम नामक गृहस्थके घर डाका डालकर तीन हजार रुपये नकद और कुछ गहना लूट लाया। आत्मरक्षाके लिये रोकनेवालोंपर दो-चार लाठियाँ भी जमा दीं।

धन लेकर घर पहुँचा और अपनी स्त्रीसे सारा हाल कहा। शिवरामकी पत्नी बड़ी साध्वी थी, उसे स्वामीके इस कुकृत्यको सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उसने चरणोंमें सिर टेककर स्वामीको धर्म सुझाया, और प्रार्थना की कि, यह धन अभी आप लौटा दीजिये। शिवराम वास्तवमें अच्छा आदमी था, वह डकैती-पेशा तो था ही नहीं, कुसंगसे उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी थी। स्त्रीके समझानेपर उसे अपना अपराध दीपककी ज्योतिकी भाँति स्पष्ट दीखने लगा। पत्नीकी सलाहसे वह तुरन्त धन लेकर कलक्टर साहेबके बंगलेपर गया और रुपये तथा गहना उनके पास रखकर आत्मसमर्पण करते हुए उसने गिड़गिड़ाकर कहा कि 'मुझसे बड़ा भारी अपराध हो गया, कुसंगसे मेरे मनमें लोभ पैदा हो गया था, जिससे मेरी मति मारी गयी, मैंने बेचारे नन्दरामको अन्यायरूपसे सताया और वह कुकर्म किया जो मेरे बापदादोंमें किसीने भी नहीं किया था। मेरा अपराध किसी प्रकार क्षम्य तो नहीं है परन्तु मैं आपके शरण हूँ, आप मुझे बचाइये, भविष्यमें मैं कभी ऐसा कुकर्म नहीं करूँगा।' कलक्टरको उसकी बातपर विश्वास हो गया, उसने सोचा कि यदि इसकी नीयत खराब होती तो माल लेकर हाज़िर क्यों होता ? कलक्टरने उसे वहीं रोककर पुलिसके द्वारा नन्दरामको बुलवाया। नन्दराम पुलिसमें इत्तिला करने जा ही रहा था कि उसको एक कनिष्ठबलने आकर कहा 'तुम्हारे घर जिसने डकैती की है, वह मालसमेत कलक्टर साहेबके बंगलेपर हाजिर है, साहेबने तुम्हें अभी बुलाया है।' माल मिलनेकी बात सुनते ही नन्दरामको बड़ी खुशी हुई और वह तुरन्त ही सिपाहीके साथ साहेबके बंगलेपर जा पहुँचा। उसे देखकर शिवरामने उसके चरण पकड़ लिये और अपना अपराध क्षमा करनेके लिये रो-रोकर प्रार्थना करने लगा। नन्दरामने उसकी एक भी नहीं सुनी और कहा कि 'तुझे जेल भिजवाये बिना मैं कभी नहीं छोड़ूँगा।' मामला कोर्टमें गया, कलक्टर साहेबके पूछनेपर शिवरामने वही बातें साफ-साफ फिर कह दीं जो उसने बंगलेपर कही थीं, इसपर साहेबने नन्दरामसे पूछा कि, 'बताओ, इसकी चालचलनके सम्बन्धमें तुम्हारा क्या खयाल है ? नन्दरामको स्वीकार करना पड़ा कि, 'मैं इसे जानता हूँ, यह अच्छे घरानेका लड़का है, डाकुओंकी संगतसे ही इसको दुर्बुद्धि पैदा हुई होगी परन्तु इसे सज़ा जरूर मिलनी चाहिये, नहीं तो यह फिर ऐसे ही काम करेगा।' कलक्टर दयालु था, वह शिवरामकी सरलता और सत्यतापर मुग्ध हो गया और उसने भविष्यके लिये सावधान करके शिवरामको छोड़ दिया।' इसप्रकार दया करनेवाला कलक्टर क्या अन्यायी समझा जायगा ? इसी प्रकार सच्चे और सरल हृदयसे भगवान्के शरण होनेपर वे भी मुक्त कर देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है, ये सब उदाहरण तो साधारण अपराधोंके हैं, खून आदिके मामलेमें विपक्षके लोग राज़ी हो जायँ तो भी न्यायकारी जज अपराधीको नहीं छोड़ सकता, यदि छोड़ देता है तो वह अवश्य ही अन्यायी समझा जाता है। इसका उत्तर देनेसे पूर्व यह समझना चाहिये, खून या मनुष्य-वध तीन प्रकारसे किया जाता है। न्यायके लिये, भूलसे, या जान-बूझकर अन्यायसे। न्यायके लिये किया जानेवाला मनुष्य-बध तो खूनके अपराधमें गिना ही नहीं जाता। निःस्वार्थ-भावसे धर्मकी रक्षाके लिये, लोकहितके लिये, न्यायरक्षाके लिये या आत्मरक्षाके लिये जो नर-वध होते हैं, उनमें तो मारनेवाला दण्डनीय ही नहीं होता। अपराधीको न्याययुक्त फाँसीकी सज़ा देनेवाले जज या फाँसीकी सज़ा पाये हुए मनुष्यको फाँसीपर लटकानेवाले जल्लादको कोई अपराधी नहीं मानता। यथार्थमें डाकुओंसे धन-प्राणको बचानेके लिये उनपर शस्त्र-प्रहार करनेवाला भी पुरस्कारका पात्र समझा जाता है। हालमें एक बंगाली युवतीने बुरी नीयतसे घरमें घुस आनेवाले एक नौजवानको मार डाला था। वह पकड़ी गयी, परन्तु कोर्टने उसके कार्यकी प्रशंसा करते हुए उसे छोड़ दिया। अवश्य ही मनुष्यके न्यायमें इस गलतीके लिये गुंजाइश रह सकती है कि वह किसी स्थलमें न्यायानुकूल कर्म करनेवालेको भी दण्डनीय समझ लेता है परन्तु अन्तर्यामी सर्वतोचक्षु परमात्माके यहाँ तो ऐसी भूलकी कोई सम्भावना ही नहीं।

दूसरे प्रकारका खून भूलसे होता है। ऐसे खूनका अपराधी कुसूरवार तो समझा जाता है, क्योंकि उसकी असावधानीसे ही नर-हत्या होती है, परन्तु उसका कुसूर उसकी अपेक्षा बहुत हल्का समझा जाता है जो जान-बूझकर स्वार्थ या वैरवश किसीके प्राण हरण करता है। ऐसा अपराधी भी चेष्टा करनेपर छूट जाता है या कोशिशकी कमीसे उसे कुछ सज़ा भी हो सकती है।

तीसरे प्रकारका खून क्रोध, लोभ, वैर आदिके कारण जान-बूझकर किया जाता है, ऐसा अपराधी कुसूर साबित होनेपर यहाँके कानूनके अनुसार प्रायः न्यायालयसे नहीं छूट सकता।

इनमें पहलेके उदाहरण तो दिये जा चुके हैं, ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। श्रीखड्गबहादुर नामक नैपाली युवकने अत्याचारी हीरालाल अग्रवालको मार डाला था, उसे हल्का दण्ड भी हो गया था परन्तु लोगोंके कहनेपर वाइसरायने उसे छोड़ दिया।

दूसरेके लिये निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है—राजपूतानेके एक गाँवमें रामसिंह नामक एक राजपूत नवयुवक जंगलमें पहाड़ीके नीचे निशाना मारना सीख रहा था, पास ही उसका मित्र सजनसिंह खड़ा था। निशानेपर मारनेके लिये वह बन्दूकका घोड़ा दबा ही रहा था कि सामनेसे एक आदमी जाता दिखलायी पड़ा, उसको बचानेके लिये उसने हाथ घुमाया, घोड़ा दब गया और गोली छूटकर पास खड़े हुए सजनसिंहके हृदयको चीरकर पार हो गयी, वह धड़ामसे गिर पड़ा। रामसिंहके होश हवा हो गये। पुलिस आयी। रामसिंह खूनके अपराधमें पकड़ा गया, एक तो उसे अपने हाथसे मित्रके मरनेका दुःख था और दूसरा यह राजसंकट! बेचारेकी बड़ी ही दुर्दशा थी। कोर्टमें मामला पेश हुआ। रामसिंहने सारी घटना सच-सच सुनाकर दुःख प्रकट करते हुए क्षमा माँगी। हाकिमने सजनसिंहके घरवालोंसे पूछा कि, 'आप लोग सच कहें, कि आपकी समझसे रामसिंहकी नीयतमें कोई दोष था या नहीं? यह जिस गलतीको बता रहा है उसके सम्बन्धमें आप लोगोंकी क्या धारणा है? उन लोगोंने कहा कि 'हम लोग भी इस बातपर तो विश्वास करते हैं कि इसकी नीयत सजनसिंहको मारनेकी नहीं थी, वह इसका मित्र भी था, हम लोग भी उस समय वहीं उपस्थित थे, परन्तु इसकी असावधानीसे वह मारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया, अतएव इसे दण्ड अवश्य मिलना चाहिये।' हाकिमने उसकी नीयत और सत्यतापर विश्वास कर आगेके लिये सतर्क करते हुए उसे बेदाग छोड़ दिया। क्या इसप्रकार दया करनेवाले हाकिमको कोई अन्यायी कह सकता है? जब मनुष्य भी इस तरह दया और न्यायका बर्ताव एक साथ कर सकता है तब शरण जानेपर न्यायकी रक्षा करते हुए ही परमात्मा उसके अपराधोंको क्षमा कर दें, इसमें क्या आश्चर्य है?

इस उदाहरणपर एक प्राचीन गाथाका स्मरण हो आता है जिसमें भूलसे अपराध करनेवाले परम धार्मिक पुरुषको भी दण्ड भोगना पड़ा था। इतिहास महाराज दशरथका है, जिनके हाथसे मातृ-पितृभक्त श्रवणकुमार मारा गया था। इस इतिहासको लेकर लोग यह प्रश्न किया करते हैं कि 'जब महाराज दशरथका भूलसे किया हुआ अपराध क्षमा नहीं हुआ तब यह कैसे माना जा सकता है कि भूलसे किये हुए अपराधीका अपराध क्षमा हो जाता है?' इस शंकाका उत्तर इतिहाससहित इसप्रकार है—

महाराज दशरथ एक समय रातको वनमें हिंसक पशुओंके शिकारके लिये गये थे। एक जगह उन्होंने नदीमें हाथीकी गर्जनाका-सा शब्द सुनकर तीक्ष्ण शब्दबेधी बाण मारा, उसी क्षण किसीके कराहनेकी स्पष्ट आवाज आयी और यह शब्द सुने कि 'अरे, मुझ निर्दोष तपस्वीको बिना अपराध किसने मारा? मैंने किसीकी क्या बुराई की थी जो इसप्रकार मुझे मार डाला, अब मेरे बूढ़े मा-बापकी कौन सेवा करेगा? उन्हें कौन खिलावे-पिलावेगा?' इन दयनीय शब्दोंको सुनकर दशरथके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई, उन्होंने घबराये हुए दौड़कर नदी-तीरपर आकर, देखा तो एक जटाधारी तपस्वी ऋषि खूनसे लथपथ पड़े हैं। दशरथके क्षमाप्रार्थना करनेपर ऋषिने कहा कि 'मेरे अन्धे मा-बाप प्यासे थे, मैं उनके लिये जल भरने आया था, घड़ा भरनेमें शब्द हुआ इसीपर तुमने बाण मार दिया। मेरे माता-पिता मेरी बाट देखते होंगे, जाकर उन्हें यह वृत्तान्त कहो, उनको प्रसन्न करो, जिससे वह तुम्हें शाप न दे दें। मेरे शरीरसे बाण निकाल दो, मुझे बड़ी पीड़ा हो रही है। तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगेगा, क्योंकि मैं श्रवणकुमार नामक वैश्य हूँ।' इसपर दशरथजीने उनका बाण निकाला और उसके निकलते ही श्रवणके प्राण भी निकल गये। राजा जल लेकर श्रवणके माता-पिताके पास गये। वे पुत्रकी प्रतीक्षा कर रहे थे, पैरोंकी आहट सुनकर उन्होंने देरसे आनेका कारण पूछा। दशरथने अपना नाम पता बताकर बड़ी ही विनयके साथ सारा हाल उन्हें सुनाया और जल पीनेके लिये प्रार्थना की। बूढ़े दम्पति एक बार मूर्छित हो गये, फिर होशमें आकर कहने लगे—'राजन्! अपना यह अशुभ कर्म तुम स्वयं आकर हमसे न कहते तो तुम्हारे सिरके हजारों टुकड़े हो गये होते। तुमने भूलसे यह कार्य किया है, कहीं जान-बूझकर करते तो समस्त रघुकुल ही नष्ट हो जाता। अब हम दोनोंको भी वहीं ले चलो।' दशरथ दोनोंको वहाँ ले गये। वे दोनों पुत्रके शरीरको स्पर्श करके वहीं गिर पड़े और भाँति भाँतिसे विलाप करने लगे। दुखी ऋषिने मरते समय कहा, 'दशरथ! जैसे मैं आज पुत्र-वियोगके दुःखसे मर रहा हूँ, वैसेही तुम्हारी मृत्यु भी पुत्र-वियोगके शोकसे ही होगी।' इतना कहकर वे दोनों भी परलोक सिधार गये।

तदनन्तर राजाने यज्ञ किया जिसके फलस्वरूप राजाके श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न ये चार पुत्र हुए। श्रीरामको वनवास हुआ और इसी पुत्र-वियोगके कारण ही राजाकी मृत्यु हुई। यह इतिहास है। इससे राजाको दण्ड अवश्य मिला परन्तु यह दण्ड वास्तवमें बहुत ही अल्प था। पुत्र वनवासी हुए न कि श्रवणकी भाँति उनका चिर-वियोग हो गया था। हमारी समझसे यदि राजा दशरथ विशेष चेष्टा करते तो सम्भवतः यह दण्ड भी क्षमा हो सकता था। राजाकी व्याकुल दशाको देखकर श्रवणने तो अपनी ओरसे उन्हें क्षमा कर ही दिया था और माता-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिताको समझानेके लिये भेजा था। इसी प्रकार श्रवणके माता-पिताकी विशेष दया हो जाती तो वहाँसे भी दशरथजी बेदाग छूट सकते थे। उन्होंने जितनी कोशिश की, उतना ही कार्य भी हुआ। कोशिश करना भी प्रायश्चित्त ही है। सम्भव है महाराज दशरथ उस समय परमेश्वरसे विशेष प्रार्थना करते और ईश्वर चाहते तो श्रवणकुमारके पिताकी बुद्धिमें पवित्रता और दयाका सञ्चार करके उनके द्वारा दशरथको क्षमा करवा देते। यदि ऐसा होता तो ईश्वरकी न्यायमें कोई भी दोष नहीं समझा जाता।

बात तो यह है कि मनुष्यके द्वारा कैसा भी अपराध क्यों न बन जाय, ईश्वरकी शरण होकर उसके अनुकूल प्रायश्चित्तादि उपाय करनेसे, बिना ही भोग किये उसके पाप क्षमा हो सकते हैं। प्रायश्चित्त आदि उपायोंसे भी फलभोगके समान ही पापोंका नाश हो जाता है, क्योंकि प्रायश्चित्त भी एक प्रकारसे भोग ही हैं।

अवश्य ही वर्त्तमानकालके कानूनमें तीसरे प्रकारके जानबूझकर बुरी नीयतसे किये हुए खूनके लिये दयाका ऐसा कोई प्रयोग नहीं मिल सकता, जिसका उदाहरण देकर ईश्वरकी दया समझायी जा सके परन्तु इतना तो सभीको मानना होगा कि सच्चे न्यायकारी प्रजाहितैषी राजाका उद्देश्य भी तो दण्डके कानून बनाने और तदनुसार दण्ड देनेमें अपराधीपर दया करना ही होता है। न्यायी राजा अपराधीको दण्ड देकर उसे शिक्षा देना और उसका सुधार करना चाहता है, द्वेषसे उसे दुःख पहुँचाना और अकारण ही उसकी हत्या करना नहीं चाहता। हत्याका उद्देश्य तो द्वेषपूर्ण और प्रतिहिंसावृत्तिवाले मनुष्यका ही हो सकता है। इतना होनेपर भी न्यायपरायण राजाकी तुलना ईश्वरके साथ कदापि नहीं की जा सकती। ईश्वरका कानून दया, सुहृदता और जीवोंके के हितसे पूर्ण होता है। हम लोग तो उसकी कल्पनातक भी नहीं कर सकते।

ईश्वरका दण्ड भी वरके सदृश होता है। ईश्वरके न्यायसे फरियादी और आसामी दोनोंका ही परिणाममें हित और उद्धार होता है, यही उसकी विशेषता है। परम दयालु परमात्माके कानूनके अनुसार जो अपराधी अपनी भूलको सच्चे दिलसे स्वीकार करता हुआ भविष्यमें फिर अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा करता है और सच्चे हृदयसे ईश्वरके शरण होकर सर्वस्वसहित अपनेको उसके चरणोंमें अर्पण कर देता है एवं ईश्वरकी कड़ी-से-कड़ी आज्ञाको—उसके भयानक-से-भयानक विधानको, उसके प्रत्येक न्यायको सानन्द स्वीकार करता तथा उसे पुरस्कार समझता है, साथ ही अपने किये हुए अपराधोंके लिये क्षमा नहीं चाहकर दण्ड ग्रहण करनेमें खुशी होता है। ऐसे सरलभावसे सर्वस्व अर्पण करनेवाले शरणागत भक्तको भगवान् अपराधोंसे मुक्त करके उसे अभय कर देते हैं। इसमें दयालु ईश्वरका न्याय ही सिद्ध होता है। ऐसे भाववाले भक्तको दण्डसे मुक्त करना ही परमात्माके राज्यका दया और न्यायपूर्ण नियम है। इसीसे भगवान्में दया और न्याय दोनों एकही साथ रहते हैं

श्रीगीताजीमें भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझको निरन्तर भजता है वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है, हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त (कदापि) नष्ट नहीं होता। इसलिये सब कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माके ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक न कर!'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्वाद व्रत

(लेखक—महात्मा गाँधीजी)

यह व्रत ब्रह्मचर्यसे निकट सम्बन्ध रखनेवाला है । मेरा अपना अनुभव तो यह है कि यदि इस व्रतका भलीभाँति पालन किया जाय तो ब्रह्मचर्य—अर्थात् जननेन्द्रिय-संयम बिल्कुल आसान हो जाय। पर आमतौरसे इसे कोई भिन्न व्रत नहीं मानता, क्योंकि स्वादको बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके हैं । इसी कारण इस व्रतको पृथक् स्थान नहीं मिला। यह तो मैंने अपने अनुभवकी बात कही। वस्तुतः बात ऐसी हो या न हो, तो भी चूँकि हमने इस व्रतको पृथक् माना है, इसलिये स्वतन्त्र रीतिसे इसका विचार कर लेना उचित है।

अस्वादके मानी हैं, स्वाद न करना। स्वाद अर्थात् रस—जायका। जिस तरह दवाई खाते समय हम इस बातका विचार नहीं करते कि आया वह जायकेदार है या नहीं, पर शरीरके लिये उसकी आवश्यकता समझकर ही उसे योग्य मात्रामें खाते हैं, उसी तरह अन्नको भी समझना चाहिये। अन्न अर्थात् समस्त खाद्य पदार्थ—अतः इनमें दूध-फलका भी समावेश होता है। जैसे कम मात्रामें ली हुई दवाई असर नहीं करती या थोड़ा असर करती है, और ज्यादा लेनेपर नुकसान पहुँचाती है, वैसे ही अन्नका भी है। इसलिये स्वादकी दृष्टिसे किसी भी चीज़को चखना व्रतका भंग है। जायकेदार चीज़को ज्यादा खानेसे तो सहज ही व्रतका भंग होता है। इससे यह जाहिर है कि किसी पदार्थका स्वाद बढ़ाने, बदलने या उसके अस्वादको मिटानेकी गरज़से उसमें नमक वग़ैरा मिलाना व्रतका भंग करना है। लेकिन यदि हम जानते हों कि अन्नमें नमककी अमुक मात्रामें ज़रूरत है और इसलिये उसमें नमक छोड़ें, तो इससे व्रतका भंग नहीं होता। शरीर-पोषणके लिये आवश्यक न होते हुए भी मनको धोखा देनेके लिये आवश्यकताका आरोपण करके कोई चीज़ मिलाना स्पष्ट ही मिथ्याचार कहा जायगा।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें पता चलेगा कि जो अनेक चीज़ें हम खाते हैं, वे शरीर-रक्षाके लिये जरूरी न होनेसे त्याज्य ठहरती हैं और यों जो सहज ही असंख्य चीज़ोंको छोड़ देता है, उसके समस्त विकारोंका शमन हो जाता है। 'पेट जो चाहे सो करावे;' 'पेट चाण्डाल है;' 'पेट कुई, मुँह सुई;' 'पेटमें पड़ा चारा तो कूदने लगा बिचारा;' 'जब आदमीके पेटमें आती हैं रोटियाँ। फूली नहीं बदनमें समाती हैं रोटियाँ ॥' ये सब वचन बहुत सारगर्भ हैं। इस विषयपर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रतकी दृष्टिसे खुराककी पसन्दगी लगभग नामुमकिन हो गयी है। इधर बचपनहीसे माँ-बाप झूठा हेत करके अनेक प्रकारकी जायकेदार चीज़ें खिला-पिलाकर बालकोंके शरीरको निकम्मा और जीभको कुत्ती बना देते हैं। फलतः बड़े होनेपर उनकी जीवन-यात्रा शरीरसे रोगी और स्वादकी दृष्टिसे महाविकारी पायी जाती है। इसके कड़ुए फलोंको हम पग-पगपर देखते हैं। अनेक तरहके खर्च करते हैं; वैद्य और डाक्टरोंकी सेवा उठाते हैं और शरीर तथा इन्द्रियोंको वशमें रखनेके बदले उनके गुलाम बनकर अपंग-सा जीवन बिताते हैं। एक अनुभवी वैद्यका कथन है कि उसने दुनियामें एक भी नीरोग मनुष्यको नहीं देखा। थोड़ा भी स्वाद किया कि शरीर भ्रष्ट हुआ और तभीसे उस शरीरके लिये उपवासकी आवश्यकता पैदा हो गयी।

इस विचारधारासे कोई घबराये नहीं। अस्वाद व्रतकी भयंकरता देखकर उसे छोड़नेकी भी जरूरत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। जब हम कोई व्रत लेते हैं, तो उसका यह मतलब नहीं कि तभीसे उसका सम्पूर्ण पालन करने लग जाते हैं। व्रत लेनेका अर्थ है, उसका सम्पूर्ण पालन करनेके लिये, मरते दमतक मन, वचन और कर्मसे, प्रामाणिक तथा दृढ़ प्रयत्न करना। कोई व्रत कठिन है, इसीलिये उसकी व्याख्याको शिथिल करके हम अपने आपको धोखा न दें। अपनी सुविधाके लिये आदर्शको नीचे गिरानेमें असत्य है, हमारा पतन है। स्वतन्त्र रीतिसे आदर्शको पहचान कर, उसके चाहे जितना कठिन होनेपर भी, उसे पानेके लिये जीतोड़ प्रयत्न करनेका नाम ही परम-अर्थ है, पुरुषार्थ है—(पुरुषार्थका अर्थ हम केवल नर तक ही सीमित न रक्खें; मूलार्थके अनुसार जो पुर यानी शरीरमें रहता है, वह पुरुष है; इस अर्थके अनुसार पुरुषार्थ शब्दका उपयोग नर-नारी दोनोंके लिये हो सकता है।) जो तीनों कालोंमें महाव्रतोंका सम्पूर्ण पालन करनेमें समर्थ है, उसके लिये इस जगत्में कुछ कार्य—कर्तव्य—है नहीं,—वह भगवान् है, मुक्त है। हम तो अल्प मुमुक्षु—सत्यका आग्रह रखनेवाले, उसकी शोध करनेवाले प्राणी हैं। इसलिये गीताकी भाषामें धीरे-धीरे, पर अतन्द्रित रहकर प्रयत्न करते चलें। ऐसा करनेसे किसी दिन प्रभु-प्रसादीके योग्य हो जायँगे और तब हमारे तमाम विकार भी भस्म हो जायँगे।

अस्वादव्रतके महत्त्वको समझ चुकनेपर हमें उसके पालनका नये सिरेसे प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये चौबीसों घण्टे खानेकी ही चिन्ता करनी आवश्यक नहीं है। सिर्फ सावधानीकी—जागृति-की—बहुत ज्यादा ज़रूरत है, ऐसा करनेसे कुछही समयमें हमें मालूम होने लगेगा कि हम कब और कहाँ स्वाद करते हैं। मालूम होनेपर हमें चाहिये कि हम अपनी स्वादवृत्तिको दृढ़ताके साथ कम करें। इस दृष्टिसे संयुक्तपाक—यदि वह अस्वाद-वृत्तिसे किया जाय—बहुत मददगार है। उसमें हमें रोज-रोज इस बातका विचार नहीं करना पड़ता कि आज क्या पकावेंगे और क्या खावेंगे। जो कुछ बना है, और जो हमारे लिये, त्याज्य नहीं है, उसे ईश्वरकी कृपा समझकर, मनमें भी उसकी टीका न करते हुए, सन्तोष-पूर्वक शरीरके लिये जितना आवश्यक हो, उतना खाकर हम उठ जायँ। ऐसा करनेवाला सहज ही अस्वादव्रतका पालन करता है। संयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा बोझ हलका करते हैं—हमारे व्रतोंके रक्षक बनते हैं। वे स्वाद करानेकी दृष्टिसे कुछ भी न पकावें, केवल समाजके शरीर-पोषणके लिये ही रसोई तैयार करें। वस्तुतः तो आदर्श स्थिति वह है, जिसमें अग्निका खर्च कमसे कम या बिलकुल न हो। सूर्य-रूपी महा अग्नि जो खाद्य पकाती है, उसीमेंसे हमें अपने लिये खाद्य पदार्थ चुन लेने चाहिये। इस विचार-दृष्टिसे यह साबित होता है कि मनुष्य प्राणी केवल फलाहारी है। लेकिन यहाँ इतना गहरा पैठनेकी जरूरत नहीं। यहाँ तो विचारना था कि अस्वाद-व्रत क्या है, उसके मार्गमें कौनसी कठिनाइयाँ हैं और नहीं हैं, तथा उसका ब्रह्मचर्यके साथ कितना अधिक निकट सम्बन्ध है। इतना ठीक-ठीक हृदयंगम हो जानेपर सब इस व्रतके सम्पूर्ण पालनका शुभ प्रयत्न करें।

क्यों बिसारा

नाथ ! क्यों बिसारा है ?

मुझ-सा पतित पीन नीच नारकी न कोई तुझ-सा न और कोई पतितोंका प्यारा है,
भवके समुद्रमें न मुझ-सा निमग्न कोई, तुझ-सा न और कोई सुखद किनारा है।
मुझ-सा न अपराधी बेईमान और कोई, तेरे बिना मुझसों को किसने उबारा है ?
मैंने जो बिसारा तुझे देव ! है स्वभाव मेरा, तूने स्वभाव निज नाथ ! क्यों बिसारा है ?

'दिनेश'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्त-गाथा

भक्तवर स्वामी हरिदासजी गायनाचार्य

जुगुल नामसों नेम जपत नित कुंजबिहारी। अवलोकत नित रहैं केलि सुखके अधिकारी॥
गान-कला-गंधर्व श्याम-श्यामाको तोषैं। उत्तम भोग लगाइ मोर मरकट तिमि पोषैं॥
नित नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दरशन आसा जासुकी।
अस आसधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदासुकी॥
(नाभाजी)

भक्तवर स्वामी हरिदास बहुत ऊँची प्रेम-निष्ठाके भक्त थे। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे और सम्राट् अकबरके समकालीन थे। कहते हैं लड़कपनसे ही आपका मन-भ्रमर श्यामसुन्दरके नव-नीरद मुखकमलके मकरन्द पानमें फँस गया था। जो एक बार इस हरि-रसका तनिक-सा स्वाद पा लेता है, उसे जगत्‌के सारे सुख—सारे रस नीरस और फीके प्रतीत होने लगते हैं। स्वामीजी बड़े ही त्यागी, निस्पृही और प्रेमी थे, आप भक्तिके प्रबल वेगको न रोक सकनेके कारण जन्म-भूमि छोड़कर श्यामसुन्दरकी लीला-भूमि वृन्दावनमें जाकर रहने लगे थे और त्रिभुवन-कमनीय प्रेमराशि भगवान् श्रीकृष्णको परम प्रियतम मानकर अपनेको उनकी चिर-संगिनी सखी समझा करते थे।

कहा जाता है कि इनका सभी समय भगवान्‌के नित्य बिहारके ध्यानमें बीतता था। खाना-पीना, सोना-उठना, गाना-बजाना सभी मानो प्यारे मनमोहनके साथ ही हुआ करता था, समय-समयकी भगवान्‌की माधुरी छवि इनके दिव्य-नेत्रोंके सामने रहती थी। ये कभी भगवान्‌की स्तुति करते, कभी उनके साथ खेलते, कभी विनोद करते, कभी सेवा करते, कभी भोजन कराते, कभी गा-बजाकर उन्हें रिझाते, कभी नाचने लगते और कभी प्रेम-विह्वल हो बाहरसे बेहोश हो जाया करते थे। ऐसी परम सुखकी स्थिति विरले ही भाग्यवान भक्तकी हुआ करती है।

एक दिन इन्हें भेंट करनेके लिये एक शिष्य बढ़िया इत्रकी शीशी लाया, उस समय स्वामीजी महाराज यमुना-तीरपर भावावेशमें स्थित थे। भक्तने लाकर आपके हाथमें शीशी दे दी, इन्होंने भी भावावेशमें ही उसे ले लिया। कहते हैं कि उस समय आप ध्यानमें श्रीव्रजकिशोरके साथ होली खेल रहे थे और भगवान् स्वयं इनके शरीरपर गुलाल मल रहे थे। स्वामीजीने इत्रकी शीशी पाते ही उसे भगवान्‌के शरीरपर उड़ेल दिया। शिष्यकी दृष्टिमें इत्र जमीनपर बालूमें गिर पड़ा। उसके मनमें कुछ खेद हुआ। कुछ समय बाद जब स्वामीजीको बाह्य-ज्ञान हुआ तब शिष्यके मनके खेदकी बातको जानकर उससे आप कहने लगे कि 'भाई, जरा जाकर श्रीबिहारीजीके दर्शन तो कर आओ।' वह तुरन्त मन्दिरमें गया, सारा मन्दिर सुगन्धसे भर रहा था और श्रीबिहारी-जीके सारे अंग इत्रसे सराबोर थे। तब उसकी आँखे खुलीं, स्वामीजीकी निष्ठापर उसे परम विश्वास हो गया और वह आकर इनके चरणोंमें गिर पड़ा। उसका इत्र लाना सफल हो गया!

एक बार एक भावुक पुरुष शिष्य बननेके लिये स्वामीजीके पास आया और उसने एक बहुमूल्य हीरा इनको भेंट दिया। स्वामीजीने इस बातको जान लिया कि इस हीरेमें इसकी बहुत आसक्ति है। जब-तक संसारकी किसी भी वस्तुमें आसक्ति और परम अनुराग बना रहता है तबतक प्रियतमोंमें परम प्रियतम साँवरेसे यथार्थ प्रेम नहीं हो सकता। यह विचारकर इन्होंने उससे कहा कि, 'जाओ, इस हीरेको तुरन्त श्रीयमुनाजीमें बहा दो।' स्वामीजीकी आज्ञानुसार उसने हीरा श्रीयमुनाजीके प्रवाहमें फेंक तो दिया परन्तु मनमें उसका खयाल बना रहा, और बहुमूल्य हीरा यों बहा देनेके कारण कुछ क्षोभ भी हुआ। स्वामीजी उसके मनकी बात जानकर सोचने लगे कि अभी इसके मनसे पत्थरका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोह हटा नहीं है, अतः उसका हाथ पकड़कर उसे एक घने जंगलमें ले गये और वहाँ उसे हीरोंके ढेर दिखाकर कहने लगे कि 'भाई ! यदि तुम्हारा इन पत्थरोंमें प्रेम है तो चाहे जितने उठा लो परन्तु यह खयाल रखना कि ये सारे पदार्थ भगवत्-प्रेमकी प्राप्तिमें बड़े ही बाधक हैं। जहाँ भोगोंमें प्रेम बना है, वहाँ भगवान्‌में प्रेम कहाँ है ? ये जगत्‌के पदार्थ भगवत्-प्राप्तिके मार्गमें मानो लुटेरे हैं, जबतक तुम इनके फेरमें पड़े रहोगे तब तक न तो श्रीहरिके चिन्ता-हरण चरणारविन्दोंमें तुम्हारा चित्त अचलरूपसे लगेगा और न तुम परमानन्द-सिन्धुकी सुधा पीकर कृतार्थ ही हो सकोगे। अतएव यदि भव-भय-हारी श्रीहरिको चाहते हो तो सच्चे सुखको हरण करनेवाले इन पत्थरके हीरोंसे चित्तको हटा लो।'

इस अद्भुत दृश्यको देख और स्वामीजीके उपदेश-को सुनकर उसका चित्त विषयोंसे हट गया और वह सम्पूर्णरूपसे इनके शरणागत हो गया। योग्य अधिकारी समझकर स्वामीजीने उसे दीक्षा दी और साधनाका सुगम मार्ग बताकर कृतार्थ कर दिया।

स्वामीजी महाराज संगीतके महान् अनुभवी आचार्य थे। अकबरके दरबारी प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन आपके ही शिष्य थे। तानसेनकी संगीत-कलापर मुग्ध होकर एक दिन अकबरने उससे गुरुका नाम पूछा और तानसेनके यह कहनेपर कि 'मेरे गुरु भगवद्भक्त स्वामी हरिदासजी हैं और वृन्दावनमें निवास करते हैं' अकबरने उनके दर्शन करना चाहा। तानसेनने कहा, 'हुजूर ! उन्हें यहाँ बुलाना तो असम्भव है, क्योंकि वे धन-मानकी तनिक भी परवा नहीं करते, आपकी इच्छा हो तो आप स्वयं वहाँ चलिये।' अकबर तानसेनको साथ लेकर स्वामीजीकी कुटियापर गये। स्वामीजी उस समय भगवान्‌के सामने प्रेमविभोर हुए एक पद गा रहे थे। अकबर उसे सुनकर चकित हो गये। फिर तानसेनने एक पद गाया और जान-बूझकर उसमें दो एक जगह सुरताल भंग कर दिया। इसपर स्वामीजी महाराज स्वयं उसी पदको गाने लगे। पद सुनकर सभीका चित्त भगवत्प्रेमसे भर गया। अकबरने स्वामीजीकी सेवामें बहुत कुछ भेंट करना चाहा परन्तु निःस्पृही हरिदासजीने कुछ भी ग्रहण नहीं किया। तानसेनके साथ सम्राट् अकबर दिल्ली लौट आये। एक दिन अकबरने तानसेनसे फिर वही पद गवाया परन्तु उनको वैसा आनन्द नहीं मिला। तब बादशाहने तानसेनसे कहा कि उस दिन इस पदको सुननेमें बड़ा भारी आनन्द आया था, आज वैसा क्यों नहीं हुआ ?' तानसेनने कहा, 'जहाँपनाह ! मुझमें वह रस कहाँसे आ सकता है ? स्वामीजी महाराजके भगवान्‌के प्रेमके वश हो त्रिभुवननाथको अपना गान सुना रहे थे और मैं दिल्लीके बादशाहको रिझानेके लिये गा रहा हूँ। यही इसका प्रधान कारण है।' बादशाहने भी सोच-कर इस बातको ठीक ही समझा।

स्वामीजीने पद भी बहुत-से बनाये हैं। श्री-राधेश्यामके विहारसम्बन्धी आपके बहुत-से पद हैं, उस पदावलिको 'केलिमाला' कहते हैं। सिद्धान्त-पर भी आपने बहुत-से पद बनाये हैं। आपके पदोंमें पिंगलसंगत कुछ भूलें प्रतीत होती हैं, परन्तु उनमें भक्ति और प्रेमका जो स्रोत बहता है, उसमें सारी भूलें बह जाती हैं। संगीतके रूपमें आपके पद पूरे उतरते हैं। आपके सम्प्रदायका नाम टट्टी-सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायमें बहुत अच्छे अच्छे त्यागी, प्रेमी और अनुभवी महात्मा हो चुके हैं। आपका चेतावनीका एक पद यह है—

हरिके नामको आलस क्यों,
करत है रे काल फिरत सर साँधै।
हीरा बहुत जवाहिर संचे, कहा भयो हस्ती दर बाँधै॥
बेर कुबेर कछू नहिं जानत, चढ़ो फिरत है काँधै।
कह हरिदास कछू न चलत जब, आवत अन्तकी आँधै॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने-प्रति !

[लेखक–पं० श्री रामसेवकजी त्रिपाठी संपादक 'माधुरी']

(१)

दिल औरका, आँख है औरहीकी,
तो वृथा यह जोग जगाया करो।
और छोड़के पारस, पत्थरसे–
अपनी तक़दीर लड़ाया करो।
लगी आँख न श्यामली मूर्तिसे तो–
यह जीवन व्यर्थ गँवाया करो।
मिलना यदि चाहते मोहनसे,
उनके गुण "सेवक" गाया करो।

(२)

मन फेरो जो झूठे प्रलोभनोंसे,
तो यहाँ फिर शान्ति ही और मिले।
उलझे जो रहो भ्रम-जालमें तो–
तुमको बस, भ्रान्ति ही और मिले।
पड़ो फेरमें जो याँ फ़रेबियोंके,
तो दग़ाके सिवा क्या जो और मिले।
मनसे जो मिलो मन-मोहनसे,
मिलनेका मज़ा कुछ और मिले।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक–स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी महाराज)

१–मन आत्मशक्ति है। मनहीके द्वारा ब्रह्म विजातीय द्रव्योंके साथ भिन्नात्मक जगत्‌के रूपमें प्रतिभासित होता है।

२–यह सूक्ष्म, सात्त्विक, अपञ्चीकृत तन्मात्राओंसे निर्मित है।

३–सांख्यदर्शनके अनुसार यह अहङ्कारके सात्त्विक अंशसे उत्पन्न हुआ एक तत्त्व है।

४–छान्दोग्य उपनिषद्‌के अनुसार मन अन्नके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशसे निर्मित होता है।

५–इसीलिये ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि भोजनकी शुद्धिसे मनकी शुद्धि होती है।

६–न्यायदर्शनके अनुसार मन अणु है। महर्षि पतञ्जलिके राजयोगके अनुसार विभु है और वेदान्तके अनुसार वह न अणु है और न विभु, अर्थात् मध्यम परिमाणवाला है।

७–चेतना, विचार और सङ्कल्प मनके तीन गुण हैं।

८–निश्चय, चिन्तन और इच्छा–तीन मानसिक क्रियाएँ हैं।

९–संघटनके नियम, सातत्यके नियम और सापेक्ष्यके नियम–ये तीन प्रधान मानसिक नियम हैं।

१०–राग, द्वेष और तटस्थवृत्ति—तीन मानसिक प्रधान वृत्तियाँ हैं।

११–मल, विक्षेप और आवरण तीन मानसिक दोष हैं।

१२–राग और द्वेष मनके दो प्रधान भाव हैं, और सब भावोंका समावेश इन्हीं दोनोंके अन्दर हो जाता है।

१३–हर्ष और शोक मनकी दो दशाएँ हैं।

१४–धार्मिक भावना, नैतिक भावना और उच्च तथा सौन्दर्य भावना, ये मनकी तीन प्रधान भावनाएँ हैं।

१५–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये छः मानसिक विकार हैं।

१६–मनकी सोलह वृत्तियाँ हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, दर्प, दम्भ, असूया, ईर्ष्या, अहङ्कार, राग, द्वेष, इच्छा, श्रद्धा और भक्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनमें पहली तेरह वृत्तियाँ मनुष्यको संसारके बन्धनमें डालती हैं और अन्तिम दो वृत्तियाँ मनुष्यको बन्धनसे मुक्त होनेमें सहायता करती हैं। क्षुधा और तृषाकी तृप्तिके लिये जो इच्छा होती है उसका नियमन नहीं हो सकता। वह शरीरके अन्ततक बनी रहती है।

१७-बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये मनके तीन स्वरूप हैं।

१८-उपनिषदोंके उपदेशानुसार शुद्ध या सात्त्विक और अशुद्ध या काम्य-भेदसे मन दो प्रकारका होता है।

१९-मनका जीवन-सञ्चार आध्यात्मिक प्राणके कम्पनके द्वारा होता है।

२०-अन्तःकरण वेदान्तियोंका एक पारिभाषिक शब्द है जिसके अन्दर मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारका समावेश हो जाता है। यह वृत्ति भेद या मनके क्रियात्मक स्वरूपमात्र हैं। उदाहरणार्थ एक मनुष्य जब न्यायालयमें न्याय करनेके अधिकारको लेकर बैठता है तब वह निर्णायक (जज) कहलाता है, जब पाकशालामें भोजन बनाने बैठता है तो पाचक कहलाता है और वही जब किसी सभामें सभापतिके आसनको ग्रहण करता है तो सभापति कहलाता है। मनुष्य एक ही है परन्तु विभिन्न कार्यों और गुणोंके कारण वह विभिन्न नामोंसे पुकारा जाता है। इसी प्रकार जब मन सङ्कल्प-विकल्प (इच्छा, विचार और संशय) में लीन रहता है 'मन' कहलाता है; जब यह विवेक-पूर्वक कोई निर्णय करता है तो इसे 'बुद्धि' कहते हैं, और जब यह निजत्वके अभिमानमें रहता है तो 'अहङ्कार' कहलाता है, एवं जब संस्कारोंके कोषागार या स्मृति-संस्थानके रूपमें आता है तो यही 'चित्त' बन जाता है।

२१-कुछ लोग चित्तका मनके अन्दर और अहङ्कारका बुद्धिके अन्दर समावेश मानते हैं।

२२-सङ्कल्प-विकल्प ही मनका स्वरूप है।

२३-वेदान्तके अनुसार मनका स्थान हृदय है। जाग्रत दशामें यह मस्तिष्कमें रहता है।

२४-हठयोग-सिद्धान्तके अनुसार मनका परीक्ष्य स्थान युगल-भ्रूके मध्य स्थित आज्ञा-चक्र हैं, जो दो पद्मोंसे निर्मित है।

२५-इस चक्र (आध्यात्मिक शक्ति-केन्द्र) में ध्यान तथा धारणाके द्वारा सहज ही मन वशमें किया जा सकता है।

२६-प्राण मनका वाह्य परिधान है। प्राण स्थूल है और मन सूक्ष्म है।

२७-मन, प्राण और वीर्य एक ही सूत्रमें ग्रथित हैं। इनमेंसे यदि किसी एकका संयमन हो जाय तो शेष दो अपने आप अनायास संयमित हो जाते है।

२८-आसक्ति, तृष्णा, संस्कार और वासनाके बलसे मन मनुष्यके ऊपर अपना प्रभुत्व जमाता है।

२९-वासनाके क्षयसे मनोनाश हो जाता है।

३०-मनोनाश दो प्रकारका होता है। स्वरूप मनोनाश—मनके स्वरूपका नाश होना जैसा जीवन्-मुक्त पुरुषोंकी दशामें होता है। अरूप मनोनाश—मनके अस्तित्वका ही नाश हो जाना जैसा विदेह-मुक्त पुरुषोंकी दशामें देखा जाता है जब वे अपने भौतिक शरीरका त्याग कर देते हैं।

३१-मनके सङ्कल्प (विचार) ही क्लेश हैं। इनका अभाव ही ब्रह्मानन्द है। सतत प्रयत्न और विवेक शक्तिके द्वारा सङ्कल्पके बादल, सङ्कल्पके धब्बेको मिटा दो और आध्यात्मिक प्रकाशसे ब्रह्मानन्दके समुद्रमें गोते लगाओ।

३२-मनकी नीच वृत्तियोंका यह दुष्ट और शक्तिशाली पिशाच ही सब प्रकारके दुःख और भय-को उत्पादन करता है। और सभी दिव्य एवं आध्यात्मिक सम्पत्तिका नाश कर डालता है। प्रणवमें सतत विचार और ध्यानके द्वारा इस मनका नाश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर डालो और अपने निजस्वरूप सत्-चित्-आनन्दमें सानन्द निवास करो।

३३-मनको मुक्तिके लिये उपयोगी बनाना चाहिये, इसको ऐसा बनाना चाहिये कि जिससे अधिष्ठान परम पिता परब्रह्मकी प्राप्ति हो सके। एतदर्थ उपासना, वेदान्तके ग्रन्थोंका स्वाध्याय, वेदान्तानुकूल साधना, ॐकारका ध्यान तथा निष्काम कर्मके द्वारा मल, विक्षेप और आवरणरूप मनके तीनों दोषोंको दूर करो।

३४-मन, निमिषमात्रमें अखिल विश्वके क्षय और उदय करनेकी क्षमता रखता है। इसलिये इस आत्मघाती मनको, वासनाके नाश या प्राणसंयमनके द्वारा मारो, नष्ट कर दो।

३५-इस आज्ञानी मनका, आचार्यों और आत्मज्ञानियोंके ग्रन्थों,-जैसे उपनिषद्, गीता, योगवाशिष्ठ, ब्रह्मसूत्र, आत्मपुराण, सर्ववेदान्त-सिद्धान्त-सार-संग्रह, श्रीशङ्कराचार्यकृत अपरोक्षानुभूति प्रभृति ग्रन्थोंके निरन्तर स्वाध्यायद्वारा संहार कर दो।

३६-मनका विनाश या तो प्राण-संयमन (हठयोगकी क्रिया) से हो सकता है या महर्षि पतञ्जलिके 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के आधारपर चित्तकी वृत्तियोंके निरोध (राजयोगकी क्रिया) से हो सकता है। मनके संयमनसे प्राणका विनयन होता है और प्राणके संयमनसे मनका विनयन होता है; क्योंकि प्राण और मनका एकत्व है। यदि आप वायुको रोक लें तो प्रकाश रुक जायगा और यदि आप प्रकाशको रोक दें तो वायुका अपने आप शमन हो जायगा। मन और प्राणके बीचमें भी इसी प्रकारका सम्बन्ध है। ध्यानके समय श्वासकी गति मन्द होने लगती है। जो लोग ध्यानका अभ्यास करते हैं वे इस तथ्यका अनुभव कर सकते हैं। इससे ज्ञात होता है कि जब मन एकाग्र किया जाता है तब प्राण बिना किसी प्रयत्नके अपने आप स्थिर होता जाता है।

३७-आत्मानुभवके द्वारा भी मनका नाश हो जाता है और अनन्त आनन्दकी प्राप्ति होती है। इसप्रकारके अनुभवमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन एक हो जाते हैं।

३८-ज्ञानियोंका मन मन नहीं कहा जाता; उसे केवल तत्त्व कह सकते हैं। जो विभिन्न विषयोंके साथ विभिन्न रूप धारण करता है वही मन है। जिसप्रकार रसायनिक क्रियासे ताँबा स्वर्णके रूपमें बदल दिया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषोंका मन निर्दोष हो जाता है।

३९-मनके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम।

४०-इन तीनों गुणोंके द्वारा मनमें तीन वृत्तियाँ होती हैं, शान्तिवृत्ति सत्त्वगुणसे उद्भूत होती है। घोरवृत्ति रजोगुणसे, और मूढ़वृत्ति तमोगुणसे उत्पन्न होती है। समता या समदर्शित्व शान्तवृत्ति है। क्रोध घोरवृत्ति है। आलस्य, प्रमाद और तन्द्रा, मढ़वृत्तियाँ हैं।

४१- क्रोध लिङ्ग या सूक्ष्म शरीरमें रहता है। किन्तु जैसे मिट्टीके घड़ेसे छिद्रों द्वारा जल उसकी बाहरी सतहपर [illegible]ना है। ठीक उसी तरह इस स्थूल शरीरमें आवि[illegible] होता है।

४२-मन, बुद्धि और चित्त—ये लिङ्ग-शरीरमें रहते हैं परन्तु वे भौतिक मस्तिष्कमें अपने-अपने केन्द्रसे अपनी-अपनी क्रियाएँ करते रहते हैं।

४३-मन सदा नानात्व और नवीन संवेदनकी इच्छा करता है, एक-रसतासे यह उद्विग्न हो जाता है।

४४-मनमें कौतूहल ही इच्छा बन जाता है। इच्छाके पूर्व राग और अनुभूति आते हैं। आशा और प्रतीक्षा मनको पुष्ट करते हैं।

४५-मन सदा सुखके पीछे दौड़ता है, क्योंकि यह आनन्दसे उत्पन्न हुआ है।

४६-द्वैत तो मनका स्वभाव ही है। एकत्वकी मर्यादामें यह कभी सोच ही नहीं सकता। केवल चित्तशुद्धि और वेदान्तिक साधनाद्वारा ही यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकत्व-मर्यादामें सोचनेके लिये अनुशासित किया जा सकता है।

४७-मनकी रचना ही इसप्रकारकी हुई है कि यह अन्तकी ओर दौड़ता है। केवल साधना या आध्यात्मिक अभ्यासोंके द्वारा ही यह समताकी अवस्थामें लाया जा सकता है।

४८-मन अपने स्वभावसे ही एक-पक्षीय है, केवल अभ्यास या अनुशासनके द्वारा ही पूर्ण उन्नति प्राप्त हो सकती है।

४९-मन एक द्वारपाल या रक्षक है जो केवल एक मनुष्य या एक प्रकारके इन्द्रिय-कम्पनको ही एक समयमें मानसिक कार्यालयमें प्रवेश होने देता है। एक मनुष्यका एक ही समयमें सुनना और देखना नहीं हो सकता। एक मनुष्यमें एक समयमें केवल एक ही भाव आता है। मन उस भावको चुनता है, उसमें प्रवृत्त होता है और फिर उसे छोड़ता है।

५०-मन एक ऐडवोकेट है जो सम्पूर्ण तथ्योंको एकत्र कर ऐन्द्रिय प्रणालीके द्वारा प्रधान जज बुद्धिके सामने निर्णयके लिये रखता है। बुद्धिसे आज्ञा प्राप्त करके उसके सम्पादनके लिये कर्मेन्द्रियोंके पास सन्देश भेजता है। मन अन्धकारमें टटोलता फिरता है। यह सङ्कल्प-विकल्पात्मक है। केवल बुद्धि ही विचार करती है।

५१-ध्यान-शक्तिके द्वारा ही मन अपने सारे क्रिया-कलापोंको सम्पादित करता है। ध्यान इच्छा-शक्तिका आधार है। इसलिये ध्यान-शक्तिका उत्कर्ष करो। ध्यान-शक्तिवृद्धा वस्थामें दुर्बल हो जाती है।

५२-दुःखमें मन सङ्कुचित होता है और आनन्द-में इसका विकास होता है।

५३-वास्तवमें मन ही देखता है, रस लेता है, सूँघता है, सुनता है और स्पर्श करता है।

५४-मनोलय (अन्तप्राप्ति अवस्था) कार्यका कारणमें लय हो। जाना है स्वप्नावस्थामें मन स्वोद्भूत वासनाओंके साथ प्रकृतिमें लीन हो जाता है।

५५-संवेदनात्मक मन, चेतनात्मक मन और अन्तर्ज्ञानात्मक मन-ये मनकी तीन अवस्थाविशेष हैं।

५६-मनके दो विभाग हैं, संकल्पात्मक और वेदनात्मक-विभाग। संकल्पात्मक-विभागको बन्द करना आसान है पर वेदनात्मक विभागको उसकी क्रियासे पृथक् करना अत्यन्त कठिन है।

५७-बोध, संवेदन, स्मृति, कल्पना, विवेक, निर्णय और इच्छा, ये मनकी छः शक्तियाँ हैं।

५८-शब्दके द्वारा ही मन गतिशील होता है। ध्यानमें शब्द मनको बहुत बाधा पहुँचाता है। सार्थक शब्द निरर्थक शब्दकी अपेक्षा अधिक बाधक होता है। एक अविच्छिन्न शब्द, जैसे नदीकी मूक कलकल ध्वनि वैसी बाधक नहीं होती जैसी असम्बद्ध, आकस्मिक, तीक्ष्ण और विच्छिन्न ध्वनि होती है। मन उस शब्दको अनुभूत नहीं करता जो इसके व्यवहारमें हो जाता है। घड़ीका टिक-टिक शब्द उसके बन्द होने पर ही अनुभूत होता है। शब्द ही मनको विचारमें प्रवृत्त करता है।

५९-जब मन काममें लगा रहता है तो बुद्धि और अहङ्कार भी उसके साथ-साथ काम करते हैं। मन, बुद्धि और अहङ्कार प्रकृत सहकारितामें काम करते हैं।

६०-एक विषय वाह्य उत्तेजनाके द्वारा मनमें संस्कारोंको पुनरङ्कित या जागृत करता है। अतएव सङ्कल्प या विचार विषयीके रूपमें आभ्यन्तरसे बिना किसी वाह्य उत्तेजनाके उठता है। जब तुम एक गायके विषयमें विचार करते हो-जिसे तुमने पहले देखा है तो तुम मनमें 'गाय' शब्दको दुहराते हो। तभी मानसिक रूप उपस्थित होता है। तब एक विचार निर्मित होता है। संस्कारके कारण सङ्कल्प हैं और सङ्कल्पके कारण संस्कार हैं। यह प[ा]रिक्रिक है या अन्योन्याश्रय हेतु हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक वैसे ही जैसे वृक्षका कारण बीज है और बीजका कारण वृक्ष है।

६१-मन, इन्द्रिय या केन्द्र और करण (बाह्य करण) सभी भौतिक चक्षुके समान संयोजित होने चाहिये तभी किसी विषयका बोध सम्भव है।

६२-मनकी तीन दशायें हैं—क्रियात्मक, भावात्मक और उदासीन।

६३-मन जड़ है परन्तु ब्रह्मसे प्रकाश लेकर ठीक वैसे ही चेतनवत् प्रतीत होता है जैसे जल सूर्यसे प्रकाश लेकर सूर्याभिमुख प्रकाशित होता है।

६४-मनोनिरोधमें वृत्ति या विचार नहीं होते। बल्कि वहाँ शून्यवृत्ति होती है। संस्कार नष्ट या दग्ध नहीं होते हैं।

६५-विक्षिप्त, मूढ़, क्षिप्त, एकाग्र और निरोध ये योगकी पाँच भूमिकाएँ हैं। मन या चित्त इन्हीं पाँच विभिन्न रूपोंमें प्रतिभासित होता है। विक्षिप्त-दशामें चित्त-रश्मियाँ विभिन्न विषयोंमें बिखरी होती हैं। मन अस्थिर रहता है और एक विषयसे दूसरे विषयपर दौड़ता रहता है। मूढ़ मनकी स्तब्ध दशा है। क्षिप्त सञ्चित मन है। एकाग्रताके अभ्याससे मन स्वयं केन्द्रीभूत होनेके लिये सचेष्ट होता है। एकाग्रतामें इसका एक लक्ष्य होता है। उस समय केवल एक भाव रहता है। निरोध-दशामें मन पूर्ण नियन्त्रित रहता है।

६६-प्रत्येक विचार अपनी निजकी मानसिक मूर्तिमें रहते हैं।

६७-मनकी तीन अवस्थायें हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति।

६८-स्वप्नावस्थामें मन स्वयं जाग्रत्-दशाके अनुभवोंसे प्राप्त सामग्रीसे कुछ रूपान्तरके साथ स्वाप्नसृष्टि रचता है।

६९-'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' केवल मन ही मनुष्यकी मुक्ति और बन्धनका कारण है।

७०-यदि मन और प्राण लुप्त हो जायँ तो किसीके अन्दर विचार नहीं उठेंगे। यह दोनों फूल और उसके सुगन्ध अथवा तिल और उसके अन्दर तेलके समान एक ही हैं। प्राण और मन पोषक और पोष्यके सम्बन्धसे एक दूसरेके साथ रहते हैं। यदि इनमेंसे एक भी नष्ट कर दिया जाय तो दूसरा स्वतः लुप्त हो जायगा। इन दोनोंके सर्वथा नाशसे सब प्रकारकी मुक्ति प्राप्त होती है।

७१-जबतक एक मनुष्यका चिन्तन दृढ़ अभ्यासके द्वारा पूर्णतया नष्ट नहीं किया जाता तबतक उसे एक समय किसी एक तथ्यपर अपने मनको एकाग्र करना चाहिये। इसप्रकारके निरन्तर अभ्याससे मनको एकाग्रता प्राप्त होगी और तब चिन्तासमूह लुप्त हो जायँगे।

७२-'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' (पातञ्जलयोग समाधिपाद ३२) इस विक्षेप और अन्य विभिन्न बाधाओंको जो मनकी एकाग्रतामें बाधक होती हैं, दूर करनेके लिये किसी एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये।

७३-मन 'एक महान् पक्षी' है, क्योंकि यह एक विषयसे दूसरे विषयपर ठीक वैसे ही कूदता है, जैसे पक्षी एक टहनीसे दूसरी टहनीपर या एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर फुदकते रहते हैं।

७४-मनकी गतिका खूब सावधानीके साथ निरीक्षण करो, यह प्रलोभन देता है, बढ़ावा देता है, मुग्ध करता है, व्यर्थ ही शङ्कित करता है, व्यर्थ ही भय दिखलाता है, व्यर्थ ही संत्रस्त होता है और व्यर्थ ही अनिष्ट ज्ञापन करता है। लक्ष्यसे ध्यानको हटानेके लिये यह अपनी शक्तिभर कोशिश करता है। यह तरह-तरहके धोखे देता है। जब आप एक बार इसकी गतिका निरीक्षण करते हैं तो यह चोरके समान छिपने लगता है और फिर आपको आपद-ग्रस्त नहीं करता। (क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य और जीवन-संग्राम

(लेखक—श्रीअरविन्द)

अतएव गीताकी उदार शिक्षाको हृदयङ्गम करनेके लिये, गीता, जगत्‌के प्रकाश्यस्वरूप और पद्धतिको जिस निर्भयतासे अवलोकन करती है, उसे समझना होगा। कुरुक्षेत्रके दिव्य सारथी भगवान्, एक ओर तो समस्त जगत्‌के ईश्वर, सब जीवोंके बन्धु और सर्वज्ञ गुरुरूपेण प्रतीयमान हैं, और वही दूसरी ओर लोगोंका विनाश करनेवाले भीषण काल हैं—'लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।' गीताने इस विषयमें उदार हिन्दू-धर्मके मर्मका अनुसरण करते हुए इसे भी भगवान्‌के नामसे सम्बोधित किया है, वह जगत्-रहस्यकी इस दिशाको दबाकर रखनेकी चेष्टा नहीं करती। कुछ लोगोंका मत है कि यह जगत् जड़शक्तिकी अन्धक्रिया मात्र है। दूसरे कहते हैं यह दृश्यमान जगत् सत्य नहीं है, मिथ्या है,—सनातन, अक्षर, अद्वितीय आत्मामें स्वप्नवत् भासमान माया मात्र है। किन्तु गीता सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करती है एवं कहती है कि उन्होंने ही विश्वका विकास किया है और वही विश्वरूपसे आत्मप्रकाश कर रहे हैं, वे माया, प्रकृति या शक्तिके दास नहीं हैं, इनके प्रभु हैं। उनकी इच्छाके विरुद्ध जगत्‌में कुछ भी नहीं हो सकता, अतएव जगत्-पद्धतिके किसी विशेष अंशके लिये उनके सिवा और कोई उत्तरदायी नहीं है। जो गीताके इस मतको स्वीकार करते हैं उन्हें पहलेसे ही अति कठिन विश्वास रखकर अग्रसर होना होगा। जगत्‌में देखा जाता है कि अज्ञात विशाल शक्तिसमूह परस्परमें विरोध करके, दृश्यरूपमें अशेष अस्तव्यस्त सृष्टि करते हैं, इस जगत्‌में कोई भी जीवन अनवरत परिवर्तन या मृत्युसे भिन्न दशामें नहीं रह सकता, चारों ओर व्यथा, यन्त्रणा, अमङ्गल और ध्वंसका भय लगा हुआ है—इन सबके भीतर सर्वव्यापी भगवान्‌को देखना होगा—यह स्मरण रखना होगा कि इस रहस्यका निश्चय ही कोई समाधान है, इस अज्ञानके ऊपर अवश्य ही ऐसा ज्ञान है जिसके द्वारा सबका सामञ्जस्य समझा जा सकता है। इसी विश्वासपर निर्भर करके खड़े होना पड़ेगा—'भले तुम मृत्युरूपमें ही आओ, तथापि मैं तुम्हारे ही ऊपर निर्भर करूँगा।' जगत्‌में जिन-जिन धर्ममतोंके अनुसार मनुष्य चलते हैं, उनके अन्दर न्यून या अधिक स्पष्टभावसे यही विश्वास निहित है।

मानव-जीवनमें जो विरोध और युद्ध लगा हुआ है, वही समय-समयपर कुरुक्षेत्रके समान महान् सन्धिरूपमें परिणत होता है, यह भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा। मानव-जातिके इतिहासमें बीच बीचमें ऐसे युगान्तर और सन्धिक्षण उपस्थित होते हैं जब कि धर्म, शिक्षा, समाज, राजनीतिप्रभृति विषयोंमें विशाल ध्वंस और पुनर्गठनके लिये महाशक्ति-समूहका संघात उपस्थित हुआ है। साधारणतः ऐसा युगान्तर भीषण युद्ध और रक्तपातके द्वारा ही संघटित होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसप्रकारकी युग-सन्धिको गीता-शिक्षाका हेतु बनाया गया है। जगत्में इसप्रकारके भीषण युग-परिवर्तनकी आवश्यकताको स्वीकार करके ही गीता अग्रसर होती है। गीता नैतिक जगत्में पाप और पुण्य-के विरोध, शुभ और अशुभके विरोधको जिस प्रकार स्वीकार करती है उसी प्रकार साधु और असाधुके बीच शारीरिक युद्धको भी स्वीकार करती है।

हमें भूलना नहीं होगा कि गीता जिस समय रची गयी थी, उस समय आजकी अपेक्षा मानव-जीवनमें युद्ध और भी अधिक प्रयोजनीय था और जीवनमेंसे ऐसा युद्ध कभी उठ सकता है इस बातको स्वप्नमें भी कोई सोच नहीं सकता था। सब मनुष्योंमें परस्पर पूर्णतः सद्भाव नहीं होनेसे स्थायी और प्रकृत शान्ति कभी सम्भव नहीं। इसप्रकारके सद्भाव और सर्वव्यापी शान्तिका आदर्श उस समय मनुष्य क्षणमात्रके लिये भी नहीं ग्रहण कर सका था, क्योंकि समाजमें, धर्ममें और आध्यात्मिकतामें मानव-जाति उस समय इसके लिये प्रस्तुत नहीं थी,–प्रकृति भी इसप्रकारके विधानको सहन करने योग्य अवस्थापर नहीं पहुँची थी। यहाँतक कि आज हम जो कुछ अग्रसर हुए हैं इसमें भी पारस्परिक स्वार्थमें, कुछ सामञ्जस्य स्थापन करके, निकृष्ट प्रकारके युद्ध और विरोधोंसे हाथ हटा लेनेके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सके हैं। इतना-सा करनेके लिये भी स्वभाव-वश मानव-जातिको जो नृशंस युद्ध और रक्तपातकी अवतारणा करनी पड़ी है, इतिहासमें उसकी तुलना और कहीं नहीं है। इस फलकी भित्ति भी मानव-चरित्रके किसी गम्भीर परिवर्तनके ऊपर स्थापित नहीं हुई है। अर्थनैतिक असुविधा, प्राण-हानि न करनेकी इच्छा, युद्धकी विपदाएँ और भीषणताएँ इन्हीं सब बातोंको सोचकर राजनीतिक व्यवस्थाओंके द्वारा शान्ति-रक्षाकी जो व्यवस्था की गयी है, उसकी नींव खूब दृढ़ है और वह अधिक दिन स्थायी होगी–ऐसा नहीं जान पड़ता। एक दिन ऐसा आवेगा, निश्चय ही आवेगा, जब मानव-जातिकी आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक अवस्था सर्वव्यापी शान्ति-के अनुकूल होगी किन्तु जबतक ऐसा नहीं होता, तबतक धर्मको ही युद्ध एवं योद्धाके रूपमें मनुष्य-कर्त्तव्यकी मीमांसा करनी पड़ेगी। भविष्यमें मानव-जीवनका स्वरूप कैसा हो सकेगा केवल इसी बात-पर विचार न करके, इस समय वास्तविक रूप क्या है–गीता उसीको पकड़ती है और यह प्रश्न उठाती है कि युद्धके साथ आध्यात्मिक जीवनके सामञ्जस्यकी रक्षा कैसे की जा सकती है।

इसीलिये गीताकी शिक्षा एक क्षत्रियके प्रति कही गयी है। युद्ध और देश-रक्षा ही क्षत्रियका धर्म है। समाजके अन्य कार्योंमें लगे रहनेके कारण जो लोग अपनी रक्षाकी व्यवस्था नहीं कर सकते उन लोगोंको हमला करनेवालोंके हाथसे बचानेके लिये क्षत्रियको युद्ध करना पड़ता है। दूसरी बात यह है, दुर्बल और निर्यातित लोगोंकी रक्षा करनेके लिये एवं जगत्में न्याय और धर्मकी सुप्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिये क्षत्रियको युद्ध करना पड़ता है। भारतमें क्षत्रिय केवल सैनिक ही नहीं हैं—धर्म और समाजकी रक्षा करना उनका धर्म है, स्वभावसे ही वे आर्त्तोंके रक्षक, देशके पालनकर्त्ता और राजा हैं। यद्यपि गीताके सार्वजनीन साधारण भाव और उपदेश ही हमारे लिये सर्वापेक्षा मूल्य-वान हैं तथापि जिस विशिष्ट भारतीय समाज और सभ्यताके मध्य इसकी उत्पत्ति हुई थी उसपर भी विचार करना कर्त्तव्य है। वर्तमान समाज-तन्त्रसे वह समाज भिन्न था। आजकल हम मनुष्यको एक ही साथ ज्ञानी, व्यवसायी और योद्धाके रूपमें देखते हैं। वर्तमान समाजमें इन कर्मोंका वैसा कुछ विभाग नहीं है—हम चाहते हैं समाजका प्रत्येक मनुष्य ही समाजको कुछ ज्ञान प्रदान करे, वह कुछ अर्थ सञ्चय करे और देश-रक्षाके निमित्त युद्ध भी करे। किस मनुष्यकी प्रकृति किस तरहके कार्यके अनुकूल है, इस बातपर विचार करना हम नहीं चाहते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु भारतकी प्राचीन सभ्यता व्यक्तिकी प्रकृतिगत विशिष्टताके ऊपर विशेष ध्यान देती थी और उसीके अनुसार समाजमें उसके स्थान और कर्त्तव्य-का निर्धारण करती थी। सामाजिक कर्त्तव्य-पालन ही उस समय मनुष्यजीवनका श्रेष्ठ आदर्श नहीं समझा जाता था—समाजमें कर्त्तव्यपालनके द्वारा आध्यात्मिक जीवनकी उन्नति करना ही उस कालमें मनुष्यका श्रेष्ठ आदर्श था। ध्यान और ज्ञान,युद्ध और देश-शासन, धनोत्पादन और आदान-प्रदान, श्रम और सेवा—इसप्रकार चार भागोंमें समाजका कर्त्तव्य स्पष्टरूपसे बँटा हुआ था। जिस-प्रकारका कार्य जिसके स्वभावके अनुकूल एवं जिसप्रकारके कार्यके द्वारा जिसके आध्यात्मिक जीवनकी क्रमोन्नतिमें सुविधा होती, उसीप्रकारके कार्यमें उस मनुष्यको नियुक्त किया जाता।

वर्तमान युगमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रका विचार न कर सब प्रकारके कर्मके लिये साधारणतः सभी मनुष्योंका ही दायित्व है। इस व्यवस्थामें कुछ सुविधा भी है। इस व्यवस्थासे सामाजिक जीवनमें अधिकतर दृढ़ता, एकता और पूर्णताकी सुविधा होती है, व्यक्तिगत जीवनके लिये भी सर्वतोमुखी विकासका अवसर रहता है। दूसरी ओर प्राचीन प्रथाकी पद्धतिके अनुसार जाति कर्म-विभाग करनेसे घटनाचक्रसे भारतवर्षमें क्रम-क्रमसे असंख्य जातियोंकी सृष्टि हो गयी, सामाजिक जीवनमें संकीर्णता और अनैक्य आ गया, एवं जातिगत व्यवसायके अवलम्बनमें बहुतोंको व्यक्तिगत स्वभावके विरुद्ध कार्य करना पड़ा। प्राचीन प्रथाके ये दोष हैं। परन्तु आधुनिक प्रथामें भी असुविधा है। अनेक स्थलोंपर इस प्रथाका परिणाम यहाँतक हुआ है कि उससे समाजका अत्यन्त अनिष्ट हुआ है। आधुनिक युद्धके स्वरूप-पर विचार करनेसे यह बात भलीभाँति समझमें आ जाती है कि आधुनिक प्रथाके अनुसार स्वदेशकी रक्षा और कल्याणके लिये युद्ध करनेको सभी मनुष्य समान भावसे बाध्य हैं। इसका फल यह हुआ है कि कहीं भी युद्ध आरम्भ होनेपर पण्डित, कवि, दार्शनिक, पुरोहित,व्यवसायी,शिल्पी सभीको अपने स्वाभाविक कर्मोंसे अलग कर मरने मारनेके लिये रणभूमिमें भेज दिया जाता है। सारे समाजके जीवनमें विशेष विश्रृङ्खलता उत्पन्न हो जाती है, लोगोंके ज्ञान और विवेकका अपमान किया जाता है। यहाँतक कि जो धर्म-याजक शान्ति और प्रेमवाणीका प्रचार करनेके लिये गवर्नमेण्टके द्वारा नियुक्त हैं उन्हें भी बाध्य होकर स्वधर्म परित्याग कर कसाईके समान मनुष्यवध करना पड़ता है। इसप्रकार सामरिक शासनके आदेशसे मनुष्यको केवल विवेक और स्वधर्मकी ही बलि नहीं देनी पड़ती बल्कि जाति-रक्षाके अत्यधिक आग्रहसे जातीय आत्महत्याके पथको ही भलीभाँति साफ कर देना पड़ता है।

दूसरी ओर, युद्धके उत्पात और अनर्थोंको यथासाध्य कम करना भारतीय सभ्यताका प्रधान उद्देश्य था। इसी उद्देश्यके कारण युद्ध-कार्यका भार एक ही श्रेणीके लोगोंके ऊपर छोड़ दिया गया था। इस श्रेणीके लोग जन्म, स्वभाव और वंश-गौरवके द्वारा इस कार्यके लिये प्रकृतिसे ही उपयुक्त समझे जाते थे। युद्धकार्यके द्वारा ही स्वाभाविक भावसे ही उनकी आध्यात्मिक उन्नति होती थी। एक उच्च आदर्शका अनुवर्तन कर जो लोग योद्धाका जीवन व्यतीत करते हैं उनके साहस, शक्ति, नियमनिष्ठता, सहयोगिता, आर्तरक्षा, उदारता, शूरता प्रभृति विविध सद्गुणोंका विकास होकर ही आत्माकी उन्नतिका विशेष सुयोग और सुविधा होती है। समाजके अन्य श्रेणीके लोग उक्त श्रेणीके लोगोंद्वारा विपत्ति और अत्याचार-से सर्वदा बचाये जाकर निश्चिन्तभावसे अपना अपना कार्य करते थे। अपने कार्य और व्यवसायमें क्षति पहुँचाकर उन्हें युद्ध करनेको नहीं जाना पड़ता था। थोड़े-से लोगोंमें ही सीमाबद्ध रहनेके कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्धके द्वारा समाजके साधारण जीवनको बहुत ही कम नुकसान पहुँचता था। उच्च नैतिक आदर्शके द्वारा अनुप्राणित होने एवं यथासम्भव दया, सौजन्यता प्रभृति उच्च हृदय-वृत्तियोंके द्वारा नियन्त्रित होनेके कारण युद्ध मनुष्यको निष्ठुर न बनाकर उदार-हृदय और उन्नत ही बनाता था। यह भूलना नहीं चाहिये कि गीताने इसी प्रकारके युद्धकी बात कही है। जब युद्धको जीवनसे अलग कर देनेपर काम ही नहीं चलता, तब इसी प्रकारसे युद्धको सीमाबद्ध और नियन्त्रित करना होगा, जिससे वह भी अन्यान्य कर्मोंकी भाँति नैतिक और आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक हो। उस समय नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति ही जीवनका एकमात्र वास्तविक उद्देश्य समझा जाता था। इसप्रकार सुनियन्त्रित सीमाबद्ध युद्धके द्वारा व्यक्तिगत भावसे मनुष्योंके शरीर कुछ अंशमें ध्वंस होते परन्तु इससे उनका आभ्यन्तर जीवन और जातिका नैतिक जीवन तो सुसंगठित ही होता। अत्यन्त कट्टर अहिंसावादीको छोड़कर सभी इस बातको स्वीकार करेंगे कि उच्च आदर्शके द्वारा अनुप्राणित होनेके कारण प्राचीन कालमें युद्धने शौर्य और सौजन्यके विकासमें विशेष सहायता दी है। यूरोपके नाइट्, भारतके क्षत्रिय और जापानकी सामुराई-जाति इसके उत्कृष्ट दृष्टान्त हैं। युद्धके द्वारा मानव-जातिका जो कल्याण हो सकता है वह यदि पूरा हो गया हो तो संसारसे युद्ध उठ जाना चाहिये। गठनशक्ति और आदर्शच्युत युद्ध तो निष्ठुर हिंसामात्र है और ऐसे युद्ध मानवसमाजकी क्रमोन्नतिके साथ ही साथ छोड़ भी दिये जायँगे किन्तु हमलोगोंके इस विवर्तनका युक्तिसङ्गत विचार करनेपर तो हमें यही स्वीकार करना पड़ेगा कि युद्धके द्वारा अतीतकालमें मानवजातिका कल्याण हुआ था।

जो कुछ हो, शारीरिक युद्ध तो जीवनकी एक साधारण नीतिकी एक विशेष अभिव्यक्तिमात्र है। मानवजातिके पूर्णता लाभ करनेके लिये जिन सब साधारण गुणोंकी आवश्यकता है, क्षत्रियधर्म उनमेंसे एकका वाह्य निदर्शनमात्र है। इस जगत्में हमारे आभ्यन्तर और वाह्य जीवनमें, सर्वत्र ही जो युद्ध और विरोधकी एक दिशा है, शारीरिक युद्ध उसीका एक वाह्य दृष्टान्त है। जगत्का प्रवाह ही है कि शक्तिसमूह परस्पर विरोध करते हैं, युद्ध कर रहे हैं और एक दूसरेको ध्वंस करके ही नित्य नवीन सन्धिकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। आशा है ऐसा ही करते-करते एक दिन सारे विरोधोंका अन्त हो जायगा, पूर्ण सामञ्जस्य और समन्वयकी प्रतिष्ठा होगी, किन्तु किस एकत्वपर यह सामञ्जस्य प्रतिष्ठित होगा अबतक यह बात स्पष्टरूपसे समझमें नहीं आती है। मनुष्यके अन्दर जो क्षत्रियत्व है वह तो जीवनकी इस नीतिको स्वीकार करता है एवं इसको जीतनेके लिये योद्धारूपसे इसके सम्मुख होता है, वह शरीर वा वाह्य आकारके ध्वंस करनेमें कुण्ठित नहीं होता, किन्तु इन सब द्वन्द्वोंके भीतरसे एक ऐसी नीति, एक ऐसे धर्मकी प्रतिष्ठा करना चाहता है जिसके अवलम्बन करनेसे उसी अन्तिम सामञ्जस्यकी स्थापना होगी, सब द्वन्द्वोंका अवसान हो जायगा। विश्वशक्तिकी इस दिशाको एवं इसके वाह्य निदर्शन शारीरिक युद्धको गीताने स्वीकार किया है और इसकी शिक्षा एक कर्मी, योद्धा, क्षत्रियको दी है। भीतर शान्ति, बाहर अहिंसा—यह जो आत्माकी एक उच्चाकांक्षा है, युद्ध इसका पूर्ण विरोधी है, योद्धाका—क्षत्रियका द्वन्द्व-कोलाहलमय जीवन नीरव आत्मजय और शान्तिपूर्ण जीवनका पूर्ण विरोधी ही दीख पड़ता है। इस विरोधके अन्दर सामञ्जस्यका सूत्र कहाँ है, गीता उसीको खोजकर निकालना चाहती है, उस सूत्रका अवलम्बन करनेसे ही सब द्वन्द्व-विरोधोंके अतीत चरम सामञ्जस्यकी स्थापना हो सकेगी।

जिस मनुष्यकी प्रकृतिमें जिस गुणका प्रभाव अधिक रहता है वह मनुष्य उसी गुणके अनुसार ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवनयुद्धका सामना करता है। सांख्यके मतसे जगत् त्रिगुणात्मक है। जगत्की प्रत्येक वस्तु त्रिगुणके समवायसे संगठित है। गीता इस मतका अनुमोदन करती है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥
(गी० १८।४०)

'पृथ्वीमें या स्वर्गमें देवताओंके अन्दर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो प्रकृतिसम्भत इन तीन गुणोंसे मुक्त हो।'

अतएव मानव-प्रकृतिमें भी तीन गुण हैं। शान्ति, ज्ञान और सुख सत्त्वगुणके लक्षण हैं। तृष्णा, द्वन्द्व और कर्म रजोगुणके स्वरूप हैं। अज्ञान और जड़ता तमोगुणके लक्षण हैं। जिनकी प्रकृतिमें तमोगुणकी प्रधानता होती है वे जगत्के शक्तिसमूह-के विरुद्ध नहीं ठहर सकते, उन्हें सहज ही अभिभूत और पीड़ित होकर उनके अधीन होना पड़ता है। तामसिक मनुष्य, अन्य गुणोंकी सहायता मिलने-पर किसी प्रकार जितने दिन सम्भव हो टिकना चाहते हैं, नियमित विधिनिषेधसे बँधकर जीवन-युद्धसे अपनेको निरापद समझते हैं, किसी उच्चादर्शके आह्वानसे चेष्टा करके जीवनयुद्धमें जय-लाभकी कोई आवश्यकता नहीं देख पाते।

जिनकी प्रकृतिमें रजोगुणकी प्रधानता है वे उत्साहके साथ जीवन-युद्धमें कूद पड़ते हैं और जगत्में शक्तिसमूहके द्वन्द्वको अपनी स्वार्थसिद्धिके कार्यमें लगानेकी चेष्टा करते हैं, वे चाहते हैं उनपर विजय करना, प्रभुत्व करना और उनका उपभोग करना। राजसिक मनुष्योंको यदि कुछ सत्त्वगुणकी सहायता मिल जाती है, तो वे इस द्वन्द्वके भीतर होकर आन्तरिक रिपुओंपर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, आनन्द चाहते हैं और शक्ति चाहते हैं।

जीवन-युद्धमें उन्हें खूब आनन्द मिलता है, वह उनके नशेकी तरह होता है क्योंकि पहले तो जीवन-युद्धमें उन्हें कर्मके आनन्दको, सबलताके सुखको उपभोग करनेका सुयोग मिल जाता है; दूसरे, इसके द्वारा उनकी उन्नति, और उनके स्वाभाविक आत्मविकासकी सुविधा होती है।

जिनके ऊपर सत्त्वगुणका प्रभाव अधिक होता है वे इस द्वन्द्वके अन्दर ही धर्म, नीति, सामञ्जस्य और शान्ति-सुखका अनुसन्धान करते हैं और जो लोग केवल पूर्ण सात्त्विक होते हैं वे अपने अन्दर ही शान्तिसुखको खोजते हैं। उनको केवल अपने लिये भी इस शान्तिकी चाह हो सकती है, अथवा इस आन्तरिक शान्तिकी बात वे दूसरोंको भी जना देते हैं किन्तु बाह्य जगत्के युद्ध-द्वन्द्वसे हटकर या उसके प्रति उदासीन रहकर ही वे शान्तिलाभ करना चाहते हैं। पर जिनकी सात्त्विक प्रकृतिमें रजोगुणका भी कुछ प्रभाव होता है वे बाहरी युद्ध-द्वन्द्वके ऊपर ही शान्ति और सामञ्जस्यकी स्थापना करना चाहते हैं—युद्ध, विरोध, द्वन्द्वको पराजित करके जगत्में शान्ति, प्रेम, सामञ्जस्यके राज्यकी स्थापना करना चाहते हैं। इन तीन गुणोंका प्रभाव जिसकी प्रकृतिमें जैसा होता है, वह उसी भावसे जीवन-समस्याके सम्मुख होता है।

परन्तु इसप्रकारकी अवस्था भी हो सकती है जब कि मनुष्य प्रकृतिके त्रैगुण्यके खेलसे तृप्त नहीं होता—वह या तो इसके बाहर जाना चाहता है या इससे ऊपर उठना चाहता है। मनुष्य ऐसी कोई अवस्था चाहता है जो त्रिगुणके बाहर हो, गुणशून्य या निर्गुण हो, अथवा ऐसी अवस्थापर उठना चाहता है, जो सब गुणोंसे ऊपर है, जहाँ सब गुणोंका प्रभु बना जा सकता है, कर्म किया जाता है परन्तु कर्मके अधीन नहीं होना पड़ता। मनुष्य इसप्रकारकी निर्गुण अवस्था चाहता है अथवा गुणातीत अवस्थाकी कामना करता है। पूर्वोक्त भाव मनुष्यको स्वभावतः संन्यासकी ओर ले जाता है। शेषोक्त भावमें मनुष्य निम्नप्रवृत्तिपर विजय प्राप्त करना चाहता है, अपरा प्रकृतिके द्वारा इधर-उधर परिचालित नहीं होता—कामना और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वासनाको त्यागकर आभ्यन्तरिक समताकी प्राप्ति ही इस भावकी मूलनीति है। पहले संन्यासकी ओर ही अर्जुनकी प्रवृत्ति हुई थी,अपने वीर जीवनके परिणामस्वरूप कुरुक्षेत्रके विराट् हत्याकाण्डसे पीछे हटनेका ही पहले उन्होंने उपक्रम किया था। अबतक वे जिस नीतिके वशवर्ती हो काम करते आये हैं उस नीतिको खोकर कर्म-त्याग, संसार-त्यागके अतिरिक्त दूसरा कोई भी मार्ग उन्हें खोजनेपर भी नहीं मिला। किन्तु उनपर भगवान्का आदेश यह हुआ कि 'बाहरसे संसार और कर्मका त्याग नहीं करना होगा, भीतर ही प्रधानता प्राप्त करनी होगी, आत्म-विजय करना होगा।'

अर्जुन क्षत्रिय थे, राजसिक मनुष्य थे, वे उच्च सात्त्विक आदर्शके अनुसार अपने राजसिक कर्मको नियन्त्रित करते थे। युद्धमें जो आनन्द है उसे सम्पूर्ण भावसे स्वीकार करके ही वे असीम उल्लासके साथ कुरुक्षेत्रके रणोद्योगमें अग्रसर हुए थे। परन्तु उनका हृदय इस गौरवसे भरा हुआ था कि वह धर्मके लिये युद्ध करते हैं। अपने द्रुतगामी रथपर वे शङ्ख-निनाद करके शत्रुओंके हृदयको विदीर्ण करते हुए अग्रसर हुए। वे अब देखना चाहते थे कि इस युद्धमें कौन-कौन उनके विरुद्ध दुर्बुद्धि दुर्योधनका पक्ष समर्थन कर, सत्य, न्याय और धर्मके बदले स्वार्थपरता और अहङ्कारकी प्रतिष्ठा करनेके लिये आये हैं, तथा किनके साथ युद्ध करके उन्हें (अर्जुनको) सत्य न्याय और धर्मको सुप्रतिष्ठित करना है। उनके अन्दरका यह आत्म-विश्वास जब चूर्ण हो गया और उनकी जब यह धारणा हो गयी कि उनका सुअभ्यस्त क्षत्रिय-धर्म उन्हें महापापमें खींच लाया है तब तमोगुणने जाग्रत होकर उन राजसिक मनुष्यको घेरकर पकड़ लिया—वे विस्मय, शोक, भय, अवसाद और मोहसे अभिभूत हो गये,उनकी बुद्धि भ्रंश हो गयी और वे अज्ञान और अप्रवृत्तिके वशमें हो गये। इसीके फल-स्वरूप संन्यासकी ओर ही उनका झुकाव हो गया। इस क्षत्रियधर्मकी अपेक्षा भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करना श्रेय है, रक्तपातके द्वारा जो भोगकी वस्तु संग्रहीत होती है, वह भी रुधिर-रञ्जित है, धर्म, नीति और समाज सबके मूलमें कुठाराघात करके ही धर्म और नीतिके नामपर युद्ध करना पड़ेगा! अर्जुन इसप्रकार सोचने लगे।

कर्म और संसारका परित्याग, त्रैगुण्यका परित्याग, इसीको संन्यास कहते हैं। किन्तु संन्यासावस्थामें पहुँचनेके लिये तीनों गुणोंमेंसे किसी एकके भीतर होकर ही जाना पड़ता है। तामसिकताके वश होकर भी मनुष्य संन्यासकी ओर जा सकता है—संसार और जीवनके प्रति उसके मनमें वितृष्णा, घृणाका उदय होता है। असमर्थताके बोध और भयसे अभिभूत होकर भी वह संसार छोड़कर भागना चाहता है। अथवा रजोगुण तमकी ओर जा सकता है, उस समय संसारके शोक, दुःख-द्वन्द्व-निराशासे परिश्रान्त होकर मनुष्य कर्मके कोलाहल और जीवनकी यन्त्रणाको भोगना नहीं चाहता। सत्त्वमुखी रजोगुणके वश होकर भी मनुष्य संन्यासकी ओर जा सकता है—संसार जो दे सकता है, वह उसकी अपेक्षा कोई उच्च वस्तु प्राप्त करना चाहता है। केवल सत्त्वगुणके वशवर्ती होकर भी मनुष्य बुद्धिके द्वारा संसारकी असत्यताकी उपलब्धिकर संन्यासकी ओर आकृष्ट हो सकता है—अथवा कालातीत, अनन्त, नीरव, नामरूपहीन शान्तिकी आध्यात्मिक अनुभूति लाभ करके भी मनुष्य संसारको छोड़ सकता है। अर्जुनको जो संसारके प्रति विराग उपस्थित हुआ था, वह था, सत्त्व-राजसिक मनुष्यका तामसिक विराग। भगवान् गुरुरूपसे अर्जुनको इसी अन्धकारमय मार्गके भीतरसे तपस्वी जीवनकी पवित्रता और शान्तिमें ले जा सकते थे। अथवा इसी समय उनके तामसिक विरागको शुद्धकर सात्त्विक संन्यासकी असाधारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्चताकी ओर ले जा सकते थे। किन्तु वस्तुतः इन दोनोंमेंसे उन्होंने कोई-सा काम भी नहीं किया। उन्होंने तामसिक विराग और संन्यासके प्रति होनेवाले अर्जुनके झुकावकी निन्दा की एवं अर्जुनको कर्म करने, यहाँतक कि उसी भीषण नृशंस युद्धके करनेके लिये ही उपदेश दिया। किन्तु उन्होंने अपने शिष्यको एक दूसरे संन्यासका, आभ्यन्तरीय त्यागका मार्ग दिखला दिया। अर्जुनकी जो समस्या थी, उसकी यही वास्तविक मीमांसा है, इसी प्रकार विश्व-प्रकृतिके ऊपर आत्मा प्रधानता प्राप्त करेगा और संसारमें स्वाधीन और शान्तभावसे कर्म भी कर सकेगा। बाहरी संन्यास नहीं, आभ्यन्तरीय त्याग—कामना, वासना, आसक्तिका त्याग। यही गीताकी शिक्षा है।*

श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवके उपदेश

(श्रीराधाकृष्णजी)

रातको आकाशमें कितने तारे दिखलायी देते हैं, किन्तु सूर्योदय होते ही एकका भी पता नहीं मिलता। इससे क्या कहोगे? दिनके समय आकाशमें तारे नहीं है? उसी तरह, अपनी अज्ञान-अवस्थामें ईश्वरको नहीं देखकर क्या यह कहोगे कि 'ईश्वर नहीं है?'

२–जिस तरह एक ही पानीको कोई बारि कहते हैं, कोई जल और कोई वाटर। उसी तरह एक ही सच्चिदानन्दको कोई अल्लाह कहकर पुकारते हैं, कोई हरि कहते हैं, कोई ब्रह्म और गॉड कहते हैं।

३–एक बार दो आदमियोंमें बहस छिड़ गयी। एक कहता था, अमुक खजूरके गाछपर एक सुन्दर लाल रंगका गिरगिट रहता है। दूसरा बोलता था, तुम्हारे देखनेमें भूल हुई है, वह गिरगिट लाल नहीं है, नीला है। दोनों अपनी अपनी बातपर अड़ गये। तर्कसे कुछ निष्कर्ष नहीं निकला। फैसलेके लिये दोनों उसी पेड़के पास रहनेवाले आदमीके पास गये। पहलेने कहा–'क्यों भाई! तुम्हारे उस पेड़पर लाल रंगका गिरगिट है न?' आदमीने कहा–'जी हाँ।' दूसरा बोला—'नहीं तो, वह गिरगिट लाल नहीं है, नीला है।' आदमीने कहा–'जी हाँ।' वह जानता था कि गिरगिट बहुरूपी है, इसी कारण जिसने जिस रंगका नाम लिया, उसीमें उसने 'हाँ' कह दिया। ईश्वर भी बहुरूपी हैं। जो साधक ईश्वरका जो रूप देखता है, वह उसीको जानता है। किन्तु जिसने उनके अनेक रूप देखे हैं केवल वही कह सकता है कि ये समस्त रूप केवल एक ही हरिके हैं। वही साकार हैं, वही निराकार हैं, और भी उनके कितने ही आकार हैं जिन्हें हमलोग नहीं जानते।

४–गैसकी रोशनी एक ही स्थानसे आकर भिन्न-भिन्न आकारोंमें जलती है, किन्तु उसका आधार एक ही है। अनेक देशोंके अनेक जातियोंके धार्मिक लोग भी केवल उसी परमात्माके आधारसे आते हैं।

५–आँखमिचौनीके खेलमें बुढ़ियाको छू लेनेपर जैसे वह फिर चोर नहीं हो सकता। उसी प्रकार ईश्वरका स्पर्श हो जानेसे वह फिर संसारमें बद्ध नहीं होता। जो बुढ़ियाको छू चुका है वह, जहाँ उसकी इच्छा हो, जा सकता है, उसे कोई भी चोर नहीं बना सकता। उसी तरह संसारमें भी ईश्वरका स्पर्श कर सकनेपर फिर और कोई भय नहीं! जो ईश्वरका स्पर्श कर चुके हैं, संसारकी सभी अवस्थाओंमें वे निरापद रहते हैं, उन्हें कोई भी नहीं बाँध सकता।

* श्रीअरविन्दके Essay on Gita से अनुवादित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६-लोहा यदि एक बार पारस-मणिसे छू जाय तो वह सोना हो जाता है, फिर उसे चाहे मिट्टीके भीतर रक्खो या कूड़ेमें डाल दो, जहाँ जी चाहे फेंक दो, सोना ही रहेगा, लोहा नहीं होगा। जो ईश्वरको पा चुके हैं उनकी अवस्था भी इसी तरह है। वे चाहे संसारमें रहें या जङ्गलमें, उनपर किसी तरहका दाग नहीं लगेगा।

७-दूधको तो पानीके साथ मिलानेपर वह उसमें मिल जायगा लेकिन मक्खन बना देनेपर वह किसी तरह भी जलके साथ नहीं मिल सकता। इसी तरह ईश्वरको प्राप्त कर लेनेके बाद हजारों संसारी जीवोंके सङ्ग रहनेपर भी पुरुष बद्ध नहीं हो सकता।

८-समुद्रमें छिपा हुआ चुम्बक जिस तरह यकायक जहाजके लोहोंकी कील इत्यादिको खोल-खालकर उसे खण्ड-खण्ड करके समुद्रमें डुबा देता है, उसी तरह ज्ञान भी उदय होनेपर अभिमानी और स्वार्थपूर्ण जीवनको मुहूर्तभरमें खण्ड-खण्ड करके ईश्वरके प्रेम-सागरमें डुबा देता है।

९-गृहस्थ-स्त्री यों तो अनेक प्रकारके संसारी काम-धन्धोंमें सर्वदा व्यस्त रहती है, किन्तु सन्तान पैदा होनेके समय वह सभी कामोंको छोड़ देती है। प्रसव हो जानेके उपरान्त उसे दूसरा कोई काम अच्छा नहीं लगता, वह अपना सारा समय केवल लड़केके लालन-पालनमें लगाती है और उसका मुँह चूमकर आनन्द पाती है। मनुष्य भी अपनी अज्ञान-अवस्थामें अनेक काम करता है, किन्तु ईश्वरका दर्शन प्राप्त कर लेनेपर फिर वे काम उसे अच्छे नहीं लगते। वह दूसरे कामोंमें सुख नहीं पा सकता।

१०-सिद्ध होनेपर कैसी अवस्था होती है? जिस तरह आलू, बैंगन इत्यादि सिद्ध होनेपर नर्म हो जाते हैं, उसी तरह मनुष्य भी सिद्धि पाकर नर्म हो जाता है, उसके अहंकार मिट जाते हैं।

११-बाजारसे दूर रहनेवालेको केवल 'हो हो' शब्द सुनायी देता है, मगर जब वह स्वयं बाजारमें जाता है तब उसे वैसा शब्द सुनायी नहीं देता, उस समय वह स्पष्ट सुनता है कि कोई आलू खरीद रहा है, कोई परवलका मोल-तोल कर रहा है, कोई गोभीका दाम पूछ रहा है। ईश्वरसे दूर रहनेपर केवल तर्क, युक्ति, मीमांसा इत्यादि गोलमालमें पड़े रहना पड़ता है, किन्तु ईश्वरके निकट चले जानेपर फिर तर्क और मीमांसा कुछ भी नहीं रहता, उस समय सब कुछ स्पष्ट हो जाता है।

१२-किसी माताके पाँच लड़के हैं। वह किसीके हाथमें चूसनी, किसीको पुतली, किसीको मिठाई देकर भुलाये रखती है और अपना काम करती रहती है। इसी बीचमें यदि कोई बालक खिलौना फेंककर माताको पुकारते हुए रोने लगता है तो वह आकर उसे गोदमें लेकर उसे शान्त करती है। मनुष्यो! तुम भी दूसरी-दूसरी वस्तुओंको लेकर भूले हुए हो, यह सब छोड़कर जिस समय तुम ईश्वरके लिये रोने लगोगे उसी समय वे आकर तुम्हें गोदमें ले लेंगे।

१३-ज्ञान पुरुष है और भक्ति स्त्री। ईश्वरके बाहरी दरवाजेपर तो ज्ञान जा सकता है, लेकिन अन्तःपुरमें भक्तिको छोड़कर और किसीका प्रवेश नहीं हो सकता।

१४-गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ता है, लेकिन उसकी दृष्टि जमीनपर पड़े सड़े मांसपर ही रहती है। अज्ञानी पण्डित भी ज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें बघारते हैं लेकिन उनका मन धन-मान इत्यादि पर ही लगा रहता है।

१५-तबलेका बोल मुँहसे कहना जितना सरल है, हाथसे बजाना उतना ही कठिन है। इसीतरह धर्मकी बातें करना बहुत सहज है, किन्तु वैसे काम करना बहुत ही कठिन है।

१६-हाथीके दाँत दिखानेके लिये दूसरे होते हैं और खानेके लिये दूसरे। कपटी धार्मिक भी इसी तरहके होते हैं; कहते हैं कुछ और मनमें रखते हैं कुछ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[चतुर्थ वर्षके पृष्ठ १२६२ से आगे]

[मणि ९]

जन्ममृत्युसुखदुःखवर्जितं जातिनीतिकुलगोत्रदूरगम् ।
चिद्विवर्तजगतोऽस्य कारणं सर्वदृश्यरहितं नमाम्यहम् ॥

मिट्टी ही है सत्य, घड़े आदिक हैं वानी ।
लोहा सच्चा तत्त्व, शस्त्र सब मात्र कहानी ॥
सोना केवल तथ्य, नाम हैं भूषण सारे ।
ब्रह्म एक त्यों सत्य, जगत् सब मिथ्या प्यारे ॥
भोला ! आँखें खोल रे, सत्यासत्य विचार रे ।
सत्य ईशकी शरण ले, तज मिथ्या संसार रे ॥

डोरूशंकर—हे देवी ! कल आपने मुझे ऐतरेय उपनिषद् सुनाया था। उसमें आपने जीव-ब्रह्मका अभेद दिखलाया था। क्या अन्य उपनिषद् भी जीव-ब्रह्मका अभेद ही दिखलाते हैं अथवा किसी उपनिषद्में जीव-ब्रह्मका भेद भी प्रतिपादन किया गया है ?

देवी—हे वत्स ! सब उपनिषद जीव-ब्रह्मके अभेदका ही प्रतिपादन करते हैं, जीव-ब्रह्मके भेदमें किसी उपनिषद्का तात्पर्य नहीं है। ऋग्वेदका ऐतरेय उपनिषद् तो तू सुन ही चुका है, आज मैं तुझे सामवेदके छान्दोग्य उपनिषद्का अर्थ सुनाती हूँ, ध्यान देकर सुन—

चित्तशुद्धिके द्वारा उपासना-ज्ञानका कारण है। कारण कार्यसे प्रथम ही होता है, यह नियम है, इसलिये ज्ञान-प्राप्तिसे पूर्व चित्तशुद्धिके लिये उपासना कर्तव्य है। उपासना साकार और निराकार-भेदसे दो प्रकारकी है। प्रारम्भमें अधिकारीके लिये साकार-उपासना सुगम है। ॐकार ब्रह्मवाचक है और ब्रह्मका प्रतीक भी है। जैसे कमलके नील पीतादि विशेषण होते हैं इसी प्रकार सर्व वेदोंमें व्याप्त ॐकारका विशेषण 'उद्गीथ' है। प्रथम ॐकाररूप उद्गीथकी उपासना श्रुति कहती है—

उद्गीथ नामक सामका अवयव है। ॐ यह अक्षर उद्गीथ है, इस उद्गीथकी उपासना करे। यह ॐकाररूप उद्गीथ परमात्माका प्रतीक यानी प्रतिमूर्तिरूप है। जैसे विष्णु भगवान्के प्रतीक सालग्राम हैं, इसीप्रकार ॐकार परमात्माका प्रतीक है, इस ॐकारकी उपासनासे परमात्मा प्रसन्न होते हैं। ॐकारके उच्चार बिना जो कर्म किया जाता है, वह कर्म निष्फल होता है, फल नहीं देता। इसलिये समस्त कर्मोंके आरम्भमें ॐकारका उच्चारण किया जाता है। ॐकार कहकर ही मन्त्रादिका उच्चारण किया जाता है इसलिये ॐकारको उद्गीथ कहते हैं। ॐकारकी विभूति और गुणोंका वर्णन करना ही ॐकाररूप उद्गीथकी उपासना है। प्रथम उद्गीथके रसतमत्व गुणको श्रुति क्रमसहित दिखलाती है।

चराचर समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण पृथिवी है इसलिये स्थावर-जंगमरूप सर्व जगत्का रस—सार पृथिवी है। पृथिवीका सार जल है क्योंकि पृथिवी जलमें ओतप्रोत है, यदि पृथिवी जलमें ओतप्रोत न हो तो सूखे आटेके समान कभीकी बिखर जाय। जलका सार सर्व औषधियाँ हैं क्योंकि जलसे ही वृक्षादि सर्व औषधियोंका परिणाम देखनेमें आता है। सकल औषधियोंका सार पुरुष है क्योंकि औषधियोंका परिणाम ही जीवका शरीर है। पुरुषका सार वाणी है क्योंकि पुरुषकी वाक्-इन्द्रिय ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब इन्द्रियोंमें प्रधान है। वाणीका सार ऋचा है, क्योंकि वाणीसे ऋचा बोली जाती है, ऋचाओंका सार साम है, क्योंकि साम ऋचाओंसे युक्त है और सामका सार उद्गीथका अवयव ओंकार है क्योंकि उद्गीथ ओंकारपूर्वक है इसलिये यह उद्गीथ नामक ॐकार सारका भी सार और सबसे श्रेष्ठ है, परमात्मस्थानके योग्य है क्योंकि पृथिवी आदि सार वस्तुओंमें अन्तका आठवाँ होनेसे यह परम साररूप है।

अब ऋक् क्या है, साम क्या है और उद्गीथ क्या है, श्रुति इन तीन प्रश्नोंका विचार करती है—

कार्य-कारणका अभेद होता है। वाणी कारण है और ऋक् कार्य है, इसलिये वाक् ही ऋक् है। प्राण कारण है, साम कार्य है इसलिये प्राण ही साम है। ॐकार विशेष्य है और उद्गीथ विशेषण है इसलिये ॐकार उद्गीथ है। वाक् और प्राण इन दोका मिथुन कारण है, ऋक् और साम इन दोका मिथुन कार्य है, इसलिये वाक् और प्राणरूप मिथुन (जोड़ा) ऋक् और सामरूप मिथुन हैं।

ये मिथुनरूप वाक् और प्राण ॐ इस अक्षरमें मिले हुए हैं। ये वाक् और प्राणरूप मिथुन जब एक दूसरेसे मिलते हैं तब एक दूसरेकी कामना पूर्ण करते हैं इसलिये इन दोनोंसे संयुक्त ॐकार सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाला है।

जो विद्वान् इस उद्गीथ अक्षरकी उपासना करता है, वह यजमानकी सब अभिलाषाओंको पूर्ण करता है।

यह ॐकार अनुज्ञा यानी अनुमति देनेका अक्षर है। लोकमें भी इस अक्षरका उच्चारण करके सब विषयमें अनुमति दी जाती है। ओम्‌का अपभ्रंश 'हां' है। समृद्धिकी कारणभूत अनुज्ञा यानी अनुमति ही समृद्धिरूप है, इसलिये समृद्धि गुणवाला मानकर ॐकारका कीर्तन किया जाता है। जो ऐसा जानकर इस ॐकारकी उपासना करते हैं, वे यजमानकी कामनाओंको पूर्ण कर सकते हैं।

ॐ इस अक्षरका उच्चारण करके वेदविहित सब कर्मोंका आरम्भ किया जाता है, ॐका उच्चारण करके आश्रावण, शंसन, उद्गान आदि यज्ञके अंगरूप सब कर्म होते हैं। वे सब कर्म परमात्माकी उपासनाके लिये हैं। ॐकार परमात्माकी प्रतिमूर्ति है इसलिये इन सब कर्मोंद्वारा ॐकारकी ही उपासना सिद्ध होती है। इस ॐकारकी महिमा तथा रस-द्वारा ही यज्ञकी सिद्धि होती है। यज्ञ-सिद्धिके मूल-रूप ऋत्विज और यजमानादिके सब प्राण ॐकारकी ही महिमा है और उनके मूलभूत हविष्यके व्रीहि, यव आदिका रस ॐकारका ही रस है क्योंकि ॐकारका उच्चारण करके ही यागादि होते हैं। यज्ञादि-द्वारा आदित्यकी उपासना होती है। आदित्यकी उपासनासे वृष्टि होती है। वृष्टिसे अन्न और प्राणकी उत्पत्ति होती है।

ॐकारके इस तत्त्वको जाननेवाले और न जानने-वाले सभी ॐकारद्वारा कर्मानुष्ठान करते हैं क्योंकि कर्मानुष्ठानविना फलकी प्राप्ति नहीं होती। कर्मानुष्ठान करनेसे ही कर्मका फल मिलता है। ज्ञानी और अज्ञानीके किये हुए कर्मोंमें कर्मफलका भेद अवश्य होता है यानी ज्ञानपूर्वक किये हुए कर्मके फलसे अज्ञान-पूर्वक किये हुए कर्मका फल भिन्न होता है। जो कर्म ज्ञान, श्रद्धा और उपनिषद्‌में कहे हुए योगसे किया जाता है, वही कर्म अधिकतर शीघ्र फलदायक होता है। शास्त्रमें अनेक प्रकारसे ॐकारकी उपासना कही है। उपर्युक्त कथनका सारांश यह है कि उद्गीथ यानी प्रणव सामगानका अंग है। पद्य और गद्य मन्त्रोंको शास्त्रीय गानमें युक्त करना साम है, स्वर और वाक्यसे इस सामगान और स्तोत्रादिका उच्चारण होता है। स्वर और वाक्य प्राण-शक्तिका कार्य है क्योंकि प्राण-वायु ही कण्ठादि स्थानोंमें ठोकर खाकर वर्णरूपसे प्रकट होता है। उद्गाता नामक पुरोहित यज्ञमें सामगानका उच्चारण करते हैं। इसप्रकार यज्ञमें ॐकारके द्वारा प्राण-शक्तिके दर्शनका उपदेश है और इस खण्डमें प्राणकी ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महिमा दिखलायी है। (इति प्रथम अध्याय प्रथम खण्ड)

अब इस अक्षर उद्गीथकी अध्यात्म आदि भेदसे मुख्य प्राणआदि दृष्टिसे उपासनाके लिये आख्यायिका रचकर श्रुति प्राणकी शुद्धता सिद्ध करती है।

सब सात्विक इन्द्रियोंकी और उनकी वृत्तियोंके अधिष्ठात्री देवता और उनसे विपरीत तमोगुणी इन्द्रियवृत्तियोंके परिचालक असुर दोनों ही वैदिक क्रियाके अधिकारी, प्रजापतिके पुत्र हैं। इस लोकमें जैसे भाई भाई आपसमें विरोध किया करते हैं इसी प्रकार देवता और असुर भी परस्पर विरोध किया करते थे और एक दूसरेका तिरस्कार करनेके लिये सर्वदा लड़नेको तैयार रहते थे। एक समय अपने प्रतिपक्षी असुरोंका पराजय करनेके लिये देवता ओंकारका उच्चारण करके ज्योतिष्टोम आदि कर्मोंका अनुष्ठान करने लगे। ऐसा करनेमें उनका अभिप्राय यह था कि हम कर्मसे ही असुरोंका तिरस्कार करेंगे।

उपर्युक्त अभिप्रायसे देवता प्रथम घ्राण-इन्द्रिय और घ्राण-इन्द्रियके देवताकी उद्गीथरूपसे उपासना करने लगे यानी नासिकामें चलनेवाले प्राणकी दृष्टिसे उद्गीथके अवयव ओंकारकी उपासना करने लगे। यह देखकर असुरोंने घ्राण-इन्द्रियको स्वभावसिद्ध अधर्मके आसंगरूप पापसे संयुक्त कर दिया। इसीलिये लोकोंकी घ्राण-इन्द्रिय पापसे संयुक्त होकर सुगन्धिके समान दुर्गन्धिको भी ग्रहण करने लगी।

पश्चात् देवता वाक् इन्द्रियकी उद्गीथरूपसे उपासना करने लगे। असुरोंने उसको भी पापसे संयुक्त कर दिया, उस पापसे संयुक्त होकर वाक् इन्द्रिय सत्यके समान असत्यका भी भाषण करने लगी। फिर देवता चक्षु-इन्द्रियकी उद्गीथरूपसे उपासना करने लगे। असुरोंने उसको भी पापसे संयुक्त कर दिया। उस पापसे संयुक्त होकर चक्षु-इन्द्रिय देखने योग्य पदार्थके समान न देखने योग्य पदार्थको भी देखने लगी। फिर देवता श्रोत्र-इन्द्रियकी उद्गीथरूपसे उपासना करने लगे, असुरोंने उसको भी पापसे संयुक्त कर दिया। पापसे संयुक्त हुई श्रोत्र-इन्द्रिय सुनने योग्य शब्दके समानही न सुनने योग्य शब्दको भी सुनने लगी। पश्चात् देवता मनकी उद्गीथरूपसे उपासना करने लगे, असुरोंने उसको भी पापसे संयुक्त कर दिया। पापसे संयुक्त हुआ मन संकल्प करने योग्य विषयके समानही न करने योग्यका भी संकल्प करने लगा।

अन्तमें देवता मुख्य-प्राणकी उद्गीथरूपसे उपासना करने लगे। असुरोंने इस मुख्य-प्राणको भी पापसे संयुक्त करना चाहा परन्तु उसको वे पापयुक्त न कर सके। जैसे न खुदने योग्य कठिन पत्थरको खोदनेके लिये उद्यत काष्ठ आप ही नष्ट हो जाता है, इसीप्रकार असुर अपने आप इच्छामात्रसे ही नष्ट हो गये।

जो मुख्य प्राणको ऐसे गुणवाला जानता है, उसमें यदि कोई पापका संयोग करना चाहता है, वह खननके अयोग्य पत्थरकी रगड़से नष्ट हुए काष्ठके समान आप ही नष्ट हो जाता है। जो प्राणके ज्ञाताकी हिंसा करता है, वह भी नष्ट हो जाता है क्योंकि प्राणका ज्ञाता और खननके अयोग्य पत्थर दोनों एक समान ही हैं।

यह मुख्य प्राण पापके स्पर्शसे रहित है इसलिये विशुद्ध है। विशुद्ध मुख्यप्राणके द्वारा सुगन्धि अथवा दुर्गन्धि कुछ नहीं जानी जाती। विशुद्ध मुख्य प्राण सूँघनेवाले घ्राण-इन्द्रियका प्रेरक होकर उसके दोषसे लिप्त नहीं होता। अन्य इन्द्रियोंके समान वह आत्मम्भर ही नहीं, विश्वम्भर भी है। खान-पानादिद्वारा सब इन्द्रियोंका पोषण करता है। खान-पानादि मुख्यप्राणकी वृत्ति है। जब प्राण खान-पानादि ग्रहण नहीं करता तो प्राणकी मृत्यु हो जाती है और भोजनादिके न होनेसे अन्य सब इन्द्रियाँ भी शरीरको छोड़ देती हैं। जब अन्तकालमें मनुष्य मरता है तो वह मुख फाड़ देता है, इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य भोजन न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलनेसे ही मरता है और उसमें अभी भोजनकी इच्छा है।

अंगिरा नामक ऋषिने मुख्यप्राणको इसप्रकार उद्गीथ मानकर ॐकारकी उपासनाकी थी। अंगिरा आदि ऋषियोंने मुख्य प्राणके साथ अभेद मानकर उपासना की थी इसलिये उनके नामसे श्रुतिमें मुख्य प्राणका एक नाम अङ्गिरस भी कहा है। अङ्गिरस शब्दका अर्थ अङ्गोंका रस है। प्राण ही अङ्गोंका रस यानी सार है इसलिये आङ्गिरस शब्दका अर्थ प्राण है।

इसी प्रकार वृहस्पतिने मुख्य प्राणदृष्टिसे ॐकारकी उपासना की थी, इसीलिये मुख्य प्राणको वृहस्पति कहा है। वाक् वृहती है, प्राण वाक्का पति है, इसलिये प्राणका नाम वृहस्पति है।

इसी प्रकार अयास्य ऋषिने मुख्यप्राणदृष्टिसे ओंकारकी उपासना की थी, इसलिये मुख्य-प्राणको आयास्य कहते हैं। आस्य मुखको कहते हैं, प्राण मुखसे निकलता है इसलिये मुख्य-प्राणको आयास्य कहते हैं।

इसी प्रकार दुल्भके पुत्र बकने प्राणरूपसे ॐकारको जाना था इसलिये वह नैमिषारण्यवासी यज्ञकर्ताओंका उद्गाता हुआ और उसने उनका मनोरथ सिद्ध करनेके लिये उद्गान नामक कर्म किया।

जो इसप्रकार जानकर इस ॐकार अक्षरकी उपासना करता है वह उद्गानद्वारा यजमानके मनोरथोंको पूर्ण कर सकता है। यह अध्यात्म अर्थात् आत्मविषयक ॐकारकी उपासना कही। (इति प्रथम अध्यायका दूसरा खण्ड।)

अध्यात्म प्राणदृष्टिसे उद्गीथकी उपासना कहकर अब श्रुति अधिदेव प्राणकी दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना कहती है--

यह आदित्य जो पृथिवीको तपाता है, यही उद्गीथ है, आदित्य-दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये। यह आदित्य उदय होकर सब प्रजाओंकी अन्न-प्राप्तिके लिये उद्गान कर्मको सम्पन्न करता है। यदि आदित्यका उदय न हो तो अन्न आदि न पके, इसलिये आदित्यका उदय उद्गाताके समान है, आदित्य उदय होकर प्रजाओंके भय और अन्धकारको दूर करता है। जो कोई ऐसे गुणवाले आदित्यको जानता है, वह सबके भय और अन्धकारको नष्ट करता है।

आदित्य और प्राण दोनों गुणोंमें समान ही हैं। यह प्राण उष्ण है इसलिये इस प्राणको स्वर कहते हैं, यह आदित्य उष्ण है इसलिये आदित्यको प्रत्यास्वर कहते हैं, अतएव प्राणदृष्टि और आदित्य-दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे।

पश्चात् व्यान-दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे। जिस वायुको प्राणी मुख और नासिकाद्वारा छोड़ते हैं, उसका नाम प्राण है और जिस वायुको ग्रहण करते हैं, उसका नाम अपान है और जिसमें प्राण-अपानका मेल होता है, उसको व्यान कहते हैं। जिसको व्यान कहते हैं, उसीको वाक् कहते हैं। इसलिये प्राण और अपानको व्यापाररहित करके ही लोग वाक्यका उच्चारण करते हैं।

जो वाक् है, वही ऋचा है इसलिये प्राण-व्यापार और अपान-व्यापार रोककर ही लोग ऋचाका उच्चारण करते हैं। जो ऋचा है, वही साम है इसलिये सबलोग प्राण और अपानका व्यापार [illegible]के ही सामका गान करते हैं, जो साम है, [illegible] उद्गीथ है इसलिये सबलोग प्राणका और अपानका व्यापार न करते हुए ही उच्च स्वरसे सामका गान करते हैं।

जितने परिश्रम-साध्य कर्म हैं, जैसे कि अग्निका मथना, सीमाको लाँघना, दृढ़ धनुष खींचना, ये सब कार्य भी प्राण-व्यापार और अपान-व्यापार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न करके ही लोग करते हैं, इसलिये व्यान-दृष्टिसे प्राणकी उपासना करनी चाहिये।

पश्चात् उद्गीथके सब अक्षरोंकी उद्गीथ-दृष्टिसे उपासना करे। प्राण उत् है क्योंकि पुरुष प्राणके द्वारा उठता है, वाक् गी है क्योंकि वाणीको सब 'गी' कहते हैं, अन्न 'थ' है क्योंकि अन्नमें ही यह सब विश्व स्थित है।

स्वर्ग 'उत्' है, अन्तरिक्ष 'गी' है और पृथिवी 'थ' है। सामवेद 'उत्' है, यजुर्वेद 'गी' है और ऋग्वेद 'थ' है। जो इसप्रकार जानकर उद्गीथके इन सब अक्षरोंकी उपासना उद्गीथ-दृष्टिसे करता है, उस साधकको वाणी वह फल देती है जो ऋग्वेदादि शब्दोंसे मिलता है। इसके अतिरिक्त वह पुरुष अन्नवाला और अन्नका भोक्ता भी होता है।

अब फल-सम्पत्ति कहते हैं कि ध्यान करने योग्य समझकर उद्गीथकी उपासना करे। जिस सामसे स्तुति की जाती है, उद्गाता उस सामका प्रथम ध्यान करे।

पश्चात् जिस ऋचाके अन्तर्गत वह साम हो, उस ऋचाका चिन्तन करे। सामका जो ऋषि हो, उस ऋषिका चिन्तन करे और जिस देवताकी स्तुति करनी हो, उस देवताका चिन्तन करे। गायत्री आदि जिस छन्दसे स्तुति करना हो, उस छन्दका ध्यान करे और जिस स्तोमके द्वारा स्तव करना हो, उस स्तोमका ध्यान करे। जिस दिशाकी स्तुति करनी हो, उस दिशाका ध्यान करे।

अन्तमें अपना चिन्तन करके अपेक्षित फलका स्मरण और अनुसन्धान करता हुआ सावधानीसे स्तुति करे। यह उद्गाता जिस कर्ममें जिस फलकी कामना करके स्तुति करेगा, उस कर्मके करनेसे शीघ्र उसी फलको प्राप्त करेगा। (इति प्रथम अध्यायका तीसरा खण्ड)।

उद्गीथप्रकरणका अनुसन्धान दिखलानेके लिये प्रासङ्गिकको छोड़कर अब श्रुति प्रकृतका आरम्भ करती है—

'ओम्' इस अक्षरकी उद्गीथ-दृष्टिसे उपासना करे। ॐकारका उच्चारण करके ॐकारकी विभूतिका वर्णन करना ही ॐकारकी उपासना है।

देवताओंने मृत्युसे भयभीत होकर तीनों वेदोंमें कहे हुए कर्मोंका आरम्भ किया। उन्होंने छन्दोंसे अपनेको आच्छादन कर लिया, यही छन्दोंका छन्दपना है यानी इसीलिये सब मन्त्र छन्द कहलाते हैं।

जैसे संसारमें मछली मारनेवाला मारने योग्य मछलियोंको जलमें देखता है इसी प्रकार मृत्युने ऋक्, यज्ञ और सामवेदमें विधान किये हुए कर्मोंमें, कर्मपरायण इन देवताओंको वधके योग्य देखा। तब देवताओंने मृत्युके अभिप्रायको जानकर ऋक्, यजु और साममें विधान किये हुए कर्मोंको छोड़ दिया और स्वर नामक अक्षरकी उपासना की।

उपर्युक्त कथनसे श्रुतिने यह सिद्ध किया कि कर्म करनेपर भी कोई मृत्युसे नहीं बच सकता। अब ॐकारमें स्वर-शब्दकी प्रवृत्ति किस प्रकार है, यह बात श्रुति कहती है।

जब उपासक ऋक्का आश्रय करता है तब ॐकारका उच्चारण करता है। इसीप्रकार सामका और यजुका आश्रय करके भी ॐकारका उच्चारण करता है, क्योंकि यह ॐकाररूप स्वर नामक अक्षर ही अमृत है, अभय है, इसलिये इस ॐकार अक्षरकी उपासना करके देवता अमर और अभय हुए।

तब दूसरोंको इससे क्या लाभ? इसके उत्तरमें श्रुति कहती है—

जो इस ओंकार नामक अक्षरको अमृत और अभय गुणवाला जानकर प्रणाम करता है और अमृत और अभयरूप जानकर इस अक्षरका ही आश्रय करता है, वह देवताओंके समान अमृत और अभय हो जाता है! (इति प्रथम अध्यायका चौथा खण्ड)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रणव और उद्गीथकी एकता दिखलाती हुई श्रुति उपर्युक्त आदित्य दृष्टिसे उद्गीथकी उपासनाका दूसरा गुण बतानेके लिये कहती है—

जो उद्गीथ है, वही प्रणव है और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। यह आदित्य ही उद्गीथ और प्रणव है क्योंकि ॐ इस अक्षरका उच्चारण करता हुआ आदित्य गमन करता है।

कुषीतकके पुत्र कौषीतकिने अपने पुत्रसे कहा था कि 'जब इस आदित्यकी इसी बुद्धिसे उपासना की थी तब मेरे तू एकमात्र पुत्र हुआ था, इसलिये तू बहुत पुत्र पानेके लिये इस आदित्यकी सब किरणोंकी उपासना कर अर्थात् आदित्य और ॐकारको बहुत्व-युक्त समझकर उपासना कर, तब तेरे अनेक पुत्र होंगे। यहाँ तक अधिदैवत कहा।

अब अध्यात्म कहते हैं—यह जो मुख्यप्राण है, उस मुख्यप्राणकी दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे क्योंकि मुख्य प्राण ॐकारका उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है।

कौषीतकिने अपने पुत्रसे कहा था कि मैंने इसीकी उपासना की थी, उस उपासनासे मैंने तुझ एकमात्र पुत्रको ही पाया है। तू बहुत पुत्रोंकी कामना करके बहुत्व-बुद्धिसे इसकी उपासना कर। ऐसा करनेसे निश्चय तेरे बहुतसे पुत्र होंगे।

उपासनाका मुख्य फल कहकर श्रुति अब प्रणव और उद्गीथकी एकताके ज्ञानका फल कहती है-

जो उद्गीथ है, वही प्रणव है और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। प्रणव और उद्गीथके अभेदको देखनेवाला होतृस्थानसे दुष्ट उद्गीथका भी अनुसन्धानकर लिया करता है यानी इन दोनोंकी एकता जाननेवाला प्रमादवश स्वरादि-ही न उद्गान कर्मको भी प्रणव उच्चारण करके ठीक कर लेता है। इन दोनोंमें भेद देखनेवाला ऐसा नहीं कर सकता। (इति प्रथम अध्यायका पाँचवाँ खण्ड)।

पुत्रादि एकदेशीय अन्य फल प्राप्त करानेवाली उपासना कहकर अब समग्र ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाली उपासनाका विधान करनेके लिये श्रुति प्रथम अधिदेवकी अंग-उपासनाका विधान करती है--

यह पृथिवी ऋक् है, अग्नि साम है। यह अग्नि पृथिवीमें, ऋचामें सामके समान स्थित है इसलिये पृथिवी नामक ऋक्में स्थित अग्नि नामक सामका गान किया जाता है। यह पृथ्वी 'सा' है और अग्नि 'अम' है इसलिये पृथिवी और अग्नि दोनों मिलाकर साम है।

यह अन्तरिक्ष ऋक् है, वायु साम है। यह वायु अन्तरिक्षमें, ऋक्में सामके समान रूपसे स्थित है इसलिये अन्तरिक्ष नामक ऋक्में स्थित वायु नामक सामका गान किया जाता है। यह अन्तरिक्ष 'सा' है और वायु 'अम' है इसलिये अन्तरिक्ष और वायु दोनों मिलकर साम है। स्वर्ग ऋक् है, आदित्य साम है। यह आदित्य स्वर्गमें और ऋक्में सामके समान स्थित है इसलिये स्वर्ग नामक ऋक्में स्थित आदित्य नामक साम गाया जाता है। स्वर्ग 'सा' है, आदित्य 'अम' है इसलिये स्वर्ग और आदित्य दोनों मिला कर साम है। सब नक्षत्र ही ऋक् है, चन्द्रमा साम है। यह चन्द्रमा नक्षत्रोंमें, ऋक्में सामके समान स्थित रहता है इसलिये नक्षत्र नामक ऋक्में स्थित चन्द्रमा नामक सामका गान किया जाता है। यह नक्षत्र ही 'सा' है, चन्द्रमा 'अम' है इसलिये सब नक्षत्र और चन्द्रमा दोनों मिलकर साम है।

यह जो आदित्यकी शुक्ल दीप्ति है, वही ऋक् है और जो नील अथवा कृष्णवर्णकी आभा है, वही साम है। इस शुक्लवर्ण आभारूप ऋक्में कृष्णवर्ण आभारूप समान स्थित रहता है इसीलिये ऋक्में स्थित सामका गान किया जाता है। यह जो आदित्यकी शुक्ल दीप्ति है, वही 'सा' है और जो आदित्यकी अति नील आभा है, वही 'अम' है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों मिलकर साम है। इस आदित्यमण्डलके भीतर जो हिरण्मय पुरुष दखता है, उसके श्मश्रु हिरण्मय हैं, उसके केश हिरण्मय हैं। अधिक क्या कहें, उसके नखाग्रसे लेकर केश पर्यन्त सभी ही सुवर्ण है।

उसके दोनों नेत्र लाल-लाल हैं और पुण्डरीकके समान अत्यन्त तेजस्वी हैं। उसका 'उत्' यह नाम है क्योंकि वह सब पापोंसे उठा हुआ है—अलग है। जो ऐसा जानता है, वह भी सब पापोंसे अलग रहता है। ऋक् और साम उसकी अँगुलियोंके दो पेरुए हैं इसलिये उसको उद्गीथ कहते हैं और इसीलिये जो उसका गान करते हैं उनको उद्गाता कहते हैं। जो लोक इस आदित्यके ऊपर हैं, उन लोकोंपर यह 'उत्' नामक देव प्रभुता करता है और वही देवताओंकी सब कामनाओंको पूर्ण करता है। यह अधिदैवत कहा। (इति प्रथम अध्यायका छठा खण्ड)।

अब अध्यात्म कहते हैं—वाणी ही ऋक् है, प्राण ही साम है। प्राण नामक साम वाणी नामक ऋक्में स्थित है इसलिये ऋक्में स्थित सामका गान किया जाता है। वाक् 'सा' है, प्राण 'अम' है, वाणी और प्राण दोनों मिलकर साम है। चक्षु ही ऋक् है, छायात्मा साम है। छायात्मा साम चक्षुरूप ऋक्में स्थित है इस लिये ऋक्में स्थित सामका गान किया जाता है। चक्षु ही 'सा' है, छायात्मा 'अम' है इसलिये चक्षु और छायात्मा दोनों मिलकर साम है। श्रोत्र ही ऋक् है, मन साम है। मनरूप साम श्रोत्ररूप ऋक्में स्थित है इसलिये ऋक्में स्थित सामका गान किया जाता है। श्रोत्र ही 'सा' है, मन 'अम' है इसलिये श्रोत्र और मन दोनों मिलकर साम है।

जो यह चक्षुकी शुक्ल दीप्ति है, वही ऋक् है और जो कृष्णवर्ण आभा है, वही साम है। शुक्लवर्ण आभारूप ऋक्में यह कृष्णवर्ण आभारूप साम स्थित है इसलिये ऋक्में स्थित सामका गान किया जाता है। यह चक्षुकी शुक्ल आभा ही 'सा' है और उसकी अति कृष्ण आभा 'अम' है तथा दोनों मिलकर साम है। इस चक्षुके भीतर जो पुरुष दीखता है, वही ऋक् है, वही साम है, वही उक्थ है, वही यजु है, वही ब्रह्म है। उस आदित्यमें स्थित पुरुषका जो रूप है, इस चक्षुमें स्थित पुरुषका भी वही रूप है, उसके जो दो गायक हैं, इसके भी वे ही दो गायक हैं, उसका जो नाम है, वही इसका भी नाम है।

यह चाक्षुष ही इस लोकसे नीचेके सब लोकोंका और मनुष्योंकी सब कामनाओंका प्रभु है इसलिये जो वीणामें गान करते हैं, वे इसका ही गान करते हैं, और धनवान् होते हैं। जो ऐसा जानकर इस सामका गान करता है, वह चक्षुमें और आदित्यमें स्थित दोनों पुरुषोंका गान करता है और आदित्यके द्वारा आदित्यसे ऊपरके सकल लोकों और देवताओंके भोगने योग्य सब विषयोंको प्राप्त करता है तथा इस चाक्षुष पुरुषके द्वारा इस लोकसे नीचे सकल लोकों और मनुष्योंके भोगने योग्य सब विषयोंको पाता है इसलिये सबका तत्त्व जाननेवाला उद्गाता यजमानसे यह कहे—'साम-गानसे तेरे कौनसे इच्छित विषयकी प्रार्थना करूँ' ? ऐसा उद्गाता साम गानके द्वारा इच्छित पदार्थ प्राप्त करा सकता है, ऐसा जानकर उद्गाता सामका गान करते हैं। तीसरे खण्डसे लेकर यहाँतकका अभिप्राय यह है कि साम-गानमें पृथिवी आदि लोकदृष्टि और चक्षु आदि दृष्टि करे। विश्वभरमें व्याप्त प्राण-शक्तिसे सूर्य, चन्द्रादि और चक्षु, कर्ण आदि प्रकट हुए हैं। साम आदि गानमें भी उस प्राण-शक्तिकी क्रिया ही व्यक्त होती है।

(इति प्रथम अध्यायसे सप्तखण्ड)।

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्तियोग

(लेखक–पं०श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम०ए०एल-एल०बी०, एम०आर०ए०एस०)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !

(१) साधक—यहाँ 'भारत' शब्दका प्रयोग जान-बूझकर किया गया है, अन्यथा प्रथम पंक्तिमें प्रयुक्त 'अर्जुन' शब्द ही पर्याप्त होता। भगवान्‌ने 'भारत' कहकर भक्तिके अधिकारियोंका उल्लेख कर दिया है। पहली बात तो यह है कि अर्जुनमें दैवीसम्पत्ति (अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः आदि)—आवश्यक सद्गुणावली पर्याप्त मात्रामें थी। भगवान् स्वयं इस बातको स्वीकार कर चुके हैं 'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव !' भक्तिके अधिकारीके लिये भी सुकृती होना बहुत जरूरी है। कहा गया है कि दुष्कृति मूढ़ मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करते 'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।' दूसरी बात यह है कि भारतके युद्धके समय भारत (अर्जुन) आर्त्त भी हुआ था (कृपयाविष्टं, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं, विषीदन्तम् आदि), जिज्ञासु भी हुआ था (पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः शिष्यस्तेऽहं), अर्थार्थी तो था ही (यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः) और ज्ञानी भी हो ही गया था (तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यं आदि) इसलिये 'भारत' कहकर भगवान्‌ने इन चार प्रकारके भक्तोंकी ओर भी संकेत कर दिया। तीसरी बात यह है कि भक्तिमार्गके अधिकारी केवल श्रेष्ठ व्यक्ति ही नहीं हैं, सर्वसाधारण स्त्री, शूद्र आदि सभी इस मार्गके अधिकारी हैं। 'भारत' से सम्पूर्ण भारतीयोंके अर्थकी भी ध्वनि निकलती है जिसमें स्त्री, शूद्र आदि सब सम्मिलित हैं।

(२) साध्य—'तमेव' का अर्थ है, वह परमात्मा जो सबके हृद्देशमें स्थित है। काष्ठ, पाषाण आदिकी मूर्तिमें भी वही है; सूर्य, चन्द्र आदि विभूतियोंमें भी वही है; श्रीराम-कृष्ण आदि अवतारोंमें भी वही है; इन्द्र, वरुण आदि देवताओंमें भी वही है और 'शुनि चैव श्वपाके च' में भी वही है। नश्वर-पदार्थोंका अविनश्वर सारभूत वह परमात्मा घट-घटमें निवास करता है। वही अन्तर्यामी भक्तोंका परम आराध्य और भक्तिका परम साध्य है। अव्यक्त परमात्मामें आसक्ति पैदा होना ज़रा कठिन है। 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।' इसलिये लोग परमात्माके व्यक्त रूपोंका (अवतारका, विभूतियोंका, मूर्तियों आदिका) सहारा लेते हैं परन्तु उसका सर्वव्यापक रूप तो अव्यक्त ही है। 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।' वह एकाङ्गी देवता नहीं। वह तो सबका सार, सबका अन्तर्यामी है। इसीलिये कहा गया है 'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।' 'तमेव' में 'एव' शब्दका इसीलिये इतना महत्त्व है।

(३) साधन—'सर्वभावेन शरणं गच्छ' कहकर भगवान्‌ने वैधी भक्तिसे रागात्मिका भक्तिको ही प्राधान्य दिया है। भगवान्‌को दिव्य-ठाटपाट और सुवर्णालङ्कारोंकी आवश्यकता नहीं है। भक्तिके साथ जो कुछ भी पत्र, पुष्प, फल, जल अर्पण किया जाय, उसीसे भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। असली बात तो भक्तिका भीतरी भाव है न कि ऊपरी आडम्बर !

अनन्य शरणागति ही भक्तिका सच्चा और उत्कृष्ट रूप है। श्रद्धा, विश्वास, भगवत्-परायणता आदि भक्तिके आवश्यक अङ्गोंका पूर्ण विकास अनन्य शरणागतिमें ही होता है, क्योंकि जबतक हमें ईश्वरपर विश्वास नहीं, उसके दया-दाक्षिण्य आदि गुणोंपर श्रद्धा नहीं और उसमें तन्मयता नहीं, तबतक उसकी ओर अनन्य शरणागति हो ही नहीं सकेगी। श्रद्धा, विश्वास और तन्मयताकी वृद्धिके लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रवण, मनन, नमन, कीर्तन, जप आदि अनेक साधन बताये गये हैं। ये साधन ही वे भाव हैं जिनके द्वारा शरणागति प्राप्त की जाती है। असलमें तो यह कहा गया है कि मनुष्यको अपना प्रत्येक कर्म ही परमात्माके अर्पण करना चाहिये—अपना प्रत्येक भाव उसीके चरणोंमें उत्सर्ग करना चाहिये। ऐसा होनेहीसे वह 'वासुदेवः सर्वं' का अनुभव करता हुआ एकदम निःसंग होकर जीवन्मुक्त बन जायगा। इन्हीं बातोंको व्यक्त करनेके लिये भगवान्ने 'सर्वभावेन' शब्दका प्रयोग किया है।

'शरण' और 'सर्वभाव' शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अन्दर इतना अर्थ भरा हुआ है जितना शायद अन्यत्र नहीं। इसलिये यदि इन शब्दोंके अर्थमें कुछ शब्द और कह दिये जायँ तो अनुचित न होगा। प्रथम शब्द है 'शरणागति' जिसके विषयमें निम्नलिखित श्लोक स्मरण रखने लायक है—

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥
अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः।
त्वमेवापायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यता॥

अर्थात् शरणागति छः प्रकारकी है और वह है-(१) भगवान्के अनुकूल कार्योंका संकल्प (२) उनके प्रतिकूल विषयोंका परित्याग (३) वे हमारी रक्षा करेंगे यह ध्रुव विश्वास (४) अपनी रक्षाके लिये उनका निरन्तर वरण (५) अपनेको उनकी गोदमें अथवा उनके चरणोंपर डाल देना तथा (६) मैं कुछ नहीं हूँ वे ही सब कुछ हैं यह भाव दृढ़ रखना। मैं अपराधोंका घर हूँ, अकिञ्चन हूँ, गतिहीन हूँ, हे भगवन्, तुम्हीं मेरे प्रबलरक्षक बनो, इस तरहकी प्रार्थनाशील मतिका नाम ही शरणागति है।

स्मरण रहे कि यह शरणागति उस देवकी ओर प्रयुक्त हो रही है जो घट-घट-वासी अन्तर्यामी है। फिर भला कहिये कि ऐसा शरणागत भक्त 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' आदि क्यों न होगा?

ऊपर शरणागतिके जो छः भेद बताये गये हैं, वही भक्तिके छः भाव माने जा सकते हैं और इस तरह 'सर्वभावेन शरणं गच्छ' का अर्थ 'पूर्णरूपसे शरण जाओ' ऐसा किया जा सकता है। यह तो हुआ 'सर्वभाव' का एक अर्थ। दूसरी दृष्टिसे 'सर्वभाव' को दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है (१) भेदभाव और (२) अभेदभाव। भेदभावके दो भेद हो सकते हैं (१) शत्रुभाव और (२) मित्रभाव। फिर मित्रभावके चार भेद किये जा सकते हैं, यथा-(१) दास्यभाव (२) वात्सल्यभाव (३) सख्यभाव और (४) माधुर्यभाव (दाम्पत्यभाव)। भेदभाव-वाला कह सकता है—

अर्थ न धर्म न कामरुचि, गति न चहहुँ निर्वान।
जन्म जन्म सियरामपद, यह बरदान न आन॥

अभेदभाववालेके विषयमें कहा जा सकता है—

बुंदमें सिंधु समान, यह अचरज कासों कहौं।
'हेरनहार हिरान, रहिमन आपुहि आपुमें॥'

वह केवल दास्य अथवा सख्यभाव ही क्यों, स्वयं अपनी क्षुद्रता अथवा विभिन्नताका भाव लेकर ही शरण हो जाता है और इस तरह शरण हो जाता है जैसे समुद्रमें नमकका ढेला!

सर्वभावेन शरणागतिका कैसा सरल और सुलभ साधन है जो धनी-निर्धनी, कुलीन-अकुलीन, सदाचारी-दुराचारी, पुरुष-स्त्री सभीके लिये एक समान खुला हुआ है। यही साधन सबसे सरल और सबसे श्रेष्ठ है। इसीलिये भगवान्ने आदेशात्मक 'गच्छ' शब्द कहकर इसी साधनकी ओर भारतको प्रवृत्त किया है।

(४) विशेषता—जिसप्रकार दूसरे मार्गोंको भगवान्ने अविरोधी बनाया परन्तु साथ ही अपूर्वता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युक्त भी कर दिया, उसीप्रकार उनके भक्ति-मार्गका भी हाल है। भगवान्-कथित भक्तिमार्गमें शैव, शाक्त वैष्णवका कोई झगड़ा नहीं। वहाँ तान्त्रिक उपचारों-के विधानका खण्डन-मण्डन नहीं। पञ्चदेवोंके गौरव-क्रमका निर्णय नहीं। चाहे जिस देवका चाहे जिस विधिसे पूजन किया जाय, सबका समाधान किया गया है और सभीके लिये स्थान निर्दिष्ट किया गया है। वहाँ तामसी पूजाओंका भी उल्लेख है, राक्षसी पूजाका भी वर्णन है, देवताओंकी पूजाका भी कथन है और ईश्वरपूजन-की भी चर्चा है। इतना सब होते हुए भी उसकी अपूर्वता इसीमें है कि उसने सब तरहकी पूजाओंकी उचित व्याख्या कर दी है और घट-घट-वासीके लिये भावप्रधान शरणागतिपर ही विशेष ज़ोर दिया है।

संसार और शिशु

क्या ये जग है? फलित-पल्लवित छोटा-सा है बाग।
वनमालीका जिसमें रहता मूर्तिमन्त अनुराग॥
हैं ये विटपी विटप मनोहर, मानव सृष्टि अपार।
फूल गर्भ हैं! फल शिशु-गण हैं! शोभाके भण्डार॥
विटप फूलवाले सज्जन हैं, कण्टकवाले क्रूर।
दो दिनका है जीवन रे नर! मत कर गर्व-गरूर॥

लहराती लतिकाएँ सुन्दर यौवनका आनन्द।
पंछीका कल-गान मनोहर कविका प्यारा छन्द॥
बहती है जलधार, प्रेम-जलनिधिकी एक तरंग।
खेल खेलते शिशु-गण प्यारे हैं मदमाते भृंग॥
रे मानव! मत भूल कभी तू होगा इनसे दूर।
दो दिनका है जीवन रे नर! मत कर गर्व-गरूर॥

हैं शिशु-हृदय उदार, रहे नित अधरोंपर मुसकान।
पलमें रोना, पलमें हँसना, पलमें करना गान॥
उनके रोनेमें धीरज है, हँसनेमें चापल्य।
गायनमें है सौम्य-सरलता, निर्मलता निःशल्य॥
इनसे रक्खो प्रेम करो तुम इनका कष्ट-कपूर।
दो दिनका है जीवन रे नर! मत कर गर्व-गरूर॥

साधुवाद शिशुओंमें ही है, नहीं अछूत विचार।
साम्यवादके झण्डेपर है इनका प्रेम-प्रसार॥
हो चमार, महतर कोई भी, सब हैं शिशुको एक।
नीच ऊँचका भाव नहीं है, ऐसा विमल-विवेक॥
प्रेम करो मत भूलो इनसे, ये हैं सच्चे शूर।
दो दिनका है जीवन रे नर! मत कर गर्व-गरूर॥

चित्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ममता ही दुःख है

(लेखक—श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

इस संसारमें सभी दुखी हैं, सुखी एक भी नहीं। किसीको अन्न-वस्त्र-गृह-कष्ट, किसीको सन्तानाभाव-कष्ट, किसीको विग्रह-कष्ट, अधिकांशको व्याधि-कष्ट और जो लोग इनसे बचे हुए हैं उनको तृष्णा-कष्ट अर्थात् वर्तमान धन-जन-वैभव आदिसे सन्तुष्ट न होकर अधिककी इच्छा और अधिक मिलनेपर और भी अधिककी तृष्णा। ऐसे लोग तो गरीबोंसे भी अधिक दुखी हैं। ठीक ही कहा है 'को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः' अर्थात् अधिक तृष्णा रखनेवाला ही दरिद्र है। इस सर्वव्यापी घोरतर कष्टका कारण केवल अविवेक और मोह है। यह नाम-रूपात्मक वाह्य जगत् सच्चिदानन्दका विलास अर्थात् लीलामात्र है। यह समस्त वाह्य विषय असत्, जड़, दुःखमय और सच्चिदानन्दमें केवल अध्यारोपित हैं, इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अर्थात् स्थिति नहीं है, किन्तु अविद्याके कारण लोग नाम-रूपात्मक असत् और दुःखद अनात्म वाह्य विषयको सत् और सुख-रूप मानते हैं, एवं इसके परम आधार और यथार्थ सुखके एकमात्र कारण परमात्माको असत् समझकर उससे दूर भागते हैं। यहाँतक कि, उसके अस्तित्वका भी ज्ञान नहीं रखते। इसप्रकार लोग यथार्थ पदार्थको त्यागकर उसकी छायाकी ओर आकृष्ट होते हैं एवं नाना प्रकारके दुःख पाते हैं। छायासे सुख तो कैसे मिल सकता है ?

यह संसार परमात्माकी लीला है, इसमें जितने नाम और रूप हैं, उन सबके आधार परमात्मा हैं, वास्तवमें वे सब परमात्माके ही हैं; अतएव जो मनुष्य इस परमात्माके लीलात्मक विश्वके नाम और रूपवाले विषयमें ममत्व (मेरापन) करता और लीलाके कार्यमें अहङ्कार करता है, वही इस मायाके जालमें बद्ध हो संसृति-चक्रमें पड़कर विविध दुःख भोगता है। संसारके सब पदार्थ परमात्माके हैं, ये उनपर अध्यारोपित हैं, स्वतन्त्र कदापि नहीं हैं। हमलोग भ्रमसे धन, वैभव, सन्तान, गृह, भूमि, वाहन आदि पदार्थोंको अपना समझते हैं और इनके सम्बन्धमें परमात्मा, जो हम लोगोंके द्वारा लीला कर रहे हैं, उस लीलाकी क्रियाको अपनी क्रिया जानकर अहङ्कार करते हैं। इसप्रकार हमलोग मायाके चक्रमें फँसते और कष्ट पाते हैं। अतएव इस संसारकी संसृतिकी चक्कीमें पीसे जानेके दुःखसे छूटनेका मुख्य उपाय ममता और अहङ्कारका त्याग है। यह शुष्क ज्ञानाभिमानियोंका त्याग नहीं है जो संसारको तो मिथ्या कहते हैं, परन्तु इन्द्रियोंके विविध प्रकारके भोग्य-विषयोंका संसर्ग सदा आसक्तिपूर्वक करते रहते हैं। वास्तविक त्यागमें सांसारिक वस्तु अपनी (जो मिथ्या ममत्व है) न समझी जाकर परमात्माकी समझी जाती है जो यथार्थमें सत्य है और कर्ता स्वयं अपनेको करनेवाला न मानकर परमात्मारूप यन्त्रीके हाथोंमें यन्त्र बनकर अपनेको परमात्माद्वारा सञ्चालित समझता है, एवं वह निमित्तमात्र बनकर केवल श्रीपरमात्माका ही कार्य करता है। इस कार्यके करनेमें भी वह सत्य, क्षमा, दया, अहिंसा, समता आदि परमात्माके गुणोंद्वारा ही काम लेता है। असत्य, हिंसा आदि विरुद्ध गुणोंका उससे कदापि सम्पर्क नहीं होता।

ऐसा समर्पितात्मा साधक यह नहीं समझता कि ये शरीर, परिवार, घर, धन, जमीन आदि मेरे हैं, वह इन सबको परमात्माका समझता है, साथ ही यह भी समझता है कि इनका मुझसे सम्बन्ध केवल परमात्माकी लीलाके कार्यके लिये ही हुआ है। वह परमात्माकी इच्छानुसार अपनेको उनकी शक्तिसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सञ्चालित मानकर उनका उचित व्यवहार करता है, स्वार्थके निमित्त कदापि नहीं करता। इसप्रकार जिन सब वस्तुओंको हमलोग अपनी मानते हैं, वे वास्तवमें श्रीपरमात्माकी हैं, हमलोग तो ममत्वके कारण आसक्तिसे बद्ध होकर उसके द्वारा स्वार्थवश दुःख पाते हैं और बारम्बार बन्धनमें पड़ते हैं।

हम समझते हैं कि अपने सम्बन्धके सांसारिक पदार्थको हमने अपने पुरुषार्थसे प्राप्त किया है, और हम ही उसकी रक्षा कर रहे हैं, किन्तु यह सर्वथा भूल है। यथार्थमें सब पदार्थ, आत्मातक, श्रीपरमात्मा-के हैं और उनका उपार्जन, पालन, पोषण भी श्रीपरमात्मा ही करते हैं। हम समझते हैं कि हम संसारके हितार्थ ही कोई विशेष कर्म अथवा ईश्वर-सम्बन्धी कार्य करते हैं और करेंगे, परन्तु यह व्यर्थ अहङ्कार है, क्योंकि हमलोगोंकी शक्ति और इन्द्रियादि साधन सबके सब श्रीभगवान्के हैं। अतः किसी भी कर्मके कर्तापनका अहङ्कार भ्रम है। लिखा है-'उर-प्रेरक रघुवंश विभूषण'—'सर्वस्य चाऽहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'। हमलोगोंको चाहिये कि श्रीभगवान्के पदार्थ और शक्तिमें ममता, अभिमान और अहङ्कार कर उनका दुरुपयोग न करें, जो गुणमयी अविद्याके—अज्ञानके कारण होता है। हमलोगोंका धर्म है कि अपने जीवात्माको श्रीपरमात्माका अंश मानकर उसके द्वारा श्रीपरमात्माकी शक्तिसे और परमात्माकी इच्छाके अनुसार सब कर्मोंको करें। ममता, अहङ्कार और स्वार्थसे कदापि कोई कर्म न करें। केवल श्रीपरमात्माकी सेवाके लिये आत्म-समर्पण करनेसे ही यह भाव सम्भव है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने लिये कुछ भी नहीं सोचती। उसका लक्ष्य केवल पतिकी सेवा ही रहता है। अपनी आवश्यकताओंको वह पतिपर निर्भर कर एकदम भुला देती है और उसका पति उसको जिसप्रकार रखता है, उसीमें प्रसन्न रहती है। इसीप्रकारका भाव भगवान्के प्रति भक्तका होता है, कभी कोई असुविधा, अभाव, दुःखादि आ जाते हैं तो वह उनको श्रीपरमात्माके द्वारा प्रेरित और उन्हींकी इच्छाके अनुसार, उन्हींके कार्य अथवा वस्तुके सम्बन्धमें प्राप्त हुए जान उनका आना अपने हितके लिये समझता है और प्रसन्न रहता है। 'यदृच्छालाभसंतुष्टो'—'सुखदुःखेसमे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ'। भक्तप्रवर श्रीमाधोदासजीको दस्तकी बीमारी होनेपर श्रीभगवान् स्वयं उनकी सेवा करने लगे और उनका मलमूत्र फेंकने लगे किन्तु श्रीमाधोदासजीके, इस उद्देश्यसे कि जिससे श्रीभगवान्को कष्ट न करना पड़े, रोगकी निवृत्ति चाहनेपर श्रीभगवान्ने रोग-निवृत्ति करनेसे इन्कार कर दिया, उन्होंने कहा कि 'इस प्रारब्ध कर्मके फलरूपी दुःखको भोगनेसे बड़ा लाभ होता है, इससे जीवको कर्म-बन्धनसे छुटकारा मिल जाता है। कर्मफलका भोगना ही आवश्यक है, भोगको रोकने-से भविष्यत्में अधिक दुःख होता है।' जब श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं तो दुःख भेजते हैं। श्रीजानकीजी और पाण्डवोंकी दशापर विचार कीजिये। स्वयं श्रीभगवान् रामचन्द्रजीने वनवास और श्रीकृष्णचन्द्रजीने व्रजमें वनवासका कष्ट अपने ऊपर लिया था।

विष-लतामें अमृतफल

चित जब राम-चरन अनुरागै ॥

तरुनि-तनय-तन-धनमय-मायिक, जगत स्वप्नतें जागै ।
गरुड़ ज्ञान हित मान त्यागि नित, मानत गुरु करि कागै ॥
भक्ति-बिबेक-बिकास होत हिय, बिषय बासना भागै ।
बिषय-बिषम-बिष-बलित-लतामैं, अमल अमियफल लागै ॥

अर्जुनदास केडिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानदीपक-स्पष्टीकरण

(लेखक-साहित्यरत्न पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

१२—नोइनि वृत्ति पात्र बिस्वासा।
निर्मल मन अहीर निज दासा॥

अर्थ-वृत्तिकी नोइन, विश्वासकी दोहनी और दासीभूत निर्मल मनको अहीर बनावे।

नोइनि-दूहनेके समय जिस रज्जुसे गौका पैर बाँधते हैं उसे 'नोइन' कहते हैं। वह नोइन वृत्ति है। अर्थात् वृत्तिको उस समय श्रद्धाके चरणोंमें लगा देना चाहिये, जिसमें श्रद्धा अचल रहे।

पात्रविश्वासा-विश्वासको पात्र (दोहनी) बनावे, जिसमें दूध रक्खा जा सके। विश्वासमें छिद्र होनेसे दूध बह जायगा। यथा—

'कौनिउ सिद्धि न बिनु बिस्वासा।'

निर्मल मन अहीर-अहीर अर्थात् दूहनेवाला निर्मल-मन हो। काम-संकल्पवाला मन मलीन और कामवर्जित मन निर्मल कहलाता है, अशुद्ध मन श्रद्धाको छटका देगा, तो बना बनाया काम बिगड़ जायगा।

निज दासा-वह अहीर अपना दास हो, अपने वशमें हो, अर्थात् मन निर्मल होनेपर भी अपने काबूमें न हो तो काम नहीं चलता, अतः वह निर्मल भी हो और अपने काबूमें भी हो। गौके पेन्हानेपर वह निर्मल मनरूपी सेवक अहीर जब उस गौके चरणोंमें उसे निश्चल करनेके लिये, नोइन लगाकर देखे कि अब बछड़ा अपनी पुष्टिके लिये योग्य मात्रामें दूध पी चुका तब उसे हटाकर दोहनीमें दूध दूहे। इस भाँति धर्माचरणके द्वारा कृतकृत्य होकर श्रद्धा अन्तर्मुखी हो और सम्पूर्ण धर्मोंके सात्त्विक परिणामसे सात्त्विकभावकी पुष्टि करने लगे, तब भलीभाँति वश किये हुए कामसंकल्प-रहित मनकी वृत्ति लगाकर अपनी श्रद्धाको अचल कर ले। नहीं तो सात्त्विकभाव (सुखभाव) के हटाते समय श्रद्धा छटक जायगी। और यदि सात्त्विकभाव न हटाया जायगा, तो वह अनुष्ठित धर्मके सम्पूर्ण सात्त्विक परिणामको पी जायगा। मनके सात्त्विकभावमें अनुरक्त होनेसे भी सुखके साथ बन्धन होगा, अतएव सात्त्विकभाव-को भी धीरे-धीरे हटाकर मनको परिपूर्ण विश्वासका पात्र करनेके लिये उसे श्रद्धामें लगा दे।

इस चौपाईसे शम * कहा गया।

१३—परम धर्ममय पय दुहि भाई।
औटइ अनल अकाम बनाई॥

अर्थ-हे भाई! परमधर्ममय दूध दुहकर उसे, अकामकी आग बनाकर अवटे।

परम धर्ममय पय-जो सात्त्विक परिणाम दूधरूपमें परिणत हुआ, उसीको परमधर्ममय कहा अर्थात् अहिंसा-मय कहा, क्योंकि अहिंसामें ही शेष सब धर्मोंकी चरितार्थता है यथा—

'परम धर्म श्रुतिविदित अहिंसा'। 'धर्म कि दया सरिस हरिजाना'

दूसरा 'परम धर्ममय' कहनेका भाव यह है कि 'मयट्' प्रत्यय बहुतके अर्थमें होता है, अर्थात् उस दूधमें परम धर्म बहुत है, पर थोड़ा-सा काम, वासना, ममतादि रूप दोष भी हैं।

दुहि भाई-विश्वासरूपी पात्रमें ही यह दूध दुहा जा सकता है, अन्य पात्रमें रखनेसे बिगड़ जायगा, अतएव परम धर्ममय सात्त्विक परिणामसे विश्वासरूपी पात्र भर लेना चाहिये। न भावके काम आ सके न मनके। क्योंकि भाव और मन दो ही पदार्थ ऐसे हैं, जो श्रद्धासे धर्मके सात्त्विक परिणामको अलग कर सकते हैं, और केवल मन ही ऐसा है, जो उसे श्रद्धासे लेकर विश्वासके सुपुर्द कर सकता है। 'भाई' सम्बोधन है तथा विचारके लिये आश्वासन है, यथा—करै विचार करौं का भाई।

अवटै-अर्थात् पाक करै, गुणाधिक्यके लिये, घनीभाव-के लिये, जलरूपी अवगुणके नाशके लिये। यथा—गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।

अनल अकाम बनाई-अकामकी आगको प्रज्वलित करके औटे, अर्थात् आगपर रखकर देरतक गरम करे, जिसमें उसके एकएक परमाणुतकमें अकामकी आग पहुँच जाय। धर्मके सात्त्विक परिणाममें भी काम रह जाता है, क्योंकि

* शम मनोनिग्रहको कहते हैं, यह षट्सम्पत्तिमें प्रथम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म सदासे ही कामका संगी है। धर्मका साथ सुख और स्वर्गसे है, और ये ही काम हैं। अकामकी अग्नि इसलिये कहा कि-'काम' शब्द यावत् वैषयिक सुखका वाचक है (केवल स्त्री-सुखका ही नहीं)। उसका त्याग ही अकाम है। वैषयिक सुखमात्रके त्यागके ध्यानसे ताप होता है, अतएव उसे अग्नि कहा, इस अग्निकी उत्पत्तिके लिये कामको दूर करना कर्तव्य है। फिर वह अग्नि आपसे आप बनी रहेगी, इसलिये बनाई कहा। अकामकी अग्नि परम धर्ममय पयका पाक करके उसके गुणको बढ़ा देगी, उसमें घनत्व पैदा करेगी और उसके कामांशको दूर करेगी। औटनेसे दूध अत्यन्त गरम हो जाता है, यदि ऐसे समय जाँवन डाला जाय तो वह फट जायगा, अतएव उसे ठण्डा करना चाहिये। गायके चरानेसे लेकर दूध औटने तक मनका काम था, अब ठण्डा करनेका काम क्षमाका है। क्षमा, मुदिता और बुद्धि ये सब मनके परिवार हैं।

१४--तोष मरुत तब क्षमा जुड़ावै। धृति सम जाँवन देइ जमावै॥

अर्थ-क्षमा-तोषरूपी वायुसे उसे ठण्डा करे। तब धैर्यका सम जाँवन देकर (दही) जमावे

तोष मरुत-तृषा शान्त करनेवाले गुणको तोष कहते हैं। तोषकी उपमा मरुत् (हवा) से दी गयी है। हवासे गर्मी शान्त होती है, दूध ठण्डा होता है। परम धर्ममय पयमेंका कामांश तो दूर हुआ, पर ऐसा करनेसे वह सन्तप्त हो उठा, उस सन्तापके दूर करनेके लिये तोषकी आवश्यकता हुई।

भाव यह कि 'सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः' ऐसी धारणा अटल होनेपर भी कामसे भय रहता है, क्योंकि वह क्रोध उत्पन्न कराके हिंसा करा देता है। कामका विरह हुआ, कामके विरहसे सन्ताप हुआ, अतएव उस सन्तापको तोषसे दूर करे। जो अहिंसामें प्रतिष्ठित हो गया है उसके लिये आत्मघातक (जिससे आत्माका आवरण बढ़े) दोषोंका दूर करना परम कर्तव्य है।

क्षमा जुड़ावै-दूसरेके अपराधसे भी न सन्तप्त होनेवाली क्षमामें ही कामके विरहसे उत्पन्न धर्मके सन्तापको दूर कर सकनेकी शक्ति है अतएव क्षमा ही उसे तोषकी वायुसे शीतल करे। दूसरी बात यह है कि तोषके प्राप्त करानेमें क्षमा ही समर्थ है अतः वही सन्तप्त परम धर्ममय पयको शीतल करे। यथा—

त्रिविध पाप संभव जो तापा। मिटइ दोष दुख दुसह कलापा॥
परम सान्त सुख रहै समाई। तहँ उतपात न भेदै आई॥
तुलसी ऐसे सीतल सन्ता। सदा रहहिं एहि भाँति एकन्ता॥
(वै० स०)

ठण्डा करनेका दूसरा यह भाव भी है कि साधकको व्यर्थ काल बिताना उचित नहीं, अनायास भी दूध धीरे-धीरे ठण्डा हो जाता है, पर उसमें देर लगेगी, अतएव तोषरूपी शीतल वायुसे उसे क्षमाद्वारा शीतल करनेका उद्योग करे।

धृति सम जाँवन-धृति अर्थात् धैर्य, कृतकार्य होनेका प्रधान साधन है, यथा 'धीरज धरइ सो उतरै पारा' 'सम' से भाव यह कि समतावाला धैर्य होना चाहिये, विषमतावाला नहीं। इसीको जाँवन बनावे। जाँवन दहीकी उस मात्राको कहते हैं जिसे दूधमें डालकर दही जमाया जाता है। खटाई आदिसे भी दही जमता है पर वह अच्छा नहीं होता। अथवा सम जाँवनसे यह तात्पर्य है कि जितना उचित हो उतना ही जाँवन दे, क्योंकि उचित मात्रासे कममें दही नहीं जमेगा, और अधिक होनेसे वह पानी छोड़ देगा। अतएव जितने धैर्यकी आवश्यकता हो उतनेहीसे काम ले, धैर्य कहीं हठमें परिणत न हो जाय!

देइ जमावै-जाँवन देकर जमा दे। अर्थात् जाँवन डालकर उसे उतना समय दे, जितनेमें जाँवनका प्रभाव सम्पूर्ण दूधपर पड़े, और वह जमकर एक थक्का हो जाय। दूधके जमानेमें जाँवनके लिये दूसरे दहीकी आवश्यकता पड़ती है, और उस दूसरेके लिये तीसरेकी। इस भाँति यहाँ अनादिकालसे साधनपरम्परा दिखलायी है। यह नहीं समझना चाहिये कि ऐसा उद्योग आजतक कभी नहीं किया गया। जीवकी स्थिति अनादिकालसे है और उसका उद्योग बराबर जारी है। न जाने कितनी बार दही जमा, पर काम पूरा चौकस न उतरा। इस बार भी दही जमकर तैयार हुआ। जिस प्रकार हरे तृणका परिणाम दूध एक दूसरी वस्तु तैयार हुई, इसी भाँति दूधका परिणाम दही एक बिल्कुल तीसरी वस्तु है। इसमें दया, निष्कामता, तोष और धैर्य चारोंका मेल है। क्षमाका कार्य समाप्त होते ही मुदिता आपसे आप उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार अन्य पात्र भी आते जायँगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५—मुदिता मथै विचार मथानी । दम अधार रजु सत्य सुवानी ॥

अर्थ–मुदिता विचारकी मथानीसे, जिसका दम अधार और सत्य सुवानी डोरी हो, दहीको मथे।

मुदिता मथै—दहीको मुदिता अर्थात् दूसरेके सुखमें आनन्दित होनेवाला गुण मथे। यहाँ मथना विचार करना है। विचारमें मुदिताकी बड़ी आवश्यकता है।

विचार मथानी–विचारकी मथानीसे मुदिता मथे। धर्मको सदासे कामके साथका संस्कार है। धर्मके साथसे काम हटा दिया गया, धैर्यसे मैत्री करायी गयी, पर अब भी उसमें (दुःखके बीज) कामका संस्कार शेष है, उसी संस्कारको तोड़नेके लिये उस दहीके थक्केको विचार (वस्तु-विचार) से मथे।

दम अधार–दम* अर्थात् इन्द्रियदमन, उस वस्तु-विचारका आधार होगा, मथानीका फल होगा। उसकी चोटसे यह जमा हुआ दहीका थक्का छिन्नभिन्न होकर रवा रवा हो जायगा।

रजु सत्य सुवानी–सत्य सुवानी अर्थात् हितकर सत्यवाणी (गुरु तथा शास्त्रकी) उस विचार-मथानीकी डोरी होगी। उसकी खींचके अनुसार जब वस्तु-विचार-दण्ड अपने फलके साथ घूमेगा, अर्थात् शास्त्रमर्यादाके भीतर तर्क होगा, तब दही मथित होकर नवनीत (मक्खन) प्रसव कर सकेगा। विचारका दिग्दर्शन—यथा—

'जिय जबते हरिते बिलगान्यौ। तबते देह गेह निज मान्यौ ॥
माया बस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रमते दारुण दुख पायो ॥
पायो जो दारुण दुसह दुख सुखलेस सपनेहु नहिं मिल्यौ।
भय सूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यौ ॥
बहु जोनि जन्म जरा बिपति मतिमन्द हरि जान्यौ नहीं।
श्रीराम बिनु बिस्राम मूढ विचारि लखु पायो नहीं ॥
आनँद-सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा ॥
मृग भ्रम वारि सत्य जल जानी। तँह तू मगन भयउ सुख मानी ॥
तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रय काल जल नाही जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव खलु भूलि जनु आयो तहाँ ॥
निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्यौ।
निहकाज राज बिहाय नृप इव स्वप्न-कारागृह पर्यौ ॥
तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्ही। अपने करन्ह गाँठि हठि दीन्ही ॥
तेहिते परवस पर्यो अभागे। ता फल गर्भवास दुख आगे ॥
आगे अनेक समूह संसृति उदरगत जान्यौ सोऊ।
सिर हेठ ऊपर चरण संकट बात नहिं पूछै कोऊ ॥
सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत सेवही।
कोमल सरीर गभीर वेदन सीस धुनि धुनि रोवही ॥
प्रेरेउ जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यो।
सो ज्ञान ध्यान विराग अनुभव जात ना पावक दह्यो ॥
अति खेद व्याकुल अलपबल छिन एक बोल न आवई।
तब तीव्र कष्ट न जान कोउ सबऊोग हर्षित गावई ॥
बालदसा जेते दुख पाये। अति अनीस नहि जाहिं गिनाये ॥
क्षुधा व्याधि बाधा भइ मारी। बेदन नहि जानै महतारी ॥
जननी न जानै पीर तव केहि हेतु सिसु रोदन करै।
सो करै विविध उपाय जाते अधिक तुव छाती जरै ॥
कौमार सैसव अरु किसोर अपार अघ को कहि सकै।
वितरेक तोहि निर्दय महाखल आन कहु को सहि सकै ॥
जोबन जुवति संग रँग रात्यौ। तब तू महामोह मद मात्यौ ॥
ताते तजी धर्म-मरजादा। बिसरे तब सब प्रथम विषादा ॥
बिसरे विषाद निकाय संकट समुझि नहि फाटत हियो।
फिरि गर्भगत आवर्त्त संसृति चक्र जेहि होइ सोइ कियो ॥
कृमि भस्म बिट परिणाम तनु तेहि लागि जग बैरी भयो।
परदार परधन द्रोहपर संसार बाढ़ै नित नयो ॥
देखत ही आई बिरधाई। जो तैं सपनेहु नाहि बोलाई ॥
ताके गुन कछु कहे न जाहीं। सो अब प्रगट देखु जगमाहीं ॥
सो प्रगट तनु जर्जर जरावस ब्याधि-सूल सतावई।
सिर कम्प इन्द्रिय सक्ति प्रतिहत वचन काहु न भावई ॥
गृहपालहूते अति निरादर खानपान न पावई।
ऐसिउ दसा न विराग तहँ तृस्ना-तरंग बढ़ावई ॥
को कहि सकै महाभव तेरे। जन्म एक के कछुक गनेरे ॥
खानि चारि संतत अवगाहीं। अजहुँ न कर विचार मनमाहीं ॥
एहि तनु कर फल विषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई ॥
नरतनु पाय विषय मन देही। पलटि सुधाते सठ विष लेही ॥
सुर-नर-मुनिकर याही रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥
जेहिते कछु निज स्वारथ होई। तेहिपर ममता कर सब कोई ॥
जग अनभल मल एक गोसाईं। इत्यादि।

* यह षट् सम्पात्तियोंमेंसे दूसरा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब कार्य श्रद्धासे लेकर ग्रन्थि भेदतक विधिके अनुसार होने चाहिये, अविधि होनेसे वह असुरोंका भाग हो जायगा।

१६—तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता।
विमल विराग सुभग सुपुनीता॥

अर्थ–तब दही मथकर सुन्दर पवित्र विराग-रूपी मक्खन निकाल ले।

तब मथि–इसप्रकार विचार-मथानीद्वारा मथनेसे काम-संस्कार टूट जायगा, और उसके टूटते ही त्रिवर्ग वा षड् विकारकी जो कुछ वासना परम धर्मके सारको ढके हुए थी, छिन्नभिन्न होकर अलग हो जायगी और नवनीत (विराग) प्रकट हो पड़ेगा।

काढ़ि लेइ नवनीता–तब नवनीतको उस तक्रसे अलग निकाल ले। अबतक सब कार्य विश्वासरूपी पात्रमें ही होता आया। उसीमें दूध दुहा गया, औटा गया, ठण्डा किया गया, जमाया गया और मथा गया। अब मक्खन निकल पड़ा तो उसे (विश्वास) पात्रसे अलग कर लिया गया। भाव यह कि केवल विरागका विश्वास होनेसे काम नहीं चलेगा।

विमल विराग–वह मक्खन विमल विराग है, यथा–

'भूषन वसन भोग सुष भूरी। मन तन वचन तजे तृण तूरी॥
अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई॥'
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥'

विराग साधन-चतुष्टयमेंसे दूसरा साधन है।

सुभग सुपुनीता–अर्थात् मक्खन सुन्दर है और भलीभाँति पवित्र है। दूध-सा सुभग है, पर दूध पुनीत था यह सुपुनीत है। अब साधन-चतुष्टयके पूर्ण होनेमें केवल समाधानकी त्रुटि है। अतएव—

१७-जोगअगिनि तन प्रकटकरि कर्म शुभाशुभ लाइ
बुद्धि सिरावै ज्ञानघृत ममता मल जरि जाय॥

अर्थ–शुभाशुभ कर्मको लगाकर शरीरमें योगाग्नि प्रकट करके, बुद्धि-ज्ञान-घृतको तैयार करे, जिसमें ममतारूपी मल जल जाय।

जोग अगिनि–जब विराग उत्पन्न हुआ तब योगका अधिकार भी हो गया। चित्तवृत्तिका निरोध करके सत् लक्ष्यमें एकाग्र होना योग है, और वह अभ्यास तथा वैराग्यसे होता है। वैराग्यद्वारा चित्तवृत्ति निरोध कहनेसे ही, यह बात आ गयी कि वैराग्यका निवास चित्तवृत्तिमें हुआ।

तनु प्रगट करि–योगाग्निको प्राण-अपानके संघर्षणसे शरीरमें प्रकट करके अर्थात् हठयोग करके, जिसमें मनकी गतिकी भाँति, देहकी क्रिया श्वास-प्रश्वासादि रुक जायँ। मनके रोकनेसे वायु रुकता है और वायुके रोकनेसे मन रुकता है, यथा—'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुक पावहीं।' अतः राज, हठ दोनों योग युगपत् होने चाहिये। इससे समाधान * कहा।

अब साधन-चतुष्टयके पूरा होनेसे साधक तत्त्वज्ञानका अधिकारी हुआ। ऐसे अधिकारीके लिये ही 'तत्त्वमसि' महावाक्यका उपदेश है, यथा—

'मोहि परम अधिकारी जानी।'
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥
सो तैं(तत्त्वम्)तोहि ताहि नहिं भेदा।(असि)वारि बीचि इव गावहिं वेदा॥

कर्म शुभाशुभ लाइ–अग्निको स्थिर रखनेके लिये इंधन चाहिये। अतः शुभाशुभ कर्मको लगाकर अग्नि जलावे। योगसे परोक्षज्ञान होता है। यथा—'धर्म ते बिरति योग ते ज्ञाना।' और परोक्षज्ञानसे बुद्धिपूर्वक किया हुआ पाप नष्ट होता है। योगीका कर्म अशुक्लाकृष्ण होता है, पाप-पुण्यसे रहित होता है, अतः सञ्चित आगामी यावत् शुभाशुभ कर्मोंको नष्ट करती हुई योगाग्नि प्रकट होती है, केवल प्रारब्ध बच रहता है। यथा—

'कह मुनीस हिमवन्त सुनु जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनहार॥'

बुद्धि सिरावै–बुद्धि मक्खन को टिघलावै, अर्थात् वैराग्यसे और सत् लक्ष्यपर चित्तके स्थिर करनेके अभ्याससे चित्तवृत्तिका निरोध करे। मक्खन निकालने तक मुदिताका काम था, अब गरम करना बुद्धिका काम है। घी कच्चा रह गया, ममता कुछ शेष रह गयी, तो ज्ञान-दीपके जलनेमें कठिनता होगी, और जो खर हो गया, तो योगशास्त्रोक्त असंप्रज्ञात समाधि हो जायगी। आगेकी सब

* चित्तकी एकाग्रताको समाधान कहते हैं, यह साधन सम्पत्तियोंमें छठी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिया रुक जायगी। मसल है कि घी जलकर तेल होता है। असंप्रज्ञात समाधि तो हुई, पर ज्ञान न हुआ।

ज्ञानघृत—यदि बुद्धि ठीक तरहसे पका सकी, तो ज्ञान-घृत तैयार हो जायगा। यह 'तत्'पदका ज्ञान परोक्ष-ज्ञान है, यथा—

तव प्रसाद सब संशय गयऊ। राम सरूप जानि मोहि परेऊ॥

ममता मल जरि जाय—भाव यह कि विरागमें यह धारणा रही कि ये सब विषय-विलास मेरे वशमें हैं, मैं इनके वशमें नहीं हूँ। अतः उसमें ममता-मल रहा। वह ममता योगाग्निसे जलती है। इसप्रकार 'तत्' पदका शोधन हुआ। ज्ञान-दीपकमें योगशास्त्रानुमोदित असंप्रज्ञात समाधि-का उपयोग नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध न मानकर, ज्ञानीलोग ब्रह्माकारवृत्तिको असंप्रज्ञात समाधि मानते हैं, और कारण यह देते हैं कि योगवाली असंप्रज्ञात समाधिसे लौटनेपर, संसार ज्यों-का-त्यों लौट आता है, ज्ञान कुछ भी नहीं होता। यहाँतक बुद्धिका कार्य समाप्त हुआ।

१८—तब विज्ञानरूपिनी बुद्धि विशद घृत पाय। चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियट बनाय॥

अर्थ—तब विज्ञानरूपिणी बुद्धि स्वच्छ घी पाकर, चित्तरूपी दीयामें भरे, और समताकी दीवट बनाकर उसपर दृढ़ करके रक्खे।

तब विज्ञानरूपिणी बुद्धि—अब गुरुसे उपदिष्ट 'सो तैं तोहि ताहि नहि भेदा' (तत्त्वमसि) महावाक्यसे उत्पन्न विज्ञान जिसका रूप है, ऐसी बुद्धिका कार्य प्रारम्भ होता है। अर्थात् गुरु-वेदान्त-वाक्यसे जो ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव होता है, उसे विज्ञानरूपिणी बुद्धि कहते हैं।

विशद घृत पाय—उपर्युक्त निर्मल घी (परोक्षज्ञान) को जब विज्ञानरूपिणी बुद्धि पावे, तब—

चित्त दियाभरि धरै दृढ़—चित्तके दीपकमें भरकर दृढ़ रक्खे। भाव यह कि 'ब्रह्म समान सब माहीं' यह भाव दृढ़रूपेण चित्तमें जमा रहे।

समता दियट बनाय—और समताको दीपक बनाकर उसपर ज्ञान-घृत-भरे हुए दीपकको स्थापन करे, जिसमें दीपकके टेढ़े हो जानेसे घृत न गिर जाय। भाव यह कि चित्तमें वैषम्य न होने पावे, नहीं तो ज्ञान नष्ट हो जायगा। यथा—'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देखिय ब्रह्म समान सब माहीं।' यह वाह्य समाधि हुई।

इसप्रकार ज्ञान-घृत तैयार हुआ, उसे दीयेमें भरकर सुरक्षित स्थानमें रख दिया गया, तब साधककी साधु पदवी होती है, यथा—

वन्दौं सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोउ॥

ऐसे ही साधु महापुरुषोंकी कपाससे उपमा दी गयी है। साधुका चरित्र कपासका चरित्र कहा गया है, नीरस विशद और गुणमय करके उसके फलका वर्णन किया गया है। यथा—

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुणमय फल जासू॥

अपना कार्य जिससे हो उसे फल कहा गया है। जैसे तलवारका फल, बरछेका फल, वृक्षका फल। इसी प्रकार कर्मका फल देह है। साधुका शरीर विषयरस रूखा होनेसे नीरस कहा गया और पुनीत होनेसे विशद कहा गया। ऐसे ही देहसे तीनों शरीरोंका पृथक् करना, तुरीयाकी प्राप्ति आदि, जिसका वर्णन पीछे किया जायगा, सम्भव है, दूसरेसे नहीं। दूसरोंके तीनों शरीर सरस होनेसे, मलीन और दोषयुक्त होनेसे एक दूसरेमें ऐसे सने होते हैं कि उसको पार्थक्यका अनुभव नहीं हो सकता। यथा—

काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम-कूप॥

१९—तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपासते काढ़ि। तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करिय सुगाढ़ि॥

अर्थ—उस कपाससे तीन अवस्था और उसमेंसे तीन गुणोंको निकालकर, तुरीयरूपी रूईको सँवार-कर, अच्छी मोटी बत्ती बनावे।

तेहि कपासते—अर्थात् उस कपाससे। कपासकी उपमा देहसे दी गयी है। जिसप्रकार कपासमें तीन कोष (खाने) होते हैं, उसी प्रकार देहमें तीन शरीर होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। पाञ्चभौतिक देहको स्थूल शरीर कहते हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, जिह्वा और घ्राण, तथा पञ्चकर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ तथा पञ्चप्राण—प्राण, अपान, समान, उदान और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यान तथा बुद्धि और मन, इन सत्रहके समूहको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इन दोनोंका कारण आत्माका अज्ञान है, जो आत्माके आभाससे युक्त होकर कारणशरीर कहलाता है।

तीन अवस्था तीनि गुन—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ हैं। इन्द्रियोंसे विषयका ज्ञान जिस अवस्थामें होता है, उसे जाग्रत् कहते हैं। इन्द्रियोंके उपरत होनेपर जाग्रत्-संस्कार-जन्य सविषय ज्ञानको स्वप्न कहते हैं और जिस समय किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता, बुद्धि कारण-शरीरमें जाकर ठहरती है, उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। यथा— 'तेरासि तीनि अवस्था तजहु भजहु भगवन्त' (विनय०)

सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं। जाग्रत् सत्त्वप्रधान है, स्वप्न रजःप्रधान है, और सुषुप्ति तमःप्रधान है। ये ही तीनों अवस्थाएँ कपासके तीनों कोषोंकी तीन ढेढ़ियाँ हैं और सत्त्व, रज, तम उनके क्रमसे बीज (बिनौले) हैं। कपासके प्रत्येक कोषमें बिनौलेसे लपटी हुई रूई होती है, उसे ढेढ़ी कहते हैं।

काढ़ि—निकालकर। भाव यह कि वैराग्य उत्पन्न होते ही, साधु तीनों गुणोंको त्यागना चाहता है। उसकी विधि यह है कि स्थूल शरीरसे ढेढ़ीरूपी जाग्रत् अवस्थाको अलग करके, उसमेंसे बिनौलारूप सत्त्व अर्थात् वैषयिक ज्ञानको दूर करे। सूक्ष्मकी अवस्था स्वप्नमेंसे उसी वैषयिक ज्ञानके संस्कारको दूर करे। कारण-शरीरकी सुषुप्ति अवस्थामेंसे आत्माके अज्ञानको दूर करे। ये सब क्रियाएँ मनसे होती हैं। अतएव राजयोगके अन्तर्गत हैं। यथा—

कहिय तात सो परम बिरागी। तृण सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥

यह परम विराग ज्ञानरूप ही है। यह दृश्यानुविद्ध समाधि हुई—।

तूल तुरीय सँवारि पुनि—जब तीनों अवस्थाओंमेंसे तीनों गुण निकल गये, ढेढ़ीमेंसे बिनौले बाहर निकाल लिये गये, ओटनेका काम समाप्त हुआ, तब केवल रूई बच गयी, वही तुरीयावस्था है। उसे भी सँवार ले, अर्थात् तुनकर उसमेंसे कोषोंके संस्कारको दूर करे। इसप्रकार 'त्वं' पदका शोधन हुआ।

बाती करै सुगाढ़ि—खूब मोटी बत्ती बनावे। अर्थात् तुरीयावस्थाके संस्कारोंको भलीभाँति घनीभूत करे, जिसमें सब मिलकर एक हो जायँ।

२०—एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिज्ञानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥

अर्थ—इस प्रकारसे तेजराशि विज्ञानमय दीपक जलावे, जिसके समीप जानेसे मदादि सब पतंग जल जायँ।

एहि बिधि—इस विधानसे, अर्थात् जो विधान ऊपर कह आये हैं। प्रकाशके और भी बहुल उपाय हैं। तेलके दीयेसे भी प्रकाश होता है, विद्युत्से भी प्रकाश होता है, परन्तु अन्य उपायोंसे आत्मानुभव सुखका प्रकाश न होगा। शास्त्रकी विधि त्याग करनेसे कदापि कल्याण नहीं हो सकता। ग्रन्थि छूटनेके पहले ठीक-ठीक विधिनिषेधके अनुसार बरतना होगा, अतएव जो विधान कहा गया है उसीके अनुसार करे, यह नहीं कि दूधको ही मथकर मक्खन निकाल ले, अथवा घीका काम तेलसे ही ले ले।

लेसै दीप—अर्थात् उस बत्तीको घीके दीपमें छोड़ दे, जिसमें बत्ती घीसे भींग जाय, तब उसे योगाग्निसे लेस दे। भाव यह कि तुरीयाको परोक्षज्ञानमें डुबा दे। 'त्वं' पदके लक्ष्यार्थको 'तत्' पदके लक्ष्यार्थमें लीनकर सानन्द समाधिमें स्थित हो। इसे शब्दानुविद्ध समाधि कहते हैं।

तेजराशि विज्ञानमय—इसप्रकार विधिसे जलाया हुआ दीप तेजोमय होता है। उसे विज्ञानमय इसलिये कहते हैं कि उससे अपरोक्ष ज्ञान होता है, यथा—दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी।

मदादिक शलभ सब—जहाँ दीया जला कि शलभ अर्थात् पतङ्ग चले। झुण्डके झुण्ड कभी-कभी दीयेपर टूट पड़ते हैं, स्वयं जलते जाते हैं, पर यदि दीया दुर्बल हो तो उसे बुझाकर ही छोड़ते हैं। मद, मात्सर्य आदि शलभ हैं। शलभ इसलिये कहा कि मायाका परिवार बहुत बड़ा है। यथा—

'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा॥'

जातहिं जासु समीप जरहिं—भाव यह कि इतने प्रबल होनेपर भी उस दीये तक नहीं पहुँचने पाते, समीप आते ही नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् मदादिकी इस शब्दानुविद्ध समाधि तक गति नहीं है। इससे तेजोराशि विज्ञानमयका साफल्य दिखलाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२१—'सोहमस्मि' इतिवृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥

अर्थ-'वह मैं हूँ' ऐसी अखण्ड वृत्ति ही उस दीयेकी परम प्रचण्ड शिखा है।

सोहमस्मि-भाव यह कि 'सो तैं तोहि ताहि नहि भेदा' इस महावाक्यके श्रवण-मननके पश्चात् 'वह मैं हूँ' इसी रूपमें निदिध्यासन होता है।

इतिवृत्ति अखण्डा-'वह मै हूँ' यह वृत्ति बराबर बनी रहे, विक्षेप न होने पावे। भाव यह कि समाधिमें निर्वात दीपकी भाँति अचल एकरस चित्त बना रहे।

दीपसिखा सोइ परम प्रचण्डा-यही अपरोक्ष ज्ञानवृत्ति दीपकी परम प्रचण्ड लौ है। मायाकी सेना प्रचण्ड है, यथा—'व्यापि रह्यो संसार महँ माया कटक प्रचंड' उसके भस्म करनेके लिये परम प्रचण्डकी आवश्यकता है, सो यह दीपशिखा परम प्रचण्ड है।

२२—आतम-अनुभव सुख सुप्रकाशा। तव भव मूल भेद भ्रमनाशा॥

अर्थ—आत्म-अनुभव सुख, उस दियेका प्रकाश है, तब संसारके मूल भ्रम भेदका नाश होता है।

आतम अनुभव सुख—इस सुखसे बढ़कर कोई सुख नहीं है। क्योंकि वृत्तिजन्य अपरोक्ष ज्ञान भी आत्मानुभव सुखरूप ही है। यथा—

'जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुण भव विपति सतावै।
ब्रह्म पियूष मधुर शीतल मन जोपै सो रस पावै।
तौ कत मृगजल रूप विषय कारण निसिवासर धावै।'

सुप्रकाशा-जब दीप हुआ तो उसका अच्छा प्रकाश भी चाहिये, सो आत्मानुभव सुख ही सुप्रकाश है। भाव यह कि ब्रह्माकारवृत्ति करके समाधिमें स्थित होनेसे अपरोक्ष ज्ञानकी अखण्ड वृत्ति होती है और उससे आत्मानुभव-सुख होता है, और जब आत्मानुभव-सुख होता है, तब—

भव मूल भेद भ्रम नाशा

भेद-भ्रम-कहनेका भाव यह कि वस्तुतः ब्रह्म जीवमें अभेद है। भेदभाव केवल भ्रम है, यथा—

'निज भ्रमते सम्भव रविकर सागर अति भय उपजावै।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै।
तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई।
तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय नहि भाई।'

भेद न होनेपर भी भेदका भ्रम होता है, यथा—

'चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रकट जुगल ससि तेहिके माये॥

—और भेदभ्रमसे स्वरूपका विस्मरण होता है, यथा—

मायावस सरूप बिसराये। तेहि भ्रमते नाना दुख पाये॥
पायो जो दारुन दुसह दुख सुख लेस सपनेहु नहिं मिल्यो।
भये सूल सोक अनेक⋯⋯ ।'

भव-मूल-अर्थात् यह भेदभ्रम ही संसारका मूल है, और जिसका मूल भ्रम है वह पदार्थ वस्तुतः नहीं होता। यथा—

'जग नभ बाटिका रही है फल फूलि रे।
धूँआँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे॥'

नासा-भाव यह कि मूल नष्ट होते ही वस्तु छिन्नमूल होकर गिर जाती है, पर जिसका मूल भ्रम है उस वस्तुका तो भ्रमके नष्ट होनेपर पता भी नहीं चलता। यथा—

तब हरि माया दूरि निवारी। नहि तहँ रमा न राजकुमारी॥

२३—प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटहिं अपारा॥

अर्थ-अविद्याके प्रबल परिवार मोह आदि अपार तम मिट जाते हैं।

अविद्या परिवारा-अविद्याके परिवार अर्थात् अविद्याके बालबच्चे, यथा-

'मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही॥ को जग काम नचाव न जेही॥
तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहिकर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥

ज्ञानी तापस सूर कवि कोविद गुन आगार।
केहिकै लोभ बिडम्बना कीन्ह न एहि संसार॥
श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगनयनीके नैन सर, को अस लाग न जाहि॥

गुनकृत सन्निपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥
जोबन ज्वर केहि नहि बलकावा। ममता केहिकर जस न नसावा॥
मत्सर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥
चिन्ता साँपिनि काहि न खाया। को जग जाहि न व्यापी माया॥
कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुत वित नारि ईषना तीनी। केहिकर मति इन कृत न मलीनी ।।
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा ।।'

प्रबल–अर्थात् बड़े बलवान्। यथा–

'सिव चतुरानन जाहि डराही। अपर जीव केहि लेखे माही ।।'

मोह आदि तम अपारा–भाव यह कि अविद्या-रात्रिमें मोहादि अन्धकार हैं, यथा–

'महामोह तम-पुञ्ज।'

मिटहिं–अर्थात् आत्मानुभव-सुख-प्रकाशसे ही यह अपार अन्धकार मिटता है यथा–

'भयउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं। ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं ।।'

२४—तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा।
उर गृह बैठि ग्रन्थि निरुआरा ।।

अर्थ–तब वही विज्ञानरूपिणी बुद्धि हृदयरूपी घरमें बैठकर गाँठ छोड़ती है।

तब–अर्थात् मोहादिक तम मिटनेके बाद।

सोइ बुद्धि–अर्थात् वही विज्ञानरूपिणी बुद्धि, जिसने ज्ञानघृतको चित्तरूपी दीपकमें भरकर समतारूपी दीवटपर स्थापन किया था, जिसने कपाससे रूई निकालकर बत्ती बनाया और दीपक जलाया था।

पाइ उँजियारा–भाव यह कि उपर्युक्त सब कार्य अँधेरेमें हुए, केवल पहले थोड़ा बहुत उँजियाला अकाम-अग्निका दूधके औटने तक, और बाद उसके योगाग्निका, दीया जलने तक स्थूल कार्य करने योग्य था। उनसे मोहादि तम मिट नहीं सकते थे, अब परम प्रचण्ड शिखाका प्रकाश ऐसा हुआ कि मोह आदि तम मिट गये, और ग्रन्थि सूझ पड़ने लगी।

उर गृह बैठि–भाव यह कि पहले वह बुद्धि दीवट लाने, दीया रखने, कपास औटने, तुनने, बत्ती बनाने और दीया जलानेमें व्यस्त थी, कभी अन्तर कभी वाह्य संप्रज्ञात समाधि*में लगी थी, अब हृदयरूपी घरमें स्थित होकर बैठी।

ग्रन्थि निरुआरा–समाधिमें स्थिर होकर जड़ चेतनकी गाँठ खोलने लगी।

गाँठ तीन प्रकारसे पड़ी हुई हैं–(१) भ्रान्तिजन्य, (२) सहज और (३) कर्मजन्य। अहंकार (कारण शरीर)का जो कूटस्थके साथ तादात्म्य है सो भ्रान्तिजन्य है, चिच्छायासे जो तादात्म्य है सो सहज है और देहसे जो तादात्म्य है सो कर्मजन्य है। कर्मजन्य ग्रन्थि कर्मके नाशसे नष्ट होती है। कर्म तीन प्रकारका होता है–(१) जन्म जन्मान्तरका कर्म-समूह जिसे सञ्चित कहते हैं (२) जिन्हें वर्तमान जन्ममें भोगना है उन्हें प्रारब्ध कहते हैं और (३) जो वर्तमान जन्ममें करते हैं वह आगामी कहलाता है। सञ्चित कर्म ज्ञानीका नष्ट हो जाता है, आगामीसे उसका लेप ही नहीं होता, केवल प्रारब्ध शेष रह जाता है, वह जबतक शरीर है तबतक उसका भोग होगा ही। अतएव कर्मज ग्रन्थि बिना कर्मक्षयके नहीं छूटती। जबतक भ्रान्तिजन्य और कर्मजन्य वृत्ति रहती हैं तबतक ग्रन्थि नहीं छूट सकती, प्रतिबिम्बके नाशसे नष्ट होती है। अतएव भ्रान्तिजन्य ग्रन्थिका सुलझाना ही परम पुरुषार्थ है। (क्रमशः)

लालसा!

सब सुखदायक चरण तुम्हारे !
नव-नलिनी-दल-समयुग विकसित मुनि-मन-मोहनहारे ।।
सेवत रमा रुचिरतासों नित गरुड़ हृदयमहँ धारे।
जन-मन-मधुकर चूमत झूमत सुरसरि प्रकटनवारे ।।
उछलि-उछलि कालिन्दी लिपटी, गुहजन उमँगि पखारे।
मस्तक धरत अहल्या पुलकी भवबन्धन निरुवारे ।।
गैयन सँग वृज-वीथिन विहरे सकटहिं तोरि बिखारे।
नाग कालियाके मस्तकपै धारि विपति सब टारे ।।
विधिनेहू धोये अति हितसों जब बटुरूप सँवारे।
पूजि युधिष्ठिर रायसूयमहँ अपने बन्धु उबारे ।।
भववारिधिमहँ बोहितकी सम विविध पतित उद्धारे।
जनके मस्तकपै अब उनको कब धारहुगे प्यारे ।।
सब सुखदायक चरण तुम्हारे ।।

लक्ष्मणाचार्य वाणीभूषण

* आदि मध्य और तृतीय तीन वाह्य समाधि और दृश्यानुविद्ध शब्दानुविद्ध तथा असंप्रज्ञात तीन अन्तःसमाधि हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नोत्तर-चतुष्टय

(लेखक—श्रीभूतनाथजी भट्टाचार्य)

पाण्डव-वनवासके समय वनमें बक-रूप-धारी धर्मदेवने माया-सरोवरकी रचनाकर उनसे जो चार प्रश्न पूछे थे और मनस्वी युधिष्ठिर महाराजने उनका जो सुसङ्गत उत्तर प्रदान किया था, आध्यात्मिक जगत्‌में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। आज उन्हींके सम्बन्धमें कुछ आलोचना की जाती है।

चार प्रश्न—

१—संवाद क्या है ?

२—आश्चर्य क्या है ?

३—मार्ग क्या है ?

४—सुखी कौन है ?

चारोंका (क्रमानुसार) उत्तर—

१-सबका ग्रास करनेवाला काल, दिन-रातरूप ईंधन और सूर्यरूप अग्निके संयोगसे, मांस और धातुरूप कड़छेकी सहायतासे, मोहमय संसाररूपी कड़ाहमें प्राणीमात्रको निरन्तर पका रहा है, यही संवाद है।

तात्पर्य—जन्म धारण करना अपार दुःखोंका एक अनन्त झरना है। जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-जनित दुःसह दुःखोंकी परम्पराके हाथसे सदाके लिये छुटकारा पाना ही मानव-जीवनका प्रधान व्रत है। सर्व-संहारक कालके कराल गालसे कोई भी नहीं बच सकता। यही कहा है—

'कालो जगद्भक्षकः' (आचार्य शङ्कर)

'कालोऽहं लोकक्षयकृत्' (श्रीगीता)

कलाकार्य्यादिरूपेण परिणामप्रदायिनी।
विश्वस्येऽपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तुते॥

(श्रीश्रीचण्डी)

कमलके पत्तेपर पड़े हुए जलकी तरह जीवन अत्यन्त चञ्चल है। ईश्वर-प्रणिधानके साथ इस महावाक्यके मर्मकी उपलब्धि करनेसे सान्त (अवस्था) को छोड़ अनन्तकी ओर और अनित्यको हटाकर नित्यकी ओर मन स्वभावसे ही जाता है। यही गीतोक्त-ज्ञान विशेषका मर्म है।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

(गीता १३।८)

२-प्रतिदिन प्राणीगण यमलोकके अतिथि बन रहे हैं, इस बातको जानकर भी हम बचे हुए लोग अपनेको अमर समझते हैं, यही आश्चर्य है।

तात्पर्य—मृत्युकी चिन्तासे हृदयमें वैराग्य उत्पन्न होता है। विज्ञान-मन्दिरमें प्रवेश करनेके लिये नित्यानित्य वस्तुका विवेक ही पहली सीढ़ी है। विश्व-प्रकृति क्षर या विनाशी है। जो नाशवान, क्षण-स्थायी और अल्प है उससे क्या सुख हो सकता है ? असली सुख तो अनन्तमें है, आत्यन्तिक सुख तो अमरत्व (मुक्ति) में है।

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' (श्रुति)

अमरत्व (मुक्ति) की प्राप्तिके लिये धर्माचरण ही अमोघ उपाय है, इसीलिये शास्त्रोंने उपदेश किया है—

'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।'(हितोपदेश;)

'धर्मं चर धर्मं चर धर्म एव सर्वेषां लोकानां मधुः।' (स्मृति)

'एक एव सुहृद्धर्मः निधनेप्यनुयाति यः।' (विष्णु)

३-वेदादि शास्त्रोंमें परस्पर विवाद है, नाना मुनियोंके नाना मत हैं, अतः महापुरुषोंद्वारा अवलम्बित मार्ग ही मार्ग है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तात्पर्य—तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरुके उपदेशानुसार ही कर्त्तव्य-कर्मका सम्पादन करना सर्वथा कल्याणकारी है। धर्मका तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है।

'सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य ।' (महाभारत)

'गहना कर्मणो गतिः ।' (श्रीगीता)

फिर युगधर्मके अनुसार भी धर्मकी गति तो बदलती रहती है।

अन्ये कृतयुगे धर्मा त्रेतायां द्वापरेऽपरे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगमानानुरूपतः ॥'

(महाभारत)

अतएव श्रेष्ठ पुरुषके आचरणका ही सब प्रकारसे अनुकरण करना चाहिये।

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥'

(गीता ३।२१)

४-जो ऋणरहित अप्रवासी और दिनके चौथे पहरमें शाकपात खाकर जीवन धारण करता है, वही सुखी है।

तात्पर्य—इस पृथ्वीपर जन्म लेते ही मनुष्य देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋणसे ऋणी हो जाता है, इसी ऋणत्रयसे छुटकारा पाना ही ऋण-मुक्त होना है। ब्रह्मसे अलग रहनेका नाम ही प्रवास है। साम्यावस्थाको प्राप्त हुआ सत्पुरुष संसारमें रहते हुए भी उसपर विजय प्राप्त करता है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, अतः जिनकी ब्रह्ममें स्थिति है, वही अप्रवासी हैं। (गीता ५।१९)

सवेरेसे लेकर दिनके चौथे पहर तक जो लोग विधिवत् यज्ञोंको *(देव-यज्ञ, ऋषि-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, मनुष्य-यज्ञ और भूत-यज्ञ) करके दिनके शेष भागमें स्वाद-शौकीनीसे रहित आडम्बर-हीन शाकपातका भोजन करते हैं वे ही सुखी हैं। तपस्याद्वारा चित्तकी शुद्धि और ज्ञानद्वारा मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

'तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ।'

(मनु)

सभी मनुष्य सुखकी इच्छा करते हैं परन्तु धर्माचरण बिना सुखकी सम्भावना कहाँ?

सुखं वाञ्छन्ति सर्वे हि तच्च धर्मसमुद्भवम् ।
तस्माद्धर्मः सदा कार्यः सर्व वर्णैः प्रयत्नतः ॥'

(दक्ष-स्मृति)

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।'

(ईशोपनिषद्)

करोगे क्या ?

आशाएँ नष्ट हुईं सूख गया हीतल यह ,
करोगे दया भी तो इसको भरोगे क्या !
'कुसुमाकर' मेरी विपत्ति चिर-सङ्गिनी है ,
करके भी कृपा क्लेश मेरे हरोगे क्या !
जीवन ही बाझ हुआ मुझको अदृष्ट देव !
होगे जो रुष्ट और बोझ ही धरोगे क्या ?
जिसको प्रभु ! तुमने बनाया है बिगाड़ोगे ,
जिसको बिगाड़ा है उसका करोगे क्या ?

देवीप्रासद गुप्त बी. ए. एल-एल बी. 'कुसुमाकर'

* अध्यापनं देवयज्ञं पितृयज्ञश्च तर्पणम्। होमैर्दैवो बलिर्भौते नृयज्ञातिथिसेवनम्॥ (मनु)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरितमानसका महाकाव्यत्व

(लेखक—श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

"आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।"

ग्रन्थारम्भमें कविने सरस्वती, गणेश तथा शिवादिकी नमस्क्रिया करके अपने इष्टदेवकी वन्दना की है। समस्त चराचर-जगत्‌को राममय जानकर कविने जीवमात्रकी वन्दना की है, यथा—

जड़चेतन जग जीव जत सकल-राममय जानि ।
बन्दौं सबके पद-कमल सदा जोरि जुग पानि ।।

आकर चारिलाख चौरासी । जाति जीव जल-थल-नभबासी ।।
सिया-राममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ।।'

'ईशावास्यमिदं सर्वं' 'सर्वं खल्विदं जगत्' वासुदेवः सर्वमिति' **तथा** 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' **के वैदिक वैष्णव सिद्धान्तको मनीषी-कवि गोस्वामीजीने चरितार्थ करके दिखा दिया है। अनन्यताकी परिभाषामें भी उन्होंने जगद्ब्रह्मवादका ही उपपादन किया है। यथा—**

सो अनन्य जाकर अस मति न टरै हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर रूप-स्वामि भगवन्त ।।

"क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम् ।"

खलोंकी निन्दा और साधुओंकी प्रशंसा भी मानसमें बहुत ही विशदरूपसे हुई है। यथा—

सन्त-असन्तनकी असि करनी । जिमि कुठार-चन्दन-आचरनी ।।
काटै परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगन्ध बसाई ।।

ताते सुर-सीसन्ह चढ़त जगबल्लभ श्रीखंड ।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु-बदन यह दंड ।।

विषय-अलम्पट सील गुनाकर । परदुख दुख सुख सुख देखेपर ।।
सम अभूत रिपु बिमद बिरागी । लोभामर्ष-हर्ष-भय-त्यागी ।।
कोमल चित दीनन्हपर दाया । मन-वच-क्रम मम भगति अमाया ।।
सबहिं मानप्रद आपु अमानी । भरत-प्रानसम मम ते प्रानी ।।
बिगतकाम मम नाम-परायन । सान्ति-बिरति बिनती मुदितायन ।।
सीतलता सरलता-मैत्री । द्विजपद-प्रीति धर्म्मजनयित्री ।।
सम-दम-नियम-नीति नहिं डोलहिं । परुष वचन कबहूँ नहिं बोलहिं ।।

निन्दा-अस्तुति उभय सम ममता मम पदकञ्ज ।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमन्दिर सुखपुञ्ज ।।

सुनहु असन्तन केर सुभाऊ । भूलेहु संगति करिय न काऊ ।।
तिन्हकर संग सदा दुखदाई । जिमि कपिलहिं घालै हरहाई ।।
खलन्ह-हृदय अति ताप विसेखी । जरहिं सदा परसम्पति देखी ।।
जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई । हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई ।।
काम-क्रोध-मद-लोभ-परायन । निरदय कपटी कुटिल मलायन ।।
बैर अकारन सब काहू सौं । जो कर हित अनहित ताहू सौं ।।
झूठै लेना झूठै देना । झूठै भोजन झूठ चबेना ।।
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा । खाहिं महा अहि हृदय कठोरा ।।

परद्रोही पर-दाररत परधन पर-अपवाद ।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद ।।

लोभै ओढ़न लोभै डासन । शिश्नोदरपर जमपुर त्रास न ।।
काहूकी जौं सुनहिं बड़ाई । स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई ।।
जब काहूकी देखहिं बिपती । सुखी भए मानहुँ जगनृपती ।।
स्वारथरत परिवार-बिरोधी । लम्पट काम-लोभ अतिक्रोधी ।।
मातु-पिता-गुरु-विप्र न मानहिं । आपु गए अरु घालहिं आनहिं ।।
करहिं मोहवश द्रोह परावा । संत-सङ्ग हरिकथा न भावा ।।
अवगुन-सिन्धु मन्दमति कामी । वेद-विदूषक परधन-स्वामी ।।
विप्र-द्रोह सुरद्रोह बिसेषा । दम्भ-कपट जिय धरे सुबेषा ।।

ऐसे अधम मनुज खल कृतयुग त्रेता नाहिं ।
द्वापर कछुक वृन्द बहु होइहहिं कलियुग माहिं ।।

ग्रन्थारम्भमें कविने खलोंकी वन्दनामें भी उनके स्वभावका वर्णन किया है, यथा—

बहुरि बन्दि खल गन सति भाए । जे बिनु काज दाहिने बाए ।।
परहित-हानि-लाभ जिन्ह-केरे । उजरे हरष बिषाद बसेरे ।।
पर अकाज लगि तनु परिहरहीं । जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं ।।
बन्दौं खल जस सेष सरोषा । सहस-बदन बरनै परदोषा ।।
पुनि प्रनवौं पृथुराज-समाना । पर अघ सुनै सहस दस काना ।।

इत्यादि ।

भगवान् गोस्वामि-पादकी यह (खल–) बन्दना काकु-कूट और कृत्रिम नहीं किन्तु सद्भावसे की हुई सत्य और स्वाभाविक है । उन्होंने इसे प्रकट भी किया है, यथा—

'सति भाए ।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविने मानव-स्वभावके गुण-दोषका चित्रणमात्र किया है, मनुष्यजातिके शुभाशुभ-लक्षणके दिग्दर्शनमें ही उनका तात्पर्य्य है, यथा—'तातें कछु गुण-दोष बखाने। संग्रह-त्याग न बिनु पहिचाने॥' अतएव अपने स्वभावसिद्ध रागद्वेषरहित अन्तःकरणसे ही उन्होंने वैसा किया है—केवल खल-स्वभाव-मात्र दिखाया है। वस्तुतः जगत्‌के प्रत्येक पदार्थको वे ब्रह्म-बुद्धिसे देखते हैं, उसके शुभाशुभ उभय रूप उनके लिये समान हैं। उनका शुद्ध साधु-स्वभाव तो उन्हींके शब्दोंमें व्यक्त है—

अञ्जलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोय।
(देव)देवतरु-सरिस स्वभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहिं काऊ॥

जिन्हें खल तथा स्त्री-स्वभावाख्यानमें निन्दाभासकी प्रतीति होती है, उन्हें समझना चाहिये कि वह कवि-कर्त्तव्यानुसार प्रकृति-चित्रणमात्र है।

"एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।"

एक वृत्तमय पद्य अर्थात् एकजातीय छन्द व चौपाइयोंकी ही मानसमें प्रधानता है तथा प्रसङ्गके विश्राम पर गीतिका आदि अन्य छन्द भी हैं।

"नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह।"

मानसमें सर्गोंका नियम नहीं। उसके चार-पाँच तो ऐसे प्रकाण्ड काण्ड हैं जिनमें अन्य काव्योंके अनेक सर्ग समा जा सकते हैं। अतः अष्टाधिक सर्ग होनेकी कोई बात नहीं।

"नानावृत्तमयः कापि सर्गः कश्चन दृश्यते।"

स्तुतियों, संग्राम-वर्णनों और प्रसङ्ग-विरामोंपर अनुष्टुप नाराच और गीतिकादि अन्यान्य छन्दोंका उपयोग भी अनेक काण्डोंमें हुआ है—

"सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथाया सूचनं भवेत्।"

कवि महाराजने काण्डके अन्तमें तो उत्तर-कथाकी सूचना विशेषकर नहीं दी है परन्तु काण्डके आरम्भमें मङ्गलाचरणमें ऐसा किया है, जिससे इस नियमका पालन हो गया है। प्रत्येक कवि प्रायः कुछ-न-कुछ अपना स्वतन्त्र ढङ्ग रखते हैं। अयोध्याकाण्डके मङ्गलाचरणमें वनवासकी सूचना नीचे देखिये—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुज श्रीरघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

राज्याभिषेकका आयोजन और वनवासकी कथा इसी काण्डमें है, जिसका सङ्केत कविने अपने वस्तु-निर्देशात्मक मङ्गलाचरणमें कर दिया। कहीं-कहीं कविने स्वप्नादिके द्वारा भी उत्तर कथाकी पूर्वमें सूचना दी है। फिर जिस समय गुरुवर महर्षि वसिष्ठजी राजकुमार श्रीरामचन्द्रजीको अभिषेकके संयमका उपदेश देने गये हैं, उस समय भी कविने उनसे भाविफलगर्भित सन्देहास्पद पदका प्रयोग कराया है, यथा—

राम करहु सब संयम आजू। जौं बिधि कुशल निबाहै काजू॥

और, जिस समय भगवती जनकनन्दिनीने श्रीरामभद्रके साथ वन चलनेके लिये प्रेमाग्रह किया है, उस अवसरपर भी कविने नायकके श्रीमुखसे भावि घटनाकी सूचना दिलायी है, यथा—

ब्याल कराल बिहग-मृग घोरा। निशिचर-निकर-नारि-नर चोरा॥
....
....
....

जौं हठ करहु प्रेमवस बामा। तौ तुम दुख पाउब परिनामा॥

सुन्दरकाण्डके मङ्गलाचरणमें—

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं,
रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥

उपर्युक्त श्लोकसे यह सूचित होता है कि प्रस्तुत काण्डमें वीरचक्रवर्त्ति श्रीहनुमान्‌जी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दूत कार्य करेंगे, सुमेरु-सदृश विशाल-शरीर धारण करेंगे—

(कनक भूधराकार सरीरा। समर-भयंकर अति बलबीरा॥)

—और जिस प्रकार वनको दावानल जलाता है, उस प्रकार, राक्षसोंका संहार करके लङ्का-दहन करेंगे। 'दनुज-वनकृशानु' विशेषणसे तो लङ्का-दाहका ज्वालमालाकुल दृश्य नेत्रोंके सामने ही आ जाता है।

लङ्काकाण्डके मङ्गलाचरणमें—

'मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं'
लव-निमेष परमान जुग बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त रूपकमें आर्य श्रीभगवान् रामचंद्रके बाणोंकी अत्यन्त तीव्रता एवम् धनुषकी प्राणघातक भयङ्करताका वर्णन करके तथा 'खलवधानिरतं' विशेषण देकर कविने यह सूचित किया है कि रावणादि दुष्ट राक्षसोंसे घोर युद्धकर भगवान् उनका वध करेंगे।

सूर्योदय वा प्रातःवर्णन

"प्रातः कोकाम्बुजोत्कर्षौ"

प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बन बोलन लागे।।
कमल-कोक-मधुकर-खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना।।
ऊगेउ भानु बिनु स्रम तम नासा। दुरे नखत अवलीन प्रकासा।।
तव भुजबल-महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी।।

मध्याह्न

"मध्याह्ने तापसप्लवः"

मध्य दिवस अति शीत न घामा। पावन काल लोक बिश्रामा।।
भयो तेजहत श्री सब गई। मध्य दिवस जिमि ससि सोहई।।
जब तें रामप्रताप खगेसा। उदित भयो अति प्रबल दिनेसा।।
पूरि प्रकास रहा त्रैलोका। बहुतन सुख बहुतन मन सोका।।
जिनहिं सोक ते कहौं बखानी। प्रथम अविद्या निसा नसानी।।
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम-क्रोध कैरव सकुचाने।।
बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ये चकोर सुख लहहिं न काऊ।।
मत्सर-मान-मोह-मद चोरा। इनकर रहनि न कौनिहुँ ओरा।।
धरम तडाग ज्ञान-विज्ञाना। ये पङ्कज बिकसे बिधि नाना।।
सुख-सन्तोष-विराग-बिबेका। बिगत सोक ये कोक अनेका।।

मध्याह्नके रूपक द्वारा कविने नायकके प्रतापोत्कर्षका वर्णन किया है और साङ्गोपाङ्ग किया है।

सन्ध्या

"सायं सूर्यातिलौहित्यं चक्रपद्मादिविप्लवः"

अवधपुरी सोहै यहि भाँती। प्रभुहिं मिलन आई जनु राती।।
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी सन्ध्या अनुमानी।।
अगर धूप जनु बहु अँधियारी। उड़ै अबीर मनहुँ अरुनारी।।
मन्दिर मनि-समूह जनु तारा। नृप-गृह कलश सो इन्दु उदारा।।
भवन बेद-ध्वनि अति मृदु बानी। जनु खग मुखर समउ जससानी।।

यहाँ श्रीअयोध्यापुरीकी शोभाके वर्णनमें सन्ध्याका पूर्ण रूपक प्रदर्शित किया है, जिसे पढ़कर उस समयका दृश्य आँखोंके सामने खिंच जाता है।

चन्द्रोदय

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु देखा उदित मयंक।
कहत सबहिं देखहु ससिहि मृगपति सरिस असंक।।

पूरब-दिसि-गिरि गुहा-निवासी। परम प्रताप तेज-बल-रासी।।
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन-वन-चारी।।
बिथुरे नभ मुक्ताहल तारा। निसि-सुन्दरी केर सिंगारा।।
कह प्रभु ससिमहँ मेचकताई। कहहु काह निज-निज मति भाई।।
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससिमहँ प्रगट भूमिकी झाँई।।
मारेउ राहु ससिहि कह कोई। उरमहँ परी स्यामता सोई।।
कोउ कह जब बिधि रतिमुख कीन्हा। सार भाग ससिकर हर लीन्हा।।
छिद्र सो प्रगट इन्दु-उरमाहीं। तिहि मग देखिय नभ-परिछाहीं।।
कह प्रभु गरल बन्धु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा।।
विष-संयुतकर निकर पसारी। जारत बिरहवन्त नर-नारी।।

कह मारुतसुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसी सोइ स्यामता भास।।

सबने अपनी-अपनी दशाके अनुसार चन्द्रलाञ्छन-सम्बन्धिनी समस्याकी पूर्ति की। वीर और विरही नायकने भी चन्द्रमाको 'मत्त नाग तम-कुम्भ' का विदीर्ण करनेवाला और 'गगन वन' का विचरनेवाला 'केसरी' बताकर अपनी प्रस्तुत अवस्थाका परिचय दिया है।

रजनी

कालरात्रि

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी।।
घोर जन्तु सम पुर-नर-नारी। डरपहि एकहिं एक निहारी।।
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत-हित-मीत मनहुँ जमदूता।।

प्रदोष-ध्वान्त

प्रदोषकाल और अन्धकार

'प्रदोषो रजनीमुखम्'—प्रदोष सन्ध्याके बाद उस समय-विशेषको कहते हैं जब रात्रिका प्रवेश होता है और अन्धकारका अधिकार होने लगता है। मानसमें उसका वर्णन, यथा—

यातुधान प्रदोष बल पाई। धाए करि दससीस दुहाई।।
'भयउ निमिष महँ अति अँधियारा।।'

देखि निबिडतम दसहु दिसि कपिदल भयउ खभार।
एकहिं एक न देख तब जहँ-तहँ करहिं पुकार।।
निसा घोर गम्भीर वन पंथ न सूझ सुजान।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदोष और अन्धकारका वर्णन साथ-ही-साथ हुआ है। ऊपरके दोहेमें अन्धकारका पूरा लक्षण उदाहृत हुआ है—

'अन्धकारेति सान्द्रत्वं विश्वलोपसमर्थता ।'

वासर

दिवसका वर्णन प्रभात और मध्याह्नमें आ जाता है। अतः पृथक् देनेकी ऐसी कोई आवश्यकता नहीं। तथापि कुछ दिङ्मात्र निर्देश कर दिया जाता है, यथा—

'अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा ।'

तथा 'गए कोस दुइ दिनकर ढरके ।' इत्यादि ।

मृगया

'मृगयायां श्वसञ्चारो वागुरा नीलवेषता ।
भटढक्का मृगत्रासः सिंहं युद्धं त्वरागतिः ॥'

उदाहरण—

चढ़ि वर वाजि बार इक राजा। मृगया कर सब साज समाजा ॥
बिन्ध्याचल गभीर बन गयऊ। मृग पुनीत बहु मारत भयऊ ॥
फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहिं ग्रसि राहू ॥
बड़ बिधु नहिं समात मुखमाहीं। मनहुँ क्रोध बस उगिलत नाहीं ॥
कोल कराल दसन छवि गाई। तन बिसाल पीवर अधिकाई ॥
घुरघुरात हय आरव पाए। चकित बिलोकत कान उठाए ॥

नील महीधर सिखर सम देखि बिसाल बराह ।
चपरि चल्यो हय सुटुकि नृप हाँकि न होय निबाह ॥

आवत देखि अधिक रव बाजी। चल्यो बराह मरुत गति भाजी ॥
तुरत कीन्ह नृप सर सन्धाना। महि मिलि गयो बिलोकत बाना ॥
तकि-तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा ॥
प्रगटत-दुरत जाय मृग भागा। रिस बस भूप चल्यो सँग लागा ॥
गयउ दूरि घन गहन बराहू। जहँ नाहिन गज-वाजि निबाहू ॥
अति अकेल बन बिपुल कलेसू। तदपि न मृग मग तजेउ नरेसू ॥
कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरि गुहा गमीरा ॥
अगम देखि नृप अति पछिताई। फिरउ महाबन परेउ भुलाई ॥

खेद-खिन्न छूधित तृषित राजा वाजि समेत ।
खोजत व्याकुल सरित-सर जल बिनु भयउ अचेत ॥

शैल

'शैले मेघौषधीधातुवंशकिन्नरनिर्झराः ।
शृङ्गपादगुहारत्नवनजीवाद्युपत्यकाः ॥

मानसमें उसका वर्णन—

राम सैल बन देखन जाहीं। जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं ॥
झरना झरहिं सुधासम बारी। त्रिबिध तापहर त्रिबिध बयारी ॥
बिटप-बेलि-तृन अगनित जाती। फल-प्रसून-पल्लव बहु भाँती ॥
सुंदर सिला सुखद तरु छाहीं। जाय बरनि बन छबि केहि पाहीं ॥

सरन सरोरुह जल-बिहग कूजत-गुञ्जत-भृङ्ग ।
बैर बिगत बिहरत बिपिन मृग-बिहङ्ग बहुरङ्ग ॥

गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी ॥
तासु कनकमय सिखर सुहाए। चारि चारु मोरे मन भाए ॥
... ...
... ...

प्रथमहिं देवन गिरिगुहा राखे रुचिर बनाय ।
राम कृपानिधि कछुक दिन बास करहिंगे आय ॥

देखि मनोहर सैल अनूपा। रहे तहँ अनुज सहित सुरभूपा ॥
मधुकर-खग-मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध-मुनि प्रभुकी सेवा ॥
... ...

फटिकसिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ दोउ भाई ॥
... ...

बर्षा काल मेघ नभ छाए। गरजत लागत परम सुहाए ॥

वन

अरण्येऽहिवराहेभयूथसिंहादयो द्रुमाः ।
काकोलूककपोताद्या भिल्लभल्लदवादयः ॥

मानसमें उसका वर्णन—

कानन कठिन भयङ्कर भारी। घोर घाम हिम-वारि-बयारी ॥
कुश-कण्टक मग काँकर नाना। ... ...
... ...। मारग अगम भूमिधर भारे ॥
कन्दर-खोह-नदीनद-नारे। अगम-अगाध न जाहिं निहारे ॥
भालु-बाघ-बृक-केहरि-नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा ॥

समुद्र

अब्धौ द्वीपाद्रिरत्नोर्म्मि पोतपादो जगत्प्लवाः ।
विष्णुकुल्यागमश्चन्द्राद्वृद्धिरौर्वोऽब्दपूरणम् ॥

खाई सिन्धु गभीर अति चारिहुँ दिसि फिरि आव।

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी ॥

उपर्युक्त चौपाईमें समुद्रमें पर्वतका वर्णन हुआ है।

सागर निज मर्यादा रहहीं। डारहिं रतन तटन्ह नर लहहीं ॥
मकर-उरग झख नाना व्याला। सत योजन तन परम-बिसाला ॥
पैसहु एक तिनहिं जे खाहीं। एकन्हके डर एक डराहीं ॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू। ... ... इत्यादि ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भोग (संयोग)

एक बार चुनि कुसुम सोहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥
सीतहिं पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिकशिला परमादर*॥

इस सम्बन्धमें गीतावलिमें जो गोस्वामीजीने वर्णन किया है वह भी यहाँ उपर्युक्त अवतरणके साथ उद्धृत करना उपयुक्त जान पड़ता है, यथा—

फटिकशिला मृदु विशाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित लता-जाल हरत छवि वितानकी।
मन्दाकिनि तटिनि तीर, मञ्जुल मृग-विहग-भीर,
धीर मुनि-गिरा गभीर साम गानकी।
मधुकर-पिक-वरहि मुखर, सुंदर गिरि-निर्झर झर,
जल-कन घन छाहँ छन प्रभान भानकी।
सब ऋतु ऋतुपति-प्रभाव, सन्तत बह त्रिविध बाव,
जनु विहार-वाटिका नृप पञ्चबानकी।
सिय-अँग लिखि धातुराग, सुमनन-भूषन-विभाग,
तिलक करन क्या कहौं कलानिधानकी।
माधुरी विलास-हास, गावत यस तुलसिदास,
बसत हृदय जोरी प्रिय परम प्रानकी।

विप्रलम्भ

हा गुनखानि जानकी सीता। रूप-शील-व्रत-नेम पुनीता॥
हे खग-मृग हे मधुकर-स्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी॥
खंजन-सुक-कपोत-मृग-मीना। मधुपनिकर कोकिला-प्रबीना॥
कुन्दकली-दाडिम-दामिनी। कमल-सरद-ससि-अहिभामिनी॥
बरुन-पाश-मनोजधनु-हंसा। गज-केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल-कनक-कदलि हरषाहीं। नेक न संक सकुच मनमाहीं॥
सुनु जानकी तोहिं बिनु आजू। हरषे सकल पाय जनु राजू॥
किमि सहि जात अनख तोहिं पाहीं। प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं॥

मर्यादा-पुरुषोत्तमकी सब बातें मर्यादाविशिष्ट ही तो होंगी। प्रकाशकी हरएक किरण प्रकाश ही है, पुण्य सब प्रकार पुण्य और सत्त्व सब प्रकार सत्त्व ही है। नायकके हरएक चरितमें उसकी आत्मीयता उतरी हुई रहती है। उसका गुण-धर्म उसमें व्याप्त होता है और कवि अपनी कविताके प्रत्येक शब्दमें रमा हुआ रहता है। किसीका नाम-रूप-चरित उससे भिन्न नहीं। वे तीनों उसीके भेद और परिणाम हैं। क्योंकि कार्य-कारणका अभेद है। किसीका स्वाभाविक धर्म-स्वभाव उसके हर एक विकार अथवा रूपान्तरमें बना रहता है। अस्तु, उस असीमकी ससीमतामें भी उसकी सहज असीमता लहराती है, उस अव्यक्तकी व्यक्ततामें भी उसकी अव्यक्तता खेलती है; उसका अनुराग भी रागगर्भके भीतर छिपे हुए रागकी भाँति अव्यक्तता लिये हुए होता है। वह अधिक खुलता और खिलता नहीं। †बाह्यमें उसका प्रकाश कम होता है, हृदयके अभ्यन्तर ही परिपूर्णताके साथ सहजभावसे वह अधिक रहता है। वही उसका मुख्य आवास और लीला-स्थल है। कारण यह है कि उत्तम कोटिके सात्त्विक ‡ एवं धीरोदात्त × नायकोंमें धैर्य तथा गाम्भीर्यकी विशेषता होती है। उनके अन्तःकरण-क्षोभ एवं विकारको बहुत कम प्राप्त होते हैं। वे सत्त्वाधिक्यसे सहज स्थितिमें स्थिर और अविचल बने रहते हैं। उसके मनोभाव शीघ्र नहीं प्रकट होते। अतः उनका प्रेम भी मर्यादा (तट) के भीतर ही सञ्चरण करनेवाले शारद-नद-प्रवाहके समान गम्भीर और स्वच्छ होता है। उनकी सारी क्रियाओं और चर्याओंमें उनकी स्वभाव-सिद्ध धीरता और गम्भीरता बसी हुई रहती है। उनके काम और क्रोधमें भी उनकी वह स्वाभाविक विशेषता, उनकी वह अपूर्व सुन्दरता बनी हुई रहती हैं। उनके शुद्ध—सात्त्विक अन्तःकरणके योगसे विकार भी निर्विकारताको प्राप्त होते हैं। क्योंकि उनमें कामना और वासना नहीं होती। वे सहजभावसे तृप्त एकरस बने रहते हैं। उन जितेन्द्रिय राजर्षि नायकोंका प्रेम वास्तविक प्रेम होता है। वह स्थायी एवं शुद्ध होता है। 'सुन्दरं किन्न सुन्दरम्।' हमारे सत्तम नायकोत्तम मर्यादा-पुरुषोत्तम सब प्रकार उत्तम हैं। वे सौन्दर्यसिन्धु सभी बातोंमें अपनी सहज सर्वाङ्गपूर्ण अपूर्व सुन्दरता और दिव्य अलौकिकतासे परिपूर्ण हैं। फिर उनका शृङ्गार तद्रूप विष्णुरूप लोकवत् लोकोत्तर क्यों न हो! (क्रमशः)

---

* दरप्रभा स्फटिकशिला

† 'न चातिशोभते यत्रापैति प्रेम मनोगतम्। तन्नीली रागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः॥'—साहित्यदर्पण

‡ 'शोभाविलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी। ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः॥'— „

× 'अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः। स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥' „

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पथिक

(लेखक-श्रीवेणीरामजी त्रिपाठी)

(१)

'कहाँ किस ओर' किसीने प्रश्न किया। पथिक अपने चारों ओर प्रश्नकर्ताको ढूँढ़ने लगा। बड़ी देरतक दृष्टिपात करनेके बाद उसने अपने सामने योगिराजको देखा। योगीकी मूर्ति उग्र थी, उस ओर पथिककी आँखें ज़्यादा देरतक ठहर न सकीं। उसने अपना मस्तक नीचा कर लिया।

उत्तरकी मीमाँसा कठिन थी। बहुत कुछ सोच-विचार कर लेनेपर पथिकने उस युवतीकी ओर संकेत किया, जो विलासपूर्ण गहने-कपड़ोंसे सजी हुई आगे-आगे जा रही थी। साधुने पुनः प्रश्न किया—

"कहाँ किस ओर?"

"इसीके साथ किसी अज्ञात दिशामें।"

"पहले स्थान निश्चय करो, इसका साथ छोड़ो"

"मेरे लिये यह कठिन है।"

"कठिन है तो उसे सरल बनानेकी चेष्टा करो"

"यह और भी कठिन है।"

"पुत्र! कर्तव्य कठिनको भी आसान बना देता है"

"ठीक है किन्तु यहाँ कर्त्तव्यका बोध कहाँ ?"

"मैं बोध करादूँगा"

"कब ?"

"शीघ्र ही"

योगी पथिकको कुटीपर ले गया। युवतीसे उसका साथ छूट गया। वह बार बार योगीसे अपने 'कल्याण' का मार्ग पूछने लगा।

पथिकके आग्रहने योगीको लाचार कर दिया। योगीको उसकी बात रखनी पड़ी। वह कुटीसे निकलकर एक ओरको बढ़ा, पथिक भी उसीके पीछे-पीछे चल पड़ा।

(२)

एक विशाल और मनोरम नदीके सुरम्य तटपर पहुँचनेके बाद योगीके पाँव आप ही थम गये। पथिकने धीरेसे निवेदन किया 'हाँ गुरुदेव' योगीने उत्तर दिया 'ठहरो' पथिक मौन हो गया। योगीने अपने झोलेसे एक दीपक निकाला, और उसे जलाकर पथिकसे कहा—'देखो, नदीके उस पार आँखें उठाओ' पथिकने उस ओर दृष्टि डाली—वास्तवमें दृश्य बड़ा ही मनोहर था, वह एकटक उसी ओर देखने लगा।

(३)

'प्यारे पी लो' कहकर आशाने शराबकी एक और घूँट प्रमोदको पिला ही दी। वह मोहवश उसकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सका। उसने सोचा यह अवसर यथार्थमें परीक्षणीय है, इस बार पराजित होनेसे सर्वदाके लिये उपहास मात्र ही शेष रह जायगा।

उसने बार-बार घुटनें टेककर विनती की। किन्तु आशापर उसका किञ्चिन्मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसने इसकी एक भी न सुनी। वह हाथ छुड़ाकर चली गयी।

प्रमोदने एक बार उसके रंग-रूपको जी भरकर देखा। उसकी गजगामिनी गतिको जी भरकर निहारा, फिर पागलकी तरह उसके पद-चिह्नोंको देखनेके अतिरिक्त वह और कुछ भी नहीं कर सका। मतवालेकी तरह केवल इधर-उधर झूमने लगा।

(४)

'अँधियारेसे भरी इस निर्जन आधीरातके समय यह किसकी आवाज़ है' कहकर आशा अपने दरवाज़ेकेबाहर आकर खड़ी हो गयी। उसके हृदयमें उस व्यक्तिको देखनेकी बड़ी चिन्ता थी, किन्तु वह हताश हो रही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोर अन्धकार था, रात बिचले पहरसे निकल-कर तीसरे पहरमें पदार्पण कर रही थी। ऐसी अवस्थामें आगत व्यक्तिके रूप-रंगका अवलोकन करना आशाके लिये कठिन ही नहीं, असम्भव था।

सप्तऋषि गोलाकार चमकीले स्वर्ण-सदृश अमृत-फलकी परिक्रमा कर रहे थे या नहीं, यह भी ठीक ध्यानमें नहीं आता। केवल 'आवाज' के संकेतपर 'आशा' उस ओरको चल पड़ी।

(५)

सूर्योदय होनेपर लोगोंने देखा सड़कके समीप-वर्ती खेतमें एक नवयौवना मरी पड़ी थी। उसीके पास बैठा एक युवक सिर पीट-पीटकर रो रहा था, गाँवके लोग भी आस-पास मौजूद थे, पर कोई इन दोनोंको पहचानते नहीं थे।

प्रमोद अपराधी ठहराकर जेलके कटघरेमें बन्द कर दिया गया। न्यायालयमें अपराध स्वीकार करते हुए प्रमोदने कहा कि 'मैं खूनी हूँ। आशाका खून मैंने ही किया है।' किन्तु कारण वह भी छिपाये था।

बहुत कुछ इधर-उधरकी बातें पूछनेपर भी न्यायाधीश कारणका पता नहीं लगा सके। अन्तमें जो होना था सो हो गया!

(६)

पथिकके देखते-देखते दृश्य आँखोंसे ओझल हो गया, वह व्याकुल और भयातुर होकर योगीके चरणोंमें लिपट पड़ा। योगीने पथिकके मस्तकपर हाथ रखकर कहा—'पुत्र! देख वह भी एक प्रकारका वैसा ही भीषण मार्ग था, जिसपर तू स्वयं चलनेको तैयार था। तेरी भी ऐसी ही दशा होती। भोले भाई! भगवान्का यह वाक्य अक्षरशः सत्य है—

सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः॥
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

यह मार्ग तो दुःख और विनाशका मूल है। तुझे तो 'कल्याण' मार्गका पथिक बनना चाहिये।

योगीका कथन समाप्त हुआ। पथिकने ऊपरको आँखें उठायीं और जी भरकर योगीकी ओर देखने लगा। उस घड़ी वह योगी उसकी दृष्टिमें ईश्वर ही था!

कहाँ ?

कहाँ, कहाँ ? किस तरफ जा रहा ? पथिक ! पन्थकी ओर निहार।
शीघ्र सम्हल जा, लक्ष्य ठीक कर, सावधान हो चाल सुधार॥
भूला मार्ग, सदन निज भूला, भूला बोधरूप अविकार।
भूल गया सर्वस्व सदाशिवरूप नित्य सत् सुख-आगार॥
ठहर, दौड़ना छोड़, देख टुक पलभरको निज गृहकी ओर।
मोह त्याग, मुड़, पकड़ पन्थ शुचि सरल सुखद, तज झूठा शोर॥
सत्वर चल चुपचाप, राम जप, देख सभीमें नन्दकिशोर।
सभी, सभीमें, सभी समय मुसुकाता प्यारा मुनि-मन-चोर॥

—अकिञ्चन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महात्मा गान्धीजीके वचनामृत*

१-अहिंसाका जागृत लक्षण प्रेम है—अवैर है।

२-विचार मात्र विकार है। उसे वश करना मनको वश करना है। और मनको वश करना—यह वायुको वश करनेसे भी कठिन है। फिर भी जो आत्मा है तो यह वस्तु भी साध्य है ही।

३-मनुष्य-यत्नके पीछे ईश्वरकी सम्पर्ण कृपा विद्यमान ही है।

४-धर्मकी परीक्षा तो मौतके समय ही है। जो विलाप करता—कलपता हुआ मरता है, जो मरना नहीं चाहता, वह मरकर बुरी गति पाता है।

५-जो शास्त्र-वचन सत्यका, ब्रह्मचर्यका विरोधी हो वह चाहे जहाँसे लिया गया हो तथापि वह अप्रमाण है।

६-केवल जो जंगलमें रहकर ही पाला जा सके, वह ब्रह्मचर्य नहीं है, संयम नहीं है।

७-हिन्दू-धर्मका आन्तरिक स्वरूप सत्य और अहिंसा है।

८-जो मनुष्य ईश्वरसे डरकर चलना चाहता है, जो ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता है ऐसे साधु और मुमुक्षुके लिये अपने खुराकका चुनाव—त्याग और स्वीकार—इतना ही आवश्यक है जितना विचार और वाचाका चुनाव—त्याग और स्वीकार—आवश्यक है।

९-मनुष्य और उसका काम ये दो अलग चीजें हैं। अच्छे कामके लिये आदर और बुरेके लिये तिरस्कार होना ही चाहिये। भले-बुरे काम करनेवालेके प्रति सदा आदर अथवा दया होनी चाहिये। सत्यकी खोजकी जड़में ऐसी अहिंसा मौजूद है।

१०-सबके भलेमें अपना भला समाया हुआ है।

११-सादा मजदूरीका, किसानका जीवन ही सच्चा जीवन है।

१२-सम्पूर्णता केवल प्रभुकी प्रसादी है।

१३-मनका मैल विचारसे, ईश्वरके ध्यानसे और अन्तमें ईश्वरकी कृपासे ही जाता है।

१४-आध्यात्मिकतासे रहित लौकिक सम्बन्ध प्राण-शून्य देहके समान है।

१५-धर्मके प्रश्नमें श्रद्धाका स्थान सर्वोपरि है।

१६-धर्मका भूषण वैराग्य है, वैभव नहीं।

१७-दोनों भयङ्कर हैं। मनुष्य जानकर झूठ ही बोले और करे अथवा अपना दोष देख ही न सके और स्वयं निर्दोष ही है ऐसे मिथ्याभ्रममें पड़ा रहे। इन दोनों दोषोंसे बचना चाहिये।

१८-अक्षर-ज्ञान देनेवाले अधूरे शिक्षकसे काम चलाया जा सकता है पर आत्मदर्शन करानेवाले अधूरे शिक्षकसे नहीं चलाया जा सकता। गुरुपद तो सम्पूर्ण ज्ञानको ही दिया जा सकता है।

१९-सत्यके शोधकको रजकणसे भी नीचे रहना पड़ता है। जगत् सारे रजकणोंको कुचलता है, पर सत्यका पुजारी तो जबतक इतना नहीं झुक जाता कि धूल भी उसे कुचल सके, तब तक स्वतन्त्र सत्यकी झाँकी भी दुर्लभ है।

२०-सत्य ही है, इसके सिवा इस जगत्में और कुछ नहीं है, मेरा यह विश्वास दिन दिन बढ़ता जाता है।

२१-सत्य स्थूल वाचाका सत्य नहीं है। यह तो जैसे वाचाका है वैसे ही विचारका भी है। यह सत्य अपना कल्पित सत्य ही नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र चिरस्थायी सत्य अर्थात् परमेश्वर ही है।

२२-जहाँ प्रेम एक पक्षकी तरफसे भी होता है वहाँ सर्वांशमें दुःख तो हो ही नहीं सकता।

*भाई श्रीमहावीरप्रसादजी पोद्दारकी कृपासे प्राप्त। सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२३-धर्मका तात्पर्य है आत्मभाव, आत्मज्ञान।

२४-जिस धर्ममें गोमांस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े और अपने कपड़े बदलने पड़ें, वह धर्म क्या है।

२५-यह जगत् नीतिके सहारे चलता है, नीतिमात्रका समावेश सत्यमें है। सत्यका अनुसन्धान करना है।

२६-जिस वस्तुमें सम्पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो गया है वहाँ उसके सम्बन्धमें व्रत अनिवार्य वस्तु है।

२७-जगत्‌के सामान्य व्यवहारमें रहते हुए भी जो अलिप्त रहता है वही संयमी है, वही सुरक्षित है।

२८-हिन्दू-धर्मशास्त्रोंके नामसे जो परिचित हैं, मैं उन्हें मानता हूँ और इन अवतारोंको और पूर्व-जन्मको भी मानता हूँ।

२९-ईश्वरपर विश्वासका अर्थ यह है कि जब अपनी सम्पत्ति लूटी जाय तब भी हम उसे धन्यवाद दें। जो सम्पत्ति न लुटनेकी शर्तसे धन्यवाद दें तब तो यह सौदा हुआ। ईश्वर सौदेका भूखा नहीं है। उसे भक्ति चाहिये और वह भक्तिकी कड़ी जाँच करता है।

रामायण

(लेखक-लाला कन्नोमलजी एम० ए०)

इंगलैण्डके सुप्रसिद्ध, प्रतिभाशाली एवं धुरन्धर लेखक कार्लाइल लिखते हैं कि यदि अंगरेज जातिके सामने यह प्रश्न रखा जाय कि तुम भारत साम्राज्य रखना चाहते हो या इंगलैण्डके नामी कवि शेक्सपियरको, तो मुक्तकण्ठसे यही उत्तर मिलेगा कि भारत हमारे अधिकारमें रहे या न रहे, हम शेक्सपियरको नहीं छोड़ सकते। इसप्रकार यदि भारत-वासियोंके सम्मुख यही प्रश्न इस रूपमें उपस्थित हो कि तुम स्वराज्य चाहते हो या रामचरित (रामायण); तो अखिल हिन्दू-जनताका भी यही उत्तर होगा कि हम रामचरितको छोड़कर स्वराज्य नहीं लेना चाहते। रामचरित हमारी वह अमूल्य सम्पत्ति है कि जिसके सामने सभी लौकिक विभतियाँ तुच्छ हैं। भारतमें करोड़ों नर-नारी रामायणका पाठ प्रतिदिन करते हैं—उसकी कथा सुनते हैं—उसके दिव्य चरित्रनायक और पात्रोंका अभिनय समय-समयपर करते हैं। कौन-सा प्रान्त, कौन-सा नगर अथवा कसबा ऐसा है जहाँ रामलीला न होती हो। रामायण सभी प्रकारके आदर्शोंका भाण्डार है। जो प्रभाव सहस्रों धार्मिक ग्रन्थों तथा नीति-पुस्तकोंके पढ़ने सुननेका नहीं है वह रामायणका है। यह अद्भुत, अनुपम, अमूल्य एवं अतुलनीय ग्रन्थ है, जिसकी प्रशंसा पाश्चात्य सुलेखकों और पण्डितोंने भी मुक्तकण्ठसे की है। इस ग्रन्थमें पिता, पुत्र, भाई, स्त्री, राजा, प्रजा, स्वामी, सेवक, मित्र, इत्यादि, सभीके पवित्र और दिव्य आदर्शोंका समावेश है। दशरथ-जैसे पिता, राम-जैसे पुत्र, भरत-जैसे भाई, सीता-जैसी स्त्री, राम जैसे राजा, अयोध्यावासी जैसे प्रजा, राम जैसे स्वामी, हनूमान् जैसे सेवक, सुग्रीव जैसे मित्र, ये सभी आदर्शरूप हैं। इस समय भारतवासियोंका लक्ष्य स्वराज्य है जिसका आदर्श औपनिवेसिक शासन-प्रणाली है। पर क्या यह लक्ष्य रामराज्यसे उच्चतर है? हम तो रामराज्य चाहते हैं। चाहे उसमें वोट देकर मेम्बर बनानेकी पद्धति हो या न हो। रामराज्य क्या है इसका वर्णन रामायणमें पढ़ने योग्य है। प्रत्येक भारतवासीको इसे अवश्य पढ़ना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शेर धोबीका गधा बना

(लेखक—स्वामी श्रीमाधवानन्दजी)

एक समय किसी धोबीने खेती की, और जब अन्न पक गया तब उसने एक दिन अन्न कटवाना शुरू किया। उस दिन सारा अन्न कट नहीं सका। धोबी कहने लगा, 'आज मुझे जितना डर रात्रिका है उतना सिंहका भी नहीं है।' वह बारबार इसीलिये ऐसा कह रहा था कि समीपके और सब खेत कट चुके थे, केवल उसीका खेत कटनेको बाकी था। भवितव्यता प्रधान है, उस दिन एक सिंह भी धोबीके उसी खेतमें छिपा बैठा था। धोबीके बारबार कहे हुए शब्द शेरने सुने और वह अपने मनमें सोचने लगा कि 'कदाचित् 'रात्रि' कोई मुझसे भी बड़ा भयानक जानवर होगा। अतः मैं आज इसी खेतमें छिपा रहूँगा, नहीं तो कहीं रात्रिने मुझे देख लिया तो वह अवश्य ही मुझे मार डालेगा।' शेर डरके मारे वहीं छिप रहा। उसी रात्रिको दो बजेके करीब धोबी अपने हाथमें लाठी लेकर खेतकी रखवालीके लिये गया; खेतपर पहुँचते ही उसे किसी जानवरकी आहट सुनायी दी। वह वहाँ पहुँचा और देखता क्या है कि एक गधा उसका खेत चर रहा है। वास्तवमें वह गधा नहीं था, वह था शेर; परन्तु अँधेरी रातमें धोबीने उसे गधा समझकर बाँध लिया और क्रोध-वश ऊपरसे दो चार डण्डे भी जमा दिये। शेरने भी समझा कि यही रात्रि है इसलिये वह भी भयभीत होकर धोबीके हाँकनेसे उसके आगे-आगे चुपचाप चलने लगा। धोबी शेरको अपने घरपर ले आया और यह समझकर कि, आज इसने जितना खेत खाया है उतना ही दण्ड भी देना चाहिये, धोबीने पुराने कपड़े उसपर लाद दिये और अपनी धोबिनको साथ लेकर वह नदीको चल दिया। शेर चुपचाप कपड़े लादे आगे-आगे चला। थोड़ी दूर जाने पर उसे मार्गमें दूसरा शेर मिला। उस शेरने इस लदे हुए शेरसे पूछा—'भाई, तेरी यह क्या दशा है?' उत्तरमें इसने जवाब दिया कि 'चुप रह, कहीं तुझको भी रात्रिने देख लिया तो तेरी भी यही दशा हो जायगी, इसलिये चुपचाप भाग जा।' स्वतन्त्र शेर बोला 'तू असली शेर होकर किस भ्रमरूपी रात्रिके फन्देमें पड़कर धोबीका गधा बना है?' लदे हुए शेरने कहा 'भाई! मुझे क्यों पिटवाता है, यदि तुझको अपना बल दिखलाना हो तो मेरे जानेके बाद जो कुछ करना हो सो करना। मुझे चले जाने दे।' स्वतन्त्र शेरने लदे हुए शेरकी गिड़गिड़ाहट सुनकर बड़े ज़ोरसे एक दहाड़ मारी। जिसको सुनकर धोबी और धोबिन भयभीत होकर भाग चले। तब स्वतन्त्र शेर बोला कि 'देख, तेरी रात्रि भाग गयी और अब तू भी इस लादीको फेंककर अपने असली स्वरूपमें आ जा। तू गधा नहीं है, शेर है।' लदे हुए शेरने धोबी और धोबिनको भागते देख और अपनेको भ्रममें फँसा देख लादी फेंक दी एवं अपना असली स्वरूप पहचान शेरके साथ दहाड़ता हुआ जंगलको चल दिया।

बस, इसी प्रकार मनुष्य भी द्वैतरूपी रात्रिके फन्देमें फँसकर संसार रूप धोबीका गधा बनकर लादी लादता है। मनुष्य असलमें परब्रह्मका स्वरूप है। परन्तु द्वैतमें फँसकर अज्ञान-दशाको प्राप्त हो रहा है, इसीलिये वह धोबीका गधा बनकर जन्ममरणरूपी लादीके भारसे दुखी हो रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्णयोग

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त)

[चतुर्थ वर्षके पृष्ठ १३४६ से आगे]

वेदान्तिक योग और तान्त्रिक योग।

साधारणतः प्रचलित जिन योग-पथोंका वर्णन किया गया है, जरा विचारकर देखनेसे हमें पता लगेगा कि उन सबके पीछे एक ही मूल भाव है। देखनेमें चाहे वे कितने भी विभिन्न क्यों न प्रतीत हों, जिस मूल वस्तुका आश्रय लेकर हम इन सब साधन-पथोंपर चलते हैं वह मूल वस्तु है ज्ञान, और इसीलिये इनको 'वेदान्तिक मार्ग' कहा जा सकता है। ज्ञान-योगी हो, भक्तियोगी हो, कर्मयोगी हो, सब साधकोंका अवलम्बन ज्ञान है, मूलतः ज्ञानको ही लक्ष्य और उपायरूपसे धारणकर वे अग्रसर होते हैं। ज्ञानीका विचार-वितर्क ज्ञानका एक रूपमात्र है। इस ज्ञानकी प्रतिष्ठा तो बुद्धिमें है ही। किन्तु भक्त या कर्मीका ज्ञान तर्कबुद्धिसे उत्पन्न नहीं होनेपर भी ज्ञान ही है। भक्तके ज्ञानकी प्रतिष्ठा होती है हृदयमें, वह ज्ञान प्रस्फुटित हुआ है प्रेम, श्रद्धा और विश्वासके भीतर होकर। कर्मीका ज्ञान उसकी इच्छा-शक्तिके पीछे चलता है—यह ज्ञान ही इच्छाशक्तिके भीतर होकर कर्ममें मूर्तिमान हो उठता है, राजयोग और हठयोगके पीछे भी इसी ज्ञानकी प्रधानता है। इन सभी योगोंमें पुरुष ही साधक—आत्मा ही द्रष्टा, ज्ञाता, अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्तारूपमें साधना कर रहा है, वही विधि और निषेधका निश्चय करता है और वही आधारको किस तरह सजाना होगा—यह बतलाता है। वास्तवमें वह पुरुष ही लक्ष्य है, इस चैतन्यमय आत्मसत्ताके साथ मिलना ही योगसिद्धि है।

किन्तु भारतवर्षमें एक दूसरे प्रकारका योग भी प्रचलित है, उसकी प्रतिष्ठा ज्ञानके ऊपर नहीं है, पुरुष उसका नियन्ता नहीं है। तान्त्रिक योगमें साधक होती है प्रकृति, और उपाय होता है शक्ति। जिस साधनामें पुरुष साधक और ज्ञान उपाय होता है, उसका प्रधान कथन है उदासीनता, जगत्‌के खेलसे अपनेको विच्छिन्न करना, हटा लेना; किन्तु तान्त्रिक इस खेलको ही जोरसे पकड़े हैं। प्रकृतिमें छिपी हुई जो आद्यशक्ति, जो तपःशक्ति है, उसीके अदम्य बलमें उसीके ही स्वप्रेरित पथमें वे चलते हैं। वेदान्तिक प्रकृतिको समझते हैं, 'मायामयी'। वे कहते हैं कि प्रकृति अन्ध, और उच्छृङ्खल है, इसमें जो कुछ चेतनाकी छाया है वह पुरुषके संस्पर्शसे है। इस लिये वेदान्तिक साधक अपनेको प्रकृतिके हाथमें छोड़ देना नहीं चाहते। प्रकृतिको अपनी सहज स्वच्छन्द गतिसे दौड़ने और विकसित होने देना उनका लक्ष्य नहीं है। किन्तु तान्त्रिक प्रकृतिको मानते हैं 'चिन्मयी'। अतएव उसीके प्रेरणापर सम्पूर्णरूपेण निर्भर करके चलनेमें तान्त्रिक तनिक भी आनाकानी नहीं करते। वेदान्तिकका उद्देश्य है प्रकृतिकी छायासे पुरुषको क्रम-क्रमसे मुक्त करना। परन्तु तान्त्रिक प्रकृतिको, जगत्-शक्तिके सारे खेलको सत्य समझकर आनन्द-पूर्ण बतलाकर उसका आलिङ्गन करते हैं। इसीसे उन्होंने प्रकृतिको पुरुषसे उच्च स्थान दिया है, शक्तिको ही अध्यात्म-जीवनमें साम्राज्ञीरूपसे वरण किया है।

साधारण जीवनकी जो खण्डता-असम्पूर्णता, आधारकी जो असमर्थता, मलिनता है, उसको दूर कर, उसका नाशकर, उसकी ओरसे अपना सारा मनोयोग हटाकर जीवनके आधारके पीछे, अतीतमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो एक कूटस्थ नित्य शुद्ध, पूर्ण अद्वैत वस्तु है, वेदान्तिक योगी ध्यानमें, मनकी एकाग्रतामें उसीको प्रकाशित करना चाहता है, पर तान्त्रिक कहते हैं, जीवनकी पर्णताका निर्झर जीवनके अन्दर ही है। आधारकी शुद्धिका कारण आधारके अन्दर ही है, अन्यत्र कहीं नहीं। तान्त्रिकोंने प्रकृतिके अन्दर ही एक ऐसे मौलिक तत्त्वको पाया है जिसके प्राण अदम्य बल, अनन्त शक्ति, अव्याहत कर्मप्रेरणा हैं। साथ ही वह शुद्ध पूर्ण चेतनासे दीप्त है। जीवनके आधारकी इस अधिष्ठात्री देवीके अंगुलिनिर्देशके अनुसार, जीवनकी कर्मप्रचुर और भोगप्रचुर विक्षुब्धताके—आधारकी समस्त प्राकृत प्रेरणाओंके अन्दरसे चलाकर ही उन्होंने अपने जीवनको-आधारको बना लिया है।

वेदान्तिक साधनाका विषय है सत् और उपाय है वैराग्य। तान्त्रिक साधनाका विषय है तपःशक्ति और उपाय है भोग। वेदान्तिकने जैसे पुरुषको ही अतिमात्रामें ग्रहण किया है वैसे ही तान्त्रिकने प्रकृतिको किया है। किन्तु इसप्रकार वेदान्तिक और तान्त्रिकने जो सत्के विरुद्ध शक्तिको और शक्तिके विरुद्ध सत्को खड़ा कर दिया है, इससे उन दोनोंको सत्यका अर्द्धांशमात्र ही प्राप्त हुआ है। वेदान्तियोंने शक्तिको खोकर सृष्टिके भोगके आनन्दसे रहित साधु-संन्यासियोंकी सृष्टि की, उसी प्रकार तान्त्रिकोंने भी सत्को खोकर प्रकृतिके उन्मार्गगामी स्रोतके साथ अपनेको बहाकर अनाचारसे कलुषित भैरव-भैरवियोंको उत्पन्न कर दिया। वेदान्तियोंने जिस प्रकार त्यागको त्याग समझकर ही उसे महान् माना, उसी प्रकार तान्त्रिकोंने भी भोगको भोग समझकर ही उसका महत्त्व बढ़ाया। जो उपाय या सहायमात्र है, उसीको दोनोंने अपने लक्ष्यसे भी ऊँचा मान लिया।

वस्तुतः सत् और शक्ति, पुरुष और प्रकृति, यहाँतक कि त्याग और भोगमें कोई विरोध नहीं है। इनमें एक श्रेष्ठ और दूसरा निकृष्ट नहीं है, दोनों ही समानभावसे पर्याय हैं। पूर्णयोगीकी दृष्टिमें आत्मा या पुरुष है ईश्वर और प्रकृति उनकी अपनी कर्मनिष्पादिनी शक्ति है। पुरुष अथवा सत् है शुद्ध अखण्ड असीम आत्मसत्ता। और शक्ति है चिच्छक्ति-उस शुद्ध आत्मसत्ताके चेतनाकी प्रेरणा, लीला। स्थिति और गति तथा विराम और कर्ममें जो सम्बन्ध है सो एक ही सम्बन्ध है। शक्ति या कर्मप्रेरणा जब अकेली रहती है, केवल 'अस्ति' की चेतनाके आनन्दमें ही विलीन रहती है तब उसे स्थिति या विश्राम कहते हैं। इसीका दूसरा नाम त्याग है। और जिस समय पुरुष अपनी शक्तिके नाना प्रकारके कर्मोंमें अपनेको फैला देता है, तभी कर्म होता है, तभी सृष्टि होती है, और तभी 'अस्ति' का नहीं, सृष्टिका आनन्द होता है, इसीका नाम भोग है। यह आनन्द ही सृष्टिकी, जागतिक प्रकाशकी प्रसूति है, मूल कारण है। और जिसकी सहायतासे जिस उपायका अवलम्बनकर आनन्द वस्तुमात्रकी सृष्टि करता है, एक ही बहुत हो जाता है उसे ही कहते हैं तप।

यह तपःशक्ति पुरुषकी ही चित्-शक्ति है अर्थात् जब चिन्मय पुरुष अपनी शुद्ध सत्ताके अन्दर छिपी हुई अव्यक्त अनन्त रूप-सम्भावनीयताके ऊपर अपनी चेतनाका विकास कर देता है, तभी वस्तुका भावमय स्वरूप, व्यष्टिका-विशिष्टका ऋतमय सत्यमय अन्तरात्मा-प्रकट होता है, जिसे विज्ञान कहा जाता है। यही विज्ञान अथवा सत्य भाव, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण शक्तिके आधाररूप आत्मसत्तासे निःसृत होनेके कारण अपनेको अव्यर्थरूपसे परिपूर्ण करके चलता है।

हमारे देह प्राण और मनके पीछे यही विज्ञानका धर्म रहता है, फिर यही विज्ञान एक नैसर्गिक प्रेरणाके बलसे देह प्राण और मनके अन्दर रूप ग्रहण करके अपनेको जागरुक कर ग्रहण करना चाहता है। वस्तुतः सम्पूर्ण योग साधनाकी प्रतिष्ठा इसी चिद्भाव, इसी विज्ञान, इसी सत्यं ऋतं बृहत्की अप्रत्याहत कार्यकरिताके ऊपर है। सम्पूर्ण योगपथ इसीको मानकर चलते हैं। गीतामें श्रीभगवान्ने इसी सत्यको लक्ष्य करके कई बार कहा है-'श्रद्धान्वित,' 'भावसमन्वित' होकर जो जिसकी कामना करता है वह उसे पावेगा ही, जिसकी जैसी श्रद्धा, जैसा भाव है, वह वैसा ही है। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'

(क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीविभीषण-शरणागति

(लेखक–श्रीयुत जयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

श्री विभीषणजीकी शरणागतिके प्रसङ्ग-का प्रारम्भ श्रीरामचरितमानसके सुमेर (सुन्दर) काण्डमें रावणकी सभासे होता है। जहाँ–

'बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥
अवसर जानि बिभीषन आवा।'

–यह प्रकरण प्राप्त होता है। राक्षसेन्द्र रावणके समाजकी उस समय बड़ी ही विपरीत दशा थी। रावणके सामने तो लोग–

जितेहु सुरासुर तव स्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं॥

–इसप्रकार उसकी स्तुति करते थे और परोक्षमें वे ही लोग–

निज निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर कुलकेर उबारा

–इसप्रकारकी चिन्तना करते थे। उनके व्यवहारमें कैसा विपर्यय आ गया था? सच है–

सचिव बैद गुरु तीनि जो प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तनु तीनिकर होइ बेगिही नास॥

इस दोहेमें क्रमालङ्कारके अनुसार सचिव, वैद्य और गुरुका क्रमसे राज, तनु और धर्मके साथ सम्बन्ध अपेक्षित है, किन्तु ग्रन्थकारने यहाँ राज धर्म तनुके रूपमें क्रम-विपर्यय किया है। और इस दोहेके पश्चात् 'सोइ रावण कहँ बनी सहाई।' यह पद देकर तीनोंके विपर्ययको सिद्ध कर दिया है। अर्थात् सचिव मुँहमीठी सलाह देने लगे—'सचिव कहहिं सब ठकुर सोहाती।' 'गुरु' देव श्रीशंकर भगवान्‌ने भी ऐसा अनर्थ करते उसे नहीं रोका—

संभु-सेवक जान जग बहु बार दिय दससीस।
करत राम-बिरोध सो सपनेहु न हटक्यो ईस॥
(विनयपत्रिका)

प्रत्युत श्रीशंकर उसका नाश देखनेमें ही प्रसन्न थे, जैसे—

हमहूँ रहे उमा तेहि संगा। देखत रामचरित रन-रंगा॥

वैद्य सुषेणके विषयमें भी यही बात थी, उसने भी रावणके शत्रु पक्षकी ही सहायता, धवलागिरिकी संजीवनी बूटीसे लक्ष्मणकी मूर्छा दूर करके की थी, पर रावणके पक्षके किसी एकको भी सुषेणने आरोग्य अथवा औषधप्रयोग किया हो, ऐसी बात नहीं सुनी जाती। 'छीजहिं निसिचर दिन अरु राती' से भी इसकी पुष्टि होती है। ऐसी अवस्थामें श्रीविभीषण-जीने अति नम्र तथा कोमल वचनोंसे उचित परामर्श देते हुए रावणसे विनय किया कि—

जो कृपालु पूछहु मोहिं बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता॥
जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुख नाना।
सो परनारि-लिलारि गोसाईं। तजै चौथके चंदकी नाईं॥
चौदह भुवन एक पति होई। भूत-द्रोह तिष्ठै नहिं सोई॥
गुनसागर नागर नर जोऊ। अलप लोभ भल कहै न कोऊ॥

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरकके पन्थ।
सब परिहरि रघुबीरही भजहु भजहिं जेहि संत॥

उपर्युक्त पदोंमें 'पर नारि लिलारि' से काम, 'भूतद्रोह' से क्रोध, तथा 'अलप लोभ' से लोभ अर्थात् तीनों नरकके द्वारोंका संकेत किया—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २१)

और रावणको इन तीनों प्रबल खलोंको त्यागनेकी सम्मति दी—

तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ॥
मुनि बिज्ञानधाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥

और यह भी इसप्रकार घुमाकर कहा कि 'जो आपन चाहइ कल्याना' तात्पर्य यह कि जो अपना कल्याण चाहता हो वह इन तीनोंका त्याग करे। रावणको सम्बोधन करके स्पष्ट नहीं कहा, वैसा कहते तो उसे बुरा लगता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त प्रथम दोहेमें केवल नरकके तीनों पथोंको छोड़ना ही नहीं बतलाया, साथ ही श्रीरघुवीरके भजन करनेका भी संकेत किया। यहाँ 'रघुवीर'शब्दके द्वारा श्रीरघुनाथजीमें पाँच प्रकारकी वीरताओंका सामवेश प्रतिध्वनित किया है। यथा—

त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः।
पराक्रम-महावीरो धर्मवीर सदा स्वतः॥
पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा।
रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥

अर्थात् रघुवंशमें श्रीरामचन्द्रजी ही ऐसे हुए हैं जिनमें पाँचों वीरताएँ—त्यागवीरता, दयावीरता, विद्यावीरता, पराक्रमवीरता तथा धर्मवीरताका एकत्र समावेश था। मानसमें जहाँ कहीं 'रघुवीर' शब्दका प्रयोग हुआ है, वहाँ इन वीरताओंका प्रसंग अवश्य पाया जाता है।

साथ ही 'भजहिं जेहि सन्त' कहकर पदकी पूर्तिके द्वारा अपवर्गके मार्गका भी संकेत किया। यथा—
'संत संग अपवर्गकर कामी भवकर पंथ।'

उपर्युक्त दोहेकी रचनामें एक रहस्य और छिपा हुआ है। पिंगलके अनुसार दोहेमें तुकान्तके अक्षर एक ही होते हैं। परन्तु यहाँ विपर्यय पाया जाता है। 'नाथ नरकके पंथ' में तुक 'थ' अक्षरमें है, तो नीचेके पद 'भजहिं जेहि संत' में तुक तकारान्त हो गया है। इस विपर्ययके द्वारा ग्रन्थकार सूचित करते हैं कि काम क्रोधादि जो नरकके पंथ हैं, उनसे अपवर्गके पंथका कभी समन्वय नहीं हो सकता—यही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तकी रक्षाके लिये पिंगलके नियममें यदि विपर्यय आ भी जाय तो भी कोई हानि नहीं। गुसाईंजी तो यह पहले ही कह चुके हैं कि—
'कबि न होउँ नहिं चतुर कहाउँ। मति अनुरूप राम गुन गाउँ॥'
तथा—
'भनित भदेश वस्तु भलि वरनी॥'

अस्तु, इसप्रकार विभीषणजीने रावणको सम्मति देते हुए ब्रह्म, अनामय, अज, भगवन्त आदि विशेषणोंसे श्रीरामजीके ऐश्वर्य, कृपासिन्धु आदि विशेषणोंसे सौशील्यादि दिव्य गुण, तथा गो-द्विज-धेनु-देव-हितकारी और जनरञ्जनादि शब्दोंसे श्रीरामजीके विरदकी व्याख्या की; एवं यह सूचित करते हुए कि भगवान् प्रणतारतिभञ्जन हैं, अतः वैदेहीको देकर उनकी शरणमें जाना ही कल्याणजनक है, साथ ही यह भी बतलाया कि पुलस्त्य मुनिने भी ऐसी ही अनुमति दी है।

भली बातका समर्थन भले पुरुष ही किया करते हैं, श्रीविभीषणजीकी इस सम्मतिको प्रवीण मन्त्री माल्यवान्ने भी उपादेय बतलाया। परन्तु रावणने इस बातका मानना तो दूर रहा, उलटे क्रोधित होकर दोनोंको सभा-भवनसे निकाल देनेकी आज्ञा दी। इसपर माल्यवान् तो अपने घर चला गया परन्तु विभीषणजी, जो साधुवृत्तिके अनुसार मानापमानको समान समझते थे, पुनः हाथ जोड़कर बोले कि 'हे नाथ, कुमतिका परिणाम केवल विपत्ति ही है, आपके हृदयमें विपरीत-कुमति आ बसी है* क्योंकि हमलोग जो आपके हितकी बातें कहते हैं वह आपको बुरी लगती हैं, तथा निशिचरोंके लिये काल-रात्रिके समान जो श्रीसीताजी हैं उनपर आपकी अत्यन्त प्रीति हो रही है। हे तात! मैं आपके पैर पकड़ याचना करता हूँ, मेरा दुलार रख लीजिये और श्रीसीताजीको श्रीरामके अर्पण कीजिये क्योंकि इसीमें आपका हित है।'

इस समय माल्यवान्के चले जानेपर उस सभामें वैसा कोई धार्मिक व्यक्ति न था जो पुनः इस बातका अनुमोदन करता। अतः ग्रन्थकारने विचारा कि अधर्म-सभामें यदि ऐसे अपूर्व-वचनका समर्थन न हुआ तो न सही परन्तु ज्ञाननिधि समाजमें तो ऐसे अपूर्व वचनोंका आदर होना ही चाहिये—'श्रोता

* पारस्परिक द्वेषको कुमति कहते हैं और हितचिन्तकको शत्रु तथा शत्रुको हितचिन्तक मानना 'विपरीत कुमति' कहलाता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वकता ज्ञाननिधि कथा रामकै गूढ़', अतएव एक चौपाईके द्वारा अपना हार्दिक सम्मान प्रकटकर ही दिया यथा—

बुध पुरान श्रुति सम्मत बानी। कही बिभीषण नीति बखानी॥

श्रीविभीषणजीके पुनः प्रार्थना करनेपर रावण क्रोधित हो उठा और अनेक दुर्वचन कहते हुए उसने उनपर पद-प्रहार किया और बोला—

'ममपुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।

सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥'

तथापि विभीषणजीने बारम्बार उसके चरण पकड़कर विनय किया कि 'आप मेरे पिताके तुल्य हैं, मुझे आपने यदि मारा तो अच्छा ही किया, परन्तु आपका कल्याण श्रीरामके भजनसे ही होगा।' अहा! सन्तोंका यही बड़प्पन है! धन्य!

उमा सन्तकै इहै बड़ाई। मन्द करत जो करैं भलाई॥

यहाँ एक बात विचारने योग्य है कि सीताको देनेकी बात कहनेपर रावण बिगड़ा तो सब पर है, इसी कारण शुक-सारनके ऊपर भी पद-प्रहार किया था। परन्तु 'सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती' ऐसा केवल विभीषणको ही कहा है। इसका रहस्य यह है कि विभीषणके विषयमें रावणकी यह विपरीत धारणा हो गयी थी कि इनकी बतायी हुई नीति, यह जिसे बताते हैं उसीको खाती है, क्योंकि हनूमान्को उसने विभीषणकी सम्मतिसे ही वध नहीं किया था, जिसका परिणाम यह हुआ था कि उसका सारा नगर हनूमान्ने जलाकर खाक कर डाला। अतः उसने यह समझकर श्रीरामसे जा मिलनेके लिये कहा कि जब यह रामसे मिलेंगे तो इन्हें भेदिया समझ वह इनकी राय लेंगे और इनकी रायपर चलनेके फलस्वरूप उनकी हानि हुआ करेगी। परन्तु श्रीविभीषणजीको 'ममपुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती' यह वचन सहन नहीं हो सके, क्योंकि भक्तको अपना अपमान तो सहन हो सकता है पर अपने इष्टके प्रति कहे हुए अपमान-वचन उनके मर्मको बेध डालते हैं। 'ममपुर'से उसने अपनेको सम्राट् और विभीषणको अपने राज्यमें बसनेवाली साधारण प्रजा सूचित किया, एवं 'तपसिन्ह' शब्दसे श्रीराम-लक्ष्मणको गृहादिसे हीन, अनिकेत बतलाकर यह सूचित किया कि तू भी बिना घर-द्वारका बन जा। इसलिये विभीषणजीके अन्तःकरणमें यह स्फुरणा हुई कि 'देखें यह पुर अब वास्तवमें किसका ठहरता है। जिस प्रभुका समस्त जगत् है उसे गृहहीन बताना और अपनेको राजा मानना बड़े अभिमानकी बात है यदि भगवान्की विभूति सत्य है तो निश्चय है कि भगवान्का दास इस प्रसादका अधिकारी बनेगा।' इसी वासनाके अनुसार विभीषण 'सचिव संग लै नभपथ गयऊ' अन्यथा भगवान्की शरणमें जानेके समय सचिवको साथ लेनेकी क्या आवश्यकता थी? इसी अभिप्रायको आगे चलकर गोसाईंजीने व्यक्त कर दिया है—

उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥

यद्यपि 'उर वासना' का निराकरण भी श्रीरघुनाथजीकी सन्निधि प्राप्त होते ही हो गया और 'यदपि सखा इच्छा तोहि नाहीं' इस वचनसे भगवान्ने उसे स्वीकृत भी कर लिया, तथापि श्रीभगवान्ने, 'मोर दरस अमोघ जगमाहीं'— 'अस कहि राम तिलक तेहि सारा'।—इसप्रकार उस पुरको अपने दासका बनाकर ही छोड़ा और रावणके 'ममपुरको' असिद्ध कर दिया। यह प्रकरण बड़े ही सँभारका है—

जे गावहिं यह चरित सँभारे। ते यहि ताल चतुर रखवारे॥

सच्चे और शुद्ध भक्त निष्काम होते हैं। यदि विभीषणको यहाँ अर्थार्थी कहें तो युक्त न होगा क्योंकि उन्होंने पहले ब्रह्मासे 'निर्मल भक्ति'का वरदान माँगा था। 'तेइ माँगेउ भगवन्त-पद-कमल अमल अनुराग' यदि राज्यकी इच्छा होती तो उसी समय वे क्यों न माँग लेते? 'अमल अनुराग'से तो निष्काम भक्तिका ही बोध होता है। फिर हनूमान्जीके मिलन-प्रसंगमें भी इनकी शुद्ध साधुता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त रावणके द्वारा बार-बार तिरस्कृत हो उसे ऐसी शिक्षा देने कि,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बार बार पग लागौं, बिनय करौं दससीस।
परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस॥

—आदिसे भी विभीषणकी यह साधुवृत्ति स्पष्ट हो जाती है कि रावण भी भगवद्भक्त हो जाय, जिससे इसका नाश न हो। रामगीतावलीमें इस प्रसंगको दिखलाते हुए गोसाईंजी कहते हैं—

'सब भाँति विभीषनकी बनी॥
हिय कछु और, और कीन्हीं विधि राम कृपा औरै ठनी॥'

हृदयमें तो उनके था कि रावण राम-शरण होकर सुधर जाय और इसका राज्य-वैभव भी ऐसा ही बना रहे। परन्तु विधिने विभीषणको ही घरसे निकलवा दिया तथा श्रीरामकी कृपासे और ही बात हो गयी अर्थात् विभीषण ही लङ्केश बन गये। अतः मानना पड़ेगा कि इस प्रसंगके पूर्व विभीषणको राज्य-वासना नहीं थी। पहलेकी राज्यवासना मानेंगे तो रावणको दी हुई विभीषणकी शिक्षा असत्य और दम्भपूर्ण माननी होगी, जो विभीषण-जैसे साधुके लिये सर्वथा असम्भव है। फिर यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब विभीषणकी पहलेसे राज्य-वासना नहीं थी, और उपर्युक्त प्रसंगमें कारणवश कुछ हो गयी थी, वह भी राम-दर्शनसे नष्ट हो गयी थी, तब भगवान्ने उन्हें राज्य क्यों दिया? उत्तर यह है कि, प्रथम तो भगवान्की बान ही है कि वे अपने भक्तोंकी स्वप्नमें भी उठी हुई इच्छाको पूरा किये बिना नहीं रहते, दूसरे मानसिक भावसे विभीषणको राज्य तो उसी समय दे चुके थे जिस समय लंकामें रावणके 'ममपुर' कहनेपर उनके हृदयमें राज्य-वासनाकी किञ्चित् वासना हुई थी। श्रीभगवान्के दरबारमें ऐसे अवसरोंपर विलम्ब कैसे हो सकता है? तभी तो श्रीरामजीने आते ही उन्हें 'लंकेश' कहकर सम्बोधन किया—

कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥

विभीषणको मन, काय और वचन तीनोंसे भगवान्ने राज्य प्रदान किया, क्योंकि वह भी तो मन, काय और वचन तीनोंसे सच्चे शरणागत हैं, मानसिकका उदाहरण तो ऊपर दिया ही गया है; कायिकका मिलनेके समय—

'माँगा तुरत सिन्धुकर नीरा॥' और
'अस कहि राम तिलक तेहि सारा।'

आदिसे भगवान् श्रीकरकमलोंसे ही राज्य-तिलक देते हैं और वाचिक लंकापर विजय प्राप्त करनेके बाद—'आपु सरिस कपि अनुज पठावों'। तथा 'सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा।' इसप्रकार सिद्ध हुआ। 'सचिव संग लै' इस पदका अभिप्राय तो कहा गया, अब 'नभ पथ गयउ' का आशय समझना चाहिये। इससे ग्रन्थकारके तीन आशय जान पड़ते हैं। प्रथम तो है रावणके 'ममपुर' को असिद्ध करनेकी आन्तरिक प्रतिज्ञा, और दूसरी ऊँचे जाकर यह घोषित करना कि—

राम सत्यसङ्कल्प प्रभु सभा कालबस तोरि।
मैं रघुवीर-सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥

और तीसरा-रामगीतावलीके उस प्रसंगद्वारा प्रकट होता है, जब लङ्कासे जाते समय विभीषणकी माताने शिक्षा देते हुए कहा है कि—'रामसरण जाइये पै मिलिकै कुबेरै'—इसका तात्पर्य यह था कि सर्व सम्पत्तिके दाता होनेके कारण शिवजी सदा कुबेरके यहाँ आते जाते ही रहते हैं 'जात रहेउँ कुबेर गृह उमा रहिउ कैलास' अतः वहाँ श्रीशिवजीसे भेंट होनेपर वे विभीषणकी राम-भक्तिको और भी दृढ़ कर देंगे। हुआ भी वही, कुबेरके यहाँ श्रीशिवजी मिले और विभीषणको उन्होंने अनुमति दी कि 'राम सरन जाइबेमें सुदिन न हेरिये'—इसप्रकार नभ-पथ जानेसे विभीषणके अनेक कार्य सिद्ध हुए। उधर साधु विभीषणकी अवज्ञासे रावणके अखिल कल्याणकी हानि हो गयी और उनके विदा होते ही सब राक्षस आयुहीन हो गये, और इधर—

चल्यो हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मनमाहीं॥
देखिहौं जाइ चरन-जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जे पद परसि तरी ऋषि नारी। दंडककानन पावनकारी ॥
जे पद जनकसुता उर लाए। कपट कुरंग संग धरि धाए ॥
हर उर सरसरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहौं तेई ॥

जिन्ह पायन्हकी पादुकन्हि भरत रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहौं इन नयनन्हि अब जाइ ॥

श्रीविभीषणजी प्रभुके चरण-कमलोंके देखनेकी मनोकामना होते समय छः भक्तोंका स्मरण करते हैं—अहल्या, दण्डकवन, श्रीजानकीजी, मारीच, भगवान् शिवजी तथा श्रीभरतलालजी। इन छःमेंसे अहल्या, दण्डक और मारीच ये तीन शापित तथा निम्न कोटिके हैं और श्रीसीताजी, श्रीशिवजी, श्रीभरतजी ये तीन पूजित तथा उच्च कोटिके हैं। जो निम्न कोटिके हैं उन्हें भगवान्‌के चरणोंके दर्शन चर्म-चक्षुओंसे प्रत्यक्ष हुए हैं—'यहि दरबार दीनकर आदर रीति सदा चलि आई।' तथा तीन उच्च कोटिके भक्तोंको भगवान् हृदयके नेत्रोंसे प्राप्त हैं अर्थात् ध्यानसे ही श्रीराम उन्हें मिल रहे हैं, क्योंकि "जनकसुता 'उर' लाए," "हर 'उर' सरोज," एवं "भरत रहे 'मन' लाइ" पदोंमें 'उर' और 'मन' शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। श्रीविभीषणजी विचारते हैं कि—'अतएव मैं भी नीच कोटिका होनेके कारण, 'वे पद आजु बिलोकिहौं इन नयनन्हि अब जाइ'— इन नेत्रोंसे (अंगुलि-निर्देश है) ही भगवान्‌के श्रीचरणोंका दर्शन करूँगा।' यहाँ शरणागतिके छः विधान होनेके कारण ही छः भक्तोंका निर्देश हुआ है, यथा—

'आनुकूलस्य सङ्कल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षस्यातीतविश्वासो गोप्तृत्ववर्णनं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ॥'

अतएव अहल्याकी भाँति सर्वसङ्कल्पशून्यसे 'अनुकूल सङ्कल्प,' दण्डककी भाँति प्रतिकूलसे हानिकी शिक्षासे 'प्रतिकूल-वर्जन,' श्रीजनकसुताकी भाँति 'रक्षाका अत्यन्त विश्वास,' मारीचकी भाँति 'ते नररूप चराचर ईशा' से 'गोप्तृत्व वर्णन,' श्रीशिव भगवान्‌की भाँति 'आत्म-समर्पण,' और श्रीभरतकी भाँति कार्पण्यताकी दृढ़ता की गयी।

अहल्याके प्रथम स्मरणसे विभीषणके हृदयकी तत्कालीन सर्वोपाय-शून्यता तथा सब प्रकारकी दीनता, हीनता एवं जड़बुद्धिकी भावना प्रकट होती है। अहल्याकी शापावस्थासे उन्हें अपने विप्रशापका स्मरण हो आता है, जिससे अपनेको भी निश्चित अघ-स्वरूप समझ उनके हृदयमें आशाका सञ्चार होता है कि जिसप्रकार भगवान्‌ने निर्हेतु कृपाकर स्वयं जाकर अहल्याका उद्धार किया था वैसे ही आज प्रभु यहाँ मेरा उद्धार करनेके लिये स्वयं पधारे हैं। इसीप्रकार शेष पाँच भक्तोंके स्मरणके तद्वत् ही भाव उनके हृदयमें उठते हैं, जिनका वर्णन करनेसे लेख बहुत बढ़ जायगा। इस स्थलपर सम्मान्य ग्रन्थकारके रचनापर मन न्यौछावर हो जाता है। उन्होंने तीन निम्न कोटि और तीन उच्च कोटिके जोड़े किस खूबीके साथ मिलाये हैं। निम्न कोटिके—शापग्रस्त हुए अहल्या और दण्डकके जोड़ेको आदिमें रक्खा। उच्च कोटिके-श्रीशिव और भरतके जोड़ेको अन्तमें रक्खा; अब बचा एक जोड़ा, जिसमें एक परम उच्चकोटिकी श्रीसीताजी और दूसरा नीच कोटिका मारीच। इस जोड़ेको बीचमें रख दोनोंके बीचमें 'कपट' शब्द रख ऐसी योजना कर दी कि जिससे यह भेद खुल गया कि न तो असली जानकीजी हैं—'निज प्रतिबिम्ब राखि तहँ सीता,' और न असली मारीच ही है—'भयउ कपट मृग तेहि छलकारी—' बस, केवल कपटकी क्रीड़ा है!

पश्चात्—

हर उर सरसरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहौं तेई ॥

इस 'अहोभाग्य' से उनके हृदयका आह्लाद स्पष्ट है, तथा 'जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नहीं अघाय'—उन्हीं श्रीचरणकमलोंको आज मैं इन नयनोंसे देखूँगा—

अहोभाग्य मम अमित अति राम कृपा सुखपुंज।
देखेउँ नयन बिरंचि-सिव-सेव्य युगल पद-कंज ॥

यहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आयउ सपदि सिन्धु यहि पारा ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीसुग्रीवजीको कपियोंने विभीषणके आगमनकी सूचना दी और उन्होंने श्रीरघुनाथजीसे निवेदन किया कि–'आवा मिलन दसानन भाई।' पश्चात् प्रभुने उनके आगमनके अभिप्रायको जाननेके लिये सुग्रीवसे सम्मति माँगी तो सुग्रीवने कहा—

भेद हमार लेन सठ आवा। राखिय बाँधि मोहिं अस भावा॥

परन्तु श्रीकृपालु रामने उत्तर दिया कि, जब मिलने आया है तो—

मम पन सरनागत भयहारी॥
कोटि विप्र बध लागै जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू॥
सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासौं तबहीं॥

यह तो मेरा प्रण है। और यदि यह कहो कि वह शरण नहीं आया है भेद लेने आया है, तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि—

पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥
जो पै दुष्ट-हृदय सो होई। मोरे सन्मुख आव कि सोई॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

पापी और कलुषित हृदय तो मेरे शरणमें आ ही नहीं सकता और मैं भी छल-कपटसे हीन निर्मल मनवालेको ही प्राप्त होता हूँ। तथापि यदि यह भेद ही लेने आया है तो भी कोई हानि नहीं, क्योंकि रावण मेरा वास्तविक भेद नहीं जानता इसीसे तो यह रणलीला हो रही है, वह यदि इस भेदको जान जायगा तो अच्छी ही बात है।

जो सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रानकी नाई॥
उभय भाँति तेहि आनहु हँसि कह कृपा निकेत।
जय कृपालु कहि कपि चले अंगद 'हनू' समेत॥

यहाँ अंगद और हनू (मान रहित हनूमान) को गौणरूपसे कहकर मुख्यतः कपि शब्दसे सुग्रीवका तात्पर्य है, अतः ये तीनों स्वागतपूर्वक श्रीविभीषणजीको लाये और विभीषणजी—

दूरहि ते देखे दोउ भ्राता। नयनानन्द दानके दाता॥

शरण्यकी कृपामयी चितवनि पहले शरणागतके नेत्रोंको अपना अनुकूल भाव जता कर जो परम सन्तुष्टि प्रदान करती है वहीं 'नयनानन्द-दान' है! छबिधाम श्रीरामजीकी मनोहर मूर्तिका दर्शन कर पहले तो विभीषणजी ठिठुक गये और लगे एकटक निहारने, फिर मनमें धीर धर, सजल नेत्र और रोमाञ्च हो मृदु वचन बोले। यहाँ भी विभीषणजीके 'नयन नीर पुलकित अति गाता' से काय, 'मन धरि धीर' से मन और 'कही मृदु बाता' से वचन ये तीनों ही श्रीराममें लय हुए हैं। विभीषण कहते हैं—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥

और विनय करने लगे 'हे नाथ, यद्यपि किसी प्रकार भी मैं आपके ग्रहण करने योग्य नहीं हूँ क्योंकि मैं आपके शत्रु दशाननका भाई हूँ और आप सुरत्राता, अर्थात् असुरारि हैं! निसिचर वंशमें मेरा जन्म हुआ है। आप निर्मल जनोंको प्राप्त होते हैं और मेरा तमोगुणी शरीर स्वभावसे ही पाप प्रिय है, तथापि—

स्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरत हरन सरन सुखद रघुवीर॥

कानोंसे श्रीकृपालुका यह सुयश सुनकर कि प्रभु भवभीरके भंजन करनेवाले हैं आरतिको हरनेवाले तथा शरणागतको सुख देनेवाले एवं रघुवीर अर्थात् दया आदि पञ्चवीरतासे युक्त हैं। श्रीहनुमानजीसे भी मैं सुन चुका हूँ कि—

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुवीर।
कीन्ही कृपा सुमिर गुण भरे विलोचन नीर॥

—अतः शरणमें आया हूँ, अब मुझे बचाइये बचाइये! ऐसा कह कर विभीषणजी साष्टाङ्ग गिर पड़े। ऐसे दीन वचन सुनते ही श्रीराम उठकर अति हर्षसे दोनों भुजाओंसे उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और लक्ष्मणके सहित भेंटकर निकट बैठा लिया तथा 'लङ्केश' कह कर उनसे कुशल पूछने लगे और कहने लगे कि 'हे विभीषण मैं तुम्हारे स्वभावको जानता हूँ, तुम नीतिमें अति निपुण हो तुमको अनीति अच्छी नहीं लगती'—इसप्रकार श्रीरामने श्रीहनुमानजीकी सहायताका कृतोपकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगट किया। विभीषणने उत्तरमें निवेदन किया कि—हे नाथ, जबतक इन शोकधाम कामनाओंको छोड़कर यह जीव श्रीचरणोंका भजन नहीं करता तबतक उसे कुशल कहाँ? अब मुझे श्रीचरणोंका जब दर्शन प्राप्त हो गया तो सब कुशल ही कुशल है; जब अनुकूल होकर श्रीकृपालु हृदयमें बसते हैं तभी मोह-मत्सरादि दूर हो जाते हैं और त्रिविध तापोंसे त्राण मिल जाता है। जिसका ध्यान मुनियों-को भी दुर्लभ है उस प्रभुने हर्षित हो मुझ जैसे अधम स्वभाव निशिचरको भी हृदयसे लगा लिया। आज मुझसा बड़भागी कौन है? श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे कहा—

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरजाऊ॥
जो नर होइ चराचर-द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना॥

'हे सखा, सुनो, मैं अपना स्वभाव कहता हूँ। भुसुंडि, श्रीशिव तथा गिरजा भी इस स्वभावको जानती हैं। जो सारे चराचरका द्रोही भी हो चुका हो, वह भी यदि मद-मोह और छल-कपट छोड़कर भयभीत हो मेरी शरण आता है तो उसे मैं शीघ्र ही साधुके समान पद प्रदान करता हूँ अर्थात् जिस पदको साधु लोग अमित साधनद्वारा सम्पादन करते हैं वही पद मैं उसी क्षण केवल सच्चे शरणागतके नातेही उसे प्रदान कर देता हूँ उसके पूर्वकृत पापोंका कोई भी विचार नहीं करता।'

भगवान् श्रीरामके स्वभावको जाननेवालोंमें श्रीभुसुण्डिका प्रमाण तो स्वतः उनके ही वचन हैं—

अस सुभाव केहि सुनौं न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं॥

शिवजीने भी श्रीरामके स्वभावके विषयमें ऐसा कहा है—

उमा राम-सुभाउ जिन जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

और गिरिजाके विषयमें तो आख्यायिका प्रसिद्ध है कि वह सती शरीरमें किस प्रकार सीताका वेष धारणकर भगवान्‌की परीक्षा करनेगयी थीं। परन्तु प्रभुने उन्हें कृपाकर अपने स्वरूपका बोध कराया था और त्रिपाद विभूतिके वैभवका दर्शन कराया था। एक बार आर्त होकर श्रीसतीने प्रपत्ति लेकर कहा था—

जो प्रभु दीन दयाल कहावा। आरत हरन वेद जस गावा॥
तौ मैं विनय करौं कर जोरी। छूटै बेगि देह यह मोरी॥

जिससे प्रभुने शीघ्र ही दक्ष-यज्ञमें देहत्यागका योग उपस्थित कर दिया और पीछे हिमाचलके यहाँ उनका जन्म देकर पूर्वके समस्त असूयादिको भुलाकर उलटे स्वयं जाकर शिव भगवान्से—

अति पुनीत गिरजाकी करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥
अब विनती मम सुनुहु सिव जो मोपर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोंहि माँगे देहु॥

इस प्रकार विनती करके और जिस भक्तिमें त्रुटि आनेके डरसे सतीका त्याग किया था उसी भक्तिको न्यौछावर करके कहा कि 'मैं अपनेमें स्नेह तब समझूँगा, जब आप पार्वतीसे विवाह करेंगे।' यों प्रेरणा करके गिरजाको पुनः शिवकी शिवा बना दिया। अतः गिरजाको भी भगवान्‌का स्वभाव मालूम है।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥
सबकी ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बटि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष शोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे॥
तुम सारिखे सन्त प्रिय मोरे।
धरौं देह नहिं आन निहोरे॥
सगुन उपासक परम हित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्हके द्विज पद प्रेम॥

फिर श्रीभगवान् कहने लगे—

'इस प्रकारके गुणोंवाला आप-सरीखा प्रेमी मुझे प्राणसम प्रिय हैं। हे लंकेश! आपमें उपर्युक्त सभी गुण एकत्र हैं, अतः आप मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायुध अंकितसे 'सगुण उपासना', रावणादिको हितशिक्षा देनेसे 'परम हितैषिता', 'नीति विरोध न मारिय दूता' से 'दृढ़नेम', 'विप्र रूप धरि वचन सुनावा। सुनत विभीषण उठि तहँ आवा' से 'द्विजपद प्रेम' आदिका स्पष्ट प्रमाण भगवान्‌को मिल ही चुका था।

अब इस प्रकरणको गीतावलीके इसी प्रसंगके एक भजनको देकर समाप्त किया जाता है। वस्तुतः प्रपत्तिका रहस्य या तो प्रपन्न जानता है या शरण्य, इसकी व्याख्या करना हम जैसोंके लिये तो वैसा ही है जैसा—

'होंहि अगम जिमि ब्रह्मसुख अहमम मलिन जनेषु ॥'

ऐसा समझकर ढिठाई क्षमा होगी कि—

निज गिरा पावन करन कारन रामयस तुलसी कह्यो !

सत्य कहौं मेरो सहज सुभाव ॥

सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुमसन कौन दुराव।
सबबिधि हीन दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाँव।
आये सरन तजौं न भजौं तेहि यह जानत ऋपिराव॥
जाके हौं हित सब प्रकार चित नाहिं न आन उपाव।
तिनहिं लागि धरि देह करौं सब डरौं न सुजस नसाव॥
पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं सकल सभा पतियाव।
नाहिन प्रिय कोउ मोहिं दास सम कपट प्रीति नहिं जाव॥
सुनि रघुपतिके वचन विभीषन प्रेम मगन चित चाव।
तुलसिदास तजि आस त्रास सब ऐसे प्रभु कहँ गाव॥

रावण क्रोधानल सरिस स्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषन राखेउ दीन्हे राज अखंड॥

जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दसमाथ।
सोइ संपदा विभीषनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥

रामायणमें अध्यात्मवाद

(लेखक—पं० गोपालप्रसादजी शर्मा)

राम शब्दसे अद्वैत परमात्मा ही समझे जायँगे, क्योंकि शास्त्रोंमें सबमें रमण करनेवालेको ही राम कहा है।

प्रणवका अकार जाग्रताभिमानी लक्ष्मण, उकार स्वप्नाभिमानी शत्रुघ्न और मकार सुषुप्ताभिमानी भरत हैं। राम ब्रह्मानन्दस्वरूप अर्धमात्रात्मक और रामके सान्निध्यके कारण जगत्‌की आनन्ददायिनी एवं सर्व प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति, लयकी कारणीभूत सीताको मूल प्रकृतिरूपा जानना चाहिये। वही बिन्दु है। जब सीता प्रणवके साथ अभेदको प्राप्त होती हैं तब ब्रह्मवादी उन्हें प्रकृति कहते हैं।

वेदमें जो योगयज्ञ कहे गये हैं, वे ही रामायणमें काव्यरूपसे कहे गये हैं। योगीकी चित्तावस्था ही दैत्य दानव और राक्षस पिशाच हैं। योगशास्त्रमें देखिये? राक्षस-पिशाच कैसे वर्णन किये गये हैं।

अन्तःकरणको चित्त कहते हैं। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध-भेदसे चित्तकी पाँच अवस्थाएँ हैं। रजोगुणके उद्रेक होनेपर जिस अवस्थामें चित्त स्थिर होकर सुख-दुःखादिजनक विषयमें प्रवृत्त होता है उस अवस्थाको क्षिप्तावस्था कहते हैं। यही दैत्य-दानवकी अवस्था है। जिस अवस्थामें तमोगुणके बढ़ जानेसे चित्त कर्तव्याकर्तव्य-विमूढ़ होकर क्रोधादिके वस सर्वदा विरुद्ध कार्यमें प्रवृत्त होता है, उसे मूढ़ावस्था कहते हैं। यही मूढ़ावस्था राक्षस-पिशाचकी अवस्था है। सत्त्वगुणके उद्रेक होनेपर चित्त दुःखकर विषयसे निवृत्त होकर सदा सुखसाधनमें प्रवृत्त होता है। इस समय चित्तमें विक्षिप्तावस्था जन्मती है। यही अवस्था देवताओंकी अवस्था है। सत्त्वगुणसे विशुद्ध होनेपर चित्तमें एकाग्रता और निरुद्धावस्था उत्पन्न होती है।

जान पड़ता है इसी राक्षस, पिशाच-अर्थसे हमारे शास्त्रोंमें राक्षस और पैशाचिक विवाह शब्द भी व्यवहृत हुआ है।

सुतरां प्रतीत होता है कि जबतक इन्द्रियाँ शासित न होंगी, तबतक तमोगुणका प्राधान्य रहेगा। उस समय दशेन्द्रिय दशानन (रावण) राक्षस है। इन्द्रिय-लालसा सर्वग्रासी राक्षस-सदृश होती है। वही राक्षस प्रकृतिरूपिणी सीताको देवताकी गोदसे हरण करता है। उसी देवत्वमें उनको प्रतिष्ठित करना यही रामायण और योग है। परमात्मरूपी जीव जब राक्षसपर विजय कर लेता है तब रामके साथ सीताका मिलन होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो बहिनोंकी बातचीत

(लेखिका—बहिन जयदेवीजी)

एक दिन दो बहनोंमें इसप्रकार बातचीत हुईः-

एक-हे बहिन ! हम तुम दोनोंने एक ही साथ पाठशालामें शिक्षा पायी, साथ ही हम दोनोंके विवाह हुए। हमारे भाग्यमें सांसारिक सुख नहीं था, परतन्त्र होकर फिर साथ ही हम दोनों स्वतन्त्र—स्वच्छन्द हो गयीं ! बहिन ! इसके बाद तू तो घरमें ही पड़ी सड़ती रही और देवरानी जेठानियोंकी खुशामदमें, उनके लड़के-बाले खिलानेमें और चौका बर्तन करनेमें लगी रही ! पर मैं सत्यकी खोजमें इधर उधर घूमने लगी, बहुत-से साधु-महात्माओंके पास गयी, पर कहीं कुछ सार नहीं पाया, जिसको देखा, स्वार्थी और आलसी देखा। बहुत-सी बहिनोंके पास गयी, उनको भी घरके काम-काजमें लगे हुए और घरवालोंकी ही चाकरी करते हुए पाया। बहुत-सी तो कुपढ़ मिलीं, कोई-कोई पढ़ी-लिखी मिलीं, तो रामायण अथवा गीताका पाठ करती मिलीं अथवा विष्णुसहस्रनामका ही पाठ करती देखनेमें आयीं, सारांश यह कि सबको बन्धनमें पड़े पाया, किसीको स्वतन्त्र होकर परोपकार करनेमें रत नहीं देखा ! हे बहिन ! अँधेरेमें पड़ी हुई इन बहिनोंका सुधार करना हमारा कर्तव्य है, इसलिये मुझको और तुझको मिलकर भारतवासिनी सब बहिनोंको जगाना और अन्य देशोंके समान स्वतन्त्रताका पाठ पढ़ाना चाहिये ! आशा है कि तू मेरे प्रस्तावको स्वीकार कर मेरे साथ साथ सब बहिनोंके उद्धार करनेका बीड़ा उठा लेगी ! परोपकार ही मुख्य है ! चहारदीवारीके भीतर बन्द पड़ी हुई बहिनोंको देखकर मुझे दया आती है, तू भी सबकी दुर्दशा देखकर मेरे समान करुणा करती होगी ! आजकल परोपकार करनेका अवसर है, अन्य बहुत-सी बहिनें भी तन-मन-धनसे यही काम कर रही हैं, बोल ! बहिन ! क्या तू भी तैयार है ?

दूसरी—बहिन ! परोपकारके समान उत्तम वस्तु संसारमें अन्य कोई भी नहीं है, फिर मैं परोपकार-सा, उत्तम कार्य करनेके लिये तैयार क्यों नहीं हूँ ? अवश्य तैयार हूँ, परन्तु बड़े आश्चर्यकी बात यह है जो तू कहती है कि साधु-महात्माओंमें भी कुछ भी सार न पाया, सबको आलसी देखा ! भला ! तेरी यह बात मेरी समझमें कैसे आ सकती है ? विवाह नहीं किया तो न सही, बरातें तो बहुत-सी देखी हैं ! इस कहावतके अनुसार, बहिन ! मैं तेरे समान बाहर तो नहीं घूमती फिरी, फिर भी साधु-सन्तोंके मुझे घरपर ही दर्शन हुए हैं, सच्चे साधुओंकी रहन-सहन मुझे मालूम है, वे स्वार्थी और आलसी नहीं होते, प्रत्युत परम पुरुषार्थी और परोपकारी होते हैं, संसारी विषयासक्त मनुष्य उनको पहचान ही नहीं सकते ! भला ! जो संसारके कीचड़में फँसे हुए हैं, केवल विषय-भोगको ही परम पुरुषार्थ समझे हुए हैं, वे परमार्थी साधुओंको कैसे पहचान सकते हैं ?

तुझे रामायण, गीता, विष्णुसहस्रनाम पढ़नेवाली बहिनें अँधेरेमें पड़ी दिखायी दीं, यह भी बड़े आश्चर्यकी बात है ! रामायण, गीता तो सूर्यके समान प्रकाशरूप हैं, सत्य-असत्यका निर्णय करनेवाले ग्रन्थरत्न हैं, उनको पढ़नेवाली अँधेरेमें कैसे रह सकती हैं ? विष्णुसहस्रनामके पाठसे जन्म-जन्मान्तरके पाप धुल जाते हैं और पाठ करनेवाला दूरदर्शी हो जाता है। तुझे विष्णुसहस्रनामकी पाठिकाएँ तो कुछ जँची ही नहीं ! इससे तो सिद्ध होता है, तू ही अँधेरेमें है और आश्चर्य तो सबसे बड़ा यही है कि तू स्वयं अंधेरेमें होकर भी दूसरोंको प्रकाशमें लाना चाहती है ! भला, सोता हुआ मनुष्य दूसरे सोते हुएको कैसे जगा सकता है ? संसारमें कोई स्वतन्त्र नहीं है। संसारको परमेश्वरने परतन्त्र बनाया है। स्वतन्त्र तो एक परमेश्वर ही है। हाँ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमेश्वरकी भक्ति करनेवाले परमेश्वरको प्राप्त होकर स्वतन्त्र हो सकते हैं,इसके सिवा सच्ची स्वतन्त्रताका कोई अन्य उपाय नहीं है। जब बड़े-बड़े योगी एकान्तमें ईश्वरका भजन करते हैं, तो मेरी समझमें चहारदीवारीके भीतर जैसा भजन हो सकता है, वैसा बाहर घूमकर नहीं हो सकता। ईश्वर-प्राप्तिके सिवा स्त्रीको स्वतन्त्र होनेके लिये कोई भी शास्त्र नहीं कहता। विशेष करके स्वच्छन्द बहिनें प्रायः सदाचारिणी देखनेमें नहीं आतीं।

हे बहिन! कुछ दिन घरमें रहनेके बाद वृद्ध पुरुषोंकी आज्ञा लेकर मैं भी एकबार सत्यकी खोजमें इधर उधर भटकती रही। एक दिन मैंने एक सन्तसे स्त्रीके धर्म पूछे,तो वे इसप्रकार कहने लगे—

सन्त–हे कल्याणी! सोलह वर्षतक स्त्री बाला कहलाती है, तीस वर्षकी तरुणी कहलाती है, पचपन वर्षकी स्त्री प्रौढ़ा कही जाती है और पश्चात् वृद्धा कहलाती है। शास्त्रका वचन है कि लड़कपनमें पिता कन्याकी रक्षा करे, यौवनमें स्त्रीका पति पालन-पोषण करे, वृद्धा स्त्रीकी पुत्र रक्षा करे और अनाथ स्त्रीकी जातिवाले रक्षा करें! पतिव्रता शुद्धा स्त्री प्रातःकाल उठकर देवरूप पतिको नमस्कार करके आँगनमें गौके गोबरसे मण्डल यानी चौका देवे। सती गृहकृत्य और स्नान करके घरमें आकर देवता, विप्र और पतिको नमस्कार कर गृहदेव सास श्वसुरादिका पूजन करे! गृहकृत्यको समाप्त करके पतिको भोजन कराके, अतिथिका पूजन करनेके बाद सती स्वयं सुखपूर्वक भोजन करती है। हे कल्याणी! एक शिष्टाचारिणी माताने पतिके साथ जानेवाली अपनी कन्याको इसप्रकार शिक्षा दी थी–

'हे पुत्री! स्त्रियोंका व्रत पतिसेवा है, पतिसेवा परमधर्म है,पतिसेवा परम तप है और पतिसेवा ही देवताओंका पूजन है। स्वामी सर्व देवमय है। पति परम पवित्र है, पति सर्व पुण्यस्वरूप है और पति जनार्दनरूप है, जो स्त्री पतिका पूजन करती है, वह श्रीकृष्णका पूजन करती है, जो सती भर्ताका उच्छिष्ट भोजन करती है और पादोदक पीती है, उसके दर्शनकी नित्य देवता वाञ्छा करते हैं। हे पुत्री! हँसीमें, कोपसे, भ्रमसे अथवा अवज्ञासे स्वामीको साक्षात् अथवा परोक्षमें भी कभी कटु वचन कहना उचित नहीं है। जिसका पतिमें प्रेम नहीं है, उस स्त्रीका जन्म निरर्थक है। जो पतिके प्रेमसे हीन है, उसके पुत्र, धन, रूप, सम्पत्ति और यौवन निरर्थक हैं। पति-भक्तिसे हीन स्त्रीके व्रत, उपवास, दान, सत्य, पुण्य और चिरकालका तप भस्मीभूत हो जाता है। कुत्सित, पतित, मूढ़, दरिद्री, रोगी, जड़ कान्तको भी कुलीन स्त्री सर्वदा विष्णुके समान देखती है। पुत्र, पिता, बान्धव, सहोदर ये सब कुलवती स्त्रियोंको स्वामीके समान नहीं होते। स्त्रियोंको सास-श्वसुरका पादवंदन, सेवन, नित्य यथोक्त विधिसे करना चाहिये और परिवारके जनोंका भी प्रेमपूर्वक सरल चित्तसे सर्वदा सेवन करना उचित है। चञ्चल स्त्री कुलका नाश करनेवाली होती है, जिस स्त्रीका स्वभाव सरल होता है; चक्षु और देह नित्य नियममें रहते हैं, एवं जो स्त्री शौचाचारसे युक्त होती है, वह मृत्युको नहीं देखती,यानी जन्म-मरणसे मुक्त हो जाती है। हे श्रेयभाषिणी, ये सधवा स्त्रियोंके धर्म कहे, अब विधवा स्त्रियोंके धर्म कहता हूँ, सुन—मैं जानता हूँ, तू विधवा है और अपना कर्तव्य जानना चाहती है।

हे सत्याकांक्षिणी! एक अद्वितीय महादेव ही नित्य है, परिपूर्ण सर्वत्र विराजमान है, विश्वकी उत्पत्ति,स्थिति और प्रलयमें वही एक सर्वदा समान रहता है, वही सबका पिता है, वही सबका स्वामी है, वही पूजने योग्य है और वही नित्य है, उसके सिवा समस्त विश्व नश्वर है!

विषय-भोग आने-जानेवाले हैं, प्रारब्धवश आते हैं और चले जाते हैं, ये शीतोष्ण सुख-दुःखके देनेवाले हैं,और अनित्य हैं,विवेकी पुरुष इनकी वाञ्छा नहीं करते, कर्मवश जो कुछ प्राप्त होता है, उसीमें सन्तुष्ट रहकर अन्तर्यामी परमेश्वरकी आराधना करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिये विधवाओंको विषय-भोगोंसे यानी अच्छे भोजनसे, सुन्दर वस्त्रोंसे, देहके श्रृङ्गारोंसे मुख मोड़कर सदा-सर्वदा जगत्पति सबके स्वामी परमात्माके भजनमें लगना चाहिये। जो कुछ यती—संन्यासियोंके लिये नियम हैं,वे ही विधवाके लिये हैं। विधवा स्त्रीको एकान्तमें बैठकर, देह-सुखको त्यागकर,भोगोंकी कामनासे मुक्त होकर शुद्ध मनसे परमेश्वरके नामका जप और परमेश्वरके सगुण अथवा निर्गुण रूपका योग्यतानुसार ध्यान करना चाहिये। केवल शरीर-रक्षाके लिये एक वार मात्र भोजन करना चाहिये। पृथिवीपर सोना चाहिये, न नेत्र-चपल और न वाक्-चपल होना चाहिये, सर्वदा संयमी होकर शिष्टाचारका पालन करना चाहिये। वृथा बोलनेसे जिह्वा जलती है, दान लेनेसे हाथ जलते हैं और कामनासे मन जलता है इसलिये इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। लज्जा और शीत-निवारक वस्त्रोंके सिवा अधिक वस्त्रका ग्रहण नहीं करना चाहिये। ज्यों-ज्यों चित्तमें वैराग्य बढ़ता है त्यों-ही-त्यों भय निवृत्त होता जाता है और द्रव्यादिकी आवश्यकता भी कम होती जाती है। बहुत द्रव्य पास रखनेसे भय और चञ्चलता बढ़ती है,सन्तोषी पुरुषको दरिद्रता क्लेश नहीं देती।कामविद्ध मन नित्य दुःखी रहता है। महामायाका प्रभाव है कि बहुत-सी बहिनें एक ओढ़नीके लिये कलह करती हैं और बहुत-से भाई संन्यासी होकर कौपीनके लिये परस्पर विवाद कर बैठते हैं। हे साध्वी! ममता ही दुःखकी मूल है, निर्ममत्व सुख देनेवाला है, यह बात सत्य है,सत्य है और बारंबार सत्य है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। हे कल्याणी! पाप बढ़ानेवाली ममताको त्याग दे, ममता सर्व दोषोंकी नगरी है, मोक्षकी इच्छावालोंको तो ममताको जड़मूलसे उखाड़ फेंकना चाहिये। जो पुरुष ममताका त्याग करता है, उसका अपात्ररूप संसार छूट जाता है और परसे पर परमेश्वर ही उसका पात्र हो जाता है। ईश्वर ममतारहितकी निश्चय रक्षा करता है। संसार अवश्य ही अपात्र है, निस्सार है, दुःखका पात्र है, कल्याणकी कामनावालेको इसमें किञ्चित् भी ममत्व रखना उचित नहीं है। जीव दोषयुक्त है और सदाशिव दोषमुक्त है, दोषमुक्त शिवकी आराधना करके जीवको सर्व दोषोंसे मुक्त होना चाहिये। देहादिमें ममता होना ही मोह है, यह मोह ज्ञानका नाशक है, इसलिये ममताको शिथिल करके परमेश्वर-में चित्त लगाना चाहिये। लाभ-अलाभ, सुख-दुःखमें समान होना चाहिये, प्राणहीन देह किञ्चित् भी सुख-दुःखको नहीं जानता, प्राणयुक्त संन्यासी और विधवाको प्राणमुक्तकी भाँति समताका आश्रय करना चाहिये यानी जीते जी मरेके समान बर्तना चाहिये! हे सती! तू सर्वदा ही सम होकर एकान्त स्थानमें परब्रह्मका ध्यान किया कर। सोते हुएके समान मनसे शिवमें संलग्न रहा कर। व्याख्यान मत दिया कर। संसारी स्त्रियोंका संग त्याग दे। सत्शास्त्रका विचार किया कर। सारांश यह कि तन, मन और वाणीसे परमेश्वरकी शरण ले, यही तेरा कर्तव्य है।

हे बहिन! इसप्रकार सन्त महात्माने मुझे समझाकर परमेश्वर-परायण होनेकी आज्ञा दी। सन्तकी आज्ञानुसार मैं तो दिन-रात परमेश्वरके जप-ध्यानमें लगी रहती हूँ और परमेश्वरकी कृपासे मुझे परम शान्ति है। मेरे तो दिन दूना रात चौगुना आनन्द बढ़ता ही जाता है, मेरा मन तो संसारी कार्योंमें लगता ही नहीं है। यदि तुझे शान्तिकी इच्छा हो, तो तू भी ईश्वर-भजनमें लग जा, नहीं तो जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा ही कर!

पहली बहिनकी बुद्धि भी शुद्ध थी, अतः दूसरी बहिनकी बात तत्काल उसकी समझमें आ गयी,उस दिनसे वह भी ईश्वर-भजनमें लग गयी और दोनों बहिनें परम श्रेयको प्राप्त होकर सदाके लिये सुखी हुईं!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरितमानस और अध्यात्म-रामायण

(लेखक–व्योहार श्रीराजेन्द्रसिंहजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

एक विद्वान्‌ने ठीक ही कहा है कि अध्यात्मरामायणमें रामकथाके बहाने अध्यात्मशास्त्रका प्रतिपादन किया गया है। इस बातका पद-पदपर अनुभव होता है। इसमें हर जगह विस्तृतरूपसे ज्ञानका उपदेश दिया गया है। रामचरित-मानसमें भी जगह-जगहपर उपदेशोंकी कमी नहीं है। अध्यात्मरामायणके समान इसमें भी कथाके बीच-बीचमें खूब उपदेश दिलाये गये हैं।

अब संक्षेपमें इन ग्रन्थोंके विचारोंकी समता दिखाते हैं। मनुष्य अज्ञानके कारण योनियोंमें भ्रमता है। यद्यपि वह ईश्वरका अंश है तथापि अपने कर्मवश उससे अलग होकर भ्रमवश दुख पाता है। जब सद्गुरुके उपदेशसे यह भ्रम दूर होता है तब सत्संगति आदि नवधा भक्तिके द्वारा अथवा ज्ञानमार्गसे अपने स्वरूपको पहचान लेनेपर वह मुक्त हो जाता है। अविद्याके कारण मिले हुए दुःख इस अवस्थामें लुप्त हो जाते हैं और अखण्ड शान्तिका साम्राज्य हो जाता है।

ईश्वर अपने भक्तोंके कारण अवतार लेते हैं और विशुद्ध निर्विकार होनेपर भी मनुष्य-लीला करते हैं।

देखिये, इन ग्रन्थकारोंके नीचे लिखे विचारोंमें कितनी अधिक समता है। कोई-कोई तो एक दूसरेके अनुवाद मालूम होते हैं—

यथा हि चाक्ष्णा भ्रमता ग्रहादिकं
विनष्टदृष्टेः भ्रमतीव दृश्यते।
तथैव देहेन्द्रियमर्तुशस्मना-
कृतं परेध्यस्य जनो विमुह्यति॥
(अ० रा०)

बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं ग्रहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी॥
(रा० च० मा०)

(२) 'रामनाम्नैव मुक्तिःस्यात् कलौ नान्येनकेनचित्।'
(अ० रा०)

कलिजुग केवल नाम अधारा॥
(रा० च० म०)

(३) सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥
(अ० रा०)

कोउ न काहु सुख दुखकर दाता। निजकृत कर्म भोग सब भ्राता॥
(रा०च०मा)

(४) यथा त्यजति वै जीर्णं वासो गृह्णाति नूतनम्।
तथा देही परित्यज्य लभेद्देहं पुनर्नवम्॥
(अ० रा०)

जिमि नूतन पट पहिरकै, नर परिहरै पुरान॥
(रा०च०मा०)

(५) त्वदधीनमिदं विश्वमस्वतन्त्र करोति किम्।
यथा कृत्रिम नर्त्तक्यो नृत्यन्ति कुहकेच्छया॥
(अ० रा०)

उमा दारु योषितकी नाईं। सबहिं नचावहिं राम गुसाईं॥
नट मर्कट इव सबहिं नचावत। उमा राम खगेश अस गावत॥
(रा० च० मा०)

(६) पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम्॥
(अ० रा०)

मानउँ एक भक्तिकर नाता।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन सुख समुदाई॥
भक्तिहीन नर सोहत कैसे।

अध्यात्मरामायणमें नवधा भक्ति इसप्रकार कही गयी है—

सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्॥
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वंमद्वचसां चतुर्थं साधनंभवेत्॥
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्याऽमायया सदा।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमदि च॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ।
मम मन्त्रोपासकत्वं सांगं सप्तममुच्यते ॥
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः ।
बाह्यार्थेषु विरागत्वं शमादिसहितं तथा ॥
अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि ।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ॥
(अ० रा०)

गुसाईंजीने इसी नवधा भक्तिका अपनी रामायणमें करीब ज्यों-का-त्यों अनुवाद करके रख दिया है । देखिये—

प्रथम भगति संतनकर संगा । दूजी रति मम कथा प्रसंगा ॥
गुरु-पद-पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुणगण करै कपट तजि गान ॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम भगति सो बेद प्रकासा ॥
छठ दम शील बिरति बहु कर्मा । निरत निरंतर सज्जन-धर्मा ॥
सातँव सम मोहिंमय जग देखै । मोते अधिक संतकरि लेखै ॥
आठवँ यथा लाभ संतोषा । सपनेहु नहिं देखै परदोषा ॥
नवम सरल सबसन छल हीना । मम भरोस हिय हरष न दीना ।

इसमें केवल आठवीं और नवमी भक्तिमें कुछ भिन्नता है, बाकी दोनों वर्णन एकसे हैं । और देखिये—

पञ्चात्मको जडो देहस्त्वङ्मांसरुधिरास्थिमान् ।
कालकर्मगुणोत्पन्नः सोप्यास्तेऽद्यापि ते पुरः ॥
(अ० रा०)

पंच रचित यह अधम शरीरा ॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा । जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा ॥
(रा० च० मा०)

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(अ० रा०)

'सकृत प्रणाम किये अपनाए ।'
'मम प्रण शरणागत भय हारी ॥'
(रा० च० मा०)

अध्यात्मरामायणमें विश्वरूपका वर्णन इसप्रकार किया गया है—

तत्स्वरूपमिदं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम् ।
अग्निस्ते मुखतो जातो वाचा सह रघूत्तम ॥
बाहुभ्यां लोकपालौवाश्चक्षुर्भ्यां चन्द्रभास्करौ ।
दिशश्च विदिशश्चैव कर्णाभ्यां ते समुत्थिताः ॥
घ्राणात्प्राणः समुत्पन्नश्चाश्विनौ देवसत्तमौ ।
कुक्षिदेशात्समुत्पन्नाश्चत्वारः सागरा हरेः ॥
मेढ्राद्यमो गुदान्मृत्युर्मन्यो रुद्रस्त्रिलोचनः ॥
अस्थिभ्यः पर्वता जाताः केशेभ्यो मेघसंहतिः ।
त्वं विश्वरूपः पुरुषो मायाशक्तिसमन्वितः ॥
(अ० रा०)

× × ×

विश्वरूप रघुवंशमणि करहु बचन बिश्वासु ।
लोक कल्पना वेदकर अंग अंग प्रतिजासु ॥

भ्रकुटि बिलास भयंकर काला । नयन दिवाकर कच घन माला ॥
जासु घ्राण अश्विनीकुमारा । निशि अरु दिवस निमेष अपारा ॥
अधर लोभ जम दसन कराला । माया हास बाहु दिगपाला ॥
आनन अनल अम्बुपति जीहा । उत्पति पालन प्रलय समीहा ॥
रोम राजि अष्टादस भारा । अस्थि सैल सरितारस जारा ॥
उदर उदधि अध गो जातना । जगमय प्रभुकी बहु कल्पना ॥
अहंकार सिव बुद्धि अज,मन ससि चित्त महान ।
मनुज वास चर अचरमय, रूपरासि भगवान ॥
(रा० च० मा०)

× × ×

दुहिता भगिनीं भ्रातुर्भार्या चैव तथा स्नुषा ।
समायो रमते तासामेकामपि विमूढधीः ॥
पातकी स तु विज्ञेयः स वध्यो राजभिः सदा ।
(अ० रा०)

अनुज बधू भगिनी सुतनारी । सुन सठ ये कन्या सम चारी ॥
इन्हें कुदृष्टि बिलोकै जोई । ताहि बधे कछु पाप न होई ॥
(रा० च० मा०)

श्रीरामद्वारा अपने लिये निवासस्थान पूछनेपर वाल्मीकिजी कहते हैं—

शान्तानां समदृष्टीनामद्वेष्टीनाञ्च जन्तुषु ।
त्वामेव भजतां नित्यं हृदयं तेऽधिमंदिरम् ॥
धर्माऽधर्मान्परित्यज्य त्वामेव भजतोऽनिशम् ।
त्वन्मन्त्रजापको यस्तु त्वामेव शरणं गतः ।
निर्द्वन्द्वो निस्पृहस्तस्य हृदयं ते सुमन्दिरम् ॥
निरहंकारिणः शान्ता ये रागद्वेषवर्जिताः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वयि दत्तमनोबुद्धिर्यो सन्तुष्टस्सदा भवेत्।
त्वयि संत्यक्तकर्माणः तन्मनस्ते शुभं गृहम् ।।
(अ० रा०)

गुसाईंजीने भी वाल्मीकिद्वारा रामजीके प्रति बिल्कुल यही बातें कहलायी हैं। यथा—

जिनके हृदय समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिनके हृदय सदन तव रूरे।।
इत्यादि। (रा० च० मा०)

पाठक रामचरितमानसमेंसे उपर्युक्त वर्णनको पूरा पढ़कर अध्यात्मरामायण के वर्णनसे मिलान करें, तो मालूम होगा कि गुसाईंजी दूसरेके वर्णनको किसप्रकारसे परिमार्जित करके अपनालेते हैं। दोनोंको मिला करके पढ़नेसे स्पष्ट हो जायगा कि महात्माजी अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारका आधार लेकर भी उनसे कितने अधिक आगे निकल गये हैं।

अब हम दोनों रामायणोंमें भिन्न-भिन्न स्थलोंपर किये गये वर्णनोंमें समता दिखलानेका प्रयत्न करेंगे।

(१) कहा जा चुका है कि अ० रा० में कथाके बीच-बीचमें जगह-जगहपर ज्ञानोपदेश किया गया है। रा० च० मा० में भी ऐसा ही किया गया है। इन उपदेशों और वर्णनोंको छोटी-छोटी गीताओंके नामसे पुकारा जा सकता है—जिसमें रामगीता (उत्तरकाण्ड अ० रा०) मुख्य हैं। रा० च० मा० में भी इसी तरहकी अनेक गीताएँ हैं। दोनों रामायणोंके नीचे लिखे उपदेश एक-से दीखते हैं—

(क) रामजीका हनूमान्‌जीको उपदेश।
(अध्यात्म बालकाण्ड और मानस उत्तरकाण्ड)
(ख) अयोध्याकाण्डमें वाल्मीकि-राम-संवाद।
(ग) ,, ,, गुह-लक्ष्मण-संवाद।
(घ) आरण्यकाण्डमें लक्ष्मणको रामका ज्ञानोपदेश।
(ङ) आरण्यकाण्डमें रामको शवरीको नवधा भक्तिका उपदेश।
(च) किष्किन्धामें रामका ताराको उपदेश।
(छ) लङ्काकाण्डमें मन्दोदरीके रावणको उपदेश।
(ज) मन्त्रियोंका रावणको उपदेश।
(झ) उत्तरकाण्डमें रामका लक्ष्मणको उपदेश।
(रामगीता) इत्यादि

इनमेंसे कुछके उदाहरण दिये जा चुके हैं।

(२) इन दोनों ग्रन्थोंमें जगह जगहपर भगवान्‌की भक्तोंके द्वारा अनेक प्रार्थनाएँ करायी गयी हैं। रा० च० की स्तुतियोंकी उत्तमताके विषयमें तो पाठकोंको ज्ञान होगा ही। अध्यात्म रामायण की स्तुतियाँ भी अति उत्तम हैं। इनमेंसे कुछ नीचे लिखी जाती हैं।

(अ) देवोंद्वारा विष्णुकी स्तुति (बालकाण्ड)
(आ) कौशल्याद्वारा रामस्तुति (,,)
(इ) परशुरामद्वारा रामस्तुति (,,)
(ई) भरद्वाज व वाल्मीकिकृत स्तुति (अयोध्या)
(उ) सुतीक्ष्ण, शरभंग, अगस्त्य आदिकृत स्तुतियाँ (आरण्यकाण्ड)
(ऊ) जटायु व शबरीकृत— (आरण्यकाण्ड)
(ऋ) समुद्रकृत स्तुति— (सुन्दरकाण्ड)
(ॠ) देवताओंके द्वारा (लङ्काकाण्ड)

अध्यात्मरामायणके समान गुसाईंजीने भी ये ही स्तुतियाँ करायी हैं। यद्यपि ये एक-सी नहीं हैं।

(३) कुछ वर्णन ऐसे और हैं जो दोनों रामायणोंमें एक-से हैं। उदाहरणार्थ एक स्थल यहाँ उद्धृत किया जाता है। रावणने सीताजीको फुसलानेके लिये उनके सामने रामचन्द्रजीकी निन्दा करना शुरू किया। वाक्य ये हैं—

रामो वनचराणां हि मध्ये तिष्ठति सानुजः।
कदाचिद्‌दृश्यते कैश्चित्कदाचिन्नैव दृश्यते।।
मया तु बहुधा लोकाः प्रेषितास्तस्य दर्शने।
न पश्यन्ति प्रयत्नेन वीक्षमाणाः समन्ततः।।
किं करिष्यसि रामेण निस्पृहेण सदा त्वयि।
त्वया सदाऽलिंगितोऽपि समीपस्थोऽपि सर्वदा।।
हृदयेऽस्य न च स्नेहस्त्वयि रामस्य जायते।
भुञ्जानोऽपि न जानाति कृतघ्नो निर्गुणोऽधमः।।
इदानीमपि नायाति भक्तिहीनः कथं व्रजेत्।
निःसत्वो निर्ममो मानी मूढः पण्डितमानवान्।।
इत्यादि

संस्कृतज्ञ पाठक उपर्युक्त पद्योंको यदि ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे तो उन सबमें दो-दो अर्थ निकलेंगे। एक अर्थसे तो राम साक्षात् ईश्वर सिद्ध होते हैं और दूसरे अर्थसे वे अत्यन्त दुर्गुणी प्रतीत होते हैं।

रामचरितमानसके बालकाण्डमें सप्तऋषियोंने पार्वतीजीको शंकरसे विमुख करनेके लिये जो कहा है, उसमें भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसीप्रकार दोहरा अर्थ निकलता है, एकसे शंकर ईश्वर सिद्ध होते हैं और दूसरेसे गुणहीन मनुष्य । पाठक उस वर्णनको भी इसीसे मिला कर पढ़ें तो मालूम होगा कि यद्यपि दोनों वर्णन एक-से नहीं हैं तथापि दोनों दीवाल एक ही नींवपर खड़ी की गयी हैं ।

निर्गुण निलज कुवेष कपाली । अकुल अगेह दिगंबर व्याली ।।

अपने चरितनायककी निन्दाके बहाने स्तुति कर देना ऐसे बड़े कवियोंका ही काम है । इसी प्रकार नारदजीने भी विष्णुको डाँटते हुए जो कहा है उससे भी दो अर्थ निकलते हैं । यहाँतक तो हमने पाठकोंको इन आलोच्य ग्रन्थोंकी समानता दिखायी, अब दोनोंमें तुलना करके अन्तर दिखाया जायगा । हम नीचे लिखी दृष्टियोंसे इन ग्रन्थोंको देखेंगे--

१-चरित्र-चित्रण कौशल ।

२-वर्णन-नैपुण्य ।

३-काव्यदृष्टि । और--

४-सिद्धान्तकी दृष्टि ।　　(क्रमशः)

साध्वी रानी एलिज़ाबेथ

(लेखक-श्रीजयदयाल डालमिया)

दयामय ईश्वरकी इस विश्व-वाटिकामें हर समय किसी-न-किसी वृक्षमें एक-न-एक ऐसा पुष्प विकसित हुआ रहता है जिसकी पवित्र और सुन्दर सौरभ प्राप्तकर वाटिकाके मुरझाये हुए समस्त पदार्थ पुनः जीवन प्राप्तकर तापको शान्त करते हैं । आजसे करीब सात सौ वर्ष पूर्व तेरहवीं शताब्दीमें वाटिकाके पश्चिमी भागमें एक ऐसा खुशबूदार फूल खिला था जिसकी अमृतमय शान्त सौरभसे सारा देश प्रमुदित हो उठा । उस कमनीय कुसुमका नाम था साध्वी एलिज़ाबेथ ।

एलिज़ाबेथके विषयमें एक अद्भुत कथा प्रचलित है । कहते हैं कि सन् १२०६ ई० में सैक्सनी (Saxony--Germany) की राजसभामें एक भविष्यद्वक्ता ज्योतिषीने आकर गम्भीर स्वरसे कहा कि 'हंगरी (Hungary) देशमें एक ऐसा उज्ज्वल नक्षत्र उदय होगा, जिसके प्रखर प्रकाशसे तुम्हारा सारा देश जगमगा उठेगा ।' इस घटनाके थोड़े ही समय बाद सन् १२०७ ई०में हंगरीके राजा एण्ड्रयू (Andrew)के घर राजकन्या एलिज़ाबेथका जन्म हुआ । इस राजवंशमें बहुत-से धार्मिक पुरुष हो चुके थे । उसी परम्पराके प्रभावसे एलिज़ाबेथके माता-पिताके भाव बड़े ही उच्च और धर्ममय थे । इसीसे उन्होंने आरम्भसे ही शिशु-बालिका एलिज़ाबेथके हृदयमें सच्चे पारमार्थिक भावोंका बीजारोपण कर एवं यत्नपूर्वक अच्छी धार्मिक शिक्षाद्वारा उन्हें अंकुरित और पल्लव-पुष्प-समन्वित करना शुरू कर दिया । साधारण बालकोंको जैसे सांसारिक कहानियाँ सुननेमें आनन्द मिलता है वैसे ही बालिका एलिज़ाबेथको ईश्वर-सम्बन्धी बातें अच्छी लगतीं और वह भगवान्की पवित्र लीलाओंको सुनकर आनन्दसे गद्गद हो जाती । दरिद्र और दीन-दुखियोंको देख बालिकाका हृदय दयासे पिघल जाता और वह आँखोंसे आँसू बहाने लगती । यह देखकर लोग कहते कि सचमुच यह मानवी नहीं, देवी है ।

सेक्सनीके प्रतापी और धार्मिक राजा हारमैनने (Hermann) हंगरीकी राजकुमारी एलिज़ाबेथकी भाँति-भाँतिसे प्रशंसा सुनी और पूर्वोक्त ज्योतिषीकी कही हुई बातें यादकर एलिज़ाबेथको पुत्रवधू बनानेका दृढ़ विचार कर लिया । राजकुमार लुई (Louis) के पवित्र और मधुर स्वभाव तथा सद्गुणावलीके कारण एलिज़ाबेथके साथ उसका सम्बन्ध सोनेमें सुगन्धकी तरह सुन्दर समझकर राजा हारमैनने कई ऊँचे घरानेकी स्त्रियोंको उचित रीतिसे समझा-बुझाकर अपने प्रतिष्ठित दरबारियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ हंगरीके राजा एण्ड्रयूके पास इस कार्यके लिये भेजा। इन लोगोंने वहाँ पहुँचकर उचित अभिवादनके अनन्तर राजा एण्ड्रयूकी सेवामें सैक्सनी-नरेशका प्रस्ताव उपस्थित किया, जिसे सुनकर सभी लोगोंको प्रसन्नता हुई।

उस समय राजपरिवारमें एक ऐसी प्रथा थी कि यदि राजकुमार और राजकुमारीका सम्बन्ध लड़कपनमें निश्चय हो जाता था तो वाग्दानके पश्चात् राजकुमारीको अपनी भावी ससुरालमें रहना पड़ता था। तदनन्तर वर-कन्याके विवाह-योग्य उम्र होनेपर उनका विवाह कर दिया जाता था। एलिज़ाबेथके माता-पिता पुत्रीके लिये इससे योग्य वर मिलना कठिन समझ प्रस्तावको स्वीकार कर इसी प्रथाके अनुसार हृदयको पाषाणवत् बनाकर आनन्दोत्सव मनाते हुए अपनी हृदय-दुलारी कन्याको बहुमूल्य गहनों-कपड़ोंसे सुसज्जित कर सैक्सनीके लिये विदा कर दिया। सैक्सनीके लोग एलिज़ाबेथ-सरीखे रत्नको पाकर आनन्दभरे हृदयसे अपने राज्यको लौटे और राजकुमारीको बड़े उत्साहके साथ राजा हारमैन और रानी सोफियाके सम्मुख उपस्थित किया। राजकुमारीका करुण और निर्मल मुखकमल देखकर दम्पतिने कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे परमात्माको धन्यवाद दिया और वात्सल्यभावसे भरकर कन्याको बरबस गोदमें बैठाकर उसे प्यार करने लगे। इसके बाद शुभ मुहूर्त्तमें प्रतिष्ठित बन्धु-बान्धवोंकी उपस्थितिमें महलके अन्दर बड़े उमंग और उत्साहके साथ वाग्दान-संस्कार किया गया। इस समय एलिज़ाबेथकी उम्र लगभग पाँच वर्षकी थी।

माता-पिताके स्नेहसे वञ्चित बालिका अपनी सरलता, ईश्वरके प्रति प्रेम, दीन-दुखियोंके प्रति दया आदि आदर्श सद्गुणोंके कारण राजा हारमैन और उसके परिवारकी परम स्नेहपात्री बनकर दिनोंदिन उनके हृदयमें अपना अधिकार जमाने लगी। स्वयं राजा तथा उनकी एक निकट-सम्बन्धिनी पोलैण्डकी साध्वी रानी एलिज़ाबेथके हृदयमें धर्मभावका अधिकाधिक विकास करने लगे। माता-पितासे अलग होनेके दो वर्ष बाद एलिज़ाबेथकी स्नेहमयी पतिव्रता माता किसी षड्यन्त्रकारी शत्रुके हाथसे अपने स्वामीकी जान बचाते समय उसकी तलवारकी शिकार बनकर स्वर्ग सिधार गयी। इस समाचारसे एलिज़ाबेथके हृदयपर गहरा धक्का लगा। वैराग्यकी प्रबल भावना जाग उठी। उसी समय उसने दृढ़ सङ्कल्प कर लिया कि 'जब संसारमें कुछ भी स्थिर नहीं, तब संसारके पदार्थोंमें आसक्तिसे क्या लाभ? आजसे मैं केवल एक ईश्वरको ही सबसे ज्यादा चाहूँगी।' इन दिनों एलिज़ाबेथके साथ आमोद-प्रमोद करनेके लिये कई अमीर-घरोंकी लड़कियाँ आया करतीं, परन्तु उसे इनके साथ सांसारिक आमोद-प्रमोदमें समय बिताना बिलकुल नीरस प्रतीत होता। एलिज़ाबेथ इनके साथ बाहरी मनसे खेलती-खेलती कभी कभी स्मशानकी ओर चली जाती और कब्रोंके अन्दर सोये हुओंको याद करके, अपनी भी एक दिन यही दशा होगी ऐसा विचार कर ईश्वरसे प्रार्थना करने लगती कि 'हे प्रभो! पापोंसे हमारी रक्षा करो।'

पूर्वकालमें ईसाई साधक ईसामसीहके द्वारा प्रेरित बारह शिष्योंमेंसे किसी एकको अपना रक्षक चुन लिया करते थे। एलिज़ाबेथने भी साधु 'जान'को अपना रक्षक चुना और उस स्वर्गीय आत्माकी प्रियपात्र बननेके लिये वह अपने हृदयको पवित्र, प्रभु-प्रेम और दयासे पूर्ण रखनेका सतत प्रयत्न करने लगी। महापुरुष ईसाके ये वचन—'धन्य है दयावान मनुष्योंको! क्योंकि दयावान ही दयामय ईश्वरकी दया प्राप्त कर सकता है—' बालिकाके सरल हृदयपर जादूका-सा असर करते और इन्हें स्मरणकर वह मानो दयाकी जीती-जागती मूर्ति बन जाती। अपने भावी रानीपदका किञ्चित् भी अभिमान न कर वह खानेका सामान लेकर महलोंसे उतर आती और गरीब भूखोंको खिलाकर बड़ी ही सन्तुष्ट होती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एलिज़ाबेथ लड़कपनसे ही अपने ऊपर ईश्वरकी अपार दयाका अनुभव करने लगी। राजा हारमैन भी एलिज़ाबेथको हृदयसे प्यार करते थे। इसीसे वह बालिका एक अपरिचित परिवारमें आकर भी अपनी मन्द और सरल मुसकानको तथा मनकी प्रसन्नताको पूर्ववत् कायम रख सकी थी। दैव-दुर्विपाकसे इसी समय एलिज़ाबेथको अपने पितृ-तुल्य भावी ससुर राजा हारमैनका दुःसह वियोग सहना पड़ा और अब उसका सारा भार रानी सोफियापर आ पड़ा। रानीका स्वभाव विलास-प्रिय था, उसे एलिज़ाबेथकी आठों पहरकी धर्म-चर्चा बिल्कुल नहीं सुहाती, वह उसे एक सुचतुरा, रसिका, रत्नालङ्कारविभूषिता और सौभाग्यगर्विता राज-रानीके रूपमें देखना चाहती थी। परन्तु ईश्वरने एलिज़ाबेथको इस संसारमें रानी बननेके लिये ही नहीं भेजा था। वह तो ईश्वरसे प्रेरित होकर भगवद्भक्तिमय जीवन बिताने और अपने प्रेम तथा करुणाद्वारा दुखी जीवोंका दुःख दूर करने एवं उन्हें शान्ति प्रदान करनेके लिये आयी थी। लोग उसकी प्रकृतिके विरुद्ध उसे सांसारिक सुखोंमें फँसानेका निष्फल प्रयत्न करने लगे। इस समय संयोगसे उसके भावी पति राजकुमार लुई भी विद्याभ्यासके लिये परदेशमें गये हुए थे। ऐसी अवस्थामें निराधारा एलिज़ाबेथको रानी सोफियाके तत्त्वावधानमें बड़ी ही कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। इस दुःखकालमें वह विशेषरूपसे ईश्वरमें मन लगाने लगी और शान्ति, विनय, सहनशीलता तथा मैत्री इन चार गुणोंको प्राप्त करनेके लिये भगवान्से कातर-प्रार्थना करने लगी।

एक दिन किसी त्यौहारके दिन रानी सोफिया-की आज्ञानुसार एलिज़ाबेथ सुन्दर बहुमूल्य गहने-कपड़ोंसे सुसज्जित हो उपासना-मन्दिरमें जा रही थी। प्रवेश करते समय अचानक उसकी दृष्टि मृत्युके लिये तैयार क्रूसबिद्ध ईसामसीहके चित्रपर पड़ी, जिसे देखते ही वह अपना मुकुट उतार सजल नेत्र हो, सिर नवाकर प्रार्थना करने लगी। झुके हुए नंगे सिरके बिखरे बाल देखकर सोफियाने बड़ी ही रुखाईसे कहा—'क्या तुमसे मुकुटका भार भी नहीं सम्हाला जा सकता जो सिर उघाड़कर निर्लज्जकी तरह बैठ गयी हो ? इससे हमारी कितनी निन्दा होती है ?' एलिज़ाबेथने बड़ी ही विनयके साथ जवाब दिया-'प्रभु ईसाके मस्तकपर काँटोंका मुकुट देखते हुए सोनेका मुकुट धारणकर उपासना करनेसे क्या प्रभुका अपमान नहीं होगा ? क्षमा करो, मा ! मुझसे ऐसा न होगा।' इतना कहते-कहते प्रभुकी दयाका स्मरण आनेसे उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी ! रानी सोफियाकी पुत्री राजकुमारी एग्नेसको भी एलिज़ाबेथकी ये बातें बहुत बुरी मालूम होती थीं, इससे उसने भी एक दिन एलिज़ाबेथसे कहा कि 'यदि तुम्हारे ऐसे ही लक्षण रहे तो तुम मेरे भाईकी धर्मपत्नी होनेकी आशा छोड़ दो, तुम्हारी-जैसी स्त्रियाँ तो यहाँ दासी होने योग्य हैं।' किन्तु राजकुमारी एग्नेसकी इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

राजकुमार लुई शिक्षा प्राप्तकर विदेशसे लौट आये। वे धीर, वीर, उदार और निर्भीक युवक हैं। उनका विशाल हृदय करुणासे पूर्ण है। राजमहलकी स्त्रियाँ एलिज़ाबेथका चरित्र सुना-सुनाकर उसके विरुद्ध राजकुमारको उभाड़ने लगीं, परन्तु भगवत्कृपासे फल उलटा ही हुआ। इन बातोंको सुनकर राजकुमार लुईका मन एलिज़ाबेथकी ओर अधिक आकर्षित हो गया और वह मन-ही-मन उसके गुणोंकी तारीफ करने लगे। राजकुमारने राज-परिवारकी स्त्रियोंसे कहा कि 'पृथ्वीपर सोनेसे मढ़े हुए पर्वतसे भी मैं एलिज़ाबेथके धर्मभावोंको अधिक कीमती समझता हूँ।' राजकुमार लुई बालिकाका म्लान मुख देखकर उसे प्रेमपूर्वक धीरज दिया करते कि 'थोड़े दिन और धैर्य रखो, अब यह दुःख शीघ्र ही निवृत्त हो जायगा।' इन प्रेममय शब्दोंसे स्नेह-वञ्चिता बालिका अपने कोमल हृदयमें राजकुमारके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रति कितने निष्कपट प्रेमका अनुभव करती थी। इसका कौन वर्णन कर सकता है ?

अब राजकुमार लुईकी अवस्था १६ वर्षकी हो गयी, उसकी नाबालिग उम्र बीत गयी। सन् १२२० ई० में वार्टबर्ग (Wartburg) महलके गिरजेमें बड़ी धूमधामसे एलिज़ाबेथके साथ राजकुमार लुई-का विवाहकार्य सम्पन्न हो गया। साहस, वीरता, विनय, उदारता, धर्मभाव और मितभाषण आदि गुणोंसे युक्त राजकुमार अपने सुसंगठित बलवान् देह, उज्ज्वल तथा विशाल ललाट एवं मुखकी सुन्दर छटासे बड़ा ही तेजस्वी प्रतीत होता था।

बहुत दिनोंतक सास, ननद आदिके दिये हुए दुःखोंको सहनेके उपरान्त अब एलिज़ाबेथ अपने धार्मिक और हृदयवान स्वामीसे मिलकर आनन्दकी लहरको दबा न सकी। राजकुमारके पूर्ण पवित्र प्रेमसे एलिज़ाबेथने मानो समस्त पार्थिव ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया।

राजकुमार लुई भी धर्मशीला पत्नीके भक्तिपूर्ण पवित्र हृदयपर अधिकार जमाकर स्वर्गीय सुखका अनुभव करता हुआ राजमहलके रत्न-माणिक्य-जनित ऐश्वर्यको तुच्छ मानने लगा। शक्तिशाली और धार्मिक युवकका जब भक्ति और प्रेममयी सुशीला रमणीसे मिलन होता है तब उनका दाम्पत्य-जीवन इसीप्रकार अत्यन्त आनन्दमय हो उठता है।

कुछ दिनों बाद राजकुमार लुई अपनी धर्मशीला पत्नी एलिज़ाबेथसहित सिंहासनपर बैठा। उनके चरण-स्पर्शसे स्वर्ण-सिंहासन पवित्र हो गया। यद्यपि रानी एलिज़ाबेथका ध्यान सदा अपने लक्ष्यपर लगा रहता था तथापि वह अपने सांसारिक स्वामीकी परिचर्या करनेमें कभी त्रुटि नहीं करती। राज-काजसे थक जानेपर राजा लुई रानीकी सेवा-शुश्रूषासे पुनः स्वस्थ और सबल हो पूर्ण आनन्दका अनुभव करता। राजाके स्थानान्तर जानेपर रानी पातिव्रत-धर्मके अनुसार न तो शृंगार करती और न स्वादिष्ट भोजन ही करती। कभी-कभी तो वह एकदम अनशन व्रत किया करती और अपना अधिकतर समय भगवान्‌की उपासनामें ही बिताती। इसपर राजपरिवारकी दूसरी स्त्रियाँ उसकी दिल्लगी उड़ाया करतीं, पर वह उनकी ओर ज़रा भी ध्यान नहीं देती। इसप्रकार दिनों दिन संसारसे उसका वैराग्य दृढ़तर होने लगा।

महापुरुषने कहा है कि 'अपने सम्पूर्ण हृदयकी समस्त शक्ति लगाकर प्राणपणसे ईश्वरसे प्रेम करो। अपने पड़ोसीसे अपने ही सदृश प्रेम करो।' इन वचनोंका पालन करनेके लिये एलिज़ाबेथ अधीर हो उठी और इस प्रकारका प्रेम प्राप्त करनेके लिये वह अपना अधिकांश समय उपासना और प्रार्थनामें ही बिताने लगी। रातके समय स्वामीको तो सोते ही नींद आ जाती परन्तु राम-दिवानी एलिज़ाबेथ-की आँखोंमें नींद कहाँ ? वह तो परम प्रियतम पतिके भी परमपति ईश्वरके ध्यानमें मग्न हो जाती। उच्च अवस्था प्राप्त करनेके लिये बिना किसी प्रकार-का कष्ट अनुभव किये वह धर्मके कठोरसे भी कठोर नियमोंका सहर्ष पालन करती थी। उसका इन्द्रियदमन संन्यासियोंसे भी कठोर था। वह भोग-विलास, भूख-प्यास और नींद-आरामकी कुछ भी परवा न कर परमात्मामें मन लगाये रहती। कमालने कहा है—

> समझ बूझ दिल खोज पियारे, आशिक होकर सोना क्या ?
> जिन नयनोंसे नींद गँवाई तकिया लेप बिछौना क्या ?
> रूखा-सूखा रामका टुकड़ा चिकना और सलोना क्या ?
> कहत कमाल प्रेमके मारग सीस दिया फिर रोना क्या ?

एलिज़ाबेथ जब राजमहलमें पतिकेसाथ अतिथियों सहित भोजन करने बैठती तो सबको विविध भोजन परोसकर स्वयं निरामिष सादा भोजन करती, तनिक-से मधुके साथ साधारण रोटियाँ खा लिया करती और अपनी मीठे वचनोंमें सबको इसप्रकार भुलाये रखती कि किसीका इस बातकी ओर ध्यान भी नहीं जाता कि उसने अपने लिये क्या परोसा है। स्वामीके आग्रहसे दो एक बार राजसी पोशाक पहननेके अतिरिक्त वह सर्वदा साधारण वस्त्र ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहनती। परन्तु वह साध्वी रमणी सादी पोशाकमें भी दिव्य प्रकाशसे झलक उठती।

इस समय एलिज़ाबेथका हृदय प्रेमसे पूर्ण हो गया था, उसने हृदयके इस विशुद्ध प्रेमको तत्काल ईश्वरके अर्पण कर दिया। बाल्यकालका दीन भाव दिनों दिन बढ़ने लगा। छोटे-बड़े सबके साथ समान प्रेम करनेपर भी ईश्वरके प्रति उसका असीम प्रेम और बालकवत् सरल विश्वास था। उपासनागृहकी घण्टी बजते ही वह आनन्दपूर्वक वहाँ जाकर भक्ति-भाव और पवित्र-चित्तसे ईश्वर-भजनमें लग जाती। गुरुवारके दिवस बारह कोढ़के रोगियोंके पैर धोकर वह भिखारिणीके वेशमें दीन-भावसे नंगे पैर उपासनाघरमें जाती। रात्रिमें, कष्ट भोगते समयका प्रभुका चित्र सामने रखकर घुटनोंके बल बैठकर वह उनका ध्यान और प्रार्थना किया करती। पवित्र शुक्रवार (Good Friday) के दिन अपने सेवकोंसे कहती कि 'आज सबके लिये विशेष दीनताका दिन है, इसलिये तुम लोग कोई भी मेरे प्रति जरा-सा भी सम्मान मत दिखाओ।' इसके बाद वह शहरके बीच मैदानमें जाकर एकत्रित असंख्य भिखारियोंको मुक्तहस्तसे दान देती। दुखी जीवोंके प्रति इस करुणामयी नारीका असीम प्रेम था। उसके हृदयसे दयाका अखण्ड स्रोत बहकर जीवोंके तप्त हृदयको सदा शीतल किया करता। एलिज़ाबेथ राजरानी होकर भी अपने उच्च पदका कुछ विचार न कर, हजारों आज्ञाकारी सेवकोंके रहनेपर भी प्रसन्न-चित्तसे दरिद्र और पीड़ित मनुष्योंकी झोंपड़ियोंमें स्वयं जाकर उनपर प्रेम दिखाती और उनकी दुःख-गाथा सुनकर उनके आँसू पोंछनेमें तनिक भी सङ्कोच न करती। महलसे भोजन बनाकर उनके लिये भेजा करती। इसप्रकार वह केवल उनके देहकी सेवा करके ही नहीं रह जाती, प्रत्युत उनके कल्याणार्थ उन्हें प्रभुकी लीलाएँ भी सरल भाषा और मधुर स्वरमें सुनाया करती। इन सब कार्योंमें उसे बहुत शान्ति मिलती। कुष्ट-रोगसे पीड़ित मनुष्योंके पास,—जिनकी परछाईं पड़नेमें भी हमें संकोच होता है,—वह स्नेहपूर्वक बैठकर उनकी सेवा करती, जिससे उनके जलते हुए हृदयको बड़ी शान्ति मिलती। पतिकी आज्ञासे उसने राजमहलके निकट ही कोढ़ी रोगियोंके लिये एक अस्पताल बनवा लिया, जिसमें कितने ही निराधार रोगियोंको आश्रय मिल गया। रानी स्वयं अपने हाथों उन्हें खिलाने-पिलानेमें और उनकी सेवा-शुश्रूषा करनेमें परम सन्तोष मानती।

सन् १२२३ ई० में एलिज़ाबेथको एक पुत्र-रत्नकी प्राप्ति हुई, जिससे राज्यमें सर्वत्र आनन्द छा गया। एक दिन रानी एलिज़ाबेथ चुपचाप अपने उस नवजात शिशुको ईश्वरके चरणोंमें अर्पणकर इसप्रकार प्रार्थना करने लगी, 'प्रभो! तुम्हारी दी हुई यह वस्तु तुम्हें ही अर्पण करती हूँ। तुम इसको ग्रहण करो और अपना सेवक बनाकर दिव्य आशीर्वाद दो।'

आजकल अधिकांश स्त्री-पुरुष भक्तिके नामपर अपने सांसारिक कर्तव्य-कर्मकी जिम्मेदारीकी ओरसे लापरवाह हो प्रमाद कर बैठते हैं। उनको हमारी चरित्र-नायिकाके जीवनसे शिक्षा लेनी चाहिये। एलिज़ाबेथ केवल सेवापरायणा और भक्तिमती स्त्री ही नहीं थी, वह राजकार्य भी बड़ी चतुराई, निर्भयता एवं दृढ़ताके साथ सँभालती थी। एक समय सन् १२२५ ई०में राजा लुई युद्धके लिये किसी दूर देशमें चले गये थे। पीछेसे प्रजापालनका सारा भार एलिज़ाबेथपर आ पड़ा। उसने बड़ी ही योग्यता-से सारा कार्य सम्पादन किया। दैवयोगसे उसी समय देशमें भयङ्कर अकालके कारण बहुतसे लोग क्षुधापीड़ित हो आर्त्तनाद करने लगे। राज-कर्मचारियोंने अकालपीड़ित प्रजाके कष्ट-निवारणकी तरफ तनिक भी ध्यान नहीं दिया। परन्तु प्रजा-वत्सला दीन-दयामयी एलिज़ाबेथ कब चुप बैठने-वाली थी? अधिकारियोंकी परवा न कर रानीकी हैसियतसे उसने अपनी शक्तिका प्रयोगकर राजकोष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भण्डारके द्वार खुलवा दिये और इसप्रकार वह खुले हाथों अकालपीड़ित नर-नारियोंको उनकी आवश्यकतानुसार अन्न और द्रव्य बाँटने लगी। राजा लुईके भ्राता हेनरी तथा अन्यान्य राज-कर्मचारी रानीकी इस स्वच्छन्दतासे नाराज़ हो उसके विरुद्ध आन्दोलन करने लगे तथा राजकोषको नष्ट करनेकी काररवाईपर राजाका भय दिखाने लगे। परन्तु रानी एलिज़ाबेथ उनके प्रतीकारका उत्तर देनेमें समय और शक्तिका खर्च न कर हँसती हुई बिना किसी प्रकारके संकोच या भयके अपने सात्त्विक कार्यमें लगी रही।

उसने अपने महलके पास जो अस्पताल बनाया था, उसीमें एक विभाग बालकोंके लिये भी खुलवा दिया, जिसमें बहुसंख्यक अनाथ बच्चे भी रहने लगे। उनको एलिज़ाबेथ स्नेहमयी जननीकी तरह प्यार करती और वे सब भी उसे 'माँ माँ' कहकर पुकारा करते। एक बार एक नन्हेंसे बालकको कुष्ट-रोग हो गया। उसके माता-पिता भी उसे छोड़कर चले गये। उसको देखकर एलिज़ाबेथको बड़ी दया आयी। वह उसे प्रेमके मारे अस्पतालमें न रख सकी। उसे अपने घरमें लाकर स्वयं उसकी सेवा करने और उसका पुत्रवत् पालन करने लगी। इतना ही नहीं, एलिज़ाबेथ उन दुखी मनुष्योंके, जो कर्ज़दार होकर कैदखानेमें पड़े थे, छुटकारेके लिये भी प्रयत्न करती। कितने ही कैदियोंके पैरोंमें कठिन लोहेकी बेड़ियोंसे घाव हो गये थे, उनकी बेड़ियाँ खोल वह घावोंको अपने हाथोंसे धोकर मरहम-पट्टी किया करती और उनके पाप-नाश होनेके लिये सच्चे अन्तःकरणसे भगवान्से प्रार्थना किया करती!

कुछ समय बाद राजा लुई लौटकर आये। राज्यकर्मचारीगण राजाकी अभ्यर्थना कर उन्हें महलमें ले गये। रानीपर लोगोंका क्रोध अब भी पूर्ववत् विद्यमान था। सबने मिलकर उसके विरुद्ध राज्यका सञ्चित कोष नष्ट करनेका अभियोग उपस्थित किया। सब वृत्तान्त सुनकर राजा मन-ही-मन प्रसन्न होते हुए उन्हें समझाकर कहने लगे-'भाइयो! रानीने क्या बुरा किया है? राज्य तो लुटा ही नहीं दिया? वह ईश्वरके नामपर जो कुछ भी करना चाहे उसमें कोई भी बाधा न देकर, सबको उसकी सहायता करनी चाहिये। दीन-दुखियोंको भिक्षा देनेसे राज्यका दीवाला नहीं निकला करता। ईश्वरके नामपर दुखियोंको जो कुछ भी दिया जायगा उससे हजारोंगुना ज्यादा वह हमलोगोंको देगा।' राजाके इन सुन्दर वाक्योंसे सब कर्मचारीगण शान्त हो गये।

इसके बाद राजा लुई रानी एलिज़ाबेथके पास जाकर उससे अकाल-पीड़ितोंकी दशा पूछने लगे। एलिज़ाबेथने स्वामीके दर्शनकर चन्द्रोदयसे रजनीकी भाँति आनन्दसे पुलकित हो आदिस अन्ततक सारी कथा कह सुनायी। राजा प्रमुदित होकर रानीकी प्रशंसा करने लगे। धन्य है! एक दिन वह था जब ईसाई समाजमें ऐसे ऐसे राजा-रानी मौजूद थे। एक आजका ईसाई शासन है जो ईसाई कहाते हुए भी निर्दोषों और सज्जनोंपर अत्याचार करनेमें ही अपना गौरव समझता है। समयका कैसा परिवर्तन है? (क्रमशः)

मोहन!

मोहन, राखौ पद-रज-तलै ॥

सुर-सुरेन्द्र-विधि-पद नहिं चहिए, भेजौ नरक भलै।
जग-सुखके सब साज संभारौ, इनतें दुख न टलै॥
सुख-दुख लाभ-हानि जगकी सम, नैकौ मन न जलै।
विनु विराम छबिधाम निरखि तन-मन नित प्रेम गलै॥

—अकिंचन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक-वाटिका

सब भूतोंके अन्दर एक ही आत्मा है, वही सबका नियन्ता है, वह एक ही अनेक रूपसे भासता है, इस शरीरस्थ आत्माका जो ज्ञानी पुरुष अनुभव करते हैं, उन्हींको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है। –उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

जो सर्वत्र भगवान्‌को देखता है, और सबको भगवान्‌में देखता है, उससे भगवान् कभी अदृश्य नहीं होते और वह कभी भगवान्‌से अदृश्य नहीं होता। -श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀ ❀

जो सब भूतप्राणियोंके अन्दर भगवान्‌को सत्यरूपसे और भगवान्‌के अन्दर सबको अध्यारोपितभावसे देखता है, वही उत्तम भक्त है। –श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀ ❀

जिस मनुष्यको परमात्माका यथार्थ ज्ञान होता है, वह कर्मसे नहीं बँधता, परन्तु जिसको परमात्माका यथार्थ ज्ञान नहीं होता वह संसारमें बार-बार जन्मता मरता है।

–मनुमहाराज

❀ ❀ ❀ ❀

धन, जन, यौवन आदिका गर्व न करो, काल एक पलमें ही सबका हरण कर लेता है। अतः इस जगत्‌को मायामय समझकर इसे छोड़ दो और ब्रह्मपदका आश्रय लो।

–श्रीशंकराचार्य

❀ ❀ ❀ ❀

श्रद्धा ही पुरुषके लिये श्रेष्ठ धन है, धर्म ही स्थायी सुख देनेवाला है, सत्य ही परम स्वादु पदार्थ है और प्रज्ञासे जीवन बितानेवाला ही संसारमें श्रेष्ठ व्यक्ति है।

–बुद्धदेव

❀ ❀ ❀ ❀

जो धनपर भरोसा रखते हैं, उनके लिये परमेश्वरके राज्यमें प्रवेश करना ऊँटका सूईके छेदसे निकल जानेसे भी अधिक कठिन है। –ईसामसीह

❀ ❀ ❀ ❀

हमें किसीके साथ बुराईके बदले बुराई नहीं करनी चाहिये, और हानिके बदले उसे हानि नहीं पहुँचानी चाहिये। –सुकरात

❀ ❀ ❀ ❀

जैसा कुटुम्बसे प्रेम है, वैसा ही यदि हरिसे हो जाय, तो उस दासका मोक्षमार्गमें जाते कोई भी पल्ला नहीं पकड़ सकता। –कबीरजी

❀ ❀ ❀ ❀

संसार दुःखका सागर है और श्रीराम सुखका सागर, अतः संसारके निकम्मे कामोंको छोड़कर सुखसागरकी ओर जाना चाहिये। –दादूजी

❀ ❀ ❀ ❀

श्रद्धाका आश्रय लिये बिना धर्मके मार्गपर नहीं चला जा सकता, चाहे और कुछ भी न हो, परन्तु परमात्मापर श्रद्धा ज़रूर होनी चाहिये। श्रद्धासे सारे पाप भस्म हो जाते हैं। –रामकृष्ण परमहंस

❀ ❀ ❀ ❀

वैराग्य और ज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं। किसी भी परिस्थितिमें, सर्वदा और सर्वत्र ही वैराग्यका आचरण किया जा सकता है। विवाहित स्त्री-पुरुष भी वैराग्यका सम्पादन कर सकते हैं। –स्वामी रामतीर्थ

❀ ❀ ❀ ❀

(१) मुक्ति कब होती है? जब तमाम जंजाल छूट जाते हैं (२) निर्भरता किसे कहते हैं? जब सब कुछ ईश्वरपर छोड़ दिया जाय। (३) अधीनता किसे कहते हैं? जब प्रत्येक कार्य ईश्वरके अर्पण हो। –इमाम अहमद

❀ ❀ ❀ ❀

'जो ईश्वरीय आज्ञाको सुनते और उसीके अनुसार चलते हैं उन्हींका जीवन धन्य है।' इस परम सत्य वाक्यके अनुसार हमारा जीवन जितना प्रकाशित होगा, उतनी ही हमारे ज्ञान और सुखकी वृद्धि होगी। –राल्फ वाल्डो ट्राइन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्ची साधना

हम बहुत ऊँची-ऊँची बातें करते हैं, ब्रह्मज्ञानका निरूपण करते हैं, बात-बातमें संसारके मिथ्या होनेकी सूचना देते हैं, लोगोंको उनके दोष देखकर बुरा कहते और भाँति-भाँतिके उपदेश देते हैं, परन्तु अपनी ओर बहुत कम देखते हैं। ऊँची-ऊँची बातें बनाते और ब्रह्मज्ञानका निरूपण करते समय भी हमारे हृदयके किसी कोनेमें सम्मान या कीर्तिकी कामना छिपी रहती है, जरा गहरे जाकर देखनेसे हम उसे तत्काल पकड़ सकते हैं। सच बात तो यह है कि जहाँ हमारा मन होता है, हम वहीं होते हैं और हमारी यथार्थ स्थितिका अन्दाज़ा भी उसीसे लग जाता है। यदि हमारे मनमें बार-बार काम, क्रोध, लोभकी वृत्तियाँ जाग्रत होती हैं और ऊपरसे हम सत्संगकी बातें कर रहे हैं तो समझना चाहिये कि अभीतक हम असली सत्संगी नहीं बन सके हैं। असली सत्संगी तब होंगे, जब हमारा हृदय 'सत्' रूप परमात्माके स्वरूपसे भर जायगा। काम, क्रोध और लोभकी वृत्तियाँ, धर्मानुकूल कभी आवश्यक समझी जाकर जगानेपर भी नहीं जगेंगी। विषयोंके समीप रहनेपर भी विषयोंपर भोग-दृष्टिसे मन नहीं जायगा। खेदकी बात तो यह है कि आजकल हम सभी गुरु और उपदेशक बनना चाहते हैं, श्रद्धालु शिष्य बनकर साधनामें प्रवृत्त नहीं होना चाहते, अपने भीतर रहे हुए मलकी कुछ भी परवा न कर दूसरेका मल धोना चाहते हैं, परिणाम यह होता है कि हृदयमें मल और भी बढ़ जाता है, जिससे चित्त अशान्त होकर नानाप्रकारके अन्यान्य दोषोंको भी जन्म दे देता है। अनेक प्रकारके मतमतान्तर, अभिमान, राग, द्वेष, क्रोध, हिंसा आदिके उत्पन्न होनेमें इससे बड़ी सहायता मिलती है। अतएव उचित यह है कि हम अपनी ओर देखें, अपने हृदयके मलको धोयें, नम्रताके साथ दूसरोंसे कुछ सीखना चाहें, और जो कुछ अच्छी बात मालूम हो, उसमें मन लगाकर चुपचाप उसका सेवन करें। एक आदमी यथार्थमें धनी हो और संसार उसे धनी न समझता हो तो उसकी कोई भी हानि नहीं होती, संसारके न माननेसे उसका धन कहीं चला नहीं जाता, परन्तु जो धन न होनेपर भी धनी कहलाता या कहलाना चाहता है, उसकी बुरी दशा होती है, वह स्वयं भी अनेक दुःख भोगता है और जगत्‌को भी धोखा देता है। इसी प्रकार सत्पुरुष कहलानेकी इच्छा नहीं रखकर सत्पुरुष बननेकी इच्छा रखनी चाहिये और उसके लिये श्रद्धाके साथ चुपचाप सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। जबतक अपना ध्येय न मिल जाय तबतक दूसरी ओर ताकनेकी भी फुरसत नहीं मिलनी चाहिये। यही सच्ची साधना है।

चित्रपरिचय

दरिद्र मित्र सुदामाके आनेका समाचार सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण दौड़े आये और सुदामाको हृदयसे लगा लिया। सुदामाका मस्तक भगवान्‌के हृदयपर है। भगवान्‌के नेत्रोंसे प्रेम छलक रहा है। सुदामाकी कृतज्ञता और प्रेमपूर्ण दशा देखने योग्य है। इस चित्रके निर्माता प्रसिद्ध चित्रकार श्रीशारदा उकील महाशय हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

76 65

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

वर्ष ५ खण्ड १ } कार्तिक कृष्ण ११ संवत् १९८७ अक्तूबर १९३० { संख्या ४ पूर्ण सं० ५२

श्रीराम-कृष्ण-ध्यान

राम-कृष्ण कहिये उठि भोर ।
अवध-ईस वे धनुष धरे हैं, यह व्रज-माखन-चोर ॥
उनके छत्र चँवर सिंहासन, भरत शत्रुहन लछमन जोर ।
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर, नित गायन-सँग नन्द-किसोर ॥
उन सागरमें सिला तराई, इन राख्यौ गिरि नखकी कोर ।
'नन्ददास' प्रभु सब तजि भजिए, जैसे निरतत चन्द चकोर ॥

—नन्ददासजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान्‌का अवतार-शरीर

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक सज्जनने निम्नलिखित प्रश्न किये हैं, प्रश्न महत्त्वके हैं, संक्षेपमें उत्तरसहित प्रश्न प्रकाशित किये जाते हैं। प्रश्नोंकी भाषामें सुधार किया गया है।

१—क्या पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण आदिके पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर होते हैं ?

२—साधारण जीवोंके शरीरका अभिमानी तो जीवात्मा होता है परन्तु अवतार-शरीरका अभिमानी कौन होता है ?

३—यदि सगुण ईश्वरको ही उस शरीरका अभिमानी माना जाय तो जो विश्वात्मा इस समस्त विश्वका अभिमानी है, वह केवल एक शरीरका अभिमानी कैसे हो सकता है ?

४—एक शरीरका अभिमानी है तो उसमें कुछ भेद होगा या नहीं, यानी वह जिस प्रकार सामान्य-रूपसे सब स्थानोंमें है, उससे अवतार-शरीरमें कुछ विशेष रूपसे है या नहीं ?

५—श्रीमद्भगवद्गीतासे पूर्वके किसी ग्रन्थमें अवतारवादका बीजरूपसे भी वर्णन है क्या ?

इनका क्रमशः उत्तर—

यद्यपि सच्चिदानन्दघन परमात्माके अवतार-रहस्यके सम्बन्धमें लिखना मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये बालचेष्टावत् है, परन्तु इसी व्याजसे कुछ भगवच्चर्चा हो जायगी, यही समझकर अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कुछ लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ।

(१) भगवान्‌का जन्म और उनका विग्रह सर्वथा दिव्य एवं अलौकिक है। मलिन विकाररूप पञ्चमहाभूत जो हम लोगोंके दृष्टिगोचर होते हैं, भगवान्‌का शरीर उनसे बना हुआ नहीं होता। तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञ मनुष्योंको ऐसा ही प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर हम लोगों-जैसा ही है। भगवान् कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(गी० ७।२५)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(गी० ९।११)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये अज्ञानी मनुष्य मुझ अजन्मा, अविनाशी परमात्माको (तत्त्वसे) नहीं जानता, वह मुझे जन्म लेने और मरनेवाला समझता है।'

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं, अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें लीला करते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

भगवान्‌के परम तत्त्वको जाननेवाले बड़भागी पुरुषोंको तो भगवान्‌का शरीर सर्वथा दिव्य ही प्रतीत होता है, उनकी दृष्टिसे भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप कभी ओझल नहीं होता, इसीसे वे मुक्त होते हैं। स्वयं भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(४।९)

'हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इसप्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीरको त्यागकर पुनः जन्मको प्राप्त नहीं होता। वह तो मुझ (परमात्मा) को ही प्राप्त होता है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अजन्मा, अविनाशी, सर्वभूतोंके परम गति और परम आश्रय हैं, वे केवल धर्मकी स्थापना और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं। उनके समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है! ऐसा समझकर जो पुरुष परमेश्वरका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित हो संसारमें बर्तता है, वही वास्तवमें उन्हें तत्त्वसे जानता है। ऐसे तत्त्वज्ञकी दृष्टि ही वास्तविक दृष्टि है। जो लोग मायाके आवरणसे ढके रहनेके कारण वास्तविक दृष्टिसे शून्य हैं, वे परमात्माके साकाररूपको विकारी पाञ्चभौतिक मानते हैं। असलमें न तो भगवान्‌का शरीर ही साधारण प्राणियोंका-सा है और न उनका अवतरण ही जीवोंकी उत्पत्तिके समान है। जीव मायाबद्ध है, वह उसीके नियन्त्रणमें पाप-पुण्योंके अनुसार परवश हुआ जन्म-मरणको प्राप्त होता है-- भगवान् कहते हैं-

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।

'प्रकृतिके वशसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूत-समुदायको मैं रचता हूँ।' परन्तु भगवान् इसप्रकार पापपुण्यका फल भोगनेके लिये पाप-पुण्यसे परवश होकर जन्म ग्रहण नहीं करते। प्रकृति और माया उनकी चेरी हैं, शक्ति हैं, वे प्रकृतिको अपने अधीन करके शुद्ध संकल्प और शुद्ध सत्त्वसे लीलामात्रसे ही लोकोद्धार और धर्म-संस्थापनके लिये प्रकट होते हैं। वे मायाको अधीन बनाकर लीलासे ही शरीर धारण करते हैं। उनका लीलाविग्रह उन शुद्ध महाभूतोंका होता है, जिन भूतोंकी दिव्य मात्राओंका योगीगण योगबलसे अनुभव किया करते हैं। दिव्य सत्त्वका शरीर होनेके कारण उसमें किसी भी शारीरिक और मानसिक विकारको किञ्चित् भी स्थान नहीं होता। इसीसे उसको 'अनामय' कहते हैं। इसी कारण किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थमें कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि अवतार-शरीरको कभी कोई रोग हुआ हो। भागवत, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें अवतारके लिये 'अनामय' शब्दका प्रयोग तो बहुत स्थानोंपर मिलता है।

जब एक योगी भी अपनी योगशक्तिके बलसे अनेक शरीर धारण कर सकता है तब महान् योगेश्वरेश्वर मायाके स्वामी लीलामय भगवान्‌के लिये एकसे अनेक रूपोंमें प्रकट हो जाना कौन बड़ी बात है? इसी लीलाका नाम योगमाया है। अपने अवतार-जन्मको प्राकृत मनुष्योंके जन्मसे भिन्न प्रकारका सिद्ध करते हुए भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(गी० ४ । ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा समस्त भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यहाँ 'माया' शब्द लीलाका वाचक है, प्रकृतिका नहीं। 'प्रकृति' शब्द तो अलग आया ही है, 'माया' भी उसी अर्थमें होता तो इसका प्रयोग व्यर्थ होता। इस श्लोकमें आया हुआ 'अपि' शब्द भी इस सिद्धान्तका समर्थन करता है कि भगवान् उत्पन्न नहीं होते—उत्पन्न हुए-से प्रतीत होते हैं, अजन्मा रहनेपर भी जन्मते हुए-से दिखायी देते हैं। वे अपनी लीलासे 'लोकदृष्टि'में मनुष्य प्रतीत होते हैं। भगवान्‌के विग्रहका यह रहस्य साधारण मनुष्योंके मन-बुद्धिसे परेकी बात है। भगवद्रूपमें स्थित परमभक्त महात्मा लोग ही भगवत्कृपासे इसे जान सकते हैं।

सो जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई॥

(२) भगवान्‌के शरीरमें कोई भी अभिमानी नहीं होता। जब अज्ञान-दशासे ज्ञानदशामें पहुँचे हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक जीवन्मुक्तका कार्य भी देहाभिमानीके बिना चल जाता है, तब श्रीभगवान्‌के दिव्य शरीरमें भिन्न अभिमानीके अध्यारोपकी क्या आवश्यकता है? उस दिव्य शरीरके द्वारा सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्ता-स्फूर्त्तिसे कार्य होते हैं। लोगोंको समझानेके लिये यह कहा जा सकता है कि शुद्ध ब्रह्मके साथ समष्टिचेतन—जो एक ही तत्त्वरूप परमात्मा है--ही अभिमानीके सदृश स्थित प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर उसमें अभिमानी हैं तो इससे सृष्टिकर्त्ता ईश्वर अपने शुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्मस्वरूपसे अलग कर दिये जाते हैं। अवश्य ही यदि कोई सज्जन यह कहें कि हम वास्तवमें तो मायाविशिष्ट ईश्वर और शुद्ध ब्रह्मको पृथक्-पृथक् नहीं मानते, केवल लोगोंको समझानेके लिये सृष्टिकर्त्ता समष्टिचेतन अंशमें ही अध्यारोप करके उसे औपचारिक अभिमानी मानते हैं तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

(३) यह तो कहा ही जा चुका कि ईश्वर वास्तवमें उस शरीरका अभिमानी नहीं होता। विश्वका अभिमानी एकदेशीय शरीरका अभिमानी कैसे बन सकता है? यह एक साधारण-सी बात है और विचार करते ही समझमें आ सकती है। जब सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त अग्निका अभिमानी देवता एक होनेपर भी (अव्यक्तरूपसे अग्निके सर्वत्र व्यापक रहते हुए भी) अनेक भिन्न-भिन्न स्थानोंमें व्यक्त प्रज्वलित मूर्ति धारण करके उसका अभिमानी-सा बन, सबकी दी हुई आहुतियोंको ग्रहण कर उनके अनुसार फल देता है, तब सर्वशक्तिमान्, सर्वाश्रय, सर्वव्यापी परमात्माके लिये ऐसा करनेमें कौन-सा आश्चर्य है? जैसे एक विशेष स्थानमें प्रज्वलित व्यक्त अग्निका अभिमानी वहाँकी आहुतियोंको ग्रहण करता हुआ भी अन्य सब जगहोंसे लुप्त नहीं हो जाता, इसी प्रकार परमात्माके एक जगह प्रकट हो जानेसे अन्य सम्पूर्ण स्थानोंमें उसका अभाव नहीं हो जाता। शास्त्रोंके अनुसार जब अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवगण स्तुति-आराधनासे प्रसन्न हो एक ही साथ अनेक स्थानोंमें प्रकट होकर उपासकोंको उनके भावानुसार वर देनेकी शक्ति रखते हैं तो फिर सर्वदेवदेव भगवान्‌के ऐसा करनेमें क्या आश्चर्य है?

(४) भगवान् शरीरके अभिमानी तो नहीं हैं परन्तु अवतार-शरीरमें उनका विशेषत्व अवश्य है, वह शरीर वास्तवमें उनकी दिव्य मूर्ति ही है। सब जगह समानभावसे सर्वशक्तिमत्ताके साथ विराजित होनेपर भी अपने अवतारमें वे विशेषरूपसे हैं। जैसे सब जगह समानभावसे व्याप्त होनेपर भी हृदयमें भगवान्‌का विशेषरूपसे रहना माना गया है। 'सर्वस्यचाहं हृदि सन्निविष्टो।' 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' 'ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' आदिसे सिद्ध है। उनमें भी ज्ञानीके हृदयमें तो उनका और भी विशेषरूपसे रहना बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं-

> समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
> ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
> (९।२९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें और मैं भी उनमें (प्रत्यक्ष प्रकट) हूँ।' इस प्रकार जब भक्तोंके हृदयमें भगवान्‌की विशेषता सिद्ध है तब अपने परमदिव्य व्यक्त लीलाविग्रहमें विशेषतासे होना तो प्रत्यक्ष ही सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने लिये स्वयं कहते हैं—

> ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।
> शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
> (१४।२७)

'हे अर्जुन! अविनाशी परब्रह्मका, अमृतका, नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ!'

सूर्यका प्रकाश सब जगह समान होनेपर भी काठ और काँचमें प्रत्यक्ष भेद प्रतीत होता है। काठमें प्रतिबिम्ब नहीं होता पर काँचमें होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काँचोंमें भी सूर्यमुखी काँचमें तो इतनी विशेषता है कि उससे रूई और कपड़े भी जल जाते हैं। सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी संसारके पदार्थोंकी अपेक्षा हृदयमें विशेषता है, हृदयोंमें ज्ञानी या भक्तके हृदयमें और उससे भी अधिक विशेषता अवतार-विग्रहमें है। वह तो उनका स्वरूप ही है, इससे उसके कार्य भी सब भगवद्रूप ही हैं।

(५) अवतारवादका वर्णन अनेक ग्रन्थोंमें है। श्रीवाल्मीकिरामायणमें (जो जगत्में आदिकाव्य माना जाता है) ही अवतारवादका स्पष्ट वर्णन है। कल्याणके 'रामायणांक'में प्रकाशित 'वाल्मीकीय-रामायणसे अवतारवादकी सिद्धि' शीर्षक लेख ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजीश्री शिवानन्दजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

७५-मन संकल्प-विकल्पात्मक है। जब यह बुद्धिके निर्णयोंको कर्मेन्द्रियोंके पास सम्पादनके लिये प्रेरित करता है तो यह व्याकरणात्मक हो जाता है।

७६-दृश्य मानसिक अविद्याके प्रतिरूप हैं। बाहर केवल प्रकाश है। बाहर केवल कम्पन है। किन्तु मन ही उसको रंग और रूप प्रदान करता है। (यह एक विचार है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान एक सिद्धान्त है)।

७७-मनकी जब इन्द्रियोंसे तुलना की जाती है तो यह चैतन्य जान पड़ता है। किन्तु जब इसकी बुद्धिसे तुलना की जाती है तो यह जड़ हो जाता है, सांख्य-तत्त्वके अनुसार बुद्धिमें इच्छा और चेतना, दोनों मिश्रित हैं।

७८-शम और दमके अभ्याससे मनकी उपरति हो जाती है। मनको वाह्य विषयोंमें न जाने देना ही शम है। विवेकके द्वारा वासना-त्याग शम है। दम इन्द्रियोंका निग्रह है। मनकी शान्तिके लिये शम और दम दोनों आवश्यक हैं। दम इन्द्रियोंको कुण्ठित कर देता है। यदि इन्द्रियाँ तीक्ष्ण और तीव्र हैं तो वे बलात्कारसे साधकके मनको भी उसी प्रकार हर ले जा सकती है जैसे समुद्रमें वायुका प्रबल झोंका नौकाको बहा ले जाता है। (गीता २।६७)

७९-इन्द्रियाँ केवल दमके द्वारा ही पूर्णरूपसे वशमें नहीं की जा सकतीं। मनकी सहायतासे या मानसिक विचारके द्वारा ही वे पूर्णरूपसे वशमें की जा सकती हैं।

८०-मन प्रधान सेनापति है, इसके अनुशासनमें दश सैनिक हैं-पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ।

८१-इन्द्रियाँ अकेली कुछ भी नहीं कर सकतीं, यदि मनका सम्बन्ध उनसे न रहे। जब आप किसी सरस ग्रन्थके अध्ययनमें तल्लीन हो जाते हैं तो आप अपने मित्रके जोरसे पुकारनेपर भी नहीं सुनते। आपको इतना भी नहीं जान पड़ता कि घड़ीने पाँच बजाया है। यह प्रत्येक मनुष्यका प्रत्यक्ष अनुभव है। मन उस समय दूर था। श्रवणेन्द्रियसे उसका सम्बन्ध नहीं था। निद्रामें भी आँखें खुली रह सकती हैं किन्तु कुछ देखती नहीं। क्योंकि मन वहाँ नहीं रहता।

८२-आप एक समय दाहिनी या बाईं केवल एक आँखसे देख सकते हैं। आप एक समय दाहिने या बायें केवल एक ही कानसे सुन सकते हैं, अपने दैनिक अनुभवमें आप इसका निरीक्षण करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८३-कषाय वह सूक्ष्म प्रभाव है जो भोगके द्वारा मनमें उत्पन्न होता है और वहीं पुष्पित और फलित होनेतक पड़ा रहता है तथा समाधिसे मनको आकर्षित करता है। ध्यानका यह एक महान् विघ्न है। यह साधकको समाधिनिष्ठामें प्रविष्ट नहीं होने देता। यह भुक्त भोगोंकी सूक्ष्म स्मृतिको जागृत करता है। पारिभाषिक शब्द संस्कारका यह पर्याय है। संस्कारसे वासना उत्पन्न होती है। संस्कार कारण है और वासना उसका कार्य है।

कषायका अर्थ है रंग। राग, द्वेष और मोह, मनके तीन कषाय या रंग हैं। ब्रह्मभावनाके साथ-साथ सतत विवेक इस कषायरूपी दुःसाध्य रोगकी अचूक ओषधि है।

८४-जब इन्द्रियाँ अपने विषयोंसे विराम लेती हैं तो वे मनस्स्वरूप हो जाती हैं। इन्द्रियाँ मनमें समेटी जा सकती हैं, इसे ही प्रत्याहार कहते हैं।

८५-चित्तहीको मन कहते हैं, मानो यह उसका आधार है अथवा यह उस सरोवरके समान है जिससे निरन्तर विचार-तरङ्ग उठा करते हैं। महर्षि पतञ्जलिका यह राजयौगिक शब्द है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी विभिन्न स्थानोंमें 'चित्त' शब्दका प्रयोग किया है।

८६-अहङ्कारकी उत्पत्ति पृथ्वी-तन्मात्रासे हुई है (तन्मात्रामें सूक्ष्म भूत हैं जिनसे पाँचों स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति होती है)। चित्त जल-तन्मात्रासे उत्पन्न होता है; बुद्धि तेजस्तन्मात्रासे तथा मन वायु-तन्मात्रासे उत्पन्न होता है।

८७-मन ही मनुष्यको धनी बनाता है। कामनाओंसे मनुष्य भिखारीसे भी भिखारी बना हुआ है। कामनाहीन पुरुष संसारमें सबसे बड़ा धनी है। कामना (तृष्णा) भावापन्न मनकी एक दशा है। यह शान्तिकी विरोधिनी है।

८८-अपनेको शरीर समझनेकी भ्रमात्मक कल्पना ही सारी बुराइयोंकी जड़ है। भ्रामक विचारके द्वारा मनुष्य शरीरके साथ अभेदज्ञान रखता है; देहाध्यासका यही रहस्य है। मनुष्यका शरीरके साथ जो मोह होता है इसीका नाम अभिमान है, जिससे 'ममता' अर्थात् मेरापन उत्पन्न होता है। मनुष्य अपने स्त्री,पुत्र, गृहादिसे आत्मीयता तादात्म्य संस्थापित करता है। यह तादात्म्य या मोह ही बन्धन, विपत्ति और दुःखका कारण होता है। यूरोपीय युद्धमें लाखों जर्मन मरे परन्तु आपकी आँखोंमें आँसू न आये। क्यों ? इसका कारण यही था कि उनके प्रति आपके हृदयमें मोह या तादात्म्यका भाव न था। लेकिन जब आपका पुत्र मरता है तब आप मोहके कारण आर्त्त हो रोने लगते हैं। 'मम (मेरा)' यह शब्द मनमें आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न करता है; 'घोड़ा मर गया है' और 'मेरा घोड़ा मर गया है' इन दोनों वाक्योंके सुननेसे मनमें जो प्रभाव होते हैं उनकी विभिन्नतापर ध्यान देनेसे वह सहज ही जाना जा सकता है।

८९-मनुष्य वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है और उसके सिरके बाल श्वेत हो जाते हैं लेकिन मन सदा तरुण ही बना रहता है। उसकी शक्ति क्षीण हो सकती है, पर उसकी प्रवृत्ति तो उस समय भी वैसे ही बनी रहती है जिस समय मनुष्य अत्यन्त वृद्धावस्थामें पहुँच जाता है।

९०-ईश्वर-सृष्टि किसीको विपत्तिमें नहीं डालती। यह तो मनकी वासना है जो विषयोंकी ओर आकर्षण कराती है और बन्धनमें डालती है। अतः शुद्ध सङ्कल्प ही ग्राह्य है, वासना नहीं।

९१-वृत्ति स्वभाव (आदत) के रूपमें घनीभूत होती है, और स्वभाव ही अवस्थाविशेषके रूपमें ठोस बन जाता है। यदि आप मनमें एक बार कामवृत्तिको उठने देंगे तो फिर उसी वृत्तिके अनुसार आपका स्वभाव बन जायगा। मानसिक शक्ति उसी ओर शीघ्रतासे प्रवाहित होगी। आप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बार-बार उसीका चिन्तन करनेके लिये विवश होंगे। अतएव स्वभावगत वृत्ति, अनुभति और भावनाओंका संयम करना चाहिये।

६२- जब सारी वृत्तियोंका नाश हो जाता है तो मनकी आकृति केवल संस्काररूपसे रह जाती है। तब मन संस्कारशेष कहलाता है। वेदान्तकी भाषामें इसे 'अन्तःकरणमात्र' कहते हैं।

६३-दान, जप, निष्कामकर्म, यज्ञ, अग्निहोत्र, ब्रह्मचर्य, सन्ध्या, तीर्थयात्रा, दम, शम, यम, नियम, स्वाध्याय, तप, व्रत, साधुसेवा–ये सब चित्तशुद्धि-के लिये हैं।

६४-यदि आप चाय पीनेकी अपनी पुरानी आदतको छोड़ देते हैं तो आप रसनेन्द्रियको किसी अंशतक वशमें करते हैं। आप एक वासनाको नष्ट करते हैं। इससे आपको कुछ शान्ति मिलेगी, क्योंकि आपकी चायकी तृष्णा चली गयी है और आप चाय, दूध, शक्कर आदिके जुटानेके झञ्झटसे छूट गये हैं। चिन्तन करना ही दुःख है, देखना ही दुःख है। एक दार्शनिक या साधकके लिये तो सुनना भी दुःख ही है। विषयी मनुष्यके लिये यह सब सुख हैं। वह शक्ति जो आपको चायके पीछे दौड़नेके लिये उकसा रही थी, इच्छाके रूपमें परिणत हो गयी है। केवल एक विषयके त्यागनेसे आपको शान्ति और इच्छा-शक्ति प्राप्त होती है। यदि आप बीसियों विषयोंको त्याग दें तो आपके मनको कहीं अधिक शान्ति मिलेगी तथा आपकी इच्छा-शक्ति कितनी प्रबल हो जायगी। यही त्याग और संन्यासका फल है। अतएव संन्याससे आप घाटेमें नहीं रहते, प्रत्युत आपको अधिक ज्ञान, अधिक आनन्द और अधिक शक्ति प्राप्त होती है। इसप्रकार आप एक वस्तुको इसलिये त्यागते हैं कि उसके बदलेमें आपको उससे एक अधिक श्रेयस्कर वस्तु प्राप्त होती है। क्या कोई भी मनुष्य मिश्रीके लिये गुड़को नहीं त्याग देगा? यदि आप एक बार एक वासनाको जीत लेते हैं तो दूसरी अनेक वासनाओंको भी सहज ही जीता जा सकता है, क्योंकि आपको शक्ति और पराक्रम प्राप्त हो गये हैं।

६५-यदि आप चायको छोड़ते हैं तो वस्तुतः आप मनके एक छोटेसे अंशको वशमें कर लेते हैं, रसनाके संयमका अर्थ है मनका संयम। कामपर विजय प्राप्त करना ही वास्तवमें मनपर विजय प्राप्त करना है।

६६-वैराग्य और त्यागके द्वारा ही मनको सूक्ष्म (तनु) किया जाता है और जब यह तनु होते-होते सूत्रवत् हो जाता है तो उसकी 'तनुमानसी' भूमिका होती है।

६७-आशा और अपेक्षा, वैराग्य और त्यागके विरोधी हैं। ये मनको स्थूल बना देते हैं। मनके लिये मानो वे 'कॉड लिवर ऑयल' ही (Cod Liver Oil) हैं। दार्शनिकके लिये पूर्णरूपसे आशारहित होना एक बहुत ऊँची स्थिति है। किन्तु विषयी पुरुषके लिये यह बहुत ही बुरी स्थिति है क्योंकि लोग ऐसे मनुष्यके विषयमें तिरस्कारके साथ कहा करते हैं कि '–उसके अब कोई आशा नहीं रही।' परमार्थी और विषयी पुरुषोंका पथ एक दूसरेसे ठीक उल्टा होता है।

६८-संस्कारोंसे टिड्डीदलके समान वासनाएँ प्रकट होती हैं; वासनाओंसे इच्छाएँ बढ़ती हैं और इष्ट विषयोंके उपभोगसे तृष्णा या आन्तरिक लिप्सा जाग्रत होती है। तृष्णा बहुत ही बलवती होती है। (क्रमशः)

घनश्याम पियारे

जब सों सखि, घनश्याम निहारे ॥
भूल गई तब सों तन-मन सुधि, बिगरत जे गृहकाज सँवारे ॥१॥
रुकत न रोकत नयन निगोड़े बहत निरन्तर नीर-पनारे।
हुमकि हुमकि हिय हूक उठति सखि, दौरि दौरि देखहु पिय द्वारे॥२॥
तनमें मनहु तपा सी लागति अंग अंग जनु भये अँगारे,
छिन छिन कलप कलप जनु बीतत कब भेंटहु पिय प्रान-पियारे॥३॥
वे तो कहत कानि नहिं लागत कहा कहहिं कुलबन्धु हमारे।
मौ कहँ तो कुल, कुलजन, पुरजन–सबै भये घनश्याम पियारे॥४॥

'आदित्य'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अव्यक्तोपासनामें क्लेशाधिक्य

(लेखक-श्रीवियोगी हरिजी)

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

अव्यक्त स्वरूपमें चित्त आसक्त रहनेसे उन साधकोंको क्लेश बहुत होते हैं, बात यह है कि देहाभिमानी मनुष्य अव्यक्त उपासनाकी गतिको कष्टसे ही पा सकते हैं। यह मार्ग अत्यन्त कष्टसाध्य है।

इस श्लोकमें परमात्माके अव्यक्त स्वरूपकी प्राप्ति कष्टसाध्य कही गयी है। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि व्यक्त स्वरूपकी उपासना अपेक्षाकृत सुगम और सुखसाध्य है। साकार मनुष्य साकार ईश्वरकी ही कल्पना करेगा। सगुण साधक सगुणसाध्यका ही ध्यान धरेगा। व्यक्त मनुष्यके लिये अव्यक्त भगवान्‌की उपासना इसीलिये क्लेशकारिणी बतलायी गयी है। परमात्माका निर्गुण, निराकार अचिन्त्य और अव्यक्त स्वरूप केवल अनुभवगम्य और इन्द्रियोंको अगोचर होनेके कारण उपासनाके उपयुक्त नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं श्रीमुखसे यह कहा है कि—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

अर्थात् यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ, तथापि मूढ़जन मेरे श्रेष्ठ और अव्यय परम भावको न जानते हुए मुझे देहधारी मनुष्य मानते हैं।

बिल्कुल ठीक, पर देहधारियोंकी गति उस अव्यक्त स्वरूपतक हो, तब न? मनुष्य तो अपनी ही जैसी कल्पना अपने प्रभुकी करेगा। वह तो सगुण परमात्माकी ही आराधना करना चाहेगा। उस बेचारेको तो अपने मानवजीवनकी यात्रामें एक—

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।

—चाहिये। उसे ऐसा आराध्य चाहिये, जिसके सामने जाकर वह निस्संकोच हो यह कह सके, कि-

अवगुन मेरे बापजी बगसु गरीबनिवाज।
जो मैं पूत कुपूत हौं, तऊ पिताको लाज॥
मैं अपराधी जनमका नखसिख भरा विकार।
तुम दाता दुख-भंजना, मेरी करौ सम्हार॥
तुम तो समरथ साइयाँ, दृढ़ करि पकरौ बाँहि।
धुरही लौं पहुँचाइयौ जनि छाँड़ौ मगमाँहि॥

—कबीर

उसे ऐसा प्यारा जीवन-सखा चाहिये, जिसके साथ वह निर्भय होकर इस भाँति लड़-झगड़ सके—

आजु हौं एक-एक कर टरिहौं।
कै मैं ही कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं॥
हौं तौ पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं॥
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिनु करिहौं॥

—सूर

जो ब्रह्म अतर्क्य, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनिर्देश्य आदि शब्दोंसे निरूपित किया गया है, वही भावुक भक्तोंकी प्रेममयी दृष्टिमें उनका 'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः' अर्थात् परम पिता और परम सखा हो जाता है। वेदान्तका परम सिद्धान्त गोधूलि-धूसराङ्ग गोपाल बनकर नन्द-निकेताङ्गणमें नृत्य करने लगता है! अहा!

सखि शृणु कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्त—सिद्धान्तः॥

तथैव—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अखंड अनंत अछेद अभेद सो वेद बतावैं।
नारद-से सुक व्यास रटैं, पचि हारैं तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछियाभर छाँछपै नाच नचावैं॥

—रसखानि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान् भाव-वश्य हैं, प्रेमके भूखे हैं। प्रतीकमें स्वतः भगवान् नहीं हैं। किन्तु भक्तके भावमें भगवान् हैं। भावुक अपने भावके अवलम्बनसे ही अपने प्रिय प्रतीकमें प्रियतमका स्वरूप देखता है। कहा भी है—'भावे तिष्ठति देवता'। अपना प्रेमभाव स्थिर करनेके लिये भक्तको किसी-न-किसी प्रतीककी स्थापना करनी ही पड़ती है। श्रीगान्धीजी अनासक्ति-योगमें लिखते हैं—

'देहधारी मनुष्य अमूर्त्त स्वरूपकी केवल कल्पना ही कर सकता है। पर उसके पास अमूर्त्त स्वरूपके लिये एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है, इसलिये उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्दसे सन्तोष करना पड़ता है। इसीलिये मूर्तिपूजाका निषेध करनेवाले भी सूक्ष्म रीतिसे देखनेपर, मूर्तिपूजक ही होते हैं। पुस्तककी पूजा करना, मन्दिरमें जाकर पूजा करना, एक ही दिशामें मुख करके पूजा करना, ये सभी साकार पूजाके ही तो लक्षण हैं।'

प्रतीकके प्रकारपर बहस नहीं है। राम कहो या कृष्ण कहो, बुद्ध कहो या ईसा कहो, कुछ भी कहो, अपने भावमें स्थिरता प्राप्त करनेके लिये एक-न-एक प्रतीककी आवश्यकता तो मनुष्यको होगी ही। बिना किसी प्रेमाधारके उपासनाका आरम्भ हो ही नहीं सकता। परन्तु प्रतीककी उपासना ही हमारा अन्तिम ध्येय नहीं है। उसकी एक सीमा है। जबतक देहाभिमान दूर नहीं हुआ, तबतक व्यक्त पूजासे ही निस्तार है। यह प्रारम्भिक साधन सुगम तथा सुकर भी है। अपना कोई-न-कोई श्रद्धा-भाजन बनाना मनुष्यके स्वभावमें है, क्योंकि उसकी श्रद्धामयी प्रकृति ही है–

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

मनुष्य श्रद्धामय है; प्रतीक कुछ भी हो। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, प्रतीक भी वैसा ही हो जाता है—

जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी॥

—तुलसी

भगवान्‌ने गीतामें कहा है–

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जिस प्रकार मुझे जो भजते हैं, मैं भी उसी प्रकार उन्हें भजता हूँ। यदि भक्तका नाता भगवान्‌से है, तो भगवान्‌का भी नाता अपने भक्तसे है—

हम भक्तनके भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिग्या मेरी, यह व्रत टरत न टारे।

—सूर

अस्तु, यह सिद्ध हुआ कि व्यक्त स्वरूपके उपासकको अपना भाव स्थिर करनेके हेतु आरम्भमें किसी-न-किसी प्रतीककी आवश्यकता तो होती ही है। किन्तु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अन्तस्तलका भाव मुख्य है और प्रतीक गौण। लोकमान्य तिलकने गीतारहस्यमें लिखा है—

'प्रतीक कुछ भी हो, भक्तिमार्गका फल प्रतीकमें नहीं है, किन्तु उस प्रतीकमें जो हमारा आन्तरिक भाव होता है उस भावमें है। इसलिये यह सच है कि प्रतीकके बारेमें झगड़ा मचानेसे कुछ लाभ नहीं।'

सगुणोपासना किये बिना अव्यक्त पदमें प्रेमासक्तिका होना असम्भव ही है। उस अज्ञात मार्गपर चलनेका साहस कौन देहाभिमानी करेगा? ज्ञानदेवजीके मार्मिक शब्दोंमें—

'मृत्युसे भी तीखा अथवा उबलता हुआ विष क्या लीला जा सकता है? पर्वतको लीलते हुए क्या मुँह नहीं फटता? अतएव पंगु जैसे वायुसे स्पर्धा नहीं कर सकता, वैसेही देहधारी जीवोंको अव्यक्त स्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती है।'

भक्ति-पथके पथिकोंको यह सब कष्ट नहीं होते, वे अबोध बालककी तरह अपने परम पिताकी प्यार-भरी गोदमें खेलते हुए ही 'अच्युतपद' को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान्‌ने उन प्यारे देहधारी प्राणियोंके लिये, जो अव्यक्त उपासना करनेमें असमर्थ हैं, ये सुगम मार्ग निर्धारित कर दिये हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण अपने सखा प्यारे पार्थको आश्वासन देते हुए कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

परन्तु हे पार्थ, जो मत्परायण पुरुष अपने समस्त कर्म मुझे समर्पित करके अनन्ययोगसे मेरी उपासना करते हैं और मुझमें ही जिनका चित्त लगा हुआ है, उनका उद्धार मैं मृत्युमय संसारसागरसे तुरन्त कर देता हूँ।

यहाँ भगवान्‌ने अपने व्यक्त स्वरूपकी उपासना तथा ज्ञानयुक्त श्रद्धामूलक भक्तिमय कर्मयोगका उपदेश दिया है। और उसका महत्त्वपूर्ण फल बतलाया है । भगवान् अपने भक्तके हृदयसे कर्तृत्वका मिथ्या अहङ्कार निकालकर फेंक देना चाहते हैं। वह चाहते हैं कि भक्तियोगका साधक कर्मका स्वरूपतः परित्याग न करे, किन्तु फलासक्तिके फन्देमें भी न पड़ जाय। इसीसे वह सर्व कर्मोंको ईश्वरार्पण करनेपर ही ज़ोर दे रहे हैं। लोकसंग्रहकी अत्युपयोगी सनातन योजनामें भी विक्षेप न आने पाये और भक्तके समस्त कर्मफल भी नष्ट होते जायँ-मृत्युमय संसारसागरसे उद्धार पानेका यह कैसा सुन्दर सुगम उपाय है। एक ही वाणसे दो लक्ष्य बेधे जा रहे हैं। पर यह लक्ष्यबेध भगवत्परायण पुरुष ही कर सकता है। केवल वही भगवान्‌में अपने कर्मोंका सम्यक् प्रकारसे संन्यास कर सकता है, जो हर तरहसे भगवान्‌का ही हो गया है, जो निरन्तर भगवद्ध्यान करते-करते भगवान्‌का मानो निवासस्थान ही बन गया है। जिसकी दौड़ अपने एक ही प्राण-प्रिय लक्ष्य तक है, वही तद्भावलीन अनन्य भक्त अपने अखिल कर्मोंको ईश्वरार्पित कर सकता है। कर्मोंको कृष्णार्पित किये बिना जीवका निस्तार नहीं। कर्तृत्वबुद्धि ही तो पतनकारिणी है। हमारी तो यही निरन्तर धारणा रहनी चाहिये, कि जो कुछ भी हमारेद्वारा हो रहा है वह सब प्यारे कृष्णके ही लिये हो रहा है। हमें इसकी ख़बर भी नहीं कि इन कर्मोंका कौन कर्ता है और क्या इनका फल होगा । कर्मोंको कृष्णार्पण करते-करते ही अहङ्कारका समूल नाश होगा । 'तू-तू' करते हुए 'मैं' भी 'तू' में तल्लीन हो जायगा। महात्मा कबीरकी एक साखी है—

तूँ तूँ करता तूँ भया मुझमें रही न हूँ।
वारी तेरे प्रेमपर जित देखूँ तित तूँ॥

जिसने अपने 'मैं' को प्यारे 'तू' में घुला-मिला दिया, वह प्यारी तल्लीनताका मधुर रस पियेगा, तन्मयताका मीठा मज़ा लूटेगा । जब हमीं कृष्णके हो गये, तो हमारे सारे कर्म तो कृष्णार्पित हो ही चुके। किन्तु यह भगवत्परायणता अनन्य योगसे ही प्राप्त होती है । जो केवल अनन्य गतिसे भगवान्‌का निरन्तर ध्यान किया करता है वही तन्मयताकी अनिर्वचनीय अवस्थाको पहुँच सकता है। ऐसे अनन्य भक्तोंके योग और क्षेमको भगवान् स्वयं वहन करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अनन्य भावसे सर्वत्र केवल परमात्माको ही जो देखता है वही सच्चा भक्त है। जो उस स्वयं परम दयालु स्वामीके हाथ बिना दाम ही बिक गया है, उसके सब कर्म भी वही प्यारा गाहक ख़रीद चुका है। उसे करनेको सिर्फ दो ही काम रह जाते हैं- भगवद्ध्यान और लोकसंग्रह । दो क्यों, असलमें देखा जाय तो यह दोनों काम एक ही हैं, भगवान्‌की लोक-कल्याणकारिणी आज्ञाओंका पालन करना भी तो भगवद्ध्यान ही है । उस प्राणप्रिय आत्मरमण रामके ध्यानमें लीन हो जानेपर वह अपना आपा भूल जाता है । वह कर्म करता हुआ भी कर्म नहीं करता, संसारमें रहता हुआ भी संसारमें नहीं रहता। उसकी सुरत तो वहीं लगी रहती है जहाँ उसने अपना मन, अपना हृदय और अपनी आत्मा अर्पित कर दी है । सन्त-शिरोमणि कबीरदासकी एक साखी है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पियमाहिं ।
ऐसे जन जगमें रहैं, हरिको भूलत नाहिं ॥

क्यों न भक्त-वत्सल भगवान् ऐसे तन्मय भक्तको संसार-सागरसे तुरन्त निकालकर अपनी शरणमें खींच लें ? ऐसे तदीय जनोंके उद्धारका तो मानो आप ठेका ही ले चुके हैं। भक्तोंके जब समस्त कर्म आपने अपनालिये, तब उनकी चिन्ताएँ कौन लेता, वे भी आपहीको अपने मत्थे लेनी पड़ीं। कर्म वे करते हैं उत्तरदायी आप बनते हैं। चिन्ताओंसे और कठिन उत्तरदायित्वसे अपने प्यारे भक्तोंको भगवान् सदाके लिये मुक्त कर चुके हैं। पर यह न समझना चाहिये, कि ऐसा आपने मुफ्त ही किया है। उनके मनको पहले आप अपनेमें आवेशित कर चुके हैं। एक हाथमें मन दे दो, दूसरे हाथसे अपना उद्धार करा लो. मुफ्त मन बेचनेवालोंकी तलाशमें आप हमेशा घूमते रहते हैं। महात्मा ज्ञानदेवकी भावपूर्ण वाणीमें भगवान् कहते हैं—

'जन्म-मृत्युकी तरङ्गोंमें डूबती हुई इस सृष्टिको देखकर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि इस संसार-समुद्रमें किसे डर नहीं लगता ? कदाचित् इससे मेरे भक्त भी डर जावें। इसलिये हे पाण्डव ! मैं अपनी मूर्तियोंका समुदाय इकट्ठा कर उनके घरपर दौड़ता हुआ आया हूँ। संसारमें हजारों नामरूपी नावें तैयार कर मैं उनका तारक बना हूँ। मुझे जो ब्रह्मचारी मिले, उन्हें मैंने ध्यानके मार्गपर लगा दिया। और परिवारवालोंको मैंने इन नावोंपर बैठा दिया है। किसीके पेटसे प्रेमरूपी लङ्गर बाँधकर मैं सायुज्य-तीरपर ले आया हूँ। अतएव भक्तोंको चिन्ताका कुछ भी कारण नहीं। मैं सर्वदा उनका उद्धार करनेहारा बना हूँ। भक्तोंने जबसे मुझे अपनी चित्तवृत्ति समर्पित कर दी, तभीसे उन्होंने मुझे अपने व्यापारोंमें लगा लिया है।'

तारण-कलामें आप बड़े ही प्रवीण हैं। मालूम होता है, आपका यह पुश्तैनी पेशा है। कितने भक्त तारे हैं, कुछ ठिकाना ? जितने शरणागत जन आपने तारे हैं, शायद उतने आकाशमें तारे भी न होंगे ! किसी कविने कहा है—

जेते जन तारे, तेते नभमें न तारे हैं।

तभी तो आपने चटसे यह कह दिया है कि—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

किसीका भी मन हाथमें ले लिया और झटसे उसे तार दिया। यह तो आपके बायें हाथका खेल है। उसके किये हुए सारे कर्मोंकी जायदाद भी आपहीके हाथ लग जाती है ! भाई, है तो रोज़गार फायदेका। तारना कोई ऐसा मुश्किल काम नहीं है, इसके तो आप अभ्यासी हो गये हैं। इस हुनरमें कोई तारीफकी बात नहीं। हाँ, कभी-कभी कुछ ऐसे ढीठ भक्तोंके तारनेमें आप अवश्य असमञ्जसमें पड़ जाते हैं, जिन्होंने न तो अपना मन ही आपको दिया है और न कर्म ही समर्पित किये हैं, फिर भी उस पार जानेके लिये अड़ जाते हैं ! एक सज्जन कहते हैं—

भक्तिहीनों तारो, तौपै तारिबो तिहारो कहा,
बिना भक्ति तारिहौ, तौ तारिबो तिहारो है।

इन सब बखेड़ोंसे बचनेके लिये ही तो आपको अपनी सुप्रसिद्ध 'सन्तारिणी घोषणा'में 'मयि संन्यस्य कर्माणि' और 'मय्यावेशितचेतसाम्' जैसी कुछ शर्तें रखनी पड़ीं। कोई-न-कोई शर्त लगाये बिना काम भी तो न चल सकता। जहाँ भगवान्ने नष्टमोह अर्जुनसे—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

कहा है, वहाँ—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

की दो शर्तें भी लगा दी हैं। मूढ़ मनुष्योंसे यह शर्तें भी पूरी न हो सकें, तो फिर उनका दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। नाव घाटपर लगी हुई है। मल्लाह भी डाँड़ लिये खड़ा है, अब यह हमारी ही मूढ़ता है, जो जान-मानकर भी समुद्रमें डूब मरें। जब भवसागरसे बाहर निकलनेको हमारा जी ही नहीं चाहता, तब बेचारा समुद्धर्त्ता कर्णधार करे तो क्या करे ?*

* अप्रकाशित 'गीतामें भक्तियोग' नामक पुस्तकसे। यह पुस्तक शीघ्र ही गीताप्रेससे प्रकाशित होनेवाली है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तेय और अपरिग्रह

(लेखक—महात्मा गान्धीजी)

अस्तेय

अब हम अस्तेयव्रतका विचार करेंगे। यदि गम्भीर विचार करके देखें तो मालूम होगा कि सब व्रत सत्य और अहिंसाके अथवा सत्यके गर्भमें रहते हैं, और वे इस तरह बताये जा सकते हैं:—

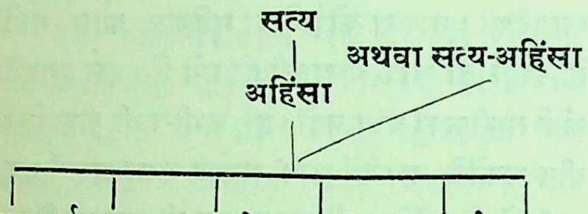

ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, निर्भय आदि जितने बढ़ाये जायँ उतने।

या तो सत्यमेंसे अहिंसाको स्थापित करें या सत्य-अहिंसाकी जोड़ी मानें। दोनों एक ही वस्तु हैं। तो भी मेरा मत पहलेकी ओर ही झुकता है। और अन्तिम स्थिति भी जोड़ीसे—द्वन्द्वसे अतीत है। परम सत्य अकेला खड़ा रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा एक साधन।—अहिंसा क्या है, जानते हैं, पालन कठिन है। सत्यको तो अंशतः ही जानते हैं, सम्पूर्णतया जानना देहीके लिये कठिन है। वैसे ही जैसे अहिंसाका सम्पूर्ण पालन देहीके लिये कठिन है।

अस्तेय अर्थात् चोरी न करना। कोई यह न मानेगा कि चोरी करनेवाला सत्यको जानता और प्रेमधर्मका पालन करता है; तो भी चोरीका अपराध तो हम सब, कम या ज्यादा मात्रामें, जानमें या अजानमें करते ही हैं। दूसरेकी वस्तुको उसकी अनुमतिके बिना लेना तो चोरी है ही; परन्तु मनुष्य अपनी कही जानेवाली चीज़ भी चुराता है। उदाहरणार्थ, किसी पिताका अपने बालकोंके जाने बिना, उन्हें मालूम न होने देनेकी इच्छासे, चुपचाप किसी चीज़का खाना। यह कहा जा सकता है, कि आश्रमका वस्तु-भण्डार हम सबका है, परन्तु उसमेंसे जो चुपचाप गुड़की डली भी लेता है, वह चोर है। एक बालक दूसरे बालककी कलम लेकर मेरी कहता है। किसीके जानते हुए भी उसकी चीजको उसकी आज्ञाके बिना लेना चोरी है। यह समझकर कि वह किसीकी भी नहीं है। किसी चीजको अपने पास रख लेनेमें भी चोरी है। अर्थात् राहमें मिली हुई चीजके मालिक हम नहीं, बल्कि उस प्रदेशका राजा या व्यवस्थापक है। आश्रमके नज़दीक मिली हुई कोई भी चीज़ आश्रमके मन्त्रीको सौंपी जानी चाहिये। और यदि वह आश्रमकी न हो तो मन्त्री उसे सिपाहीको सौंप दे। इतने तक तो समझना साधारणतः सहज ही है। परन्तु अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। जिस चीजके लेनेकी हमें आवश्यकता न हो, उसे जिसके पास वह है, उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है। ऐसी एक भी चीज न लेनी चाहिये, जिसकी ज़रूरत न हो। संसारमें इस तरहकी अधिकसे अधिक चोरी खाद्यपदार्थोंकी होती है। मुझे अमुक फलकी हाजत—आवश्यकता—नहीं है, तो भी यदि मैं उसे लेता हूँ, तो वह चोरी है। मनुष्य हमेशा इस बातको नहीं जानता कि उसकी आवश्यकता कितनी है, और प्रायः हममेंसे सब अपनी आवश्यकताओंको, जितनी होनी चाहिये, उससे अधिक बढ़ा लेते हैं। विचार करनेसे हमें मालूम होगाकि हम अपनी बहुतेरी आवश्यकताओंको कम कर सकते हैं। अस्तेय-व्रतका पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताओंको कम करेगा। इस दुनियाकी अधिकांश कंगालियत अस्तेयके भंगके कारण पैदा हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त समस्त चोरियोंको बाह्य या शारीरिक चोरी कह सकते हैं। इससे सूक्ष्म और आत्माको नीचे गिरानेवाली या पतित बनाये रखनेवाली चोरी, मानसिक है। मनसे किसीकी चीजको पानेकी इच्छा करना या उसपर जूठी नजर डालना चोरी है। बड़े बूढ़े या बालकका किसी उम्दा चीजको देखकर ललचा जाना मानसिक चोरी है। उपवास करनेवाला शरीरसे नहीं खाता, परन्तु दूसरेको खाते देख यदि वह मन-ही-मन स्वाद करने लगता है, तो चोरी करता है और उपवास-को तोड़ता है। जो उपवासी उपवास छोड़ते समय खानेका ही विचार किया करता है, कह सकते हैं कि वह अस्तेय और उपवास दोनोंका भंग करता है। अस्तेयव्रतका पालन भविष्यमें प्राप्त होनेवाली चीजोंके लिये हवाई किले नहीं बाँधा करता। बहुतेरी चोरियोंका मूल कारण आपकी यह जूठी इच्छा ही मालूम होगी। आज जो केवल विचारहीमें है, कल उसे पानेके लिये हम भले-बुरे उपाय सोचने लग जायँगे। और जैसे चीज़की वैसे ही विचारकी भी चोरी होती है। अमुक उत्तम विचार अपने मनमें उत्पन्न न होनेपर भी, जो अहंकारवश उसे अपना बताता है, वह विचारकी चोरी करता है। दुनियाके इतिहासमें बहुतेरे विद्वानोंने भी ऐसी चोरी की है और आज भी होती रहती है। मान लीजिये कि मैं आन्ध्रदेशमें एक नयी किस्मका चर्खा देख आया, वैसा चर्खा मैंने आश्रममें बनवाया और उसे अपना आविष्कार कहना शुरू किया, तो स्पष्ट है कि मैंने इस तरह दूसरेके आविष्कारकी चोरी की है। असत्याचरण तो किया ही है।

अतएव अस्तेयव्रतका पालन करनेवालेको बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बहुत सादगीसे रहना पड़ता है।

अपरिग्रह

'अपरिग्रहका सम्बन्ध अस्तेयसे है। जो चीज मूलमें चोरीकी नहीं है, पर अनावश्यक है, उसका संग्रह करनेसे वह चोरीकी चीजके समान हो जाती है। परिग्रहका मतलब सञ्चय या इकट्ठा करना है। सत्य-शोधक अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता, वह अपने लिये 'आवश्यक' वस्तु रोज-रोज पैदा करता है। इसलिये यदि हम उसपर विश्वास रक्खें तो जानेंगे कि वह हमें हमारी जरूरतकी चीजें रोज-रोज देता है, और देगा। औलिया भक्तोंका यही अनुभव है। प्रतिदिनकी आवश्यकता-के अनुसार ही प्रतिदिन पैदा करनेके ईश्वरीय नियमको हम जानते नहीं, अथवा जानते हुए भी पालते नहीं, इससे जगत्में विषमता और तज्जन्य दुःखोंका अनुभव करते हैं। धनवानके घर, उसके लिये अनावश्यक अनेक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, बिगड़ जाती हैं। जब कि उन्हीं चीजोंके अभावमें करोड़ों दर-दर भटकते हैं, भूखों मरते हैं, और जाड़ेसे ठिठुरते हैं। यदि सब अपनी आवश्यकतानुसार ही संग्रह करें तो किसीको तंगी न हो, और सब सन्तोषसे रहें। आज तो दोनों तंगीका अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होनेकी कोशिश करता है, तो भी उसे सन्तोष नहीं रहता। कंगाल करोड़पति बनना चाहता है। कंगालको पेटभर मिल जानेसे ही सन्तोष होता नहीं पाया जाता। परन्तु कंगालको पेटभर पाने-का हक़ है और समाजका धर्म है कि वह उसे उतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने सन्तोषके खातिर पहले धनाढ्यको पहल करनी चाहिये। वह अपना अत्यन्त परिग्रह छोड़े तो कंगालको पेटभर सहज ही मिलने लगे और दोनों पक्ष सन्तोषका सबक सीखें। आदर्श आत्यन्तिक परिग्रह तो उसीका होता है, जो मन और कर्मसे दिगम्बर हो। अर्थात् वह पक्षीकी तरह गृहहीन, अन्नहीन और वस्त्रहीन रहकर विचरण करेगा। अन्नकी उसे रोज आवश्यकता होगी, और भगवान् रोज उसे देंगे। पर इस अवधूत स्थितिको तो बिरले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही पा सकते हैं। हम तो सामान्य कोटिके सत्याग्रही ठहरे, जिज्ञासु ठहरे। हम आदर्शको ध्यानमें रखकर नित्य अपने परिग्रहकी जाँच करते रहें और जैसे बने वैसे उसे घटाते रहें। सच्ची संस्कृति—सुधार और सभ्यताका लक्षण परिग्रहकी वृद्धि नहीं, बल्कि विचार और इच्छा-पूर्वक उसकी कमी है। जैसे-जैसे परिग्रह कम करते हैं, वैसे-वैसे सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता है। सेवा-क्षमता बढ़ती है। इस दृष्टिसे विचार करते और तदनुसार बर्तते हुए हम देखेंगे कि हम आश्रममें बहुतेरा ऐसा संग्रह करते हैं, जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते। फलतः ऐसे अनावश्यक परिग्रहसे हम पड़ोसीको चोरी करनेके लिये ललचाते हैं। पर अभ्यासद्वारा आदमी अपनी आवश्यकताओंको कम कर सकता है। और जैसे-जैसे कम करता जाता है वैसे-वैसे वह सुखी और सब तरह आरोग्यवान बनता है। केवल सत्यकी-आत्माकी दृष्टिसे विचारें तो शरीर भी परिग्रह है। भोगेच्छाके कारण हमने शरीरका आवरण खड़ा किया है, और उसे टिकाये रखते हैं। भोगेच्छा यदि अत्यन्त क्षीण हो जाय तो शरीरकी आवश्यकता दूर हो, अर्थात् मनुष्यको नया शरीर धारण करनेकी जरूरत न रहे। आत्मा सर्व-व्यापक है; वह शरीररूपी पींजड़ेमें क्यों बन्द रहे? इस पींजड़ेको कायम रखनेकेलिये अनर्थ क्यों करे? दूसरोंकी हत्या क्यों करे? इस विचार-श्रेणीद्वारा हम आत्यन्तिक त्यागको पहुँचते हैं। और जबतक शरीर है, तबतक उसका उपयोग सेवाके लिये करना सीखते हैं और सो भी इस हदतक कि फिर सेवा ही उसकी सच्ची खुराक बन जाती है। तब मनुष्य खाना, पीना, सोना, बैठना, जागना, सब कुछ सेवाके लिये ही करता है। इससे पैदा होनेवाला सुख सच्चा सुख है और इस तरह आचरण करनेवाला मनुष्य अन्तमें सत्यके दर्शन करता है। इस दृष्टिसे हम सब, अपने परिग्रहका विचार कर लें। यहाँ यह याद रहे कि वस्तुकी भाँति ही विचार-का भी परिग्रह न होना चाहिये। जो मनुष्य अपने दिमाग़में निरर्थक ज्ञान ठूँस रखता है, वह परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वरसे विमुख रखते हैं, या ईश्वरकी ओर नहीं ले जाते, वे सब परिग्रहमें शुमार होते हैं और इसलिये त्याज्य हैं। तेरहवीं अध्यायमें भगवान्ने ज्ञानकी ऐसी ही व्याख्या की है; इस सिलसिलेमें उसका विचार कर लेना चाहिए। अमानित्व आदिको गिनाकर भगवान्ने कहा है कि इनके अतिरिक्त जो कुछ है, वह सब अज्ञान है। यदि यह वचन सच्चा हो, और यह सच तो है ही, तो आज जो बहुतेरा ज्ञानके नामसे संग्रह करते हैं, वह अज्ञान ही है, और इसलिये उससे लाभके बदले हानि होती है। दिमाग़ फिर जाता है और अन्तमें खाली हो जाता है। असन्तोष बढ़ता है और अनर्थोंकी वृद्धि होती है। इसपरसे कोई उद्यमहीनताको फलित न करे। हमारा प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिये। परन्तु वह प्रवृत्ति सात्त्विक हो, सत्यकी ओर ले जानेवाली हो। जिसने सेवा-धर्मको स्वीकार किया है, वह एक क्षण भी कर्महीन नहीं रह सकता। यहाँ तो सारा-सारका विवेक सीखना है। सेवापरायणको यह विवेक सहज प्राप्त है।"

वह छवि

(लेखक—पं० मातादीनजी शुक्ल, साहित्य-शास्त्री, काव्य-भूषण)

हार है मोतिनको उरमैं
फबती जनु व्योममैं गंग की धार है;
धार है धौरिनकी किधौं री
यह स्यामनके बिच जाको न पार है।
पार है पायो सुरासुर नाहिं,
भई जेहिपै सुषमा हू निसार है;
सार-सरूप निहार ले री, लखि
जासु मनोज हू मानत हार है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनती

करुना करिकैं करुनाकरजू, हम दीननिते मुख मोरियौ ना।
तरु सींचिकैं, नाथ, झुराइयौ ना, कबहूँ रसमें बिष घोरियौ ना॥
करि याद हमैं बिसराइयौ ना, रसरी यह जोरिकैं तोरियौ ना।
अपनाय हमैं, हरि, छाँड़ियौ ना, यह गाँठ बँधी अब छोरियौ ना॥

*

करुना, करुनाकर, भूलियौ ना, निज रंग चढ़ायकैं धोइयौ ना।
अब देखनकों तरसाइयौ ना, यह प्रेम सुझायकैं गोइयौ ना॥
गहिकैं मँझधारमें छाँड़ियौ ना, सुनिकैं सुख-नींदमें सोइयौ ना।
बिनती इतनी सुनियौ हमरी, अपनाय हमैं अब खोइयौ ना॥

वियोगी हरि

एक पाश्चात्य सज्जनको प्रकाशके दर्शन

प्रिय महाशय !

आपको हालहीमें लिखनेके बाद बहुत घटनाएँ उपस्थित हुई हैं। सम्भव है आपके एम० ए०, बी० ए० सज्जनोंके लिये यह हास्यजनक बात हो, किन्तु मैंने (सत्यका) आभास प्राप्त किया है या नहीं, इसका निर्णय तो किसी ऐसे सुयोग्य अधिकारी जजके द्वारा ही हो सकता है जो सच्चा योगी या संन्यासी हो।

एक सप्ताह पूर्वकी बात है। मैं सोकर उठा था, उस समय मेरा मन सत्य (परमात्मा) को प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छामें एकाग्र था। आँखोंको धोनेसे पहले मैं उन्हें मल रहा था कि मुझे तत्काल ऐसा जान पड़ा कि कोई अद्भुत घटना हो रही है। मुझे प्रतीत हुआ कि मैं एक मण्डलाकार प्रकाश देख रहा हूँ। उस प्रकाशके चारों ओर कुछ क्षुद्र धुँधले-से पदार्थ थे। मैंने सोचा कि आँखोंके ऊपर दबाव पड़नेके कारण ही ऐसा हुआ है, मैंने अंगुलियाँ आँखोंसे हटा लीं तब भी वह प्रकाश बना ही रहा। तत्पश्चात् मैंने सोचा कि यह आँखोंकी एक अवस्था है। मैं आश्चर्यमें पड़ गया कि कदाचित् मेरी दृष्टि-शक्ति तो नहीं नष्ट होने जा रही है? मैंने आँखें खोल लीं, तब भी वह प्रकाश ज्यों-का-त्यों दीखता रहा। फिर आँखें बन्द कर लीं परन्तु फिर भी उसी मण्डलाकार प्रकाशको देखा। इसके बाद वह प्रकाश हट गया और उसकी जगह दूसरे प्रकारका प्रकाश दिखलायी देने लगा। अचानक ही यह दूसरा दृश्य भी ओझल हो गया क्योंकि मैं अभी इसी भावनामें पड़ा था कि कोई शारीरिक या नेत्र-सम्बन्धी बाधा उपस्थित होना चाहती है। तब तीसरा दृश्य दीख पड़ा, जिसको मैंने ध्यानपूर्वक देखा क्योंकि इस बार मेरी दृढ़ धारणा हो रही थी कि मैं किसी विलक्षण वस्तुका साक्षात्कार कर रहा हूँ, इस दृश्यमें मैंने कुछ ऐसी बात देखी जो हृदयमें व्यक्त होती है, मैंने देखा कि वह ठीक हृदयकी गतिके समान ही फैलती और संकुचित होती थी। जब-जब वह फैलती थी तब-तब उसके अन्दरसे एक प्रकारकी बिजलीकी चमक प्रवाहित हो जाती थी। उसके इस प्रकार फैलनेसे हृदय भी फैल जाता था और संकोचनसे संकुचित भी होता था। यह चमक ठीक उस चमकके समान थी जो गरमीके दिनोंमें बिना बादलों-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की गरजके भी दीख पड़ती है। उसका रंग आगके गोले या गिरती हुई बिजली-जैसा था। इनमेंसे एकको तो मैंने बहुत ही समीपसे देखा। अब मैं इस बातको दृढ़ ज्ञानपूर्वक कह सकता हूँ—

'मैं सबके हृदयोंमें केन्द्रीभूत हूँ।'

'मुझको जैसा तुमने देखा है वैसा न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे मैं देखा जा सकता हूँ, किन्तु अनन्यभक्तिके द्वारा ही मैं इस रूपमें जाना जा सकता हूँ, तत्त्वतः देखा जा सकता हूँ और प्रविष्ट होनेमें आ सकता हूँ।' (गीता)

मैंने इसे देखा हो चाहे न देखा हो, यदि नहीं देखा है तो यह निश्चय ही आश्चर्यजनक बात है कि मैं बिना देखे हुए एक अज्ञात वस्तुका वर्णन कर रहा हूँ और यदि देखा है तब यह आभास सत्य है और गीताके उपदेश भी सत्य हैं।

आपसे कहनेके बाद अब मुझे इस बातमें विशेष उत्सुकता नहीं है कि इसपर विश्वास किया जायगा या नहीं। यदि कोई अनन्यचेता जीव हैं जो परम ज्ञानको प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखते हैं, तो उन्हें उत्साही होना चाहिये क्योंकि मैं एक पश्चिमी देशका निवासी हूँ। उन लोगोंके समान इन विषयोंका मुझे ज्ञान नहीं जो इन्हीं भावोंमें पाले-पोसे गये हैं। मुझे तो जो कुछ भी मिला है वह गीताके द्वारा, और कदाचित् मेरी उसके तत्त्व प्राप्त करनेकी परम अभिलाषाके द्वारा। जो कुछ हो, विज्ञान भी शीघ्र ही इसे स्वीकार करेगा कि मैंने जो कुछ देखा है वह निरा भावावेश नहीं है।

कुछ ही सप्ताह पूर्व विज्ञानने विश्वास कर लिया था कि प्रकृति (Matter) नित्य है और यह सदा अपनेको व्यक्त करती रहेगी। अब वे इस खोजमें लगे हैं कि परमाणु (Proton) वैद्युत्-अणु (Electron) का निरास करेगा और वैद्युदणु परमाणुका। बुद्धिमान् पुरुष सहज ही समझ सकेंगे कि यदि ऐसी बात है तो इससे उस सिद्धान्तका समर्थन होता है कि प्रलयके अन्तमें सारे पदार्थ एक प्रारम्भिक अवस्थामें आ जायंगे। वह अवस्था निर्गुणावस्था है, परन्तु वही तात्त्विक अवस्था है। अन्य सब अवस्थाओंका आदि अन्त होता है परन्तु यह अवस्था अनादि निर्विकार, अचिन्त्य, अज्ञेय और अनन्त है।

'ह वै त्वमात्मनात्मानमवैहि'

अब दो शब्द अपने भारतीय बन्धुओंके प्रति कहता हूँ। यदि एक पाश्चात्य मनुष्य, जो आपके महान् धर्मोपदेशसे कुछ ही दिनों पूर्वतक अनभिज्ञ था, इस अवस्थाको पहुँच सकता है, फिर आप तो निश्चय ही उस अवस्थाको प्राप्त हो सकते हैं। आप प्रयत्न क्यों नहीं करते? आपने हमें ज्ञानकी कुञ्जी प्रदान की है, निश्चय ही आपने इसे फेंक नहीं दिया है। इसका प्रयोग कीजिये। आर्यावर्त्त अब भी अपने पुत्रोंके द्वारा देदीप्यमान होगा। भौतिक उपायोंसे रक्तपात होता है। कहा गया है 'लेखनीमें तलवारसे अधिक शक्ति है।' परन्तु ज्ञान और बुद्धि सबसे बढ़कर शक्तिशाली हैं।*

आपका,—एफ० एच० मौलेन (ब्रह्मानन्द) लीड्स, इंगलैण्ड

---

* श्रीयुत एफ० एच० मौलेन अथवा श्रीब्रह्मानन्दजी एक यहूदी सज्जन हैं, इंगलैण्डके लीड्स नामक स्थानमें रहते हैं, आप वयोवृद्ध हैं और कुछ समयसे गीताका अध्ययन कर रहे हैं। गीता और गीताकार भगवान् श्रीकृष्णपर आपकी श्रद्धा है। आपने अंगरेजीमें एक पत्र लिख भेजा है, यह उसीका भाषानुवाद है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि ९]

परऔर अपररूप परमात्मदृष्टिसे उद्गीथकी उपासना कथन करनेको सुखबोधके लिये श्रुति आख्यायिका कहती है।

शलावतका पुत्र शिलक, दल्भगोत्री चैकितायन और जीवलका पुत्र प्रवाहण ये तीनों उद्गीथके विषयमें प्रवीण हुए। एक समय आपसमें विचार करते हुए वे कहने लगे कि हम उद्गीथके विषयमें प्रवीण हो गये हैं, इसलिये सबकी सम्मति हो तो हम सब इस विषयकी आलोचना करें। 'ऐसा हो हो' यों कहकर वे सब बैठ गये, तब जीवल कुमार प्रवाहण कहने लगा कि 'पहले आप लोग बातचीत कीजिये, मैं आप ब्रह्मज्ञानियोंकी बातें सुनूँगा।' तब शलावतके पुत्र शिलकने दल्भगोत्री चैकितायनसे कहा कि 'यदि आप आज्ञा दें तो मैं आपसे प्रश्न करूँ।' चैकितायनने कहा, 'कीजिये।'

प्रश्नः–सामकी क्या गति है?
उत्तरः–सामकी गति स्वर है।
प्रश्नः–स्वरकी क्या गति है?
उत्तरः–स्वरकी गति प्राण है।
प्रश्नः–प्राणकी क्या गति है?
उत्तरः–प्राणकी गति अन्न है।
प्रश्नः–अन्नकी क्या गति है?
उत्तरः–अन्नकी गति जल है।
प्रश्नः–जलकी क्या गति है?
उत्तरः–जलकी गति स्वर्ग है।
प्रश्नः–स्वर्गकी क्या गति है?

उत्तरः–साम स्वर्गसे आगे नहीं ले जाता इसलिये हम सामको स्वर्गलोक-प्रतिष्ठ मानते हैं, यानी साम मनुष्यको स्वर्गलोक तक ही ले जाता है, हम ऐसा जानते हैं, क्योंकि सामकी स्तुति स्वर्गलोकरूपसे ही की जाती है।

यह उत्तर सुनकर शलावतके पुत्र शिलकने दल्भगोत्री चैकितायनसे कहा कि 'हे दाल्भ्य! तेरा साम अप्रतिष्ठित, अपूर्ण है। यदि इस समय कोई तुझसे कहे कि तेरा मस्तक गिर जाय तो तुझ मिथ्या कहनेवालेका मस्तक गिर जायगा।' तब दाल्भ्यने कहा कि 'मैं तुमसे सामकी प्रतिष्ठा जानना चाहता हूँ।' शालावत्यने कहा, पूछो।

दाल्भ्यने प्रश्न किया कि 'परलोककी क्या गति है?'

शालावत्यने कहा कि 'परलोककी गति यह पृथ्वीलोक है।

तब दाल्भ्यने प्रश्न किया कि इस लोककी क्या गति है?

उत्तर मिला कि प्रतिष्ठारूप लोकको लाँधना ठीक नहीं है। हम सामको पृथ्वीलोक—प्रतिष्ठारूप जानते हैं, क्योंकि सामकी पृथ्वी—प्रतिष्ठारूपसे ही स्तुति की जाती है।

तब जीवलके पुत्र प्रवाहणने उससे कहा कि–'हे शालावत्य! तेरा साम निश्चय अन्तवाला है, इसलिये यदि इस समय कोई तुझसे कहे कि तेरा मस्तक गिर जाय तो मिथ्यावादी होनेके कारण तेरा मस्तक अवश्य गिर जायगा। तब शालावत्यने कहा कि 'क्या मैं आपसे इस विषयमें पूछ सकता हूँ?' प्रवाहणने कहा कि 'पूछिये।' (इति आठवाँ खण्ड)

प्रश्नः–इस पृथ्वीलोककी क्या गति है?

उत्तरः–आकाश यानी परमात्मा इस लोककी गति है। ये सब प्राणी आकाश यानी परमात्मासे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही उत्पन्न होते हैं, आकाशमें ही लीन होते हैं। आकाश ही सब भूतोंमें श्रेष्ठ है। आकाश ही सब भतोंका परम आश्रय है। आकाश ही सबसे श्रेष्ठ उद्गीथ है, अनन्त है। जो ऐसा जानकर इस सर्व-श्रेष्ठ उद्गीथकी उपासना करते हैं, उनका जीवन श्रेष्ठसे श्रेष्ठ होता है और वे आकाश पर्यन्त सब श्रेष्ठ लोकोंको जीत लेते हैं। शुनकका पुत्र अतिधन्वा इस उद्गीथके ज्ञानसे सम्पन्न था। उसने उदरशाण्डिल्यसे कहा था कि तेरे वंशमें जो जबतक उद्गीथको जानेंगे तबतक उनका जीवन साधारण जीवनसे परम उत्तम होगा। परलोकमें उनको परम उत्तम स्थान मिलेगा। आजकल भी जो ऐसा जानकर उद्गीथकी उपासना करते हैं, उनको इस लोकमें उत्तम-से-उत्तम जीवन और परलोकमें परम उत्तम स्थानकी प्राप्ति होती है। (इति नवम खण्ड।)

उद्गीथ-उपासनाके प्रसंगसे प्रस्ताव-प्रतिहार-सम्बन्धी उपासना कहनेके लिये श्रुति आख्यायिका रचती है।

एक बार ओलोंकी वर्षा होनेसे और अन्नका नाश हो जानेसे कुरु-देशमें भयानक अकाल पड़ गया, इसलिये चक्रके पुत्र उषस्तिने अपना देश छोड़ दिया। अपनी अप्राप्तयौवना स्त्री आटिकीके साथ भ्रमण करता-करता वह मरणासन्न दशाको प्राप्त होकर महावतोंके एक ग्राममें पहुँचा। वहाँ उबले हुए उड़द खानेवाले एक महावतके पास जाकर उसने उड़द माँगे। महावतने कहा कि 'जो उड़द मैं खा रहा हूँ, उन उच्छिष्ट उड़दोंके सिवा मेरे पास और उड़द नहीं हैं, जितने उड़द मेरे पास हैं, सब इसी पात्रमें हैं।' महावतकी बात सुनकर उषस्तिने कहा कि 'मुझे इनमेंसे ही कुछ दे।' तब महावतने उनमेंसे थोड़ेसे उड़द उषस्तिको दे दिये और कहा कि 'लो, इनको खाकर कुछ जल भी पी लो।' इसपर उषस्तिने कहा कि 'इस जलके पीनेसे तो मुझे उच्छिष्ट जल पीनेका दोष लगेगा।' महावतने कहा कि 'आपने जो उड़द लिये हैं, क्या वे उच्छिष्ट नहीं हैं?' उषस्तिने उत्तर दिया कि 'इन उड़दोंको मैं न खाऊँ तो मेरे जीवनकी रक्षा नहीं हो सकती इसलिये मैं इनको खाऊँगा। पानी तो मेरी इच्छानुसार अन्यत्र भी मिल सकता है, इसलिये मैं उच्छिष्ट जल नहीं पीऊँगा।' ऐसा कहकर उषस्तिने महावतके दिये हुए उड़द खा लिये और जो शेष रहे, अपनी स्त्रीको लाकर दे दिये। आटिकी इससे प्रथम ही कुछ उड़द पाकर खा चुकी थी, इसलिये उषस्तिके दिये हुए उड़द लेकर उसने रख दिये।

तदनन्तर उषस्तिने प्रातःकालके समय शय्यासे उठकर कहा कि 'यदि थोड़ा अन्न भोजन करके राजाके यहाँ जाऊँ तो यथेष्ट धन लाऊँ, राजा यज्ञका आरम्भ करनेवाला है, वह अन्य ऋत्विजोंके साथ मेरा भी वरण कर लेगा।' यह सुनकर उसकी स्त्री आटिकीने कहा कि 'आपने मुझे कल जो उड़द दिये थे। वे रक्खे हैं, उनको खा लीजिये। उषस्ति उन उड़दोंको खाकर यज्ञमें चले गये। यज्ञस्थलमें जाकर स्तुतिके स्थानमें स्तुति करनेवाले उद्गाताओंके समीप बैठ गये और प्रस्तोतासे कहने लगे कि 'हे प्रस्तोता! जो देवता प्रस्ताव—स्तुति-भागके अनुगत है, यदि तू उसको बिना जाने उद्गान करेगा तो तेरा मस्तक गिर पड़ेगा।' इसी प्रकार उद्गातासे कहा कि 'हे उद्गाता! जो देवता उद्गीथ-भागके अनुगत है, यदि तू उसको बिना जाने उद्गान करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा।' ऐसे ही प्रतिहर्तासे भी कहा कि 'हे प्रतिहर्ता! जो देवता प्रतिहारके अनुगत है, यदि तू उसको बिना जाने प्रतिहार करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा। यह सुनकर स्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्त्ता मस्तक गिरनेके भयसे अपने-अपने कर्मको छोड़ मौन होकर बैठ गये। (इति दशम खण्ड।)

पश्चात् यजमानने कहा कि 'हे भगवन्! मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।' उषस्तिने कहा कि 'मैं चक्रका पुत्र उषस्ति हूँ।' राजाने कहा कि 'मैंने इन याज्ञिकोंके साथ आपका भी अन्वेषण किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, परन्तु आपके न मिलनेसे अन्तमें इनका ही वरण कर लिया। अब यदि मेरे सौभाग्यसे आप पधारे हैं तो इनके साथ आप भी मेरे यज्ञमें ऋत्विक् कर्म कीजिये।' उषस्तिने कहा 'बहुत अच्छा, पर आप इन सबको जितना धन दें, उतना ही मुझे देना। मैं आज्ञा देता हूँ कि आपके पहलेसे वरण किये हुए ऋत्विक् ही स्तुति आदिमें कर्म करें।' राजाने कहा कि 'आप जैसी आज्ञा देंगे वैसा ही होगा।'

पश्चात् उद्गाताने विनीत भावसे उषस्तिके पास आकर कहा कि 'हे भगवन्! आपने जो मुझसे कहा था कि जो देवता प्रस्ताव-भागके अनुगत है, यदि तू उसको न जानकर स्तव करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा। वह देवता कौन-सा है? मैं आपसे उस देवताको जानना चाहता हूँ।' उषस्तिने कहा कि 'प्राण ही देवता है। ये सर्वभूत प्रलयकालमें प्राणमें ही प्रवेश करते हैं और सृष्टिकालमें प्राणमेंसे ही प्रकट होते हैं। इसलिये प्राण ही प्रस्ताव-भागका अनुगत देवता है। इस देवताको बिना जाने यदि तू स्तुति करता तो मेरे कथनानुसार तेरा मस्तक गिर जाता।' अनन्तर उद्गाताने विनीतभावसे उषस्तिके समीप जाकर कहा कि 'हे भगवन्! आपने मुझसे कहा था कि जो देवता उद्गीथका अनुगामी है, यदि तू उसको बिना जाने उद्गान कर्म करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा। वह देवता कौन है, यह मैं आपसे जानना चाहता हूँ।' उषस्तिने कहा कि 'आदित्य ही वह देवता है, क्योंकि ये सब प्राणी आदित्यके उदय होनेपर ऊँचे स्वरसे उद्गान करते हैं इसलिये आदित्य देवता ही उद्गीथका अनुगामी है। यदि तू उस देवताके बिना जाने उद्गान कर्म करता तो मेरे कथनानुसार तेरा मस्तक गिर जाता।' पश्चात् प्रतिहर्त्ताने विनीतभावसे उषस्तिके समीप जाकर पूछा कि 'हे भगवन्! आपने कहा था कि जो देवता प्रतिहारका अनुगामी है, यदि तू उसको बिना जाने प्रतिहार कर्म करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा। वह देवता कौन है, मैं आपसे उसको जानना चाहता हूँ।' उषस्तिने कहा कि 'वह देवता अन्न ही है क्योंकि ये सब प्राणी अन्नको ग्रहण करके ही जीवन धारण करते हैं। इसलिये इस देवताको बिना जाने यदि तू प्रतिहार कर्म करता तो मेरे कथनानुसार अवश्य ही तेरा मस्तक गिर जाता।'

इस दशवें और ग्यारहवें खण्डका सार यह है कि प्राणशक्तिने ही प्रथम सूर्य-चन्द्रादिविशिष्ट होकर जगत्को उत्पन्न किया। प्राणशक्ति अन्नके आश्रयसे सर्वत्र क्रिया करती है। यह प्राणशक्ति ही देहमें वाक्य आदि इन्द्रियोंकी शक्तिरूपसे क्रिया करती है। यज्ञोंके मन्त्रादि भी प्राणशक्तिद्वारा उच्चारण किये जाते हैं इसलिये प्राणशक्तिरूप ईश्वर ही यज्ञका उपास्य देवता है (इति एकादश खण्ड।)

भूख महाकष्ट है, भूखसे बढ़कर कोई कष्ट नहीं है! अन्नसे भूखकी निवृत्ति होती है, अन्न न मिलनेसे कष्ट होता है, ऐसा कष्ट किसीको न हो, इसलिये श्रुति भगवती अन्न-प्राप्तिकी उपायरूप उपासनाका उपदेश करनेके लिये आख्यायिका रचती है:—

दल्भके पुत्र ग्लाव नामके ऋषि मित्राके गर्भसे उत्पन्न हुए थे, इनका दूसरा नाम बक भी था। यह बक ऋषि वेदका पारायण करनेके लिये प्रतिदिन ग्रामसे बाहर जाया करते थे। एक समय स्वाध्यायसे प्रसन्न हुए उद्गीथ देवता बक ऋषिपर अनुग्रह करनेके लिये श्वेत कुत्तेका रूप धारणकर ऋषिके सामने प्रकट हुए। उसी समय अन्य कई श्वान श्वेत श्वानके समीप आकर कहने लगे कि 'हम भूखसे व्याकुल हो रहे हैं इसलिये आप गान-द्वारा हमको अन्न प्राप्त कराइये।' उन कुत्तोंकी यह बात सुनकर श्वेत श्वान कहने लगा कि 'कल प्रातःकाल ही तुम यहाँ मेरे पास आना। बक यह बात सुनकर बहुत ही आश्चर्यको प्राप्त हुआ। उस दिन वह घर न गया, वहीं रह गया और सबेरे ही उन कुत्तोंके आनेकी प्रतीक्षा करने लगा। दूसरे दिन सवेरे ही पूर्व दिनके समान कुत्ते प्रकट हुए और जैसे अध्वर्यु से लेकर यजमान पर्यन्त यज्ञकर्त्ता आपस-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मिलकर बहिष्पवमान नामक स्तोत्रका उच्चारण करते हुए घूमते हैं। इसी प्रकार वे कुत्ते अपने-अपने मुखसे एक दूसरेकी पूँछ पकड़कर घूमने लगे। पश्चात् बैठकर पञ्चकण्डिकारूप हिंकारका ऊँचे स्वरसे गान करने लगे। वह मन्त्र यह हैः—

ओ३मदा३मों३पिबा३मों३देवो वरुणः प्रजापतिः सविता ३ न्नमिहा २ हरदन्नपते २ न्नमिहा २ हरा २ हरो ३ मिति ॥

अर्थः—हम भोजन करेंगे, हम पान करेंगे! देवता, वरुण, प्रजापति और सविता हमको अन्न दीजिये! हे अन्नपते! यहाँ अन्न लाइये! इस मन्त्रमें ॐकार गानके लिये है, देवता जगत्को द्योतन करते हैं, वरुण वर्षा करते हैं, प्रजापति प्रजाको पालते हैं, सविता—सूर्य जगत्के प्रसव—उत्पन्न करनेवाले हैं। ये सब अन्न देनेवाले होनेसे अन्नपति कहलाते हैं। (इति द्वादश खण्ड।)

भक्ति-उपासना कहकर अब श्रुति स्तोभके अक्षरोंकी उपासना कहती हैः-इन अक्षरोंका अर्थ न होनेपर भी गानका फल होता है, यह पृथ्वी-लोक ही 'हा' के आगे उच्चारण किया हुआ उकार है इसलिये उकारकी पृथ्वी-दृष्टिसे उपासना करे। वायु 'हा' के आगे उच्चार किया हुआ ईकार है इसलिये ईकारकी वायु-दृष्टिसे उपासना करे। चन्द्रमा अथ है, क्योंकि अन्नका आत्मा चन्द्रमा है और थकारका उच्चारण अन्नमें होता है इसलिये 'अथ' की चन्द्रमा-दृष्टिसे उपासना करे। 'इह' की आत्म-दृष्टिसे उपासना करे, क्योंकि आत्माको प्रत्यक्षमें 'इह' शब्दसे बोलते हैं, ईकारमें अग्नि-दृष्टि करे क्योंकि जिसमें ईकारका गान होता है, उसको आग्नेय साम कहते हैं। ऊकारकी आदित्य-दृष्टिसे, एकारकी निहव-आह्वान-दृष्टिसे, औहोयिकारकी विश्वदेवा-दृष्टिसे, हिंकारकी प्रजापति-दृष्टिसे, स्वरकी प्राण-दृष्टिसे, या की अन्न-दृष्टिसे, क्योंकि मनुष्य अन्नसे ही या नाम गमन करता है, और वाक्की विराट्-दृष्टिसे उपासना करे। हुंकाररूप तेरहवें अक्षरका स्वरूप कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह शाखा-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारका है, इसलिये उसका कोई भी स्वरूप कल्पना करके उपासना करे। जो पुरुष सामके अवयवभूत स्तोभाक्षर-विषयक दर्शनको जानता है, उस साधकको यह वाक् वाणी प्रदान करती है और वह पुरुष अन्नशाली तथा अन्नभोक्ता होता है। (इति त्रयोदश खण्ड। इति प्रथम अध्याय।)

अथ दूसरा अध्याय।

प्रथम अध्यायमें सामके अवयवोंकी उपासना कही, अब श्रुति फलकी इच्छावालोंके लिये समस्त सामकी उपासना कहती हैः—

सर्व अवयवयुक्त सामकी उपासना श्रेष्ठ है, जो श्रेष्ठ है, वही साम है, और जो असाधु है यानी श्रेष्ठ नहीं है, वह साम नहीं है। साधु असाधुका विवेक कहते हैं-'जब किसीको वश करना होता है तो साधु व्यवहारसे ही उसको वशमें किया जाता है और जब किसीको असामद्वारा वश किया जाता है तो असाधु व्यवहारके द्वारा ही उसको वश किया जाता है। इस विषयमें यह अनुभव भी है कि जब किसी उत्तम पुरुषको देखते हैं तो 'साधु' कहते हैं और जब किसी दुष्टको देखते हैं तो 'असाधु' कहते हैं। इसलिये साधु-दृष्टिसे सामकी उपासना करे। जो इस सामको साधु गुणयुक्त जानकर उपासना करता है, शीघ्र ही सब श्रेष्ठ धर्म उसका आश्रय करते हैं और भोग्यरूपसे उसके समीप स्थित रहते हैं। (इति प्रथम खण्ड।)

पृथिवी आदि लोकोंमें पाँच प्रकारसे विभक्त हुए समस्त सामकी उपासना करे, पृथिवी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, आदित्य प्रतिहार है और द्यौ निधन है, इस प्रकार ऊर्ध्व लोकोंमें साम-दृष्टिसे उपासना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करनेका नियम है। संसारमें नीचे और ऊँचे दो प्रकारके लोक हैं। किसी-किसीको नीचेके लोकोंमेंसे ऊपरके लोकोंमें जाना पड़ता है और कोई-कोई ऊपरके लोकोंमेंसे नीचेके लोकोंमें आते हैं। नीचेसे ऊपरके लोकोंमें जानेवालोंके लिये पृथिवी आदि दृष्टिसे सामकी उपासनाकी रीति पिछले मन्त्रमें कही, अब ऊपरसे नीचेके लोकोंमें आनेवालोंकी उपासनाकी रीति कहते हैं। जो स्वर्ग आदि उच्च-पदसे नीचे आता है, वह पहले द्युलोकमें आता है। साममें भी प्रथम हिंकारका उच्चारण है, इसलिये द्युलोक-दृष्टिसे हिंकारकी उपासना करे। सूर्योदय होनेपर कर्मोंका प्रस्ताव—प्रारम्भ होता है इसलिये प्रस्तावकी आदित्य-दृष्टिसे उपासना करे। अन्तरिक्ष नाम गगनका है, गकारमात्रके सादृश्यसे उद्गीथकी अन्तरिक्ष-दृष्टिसे उपासना करे। अग्निको प्राणी ही इधर उधर ले जाते हैं इसलिये अग्नि-दृष्टिसे प्रतिहारकी उपासना करे। ऊपर लोकोंमेंसे आये हुए पृथिवीपर आकर रहते हैं इसलिये पृथिवी-दृष्टिसे निधनकी उपासना करे। जो साधक ऐसा जानकर पृथिवी आदि लोकोंकी दृष्टिसे पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है, उसको ऊपर और नीचेके लोकोंके भोग भोगनेको मिलते हैं। (इति द्वितीय खण्ड।)

यह संसार वर्षाके कारणसे ही स्थित है, इसलिये वृष्टिमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे। वर्षा होनेके समय पहले पवन चलता है और साममें भी पहले हिंकार है इसलिये वायु-दृष्टिसे हिंकारकी उपासना करे। मेघ दृष्टिसे प्रस्तावकी उपासना करे, क्योंकि वर्षाकालमें मेघाडम्बर होनेपर ही वर्षा होती है। वर्षा श्रेष्ठ है इसलिये वर्षा-दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे। बिजली और गर्जना प्रतिहत यानी एक स्थानमें नहीं रहनेवाले हैं इसलिये प्रति शब्दकी समानतासे बिजली और गर्जनकी दृष्टिसे प्रतिहारकी उपासना करे। निधनपर्यन्त ही साम है, और उपसंहार—थम जाने तक ही वर्षा है। इसलिये उपसंहार-दृष्टिसे निधनकी उपासना करे। जो इसप्रकार जानकर सामकी उपासना करता है, वह अवर्षण होनेपर भी वर्षा करा सकता है। (इति तीसरा खण्ड।)

वर्षाके पीछे जल होता है इसलिये वर्षाकी उपासनाके बाद जलकी उपासना कहते हैं। मेघघटाकी दृष्टिसे हिंकारकी, वर्षण-दृष्टिसे प्रस्तावकी, पूर्व देशकी गंगादि नदियोंकी दृष्टिसे उद्गीथकी, पश्चिम देशके नर्मदादि नदियोंकी दृष्टिसे प्रतिहारकी और जलमात्र समुद्रमें लीन होते हैं इसलिये समुद्रकी दृष्टिसे निधनकी उपासना करे। जो उपर्युक्त मन्त्रके भावको जानकर जलमात्रमें पाँच प्रकारकी उपासना करता है, जल-तत्त्व उसके वशमें हो जाता है। वह न चाहे तो जलोंमें नहीं मरता और यदि चाहे तो मरु-देशमें भी जलमें शयन कर सकता है। (इति चतुर्थ खण्ड।)

वर्षा आदि होनेसे ऋतुओंकी व्यवस्था होती है। इसलिये ऋतुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे। सब ऋतुओंमें प्रथम होनेसे वसन्त-दृष्टिसे हिंकारकी, ग्रीष्ममें धान्य-संग्रहका प्रस्ताव होता है इसलिये ग्रीष्म-दृष्टिसे प्रस्तावकी, वर्षा-दृष्टिसे उद्गीथकी, शरद्में रोगियोंका प्रतिहरण होनेसे शरद् दृष्टिसे प्रतिहारकी, और हेमन्तमें प्राणियोंको मरण-समान कष्ट होता है इसलिये हेमन्त-दृष्टिसे निधनकी उपासना करे। जो ऐसा जानकर ऋतुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है, वह ऋतुओंके सकल भोगोंको भोगता है मानों ऋतुओंका अधिपति बन जाता है। (इति पाँचवाँ खण्ड।)

ऋतुओंमें उत्पन्न हुई सम्पत्ति पशुओंके उपयोगमें आती है इसलिये ऋतु-दृष्टिके अनन्तर साममें पशु-दृष्टि करे। अजा—बकरीको पशुओंमें पहला कहा है, इसलिये अजाकी दृष्टिसे हिंकारकी उपासना करे। अजाकी साथी होनेसे भेड़की दृष्टिसे प्रस्तावकी उपासना करे। पशुओंमें श्रेष्ठ होनेके कारण गौ दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे। अश्वप्रतिहरण यानी पहुँचानेका काम करता है इसलिये अश्व-दृष्टिसे प्रतिहारकी उपासना करे। पशु पुरुषके आश्रयसे रहता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है इसलिये पुरुष-दृष्टिसे निधनकी उपासना करे। जो इस तत्त्वको इसप्रकार जानकर पशु-दृष्टिसे सामोपासना करता है, उसके यहाँ पशुओंकी वृद्धि होती है और पशुओंके सुख तथा दानरूप फलसे युक्त होता है। (इति छठाँ खण्ड।)

पशुओंके दुग्ध, घृतादिसे प्राणोंकी पुष्टि होती है इसलिये पशु-दृष्टिके अनन्तर प्राण-दृष्टिकी उपासना कहते हैं। प्राणोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे। सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण मुख्य प्राणसे उत्तम कोई भी नहीं है इसलिये घ्राणमेंके प्राणकी दृष्टिसे हिंकारकी उपासना करे। घ्राणमेंका प्राण केवल प्राप्त गन्ध आदिको ही प्रकाशित करता है और वाणी अप्राप्तका भी उच्चारण करती है, वाक्से सबका प्रस्ताव होता है, इसलिये वाक्-दृष्टिसे प्रस्तावकी उपासना करे। वाणीकी अपेक्षा अधिक विषयोंका प्रकाश करनेसे चक्षु उत्तम है इसलिये चक्षुगत प्राण-दृष्टिसे उद्गीथ-की उपासना करे। चक्षु सामनेकी वस्तुका दिनमें ही प्रत्यक्ष करती है, श्रोत्रसे दूरके शब्दका रात्रिमें भी प्रत्यक्ष होता है इसलिये चक्षुसे उत्तम श्रोत्रकी दृष्टिसे प्रतिहारकी उपासना करे। सब इन्द्रियोंके विषय मनमें स्थित होते हैं, मन सब इन्द्रियोंके विषयोंमें व्यापक है, इन्द्रियोंके अगोचर विषयका भी मनसे प्रत्यक्ष होता है, इसलिये श्रोत्रसे उत्तम मनकी दृष्टिसे निधनकी उपासना करे। ये प्राण आदि उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। जो इनके इस तत्त्वको इस-प्रकार जानकर प्राणोंमें सामकी उपासना करता है, उसका जीवन सबसे उत्तम होता है और वह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ लोकोंको जीतता है। यहाँ तक पाँच प्रकारके सामकी उपासना कही। (इति सातवाँ खण्ड।)

अब सात प्रकारके सामकी उपासना कहते हैं:— शब्दमें सात प्रकारके सामकी उपासना करे। 'हुम्' शब्द हिंकार है, 'प्र' शब्द प्रस्ताव है, 'आ' शब्द आदि है, 'उत्' शब्द उद्गीथ है, 'प्रति' शब्द प्रतिहार है 'उप' शब्द उपद्रव है और 'नि' शब्द निधन है, जो ऐसा जानकर शब्दमें सात प्रकारके सामकी उपासना करते हैं, उनके निमित्त ऋग्वेदादि-के अनुष्ठानसे जो फल होता है उसको दुहकर वाणी देती है। वह अन्नशाली अन्नका भोक्ता होता है। (इति आठवाँ खण्ड।)

पश्चात् आदित्यके अवयवोंका सात प्रकारके सामके अवयवोंमें अध्यास करके आदित्य-दृष्टिसे समस्त सामकी उपासना करे। आदित्यका न तो क्षय होता है, न वृद्धि होती है इसलिये सर्वदा सम होनेके कारण आदित्यको साम कहते हैं। 'मेरे सम्मुख है,' 'मेरे सम्मुख है' इसप्रकार आदित्य सब-की समान बुद्धि उत्पन्न करता है, इसलिये सबके लिये सम होनेसे आदित्य साम है, समस्त प्राणी इस आदित्यके द्वारा ही अपना-अपना जीवन धारण करते हैं इसलिये सब प्राणी आदित्यके अनुगत हैं, ऐसा जाने। सूर्य उदय होनेसे पूर्व का समय धर्म-कार्य करनेके लिये है और धर्म प्राणिमात्रको सुख देता है इसलिये सूर्य-उदयकालकी हिंकार-दृष्टिसे उपासना करे। भक्तिरूप हिंकार सामका आश्रय करके पशु सूर्योदय कालसे अपना उपजीवन करते हैं इसी कारण वे हिन्-हिन् शब्द करते हैं। मानो वे आदित्य सामकी हिंकार नामक भक्ति करते हैं। उदय होते ही सूर्यका जो रूप होता है, वह आदित्यरूप सामका प्रस्ताव है, यानी सूर्योदयके समयकी दृष्टिसे प्रस्तावकी उपासना करे। सूर्यके इसी रूपके अनुगत मनुष्य रहते हैं इसीलिये परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनोंमें मनुष्य प्रशंसाकी कामना करते हैं और सूर्यकी उस समय प्रशंसा करते हैं। जिस समय सूर्यकी किरणोंका जगत्-मण्डलसे और गौका बछड़ेसे सम्बन्ध होता है, वह पूर्वाह्न—सबेरारूप सूर्यका आदि भक्ति ॐकारस्वरूप है, इस सूर्यके रूपसे पक्षी अपना उपजीवन करते हैं, इसीसे वे अन्तरिक्षमें आलम्बन बिना ही अपने शरीरमात्रसे उड़ते हैं। ये पक्षी आदित्यके आदि भागका आश्रय करते हैं, इसीसे आलम्बनरहित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गमन करते हैं। ठीक मध्याह्नके समय सूर्यका जो रूप दीखता है, उस रूपकी दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे। इस उद्गीथभक्तिरूप आदित्यके रूपका देवता आश्रय लेते हैं इसीसे देवता प्रजापतिकी सन्तानोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। उन देवताओंने आदित्य सामके उद्गीथ-भागका आश्रय लिया है, इसीलिये वे श्रेष्ठ हुए हैं। फिर मध्याह्नके पीछे और अपराह्नसे पहले जो सूर्यका रूप होता है, उसकी प्रतिहार दृष्टिसे उपासना करे। सूर्यके उस रूपसे गर्भमें स्थित प्राणियोंका जीवन होता है। आदित्यरूप सामके प्रतिहार-भागका गर्भके प्राणी आश्रय लेते हैं इसीलिये वे ऊपरको खिंचे हुए रहते हैं, योनिद्वारमें होकर नीचे नहीं गिरते हैं। अपराह्नके पीछे और अस्त होनेसे पहले आदित्यका जो रूप दीखता है, उसकी उपद्रव-दृष्टिसे उपासना करे। आदित्यके उस रूपसे वनके पशु अपना जीवन धारण करते हैं, क्योंकि वे आदित्य-सामकी उपद्रव-भक्तिका आश्रय करते हैं इसीसे वे पशु जंगलमें मनुष्यादिको देखकर डरकर भागते हैं और झाड़ीमें अथवा गड्ढे गुफा आदिमें जाकर छिप जाते हैं। जिस समय सूर्य प्रथम ही अस्त होता है, सूर्यके उस प्रथमास्त समयकी निधन-दृष्टिसे उपासना करे। आदित्यके इस रूपसे पितर अपना जीवन धारण करते हैं, क्योंकि पितर आदित्यरूप सामकी निधन-भक्तिका आश्रय रखते हैं, इसलिये उनको पिता, पितामह आदिके रूपसे कुशोंपर स्थापन किया जाता है और उनके निमित्त कुशाओंपर पिण्ड रक्खा जाता है। इस आदित्यकी सात प्रकारके सामरूपसे उपासना करनेवाला अभिलषित योग्य फल प्राप्त करता है। (इति नवाँ खण्ड।)

आदित्य-सामकी उपासनाके पीछे जो साम निश्चय परमात्माके समान मोक्षका कारण है और जो मृत्युसे पार होनेका साधन है, उस सात प्रकारके सामकी उपासना करे। उसकी रीति कहते हैं। हिङ्कार यह तीन अक्षरका पद प्रथम भक्तिका नाम है और प्रस्ताव भी तीन अक्षरका पद उसके समान ही दूसरी भक्तिका नाम है। आदि यह दो अक्षरका नाम है, प्रतिहार यह चार अक्षरका नाम है, इसलिये प्रतिहारके चार अक्षरोंमेंसे एक अक्षरको लेकर आदिके दो अक्षरोंमें मिला देनेसे ये दोनों हिङ्कारके समान हो जाते हैं। उद्गीथ तीन अक्षरका नाम है और उपद्रव चार अक्षरका नाम है, तीन-तीन अक्षर लेनेसे ये दोनों समान हो जाते हैं और चार अक्षरवाले शब्दमेंका एक अक्षर शेष रहता है, उस एकको भी तीन मान लेनेसे वह एक भी पहले तीनके समान है। निधन यह तीन अक्षरका नाम भी पूर्वके समान ही है, यानी जैसे आदित्यमें तीन अक्षर हैं वैसे ही इन सबमें भी तीन-तीन अक्षर होनेसे समानता है, इसलिये इन सबकी आदित्य-दृष्टिसे उपासना करे। ये सब अक्षर मिलकर बाईस अक्षर हैं। जो इक्कीस अक्षरवाले सामकी आदित्य-दृष्टिसे उपासना करता है, वह आदित्यरूप मृत्युको प्राप्त होता है क्योंकि आदित्य इस लोकसे इक्कीसवाँ है, जैसा कि अन्य श्रुतिमें कहा है:—'बारह मास, पाँच ऋतु, तीन लोक हैं, और इक्कीसवाँ यह आदित्य है।' बाईसवें अक्षरकी उपासनासे मृत्युरूप आदित्यसे आगेके स्थानको जीतता है, वह स्थान सुखमय है और वहाँ कोई मानसिक दुःख नहीं होता। इस तत्त्वको जाननेवाला जो उपासक मृत्युके पार होनेके साधनरूप आत्मतुल्य सात प्रकारके सामकी उपासना करता है, वह इक्कीस संख्याके द्वारा आदित्यको जीतता है और बाईसवीं संख्यासे यह ज्ञानी मृत्युगोचर आदित्यसे अगले लोकपर विजय पाता है। (इति दशम खण्ड।) (क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुःख क्या है ?

(लेखक—श्रीरघुनाथप्रसादसिंहजी)

"The Voice of sorrow is the cry of fulfilment"

दुःखसे मनुष्यका गहन सम्बन्ध है। सुखके लिये प्रयत्न किया जाता है, पर अन्तमें केवल दुःख-ही-दुःख दीखता है। जीव सुखके लिये लालायित रहता है, परिश्रम करता है, उद्योग करता है, खाक छानता है, पर सुखके बदले उसे पग-पगपर सामना करना पड़ता है दुःखका ही ! बेचारा हताश हो जाता है, थक जाता है, उसे विदित होता है कि दुःखसे कदापि छुटकारा नहीं है। यह जीवनकी बड़ी पेचीली समस्या है। इसका हल करना बड़ा कठिन है। तब दुखी जीवके मनमें प्रश्न उठता है 'क्या मेरा दुःखसे कभी छुटकारा नहीं हो सकता ? क्या मुझे आजन्म दुःख ही भोगना पड़ेगा ? इस दुःखमय संसारमें क्या सुख है ही नहीं ? यह दुःख क्यों भोगना पड़ता है ?'

अनुसन्धान करनेपर विदित होता है कि दुःख जीवका चिरसंगी है। शरीरके साथ त्रयताप लगा ही रहता है। सञ्चित पुण्य-पापके कारण प्रारब्ध बनता है, यही शरीरका कारण है। इसीके परिणाममें जीव नाना प्रकारकी मुसीबतें झेला करता है। सुखकी ओटमें भी जीव केवल दुःखके ही असह्य भारको वहन करता है। गर्भाधानसे लेकर मरणपर्यन्त दुःख छोड़कर और है ही क्या ? गर्भमें जब जीव असह्य यातनाओंसे पीड़ित होता है, उसे कोई सहारा नहीं मिलता, वह दुःखसे अचेत हो जाता है, विह्वल हो जाता है, ब्रह्माण्डनायक उस समय भी उसकी सहायता करते हैं। जीव उस महान् कष्टसे मुक्त होना चाहता है पर वह मुक्त हो नहीं पाता। वह बिलखता है, रोता है, चिल्लाता है, अन्तमें प्रभुको अपना एकमात्र सहायक जानकर प्रतिज्ञा करता है कि 'हे प्रभो, यदि इस बार मैं इस गर्भयातनासे किसी तरह छुटकारा पाऊँ तो फिर तुम्हें कदापि न भूलूँगा, ऐसा प्रयत्न करूँगा जिसमें पुनः गर्भवास करना न पड़े। किन्तु गर्भसे छुटकारा पाते ही वह मायाके चक्करमें पड़कर फिर सब कुछ भूल जाता है और पुनः उन्हीं कार्योंमें लग जाता है जिनसे जन्म-मरणका चक्कर लगा रहे। जन्म धारण करते ही बालक रो उठता है। इसप्रकार संसारकी यात्राका आरम्भ रोकर ही किया जाता है।

हमलोग जीवनके उद्देश्यको भूले बैठे हैं, हम लोगोंने अपनेको विश्वरचयितासे अलग कर लिया है, उसके रहस्योंके समझनेकी चेष्टा कभी नहीं करते, इसीसे हमें दुःख भोगना पड़ता है। ब्रह्माण्डकी रचना किस नियमके अनुसार हुई है, उसे नहीं जानकर स्वच्छन्दरूपसे चलनेके कारण ही हमलोग दुःख भोगते हैं। कामिनी-काञ्चनका उचित प्रयोग नहीं करनेसे ही हमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। हमारे अन्दर कौनसी शक्तियाँ हैं और उनका कैसा प्रयोग करना चाहिये, इस बातको बिना समझे-बूझे उनके साथ खेलनेसे अंग-भंग हो जाता है। इस आश्चर्यमय ब्रह्माण्डकी रचना किसने की है, उससे हमारा क्या सम्बन्ध है, यह बात हम लोगोंको कभी नहीं खटकती, इसीसे असह्य यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

जब मनुष्यको सांसारिक कार्योंमें उलझनें और अड़चनें पैदा होती हैं, दुनियाके झकोरोंमें पड़कर वह डावाँडोल हो जाता है, जिसको वह बहुत प्यार करता है, वही रोगग्रस्त हो जाता है ; जिसको उसने अपना सर्वस्व समझा था वही सहसा उसे छोड़कर भाग जाता है, तब वह घोर भव-रोगसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीड़ित हो उठता है, जीवन भार-सा मालूम होने लगता है। सुखका खिलौना, जिसे वह लेकर भूला हुआ था, देखते-देखते ही टूट जाता है, तब उसे ज्ञात होता है कि जीवन दुःखमय है, संसार निरानन्द है, यह विश्व पोला है, क्षणभंगुर है, ऐसे संसारको लेकर क्या होगा? इस संसार-समुद्रमें गोता खाते-खाते जब प्राण द्रव हो जाते हैं, दम घुटने लगता है तव वह सोचने लगता है कि क्या इससे मेरा छुटकारा नहीं होगा? निराश हृदयमें भगवत्कृपाके चिर मंगल शब्दोंमें उत्तर मिलता है 'होगा क्यों नहीं? मायापति भगवान्‌के लीलामय संसारको तुमने स्वार्थवश ऐसा पकड़ लिया है कि इसे अपना समझने लगे, यही तुम्हारी भूल है, यही दुःखका कारण है। मायापतिको छोड़कर उसकी मायाके साथ खेलना, यही दुःखका कारण है। मायाका मोह छोड़ मायापतिको अपनाते ही यह विश्व-रचयित्री माया तुरन्त सहचरी बन जाती है, बाधकके बदले तुरन्त साधक हो जाती है। बस, अनन्त दुःखोंसे दुखी मनुष्य आनन्दके गोदमें खेलने लगता है। निरानन्द संसार उसके लिये आनन्दमय बन जाता है। अतएव चेतकर भगवान्‌की शरण ग्रहण करो।'

दुःख मानव-जीवनकी कसौटी है। संसारग्रस्त मनुष्यको चेतावनी देकर यही सुमार्गपर लाता है। इसीसे कहा गया है—

दुखमें सुमिरन सब करे, सुखमें करै न कोय।
जो सुखमें सुमिरन करे, दुख काहेको होय॥

इसीसे विवेकी मनुष्य दुःखको अपना सहायक मानते हैं। दुःखके उपकारको सन्त महात्मा कदापि नहीं भूलते। सुखसे मनुष्य संसारको अपनाता है; किन्तु दुःख उसे संसारसे अलग कर परमात्माकी ओर आकर्षित करता है। दुःख मानो ईश्वरके द्वार-की कुञ्जी है। दुःखसे ही विवेक उत्पन्न होता है, सुबुद्धि आती है और जीवन सार्थक होता है। भगवान्‌ने इस शरीरके साथ सुख-दुःखकी डोरी जोड़ रक्खी है। यदि भगवान्‌के दिये हुए सुखको पाकर हम सुखी होते हैं, उसका आदर करते हैं तो दुःख भी तो उन्हींका दिया हुआ है, तब फिर उसका आदर क्यों नहीं करते? सुखके लिये लालायित रहना और दुःखसे भागना यह तो कायरता है। यथाः—

दियो सो सीस चढ़ाइ ले, आछी भाँति अहेरि।
जापै सुख चाहत लियो, ताके दुखहिं न फेरि॥

सुख तो एक क्षणके लिये है, उसकी आशापर केवल जीना पड़ता है। सुखकी बाट जोहते-जोहते घोर दुःखको सहन करना पड़ता है, किन्तु दुःखकी कहानी अलग है। दुःख अपने तापसे तपाकर मनुष्यको शुद्ध खरा सोना बना देता है, उसे पूजनीय बनाता है, विमल बनाता है एवं सीधी राहपर चलते रहनेपर अन्तमें यथार्थ महात्मा बना देता है।

दुःख परमात्माकी चाह पैदा करता है, सन्त समागम कराता है और अन्तर्हित मलको साफकर परमात्माके प्रकाशसे हृदयको प्रज्वलित कर देता है। जिसकी खोजमें जीव भटकता फिरता था, पता नहीं पाता था, बाह्य जगत्‌की चमक-दमकमें लिपट अपना समय व्यर्थ खोता था, आज उसे पाकर सुखी हो गया है। आनन्दकी सीमा नहीं है। जो प्रतिकूल था वही आज अनुकूल हो गया है। जीव भार-सा था वही आनन्दमय हो गया है, जहाँ अन्धकार दीखता था आज वहीं प्रकाश हो रहा है। जिस दुःखसे मनुष्य दुःखी हो रहा था, पीड़ित होता था, आज उसी दुःखने उसे परम पद तक पहुँचा दिया। दुःखने अपने तापमें, कर्मकी ऐसी आहुति दे दी कि अब स्वयं उसका ही कहीं पता नहीं चलता। ऐसी स्थितिमें कर्म-जालसे मुक्त होकर जीव आनन्दमय जीवनको प्राप्त कर लेता है। उसका जीवन परमात्मामय हो जाता है। तब वह सानन्द कहने लगता है:—

सुखके माथे सिल पड़ो, जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखको, जो पल पल नाम रटाय॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षत्रियका धर्म *

(लेखक—श्रीअरविन्द)

शोक, दुःख और सन्देहसे अभिभूत होकर जब अर्जुन इस संसारको शून्य और असार समझने लगे, हत्याकाण्डसे निवृत्त हो गये तथा पाप-कर्मोंका फल पाप होता है ऐसी बातें कहने लगे, तब भगवान्‌ने उत्तरके रूपमें उनकी बड़ी तीव्र भाषामें भर्त्सना की। भगवान्‌ने जो कुछ कहा उसका मर्म यह है कि 'अर्जुनका यह भाव बुद्धि-विपर्यय और भ्रमसे उत्पन्न है, यह हृदयकी दुर्बलता है, क्लीवता है और क्षत्रियोचित, वीरोचित धर्मसे पतन है। पृथाके पुत्रको यह शोभा नहीं देता। अर्जुन ही धर्मराज युधिष्ठिरके पक्षके नायक हैं, वही अवलम्बन हैं, ऐसे संकटके समय, ऐन मौकेपर धर्मपक्षका परित्याग करना उन्हें उचित नहीं। मोहवश देवताके दिये हुए गाण्डीवका परित्याग करना, भगवान्‌के द्वारा निर्दिष्ट कर्मका परित्याग करना कभी उचित नहीं। आर्य पुरुष इस पथका अनुमोदन और अनुसरण नहीं करते। यह भाव स्वर्गका नहीं है, इस मार्गसे स्वर्गकी ओर अग्रसर नहीं हुआ जाता। इस जगत्‌में महान् कर्म और वीरत्वके द्वारा जो कीर्ति प्राप्त की जाती है, इसप्रकारके व्यवहारसे वह सर्वथा नष्ट हो जाती है, अर्जुन इस क्षुद्र हृदय-दौर्बल्य और कार्पण्यका परित्याग करें, और खड़े होकर शत्रुओंका विनाश करें।'

परन्तु यह क्या एक धर्मोपदेष्टा देवगुरुके लिये उपयुक्त उत्तर है? एक क्षत्रिय वीर किसी दूसरे वीरको इसप्रकारका उत्तर दे सकता है। किन्तु एक धर्मगुरुके समीप जाकर क्या हम यह नहीं चाहते कि वे हमें सर्वदा कोमलता, साधुता एवं आत्मत्याग-का ही उपदेश दें, संसारके भोग और सांसारिक आचारके त्यागनेके लिये उत्साहित करें? गीतामें स्पष्ट ही कहा है कि 'अर्जुन वीरोचित अवस्थासे पतित हो दुर्बलतामें जा गिरे थे। वे अश्रुपूर्ण, आकुल नेत्र तथा विषादयुक्त हो रहे थे क्योंकि वे कृपयाविष्ट,—कृपाके द्वारा आक्रान्त हो गये थे। किन्तु क्या यह दुर्बलता देवोचित नहीं? क्या कृपा देवोचित भाव नहीं जिसको इसप्रकार तीव्र तिरस्कार करके दबाया जाय? जर्मन दार्शनिक निट्शेने वीरत्व और गर्वित शक्तिकी नीतिका प्रचार किया है, हिब्रू और ट्यूटनिक लोगोंने दया और ममताको वीर-हृदयकी दुर्बलता बतलाया है, तो क्या हम भी उसी प्रकारकी युद्धनीति एवं वैसे ही कठोर वीरोचित कार्यका ही उपदेश सुनें? गीताकी शिक्षा तो भारतीय शिक्षा-दीक्षासे उद्भूत हुई है एवं भारतवर्षमें दया सदासे ही देवचरित्रका एक प्रधान गुण माना जाता है। गीताके ही गुरु शेषके एक अध्यायमें मनुष्योंमें देवोचित गुणोंका वर्णन करते समय जहाँ निर्भीकता और तेजका उल्लेख करते हैं वहाँ सब जीवोंके प्रति दया, कोमलता अक्रोध, अहिंसा एवं अद्रोहका भी उल्लेख करते हैं। क्रूरता, कठोरता, निष्ठुरता, शत्रुबधमें आनन्द, धनसञ्चयमें आनन्द और अन्याययुक्त भोग्यवस्तुओं-के संग्रहमें आनन्द आदि सबको आसुरी गुण कहते हैं। जो दुर्दान्त-चरित्र पुरुष जगत्‌को ईश्वरविहीन बतलाते हैं, मनुष्यके अन्दर देवत्वका अस्वीकार करते हैं, एवं कामनाको ही परम पुरुषार्थ मानकर पूजते हैं उन्हींके चरित्रोंमें उपर्युक्त लक्षण दीख पड़ते हैं अतएव अर्जुनके अन्दर इन असुरोचित गुणोंके न होनेके कारण ही भगवान् उनकी ऐसी तीव्र भर्त्सना नहीं कर सकते थे।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा—'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।'—'हे अर्जुन, इस विषम संकटके समय तुमपर यह मोह कैसे सवार हो

*गीता द्वितीय अध्याय श्लोक १ से ३८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया ?' अर्जुन अपने वीरोचित गुणसे किसप्रकार स्खलित हो गये थे, इस प्रश्नसे ही उसका स्वरूप जाना जा सकता है। दया एक देवोचित गुण है, यह स्वर्गसे हमारे पास आता है। जिसके चरित्रमें इस गुणका अभाव है, जो इसप्रकारकी धातुसे निर्मित नहीं है वह यदि अपनेको बड़ा कहे, आदर्श मनुष्य बतलावे, अतिमानव होनेका दावा करे तो यह उसके लिये मूर्खता और धृष्टता ही है, क्योंकि अतिमानव केवल वही पुरुष माने जा सकते हैं जिनके चरित्रमें भगवद्गुणोंका सर्वापेक्षा अधिक प्रकाश हो। मनुष्यके युद्ध-द्वन्द्व, सबलता-निर्बलता, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, विज्ञता-मूर्खता, आशा-निराशा इन सभी व्यापारोंको दयावान पुरुष प्रेम, ज्ञान और शान्त शक्तिके नेत्रोंसे देखते हैं और सभी अवस्थामें सहायता करना और सान्त्वना देना चाहते हैं। साधु और परोपकारी पुरुषोंके हृदयमें यही देवोचित दया पर्याप्त प्रेम और वदान्यताके रूपमें परिणत हो जाती है। पण्डित और वीरके हृदयमें यही दया कल्याणप्रद ज्ञान और शक्तिके रूपमें प्रकट होती है। यह दया ही आर्य क्षत्रियके सौजन्यका प्राण है, इसी दयाके कारण क्षत्रिय-वीर छिन्न लता-गुल्मादि को भी आघात पहुँचाना नहीं चाहते, वरं दुर्बल, दलित, आहत और पतितकी सहायता करनेके लिये अग्रसर होते हैं। परन्तु दूसरी ओर यह देवोचित दया ही दुर्दान्त अत्याचारीको धराशायी करती है, क्रोध या घृणाके कारण ऐसा नहीं किया जाता, क्योंकि क्रोध और घृणा देवोचित उच्च गुण नहीं है, पापीके प्रति भगवान्‌का क्रोध, दुष्टके प्रति उनकी घृणा—यह सारी कहानियाँ नरकयन्त्रणाकी कहानियोंकी भाँति अर्धशिक्षित धर्मसमूहके द्वारा रची गयी हैं।

भारतके प्राचीन धर्मने इस बातको स्पष्टरूपसे समझा था कि देवोचित दयाके कारण व्यथित और अत्याचारपीड़ित व्यक्तिकी अन्याय और उपद्रवसे रक्षा करनेमें उनके प्रति जैसा प्रेम और करुणा होती है ठीक वैसा ही प्रेम और करुणा उनके प्रति भी होती है, जिन भ्रमान्ध दुर्दान्त अत्याचारी असुरोंका उनके पापके लिये विनाश किया जाता है।

परन्तु यहाँ अर्जुन जिस भावके वश हो अपने कर्त्तव्य-कर्मका परित्याग करनेके लिये तैयार हैं वह उनकी देवोचित करुणा नहीं है। अर्जुन अपनी दुर्बलतासे, अपने कष्टसे पीड़ित हैं; कर्त्तव्य-कर्मका सम्पादन करनेमें उनको जो मानसिक कष्ट होगा उसे सहन करनेके लिये अर्जुन तैयार नहीं। उन्होंने स्पष्ट कहा है 'मुझे ऐसा कुछ भी नहीं दिखलाई देता जो मेरे इन्द्रियोंके शोषण करनेवाले इस शोकको दूर कर सके।' इसप्रकारकी दीनता और आत्मदुर्बलताका भाव आर्योंके लिये सर्वतोभावेन हीन और अनार्योचित समझा जाता था। इस समय अर्जुनके मनमें दूसरेके प्रति भी जो कृपा उत्पन्न हुई थी, वह भी एक प्रकारकी स्वार्थपरता थी। धृतराष्ट्र-के पुत्र अर्जुनके 'स्वजन', 'बान्धव' थे—इसीलिये उनका बध करना अर्जुनकी अन्तरात्मा नहीं चाहती थी। इसप्रकारकी कृपा मनकी दुर्बलताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ऐसी कृपा नीची अवस्थाके मनुष्योंके लिये कल्याणकारी हो सकती है, उनके हृदयको कुछ दुर्बल होना ही चाहिये, नहीं तो वे कठोर और निष्ठुर हो जायँगे; क्योंकि उनको तो कोमल स्वार्थपरताके द्वारा ही निष्ठुर स्वार्थपरताको हटाना होगा, उनको अपने जबरदस्त राजसिक शत्रुओंका दमन करनेके लिये अवसादकारी तमोगुणके द्वारा सत्त्वगुणकी सहायता करनी होगी। किन्तु अर्जुनके लिये यह बात नहीं है, वह तो उन्नतचरित्र आर्यपुरुष हैं। उन्हें दुर्बलताकी सहायता लेकर अग्रसर नहीं होना है। उन्हें तो क्रमशः एक शक्तिसे दूसरी शक्ति-में बढ़ जाना है। अर्जुन देवधर्मी मानव थे—वह श्रेष्ठ मानवताके लिये तैयार हो रहे थे, देवताओंने उन्हें इसीलिये निर्वाचित किया था। उनको एक कार्यका-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भार दिया गया है, भगवान् उनके बगलमें ही उन्हींके रथपर सवार हैं, उनके हाथमें दिव्य गाण्डीव धनुष है और उनके सामने धर्मद्रोही, देवद्रोही प्रतिद्वन्द्वी खड़े हैं। इस समय वे क्या करें और क्या न करें—अपने निजके विचारसे या हृदय-वेगके वशमें होकर इसके निश्चय करनेका उनको कोई अधिकार नहीं है। उन्हें अपने स्वार्थपर हृदय और बुद्धिके वशमें होकर एक आवश्यकीय ध्वंस-काण्डसे अलग हो जानेका कोई अधिकार नहीं है। सहस्रों मनुष्योंके विनाशसे उनका जीवन शून्य और दुःखमय हो जायगा, तथा इस ध्वंससे अपनेको कोई पार्थिव फल भी नहीं मिलेगा—इस-प्रकारके स्वार्थपर चिन्ताके वशवर्ती हो कर्मसे हट जानेका उनका कोई अधिकार नहीं। इसप्रकार-के मनोभाव उनकी उच्च प्रकृतिसे दुर्बल अधःपतनके सिवा और कुछ नहीं है। उनका अपना कर्त्तव्य-कर्म क्या है, बस यही उन्हें समझ लेना है उनके क्षत्रिय-स्वभावके अन्तर्गत हो भगवान् उन्हें क्या आदेश देते हैं, बस, उसे ही सुनना होगा। मानव-जातिका भवष्यि उनके कर्मपर निर्भर करता है—सब बाधाओंको दूरकर, सब शत्रुओंका विनाशकर मानव-जातिके उन्नति-पथको साफ करनेके लिये भगवान्ने उनको भेजा है—बस, यही उन्हें उपलब्ध करना होगा।

यद्यपि भगवान् कृष्णकी भर्त्सनाको अर्जुनने स्वीकार किया, तथापि उन्होंने श्रीकृष्णके आदेशका पालन नहीं किया-वरं वह और भी तर्क करने लगे। उन्होंने अपनी दुर्बलताको समझा परन्तु उसको त्याग करनेके लिये तैयार नहीं हुए। उन्होंने स्वीकार किया कि चित्तकी दीनताने ही मेरे क्षत्रियोचित वीर-स्वभावको अभिभूत कर डाला है, धर्मके सम्बन्धमें, कर्त्तव्याकर्त्तव्यके सम्बन्धमें विमूढ़-चित्त होकर ही उन्होंने कृष्णसे 'श्रेय' जाननेकी इच्छा की। कृष्णको ही गुरु स्वीकार करके वे उनके शरणापन्न हुए। किन्तु जिन हृदयस्थित भावों और जिस ध्यान-धारणाके अनुसार अबतक वे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्धारण करते आ रहे थे उनके अस्तव्यस्त हो जाने और नवीन धारण करने योग्य कुछ प्राप्त न होनेके कारण अर्जुन अपने प्राचीन जीवनके एक उपयोगी आदेशको भी शिरोधार्य न कर सके। वे अब भी तर्क करते रहे कि युद्धसे विरत होना ही मेरे लिये उत्तम होगा। उनके प्राणोंने हत्याकाण्ड करना एवं उसके फलस्वरूप रक्तरञ्जित भोगोंको भोगना स्वीकार नहीं किया। इस कर्मके फलस्वरूप स्वजनोंको खोकर उनका जीवन कैसा शून्य और दुःखमय हो जायगा, मनमें इसका विचार आते ही उनका हृदय कम्पाय-मान हो उठता है। धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्यके सम्बन्धमें इतने दिन तक जो धारणा उनको अभ्यस्त थी उसके अनुसार वे भीष्म-द्रोण प्रभृति गुरुजनोंका बध किस प्रकार करेंगे? यह जो भीषण नृशंस कर्मका भार उन्हें सौंपा गया है—इससे क्या उत्तम फल होगा, यह उनकी समझमें नहीं आया, वे जहाँतक बुद्धि दौड़ाते हैं, वहाँतक उन्हें इस भीषण कर्मका फल अत्यन्त अशुभ ही दीख पड़ता है। इतने दिनों तक उन्होंने जिस धारणाके वश हो, जिस उद्देश्यको सामने रख युद्ध किया था, इस समय उस धारणा और उस उद्देश्यसे पुनः युद्ध न करनेका उन्होंने सङ्कल्प कर लिया और भगवान् उसका किस अकाट्य युक्तियोंसे खण्डन करेंगे—निश्चेष्ट होकर वे इसीकी बाट देखने लगे। भगवान्ने सबसे पहले अर्जुनके अहंकारयुक्त और ममतासम्पन्न स्वभावके इन सङ्कल्पोंको ही नष्ट करना चाहा। सब प्रकारके अहङ्कार और ममताके ऊपरका जो धर्म है, उसका स्पष्टीकरण भगवान् आगे करेंगे।

भगवान्ने दो विभिन्न मार्गोंसे अर्जुनके प्रश्नका उत्तर दिया। अर्जुन जिस आर्य-शिक्षासे शिक्षित थे, उसीके सर्वोच्च भावोंके आधारपर भगवान्ने संक्षेपमें पहले उत्तर दिया और दूसरे उत्तरका आधार तो और भी गम्भीरतर ज्ञान है। इस उत्तरसे हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवनकी बहुत-सी गुह्य बातें समझी जा सकती हैं। गीता-शिक्षाका वास्तविक प्रारम्भ यहींसे होता है। वेदान्तदर्शनके आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्व, एवं आर्यजातिके नैतिक भित्ति-स्वरूप कर्त्तव्याकर्त्तव्य, सम्मान-असम्मानके सम्बन्धमें सामाजिक धारणाका अवलम्बन करके ही भगवान्‌ने पहला उत्तर दिया है। अर्जुनने धर्माधर्म, शुभाशुभ फलके सम्बन्धमें युक्तियाँ दिखलाकर युद्धसे अलग होनेका समर्थन करनेकी चेष्टा की थी; किन्तु असल बात यह है कि अर्जुनकी यह चेष्टा अपने अज्ञान और अशुद्ध चित्तके विद्रोह-की ही मिथ्या पाण्डित्यसे ढकनेके लिये थी। उन्होंने शरीर और शरीरकी मृत्युके सम्बन्धमें इसप्रकारकी बातें कही थीं मानो वे ही चरम सत्य हैं, किन्तु ज्ञानी और पण्डित कभी ऐसा नहीं समझते। बन्धुबान्धवोंकी मृत्युके लिये शोक करना वस्तुतः ज्ञानानुमोदित नहीं। पण्डित लोग मृत वा जीवित किसीके लिये भी शोक नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि यन्त्रणा और मृत्यु आत्म-जीवनकी केवल विभिन्न अस्थायी अवस्थाएँ हैं। शरीर नहीं, आत्मा ही सत्य वस्तु है। जिन राजाओंकी आसन्न मृत्युके लिये वे शोक करते हैं, उन्होंने पहले कभी जीवन धारण नहीं किया था—ऐसी बात नहीं, और न यही है कि भविष्यमें वे कभी मनुष्य-जन्म ग्रहण नहीं करेंगे। क्योंकि जिसप्रकार इस देहमें देहोपाधि-विशिष्ट जीवको कौमार, यौवन और वार्द्धक्य अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है, इसी प्रकार देहान्तर-प्राप्ति अर्थात मृत्यु भी है।

जो शान्त और ज्ञानी हैं, धीर हैं, स्थिर-चित्तसे सांसारिक व्यापारोंका अवलोकन कर सकते हैं, जो इन्द्रिय और चित्तके आवेगोंसे विचलित और मोहित नहीं होते, वे जड़जगत्‌के बाह्य दृश्यसे ठगे नहीं जाते। वे शरीर, स्नायु और चित्तकी हलचलसे अपनी बुद्धि और ज्ञानको मोहग्रस्त नहीं होने देते। वे देह, प्राण और इन्द्रियोंसे अतीत जीवनके प्रकृत सत्यका साक्षात्कार करते हैं, एवं स्वाभाविक अज्ञान, आवेग और वासनाका अतिक्रमण कर मानव-जीवनके एक-मात्र वास्तविक उद्देश्यका अवलम्बन कर सकते हैं।

जीवनका वह प्रकृत सत्य क्या है? वह उच्चतम उद्देश्य क्या है? वह है, मनुष्य का युग-युगान्तरसे जन्म-मरणके अन्दरसे होते हुए अमरत्वकी प्राप्तिके योग्य होना, यह योग्यता किसप्रकार आ सकती है? कौन मनुष्य वस्तुतः योग्य है? जो अपनेको केवल शरीर और प्राण नहीं समझते, जो जगत्‌के सत्या-सत्यका निर्णय केवल इन्द्रियोंकी साक्षीसे ही नहीं करते, जो अपनेको और सबको आत्मा ही जानते हैं, जिन्होंने आत्मामें निवास करना सीख लिया है, जो दूसरोंके साथ शारीरिक जीव-भावसे नहीं, आत्मा-भावसे ही व्यवहार करते हैं—वे ही योग्य हैं। कारण, मृत्युके बाद रहना ही अमृतत्व नहीं; क्योंकि जो मनको लेकर जन्म ग्रहण करते हैं वे सभी मृत्युके बाद भी रहते हैं। जन्म-मृत्युसे ऊपर उठना ही वास्तविक अमृतत्व है। मनुष्य जब केवल देह और मनके अन्दर ही सीमाबद्ध न रहकर आत्मारूपमें आत्माके अन्दर निवास करता है तभी उसे वास्तविक अमृतत्वको प्राप्ति होती है। जो शोक और दुःखके अधीन हैं, चित्तके आवेग और इन्द्रियोंके दास हैं, अनित्य विषयोंके भोगमें ही व्यस्त रहते हैं वे अमृ-तत्वकी प्राप्तिके योग्य नहीं हो सकते। जबतक इन पर विजय नहीं प्राप्त किया जाता तबतक इन्हें सहना ही पड़ेगा—अन्तमें एक ऐसा दिन आवेगा जब मुक्त पुरुषको ये व्यथा नहीं पहुँचा सकेंगे। जो अनन्त शान्त आत्मा गुप्त भावसे हमारे अन्दर विराजित है वह जिस प्रकारसे ज्ञान, समता और शान्तिके साथ संसारकी समस्त घटनाओंका ग्रहण करता है—मुक्त पुरुष भी उसी प्रकार शान्तभावसे संसारके दुःख-सुख ग्रहण कर सकते हैं। अर्जुनके समान दुःख और भयसे विचलित होना, भय-शोकसे कर्तव्य-पथसे डिग जाना, आत्मकृपा और असह्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोधसे दुखी होना, अवश्यम्भावी तुच्छ शारीरिक मृत्युके सामने काँप उठना—यह अनार्योचित अज्ञान है। जो आर्य शान्त शक्तिके साथ अमृत जीवनमें पहुँचना चाहता है उसके लिये यह पथ नहीं है।

मृत्यु कोई वस्तु नहीं। कारण, शरीर ही मरता है, किन्तु शरीर मनुष्य नहीं है। जो नित्य वस्तु है वह कभी नष्ट नहीं हो सकती। हाँ, वह भिन्न आकारमें प्रकाशित हो सकती है। केवल आकारका परिवर्तन हो सकता है। इसी प्रकार जो असत् अर्थात् है ही नहीं, उसका कभी भी आविर्भाव नहीं हो सकता। एक अविनश्वर आत्मा अखिल जगत्में व्याप्त हो रहा है-उसकी उपलब्धि होनेपर यह सत् और असत्का भेद दूर हो जाता है; इसप्रकारका भेद अज्ञान—मनकी क्रियामात्र है। देहका विनाश है, किन्तु जिसका यह देह है, जो इस देहका व्यवहार करता है वह आत्मा अनन्त, अपरिच्छिन्न, नित्य और अविनाशी है। जिसप्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रको त्याग करके दूसरा नूतन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा भी जीर्ण देहको त्याग दूसरी नूतन देह धारण करता है—इसमें शोककी कौन-सी बात है? पीछे पैर हटाने या काँपनेकी कौन-सी बात है? इसका न जन्म होता है और न यह मरता है। यह ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उत्पन्न होकर लुप्त हो जाय और फिर कभी न लौटे। यह तो अज है, शाश्वत है, पुराण है—शरीरके नाश होनेसे यह नष्ट नहीं होता। अमर आत्माका विनाश कौन कर सकता है? शस्त्र इसको छेद नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसे भिगो नहीं सकता, वायु इसे सुखा नहीं सकती। यह तो स्थाणु है, अचल है, सर्वव्यापी है और सनातन है। यह शरीर आदिकी भाँति व्यक्त नहीं, चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जाना नहीं जाता—तो भी यह समस्त व्यक्त वस्तुओंकी अपेक्षा बड़ा है। मानसिक चिन्तनके द्वारा इसका ग्रहण नहीं हो सकता—अतः यह समस्त मनकी अपेक्षा बड़ा है। प्राण और इन्द्रियोंकी भाँति इसका विकार नहीं होता, परिवर्तन नहीं होता—यह देह, मन और प्राणके परिवर्तनके अतीत है—परन्तु यही वह सत्य वस्तु है जिसको प्रकाश करनेकी ये सभी चेष्टा करते हैं।

यदि यही सत्य हो कि हमारी सत्ता उतनी महान् नहीं है, वैसी विराट् नहीं है और यदि यह भी मान लिया जाय कि आत्मा नित्य देहके साथ जन्म ग्रहण करता है और देहके साथ ही मरता है—तो भी जीवकी मृत्युके लिये शोक करना उचित नहीं। क्योंकि आत्माके स्वप्रकाशके लिये जन्म और मृत्यु अवश्यम्भावी है। जन्मके पूर्व आत्मा नहीं था ऐसी बात नहीं है। जन्मके पूर्व आत्मा ऐसी अवस्थामें रहता है जो हमारी जड़ेन्द्रियोंके अगोचर और अव्यक्त है। इसी अव्यक्त दशासे व्यक्त अवस्थामें आना, इन्द्रियोंके गोचर होना ही आत्माका जन्म है, मृत्युकालमें आत्मा फिर उसी अव्यक्त अवस्थामें लौट जाता है, इस अवस्थासे फिर वह व्यक्त होता है, बाह्येन्द्रियके गोचर होता है। मृत्यु चाहे रोगसे हो या युद्धसे, मृत्युके सम्बन्धमें हमारे जड़ इन्द्रिय मनका जो शोक है, वह बिल्कुल ज्ञानहीन स्नावयिक आर्तनादके सिवा, और कुछ भी नहीं है। हम जब मृत व्यक्तिके लिये शोक करते हैं तब अज्ञानके वशीभूत होकर ऐसे मनुष्योंके लिये शोक करते हैं जिनके लिये शोक करनेका कोई कारण ही नहीं—क्योंकि उनके अस्तित्वका लोप नहीं हो गया है, उनको किसी भीषण कष्टदायक अवस्थाका परिवर्तन सहन नहीं करना पड़ा है, वरं मृत्युके बाद भी वे हैं और जीवितावस्थाकी अपेक्षा कम सुखमें नहीं हैं। परन्तु वास्तवमें तो हमारी सत्ता अत्यन्त ही महान् है। सभी वह आत्मा हैं, वही एक ब्रह्म है—जिसको कोई-कोई आश्चर्यवत् देखते हैं कोई आश्चर्यवत् कहते हैं तथा कोई आश्चर्यवत् सुनते हैं। क्योंकि वह हमारे ज्ञानके अतीत है—इतनी ज्ञानचर्चा करने तथा ज्ञानियोंसे तत्त्वकी बातें सुननेपर भी उस परब्रह्मको अबतक कोई भी मानव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन स्वरूपतः नहीं जान सका है। वे जगत्के आवरणकी ओटमें छिपे हुए हैं, वे ही शरीरके प्रभु हैं, समस्त जीवन उनकी छायामात्र है। आत्माका शारीरिक मूर्ति ग्रहण करना तथा मृत्युके द्वारा इस अवस्थाका परित्याग करना—यह सब उन्हींकी एक सामान्य लीला है। जिस समय हम अपनेको इस भावसे जानेंगे। उस समय हमारा अपनेको हन्ता (मारनेवाला) या हत (मारा गया) कहनेमें कोई भी अर्थ नहीं रह जायगा। मानव-आत्मा जन्म और मृत्युरूप अवस्थाओंके अन्दर होकर अग्रसर हो रहा है। बीच-बीचमें परलोकमें विश्राम करता है, और इस लोकके सुख-दुःख, युद्ध-द्वन्द्व, तथा जय-पराजयको उन्नतिमें सहायक बनाकर क्रमशः अमरत्वकी ओर ही अग्रसर हो रहा है--यह उसी परब्रह्मकी लीला है, उसीकी अभिव्यक्ति है। यही एकमात्र वास्तविक सत्य है, जीवनमें हमें इसी सत्यकी उपलब्धि करनी पड़ेगी, इस परम सत्यके प्रकाशमें ही हमें अपने जीवनका निर्माण करना होगा।

इसीलिये गुरुने कहा—'हे भारत, इस वृथा शोक क्लैव्यको त्याग युद्ध करो।' किन्तु युद्ध करनेकी बात यहाँ कैसे आयी ? हम यदि इस उच्च महान् ज्ञानको हृदयङ्गम कर सकें, मन और आत्माको कठोर संयमके द्वारा चित्तके आवेग और इन्द्रियोंकी छलनाके ऊपर उठ प्रकृत आत्मज्ञानकी प्राप्ति कर सकें—तो अवश्य ही हम शोक और मोहसे मुक्त हो सकते हैं, तब हमारा मृत्युभय तथा मृत व्यक्तिके लिये शोक दूर हो सकता है। तब हम यह समझ सकते हैं कि जिनको हम मृत कहते हैं वस्तुतः वे मरे नहीं हैं, एवं उनके लिये शोक करनेका कोई कारण नहीं, क्योंकि वे केवल इस लोकको ही छोड़ गये हैं। उपर्युक्त ज्ञानके अधिकारी होनेपर हम जीवनके भीषण द्वन्द्वोंमें अविचलित रह सकते हैं तथा देहकी मृत्युको तुच्छ समझ सकते हैं। जीवनकी सभी घटनाएँ उसी एक ब्रह्मकी अभिव्यक्ति हैं एवं उसी एक ब्रह्मके साथ, हमारे एकत्वके अनुभव करानेके लिये उपायमात्र हैं, ऐसी उपलब्धि हो सकती है। किन्तु इससे अर्जुनको युद्ध करने और कुरुक्षेत्रमें भीषण हत्याकाण्ड करनेके लिये क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि अर्जुनको जिस मार्गसे चलना होगा, उसमें यह युद्ध-कार्य सम्पादन करना ही आवश्यक है। अपने स्वधर्म, अपने सामाजिक कर्त्तव्यका पालन करनेके लिये उन्हें युद्ध करना ही होगा। इस संसारमें—जड़जगत्में ब्रह्मका ही आत्मप्रकाश है। यह केवल आभ्यन्तरीय क्रमविकासका ही व्यापार नहीं, यहाँ जीवनकी बाह्य घटनाओंको भी उक्त क्रम-विकासमें सहायकरूपमें ही ग्रहण करना होगा। इसीलिये पारस्परिक सहायता करनी होगी और पारस्परिक युद्ध भी करना होगा। यहाँ निश्चिन्त मनसे शान्तिके साथ, सहज सुख तथा सुविधाओंके भीतर होकर कोई अग्रसर नहीं हो सकता—यहाँ एक पैर आगे रखनेके लिये भी वीरके सदृश चेष्टा करनी पड़ती है, बाधा-विपत्तियोंके साथ युद्ध करना पड़ता है। जो आभ्यन्तरीय और बाह्य दोनों प्रकारके द्वन्द्वमें प्रवृत्त होते हैं—यहाँतक कि बाह्य द्वन्द्वकी चरम सीमा युद्धमें भी प्रवृत्त होते हैं—वही क्षत्रिय हैं, वही वीर पुरुष हैं; युद्ध, बल, उच्च हृदयता, साहस उनके स्वभाव हैं; न्यायकी रक्षा तथा युद्धसे पराङ्मुख न होना, निश्चित मृत्युको जानकर न भागना, यही उनके धर्म हैं, कर्त्तव्य हैं। क्योंकि इस संसारमें धर्मके साथ अधर्मका, न्यायके साथ अन्यायका, अत्याचारी और आततायियोंके साथ रक्षा करनेवालोंका द्वन्द्व अनवरत चल रहा है, एवं यह द्वन्द्व जब बाह्य युद्धके रूपमें परिणत होकर सामने उपस्थित हो जाता है तब जो धर्मपक्षकी ध्वजा पकड़े खड़े होते हैं उनको भीषण और कठोर कर्त्तव्यके सामने कम्पित होनेसे काम नहीं चलता। युद्धक्षेत्रमें उनका अनुचरों और साथियोंका परित्याग करना, अपने पक्षके साथ विश्वासघात करना, युद्धकी भीषणता और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नृशंसताके लिये क्षुद्र दौर्बल्य और कार्पण्यके वश हो धर्म और न्यायकी ध्वजाको धूलिमें लोटने देना, और उसे आततायीके खून भरे पैरोंतले कुचलने देना—कभी उचित नहीं है। इस अवस्थामें युद्ध-परित्याग नहीं, युद्ध करना ही उनका धर्म है, कर्त्तव्य है। हत्या करनेसे नहीं, हत्या न करनेसे ही पाप होगा।

अर्जुन विलाप कर रहे थे कि मनुष्य जिसके लिये, जिन उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये जीवन धारण करता है, आत्मीय, स्वजनोंकी मृत्युसे वे सब व्यर्थ हो जायँगे, उसका जीवन वस्तुतः शून्य हो जायगा। भगवान्ने क्षणभरके लिये एक दूसरी तरहसे इसका उत्तर दिया है। क्षत्रिय-जीवनका वास्तविक उद्देश्य क्या है? वास्तविक सुख क्या है? अपनी और अपने परिवारकी सुख-स्वच्छन्दता नहीं, बन्धु-बान्धवोंके साथ आराम और शान्ति-सुखमय जीवन-यापन नहीं—क्षत्रिय-जीवनका वास्तविक उद्देश्य है धर्मके लिये युद्ध करना, क्षत्रिय जीवनका प्रधान सुख है किसी महान् उद्देश्य-साधनके लिये जीवनदान करनेमें अथवा युद्धमें विजय प्राप्त करके वीरताका मुकुट प्राप्त करने, एवं वीरोचित गौरवके साथ जीवन-यापन करनेमें। 'धर्मयुद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये और कुछ किसी तरह भी श्रेय नहीं है, स्वर्गके मुक्तद्वारस्वरूप इसप्रकारका युद्ध जिन क्षत्रियोंके सामने आप ही उपस्थित होता है वही सुखी हैं। यदि तुम यह धर्मयुद्ध नहीं करोगे तो यह तुम्हारे लिये अपने कर्त्तव्य, स्वधर्म और कीर्तिका त्याग करना होगा और तुम्हारे पापका सञ्चय होगा।' इसप्रकारके युद्धसे विमुख होनेपर जो तुम्हारा सम्मान करते हैं, तुम्हारे वीरत्वकी बड़ी प्रशंसा करते हैं वे सब तुम्हें कापुरुष कहकर घृणा और उपहास करेंगे। क्षत्रिय-जीवनमें इससे बढ़कर और क्या दुःख होगा? इससे तो मृत्यु भी कहीं श्रेयस्कर है। युद्ध, साहस, शक्ति, प्रभुत्व, वीरताका गौरव, सम्मुख युद्धमें मरकर स्वर्गकी प्राप्ति—यही क्षत्रियका आदर्श है। इस आदर्शको नष्ट करना, इस गौरवको कलंकित करना, वीर-श्रेष्ठ पुरुषके जीवनमें ऐसी कापुरुषता और दुर्बलताका दृष्टान्त दिखलाना, एवं इसप्रकार मनुष्यके नैतिक जीवनके आदर्शको गिराना—इससे अपना भी अकल्याण होता है और जगत्का भी अकल्याण होता है। 'यदि मारे गये तो स्वर्ग जाओगे और यदि विजयी हुए तो पृथ्वीका भोग करोगे—अतएव हे कुन्तीपुत्र! युद्धके लिये निश्चय करो उठो।'

पहले जो सुख-दुःखमें अविचलित रहनेकी बात, धीरताकी बात कही गयी थी, और आगे चलकर भी गम्भीरतर आध्यात्मिकताकी बातें कही जायँगी; उन दोनोंकी तुलनामें भगवान्का यह वीरोचित भाषण बहुत ही नीची श्रेणीका-सा जान पड़ता है। क्योंकि अगले ही श्लोकमें भगवान् अर्जुनको आदेश करते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(२।३८)

—'सुख-दुःख, लाभालाभ एवं जय-पराजयको समान समझकर युद्धके लिये प्रवृत्त होओ, इससे पाप नहीं होगा।' यही गीताकी वास्तविक शिक्षा है। किन्तु भारतीय धर्मशास्त्र सदासे अधिकारी-भेदको स्वीकार करते हैं-मनुष्यकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके लिये, भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें कार्यतः भिन्न भिन्न आदर्शोंकी आवश्यकता है। क्षत्रियका आदर्श, वर्णाश्रमधर्मका आदर्श-भगवान्ने यहाँपर सामाजिक पहलूसे ही समझाया है,-इसके भीतर जो गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ है उसे पीछे दिखायेंगे। श्रीभगवान्ने कहा, यदि तुम सुख-दुःखका हिसाबकर—कर्मके फलाफलका हिसाब लगाकर ही कर्म करना चाहते हो तो संक्षेपमें तुम्हारे प्रति मेरा यह उत्तर है कि-मरनेपर स्वर्ग पाओगे इत्यादि। मैं पहले तुम्हें यह समझा चुका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हूँ कि आत्मा और जगत्‌के सम्बन्धमें उच्च ज्ञान कौन-सा मार्ग बतलाता है। अब तुम्हें समझाया कि तुम्हारा सामाजिक कर्तव्य, तुम्हारे वर्णका नैतिक आदर्श तुम्हें कौन-सा मार्ग दिखलाता है–'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य'। तुम चाहे जिस ओरसे आलोचना करो फल एक ही होगा। किन्तु यदि सामाजिक कर्तव्य और वर्णधर्मसे तुम्हारी तृप्ति नहीं होती, और यदि तुम यह समझते हो कि यह तुम्हें दुःखमें डालेंगे, पापमें फेकेंगे तो तुम और भी उच्च आदर्शका अवलम्बन करो, परन्तु नीचे न उतरो। तुम अपने अन्दरसे सारा अहंकार निकाल दो, सुख-दुःखको तुच्छ समझो, लाभालाभ और समस्त पार्थिव फलाफलको तुच्छ कर दो। तुम्हें किस पक्षका समर्थन करना होगा, भगवान्‌के आदेशसे किस कार्यको करना होगा–बस, केवल उसीको विचारो–'नैवं पापमवाप्स्यसि' फिर तुम्हें पाप नहीं लगेगा। इसप्रकार अर्जुनकी दुःखकी युक्ति, हत्या-विमुखताकी युक्ति, पापबोधकी युक्ति, कर्मके अशुभ फलकी युक्ति—उनकी सभी युक्तियोंका तत्कालीन आर्यजातिके श्रेष्ठ ज्ञान और नैतिक आदर्शके अनुसार ही उत्तर दिया गया।

यही क्षत्रियका धर्म है। यही धर्म कहता है–भगवान्‌को जानो, अपनेको पहचानो और मनुष्यकी सहायता करो। धर्म और न्यायकी रक्षा करो, भय और दुर्बलताको छोड़कर अविचलित भावसे संसारमें अपने युद्ध-कार्यको सम्पन्न करो। तुम अनन्त अविनाशी पुरुष हो, तुम्हारा आत्मा अमृतत्वके लाभके पथपर चलता हुआ ही संसारमें आया है, जीवन-मृत्यु कुछ नहीं है; दुःख, वेदना, यन्त्रणा कुछ नहीं है, क्योंकि इन सबका उल्लंघन करना होगा, इन सबके ऊपर उठना होगा। निज सुख और निज लाभकी ओर मत ताको, ऊपरकी ओर चारों ओर आँखें खोलकर देखो–ऊपर तुम जिस उच्च उज्ज्वल शिखरकी ओर उठ रहे हो उसी ओर दृष्टि रक्खो, अपने चारों ओर इस युद्ध और परीक्षाके क्षेत्ररूप संसारकी ओर ध्यानसे देखो, वहाँ किस प्रकार शुभ-अशुभ, उन्नति-अवनति परस्परमें निर्भय होकर द्वन्द्व कर रहे हैं। मनुष्य तुम्हें सहायताके लिये पुकार रहे हैं–कहते हैं 'तुम हमारेमें शक्तिशाली पुरुष हो, तुम हमारे सहायक हो; अतएव उनकी सहायता करो, युद्ध करो। यदि जगत्‌की उन्नतिके लिये ध्वंसकार्यकी आवश्यकता हो तो ध्वंस करो-परन्तु जिनका ध्वंस करते हो, उनके साथ घृणा न करना। जो ध्वंस होंगे, उनके लिये शोक न करना। सब जगह उसी एक सत्य वस्तुको समझो—और यह भी समझो कि सब आत्मा अमर हैं और देह केवल धूल है। शान्ति, शक्ति और समताके साथ अपना कार्य करो। युद्ध करो, वीरकी भाँति मृत्युका वरण करो या वीरके सदृश विजय-लाभ करो। क्योंकि भगवान्‌ने एवं तुम्हारी प्रकृतिने तुम्हें यही कार्य सम्पादन करनेके लिये सौंपा है।' *

तेरा पथ।

बड़ा कठिन है कांटोंवाला तेरा पथ गम्भीर।
वीर निकल पाता है कोई कठिनाई को चीर॥
कोई कोई मर्म जानते हैं बस तेरा सारा।
तेरे बिना व्यर्थ है बिलकुल सारा जगत पसारा॥
तेरे तलकी पा जाता है कोई वीर विचारा।
उसी थाह पानेको फिरता कोई मारा मारा॥
कई दृष्टिगोचर होते हैं इस दुनियामें तेरे।
बीहड़ पथके पथिक बने रहते हैं तुझको घेरे॥

–अवन्तविहारी माथुर

* श्रीअरविन्दके 'Essayas on Gita' से अनुवादित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुबेल शैलपर श्रीरामकी झाँकी

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

'इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। सेन सहित उतरे अति भीरा॥
सैल शृंग एक सुन्दर देखी। अति उतंग सम सुभ्र बिसेखी॥
तहँ तरु किसलय सुमन सोहाये। लछमन रचि निज हाथ डसाये॥
तेहिपर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥'

इस प्रस्तुत प्रसङ्गमें 'इहाँ' शब्द कथान्तरकी सूचना देता है, इसके पहले रावणके यहाँका समाचार इसप्रकार कहा गया है—

'सुनासीर सत सरिस सो, संतत करै बिलास।
परम प्रबल रिपु सीसपर, तदपि न तेहि कछु त्रास॥'

इसके पश्चात् अब श्रीरामदलका समाचार वर्णन किया जाता है कि 'यहाँ सुबेल-गिरिपर श्रीरघुवीरजी सेनासहित बड़ी भीरके साथ उतरे हैं।' 'इहाँ' शब्दमें भी एक रहस्य है, ग्रन्थकार जब रावणके समाचार वर्णन करते हैं तो 'उहाँ' शब्दका प्रयोग करते हैं जैसे,–

उहाँ निसाचर रहहि ससंका। जबते जारि गयउ कपि लंका॥
उहाँ अर्द्ध निसि रावन जागा। निज सारथिसन खीझन लागा॥
इत्यादि

और जब श्रीरघुनाथजीका प्रसङ्ग उठाते हैं तो 'इहाँ' शब्दसे आरम्भ करते हैं, यथा—

'इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा।' 'इहाँ प्रात जागे रघुराई।'
'इहाँ राम अंगदहि बुलावा।' इत्यादि।

'इहाँ' शब्दसे गुसाईंजी श्रीरामजीके साथ अपना निजत्व सूचित कर रहे हैं, तात्पर्य यह कि यहाँ—अपनी ओर (स्वपक्षका) यह समाचार है। और वहाँ—रावणके दलका (पर-पक्षका) ऐसा समाचार है।

सुबेल-शैल वही पर्वत है जिसपर चढ़कर हनुमान्‌जीने लङ्काको देखा था—

'सैल बिसाल देखि इक आगे। तापर कूदि चढ़ेउ भय त्यागे॥
उमा न कछु कपिकी अधिकाई। प्रभु प्रताप सो कालहिं खाई॥
गिरिपर चढ़ि लङ्का कपि देखी।'

सुबेल-शैलके विषयमें कथा है कि वहाँ कालका पहरा था, अतः उसके भयसे वहाँ कोई फटकने नहीं पाता था। किन्तु श्रीहनुमान्‌जी भय त्यागकर उस पर्वतपर चढ़ गये, इसका कारण यह था कि उनमें प्रभुके प्रतापका बल था, जो कालको भी ग्रास बना सकता है। हुआ भी वही, श्रीमारुतिजीने कालको परास्त कर वहाँसे उसी समय उसे यमपुरी वापस भेज दिया। परन्तु इस मर्मको लंका-निवासियोंने नहीं जाना। श्रीरामजीके ऐश्वर्यकी एक आश्चर्य घटना सुबेल-गिरिपर उतरना भी था। इसका उल्लेख मन्दोदरी और प्रहस्तने रावणको समझाते समय किया है। प्रहस्तने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि—

जेहि बारीस बँधायउ हेला। उतरे सेन समेत सुबेला॥
सो मनु मनुज खाब हम भाई। बचन कहहिं सब गाल फुलाई॥

तात्पर्य यह कि 'हे रावण! राक्षस जो तुमसे गाल फुलाकर कहते हैं कि हम मनुष्योंको पकड़कर खा जायँगे, सो तुम खूब समझ लो कि श्रीराम मामूली मनुष्य नहीं हैं, उन्होंने समुद्रको बँधवानेका दुस्साध्य कार्य किया है और सेनासहित आकर उस सुबेल-गिरिपर डेरा दिया है, जहाँ जानेके लिये राक्षस भी भयसे काँपने लगते हैं।' मन्दोदरीने भी कहा है—

जेहि जलनाथ बँधायेउ हेला। उतरे प्रभु दलसहित सुबेला॥

'अर्थात् जिस सुबेल-गिरिपर कालके भयसे मक्खी भी नहीं भिनक सकती थी वहाँ श्रीरामचन्द्र-जीकी सेनासे धूम मच रही है। तात्पर्य यह कि श्रीरामके ऐश्वर्यके सामने कालकी भी कुछ नहीं चलती।'

यह सुबेल-पर्वत त्रिकूटमेंसे एक था, दूसरे-पर लङ्का-नगरी बसी थी और तीसरेपर अशोक-वाटिका थी। श्रीहनुमान्‌जीने पहलेहीसे यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तजवीज कर लिया था कि इसी सुबेलपर सरकारी शिविर होगा क्योंकि लङ्का यहाँसे ठीक सामने दीखती है और यही उच्च शृंग उसके मुकाबलेका है।

'सेनसहित उतरे अति भीरा।'

यहाँ 'अति भीरा' शब्दसे श्रीसरकारकी निर्भयता ध्वनित होती है, क्योंकि रावणके गढ़के सामने चुपचाप ही नहीं, बल्कि सेनाके साथ धूम-धामसे आप उतरे। इस स्थलपर 'रघुबीरा' शब्द देकर पञ्चवीरताके अन्तर्गत पराक्रम-वीरताकी सूचना भी दी गयी है।

त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः।
पराक्रम महावीरो धर्मवीरो सदास्वतः॥
पञ्चवीरसमाख्यातः राम एव स पञ्चधा।
रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥

'सैल शृंग०'—उस सुबेल-गिरिका एक कंगूरा जो सबसे ऊँचा, समतल और शुभ्र था अर्थात् जो कुश-कण्टकसे हीन और दिव्य प्राकृत सौन्दर्यसे पूर्ण था, उसीपर वृक्षोंके किसलय (नये कोमल पत्ते) बिछाये गये और उसको श्रीलखनलालजीने अपने हाथों रच-रचकर नव विकसित मनोहर सुमनोंसे आवृत कर सुसज्जित कर दिया। ऊपरसे रुचिर मृदुल मृगछाला भी बिछा दी। ऐसे आसनपर कृपालु श्रीरामचन्द्रजी आसीन हुए।

एक मार्मिक बात यहाँ मृगछाला-सम्बन्धी है। इस प्रसंगसे पहले कहीं भी मृगछालापर बैठनेका अवसर नहीं बतलाया गया। अतः यह मृगछाला श्रीलखनलालजीको कहाँसे मिली और उन्होंने इसको किस अभिप्रायसे बिछाया? अबतक तो इनके साथ मृगछाला होनेका कोई स्पष्ट प्रमाण ही नहीं मिलता। परन्तु गीतावलीके आरण्यकाण्डके पद २०८ में इसप्रकार उल्लेख है—

हेमको हरिण हति चले रघुकुलमणि
लषण ललित कर लिये मृगछाल।

इससे इस रहस्यका उद्घाटन हो जाता है कि श्रीरघुनाथजी मारीचको मारकर श्रीजानकीजीके माँगे हुए उसके स्वर्ण-मृगचर्मको लक्ष्मणजीसे उठवाकर लाये थे और जब आश्रममें आकर श्रीसीताजीको उन्होंने नहीं पाया, तो लक्ष्मणजी उस मृगचर्मको इस विचारसे साथ लिये घूमते रहे कि जब श्रीसीताजी मिल जायँगी तो उनकी अभीष्ट वस्तु उन्हें दे दी जायगी। परन्तु जब वे किष्किन्धा पहुँचे और वहाँ सुग्रीवसे भेंट होनेपर सुग्रीवने सीताजीके गिराये हुए वस्त्राभूषणोंको दिया तो उन्हें लेकर श्रीरामचन्द्रजी शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो गये।

माँगा राम तुरत सो दीन्हा। पट उर लाय सोच अति कीन्हा॥

तभीसे श्रीलखनलालजी, यह समझकर कि जब श्रीसीताजीके पट और आभूषणोंने सरकारको इतना विह्वल बना दिया तो इस मृगचर्मको देख सीताका स्मरणकर स्वामीका परम शोकाकुल होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि इसी मृगचर्मके कारण श्रीसीताजीका वियोग हुआ है, अतः उस मृगचर्मको वह सदा अपने वल्कलोंके अन्दर छिपाये रखते थे और मन-ही-मन सोचा करते थे कि कब माताजी मिलें और कब यह उन्हें दिया जाय। इस कारण श्रीलखनलालजी (जो मायाकी सीताके मर्मको न जानकर यही समझते थे कि असली जानकीजीका हरण हुआ है) जब जब श्रीसरकारको उद्योगमें विलम्ब करते देखते थे तो घबड़ा उठते थे। जब विभीषणकी रायसे सरकारने पार होनेके लिये समुद्रसे राह माँगनेकी बातको स्वीकार किया तो—

मंत्र न यह लछमन मन भावा। राम बचन सुनि अति दुख पावा॥

और आपने कहा कि 'दैवका भरोसा क्यों किया जाय? कौन जानता है कि समुद्र अपनी खुशीसे हमें मार्ग दे देगा?' बाण-प्रहारसे समुद्रको शीघ्र सुखाकर हमें मार्ग बना उतर चलना चाहिये और जहाँ तक हो सके अविलम्ब श्रीसीतामाताको दुःखसे छुड़ाना चाहिये। परन्तु श्रीसरकारने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा कि 'धैर्य धारण करो, ऐसा ही किया जायगा।' पश्चात् जब तीन दिन व्यतीत होनेपर भी समुद्रने भगवान्की बातको सुनी-अनसुनी कर दिया, तब सरकारको कोप करके वाण सन्धान करना पड़ा तो 'यह मत लछमनके मन भावा।' किन्तु तत्क्षण ही समुद्र भयभीत हो सरकारके शरण आगया और निश्चय हुआ कि सेतु बाँधा जाय। अतः सेतु बाँधा गया। तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजीने कहा कि अब श्रीशिवमन्दिर बनाया जाय और शिवस्थापनाके बाद हमलोग आगे बढ़ें। श्रीलखनलालजी चुपचाप भगवान्की लीलाको देख रहे थे और सोचते थे कि वहाँ तो श्रीसीतामाताको एक एक क्षण कल्पके सदृश बीत रहा है, और यहाँ मन्दिर और प्रतिष्ठाकी लीला चल रही है, किन्तु 'सबते सेवक धरम कठोरा' के कारण वह कर ही क्या सकते थे? सरकारकी इच्छाका अनुवर्तन करना ही उनका धर्म था। इससे सब कुछ सहते थे, परन्तु जब सिन्धु पार कर सारी सेना सुबेलपर उतरी तो श्रीलखनलालजीने विचारा कि कहीं यहाँ भी लीलाधाम सरकारकी कोई नयी लीला न आरम्भ हो जाय, अतः ऐसा करना चाहिये जिससे सरकार युद्धके लिये उत्साहित हों तथा उनके मनमें माता सीताके संकट-हरण और उनसे मिलनेकी त्वरा उत्पन्न हो। अतः उन्होंने उस छिपायी हुई मृगछालाको निकालकर विरह उत्तेजित करनेके उद्देश्यसे पुष्प-शय्याके ऊपर बिछा दिया। उनका अभिप्राय था कि सरकार इसे देखकर हरणके समयको स्मरण करेंगे और क्षुभित हो शीघ्र युद्धकी आज्ञा प्रदान करेंगे।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि मारीच तो अन्त समय अपना राक्षसी शरीर धारण कर चुका था (प्राण तजत प्रकटेसि निज देहा।) तब मृगछाला कहाँसे आयी? उत्तर यह है कि श्रीसरकार 'सत्यसन्ध प्रभु' ने अपनी सत्तासे उसे सत्य कर लिया था, जिसका गीतावलीमें प्रमाण है ही। दूसरी बात यह है कि श्रीलखनलालके जानेपर यदि मृगछाला नहीं मिली होती तो इसकी चर्चा उस प्रसङ्गमें इसप्रकार अवश्य हुई होती कि जिस मृगछालाके लिये आये थे वह तो मिली ही नहीं, अब सीताजीको क्या देंगे, परन्तु ऐसा पाया नहीं जाता है, अतः मानससे भी यही निश्चित और ध्वनित है कि मृगछाला अवश्य मिली थी।

इसप्रकार आसनका ध्यान कहकर अब आसीन श्रीप्रभुका ध्यान वर्णन किया जाता है।

प्रभुकृत सीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा॥
दुहुँ करकमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना॥
बड़ भागी अंगद हनुमाना। चरनकमल चापत बिधि नाना॥
प्रभु पाछे लछमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥

एहि बिधि कृपा-रूप गुन-धाम राम आसीन।
धन्य ते नर यहि ध्यानते रहत सदा लयलीन॥

श्रीरघुनाथजीने अपना सिर सुग्रीवके गोदमें टेक रक्खा है, उनकी बाईं ओर चाप और दाहिनी ओर त्रोण रक्खा हुआ है। सरकार एक बाण लेकर दोनों हाथोंसे उसे सुधार रहे हैं, विभीषणजी कानोंके पास ही बैठे कुछ मन्त्रणा दे रहे हैं, महाभाग्यवान् श्रीहनुमान्जी और अंगदजी चरणकमल दाब रहे हैं और श्रीलखनलालजी भगवान्के पीछे धनुष-बाण हाथमें लिये कमरमें तरकस कसे वीरासनमें विराजमान हैं; इसप्रकार कृपा, रूप और गुणके धाम श्रीरामचन्द्रजी आसीन हैं। वह मनुष्य धन्य है जो सदा इस ध्यानमें अपने चित्तको लय किये रहता है।

ग्रन्थकार महोदयने पहले वाम कहकर फिर दहिन कहा सो उचित ही है। चाप बायें हाथकी चीज है और निषंगसे बाण निकालकर सन्धान करना दहिने हाथका कार्य है इसमें विपर्यय होनेसे ठीक नहीं होता। लंकेश एक व्यक्ति है और कान दो हैं, अतः इस स्थलमें भी कान-शब्दसे दहिना कान ही समझना चाहिये। वाम कानके पास होनेसे उसका अवश्य उल्लेख होता। इसीप्रकार चरणसेवाके विषयमें भी समझना चाहिये। अंगदका नाम पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आया है अतः अंगद दाहिने पैरकी और हनुमान्‌जी बायें पैरकी सेवा करते हैं—ऐसा समझना चाहिये। यदि कोई यह शङ्का करे कि अंगदको यह श्रेष्ठता कैसे मिली तो इसका उत्तर यह कि दरबारमें ऐश्वर्यकी अधिकताके अनुसार ही स्थान मिला करता है। यहाँ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि पारमार्थिक गुणोंका निर्णय नहीं है। अतः यहाँ सबका स्थान उनके पदके अनुरूप ही है। सुग्रीवजी पूर्ण राजा हैं इससे उन्हें सिरके समीप स्थान मिला है, विभीषणजीको राजतिलक हो चुका है, परन्तु अभी दखल नहीं हुआ है, अतः उनको दूसरा स्थान मिला है, वह कानके पास हैं। अंगदजी भी युवराज हैं, यथा—'राज दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ युवराज', अतः उन्हें तीसरा स्थान दाहिना पैर प्राप्त हुआ। श्रीहनुमानजी मन्त्री हैं, जैसे सुग्रीवने एक बार कहा है—

'सचिवन्हसहित इहाँ इकबारा।
बैठि रहौं कछु करत बिचारा॥'

अतः उनको चौथा स्थान अर्थात् बायें पैरकी सेवा प्राप्त हुई है। यही क्रम आगे चलकर शशि-श्यामताकी जिज्ञासाके प्रकरणमें भी है, जिसका वर्णन आगे होगा।

'बड़भागी' शब्दका प्रयोग दोनों चरणसेवकोंके लिये ही किया गया है। यद्यपि विभीषणजी और सुग्रीवजीको सिर और कानके पास बैठनेमें इनसे अधिक सम्मान प्राप्त है तथापि 'बड़भागी' शब्दसे वे वञ्चित रहे; कारण यह है कि ग्रन्थकारने केवल चरणसेवकोंके लिये ही 'बड़भागी' शब्दका सर्वाधिकार सुरक्षित (All rights reserved) कर रक्खा है, यथा—

'परेउ लकुट इव चरणन्ह लागी।
प्रेमविवश मुनिवर बड़भागी॥'
'सोइ गुणज्ञ सोई बड़भागी।
जो रघुबीर चरण-अनुरागी॥'
'अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम-पदारविन्द अनुरागी॥'
'हनूमान सम नहिं बड़भागी।
नहिं कोउ रामचरण अनुरागी॥' इत्यादि

तथा प्रभुके पदसे विमुख रहनेवालेको अभागी कहा है; यथा—'ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-विमुख अभागी। इत्यादि।

सुग्रीवकी गोदमें अपना सिर दे करके प्रभुजी सच्ची मिताईकी सूचना अपनी ओरसे दे रहे हैं, तथा उनके ऊपर ही सारा भरोसा है ऐसा प्रकट कर रहे हैं। विभीषणजीको कानके समीप प्रतिष्ठित कर मानों लङ्का-युद्धके विषयकी सारी मन्त्रणाका भार उनके ऊपर दे दिया है, यानी इनकी सभी बातें सुनी जायँगी। इसी प्रकार अंगद और हनूमान्‌के अधीन पदसेवाका भार प्रदान कर प्रभु यह सूचित कर रहे हैं कि हमारा आगे बढ़ना या पीछे हटना तुम्हीं दोनोंके आधारपर अवलम्बित है। श्रीमर्यादा-पुरुषोत्तमके इस भावसे राजधर्मकी कैसी उच्च शिक्षा प्राप्त होती है। राजाको युद्धके ऐन मौक़ेपर अपने कर्मचारियोंका हृदय, उनकी योग्यताके अनुसार कार्य प्रदान कर, किसप्रकार अधिकृत करलेना चाहिये, इसका यह एक सुन्दर दृष्टान्त है। दोनों हाथोंसे बाण सँभारना इस अमरकी दलील है कि यह कहीं चलानेके लिये तैयार किया जा रहा है। भला, स्वर्ण-मृगछालापर दृष्टि जानेपर अब बाण चलाये बिना चित्तमें कैसे सन्तोष हो सकता है? इसके सिवा श्रीराम-दलमें कुछ महान् वानरोंके अतिरिक्त सब भालु-कपियोंको श्रीसरकारका ऐश्वर्य अभी मालूम नहीं है, उसका जना देना भी परम आवश्यक है, क्योंकि इस असाधारण युद्धमें उन्हें स्वामीके शौर्यपर विश्वास होनेसे धैर्य बना रहेगा तो वे सब कठिनाइयोंको सहज ही हटा सकेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरघुनाथजी दोनों पैर फैलाकर लेटे हुए-से सुग्रीवके उछंगमें मस्तक रक्खे हैं, आपके नेत्र पूर्वकी ओर हैं, जिससे सरकारकी दृष्टि सहज ही उगते हुए चन्द्रदेवपर पड़ती है और लीलासे ही आपके श्रीमुखसे एक प्रश्न निकल पड़ता है। श्रीलखनलालजी कुछ दूरीपर थे। यथा 'कछुक दूरि सजि बान सरासन।' कुछ दूर रहनेपर ही पहरेमें विघ्नादिके निवारण करनेके लिये विशेष सुविधा रहती है और इसप्रकारकी परिस्थितिका श्रीलखनलालजीको अभ्यास भी था अतः वे दूर थे, इसीसे वे प्रभुके इस प्रश्नोत्तरमें सम्मिलित न हो सके। यह प्रश्नोत्तर प्रभु, सुग्रीव, विभीषण, अंगद और हनूमान्‌में ही हुए थे। कैसा विलक्षण राम-पञ्चायतन है! इसके ध्यान करनेवाले व्यक्ति धन्य हैं! स्वामीकी कैसी महिमा है, जो स्थान भरतादिको प्राप्त है वही स्थान अपनी असीम कृपासे कपियोनि तथा राक्षस-योनिको प्रदान किया गया है। किस स्वामीमें ऐसी निजत्व भावना हो सकती है?

को साहेब सेवकहि निवाजी। आपु समान साज सब साजी॥

'कृपाधाम' शब्द सरकारके इसी विरदकी सूचनाके लिये है, तथा सौन्दर्यकी अनुपमता 'रूपधाम' शब्दसे प्रकट की गयी है और 'गुणधाम' शब्द उपर्युक्त राजनीतिकता तथा दूरदर्शिता आदि गुणोंका सूचक है।

पूरब दिशा बिलोकि प्रभु देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखहु शशी मृगपति सरिस अशंक॥

पूरब दिसि गिरि-गुहा-निवासी। परम प्रताप तेज-बल-रासी॥
मत्त-नाग तम-कुंभ विदारी। शशि-केसरी गगन-बनचारी॥
बिथुरे नभ मुकताहल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥
कह प्रभु शशिमहँ मेचकताई। कहहु काह निज निज मति भाई॥

कैसा सुन्दर समस्त-पद-निरूपित सर्वांग रूपक है। पूर्व दिशा पहाड़की कन्दरा है, उस कन्दरामें निवास करनेवाला यह मयङ्क केहरि है। (चन्द्रदेवको सिंहकी उपमा देकर उसका अशंक और अभिमानी होनेके साथ ही बलवान और प्रतापी होना भी बतलाया।) तम (अन्धकार) ही मत्त हाथी है, जिसके मस्तकको विदारण कर यह सिंह आकाशरूपी वनमें विचरण कर रहा है, यह तारागण उसी तमरूपी हाथीके गजमुक्तारूप बिखरे हुए हैं। जिनसे निशापति केसरीने अपनी निशि-सुन्दरीका शृंगार किया है। इसप्रकार रूपकके द्वारा चन्द्रमाकी ओर ध्यान आकर्षित कर सरकार पूछते हैं कि इसमें जो काला धब्बा दीखता है, वह क्या है? सब अपनी-अपनी मतिके अनुसार कहो।

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। शशिमहँ प्रकट भूमिकी झाई॥

पहला स्थान सुग्रीवका था, अतः उन्होंने ही पहले उत्तर दिया कि 'मेरी रायमें विमल चन्द्रमें (दर्पणवत्) पृथ्वीकी पड़ी हुई छाया काली-काली दीख पड़ती है।' यहाँ सुग्रीवको भूपति होनेके कारण उनके चित्तमें भूमिका संस्कार है और राजाके हृदयमें पृथ्वीकी ही कामना होती है, अतः उनकी भूमिकी छायाकी कल्पना वास्तविक है।

मारेहु राहु शशिहिं कह कोई। उरमहँ परी श्यामता सोई॥

दूसरा स्थान विभीषणजीका है, उन्होंने कहा कि—'मेरी रायमें यह कालिमा उस चोटका निशान है जो इसके शत्रु राहुके आघातसे उत्पन्न हुआ है।' यहाँ 'कोई' अनिश्चयवाचक शब्द रखकर गुसाईंजीने एक पहेली बना दी है, जिसको केवल उपर्युक्त ध्यानके उपासक भक्त ही समझ सकते हैं। भक्त विभीषणजी अपने शत्रु रावणके लातकी चोट खाकर आये थे, वह उन्हें विस्मृत नहीं हुआ था, उसका संस्कार बना ही हुआ था अतः उनका अनुमान भी स्वाभाविक ही हुआ। ध्यानके अनधिकारी व्यक्तियोंको असूया आदिका अवसर न मिले और मर्मी उपासकोंका तो यह निश्चय ही है कि—

'ज्ञान अखंड एक सीतावर। मायावश्य जीव सचराचर॥'
'जो सबके रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस॥'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः यहाँ 'कोई' शब्दका व्यवहार निष्प्रयोजन नहीं हुआ है। यही बात अंगदके उत्तर-विषयमें भी है। उन्होंने भी 'कोउ कह' कहा है, स्पष्ट नहीं कहा—

कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा।
सार भाग शशिकर हर लीन्हा॥
छिद्र सो प्रकट इन्दु उर माँही।
तेहि मग देखिय रबि परिछाँही॥

तीसरा स्थान अंगदजीका है, उन्होंने कहा—मेरी रायमें जब ब्रह्माने रतिका मुख बनाया तो (सर्वोत्तम सौन्दर्यमय तत्त्व जानकर) चन्द्रमामेंसे सार भाग कतर लिया, उसीके निकल जानेसे यह छिद्र हो गया है, उसी छिद्रके मार्गसे उस पारके आकाशकी परिछाँही झलक रही है। जिससे श्यामता-सी मालूम होती है। यहाँ भी अपनी स्थितिके अनुसार 'कोउ' शब्द अंगदजीके ही निमित्त है। क्योंकि पिताके न रहनेपर उसका उत्तराधिकारी पुत्र ही होता है, यह धर्मनीति है। इसके अनुसार बालि का राज्य अंगदका ही था, परन्तु वह निकलकर सुग्रीवको मिल गया; कुछ भी हो, अधिकारहीन होनेसे हृदयमें छेद हो ही जाता है, अतः अंगदका अनुमान भी स्वाभाविक ही हुआ।

अब हनुमान्‌जीके बोलनेकी बारी थी, परन्तु प्रभुजीने देखा कि मैंने तो चन्द्रमाके दोष पूछे थे (जो कालिमाके प्रश्नसे स्पष्ट है) सबको धब्बेका लक्ष्य कराया था, परन्तु इन तीनोंने तो उसे अमल, चोट खाया हुआ और सार छीना हुआ दीन दुखी बताकर निर्दोष बना दिया, इनका मत मेरे अनुकूल नहीं हुआ, इन्होंने तो अपनी-अपनी स्थिति ही स्पष्ट की, अतः बीचमें ही अपने मतका लक्ष्य करवाकर श्रीहनूमान्‌जीके मतको अपने अनुकूल कर लेना चाहिये। इसलिये सरकार बीचमें ही बोल उठे—

प्रभु कह गरल बन्धु शशिकेरा। अति प्रिय निजउर दीन्ह बसेरा॥
विष संयुत कर निकर पसारी। जारत विरहवन्त नर-नारी॥

इस चन्द्रमाका (साथ ही समुद्रसे जन्म होनेके कारण) गरल बन्धु है और वह इसका अत्यन्त प्यारा है, इसीसे उस विषको इसने अपने हृदयमें स्थान दिया है। यही कारण है कि उस विषसे संयुक्त अपनी किरणोंको फैलाकर यह विरहमें पड़े नर-नारियोंके हृदयको दग्ध कर रहा है। यदि वह कालिमा विष नहीं होता तो शीतल-तत्त्व इस चन्द्रमें दाहक-शक्ति कहाँसे आती? कैसा अपूर्व रहस्य है! गुणातीत श्रीप्रभु भक्तमण्डलीमें माधुर्य केलिको दिखलानेके लिये वर्त्तमान लीलाकी जो अपनी स्थिति है उसे कैसे सूचित कर रहे हैं अर्थात् मैं विरही हूँ, यह चन्द्रमा दाहक होकर मुझे जला रहा है। इस कथनसे नर-चरितद्वारा सरकार आप अपने दासोंसे मिल गये हैं और यह बतला रहे हैं कि जैसी वृत्ति रहती है, वैसा ही अनुमान होता है। इससे यह भी ध्वनित करते हैं कि चन्द्रमा मुझसे प्रतिकूल है तथा दीनोंको दुःखदायी है।

अब पाँचवें नम्बरवाले श्रीहनुमान्‌जीकी सम्मति सुनिये—उन्होंने विचारा कि 'यह बड़ा ही गूढ़ प्रसङ्ग उपस्थित हुआ। इधर प्रभुके हाथोंमें वाण सुधर रहा है और उधर चन्द्रमापर उनकी दोषान्वेषक दृष्टि पड़ रही है। स्वामी शायद अपने दलको ऐश्वर्य दिखलाकर निर्भय करनेके लिये इस वाणसे असली चाँदकी ही चाँदमारी कर फिर उसे ज्यों-का-त्यों बना दें। अवश्य ही प्रभु सर्वसमर्थ हैं, उनकी शक्ति अघटित-घटना-पटीयसी है, परन्तु विचार तो इस बातका है कि—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुतिसेतु।
जग विस्तारहिं विशद यश राम-जन्म कर हेतु॥

गीतामें भी कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

जब 'सुरन्हको थापना' (दैवी विभूतिकी रक्षा करना) राम जन्मका हेतु है, तो चन्द्र 'देवता' पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्त्र चलाना कैसे उचित हो सकता है ? भगवान् ऐसा कभी नहीं कर सकते। वास्तवमें प्रभु हम सब मन्त्रियों और सेवकोंकी बुद्धिकी परीक्षा कर रहे हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् यह भी एक मर्यादाकी लीला करके दिखला रहे हैं कि मन्त्री अपने राजाको किसप्रकार उचित मन्त्रणा देकर यथार्थ कार्य करते हैं। अतएव मुझे ऐसी राय देनी चाहिये कि चन्द्रमा निर्दोष सिद्ध हों और प्रभु भी प्रसन्न रहें, इसलिये—

कह मारुतसुत सुनहु प्रभु शशि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति विधु उर बसी सोइ श्यामता भास॥

श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि 'हे प्रभो ! मेरे विचारमें तो शशि आपका प्रिय दास है। आपकी ही मूर्ति उसके हृदयमें बस रही है। बस, वही श्यामता दिखलायी देती है।' इस सम्मतिमें भी निज स्थितिका लक्ष्य वर्तमान है; 'जासु हृदय आगार बसहिं राम शर चाप धरि।' जैसे आपके हृदयमें सदा रामजी बसते हैं वैसा हो अनुमान आपको चन्द्रमाके विषयमें भी हुआ है। श्रीहनुमान्‌जीके कथनानुसार चन्द्रमा प्रभुका दास सिद्ध हो गया, इससे अब सिवा उसकी रक्षाके उसपर अस्त्र-प्रयोगकी तो कोई बात ही नहीं रह गयी। (पाँचों सम्मतियाँ वर्त्तमान वृत्तिके अनुसार ही हुई हैं) कैसी उत्तम युक्तिसे चन्द्रदेवके समस्त उपर्युक्त दोषाभास दूर कर दिये गये, जिससे प्रभुको भी प्रसन्न होकर हँस पड़नेके सिवा और कुछ कहते नहीं बना। यथा—

पवन-तनयके वचन सुनि विहँसे राम सुजान।
दक्खिन दिसि अवलोकि प्रभु बोले कृपानिधान॥

'सुजान' विशेषणके द्वारा सरकारकी अमित सुबोधताको सूचित किया है, हनुमान्‌जीके परम चातुर्यके भावको जानकर उनकी सम्मति स्वीकार करते हुए सरकार परम प्रसन्न हुए और उस सुधारे हुए वाणको काममें लानेके लिये चन्द्रमापरसे अपनी दृष्टिको हटाकर दक्षिण दिशाकी ओर दृष्टि डाली, जिस कार्यके लिये यहाँ आना हुआ, इस वाणसे उसी कार्यका श्रीगणेश करना उचित होगा, ऐसा सोचकर आप बोले—

'देखु विभीषण दच्छिन आसा। घन घमंड दामिनी बिलासा॥
मधुर मधुर गरजत घन घोरा। होइ बृष्टि जनु उपल कठोरा॥'

'हे विभीषण, दक्षिण दिशाकी ओर तो देखो, कैसा घन-घमण्ड हो रहा है, तथा विद्युच्छटा चमक रही है। मन्द मन्द गर्जन भी सुनायी पड़ रहा है, कहीं उपल-वृष्टि तो नहीं हो रही है ?'

विभीषणने उत्तर दिया कि—'हे कृपालु, यह न तो बिजली है, न मेघमाला है। बल्कि लङ्काके शिखरपर रावण नृत्य देख रहा है उसका राजछत्र उमड़े घनके समान देख पड़ता है और मन्दोदरीके श्रवण-ताटंकका हिलना दामिनीकी दमकके समान भासता है तथा मृदंगकी ध्वनि ही मेघ-गर्जन-सी सुन पड़ती है।

प्रभु मुसकान समुझि अभिमाना। चाप चढ़ाइ बान सन्धाना॥

छत्र मुकुट ताटंक सब हते एक ही बान।
सबके देखत महि परे मर्म न कोऊ जान॥

श्रीरघुनाथजीने उसी वाणको, जिसे हाथमें सुधार रहे थे, धनुषपर चढ़ाकर सन्धान किया, और एक ही वाणसे छत्र-मुकुट, ताटंक सब हरण कर रावणके अभिमानको भंग कर दिया और वह शर पुनः लौटकर त्रोणमें प्रविष्ट हो गया। रावणकी सभा यह रसभंग देखकर भयभीत हो गयी।

अस कौतुक करि राम-शर प्रविशे आइ निषंग।
रावण सभा सशंक सब देखि महा रसभंग॥

यह रावणपर श्रीसरकारका पहला वार हुआ। इसप्रकार मृगचर्मपर आसीन सुबेल-शैल-गत ध्यानका प्रसङ्ग है।

'धन्य ते नर यहि ध्यानते रहत सदा लयलीन॥'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानदीपक-स्पष्टीकरण

(लेखक—साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

२५—छोरन ग्रन्थि पाव जौं सोई।
तौ यह जीव कृतारथ होई॥

अर्थ—यदि वह बुद्धि, 'चिद्-जड़-ग्रन्थि' छोड़ सके तो यह जीव कृतार्थ हो जाय।

जौं—सन्देहसूचक है, भाव यह कि विघ्न-बाहुल्यसे कार्य कठिन है।

सोई ग्रन्थि छोरन पाव—वही विज्ञानरूपिणी बुद्धि यदि ग्रन्थि छोड़ने पावे। भाव यह कि उसके सुलझानेमें सन्देह नहीं, पर विघ्न उसे ऐसा न करने देंगे।

तौ—अर्थात् विघ्नोंके अभिभूत होनेके बाद।

यह जीव—अर्थात् जो अपने ही घरमें अज्ञानद्वारा बँधा-सा पड़ा है।

कृतारथ होई—अहंकारके साथ तादात्म्य कर अपने स्वरूपको विस्मरण करके अनादिकालसे जीव निद्रित पड़ा हुआ, संसारका स्वप्न, जनन-मरण, सुख-दुःख, शत्रु-मित्रादिका अनुभव कर रहा है। जिसप्रकार कोई राजा स्वप्नमें अपने कारागारमें बद्ध होनेका अनुभव कर रहा हो। अतः निर्विघ्न असंप्रज्ञात समाधिके सिद्ध होनेसे, वह भ्रान्तिजन्य ग्रन्थि नष्ट हो जाती है एवं वह निद्रासे जाग पड़ता है। निद्रासे जाग जाना ही कृतकार्य होना है। फिर तो इस कारागारकी एक ईंट भी कहीं खोजनेसे नहीं मिलती। स्वाराज्य-सुख तो उसका कहीं गया ही नहीं था, प्राप्त ही था, केवल निद्रा-दोषसे अप्राप्त-सा हो रहा था, सो प्राप्त हो जाता है। निदान, सहज स्वरूपकी प्राप्तिसे वह कृतार्थ हो जाता है। यथा—'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।'

२६—छोरत ग्रन्थि जानि खगराया।
बिघन अनेक करै तब माया॥

अर्थ—हे पक्षियोंके राजा! गाँठके छोड़नेकी बात जानकर माया अनेक विघ्न करती है।

खगराया—सम्बोधन है, भाव यह कि, आप राजा हैं, जानते हैं कि स्वतन्त्रता चाहनेवालोंका मार्ग कैसा कण्टकाकीर्ण होता है।

छोरत ग्रन्थि जानि—माया जब जान लेती है कि विज्ञानरूपिणी बुद्धि जड़-चेतनकी गाँठ छोड़ रही है, असंप्रज्ञात-समाधिमें लगी है, जीव हमारे फन्देसे निकला ही चाहता है।

विघ्न अनेक करै—अनेक विघ्न करती है, जिसमें ग्रन्थि न छूटने पावे और जीव सदा मेरे बसमें पड़ा रहे। दुष्टोंका यह स्वभाव ही है कि वे दूसरेका भला नहीं देख सकते। आत्मानुभव-प्रकाशसे मायाका दिव्य रूप दिखायी पड़ता है। इसके पहले तो इसका परिच्छिन्न स्थूलरूपमात्र दिखायी पड़ता था। इस रूपकी ओर ध्यान न देकर असंप्रज्ञातमें तन्मय हो जाना असम्भव हो उठता है। यथा—

'एक दुष्ट अतिशय दुखरूपा। जेहि बश जीव परा भवकूपा॥'

तब—अर्थात् माया जब देख लेती है कि मोहादिका किया कुछ भी न हुआ, दीपक जल गया और अब गाँठ छूट रही है।

माया—यहाँ अविद्याका ग्रहण है, क्योंकि विद्या तो छोड़नेवाली है।

यथा—शिव विरञ्चि कहँ मोहै, को है बपुरा आन॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बश कीन्हेउ जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाही। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम जोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिशय दुखरूपा। जेहि बश जीव परा भवकूपा॥
एक रचहिं जग गुण बश जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥
हरि सेवकहिं न व्यापि अविद्या। प्रभु प्रेरित तेहि व्यापै विद्या॥

२७—ऋद्धि सिद्धि प्रेरै बहु भाई।
बुद्धिहिं लोभ दिखावै आई॥

अर्थ—हे भाई! बहुत-सी ऋद्धि-सिद्धियोंको प्रेरणा करती है, और आकर बुद्धिको ललचाती है।

ऋद्धि-सिद्धि—ऋद्धि अर्थात् ऐश्वर्य। सिद्धि अर्थात् अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व।

(१) अणिमा, यथा—

'मशक समान रूप कपि धरी'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) महिमा, यथा—

'अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लागु अकास'

(३) गरिमा, यथा–

'जेहि गिरि चरन देइ हनुमन्ता। चला सो गा पाताल तुरन्ता॥'

(४) लघिमा, यथा—

'देह विशाल परम हरुआई।'

(५) प्राप्ति, यथा—

'भइ सहाय सारद मैं जाना॥'

(६) प्राकाम्य, यथा—

'गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिन्धु अनल सितलाई॥'

इत्यादि।

(७) ईशत्व, यथा—

'देखि प्रताप न कपि मन शङ्का।'

(८) वशित्व, यथा—

'हरि प्रेरित तेहि अवसर चलेउ मरुत उनचास।'

इत्यादि।

प्रेरै बहु–भाव यह कि ऋद्धि-सिद्धि मायाकी प्रेरणासे उसकी सेवाके लिये आपसे आप उपस्थित होती है।

भाई–कहनेका भाव यह कि हम लोग सब बराबर हैं। क्या राजा क्या रंक, क्या पण्डित क्या मूढ़, माया किसीको नहीं छोड़ती।

बुद्धिहिं–अर्थात् यही विज्ञानरूपिणी बुद्धि ही सब कुछ करनेवाली है, इसीको फँसाना चाहिये।

आइ लोभ दिखावै–कोई उसे बुलाने नहीं जाता, स्वयं आकर बुद्धिको लोभ दिखाती हुई मानो कहती है कि क्या व्यर्थ काममें लग रही हो (यह साम है) ऋद्धि-सिद्धि जो कुछ चाहो, मैं देनेको तैयार हूँ (यह दान है) जिसके हितके लिये तुम सब करती हो, वह मुक्त होतें ही तुम्हें भी त्याग देगा (यह भेद है)।

२८—कल बल छल करि जाइ समीपा।
अञ्चल बात बुझावै दीपा॥

अर्थ-कल बल छलसे समीप जाकर, अञ्चलकी हवासे दीवा बुझा देती है।

कल बल छल करि–कल अर्थात् कला (उपाय) से पहले काम लेती है, साम, दान, भेदका प्रयोग करती है, जब इनसे काम नहीं चलता तब बल अर्थात् दण्डका प्रयोग करती है, यहाँतक, माया रानीकी नीति है, यथा—

साम दान अरु दण्ड विभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा॥
नीति धर्मके चरण सुहाये।

जब नीतिसे कार्य-सिद्धि नहीं देखती तब अनीतिसे भी काम लेती है। छल करती है।

जाइ समीपा–भाव यह कि मायाका विज्ञानरूपिणी बुद्धिसे प्रेम होनेका तो कोई कारण नहीं है, वह किसी-न-किसी उपायसे बुद्धिके पास अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये पहुँचना चाहती है। अतः वहाँ पहुँचकर—

अञ्चल बात–भाव यह कि स्त्रियाँ अञ्चलकी हवासे दीवा बुझाया करती हैं। अतः माया भी समीप जानेपर बुद्धिकी कोई अपेक्षा न करके अञ्चल-वातसे अनायास ही दीप बुझा देती है। बातका अर्थ यहाँ हवा है। हवाका उपमेय विषय है। अञ्चलके विषयसे तात्पर्य मायारूपी नारी-से है। यथा—

'सबते अति दारुण दुखद मायारूपी नारि।'
'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।'
'हे बिधि मिलै कौन बिधि बाला।'

मोह आदि तो अविद्या-रात्रिके तम हैं, पर 'नारि निविड़ रजनी अँधियारी' है।

बुझावै दीपा–बुद्धि जहाँ तनिक भी मायाके भुलावेमें आयी कि उसने अवसर पाकर ज्ञानदीप बुझाया। विज्ञान-रूपिणी बुद्धिका संसर्ग जहाँ मायासे हुआ कि वह अपने स्वरूपसे च्युत हुई, और ऐसा होते ही सारी इमारत धराशायी हो जाती है। यथा—

सो हरि माया सब गुनखानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी॥
देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥
माया बिबस भये मुनि मूढा। समुझी नहिं हरि गिरा निगूढा॥
मुनि अति बिकल मोहमति नाठी॥मनि गिरि गयउ छूट जिमि गाँठी॥
जब हरि माया दूर निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥

२९—होइ बुद्धि जो परम सयानी।
तेहि तन चितव न अनहित जानी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ-'जो बुद्धि परम सयानी हो, तो मायाको अनहित समझकर उसकी ओर दृष्टिपात न करे।'

बुद्धि परम सयानी-अर्थात् विज्ञानरूपिणी बुद्धि तो सयानी होती है। जो अपनी लाभ-हानि देख सके सो सयानी है, यथा—

कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मन्दोदरी आदि सब रानी।।
तव अनुचरी करौं पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा।।

अतः बुद्धि यदि केवल सयानी होगी तो लोभमें आ जायगी, और यदि परम सयानी (धीरत्वसम्पन्ना[1]) होगी तो अपने स्वामी पुरुषका लाभ देखेगी, यथा—

निज घरकी बर बात बिलोकहु हौ तुम परम सयानी।

होइ जौं-भाव यह कि साधारण नियम तो ऐसा ही है कि बुद्धि परम सयानी नहीं होती, मायाकी बातोंमें आ जाती है, और यदि हो तो बात दूसरी है।

तेहि तन चितव न-भाव यह कि उस मायाकी ओर आँख उठाकर देखे ही नहीं, और न उसकी बात सुने, अपने ग्रन्थि सुलझानेके काममें लगी रहे। जबतक विज्ञान-रूपिणी बुद्धि स्थिर है, तबतक मायाकी भी सामर्थ्य नहीं कि उसके निकट जा सके, दीप बुझाना तो दूरकी बात है। यथा—

'परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहु मनहु निहारे।।'

अनहित जानी-अर्थात् बात हितकी-सी करती है, पर है वह माया अहितकारिणी। वह स्वामीका अकल्याण चाहती है, ऐसा समझकर उसकी ओर न देखे।

३०—जौं तेहि बुद्धि बिघ्न नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥

अर्थ-यदि उस बुद्धिको विघ्न बाधा न कर सकें तो फिर देवता लोग उपाधि करते हैं।

तेहि बुद्धि-अर्थात् परम सयानी बुद्धिको, जिसने मायाकी ओर हजार चेष्टा करनेपर भी ध्यान न दिया।

जौं बिघ्न नहिं बाधी-यदि मायाकृत प्रलोभन आदि-ने बाधा नहीं की और माया समीप न जा सकी एवं उसके अचल वातकी गति ज्ञानदीपक तक न हो सकी। (विज्ञान-रूपिणी बुद्धिद्वारा असंप्रज्ञात समाधि में कोई अन्य वृत्ति नहीं उठने पाती, इससे विषयरूप वायुका प्रचार वहाँतक नहीं हो सकता।)

तौ बहोरि-तब माया देवताओंको प्रेरणा करती है कि वे बलपूर्वक इन्द्रियद्वारको खोल दें, जिसमें विषय बयारि भीतर प्रवेश करके अन्य वृत्तियोंको खड़ी कर दे। क्योंकि देवता भी मायाके वश हैं, यथा—

देव दनुज नर नाग असुर सब माया विवश विचारे।
(विनय०)

सुर करहिं उपाधी-अर्थात् देवतालोग उपाधि करते हैं, जिसमें ग्रन्थि न छूटने पावे और जीवके द्वारा जो भोग उनको मिला करता है, उसमें बाधा न हो। जीव देवताओंके पशु हैं, इस लोक और परलोक दोनोंमें वे देवताओंद्वारा उपभुक्त होते हैं, यथा—

'आये देव सदा स्वारथी। वचन कहें जनु परमारथी।।'

३१—इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥

अर्थ-देहगृहमें इन्द्रियद्वार ही नाना प्रकारके झरोखे हैं, जिनमें देवता गद्दी लगाये बैठे हैं।

इन्द्रियद्वार-इन्द्रियाँ दश हैं-पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय।

ज्ञानेन्द्रिय, यथा-श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण। तथा **कर्मेन्द्रिय**-वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ। इन्द्रियोंके द्वार अर्थात् गोलक भी फलतः दश ही हैं। इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, दिखलायी नहीं पड़तीं, उनके द्वार दिखलायी पड़ते हैं। अर्थात् इन्हीं द्वारोंसे निकलकर इन्द्रियाँ अपने विषय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, भाषण, ग्रहण, गमन, मलत्याग तथा आनन्दका क्रमशः ग्रहण करती हैं।

झरोखा नाना-ये ही द्वार नाना प्रकारके झरोखे हैं। नाना इसलिये कहा कि किसी-किसी इन्द्रियोंके दोहरे झरोखे हैं, यथा आँख और कानके और स्पर्श-इन्द्रियका तो रोम-रोम झरोखा-ही-झरोखा है।

तहँ तहँ-उन प्रत्येक झरोखोंमें।

सुर-देवता अर्थात् इन्द्रियोंके देवता। श्रोत्रके दिक्, त्वक्के वायु, चक्षुके सूर्य, रसनाके वरुण, घ्राणके अश्विनी-

[1] —सुख हरखहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मनमाहीं॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमार, वाक्‌के वह्नि, हाथके इन्द्र, पादके विष्णु, पायुके मृत्यु और उपस्थके प्रजापति देवता हैं।

बैठे करि थाना-इन देवताओंका प्राणिमात्रके देहेन्द्रियोंपर अधिकार है। ये साधकके इन्द्रियद्वाररूपी झरोखोंमें अधिकार जमाये बैठे हैं। भाव यह कि वहींसे उनको भोग मिलता था। वृत्तियोंके न उठनेसे भोग मिलना बन्द हो गया है, अतः वे वृत्तियोंके उठानेके लिये अवश्य प्रयत्न करेंगे।

३२—आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥

अर्थ-जब विषयरूपी हवाके झोंकेको आते देखते हैं, तो बलपूर्वक किवाड़ खोल देते हैं।

विषय बयारी-विषयरूपी हवाका झोंका। भाव यह कि बुद्धि भुलावेमें नहीं आयी तो इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है कि किसी भाँति दीवा बुझ जाय। और दीवा बुझानेमें समर्थ हवाका झोंका है। इसी विषय-बयारिके डरसे बुद्धि उरगृहमें दीवा जलाकर गाँठ छोड़ने बैठी है, कि बाहर रहनेसे हवाके झोंकेसे दीवा बुझ जायगा। अतएव मायाकी प्रेरणासे सब प्रकारके विषयोंके झोंके आने लगते हैं।

आवत देखहिं-ये देवतालोग जब झरोखेसे अर्थात् इन्द्रियद्वारसे देखते हैं कि झोंका आया।

तब हठि देहिं कपाट उघारी-तब ज़बरदस्ती झरोखेका किवाड़ खोल देते हैं। बुद्धि, आसन और मुद्रा-द्वारा इन्द्रियद्वार झरोखोंको बन्द करके उरगृहमें बैठी थी; ये हठ करके झरोखेका किवाड़ खोल देते हैं। बुद्धि मने करती ही रह जाती है, उसकी एक नहीं सुनते। भाव यह कि साधकको मधुमती भूमिकाकी प्राप्ति होती है, और वह सिद्धियोंमें आसक्त हो जाता है।

३३—जब सो प्रभञ्जन उरगृह जाई। तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई॥

अर्थ-जब वह हवाका झोंका हृदयरूपी घरके भीतर जाता है, तो विज्ञान-दीप बुझ जाता है।

जब सो प्रभञ्जन-प्रभञ्जन इसलिये कहा कि प्रकर्ष करके भञ्जन करनेवाला है, बड़े-बड़े पेड़ तोड़ डाले, मकान गिरा दे, फिर दीवा बुझाना क्या चीज़ है।

उरगृह जाई-अर्थात् झरोखेका कपाट खुलते ही प्रभञ्जन घरके भीतर पहुँचा, दिव्य विषय आप-से-आप उपस्थित हो गये।

तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई-भाव यह कि पलमात्रमें दीवट कहीं गयी, दीवा कहीं गिरा, बत्ती कहीं बुझकर उड़ गयी। एक पलमें अति दुरूह साधन ऐसा नष्ट हुआ कि कहीं पता नहीं। साधक दिव्य विषयोंमें लिप्त हो गया।

३४—ग्रन्थि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ विषय बतासा॥

अर्थ-गाँठि भी नहीं छूटी, वह उँजेला भी मिट गया और विषय-वायुसे बुद्धि विकल हो गयी।

ग्रन्थि न छूटि-जड़-चेतनकी ग्रन्थि छूटने न पायी, जिस कामके लिये इतना परिश्रम किया गया सो हुआ ही नहीं।

मिटा सो प्रकासा 'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा' मिट गया। वह प्रकाश तो 'सोहमस्मि' वृत्तिके आश्रय था, जब विषयके झोंकेसे सोहमस्मि वृत्ति ही न रह गयी तो प्रकाश कहाँसे रह जायगा?

विषय बतासा-विषयकी प्रचण्ड हवासे। अर्थात् प्रचण्ड हवाके वेगको वृत्तिजन्य ज्ञानदीप नहीं सह सकता।

बुद्धि बिकल भइ-और इतने परिश्रमसे किये हुए प्रिय दीपके बुझनेसे तथा स्वामीके उद्धारके उपायमें भग्न-मनोरथ होनेसे एवं झोंकोंके चपेटसे बुद्धि भी विकल हो जाती है, उसका साहस टूट जाता है और कुछ सूझ नहीं पड़ता।

३५—इन्द्रिय-सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। विषय भोगपर प्रीति सदाई॥

अर्थ-इन्द्रियके देवताओंकी प्रीति सदा विषय-भोगोंपर रहती है, उन्हें ज्ञान नहीं सुहाता।

इन्द्रिय-सुरन्ह-इन्द्रियके देवताओंको। देवताओंके अनेक भेद हैं। उनमें ज्ञानी देवता और विरक्त देवता भी हैं, यहाँपर उनसे तात्पर्य नहीं है, इन्द्रियोंके देवताओंसे तात्पर्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न ज्ञान सोहाई–ज्ञान नहीं अच्छा लगता । ज्ञान होनेसे प्राणी विषय-विमुख हो जाता है, अतएव देवताओंके भोगमें कमी आने लगती है । सृष्टिके प्रारम्भमें विराट्की उत्पत्तिके बाद जब उसे क्षुधा-तृषासे युक्त किया, तब भूख-प्याससे दुखी होकर इन्द्रिय-देवताओंने अपनी तृप्तिके लिये ब्रह्मदेवसे व्यष्टि-शरीर रचनेकी प्रार्थना की । ब्रह्मदेवने ऊपर दाँतवाली गौ रची, उससे वे लोग तृप्त नहीं हुए, कहा 'नायमलमिति'* । तब ऊपर नीचे दोनों ओर दाँतवाला घोड़ा रचा । बोले कि, इससे भी हमारा काम नहीं चलेगा । तब मनुष्य रचा । उसे देखकर देवता बड़े प्रसन्न हुए कि इससे हमारा काम चलेगा । अतः देवता इन्द्रियोंके रूपसे यथास्थान अङ्गोंमें प्रवेश कर गये । अतएव ऐसे भोग-साधन (मनुष्य) का विषय-विमुख होकर ज्ञानी होना उन्हें अच्छा नहीं लगता ।

विषय भोगपर प्रीति सदाई–ज्ञान न अच्छा लगनेका कारण कहा कि सदा इनको विषय-भोगपर प्रीति बनी रहती है, वे एक क्षण भी विषयसे अलग रहना नहीं चाहते, फिर इन्हें विषयका विरोधी ज्ञान कैसे अच्छा लगेगा ? यथा–

ऊँच निवास नीच करतूती । देखि न सकहिं पराइ विभूती ॥

३६–विषय समीर बुद्धि कृत भोरी । तेहि विधि दीप को बार बहोरी ॥

अर्थ–विषय वायुने बुद्धिको पगली बना दिया, अब उस विधिसे फिर दीप कौन जलाता है ।

विषय समीर–समीर अर्थात् वायु । समीर-शब्दका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है 'अच्छी तरह चलनेवाला' । भाव यह कि विषयका अन्धड़ बन्द नहीं होता, चला ही करता है ।

बुद्धि कृत भोरी–अर्थात् उस समीरने परम सयानी बुद्धिको भोरी (पगली) बना दिया ।

तेहि विधि दीप–भाव यह कि जितनी श्रद्धा, धैर्य और परिश्रमद्वारा, जिस विधिसे यह दीप जलाया गया था, उस विधिसे भग्नमनोरथ होनेपर फिरसे साध्य नहीं है और अविधिसे जलाये हुए दीपमें 'सोहमस्मि' इस अखण्ड वृत्तिकी न दीप-शिखा होगी और न आत्मानुभव-सुप्रकाश होगा ।

को बार बहोरी–फिर कौन जलाता है ? भाव यह कि जलानेवाली तो विज्ञानरूपिणी बुद्धि है, वह भोरी हो गयी, बिना उसके दूसरेकी सामर्थ्य नहीं कि ऐसा दीप कोई जला सके । अतः फिर इस जन्ममें ऐसे दीपका जलना सर्वथा असम्भव है ।

गोस्वामीजी विघ्नोंसे बचनेका उपासनाके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं देखते और न एक बार दीप बुझनेपर इसी जन्ममें अल्पायु होनेके कारण फिर जलाया जाना सम्भव समझते हैं । विघ्नका नाश उपासनासे होता है, यथा–

'सकल विघ्न व्यापै नहिं तेही । राम सुकृपा बिलोकहिं जेही ॥'

३७–तब फिर जीव विविध विधि पावै संसृति क्लेश । हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेश ॥

अर्थ–तब फिर जीव अनेक प्रकारके संसारी क्लेश पाता है, हरिमाया अति दुस्तर है, उससे पार नहीं पाया जाता ।

तब फिरि–अर्थात् जिस भाँति सात्त्विकी श्रद्धाके हृदयमें आनेके पहले अवस्था थी वही फिर हुई, इतना बड़ा प्रयास व्यर्थ गया । भाव यह कि अनन्तकालसे जीव ज्ञानदीपके उद्योगमें है । अनेक जन्ममें दीप जला और बुझा, पर ग्रन्थि नहीं छूटी संसार ज्यों-का-त्यों बना रह गया ।

जीव–भाव यह कि 'सोहमस्मि' वृत्तिको लेकर अपनेको ब्रह्म मानते थे, सो फिर जीवके जीव हो गये ।

विविध विधि पावै संसृति क्लेश–अर्थात् अनेक प्रकारके सांसारिक क्लेश पाता है । जन्मका क्लेश, बाल्यावस्थाका क्लेश, यौवन तथा वार्द्धक्यका क्लेश तत्पश्चात् मृत्युका क्लेश, तदनन्तर फिर जन्म, फिर मरण, क्लेशका अन्त नहीं है । क्लेश पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ।

हरि माया अति दुस्तर–हरिमाया अति अपार है, यथा—

हरिमाया कर अमित प्रभावा । विपुल बार जेहि मोहि नचावा ॥
अग जगमय सब मम उपजाया । नहिं आचरज मोह खगराया ॥
जो ज्ञानिहु कर चित अपहरई । बरियाई विमोह बस करई ॥
हरिमाया मोहहि मुनि ज्ञानी ।

तरि न जाय–अर्थात् तरा नहीं जाता । भाव यह कि जब आसुरी माया और दैवी मायाका तरना ही मनुष्यके लिये

* यह हमारे लिये यथेष्ट नहीं है ।

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असम्भव है, यथा—'जानि न जाय निशाचर माया।' सुर माया वश लोग बिमोहे। इत्यादि। **तब हरिमाया कैसे तरी जायगी ?**

विहगेश—गरुड़को विहगेश कहकर मायाके विघ्नका प्रकरण समाप्त करते हैं, प्रकरण 'खगराया' से आरम्भ किया था। यथा—

छोरन ग्रन्थि जानि खगराया। विघ्न अनेक करै तब माया ॥

३८—कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन विवेक होइ घुनाच्छर न्याय ज्यौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥

अर्थ—करना कठिन, समझना कठिन, साधन कठिन और विवेक कठिन है, यदि घुणाक्षर-न्यायसे हो भी जाय, फिर भी अनेक विघ्न हैं।

कहत कठिन—अर्थात् कहते नहीं बनता, यथा—'उर अनुभव तिन कहि सक सोऊ। कौन प्रकार कहै कवि कोऊ॥' 'न जात बखानी' कहकर प्रकरण आरम्भ किया था। और 'कहत कठिन' कहकर उपसंहार करते हैं।

समुझत कठिन—भ्रमसे सनी हुई बुद्धि है, अतएव यदि कोई कहे भी तो समझना कठिन है, यथा—'समुझि न परै बुद्धि भ्रम सानी।' 'समुझत बनै न' कहकर उपक्रम किया, अब 'समुझत कठिन' कहकर उपसंहार करते हैं।

साधन कठिन—यदि किसी भाँति कहते-सुनते भी बने तो 'साधन कठिन' है क्योंकि मनको कोई आधार नहीं मिलता, निर्गुण निराकारमें मनकी गति नहीं है। यथा—साधन कठिन न मन कहँ टेका।

कठिन विवेक—अर्थात् सुनने-समझने, साधन करनेपर भी विवेक-ज्ञान होना कठिन है, यथा—

सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दशा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुण भव बिपति सतावै॥
(विनय०)

होइ घुनाच्छर न्याय ज्यौं—काठमें घुन लगते हैं, जिससे उसमें कभी-कभी अक्षर बन जाता है। घुनको अक्षरका ज्ञान नहीं जो बना सके, फिर भी दैवयोगसे कोई अक्षर बन जाता है। उसीको घुणाक्षरन्याय कहते हैं। इस न्यायसे भी यदि ज्ञानदीपक ठीक उतर जाय। तो—

'घुणाक्षरन्याय' कहकर 'अस संयोग ईश जब करई' **का साफल्य दिखलाया।**

पुनि प्रत्यूह अनेक—फिर भी बहुत-से विघ्न हैं जो जड़ चेतनकी ग्रन्थि नहीं खोलने देते।

३९—ज्ञानपंथ कृपान कर धारा। परत खगेश होत नहिं बारा॥

अर्थ—ज्ञानमार्ग तलवारकी धार है। इसपरसे गिरते, हे गरुड़! देर नहीं लगती।

ज्ञानपंथ—अर्थात् अकृतोपास्ति ज्ञानका साधन। भाव यह कि उपासनाकी सहायता बिना लिये जो ज्ञान-सिद्धि चाहते हैं उनका मार्ग।

कृपान कर धारा—भाव यह कि ज्ञानपन्थ बड़ा ही सूक्ष्म है, बस उसे तलवारकी धार ही समझिये। रास्ता क्या है निरालम्ब मार्गमें एक रेखा है। झूलेपर चलना कितना कठिन है? फिर उस कृपाणकी धारापरसे कोई क्या चलेगा?

खगेश—सम्बोधन, मायाकृत विघ्नसूचक।

परत होइ नहिं बारा—गिरते देर नहीं लगती। चलते बड़ी देर लगती है। तारपर या रस्सेपर चलनेवाले समताको बनाये हुए बड़ी कठिनता और देरसे पैर रखते हैं। तनिक-सा समतामें वैषम्य आया कि पतन हुआ, यहाँ तो कृपाण-धारा-सा सूक्ष्म पथपर चलना है, पतनमें क्या देर है? यथा—

जे ज्ञान मान बिमत्त तव भय-हरणि भगति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

४०—जौ निर्विघ्न पंथ निर्बहई। तौ कैवल्य परमपद लहई॥

अर्थ—यदि विघ्नको अतिक्रमण करता हुआ रास्ता पार करै तौ कैवल्य परमपद पावै।

निर्विघ्नपंथ—बहुत बड़े और घने विघ्नवाले मार्गको निर्विघ्न निवाहना परम पुरुषार्थ है।

जौ निर्बहई—जो परम पुरुषार्थका आश्रयण किये हुए सब विघ्न-बाधाओंको झेलता हुआ विना पतनके पार पहुँच जाय।

तौ कैवल्य परमपद लहई—तो कैवल्य नामक जो परम पद है उसको प्राप्त होता है, अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मकी स्थितिको प्राप्त होता है, यथा—जानत तुमहिं तुमहि होइ जाई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४१—अति दुर्लभ कैवल्य परम पद ।
सन्त पुरान निगम आगम बद ॥

अर्थ-कैवल्य परम पद अतिदुर्लभ है। सन्त, पुराण, वेद, शास्त्र ऐसा ही कहते हैं।

कैवल्यपद-त्रिदेवके अधिकारको पद कहते हैं, यथा–

भरतहिं होइ न राजमद बिधि-हरि-हरपद पाइ। परन्तु कैवल्यपद उससे भी बड़ा है, इसलिये परम पद कहा।

अति दुर्लभ-भाव यह कि अन्तिम देह ब्राह्मणकी सुर-दुर्लभ है, यथा–

नरम देह द्विज कर मैं पावा। सुरदुर्लभ पुरान श्रुति गावा॥

उस शरीरमें भी विरति, विवेक, ज्ञान, विज्ञानका होना मुनिदुर्लभ है, यथा–

ज्ञान विवेक विरति विज्ञाना। मुनिदुर्लभ गुन जे जग जाना॥

उन गुणोंके होते हुए भी, उनका फलरूप कैवल्यपद अति दुर्लभ है।

सन्त पुरान निगम आगम बद-अर्थात् साधु, वेद, शास्त्र, पुराण सभी कहते हैं। भाव यह कि वेद, शास्त्र, पुराणके कहनेपर भी साधुओंके अनुमोदनकी अपेक्षा रहती है। क्योंकि वेद, पुराण सर्वांशमें समुद्ररूप होनेपर भी उनके वाक्यरूपी जलसे काम नहीं चलता। जब वह वेद, पुराण-रूपी समुद्रका वाक्य-जल, मेघस्थानीय साधुओंके मुखसे च्युत होता है तब संसारके कामका होता है, यथा–

'वेद पुराण उदधि घन साधू।'

अतः वेद, पुराण, शास्त्र और साधु सब एक स्वरसे कहते हैं कि कैवल्यपद अति दुर्लभ है, यही परम पुरुषार्थकी सिद्धि है।

कृतज्ञता

(लेखक–कविरत्न पं० श्रीरमाशंकरजी मिश्र 'श्रीपति')

(१)

तुमने कई बार जगाया हमें,
हम मोहकी नींदमें सोते रहे।
करते रहे आप क्षमा हमको,
हम पापके बीज ही बोते रहे।
भव-सिन्धुसे आप उबारा किये,
हम खाते नये नित गोते रहे।
तुमने दिये चार पदार्थ प्रभो!
हम पाकर भी सब खोते रहे॥

(२)

जिसमें हमें कञ्चनका भ्रम था,
तुम आदिसे काँच बताते रहे।
जतलाया त्रिताप जिसे तुमने,
अपनेको उसीमें तपाते रहे।
जग-जालसे नाथ! सचेत किया,
फिर भी स्वयमेव फँसाते रहे।
नई ठोकरें नित्य ही खाते रहे,
हम माया-ठगीसे ठगाते रहे॥

(३)

तुम तो हमें नित्य हँसाया किये,
हम स्वारथमें रत रोते रहे।
तुम त्यागका पाठ पढ़ाते रहे,
फिर भी हम सारिका तोते रहे।
हम मोक्षकी कामनाको तजके,
कलिकालकी कालिमा पोते रहे।
अपनी कुलकानि डुबोते रहे,
अघ-ओघका भार ही ढोते रहे॥

(४)

कितने अनुरागसे शैशवमें,
हमको तुम नाथ! खिलाते रहे।
नव-यौवनके मदमें भी सदा,
परमार्थका मार्ग दिखाते रहे।
जब जीर्ण जरा-वश त्रस्त हुए,
तरणी तुम नाथ! चलाते रहे।
सुध लेते रहे, अपनाते रहे,
हम तो भी तुम्हें हा! भुलाते रहे॥

(५)

तुम-सा नहीं नाथ अनाथका है, हम-सा नहीं अन्य अनाश्रित पापी।
करुणाकर आप समान कहाँ, हम-सा अब कौन अधीर त्रितापी॥
तुम जानते 'श्रीपति' हो उरकी, हम मानते आपको ईश प्रतापी।
हम आपके आप हमारे हुए, अब शेष प्रलाप न कोई प्रलापी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समन्वय

(लेखक—पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'

ज्ञान—भगवान्ने सर्वप्रथम ज्ञानयोगसूचक 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' यह वाक्य कहा है । ज्ञानविहीन कर्म केवल वैसा ही जड़त्वका परिचायक है, जैसा निर्जीव यन्त्र आदिसे हुआ करता है, अतएव ज्ञान तो पहले होना ही चाहिये । ज्ञान न हुआ तो उद्धारका कोई उपाय नहीं । कहा भी है 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।'

अवश्य ही कोरा तार्किक ज्ञान नहीं होना चाहिये, अनुभवात्मक और सारवस्तुका ज्ञान हो तभी वह मुक्तिका देनेवाला हो सकता है । ऐसे ही ज्ञानके विषयमें कहा गया है कि 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।' इसलिये ज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है ।

परन्तु 'सर्वभूतानां' और 'ईश्वरः' में भेद उपस्थित करनेवाला तो कर्म ही है । और वह कर्म मायाप्रेरित है । इसलिये मायाके जाने बिना पूर्ण संसिद्धि नहीं प्राप्त होती । क्योंकि ज्ञान होनेपर भी शरीर-धर्मसे कर्म तो करना ही होगा और इन कर्मोंके साथ मनका अस्तित्व और वासनाओंका रहना स्वाभाविक है । ज्ञानी मनुष्य भी, जबतक उसका मनोनाश और वासनाक्षय न हो जाय, कृतकृत्य नहीं कहा जा सकता । इसीलिये कोरा ज्ञानमार्ग अपूर्ण है और इसी अपूर्णताको बतानेके लिये 'मायया' शब्द प्रथम पंक्तिमें न आकर दूसरी पंक्तिमें आया है, अन्यथा जब ज्ञानमार्गका वर्णन हो रहा था, तब ब्रह्म (ईश्वरः) और जीव (सर्वभूतानां) के साथ मायाका भी उसी पंक्तिमें उल्लेख आ गया होता । कोरे ज्ञानमार्गकी इतनी ही अपूर्णता है ।

संसारमें अनेकताएँ हैं और उन अनेकताओंके संस्कारोंको एकदम भुला सकना बहुत कठिन है । परन्तु जो लोग उन्हें केवल भ्रम मानकर एकत्वकी ओर पूर्णतः अग्रसर हो सकते हैं उनके लिये कोरे ज्ञान-मार्गसे ही कैवल्यसिद्धि प्राप्त करना सुलभ हो सकता है । इस दृष्टिसे कहा जा सकता है कि ज्ञान-मार्ग अपने ढंगका पूरा है और इसीलिये प्रथम पंक्तिका वाक्य भी पूरा रक्खा गया है ।

कर्म—'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' वाली दूसरी पंक्ति तो एकदम अधूरी है । उसकी पूर्तिके लिये ऊपरकी पंक्तिका 'तिष्ठति' पद लाना ही पड़ता है । ज्ञानके बाद कर्मका नम्बर आता है, क्योंकि उसके बिना उपाय नहीं । परन्तु ज्ञानविहीन कर्म किसी कामका नहीं । इसीलिये अपनी पूर्तिके लिये कर्म सिद्धान्तको 'तिष्ठति' का मुँह देखना पड़ा है । स्थिरता उसे ज्ञानसे ही मिलती है, अतः उस स्थिर तत्त्वके बिना वह मार्ग एकदम भ्रामक है । कर्ममीमांसावाले कोरे कर्म-सिद्धान्तके फेरमें पड़कर यज्ञसे स्वर्ग और स्वर्गसे फिर पृथ्वीके चक्करमें ही पड़े रहते हैं । आवागमनहीन स्थिरता तक पहुँचना उनके लिये बहुत कठिन है । परन्तु हृदय केवल स्वर्ग-नरकके चक्करमें घूमते-फिरते रहना ही नहीं चाहता है, वह तो पराशान्ति और शाश्वतस्थानका इच्छुक है । इसीलिये कर्ममार्गको पूर्णता प्रदान करनेके लिये भगवान्ने ज्ञानके 'तिष्ठति' के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ दिया है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति—ज्ञान असंग है। कर्म अपूर्ण है। इन दोनोंमें सामञ्जस्य होना बहुत कठिन है। माया ही वह वस्तु है जो इन दोनोंमें भेद उत्पन्न करती है। इसी मायासे मुक्ति पानेके लिये 'मम माया दुरत्यया, मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इस तरह भक्तिका प्रसङ्ग लाया गया है। भक्ति वह वस्तु है जो ज्ञानका रूखापन और कर्मकी अपूर्णता मिटाकर दोनोंमें सामञ्जस्य स्थापित करती है। इसीलिये उसका उल्लेख ज्ञान और कर्मके बाद किया गया है। दार्शनिकोंका मत है कि ज्ञानकी वृद्धि सिद्धान्त (Thesis) और अपसिद्धान्त (Anti-thesis) के समन्वय (Synthesis) में ही हुआ करती है। यही बात गीतामें भी प्रत्यक्ष दिखायी पड़ती है। ज्ञान ही Thesis है, कर्म ही Anti-thesis है और भक्ति ही उनका Synthesis है। प्रथम दोनों साधन (Means to an end) माने गये हैं और भक्ति साध्य (End in itself) कही गयी है।

परन्तु कोरी भक्ति भी ज्ञान और कर्मके बिना अधूरी है। जिसकी भक्ति करना है उसका ज्ञान होना ही चाहिये और उसकी उपलब्धिके लिये कुछ क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं। इसलिये 'ईश्वरशरणं गच्छ' न कहकर 'तमेव शरणं गच्छ' कहा गया है, जिससे ऊपरकी पंक्तियोंमें कहे हुए भगवत्-स्वभावकी ओर लक्ष्य हो जाय।

भगवान्ने ज्ञानका लक्षण बतलाया, कर्मकी अपूर्णता बतलायी, और अन्तमें भक्तिके लिये स्पष्टरूपसे आदेश किया। वह भक्ति भी कैसी? ज्ञानमूलक कर्मप्रधान भक्ति। यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है और यही भगवदुपदेश है। इसी सम्बन्धकी ईश्वरकी अनेकानेक प्रतिज्ञाएँ गीतामें कही गयी हैं तथा अन्तमें स्पष्ट स्वरसे कहा गया है—

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥'

भगवान्के इस समन्वयात्मक भक्तिमार्गमें भी एक विशेषता है। अन्य आचार्योंके समान उन्होंने 'यदि ऐसा करोगे तो ऐसा होगा' की शैली स्वीकार नहीं की है। यदि वह शैली स्वीकार की जाती तो मनुष्यको अपने प्रयत्नपर ही अभिमान होना स्वाभाविक हो जाता। वह यह निश्चय समझने लगता कि मैं अमुक अमुक कार्य करके अमुक फल अवश्य प्राप्त कर लूँगा। परन्तु यह विचार भी तो आसुरी सम्पत्ति है। जबतक 'मैं' पनका अस्तित्व है और अपने ही प्रयत्नका भरोसा है तबतक परम शान्ति कहाँसे मिल सकती है। 'मैं' पनसे मुक्त हो जाना ही तो सच्चा मोक्ष है और यह तभी हो सकता है जब मनुष्य अपनी क्षुद्र सत्ताको 'वासुदेवः सर्वम्' की अखिल व्यापक सत्तामें एकदम विलीन कर दे। इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्ने आगे चलकर 'तत्प्रसादात्' कहा है।

यह शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिये यदि इसके सम्बन्धमें कुछ विस्तारपूर्वक लिखा जाय तो अनुचित न होगा।

(१) 'यदि हम गुरुके समक्ष प्रयत्न करेंगे तो हमें ज्ञान मिल जायगा' और 'यदि गुरु प्रसन्न होंगे तो हमें ज्ञान मिल जायगा' इन दोनों वाक्योंमें प्रथम वाक्य तो हमारे कर्त्तव्योंका महत्त्व सूचित करता है और उस क्रियामें हमारा ध्यान गुरुके महत्त्वकी ओर बहुत ही कम जाता है। दूसरे वाक्यमें हमारा ध्यान गुरु ही पर रहता है। इसी प्रकार हमें शान्ति और शाश्वतस्थानकी प्राप्ति तभी होगी जब हमारा पूर्ण लक्ष्य ईश्वरहीकी ओर होगा न कि अपनी शरणागतिकी क्रियाकी ओर। अतएव 'तत्प्रसादात्' कहा गया है। जो लोग धर्म-ग्रन्थ देखकर ही भक्ति और शरणागतिके तरह-तरहके विधान किया करते हैं और विमानको अपने पास न आते देख ईश्वरहीको कोसने लगते हैं, वे इस 'प्रसाद' वाली बातको न जाननेके कारण सच्ची भक्तितक पहुँच ही नहीं पाते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) हम अल्पदर्शी हैं और ईश्वर सर्वदर्शी है। हम अपना भूत, भविष्य नहीं जानते इसलिये शान्ति इत्यादिकी प्राप्तिके लिये हमें किस अंशतक प्रयत्न करना चाहिये यह हमें विदित नहीं होता। एक मनुष्य शीघ्र ही सिद्धि पा जाता है, दूसरा जन्म-जन्मान्तरतक प्रयत्न करता रहता है, तब भी नहीं पाता। अतः यदि प्रसादका नाम न लिया जाय तो हम अपने प्रयत्नपर निराश हो जा सकते हैं परन्तु यदि प्रसादकी ओर ध्यान रक्खा गया तो फिर हमें सन्तोष बराबर बना रह सकता है; क्योंकि प्रभुकी प्रसन्नता कब होगी इसके लिये तो कोई समय निर्धारित हो नहीं सकता। इसीलिये 'तत्प्रसादात्' कहा गया है।

(३) यदि हम स्वार्थ-भावनासे किसीकी सेवा करेंगे तो उसमें प्रसन्नता उत्पन्न कराना कठिन ही है। ईश्वर तो सर्वज्ञ है, उससे हमारी स्वार्थ-भावना कैसे छिप सकती है? इसलिये अपनी स्वार्थ-भावनाके द्वारा उसे प्रसन्न कर लेना असम्भव है। भले ही वह हमारे प्रयत्नोंके अनुसार हमें मनचाहे फल दे दे, परन्तु वह हमपर पूर्णतः प्रसन्न हो गया ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसकी प्रसन्नताके लिये तो निष्कपट, निश्छल और सच्चे हृदयसे निःस्वार्थ शरणागति आवश्यक है। तभी प्रसाद होगा। इसीलिये 'तत्प्रसादात्' कहा गया है।

(४) भगवान्के यहाँ दूकानदारी तो है नहीं कि जितने पैसे लें, उतने ही की चीज़ दें। बड़े-बड़े जप-तपकी उसके दरबारमें कोई आवश्यकता नहीं। मनुष्य चाहे भयङ्कर-से-भयङ्कर पापी हो और अपनी कमजोरियोंके बोझको चाहे वह दुर्लङ्घ्य समझ रहा हो फिर भी यदि वह सच्चे हृदयसे उसकी ओर अग्रसर हो जाय तो वह परमात्मा दौड़कर सहायताके लिये उपस्थित हो जाता है। बच्चा जबतक नीचे खेलता रहता है, माँ ऊपर काम करती रहती है, परन्तु जब वही माँके लिये व्याकुल होकर रोता हुआ सीढ़ियोंपर चढ़नेके लिये तैयार हो जाता है तो माँ दौड़कर उसे गोदमें उठा लेती है फिर उसे अवशिष्ट सब सीढ़ियाँ तय करनेका कष्ट नहीं उठाना पड़ता। भगवान्का कहना है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

यही तो वह मार्ग है जिसमें चलकर सुदामाने तीन मुट्ठी चावलोंके बदले त्रैलोक्यकी वसुधा पायी थी। यही तो वह पथ है जिसके लिये 'पैये फल चार फूल एक दै धतूरेको' कहा गया है। इसी पथके लिये भगवान् अन्यत्र स्पष्ट शब्दोंमें घोषित करते हैं:—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

अर्थात् जो एक बार भी प्रपन्न होकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कह दे उसको मैं एकदम अभय दे देता हूँ, यही मेरा व्रत है। इसीलिये 'तत्प्रसादात्' कहा गया है। और न जाने कितना रहस्य इस 'तत्प्रसादात्' शब्दमें भरा हुआ है।

'तत्प्रसादात्' कहकर भगवान्ने 'प्राप्स्यसि' शब्द निश्चयात्मक बोधके लिये रख दिया है, जिसमें यह मालूम हो कि शान्ति और शाश्वत पद अवश्य मिलेगा। यदि ऐसा न करते तो सम्भव था कि प्रसादकी कड़ी शर्तसे घबराकर लोग पराशान्ति और शाश्वत स्थानका मिलना एकदम अनिश्चित ही मानने लगते। इस अनिश्चित भावको दूर करनेहीके लिये उन्होंने 'मिल सकेगा' न कहकर 'मिलेगा' कहा है। गीताके ईश्वरवाद और भक्तिवाद अथवा समन्वयवादका यही रहस्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

श्रीरामकृष्ण रोगमुक्त तो हो गये, परन्तु शरीर अभी पूर्णरूपसे स्वस्थ नहीं हुआ । इसलिये मथुरबाबूने सोचा कि जल-वायु बदलनेसे ठाकुर पहलेकी तरह स्वस्थ हो जायँगे । अतः उन्होंने ठाकुरको उनकी जन्मभूमि कुमारपूकुर भेज दिया । वहाँ वह छः सात महीने रहे । उनकी धर्मपत्नी शारदामणिदेवी अपने पिताके घर जयरामबाटीमें रहती थीं । ठाकुरके कुमारपूकुरमें पधारनेपर वह भी वहाँ बुला ली गयी। उसकी उम्र उस समय लगभग १४ वर्षकी थी । ससुरालमें आकर स्वामीकी मानसिक अवस्थाको भलीभाँति समझ वह अति भक्ति और प्रेमसे उनकी सेवा करने लगी । उसे यह विश्वास हो गया कि इन महापुरुषकी सुसंगतिसे मुझे भी ज्ञानकी प्राप्ति हो जायगी । ठाकुरने भी शारदा देवीको उपयुक्त शिक्षा देना शुरू कर दिया । रूपवती तरुणी भार्याके साथ रहकर अपने धर्मपर आरूढ़ रहनेका तथा अपने ज्ञान-वैराग्यकी परीक्षा करनेका मौका ठाकुरको मिल गया और इसमें वह अविचलित रूपसे सफल हुए । ऐसे महापुरुषके लिये, जो समस्त जगत्‌को 'माँ' का ही रूप समझता हो, विषयी पामर मनुष्योंकी भाँति विषयासक्त होना नितान्त असम्भव भी था । शारदादेवी भी अपने पतिदेवकी स्वार्थरहित पुनीत प्रीतिको देखकर उनपर तन-मनसे न्योछावर थी। वह उन्हें अपना इष्टदेव मानने लगी और उनके उपदेशोंका अनुकरण कर अपने जीवनको आदर्श बनानेमें तत्पर हो गयी । तदनन्तर श्रीरामकृष्ण 'हृदय' के साथ दक्षिणेश्वर लौट आये ।

इधर मथुरबाबूकी श्रद्धा ठाकुरमें दिनोंदिन बढ़ती गयी और वह उनकी सेवा-शुश्रूषा बड़ी भक्तिसे करने लगे । मथुरबाबू अपनी सब प्रकारकी कठिनाइयाँ उन्हें बतलाकर उनके परामर्शके अनुसार कार्य करते थे । उनकी इच्छा हुई कि ठाकुरके लिये कुछ ऐसा स्थायी प्रबन्ध कर दें जिससे उनकी सारी आवश्यकताएँ पूरी होती रहें, परन्तु ठाकुरका तीव्र वैराग्य देखकर उनसे कहनेका साहस न कर सके। चन्द्रदेवी (श्रीरामकृष्णकी माता) दक्षिणेश्वरमें ही रहा करती थीं, इसलिये मथुरबाबूने सोचा कि अपने मनोरथको पूरा करनेका यह अच्छा अवसर है। इस अभिप्रायसे वह उनके पास गये और बोले कि 'माँ! जो कुछ तुम्हें जरूरत हो मुझे बतलाओ, मेरा बड़ा भाग्य होगा यदि मुझसे आपकी कुछ सेवा बन पड़ेगी । चन्द्रने कहा 'बेटा! तूने मेरी सारी ज़रूरतें पहलेहीसे पूरी कर रक्खी हैं, फिर मुझे और क्या चाहिये?' मथुरबाबू कुछ सेवा करनेका आग्रह करते ही रहे। यह देखकर वह उन्हें सन्तुष्ट करनेके अभिप्रायसे बोलीं कि 'अच्छा, मेरे लिये एक आनेकी सूखी तमाखू ला दे, मुझे मञ्जन बनाना है।' वह इनके इस अपूर्व सन्तोषको देखकर अवाक् हो गये और उनका हृदय द्रवीभूत हो गया । माताके चरणोंपर गिर मथुरबाबू कहने लगे कि 'धन्य हो माँ' तुम जैसी माताओंकी कोखसे ही श्रीरामकृष्ण-जैसे महापुरुष पुत्र पैदा होते हैं ।'

मथुरबाबूकी इच्छा काशी, प्रयाग, व्रज इत्यादि तीर्थोंके दर्शनकी हुई। श्रीरामकृष्णको भी साथ चलनेको कहा तो उन्होंने स्वीकार कर लिया । सौ सवा सौ आदमियोंके साथ मथुरबाबूने सन् १८६८ के जनवरी मासमें तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान किया। रास्तेमें देवघर ठहरते हुए वे काशी पहुँचे, वहाँ दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मकान किरायेपर लिये और बड़े ठाठ-बाटसे रहने लगे । उन्होंने गरीबोंको अन्न-वस्त्र दिये और विख्यात विद्वानोंको निमन्त्रित कर उनकी भी भोजन, वस्त्र तथा धनसे सेवा की। श्रीरामकृष्ण विश्वनाथके मन्दिरमें 'हृदय'को साथ लेकर प्रतिदिन जाया करते और वहाँ पहुँचते ही समाधिस्थ हो जाया करते थे। ठाकुरने काशीके तैलंग-जैसे कई महापुरुषोंके दर्शन किये और वे उन लोगोंसे मिलकर बड़े सन्तुष्ट हुए। एक सप्ताह ठहरनेके बाद सब प्रयाग गये और वहाँ तीन दिन तक त्रिवेणीमें स्नान कर पुनः काशी वापिस आ गये। पन्द्रह दिन वहाँ रहकर श्रीवृन्दावन चले गये। ठाकुरको वहाँ अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। वे भगवान् श्रीकृष्णके लीला-स्थलोंमें जहाँ-जहाँ जाते, भावमग्न हो जाते थे। एक दिन सन्ध्या समय गायोंका दल चरकर जंगलसे लौट रहा था, पीछे-पीछे चरवाहे बालक उनको हाँकते हुए ले जा रहे थे, धूलि उड़ रही थी। यह दृश्य देखते ही ठाकुरको गोपालकी गौ चरानेकी पवित्र लीलाका स्मरण हो आया और वे भावमें मग्न हो उधर दौड़े और पुकारने लगे कि 'कृष्ण कहाँ है, कृष्ण कहाँ है।'

वृन्दावनमें पन्द्रह दिन ठहरकर सब लोग फिर काशी आये और वहाँ मई मास तक ठहरे। वहाँसे लौटते समय मथुरबाबूका विचार रास्तेमें गयाजी ठहरते हुए जानेका था, परन्तु ठाकुरने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सोचा कि 'यदि मैं वहाँ गया तो मेरा आत्मा ब्रह्ममें लीन हो जायगा, और यह शरीर जिसे 'माँ' ने अपने कार्यके लिये रक्खा है, छूट जायगा। पाठकोंको स्मरण होगा कि गयाजीमें ही इनके पिताको भगवत्-दर्शन हुआ था। ठाकुरके इन्कार करनेपर सब लोग कलकत्ता चले गये। श्रीरामकृष्ण वृन्दावनसे व्रजकी पवित्र रज ले आये थे, जिसे उन्होंने दक्षिणेश्वरकी पञ्चवटी तथा अपने साधनस्थानपर छिड़क दिया और उन स्थानोंको वृन्दावनतुल्य समझने लगे। मथुरबाबूने ठाकुरकी आज्ञानुसार सैकड़ों वैष्णवोंको धन देकर सन्तुष्ट किया।

मथुरबाबूकी मृत्यु—सन् १८७१ के जुलाई महीनेमें मथुरबाबूको सन्निपज्वर हुआ। ठाकुरको निश्चय हो गया कि अब मथुरका अन्तकाल आ पहुँचा। वह उन्हें देखने स्वयं नहीं जाते थे, 'हृदय'को उनका हाल पूछनेके लिये रोज भेजा करते थे। परन्तु उनकी मृत्युके दिन श्रीरामकृष्णने 'हृदय' को मथुरबाबूके घर नहीं भेजा था। उस दिन वह तीन घण्टे तक दीर्घ समाधिमें रहे। ठाकुरका शरीर तो वहीं रहा, परन्तु उनका आत्मा अपने भक्तके पास जा पहुँचा। जब समाधि खुली तो 'हृदय' से कहा कि मथुरबाबूका आत्मा देवलोकको चला गया है। थोड़ी ही देर बाद मथुरबाबूकी मृत्युका समाचार मिला। मथुरबाबूके देहान्तसे ठाकुरकी तन-मन-धनसे निःस्वार्थ सेवा करनेवाले एक भक्त पुरुषका अभाव हो गया।

शारदामणिदेवीका दक्षिणेश्वरमें आगमन—श्रीरामकृष्णके शीघ्र ही दक्षिणेश्वरको लौट आनेका एक कारण यह भी था कि उनकी माता चन्द्रदेवी वहाँ अकेली रहती थीं। नित्य आत्मस्वरूपमें तल्लीन रहनेपर भी ठाकुर अपनी माताको सुख देने और उनकी सेवा करनेमें सदैव तत्पर रहते थे और इसी कारण वह उन्हें कामारपूकुरसे अपने साथ ले आये थे। उनकी वृद्धावस्थाका स्मरणकर ठाकुर यात्रासे जल्दी दक्षिणेश्वर लौटना चाहते थे, इसीलिये उन्होंने अधिक समय रास्तेमें बिताना उचित नहीं समझा। इधर शारदामणि अपने पिताके घर जयरामबाटीमें रहती थी। अबतक उसने अपनी आयु प्रायः वहीं बितायी थी, केवल एक बार ही वह अपने पतिदेवके यहाँ गयी थी, जिसका ऊपर वर्णन हो चुका है। उन दिनों कामारपूकुरमें ठाकुरके सत्संगमें कई मास रहनेसे जो अपूर्व आनन्द शारदामणिको प्राप्त हुआ था उसे यादकर वह कहा करती थी कि 'उन दिनों मैं ऐसे आनन्दसे परिपूर्ण रहती थी मानो हृदयमें अमृतका घड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरा हुआ रक्खा हो। अब उसकी उम्र १८ वर्षकी हो चुकी थी। ग्रामके लोग श्रीरामकृष्णके बारेमें बहुत चर्चा किया करते और कहते 'वह पगला हो गया है, बेचारी शारदाका भाग्य फूट गया जो उसे ऐसा पति मिला।' शारदा सब कुछ सुनती और मन-ही-मन विचारा करती कि 'क्या वास्तवमें मेरे स्वामी पागल हो गये हैं, यदि यह ठीक है तो इस अवसरपर उनके पास रहकर उनकी सेवा करना ही मेरा धर्म है।' इस विचारसे उसके चित्तमें उनके पास जानेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। दैवयोगसे जयरामबाटीके कुछ लोग गंगास्नानके लिये कलकत्ता जानेका विचार कर रहे थे। यह सुन शारदाने भी उनके साथ चलनेका इरादा किया। स्त्रियोंने उसके पिता रामचन्द्रसे शारदाको साथ ले जानेकी अनुमति चाही तो वह भी सम्मत हो गये और स्वयं भी कलकत्ता जानेके लिये तैयार हुए। उन दिनों रेलगाड़ी तो थी नहीं, इस कारण सब लोग पैदल ही चले। निर्धनताके कारण पालकी आदि भाड़ा करना असम्भव था। अस्सी मीलका फासला था, चलते-चलते थकावटके कारण सुकुमार शारदाको ज्वरने आ घेरा, इसलिये उन लोगोंने कहीं मार्गके किसी ग्रामकी धर्मशालामें रात्रिको विश्राम करना आवश्यक समझा। अगले दिन उसका ज्वर छूट गया और वे फिर वहाँसे चल दिये। वे चलते ठहरते कई दिनोंके बाद दक्षिणेश्वर पहुँचे। यह घटना सन् १८७२के मार्च मासकी है। शारदा चलनेकी थकावट तथा ज्वरके कारण बहुत दुर्बल हो गयी थी इसलिये ठाकुरको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने स्वयं उसकी सेवाका अच्छा प्रबन्ध कराया और वह तीन ही चार दिनमें स्वस्थ हो गयी। अब शारदा अपनी सासके साथ नौबतखानेमें रहने लगी और उनकी सेवा करने लगी।

एक दिन शुक्लपक्षकी द्वितीयाको श्रीरामकृष्णके मनमें अपने कमरेमें माँ काली भगवतीकी पूजा करनेकी इच्छा हुई। सामग्री इकट्ठी की गयी और शारदादेवी वहाँ बुलायी गयी, रातको नौ बजे वह वहाँ पहुँची। ठाकुर पूजाका प्रारम्भ करने लगे और शारदाको कालीके स्थानपर बैठनेको कहा। वह पतिकी आज्ञानुसार बिना संकोचके वहाँ बैठ गयी। श्रीरामकृष्ण अपने सहायकोंके साथ विधिपूर्वक समस्त उपचारोंसे शारदारूपी जगदम्बाकी पूजा करने लगे। शारदा समाधिस्थ हो गयी। श्रीरामकृष्ण भी मन्त्र पढ़ते-पढ़ते समाधिमग्न हो गये। इसप्रकार वह दोनों पूजक और पूज्य अन्तरात्मामें तल्लीन हो गये। घण्टों गुजर गये। ठाकुर समाधिसे उतरे और शारदादेवीके चरणोंमें अपनी साधनाके समस्त फलोंको तथा अपने व्यक्तित्वको सर्वभावेन समर्पण कर दिया। इस पूजाका नाम तन्त्रशास्त्रमें षोडशी पूजा है। अब यहीं ठाकुरकी साधनाओंकी समाप्ति होती है। उन्होंने भगवतीको पूर्णतया अनन्यभावेन आत्मसमर्पण कर दिया। उनकी दृष्टिमें अब ब्रह्म और मायामें भेद नहीं रहा और इस वेदमन्त्रके अनुसार उनका भाव सदैव दृढ़ बना रहा—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

अर्थात्–तू स्त्री है, तू ही पुरुष है, कुमार भी तू है, कुमारी भी तू है, तू ही दण्ड हाथमें ले जीर्ण वृद्धका स्वांग बना मुझे ठगना चाहता है, परन्तु मैं तेरा भेद जानता हूँ, तू विभु है, संसारमें नानारूपसे प्रकट होता है।

शारदादेवी दक्षिणेश्वरमें रहती हुई ठाकुरके अनेक भावोंको देख-देखकर आनन्दमें मग्न रहती थी और ठाकुर भी उसे सब प्रकारसे शिक्षा दिया करते थे। गृहस्थके मामूली-से-मामूली कामोंसे लेकर भजन, ध्यान, समाधिपर्यन्त सब प्रकारकी शिक्षा शारदामणिको दी गयी। एक दिन शारदाने श्रीरामकृष्णके पैर दबाते-दबाते उनसे पूछा कि 'महाराज, आपका मुझमें कैसा भाव है?' ठाकुरने कहा कि 'जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवती मन्दिरमें विराजमान है तथा जिसने इस शरीरको जन्म दिया है, जो नौबतखानेमें रहती है वही जगज्जननी इस समय मेरे पैर दबा रही है।'

एक दिन ठाकुर पत्नीसहित रात्रिको एक ही तख्तेपर लेटे हुए थे। शारदा सो रही थी, उस समय वह विचारने लगे कि यह स्त्रीका शरीर पड़ा हुआ है, जिसे दुनिया बड़ा प्यारा समझती है, परन्तु जो इसमें आनन्द मानता है उसे भगवान् नहीं मिलते, अतः 'हे मन! अब मुझे बतला कि तू इस शरीरको चाहता है या परमात्माको। इस शरीरमें तेरी लालसा हो तो यह मौजूद ही है।'यह विचार करते ही वे समाधिस्थ हो गये। इस तरह साथ रहते हुए महीनों बीत गये परन्तु इस आदर्श-दम्पतिके मनमें कभी विषयेच्छाका प्रादुर्भाव न हुआ, दोनों ही परात्पर ब्रह्ममें आरूढ़ थे। ठाकुर समझते थे कि उनकी इच्छानुसार भगवतीने शारदाके मनसे भी विषय-वासनाका मूलोच्छेद कर दिया है। इस महान् कठिन परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर अब उन्हें पूरा-पूरा निश्चय हो गया कि जगत्-माताकी कृपासे उनके लिये अब किसी प्रकारकी विषय-वासना बाधक न होगी। उनका मन पूर्णतया भगवतीके चरणारविन्दमें विलीन हो गया और साधना समाप्त हो गयी। सन् १८७३ के नवम्बर-मासमें शारदादेवी एक वर्ष आठ महीने पतिके पास रहकर कामारपूकुर लौट गयी। (क्रमशः)

अनुरोध

उषापते! फिर एक बार वह हो अरुणोदय तेरा।
हृदय-सुमन खिल उठें कि जिससे हो सुख-शान्ति सबेरा॥
कलुष कालिमा रह नहिं पावे।
मोह मलिन तम सब मिट जावे।
प्रेम राग रंजित छबि छावे।
सत्यालोक प्रसारित हो शुचि कर सब दूर अँधेरा।
उषापते! फिर एक बार वह हो अरुणोदय तेरा॥
जीवन-स्रोत बहे वसुधा-तल।
छलक उठे मानस-रस अविकल।
उमड़ पड़ें सुखधारा पल पल।
कली-कली खिल उठे मोदयुत कर सौरभ चितचेरा।
उषापते! फिर एक बार वह हो अरुणोदय तेरा॥
शीतल मंद सुगंध समीरण।
दिव्य स्फूर्तिमय हर्षोद्गीरण।
लगे थिरकने कर विस्तीरण।
भाव भ्रमर सब हों गुंजारित कर मधु गान घनेरा।
उषापते! फिर एक बार वह हो अरुणोदय तेरा॥
ऐसा एक अलौकिक आला।
फैल जाय सर्वत्र उजाला।
मंजु मनोरम दृश्य निराला।
धरनि व्योम क्या कण-कणमें भी हो शुभ दर्शन तेरा।
उषापते! फिर एक बार वह हो अरुणोदय तेरा॥

—ज्वालाप्रसाद गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरितमानसका महाकाव्यत्व

(लेखक—श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

मुनि

विश्वामित्र महामुनि ज्ञानी। बसहिं बिपिन शुभ आश्रम जानी ॥
तहँ जप-योग-यज्ञ मुनि करहीं। ... ...
भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिनहिं रामपद अति अनुरागा ॥
तापस शम-दम दया-निधाना। परमारथ पथ धरम सुजाना ॥
भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मनभावन ॥
तहाँ होय मुनि-ऋषय-समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा ॥
मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परस्पर हरिगुन-गाहा ॥

ब्रह्मनिरूपन धर्मविधि बरनहिं तत्त्व-विभाग।
कहहिं भगति भगवन्तकी संयुत ज्ञान-विराग ॥

स्वर्ग (रमावैकुण्ठ)

छीर सिन्धु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा ॥
हरषि मिले उठि रमानिकेता। बैठे आसन ऋषिहिं समेता ॥

कैलास (उमावैकुण्ठ)

परम रम्य गिरिवर कैलासू। जहाँ सदाशिव उमा निवासू ॥

सिद्ध तपोधन योगिजन सुर-किन्नर-मुनिवृन्द।
बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं शिव सुखकन्द ॥

तेहि गिरिपर बट बिटप बिशाला। नित नूतन सुन्दर सब काला ॥
त्रिविध समीर सुशीतल छाया। शिव-विश्राम-बिटप श्रुति भाया ॥
बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे शरीर शान्तरस जैसे ॥
कुन्द-इन्दु-दर-गौर शरीरा। भुज प्रलम्ब परिधन मुनि चीरा ॥
तरुन-अरुन अम्बुजसम चरना। नख दुति भगत हृदयतम-हरना ॥
भुजग-भूति-भूषन त्रिपुरारी। आनन शरद चन्द छबिहारी ॥

जटामुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिशाल।
नीलकण्ठ लावण्यनिधि सोह बालबिधु भाल ॥

अमरावती (उपमागत)

जिमि वासव बस अमरपुर शची-जयन्त समेत ॥

पुर

जातरूप मनि-रचित अटारी। नानारङ्ग रुचिर गच ढारी ॥
पुर चहुँपास कोट अति सुन्दर। रचे कँगूरा रङ्ग रङ्गवर ॥
नवग्रह निकर अनीक बनाई। जनु घेरी अमरावति आई ॥
महि बहुरङ्ग रुचिर गच काँचा। जो बिलोकि मुनिवर मन राँचा ॥
धवल धाम ऊपर नभ चुम्बत। कलश मनहुँ रवि-शशि दुति निन्दत ॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं। गृह-गृह-प्रति मनि-दीप बिराजहिं ॥

मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी विद्रुम रची।
मनिखम्भ-भीति बिरञ्चि बिरची कनक-मनि-मरकत खची ॥
सुन्दर मनोहर मन्दिरायत अजिर रुचिर फटिकन्ह रचे।
प्रति द्वार-द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु वज्रन्ह पचे ॥

चारु चित्र शाला गृह-गृह प्रति रचे बनाय।
रामचरित जे निरखत मुनि मन लेहिं चुराय ॥

सुमनबाटिका सबहिं लगाई। विविध भाँति करि यतन बनाई ॥
लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसन्तकी नाई ॥
गुंजत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिविध सदा बह सुन्दर ॥
नाना खग बालकन्ह जियाए। बोलत मधुर उड़ात सुहाए ॥
मोर-हंस-सारस-पारावत। भवनन्हपर शोभा अति पावत ॥
जहँ-तहँ देखहिं निज परिछाहीं। बहुबिध कूजहिं नृत्य कराहीं ॥
शुक-सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम-रघुपति जनपालक ॥
राज दुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू ॥

बाजार रुचिर न बनै बरनत बस्तु बिनु गथ पाइये।
जहँ भूप रमानिवास तहँ की सम्पदा किमि गाइये ॥
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।
सब सुखी सब सच्चरित सुन्दर नारि-नर-शिशु जरठ जे ॥

उत्तर दिशि सरयू बहै निर्मल जल गम्भीर।
बाँधे घाट मनोहर स्वल्प पङ्क नहिं तीर ॥

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पियहिं बाजि-गज-ठाटा ॥
पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं असनाना ॥
रामघाट सब विध सुन्दरवर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर ॥
तीर तीर देवन्हके मन्दिर। चहुँ दिशि तिन्हके उपवन सुन्दर ॥
कहुँ-कहुँ सरिता तीर-उदासी। बसहिं ज्ञानरत मुनि सन्यासी ॥
तीर-तीर तुलसिका सुहाई। वृन्द-वृन्द बहु मुनिन्ह लगाई ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुर शोभा कछु बरनि न जाई । बाहर नगर परम रुचिराई ।।
देखत पुरी अखिल अघ भागा । वन-उपवन-वाटिका-तड़ागा ।।

वापी-तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं ।
सोपान सुन्दर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं ।।
बहुरंग कञ्ज अनेक खग कूजहिं मधुप गुञ्जारहीं ।
आराम रम्य पिकादि खगरव जनु पथिक हंकारहीं ।।

अध्वर (यज्ञ)

शृङ्गी ऋषिहिं बसिष्ठ बुलावा । पुत्रकाम शुभ यज्ञ करावा ।।
भक्ति सहित मुनि आहुति दीन्हे । प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे ।।
जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा । सकल काज भा सिद्ध तुम्हारा ।।
यह हवि बाँटि देहु नृप जाई । यथायोग जेहि भाग बनाई ।।
होम करन लागे मुनि झारी । आपु रहे मखकी रखवारी ।।

पुत्रोद्भव

विप्र-धेनु-सुर-सन्त-हित लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया-गुण-गोपार ।।

सुनि शिशु-रुदन परम प्रिय बानी । सम्भ्रम चलि आईं सब रानी ।।
हरषित जहँ-तहँ धाईं दासी । आनँद मगन सकल पुरवासी ।।

इत्यादि ।

रण-प्रयाण

मानसमें उदाहरण—

चला कटक को बरनै पारा । गरजहिं बानर भालु अपारा ।।
नख आयुध गिरि-पादप-धारी । चले गगन महि इच्छाचारी ।।
केहरिनाद भालु-कपि करहीं । डगमगाहिं दिग्गज चिक्करहीं ।।

चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे ।
मनहरण दिनकर-सोम-सुर-मुनि-नाग-किन्नर दुख टरे ।।
कटकटहिं मर्कट विकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं ।
जय राम प्रबल प्रताप कोसलनाथ गुनगन गावहीं ।।
सहि सक न भार अपार अहिपति बार-बारहि मोहई ।
महि दशन पुनि-पुनि कमठपृष्ठ कठोर सो किमि सोहई ।।
रघुवीर रुचिर पयान-प्रस्थिति जानि परम सुहावनी ।
जनु कमठ-खर्पर सर्पराज सो लिखत अविचल पावनी ।।

प्रतिनायकका प्रयाण

चलत कटक दिगसिन्धुर डगहीं । छुभित पयोधि कुधर डगमगहीं ।।
उठी रेनु रबि गयउ छपाई । मरुत थकित बसुधा अकुलाई ।।
पनव निसान घोर रव बाजहिं । प्रलय कालके घन जनु गाजहिं ।।
भेरि नफीरि बाज सहनाई । मारु राग सुभटन-सुखदाई ।।

उपयम (विवाह)

मानसमें उदाहरण—

केकि कण्ठ दुति श्यामल अङ्गा । तडित विनिन्दक वसन सुरङ्गा ।।
ब्याह-विभूषन विविध बनाए । मङ्गलमय सब भाँति सुहाए ।।
शरद विमल विधु-वदन सुहावन । नयन नवलराजीव-लजावन ।।
सकल अलौकिक सुन्दरताई । कहि न जाय मन ही मन भाई ।।
नयन-नीर हठि मङ्गल जानी । परिछिन करहिं मुदित मन रानी ।।
वेद-विहित अरु कुल व्यवहारू । कीन्ह भली विध सब आचारू ।।
पञ्चशब्द धुनि मङ्गल मूला । शान्ति पढ़हिं महिसुर अनुकूला ।।
करि आरती अरघ तिन्ह दीन्हा । राम गवन मण्डप तब कीन्हा ।।
कनक-कलश मनिकोपर रूरे । शुचि सुगन्ध मङ्गलजल पूरे ।।
निजकर मुदित राय अरु रानी । धरे रामके आगे आनी ।।
पढ़हिं वेद मुनि मंगलवानी । गगन सुमन झरि अवसर जानी ।।
वर विलोकि दम्पति अनुरागे । पायँ पुनीत पखारन लागे ।।

वर-कुँवरि-करतल जोरि शाखोच्चार दोउ कुलगुरु करैं ।
भयो पानिग्रहन विलोकि विधि-सुर-मनुज मन आनँद भरैं ।।
सुखमूल दूलह देखि दम्पति पुलकि तन हुलस्यो हियो ।
करि लोक-वेद-विधान कन्यादान नृपभूषन दियो ।

जय धुनि वृन्दी-वेदधुनि मंगलगान निसान ।
सुनि हरषहि बरषहि विबुध सुरतरु-सुमन सुजान ।।

कुँवर-कुँवरि कल भाँवरि देहीं । नयन लाभ सब सादर लेहीं ।।
जाय न बरनि मनोहर जोरी । जो उपमा कछु कहउँ सो थोरी ।।
राम-सीय-सुन्दर-परिछाहीं । जगमगाति मनि-खम्भनमाहीं ।।
मनहुँ मदन-रवि धरि बहुरूपा । देखत राम-विवाह अनूपा ।।
दरस-लालसा सकुच न थोरी । प्रगटत-दुरत बहोरि-बहोरी ।।
राम सीयसिर सेंदुर देहीं । शोभा कहि न जाति विध केहीं ।।
अरुन पराग जलज भरि नीके । शशिहिं भूषअहि लोभ अमीके ।।
बहुरि वसिष्ठ दीन्ह अनुशासन । बर-दुलहिन बैठे इक आसन ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्र

यहाँ मन्त्रसे अभिप्राय राजनीतिक मन्त्रसे है। 'षड्गुण-चिन्तनं मन्त्रः।' अर्थात् षड्गुणोंका चिन्तन ही मन्त्र है। वे छः गुण ये हैं–'सन्धिविग्रहौयानमासनद्वैधमाश्रयः'*—(१) सन्धि, (२) विग्रह, (३) यान, (४) आसन (५) द्वैध, (६) आश्रय। शिशुपालवधमें भी इनकी चर्चा है। यथा—

'षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्त्तुमिति दुर्मेध सोऽप्यलम्॥

शक्ति, सिद्धि और उदय, ये तीनों षड्गुणोंके साधन हैं। इनमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन भेद हैं। यथा—

शक्ति—(१) मन्त्र, (२) उत्साह, (३) प्रभुत्व।

सिद्धि—(१) मन्त्रसिद्धि, (२) उत्साहसिद्धि; (३) प्रभुत्वसिद्धि।

उदय—(१) वृद्धि, (२) क्षय, (३) स्थान।

उपर्युक्त साधनत्रयसे साध्य-अर्थ कामको पुरुषार्थ कहते हैं।

मानसमें मन्त्र—

जाम्बवन्त मैं पूछौं तोहीं। उचित सिखावन दीजिय मोहीं॥
इतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहिं देखि कहहु सुधि आई॥
तब निज भुजबल राजिवनैना। कौतुक लागि सङ्ग कपिसेना॥
कपिसेन सङ्ग संहारि निशिचर राम सीतहिं आनिहैं॥
तब हनुमन्त कहा सुनु भ्राता। देखा चहौं जानकी माता॥
जुगुति विभीषन सकल सुनाई। चले पवनसुत बिदा कराई॥

× × ×

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। आवा मिलन दशानन-भाई॥
कह प्रभु सखा बूझिये काहा। कहै कपीश सुनहु नरनाहा॥
जानि न जाय निशाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन शठ आवा। राखिय बाँधि मोहिं अस भावा॥

× × ×

कह लङ्केश सुनहु रघुनायक। कोटि सिन्धु सोषक तव सायक॥
यद्यपि तदपि नीति असि गाई। विनय करिय सागरसन जाई॥
प्रभु, तुम्हार कुलगुरु जलधि कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि॥

× × +

इहाँ प्रात जागे रघुराई। पूछा मत सब सचिव बुलाई॥
कहहु बेगि का करिय उपाई। जाम्बवन्त कह पद सिर नाई॥
सुनु सर्वज्ञ सकल-गुन-रासी। सत्यसन्ध प्रभु सब-उर-वासी॥
मन्त्र कहौं निज मति अनुसारा। दूत पठाइय बालिकुमारा॥

सन्धि

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने मन्त्रियोंके परामर्शसे यह निश्चय किया कि पहले रावणके प्रति सामनीतिका व्यवहार किया जाय। यदि वह अपने अपराधका पश्चात्ताप करे और क्षमाप्रार्थनापूर्वक भगवती श्रीजनकनन्दिनीको लौटा दे तो व्यर्थ रक्तपात करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, अन्यथा युद्ध करके उनका उद्धार किया जाय। ऐसा विचारकर उन्होंने वीरवर अङ्गदको दूतरूपसे रावणके पास भेजा। यथा—

बालितनय बल-बुधि-गुनधामा। लंका जाहु तात मम कामा॥
बहुत बुझाय तुमहिं का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥
काज हमार तासु हित होई। रिपुसन करेहु बतकही सोई॥

'काज हमार तासु हित होई' धर्मनीतिका कैसा उदार वाक्य है!

प्रतिनायककी सभामें सन्धिका प्रस्ताव

प्रहस्तने रावणको यह परामर्श दिया--

प्रथम बसीठ पठव सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥
नारि पाइ फिरि जाहिं जौं तौ न बढ़ाइय रारि।
नाहित सन्मुख समरमहँ तात करिय हठि मारि॥

विग्रह

धुआँ देखि खर-दूषण केरा। जाइ सूपनखा रावन प्रेरा॥
सभा माँझ परि व्याकुल बहु प्रकार कहि रोय।
तोहिं जियत दशकन्धर मोरि कि अस गति होय॥
अवध-नृपति-दशरथके जाए। पुरुषसिंह बन खेलन आए॥
समुझि परी मोहि उनकी करनी। रहित निशाचर करिहैं धरनी॥
शोभाधाम राम अस नामा। तिन्हके संग नारि एक श्यामा॥
रूपराशि विधि रची सँवारी। रति शत कोटि तासु बलिहारी॥
तासु अनुज काटे श्रुति नासा। सुनि तव भगिनि करी परिहासा॥

× × ×

सभा आइ मन्त्रिन्हसन बूझा। करब कवनविधि रिपुसन जूझा॥
कहहिं सचिव सुनु निशिचर नाहा। बार बार प्रभु बूझहु काहा॥
कहहु कवन भय करिय विचारा। नर-कपि-भालु अहार हमारा॥

---

* अमर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध

येही बीच निशाचर अनी। कसमसाति आई अति घनी॥
देखि चले सन्मुख कपिभट्टा। प्रलयकालके जनु घनघट्टा॥
बहु कृपान तरवारि चमंकहि। जनु दशदिशि दामिनी दमंकहिं॥
गज-रथ-तुरग-चिकार कठोरा। गरजत मनहुँ बलाहक घोरा॥
कपिलंगूर विपुल नभ छाये। मनहुँ इन्द्रधनु उगे सुहाये॥
उठै धूरि मानहुँ जलधारा। बान बूँद भइ वृष्टि अपारा॥
दुहुँ दिशि पर्वत करहिं प्रहारा। बज्रपात जनु बारहिं बारा॥
रघुपति कोपि बान झरि लाई। घायल भे निशिचर समुदाई॥
लागत बान वीर चिक्करहीं। घुर्मि-घुर्मि जहँ-तहँ महि परहीं॥
स्रवहिं शैल जनु निर्झर बारी। सोनित-सरि कादर-भयकारी॥

कादर-भयंकर रुधिर-सरिता बढ़ी परम अपावनी।
दोउ कूल दल-रथ-रेत-चक्र अवर्त बहति भयावनी॥
जल जन्तु गज पदचर तुरंग-खग विविध बाहन को गने।
शर-शक्ति-तोमर सर्प-चाप तरंग चर्म कमठ घने॥

वीर परहिं जनु तीर-तरु मज्जा बहु बह फेन।
कादर देखत डरहिं तेहि सुभटनके मन चैन॥

× × ×

कहि दुर्वचन क्रुद्ध दशकन्धर। कुलिश-समान लाग छाँडै शर॥
नानाकार शिलीमुख धाए। दिशि अरु विदिशि गगन महिं छाए॥
अनलबान छाड़े रघुवीरा। छनमँह जरे निशाचर तीरा॥
छाँड़ेसि तीव्र शक्ति खिसियाई। बान-संग प्रभु फेरि पठाई॥
कोटिन्ह चक्र-त्रिशूल पँवारे। बिनु प्रयास प्रभु काटि निवारे॥
निफल होहिं रावन-शर कैसे। खलके सकल मनोरथ जैसे॥

× × ×

तानि शरासन श्रवन लगि छाड़ें विशिख कराल।
राम-मारगन-गन चले लहलहात जनु व्याल॥

चले बान सपक्ष जनु उरगा। प्रथमहिं हत्यो सारथी-तुरगा॥
रथ विभञ्जि हति केतु-पताका। गरजा अति अन्तर्बल थाका॥
तुरत आनि रथ चढ़ि खिसियाना। छाँड़ेसि अस्त्र-शस्त्र विध नाना॥
विफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह-निरत मनसाके॥
तब रावन दश शूल चलाए। बाजि चारि महि मारि गिराए॥
तुरत उठाय कोपि रघुनायक। खैंचि शरासन छाँड़ें सायक॥
रावन-सिर-सरोज वन-चारी। चलि रघुबीर शिलीमुख-धारी॥
दश-दश बान भाल दस मारे। निसरि गए चलि रुधिर पनारे॥
स्रवत रुधिर धायउ बलवाना। प्रभु पुनि कृत धनु-शर सन्धाना॥
तीस तीर रघुवीर पँवारे। भुजन्ह-समेत शीश महि पारे॥

काटतही पुनि भए नवीने। राम बहोरि भुजा-शिर छीने॥
कटत झटित पुनि नूतन भए। प्रभु बहु बार बाहु-शिर हए॥
पुनि-पुनि प्रभु काटत भुज शीशा। अति कौतुकी कोशलाधीशा॥
रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू। मानहु अमित केतु अरु राहू॥
जनु राहु-केतु अनेक नभपथ स्रवत शोनित धावहीं।
रघुवीर-तीर प्रचण्ड लागहिं भूमि गिरन न पावहीं॥
एक-एक शर शिर निकर छेदे नभ उड़त इमि सोहहीं।
जनु कोपि दिनकर कर निकर जहँ-तहँ विधुनतुद पोहहीं।

जिमि-जिमि प्रभु हर तासु शिर तिमि-तिमि होहिं अपार।
सेवत विषय विवर्द्ध जिमि नित-नित नूतन मार॥

दशमुख देखि शिरन्ह कै बाढ़ी। बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी॥
गर्जेउ मूढ़ महा अभिमानी। धायो दशों शरासन तानी॥
समरभूमि दशकन्धर कोपेउ। बरषि बान रघुपतिरथ तोपेउ॥
दण्ड एक रथ देखि न परेऊ। जनु निहारमहँ दिनकर दुरेऊ॥
हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा। तब प्रभु कोपि कार्मुक लीन्हा॥
शर निवारि रिपुके सिर काटे। ते दिशि-विदिशि गगन महि पाटे॥
काटे सिर नभ मारग धावहिं। जय जय धुनि करि भय उपजावहिं॥
कहँ लछिमन हनुमान कपीशा। कहँ रघुवीर कोसलाधीशा॥

× × ×

आकरषेउ धनु कान लगि छाड़े शर एकतीस।
रघुनायक-सायक चले मानहुँ काल-फनीस॥

सायक एक नाभि सर सोखा। अपर लगे भुज शिर करि रोषा॥
लै शिर-बाहु चले नाराचा। शिर-भुजहीन रुण्ड महि नाचा॥
धरनि धसे धर धाव प्रचण्डा। तब प्रभु शर हत कृत युगखण्डा॥
गर्जेउ मरत घोर रव भारी। 'कहाँ राम रन हतौं प्रचारी'॥
डोली भूमि गिरत दशकन्धर। छुभित सिन्धु-सरि-दिग्गज-भूधर॥
पड़े वीर दुइ खण्ड बढ़ाई। चापि भालु मर्कट-समुदाई॥
मन्दोदरि आगे भुज शीशा। धरि शर चले जहाँ जगदीशा॥
प्रविशे सब निषंग महँ आई। देखि सुरन्ह दुन्दुभी बजाई॥
तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि शम्भु चतुरानन॥
जय-जय धुनि पूरी ब्रह्मण्डा। जय रघुवीर प्रबल भुजदण्डा॥
बरषहिं सुमन देव-मुनिवृन्दा। जय कृपालु जय जयति मुकुन्दा॥
जय कृपाकन्द मुकुन्द द्वन्द्व हरन शरन-सुखप्रद प्रभो।
खल-दल-विदारन परम कारन कारुनीक सदा विभो॥
सुर-सिद्ध-मुनि-गन्धर्व हरषे बाज दुन्दुभि गहगही।
संग्राम-अंगन रामअंग अनंग बहु शोभा लही॥
शिर-जटा-मुकुट प्रसून बिच-बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नीलगिरिपर तडित पटल समेत उड़गन भ्राजहीं॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भुजदण्ड शर कोदण्ड फेरत रुधिरकन तन अति बने।
जनु रायमुनिय तमालपर बैठी विपुल सुख आपने ।।

कृपा दृष्टि करि वृष्टि प्रभु अभय किए मुनिवृन्द।
हरषे बानर-भालु सब 'जय सुखधाम मुकुन्द' ।।

संग्राम-स्वयम्बर-रङ्गशालामें जयलक्ष्मीसे वरण किये हुए रघुकुलतिलक भगवान् श्रीरामचन्द्रकी इस अनुपम रण-छविका ध्यानधारासे स्मरण करते हुए हम इस लेखको विश्राम देते हैं।

महाकाव्यकी प्रायः मुख्य-मुख्य बातें मानसमें दिखायी जा चुकीं। वास्तवमें श्रीरामचरितमानस सर्वाङ्गपूर्ण अतएव आदर्श महाकाव्य है। वह सुन्दर सुभाषितोंका दैवीशक्ति-सङ्घटित एक सुसज्जित रत्नागार है, वाङ्मय-जगत्का एक अनुपम चमत्कार है, वाग्देवताका सुन्दर शृङ्गार है, शब्द-ब्रह्मका वह पूर्णावतार है, गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजका अलौकिक उपकार है, सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्गका वह सार है, मनुष्यलोकमें व्याप्त मानस-रोगोंका वह दिव्योपचार है और हिन्दु-जातिके जीवनका परमाधार है।

महाकाव्य-सम्बन्धी और भी कतिपय वर्णनीय विषय उदाहरणीय हैं--जैसे अङ्गभूत रसों तथा ऋतुओंके उदाहरण आदि--परन्च इतना पर्याप्त समझकर लेख-विस्तार-भयसे छोड़ दिये गये हैं।

सती साध्वी महारानी एलिजाबेथ

(लेखक—श्रीजयदयाल डालमिया)

(गतांकसे आगे)

द्वन्द्वोंसे भरा संसार-चक्र अनवरत गतिसे सदा घूमा ही करता है। दिनके बाद रात, सुखके बाद दुःख, प्रकाशके बाद अन्धकार और जीवनके बाद मृत्यु--इसप्रकार क्रमसे सब बारी-बारीसे ऊपर नीचे आते जाते रहते हैं। अब एलिजाबेथके भी भौतिक सुखके दिन बीतने लगे, दुःखके दिनोंकी बारी आने लगी। सन् १२२७ ई० में यूरोपके अनेक ईसाई नरेशोंने विधर्मियोंके हाथोंसे अपने परम पुनीत तीर्थ जेरूसलमको छुड़ानेके लिये युद्ध-यात्राका विचार किया। कर्त्तव्यसे प्रेरित हो राजा लुई भी इस धर्म-युद्धमें सम्मिलित होनेका विचार करने लगे। एलिजाबेथ निकट भविष्यकी विपत्तिके सूचक असगुन देखने लगी। वह घबराई और एक दिन स्वामीके सामने उसकी आँखोंमें पानी भर आया। रानीकी यह दशा देख राजा लुई उसे सान्त्वना देकर कहने लगे कि 'प्रिये, भगवत्प्रेमके आकर्षणसे उनके धर्मकी रक्षाके लिये मैं रणक्षेत्रमें जा रहा हूँ। ऐसे अवसरपर तो तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये। क्या प्रभुके कार्यमें कभी विषाद करना उचित है?' धर्मपरायणा ऐलिजाबेथ स्वामीको कर्त्तव्य-विमुख कैसे कर सकती थी? वह बोली--'स्वामिन्! जब प्रभु आपको अपने कामके लिये आवाहन कर रहे हैं, तब मैं कैसे रोक सकती हूँ? मैं तो आपके सहित अपनी सभी वस्तुएँ उनके अर्पण कर चुकी हूँ। उनके पवित्र कार्यके लिये जाते हुए आपको रोकनेका मेरा कोई अधिकार नहीं है। जाइये प्राणनाथ, खुशीसे जाइये, प्रभु आपका कल्याण करें।'

युद्धमें जानेकी तिथि निश्चित हुई। राजा अपने सेवकों और प्रजाजनोंसे विदा हो, जननी, पत्नी और स्नेहके पुतले बच्चोंके पास उनसे विदा माँगनेको गये। वह प्रेमवश गद्गद् हो गये, कुछ देर तक तो उनके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकल सका। फिर सम्हलकर प्रणाम करते हुए उन्होंने गम्भीर भावसे मातासे कहा—'माँ! आपकी देख-रेखका भार तो मेरे दोनों भाइयोंपर है। लेकिन एलिजाबेथको मैं केवल आपके हाथोंमें सौंपता हूँ। आपके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिवा इसकी मर्मव्यथाको समझनेवाला यहाँ दूसरा कोई नहीं है।' राजा विदा हुए। पर एलिजाबेथ घरमें न रह सकी, वह राज्यकी सीमातक स्वामीको पहुँचानेके लिये साथ गयी। अन्तमें विदा होते समय राजाने कहा--'प्रिये ! भगवान् तुम लोगोंका कल्याण करें। ईश्वर-प्रेमकी यत्नपूर्वक रक्षा करते रहना। देखना, प्रार्थनाके समय मुझको भूलना नहीं।'

राजा लुई रणक्षेत्रकी ओर चल दिये। एलिजाबेथ जबतक स्वामी दृष्टिगोचर होते रहे, तबतक वहीं खड़ी देखती रही। तदनन्तर वहाँसे लौटकर राजमहलमें आयी और अपने सदाके नियमके अनुसार उसने सुन्दर वस्त्राभूषणोंको त्यागकर साधारण वस्त्र पहिन लिये।

राजा लुई जहाजपर सवार हुए। वहीं उनपर भीषण ज्वरने आक्रमण किया। बीमारी बढ़ने लगी। राजाने अनुमान किया कि अब अन्तकाल निकट आ पहुँचा है। अतः उन्होंने अपने स्त्री-पुत्रोंके नाम बसीयतनामा तैयार कर अपने आपको ईश्वरके हाथोंमें सौंप दिया। मृत्युके समय उनके चेहरेपर अपूर्व तेज था। उन्हें प्रतीत हुआ कि मानों श्वेत कपोत पक्षी आकाशमें उनके लिये राह देख रहे हैं। तदनन्तर ही उनका जीवात्मा भी शरीरसे उड़ गया। स्वामीका परलोक-गमन देख सारे सैनिक मोहके मारे शोक-सागरमें पड़कर गोते खाने लगे।

रानी एलिजाबेथके पास यह हृदय-विदारक समाचार पहुँचा, तो वह शोकसे मूर्छित हो जड़कटे पेड़की तरह गिर पड़ी। प्राणपखेरू देह-पिञ्जरको छोड़कर उड़नेकी तैयारी करने लगे। सखियाँ किसी प्रकार होशमें लाकर रानीको शान्त करनेका प्रयत्न करने लगीं। बहुत देर बाद मूर्छा टूटनेपर धैर्य और शान्तिके लिये उसने ईश्वरसे प्रार्थना की। वह ईश्वरके स्वरूपमें निमग्न हो गयी और उसे प्रतीत होने लगा मानो अन्तरमें कोई सान्त्वना देता हुआ उससे कह रहा है कि 'मैंने जो कुछ किया है सो बहुत अच्छा किया है। इसका गूढ़ रहस्य तेरी समझमें पीछेसे आयगा।' इस आश्वासन-वाणीसे उसका चित्त कुछ शान्त हुआ।

युवा अवस्थामें भी भक्तिके प्रभावसे रानी एलिजाबेथ वैधव्य-दुःखको धीरताके साथ सहती हुई ईश्वरमें आस्था स्थापनकर अपना जीवन अधिकाधिक प्रार्थना, उपासना और दरिद्रनारायणकी सेवामें बिताने लगी। राजमाता सोफियाने पुत्र-वियोगसे दुखी होनेपर भी पुत्रवधूको हृदयसे लगाकर किसी प्रकार कुछ शान्ति प्राप्त की। वह एलिज़ाबेथको सदा अपने पास रखती और सर्वदा उसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा किया करती।

भगवान्की दयाके कई तरीके हैं। वे भक्तोंको अपनी दयाके भिन्न-भिन्न रूपोंका दर्शन कराया करते हैं। उन्हीं रूपोंमेंसे एक है धन जन इत्यादि सांसारिक आसक्ति और व्याधिकी समस्त वस्तुएँ हरणकर भक्तको सब ओरसे निश्चिन्तकर उसे अपनेमें मन लगानेका मौका देना। एलिजाबेथसे भगवान्ने कहा था कि 'इसका गूढ़ रहस्य तेरी समझमें पीछेसे आयगा।' उसीको समझानेके लिये अब मानों वे उसका विस्तार करने लगे। राजा लुईके भ्राता हेनरी तथा अन्यान्य कर्मचारीगण मौका पाकर अपना पुराना द्वेष निकालनेके लिये एलिजाबेथके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगे और उनपर नाना प्रकारके अत्याचार करने शुरू कर दिये। सबने मिलकर विधवा रानीपर यह अभियोग लगाया कि एलिजाबेथने जादू करके राजा लुईको वशमें कर राज्यका सञ्चित कोष मनमाने तौरपर लुटाकर नष्ट कर दिया। अत्याचारकी पराकाष्ठा होने लगी। हेनरीने बलपूर्वक राजसिंहासनपर अपना अधिकार जमाकर साध्वी भाभी एलिजाबेथको बिना कुछ साथ लिये तुरन्त देशसे बाहर निकल जानेकी कठोर आज्ञा दी। इतना ही नहीं, यह भी घोषणा कर दी गयी कि राज्यमें जो व्यक्ति इसे आश्रय देगा या अन्य किसी प्रकारकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहायता करेगा वह दण्डका पात्र समझा जायगा। इसप्रकारकी अत्याचारी आज्ञाके बाद हेनरीके दो नौकर यमदूतकी तरह एलिजाबेथके पास जाकर उसे धमकाते हुए राजाज्ञाका वृत्तान्त सुनाकर बोले कि 'राज्यका कोष नष्ट करनेके अपराधमें तुम्हारी सारी सम्पत्ति ज़प्त कर ली गयी है। तुमको इसी क्षण राजमहल छोड़कर देशसे बाहर निकल जाना होगा।' राजमाता सोफियाने नौकरोंको धमकाकर बहुतेरा समझाया पर उस बेचारीका कुछ भी वश न चला। दुर्दान्त राज-कर्मचारी राजविधवा एलिजाबेथको राजमहलसे बाहर ले आये। दरवाजेके बाहर दासी बच्चोंको लिये हुए उदास-मुख खड़ी थी। एलिजाबेथने छोटे बच्चेको गोदमें उठा लिया और शेष दोनों बालकोंके हाथ पकड़कर वह राजमार्गसे शहरके बाहर जाने लगी। राज-दण्डके भयसे आज कोई भी इस विधवा साध्वी रानीको सहारा देनेवाला नहीं है। दूधके फेन-सी सफेद कोमल शय्यापर सोनेवाले सुकुमार बालक आज नंगे पाँव पैदल जा रहे हैं, उनके खाने-पीने, सोने-रहनेका कोई ठिकाना नहीं है। गरीबोंको आश्रय देनेवाली, दीनोंकी जननी आज स्वयं एक निराश्रयाकी तरह निर्दयताके साथ देशसे बाहर निकाली जा रही है। हा! स्वार्थपरता और अधिकारका मद क्या नहीं करा देता?

इस दृश्यको देखकर प्रजाके नेत्रोंसे करुणाके आँसू बहने लगे। परन्तु साध्वी एलिजाबेथके मुख-मण्डलपर शोकका ज़रा भी चिह्न नहीं है। वह धैर्यशीला देवी इसमें भी अपने दयालु प्रभुकी अनुपम दयाका अनुभव करती हुई सदाकी भाँति प्रसन्न है। उसके चेहरेपर दिव्य तेज छिटक रहा है।

प्रेमी पाठक-पाठिकाओ! शायद आप लोगोंके मनमें इस दुःखद दृश्यको देखकर दया आती होगी और सम्भवतः इसके लिये आप हेनरीको दोषी समझते होंगे। अवश्य ही निरपराधको स्वार्थ-वश कष्ट पहुँचानेके हृदयहीन कार्यके लिये हेनरी सर्वथा दोषी और दण्डका पात्र है, पर एलिजाबेथको कष्ट पहुँचानेमें तो भगवान्‌की दया भरी हुई है, हेनरी तो इसमें निमित्तमात्र है। यदि ऐसी घटना न घटती तो आज एलिजाबेथके सुयशको कौन जान सकता? जबतक सोना भलीभाँति तपाकर शुद्ध नहीं किया जाता तबतक उसकी कदर नहीं होती। हीरे माणिक जबतक तेज और तीखे अस्त्रोंद्वारा अच्छी प्रकार तराशकर सुन्दर और चिकने नहीं बनाये जाते, तबतक उन्हें कोई पसन्द नहीं करता। ईश्वर भी अपने भक्तरूपी रत्नोंको संसारमें चमकानेके लिये बहुत-से तेज-तीखे शस्त्रोंसे काम लिया करते हैं। भगवान्‌के इन तीक्ष्णधार शस्त्रोंकी चोटको संसारी और विषयी मनुष्य तो दुःखरूप मानते और ईश्वरका कोप समझते हैं, परन्तु भक्तको इसमें बड़ा ही आनन्द मिलता है। वह जानता है कि मैं इन अस्त्रोंद्वारा ही खूबसूरत शक्लका बनकर अपने प्रियतमका प्रियपात्र बन सकूँगा। बच्चेके मैलको रगड़-रगड़कर उतारनेमें और उसे नहला-धुलाकर स्वच्छ करनेमें माता उसके रोनेकी तनिक भी परवा नहीं करती। इसी प्रकार भगवान्‌का भी रगड़ा लगा करता है। प्रियतमके पास पहुँचनेके लिये कैसी स्थिति होनी चाहिये, प्रियतमके प्रेममें मतवाले 'राम' इसका बड़ा ही मनोहर, सरस और आदर्श वर्णन करते हैं—

'जबतक तुम कंघीके समान अपने अहङ्काररूपी सिरको ज्ञानरूपी आरेके नीचे नहीं रक्खोगे तबतक उस प्यारेके सिरके बालोंको नहीं प्राप्त हो सकते। जबतक सुरमेकी तरह पत्थरके नीचे पिस न जाओगे, यथार्थ प्रियतमकी आँखोंतक नहीं पहुँच सकते। जबतक मोतीकी तरह तारसे नहीं छिदोगे, प्यारेके कानतक नहीं पहुँच सकते। ज्ञानी कुम्हार! जबतक तेरी अहङ्काररूपी मिट्टीके आबख़ोरे न बना लेगा तबतक प्यारेके लाल अधरोंतक तू न पहुँच सकेगा। जबतक कलमके समान सिर चाकूके नीचे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न रख दोगे, कदापि उस प्यारेकी अंगुलियोंतक नहीं पहुँच सकते । जबतक मेहँदीके समान पत्थरके नीचे पिस न जाओगे तबतक प्यारेके चरणोंतक कदापि नहीं पहुँच सकते । जबतक फूलकी तरह डालीसे अलग नहीं किये जाओगे, प्यारेतक किसी सूरतसे पहुँच नहीं सकते । बाँसुरीके समान सिरसे पैरतक अहङ्कारसे खाली हो जाओ, नहीं तो बाँसुरी बजानेवाले प्यारेके ओठोंका चुम्बन मिलना कदापि सम्भव नहीं ।'

वह परम प्यारा जब प्रेमवश अनुग्रह करता है, तभी विपत्तियोंके समूह इकट्ठे होकर आया करते हैं । अस्तु ।

रात्रिका समय है । भयङ्कर जाड़ा पड़ रहा है । एलिज़ाबेथ साधारण-सा कपड़ा पहने शिशुओंको साथ लिये जाड़ेसे काँपती हुई द्वार-द्वार घूम रही है । हेनरीके गुप्तचर छायाकी भाँति पीछे लगे हैं । उनके भयसे कोई भी उसे आश्रय नहीं देता । निरुपाय हो एलिज़ाबेथ एक सरायके दरवाजेपर पहुँची और सरायवालेसे आश्रयकी भिक्षा माँगती हुई कहने लगी—'भाई ! संसारकी सब सुविधाओंसे वञ्चित एक असहाया विधवा नारी शीतसे अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये तुम्हारे आश्रयकी भीख माँगती है ।' विधवा रानीके ये मर्मस्पर्शी वचन सुनकर सरायवालेका शीतसे जमा हुआ हृदय भी पिघल गया, उसने एलिजाबेथको एक कोठरी बता दी । इस कोठरीमें पहले शूकर रहा करते थे । महलोंमें रहनेवाली राजरानी एलिजाबेथ प्रारब्ध-वश आज सूअरोंके रहनेके स्थानमें बैठी है ! थके हुए बच्चोंको तो वहाँ पड़ते ही नींद आ गयी, परन्तु एलिजाबेथको नींद कहाँ ? वह सदाकी भाँति बच्चोंके पास बैठकर प्रभु-प्रार्थना करने लगी । अधिक रात्रि बीतनेपर, जब चारों तरफ निस्तब्धताका राज्य था, एक उपासना-मन्दिरमें घण्टी बजी । यह उपासना-गृह किसी समय एलिजाबेथकी ही इच्छा और उसीके धनसे बना था । घण्टीकी आवाज़ सुनकर एलिजाबेथ बालकोंको साथ लेकर वहाँ प्रार्थना करने गयी । उसके अन्तरसे उस समय निम्नलिखित हृदय-स्पर्शी प्रार्थना निकली—

'प्रभो ! तेरी इच्छा पूर्ण हो । कल मैं रानी थी । मेरी कितनी सम्पत्ति और हुकूमत थी । आज मैं राहकी भिखारिन हूँ, जगत्में कोई मुझे आश्रय देनेवाला नहीं ! इसपर भी मैं तेरा आश्रय पाकर सुखी हूँ । प्रभो, तू अपना आश्रय कभी न छीन; मुझे चाहे जहाँ, चाहे जैसे रख, पर अपने आश्रयसे कभी वञ्चित न कर । सुख और वैभवके दिनोंमें मैंने तेरी खूब सेवा की होती, तो आज मुझे इससे भी कितना अधिक आनन्द मिलता ।'

बालक क्षुधासे पीड़ित हो मातासे खानेको माँगने लगे, परन्तु एलिजाबेथके पास तो एक मुट्ठी चने भी नहीं थे । इसप्रकार किसी तरह दुःखकी पहली रात बीती । प्रातःकाल क्षुधार्त्त बालक मातासे राजमहलमें चलकर भोजन देनेके लिये कहने लगे, वह क्या उत्तर देती ? इधर-उधर आश्रय खोजने लगी, परन्तु राजभयसे कौन आश्रय देता ? अन्तमें एक उपासना-गृहके धर्मगुरुने साहस करके उसे रहनेको स्थान दिया । एलिजाबेथ-के पास सिवा एक दो साधारण गहनोंके और कुछ भी नहीं था । उसीको बन्धक रखकर वह कुछ भोजन-सामग्री लायी । और दासीसहित सबने खाकर पापी पेटकी आगको शान्त किया ।

हेनरीके गुप्तचरोंने यहाँ भी एलिजाबेथको सुखसे नहीं रहने दिया । अब वह अपनी सन्तानों-का कष्ट नहीं देख सकी । उसने दासीके साथ बच्चोंको परदेशमें किसी सम्बन्धीके यहाँ भेज दिया और स्वयं अकेली ईश्वरके प्रेममें मतवाली होकर जहाँ-तहाँ डोलने लगी ।

एलिजाबेथके एक मामा धर्म-गुरु थे । जब उनको यह हाल मालूम हुआ, तब वे दया करके उसे अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पास ले गये और एक सुन्दर मकानमें, जहाँसे गगनस्पर्शी गिरिशृंग, रुपहली बर्फकी सुन्दरता, सुहावना सरोवर, और हरे-हरे खेत इत्यादिके प्राकृतिक मनोहर दृश्य दिखायी देते थे, ठहरा दिया। अब एलिजाबेथने अपने बच्चोंको भी अपने पास बुला लिया और ईश्वरकी महिमाका गान करती हुई वह वहीं रहने लगी। एक दिन एलिजाबेथके मामा ममतावश उसे कहने लगे कि 'बेटी, तू अभी युवा है, निराधार है। मैं चाहता हूँ, तेरा किसी सद्गृहस्थके साथ पुनर्विवाह हो जाय! बता, तेरी इसमें क्या सम्मति है?' सती एलिजाबेथ मामाके ममतापूर्ण शब्दोंको सुनकर बड़ी विनयके साथ उससे कहने लगी, 'मामाजी! मेरे स्वामी मुझपर बहुत प्रेम करते थे, मैंने उनके धन-वैभवका मनमाना उपयोग किया था। इसके सिवा इस समय तो मैंने सभी पार्थिव सुखोंको असार, दुःखमय एवं आत्म-पतनमें कारण समझकर उनका त्याग ही कर दिया है। मैं अपने प्रभुके साथ रहकर सम्पूर्ण जीवन बितानेका सङ्कल्प कर चुकी हूँ। मेरे स्वामीके परलोक-गमनके पश्चात् संसारमें जो कुछ थोड़ा बहुत मेरा बन्धन तथा ममता थी, वह भी दया करके परमात्माने छुड़ा दिया है। अब मैं परमेश्वरका अचल धाम पानेके लिये सब प्रकारका संयम तथा ध्यान-चिन्तन करती हूँ। अतएव कृपया आप क्षमा करें और भविष्यमें कभी ऐसे विचार मेरे सामने न पेश करें।' धन्य!

इधर हेनरीके अत्याचारोंकी खबरें पाकर देशके प्रतिष्ठित और तेजस्वी वीर पुरुष उत्तेजित हो उठे, परन्तु एलिजाबेथने उन्हें धार्मिक कथायें सुना-सुनाकर बड़ी कठिनाईसे शान्त किया। राजा लुईके साथ धर्मयुद्धमें गये हुए सैनिकोंने लौटकर जब यह सारा हाल सुना तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे हेनरीके अत्याचारोंसे दुःखित तो पहलेसे ही थे, पर अब उनसे नहीं रहा गया। उन्होंने हेनरीके जुल्मोंके प्रतिवादका निश्चय कर लिया। पहले उसे समझाना स्थिर हुआ, अतएव कुछ निर्भीक वीर सैनिक प्रतिनिधिके रूपमें राज-दरबारमें पहुँचे और उनमेंसे लार्ड वेरिला नामक एक तेजस्वी युवक गम्भीर स्वरसे राजा हेनरीसे कहने लगा—

'महाराज! आपके कृत्योंसे हमलोगोंके हृदयमें दुःखकी ज्वाला धधक उठी है। जो अपने प्यारे बन्धुओंके साथ ऐसा नीचतापूर्ण व्यवहार कर सकता है, उसका कैसे विश्वास किया जाय कि वह प्रजाका यथोचित पालन करेगा? आपकी विधवा भाभी साध्वी एलिजाबेथ राजमहलमें रहकर आपका क्या अनिष्ट कर सकती थी? उसको छोटे छोटे बच्चों सहित अनाथकी तरह इसप्रकार देशसे निकालकर आपने विश्वासघातकका काम किया है। इससे आपके राज्यपर ईश्वरका भारी प्रकोप होगा। दूसरे देशवासी आपके इस अत्याचारपर आपको धिक्कारेंगे। या तो आप ईश्वरके समक्ष इसका हृदयसे पश्चात्ताप कर उसे सम्मानसहित वापिस यहाँ ले आइये, नहीं तो सत्य समझिये, अब आपका कल्याण नहीं है।'

जब राजाका सैनिकवर्ग राजाके किसी अत्याचारके विरुद्ध सिर ऊँचा कर लेता है, तब राजाको बाध्य होकर झुकना ही पड़ता है। सेनाके प्रतिनिधिके रोषभरे वचन सुनकर राजा हेनरी यकायक घबड़ा गया और लज्जासे सिर झुकाकर कहने लगा कि—'मुझे अपनी करनीपर बड़ा पश्चात्ताप है, मैंने बुरी सलाह पाकर ऐसा कर डाला, परन्तु अबसे मैं किसीकी बुरी सलाहपर ध्यान न दूँगा। आप लोग एलिजाबेथको उसके बच्चों सहित यहाँ बुला लाइये। वह जो माँगेगी, मैं उसको वही दूँगा, परन्तु सम्पूर्ण राज्य उसके हाथोंमें सौंप देनेसे वह तमाम ईश्वरकी सेवामें लगा देगी। इस बातका खयाल रखना चाहिये।' इसपर लार्ड वेरिलाने उसे समझाया कि 'ईश्वरके कोपसे बचनेका यही तो एकमात्र उपाय है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदनन्तर कुछ खास-खास सैनिक एलिजाबेथके पास गये और उसे राज्यमें लौटनेके लिये प्रार्थना करने लगे। परन्तु उसने जाना नहीं चाहा और वह ईश्वरसे कहने लगी—'प्रभो, यह क्या? नर्ककूपसे एक बार निकालकर फिर उसीमें क्यों डालना चाहते हो? मैं संसारके वैभव नहीं चाहती। उनसे मेरा चित्त चञ्चल हो उठेगा। फिर मैं आपका विशुद्ध प्रेम न पा सकूँगी। नाथ! इस दीना दासीपर दयाकर इसका उद्धार कीजिये।'

सैनिकोंने लौटकर हेनरीको सब वृत्तान्त कह सुनाया, परन्तु कलुषित-हृदय हेनरीने साध्वी एलिजाबेथको इतनेपर भी नहीं पहचाना। वह समझने लगा कि एलिजाबेथके हृदयमें मुझसे बदला लेनेकी भावना है। अतएव वह भयसे काँप उठा और जननी सोफिया और लघु भ्राताको साथ लेकर एलिजाबेथके पास जा उससे क्षमा-याचना करने लगा। एलिजाबेथका हृदय स्नेहसे भर आया; वह हेनरीके गलेसे लिपट गयी। स्नेहसे उसका गला रुक गया और उसकी आँखोंसे अश्रुपात होने लगा। उसके हृदयका दिव्यभाव देखकर लोग कह उठे, 'यह एलिजाबेथ मानवी नहीं है यह तो देवी है? इसप्रकारका दृश्य देखकर सभीका हृदय करुणासे भर आया और हेनरीके प्रति उनके प्रतिहिंसाके भाव समूल नष्ट हो गये। हेनरी भी भाभीका दिव्य व्यवहार देखकर स्थिर न रह सका और बालककी तरह फूट-फूटकर रोने लगा। राजमाता सोफिया पुत्रवधूके प्रेममें अश्रुपात करने लगी। वहाँपर उपस्थित सभी योद्धाओंके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। करुणाका समुद्र उमड़ पड़ा, इसप्रकार सबके मन अश्रुसलिलपूर्ण करुणा-सागरमें अवगाहनकर निर्मल हो गये। इस प्रेम सम्मेलनसे चारों ओर आनन्द छा गया। अब एलिजाबेथ भी सबके आग्रहको न टाल सकी, उसे अपने बच्चों सहित राजमहलमें लौट आना पड़ा।

राज-परिवारने एलिजाबेथको फिर सांसारिक सुख-वैभवमें फँसानेका बहुतेरा प्रयत्न किया, परन्तु जिसने एक बार उस अद्भुत प्रेमामृतका पान कर लिया, उसे संसारके असार भोग कैसे अच्छे लग सकते हैं? उसका मन तो सदा परमात्माके ध्यानमें लगा रहता था और हाथोंसे वह परमात्माके लिये ही उसके गरीब बच्चोंकी सेवा किया करती थी। परन्तु उसे इतनेसे ही सन्तोष नहीं हुआ। वैराग्यकी उत्ताल तरङ्गोंने उसके चित्तको राजमहलके सुखोंमें रहनेसे क्षुब्ध कर दिया। वहाँके सुख मानो उसे काटने दौड़ते थे। वह एकान्तमें जाकर ईश्वर-भजन करनेके लिये व्याकुल हो उठी। राजमहलके ऐश्वर्य या परिवारका प्रेम कोई भी उसे आकर्षित न कर सका। महलसे खाद्य-सामग्री लेकर वह अकेली राजमार्गमें होती हुई गरीबोंकी झोपड़ियोंमें चली जाती। लोग उसे सुना-सुनाकर कहते कि 'देखो, यह रानी बिल्कुल पगली हो गयी है।' पर इसका उसपर कोई असर नहीं पड़ता। अन्तमें उसके लिये मारबर्ग-शहरके एक निर्जन मनोरम स्थानमें रहनेका प्रबन्ध कर दिया गया। उपासना, सेवा इत्यादिका वहीं प्रबन्ध हो गया। एलिजाबेथ यहाँके निवासियोंके प्रति अपने साथ प्रेम करनेके लिये कृतज्ञता दर्शाती हुई और अपने दोषोंके लिये उनसे क्षमा-प्रार्थना करती हुई नवीन स्थानमें चली गयी। मारबर्गका पूरा अधिकार एलिजाबेथको सौंप दिया गया। वहाँके निवासी उसका स्वागत करने लगे, परन्तु उसे यह जन-कोलाहल नहीं रुचा। वह शहरसे तीन मील दूर एक निर्जन पर्णकुटीमें रहकर तपस्या और गरीबोंकी सेवा करने लगी। अपने हाथसे भोजन बनाकर थोड़ा-सा आप खा लेती और बाकी सब गरीबोंको बाँट देती।

अब एलिजाबेथका सुयश चारों ओर फैल गया। रोमके पोप नवम ग्रेगरी उसे भलीभाँति जानते थे। उनकी इच्छा थी कि एलिजाबेथ विधि-पूर्वक संन्यास धारण करे। इस अभिप्रायसे उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे एक पत्र भी लिखा। परन्तु एलिजाबेथमें तो संन्यासियोंसे अधिक वास्तविक संयम था, उसके लिये संन्यास धारण करना कोई कठिन बात न थी, पर उसके चिर हितैषी पादरी कोनराडने कहा कि--'तुम्हें विधिपूर्वक बाह्य संन्यास लेनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे पास कोई अपनी सम्पत्ति तो है नहीं, जो कुछ है सब ईश्वरका है। उसका परमात्माके एक सच्चे विश्वासी सेवककी तरह सदुपयोग करना तुम्हारा धर्म है। तुम्हारे सिवा इसका उत्तम तरीकेसे सदुपयोग करनेवाला दूसरा नहीं है। तुम इस सम्पत्तिसे दीन-दुखियोंका कष्ट दूर करती रहो।' एलिजाबेथने इस सलाहका अनादर नहीं किया। मनसे तो वह संन्यासिनी थी ही। वह अपनी सारी सम्पत्ति दरिद्र-नारायणकी सेवामें लगाया करती और स्वयं अपने लिये चरखा कातनेसे जो कुछ मिल जाता, उसीमें गुज़र करती। एलिजाबेथ साधारण-सा वस्त्र पहना करती, पर जब किसीको जाड़ेके मारे काँपते देखती तो वह भी उतारकर उसे पहना देती और स्वयं झोपड़ीमें जाकर अग्नि ताप कर अपना शीत निवारण करती।

इसके पूर्वतक तो एलिजाबेथकी सन्तान उसके पास थी, इसलिये कभी कभी उनके सुकुमार मुख देखकर उसके हृदयमें मातृ-स्नेह उमड़ आता था। परन्तु अब वह अकेली रहती थी इसलिये उसको किसी प्रकारकी भी आसक्ति नहीं रह गयी थी। एलिजाबेथ जिस स्थितिके लिये परमात्मासे प्रार्थना किया करती, आज उसको वही स्थिति प्राप्त है। वह दिनमें गरीबोंकी सेवा करती है और रात्रिमें प्रेमविह्वल हो समाधिमें मग्न रहती है। उन दिनों पादरी कोनराड भी मारबर्गमें रहते थे। एलिजाबेथ-की वस्तु-स्थितिके बारेमें वे लिखते हैं—'एलिजाबेथ निर्जनमें ईश्वरके साथ निवास करती और उनके साथ बातें किया करती थी। जब कभी वह मेरे पास आती तो मुझे उसकी अनुपम मूर्तिमें दिव्य तेज दिखायी देता।'

एक समय एलिजाबेथ रसोई बनाती-बनाती परमात्माके ध्यानमें निमग्न हो गयी। इसी बीच अकस्मात् उसके कपड़ोंमें आग लग गयी। पर उसे इस बातका पता भी नहीं लगा। जब कपड़ा जलने लगा और आसपासके लोगों तक उसकी गन्ध पहुँची तब उन्होंने दौड़कर उसे बुझाया। धन्य तन्मयता! आग भी तो भगवान् ही है—

> कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
> हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है।

एलिजाबेथके पवित्र जीवनकी आश्चर्यमय घटनाओंसे लोगोंकी उसपर अधिकाधिक श्रद्धा और भक्ति बढ़ने लगी। सैकड़ों नर-नारी उसके दर्शनके लिये आने लगे और उसकी अमृतमय वाणीद्वारा शक्तिदायक उपदेश पाकर अपना जीवन सफल करने लगे। एलिजाबेथकी धारणा थी कि मनुष्यके हृदयमें पाप-वेदनासे बढ़कर दूसरी कोई वेदना नहीं हो सकती, अतएव पापी ही सबसे ज्यादा करुणा और दयाके पात्र हैं। किसी पापीको देखकर उसका हृदय करुणासे भर जाता और वह उसके लिये एकाग्र चित्तसे नम्र भावसे प्रार्थना करने लगती, जिसके प्रभावसे उस पापीके हृदयमें दिव्य ज्योतिके उदय हो जानेसे सात्त्विक प्रकाश हो जाता और वह सदाके लिये पाप-कर्मसे निवृत्त हो साधु पुरुष बन जाता। सन्तोंकी यही तो महिमा है।

इसप्रकार एलिजाबेथ भिखारिनके वेशमें कुटीमें रहने लगी, उसकी इस स्थितिका समाचार उसके पितृराज्य हंगरी तक पहुँचा तो वहाँसे काउण्ट बेनी नामक एक राजदूत हेनरीके पास जाकर अपनी राजकन्याकी स्थिति पूछने लगा। इसपर हेनरीने राजदूतसे कहा कि 'आप स्वयं जाकर देख लीजिये, वह पगली हो गयी है।' हंगरीके राजदूतने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मारबर्ग-शहरमें आकर वहाँके एक निवासीसे एलिजाबेथका हाल पूछा। इसपर वह बोला कि 'यह रानी मानवी नहीं, देवी है, ईश्वरने उसे हमारे कल्याणके लिये ही यहाँ भेजा है।'

तदनन्तर राजदूत स्वयं एलिजाबेथके पास पहुँचा और उसे एक साधारण-सा वस्त्र पहिने सूत कातते देखकर शोकसे व्याकुल हो गया। दूतने पूछा कि 'तुम्हारी ऐसी स्थिति कैसे हो गयी ?' इसके बाद वह हंगरी चलकर सुखसे जीवन बितानेके लिये उससे अनुरोध करने लगा। एलिजाबेथ बोली—'मैंने अपने सच्चे स्वामी ईश्वरके लिये यह वेश धारण किया है। आप मुझे यहाँसे ले चलनेका व्यर्थ प्रयत्न करते हैं। मेरे स्वामी अब मुझसे थोड़ी ही दूर रह गये हैं; अब उन्हें छोड़ मैं और कहीं नहीं जाऊँगी।' दूतको निराश हो लौट जाना पड़ा।

सन् १२३१ ई०के नवम्बर-मासकी शीतकालकी उन्नीसवीं रात्रिका समय है। निर्मल नभ-सरोवरमें अगणित नक्षत्र-पद्म विकसित होकर अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं। संसारके सब जीव दिनभरके श्रमको मिटाकर नवीन शक्तिकी प्राप्तिके लिये शान्तिसे प्रकृतिकी गोदमें लेट रहे हैं। इसी समय बिछौनेपर पड़ी हुई ज्वरपीड़िता एलिजाबेथको एक उज्ज्वल प्रकाश दिखायी दिया। फिर बड़े ही मधुर स्वरोंमें उसने सुना—'प्रिये एलिजाबेथ ! नित्य धाममें तेरे स्वागतके लिये सारी तैयारियाँ हो चुकी हैं। चल, शीघ्र चल, तुझको वहाँ ले चलें।'

एलिजाबेथ समझ गयी कि अब मेरी यह शरीर-यात्रा समाप्त हो चुकी है। अपने चिरवाञ्छित परम धाममें चलनेका समय आ गया है। अतएव वह तपस्विनी नारी आनन्दसे परलोक-यात्राकी तैयारी करने लगी। इस परमानन्दमें वह शरीरकी व्याधि-को बिल्कुल भूल गयी और अपने आश्रित सभी दीन-दुखी, बन्धु-बान्धवोंसे विदा माँगने लगी। अपना अन्तिम समय एकाग्र चित्तसे ईश्वरके ध्यानमें बिताने लगी। ध्यानमें बाधा न हो, इसलिये वहाँपर जो भीड़ थी वह सब वहाँसे हट गयी। केवल एक धर्म-गुरु वहाँ रह गये थे। उन्होंने उससे पूछा—'क्या तुम्हें अपनी मिलकियतका कोई प्रबन्ध करना है ?' एलिजाबेथने कहा—'अपनी सम्पूर्ण पार्थिव सम्पत्ति मैंने पहलेसे ही ईश्वरके अर्पण कर रक्खी है। उसपर दरिद्रनारायणका पूरा अधिकार है। उनके सिवा मेरा और कोई उत्तराधिकारी नहीं है।'

अब एलिजाबेथको अपने घरमें अपूर्व शान्तिका अनुभव होने लगा। उसे प्रतीत हुआ, मानो देवदूत उसका स्वागत-गीत गा रहे हैं। वह उच्च स्वरसे प्रार्थना करने लगी, परन्तु थोड़ी देर बाद बिल्कुल शान्त हो गयी। इस समय उपस्थित सभी स्त्री-पुरुष दुःखसे रोने लगे। एलिजाबेथ उन्हें समझाकर कहने लगी कि 'आप लोग शान्ति रखिये, मेरे स्वर्गीय संगीत सुननेमें बाधा न डालिये।' इतना कहनेके बाद वह ही सदाके लिये इस मर्त्यधामसे बिदा हो गयी! उस समय उसकी उम्र केवल चौबीस वर्षकी थी!

एलिजाबेथका शव श्मशान-भूमिमें ले जाते समय धर्म-याजक कीर्तन करने लगे थे, परन्तु सच्ची जननीके वियोगमें करुण-विलाप करनेवाले दीन-दुखियोंके आर्तनादके सामने उन पादरियोंका संगीत नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज़के समान हो गया। एलिजाबेथके प्रति लोगोंकी इतनी अधिक श्रद्धा थी कि लोग सुदीर्घकाल तक उसकी कुटियामें जाकर उसके अमर जीवन-कुसुमकी सौरभका अनुभव किया करते।

एलिजाबेथकी मृत्युके चार वर्ष पश्चात् रोमके पोपने एलिजाबेथको साध्वी (Saint) माननेकी घोषणा की थी। सन् १२३६ में एलिजाबेथकी समाधिपर एक विशेष अनुष्ठानकी आयोजना की गयी और सम्राट् द्वितीय फ्रेडरिकने अपने हाथसे उस समाधिपर एक बहुमूल्य स्वर्णमुकुट चढ़ाया। उस समय वहाँ एलिजाबेथकी सब सन्तान भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपस्थित थीं और उसी समय उसकी कनिष्ठ कन्याने भी हृदयमें अपनी माताकी पवित्र स्मृति धारण कर वहीं संन्यास ग्रहण किया था।

परमात्माके राज्यमें—इस विश्वमें कोई भी धर्म बुरा नहीं, सिद्धान्त और लक्ष्य प्रायः सभीके अच्छे हैं, प्रत्येक धर्म किसी-न-किसी महान् आत्माद्वारा प्रचलित किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल प्रायः सभी धर्मोंमें पाखण्ड घुस गया है। लेकिन किसीके व्यक्तिगत दोषोंके लिये उसके धर्मकी निन्दा करना अनुचित है। भिन्न-भिन्न धर्म उस एक ही परम लक्ष्यतक पहुँचनेके भिन्न भिन्न मार्ग हैं। हम लोगोंको दम्भ छोड़कर अपने धर्ममें दृढ़ रहते हुए एक ही परम पिताकी सन्तानके नाते सबसे प्रेम बढ़ानेके साथ ही नीर-क्षीर-विवेकी हंस-की तरह सभी धर्मोंके उत्तम सिद्धान्तोंको ग्रहण करना चाहिये।

रामचरितमानस और अध्यात्मरामायण

(लेखक—व्योहार श्रीराजेन्द्रसिंहजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

१—चरित्रचित्रणकौशल

गुसाईंजीने अपने पात्रोंका चरित्रचित्रण किस उत्तमतासे किया है, यह हम 'तुलसीदासजीके चरित्रचित्रण' नामक लेखमें दिखा चुके हैं। अध्यात्म रामायणके चरित्र-चित्रणसे अब हमें उसका मिलान करके देखना है।

कहा जा चुका है अध्यात्म रामायणकारने श्रीरामको मनुष्य-शरीरधारी ईश्वरके रूपमें चित्रित किया है और हर जगह उनके जीवनकी घटनाओंको ईश्वरीय रूप दिया है। गुसाईंजीने भी ऐसा ही किया है। विद्वानोंकी राय है कि देवता, मनुष्यका आदर्श नहीं हो सकता। मनुष्योंके अनुकरणीय होनेके लिये देवता और ईश्वरको भी अपना देवत्व एक ओर रखकर मनुष्य-सदृश बर्ताव करना पड़ता है। इसीके अनुसार तुलसीदासके श्रीरामचन्द्र ईश्वर होते हुए भी मनुष्योचित कार्य करते हैं। उनका देवत्व उनके मनुष्यत्वको दबा नहीं देता। यही चित्रण-चातुरी है। इसके विपरीत अध्यात्म रामायणके रामके चरित्रमें इतना अधिक देवत्व भर दिया है कि वह उनके मनुष्य-चरित्रको कभी-कभी दबा देता है। दोनों ग्रन्थकारोंके चरित्र-चित्रणोंको मिलानेसे पाठकोंके सामने यह बात स्पष्ट हो जायगी। मालूम पड़ता है गुसाईंजीने श्रीरामका ईश्वरत्व अध्यात्म रामायण सरीखे उनका ईश्वरत्व प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थोंके ही आधारसे लिया है।

दोनों ग्रन्थकारोंने श्रीरामको आदर्श पुत्र, दुष्टनाशक और सन्तहितकारकके रूपमें चित्रित किया है। वे धर्मवीर थे और युद्धवीर भी थे। परन्तु गुसाईंजीके समान अध्यात्मरामायण-में श्रीरामजीके चरित्रके सब अंगोंपर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला गया। उनके ईश्वरत्वको छोड़कर उसमें स्वभावके दूसरे भागोंपर बहुत कम दृष्टि रक्खी गयी है, परन्तु तुलसीके राम आदर्श तपस्वी, आदर्श नरपति, आदर्श भ्राता, आदर्श शिष्य और आदर्श पति आदि सब कुछ हैं।

अब हम अध्यात्म रामायणसे श्रीरामके चरित्रपर प्रकाश डालनेवाले कुछ वाक्यांश उद्धृत करके उनके साथ गुसाईंजीके चरित्रचित्रणकी तुलना करेंगे।

इन श्रीरामकी दिनचर्या इसप्रकार बतलायी गयी है:—

प्रातरुत्थाय सुस्नातः पितरावभिवाद्य च।
पौरकार्याणि सर्वाणि करोति विनयान्वितः॥
बन्धुभिस्साहितो नित्यं भुक्त्वा मुनिभिरन्वहम्।
धर्मशास्त्ररहस्यानि शृणोति व्याकरोति च॥

× × ×

प्रातकाल उठिकै रघुनाथा। मात पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु माँगि करहिं पुरकाजा। देखि चरित हरषहिं मन राजा॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद पुरान सुनहिं मन लाई । आपु कहहिं अनुजहिं समुझाई ॥
जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा । करहिं कृपानिधि सोइ संयोगा ॥
(मानस)

तुलसीके श्रीराम, परशुरामजीके क्रुद्ध होनेपर भी सर्वत्र नम्रतासे काम लेते हैंः--

'मारतहूँ पा परिय तुम्हारे ।'

पर अध्यात्म रामायणमें वे अपना ईश्वरत्व दिखलाने लगते हैंः--

लोकान्पादयुगं वापि वद शीघ्रं ममाज्ञया ।
अयं लोकः परोवाथ त्वया गन्तुं न शक्यते ॥

वन जाते समय श्रीरामका चेहरा वैसा ही था जैसा राजगद्दीकी खबर सुननेके समय । कैकेयीने जब श्रीरामको वन जानेकी आज्ञा सुनायी तब अध्यात्म रामायणमें लिखा है कि वे 'मानो शूलसे विद्ध हो गये और व्यथित होकर बोले ।'

रामस्तयोदितं श्रुत्वा शूलेनाभिहतो यथा ।
व्यथितः कैकेयीं प्राह................॥

पर तुलसीके श्रीराम 'सहज आनन्दनिधानू 'हैं' उन्हें दुःख-शोक कहाँ ? वे कहते हैंः--

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी । जो पितु मातु चरण अनुरागी ॥
मुनिगनमिलन विशेष वन सबहिं भाँति हित मोर ।
तेहिमहँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर ॥

× × ×

अध्यात्मरामायणमें श्रीराम वीरतासे उत्तर देते हैंः--

पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिवेयं विषमुल्बणम् ।
सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम् ॥
राज्यात्कोटिगुणं सौख्यं मम राजन्वनेसतः ।
त्वत्सत्यपालनं देवकार्यं चापि भविष्यति ।

परन्तु तुलसीके राम इतने सरल हैं कि वे पिताको दुखी देखकर समझते हैं कि--

'मा मोहिंते कछु बड़ अपराधू'

और उसी अपराधके दण्डस्वरूप अपने वन-गमनको बहुत 'थोरिहि बात' समझते हैं । इतनी सरलता तुलसीके बिना कौन चित्रित करेगा ?

दोनों रामायणोंमें श्रीरामकी भ्रातृवत्सलता खूब दिखायी गयी है, परन्तु जैसी भ्रातृवत्सलता गुसाईंजीने अयोध्याकाण्डमें दिखलायी है-उसका जैसा जीता-जागता चित्र ही खींच दिया है, अध्यात्मरामायण उससे कोसों दूर है । असल बात तो यह है कि उसमें श्रीरामकी भ्रातृवत्सलता बहुत ही कम दिखलायी गयी है ।

दोनों ग्रन्थोंमें श्रीरामकी शूरताका वर्णन है, पर इसमें भी मानसका नम्बर अध्यात्मसे आगे है ।

मानसमें राजगद्दीके पश्चात्के श्रीरामके चरित्रका वर्णन नहीं है, अध्यात्म रामायणमें उसका वर्णन है । मालूम होता है शम्बूकवध और निर्दोष सती सीताका त्याग गुसाईंजीको नहीं रुचा ।

भरत-चरित--

भरतका चरित्र चित्रण करनेमें भी अध्यात्मरामायणकारने गुसाईंजी जैसी सफलता नहीं प्राप्त की । गुसाईंजीका भरत-चरित्र अपूर्व और अनुपम है-उसकी समता किसीसे नहीं हो सकती । यद्यपि दोनोंमें ही भरत भ्रातृभक्त और तपस्वी हैं, पर वह भ्रातृभक्ति मानसमें कहीं उत्तमतासे दर्शायी गयी है । यहाँ भरतचरित्रके दो-एक उदाहरण दे देना अनुचित न होगा ।

राम-वन-गमनके बाद ननिहालसे लौटनेपर जब वह यह दुःखद समाचार सुनते हैं, तब अपनी माताको भरपूर गालियोंकी बौछार करते हैंः--

असंभाष्यासि पापे मे घोरे त्वं भर्तृघातिनि ।
पापे त्वद्गर्भजातोऽहं पापवानस्मि साम्प्रतम् ॥
भर्तृघातिनि दुष्टे त्वं कुम्भीपाकं गमिष्यसि ॥
इत्यादि--

इसीप्रकार गुसाईंजीने भी भरतजीसे खूब गालियाँ दिलवायी हैंः--

वर माँगत मन भई न पीरा । जरि न जीह मुँह परे न कीरा ॥

फिर वह कौशल्याजीके पास जाते हैं और अपनी सफाई देनेके लिये शपथें खाते हैं--

पापं मेऽस्तु तदा मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम् ।
हत्वा वसिष्ठं खड्गेन अरुन्धत्या समन्वितम् ॥
भूयात्तत्पापमखिलं मम जानामि यद्यहम् ।

कौशल्याके आगे सफाई देनेकी जरूरत भी थी । गुसाईंजी भी इसीप्रकारकी कसमें खिलाते हैं ॥

जे अघ मात-पिता-गुरु मारे । गाइ गोठ महि-सुर-पुर जारे ॥
जे अघ तिय-बालक-बध कीन्हें । मीत महीपति माहुर दीन्हें ॥
ते पातक मोहि होहु विधाता । जौ एहि होइ मोर मत माता ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँतक तो दोनों ग्रन्थोंमें समता है। पर इसके बाद अयोध्याकी सभामें भरतका व्याख्यान, मार्गमें उनकी भक्ति और चित्रकूटपर श्रीराम-भरतके संवादोंमें उनकी आदर्श भक्ति और प्रेम आदि सम्बन्धी वर्णन अध्यात्मरामायणमें कुछ नहीं है। इन विषयोंका गुसाईंजीने बड़ी ही उत्तमता और विस्तारसे वर्णन किया है और यही भरतके चरित्रका असली भाग है। अध्यात्मरामायणके भरत चित्रकूट जाते ही श्रीरामजीको उपदेश देने लगते हैं:—

राज्यं पालय पित्र्यं ते ज्येष्ठस्त्वं मे पिता तथा।
क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम्॥

इत्यादि—

परम भक्त छोटे भाईका अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रको उपदेश देना गुसाईंजी अत्यन्त अनुचित समझते थे। क्षत्रियोंका यही धर्म है ऐसा भरतकेद्वारा श्रीरामसे कहलाना अत्यन्त अयोग्य हुआ है। यहाँ गुसाईंजीके भरत अन्ततक अत्यन्त नम्र और आज्ञाकारी रहते हैं। उन्होंने अपने मुँहसे कभी न तो श्रीरामजीको इस तरहका कोई उपदेश दिया और न उनसे हठ ही किया। अ०रा० में तो भरतजी एकदम हठ कर बैठे हैं कि 'या तो मैं तुम्हारे साथ चलूँगा या भूखे रहकर प्राण त्याग दूँगा।'

नो चेत्प्रायोपवेशेन त्यजाम्येतत्कलेवरम्॥

तुलसीदासजी समझते थे कि अपने प्रिय छोटे भाईका ऐसा प्रण देखकर श्रीरामजीको दुविधामें पड़ जाना होगा। इसलिये उन्होंने उनसे ऐसी कोई बात नहीं कहलायी। इसके विरुद्ध उन्होंने भरतके मुँहसे सदा करुणा और दीनता-मिश्रित प्रार्थनाहीके शब्द कहलाये, जो भरत सरीखे महात्माके लिये अत्यन्त उपयुक्त थे। भरतने अपने सर्वस्व भगवान् श्रीरामके लिये अपनी सदिच्छाओंतकका बलिदान कर दिया और श्रीरामके समझानेसे दुःख सहकर भी अवधिका समय अवधमें रहकर बिता दिया। इसके विरुद्ध अध्यात्मरामायणमें यह कहा गया है कि भरतने जब बहुत हठ किया तब वसिष्ठने उन्हें श्रीरामके ईश्वर होनेका उपदेश दिया। इसपर भरत एकदम घर जानेको राजी हो गये। यह बात मनुष्यचरित्रके बिल्कुल विरुद्ध है। क्या भरत श्रीरामको ईश्वर नहीं मानते थे जो वसिष्ठके समझानेकी जरूरत पड़ी? उस अवसरपर भरतको ब्रह्मज्ञानकी जरूरत नहीं थी। गुसाईंजी यह अच्छी तरह समझते थे। भरतकी भक्तिके सामने तो वसिष्ठकी बुद्धि भी काम नहीं देती थी, फिर भला उनसे वे भरतको उपदेश कैसे दिलवाते? भरतको किसीके भी उपदेशकी जरूरत नहीं थी, वह श्रीरामजीके प्रेमपूर्ण वचनोंसे ही शान्त हो गये और पिताका सत्य रखनेके लिये स्वयं कष्ट सहनेको तैयार हो गये। इस स्थानपर मानसमें दोनों भाइयोंकी आपसकी प्रीति देखते ही बनती है।

अध्यात्ममें भरतका अपने पूज्य पिताको कोसना भी अनुचित हुआ है।

भरतस्त्वब्रवीद्रामं कामुको मूढधीः पिता।
स्त्रीजितो भ्रान्तहृदय उन्मत्तो यदि वक्ष्यति॥
तत्सत्यमिति न ग्राह्यं भ्रान्तवाक्यं यथा सुधीः॥

तुलसीने महात्मा भरतके मुँहसे ऐसी बातें कहलाकर उनके चरित्रपर धब्बा नहीं लगाया। अपने पितापर उनकी सदा अखण्ड श्रद्धा रही है।

लक्ष्मण-चरित—

दोनों ग्रन्थकारोंने ही लक्ष्मणको अत्यन्त क्रोधीके रूपमें चित्रित किया है। परन्तु तुलसीदासजीने उनके अच्छे गुण—ब्रह्मचर्य, भ्रातृभक्ति आदि भी अच्छी तरह चित्रित किये हैं। गुसाईंजीके लक्ष्मण, रामवनगवन सुनकर, अपने भाईसे साथ जानेके लिये विनीत प्रार्थना करते हैं। परन्तु अ० रा० में वह अपने भाई भरतको ही खरी-खोटी सुनाने लगते हैं और उन्हें मारनेको उद्यत हो जाते हैं।

उन्मत्तं भ्रान्तमनसं कैकेयीवशवर्तिनम्।
बद्ध्वा निहन्मि भरतं तद्बन्धून्मातुलानपि॥

इस समय बेचारे भरतने क्या किया था, जो उनपर इतना क्रोध किया गया? मानसमें जब लक्ष्मण चित्रकूटसे भरतकी सेनाकी धूल देखते हैं तब वह भरतपर क्रोध करते हैं:—

भरतहिं समर निपातौं आजू॥

इस अवसरपर तो मनुष्यमें क्रोध करना स्वाभाविक है, जब वह देख रहा है कि एक बड़ी सेना आ रही है। ऐसी दशामें सन्देह हो ही सकता है, पर वनवासके समय तो बेचारे भरतपर क्रोध करनेका तो कोई कारण ही नहीं था। अन्ततक लक्ष्मणका जीवन अत्यन्त वीरतापूर्ण रहा है।

शत्रुघ्न-चरित—

दोनों रामायणोंमें बहुत ही कम चित्रित किया गया है। अध्यात्मरामायणमें लवणासुर-वधसे उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीरताका परिचय मिलता है । पर तुलसीदासजीने तो प्रसंग छोड़ ही दिया है ।

दशरथ-चरित—

अध्यात्मरामायणमें दशरथ एक कामुक, स्त्रीके अधीन राजाके रूपमें चित्रित किये गये हैं । यहाँतक कि कौशल्या और भरत तकने उनपर यह दोष लगाया है एवं उन्होंने स्वयं अपनेको स्त्रीजित् कहा है–अगर किसीने उनपर सन्देह नहीं किया तो वह श्रीरामथे । वहसदा कहते रहे—

'सत्यसन्धो पितामयं–'

इसमें उनके चरित्रके अन्य अंगोंपर प्रकाश नहीं डाला गया । परन्तु गुसाईंजीने उनकी सत्यनिष्ठापर यथेष्ट प्रकाश डाला है । अ० रा० में दशरथके गुणोंको कामासक्तिसे ढँक दिया गया है । यद्यपि तुलसीने भी उन्हें एक दो जगह स्त्री-वशवर्ती कहा है, पर उनकी सत्यनिष्ठाका मूल्य उन्होंने कहीं कम नहीं किया । अ० रा० में भी एकआध जगह उनकी तारीफ़ कर दी गयी है:—

सत्यवादी दशरथः करोत्येव प्रतिश्रुतम् ॥

पर साथ ही उनकी कामुकता दिखलाकर सत्य-प्रियता दबा दी गयी है । दशरथ दुःखके मारे रामको यह उपदेश देते हैं कि मैं स्त्रीजित् हूँ इसलिये तुम मुझे बाँधकर राज्य ले लो !

ऐसी बात गुसाईंजी दशरथके मुँहसे नहीं कहलाना चाहते ।

कैकेयीवशगः किन्तु कामुको किं करिष्यति ।

गुसाईंजीने मंजूर किया है कि कैकेयीका उनपर प्रभाव था । पर उन्होंने स्त्रीके वशमें होकर नहीं किन्तु अपनी सत्य-रक्षाके लिये राम-सरीखे प्राणप्रिय पुत्रको त्याग दिया । ऐसे सत्य और प्रेम दोनोंको एक साथ पालन करनेवाले राजाकी गुसाईंजी तो वन्दना करते हैं ।

बंदौं अवध भुवाल, सत्य प्रेम जेहि राममहँ ।
बिछुरत दीनदयाल, तृण इव निज तनु परिहरेउ ॥

ऐसे नृपतिको कामुक कहना सत्यका अपमान करना है ।

कौशल्या-चरित—

आदर्श माता और आदर्श पत्नी कौशल्या भी अ० रा० में रामवनगमनके पहले दशरथको कामुक समझकर देवी-देवता मनाती हैं । फिर वन जाते समय श्रीरामसे कहती हैं–

यदि राम वनं सत्यं यासि चेन्नय मामपि ।
पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः ॥
पित्राज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेयमहं सुतम् ।
यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लङ्घ्य नृपवाक्यतः ॥
तदा प्राणान्परित्यज्य गच्छामि यमसादनम् ।

अर्थात् मुझे भी साथमें ले चलो । मेरी आज्ञा पिताकी आज्ञासे श्रेष्ठ समझनी चाहिये, क्योंकि मैं तुम्हारे लिये सबसे अधिक पूज्य हूँ । अगर मेरी आज्ञाके विना चले गये तो मैं मर जाऊँगी ।

कौशल्या सरीखी वीरमाताका इस तरह कहना शोभा नहीं देता । मानसमें वनगमनके शोक-समाचारको सुन कुछ देर तो मनुष्यस्वभावके अनुसार वह धर्म और प्रेम दोनोंकी खींचातानीमें पड़ जाती हैं । पर फिर—

बहुरि समुझि तियधरम सयानी । राम भरत दोउ सुतसम जानी

कौशल्या कह उठती हैं:—

तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका । पितु आयसु सब धर्मकि टीका ॥
राज्य देन कह दीन्ह वन, मोहिं न दुःख लवलेश ॥

वह रामका उत्साह बढ़ानेके लिये अपना दुःख दबाकर कहती हैं:—

जो पितु मातु कहेउ बन जाना । तो कानन शत अवध समाना ॥

अ० रा० की तरह वह न तो संग जानेका हठ करतीं है और न आत्महत्याकी बात कहकर अपने पुत्रको दुःख ही पहुँचाती हैं । प्रसन्नतासे सिर्फ इतना कहती हैं कि:—

यह विचारि नहिं करउँ हठ, झूठ सनेह बढ़ाय ।
मानि मातुके नात बलि, सुरति बिसर जनि जाय ॥

यहाँ दोनों चरित्रचित्रणोंमें आकाश–पातालका अन्तर है । जहाँ रामचरितमें दशरथके मृत्यु-समय कौशल्या ही उन्हें एकमात्र शान्ति देनेवाली थीं । वहाँ अध्यात्म रामायणमें वही उन्हें कटु वचन कहकर दुःख पहुँचाती हैं ।

त्वं राज्यं देहि तस्यैव मत्पुत्रः किं विवासितः ।
कृत्वा त्वमेव तत्सर्वमिदानीं किंनु रोदिषि ॥

कैकेयीको आपने राज्य दिया, पर मेरे पुत्रको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यों निकाल दिया ? आपने ही यह सब किया है, अब आप ही बैठकर रोओगे । मरते समय इस प्रकार कैफियत तलब करना सती स्त्रीका काम नहीं है ।

कैकेयी-चरित—

कैकेयी दोनों रामायणोंमें एक कर्कशा स्त्रीके समान चित्रण की गयी है। दोनों ही ग्रन्थकारोंने इसे खूब गालियाँ दी हैं । गुसाईंजीने यह सिद्ध किया है कि पहले कैकेयी खराब नहीं थी, पर कुसंगसे बुद्धिभ्रष्ट होनेके कारण दुष्टा हो गयी । नशा उतर जानेपर उसने अपने कर्मोंके लिये क्षमा माँग ली थी ।

दशरथको इससे खूब अच्छी तरह फटकारा है,

पर श्रीरामजीसे वह बड़े शान्तभावसे कहती है–

किञ्चित्कार्यं त्वया राम कर्तव्यं नृपतेर्हितम् ।
कुरु सत्यप्रतिज्ञस्त्वं राजानं सत्यवादिनम् ॥

श्रीरामकी सरलताका कैसा उपयोग किया गया है ?

सीता-चरित—

माता सीताका चरित्र आदर्श सती-चरित्रके रूपमें चित्रित किया गया है । साथ-ही-साथ उन्हें दोनों कवियोंने ही आदि-शक्ति माना है । अ० रा० में सीताजीने अपना ईश्वरत्व सिद्ध करनेके लिये कई बार अपने मुँहसे अपनी प्रशंसा की है। श्रीरामके साथ वन जानेको वह एकमात्र कारण यह उपस्थित करती हैं कि मैंने अनेक रामायणें सुनी हैं, पर कहीं भी राम बिना सीताके अकेले वनको नहीं गये, इसलिये मुझे भी ले चलिये । पर गुसाईंजी सीताजीको जगन्माता मानते हुए भी उनसे ऐसी कोई बात नहीं कहलाना चाहते, जिससे उनके आदर्श स्त्री-चरित्र-चित्रणमें कुछ अन्तर न पड़े ।

अध्यात्मरामायणमें तो सीताजी अपने मुँहसे कहती हैं कि मैं पतिव्रता हूँ, मुझे क्यों छोड़ जाते हो ?

कथं मामिच्छसे त्यक्तुं धर्मपत्नीं पतिव्रताम् ॥

× × ×

जब राम मायामृगको मारने गये, तब सीताने मारीचकी मरनेकी आवाजको श्रीरामकी आवाज समझ लक्ष्मणसे उनकी रक्षाके लिये जानेको कहा । लक्ष्मण उन्हें अकेली छोड़कर नहीं जाना चाहते थे, इसपर सीताजी कुछ बिगड़कर बोलीं, जिसपर लक्ष्मण भी बिगड़ पड़े और बोले–

मामेवं भाषसे चण्डि धिक् त्वां नाशमुपैष्यसि ॥

सीता-सरीखी सतीसे लक्ष्मण और भरतपर इसप्रकार-के सन्देह कराकर कटु वचन कहलाना अत्यन्त अनुचित हुआ है और लक्ष्मणका भी इसी तरह जवाब देना उचित नहीं हुआ है ।

तुलसीदासने इस प्रसङ्गको बहुत अच्छा साधा है, जब लक्ष्मणने जानेसे नाहीं की, तब गुसाईंजी सिर्फ इतना कह-कर रह गये ।

मर्म वचन तब सीता बोली । हरिप्रेरित लछमन मति डोली ॥

बालि-चरित—

तुलसीदासजीने बालिको एक भक्तके रूपमें चित्रित किया है। यद्यपि वह भ्रातृद्रोही था, पर भीतर-ही-भीतर रामकी आराधना करता था, जब श्रीरामने उसे मार गिराया तब उसने सिर्फ इतना ही कहा कि:–

मैं बैरी सुग्रीव पियारा । कारण कवन नाथ मोहिं मारा ॥
धर्म हेतु अवतरेउ गोसाईं । मारा मोहिं व्याधकी नाईं ॥

पर अध्यात्मरामायणका बाली रामभक्त नहीं था । उसने रामको खूब जली-कटी सुनायी है ।

राजधर्ममविज्ञाय गर्हितं कर्म ते कृतम् ।
यशः किं लप्स्यसे राम चोरवत् कृतसंगरः ॥
धर्मिष्ठ इति लोकेऽस्मिन् कथ्यसे रघुनन्दन ।
अभक्ष्यं वानरं मांसं हत्वा मां किं करिष्यसि ॥

गुसाईंजी सभीको भक्त बना देते हैं, क्योंकि वे स्वयं भक्त हैं । वे श्रीरामके लिये ऐसे शब्दोंका प्रयोग नहीं करा सकते थे, पर अध्यात्मरामायणके बाली भक्त नहीं है और उसका अपने वध करनेवालेसे ऐसा करना स्वाभाविक ही है।

तुलसीने तो रावण आदिको भी भक्त ही बना दिया है—

बैरभाव मोहिं सुमिरत निशिचर ।

पर अध्यात्मरामायणके राक्षस राक्षस ही हैं ।

विभीषणका चरित्र दोनों रामायणोंमें एक भक्तके रूपमें चित्रित किया गया है । हम प्रधान-प्रधान चरित्रोंकी तुलना कर चुके, अब इन ग्रन्थोंकी कुछ अन्य दृष्टियोंसे तुलना करके लेख समाप्त किया जाता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्यकी दृष्टिसे मिलान किया जाय तो पाठकोंको मालूम हो जायगा कि अध्यात्मरामायणमें मानसके समान उत्कृष्ट कविता नहीं है। उसमें तो सिर्फ अध्यात्म-भावोंका ही वर्णन किया गया है। रामचरितमानस एक उत्कृष्ट काव्य है, यह सिद्ध किया जा चुका है। अध्यात्मरामायणमें न तो उसके समान माधुर्य गुण है न प्रसाद गुण है। अलंकार तो उसमें बहुत ही कम हैं। उसमें तो केवल शान्तरसकी प्रधानता है, अवश्य ही कहीं-कहीं वीररस भी आ गया है। अनुप्रासोंकी जो छटा मानसमें दीख पड़ती है, उसका नाम तक अध्यात्मरामायणमें नहीं है।

यदि दोनोंके वर्णनोंका मिलान किया जाय तो भी मानसकी ही श्रेष्ठता सिद्ध होती है। मैंने ध्यानपूर्वक दोनोंके वर्णनोंका मिलान किया, पर रामचरितकी छटा उसमें कहीं नहीं पायी गयी। अध्यात्मरामायण और मानसके भरत-राम-संवाद रामवनयात्रा आदि सब वर्णनोंमें आकाश पातालका अन्तर है। गुसाईंजीकृत अनेक वर्णन जैसे पुष्पवाटिकाप्रसङ्ग, धनुषयज्ञ, रामविवाह, राम-राज्याभिषेक, आदि तो अ० रा० में है ही नहीं और जो कुछ हैं भी वे मानसकी कदापि बराबरी करनेका साहस नहीं कर सकते। कई सिद्धान्तोंकी समता दिखलायी जा चुकी है, विद्वानोंमें मतभेद है कि अध्यात्मरामायण ज्ञानप्रधान है या भक्ति-प्रधान। मेरी क्षुद्र सम्मतिमें यद्यपि अध्यात्मरामायणमें भक्तिका विवेचन भी है, पर ज्ञानका ही अधिक विस्तार है और उसीकी ही प्रधानता है। रामचरितमानसमें ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गोंको बराबर स्थान दिया गया है, पर भक्तिको ज्ञानकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और सुलभ माना है।

मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो ?

(लेखक--स्वामीजी श्रीमाधवानन्दजी)

शिष्यने विनम्रभावसे प्रणाम करके मधुर वाणीसे पूछा 'हे गुरुदेव! दीनदयालो! मोक्षकी प्राप्ति किसको होती है?' गुरुजीने उत्तरमें कहा 'पुत्र! जैसे इस संघातकी सारी चेष्टाएँ पञ्च-भूतरूप ही हैं, वैसे ही सम्यक् आत्मज्ञानीकी समस्त चेष्टा समाधिरूप ही हैं। जैसे वृक्षका पका फल नीचे गिरनेकी इच्छा न करनेपर भी अवधि प्राप्त होने-पर गिर ही जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानके प्राप्त होनेपर इच्छा न करनेपर भी मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इसके विपरीत जैसे कुएँमें पड़ा हुआ मनुष्य लाख कूदनेपर भी बाहर नहीं निकल सकता, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य लाख इच्छा करनेपर मोक्षको नहीं पाता। मोक्षमें आत्मज्ञान ही हेतु है, अतएव देहाभिमानको सम्यक् प्रकारसे त्यागकर आत्मज्ञानी हो जानेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

शिष्यने पूछा 'प्रभो! आत्मज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो?' गुरुजी बोले—'पुत्र! जैसे एक ही जलके तीन रूप हैं–शान्त जल, बुद्बुदा और लहर, वैसे ही एक ही ईश्वरके तीन नाम हैं—ईश्वर, जीव और माया, वास्तवमें जैसे बुद्बुदे और लहर जलसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही जीव और माया भी ईश्वरसे अभिन्न हैं। जैसे बुद्बुदे और लहरको पकड़नेसे जल ही हाथ आता है, इसी प्रकार संसारके समस्त मूर्त्तामूर्त्त पदार्थोंमें ब्रह्मको समझना चाहिये। जैसे सोनेके सभी आभूषण वास्तवमें स्वर्ण ही हैं इसी प्रकार स्थावर-जंगम समस्त सृष्टि ब्रह्मरूप ही है। इस प्रकार सम्यक् प्रकारसे जानलेना ही आत्मज्ञानका स्वरूप है। इस आत्मज्ञानके होनेपर विना ही इच्छा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महात्मा स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराजका वचनामृत*

(१) असंख्य जीव मोह-मायाकी निद्रामें सूते पड़े हैं, कोई बिरला पुरुष इस निद्राते जागा है, जो जागा है, तिसके हृदयमें परमेश्वरके भजनरूपी खेत जमा है। तिस परम भजनरूपी खेतका फल श्रीराम-दर्शन है। पर भजनरूपी खेतपर रक्षा भली भाँति चाहिये। जैसे अनाजके खेतपर राखी राखते हैं, जिसमें पशु न खाय जावे, चोर न काट ले जावे, पक्षी चुग न जावे, सूकर उखाड़ न डाले, हरिण न खाय जावे, ऐसे ही भजनका खेत भी रक्षा लायक है, भोगरूपी पशु, अहंकाररूप चोर, संकलपरूपी पक्षी, दम्भरूप सूकर, प्रयोजनरूपी हरिण इन सब दुष्टनसे रक्षा करना चाहिये, जिन्होंने रक्षा न किया, तिनका खेत उजड़ जाता है।

(२) किसी सन्तजीसे साधुने प्रश्न किया, कि करण-कारण एक परमेश्वर है के कोऊ और भी है? साधुने उत्तर दिया, करण-कारण एक परमेश्वर है, जैसे मन्दिर काष्ठके आश्रे है, किसी ठौर मन्दिरके काठ थम्भ होय खड़ा है, कहीं काठ बरेड़ारूप, कहीं कड़ीरूप, कहीं तखतीरूप, नाना रूप करिके काठ मन्दिरको उठाये हैं, नाम अनेक काष्ठ एक है, तैसे ही जगत्की रचना सब बुद्धिके आश्रे ठहरायी है, आश्रयरूपी विश्वकी बुद्धि है, किसी रचनामें परमेश्वरकी बुद्धि साथ मिली है, कोई रचना ईश्वरकी बुद्धि साथ मिली है। कोई जीवबुद्धि-सङ्ग मिली है, सोई बुद्धि 'जाति' परमेश्वरकी है। ताते करण-कारण परमेश्वर हुआ, क्यों? और तो कोई नहीं।

(३) जैसा आप परमेश्वर है, तसे ही परमेश्वरकी रचना है, सो रचना अपनी आप परमेश्वर ऐसी रक्खा है, जैसे पारेमें निःकलंक रक्खा होय, जैसे ताँबेमें तँबेश्वर रक्खा होय, तैसे ही सब रचनामें अपना आप रक्खा हुआ है। जैसे पारा मारे बिना निकलङ्क नहीं निकसता यद्यपि भरिपूर है, जब निकलङ्क कढ़ेगा, तब पारेसे ही कढ़ेगा, परन्तु साधना बिना नहीं, तैसे ही जीवोंको भी साधना चाहिये, साधना बिना परमेश्वर न कढेगा, न प्रगटेगा। जब जिज्ञासू सन्तोंके वचन सुनिकर करतूति करता है, तबहीं हृदय शुद्ध होता है, प्रकाशता है, सब सुखप्रद वह वचन होता है, बिना कर्तव्य कहानी हो जाती है।

(४) भलाई मनुष्यकी इन चार वस्तुमें है। एक, प्रीति परमेश्वरकी। दूसरे, धनिकोंसे बेपरवाही। तीसरा, गरीबी। चौथी, मन ऊपर खबरदारी रखनी। जो कर्म अशुभ न करै।

(५) जगत्के लोग मायाके पदार्थ बिना और पदार्थ नहीं मानते। और जिज्ञासू, परमेश्वरके भजन बिना और वस्तु सोभनीक नहीं मानते।

(६) मायाकी प्रसन्नता प्रभुकी प्रसन्नताको दूर करती है। माया साथ प्रीति करनी, शान्ति-समाधीकी बैरी है।

(७) प्रीतिवान वह है, जो परमेश्वरके बिना आशा, भय, किसीका न राखै और कर्म भी वही करै प्रभु जिसमें प्रसन्न होय; और कर्म त्याग देवै।

(८) परमेश्वरके प्रीतिवालोंका यह पता है कि विषयके भोग, अरु मनकी बुरी करतूत गँवावै।

(९) अन्तःकरण! तेरेको परमात्मा देखता है। शरीरकी शुद्धताते जगत्की प्रसन्नता और अन्तःकरणकी शुद्धतासे प्रभुकी रीझ है।

*स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज श्रीअयोध्यामें बड़े अच्छे महात्मा हो गये हैं, ये उन्हींका वचनामृत हैं। हमें काशीके श्रीसियारघुनाथशरणजीकी कृपासे प्राप्त हुआ है इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। वचनामृत स्वामीजीकी मूल भाषामें ही छापा जा रहा है—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१०) किसी साधुसों साधुने पूछा, कि परमेश्वरको कौन बात नहीं भावती है, साधुने उत्तर दिया, सबते अपनेको श्रेष्ठ मानना प्रभुको पसन्द नहीं, अपनी करतूतिका बदला चाहना, यह भी नहीं भावती।

(११) किसी सन्तने साधुसे पूछा, कि सूरमा कौन है, साधुने उत्तर दिया, सूरमा वही है, जो विषयको जीतै, काम-क्रोधादिक जीतै, धर्मते न गिरै, सत्य बोलै, विघ्नोंसे मनको रोकै।

(१२) गरीबीका यह लक्षण है कि बुरी बात सुनिके आप उत्तर न दे, शान्त बिबादरहित रहै, मान सबको दे, आप अमानी होय, यह गरीबी शुद्ध ह।

(१३) फिर सन्तजीने कहा, कि विवेकिनका संग, अज्ञानिनका त्याग, सदा सन्त-उपदेश मनमें धारना यह प्रभु प्रिय पन्थ है।

(१४) पानीपर तैरना, आकाशमें उड़ना, मनकी बात जान जाना इन सबसे मनको बुरे स्वभावसे फेरना, सब जीवको राजी रखना और अशुद्ध अन्न त्यागना विशेष श्रेष्ठ है।

(१५) जो अपनेको नीचा जानता है, प्रभु उनको ऊँचा करता है। ऊँचाको अति नीचा करता है, यह सब सन्तनको मत है।

(१६) उत्तम पुरुष वह है, जिसको बुरे स्वभावने नष्ट नहीं किया, निर्बुद्धि मनुष्य वह है जिसको लोभने बाँधा। समुझवान पुरुष वह है, जिसने मरनेसे प्रथम ही मायाको त्यागा।

(१७) जब लग तेरा मन, माया साथ बद्धमान है, तबलग श्रीरामनाम-रस-सुधाकी चाह न करो, प्राप्त न होगा, जबलगि जग-जंजाल मीठा लगता है, तबलगि सन्त-बचन-पीयूषकी आश न करो, प्राप्त अगम है।

(१८) जगत्की प्रभुताका स्वादसे भोगना महा-पाप है, और मायावालोंसे धनके लिये, प्रीति करनी परलोककी बुराई है।

(१९) फकीरीका लक्षण यह है, कि सकल विश्वकी माया आयी हुई, अपने हाथसे बाँटि देवै, अपने शरीरके लिये एक पैसा भी न राखै, जानै कि रिजक देनेवाले श्रीरामजी हैं।

(२०) जैसे अनाजका थोड़ा खाना शरीरको सुखी रखता है, तैसे ही पापोंका त्याग, मनको सुखी रखता है।

(२१) मन-मैलकी पाँच निशानी है, प्रथम यह कि भजन करता है स्वाद नहीं आवता, दूजे परमेश्वरसे निर्भय रहना, तीजे मायाके पदार्थ सत्य जाने, चौथे प्रभु-चरचा सुनि बिसर जावै, पाँचवाँ संसारिनकी बात प्रिय लागै।

(२२) जो मनुष्य सत्संगतमें नहीं सुधरा, पढ़ा बहुत है, तौ वह उजड़ा बाड़ीकी नाँई है, जैसे बाटिका दृष्टि आवती है, परन्तु फलहीन है, तैसे ही बिना बोध भये, काम क्रोधादि बिना गये, पण्डित भी अशोभित है।

(२३) निश्चैवानके तीन लक्षण हैं, प्रथम यह, कि सर्व पदार्थमें प्रभु-कारीगरीका बिचारना। दूजा, सदा प्रभु-नाम-स्मरण, तीजा बिनय हर सायत हृदयमें लगा रहै। अपने आपको प्रभुमें विनाश किया चाहता है।

(२४) विद्यावान बहुत हैं, पर करतूतिसमेत पण्डित कोई है। कर्त्तव्यवाले भी बहुत हैं, पर निष्काम कोई है। महन्त बहुत हैं, परन्तु अपने हृदयते मान दूरि राखै ऐसे महन्त थोरे हैं।

(२५) जगत्में रहना पर शोक-हर्ष रहित रहना, यह काम सन्तोंका है। निर्धनताईमें प्रसन्नता रहना यह वैरागवानोंका काम है।

(२६) बड़े ते बड़ा सुख जिज्ञासुओंको एकाग्रता-का है। और बड़े ते बड़ा दुख मनका पसार मानते हैं।

(२७) जिसको तीन वस्तु साथ सनेह है, सो प्रभु प्रिय है। एक यह कि अन्न जल करके उदर भरना, दूसरे हृदय सदा सन्तोषी राखे, चाहना सब ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिसार डारे। तीसरा, निरहंकारी हृदै राखना, परमेश्वरके भयमें हृदै डुबाय राखना।

(२८) ममता लिये स्वाद सो साँईका नहीं, ममता ते रहित स्वाद साँईका है। परस्पर विरोध है। सब सन्तनका मत है।

(२९) जिसके हृदयमें परमेश्वरकी प्रीति साँची है। तिसको मौतका भय नहीं, शरीरके छूटे प्रभु प्रीति बढ़ती है, घटती नहीं, जाते शरीरका परदा उठा, निपट साँईका स्वरूप रहा।

(३०) जिस पुरुषने सन्तोंकी सङ्गति छोड़िके एकान्त पकड़ी है, तिसको चाहिये, कि सदा अशुभ सम्बन्ध अपवित्रसे अपना मन पवित्र राखे, मन अडोल रहे। तब एकान्त सुख-प्रद है। नाहीं तो नष्ट करि डारेगा। एकान्त रहना उसका अधिकार है, जो परमेश्वरको सदा समीप देखै, और प्रभुके भयमें मनको राखे रहे।

(३१) साँईं देखा जाता है, पर फकीर देखा नहीं जाता, साँईं आपकर सत्य हैं। फकीर अपने आप कर असत्य है। जैसे अन्न पानी बिना स्थूल शरीर नहीं रहता, तैसे ही सन्तसंग, सन्तबचन श्रवण बिना, परमेश्वरकी प्रीति उपजती, पर ठहरती नहीं, जब प्रीति नहीं, तब मृतक है।

(३२) श्रीसीताराम-सम्बन्धी कहावना, वेष बनावना सुलभ है। लोकोंको पुजावना भी सहज है। पर श्रीसीतारामजीका होना कठिन है। महाराजका साँचा फकीर वह है, जो हर्ष, शोक, हानि, लाभमें सम मति रहे; मान, अपमान, यश, अपयश सम माने सो प्रभुका है।

(३३) उत्तम पुरुष वह है, जो एकदिनमें चालीस बार मरे, तैसे ही रातको, अर्थ यह है कि मनके संकलपरूप अनेक शीस हैं। तिनको काटता रहे। बुरे संकलप उठने न देवै।

(३४) उत्तम भजन यह है, कि प्रभुके भजनमें आपको अभाव करि रहे, एक परमेश्वर ही रहि जाय। नदीमें बुन्द समाय जाती है तैसे ही लीन हो जाय, यह उत्तम भजन है। प्रीति सबसे।

(३५) किसी फकीरको किसीने दुर्वचन कहा। तब फकीरको क्षोभ उपजा, तब उस मनुष्यने कहा, जो तूँ बोझ उठा न सकता था, तो गूदरी बेष काहेको धारण किया। जीवतमृतक बिना फकीर कहाना वृथा है।

(३६) किसी सन्तको स्वप्नमें एक सुन्दर स्वरूप देख पड़ा, तब सन्तने पूछा, तुम कौन हो, उसने कहा मैं प्रेम हौं, सन्तने कहा आपका निवास कहाँ है? उत्तर दिया, श्रीराम-भक्त-सनेहिनके पास है।

(३७) एक सन्तने स्वप्नमें महा कुरूपा स्त्रीके आकारसे देखा। सन्तने पूछा 'तू कौन है' उसने कहा मैं हाँसी हौं, सन्तने कहा तेरा निवास कहाँ है। उसने कहा जो प्रभु-विमुख अचेत हृदयमें मेरा निवास है। अचेत मनुष्योंका हृदय यह छः बातों करि मलीन रहता है। एक यह, परमेश्वर साथ प्रीति उनकी कुछ नहीं। दूजे, अपने वासनाके दास है। तीजे, उनको मरन-चिन्तवन नहीं। चौथे, कामादिकों साथ प्रीति करते हैं। पञ्चम सन्तोष बिना रहते हैं। छठवाँ अभिमान साथहू हवाई साथ रहते हैं।

(३८) कोई विद्वान पण्डित किसी साँचे सन्तके पास आयके मनमें तर्क करता भया कि मुझमें विद्या, चतुराई, गुण इससे अधिक है? और खान पान वसन भी अधिक है? मानता सब लोक इसकी अधिक करते हैं? सो क्या कारण है? इस बातका उत्तर मनकी जानिके सन्त देते भये। दीपकके तरफ अँगुरी करके कहा, हे भाई पण्डित! तेल और पानी आपसमें युद्ध करते हैं। पानी कहता है, रे तेल, मेरे पीवनेसे प्यास दूर होती है। सीतल होता है। तू मेरे ऊपर क्यों चढ़ि बैठता है। मैं तेरेसे विशेष हौं। तेल कहता है हे भाई, जल, हमने जो बिशेषता पायी है सो यह गुण है। मैंने प्रथम अपने आपको कोल्हू में पेराया है। त्यों ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपको आगमें जलाया है। तब प्रकाश पाया है । तब भी अपनेको जलायके औरोंको प्रकाश देता हौं, इसी गुणसे बिशेष हौं। यह बैन मनोहर, पण्डित सुनिके पूरन सन्त मानता भया, आपसे सहस्र भाग बिशेष मानता भया, अपना संकल्प मिथ्या मानता भया ।

(३९) आखरोंके पढ़नेका अनूप फल यह है कि उसके अर्थ बिचारे अरु अर्थ समुझनेका फल यह है कि अनर्थ त्यागै । अनर्थ त्यागनेका फल यह है कि सन्तोंके संगतका अधिकारी होय । जब सन्तों-की संगति युक्तिसमेत होती है तब सन्तोंके प्रसन्नताका भाजन होता है । सन्तोंकी प्रसन्नता पायी, तब परमेश्वर पाया ।

(४०) जीव और परमेश्वरमें पाँच परदे परे हैं । एक-आलस, दूजे-कुटुम्बका मोह, तीजे-बिषयकी प्रीति, चौथा-अभिमान, पाँचवाँ-विश्वकी ममता, प्रभुता-पाँचों परदे दूर होंय तब प्रभु मिलैं ।

(४१) मन ठग है। ठगोंके संग नाना भोजन करता है । मन भी बहु विषयोंको भोगता है। ताते गुरुमुख मनको जीतते हैं उसका कहा नहीं करते, सत्य-विचार भजनरूप पहरा देते हैं। होसियार रहिके चोरोंसे बचते हैं ।

(४२) किसी साधुसों साधु गुरुमत पूछा । तब साधुने उत्तर दिया-कि गुरुमतका यह रूप है, प्रथम जिसने मनमतको दूर किया है । गुरुमुख वही प्रगटता है । जैसे माली पैबन्दी करते समय प्रथम टाँसीको काट डारता है । जिस टाँसीमें पैबन्दी लगावता है सो फैलती है, प्रथम टाँसी काटता है, उनको वृद्ध होने नहीं देता जब ऐसी खबरदारी करै तब उस वृक्षके अद्भुत फल होते हैं । तरु वही दृष्टि आवता है। फल और हो जाते हैं । ऐसे ही जब मनमतके धर्म नाश होते हैं, तब गुरुमुखता प्रगट होती है, दृष्टि वही आवता है। सन्त होय जाता है।

(४३) कोई सन्त परमेश्वर समीप ऐसे विनय करता था, कि हे परमेश्वर ! तुमने अनन्त भाँतिके बिष रचे हैं, पर 'हौं' 'मैं' बड़ा भारी बिष रचा है। और बिष जीवोंको एक जन्म क्षय करता है। पर 'हौं' 'मैं' बिष सदा मारता है । ऐसी करुणा कीजिये जिसमें यह बिष दूरि होय । आपही ते उपजावता है सो अपनी कृपा करके नाश भी आप ही करता है। दूजा कोई नहीं है, जैसे रावणको आप ही जन्म दिया, आप ही मारा तैसे ही कृपा करो।

(४४) जो कुटुम्ब साथ मोह करते हैं, सो अपने मोती तोड़ावते हैं। इसीपर एक कथा है। एक मनुष्यने बानर पाला, प्रीति किया, गृहरक्षक बनाया, एक दिन चोर मोतीका डब्बा चोराय ले चले, तब बानरने दूरि जा पछिना फेर खोलिके मुखमें डारि डारि बिना स्वाद जानि पाथरसे तोड़ने लगा, धनी पुरुष जागिके डब्बा मोतीका बानरसमेत न देखा, तब खोजिके पाया, हाय हाय करिके कहा, कि अज्ञानीके प्रीतिका फल मोतीका हानि है। ऐसे ही कुटुम्बीसे सनेह करिके मनुष्य जन्म अमोलक स्वाँस विषय धन्धेमें नाश हो जायगा।

प्रार्थना

करहु प्रभु भव-सागरसे पार ॥

कृपा करहु तो पार होत हौं नहिं बूड़ति मँझधार ।
गहिरौ अगम अथाह थाह नहिं लीजै नाथ उबार ॥
मैं हौं, अधम अनेक जन्मकी तुम प्रभु अधम-उधार ।
'रूपकुँवरि' बिनु नाम श्यामके नहिं जगमें निस्तार ॥

—श्रीमहारानी रूपकुँवरिजी, चरखारी स्टेट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साकेत

(लेखक–रायबहादुर अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी बी०ए०)

'कल्याण'के रामायण-परिशिष्टांकमें महात्मा जयरामदासजी 'दीन' रामायणीका श्रीसुतीक्ष्णजीकी प्रेमा-भक्तिके विषयपर एक विचारपूर्ण लेख छपा है। प्रयागराजमें तुलसी-जयन्तीके दिन साहित्य सम्मेलन कार्यालयमें भी 'दीनजी'ने —

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

–इस दोहेकी व्याख्या करते हुए सुतीक्ष्णजीकी भक्तिका परिचय दिया और प्रायः वही सब बातें सुनाकर श्रोताओंको भक्तिरसका स्वाद चखाया जो परिशिष्टांकके पृष्ठ ५५८-५६ में छपी हैं। हम यहाँ संक्षेपसे उन बातोंको लिखते हैं।

पहले सुतीक्ष्णजीने यह वर माँगा—

बसहु मनसि मम काननचारी॥

फिर सोचा कि सरकार वनवासकी अवधि बीतनेपर तो काननचारी रह नहीं जायँगे, लौटकर सिंहासन आरूढ़ हो जानेपर कहीं मेरे हृदयसे ध्यानके रूपका तिरोभाव न हो जाय, इससे फिर कहा —

जो कोसलपति राजिवनयना। करौ सो राम हृदय मम अयना।

कोशलपतिका रूप भी लीला संवरण तक ही रहेगा, इससे भक्तवर यह वर माँगता है कि—

अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप-बान-धर राम।
मम हिय-गगन इंदु इव, बसहु सदा निःकाम॥

अब विचारनेकी बात है कि भगवान् काननचारी तभी तक रहेंगे जबतक वनमें रहेंगे। कोशलपति होनेपर अयोध्यामें रहेंगे। फिर यदि ब्रह्मलोकमें विष्णु और लक्ष्मीके रूपमें विराजेंगे और श्रीलक्ष्मणजी फिर रसातलमें निवास करेंगे तो सुतीक्ष्णकी प्रार्थना व्यर्थ हो जायगी। पर ऐसी बात नहीं है। सुतीक्ष्णजीकी प्रार्थना परम उचित है और व्यर्थ जानेवाली नहीं है। इसको समझनेके लिये उत्तरकाण्डमें श्रीमुखके वाक्य देखिये।

यद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। बेद पुराण विदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥

इस प्रसंगके जाननेवाले एक सुतीक्ष्णजी भी थे।

अयोध्या 'ईशनके ईश महाराजनके महाराज' की राजधानी है। अन्य किसी भी अवतारमें सरकार राजा नहीं रहे। यदुवंशी तो शापवश राज्य करनेसे वञ्चित ही थे। अयोध्या ही एकमात्र पुरी है जो सहगामिनी स्त्रीकी भाँति सरकारके साथ चली गयी। पतिव्रता स्त्रीके साथ उसका पति भी बहुत प्यार करता है। वह अयोध्या कहाँ गयी? आजकल कल्पना करनेकी प्रथा बहुत बढ़ी हुई है परन्तु इसमें कल्पनाका काम नहीं। दो हज़ार वर्ष पहले महाकवि कालिदासने लिखा था—

स विभु विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्त्तिषु।
त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत्॥

इस स्वर्गका नाम 'साकेत' है। साकेत अयोध्याकाही दूसरा नाम है।

साकेतान्न परं किञ्चित् तदेव हि परात्परम्।

'इस साकेतसे ऊँचा और कोई स्थान नहीं।'

वसिष्ठसंहितामें लिखा है—

न ह्यत्र शोको न जरा न मृत्यु-
नैकालमायाप्रलयादिविभ्रमः।
रमेत रामेत च तत्र गत्वा
स्वरूपतामाप्य चिरं निरन्तरम्॥

महात्मा कबीरदास भी इसको जानते थे।

छोड़ि नासूत मलकूत जबरूत लाहूत हाहूत बाजी।
और साहूत राहूत इहँ डारि दे कूदि आहूत जाहूत जाजी॥
आय जाहूत मैं खुद खाँविन्द जहँ वही मकान साकेत साजी।
कहै कब्बीर हाँ भिस्त दोज़ख़ थके वेद कीताब काहूत काजी॥

यही स्थान है जहाँ—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बानधर राम,

–लीलासंवरण करके अपनी प्यारी अयोध्याको लेकर चले गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक-वाटिका

अज्ञानसे परे प्रकाशरूप परम पुरुष परमात्माको जो पहचानते हैं, वे मृत्युको लाँघ जाते हैं। मोक्षकी प्राप्तिके लिये इस परमात्माके पहचाननेके अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय नहीं है। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

उस परम पुरुष परमात्माको कुछ मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानद्वारा हृदयमें देखते हैं, कुछ ज्ञानयोगके द्वारा और कुछ निष्काम-कर्मयोगके द्वारा उसके दर्शन करते हैं। —श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀ ❀

जब मनुष्य सुनने और देखनेके सभी पदार्थोंमें और सर्व भूतोंमें समदृष्टि रखनेवाला हो जाता है और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे छूट जाता है तब वह ब्रह्मको प्राप्त होता है। —महाभारत

❀ ❀ ❀ ❀

दूसरोंकी निन्दामें अपना पाण्डित्य दिखलाना, अपने कार्योंमें उद्योग न करना और गुणज्ञोंके साथ द्वेष रखना, ये तीन विपत्तिके मार्ग हैं। —भगवान् व्यासदेव

❀ ❀ ❀ ❀

जिसके उच्च कुलमें जन्म होनेका, कठोर तपका, ऊँचे वर्णका, सत्-कर्मोंका, आश्रमका और जातिका कोई भी अहङ्कार नहीं है, ऐसा पुरुष भगवान्‌को प्रिय होता है। —श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀ ❀

जिस अर्थके लिये तुम दिनरात चिन्तित रहते हो, वह अनर्थमय है, उससे रत्तीभर भी सुखकी आशा नहीं है। धनी मनुष्यको सगे पुत्रसे भी डर लगा करता है। —श्रीशंकराचार्य

❀ ❀ ❀ ❀

घरमें रोशनी करते ही जैसे युगयुगान्तरका अँधेरा एक ही साथ नाश हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌की तनिक-सी कृपादृष्टिसे हजारों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं। —श्रीरामकृष्ण परमहंस

❀ ❀ ❀ ❀

इन्द्रियाँ ही मनुष्यकी शत्रु हैं, आशा मिट जानेपर यह पृथ्वी ही स्वर्ग है, विषयोंमें प्रेम ही बन्धन है, सदा सन्तुष्ट ही बड़ा धनी है और मनको जय करनेवाला ही संसार-विजयी है। —तैलंग स्वामी

❀ ❀ ❀ ❀

सारे सद्गुण विनयके अधीन है, विनय नम्रतासे आती है अतएव जो पुरुष नम्र है वही सद्गुणसम्पन्न होता है। —महावीर तीर्थंकर

❀ ❀ ❀ ❀

दूसरेकी उन्नति करनेमें स्वाभाविक ही तुम्हारी भी उन्नति हुआ करती है। दूसरेकी भलाई करनेमें तुम अपने अहङ्कार और लौकिक हितको जितना ही भूलोगे, उतना ही उसका परिणाम अधिक शुभ होगा। —राल्फ वाल्डो ट्राइन

❀ ❀ ❀ ❀

पतंग बिना ही समझे आगमें कूदकर जल मरता है, मछली भी अज्ञानसे वसीका मांस खाकर बँध जाती है परन्तु हम लोग तो समझ-बूझकर भी विपत्तियोंसे भरे हुए विषयोंको नहीं छोड़ते, मोहकी यही महिमा है। —भर्तृहरि

❀ ❀ ❀ ❀

(१) अपनी इच्छा छोड़कर प्रभुके शरण जाओ, और उसकी कृपाकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त दीन बनो (२) अपनी इच्छाको धिक्कार दो, तुम्हारी इच्छा तुम्हें जिधर ले जाती हो उधर मत जाओ। (३) दुःख सहना सीखो जिससे संसारके मोहमेंसे छूटनेका दुःख भी सहन कर सको। —जैकब बहोमी

❀ ❀ ❀ ❀

जो ईश्वर-प्रेमी हो गया वह संसार-प्रेमी नहीं हो सकता। संसार-प्रेमी जबतक संसारकी असारता और दुःखरूपताका अनुभव नहीं करता, तबतक वह ईश्वर-प्रेमी नहीं हो सकता। —अबु इसाक इब्राहीम

❀ ❀ ❀ ❀

निद्रा, स्वाद और वादविवादको छोड़कर दिनरात श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये। —रैदासजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्तवर स्वामी श्रीहरिदासजी गायनाचार्य

['कल्याण'के गतांकमें स्वामीजी श्रीहरिदासजीकी संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित हुई थी, उसमें श्रीवियोगीहरिजीलिखित 'व्रज-माधुरीसार'में प्रकाशित स्वामीजीकी जीवनीके अनुसार उनका सनाढ्य ब्राह्मण और उनके सम्प्रदायका टट्टी सम्प्रदाय होना लिखा गया है। उस लेखके सम्बन्धमें मेरे पास दो पत्र आये हैं, जिनसे पता लगता है कि उनके सनाढ्य और टट्टी सम्प्रदायके लिखे जानेसे कुछ लोगोंके मनोंमें उद्वेग हुआ है। जिनको दुःख हुआ है वे कृपया क्षमा करें। मेरा उद्देश्य किसी भी व्यक्ति या सम्प्रदायको दुःख पहुँचाना नहीं था। मैं तो स्वामीजीके जीवनकी दो एक-घटनाओंको लिखकर कल्याण-पाठकोंको सुखी करना चाहता था। मुझे उस समय इस झगड़ेका पता होता तो मैं स्वामीजीको केवल 'ब्राह्मण' ही लिख देता और किसी सम्प्रदायकी चर्चा ही न करता। स्वामीजी सनाढ्य थे या सारस्वत, मैं न तो इस बातको जानता या न जानना चाहता हूँ और न 'कल्याण'के भक्तिप्रेमी पाठकोंका इसमें कोई हानि-लाभ ही है। 'कल्याण' को तो स्वामीजी महाराजके भक्तिभावसे मतलब है जो उनमें यथेष्ट था और जो सनाढ्य और सारस्वत दोनोंमें ही हो सकता है। प्रतिवादमें आया हुआ यह लेख किञ्चित् अंश निकालकर छाप दिया जाता है। इस सम्बन्धमें अब कोई भी खण्डन-मण्डन नहीं छापा जायगा। 'कल्याण'के भक्तिप्रेमी पाठकोंसे मेरा सादर अनुरोध है कि वे इस सनाढ्य-सारस्वत और सम्प्रदायके झगड़ेमें न पड़ पूज्य स्वामीजी महाराजके भक्तिमय जीवनसे लाभ उठावें। —सम्पादक]

सन् १७४७में जयपुराधीश्वर श्रीईश्वरीसिंहजी सम्पादित संस्कृत भक्तमालमें श्रीहरिदासजीके विषयमें एक पद्य मिलता है।

उदितोऽयमाशुधीराद्धरिदासो रसिक मुद्रया मधुरः।
स युगलनाम स्नेहः, कुञ्जविहारीति नित्यकलितजपः।१।
नित्यमवलोकमानस्तिष्ठति लीलाः सखी सुखेऽधिकृतः।
गानकलागन्धर्वः, श्यामा श्यामं च योनुतोषयति।२।
कलयत्युत्तमभोगांस्तैः पोषितकेकिमर्कटसमूहः।
यद्दर्शनाभिलाषान्नरपतयो द्वारि संस्थिता नित्यम्।३।
अयमाशुधीरतनयो हरिदासः परमरसिकवरः।
सञ्चितवैराग्यधनः कृष्णप्रेमैकपूर्णपाथोधिः।४।

यहाँ पहले और चौथे श्लोकमें श्रीहरिदासजीको आशुधीरजीका तनय यानी पुत्र लिखा है। इसीका अनुवाद भक्तवर श्रीनाभाजीने हिन्दी पद्यमें किया है। जो 'कल्याण'के गतांकमें कुछ परिवर्तनसे छपा है—

श्रीलालस्वामीजीने भी इनको आशुधीरका पुत्र ही लिखा है।

ज्यों गोकुल नंदरायके, कृष्ण कियो परकास।
भक्तहेतु त्यों प्रगट भे, आशूके हरिदास॥

स्वाम्याशुधीरात्मज पादपंकजंप्रणौमि सद्भागवतं सरागम्।
कुञ्जान्तरे येन स्वयं प्रकाशितं श्यामानिपीतं स्वयमेव गीतम्
(२५० वर्ष पहलेकी भक्तमाल)

यहाँका 'आत्मज' शब्द भी पुत्रभावको ही प्रकट कर रहा है। निजमतसिद्धान्तके आचार्य खण्ड पृष्ठ १२६ में—

'श्रीमत आसुधीर अघध्वंसी, विप्र सारस्वत कुल अवतंसी।'

श्रीविहारीजीके सारस्वत गोस्वामियोंकी वंशावलीमें भी आशुधीरजीको स्पष्ट सारस्वत लिखा है और मिराते सिकन्दरी और मिराते अकबरी जो लखनऊसे निकलनेवाले केशव समाचार सं० १९८४ वि० कार्तिक कृष्णा ३० पत्रमें प्रकाशित हुई है उनमें, वि० सं० १५४८ में गर्गगोत्री सारस्वत ब्राह्मण आशुधीरजीके जन्म और १५६७ वि० पौष शुक्ला १२ भृगुवारको श्रीहरिदासजीके जन्म (इनका उपनाम हरिप्रसादजी था एवं इनके भ्राता जगन्नाथजी आदिके भी जन्म) का ब्यौरा विस्तारसहित लिखा है। यह नकल मिराते सिकन्दरी वा अकबरी सं० १५५४ जिल्द ६ से ली गयी है।

इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है, श्रीस्वामी हरिदासजी सनाढ्य नहीं, किन्तु सारस्वत-कुल-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमल-दिवाकर थे और आशुधीरजीके शिष्य नहीं, पुत्र थे।

श्रीविष्णु-सम्प्रदाय वीथी पथिक दिल्लीनिवासी श्रीगोस्वामी गंगाप्रसादजी संकलित 'सम्प्रदाय भास्कर' में पृष्ठ ३८ में स्पष्ट लिखा है कि 'एवञ्च सारस्वतकुलकमलप्रभाकरगर्गाचार्यान्वयश्रीमल्ललितांशावतारहरिवदाराध्यश्रीहरिदासस्वामिभिरपि श्रीविष्णु सम्प्रदाय एवानुष्ठितः तत्र ललितायाः प्राधान्यात्' यह पुस्तक ज्ञानगुदड़ी श्रीवृन्दावनधाम श्रीविष्णुस्वामीके अखाड़ेसे भी मिलती है। इसमें हरिदासजीको स्पष्ट सारस्वत और विष्णु-सम्प्रदायी लिखा है। काशीनिवासी श्री पं० सुदर्शनाचार्यजी-रचित 'संगीत-सुदर्शन' नामक ग्रन्थमें श्रीहरिदासजी महाराजका चित्र छपा है उसके नीचे लिखा है— 'अखिललोकसम्मान्य अद्वितीयभगवद्भक्तसारस्वतकुलाब्धि-कौस्तुभ दिव्यसंगीत-परमाचार्य भूतपूर्व श्रीहरिदास स्वामीजी महाराज।'

उज्जैनके पण्डोंके रोज़नामचेमें भी यही लिखा है कि श्रीहरिदासजी सारस्वत और विष्णु सम्प्रदायी थे, उन सबकी नकल सत्यासत्य विचार नामक पुस्तकमें, जो श्रीफुन्दीलालजी गोस्वामीने बनायी है, दी गयी है। मि० ग्रौसने भी मथुरा मेनियरके पृष्ठ २१७ में लिखा है कि स्वामी हरिदासजीके वंशज पाँच सौके करीब हैं, ये लोग गोस्वामी हैं, सारस्वत ब्राह्मण हैं। इस विषयपर वृन्दावनमें और भी कई पुस्तकें निकल चुकी हैं। इन सब प्रमाणोंसे उनका सारस्वत ब्राह्मण और विष्णु सम्प्रदायी होना सिद्ध होता है।

गोस्वामी मगनबिहारी लाल

हृदयसे

हृदय न हठकर त्याग लोभ,
ये रत्न नहीं चमकीले।
बिछे हुए हैं विश्व-मार्गमें,
कंटक कठिन नुकीले॥
जिन पथिकोंने इन्हें,
चयन करनेको हाथ बढ़ाया—
विषय वेदना मिली उन्हें पर
हाथ न कुछ भी आया॥
सच्चे रत्न मिलेंगे तुझको
उदधि-गर्भके कोनेमें।
डुबकी लगा देख, क्या पायेगा
यों अवसर खोनेमें॥

श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल'

चित्र-परिचय

भगवान् शिवजीकी बरात जा रही हैं। बरातमें देवताओंके अतिरिक्त शिवजीके गण भी हैं। भगवान् विष्णुने कौतुकसे देवताओंको अलग कर लिया, इधर शिवजीके गण अलग हो लिये, इसका श्रीरामचरितमानसमें वर्णन है—

तनु छीन कोउ अति पीन पावन
कोउ अपावन गति धरे।
भूषण कराल कपाल कर सब
सद्य शोणित तनु धरे॥
खर स्वान सुअर श्रृगाल मूषिक
भेष अगणित को गनै।
बहु जिनिस प्रेत पिशाच योगिनि
भाँति वरणत नहिं बनै॥
नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी भूत सब।
देखत अति विपरीत बोलहिं वचन विचित्र विधि॥

निपुण चित्रकारने इसी दृश्यको इसमें बड़ी खूबीसे दिखलाया है। ध्यानसे देखनेपर वर्णनके अनुसार ही एक एक चीज स्पष्ट दीखती है। चित्र बड़ा ही मनोहर है।

बहुत बड़ा मूल तैलचित्र कोई सज्जन खरीदना चाहें तो मैनेजर कल्याणसे पत्रव्यवहार करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

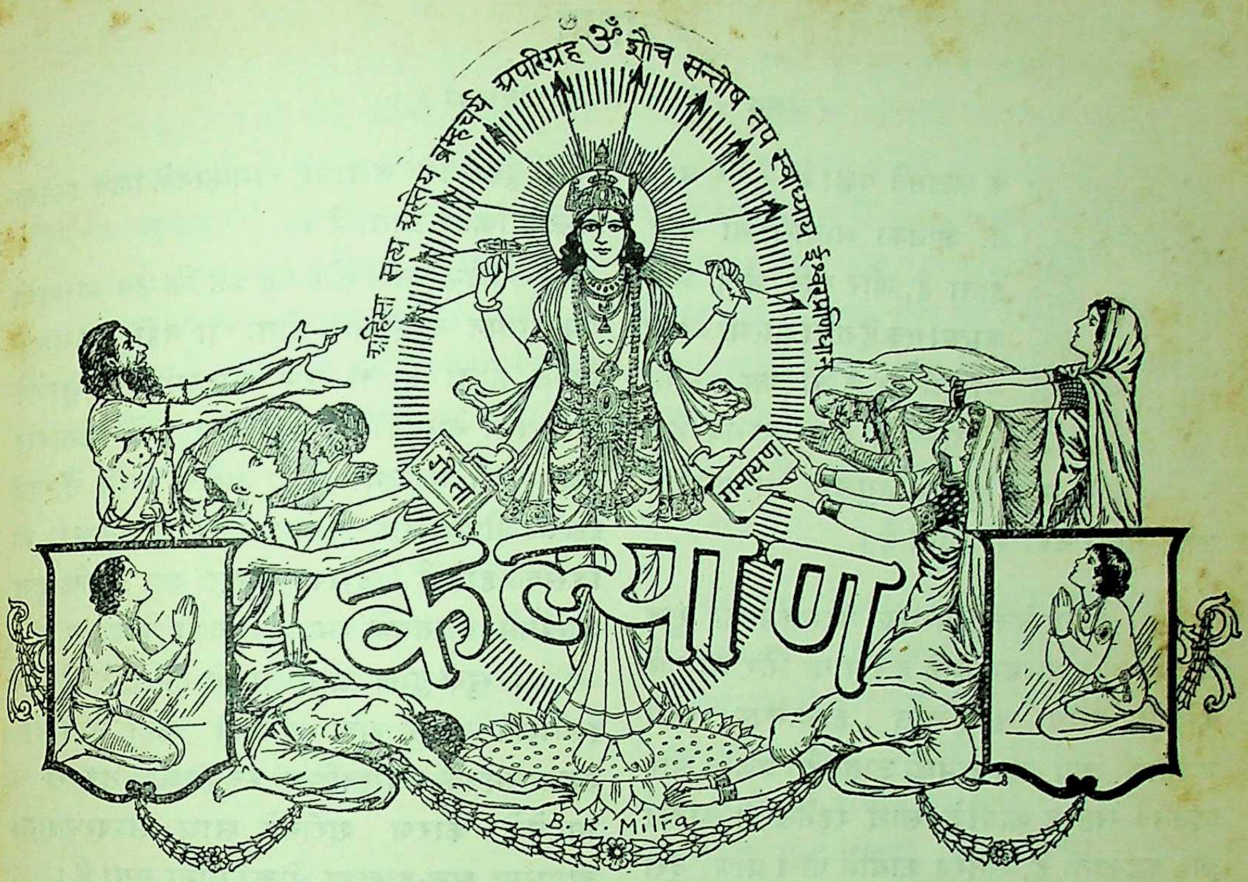

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

वर्ष ५ खण्ड १	मार्गशीर्ष कृष्ण ११ संवत् १९८७ नवम्बर १९३०	संख्या ५ पूर्ण सं० ५३

श्याममय हृदय

नाहिन रह्यो हियमें ठौर

नन्द-नन्दन अछत कैसे, आनिये उर और ॥ १ ॥
चलत चितवत दिवस जागत, स्वप्न सोवत रात ।
हृदयतें वह श्याम मूरति, छिन न इत उत जात ॥ २ ॥
कहत कथा अनेक ऊधो ! लोक-लाज दिखात ।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन, घट न सिन्धु समात ॥ ३ ॥
श्याम गात सरोज-आनन, ललित गति मृदु हास ।
सूर ऐसे रूप-कारन, मरत लोचन प्यास ॥ ४ ॥

(सूरदासजी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक सज्जनने पूछा है—जीव क्या है, जीवका आना-जाना कैसे होता है, और यदि जीव और आत्मा एक है तथा आत्मा असंग और अचल है तो फिर उसका आना-जाना कैसे सम्भव है? अपनी सामान्य बुद्धिके अनुसार इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा की जाती है।

जो समष्टि-चेतन परब्रह्म परमात्माका शुद्ध अंश है, उसे आत्मा कहते हैं। माया और मायाके कार्योंके साथ सम्बन्धित होजानेपर इसी आत्माकी जीव संज्ञा समझी जाती है। प्रकृति और प्रकृतिके सतरह कार्योंके साथ रहनेसे ही आत्मा जीव कहलाता है, सतरह कार्योंमें पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और दो मन-बुद्धि समझने चाहिये। परमात्माका जो सर्वथा विशुद्ध अंश है उसमें तो आने-जानेकी कल्पना ही नहीं की जा सकती, वह तो आकाशकी भाँति निर्लेप और समभावसे सर्वदा सर्वत्र स्थित है। शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे उसका आना-जाना-सा प्रतीत होता है। स्थूल शरीरके संसारमें उत्पन्न और नाश होनेको आत्मा-पर आरोपित करके लोग आत्माके आने-जानेकी कल्पना करते हैं, यह जैसे आत्मामें औपचारिक है वैसे ही स्थूल शरीरके नाश होनेपर सूक्ष्मका आवागमन भी-जिसको लोग मृत्यु कहते हैं-वास्तवमें औपचारिक ही है। आत्मा अचल होनेके कारण स्थूल या सूक्ष्म—किसी भी शरीरकी स्थितिमें उसका गमनागमन उसी प्रकार नहीं होता जिस-प्रकार किसी घटके लाने, ले जानेसे घटाकाशका नहीं हुआ करता। यद्यपि आकाशका दृष्टान्त आत्माके लिये सब देशोंमें सर्वथा नहीं घटता, परन्तु दूसरे किसी दृष्टान्तके अभावमें समझानेके लिये इसीका उल्लेख किया जाता है।

इस सिद्धान्तसे कोई यह कहे कि जब आत्माका गमनागमन वास्तवमें होता ही नहीं, उपचारसे प्रतीत होता है, तो फिर आवागमनसे छूटनेके लिये क्यों चेष्टा की जाती है और क्यों शास्त्रकार तथा सन्त महात्मा ऐसा उपदेश करते हैं, एवं इसके औपचारिक गमनागमनमें सुख-दुःख भी किसको होते हैं? इसका उत्तर यह है कि शुद्ध आत्मामें वास्तवमें गमनागमनकी क्रिया न होने-पर भी सुख-दुःख जीवात्माको ही होते हैं और इसीलिये उनसे मुक्त होनेको कहा जाता है, गमनागमनके वास्तविक स्वरूपको तत्त्वसे न जाननेके कारण शरीरके साथ सम्बन्धवाला जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता माना गया है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
(गीता १३। २१)

प्रकृति (भगवान्की त्रिगुणमयी माया) में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है। यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि न तो सुख-दुःख प्रकृति और उसके कार्योंसे मुक्त होनेपर शुद्ध आत्माको हो सकते हैं और न जड़ होनेके कारण अन्तःकरणको ही। यह उसी अवस्थामें होते हैं जब यह पुरुष—जीवात्मा प्रकृतिमें स्थित होता है।

कुछ लोगोंका कहना है कि सुख-दुःख आदि अन्तःकरणके धर्म हैं, ये उसमें रहते आये हैं और रहेंगे ही, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। ये अन्तः-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करणके धर्म नहीं, विकार हैं और साधनसे न्यूनाधिक हो सकते हैं तथा इनका नाश भी हो सकता है। विकारोंको ही कोई धर्मके नामसे पुकारे तो कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदिका भोक्ता अन्तःकरण है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि जड़ होनेके कारण कर्त्ता-भोक्ता नहीं हो सकते। ये मायाके विकार हैं और अन्तःकरण इनके रहनेका आधारस्थल है। अतएव मायाके सम्बन्धवाला पुरुष ही भोक्ता है।

इस सुख-दुःखकी निवृत्ति तबतक नहीं हो सकती जबतक कि इस चेतन आत्माका शरीरोंके साथ अज्ञानजन्य सम्बन्ध छूट नहीं जाता। प्रकृतिसे सम्बन्ध छूटकर स्व-स्थ अर्थात् स्व-स्वरूपमें स्थित होनेपर ही आत्मा कृतकृत्य और मुक्त हो सकता है। महर्षि पतञ्जलिने भी योगदर्शनमें यही बात कही है।

अब यह विचार करना है कि प्रकृतिके साथ आत्माका संयोग होनेमें हेतु क्या है। वह हेतु अविद्या है—

'तस्य हेतुरविद्या' (पा० २।२४)

इस अविद्याके नाशसे प्रकृतिसे छूटकर आत्माकी स्व स्वरूपमें स्थिति होती है, तभी वह सुख-दुःखसे मुक्त होता है। अविद्याका नाश तत्त्वज्ञानसे होता है। ईश्वर, माया और मायाके कार्यका यथार्थ ज्ञान ही संक्षेपमें तत्त्वज्ञान है। भगवान् कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥
(गी० १३।१-२,३४)

'हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र है ऐसा कहा जाता है और इसको जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ, ऐसा उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं। हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान; क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकार-सहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है वह ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है। इसप्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह समझा जा सकता है कि प्रकृति और उसके कार्योंमें सम्बन्धित आत्मा ही जीवात्मा है और इसी सम्बन्धके कारण उसका आना-जाना होता है। जीव किसप्रकारसे भिन्न भिन्न योनियोंमें कर्मोंके वश जाते-आते हैं यह भिन्न विषय है और इसका कल्याण वर्ष ३ संख्या ६ में प्रकाशित 'कर्मका रहस्य' नामक लेखमें वर्णन किया जा चुका है, इसलिये उसको यहाँ लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। ऊपर यह कहा जा चुका है कि तत्त्वज्ञानसे ही मायाका सम्बन्ध छूटता है और उस तत्त्वज्ञानका स्वरूप भी बतलाया जा चुका है। अब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो? श्रीमद्भगवद्गीतामें इसकी प्राप्तिके प्रधानतया तीन उपाय बतलाये गये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। ज्ञान-योगकी व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८ श्लोक ४९ से ५५ तक, कर्मयोगकी अध्याय २ श्लोक ३९ से ५३ तक और भक्तियोगकी अध्याय १२ श्लोक २ से २० तक की गयी है। इन व्याख्याओंको ध्यान-पूर्वक पढ़ना चाहिये। समष्टि-चेतन परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना और उसके स्वरूपके तात्त्विक विवेककी आवश्यकता तो तीनोंमें ही है। अवश्य ही प्रकारमें भेद है। ज्ञानके सिद्धान्तसे अभेदोपासना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं कर्म तथा भक्तियोगसे प्रधानतया भेदरूपसे उपासना की जाती है । इन दोनोंमें भक्तियोगमें भक्तिकी मुख्यता और कर्मकी गौणता है तथा कर्मयोगमें कर्मकी मुख्यता और भक्तिकी गौणता है।

जन्म-मरणके चक्करसे छुड़ानेवाले तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये इन तीनों उपायोंमेंसे अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार किसी एक उपायको ग्रहण करना मनुष्यमात्रके लिये परम कर्तव्य है।

विश्वात्म-रूप-मदिरा

(लेखक—बालकृष्ण बलदुवा बी० ए०)

(कुछ प्रसिद्ध सूफ़ी कवियोंके काव्य-जगत्की झलकें)

पहिला प्याला

प्रत्येक कणकी गति अपने निर्माणककी ओर है ।

उपासक उपास्य हो जाता है ।

चाह और ललकके आकर्षणसे आत्मा और हृदय प्रियतमके—परमात्माके—गुण धारण करते हैं ।

दूसरा प्याला

जैसा कि तुम कहते हो, वह असत्का स्रोत है ।

परन्तु इससे उसे हानि नहीं । असत्का निर्माण उसके पूर्णत्वका व्यञ्जक है ।

मुझसे एक दृष्टान्त सुनो।

स्वर्गिकचित्रकार सुन्दर और कुरूप—दोनों प्रकारके चित्र बनाता है।

एक में (मिश्रकी) सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी युवक (जोजेफ) को प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देख रही है । और देखो ! उसीके दूसरे चित्रमें होता है नरकाग्नि, शैतान (इबलिस) और उसके जघन्य दूतोंका जमघट।

दोनों उसी कलाकारकी कृतियाँ हैं ।

दोनोंका निर्माण उसने सदुद्देश्यसे किया है—अपने कौशलकी सम्पूर्णता प्रदर्शनके लिये और उसके नैपुण्यको अस्वीकार करनेवाले नास्तिकोंको चकित करनेके लिये।

असत्-निर्माणमें असमर्थता उसके नैपुण्याभावकी द्योतिका होती।

इसीलिये वह आस्तिक (मुसलमान) और नास्तिक (काफिर) की समानरूपसे सृष्टि करता है ।

जिससे कि दोनों ही उसके साक्षी रहें और एक ही सर्वशक्तिमान् मालिककी आराधना करें ।

बन्धन

(लेखक—श्रीवियोगी हरिजी)

मेरी अज्ञानता तो देखो, हृदयनाथ ! तुम मुक्ति देते हो और उसे मैं लेता नहीं ! तुम्हारे हाथसे बँध जानेमें ही मैं आज अपना अहोभाग्य समझ रहा हूँ।

तुम भी मुझसे मुक्ति नहीं पा सकते । तुम्हें तो सरकार! कच्चे धागेसे ही बाँधकर मैं अपनी आँखोंमें तबसे नचा रहा हूँ । बँध जाना और बाँध लेना दोनों ही आज मेरे अधीन हैं । धन्य हूँ मैं!

मुझे क्या पड़ी थी, जो मैं अपना निर्बन्ध हृदय तुम्हारे बाहुपाशसे इस भाँति आबद्ध करा लेता? आये थे मुझे बाँधने ! यह खबर ही न थी कि तुम्हें स्वयं भी तो मेरी भुजमालसे साथ ही बँध जाना होगा ! बस, अब बँधे रहो । मैं तो अपने बन्धनकी तुमसे कोई शिकायत करता नहीं । फिर, तुम क्यों मेरी भुजमाल तोड़-ताड़कर भागनेकी ताकमें रहते हो? जीवनाधार ! हम दोनों कैदियोंको अनन्तकाल पर्यन्त इन सुदृढ़ बन्धनोंसे बँधे रहनेमें ही अब आनन्द है।

मुझे क्या पड़ी थी, जो तुम्हारी चितवनका फन्दा अपनी उनींदी आँखोंमें जान-मानकर डाल देता ? प्यारे, तुम्हारी चितवनका फन्दा कुछ ऐसी उलझनका है कि तुम्हारे लाख यत्न करनेपर भी मेरी मतवाली आँखें उससे सुलझ नहीं सकतीं। झटका देकर भी अब तुम इन्हें उस फन्देसे न छुड़ा सकोगे । और, तुम्हारा वह फन्दा भी तो मेरी आँखोंके विरहजालमें बुरी तरहसे उलझ चुका है। इससे, हृदय-रमण ! हम दोनोंकी फँदीली आँखोंको अनन्तकाल पर्यन्त इस उलझनमें पड़ी रहनेमें ही अब आनन्द है ।

मुझे क्या पड़ी थी, जो अपना अमोल मन-मानिक यों ही तुम्हारी मुसकानकी डिबियामें सम्पुटित कर देता ? ज्ञात नहीं, वह मानिक तुम्हारे किस काममें आयेगा । पर, अब उसके मोहसे छूट जानेकी तुममें शक्ति नहीं । तुम्हारी उस मीठी मुसकानने, एक तरहसे, तुम्हें ही बाँध कर ठग लिया । इससे हम दोनोंके मुग्ध मनोंको, प्यारे ! अनन्तकालपर्यन्त प्रणय-रज्जुसे बँधे रहनेमें ही अब आनन्द है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नम्रता

(लेखक—महात्मा गान्धीजी)

'इसे व्रतोंमें पृथक् स्थान न है, न हो सकता है। यह अहिंसाका एक अर्थ है, या यों कहिये कि उसके अन्तर्गत है। परन्तु नम्रता अभ्याससे नहीं आती, वह स्वभावमें आ जानी चाहिये। जब पहली बार आश्रमकी नियमावली तैयार हुई, तब उसका मसविदा मित्रवर्गके पास भेजा था। सर गुरुदास बैनर्जीने नम्रताको व्रतोंमें शुमार करनेकी सूचना की थी, तब भी मैंने इसे व्रतोंमें न माननेका यही कारण बताया था, जो यहाँ लिखता हूँ। परन्तु इसे व्रतोंमें स्थान न होते हुए भी कदाचित् यह व्रतोंकी अपेक्षा अधिक आवश्यक है, उनके जितनी आवश्यक तो है ही। परन्तु अभ्याससे कोई नम्र बना हो, सो तो कभी सुना नहीं। सत्यका, दयाका अभ्यास हो सकता है, नम्रताका अभ्यास करना तो दम्भ सीखना हुआ। यहाँ नम्रतासे मतलब उस चीज़से नहीं है, जो बड़े लोगोंमें एक दूसरेके सम्मानार्थ सिखायी पढ़ायी जाती है। कोई आदमी दूसरेको साष्टांग नमस्कार करता हो तो भी उसके मनमें उसके लिये तिरस्कार हो सकता है। यह नम्रता नहीं, लुचपन है। कोई राम-नाम जपता फिरे, माला फेरता रहे, मुनि-जैसा बनकर समाजमें बिराजै, पर भीतर स्वार्थ भरा हो,—वह नम्र नहीं, पाखण्डी है। नम्र मनुष्य स्वयं नहीं जानता कि वह कब नम्र है। सत्य आदिका माप हम अपने पास रख सकते हैं, परन्तु नम्रताका माप नहीं होता। स्वाभाविक नम्रता छिपी नहीं रहती। नम्र-मनुष्य स्वयं उसे देख नहीं सकता। वशिष्ठ—विश्वामित्रके दृष्टान्तको तो हम अनेक बार आश्रममें समझ चुके हैं। हमारी नम्रता शून्यतातक जानी चाहिये। 'हम कुछ हैं' मनमें रस भूतके भरते ही नम्रता काफूर हो जाती और हमारे सारे व्रत धूलमें मिल जाते हैं। व्रत पालन करनेवाले यदि मनमें अपने पालनका गर्व रखने लगें तो व्रतोंका मूल्य खो बैठें, और समाजमें विषरूप बन जायँ। उनके व्रतकी कीमत न समाज करे, न वे स्वयं ही उसका फल भोग सकें। नम्रता अर्थात् 'अहं' भावका आत्यन्तिक क्षय। विचार करनेसे यह मालूम हो सकता है कि इस जगत्में जीवमात्र एक रजकणकी तुलनामें भी कुछ नहीं है। शरीरके रूपमें जीव क्षणजीवी है। कालके अनन्त चक्रमें सौ वर्षका प्रमाण निकाला ही नहीं जा सकता, परन्तु यदि इस चक्रमेंसे निकल जायँ, अर्थात् 'कुछ भी नहीं' हो जायँ, तो सब कुछ हो जाय। 'कुछ' होना अर्थात् ईश्वरसे, परमात्मासे, सत्यसे दूर जा पड़ना, विलग होना। 'कुछ' मिट जाना, अर्थात् 'परमात्मामें मिल जाना।' समुद्रमें रहनेवाली बूँद समुद्रकी महत्ता भोगती है, परन्तु इसे वह जानती नहीं। पर समुद्रसे विलग हुई और आपेका दावा करने लगी कि उसी दम सूख गयी! इस जीवनको पानीके बुद्बुदेकी उपमा जो दी गयी है उसमें मैं लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं देखता। ऐसी नम्रता, शून्यता अभ्यासद्वारा कैसे आ सकती है? परन्तु व्रतोंको सच्चे रूपमें समझनेसे नम्रता अपने आप आती जाती है। सत्यके पालनकी इच्छा रखनेवाला अहङ्कारी कैसे हो सकता है? दूसरोंके लिये प्राण बिछानेवाला अपनी जगह कहाँ रोकने जाय? वह तो तभी अपने देहको फेंक चुका, जब प्राण बिछानेका निश्चय किया। क्या इस नम्रताका अर्थ पुरुषार्थहीनता नहीं? हिन्दू-धर्ममें इसका यह अर्थ अवश्य ही किया जा चुका है, और इसी कारण अनेक स्थानोंमें आलस्यको, पाखण्डको स्थान मिल गया है। वस्तुतः तो नम्रताका अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है, परन्तु यह सब परमार्थके लिये होना चाहिये। स्वयं ईश्वर चौबीसों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घण्टे एक साँससे काम किया करता है। आलस्य मिटाने—जमुहाई लेने जितनी फ़ुरसत भी नहीं लेता--हम भी वैसे ही हो जायँ, उसमें मिल जायँ, जिससे हमारा उद्यम भी उसके समान अतन्द्रित हो, ऐसा होना चाहिये। समुद्रसे वियुक्त बूँदके लिये हम आरामकी कल्पना कर सकते हैं, पर समुद्रमें रहनेवाली बूँदको आराम कहाँ ? ठीक यही बात हमारी है। ईश्वररूपी समुद्रमें हम समा जायँ, बस, हमारा आराम भी गया, आरामकी जरूरत भी गयी। यही सच्चा आराम है—यही महा अशान्तिमें शान्ति है, अतः सच्ची नम्रता तो हमसे जीवमात्रकी सेवाके लिये सर्वार्पणकी आशा रखती है। सब कुछ परित्याग करनेपर हमारे पास न रविवार रहता है, न शुक्रवार या सोमवार। इस स्थितिका वर्णन करना कठिन है। परन्तु यह अनुभवगम्य है। जिसने सर्वार्पण किया है, उसने इसका अनुभव भी किया है। हम सब इसका अनुभव कर सकते हैं, इस अनुभवकी इच्छासे ही आश्रममें इकट्ठा हुए हैं। सारे व्रत, समस्त प्रवृत्तियाँ, इस अनुभवके लिये हैं। दूसरा-तीसरा करते हुए किसी दिन वह हमारे हाथ लग जायँगी। इसीकी शोध करनेसे वह प्राप्य नहीं।'

गीतामें व्यक्तोपासना*

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा प्रभु श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। जगत्में इसकी जोड़ीका कोई भी शास्त्र नहीं। सभी श्रेणीके लोग इससे अपने-अपने अधिकारानुसार भगवत्-प्राप्तिके सुगम साधन प्राप्त कर सकते हैं। इसमें सभी मुख्य-मुख्य साधनोंका विशद वर्णन है, परन्तु कोई भी एक दूसरेका विरोधी नहीं है। सभी परस्पर सहायक हैं। ऐसा सामञ्जस्यपूर्ण ग्रन्थ केवल गीता ही है। कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीन प्रधान सिद्धान्तोंकी जैसी उदार, पूर्ण, निर्मल, उज्ज्वल, सरल, एवं अन्तर और बाह्य लक्षणोंसे युक्त हृदयस्पर्शी सुन्दर व्यावहारिक व्याख्या इस ग्रन्थमें मिलती है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं। प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार किसी एक मार्गपर आरूढ़ होकर अनायास ही अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। श्रीमद्भगवद्गीताको हम 'निष्काम कर्मयोगयुक्त भक्तिप्रधान ज्ञानपूर्ण अध्यात्मशास्त्र' कह सकते हैं। यह सभी प्रकारके मार्गोंमें संरक्षक, सहायक, मार्गदर्शक, प्रकाशदाता और पवित्र पाथेयका प्रत्यक्ष व्यावहारिक काम दे सकता है। गीताके प्रत्येक साधनमें कुछ ऐसे दोषनाशक प्रयोग बतलाये गये हैं जिनका उपयोग करनेसे दोष समूल नष्ट होकर साधन सर्वथा शुद्ध और उपादेय बन जाता है। इसीलिये गीताका कर्म, गीताका ज्ञान, गीताका ध्यान और गीताकी भक्ति सभी सर्वथा पापशून्य, दोषरहित, पवित्र और पूर्ण हैं। किसीमें तनिक भी पोलकी गुंजायश नहीं। आज गीतोक्त व्यक्तोपासनाके विषयमें कुछ देखना है।

गीताके बारहवें अध्यायका नाम भक्तियोग है, इसमें कुल बीस श्लोक हैं। पहले श्लोकमें भक्तवर अर्जुनका प्रश्न है और शेष उन्नीस श्लोकोंमें भगवान् उसका उत्तर देते हैं। इनमें प्रथम ११ श्लोकोंमें तो भगवान्के व्यक्त (साकार) और अव्यक्त (निराकार) स्वरूपके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय किया

* श्रीवियोगी हरिजी-लिखित 'भक्तियोग' नामक अप्रकाशित पुस्तककी भूमिकासे। यह पुस्तक गीताप्रेससे शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है एवं भगवत्प्राप्तिके कुछ उपाय बतलाये गये हैं। अगले आठ श्लोकोंमें परमात्माके परम प्रिय भक्तोंके स्वाभाविक लक्षणोंका वर्णन है।

भगवान्‌ने कृपापूर्वक अर्जुनको दिव्य चक्षु प्रदानकर अपना विराट स्वरूप दिखलाया, उस विकराल कालस्वरूपको देखकर अर्जुनके घबराकर प्रार्थना करनेपर अपने चतुर्भुज रूपके दर्शन कराये, तदनन्तर मनुष्य-देह-धारी सौम्य रसिकशेखर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णरूप दिखाकर उनके चित्तमें प्रादुर्भूत भय और अशान्तिका नाश कर उन्हें सुखी किया। इस प्रसंगमें भगवानने अपने विराट और चतुर्भुज-स्वरूपकी महिमा गाते हुए इनके दर्शन प्राप्त करनेवाले अर्जुनके प्रेमकी प्रशंसा की और कहा कि मेरे इन स्वरूपोंको प्रत्यक्ष नेत्रों द्वारा देखना, इनके तत्त्वको समझना और इनमें प्रवेश करना केवल 'अनन्य भक्ति'से ही सम्भव है। इसके बाद अनन्य भक्तिका स्वरूप और उसका फल अपनी प्राप्ति बतलाकर भगवानने अपना वक्तव्य समाप्त किया। एकादश अध्याय यहीं पूरा हो गया। अर्जुन अबतक भगवानके अव्यक्त और व्यक्त दोनों ही स्वरूपोंकी और दोनोंके ही उपासकोंकी प्रशंसा और दोनोंसे ही परमधामकी प्राप्ति होनेकी बात सुन चुके हैं। अब वे इस सम्बन्धमें एक स्थिर निश्चयात्मक सिद्धान्त-वाक्य सुनना चाहते हैं, अतएव उन्होंने विनम्र शब्दोंमें भगवानसे प्रार्थना करते हुए पूछा—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥

(गी० १२।१)

हे नाथ! जो अनन्य भक्त आपके द्वारा कथित विधिके अनुसार निरन्तर मन लगाकर आप व्यक्त-साकाररूप मनमोहन श्यामसुन्दरकी उपासना करते हैं, एवं जो अविनाशी सच्चिदानन्दघन अव्यक्त-निराकाररूपकी उपासना करते हैं, इन दोनोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं? प्रश्न स्पष्ट है—अर्जुन कहते हैं, आपने अपने व्यक्त रूपकी दुर्लभता बताकर केवल अनन्यभक्तिसे ही उस रूपके प्रत्यक्ष दर्शन, उसका तत्त्वज्ञान और उसमें एकत्व प्राप्त करना सम्भव बतलाया तथा फिर उस अनन्यताके लक्षण बतलाये। परन्तु इससे पहले आप कई बार अपने अव्यक्तोपासकोंकी भी प्रशंसा कर चुके हैं, अब आप निर्णयपूर्वक एक निश्चित मत बतलाइये कि इन दोनों प्रकारकी उपासना करनेवालोंमें श्रेष्ठ कौन-से हैं? भगवान्‌ने उत्तरमें कहा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

(गी० १२।२)

'हे अर्जुन! जो मुझ साकाररूप परमेश्वरमें मन लगाकर निश्चल परम श्रद्धासे युक्त हो निरन्तर मेरी ही उपासनामें लगे रहते हैं, मेरे मतसे वे ही परम उत्तम योगी हैं।' उत्तर भी स्पष्ट है—भगवान् कहते हैं, मेरे द्वारा बतलायी हुई विधिके अनुसार मुझमें निरन्तर चित्त एकाग्र करके जो परम श्रद्धासे मेरी उपासना करते हैं, मेरे मतमें वे ही श्रेष्ठ हैं। यहाँ प्रथम श्लोकके 'त्वां' और इस श्लोकके 'मां' शब्द अव्यक्त-निराकारवाचक न होकर साकार-वाचक ही हैं। क्योंकि अगले श्लोकोंमें अव्यक्तो-पासनाका स्पष्ट वर्णन है, जो 'तु' शब्दसे इससे सर्वथा पृथक कर दिया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि भगवानके मतमें उनके साकाररूपके उपासक ही अतिश्रेष्ठ योगी हैं एवं एकादश अध्यायके अन्तिम श्लोकके अनुसार उनको भगवत्-प्राप्ति होना निश्चित है। परन्तु इससे कोई यह न समझे कि अव्यक्तोपासना निम्न-श्रेणीकी है या उन्हें भगवत्प्राप्ति नहीं होती। इसी भ्रमकी गुंजायशको सर्वथा मिटा देनेके लिए भगवान् स्वयमेव कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

(गीता १२ । ३-४)

'जो पुरुष समस्त इन्द्रियोंको वशमें करके सर्वत्र समबुद्धि-सम्पन्न हो जीवमात्रके हितमें रत रहते हुए अचिन्त्य (मन-बुद्धिसे परे) सर्वत्रग (सर्वव्यापी) अनिर्देश्य (अकथनीय) कूटस्थ (नित्य एक रस) ध्रुव (नित्य) अचल, अव्यक्त (निराकार) अक्षर ब्रह्मस्वरूपकी निरन्तर उपासना करते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इस कथनसे यह निश्चय हो गया कि दोनों ही उपासनाओंका फल एक है । तो फिर अव्यक्तोपासकसे व्यक्तोपासकको उत्तम क्यों बतलाया ? क्या बिना ही कारण भगवान‍्ने ऐसी बात कह दी ? क्या मन्दबुद्धि मुमुक्षुओंको सगुणोपासनाकी प्रवृत्तिको सिद्धिके लिये उन्हें युक्ततम बतला दिया, या उन्हें उत्साही बनाये रखनेके लिये व्यक्तोपासनाकी रोचक स्तुति कर दी अथवा अर्जुनको साकारका मन्द अधिकारी समझकर उसीके लिये व्यक्तोपासनाको श्रेष्ठ करार दे दिया ? भगवान‍्का क्या अभिप्राय था सो तो भगवान् ही जानें, परन्तु मेरा मन तो यही कहता है कि भगवान‍्ने जहाँपर जो कुछ कहा है सो सभी यथार्थ है, उनके शब्दोंमें रोचक-भयानककी कल्पना करना कदापि उचित नहीं, भगवान‍्ने न तो किसीकी अयथार्थ स्तुति की है और न अयथार्थ किसीको कोसा ही है । यहाँ भगवान‍्ने जो साकारोपासककी श्रेष्ठता बतलायी है, उसका कारण भी भगवान‍्ने अगले तीन श्लोकोंमें स्पष्ट कर दिया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

(गी० १२ । ५)

'जिनका मन तो अव्यक्तकी ओर आसक्त है परन्तु जिनके हृदयमें देहाभिमान बना हुआ है ऐसे लोगोंके लिये अव्यक्त ब्रह्मकी उपासनामें चित्त टिकाना विशेष क्लेशसाध्य है, वास्तवमें निराकारकी गति दुःखपूर्वक ही प्राप्त होती है।' भगवान‍्के साकार—व्यक्तस्वरूपको एक आधार रहता है, जिसका सहारा लेकर ही कोई साधन-मार्गपर आरूढ़ हो सकता हैं, परन्तु निराकारका साधक तो बिना केवटकी नावकी भाँति निराधार अपने ही बलपर चलता है । अपार संसार-सागरमें विषय-वासनाकी भीषण तरंगोंसे तरीको बचाना, भोगोंके प्रचण्ड तूफानसे नावकी रक्षा करना और बिना किसी मददगारके लक्ष्यपर स्थिर रहते हुए आप ही डाँड़ चलाते जाना बड़ा ही कठिन कार्य है। परन्तु इसके विपरीत—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गी० १२ । ६-७)

—'जो लोग मेरे (भगवान‍्के) परायण होकर, मुझको ही अपनी परम गति, परम आश्रय, परम शक्ति, परम लक्ष्य मानते हुए सम्पूर्ण कर्म मुझमें अर्पण करके मुझ साकार ईश्वरकी अनन्य योगसे निरन्तर उपासना करते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले भक्तोंको मृत्युशील संसार-सागरसे बहुत ही शीघ्र सुखपूर्वक मैं पार कर देता हूँ।' उनको न तो अनन्त अम्बुधिकी क्षुब्ध उत्ताल तरंगोंका भय है, और न भीषण झञ्झावातके आघातसे नौकाके ध्वंस होने या डूबनेका ही डर है । वे तो बस, मेरी कृपासे आच्छादित सुन्दर सुसज्जित दृढ़ 'बजरे' में बैठकर केवल सर्वात्मभावसे मेरी ओर निर्निमेष-दृष्टिसे ताकते रहें, मेरी लीलाएँ देख-देखकर प्रफुल्लित होते रहें, मेरी वंशीध्वनि सुन-सुनकर आनन्दमें डूबते रहें, उनकी नावका खेवनहार केवट बनकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं उन्हें 'नाचिरात्' इसी जन्ममें अपने हाथों डाँड़ चलाकर संसार-सागरके उस पार परम धाममें पहुँचा दूँगा।

जो भाग्यवान् भक्त भगवान्के इन वचनोंपर विश्वास कर समस्त शक्तियोंके आधार, सम्पूर्ण ज्ञानके भाण्डार, अखिल ऐश्वर्यके आकर, सौन्दर्य, प्रभुत्व, बल और प्रेमके अनन्त निधि उस परमात्माको अपनी जीवन-नौकाका खेवनहार बना लेता है, जो अपनी बाँह उसे पकड़ा देता है, उसके अनायास ही पार उतरनेमें कोई खटका कैसे रह सकता है ? उसको न तो नावके टकराने, टूटने और डूबनेका भय है, न चलानेका कष्ट है और न पार पहुँचनेमें ही तनिक-सा सन्देह है।

पार तो अव्यक्तोपासक भी पहुँचता है, परन्तु उसका मार्ग कठिन है। इसप्रकार दोनोंका फल एक ही होनेके कारण सुगमताकी वजहसे यदि भगवान्ने अव्यक्तोपासककी अपेक्षा व्यक्तोपासकको श्रेष्ठ या योगवित्तम बतलाया तो उनका ऐसा कहना सर्वथा उचित ही है। परन्तु बात इतनी ही नहीं है। सरलता-कठिनता तो उपासनाकी है, इससे उपासकमें उत्तम मध्यमका भेद क्यों होने लगा ? व्यक्तोपासक केवल उत्तम ही नहीं, योगवित्तम है, योग जाननेवालोंमें श्रेष्ठ है। उपासनाकी सुगमताके कारण आरामकी इच्छासे कठिन मार्गको त्यागकर सरलका ग्रहण करनेवाला श्रेष्ठ योगवेत्ता कैसे हो गया ? अवश्य ही इसमें कोई रहस्य छिपा हुआ होना चाहिये और वह यह है—

अव्यक्तोपासक उपासनाके फलस्वरूप अन्तमें भगवान्को प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु व्यक्तोपासकके तो त्रिभुवन-मोहन साकार-रूप-धारी भगवान् आरम्भसे ही साथ रहते हैं। अव्यक्तोपासक अपनी 'अहं ब्रह्मास्मि'की ज्ञान-नौकापर सवार होकर यदि मार्गमें अहंकार, मान, लोकैषणा आदि विघ्नोंसे बचकर आगे बढ़ जाता है, तो अन्तमें संसार-सागरके पार पहुँच जाता है। परन्तु व्यक्तोपासक तो पहलेसे ही भगवान्की कृपारूपी नौकापर सवार होता है और भगवान् स्वयं उसे खेकर पार करते हैं। नौकापर सवार होते ही उसे केवट कृष्णका साथ मिल जाता है। पार पहुँचनेके बाद तो दोनोंके आनन्दकी स्थिति समान है ही, परन्तु यह तो मार्गमें भी पल-पलमें परम कारुणिक मोहनकी माधुरी मूरतिके देवदुर्लभ दर्शन कर पुलकित होता है, इसे उनकी मधुर वाणी, विश्व-विमोहिनी वंशीकी ध्वनि सुननेको एवं उनकी सुन्दर और शक्तिमयी क्रियाएँ देखनेको मिलती हैं। यह निश्चिन्त बैठा हुआ उनके स्वरूप और उनकी लीलाका मजा लूटता है। इसके सिवा एक महत्त्वकी बात और होती है। भगवान् किस मार्गसे क्योंकर नौका चलाते हैं वह इस बातको भी ध्यानपूर्वक देखता है, जिससे वह भी परमधामके इस सुगम मार्गको और भव-तारण-कलाको सीख जाता है। ऐसे तारण-कलामें निपुण विश्वासपात्र भक्तको यदि भगवान् कृपापूर्वक अपने परम धामका अधिकारी स्वीकार कर और जगत्के लोगोंको तारनेका अधिकार देकर, अपने कार्यमें सहायक बनने या अपनी लोक-कल्याणकारिणी लीलामें सम्मिलित रखनेके लिये नौका देकर वापस संसारमें भेज देते हैं तो वह मुक्त हुआ भी भगवान्की ही भाँति जगत्के यथार्थ हितका कार्य करता है और एक चतुर विश्वासपात्र सेवककी भाँति भगवान्के लीला-कार्यमें भी साथ रहता है। ऐसे ही स्थितिके महापुरुष कारक बनकर जगत्में आविर्भूत हुआ करते हैं। अव्यक्तोपासक परमधाममें पहुँचकर मुक्त हो वहीं रह जाते हैं, वे परमात्मामें घुल-मिलकर एक हो जाते हैं, वे वहाँसे वापस लौट ही नहीं सकते। इससे न तो उन्हें परमधाम जानेके मार्गमें साकार भगवान्के संग, उनके दर्शन, उनके साथ वार्तालाप और उनकी लीला देखनेका आनन्द मिलता है और न वे परमधामके पट्टेदार होकर सगुण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित हो उन्हींकी भाँति निपुण नाविक बनकर वापस ही आते हैं। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' के अनुसार उनके बुद्धि आदि करण जो उनको दिव्यधाममें छोड़कर वहाँसे वापस लौटते हैं, वे भी साधारण मनुष्योंके सामने अव्यक्तोपासना-पथके उन्हीं नाना प्रकारके क्लेशोंके दृश्य रखकर परम धामकी प्राप्तिको ऐसी कष्टसाध्य और दुःख-लभ्य बता देते हैं कि लोग सहम जाते हैं। उनका वैसे दृश्य सामने रखना ठीक ही है, क्योंकि उन्होंने अव्यक्तोपासनाके कण्टकाकीर्ण मार्गमें वही देखे हैं। उन्हें प्रेममय श्याम-सुन्दरके सलोने मुखड़ेका तो कभी दर्शन हुआ ही नहीं, उन्हें वह सौन्दर्यसुधा कभी नसीब ही नहीं हुई, तब वे उस दिव्य रसका स्वाद लोगोंको कैसे बतलाते? इसके विपरीत व्यक्तोपासक अपनी मुक्तिको भगवान्‌के खजानेमें धरोहरके रूपमें रखकर उनकी मंगलमयी आज्ञासे पुनः संसारमें आते हैं और भगवत्प्रेमके परम आनन्द-रस-समुद्रमें निमग्न हुए, देहाभिमानी होनेपर भी भगवान्‌के मंगलमय मनोहर साकाररूपमें एकान्तरूपसे मनको एकाग्र करके उन्हींके लिये सर्व कर्म करनेवाले असंख्य लोगोंको दृढ़ और सुखपूर्ण नौकाओंपर चढ़ा-चढ़ाकर संसारसे पार उतार देते हैं। यहाँ कोई यह कहे कि 'जैसे निराकारोपासक साकारके दर्शन और उनकी लीलाके आनन्दसे वञ्चित रहते हैं, वैसे ही साकारके उपासक ब्रह्मानन्दसे वञ्चित रहते होंगे।' उन्हें परमात्माका तत्त्वज्ञान नहीं होता होगा। परन्तु यह बात नहीं है। निरे निराकारोपासक अपने बलसे जिस तत्त्वज्ञानको प्राप्त करते हैं, भगवान्‌के प्रेमी साकारोपासकोंको वही तत्त्वज्ञान भगवत्कृपासे मिल जाता है। भक्तराज ध्रुवजीका इतिहास प्रसिद्ध है। ध्रुव व्यक्तोपासक थे। 'पद्म-पलाश-लोचन' नारायणको आँखोंसे देखना चाहते थे। उनके प्रेमके प्रभावसे परमात्मा श्रीनारायण प्रकट हुए और अपना दिव्य शंख कपोलोंसे स्पर्श कराकर उन्हें उसी क्षण परम तत्त्वज्ञ बना दिया। इससे सिद्ध हुआ कि व्यक्तोपासकको अव्यक्तोपासकोंका ध्येय तत्त्वज्ञान तो भगवत्कृपासे मिल ही जाता है, वे भगवान्‌की सगुण लीलाओंका आनन्द विशेष पाते हैं और उसे त्रिताप-तप्त लोगोंमें बाँटकर उनका उद्धार करते हैं। व्यक्तोपासक अव्यक्त-तत्त्वज्ञानके साथ ही व्यक्त-तत्त्वको भी जानते हैं, व्यक्तोपासनाका मार्ग जानते हैं, उसके आनन्दको उपलब्ध करते हैं और लोगोंको दे सकते हैं। वे दोनों प्रकारके तत्त्व जानते, उनका आनन्द लेते और लोगोंको बतला सकते हैं, इसलिये भगवान्‌के मतमें वे 'योगवित्तम' हैं, योगियोंमें उत्तम है।

वास्तवमें बात भी यही है। प्रेमके बिना रहस्यकी गुह्य बातें नहीं जानी जा सकतीं। किसी राजाके एक तो दीवान है और दूसरा राजाका परम विश्वासपात्र व्यक्तिगत प्रेमी सेवक है। दीवानको राज्यव्यवस्थाके सभी अधिकार प्राप्त हैं। वह राज्य-सम्बन्धी सभी कार्योंकी देख-रेख और सुव्यवस्था करता है, इतना होनेपर भी राजाके मनकी गुप्त बातोंको नहीं जानता और न वह राजाके साथ अन्तःपुर आदि सभी स्थानोंमें अबाधरूपसे जा ही सकता है, 'विहार-शय्यासन-भोजनादि' में एकान्त देशमें उसको राजाके साथ रहनेका कोई अधिकार नहीं है। यद्यपि राज्य-सम्बन्धी सारे काम उसीकी सलाहसे होते हैं। इधर वह राजाका व्यक्तिगत प्रेमी मित्र यद्यपि राज्यसम्बन्धी कार्यमें प्रकाश्यरूपसे कुछ भी दखल नहीं रखता, परन्तु राजाकी इच्छानुसार प्रत्येक कार्यमें वह राजाको प्राइवेटमें अपनी सम्मति देता है और राजा भी उसीकी सम्मतिके अनुसार कार्य करता है। राजा अपने मनकी गोपनीयसे गोपनीय भी सारी बातें उसके सामने निःशंक भावसे कह देता है। राजाका यह निश्चय रहता है कि यह मेरा प्रेमी सखा दीवानसे किसी हालतमें कम नहीं है। दीवानीका पद तो यह चाहे तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसको अभी दिया जा सकता है, जब मैं ही इसका हूँ, तब दीवानीका पद कौन बड़ी बात है ? परन्तु उस, मन्त्रीके पदको न तो वह प्रेमी चाहता है और न राजा उसे देनेमें ही सुभीता समझता है, क्योंकि दीवानीका पद दे देनेपर मर्यादाके अनुसार वह राज्यकार्यके सिवा राजाके निजी कार्योंमें साथ नहीं रह सकता, जिनमें उसकी परम आवश्यकता है। क्योंकि वह मन्त्रीत्व पदका त्यागी प्रेमी सेवक राजाका अत्यन्त प्रियपात्र है, उसका सखा है, इष्ट है। यहाँ राजाके स्थानमें परमात्मा, दीवानके स्थानमें अव्यक्तोपासक ज्ञानी और प्रेमी सखाके स्थानमें व्यक्तोपासक प्यारा भक्त है। अव्यक्तोपासक पूर्ण अधिकारी है,परन्तु वह राजा(परमात्मा) का अन्तरंग सखा नहीं, उसकी निजी लीलाओंसे न तो परिचित है और न उसके आनन्दमें सम्मिलित है। वह राज्यका सेवक है, राजाका नहीं। परन्तु वह प्यारा भक्त तो राजाका निजी सेवक है, राजाका विश्वासपात्र होनेके नाते राज्यका सेवक तो हो ही गया। इसीलिये व्यक्तोपासक मुक्ति न लेकर भगवच्चरणोंकी नित्य सेवा माँगा करते हैं, भगवान्की लीलामें शामिल रहनेमें ही उन्हें आनन्द मिलता है। वास्तवमें वे धन्य हैं जिनके लिये निराकार ईश्वर साकार बनकर प्रकट होते हैं, क्योंकि वे निराकार-साकार दोनों स्वरूपोंके तत्त्वको जानते हैं, इसीसे निराकाररूपसे अपने रामको सबमें रमा हुआ जानकर भी, अव्यक्तरूपसे अपने कृष्णको सबमें व्याप्त समझ कर भी धनुर्धारी मर्यादापुरुषोत्तम दाशरथी राम-रूपमें और चितको आकर्षण करनेवाले मुरलीमनोहर श्रीकृष्णरूपमें उनकी उपासना करते हैं और उनकी लीला देख-देखकर परम आनन्दमें मग्न रहते हैं। गोसाईंजी महाराजने इसीलिये कहा है—'निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन न जाने कोय।' अतएव जो 'सगुण' सहित निर्गुणको जानते हैं वे ही भगवान्के मतमें 'योगवित्तम' हैं !

अब यह देखना है कि गीताके व्यक्त भगवान्का क्या स्वरूप है, उनके उपासककी कैसी स्थिति और कैसे आचरण हैं और इस उपासनाकी प्रधान पद्धति क्या है ? क्रमसे तीनोंपर विचार कीजिये—

गीतोक्त साकार उपास्यदेव एकदेशीय या सीमाबद्ध भगवान् नहीं है। वे निराकार भी हैं और साकार भी हैं। जो साकारोपासक अपने भगवान्की सीमा बाँधते हैं वे अपने ही भगवान्को छोटा बनाते हैं। गीताके साकार भगवान् किसी एक मूर्ति, नाम या धाम विशेषमें ही सीमित नहीं हैं। वे सत्, चेतन, आनन्दघन, विज्ञानानन्दमय, पूर्ण, सनातन, अनादि, अनन्त, अज, अव्यय, शान्त, सर्वव्यापी होते हुए भी सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सृष्टिकर्त्ता, परम दयालु, परम सुहृद्, परम उदार, परम प्रेमी, परम मनोहर, परम रसिक, परम प्रभु और परम शूर-शिरोमणि हैं। वे जन्म लेते हुए दीखनेपर भी अजन्मा हैं, वे साकार व्यक्तरूपमें रहनेपर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं। वे एक या एक ही साथ अनेक स्थानोंमें व्यक्तरूपसे अवतीर्ण होकर भी अपने अव्यक्तरूपसे, अपनी अनन्त सत्तासे सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा स्थित हैं। मन्दिरमें,मन्दिरकी मूर्तिमें, उसकी दीवारमें,पूजामें,पूजाकी सामग्रीमें, और पुजारीमें बाहर-भीतर सभी जगह वे वर्तमान हैं। वे सगुण साकाररूपमें भक्तोंके साथ लीला करते हैं और निर्गुण निराकाररूपसे बर्फमें जलकी भाँति सर्वत्र व्याप्त हैं—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।' उन परम दयालु प्रभुको हम किसी भी रूप और किसी भी नामसे देख और पुकार सकते हैं। इस रहस्यको समझते हुए हम ब्रह्म, परमात्मा, आनन्द, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, राम, कृष्ण, शक्ति, सूर्य, गणेश, अरिहन्त, बुद्ध, अल्लाह, गॉड, जिहोवा आदि किसी भी नाम-रूपसे उनकी उपासना कर सकते हैं। उपासनाके फलस्वरूप जब उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृपासे उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होगा तब सारे संशय आप ही मिट जायँगे। इस रहस्यसे वञ्चित होनेके कारण ही मनुष्य मोहवश भगवान्‌की सीमा-निदश करने लगता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(गी० ४। ६)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
(गी० ७। २४)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गी० ९। ११)

'मैं अव्ययात्मा, अजन्मा और सर्वभूतप्राणियोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको अधीन करके (प्रकृतिके अधीन होकर नहीं) योगमायासे—लीलासे साकाररूपमें प्रकट होता हूँ।' 'अज, अविनाशी रहता हुआ ही मैं अपनी लीलासे प्रकट होता हूँ। मेरे इस परमोत्तम अविनाशी परम रहस्यमय भावको—तत्त्वको न जाननेके कारण ही बुद्धिहीन मनुष्य मुझ मन-इन्द्रियोंसे परे सच्चिदानन्द परमात्माको साधारण मनुष्यकी भाँति व्यक्तभावको प्राप्त हुआ मानते हैं।' 'ऐसे परम भावसे अपरिचित मूढ़ लोग मुझ 'मनुष्य-रूप-धारी' सर्वभूतमहेश्वर परमात्माको यथार्थतः नहीं पहचानते।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि गीताके सगुण साकार—व्यक्त भगवान्, निराकार—अव्यक्त अज और अविनाशी रहते हुए ही साकार मनुष्यादि रूपमें प्रकट हो लोकोद्धारके लिये विविध लीला किया करते हैं। संक्षेपमें यही गीतोक्त व्यक्त उपास्य भगवान्‌का स्वरूप है।

अब व्यक्तोपासककी स्थिति देखिये। गीताका साकारोपासक भक्त अव्यवस्थित चित्त, मूर्ख, अभिमानी, दूसरेका अनिष्ट करनेवाला, धूर्त, शोकग्रस्त, आलसी, दीर्घसूत्री, अकर्मण्य, हर्ष-शोकादिसे अभिभूत, अशुद्ध आचरण करनेवाला, हिंसक स्वभाववाला, लोभी, कर्मफलका इच्छुक और विषयासक्त नहीं होता, पापके लिये तो उसके अन्दर तनिक भी गुंजायश नहीं रहती। वह अपनी अहंता-ममता अपने प्रियतम परमात्माके अर्पण कर निर्भय, निश्चिन्त, सिद्धि-असिद्धिमें सम, निर्विकार, विषय-विरागी, अनहंवादी, सदाप्रसन्न, सेवा-परायण, धीरज और उत्साहका पुतला, कर्तव्यनिष्ठ और अनासक्त होता है, भगवान्‌ने यहाँ साकारोपासनाका फल और उपासककी महत्ता प्रकट करते हुए संक्षेपमें उसके ये लक्षण बताये हैं कि—'केवल भगवान्‌के लिये ही सब कर्म करनेवाला, भगवान्‌को ही परम गति समझकर उन्हींके परायण रहनेवाला, भगवान्‌का ही अनन्य और परम भक्त, सम्पूर्ण सांसारिक विषयोंमें आसक्तिरहित, सब भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित, मनको परमात्मामें एकाग्र करके नित्य भगवान्‌के भजन-ध्यानमें रत, परम श्रद्धा-सम्पन्न, सर्व कर्मोंका भगवान्‌में भलीभाँति उत्सर्ग करनेवाला और अनन्यभावसे तैलधारावत् परमात्माके ध्यानमें रहकर भजन-चिन्तन करनेवाला (गीता ११-५५, १२-२, १२-६। ७)। गीतोक्त व्यक्तोपासककी संक्षेपमें यही स्थिति है। भगवान्‌ने इसी अध्यायके अन्तके ८ श्लोकोंमें व्यक्तोपासक सिद्ध भक्तके लक्षण विस्तारसे बतलाये हैं।

अब रही उपासनाकी पद्धति। सो व्यक्तोपासना भक्तिप्रधान होती है। अव्यक्त और व्यक्तकी उपासनामें प्रधान भेद दो हैं—उपास्यके स्वरूपका और भावका। अव्यक्तोपासनामें उपास्य निराकार है और व्यक्तोपासनामें साकार। अव्यक्तोपासनाका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधक अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझकर 'अहं ब्रह्मास्मि' कहता है, तो व्यक्तोपासनाका साधक भगवान्‌को ही सर्वरूपोंमें अभिव्यक्त हुआ समझकर 'वासुदेव सर्वमिति' कहता है। उसकी पूजामें कोई आधार नहीं है और इसकी पूजामें भगवानके साकार मनमोहन विग्रहका आधार है। वह सब कुछ स्वप्नवत् मायिक मानता है तो यह सब कुछ भगवान्‌की आनन्दमयी लीला समझता है। वह अपने बलपर अग्रसर होता है, तो यह भगवान्‌की कृपाके बलपर चलता है। उसमें ज्ञानकी प्रधानता है, तो इसमें भक्तिकी। अवश्य ही परस्पर भक्ति और ज्ञान दोनोंमें ही रहते हैं। अव्यक्तोपासक समझता है कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ, गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, वास्तवमें कुछ है ही नहीं। व्यक्तोपासक समझता है कि मुझे अपने हाथकी कठपुतली बनाकर भगवान् ही सब कुछ करा रहे हैं, कर्ता, भोक्ता सब वे ही हैं। मेरेद्वारा जो कुछ होता है, सब उनकी प्रेरणासे, और उन्हींकी शक्तिसे होता है। मेरा अस्तित्व ही उनकी इच्छापर अवलम्बित है। यों समझकर वह अपना परम कर्तव्य केवल भगवान्‌का नित्य चिन्तन करना ही मानता है, भगवान् क्या कराते हैं या करायेंगे—इस बातकी वह चिन्ता नहीं करता, वह तो अपने मन-बुद्धि उन्हें सौंपकर निश्चिन्त हो रहता है। भगवान्‌के इन वचनोंके अनुसार उसके आचरण होते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गी० ८।७)

इस उपासनामें दम्भ, दर्प, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, असत्य और मोहको तनिक-सा भी स्थान नहीं है, उपासक इन दुर्गुणोंसे रहित होकर सारे चराचरमें सर्वत्र अपने उपास्य देवको देखता हुआ उनके नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन और ध्यानमें निरत रहता है। भजन-साधनको परम मुख्य माननेपर भी वह कर्त्तव्य-कर्मोंसे कभी मुख नहीं मोड़ता, वरं न्यायसे प्राप्त सभी योग्य कर्मोंको निर्भयतापूर्वक धैर्य-बुद्धिसे भगवान्‌के निमित्त करता है। उसके मनमें एक ही सकामभाव रहता है कि अपने प्यारे भगवान्‌की इच्छाके विपरीत कोई भी कार्य मुझसे कभी न बन जाय। उसका यह भाव भी रहता है कि मैं परमात्माका ही प्यारा सेवक हूँ, और परमात्मा ही मेरे एकमात्र सेव्य हैं, वे मुझपर दया करके मेरी सेवा स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करनेके लिये ही अपने अव्यक्त अनन्तस्वरूपमें स्थित रहते हुए ही साकार—व्यक्त-रूपमें मेरे सामने प्रकट हो रहे हैं। इसलिये वह निरन्तर श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का स्मरण करता हुआ ही समस्त कर्म करता है। भगवान्‌ने छठें अध्यायके अन्तमें ऐसे ही भजनपरायण योगीको सर्वश्रेष्ठ योगी माना है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गी० ६।४७)

समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धालु योगी मुझमें लगाये हुए अन्तरात्मासे निरन्तर मुझे भजता है वही मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ है। इस श्लोकमें आये हुए 'श्रद्धावान्' और 'मद्गतेनान्तरात्मना' के भाव ही द्वादश अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'श्रद्धया परयोपेता' और 'मय्यावेश्य मनः' में व्यक्त हुए हैं। 'युक्ततम' शब्द तो दोनोंमें एक ही है। व्यक्तोपासनामें भजनका अभ्यास, भगवान्‌के साकार-निराकार-तत्त्वका ज्ञान, उपास्य इष्टका ध्यान और उसीके लिये सर्व कर्मोंका आचरण और उसीमें सर्व कर्मफलका संन्यास रहता है। व्यक्तोपासक अपने उपास्यकी सेवाको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहता, इसीसे अभ्यास, ज्ञान और ध्यानसे युक्त रहकर सर्व कर्म-फलका परमात्माके लिये त्याग करते ही उसे परम शान्ति, परमात्माके परम पदका अधिकार मिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। यही भाव १२ वें श्लोकमें व्यक्त किया गया है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

रहस्यज्ञानरहित अभ्याससे परोक्ष ज्ञान श्रेष्ठ है, उससे परमात्माका ध्यान श्रेष्ठ है और जिस सर्व-कर्म-फलत्यागमें अभ्यास, ज्ञान और ध्यान तीनों रहते हैं वह सर्वश्रेष्ठ है, उस त्यागके अनन्तर ही परम शान्ति मिल जाती है। इसके बीचके ८ से ११ तकके चार श्लोकोंमें-ध्यान, अभ्यास, भगवदर्थ कर्म और भगवत्प्राप्तिरूप योगका आश्रय लेकर कर्मफलत्याग—ये चार साधन बतलाये गये हैं। जो जिसका अधिकारी हो, वह उसीको ग्रहण करे। इनमें छोटा बड़ा समझनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, जिसमें चारों हों, वह सर्वोत्तम है। वही परम भक्त है। ऐसे भक्तको जब परम सिद्धि मिल जाती है तब उसमें जिन सब लक्षणोंका प्रादुर्भाव होता है, उन्हींका वर्णन अध्यायकी समाप्तितकके अगले आठ श्लोकोंमें है। वे लक्षण सिद्ध भक्तमें स्वाभाविक होते हैं और साधकके लिये आदर्श हैं। यही गीतोक्त व्यक्तोपासनाका रहस्य है।

इससे यह सिद्धान्त नहीं निकालना चाहिये कि अव्यक्तोपासनाका दर्जा नीचा है या उसकी उपासनामें आचरणोंकी कोई खास भिन्नता है। अव्यक्तोपासनाका अधिकार बहुत ही ऊँचा है। विरक्त, धीर, वीर और सर्वथा संयमी पुरुष-पुंगव ही इस कण्टकाकीर्ण-मार्गपर पैर रख सकते हैं। उपासनामें भी दो-एक बातोंको छोड़कर प्रायः सादृश्यता ही है। व्यक्तोपासकके लिये 'सर्वभूतेषु निर्वैरः' की और 'मैत्रः करुण' की शर्त है, तो अव्यक्तोपासकके लिये 'सर्वभूतहिते रताः' की है। उसके लिये भगवान्में मनको एकाग्र करना आवश्यक है, तो इसके लिये भी समस्त 'इन्द्रियग्राम' को भलीभाँति वशमें करना ज़रूरी है। वह अपने उपास्यमें 'परम श्रद्धावान्' है, तो यह भी सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमें 'सम-बुद्धि' है।

वास्तवमें भगवान्का क्या स्वरूप है और उनकी वाणी गीताके श्लोकोंका क्या मर्म है, इस बातको यथार्थतः भगवान् ही जानते हैं अथवा जो महात्मा भगवत्कृपाका अनुभव कर चुके हैं वे कुछ जान सकते हैं। मुझ-सरीखा विषयरत प्राणी इन विषयोंमें क्या जाने। मैंने यहाँपर जो कुछ लिखा है सो असलमें पूज्य महात्मा पुरुषोंका जूठन-प्रसाद ही है। जिन प्राचीन या अर्वाचीन महात्माओंका मत इस मतसे भिन्न है, वे भी मेरे लिये तो उसी भावसे पूज्य और आदरणीय हैं। मैंने उनकी वाणीका अनादर करनेके अभिप्रायसे एक अक्षर भी नहीं लिखा है। अवश्य ही मुझे यह मत प्यारा लगता है, सम्भव है इसमें मेरी रुचि और इस ओरकी आसक्ति ही खास कारण हो। मैं तो सब सन्तोंका दासानुदास और उनकी चरण-रजका भिखारी हूँ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

राजिव-लोचन

(ले० श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी 'विशारद' एम-ए० एल-एल०-बी०)

राजिव लोचन हैं जिनके,
पद-पङ्कज हैं भवमोचनवारे।
संख सुचक्र गदा अरु पद्म,
लिये कर जो वनमाला हैं डारे॥
श्याम कलेवर पै जिनके,
पट पीतछटा है छटा छबि धारे।
मोर किरीट दिये सिर जो,
थिर ह्वै कै हिये सो समाहिं हमारे॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता-जयन्ती

(लेखक-श्रीविनोबाजी भावे)

कुरुक्षेत्रकी रणभूमिपर भगवान्‌ने जिस दिन अर्जुनको गीतोपदेश किया, वह दिन, विद्वानोंने यह माना है कि, मार्गशीर्ष शुक्ल ११ था। इसे ठीक मान लेनेमें कोई हर्ज़ नहीं है। इससे 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'—'महीनोंमें मैं मार्गशीर्षका महीना हूँ' इस वचनको भी विशेष अर्थ प्राप्त होता है। इस दिन हिन्दुस्थानमें सर्वत्र गीताका स्वाध्याय-प्रवचन हो, यह सूचना की गयी है।

यह सूचना ठीक ही है। परन्तु गीताधर्मका विचार केवल प्रवचनसे अथवा श्रवणसे नहीं होता—यह ध्यानमें रखना चाहिये। गीता जीवनका शास्त्र है, उसका प्रचार आचरणके बिना और किसी भी उपायसे नहीं हो सकता। गीता-धर्म सबके लिये है। किसीको उसका श्रवण करनेकी मनाही नहीं है। स्त्री, वैश्य, शूद्र अर्थात् जिस किसीमें वेदके गहरे कुएँसे पानी निकालनेकी सामर्थ्य न हो उसे यथेष्ट पानी मिलनेका सुभीता गीताके बहते हुए झरनेने कर दिया है। गीता-माताके पास छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं। पर सच-झूठका भेद है। तप करनेकी जिसमें सामर्थ्य नहीं, हृदयमें जिसके भक्तिका रस नहीं, श्रवणकी जिसे उत्कट इच्छा नहीं, बुद्धि जिसकी विशुद्ध (निर्मत्सर) नहीं, उसपर यह रहस्य, भूलकर भी प्रकट न करो, यह भगवान्‌की अर्जुनको चेतावनी है।

गीताके प्रचारका अर्थ है—निष्काम कर्मका प्रचार, भक्तिका प्रचार और त्यागका प्रचार। यह प्रचार पहले अपने अन्दर होना चाहिये। जिस दिन आत्मा उससे परिपूर्ण होकर प्रवाहित होने लगेगा, उस दिन वह सारे संसारमें फैल जायगा। आजतक हिन्दुस्थानमें गीताके असंख्य प्रवचन हुए। नाना प्रकारकी टीकाएँ भी लिखी गयीं। गीताके तात्पर्यके सम्बन्धमें समाचार-पत्रोंमें प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्री पण्डितोंके वाद-विवाद भी बहुत हो चुके हैं। पर इन सबसे निष्काम कर्मका क्या और कितना प्रचार हुआ? इसके विपरीत रजोगुणका ही जोर बढ़ा है। ताड़ बराबर चर्चाकी अपेक्षा तिल-बराबर आचरण ही श्रेष्ठ है।

गीताका रहस्य गीता-ग्रन्थमें छिपा हुआ नहीं, खुला हुआ है। भगवान् स्वयं ही बतलाते हैं कि वह रहस्य मैंने सूर्यको बताया है। वह इतना स्पष्ट है कि जिसके नेत्र होंगे वह उसे देख सकता है। और यदि वह छिपा हुआ ही हो तो वह गीता-ग्रन्थमें तो छिपा हुआ नहीं है; छिपा हुआ है, हृदयकी गुफामें। इस गुफाके द्वारपर दुराचरणके कंकड़-पत्थर जमा हैं। इन्हें हटाकर अन्दर देखना होगा। इसके लिये परिश्रम करना पड़ेगा। गीता 'कुरु'-क्षेत्रमें बतायी है। 'कुरु' माने कर्म करो। कुरुक्षेत्र माने कर्मभूमि। इस कर्म-भूमिका पर गीता बतायी गयी है और वहीं उसे परिश्रमके कानोंसे सुनना होगा।

बहुतोंका यह ध्यान है कि पादरी लोग जिस तरह बाइबलकी प्रतियाँ बिना मूल्य वितरण करते हैं, बाइबलका उपदेश करते फिरते हैं, कोई सुने न सुने उनका मुँह चला ही करता है, उसी तरह गीताके सम्बन्धमें भी करना चाहिये; इससे अपने धर्मका प्रचार होगा। पर यह केवल भ्रम है। पादरियोंने जो थोड़ा-सा धर्म-प्रचार किया भी वह उनके कुछ सात्त्विक सदाचारी पुरुषोंकी सेवासे ही बन पड़ा। अन्यथा दम्भसे उनकी हानि ही हुई है। उनका अनुकरण करनेमें हमारा कोई लाभ नहीं है।

इसलिये गीता-जयन्तीके दिन गीताके प्रचारकी बाह्य कल्पनापर अधिक जोर न देकर ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि उससे कुछ निष्काम सेवा हो। इसके साथ भक्तियुक्त चित्तसे यथाशक्ति गीताका कुछ पाठ कर लेना उपयुक्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रान्त पथिक

(लेखक–श्रीजगदीशजी झा 'विमल')

उसने कहा–'चलो आगे बढ़ो, इस तरह मौन-तपस्या कबतक करते रहोगे?' उसके इस वचनपर आँखें उठाकर देखा और खूब देखा, ध्यान भंग हुआ। आगे बढ़नेकी चेष्टा की, किन्तु न मालूम पाँव आगे क्यों नहीं बढ़े। चेष्टा व्यर्थ हुई, प्रयास विफल हुए। इतना ही नहीं, गौरकर देखनेसे पता लगा–पाँव नीचे खिसकते जा रहे हैं। गर्तमें गिर जानेकी आशंकासे शरीरके रोंगटे खड़े हो गये, ज़बान बन्द हो गयी। उसी समय एक मस्त मण्डली झूमती आँखोंके आगे आ अटकी। उसमेंसे किसीने मेरी ओर संकेत कर आवाज दी–'भय नहीं, आँखें मूँदकर मेरे पीछे सरपट-सपाटे लगाते आओ, मैं तुमको यथेष्ट सहायता पहुँचानेके लिये तैयार हूँ, बिना आगे-पीछे किये ही मेरे अनुगामी हो जाओ।'

मैं उसका कहना स्वीकार कर उसके चरण-चिह्नोंपर चलने लगा। कुछ आगे बढ़ते ही आश्चर्य-जनक दृश्य आँखोंके आगे दीखने लगा। दयाकी दरियामें लोल लहरें थिरकती दीखने लगीं। अनुराग-तरी विश्वासकी बलवती डाँड़से खेई जाकर उद्देश-सिद्धिकी ओर अग्रसर होती नजर आने लगी, किन्तु देखते-ही-देखते फिर वे पानीके बुलबुलेकी भाँति विलीन हो गये, स्वप्न था या मृगमरीचिका थी? धोखा खाया। इस पथपर चलकर जिसको अपनाया था वही अँगूठा दिखाने लगा। बड़ी विकट समस्या सामने आयी, प्रयास किया, पर प्राप्ति नहीं हुई। प्रयत्न किया, पर पुरस्कार नहीं पाया। सिद्धिकी साधनामें संलग्न रहा, पर सफलता नहीं मिली। उलझनोंको सुलझानेकी ज्यों-ज्यों युक्ति की, त्यों-त्यों विपत्तियाँ बाधा-विघ्नोंके साथ सिरपर गिरह मारने लगीं। चिन्ताकी चटकती चिता धू-धू कर धधकने लगी। दीपपतंगकी भाँति जीवनकी आशा, उमंग, साहस, और शक्ति उसमें क्रमशः जल कर भस्म होने लगीं। आँखें उन छाया-चिह्नोंपर अनमोल मोती-दानें भेंट धरने लगीं। दर्शक मेरी इस अवस्थापर मेरी ओर अंगुलियाँ उठा हँसने लगे, किसीने कहा–'पागल है रोने दो।' किसीने कहा–'अव्यवस्थित हृदय है।' किसीने कहा–'अशिक्षित अज्ञानी है, किसीने कहा–'भूखा भिखारी है।' किसीने कहा–'देहाती गँवार है' किसीने कहा–'भ्रान्त पथिक है, मार्गभूल गया है। इस मायामयी वसुन्धराके पेचीले पथका पता अभीतक इसको नहीं लगा है। इसीलिये विह्वल होकर विलपता है।'

उनके अन्तिम वचनसे मेरी आँखोंके आगेसे अन्धकारमय अज्ञानका परदा उठ गया। समझमें आने लगा–'मैं सचमुच भ्रान्त पथिक हूँ। अभीतक मुझको दुनियाका सच्चा परिचय मिला ही नहीं। यहाँ किसीपर भरोसा रखकर कार्य करनेवाला धोखा खाता है। इस स्वार्थ-पूर्ण संसारके माया-मन्दिरमें जो लोभ-मोहकी उपासना करता है वह ठगा जाता है, पीछे पश्चात्ताप कर और सिर पीट कर रोता है। यहाँ अपने बाहुबलसे अर्जित धन अपने कामका होता है। किसीकी सहायताकी आशा पंगु बनाकर छोड़ती है। यहाँ भाई भाईको, पुत्र पिताको भी भूलकर अपनी दुनिया अलग बसाते हैं और यही इस मायामयी सृष्टिकी उपासनाका प्रथम सोपान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

[मणि ९]

मन हिङ्कार है, वाणी प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और प्राण निधन है, यह गायत्र-साम प्राणोंमें स्थित है। जो पुरुष इस गायत्र-सामको इस रीतिसे प्राणोंमें स्थित मानकर उपासना करता है, उस उपासककी इन्द्रियोंकी शक्ति सदा पूर्ण रहती है, वह पूरी सौ वर्षकी आयु पाता है, अपना और दूसरोंका उपकार करनेवाला जीवन पाता है। सन्तान, पशु और कीर्तिसे उन्नति पाता है। सदा उदारचित्त रहना चाहिये, यही गायत्र-सामके उपासकका व्रत है। इति एकादश खण्ड।

जब अग्निको दो अरणियोंमेंसे निकालते हैं, तब अरणी मथी जाती हैं, यह मथना हिङ्कार है, इसलिये मथन-दृष्टिसे हिङ्कारकी उपासना करे। फिर धूम निकलता है इसलिये धूम-दृष्टिसे प्रस्तावकी उपासना करे। फिर जलते हुए अग्निमें हवि डालते हैं इसलिये हवि सम्बन्धी ज्वाला-दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे। अङ्गार-दृष्टिसे प्रतिहारकी उपासना करे। अग्निका अल्प तेज होना संशम कहलाता है और सर्वथा बुझ जाना उपशम कहलाता है, संशम और उपशमकी दृष्टिसे निधनकी उपासना करे। मथनसे अग्नि उत्पन्न होनेके समय रथन्तर-साम गाया जाता है इसलिये रथन्तर-साम अग्निमें स्थित है। जो पुरुष इस रथन्तर-सामको इसप्रकार अग्निमें भरा हुआ जानकर उपासना करता है, वह उपासक ब्रह्मतेजस्वी और दीप्ताग्नि होता है, पूरी सौ वर्षकी आयु पाता है, अपना और दूसरोंका उपकार करने योग्य निर्मल जीवन पाता है। उसके सन्तान, गौ आदि पशु और कीर्तिकी वृद्धि होती है, उसको यह नियम रखना चाहिये कि न तो कभी अग्निके सामने कुल्ला करे और न कभी अग्निमें थूक आदि उच्छिष्ट वस्तु डाले। इति द्वादश खण्ड।

ऊपर और नीचेकी अरणीरूप ग्राम्य-कर्ममें प्रवृत्त स्त्री-पुरुषोंका कर्म मन्थनके समान होता है इसलिये मन्थन-दृष्टिसे सामकी उपासना कहकर अब मैथुन-दृष्टिसे सामकी उपासना कहते हैं। जब पुरुष स्त्रीके साथ समागम करना चाहता है तो पहले संकेत करता है इसलिये संकेत-दृष्टिसे हिङ्कारकी उपासना करे। फिर स्त्रीको वस्त्रादि देकर प्रसन्न करता है इसलिये प्रसन्नता-दृष्टिसे प्रस्तावकी उपासना करे। स्त्रीके साथ एकान्तमें गमन किया जाता है, गमनकी दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे। स्त्री प्रसन्नतासे पुरुषके सम्मुख होती है, इस दृष्टिसे प्रतिहारकी उपासना करे, और मिथुन-समाप्तिकी दृष्टिसे निधनकी उपासना करे। यह वामदेव्य साम मिथुनमें स्थित है। जो साधक इस वामदेव्य सामको इसप्रकार मिथुनमें सन्निविष्ट जानकर उपासना करता है, उसको कभी स्त्रीका वियोग नहीं होता। उसका वीर्य कभी निष्फल नहीं जाता, जब वह समागम करता है तभी सन्तान होती है। ऐसा पुरुष पूर्णायु होता है, उज्ज्वल जीवन धारण करता है, उसकी सन्तान, पशु और कीर्ति बढ़ती है। धर्मपत्नी जिस समय समागम की इच्छासे आवे, उसको कभी निषेध न करे, यह उसका व्रत है। यह नियम केवल उपासना काल पर्यन्तका है, सर्वदाका नहीं है। इति त्रयोदश खण्ड।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले सूर्य उदय होता है इसलिये उदय होते हुए सूर्यकी दृष्टिसे हिङ्कारकी उपासना करे। सूर्योदय होनेपर कर्मोंका प्रस्ताव आरम्भ होता है इसलिये उदय हुए सूर्यकी दृष्टिसे प्रस्तावकी उपासना करे। मध्याह्न दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे। सायंकालको लौटकर घरमें आते हैं इसलिये अपराह्न दृष्टिसे प्रतिहारकी उपासना करे और सूर्यास्त-दृष्टिसे निधनकी उपासना करे, क्योंकि रात्रिमें सब प्राणी घरमें रहते हैं। बृहत्सामका सूर्य देवता है इसलिये यह बृहत्साम आदित्यमें स्थित है। जो पुरुष इस बृहत्सामको इसप्रकार आदित्यमें स्थित जानकर उपासना करता है, वह तेजस्वी, दीप्ताग्नि, पूर्णायु और निर्मल जीवनवाला होता है। सन्तान, पशु और कीर्तिद्वारा उसकी वृद्धि होती है। तपते हुए सूर्यकी निन्दा न करे, यही उसका व्रत है। इति चतुर्दश खण्ड।

मेघोंका जल लिये विचरना हिङ्कार है, मेघोंका घिर जाना प्रस्ताव है, बरसना उद्गीथ है, बिजली चमकना और गरजना प्रतिहार है और फिर मेघोंका सिमटकर चले जाना निधन है, इस दृष्टिसे उपासना करे। इसप्रकार वैरूप साम मेघमें स्थित है। जो इसप्रकार वैरूप सामको पर्जन्यमें स्थित मानकर उपासना करता है। वह विरूप और सुरूप पशुओंको पाता है। पूर्ण आयु जीता है, निर्मल जीवनसे जीता है। प्रजासे, पशुओंसे और कीर्तिसे बड़ा होता है। बरसते हुए मेघकी निन्दा न करे, यह उसका व्रत है। इति पञ्चदश खण्ड।

वसन्तऋतु हिङ्कार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरद् प्रतिहार है, और हेमन्त निधन है। यह वैराज साम ऋतुओंमें स्थित है। जो इसप्रकार इस वैराज सामको ऋतुओंमें स्थित जानकर उसकी उपासना करता है, वह पुत्र-पौत्र आदि सन्तान, अनेक प्रकारके पशु और स्वाध्याय आदिसे उत्पन्न हुए ब्रह्मतेजसे इस प्रकार शोभा पाता है जैसे ऋतुएँ अपने-अपने धर्मोंसे शोभा पाती हैं। पूर्ण आयु जीता है, उसका जीवन उज्ज्वल होता है। प्रजा, पशु और कीर्तिसे बड़ाई पाता है। ऋतुओंकी निन्दा न करे, यही उसका व्रत है। इति षोडश खण्ड।

ऋतुएँ अपने-अपने धर्ममें वर्तती हैं तो लोकोंका पालन होता है इसलिये ऋतु-दृष्टिके पीछे लोक-दृष्टि कहते हैं:—पृथिवी-दृष्टिसे हिंकारकी उपासना करे, अन्तरिक्ष-दृष्टिसे प्रस्तावकी उपासना करे, स्वर्ग-दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे, दिशा-दृष्टिसे प्रतिहारकी उपासना करे और समुद्र-दृष्टिसे निधनकी उपासना करे। इसप्रकार शक्वरी साम-लोकोंमें स्थित है। जो इसप्रकार इस शक्वरी सामको लोकोंमें स्थित जानकर उसकी उपासना करता है, वह सब लोकोंको पाता है। पूर्ण आयु जीता है। उसका जीवन निर्मल होता है। सन्तान, पशु और कीर्तिके कारण बड़ाई पाता है। लोकोंकी निन्दा न करे, यही उसका व्रत है। इति सप्तदश खण्ड।

पशुओंका पालन करना लोकोंका कार्य है, इस-लिये लोक-दृष्टिके अनन्तर पशु-दृष्टिसे सामकी उपासना कहते हैं। बकरियाँ हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन हैं, इस दृष्टिसे उपासना करे। यह रेवती साम पशुओंमें स्थित है। जो मनुष्य इसप्रकार इस रेवती नामक सामको सब पशुओंमें स्थित जानकर उसकी उपासना करता है, वह पशुओंवाला होता है। पूर्ण आयु जीता है। निर्मलताके साथ जीता है। प्रजा, पशु और कीर्तिसे बड़ाई पाता है। पशुओंकी निन्दा न करे, यही उसका व्रत है। इति अष्टादश खण्ड।

पशुओंके दुग्ध, दधि आदिसे अंगोंकी पुष्टि देखते हैं इसलिये पशु-दृष्टिके पीछे अंग-दृष्टि कहते हैं:—रोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, हड्डी प्रतिहार है और मज्जा निधन है, यह यज्ञायज्ञीय साम शरीरके अंगोंमें स्थित है। जो इसप्रकार इस यज्ञायज्ञीय सामको अंगोंमें स्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानकर उपासना करता है, वह पूर्ण अंगोंवाला होता है, हाथ,पैर आदि अंगोंसे कुटिल यानी टूँटा लुंजा नहीं होता। पूर्ण आयु जीता है। उसका जीवन निर्मल होता है। वह प्रजा, पशु और कीर्तिसे बड़ाई पाता है। यदि वह पहले मत्स्य-मांस आदि खाता रहा हो तो एक वर्षके लिये छोड़ दे, यह उसका साधारण व्रत है और यदि सर्वदा मांस-मत्स्य आदि न खाय तो यह उसका पूर्ण व्रत है। इति उन्नीसवाँ खण्ड।

अग्नि हिङ्कार है, वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार हैं और चन्द्रमा निधन है, यह राजन् नामक साम देवताओंमें स्थित है। जो इसप्रकार राजन् नामक सामको देवताओंमें स्थित मानकर उपासना करता है, वह इन अग्नि, वायु आदि देवताओंके समान लोकोंको प्राप्त करता है। उनके समान ऐश्वर्यवाला होता है। उनके साथ एकदेह-देही भावको प्राप्त होता है। पर्ण आयु जीता है। उज्ज्वल जीवन पाता है। सन्तान और पशुओंसे बड़ाई पाता है। कीर्ति पाता है। ब्राह्मण देवतारूप हैं, इसलिये ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे, यह उसका व्रत है। इति बीसवाँ खण्ड।

त्रयी नामक वेद विद्या हिङ्कार है, तीनों लोक प्रस्ताव हैं। अग्नि, वायु, आदित्य तीनों देवता उद्गीथ हैं। नक्षत्र, पक्षी और किरणें प्रतिहार हैं, और सर्प, गन्धर्व और पितृलोक निधन हैं, यह साम वेदविद्यादि सबमें प्रविष्ट है, जो इसप्रकार इस सामको वेदविद्या आदि सबमें भरा हुआ जानकर उपासना करता है, वह सबका ईश्वर हो जाता है। इस विषयमें यह मन्त्र है:—जो हिङ्कार आदि विभागसे पाँच प्रकारके कहे हुए त्रयीविद्या आदि तीन-तीन सामके अवयव हैं, उन पाँच त्रिकोंसे कोई वस्तु महान् तथा उत्कृष्ट नहीं है, जो इस सर्वरूप सामको जानता है, उसको सब दिशाओंमें रहनेवाले प्राणी भोग अर्पण करते हैं। मैं ही सर्व हूँ, इस भावसे उपासना करना ही उसका व्रत है। इति इक्कीसवाँ खण्ड।

बैलके डँकारनेके समान स्वरवाला जो गायन है, वह सामके सम्बन्धवाला पशुओंका हितरूप अग्नि-देवताका उद्गान है, उसकी मैं प्रार्थना करता हूँ। प्रजापति-देवतावाला यह उद्गीथ अस्पष्ट है यानी अमुकके समान है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सोम-देवतावाला स्पष्ट उद्गान है। कोमल और मधुर वायु-देवताका गान है। कोमल और अधिक प्रयत्न-वाला इन्द्र-देवताका उद्गान है। क्रौञ्च-पक्षीके शब्दके समान बृहस्पति देवताका गान है और फूटे हुए काँसेके समान वरुण देवताका गान है। साधक इन सबका उच्चारण करे, एक वरुणके गानको अवश्य त्याग दे। देवताओंके लिये अमृतत्व प्राप्त करूँगा, ऐसा कहकर उद्गान करे। पितरोंके लिये स्वधा प्राप्त करूँगा, मनुष्योंके लिये इच्छित पदार्थ प्राप्त करूँगा, पशुओंके लिये तृण और जल प्राप्त करूँगा, यजमानके लिये स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा और अपने लिये अन्न प्राप्त करूँगा। इस प्रकार मनसे ध्यान करता हुआ स्वर, ऊष्म, व्यञ्जन, स्थान और प्रयत्न आदिमें सावधान रहकर स्तुति करे। उद्गानके समय कोई उद्गाताके ऊपर आक्षेप करे तो उसके उपायके लिये स्वर आदिके देवताका ज्ञान कहते हैं:—

अकारादि स्वर इन्द्रके आत्मा यानी शरीरके अवयव हैं; श, ष, स, ह, ये सब ऊष्म अक्षर प्रजापतिके आत्मा है, क आदि व्यञ्जनरूप स्पर्श अक्षर मृत्युके आत्मा हैं, यदि कोई उद्गाताके स्वरोंमें आक्षेप करे तो ऐसा उत्तर देवे कि मैं इन्द्रका आश्रय करके स्वरोंका प्रयोग करता हूँ, वही तुझे उत्तर देगा। यदि कोई उद्गाताके ऊष्म अक्षरोंमें आक्षेप करे तो आक्षेप करनेवालेसे कहे कि मैं प्रजापतिकी शरण लेता हुआ ऊष्म-अक्षरोंका प्रयोग करता हूँ, वह तुझे चूर्ण करेगा। यदि कोई ककारादि व्यञ्जन-रूप स्पर्श-अक्षरोंके विषयमें आक्षेप करे तो उससे कहे कि मैं मृत्यु-देवताकी शरण लेता हुआ स्पर्श-अक्षरोंका उच्चारण करता हूँ, वह तुझे भस्म कर डालेगा। स्वरोंका उच्चारण करते समय मैं इन्द्रमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल स्थापन करता हूँ, ऐसा चिन्तन करके सब स्वरोंको घोष-प्रयत्नवाले और बलके साथ उच्चारण करे। मैं प्रजापतिके शरीरके अवयवोंको अपना जीवन अर्पण करता हूँ, ऐसा ध्यान करके ऊष्म-अक्षरोंको कण्ठके भीतर न प्रवेश किये हुए विवृत-प्रयत्नवाले उच्चारण करें। मैं मृत्युके शरीरके अवयवोंको अपने शरीरमेंसे बाहर निकालता हूँ, ऐसा ध्यान करके स्पर्श-अक्षरोंको धीरेसे अलग-अलग उच्चारण करे। इति बाईसवाँ खण्ड।

यहाँतक अधिकारीके अधिकारके अनुसार शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेवाली उपासनाएँ कहीं। अब स्वतन्त्र अधिकारीके लिये ॐकारकी उपासना करनेके लिये पहले धर्मके तीन विभाग और प्रणवोपासकको अमृतकी प्राप्ति कहते हैं। धर्मके तीन विभाग हैं। उनमें प्रथम अध्ययन और दान हैं यानी अग्निहोत्रादि यज्ञ, नियमपूर्वक ऋग्वेद आदिका अभ्यासरूप अध्ययन और यज्ञकी वेदीके बाहर भिक्षुकोंको यथाशक्ति अन्न आदि देनारूप दान यह गृहस्थ-सम्बन्धी धर्मका पहला विभाग है। कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतरूप तप वानप्रस्थ अथवा संन्यासी सम्बन्धी दूसरा विभाग है। ब्रह्मचर्य धारण करके जीवनपर्यन्त आचार्यके घर रहकर शरीरान्त कर देना तीसरा धर्म-विभाग है, इन तीनों धर्मोंसे तीनों आश्रमवाले पुण्यलोकोंको प्राप्त करते हैं। उनमेंसे गृहस्थी यज्ञ, अध्ययन और दानद्वारा चन्द्रलोकको पाता है। तपस्वी तपस्याके द्वारा सूर्यलोकमें जाता है। और नैष्ठिक ब्रह्मचारी निष्ठाके द्वारा ऋषिलोकमें जाता है। यदि कोई इनमेंसे ब्रह्मज्ञानी हो जाता है तो वह मोक्ष पाता है। ऊपर जो तीन प्रकारके धर्मोंसे पुण्यलोकोंकी प्राप्ति कही गयी है, उनमें गृहस्थ-धर्मके द्वारा तीनों लोकोंमें ही आना-जाना होता रहता है। उपकुर्वाण यानी समावर्तनतक स्थायी ब्रह्मचर्यके द्वारा त्रिलोकीके बाहर महर्लोकमें जाना होता है और नैष्ठिक—आजन्म ब्रह्मचर्यके द्वारा जनलोकमें गति होती है और ज्ञानी तो प्रकृतिके पार हो जाता है। किसप्रकार प्रकृतिके पार हो जाता है, यह बात दिखाते हैं:—सब लोकोंका सार क्या है, इस बातको जाननेके लिये विराट् यानी कश्यप प्रजापतिने ध्यानरूप तप किया अर्थात् वे शब्दात्मक सब लोकोंका ध्यान करने लगे। ध्यान करते-करते उन सब लोकोंसे उनका सारभूत ऋग्, यजु, सामरूप त्रयीविद्या प्रजापतिके अन्तःकरणमें प्रकाशित हुई। पश्चात् प्रजापति त्रयीविद्याका सार संग्रह करनेकी इच्छासे उसका ध्यानरूप तप करने लगे। ध्यान करते-करते उस त्रयीविद्यामेंसे उसके साररूप भूः, भुवः, स्वः ये व्याहृतिरूप तीन अक्षर प्रजापतिके मनमें प्रकाशित हुए। पश्चात् प्रजापति उन तीन व्याहृतियोंका स्वर ग्रहण करनेके लिये उनका ध्यान करने लगे। ध्यान करते-करते उन तीन व्याहृतियोंमेंसे उनका सारभूत ओङ्कार प्रजापतिके मनमें प्रकाशित हुआ। जैसे पत्तोंकी दण्डीसे पत्तोंके सब अवयव व्याप्त होते हैं इसी प्रकार परमात्माके प्रतीक ओङ्कारके द्वारा सकल शब्दभण्डार व्याप्त हो रहा है। परमात्माका कार्य होनेसे जगत् परमात्मासे भिन्न नहीं है, और परमात्मा ओङ्कारसे भिन्न नहीं है इसलिये ओङ्कार ही सर्वरूप है, सब ओङ्कार ही है। इति तेईसवाँ खण्ड।

ब्रह्मवादी कहते हैं कि प्रातःकालका जो सवन है, वह वसु देवताओंका है, उन वसुओंने इस प्रातःसवनके सम्बन्धी भूलोकको वशमें कर रक्खा है। मध्य दिनका सवन रुद्रोंका है, उन रुद्रोंने मध्य दिन सवनके सम्बन्धी अन्तरिक्ष लोकको वशमें कर रक्खा है। तीसरा सायंकालका सवन आदित्य तथा विश्वेदेवताओंका है, उन्होंने सायं-सवन-सम्बन्धी स्वर्गलोकको वशमें कर रक्खा है। इसलिये यजमानके लिये कोई लोक शेष नहीं रहता। प्रातः, मध्याह्न, सायंकालमें सोमसे देवताओंके लिये जो तर्पणरूप क्रिया की जाती है, वह उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समयका सवन कहलाती है। जब सब लोक वसु आदिने वशकर रक्खें हैं तो देहपातके पीछे यजमानका लोक कहाँ है जिस लोकके लिये वह यजन करता है? इसप्रकार लोकका अभाव होनेके कारण जो यजमान उस साम, होम, मन्त्र और उत्थानरूप लोक स्वीकारके उपायको न जाने, वह अज्ञानी यज्ञ कैसे कर सकता है। इसलिये अब आगे जो सामादि कहेंगे, उन सामादिको जाननेवाला ही यज्ञ कर सकता है।

प्रातःकालके समय किये जानेवाले यज्ञके उपयोगी अनुवाक यानी गान रहित ऋचाओंके समूहका उच्चारण करनेसे पहिले गार्हपत्य अग्निके पीछेके भागमें उत्तराभिमुख बैठकर वह यजमान वसु देवतावाले यानी वसु आदि नामक भगवत्सम्बन्धी सामका गान करे। वह गान यह है—हे अग्ने! पृथिवी लोककी प्राप्तिके लिये द्वार खोलिये, उस द्वारसे हम आपको पृथिवी लोककी प्राप्तिके लिये देखें।' पश्चात् इस मन्त्रसे आहुति देवेः—'पृथिवीमें निवास करनेवाले तथा लोकमें निवास करनेवाले अग्निदेवको नमस्कार है। हे भगवन्! आप मुझ यजमानको लोक प्राप्त कराइये। यह मुझ यजमानका लोक है, जिसमें मैं मरनेके बाद जानेवाला हूँ। इसलोकमें मैं जो यजमान हूँ, वह मैं आयुकी समाप्तिपर मरणको प्राप्त होकर परलोकमें जानेवाला हूँ। उस समय मनोरथकी सिद्धिके लिये यह सुन्दर आहुति अर्पण करता हूँ। हे अग्ने! भूलोककी अर्गलाको दूर करो।' यह मंत्र पढ़कर वह उठता है। इसप्रकार इस साम, होम और मंत्रके प्रभावसे वसुओंसे प्रातः सवनके सम्बन्ध वाला पृथिवी लोक खरीदा हुआ-सा हो जाता है इसलिये उसको वसु-प्रातः-सवन कहते हैं।

मध्य दिनके सवनके आरम्भसे पहिले दक्षिणाग्नि-के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वह यजमान अन्तरिक्ष लोककी प्राप्तिके लिये रुद्र देवतावाले सामको उत्तम रीतिसे गाता है—'हे अग्निदेव! अन्तरिक्ष लोककी प्राप्तिके लिये द्वार खोलिये, उस द्वारसे हम आपको अन्तरिक्ष लोककी प्राप्तिके लिये देखें।' फिर इस मन्त्रसे होम करता हैः—'अन्तरिक्षमें बसनेवाले तथा लोकमें बसनेवाले वायुको नमस्कार है, मुझ यजमानको लोक प्राप्ति कराइये। यह यजमानका लोक है जिसमें मैं मरनेके पीछे जाऊँगा। इस लोकमें मैं जो यजमान हूँ, वह आयु पूरी होनेपर मरणके पीछे जानेवाला हूँ। इसलिये मैं यह आहुति देता हूँ, अन्तरिक्ष लोककी अर्गलाको दूर करो।' यह मन्त्र उच्चारण करके उठता है। इसप्रकार साम, होम और मंत्रसे मध्य दिनके सवनके सम्बन्धवाला अन्तरिक्ष लोक रुद्रोंसे खरीदा हुआ-सा हो जाता है इसलिये उसको रुद्र मध्य दिनका सवन अर्पण करते हैं।

सायंकालके तीसरे सवनके आरम्भसे पहले आहवनीय अग्निके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वह यजमान क्रमसे स्वाराज्य और साम्राज्यकी प्राप्तिके लिये आदित्य-देवतावाले सामका और विश्वेदेवा देवतावाले सामका उत्तम रीतिसे गान करता है—'हे अग्निदेव! स्वर्गलोककी प्राप्तिके लिये द्वार खोल दीजिये, उस द्वारसे हम आपको स्वर्गलोककी प्राप्तिके लिये देखें।' इसप्रकार आदित्य-देवतावाले सामका गान करनेके पीछे विश्वेदेवा देवतावाले सामका गान करता है—'हे अग्ने! स्वर्गलोककी प्राप्तिके लिये द्वार खोलिये, इस द्वारसे हम आपको स्वर्गलोककी प्राप्तिके लिये देखें।' फिर इस मन्त्रसे होम करता हैः—'स्वर्गमें बसनेवाले तथा स्वर्गलोकमें बसनेवाले आदित्योंको और विश्वेदेवा देवताओंको भी प्रणाम है, मुझ यजमानके लिये लोक प्राप्त कराइये, यह यजमानका लोक है। इस लोकमें मैं यजमान आयुकी समाप्ति होनेपर मरनेके पीछे जाऊँगा। स्वाहा, स्वर्गलोककी प्रतिबन्धकरूप अर्गलाको हटा दीजिये।' यह मन्त्र पढ़कर उठता है। इसीप्रकार इन साम, होम, मन्त्र और उत्थानसे आदित्य तथा विश्वेदेवा देवताओंसे तीसरे सवनके सम्बन्धको प्राप्त होकर स्वर्गलोक खरीदा हुआ-सा हो जाता है इसलिये उसको आदित्य और विश्वेदेवा देवता तीसरा सायं सवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्पण करते हैं। जो उक्त साम आदिको इसप्रकार जानता है, ऐसा यह प्रसिद्ध यजमान यज्ञके कहे हुए स्वरूपको जानता है, इसलिये उसको इसके अनुष्ठानसे उसका फल मिल सकता है। इति चौबीसवाँ खण्ड। (इति द्वितीय अध्याय)

अथ तीसरा अध्याय

यहाँतक कर्माङ्ग-उपासनाओंको कहकर उनका फलस्वरूप आदित्यादि सम्बन्धी स्वतन्त्र उपासनायें कहते हैं:-'यह प्रसिद्ध सूर्य ही आनन्दका हेतु होनेसे देवताओंका मधु है, स्वर्गलोक उस मधुका आधारभूत तिरछा बाँस है यानी जैसे मधुचक्र—शहदका छत्ता तिरछे काठमें लटका होता है वैसे ही सूर्यरूप मधुचक्र द्युलोकके आश्रयमें है, अन्तरिक्ष उसका अपूप है यानी छिद्रयुक्त पुएके समान है और सूर्यकी किरणोंका जल यानी भौम-रस उसके पुत्र यानी पुत्ररूप मधु-मक्षिकाओंके अण्डे हैं। इस सूर्यकी पूर्व दिशामें जो किरणें हैं, वे ही पूर्व दिशाकी मधुनाड़ियाँ यानी शहदके छत्तेके छिद्र हैं। ऋचा नामके सब मंत्र ही मधु बनानेवाली मक्षिकाएँ हैं। ऋग्वेदमें विधान किये हुए कर्म ही पुष्प हैं, कर्मोंके व्यवहारमें आनेवाले सोम आदि जल ही अमृतरूप जल हैं। उनमेंके रसको लेकर ये मधु-मक्षिकारूप ऋचाएँ रस उत्पन्न करती हैं यानी जैसे मधुमक्षिकाएँ पुष्पोंमेंसे रस लेकर मधु बनाती हैं, इसी प्रकार ऋचा नामक मन्त्र ऋग्वेदमें विधान किये हुए कर्मोंमेंसे फलरूप रस लेकर आदित्यके आश्रय रहनेवाले मधुको उत्पन्न करते हैं। कर्मोंमें प्रयोग किये हुए ये सब ऋग्मन्त्र ही सोम और धृति आदिके साथ अग्निमें अर्पित हो पककर अमृतमय रस बन जाते हैं। जैसे मधु-मक्षिकाएँ फलोंमेंसे रस लेती हुई, उस तपे हुए रसको मधुरूपमें परिणत करती हैं इसी प्रकार ऋचा नामक मन्त्र सब कर्मोंमें स्थित जलमय रसको ग्रहण करते हैं और उस रसको तपाकर फलरूप मधुमें परिणत कर देते हैं। वह कर्मोंमेंका जलमय रस तप कर कीर्ति, शरीरका तेज, इन्द्रियोंकी शक्ति, बल और भक्षण करने योग्य अन्न आदि रसरूपसे परिणत हो जाता है, यही मधु है। यशसे लेकर अन्न पर्यन्त रस विशेषरूपसे फैलकर, चारों तरफसे आदित्यका आश्रय लेता है। उदय होते समय आदित्यका यह जो लाल लाल रूप दीखता है, वही यह रस है। इति प्रथम खण्ड।

जो आदित्यकी दक्षिण दिशाकी किरणें हैं वे ही इस शहद-मुहालकी दक्षिणकी मधुनाड़ी है। यजुर्वेदके कर्मोंमें प्रयोग किये जानेवाले मन्त्र ही मधु-मक्खियाँ हैं। यजुर्वेदके विहित कर्म ही पुष्प हैं। सोम आदि जल ही अमृतरूप जल देते हैं। उन्हीं इन मधु-मक्षिकारूप यजुओंने यजुर्वेदको तपाया यानी यजुर्वेदमें विधान किये हुए कर्मोंका निपीड़न किया अर्थात् उनकी आलोचना की। उन आलोचित यागादि कर्मोंसे कीर्ति, तेज, इन्द्रिय, बल और भक्षण करने योग्य अन्न उत्पन्न हुआ। कीर्तिसे लेकर अन्नपर्यन्तका वह रस इधर उधरको गमन करके आदित्यका सब ओरसे आश्रय करता है। सूर्यका यह जो श्वेतरूप दीखता है, यह वही रस है। इति दूसरा खण्ड।

जो आदित्यकी पश्चिम दिशाकी किरणें हैं, वे ही इस शहद-मुहालकी पश्चिमकी मधुनाड़ियाँ हैं। सामवेदी कर्मोंमें प्रयोग किये जानेवाले मन्त्र ही मधुमक्षिकाएँ हैं। सामवेदके विहित कर्म ही पुष्प हैं। सोम आदि जल ही अमृतरूप जल हैं। उसमेंके रसको लेकर उन्हीं सामवेदके कर्मोंमें प्रयुक्त मन्त्रोंने इस सामवेदमें विहित कर्मोंकी आलोचना की। उन आलोचित याग आदि कर्मोंका यश, तेज, इन्द्रिय, बल, और भक्षण करने योग्य अन्नरूप रस उत्पन्न हुआ। यशसे लेकर अन्नपर्यन्त रस विशेषरूपसे फैलता हुआ आदित्य मण्डलका सब ओरसे आश्रय लेकर स्थित होता है। आदित्यका जो कृष्णरूप है, वह यही रस है। इति तीसरा खण्ड।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो इस आदित्यकी उत्तरकी दिशाकी किरणें हैं, वे ही इसकी उत्तरकी ओरकी मधुनाड़ियाँ हैं। अथर्वा और अङ्गिराके देखे हुए कर्मोंमें प्रयोग किये जानेवाले मन्त्र ही मधुमक्षिकाएँ हैं। इतिहास और पुराणके सम्बन्धी कर्म ही पुष्प हैं और सोम आदिका जल ही अमृतरूप जल है। उन अथर्वा और अङ्गिराके देखे हुए मन्त्रोंने इतिहास-पुराणका आलोचन किया। उन आलोचित कर्मोंका कीर्ति, तेज, इन्द्रिय, बल, और भक्षण करने योग्य अन्नरूप रस उत्पन्न हुआ। कीर्तिसे लेकर अन्नपर्यन्त रस आदित्यमण्डलमें जा चारों ओरसे आश्रय करके स्थित होता है। आदित्यका जो अति काला रूप साधकोंको दीखता है, वही यह रस है। इति चौथा खण्ड।

आदित्यके ऊपरके भागकी जो किरणें हैं, वे ही उसकी ऊपरकी मधुनाड़ियाँ हैं, लोकके द्वारको खोलिये, इत्यादि विधियाँ और कर्माङ्गसम्बन्धी सब उपासनाएँ ही मधुमक्खियाँ हैं, प्रणव नामक ब्रह्म ही पुष्प है। ये सब उपासनाएँ अमृतरूप रसमें परिणत हो जाती हैं। उस रसको लिये हुए ये सब उपासनाएँ ही प्रणव ब्रह्मको अभितप्त करती हैं, उस तपे हुए प्रणवमेंसे कीर्ति, तेज, इन्द्रिय, बल और अन्नरूप रस उत्पन्न होता है। कीर्तिसे लेकर अन्नपर्यन्त रस आदित्यमण्डलमें जाकर आदित्यके आश्रयसे रहता है। शास्त्रोक्त विषयमें एकाग्र चित्तवाले पुरुषका आदित्यके मध्यमें जो क्षोभ होता है, वही यह रस है। आदित्यके ये लोहित आदिरूप ही रसोंमें श्रेष्ठ रस हैं, कर्म आदि भावको प्राप्त हुए वेद ही त्रिलोकीके सारभूत होनेके कारण रस हैं, उन वेदोंमें ये लोहित आदि रूप रस हैं, इनसे ही अन्न आदि रसोंकी उत्पत्ति होती है। ये ही अमृतोंके अमृत हैं और इनके लोहित आदि रूप अमृत हैं, वेद ही अमृत हैं, वेदोंसे ही सब अमृतोंकी उत्पत्ति होती है। इति पाँचवाँ खण्ड।

आदित्यमें जो लोहितरूप पहला अमृत है, उसको प्रातःसवनके अधिपति वसु-देवता अग्निरूप मुखसे ग्रहण करते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि न तो देवता खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि सूर्यका जो लोहितरूप है, वही कीर्ति, तेज, इन्द्रिय तथा शरीरका सामर्थ्य और शरीरकी स्थितिका हेतु अन्नरूप है, वही मधु अथवा अमृतरूप है। शरीर और शरीरके दोषोंसे रहित देवता अपनी इन्द्रियमात्रसे उस अमृतका अनुभव करके तृप्त हो जाते हैं। वे वसु इसी रूपकी तरफ देखकर भोगका समय न जानकर उपरामको प्राप्त होते हैं और जब भोगका समय आता है तब अमृतके भोगके लिये इस रूपकी ओर देखनेको उत्साहवाले होते हैं। जो इस अमृतकी इस रीतिसे उपासना करता है, वह वसुओंमेंका एक होकर अग्निरूप मुखसे ही इस अमृतका इन्द्रियोंद्वारा अनुभव करके तृप्त होता है। इस रूपको देखकर भोगके अभावकालमें उपरामको प्राप्त होता है और भोगकालमें इसी रूपके प्रति उत्साहवाला होता है। वह भी वसुओंके समान सबका अनुभव करता है। जबतक आदित्यका पूर्वमें उदय होता है और पश्चिममें अस्त होता है तबतक वह उपासक प्रसिद्ध वसुओंकी प्रभुता और स्वाराज्यको पाता है, यानी वसुओंके अधीन और उनका भोग्यरूप नहीं होता। इति छठा खण्ड।

अब जो दूसरा शुक्लरूप अमृत है, उसको मध्यदिन-सवनके नियन्ता रुद्र इन्द्ररूप मुखसे ग्रहण करते हैं, वे देवता न खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु उस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। वे रुद्र इसी रूपकी ओर देखकर भोगका समय न जानकर उपरामको प्राप्त होते हैं और भोगका समय होनेपर अमृतके भोगके लिये इस रूपके प्रति उत्साहवाले होते हैं। जो इस अमृतको इसप्रकार जानकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपासना करता है, वह रुद्रोंमेंका एक रुद्र होकर इन्द्ररूप मुखके द्वारा ग्रहण करनेके अनन्तर इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाता है। भोग-काल न होनेपर इस रूपमें ही प्रवेश करता है और भोगकालमें इस रूपसे ही उदयको प्राप्त होकर उत्साहवाला होता है। जबतक आदित्य पूर्व दिशामें उदय और पश्चिम दिशामें अस्त होता रहेगा और उससे दूने कालतक दक्षिणमें उदय और उत्तरमें अस्त होता रहेगा, तबतक वह उपासक रुद्रोंके आधिपत्य तथा स्वाराज्यको प्राप्त होगा। इति सातवाँ खण्ड।

जो तीसरा अमृत है, उससे वरुणरूप मुखसे आदित्य अपना जीवन करते हैं। देवता न खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु इस अमृतको देखकर ही तृप्त रहते हैं। वे आदित्य भोग न होनेके अवसरमें इस रूपके प्रति उपरामको प्राप्त होते हैं और भोग-कालमें इस रूपके प्रति उत्साहवाले होते हैं। जो इस अमृतको इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह आदित्योंमेंका एक आदित्य होकर वरुणरूप मुखसे सब इन्द्रियोंद्वारा इस अमृतका अनुभव करके तृप्त हो जाता है और भोगकाल न होनेपर इस रूपमें प्रवेश करके उपरामको प्राप्त हो जाता है और भोगकालमें इस रूपमेंसे ही उदयको प्राप्त हो जाता है। जबतक सूर्य दक्षिणमें उदय और उत्तरमें अस्त होता रहेगा और उससे दूने समय पश्चिममें उदय और पूर्वमें अस्त होता रहेगा तबतक वह उपासक आदित्योंकी प्रभुता और स्वाराज्य-को पावेगा। इति आठवाँ खण्ड।

जो चौथा अमृत है, इससे सोमरूप मुख द्वारा देवता जीवन धारण करते हैं। देवता न खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु इस अमृतको देखकर ही तृप्त रहते हैं। वे भोग न होनेके समय इसी रूपमें प्रवेश करक उपरामको प्राप्त होते हैं और भोगकालमें इसी रूपमेंसे उदयको प्राप्त होते हैं। जो इस अमृतको इसप्रकार जानकर उपासना करता है वह मरुतोंमेंका एक होकर सोमरूप मुखद्वारा सब इन्द्रियोंसे इस अमृतका अनुभव करके तृप्त हो जाता है। भोग-काल न होनेपर वह इस रूपके प्रति उदासीन रहता है और भोगकालमें उत्साहयुक्त होता है। जबतक सूर्य पश्चिममें उदय और पूर्वमें अस्त होता रहेगा और उससे दुगुने समय तक उत्तरमें उदय और दक्षिणमें अस्त होता रहेगा तबतक वह उपासक मरुतोंकी प्रभुता और स्वाराज्यको पावेगा। इति नवाँ खण्ड।

जो पाँचवाँ अमृत है, उसको साध्य देवता ब्रह्मरूपसे ग्रहण करते हैं। देवता न खाते हैं, न पीते हैं, इस अमृतको देखकर ही तृप्त रहते हैं। वे भोग न होनेके समय इस रूपमें ही उपरामको प्राप्त होते हैं और भोगके समय इस रूपमेंसे ही उदय होते हैं। जो इस अमृतको इसप्रकार जानकर उपासना करता है, वह साध्य देवताओंमेंका ही एक साध्य देवता होता है और ब्रह्मरूप मुखसे इस अमृतको ग्रहण करता हुआ सब इन्द्रियोंसे उसका अनुभव करके ही तृप्त हो जाता है। भोगका काल न होने पर वह इस रूपमें प्रवेश करके उपरामको प्राप्त होता है और भोगकालमें इस रूपमें ही उदयको प्राप्त होता हुआ उत्साहयुक्त होता है। जबतक आदित्य उत्तरमें उदय और दक्षिणमें अस्त होता रहेगा और उससे दुगुने समय तक ऊपरको उदय और नीचेको अस्त होता रहेगा तबतक वह उपासक साध्य देवताओंके प्रभुत्व और स्वाराज्य-को पावेगा। इति दसवाँ खण्ड।

सूर्य प्राणियोंको उनके कर्मका फल देता है, यह सूर्यका अनुग्रह है। जिन प्राणियोंके लिये सूर्य उदय होता है, जब उन प्राणियोंका अभाव हो जाता है तब सूर्य ब्रह्मरूप होकर अपनी महिमामें स्थित हो जाता है, फिर न उदय होता है न अस्त होता है, किन्तु अद्वितीय होकर आत्मस्वरूपमें ही स्थित होता है। ब्रह्मलोकमें सूर्यका उदय और अस्त नहीं होता, वहाँ किसी उपासकने यह मन्त्र कहा है:—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें सन्देह नहीं है कि उस ब्रह्मलोकमें सूर्य रात्रि-दिन करके मनुष्यकी आयुका नाश नहीं करता। वहाँ किसी भी कारणसे कभी भी सूर्यका अस्त नहीं होता और उदय भी नहीं होता। हे देवताओ! मैं सत्य कहता हूँ, उस सत्यके प्रभावसे मैं ब्रह्मकी प्राप्तिसे विमुख न होऊँ। जो इस वेदके रहस्यरूप मधुविद्याको इसप्रकार जानता है उस उपासकके लिये निःसन्देह सूर्यका उदय तथा अस्त नहीं होता, किन्तु उसके लिये सर्वदा दिन ही रहता है। यह प्रसिद्ध मधु-विज्ञान ब्रह्माने प्रजापतिसे कहा था। प्रजापतिने मनुसे और मनुने अपनी सन्तानसे कहा था। इस ब्रह्म-विज्ञानको अरुणि मुनिने अपने बड़े पुत्र उद्दालकसे कहा था। यह ब्रह्म-विज्ञान पिता पुत्रसे अथवा गुरु योग्य शिष्यसे कहे, पुत्र अथवा शिष्यके सिवा अन्यसे न कहे, यदि कोई समुद्रसे घिरी हुई और धनसे भरी हुई यह समस्त पृथिवी मधु-विद्याके बदलेमें देवे तो भी आचार्य उसको यह मधु-विद्या न देवे, क्योंकि यह मधु-विद्या उस धन-भरे भूमण्डलसे भी अधिक मूल्यका पदार्थ है। इति ग्यारहवाँ खण्ड।

खैयामकी रुबाइयाँ

लेखक—बलदेवप्रसाद मिश्र एम० ए०, एल० एल० बी०, एम० आर० ए० एस०

दोनों लोकोंकी चिन्तामें जिनका बीता समय महान।
कहाँ तर्कवागीश गये वे कहाँ सन्त वे ज्ञाननिधान?
तिरस्कार पाकर बिखरे हैं उनके वे सिद्धान्त समूल।
और उन्हींके मुखमें देखो भरी आज धरतीकी धूल ॥१॥

जहाँ भीम अर्जुन रहते थे वहाँ आज हैं बसे शृगाल।
विक्रमके वैभवपर नाचा करते हैं अब व्याल कराल॥
गजनीकी समाधि अवनीपर गधे विचरते हैं स्वच्छन्द।
फिर भी उनकी ठोकर खाकर नींद न होती उसकी मन्द ॥२॥

बने हुए थे जो हम सबके प्रेमाधार प्रमुद आगार।
ऐसे आये कई यहाँपर प्रेमी सुषमाके शृंगार॥
पर अपने अपने प्यालोंके रसको चख करके कुछ काल।
चले गये चुपचाप सभी वे क्रमशः मुखपर परदे डाल ॥३॥

आज मोदसे हम भरते हैं उनके वे सब सूने स्थान।
तथा रचाते आज वहाँ हैं क्रीड़ाओंके विविध विधान॥
पर कल हम धरतीमें धँसकर खो देंगे अस्तित्व अमेल।
और न जाने कौन हमारे ऊपर विरचेंगे निज खेल ॥४॥

हम तुम मिट जावेंगे फिर भी बना रहेगा जग-व्यवहार।
हम सबके आने जानेका करता रहता कौन विचार?
निज उत्ताल तरंगोंसे है जिसे फेंक देता इस पार।
क्या उस क्षुद्र कंकड़ीका फिर करता पारावार विचार? ॥५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी)

(गताङ्कसे आगे)

अनेक भावोंद्वारा कठिन साधना करके श्रीरामकृष्णने जिन-जिन सिद्धान्तोंकी अनुभूति की, वह बड़े ही महत्त्वकी हैं। अपने सम्बन्धमें उनका विश्वास था कि जगदम्बाने उन्हें एक असाधारण व्यक्ति निर्माणकर जगत्में भेजा है। इसी कारण वह इसी जन्ममें थोड़ी ही साधनासे सिद्धि प्राप्त कर लिये, जिसे साधारण मनुष्य कई जन्मोंके निरन्तर परिश्रमसे भी नहीं पा सकते। नाना धर्म-मार्गोंके अनुकूल साधना करनेके उपरान्त उनका यह निश्चय हो चुका था कि सभी पथ एक ही लक्ष्य ब्रह्मधाममें जा पहुँचते हैं, वहाँ पहुँचनेपर सारे भेदभावका नाश होता है। परन्तु उस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकृतियोंके मनुष्योंको अपनी-अपनी मानसिक अवस्थाके अनुकूल नाना धर्मपथोंका अवलम्बन करना स्वाभाविक है। जिसकी जैसी प्रकृति हो उसके लिये वैसे ही मार्गका अनुसरण करना उपयुक्त है अन्यथा पथ-भ्रष्ट हो जानेकी आशङ्का है। श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत सिद्धान्तोंके विषयमें उनकी यह धारणा थी कि यह तीनों ही सिद्धान्त अपनी-अपनी आध्यात्मिक उन्नतिके अनुकूल प्रतिष्ठित हैं। वाद-विवादसे अपने सिद्धान्तकी पुष्टि करना निष्प्रयोजन है, सारे विवाद बुद्धि तक ही रह जाते हैं। परन्तु सच्चिदानन्दघन ब्रह्म बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है, वह तो अनिर्वचनीय और स्वानुभवगम्य है, मन-बुद्धिकी गति विशिष्टाद्वैत तक ही रह जाती है। सिद्धावस्थामें ही ब्रह्म और प्रकृतिके अभेदका अनुभव होता है, जगत्में सभी पदार्थ ब्रह्ममय हैं, केवल नाम-रूपका भेद है। जो मनुष्य इन्द्रियोंके बन्धनसे मुक्त नहीं हुए, वे द्वैतभावसे ही साधना करनेके अधिकारी हैं, ऐसे जीव अद्वैत-सिद्धान्तका भली भाँति अनुभव नहीं कर सकते। बुद्धिसे पार जाकर ही अद्वैतानुभूति हुआ करती है। बुद्धिद्वारा अद्वैत-सिद्धान्तका निश्चय कर लेना ही अनुभूति नहीं है।

कर्म, अकर्मके सम्बन्धमें श्रीरामकृष्णके विचार थे कि मनके परम शुद्ध त्रिगुणातीत हो जानेपर मनुष्यसे बन्धनकारक कर्म बन ही नहीं सकते। वह उदाहरण दिया करते थे कि जब कोई युवती स्त्री गर्भवती होकर सन्तानकी माता बननेको होती है तब उसके गृहस्थका भार और नाना कर्म आप ही कम होने लगते हैं। सन्तानोत्पत्तिके पश्चात् तो उसके सभी ही कर्म छूट जाते हैं। फिर केवल बच्चेके पालनका ही एक कर्म उसके लिये शेष रह जाता है। साधारण मनुष्योंके लिये अनासक्त बुद्धिसे कर्म करना ही श्रेष्ठ है। जैसे नौकर अपने मालिकके निमित्त काम तो सभी करता है, परन्तु मनमें वह खूब जानता है कि मालिककी सम्पत्ति और कार्यका फल मेरा नहीं है। यही कर्मयोग है। भगवत्-स्मरण करते हुए नित्य अपने प्राप्त कर्तव्य कर्मोंको करते रहना ही कर्मयोगका रहस्य है।

श्रीरामकृष्णके बड़े भाई रामेश्वरका, जो कुछ दिनोंसे कामारपूकुरमें रहने लगे थे, देहान्त हो गया। रामेश्वरका चित्त बहुत उदार था, वह किसी भी साधु-संन्यासीको निराश नहीं किया करते थे, कुछ-न-कुछ सेवा करना ही अपना परम कर्तव्य समझते थे। दक्षिणेश्वर-मन्दिरमें उनकी जगह उनके बड़े बेटे रामलालकी नियुक्ति हो गयी। ठाकुर रामेश्वरके परलोकगमनके समाचारसे यह सोच कर चिन्ता करने लगे कि वृद्धावस्थामें शायद माताको पुत्र-वियोगसे बड़ा शोक होगा। परंतु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्द्रदेवीको कुछ भी दुःख नहीं हुआ। इस घटनाकी सूचना पाकर वह बोलीं—'प्राणिमात्रको एक दिन मरना ही है, दुःख करनेसे क्या लाभ ?'

शारदादेवी सन् १८७४ के अप्रैल-मासमें दूसरी बार दक्षिणेश्वर आयी और अपनी सासके साथ नौबतखानेमें रहने लगी। परन्तु वह जगह बहुत ही तंग थी इसलिये एक दूसरी कुटिया बनवा दी गयी, शारदादेवी उसीमें रहने लगी। वही रोज ठाकुरके लिये भोजन बनाया करती थी और श्रीरामकृष्ण भी प्रायः प्रतिदिन ही कुछ समय उसके पास बैठा करते थे। पेचिश हो जानेके कारण सन् १८७५ के सितम्बर-मासमें वह अपने नैहर जयरामवाटीको लौट गयी, वहाँ जानेपर एक बार तो रोग बढ़ा, परन्तु धीरे-धीरे शान्त हो गया। शारदाके जानेके बाद सन् १८७६ के मार्च-मासमें चन्द्रदेवीका देहान्त हो गया। मृत्युके समय उन्हें लोग गङ्गा-तटपर ले गये, श्रीरामकृष्णके माताके चरणोंपर पुष्पाञ्जलि समर्पण करनेपर उन्होंने शान्तिपूर्वक शरीर छोड़ दिया। उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया ठाकुरके भतीजे रामलालने की। श्रीरामकृष्णको संन्यासी होनेके कारण क्रिया करनेका अधिकार नहीं था।

ब्राह्मसमाजके नेता श्रीकेशवचन्द्रसेनसे परिचय—

श्रीरामकृष्णके मनमें कभी यह इच्छा नहीं पैदा हुई कि लोग आवें और मेरा सम्मान करें। ख्याति और मानको वह सदैव घृणाकी दृष्टिसे देखते थे। निरभिमान इतने थे कि जहाँ कहीं किसी अनुभवी महात्माका आना सुनते तो तुरन्त उनके दर्शनके लिये स्वयं उनके स्थानपर चले जाते।

एक बार काशीमें एक ब्रह्मवेत्ता महात्माका ज़िक्र सुन, कुछ भेंट लेकर ठाकुर उनके दर्शनको गये थे और साधारण यात्रियोंकी भाँति साष्टांग प्रणाम कर बैठ गये थे। इसी तरह कलकत्तेमें भी जब कभी किसी महापुरुषकी चर्चा सुनते तो उनसे मिलने जाया करते थे। एक दिन उन्होंने सुना कि दक्षिणेश्वरके समीप बेलघरियामें जयगोपालसेनके बगीचेमें ब्राह्मसमाजके विख्यात नेता श्रीकेशवचन्द्र-सेन अपने शिष्योंके साथ आये हैं, यह सुनकर आप उनसे मिलने वहाँ गये। केशवचन्द्रको अपने भक्तोंके साथ बैठे देखकर ठाकुर उनके समीप जाकर उनकी मण्डलीमें बैठ गये और कहने लगे कि 'मैंने सुना है कि आपने ब्रह्म-साक्षात्कार किया है, इसलिये मैं इसके सम्बन्धमें आपसे कुछ सुनने आया हूँ'। केशवबाबूने उत्तर दिया। परस्पर बातचीत हो ही रही थी कि ठाकुर समाधिस्थ हो गये। समाधि खुलनेपर लोगोंने देखा कि उनका मुख एक दिव्य ज्योतिसे चमक रहा है। यह घटना देख सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। अब ठाकुरके मुखसे जो भगवत्-सम्बन्धी अमृत-वर्षा होने लगी उसे सुन श्रोतागण मुग्ध हो गये। उन्होंने कहा—'अनन्त अनादि परब्रह्म नाना रूपोंसे जगत्‌में लीला कर रहे हैं, वह मन-बुद्धिसे जाने नहीं जाते, अन्तर्दृष्टिसे ही अनुभव किये जा सकते हैं।' इसप्रकार कुछ भगवच्चर्चा करनेके बाद श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर लौट आये। केशवबाबू वगैरः उनकी सारगर्भित वक्तृताको सुनकर बहुत ही सन्तुष्ट हुए और तबसे उनका बड़ा आदर करने लगे। इसके बाद तो कभी केशवचन्द्रसेन दक्षिणेश्वर उनसे मिलने आते और कभी ठाकुर उनसे मिलने कलकत्ते जाया करते। इसप्रकार दोनोंका आपसमें प्रेम बढ़ता ही गया।

पाठकोंकी जानकारीके लिये यहाँ ब्राह्मसमाजका कुछ संक्षिप्त इतिहास लिख देना अप्रासंगिक न होगा। ब्राह्मसमाजकी स्थापना गत शताब्दिमें हुई थी। इसके आदिप्रवर्तक राजा राममोहनराय थे। आर्यसमाजकी भाँति सनातनधर्मके सिद्धान्तोंसे असन्तुष्ट लोगोंके द्वारा बंगाल-प्रान्तमें इस मतका प्रचार हुआ। आर्यसमाजकी भाँति ब्राह्मसमाज भी मूर्तिपूजा, श्राद्ध, जातिभेद इत्यादिका विरोधी और विधवाओंके पुनर्विवाहका समर्थक है। धार्मिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्त भी दोनों मतोंके कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलते-जुलते हैं और दोनों ही मत अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगोंमें पहले पहल प्रचलित हुए। राजा राममोहनरायके बाद कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुरके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरने इस मतकी बहुत पुष्टि की, उस समय इस समाजका नाम आदि ब्राह्म-समाज था। कुछ समय पश्चात् श्रीकेशवचन्द्रसेनने इस समाजसे अलग होकर, 'भारतवर्षीय ब्राह्म-समाज' की स्थापना की। केशवबाबू अंग्रेजीके महान् पण्डित और पाश्चात्य सभ्यताके अनुयायी थे। अपनी अद्भुत वक्तृताशक्तिके प्रभावसे उन्होंने अनेक नवयुवकोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इन युवकोंमें इनकी मान-प्रतिष्ठा बढ़ती गयी। जब इन्होंने समाजके नियमोंको तोड़कर अपनी लड़कीका विवाह कूचविहारके राजासे कर दिया तब बहुत-से सभासद् इनसे असन्तुष्ट होकर अलग हो गये और उन्होंने श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीके नेतृत्वमें अलग 'साधारण ब्राह्मसमाज' के नामसे नये समाजकी स्थापना की। तत्पश्चात् केशवबाबूने अपनी समाजका नाम 'नवविधान' रख दिया। यह 'नवविधान' पाश्चात्य सभ्यतासे बहुत ही प्रभावित हुआ। इसका झुकाव बहुत कुछ पाश्चात्य सभ्यताकी ओर ही है। 'आदि ब्राह्मसमाज' की स्थापना हिन्दू-धर्मके अनेक सिद्धान्तोंको मानते हुए कुछ सिद्धान्तोंमें मतभेदके कारण हुई थी, परन्तु 'नवविधान'के सिद्धान्त हिन्दू-धर्मसे बहुत भिन्न हैं। 'साधारण ब्राह्मसमाज' इन दोनों मतावलम्बियोंके विचारमें मध्य श्रेणीका है।

श्रीकेशवचन्द्रसेन और उनके शिष्योंसे श्रीराम-कृष्णका परिचय संसारके कल्याणके लिये बड़े ही महत्त्वका हुआ। ठाकुरके सत्संगसे उन लोगोंके विचारोंमें बहुत कुछ परिवर्तन हुआ। वह बुद्धदेव, श्रीचैतन्य, ईसा आदिमें समान-भावसे श्रद्धा करने लगे और ठाकुरके सत्संगसे ब्राह्मसमाजमें भगवान्की शक्तिका मातृ-भावसे चिन्तन करना आरम्भ हुआ, इनके प्रभावसे 'नवविधान' समाजका झुकाव ईसाई-मतकी ओरसे घटता गया। सबसे अधिक महत्त्वकी बात तो यह हुई कि इसी समाजके एक प्रभावशाली नवयुवक नरेन्द्रनाथदत्तका ठाकुरसे सम्बन्ध हो गया। यह होनहार युवक श्रीराम-कृष्णकी ओर दिनोंदिन आकर्षित होता गया और अन्तमें उनके मुख्य शिष्योंमेंसे प्रधान शिष्य हुआ, जो जगत्-विख्यात स्वामी विवेकानन्दके नामसे प्रसिद्ध है। इस घटनाका वृत्तान्त विस्तारसे आगे लिखा जायगा।

ब्राह्मसमाजके सत्संगमें वक्तागण प्रायः भगवान्की विभूतियोंकी प्रशंसा किया करते थे। एक दिन श्रीरामकृष्णने कहा कि आपलोग नित्य भगवान्की विभूतियोंका ही वर्णन क्यों किया करते हैं, क्या कभी पुत्र अपने पिताके बाग-बगीचे, धन-सम्पत्तिका चिन्तन करता है, वह केवल पिताके स्नेह और वात्सल्य प्रेमका ही इच्छुक होता है, वह जानता है कि पिता मेरा पालन-पोषण अवश्य ही करेगा, इस बातकी उसे कुछ चिन्ता नहीं। इसी प्रकार हम सभी उनके पुत्र हैं, वह हमारी सब भाँति रक्षा करेंगे। सच्चा भक्त इस बातकी कुछ भी चिन्ता नहीं करता। वह भगवान्को अपना आत्मीय जानता है और उनसे प्रेम करना ही अपना कर्तव्य समझता है। यदि वह भगवान्के ऐश्वर्यादि महत्त्वका विचार करने लगे तो उनकी महान् अचिन्त्य मायाकी विभूतियोंका चिन्तन करते-करते भयभीत हो जायगा, और उसके हृदयसे आत्मीयता और प्रेमके भाव निकल जायँगे। इसलिये परमपिताका अत्यन्त प्रेम-भावसे चिन्तन करना ही योग्य है, तभी उनका साक्षात्कार होना सम्भव है। ठाकुरके उदाहरणसे ब्राह्मोंको मूर्तिपूजाका महत्त्व भी सत्य प्रतीत होने लगा। क्योंकि वह जानते थे कि ठाकुरको 'माँ' के विग्रहके आधारसे ही उनका साक्षात् दर्शन हुआ था। श्रीरामकृष्णके सत्संगके प्रभावसे ही ब्राह्ममें ब्रह्म और शक्तिका अभेद भाव भी निश्चितरूपसे माना जाने लगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह समझने लगे कि ईश्वर और जगत्‌में भेद नहीं, सर्वव्यापक परमात्मा ही संसारमें नानारूपोंसे लीला कर रहे हैं। नामरूपात्मक जगत् उन्हींकी लीला है। वह इसमें समाये हुए हैं और इससे परे भी हैं। साकार भी वही हैं और निराकार भी वही हैं। केशवबाबूसे वार्तालाप करके ठाकुर बड़े प्रसन्न हुआ करते थे, क्योंकि केशवचन्द्र इनसे भगवत्-सम्बन्धी बहुत-से प्रश्न किया करते थे। एक दिन ठाकुर भक्तिके सोपानोंका वर्णन कर रहे थे तो केशवबाबूने पूछा कि, 'महाराज! इसके बाद क्या होता है?' इसपर ठाकुरने कहा 'केशवबाबू! इसके परेकी बात तुमसे कहूँगा तो तुम्हारे समाजमें तुम्हारा गुरु-शिष्य-भाव छूट जायगा, क्या तुम इसके लिये तैयार हो, केशवचन्द्रने कहा कि 'मैं उतनी दूरतक तो जाना नहीं चाहता।' उस समय केशवबाबू हजारों लोगोंके गुरु थे और उनका एक बड़ा संघ था। एवं वे उनकी सहायता करना अपना परमधर्म समझते थे।

सन् १८७५ में श्रीरामकृष्णका केशवचन्द्रसेनसे समागम हुआ था और सन् १८८४ में केशवचन्द्रका देहान्त हो गया। ठाकुरने जब सुना कि केशवबाबू बहुत बीमार हैं तो वह उनसे मिलने गये, केशवबाबू बीमारीके कारण घरके अन्दर अपने कमरेमें पड़े रहते थे, परन्तु ठाकुरके आनेकी खबर सुनकर वह बाहर बैठकखानेमें धीरे-धीरे चले आये। ठाकुरको उच्चासनपर बैठनेके लिये प्रार्थना की और स्वयं नीचे बैठ गये। परन्तु ठाकुर भी उनके पास नीचे ही जा बैठे। श्रीरामकृष्ण बहुत देर तक उनसे बातचीत करते रहे और उन्हें सान्त्वना भी देते रहे। इसी बीचमें उनको जोरकी खाँसी आयी, जिससे उनका वहाँ बैठे रहना असम्भव-सा हो गया। अतः वह ठाकुरके चरणोंमें प्रणाम कर धीरे-धीरे दीवालके सहारे घरमें चले गये।

विजयकृष्ण गोस्वामी जो केशवबाबूके समाजमें एक प्रतिष्ठित विद्वान् थे और 'साधारण ब्राह्म-समाज' के नेता थे, उन्होंने एक दिन ठाकुरसे पूछा कि 'महामायाका साक्षात्कार कैसे हो सकता है?' इसपर श्रीरामकृष्णने कहा कि 'भगवतीसे सरल हृदयके साथ प्रार्थना करो, सच्चे दिलसे उनके सामने रोओ! इससे जब चित्त शुद्ध हो जायगा तो स्वयं 'माँ' का साक्षात्कार हो जायगा। दर्पणके निर्मल होनेपर ही प्रतिबिम्ब दिखायी दे सकता है, यदि थोड़ा-सा भी मैल रहेगा तो प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दिखायी देगा। भक्तका काम केवल अपने हृदयरूपी दर्पणको विषय-वासनाके मैलसे अत्यन्त निर्मल कर लेना है, जहाँ वह शुद्ध हुआ कि महामायाका साक्षात्कार हुआ।

ब्राह्मसमाजमें सामुदायिक भगवत्-प्रार्थना करनेकी प्रथा है। इसके विपरीत हिन्दू समझते हैं कि एकान्तमें ही परमेश्वरका चिन्तन निर्विघ्नतासे किया जा सकता है। संघमें बैठकर एकाग्रतासे चिन्तन करना सर्वसाधारणके लिये बहुत कठिन है। एक दिन ठाकुर ब्राह्मसमाजकी प्रार्थनामें सम्मिलित हुए, प्रार्थना समाप्त होनेपर जब नेता मञ्चसे उतरे तो उन्होंने श्रीरामकृष्णसे पूछा—'महाशय! समाजकी उपासना और प्रार्थनाके बारेमें आप क्या समझते हैं।' ठाकुर बोले कि 'सायंकालके समय वानरगण बड़े शान्त और चुपचाप बैठ जाते हैं, परन्तु सोचा यही करते हैं कि अमुक बुढ़ियाके बगीचेमें खीरा लटक रहा है, कल वहाँ जाकर उसे तोड़ेंगे वा 'अमुक स्थानपर रास्तेमें एक कद्दू देखा था कल सवेरे ही जाकर उसे चुरा लेंगे'—इसी तरहके यह हैं। ऊपरसे ध्यानावस्थित और शान्त दिखायी देते हैं, परन्तु चित्तमें वही उधेड़-बुन लगी रहती है कि क्रय-विक्रयमें किस प्रकार धन कमाना चाहिये। यह बात उन्होंने अत्यन्त सरल और शुद्धभावसे मुसकराते हुए कही; उनके मनमें लेशमात्र भी द्वेषभाव नहीं था, इस कारण उनके वचनोंका उपस्थित समाजपर बड़ा प्रभाव पड़ा। ठाकुरको भी किसी धर्म-मार्गसे द्वेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं था। परन्तु वह चाहते थे कि धार्मिक सम्प्रदायोंमें सरलता, पवित्रता और सहिष्णुता अवश्य होनी चाहिये। एक दिन उन्होंने ब्राह्मसत्सङ्गमें कहा कि सच्चे हृदयसे काम किये जाओ, परन्तु यह मत समझो कि केवल तुम्हारा मार्ग ही सत्य है, और सब असत्य।

ब्राह्म लोगोंसे समागम होनेपर ठाकुरको अंग्रेजी पढ़े हुए युवकोंके विचारोंका परिचय मिल गया, इससे वे भली भाँति जान गये कि इन लोगोंपर पाश्चात्य सभ्यता तथा विचारोंका बहुत प्रभाव पड़ा है। श्रीरामकृष्ण स्वयं तो प्राचीन भारतीय वातावरणमें ही पले थे, वैसी ही शिक्षा पायी थी और महा कठिन साधनाओंमें युवावस्था बितायी थी, इस कारण वह पाश्चात्य विचारोंसे नितान्त अनभिज्ञ थे। वह पक्के हिन्दू थे। त्याग-वैराग्यको ही वह धर्मका मुख्य अंग मानते थे। ब्राह्मकी संगतिसे ही पहली बार उन्हें अर्वाचीन भारतवासियोंके मनोभावका परिचय मिला। भारतीय सिद्धान्तोंको उनके हृदयमें जमानेके लिये ठाकुरने बड़े प्रेमभावसे अपने उपदेशोंद्वारा और अपने अनुभवके बलसे ब्राह्म युवकोंको शिक्षा देनी शुरू की। विवेक, वैराग्य, भगवान्में विश्वास, निष्कामकर्म, स्वधर्ममें श्रद्धा और एकाग्रतासे धर्मपालन करना इत्यादि विषयोंपर उनके बारम्बार उपदेश हुआ करते थे।

श्रीकृष्णाराधना-सप्तक

मोहन

मोहन! मोह न फिर रहे, रहो अगर तुम साथ।
उन दीनोंको भय कहाँ? जिनके दीनानाथ॥

माधव

माधवमें जो रम रहा, मन-मधुकर दिन-रैन।
वही ज्ञान-मधु पी सदा, पाता है सुख-चैन॥

मुरलीधर

मुरलीधरके रूप पर, जो मुरली आसक्त।
वह जड़ता भी धन्य है, जो पर-हित-अनुरक्त॥

श्यामसुन्दर

श्यामलता-मलको हरै, श्याम कहै जो कोय।
निर्मल-ज्ञान-शरीर हो, क्यों न मुक्ति तब होय॥

नटनागर

नट-माया व्यापै नहीं, हों नटनागर पास।
उनकी नुति है मुक्तिदा, होवे भर विश्वास॥

केशव

केशव! केशव! जो कहे, अघ-केशी हो नष्ट।
अन्तर-पट जब हो अनघ, क्यों न टलें तब कष्ट?

कृष्ण

कृष्ण! कृष्ण! की टेरसे, कृश भी हो बलवान।
बल पाया तब क्यों न अब? करो कृष्ण-गुण-गान॥

श्रीमुन्नालाल 'चित्र' हिनोता

श्रेष्ठ भजन कौन-सा है?

(लेखक—स्वामीजी श्रीमाधवानन्दजी)

एक समय एक शिष्यने अपने गुरुके समीप जाकर उनके चरणोंमें सिर रख प्रणाम किया और मीठे वचनसे पूछा कि 'हे दीनदयालु, भजन कैसा करना चाहिये?' गुरुजीने उत्तर दिया कि 'हे पुत्र, तुम ऐसा भजन करो जिसे शास्त्रोंने सर्वश्रेष्ठ कहा है—मैं सत्, चित्, आनन्दस्वरूप द्रष्टा हूँ, असत् जड़ दुःखस्वरूप दृश्य मैं नहीं—ऐसी निरन्तर धारणा रखते हुए अस्ति, भाति और प्रियरूपमें मैं ही सर्वरूप आत्मा हूँ। इस प्रकारका भजन करो। जब तुम यह भजन करोगे तब सर्व दुःखोंसे छूट जाओगे। उसी अवस्थाको मोक्ष कहते हैं और उसे तुम प्राप्त करोगे। तुम जिन पदार्थोंको देखते, सुनते, और स्पर्श करते हो उन सबको निज स्वरूप जानो। मनसे द्वैत-वासनाका पूरा-पूरा त्याग करो; यह द्वैत ही नरकका, क्लेशका कारण है। बस, यही सर्वश्रेष्ठ भजन है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रकारसे

(लेखक—श्रीत्रिभुवनशङ्करजी तिवारी)

सुना है, तू चित्रकार है; एक-से-एक अच्छे चित्र खींचता है, मुर्दा-जीवनमें प्राण भर देता है, निराशा-जगत्‌में उत्साहकी आग सुलगा देता है, छिद्रोंमें गान भर देता है। तुझमें दो बिछुड़े प्राणियोंको मिला देनेकी शक्ति है। मेरा भी कोई बिछुड़ गया है भैया! क्या तू उसे मिला देगा? देखूँ तो तेरी चित्रशाला—

छिः! क्या तू इसीको चित्रशाला कहता है? कितना गन्दा चित्र है—अरे! यह नीला-नीला आकाश, गरजता हुआ बादल, बर्फसे ढका हुआ पर्वत—क्या यही चित्रकारी है! नादान! तूने अपने बनावटीपनसे उस उड़ते हुए स्वतन्त्र पक्षीका सच्चा घोंसला क्यों छिपा दिया? उसे अज्ञात डालपर बैठाकर चित्रकारीकी दम भरता है?

ऐ चितेरे! अपनी कूँचीको उठा, बना दो चार चित्र, मेरे सम्मुख बना। अगर वैसे चित्र बन गये तो तेरी चित्रशाला उनसे जगमगा उठेगी।

सुन, नील गगनमें तारकावलीके मध्य एक चन्द्रमा बना, चन्द्रमामें पूर्णमासीकी ज्योति हो। किसी घने जंगलमें मुझे चकोर बनाकर खड़ा कर दे। मुझे उस चन्द्रमाको निरन्तर एक-टक देखने दे, मेरी गर्दन झुक जाने दे, आँखोंसे करुणा टपका दे, हृदयमें प्रेम भर दे?

एक, दूसरा चित्र बना, उसमें मुझे चिल्लाता हुआ चातक बना, मेरा गला सूख गया हो, शरीर काँटा हो गया हो—इतनेमें ही स्वाति-नक्षत्रका एक बूँद टपक पड़े—मैं पी लूँ।

तीसरे चित्रमें मुझे मोर बनाकर किसी घनी पहाड़ीपर खड़ा कर दे, ऊपर काले-काले बादल गरजने लगें, मैं उन्हें देखकर नाच उठूँ।

अच्छा, एक ऐसा चित्र बना जिसमें मैं काला सर्प होऊँ। मेरी मणि मुझसे खो गयी हो। मैं उसके बिना तड़फता होऊँ, फड़फड़ाता होऊँ। सहसा मेरी मणि मिल जाय, मैं उसे छातीसे लगा लूँ।

अगर ऐसे चित्र नहीं बना सकता तो एक और दूसरा चित्र बना। एक सुन्दर वन हो। उसमें कदम्बके वृक्ष लगे हों, उन कदम्बके वृक्षोंके नीचे कोई साँवली सूरत खड़ी हो, हाथमें मुरली हो, कटि जरा टेढ़ी हो, एक पैरके बलपर खड़ी हो, हाथोंकी अंगुलियाँ मुरलीके छेदोंपर धरी हों, ओठ मुरलीसे चिपके हों।

मुझे व्रजकी दधि बेचनेवाली एक पगली गोपी बना दे। मेरे सिरपर दही रक्खा हो। मुरलीकी ध्वनि मुझे ठग ले, दही गिर जावे, मैं मोहनके सम्मुख खड़ी हो जाऊँ। थोड़ी ही देरमें 'अपनापन' भूल जाऊँ। उस साँवलेसे मिलकर छिप जाऊँ। लोग मुझे न पहचान सकें। सँवलिया अब भी वैसे ही मुरली बजाता जावे।

चित्रकार! क्या तू ऐसे चित्र बना देगा? यदि सफल हुआ तो तेरी चित्रकारी प्रशंसनीय है। यदि इस तरह बिछुड़े हुए दो प्राणियोंको मिला दे तो, तू सच्चा चित्रकार है। क्या खींच देगा ऐसा चित्र, चित्रकार?

रहस्य

काम न फँसावै तौ या मनुवाँ क्यों अंध होवै,
क्रोध न फँसावै तौ अबोध न हो बारलौं।
लोभ न फँसावै तौ हँसावै काहे लोगनकौं,
मत्सरमें अकसर लगै ही दुधार क्यों?
मोह न फँसावै तौ घुमावै काहे भव-सिन्धु,
मद न फँसावै तौ बढ़ावै पापपुंज क्यों?
बचिबेको इनतें है एक ही उपाय 'प्रेम'
राम नाम रटना औ राम ही अधार हों॥

प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामचरित-मानसमें मालोपमालङ्कार

(लेखक–श्रीमुरलीधरजी दीक्षित 'भ्रान्त')

यों तो सभी कवियोंने हिन्दी-साहित्यको मालोपमाओंसे सजाया है, पर श्रीराम-चरित-मानसके मालोपमालङ्कारोंमें एक बहुत बड़ी विशेषता है। वह यह है कि गोस्वामीजीने जहाँ जिस विषयके वर्णनमें जितनी उपमाओंकी आवश्यकता समझी है, वहाँ उतनी ही उपमाएँ दी हैं। अन्य कवियोंकी भाँति उपमाओंकी व्यर्थ झड़ी लगाकर अपने और पाठकोंके समयको नष्ट नहीं किया है। पाठक, मानसकी मालोपमाओंके दो-चार नमूने देखिये।

(१)

'गिरा-अरथ, जल-बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीताराम-पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥

उपर्युक्त दोहेमें श्रीसीता-रामजीकी अभिन्नता दो उपमाओंद्वारा प्रदर्शित की गयी है—'गिरा-अरथ' और 'जल-बीचि।' क्या एक उपमासे अभिन्नता प्रगट नहीं होती ? होती तो, पर दो उपमाएँ देनेका गोस्वामीजीका अभिप्राय ही दूसरा है। पाठक, विचार कीजिये।

हमारे महर्षियोंने परमात्माका स्वरूप दो प्रकारसे वर्णन किया है—निर्गुण-स्वरूप और सगुणस्वरूप।

निर्गुण-स्वरूपसे निराकार और सगुण-स्वरूपसे साकार परमेश्वरका बोध होता है। उपरोक्त दोहेमें पहली उपमा 'गिरा-अरथ' है। गिरा अर्थात् वाणी, और अरथ अर्थात् उस वाणीका आशय, यह दोनों ही आकार-रहित हैं; केवल ज्ञान-गम्य हैं। जिसप्रकार 'गिरा-अरथ' यह दोनों उपमान परस्पर भिन्न प्रतीत होते हुए भी अभिन्न हैं अर्थात् वाणीके अन्तर्गत ही उसका अर्थ रहता है, उसी प्रकार आदि शक्ति भगवती सीता और भगवान् श्रीरामचन्द्र दोनों भिन्न प्रतीत होते हुए भी अभिन्न हैं और 'गिरा-अरथ' के समान ही आकार-रहित हैं। साथही ज्ञान-गम्य हैं।

'ज्ञान-गम्य जय रघुराई'

दूसरी उपमा 'जल-बीचि' है। जल अर्थात् पानी और बीचि अर्थात् लहर। स्पष्ट है कि ये दोनों उपमान साकार हैं। आँखोंसे देखे जा सकते हैं। जिसप्रकार जल और लहर भिन्न प्रतीत होते हुए भी अभिन्न हैं, उसी प्रकार सगुण-स्वरूपिणी भगवती सीता और साकार परमेश्वर श्रीरामचन्द्रजी दोनों भिन्न होते हुए भी परस्पर अभिन्न हैं। निराकार उपमेयोंके लिये निराकार उपमान तथा साकार उपमेयोंके लिये साकार उपमान चाहिये।

पाठक, देखा आपने ? कविने जिस खूबीसे भगवान्‌के निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपोंका ध्यान किया है, उसका विचार करते ही हृदय मुग्ध हो जाता है! धन्य हैं महात्मा तुलसीदास!

(२)

'नील सरोरुह, नीलमणि, नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु-शोभा निरखि, कोटि कोटि शत काम॥'

उपर्युक्त दोहेमें तीन उपमाओंद्वारा परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है। क्या एक उपमासे काम नहीं चल सकता था ? नहीं, यहाँ तीन ही उपमाओंकी आवश्यकता है, और वह इसप्रकार है—

(क) नील सरोरुह और नीलमणि ये दो उपमान ऐसे हैं जिन्हें सर्वसाधारणने केवल सुना है, देखा नहीं। यदि किसीने नील सरोरुह देख भी लिया हो तो नीलमणि नहीं देखी। रामचरित-मानस सर्वसाधारणके लिये है। अतएव ऐसा उपमान होना चाहिये जिसे सबने देखा हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसीलिये गोस्वामीजीने पहिले दो उपमान लिखकर तीसरा उपमान 'नील नीरधर' लिख देना भी आवश्यक समझा।

(ख) श्रीरामजीके विषयमें एक स्थानपर गोस्वामीजी लिखते हैं—

'कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसमहु चाहि।
चित खगेस अस राम कर, समुझ परै कहु काहि?'

अर्थात् भगवान् वज्रसे भी कठोर और फूलसे भी कोमल हैं। अतएव ऊपरके दोहेमें 'सरोरुह' से भगवान्‌की कोमलता और 'मणि'से कठोरता प्रगट की गयी है। कमल, फूल है और फल कोमल होता है। 'मणि' पत्थर है, और पत्थर कठोर होता है। तीसरी उपमा 'नीर-धर' इसलिये दी गयी है कि भगवान् सहृदय भी हैं। उनके अन्दर दयाका समुद्र भरा है। वे दीनोंपर उस दया-वारिकी निरन्तर वर्षा किया करते हैं। 'नीर-धर' अर्थात् मेघ जल बरसाते हैं, अतएव भगवान्‌के उपमान बनने योग्य ही हैं।

(ग) तीन उपमाएँ देनेका एक कारण यह भी है कि भगवान्‌का शरीर कोमल और प्रकाशमान है, तथा वे निरन्तर परोपकारमें रत रहते हैं। अतएव गोस्वामीजीने भगवान्‌के शरीरकी कोमलताका भान कमलसे, जाज्वल्यका ज्ञान 'मणि' से और परमार्थ-परायणताका बोध 'नीर-धर'से कराया है। मेघ जल-वृष्टिद्वारा धन-धान्य उत्पन्न कर जगत्‌का कल्याण करते हैं। भगवान् भी दया-बारि बरसा कर मनुष्योंमें भक्ति उत्पन्न करते और उन्हें परम कल्याण प्रदान करते हैं। भगवान्‌की ही दयासे हृदयमें भक्तिका अङ्कुर उत्पन्न होता है।

(३)

नगरकी माननीया ब्राह्मण-कुल-बधुएँ कैकेयीको उपदेश दे रही हैं:—

'जिमि भानु बिनु दिन, प्रान बिनु तनु,
चन्द्र बिनु जिमि जामिनी।
तिमि अवध 'तुलसीदास' प्रभु बिनु
समुझ धौं जिय भामिनी॥'

इस हरिगीतिका-छन्दमें श्रीरामके बिना अयोध्याकी क्या दशा होगी, यह बात तीन उपमाओं-द्वारा बतायी गयी है। क्या यह कार्य एक उपमासे नहीं हो सकता था? पाठक, विचार कीजिये। वास्तवमें यहाँ तीन ही उपमाओंकी आवश्यकता है।

पहली उपमा 'जिमि भानु बिनु दिन' है। जिस प्रकार भानु अर्थात् सूर्यकी अनुपस्थितिमें संसार घोर अन्धकार-युक्त होकर भयङ्करताको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार श्रीरामके वन जाते ही अयोध्या-नगरी अन्धकारमयी होकर भयावनी दिखायी देगी। हुआ भी ऐसा ही गोस्वामीजीने स्वयं लिखा है:—

'लागत अवध भयानक भारी। मानहुँ काल-रात अँधियारी॥'

दूसरी उपमा 'प्राण बिनु तनु' है। प्राणोंके बिना शरीर अचेत अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, भगवान्‌के वन जाने पर अयोध्याकी भी यही दशा हुई है। गोस्वामीजीने लिखा है:—

सजि बन-साज-समाज सब बनिता बंधु-समेत।
बंदि बिप्र-गुरु-चरण प्रभु चले कर सबहिं अचेत॥

पाठक, 'अचेत' शब्दपर ध्यान दीजिये।

तीसरी उपमा 'चन्द्र बिनु जिमि जामिनी' है। चन्द्रमाके न रहनेसे रात्रि श्री-हीन होकर भयावनी लगने लगती है। भगवान्‌के वन जाते ही अयोध्या भी श्री-हीन हो गयी थी। गोस्वामीजीने लिखा है:—

श्री-हत सर-सरिता बन-बागा। नगर विशेष भयावन लागा॥

चन्द्रमासे सरोवर, नदी और बगीचोंकी अधिक शोभा-वृद्धि होती है इसीलिये 'सर-सरिता-बन-बाग श्रीहत' हो गये—लिखा। सूर्यास्त होते ही रात्रि भयानक दीखने लगती है, पर चन्द्रमाके अस्त होनेसे वह और भी भयानक हो जाती है। अतएव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नगर विशेष भयावन लागा' लिखना पड़ा। पाठक, यह 'विशेष' शब्द भी कितना उपयुक्त है ! धन्य ! कविवर !

(४)

अगस्त्याश्रममें मुनियोंसे श्रीरामजी मिलते हैं। यहाँ गोस्वामीजीने लिखा है।

पाय सुथल जल हर्षित मीना।
पारस पाय सुखी जिमि दीना॥
प्रभुहिं निरखि सुख भा इहिं भाँती।
चातक जिमि पाई जल स्वाती॥

पाठक ! उपर्युक्त पंक्तियोंमें तीन ही उपमाओं-द्वारा मुनियोंका आनन्द प्रदर्शित किया गया है इसका क्या कारण है ? विचार कीजिये।

पहली उपमा 'पाय सुथल जल हर्षित मीना' देखिये।

उथले जलमें मछलियोंको बगुला आदि दुष्ट पक्षियोंका भय रहता है। मछली पकड़नेवाले भी सरलतासे उन्हें पकड़ सकते हैं। पर अगाध जलमें वे निर्भय विचरती हैं। उन्हें किसीका भय नहीं रहता। ऐसी ही स्थिति उस समय मुनियोंकी थी। वे राक्षसोंके कारण निर्भय होकर भजन-पूजन नहीं कर पाते थे। अतएव राक्षसोंके शत्रु भगवान् श्रीरामको देखते ही अर्थात् अपना रक्षक पाते ही उनका भय जाता रहा, वे उन मछलियोंके समान सुखी हुए जो अगाध जलमें चैनसे विचरती हैं—अगाध जल-रूप श्रीरामका मुनिरूपी मछलियोंको सहारा मिल गया ! अतएव वे सुखी हो गये !

दूसरी उपमा 'पारस पाय सुखी जिमि दीना' पर विचार कीजिये। 'दीन' का अर्थ यहाँ निर्धन है, निर्धन मनुष्य दिनरात धनकी चिन्तामें रहता है। वह लालायित रहता है कि मुझे कहींसे धन प्राप्त हो जाय। ऐसी दशामें यदि उसे पारस मिल जावे तो उसे अपनी अभीष्ट वस्तु पाकर कितना आनन्द होगा ? यही स्थिति मुनियोंकी है। वे निरन्तर ईश्वराराधन करते हैं। किसलिये ? भगवत्-प्राप्तिके लिये। ऐसी दशामें यदि भगवान् दर्शन दे दें तो उन्हें वही आनन्द होगा जो पारस पाकर निर्धनको होता है। पाठक, भगवान्को पारसकी और निरन्तर 'भगवान् भगवान्' रटनेवाले मुनियोंको निर्धनकी उपमा कितनी उपयुक्त है ! निर्धन मनुष्य धन-ही-धन चिल्लाता है। मुनिगण भी केवल राम-राम रटते हैं। सच है—निर्धनके धन राम। पारस अक्षय सम्पत्ति है, भगवान् कैसे हैं यह बतलाना आवश्यक नहीं। धन्य !

तीसरी उपमा 'चातक जिमि पाई जल स्वाती' है। अहा ! यह उपमा भी कितनी उपयुक्त और आवश्यक है। पपीहा निरन्तर 'प्यास प्यास' रटता है। वर्षा-ऋतुमें कितनी जल-वृष्टि होती है; पर क्या वह उसमेंसे एक बूँद भी पीता है ? नहीं, उसे तो स्वाति-बूँद चाहिये। स्वाति-बूँदके लिये वह प्राण दे सकता है।

इसी प्रकार यहाँ भक्त मुनि-जनरूप चातक सांसारिक सुखरूपी वर्षा-जलको नहीं चाहते। वे आनन्दके प्यासे जरूर हैं, पर वर्षाजलरूपी आनन्दके नहीं; वे ब्रह्मानन्दरूपी स्वाति-जल चाहते हैं और वह ब्रह्मानन्दरूपी स्वाति-जल साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्र हैं। उन्हें पाकर भक्त मुनिगण क्यों न सुखी हों ? क्यों न सन्तुष्ट हों ?

इस प्रकार तीन उपमाएँ देकर गोस्वामीजीने अपनी काव्य-कुशलताका जो परिचय यहाँ दिया है वह सर्वथा सराहनीय है !

मानसकी समस्त मालोपमाएँ इसी प्रकारकी हैं। प्रत्येक मालोपमा मनोमुग्धकारिणी है। विचारकी दृष्टिसे देखनेपर अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। अब मैं यहाँ श्रीराम-चरित-मानसकी कुछ सरस पंक्तियाँ उद्धृत कर लेख समाप्त करता हूँ।

'बादि बसन बिनु भूषण भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्म विचारू॥
सरुज शरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरि-भक्ति बादि जप जोगा॥
जाय जीव बिनु, देह सुहाई। बादि मोर सब, बिनु रघुराई॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भुक्ति-मुक्ति

(लेखक-पं०श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

अबसे पूर्व प्रकाशित लेखोंमें तर्ककी कसौटीपर कसकर यह बतलाया जा चुका है कि 'ईश्वरः सर्वभूतानां' वाला श्लोक ही गीताका सार, एवं गीताका सर्वश्रेष्ठ श्लोक कहा जा सकता है। मेरे जीवनमें तो ऐसी अनेक घटनाएँ उपस्थित हुई हैं जिनमें केवल इसी एक श्लोकने मुझे पूर्ण तृप्ति प्रदान की है।

परा शान्ति दो प्रकारसे हो सकती है। या तो कृतकृत्यता हो अथवा एकदम वासना-राहित्य ही हो जाय। हम कृतकृत्यताको भुक्ति और वासना-राहित्यको केवल मुक्ति कह सकते हैं। भुक्ति अथवा मुक्तिके लिये ही तो संपूर्ण संसार लालायित रहा करता है। भुक्ति अथवा मुक्ति तभी पूर्ण होगी जब हमारी इच्छा सर्वथा परितृप्त हो। इसलिये यह देखना है कि उपर्युक्त श्लोक हमें किसप्रकार परितृप्ति प्रदान कर सकता है।

मनुष्यकी समग्र इच्छाओंके चार विभाग किये जा सकते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यदि मनुष्य यह अच्छी तरह अनुभव कर ले कि, एक परमात्मा सबके हृदय-देशमें स्थित है और वही सबका सञ्चालक है, तो फिर उसे भगवत्-सान्निध्य, समत्व भावना और 'सर्वभूतहिते रतिः' की प्राप्ति आप-ही-आप हो जायगी। धर्ममें इन तीन पदार्थोंसे अधिक और क्या चाहिये? सबमें समान भाव रखना, सबके हितमें अनुराग रखना और ईश्वरको सदैव अपने पास समझना। इससे अधिक और चाहिये ही क्या? जिसमें ये तीनों भाव हैं वही तो परम धार्मिक है, चाहे उसमें ऊपरी आडम्बर हो या न हो। सम्पूर्ण सद्गुणोंके मूलाधार यही तीन भाव हैं और इन्हीं तीन भावोंको धारण करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। फिर वह अपने सम्पूर्ण कार्योंको ईश्वर-प्रेरित समझकर कहता है 'केनाऽपि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।' वही तो भावावेशमें आकर कह सकता है किः—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद् यत् कर्म करोमि तत् तदखिलं शम्भो!तवाराधनम् ॥

अर्थात्–'हे परमात्मन्! आप स्वतः ही तो मेरी अन्तरात्मा हैं। मेरी मति ही गिरिजारूपिणी आपकी अर्धाङ्गिनी है। मेरे प्राण ही आपके सहचर हैं। मेरा शरीर ही आपका शिवालय है। विषयोंके उपभोगकी रचना ही आपकी पूजा है। मेरी निद्रा ही आपकी समाधि स्थिति है। मेरा घूमना-फिरना ही आपकी प्रदक्षिणा है और मेरा बोलना-चालना ही आपके स्तोत्र हैं। भगवन्! मैं जो कुछ करता हूँ वह सब आपकी आराधना ही तो है।'

धर्ममें इससे बढ़कर और क्या चाहिये? ऐसे मनुष्यका प्रत्येक कृत्य ही धार्मिकतासे भरा हुआ होगा।

अर्थका भी वही हाल है। जब सभी पदार्थोंके हृद्देशमें एक परमात्मा ही स्थित हैं, तो क्या वे हमारे हृदयकी आवश्यकताओंको पहचान कर उसके उपयुक्त साधन नहीं जुटा सकते? वे अपनी कृपाके पारससे अकिञ्चनके लोहेको सोना बना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं, रुग्ण मनुष्यके लिये धन्वन्तरि बनकर खड़े हो जा सकते हैं, निरक्षर भट्टाचार्यको विद्या-वारिधि बना सकते हैं। उनके दरबारमें किस चीजकी कमी है? यदि हमें अन्न-वस्त्रकी चिन्ता है और हम सच्चे दिलसे यह ध्यान करते हैं कि वह नटनागर जिस तरह मुझमें छिपा है उसी तरह अन्न-वस्त्रमें भी छिपा है और वही जिसप्रकार अभाव उत्पन्न करके मेरे हृदयमें आकांक्षाएँ पैदा कर रहा है उसी प्रकार उन सामग्रियोंको जुटाकर आकांक्षाओंकी पूर्ति भी करेगा; तो यह निश्चय है कि ईश्वर अवश्य ऐसा संयोग उपस्थित कर देगा और हमें ऐसी-ऐसी तरकीबें सुझा देगा कि हम अवश्य अपनी मनोभिलषित वस्तु आसानीसे प्राप्त कर लेंगे। भगवान्ने अर्थार्थीको भी अपना भक्त ही माना है और 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' की प्रतिज्ञा भी कर दी है। फिर भला बतलाइये कि यह श्लोक हमारी अर्थलालसाकी पूर्तिके लिये कल्पवृक्ष क्यों न साबित होगा।

कामनाओंके लिये भी यह श्लोक कामधेनु है—'भ्रामयन् सर्वभूतानि।' सम्पूर्ण प्राणियोंका वही तो एक प्रेरक है। मान लीजिये कि आज किसीसे मेरा मनमुटाव हो गया। यदि मेरी इच्छा है कि वह अपना वैर भुलाकर मेरे गले लगे तो बस, यही 'भ्रामयन् सर्वभूतानि' वाले महामन्त्रके प्रभावसे हम दोनोंके हृदयमें निवास करनेवाला ईश्वर हम दोनोंकी विचार-धाराको एक स्रोतमें बहाकर दोनोंका एका करा ही देगा। जब हम अपनी क्रियाओंको उसकी इच्छा समझ रहे हैं तब क्या मजाल कि वह हमारे शत्रुके हृदयसे भी हमारी क्रियाओंके लिये दाद न दे? मान लीजिये कि हम अपने किसी प्रियतमसे मिलना चाहते हैं। जिस ईश्वरने हमारे हृदयमें मिलनकी यह उत्कण्ठा बढ़ायी है, वही तो प्रियतमके हृदयमें भी निवास करता है। तब क्या हमारी करुण-पुकार सुनकर वह हमपर प्रसन्न नहीं हो सकता? यही तो वह अमोघ मन्त्रराज है जिसके बलसे सामान्य तथा निकृष्ट कामनाओंकी कौन कहे, लोक-कल्याण, भगवत्-दर्शन, और जीवन-मुक्ति आदि उत्कृष्ट कामनाएँ भी सरलतासे पूर्ण हो सकती हैं। इसीके प्रभावसे शत्रु वशवर्ती हो सकता है। ऐश्वर्यशाली पुरुष सेवक बन सकता है, दूसरे लोग अपने सहायक हो सकते हैं। सम्पूर्ण जातिमें एक ही प्रकारकी विचारधाराकी लहर पैदा हो सकती है। और न जाने क्या-क्या हो सकता है।

मोक्षके लिये भी सरल तरीका इसी श्लोकमें बतला दिया गया है। 'ईश्वरः तिष्ठति।' हर एक घटकी अस्थिरतामें भी स्थिरता विद्यमान है। इस अस्थिरतामें ही तो बन्धन है और उस स्थिरताके स्वरूपमें आ जानेसे ही मोक्ष है। उसी घट-घट-वासी अविनाशीकी शरण जानेसे स्थिरता मिलेगी। हर कोई उसकी शरण जाकर मोक्षका अधिकारी हो सकता है, क्योंकि वह 'सर्वभूतानां हृद्देशे' है। स्त्री, वैश्य, शूद्र आदिकी कोई रुकावट नहीं। गरीबी और अमीरीका कोई बन्धन नहीं। वेष बनाने और इधर-उधर भटकनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। मुक्तिकी कुंजी तो उसीके भीतर रक्खी हुई है। नहीं-नहीं, वह तो स्वयं मुक्तिके मन्दिरमें विराजमान है। केवल इतनाभर समझ लें कि वह सर्वभूतोंके हृद्देशका मूलतत्त्व है। कहिये पाठक! है न यह मुक्तिका सुगम निदर्शन?

संग्रह और त्याग दोनोंका अन्तिम स्थान एक ही है। सर्वसंग्रही और सर्वत्यागीमें कोई अन्तर ही नहीं। जिसने अपनी आत्माकी परिधिको बढ़ाते-बढ़ाते विश्वरूप ही धारण कर लिया, वह भी 'सोऽहं' की मस्तीमें झूमने लगता है और जिसने अपनापन मिटाते-मिटाते स्वयं अपने आपको ही मिटा दिया वह भी ब्रह्मसत्ताके महासागरमें नमककी डलीके समान घुल-मिलकर एकाकार बन जाता है। संग्रहके पथका मोक्ष यदि भुक्तिप्रधान मोक्ष है तो त्यागके पथका मोक्ष एकदम मुक्तिप्रधान मोक्ष है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले पथमें कृतकृत्यताका बोलबाला रहता है, तो दूसरे पथमें वासनाराहित्यकी ज्योति जगमगाया करती है। हैं दोनों ही एक। जो संसारका सम्पर्क लिये हुए चलते हैं वे पहला रास्ता पकड़ते हैं और जिन्हें संसारसे विरक्ति हो जाती है वे दूसरे मार्गसे अग्रसर होते हैं। हमारा उपर्युक्त श्लोक इन दोनों प्रकारके मुमुक्षुओंको समान सन्तोष प्रदान कर सकता है। 'सर्वभावेन' में 'करणे तृतीया' भी हो सकती है और 'सहार्थे तृतीया' भी। 'सर्वभावोंके द्वारा उसकी शरण जाओ' ऐसा अर्थ भी हो सकता है और 'सर्वभावोंके साथ उसकी शरण जाओ' यह भी अर्थ हो सकता है। उसीको पिता-भावसे देखना, उसीको माता मानकर उसकी शरण जाना, उसे ही—

'कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥'

-कहना; उसे ही 'तात मात गुरु सखा तू सब बिधि हित मेरो' समझना, आदि—अपने भावोंद्वारा उसकी शरण जाना है। इसलिये यह पहले प्रकारकी मुक्ति हुई। जो अपनी इन समग्र भावनाओंका भी त्याग कर देना चाहते हैं वे 'सहार्थे तृतीया' वाला अर्थ लेकर 'सर्वभावेन सह' उसकी शरण जा सकते हैं। स्वयं भी जायँ और अपनी भावनाएँ भी लेते जायँ। सब भाव उसी आदि-सञ्चालकमें लीन कर दिये जायँ। वासनाराहित्य आप ही हो जायगा।

चाहे जिस दृष्टिसे विचार कीजिये मैं तो समझता हूँ कि यह श्लोक हर तरह मनुष्योंके लिये कामधेनु सिद्ध हो सकता है और न केवल यह गीताके सम्पूर्ण तत्त्वज्ञानका उद्घाटन करता है वरं गीताके सम्पूर्ण फलोंको भी प्रदान करनेमें पूर्णतः समर्थ हो सकता है। मैंने कई बार अनुभव करके देखा है और जिसको इच्छा हो वही अनुभव करके देख सकता है।

केवल एक बात और कहकर यह लेखमाला समाप्त की जा रही है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि 'ईश्वरः सर्वभूतानां' वाला श्लोक युग्मक है, अर्थात् एक ही भाव दो छन्दोंमें रक्खा गया है। यद्यपि इसप्रकार चार पंक्तियोंमें एक भाव रखना उद्देश्यसे खाली नहीं है, फिर भी यदि कोई केवल दो ही पंक्तियोंमें सम्पूर्ण सार देखनेका इच्छुक हो तो वह इन चार पंक्तियोंके आगे चलकर उन वाक्यों-पर नज़र दौड़ा सकता है जो भगवान्‌ने ख़ास अर्जुनके लिये कहे हैं। पहला वाक्य तो है:—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

इसमें ध्यानयोग (मन्मनाः) भक्तियोग (मद्भक्तः) कर्मयोग (मद्याजी) आराधना-विधान (मां नमस्कुरु) तथा ज्ञानयोग (प्रियोऽसि मे)—क्योंकि कहा भी है 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'—की बातें आ ही गयीं और साथ ही 'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने' में भगवत्-प्रतिज्ञा और शाश्वतस्थान-प्राप्तिकी भी बात आ गयी। यद्यपि ये विषय उतने स्पष्ट नहीं हुए हैं जितने उपर्युक्त युग्मकमें हुए हैं, फिर भी दो ही लकीरोंवाले श्लोकके प्रेमी सज्जनोंको इनका उल्लेख कुछ सन्तोष अवश्य प्रदान कर सकता है। इसके आगेका श्लोक है:—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

यही अन्तिम श्लोक है और इसीमें गीताका सम्पूर्ण ज्ञान बीजरूपसे भरा हुआ है तथा इसीमें ही सम्पूर्ण विवेचनका निचोड़ बड़े ज़ोरदार शब्दोंमें व्यक्त कर दिया गया है। अचल श्रद्धाके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्य शरणागति ही अर्जुन-सरीखे सज्जनोंके लिये परम अभीष्ट और परम कल्याणकारिणी बतायी गयी है। जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदिकी विवेचनाकी उलझनोंमें नहीं फँसना चाहता, वह अपने कल्याण-मार्गके लिये इसी एक श्लोकको ध्रुवतारा मानकर श्रीकृष्ण-भक्तिमें निर्बाध अग्रसर हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवाके मन्त्र*

(लेखक—श्रीकाशीनाथजी सम्पादक हिन्दी नवजीवन)

अगर तुम चाहते हो कि जो सेवा तुम करो वह लोकोपयोगी होते हुए भी तुम्हारे लिये हानिकर न हो तो तुम अपने सेवा-धर्मके लिये नीचे लिखे तीन सिद्धान्त स्थिर कर लो:—

(१) सेवा-धर्मको स्वीकार करना ही सर्वोत्तम आनन्द है।

(२) याद रक्खो कि तुमसे कहीं अधिक बलवान शक्ति तुम्हें सेवाके लिये सक्षम बनाती है; तुम तो उसके प्रतिनिधिमात्र हो।

(३) यह कभी न भूलो कि जो दैवी अंश तुममें है, वही दूसरोंमें भी है।

× + +

यह याद रखना कि तुम दूसरोंके सम्बन्धमें जो बातें कहते या उनके बारेमें जो विचार करते हो। सम्भव है, दूसरोंने भी वही बातें या वैसे ही विचार तुम्हारे लिये भी कभी किये हों।

× × ×

जब कभी कोई तुम्हें कष्ट पहुँचावे, तो याद रखना कि कष्ट पानेवालेकी अपेक्षा कष्ट देनेवालेको ही उससे अधिक दुःख सहना पड़ता है।

× × ×

इस बातकी चिन्ता रखना कि किसी व्यक्तिके प्रति तुम्हारे प्रेमके कारण, तुम्हारे या उस व्यक्तिके मनकी समतोलना नष्ट न हो। तुम्हारी सेवासे शक्तिमें वृद्धि होनी चाहिये। शक्तिका ह्रास होना अच्छा नहीं।

× × ×

दूसरोंमें सेवा करनेकी अधिक क्षमता देखकर ईर्ष्या न करना। हाँ, यह महसूस कर खुश ज़रूर होना कि जहाँ तुम्हारी अल्प शक्ति सेवाके लिये असमर्थ हो पड़ती है, वहाँ तुम्हारी मददके लिये तुमसे अधिक बलवान शक्तियाँ भी मौजूद हैं।

× × ×

जब तुम किसीको कोई चीज़ अर्पण करो तो यह आशा कदापि मत रक्खो कि वह उस चीज़को सदा-सर्वदा अपने ही पास रक्खे रहे। जब तुम देखो कि जिस भेंटसे उस मनुष्यको सुख हुआ है, वही दूसरोंको भी सुखी कर सकती है, तो खुशी मनाओ।

× × ×

जब तुम किसीकी मदद करते हो, तब जिस हेतुको लेकर तुम्हारे हृदयमें सेवाकी प्रेरणा होती है, उस हेतुमें तल्लीन हो जाओ। इस तरह करनेसे तुम्हारा उद्देश सफल होगा। तुम अधिक सुन्दर सहायता कर सकोगे।

× × ×

सेवाके बदलेकी आशा मत रखना; तुम जिसकी मदद करो अगर वह तुम्हें धन्यवाद न दे, तो भी बुरा न मानना। यह याद रखना कि तुमने जो सेवा की है, वह शरीरकी नहीं बल्कि आत्माकी की है। ओठ भले ही न हिलें, तुम आत्माकी उपकार-प्रियताका दर्शन अवश्य ही कर सकोगे।

× × ×

जिसपर तुम प्रेम करते हो, बदलेमें उसके प्रेमकी आशा या चेष्टा कदापि न करना। अगर तुम्हारा प्रेम पवित्र और सच्चा होगा तो अबेरे-सबेरे उसके हृदयमें वह प्रवेश करेगा और वहाँसे तुम्हें उसका प्रत्युत्तर भी मिलेगा; अगर तुम्हारे स्नेहका सोता सीमित है, तो यह इष्ट है कि वह प्राणी किसी दिन इस विचारसे दुःखी न हो कि आखिरकार वह सूख गया है।

* श्रीअरण्डेलकी The way of Service पुस्तिकासे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

× × ×

याद रखना कि जिस आदमीने आत्म-संयमकी साधना नहीं की है, वह सच्ची सेवा नहीं कर सकता।

× × ×

जो सेवा बोझा उठा लेनेके बदले बोझ वहन करनेकी शक्ति देकर बोझको हलका करती है वही सच्ची सेवा है।

× × ×

अगर तुम भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके भिन्न-भिन्न आदर्शोंपर दृष्टि रखकर तदनुसार सेवा करोगे तो उत्तम सेवा कर सकोगे।

× × ×

मनुष्यमें जो सर्वोत्तम गुण होता है, उसीके ज़रिये वह सर्वोत्तम सेवा कर सकता है। संसारमें जितने मनुष्य आश्रयके पात्र हैं, उतने ही सेवाके भी पात्र हैं।

× × ×

प्रत्येक पल सेवा करनेका समय होता है। क्योंकि यद्यपि सदा ही प्रेमभरे कार्य करनेके अवसर जीवनमें नहीं मिलते, तो भी हृदयको सदा प्रेमसे भरपूर रखनेका समय तो हमेशा ही मनुष्यके लिये प्रस्तुत रहता है।

× × ×

मनुष्य जिस हद तक अपने स्वार्थका कम चिन्तन करता है, उस हद तक वह अवश्य ही अपनी आत्मोन्नतिकी ओर ध्यान लगा सकता है। सेवाके प्रत्येक छोटे-से-छोटे कार्यका बदला सेवाकी बढ़ती हुई शक्तिके रूपमें सेवकको वापस मिलता है।

× × ×

किसी मनुष्यकी सेवा करनेके लिये तुमने जो मार्ग ग्रहण किया है, यदि वह उस मनुष्यको पसन्द न हो तो तुम कोई दूसरा मार्ग सोच लो। तुम्हारा हेतु सेवा है, जबर्दस्ती उसपर अपनी सेवाका ढंग लादना ठीक नहीं।

× × ×

किसी आदमीसे तुम्हारी जान-पहचान हो या न हो, संकटके मौकेपर उसकी सहायता करनेसे कभी न चूको। अपने संकटके कारण वह तुम्हारे भाईके समान है। प्रतिष्ठाके कारण पैदा होनेवाली झिझक गर्वका एक स्वरूप है, जिसकी वजहसे संकटके समय दुःखी आदमीका एक सहायक कम हो जाता है।

× × ×

कदापि अपने मनमें यह न सोचो कि आज मैंने दूसरोंकी बहुत मदद की है। हाँ, अपने दिलको टटोलकर ज़रा देख लो कि इससे ज़्यादा मदद तुम कर सकते थे या नहीं, और ज़रा इसपर भी सोचो कि दुनियाके दुःख-भण्डारको कम करनेमें तुम्हारी मदद कितनी थोड़ी रही है।

× × ×

महान् नेताओंके जो सच्चे अनुयायी होते हैं, वही अपनेसे कम ज्ञानवालोंकी बराबर रहनुमाई कर सकते हैं। क्योंकि जिस मनुष्यको आज्ञा-पालनकी तमीज़ नहीं है, वह ठीकसे आज्ञा कर ही नहीं सकता।

× × ×

अपनी सीखके मुताबिक आचरण करनेकी मनोवृत्ति दूसरोंमें पैदा करनेका अच्छे-से-अच्छा रास्ता यह है कि तुम खुद अपनी सीखके अनुसार आचरण करो।

× × ×

तुम यह चाहते हो कि लोग तुम्हारे हेतुको शुभ समझें, तो तुम्हारा भी यह कर्तव्य है कि तुम दूसरोंके कार्योंको शुभ हेतुद्वारा प्रेरित ही समझो।

× × ×

अपमानका मूल हलके स्वभावमें है, उन्नतिशील स्वभावपर उसका असर नहीं पड़ सकता। अतएव मनुष्यका अपमान तभी होता है, जब वह अपने ऊँचे पदको छोड़कर अपमान पाने योग्य निचाई तक आ पहुँचता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

× × ×

दूसरे मनुष्य सेवाधर्मकी शिक्षा नहीं ले रहे हैं, और तुम उस शिक्षासे शिक्षित हो रहे हो, इसलिये औरोंकी अपेक्षा तुम अच्छे हो, यह विचार जब तुम्हारे दिलमें उठे तब याद रक्खो कि जिस क्षण तुम्हारे दिलमें ऐसे विचार पैदा होते हैं, उसी क्षण तुम सेवाधर्मका त्याग करते हो।

× × ×

अपने जीवनकी उच्चतामें दूसरोंको हिस्सेदार बनाना, सच्ची सेवाका लक्षण है। लेकिन प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी भी रूपमें, अपने आपको प्रशंसनीय उदाहरणके तौरपर पेश करना, सच्ची सेवा नहीं।

× × ×

पहले कहना और बादमें करना, इसकी अपेक्षा पहले करना और फिर कहना अधिक अच्छा है, लेकिन सबसे अच्छा तो काम करके चुप रहना ही है।

× × ×

मनुष्य कितनी सेवा कर सकता है, इसका सच्चा अन्दाज़, उसके रात-दिनके गृहजीवनसे लगाया जा सकता है। उसकी रचनाओं–पुस्तकों, लोगोंमें उसकी प्रतिष्ठा, उसके सार्वजनिक भाषणों और कार्योंसे इस बातका ठीक-ठीक पता नहीं लगाया जा सकता। खुले तौरपर बड़े-बड़े काम करनेसे कोई आदमी बड़ा या महान् हो जाता है, यह समझना भूल है। आत्मसंयमके छोटे-मोटे कामोंमें, जिनका किसीको पता भी नहीं रहता, मनुष्यकी महत्ता छिपी रहती है।

× × ×

जो अपनी तमाम शक्तिका विनियोग सेवामें कर देना चाहता है, उसे अवसर पड़नेपर जब सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त हो, तब अपने सर्वस्व त्यागकी तैयारी कर रखनी चाहिये।

× × ×

एक मनुष्य कई तरहसे तुम्हारी सहायता चाहता है, अब तुम उसकी अच्छी-से-अच्छी सेवा उसकी मनचाही चीज़ें देकर नहीं, वरं उसके लिये जो चीज़ ज़रूरी हो, वह देकर कर सकते हो। ऐसा करनेसे तुम्हारी सेवा एक विशेष प्रकारकी हो जाती है, और सम्भव है कि इसके कारण वह तुमसे नाराज़ भी हो जाय। तुम्हारा यह कर्तव्य है कि तुम उसकी सेवा ऐसे ढंगसे करो कि वह स्वीकार्य हो पड़े।

× × ×

जिस सहायताका पात्र एक ख़ास आदमी है, उसे वह सहायता न देकर किसी दूसरेको देना, सच्ची सेवा नहीं है। मनुष्य किसी भी तरह क्यों न हो, सेवा करना चाहते हैं। लेकिन वे उचित मार्गका त्याग कर और जिसकी सेवा करनी चाहिये, उसे भुलाकर, जिसकी सेवा करना चाहते हैं, उसकी सेवा करते हैं।

× × ×

जिस दिनका काम अधिक अच्छा हो, उस दिनको अपने लिये अधिक उज्ज्वल समझो।

दुनियामें एक भी ऐसा आदमी नहीं है, जिसमें कुछ-न-कुछ त्रुटि न हो, साथ ही ऐसा आदमी भी मिलना मुश्किल है, जो कुछ न दे सकता हो; मतलब, जिसमें एक भी गुण न हो।

× × ×

जब तुम किसीकी सेवा करो, तब उसकी कमजोरियाँ देखकर उकता न जाओ। कमजोरीके कारण ही तुमको उसकी सेवा करनेका अवसर मिलता है। अगर उसमें त्रुटियाँ न होतीं तो तुम्हारी सेवाकी भी उसे ज़रूरत न रहती।

× × ×

जैसे हर एक दुःखमें भावी सुखके स्वप्न छिपे रहते हैं, वैसे ही हृदयकी प्रत्येक कमजोरी एक दिन सद्गुणोंमें विलीन हो जाती है।

× × ×

जब किसी आदमीकी सहायता करो, तब याद रखना कि उसके अवगुणोंको बढ़ानेवाली शक्ति, तुम्हारी सहायतासे भविष्यमें सद्गुणोंकी पोषक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सके। शक्तिको बदलना तुम्हारा काम नहीं है, उसके स्वरूप और उसकी दिशाको बदलना ही तुम्हारा कर्तव्य है।

× × ×

'अगर मेरे पास बहुतेरे साधन होते तो मैं कितनी ज़्यादा सेवा कर सका होता,'—इस उधेड़-बुनमें पड़नेकी अपेक्षा जो साधन आज तुम्हारे पास मौजूद हैं, उनके द्वारा की गयी ज़रा-सी भी मदद कहीं कीमती है।

× × ×

सामनेवाले आदमीमें जिस सद्‌गुणकी कमी है, उस सद्‌गुणके प्रत्यक्ष दर्शन उसे अपने व्यवहार-द्वारा करा देना ही उसकी बड़ी-से-बड़ी सेवा है।

× × ×

तुम रात-दिन दूसरोंकी जो सेवा किया करते हो, उसकी कीमत आँकनेका सीधा, सरल और सच्चा रास्ता यह देख लेनेमें है कि अया तुम्हारे जीवनमें उसके कारण अधिक शान्ति, अधिक सन्तोष और अधिक उदार-चारित्र्यका प्रवेश हुआ है या नहीं।

× × ×

तुम्हारी शक्तिभर तमाम सेवाओंकी आशा दुनिया तुमसे रखती है। जो दूसरोंकी शक्तिका विषय है, उसकी तुमसे आशा नहीं की जाती। अगर तुम अपनी काबूभर सब कुछ करते रहे तो तुम समझ लो कि तुमने अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन किया है।

× × ×

अगर कोई तुम्हारी सेवा मंजूर करनेसे इनकार करे तो इसी कारण तुम उसकी सेवासे मुँह न मोड़ो। जो मनुष्य सेवाका अनादर करता है, आख़िर उसीको अधिक सेवाकी आवश्यकता होती है।

× × ×

कोई प्रेमवश तुम्हारी सेवा करना चाहे तो उसे मना करते समय इतना अवश्य ध्यानमें रखना कि प्रेमपूर्वक मदद करनेसे जितनी सेवा होती है, उतनी ही सेवा प्रेमपूर्वक मदद स्वीकार करनेसे भी होती है।

× × ×

अपने बसभर बुद्धिमानी और सचाईके साथ सेवा कर चुकनेपर उसके परिणामकी चिन्ता कभी न करना; क्योंकि सेवाकी निर्मलता सेवकको शान्तिके रूपमें वापस मिलती है और जिसकी सेवा की गयी है वह सुखपूर्ण वातावरणमें रहने लगता है।

× × ×

सेवाका सर्वोत्तम बदला, हृदयको अधिक प्रेममय बनानेकी शक्ति और उसके द्वारा अधिकाधिक सेवा करनेकी शक्तिमें ही है।

× × ×

जिस मनुष्यका हृदय सुखका अनुभव नहीं करता, वह सच्ची सेवा भी नहीं कर सकता।

× × ×

अगर किसी मनुष्यकी तुमने विशुद्ध प्रेमपूर्वक सेवा की है, तो तुम्हारी सेवामें विवेक-बुद्धिकी कमी रहनेपर भी, जिसकी तुमने सेवा की है, उसे अन्तमें कोई नुकसान नहीं होगा। तुम्हारे प्रेमकी शक्ति तुम्हारे विवेककी कमीसे होनेवाली हानिसे उस मनुष्यको बचा लेगी।

× × ×

जिस कमजोरी या त्रुटिके लिये तुमसे क्षमा माँगी जाती है, वह कमज़ोरी या त्रुटि भविष्यमें उस मनुष्यमें न दिखायी पड़े, ऐसे रास्ते उसे लगाकर स्नेहपूर्वक और आतुरताके साथ उसके लिये प्रयत्न करना ही, सच्ची क्षमा है।

× × ×

कभी-कभी हमें कर्तव्यवश दूसरोंके कामोंका फैसला देना पड़ता है, लेकिन दूसरोंकी मदद करना तो हमारा रातदिनका कर्तव्य है।

× × ×

अगर तुमको अपनी आध्यात्मिक प्रगतिकी थाह लेना है तो तुम इतना देख लो कि पहले जितने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवाके अवसरोंको तुम हाथसे जाने देते थे, आज भी उतने ही जाने देते हो, या कम ।

× × ×

जब तुम किसीके सेवा करनेके तरीक़ेकी टीका करते हो, तब तुम यह भूल जाते हो कि वह मनुष्य एक ऐसे आदमीकी सेवा करता है, जिसे तुम्हारे सेवा करनेके ढंगसे ज़रा भी प्रेम नहीं है ।

× × ×

तुम्हें सेवा करनेकी प्रेरणा क्यों हुई, किस तरह हुई, लोगोंको यह बताते हुए ज़रा भी हिचकिचाना मत। अपने सुखका मूल जगत्‌के अर्पण करना, जगत्‌को सुन्दर उपहार देना है।

× × ×

किसी आदमीके लिये किया गया सेवाका हर एक काम उस आदमीको उत्तेजन देनेवाला और उसकी रक्षा करनेवाला देवदूत-सा बन जाता है। तुम्हारी सेवा जितनी अधिक स्नेहपूर्ण होगी, दूत उतना ही दीर्घायु बनेगा और वह अधिक समय तक उसे प्रोत्साहित कर सकेगा, उसका रक्षक बन सकेगा।

× × ×

कहीं यह न मान बैठना कि जिसे हम अपनी आँखों सेवा करते हुए देखते हैं, वही सेवा करता है। सेवाके महान् कार्योंमें कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनका किसीको पतातक नहीं रहता।

× × ×

सेवाका कोई काम आज ही करनेके बदले अगर कलपर उसे टाल देते हो तो सम्भव है, सेवाका वह अवसर फिर कभी प्राप्त ही न हो; क्योंकि कल उस कार्यकी ज़रूरत न रहे, और आज, जब ज़रूरत थी, वह किया नहीं गया।

× × ×

हमारे पास आनेवाले हर एक व्यक्तिका उचित ख़याल रखनेसे जो सेवा होती है, अकसर देखा जाता है कि हम उसकी उपेक्षा करते हैं। मनुष्य जो कहना चाहता है, उसे ध्यानपूर्वक सुन लेनेमें ही उसकी आधी सेवा हो जाती है।

× × ×

जब तुम्हें दुःख सहना पड़े, तब याद रखना कि दुःख सहन करनेसे दूसरोंके दुःखमें सहानुभूति रखनेकी तुम्हारी शक्तिमें वृद्धि होती है। क्योंकि अगर तुमने किसी तरहका कष्ट सहन किया है, तो अधिक नहीं तो जितना कष्ट तुमने सहा है, उतने अंशमें अवश्य ही तुम दूसरेके साथ अधिक सहानुभूति प्रकट कर सकोगे, जो तुम्हारे ही समान दुखी हैं।

× × ×

सेवाके इच्छुकको एक ही तत्त्वके दो जुदा स्वरूपोंको पहचान लेना चाहिये, वे हैं—दुःख और आनन्द। एक अनुभूत मानसिक संघर्षणका याद कराता है, और दूसरा सबके अन्तिम आदर्शकी प्रतीति कराता है।

× × ×

तुम्हारा हृदय तुम्हारे सेवा-कार्योंकी जो कीमत आँकता है, उसके मुकाबले उन्हीं कार्योंकी जगत्‌द्वारा ठहराई हुई कीमत कुछ नहींके बराबर है।

× × ×

बहुतेरे आदमी स्थल विशेषमें रहकर सेवा करनेमें सुख मानते हैं, और उस सेवाके लिये वे समर्थ भी होते हैं। लेकिन किसी भी जगह पहुँचकर सेवा करनेमें कितनोंको सुख होता है? कितने यह शक्ति रखते हैं?

× × ×

जिस तरह निर्जन वनमें सुन्दर फूल पाये जाते हैं, उसी तरह आनबानके मौक़ेपर और जगहपर की गयी सेवा अत्यन्त सुन्दर मालूम होती है।

× × ×

सर्वव्यापी अन्धकारमें जैसे एक नन्हा-सा दीपक भी उजेला-ही-उजेला कर छोड़ता है, उसी तरह स्वार्थसे भरेपूरे वायुमण्डलमें नन्हा-सा भी सेवाका काम निर्मल प्रकाश पहुँचाता है।

× × ×

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हारा वायुमण्डल जिस हदतक ख़राब हो उसी हदतक उसे सेवाके कार्योंद्वारा सुधारकर सुन्दर बनानेकी आवश्यकता है।

× × ×

अगर तुम अपनी वर्तमान परिस्थितिमेंसे सेवाके अवसर ढूँढ़ नहीं सकते, तो निश्चय मानो कि सेवाके लिये जैसी परिस्थिति तुम चाहते हो, वैसी परिस्थितिमें भी तुम सेवाके अवसर नहीं पा सकोगे। जो मनुष्य खुद तो दूसरोंकी बहुतेरी सेवाओंको स्वीकार कर लेता है मगर बदलेमें स्वयं एक भी सेवाका काम नहीं करता, उस मनुष्यके समान, स्वजन हीन और दुःखी मनुष्य और कोई नहीं हो सकता।

× × ×

स्थूल जगत्में सेवा, कार्यका रूप धारण करती है, आन्तरिक सृष्टिमें सहानुभूतिका स्वरूप लेती है, और मानसिक सृष्टिमें बोधरूपमें दर्शन देती है।

× × ×

तुम्हारे जीवनके किसी भी दिनकी उज्ज्वलताका श्रेय जितना सूर्यके प्रकाशको है, उतना ही सेवाके किसी कार्यके प्रकाशपर भी निर्भर है।

× × ×

आतुरतासे और स्नेहसे कोई भी नन्हा-सा सेवाका काम सवेरे उठकर करना, उस दिनके तुम्हारे सुखके भण्डारको खुला रखनेका सर्वोत्तम उपाय है।

× × ×

दयाके समान सेवा भी दो दिशाओंमें सुखका विस्तार करती है, वह सेवक और सेव्य दोनोंको सुखी बनाती है।

× × ×

बाह्य जगत्में बसनेवाले ईश्वरी अंशकी सेवासे, अन्तस्तलमें विराजमान ईश्वरी अंशका ज्ञान प्राप्त होता है।

× × ×

जो सेवाके कार्य हम स्वयं स्फूर्तिके कारण करते हैं, वही सच्ची सेवाके नमूने हैं। अपनी स्थिति और अपने आसपासके संयोगोंसे उत्पन्न होनेवाले कर्तव्यके अनुरूप सद्गुणोंका आचरण करना भी सेवा है। जैसे जो तुमसे ज्यादा बुद्धिमान् हैं, अनुभवी हैं, उनके प्रति पूज्यभाव रखना और अपनेसे कम जाननेवालोंकी रक्षा करना, यह भी उनके प्रति तुम्हारे प्रेमका सच्चा लक्षण है।

× × ×

कोई तो यह प्रेरणा पाकर सेवा करते हैं कि उसे देखकर जान-पहचानवाले उनकी प्रशंसा करेंगे, और कोई लोगोंको संकटग्रस्त देखकर—उनकी आवश्यकताका अनुभव करके सेवाके लिये दौड़ पड़ते हैं।

× × ×

जिस तरह सुखके साथी मित्र होते हैं, उसी तरह सुखके दिनोंके सेवक भी होते हैं। तुम्हारी सेवा-वृत्ति कहाँतक निःस्वार्थ है, यह जाननेके लिये ज़रा अपना हृदय टटोल लेना।

× × ×

कभी-कभी यह बात ध्यानमें रखना कठिन हो जाता है कि जिस मनुष्यके बहुतेरे मित्र हैं, उसकी अपेक्षा जो मित्रहीन है उसे हमारी मित्रताकी अधिक आवश्यकता है। उसे मित्र नहीं मिलते, यही एक सबल कारण है कि हम उसके मित्र बनें।

× × ×

जो लोग दूसरोंसे अच्छे व्यवहारकी आशा रखते हैं, वे अकसर ऐसे लोग होते हैं, जिन्हें स्वयं दूसरोंके साथ अच्छी तरह पेश आनेकी ज़रूरत है।

× × ×

ग़लत फ़हमी पैदा किये बिना मित्रसे कुछ माँग लेनेमें सफल होना, निर्मल प्रेमका एक सच्चा लक्षण है।

× × ×

परमेश्वर सेवाके सब कार्योंका हिसाब रखता है। लेकिन मनुष्य तो उसी कामका हिसाब रखता है, जिसे वह समझ सकता है और पसन्द करता है।

× × ×

बहुतेरे मनुष्य रूढ़िके वश होकर सेवा करते हैं। हम प्रेमवश जगत्की सेवामें अपना जीवन बितावें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

× × ×

जब दूसरोंके दोष सुधारने लगो, तब पहले यह सोच लिया करो कि मानो वह दोष तुमनेही किया है।

× × ×

ऐसी कोई बात किसी आदमीके बारेमें मत कहो, जो उस मनुष्यके मुँहपर नहीं कह सकते।

× × ×

जो ज्ञान तुमको मनुष्य मनुष्यके भाईचारेकी ओर अधिकाधिक खींचता जाता है, वही ज्ञान संग्रहणीय है, पाने योग्य है।

× × ×

अगर तुम्हारा हृदय औरोंसे अधिक प्रेम-पूर्ण है, और इसी कारण तुम दूसरोंकी अपेक्षा अधिक सेवा कर सकते हो, तो सचमुच तुम अधिक ज्ञानवान् हो, अन्यथा नहीं।

× × ×

जो सच्चे ज्ञानी हैं, उन्हें अपने ज्ञानका गर्व हो ही नहीं सकता, क्योंकि उन्हें अपने अज्ञानका पता रहता है।

× × ×

अगर तुम कहींके अधिकारी बनाये गये हो, तो याद रक्खो कि अधिकारके कारण तुम्हारी खुशामद करनेवाले तो बहुतेरे मिल जायँगे, लेकिन लोगोंका प्रेम तुम अपने सद्गुणोंद्वारा ही पा सकोगे।

× × ×

जब तुम किन्हीं अनजान—अपरिचित लोगोंके बीच जा पड़ो, तो उस समय उनका सद्भाव प्राप्त करनेकी चेष्टा करना—उपाय सोचना। भूलकर भी इस बातका विचार न करना कि तुम उन्हें अपनी महत्ताका परिचय किस तरह दे सकोगे। ईश्वरकी सच्ची पूजा उसकी सृष्टिकी सेवाहीमें है।

× × ×

अगर तुममें अपनी भूल स्वीकार करनेकी शक्ति होगी तो लोग खुशी-खुशी तुम्हारे सद्गुणोंकी दाद देंगे।

× × ×

जब तुम्हें अपने वसीलेका, साधन-सम्पत्तिका अभिमान होने लगे, तब ज़रा देर ठहरकर सोच लेना कि यह वसीला तुम्हें अपने अधिकारके कारण प्राप्त है या सदाचारके प्रभावके कारण। हरएक सत्तापूर्ण अधिकारपर आरूढ़ मनुष्यको एक-न-एक तरहका वसीला तो होता ही है।

× × ×

सदा इस बातका ख़याल रक्खो कि कहीं किसी-पर मेहरबानी करते समय तुम अपने कर्तव्यसे विमुख तो नहीं हो रहे हो।

× × ×

सच्ची भक्ति सेवा करनेमें है। विचार विशेष पर दृढ़ रहने—उसे पकड़े रखनेमें नहीं।

× × ×

जिस कार्यका आरम्भ किया हो, उसकी प्रतिकूलताकी शिकायत करनेके बदले अगर तुम खुद उस कार्यके अनुकूल बनकर उसे आरम्भ करो तो अच्छा है।

× × ×

सच्चे मननके फलस्वरूप सेवा करनेकी शक्ति अधिकाधिक बढ़ती जाती है और फिर अपनी उन्नतिके विचार बहुत कम सताते हैं।

× × ×

जो लोग कहते हैं कि हमारी सेवाकी कोई ठीक-सी कदर नहीं करता, वे सच्ची सेवाके रहस्यको ही नहीं जानते।

× × ×

इस बातका ध्यान रक्खो कि सेवा करनेके लिये दिये गये वचनोंके विस्तारकी अपेक्षा तुम्हारे प्रत्यक्ष सेवापूर्ण कामोंका विस्तार अधिक होता है।

× × ×

जिस सेवा-कार्यके लिये तुमको कर्तव्य-विमुख होना पड़े, वह वास्तवमें सेवा-कार्य ही नहीं है।

× × ×

संकटके समय बेसमझे-बूझे कुछ करनेकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपेक्षा शान्तभावसे सहानुभूति रखना अधिक अच्छा है।

× × ×

जो लोग यह सोचते हैं कि वे किसी भी प्रकारकी सेवा करनेके योग्य नहीं हैं, वे मालूम होता है, जानवरों और वनस्पतियोंको भूल जाते हैं।

× × ×

जिन लोगोंको सेवा करनेकी फुर्सत नहीं मिलती, वे ही लोग दूसरोंसे सेवा करानेके लिये बहुत कुछ समय पा जाते है।

× × ×

किसी भी मनुष्यकी बात सुननेसे पहले उसके विषयमें अपनी राय कायम न करना, अपने ढंगकी एक अनूठी सेवा है।

याचना

मणि मुक्ता चाहूँ नहीं नहीं राज सम्मान ।
मैं चाहूँ सचरित युत जीवन शुद्ध महान ॥
कायर बनूँ अधर्म ढिग अरु स्वधर्म ढिग वीर ।
सम्पतिमें विनयी बनूँ विपति समयमें धीर ॥
बालकसम मेरी रहै निर्मल मति-गति नित्य ।
छल प्रपञ्च तजि सत्ययुत करूँ सदा शुभ कृत्य ॥
इन्द्रियगण अरु मन रहैं नित मेरे बसमाहिं ।
काम क्रोध मद लोभके कबहुँ होउँ बस नाहिं ॥
ऐसी देहु उदारता करि करुणा प्रभु मोहिं ।
सबकहँ देखौं एक सम कबहुँ न भूलौं तोहिं ॥

रामलाल शर्म्मा

अभिलाषा

मेरे मंजुल मन-मानसका विहरणशील मराल ।
बनकर, प्यारे ! प्रेमान्वित हो रहो सदा सब काल ॥
सुन्दर सुरभित भाव-सलिल-कण-सिंचित भक्ति-सनाल ।
पंकज घ्राण सदा कर बिहरो केलि-निरत नँदलाल ॥
बन श्यामल घन हृदय गगनको व्याप्त करो घनश्याम ।
प्रेमार्णवके प्रेमबिन्दुसे सींचो मन अभिराम ॥
यों पद-प्रीति-प्रवाह पूत कर बना उसे निज धाम ।
करो सदा भवसागर-तारक लीला लोक ललाम ॥
सरस सुमन बन मन-उपवनमें सुन्दर सौरभजाल ।
फैलाकर मम मन-षट्पदको कर दो नाथ बिहाल ॥
अभिलाषा है यही दीनजनपालक खलगन-काल ।
पूरण कर दो उसे प्रेमघन छोड़े जग-जंजाल ॥

दुर्गाप्रसाद त्रिपाठी काव्यतीर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्तके भगवान्

(लेखक—श्रीगोविन्ददत्तजी त्रिपाठी)

भक्तके भगवान् विश्वमय हैं। भक्त उनको इच्छामय, ज्ञानमय, आनन्दमय, प्रेममय, यहाँतक कि सर्वमय मानकर अपने प्राणोंको तृप्त करता है और अपार आनन्द-सागरमें गोते लगाता है। भक्तके भगवान् जलमें, पवनमें, मरुमें, तरुमें, फूलमें, फलमें सर्वत्र व्याप्त हैं। भक्तिरसके पूर्णावतार प्रह्लादजीने जब कहा कि—'श्रीहरि केवल वैकुण्ठमें ही वास नहीं करते हैं, उनका निवास तो इस विशाल ब्रह्माण्डके प्रत्येक पदार्थमें है।' तो यह सुन हिरण्यकशिपुने क्रोधसे जलते हुए कहा कि 'रे मूर्ख! तेरे हरि यदि सकल पदार्थोंमें हैं तो क्या इस स्फटिकके खम्भेमें भी हैं?' प्रह्लादजीने विनयपूर्वक मस्तक नवाकर उत्तर दिया 'जगत्के प्रत्येक परमाणुमें जिनके चेतनांशकी स्फूर्ति है वह श्रीहरि निःसन्देह यहाँ भी हैं।' प्रह्लादजीको दृढ़ विश्वास था कि हरि जगन्मय हैं। वास्तवमें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर अन्तमें हिरण्यकशिपुने भी प्रह्लादजीको 'कुलभूषण' कहा था; यद्यपि हिरण्यकशिपु भक्तिभावका साधक नहीं था परन्तु वह शत्रुभावसे भगवत्प्राप्तिका एक महान् दृष्टान्त हो गया। उसको निःसन्देह भगवत्प्राप्ति हुई। इसमें सभी शास्त्र एकमत हैं।

किसी भी भावसे भगवान्को भजा जाय, सच्ची तन्मयता होनेपर भगवत्-प्राप्ति हो ही जाती है। श्रीनारदजी राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं कि 'गोपियाँ कामभावसे भगवान्का भजन करके भगवत्पदको प्राप्त हुईं, कंसने भयसे ध्यान करके तथा श्रीकृष्ण-द्वेषी शिशुपालादि राजाओंने द्वेषभावसे चिन्तन करके भगवान्के चरणोंमें स्थान प्राप्त किया, यादववंशी पुरुषोंने भगवान् श्रीकृष्णको आत्मीयरूपसे ग्रहण करके उनके चरणोंमें गति पायी, तुम भगवान्से स्नेह करके ही उनके कृपापात्र बने हो एवं मैं भी भक्तिको साधकर ही श्रीहरिके कृपाकणको पानेमें समर्थ हुआ हूँ।' श्रीकृष्णमें चित्त लगाती हुई गोपियाँ उनको कान्त सम्बोधन करती थीं, वह भ्राता-पुत्रका भाव प्रदर्शित नहीं करती थीं, वह प्यारे श्रीकृष्णको प्राणनाथ कहकर ही अतुल सुख-सागरमें डूबजाती थीं। श्रीकृष्णके उद्देश्यसे अनिवेदित उनका कुछ नहीं था। गोपियोंने जान लिया था कि हमारे प्राणेश्वर—व्रजेश्वर—श्रीहरि इस विश्व-ब्रह्माण्डके सकल स्थानमें विद्यमान हैं, वह जिधर देखती थीं उधर ही श्रीकृष्णका दर्शन पाती थीं, अतएव वे लज्जा करके कहाँ छिपतीं और भय मानकर कहाँ भागकर जातीं? नौ प्रकारकी भक्तिमें अन्तिम लक्षण आत्मनिवेदन उनके हृदयमें प्रकट हुआ था; उन्होंने सम्पद्-विपद्, सुख-दुख, प्राण-मन, कुल-मान—सभी श्रीकृष्ण प्यारेके उद्देश्यसे समर्पण कर दिया था। श्रीकृष्णके सुख-दुःखके अतिरिक्त उनको और कोई सुख-दुःख नहीं मालूम होता था, उनका संसार एकमात्र प्राण-प्रिय श्रीकृष्णमय हो गया था। इस तन्मयभावमें ही शत्रुता, मित्रता, स्नेह और अनवरत भक्ति आदि सकल मार्गोंकी समाप्ति है। कंसने भयसे और शिशुपाल, हिरण्यकशिपु आदिने द्वेषभावसे ही सकल स्थानोंमें हरिका दर्शन किया था।

आसीनः संविशन्तिष्ठन्पर्यटन्प्रवदन्पिबन्।
चिन्त्यमानो हृषीकेशमपश्यं तन्मयं जगत्॥

कंस बैठे हैं, देखा—चारों ओर कृष्ण हैं। उठकर घरमें गये, वहाँ भी देखा—सर्वत्र कृष्ण हैं, घबड़ाकर खड़े हो गये, तब भी देखा कि समस्त स्थानोंमें कृष्ण विराजमान हैं। विचरनेमें, सम्भाषण करनेमें, भोजन-पान करनेमें, सर्वदा अन्तःकरणमें, श्रीकृष्णकी चिन्ता उदय होनेके कारण कंसको मानो जगत् ही श्रीकृष्णमय प्रतीत होता था। यहाँ तन्मयता प्रकटरूपसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यमान है। शिशुपाल आदिके अन्तःकरणमें सर्वदा हरिको पराजय करनेकी वासना उदित रहती थी, अतः वह प्रतिक्षण शत्रुरूपसे श्रीकृष्णका चिन्तन करके उनमें तन्मय हुए थे। यादवोंके आत्मीय ज्ञान और पाण्डवोंके स्नेहने वास्तवमें भगवान्को वशमें किया था। पाण्डवोंके दूत, सारथी आदि आनुगत्यको भगवान् अपना भूषण समझते थे, भक्तिके विषयमें नारद, शुक, शाण्डिल्य, प्रह्लाद, ध्रुव आदि अनेक उज्ज्वल दृष्टान्त हैं, वे सब भगवान्में भगवद्भावना ही करते थे। भक्तगण पुत्रभाव, शत्रुभाव, सख्यभाव, कान्तभाव और महामहिम परमेश्वरभाव आदि भिन्न-भिन्न भावोंसे चित्तमें चिन्तन करके भगवान्की चिन्तामें अनन्य अनुरागकर तन्मयता और परिणाममें तत्परताको प्राप्त हुए। साधनकी रीति भिन्न-भिन्न होनेपर भी गति एक ही है। जगत्में जितने भी पदार्थ हैं, सब श्रीभगवान्की विभूति हैं। पति-पुत्र, मित्र-शत्रु आदि सभी भावोंसे भगवान्की भक्ति हो सकती है, जो भक्त जिस भावसे भगवान्को आत्मसमर्पण करता है भगवान् उसके सम्मुख उसी भावसे प्रकट होते हैं। भगवान्की मूर्ति भक्तके भावानुसार ही प्रकट होती है। भक्तके मनमें श्रीकृष्ण होंगे तो सन्मुख भी श्रीकृष्ण होंगे। मनमें भगवती माँ दुर्गा होंगी तो सामने भी उसीका रूप दिखायी देगा। ऐसे ही श्वेत, कृष्ण, नील, रक्त आदि विविध वर्णों और द्विभुज, चतुर्भुज, दशभुज, मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, स्त्री, पुरुष आदि भिन्न-भिन्न रूपोंमें भक्त अपने भगवान्की भावना कर सकता है। अपने मनमाने आभूषणोंसे वह अपनी इच्छानुसार भगवान्को सजा सकता है। श्वेत, नील आदि सभी भगवान्की स्फूर्ति हैं। श्रीराधाने श्रीकृष्णसे बिछुड़कर कितने ही कृष्ण-वर्णोंको मस्तक और हृदयमें स्थान दिया था, जब किसी प्रकार भी उनकी प्रबल पिपासा दूर न हुई, तब जगन्माताने स्वयं ही श्रीकृष्णका वेष धारणकर सखियोंके साथ रहस्य सजाया था। उद्धवजी श्रीकृष्णका वेष धरकर ही समय व्यतीत किया करते थे। भगवान्के खोजनेके लिये घरसे निकलकर वनमें जानेकी भी आवश्यकता नहीं है। भक्तका मार्ग बड़ा सरल और स्वच्छ है। भक्त भगवान्की महिमाकी मधुरतासे तृप्त होकर विषयी-सा दीखनेपर भी वास्तवमें संन्यासी है। योगमार्गके साधन यम, नियम, प्राणायामादि बड़े कष्टसाध्य हैं। यही दशा ज्ञानकी है, उसमें विद्या चाहिये, बुद्धि चाहिये और भी अनेक साधनोंकी आवश्यकता है परन्तु भक्तिका सोता योग, ज्ञान, विज्ञानादि सभीको अपने उदरमें धारण किये हुए है। भक्तिमार्गमें चाण्डाल या व्याधका विचार नहीं। भगवान्में प्राणोंके संलग्न होते ही भक्तिका द्वार खुल जाता है, व्यर्थ विचार और वृथा झञ्झटमें टकराना नहीं पड़ता। भक्तके लिये बस, प्राणपट खोलकर श्रीहरिका चिन्तन करनेकी आवश्यकता है। ऐसा करनेसे तुरन्त प्रेमानन्द प्रकट हो जाता है, जगत्में दुर्लभ अमृतरसका पान करनेसे साधककी भव-पिपासा शान्त हो जाती है, फिर उस भक्तको मोक्ष पानेकी भी इच्छा नहीं रहती। वह सच्चिदानन्द-समुद्रमें सुखसे बड़वानलके समान जलना चाहता है। भक्तिके बिना ज्ञान व्यर्थ है और ज्ञानहीनसे भक्ति हो भी नहीं सकती। जिसको जाना ही नहीं, उससे प्रेम कैसे कर सकते हैं? भक्तके भगवान् किसी ख़ास सम्प्रदायका आदर नहीं करते, उनके दरबारमें समतारूपी अटल मन्त्रीका हुक्म चलता है। भक्ति-सम्प्रदायके आचार्य शाण्डिल्य ऋषिने भी ज्ञानकी उपेक्षा नहीं की है, भक्तिके सोतेमें तो ज्ञानमार्ग छिपा ही हुआ है। इसीप्रकार भक्ताचार्य-शिरोमणि देवर्षि नारदजीने भक्तिरहित केवल ज्ञानके द्वारा मुक्तिके सोपानमें एक चरण बढ़ाना भी कठिन कहा है।

जिसका भेद-भाव दूर हो गया है, जो सबमें समानभावसे भगवान्को देखता है उसे ही ज्ञानवान् कह सकते हैं, और प्रधान भक्त भी इसी परम ज्ञानके धनी होते हैं, जहाँ निरन्तर भगवान्का चिन्तन है वहाँ दूसरे ज्ञानको स्थान ही कहाँ है। भगवान् वाद-विवादसे दूर रहते हैं; साधक ज्ञानी हो या भक्त, योगी हो या कर्मी सभी अन्तिम उद्देश्यको सिद्धकर उस एक ही समरसानन्दसिन्धुमें निमग्न होते हैं!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

९९—मन अर्थात् कारण-शरीरसे ही संस्कारोंका उद्गम होता है। मनमें ही सुखकी स्मृति उठती है। तब मन विषयोंका चिन्तन करता है। मनके संकल्पोंमें ही मायाका सुदृढ़ आसन है। और उसीसे आसक्ति उत्पन्न होती है। मन भाँति-भाँतिकी स्कीमें रचता है और इससे आप विषयोंके अधीन हो जाते हैं और उनकी प्राप्ति तथा उनके उपभोगके लिये शारीरिक चेष्टा करने लगते हैं। आप अपने प्रयत्नमें राग और द्वेषके कारण कहीं तो स्नेहका भाव दिखलाते हैं और कहीं उपेक्षाका। आपको अपने शुभ एवं अशुभ कृत्योंके फलका उपभोग करना पड़ता है। यह जन्म और मृत्युरूप संसार-चक्र राग-द्वेष, धर्म-अधर्म, सुख-दुःखके छः अरोंके मध्य अनादि कालसे बिना विराम चल रहा है।

१००—दूध कुछ लोगोंको रुचता है, और कुछको नहीं। परन्तु दूधमें स्वतः ऐसा कोई दोष नहीं होता। निश्चय ही मनमें कुछ ऐसा विकार होता है। निःसन्देह मनमें ही एक दोष है। जब बच्चा अपनी माँको देखता है तो समझता है कि वह उसका पालन-पोषण करनेवाली और सब प्रकारके सुखोंको देनेवाली है। उसी स्त्रीको उसका पति सुखका साधन समझता है। और उसी स्त्रीको जब एक बाघ देखता है तो उसे अपना शिकार समझता है। विषय—वह स्त्री, तो प्रत्येक दशामें वही है परन्तु बालक, पति और बाघकी विचारदृष्टि—मानसिक दोषके कारण विभिन्न हो जाती है।

१०१—पञ्च तन्मात्राओंके सात्त्विक अंशसे मन बनता है। प्रकाश बाहर है, सूर्य भी प्रकाश प्रदान करता है। तैजस तत्त्वसे चक्षुका निर्माण होता है। मनका वह अंश भी जो प्रत्यक्ष करता है पञ्च तत्त्वोंसे बना है। इसप्रकार अग्नि (तेज) अग्नि (तेज) को देखता है। मनका वह अंश जो शब्द-तन्मात्रासे बना है केवल सुन सकता है, शब्द बाह्याकाशसे उत्पन्न है, इसप्रकार चित्ताकाश बाह्याकाशको सुनता है। किन्तु आत्मा प्रत्येक वस्तुको देख, सुन, चख और सूंघ सकता है। इस प्रकार आत्मा केवल आत्माको देख सकता है। जो कुछ आप बाहर देखते हैं, आत्मा ही है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है।

१०२—अपने मनके लिये आप सर्वश्रेष्ठ जज हैं। एकान्तमें अथवा शान्त कोठरीमें जाकर एक घण्टा अन्तःप्रेक्षण कीजिये, तब आपको अपने मनके दोष और कमजोरियाँ साफ़-साफ़ दीख पड़ेंगी।

१०३—शमके अभ्याससे मनमें जो शान्ति उत्पन्न होती है उसे उपरति कहते हैं। साधनाके द्वारा मनको हृदयमें स्थिर करना शम है। वासनाका त्याग ही शम है, मनको विषयाकार न होने दीजिये, वाह्यवृत्तियोंमें न भटकने दीजिये। इसीको 'अन्तर्मुखवृत्ति' के नामसे पुकारते हैं।

१०४—सत्त्वापत्ति मनकी वह अवस्था है जब वह सत्त्वसे निर्मलतासे परिपूर्ण हो जाता है। इसीसे भाव-संशुद्धि (विचारकी शुद्धि) तथा सत्त्व-संशुद्धि (जीवनकी शुद्धि) होती है। यह ज्ञानकी चतुर्थ भूमिका है।

१०५—निद्रावस्थामें मन हृदयमें—मुख्य प्राणमें—निवास करता है। मुख्य प्राणका अर्थ है ब्रह्म।

१०६—पहली भावना जो आपके मनमें उठी वह थी—'अहं' 'मैं'। अन्तिम भावना या वृत्ति जो ब्रह्ममें लीन होनेके पूर्व मनमें उठेगी, वह होगी ब्रह्माकार वृत्ति,—यह तभी उत्पन्न होती है जब आप अनुभव करते हैं—'अनन्तोऽस्मि'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०७-गायें विभिन्न प्रकारकी होती हैं, उनके रंग और आकार-प्रकारमें भेद होते हैं, पर दूध सबका एक-सा होता है। मनुष्योंके रस्मोरिवाज, रहन-सहन, वेष-भूषा और खान-पान संसारभरमें विभिन्न हैं, किन्तु उनके भाव और वृत्तियाँ एक-सी ही हैं। विभिन्न जिलों और देशोंमें भाषाएँ विभिन्न हैं, परन्तु भाषाओंके मूलमें जो भाव हैं वे एक से ही हैं। यह विभिन्नता, द्वैत और अनेकत्वमें एकत्वकी झलक है। निद्रामें एक ही रस, एक ही तत्त्व है। उसमें सबका अनुभव समान है, नाना भावका उसमें सर्वथा अभाव है। उसी प्रकारसे सारे पदार्थोंके भीतर एक ही सजातीय द्रव्य है और वह आत्मा है। वही ब्रह्म है। वही आपका अपना आप है।

१०८-'एक चिड़िया जो एक डोरीमें बाँधी गयी है, जब चारों ओर उड़ती है और उसे विश्रामके लिये स्थान नहीं मिलता, तो वह अन्तमें उसी स्थानपर आ जाती है, जिससे कि वह बँधी रहती है। इसी प्रकार, हे वत्स! मन जब चारों ओर भटकता है और उसे कहीं ठहरनेका स्थान नहीं मिलता तो वह अन्तमें आत्माका आश्रय लेता है। निश्चय ही आत्मा मनको बाँधनेवाली रज्जु है।' (छान्दोग्य उपनिषद् अ० ६ प्र० ७)

१०९-मनकी तुलना पारेसे की जाती है, क्योंकि इसकी किरणें विभिन्न पदार्थों (विषयों) पर फैली रहती हैं। इसकी बन्दरसे तुलना की जाती है, क्योंकि यह एक विषयसे दूसरे विषयपर कूदा करता है। इसी बहती हवाके साथ तुलना की जाती है, क्योंकि यह चञ्चल है। इसकी उपमा इसकी प्रचण्ड वासनाके कारण क्रोधान्ध हाथीके साथ दी जाती है।

११०-जिसप्रकार अग्निसे सीसा पिघल जाता है, जिसप्रकार अग्नि और सुहागा सोनेको गला देते हैं उसी प्रकार काम-क्रोध जो मनके लिये अग्नि स्वरूप हैं उसे गला डालते हैं।

१११-जैसे मकड़ी अपने शरीरसे जाला निकाल-कर तनती है, उसी प्रकार मन अपने अन्दरसे इस भौतिक जगत्को जाग्रत् अवस्थामें उत्पन्न करता है और सुषुप्तिमें अपने अन्दर इसे समेट लेता है। ग्राह्य और ग्राहक एक ही हैं। पदार्थ क्या है-मनोवृत्ति ही बाह्याकार एवं विषयाकार हुई पदार्थ कहलाती है। यह एक प्रकारकी विचार-सरणि है-'दृष्टिसृष्टिवाद-दृष्टिरेव सृष्टिः'।

११२-मनमें इच्छा-शक्ति और दृष्टि विभिन्न होते हैं। किन्तु शुद्ध चित्तमें इच्छा और दर्शनमें भेद नहीं। उसमें इच्छाशक्ति और दृष्टिका मेल हो जाता है, और फिर वे एक दूसरेसे विभक्त नहीं होते।

११३-मानसिक वृत्तियोंका कार्य आवरण भंग अर्थात् पदार्थोंके ऊपर पड़े हुए अविद्याके परदेको दूर करना है, स्थूल अविद्या सब पदार्थोंको ढँके हुए हैं। जब परदा हट जाता है तब पदार्थोंका प्रत्यक्ष सम्भव हो जाता है। वृत्तियाँ अविद्याके आवरणको दूर करती हैं। जब आप मनुष्योंकी एक भीड़से गुजरते हैं तो आपकी दृष्टिमें कुछ मनुष्य तो आते हैं, और कुछ यद्यपि आपके सामने होते हैं, तथापि आप उन्हें देखते नहीं, क्योंकि आपके सामने जो आवरण है, उसका पूरा भंग नहीं हुआ है, जब वह पूर्णतः भंग हो जाता है, पदार्थ आपके सामने झलकने लगते हैं।

११४-जब मन परित्यक्त पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये उन्हें इष्ट समझ ललचाने लगे तो विवेकका दण्ड उठाइये; इससे उसका सिर नीचा हो जायगा और वह शान्त हो जायगा।

११५-मनके अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण इसका दूसरे मनोंके साथ बहुत सान्निध्य सम्पर्क होता है, यद्यपि उनके बीचमें मनुष्यकी खोपड़ी बाधक होती है।

११६-मनका शरीरके ऊपर प्रभाव होता है, मनमें शोक होनेसे शरीर दुर्बल हो जाता है। इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदलेमें शरीरका भी मनके ऊपर प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ शरीरमें मन भी स्वस्थ होता है। पेटमें दर्द होनेसे मनमें बेचैनी आ जाती है। शरीर मनकी छाया है। यह मनके द्वारा निर्मित एक साँचा है, जिसमें मन अपनी शक्तियोंको वितरित करता है। शुद्ध मनका अर्थ है स्वस्थ शरीर, यद्यपि यह सर्वथा ऐसा ही नहीं होता।

११७-बलवान् मनका दुर्बल मनपर प्रभाव पड़ता है। एक बलवान् मनका हिप्नाटिस्ट कमजोर मनके दस बालकोंको संमोहित कर सकता है। महात्मा गाँधीने अपनी मानसिक शक्तिके बलसे करोड़ों मनुष्योंको खद्दर पहनने तथा अपना अनुसरण करनेके लिये प्रभावित किया है।

११८-मनकी एक रश्मि बाहर जाती है, पदार्थके रूप तथा रंगमें परिणत हो जाती है और उसे आवृत कर लेती है, तभी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष ज्ञान-सम्बन्धी यह एक सिद्धान्त है। एक पुस्तकका प्रत्यक्ष तभी सम्भव है जब मन उसके आकारको यथावत् ग्रहण करे। यत्किञ्चित् बाह्याधारके साथ मानसिक रूप ही विषय होता है। जो कुछ पदार्थ आप बाहर देखते हैं आपके मनमें उनकी मानसिक मूर्ति भी होती है।

११९-प्रत्यक्ष ज्ञानका दूसरा सिद्धान्त यह है कि बाहर केवल कम्पन है परन्तु मन उसे रंग, रूप और आकृति प्रदान करता है। इस अवस्थामें इसे हम बिल्कुल मानसिक विकार या मानसिक अविद्या ही कहेंगे।

१२०-मनमें औरा (Aura) होता है—वह मानसिक होता है या प्राण-सम्बन्धी। औरा (Aura) एक प्रकारका तेज होता है जो मनसे उत्पन्न होता है। उन लोगोंका औरा (Aura) जो मनको उन्नत करते हैं, अत्यन्त चमत्कृत होता है। इसका प्रकाश बहुत दूरतक जा सकता है और उन अनेक मनुष्यों-पर अपना प्रभाव डालता है जो उस प्रभावके अन्दर आ जाते हैं। आत्मिक औरा (Aura) मानसिक या प्राणिक औरा (Aura) से कहीं अधिक शक्तिशाली होता है। भगवान् बुद्धका आत्मिक औरा (Aura) तीन मीलतक फैला रहता था।

१२१-शक्तिकी भी शक्ति जो मनको शक्ति प्रदान करती है, प्रकाशका भी प्रकाश जो मनको प्रकाशित करता है, द्रष्टाका भी द्रष्टा जो मनके अन्दरकी गति और प्रवृत्तिका साक्षी होता है, और आधारका भी आधार जिसमें मन सुषुप्तिमें विश्राम पाता है, ब्रह्म है। उस शक्तिकी भी शक्तिको मैं करबद्ध नमस्कार करता हूँ, वह शक्तिकी शक्ति मैं ही हूँ।

१२२-मनके द्वारा ही जगत् आभासित होता है। परन्तु अचरजकी बात यह है कि द्रष्टाके अतिरिक्त मनको किसीने देखा नहीं।

१२३-वासना भावापन्न मनकी एक अवस्था-विशेष है। वासना ईंधन है और संकल्प अग्नि है। संकल्पाग्नि वासनारूपी ईन्धनके द्वारा जागृत रक्खी जाती है। यदि आप ईंधनको डालना बन्द कर दें तो अग्नि अपने गर्भमें लीन हो जायगी। यदि आप वासनाओंका उच्छेद करके चिन्तन बन्द कर दें तो मन ब्रह्ममें आकर्षित हो जायगा।

१२४-सांख्यदर्शनके अनुसार महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व अव्यक्त प्रकृतिसे उत्पन्न होता है, महत्से अहङ्कार उत्पन्न होता है और अहङ्कारसे मन।

१२५-जब मनुष्य मरता है, उसकी वाणी मनमें समा जाती है, मन प्राणमें विलीन हो जाता है, प्राण तेजस्में और तेजस् परम ब्रह्ममें लीन हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (६।६।६)

१२६-जो रोग भौतिक शरीरको पीड़ित करते हैं वे गौण रोग हैं, मुख्य रोग तो वासना है, जो मनको पीड़ित करती है।

१२७-रोगोंके प्रारम्भिक कारण जो शरीरको पीड़ा पहुँचाते हैं, बुरे विचार हैं, यदि बुरे विचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नष्ट कर दिये जायँ तो शारीरिक रोग भी अन्तर्हित हो जायँगे। मनकी पवित्रताका ही अर्थ है स्वस्थ शरीर।

१२८-जब मन उत्तेजित होता है तो शरीर भी उत्तेजित होता है। जहाँ शरीर जाता है मन उसके साथ जाता है। जब मन और शरीर दोनों उत्तेजित हो उठते हैं तो प्राण विषम हो जाता है। सारे शरीरको समान और सौम्यरूपसे व्याप्त करनेके स्थानमें वह विषम गतिसे कम्पन प्रारम्भ करता है, जिससे भोजनका उचित रीतिसे परिपाक नहीं होता और रोग उत्पन्न होने लगते हैं। यदि प्रारम्भिक कारण दूर कर दिये जायँ तो सारे रोग अपने आप नष्ट हो जायँगे।

१२९-यदि वास्तविक सत्वगुणसे मनको शुद्ध रक्खा जाय तो सारे शरीरमें अनायास प्राण-सञ्चालन होगा। भोजनका ठीक-ठीक परिपाक होगा और कोई भी रोग उत्पन्न न होगा।

१३०-सत्य, धार्मिक और शुद्ध कर्मों तथा सतत सत्संगके द्वारा मनकी शुद्धि निश्चित है। मनके इस प्रकार शुद्ध हो जानेपर एक प्रकारका अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।

१३१-मन विद्युत् है और विचार एक महान् शक्ति है।

१३२-मन भाँति-भाँतिके सङ्कल्प किया करता है। इसको संस्कृतमें 'मनोरथ' कहते हैं, जो ध्यानमें यह एक महान् विघ्न है। विचारके द्वारा इसको रोकना चाहिये।

१३३-प्राणायाम या प्राण-संयमसे मनकी गतिका अवरोध होता है और चिन्तनमें कमी होती है, यह मनसे राजस और तामस दोषोंको दूर करता है।

१३४-मनमें एक समयमें केवल एक ही भाव रह सकता है। किन्तु यह चपलाके सदृश इतनी तीव्र गतिसे इधर-उधर चलता है कि साधारण मनुष्य समझता है कि वह एक समयमें अनेक भाव ग्रहण कर सकता है।

१३५-आध्यात्मिक साधना, विचार, ध्यान, प्राणायाम, जप, शम और दमसे साधकमें एक बिल्कुल नया मन निर्मित होता है, जिसके साथ ही नये भाव, नये स्नायु-तन्तु, नयी धमनियाँ और मस्तिष्कमें मनको नये रूपसे गति, शील और सञ्चालित होनेके लिये नये-नये क्षेत्र, नवीन स्नायु-धारा एवं नूतन मस्तिष्क-कोशादिका निर्माण हो जाता है। वह उन विषयोंका विचार कभी नहीं करता जो अहम्मन्यता अथवा आत्मश्लाघाकी ओर झुकाते हैं। वह तो सारे विश्वके कल्याणका चिन्तन करता है। वह एकताके लिये सोचता है, विचारता है और काम करता है।

१३६-एक नाटक लिखनेके पूर्व तुम्हारे मनमें उसका एक स्फुट मानसिक चित्र होता है, तब तुम उसे क्रमशः चार अध्यायोंमें विभाजित कर लिख डालते हो। और जब वह रंगभूमिमें खेला जाता है तो खेलनेवाले उसे अध्याय-क्रमसे खेलते हैं। इसी प्रकार यह सारा विश्व और इसकी क्रियाएँ ईश्वरके मनमें एक मानसिक चित्रवत् हैं। ईश्वरके लिये न तो भूत ही है और न भविष्य है, उसके लिये सब कुछ 'वर्तमान' ही है, उसके लिये न तो 'समीप' है और न 'दूर' है। उसके लिये सब स्थान 'अत्र' ही है। प्रत्येक काल उसके लिये 'अधुना' ही है। समय-क्रमसे इस विशाल विश्व-नाटककी घटनाएँ रंगभूमिमें क्रमशः आती जाती हैं। परमाणु निरन्तर गतिमें हैं। पुराने परमाणु नये बनते हैं और नये पुराने होते हैं। यथार्थमें न तो कोई वस्तु ऐसी है जिसे पुरानी कही जाय और न कोई ऐसी वस्तु है जिसे अद्वितीय कह सकें। जीव अपने व्यक्तिगत मनके द्वारा इन घटनाओंका क्रमशः निरीक्षण करता है। परन्तु ईश्वर सारी घटनाओंको एक साथ एक निमेषमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखता है, वह सर्वज्ञ है (सब कुछ जानता है। और वह सर्ववित् है (सब कुछ समझता है)। वह अपनी सृष्टिके सारे प्रत्ययोंको जानता है) ईश्वरके मनसे मायाकी सृष्टि होती है और जीवोंके मन भ्रममें पड़कर उसे ग्रहण करते हैं।

१३७-जब मन खाली रहता है तो बुरे विचार उसमें प्रविष्ट होनेका प्रयत्न करते हैं। बुरे विचारोंसे व्यभिचारका उपक्रम होता है। वासनामय दृष्टिसे मानसिक व्यभिचारका पाप लगता है। याद रहे—मानसिक कर्म ही वास्तविक कर्म हैं। भगवान् मनुष्यके कर्मोंका निर्णय उसकी मनोवृत्तिके अनुसार करता है। सांसारिक पुरुष बाह्य शारीरिक कर्मोंके द्वारा निर्णय करते हैं। निर्णय करते समय मनुष्यकी मानसिक प्रवृत्तिपर ध्यान देनेसे भूल नहीं हो सकती। मनको सदा कर्म-रत रक्खो, जिससे बुरे विचार उसमें प्रवेश न करने पावें। तन्द्रित मनमें शैतानका निवास होता है। महात्मा गाँधी अपने मनको सदा कर्ममय रखते हैं। वह वास्तविक वीर हैं, यहाँ तक कि जब वे अपने निजी कमरेमें (Private room) जाते हैं तो अपने साथ पत्र लेते जाते हैं और वहाँ पढ़ते हैं—मनकी निगरानी प्रतिक्षण करते रहिये। इसे कुछ काम करनेको दीजिये। वाटिकामें काम करना, बर्तन साफ करना, झाड़ू-बुहारू लगाना, पानी भरना, पढ़ना, ध्यान करना, माला जपना, दैवी संगीत गाना, वृद्धोंकी सेवा करना या रोगियोंकी सुश्रूषा करना प्रभृति कार्योंमें मनको लगा दीजिये। व्यर्थकी बातचीतमें न पड़िये। मनको गीता, उपनिषद्, योगवाशिष्ठ प्रभृति ग्रन्थोंके उच्च ज्ञानसे भरपूर रखिये।

१३८-जैसा आप विचार करते हैं वैसा ही आप बनते हैं। अपने बलवान् होनेका चिन्तन कीजिये, आप बलवान हो जायँगे। अपनेको दुर्बल चिन्तन कीजिये, आप दुर्बल होते जायँगे। अपनेको मूर्ख समझिये, आप मूर्ख हो जाइयेगा और ईश्वर समझिये, ईश्वर बन जायँगे। प्रतिपक्ष भावनाका अभ्यास कीजिये। जब आपको क्रोध होने लगे तो उस समय मनमें प्रेमके भावोंको भरें। जब आप व्यथित हों तब अपने मनको आनन्द और उमंगके भावोंसे भरें। जब आप बीमार हों, अपने मनमें आरोग्य, बल, शक्ति और जीवनके भावोंको भरें। इसका अभ्यास कीजिये, अभ्यास कीजिये। इससे आपको अक्षय निधि प्राप्त होगी।

१३९-यदि आप मनसे मिले हुए हैं, उससे अभेद रखते हैं तो आपको उसके दोष नहीं दीख पड़ेंगे। यदि आप साक्षी या मनकी गतियोंके निरीक्षक हैं और यदि आप स्वतन्त्ररूपसे अन्तः-प्रेक्षणका अभ्यास करते हैं, तो आप अपने अनेकों दोषोंको समझ सकेंगे और आपको उनके दूर करनेकी आवश्यकता अनुभव होने लगेगी। आप अपने स्वभावोंको बदलना चाहेंगे, आपको उन दोषोंको निर्मूल करनेके लिये सच्ची साधना करनी चाहिये तभी आपका जीवन उन्नत होगा।

१४०-मन संस्कारोंके पुञ्जके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह केवल अभ्यासोंका पुञ्ज है। मन उन इच्छाओंके सङ्कलनसे निर्मित होता है जो विभिन्न विषयोंके सम्पर्कसे उत्पन्न होती हैं। यह उन अनुभवोंसे बनता है जो सांसारिक झञ्झटोंसे उत्पन्न होते हैं। यह भावोंकी राशि है जो विभिन्न विषयोंसे एकत्रित होते हैं। ये विचार, भाव और अनुभव सदा बदलते रहते हैं, कुछ पुराने भाव और विचार अपने कोषागार मनसे सदा प्रस्थान करते रहते हैं और नये उनका स्थान ग्रहण करते हैं।

१४१-इस सतत परिवर्तनसे मानसिक क्रियाके सामञ्जस्यमें कोई विक्षेप नहीं पड़ता है। केवल कुछ पुराने विचार, भाव तथा अनुभव चले जाते हैं और बचे हुए विचार नवागत विचारके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहवास तथा सहकारसे काम करने लगते हैं। नवागत विचार बचे हुए पुराने विचारोंसे कहीं अधिक आकर्षक होते हैं। दोनों प्रकारके विचार एक रस हो काम करते हैं और इस एक रसतासे मानसिक स्थितिकी एकता बनी रहती है।

१४२–मन ही भ्रमात्मक विषयोंमें मोह उत्पन्न करता है। मन ही सारे कर्मोंका मूल है। यह हमारे शरीरको प्रतिदिन काम करनेके लिये तथा अपने भोगके लिये विभिन्न सुखद विषयोंकी प्राप्तिके लिये प्रोत्साहित करता है।

१४३–सच्चा संन्यास मनकी उपेक्षामें निहित है। संसारके अस्तित्वमें नहीं। अहंकार और सारी कामनाओंको दूर करना ही संन्यास है। तभी जीवन अमरत्वको प्राप्त होता है, अथवा अहङ्कारसे मुक्त अवस्थाके उस अतुल आनन्दका उपभोग करता है जो ब्रह्मके साथ अभेदसे प्राप्त होता है।

१४४–मनका वास्तविक स्वभाव वासनामय होता है। वासना और मन एक दूसरेके पर्याय हैं। 'मैं' की भावना ही मनरूपी वृक्षका बीज है। अहङ्कारके इस बीजसे जो पहला अंकुर उत्पन्न होता है, वह है 'बुद्धि'। इस अंकुरसे निकली हुई शाखायें 'सङ्कल्प' नाम धारण करती हैं। इसलिये इस मनके भयावह वृक्षसे प्रतिदिन संकल्परूपी शाखाओंको काटते जाओ और अन्तमें मनके वृक्षको समूल नष्ट कर दो। शाखाओंका काटना गौण कर्म है। वृक्षको उसके मूल 'मैं' के साथ उखाड़ डालना ही मुख्य कर्म है। इसलिये यदि आप शुभ कर्मोंके द्वारा मनरूपी वृक्षके मूल 'मैं' की भावनाका नाश कर दें तो यह फिर नहीं उगेगा। ब्रह्मज्ञान 'मैं' के यथार्थ स्वरूपका अन्वेषण करता है जो मनका नाश करनेवाली एक अग्नि है, यही (गीता ४। ३७) ज्ञानाग्नि है।

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।'

ज्ञानाग्नि सर्व कर्मोंको भस्म कर देती है।

१४५–मनमें अनुकरणकी महान् शक्ति है। यही कारण है कि आध्यात्मिक साधकके लिये गृहस्थाश्रमियोंके सहवासका निषेध किया गया है। क्योंकि ऐसा करनेसे उसका मन सांसारिक पुरुषोंका अनुकरण करने लगेगा, और तब उसका पतन प्रारम्भ हो जायगा।

१४६–यदि आप मानसिक ब्रह्मचर्यमें प्रतिष्ठित नहीं हुए हैं तो कम-से-कम जब कभी वासनाका विकार हो तब शरीरका संयम तो अवश्य कीजिये। इस दुस्साध्य रोगके हटानेमें, प्रकाश, सात्त्विक आहार, उपवास, प्राणायाम, जप, प्रार्थना और विवेक अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं। (क्रमशः)

सावधान !

चुगुल चवाई हौं औ भाखत सवाई सदा
राखौं न उठाय चहै कोऊ अनुरागै ना;
अंतरकी जानौ तुम हौं हूँ न अजानौ नाथ !
मानौ तौ प्रमानौ देहुँ रोष जिय पागै ना।
ह्वैकै जगदीस प्रतिपालौ जगदीसनको
ईसनके आगे सुधि बीसनकी जागै ना;
बिरुद बचावनको धावन परैगो तब,
'अंक गहि लेहु तौ कलंक अंक लागै ना'।

मातादीन शुक्ल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक-वाटिका

जो परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हैं, जो सबमें व्याप्त हैं, विश्वके स्रष्टा हैं, अनेक रूपोंवाले हैं, अखिल विश्वको सब ओरसे घेरे हुए हैं, और जो कल्याणरूप हैं, उनको जो पहचान लेता है वह आत्यन्तिक शान्ति-मोक्षको प्राप्त होता है। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀

उस परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसको प्राप्त हुए पुरुष फिरसे संसारमें लौटकर नहीं आते और जिससे इस सनातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तृत हुई है उसी आदि परम पुरुषकी शरण ग्रहण करनी चाहिये।

—श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀

तीनों लोकोंमें इन चार बातोंसे बढ़कर मनुष्यको प्रसन्न करनेवाली और कोई बात नहीं है—दान, मैत्री, सब जीवोंपर दया, और मीठे वचन। —भगवान् व्यासदेव

❀ ❀ ❀

जिन कर्मोंसे बन्धन नहीं होता वे ही कर्म हैं और जो विद्या मुक्तिमें हेतु है वही विद्या है, शेष सब कर्म और विद्याएँ तो शिल्प-निपुणतामात्र हैं। —प्रह्लाद

❀ ❀ ❀

समस्त पापोंसे निवृत्त होना, कल्याणकारी कर्म करना और चित्तका दमन करना चाहिये। —बुद्धदेव

❀ ❀ ❀

सरलता बिना कोई भी मनुष्य शुद्ध नहीं हो सकता, अशुद्ध जीव धर्म नहीं कर सकता, धर्म बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष बिना सुखकी प्राप्ति असम्भव है।

—महावीर तीर्थङ्कर

❀ ❀ ❀

जिसप्रकार वृक्ष जल सींचनेवाले और फल-फूल तोड़नेवाले दोनोंके साथ समान बर्ताव करता है, उसी प्रकार सज्जन भी अपनी भलाई करनेवाले और बुराई करनेवाले दोनोंके साथ एक-सा व्यवहार करते हैं। —अप्पय दीक्षित

❀ ❀ ❀

जबतक शरीर रोगरहित है, बुढ़ापा नहीं आया है, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हो गयी है, आयुका नाश नहीं हो गया है, तभीतक विद्वानोंको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये। घरमें आग लग चुकनेपर कुआँ खोदनेसे क्या होगा? —भर्तृहरि

❀ ❀ ❀

भगवान्‌के नामका उच्चारण करनेसे सभी पाप जल जाते हैं, इसमें मनुष्यकी अचल श्रद्धा होनी चाहिये। प्रभुका नाम लेते समय भी जगतकी व्यर्थ बातोंको याद करते रहना और भगवान्‌की आज्ञाका पालन न करना यह विश्वासी नाम-प्रेमीके लिये कैसे सम्भव है? —रामकृष्ण परमहंस

❀ ❀ ❀

जिस नन्द-नन्दनने यमुनाके तटपर सब गोपोंको बचानेके लिये कालीयका मथन किया—वह क्या शरण चाहनेवालोंको शरण नहीं देगा? —लीला शुक

❀ ❀ ❀

जो लोग काम, क्रोध, मद और लोभमें रत हैं तथा दुःखरूप गृहमें आसक्त हैं, वे भवकूपमें पड़े हुए मूढ़ मनुष्य भगवान्‌को कैसे जान सकते हैं? इन मायाके विकारोंसे छूटना हो तो सब कामनाओंको छोड़ यह विचार कर ही भगवान्‌का भजन करो कि श्रीहरिकी मायाके दोष-गुण हरिका भजन किये बिना नष्ट नहीं हो सकते।

—तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀

जिसको भगवत्‌की प्राप्ति हो गयी है, वह पुरुष ईश्वर-भजन छोड़कर दूसरोंका मार्गदर्शक या उपदेशक नहीं बनता, क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक प्रभुके सिवा कोई भी दूसरा रक्षक, शिक्षक या मार्गदर्शक है ही नहीं।

—अबु बकर सबली

❀ ❀ ❀

शरीर छोड़नेके समय आत्माकी जिस वस्तुमें आसक्ति होती है, वह उसीमें प्रवेश करता है, उस समय यदि उसके हृदयमें भगवान्‌का प्रकाश न होकर जगत्‌का प्रकाश होता है, तो उसको अँधेरे जेलखानेमें जाना ही पड़ता है।

—जैकब बेहोमी

❀ ❀

जो हरि-से हीरेको छोड़कर दूसरेकी आशा करते हैं, वे सीधे यमपुरी जायँगे। रैदास यह सत्य कहता है।

—रैदासजी

❀ ❀ ❀

जब 'मैं' था तब 'हरि' नहीं थे, अब 'हरि' हैं तो 'मैं' नहीं रहा। प्रेमकी गली बहुत ही सँकड़ी है, इसमें दो नहीं समा सकते। —कबीरजी

❀ ❀ ❀

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैराग्यपञ्चकं

(लेखक—प्रे० राजवैद्य पं० हरिवक्षजी जोशी तीर्थत्रय)

कहा जाता है कि विद्यारण्य स्वामीने विजयनगर-राज्यकी स्थापना करनेके बाद अपने भाई श्रीवेदान्तदेशिकजीके पास यह सन्देशा भेजा कि आप वनमें दरिद्रता क्यों भोग रहे हैं, यहाँ आकर राज्य-कार्यमें योग दे यथेष्ट धन प्राप्तकर आनन्दसे जीवन बिताइये। वेदान्तदेशिकजी विरक्त संन्यासी थे, उन्होंने उत्तरमें पाँच श्लोक लिख भेजे, जो वैराग्य-पञ्चकके नामसे प्रसिद्ध हैं। पाँचों श्लोक अर्थ-सहित नीचे लिखे जाते हैं। श्लोक बड़े ही सुन्दर रहस्यभरे गम्भीर अर्थयुक्त हैं, श्लोकोंमें काव्यका आनन्द और अर्थमें वैराग्यका आनन्द भरा हुआ है।

शिलं किमनलं भवेदनलमौदरं बाधितुं
पयः प्रसृतिपूरकं किमु न धारकं सारसम्।
अयलमलमल्पकं पथि पटच्चरं कच्चरं
भजन्ति विबुधा मुधा अहह कुक्षितः कुक्षितः॥

उदरकी बुभुक्षारूप अग्निको दूर करनेके लिये उञ्छ-वृत्तिसे प्राप्त विखरे हुए अन्नके कण क्या पर्याप्त नहीं हैं? क्या अञ्जलिमात्र तालाबका जल शरीरको धारण नहीं कर सकता? राहमें बहुतायतसे पड़े हुए, अनायास प्राप्त मैले-कुचैले चिथड़े क्या शरीरके लज्जा आदि निवारणके लिये पर्याप्त नहीं हैं? यदि हैं तो बड़े दुःखकी बात है कि पण्डित लोग कुनृपतियोंकी सेवा क्यों करते हैं।

दुरीश्वरद्वारबहिर्वितर्दिका—
दुरासिकायै रचितोऽयमञ्जलिः।
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति नो
धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम्॥

दुष्ट राजाओंके दरवाजेके बाहर बनी हुई वेदी-पर जाकर बैठनेको दूरसे ही नमस्कार करता हूँ, क्योंकि मुझे उनके धनकी आवश्यकता नहीं है, मेरा तो अर्जुनके रथका भूषणस्वरूप कृष्णवर्ण भगवान् श्रीकृष्ण ही अविनाशी धन है।

काचाय नीचं कमनीयवाचा
मोचा फलस्वादु मुचा न याचे।
दयाकुचेले धनदत्कुचेले
स्थितेऽकुचेले श्रितमाकुचेले॥

दरिद्रपर दया करनेवाले और कंगालको भी कुबेरके समान धनी बना देनेवाले पीताम्बरधारी भगवान् श्रीकृष्णके विद्यमान रहते मैं केलेके समान मीठी और सुन्दर वाणीसे काँच-जैसी तुच्छ वस्तुके लिये नीचसे याचना नहीं कर सकता।

क्षोणीकोणशतांशपालनखलद्दुर्वारगर्वानल-
क्षुभ्यत् क्षुद्रनरेन्द्र चाटुरचनां धन्यां न मन्यामहे।
देवं सेवितुमेव निश्चितुमहे योऽसौ दयालुः पुरा-
धानामुष्टिमुचेकुचेलमुनये दत्तेस्मः वित्तेशताम्॥

पृथ्वीके किसी शतांश खण्डके पालन करनेमें खलकी भाँति आचरण करनेवाले और दुर्निवार अभिमानकी अग्निसे जलते हुए क्षुद्र राजाओंकी चारु रचनाको हम धन्य नहीं मानते, हम तो उसी देवकी सेवा करनेका निश्चय करते हैं जिस दयालुने धाना मुष्टि देनेवाले दरिद्र सुदामाको वित्तेश बना दिया।

शरीरपतनावधिप्रभुनिषेवणायादनात्-
अविन्धनधनञ्जयप्रशमदं धनं दंधनम्।
धनञ्जयविवर्द्धनं धनमुदूढगोवर्द्धनं
सुसाधनमबाधनं सुमनसां समाराधनम्॥

शरीरके पतनपर्यन्त प्रभुकी सेवासे सम्पादन किया हुआ विजलीकी अग्निको भी शान्त करने-वाला, अतिशय धन देनेवाला, अर्जुनकी कीर्ति बढ़ानेवाला और गोवर्द्धनको धारण करनेवाला विद्वानोंका समाराध्य भगवान् श्रीकृष्ण ही हमारा बाधारहित सुसाध्य धन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य और योग

(लेखक-श्रीअरविन्द)

भगवान् अर्जुनकी समस्याका यह पहला संक्षिप्त उत्तर देकर अब आरम्भमें ही सांख्य और योगका भेद करते हैं--

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
(गी० २ । ३९)

सांख्यमें तुम्हें यह बुद्धि कही गयी है। अब योगमें यह बुद्धि किस प्रकारकी होती है उसे श्रवण करो। हे पार्थ ! इस बुद्धिके साथ यदि तुम योगमें स्थित रहो तो तुम कर्मबन्धनका त्याग कर सकोगे।

जो परमार्थदर्शन गीताशास्त्रका यथार्थ प्रतिपाद्य विषय है उसका मूल सूत्र उक्त श्लोकके भेदमें निहित है, एवं गीतार्थके समझनेके लिये यह भेद नितान्त आवश्यक है।

गीता मूलतः वेदान्त-ग्रन्थ है। वेदान्त-ज्ञानके सम्बन्धमें जिन तीन ग्रन्थोंको प्रमाण माना जाता है गीता उनमेंसे एक है। गीता-शिक्षाकी भित्ति सत्यके ऊपर होनेपर भी—गीता आप्तवाक्य नहीं है, अर्थात् ऋषियोंकी योगदृष्टिसे सत्य जिस प्रकार प्रतिभात होता है-गीतामें वह ठीक उसी प्रकारके साक्षात् भावसे व्यक्त नहीं किया गया। गीताकी शिक्षाकी व्याख्या विचार, बुद्धि, तर्क, युक्तियोंके द्वारा की जाती है। तथापि गीताके ऊपर लोगोंकी इतनी श्रद्धा है कि यह प्रायः तेरहवाँ उपनिषद् समझा जाता है। दर्शनशास्त्रकी दृष्टिसे गीताकी विशेषता इसीमें है कि उसमें वैदान्तिक भावोंको सर्वत्र ही एक विशेष प्रकारसे सांख्य और योगके भावमें रँग कर उनका समन्वय कर दिया गया है। वास्तवमें गीतामें प्रधानरूपसे योगकी ही व्यावहारिक प्रणाली बतलायी गयी है और केवल इस व्यावहारिक प्रणालीको समझानेके लिये ही तात्त्विक बातोंकी अवतारणा की गयी है। गीता (निरे ही) वैदान्तिक ज्ञानका प्रचार नहीं करती, किन्तु एक ओर जहाँ वह ज्ञानमें ही समस्त कर्मोंकी परिसमाप्ति करती है एवं भक्तिको ही कर्मोंका सार और प्राण कहती है, वहाँ दूसरी ओर कर्मको ही ज्ञान और भक्तिकी भित्ति बताती है। गीताका योग सांख्यके विश्लेषणमूलक ज्ञानपर ही प्रतिष्ठित है, उसका आरम्भ सांख्यसे ही होता है और लगातार उसके अनेक मत और पद्धति सांख्यके ही अनुरूप प्राप्त होते हैं। तथापि यह सांख्यसे बहुत ही आगे बढ़ जाती है; सांख्यकी किसी-किसी मूल बातको अस्वीकार करती है एवं इसप्रकारसे वह सांख्यके निम्न श्रेणीके विश्लेषणमूलक ज्ञानके साथ उच्च व्यापक वैदान्तिक सत्यका समन्वय कर डालती है।

तब गीतामें जो सांख्य और योगविषयक बातें कही गयी हैं वह क्या है ? हम यहाँ सांख्य-शब्दसे ईश्वरकृष्णकी कारिका और योगसे पातञ्जल-योगसूत्रको ही लेते हैं-अवश्य ही गीताके सांख्य और योग इनसे पृथक् हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। कारिकामें सांख्य-मतका जैसा वर्णन किया गया है—कमसे कम साधारणतः हमलोग जैसा समझते हैं, गीताका सांख्य वैसा नहीं है—क्योंकि गीता कहीं भी क्षणमात्रके लिये भी सृष्टिके मूल तत्त्वस्वरूप अनेक पुरुषोंका स्वीकार नहीं करती। प्रचलित सांख्यके पूर्ण विपक्षमें गीता ज़ोर देकर कहती है कि आत्मा और पुरुष एक है, वही एक ईश्वर और पुरुषोत्तम है, एवं ईश्वर ही इस जगत्का आदिकारण है। आजकलकी भाषामें इसप्रकार कह सकते हैं कि-प्रचलित सांख्य निरीश्वरवादी है; किन्तु गीताका सांख्य ईश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद एवं एकत्ववादका सूक्ष्म समन्वय करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीतामें जो योगका प्रसंग है वह भी पातञ्जलकी योगप्रणाली नहीं है। क्योंकि पातञ्जलमें तो केवल एक राजयोगकी प्रणालीका ही वर्णन है, उस प्रणालीमें आभ्यन्तरीय वृत्तियोंको निगृहीत करनेकी एक नपी-तुली पद्धति है, उस सुनिर्दिष्ट सीमाबद्ध उपायोंके द्वारा क्रमशः चित्तको शान्त करके समाधिकी अवस्थामें पहुँचाना पड़ता है; जिससे ऐहिक एवं चिरन्तन दोनों प्रकारके फलोंकी प्राप्ति होती है। ऐहिक फल—जीवके ज्ञान और शक्तिकी विशेष भावसे वृद्धि होती है। चिरन्तनफल—भगवान्में मिल जाना है। परन्तु गीताका योग उदार और नानामुखी है, यह कुछ नपी-तुली नियम-प्रणालीके अन्दर सीमाबद्ध नहीं है; इसमें अनेक विषयोंका समावेश है, एवं उनके भी परस्पर स्वाभाविक सामञ्जस्यकी रक्षा की गयी है। राजयोग तो इसका एक सामान्य अप्रधान अंशमात्र है। गीताके योगमें राजयोगके समान नपे-तुले काट छाँट किये हुए वैज्ञानिक स्तरका विभाग नहीं है-वह तो आत्माके सहज स्वाभाविक क्रमविकाशकी प्रणाली है। हमारे मनोभाव कैसे हों, किस भावसे हम कर्म करें, इस सम्बन्धमें कई नीतियोंका अनुसरण कर-आत्माका रूपान्तर साधन करना होगा—प्रत्येक अंगको पुरातन प्राकृत सत्ता और संस्कारों (प्रकृतिके निम्नस्तरके खेल वा प्राकृत जीवन) से मुक्तकर अभिनव दिव्य धर्मयुक्त बनाना पड़ेगा, अपरा-प्रकृतिसे ऊपर उठकर परा-प्रकृतिमें प्रतिष्ठित होना पड़ेगा, यही गीताके योगका लक्ष्य है। अतएव पातञ्जलमें जिस यौगिक समाधिकी बात कही गयी है,-गीताकी समाधि उससे स्वतन्त्र है। पातञ्जलके मतसे केवल प्रथमावस्थामें ही चित्त-शुद्धिके लिये एवं एकाग्रता-प्राप्तिके लिये कर्मकी आवश्यकता है। किन्तु गीता तो कर्मको ही योगका विशेष लक्षणतक बतलाती है। पातञ्जलके मतसे कर्म केवल योगकी उपक्रमणिका है-पर गीताके मतसे कर्म ही योगकी स्थायी भित्ति है। राजयोगके अनुसार उद्देश्य सिद्ध होनेपर कर्मका वस्तुतः त्याग ही करना पड़ता है। अन्ततः शीघ्र ही योगके सहाय-स्वरूप कर्मकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। गीताके मतसे कर्म सर्वोच्च अवस्थापर पहुँचनेके लिये एक सहायक है, यहाँतक कि आत्माके सम्पूर्ण मुक्त होनेपर भी कर्म रहता है।

इतना कहना आवश्यक था, क्योंकि सुपरिचित बातोंका वर्तमान प्रचलित पारिभाषिक अर्थमें व्यवहार न करके, व्यापक अर्थमें व्यवहार करनेसे भावार्थ समझनेमें गड़बड़ होना सम्भव है। अवश्य ही प्रचलित सांख्य और योगदर्शनमें जो कुछ उदार, सार्वजनीन, सार्वभौम सत्य है, गीता उसे स्वीकार करती है—यद्यपि गीता केवल इन्हींमें सीमाबद्ध नहीं है। उपनिषदोंके वैदान्तिक समन्वयमें एवं परवर्ती पुराणोंमें हम जिस उदार वैदान्तिक सांख्यमतका परिचय पाते हैं, गीताका सांख्य भी वही है। प्रधानतः अन्तर्मुखी साधनाके द्वारा आभ्यन्तरिक परिवर्तन करके आत्मदर्शन तथा भगवान्के साथ मिलनेकी जो साधना है वही गीताका योग है—राजयोग तो इस उदार साधनाकी एक पद्धतिमात्र है। गीता स्पष्ट ही कहती है कि सांख्य और योग दोनों विभिन्न, सामञ्जस्यहीन, परस्पर विरोधी मतवाद नहीं हैं—उनकी मल नीति और लक्ष्य एक ही है। केवल उनकी पद्धति और आरम्भमें भेद है। सांख्य भी एक प्रकारसे योग ही है—परन्तु उसका आरम्भ ज्ञानमें होता है अर्थात् सांख्य-मतमें बुद्धिके द्वारा सृष्टिके तत्त्वोंका विश्लेषण और आलोचना करके आरम्भ करना होता है एवं सत्य दर्शन करनेपर, उसे प्राप्त करनेपर उद्देश्यकी सिद्धि हो जाती है। परन्तु योगका आरम्भ कर्ममें होता है—मूलतः यही कर्मयोग है। लेकिन गीताकी समस्त शिक्षाके द्वारा एवं इसके बाद कर्म-शब्दकी जैसी व्याख्या की गयी है उससे यह अच्छी तरह समझमें आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है कि कर्म-शब्द वहाँ खूब विस्तृत अर्थमें ही व्यवहृत हुआ है। हमारे भीतर और बाहर जो सब क्रियाएँ हो रही हैं, उन सबको—सर्वकर्मोंको ईश्वरके प्रति निःस्वार्थभावसे यज्ञरूपसे उत्सर्ग कर देना, यज्ञ और तपस्याओंके भोक्ता और प्रभुस्वरूप भगवान्‌के प्रति समर्पण कर देना—यही योग है। ज्ञानके द्वारा जिस सत्यके दर्शन होते हैं उसके लिये साधन करना ही योग है। एवं इसी ज्ञानके द्वारा जो प्रभु सर्वश्रेष्ठ रूपमें जाना जाता है उसके प्रति ज्ञानसम्भूत भक्ति और शान्त अथवा आवेग-पूर्ण आत्म-समर्पण ही इस साधनाकी परिचालका शक्ति है।

किन्तु, सांख्यका सत्य क्या है? हमारे जीवनके तत्त्वोंका विश्लेषण और संख्या करनेके कारण ही इस दर्शनका नाम सांख्यदर्शन होता है। साधारणतः हम अपने जीवनको, जगत्‌को जिस रूपमें देखते हैं वह अनेक तत्त्वोंके संयोगका परिणाम है। सांख्य इन्हीं तत्त्वोंका विश्लेषण कर उन्हें अलग करके दिखलाता है एवं उनकी गणना करता है। सांख्य विश्लेषण तो करता है परन्तु समन्वय करनेकी बिल्कुल ही चेष्टा नहीं करता। सांख्य मूलतः द्वैतवादी है। वेदान्तियोंमें जो अपनेको द्वैतवादी कहते हैं उन लोगोंके जैसा विशिष्टा द्वैतवाद सांख्यका मत नहीं है। सांख्यका मत तो पूर्णतः द्वैत है अर्थात् सांख्य, सृष्टिके केवल एक मल तत्त्वका नहीं, पूर्णतः विभिन्न दो तत्त्वोंका स्वीकार करता है—निष्क्रिय पुरुष, एवं क्रियाशीला प्रकृति—इन्हींके संयोगसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है। पुरुष ही आत्मा है। आत्मा-शब्दसे साधारणतः जो समझा जाता है, वह पुरुष नहीं है—पुरुष शुद्ध चैतन्यमय, अचल अक्षर, और स्वप्रकाश है। शक्ति एवं उसकी क्रिया ही प्रकृति है। पुरुष कुछ भी नहीं करता, केवल शक्ति और उसकी क्रिया ही पुरुषमें प्रतिफलित होती है। प्रकृति वस्तुतः जड़—अचेतन है तथापि पुरुषमें प्रतिफलित होनेके कारण क्रियाशीला प्रकृति चैतन-सी जान पड़ती है। इसप्रकार सृष्टि, स्थिति, लय, जन्म, जीवन और मृत्यु, चैतन्य और अचैतन्य, इन्द्रिय-लब्ध ज्ञान और अज्ञान, कर्म और अकर्म, सुख और दुःख इन सारे व्यापारोंकी उत्पत्ति होती है; एवं प्रकृतिके प्रभावमें पड़कर पुरुष इन सबको अपने समझकर पकड़ लेता है, किन्तु वस्तुतः यह सब पुरुषके बिल्कुल ही नहीं हैं, यह सब केवल प्रकृतिकी क्रियामात्र हैं।

क्योंकि प्रकृति त्रिगुणमयी है—प्रकृतिकी शक्ति मूलतः तीन प्रकारकी है, सत्व—ज्ञानका बीज, यह स्थिति करता है। रज—तेज और कर्मका बीज है, यह सृष्टि करता है; तम—जड़ता और ज्ञानका बीज एवं सत्त्व और रजका विरोधी है, सत्त्व और रज जिसकी सृष्टि और स्थिति करते हैं, तम उसका लय करता है। जब प्रकृतिके यह तीनों गुण समान बलसे साम्यावस्थामें आते हैं—तब सब स्थिर हो जाता है—उस समय कोई गति, क्रिया या सृष्टि नहीं रहती, अतएव उस समय अविकारी ज्योतिर्मय चेतन आत्मामें प्रतिफलित होनेके लिये कुछ भी नहीं रह जाता। किन्तु जब यह त्रिगुण साम्यावस्थासे च्युत होते हैं तब ये समान न रहकर आपसमें विरोध करते हैं और तभी अनवरत सृष्टि, स्थिति और लयका व्यापार चलने लगता है—इस विश्व-जगत्‌की अभिव्यक्ति हो जाती है। यह सब व्यापार पुरुषकी चेतनामें प्रतिफलित होते हैं, पुरुषके सनातन स्वरूपको ढँके रखते हैं। जबतक पुरुष इनकी चाह रखता है, एवं अपनेको प्रकृतिके गुणोंसे सम्पन्न देखता है तभीतक यह विच्युति रहती है, यह सारा व्यापार चलता है। किन्तु पुरुष जभी इन सबमें अपनी सम्मति देना बन्द कर देता है—गुणत्रय साम्यावस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तभी आत्मा अपने सनातन, अपरिणामी अचल अवस्थामें लौट आता है, संसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन्धनसे आत्माकी मुक्ति हो जाती है । इसप्रकार प्रकृतिके खेलको प्रतिबिम्बित करना, एवं सम्मति देना या न देना-पुरुषकी केवल इतनी ही क्षमता प्रतीत होती है। सांख्यका पुरुष केवल प्रतिफलितके लिये देख सकता है, और अनुमति दे सकता है—गीताकी भाषामें यही साक्षी और अनुमन्ता है—किन्तु ईश्वररूपमें कर्म नहीं करता । यही क्यों, पुरुष जो अनुमति देता और लौटाता है वह भी वस्तुतः पुरुषका काम नहीं है—उसे भी प्रकृति ही करा देती है। बाह्य या आभ्यन्तरिक कोई भी कर्म पुरुषका नहीं है—उसकी तो न तो कार्य करनेवाली इच्छा और न कार्य करनेवाली बुद्धि है। अतएव केवल पुरुष ही इस जगत्का कारण नहीं हो सकता। दूसरा कारण दिखलाना आवश्यक है। ज्ञान, इच्छा और आनन्दका आधार आत्मा अकेला ही इस जगत्का कर्ता नहीं है—आत्मा और प्रकृति, निष्क्रिय चैतन्य एवं क्रियाशीला शक्ति इन दोनों कारणोंसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है । सांख्य इसी रीतिसे जगत्के अस्तित्वकी व्याख्या करता है।

किन्तु फिर हम जो 'चिन्ता करते हैं,' 'विचार करते हैं' और 'सङ्कल्प करते हैं'—इसप्रकारकी जो प्रतीति होती है यह कहाँसे होती है? ये तो हमारे जीवनका कम अंश नहीं हैं। स्वभावतः हम विचारते हैं ये प्रकृतिके नहीं, पुरुषके हैं। सांख्यमतके अनुसार यह विचार-बुद्धि और इच्छा पूर्णतः जड़ प्रकृतिके अंश हैं—ये आत्माके गुण नहीं है? सांख्य जिन चौबीस तत्त्वोंके द्वारा जगत्की व्याख्या करता है—ये सब उनमें एक तत्त्व—बुद्धि हैं। त्रिगुणमयी प्रकृति ही जगत्का मूल उपादान है। सृष्टिके पूर्व प्रकृति अव्यक्त अचेतन अवस्थामें रहती है। सृष्टिकालमें इसी प्रकृतिसे क्रमशः जड़-जगत्के उपादान-स्वरूप पञ्चभूतोंका आविर्भाव होता है। यह पञ्च स्थूल भूत प्राचीन शास्त्रोंमें आकाश, वायु, अग्नि, अप् और पृथिवी इन नामोंसे कहे गये हैं। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि आजकलके जड़-विज्ञानमें उपादान (Elements) शब्दसे जो समझा जाता है, यह पञ्चभूत वैसे उपादान नहीं हैं। यह जड़-शक्तिकी पाँच सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं, इस जड़-जगत्में ये कहीं भी अमिश्रित अवस्थामें नहीं हैं। जगत्के सभी पदार्थ इन्हीं पाँचोंकी सूक्ष्म अवस्थाओं अथवा उपादानोंके सम्मिश्रणमें गठित हैं। और फिर इन पाँचोंमेंसे प्रत्येककी जड़-शक्तिके एवं सूक्ष्म गुणके आधार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। मन इन्हीं पाँच प्रकारोंसे बाह्य जगत्की सारी वस्तुओंको ग्रहण करता है । अतएव मूल प्रकृतिसे ही यह पञ्च महाभूत एवं पाँच इन्द्रियग्राह्य अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं—इन्हींसे बाह्य दृश्य जगत् उत्पन्न हुआ है।

अन्य तेरह तत्त्वोंसे अन्तर्जगत् संगठित है—वे हैं बुद्धि वा महत्, अहङ्कार, मन और उसके अधीन दश इन्द्रियाँ (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ)। मन आदि इन्द्रिय है—मन ही बाह्य वस्तुओंको प्रत्यक्ष करता है, मन ही उनके ऊपर कार्य करता है, क्योंकि मनकी दोनों प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। मन प्रत्यक्षके द्वारा बाह्य स्पर्श ग्रहण करके जगत्के सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करता है एवं बाह्य जगतके ऊपर क्रिया करनेके लिये शरीर-यन्त्रको परिचालित करता है। किन्तु, मन विशेष-विशेष ज्ञानेन्द्रियकी सहायतासे प्रत्यक्ष-लब्ध ज्ञानको विशेष रूप प्रदान करता है—चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्, क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्शको ग्रहण करता है। इसीप्रकार मन वाक्, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियोंकी सहायतासे प्रयोजनीय शारीरिक क्रियाओंको विशेष रूप प्रदान करता है। प्रकृतिकी जो शक्ति विचार करती है, भेद और सामञ्जस्यका निर्णय करती है उसीका नाम बुद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—यह एक ही साथ बोधशक्ति और इच्छाशक्ति है। बुद्धिके जिस तत्त्वके द्वारा पुरुष अपनेको प्रकृतिके साथ एक समझ लेता है, प्रकृतिके कार्योंको अपना कार्य समझता है उसीका नाम अहङ्कार है। किन्तु यह सब (मन, बुद्धि, अहङ्कार) आभ्यन्तरिक तत्त्व (Subjective Principles) स्वतः जड़ अचेतन हैं—बाह्य जगत्के कार्य जिसप्रकार अचेतन प्राकृतिक शक्तिके अन्तर्गत है, ये भी ठीक उसी प्रकार हैं। विचार-बुद्धि और इच्छा (इन दोनोंको ही सांख्यमें बुद्धि कहा है) जड़—अचेतनकी क्रिया कैसे हो सकती है—स्वयं जड़ हो सकती है, यदि इसका समझमें आना कष्टकर हो तो इसके लिये हमें स्मरण रखना चाहिये कि वर्तमान विज्ञान (Science) भी इसी प्रकारके सिद्धान्तपर पहुँचा है। यही क्यों, परमाणु (Atom) की जड़-क्रियामें जो शक्ति रहती है उसको भी अचेतन इच्छा-शक्ति कह सकते हैं, एवं प्राकृतिक जगत्की समस्त घटनाओंमें यह सर्वव्यापी इच्छा अचेतन भावसे ही बुद्धिका कार्य करती है। जड़-जगत्के सारे कार्योंमें जो भेदाभेदका निर्णय अचेतन भावसे चल रहा है—वह क्रिया और जिसको हम मानसिक बुद्धिकी क्रिया कहते हैं वह, मूलतः दोनों एक ही वस्तु हैं। पाश्चात्य विज्ञान यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा करता है कि सचेतन मन अचेतन जड़की क्रियाका ही परिणाम है। किन्तु जड़ अचेतन किसप्रकार चेतनकी तरह हो जाता है, पाश्चात्य विज्ञान इसकी व्याख्या नहीं कर सकता, किन्तु सांख्य उसकी व्याख्या करता है। पुरुषके अन्दर प्रकृतिके प्रतिबिम्बित होनेसे ही ऐसा हुआ करता है, आत्माका चैतन्य जड़—प्रकृतिकी क्रियाके ऊपर आरोपित होता है। इस प्रकारसे साक्षी स्वरूप पुरुष अपनेको भूल जाता है-प्रकृतिकी चिन्ता, अनुभूति और इच्छाको पुरुष भ्रम-वश अपनी समझता है। किन्तु वस्तुतः चिन्ता, अनुभूति, इच्छा, क्रिया-यह सब प्रकृति एवं उसके तीन गुणोंके द्वारा संघटित होते हैं, पुरुषके द्वारा बिल्कुल ही नहीं। इसी भ्रमसे परित्राण प्राप्त करना ही प्रकृति और उसके कार्योंसे पुरुषकी मुक्ति प्राप्त करनेकी प्रथम सीढ़ी है।

अवश्य ही संसारमें ऐसे बहुतेरे पदार्थ हैं, जिनकी सांख्य कोई व्याख्या नहीं करता, यों कहिये कि सन्तोषजनक व्याख्या नहीं करता। किन्तु हम यदि सृष्टि-तत्त्वकी ऐसी युक्तियुक्त कोई व्याख्या चाहते हैं जिसके द्वारा विश्व-प्रकृतिके बन्धनसे आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सके (इसप्रकारकी मुक्ति ही प्राचीन दर्शन-शास्त्रोंका प्रधान उद्देश्य है) तो सांख्यमें जो व्याख्या दी गयी है एवं मुक्तिका जो मार्ग दिखलाया गया है वह अन्य किसीसे भी कम समीचीन नहीं जान पड़ता। सांख्यकी जो बात हम सहसा नहीं समझ पाते—वह है उसका बहु-पुरुषवाद। विचारमें आता है कि एक पुरुष और एक प्रकृतिसे ही सृष्टि-तत्त्वकी व्याख्या की जा सकती है। किन्तु सांख्य वस्तु-तत्त्वको जिस विशेष भावसे विश्लेषण करके देखता है उसके लिये बहु-पुरुषवादके सिवा काम नहीं चल सकता। पहले हम वस्तुतः देखते हैं कि जगत्में अनेक सचेतन जीव रहते हैं, एवं प्रत्येक ही जगत्को अपनी-अपनी गतिके अनुसार देखते हैं—अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् एक मनुष्यकी दृष्टिमें जिसप्रकारका है, दूसरेकी दृष्टिमें वैसा नहीं। प्रत्येक मनुष्य ही जगत्को स्वतन्त्ररूपसे देखता है और जगत्में स्वतन्त्र-भावसे काम करता है। पुरुष यदि एक ही होता तो उसमें यह स्वातन्त्र्य और प्रभेद नहीं रहता। सभी जगत्को एक ही भावसे देखते, सभीकी दृष्टिमें अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् सब एक ही रूपसे प्रतिभात होता। असलमें सब एक ही जगत्को देखते हैं—कारण, प्रकृति एवं प्रकृतिके जिन सब तत्त्वोंके द्वारा अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् गठित हैं वे तो सबके लिये समान ही हैं। किन्तु जगत्को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग जिस रूपसे देखते हैं, जगत्के सम्बन्धमें लोगोंकी जैसी धारणा है, जैसे भाव हैं, वे तथा जगत्-विषयक लोगोंकी अनुभूति और कर्म असंख्य प्रकारके हैं। यह सब भेद और विभिन्नताएँ देखनेवालेके हैं, न कि प्राकृतिक कार्यसमूहोंके; क्योंकि प्रकृति एक है। बहु पुरुष, बहु साक्षी वा द्रष्टा नहीं माननेसे इस वैचित्र्य और विभिन्नताकी व्याख्या करना असम्भव है। अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि जीवका अहं-ज्ञान ही एकको दूसरेसे विभिन्न करता है किन्तु अहङ्कार तो प्रकृतिका एक साधारण तत्त्व है एवं इसके विभिन्न होनेका कोई कारण नहीं। क्योंकि केवल अहङ्कार पुरुषको यह भ्रम करा देता है कि वह प्रकृतिके साथ एक और अभिन्न है। यदि पुरुष एक ही है तो सब जीवमात्र एक ही होंगे। उनके बाह्य आकार-प्रकार चाहे कितने ही विभिन्न हों, अहं-ज्ञानमें सभी समान होंगे, आत्माकी दृष्टिमें आत्माकी उपलब्धिमें कोई भेद-भाव नहीं रहेगा। प्रकृतिमें कितनी ही विचित्रता हो, पुरुष यदि एक है, साक्षी यदि एक है तो जगत्के सम्बन्धमें धारणा भी एक-ही-सी होगी, जिस प्राचीन वैदान्तिक ज्ञानसे सांख्यकी उत्पत्ति हुई है उससे विच्युत होनेके कारण अमिश्रित सांख्य बहु पुरुष स्वीकार करनेके लिये न्यायतः (Logically) बाध्य है। एक पुरुष एवं एक प्रकृतिके सङ्गसे जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय समझाये जा सकते हैं परन्तु जगत्में जीवोंमें इस प्रकारका भेद क्यों है यह नहीं समझाया जा सकता।

बहुपुरुष स्वीकार न करनेमें एक और भी बड़ी बाधा है। अन्यान्य दर्शनोंकी तरह सांख्य-दर्शनका उद्देश्य भी मुक्ति है। हम पहले ही कह आये हैं कि पुरुषके आनन्दके लिये प्रकृति जो सब क्रिया करती है, पुरुष उन सबसे जब अपनी अनुमतिका प्रत्याहार कर लेता है, तभी मोक्ष हो जाता है; किन्तु वस्तुतः यह एक कहनेका ढंगमात्र है। वास्तवमें पुरुष निष्क्रिय है-अनुमति देने या उसके प्रत्याहार करनेका कार्य कभी पुरुषसे हो नहीं सकता। यह निश्चय ही प्रकृतिकी क्रिया है। विचार करनेसे यह समझमें आता है कि अनुमति देना या उसका प्रत्याहार करना बुद्धिकी क्रिया है। बुद्धिकी सहायतासे मन प्रत्यक्ष करता है, बुद्धि प्रकृतिकी क्रियाओंमें भेद और सामञ्जस्यका विचार करती है, बुद्धि अहङ्कारकी सहायतासे द्रष्टाको प्रकृतिकी चिन्ता, अनुभूति और कार्योंके साथ एक कर देती है। भेदका विचार करते-करते बुद्धि ऐसी अवस्था-पर पहुँच जाती है जिससे वह समझती है कि पुरुष और प्रकृतिका एकत्व भ्रम है। अन्तमें बुद्धि पुरुष और प्रकृतिमें भेद उत्पन्न कर देती है, समझती है कि जगत्के समस्त व्यापार ही गुणत्रयकी साम्यावस्थाकी विच्युतिमात्र है। उस समय बुद्धि (At once intelligence and will) जो मिथ्याके आश्रय रहता है उसका परित्याग कर देती है—तब पुरुष बन्धनसे मुक्त हो जाता है एवं जगत्की लीलाओंका रसास्वादन करनेवाले मनके साथ फिर अपनेको संयुक्त नहीं करता। परिणाम इसका यह होता है कि प्रकृति पुरुषके अन्दर अपनेको प्रतिफलित करनेकी शक्ति खो देती है; कारण, अहङ्कारकी क्रिया नष्ट हो जाती है एवं बुद्धिके उदासीन हो जानेसे वह प्रकृतिके कार्यमें अनुमति या सहायता नहीं करती। फलतः प्रकृतिके गुणत्रय साम्यावस्थामें आनेको बाध्य होते हैं, जगत्की लीला बन्द हो जाती है, पुरुष अपनी अचल शान्तिमें पुनः प्रतिष्ठित हो जाता है। किन्तु, यदि केवल एक ही पुरुष होता, एवं इसी प्रकार बुद्धि अपने भ्रमको समझकर उदासीन हो जाती तो इससे जगत्-भरका अन्त हो जाता। पर, वस्तुतः हम देखते हैं कि ऐसा कुछ भी नहीं होता। करोड़ों पुरुषोंमें कुछ लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं अथवा मुक्ति-पथके पथिक होते हैं—इससे अवशिष्ट लोगोंमें किसी प्रकारका व्यतिक्रम नहीं होता, एवं इसप्रकारके प्रत्याख्यानमें विश्वलीलाके समाप्त होनेकी बात तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूर रही, उसके साथ लीला करनेमें विश्वप्रकृतिको तनिक भी असुविधा नहीं होती। अनेक स्वतन्त्र पुरुष न माननेसे इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

वैदान्तिक अद्वैत-मतानुसार मायावाद ही इसकी एकमात्र न्यायसंगत व्याख्या होती है; किन्तु इस मतके अनुसार सब कुछ स्वप्न ही है—बन्धन और मुक्ति दोनों ही मिथ्या हैं, मायाके भ्रम हैं—वस्तुतः न कोई मुक्त होता है और न कोई बद्ध होता है। सांख्य जगत्को इसप्रकार पूर्णतः मिथ्या कहकर उड़ा देना नहीं चाहता--इसीलिये सांख्य वेदान्तकी इस व्याख्याको स्वीकार नहीं करता। यहाँ भी हम देखते हैं कि सांख्य जिसप्रकार सृष्टि-तत्त्वका विश्लेषण करता है, उसके लिये बहुपुरुष स्वीकार किये बिना उपायान्तर नहीं है।

सांख्यके इसी विश्लेषणको लेकर गीताका आरम्भ हुआ है। यहाँतक कि, गीता जिस भावसे योगका वर्णन करती है उससे जान पड़ता है कि गीताने प्रायः पूर्णरूपसे इसे स्वीकार किया है। प्रकृति, उसके तीन गुण तथा चौबीस तत्त्व गीताको मान्य हैं। सारी क्रियाएँ प्रकृतिकी हैं, पुरुष निष्क्रिय है—गीता इसे भी मानती है। गीता स्वीकार करती है कि जगत्में अनेक चेतन जीव हैं; अहङ्कारके नाश, बुद्धिकी भेद-क्रिया एवं प्रकृतिके गुणत्रयके अतीत होना ही मुक्तिका उपाय है, इसे भी गीता स्वीकार करती है। अर्जुनको प्रथम ही जिस योगके अभ्यास करनेके लिये कहा गया है वह है बुद्धियोग। किन्तु एक विषयमें बड़ा भारी मतभेद रह जाता है—गीताके मतसे पुरुष एक है, अनेक नहीं। कारण, गीतामें जो कहा गया है कि आत्मा मुक्त, चेतन, अचल, सनातन, अक्षर है, वह केवल एक बात छोड़कर सांख्यके सनातन निष्क्रिय, अचल, अक्षर पुरुषका ही वैदान्तिक वर्णन है। किन्तु बड़ा भारी भेद यही है कि गीतामें पुरुष अनेक नहीं, एक है। सांख्य अनेक पुरुष स्वीकार करके जिन समस्याओंका समाधान करता है—इसमें फिर वही समस्याएँ उठती हैं एवं उनके फिर एक सम्पूर्ण पृथक् समाधानकी आवश्यकता हो जाती है। गीता वैदान्तिक सांख्यके साथ वैदान्तिक योगको मिलाकर इसका समाधान करती है।

पुरुष सम्बन्धी धारणामें ही प्रथम नूतनत्व है। पुरुषके सुखके लिये प्रकृति कार्य करती है, किन्तु इस सुखका निर्धारण कैसे होता है? निखालिस सांख्यके मतसे निष्क्रिय साक्षीकी उदासीन अनुमतिके द्वारा ही इसका निर्धारण होता है। साक्षी उदासीन भावसे ही अहङ्कार और बुद्धिकी क्रियाको करवा देता है और उसीप्रकारके उदासीन-भावसे अहङ्कारके द्वारा बुद्धिके प्रत्याहारको भी करा देता है। वह देखता है, अनुमति देता है, एवं प्रतिफलनके द्वारा प्रकृतिके कार्यको पकड़े रखता है—इसप्रकार वह साक्षी, अनुमन्ता और भर्ता है परन्तु इससे अधिक और कुछ भी नहीं है। लेकिन गीताका पुरुष प्रकृतिका अधिपति भी है—वह ईश्वर है। इच्छाशक्ति प्रकृतिकी क्रिया होनेपर भी चेतन आत्मासे ही इच्छाकी उत्पत्ति और शक्ति है—वही प्रकृतिका प्रभु है। इच्छाके—बुद्धिके कार्य प्राकृतिक होनेपर भी—पुरुष ही इस बुद्धिका उत्पत्तिस्थान है—पुरुष ही सक्रिय-भावसे इस बुद्धिके निमित्त प्रकाश जुटा देता है। वह केवल साक्षी ही नहीं है, वह ज्ञाता और ईश्वर भी है—वह ज्ञान और इच्छा-शक्तिका अधिपति है। वही प्रकृतिकी क्रियाओंका चरम कारण है, कार्यसे प्रकृतिके संहरणमें भी वही चरम कारण है। सांख्यके विश्लेषणके अनुसार पुरुष और प्रकृति दोनों पृथक् हैं—दोनोंके संयोगसे यह जगत् उत्पन्न हुआ है; गीताके समन्वयकारी सांख्यके अनुसार पुरुष अपनी प्रकृतिकी सहायतासे इस जगत्का उत्पादन करता है। इससे हम स्पष्ट समझ सकते हैं कि गीता प्राचीन सांख्यकी सङ्कीर्णतासे बहुत आगे बढ़ गयी है।

तो फिर गीता जो अक्षर, अचल, चिरमुक्त एक आत्माकी बात पहले ही कहती है उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धमें क्या कहा जा सकता है ? वह आत्मा अविकारी, अज, अव्यक्त ब्रह्म है—तो भी वह सर्वव्याप्त है, 'येन सर्वमिदं ततम्।' इससे समझा जा सकता है कि इस सत्ताके अन्दर ही ईश्वरत्व है; वह अचल होनेपर भी वही समस्त कर्मों और गतियोंका कारण और अधीश्वर है। परन्तु यह किसप्रकार होता है ? और, जगत्में जो बहुतसे जीव रहते हैं, वे क्या हैं ? उनका तो ईश्वर होना समझमें नहीं आता, वरं विशेष भावसे वे ईश्वर नहीं हैं। अनीश हैं, क्योंकि वे गुणत्रयके अधीन हैं, अहङ्कारके भ्रमके अधीन हैं। गीता जो कहती है कि वह सभी एक आत्मा है, तो फिर यह बन्धन, यह अधीनता और भ्रम कैसे आ गये ? पुरुषको पूर्णतः निष्क्रिय और उदासीन नहीं माननेसे इसकी व्याख्या क्योंकर हो सकती है ? और यह बहुत्व ही कहाँसे हो जाता है ? एक शरीर और एक मनके भीतर एक आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है, पर वही एक आत्मा दूसरे शरीर और मनके अन्दर अपनेको बद्ध समझकर भ्रममें पड़ा रहता है, यह किस प्रकार होता है ? इन सब प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना काम नहीं चल सकता।

गीताने आगे चलकर पुरुष और प्रकृतिके सम्बन्धका विश्लेषण कर इन सब प्रश्नोंका समाधान किया है। वहाँ इसप्रकारके नवीन तत्त्वोंकी अवतारणा की गयी है जो वैदान्तिक योगके अन्तर्गत हैं—प्रचलित सांख्यके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। गीताने तीन पुरुषोंका अथवा पुरुषकी तीन अवस्थाओंका वर्णन किया है। उपनिषद्ने सांख्य-तत्त्वका वर्णन करते समय कहीं-कहीं केवल दो पुरुषोंकी बात कही हैं, ऐसा प्रतीत होता है। उपनिषद्में एक स्थानमें कहा गया है कि एक त्रिवर्णकी अजा है, त्रिगुणमयी स्त्रीधर्मी प्रकृति है; यह सदा ही सृष्टि करती है; दो अज पुरुष हैं। इनमेंसे एक प्रकृतिको धारण कर भोग करता है और दूसरेने उसको सम्पूर्णरूपसे भोगकर छोड़ दिया है। एक दूसरे श्लोकमें उनको एक वृक्षके ऊपर बैठे हुए दो पक्षियोंके रूपमें वर्णन किया गया है। दोनों ही एकत्र रहनेवाले चिरसंगी हैं। उनमें एक तो वृक्षका फल खाता है—प्रकृतिस्थ पुरुष प्रकृतिकी लीलाका उपभोग करता है, दूसरा नहीं खाता, किन्तु अपने सङ्गीको देखता है--वह नीरव द्रष्टा है भोगोंमें लिप्त नहीं है। पहला जब दूसरेको देखता है और समझ जाता है कि यह सब उसीकी महिमा है तब वह दुःखसे मुक्त हो जाता है। उक्त दोनों श्लोकोंके उद्देश्य अलग-अलग हैं, किन्तु इनमें एक ही साधारण अर्थ निहित है। दो पक्षियोंमें एक चिरकालसे नीरव है, मुक्त आत्मा अथवा पुरुष है, जिसके द्वारा यह समग्र जगत् व्याप्त है, वह अपने द्वारा व्याप्त इस जगत्को देखता है, किन्तु इसमें लिप्त नहीं होता। दूसरा प्रकृतिमें बद्ध पुरुष है। प्रथम श्लोकके द्वारा यह समझा जाता है कि दोनों पुरुष ही एक हैं—एक ही चेतन जीवकी दो भिन्न अवस्थाएँ हैं--बद्ध अवस्था और मुक्त अवस्था—क्योंकि दूसरे अज पुरुषने प्रकृतिमें उतरकर उसका उपभोग करके उसे छोड़ दिया है। द्वितीय श्लोकसे जो बात समझमें आती है, प्रथम श्लोकमें यह बात नहीं पायी जाती; द्वितीय श्लोक बतलाता है कि एक ही आत्माकी दो उच्च और नीच अवस्थाएँ हैं—उच्च अवस्थामें यह नित्यमुक्त, निष्क्रिय और निर्लिप्त है। किन्तु निम्न अवस्थामें यह प्रकृतिमें अनेक जीवरूपसे अवतीर्ण होता है एवं विशेष-विशेष जीवमें वह प्रकृतिकी लीलासे विरक्त होकर फिर उसी उच्च अवस्थामें लौट जाता है। एक ही सचेतन आत्माकी इसप्रकार द्वैत अवस्था कल्पित करनेमें समाधानका तो एक मार्ग निकल आता है, किन्तु एक अनेक कैसे होता है, यह बात समझमें नहीं आती।

उपनिषदोंके * अन्यान्य श्लोकोंका मर्म ग्रहणकर

* पुरुष…अक्षरात्…परतः परः—यद्यपि अक्षर ही परम पुरुष है तथापि उसकी अपेक्षा भी उत्तम और श्रेष्ठ पुरुष है। उपनिषद्में ऐसा कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीताने इन दोनोंके ऊपर एक पुरुष और मिला दिया है—वह है पुरुषोत्तम, सर्वश्रेष्ठ पुरुष—अखिल विश्व उसीकी महिमा है। इसको लेकर अब तीन हो जाते हैं—क्षर, अक्षर और उत्तम। क्षर है सचल, परिणामी—क्षर प्रकृति, स्वभाव (स्व—ब्रह्म, भाव उत्पत्ति; ब्रह्म ही अंश रूपसे जीव होता है, उसे स्वभाव कहते हैं)—आत्माका इस बहुभूत, बहु-जीव रूपमें जो परिणाम होता है उसको ही क्षर कहते हैं। ये पुरुष बहुत हैं, इस स्थानमें पुरुष भगवान्‌के बहुत-से रूप हैं। यह पुरुष प्रकृतिसे स्वतन्त्र नहीं है, यह हैं प्रकृतिस्थ पुरुष। अक्षर है अचल, अपरिणामी, नीरव, निष्क्रिय पुरुष—यह भगवान्‌का एक रूप है, प्रकृतिका साक्षी भी है परन्तु प्रकृतिके कार्यमें बद्ध नहीं है, यह निष्क्रिय पुरुष है—प्रकृति एवं उसके कार्यसे यह पुरुष मुक्त है। परमेश्वर, परमब्रह्म,परमपुरुष ही उत्तम है-उपर्युक्त परिणामी बहुत्व और अपरिणामी एकत्व दोनों ही उत्तमके हैं। अपनी प्रकृतिसे अपनी शक्तिकी विराट् क्रियाके बलपर, अपनी इच्छा और प्रभावके बलसे उसीने अपनेको संसारमें व्यक्त किया है, और साथ ही महान् नीरवता और अचलताके द्वारा उसने अपनेको स्वतन्त्र और निर्लिप्त भी रक्खा है तथापि वह पुरुषोत्तमरूपसे प्रकृतिसे स्वतन्त्रता एवं उसमें लिप्तता, इन दोनों ही अवस्थाओंसे ऊपर है। पुरुषोत्तमके सम्बन्धमें इसप्रकारकी धारणा उपनिषदोंमें प्रायः सूचित होनेपर भी—गीतामें ही इसका पहले पहल स्पष्टभावसे वर्णन हुआ है, एवं उसीके बादसे भारतीय धर्म-चिन्तनके ऊपर इस धारणाका प्रभाव विशेषरूपसे फैला है। जो सर्वोत्तम भक्तियोग अद्वैतवादके कठिन बेड़ीसे छूटना चाहता है, उसकी यही (अर्थात् पुरुषोत्तम-के सम्बन्धमें इसप्रकारकी धारणा ही) भित्ति है। भक्तिरसात्मक पुराणोंके मूलमें यही पुरुषोत्तम-वाद निहित है।

गीता सांख्यकृत प्रकृतिके विश्लेषणमें भी सीमाबद्ध नहीं रहना चाहती। क्योंकि इसके विश्लेषणमें अहङ्कारका स्थान है परन्तु बहु(Multiple) पुरुषके लिये स्थान नहीं है। सांख्यके बहुपुरुष प्रकृतिसे स्वतन्त्र हैं, प्रकृतिके अन्तर्गत नहीं हैं। गीता सांख्यमतके विरुद्ध कहती है कि ईश्वर अपनी ही प्रकृतिके द्वारा जीव बनाता है। किन्तु यह किस प्रकार हो सकता है? विश्व-प्रकृतिमें तो केवल चौबीस ही तत्त्व हैं? गीतामें भगवान्‌ने जो उत्तर दिया है, उसका सार रहस्य यही है कि—'हाँ, सांख्य जिसप्रकार वर्णन करता है, त्रिगुणमयी विश्वप्रकृतिके दृश्य (Apparent) कार्यसमूह ठीक वैसे ही हैं; सांख्य पुरुष और प्रकृतिमें जो सम्बन्ध निर्णय करता है वह भी ठीक है एवं बन्धन-मुक्ति और प्रत्याहारके लिये कार्यतः इस सांख्यज्ञानकी विशेष उपयोगिता है। किन्तु यह केवल निम्न अपरा प्रकृति है—यह त्रिगुणमयी, अचेतन और दृश्य है। इसकी अपेक्षा एक उच्च प्रकृति है—वह है परा, चेतन, दैवी प्रकृति; एवं यह परा प्रकृति ही जीव (Individual soul) है। निम्न प्रकृतिमें सभी अहंभावमें प्रतिभात हैं, उच्च प्रकृतिसे सभी व्यष्टिगत पुरुष हैं। दूसरे शब्दोंमें जिसे बहुत्व कहते हैं वह एक ही (ईश्वरकी) आध्यात्मिक प्रकृतिके अन्तर्गत है। मैं ही यह जीवात्मा हूँ, सृष्टिमें मेरा यह आंशिक प्रकाश है, 'ममैवांश'—मेरी समस्त शक्ति इसमें है। यह उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्त्ता, ज्ञाता और ईश्वर है। यह निम्न प्रकृतिमें अवतीर्ण होकर अपनेको कर्म द्वारा बद्ध समझता है, एवं इसप्रकार निम्नस्तरके जीवनका उपभोग करता है। यह प्रत्यावृत हो सकता है एवं अपनेको सारे कर्मोंसे मुक्त निष्क्रिय पुरुषके रूपमें जान सकता है। यह गुणत्रयसे ऊपर उठ सकता है एवं कर्मके बन्धनसे मुक्त होनेपर भी इसमें कर्म रह सकते हैं—मैं भी उसीप्रकार करता हूँ। इस पुरुषोत्तमकी भक्ति करके तथा उसके साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्त होकर अपनी दिव्य प्रकृतिका पूर्णतः उपयोग कर सकता है।

यही गीताका विश्लेषण है। यह केवल बाह्य—विश्व-लीलामें ही सीमाबद्ध नहीं है, वह विज्ञान-मयी प्रकृति (Super Conscious Nature) के उत्तम रहस्यके भीतर प्रवेश करके वेदान्त, सांख्य एवं योग-ज्ञान, कर्म, भक्ति इन तीनोंके समन्वयकी भित्ति स्थापित करता है। निरे सांख्यके मतसे कर्म और मोक्ष परस्पर विरोधी हैं, एवं इनका मिलन असम्भव है। निरे अद्वैतवादके अनुसार सदा योगके अङ्गरूपसे कर्म नहीं रह सकता। परन्तु गीताका सांख्य ज्ञान एवं गीताकी योगप्रणाली इन सब बाधाओंका अतिक्रमण कर जाती है।*

तरस !

राग कालिंगड़ा

(१)

मन कब हरि-पद शरण गहेगो ॥

तीनहु ताप तपत दिन खोवत। रूप कुरूप हगन भर जोवत।
लाभ अलाभ हानि बिच रोवत। कब वह रहनि रहेगो ॥ मन कब०

(२)

छिनमहँ जात पहार पतारन। छिनमहँ घूमत बाग बहारन।
गिरत परत उरझत उन झारन। कबलों विपति सहेगो ॥ मन कब०

(३)

जाकों देख लुभावत निशिदिन। सो यह तन छीजत है छिन-छिन।
मृत्यु हँसत तेरे दिन गिन-गिन। कबलों और दहेगो ॥ मन कब०

(४)

सोच समुझ अब हरि चरननपर। अमल अनामय ध्यान हृदय धर।
अपने आपहि पै करुनाकर। फिर नहिं जनम लहेगो ॥ मन कब०

लक्ष्मणाचार्य वाणीभूषण

हितकी बात

होता है अनुचित अनर्थ नित्य मेरे प्रभु !
तुमको समय असमय भटकाता हूँ।
आना पड़ता है तुम्हें ध्यान जब करता हूँ,
बार-बार तुमको मैं नित्य ही सताता हूँ।
हृदयमें घोर अन्धकार जो भरा है प्रभु !
उसमें बुलाकर मैं तुमको बिठाता हूँ।
ले लो मुझे ही साथ सुविधा हो 'कुसुमाकर',
हितकी तुम्हारे ही बात यह बताता हूँ ॥

—देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर' बी० ए० एल-एल०-बी०

---

* श्रीअरविन्दके 'Essays on Gita.' से अनुवादित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्त-गाथा

(लेखक—चतुर्वेदी पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी शर्मा)

भक्तराज प्रह्लादकी क्षमा ❋

दैत्यराजकी आज्ञा पाते ही आचार्यपुत्रोंने प्रह्लादको अपने पास बुलाकर उनसे कहा-'हे राजकुमार ! तीनों लोकोंमें विख्यात ब्रह्मकुलमें तुमने जन्म लिया है और दैत्यराज हिरण्यकशिपु तुम्हारे पिता हैं। किसी देवता, अनन्त भगवान् अथवा और किसीके आश्रयी बननेकी तुमको क्या आवश्यकता है ? तुम्हारे पिताजी स्वयं तीनों लोकोंके स्वामी हैं और तुम भी एक दिन उत्तराधिकारद्वारा तीनों लोकोंके स्वामी बनोगे, अतएव विपक्षी लोगों-की स्तुति छोड़, अपने पिताकी आज्ञाको मानो। पिता समस्त गुरुओंके गुरु हैं। अतः तुम उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करो।'

प्रह्लाद–'आचार्यचरण ! आपने अधिकांश बात यथार्थ ही कही हैं। मेरा कुल महर्षि मरीचि का जगत्-विख्यात कुल है। पिताका प्रभुत्व भी यथार्थ ही है और पिता परम गुरु हैं यह भी मिथ्या नहीं है, किन्तु आपने जो अनन्त भगवान्के आश्रयकी अनावश्यकता बतलायी, सो ठीक नहीं है। गुरुजी! आप यदि क्रुद्ध न हों और मेरे अपराधको क्षमा करें, तो मैं यह बतलाऊँ कि केवल मुझको ही नहीं प्रत्युत सभी प्राणियोंको भगवान् अनन्तके आश्रयकी कितनी बड़ी आवश्यकता है, और उनके आश्रयसे कितना बड़ा कल्याण होता है ? जिन अनन्त भगवान्से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनके आश्रयकी आवश्यकता वास्तवमें क्या बतलायी जाय ? महर्षि मरीचि, दक्ष प्रजापति तथा अन्यान्य ऋषियों-ने अर्थ, धर्म तथा कामकी प्राप्ति की, परन्तु उनमेंसे अन्तमें कुछ लोगोंने समाधि—ध्यानद्वारा अनन्तकी आराधनासे ही तत्त्वज्ञान होनेपर मुक्ति प्राप्त की है। सारांश यह कि, त्रिवर्गके देने-वाले भले ही अनेक हों किन्तु चतुर्वर्गके देनेवाले तो एकमात्र भगवान् अनन्त ही हैं। उनके आश्रय-की आवश्यकताके सम्बन्धमें भी सन्देह हो तो, बड़े अचरजकी बात है। मैं तो अल्पबुद्धि बालक हूँ किन्तु आप विद्वान् हैं। आप जो कुछ कहते हैं, वही यथार्थ होना चाहिये। किन्तु मेरे विवेकमें तो यही आता है कि सबसे बड़ा आश्रय भगवान् अनन्त का ही है।'

षण्ड और अमर्क–'बेटा प्रह्लाद ! ये हमारे अन्तिम वचन हैं, अब हमारा तुम्हारा गुरु-शिष्यका सम्बन्ध छूटता है और यदि अब भी तुम हमारी आज्ञा मानकर विष्णुकी चर्चा नहीं छोड़ोगे, तो हम 'कृत्या' † को उत्पन्न करके तुमको भस्म कर देंगे।'

प्रह्लाद–'हे गुरुवर ! आप लोग बुद्धिमान होकर मुझको क्यों भ्रममें डालते हैं ? भला, बतलाइये तो, कौन किसको मार सकता है और कौन किसकी रक्षा कर सकता है ? मारने और रक्षा करनेवाला तो आत्मा ही है जो अपने आप, 'असाधु' और 'साधु' कर्मद्वारा अपनेको मारता और अपनी रक्षा करता है।'

❋ 'भागवतरत्न प्रह्लाद' नामक पुस्तकसे। यह पुस्तक गीताप्रेसमें छप रही है।—सम्पादक

† मारणके प्रयोगमें एक मन्त्रद्वारा उत्पन्न की गयी राक्षसी होती है, जो मृत्युके समान ही भयानक होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रह्लादजीका उत्तर सुन पुरोहितोंका क्रोध सीमोल्लंघन कर गया और उन्होंने तुरन्त ही मन्त्र-बलसे एक महान् विकराल ज्वालामयी 'कृत्या' को उत्पन्न किया। कृत्याने क्रुद्ध होकर प्रह्लादजीकी छातीमें एक शूल मारा, परन्तु जिनके हृदयमें भक्त-भय-हारी सर्व शक्तियोंके आधार भगवान् विष्णु विराजते हैं उनका 'कृत्या' के शूलसे क्या बिगड़ सकता था? शूल प्रह्लादके वज्र-हृदयमें लगते ही टूक टूक हो गया और सैकड़ों टुकड़ोंमें परिणत होकर भूमिपर गिर पड़ा। प्रह्लादके ऊपर जब कृत्याका आघात सफल नहीं हुआ, तब उसने अपने उत्पन्न करनेवाले पुरोहितोंपर आक्रमण किया और उनका बध कर स्वयं भी नष्ट हो गयी। अपने हेतुसे पुरोहितोंका मरना प्रह्लादके लिये असह्य हो गया, दयार्द्र-हृदय प्रह्लादने कातर कण्ठसे अपने मारनेवालोंके लिये परमात्मासे दया-भिक्षा की।

सर्वव्यापिन् जगन्नाथ ! जगत्स्रष्टर्जनार्दन ।
त्राहि विप्रानिमानस्माद्दुःसहान्मन्त्रपावकात् ॥
यथा सर्वेषु भूतेषु जगद्व्यापी जगद्गुरुः ।
विष्णुरेव तथा सर्वे जीवन्त्वेते पुरोहिताः ॥

अर्थात्-'हे सर्वव्यापी जगन्नाथ! आप जगत्के उत्पन्न करनेवाले जनार्दन हैं। अतएव इन विप्रोंकी इस दुःसह मन्त्ररूपी अग्निसे रक्षा करें। जिस प्रकार समस्त भूतोंमें आप जगद्व्यापी जगद्गुरु विष्णु अवस्थित हैं, उसी प्रकार आप इन ब्राह्मणोंमें भी हैं, अतएव ये पुरोहित जीवित हो जायँ।' इतनी स्तुति करनेपर भी जब पुरोहितलोग नहीं उठे तब प्रह्लादने फिर कहा—

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानो न पावकम् ।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः ॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः ।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि ॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित् ।
तथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः ॥

'जैसे मैं आप विष्णु भगवान्को सर्वगत अनुभव करके अग्निसे बचगया हूँ, शत्रुओंको भी मैं वैसा ही समझता हूँ, अतएव ये पुरोहित जीवित हो जायँ। यदि मैं अपने मारनेकी इच्छा करनेवाले विषदाता, अग्निदाता, दिग्गज, सर्प आदि शत्रु-भावके पक्षवालोंको भी मित्र समझता होऊँ और उनका किञ्चित् भी अनिष्ट न चाहता हूँ तो इसी सत्यके प्रभावसे हे भगवन्! ये पुरोहित जीवित हो जायँ।' धन्य क्षमाके सागर भक्तवर! धन्य तुम्हारी भक्तिका अनुपम आदर्श!

सत्यवादी, अहिंसामय, सर्वभूतोंमें विष्णुदर्शी प्रह्लादकी स्तुति समाप्त होते ही भगवत्कृपासे पुरोहित उठ बैठे और परम प्रसन्न होकर कृतज्ञ-हृदयसे प्रह्लादजीको आशीर्वाद देने लगे।

दीर्घायुरप्रतिहतबलवीर्यसमन्वितः ।
पुत्रपौत्रधनैश्वर्ययुक्तो वत्स! भवोत्तम ॥

अर्थात्-'बेटा प्रह्लाद! तुमने हमारे प्राण बचाये हैं इसलिये तुम दीर्घायु होओ। तुम्हारा बलवीर्य अप्रतिहत-किसीके जीतने योग्य न हो। हे उत्तम विचारके बालक! तुम पुत्र-पौत्र एवं धन-ऐश्वर्यसे परिपूर्ण होकर सदा सुखी रहो।'

पुरोहितोंने आशीर्वाद देकर दैत्यराजके पास जाकर उसे सारा वृत्तान्त सुनाया। दैत्यराजने पुरोहितोंके वचनोंको सुनकर प्रह्लादको राजसभामें बुलवाया। प्रह्लादने जाकर अपने पिताजीको तथा पूज्यजनोंको सादर प्रणाम किया। पिताकी आज्ञासे प्रह्लादके आसनपर बैठ जानेके अनन्तर दैत्यराजने उनसे कहा कि—

प्रह्लाद! सुप्रभावोसि किमेतत्ते विचेष्टितम् ।
एतन्मन्त्रादिजनितमुताहो सहजं तव ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्-हे प्रह्लाद ! तुम बड़े प्रभावशाली हो, भला यह तो बतलाओ कि तुम्हारे यह जो अद्भुत चरित्र दिखलायी देते हैं ये सब मन्त्र-तन्त्रादि जनित कार्य हैं अथवा यह तुम्हारा स्वाभाविक प्रभाव है?

प्रह्लादजीने दैत्यराजके प्रश्नोंके उत्तरमें कहा कि–

न मन्त्रादिकृतं चैतन्न च नैसर्गिकं मम ।
प्रभाव एष सामान्यो यस्य यस्याच्युतो हृदि ॥
अन्येषां यो न पापानि चिन्तयत्यात्मनो यथा ।
तस्य पापागमस्तात हेत्वभावान्न विद्यते ॥
कर्मणा मनसा वाचा परपीडां करोति यः ।
तद्बीज जन्म फलति प्रभूतः तस्य चाशुभम् ॥
सोऽहं न पापमिच्छामि न करोमि वदामि च ।
चिन्तयन्सर्वभूतस्थमात्मन्यपि च केशवम् ॥
शारीरं मानसं दुःखं दैवं भूतभवं तथा ।
सर्वस्य शुभचित्तस्य तस्य मे जायते कुतः ॥
एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी ।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम् ॥

अर्थात्-'हे पिताजी ! जिन कार्योंको आप अचरजकी दृष्टिसे देखते हैं ये न तो किसी मन्त्र-यन्त्र आदिके द्वारा किये गये हैं और न इनमें मेरे व्यक्तित्वका ही नैसर्गिक प्रभाव है; प्रत्युत यह प्रभाव उन सभी प्राणियोंमें रहता है, जिनके हृदयमें भगवान् अच्युत विराजमान होते हैं। जो प्राणी दूसरोंका अनिष्ट करना नहीं चाहते और दूसरोंके कष्टको अपने ही कष्टके समान जानते हैं उनके ऊपर किये गये आक्रमण उनको कष्टदायी नहीं होते, क्योंकि उनके अन्दर कष्टके हेतुका अभाव रहता है। जो मनुष्य मन, वचन और कर्मसे दूसरोंको पीड़ा देनेवाले कर्म करते हैं, उनके कर्मरूपी बीजके वृक्षका फल अशुभ होता है। मैं न तो किसीको कष्ट देनेकी इच्छा करता हूँ, न कष्ट देनेवाला काम करता हूँ और न ऐसी बात ही करता हूँ जिससे किसीको कष्ट पहुँचे। क्योंकि मैं जैसे अपने अन्दर भगवान्का अस्तित्व मानता हूँ वैसे ही समस्त प्राणियोंमें उनका अस्तित्व समझता हूँ। इसलिये मुझ-जैसे सबके शुभचिन्तकको शारीरिक अथवा मानसिक दुःखका चाहे वह दैवी हो या मानुषी, भय कैसे हो सकता है ? अतएव भगवान् हरिको सर्वभूतमय जानकर अपना हित चाहनेवाले सभी लोगोंको, खास करके सज्ञान मनुष्योंको तो 'सर्वभूतहितैषितारूप' भगवान्की अव्यभिचारिणी भक्ति अवश्य करनी चाहिये।'

प्रह्लादजीके युक्तियुक्त उपदेशमय धार्मिक वचन दैत्यराजके हृदयमें तीक्ष्ण वाणोंके समान लगे। कुछ समय तक क्रोध और चिन्तामें चुप रहनेके पश्चात् वह अपने मन्त्रीकी ओर देखकर कहने लगा। 'अब यह रोग असाध्य हो गया है। इसकी औषधि करना ठीक नहीं। हमने जितना ही पुत्रवात्सल्य प्रदर्शित किया, उतना ही उसका बुरा परिणाम हुआ। अब इस बालकका—नहीं-नहीं इस दैत्यकुलाङ्गारका अन्त कर देनेहीमें हमारा भला है। हे असुर वीरो! इस समय इसको इस सतमंजिले महलके ऊपरसे इसप्रकार नीचे पटको कि जिसमें इसकी एक-एक हड्डी चूर हो जाय।' दैत्यराजकी आज्ञा मिलते ही असुरोंने बड़े हर्ष एवं क्रोधके साथ प्रह्लादको उठाकर प्रासादके ऊपरसे इतने जोरसे फेंका कि जिसमें नीचे गिरने-पर उनका नाम निशानतक शेष न रह जाय, किन्तु जिन प्रह्लादके हृदयमें जगत्को धारण करनेवाले भगवान् केशव विद्यमान हैं, जो सर्वत्र अपने प्रियतम भगवान्को देखते हैं उनके लिये तो सारा संसार समान है, वहाँ ऊँचे-नीचेका भाव कहाँ है! वे गिरें तो कैसे और कहाँ गिरें तथा उनके शरीरपर आघात लगे तो किसका ? जैसे ही प्रह्लादके रूपमें जगद्धाता भगवान् केशवको जगद्धात्री माता पृथ्वीने ऊपरसे आते देखा वैसे ही उसने उछलकर उनको अपनी गोदमें ले लिया। प्रह्लाद पूर्ववत् स्वस्थ होकर प्रासादके नीचे प्रसन्नवदन खड़े हो गये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और तन्मय होकर भगवान्‌का ध्यान करने लगे। यह अद्भुत लीला देखकर दैत्यराजके हृदयमें बड़ा विस्मय उत्पन्न हुआ। उसने समझा कि, अवश्य ही इसमें कोई जादू है। अतएव उसने अपने जादूगर—मायावी शम्बर नामक असुरसे कहा कि—'इस बालकमें मायाजाल मालूम पड़ता है। मैंने इसको मारनेकी अनेक चेष्टाएँ कीं, किन्तु यह अबतक अपनी मायासे बचता जा रहा है। आप मायाके आचार्य हैं। अतएव अब इसकी मायाको भलीभाँति समझकर अपने माया-बलसे शीघ्र ही इसका वध कर डालिये।'

दैत्यराजकी आज्ञा पाते ही शम्बरने अपनी मायासे प्रह्लादको मारनेकी न जाने कितनी असफल चेष्टाएँ कीं। कभी वह उनको आकाशमें उड़ा ले जाता, तो कभी तलातलमें जा घुसता था। कभी शीत उत्पन्न करके प्रह्लादको यों ही ठण्ढा कर देना चाहता, तो कभी बारहों सूर्यके तेज-पुञ्जके समान भयानक अग्नि-ज्वाला उत्पन्न करके उसमें उन्हें भस्म करनेकी चेष्टा करता था। कभी एकदम वायुको बन्द कर प्रह्लादका दम घोंट देना चाहता था, तो कभी ऐसी तेज हवा उत्पन्न करता था कि जो प्रह्लादके शरीरको न केवल सुखा दे प्रत्युत उसके एक-एक परमाणुको ले जाकर न जाने कहाँ फेंक दे। इस-प्रकार शम्बरने मायाबलसे बहुत-से उपाय किये किन्तु जिन प्रह्लादके हृदयमें महामायेश्वर भगवान् विष्णु स्वयं विराजमान थे, शम्बर-सरीखे दैत्योंकी लाखों माया उनका क्या कर सकती थीं? शम्बरकी मायाका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। उसके उत्पन्न किये वायुको भगवान विष्णुने ऐसे पान कर डाला कि उसका कहीं पता भी न रह गया। ऐसी विलक्षण माया भी जब न चल सकी तब दैत्यराजकी चिन्ता और अधिक बढ़ गयी। दैत्यराजने विचार किया कि अब इससे अधिक छेड़छाड़ करना ठीक नहीं। इसके सुधारने अथवा मारनेका उपाय आचार्य शुक्रजी ही कर सकेंगे, अब यह दूसरेके बूतेकी बात नहीं रही। इसी विचारसे दैत्यराजने अपने पुरोहितोंसे कहा कि—'अब आप लोग इसको अपने साथ ले जाइये और जबतक आचार्यजी तीर्थयात्रासे लौटकर नहीं आवें तबतक वहीं बड़ी सावधानीके साथ रखिये। समय-समयपर इसे राज-नीतिकी शिक्षा देते रहिये, परन्तु इसपर किसी मन्त्र-यन्त्रका प्रयोग करनेकी चेष्टा भूलकर भी न कीजिये। अवश्य ही इसको असुर सैनिकोंके पहरेमें रखिये जिससे यह किसी बाहरी आदमीसे मिलने न पावे। सम्भव है दिन पाकर इसकी मति बदले। नहीं तो आचार्यजी आनेपर इसको ठीक कर लेंगे। यदि उनके सुधारनेपर भी यह न सुधरेगा तो वे इसको तुरन्त मार डालेंगे। उनके सामने इसकी एक भी माया न चलेगी।' हिरण्यकशिपुके इतना कहनेपर प्रह्लाद अपने गुरुवरोंके साथ पुनः विद्यालयको चले गये।

मन !

गुरु ज्ञान-निधानके पाँयन की न बन्यौ रज, कीन्ह अजानपनो तूँ।
चहुँ साधन हू न समाधि सधी मन! कैसे लहै अजपा जपनो तूँ॥
बिच भौंहन प्रान न रोकि, न रोकि सक्यौ त्रय तापन ते तपनो तूँ।
सपनो जग मायिक सो अपनो गुनि, भूलि सरूप रह्यौ अपनो तूँ॥

—अर्जुनदास केडिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामावतारके विभिन्न हेतु और उनका रहस्य

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी-कृत रामचरितमानसमें चार कल्पोंका विभाग करके श्रीरामावतारके चार हेतु बतलाये गये हैं—

१—ऋषि-शापसे जय और विजयके रावण-कुम्भकरण होनेपर।

२—जलन्धरके रावण होनेपर।

३—नारदजीके शापसे हर-गणोंके रावण और कुम्भकरण होनेपर। और—

४—स्वायंभुव मनुकी तपस्या और भानुप्रतापके अभिशप्त होकर रावणके रूपमें जन्म लेनेपर।

परन्तु वस्तुतः—

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥
राम-जन्म कर हेतु अनेका। परम विचित्र एकते एका॥

हरि-अवतारके अनेक हेतु हैं, जो वर्णनातीत हैं; तथापि यहाँ केवल चार कारणोंका उल्लेख इसलिये हुआ है कि श्रीसतीजीको रामस्वरूपमें जो संशय हुआ था उसका निराकरण हो जाय। सतीजीका संशय यह था—

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद॥

विष्णु जो सुरहित नर-तनु-धारी। सोउ सर्बज्ञ यथा त्रिपुरारी॥
खोजै सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञान-धाम श्रीपति असुरारी॥

तात्पर्य यह कि सर्वव्यापक, अज, अकल, अनीह कहलानेवाले निर्गुण ब्रह्म तो मनुष्यका अवतार ले ही नहीं सकते; रहे नित्य सगुण ब्रह्म वैकुण्ठनाथ या क्षीराब्धिनाथ भगवान् विष्णु, सो यदि उन्होंने अवतार लिया होता तो उनमें ऐसी अज्ञता कैसे आती और वे स्त्री-विरह-कातर होकर क्यों घूमते? वे तो सर्वज्ञ हैं, ज्ञानधाम और श्री-पति हैं। इस संशयके निवारणार्थ जय-विजय और जलन्धरके हेतुओंसे वैकुण्ठनाथका और नारद-शापके हेतु क्षीराब्धिनाथका, तथा स्वायंभुव मनु और भानुप्रतापके हेतुसे व्यापक ब्रह्मका रामावतार होना सिद्ध कर दिया गया, जिससे उपर्युक्त तीनों अवतारी स्वरूपों तथा श्रीराम-कृष्णादि समस्त अवतारोंका ऐक्य करके भारद्वाज मुनिकी मुख्य जिज्ञासा 'राम कवन प्रभु पूछौं तोही' का समाधान कर दिया गया।

इस रहस्यको यथार्थतः न समझनेके कारण जहाँ-जहाँ 'हरि' और 'विष्णु' शब्दके प्रयोग प्रसङ्गानुसार पृथक्-पृथक् कहीं परात्परके अर्थमें, तथा कहीं त्रिदेव अर्थात् 'एक ब्रह्माण्डनायक विष्णु' के अर्थमें हुए हैं, उन सबको एक ही मान लेनेसे ऐसा अनर्थ उपस्थित हो गया है कि हेतुकी अनेकताके स्थानमें राम ही अनेक माने जाने लगे हैं। इतना ही नहीं, यहाँतक माना जाता है कि प्रथम तीन हेतुओंसे रामावतार, पर-विष्णुके अंशभूत पालनकर्ता एकब्रह्माण्डनायक सत्त्वगुणाभिमानी विष्णुके हुए हैं और चौथा स्वायंभुव मनुकेहेतुसे होनेवाला रामावतार अंशीरूप परात्परका अवतार साकेतधामसे होता है। यद्यपि मानसमें कहीं साकेत शब्द तक नहीं आया है। परन्तु ऐसा आरोपण होनेसे रामावतारमें ही न्यूनाधिक्यका आरोप हो जाता है; एक स्थानमें रामजी परब्रह्म हो जाते हैं तो दूसरे स्थानमें अपर। एक जगह वे अंशी होते हैं, दूसरी जगह अंश। एक अवतार गुणातीत हैं तो दूसरे गुणाभिमानी। एक अखिलब्रह्माण्डनायकके अवतार हैं तो दूसरे एक-ब्रह्माण्ड-नायकके ही हैं। परन्तु ऐसा होना ग्रन्थके अनुबन्ध-चतुष्टय तथा प्रतिपाद्य विषयके बिलकुल विरुद्ध है। अतः इस भ्रमके निराकरण करनेके लिये श्रीराम-स्वरूपके निर्धारण करनेवाले प्रसङ्गके द्वारा इन हेतुओंका रहस्य उद्घाटन करना आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब इस मर्मका संक्षेपतः दिग्दर्शन कराकर रामरहस्यपर विस्तृत विचार किया जायगा। 'पुनि हरि हेतु करन तप लागे' मनुकी इस तपोनिरत अवस्था तथा तपस्याके पूर्ण होनेपर भगवान्‌के प्रकट होनेपर—'छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी' से 'हरि' का ही उपास्य देव होना प्रमाणित है। पुनः—

विधि 'हरि'हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहुबारा॥

इससे पता चलता है कि एक 'हरि', ब्रह्मा और शिवके साथ बहुत बार तपोनिष्ठ मनुके पास पहल आ चुके हैं, परन्तु मनुने उनकी ओर आँखें उठाकर देखा तक नहीं। इससे सिद्ध है कि 'हरि' शब्द उपर्युक्त दोनों स्थलोंपर दो व्यक्तियोंका निर्देश करता है। यदि ऐसा नहीं माना जाता है तो ग्रन्थकी संगति नहीं लग सकती। इसलिये उपास्य 'हरि' से तात्पर्य परधामस्वरूप वासुदेव भगवानसे हैं जो अखिल ब्रह्माण्डों (लीलाविभूति) के नायक तथा त्रिपाद (दिव्यविभूति) के भी स्वामी उभय-विभूतिनाथ परविष्णु भगवान् वैकुण्ठनाथ हैं, जो गुणातीत हैं—

द्वादश अच्छर मन्त्रवर जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव-पद-पंकरुह दम्पति मन अति लाग॥

और 'विधि हरि हर' पदगत विष्णुसे तात्पर्य पालनकर्ता सत्त्वगुणाभिमानी विष्णु भगवानसे हैं जो प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक सृष्टिके पालनार्थ उन्हीं परवासुदेव हरिके अंशभूत त्रिदेवगत रहा करते हैं—

उपजहिं जासु अंशते नाना। शंभु-विरञ्चि-विष्णु भगवाना॥

इन सत्त्वगुणाभिमानी विष्णुका उल्लेख मानसमें जहाँ कहीं भी हुआ है वहाँ ब्रह्मा और शिवके साथ ही हुआ है; यह स्पष्ट है। तथापि—

'हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जात न सोई॥'

—के 'हरि' शब्दको परब्रह्म न मानकर सत्त्व-गुणाभिमानी अंशरूप विष्णु मान लेना और उन्हींका अवतार श्रीरामजीको मान उन्हींके द्वारा सेव्य कहना, 'विधि-हरि-हर बन्दित पद-रेनू।' कैसा प्रमाद-युक्त है। अतएव इस रहस्यके मर्मको स्पष्ट समझानेके निमित्त महर्षि भारद्वाजजीके प्रश्नारम्भसे ही इसका विवेचन किया जाता है—

राम कवन प्रभु पूछौं तोहीं॥
एक राम अवधेश कुमारा। तिन्हकर चरित विदित संसारा॥
नारि बिरह दुख सहेउ अपारा। भयउ रोष रन रावन मारा॥

प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्वज्ञ तुम कहहु विवेक विचारि॥

महर्षि भरद्वाजजीकी इसी जिज्ञासाके साथ ग्रन्थारम्भ होता है। प्रश्न यह है कि 'राम' एक हैं या अनेक? शिवादिसे सेव्य राम वहा हैं या कोई और? सन्त, पुराण, उपनिषदादि उन्हीं रामके अमित प्रभावका गुणानुवाद करते हैं या किन्हीं दूसरेका?

सत्यधाम सर्वज्ञ याज्ञवल्क्य मुनिने उक्त प्रश्नके उत्तरमें एतद्विषयक समाधान-सूचक भगवान् श्रीशिव तथा पार्वतीके संवादको उपस्थित किया। एक बार त्रेतायुगमें भगवान् आशुतोष अपनी प्रिया सतीको साथ ले अगस्त्य-ऋषिके आश्रममें पहुँचे। वहाँ रामकथा श्रवणकर मुनिको भक्तिका उपदेश देकर उन्होंने कैलासकी ओर प्रस्थान किया। उस समय (उस कल्पका) रामावतार हो चुका था और भगवान् वनमें श्रीसीता-हरणके कारण विरह-विकल हो यत्र-तत्र वृक्ष-लतादिसे सीताका पता पूछते फिर रहे थे; उसी मार्गसे सतीके साथ शिवजी जा रहे थे, श्रीशंकरके दर्शनाभिलाषी नयनोंको निज निधि, श्रीरामके मुखारविन्दका दर्शन प्राप्त हुआ, उन्होंने अत्यन्त हर्षित हो नेत्रभर छवि-सिन्धुके दर्शनकर 'जय सच्चिदानन्द जगपावन' कहकर दूरसे ही प्रणाम किया। पर अनवसर समझकर वे समीप न जा सके। सतीको इस अवसरपर सन्देह हुआ कि सर्वज्ञ शिवने इस नृपसुतको 'सच्चिदानन्द'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा 'परधाम' कहकर क्यों प्रणाम किया। उनके हृदयमें यह शङ्का उठी कि सच्चिदानन्द अर्थात् व्यापक ब्रह्म, अज, अकल, अनीह, अभेद हैं, वह नर-शरीर क्योंकर धारण कर सकते हैं? यदि परधाम अर्थात् ज्ञानधाम श्रीपति असुरारि श्रीविष्णु भगवान् होते तो वे भी अज्ञकी तरह व्याकुल हो नारिको क्यों खोजते फिरते? वैकुण्ठनाथसे तो कुछ भी छिपा नहीं है। इधर भगवान् शिवजी भी सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं, इनका कथन भी मिथ्या नहीं हो सकता।

यद्यपि सतीने अपने मनकी इन शङ्काओंको प्रकट नहीं किया, परन्तु सर्वज्ञ सदाशिव अन्तर्यामी हैं, उन्होंने सब जान लिया और वे उसका समाधान इसप्रकार करने लगे-'हे सती, जिन श्रीरघुनाथजीकी कथा कुम्भजऋषिने सुनायी है तथा जिनकी भक्तिका उपदेश मैंने उनको दिया है वह मेरे इष्टदेव यही श्रीराम हैं। जिनका मुनि, धीर, योगी, सिद्धादि सदा ध्यान करते हैं, निगमागम जिनकी कीर्ति 'नेति नेति' कहकर गाते हैं, यह रघुकुलमणि राम वही व्यापक ब्रह्म हैं, जिनके देह धारण करनेको असम्भव समझकर तुम मन-ही-मन तर्क कर रही हो तथा जिनके सम्बन्धमें तुम्हें 'अज्ञ इव नारि' खोजनेका सन्देह हो रहा है। यही अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीपति मायाधीश भगवान् विष्णु हैं, मेरे प्रभुने अपनी लीलासे ही अपने भक्तोंके हेतु यह अवतार धारण किया है।'

इस समाधानसे जब सतीको बोध नहीं हुआ, तब भगवान् शङ्करने हरिमायाकी प्रबलता देख हँसकर सतीको स्वयं परीक्षा लेनेकी आज्ञा दी। आज्ञा पाकर सती परीक्षा लेने चली और श्रीसीताजीका रूप बनाकर श्रीरामके सामनेसे आती हुई उन्हें रास्तेमें मिली। सर्वज्ञ श्रीसरकार अपने मायाबलको देखकर हँसे और हाथ जोड़ प्रणाम करके सतीसे पूछने लगे कि 'आज वृषकेतु आशुतोष भगवान् शङ्कर कहाँ हैं, आप वनमें अकेली क्यों फिर रही हैं?'

इस प्रश्नसे ही भगवान्ने सतीपर यह स्पष्ट प्रकट कर दिया कि तुम मुझे अज्ञ समझनेका जो तर्क कर रही हो सो व्यर्थ है, मैं ही सर्वज्ञ ज्ञानधाम श्रीपति विष्णु हूँ। मेरे ही अवतारके विषयमें शंकरने तुमको उपदेश दिया है। मैं 'अज्ञ इव नारि' नहीं खोज रहा हूँ। भगवान्ने यह इशारा भी बड़ी ही गूढ़ताके साथ किया। स्पष्ट करनेसे तो लीलाकी रस-प्रधानता ही नहीं रहती, इसीलिये तो आप श्रीशिवजीके समीप नहीं पधारे थे, क्योंकि 'गये जान सब कोय' और इसीलिये यहाँ पिताके साथ अपना नाम लेकर सतीको प्रणाम किया। यद्यपि यहाँ भी भगवान्के इन प्रश्नोंसे कि 'वृषकेतु शंकर कहाँ हैं' 'अकेली वनमें क्यों फिरती हो?' उनकी अज्ञता-सी झलकती है पर ऐसी बात नहीं है। वह सर्वान्तर्यामी हैं और लीलाप्रधान चरित्र होनेके कारण ही ऐसा कर रहे हैं 'पूछत जान अजान जिमि।'

सरकारके वचन सुनकर सतीको अत्यन्त सङ्कोच हुआ और वह भयभीत होकर चिन्ता करती हुई भगवान् शङ्करके पास चलीं। उनके हृदयमें अति दारुण दाह उत्पन्न हो गया और वह विचार करने लगीं कि शिवजीके पास पहुँचकर मैं क्या उत्तर दूँगी। कृपानिधि करुणाधामने जब उन्हें अति दुःखित देखा तो मार्गमें त्रिपादविभूतिके साक्षात् कराकर अपना कुछ प्रभाव दिखलाया। सती मार्गमें क्या देखती हैं कि 'आगे राम सहित श्री भ्राता', तथा पीछे 'सहित बन्धु सिय सुन्दर वेषा' हैं। जहाँ देखती हैं वहीं सरकार विराजमान हैं, सिद्ध-मुनि-सुजान सेवा कर रहे हैं, एक-से-एक अमित प्रभाव-वाले त्रिदेव 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश' चरण-वन्दना कर रहे हैं, सर्व देव अनेकानेक रूपसे सेवामें तत्पर हैं। सभीकी शक्तियाँ भी उनके साथ हैं। इसके अतिरिक्त चराचर जीव अनेकानेक प्रकारके पृथक्-पृथक् दीख पड़े परन्तु श्रीराम सर्वत्र एक ही दिखायी दिये-'राम-रूप दूसर नहिं देखा।' इस चरितसे श्रीरघुनाथजीने यह दर्शाया कि मैं एक हूँ तथा मैं ही हर जगह व्याप्त हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापक ब्रह्मके देह धारणकर नर होनेमें जो तुम्हें सन्देह हुआ था सो मिथ्या है। शिव भगवान्‌ने जिस व्यापक ब्रह्मका बोध कराया था वह व्यापक ब्रह्म मैं ही हूँ।

इस आश्चर्यमय अलौकिक दृश्यने सतीजीकी इस पूर्व चिन्ताके दारुण दाहको कि 'जाकर शिवजीसे क्या कहूँगी' एकदम मिटा दिया। वह भगवान्‌की इस लीलाको देख भयसे काँप उठीं और तुरन्त बेसुध-सी हो नेत्र मूँदकर वहीं बैठ गयीं। कुछ देर बाद आँखें खोलकर देखा तो कहीं कुछ भी नहीं है। तदनन्तर वह बारम्बार श्रीसरकारको सिर नवाकर भगवान् शङ्करके समीप गयीं और डरके मारे उनसे सत्य घटनाका वर्णन न कर उन्होंने इतना ही कह दिया—

कछु न परीछा लीन्ह गुसाईं। कीन्ह प्रणाम तुम्हारिहि नाईं॥

परन्तु अन्तर्यामी भगवान् शङ्करने सब जान लिया और सतीके कर्मको भक्ति-विरुद्ध समझकर मन-ही-मन जन्मभरके लिये सतीका त्याग कर वे लम्बी समाधिमें बैठ गये। सतीने दुःखसे कातर हो करुणानिधान श्रीरघुनाथजीको स्मरण कर प्रार्थना की कि—'छूटै बेगि देह यह मोरी'; और प्रभुकी कृपासे अपने पिता दक्षके यज्ञमें योगाग्निसे शरीर त्यागकर हिमवानके यहाँ पुनर्जन्म लिया। वहाँ पार्वती नाम प्राप्त कर घोर तपसे पुनः श्रीशिवजीको पतिरूपमें प्राप्त किया। कुछ समय बाद पूर्वजन्मका संशययुक्त प्रश्न भगवान् शिवके सामने फिर उपस्थित किया। परन्तु इस बार क्षमा माँगते हुए और श्रीराम-कथापर रुचि दिखलाते हुए प्रश्न किया कि 'हे प्रभो! परमार्थविद् मुनिगण श्रीरघुनाथजीको अनादि ब्रह्म कहते हैं। शेष, शारदा, वेद-पुराण आदि सब उनका गुणगान करते हैं। आप भी दिनरात आदरके साथ राम-नामका जप किया करते हैं। वह राम यही अवध-राजकुमार श्रीराम हैं या अज, अगुण, अलख गति कोई दूसरे हैं? राजकुमार हैं तो वे ब्रह्म कैसे हैं? एक ओर उनके 'नारि-विरह-मति-भोरि' के चरित्रको देखकर और दूसरी ओर उपर्युक्त महिमा सुनकर मेरी बुद्धि भ्रममें पड़ गयी है, हे नाथ! वह अनीह, व्यापक, विभु कौन हैं, कृपापूर्वक समझाकर कहिये।

बरनहु रघुबर बिशद यश श्रुति सिद्धान्त निचोरि।

प्रथम सो कारण कहहु बिचारी। निरगुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥

पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा। × × ×॥

× × ×। राज बैठि कीन्ही बहु लीला॥

इसमें श्रीरामके एक या अनेक रूपके निर्णयार्थ प्रश्न तो पूर्ववत् ही हैं परन्तु साथ ही अवतारसे लेकर सिंहासनारूढ़ होनेके बाद तककी लीला श्रवण करनेकी महत्त्वपूर्ण आकांक्षाका हृदयगत होना सूचित है।

इसके उत्तरमें भगवान् शङ्करने प्रश्नके पहले अंश श्रीरामके स्वरूपमें संशयकी समूल निवृत्तिके लिये तो बड़े ही कड़े शब्दोंका प्रयोग किया—

तुम जो कहा राम कोउ आना।
जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधमनर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखण्डी हरि-पद-विमुख जानहिं झूठ न साँच॥
अज्ञ अकोविद अंध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी॥
लम्पट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संत-सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते वेद-असम्मत बानी। जिनहिं न सूझ लाभ नहिं हानी॥

—इत्यादि।

यह उपेक्षा और फटकारके सारे शब्द 'तुम जो कहा राम कोउ आना' पर ही है, भगवान् शङ्करको 'राम कोउ आना' का सिद्धान्त तो क्या, प्रश्नरूपमें ऐसा सुनना भी सह्य नहीं होता है। यही कारण है कि वह प्रियतमा पार्वतीके प्रश्नपर ऐसे कठोर शब्दोंमें अपने उद्गार प्रकट कर रहे हैं। परन्तु इन शब्दोंसे कहीं पार्वती घबड़ाकर भयभीत न हो जायँ तथा श्रीरामस्वरूप समझनेकी शक्ति उनकी बुद्धिमें बनी रहे। इसलिये साथ-ही-साथ शङ्करजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामकथाके अपूर्व माहात्म्यको तथा उसके बिना जीवके जीवनकी व्यर्थताको सूचित कर पार्वतीकी रामकथासम्बन्धी जिज्ञासाकी प्रशंसा कर प्रसन्न हो रहे हैं और उन्हें (पार्वतीको) धन्यवाद दे रहे हैं। पश्चात् शङ्काका समाधान प्रारम्भ करते हुए भगवान् शङ्कर कहते हैं—

सुनु गिरिराज कुमारि भ्रम-तम-रविकर वचन मम ॥

अर्थात्–निश्चयात्मक, निःशेष भ्रमरहित मेरे वचनोंको सुनो—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेमबस सगुन सो होई ॥

अगुण, अज, अलख, अरूप, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द ब्रह्म ही भक्तोंके प्रेमवश होकर सगुण-रूप धारण करते हैं, अतः श्रीरामजी व्यापक, परमानन्द, परेश, पुरातन, ब्रह्म हैं, इसे जगत् जानता है। वही प्रसिद्ध पुरुष प्रकाशनिधि परावरनाथ रघुकुलमणि मेरे स्वामी हैं, ऐसा कहकर शिवजीने अपना सिर नवाया।

पुरुष प्रसिद्ध प्रकाशनिधि प्रकट परावर-नाथ।
रघुकुलमणि मम स्वामि सोइ कहि शिव नायउ माथ ॥

अर्थात् विषय, इन्द्रियाँ, सुर, जीव प्रभृति जो एक-से-एक सचेत और सामर्थ्यवान् हैं इन सभीको परम प्रकाश प्रदान करनेवाले अनादि राम वही (सोइ) अवधनाथ रघुकुलमणि श्रीरघुनाथजी हैं। इसके बाद 'निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी' इस चौपाईसे भ्रमका निराकरण करते हुए, अन्तको इस चौपाईमें फिर कहा—

सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥

अर्थात् संसारमें संयोग-वियोग, हर्ष-विषादादि यावत् व्यवहार हैं सबका प्रकाश करनेवाले व्यापक अन्तर्यामी प्रभु वही (सोई) श्रीरघुनाथजी हैं, उन्हींसे चैतन्यका उद्भव होता है, भला उनमें मोह कहाँसे सम्भव है? यह जगत् जिन प्रभुकी मायासे 'सत्य इव' भासित हो रहा है, जो तीनों कालमें मिथ्या होनेपर भी जीवोंको दुःख दे रहा है। जैसे स्वप्नावस्थामें कोई सिर काट लेता है तो उसकी व्यथा न जागनेतक सत्य ही प्रतीत होती है। इसी प्रकार इस संसारके भ्रमात्मक दुःखकी निवृत्ति जिन प्रभुकी ही कृपासे होती है। हे गिरिजा, वह कृपालु श्रीरघुनाथजी ही हैं—

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥

जिनकी सत्तासे भ्रमकी स्थिति है तथा जिनकी कृपासे ही भ्रमकी निवृत्ति हो सकती है उनमें वियोग-विषाद भ्रम कभी सम्भव नहीं। जो आदि-अन्तसे अतर्क्य हैं, जिनकी मायाको शास्त्र 'अघटित घटना पटीयसी' कहते हैं उन मेरे स्वामी रामको कैसे भ्रम हो सकता है। तदनन्तर 'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।' से लेकर श्रीरामकी अतर्क्य महिमाका गान करते हुए इस दोहेमें शिवजी महाराज फिर कहते हैं।

जेहि इमि गावहिं वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दशरथ-सुत भक्त-हित, कौशल-पति भगवान ॥

इसमें पूर्वकी इस चौपाईसे कि, 'तन बिनु परस नयन बिनु देखा' से यह सूचित करते हैं कि उन प्रभुसे कुछ भी परोक्ष नहीं है। अतः वह विरही होकर स्त्री ढूँढ़े, यह कभी सम्भव नहीं। इसके बाद फिर कहा—

काशी मरत जन्तु अवलोकी। जासु नाम बल करौं विशोकी ॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुवर सब उर अन्तरजामी ॥

इसप्रकार इस प्रसंगमें शिवजीने पाँच बार 'सोई' शब्दका प्रयोग किया।

महर्षि भारद्वाजजीके प्रश्नमें भी यही प्रसङ्ग जोरदार है।

'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।'

तथा—

आकर चारि जीव जग अहहीं। काशी मरत परम पद लहहीं ॥

और पार्वतीजी भी ऐसा ही कहती हैं—

तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही कारण है कि प्रत्येक व्याख्यानमें बार-बार सोई शब्दके अनुवादके द्वारा वक्तृत्व विषयमें ओज लानेके लिये जोर देते हैं कि श्रीरघुनाथजी वही हैं, वही हैं, अन्य नहीं। तथा तुमने जो मेरे सादर जपनेके विषयमें कहा है सो इतना ही नहीं, बल्कि—

बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। भव-बारिधि गोपद इव तरहीं॥
राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अविहित तव बानी
अस संशय आनत उर माँही। ज्ञान बिराग सकल गुन जाँही॥

जब भगवान् शंकरके ऐसे भ्रमभय-हरण करनेवाले व्याख्यानको सुनकर श्रीपार्वतीजीके हृदयके सारे कुतर्क नष्ट हो गये और श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रीति और विश्वास दृढ़ हो गया तो वह भगवान् शङ्करके चरणोंकी शरण ग्रहण कर हाथ जोड़ प्रेम-रससे सने हुए वचन बोलीं-'हे नाथ! हे कृपालो! आपके अमृतमय वचनोंसे मेरा सारा मोह-विषाद मिट गया, मुझे श्रीराम-स्वरूपका यथार्थ बोध हो गया। अब निश्चय हो गया कि श्रीरघुनाथजी ही चिन्मय और 'सब उरबासी' व्यापक ब्रह्म हैं तथा वही सरकार सर्वरहित अविनाशी अर्थात् त्रिपाद नित्य विभूतिके विग्रहस्वरूप श्रीविष्णु भगवान् हैं। व्यापक ब्रह्मके अवतार लेने तथा भगवान् श्रीपतिके अङ्ग होनेकी जो शङ्का मेरे हृदयमें थी, वह सर्वथा निर्मूल हो गयी। अब हे नाथ, यह समझाकर कहिये कि प्रभुने मनुष्यका अवतार किस हेतुसे धारण किया है? यद्यपि शिवजी पहले कह चुके थे कि 'भगत-प्रेम बश सगुन सो होई' परन्तु पार्वतीजी यह स्पष्ट जानना चाहती हैं कि भगवान्ने किस-किस भक्तके प्रेमवश होकर अवतार लिया। भगवान् शङ्कर उमाकी इस जिज्ञासासे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए बोले कि, 'हे प्रिये! भगवान्के गुण, नाम, क्रियाका पार नहीं; उनकी माया अपरम्पार है, और उनके अवतारके हेतुको तत्त्वतः पूर्णरूपेण जानना भी सम्भव नहीं—

हरि गुण नाम अपार कथा रूप अगनित अमित॥
हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जात न सोई॥
राम अतर्क बुद्धि मन बानी। मति हमारि अस सुनहु भवानी॥

तथापि जब-जब धर्मकी हानि होती है और अभिमानी असुरोंकी वृद्धि होती है तब-तब प्रभु विविध शरीर धारण करके सन्तोंका सन्ताप हरते हैं—ऐसा सन्त, मुनि, वेद और पुराण सब अपनी-अपनी मतिके अनुसार कहते हैं। विविध शरीरका अभिप्राय यह है कि मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बौद्ध, कल्कि प्रभृति विभिन्न अवतार धारण करते हैं। इसी सिद्धान्तका समर्थन सर्वोपनिषद्-सार श्रीमद्भगवद्गीतामें भी हुआ है -

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(गी० ४। ७-८)

भगवान् शङ्कर राम-जन्मके रहस्यका उद्घाटन करते हुए कहने लगे—

राम-जन्म कर हेतु अनेका। परम बिचित्र एक ते एका॥
जन्म एक दुइ कहौं बखानी। सावधान सुनु सुमति भवानी॥
द्वारपाल हरिके प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ॥
बिप्र-शाप तें दोनों भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई॥
कनककशिपु अरु हाटकलोचन। जगत विदित सुरपति मद मोचन
बिजयी समर बीर बिख्याता। धरि बराह बपु एक निपाता॥
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा। जन प्रह्लाद सुजस बिसतारा॥

भये निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट सुर बिजयी जगजान॥

मुक्त न भये हते भगवाना। तीन जनम द्विज वचन प्रमाना॥
एक बार तिन्हके हित लागी। धरेउ शरीर भगत-अनुरागी॥
कश्यप अदिति तहाँ पितु माता। दशरथ कौशल्या विख्याता॥
एक कलप यहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किये संसारा॥

श्रीरामके अवतारका प्रथम हेतु कहते हैं कि भगवान् वैकुण्ठनाथके जय और विजय नामक दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारपाल थे, जिन्होंने सनकादि ब्रह्मर्षियोंके शापसे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नामसे असुर योनिमें जन्म लिया। भगवान्ने वाराह अवतार धारणकर हिरण्याक्षको मारा और नृसिंहावतार धारणकर हिरण्यकशिपुका नाश किया तथा अपने भक्त प्रह्लादके सुयशको संसारमें फैलाया। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष ही दूसरे जन्ममें रावण और कुम्भकर्ण हुए। क्योंकि सनकादि ब्रह्मर्षियोंने उन्हें तीन जन्म तक लगातार असुर-योनिमें उत्पन्न होनेका शाप दिया था और श्रीहरि मर्यादाकी रक्षा करनेवाले हैं अतः भगवान्के द्वारा मारे जाने-पर भी विप्रशापके कारण उनकी मुक्ति नहीं हुई। उसी रावण-कुम्भकर्णके विनाशार्थ, तथा उनके अत्याचारसे जो भक्तोंको कष्ट मिल रहा था, उसके निवारणार्थ भक्तानुरागी श्रीसरकारने रघुकुलमणिके रूपमें अवतार धारण किया। यह एककल्पका हेतु है। दूसरे कल्पोंमें श्रीरामावतारके दूसरे हेतु हैं।

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलन्धरसन सब हारे॥
शंभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरै न मारा॥
परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी॥

छल करि टारे तासु व्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहि जानेउ मर्म तब शाप कोप कर दीन्ह॥

तासु शाप हरि कीन्ह प्रमाना। कौतुकनिधि कृपालु भगवाना॥
तहाँ जलन्धर रावन भयऊ। रन हति राम परमपद दयऊ॥
एक जन्म कर कारण एहा। जेहि लगि राम धरी नर देहा॥

दूसरे कल्पमें जब जलन्धर राक्षसने रावण-रूपसे जन्म लिया तो कृपालु भगवान्ने रामावतार धारण किया। भगवान् शिवजीके वचनोंमें कैसी एकता झलक रही है। प्रथम कल्पकी कथामें प्रभुको 'हरि'-वैकुण्ठनाथ कहकर अब उन्हींको इस कल्पमें 'प्रभु' और 'राम' कहकर अवतार-अवतारीका ऐक्य सिद्ध कर रहे हैं। इसके बाद यह चौपाई है—

प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥

इससे भी प्रभुके सब अवतारोंकी एकता सूचित हो रही है कि इन्हीं प्रभुके प्रत्येक अवतारकी कथा कवियोंने बहुत विस्तारसे वर्णन की है।

फिर शङ्करजी कहने लगे—

नारद शाप दीन्ह इक बारा। एक कलप तेहि लगि अवतारा॥

'हे प्रिये, एक कल्पमें नारदजीके शापके कारण भगवान्को अवतार लेना पड़ा।' यह सुनते ही पार्वतीजी चकित होकर कहने लगीं कि—'हे प्रभो! देवर्षि नारद तो प्रभुके अनन्य भक्त हैं और परम ज्ञानी हैं, उन्होंने भगवान्को शाप क्यों दिया?' इस अवसरपर 'नारद विष्णुभक्त पुनि ज्ञानी' तथा 'का अपराध रमापति कीन्हा।' पार्वतीजीके इन वचनों-से स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें राम-स्वरूपका यथार्थ बोध होगया था, तभी तो वह स्वयं 'विष्णु' और 'रमापति' शब्दोंका उल्लेख करती हैं; नहीं तो उन्हें क्या ज्ञात था कि नारदने किसे शाप दिया? वस्तुतः बात यह है कि उन्हें स्वरूपका पूर्णतया बोध हो चुका था कि प्रभुके दोनों स्वरूप—व्यापक, अगुन, अकल, अभेद (निराकार विग्रह) तथा वैकुण्ठनाथ क्षीरशायी श्रीविष्णु (साकार विग्रह) का श्रीरामावतारसे अभेद है, अर्थात् इन्हीं दोनोंसे रामावतार होता है। क्योंकि निराकार व्यापक ब्रह्मको शाप सम्भव नहीं है अतः नित्य साकार-स्वरूप क्षीरशायी रमापतिको ही शाप देना कहा गया है।

श्रीपार्वतीजीके प्रश्नको सुनकर भगवान् शङ्कर हँसकर बोले कि 'हे प्रिये, प्रभुकी मायाके आगे न तो कोई ज्ञानी है और न मूढ़ है; श्रीरघुपति जिस समय जिसको जैसा बनाते हैं वह उस समय वैसा ही बन जाता है।' शिवजी बोले कि इसके बाद याज्ञवल्क्यजीने भी कहा है—

कहौं राम गुन-गाथ, भरद्वाज सादर सुनहु।
भवभंजन रघुनाथ, भजु तुलसी तजि मान मद॥

यहाँ याज्ञवल्क्यजीके मुखसे 'राम' 'रघुनाथ' और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिवजीके मुखसे 'जेहि जस रघुपति करहिं' में 'रघुपति' शब्दोंसे भी अभेद स्पष्ट हो जाता है। अस्तु !

कथा इसप्रकार है कि एक बार हिमाचल-पर्वतके एक अति अपूर्व रमणीय गुहाको देख नारदजीका मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ और वे वहाँ समाधिनिष्ठ हो भजन करने लगे; उनके सुदीर्घकाल तक तप करनेके कारण इन्द्रको भय हुआ कि ये कहीं मेरा इन्द्रासन न छीन लें, अतः भयभीत इन्द्रने श्रीनारदजीके तपको भंग करनेके लिये कामदेवको उसकी सेनासमेत भेजा। कामदेवने वहाँ पहुँचकर अपनी सारी कलाएँ दिखलायीं, परन्तु नारदजीपर उनकी एक न चली, तब डरकर उसने श्रीनारदजीके चरणोंमें प्रणाम किया और उनसे क्षमा माँगी। नारदजीको उसपर कुछ भी रोष न हुआ प्रत्युत उन्होंने उसे प्रिय वचनोंसे सन्तुष्ट किया। तत्पश्चात् उसने इन्द्र-सभामें आकर अपनी सारी करनी तथा नारदजीकी महिमाको स्पष्टरूपसे सुनाया, जिसे सुनकर सब देवगण देवर्षि नारदकी तपोनिष्ठापर मुग्ध हो गये। इधर कामदेवपर विजय प्राप्तकर नारदजीको अहङ्कार हो गया और अपने इस पराक्रमको प्रसिद्ध करनेके लिये वे भगवान् शङ्करके पास पहुँचे। भगवान् शङ्कर उनकी निष्ठापर अत्यन्त प्रसन्न हुए, परन्तु उनके हितार्थ कहा कि 'हे नारद, यह प्रसङ्ग तुम श्रीहरि भगवान्‌से कदापि न कहना।' श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि—

संभु दीन्ह उपदेश हित नहिं नारदहिं सुहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान॥

राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥

यहाँ भी 'हरि' और 'राम'की एकता विचारणीय है। अस्तु, अहङ्कारने मुनिको चैन नहीं लेने दिया, वे क्षीरसिन्धु पहुँच ही तो गये, यद्यपि शिवजीने उन्हें मना किया था, तथापि—

अति प्रचण्ड रघुपतिकी माया। जेहि न मोह अस को जग जाया॥

श्रुति-शिरोमणि चराचरराय श्रीनिवास भगवान्‌ने मुनिका स्वागत किया और पूछा कि 'हे मुनिराज ! बहुत दिनोंमें आपने दया की है, कहिये कुशल तो है।' फिर क्या था, नारदजी अपने काम-विजयकी कथा सरकारको सुनाने लगे, पूरी कथा सुनकर गर्वहरण श्रीभगवान्‌ने कहा—'हाँ, भला आप-जैसे ज्ञानीको मोह कैसे हो सकता है ?' नारदजीने अभिमानपूर्वक उत्तर दिया कि 'आपकी दयासे ऐसा ही है।' सरकार श्रीकरुणानिधानने देखा कि नारदजीके हृदयमें गर्वका महान् वृक्ष उगा हुआ है, इसे जल्द निर्मूल कर दिया जाय तभी ठीक है, क्योंकि सेवकका हित करना हमारा प्रण है' यहाँ 'चराचर-राय' और 'रघुपति' शब्द भी एकार्थसूचक है।

ऐसी करुणा श्रीरामजीको छोड़ और किसमें सम्भव है। बस, श्रीपतिने निज मायाको प्रेरणाकर वैकुण्ठकी अपेक्षा भी सुन्दर एक नगरकी रचना मार्गमें कर दी। नारदजीने वैकुण्ठसे लौटते हुए उस नगरमें प्रवेश किया और वे वहाँके राजा शील-निधिके दरबारमें पहुँचे। राजाके एक अत्यन्त सुन्दरी विश्वमोहिनी कन्या थी (हरिमायाने ही यह सारा साज सजा रक्खा था)। उसे बुलाकर राजाने मुनिको उसका हाथ देखनेके लिये कहा। मुनि उसका रूप देखते ही सारे वैराग्यको भूल गये। बड़ी देर तक एक-टक देखते ही रह गये, और उसके शुभ लक्षणोंको देख उनके चित्तमें उत्कण्ठा हुई कि इस अवसरपर यदि मेरा परम सुशोभित रूप हो जाता तो यह कन्या मुझे ही वर लेती। श्रीहरिजी हमारे परम हित हैं, उन्हींसे सौन्दर्य माँगना चाहिये; परन्तु प्रभुके धाम तक जानेमें तो बहुत देर होगी, वे सर्वव्यापक हैं ही, यहीं प्रार्थना करें। यह सोचकर उन्होंने मन-ही-मन श्रीहरिका स्मरण कर कहा कि 'हे हरे ! कृपया यहीं प्रकट होकर मेरी सहायता कीजिये।' कौतुक-निधि कृपालुने तुरन्त प्रकट होकर नारदजीसे पूछा कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मुनिवर, किसलिये याद किया है ?' नारदजीने उन्हें सारी कथा सुनाकर अपने हितके लिये प्रार्थना की । इसपर दीनदयालु प्रभु हँसकर बोले कि 'हे मुनि, जिसमें तुम्हारा कल्याण होगा मैं वही करूँगा।' परन्तु ये गूढ़ वचन नारदजीकी समझमें नहीं आये—

कुपथ माँग रुज व्याकुल रोगी । वैद्य न देइ सुनहु मुनि योगी ॥
मुनि हित कारन कृपानिधाना । दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ॥

अतः, नारदको उनके हितार्थ भगवान्‌ने कुरूप बना दिया, परन्तु भगवान्‌की माया ऐसी थी कि वह रूप किसी दूसरेको न जान पड़ा, सबने उन्हें नारद ही जानकर प्रणाम किया । इस भेदको केवल दो शिवगण जानते थे, जो उनकी दिल्लगी उड़ाकर उन्हें चिढ़ाने लगे । इनके अतिरिक्त नारदजीका यह भयङ्कर शरीर और बन्दरका-सा मुख उस कन्याको भी दीख पड़ता था । अतः उसने इनकी ओर आँखें तक न उठाई । उसी समय नृपका शरीर धारणकर कृपालु प्रभु स्वयं वहाँ आ गये, कन्याने उनको जयमाल पहना दिया, नारदजी इससे अत्यन्त व्याकुल हुए । शिवगणोंने उनसे कहा कि 'जरा शीशेमें अपना मुँह तो देख लो !' नारदजीने जाकर जलमें अपनी परछाईं देखी और बन्दर-सा मुख देखकर अत्यन्त क्रोधित हुए; हर-गणोंको शाप दिया कि 'तुम दोनों जाकर निशिचर-कुलमें जन्म लो ।' उन्हीं दोनोंने रावण और कुम्भ-करण होकर जन्म लिया ।

तत्पश्चात् फिर जब नारदजीने जलमें अपना मुख देखा तो उन्हें अपना वानर-स्वरूप दीख पड़ा । वे अत्यन्त क्रोधित हो लक्ष्मीपतिके पास चले और मनमें ठान लिया कि या तो उन्हें शाप दूँगा या अपना प्राण त्याग करूँगा, क्योंकि उन्होंने संसारमें मेरा बड़ा भारी उपहास कराया । दनुजारि प्रभु रास्तेमें ही मिले, उनके साथ रमा और वही राज-कन्या थी । सरकारने पूछा कि 'हे मुनिजी ! आप घबड़ाये हुए कहाँ जा रहे हैं ? भगवान्‌के इस वचनको सुनकर नारदजीका क्रोध भड़क उठा । भगवान्‌की मायाके वशीभूत होनेके कारण उनका विवेक नष्ट हो गया था । भगवान्‌को बहुत कुछ दुर्वचन कहनेके उपरान्त उन्होंने शाप दिया—

बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा । सो तन धरहु शाप मम एहा ॥
कपि आकृति तुम कीन्ह हमारी । करिहैं कीश सहाय तुम्हारी ॥
मम अपकार कीन्ह तुम भारी । नारि विरह तुम होब दुखारी ॥

भगवान्‌ने सहर्ष भक्तका शाप स्वीकार किया ।

शाप शीश धरि हरषि हिय, प्रभु बहु विनती कीन्ह ।
निज मायाकी प्रबलता, करषि कृपानिधि लीन्ह ॥
यहि विधि जन्म कर्म हरि केरे । सुन्दर सुखद विचित्र घनेरे ॥
कलप-कलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नाना विधि करहीं ॥
रामचन्द्रके चरित सुहाये । कलप कोटि लगि जाँहि न गाये ॥

इस प्रसङ्गमें 'हरि', 'प्रभु' और 'रामचन्द्र' शब्द पारस्परिक अभेद बोध कर रहे हैं ।

सुर नर मुनि कोउ नाहि जेहि न मोह माया प्रबल ।
अस बिचारि मन माँहि भजिय महामायापतिहिं ॥

यहाँ क्षीरशायी भगवान्‌को महा-मायापति कहा है ।

(क्रमशः)

उद्वेग

कबलौं ढोवन ह्वै हैं माँटी ?

आवत नाहिं पियाजू अबलौं कहा परी जनैं आँटी ?

माँटी ढोवत जिवन सिरान्यौ हाथ थके कटि काटी ।
छीन भयो जरजर सरीरपै उन जु कहा जनैं ठाटी ?

हरिकी आस उमरिया काटी जस कछु परी सो पाटी ।
पै अब होत हिरास हियो अति छिन-छिन छाती फाटी ॥

दिन न भूख निसि नींद न नैननि इहै आस उर डाटी—
पिया मिलैं सुख-सेज सजावहुँ फेरि न ढोवहुँ माँटी ॥

'आदित्य'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्णयोगका स्वरूप

(लेखक--श्रीनलिनीकान्त गुप्त)

योगकी सर्वप्रथम प्रारम्भिक बात यह है कि हम प्रकृतिको किस भाव और श्रद्धासे देखते हैं। मूलतः प्रकृति तो पुरुषकी अपनी शक्तिके अन्दरसे होनेवाला पुरुषका आत्म-विकाश या आत्म-चरितार्थता है। किन्तु कार्यरूपेण प्रकृतिकी दो प्रकारकी गति, दो प्रकारकी क्रीड़ा होती हैं। एक तो साधारण नित्य-नैमित्तिक और दूसरी एक निगूढ़ दिव्य मूर्ति; एक नीचेके स्तरमें है और दूसरी ऊपरके स्तरमें। साधारणतः हम अहङ्कारके वशीभूत हो अज्ञान, अशक्ति और दुःखकी कठपुतली बनकर जिस भावसे जीवन-यापन करते हैं यही प्रकृतिके नीचेके स्तरकी क्रीड़ा है, इसीको प्राकृतिक जीवन कहते हैं। किन्तु जब हम अहङ्कारको त्यागकर, क्षुद्र भेद-बुद्धिका अतिक्रमण कर, ज्ञान, शक्ति, आनन्दके अन्दर जा पहुँचते हैं तभी हम प्रकृतिकी परामूर्तिको प्राप्त होते हैं। इस पराप्रकृतिमें ही दिव्य जीवन है। नीचेकी तटसे इसप्रकार ऊपर उठनेका नाम ही योग है। यह दो प्रकारसे हो सकता है। एक, निम्न दशामें एक बारगी उठ जाना--प्रकृतिकी अपरा-क्रीड़ाको पूर्णरूपेण हटाकर अन्यत्र पहुँच जाना, और दूसरा निम्न अवस्थाको ही बदलकर और विशुद्ध कर उसे उच्चतर स्तरमें ले जाना।

लक्ष्य कुछ भी क्यों न हो, हमारी स्थिति इसी निम्न स्तरमें है, इसलिये इसीका आश्रय करके हमें उस स्तरको प्राप्त करना होगा। साधारण योगोंमें सबका लक्ष्य इस स्तरको परित्याग कर देना है, इसीसे वे प्राकृत प्रेरणामेंसे दो-एक विशेष अंशोंका आश्रय लेकर, अन्य सबको भूलकर उन्हींकी सहायतासे अन्तमें उच्चतर भगवान्में मिल जाना चाहते हैं। किन्तु पूर्णयोगी तो दूसरी ही वस्तु चाहते हैं, वह चाहते हैं प्राकृतमें स्थित रहकर उसीमें अति प्राकृत दिव्य खेलको प्रस्फुटित करना। क्योंकि प्रकृतिके प्राकृत खेलमें भी तो पुरुषकी--भगवान्की ही निगूढ़ प्रेरणा परिस्फुटित होती है। अन्तर्यामीके पूर्ण विकाशमें, पूर्ण चरितार्थकतामें ही पूर्ण सत्य है--उसीसे प्रकृतिकी पूर्ण सार्थकता है। इसीलिये पूर्णयोगी जीवनके किसी खण्डित या विशेष प्रकरणमें अपनेको बाँध नहीं रखता। उसका समस्त जीवन ही योग होता है। जीवनकी सारी विचित्रताके, सारी जटिलताके जो कुछ भी छोटे-बड़े व्यापार हैं उन सबको योगके अन्तर्गत कर देना होगा। साधारण जीवनमें प्रकृति अखण्ड-भावसे अपनी पूर्ण सत्ताको लेकर ही हमारे अन्दर क्रीड़ा करती है। इसीलिये पूर्णयोगके साधक सिद्ध-जीवनमें प्रकृतिकी पूर्ण अखण्ड क्रीड़ा चाहते हैं। भेद इतना ही होगा कि, यहाँ साधारण जीवनमें हम प्रकृतिकी स्थूल गतिके आधार हैं और योगयुक्त जीवनमें हम दिव्य प्रकृतिका आधार होंगे। भागवत-सत्ताके विकासमें हमें अपनी समग्र सत्ताको ही बदल डालना पड़ेगा।

इसके लिये उपाय यह है कि हम अपनी सारी सत्ताको ही जाग्रतभावसे भागवत-सत्ताके साथ संयुक्त--सम्मिलित कर डालें। यहाँ भगवान्को आवाहन कर प्रतिष्ठित करना होगा। उसीके प्रभावसे हमारी प्रकृति उसकी प्रकृतिके अनुरूप बन जायगी। एक प्रकारसे स्वयं भगवान् ही हमारी साधनाके साधक, हमारे अन्तरके पुरुष और हमारे योगके नियन्ता होंगे। वे ही हमारी व्यक्तिगत सत्ताका आश्रय कर--यन्त्रवत् परिचालित कर दिव्यमूर्तिके रूपमें प्रकट होंगे। कारण हम कह चुके हैं कि हम, हमारा जीवन, हमारी परिपूर्ण सत्ता सभी कुछ एक भाव या तपःशक्तिकी अभिव्यञ्जना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। हमारे भीतर जो दिव्य प्रकृति स्थित है, हम अखण्डभावसे जो वस्तु हैं वह वस्तु इसी भावमें—इसी तपःशक्तिमें निहित है, हम इस तपःशक्तिका यदि विकास कर दें तो वह अपने भावके-चेतनाके अमोघ अटूट प्रसरणमें हमारी प्राकृत प्रकृतिको परिवर्तित कर वहाँ अपनी दिव्य अखण्ड प्रकृतिको प्रतिष्ठित कर देगी। जो इस खण्डित, तमसावृतमें एक दिव्य, सर्वज्ञ, सर्वकृत वस्तुरूपसे अवतीर्ण हो जायगी। एवं यही वस्तु क्रमसे हमारी नित्य नैमित्तिक समस्त प्रकृतिको शुद्ध ज्ञानोद्भासित, वीर्ययुक्त कर देगी। सम्पूर्ण मानवीय ज्ञानकी सारी नश्वर कर्मचेष्टाके बदले वह अपनी दैवी-लीलाको परिस्फुटित कर देगी।

इस भागवत-भाव, इस पूर्ण विज्ञानशक्तिको प्रकट करना ही पूर्णयोगकी जड़ है। साधनाकी दृष्टिसे इसीका अर्थ 'अहङ्कार-विसर्जन' है; अहं एवं उसके समस्त क्षेत्रको क्रम-क्रमसे उत्सर्ग करना होगा। यह साधनपथ सहज या सरल नहीं है। इस पथमें विपुल-श्रद्धा, अकुण्ठित साहस और अटूट धैर्यकी आवश्यकता है। कारण, इसमें तीन स्तर हैं, जब हम अन्तिम स्तरपर पहुँचेंगे, तभी हमारी साधना कण्टकहीन और द्रुतगामी होगी। पहले अहंकी चेष्टा होती है उस वृहत् और दिव्य भागवतको स्पर्श करनेके लिये। तत्पश्चात् परिणामस्वरूप हमें अपनी समस्त निम्न प्रकृतिको दिव्य प्रेरणाकी सहायतासे क्रमशः एक एक अणु उच्च बनाना एवं उसको समुन्नत भागवत प्रकृतिमें बदल देना होगा, जिसका शेष तब होगा जब कि यह परिवर्तन पूर्ण हो जायगा। किन्तु यह मार्ग कितना ही दुर्गम क्यों न हो, इस पथपर हम अपनी शक्तिसे नहीं चलते, हम अहङ्कारको हटाते हुए ही चलते हैं, इसीसे भागवत-शक्ति ही अलक्ष्यरूपेण परदेके अन्दरसे हमारी दुर्बलताका स्थान ग्रहण करती है, और जब हममें श्रद्धा, साहस वा धैर्यका अभाव होता है, तब वही हमें धारण करती है। यह शक्ति अन्धेको नेत्रवान् करती है और पंगुके द्वारा पर्वतको लँघा देती है। बुद्धिको एक विधान या वस्तुके अन्तर्निहित एक धर्मका पता लग जाता है, जिसकी अमोघ गति ही मंगल या कल्याणके चारों ओर होती है। हृदय एक प्रभु, एक सखा, अथवा एक विश्वमाताको खोजकर प्राप्त कर लेता है जो प्रत्येक पाद-निक्षेपमें हमें पकड़कर उठाते हैं। यद्यपि इस पथमें जितनी बाधाएँ, जितनी विपत्तियाँ हैं, उतनी किसी पथमें नहीं, तथापि जब हम इसके लक्ष्यको, इसके प्रयासकी विपुलताको देखते हैं जो मनुष्यकी प्रकृतिको बदलकर उसके सभी अंगोंको कायम रखते हुए उसे इस जगत्में—इस जीवनमें कर्मके अन्दर ही एक दूसरे धर्ममें प्रतिष्ठित कर देते हैं तब उसकी तुलनामें यह प्रतीत होता है कि न तो इस पथके समान दूसरा कोई सहज पथ है और न इसके समान दूसरा कोई अमोघ और सुनिश्चित पथ है।

चित्र-परिचय

श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश—वाल्मीकि मुनिके पावन आश्रममें सुन्दर सरोवरके तीरपर जगज्जननी सती-शिरोमणि सीताजी बैठी हैं। पर्णकुटी और सरोवरकी शोभा दर्शनीय है। सीताजीकी गोदमें लव-कुश दोनों बालक विश्राम कर रहे हैं। सीताजीका वात्सल्य-रस-पूर्णभाव और मातृ-गोदमें शिशुओंकी निश्चिन्तताका भाव देखते ही बनता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

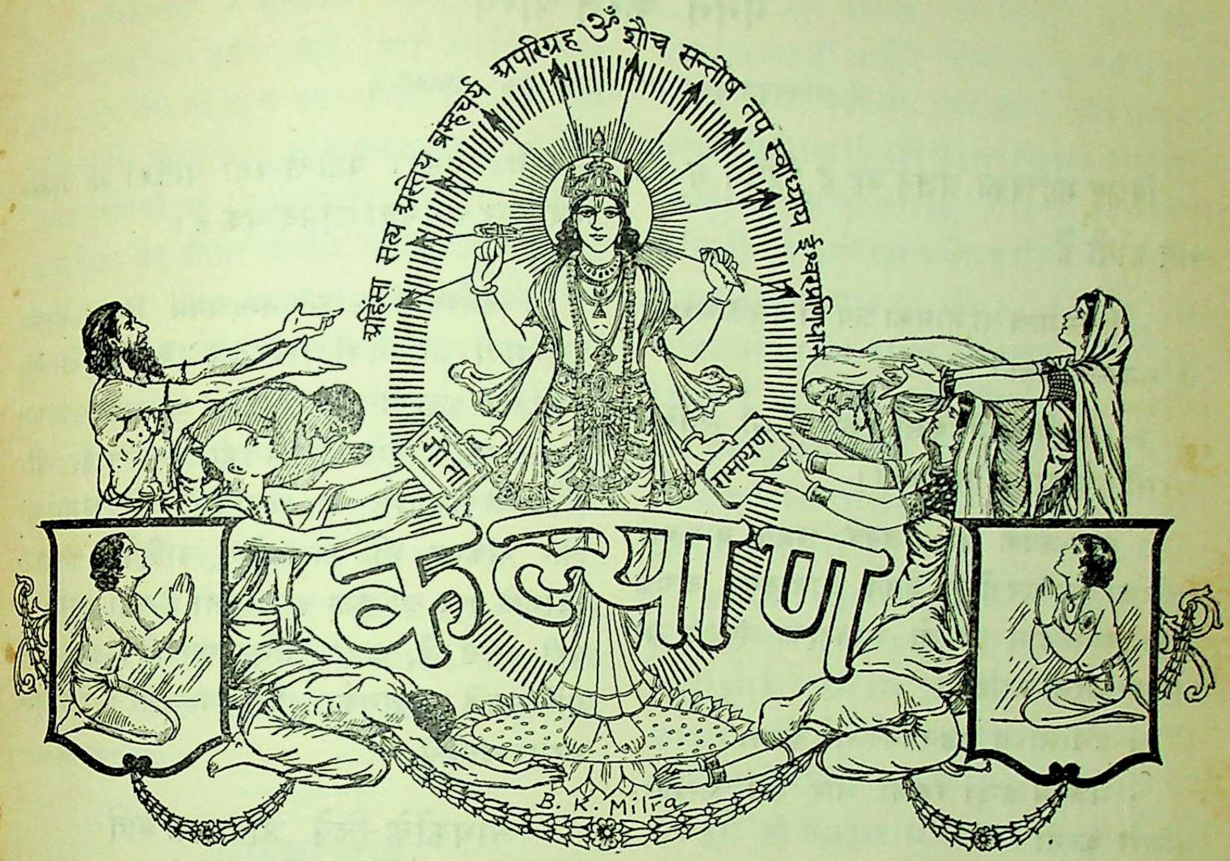

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

वर्ष ५ खण्ड १ — पौष कृष्ण ११ संवत् १९८७ दिसम्बर १९३० — संख्या ६ पूर्ण सं० ५४

कल्याणकी खान

जाके गति है हनुमानकी ।
ताकी पैज पूजि आई, यह रेखा कुलिस पषानकी ॥
अघटि-घटन, सुघट-विघटन ऐसी बिरुदावलि नहिं आनकी ।
सुमिरत संकट-सोच-विमोचन, मूरति मोद-निधानकी ॥
तापर सानुकूल गिरिजा, हर, लषन, राम अरु जानकी ।
तुलसी कपिकी कृपा-बिलोकनि, खानि सकल कल्यानकी ॥

—गोसाईं तुलसीदासजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनन करने योग्य

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक भाषणसे)

विशेष महत्त्वका भजन वह है जिनमें ये छः बातें होती हैं—

१-जिस मन्त्र या नामका जप हो उसके अर्थको भी समझते जाना।

२-भजनसे मनमें किसी प्रकारकी भी लौकिक पारलौकिक कामना न रखना।

३-मन्त्र-जपके या भजनके समय बार-बार शरीरका पुलकित होना, मनमें आनन्दका उत्पन्न होना। आनन्द न हो तो आनन्दका संकल्प या भावना करनी चाहिये।

४-यथासाध्य भजन निरन्तर करना।

५-भजनमें श्रद्धा रखना और उसे सत्कार-बुद्धिसे करना।

६-जहाँतक हो, भजनको गुप्त रखना।

ध्यानके सम्बन्धमें—

१-एकान्त स्थानमें अकेले ध्यान करते समय मन अपने ध्येयमें प्रसन्नताके साथ अधिक-से-अधिक समयतक स्वाभाविक ही तल्लीन रहे; तभी ध्यान अच्छा होता है। इसप्रकारकी स्थितिके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है। अभ्यासमें निम्नलिखित साधनोंसे सहायता मिल सकती है—

क-श्वासद्वारा जप।

ख-अर्थसहित जप।

ग-भगवान्के प्रेम, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य-सम्बन्धी बातें पढ़ना-सुनना।

२-एकान्तमें ध्यानके समय किसी भी सांसारिक विषयकी ओर मनको नहीं जाने देना चाहिये। उससमय तो एकमात्र ध्येयका ही लक्ष्य रखना चाहिये। दूसरी बड़ी-से-बड़ी बातका भी मनसे तिरस्कार कर देना लाभदायक है।

३-सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघनमें स्थित होकर सर्वव्यापी ज्ञान-नेत्रोंद्वारा ऐसे देखना चाहिये मानो सब कुछ मेरे ही सङ्कल्पके आधारपर स्थित है। संकल्प करनेसे ही सबकी उत्पत्ति है, और संकल्पके अभावसे ही अभाव है। यों समझकर फिर संकल्प भी छोड़ देना चाहिये। संकल्प-त्यागके बाद जो कुछ बच रहता है वही अमृत है, वही सत्य है, वही आनन्दघन है। इसप्रकार अचिन्त्यके ध्यानका तीव्र अभ्यास एकान्तमें करना चाहिये।

साधकोंके लिये आवश्यक बातें—

१-रुपयोंकी कामनासे संसारका काम करनेपर मन संसारमें रम जाता है। इसलिये संसारके काम बड़ी ही सावधानीसे केवल भगवत्-प्राप्तिके उद्देश्यसे करने चाहिये। वह भी अधिक नहीं करने चाहिये। क्योंकि सांसारिक काम अधिक बढ़ जानेपर उद्देश्य भी बदल जाता है।

२-संसारके पदार्थों और सांसारिक विषयी मनुष्योंका संग जहाँतक हो, कम करना चाहिये। सांसारिक विषयोंकी बातें भी यथासाध्य कम ही करनी चाहिये।

३-किसी दूसरेके दोष नहीं देखने चाहिये, स्वभाववश दीख जायँ तो बिना पूछे बतलाने नहीं चाहिये।

४-सबमें निष्काम और समभावसे प्रेम रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५-निरन्तर नाम-जपके अभ्यासको कभी छोड़ना नहीं चाहिये। उसमें जिस कार्यसे बाधा आती हो, उसे ही छोड़ देना उचित है। परम हर्ष और प्रेमसे नित्य-निरन्तर भजन होता रहे तो फिर भगवद्दर्शनकी भी आवश्यकता नहीं है। भजनका प्रेम ऐसा बढ़ जाना चाहिये कि जिसमें शरीरका भी ज्ञान न रहे। भगवान् स्वयं पधारकर चेत करावें तो भी सुतीक्ष्णकी भाँति प्रेम-समाधि न टूटे।

६-इन सब साधनोंकी शीघ्र सिद्धिके लिये इन्द्रियोंका संयम करके तत्परतासे अभ्यास करना चाहिये। इसके लिये किसी बातकी भी परवा न करनी चाहिये। शरीरकी भी नहीं।

७-शरीरमें अहङ्कार होनेसे ही शरीरके निर्वाहकी चिन्ता होती है। अतएव यथासाध्य शरीररूपी जेलमें जान-बूझकर कभी प्रवेश नहीं करना चाहिये।

भगवच्चरणोंमें

भगवन्! आपकी असीम कृपा है जिससे हमें यह सब प्रकारसे उपयोगी मनुष्य-शरीर मिला है। पर नाथ! हमें इस कृपाका स्मरण कहाँ है? हम तो संसारकी बाह्य चमक-दमकसे चौंधियाकर केवल आपकी कृपाको ही नहीं, प्रत्युत इस शरीरके प्रदान करनेवाले परम कृपामय स्वयं आपको भी भूल गये हैं। यह कितना बड़ा अभाग्य है!

भगवन्! आपने तो सिखाया था कि 'तुम सदा-सर्वदा मेरा स्मरण करते हुए ही अनासक्त होकर सब कर्म करो और अपना प्रत्येक कर्म मुझे अर्पण करते रहो।' परन्तु यह सदुपदेश हम क्यों स्मरण रखने लगे? हम तो तनिक-सा काम करके भी अभिमानसे ऐंठ जाते हैं और उसीका बहुत बड़ा तथा तात्कालिक ही फल चाहते हैं। अभिमानमें कार्यकी सिद्धि कहाँ है? वह तो पतनका मूल है, परन्तु इस बातपर कौन विचार करे? बस, फल मिलना ही चाहिये और वह भी कर्मसे कहीं अधिक! यदि नहीं तो, फिर हमारे मन संसारमें आपका अस्तित्व ही नहीं है। यह कितना मूर्खतापूर्ण निर्णय है? परन्तु भगवन्! आज तो हमारी यही वृत्ति है। आपको कर्म अर्पण करनेकी और आपका स्मरण करनेकी बात तो और भी कठिन है। जहाँ अभिमानवश हम आपके अस्तित्वको ही मिटाना चाहते हैं वहाँ कैसा अर्पण और किसका स्मरण? इस अदूरदर्शितासे पूर्ण मनोवृत्तिका बुरा परिणाम भी प्रतिदिन हमारे अनुभवमें आ रहा है, परन्तु हमें अब भी चेत नहीं है!

भगवन्! आपके परमपावन चरित्रमें त्यागको कितना ऊँचा स्थान है और कितना बड़ा आयोजन है उसमें इस त्यागका पाठ स्वयं आदर्श बनकर अपने सेवकोंको पढ़ानेका! पर भगवन्! हमारे मनमें उसके लिये आदर और कृतज्ञता कहाँ है? हम तो बिल्कुल लापरवाह बन रहे हैं और संसारके सभी विलासोंको मनमाना भोगते हुए ही आपके सच्चे भक्त कहलाना चाहते हैं? कभी-कभी तो हमारी यह वृत्ति इतनी नीची तहतक पहुँच जाती है कि हम अपने भौतिक आरामके लिये सैकड़ों निरपराध प्राणियोंको दुःसह पीड़ा पहुँचानेमें भी नहीं हिचकते!

भगवन्! हमारी यह दूषित मनोवृत्ति कभी बदलेगी? कभी आपकी परमकृपाका हमें अनुभव होगा? प्रभो! अब तो बहुत हो चुका। हमने अपनी करनीका पर्याप्त फल पाया, मनुष्य-जीवनको खूब ही कलङ्कित किया। भगवन्! अब आपके पावन चरणोंमें यही करबद्ध प्रार्थना है कि आप अपनी ओर देखकर हमारे सभी अक्षम्य अपराधोंको क्षमा-कर हमें अपनालें और ऐसा अनुग्रह करें जिससे इस जीवनका उद्देश्य, जिसके लिये आपने हमें जन्म दिया है, शीघ्र ही सफल हो!

एक भूला हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वरप्राप्ति या भक्तियोग

(ले०-महात्मा गांधीजी)

अब मैं उस ग्रन्थकी चर्चा करना चाहता हूँ जिसका हम नित्य पाठ करते हैं और इस तरह सम्पूर्ण पाठ एक पक्षमें पूरा करते हैं, जिस ग्रन्थका हमलोग मनन करते हैं और जिसे हमलोगोंने अपना आत्मिक दीपस्तम्भ बनाया है।

इस ग्रन्थका हम प्रत्येक नवीन अवसरपर उपयोग करना चाहते हैं और अपने मनकी उलझनोंको सुलझानेके लिये हम इसी ग्रन्थसे सहायता लेते हैं। ऐसे ग्रन्थको यदि हर पहलूसे देखें और इसका मनन करें तो हम इस ग्रन्थके साथ तन्मय हो जायँगे। मेरी हालत तो यह है कि जब-जब मैं बड़ी विकट कठिनाइयोंसे घिर जाता हूँ तब-तब मैं-

गीता माता

के पास ही दौड़ जाता हूँ और ऐसा कभी नहीं हुआ कि उससे मेरा समाधान न हुआ हो। यह सम्भव है कि जो लोग गीतासे समाधान प्राप्त कर ही रहे हैं उन्हें इससे और भी अधिक सहायता मिले और इसके अन्दर वे कोई-

ऐसा प्रकाश

देखें जो पहले न देखा हो, यदि उन्हें यह मालूम हो कि मैं किसप्रकार गीताको प्रतिदिन पहलेसे अधिक समझ रहा हूँ।

ईश्वरकी प्राप्ति

आज मैं १२ वें अध्यायका सारांश लिखूँगा। यह 'भक्तियोग' है—भक्तिके द्वारा ईश्वरकी प्राप्ति। विवाहके समय वर-वधूसे यह अध्याय कण्ठ करने और उसका मनन करनेको कहा जाता है—पञ्च-महायज्ञोंमेंसे एक यज्ञके तौरपर। भक्तिके बिना कर्म और ज्ञान नीरस और शुष्क हो जाते हैं और फिर बेकार, निकम्मे भी हो सकते हैं। इसलिये हृदयको प्रेमसे ओतप्रोत कर हमलोग गीताका यह मनन आरम्भ करें।

अर्जुन भगवान्से पूछता है—'दोमें कौन श्रेष्ठ है-भक्त जो व्यक्तकी उपासना करता है वह या वह जो अव्यक्तकी उपासना करता है?' भगवान् उत्तर देते हैं--'जो पूर्ण श्रद्धाके साथ व्यक्तका ध्यान करते हैं और मेरे अन्दर लीन हो जाते हैं वे ही मेरे सच्चे भक्त हैं। पर जो अव्यक्तकी उपासना करते हैं और इसके लिये जो इन्द्रियोंका संयम करते हैं, सबको एक दृष्टिसे देखते और सबके हितमें रत रहते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं।'

इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कोई श्रेष्ठ है और कोई कनिष्ठ। परन्तु देहधारी प्राणीके लिये अव्यक्तको समझना और उसकी उपासना करना असम्भव-सा माना जा सकता है। अव्यक्त निर्गुण है और मनुष्यकी दृष्टिके परे है। इसलिये सब देहधारी आत्मा जाने बेजाने उसी साकारके उपासक होते हैं।

'इसलिये' भगवान् कहते हैं कि, 'अपने मनको मेरे विराट् रूपमें मिला दो। उसीके चरणोंमें अपना सब कुछ अर्पण कर दो। पर यदि तुम ऐसा न कर सको तो अपने मनके विकारोंको संयत करनेका अभ्यास करो। प्राणायाम, आसन तथा अन्य उपायोंसे यम-नियमका पालन करके मनको काबूमें लाओ। ऐसा भी यदि न कर सकते हो तो जो कुछ तुम करो वह यह समझकर करो कि जो कुछ करते हो भगवान्के लिये करते हो। इससे तुम्हारे सांसारिक मोह और लोभ नष्ट हो जायँगे और तुम निष्कलङ्क एवं शुद्ध हो जाओगे। भक्तिका स्रोत तुम्हारे अन्दर उमड़ पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'परन्तु यदि तुम यह भी नहीं कर सकते तो अपने सब कर्मोंका फल त्याग दो, अपने कर्मके फलोंकी कोई इच्छा मत करो। जो काम तुम्हें करनेको मिले उसे करो। मनुष्य अपने कर्मके फलका अधिकारी नहीं हो सकता। किसी कर्मका फल तब प्रकट होता है जब कई कारण मिलकर उसे उत्पन्न करते हैं। इसलिये तुम केवल साधन बनो। ये चार उपाय जो मैंने तुम्हें दिखाये, इनमेंसे किसीको किसीसे श्रेष्ठ या कनिष्ठ, मत समझो। इनमेंसे जो तुम्हारे लिये योग्य हो, उसका तुम भक्तिके अभ्यासमें उपयोग करो।

कठिन मार्ग

ऐसा मालूम होता है कि यम, नियम, प्राणायाम और आसनका जो मार्ग ऊपर लिखा गया उससे श्रवण, मनन और निदिध्यासनका मार्ग सुगम होगा और इससे सुगम ध्यान और पूजाका मार्ग होगा और इससे भी सुगम कर्मफलके त्यागका मार्ग होगा। प्रत्येक मार्ग समानरूपसे सबके लिये सुगम नहीं हो सकता, सबको इन सबसे यथावसर सहायता लेनी पड़ सकती है। ये सब मार्ग निश्चय ही एक दूसरेमें मिले हुए हैं। जो कुछ हो, तुम भक्त होना चाहते हो। वह लक्ष्य, जिस मार्गसे चल सको चलकर, प्राप्त करो। मेरा काम तुम्हें इतना ही बतलाना है कि सच्चा भक्त किसको समझो।

भक्त किसीका तिरस्कार नहीं करता, किसीसे द्वेष नहीं रखता, सबको मित्रभावसे अपनाता है, सबपर दया करता है। इस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये वह अपनी सारी आसक्ति धो डालता है, उसका अहंकार नष्ट हो जाता है और वह कुछ नहीं-सा रह जाता है, उसके लिये सुख-दुःख बराबर हैं; जो उसका अपराध करते हैं उनको वह क्षमा करता है, जैसे अपने अपराधोंके लिये वह संसारसे क्षमा चाहता है; वह सदा सन्तुष्ट रहता है, अपने सत्-संकल्पोंमें स्थिर रहता है; वह अपना मन, अपनी बुद्धि और अपना सर्वस्व मुझे अर्पण कर देता है। वह दूसरोंको कष्ट नहीं देता, भय नहीं दिखाता; दूसरोंसे भी कष्ट नहीं पाता, भयभीत नहीं होता; मेरा भक्त सुख और दुःख, प्रमोद और पीड़ासे मुक्त रहता है। वह निःस्पृह होता है, शुद्ध, कुशल और धीमान् होता है। स्वार्थकी आकांक्षाके सब काम वह छोड़े रहता है। अपने सत्संकल्प पर डटा रहता है। उसके अच्छे-बुरे फलकी इच्छा नहीं करता, वह उदासीन रहता है। उसके लिये कोई शत्रु नहीं, कोई मान नहीं, कोई अपमान नहीं; वह इन सबके परे होता है।

वह सदा स्थिर और शान्त, जो कुछ हो उससे सन्तुष्ट रहता और जैसा कोई अकेला ही प्राणी हो, अन्तर्मुख होकर अपने ही रास्तेसे चला जाता है, और उसपर चाहे जो बीते या उसके सामने चाहे जो घटना हो, उससे उसकी शान्ति भंग नहीं होती। ऐसा जो कोई हो, श्रद्धासे भरा हुआ, वही मेरा 'प्यारा भक्त' है। ('यंगइण्डिया'से)

दुःख भी ईश्वरीय दया है

दुखमय घटनामें भी देते करुणामय करुणा-दर्शन !
भीषणतम तममें भी तेरा दीख रहा सुस्मित आनन ।।
अति प्रचण्ड अपमान-अग्निमें शोभित तेरा सुखमय रूप ।
प्रलयंकर पद-दलन-मध्य भी केलि तुम्हारी परम अनूप ।।
बड़वानल-वियोग विपदामें करता है तू सुखमय नृत्य ।
मन-प्रतिकूल उपक्रममें भी तुम्हीं दीखते नूतन नित्य ।।
मनस्ताप, तन-तपन-मध्य भी विलसित होता मृदुल विलास ।
गृह-विनाश-अभिनयमें तेरा दीख रहा वर विद्युत हास ।।
हृदय-कन्दरा निहित दोषदल करुण-किरणसे आलोकित ।
'किंकर' कण-कणमें लख तुमको होता निश्चल निःशोकित !!

किंकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करुणाक्रन्दन

(लेखक—आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी)

मेरा मन, मेरा मस्तिष्क, मेरे नेत्र और मेरे हाथ अब जवाब दे रहे हैं। बहुत कम काम कर सकते हैं। यही कारण है, जो मैं अब लिखने-पढ़नेके कामसे विरत-सा हो रहा हूँ। लाचारी है। तथापि हिन्दीके पत्रों और पत्रिकाओंके कुछ सम्पादकों और लेखक महाशयोंकी मुझपर असीम कृपा है। वे कई प्रकारसे उसकी सतत वृष्टि मुझपर किया ही करते हैं। एतदर्थ मैं उनका ऋणी हूँ और आमरण ऋणी बना रहूँगा। शरीर-रक्षाके कार्योंके सिवा यदि आजकल मैं कुछ कर सकता हूँ तो केवल ईश-स्तवन कर सकता हूँ। उसके कुछ नमूने मैं नीचे देता हूँ। हिन्दीके सुकवियों और हितैषियोंसे मेरी प्रार्थना है कि अब वे मुझे लेख भेजनेकी आज्ञाएँ देना बन्द करके, वे ही स्वयं मुझे अपनी प्रतिभाकी उपजका कुछ दान देनेकी उदारता दिखावें। स्तुतिके जो नमूने मैं देने जा रहा हूँ वे शिवपरक हैं और संस्कृतमें हैं। विनय है कि उसी तरहकी कुछ कविता वे मेरी मातृभाषा हिन्दीमें लिखकर कहीं प्रकाशित कर दें। ऐसा हो जानेपर उसीका पाठ करके परमात्मासे मैं आत्म-निवेदन किया करूँगा।

(१)

परिम्लानो मानस्तनुरपि तनुस्ताम्यतितमां
मनो मोहावर्ते भ्रमति धृतिरस्तं व्रजति च।
कथापि क्लेशानामवतरति नोच्छेदपदवीं
दवीयस्यामस्यां भवभुवि मुधा धावति मतिः॥

मेरा सारा मान और अभिमान चूर्ण हो गया। अत्यन्त कृश शरीर पत्तेकी तरह कँप रहा है। मन अज्ञानरूपी आवर्तमें चक्कर खा रहा है। और धैर्यका तो सर्वथा ही नाश हो गया है। मेरे क्लेशोंकी कथाका यह हाल है कि मेरा भले ही अन्त हो जाय, पर उनका अन्त मिलनेका नहीं। मेरी दुर्गतिकी इस परम्पराको देखिये और मेरी मतिकी मूढ़ताकी इयत्ताका पता लगाइये। वह तो इतनेपर भी इस अनन्त भव-भूमि—इस अनन्त संसार-चक्रमें व्यर्थ ही भ्रमण करना नहीं छोड़ती!

(२)

तदेवं दुर्वारव्यसनशतसम्पातविषमं
विशन्नेष स्वामिन्नहह सुमहन्मोहगहनम्।
अविन्दन्नाश्वासक्षममपरमापन्नसुहृदं
जनोऽवज्ञापात्रं भवति करुणाब्धेर्न भवतः॥

मैं महामोहरूपी घोरारण्यमें भटक रहा हूँ। यह अरण्य ऐसा वैसा नहीं। यह तो मेरे सैकड़ों दुर्निवार व्यसनोंके सम्पर्कसे अत्यन्त ही विषम हो रहा है। ऐसी दुर्गम दुःस्थितिमें पड़े हुओंका उद्धार यदि कोई कर सकता है तो विरला ही मित्र या परोपकारी पुरुष कर सकता है। परन्तु हज़ार बार रोने, पीटने और चिल्लाने पर भी कहींसे ऐसे किसीका भी आश्वासन-वाक्य नहीं सुनायी पड़ता—कहींसे भी यह आवाज नहीं आती कि घबराना मत, मैं आ गया। अतएव स्वामिन्, इस निःसहाय दशाको प्राप्त हुए मुझ दीनकी आप अवज्ञा न करें। जैसे हो, मुझे बचा लें। और आपको बचाना ही चाहिये, क्योंकि आप तो करुणाके कूप नहीं, सरोवर नहीं, सरिता नहीं, किन्तु उसके सागर हैं।

(३)

विस्रम्भमम्भसि भजे भगवन्नगाधे
बाधे रिपुव्यवसितेऽप्यलसी भवामि।
जागर्मि यन्न समवर्तिनि हन्तुकामे
का मे गतिर्यदि करोषि मनागवज्ञाम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवन्! मेरी मूढ़ता पराकाष्ठाको पहुँच गयी है। देखिये न, मेरा कलेवा करनेके लिये काल मेरे पास पहुँच चुका है। परन्तु मैं फिर भी नहीं जागता—उससे बचनेका कोई उपाय नहीं करता। अगाध जलमें गोते खा रहा हूँ; पर समझ रहा हूँ कि डूबूँगा नहीं। काम-क्रोधादि शत्रु निर्दयतापूर्वक मुझपर आक्रमण कर रहे हैं; पर मैं भयभीत न होकर आलसी बना बैठा हूँ। इस दशामें यदि आप मेरी ज़रा भी अवज्ञा करेंगे तो फिर मेरी ख़ैर नहीं। तो फिर मैं बे-मौत मरा।

(४)

यस्ते ददाति रवमस्य वरं ददासि
यो वा मदं वहति तस्य दमं विधत्से।
इत्यक्षरद्वयविपर्ययकेलिशीलः
किं नाम कुर्वति नमो न मनः करोषि॥

पूजनके समय जो भक्त आपके सामने मुँहसे रव करता है—अर्थात् आक्रोश-विक्रोश करता या बाजा बजाता है—उसके उस रव (शब्द या नाद) के बदले आप उसका उलटा फल अर्थात् वर देते हैं। और जो मूर्ख आपके सामने या आपके विषयमें किसी तरहका मद (अहङ्कार या अभिमान) प्रकट करता है उसकी खबर आप उस मद शब्दको उलट कर दम (दण्ड या शासन) से लेते हैं। इससे सूचित होता है कि आपको इन दोनों शब्दोंके अक्षरद्वयका उलट-फेर करनेका खेल बहुत ही पसन्द है। अच्छा तो वही खेल आप मेरे साथ भी क्यों नहीं खेलते? मैं बारंबार नमः (नमस्कार) कर रहा हूँ। उसे उलटकर आप मेरी प्रार्थनाओंमें अपना मनः (मन) क्यों नहीं लगाते?

(५)

केचिद्वरस्य भगवन्नभयस्य केचित्
सान्द्रस्य केचिदमृतस्य करस्थितस्य।
प्रापुः कृपाप्रणयिनस्तव भाजनत्वं
शूलस्य केवलमभाग्यपरिक्षतोऽहम्॥

भगवन्! सदाशिव, आपने अपने किसी हाथमें आयुधकी जगह अभयको, किसीमें वरको, किसीमें अमृत-भाण्डको और किसीमें शूल (त्रिशूल) को धारण किया है। जिन सौभाग्यशाली भक्तोंपर आप कृपा करते हैं उन्हें तो आप इन्हींमेंसे पहले तीन पदार्थोंका अधिकारी समझते हैं-किसीको वरदान देते हैं, किसीको अभय-दान देते हैं, किसीको अमृतपान कराते हैं। परन्तु मैंही एक ऐसा अभागी हूँ जिसको आपने केवल शूल (त्रिशूल और शूलरोग) पानेका अधिकारी समझ रक्खा है।

(६)

चिन्तामणिः स्फटिकजातिरचेतनोऽपि
कल्पद्रुमः कठिनकाष्ठविनिर्मितोऽपि।
तिर्यग्दशामपि गता किल कामधेनु-
र्भाग्यैरभीष्टफलदा कृतिनां भवन्ति॥

(७)

त्वं तु प्रभो त्रिभुवनैक महेश्वरोऽपि
पर्याप्तशक्तिरपि पूर्णकृपार्णवोऽपि।
आक्रन्दतोऽपि करुणं विधिवञ्चितस्य
त्यक्तादरोऽसि मम दर्शनमात्रकेऽपि॥

हे गिरीश, सुनिये तो, चिन्तामणि क्या चीज़ है? वह स्फटिक-जातिका पत्थर है, अतएव अचेतन है। परन्तु वह भी भाग्यवानोंको अभीष्ट फल देता है। कल्पद्रुमको देखिये। वह कठिन काठसे बना हुआ है। परन्तु वह भी पुण्य-पुरुषोंको इच्छित फल देता है। कामधेनुकी उत्पत्ति तिर्यग्-योनिमें है—वह पशु है। परन्तु वह भी सुकृती जनोंकी इच्छा-पूर्ति कर देती है।

अब आप अपनी ओर देखिये। प्रभो, आप तो महा-ऐश्वर्यशाली हैं—एक दोके नहीं, तीनों लोकोंके स्वामी हैं। फिर आप शक्तिहीन भी नहीं; दान देनेकी अपार शक्ति आपमें है। यह भी नहीं कि आप निष्ठुर या निर्दय हों। नहीं, आप तो दयाके सागर हैं। और सागर भी कैसे? ऊपर तक लबालब भरे हुए। इधर देखिये, मैं चिरकालसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करुणाजनक आक्रोश कर रहा हूँ। तिसपर भी आप मुझे दर्शनतक देनेकी उदारता नहीं दिखाते। इसका कारण क्या बताऊँ। कारण केवल मेरा दुर्भाग्य !

(८)

दीर्घाण्यहान्यधिशुचीव भवन्त्यहानि
हा निर्बलस्य शरदीव नदीजलस्य।
दुःखान्यसत्परिभवा इव दुःसहानि
हा निःसहोऽस्मि कुरु निःशरणेऽनुकम्पाम्॥

आषाढ़-मासके दिनोंकी तरह मेरे पातक-पुञ्ज बढ़ गये हैं और शरत्कालकी नदियोंके सलिलके समान मेरी शरीर-शक्ति क्षीण हो गयी है। दुःखोंकी तो कुछ पूछिये ही नहीं। दुष्टोंके द्वारा किये गये पराजयके समान वे तो अत्यन्त ही दुःसह हो रहे हैं। अब यह दुर्गति-परम्परा मुझसे अधिक नहीं सही जाती। मुझ निःशरण पर अब तो आप दया कीजिये। रोते-विलखते मुझे बहुत समय हो गया।

(९)

किं सुप्तोऽसि किमाकुलोऽसि जगतः सृष्टस्य रक्षाविधौ
किंवा निष्करुणोऽसि नूनमथवा क्षीवः स्वतन्त्रोऽसि किम्?
किंवा मादृशनिःशरण्यकृपणाभाग्यैर्जडोऽवागसि
स्वामिन्यत्र शृणोषि मे विलपितं यन्नोत्तरं यच्छसि

आपको हो क्या गया है? क्या आप सो गये? क्या आप अपने बनाये हुए जगत्की रक्षाके काममें व्यस्त हैं? क्या बिलकुल ही निष्करुण बन बैठे—दयाको बिलकुल ही तिलाञ्जलि दे दी? क्या आप नशेमें तो नहीं? क्या न्याय-अन्यायकी कुछ भी परवा न करके सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रताका स्वीकार कर लिया? अथवा क्या मेरे सदृश निःशरण जनके अभाग्यसे आपकी वाणी स्तम्भित हो गयी—आप जड़वत् हो गये? स्वामिन्! मेरा विलाप फिर आप क्यों नहीं सुनते और क्यों मेरी बातोंका उत्तर नहीं देते?

(१०)

विषयपन्नगनागवशीकृतं
भवमहार्णवमग्नमनीश्वरम्।
बहलमोहमहोपलपीडितं
हर समुद्धर मां शरणागतम्॥

विषयरूपी पन्नगोंके पाशमें मैं फँस रहा हूँ-उस नागपाशसे जकड़ गया हूँ इस संसाररूपी महासागरमें डूब रहा हूँ। अविद्या और अज्ञानरूपी बड़े-बड़े पत्थरोंसे चूर किया जा रहा हूँ। मेरा इस समय और कोई सहायक नहीं—इतना सामर्थ्य और किसीमें नहीं जो मुझे इन आपदाओंसे बचावे। अतएव हे अशरणके शरण महेश! मुझ शरणागतका उद्धार अब आप ही कीजिये। मेरा परित्राण यदि कोई कर सकता है तो आप ही कर सकते हैं।

(स्तुतिकुसुमाञ्जलिसे)

असीम आनन्द

(लेखक-गाङ्गेय नरोत्तम शास्त्री)

मन !
तू
मनमें रह ! आनन्द !
हृदय-कमलका सुमधुर मधु पी,
चख, चख, अमृत आनन्द ॥
'निश्चलता' की छायामें बस,
छोड़, छोड़, छल-छन्द ।
हृदय-कुञ्जमें मञ्जुल घर कर,
रम, सन्तत स्वछन्द ।
छोड़, तोष-जल, तृष्णाऽनल पर,
काट, काट, भव-फन्द ।
ज्ञान-गेय 'गाङ्गेय' मग्न हो,
लख, असीम आनन्द ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खादी और परमार्थ

वर्तमान राजनीतिक आन्दोलनमें प्रधान स्थान होनेके कारण खादीका नाम लेना भी आजकल राजनीतिक चर्चामें शामिल हो जाता है और बहुत-से भाई जो इस आन्दोलनमें सिद्धान्त या परिस्थितिके कारण सम्मिलित नहीं हैं, उनमेंसे अनेक खादीको राजनीतिक वस्तु समझकर न तो इसपर चर्चा करना ही पसन्द करते हैं और न स्वयं इसको पहनते ही हैं। यद्यपि हिन्दू-धर्ममें राजनीति धर्मका एक अङ्ग है। हमारे दोनों प्रधान अवतार मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी और लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजी राजनीतिसे अलग नहीं थे। परन्तु यह अवश्य ही सत्य है कि न तो केवल राजनीति ही हमारे धर्मका या धार्मिक जीवनका एकमात्र कर्तव्य है और न राजनीतिक उद्देश्यकी सिद्धि या स्वराज्यकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका परम ध्येय है। क्योंकि यह जीवन तो हमारे अनन्त आत्मजीवनका एक क्षुद्र अंशमात्र है। मनुष्यका एकमात्र ध्येय है परमात्माको प्राप्त करना और गीताके अनुसार, थोड़े शब्दोंमें, उसके लिये उपाय है—'परमात्माके स्वरूपको समझकर स्वधर्मद्वारा—प्राप्त-कर्तव्योंके पालनद्वारा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक संयतचित्तसे परमात्माकी पूजा करना।' जिस भावना या जिस कर्मसे मनुष्यका मन परमात्मासे हटकर विषयकी ओर झुकता हो, चाहे वह कर्म सांसारिक दृष्टिसे कितना भी महान् क्यों न हो, उसका त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है। पक्षान्तरमें जो कार्य देखनेमें छोटे मालूम होते हों और लोक-दृष्टिमें उनका विशेष महत्त्व न भी हो परन्तु यदि वे परमात्माकी पूजाके योग्य हों और मनुष्यके लक्ष्यको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगाते हों तो वे ही कार्य मनुष्यके लिये परम कर्तव्य हैं। भगवान्ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८।४६)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जो परमात्मा सब भूतोंमें (बर्फमें जलकी भाँति) व्याप्त है, उसकी अपने कर्मद्वारा पूजा करके ही मनुष्य (भगवत्-प्राप्तिरूप) परम सिद्धिको प्राप्त होता है।' जिस कर्मसे इसप्रकार परमात्माकी पूजा होती है उस कर्मका कोई खास एक ही स्वरूप नहीं है। जिसका जो स्वधर्म हो-अपना कर्म हो, प्राप्त कर्तव्य हो, वह उसीका निष्कामभावसे परमात्माके लिये पालन करे। ऐसे कर्मोंमें गीताके अनुसार भीषण युद्धतकका भी समावेश है, अवश्य ही वह युद्ध स्वार्थप्रेरित न होना चाहिये। दूसरोंके स्वत्व अपहरण करने या अपनी अतृप्त लिप्साको तृप्त करनेके निमित्त, निर्दोषोंको लूटनेके लिये न होना चाहिये। वह होना चाहिये 'धर्म-युद्ध'। भगवान्ने युद्धको नहीं, धर्मयुद्धको ही क्षत्रियका धर्म बतलाया है। परन्तु वह धर्मयुद्ध भी निष्काम और ईश्वरकी पूजाके योग्य तभी हो सकता है जब उसमें आसक्ति या लौकिक फलका अनुसन्धान बिल्कुल न हो, जब वह भगवान्की आज्ञानुसार केवल भगवान्के लिये ही किया जाता हो। भगवान्ने युद्धकी आज्ञा देते समय अर्जुनको जो उपदेश दिया है, उसमेंसे कुछ शब्दोंका उल्लेख करनेसे यह विषय स्पष्ट हो जायगा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(२।३८)

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(२।४८)

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥
(३।३०)

'सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान मानकर तत्पश्चात् तू युद्ध कर, ऐसा करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा। आसक्तिको त्यागकर और सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर योगमें स्थित रहता हुआ तू कर्म कर, 'समत्व'का नाम ही योग है। अध्यात्म-चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण करके आशा और ममतासे रहित होकर सारी व्यथाओंसे भलीभाँति छूटकर युद्धकर।' इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीनों श्लोकोंमें 'कृत्वा', 'त्यक्त्वा' और 'भूत्वा' शब्द बहुत ही विचारणीय हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि जो मनुष्य पहले इसप्रकारका बनकर फिर कर्तव्य-कर्म करता है वही पापोंसे लिप्त नहीं होता और उसीके कर्म निष्काम-कर्म कहला सकते हैं। जबतक मनुष्य आसक्ति और कामनाको छोड़कर सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर निराशी और निर्मम नहीं हो जाता, तबतक उसका चित्त अशान्त रहता है और अशान्त चित्तसे वह कभी सुखी भी नहीं हो सकता—'अशान्तस्य कुतः सुखम्?' परन्तु बिना किसी हेतुके कर्म हो ही नहीं सकते, इसलिये निष्कामकर्ममें भी हेतु होना चाहिये और वह हेतु होता है ईश्वर-प्राप्ति। इसी हेतुकी प्रधानता रखकर पुनः युद्धके लिये आज्ञा देते हुए भगवान् अर्जुनको इसका साधन बतलाते हैं—

> तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
> (८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! सर्वकालमें निरन्तर मेरा (भगवान्-का) स्मरण करता हुआ ही युद्ध भी कर; इसप्रकार मुझमें (भगवान्में) अर्पित किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त तू निःसन्देह मुझको (भगवान्को) ही प्राप्त होगा।' क्षत्रियको युद्ध करना चाहिये, परन्तु राज्यकी आसक्ति या कामनासे नहीं, भगवान्-की प्राप्तिके लिये भगवान्की आज्ञा मानकर कर्तव्यबुद्धिसे। ऐसे ही 'ज्ञानसमन्वित भगवद्भक्तियुक्त निष्काम-कर्म' से भगवान्की प्राप्ति होती है, जो मनुष्य-जीवनका एकमात्र ध्येय है। इसके विपरीत अन्य हेतुओंसे होनेवाले सभी शुभाशुभ कर्म बन्धनकारक हैं। भगवान्ने कहा है—

> यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
> तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
> (३।९)

'हे अर्जुन! यज्ञ अर्थात् परमात्माकी सेवाके लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त अन्य हेतुओंसे होनेवाले कर्मोंमें प्रवृत्त मनुष्य उन कर्मोंद्वारा बन्धनको प्राप्त होता है। इसलिये तू आसक्ति छोड़कर उस परमेश्वरके लिये ही कर्मोंका सम्यक् प्रकारसे आचरण कर।' कर्म चाहे, धर्मोपदेश हो, धर्मयुद्ध हो, वाणिज्य हो, सेवा हो या अन्य कोई हो, होना चाहिये परमात्माके लिये!

इसी सिद्धान्तके अनुसार इस वर्तमान राजनीतिक आन्दोलनमें प्रवृत्त लोगोंको भी उनकी अपनी-अपनी भावना या हेतुके अनुरूप ही फलकी प्राप्ति होगी। मेरी तो यह धारणा है कि इस आन्दोलनमें आरम्भसे ही ईश्वरका हाथ अवश्य है। नहीं तो इतने दिनोंमें ही इतने लोग, और अच्छे-अच्छे प्रातःस्मरणीय पुण्य-पुरुष, जेल जाने, लाठियाँ खाने, भाँति-भाँतिके कष्ट सहने और मरनेके लिये तैयार नहीं हो जाते। इस बातका तो पता नहीं कि लौकिक दृष्टिमें इसका फल कैसा होगा? परन्तु यह निश्चय है कि परम दयालु और परम न्यायकारी सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी कृपासे इसका जो कुछ भी चरम फल होगा वह दोनों ही पक्षोंके लिये परिणाममें लाभदायक अवश्य होगा। देखनेमें भले ही वह एक पक्षके लिये अनुकूल और दूसरेके लिये प्रतिकूल हो। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि परमात्मा किसी भी देश, जाति, धर्म या वर्णके साथ पक्षपात नहीं कर सकते। ईश्वर सबके हैं और सारा जगत् उन्हींकी अभिव्यक्ति है। या यों कहिये कि हम सभी एक ही परमात्मारूपी स्नेहमयी जननीकी प्यारी सन्तान हैं। जननीकी दृष्टिमें सब सन्तान एक-सी होती है। दो भाई परस्पर लड़ते हैं, दोनों-का झगड़ा माताके पास जाता है तो वह दोनोंके प्रति स्नेह रखती हुई जिसका अपराध देखती है उसे धमकाती है, समयपर थप्पड़ भी मार देती है और जो निर्दोष होता है उससे प्यार करके गोदमें उठाकर उसका मुख चूमने लगती है। परन्तु वह जिसे धमकाती या मारती है उसका भी कल्याण ही चाहती है और कल्याण-कामनासे ही उसके साथ वैसा व्यवहार करती है, क्योंकि वह भी उसे उतना ही प्यारा है जितना दूसरा है। इसीप्रकार परमात्मा भी सबसे समानभावसे प्यार करते हुए किसीको दण्डित और किसीको पुरस्कृत करके उनका कल्याण करते हैं। परमात्मा दोनोंकी सुनते हैं, परन्तु पुरस्कारका—उनके प्रत्यक्ष प्रेमका पात्र वही बनता है, जो निर्दोष होता है, जो परमात्मा-का यथार्थ विनम्र आज्ञाकारी होता है और जो अचल-भावसे सत्यपर स्थित होता है। सत्य परमात्माका स्वरूप है। हम चाहे किसी भी पक्षमें हों,—अन्तरात्माकी सच्ची प्रेरणाके अनुसार कोई-सा भी काम करते हों, हमें सत्यपर डटे रहकर परमात्माके लिये ही उस कामको करना चाहिये। पद-पदपर बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है, कहीं भगवान्के स्थानमें हमारे हृदयमें भोगको स्थान न मिल जाय, हमारी कामनाका विषय परमात्माकी जगह सांसारिक स्वार्थ न हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय। सांसारिक स्वार्थ कामना और आसक्तिसे होता है, एवं कामना तथा आसक्ति ही पापका कारण है। गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'विषयोंके चिन्तनसे उनमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे कामना होती है, कामनामें बाधा आनेपर क्रोध होता है, क्रोधसे क्रमशः सम्मोह, स्मृति-भ्रंशता होकर अन्तमें बुद्धिका नाश हो जाता है। बुद्धिके नाशसे सर्वनाश होना—परमार्थ-पथसे गिरना स्वाभाविक ही है।' इससे सिद्ध है कि क्रोधके पहले कामना और आसक्तिका होना आवश्यक है। जब अर्जुनने कातर कण्ठसे भगवान्‌से पूछा कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥
(३।३६)

'हे भगवन्! यह मनुष्य किसीके द्वारा बलात्कारसे कराये जानेके सदृश न चाहनेपर भी किससे प्रेरित होकर पापाचरण करता है?' तब भगवान् बोले—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(३।३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न काम (ना) ही क्रोध है, यही अग्निके सदृश कभी न तृप्त होनेवाला महान् पापी है, इसे ही तू अपना वैरी जान।' रजोगुणका स्वरूप बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा कि 'रजो रागात्मकं विद्धि'—'रजोगुणको रागात्मक यानी आसक्तिरूप समझो।' इससे यह सिद्ध है कि विषयासक्तिसे कामना होती है और कामनासे क्रोध होता है। निष्काम कर्ममें कामना और आसक्ति नहीं रहती, इसीसे तो वह निष्काम है, अतः जो निष्काम पुरुष है वह क्रोधी नहीं हो सकता। वह लोक-शिक्षाके लिये नाटकवत् कभी क्रोधका-सा कार्य भले ही करे परन्तु उसमें क्रोधरूपी विकार यथार्थमें नहीं रह सकता। ऐसा कामना और आसक्तिका त्यागी पुरुष ही परमात्माका निरन्तर स्मरण करता हुआ परमात्माके लिये सब कार्य करता है, उसीकी मन-बुद्धि परमात्माके अर्पित रहती है और उसीको प्राप्त-कर्तव्य-कर्मोंके करते हुए ही भगवत्प्राप्ति होती है। इसी प्रकारके कर्मका उपदेश अर्जुनको दिया गया था। आज राजनीतिक क्षेत्रमें भी काम करनेवाले सभी पक्षके लोगोंको यही लक्ष्य रखकर कार्य करना चाहिये। मरना, जेल जाना, कष्ट सहना सभी कुछ केवल परमात्माके लिये ही होना उचित है, यदि वह धर्मपालनके निमित्तसे, देश-सेवा या देशकी दुर्दशा मिटानेके निमित्तसे, या दुखी जीवोंकी सेवाके निमित्तसे हो तो और भी उत्तम है। महात्माजीके आदेशानुसार न चलकर कार्यक्षेत्रमें लोग जो ईश्वरके अधिष्ठानको भुला देते हैं, ईश्वर-प्राप्तिके लिये कर्म करनेकी बात तो अलग रही, ईश्वरके अस्तित्व तककी भी अवहेलना कर आसक्ति और कामनावश मनमाना काम कर बैठते हैं, यह उचित नहीं है। काम कैसा ही हो, कर्त्ताको फल उसकी अपनी भावनाके अनुसार ही प्राप्त होगा। भगवान्‌के लिये मरनेवालेको भगवान् और द्वेषके लिये मरनेवालोंको निश्चय ही दुःखोंकी प्राप्ति होगी। महात्माजीके इन शब्दोंको प्रत्येक क्षेत्रमें निरन्तर याद रखना चाहिये। ये शब्द सम्मान्य श्रीमहादेव भाई देसाईजीके पहली बार पकड़े जानेपर कहे गये थे—

'जहाँ महादेव गये हैं, वहाँ मेरा एक-एक साथी चला जाय, तो भी क्या है? मैं अपनेको अकेला मानताही नहीं। मेरा साथी, रक्षक, सलाहकार जो कुछ भी है, एक ईश्वर है। महादेव, स्वामी (आनन्द) या सरदार (श्रीवल्लभ भाई पटेल) के भरोसे अथवा किसी मनुष्यके भरोसे यह जंग नहीं छेड़ा है। अतएव चाहे जितने साथी क्यों न चले जायँ, मैं तो निश्चिन्त हूँ, निर्बलको चिन्ता किस बातकी? बलवान्‌का बल घटाया जा सकता है, पर निर्बलके बलको कौन मिटा सकता है? लेकिन निर्बल होते हुए भी मैं अपनेको बलवान् मानता हूँ, क्योंकि मैं ईश्वरके बलपर जूझता हूँ।'

वास्तवमें बात ठीक है, निर्बलके बल राम हैं ही। जिनको श्रीरामका बल है, भगवान्‌का भरोसा है, जो उन्हींके लिये कार्य करते हैं वे ही तो सत्यके उपासक हैं, वे आसक्तिवश पाप कैसे कर सकते हैं, वे किसीके भी साथ घृणा या द्वेष कैसे कर सकते हैं? हाँ, जो रामके बदले आरामके उपासक हैं, कष्ट सहकर भी जो उसके बदलेमें सुखप्रद विषय-भोग ही चाहते हैं, वेही प्रतिद्वन्द्वीसे घृणा और द्वेष रख सकते हैं और वे ही परिणाममें कष्ट पाते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो महानुभाव देशके लिये जितना भी त्याग करते हैं और कष्ट सहते हैं, वे चाहे किसी भी भावसे वैसा करते हों, एक प्रकारसे तप ही करते हैं और सदा सराहनीय हैं। मुझ-सरीखे कष्ट न सहने-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वालोंको तो वास्तवमें उनकी समालोचना करनेका ही कोई अधिकार नहीं है, परन्तु यहाँ मैं समालोचनाकी दृष्टिसे कुछ लिख भी नहीं रहा हूँ, मेरी तो यह प्रार्थना और भावना है कि यदि सब लोग ईश्वर-प्राप्तिकी कामनासे, ईश्वर-प्रीत्यर्थ, यथासाध्य राग-द्वेषको त्यागकर, घृणाके भावको निकालकर, जय-पराजय और सफलता-असफलताकी चिन्ताको छोड़कर कार्य करें तो भगवान्‌की इच्छानुसार देशका और उनका, दोनोंका ही परम कल्याण हो सकता है। जिनका जितना त्याग है वे तो अवश्य ही उतने अंशमें परम प्रशंसनीय हैं । देखा-देखी या जोशमें आकर तो नहीं, पर जिनका अन्तरात्मा इस कार्यके साथ हो, लेकिन जो भय या स्वार्थवश हटे हुए हों, उन्हें तो आत्माके अमरत्वपर विश्वास कर भय त्यागकर ईश्वर-प्रीत्यर्थ अवश्य ही सानन्द कष्ट सहनेको तैयार हो जाना चाहिये और इस कार्यमें भाग लेकर कर्तव्यका पालन करना चाहिये। जो जितने अंशमें सत्यतापूर्वक सहमत हैं वह उतने ही अंशमें साथ दें। परन्तु अपनी कमजोरियोंको ढँकनेके लिये कभी बहानेबाजी या मिथ्या युक्तिवादका आसरा लेकर आत्माको धोखा न दें। जेलयात्रा या कष्ट-सहनसे बचनेके लिये युक्तियोंका सहारा न लें क्योंकि शरीर-क्लेशके भयसे किये जानेवाले त्यागको भगवान्‌ने राजस त्याग बतलाया है। अवश्य ही जिनका सिद्धान्त इसके अनुकूल न हो, जो यथार्थमें दूसरे सिद्धान्त रखते हों, वे अपनी-अपनी क्रियाओं द्वारा ही परमात्माकी सेवा कर सकते हैं। स्थूल जगत्‌के सर्वथा परस्पर-विरोधी कार्योंमें भी सत्य पथपर डटे रहनेसे दोनोंको ही सत्यकी प्राप्ति हो सकती है। सुधन्वा और अर्जुनकी भाँति दोनों ही भगवान्‌के भक्त हो सकते हैं, परन्तु होना चाहिये यथार्थमें सत्यका आश्रय !

जेलमें गये हुए या अब जिनको जेल जाना पड़े, उन मेरे सम्मान्य भ्राता और मेरी माँ-बहनोंसे भी एक नम्र प्रार्थना है कि वे अपने जेल-जीवनको पवित्र, सात्त्विक और ईश्वरमय बनानेकी यथासाध्य पूरी चेष्टा करें। जेलको परमात्माका आशीर्वाद और परम तप समझें। जेलका समय अपनी-अपनी रुचि, अधिकार, योग्यता और अवकाशके अनुसार अपने-अपने विश्वासके अनुरूप परमात्माके ध्यान-चिन्तन, नाम-जप, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन, प्रणयन और विचार आदिमें ही बितावें। अपने प्रेमपूर्ण बर्तावसे जेलके अधिकारियों और अन्यान्य सहयोगी भाइयोंके हृदयपर अधिकार कर लें। अपने आदर्श आचरणोंसे साधारण कैदी और जेलके कर्मचारियोंके आचरणोंको उन्नत बना दें। लोक-मान्यने जेल-जीवनमें रहकर 'कर्मयोग-रहस्य' के रूपमें हमको कैसी अपूर्व निधि दे दी। महात्माजी प्रतिसप्ताह कैसे सुन्दर उपदेश भेज रहे हैं और अन्यान्य उपयोगी कार्य कर रहे हैं। इन्हीं सब बातोंको आदर्श मानकर जेल-जीवनको पवित्र, शान्त, तपोमय बनाना चाहिये और वहाँसे ऐसे साधनसम्पन्न होकर निकलना चाहिये कि जिसमें वापस आकर और भी उत्साह, दृढ़ता, पवित्रता, शान्ति और प्रेमके साथ देशके या अन्य किसी भी निमित्तसे भगवान्‌की ठोस सेवा कर सकें।

एक बात अहिंसाके सम्बन्धमें भी विचारणीय है। हिंसा मन, वाणी, शरीर तीनोंसे ही होती है और वह कृत, कारित और अनुमोदित इन तीनों रूपोंमें ही की जा सकती है। शरीरसे किसीको पीड़ा पहुँचाना जैसे हिंसा है, वाणीसे पीड़ा पहुँचाना वैसे ही हिंसा है और मनसे किसीका अनिष्ट चिन्तन भी वैसे ही हिंसा है। हम एक आदमीको शरीरसे तो कुछ पीड़ा नहीं देते किन्तु वाणीसे या लेखनीसे उसका अनिष्ट करते हैं। द्वेषपूर्ण नारे लगाते हैं या मनसे बुरा चाहते हैं तो वह भी हिंसा ही है। स्वयं बुरा करना, बुरा कहना या बुरा चाहना जैसे हिंसा है, वैसे ही दूसरेके द्वारा करवाना, कहलाना और दूसरेके द्वारा बुरा होते देखकर उसका मन वाणीसे अनुमोदन करना अथवा किसीके अनिष्टको देखकर प्रसन्न होना भी हिंसा ही है। ऐसी हिंसाओंसे भी ज़रूर बचना चाहिये। ऊँची बात तो यह है कि भगवद्भक्त प्रह्लादकी भाँति मारनेवालोंके लिये भी ईश्वरसे कल्याण-कामना करनी चाहिये और उनकी बुद्धि शुद्ध होनेके लिये परमात्मासे प्रार्थना करनी चाहिये। इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि जगत्‌में कोई भी जीव हमारा द्वेष्य नहीं है, द्वेष्य हैं तो हमारे दुर्गुण हैं और हमारा असंयत चित्त है, उन्हें ही मारनेकी चेष्टा करना उचित है। महात्माजीके इन स्वर्ण-शब्दोंको स्मरण रखना चाहिये कि-

'जब हमारे आदमी मारे जाते हैं तो मेरा दिल नहीं धड़कता, अथवा धड़कता है तो मैं उसे दबा सकता हूँ, परन्तु जब एक भी सहयोगीका खून हो जाता है तब मुझे शर्म मालूम होती है और हमारी उन्नतिमें भय पैदा हो जाता है। × × इस लड़ाईका उद्देश्य वैर बढ़ाना नहीं, वैर घटाना है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि लोग महात्माजीके इन शब्दोंको भुलाकर अपने आचरणोंसे वैर घटानेके बदले बढ़ा लेंगे तो उनका उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। हमारा कोई भी कार्य ऐसा नहीं होना चाहिये जिससे हमारी सात्त्विकता घटे, हमारे महान् उद्देश्य-का आदर्श नीचा हो जाय। जान-बूझकर किसीका अनिष्ट करनेके लिये कुछ भी नहीं करना चाहिये। हमारे सभी काम ऐसे होने चाहिये जिनसे सारे विश्वको सुख मिले। हमारा सुख सभीके सुखका कारण हो। अतएव इस दिशामें भी बहुत ही सावधान रहनेकी आवश्यकता है। मार खाते हुए भी मन, वाणी, शरीरसे मारनेवालोंकी कल्याण-कामना करनी चाहिये। हमारी तपस्या उनकी बुद्धिके शुद्ध होनेके लिये होनी चाहिये, न कि उनके विनाशके लिये! तभी वह सच्ची तपस्या है और तभी हमारा वह कर्म ईश्वरको प्रिय होगा। राजनीतिक क्षेत्रमें इतनी कड़ाईके मौकेपर मानसिक सहिष्णुता कम होकर राग-द्वेष उत्पन्न हो जाना बहुत ही सहज है। समालोचना करना या उपदेश देना जितना सहज है, अन्याययुक्त लाठियाँ या गालियाँ सहते हुए मनसे उनका कल्याण चाहना और उनके प्रति मनमें द्वेषको स्थान न देना उतना ही कठिन है। यह बात मैं खूब समझता हूँ तथापि शुद्ध आदर्श तो हमें अपने सामने रखना ही चाहिये। इसी क्षेत्रमें क्यों, प्रत्येक क्षेत्रमें ही, इन्द्रियोंके प्रत्येक अर्थमें ही, रागद्वेषरूपी लुटेरे तो हमारे हृदयसे परमेश्वरके लक्ष्यरूपी परमधनको—ज्ञानको लूटनेके लिये तैयार रहते ही हैं, हमें सर्वदा सर्वत्र ही उनसे बचनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्ने कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(३-३४)

'राग-द्वेष प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें स्थित हैं, इन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये। ये दोनों ही कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।' जो रागद्वेषसे बचकर, मन और इन्द्रियोंको वशमें करके संसारके विषयोंको भोगता है उसीका अन्तःकरण प्रसादको प्राप्त होता है। अतएव हम किसी भी कार्यको करें, चाहे वह धर्मका हो, देशका हो, समाजका हो या व्यक्तिगत हो, यदि वह राग-द्वेष-रहित ईश्वरार्थ होता है तो वही मुक्तिका कारण बन जाता है। इसी बातको ध्यानमें रखकर सभी क्षेत्रोंमें लोगोंको अपने प्राप्त-कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

परन्तु यह जान रखना चाहिये कि न तो सबके सिद्धान्त एक-से होते हैं और न सब एक-सा काम ही कर सकते हैं। सिद्धान्त-भेदसे मनुष्यकी ईमानदारीमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। जो सच्चे हृदयसे जिस बातको धर्म समझता है उसे वही करना चाहिये और उसीमें उसका कल्याण निहित है। भगवत्की प्राप्तिमें मुख्य भाव है, कार्य नहीं।

यह तो हुई वर्तमान आन्दोलनके साथ परमार्थके सम्बन्धकी बात। जो कतिपय इस आन्दोलनमें शरीक और कुछ बाहरके प्रेमी मित्रोंके अनुरोधवश प्रसङ्गोपात्त कहनी पड़ी हैं।

अब लेखके मूल विषय खादीपर कुछ शब्द निवेदन करने हैं। खादी इस समय राजनीतिक आन्दोलनमें शामिल है, पर वास्तवमें यह केवल राजनीतिक ही नहीं है, इसका सम्बन्ध तो सदाचार, वैराग्य और ईश्वर-भक्तिसे विशेष है। राजनीतिक दृष्टिसे नहीं, मैं तो अपने विश्वासके अनुसार शुद्ध धार्मिक दृष्टिसे ही खादीका व्यवहार करनेके लिये कल्याणके सभी पाठक-पाठिकाओंसे प्रेमपूर्वक अनुरोध करता हूँ।

इस समय खादीके सिवा ऐसा कोई वस्त्र नहीं है जो इससे ज्यादा पवित्र हो या जिसमें कम हिंसा होती हो। विलायती और मिलके कपड़ोंमें चरबी लगती है, जिससे अपवित्रता और हिंसा दोनों ही सिद्ध है। रेशमी वस्त्रोंको प्राचीन कालमें शुद्ध मानते थे, पर अब तो रेशम बनानेमें ही असंख्य जीव उबलते हुए जलमें डाले जाते हैं। इससे रेशम भी अपवित्र और हिंसामय है। ऊनी कपड़े इस गर्म देशमें हमेशा लोग पहन नहीं सकते। परन्तु खादी उपर्युक्त दोनोंकी अपेक्षा पवित्र और हिंसारहित है। पवित्रताका असर मनपर होता है जिससे भगवान्में मन लगता है।

खादी पहनते ही सादगी आ जाती है, शौकीनी छूटते ही अनेक दोष आप ही चले जाते हैं। कपड़ेका खर्च कम हो जाता है। खादीमें ज्यादा बानगी नहीं होती; अनेक बानगी होनेसे ही लोग बिना प्रयोजन अधिक कपड़े खरीदकर पेटियाँ भर लेते हैं। परन्तु खादी पहननेसे यह दोष दूर हो जाता है, खादीके स्वाभाविक ही मोटी होनेसे बेशर्मी दूर होती है और सहज ही वैराग्य बढ़ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सदाचार तो इसमें आ ही गया। पवित्रता, सादगी और सदाचारके मिल जानेसे एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जो परमार्थमें बड़ी सहायता करती है।

इसके सिवा खादीमें सबसे बड़ी बात है गरीब-भूखोंकी सेवा और देशकी संस्कृतिका बदल जाना। आज करोड़ों स्त्री-पुरुष कार्यके अभावसे अन्न-वस्त्र नहीं पाते। देश खादी पहनने लगे तो पींजने, कातने, बुनने आदिमें लगकर करोड़ों गरीब भाई-बहन सुखी हो सकते हैं। घरसे कुछ दिये बिना ही बड़ा दान और विराट्‌रूप भगवान्‌की पूजा हो जाती है। और साथ ही परमुखापेक्षी जनता स्वावलम्बन सीखकर सुखी हो सकती है।

इसप्रकार खादीमें पवित्रता, अहिंसा, सादगी, स्वावलम्बन, सदाचार, वैराग्य, दान और भगवान्‌की पूजारूप परमार्थ भरा है, अतएव सभी भाई-बहनोंको खादी ज़रूर ही पहननी चाहिये। परन्तु यह भी करना चाहिये ईश्वरको स्मरण करते हुए ईश्वरके लिये ही। भगवान्‌के इन शब्दोंको कभी नहीं भूलना चाहिये—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

हे अर्जुन! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तपस्या करता है वह सब मेरे ही अर्पण कर।

गीता-जयन्ती
या
शक्तिका सन्देश*

(लेखक—साधु श्री टी० एल० वास्वानीजी)

सोमवारको गीता-जयन्तीकी पुण्यतिथि है। इसी तिथिको, पाँच हजार वर्ष पूर्व, भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको परम ज्ञान प्रदान किया था; हमारे आप्त ग्रन्थोंमें इसका स्पष्ट उल्लेख आता है। एक फ्रेंच लेखकने यथार्थ ही कहा है कि—'वह जाति धन्य है जिसमें वीर-पूजाका स्रोत प्रवाहित होता रहता है।' राष्ट्रकी शक्ति वीरपूजामें ही निहित रहती है। भगवान् श्रीकृष्णने कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें गीता प्रदान की थी। क्या हमलोग जीवनके युद्ध-क्षेत्रमें नहीं हैं? भगवान्‌ने अर्जुनको गीताकी शिक्षा दी थी और अर्जुनमें नवयुवकोंका उत्साह था। गीता नवयुवकोंका धर्मशास्त्र है। गीता जिस सन्देशकी बार-बार घोषणा करती है, वह है शक्तिका सन्देश। भारतवर्षको आज इसी शक्तिकी आवश्यकता है। कोमलताने हिन्दुओंको निर्जीव बना दिया है। जब अर्जुनने कहा—'मैं नहीं लड़ूँगा।' तब भगवान् इन कड़े शब्दोंमें, हँसते हुए बोले—'हे अर्जुन! यह तुम्हारी दुर्बलता है। उठो और अपना कर्तव्य करो!' आध्यात्मिकता गतिशील होती है, धर्म संसारसे युद्ध करना नहीं है वह तो कर्तव्यका सन्देश है। गीता कर्म-शास्त्रका उद्घाटन करती है। जिसका सार है—'जीवनसे भागो मत, युद्धभूमिमें डटे रहो। कायर मत बनो, सत्य और परमार्थके लिये सिपाही बनो।'

आदर्शके सैनिकोंकी—इसप्रकारके स्त्री-पुरुषों की सब जगह आवश्यकता है जो भगवान् श्रीकृष्णकी सेनाके सिपाही बनकर दोषोंसे युद्ध करें। सबसे बड़ा दोष दीनोंकी दासता है। क्या हम वस्तुतः गीता-जयन्तीका उत्सव मनाना चाहते हैं? तब तो हमें दीनोंके प्रति एक नवीन पूज्य भावनाका अपनेमें सञ्चार करना होगा। धर्म जीवन है। गीताका सन्देश जीवनका—सनातन और अमर आत्माके जीवनका सन्देश है जिसका देश-कालके परदेमें कर्तव्य-कर्म सम्पादनके लिये आह्वान हुआ है।

* यह लेख कल्याणके गतांकके प्रकाशित होनेके बाद पहुँचा, इसीसे गीता-जयन्तीके पहले नहीं छप सका। सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामनामके सम्बन्धमें

महात्माजीका सन्देश

यरोडामंदिर
४:११:३०.

रामनामका चमत्कार
सबको प्रतीत नहिं होता
है क्यों कि वह हृदयसे
निकलना चाहीये. कंठसे तो
तोता भी निकालता है परंतु
जो मनुष्य भावपूर्वक कंठसे
रामनाम निकालता रहेगा
उसको लिये आशा रखी जा
सकती है कि वह सुवर्ण मंत्र
कंठको नीचे जाकर हृदयमें
प्रवेश करेगा. मोहनदासगांधी

यरोडा मंदिर
४।११-३०

रामनामका चमत्कार सबको प्रतीत नहीं होता है क्योंकि वह हृदयसे निकलना चाहिये। कंठसे तो तोता भी निकालता है। परन्तु जो मनुष्य भाव-पूर्वक कंठसे रामनाम निकालता रहेगा उसके लिये आशा रखी जा सकती है कि वह सुवर्ण मन्त्र कंठके नीचे जाकर हृदयमें प्रवेश करेगा।

मोहनदास गाँधी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक-वाटिका

जिनके राग, भय और क्रोधका नाश हो गया है तथा जो वेदके ज्ञानमें निपुण है ऐसे मुनिगण ही कल्पनासे रहित और सर्व प्रपञ्चोंसे रहित अद्वयरूप आत्माको देखते हैं।

—उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

जो पुरुष नष्ट होनेवाले समस्त चराचर भूतोंमें नाशरहित परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है वही यथार्थ देखता है।

—श्रीमद्भगवद्गीता

* * * *

मनुष्य सोता हो या बैठा हो, मृत्यु उसे खोजती ही रहती है और मौका पाते ही उसका नाश कर डालती है, फिर तू निश्चिन्त कैसे बैठा है?

—महाभारत

❀ ❀ ❀ ❀

जिस दलमें बहुतसे नेता हों, सभी अपनी-अपनी पण्डिताईका अभिमान रखते हों और सभी बड़ा बनना चाहते हों वह दल बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है।

—भगवान् व्यासदेव

* * * *

जिस मनुष्यने जन्म लेकर अपना और दूसरेका कल्याण किया और तत्त्व-ज्ञानको प्राप्त कर लिया उसीका जीवन सार्थक है।

—शङ्कराचार्य

❀ ❀ ❀ ❀

पुरुषके लिये श्रद्धा ही श्रेष्ठ धन है, धर्म ही अनन्त सुख देनेवाला है, सत्य ही परम स्वादिष्ट पदार्थ है और प्रज्ञासे जीवन-निर्वाह करनेवाला ही श्रेष्ठ जीवन है।

—बुद्धदेव

* * * *

जो सत्यपर कायम है वह परमेश्वरकी ज्योतिके समीप जाता है और जो बुराई करता है वह उस ज्योतिका शत्रु है। अतएव बुराई छोड़ो और सचपर डटे रहो।

—ईसा

❀ ❀ ❀ ❀

जो मनुष्य अपने क्रोधको अपने ही ऊपर झेल लेता है वह दूसरोंके क्रोधसे बच जाता है।

—सुकरात

* * * *

दुनिया और दुनियाकी सब चीजें नाश होनेवाली हैं, पता नहीं रातको ही सब नष्ट हो जायँ। इसलिये इनमें दिलको फँसाना कभी उचित नहीं।

—अरस्तू

❀ ❀ ❀ ❀

जैसे जलके बिना नाव करोड़ यत्न करनेपर नहीं चल सकती, इसी प्रकार सहज सन्तोष बिना कभी शान्ति नहीं मिलती।

—तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

जो झूठ नहीं बोलता, परनिन्दा नहीं करता, सद्गुणोंको धारण करता है, सबसे निर्वैर है, सबमें समभावसे आत्माको देखता है और हरिके चरणोंका प्रेमी है वही साधु है।

—दादूजी

❀ ❀ ❀ ❀

देवतालोग जबतक उन्हें अमृत नहीं मिला, तबतक न तो अमूल्य रत्नोंको पाकर ही तृप्त हुए और न भयानक जहरसे ही डरे, समुद्र मथनेमें लगे ही रहे। इसी प्रकार धीर पुरुष अपने उद्देश्यको सिद्ध किये विना विश्राम नहीं लेते।

—भर्तृहरि

❀ ❀ ❀ ❀

सच्चा भक्त जगत्में रहता हुआ भी रागद्वेष छोड़कर कर्तव्य-कर्म करता है और कर्मके फलस्वरूप जो नफा-नुकसान या सुख-दुःख मिलता है उसे ईश्वरकी गोदमें अर्पण कर देता है। वह तो रात-दिन केवल भक्तिके लिये ही ईश्वरसे प्रार्थना करता है। निष्कामकर्म इसीको कहते हैं।

—रामकृष्ण परमहंस

* * * *

जो मनुष्य संसारकी तरफ वासनाकी नजरसे देखा करता है, उसके अन्तःकरणमेंसे ईश्वरप्रेम, दीनता और वैराग्यकी ज्योति निकल जाती है।

—अहमद हैयारी

❀ ❀ ❀ ❀

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीहरिः

कल्याणके प्रेमी ग्राहकों

और

पाठकोंसे निवेदन

आप लोग जानते हैं कि 'कल्याण' आप लोगोंसे जितने पैसे लेता है—कम-से-कम उतने-का माल तो आपकी सेवामें दे ही देता है। किसी साल खर्च ज्यादा लग जाता है तो घाटा भी रह जाता है। गत वर्षके १० वें अङ्क में यह सूचना छपी थी कि इस सालका सारा स्टाक बिक जानेपर भी प्रायः तीन हजारका घाटा रहेगा। तदनुसार सारा स्टाक बिकनेपर भी कुछ घाटा तो रहेगा ही। परन्तु अभी तो स्टाक भी सारा नहीं बिक सका है। स्टाकमें प्रधानतः तीसरे वर्ष और चौथे वर्षके मिलाकर लगभग २००० फाइल हैं। जिसमें लगभग १३०० तो तीसरे वर्षके हैं। इसी फाइलमें भक्ताङ्क भी शामिल है। इसमें कुल ११२८ पृष्ठ हैं, जिनमें करीब ४०० सौ से ऊपर लेख हैं और ७२ सुन्दर चित्र हैं। चौथे वर्षके फाइलमें प्रसिद्ध 'गीताङ्क' साथ है। हम 'कल्याण' के लगभग चौदह हजार ग्राहकों और हजारों पाठकोंसे यह अपील करते हैं कि वे चेष्टा करके इन फाइलोंको जल्दी-से-जल्दी बिकवा दें। चौदह हजार ग्राहकोंमें दस पीछे एक फाइल बिकवानेसे भी चौदह सौ फाइल तो सहजमें बिक सकते हैं। कल्याणकी फाइल निकम्मी चीज नहीं है, चार रुपये दो आनेमें पीढ़ियों तक उपकार करने-वाली स्थायी साहित्य है। क्या कल्याणके प्रेमी ग्राहक और पाठक इस अपीलपर ध्यान देकर इतना-सा काम कर देंगे? हमारा तो विश्वास है कि यदि ग्राहक और पाठक महोदय चेष्टा करें तो एक ही महीनेमें सब फाइलें बिकवा कर 'कल्याण'की सहायता कर सकते हैं। इसमें दो लाभ हैं-एक तो कल्याणकी सहायता होगी और दूसरे जिनके घर यह साहित्य जायगा, पढ़नेसे उनका बड़ा उपकार होगा। इस दुहरी सेवाके लिये कल्याणके प्रेमी पाठक-पाठिकाओंको तन-मनसे सहायता करनी चाहिये। मूल्य ४≈) बिना जिल्द डाकमहसूल सहित, जिल्दके दाम अलग।

'कल्याण' किसी व्यापारिक उद्देश्यसे प्रकाशित नहीं होता। यह तो ग्राहकों और पाठकोंकी अपनी चीज़ है। इस हालतमें ग्राहकों और पाठकोंका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे इसकी सहायता करें। इसी भरोसे हम यह अनुरोध करनेका साहस करते हैं। ग्राहकोंकी थोड़ी-सी चेष्टा भी कल्याणके इस कार्यको पूरा कर सकती है।

मैनेजर 'कल्याण'
गोरखपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

(मणि ९)

मधु-विद्याका वर्णन करके अब श्रुति भगवती गायत्रीका निरूपण करती है। यह चराचर सब जगत् गायत्री ही है, क्योंकि गायत्रीका कारण शब्द-रूप वाणी है। गायत्रीका कारणरूप वाणी ही—यह गौ है, यह घोड़ा है, इसप्रकार—सब भूतोंका वर्णन करती है और भयसे रक्षा करती है। वाणी और गायत्री कार्य-कारण-रूप हैं, इन दोनोंमें भेद नहीं है, इसलिये वाणी जो कुछ कहती और रक्षा करती है वह मानो गायत्री ही कहती और रक्षा करती है। गायत्री सर्वभूतरूप है, इसलिये यह पृथिवी गायत्री ही है। सब प्राणी इस पृथिवीके आश्रयसे स्थित हैं। पृथिवीके आश्रयको त्यागकर कोई भी स्थित नहीं रह सकता, इसलिये सब प्राणियोंके सम्बन्धसे गायत्री पृथिवी है। जो यह प्रसिद्ध पृथिवीरूप गायत्री है, यही वह है, जो इस पुरुषमें शरीर है। भूत नामक प्राण इस शरीरमें स्थित हैं और ये प्राण इस शरीरको छोड़कर नहीं रह सकते। इसलिये सर्वभूतरूप प्राणोंके सम्बन्धसे गायत्री हृदय है। पुरुषमें यह जो गायत्रीरूप शरीर है, यही पुरुषके शरीरके भीतरका हृदय है, क्योंकि इस हृदयमें प्राण और सब इन्द्रियाँ स्थित हैं और वे इस हृदयकमलको त्यागकर नहीं रह सकतीं। इसलिये सर्वभूतरूप प्राणोंके सम्बन्धसे गायत्री हृदय है। गायत्रीका ध्यान बतानेके लिये श्रुति कहती है—यह गायत्री छन्दरूप है। इस छन्दरूप गायत्रीके चार पाद हैं, प्रत्येक पादमें छः अक्षर हैं इसलिये वाणी, भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय और प्राण-भेदसे गायत्री छः प्रकारकी है। इस गायत्रीसे लक्षित ब्रह्मका चिन्तन करना चाहिये, यही बात आगेके मन्त्रोंमें दिखलायी गयी है—

इस गायत्रीरूप ब्रह्मके जो चार पाद और छः भेद कहे हैं, यह सब ब्रह्मकी विभूतिका विस्तार है। इस गायत्रीकी विभूति, पुरुष अति महान् है, सब लोक इस पुरुषका एक पाद है और इस पुरुषके अमृतरूप तीन पाद स्वर्गलोकमें यानी प्रकाशमय आत्मस्वरूपमें स्थित हैं। गायत्री-अवच्छिन्न ब्रह्मको हृदयाकाशमें उपास्यरूपसे दिखलानेके लिये श्रुति बाह्य आकाशादिका हृदयाकाशसे अभेद दिखलाती है:—अमृतरूप तीन पादवाला ब्रह्म जो गायत्री-द्वारा कहा गया है, वह यही ब्रह्म है जो पुरुषके बाहर बाह्य इन्द्रियोंका विषय जाग्रतादि स्थानरूप महाकाश है और पुरुषके शरीरके भीतर जो आकाश है, वह भी यह ब्रह्म ही है, यानी आन्तर इन्द्रियोंका विषयभूत स्वप्न-स्थानरूप शरीराकाश भी ब्रह्म ही है। इन्द्रियोंका अगोचर पुरुषके हृदयके भीतर वर्तमान सुषुप्त स्थानरूप जो हृदयाकाश है, वह भी यह ब्रह्म ही है। यह ब्रह्म पूर्ण है और जन्म-नाशसे रहित है। जो ब्रह्मको ऐसा जानता है, वह पूर्ण और अविनाशी ऐश्वर्यको पाता है। इति बारहवाँ खण्ड।

ब्रह्मकी उपासनाके अंगभूत द्वारपाल प्राणकी उपासना श्रुति कहती है:—प्राण और आदित्य आदि देवताओंसे रक्षित परमात्माकी प्राप्तिके द्वाररूप पाँच छिद्र इस हृदयमें स्थित हैं. परमात्माके स्थानरूप इस हृदय-कमलका पूर्व दिशाका जो छिद्र है, उसमें जो स्थित है, वह प्राण है, यानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो वायु हृदयके पूर्वके छिद्रसे चलता है, वह प्राण कहलाता है। प्राणका और चक्षुका सम्बन्ध है। चक्षुका अधिष्ठाता आदित्य है। प्राण परमात्माका द्वारपाल है इसलिये जिसको परमात्माकी प्राप्तिकी अभिलाषा हो, उसको इस प्राणको तेजस्वरूप और अन्न भक्षण करनेवाला जानकर इस प्राणकी उपासना करनी चाहिये। जो ऐसा जानकर उपासना करता है, वह तेजस्वी और अजीर्ण रोगसे रहित होता है। प्राण, चक्षु और सूर्यका परस्पर सम्बन्ध है, इसलिये उपासनाके लिये इन तीनोंका अभेद कहा है। यही बात आगेके मन्त्रोंसे समझनी चाहिये। प्राणका उपासक तेजस्वी और अजीर्ण रोगसे रहित होता है, यह उपासनाका गौण फल है। मुख्य फल यह है कि उपासनाद्वारा वशमें किया हुआ प्राणरूप द्वारपाल परमात्माकी प्राप्तिका हेतु होता है, इसी प्रकार गौण और मुख्य फल आगेके मन्त्रोंमें भी समझना चाहिये। इस हृदयके दक्षिणकी ओरका जो द्वार है, उसमें स्थित जो वायु है, वह व्यान है, वही श्रोत्र है, वही चन्द्रमा है। व्यान विभूतिरूप और कीर्तिरूप है, ऐसा जानकर व्यानकी उपासना करे। जो ऐसा जानकर व्यानकी उपासना करता है, वह श्रीमान् और कीर्तिमान् होता है। इस हृदयकी पश्चिम दिशाका जो द्वार है, उसमें रहनेवाला जो वायु है, वह अपान है, वही वाणी है, वही अग्नि है। जो इस अपानको स्वाध्यायसे उत्पन्न हुआ, तेजस्वरूप और अन्नको भक्षण करनेवाला जानकर उपासना करता है, वह स्वाध्यायसे उत्पन्न हुए ब्रह्म-तेज-वाला और प्रदीप्त जठराग्निवाला होता है। इस हृदयकी उत्तर दिशाका जो द्वार है, उसमें जो वायु स्थित है, वह समान है, वही मन है, वह वृष्टिका देवता पर्जन्य है, ऐसे इस समानको यश और कान्तिरूप जानकर उसकी उपासना करे। जो ऐसा जानकर समानकी उपासना करता है, वह कीर्तिमान् और कान्तिमान् होता है। इस हृदयके ऊपरका जो द्वार है, उसमें रहनेवाला जो वायु है, वह उदान है। वही वायु है, वही आकाश है। उदान-वायु मनोबल और ज्ञानेन्द्रियोंका बल है, ऐसा जानकर उदानकी उपासना करे। जो ऐसा जानकर उदानकी उपासना करता है, वह मनका बल और ज्ञानेन्द्रियोंका बल पाता है। इस प्रसिद्ध हृदयमें जो पाँच प्राणरूप परमात्माके पाँच पुरुष हैं, ये पाँचों स्वर्गलोकके द्वारपाल हैं। जो इन पाँच ब्रह्म पुरुषोंको स्वर्गलोकके द्वारपाल जानकर इनकी उपासना करता है, उसके कुलमें वीर पुरुष उत्पन्न होता है और वह स्वर्गलोकको पाता है। जबतक चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन और प्राण बहिर्मुख-प्रवृत्ति वाले होते हैं, तबतक हृदयमेंके ब्रह्मकी प्राप्तिके द्वार इनसे ढके रहते हैं और जब ये चक्षु आदि समाधि आदिद्वारा विषयोंसे हटकर अन्तर्मुख हो जाते हैं, तब हृदयमेंके ब्रह्मकी प्राप्तिके द्वार खुल जाते हैं। इसलिये इनको द्वारपाल कहा है।

इस स्वर्गसे ऊपर जो परम ज्योति प्रकाशित है, वह परम ज्योति इस सब संसारसे ऊपर है, उससे कोई उत्तम नहीं है। जो परम ज्योति सत्यलोकादि उत्तम लोकोंमें प्रकाशित है, वही परम ज्योति इस पुरुषके शरीरके भीतर है। उस परम ज्योतिका स्पर्शसे इसप्रकार ज्ञान होता है, कि जब कोई शरीरका स्पर्श करता है तो उसको उष्णताका ज्ञान होता है। उष्णताके जाननेसे शरीरमें जीवका सद्भाव जाना जाता है, इसप्रकार उष्णता परमात्मा तथा जीवका लिङ्ग है। वह परम ज्योति श्रवणसे इस-प्रकार जाना जाता है कि जब पुरुष ज्योतिके लिङ्गको सुनना चाहे तो दोनों अंगुलियोंसे दोनों कानोंको बन्द करे। ऐसा करनेसे रथके घोषके समान, बैलके रँभानेके समान और जलते हुए अग्निके शब्दके समान शरीरके भीतर शब्द सुनायी देता है, यही परम ज्योतिके सुननेका लिङ्ग है। जो इस ज्योतिको दृष्ट यानी त्वचा, नेत्रसे अनुभव किया हुआ मानकर तथा श्रुत यानी कानोंसे सुना हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानकर इस ज्योतिकी उपासना करता है, वह दर्शनीय और प्रसिद्ध होता है। इति तेरहवाँ खण्ड।

प्रतीकद्वारा ब्रह्मकी उपासना कहकर अब प्रतीकरहित सगुण-ब्रह्मकी उपासना श्रुति कहती है—यह सब नामरूपात्मक जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, क्योंकि यह जगत् ब्रह्ममेंसे ही उत्पन्न हुआ है, ब्रह्ममें ही लय होगा और ब्रह्ममें ही स्थित है। यह सब ब्रह्म ही है, इसलिये राग-द्वेष आदिसे रहित होकर उस ब्रह्मकी आगे कहे हुए गुणोंसे उपासना करे। ऐसा ही है, इससे अन्य प्रकारका नहीं है, ऐसी अविचल वृत्ति रक्खे, क्योंकि जीव निश्चय रूप है। इस शरीरमें जैसा निश्चयवाला जीव रहेगा, वैसा ही इस शरीरके त्यागनेके बाद हो जायगा। इसप्रकार निश्चयके अनुसार फल होता है, इसलिये पुरुषको आगे कहा हुआ निश्चय रखना चाहिये। मनसे परमात्मा मनन करता है इसलिये परमात्मा मनोमय है, परमात्माका ज्ञान क्रिया शक्तिवाला प्राणरूप लिङ्ग शरीर है इसलिये परमात्मा प्राणशरीर कहलाता है। परमात्मा भा-रूप यानी चेतनस्वरूप है। परमात्माका कोई संकल्प निष्फल नहीं होता, इसलिये परमात्मा सत्य-संकल्प है, आकाश स्वरूपवाला होनेसे परमात्मा आकाशात्मा है। सब जगत् परमात्माका कर्म है, इसलिये परमात्मा सर्वकर्मा है। परमात्माकी सब कामनाएँ दोषरहित हैं इसलिये परमात्मा सर्वकाम है। सब पवित्र गन्ध परमात्माकी हैं इसलिये परमात्मा सर्वगन्ध है। सब सुख करनेवाले रस परमात्माके हैं इसलिये परमात्मा सर्व-रस है। परमात्मा इस सब जगत्‌में व्याप्त है, वाणी आदि सब इन्द्रियोंसे रहित है और आप्त-काम होनेसे किसी वस्तुकी प्राप्तिमें आदर—अपेक्षा करनेवाला नहीं है। यह मेरे हृदयके भीतर वर्तमान आत्मा व्रीहिसे, जौसे, सरसोंसे, समेसे और समेके तण्डुलसे भी अति ही सूक्ष्म है। कोई शंका करे कि तब तो आत्मा अणु-परिमाणवाला हुआ, इस भावको हटानेके लिये कहते हैं कि यह हृदयके भीतर वर्तमान मेरा आत्मा पृथिवीसे भी बड़ा है, अन्तरिक्षसे भी बड़ा है, स्वर्गसे भी बड़ा है और सब लोकोंसे भी बड़ा है, सकल कर्मवाला, दोषरहित सर्व कामनावाला, सुखकारी सर्व गन्धवाला, सुखदायक सकल रसोंवाला, सबमें व्याप्त, वाणीरहित, और किसीसे आदरकी अपेक्षा न रखनेवाला यह मेरा आत्मा हृदयके भीतर विद्यमान है। यह ब्रह्म है, शरीरसे वियोग होनेके पश्चात् इस ब्रह्मको मैं अवश्य ही प्राप्त होने-वाला हूँ। जिसका ऐसा निश्चय हो गया है, और जिसको इस निश्चयके फलमें सन्देह नहीं है, वह विद्वान् अवश्य ही ब्रह्म-भावको प्राप्त होता है, यह शाण्डिल्य-ऋषिका कथन है। इति चौदहवाँ खण्ड।

ऊपर कहा है कि उसके कुलमें वीर उत्पन्न होता है। पुत्रकी दीर्घायु सिद्ध करनेके लिये अब कोश-विज्ञान कहते हैं—जिसमें अन्तरिक्ष ही छिद्र है, पृथिवी जिसकी मूलहै, ऐसा यह कोश—भण्डार हजार युगों तक जीर्ण नहीं होता। प्रसिद्ध सब दिशाएँ इस कोशके कोने हैं, स्वर्गलोक इस कोशका ऊपरका छिद्र है, ऐसा यह कोश वसुधान है, यानी इसमें प्राणियोंका कर्मफलरूप धन सुरक्षित रहता है, इसमें साधनों सहित सर्व कर्म-फल स्थित है। कर्मकाण्डी पूर्व दिशाकी तरफ मुख करके होम करते हैं इसलिये इस कोशकी पूर्व दिशाका नाम जुहू है, यमपुरीमें गये हुए पुरुष दक्षिण-दिशामें पापकर्मोंका फल भोगते हैं, इसलिये इस कोशकी दक्षिण-दिशाका नाम सहमाना है। पश्चिम-दिशामें सायंकालके समय राग यानी लालिमाका योग होता है इसलिये उस कोशकी पश्चिम-दिशाका नाम राज्ञी है। उत्तर-दिशामें महेश्वर और कुवेर आदिकी प्रभुता है, इसलिये उस कोशकी उत्तर दिशाका नाम सुभूता है। वायु इन दिशाओंका वत्स है। पुत्रका दीर्घ जीवन चाहनेवाला जो इस-प्रकार वायुको सब दिशाओंका वत्स और अमृत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप जानकर उपासना करता है, वह पुत्रके लिये रुदन नहीं करता, यानी उसके पुत्रका उसके जीते-जी मरण नहीं होता। उपासकको इसप्रकार प्रार्थना करनी चाहियेः—मैं पुत्रका दीर्घजीवन चाहता हूँ, और मैं इस वायुको दिशाओंका वत्स तथा अमृत जानकर वायुकी उपासना करता हूँ, इसलिये मुझे पुत्रके लिये रुदन न करना पड़े। मैं पुत्रकी आयुके लिये अमुकके अमुकके अमुकके यानी अमुक नामवाले पुत्रके साथ अविनाशी कोश-रूप पुरुषका आश्रय लेता हूँ। अमुकके अमुकके अमुकके साथ प्राणका आश्रय लेता हूँ। अमुकके अमुकके अमुकके साथ भूलोकका आश्रय लेता हूँ। अमुकके अमुकके अमुकके साथ भुवर्लोकका आश्रय लेता हूँ। अमुकके अमुकके अमुकके साथ स्वर्लोकका आश्रय लेता हूँ। मैं प्राणका आश्रय लेता हूँ, ऐसा जो मैंने कहा है, उसका कारण यह है कि यह सब चराचर विश्व प्राण ही है, इसीलिये मैंने प्राणकी शरण ली है। मैं भूलोकका आश्रय लेता हूँ, ऐसा जो मैंने कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि भूलोकद्वारा मैं पृथिवीकी शरण हूँ, अन्तरिक्षकी शरण हूँ और स्वर्गकी शरण हूँ। मैं भुवर्लोककी शरण लेता हूँ, ऐसा जो मैंने कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि मैं अग्निकी शरण लेता हूँ, वायुकी शरण लेता हूँ और आदित्यकी शरण लेता हूँ। मैं स्वर्लोकका आश्रय लेता हूँ, ऐसा जो मैंने कहा है, उसका आशय यह है कि मैं ऋग्वेदकी शरण लेता हूँ, यजुर्वेदकी शरण लेता हूँ और सामवेदकी शरण लेता हूँ। इति पन्द्रहवाँ खण्ड।

पुत्रके फलके साथ पिताका भी सम्बन्ध है, इसलिये पिता भी दीर्घायुवाला होवे, इसकी सिद्धिके लिये दूसरी उपासना कहते हैं—पुरुष ही यज्ञ है। पुरुषकी आयुके पहले चौबीस वर्षोंका पुरुषका प्रातःसवन है यानी प्रातःकालका यज्ञ-कर्म है क्योंकि गायत्री चौबीस अक्षरोंवाली है और गायत्रीके सम्बन्धवाला प्रातःकालका यज्ञ-कर्म है। प्रातःकालके बाह्य यज्ञके समान इस पुरुष-यज्ञके वसु स्वामीरूपसे अनुगत हैं। यहाँ अग्नि आदि वसु नहीं हैं, किन्तु वाक् आदि इन्द्रियाँ और वायु-रूप प्राण ही वसु हैं, क्योंकि ये प्राण ही सब प्राणियोंके समूहको वास कराते हैं। पुरुषकी आयुके इन चौबीस वर्षोंके भीतर यदि कोई प्राणान्तकारी रोग उत्पन्न हो जाय तो वह इस मन्त्रका पाठ करता हुआ इसप्रकार प्रार्थना करे—हे प्राणरूप वसुओ! यह मेरी प्रातःसवनरूप प्रथम आयु है, इससे मध्यदिन-सवनरूप मध्यम अवस्था पर्यन्त रक्षा कीजिये। मैं प्राणरूप वसुओंमें यज्ञ रूप हूँ, मैं उन प्राणोंसे अलग न होऊँ। इसप्रकार प्रार्थना करनेसे उस प्राणान्तकर दुःखसे मुक्त होकर अवश्य ही नीरोग हो जाता है।

जो इस पुरुषकी आयुके दूसरे चवालीस वर्ष हैं, वे मध्यदिनका यज्ञ-कर्म हैं, क्योंकि त्रिष्टुप् चवालीस अक्षरवाला है और मध्य दिनके यज्ञ-कर्मका त्रिष्टुप्से सम्बन्ध है। इसके उस मध्य दिनके यज्ञकर्मके अनुगत स्वामी रुद्र हैं। यहाँ पूर्वोक्त प्राण ही रुद्र हैं, क्योंकि ये प्राण क्रूर होनेके कारण उस अवस्थामें सबको रुलाते हैं। यदि पुरुषकी आयुके दूसरे भाग चवालीस वर्षके भीतर किसी प्राणघातक रोगका दुःख आ पड़े तो इस मन्त्रका पाठ करता हुआ इस-प्रकार प्रार्थना करे—हे प्राणरूप रुद्रगणो! यह मेरी मध्यदिन-सवनरूप मध्यम अवस्था है, मेरी तृतीय सवनरूप अन्तिम अवस्थापर्यन्त रक्षा कीजिये, मैं प्राणरूप रुद्रोंमें भगवद्यज्ञ हूँ, मैं लुप्त न होऊँ। ऐसी प्रार्थना करनेसे प्राणान्तकर दुःखसे पार होकर नीरोग हो जाता है।

पुरुषकी आयुके तीसरे अड़तालीस वर्षको यानी एक सौ सोलह वर्षकी आयुपर्यन्तके समय-को तृतीय सवन कहते हैं। तृतीय-सवन सम्बन्धी स्तोत्र आदिका जगती छन्द है। जगती छन्दमें अड़तालीस अक्षर होते हैं। तृतीय सवनके स्तोत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिका जगती छन्द होनेसे तृतीय सवनका नाम जागत् है। तृतीय सवनके देवता आदित्य हैं, यह देवता तृतीय सवनके अनुगत स्वामी हैं। ये सब प्राण ही आदित्य हैं, क्योंकि शब्दसमूह आदि सबको प्राण ग्रहण करते हैं, इसीलिये प्राण आदित्य कहलाते हैं। पुरुषकी आयुके इस तीसरे भाग अड़तालीस वर्षके भीतर यानी एक सौ सोलह वर्षसे पहले यदि कोई प्राणघातक रोग उपस्थित हो तो इस मन्त्रको पढ़ता हुआ इसप्रकार उपासना करे—हे प्राणरूप आदित्यो! यह मेरी तृतीय सवनरूप अन्तिम अवस्था है, इस तृतीय सवनरूप अन्तिम अवस्थाके शेष पर्यन्त मेरी रक्षा कीजिये यानी पूर्ण आयु देकर यज्ञ समाप्त कीजिये। मैं यज्ञ-प्राणरूप आदित्योंसे विच्छेद न पाऊँ। इस जप तथा ध्यानसे प्राणान्तकर दुःखसे पुरुष पार हो जाता है और नीरोग होकर जीता रहता है। इतराके पुत्र महादास नामक ऋषिने उस पुरुष-यज्ञकी रीति और वसु आदि देवताओंके समीप की हुई प्रार्थनाके द्वारा उस उस अवस्थामें प्राप्त हुए प्राणान्तकर रोग को दूर करनेकी रीति जानकर ऐसा कहा था—हे रोग! तू मुझे यह दुःख क्यों देता है? मैं यज्ञ-पुरुष हूँ, तेरे इस दुःख देनेसे मेरा मरण नहीं होगा, इसलिये तेरा यह परिश्रम वृथा है। ऐसा निश्चय करके महादास-ऋषि एक सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहे थे। यदि कोई दूसरा भी इस यज्ञकी इसप्रकार उपासना करेगा, वह रोगादिसे रहित होकर एक सौ सोलह वर्षकी आयु पर्यन्त जीवित रहेगा। इति सोलहवाँ खण्ड।

यज्ञांगकी सादृश्यतासे और भी सम्पादन किया जाता है, यह बात श्रुति कहती है, यह यज्ञ-सम्पादन करनेवाला पुरुष जो कुछ खाना चाहता है, जो कुछ पीना चाहता है, और इष्टादिकी अप्राप्तिके कारण जिस सुखका अनुभव नहीं करता, यानी दुःखका अनुभव करता है, यह सब उस यज्ञ-सम्पादी पुरुषके यज्ञकी दीक्षा है, यानी दुःखके अनुभवमें दीक्षादृष्टि करनी चाहिये। जो खाता है, जो पीता है और जो सुखका अनुभव करता है, वह उपसदोंके साथ समानता पाता है। सोमयागमें उपसद् व्रत किया जाता है, सोम-यज्ञमें जैसे दूध पीनेसे स्वस्थता होती है, वैसे ही भोजन आदिमें भी है, इसलिये भोजन आदिकी उपसदोंके साथ समानता है। जो हँसता है, जो भक्षण करता है, जो मैथुन करता है, वह स्तुति किये हुए स्तोत्रोंके साथ समानताको पाता है, क्योंकि हँसने आदि और स्तोत्रोंमें शब्दत्वकी समानता है और जो तप, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य वचन ये शुभ क्रियाएँ हैं वे क्रियाएँ धर्मके पुष्टकारित्वकी समानतासे उस यज्ञ-सम्पादी पुरुषकी दक्षिणा है, क्योंकि तप आदिसे धर्मकी वृद्धि होती है। सवनका अर्थ सन्तान उत्पन्न करना है, इसलिये माता प्रसूत होगी यानी पुत्रको जन्म देगी और प्रसूत हुई यानी माताने पुत्रको जन्म दिया, ऐसा लोग कहते हैं। प्रसूत होगी और प्रसूत हुई, इत्यादि शब्दोंसे विधि-यज्ञके समान इस पुरुष नामक यज्ञका सम्बन्धित्व है, वह उसकी उत्पत्ति ही है और समाप्तिकी समानतासे वह मरण ही इस यज्ञ-पुरुषका अवभृथ यानी यज्ञान्त-स्नान है। अङ्गिरस गोत्रवाले घोर नामक ऋषिने देवकी-पुत्र कृष्णसे कहा था कि आयुर्यज्ञकी रीतिको जाननेवाला मरण-समय आदित्यमें स्थित प्राणकी एकता करके 'अक्षितमसि' 'अच्युतमसि' 'प्राण-संशितमसि' इन तीनों मन्त्रोंका जप करे। इनका अर्थ यह है कि तू क्षतरहित है, तू नाशरहित है और तू अति सूक्ष्म प्राण अथवा प्राणसे भी अधिक सुखवाला है। इसप्रकार दीक्षित होकर घोर ऋषिका शिष्य पिपासारहित हुआ यानी अन्य विद्याओंकी प्राप्तिसे तृष्णारहित हुआ। इसलिये यह विद्या अत्यन्त श्रेष्ठ है। विद्याकी स्तुति दो मन्त्रोंसे करते हैं। जिन्होंने इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लिया है और ब्रह्मचर्यादि निवृत्तिके साधनोंसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनके अन्तःकरण शुद्ध हो गये हैं, ऐसे हम पुरातन कारणरूप सर्वव्यापक परम आकाश और अज्ञानसे पर आदित्यमें स्थित दिव्य ज्योतिका अनुभव करते हुए सब देवताओंको प्रकाश देनेवाली अपनी सूर्यरूप उत्तम ज्योतिको प्राप्त हुए हैं । इति सत्रहवाँ खण्ड ।

अध्यात्मरूप मन और अधिदैवतरूप आकाशमें ब्रह्मदृष्टि करनेको श्रुति कहती है—मनसे आत्माका साक्षात्कार होता है इसलिये मन परमात्मा है, इसप्रकार उपासना करे । यह सूक्ष्म शरीर-सम्बन्धी आध्यात्मिक उपासना है । सर्वव्यापक, सूक्ष्म और उपाधिरहित होनेसे आकाश ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे । यह अधिदैवत उपासना है । इसप्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनों परमात्म-दृष्टिके विषय कहे हैं । यह दोनों प्रकारका ब्रह्म चार पादवाला है । वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र ये चार अध्यात्म मनरूप ब्रह्मके चार पाद हैं । अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाएँ ये चार अधिदैवत आकाश-रूप ब्रह्मके चार पाद हैं । वाणी ही मनोरूप ब्रह्मका तीन पादकी अपेक्षा चौथा पाद है । अग्निरूप ज्योतिसे वक्तव्यके लिये यह वाणीरूप प्रकाशित होता है; बोलनेमें गति पाता है, ऐसा जानकर जो उपासना करता है, वह कीर्तिसे, यशसे और ब्रह्म-तेजसे प्रकाशित होता है और तपता है, यानी बोलनेमें उत्साहवाला होता है । जैसे गौ चरणोंसे गमन करती है वैसे ही वाणी, घ्राण, नेत्र और श्रोत्रके द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंमें मन गमन करता है, इसलिये वाणी आदिको मनरूप ब्रह्मका पाद कहा है । जैसे गौके उदरमें लगे हुए चरण होते हैं, इसप्रकार अग्नि, वायु, आदित्य और दिशा आकाश-रूप ब्रह्मके उदरमें लगे हुए-से प्रतीत होते हैं इसलिये उनको आकाशरूप ब्रह्मका पाद कहा है । घ्राण ही ब्रह्मका चौथा पाद है, वह वायुमें स्थित ज्योति-द्वारा दीप्ति पाता है और ताप देता है, जो ऐसा जानकर उपासना करता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजसे यश, दीप्ति पाता है और ताप देता है । चक्षु ही ब्रह्मका चौथा पाद है । वह आदित्यमें स्थित ज्योतिके द्वारा रूपके निमित्त प्रकाशित होता है और तपता है, ऐसा जानकर जो उपासना करता है,वह कीर्ति, यश और वेदादिके अध्ययनसे उत्पन्न हुए तेजसे दीप्ति पाता है और ताप देता है । श्रोत्र ही ब्रह्मका चौथा पाद है, वह दिशाओंमें स्थित ज्योतिके द्वारा शब्द ग्रहण करनेके लिये प्रकाशित होता है, और ताप देता है । ऐसा जान-कर जो उपासना करता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजद्वारा दीप्ति पाता है और ताप देता है, इति अठारहवाँ खण्ड ।

आदित्यको ब्रह्मका पाद कहा, उसमें सकल दृष्टि करनेको श्रुति कहती है,—आदित्य ब्रह्म है,ऐसा उपदेश किया, अब उसीकी विस्तारसे व्याख्या करते हैं,सृष्टिके पूर्व यह सब जगत् असत् था यानी नामरूपसे रहित था ।

शंकाः—यदि संसार उत्पत्तिके पूर्व नहीं था,तो पीछे कैसे उत्पन्न हो आया ? जो वस्तु अविद्यमान है यानी है ही नहीं, वह उत्पन्न नहीं हो सकती । जैसे मनुष्यके सींग नहीं हैं तो उत्पन्न भी नहीं होते ।

समाधानः—उत्पत्तिके पूर्व जगत् नहीं था, इस कथनसे यहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्यके सींगके समान जगत् नहीं है,किन्तु अभिप्राय यह है कि उत्पत्तिके पूर्व जगत् नाम-रूपवाला नहीं था, उत्पत्तिके पीछे यह जगत् नामरूपवाला होता है, नाम और रूप आदित्यके अधीन हैं, क्योंकि यदि आदित्य न हो तो संसारमें अन्धेरा हो जानेसे नाम-रूप की प्रतीति ही न हो, इसलिये संसारके नाम और रूप आदित्यके अधीन हैं । जैसे बीजमें वृक्ष होता है इसी प्रकार यह जगत् उत्पत्तिसे पूर्व असत् और स्पन्दनशून्य था । फिर उसने स्पन्दन पाया और कुछ-कुछ प्रवृत्तिवाला हुआ । फिर किञ्चिन्मात्र नामरूपकी प्रकटताद्वारा अंकुरित हुए बीजके समान क्रमसे स्थूल हुआ, फिर पञ्चीकरण हुआ । पञ्चीकरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर जल हुआ। जलसे अण्ड उत्पन्न हुआ। वह अण्ड एक वर्ष तक वैसा ही पड़ा रहा। एक वर्षके बाद फटकर दो टुकड़े हो गया, उन दोनों भागोंमेंसे एक भाग चाँदी और दूसरा भाग सुवर्ण हुआ। उन दोनों कपालोंमेंका जो चाँदीरूप कपाल है, वह यह पृथिवी है और जो सुवर्णरूप कपाल है, वह स्वर्ग है। उस अण्डेके भीतर गर्भवेष्टनका स्थूल अंश है, वही ये पर्वत हैं। जो सूक्ष्म अंश है, वह मेघसहित कुहरा है, जो नाड़ियाँ है, वे ही नदियाँ हैं और उस गर्भमें मूत्राशयका जो जल है, वही यह समुद्र है, उस अण्डेके फूट जानेपर उस अण्डेमें जो गर्भरूप था, वह उत्पन्न हुआ, वही आदित्य है। उस जन्मे हुए आदित्यके प्रति उत्सवके लिये बड़े-बड़े नादरूप शब्द उत्पन्न हुए और सब स्थावर-जंगमरूप प्राणी तथा स्त्री, वस्त्रादि सब विषय उत्पन्न हुए। इसी कारण आजकल भी उस आदित्यके उदय होते समय और अस्त होते समय बड़े-बड़े नादरूप शब्द, सब प्राणी और सब विषय उठते हैं, जो इस तत्त्वको जानकर आदित्यकी ब्रह्म-दृष्टिसे उपासना करता है, वह ब्रह्म-भावको पाता है और उसको उपभोगमें पापके सम्पर्कसे रहित शब्द प्राप्त होते हैं यानी चारों दिशाओंमें उसकी निर्मल कीर्ति फैल जाती है और उस कीर्तिके कारण उसको सुख प्राप्त होता है। इति उन्नीसवाँ खण्ड। तीसरा अध्याय समाप्त।

अथ चौथा अध्याय

ऊपर आदित्यकी उपासना कही, आदित्य सूत्रात्मासे अवच्छिन्न है, इसलिये श्रुति सूत्रात्मा-की उपासनाका विधान करेगी। दानादि धर्म विद्या,-प्राप्तिके साधन हैं, इसलिये दानादिको विद्याका साधन दिखलानेके लिये श्रुति आख्यायिका रचती है।

जानश्रुत राजाके पुत्रका पौत्र जानश्रुति नामका एक राजा था। यह राजा बड़ी ही श्रद्धा-भक्तिके साथ आदर-सत्कारपूर्वक साधु-ब्राह्मणोंको तथा दीनोंको बहुत-सा दान दिया करता था। उसके यहाँ अतिथियोंके लिये नित्य बहुत-सा भोजन बनाया जाता था। उस राजाकी यह उत्कट इच्छा रहा करती थी कि ग्रामों और नगरोंमें जितने ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, यति हैं, वे सब मेरा ही भोजन पाया करें। इसलिये उसने जहाँ-तहाँ सर्वत्र ऐसी धर्मशालाएँ और क्षेत्र बनवा रक्खे थे कि जहाँ आकर अतिथि आदि ठहरा करें और भोजन किया करें। ऐसा करनेसे उस राजाकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल गयी। राजाके दान-गुणसे प्रसन्न होकर दो ऋषियों अथवा देवताओंने हंसोंका रूप धारण किया और राजाको दर्शन देनेके निमित्त रातके समय वे उड़ते हुए राजाके महलकी छतपर पहुँचे। पिछला हंस अगले हंससे कहने लगा—

प्रथम हंसः—भाई! मन्ददृष्टि! देख, जानश्रुत राजाके पुत्रके पौत्रका तेज दिनके समान फैल रहा है, कहीं तू उसको स्पर्श मत कर लेना। यदि तू स्पर्श कर लेगा तो तुरन्त ही भस्म हो जायगा।

दूसरा हंसः—भाई! तूने गाड़ीवाले रैक्कको नहीं देखा है, इसीसे तू इस महलपर सोते हुए जानश्रुति-की प्रशंसा करता है; इसका तेज रैक्कके समान नहीं है। बिना जाने ही तू इसका यश गाता है इसलिये तुझे धिक्कार है।

प्रथम हंसः—भाई! अच्छा तू ही बता, वह रैक्क कौन है और उसका कैसा प्रभाव है?

दूसरा हंसः—भाई! देख, जैसे जुआ खेलनेके पासेके नीचेके तीन भाग ऊपरके भागके अन्तर्गत होते हैं अथवा जैसे जुआ खेलनेसे प्रथम चारों जुआरियोंका द्रव्य प्रत्येकके पास होता है और जब एक जुआरीका पासा पड़ता है, तो तीनों जुआरियोंका धन उसी जीतनेवालेके पास आ जाता है, इसी प्रकार प्रजा जो कुछ शुभ कर्म करती है, वह सब शुभ कर्म और शुभ कर्मका फल उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रैक्कके धर्म और धर्मके फलके अन्तर्गत है। यह रैक्क जिस जाननेयोग्य-वेद्य पदार्थको जानता है, उस वेद्य पदार्थको जो जानता है, उसको भी सब प्राणियोंके धर्मका समूह और धर्मका फल रैक्कके समान प्राप्त होता है। उस विद्वान्को ही मैंने इसप्रकारका कहा है।

जानश्रुति हंसोंकी इन बातोंको सुन रहा था। रातभर उसे नींद न आयी। सुनी हुई बातोंको स्मरण करते हुए उसने रात्रि बितायी, जब प्रातःकाल हुआ तो राजाने बन्दीजनोंकी स्तुति सुनकर शय्याका त्याग किया और बन्दीजनोंसे उसने कहा–'हे प्यारे! कोई एक रैक्क नामक गाड़ीवाला है, उसके पास जाकर कहो कि मैं उससे मिलना चाहता हूँ।' बन्दीजन बोले–'हे राजन्! वह गाड़ीवाला रैक्क कौन है और कैसा है?' राजाने उत्तर दिया 'जैसे सदाचरणोंके द्वारा सत्ययुगको वशमें कर लेनेसे त्रेता आदि सब युग जीत लिये जाते हैं इसी प्रकार ये सब लोग जो कुछ पुण्य कर्म करते हैं, उन सब कर्मोंको संवर्ग-विद्याका जाननेवाला रैक्क जानता है; मैंने हंसके मुखसे यह परिचय पाया है।' राजाकी आज्ञानुसार बन्दीजन अनेक ग्रामों और नगरोंमें ढूँढ़कर लौट आये और राजासे कहने लगे—'हे राजन्! हमें रैक्क नहीं मिला।' राजाने कहा–'अरे! ब्रह्मवेत्ता अरण्य आदि एकान्त स्थानोंमें रहते हैं, उन्हीं स्थानोंमें जाकर खोजो।' बन्दीजन राजाकी आज्ञानुसार फिर खोजनेको चल दिये और एक निर्जन स्थानमें गाड़ीके नीचे बैठे हुए शरीरको खुजाते हुए एक मुनिको देखा। बन्दीजन उसके पास जाकर बैठ गये और विनयपूर्वक इसप्रकार पूछने लगे 'हे भगवन्! क्या आप ही गाड़ीवाले रैक्क हैं?' मुनिने उत्तर दिया 'हाँ! मैं शकटी रैक्क हूँ' बन्दीजन समझ गये कि हमने रैक्कको पहचान लिया। अतः वे राजाके पास लौट आये और उनके पानेका समाचार दिया। इति प्रथम खण्ड।

पश्चात् राजा जानश्रुति छः सौ गौएँ, एक सोनेका हार और खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ लेकर रैक्कके पास गया और उनसे कहने लगा–'हे भगवन्! ये छः सौ गौएँ, एक सुवर्णका हार और खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ, ये सब ग्रहण कीजिये और आप जिस देवताकी उपासना करते हैं, उस देवताका मुझे उपदेश कीजिये।' रैक्क मुनिने कहा 'अरे! शोकसे व्याकुल होनेके कारण शूद्र नामके योग्य राजन्! तू इन सबको लेकर लौट जा, ये सब अपने पास ही रख।' राजा यह सुनकर घर लौट आया और विचार करने लगा—'मुनिने मुझे शूद्र क्यों कहा और मेरी दी हुई दक्षिणा क्यों नहीं ग्रहण की? ऐसा कहनेसे मुनिके दो अभिप्राय कल्पना किये जा सकते हैं, एक तो यह कि मैं हंसोंके वचन सुनकर शोकातुर था इसलिये मुझे शूद्र कहा, दूसरा कारण शूद्र कहनेका यह है कि तू थोड़ा धन देकर उत्तम विद्या प्राप्त करनेका अनुचित यत्न करता है। बिना विद्या-प्राप्ति किये मेरा शोक दूर नहीं हो सकता, इसलिये विशेष धन लेकर मुझे मुनिके पास जाना चाहिये।' ऐसा विचारकर राजा एक हज़ार गौएँ, एक सुवर्णका हार, खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ और अपनी पुत्रीको लेकर मुनिके पास फिर आया और रैक्क मुनिसे कहने लगा 'हे भगवन्! ये हजार गौएँ, यह हार, यह खच्चरियोंका रथ, यह आपकी धर्मपत्नी बननेके लिये मेरी पुत्री और जिस ग्राममें आप रहते हैं, वह ग्राम, ये सब मैं आपके अर्पण करता हूँ। हे मुने! ये सब आप ग्रहण कीजिये और जिस देवताकी आप उपासना करते हैं, उस देवताका मुझे उपदेश दीजिये।' यह सुनकर रैक्क विचार करने लगा 'प्रथम तो यह राजा विद्याका पात्र—अधिकारी है, दूसरे ऐसी सुन्दर कन्या और गौ आदि पदार्थ दक्षिणामें देनेको लाया है, वे सब पर्याप्त हैं।' ऐसा विचारकर मुनिने राजासे कहा 'हे शोकविद्रुत! तू जो ये गौएँ तथा बहुत-सा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धन लाया है, यह ठीक है, इसी उपायसे तू मुझसे विद्याका दान ले सकता है।' इतना कहकर मुनिने राजाकी दी हुई दक्षिणा ग्रहण की और राजाको विद्याका उपदेश दिया। जिन महापवित्र ग्रामोंमें यह ऋषि रहते थे, वे ग्राम पश्चात् रैक्वपर्ण नामसे प्रसिद्ध हुए। इति दूसरा खण्ड।

रैक्व मुनि, बोले 'हे राजन्! बाहरका वायु, अग्नि आदि सबको निगल जाता है इसलिये यह बाहरका वायु संवर्ग (भले प्रकारसे निगल जानेवाला) है। जब यह प्रसिद्ध अग्नि शान्त होता है तो वायुमें ही लीन होता है यानी वायुरूप हो जाता है। प्रलय-कालमें जब सूर्य अस्त होता है तब वह इस वायुमें ही लीन होता है और प्रलयकालमें जब चन्द्रमा अस्त होता है तो वायुमें ही लीन होता है। जल जब सूखते हैं तो वायुमें ही लीन होते हैं। अग्नि आदि इन सबको वायु ग्रस लेता है, इसलिये संवर्ग गुणवाला वायु उपास्य है, यह संवर्गकी अधिदैवत उपासना है, अब सूक्ष्म शरीरमें संवर्गकी उपासना कहता हूँ, सुन। मुख्य प्राण ही संवर्ग है। जब यह पुरुष सोता है तो वाणी प्राणमें लीन हो जाती है, चक्षु भी प्राणमें लीन होता है, श्रोत्र भी प्राणमें लीन होता है, मन प्राणमें ही लीन होता है। वाणी आदि सबको प्राण निगल जाता है, इसलिये संवर्ग-गुणवाले प्राणकी उपासना करनी चाहिये। वायु और प्राण ये दो ही संवर्ग हैं। अग्नि आदि देवताओंमें वायु संवर्ग है और वाणी आदि इन्द्रियों-में प्राण संवर्ग है। इसी विषयमें आख्यायिका कहता हूँ, सुन-'शुनकका पुत्र कापेय और कक्षसेनका पुत्र अभिप्रतारी ये दोनों भोजन करनेको बैठे थे, और रसोइये भोजन परोस रहे थे, इतनेहीमें एक ब्रह्मचारीने आकर भिक्षा माँगी। ब्रह्मचारीकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने उसे भिक्षा देनेसे इन्कार कर दिया। तब ब्रह्मचारी कहने लगा-'भू आदि भुवनोंका रक्षक एक प्रजापति देवता है। अग्नि, वायु, चन्द्रमा और सूर्य इन चार महाप्रभावशाली देवताओंका वह प्रजापति देवता ग्रास कर लेता है। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीन प्रकारोंसे वह देवता संसारभरमें नानारूपसे बस रहा है तो भी मनुष्य उस देवताको देख नहीं पाते! हे कापेय! हे अभिप्रतारिन्! जिस देवताका तुम अन्न भोजन करते हो, क्या तुम उस देवताको जानते हो? तुमने उस देवताको अन्न नहीं दिया है।' शुनक-पुत्र कापेयने ब्रह्मचारीके इसप्रकार प्रश्न करनेपर देवताके विषयमें विचार किया और विचार करनेके बाद ब्रह्मचारीके प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा 'हे ब्रह्मचारिन्! जो देव देवताओंका आत्मा है, जो देव प्रजाओंका उत्पन्न करनेवाला है, जो देव बिना परिश्रम ही सबका संहार करने-वाला है, जो देव भक्षण करनेके स्वभाववाला है, सबका चेष्टा करनेवाला और ज्ञानी है, जिस देवताको कोई भक्षण नहीं कर सकता और जिनको कोई भक्षण न कर सके ऐसा अग्नि वाक् आदि अभक्ष्य देवताओंको जो देवता भक्षण कर जाता है और जिसकी बड़ी भारी विभूति है, उस देवताकी हम सब प्रकारसे उपासना करते हैं।' इतना कहकर कापेयने अपने सेवकोंको आज्ञा दी कि इस ब्रह्मचारी-को अन्न दो, इसप्रकार आज्ञा पाकर सेवकोंने ब्रह्मचारीको भिक्षा दी। अग्नि आदि चार और वायु ये पाँच हैं और वाक् आदि चार और प्राण ये अन्य पाँच हैं, ये सब मिलकर दश होते हैं, ये दशों कृत यानी अन्न कहलाते हैं। ये अग्नि आदि और वाक् आदि ही सब दिशाओंमें पूर्ण अन्न हैं। यह प्रसिद्ध अन्न देवता है। विराट् विष्णु ही इस अन्नका भोक्ता है और विराट् नामका विष्णु देवता ही इन सबको देखता है। जो ऐसा जानकर उपासना करता है, वह अन्नका भोक्ता होता है और सब तत्त्वका देखनेवाला होता है, इति तीसरा खण्ड।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी)

(गताङ्कसे आगे)

शिष्योंका समागम

केशवचन्द्र सेनके पास बहुत-से युवक आया करते थे। वे नवविधान ब्राह्म-समाजके सदस्य तो नहीं थे, परन्तु केशव बाबूके बड़े भक्त थे और उनके सत्सङ्गसे आध्यात्मिक उन्नतिकी आशा रखते थे । वे प्राचीन सभ्यता, धर्म तथा जाति-बन्धनको तिलाञ्जलि दे चुके थे और पाश्चात्य विज्ञान तथा विचारोंने उनके चित्तको मोह लिया था। ऐसी अवस्थामें श्रीरामकृष्णके उपदेशोंका प्रभाव उनके मनपर पड़ना कुछ असम्भव-सा प्रतीत होता था परन्तु केशवचन्द्रकी श्रीरामकृष्णमें श्रद्धा-भक्ति देखकर उनके मनमें भी विचार उत्पन्न होने लगे कि श्रीरामकृष्णमें जरूर कुछ विशेषता है, जिसने केशव बाबूको भी आकर्षित कर लिया है। इसलिये वे नवयुवक भी क्रमशः ठाकुरकी ओर आकर्षित होने लगे।

फूल जब खिलता है तो अपनी मस्त ख़ुशबूसे सारे बगीचेको महका देता है, फिर भ्रमरादि मधु-लोलुप जीव चारों ओरसे जुटने लगते हैं और मधु पानकर आनन्द पाते हैं। इसी प्रकार रामकृष्ण-का हृदय-कमल जब घोर तपस्या और नाना प्रकारकी कठिन साधनाओंसे प्रफुल्लित हो उठा तो उसकी सुन्दरता और मन लुभानेवाली महक स्वभावतः चारों ओर फैल गयी। इससे बिना बुलाये ही भक्तलोग, इस अपूर्व भक्ति-ज्ञान-वैराग्यकी सुगन्धसे आकर्षित होकर आने लगे, और अमृतका पानकर जीवन सफल करने लगे।

रामचन्द्र दत्त

कलकत्ता-निवासी रामचन्द्र दत्त और उनके चचेरे भाई मनमोहन सबसे पहले श्रीरामकृष्णसे मिलने आये। रामचन्द्र डाक्टर थे और उस जमानेके नवयुवकोंकी भाँति नास्तिक थे, उनका चित्त सदैव अस्थिर और अशान्त रहा करता था। केशवचन्द्रके मासिकपत्र द्वारा जब उन्हें ठाकुरका कुछ हाल मालूम हुआ तो वह अपने भाईके साथ उनसे मिलने गये। श्रीरामकृष्णके अहैतुक-प्रेमने उनके मनको लुभा लिया और वह प्रति रविवारको दक्षिणेश्वरमें जाने लगे। इस सत्सङ्गसे उनके मनोंमें वैराग्य उत्पन्न होने लगा और भगवत्-चर्चामें भी रुचि बढ़ने लगी। धीरे-धीरे वह अपने इष्ट-मित्रोंको भी अपने साथ लाने लगे। इस तरह प्रत्येक रविवारको एक छोटी-सी भक्त-मण्डली इकट्ठी होने लगी। कभी-कभी वे लोग ठाकुरको भी कलकत्ते अपने घर ले जाते। उस सत्संगसे आस पासके रहनेवाले सज्जन भी श्रीरामकृष्णसे परिचित होने लगे। ठाकुरके सारगर्भित वचनामृतका पान कर लोगोंको बड़ा आनन्द प्राप्त होता था।

यह कहा जा चुका है कि रामचन्द्र दत्त नितान्त ही देहात्मवादी नास्तिक थे। परन्तु श्रीरामकृष्णके सत्संगसे उनके विचार परिवर्तित होने लगे। एक दिन उन्होंने ठाकुरसे पूछा कि—'महाशय! क्या वास्तवमें ईश्वरका अस्तित्व है ?' ठाकुरने कहा—'निःसन्देह। यद्यपि दिनमें तारागण दीखते नहीं परन्तु उनका अस्तित्व लुप्त नहीं होता। दूधमें मक्खन मौजूद है, उसे दूधसे न्यारा करनेके लिये बिलोना पड़ेगा। इसी प्रकार परमेश्वरका अनुभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करनेके लिये साधनाकी जरूरत है। भगवान् अवश्य अनुभवगम्य हैं। रामचन्द्रने कहा—'क्या मैं उन्हें इसी जीवनमें अनुभव कर सकता हूँ ?' ठाकुरने कहा—'मनुष्यकी तीव्र इच्छा अवश्य पूरी होती है, श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये।' रामचन्द्रने कहा कि 'भगवन्! स्वयं अनुभव हुए बिना विश्वास कैसे हो सकता है?' ठाकुरने कहा 'सन्निज्वरसे पीड़ित रोगीकी इच्छा घड़ों पानी पीने और सेरों भोजन करनेकी होती है परन्तु वैद्य न तो उसकी इच्छाकी परवा करता है और न रोगीके कहनेके अनुसार ओषधि ही देता है।'

इस सत्संगसे रामचन्द्रका मन धीरे-धीरे शान्त होने लगा। वैराग्यकी मात्रा भी बढ़ने लगी। एक दिन उन्होंने श्रीरामकृष्णसे संन्यास-दीक्षा लेनेकी इच्छा प्रकट की। ठाकुरने कहा कि 'कोई काम उतावलीमें नहीं करना चाहिये। यदि तुम घर-बार त्याग दोगे तो तुम्हारे कुटुम्बका पालन कौन करेगा? सब कुछ ईश्वरकी इच्छापर छोड़ दो। गृहस्थ-त्यागसे लाभ ही क्या है? गृहस्थ एक तरहका किला है, किलेमें बैठकर शत्रुसे युद्ध सुगमतासे किया जा सकता है। जब तुम्हारा मन तीन चौथाई ईश्वरमें लग जायगा, तब संन्यासके अधिकारी बनोगे।'

एक दिन सन्ध्या समय रामचन्द्र दक्षिणेश्वर गये। ठाकुर रातके दस बजे तक उन्हें उपदेश देते रहे, तत्पश्चात् रामचन्द्र जाने लगे, परन्तु घरके बाहर जाकर खड़े रह गये। कुछ देरमें ठाकुर वहाँ जा पहुँचे और रामचन्द्रको वहाँ खड़े देखकर बोले कि 'अब क्या चाहते हो?' राम स्तम्भित हो गये और सोचने लगे कि द्रव्य, ऐश्वर्य, सिद्धि आदि सब पदार्थ तुच्छ हैं, क्या माँगूँ? प्रेमपूर्ण हृदय-से कहने लगे कि 'भगवन्! मैं नहीं जानता कि क्या माँगूँ? सब कुछ आपकी इच्छापर छोड़ता हूँ।' ठाकुरने कहा कि 'मैंने तुझे स्वप्नमें जो मन्त्र दिया था वह मुझे वापिस दे दे।' रामचन्द्रने ऐसा ही किया और वह उनके चरणोंपर गिर गये। श्रीरामकृष्णने अपने पैरका अंगूठा उनके सिरसे छुआ दिया। वह अचेत हो कितनी ही देर वहीं पड़े रहे, फिर उठ खड़े हुए। ठाकुरने कहा कि 'यदि कुछ देखनेकी इच्छा है तो मेरी तरफ देखो।' रामचन्द्रने उनकी ओर देखा तो उनमें साक्षात् अपने इष्टदेवका दर्शन किया। ठाकुरने कहा कि 'अब तुझे कोई साधना करनेकी जरूरत नहीं, केवल कभी-कभी यहाँ आ जाया करना, और एक पैसे-की कुछ भेंट लेते आया करना।'

रामचन्द्र दत्तका एक मित्र सुरेन्द्र था, वह भी अविश्वासी युवक था, एक दिन वह सुरेन्द्रको भी अपने साथ ले गये। श्रीरामकृष्ण उस समय एक सज्जनसे कह रहे थे कि 'मनुष्य बन्दरके बच्चेकी तरह क्यों व्यवहार करता है, बिल्लीके बच्चेकी भाँति बर्ताव क्यों नहीं करता? बन्दरका बच्चा अपने पुरुषार्थसे कूदकर माँकी पीठपर जा बैठता है, कभी माँके उछलनेपर गिर भी पड़ता है, और वही माँको पकड़े भी रहता है, परन्तु बिल्लीका बच्चा कुछ नहीं करता, जब उसकी माँ उसे कहीं ले जाना चाहती है तो उसकी गरदन मुँहसे पकड़ इच्छानुसार जहाँ चाहती, ले जाती है, इससे उसके गिरनेकी कुछ सम्भावना नहीं रहती। स्वयं पुरुषार्थ करने और आत्म-समर्पणमें यही भेद है।' इस बात-का सुरेन्द्रके मनपर बहुत प्रभाव पड़ा, तबसे वह जगदीश्वरी भगवतीकी अनन्यशरण हो गया, जिससे उसका मन शान्त और शक्ति-सम्पन्न हो चला। अब उसे श्रीरामकृष्णमें श्रद्धा हो गयी और प्रति रविवारको वह भी उनके पास जाने लगा। कभी-कभी सुरेन्द्रका मन विषयोंकी तरफ झुक जाता था, तो वह लज्जासे ठाकुरके सामने जानेसे झिझकता और वहाँ जाना बन्द कर देता। एक बार जब ठाकुरने किसीसे उसके न आनेका कारण पूछा तो मालूम हुआ कि वह फिर कुसंगमें पड़ गया है। यह जानकर उन्होंने कहा कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उसमें अभी विषयेच्छा बाकी है, कुछ समय तक भोगकर इच्छा पूरी कर लेना अच्छा है, तदनन्तर वह शुद्ध हो जायगा।' कई दिन पीछे वह श्रीरामकृष्ण-के पास आया और चुपकेसे दूर कोनेमें जा बैठा। ठाकुरने उसे देख लिया और प्यारसे अपने पास बैठनेको कहा एवं वे अर्ध-बाह्यज्ञान-अवस्थामें कुछ कहने लगे कि 'जब कोई अपवित्र और अनुचित जगह जावे तो भगवती माँको क्यों नहीं अपने साथ ले ले, इससे वह बहुत-से कुकर्मोंसे बच सकता है।' इस वाक्यसे सुरेन्द्रको एक नया उपाय कुमार्गसे बचनेका मिल गया। दोनोंका परस्पर प्रेम बढ़ने लगा। ठाकुर भी कभी-कभी उसके घर चले जाते थे। अब सुरेन्द्र ठाकुरके आन्तरिक भक्तोंमें गिना जाने लगा। वह अपना धन ठाकुरकी सेवामें खर्च करना अपना सौभाग्य समझता था और जब कभी भक्तमण्डली दक्षिणेश्वरमें रात-दिन रहती तो वह उसके सारे खर्चका भार स्वयं अपने ऊपर लेता था।

सुरेन्द्रको मदिरा पीनेकी लत थी और वह उससे नहीं छूटती थी। उसके मित्र उसे बहुतेरा समझाते, परन्तु उसपर कुछ भी असर न होता था। वह शक्तिका उपासक था, इस कारण वह मदिराको बुरा भी नहीं समझता था। वह यह भी कहा करता था कि ठाकुर जानते हैं कि मैं मदिरा पीता हूँ, यदि वह कहेंगे तो मैं तुरन्त छोड़ दूँगा। रामचन्द्र दत्त उसे एक दिन दक्षिणेश्वर ले गये। सुरेन्द्रने कहा कि 'तुम मदिराका कुछ जिक्र न छेड़ना, यदि वह स्वयं मुझे मना करेंगे तो मैं फौरन् छोड़ दूँगा।' जैसे ही वह ठाकुरके पास पहुँचे तो उन्होंने कहा कि 'सुरेश! (ठाकुर उसे इसी नामसे पुकारते थे) तू मदिराको मदिरा जानकर क्यों पीता है? भगवतीको समर्पण कर पीछेसे उनका प्रसाद पान किया कर, परन्तु इतना न पी कि पागल हो जाय। पहले तुझे मामूली उत्तेजना अनुभव होगी, फिर आध्यात्मिक आनन्द भान होने लगेगा।' वह ऐसा ही करने लगा, इससे उसके हृदयमें दिनों-दिन प्रेम-भक्ति बढ़ने लगी। वह सदैव 'माँ' के ही चिन्तनमें रहने लगा। कभी-कभी तो ध्यानमें बेसुध हो जाया करता था। मदिराका बुरा असर उसपर कुछ न हुआ और अन्तमें मदिरा छूट ही गयी।

लाटू

लाटू बिहार-प्रान्तके छपरा-जिलेका रहनेवाला एक युवक कलकत्तेमें आजीविका ढूँढ़ने आया था और रामचन्द्र दत्तके यहाँ नौकर हो गया था। कुछ दिनों पीछे उसने श्रीरामकृष्णका नाम सुना। उनसे मिलनेकी तीव्र इच्छा होनेके कारण वह एक दिन दक्षिणेश्वर गया। ठाकुरने उससे बड़े प्रेमसे बातचीत की और कुछ प्रसाद भी दिया। लाटू ठाकुरके प्रेम-व्यवहारसे बड़ा ही प्रसन्न हुआ। विदा होते समय ठाकुरने उसे फिर आनेको कहा। रामबाबू प्रायः उसे ठाकुरके पास कुछ मिठाई, फलादि देनेको भेजा करते थे, इससे वह बड़ा प्रसन्न होता था। एक दिन ठाकुरने रामबाबूसे कहा कि 'लाटूको हमारे पास ही रहने दो।' रामचन्द्रने बड़ी खुशीसे स्वीकार कर लिया। श्रीरामकृष्णने पहली मुलाकातहीमें उसके धार्मिक भावको जाँच लिया था, इसीलिये वह चाहते थे कि उनके पास रहकर वह आध्यात्मिक उन्नति करे। लाटू यह अपूर्व अवसर प्राप्त कर बड़ा ही सन्तुष्ट हुआ और बड़े प्रेमसे दक्षिणेश्वरके कीर्तनमें भाग लेने लगा। वह इसमें तन्मय हो जाया करता था। ठाकुरकी शिक्षासे वह पर्याप्त उन्नति करने लगा। यद्यपि वह नितान्त विद्याविहीन था तथापि वह एक महान् पुरुष बना और ठाकुरके मुख्य शिष्योंमें गिना जाने लगा।

राखाल

राखालचन्द्र घोष सन् १८८० में पहली बार दक्षिणेश्वरमें आया था। यह सन् १८६२ में बसीर-हाटके एक धनी ज़मींदारके घरमें पैदा हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बचपनसे ही इसे धर्मकी ओर रुचि थी और प्रायः खेलमें भी देवी-देवताओंकी पूजा किया करता था। उस समयकी प्रथाके अनुसार बाल्यावस्थामें ही उसका विवाह हो गया था। राखालको ठाकुरसे घनिष्ठ प्रेम हो गया, वह उन्हें पिता-तुल्य मानने लगा, और ३-४ वर्षके बालकके सदृश निःसंकोच भावसे उनकी गोदमें जा बैठा करता। ठाकुर भी उसे बहुत प्यार करते थे। उसे मिठाई देते और माँकी तरह उससे खेला करते। गृहस्थ होनेके कारण उसका पिता राखालको बार-बार दक्षिणेश्वर जाने देना पसन्द नहीं करता था, इसलिये कई बार उसको मना किया। किन्तु एक दिन जब वह स्वयं दक्षिणेश्वर गया और देखा कि कलकत्तेके प्रतिष्ठित सज्जन वहाँ आते जाते हैं तो वह सन्तुष्ट हो गया और फिर कुछ आपत्ति न की। राखालकी माँ भी श्रीरामकृष्णको बहुत मानने लगी, अपनी पुत्रवधूको साथ लेकर कभी-कभी वह भी दक्षिणेश्वर जाया करती थी। राखालकी स्त्रीके चिह्नोंसे ठाकुरने जान लिया कि वह भी बड़ी धार्मिक और सुशीला है, और राखालकी आध्यात्मिक उन्नतिमें कुछ बाधा न डालेगी। राखालमें अहंभाव बिल्कुल नहीं था। उसकी प्रकृति सरल और बालकों-जैसी थी। वह सदैव ठाकुरके साथ ही रहता था, जहाँ कहीं वह जाते, साथ जाया करता। कभी-कभी ठाकुर अपने हाथसे उसे भोजन खिलाया करते थे और उसे अपना पुत्र ही मानते थे। जब कोई श्रीरामकृष्णसे पूछता कि महाराज, त्रिगुणातीत मनुष्यके लक्षण क्या हैं, तो ठाकुर राखालका उदाहरण दिया करते थे। वह उसे 'नित्यसिद्ध' मानते थे और उसकी सब प्रकार रक्षा करते थे। कुछ समय पीछे राखाल गृहस्थाश्रमको त्यागकर श्रीरामकृष्णके साथ ही रहने लगे। पीछेसे यही स्वामी ब्रह्मानन्दके नामसे विख्यात हुए। यही रामकृष्ण मिशनके प्रथम प्रधान बनाये गये थे।

ध्यान

सब साधन को सार अरु, आराधन को पार।
ध्यान समान न आन कोउ, ज्ञान-मुक्ति को द्वार॥

सवैया

लाख चौरासिन में नर उत्तम त्यौं नरहूँन में बिप्र बडेरे।
बिप्रन मैं बर बिज्ञ सु बिज्ञन में जे सुकर्म करै बिधि प्रेरे,
कर्मन के करतारन में जन त्यों जनहूँन मैं ज्ञानिन हेरे।
ज्ञानिन में जो धरै दृढ ध्यान सो जीवनमुक्त न संसय मेरे॥

—अर्जुनदास केडिया

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार और आचारके दीपस्तम्भ

(स० श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी)

जीवन क्या है, सुख और दुःखका ताना-बाना है। जैसे बिना ताने-बानेके कपड़ा नहीं बन सकता, बिना सुख-दुःखके जीवन भी नहीं निभ सकता। अकेला सुख या अकेला दुःख कल्पनामात्र है। और इसकी आशा या इच्छा करना अज्ञान है, नास्तिकता है।

इसी कारण हम सुख-दुःखसे न डरें। सुखका सेवन करें, दुःखको सहें, लेकिन किसी एकके डरसे पीछे पैर न भाग जायँ—मतिभ्रष्ट न हो जायँ।

ज़िन्दगी-जीना मुश्किल है। दुःख सहन करना अतिशय कठिन है। और इससे भी ज्यादा कठिन सुखोपभोग करना है। लेकिन सुख-दुःखके बारेमें समतोलताकी साधना करनेहीमें जीवनकी कुंजी है।

सुख-दुःख जीवनके साथी हैं, इसीलिये तो दोनोंको स्वीकार कर दोनोंपर अंकुश जमानेमें ही मानवता है, इसीमें सच्चा जीवन है।

× × ×

दूसरोंको पहचाननेसे पहले अपने आपको पहचानना ज्यादा ज़रूरी है। दूसरोंसे कोई बात कहनेसे पहले उसे अपने आपसे कहनेमें अधिक श्रेय है।

दूसरोंको पहचानना आसान है, लेकिन अपनेको पहचानना बड़ी टेढ़ी खीर है। जो आदमी आत्माको पहचान लेता है, वह किसी दिन प्रभुको भी ज़रूर पहचानेगा।

× × ×

जमाना बदलता है, उसके साथ आदर्श भी बदलते हैं। बदलते हुए आदर्श नयी समाज-रचना चाहते हैं।

जो इस नवीन समाज-रचनाके प्रवाहके उलटे चलनेका प्रयत्न करता है, वह उस प्रवाहमें ही बह जानेको है।

युगका बनानेवाला युगस्रष्टा है; युगको पहचाननेवाला युगद्रष्टा है। युवक अगर आजका युगस्रष्टा है, तो आइये हम युगद्रष्टा बनें।

× × ×

हरएक आदमीका कार्यक्षेत्र उसकी योग्यताके अनुसार होना चाहिये।

जिस आदमीको अपने अनुकूल कार्यक्षेत्र मिल जाता है, वह उसमें रोज़-रोज़ तरक्की करता जाता है। वह और उसका कार्य दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक उज्ज्वल बनते जाते हैं।

जिस आदमीको अयोग्य कार्यक्षेत्रमें कूद पड़नेका दुर्भाग्य प्राप्त होता है, वह अपना सत्त्व खो बैठता है। वह और उसके कार्य दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक कमज़ोर बनते जाते हैं।

× × ×

निश्चय

अकेली बातों द्वारा हम कुछ नहीं कर सकते, बातें—विचारोंके विनिमय—लेन-देनके लिये हो सकती हैं। लेकिन आख़िर मनुष्यको किसी निश्चय-पर तो पहुँचना ही चाहिये। जो मनुष्य निश्चय ही नहीं कर सकता वह त्रिशंकुकी तरह अधरमें लटकता रहता है। न तो वह आगे बढ़ता है, न पीछे हटता है। उसकी प्रगति रुक जाती है। आख़िर मनुष्यको निश्चय किये ही छुटकारा है। निश्चय करनेमें जितनी देर होती है, अन्तमें उतना ही नुकसान है। अनिश्चितताकी स्थिति दुःखद और भयंकर है। अनिश्चिततामें मनुष्य शंकित और भयभीत रहता है। अनिश्चितताके कारण मनुष्य निष्क्रिय और निरुत्साह रहता है। अनिश्चितता मनुष्यको पूरा पामर और कभी-कभी पागल भी बना डालती है। मनुष्यको जीवनकी हरएक प्रवृत्तिमें सारासारका विचार करके तुरंत ही किसी निश्चयपर पहुँच जाना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगर यह नहीं होगा तो बीच समुद्रमें जो गति जहाजकी होती है वही उसकी होगी—वह डूबेगा या रास्ता रहते हुए भी जहाँ-का-तहाँ निश्चेष्ट पड़ा रहेगा। निश्चयके लिये हिम्मत, साहस, दूरन्देशी, धर्माधर्म-विवेक आदि आवश्यक हैं। इन सबका उपयोग करते हुए भी आखिर हमें निश्चय तो करना ही चाहिये।

यह निश्चय शिक्षक बननेका हो या युद्धमें जानेका हो, गृह-संसारकी स्थापनाका हो या वनवासी बननेका हो, चाहे जिस चीज़के लिये हो, मगर हो ज़रूर और जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी हो।

× × ×

श्रद्धा

मनुष्यकी विजयकी कुंजी उसकी श्रद्धामें है। बालकमें श्रद्धा, पद्धति-प्रणाली या नियममें श्रद्धा, पैग़ाम या सन्देशमें श्रद्धा, मनुष्यमें श्रद्धा, और अपने आपमें श्रद्धा, इसीका नाम हमारी श्रद्धा है। परमात्माके दर्शन तभी होंगे जब हमें इस बातका अचल विश्वास हो जायगा कि वे होंगे ही। विश्वास, भरोसा, आस्था ये हृदयकी बातें हैं, हृदयमें हैं; बुद्धिसे ये परे हैं। जब बुद्धि तर्क-वितर्कसे, संभ्रम-विभ्रमसे, संकल्प-विकल्पसे हमें डावाँडोल बना देती है, उस समय अकेली श्रद्धा ही हमारा आधार-स्तम्भ बनकर रहती है। श्रद्धा हमारा अन्तिम बल है, अन्तिम चेतना है, आखिरी विराम है। मनुष्यकी जीवन-यात्रा उसी समय रुक जायगी, जब वह श्रद्धा खो बैठेगा। तभी यात्री हताश होकर बैठ जायगा, जब उसके हृदयकी आस्था अस्थिर हो जायगी। सरपर सरजनहार और हृदयमें विश्वास, यही हमारे प्रेरक-रक्षक सत्त्व हैं। श्रद्धा-हीमें आखिर मनुष्य-जातिकी अनन्त विजय है।

× × ×

रचना और विनाश

मकानका बनाना कठिन है, गिराना बिलकुल आसान। एक-एक टाँका लगाकर सिलाई करना मुश्किल है, लेकिन धड़-धड़ उधेड़ डालना आसान है।

वर्षों तक सिर खपाकर कोई चीज़ पाना कठिन काम है, बिना विचारे उसे फेंक देना सहज है।

दुनियामें बनाना, रचना करना कठिन है, विनाश करना सरल है, आसान है।

× × ×

एकोपासना

मनुष्यको एक ही चीज़की उपासना करनी चाहिये। जो एक ही बातको पकड़ लेता है, एकही की उपासना करता है, आमरण एकहीको पकड़े रहता है, मृत्युके उस पार भी जिसकी निगाह एकही चीज़पर गड़ी हुई है, वह सब कुछ पा लेता है। लेकिन जो कभी इस ओर और कभी उस ओर मन दौड़ाता है उसे पछताना पड़ता है। जो एक-हीमें एकाग्र होकर अपना सर्वस्व स्वाहा कर देता है, वह सर्वस्व पाता है। लेकिन जो एकको छोड़ देता है, उसे ज़िन्दगीभर भटकना पड़ता है। हम जो चीज़ लें, एक लें। अगर विद्या लें तो एक; उद्योग एक; गुरु एक; पन्थ एक और ईश्वर एक। एकके साथ एक बनते ही—तन्मय होते ही एकमें अनेकके और अनेकमें एकके दर्शन होंगे। एकका ज्ञाता सर्वज्ञ बनेगा। एकका पण्डित पण्डित-शिरोमणि होगा। एक-निष्णात अनेक-निष्णात बनेगा।

लेकिन इस एककी उपासना ही बड़ी कठिन है। अनेकका मोह मनको चक्करमें डाल देता है। एककी स्थिरताको अनेक अस्थिर बनाते हैं। एकके विश्वासमें—वफ़ादारीमें अनेकका विश्वास और वफ़ादारी मौजूद हैं। एककी साधना सरल नहीं है। यह एक प्रभु भी हो सकता है, पत्थर भी।

हम अपने जीवनमें यह एकोपासना करते हैं ?

× × ×

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आग्रह और मेहनत

उन्नतिशील मनुष्य दिनभर काममें जुटा रहता है। वह सवेरे उठकर दिनभरके कामका अन्दाज़ बाँधता है, विचार करता है और फिर संकल्प करके शामको दिनभरके कामका हिसाब लगाता है। जो काम रह गया हो उसके लिये हतोत्साह न होकर, दूसरे दिन दूने उत्साहके साथ उसमें लग जाता है। अपने संकल्पको अधिक मजबूत बनाता है। जिन कारणोंसे रुकावट खड़ी हुई हो उनकी जाँच करता, उन्हें हटाता है। विचार करनेसे हमारे काममें स्पष्टता आती है। विस्तारसे बातें सूझती हैं। बलाबलका ज्ञान होता है। इच्छा करनेसे एक क़दम आगे बढ़ता है, लेकिन स्वयं विचार या इच्छा काम नहीं कहे जा सकते। काम तो काम करनेसे ही होता है। जबतक करने न लगें तबतक निरी बकवास-मात्र है। अकेले विचारों और बातोंमें जो बल लगाते हैं, अगर उसका उपयोग काम करनेमें किया जाय तो इच्छा पूरी हो। पुरुषार्थ पहली चीज़ है, मुख्य है। यत्न करते हुए भी अगर सफलता न मिले तो हमें देखना चाहिये कि यत्नमें कहाँ त्रुटि रह गयी है। हम मन्दबुद्धि हैं या तेजस्वी हैं, इसकी कोई चिन्ता नहीं। हममें काम करनेकी लगन है? हम शरीरसे बलवान् हों या निर्बल, पर्वा नहीं। हममें संकल्प-शक्ति है? आग्रह है? आग्रही और मेहनती आदमी सब कुछ पा सकता है।

× × ×

सच्चा गुरु

सच्चा गुरु वही है, जिसे यह पता भी नहीं होता कि मैं गुरु हूँ। वह अपनेको सदा शिष्य समझता है। जहाँ विद्या है, वहाँसे उसे नम्रतापूर्वक ग्रहण कर लेता है। जहाँ अविद्या है वहाँ उसका प्रताप—तेज स्वयं ही अविद्याको हटा फेंकता है। जो कहता है 'मुझे आता है, आपको क्या पता?' उसीको सीखना है। सच्चे गुरुकी परख सच्चा शिष्य ही करता है। सच्चा गुरु सच्चे शिष्यको कसौटीपर चढ़ाता—तपाता है। सच्चा शिष्य इसीमें आनन्द मानता है। झूठा गुरु शिष्यको चौंधिया देता है। दम्भका पाठ सिखाता है।

शास्त्र कहते हैं—गुरु श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ और दयालु होना चाहिये।

श्रोत्रिय बनना आसान है। शास्त्रोंको तोतेके समान पढ़ जाना बोझा ढोना है। ब्रह्मनिष्ठ भी बना जा सकता है। तत्त्वदर्शी भी अभिमानी हो सकते हैं। बिरले ही गुरु दयालु होते हैं।

ऐसा गुरु शिष्यके अज्ञानसे दुखी होता है। उसे मिटानेके लिये स्वयं कष्ट सहन करता है। जबतक शिष्यका उद्धार नहीं होता तबतक शिष्यको कष्ट देकर स्वयं भी कष्ट सहता है। वह शिष्यके बिना जाने ही उसे बढ़ा देता और स्वयं छोटा बना रहकर उसका कल्याण करता है।

जिसे ऐसा सद्गुरु मिले वह शिष्य धन्य है!

बात और काम

अकेली बातोंसे क्या हो सकता है? बातके साथ काम भी चाहिये। हाथ पैर हिलाकर मेहनत करनी चाहिये। लेकिन निरा उद्योग भी किस कामका? काम तो काम ही है और काम हमें कहाँ ले जायगा? तो फिर? हमें विचार भी करना चाहिये। सत्-असत् विवेक-बुद्धि भी चाहिये। यह कार्य करने योग्य है या नहीं? यह हितकर है या हानिकर? किन्तु अकेली विवेक-बुद्धि टिक भी सकेगी? इस बुद्धिकी निर्मलताकी शक्ति किसमें पैदा होगी? इसका बल, इसका सच्चा उपयोग मनुष्यके दिलमें मनुष्यके प्रति पैदा होनेवाले सद्भावोंके रूपमें प्रकटेगा; मनुष्य मनुष्यके दुःखोंसे दुखी होगा, उसके सुखमें हँसेगा, उसकी कमजोरियोंपर दया दर्शायेगा, तभी उसका विवेक जीवित-चेतनमय बनेगा। तभी उसमेंसे सच्चा कर्तव्य जन्मेगा। तब बातके स्थानपर काम होगा। लेकिन इन सबके साथ भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी दूसरी चीजकी ज़रूरत रहेगी। हाँ, प्रभुकृपा चाहिये, परम दयालु परमात्माकी कृपा चाहिये। तथा उसके आशीर्वादकी भी ज़रूरत होगी।

× × ×

लक्ष्य

वह मनुष्य अपनी जीवनयात्राके पथपर दिन-दिन अग्रसर होता जाता है, जो किसी निश्चित ध्येयको सामने रखकर यात्रा शुरू करता है। लक्ष्य निश्चित किये बिना ही चलते रहना, भटकना है। भटकनेवाला सबेरेसे लेकर शामतक भटकता है, थककर चूर हो जाता है, नये-नये अनुभव प्राप्त करता है, लेकिन फिर भी उसके काममें न तो संगति होती है, और न शृंखला पायी जाती है। जीवन भटकनेको नहीं है, लक्ष्यको सामने रखकर आगे बढ़नेके लिये है। हरएक आदमी अपने लक्ष्यको पहचान ले और फिर चलना शुरू करे। परवा नहीं, अगर वह धीरे-धीरे चलता है या जल्दी-जल्दी दौड़ता है। आखिर वह अपने लक्ष्य-तक पहुँचेगा ही।

× × ×

योग्यता

यह युग योग्यताका है। योग्यताहीन मनुष्य इस युगमें टिक नहीं सकता। अकेली सिफारिश अब काम नहीं कर सकती। घूँसखोरी या रिश्वत-बाज़ी भी अब तो निरर्थक है। बाहरी दिखावट, तड़क-भड़क भी अब दूरतक साथ नहीं दे सकती। फौलाद-सी मज़बूत और रुपये-सी कलदार योग्यता प्राप्त किये बिना अब गाड़ी आगे बढ़ नहीं सकती। जो लियाकत–योग्यता बढ़ानेकी परवा नहीं करते वे अपने आप पछताते हैं। लायक आदमीको आगे बढ़ते देख किसीको ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। नालायक भी अगर तरक्की करे तो ईर्ष्या क्यों की जाय? उसे अपने आप रुकना पड़ेगा। योग्यता बढ़ाओ। योग्यता ही इस युगका लक्षण है।

५

मर्यादा

यह जमाना ही इतना ललचानेवाला है कि आदमीका दिल भटक जाता है। वह सोचता है, यह करूँ या वह करूँ। आदमी दोनों घोड़ोंपर सवार रहना चाहता है। लेकिन मनुष्यको अपनी शक्तियोंका, अपनी मर्यादाओंका विचार करना ही चाहिये। शक्तिसे परेका काम करनेसे सारा गुड़ गोबर हो जाता है। अनेक जगह मुँह मारनेसे एक जगह भी पूरा मुँह नहीं भरता। शक्तिको समझकर काम करनेमें सार्थकता है। एक कामको अगर शुरू किया है तो उसपर डटे रहने और उसे पूरा करनेही में सच्ची बुद्धिमानी है।

× × ×

एक दिन

वह सात मंजिला मकान एक दिनमें नहीं बना था। राजने एकके बाद एक ईंट जमा-जमाकर न जाने कितने दिनों और महीनोंतक मेहनत की थी, जब कहीं यह मकान बनकर पूरा हुआ था।

वह बोहरे-बाजारवाला सुलेमान एक ही दिनमें इतना बड़ा सेठ नहीं बन गया था। एक दिन था जब वह पाई-पाई, पैसे-पैसेकी चीज़ें हाट-बाज़ारमें बेंचा करता था। वह फेरीवाला था। इस तरह थोड़ा-थोड़ा व्यापार करते-करते वह एक बड़ा भारी व्यापारी बना और आज कई साल बाद वह नगर-सेठ बन सका है।

वह महान् चित्रकार एक दिनमें नहीं बना था। न जाने कितनी पेन्सिल, कितने कागज़, कितनी रंगकी डिब्बियाँ और कितनी कूँचियाँ बिगाड़ने और हाथ घिसनेके बाद वह चित्र निकालने लगा। इस तरह दिन-के-दिन और साल-पर-साल बीत गये, तब कहीं आज वह चित्रकार–महान् चित्रकार बना है।

वह दिग्गज पण्डित एक दिनमें दिग्गज नहीं बना था। ककहरेसे शुरू करके उसने न जाने कितनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किताबें पढ़ी, न जाने कितने समय तक गुरुके पास रहकर उनकी सेवा की। न जाने कितने समय तक सरस्वतीकी उपासना करके अपनी आधीसे ज्यादा ज़िन्दगी बिता डाली, तब कहीं आज वह दिग्गज पण्डित बना है।

कोई काम एक ही दिनमें नहीं होता।

× × ×

किताबी ज्ञान एक बात है, अनुभव दूसरी बात। अकेला ज्ञानी पण्डित-मूर्ख कहलाता है और अकेला अनुभवी अगुआ मात्र माना जाता है।

ज्ञान और अनुभव एक दूसरेसे जुदे न होने चाहिये। अनुभवहीन ज्ञान ज्ञानका बोझा है, और ज्ञानहीन अनुभव जड़ता है।

ज्ञान बुद्धिपर निर्भर है। अनुभव बुद्धि और हृदय दोनोंका आश्रय लेता है।

वही सच्चा ज्ञानी है, जिसने ज्ञान-प्राप्तिके लिये अनुभवको साधन बनाया है।

× × ×

हम काम करते-करते मशीन न बन जायँ; रात-दिन विचार-ही-विचारमें गर्क रहकर पण्डित-मूर्ख न बन जायँ, एकमात्र कल्पना-जगत्की सैर करके ही थक न जायँ, और न अकेली भावनासे प्रेरित होकर रोते-रोते कमजोर बन जायँ।

स्नेह-शक्ति, कल्पना-शक्ति, बुद्धि-शक्ति, क्रिया-शक्ति इत्यादि तमाम हमारी शक्तियाँ हैं। ये हमारी समृद्धि हैं। हम इनका अच्छे-से-अच्छा उपयोग करें।

प्रेमी हृदयमें जगनेवाली भव्य कल्पनाको हम विचार-बलसे शुद्ध करें और क्रिया-शक्तिद्वारा उसे मूर्तिमन्त बनाये रक्खें। संसारमें जितनी भी आश्चर्यजनक बातें हैं, उन सबको मनुष्यने अपनी इन शक्तियोंको एकत्र करके ही मूर्तरूप दिया है। इसीको हम आश्चर्यजनक कृति- अद्भुत सृष्टि कहते हैं।

× × ×

(संकलित)

महात्मा स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराजका वचनामृत*

[पृष्ठ ७४८ से आगे]

(४५) जब स्थूल कुटुम्ब छूटे, तब सूक्ष्म कुटुम्ब इसके साथ और भी हैं। तिनका स्वरूप सुनो, ममता माता, लोभ पिता, शरीरकी प्रीति स्त्री, इन्द्री-भोग भाई, बुरी चितवनी सुता, अपकर्म-रुचि पुत्र, यह सब आप ही मिलते हैं। दोनों सम्बन्ध छूटैं तब परमेश्वरके योग्य होय।

(४६) जिन पुरुषोंने काम क्रोधादिक शत्रु मारे हैं, तिन्होंने सब सन्तोंकी आज्ञा मानी है।

(४७) एक समय श्रीनारदमुनि श्रीअंगिराऋषि-समेत सब तीर्थकी प्रदक्षिणा करते-करते किसी नगरके बाजारमें बैठे देखते क्या हैं कि एक बकरे-को कसाई लेके चला जाता है। चलते-चलते वह बकरा एक दुकानसे थोरा दाना मुँहमें डारि लिया, तब वह बनियाँ क्रोध करिके मारा, दाना भी मुखसे छीन लिया, कसाईको भी पकड़के कैद किया, यह चरित देखिके श्रीनारदजी दुःखसमेत स्वासा लिया। तब अंगिराजीने कहा, कि 'हे महाराज! आप तो आनन्दमूरती हौ, खेद क्या है?' तब श्रीनारदजी बोले, 'संसारकी रीति देखिके दुख पाया है, यह बकरा इस बनियेका बाप है। दुकान भी इसीने डाली थी। उसी सम्बन्ध-अभ्याससे दाना लिया था। तिसकी यह गति होती भयी। बड़े मेहनतोंसे 'पीर, फकीर मनायके यह लड़का भया था। सो आज मुँहमें दाना नहीं लेने देता, देखो मनुष्य वृथा धन्धोंमें पचि मरते हैं, जिसमें

* श्रीसियारघुनाथशरणजीकी कृपासे प्राप्त।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्षक भी सुख नहीं। ऐसा नहीं करते जो दुख-समुद्रमेंसे तरि जायँ।

(४८) परम सन्तोषकी यह निशानी है। जिनके पाँच चिन्ह हैं। एक तो बाँटि खावना, दूजी गरीबी, तीजी बेपरवाही, चौथी अचिन्त्य वृत्ति, पञ्चम सदा हरि-यशका व्यौहार।

(४९) पाँच प्रकारका मांस जगत् भक्षण करता है। पर जिज्ञासूको सब त्यागना उचित है। प्रथम मांस पशू आदिकका, दूजा मांस कामादिक भोग, तीजा मांस सुन्दररूप विषय, चौथा मांस निन्दा, पञ्चम विषय शब्द राग दुर्वचनका, पाँचो तजे तब सुखी, पवित्र होगा।

(५०) चारि प्रकारकी निद्रा है। सबसे जागे तब सन्तवचन उपदेश लगै। प्रथम निद्रा सुषुप्ती है, अन्न जलके खाने करिके चेतनता आवरण हो जाती है, दूसरी निद्रा, संकल्प बाहर निकल जानेकी है। जो दृष्टि श्रवण होते भी न सुनै। जाते मन भिन्न ही सैर करता है। तीसरी निद्रा वचनका अर्थ न समझना है। पढ़ना न पढ़ना बराबर है। चौथी निद्रा, वचन-अनुसार करनी न करनी। जब करनी न हुई तब सुख-स्वादसे बाहर रहा।

(५१) जिज्ञासुओंके तीन लक्षण उत्तम हैं। एक तो सहनशीलता, भूमिकी तरह। दूसरा उदारता, नदीकी नाईं। तीसरा दयालुता, मेघकी नाईं। तीनों लक्षण होय तब परमेश्वरके मिलने योग्य होय।

(५२) पाँच प्रकारसे जीवोंकी अवस्था चली जा रही है। कुमतिका कहना करना, उदर भर खावना, सुषुप्ती निद्रामें बहुत सोवना, कामादिक साथ प्रीति करनी, पर-निन्द्रा झगड़े लड़ाई-में डूबे रहना, असत्य वचनमें मनको परचाये रहना, यह तामसी मनुष्यकी रीति कही। अब राजसी मनुष्यनकी आयु यों चली जाती है, मोहादिकोंका दास रहना, विषयोंकी प्रीति हृदयमें प्रबल, मान-प्रभुताकी चाह, उदर भरनेकी चिन्ता, वाद-विवादमें, मायाके बन्धनमें परचे रहना सदा। अब सात्त्विकी मनुष्योंकी आयु यों चली जाती है; जप, तप, व्रत, दानादि शुभ कर्म करना, पर कामनासमेत करना, सदा। अब शुभ सात्त्विकी मनुष्योंकी आयु यों चली जाती है, सन्तोंके वचन अनुसार मनको बरतावना, प्रभु-प्राप्ति-अर्थ उत्साह-सनेह हृदयमें राखना, स्वर्गादि तीनों लोककी विभूतिकी इच्छा न राखनी, श्रीराम-रूप नामादिकोंमें छकिके रोवना, हँसना, कबहूँ-पछतावा करके रोवना, कबहूँ श्रीराम-ध्यानमें मगन हो जाना, कबहूँ प्रभु-यश कहना, सुनना, इसी रसमें मन मगन करि राखना। अब जीवन्मुक्त मनुष्योंकी आयु यों बीती जाती है, श्रीरामकी चाहमें अपनी चाह लीन करि डारते हैं। उनकी इच्छा प्रधानमें खुशी है। अपनी रुचि तर्क करि डारी है, सहजके हिंडोलेपर चढ़िके दिन-राति झूलते हैं, स्तुति-निन्दा, मान-अपमान, कञ्चन-माटी सम समझते हैं, इसी मौजमें मस्त—मगन रहते हैं।

(५३) सब साधन-सुकृतका फल यह है कि सन्तोंके हृदयसे अपना हृदय मिलावना, तात्पर्य यह है कि उनके समान अचारी होना, निरमोही होना, परमेश्वरके रंगमें रँगना, जिसमें दूसरा रंग न चढ़े पावै कभी।

(५४) नर्क, मौत किसीका भय मत करिये, केवल छण-छणमें परमेश्वरसे डरिये, भयते प्रीति होयगी, तब परमेश्वरकी कृपासे दुःख कोई न व्याप सकैगा, जैसे श्रीप्रह्लादजीको अग्नि, जल, सर्प, पर्वत, दैत्य, दानव कोई दुख न दे सका सब थकि गये, अन्तमें श्रीनरसिंहजी प्रगट होयके दुष्टनको मारा, उनको परमानन्द दिया, ऐसे ही जो कोई साँची प्रीति परमेश्वरसे करता है, तिसके सब दुःख दास हो जाते हैं। प्रीति करके परिक्षा कर लीजिये, अशंसय।

(५५) मनुष्य-देहमें जो प्रयोजन राखा है, सो अविनाशी परमेश्वर-प्राप्तिरूप है, ऐसे क्षणभंगुर शरीरमें गुरुमुख अविनाशी कारज करि लेते हैं। और मनमुख विषयानन्दमें भूलिके विनाशी कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं, ताते नाना दुःख पावते हैं, कहाँतक लिखें ? ताते सावधानता सार हैं।

(५६) किसी भेड़ी चरावनेवालेने 'लाल' पाया, उसको पत्थर जानिके सेरभर जलेबीपर बेंचिके भागा जावै, किसीने कहा काहे भागा जाता है ? उसने कहा कि भाई, एक पथरा देके हलवाईसे सेर भर मिठाई ठगा है। तिसी डरसे भागा जाता हूँ। कि कहीं फेर न लेवै। ऐसे ही मनुष्य-जन्म अमूल्य लाल-सदृश पायके संसारी विषय तुच्छपर बेंचिके आपको बड़भागी मानते हैं। जो मायासे ठगा हुआ आपको मानते, तौ छूटनेका उपाय होता ? सो तौ और कृतार्थ मानते हैं उस नीच सम।

(५७) दस सकार मोक्षप्रद है-१ सत्य २ सन्तोष ३ सेवा ४ सुमिरन ५ सुमति ६ साधुसंग ७ समता ८ सहनशीलता ९ स्तुति परमेश्वरकी १० शब्द सतगुरुका-दशों शिक्षा गहै मोक्ष पावैगा-दृढ़ता चाहिये।

(५८) पाँच पदार्थ जगत्में दुर्लभ हैं, १ सुमति २ सतगुरु ३ ईश्वर-धर्म-उपदेशक मित्र ४ प्रभुधर्म-शिक्षक माता-पिता ५ नीतिमान राजा।

अव्यापक व्यापकता

किस अनन्तकी स्वर-धारामें
बहा जा रहा विश्व-विभोर ?
अन्धकारमें सुन पड़ता है
किस अनादिका गर्जन घोर ?
सुप्त - जगत्की आँखोंपर
स्वप्नोंका कौन बुन रहा जाल ?
कौन गा रहा लयमें लय हो
झूम-झूम दे-देकर ताल ?

किस 'अदृश्य' के चरणोंसे
मेरा 'भविष्य' टकराता है ?
किसके स्वरमें मिल अतीत
भीषण हुंकार सुनाता है ?
वर्तमान दौड़ा जाता है
किस अगाधमें होने लीन ?
किस असीमसे मिल, इच्छाएँ
हो जावेंगी सीमा-हीन ?

कौन खे रहा प्रलय-सिन्धुमें विश्व-तरी हो अन्तर्धान ?
किस अव्यापक व्यापकतामें पूर्ण बनूँगा मैं अनजान ?

—श्री 'प्रभात' बी० ए०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माताका स्नेह और मातृपूजा

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल)

हम क्या प्रेम कर सकते हैं, प्रेम करनेवाले वे प्राण ही हमारे अन्दर कहाँ हैं ? तन-मनकी सुधि भुला देनेवाले और जगत्‌की विस्मृति करा देनेवाले भावमें डूबनेके लिये हमारे प्राणोंका वह आकर्षण ही कहाँ है? इसीसे हम न तो प्रेमका स्वरूप ही जान सकते हैं और न प्रेम कर ही सकते हैं ? हम इस संसारमें जो प्रेम करते हैं, वह तो मानों राक्षसी प्यार है, वह प्रेम तो हम करते हैं प्रेमास्पदको खा डालनेके लिये, उसे पददलित कर उसके सारे सौन्दर्यको नष्ट कर डालनेके लिये और लोकमें उसे घृणाका पात्र बना देनेके लिये। छिः छिः, क्या इसीका नाम प्रेम है ? प्रेमका स्वरूप समझे बिना प्रेम करनेसे वह असली प्रेम नहीं होता, वह तो केवल इन्द्रिय-चरितार्थता होती है। जिस प्रेमका उद्देश्य इन्द्रिय-चरितार्थता है, वह कभी विशुद्ध नहीं हो सकता। इसीलिये संसारमें अन्ततक किसीके साथ प्रेम करके सुख नहीं मिलता। हम सबोंके अन्दर जैसे देवता निवास करते हैं, वैसे ही पशु भी हैं। सभी समय हमारे हृदय-सिंहासनोंपर केवल देवता ही विराजित नहीं रहते। अधिकांश समय तो हमारे अन्दर रहनेवाले पशु (पशुवृत्ति) ही छिपकर प्रेमके सिंहासनपर बैठ जाते हैं और समय-असमय धीरजके बाँधको तोड़कर वे अपने असली रूपमें प्रकट हो जाते हैं। इसीसे संसारमें इतना हाहाकार मच रहा है, और इसीसे जगत्‌में इतनी अशान्ति फैल रही है !

इस संसारमें प्रेमका यत्किञ्चित् स्वरूप समझना या देखना हो तो माताके समीप जाओ। वहाँ बहुत कुछ विशुद्ध प्रेमका स्वरूप देख सकोगे। यह माता भी हमारी उस जगज्जननीका ही अंश है, उस त्रिलोकप्रसविनी नित्यमाताका ही स्वरूप है, उसीका प्रतिविम्ब है, इसीसे इससे जो प्रेम मिलता है वह इतना सुन्दर और इतना निर्मल है, ठीक मानो पुण्यसलिला भागीरथीकी पवित्र धाराके समान अत्यन्त स्वच्छ, अत्यन्त शुद्ध और परम पवित्र है। जो इस माताकी भक्ति कर सकता है, दिल खोलकर 'मा' 'मा' पुकार सकता है, वह शीघ्र ही उस चिन्मयी माताको भी पहचान सकेगा। वह सर्वचराचररूपिणी जगन्मयी हमारी माँ कितने रूपोंमें, कितने भावोंमें और कितने स्वांगोंमें सजकर हमें अनवरत कितना आनन्द दे रही है। हम कभी आँखें खोलकर उसे देखते हैं ? माँ जैसे बच्चेको गोदमें उठाकर नचाती है, वैसे ही वह सच्चिदानन्द-मयी माँ हमें कितने नाच नचा रही है, उसके नित्य नवीन मनोहर नृत्यकी भाव-भंगियोंमें न मालूम हमारे कितने जन्म और हमारा कितना रूपान्तर हो जाता है। उस माँकी हम क्या पूजा करेंगे? कितना समय उसकी पूजामें लगावेंगे? वह तो प्रतिक्षण ही हमें लाड लडा रही है, हमारी पूजा कर रही है। हम उसके मातृ-हृदयको तृप्त करनेके लिये 'माँ' 'माँ' पुकारें, हमारे मुखसे इस 'माँ' शब्दको सुननेके लिये ही वह न मालूम कितने दिनोंसे कान लगाये बाट देख रही है। कितने युग बीत गये, बाट देखते-देखते कितनी बार सृष्टि, स्थिति और प्रलय हो चुके। तब भी हम 'माँ' 'माँ' पुकारकर उसके हृदयको सुखी नहीं कर सके। हाय दुर्भाग्य ! हाय रे पाशविकता ! हमारी उस माँ का हृदय अनन्त प्रेमका निर्झर है, इसीसे वह हमारा पीछा नहीं छोड़ रही है। इतनी उपेक्षा करनेपर भी वह हमारी अपेक्षा कर रही है, हमारे लिये न मालूम कितने युगोंसे माताके वक्षःस्थलसे स्तन्य-सुधाकी अनवरत धारा बह रही है। उस प्रेम-सुधा-धारासे आजतक न मालूम कितनी प्रेम-नदियाँ और कितने प्रेम-समुद्र बन गये,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु हमारे अभागे हृदय-पाषाणका एक कण भी नहीं बहा। यह जीवनकी कैसी विडम्बना है? हम किस अभिमानके पहाड़की चोटीपर बैठे हैं? वह अनन्त प्रेम-धारा कितने हृदयोंको धोकर चली गयी, पर क्या उसने हमारे हृदयतीरको स्पर्श ही नहीं किया? नहीं, निश्चय ही उसने स्पर्श किया है। हम सोच-समझकर इस बातको नहीं देखते। वह तो रोज़-रोज़ ही स्पर्श कर जाती है, परन्तु हम उसे दिल लगाकर नहीं देखते। हम तो अपने मनके आवेगमें ही मस्त हुए बैठे हैं, न मालूम किस-किस काल्पनिक-सुखके नशेमें चूर हो रहे हैं, फिर उसकी पुकार हमारे कानोंमें कैसे प्रवेश कर सकती है, कौन सुने उसकी बातें? सुननेवाला तो स्वयं पागल हो रहा है। जगत्में न मालूम कितनी तरहके पागल हैं।

किसी-किसी पागलको ऐसा ख़याल होता है कि हम माताकी बड़ी पूजा करते हैं, उसके लिये अनेक साधन करते हैं, वह हमारे इस भजन-साधनसे आकर्षित होकर हमपर कृपादृष्टि करेगी। हाय रे मूर्खता। हाय रे पागलपन! इस बातको सुनते ही हँसी आती है। हम उसे आकर्षित कर सकें, ऐसी हमारे अन्दर कौन-सी शक्ति है? तब भी हमारी वह माँ हमारी व्याकुलता देखकर पुकार उठती है, यह उसकी हम पर असीम कृपा है। हम उसको कहाँ पुकारते हैं? वह माँ ही तो हमें पुकारती है। हम क्या धूल उसकी पूजा करते हैं, वही तो हमारी पूजा करती है। खिलौने सजकर खिलाड़ीको आनन्द देते हैं यों खिलाड़ी ही खिलौनोंको सजाकर उनसे आनन्द प्राप्त करता है?

उसकी पूजाके लिये बड़ी भारी तैयारी चाहिये, विराट् आयोजन होना चाहिये। ऋषि-मुनियोंने भक्ति-विह्वल चित्तसे इस बातको समझा था, इसीसे वे मनुष्योंकी भाषामें मनुष्योंके लिये कुछ-कुछ प्रकट कर गये हैं! हम अज्ञानी यदि कभी उसे समझ सकेंगे, हम अन्धोंकी भी किसी दिन आँखें खुल जायँगी तो पता लगेगा। अहा! ऋषियोंकी कितनी दया है, व्यथित-पीड़ित आर्त्तोंके लिये उनके हृदयमें कितनी सहानुभूति है? क्यों न हो? माताके सच्चे सुपूत तो वही हैं, उन्होंने ही माँको समझा है; वही माँके मनकी बात जान सके हैं। हमारी वह माँ नित्य आर्त्तत्राण-परायणा है, सन्तानवत्सला है! पर हम ऐसे कुपूत हैं, ऐसे पाषणहृदय हैं कि ऐसी माताकी ओर भी एक बार आँख उठाकर नहीं देखते। हम जिस ज़मीनपर बैठे हैं, जिसपरसे चल फिर रहे हैं, सो रहे हैं, उठते-बैठते हैं और जिसका रस प्रतिदिन फलफूलोंके रूपमें, नानाप्रकारके अन्नके रूपमें हमें तृप्त कर रहा है, वह कौन है? अरे वही तो हमारी माँ है, माँको दूसरी जगह ढूँढ़ने कहाँ जाओगे? रोज़ ही तो नन्हें-से शिशुकी तरह उसके हृदयपर चढ़कर शक्तिभर उसका रस खींचकर पी रहे हो, उसीसे तो तुम पुष्ट हो, वही तो हमारी करुणामयी है, वही तो धरणी है—हमारी माँ! 'महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।' रोज़ जो प्याससे व्याकुल होकर कुलकुल करते हुए जल पीते हो और उससे प्राण बचे समझते हो। जानते हो उस जलके अन्दर जीवनी-शक्ति कौन है? जल पीकर क्यों तृप्त होते हो? इस जीवनरूपमें भी जगत्की जीवनस्वरूपा हमारी वह माँ ही है, 'अपां स्वरूपा स्थितयात्वयैतत्।' यह जो मन्द-मन्द सुखभरी हवा चल रही है, जिससे शरीर और मन शान्त हो रहे हैं। यह उसीका तो स्पर्श है। जो इतना सुख देती है, इतनी स्पष्टताके साथ तुम्हारे सामने सदा खड़ी रहती है—तुम उसको कहाँ पहचानते हो? कहाँ समझते हो? अरे तुम तो समझनेकी चेष्टा भी नहीं करते। इतनेपर भी यह कहनेमें नहीं सकुचाते कि वह 'कहाँ है? उसके दर्शन कहाँ हो सकते हैं? उसको प्राप्त करना केवल बात-ही-बात है।' तुम समझते हो मानो माँ सदा छिपी ही रहती है। उसे खोज निकालनेका भार मानो तुम्हारे ही ऊपर पड़ा हुआ है, इसीसे तुममेंसे कोई माला खटकाते हैं तो कोई फूँ-फूँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए प्राणायाम करते हैं और सोचते हैं कि माँ हमारे साधन-जलमें फँस गयी हैं, क्यों ?, पर यह सब कुछ भी नहीं है। बात तो ठीक इससे उल्टी है। हम उसे नहीं खोजते हैं, वही हमें खोज रही है। न जाने कितने दिनोंसे, कितने युग-युगान्तरोंसे वह अपना मातृस्नेहपूर्ण वक्षःस्थल लिये हमारे पीछे-पीछे दौड़ रही है, और पुकार रही है, 'बेटा आ! चला आ, दौड़ आ, एक बार मेरी छातीसे लग जा; अरे चञ्चल, अरे अबोध, मेरे लाल, चला आ, छोड़ दे भटकना, चला आ, एक बार फिर माँकी गोदमें।'

वही हमें हिलाती है, चलाती है, उठाती है, बैठाती है, खिलाती-पिलाती है और सुलाती है। हमारे लिये वह कितने रोने-हँसनेके खेल खेलती है, तब भी हम अपनी उस माँको याद नहीं करते! उसको पुकारने और साधना करनेका अब और क्या आयोजन कर रहे हो भाई? वही तो तुम्हारी सब कुछ है, वही तो तुम्हारे भीतर-बाहर है, वही तो अस्थि-मांसमय शरीर है, वही तो तुम्हारे प्राण-मन-बुद्धि है, वही तो तुम्हारा प्रिय अन्तरतर है, अरे वही तो तुम्हारा आत्मा है। उसकी स्तुति-प्रार्थना भी क्या करते हो? उसकी भेंट भी क्या चढ़ाओगे? वह न हो तो तुम्हारी जबान ही नहीं खुले। जो कुछ है सो तो उसीका है, किसकी चीज़ किसे दोगे? इतना-सा ज्ञान होनेपर ही तो सारे साधन-भजनका अन्त हो जाता है। अवश्य ही इतना तो हमें अवश्य करना ही पड़ेगा, जिससे उसकी स्मृतिधारा बहती रहे। कैसे अचरजकी बात है? इतनी उधेड़-बुन कर रहे हो, परन्तु उसे याद नहीं करते। लोगदिखाऊ जो उसका ध्यान करते हो, वह भी कितनी देर? फिर उसमें भी न मालूम कितनी बार अन्यान्य विषयोंका चिन्तन करते हो? यह न तो उसका असली स्मरण है और न साधन ही है। उसका निरन्तर चिन्तन करना पड़ेगा, प्रत्येक बोधमें उसीका अनुभव करना होगा। क्या तुम इस बातको जानते हो कि इन्द्रियोंके द्वारा यह मन जो असंख्य खेल खेलता है, वह क्या अपनी शक्तिसे खेलता है? जितने भी बोधके विषय हैं उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जिसका विकास उस माँके पदनिक्षेपके बिना हो सकता हो। क्या तुमने कभी इस बातपर विचार किया है? मन जो इन्द्रियोंके द्वारा दौड़ता फिरता है, इसके प्रत्येक वेगमें जो कल्पना या चिन्तना रहती है वह उस माँके ही चरण-कमलोंसे प्रस्फुटित होती है। इसके सिवा अंट-संट और जो कुछ होता है सो सब तो भूतकी बेगारके ढोनेके समान है। उसमें कोई भी लाभ नहीं है। उठो, जागो। नींदमें ही उठकर इधर-उधर हाथ मारनेसे कोई लाभ नहीं होगा। भलीभाँति जग उठो, सब छोड़कर एक बार जग-कर बैठ जाओ। जो कुछ है, सब उसीका है, वही सब है, इस स्मृतिको स्पष्ट कर डालना होगा। इसीका नाम यथार्थ साधना है इसके अतिरिक्त और सब तो गुड़ियोंके खेल हैं। इसी साधनासे मातृस्नेहका आदर कर माताकी यथार्थ पूजा करो!

मोहन

मोर पखा सिर मोहनके, बनमाल परी उर मंजुल झूलै।
बारिज-से बिकसे दृग दो, मुख तूल कोउ उपमान न तूलै॥
स्याम सुरूप मनोरम पै, अवलोकि प्रभासित पीत दुकूलै।
तीनिहुँ भौनमें कौन न जो, उनकी सुधिमें अपनी सुधि भूलै॥

भगवतीप्रसाद त्रिपाठी विशारद एम० ए० एल-एल० बी०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तपस्वी जाफ़र सादिक़का वचनामृत

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

(१) जिस पापके आरम्भ करनेमें प्रभुका भय लगता है और जिस पापके अन्तमें प्रभुसे क्षमाकी प्रार्थना होती है, वह पाप भी साधकको ईश्वरके समीप ले जाता है; परन्तु जिस तपस्याके आरम्भमें घोर अहंभाव हो और अन्तमें 'मैंने तप किया' ऐसा अभिमान उत्पन्न हो, वैसी तपस्या भी तपस्वीको ईश्वरसे दूर रखती है।

(२) अहंकारी साधकको साधक नहीं कहा जा सकता, वह तो अपराधी है, परन्तु जो मनुष्य पापी होनेपर भी प्रभुकी प्रार्थना करनेवाला है, वह साधकोंमें गिनने योग्य है।

(३) 'सहनशीलतावाला ऋषि श्रेष्ठ है या कृतज्ञ धनवान् श्रेष्ठ है?' ऐसा प्रश्न किसीने सादिक़से किया, तो आप बोले कि-'सहनशीलतावाला ऋषि श्रेष्ठ है; क्योंकि धनवान् चाहे जितना भला हो, तो भी उसका मन लक्ष्मीके विचारोंमें अटका रहता है और तपस्वी ऋषिका हृदय तो ईश्वरके विचारोंमें सदा ही लगा रहता है।'

(४) पश्चात्ताप बिना सच्ची साधनाका आरम्भ नहीं होता; इसलिये पश्चात्तापहीको ईश्वरकी साधनाका पूर्व अंग कहा है। परन्तु पश्चात्तापके विचार भी ईश्वरका स्मरण करते समय तो अन्तराय स्वरूप ही हैं, इसलिये उस समय तो इन विचारोंको निकाल डालना चाहिये। इतना ही नहीं, पर ईश्वरका स्मरण करते समय दूसरे तमाम विचारों और पदार्थोंको भी हृदयसे निकाल डालना चाहिये, कि जिससे ईश्वर खुद उन तमाम इष्ट वस्तुओंका स्थान ग्रहण करे।

(५) ईश्वर कहते हैं कि-'मैं अपनी स्वाभाविक करुणासे मनुष्यको, उसकी इच्छासे भी अधिक देता हूँ।'

(६) जो मनुष्य जीवन-निर्वाहके लिये नीतिपूर्वक व्यवहार करता है, उसको भी ईश्वरकी महिमा समझाती है, परन्तु जो मनुष्य ईश्वरके लिये ही जीवनका निर्वाह करता है, वह ईश्वरको ही प्राप्त कर सकता है।

(७) अमावस्याकी घोर अँधेरी रात्रिमें काले पत्थरके ऊपर जो बारीक-से-बारीक चींटी रहती हो, उसी चींटीकी तरह ईश्वर मानव-हृदयमें, गूढ़रूपसे निवास करते हैं।

(८) जब लोग मेरे नामकी 'उन्मत्त' और 'मस्त' होकर निन्दा करेंगे, तभी हृदयमें गूढ़ तत्त्व-ज्ञानका उदय हो सकेगा। मनुष्यको यदि समझदार शत्रु मिल जाय तो यह भी उसका सद्भाग्य ही समझना चाहिये।

(९) नीचे लिखे हुए चार प्रकारके मनुष्योंसे हमेशा सावधान रहना चाहिये—

(१) झूठ बोलनेवालेसे। इसका संग करनेसे सदा ठगाना पड़ता है।

(२) मूर्खसे। यह मनुष्य भले ही तुम्हारा शुभेच्छुक हो, तो भी इसकी मूर्खतासे तुम्हारा अशुभ ही होगा।

(३) कंजूस अथवा लोभी मनुष्यसे। यह मनुष्य अपने स्वार्थके लिये किसी समय तुमको बहुत हानि पहुँचायेगा।

(४) नीच हृदयवाले मनुष्यसे। यह मनुष्य आपत्तिके समय तुम्हारा नाश करेगा।*

* 'मुस्लिम महात्माओं' से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्वज्ञान

(श्रीरामावतारजी शास्त्री)

['उपदेश-साहस्री'से]

जो मुमुक्षु लोग अपने पूर्वजन्मार्जित प्रारब्ध पाप-पुण्योंको नष्ट करनेपर उतारू हो गये हों, जिनका अब आगेको पुण्य-पापोंके संग्रह करनेका वहम जाता रहा हो, उनके उद्धारके लिये इस 'परिसंख्यान' किंवा 'तत्त्वज्ञान' नामक प्रकरणका आरम्भ किया जाता है।

अविद्या किंवा अज्ञानने दोषोंको उत्पन्न किया है। वे दोष ही मनुष्यके मन, वाणी और शरीरकी प्रवृत्तिके कारण होते हैं। इस प्रवृत्तिसे इष्ट, अनिष्ट और इष्टानिष्ट फलोंको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका संग्रह हो ही जाता है। उन कर्मोंसे पिण्ड छुड़ानेके लिये ही इस प्रकरणका निर्माण किया जा रहा है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध नामके विषय, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंसे ग्रहणमें आते हैं। वे अपने आपका या आपसमें एक दूसरेको ग्रहण नहीं कर सकते, जैसे कि वे ही शब्द, स्पर्श आदि जब परिणाम पाकर लोष्ठ आदि बन जाते हैं तब वे अपने आपको या परस्पर एक दूसरे पदार्थको ग्रहण नहीं कर सकते हैं। किन्तु श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा इन शब्दादि विषयोंका परिज्ञान हुआ करता है। श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा इनका जो कोई तत्त्व जाना करता है वह तत्त्वज्ञाता होनेके कारण इनसे भिन्न जातिका पदार्थ होना चाहिये। वे शब्द आदि जब (जगन्निर्माणके लिये) एक दूसरेसे संसर्गको प्राप्त होते हैं तो उनमें जन्म, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, नाश, संयोग, आविर्भाव, तिरोभाव, विकार, विकारिभाव, क्षेत्र तथा बीज आदि अनेक धर्मोंका उदय हो जाता है, साथ ही ये सुख-दुःखादि अनेक कर्मोंको उत्पन्न करने लगते हैं। उन सब अनेक धर्मों तथा उन सब अनेक प्रकारके कर्मोंका जाननेवाला यह आत्मतत्त्व उन सबका ज्ञाता होनेके कारण ही शब्दादिके उन सब धर्मोंसे विलक्षण है। वह जन्मादिके बन्धनमें कभी नहीं आता। वह उन सुख-दुःखादिके झंझटमें कभी नहीं पड़ता।

इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले वे शब्दादि जब किसी विद्वान्‌की शान्तिका भंग करके उसे पीड़ित करने लगें तो विद्वान्‌को निम्नलिखित रीतिसे तत्त्वकी विवेचना करनी चाहिये।

यह बेचारा शब्द जब सामान्यतया सुनायी पड़ता है या जब मनोहर कोकिलों, सुन्दर बाजों किंवा हृदय-मोहक गायकोंके मुखसे षड्‌जादि स्वरोंका रूप धारण करके कानोंमें आता है, जब सुखद समाचारका रूप धारण करके इन कानोंमें घुसता है किंवा जब पसन्द न आनेवाले असत्य भयानक अपमान और निन्दा आदि वचनोंके क्रूर रूपको धरकर सामने आता है, तो यह बेचारा ग़रीब शब्द दृक-स्वभाववाले, सदा संसर्गरहित रहनेवाले, विकारोंके पञ्जेमें कभी न फँसनेवाले स्वरूप और सामर्थ्यसे कभी च्युत न होनेवाले, कभी न मरनेवाले, सदा ही निर्भय बने हुए मुझ अत्यन्त सूक्ष्म अविषय पदार्थको न तो कभी अपना विषय ही कर सकता है और न कभी मेरा स्पर्श ही कर पाता है, क्योंकि मैं तो एक असंसर्गी पदार्थ हूँ। यही कारण है कि यह बेचारा शब्द न तो मेरा कुछ बिगाड़ ही सकता है और न मेरा कुछ उपकार ही कर सकता है। इसलिये मुझे यह जान लेना चाहिये कि स्तुति या निन्दा आदि करनेवाले किंवा प्रिय-से मालूम होनेवाले ये बेचारे शब्द मेरा क्या बिगाड़-सुधार कर सकते हैं ? (भला कहाँ अनन्त आयुष्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला मैं और कहाँ दो चार क्षण जीवित रहनेवाले ये शब्द)। जो अविवेकी शब्दोंको भी अपना आत्मा या आत्माका कोई-सा भाग मान बैठा है उसीको प्रिय शब्द बढ़ाते और अप्रिय शब्द उसकी हानि किया करते हैं। क्योंकि वह अभी तक अविवेकी है। उसे अभी तक यही मालूम नहीं है कि आत्मतत्त्व क्या है ? शब्द क्या पदार्थ है ? इन दोनोंका परस्पर कोई सम्बन्ध है या नहीं ? बुरे-भले शब्दोंको सुनकर आत्म-तत्त्वमें कुछ लाभालाभ होते हैं या नहीं ? परन्तु मुझको अब यह सब कुछ मालूम हो चुका है तब ये बेचारे शब्द मेरा बाल भी बाँका करनेमें समर्थ नहीं हैं।

इसी प्रकार सामान्य स्पर्शसे अथवा ख़ास-ख़ास शीत-उष्ण, मृदु-कठिन आदि स्पर्शोंसे किंवा ज्वर उदरशूल आदि दुःखदायी बातोंसे अथवा किन्हीं ऐसे ही सुखदायी प्रसंगोंसे जो या तो इस शरीरमें ही रहते हैं या जो बाहरसे आनेवाले कारणोंसे अनुभवमें आया करते हैं, मुझ महान् तत्त्वमें कुछ भी विकार—मेरी किसी प्रकारकी वृद्धि या हानि होना ठीक इसी प्रकार असम्भव है जैसे कि घूँसा मारनेसे आकाशका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। क्योंकि मैं और आकाश दोनों ही स्पर्शहीन पदार्थ हैं। हे मेरे मन ! फिर बताओ कि ये शीतोष्णादि मुझ अस्पर्श-तत्त्वका स्पर्श करनेमें कैसे समर्थ होंगे ? इसी प्रकार साधारणतया देखे हुए रूपोंसे अथवा ख़ास-ख़ास सुन्दर और कुरूप स्त्रीलिंग आदि रूपवान् पदार्थोंसे मेरा कुछ भी हानि-लाभ नहीं होता, क्योंकि मैं तो एक अरूप पदार्थ हूँ। हाँ, यदि मैं भी रूपवान् पदार्थ होता तो रूपके रूपमें मिल जानेसे मुझमें किसी वृद्धिकी ही सम्भावना हो जाती।

इसी प्रकार सामान्य रस तथा प्रियाप्रिय लगनेवाले मीठे, खट्टे, नमकीन, कड़वे, तीखे और कसैले पदार्थोंसे—जिनको मूर्ख लोग बड़े चावसे चाटा करते हैं, जिनको रखनेके लिये एक बढ़िया-सा मसालदान बनवाया करते हैं—मुझ अनन्त आत्मतत्त्वकी क्या वृद्धि या हानि हो सकती है, क्योंकि मैं तो एक अरस पदार्थ हूँ। यदि मैं भी कोई रसीला पदार्थ होता तो इन रसोंसे मुझे अपनी वृद्धिकी आशा बँध जाती।

इसी प्रकार सामान्य गन्धसे तथा विशेष फूलमाला, अनुलेपन आदि प्रिय और अप्रिय गन्धदायी पदार्थोंसे मुझ अगन्धात्मक तत्त्वकी किसी प्रकारकी हानि या वृद्धि नहीं हो सकती। देखते नहीं हो कि श्रुति (काठ०-१-३-१५) स्वयं यह बात कह रही है कि जो शब्दादिवाला होता है वही सावयव होनेसे व्यय किंवा नष्ट होता रहता है, यह आत्मतत्त्व तो शब्दादिवाला न होनेसे एक अव्यय पदार्थ है, इसमें स्पर्श, रूप, रस किंवा गन्ध कुछ भी नहीं है, इसीसे यह एक नित्य पदार्थ है इसका आदि किंवा कारण भी कोई नहीं है इससे इसको अनादि कहते हैं, इसका अन्त भी कहीं नहीं पाया जाता। यह बुद्धिसे भी ऊपरका तत्त्व है। जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्तब्ध होकर खड़ी हो जाती हैं, जब बुद्धि और मन मुर्दा होकर गिर पड़ते हैं, जब इनमें इनका धर्म ढूँढ़े भी हाथ नहीं आता, जब ऐसी निर्व्याज अवस्था आती है, जब आत्माके ऊपर आये हुए व्याजरूपी कपड़े फट-फटकर गिर पड़ते हैं और जब हममें देवदुर्लभ केवली भावका उदय होता है तो इसी शान्त निर्विकार तत्त्वको आत्मा कहा जाता है। इस तत्त्वको यदि कोई अधिकारी पहचान लेता है तो वह मृत्युकी डरावनी पकड़में कभी नहीं आता।

एक और भी बड़ा कारण है कि हमें भले-बुरे शब्दों, मृदु-कठिन स्पर्शों, सुन्दर-असुन्दर रूपों, स्वादु-अस्वादु रसों तथा सुरभि-असुरभि गन्धों किंवा हृदयवेधी और हृदयग्राही वचनों अथवा चिन्ताओंसे कभी भी विचलित न हो जाना चाहिये। क्योंकि ये जो बाह्य शब्दादि सुनायी पड़ रहे हैं ये मूलमें सब एक ही तत्त्व हैं। इनमेंसे कुछ तो शरीरके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकारमें स्थित हो गये हैं। कुछ शब्दको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय बन गये हैं। कुछने मन-बुद्धि नामक दो अन्तःकरणोंका आकार ग्रहण कर लिया है। तथा कुछ इन सब इन्द्रियों और मनोंसे ग्रहण करने-योग्य विषय बन बैठे हैं। इस बातकी सम्भावना देखनी हो तो यों देखो कि इसीसे तो ये आपसके भाई-चारेको अभी तक निभा रहे हैं। ये सब क्रियाओंमें सहोदर भाइयोंके समान एक दूसरेके संसर्गमें आते और सब-के-सब मिल-जुल कर इकट्ठे हो जाते हैं। जब इनमेंसे किसीपर कोई खतरा आता है तो ये सब मिलकर उस भयका सामना करनेको तैयार हो जाते और उस आक्रमणकारीको अपना शत्रु मान लेते हैं। परन्तु इस गुप्त भेदको जान लेनेवाला मैं अब इनके साथ भाई-चारा नहीं बाँधता हूँ। पड़ोसीके घर जब कोई मौत हो जाती है, उसमें जैसे लोग सहानुभूति दिखलानेके लिये शोक मनाने चले जाते हैं वैसे ही अब मैं इन शरीर, इन्द्रिय और मनके सुख-दुःखमें शरीक नहीं होता हूँ। क्योंकि मुझ शुद्ध आत्मतत्त्वका शत्रु-मित्र या उदासीन कोई भी नहीं है। मैं अब अकेला रहनेका आदी हो चला हूँ। पक्षियोंके नये नये बच्चे जैसे फुदकते-फुदकते अपना चिरपरिचित घोंसला छोड़कर उड़ जाते हैं इसी प्रकार मैं ज्ञान-रूपी पंखोंकी सहायतासे इन शरीरादिको कहीं भी पड़ा छोड़कर उड़ने लगा हूँ। मुझे इन शरीरोंमेंसे निकल कर बाहर बैठना आ गया है। जैसे कोई पालतू तोता पींजरेके दर्वाजेके खुल जानेपर उसमेंसे उड़कर व्यापक आकाशमें स्वच्छन्द घूमने लगता है, इसी प्रकार जबसे मेरे आचार्योंने मेरे अज्ञानरूपी किवाड़ोंको खोल दिया है तबसे मैं इस शरीरमेंसे निकलकर बाहर आ बैठा हूँ। अब मुझे अपने व्यापक रूपके दर्शन मिल गये हैं। अब मैं इन शरीरादिकी पकड़में नहीं आता हूँ, इनके बिगाड़-सुधारसे मेरा कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। तीव्रधारा-वृष्टिसे गिरते हुए मार्गके मकानोंको जैसे कोई यात्री उपेक्षा-दृष्टिसे देखता चलता हो इसी प्रकार प्रारब्ध-रूपी वृष्टिसे इन शरीरादिपर आनेवाले प्रिय और अप्रियोंको मैं उसी प्रकार उदासीन-भावसे देखता हुआ विस्तृत आत्मधाममें प्रवेश करता जा रहा हूँ। अब यदि कोई भूलसे इस तत्त्वको न पहचान कर मेरा प्रिय या अप्रिय करना चाहता है अथवा मुझे प्रिय या अप्रिय फल देनेका प्रयत्न करता है तो उसे यह समझ लेना चाहिये कि वह यह सब मिथ्या (व्यर्थ) ही कर रहा है। वह मूर्ख मुझे समझा ही नहीं है। उसे तो यह मालूम ही नहीं है कि उसके प्रियाप्रियरूपी बाण मुझ तक पहुँच ही नहीं पाते हैं। वे तो सब मेरी इन शरीरादि रूपी ढालपर—जिनके साथ मैंने भाई-चारेका नाता भी तोड़ दिया है—टकराकर गिर पड़ते हैं। वृक्षपर छोड़े हुए तीरोंको देखकर जैसे किसी तटस्थ दर्शकको सुख-दुःख नहीं होता इसी प्रकार इस अहंभावरहित देहपर छोड़े हुए प्रियाप्रियरूपी बाणोंसे मुझ तटस्थ आत्माका कुछ भी बिगाड़ सुधार नहीं होता है। मैं तो उसके प्रियाप्रिय प्रयत्नोंका विषय ही नहीं हो पाता हूँ। मैं यह सब अप्रमाणित बातें नहीं कह रहा हूँ। देखो गीतास्मृति (२-२५) मेरी इसी अविषयताका अनुमोदन बड़े गौरवके साथ कर रही है—वह कहती है कि—'इस आत्मतत्त्वकी ओर फेंके हुए तीर या इसके लिये किये गये प्रियाप्रिय प्रयत्न इस तक पहुँचे ही कैसे? यह तो अव्यक्त है अर्थात् इन्द्रियोंके विषयहीमें नहीं आता है। इसीसे इसकी चिन्ता किंवा अनुमान भी नहीं हो सकता। ऐसे आत्म-तत्त्वको पहचान लेनेके बाद हे अर्जुन! अब तुम्हें शोक कदापि न करना चाहिये। इन्द्रियोंको होने-वाले सुख-दुःखोंके अधीन तुम्हें नहीं हो जाना चाहिये। ऐसा नीच संसर्ग तुम्हारे आत्मकल्याणका घातक हो जायगा।' इसके अतिरिक्त ये पाँचों भूत मिलकर भी मुझे विकृत नहीं कर सकते। यह पृथिवी मुझे मृण्मय कर लेने किंवा मेरी काट-छाँट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करनेमें असमर्थ है, यह जल मुझे गीला नहीं कर सकता, अग्निमें मुझे जलानेका सामर्थ्य नहीं है, वायुसे मैं सूखता नहीं हूँ-क्योंकि मैं इनका अविषय बना रहता हूँ। जैसे कोई लक्ष्यभेत्ता (तीरन्दाज़) किलेके झरोकेमेंसे सबको देखता रहता है, और नीचेवालोंका जैसे एक भी बाण उस तक नहीं पहुँचता, इसी प्रकार मैं इन सब पाँचों भूतोंका द्रष्टा हूँ। पन्तु इनमें मुझको विषय करनेका सामर्थ्य नहीं है, इसीसे गीता (२।२४) में कहा गया है कि यह आत्मतत्त्व कटने, जलने, गीला होने, सड़ने या सूख जानेवाला तत्त्व नहीं है। यह तो एक अविनाशी, सर्वगत, स्थिर स्वभाववाला तथा अपने स्वरूप और सामर्थ्यसे कभी विचलित न होनेवाला अनादि पदार्थ है। फिर ऐसे अनुपम स्वरूपवाला मैं सदाके दुखिये इन शरीरादिके साथ हिलमिल-कर दुःखी-सुखी होनेका भ्रमपूर्ण नाटक कबतक और क्यों खेलता रहूँ ?

ये जो मेरे मांसके झोंपड़े इस शरीर और इसके द्वाररूपी इन्द्रियोंको आपात-दृष्टिसे देखकर मेरे भक्त या मेरे द्वेषी लोग इसके ऊपर प्रिय पुष्पों और अप्रिय लोष्ठोंकी वर्षा करने लगते हैं, और उनके इस कामसे जो धर्म या अधर्म उत्पन्न होते हैं, वे भी उन भक्तों या द्वेषियोंको ही होते हैं। अनादिकालसे लेकर अनन्त समय तक भी जरा-जीर्ण न होनेवाले, अनादिकालसे लेकर अनन्त समय तक भी मृत्युके पञ्जेमें न आनेवाले तथा कभी भी भयभीत न होनेवाले, मुझ तत्त्वका यह कुछ भी बिगाड़ नहीं कर पाते हैं। अनुमोदनके लिये श्रुति और स्मृतियोंको देख लो। वे कहती हैं कि—

(१) अनात्मदर्शी मूर्ख पुरुष जैसे कर्म करके उसके भले-बुरे फलसे संतप्त (दुखी) होता रहता है अथवा जैसे अनात्मदर्शीको करनेसे शेष रहा काम दुखी किया करता है कि हाय, मेरा अमुक काम नहीं हो पाया, मेरा काम कैसे चलेगा! इत्यादि। परन्तु इस ब्रह्मदर्शीने तो सब कर्मरूपी इंधनोंको ज्ञानरूपी अग्निमें झोंक डाला है, इसलिये अब उसे ये किये न किये कोई भी काम संतप्त नहीं कर पाते हैं। अब तो वह केवल प्रारब्ध-कर्मोंको भोग-भोग-कर क्षीण करता जा रहा है और विदेहमुक्तिको समीप-समीप बुला रहा है। (बृ० ४-४-२२)।

(२) जितनी भी महिमाएँ संसारमें पायी जाती हैं वे सब कर्मकृत हैं। ये तो उस सम्पूर्ण एषणाओंका परित्याग करनेवाले ब्राह्मणकी नित्य महिमा है। क्योंकि यह महिमा न तो किसी कर्मसे बढ़ती है और न किसी पापाचरणसे घटती ही है। इस कारण प्रत्येक बुद्धिमान्‌को इस महिमा-को जान ही लेना चाहिये। क्योंकि इस महिमाको पहचान लेनेपर पाप और पुण्य-कर्मोंसे विद्वान्‌का बन्धन नहीं होता (बृ-४-४-२३)।

(३) वह अमूर्त पुरुष अन्दर और बाहर सभी जगह व्याप्त हो रहा है। उसकी कोई मूर्ति किंवा आकार नहीं है। उसका कभी जन्म नहीं होता। इस प्राण तथा इस मनोराज्य फैलानेवाले मनका, उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वह शुद्ध तत्त्व है। वह अक्षरसे परले अव्यक्तसे भी पर है। उसे शरीरादिपर आनेवाले प्रियाप्रियोंको अपने ऊपर कभी न मान लेना चाहिये (मु० २-१-२)।

(४) यथार्थमें इस संसारकी खटपटसे बाहर रहनेवाला वह आत्मतत्त्व लोगोंके अनुभवमें आने-वाले दुःखोंसे कभी भी लिप्त नहीं होता है।

इस सबका सबसे प्रधान हेतु यही है कि ये जो अनात्मपदार्थ दीख रहे हैं-जिन्हें भ्रमसे सुख देनेवाला माना जाता है-यह पदार्थ असलमें सत्य नहीं हैं। ये तो प्रत्यक्ष ही नष्ट भ्रष्ट होते देखे जाते हैं। अनन्त आयुष्यवाले आत्मतत्त्वको इन क्षणिक पदार्थोंसे यथार्थमें सुख-दुःख हो ही नहीं सकते। भला, कहाँ तो भूत, भविष्यत्, वर्तमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामक तीनों कालोंमें एक समान रहनेवाला आत्म-तत्त्व और कहाँ ये केवल वर्तमानकालमें ही जीवित-से दीखनेवाले विषय। जैसे कोई प्राणी इस अनन्त ब्रह्माण्डमें घूँसा नहीं मार सकता, इसी प्रकार ये क्षुद्र विषय व्यापक आत्माका कुछ भी बिगाड़-सुधार करनेमें असमर्थ ही रह जाते हैं।

जिस प्रकार तैरना सीखनेवाले लोग पहले तूँबा आदिका सहारा लेकर तैरना सीखते हैं और फिर तैरनेकी कलामें निपुण हो जानेपर निराधार ही अगाध जलमें बिहार किया करते हैं, इसी प्रकार नवाभ्यासी साधकको चाहिये कि ऐसे परमोदार विचार-तरङ्गोंमें बहनेका अभ्यास करके अपने व्यापक रूपको जगाकर ब्रह्मसागरमें स्वच्छन्द बिहार करना सीख ले।

इसप्रकार आत्मासे भिन्न किसी भी दूसरे पदार्थके सिद्ध न होनेसे आत्माके अद्वितीय भावको बतलानेवाले उपनिषदोंके सम्पूर्ण वाक्योंकी समीक्षा अधिकारीको बड़े विस्तारपूर्वक कर लेनी चाहिये। इसके बिना आत्मज्ञानमें दृढ़ताका होना कठिन हो जायगा।

प्रेमालोक

कुहू-निशाके तमस्तोम में,
कैसा यह अद्भुत आलोक?
देख रहा हूँ उड़ता जिसमें,
कज्जल-गिरि सम अपना शोक॥

हैं! यह क्या? एं! स्वर्ण-भवन है!
कैसा द्युति लहरोंका जाल!
कौन अधीश्वर रसिक-विहारी,
जिसका यह प्रासाद-विशाल?

इन अनन्त सुमनोंसे अङ्कित,
सुरभित नन्दन वनमें कौन?
छेड़ रहा है मधुर-रागिनी,
अखिल प्रकृति है कैसी मौन!

अहो! यहाँ तो जीर्ण-कुटी थी,
दीन रंककी अन्तिम टेक।
तारागणकी झिलमिल छबिको,
दिखलाते थे छिद्र अनेक।

अरी! कहीं क्या मुग्ध-कल्पने!
तूने रच डाला यह देश।
स्वर्णमयी जिस दिव्य-सृष्टिमें,
मुझ अबोधका है न प्रवेश।

सूर्य-चन्द्र बिन कौन यहाँ पर,
फैलाता है विमल प्रकाश?
परिवर्तित कर रंग-मञ्च-पट,
करता है नव आत्म-विकास।

किसकी मादक-सुरा पान कर,
नाच रहा है यह संसार?
किसके मोहन-कल-कटाक्ष पर,
करते हैं जीवन बलिहार।

शीर्ण हुए इस हृदय-तन्त्रके,
कौन मिलाता टूटे तार?
नित नीरव अव्यक्त प्रकृतिमें।
सुनता किसकी मृदु-झंकार।

ज्योतिर्मय यह इन्दु-पताका,
नील-गगनमें कर फहरान।
किसके त्रिभुवन तिलक नामकी,
उड़ा रही है विजयी तान?

स्वर्ण-भवनके रम्य शीष पर,
हैं! यह है किस शिशुका नाम?
सूर-भक्तके 'प्रेम-चन्द्र' क्या,
करते हैं इसमें विश्राम?

—श्रीपद-रज-'शिशु'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साध्वी लुइसा

(लेखिका— कुमारी रामा)

दया एक ऐसा आदर्श सद्गुण है कि जिसके कारण हम अपनेको मनुष्य कह सकते हैं। दयाहीन मनुष्य और पशुमें कुछ भी अन्तर नहीं है। किसी भी जीवको दुःखसे व्याकुल सुन या देखकर जो चित्त पिघल जाता है और उसका दुःख दूर करनेके लिये बिना किसी शर्तके चित्तमें जो एक त्यागमयी सात्त्विकी वृत्ति उठती है उसीका नाम दया है।

जब कोई बालक अपने भाई-बहिनोंको कष्ट देता है तो उसका पिता उसे दण्ड देता है, वैसे ही ईश्वर हमारा परम पिता है, उसको दरिद्र-धनी, राव-रंक सभी पुत्र एक समान प्रिय हैं, इसलिये जो किसीके साथ निर्दयताका व्यवहार करता है उसे वह परमात्मा उचित दण्ड देता है।

दयामय प्रभुका दयापात्र बनकर उसके महत्त्व-को जाननेके लिये दुखियोंके दुःखोंको दूर करनेमें तन-मन-धनसे लग जाना परमावश्यक है। निराश्रयोंको आश्रय, अज्ञानियोंको ज्ञान, वस्त्रहीनों-को वस्त्र, भूखोंको अन्न तथा प्यासोंको जल देकर हम उनके दुःखोंको बहुत-कुछ घटा सकते हैं। पीड़ित प्राणिमात्रको अपने त्यागसे सुखी रखनेका भाव होना चाहिये।

विद्वान् भूले-भटकोंको उपदेश देकर, बलवान् अपने बलसे निर्बलोंकी रक्षा कर, धनी दीन-दुखियोंको आवश्यकतानुसार धन देकर और असमर्थ केवल मधुर वाणीसे सहानुभूति दिखाकर ही दयाका बर्ताव कर सकते हैं। दयामें ही मनुष्यत्व भरा है। जो लोग अपनेको यथार्थ मनुष्य बनाना चाहते हैं, उन्हें दयालु बननेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

जो मस्तकपर सोनेका मुकुट और गलेमें रत्नोंके हार धारणकर सजे हुए सिंहासनपर मालिकके रूपमें बैठनेका अधिकार रखते हैं और महलोंमें सुख-पूर्वक वास करते हैं, उनको तो ईश्वरकी करुणाका स्मरण कर अवश्य ही दयालु होना चाहिये। सांसारिक ऐश्वर्यमें रचे-पचे हुए अधिकांश मनुष्योंद्वारा इस संसारमें जैसा कुछ होना चाहिये वैसा प्रायः नहीं हुआ करता है। उनकी अपनी स्थिति और ऐश्वर्यका मद उनके विवेकपर ऐसा परदा डाल देते हैं जिससे ऐश्वर्यहीन दीन स्थितिके लोगोंकी दशा वे स्पष्ट देख ही नहीं पाते। इसीसे विलासमय राजकुटुम्बोंमें प्रायः दयाका अभाव ही होता है। दीन-दुखियोंके करुण दीर्घ निःश्वास राजमहलोंकी कठिन दीवारोंको छेदकर उनके अन्दर रहनेवाले सुबह-शामसे बेफिक्र लोगोंके हृदयमें करुणाका सञ्चार नहीं कर पाते। यही कारण है कि जब किसी राजमहलसे दयाकी तनिक-सी भी ध्वनि आती है तो लोग उसे नयी-सी बात समझकर उसपर मुग्ध हो जाते हैं और उस महलमें रहनेवालेके प्रति स्वाभाविक ही लोगोंकी श्रद्धा जागृत हो उठती है और वे उसे देवता या ईश्वर ही मानने लगते हैं।

यहाँ आज यूरोपकी एक ऐसी दयामयी रानीकी संक्षिप्त करुण-कहानी लिखी जाती है, जो दयाकी मूर्ति थी। जो अपने हृदयकी कोमलतासे हजारों नर-नारियोंकी श्रद्धा-भाजन बन गयी थी। उसके पुण्यमय जीवनपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि मानो स्वर्गसे देवभाव प्राप्त करके ही उसने मृत्युलोकमें पदार्पण किया था।

उस साध्वीका नाम था लुइसा। उसने जर्मनीके एक प्रतिष्ठित कुटुम्बमें जन्म ग्रहण किया था। उसकी माता बड़ी बुद्धिमती थी। वह जानती थी कि यदि लुइसाकी शिक्षाका प्रबन्ध अभीसे अच्छी तरह हो जायगा तो इसके सुकुमार हृदयमें धर्म-भाव खिल उठेगा। अतः माताने कन्याकी शिक्षाका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छी तरह प्रबन्ध कर दिया और उसके परिश्रमके फलस्वरूप लुइसाके जीवन-पुष्पकी कलियाँ विलक्षण रूपसे खिलने लगीं। परन्तु माताकी देख-रेखका सौभाग्य उसे बहुत थोड़ा मिला। छोटी ही उम्रमें माताका परलोकवास हो गया और लुइसाकी शिक्षा और उसके पालन-पोषणका भार उसकी दादीपर आ पड़ा।

लुइसाकी आयु बढ़नेके साथ ही उसके रूप-गुण भी बढ़ने लगे। उसके उज्ज्वल हास्यमें सरस सरलता और खिले हुए नेत्रोंमें सुमधुर भाव टपकने लगे। दुखियोंकी करुण-कहानी सुनकर तो उसके मनमें सहानुभूतिकी पवित्र तरंगें उछलने लगती थीं। उसका हृदय भक्तिभाव और करुणासे भरा था। वह प्रतिदिन सरल-हृदयसे श्रद्धा-भक्तिके साथ ईश्वरकी प्रार्थना किया करती, जिससे उसके हृदयमें नव-जीवनका सञ्चार हो उठता था। किसी भी रोगी या अपाहिजको देखकर उसका हृदय दयासे पिघल उठता और उसका दुःख दूर करनेके लिये यह उसी समय तन-मन-धन न्योछावर करनेको तैयार हो जाती थी। एक बार लुइसाकी दादी और अध्यापिका उसको घरमें न पाकर बहुत चिन्तित हुईं। पीछेसे पता लगा कि लुइसा उस समय एक अनाथ दुखिया बालिकाके पास बैठकर उसे मीठे और स्नेहपूर्ण शब्दोंमें धर्मोपदेश सुना रही थी। लुइसा जब तेरह सालकी थी तब उसने अपने मन-पसन्दकी चीजें खरीदनेके लिये धीरे-धीरे कुछ पैसे इकट्ठे कर लिये थे। एक दिन एक कंगाल दुखिया विधवा घरमें भीख माँगने आयी। उस भिखारिनकी दुःख-कथा सुनकर लुइसाकी आँखें डबडबा आयीं और उसने वे सब पैसे उसी क्षण लाकर उसको दे दिये। वास्तवमें उसने आज मनचाही चीज़ ही खरीद ली। इन घटनाओंसे लुइसाके सद्गुणोंकी प्रशंसा चारों तरफ फैलने लगी। उसकी सरलता, पवित्रता, दया और धार्मिकताको देखकर सब लोग उसके प्रति श्रद्धा करने लगे।

अब लुइसा विवाहके योग्य हुई, उसके पिताने प्रशियाके राजकुमारको सब प्रकारसे सुयोग्य देखकर ई० सन् १७९३ के २३वें दिसम्बरको लुइसाके साथ उसका सम्बन्ध कर दिया। रूप-गुणवती लुइसाने अपने सुन्दर बर्तावसे स्वामीके प्रेमपर विजय प्राप्त कर ली। धन-यौवनके मदमें चूर विलासिनी स्त्रियोंकी तरह राजमदमें उन्मत्त करनेवाली अनेक प्रकारकी विलास-सामग्रियाँ मौजूद रहनेपर भी लुइसाके हृदयमें अंकुरित वैराग्यका पौधा नहीं मुरझाया। लड़कपनकी धर्म-शिक्षाके प्रभावसे उसका अन्तःकरण अनुपम विवेक वैराग्यसे भरा रहा। राजमहलका वैभव उसको अपने धर्मसे विचलित न कर सका। इसी धर्म-भावके जाग्रत रहनेके कारण ही वह राजसिंहासनपर बैठकर भी स्वयं दुखियोंके झोंपड़ियोंमें जाती और अपने आँचलसे उनके आँसुओंको पोंछती। गरीबोंकी सेवा करनेमें उसे जो अतुल आनन्द मिलता, उसका बखान नहीं हो सकता। इस विषयमें उसने एक बार अपनी दादीको पत्रमें लिखा था कि 'रानी होकर भी मैं गरीबोंकी मनचाही सहायता कर सकती हूँ, यही मेरे जीवनमें सर्वश्रेष्ठ सुख है।'

एक बार लुइसाके स्वामीने उसकी प्रसन्नताके लिये इसे साथ लेकर बड़े ठाट-बाटसे राजमार्ग पर अपनी सवारी निकालनी चाही। लेकिन रानी लुइसाने स्वामीके स्नेहपूर्ण वाक्योंका अनादर न कर उसे विनयपूर्वक समझाते हुए उत्तर दिया, 'स्वामिन्! इतने व्यर्थ खर्च और झूठे आमोद-प्रमोदसे क्या लाभ होगा? आप इसप्रकारके झूठे ठाठमें जो धन खर्च करना चाहते हैं वह यदि मातृ-पितृ-हीन निराश्रय अनाथ बालक-बालिकाओं और विधवाओंके दुःख-निवारणमें खर्च किया जायगा तो मैं अधिक सुखी होऊँगी।'

रानी लुइसाको विवाहके समय उपहारमें जो सब वस्तुएँ मिली थीं उनमेंसे अधिकांश उसने गरीब और निराधार बालकोंको बाँट दी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाहके बाद लुइसाके स्वामीने उसपर बहुत प्रेम होनेके कारण, इसकी वर्षगाँठके निमित्त एक हवादार सुन्दर महल बनवा दिया, तथा उसे और भी मनोवाञ्छित वस्तुएँ देनेकी इच्छा प्रकट की। इसपर लुइसाने कहा कि 'मुझे अपने प्यारे गरीबोंके सेवाके लिये आप जो कुछ देना चाहें, खुशीसे दें। अपने ऐश-आरामके लिये मुझे कुछ नहीं चाहिये।' रानीकी उच्च अभिलाषा सुनकर राजाके हृदयमें हर्षकी लहरें हिलोरे मारने लगीं। उसने तुरन्त ही प्रसन्नमनसे हंसते हुए रानीको गरीबोंकी सेवामें खर्च करनेके लिये बहुतसा धन दे दिया। इस धनको पाकर रानी बहुत खुशी हुई और गरीब बीमार अपाहिजोंकी सेवा करके उनके आशीर्वाद प्राप्त करने लगी।

एक बार लुइसा अपने स्वामीके साथ पोष्टडेमके पास पारेफ नामक सुन्दर ग्राममें रहनेके लिये गयी। यह वहाँ प्रजामें हिल-मिलकर इतनी सादगी और प्रेमके साथ रहने लगी कि कुछ समयके लिये तो लोग प्रेमवश इस बातको भी भूल गये कि यह हमारी रानी है। यह आनन्दसे हँसती हुई गरीबोंके घर जाती, उन्हें नानाप्रकारके धर्मोपदेश सुनाकर और उनके दुःखमें सहायता पहुँचाकर सुखी करती। कई बार मिठाई मँगाकर उनके बालकोंको खिलाती। कभी राह-चलते अनाथ-बालकोंको स्नेहसे उठाकर अपनी गोदमें ले लेती। प्रशियाकी रानीकी यह बातें देखकर लोग मुग्ध हो जाते। रानी इन दिनोंको अपने लिये बहुत ही सुखके दिन समझती और कहती कि 'श्रीमती महारानी साहिबाकी जगह मुझे यदि लोग 'दयालु बहिन' कहकर पुकारें तो वह मुझे अधिक पसन्द है।

लुइसाको उत्तम ग्रन्थ पढ़नेकी बहुत शौक थी। उसने कई विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखे हैं। सरलता, कोमलता और विनयसे उसका स्वभाव बहुत ही मधुर हो गया था। लोगोंके दुःख देखकर उसका हृदय भर आता था। कभी-कभी यह दुखी प्राणियोंके दुःखसे पीड़ित हो विषाद-संगीत गाने लगती। इसके कोमल कण्ठसे निकले हुए करुणापूर्ण गीतोंको सुनकर कठोर पत्थरके हृदय भी पिघल जाते और उन लोगोंकी आँखोंसे विवश आँसुओंकी धारा बहने लगती।

ई० सन् १७९७ में साध्वी लुइसाके प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी 'विलियम प्रथम' ने जर्मन-राज्यकी फिरसे स्थापना की थी।

रानी लुइसाने आजीवन दुखियोंकी सेवा करनेमें ही परम सुख माना। यह जब घूमनेके लिये महलसे बाहर निकलती तब स्नेहमयी जननीके सामने बच्चोंकी भाँति इसके चारों ओर अनाथ गरीबोंकी भीड़ लग जाती। अंगरक्षकोंके बहुत उपाय करनेपर भी लोग वहाँसे नहीं हटते। रानी लुइसाको यह भीड़ बड़ी प्यारी लगती और यह इन भूखे गरीबोंको अन्न, धन तथा उनके बालकोंको मिठाई और खिलौने दे उन्हें खुश करती। मार्गमें इकट्ठे हुए लोग इस अपूर्व दृश्यको देखकर आनन्दसे गद्गद् हो दयालु महारानीकी जय-जय-ध्वनि करने लगते!

'सबै दिन होत न एक समान' की कहावतके अनुसार सुखके बाद दुःख आना विधाताका विधान है। रानी लुइसाके भी सुखके दिन पलटे। नेपोलियनके सामने यदि प्रशिया और अष्ट्रिया एक साथ मिल जाते तो नेपोलियन उनको नहीं हरा सकता। परन्तु प्रशिया अष्ट्रियासे अलग रहा। कुछ दिनों बाद नेपोलियनने प्रशियाके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस प्रसंगपर राजाको तो लोगोंसे सहायता मिलनेकी आशा नहीं थी, परन्तु रानी लुइसा आशावादिनी थी, उसमें वीरता और उत्साह आदि गुण थे। अतएव उसने निराश हुए सैनिकोंको बुलाकर वीरतापूर्ण भाषण दिया और देशके प्राचीन योद्धाओंकी वीरता तथा स्वतन्त्रताका स्मरण दिलाकर उन्हें युद्ध करनेको उत्साहित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई० सन् १८०५ के नवम्बरमें पोष्टडैम ग्रामके छोटे-से मन्दिरमें राजा और रानी लुइसा रूसके बादशाहके साथ मिले। और वहाँ उन्होंने स्वर्गवासी महाराज फ्रैडरिककी समाधिके सामने देशको शत्रुओंसे बचाकर स्वतन्त्र बनानेकी प्रतिज्ञा की। इस प्रतिज्ञाके पालन करनेके लिये उन्होंने बड़े-बड़े कष्ट सहे, और विधाताके कठिन विधानसे प्रतिज्ञाके फलस्वरूप उस शुभ दिवसका दर्शन करनेसे पहले ही रानी लुइसाकी जीवनयात्रा समाप्त हो गयी!

ई० सन् १८०६ में नेपोलियनके साथ लुइसाके पतिका युद्ध हुआ। इस युद्धके समय लुइसा महलमें नहीं बैठी थी, वह अपने प्रभावशाली व्याख्यानों-द्वारा वीरोंको देशके लिये मर-मिटनेको प्रेरणा कर रही थी। उसके इस प्रयत्नसे अनेक शूरवीर समर-क्षेत्रमें कर्तव्य पालन करते हुए वीरगतिको प्राप्त हुए। रानीमें जितना आत्मविश्वास और शौर्य था, राजामें अपनी शक्तिके प्रति उतना ही अविश्वास और कायरपन था। घरकी कलहके कारण पड़ोसी और बन्धु-बान्धवगण उसको सहायता देनेके लिये तैयार नहीं थे। राजनीति और युद्धके दाव-पेच उसने सीखे ही नहीं थे, अतः दूसरेपर विश्वास रखकर ही उसको काम करना पड़ता था। आत्मविश्वासकी कमीके कारण राजा अपनी सेनापर स्वयं नेतृत्व नहीं कर सका और 'जेना' के युद्धमें उसको मैदान छोड़कर भागना पड़ा। वीर नेपोलियनने विजय प्राप्तकर राजधानी बर्लिनमें प्रवेश किया। अब रानी लुइसाके दुःख और आपत्तिका पार न रहा। वह इस बातको समझती थी कि यह स्थिति उसके पतिमें साहस, धैर्य और दूरदर्शिताकी कमीके कारण ही प्राप्त हुई है तथापि उसने पतिके प्रेमपर तनिक भी ठेस नहीं लगने दी। स्वामीमें भूलकर भी दोष नहीं निकाला। इतना ही नहीं, उसने अपने मनमें स्वामीके दोषोंका स्वप्नमें क्षणभरके लिये विचार तक भी नहीं आने दिया। इस विपत्तिके समय उसका पतिप्रेम और भी दृढ़ हो गया। वह और भी मन लगाकर एक आदर्श पत्नीकी भाँति उसकी सेवा-टहल करने लगी। घोर आपत्ति-कालमें उसने एक दिन भी निराशाका अनुभव नहीं किया। 'प्रशिया एक दिन फिर स्वतन्त्रता देवीकी गोदमें बैठेगा' इस आशाको उसने कभी मनसे नहीं हटाया। उसके सामने नहीं तो पीछेसे उसकी यह आशा अवश्य ही सफल भी हुई। आजकल जरासे दुःखके कारण अपने पतिको तलाक़ देना-अच्छा समझनेवाली पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त रमणियाँ इस प्रसंगसे शिक्षा ग्रहण करें।—

'धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परखिये चारी॥'

इस कठिन परीक्षामें रानी लुइसा सर्व प्रकारसे उत्तीर्ण हुई। उसकी इस सफलताका कारण बाल्यावस्थामें प्राप्त हुआ विवेक ही है। धर्म ही आपत्ति-कालमें धैर्य देकर सहायता दे करता है।

राज्यभ्रष्ट होनेके बाद उसने अपने पिताको एक महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा था, उसमें उसके गहरे धर्म-विश्वास तथा राजनीतिज्ञताका परिचय मिलता है। उस लम्बे पत्रका कुछ अंश इसप्रकार है—

'पूज्य पिताजी!

मेरा सारा सांसारिक ऐश्वर्य चला गया है, सदाके लिये नहीं तो, थोड़े समयके लिये तो अवश्य ही उसका नाश हो गया है। परन्तु मैं प्रसन्न हूँ, इस जीवनमें मुझे अधिक सुखकी लालसा नहीं है। मैंने प्रभुको अपना आत्मसमर्पण कर दिया है। शान्त चित्तसे प्रभुमें विश्वास रखनेके कारण मुझे इस सांसारिक विपत्तिमें भी अतुल शान्ति मिल रही है। प्राचीन समयकी प्रणाली और राजनीतिको बदलनेकी ईश्वरकी प्रबल इच्छा थी, इसीसे ऐसा हुआ है।'

× × ×

'संसारमें बुद्धिमान्-से-बुद्धिमान् और अच्छे-से-अच्छे मनुष्य भी असफल हो जाया करते हैं। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य है कि फ्रांसका सम्राट् नेपोलियन राजनीतिज्ञ और प्रपञ्ची है। परन्तु यदि आष्ट्रिया और प्रशिया-वासी एक साथ मिलकर सिंह-सदृश पराक्रमसे उसका सामना करते और पराजित नहीं भी हुए होते, तब भी हमको रणक्षेत्रका त्याग करना ही पड़ता और शत्रु इस भूमिमें अधिकार कर ही लेते। नेपोलियनसे हमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। ईश्वरने उसकी सहायता की है, यह कहना तो ईश्वरकी निन्दा करना है। सत्य तो यह है कि वृक्षकी जिन शाखाओंसे चैतन्य चला गया है और जिसको संसार भूलसे वृक्ष मान रहा है उन्हें काटनेके लिये प्रभुने नेपोलियनको निमित्त बनाया है। सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी ईश्वरमें दृढ़ विश्वास ही मुझे इस निश्चयपर लाकर उपस्थित करता है कि प्रशियाको ईश्वर अच्छे दिन भी ज़रूर दिखलावेगा। इस संसारमें केवल शुभ कर्मोंहीका शुभ फल मिलता है इसीलिये मैं यह नहीं मानती कि नेपोलियन दृढ़तापूर्वक कभी राज्यसिंहासनपर बैठ सकेगा। एकनिष्ठा, सत्य और न्याय यही तीनों गुण चिरस्थायी और अखण्ड हैं। नेपोलियन राजनीतिकुशल और व्यवहार-विशारद तो है परन्तु उसमें न्याय, धर्म, विनय, निरभिमानता आदि गुण नहीं हैं। जिसमें ये गुण नहीं हैं उसका पतन अवश्यम्भावी है। इससे मुझे आशा है कि हालकी बुरी स्थितिका परिणाम अच्छा ही होगा। जो कुछ हुआ है और जो कुछ हो रहा है वह सब हम पथिकोंको और भी अधिक उच्च, निर्मल और श्रेष्ठ मार्गपर पहुँचानेका ईश्वरनिर्मित साधन है। लक्ष्य बहुत दूर है, इसलिये सम्भव है कि इस प्रयत्नमें ही मेरा मृत्युकाल आ जाय और मैं इस देहसे वहाँ न पहुँच सकूँ।'

'ईश्वर जो कुछ करता है उसीमें हमारी भलाई है, इस विचारसे मेरे हृदयमें दृढ़तासे अंकित आशाके कारण मुझे आश्वासन और धैर्य मिल रहा है। सभी सांसारिक वस्तुओंके परिवर्तनशील होनेके कारण हमलोगोंको प्रत्येक क्षण दुःख सहनेके लिये तैयार रहना चाहिये।'

'माननीय पिताजी! मैं एक अबला नारी राज्यसम्बन्धी विचारोंमें जितने प्रण कर सकती थी, उतने किये। सम्भव है कि ये अपूर्ण रहें। आपके सामने इन विचारोंको उपस्थित करनेके लिये आप क्षमा करेंगे। परन्तु यह तो आपको विश्वास होगा कि आपकी पुत्रीने आपत्तिकालमें ईश्वरका सहारा ले रक्खा है। लड़कपनमें आपके द्वारा प्राप्त धर्मके सिद्धान्त और ईश्वरके डरके शिक्षणके लिये मैं आपकी ऋणी हूँ। उस शिक्षाका सुन्दर फल मिलता जा रहा है और जबतक मेरे शरीरमें प्राण है तबतक इसका परिणाम अच्छा ही होता रहेगा।'

'पिताजी! आपको यह जानकर आनन्द होगा कि हमारे ऊपर आपत्ति आनेपर हमारे दाम्पत्य-जीवन और गृहस्थाश्रम-धर्ममें अन्तर आनेकी अपेक्षा हमारा प्रेम-बन्धन अधिक दृढ़ हो गया है। मैं संसारके सर्वोत्तम पुरुषके प्रेम और विश्वासकी पात्री होनेके कारण गौरव, आनन्द और सुखका अनुभव करती हूँ। हम परस्पर इतने एकस्वरूप हो गये हैं कि एककी इच्छा ही दूसरेकी इच्छा बन गयी है। मैंने यह स्वाभाविक उद्गार यही सोच कर प्रकट किये हैं कि इन सब बातोंको जाननेसे मेरे श्रेष्ठ और स्नेहमय पिताके समान और कोई प्रसन्न न होगा।'

इस पत्रसे रानी लुइसाके ईश्वरके प्रति दृढ़ विश्वास और श्रद्धाका तथा पतिप्रेमका पूर्ण परिचय मिलता है। कौन कह सकता है कि लुइसा परम भक्तिमती और आदर्श पत्नी नहीं थी? उसने घोर आपत्तिकालमें भी धैर्य और विश्वास नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि अपने मनमें तुच्छ विचारोंकी छाया तक नहीं पड़ने दी।

लुइसाके फेंफड़ेमें पीड़ा हो गयी और उसका मृत्युकाल समीप आ पहुँचा। व्याधिके समय वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वरसे प्रार्थना करती कि 'भगवन् ! मेरा परित्याग मत करना ।' अन्तमें जब उसे यह प्रतीत हो गया कि मृत्युमें विलम्ब नहीं है तब उसने स्वामीके हाथमें अपने दोनों हाथ रखकर कहा कि 'स्वामी ! अब विदा दो, सुनो, ईश्वर मुझे बुला रहा है ।' इतना कहकर उस धर्मपरायणा कर्त्तव्यशीला, राजनीति-विशारदा, दयामयी वीर रानीने इस संसारको त्याग कर दिया । ई० सन् १८१० की २३ वीं दिसम्बरको उसका शव दफनाया गया ।

रानी लुइसा संसारसे चली गयी, परन्तु उसकी पुण्य-कथा और पावन नाम संसारके हृदयपर अंकित हो गया । आज भी इस करुणामयी रानीकी दयापूर्ण कथाओंको सुनकर प्रशियाकी स्त्रियाँ उसके प्रति श्रद्धा प्रकट करती हैं और उसका अनुकरण करके अपने जीवनको उन्नत बनानेका प्रयत्न करती हैं । लुइसाने अपने देशको स्वतन्त्र बनानेका यत्न किया वह निष्फल नहीं गया, उसकी मृत्युके तीन ही वर्ष बाद उसका देश प्रमादकी निद्रासे जाग्रत हुआ और स्वतन्त्रताके युद्धमें पुनः विजयी होकर स्वतन्त्र हो गया* ।

विनय

(लेखक—श्रीयुत नोखेलालजी शर्मा काव्यतीर्थ, कविभूषण)

हे मानसके मंजुल मोती !
फिर तू लोनी छटा दिखाना ।
सुधाधारसे सिञ्चन करते ,
नन्द-भवनमें फिर तुतलाना ॥१॥

ऐ घनश्याम ! श्याम घनसे फिर ,
गोपीका मन-मोर नचाना ।
दीर्घ उसे कर गुहा-गर्त्तसे ,
दुष्टोंका दिल फिर दहलाना ॥२॥

वृन्दावनके कुञ्ज-कुञ्जमें ,
क्रीड़ा-रसका सिञ्चन करना ।
राका-शशिकी उज्ज्वल निशिमें ,
रासरसिक ! गोपी-मन हरना ॥३॥

गीताके उपदेश हमें फिर ,
वर वाणीसे बुध ! बतलाना ।
यमुना-तट पै वंशी-वट पै ,
मोहन ! वंशी मधुर बजाना ॥४॥

सत्य, सनातन, शुद्ध, बुद्ध तू ,
हम पतितोंको भी अपनाना ।
चिरसे बिछुड़ी आर्य-भूमिका ,
एक बार दुख-दारिद हरना ॥५॥

सारे पाप-ताप हरनेको ,
फिर भी तू इस भू पर आना ।
विनय यही फिर फिर है मेरी ,
इसे कहीं तू भूल न जाना ॥६॥

* गुजराती और बंगला जीवनीके आधारपर ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य, योग और वेदान्त

(लेखक—श्रीअरविन्द)

साधारणतः लोगोंकी यही धारणा है कि सांख्य और योगकी प्रणाली भिन्न-भिन्न है; यही क्यों, वे परस्पर विरोधी भी हैं । व्यापक वेदान्तिक सत्यके साथ इन दोनों प्रणालियों एवं निष्ठाओंका, जो देखनेमें विरोधी जान पड़ती हैं समन्वय करना ही गीताके पहले छः अध्यायोंका उद्देश्य है। सांख्यको ही आरम्भ या भित्तिके रूपमें रक्खा गया है; किन्तु इसको आरम्भसे ही योगके भावमें अनुप्राणित कर क्रमशः योगके भाव और प्रणालीके ऊपर ही अधिक ज़ोर दिया गया है । उस समय लोगोंके मनमें इन दोनों प्रणालियोंमें कार्यतः जो भेद था, वह यही है कि—सांख्यका मार्ग, ज्ञानका मार्ग--बुद्धियोगका मार्ग है; एवं योगका मार्ग, कर्मका मार्ग—कर्मानुगामी बुद्धिके रूपान्तरका पथ है । इन दो भेदोंके माननेसे एक तीसरा भेद स्वयं आ उपस्थित होता है, वह है—सांख्य मनुष्यको पूर्णतः निष्क्रियता और कर्मत्याग, संन्यासकी ओर ले जाता है; एवं योगके मतसे आन्तरिक वासनाओंका परित्याग करना होता है, कर्मके आन्तरिक तत्त्वका संशोधन करना पड़ता है—कर्मको ईश्वराभिमुखी करना होता है—देव-जीवनको और मुक्तिको प्राप्त करना ही कर्मका उद्देश्य बनाना पड़ता है । ऐसा होना ही योगके मतसे यथेष्ट है । अतः दोनों प्रणालियोंका उद्देश्य—लक्ष्य एक ही है—जन्म और संसारका अतिक्रम करना,एवं जीवात्माका परमात्माके साथ मिलाना । कम-से-कम गीता इसी प्रकारकी भिन्नता समझाती है ।

इन दो प्रकारकी परस्पर-विरोधी निष्ठाओंका समन्वय किसप्रकार हो सकता है, इसके समझनेमें अर्जुनको कष्ट होनेका कारण यही है कि उस कालमें साधारणतः इन दोनोंमें खास भेद माना जाता था । भगवान् कर्म और बुद्धियोगका समन्वय करते हुए ही उपदेश प्रारम्भ करते हैं। भगवान् कहते हैं कि बुद्धियोगकी अपेक्षा केवल कर्म अत्यन्त निकृष्ट है—दूरेण ह्यवरं कर्म । बुद्धियोग और ज्ञानके द्वारा मनुष्यको साधारण मनोभावों एवं वासनाओंसे छुड़ाकर सम्पूर्ण वासनाशून्य ब्राह्मी स्थितिकी पवित्रता और समत्वमें प्रतिष्ठित करना पड़ेगा, तभी कर्म ग्राह्य होगा। कर्म मुक्तिका उपाय है परन्तु वह कर्म इसप्रकार ज्ञानके द्वारा शुद्ध होना चाहिये । अर्जुन तत्कालीन प्रचलित शिक्षाके प्रभावसे प्रभावित थे। भगवान् वेदान्तिक सांख्यके उपयोगी तत्त्वोंपर विशेष ज़ोर देने लगे—इन्द्रिय-जय, मनसे हटकर आत्मामें निवास करना, ब्राह्मी स्थितिमें पहुँचना, विराट् भावमें 'अहं' भावको लय कर देना, इन सारी बातोंको विशेषरूपसे कहने लगे। योगके विषयमें तो उन्होंने सामान्य रूपसे ही कहा । इसीसे अर्जुनके हृदयमें एक विकट संशय उत्पन्न हुआ और उन्होंने पूछा—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥
(३ । १-२)

'हे जनार्दन ! हे केशव ! यदि कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है यही तुम्हारा मत है तो मुझे हिंसात्मक कर्ममें क्यों नियुक्त करते हो ? कभी कर्मकी प्रशंसा और कभी ज्ञानकी प्रशंसा करते हुए इसप्रकार विमिश्र-वाक्योंसे मेरी बुद्धिको मानों मोहित कर रहे हो; इन दोनोंमें जो अच्छा हो उसे ही निश्चय करके कहो, जिससे मैं श्रेयको प्राप्त कर सकूँ ।'

उत्तरमें भगवान् कृष्ण कहते हैं कि ज्ञान और संन्यास सांख्यका पथ है और कर्म योगका पथ है ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(३ । ३)

किन्तु योगके साधनके बिना यथार्थ संन्यास असम्भव है—यज्ञरूपमें कर्म करना होगा, लाभालाभ,जय-पराजयको समान जानकर फलाकांक्षासे रहित होकर कर्म करना पड़ेगा; प्रकृति ही कर्म करती है, आत्मा कुछ भी नहीं करता-इसकी उपलब्धि करनी होगी । ऐसा किये बिना यथार्थ संन्यासकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु इसके अनन्तर ही भगवान्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं कि ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है, ज्ञानमें ही सर्व कर्मोंकी समाप्ति होती है, ज्ञानरूप अग्नि सारे कर्मोंको भस्मीभूत कर डालती है; अतएव जिसने आत्मज्ञानको प्राप्त किया है, योगके द्वारा ही उसका कर्म-संन्यस्त होता है और इसप्रकारके आत्मवान् व्यक्तिको कर्म बाँध नहीं सकते।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥
(४।४१)

अब अर्जुन फिर गड़बड़में पड़े। वासनाहीन कर्म योगका मूल है, एवं कर्मसंन्यास और त्याग सांख्यका मूल है। इन दोनोंको बराबर रक्खा गया है, मानो ये एक ही साधनाके अङ्ग हों. परन्तु दोनोंमें किसी प्रकारका सामञ्जस्य तो समझमें ही नहीं आता। भगवान्ने इससे पहले जो सामञ्जस्य दिखलाया है वह यही है कि बाह्य कर्मशून्यतामें (स्वरूपसे कर्मोंके त्यागमें) भी समझना होगा कि कर्म हो रहा है; और आत्मा जब अपनेको कर्ता माननेके भ्रमको समझ सके एवं सारे कर्मोंको जब यज्ञेश्वरको अर्पण कर दे, जब बाह्य कर्मपरायणतामें (स्वरूपसे कर्म करते रहनेपर) भी यथार्थ नैष्कर्म्यको समझना चाहिये। परन्तु अर्जुनकी कर्मशील व्यवहारिक बुद्धि इस सूक्ष्म भेदको समझ नहीं सकी। अतः उन्होंने पुनः प्रश्न किया—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥
(५।१)

'हे कृष्ण! तुम सारे कर्मोंके संन्यासका उपदेश देकर, फिर कर्मयोगका उपदेश देते हो। इन दोनोंमें मेरे लिये जो एक श्रेय हो उसे ही निश्चित करके मुझसे कहो।'

भगवान्ने इसका जो उत्तर दिया वह विशेष प्रयोजनीय है, क्योंकि उसमें दोनोंका भेद खूब स्पष्टरूपसे दिखलाया गया है और यहाँ दोनोंमें पूर्ण सामञ्जस्य सिद्ध नहीं किया जानेपर भी, किसप्रकार इनका सामञ्जस्य होगा, इस बातको दिखा दिया है। श्रीभगवान् कहते हैं—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(५।२-५)

'संन्यास और कर्मयोग दोनों ही निःश्रेयस प्रदान करते हैं, किन्तु इन दोनोंमें कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग उत्कृष्टतर है। जो न तो द्वेष करते हैं और न आकांक्षा करते हैं, उन्हें नित्य संन्यासी (कर्मानुष्ठान-कालमें भी) जानना चाहिये। क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्व शून्य व्यक्ति अनायास ही बन्धनसे छूट जाते हैं। अज्ञानी लोग ही सांख्य और योगको पृथक् बतलाते हैं, ज्ञानी नहीं; इनमेंसे एकका भी सम्यक् रूपसे अनुष्ठान करनेसे दोनोंके ही फल प्राप्त होते हैं, क्योंकि सम्यक् भावसे पालन करनेमें दोनोंमें ही एकके भीतर दूसरा अङ्गभावसे आ जाता है। सांख्यके द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, योगीजन भी उसीको प्राप्त होते हैं। जो सांख्य और योगको एक देखते हैं वे ही ठीक देखते हैं। किन्तु योगके बिना संन्यासकी प्राप्ति कष्टकर है। योगयुक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त होते हैं; उनका आत्मा सर्वभूतोंका (अर्थात् संसारमें जो कुछ है, सबका) आत्मा हो जाता है। इसप्रकारका पुरुष कर्म करता हुआ भी कर्ममें बद्ध नहीं होता।'

वे जानते हैं कि कर्म उनके नहीं हैं, प्रकृतिके हैं; एवं इसी ज्ञानके द्वारा वे मुक्त होते हैं; उन्होंने कर्मोंका संन्यास कर दिया है, वे कोई भी कर्म नहीं करते, तो भी उनके द्वारा कर्म होते हैं। वे ब्रह्मभूत—ब्रह्म हो जाते हैं, वे देखते हैं कि वही एक स्वयम्भू वस्तु ही सर्वभूत बन रही है। और वह भी केवल उन्हींकी तरह एक हैं। वह जानते हैं कि उनके सारे कार्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके भीतरसे विश्व-प्रकृतिकी ही लीलाका विकाश है, एवं उनके निजके सारे कर्म भी उसी विश्व-लीलाका अंशमात्र है। गीताशिक्षामें इतनी ही बात नहीं है, क्योंकि यहाँतक तो अक्षर पुरुष—अक्षर ब्रह्म और प्रकृतिकी बात हुई है; कहा गया है कि इस प्रकृतिसे ही जगत् है। किन्तु अभी ईश्वरकी, पुरुषोत्तम-की बात स्पष्टरूपसे नहीं कही गयी है। अबतक तो केवल ज्ञान और कर्मका समन्वय ही किया गया है। सामान्य सङ्केत छोड़कर भक्तिकी बातका तो अभी प्रारम्भ ही नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है। भक्ति ही परम तत्त्व है एवं गीताके अगले भागमें भक्तिको ही विशेष स्थान दिया गया है। अबतक केवल एक निष्क्रिय पुरुष एवं निम्नतर प्रकृतिकी बात ही कही गयी है। अभी तीन पुरुष और दो प्रकृतिका भेद नहीं किया गया है। यह सच है कि ईश्वरका विषय आ गया है, परन्तु आत्मा और प्रकृतिके साथ उनका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं किया गया है। इन सब अति प्रयोजनीय तत्त्वोंको सम्यक् रूपसे न बतलाकर जहाँतक समन्वय किया जा सकता है, गीताके प्रथम छः अध्यायोंमें केवल वहाँतक ही किया गया है। जब इसके बाद इन सारे तत्त्वोंका विवेचन किया जायगा तब इस प्राथमिक समन्वयोंको छोड़ा तो नहीं जायगा परन्तु इनमें बहुत-सा संशोधन और परिवर्द्धन अवश्य होगा।

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि निष्ठा दो प्रकारकी है-- सांख्योंकी ज्ञानयोगके द्वारा, एवं योगियोंकी कर्मयोगके द्वारा। निष्ठा (मोक्ष-परायणता) होती है। यह जो सांख्यके साथ ज्ञानयोगका, एवं योगके साथ कर्ममार्गका एकत्व किया गया है, बड़े ही महत्त्वका है। क्योंकि इससे अच्छी तरह समझा जा सकता है कि उस समय जो दार्शनिक धारणा और विचार प्रचलित थे, आज उनमें बहुत ही परिवर्तन हो गया है। वेदान्त मतका महान् विकाश ही इस परिवर्तनका कारण है। गीता-रचनाके पश्चात् यह वेदान्तिक प्रभाव आरम्भ हुआ जान पड़ता है। और इसके परिणामस्वरूप मोक्षप्राप्तिके लिये व्यवहारिक प्रणालियोंके रूपमें अन्यान्य वैदिक दर्शनोंका प्रयोग एक प्रकारसे उठ-सा गया। गीताकी भाषासे यह जाना जाता है कि उस समय जो ज्ञान-मार्गपर चलते थे वे साधारणतः* सांख्यकी रीतिका ही अनुसरण करते थे। इसके बाद बौद्ध-धर्मके प्रचारके साथ-साथ बौद्ध भावोंके द्वारा सांख्यकी ज्ञानप्रणालीका प्रभाव निश्चय ही नष्ट हो गया। सांख्यके समान ही अनीश्वरवादी और बहुवादी बौद्धमतने विश्व-शक्तिकी कार्यावलीकी अनित्यताके ऊपर अधिक ज़ोर दिया। परन्तु बौद्धमतमें इस विश्वशक्तिको प्रकृति न कहकर कर्म कहा गया है। क्योंकि बौद्धोंको वेदान्तका ब्रह्म अथवा सांख्यका निष्क्रिय पुरुष स्वीकार नहीं है; उनके मतसे बुद्धि जब विश्व-क्रियाकी इस अनित्यताको समझ लेती है, तभी मुक्ति हो जाती है। फिर जब बौद्धमतके विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई तो फिर उस पुराने सांख्यमतकी पुनर्प्रतिष्ठा न हो, शङ्करके द्वारा प्रचारित वेदान्त-मतकी ही प्रतिष्ठा हुई। शङ्करने बौद्धमतकी अनित्यताके स्थानमें वेदान्तकी मायाको प्रतिष्ठित किया, एवं बौद्धोंके शून्यवाद, निर्वाणवादको स्थानमें अनिर्देश्य, अनिर्वचनीय, अरूप निष्क्रिय ब्रह्मकी प्रतिष्ठा की। इन सारे दार्शनिक तत्त्वों (ब्रह्म, माया) के ऊपर अवलम्बन कर शङ्करने जिस साधन-प्रणालीका निर्देश किया है, संसारको मिथ्या बतलाकर संसार-त्यागका जो उपदेश दिया है, आजकल हम ज्ञानयोगसे साधारणतः उसीको समझते हैं। किन्तु जब गीता रची गयी थी, उस समय मायावाद वेदान्तदर्शनके मूल सिद्धान्तके रूपमें नहीं समझा गया था, एवं पीछेसे शङ्करने इस माया-शब्दके अर्थको जैसा स्पष्ट और सुनिश्चित किया है, गीता-रचनाके समय माया-शब्दका अर्थ वैसा स्पष्ट और सुनिर्दिष्ट नहीं था। क्योंकि गीतामें मायाकी बात बहुत ही कम आयी है, किन्तु प्रकृतिका उल्लेख अधिक है। माया शब्द प्रकृतिके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है, वरं प्रकृतिकी निम्नावस्थाको--अपरा त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको ही माया कहा गया है--वही त्रैगुण्यमयी माया है। गीताके मतसे जगत् भ्रमात्मिका मायाके द्वारा नहीं रचा जाता। प्रकृति ही इस विश्वकी सृष्टि करती है।

परन्तु दार्शनिक तत्त्वके सम्बन्धमें वास्तविक भेद चाहे जो हो, गीता सांख्य और योगमें कार्यतः जैसा भेद करती है, वर्तमान वेदान्तिक ज्ञानयोग एवं वेदान्तिक कर्मयोग इन दोनोंमें ठीक वैसा ही भेद है और कार्यतः इस भेदका परिणाम भी एक-सा ही होता है। वेदान्तिक ज्ञानयोगकी भाँति सांख्य भी बुद्धिकी सहायतासे मुक्तिके मार्गमें अग्रसर होता था। विचार-बुद्धिकी सहायतासे आत्माके स्वरूपका ज्ञान एवं जगत्‌का मिथ्या ज्ञान जिसप्रकार वेदान्तकी प्रणाली है, उसी प्रकार विचार-बुद्धिके द्वारा पुरुष-प्रकृति-विवेक, पुरुष-प्रकृति-भेदका सम्यक् ज्ञान सांख्यकी प्रणाली है। जिसप्रकार सांख्य विचार-बुद्धिकी सहायतासे जानना चाहता था कि आसक्ति और अहङ्कारके वशमें प्रकृतिकी कार्यावली पुरुषके ऊपर आरोपित होती है, वेदान्त भी उसी प्रकार बुद्धिकी सहायतासे जानना चाहता है कि मानसिक भ्रमके द्वारा उत्थित अहङ्कार और आसक्तिके कारण जगत्‌का आभास ब्रह्मके ऊपर आरोपित होता है।

* पुराण और तन्त्र भी सांख्य-भावोंसे भरे हैं, यद्यपि वह वेदान्तिक-भावके अधीन और अन्यान्य भावोंके साथ मिश्रित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदान्तिक प्रणालीके अनुसार आत्मा जब अपने सत्य सनातन एक ब्रह्मस्वरूपमें लौट आता है तब मायाका अन्त हो जाता है, विश्वलीला लुप्त हो जाती है। सांख्य-प्रणालीके अनुसार आत्मा जब अपने निष्क्रिय पुरुषस्वरूप सनातन अवस्थाको लौटता है तब सारे गुणोंकी क्रिया शान्त हो जाती है, विश्व-क्रिया बन्द हो जाती है। मायावादियोंका ब्रह्म नीरव, अक्षर और निष्क्रिय है, सांख्यका पुरुष भी वैसा ही है। अतः दोनोंके मतसे संसार और कर्मका परित्याग कर संन्यास-जीवन व्यतीत करनेके अतिरिक्त मुक्तिके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। किन्तु, गीताके योग और वेदान्तिक कर्मयोग दोनोंके मतानुसार कर्म केवल मोक्षमें सहायक ही नहीं, प्रत्युत कर्मके द्वारा ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है; एवं इसी बातकी युक्ति-युक्ततापर गीताने बार-बार ज़ोर दे कर कहा है। अभाग्यकी बात है कि बौद्धधर्म*की प्रबलताकी बाढ़में गीताकी यह शिक्षा भारतवर्षमें स्थान नहीं पा सकी। पश्चात् कठिन मायावादकी तीव्रता और संसारत्यागी साधु-संन्यासियोंके भावावेगमें गीताकी यह कर्म-शिक्षा लुप्तप्राय हो गयी। इतने दिनोंके पश्चात् आज भारतवासियोंके मनके ऊपर वही शिक्षा अपने यथार्थ कल्याणकर प्रभावका विस्तार करने लगी है। त्याग तो होना ही चाहिये; परन्तु आन्तरिक वासना और अहङ्कारका त्याग ही यथार्थ त्याग है। इस त्यागके विना बाह्य कर्म-त्याग मिथ्याचार है और व्यर्थ है। जहाँ यह आन्तरिक त्याग हुआ, वहाँ बाह्य त्यागकी कोई आवश्यकता नहीं है; परन्तु उसका निषेध भी नहीं है। ज्ञान होना ही चाहिये; मुक्तिके लिये इससे बढ़कर महान् शक्ति और कोई भी नहीं है, पर ज्ञानके साथ कर्म भी आवश्यक है। कर्म और ज्ञानके संयोगसे आत्मा केवल कर्मशून्य शान्तिकी अवस्थामें ही नहीं, प्रत्युत भीषण कर्म-कोलाहलमें भी सम्पूर्ण-भावसे ब्राह्मीस्थितिमें स्थित रह सकता है। भक्तिकी तो सर्वतोभावसे आवश्यकता है, किन्तु भक्तिके साथ भी कर्मकी आवश्यकता है; ज्ञान, भक्ति और कर्मके संयोगसे आत्मा सर्वोच्च ईश्वरावस्थाको प्राप्त होता है; तथा जो एक ही समय अनन्त आध्यात्मिक शान्ति एवं अनन्त विश्वव्यापी कर्म दोनोंका अधीश्वर है, उस पुरुषोत्तममें निवास करता है। यही गीताका समन्वय है।

किन्तु सांख्यानुमोदित ज्ञानपथ एवं योगानुमोदित कर्मपथ इन दोनोंकी विभिन्नतामें जिसप्रकार गीता सामञ्जस्य करती है, वैसे ही वेदान्तमें जो एक और विरोध है, आर्य-ज्ञानकी उदार व्याख्या करते हुए गीताको उस विरोधकी भी आलोचना और समाधान करना पड़ा है। यह विरोध है कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डका; एक चिन्ता-प्रवाहकी परिणति पूर्वमीमांसा दर्शनके वेदवादमें है तो दूसरे प्रवाहकी परिणति उत्तर-मीमांसादर्शनमें-ब्रह्मवादमें† है। एक पक्षके लोग प्राचीन कालसे प्रचलित वैदिक मन्त्र और वैदिक यज्ञोंके ऊपर जोर देते हैं, दूसरे पक्षके लोग इन सबको नीचे दर्जेका ज्ञान बतलाकर इनकी उपेक्षा करते हुए उपनिषदोंके द्वारा जिस उच्च ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उसीके ऊपर विशेष ज़ोर देते हैं। धन, जय, पुत्र प्रभृति सब प्रकारके ऐहिक सुख एवं परलोकके अमरत्वरूप लाभोंके उद्देश्यसे अनन्यभावसे वैदिक यज्ञोंका अनुष्ठान एवं वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग करना। वेदवादी लोग इसको ही ऋषियोंका आर्यधर्म समझते थे। ब्रह्मवादी कहते हैं कि इनके द्वारा मनुष्य परमार्थके लिये तैयार तो होता है पर यही परमार्थ नहीं है। एकमात्र ब्रह्मज्ञान ही मनुष्यको अनिर्वचनीय आध्यात्मिक आनन्दके आलय यथार्थ अमरत्वको दे सकता है—यह आनन्द सब प्रकारसे ऐहिक भोगसुख एवं निम्न स्वर्गसे बहुत ही ऊँचा है। मनुष्य जब इस ब्रह्मज्ञानकी ओर लौटता है तभी उसके पुरुषार्थ-साधनका, जीवनके यथार्थ उद्देश्यके साधनका आरम्भ होता है। प्राचीन कालमें वेदका यथार्थ अर्थ चाहे जो हो, यह भेद तो बहुत दिनसे चला आता है, एवं इसीलिये गीताको इसकी आलोचना करनी पड़ी है।

* मालूम होता है, गीताका भी महायान बौद्धधर्मपर बहुत प्रभाव पड़ा था, इसीसे गीताके बहुतसे श्लोक सम्पूर्णरूपसे बौद्धग्रन्थोंमें स्थान पा चुके हैं। बौद्ध-धर्मके आरम्भमें वह ज्ञानी, कर्महीन शान्त साधु-संन्यासियोंका ही धर्म था, आगे चलकर वह जो ध्यानयुक्त भक्ति, जीव-सेवा और दयाका धर्म बनकर एशियामें फैला, इससे प्रतीत होता है कि गीताके प्रभावसे ही बौद्धधर्ममें ऐसा परिवर्तन हुआ था।

† जैमिनिके मतसे ब्रह्मलोक ही मुक्ति है, इस सनातन ब्रह्मलोकमें ब्रह्मविद् आत्मा दिव्य शरीरसे दिव्य भोग भोगता है। गीताके मतमें ब्रह्मलोक मुक्ति नहीं है, इसको लाँघकर आत्माको लोकातीत अवस्थामें पहुँचना पड़ता है, तभी मुक्ति होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म और ज्ञानका समन्वय करते हुए गीता प्रथम ही वेदवादका तीव्र विरोध करती है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
(२ । ४२-४३)

'वेदके अर्थवादसे परितुष्ट (तात्पर्यविमूढ़), इसके अतिरिक्त ईश्वरतत्त्व और कुछ प्राप्य नहीं है, इसप्रकारके मतके पोषक, कामात्मा, स्वर्गाभिलाषी, मूढ़ जन यह जो पुष्पित वाक्यका निर्देश करते हैं वह जन्म-कर्म-फल-प्रद है। क्रियाविशेषबाहुल्यविशिष्ट एवं भोगैश्वर्य-प्राप्तिका साधनभूत है।'' यद्यपि यहाँ कार्यतः वेद परित्यक्त हुआ है तथापि भारतवासियोंकी समझ है कि वेद अति पवित्र, अनतिक्रमणीय है—सारे धर्मशास्त्रों और दर्शनशास्त्रोंका मूल वेद ही है एवं वही प्रमाण्य है। गीता इस वेदपर भी आक्रमण कर अग्रसर होती हुई जान पड़ती है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
(२ । ४५)

'हे अर्जुन ! गुणत्रयका कार्य ही वेदका विषय है, किन्तु तुम त्रिगुणोंसे आगे बढ़ो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

'सारा स्थान जलसे प्लावित हो जानेपर उदपान (कूप, तड़ागादि क्षुद्र जलाशयों) का जितना प्रयोजन होता है, परमार्थ-तत्त्वज्ञ ब्रह्मनिष्ठके लिये वेद भी उतना ही प्रयोजनीय है, 'सर्वेषु वेदेषु'–समस्त वेद कहनेसे उपनिषद् भी आ जाते हैं ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि आगे चलकर व्यापक 'श्रुति' शब्दका प्रयोग हुआ है; जो परमार्थ-ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये सारा वेद ही निष्प्रयोजन है । वरं वेद बाधास्वरूप हैं। कारण, उनके भीतर विभिन्न वाक्योंमें जो विरोध रहता है, एवं उनके जो नाना प्रकारके विरोधी भाष्य और व्याख्या हैं उससे बुद्धि विपर्यस्त हो उठती है। अन्दर ज्ञानका आलोक नहीं रहनेसे बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती और न योगमें निविष्ट हो सकती है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
(२ । ५२-५३)

'जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप कलिलको लाँघ जायगी तब तुम श्रोतव्य तथा श्रुत शास्त्रोंके विषयमें उदासीन हो जाओगे । श्रुति-श्रवणसे विक्षिप्त तुम्हारी बुद्धि जब समाधिमें निश्चल और स्थिर होगी, तभी तुम्हें योगकी प्राप्ति होगी।' वेदके सम्बन्धमें यह बातें साधारण धर्मभावसे इतनी विरुद्ध हैं कि उक्त श्लोकोंके विकृत अर्थ करनेकी बहुत चेष्टाएँ हुई हैं। किन्तु उक्त श्लोकोंके पूर्वापर अर्थ स्पष्ट हैं। पश्चात् फिर भी देखा जाता है कि ज्ञानको वेद और उपनिषद्से भी बढ़कर कहा गया है—शब्दब्रह्मातिवर्तते ।

जो कुछ हो इस विषयको हमें अच्छी तरह समझना होगा, क्योंकि गीताके समान सार्वभौम, समन्वयकारी शास्त्र आर्यसभ्यताके इन सब विशिष्ट अंशोंको अस्वीकार या अग्राह्य नहीं कर सकता । योगमतानुसार कर्मके द्वारा मुक्ति एवं सांख्यमतानुसार ज्ञानके द्वारा मुक्ति, इन दोनों मतोंका समन्वय गीताको करना होगा। ज्ञानके साथ कर्मको मिश्रित करना होगा । फिर पुरुष और प्रकृतिके सम्बन्धमें सांख्य और योग एकमत हैं; किन्तु वेदान्तने उपनिषद्के पुरुष, देव, ईश्वर इन सब तत्त्वोंको एक अक्षर ब्रह्म-तत्त्वमें परिणत किया है; इनका समन्वय भी गीताको करना होगा; फिर उसके साथ ही योगप्रतिपादित ईश्वर तत्त्वका स्थान निश्चय करना होगा। साथ ही गीताके निजस्व तत्त्व–तीन पुरुष और पुरुषोत्तमकी बात भी कहनी होगी। इस पुरुषोत्तम-तत्त्वका प्रमाण उपनिषदोंमें सहज ही नहीं पाया जाता, यद्यपि यह विचारधारा वहाँ उनमें है पर यह तत्त्व श्रुति-विरोधी सा जान पड़ता है। कारण, श्रुति केवल दो ही पुरुष स्वीकार करती है। फिर ज्ञान और कर्मका समन्वय करते समय केवल सांख्य और योगका विरोध ग्रहण करनेसे नहीं चलेगा, वेदान्तमें कर्म और ज्ञानका जो विरोध है वह सांख्य और योगके विरोधसे अलग है, अतः उस विरोधका भी इस प्रसंगमें सन्निवेश आवश्यक है। वेद और उपनिषद्को प्रामाण्य स्वीकार करनेसे इतने अधिक विरुद्ध दर्शनों और मतोंकी सृष्टि हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गयी है, जिससे गीताके इस कथनसे आश्चर्य माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि 'श्रुति मनुष्यकी बुद्धिको विपर्यस्त कर देती है।'—'श्रुतिविप्रतिपन्ना'—भारतके पण्डित और दार्शनिक आज भी शास्त्र-वाक्यका अर्थ लेकर कितना झगड़ा करते हैं और कितने विभिन्न सिद्धान्त निकालते हैं ! ऐसी दशामें यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि बुद्धि घबराकर इन सबसे मुख मोड़ ले, 'गन्तासि निर्वेदम्' नये-पुराने 'श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च' किसी वाक्यको न सुनना चाहे और अपने ही अन्दर घुसकर गम्भीर आन्तरिक, प्रत्यक्ष भगवान्के प्रकाशमें सत्यका आविष्कार करना चाहे ।

प्रथम छः अध्यायमें गीताने कर्म और ज्ञानके समन्वय-की, सांख्य योग और वेदान्तके समन्वयकी प्रशस्त भित्ति स्थापन की है । किन्तु आरम्भमें ही गीता सोचती है कि वेदान्तिकोंकी भाषामें कर्म-शब्दका एक विशेष अर्थ है । वे कर्म-शब्दसे वैदिक यज्ञ एवं अनुष्ठानोंको लेते हैं । क्रिया-विशेष-बहुल विधिसङ्गत धर्मानुष्ठानोंको ही वेदान्ती कर्म कहते हैं । किन्तु, योगशास्त्रमें कर्मका अर्थ इसकी अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है । गीताने इसी व्यापक अर्थके ऊपर विशेष जोर दिया है; धर्म-कर्मके अन्दर हमें 'सर्वकर्माणि' सभी कर्मोंको ही लेना होगा । तथापि गीता बौद्ध-धर्मकी भाँति यज्ञादिको एकदम उड़ा नहीं देती, प्रत्युत यज्ञकी धारणाको उन्नत और प्रशस्त करती है । वस्तुतः गीताके वक्तव्यका मर्म यही है कि यज्ञको केवल जीवनका सर्वप्रधान अंश ही नहीं समझना होगा, बल्कि समस्त जीवनको ही यज्ञरूपसे देखना होगा, अवश्य ही अज्ञानी इसका उच्च ज्ञानके विना सम्पादन करते हैं, उनमें भी जो विशेष अज्ञानी हैं वे जिसप्रकार करना चाहिये उसप्रकार न करके अविधिपूर्वक इसे करते हैं । यज्ञके बिना जीवन नहीं चल सकता; सृष्टिकर्त्ताने प्रजा-सृष्टि करनेके समय यज्ञको उनका चिरसंगी बना दिया है—सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा । किन्तु, वेदवादियोंका जो यज्ञ है वह फल-कामनासे उत्पन्न हुआ है । भोगैश्वर्य ही उस यज्ञका लक्ष्य है और स्वर्गके अधिकतर भोग ही वहाँ श्रेष्ठ गति है एवं इसीको अमृतत्व कहा गया है । यह कभी गीताद्वारा अनुमोदित नहीं हो सकता; क्योंकि गीताकी तो पहली बात कामना-त्याग है । आत्माके शत्रुस्वरूप इस कामनाका बहिष्कार करना होगा, इसका विनाश करना होगा, इसी बातको लेकर गीताका प्रारम्भ किया गया है । गीता यह नहीं कहती कि वैदिक यज्ञप्रणाली निरर्थक है; गीता स्वीकार करती है कि ऐसे यज्ञानुष्ठानसे इहलोक और स्वर्गमें सुख भोग किया जा सकता है । भगवान् कहते हैं, 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।' लोग भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं, मैं ही उन देवताओंके रूपमें सारे यज्ञार्पणको ग्रहण करता हूँ, एवं तदनुसार फल भी मैं ही प्रदान करता हूँ । किन्तु यथार्थ पथ यह नहीं, स्वर्ग-सुख-भोग भी मनुष्यके लिये श्रेष्ठ पुरुषार्थ नहीं, मोक्ष नहीं । अज्ञानी जन ही देवताकी पूजा करते हैं, वह यह नहीं जानते कि सब देव-मूर्तियोंमें बिना जाने वे किसकी पूजा करते हैं । कारण, वे न जानकर भी उसी एक ईश्वरकी—उसी एक देवताकी आराधना करते हैं और वही एक ईश्वर सबकी पूजाको ग्रहण करते हैं । उसी ईश्वरको यज्ञ अर्पण करना होगा; जीवनके सब काम जब भक्तिके साथ वासनारहित होकर उसीके उद्देश्यसे सर्वजन-हितके लिये किये जाते हैं तो वही यथार्थ यज्ञ है । वेदवाद इस सत्यको ढँक देता है एवं क्रिया-विशेष-बाहुल्यके द्वारा मनुष्यको तीनों गुणोंकी क्रियाओंमें ही बद्ध रखना चाहता है । इसीलिये वेदवादकी ऐसी तीव्र निन्दा की गयी है एवं रूढभावसे ही वेदवादका परित्याग किया गया है; किन्तु इसका जो मूल तत्त्व है उसे नष्ट नहीं किया गया । इसको परिवर्द्धित और परिवर्तित कर आध्यात्मिक जीवनका, मोक्ष-लाभ-प्रणालीका एक अति प्रयोजनीय अंश बना दिया गया है ।

वेदान्तियोंकी भाषामें ज्ञान-शब्द जिस अर्थमें व्यवहृत होता है उसके सम्बन्धमें इतनी गड़बड़ नहीं है । गीताने प्रथमहीसे सम्पूर्णरूपसे वेदान्तके ही ज्ञानको ग्रहण किया है, एवं प्रथम छः अध्यायमें सांख्यवादियोंके शान्त, अक्षर किन्तु बहुपुरुषके बदलेमें वेदान्तियोंके 'एकमेवाद्वितीयम्' विश्व-व्यापी, स्थिर, शान्त, अक्षर-ब्रह्मकी प्रतिष्ठा की है । इन छः अध्यायोंमें गीता बराबर ही यह स्वीकार करती है कि मोक्षकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मज्ञानकी सर्वापेक्षा अधिक आवश्यकता है, ब्रह्मज्ञानके बिना मोक्षकी प्राप्ति असम्भव है, यद्यपि गीता यह भी बराबर कहती है कि निष्काम कर्म ज्ञानका ही एक मूल उपादान है । इसी प्रकार गीता मानती है कि नाम-रूपके अतीत अक्षर-ब्रह्मकी अनन्त समतामें 'अहं' तत्त्वका निर्वाण कर देना मोक्षके लिये परमावश्यक है । इसप्रकारके निर्वाण और सांख्य मतके अनुसार प्रकृतिके कार्यके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ संग छोड़कर निष्क्रिय अक्षर-पुरुषका निज स्वरूपमें लौट आना। इन दोनोंको गीताने कार्यतः एक ही बना दिया है। किसी किसी उपनिषद्में (विशेषकर श्वेताश्वतरोपनिषद्में) सांख्यके साथ वेदान्तकी भाषाको मिश्रित कर जैसे एक किया गया है, वैसे ही गीताने भी किया है। किन्तु तिसपर भी वेदान्तिक मतमें एक दोष आता है, उसका अतिक्रम करना ही होगा। हम अनुमान कर सकते हैं कि उस समय भी वेदान्तके परवर्ती वैष्णव-युगके समान ईश्वरवादका (Theism) विकाश नहीं हुआ था, यद्यपि इसका बीज उपनिषदोंमें निहित था। हम इसे यों मान ले सकते हैं कि मूल वेदान्तकी भित्ति सर्वेश्वरवाद (Pantheism) पर थी और उसका शिखर अद्वैतवाद * (Monism) था। यहाँ 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्मको ही जानता था। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर प्रभृति देवोंको भी ब्रह्म समझता था। किन्तु वही एक परब्रह्म ही ईश्वर, पुरुष और देव है, इस धारणाका व्यतिक्रम हो गया था; निखालिस ब्रह्मवादमें यह सब शब्द ब्रह्मकी निम्नतर अवस्थामें ही प्रयुक्त हो सकते थे। गीता केवल इन सब शब्दों एवं इनके अर्थको पुनः स्वस्थानमें प्रतिष्ठित करना ही नहीं चाहती है, बल्कि वह एक पैर और आगे बढ़ाना चाहती है। सांख्यके साथ वेदान्तका सम्पूर्ण समन्वय करते समय कहना होगा कि ब्रह्मकी निम्नावस्था पुरुष नहीं है, परमावस्थामें ब्रह्म ही पुरुष है एवं पुरुषकी अपरा प्रकृति ही ब्रह्मकी माया है; एवं सांख्य और वेदान्तके साथ योगका पूर्ण समन्वय करते समय कहना होगा कि निम्नावस्थामें नहीं, परमावस्थामें ब्रह्म ही ईश्वर है। किन्तु गीता ईश्वरको, पुरुषोत्तमको शान्त अक्षर-ब्रह्मके भी ऊपर स्थान देनेको अग्रसर है, निर्गुण निरुपाधि ब्रह्ममें अहं तत्त्वका लय पुरुषोत्तमके साथ अन्तिम मिलनकी एक प्रधान प्राथमिक प्रक्रियामात्र है। क्योंकि पुरुषोत्तम ही परब्रह्म है। अतएव गीता वेद और उपनिषद्की प्रचलित शिक्षाको अतिक्रमण कर उनमेंसे स्वयं जिस शिक्षाको प्राप्त करती है, उसीका विवरण करती है। वेदान्तिक जिसप्रकार साधारणतः वेद और उपनिषद्की व्याख्या करते हैं, गीताके साथ उनका मेल चाहे न हो †। वस्तुतः शास्त्रीय वाक्योंकी ऐसी स्वाधीन समन्वयकारी व्याख्या न करनेसे तत्कालीन प्रचलित असंख्य मतवाद और वैदिक प्रणालीमें सामञ्जस्य स्थापित करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं।

अगले अध्यायोंमें गीताने वेद और उपनिषद्को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। वेद और उपनिषद् भागवत शास्त्र हैं, भगवान्की वाणी हैं। स्वयं भगवान् ही वेदके ज्ञाता और वेदान्तके प्रणेता हैं—वेदवित् वेदान्तकृत्। सब वेदोंमें वही एकमात्र ज्ञातव्य विषय हैं—सर्वैर्वेदैरहमेव वेद्यः। इस भाषासे यह समझा जाता है कि वेद-शब्दका अर्थ ज्ञानका ग्रन्थ है—एवं इन सब शास्त्रोंका नाम उपयुक्त ही है। पुरुषोत्तमने क्षर और अक्षरके अतीत अपनी उच्च अवस्थासे अपनेको जगत्में और वेदमें व्याप्त कर रक्खा है। तथापि वेदका शब्दार्थ लेकर अनेक प्रकारकी गड़बड़ी होती है, जो बातोंके ऊपर अत्यधिक जोर देते हैं, उन्हें यथार्थ गूढ़भावका पता ही नहीं लगता। ईसाई-धर्मके प्रचारकने भी यही कहा था कि शब्दसे सर्वनाश और भावसे ही रक्षा होती है-The letter killeth and it is the spirit that saves." एवं धर्मशास्त्रोंकी उपयोगिताकी भी एक सीमा होती है। हृदयमें जो ईश्वर रहते हैं वही यथार्थतः सारे ज्ञानका झरना है—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानम्……… ।

(—१५।१५)

—'मैं सर्व प्राणियोंके हृदयमें अधिष्ठित हूँ, एवं मुझसे ही स्मृति और ज्ञान है।' शास्त्र उस अन्तःस्थित वेदका, उस स्वप्रकाश सद्वस्तुका वाङ्मय रूपमात्र है—यही शब्द-ब्रह्म है। वेदमें कहा गया है कि हृदयसे, जहाँ सत्यका आवास है उसी गुह्य स्थानसे मन्त्रकी उत्पत्ति होती है, सदनात् ऋतस्य गुहायाम्। उत्पत्ति-स्थान ऐसा होनेके कारण ही इसका इतना मूल्य है; तथापि शब्दकी अपेक्षा अनन्त सत्य बढ़कर है। किसी

* ईश्वर और विश्व एक ही है—यही मत सर्वेश्वरवाद (Pantheism) है। अद्वैतवाद कहता है कि एकमात्र भगवान् या ब्रह्म ही सत्य है, और सब जगत् मिथ्या है या ब्रह्मका ही आंशिक विकास है।

† वास्तविक पुरुषोत्तमकी धारणा गीतासे पूर्व उपनिषदोंमें ही सूचित हो चुकी थी; परन्तु वहाँ वह विक्षिप्त-भावमें थी। गीताकी तरह उपनिषदोंमें भी यह बारम्बार कहा गया है कि उस परमब्रह्म, परमपुरुषमें ही निर्गुण और गुणी ब्रह्मका विरोध निहित है। ये दोनों हमें विरोधी प्रतीत होनेपर भी परब्रह्म केवल गुणी ही नहीं है, केवल निर्गुण भी नहीं है। उसीके अन्दर दोनों हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मशास्त्रके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि वही सम्पूर्ण एवं यथेष्ट है,एवं उसे छोड़कर और कोई सत्य ग्राह्य नहीं (वेदके सम्बन्धमें वेदवादियोंका ऐसा ही मत है— नान्यदस्तीति वादिनः)। संसारमें जितने धर्मशास्त्र-ग्रन्थ थे या हैं, उनके द्वारा यथार्थ लाभ प्राप्त करनेमें उन्हें इसी भावसे देखना होगा। संसारमें जितने धर्मग्रन्थ हैं या रहे हैं—बाइबल, कुरान, चीनदेशीय ग्रन्थ, वेद, उपनिषद्, पुराण, तन्त्रशास्त्र, गीता, एवं ऋषियों, पण्डितों और अवतारोंकी वाणी और उपदेशवाक्य—इन सबके एकत्र करनेपर भी नहीं कहा जा सकता कि इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। तुम्हारी बुद्धि वहाँ जो सत्यको नहीं पाती वह ठीक नहीं, क्योंकि तुम्हारी बुद्धि वहाँ उसको पाती ही नहीं। जिनके विचार साम्प्रदायिक, संकीर्ण हैं वे ही इसप्रकारकी भूल कर सकते हैं—जिनको भगवत्-अनुभूति होती है, जिनका मन मुक्त एवं प्रकाशसम्पन्न होता है वे सत्यकी खोज करते समय इसप्रकारकी संकीर्णतामें आबद्ध नहीं हो सकते। जो सत्य हृदयकी गम्भीर अनुभूतिसे प्रत्यक्ष होता है अथवा जो हृदयस्थित सब ज्ञानका ईश्वर है, सनातन वेदविद्के समीप सुना गया है कि वह श्रुत हो या अश्रुत-वही यथार्थ सत्य है *।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

१४७-अहङ्कार मनका बीज है और बुद्धि अहङ्कारका आधार है। बुद्धिविशिष्ट आत्मा ही अहङ्कार है।

१४८-संयुक्त सङ्कल्प और प्रज्ञा ही सांख्य-बुद्धि अर्थात् सांख्यदर्शनके अनुसार बुद्धिका स्वरूप है।

१४९-जिसप्रकार एक पिंजरेमें बन्द सिंह उसकी छड़ोंको तोड़कर बाहर निकल आता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष इस भौतिक शरीररूप पिंजरेसे सतत विचार (आत्म-जिज्ञासा), निरन्तर निदिध्यासन (ओंकार और उसके अर्थके गम्भीर और एकरस ध्यान) तथा ब्रह्मभावनाके द्वारा विजय प्राप्तकर बाहर निकलता है।

१५०-वह पुरुष जो अपने आयतन (प्राप्यस्थान) को जानता है, वह निश्चय ही अपने लोगोंका आयतन बन जाता है। निस्सन्देह मन ही (सम्पूर्ण ज्ञानका) आयतन है। (छान्दो० उप० ५।१।५)

१५१-प्रसिद्ध है कि (एक बार) मन शरीरसे निकला, और एक वर्ष बाहर रह पुनः लौटकर शरीरके अन्य अवयवोंसे पूछने लगा-'मेरे बिना तुम किस प्रकार जीते रहे?', उन्होंने उत्तर दिया-'जिसप्रकार एक बालक, मानसिक शक्तिके बिना ही प्राणोंसे श्वास लेता है, वाणीसे बोलता है, नेत्रोंसे देखता है, कानोंसे सुनता है।' मनने पुनः अपने स्थानको ग्रहण किया, और प्राणसे कहा-'सबके धारण करनेका गुण जो मेरे अधिकारमें है वह वस्तुतः तेरेद्वारा होता है।' मनकी क्रियाएँ प्राणके अधीन हैं, प्राण या जीवनसे ही सब उत्पन्न होते हैं। (छान्दो० उप० ५।१।१५)

१५२-ध्यानमें वासनाएँ बाधक होती हैं, सारी प्रच्छन्न वासनाओंको सङ्कल्प और विचारके द्वारा वशीभूत करना चाहिये।

१५३-काम-वासना और तृष्णा ये दो ही ध्यानमें महान् विघ्न उपस्थित करनेवाले हैं। मौका मिलते ही ये आक्रमण कर बैठते हैं। ये साधक-पर रह-रहकर चढ़ाई करते रहते हैं। कभी-कभी तो ये शक्तिहीन-से जान पड़ते हैं, पर पीछे पुनर्जीवित हो उठते हैं। बड़े ही प्रयत्न, विचार, आत्मानात्म-विवेक और 'शिवोऽहम्' भावनाके द्वारा इनको निर्मूल कर डालना चाहिये।

* श्रीअरविन्दके 'Essays on the Gita' से अनुवादित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५४-ध्यानके अन्य विघ्न तन्द्रा, आलस्य, मानसिक उत्तेजन, मनकी चञ्चलता और उद्वेग हैं। तन्द्रा और आलस्य प्राणायाम, शीर्षासन, सर्वाङ्गासन और मयूरासन तथा लघु भोजनसे दूर किये जा सकते हैं। बाधाओंको खोज खोजकर दूर करते रहना चाहिये। उन लोगोंका सहवास छोड़ना चाहिये जो बाधक जान पड़ें। व्यर्थ तर्क और विवाद न करो। बुद्धिहीन और मूढ़मति पुरुषको समझानेकी चेष्टा मत करो। मितभाषी बनो, मौन-साधन करो और एकान्त-सेवन करो। तुम सब प्रकारकी उत्तेजनाओंसे बच सकते हो। सदा सत्सङ्ग करो। योगवाशिष्ठ और उपनिषदादि सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय करो, ब्रह्मभावना रक्खो। अर्थ और भावनाके साथ ओंकारका जप करो। सारे कुविचार स्वयं नष्ट हो जायँगे।

१५५-वाणीके मौनसे मनका मौन कहीं बढ़कर है। मौनकी प्रवृत्ति स्वयमेव होनी चाहिये और वह हो भी स्वाभाविक। मौनके लिये बलपूर्वक प्रवृत्त होना केवल मनके साथ युद्ध करना है। यह तो एक प्रकारकी कसरत है, यदि तुम सत्यमें स्थित रहोगे, तो मौन तो स्वयमेव आ जायगा। और तभी अक्षय शान्ति प्राप्त होगी।

१५६-जब मनोविकार और वासनाएँ तुम्हें उद्विग्न करें, तो तुम्हें उनसे उदासीन हो जाना चाहिये। और चिन्तन करना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ? मैं तो मन नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ, शुद्ध सच्चिदानन्द हूँ। फिर मनोविकार मुझे कैसे प्रभावित कर सकते हैं? मैं निर्लिप्त हूँ, मैं इन मनोविकारोंका साक्षी हूँ, मुझे कोई भी बाधा नहीं पहुँचा सकता।' जब तुम इसप्रकारके विचार पुनः पुनः करोगे तो मनोविकार स्वयमेव नष्ट हो जायँगे। यह ज्ञान-क्रिया मनोविकारोंके वशीभूत करनेमें जितनी आसान है उतनी चित्तवृत्तियोंका निरोधरूप योग-क्रिया नहीं। मनके साथ द्वन्द्व मत मचाओ। इससे शक्तिका व्यर्थ ह्रास होता है। इससे सङ्कल्प-शक्तिपर बल पड़ता है और वह कमजोर होती है। मनसे मत लड़ो। सत्यमें निवास करो। ॐ में विचरो। विचार, ब्रह्मभावना और निदिध्यासनके द्वारा आत्मामें रमो। सारी विघ्न-बाधाएँ, सारे अशुभ विषय, सारे मनोविकार अपने आप दूर हो जायँगे। इस विचार-पद्धतिकी उपयोगिताका अनुभव करो, इसके लिये प्रयत्न करो, अभ्यास करो, और मनन करो।

१५७-ब्रह्म ही मनका अधिष्ठान है। मन प्रकाश और शक्ति (अपनी योनि) ब्रह्मसे ही प्राप्त करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे लोहेका छड़ गर्मी और चमक अग्निसे पाता है।

१५८-विषयात्मक, (Subjective mind) वासनात्मक (Subconscious mind) और कारणात्मक (Unconscious mind) मन तथा चित्त—यह सब पर्यायवाची हैं। विभिन्न ग्रन्थकार विभिन्न शब्दोंका उपयोग करते हैं। इससे घबराओ मत। यह केवल शब्दजाल है।

१५९-विषयाकार मन और प्रबुद्ध मन पर्यायवाची शब्द हैं। विषयाकार मन द्वारा ही हम देखते, सुनते और पढ़ते हैं।

१६०-समष्टि चित्त, आध्यात्मिक चित्त, अनन्त चित्त और सार्वभौम चित्त सब पर्यायवाची हैं। इनसे घबराओ मत।

१६१-जब चित्तमें शान्ति होती है और सब प्रकारके भोगोंके प्रति विरक्ति होती है; जब शक्तिशालिनी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होती हैं और अज्ञानका नाश हो जाता है तभी सत्-गुरुके सदुपदेश शिष्यके हृदयमें प्रविष्ट होकर विकसित होते हैं। जिसप्रकार कि पूर्णतया श्वेत वस्त्रपर ही गुलाबी जलका रंग चढ़ता है।

१६२-चाहे तुम शहरमें रहो या हिमालयकी गुफामें, यदि तुम्हारा चित्त स्थिर नहीं तो तुम्हारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये दोनों समान ही हैं। तुम अतिदूर निर्जन गुफामें भी क्यों न चले जाओ, तुम्हारे अपने विचार साथ ही जायँगे, क्योंकि मन तो वही रहेगा। शान्ति तो अन्दरसे आती है। उद्वेग, क्रोध, असन्तोष, प्रतिहिंसाका भाव, सन्देह, पक्षपात, ईर्ष्या, द्वेष, असहिष्णुता, उत्तेजना, व्याकुलता, विषाद, प्रज्वलित मनोराग—इन सबको आध्यात्मिक साधनाके द्वारा, सत्त्वगुणके उत्कर्षके द्वारा, ओंकारके ध्यानके द्वारा और सतत विचारके द्वारा समूल नष्ट कर देना चाहिये। तभी शान्ति प्राप्त हो सकती है।

१६३-मन अनेक जन्मोंमें उत्पन्न हुई वासनाओंके अतिरिक्त, कुछ नहीं है। जिन्होंने आत्मानुभव कर लिया है, उनकी शुद्ध वासनाएँ, जिनके द्वारा वे कर्म करते हैं, पुनर्जन्मका कारण नहीं हो सकतीं। इसप्रकारका चित्त सात्विक कहलाता है, परन्तु ज्ञान-हीन चित्त साधारणतः मन ही कहलाता है। ज्ञानमय चित्त तो स्वयं सत्त्व ही है, परन्तु ज्ञान-हीन पुरुष तो अपने मनके संकेत किये हुए मार्गपर ही चलते हैं।

१६४-मन या तो चिन्तन, मनन, अनुभव और ज्ञान सम्पादन करता रहता है या सङ्कल्प करता है। तुम्हें स्वतन्त्र अन्तर्दृष्टिके द्वारा यह जानते रहनेकी आवश्यकता है कि अमुक समयमें मन वास्तवमें क्या कर रहा है। इसका अभ्यास करनेके लिये एक सूक्ष्म बुद्धिकी आवश्यकता है। बुद्धि दार्शनिक ग्रन्थोंके अध्ययन, सत्सङ्ग, इन्द्रिय-निग्रह और सात्विक आहारके द्वारा सूक्ष्म बनायी जा सकती है।

१६५-मैं तुमसे आध्यात्मिक साधनाका निष्कर्ष या तत्त्व कहूँगा। मनमें दो दोष होते हैं—राग और द्वेष। इन्हीं दोनोंने तुम्हें मनुष्य (जीव) बनाया है। बन्धका स्वरूप भी यह राग और द्वेष ही हैं। यही राग-द्वेष अज्ञानके स्वरूप हैं। विचार और ब्रह्म-भावनाके द्वारा इनको निर्मूल कर दो, बस, तुम ब्राह्म तेजसे देदीप्यमान हो उठोगे, तुम ब्रह्म ही हो जाओगे 'तत्त्वमसि'।

१६६-भावना ही जगत्‌की और मनुष्यकी सृष्टि करती है और वही भावना उसके विपरीत ब्रह्मभावना होनेसे उसको इन्द्रिय-सुख और भौतिक जगत्-गत भावनाओंसे मुक्त कर देती है।

१६७-जब बाघ एक बार नर-रक्तका स्वाद ले लेता है तो वह सदा मनुष्योंको ही मारनेकी ताकमें घूमा करता है। वह नर-भोजी हो जाता है। इसी प्रकार जब मन एक बार विषय-सुखका आस्वादन कर लेता है, तो यह सदा विषयके पीछे ही दौड़ा करता है। सतत विचार और ब्रह्म-भावनाके द्वारा ही मन वासनात्मक विचारों और लुभानेवाली प्रवृत्तियोंसे हटाया जाता है। मानसिक भावनाओंके द्वारा पुनः पुनः सजग करके मनको समझाओ कि इन्द्रिय-सुख मिथ्या है, व्यर्थ है, मायामय है और कष्टप्रद है। मनके सामने आध्यात्मिक जीवनके लाभ, आनन्द, शक्ति और ज्ञानको उपस्थित करो। उसको समझाओ कि उन्नत और नित्य जीवन अमर आत्मामें है। जब मन लगातार इसप्रकारके उपयोगी उपदेशोंको सुनता है तो वह अपने पुराने अभ्यासको छोड़ देता है।

१६८-(क) नासिका और पायु यह दोनों इन्द्रियाँ बहिर्न हैं, क्योंकि ये पृथ्वी-तन्मात्रासे उत्पन्न होती हैं। नासिका सात्विक अंशसे और पायु राजस अंशसे उत्पन्न होती है। यह दोनों इन्द्रियाँ कम हानिकर होती हैं। घ्राण-इन्द्रिय और घ्राण-तन्तु तुम्हें अधिक उद्विग्न नहीं करते। वे बड़ी ही आसानीसे वशमें किये जा सकते हैं।

(ख) जिह्वा और उपस्थ जल-तन्मात्रासे उत्पन्न होते हैं, पहला सात्विक अंशसे और दूसरा राजस अंशसे। यह दोनों इन्द्रियाँ बहिर्न हैं। आहार (रसना) अन्य इन्द्रियोंको दृढ़ करता है। यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम रसनेन्द्रिय (जीभ) का निग्रह करो तो शेष इन्द्रियोंको तुम बड़ी ही आसानीसे वशमें कर सकते हो। सबसे बढ़कर दुष्ट और बाधक इन्द्रिय है उपस्थ। उसके बाद दूसरा नम्बर है जीभका, तब वाणीका, इसके पश्चात् श्रोत्रका और श्रोत्रके बाद चक्षुका नम्बर है।

(ग) चक्षु और पाद तैजस-तन्मात्रासे बने हैं, चक्षु सात्विक अंशसे बनती है और पाद राजस अंशसे। यह दोनों इन्द्रियाँ बहिनें हैं। चक्षु दृश्य-को देखना चाहती है और पाद कहते हैं 'हम तुम्हें प्रयाग-कुम्भ-मेला दिखलानेके लिये ले चलनेको तैयार हैं। अब चलो।'

(घ) त्वचा और पाणि वायु-तन्मात्रासे उत्पन्न हुए हैं। त्वचा सात्विक अंशसे और पाणि राजस अंशसे बने हैं। यह दोनों इन्द्रियाँ भी बहिनें हैं। त्वचा कहती है—'मैं सिल्क (रेशमी) और दूसरे कोमल और चिकने वस्त्रोंका सुख भोगना चाहती हूँ।' पाणि उत्तर देते हैं—'मेरी प्यारी बहिन, घबड़ाओ मत, हम अपने स्पर्शात्मक अणुओंसे इसका अनुभव कराते हैं, हम तुम्हारे लिये सुन्दर मुलायम रेशम लायँगे।'

(ङ) वाणी और श्रोत्र एक ही आकाश-तन्मात्रा-से उत्पन्न हुए हैं, श्रोत्र सात्विक अंशसे और वाणी राजस अंशसे। ये इन्द्रियाँ भी एक ही माँकी बेटी हैं। यह अपने प्राकृतिक कार्यनिर्वाहमें एक दूसरेको सहायता देती हैं।

१६९–मन और इन्द्रियाँ एक ही हैं, मनका विशदीकरण इन्द्रियोंमें होता है। मन इन्द्रिययुक्त पुरुष है। घनीभूत इन्द्रियाँ ही मन हैं। इन्द्रियाँ मनकी व्यक्तावस्थाएँ हैं। वे उसके स्वरूपकी ही अभिव्यञ्जिका हैं। मनमें आस्वादनकी अभिलाषा जीभ, दाँत और पेटके रूपमें व्यक्त होती है। मनमें चलनेकी इच्छा स्वयमेव पैर—टाँगोंके रूपमें प्रकट होती है। यदि तुम मनको वशमें कर सको तो इन्द्रियोंको भी वशमें कर सकते हो और यदि तुमने इन्द्रिय-निग्रह कर लिया है तो तुम्हें मनको वशमें करना अब बाकी नहीं रहा। इन्द्रियाँ मनका ही दूसरा नाम है। समुद्र नदियोंके द्वारा अपना जीवन धारण करता है, नदियोंके बिना उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। इसप्रकार मन समुद्र है जो इन्द्रियरूपी नदियोंके द्वारा अपना जीवन धारण करता है। मन-समुद्र इन्द्रिय-नदीके बिना जीवित ही नहीं रह सकता।

१७०–जननेन्द्रियकी अपेक्षा रसनेन्द्रियको वशमें करना अधिक कठिन है, क्योंकि तुम जन्मसे ही भाँति-भाँतिके भोजनका आस्वादन कर रहे हो। काम-वासना प्रायः १८ वर्षकी अवस्थाके पूर्व पूर्णरूपसे व्यक्त नहीं होती। प्रत्येक जन्ममें तुम कामवासनाका कुछ ही काल तक उपभोग कर सकते हो, लेकिन भोजनका आस्वादन तो तुम्हें अन्तिम वृद्धावस्थामें भी करना होगा। रसनेन्द्रियका निग्रह करनेसे सारी इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं। नाच-गान, सिनेमा और दृश्योंके देखनेका उपभोग केवल मानव-जीवनमें ही हो सकता है। चींटियाँ और बिल्लियाँ सिनेमाके दृश्योंसे आनन्द नहीं उठातीं। चक्षु-इन्द्रिय उतनी शक्तिशालिनी नहीं होतीं जितनी कि रसनेन्द्रिय होती है।

१७१–जब मन ध्यानके एक ही लक्ष्यमें पूर्णतः निमग्न हो जाता है, तो उसे समाधि कहते हैं। मन स्वयमेव ध्यानाकार-वृत्तिके साथ तद्रूप हो जाता है। ध्याता और ध्येय, द्रष्टा और दृश्य, सेवक और सेव्य एक और तद्रूप हो जाते हैं। मन अपनापन खो देता है और ध्येयके साथ एकाकार हो जाता है।

१७२–जब मन इन्द्रियोंसे विच्छिन्न होता है तब मानस-प्रत्याहार प्रारम्भ होता है, जब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंसे हटायी जाती हैं तब इन्द्रिय-प्रत्याहार होता है। प्रत्याहार एक व्यापक शब्द है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसमें 'दम' का भी समावेश हो जाता है। दमका परिणाम प्रत्याहार है।

१७३-वासना-राहित्यके द्वारा प्रवृत्त हुई मनकी शान्तिको शम कहते हैं।

१७४-संन्यास केवल एक मानसिक दशा है। हृदयको गेरुआ रंगमें रँगना ही संन्यास है, न कि वस्त्रको। वही वस्तुतः संन्यासी है जो सब प्रकारकी वासना और अहङ्कारसे छूटा हुआ है और सब प्रकारके सात्विक गुणोंसे पूर्ण है, चाहे वह संसारमें पारिवारिक जीवन ही क्यों न व्यतीत करता हो। चूड़ाला यद्यपि राज्यशासन करनेवाली रानी थी तथापि वह योगिनी—संन्यासिनी थी। वह संन्यासी जो जङ्गलमें रहता है परन्तु वासनासे पूर्ण है, वास्तवमें गृहस्थ है और विषयवासनामें पड़ा हुआ एक मूढ़ है। शिखिध्वजने यद्यपि वर्षों जङ्गलमें नंगे रहकर बिताये, परन्तु था वह एक गृहस्थ—सांसारिक पुरुष। बहुतसे मनुष्य नहीं समझते कि सच्चा त्याग कौन-सी वस्तु है। सच्चे त्यागका अर्थ है सारी कामना, तृष्णा, वासना और अहङ्कारका त्याग कर देना। यदि तुम्हारा मन निष्कलङ्क है, अनासक्त है, अनहंकारी और वासना-रहित है तो तुम संन्यासी हो, चाहे तुम जङ्गलमें रहो अथवा नगरके कोलाहलमें। चाहे तुम सफेद वस्त्र पहनो या गेरुआ। चाहे तुम सिर मुड़ाये रक्खो या बाल बढ़ाये रक्खो।

१७५-मनको एक काम दो, जिसे वह नहीं चाहता; वह विद्रोह करेगा। उसे समझाओ, फिर वह आज्ञानुवर्तन करेगा।

१७६-मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करे, यह बौद्धिक उपासना है। (छान्दो० उप० ३। १८)

(क्रमशः)

जीवन-धन !

[१]

इस प्रकार दुर्गम दुख-निधिमें कबतक रहना होगा ?
नाथ ! जगत्‌के तीव्र तापको कबतक सहना होगा ?
शुभ दर्शन-प्यासी ये आँखें, श्रमित हुई हैं मेरी,
दीनबन्धु ! किस हेतु हो रही यह दुखदायक देरी ?

[२]

हाय ! हृदय-सर चिन्तानलसे बिलकुल सूख गया है,
पाप-ताप-निधिमें मेरा यह जीवन डूब गया है।
कहाँ छिपे हो ग्राह-ग्रसित गजराज छुड़ानेवाले !
जीवन-रणमें अद्वितीय उत्साह बढ़ानेवाले !

[३]

मुरझानी आशा-लतिकाको एक बार लहरा दो,
दर्शनकी प्यासी आँखोंमें रूप-सुधा बरसा दो।
बुझते हुए हृदय-दीपकको, जीवनधन ! सरसा दो,
'अशरणशरण'-कहानी अपनी मुझपर अब दरसा दो॥

—चतुर्वेदी रामचन्द्र शर्मा 'विद्यार्थी'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगा-गोमती-संवाद

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

शम

मनमें सुख-दुख होत हैं, बाहर सकल पदार्थ ।
हेल-मेल मत कीजिये, यह ही है पुरुषार्थ ॥

यह ही है पुरुषार्थ, अर्थ शमका है जाहिर ।
भीतर रहिये शान्त, कार्य सब कीजे बाहिर ॥
विषय-भोग क्षय रोग शोकप्रद हैं क्षण-क्षणमें ।
इनसे रहिये दूर, भूल नहिं धरिये मनमें ॥

गंगा एक ब्राह्मणकी कन्या थी, उसका पिता धनाढ्य नहीं था, सामान्य स्थितिका मनुष्य था। गोमती एक धनाढ्य वैश्यकी लड़की थी। दोनोंका घर आमने-सामने था। दोनोंमें स्वार्थरहित सच्ची मित्रता थी। साथ-साथ गुड़ियोंसे खेला करती थीं। घरका काम-काज करनेमें चतुर थीं। माता-पिताने पढ़ाया-लिखाया नहीं था, इसलिये बालकपनमें पढ़-लिख न सकी थीं। बालकपनमें दोनोंका विवाह हो गया था। गंगाका गौना होने ही न पाया था, कि पहले ही उसका पति किसी कारणसे घरसे निकल गया था। गंगाके सास-ससुरका पहले ही देहान्त हो चुका था, इसलिये उसे नैहरहीमें रहना पड़ा। गोमती कोई तेरह-चौदह वर्षकी उम्रमें अपनी ससुराल चली गयी। इसके बाद बीस वर्षतक नैहरमें उसका आना नहीं हुआ। इसप्रकार बहुत दिनोंतक दोनों बहिनोंका बिछोह रहा, दोनोंमें जो बातचीत हुई वही नीचे दिखायी जाती है:—

गोमती—बहिना गंगा! आज बीस वर्ष बाद तू मुझे मिली है! जैसी मैं तुझे छोड़ गयी थी, वैसी ही तू अब भी है, बल्कि पहलेसे भी चंगी दिखायी देती है! तेरी सूरत-शकल भी पहलेसे बहुत ही अच्छी है! मैं तुझे देखकर आज बहुत ही प्रसन्न हूँ। मैं तो समझी थी कि तू पतिका वियोग होनेसे उदास रहनेके कारण दुर्बल हो गयी होगी, क्योंकि स्त्रीका सुख पतिसे ही तो है! परन्तु तू तो उलटी प्रसन्न मालूम होती है। तेरे चेहरेपर उदासी बिल्कुल नहीं है। मोहल्लेमें छोटे-बड़े सब तेरी तारीफ करते हैं। एकाध बड़ा-बूढ़ा भले तेरा नाम लेता होगा, नहीं तो बहनजी अथवा बुआजी कहते-कहते सबका मुख सूखता है! मेरे सामने तो तू भी पढ़ी नहीं थी, अब तो तू गीता, रामायण, सुखसागर आदि बाँच लेती है! यहाँकी स्त्रियाँ तेरी कथा सुनने आया करती हैं, कई तुझसे पढ़ने आया करती हैं। भाई-भौजाई, छोटे-बड़े तुझे देवताके समान पूजते हैं, तेरी सलाह बिना कोई काम नहीं करते! क्या तूने कोई मन्त्र-तन्त्र सिद्ध कर लिया है? तू पढ़ कहाँसे गयी? अपना सब वृत्तान्त तो मुझे सुना। मुझे अपनी ससुरालमें सब प्रकारका सुख प्राप्त है, छः लड़के-लड़कियाँ हो चुकी हैं, सब जीते हैं, स्वस्थ हैं, आज्ञाकारी हैं, सास-ससुर पति आदि सभी अनुकूल हैं, धनकी भी कमी नहीं, खाने-पीनेका टोटा नहीं, सब प्रकारसे सुखी ही हूँ परन्तु तू मुझसे भी अधिक प्रसन्न दीखती है, अपना सब वृत्तान्त सुना। तुझे देखकर बड़ा अचरज होता है, तेरी कोठरीमें घुसते ही मुझे जो आह्लाद प्राप्त हुआ है, उसको मैं कह नहीं सकती! राजाओंतकके महल मैंने देखे हैं परन्तु जैसा आनन्द मुझे आज हुआ है ऐसा पहले कभी नहीं हुआ! इस आलयमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह किसका चित्र रख छोड़ा है? फल-माला पहना रक्खी है, धूप दे रक्खी है, देखूँ? ओहो! यह तो किसी अपूर्व देवीका चित्र है, चार भुजाएँ हैं, सुन्दर गौर वर्ण है, मोहनी छवि है, दिव्य वस्त्र और माला आदि दिव्य आभूषण धारण कर रक्खे हैं! यह तो हे सखी! बहुत ही शोभन मूर्ति है! क्या इस देवीको तूने अपनी सखी बना लिया है, तभी तू इतनी प्रसन्न दीखती है! बोल, अपना सब हाल मुझसे कह! बीस वर्षमें जो कुछ तेरे ऊपर बीती है, सब सुना बहिन!

गंगा–बहिना! यह मेरी सखी नहीं है, मेरी मैया है—इष्टदेवी है। इसका हाल पीछे सुनाऊँगी। पहले मैं अपना हाल सुनाती हूँ। सुन,–'जब मुझे अपने पतिके निकल जानेकी खबर मिली तो बहुत ही रंज हुआ। जैसे किसीके सिरपर अकस्मात् पहाड़ टूट पड़े, ऐसा ही मेरा हाल हुआ। मुझे दुखी देखकर मेरी माँ मुझे इसप्रकार समझाने लगी–'बेटी! ईश्वर जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है, इसीमें कुछ तेरी भलाई होनेवाली होगी! संसारमें कोई वस्तु स्थिर नहीं है, संसारी वस्तुओंमें आसक्त होनेसे दुःख ही होता है! परमेश्वर स्थिर और सुखरूप है, उसका ही भजन करना सार है, केवल उसीका ध्यान करना चाहिये!' मैंने कहा 'मैया! भजन करना तो मैं बहुत दिनोंसे चाहती हूँ परन्तु भजन किसप्रकार होता है, यह तो मैं जानती ही नहीं, जैसे तू कह दे उसी प्रकार मैं भजन करनेको तैयार हूँ।' यह सुनकर मेरी माँ मुझे एक सन्तके पास ले गयी और उनसे उसने सब वृत्तान्त कहा। सन्त बोले 'हे भाविके! दुखी होनेसे तो दुःख घटनेवाला है नहीं, ज्यों-ज्यों दुखी होगी, दुःख बढ़ेगा, क्योंकि दुःखका कारण अज्ञान है। अज्ञान अविचारसे है, अविचार विचारसे नष्ट हो जाता है, अविचार नष्ट होनेसे दुःख और दुःखका कारण अज्ञान आपही निवृत्त हो जाता है। दुःखका कारण न रहनेसे मनुष्य सुखी होता है। विचार बहुत उत्तम वस्तु है, मैं तुझे एक दृष्टान्त सुनाता हूँ:—

जगत्सेठ नामका एक बहुत बड़ा साहूकार था। एक पुत्रके सिवा उसके और कोई सन्तान न थी, पुत्र था बहुत ही मूर्ख, पिताने उसे चतुर बनानेके अनेक उपाय किये परन्तु वह मूर्ख ही रहा। एक दिन पिता विचारने लगा कि 'मूर्ख सन्तानसे तो बिना सन्तान रहना ही अच्छा था। यह तो मेरा धन और मेरी प्रतिष्ठा दोनोंको ही धूलमें मिला देगा, इसका विवाह किसी कुलीन और चतुर कन्याके साथ कर देना चाहिये, चतुर बहू आ जायगी तो पति और पतिके काम दोनोंको सँभाल लेगी!' ऐसा विचारकर साहूकारने पुत्रका विवाह एक बड़े सेठकी कन्याके साथ कर दिया। जब बहू घर आगयी तो साहूकारने एक दिन उससे पूछा 'बेटी! तुझे कौन-सी ऋतु पसन्द है?' बहू बोली 'दादाजी! जाड़ेका मौसम अच्छा होता है, चाहे जितने कपड़े पहन लो, चाहे जितना गहना लाद लो, बोझ ही नहीं लगता। चाहे जितना खा लो सब पच जाता है। एक दिनका बनाया हुआ पकवान महीनेभर तक नहीं बिगड़ता, जब भूख लगी तभी खा लिया। जाड़ेकी बड़ी बड़ी रातें होती हैं, लिहाफ तोशकमें दुबके हुए चाहे जितनी देरतक सोते रहो, न पंखेकी जरूरत न खसकी टट्टीकी।' ऐसा आराम और किसी मौसममें नहीं है!' साहूकारने माथा ठोककर जीमें कहा 'डूब गयी लुटिया! मैं एकके लिये ही रो रहा था, अब दो हो गये! लड़का कुँवारा ही रहा, इस बहूसे पूरा नहीं पड़नेका। दूसरा विवाह करना पड़ेगा!' ऐसा सोचकर साहूकारने एक गरीबकी लड़कीसे लड़केका दूसरा विवाह कर दिया। बहूके घर आनेपर एक दिन उससे कहने लगा 'बहू! ऋतु कौन-सी अच्छी होती है?' बहू बोली 'चाचाजी! गरमीके दिन अच्छे होते है, एक धोतीसे काम चल जाता है, गहना भी हो या न हो, उन दिनोंमें बोझ अच्छा नहीं लगता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिन बड़े-बड़े होते हैं, चाहे जितना काम हो, सब निबट जाता है। नया नाज आ जाता है, एक छाक चबेना चाबकर ही रह सकते हैं, दूसरी छाक चूल्हा फूँकना नहीं पड़ता। ईंधन सूखा होता है, रसोई बनानेमें देर नहीं लगती। मुझे गरमी पसन्द है।' साहूकार सन्तुष्ट न हुआ। लड़केका तीसरा विवाह करना पड़ा, एक दिन तीसरी बहूसे भी वही अपना पुराना प्रश्न किया। बहू कहने लगी 'बापूजी! सब ऋतुएँ वर्षा-ऋतुपर निर्भर हैं, वर्षा न हो तो और ऋतुओंको कौन पूछे? वर्षामें सब प्रकारका अन्न उत्पन्न होता है, उससे सबका जीवन है। श्रावण न बरसे तो दिवाली, होली कुछ भी न हो। काली-काली घटाएँ कैसी सुन्दर मालूम होती हैं। पेड़ सब धुल जाते हैं, चारों तरफ हरियाली-ही-हरियाली दीखती है, हरियालीसे आँखोंमें तरी पहुँचती है, झूला झूलने और गीत गानेके वर्षाके दिन ही तो होते हैं अतः सब ऋतुओंसे मुझे वर्षाऋतु प्यारी है। साहूकार सोचने लगा 'बहू कुछ बुद्धिशालिनी है, परन्तु यह भी मेरा काम तो सँभाल नहीं सकती!' ऐसा विचारकर साहूकारने लड़केका चौथा विवाह किया और जब बहूको घर आये पाँच-चार दिन हो गये तब वही उपर्युक्त प्रश्न किया। बहू मुखसे कुछ न बोली और एक नौकरानीके द्वारा इसप्रकार कहलवाया—'बाबूजी! आप तो बड़े हैं सब जानते ही हैं, अच्छा-बुरा, सुख-दुःख सब अपने कर्मोंका है! कोई ऋतु हमेशा तो रहती नहीं, सब ऋतुएँ आने-जानेवाली हैं, एक जाती है, दूसरी आती है, फिर उनमें भली-बुरी कौन-सी कही जाय, सब एक-सी ही हैं। मान लिया कोई कुछ अच्छी भी हुई तो क्या हुआ? टिकनेवाली तो कोई है नहीं! चार दिनकी चाँदनी फेर अँधेरा पाख। जो स्वयं ही चलायमान है, वह दूसरेको स्थिर कैसे कर सकता है? सुख देनेवाली तो स्थिर वस्तु ही होती है, ऐसा मैंने आपके समान बड़ोंसे सुना है। ऋतुएँ स्वरूपसे अच्छी अथवा बुरी नहीं हैं, मनके अधीन हैं, जैसा मन मान लेता है वैसी ही प्रतीत होने लगती हैं। जिस सूर्यसे ये सब ऋतुएँ होती हैं, वही सबसे अच्छा है। इसलिये यह प्रत्यक्ष सूर्य बड़ा हुआ, परन्तु यह भी कल्पतक ही रहता है, नित्य नहीं है, इसलिये इस सूर्यका भी सूर्य, जिस सूर्यकी छायामात्र यह प्रत्यक्ष सूर्य है, जो इस प्रत्यक्ष सूर्यका वास्तविक निर्गुण स्वरूप है, वही सबसे अच्छा है, स्थिर है, सदा एकरस शाश्वत और निर्विकार है। वही मुझे प्यारा है!' बहूकी यह बात सुनकर अपना मनोरथ सिद्ध हुआ जान साहूकार प्रसन्न और हमेशाके लिये निश्चिन्त हो गया!

बहू एकान्तमें अपने पतिको उसके पिताका प्रभाव सुनाया करती थी। इसप्रकार करके उसने साहूकारके मूर्ख पुत्रको चतुर बना लिया। पुत्रको किसी प्रकारका कष्ट न हुआ और उसके पिताकी अपकीर्ति भी न हुई। किसीने सच कहा है कि पुरुषकी कीर्ति और अपकीर्ति स्त्रीके अधीन है। चतुर स्त्री पुरुषकी कीर्ति बढ़ानेवाली और मूर्ख अपकीर्ति करानेवाली होती है।

सन्तने कहा कि 'हे सदाचारिणी! इस चौथी बहूके दिये हुए उत्तरके दृष्टान्त तू समझ गयी होगी कि सुख सत्य वस्तुहीमें होता है, असत् वस्तुसे सुख कभी नहीं हो सकता। सत्य तथा सदा एकरस रहनेवाला परमात्मा है, परमात्मा ही सुखस्वरूप है, परमात्माके सिवा अन्यमें सुख नहीं है। संसारी पदार्थोंमें जो सुख-दुःख प्रतीत होता है, वह तो मनका कल्पित किया हुआ है। जब किसी वस्तुको सुखदायी समझकर हम उसका ध्यान करते हैं तो उस वस्तुके प्राप्त न होने अथवा चले जानेसे दुःख होता है और जिस किसी वस्तुको हम दुःखका कारण मानते हैं तो उसके प्राप्त होने अथवा नाश न होनेसे दुःख होता है। मतलब यह कि प्रिय वस्तुके न मिलने और अप्रिय वस्तुके मिलनेसे दुःख होता है। प्रियपना और अप्रियपना मनका बनाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है। यदि मन किसीको प्रिय और किसीको अप्रिय न माने तो सुख दुःख हो ही नहीं। इसलिये ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि किसी वस्तुमें प्रिय अथवा अप्रियका भाव ही न होने पावे। जब भाव न होगा तो इच्छा भी न होगी। इच्छा नहीं होगी तो दुःख भी न होगा। इच्छा ही दुःखका कारण है!'

मैंने कहा 'महाराज! आपका कथन अभी मेरी समझमें ठीक-ठीक नहीं आया।'

सन्त बोले 'देख! तू ब्राह्मणी है, तेरे चौकेमें जब कोई कुत्ता आदि घुस जाता है तो चौका भ्रष्ट हो जाता है, इसी प्रकार तेरा भीतरका चौका अन्तःकरण-मन है। मनमें काम, क्रोधादि कुत्ते घुस जानेसे मन भी भ्रष्ट हो जाता है, इसलिये किसी प्रकारकी इच्छाको मनमें मत आने दे। किसी अच्छी अथवा बुरी वस्तुको देखकर मनमें क्षोभ उत्पन्न न हो, ऐसा अभ्यास कर। अर्थात् बाहरके पदार्थको देखकर चित्त चलायमान मत कर। ऐसा करनेसे तेरा हृदय धीरे-धीरे निर्मल हो जायगा। तुझे सदा एकरस रहनेवाले सच्चे पति-स्वामीके दर्शन होंगे। दर्शनसे तेरे सब दुःख मिट जायँगे। भगवान् जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं, तेरे पतिका निकल जाना व्यर्थ नहीं है, इसमें भी कुछ-न-कुछ तेरा हित ही होनेवाला दीखता है!'

मैंने कहा 'महाराज! कृपा करके मनके लिये कुछ अवलम्बन बताइये, जिसके सहारे मैं मनको स्थिर करूँ!'

सन्तने यह चित्र देकर कहा 'ले! यह तेरी इष्टदेवी है, तेरा जो नाम है, वही इसका नाम है, इसीका ध्यान किया कर। इसीका नाम जपा कर। खाली कभी मत बैठा कर। घरके कार्यसे जब अवकाश मिला करे, तब एकान्त कोठरीमें बैठकर इसका ध्यान किया कर। ध्यान करनेसे पहले और पीछे यह स्तुति पढ़ा कर—हे अम्बे, हे जगदम्बे! स्वभावसे आप शुद्ध, बुद्ध, सुख-स्वरूप सदा एकरस निर्विकार हैं! भक्तोंपर उपकार करनेके लिये लीलामात्रसे अनेक रूप धारण करती हैं, आप विष्णुलोकसे आयी हैं, शिवजीने आपको शीशपर धारण किया है, सुरसरि, भागीरथी, जाह्नवी, भीष्मसू और गंगा आदि आपके अनेक नाम हैं। आपकी महिमा अपार है, कोई जान नहीं सकता! हम भक्तोंके हृदयमें आप सदा निवास कीजिये और हमें शुद्ध बुद्धि दीजिये!'

इतना कहकर हे बहिना! सन्तने यह चित्र मुझे दे दिया, मैंने गुरुभावसे उनको प्रणाम किया। सन्त बोले 'भाविके! मेरी आज्ञानुसार नियम-पूर्वक करती रहना। बारह वर्ष बाद तुझे इसी स्थानपर मेरा दर्शन होगा। तब जो कुछ उचित समझूँगा, तुझे उपदेश दूँगा, अब तू घरको जा!' मैं अपनी माताके साथ वहाँसे चली आयी। घर आकर देवीको इस आलयमें पधरा दिया। नित्य फूलमाला, धूप आदि चढ़ाने लगी, इन्हींका ध्यान प्रातः और सन्ध्या दोनों समय करने लगी और इन्हींका नाम जपने लगी। हे बहिना! सन्तकी अवस्था अधिक नहीं थी, उनकी अवस्था देखकर मुझे बहुत ही सन्तोष हो गया था कि जब इन्होंने इस उमरमें घरबार त्यागकर योग ले लिया है तो मुझे संसारी सुख प्राप्त न होनेका सोच क्यों करना चाहिये। ऐसा विचारकर मैं बहुत सन्तुष्ट हो गयी थी। कुछ दिन पीछे मेरी माँका शरीर छूट गया। भाई-भौजाई, उनके दो लड़के और मैं पाँच प्राणी रह गये। घरके सब मुझसे प्रसन्न थे, तीन चार घण्टे उनका काम कर देती थी और बाकी एकान्त अपनी इस कोठरीमें बैठकर भजन-ध्यान किया करती थी। भजन करनेसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध होने लगा। मेरी इच्छा हुई, कि कुछ पढ़ना सीखना चाहिये। उन दिनों मेरा बड़ा भतीजा जमुनादत्त तीन-चार पुस्तकें पढ़ चुका था और छोटा भतीजा गौरीदत्त प्रथम पुस्तक पढ़ता था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब वे पढ़कर आते, खाने-पीनेसे निवृत्त हो जाते तो मैं उन्हें उनका पाठ सुननेको बुला लिया करती, जो कुछ वे सुनाते, ध्यानसे सुनती, एक-एक अक्षरको कई बार दोहरा-दोहराकर पूछती। कभी जमुनादत्तसे गौरीदत्तका पाठ सुननेको कहती, इसप्रकार धीरे-धीरे मुझे अक्षर और मात्रा आदिका बोध होने लगा। करीब एक सालमें ही मैं चार पुस्तकें पढ़ गयी। फिर मैंने रामायण मँगाकर पढ़ना शुरू किया, थोड़े दिनोंमें उसे पढ़ने लगी और अपनी इष्टदेवी गंगाकी कृपासे उसका अर्थ भी समझने लगी। पश्चात् मैंने सुखसागर पढ़ा, गीता मँगाकर पढ़ने लगी। शुद्ध श्लोक तो नहीं बोल सकती थी फिर भी अर्थ समझ लेती थी। एक-एक दो-दो श्लोक भाईसे पूछ-पूछकर कुछ दिनोंमें मैं उन्हें शुद्ध बोलने लगी। मेरी इष्टदेवी जाग्रत्में मेरे ध्यानसे कभी नहीं हटती थी, स्वप्नमें भी कभी-कभी दर्शन दिया करती थी, कुछ दिन तो ऐसा हुआ, पीछे ध्यान बहुत अच्छा जमने लगा। कुछ देरतक देवीकी दिव्य मूर्ति सामने रहती, फिर हट जाया करती और मुझे देहादिका अनुसन्धान भी न रहता। तब मैं शङ्कामें पड़ गयी। उन्हीं दिनों मेरे और सन्तके समागमको बारह वर्ष पूरे हो गये थे, मैंने सुना कि वही सन्त उसी स्थानपर आकर टिके हैं। मैं उनके दर्शन करना चाहती थी, पर किसके साथ जाऊँ ? माताका देहान्त हो चुका था, अकेली जाना शास्त्रविरुद्ध था, तेरी माँ उन दिनों जीती थी, अतः मैं उन्हें साथ लेकर सन्तके पास गयी।

सन्त मुझे देखते ही कहने लगे 'भद्रे! बोल, अब ध्यान कैसा होता है ?'

मैंने ध्यानकी अवस्थाका वर्णन किया और कहा 'महाराज ! ध्यानमें आनन्द तो बहुत आता है, परन्तु अभीतक सदा एकरस रहनेवाले तत्त्वका पता नहीं लगा !'

सन्त हँसते हुए बोले 'हे सुव्रते ! मैंने पहले जो दृष्टान्त सुनाया था, आज उसका मर्म सुनाता हूँ। उसको सुननेसे तुझे सत्‌रूप परमात्माका लक्ष्य हो जायगा, ध्यान देकर सुन—देख, जगत्सेठ परमात्मा है, उसका मूर्ख पुत्र जीव है। जीव वस्तुतः एक ही है, उपाधिके कारण नाना प्रतीत होते हैं, इसलिये सेठके एक ही पुत्र था, ऐसा कहा था। जीव मूर्ख इसलिये है कि वह अपनेको और अपने उत्पत्ति-स्थानको नहीं जानता, परमात्माने उसे अपना स्वरूप जतानेके लिये पहले उसका सम्बन्ध सुषुप्ति अवस्थासे किया। सुषुप्ति और सर्दी दोनों जड़तारूप हैं, अपनी-अपनी जाति सबको प्यारी होती है इसलिये सुषुप्तिको जाड़ा पसन्द है। जैसे जाड़ेमें भोजन जल्दी पचता है इसी प्रकार सुषुप्तिमें भी जल्दी हज़म होता है इसलिये दोनोंकी एकता है। सुषुप्तिसे अपना कार्य सिद्ध न होता देखकर परमात्माने जीवका स्वप्नावस्थासे विवाह किया। स्वप्नावस्था तेजरूप होनेसे ग्रीष्म-ऋतुकी बहिन है इसलिये दूसरी बहूने गरमीका मौसम पसन्द किया था, इससे भी काम चलता न देखकर परमात्माने जीवका जाग्रतावस्थाके साथ विवाह किया, जैसे जाग्रत्में विषय अधिक होते हैं ऐसे ही वर्षाऋतुमें नयी-नयी बहुत सृष्टियाँ होती हैं। जैसे वर्षा सब ऋतुओंकी जान है, ऐसे ही जाग्रत् भी सब अवस्थाओंकी जान है, जाग्रत्से बाकी दोनों अवस्थाएँ सिद्ध होती हैं। जाग्रत्को ही लोग विशेष करके सच्ची मानते हैं यद्यपि तीनों अवस्थाएँ एक-सी ही हैं, इसीसे लोकमें कहावत भी है कि सावनके अन्धेको हरा-हरा ही सूझता है, इसलिये जाग्रत् और वर्षाकी एकता है। सबको अनुभव है कि माँके पेटमें बच्चा सोया-सा रहता है, जन्म लेकर दस-बारह वर्षतक स्वप्नमें रहता है, पीछे जागता है। इससे सिद्ध होता है कि पहले सुषुप्तिसे, फिर स्वप्नसे और सबसे पीछे जाग्रत्से सम्बन्ध होता है। संवत्सररूप प्रजापतिका भी तीनों ऋतुओंसे इसी क्रमसे सम्बन्ध है। इसप्रकार तीनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवस्थाओंकी तीनों ऋतुओंसे पकता है। इन तीनोंसे भी कार्यकी सिद्धि न देखकर परमात्माने चौथी—तुर्यावस्थासे जीवका सम्बन्ध किया। वह अवस्था अवस्था कहलाते हुए भी अवस्था नहीं है, वह तो तत्त्व-स्वरूप ही है। सदा एकरस रहनेवाली तीनों अवस्थाओंकी साक्षीरूप है, इसीके सहारे तीनों अवस्थाएँ टिकी हुई हैं, जिसमें तीनों अवस्थाओंका अनुभव हो रहा है, वही सदा एकरस रहनेवाला परमात्म-तत्त्व है। बोल, कुछ समझमें आया ?'

मैंने कहा 'हाँ महाराज! कुछ-कुछ समझमें आता है। कृपा करके किसी दूसरी युक्तिसे समझाइये।'

सन्त बोले 'देख ! संसारमें एक जड़ और एक चेतन दो प्रकारके पदार्थ हैं। इन दोनोंको कर्ता, करण और कर्म—तथा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन दो त्रिपुटियोंमें बाँट सकते हैं। इन दो त्रिपुटियोंमें ही सारा संसार है, इन दोनोंमें भी मुख्य ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय यह एक त्रिपुटी है। यही संसाररूप है, इससे अधिक संसार नहीं है। इसीसे संसारकी सिद्धि है, व्यवहारमें ज्ञाता चेतन कहलाता है और ज्ञान तथा ज्ञेय जड़ कहे जाते हैं। ज्ञाता जाननेवाले जीवको कहते हैं, ज्ञान जाननेके साधन बुद्धिको और ज्ञेय जाननेके पदार्थ विषयको कहते हैं। यह ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूप त्रिपुटी तथा इस त्रिपुटीका अभाव जिस अधिष्ठानमें अध्यस्त है—जिसमें यह भास रही है, वह वास्तविक चेतन है, वही सदा एकरस रहनेवाला परमात्मा है, वही मेरा, तेरा और सब छोटे बड़ोंका आत्मा है। हे सूक्ष्ममते ! अपनी ध्यानकी अवस्था और मेरा कथन इन दोनोंका मिलान करके अच्छी तरह सोच-विचारकर कह कि, आत्मतत्त्व तेरी समझमें आया या नहीं।'

मैं बहुत देरतक विचार करती रही। विचार करनेके बाद हे सखी ! मैंने सन्तको साष्टांग प्रणाम किया, पीछे उठकर कहा 'महाराज ! मैं समझ गयी, आपकी कृपासे आज मुझे इष्टदेवी गंगाका यथार्थ स्वरूप मालूम हुआ। मैं गंगा नहा चुकी। आप मेरे गंगा-गुरु हुए। सिवा नमस्कारके अन्य कुछ दक्षिणा आपके देनेको मेरे पास है नहीं।'

सन्त बोले 'हे सुभाषिणी ! तू गंगा नहा चुकी, यह ठीक है परन्तु मैं अभी गंगा-गुरु नहीं हुआ। जब तू गंगामें डुबकी लगा-लगाकर अपने गंगापनेको भी गंगामें बहा देगी और केवल एक गंगा ही शेष रह जायगी तब मैं समझूँगा कि तू गंगा नहायी ! सात वर्ष पीछे मैं यहाँ फिर आऊँगा, तब गंगा-गुरु बनूँगा और तभी गुरु-दक्षिणा लूँगा!' हे सखी ! यह कहकर सन्त चले गये और तेरी माँके सहित मैं घर लौट आयी। तबसे मैं सन्तकी आज्ञानुसार बर्तती हूँ, एक परमात्माको सच्चा और देहको मिथ्या समझती हूँ, सबसे रागद्वेषरहित बर्ताव करती हूँ। यही मन्त्र मैंने सिद्ध किया है। इसीलिये सब मुझसे प्रसन्न हैं। मैं गीताका स्वयं विचार करती हूँ, जो कोई सुननेवाली आ जाती हैं, उनको भी सुनाया करती हूँ, निरन्तर स्वरूपानुसन्धानमें लगी रहती हूँ, यही मनुष्य-जन्मका सार्थक करना है; संसारका कोई पदार्थ मुझे अब नहीं खींचता ! सन्त महाराजकी मुझपर पूर्ण कृपा है, उनकी कृपासे मुझे किसी प्रकारका दुःख नहीं है। कल सात वर्ष पूरे हो जायँगे। तू भी मेरे साथ चलना, उनके दर्शन करना, और भी बहुत-से स्त्री-पुरुष जायँगे, क्योंकि उनके आनेकी सबको खबर हो गयी है।

दूसरे दिन एक चौड़े मैदानमें एक वृक्षके नीचे सन्त आकर बैठ गये। भीड़ पहलेहीसे एकत्र हो रही थी, सबने एक-एक करके सन्तको प्रणाम किया और पंक्ति बाँधकर सब अपने-अपने स्थानपर बैठ गये, गंगा-गोमती भी प्रणाम करके सन्तके सन्मुख बैठ गयीं।

सन्त गंगाको सम्बोधन देकर बोले 'हे कल्याणी! बोल, तुझे परमात्माका साक्षात्कार हुआ ? क्या तू मुझे गुरुदक्षिणा देनेको तैयार है ? या कुछ और पूछना है ?'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगा बोली 'भगवन्! आपके अनुग्रहसे मैंने परमात्माका साक्षात्कार किया। मुझे किसी प्रकारका संशय नहीं है। इसलिये कुछ पूछना नहीं है। दक्षिणा देनेको मेरे पास सिवा नमस्कारके अन्य कुछ भी नहीं है, यही मेरे मनमें संकोच है!'

सन्त मुस्कुराते हुए बोले 'हे सौभागिनी! दक्षिणा बिना दिये काम नहीं चलेगा?' दक्षिणा तो देनी ही पड़ेगी। मैं एक कथा सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुन, शिवशंकर नामका एक ब्राह्मणका बालक था, कोई दस-ग्यारहकी उमरमें उसका विवाह तेरे नामकी एक ब्राह्मणकी कन्यासे हो गया था। दैवयोगसे शिवशंकरको विवाहके कुछ ही दिन बाद छोटी उमरमें ही वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह घरसे निकल कर एक योगेश्वर ब्रह्मनिष्ठ गुरुके शरण हो गया। गुरुसे उपदेश लेकर शुद्ध-बुद्धि होनेके कारण थोड़े दिनोंमें ही परब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेसे वह कृतकृत्य हो गया। गुरु सब वृत्तान्त जानते थे, एक दिन कहने लगे, 'बच्चा! तू तो कृतार्थ हो गया, पर तेरे साथ भाँवर फिरनेवाली भी तो कृतार्थ होनी चाहिये! जो कुछ प्राप्त होता है, शिष्ट पुरुष दूसरोंको बाँटकर अपने उपयोगमें लाते हैं। जो कोई एक कदम भी साथ देता है, उसका भी सज्जन प्रत्युपकार करते हैं, वह तो तेरे साथ सात भाँवरें फिरी है, उसका प्रत्युपकार करना तेरा धर्म है।' यह सुनकर शिवशंकर अपनी सुसरालमें आया। गंगा बिना जाने हुए ही उसको गुरु मानने लगी और उन्नीस वर्ष तक उसकी आज्ञानुसार बर्तनेसे कृतार्थ हो गयी, शिवशंकरने गुरुदक्षिणामें सात भाँवर साथ फिरनेके ऋणसे मुक्त कर देनेको कहा। हे सुव्रते! मेरे कथनसे मान ले कि मैं वही शिवशंकर हूँ और तू वही गंगा है! मैं भी तुझसे वही दक्षिणा माँगता हूँ, क्या तू देनेको तैयार है?'

गंगाको संसारका मिथ्यात्व पूर्ण रीतिसे निश्चय हो गया था, सांसारिक कोई भी वस्तु उसके हृदयको क्षोभ नहीं पहुँचा सकती थी, फिर भी शिवशंकरके इसप्रकारके वचन सुनकर उसका हृदय हिल गया, भीतरसे उमड़ते हुए प्रेमको वह रोक न सकी, परन्तु धैर्यके साथ प्रेमको न प्रकट करती हुई धीरेसे बोली 'हे प्रभु! तैयार क्या हूँ, मैं तो पहले ही दे चुकी! नमस्कारके साथ ही दे चुकी।' इतना कहकर गंगा आनन्द-समुद्रमें मग्न हो गयी। सन्तकी भी वही अवस्था थी। गोमती बहिनेली और बहिनोईका संवाद सुन, बदनमें फूली न समायी, उसे भी अपनी देहकी सुध बिसर गयी। सब पास बैठे हुए भी अद्भुत संवाद सुनकर हर्षके मारे अपनी-अपनी प्रकृति भूल गये! थोड़ी देरतक यह दृश्य रहा, होशमें आते ही सन्त तो गीताके ६ ठे अध्यायका ३२वाँ मन्त्र पढ़ते हुए उत्तर दिशाकी तरफ चल दिये। गंगा-गोमती आनन्द-मग्न हुई अपने घर लौट आयीं। अन्य सब लोग भी अपने-अपने घर चले गये। गंगाने जीवन्मुक्तरूपसे शेष आयु भगवत्-भक्तिके प्रचारमें व्यतीत की! गोमती पतिव्रत-धर्म पालन करती हुई ईश्वर-परायणा हुई!

पाठक! शम रूपी शमशेर, जिसका स्वरूप ऊपर बताया गया है, जिसके हाथमें होता है, उसीकी संसारमें जय होती है। शमशेर—तलवार कायर अथवा दुर्बल मनुष्य तो चला नहीं सकता, शूरवीर बलवान् ही चला सकता है। इसीप्रकार शम-रूपी शमशेर चलानेके लिये धीर और पूर्ण वैराग्यवान् होना चाहिये। धीर और वैराग्यवान् बननेका उपाय भगवन्नामका जप और भगवत्-स्वरूपका ध्यान है। धीर और वैराग्यवान् शमरूपी शमशेर लेकर संसाररूप शत्रुको पराजय करके परम शान्तिरूप कल्याणको प्राप्त करता है। वेदान्त-परिभाषामें शम मनके रोकनेको कहते हैं। शमका वास्तविक अर्थ शान्ति है। शान्तिवाला शान्त कहलाता है। शान्तरूप परमात्मा है, अतः जो कोई शान्त होकर परमात्माकी उपासना करता है, वह स्वयं शान्त हो जाता है। (देखो छान्दो० ३। १४। १) इसीका नाम कल्याण है। यही परम पुरुषार्थ है!

दोहा

गंगा-गोमतिकी कथा, पढ़िये सहित विचार।
मोह अविद्या तम मिटे, हृदय होय उजियार॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामावतारके विभिन्न हेतु और उनका रहस्य

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

(गतांकसे आगे)

इसप्रकार नारदजीके शापके कारण रामावतारकी कथा कहकर, भगवान् शङ्कर अब चौथे हेतुकी कथा शुरू करते हैं:—

अपर हेतु सुनु शैलकुमारी। कहौं बिचित्र कथा विस्तारी॥

'हे शैलकुमारी, उन्हीं सरकारके अवतारका एक और हेतु है उसे सुनो, जिसके कारण वही अज, अगुण, अनूप ब्रह्म कौशलपुरके भूप बने हैं। जिनको तुमने लक्ष्मणजी-सहित मुनिवेशमें वनमें फिरते देखा था और जिनके अद्भुत चरित देखकर उस सती-देहमें तुम बौरा गयी थीं, जिसकी छाया अबतक भी सम्पूर्णरूपसे नहीं उतरी है। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार उन्हींके लीलाचरित्र कहूँगा' याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजसे कहा कि शिवजीके द्वारा अपनी पहलेकी करनी सुनकर पार्वतीने सकुचाकर मुस्करा दिया (मानो भ्रमवश अपना बौराना स्वीकार किया।) शिवजी कहने लगे—श्रीस्वायंभुव मनु और उनकी रानी शतरूपाने चौथेपनमें राज्यका भार पुत्रको सौंपकर स्वयं नैमिषारण्य जाकर गोमती-तटपर निवास किया; और वहाँके ऋषियोंके बतलाये हुए सब तीर्थोंकी यात्रा करनेके उपरान्त वे दोनों केवल शाक, कन्द और फलाहारपर जीवन-निर्वाह करते हुए सच्चिदानन्द ब्रह्मका स्मरण करने लगे और अनुरागपूर्वक 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादश अक्षर मन्त्रका जप करते हुए नित्य श्रीवासुदेवके चरणकमलमें चित्त लगाकर और सन्त-समाजमें नित्यप्रति जाकर पुराणोंका श्रवण करते हुए ऋषि-वेषमें (वल्कल वस्त्रादि धारणकर) जीवन बिताने लगे। तदनन्तर उनकी निष्ठा ऐसी बढ़ी कि उन्होंने फलमूलादिको भी त्याग दिया और श्रीभगवान्की प्राप्तिके लिये—परम प्रभुको नेत्रभर देखनेकी शुभ अभिलाषासे केवल जल-आहारपर रहकर ही तप करने लगे। उनकी अभिलाषा सुनिये—

अगुन अखंड अनन्त अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥
नेति नेति जेहि वेद निरूपा। निजानन्द निरुपाधि अनूपा॥
शंभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंश ते नाना॥
ऐसेहु प्रभु सेवक बस अहहीं। भगत हेतु 'लीलातनु' गहहीं॥
जो यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तो हमारि पूजै अभिलाषा॥

इस प्रसङ्गमें 'लीलातनु' शब्द अत्यन्त विचारणीय है अर्थात् भगवान् शङ्करने शिवाकी शङ्का मिटानेके लिये जो वचन पहले ही कहे थे—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भक्त-प्रेम-वश सगुण सो होई॥
इत्यादि।

—वही बात श्रीमनुजीकी अभिलाषामें दीख पड़ती है। मनुजीके स्पष्ट शब्द हैं कि जो प्रभु अगुण, अखण्डादिस्वरूप हैं जिनका परमार्थविद् (ज्ञानी) चिन्तन करते हैं, वेद जिनका नेति-नेति कहकर निरूपण करता है, जो निजानन्द, निरुपाधि तथा अनुपमस्वरूप हैं, जिनके अंशसे अनेक ब्रह्मा, विष्णु और शिव (प्रतिब्रह्माण्डमें) उत्पन्न होते हैं, ऐसे प्रभु ही प्रेमवश हो भक्तोंके लिये लीला-शरीर धारण करते हैं—यदि यह वचन श्रुतिमें सत्य है तो हमारी भी अभिलाषा पूर्ण होगी अर्थात् हमारे हृदयमें जो भगवान्की स्वरूप-माधुरीके दर्शनकी उत्कट अभिलाषा है उसे प्रभु 'लीलातनु' धारण करके अवश्य ही पूरी करेंगे। दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे। इसप्रकार—

एहि विधि बीते वर्ष षट् सहस वारि आहार।
संवत सप्त-सहस्र पुनि रहे समीर अधार॥

जलाहारपर तप करते जब उन्हें छः हजार वर्ष बीत गये तब उन्होंने जल भी त्याग दिया। और सात हजार वर्षतक वायुके आधारपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीरको धारणकर तप किया, पश्चात् उसे भी छोड़कर दस हजार वर्ष निराहार तप किया। इसप्रकार दम्पतिने तेईस हजार वर्षतक घोर तप किया।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश तीनों देवता (त्रिदेव) बारम्बार उनके समीप आ वर माँगनेका लोभ दे गये, पर परम धीर दम्पति तनिक भी विचलित न हुए। यद्यपि उनके शरीरमें अस्थिमात्र शेष रह गयी थी तथापि वे अपने व्रतपर अटल रहे। तब श्रीपरधामनिवासी सर्वव्यापक और सर्वज्ञ हरि वासुदेव उन्हें अपना अनन्यगति दास जानकर द्रवीभूत हो गये और कृपामृतसे सनी हुई परम गम्भीर आकाशवाणीके द्वारा उनसे कहने लगे कि 'वर माँगो, वर माँगो।'

इस 'मृतक-जियावनि' मुर्देमें भी जीवन-सञ्चार करनेवाली मधुरध्वनिके श्रवणपुटोंके छिद्रोंसे होकर हृदयमें पहुँचते ही परमानन्दसे उनका 'कृश तनु' तत्काल ऐसा हृष्ट-पुष्ट हो गया मानो अभी-अभी घरसे आये हैं।

'प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी' के सर्वज्ञ पदसे यह सूचित हो रहा है कि सरकारसे मनुजीकी यह अभिलाषा तो छिपी नहीं थी वे दर्शन चाहते हैं परन्तु वे किस 'लीलातनु का दर्शन चाहते हैं, इस विषयमें मनुजीके मुहँसे कहला लेना उचित समझा गया। क्योंकि मीन, कमठ, वामन, परशुराम, राम, कृष्णादि अनेकानेक लीलावतार हैं, इसीलिये आकाशवाणीसे वर माँगनेकी बात कही गयी।

श्रवण सुधा सम वचन सुनि पुलकि प्रफुल्लित गात।
बोले मनु करि दण्डवत प्रेम न हृदय समात॥

श्रीमनुजी बोले कि 'हे अनाथहित! यदि मुझपर कृपा है तो हे विधि-हरि-हर-सेव्य! चराचर-नायक, प्रणत-पाल! प्रसन्न होकर मुझे यह वर दीजिये—

जो स्वरूप बस शिव मनमाहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं
जो भुसुण्डि-मन-मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रशंसा
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रणतारति-मोचन

जो स्वरूप शिवजीके मनमें बसता है तथा जिसके लिये मुनिलोग यत्न करते हैं; जो कागभुशुण्डिजीके मन-मानसका हंस है और वेद जिसकी सगुण-निर्गुण कहकर स्तुति करते हैं। हे प्रणतके दुःख दूर करनेवाले प्रभु, कृपा करके हमें उसी श्रीरघुनाथरूपसे दर्शन दीजिये।

यहाँ शङ्करजीके मनमें बसनेवाले रूपसे अभिप्राय-'शंकर सोइ मूरति उर राखी।' 'द्रवहु सो दशरथ अजिर बिहारी।' रघुकुल-मणि मम स्वामि सोइ कहि शिव नायउ माथ। इत्यादिसे निश्चय हुआ कि वे श्रीकौशल्यानन्दनके रूपमें दर्शन चाहते हैं। जिसके लिये मुनि लोग यत्न करते हैं, इससे भी शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदिसे सेव्य, 'मम हिय बसहु निरन्तर सगुणरूप श्रीराम।'

जो कोशलपति राजिवनयना। करहु सो राम हृदय मम अयना
'नाथ कोशलाधीश कुमारा।' 'निसिदिन देव जपत हौं जेही।'
यद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥
अस तव रूप बखानौं जानौं। पुनि पुनि सगुनरूप रति मानौं॥
अस बर माँगौ कृपानिकेता। बसहु हृदय सिय-अनुज समेता॥
जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अन्त राम कहि आवत नाहीं॥

इत्यादि प्रमाणोंसे दशरथनन्दनहीके लिये संकेत है। तथा 'जो भुसुण्डि मन मानस-हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥'से भी इष्टदेव मम बालक रामा। बालकरूप रामकर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना॥ तथा, जय सगुन निर्गुन रूप राम अनूप भूप सिरोमने इत्यादिसे भी रामावतारकी ही सूचना मिलती है।

दम्पति वचन परमप्रिय लागे। मृदुल विनीत प्रेमरस पागे॥
भगत-बछल प्रभु कृपानिधाना। विश्ववास प्रकटे भगवाना॥

इसप्रकार दम्पतिके प्रेमपूरित नम्र तथा मधुर वचन सुनकर भक्तवत्सल विश्वव्यापक प्रभु श्रीहरि वासुदेव श्रीरामरूपसे प्रकट हुए।

नील सरोरुह नीलमणि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु-सोभा निरखि कोटि-कोटि-सत काम॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदराजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिं जेहि माहीं

यहाँसे लेकर, इस चौपाईतक श्रीरामावतारकी छबिका मेल स्पष्ट है। प्रभुके वामभागमें वह आदिशक्ति छबिनिधि शोभाकी खानि श्रीलक्ष्मीजी भी श्रीसीताके रूपमें शोभित थीं, जिनके भृकुटि-विलासमात्रसे सृष्टिकी रचना होती है और जिनके अंगसे अगणित त्रिदेवकी शक्तियाँ उमा, रमा, ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं

छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी। एक-टक रहे नयन पट रोकी॥

जिस 'हरिके हेतु करन तप लागे।' वही हरि जब रामरूप लीलातनुमें सामने आ प्रकट हुए, तब मनोरथ पूर्ण होनेपर नेत्रभर देख तृप्त न हो, हर्षसे विवश मनुजी देहानुसन्धानरहित हो गये तथा दण्डकी भाँति भगवान्के चरण-कमलोंपर गिर पड़े। श्रीकरुणानिधि प्रभुने उनके सिरपर करकमलको फेर कर उन्हें शीघ्र उठा लिया और बोले कि 'मुझे अत्यन्त प्रसन्न और महा दानी जानकर मनचाहा वर माँगो।'

श्रीमनुजी धैर्य धारणकर अनेक प्रकार स्तुति करते हुए बोले--

दानि-शिरोमणि कृपानिधि नाथ कहौं सति भाउ।
चाहौं तुमहिं समान सुत प्रभु सन कहा दुराव॥

'कृपानिधि दानिशिरोमणिसे छिपाकर क्या रक्खूँ? मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ।'

श्रीमुखसे 'एवमस्तु' शब्द उच्चारण हुआ—

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुणानिधि बोले॥

पुनः श्रीप्रभुने, शतरूपासे, जो हाथ जोड़े सामने खड़ी थी, कहा—'हे देवि! तुम्हारी भी जो रुचि हो सो माँगो। उन्होंने भी श्रीमनुमहाराजकी अभिलाषाका समर्थन किया, तथा इतना और चाहा कि हे नाथ, आपके भक्तोंको जो सुख, गति, भक्ति, विवेक, खिति तथा भगवत्-चरणोंमें स्नेह रहता है वह भी नाथकी कृपासे मुझे प्राप्त हो।' भगवान्ने यह सब स्वीकार किया। तब मनुजीने कहा कि 'हे नाथ, मेरी प्रीति आपमें पुत्रभावसे हो हो, चाहे इसके लिये मुझे कोई मूढ़ ही क्यों न कहे। आपका वियोग होते ही मेरे प्राणान्त हो जायँ।' श्रीकरुणानिधिने 'एवमस्तु' कहा और आज्ञा दी कि 'आप इस समय जाकर अमरपुरमें रहें, वहाँका सुख भोगकर आप कुछ दिनके बाद अवध-नृपति होंगे तब मैं आपके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लूँगा। क्योंकि मेरे समान तो मैं ही हूँ।'

उपर्युक्त हेतुमें भी यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो गयी कि श्रीहरि वासुदेव श्रीपति अगुण, अखण्ड, अनादि, व्यापक ब्रह्मने ही श्रीमनुजीको वरदान देकर श्रीरामावतार धारण किया है। अतः हरि वासुदेव साकार-विग्रह तथा व्यापक विश्वनिवास निराकार ब्रह्ममें कोई भेद नहीं। एक और बात यहाँ बड़े रहस्यकी है और अत्यन्त विचारणीय है। इससे पूर्वके तीनों हेतुओंमें प्रत्येकमें 'कल्प' शब्द आया है, यथा—

जय-विजयके हेतुमें—

एक कलप तेहि लगि अवतारा।

जलन्धरके हेतुमें—

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलन्धर सन सब हारे।

नारद-शाप-हेतुमें—

नारद शाप दीन्ह एक बारा। कल्प एक तेहि लगि अवतारा।

परन्तु इस अवतारके हेतुमें कल्पका जिक्र नहीं आया है। कारण यह है कि यह उसी वर्तमान कल्पके अवतारका हेतु है जिस कल्पमें यह कथा श्रीपार्वतीजीको सुनायी जा रही है। इससे सिद्ध हुआ कि पूर्व हेतुके अवतार इस अवतारसे पहले हो चुके हैं और श्रीरामचरितमानसका निर्माण होना भी इससे पूर्व ही सिद्ध है. क्योंकि सती-शरीरमें ही भगवान् शङ्करके साथ सतीजीने इस कथाको अगस्त्य मुनिसे सुना था। तथा शिवजी स्वयं भी कह रहे हैं कि इस मानसको मैं सती-वियोग-कालमें हंस-शरीर धारण कर कागभुशुण्डिजीसे सुन चुका हूँ। यह वही कथा है जिसको कागजीने गरुड़को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुनाया था। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि गरुड़जीको इस अवतारमें मोह नहीं हुआ था, इससे पहलेके अवतारमें हुआ था, जिसकी निवृत्ति कागभुशुण्डिजीके द्वारा रामचरितमानस श्रवण करनेसे हुई थी और गरुड़जीके सुननेके सत्ताईस कल्प पूर्व भुशुण्डिजीने उसे लोमश-ऋषिसे सुना था। अतः यह मानस स्वायंभुव मनुके पहले भी वर्तमान था। इस कथा-प्रसङ्गसे यह भी ज्ञात होता है कि इन हेतुओंमें प्रथम हेतु नारद-शाप ही है, जिसके द्वारा मानस-रचना हुई तथा जिसे कागभुशुण्डिजीने गरुड़जीको सुनाया था—

पुनि नारदकर मोह अपारा। कहेसि बहुरि रावण अवतारा॥

क्योंकि इसी हेतुको भुशुण्डिजीने श्रीलोमश-ऋषिसे सुना था। अतः इस हेतुसे साक्षात् श्री-क्षीराब्धिनाथजी रघुकुलभूषण हुए हैं और इन्हींके उपासक श्रीकागजी हैं जो प्रथम अवतारसे ही वर्तमान हैं, इसीका उल्लेख श्रीमनुजी अपने तपके फलकी प्राप्तिके लक्ष्यमें कर रहे हैं। 'जो भुशुण्डि मानस-मन-हंसा।' यह अवतार तो तबतक हुआ ही नहीं था, इस अवतारके लिये तो पीछेसे वर होगा। अगस्त्यजीने पूर्व कल्पके नारद-मोहावतारकी कथा शिवजी और सतीजीको सुनायी थी, इस वर्तमान अवतारको तो वनमें फिरते देखा ही था इसलिये 'जेहि कारन मुनि जतन कराहीं।' जिसके लिये मुनिगण यत्न करते हैं, मनुजीका यह लक्ष्य भी क्षीरशायी रामावतारके लिये ही है। भगवान् शिव भी इन्हींके लिये सतीको बोध देते हुए उसी समय कह रहे हैं—

मुनि धीर जोगी सिद्ध सन्तत विमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय-पति माया-धनी।
अवतरेउ अपने भक्त हित निज तन्त्र नित रघुकुलमनी॥

जासु कथा कुंभज ऋषि गाई। भक्ति जासु मैं मुनिहिं सुनाई॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥

जिसकी कथा अगस्त्य-ऋषिने सुनायी है, वही (नारदशापावतारी) राम मेरे इष्टदेव हैं। इन्हीं शंकर-मानस-राजमरालके लिये मनुजी कहते हैं—जो स्वरूप बस शिव मन माहीं। नहीं तो यह अवतार तो अभी हुआ ही नहीं था। इसीके लिये तो तप हो रहा है।

अतः अब यह स्पष्ट हो गया कि श्रीमनुजीने प्रभुके उसी रूपका दर्शन प्राप्त किया था जो प्रथम ही भगवान् शंकर, श्रीकागभुशुण्डि तथा अगस्त्यादि मुनिजनोंके सेव्य और इष्ट हो चुके थे। साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि जिनको वेद अगुण, सगुणादि कहकर गान करता है, वह वही क्षीराब्धिनाथ हैं जो नारदशापावतारी श्रीराम हुए हैं, उन्होंने श्रीमनुजीको वरदान दिया कि 'हम आकर तुम्हारे पुत्र होंगे', अतः उन्हीं सरकारने जब प्रत्येक हेतुसे अवतार लिया तो भेद कहाँ रहा? इससे सिद्ध हुआ कि 'राम जन्मकर हेतु अनेका।' श्रीरामजीके जन्महेतु अनेक हैं, श्रीराम तो अनेक नहीं, एक ही हैं।

यह इतिहास पुनीत अति उमहिं कहा वृषकेतु।
भरद्वाज सुनु अपर पुनि रामजन्म कर हेतु॥

श्रीयाज्ञवल्क्य-मुनिने कहा कि 'हे भारद्वाज! इस पुनीत इतिहासको भगवान् शङ्करने श्रीपार्वतीसे कहा, अब रामावतारके एक दूसरे हेतुको सुनिये।'

सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति शंभु बखानी॥

याज्ञवल्क्य-मुनि कहते हैं कि 'हे भारद्वाज, भगवान् शंकरने श्रीपार्वतीजीसे रामावतारका दूसरा एक और हेतु कहा था, उसे भी सुनो।' कैकय-देशके राजा भानुप्रतापको उसके वैरी राजा कपट-मुनिने ब्राह्मणोंसे (धोखा देकर तथा माया रचकर) यह शाप दिला दिया कि वह सपरिवार सालभरमें नष्ट होकर राक्षस हो जाय। समय आनेपर वही भानुप्रताप रावण हुआ, उसका भाई अरिमर्दन कुम्भकरण हुआ और धर्मरुचि नामक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सचिव उनका भाई विभीषण हुआ। इसप्रकार उसके सारे परिवारके लोगोंने घोर निशाचर-योनिमें जन्म ग्रहण किया। इन तीनों भाइयोंने उग्र तप करके, रावणने वानर और मनुष्य छोड़कर अन्य किसीसे न मरनेका, कुम्भकरणने छः महीने नींदका, तथा विभीषणने श्रीभगवान्‌की भक्तिका वरदान ब्रह्मा और शङ्करसे प्राप्त किया। तत्पश्चात् विभीषण तो भजनमें लग गया और कुम्भकरण निद्राग्रस्त हो गया, परन्तु रावणने मदमत्त होकर अपने मेघनादादि पुत्रोंको आज्ञा दी कि पृथ्वीसे धर्माचारका लोप कर दो। बस क्या था—

अतिसय देखि धरमकै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥

पृथ्वी अधर्मसे व्याकुल हो धेनुरूप धारणकर ब्रह्माके शरण गयी, ब्रह्माजीने पृथ्वीके साथ-साथ सारे देवताओंको असुरोंके अत्याचारसे दुखित देखकर कहा कि 'इसमें मेरा कुछ वश नहीं चल सकता। हे पृथ्वी, जिनकी तुम दासी हो वही अविनाशी, अखिल लोकवासी प्रभु मेरे और तुम्हारे दोनोंके सहायक हैं। हे धरणि! तुम धीर धरो, हरि अपने जनकी पीड़ाको जानते हैं वह शीघ्र ही इस दारुण विपत्तिको मिटायँगे। यथा—

जाकर तैं दासी सो अविनासी हमरो तोर सहाई॥
धरनि धरहु मन धीर कह बिरंचि हरिपद सुमिरि।
जानत जनकी पीर प्रभु भंजहि दारुन बिपति॥

यहाँ 'अविनाशी' और 'हरि' पदोंसे दिव्यधामके नित्यस्वरूप सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी हरि ही अभिप्रेत हैं। त्रिदेवगत हरि नहीं।

अब देवताओंने एकत्र हो विचारना आरम्भ किया कि वे श्रीहरि कहाँ मिलेंगे।

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा॥

इसी प्रसङ्गसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'प्रभु' हरि त्रिदेवगत ब्रह्माण्डनायक नहीं, क्योंकि यदि वे विवक्षित होते तो उनके समीप तो देवताओंका जाना सदा ही सुगम था। इसका उदाहरण इसी ग्रन्थमें पाया जाता है। जब शिवजीने कामको भस्म कर रतिको वरदान दिया तो—

देवन समाचार सब पाये। ब्रह्मादिक बैकुंठ सिधाये॥
सब सुर बिष्णु बिरंचि समेता। गये जहाँ शिव कृपानिकेता॥
पृथक् पृथक् तिन्ह कीन्ह प्रशंसा। भये प्रसन्न चंद्र-अवतंसा॥

अर्थात् देववृन्द सीधे ब्रह्माण्डनायक विष्णुके पास गये और उनको साथ लेकर सबोंने शिवजीकी स्तुतिकर उन्हें प्रसन्न किया।

परन्तु यहाँ तो बात ही दूसरी है, सब घबराहटमें पड़े हुए हैं—'कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा।'

पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥

किसीने कहा वह अविनाशी जनकी पीर हरनेवाले श्रीहरि वैकुण्ठधाममें वास करते हैं और किसीने उसी प्रभुके क्षीरसागरमें रहनेका संकेत किया। श्रीशिवजी कहते हैं कि 'हे गिरिजा, उस समाजमें मैं भी उपस्थित था, अवसर पानेपर मैंने कहा—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेमतें प्रकट होंहि मैं जाना॥
देश काल दिशि बिदिशहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग-जगमय सबरहित बिरागी। प्रेमते प्रभु प्रगटे जिमि आगी॥
मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥

सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलक नयन बह नीर।
अस्तुति कर तब जोरि कर सावधान मति धीर॥

भगवान् शङ्करकी यह अनुमति, कि जो प्रभु श्रीवैकुण्ठधाममें रहते हैं तथा जो प्रभु क्षीरसागरमें रहते हैं वही हरि व्यापक भी हैं, जहाँ प्रेम किया जाय वहाँ ही प्रकट हो सकते हैं, सुनकर सब प्रसन्न हो गये और श्रीब्रह्माजीने आनन्दित हो साधु-साधु कह धन्यवाद दिया। तत्पश्चात् सब देववृन्द प्रेमपुलकित हो स्तुति करने लगे। इस स्तुतिके छन्दपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि यह एक ही परम पुरुषके निमित्त की गयी है न कि अनेक प्रभुके लिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जय-जय अबिनासी सब घटबासी व्यापक परमानंदा।
जय-जय असुरारी × × × सिन्धु-सुता प्रिय-कन्ता।
जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगतमोह मुनिबृन्दा॥
निशि-बासर ध्यावहिं गुन-गन गावहिं जयति सच्चिदानन्दा॥
जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा। इत्यादि

सतीका सन्देह था कि—

खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी॥

यहाँ स्तुतिमें भी, 'जय-जय असुरारी,' तथा श्रीपतिकी जगह 'सिन्धुसुतापति' पद स्पष्ट है।

सतीका दूसरा सन्देह था—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सोइ कि देह धरि होइ नर ?

और यहाँ स्तुतिमें भी स्पष्ट करते हैं—'अबिनासी सब घटवासी व्यापक परमानन्दा।' जिस प्रभुने स्वतः त्रिविध (सत्त्व-रज-तममयी) सृष्टि बनायी है, तथा श्रीपति असुरारी विष्णु भगवान् (परधाम) तथा सब घटवासी व्यापक परमानन्द (सच्चिदानन्द) यह दोनों स्वरूप जिस एक ही प्रभुके हैं, वे प्रभु मुझपर कृपा करें 'द्रवहु सो श्रीभगवान !'

यहाँ तनिक भी विचारनेसे स्पष्ट हो जायगा कि निर्विकार निराकार व्यापक ब्रह्म तथा सगुण विष्णु भगवान्में पूर्ण अभेद है। देवताओंकी स्तुतिके उत्तरमें आकाशवाणी हुई।

जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह।
गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक-सन्देह॥

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुमहिं लागि धरिहौं नरबेसा॥
अंसन सहित मनुज अवतारा। लैहौं दिनकर बंस उदारा॥
कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्हकहँ मैं पूरब वर दीन्हा॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कौसलपुरी प्रगट नर-भूपा॥
तिनके गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिहु भाई॥
नारद बचन सत्य सब करिहौं। परा शक्ति समेत अवतरिहौं॥
हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निरभय होहु देव समुदाई॥
तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा। अभय भई भरोस जिय पावा॥

निज लोकहिं बिरंचि गे देवन इहै सिखाइ।
बानर तनु धरि धरि धरनि हरि-पद सेवहु जाइ॥

गये देव सब निज निज धामा। भूमि सहित मन कहँ बिश्रामा॥

इस प्रसङ्गमें यह विचारणीय है कि यदि प्रभु एक न होते तो जहाँ भानुप्रतापके रावण होनेपर पृथ्वीको दुःख है, स्वायंभुव मनु और शतरूपाको दशरथ और कौशल्याके रूपमें जन्म लेना है, वहाँ कश्यप, अदितिके तथा नारद-वचनके सत्य करनेका जिक्र क्यों आता ? नारद-शापकी बात तो क्षीराब्धिनाथके समक्षकी है कश्यप-अदितिका तो जय-विजयके राक्षस बननेके अवसरपर दशरथ और कौशल्याके रूपमें जन्म लेना है। सारांश यह कि यह सब एक ही व्यापक ब्रह्मकी लीला है। इतनी स्पष्टता होनेपर भी यदि कोई श्रीराममें अनेक बुद्धिका भेद माने तो उसके लिये क्या कहा जा सकता है ?

नाम, रूप, लीला और धाम यह चतुर्विग्रह एक ही रामके निश्चित हैं जो नित्य और परात्पर हैं—

रामस्य नामरूपं च लीलाधामपरात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥

अतः उपर्युक्त चारों राम भिन्न-भिन्न नहीं हैं, अवतारके हेतु ही अनेक हैं। अतएव जिसप्रकार रामचरितमानसमें प्रत्येक कल्पके हेतुओंका लक्ष्य करके एकीकरण हुआ है उसी प्रकार आकाशवाणीमें भी बार बार 'अवतरिहौं, अवतरिहौं' का संकेत करके अनेक हेतुओंका समन्वय कर दिया गया है।

'अंशन सहित मनुज अवतारा' से मनुके हेतुको, 'कस्यप अदिति महा तप कीन्हा' से जय-विजय और जालन्धरके हेतुको एवं 'नारद बचन सत्य सब करिहौं' से नारद-शापके हेतुको स्पष्ट कर एक ही चरितके होनेका निश्चित प्रमाण प्रदर्शित कर दिया है। चरित्र-भागमें भी इसके अनेक प्रमाण हैं, यथा—

मोर शाप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥
पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय राम लखन रहे आई॥

मानसमें और पूज्य गुसाईंजी महाराजके अन्य ग्रन्थोंमें इसके प्रमाण भरे हुए हैं, हो सका तो प्रमाणोंकी सूची भी दिखानेका विचार है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीभगवन्नाम-जप

विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभिः,
तथा विशुद्धत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतः
तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥
(श्रीमद्भागवत ६ । २ । ११)

'ब्रह्मवादी वेदके ज्ञाता मनु आदि महानुभावों-द्वारा कहे हुए द्वादशाब्दादि (बारह-वर्षके) व्रत प्रायश्चित्तोंसे पापीकी वैसी शुद्धि नहीं होती, जैसी श्रीहरिनाम-पदोंके उच्चारणसे होती है, क्योंकि नामोच्चारण करनेसे मनके अन्दर महायशस्वी परमेश्वरके गुणोंका प्रकाश होता है। व्रत तो केवल पापकी ही निवृत्ति कर सकते हैं।

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥

विवश होकर भी हरि-नाम-कीर्तन करनेपर पापीके सम्पूर्ण पाप उसे छोड़कर वैसे ही भाग जाते हैं जैसे सिंहसे डरकर मृग भाग जाते हैं।

यह कोई मिथ्यास्तुति या अर्थवाद नहीं है, शास्त्र कहता है—

अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः ।
स पापिष्ठो मनुष्याणां नरके पतति स्फुटम् ॥

जो मनुष्य हरिके नाममें अर्थवादकी कल्पना करता है वह मनुष्योंमें पापिष्ठ अवश्य नरकमें गिरता है। नामसे केवल पापोंका ही नाश नहीं होता, भगवान्‌के परमपदकी प्राप्ति भी हो जाती है। कलियुगमें तो अन्य कोई सरल उपाय ही नहीं है।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

ऐसे शास्त्रप्रमाणित और सभी सन्त-महात्माओं-के अनुभवसे सिद्ध भगवन्नामके सम्बन्धमें शंका करना बड़ी भारी भूलकी बात है। 'कल्याण' के भक्तिप्रचारमें नाम-जप एक मुख्य विषय है। इस विषयमें समय-समयपर कल्याणमें लिखा जाता है और प्रतिवर्ष पौष शुक्ला १ से फाल्गुन शुक्ला १५ तक ढाई महीने नाम-जप करने-करानेके लिये पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना की जाती है। हर्षका विषय है कि श्रद्धालु भाई-बहनोंके द्वारा इस प्रयत्नमें अच्छी सफलता भी मिल रही है। कुछ भाई इस विषयमें कई शङ्काएँ करते हैं, इससे पहले संक्षेपमें उनका उत्तर देकर इस वर्ष नाम-जपके लिये प्रार्थना की जायगी। संक्षेपमें निम्नलिखित छः शंकाएँ हैं।

(१) ढाई महीने ही नाम-जपके लिये क्यों कहा जाता है ?

(२) भजनका गुप्त होना उत्तम है, पर आप तो जप-संख्याकी सूचना चाहते हैं। ऐसा क्यों किया जाता है ?

(३) आप नाम-जप क्यों करवाते हैं, क्या दूसरोंसे नाम जपाकर आप कोई फल चाहते हैं ?

(४) षोडश नामवाले इसी मन्त्रका जप करनेको क्यों कहा जाता है, क्या अन्य नाम भगवान्‌के नहीं हैं ?

(५) जिनको गुरुके द्वारा दूसरा मन्त्र मिला हो वे इस मन्त्रका जप कर सकते हैं या नहीं ?

(६) देशमें इस समय प्रबल आन्दोलन चल रहा है, हजारों भाई-बहिनें जेलमें हैं। सरकारसे अहिंसा-मय युद्ध चल रहा है, इस समय भी क्या भगवन्नाम-जप आवश्यक है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन शंकाओंके क्रमशः उत्तर इसप्रकार हैं—

१–भगवान्‌के नामका जप तो जीवनका स्वभाव हो जाना चाहिये परन्तु अभ्यास डालनेके लिये थोड़े दिनोंके लिये व्रत लेना ज़रूरी है। जीवनभर या अधिक समयके लिये एक साथ कहनेसे वह बहुत भारी मालूम होता है और करनेमें उत्साह नहीं होता। थोड़े दिनोंके लिये उत्साहसे मनुष्य स्वीकार कर लेता है। देखादेखी लोग करने लगते हैं। फिर अभ्यास हो जानेपर सदाके लिये भी करने लगते हैं। हमारे पास प्रतिवर्ष ऐसी कई सूचनाएँ आती हैं जिनसे पता लगता है कि ढाई महीनेके शुरू किया हुआ जप कई लोग बारहों महीने करने लगे हैं। उनके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो गया है। असलमें ढाई महीनेके लिये प्रार्थना करना इसी उद्देश्यसे है कि लोग भगवन्नाम-जपके अभ्यासी और प्रेमी बन जायँ। परन्तु सब लोग ऐसे नहीं भी होंगे तो ढाई महीने जो नाम-जप हुआ, उसका तो उन्हें परम लाभ मिलेगा ही।

२–भजन अवश्य ही गुप्त रखना चाहिये। गुप्त भजन ही अधिक महत्त्वका है। हम तो चाहते हैं कि लोग ऐसे प्रेमी बन जायँ कि उनके मनसे निरन्तर भजन होता रहे और किसीको मालूम भी न हो। जो ऐसे हैं उनसे हमारा यह आग्रह भी नहीं है कि वे अपनी जप-संख्या बतावें। परन्तु सब लोग ऐसे नहीं हुआ करते। ऐसी वृत्ति भी नाम-जप करते-करते अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ही होती है। इसीलिये हम जप करनेवालोंके नाम प्रकाश नहीं किया करते हैं। केवल एक-एक स्थानकी जप-संख्या जोड़कर लिख देते हैं। परन्तु ढाई महीनेकी जप-संख्या बतला देनेसे भी यदि दूसरे लोगोंको उत्साह मिलता हो और नाम-जपका प्रचार होता हो तो भगवान्‌के प्रेमियोंको ऐसा करनेमें कोई आपत्ति भी क्यों होनी चाहिये?

३–नाम-जप करने-करानेके लिये इसीलिये प्रार्थना की जाती है कि जिससे नामका लाभ जप करनेवालोंको मिले। इसमें अन्य किसी प्रकारकी व्यक्तिगत लाभकी कामना नहीं है। इतनेपर भी यदि इसमें कोई पुण्य होता हो तो वह नाम-जप करने-करानेवालोंका ही है। हमारा उसमें कोई भी अधिकार नहीं, यह बात हम ईश्वरकी साक्षीमें लिख रहे हैं। हमारी तो यही भावना है कि नाम-जपका प्रचार हो, जिससे सब लोग परम सुखको प्राप्त हों। इस भावनामें भी अप्रत्यक्षरूपसे प्रभु ही कारण है।

(४) भगवान्‌के सभी नाम एक-से हैं। कोई छोटा बड़ा नहीं। जिसकी जिसमें रुचि हो वह उसी नामका जप कर सकता है, परन्तु कुछ नाम या मन्त्र साम्प्रदायिक मान लिये गये हैं। यह मन्त्र साम्प्रदायिक नहीं है यह सार्वजनिक है, इसका कोई भी जप कर सकता है, इसीसे इस मन्त्रके लिये कहा जाता है।

(५) गुरुद्वारा मिले हुए मन्त्रका जप तो नियमितरूपसे अलग करना ही चाहिये। परन्तु यह तो सार्वभौम मन्त्र है, अतः इस मन्त्रका जप सभी भाई-बहिनें बिना किसी रुकावटके कर सकते हैं।

(६) बहुत ही आवश्यक है, प्रत्येक शुभ कार्यमें भगवान्‌का अधिष्ठान जरूर चाहिये। हमारे शास्त्रोंके अनुसार शुभ कर्मकी पूर्ति, आदि और अन्तमें भगवान्‌का नाम उच्चारण करनेसे ही होती है। यदि हम सारे ही काम भगवान्‌का नाम-स्मरण करते हुए ही करें तो वे कार्य पवित्र हो जाते हैं और उनमें सिद्धि भी शीघ्र मिलती है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे युद्धकी आज्ञा देते हुए कहा था—

—सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

—सर्वकालमें निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए ही युद्ध करो। वर्तमान आन्दोलनके प्रधान आचार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महात्मा गान्धीजीका प्रथम दल भगवान्‌के नामकी ध्वनि करता हुआ ही गया था। धरसानाके सत्याग्रही सैनिकोंने हरिनामकी पवित्र ध्वनि करते हुए ही काम किया था। हम लोगोंने भगवान्‌का आश्रय छोड़ दिया या हम उसकी कम परवा करने लगे, यही तो हमारी चतुर्मुखी असफलताका कारण है। इस समय तो भगवान्‌के नाम-जपकी विशेष आवश्यकता है, इससे हमारे और विपक्षियोंके दोनों ही के मन शुद्ध होंगे। राग-द्वेष, हिंसा और स्वार्थके भाव नष्ट होंगे। सुख शान्तिके सच्चे दर्शन हो सकेंगे। जो भाई-बहिनें जेलमें हैं, उन्हें चाहिये वहाँ निश्चिन्तरूपसे श्रीभगवान्‌के नामका जप प्रेमपूर्वक करें-करावें। फिर मनुष्य-जीवनका ध्येय तो इससे बहुत ऊँचा है, यहाँकी स्वतन्त्रता तो परमस्वतन्त्रताकी प्राप्तिमें सहायक होनेके कारण ही आवश्यक है। हमारा ध्येय तो मायाकी परतन्त्रतासे मुक्त होकर परमात्माके परम प्रेमको प्राप्तकर परमात्मासे अभिन्न हो जाना है, यही मनुष्य-जीवनका प्रधान उद्देश्य है, इसकी सिद्धिके लिये तो नाम-जप बहुत ही आवश्यक है। अवश्य ही नाम-जप यथासाध्य पाप छोड़कर किया जाना ज़रूरी है। अतएव सभी भाई-बहिनोंको नाम-जप करने-करानेमें उत्साहपूर्वक विशेष उद्योग करना चाहिये। सच्चे सरकारकी उपासनामें तो सरकारी, असरकारी सभी शामिल हो सकते हैं। हृदयमें प्रेम और पवित्रता चाहिये, जिसने सच्चे सरकारकी–श्रीरामकी उपासना की और उनकी कृपा प्राप्त कर ली, वह जगत्‌में सब कुछ कर सकता है।

इस वर्ष तो रामायणाङ्क निकला ही है, उसे पढ़ने-सुननेवाले भाई और माता-बहिनें नामके महत्त्वसे विशेष परिचित हो गये होंगे। जिन लोगोंने भगवन्नामका आश्रय लेकर अलौकिक लाभ उठाये हैं उनका तो हृदय ही जानता है। गतवर्ष पौष सुदी १ से फाल्गुन सुदी १५ तक कल्याणके पाठक-पाठिकाओंसे दश करोड़ मन्त्र जपके लिये प्रार्थना की गयी थी, परन्तु हर्षकी बात है कि सब मिलाकर लगभग २८॥ करोड़ जप-संख्या हो गयी। करीब १७५ स्थानोंसे सूचनाएँ आयी थीं, जिनमें आसामसे लेकर काश्मीर और बम्बईसे लेकर सुदूर दक्षिण तथा अफ्रिकातककी भी थी। पञ्जाब, सिन्ध और उत्तराखण्डसे भी सूचनाएँ आयी थी।

जिन भाग्यवान् नर-नारियोंने जपमें भाग लिया, उनमें अमीर-गरीब, ब्राह्मण-शूद्र, वकील-डाक्टर, मालिक-नौकर सभी श्रेणीके स्त्री-पुरुष थे।

गत चार वर्षोंसे श्रीहरिके प्रेमी सज्जन और देवियाँ नाम-जप-यज्ञमें सम्मिलित होनेका पुण्य लूट रहे हैं। गत वर्षकी भाँति अबकी बार भी अभी दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये ही विनीत प्रार्थना की जाती है। आशा है, कल्याण-प्रेमी भाग्यवान् नर-नारी इस सत्कार्यमें योग देकर हमपर उपकार करेंगे। नियम पूर्ववत् ही हैं।

यह कोई नियम नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल बिछौनेसे उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते, फिरते, उठते, बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है। अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गणना की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी अनिवार्य कारण-वश यदि जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे कहकर जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा प्रबन्ध न हो सके तो निम्नलिखित पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें उतने जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। एक बात याद रखनी चाहिये कि पैसा या वृत्ति देकर किसी दूसरेसे जप नहीं करवाना चाहिये। जो करे सो स्वयं आप ही करे। किसी अनिवार्य कारण-वश जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके तो कोई आपत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। निष्कामभावसे भगवान्‌के नामका जप जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि कल्याणके प्रेमी पाठक और पाठिकाएँ अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अंक प्रकाशित होनेतक हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको कृपापूर्वक इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१-किसी भी तिथिसे आरम्भ करें परन्तु पूर्ति फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये।

२-सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३-प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप तो अवश्य करना चाहिये।

४-सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी कोई आवश्यकता नहीं। केवल सूचना भजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें।

५-संख्या मन्त्रकी भेजनी चाहिये। नामकी नहीं। एक मन्त्रमें सोलह नाम हैं। उदाहरणार्थ यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है; जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई आरम्भ करें उस दिनसे फाल्गुन सुदी १५ तकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६-संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बङ्गला, अंगरेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।*

७-सूचना भेजनेका पता-

'नाम-जप-विभाग'

'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर

चित्र-परिचय

साक्षात् भगवान् रुद्रके अवतार भक्तशिरोमणि महावीर श्रीहनुमान्‌जीका क्या परिचय दिया जाय। जो श्रीहनुमान्‌जीकी सेवा और इनका ध्यान करते हैं वे सफलमनोरथ होते हैं और भगवान् श्रीरामके परम कृपापात्र बन जाते हैं। यह चित्र हमें अयोध्यानिवासी सम्मान्य श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी महोदयकी कृपासे प्राप्त हुआ है। अतएव हम उनके बड़े ही कृतज्ञ हैं। चित्र दर्शनीय है। महाराज पवनकुमारकी भव्य आशीर्वादी मुद्राके दर्शनकर चित्त निर्भय हो जाता है और भगवान्‌के चरणोंकी ओर बरबस आकर्षित होने लगता है। भक्तोंको इस चित्रके दर्शनसे बहुत ही आनन्द होना चाहिये।

* यदि आगामी अंकोंके प्रकाशित होनेतक पूरी सूचना न मिली और आवश्यक समझा गया तो पूर्तिके समयकी अवधि आगेके लिये भी बढ़ायी जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

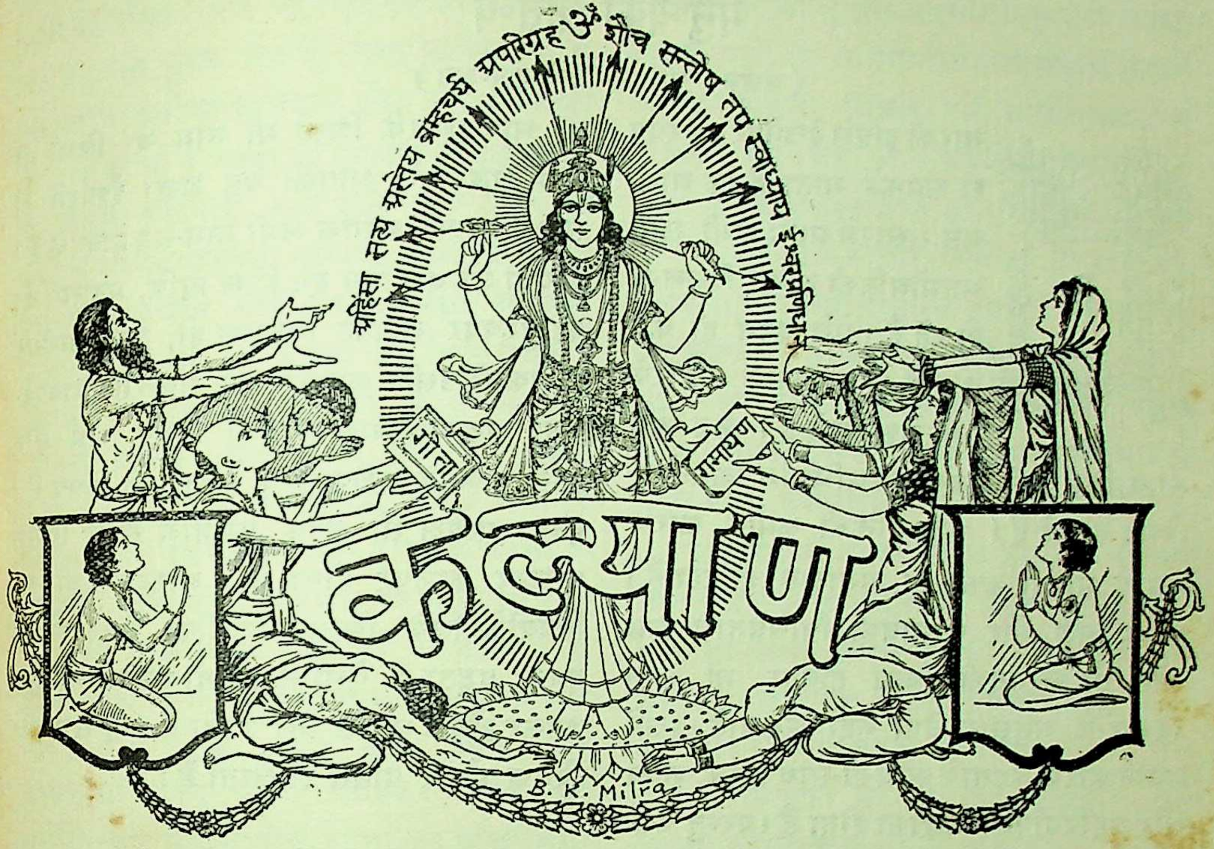

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

वर्ष ५ खण्ड १ | माघ कृष्ण ११ संवत् १९८७ जनवरी १९३१ | संख्या ७ पूर्ण सं० ५५

नंदलालके नैन

लजीले सकुचीले सरसीले सुरमीले-से,
कँटीले औ कुटीले चटकीले मटकीले हैं ।
रूपके लुभीले कजरीले उनमीले बरछीले
तिरछीले-से फँसीले औ गँसीले हैं ॥
ललितकिसोरी झमकीले गरबीले मानो,
अतिहि रसीले चमकीले औ रंगीले हैं ।
छबीले छकीले अरुनीले-से नसीले आली,
नैना नँदलालके नचीले औ नुकीले हैं ॥

—ललितकिशोरीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्यका कर्त्तव्य

(लेखक – श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

विचारकी दृष्टिसे देखनेपर यह स्पष्ट ही समझमें आता है कि आजकल संसारमें प्रायः सभी लोग आत्मोन्नतिकी ओरसे विमुख-से हो रहे हैं। ऐसे बहुत ही कम लोग हैं जो आत्माके उद्धारके लिये चेष्टा करते हैं। कुछ लोग जो कोशिश करते हैं उनमें भी अधिकांश किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। श्रद्धा-भक्तिकी कमीके कारण यथार्थ मार्गदर्शकका भी अभाव-सा हो रहा है। समय, सङ्ग और स्वभावकी विचित्रतासे कुछ लोग तो साधनकी इच्छा होनेपर भी अपने विचारोंके अनुसार चेष्टा नहीं कर पाते। इसमें प्रधान कारण अज्ञताके साथ-ही-साथ ईश्वर, शास्त्र और महर्षियोंपर अश्रद्धाका होना है। परन्तु ऐसी श्रद्धा किसीके करवानेसे नहीं हो सकती। श्रद्धासम्पन्न पुरुषोंके सङ्ग और निष्काम-भावसे किये हुए तप, यज्ञ, दान, दया और भगवद्भक्ति आदि साधनोंसे हृदयके पवित्र होनेपर ईश्वर, परलोक, शास्त्र और महापुरुषोंमें प्रेम एवं श्रद्धा होती है। श्रद्धा ही मनुष्यका स्वरूप है, इसलोक और परलोकमें श्रद्धा ही उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा है। श्रीगीतामें कहा है—

> सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
> श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

'हे भरतवंशी अर्जुन! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वही है। अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप समझा जाता है।' अतः मनुष्यको सच्चे श्रद्धा-सम्पन्न बननेकी कोशिश करनी चाहिये।

आप ईश्वरके किसी भी नाम या किसी भी रूपमें श्रद्धा करें, आपकी वह श्रद्धा ईश्वरमें ही समझी जायगी क्योंकि सभी नाम-रूप ईश्वरके हैं। आपको जो धर्म प्रिय हो; जिस ऋषि, महात्मा या महापुरुषपर आपका विश्वास हो, आप उसीपर श्रद्धाकरके उसीके अनुसार चल सकते हैं। आवश्यकता श्रद्धा-विश्वासकी है। ईश्वर, धर्म और परलोक आदि विशेष करके श्रद्धाके ही विषय हैं। इनका प्रत्यक्ष तो अनेक प्रयत्नोंके साथ विशेष परिश्रम करनेपर होता है। आरम्भमें तो इन विषयोंके लिये किसी-न-किसीपर विश्वास ही करना पड़ता है, ऐसा न करे तो मनुष्य नास्तिक बनकर श्रेयके मार्गसे गिर जाता है, वह साधनसे विमुख होकर पतित हो जाता है।

यदि आपको किसी भी धर्म, शास्त्र अथवा प्राचीन महात्माओंके लेखपर विश्वास न हो, तो कम-से-कम एक श्रीमद्भगवद्गीतापर तो जरूर विश्वास करना चाहिये। क्योंकि गीताका उपदेश प्रायः सभी मतोंके अनुकूल पड़ता है। इसपर भी विश्वास न हो तो अपने विचारके अनुसार ईश्वरपर विश्वास करके उसीकी शरण होकर साधनमें लग जाना चाहिये। कदाचित् ईश्वरके अस्तित्वमें भी आपके मनमें सन्देह हो तो वर्तमान समयमें जगत्में जितने श्रेष्ठपुरुष हैं उन सबमें जो आपको सबसे श्रेष्ठ मान्य हों, उन्हींके बतलाये हुए मार्गपर कमर कसकर चलना चाहिये। यदि वर्तमान कालके किसी भी साधु-महात्मा या सत्पुरुषपर आपका विश्वास न हो, तो आपको यह विचार करना चाहिये कि क्या सारे संसारमें हमसे उत्तम कल्याणमार्गके ज्ञाता कोई नहीं हैं? यदि यह कहते हों कि 'हैं तो सही पर हमको नहीं मिले। तो उनकी खोज करनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिये, अथवा यदि यह समझते हों कि 'हमसे तो बहुत-से पुरुष श्रेष्ठ हैं परन्तु कल्याणमार्गके भलीभाँति उपदेश करनेवाले पुरुष संसारमें बहुत ही थोड़े हैं, जो हैं उनका भी हम-जैसे अश्रद्धालुओं-को मिलना कठिन है, और यदि कहीं मिल भी जाते हैं तो पहचाननेकी योग्यता न होनेके कारण हम उन्हें पहचान नहीं सकते।' ऐसी अवस्थामें आपके लिये यह तो अवश्य ही विचारणीय है कि आप जो कुछ चेष्टा कर रहे हैं उससे क्या आपका यथार्थ कल्याण हो जायगा ? यदि सन्तोष नहीं है तो कम-से-कम अपनी उन्नतिके लिये आपको उत्तरोत्तर विशेष प्रयत्न तो करना ही चाहिये। सत्य, दया, अहिंसा, तप आदि जो गुण, भाव और कर्म आपके विचारमें उत्तम प्रतीत हों उनका ग्रहण, और अनिष्ट चिन्तन, बुरे कर्म और विषयासक्ति आदि दुर्गुण, नीच भाव और दुष्कर्मोंका त्याग करना चाहिये। प्रत्येक कर्म करनेसे पूर्व सावधानीके साथ यह सोच लेना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह मेरे लिये यथार्थ लाभदायक है या नहीं, और उसमें जहाँ कहीं भी त्रुटि मालूम पड़े, उसका बिना विलम्ब सुधार कर लेना चाहिये। मनुष्यजन्म बहुत ही दुर्लभ है, लाखों रुपये खर्च करनेपर भी जीवनका एक क्षण नहीं मिल सकता। ऐसे मनुष्य-जीवनका समय निद्रा, आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यतामें व्यर्थ कदापि नहीं खोना चाहिये। जो मनुष्य अपने इस अमूल्य समयको बिना सोचे-विचार बिता देगा, उसे आगे चलकर अवश्य ही पछताना पड़ेगा। कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

बिना बिचारे जो करै सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो जगमें होत हँसाय॥
जगमें होत हँसाय चित्तमें चैन न पावै।
खान पान सन्मान राग रँग मन नहिं भावै॥
कह गिरधर कविराय कर्मगति टरत न टारे।
खटकत है जिय माँहि किया जो बिना विचारे॥

अतः अपनी बुद्धिके अनुसार मनुष्यको अपना समय बड़ी ही सावधानीसे ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाना चाहिये, जिससे आगे चलकर पश्चात्ताप न करना पड़े। नहीं तो गोस्वामीजी के शब्दोंमें—

सो परत्र दुख पावहिं सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

—सिवा पछतानेके अन्य कोई उपाय न रह जायगा। यह मनुष्य-जीवन बहुत ही महँगे मोलसे मिला है। काम बहुत करने हैं, समय बहुत थोड़ा है, अतएव चेतकर अपने जीवनके बचे हुए समयको बुद्धिमानीके साथ केवल कल्याणके मार्गमें ही लगाना चाहिये।

यदि मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार इसलोक और परलोकमें लाभ देनेवाले कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं होता तो इसको उसकी मूर्खता, अकर्मण्यता और आलस्यके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? जो जान-बूझकर प्रमाद, आलस्य, निद्रा और भोगोंसे चित्तको हटाकर उसे सन्मार्गमें नहीं लगाता और पतनके मार्गमें आगे बढ़ता जाता है वह स्वयं ही अपना शत्रु है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहा वेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केनोपनिषद्)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें उस परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है। और यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तनकर-परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

मनुष्यको अपनी उन्नतिका यह मार्ग स्वयं ही चलकर तय करना पड़ता है, दूसरेके द्वारा यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्ग तय नहीं होता। अतएव उसकी इसीमें बुद्धिमत्ता और कल्याण है, और यही उसका निश्चित कर्तव्य है कि अत्यन्त सावधानीके साथ प्रतिक्षण अपनेको सँभालते हुए इसलोक और परलोकमें कल्याणकारी साधनको खूब जोरके साथ करता रहे और प्रमाद, आलस्य, भोग, पाप एवं दुराचार आदि जो बातें अपनेको बुरी और कल्याणके मार्गमें बाधक मालूम दें उन्हें सर्वथा त्याग दे। श्रुति चेतावनी देती हुई कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
(कठोपनिषद्)

'उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर उनके द्वारा तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो। कविगण इसे तीक्ष्ण क्षुरेके धारके समान अत्यन्त कठिन मार्ग बताते हैं।' परन्तु कठिन मानकर हताश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। भगवान्में चित्त लगानेसे भगवत्कृपासे मनुष्य सारी कठिनाइयोंसे अनायास ही तर जाता है। 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।' भगवान्ने और भी कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'यह मेरी अलौकिक अति अद्भुत त्रिगुणमयी योगमाया बहुत दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरी शरण हो जाते हैं वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे सहज ही तर जाते हैं।' सब देशों और समस्त पदार्थोंमें सदा-सर्वदा भगवान्का चिन्तन करना और भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलना ही शरणागति समझा जाता है। इसीको ईश्वरकी अनन्यभक्ति भी कहते हैं, अतएव जिनका ईश्वरमें विश्वास हो, उनके लिये तो ईश्वरका आश्रय ग्रहण करना ही परम कर्तव्य है। जो भली-भाँति ईश्वरके शरण हो जाता है, उससे ईश्वरके प्रतिकूल यानी अशुभ कर्म तो बन ही नहीं सकते। वह परम अभय पदको प्राप्त हो जाता है, उसके अन्तरमें शोक मोहका आत्यन्तिक अभाव रहता है, उसको सदाके लिये अटल शान्ति प्राप्त हो जाती है और उसके आनन्दका तो पार ही नहीं रहता। उसकी इस अनिर्वचनीय स्थितिको उदाहरण, वाणी या संकेतके द्वारा समझा या समझाया नहीं जा सकता। ऐसी स्थितिवाले पुरुष स्वयं ही जब उस स्थितिका वर्णन नहीं कर सकते तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? मन-वाणीकी वहाँतक पहुँच ही नहीं है। केवल पवित्र हुई शुद्ध बुद्धिके द्वारा पुरुष स्वयं इसका अनुभव करता है। ऐसा वेद और शास्त्र कहते हैं—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥
(कठोपनिषद्)

'सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता, यह सूक्ष्म बुद्धिवाले महात्मा पुरुषोंसे विशुद्ध और तीक्ष्ण सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही देखा जाता है।' भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धि-द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है, और जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी भगवत्स्वरूपसे चलायमान नहीं होता।' उसी अवस्थाको प्राप्त करनेकी चेष्टा मनुष्यमात्रको करनी चाहिये, यही उसका परम कर्तव्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संतकी पहचान

जहँ-तहँ नारायण लखै व्यापक रूप अनंत।
प्रभुहिं समर्पै करम सब सोई साँचो संत॥
शांत, दांत, निर्भ्रान्त, नित अचल, अकिंचन रूप।
मन-बच-क्रम-परहित-निरत सोइ भागवत-रूप॥

काम-क्रोध-मद-लोभ नहिं, राग-द्वेष तें हीन।
सत्यनिष्ठ, शुचि, मानप्रद, भाव-भक्ति-रस-लीन॥
संयत चित, संयत हृदय, संयत इंद्रिय जासु।
संयत कर्मादिक सतत नाम भागवत तासु॥

अतिसय मृदु, अतिसय सुहृद, अतिसय दीनदयालु।
सरल, सरस, संतत सुखद, सकरुण परम कृपालु॥
जाके मनमें रह्यो नहिं अहंकारकौ लेस।
सहजभाव बिचरत अभय अमल भागवत-भेस॥

परदारा-परधन-विमुख, समस्वभाव, निर्मोह।
वीतराग, निर्द्वंद्व नित, नहिं काहूसों द्रोह॥
जो मनमें सोइ बैनमें, जो बैननि सोइ कर्म।
कहिए ताकों संतवर, जाकौ ऐसो धर्म॥

सरसत जाके रसमसे हरि-अनुरागी नैन।
प्रेम-सुधा बरसत बिमल सोइ संत सुख-दैन॥
रहत मूक उन्मत्त ज्यों, धारि जगत जड़भाव।
हियमें हित-दीपक दिपत, नित नूतन चित चाव॥

स्वर्ग-लाभ अपवर्ग-सुख बिना प्रेम जेहि धूरि।
सोइ तदीय जाके हिये रह्यौ प्रेम भरिपूरि॥
जागत-सोवत-स्वप्नहू हरि अनन्य गति जाहि।
तीरथहूँ पावन करत हरि-जन कहिए ताहि॥

वियोगी हरि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीताका सर्वोत्तम उपदेश

(लेखक—श्रीहरिस्वरूपजी जौहरी एम० ए०)

श्रीमद्भगवद्गीताके अध्ययन करनेवाले भलीभाँति जानते हैं कि, यह ग्रन्थ एक अगाध समुद्र है, जिसमें अनेक रत्नोंकी खान है, जो भगवत्कृपासे श्रद्धालु पुरुषोंको ही प्राप्त हो सकते हैं। इन रत्नोंमेंसे एक रत्न भी हाथ लगनेसे मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। इसके सब रत्नोंका ज्ञान तो स्वयं भगवान्हीको होगा अथवा उनके परम भक्तोंको ही; परन्तु—

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।
हौं बौरी डूबन डरी रही किनारे बैठ॥

—के अनुसार हम अल्पज्ञोंको तो किनारेपर ही बैठ रहना पड़ा है, फिर भी किनारेसे ही रत्नोंकी जो ज्योति दृष्टिगत हुई है, इस लखमें उसीपर कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाता है।

अठारह अध्यायोंका निरन्तर पाठ करनेसे मेरी यह भावना हुई है कि स्वयं भगवान् अपने गूढ़ तत्त्वका जबतक प्रकाश नहीं करते तबतक किसीको उनके सर्वोत्तम उपदेशके रहस्यकी सच्ची गन्ध भी मिलना अत्यन्त दुष्कर है; अतएव हृदयमें सदैव यही प्रार्थना रहती है कि 'नाथ! आप स्वयं गुरु बनकर अपने अमूल्य उपदेशोंका भान कराइये, तभी वे हमारे हृदयग्राही हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। टीकाओंकी भरमार तथा भाष्योंके परस्पर वाद-विवाद तो अज्ञ पुरुषके मस्तिष्कको शान्ति देनेके बजाय चक्करमें ही डाल देते हैं। टीकाओंके पढ़नेमें आपके मूल उपदेशपर ध्यान नहीं रहता, बरबस टीकाकारोंके उपदेशकी ओर दृष्टि चली जाती है। जिसने अधिक विद्वत्ता दिखलायी, हमारी अल्प बुद्धि उसी की ओर खिंच गयी। इसी प्रकार खींचातानीमें हम पड़े रहते हैं। यद्यपि वाद-विवादमें कुछ शुष्क प्रमोद मिलता है, पर अन्तरात्माको सन्तोष नहीं प्राप्त होता।

भगवान्के उपदेशको कोई टीकाकार कर्मप्रधान, कोई भक्तिप्रधान और कोई ज्ञानप्रधान तथा कोई कर्म-भक्ति-ज्ञान-समन्वित मानते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मप्रधान उपदेश वस्तुतः-

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥'

तथा

'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।'

इत्यादि श्लोकोंमें प्रदर्शित होता है। भक्ति प्रधान उपदेश पूर्णतया—

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥'

तथा,

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'

श्लोकोंमें प्रदर्शित है। तथा ज्ञानप्रधान उपदेश द्वितीयाध्यायमें, 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' से प्रारम्भ करके 'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति' तक वर्णित है।

निस्सन्देह भगवान्का मूल उपदेश संक्षिप्त ही है, पर उसको पूर्णतया समझानेके लिये अठारह अध्यायोंमें उसका विस्तार करना पड़ा है। वह मूल उपदेश अथवा सर्वोत्तम उपदेश कहाँपर है इसका विचार करना इस लेखका मुख्य अभिप्राय है। सब अध्यायोंपर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि अर्जुनकी शङ्काओंका समाधान प्रश्नोत्तर रूपमें किया गया है, इसके अतिरिक्त भगवान्को जो कुछ समयानुकूल बताना था वह भी बताया गया है। अधिकतर यह भी देखा गया है कि भगवान्को जहाँ जो कुछ कहना है उसका वे प्रथम ही निर्देश कर देते हैं—अर्थात् अब मैं अमुक बात तुम्हें बताऊँगा। जैसे, 'हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यात्म विभूतयः ।' कहकर अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं। तथा 'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्' कहकर ज्ञानका उपदेश देते हैं। अतएव भगवान्के सर्वोत्तम वास्तविक उपदेशको ढूँढ़नेमें इन शब्दोंसे हमको बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। मुझे इस सम्बन्धमें कई विद्वानोंसे पूछनेका अवसर मिला है कि गीताका सर्वोत्तम अध्याय कौन-सा है, क्योंकि सर्वोत्तम उपदेश भी उसीमें मिल सकता है। इसके उत्तर 'भिन्ना रुचिः' के अनुसार मुझे भिन्न-भिन्न प्राप्त हुए। किसीने दूसरा अध्याय बताया, किसीने चौथा, किसीने सातसे बारह अध्याय, किसीने तेरहसे अठारह अध्याय और किसीने एकसे छः अध्याय बतलाये। और अन्य अध्यायोंको इन विशेष अध्यायोंकी टिप्पणी और विशद अर्थके रूपमें बतलाया, पर मुझे इनमें किसीसे भी सन्तोष नहीं हुआ।

यह भी देखनेमें आता है कि गीताका यदि कोई अकेला अध्याय बिकता है तो वह है दूसरा अध्याय; इससे हृदयमें विचार उठा कि कदाचित् यही सर्वोत्कृष्ट होगा, तभी तो इसका इतना महत्त्व है कि यह अकेला छापा गया है। अथवा इसका कारण यह हो कि अपने अर्थ प्रकट करनेमें यह अध्याय निरपेक्ष, और अन्य सब अध्याय सापेक्ष हैं। पर मुझे इससे भी सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि इस अध्यायमें विशेषकर आत्माका स्वरूप प्रदर्शित किया गया है जिसका साधारण व्यक्तिकी बुद्धिमें आना कठिन है। तिसपर भगवान् अपने सर्वोत्तम उपदेशको इतनी जल्दी बता भी तो नहीं सकते। क्योंकि उस महान् उपदेशको हृदयङ्गम करानेके लिये पहले तो भगवान्को अर्जुनकी बुद्धिको तैयार करना था जिससे वह उसे ग्रहण करनेमें समर्थ हो, फिर उसे तत्त्वज्ञान बताकर अनेक प्रकारसे हृदयङ्गम कराना था-इन सब कारणोंसे दूसरे या चौथे अध्यायमें उस महान् उपदेशका अवतरण नहीं हो सकता। किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये पहले उसका ज्ञान देना आवश्यक होता है, कि वह अमुक वस्तु है, और अमुक प्रकार-की है जिससे उसकी प्राप्तिकी इच्छा पूर्णरूपसे हो जावे; तदुपरान्त ही उसके पानेके ढंग बताये जाते हैं कि वह वस्तु अमुक प्रकारसे मिलेगी। तत्पश्चात् उस वस्तुके पानेकी सम्भावना होती है, फिर प्राप्तिपर आनन्दका अनुभव कराया जाता है, तब कहीं आनन्द प्राप्त होता है। यही ढंग गीतामें भगवान्ने भी अंगीकार किया है। पहले दो-तीन अध्यायोंमें उस वस्तुका ज्ञान दिया, फिर दो-चार अध्यायोंमें उसकी प्राप्तिका ढंग बतलाया, फिर अपना दुर्लभ उपदेश किया। तत्पश्चात् उसके आनन्दका अनुभव कराकर उसे अर्जुनके हृदयमें अंकित कर दिया, तभी तो अर्जुन अन्तमें कहने लगे—'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।' इसी परम उपदेशके रहस्यका हमें यथाशक्ति अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार उद्घाटन करना है।

हम प्रथम कह चुके हैं कि इस रहस्यका पता भगवान्के द्वारा ही हमें प्राप्त हो सकता है, और वस्तुतः भगवान् स्वयं हमें बतलाते भी हैं—

> इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
> ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
> राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
> प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

इस भूमिकाके प्रत्येक शब्दपर दृष्टि डालनेकी आवश्यकता है। भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन, अब मैं तुझे 'गुह्यतमं' गोपनीयसे भी गोपनीय उपदेश करता हूँ, जिसमें ज्ञान-विज्ञान सभी मौजूद हैं, यह मेरा उपदेश 'राजविद्या' अर्थात् सब विद्याओंका राजा, और 'राजगुह्यं' अर्थात् सब गोपनीय वस्तुओंका राजा, 'उत्तमम्' अर्थात् सबसे उत्तम है। फिर देखो, कैसी अमूल्य निधि तुझे किस प्रकार सहज ही मिल रही है—'प्रत्यक्षावगमम्', यह प्रत्यक्ष ही जानने योग्य है, इसे तू आँखोंसे देख सकता है, शरीरसे कर सकता है, हृदयसे ग्रहण कर सकता है, बुद्धिसे समझ सकता है, तिसपर भी तेरे लिये 'सुसुखं कर्तुम्' बड़े ही सुखसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने योग्य है, इसमें कोई कठिनाई नहीं है। न आँख मींचनेकी ही आवश्यकता है और न श्वास चढ़ानेकी। अब आठ अध्यायोंके उपदेशसे तू इसके समझने, ग्रहण करने और अभ्यास करनेके योग्य बन गया है। अब मेरे इस अमूल्य उपदेशको सुन, इसे सुन लेनेपर फिर कुछ सुनना शेष नहीं रहेगा।

पाठको! वह महान् उपदेश इसी नवें अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनको दिया है। इसके बादके जो नव अध्याय हैं वह नाना प्रकारसे इसीके व्याख्यानरूप हैं, क्योंकि अठारहवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने फिर कहा है—सर्वं गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः' अर्थात् 'हे अर्जुन! पुनः उस सबसे गुह्यतम बातको मुझसे सुन।' यहाँ 'भूयः' शब्दसे साफ़ जाहिर हो जाता है कि भगवान् उसी महान् उपदेशको फिर दुहराते हैं और उसे अर्जुनके परमहितकी बात बतलाते हुए कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

अवसर पाकर फिर कभी पाठकोंकी सेवामें इस अत्यन्त गुह्य सर्वोत्तम, सुखपूर्वक अभ्यास किये जाने योग्य उपदेशके सम्बन्धमें यथाशक्ति निवेदन करूँगा। तबतक मेरी प्रार्थना यही है कि नवें अध्यायका पठन-पाठन, श्रवण तथा इसके हृदयङ्गम करनेका अभ्यास करना चाहिये। यह नवाँ अध्याय बिल्कुल बीचका अध्याय है, जहाँ गोपनीय वस्तु मिलनी ही चाहिये थी। अतएव मेरे विचारमें गीताका सर्वश्रेष्ठ अध्याय नवाँ अध्याय है और सर्वश्रेष्ठ श्लोक नवें अध्यायका अन्तिम श्लोक है, इसे सदैव अपने सम्मुख रखना चाहिये और श्रद्धापूर्वक इसके बलपर उत्तरोत्तर आनन्दको पाते हुए परमानन्दको प्राप्त करना चाहिये। भगवान्ने उपदेश करते समय ही कह दिया है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

फिर भी आपने इस सम्बन्धमें यह भी आज्ञा कर दी है कि इस मेरे परम उपदेशको अश्रद्धान अभक्तको न बताना।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

और फिर इसका महत्त्व आपने कैसा दर्शाया है कि 'हे अर्जुन! जो पुरुष मेरा यह परम उपदेश मेरे भक्तको बतायेगा, वह मुझमें पराभक्ति करके मुझको ही प्राप्त होगा।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

प्रस्ताव

जब इस तिमिरावृत कुटीरमें आह, प्रदीप जला लूँगा;
धूल झाड़ कोने-कोनेकी जब मैं इसे सजा लूँगा।
जब वीणाके छेदोंमें भर लूँगा स्वागत-गीत उदार;
कर लूँगा तैयार गूँथ कर जब मैं अश्रु-कुसुमका हार।
भेजूँगा तब भवन निमन्त्रण हे अनन्त! तू आजाना।
मेरे तममय अन्तरमें अपना प्रकाश फैला जाना।

'प्रभात' बी० ए०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महात्माजीके विचार

[महात्मा गाँधीजी यरवदासे आश्रमवासियोंको जो उपदेशपूर्ण पत्र लिखा करते हैं, उनमेंसे कुछ पत्रोंके महत्त्वपूर्ण अंश हिन्दी-नवजीवनसे लेकर कल्याणके पाठकोंकी भेंट किये जाते हैं— सम्पादक]

(१)

कर्त्तव्य

'× × कर्त्तव्य-कर्म जो करता और आचरता है, उसकी तृष्णा तो मिटी ही होती है। जिसकी तृष्णा नहीं मिटी, उसे कर्त्तव्य-कर्मका भान ही नहीं। तृष्णाका पहाड़ तो इतना बड़ा है कि उसे कोई लाँघ ही नहीं सकता। उसे तो ज़मीनदोस्त किये ही छुटकारा है। तृष्णा छोड़ना अर्थात् कर्त्तव्यका भान होना। मैं जानता होऊँ कि मुझे काशी जाना है, वहाँ जानेका रास्ता भी मैं जानता होऊँ, तो फिर कौन-सी तृष्णा मुझे उस मार्गसे—कर्त्तव्यसे—हटा सकती है? मेरी तृष्णा ही काशीके रास्ते जानेकी है और वह पूरी हुई तो फिर बाकी क्या रहा? जो सहज प्राप्तसेवा तेरे पास है, उसे तू एकनिष्ठासे करता रहे तो पूर्ण सन्तोष मिलना चाहिये। इसके साथ जो संग मिले, जो पढ़नेको मिले, वह ग्राह्य, इसके सिवा दूसरेका विचार ही न होना चाहिये।'

(२)

आत्मशुद्धि—समाज-सेवा

'××ध्यान—उपासना अर्थात् श्रद्धापूर्वक स्वधर्म-पालन। यह अप्रत्यक्ष रीतिसे हो सकता है। मेरी दृष्टिमें यहाँ ध्यानका अर्थ इससे भी कम है। ध्यान अर्थात् पूजापाठके समय बैठते हैं वह। इससे ईश्वर-समर्पण आता है और उसमेंसे निष्काम-वृत्ति पैदा होती है। बिना आत्मशुद्धिके समाज-सेवा होती नहीं और समाज-सेवा करते-करते ही आत्मशुद्धि होती है। इसलिये तुम्हारे मनमें जो सवाल उठते हैं; वे ठीक ही हैं। लेकिन उनके चक्करमें न पड़ना। हल हो जायँ तो ठीक है, न हों तो यह श्रद्धा रखना कि सेवा करते-करते हो जायँगे।'

(३)

मृत्युका दुख

'मित्रोंके देहान्तसे, व्यग्रचित्त होनेका तनिक भी कारण नहीं। बिना मौत कोई नहीं मरता। अकाल-मृत्यु मिथ्या भ्रम है। एक दिन साँस लेकर मरनेवाला बालक भी अकालमृत्यु नहीं पाता। उस देहके उसके कर्म पूरे हो चुके, यही उसकी मृत्युका अर्थ है। हमें मौतका दुःख मात्र अज्ञान और स्वार्थके कारण होता है। आत्माके धर्मोंका अज्ञान और हम स्वयं मरना नहीं चाहते, इसी कारण मित्रादिकी मौतें हमें आकुल बनाती हैं। × × × जहाँ सबको जल्दी या देरसे, जाना है, वहाँ जानेकी क्रियाको मृत्युके बदले कोई दूसरा नाम देनेकी इच्छा हो जाती है।'

(४)

'×× धर्मसंकट और दुःखकी सीमा ही नहीं है। इनसे सच्ची जिज्ञासा पैदा होती है। शरीरकी उत्पत्ति पापसे है, तो भी वह आत्मदर्शनका साधन होनेसे पुण्यक्षेत्र बन सकता है। जो रोज़ आसुरी-वृत्तियोंके साथ जूझता है, उसने उसे पुण्यक्षेत्र बनाया है।

ज्ञान-अर्थात् आत्माका अनुभव। जिसमें सत्य और अहिंसाका सम्पूर्ण विकास हुआ है, वह निरक्षर होते हुए भी पूर्ण ज्ञानी है।

अनासक्ति-अर्थात् आसक्तिका अभाव। आसक्ति अर्थात् अमुक फलकी इच्छा। मुझे हिमालय चढ़ना है, यह आसक्ति है। हिमालय—चढ़ने—जानेका—प्राप्त हो, तो चढ़ लेना, अनासक्ति-पूर्वक चढ़ना कहा जाय। योग-अनासक्तिपूर्वक किया गया काम। तुम खाता-बही लिखते हो, पर उसमें बड़प्पनका लोभ नहीं है, पैसेका लोभ नहीं है, किसीकी स्तुतिका लोभ नहीं है। यह लिखनेकी सेवा प्राप्त हुई है, उसे करना, योग है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धाकी कमीका कारण

एक सज्जनका पत्र मिला है, पत्र गोपनीय है, इससे उसे अविकल प्रकाशित न कर उसके एक अंशका सार यहाँ छापा जाता है और पत्र-लेखकके साथ ही कल्याणके अन्यान्य पाठक-पाठिकाओंके लाभके लिये पत्रका उत्तर भी प्रकाशित कर दिया जाता है। आप लिखते हैं—

'मेरे एक सम्बन्धीको परोपकारका कार्य करते एक फ़ौज़दारी मुकद्दमेमें फँसना पड़ा। निरपराधको बचाना कर्तव्य समझकर मैं 'अच्छे-अच्छे वाक्सिद्ध सन्तों' के पास गया और उनसे अपने सम्बन्धीके छूटनेका वचन मैंने पाया। कई तरहके सम्पुटयुक्त पाठ-अनुष्ठान और अनेक यन्त्र-मन्त्र-हवन, आदि करवाये। बनारसके 'रामनाम-बैंक'से सवालाख श्रीराम-नाम कर्ज़ लेकर उनको मेरे सम्बन्धीसे लिखवाया। स्वयं कई बार रो-रो कर ईश्वरसे प्रार्थना करता रहा। इतना सब करनेपर भी मेरे सम्बन्धीको एक साल सख्त कैदकी सजा हो ही गयी। अन्तमें अपील करनेपर छः महीनेकी सजा बहाल रही। जिन सन्तोंका वचन कभी मिथ्या नहीं हुआ था, वह मिथ्या हो गया। मेरी प्रार्थना असफल हुई, मेरी श्रद्धाको बड़ा धक्का लगा और धनका नाश तो हुआ ही। अब तो यही ठीक जान पड़ता है कि भव-भय-नाशके लिये ही श्रीरामनामका आधार लेना चाहिये और शुभ कर्म करने चाहिये, जिससे दुःखमें न पड़ना पड़े। भगवान् कोई अपराध क्षमा नहीं करता, उसके नाममें पापका पहाड़ भस्म करनेकी शक्ति बतलायी जाती है, उसके साथ इतना और जोड़ देना चाहिये कि 'भावीको भगवान्का नाम भी नहीं मिटा सकता।' अब मुझे ईश्वरका भय तो पैदा हो गया है, मगर आशा नहीं रही और जब आशा नहीं रही, तब प्रीति कहाँ ? इसलिये आप ऐसी बात बताइये जिससे ईश्वर, सन्त और सद्ग्रन्थोंमें मेरी श्रद्धा बढ़ जाय।' यही पत्रके एक भागका सारांश है, दूसरे भागमें साधनके सम्बन्धकी बातें हैं, उनको यहाँ लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

ये भाई श्रद्धालु होनेके साथ ही बहुत सरल-हृदयके जान पड़ते हैं। इस घटनासे पूर्व इनकी विशेष श्रद्धा जिस सरलताको लिये हुए थी, अब श्रद्धाके कम होनेमें भी इनकी वही सरलता कारण है। ज़रा गहरे जाकर विवेकपूर्वक सोचनेसे 'ईश्वर, सन्त और सद्ग्रन्थों'में श्रद्धा कम होनेका तनिक-सा भी कारण नहीं दीखता। मिथ्या आडम्बरों और बनावटी चमत्कारोंमें श्रद्धा रखनेसे मनुष्यको असफलताके कारण समय-समयपर यथार्थ सच्चे सिद्धान्तोंमें भी भ्रमवश अश्रद्धा हो जाया करती है। कुछ-कुछ इस प्रसंगमें भी ऐसा ही हुआ जान पड़ता है। मिथ्या आडम्बरोंमें अश्रद्धा होना तो उत्तम और आवश्यक ही है। अपनी 'वाक्सिद्धि'का ढिंढोरा पीटनेवाले 'सन्त' नामधारी व्यक्तियोंमें, 'जन्तर, मन्तर, टोना जादू' बतलाने और करनेवालोंमें एवं अपनी सिद्धियों तथा चमत्कारोंके बलसे सारे संकटोंसे छुड़ानेका ठेका लेनेवालोंमें अधिकांश लोग पाखण्डी होते हैं और भोले-भाले विपत्तिग्रस्त मनुष्योंको चिकनी-चुपड़ी बातोंसे मिथ्या विश्वास दिलाकर अपना उल्लू सिद्ध किया करते हैं। कहीं काकतालीय न्यायसे किसी कारण-वश कार्य सिद्ध हो गया तब तो पूछना ही क्या है, फिर तो 'वाक्सिद्धि' की अवस्थासे ऊँचे उठकर ये तत्काल ईश्वरके अवतार ही बन बैठते हैं एवं लोगोंको ठग-ठगकर मनमानी मौज करते हैं। काम सिद्ध नहीं हुआ तो भी इनका कुछ नहीं बिगड़ता। धनका और धर्ममें श्रद्धाका नाश होता है तो पूछने-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वालेका होता है। बाबाजी तो सिद्धके-सिद्ध ही रहे, एक नहीं तो दूसरा गाँहक सही। ऐसे ही पाखण्डियों की कपटभरी करतूतोंसे सीधे-सादे भले स्त्री-पुरुष ईश्वर और धर्ममें अविश्वासी हो जाते हैं। हिन्दू-धर्मके सारे शरीरमें धर्मके नामपर पाखण्डका प्रचार करनेवाला यह एक घुन लग गया है, जो उसे खाये डालता है। भारतमें शायद ही ऐसा कोई स्थान होगा जहाँ इन पाखण्डियोंकी सृष्टि न हो गयी हो। ऐसे लोगोंसे सदा बचनेकी कोशिश करनी चाहिये। जो धन लेकर उसके बदलेमें अपनी सिद्धि, चमत्कार और 'जन्तर-मन्तर'से दुःख छुड़ानेकी डींग हाँकता हो, उससे सदा सावधान ही रहना उचित है।

यह बात सदा स्मरण रखनेकी है कि सत्यको प्राप्त, सत्यपर आरूढ़, सत्यभाषी और सत्यके हिमायती ईश्वरके परम प्यारे सिद्ध भक्त स्वाभाविक ही प्राणिमात्रका भला चाहते हैं, परन्तु सिद्ध कहलानेके लिये वे किसीको आशीर्वाद नहीं देते और कहीं उनके मुखसे कभी ऐसा कुछ निकल जाता है तो सत्यके प्रतापसे वह कभी व्यर्थ नहीं होता। हाँ, कुछ ऐसे दयालु, परदुःख-दुखी, सरल प्रकृतिके उपासक या साधक सन्त भी होते हैं जो किसीको दुःखमें देखकर उसे धीरज बँधानेके लिये आशीर्वाद दे दिया करते हैं या निश्चयात्मक शब्दोंमें कह दिया करते हैं कि 'तुम्हारा काम सिद्ध हो जायगा, चिन्ता न करो।' ऐसे साधकोंकी वाणी सफल होती है तो उनके तपका नाश होता है, तपके अभावमें सफल होनेमें भी सन्देह रहता है। ऐसी स्थितिमें इसप्रकारके साधकोंके लिये आशीर्वाद या वरदान देनेमें सावधानी रखनी चाहिये, क्योंकि वाणी सफल होनेसे तपका नाश होगा और तपके नाशसे सफलता नहीं होगी। जिससे लोगोंमें ईश्वर और धर्मके प्रति अविश्वास उत्पन्न होगा। सफल होनेसे पूजा-प्रतिष्ठा बढ़ जायगी और प्रतिष्ठाका लोभ हो जानेपर पतन निश्चित है, इधर तंग करनेवालोंके बढ़ जानेसे बराबर आशीर्वाद देते-देते जीवन असत्यमय हो जायगा और सारे साधन छूट जायँगे। मुझे मालूम नहीं कि पत्रलेखक भाई इनमेंसे किस ढंगके 'वाक्‌सिद्ध' सन्तोंके पास गये थे, परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ता है कि वे जिनके पास गये थे वे लोग वाक्‌सिद्ध नहीं थे, होते तो उनके वचन झूठे ही क्यों पड़ते?

मैं इस बातको मानता हूँ कि शास्त्रोक्त अनुष्ठानादि प्रायश्चित्तोंसे पापका नाश अवश्य होता है। यह सच है कि कर्मफलका नाश भोगे बिना नहीं होता, परन्तु प्रायश्चित्त भी एक प्रकारका भोग ही है। अवश्य ही, प्रायश्चित कर्म होना चाहिये श्रद्धाके साथ और मन्त्र तथा विधिसे सर्वथा पूर्ण। जिस कर्ममें श्रद्धा नहीं होती, उसका तो कोई फल ही नहीं होता। भगवान् कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७।२८)

'हे अर्जुन! श्रद्धा बिना किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और कोई-सा भी किया हुआ कर्म असत् कहलाता है, उससे इसलोक-या परलोकमें कोई भी लाभ नहीं होता।'

विधिहीनता या विधिके विपरीत करनेपर तो कर्म-वैगुण्य हो जानेसे कर्मका सफल होना सम्भव ही नहीं, प्रत्युत विपरीत फलतक हो जाता है। एक मनुष्यकी स्त्री बीमार थी, उसने स्त्रीकी रक्षाके लिये देवीजीका अनुष्ठान कराया। पाठ करनेवाले पण्डित-जी कुछ भाँग खाया करते थे। नशेमें वे 'भार्यां रक्षतु भैरवी, 'हे भैरवी! भार्याकी रक्षा करो' की जगह 'भार्यां भक्षतु भैरवी' 'हे भैरवी! भार्याको खा डालो।' पढ़ने लगे। फल यह हुआ कि पाठ करानेवालेकी पत्नी मर गयी। आर्षग्रन्थोंमें भी उच्चारण-दोष और विधिहीनतासे विपरीत फल होनेके अनेक प्रमाण मिलते हैं। इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिवा यह भी नहीं कहा जा सकता कि हमारे वर्तमान अनुष्ठानका फल पापके नाश करनेमें कितना समर्थ है ? क्योंकि यह कोई निश्चित बात नहीं है कि मनुष्यको इस समय जो कष्ट प्राप्त हो रहा है वह उसके कौन-से पूर्वकृत कर्मका फल है। पाप-पुण्यके सञ्चितसे प्रारब्ध बनता है और उसीके अनुसार दुःख-सुखका भोग करना पड़ता है, परन्तु त्रिकालज्ञ योगीके अतिरिक्त शायद कोई भी ऐसा पुरुष नहीं, जो इस बातका निर्भ्रान्त निर्णय कर सके कि कौन-सा फल-भोग किस कर्मका फल है। हम वर्तमानमें किसी फलभोगके नाश करनेके लिये जो प्रायश्चित्तरूप कर्म करते हैं, सम्भव है कि वह हमें इस समय फल देनेवाले प्रारब्धके नाश करने लायक न हो, इससे प्रारब्धका फल तो हमें अभी भोगना ही पड़े और यह प्रायश्चित्त कर्म, नवीन कर्मके रूपमें सञ्चितमें जमा हो जाय जिसका फल हमें भविष्यमें कभी प्राप्त हो। मान लीजिये कि एक मनुष्य पुत्र या धनकी प्राप्तिके लिये, अथवा किसी आनेवाली या आयी हुई विपत्तिके विनाशके लिये किसी यज्ञका विधिवत् अनुष्ठान करता है और तदनन्तर ही उसको पुत्र या धनकी प्राप्ति हो जाती है अथवा विपत्ति दूर हो जाती है। इस पुत्र-धनकी प्राप्ति या विपत्ति-नाशरूपी फलमें उसका इस समय किया हुआ अनुष्ठान कारण है या पूर्व जन्ममें किया हुआ कोई अन्य कर्म कारण है, इस बातका निर्णय करना बहुत ही कठिन है। सम्भव है, पुत्र-धनकी प्राप्ति या विपत्तिका नाश किसी पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मके फलरूपमें हो गया हो और वर्तमान कर्मका फल आगे मिले। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि मनुष्यके इस समयका अनुष्ठान गलती रह जानेसे पूरा ही न हुआ हो, जिसके कारण उसका कुछ भी फल न मिले अथवा विधिकी विपरीततासे यह कर्म किसी बुरे फलका कारण बन गया हो जिससे मनुष्यकी विपत्ति और भी बढ़ जाय या भविष्यमें उसे दुःख भोग करना पड़े। इसके सिवा यह भी सम्भव है कि इस अनुष्ठानका फल तो ज़रूर हुआ हो परन्तु वर्तमानमें फल देनेवाला प्रारब्ध विकट होनेके कारण इस अनुष्ठानसे उसका पूरा प्रायश्चित्त न हो पाया हो, जिससे जितने अंशमें फलभोग शेष रहा हो उतना भोग करना ही पड़े, जैसे फाँसीके बदलेमें काँटा गड़कर रह जाय अथवा दस सालकी कैदके बदलेमें दस ही महीनेकी हो जाय। इसलिये शास्त्रोक्त अनुष्ठानोंमें अविश्वास कदापि नहीं करना चाहिये। अच्छे पुरुषोंद्वारा विधिसंगत सांगोपांग अनुष्ठान होगा, तो उसका शुभ फल अवश्य ही होगा। अनुष्ठान करनेवाले लोग अवश्य ही विधिके ज्ञाता, संयमी, निःस्वार्थी और यजमानके पूरे हितैषी होने चाहियें।

अब रही श्रीरामनामके द्वारा होनेवाले फलकी बात। सो मेरे विश्वासके अनुसार तो प्रेमपूर्वक श्रीरामनामका जप-कीर्तन करनेसे स्वयं श्रीभगवान् वशमें हो जाते हैं, तब सांसारिक फलसिद्धिकी तो बात ही कौन-सी है। परन्तु श्रीरामनामका प्रयोग सांसारिक कार्योंकी सिद्धिके लिये करना उसका अपमान करना है। उगते हुए सूर्यकी लालिमाके द्वारा अमावस्याके घोर अन्धकारके नाश होनेके समान ही जिस श्रीरामनामके आभासमात्रसे ही दुःखोंके समूह समूल नष्ट हो जाते हैं, उस श्रीरामनामको संसारके कार्योंमें लगाना वनराज सिंहको मामूली कुत्तेपर छोड़नेके समान ही निन्दनीय है। भगवत्प्रेम और भगवन्नाम भगवत्प्राप्तिके लिये हैं, न कि तुच्छ सांसारिक कार्योंकी सिद्धिके लिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रद्धापूर्वक भगवद्-नाम-जप करनेसे सांसारिक कार्योंमें अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। इस बातका मुझे अपने जीवनमें उस समय कई बार प्रत्यक्ष अद्भुत अनुभव हो चुका है जिस समय कि मैं श्रीराम-नामके महत्त्वको न समझकर उसका सांसारिक कार्योंकी सिद्धिके लिये प्रयोग करता था। परन्तु यह भी श्रीराम-नामका श्रद्धापूर्वक जप करनेसे ही होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बनारसके राम-नाम-बैंक' से कर्ज लेकर सवालाख राम-नाम लिखे गये, यह तो मैंने एक नयी बात सुनी। राम-नाम उधार देनेवाला कोई स्थूल बैंक काशीमें है, इस बातका इससे पहले मुझको तो पता ही नहीं था। जो कुछ भी हो, मेरी समझसे तो यदि उक्त सज्जन श्रीराम-नाममें भरोसा करके स्वयं प्रेमपूर्वक जप करते तो कदाचित् भगवत्कृपाके किसी अकथनीय कारणसे उनका यह संकट न भी टलता तो उन्हें सच्ची शान्ति तो अवश्य ही मिल जाती और श्रीराम-नाममें उनकी श्रद्धा निश्चय बढ़ती।

रही प्रार्थनाकी बात। सो प्रार्थनासे तो सब कुछ होता है। प्रार्थनासे कष्ट-सहनकी शक्ति तो बढ़ती ही है, साथ ही यदि आर्तभावकी सच्ची प्रार्थना हो तो उससे दुःख भी टल जाते हैं। टल क्या जाते हैं, उनका समूल नाश हो जाता है। दुःखके नामसे पुकारी जानेवाली सांसारिक घटनाओंका स्वरूपसे भी नाश हो सकता है, परन्तु भगवत्कृपासे अज्ञान मिट जानेपर किसी भी सुख-दुःख-संज्ञक घटनाके स्वरूपसे प्राप्ति या विनाशके लिये आकांक्षा ही नहीं रह जाती। ऐसा पुरुष लोकदृष्टिमें ही सुख-दुःखको प्राप्त होता है, वास्तवमें तो वह सुख-दुःखसे सर्वथा मुक्त है, घटना जो कुछ भी हो। भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

'परमात्माकी प्राप्ति-रूपी परमलाभको पाकर वह उससे अधिक कोई भी दूसरा लाभ नहीं मानता और इसप्रकारकी अनिर्वचनीय अवस्थामें स्थित पुरुष बड़े-से-बड़े दुःखसे भी विचलित नहीं होता।' जैसे सूर्योदयके पश्चात् बिजलीकी रोशनी अनावश्यक, शोभाहीन और फीकी पड़ जाती है। फिर दस-बीस बत्तियोंके अधिक जल जाने या सबके एक साथ ही बुझ जानेपर जैसे किसीको कोई सुख-दुःख नहीं होता, इसी प्रकारकी स्थिति परमात्माको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे की गयी प्रभु-विरहकी सच्ची आर्त-प्रार्थनाके फलरूपमें हो जाती है। इस दशाको प्राप्त पुरुष ही परमात्माका प्यारा भक्त है। भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(गी० १२।१६)

'जो न कभी (सांसारिक प्रिय वस्तुको प्राप्त-कर) हर्षित होता है, न (उसके नाश होनेसे) द्वेष करता है, न (नाश होनेपर) शोक करता है, न (उसको पुनः पानेके लिये) इच्छा करता है और जो सभी शुभाशुभ कर्मोंके फलका त्यागी है वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।' अँधेरेमें ही रोशनीके मिलनेपर हर्ष, उसके बुझनेमें द्वेष, बुझ जानेपर चिन्ता, और उसे फिरसे जलानेकी इच्छा होती है, यह शुभाशुभ अन्धकारकी अवस्थामें ही हैं। सूर्यके प्रखर प्रकाशमें इनमेंसे कोई-सी बात नहीं रह जाती। इसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकारमें ही सांसारिक विषयोंकी प्राप्तिको शुभ और अशुभ समझा जाता है और उन्हींका नाम सुख-दुःख है। ज्ञानके प्रकाशमें तो इन सारे मायिक प्रपञ्चोंकी सत्ता एक अखण्ड परमात्म-सत्ताके रूपमें बदल जाती है, फिर उनके होने, न होनेमें कोई सुख-दुःख रह ही कैसे सकता है? सुख-दुःख वास्तवमें मनकी कल्पनामात्र हैं वे किसी वस्तु या घटनामें नहीं हैं। तपस्वी साधु कष्ट सहकर तप करनेमें और परोपकारी पुरुष परार्थ प्राण-त्याग करनेमें सुख मानते हैं। आज भी हम देखते हैं कि अनेक लोग अपने ध्येयके लिये जेल जानेमें सुख समझते हैं, मानसिक सन्तोष और सुखके कारण किसी-किसीका फाँसीकी सजा सुननेके बाद भी वजन बढ़ जाता है। जब सांसारिक भावनाओंसे इसप्रकार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कठिन दुःख-संज्ञक स्थितिमें सुखका बोध हो सकता है, तब परमात्माकी सच्ची प्रार्थनासे उपलब्ध परमात्माके अभेद् प्रेमकी स्थितिमें सभी विषयोंका परम सुखरूप बन जाना कौन आश्चर्यकी बात है ?

यह कभी नहीं मानना चाहिये कि 'भगवान् कोई अपराध क्षमा नहीं करता।' भगवान्का सृष्टि-सञ्चालन-सूत्र ही उनकी दया और क्षमासे भरा है। भगवान् कितने दयालु और क्षमाशील हैं, हमारा हृदय तो इस बातकी कल्पना ही नहीं कर सकता। जगत् अबतक दया और क्षमाकी जिस सीमातक पहुँचा है वह तो परमात्माकी दया और क्षमाके एक साधारण अणुके समान भी नहीं है। भगवान्का प्रत्येक विधान दया और क्षमासे पूर्ण है। अवश्य ही कहीं-कहीं हम अल्पज्ञ जीव भगवान्की दया और क्षमाका असली स्वरूप न समझकर मनचाहा आत्मविनाशी कार्य सफल न होनेके कारण उसकी अनन्त दयालुता और क्षमाशीलतापर सन्देह करने लगते हैं। क्या कहा जाय ? जिस भाग्यवान्को भगवान्की अनन्त दया और क्षमाकी तनिक-सी भी झाँकी देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वह तो सदाके लिये उनके हाथों बिक गया है। गद्गद् कण्ठसे, अस्फुट स्वरोंसे, अश्रुविगलित नेत्रोंसे उनके गुण गाता हुआ वह जिस परमानन्द-का आस्वादन करता है, उसे वही जानता है।

इसी प्रकार 'भगवान्का नाम भावीको नहीं मिटा सकता।' यह बात भी ठीक नहीं। जब भगवन्नामके आश्रयसे सारी भावियोंके आधार संसारका अस्तित्व ही परमात्माके रूपमें पलट सकता है तब तुच्छ भावी मिटनेकी कौन-सी बात है ? अवश्य ही यह विषय अनुभवसाध्य है। तर्क और प्रमाणोंसे न तो इसकी सिद्धि की जा सकती है और न करना उचित ही है।

आप भव-भय-नाशके लिये श्रीरामनामका आश्रय लिया चाहते हैं और दुःखोंकी निवृत्तिके लिये शुभ कर्म करना चाहते हैं, सो बहुत ही अच्छी बात है। भव-भय-नाशके लिये श्रीराम-नामका आश्रय लेना सर्वथा उचित ही है, परन्तु शुभ कर्मों-का अनुष्ठान भी भगवदर्थ ही करना चाहिये। फिर दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तो आप ही हो जायगी। आपके मनमें 'ईश्वरका भय पैदा हो गया है', यह भी अच्छी बात है, ईश्वरके भयसे मनुष्य पापोंसे बचता है। परन्तु मेरा तो निवेदन है कि आप उस सर्व-भय-हारी भगवान्के शरण होकर श्रद्धा और प्रेमसे अपनेको सर्वस्वसहित उसके चरणोंपर न्यौछावर कर दीजिये। यही मनुष्य-जीवनका सर्वोच्च साधन है। यही ईश्वर, सन्त और सद्ग्रन्थोंकी आज्ञा है।

अपने सम्बन्धी महोदयको समझाइये कि ईश्वर परमदयालु, न्यायकारी और क्षमाशील है, उसके नामका आश्रय लेनेसे सब दुःखोंका नाश हो सकता है। आपको न तो किसी शुभ कार्यके करनेसे ही जेल जाना पड़ा है और न जेलकी निवृत्ति-के लिये किये गये यथार्थ शुभ कार्य ही व्यर्थ गये हैं। जेल होनेमें आपको यदि कष्ट हुआ है तो वह आपके किसी पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मका फल है। यदि आपका वर्तमान कर्म शुभ था तो वह तो केवल जेल-कष्टका प्रारब्ध भुगतानेमें निमित्त भर बन गया है, उसका शुभ फल आपको आगे मिलेगा। इसी प्रकार इस कष्ट-निवारणार्थ आपने जो अनुष्ठानादि कर्म किये हैं यदि वे पाखण्ड-दम्भ-युक्त नहीं हैं, और पाखण्डियोंद्वारा नहीं हुए हैं तो उनका शुभ फल अवश्य हुआ है या अवश्य होगा, इसमें तनिक भी सन्देह न करें। परमदयालु, परमन्यायकारी परमेश्वरके राज्यमें उत्तम कर्मका उत्तम फल न होना या उसका निष्फल होकर नष्ट हो जाना अथवा उससे बुरा फल होना कदापि सम्भव नहीं !

हनुमानप्रसाद पोद्दार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्यान देने योग्य

(श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी)

महान् कौन बनता है ?

जो बोलता है, पर बकवास नहीं करता ;
जो विचार करता है, पर मनसूबे नहीं बाँधता ;
जो कर्म करता है, पर कर्मजड़ नहीं बनता।
वही महान् हो सकता है ।

× × ×

सरदार कौन हो सकता है ?

'सरदार कौन हो सकता है ?'
'जिसने सच्ची सिपाहीगिरी की हो ।'
'सेठ कौन बन सकता है ?'
'जिसने सच्ची नौकरी करना जाना हो ।'
'राजा कौन हो सकता है ?'
'जिसने प्रजाके दुःख-दर्दका अन्तरसे अनुभव किया हो ।'
'शिक्षक कौन हो सकता है ?'
'जिसने सच्चा विद्यार्थी जीवन बिताया हो ।'

× × ×

सच्ची वीरता किसमें है ?

शत्रुके प्रति वैर रखनेमें या उससे प्रेम करनेमें ?
मारकर विजय पानेमें या मरकर विजयी होनेमें ?
दुश्मनको सतानेमें या उसका हृदय पलट देनेमें ?
पूछो सम्राट् युधिष्ठिरको और महाराज अशोकको।
पूछो भगवान् बुद्धको और भगवान् ईसाको ।
पूछो महात्मा गांधीको ।

× × ×

क्या सहज और क्या कठिन है ?

मारना सहल है, पर मार खाना कठिन है ।
अपमान करना सहल है, पर अपमान सहना कठिन है ।
खीझना आसान है, पर खीझ सह लेना मुश्किल है ।
स्तुति सुनना सहल है, पर निन्दा सुनना कठिन है ।
खण्डन करना सहल है, पर रचना करना कठिन है ।
हिंसक बनना आसान है, पर अहिंसक रहना मुश्किल है।

× × ×

सच्चा विद्यार्थी कौन है ?

'जिसे विद्याकी सच्ची भूख लगी है ;
जो विद्या-प्राप्तिके मार्गमें आनेवाले कष्टोंको देखकर आनन्दित होता है ;
जो विद्याको केन्द्रमें रखकर शेष सब बातोंको उसके इर्द-गिर्द सजा देता है ।
पूछो सारे जगत्के महापुरुषोंको ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवन्नाम-जप

गत पौषकी संख्या पृष्ठ ६०६ में श्रीभगवन्नाम-जपके सम्बन्धमें एक निवेदन प्रकाशित हुआ था। प्रसन्नताकी बात है कि उसपर अनेक सज्जनोंकी दृष्टि आकर्षित हुई है। कई करोड़ मन्त्र-जपके नियमकी सूचना मिल चुकी है और लगातार मिल रही है। श्रीभगवन्नाम-जपसे कितना लाभ होता है इस बातको जानना और बतलाना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। भगवन्नामका प्रभाव भगवत्कृपासे जाना जा सकता है या थोड़ा-बहुत इसका उन महानुभावोंका पता लग सका है, तो दृढ़ निश्चयके साथ निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नामका जप करके उससे अपूर्व लाभ उठा चुके हैं। प्रातः-स्मरणीय महात्मा तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो॥
प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तो जरि जीह गरो।
अपनो भलो रामनामहिते तुलसिहिं समुझि परो॥

× × × ×

राम-नाम-जप-निरत सुजन पर करत छाँह घोर घामो।
नामप्रभाव सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो॥

'मैं कुत्तेकी तरह जूँठी पत्तलें चाटता फिरता था, परन्तु कहीं पेट नहीं भरा। वही अब मैं राम-नामका स्मरण करते ही देखता हूँ कि मुक्तिरूपी अमृत-रस मेरे सामने परोसा रक्खा है। जिसका जहाँ प्रेम और विश्वास है उसका काम वहीं सफल होता है। मेरे तो मा-बाप ये 'रा' 'म' दोनों अक्षर ही हैं, मैं तो इन्हींके साथ बाल-हठ कर रहा हूँ। भगवान् श्रीशिवजी साक्षी हैं, यदि मैं झूठ कहता हूँ तो मेरी जीभ जलकर या गलकर गिर पड़े, तुलसीको तो अपना कल्याण श्रीराम-नाममें ही जान पड़ता है।'

'राम-नामका निरन्तर जप करनेवाले सज्जनपर कड़ी धूप भी छाया करने लगती है यानी महान् दुःख भी सुखके रूपमें परिणत हो जाते हैं। यदि कोई कहे कि राम-नामके प्रभावसे पत्थरमें कमल उत्पन्न हो गया है तो उसे भी सत्य मानना चाहिये।'

यह कविकी कोरी कल्पना या अत्युक्ति नहीं है, अनन्यशरण भक्तके हृदयका अनुभवपूर्ण दृढ़ सिद्धान्त है। सम्भव है कि वर्तमान जगत्‌के बुद्धिवादी लोग इन बातोंपर विश्वास न करें, या इन्हें केवल मनका वहम समझें, परन्तु प्राचीनकालके समस्त बुद्धिवादियोंने इस सिद्धान्तको स्वीकार किया है। महर्षि व्यास, शुकदेव, नारदसे लेकर पिछले दिनोंके भारतीय सन्तोंमें श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीचैतन्य, ज्ञानदेव, तुकाराम, रामदास, सूरदास, तुलसीदास, नानक आदि अनेक महात्माओंकी अनुभवपूर्ण वाणी इसमें प्रमाण है। हमारी समझमें तो प्रमाणकी आवश्यकता भी नहीं है। प्रत्येक पुरुष श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम-जप करके इस बातका अनुभव कर सकते हैं। जिन सज्जनोंने और माताओंने पूर्व-प्रकाशित सूचनाके अनुसार नाम-जपका नियम लिया है, या दूसरोंको नियम दिलवाया है, वे सर्वथा धन्यवादके पात्र हैं। हमारा 'कल्याण' के सभी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर निवेदन है कि वे इस महान् नाम-यज्ञमें दिल खोलकर शामिल हों, स्वयं नाम-जप कर और गाँवके, मुहल्लेके, घरके सब लोगोंसे प्रेमपूर्वक प्रार्थना करके उन्हें जप करनेको उत्साहित करें। जप-संख्याकी सूचना हाथों-हाथ निम्नलिखित पतेपर भेजनेकी कृपा करें।

नाम-जप-विभाग,
कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

[मणि ९]

अन्न और अन्नादरूपसे वागादि इन्द्रियोंको अग्नि आदि रूप होना युक्त है, सर्व जगत्‌को प्राण-आत्मामें एकत्र करके, सोलह भागोंमें विभक्त करके उसमें ब्रह्म-दृष्टिका विधान करनेके लिये श्रद्धा आदिकी उपासनाका अंग दिखलानेके लिये श्रुति आख्यायिका रचती है:—जबालाके पुत्र सत्यकामने अपनी माता जबालासे कहा-'पूज्य माताजी! मैं वेद पढ़नेके लिये ब्रह्मचारी होकर गुरुकुलमें निवास करना चाहता हूँ, मुझे यह बताइये कि मैं किस गोत्रका हूँ ।' जबालाने कहा 'हे पुत्र! मैं इस बातको नहीं जानती कि तू किस गोत्रका है, क्योंकि मैं पतिके घरपर जो अतिथि आते थे, उनकी सेवाके बहुत-से कार्योंमें लगी रहती थी, इसलिये मैं तेरे पितासे गोत्र आदि नहीं पूछ सकी, और यौवन अवस्थामें जब तू उत्पन्न हुआ, तभी तेरे पिताका मरण हो गया। इसप्रकार अनाथा होनेके कारण मैं नहीं जान सकी कि तू किस गोत्रका है। मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है। जब आचार्य तुझसे गोत्र पूछें तो कह देना कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

माताकी बात सुनकर सत्यकामने हरिद्रुतके पुत्र गौतमके समीप जाकर कहा 'हे भगवन्! मैं ब्रह्मचर्य धारण करके विद्याध्ययन करनेके लिये आपके समीप रहनेकी इच्छासे आया हूँ।' गौतमने कहा "हे प्रियदर्शन! तेरा क्या गोत्र है?' सत्यकाम बोला 'हे भगवन्! मैं नहीं जानता कि मेरा क्या गोत्र है। मैंने अपनी मातासे गोत्रके विषयमें पूछा तो उसने कहा कि 'मैं स्वामीके घर अतिथि-सेवाके कार्योंमें लगी रहती थी, सेवामें चित्त लगे रहनेके कारण मैं तेरे पितासे व्यवसाय और लज्जाके कारण गोत्र आदि नहीं पूछ सकी, युवा अवस्थामें जब तू उत्पन्न हुआ था, उसी समय तेरे पिताकी मृत्यु हो गयी, इसलिये मैं दुःखमें पड़ गयी और शोकसे विह्वल होनेके कारण दूसरोंसे भी मैंने तेरा गोत्र आदि नहीं पूछा इसलिये मैं गोत्र नहीं जानती, मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है।' अतएव हे भगवन्! मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।' गौतम बोले 'तू अवश्य ही ब्राह्मण है, क्योंकि ब्राह्मणके सिवा अन्य जातिका मनुष्य ऐसा सरल और अर्थभरा वचन स्पष्ट-रूपसे नहीं कह सकता। कारण, ब्राह्मण स्वभावसे ही सरल होता है, दूसरा स्वभावसे ऐसा सरल नहीं होता। हे प्रियदर्शन! तू सत्यसे नहीं डिगा है इसलिये मैं तेरा उपनयन कराऊँगा, तू होमके लिये समिधाएँ ले आ।' यह सुनकर सत्यकाम समिधा ले आया और गौतमने उसको गायत्रीका उपदेश देनेके बाद दुबली और बलहीन गौओंमेंसे चार सौ गायें देकर कहा 'हे सौम्य! इन गौओंके पीछे-पीछे जा और जबतक ये पूरी एक हजार न हो जायँ तबतक इन्हें लौटाकर न लाना।' गुरुकी आज्ञानुसार सत्यकाम गौओंको लेकर उपद्रव-रहित तृणोंवाले वनमें जाकर हजार गायें पूरी होने तक बहुत वर्ष वहाँ रहा। इति चौथा खण्ड।

तदनन्तर एक दिन, जिसमें वायु-देवताका प्रवेश हुआ था, ऐसे एक वृषभने उससे कहा—'हे सत्यकाम!' सत्यकाम बोला 'हाँ' भगवन्!'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृषभ बोला 'हे सौम्य ! हमारी संख्या पूरी हजार हो गयी है, अब तू हमें आचार्यके कुलमें पहुँचा दे ! मैं तुझसे ब्रह्मका एक पाद कहता हूँ ।' ऐसा कहनेपर सत्यकामने कहा 'हे भगवन्, कहिये ।' वृषभ कहने लगा 'हे सौम्य ! पूर्व दिशा ब्रह्मके पादका चौथा भाग है, पश्चिम दिशा चौथा भाग है, दक्षिण दिशा चौथा भाग है और उत्तर दिशा चौथा भाग है। हे प्रियदर्शन ! यही चार अवयवोंवाला ब्रह्मका पाद है और इस पादका नाम प्रकाशवान् है। जो पुरुष इस चार कलावाले पादको इसप्रकार प्रकाशवान् जानता हुआ, ऐसा मानकर उपासना करता है, वह इस लोकमें प्रसिद्ध होता है, और मरनेके पश्चात् प्रकाशवान् देवता-सम्बन्धी लोकोंको प्राप्त होता है। इति पाँचवाँ खण्ड ।

'अग्नि तुझे ब्रह्मके दूसरे पादका उपदेश करेगा' ऐसा कहकर वह वृषभ चुप हो गया। वृषभकी यह बात सुनकर सत्यकाम, दूसरे दिन गौओंको हाँककर आचार्यके घरकी ओर चल दिया। जाते जाते जहाँ सन्ध्याका समय हुआ वहीं सत्यकामने सब गौओंको एक स्थानपर रोक दिया और अग्नि स्थापन करके अग्निके पीछे पूर्वकी ओर मुख करके बैठ गया। अग्निने पुकारकर कहा 'हे सत्यकाम !' सत्यकाम बोला 'भगवन् !' अग्निने कहा, हे 'प्रियदर्शन ! मैं तुझसे ब्रह्मका दूसरा पाद कहता हूँ ।' सत्यकाम बोला 'हाँ ! भगवन् कहिये !' तब अग्निने कहा 'पृथिवी कला है, अन्तरिक्ष कला है, स्वर्ग कला है और समुद्र कला है, हे सौम्य ! इन चार कलाओंका ब्रह्मका एक पाद है और इस पादका नाम अनन्तवान् है। जो पुरुष ब्रह्मके इस चार कलावाले पादको इसप्रकार जानता हुआ 'अनन्तवान्' ऐसा मानकर उपासना करता है, वह इस लोकमें विच्छेदरहित सन्तानवाला होता है और मरनेके पश्चात् अक्षय लोकोंको प्राप्त होता है।' इति छठा खण्ड ।

'हंसरूप सूर्य तुझे तीसरे पादका उपदेश करेंगे, ऐसा कहकर अग्नि चुप हो गया। दूसरे दिन सत्यकाम नित्यकर्मसे निवृत्त होकर गौओंको लेकर आचार्यके घरकी ओर चला। जहाँ सन्ध्या हुई वहीं वे गौएँ एकत्र होकर खड़ी हो गयीं। वहीं सत्यकाम भी अग्निकी स्थापना कर गौओंको रोककर समिधा ले अग्निके पीछे पूर्वाभिमुख हो अग्निके वचनोंका चिन्तन करता हुआ गौ और अग्निके समीप स्थित हुआ। इतनेमें एक हंस उड़ता हुआ उसके पास आ बैठा और पुकारकर कहने लगा, 'हे सत्यकाम ! सुन।' सत्यकाम बोला 'भगवन् ! कहिये' हंसने कहा 'हे सौम्य ! मैं तुझसे ब्रह्मका तीसरा पाद कहूँगा।' सत्यकामने कहा 'भगवन् ! कहिये।' हंसने कहा 'अग्नि एक कला है, सूर्य एक कला है, चन्द्रमा एक कला है और बिजली एक कला है। इसप्रकार हे सौम्य ! ये चार कलाएँ ब्रह्मका एक पाद है और इस पादका नाम ज्योतिष्मान् है। जो इसको ऐसा जानकर ब्रह्मके इस ज्योतिष्मान् नामक चतुष्कल पादकी उपासना करता है, वह इस लोकमें प्रकाशवाला होता है और मरनेके बाद चन्द्र, सूर्य आदिके प्रकाशवाले लोकोंमें जाता है।' इति सातवाँ खण्ड ।

'जलमुर्गका रूप धारण करके प्राण तुझे चौथे पादका उपदेश देगा' इतना कहकर हंस चुप हो गया। दूसरे दिन फिर सत्यकामने गौओंको आचार्यके घरकी तरफ हाँक दिया। गौएँ चलते-चलते जहाँ सन्ध्या हुई वहीं एकत्र होकर खड़ी हो गयीं। वहीं अग्निकी स्थापना करके और गौओंको रोककर समिधाएँ लिये हुए सत्यकाम अग्निके पीछे पूर्वकी तरफ मुख करके हंसके वचनका स्मरण करता हुआ गौओं और अग्निके समीपमें बैठ गया। इतनेमें ही जलमुर्गका रूप धारण करके प्राण उसके पास आ बैठा और कहने लगा 'हे सत्यकाम ! सुन।' सत्यकाम बोला 'हाँ सुनता हूँ, कहिये।' प्राण बोला 'हे प्रियदर्शन ! तुझसे ब्रह्मका पाद कहता हूँ।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यकाम बोला 'हे भगवन्! कहिये!' जलमुर्गरूप प्राण कहने लगा 'नासिकासहित प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है और मन कला है। हे सौम्य! इन चार कलाओंमें ब्रह्मका एक पाद है, इस पादका नाम आयतनवान् है। सब करणोंके ग्रहण किये हुए भोगोंका आयतन-स्थान मन है। वह मन जिस पादमें है, वह पाद आयतनवान् कहलाता है। जो ब्रह्मके इस पादको इसप्रकार जानता हुआ ब्रह्मके आयतनवान् चतुष्कल पादकी उपासना करता है, वह इस लोकमें आश्रयवाला होता है और मरनेके बाद अवकाशवाले लोकोंमें जाता है।' इति आठवाँ खण्ड।

इसप्रकार उपदेशोंको प्राप्त करता हुआ सत्यकाम आचार्यके घर पहुँचा। आचार्यने सत्यकामको देखकर कहा 'हे सत्यकाम! सुन।' सत्यकाम बोला 'भगवन्! कहिये, सुनता हूँ।' आचार्यने कहा 'हे पुत्र! ब्रह्मज्ञानी प्रसन्न इन्द्रियोंवाला, हँसमुख और कृतार्थ होता है, हे सत्यकाम! तेरी मुखमुद्रा भी ऐसी ही दिखायी देती है, इससे मुझे तू ब्रह्मज्ञानी-सा दीखता है। तुझको किसने उपदेश किया है?' इतना सुनकर सत्यकाम बोला 'हे भगवन्! मुझे मनुष्योंने नहीं, देवताओंने उपदेश किया है। परन्तु उससे मुझे सन्तोष नहीं है। इसलिये अब आप ही मेरी इच्छानुसार उपदेश कीजिये, क्योंकि मैंने आपके समान ऋषियोंसे सुना है कि आचार्यसे सुनी हुई विद्या ही परमोत्तम होती है।' सत्यकामके ऐसा कहनेपर आचार्यने देवताओंकी कही हुई वही विद्या चारों पाद तथा फलों सहित उससे कही। इसप्रकार सत्यकामने सोलह कलावाली विद्या आचार्य और देवताओंसे सम्यक् प्रकारसे प्राप्त की। इस विद्याके जाननेमें कुछ भी शेष नहीं रह गया। इति नवां खण्ड।

पहले तपसहित ब्रह्मकी उपासना कहकर कार्य-ब्रह्मकी उपासना कही, अब कारण-ब्रह्मकी उपासना कहनेके लिये पूर्वके समान उपासनाके अंग तप आदि दिखलानेके हेतुसे श्रुति आख्यायिका रचती है:—कमलका पुत्र उपकोसल ब्रह्मचर्य धारण करके जबालाके पुत्र सत्यकामके समीप रहने लगा और बारह वर्षतक आचार्यकी अग्नियोंकी सेवा की। इतने समयमें आचार्यने कई दूसरे ब्रह्मचारियोंको वेद पढ़ाकर समावर्तन कर घर भेज दिया, परन्तु उपकोसलका समावर्तन नहीं कराया। एक दिन सत्यकामकी स्त्रीने सत्यकामसे कहा 'हे स्वामिन्! उपकोसलने बड़ा कष्ट सहकर बड़ी उत्तमताके साथ आपके अग्नियोंकी सेवा की है। इसके सेवा करनेसे अग्नि बहुत प्रसन्न हुए हैं। कहीं अग्नि ऐसा समझकर कि यह ब्राह्मण हमारे भक्तका समावर्तन नहीं करता, आपकी निन्दा न करें। इसलिये अब आप उपकोसलको विद्याका उपदेश दीजिये।' स्त्रीके ऐसा कहनेपर भी आचार्य सत्यकाम उपकोसलको विद्याका उपदेश दिये बिना ही कहीं परदेशको चले गये। इससे उपकोसलने मानसिक दुःखके कारण अन्नजलके त्यागका व्रत धारण कर लिया। यह देख आचार्यकी स्त्री उससे कहने लगी 'अरे ब्रह्मचारी! भोजन कर, तू भोजन क्यों नहीं करता?' गुरु-पत्नीके स्नेहभरे वचन सुनकर उपकोसल बोला 'हे माई! किसीके भी समस्त मनोरथ पूर्ण नहीं होते, मनोरथोंकी सिद्धि न पानेवाले इस पुरुषमें नाना प्रकारकी कामनाएँ भरी हुई हैं, कामनाओंके कारण चित्तमें अनेक दुःख होते हैं। चित्तको दुःख देनेवाली ये कामनाएँ मुझमें बहुत-सी भर गयी हैं, इसीलिये मैंने भोजन न करनेका व्रत धारण किया है।' पश्चात् गार्हपत्य आदि अग्नि आपसमें कहने लगे कि 'इस तपस्वी ब्रह्मचारीने बड़ा क्लेश उठाकर बड़ी उत्तमतासे हमारी सेवा की है इसलिये इसके ऊपर दया करके हमें इसको ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये।' इसप्रकार निश्चय करके वे उपकोसलसे कहने लगे:—'प्राण यानी बल ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकाश यानी ज्ञान ब्रह्म है।' यह सुनकर उपकोसल बोला 'प्राण ब्रह्म है, यह बात मैं जानता हूँ, परन्तु सुख और आकाश क्रमसे क्षणभंगुर तथा जड़ होनेके कारण ब्रह्म कैसे हो सकते हैं ? यह मैं नहीं जानता !' इसपर अग्नि कहने लगे 'जो सुख है, वही आकाश है और जो आकाश है, वही सुख है। सुखको आकाशका विशेषण कहनेसे सुख-युक्त हृदयाकाशरूप ब्रह्मकी अचेतन भूताकाशसे भिन्नता सिद्ध होती है और आकाशको सुखका विशेषण कहनेसे उस ब्रह्मरूप सुखकी क्षणभंगुर लौकिक सुखसे भिन्नता सिद्ध होती है। इसप्रकार प्राण और उसके सम्बन्धवाला सुख-युक्त हृदयाकाश इन दोनोंको एकत्र करके ब्रह्मके संसर्गसे ये ब्रह्म ही हैं, ऐसा अग्नियोंने कहा। इति दसवाँ खण्ड।

पश्चात् वे सब अग्नि अलग-अलग उपदेश करने लगे। उनमेंसे प्रथम गार्हपत्य अग्निने कहा 'पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य ये चार मेरे शरीर हैं यानी मैं चार प्रकारसे स्थित हूँ। इन चारों शरीरोंमेंसे इस सूर्यमें एकाग्र चित्तवालेको जो यह पुरुष दीखता है, वह मैं गार्हपत्य अग्नि हूँ और जो गार्हपत्य अग्नि है वही मैं आदित्यमेंका पुरुष हूँ। पृथ्वी और अन्नका अग्नि और आदित्यके साथ भोज्यभावसे सम्बन्ध है और भक्षकपन आदि समान धर्मसे अग्नि और सूर्यका अत्यन्त अभेद है इसलिये पहले दो अन्न हैं और पिछले दो अन्नाद हैं। जो इस गार्हपत्य अग्निको इसप्रकार अन्न और अन्नादरूपसे चार भागोंमें विभक्त जानता हुआ उपासना करता है, वह पाप-कर्मका नाश करता है। अग्निके लोकोंवाला होता है, सौ वर्षकी पूरी आयु पाता है, प्रसिद्ध होकर जीवित रहता है और उसकी सन्तानमें उत्पन्न हुए पुरुषोंका तथा उसके सेवकोंका नाश नहीं होता। जो इसको इसप्रकार जानता हुआ उपासना करता है, उसकी इसलोकमें और परलोकमें हम अग्नि रक्षा करते हैं। इति ग्यारहवाँ खण्ड।

फिर दक्षिणाग्नि उपदेश देने लगाः—जल, दिशाएँ, नक्षत्र और चन्द्रमा ये चारों मेरे देह हैं, उनमेंसे चन्द्रमामें जो यह पुरुष दीखता है, वह मैं दक्षिणाग्नि ही हूँ, और जो दक्षिणाग्नि है वही मैं चन्द्रमामें स्थित पुरुष हूँ। यह जल और नक्षत्र अन्न हैं और दिशारूप दक्षिणाग्नि और चन्द्रमा क्रमसे उनके भोक्ता हैं। जो इस दक्षिणाग्निको इसप्रकार अन्न और अन्नादरूपसे चार भागोंमें विभक्त जानता हुआ उपासना करता है, वह पाप-कर्मका नाश करता है, अग्निके लोकोंवाला होता है, सौ वर्षकी सम्पूर्ण आयु पाता है, प्रसिद्ध होकर जीता है और उसकी सन्तानमें उत्पन्न हुए पुरुषोंका और उसके सेवकोंका नाश नहीं होता। जो इसको इसप्रकार जानता हुआ उपासना करता है, इसलोकमें और परलोकमें हम अग्नि उसकी रक्षा करते हैं। इति बारहवाँ खण्ड।

तदनन्तर उपकोसलको आहवनीय अग्नि उपदेश देने लगाः—प्राण, आकाश, स्वर्ग और बिजली ये चारों मेरे शरीर हैं। बिजलीमें जो यह पुरुष दीखता है, वही मैं आहवनीय अग्नि हूँ और जो आहवनीय अग्नि है, वही मैं बिजलीमेंका पुरुष हूँ। आकाश और स्वर्ग क्रमसे बिजली तथा प्राणरूप आहवनीय अग्निके आश्रय होनेसे पहले दो भोग्य और पिछले दो भोक्ता हैं। आकाश बिजलीका आश्रय प्रकटरूपसे दीखता है और आहवनीय अग्निमें होम करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है इसलिये स्वर्गको आहवनीय अग्निका आश्रय कहा है। जो आहवनीय अग्निको इसप्रकार भोग्य और भोक्तारूपसे चार भागोंमें विभक्त जानता हुआ उपासना करता है, वह पाप-कर्मका नाश करता है, अग्निके लोकोंवाला होता है। सौ वर्षकी पूर्ण आयु पाता है, प्रसिद्ध होकर जीता है और उसकी सन्तानमें उत्पन्न हुए पुरुषोंका और उसके सेवकोंका नाश नहीं होता। जो इसको इसप्रकार जानता हुआ उपासना करता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलोकमें और परलोकमें हम अग्नि उसकी रक्षा करते हैं। इति तेरहवाँ खण्ड।

पश्चात् वे सब अग्नि एकत्र होकर कहने लगेः–'हे सौम्य उपकोसल! यह हमारी अग्निविद्या तथा प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है, इस-प्रकार ऊपर कही हुई आत्मविद्या तेरे लिये है और आचार्य तो विद्याके फलकी प्राप्तिके लिये गतिका उपदेश देंगे।' ऐसा कहकर अग्नि चुप हो गये। कुछ समय बाद उसके आचार्य आये और कहने लगेः–'हे उपकोसल! सुन' उपकोसलने कहा 'हे भगवन्! कहिये, मैं सुनता हूँ।' आचार्यने कहा 'हे सौम्य! तेरा मुख ब्रह्मज्ञानीका-सा प्रसन्न दीख रहा है, तुझे किसने विद्याका उपदेश किया है?' उपकोसल बोला 'हे भगवन्! जब आप चले गये तो मुझे और कौन उपदेश देता?' इसप्रकार पहले तो वह अग्नियोंकी उपदेश की हुई विद्याका परिचय देनेमें लज्जित हुआ, परन्तु फिर यह समझकर कि गुरुसे छिपाना पाप-कर्म है, वह कहने लगा 'हे भगवन्! निःसन्देह इन अग्नियोंने मुझे उपदेश दिया है, ये पहले तो और प्रकारके थे, अब आपके आनेपर कम्पायमान-से हो रहे हैं।' जब उपकोसलने गद्गद् कण्ठसे यह बात कही तो आचार्य कहने लगे 'हे सौम्य! इन अग्नियोंने तुझे क्या उपदेश दिया है?' इतना सुनकर जो कुछ अग्नियोंने उपदेश दिया था, वह सब क्रमसे उपकोसलने सुना दिया। तब आचार्य कहने लगे 'हे सौम्य! यद्यपि अग्नियोंने तुझे सभी लोकोंका उपदेश दिया है तथापि पूर्ण-रूपसे उन्होंने ब्रह्मका उपदेश नहीं दिया। मैं तुझे पूर्णतया ब्रह्मका उपदेश दूँगा। जैसे कमलके पत्तेमें जल नहीं चिपकता वैसे ही ब्रह्मज्ञानी पापसे लिप्त नहीं होता!' उपकोसलने कहा 'हे भगवन्! उपदेश दीजिये!' पश्चात् आचार्य उसको उपदेश देने लगे। इति चौदहवाँ खण्ड।

आचार्यः—हे सौम्य! यह आत्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। इसके देखनेके लिये सूक्ष्म बुद्धिकी आवश्यकता है, अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि विना इस आत्माको कोई देख नहीं सकता। इन्द्रियोंको तथा अन्तःकरणको नियममें रखनेवाले विवेकी पुरुष चक्षुमें जिस द्रष्टा पुरुषको देखते हैं, वह द्रष्टा पुरुष ही सब प्राणियोंका आत्मा है। यह आत्मतत्त्व, अविनाशी, अभय और अनन्त ब्रह्म है। इस पुरुषके स्थानरूप नेत्रोंमें यदि घी या जल डाला जाय तो वह इधर-उधर कोयोंमें चला जाता है, नेत्रमें चिपटता नहीं है। जब इस आत्माके रहनेके स्थान-का ही यह प्रभाव है तो फिर चक्षुमें रहनेवाले इस पुरुषके निरञ्जन और निर्लेप होनेमें तो कहना ही क्या है। चक्षुमें स्थित इस पुरुषको ब्रह्मवेत्ता संयद्वाम कहते हैं, क्योंकि इस पुरुषको चारों ओरसे सब प्रकारके मंगल प्राप्त होते हैं। जो ऐसा जानकर उसकी उपासना करता है, उसको भी चारों दिशासे सब मंगल प्राप्त होते हैं। यह पुरुष ही निस्सन्देह वामनी यानी पुण्य-कर्मोंके फलका देनेवाला है, क्योंकि यह पुरुष प्राणियोंके समस्त पुण्य-कर्मोंके फल उनके पुण्य-कर्मोंके अनुसार प्राप्त कराता है। ऐसा जानकर जो उपासना करता है, वह समस्त पुण्य-कर्मोंके फलोंको प्राप्त होता है। यह पुरुष ही निश्चय भामनी यानी प्रकाशरूप है, क्योंकि यह पुरुष आदित्यरूपसे सब लोकोंमें प्रकासता है। जो ऐसा जानकर उसकी उपासना करता है, वह सब लोकोंमें प्रकाशवान् होता है। चक्षुमें स्थित संयद्वाम, वामनी और भामनी गुणोंसे युक्त पुरुषकी तथा प्राणसहित अग्निविद्याकी उपासना करनेवाले मनुष्यकी मरणके पीछेकी अन्त्येष्टि क्रिया चाहे की जाय या न की जाय, वह उपासक सूर्यकी किरणोंके अभिमानी अर्चि-देवताको ही प्राप्त होता है, अर्चिसे दिनके अभिमानी देवताको प्राप्त होता है, दिनके अभिमानी देवतासे शुक्लपक्षके अभिमानी आपूर्यमाण-पक्षको प्राप्त होता है, आपूर्यमाण-पक्षसे छः मास उत्तरायणके देवताको प्राप्त होता है, उन मासोंसे वर्षके अभिमानी देवताको प्राप्त होता है, वर्षके अभिमानी देवतासे आदित्यको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त होता है, आदित्यसे चन्द्रमाको प्राप्त होता है और चन्द्रमासे बिजलीको प्राप्त होता है। तब वहाँ ब्रह्मलोकसे दिव्य पुरुष आता है और वह उपासकको सत्यलोकमें स्थित ब्रह्माके समीप पहुँचा देता है। यह देवयान-मार्ग है, इसीको ब्रह्म-मार्ग यानी ब्रह्मके समीप पहुँचानेवाला मार्ग कहते हैं। इस मार्गसे ब्रह्माके समीप पहुँचनेवाले पुरुष इस वर्तमान मनुकी सृष्टिरूप मानव-संसार-चक्रमें नहीं आते, परन्तु दूसरे कल्पमें लौटकर आ सकते हैं, क्योंकि अभेदोपासना न करनेके कारण उनको विदेहकैवल्य प्राप्त नहीं होता। इति पन्द्रहवाँ खण्ड।

यह जो पवन चलता है, वह पवन ही यज्ञ है। यह वायु ही चलता हुआ इस सब जगत्‌को पवित्र करता है, पवित्र करनेके कारणसे ही यज्ञ है। मन्त्रोच्चारण करनेमें जो वाणी प्रवृत्त होती है और यथार्थ अर्थज्ञानमें जो मन प्रवृत्त होता है, वे वाणी और मन दोनों इस यज्ञके मार्ग हैं। उन दोनोंमेंके एक मनरूप मार्गका ब्रह्मा संस्कार करता है। यह ब्रह्मा विवेक-विज्ञानवाले मनसे मौन धारण किये हुए संस्कार करता है। होता, अध्वर्यु तथा उद्गाता ये तीनों वाणीरूप मार्गका मन्त्रोच्चारणसे संस्कार करते हैं। प्रातःकालके अनुवाकका आरम्भ करनेके बाद समाप्तिकी परिधानीया ऋचाके जपसे पहले-पहले जब वह ब्रह्मा मौनको त्यागकर मन्त्रोच्चारण करने लगता है तब होता, अध्वर्यु और उद्गाता एक वाणीरूप मार्गका ही संस्कार करते हैं। ब्रह्माने जिसका संस्कार नहीं किया है ऐसा मनरूप मार्ग नष्ट हो जाता है, जैसे एक पैरवाला चलता हुआ मनुष्य अथवा एक पहियेसे चलता हुआ रथ नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार इस यजमानका यज्ञ अयोग्य ब्रह्माके द्वारा मनरूप एक मार्गसे हीन होनेके कारण नष्ट हो जाता है। यज्ञका नाश होनेके बाद, यज्ञ ही जिसके प्राण हैं, ऐसा यजमान नष्ट होता है। ऐसे यज्ञका अनुष्ठान करनेसे यजमान पापका भागी होता है। जहाँ प्रातःकालके अनुवाकरूप स्तोत्रका आरम्भ हो जानेपर परिधानीया नामवाली समाप्ति-की ऋचासे पहले ब्रह्मा बोलता नहीं है, किन्तु मौन रहता है, वहाँ सब ऋत्विज् वाम और दक्षिण दोनों ही मार्गोंका संस्कार करते हैं, ऐसा करनेसे दोनों मार्गोंमेंसे एक मार्ग भी नष्ट नहीं होता। जैसे दो पैरसे चलनेवाला पुरुष खड़ा हो सकता है और प्रतिष्ठा पाता है अथवा जैसे दोनों पहियोंसे सम्पन्न रथ खड़ा हो सकता है और प्रतिष्ठा पाता है इसी प्रकार यजमानका वह यज्ञ प्रतिष्ठित होता है और यज्ञके प्रतिष्ठित होनेपर यजमानकी प्रतिष्ठा होती है। ऐसे मौनके विज्ञान-वाले ब्रह्मासे युक्त यजमान यज्ञ करनेसे श्रेष्ठ होता है और कल्याणको प्राप्त होता है। इति सोलहवाँ खण्ड।

नित्यकर्मके अनुष्ठानको कहकर अब नैमित्तिक कर्मके प्रायश्चित्त-विधानका आरम्भ करते हुए पहिले तीन लोकोंमेंसे तीन देवताओंकी उत्पत्ति श्रुति कहती है:—प्रजापतिने लोकोंको उद्देश्य करके सार ग्रहण करनेकी इच्छासे ध्यानरूप तप किया। उन तपे हुए लोकोंसे उस प्रजापतिने रसको ग्रहण किया यानी साररूप देवताओंको इसप्रकार ग्रहण किया, पृथ्वीसे अग्निको ग्रहण किया, अन्तरिक्षसे वायुको ग्रहण किया और स्वर्गसे आदित्यको ग्रहण किया। पश्चात् प्रजापतिने देवताओंका सार ग्रहण करनेके लिये फिर ध्यानरूप तप किया और ध्यान किये हुए उन देवताओंके रसोंको यानी साररूप वेदोंको इसप्रकार ग्रहण किया। अग्निसे ऋचाओंको ग्रहण किया, वायुसे यजुओंको ग्रहण किया और आदित्यसे सामोंको ग्रहण किया। फिर उस प्रजापतिने ऋक् आदि त्रयी विद्याके उद्देश्यसे ध्यान-रूप तप किया और उस ध्यान की हुई विद्याके रसोंको यानी साररूप व्याहृतियोंको इसप्रकार ग्रहण किया। ऋचाओंसे भूको ग्रहण किया, यजुओंसे भुवःको ग्रहण किया और सामोंसे स्वः को ग्रहण किया। यदि उस यज्ञमें ऋचाओंके कारणसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ त्रुटि हो जाय तो 'भूः स्वाहा' कहकर गार्हपत्य अग्निमें होम करे! 'भूः स्वाहा' ऋग्वेदका सारभूत है। इस 'भूः स्वाहा' व्याहृतिके द्वारा प्रायश्चित्त होम कर लेनेपर ऋचाओंके कारणसे जो त्रुटि हुई होती है, वह ऋचाओंके ही सार और बलसे पूर्ण हो जाती है। यदि यजुके कारणसे यज्ञमें त्रुटि हो जाय तो 'भुवः स्वाहा' ऐसा कहकर दक्षिणाग्निमें होम करे, यह प्रायश्चित्त है। यजुओंके सम्बन्धवाले यज्ञकी त्रुटिको अध्वर्यु जो पूर्ण करता है, वह यजुओंके ही सारसे अथवा यजुओंके ही बलसे पूर्ण करता है। यदि सामके कारणसे यज्ञमें त्रुटि हो जाय तो 'स्वः स्वाहा' कहकर आहवनीय अग्निमें होम करे, यह प्रायश्चित्त है। साम-सम्बन्धी यज्ञके छिद्रको उद्गाता जो पूर्ण करता है, वह सामोंके ही सारसे और सामोंके ही बलसे पूर्ण करता है। जैसे सुहागा आदि क्षार-पदार्थोंसे सुवर्णको, सुवर्णसे चाँदीको, चाँदीसे त्रपुको, त्रपुसे सीसेको, सीसेसे लोहेको, लोहेसे चर्मको और चर्मसे काष्ठको जोड़ते हैं, इसी प्रकार इन समस्त लोकोंके, इन सकल देवताओंके, इस त्रयी विद्याके और रसरूप इन व्याहृतियोंके बलसे यज्ञकी त्रुटिको ब्रह्मा पूर्ण करता है। जिस यज्ञमें इसप्रकार व्याहृतियोंके द्वारा होम-रूप प्रायश्चित्तको जाननेवाला ब्रह्मा होता है, वह यज्ञ निस्सन्देह इसप्रकार सफल होता है जैसे कि कुशल वैद्यकी ओषधिसे रोगीका शरीर सुधर जाता है। जहाँ इसप्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है, वह यज्ञ उत्तर-मार्गकी प्राप्ति कराता है, क्योंकि ऐसा जाननेवाले ब्रह्माके विषयमें यह गाथा है। जहाँ-जहाँ यज्ञमें त्रुटि होती है, वहाँ-वहाँ ब्रह्मा उस त्रुटिको पूर्ण करके कर्ताओंकी रक्षा करता है। जैसे अपने ऊपर बैठनेवाले योद्धाकी घोड़ा रक्षा करता है इसी प्रकार मौन होकर ब्रह्मका ध्यान करनेवाला ब्रह्मा नामका ऋत्विक् कर्ताओंकी रक्षा करता है, ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा यज्ञकी, यजमान-की और सब ऋत्विजोंकी, उनके कहे हुए दोषोंको दूर करके रक्षा करता है। इसलिये इन कही हुई व्याहृति आदिके जाननेवालेको ही यजमान ब्रह्मा बनावे, इन बातोंके न जाननेवालेको ब्रह्मा कभी न बनावे, कभी न बनावे। इति सतरहवाँ खण्ड। चौथा अध्याय समाप्त। (क्रमशः)

हो तेरी इच्छा-पूर्ति

ओ मेरे अस्तित्व-सार, आकांक्षाओंके लक्ष्य !
ओ मेरी वाणी, भावों, संकेतोंके अध्यक्ष !
ओ मेरे सम्पूर्ण पूर्ण, द्रष्टा, श्रवणोंकी शक्ति !
ओ मेरे पूर्णत्व तत्त्व, रजकणकी सूक्ष्म विभक्ति !
ऐ जीवनके अर्थ, सार, ध्येयोंकी जीवित मूर्ति !
*ऐ मेरे मालिक—स्वामी ! हो तेरी इच्छा पूर्ति ॥ **

—बालकृष्ण बलदुवा

*प्रसिद्ध सूफी कवि इल्लाजकी एक सुन्दर कविताका अनुवाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य-जीवनकी विशेषता

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

योगवाशिष्ठमें एक वचन आया है—

'तरवोपिहि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः ।
स जीवति मनो यस्य मननेन हि जीवति ॥'

वृक्ष भी जीवन धारण करते है, पशु-पक्षी भी जीते हैं, परन्तु सच्चा जीवन तो वही है जो मननके द्वारा धारण किया जाता है ।।' अब सवाल यह उठता है कि मननके द्वारा कैसे जीवन धारण किया जाता है ?

मनकी जिस ज्ञान-वृत्तिके द्वारा हम सत्यको प्राप्त करते हैं, उस यथार्थ ज्ञानके द्वारा जो जीवन धारण किया जाता है वही सच्चा जीवन कहलाता है । इसके अतिरिक्त, ब्रह्म-मननके द्वारा जो जीवन धारण होता है, वही असली जीवन धारण करना है ।

यहाँ तीन प्रकारके जीवनका उल्लेख किया जा सकता है—वृक्षादिका जीवन, पशु-पक्षीका जीवन और मानव-जीवन। वृक्षादिका जीवन पाषाण आदिसे अधिक चेतन है, उनसे अधिक पशु-पक्षियोंका है। विचारकर देखनेसे पता लगता है कि पशु-पक्षियोंमें भी मनुष्योंकी तरह ज्ञान, विचार-शक्ति आदि होते हैं। वे केवल भूख-प्यास, हर्ष-विषाद इत्यादिके ही अधीन नहीं हैं, उनमें भी विवेक और विचार-शक्तिका परिचय मिलता है । इन कई वर्षोंमें बड़े-बड़े पण्डितोंने पशु-पक्षियोंके आचरणों और कार्योंपर विचार करके इनमें विवेक और विचार-शक्तिका यथेष्ट प्रमाण प्राप्त किया है । इतना ही नहीं, कुछ पशुओंमें तो दया और परोपकारवृत्ति आदि जो-जो उन्नत भाव मनुष्यके जीवनमें धर्मभावके नामसे निहित हैं, वे भी देखे गये हैं ।

तब प्रश्न उठता है कि फिर इनमें और मनुष्यों-में भेद किस बातका है ? इसके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि भेद जरूर है। चार विषयोंमें मनुष्यों-की विशेषता है । जिनमें प्रथम है आध्यात्मिक आकांक्षा । हम देखते हैं कि ईश्वरने मनुष्यको यह एक अजीब स्वभाव दिया है कि उसका मन चारों ओर नानाप्रकारकी भोग-विलासकी सामग्रियोंसे घिरा होनेपर भी तृप्त नहीं होता, और हमेशा ही न जाने किस एक गुप्त विषयके लिये लालायित रहता है । मनुष्य जिस दृश्य-जगत्में निवास करता है, उसे भूल एक मनोमय राज्यकी कल्पना कर उसके अन्दर निवास करता है और उसीमें सुख-दुःख देखता है। जो विषय इन्द्रियग्राह्य नहीं है—केवल आत्माकी भावमय सृष्टि है, उसमें भी मनुष्य इतना आसक्त हो सकता है–जितना कोई भी जीव किसी दूसरे जीवके प्रति आसक्त नहीं हो सकता। यही आध्यात्मिकता मानव-प्रकृतिका एक गूढ़ रहस्य है ।

महात्मा ईसाने जिस स्वर्गराज्यका प्रचार किया, उस स्वर्गराज्यका क्या स्वरूप है, इस बातकी धारणा करना कठिन है । केवल यही समझमें आता है कि यह मानव-समाजकी एक आकांक्षित उन्नत अवस्था है, जिसमें मानव ईश्वरके अधीन होता है । किन्तु उस सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थके प्रति ईसाके मनका क्या प्रगाढ़ अभिनिवेश था ! उस स्वर्गराज्यको पृथ्वीपर लानेके लिये वे कितने लालायित थे, आहारमें, विहारमें हमेशा यही चिन्ता उनके हृदयपर अधिकार जमाये रहती थी और अन्तमें उसीके लिये उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया ।

महात्मा बुद्धका निर्वाण-धर्म क्या था, इस बातको यथार्थमें वे ही जानते थे। किन्तु हम देखते हैं कि इसीके लिये उन्होंने सब छोड़ दिया था । राजपुत्र होकर संन्यास ले लिया और सर्वस्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्याग कर भिक्षुका पद ग्रहण किया। वह उठते-बैठते, सोते-जागते सदा इसी विषयमें लवलीन रहते थे। इसके सिवा और कोई भी विषय उनकी नज़रोंके सामने नहीं था। इसप्रकार महापुरुषोंको एक प्रबल आकांक्षा बनी रहती है और इसीसे वे महानता पाते हैं। इस कथनमें कोई अत्युक्ति न होगी कि मानव-इतिहासमें हम जिन महापुरुषोंके जीवन-चरित देखते हैं, उन महापुरुषोंने इसी प्रकारकी किसी-न-किसी प्रधान आकांक्षाके गुणसे ही महत्त्व प्राप्त किया था। जिस हृदयमें कोई महत् आकांक्षा नहीं रहती, वह जीवनके उच्च शिखरपर नहीं पहुँच सकता, बल्कि एक प्रकारसे उसका पतन हो जाता है। अतएव मनुष्यके हृदयमें आध्यात्मिक आकांक्षा और उच्च आदर्श जितने परिमाणमें काम करता है, उतने ही परिमाणमें उसका मनुष्यत्व होता है।

आध्यात्मिक आकांक्षाका दृष्टान्त केवल धर्म-प्रवर्त्तक महाजनोंके जीवनमें ही नहीं देखा जाता। राजनैतिक क्षेत्रमें भी ऐसे उन्नत आदर्शके लोग पाये जाते हैं। जोसेफ़ मेज़िनीकी जीवनीसे शायद बहुत-से लोग परिचित होंगे। पराधीन इटली किस तरह स्वाधीन हो सकता है, यह चिन्ता उनके मनमें इतनी प्रबल हो गयी थी कि इसके लिये वे देह, मन आदि सभी समर्पण कर चुके थे। मनुष्यके सिवा क्या किसीने किसी इतर प्राणीमें इस-प्रकारका भाव देखा है? क्या कोई दूसरा जीव भी दृश्य जगत्को भूलकर अदृश्य जगत्की शोभापर मुग्ध हुआ है? देशकी स्वाधीनताके लिये, स्वजातिके कल्याणके लिये, सामाजिक दुर्गति दूर करनेके लिये—कितने ही लोग प्राण दे देते हैं; और इस-प्रकारके दृष्टान्त हम रात-दिन देखते हैं। किन्तु क्या किसीने कभी इतर प्राणीको इसप्रकार स्वजातिके लिये,—स्वाधीनताके लिये जीवन उत्सर्ग करते देखा है? वे तो जिस चीज़को सामने देखते हैं, उसीको प्यार करने लग जाते हैं, आध्यात्मिक आकांक्षा क्या है, इस बातको वे बिल्कुल ही नहीं जानते। सत्यसे प्रेम करना चाहिये यह भी वे नहीं जानते। केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है जो इन सब विषयोंको जानता है और इसीलिये उसकी विशेषता है एवं यहींपर उसका दूसरे प्राणियोंसे भेद है।

मानव-समाजकी बर्बर-अवस्थामें मानव-जीवन पशु-जीवनके बहुत कुछ निकट रहता है। इसलिये उस अवस्थामें जीवनके अधिक उच्च लक्ष्य और आध्यात्मिक आदर्शका परिचय नहीं मिलता। उस समय मनुष्य आहार, निद्रा, भय आदिके अधीन होकर ही जीवन व्यतीत करता है और अधिकतर दृश्य-जगत्हीमें निवास करता है। किन्तु वह जितना ही सूक्ष्म और आध्यात्मिक विषयोंके ग्रहण करनेमें समर्थ होता है उतना ही वह उस अवस्थामें ऊँचा उठता जाता है। महात्मा ईसाने कहा है कि—'मनुष्य केवल अन्न-जलद्वारा ही जीवन धारण नहीं करता, प्रत्युत ईश्वरके मुखसे निकली हुई वाणीसे ही वह यथार्थमें जीवित रहता है। वाणी ही वास्तवमें सत्य है, या यों कहिये कि सत्य ही ईश्वरके मुखकी वाणी है। सत्य ही देव-भोग्य अमृत है। जो लोग सत्यके द्वारा जीवन धारण करते हैं, वास्तवमें वे ही जीवित हैं। मानव-जीवनके महत्त्व-साधनके विषयमें यह एक प्रधान स्मरणीय विषय है।

दूसरा अन्तर यह है कि मानव-प्रकृतिमें अनुतापकी गम्भीरता और आत्म-प्रसादकी उच्चता है। किसी दूसरे प्राणीमें इन दोनोंमेंसे एक भी बात नहीं देखी जाती। कुत्ता जब कोई अपराध करके आता है, तब उसका मुँह देखते ही मालिक समझ जाता है कि यह कोई बिगाड़ करके आया है। कुत्तोंको पालनेवाले इस बातको भलीभाँति समझ सकते हैं। पर यह बात अनुतापको बताने-वाली नहीं है, केवल सज़ा पानेके भयसे ही कुत्तेके मुँहका वैसा भाव हो जाता है। असली अनुताप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या पश्चात्ताप मनुष्येतर प्राणीमें नहीं है। भूतकालमें हमने कोई खराब काम किया है, ऐसा ख़याल करके नीच प्राणी दुःख नहीं पाते। पर, मानव-चरित्रमें ऐसा अनुताप सर्वदा देखा जाता है। ऐसी घटना कई बार घटी है कि मनुष्य भूतकालमें किये हुए अपने अपराधोंको स्मरणकर अपनी इच्छासे ही राजकर्मचारियोंके हाथ पकड़ा गया है और उसने भारी-से-भारी राजदण्ड भोगा है।

एक बार एक यूरोपियन सज्जनने एक घटनाका उल्लेख किया था। जब वे भारतवर्षमें आने लगे तब आनेके पहले अपने ससुरसे विदा लेने गये। उनके ससुर यौवनकालमें धर्मानुरागी नहीं प्रत्युत घोर विषयी और धर्मके प्रति बहुत ही उदासीन थे। लेकिन बुढ़ापेमें उनके हृदयका परिवर्तन हुआ और वे ईश्वरमें विश्वास करने लगे। दामादने ससुरालमें पहुँचकर देखा कि बूढ़े ससुरजी रो रहे हैं! उन्होंने पूछा–'आपको इतना क्या दुःख है कि जिसके कारण आप इतने रंज़ीदा होकर रो रहे हैं? मैं आपके रोनेका कारण जानना चाहता हूँ।'

उत्तरमें ससुर बोले–'क्या बताऊँ? बहुत पुरानी बात है। जब हमारी सम्पत्तिका बँटवारा हुआ, तब मैंने एक कुल्हाड़ी, जिसे मैं बहुत प्यार करता था, छिपा दी। वह इस नीयतसे छिपाई थी कि कहीं वह मेरे हिस्सेमें न आकर भाईके हिस्सेमें न चली जाय। जब हिस्सा बँट चुका तब मैंने वह कुल्हाड़ी ले ली! अब वही बात मुझे याद आती है, और उसी यादसे मुझे बेहद कष्ट होता है, क्योंकि मैंने अपने भाईके साथ छल किया, जो मुझे हर्गिज़ नहीं करना चाहिये था। अब भाई इस संसारमें नहीं है। अब मैं उसकी इस हानिको कैसे पूरी करूँगा? इसी अनुतापसे मैं रो रहा हूँ।'

यह चालीस वर्ष पहलेकी बात थी, जिसे सुनकर जामाता महाशय चकित हो गये। भला बताइये तो सही कि चालीस वर्षके बाद एक पापका स्मरण कर इस तरह आँसू बहाना क्या कभी इतर प्राणियोंके लिये सम्भव है? कभी नहीं। यह तो मनुष्यकाही उच्च अधिकार है।

यही हाल आत्मप्रसादका है। आत्मप्रसादकी उच्चता भी केवल मनुष्यहीमें हो सकती है। किसी सत्कार्यके अनुष्ठानसे मनुष्यके मनमें जैसा आनन्द होता है, वैसा आनन्द इतर प्राणीमें होना सम्भव नहीं है। इसका एक दृष्टान्त पाठकोंके सामने उपस्थित किया जाता है।

डेन्मार्क देशमें जब भयानक शीत पड़ता है, तब समुद्रका जल जमकर ऐसी कड़ी बर्फ़ बन जाती है मानो बर्फके पत्थर हों। उस समय शहरके लोग उस तुहिन-राशिपर लोज नामक गाड़ी लेकर खेलने जाते हैं। किन्तु उस देशमें बीच-बीचमें एक प्रकारके बादल पैदा होते हैं जिनसे वृष्टि हुआ करती है। इस वृष्टिका स्वभाव है कि विशेष बादलोंके उदय होते ही बर्फ गलने लगती है और थोड़ी ही देरमें टूट-टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। एक रोज शहरके लोग उस बर्फके ऊपर खेलने गये थे। इतनेमेंही आकाशमें वह सांघातिक मेघ छा गया। बादल आते ही बर्फ पिघलनेवाला था। एक बूढ़ी दरिद्रिणी स्त्री थोड़ी दूर सागरके तटपर पर्णकुटीमें रहती थी। उसने देखा कि आकाशमें भयङ्कर मेघका उदय हुआ है और बर्फके पिघलनेसे अभी मेरे देशवासी मर जायँगे। यह देखकर वह बहुत ही भयभीत हुई। २०।२५वर्षसे ऐसे भयङ्कर मेघका उदय नहीं देखा गया था, आज एकाएक आकाश ऐसे बादलोंसे छा गया, यह देखकर वृद्धाके भयका ठिकाना नहीं रहा। किस तरह इस विपत्तिसे मैं खेलमें मतवाले हुए नगर-निवासियोंका उद्धार करूँ, यह सोचकर बुढ़िया बहुत व्याकुल हुई। उस समय वह ख़ुद बीमार थी और उसमें चलने-फिरनेकी यथेष्ट शक्ति भी नहीं थी। निदान बहुत सोच-विचारके बाद उसने एक उपाय निकाला। बहुत कष्टके साथ वह घरसे बाहर निकली और तत्काल ही उसने अपने घरमें आग लगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी। अग्नि बड़े ज़ोरके साथ लपटें मार-मारकर जलने लगी। उधर आमोद-मत्त लोग अग्नि-ज्वाला देखकर सोचने लगे कि, 'यह क्या हुआ? यह तो वृद्धाका घर जल रहा है!' सब लोग वृद्धाको बहुत चाहते थे, इसलिये उन्होंने जरा भी विलम्ब नहीं किया और खेल छोड़कर सभी वृद्धाके घरकी ओर दौड़े। पहुँचकर देखा कि वृद्धा अचेत अवस्थामें पड़ी है! बहुत सेवा-शुश्रूषा करनेपर वृद्धाको चेत हुआ। ज्ञान होनेपर उसने पहले यही प्रश्न किया कि—'सब लोग कुशल-पूर्वक तो लौट आये हैं?' जब उसने सुना कि सभी सकुशल हैं, तब उसके मुखपर अपूर्व सन्तोषका चिह्न प्रकट हो गया और उसके मुखसे निकल पड़ा—'ईश्वरको धन्यवाद है।' बस, इतना कहकर वृद्धाने फिर आँखें मूँद लीं और स्वर्गका मार्ग लिया।

अब आप वृद्धाके उस अन्तिम सन्तोषकी तरफ खयाल कीजिये, जो सबकी कुशल सुनकर उसको हुआ था! क्या किसी इतर प्राणीमें ऐसा आत्म-प्रसाद होना सम्भव है? कभी नहीं। यह तो मनुष्यहीका खास गुण है।

यह हुई दूसरी विशेषता। अब तीसरी विशेषता-का हाल सुनिये। तीसरी विशेषता मनुष्यमें कर्तव्य-ज्ञान है। जैसा कर्तव्य-ज्ञानका निदर्शन मनुष्यमें पाया जाता है, वैसा इतर प्राणीमें कभी नहीं देखा जाता। इसका भी एक उदाहरण सुन लीजिये।

एक समय समुद्रमें एक जहाज जा रहा था। जब जहाज समुद्रके बीचमें पहुँचा, तब एकाएक उसमें आग लग गयी। किस जगह जहाजके तलेमें यह आग लगी है, कहाँसे धुआँ आ रहा है, इस बातका कोई भी ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर सका। सभीको विश्वास हो गया कि जहाज बहुत जल्दी जलकर नष्ट हो जायगा। परन्तु हिसाब लगाकर देखा गया कि बहुत तेजीके साथ चलानेसे जहाज विनष्ट होनेके पहले तीरपर पहुँच सकता है। अतएव तीरकी ओर जहाज चलाना आरम्भ कर दिया। इञ्जिन-चालक, वीरकी तरह अपने स्थानपर खड़ा होकर अग्निका असह्य ताप सहते हुए मशीन चलाने लगा। कप्तान बीच-बीचमें पुकार-कर उसकी खबर लेता जाता था। ऊपरसे जब कप्तान पूछता—'कैसे हो?' तब वह जवाब देता—'All right अर्थात् अच्छी तरह हूँ।' परन्तु धीरे-धीरे इञ्जिन-चालकका कण्ठ-स्वर बन्द होने लगा। अब वह कप्तानके उत्तरमें धीरे धीरे All right के बजाय गों-गों शब्द करने लगा। अन्तमें धीरे-धीरे यह नौबत आयी कि उसके मुखसे कोई शब्द सुनायी नहीं देने लगा। परन्तु तब भी उसके हाथ कार्यमें बराबर लगे रहे। क्रमशः जब जहाज तीरपर आकर लगा, तब इञ्जीनियरको बाहर निकालकर देखा तो मालूम हुआ कि उसको चेत नहीं है, धुएँसे उसका श्वास बन्द हो गया है और अग्निसे दोनों पाँव अधजले हो गये हैं। थोड़ी देरके बाद उसका जीवन नष्ट हो गया, जो थोड़ा-सा अधिक विलम्ब हो जानेपर जहाज़हीमें नष्ट हो जाता।

देखी आपने कर्तव्य-निष्ठा? क्या किसी इतर प्राणीमें ऐसी कर्तव्य-परायणता देखी जाती है? कभी नहीं। इसका तो मनुष्य ही अधिकारी है और उसीमें यह होती है।

मनुष्यकी तीन विशेषताएँ आपको दिखायी गयी हैं, जो मनुष्यसे छोटे प्राणियोंमें हर्गिज़ नहीं होतीं। अब चौथी विशेषता सुनिये। वह है अनन्तका ध्यान और आराधना। इस प्रधान विषयमें मनुष्यों और इतर प्राणियोंमें जमीन-आसमानका अन्तर देखा जाता है।

प्रत्येक परिमित सत्ता एक अनन्त सत्ताकी गोदमें सोयी हुई है, और प्रत्येक परिमित शक्ति एक महाशक्तिसे उत्पन्न हुई है। यह बात मनुष्यके सिवा इतर प्राणी कभी नहीं जान सकता। सभ्यता और असभ्यता सभी अवस्थाओंमें मनुष्यकी यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषता है कि वह उपासनाशील जीव है। मनुष्यने जैसे अपने भरण-पोषणके लिये कृषि और वाणिज्यका विस्तार किया है, रहनेके लिये घर बनाये हैं और ज्ञान-प्राप्तिके लिये शिल्प, साहित्य आदिकी सृष्टि की है, वैसे ही उसने आराधनाके लिये मन्दिर, उपासनालय आदि निर्माण किये हैं। दूसरे प्राणियोंकी तरह दृश्य और इन्द्रियग्रास विषयमें मनुष्यका भी दिल लगता है। यह कोई अजीब बात भी नहीं है और सब प्राणियोंके लिये यह स्वाभाविक भी है। पर अदृश्य पदार्थके प्रति दिल लगाना और अतीन्द्रिय शक्तिकी आराधना करना मानव-प्रकृतिका एक गूढ़ रहस्य है। जो मनुष्यकी भाषा नहीं समझता और मनुष्यके भाव-जैसा जिसका भाव नहीं है, ऐसा कोई भी जीव अगर मनुष्यकी यह आराधना देखे तो वह अवश्य ही आश्चर्य-चकित हो जायगा और उसके लिये इससे ज्यादा आश्चर्यकी बात दूसरी हो नहीं सकेगी!

इससे सिद्ध हो गया कि चार गुणोंमें मनुष्य इतर प्राणियोंसे भिन्न और श्रेष्ठ है। प्रथम आध्यात्मिक आकांक्षा, द्वितीय अनुताप और आत्मप्रसाद, तृतीय कर्तव्य-ज्ञान और चतुर्थ अनन्तका ध्यान और आराधना। इतर प्राणीसे श्रेष्ठ बनना हो तो मनुष्यको इन चारों गुणोंका अपने अन्दर विकास करना आवश्यक है। ये गुण सिर्फ आदर्शके रूपमें ही नहीं रहने चाहिये बल्कि जीवनमें स्वाभाविक हो जाने चाहिये। आत्मामें सत्यानुराग उत्पन्न हो, चित्त सत्यसे प्रेम करना सीखे। ऐसे ही उपायोंका अवलम्बन करना चाहिये। सत्यके अनुष्ठान, असत्यके त्याग दोनोंकी ओर दृष्टि रखनी चाहिये। कर्तव्य-परायणताको धर्मसाधनका प्रधान उपाय जानकर यत्नके साथ उसमें लग जाना चाहिये। सर्वोपरि जीवनको आराधनामें प्रतिष्ठित करना चाहिये। यह सब होनेपर ही हम यथार्थ मनुष्य-जीवनके प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेंगे। जीवनका यह उच्च आदर्श मनुष्य यदि अपने सामने न रक्खे तो उसका क्षुद्र पशुजीवनमें पतित हो जाना अनिवार्य है।*

दीनबन्धुके चरणोंमें

अशरण-शरण ! तुमसे बड़ा जग कौन जिसके पद गहूँ ?
पा कर्णधार प्रभो ! तुम्हें क्यों विपति-वारिधिमें बहूँ ?
मुझ दीनका सम्बल तुही, अवलम्ब है, तू त्राण है।
तेरी दयाका दीनबन्धो ! आग्रही यह प्राण है॥

सर्वेश ! सुनते-खोजते हैं दार्शनिक तुझको बड़े।
वह कौन थल ? तुम हो नहीं; उस खोज पर पत्थर पड़े॥
तुझ-सा सुहृद अखिलेश ! पाकर कौन जगमें दीन है !
तेरी कृपाका विभव पा, क्योंकर रहा वह हीन है ?

तुममें अटल हिमवान-सा विश्वास हो, यह ध्येय है।
तुमें नाथ आर्त-अनाथके, गुण-गान तेरा गेय है॥
भूलें न वैभवमें तुम्हें, दुखमें तुम्हारा साथ हो।
रक्षार्थ इस असहायके सिरपर तुम्हारा हाथ हो॥

मुरलीधर श्रीवास्तव बी० ए०

---

* स्व० शिवनाथजी शास्त्रीके एक व्याख्यानके आधारपर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी)

(गतांकसे आगे)

नरेन्द्रनाथ दत्त

कलकत्तेमें दत्त-परिवार एक प्रसिद्ध कुटुम्ब था। उसीमें नरेन्द्रनाथका जन्म सन् १८६३ में हुआ। इनके पिता सुशिक्षित, धर्म-परायण, दानी और गान-विद्यामें निपुण सज्जन थे। कलकत्ता-हाईकोर्टके प्रसिद्ध वकील होनेके कारण इन्होंने खूब धन कमाया और उसे मुक्तहस्तसे दानमें खर्च किया था। नरेन्द्र बचपनसे ही एक असाधारण बालक था, इसकी बुद्धि तीक्ष्ण, विचार-शक्ति अद्भुत और शरीर बलिष्ठ तथा सुन्दर था। हृदय भी कोमल और दयालुतासे पूर्ण था। लड़कपनसे ही इसमें विचारकी गम्भीरता और ध्यानकी अपूर्व शक्ति थी। अपने सहपाठियोंमें भी सदैव अग्रणी रहा करता था। साहित्य तथा दर्शनशास्त्रसे नरेन्द्रको अत्यन्त प्रीति थी। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरके पास अन्यान्य सत्यान्वेषी युवकोंकी भाँति यह भी जाया करता था। महर्षि पहलेहीसे इसकी योग्यताको समझ गये थे, इसमें योगबलकी असाधारण शक्ति देखकर वह सदैव उसके विचारोंमें सहायता दिया करते थे। अधिक तर्कशील होनेके कारण भगवान्‌के अस्तित्वमें इसको सन्देह होने लगा था। बुद्धिकी तीव्रता तथा विचार-शक्तिकी प्रबलताद्वारा वह हमेशा सृष्टिके रहस्यकी खोजमें लगा रहता था। इसीलिये वह सत्य वस्तुकी प्राप्तिकी अभिलाषासे ब्राह्म-समाजमें जाने लगा था, परन्तु वहाँ भी उसे निराशा ही हुई, क्योंकि उसने महर्षिसे जब पूछा कि 'महाशय! क्या आपने भगवान्‌का साक्षात्कार किया है।' तो उनसे स्पष्ट और निःसन्दिग्ध उत्तर न पाकर वह निराश हो गया। इन्हीं दिनों कलकत्तेके एक सज्जनके घर सन् १८८० के नवम्बर मासमें नरेन्द्रकी परमहंस श्रीरामकृष्णसे भेंट हुई। ठाकुरने इस होनहार युवककी आकृति देखकर ही उसकी असाधारण योग्यताको ताड़ लिया; इसलिये उन्होंने इसे दक्षिणेश्वर आनेको कहा। इन्हीं दिनों नरेन्द्रने एफ० ए० पास किया था, और पिता इसके विवाहकी कोशिश कर रहे थे, परन्तु नरेन्द्रके हठके कारण वह सफल न हो सके।

एक दिन एक मित्रने कहा 'नरेन्द्र! तुम बिल्कुल नास्तिक हो, मेरे साथ दक्षिणेश्वर चलो, वहाँ एक परमहंस रहते हैं, वह तुम्हारी सारी शंकाओंका पूरी तरहसे समाधान कर सकेंगे।' नरेन्द्रने उसके साथ दक्षिणेश्वर पहुँच कर देखा कि एक पागल-सा आदमी बैठा है। ठाकुरने प्रेमके साथ उसे बैठनेको कहा और पूछा कि 'क्या तुम कुछ गाना-बजाना जानते हो।' नरेन्द्रने बड़े ही मधुर स्वरोंमें ठाकुरको दो-तीन पद सुनाये। उसके मित्रने ठाकुरसे कहा कि 'महाराज! यह घोर नास्तिक और देहात्मवादी है।' ठाकुरने कहा 'नास्तिक भाव अच्छा नहीं।' इसपर नरेन्द्रने ठाकुरसे कहा कि 'महाशय! क्या आपने कभी परमेश्वरको देखा है?' ठाकुरने दृढ़तासे कहा 'हाँ देखा है।' इस आशातीत स्पष्ट उत्तरको सुन नरेन्द्र बोला कि 'क्या आप मुझे भी भगवान्‌को दिखा सकते हैं?' श्रीरामकृष्णने कहा कि 'हाँ, दिखा सकता हूँ? कल अकेले ही यहाँ आओ।' नरेन्द्रने स्वीकार कर लिया।

यद्यपि नरेन्द्रको विश्वास नहीं था कि ठाकुर भगवान्‌को दिखा सकेंगे तथापि वह कौतूहलवश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे दिन वहाँ गया। जाकर देखता है कि 'ठाकुर तख्तपर बैठे किसीसे कुछ बातचीत-सी कर रहे हैं, परन्तु वहाँ दूसरा कोई व्यक्ति नहीं है। नरेन्द्रने समझा कि अवश्य ही यह कोई पागल है। वह उनसे कुछ दूरपर जा बैठा। ठाकुरने उसे पास बैठनेको कहा तब वह तख्तके पास जाकर बैठ गया। श्रीरामकृष्णने जरा झुककर उसके हृदयको स्पर्श कर दिया। उस समयकी दशाका हाल नरेन्द्र पीछे इस तरह कहा करता था कि 'उस समय दीवार, घर तथा नदी और पृथ्वी क्रमशः अन्तर्धान होने लगे और अन्तमें उस शून्यमें केवल मैं और वह ब्राह्मण ये दो ही रह गये।' ठाकुर कहा करते थे कि उस समय नरेन्द्रने कहा था कि 'महाशय! क्या कर रहे हो, मेरे माँ, भाई भी हैं जिनकी मुझे देख-भाल करना है।' इस घटनाके बाद नरेन्द्रको १५-२० दिनतक सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म दिखायी पड़ता रहा, संसारके सभी जड़ पदार्थ चैतन्य दीखने लगे थे। इस घटनासे उसे यह निश्चय हो गया कि यह ब्राह्मण कोई साधारण मनुष्य नहीं है। ठाकुरको इस उन्नीस वर्षके युवकसे अत्यन्त प्रीति बढ़ गयी, यहाँतक कि जब कई दिनतक वह दक्षिणश्वर न आता तो ठाकुर दूसरे आनेवाले लोगोंसे उसका हाल पूछा करते और उसे वहाँ आनेके लिये कहला भेजते।

नरेन्द्रके पिताका देहान्त हुए एक वर्ष हो चुका था। वह बहुत ऋण छोड़कर मरे थे। रहनेभरके लिये केवल एक मकान बचा था, धन कुछ भी न रहा था। इस कारणसे माँ और भाइयोंके पालन-पोषणका सारा भार उसीके सिरपर था। बड़ी कठिनाईसे गुजारा होता था। कभी-कभी तो नरेन्द्रको निराहार ही रहना पड़ता था, यहाँतक कि एक बार तो उसे लगातार दो दिनतक उपवास करना पड़ा। उसी शामको वह अपने एक मित्रके यहाँ गया, वहीं ठाकुर भी आये हुए थे। वह उस समय भोजन कर रहे थे। लाटू (ठाकुरका एक शिष्य) उनके पास बैठा खा रहा था। नरेन्द्रको देखकर लाटूने दालभातका एक ग्रास मजाकमें उसके मुँहमें ठूँस दिया। उस एक ग्रासके खाते ही उसे ऐसा जान पड़ा कि मानो पेट भर गया है। वह समझ गया कि ठाकुरने ही लाटूके द्वारा यह चरित्र किया है। नरेन्द्रकी आर्थिक दशा दिनोंदिन बिगड़ती ही गयी। ऊपरसे एक मुकद्दमा भी लग गया। वकीलकी फीस देनेको घरमें एक कौड़ी भी न थी। उधार भी कहींसे नहीं मिलता था और न भोजनके लिये ही घरमें कुछ था। इस चिन्ताजनक अवस्थामें वह दक्षिणेश्वर गया। ठाकुरने देखा कि उसके चेहरेपर विषाद छाया है तो उससे इस चिन्ताका कारण पूछा। नरेन्द्रने सब वृत्तान्त सुना दिया। ठाकुरने कहा कि 'माँ के मन्दिरमें जाकर उससे सहायताके लिये प्रार्थना कर।' नरेन्द्र मन्दिरमें गया और भगवतीकी पूजाकर वापिस लौट आया। ठाकुरने पूछा कि 'क्या किया?' तो नरेन्द्रने कहा कि मैंने माँके चरणकमलोंकी पूजा करके उनसे केवल शुद्ध भक्ति ही माँगी।' ठाकुरने कहा कि 'फिर जा और भगवतीसे धनकी प्रार्थना कर।' वह फिर गया। कुछ समय बाद वापिस आया तब पूछनेपर कहने लगा कि 'इस बार मैंने और भी अधिक वैराग्य तथा भक्ति ही माँगी।' इसपर ठाकुर बड़े ही सन्तुष्ट होकर बोले कि 'बेटा! तूने बहुत ही अच्छा किया। अबसे तेरे कुटुम्बियोंके जीवन-निर्वाहके लिये धनकी कमी नहीं रहेगी।' तभीसे निर्वाह-मात्रके लिये उसे धनाभाव न रहा।

नरेन्द्रके चित्तमें उदारता, निःस्वार्थता और दूसरोंके साथ सहानुभूतिका भाव बहुत ज्यादा था। वह जब किसी वस्त्रहीन भिखारीको गलीमें माँगते देखता तो ऊपर जाकर माँकी अच्छी-से-अच्छी साड़ी ला उसे दे देता। सहिष्णुता भी इतनी तीव्र थी कि यदि किसीसे कोई दोष हो जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो यही कहता कि भूल करते-करते ही हम अपने जीवनको उन्नत बना सकते हैं। शशि महाराज (नरेन्द्रके गुरुभाई) कहा करते थे कि 'एक दिन नरेन्द्र हठसे मुझे अपने घर ले गया। उसकी माँने उसके लिये भोजन बना रक्खा था, मुझे बिना ही बतलाये उसने अपना भोजन मुझे परोस दिया और स्वयं निराहार रह गया। सोनेके समय रातको उसने अपने मसहरीवाले बिछौनेपर मुझे सुला दिया, मुझे तो लेटते ही नींद आ गयी। प्रातःकाल जब मेरी आँखें खुलीं तो मैंने उसे निरी जमीनपर सोये पाया।

नरेन्द्र जब कालेजमें पढ़ता था तो दिनभर पढ़ता और रात ध्यानमें बिताता। इससे उसके सिरमें ऐसी पीड़ा हो गयी, जिससे कई महीनोंतक उसने बिछौनेपर पड़े बड़ी बेचैनीमें दिन काटे। जब ठाकुरने सुना तो स्वयं कलकत्ते नरेन्द्रके घरके निकट एक भक्तके घर गये और नरेन्द्रको बुला भेजा। जानेवालेने उसकी दशा देखकर वापिस आ ठाकुरसे कहा कि 'नरेन्द्र तो चारपाईसे उठ ही नहीं सकता।' ठाकुरने कहा 'उसे यहाँ आनेको कहो वह चला आयगा।' नरेन्द्र सन्देश पाते ही चला आया। ठाकुरने बड़े प्रेमसे उसके सिरपर हाथ फेरा और कहा 'बेटा! क्या तेरे सिरमें दर्द है?' उसी वक्त उसका दर्द चला गया।

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि सब शिष्योंमेंसे नरेन्द्र ही मुझे पूरी तरहसे पहचान सकेगा। कभी-कभी नरेन्द्रको ठाकुरके विषयमें संशय आ घेरता तो वह बहुत रोता। ठाकुर सदैव उसे आश्वासन दिया करते।

अन्य शिष्य

धीरे-धीरे अन्य युवक भी श्रीरामकृष्णके पास आने लगे। केशवचन्द्रके अनुयायियोंमेंसे कई युवक आये। शशि, शरत्, योगेन और तारक भी उसी समाजके सदस्य थे। नरेन्द्र आदि नवयुवकोंकी भाँति ये भी ठाकुरके अद्भुत गुणोंसे आकर्षित हो उनके अन्तरंग भक्तोंमें शामिल हो गये। गोपाल दादा व्यापारी थे, अन्य शिष्योंसे आयुमें यह बहुत बड़े थे। धर्मपत्नीके देहान्त हो जानेके कारण मनकी वेदनाको दूर करनेके निमित्त यह ठाकुरके पास आये थे और उन्हींके होकर रह गये।

राखालके सहपाठी बाबूराम, हरि, गंगाधर, काली, तुलसी, सुबोध, निरञ्जन आदि एक दूसरेके मित्र और समवयस्क थे। ये सब एक-एक करके ठाकुरके पास आने लगे और अपना जन्म सफल करने लगे। इन सब शिष्योंमेंसे थोड़े ही दक्षिणेश्वरमें रहते थे, बाकी अपने अपने घरोंपर रहा करते थे और अवकाश मिलनेपर ठाकुरके पास आते जाते रहते थे। इनमेंसे बहुतसे कालेजोंमें पढ़ते थे। इनके पिता इनके दक्षिणेश्वर जानेसे अप्रसन्न रहते थे, क्योंकि इन लोगोंके मन वहाँ जानेसे विद्याध्ययनकी ओरसे हटने लगे, जिससे कई लड़के तो परीक्षामें उत्तीर्ण न हो सके। ठाकुरके देहावसानके बाद इन्होंने विद्याध्ययनकी कमीको पूरा कर लिया। ठाकुरने स्वयं किसीको संन्यास-दीक्षा नहीं दी थी, उन्होंने इन युवकोंके मनको भगवान्‌की ओर लगाकर सीधे मार्गपर चला दिया, जिससे दिनोंदिन उनकी आत्मोन्नति होती गयी। ठाकुरके समाधिस्थ होनेके पश्चात् नरेन्द्रने सबको संन्यास दिया और वही सबका नायक बना। यही नरेन्द्र दिग्विजयी वेदान्तकेशरी स्वामी विवेकानन्दके नामसे संसारमें विख्यात हुए। (क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब कुछ भगवान् हैं

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल)

नारायणकी इच्छासे जो कुछ भी मिल जाय, उसीको जो श्रद्धाके साथ बड़े सम्मानपूर्वक सिर चढ़ा लेते हैं, वही वास्तवमें धन्य हैं। ऐसे ही व्यक्ति यथार्थ ज्ञान और भक्तिके ऊँचे शिखर-पर पहुँच सकते हैं। जैसे वैसाख-जेठ-में जलती हुई लू चलती है, वैसे ही समयपर सुशीतल प्राणाराम मलय-मारुत भी हिल्लोलित होता है। दोनोंमें कितनी विचित्रता है? यही तो उनकी अपूर्व सृष्टि है! जो इस अनोखे सुख-दुःखोंकी द्वन्द्वमूर्तिमें प्रकट होकर, अपने अरूप रूपको विकसित कर और फिर बालककी तरह उन्हीं द्वन्द्वोंको लेकर खेलते हैं उन सर्वाश्रय सर्वेश्वर रसिक-चूड़ामणिको हमें भक्ति-विनम्र चित्तसे स्वीकार करना चाहिये। इस सम्बन्धमें भक्तके मनका यही भाव रहता है, वह यही समझता है कि मेरे हृदय-बन्धु, प्राण-रमण भगवान् ही जब सब कुछ हैं, तब वे चाहे सुख-शान्तिके रूपमें हों या शोक-रोग-दुःख और मृत्युके ही वेषमें हों, उनसे डरना कैसा? मैं माँके गोदमें बैठा हूँ, ऐसा जान लेनेपर जैसे बच्चा किसी भी डरसे नहीं डरता, इसी प्रकार जिसने यह सचमुच जान लिया है या जिसको यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।' संसारमें जो कुछ है सो सब भगवान् ही हैं, वह किसीसे भी क्यों डरेगा? अपनेसे अतिरिक्त किसी दूसरेके बोधसे ही तो भयकी उत्पत्ति होती है, जब सारे संसारको ही वह अपनेसे सर्वथा अभिन्न समझने लगता है, तब भय नामक कोई मनोविकार उसमें रह ही कैसे सकता है? इसीसे ज्ञानी या भक्तकी दृष्टिमें सुख-दुःखादि सभी द्वन्द्व केवल भ्रम या कल्पनामात्र रह जाते हैं, वे जानते हैं कि 'अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि।'

तथापि इस मायाके संसारमें सुख-दुःखकी जो अनवरत लीला हो रही है, उसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। परन्तु जो कुछ भी हो, वह लीला भक्तको खेद नहीं पहुँचा सकती। भक्त देखता है कि मालाके सूतकी भाँति भगवान्ने ही सारे सुख-दुःखरूप सांसारिक व्यापारको धारण कर रक्खा है। जैसे शरीरमेंसे केश-लोमादि स्वाभाविक ही निकलते हैं, वृक्षोंमें फल-फूल सहज ही फलते-फूलते हैं, वैसे ही सुख-दुःखादिरूप सहस्रों भाव-पुष्प भी भगवान्के चरण-कमलोंका आश्रय लेकर उनकी अपूर्व महिमासे खिल उठते हैं। इसीलिये भक्त न तो दुःखसे डरता है और न सुखकी अवहेलना करता है। वह सब कुछ अपने प्रभुकी महिमा जानकर आनन्दसे नाच उठता है। वह कहता है कि मुझे इनमें जो भगवान्का स्पर्श प्राप्त हुआ है यही मेरा बड़ा भाग्य है। सुखरूपसे हो या दुःखरूपसे, स्पर्श तो उन्हींका है। जगत्से या जगत्की किसी भी घटनासे भगवान्को अलग न करनेके कारण जगत्की कोई भी घटना ज्ञानीके चित्तको विचलित नहीं कर सकती। भगवान्को अलग कर देनेसे ही जगत्का प्रत्येक व्यापार एक महान् दुःखरूपमें दिखायी देता है, इसीसे सब कुछ दुःखप्रद प्रतीत होता है और इसी दुःखकी वेदनाके बोझस हमारी गरदन झुककर जमीनसे बातें करने लगती है।

जिन्होंने भगवान्को यथार्थतः पहचान लिया है, उनकी दृष्टिमें तो भगवान् दूसरे नहीं हैं। वे भगवान्को अपना परम आत्मीय ही समझते हैं, इसीसे भगवान्के प्रदान किये हुए सुख-दुःखोंमें उन्हें तनिक-सा भी दुःख नहीं प्रतीत होता। जो भगवान्को स्मरण करते हैं, जिनका चित्त उनके भजनानन्द-रससे भरपूर है, वे दुःखको कभी सुखसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीहरिः

कल्याणके प्रेमी ग्राहकों

और

पाठकोंसे निवेदन

आप लोग जानते हैं कि 'कल्याण' आप लोगोंसे जितने पैसे लेता है- कम-से-कम उतने-का माल तो आपकी सेवामें दे ही देता है। किसी साल ख़र्च ज्यादा लग जाता है तो घाटा भी रह जाता है। गत वर्षके १० वें अङ्कमें यह सूचना छपी थी कि इस सालका सारा स्टाक बिक जानेपर भी प्रायः तीन हजारका घाटा रहेगा। तदनुसार सारा स्टाक बिकनेपर भी कुछ घाटा तो रहेगा ही। परन्तु अभी तो स्टाक भी सारा नहीं बिक सका है। स्टाकमें प्रधानतः तीसरे वर्ष और चौथे वर्षके मिलाकर लगभग २००० फाइल हैं। जिसमें लगभग १३०० तो तीसरे वर्षके हैं। इसी फाइलमें भक्ताङ्क भी शामिल है। इसमें कुल ११२८ पृष्ठ हैं जिनमें करीब ४०० सौ से ऊपर लेख हैं और ७२ सुन्दर चित्र हैं। चौथे वर्षके फाइलमें प्रसिद्ध 'गीताङ्क' साथ है। हम 'कल्याण'के लगभग चौदह हजार ग्राहकों और हजारों पाठकोंसे यह अपील करते हैं कि वे चेष्टा करके इन फाइलोंको जल्दी-से-जल्दी बिकवा दें। चौदह हजार ग्राहकोंमें दस पीछे एक फाइल बिकवानेसे भी चौदह सौ फाइल तो सहजमें बिक सकते हैं। कल्याणकी फाइल निकम्मी चीज़ नहीं है, चार रुपये दो आनेमें पीढ़ियोंतक उपकार करने-वाली स्थायी साहित्य है। क्या कल्याणके प्रेमी ग्राहक और पाठक इस अपीलपर ध्यान दे-कर इतना-सा काम कर देंगे ? हमारा तो विश्वास है कि यदि ग्राहक और पाठक महोदय चेष्टा करें तो एक ही महीनेमें सब फाइलें बिकवाकर 'कल्याण'की सहायता कर सकते हैं। इसमें दो लाभ हैं—एक तो कल्याणकी सहायता होगी और दूसरे जिनके घर यह साहित्य जायगा, ढ़नेसे उनका बड़ा उपकार होगा। इस दुहरी सेवाके लिये कल्याणके प्रेमी पाठक-पाठिकाओंको तन-मनसे सहायता करनी चाहिये। मूल्य ४⌐) बिना जिल्द डाकमहसूलसहित, जिल्दके दाम अलग।

'कल्याण' किसी व्यापारिक उद्देश्यसे प्रकाशित नहीं होता। यह तो ग्राहकों और पाठकोंकी अपनी चीज़ है। इस हालतमें ग्राहकों और पाठकोंका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे इसकी सहायता करें। इसी भरोसे हम यह अनुरोध करनेका साहस करते हैं। ग्राहकोंकी थोड़ी-सी चेष्टा भी कल्याणके इस कार्यको पूरा कर सकती है।

मैनेजर 'कल्याण'

गोरखपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग करके नहीं देखते! वे जानते हैं कि प्रकाश और ज्वाला एक ही चीज़ है। जो अज्ञानी और अभक्त हैं, वे दुःखमें भगवान्‌का स्मरण करते हैं और सुखमें भूले रहते हैं। यदि सुखमें भी उनका स्मरण किया जाता तो दुःख समीप ही न आ सकता। जीवनमें हमसे यह भूल न जाने कितनी बार हो जाती है! परन्तु दुःखकी ज्वालासे छूटनेका प्रधान उपाय ही है भगवान्‌को स्मरण करना, उनके शरणागत होना। जगत्‌में कड़ुआ, तीता, खट्टा आदि अनेक रस हैं, परन्तु उनके साथ शहद मिलाकर खानेसे उनकी तीव्रता प्रायः नहीं मालूम होती। इसीप्रकार सुख-दुःख, रोग-शोक आदि किसी भी रसका आविर्भाव क्यों न हो, उसमें यदि भगवत्-स्मरण-रस मिला दिया जाय तो उसकी तीव्रता बहुत अंशमें कम हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। उनके नाम-स्मरणकी ऐसी ही महिमा है!

मनुष्यकी चिर आकांक्षा यही प्रतीत होती है कि उसे विपत्तिमें काँपना और हर्षमें फूलना न पड़े। नहीं समझकर भी सब असलमें इसी लक्ष्यकी ओर दौड़ रहे हैं। जीवके हृदयके अन्तस्तलमें यही तृष्णा जाग्रत् है। जिसने मानव-हृदयके इस चिर लक्ष्यको समझ लिया, वही यथार्थमें जाग उठा। जिसको इसके जाननेकी इच्छा होगी, भगवान् दया करके उसके हृदयकी इस छिपी हुई चिरन्तन आकांक्षाको अवश्य सजीव कर देंगे। अनेक विचित्र घटनाओंके द्वारा भक्तको भगवान् अपनी ओर खींच रहे हैं। अतएव सुख-दुःख या लाभ-हानि जो कुछ भी आवें, प्रसन्न चित्तसे सबको ग्रहण करना चाहिये। समस्त जीवोंके परम सुहृद् भगवान्‌ने हमारे लिये जो व्यवस्था की है, वह कभी हमारा अकल्याण नहीं कर सकती। सुख-दुःख तो उनके चरण-युगल हैं, आइये, इन चरण-युगलोंमें प्रणाम करें। मुझे निश्चय है कि भगवान्‌की करुणा-किरणोंसे कुसमयका सारा अन्धकार नाश हो जायगा। विपत्तिका भीषण तूफान शान्त हो जायगा। याद रखिये कि जो उनके शरण हो गया है, उसने इहलोक और परलोक दोनोंपर विजय प्राप्त कर ली है। उसीकी सत्त्व-संशुद्धि हुई है और वही अभय परमपदको प्राप्त कर सदाके लिये निर्भय हो गया है।

सावधान !

जीवन व्यर्थ बिताओ नहीं
दिन आ रहे हैं बिरुधापनके।
अन्तमें काम न आवैं कछू
धन धाम अराम महा तनके॥
केवल ईशकी भक्ति करौ
तजिकै छल छन्द सबै मनके।
मृत्युको नेरे सदा समुझौ
मदमें रहौ मस्त न जोबनके॥

—चन्द्रकला

रामनाम

इन्द्रिय-विजेता, गुन-चेता, अभिनेता श्रेष्ठ;
वे ही नर-रत्न, वक्ष बसुधा-ललाममें।
पुण्यके प्रकाशी, सुखराशी, गुण-राशी वही,
अनघ-उपासी, अघ-नाशी, धरा-धाममें॥
विश्वके विरागी, अनुरागी ईश-भक्तिके भी,
पूर्णयश-भागी, भूरि-भूरि गुण-ग्राममें।
धन्य हैं! जगतके वे तेज-पुंज पुण्य-शील,
रहते सदा जो रत रम्य राम-नाममें॥

'बाबू'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्तके उपदेश

[सुदूर गंगा-तीरपर एक ज्ञान-वयोवृद्ध त्यागी संन्यासी रहते हैं । इन महात्माजीके कुछ सदुपदेश इससे पहले भी 'कल्याण' में प्रकाशित हो चुके हैं । कुछ दिनों पूर्व मेरे एक मित्रने, जो समय-समयपर महात्माजीके सत्संगका लाभ उठाया करते हैं, जिज्ञासुओंके प्रश्नोंपर या अपने मनसे ही महात्माजीके द्वारा दिये हुए कुछ उपदेश लिख भेजे थे। उन्हींमेंसे कुछ 'कल्याण' के पाठक-पाठिकाओंकी भेंट किये जाते हैं । आशा है इनसे लाभ उठाया जायगा । —सम्पादक]

प्रश्न–महाराज, संसारमें बहुत झंझट हैं। गृहस्थके अनेक रगड़े हैं । करने पड़ते हैं । गृहस्थमें रहते साधन होना बहुत मुश्किल है । क्या करें ?

उत्तर–सब कुछ भगवान्‌का समझना चाहिये अपना समझनेसे ही दुःख-सुख होते हैं । मुनीमके माफिक कार्य करें ।

द्वे पदे मोक्षबन्धस्य ममेति न ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तुर्न ममेति च मुच्यते ॥

बस, इतना ही समझना है ।

प्रश्न–महाराज, गृहस्थ पूरा हो, पासमें पैसा न हो या थोड़ा हो, अनेक रिवाजोंके कारण खर्च बहुत लगता हो । ऐसी हालतमें थोड़ी देर काम करनेसे निर्वाह होना मुश्किल है । सारा दिन कमानेकी चिन्तामें बिताना पड़ता है । अनेक रगड़े-झगड़े करने पड़ते हैं। साधनके लिये समय ही नहीं मिलता, इसीसे चित्तमें शान्ति नहीं रहती।

उत्तर–बस, भगवान्‌का समझ लेनेपर कोई विक्षेप नहीं रहता । मुनीम जैसे मालिकका धन कोई ले जाना चाहे तो क्या ले जाने देता है ? लड़ता है, झगड़ता है, पर ले जाने नहीं देता । परन्तु समझता यही है कि ये सब मेरे नहीं हैं, मालिकके हैं । यह बात वह किसीसे कहता नहीं, हृदयमें ही समझता है । इसी प्रकार किसीको कहे नहीं, मनमें सब भगवान्‌का ही समझे । यदि मुनीम कहने लगे तब तो लोग उसे पागल बताते हैं । यह तो समझनेकी ही बात है ।

प्रश्न–पासमें पैसा न हो तो रोटी आदि कैसे मिले ?

उत्तर–जहाँतक मनुष्यको अपना भरोसा रहता है वहीं तक रोटी आदि नहीं मिलती (सांसारिक कष्ट उठाने पड़ते हैं) जब सब कुछ भगवान्‌का समझकर भगवान्‌का भरोसा कर लिया जाता है तब तो कोई कष्ट हो ही नहीं सकता, भूखे रह ही नहीं सकते ।

× × ×

प्रश्न–भगवान्‌ने माया डाल दी है, इसीसे उसकी मायासे नहीं छूटते ।

उत्तर–हम तो ऐसा नहीं कहते । तुम्हारे भगवान् ऐसे होंगे । हमारे भगवान् तो ऐसे नहीं हैं । हमारे भगवान्‌का तो जो नाम भी ले लेता है उसीसे माया दूर भाग जाती है। भगवान् तो तुम्हारे और हमारे एक ही हैं, पर तुमने ऐसा मान रक्खा है इसीसे 'तुम्हारे और हमारे भगवान्'ऐसा कहा है। भगवान्‌ने माया डाल दी तब तो भगवान् जुल्मी हुए। ऐसे भगवान्‌को तो नमस्कार ! परन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। भूल तो अपनी है, मायाको पकड़ तो अपने रक्खा है और कहते हैं कि भगवान्‌ने माया डाल दी !

लोग कहते तो ऐसा हैं कि भगवान्‌ने माया डाल दी, पर समझते ऐसा नहीं हैं। यदि भगवान्‌की माया समझें तब ता डर (बन्धन) ही क्या ? जो अपनी माया (भूल) है उसको तो कहते हैं 'भगवान्‌ने माया डाल दी' और जो भगवान्‌की (धन-धामादि) माया है उसे समझते हैं यह हमारी है ।

× × ×

प्रश्न–भजन कैसे हो ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर-भजन तो भूखसे होता है।

प्रश्न-भूख कैसे लगे ?

उत्तर-यहाँ रहना नहीं, साथमें कुछ जाना नहीं, भगवान्‌के सिवा कोई रक्षक नहीं—ऐसे विचारसे।

प्रश्न-महाराज ! ऐसी भूख लगनेमें बाधक क्या है ?

उत्तर-कुसङ्ग।

प्रश्न-कुसङ्गसे बुरे पुरुषोंका सङ्ग समझा जाय या और कुछ ?

उत्तर-जिनको भूख लगी हुई है उन पुरुषोंके संगका नाम सत्सङ्ग है। उनके सिवा दूसरे सभीका संग कुसंग है।

× × ×

प्रश्न-महाराज, पूर्व समयमें तो लोग बड़े-बड़े यज्ञादि करते थे, परन्तु अब उतने पैसे कोई खर्च नहीं कर सकते। अब तो भगवन्नाम ही ले सकते हैं। इसमें विधि-निषेधका भी डर नहीं। क्या यह ठीक है ?

उत्तर-कलियुगमें तो भगवन्नाम ही है। विष्णु-पुराणमें कहा है—

ध्यायन्कृते यजन यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ केशवकीर्तनात् ॥

× × ×

प्रश्न-महाराज, भजन करते हैं, पर मन नहीं टिकने देता।

उत्तर-एक बन्दर था, वह एक दिन एक किसान-के घरमें घुस गया। किसान बाहर गया हुआ था। घरमें सिर्फ उसका पाड़ा (भैंसका बच्चा) था और कोई न था। बन्दरने वहाँ पड़ी हुई दहीकी हँड़ियासे दही खाना शुरू किया। खाकर जाते समय अपना दहीसे भरा हाथ पाड़के मुँहपर लगा दिया। किसान लौटकर आया तो देखा कि दहीकी हँड़िया खाली पड़ी है और पाड़ेके मुँहपर दही लिपटा है। यह देखकर वह उसे पीटने लगा।' भाई, तुम ऐसा मत करो। दोष तो अपना और लगाते हो बेचारे मन पर कि मन मानता नहीं।

× × ×

प्रश्न-महाराज, सत्सङ्गका बड़ा भारी प्रभाव है। नारद-भक्तिसूत्रमें भी लिखा है 'सत्संगो दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।'

उत्तर-हाँ, तुलसी-रामायणमें भी तो कहा है 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता। अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता ॥' कहीं कहीं 'अब मोहि' के स्थानमें 'सत्संगति संसृति कर अन्ता' ऐसा भी पाठ है।

प्रश्न-परन्तु सत्सङ्गके भी कई अर्थ हो सकते हैं। महात्माओंके पास जाकर बैठ जाना, सन्तोंकी सेवा करना, उनके वचनानुसार साधन करना—इन सबको ही सत्सङ्ग कह सकते हैं। परन्तु वास्तविक अर्थ क्या है सो कृपया बतलाइये !

उत्तर-हम तो कहते हैं कि सन्त-महात्माओंमें जो निष्काम प्रेम है वही सत्सङ्ग है, चाहे उनके पासमें रहें या न रहें।

प्रश्न-महाराज, निष्कामका क्या अर्थ है ? कोई-कोई तो यहाँतक भी कहते हैं कि सत्सङ्गके जो निष्काम प्रेमी हैं वे सत्सङ्गके आगे भगवत्प्राप्ति या भगवद्दर्शन भी नहीं चाहते।

उत्तर-नहीं, भगवत्प्राप्तिकी इच्छा, इच्छा नहीं मानी जाती, निष्कामसे इहलौकिक और पार-लौकिक इच्छाओंका त्याग मानना चाहिये।

× × ×

एक दिन एक सत्सङ्गीने स्वामीजी महाराजको तुलसीदासजीकृत 'ऐसो को उदार जगमाहीं।' पद सुनाया। सुनानेके बाद पूछा कि इस पदमें 'जो गति योग विराग जतन करि नहिं पावहिं मुनि ज्ञानी।' इसमें 'ज्ञानी' शब्दका अर्थ अपरोक्ष ज्ञानी माना जाय या परोक्ष ज्ञानी ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर–

श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो !
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(भा० १० । १४ । ४)

ब्रह्मा कहते हैं, 'हे विभो ! जैसे धानकी भूसी कूटनेवालोंको सिवा क्लेशके और कुछ नहीं मिलता, वैसे ही आपकी कल्याणकारिणी भक्तिको छोड़कर जो लोग केवल ज्ञानके लिये क्लेश सहते हैं उन्हें फलस्वरूप क्लेश ही मिलता है।'

प्रश्न–इस उत्तरसे यह नहीं समझा कि इसमें परोक्ष ज्ञानी समझें या अपरोक्ष ?

उत्तर–यह तो तुम ही जानो—

फिर कहा–अपरोक्ष ज्ञान तो बिना भक्तिके हो ही नहीं सकता !

पथिक !

(लेखक–पं० श्रीरमाशंकरजी मिश्र, 'श्रीपति' कविरत्न)

(१)

या धरनी धन धाम अराम मैं ,
आय फँस्यो ताजि आपुनो मारग ।
जानत ना बिषया-विष-बेलि मैं ,
तोहिं रह्यो तकि मोहको पन्नग ॥
मानत हौ जिनको अपनो सगो ,
ते तो निरे दगादार महा ठग ।
प्रानहिं घोंटि करैं घर बाहर ,
जात न ये पहुँचावन द्वै डग ॥

(२)

भाव भरी यह भोरी ठगी, बहु
हाव दिखाय हरै मन तेरो ।
कंठ लगाय रिझायकै नैनन ,
सैनन तोंहि बनावत चेरो ॥
पै तब जानिहौ याके प्रपञ्चहिं ,
कंत करैगो जबै घर फेरो ।
प्रीति लगाय पथी ! पर भौन मैं ,
डारन चाहत हौ सुख डेरो ॥

(३)

नैनन पै पतियाहु पथी जानि , ये तो बनो बिगरो न बिचारिहैं ,
चंचल द्वै ते भये कतौं चारि तौ , दोऊ कपाट हियेके उघारिहैं ।
आनि बिठैहैं हिये अबिसासिहिं, सैनन ही सहजै सब वारिहैं ,
घालि हैं ये अपनो घर आपुहिं , प्रान-बियोगकी ज्वालन जारिहैं ॥

(४)

जैहे पथी ! गँसि गाँसी गरे मँह ,
जौपै कटाच्छनि कोऊ निहारिहैं ।
मोहिहैं मादकता अँखियानकी ,
प्रानन फाँसी लटैं चट डारिहैं ॥
कंज-से अंग सबै मुरझाइहैं ,
अंचल चन्दमुखी जौ उघारिहैं ।
लूक-सी हूक उठैंगी हिये महँ ,
नेह लगाय जो कोऊ बिसारिहैं ॥

(५)

जामिनि बीति चली, अँखियान ते ,
नेह भरे अँसुआ बरसायकै ।
चन्द अथै गयो कोकके सोकन ,
आगि चकोर हियेमैं बढ़ायकै ॥
पूरब मैं अरुनाई छई , अलि
अंबुज त्यागि चल्यो पछितायकै ।
जाइबो दूरि है दूरिको मारग ,
ताते बढ़ौ पथी ! मोह नसायकै ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोभ

(पं० श्रीरामावतारजी शास्त्री वेदान्ततीर्थ)

(बोधसारसे)

न पिशाचा न डाकिन्यो न भुजंगा न वृश्चिकाः।
संभ्रान्तयन्ति मनुजं यथा लोभो धियं रिपुः ॥

पिशाच, डाकिनी, साँप और बिच्छू—इनके द्वारा मनुष्य उतना व्यथित नहीं होता जितना वह लोभके द्वारा बुद्धिके विक्षेपसे होता है। अतः लोभ ही परम शत्रु है। मतलब यह कि सर्प, पिशाचादिके द्वारा तो केवल इसी जन्ममें कुछ समयके लिये ही मनुष्य पीड़ित हो सकता है, परन्तु लोभ जब बुद्धिको भ्रममें डाल देता है तो अनेक जन्म-जन्मान्तरमें पुरुषको त्रिविध तापोंसे—नाना-प्रकारके क्लेशोंसे छुटकारा नहीं मिलता, इसलिये लोभ पिशाच-आदिकी अपेक्षा कहीं भारी शत्रु है।

मेरवो घृतबिन्द्वाभा दुराशादावपावके ।
कथं सहस्रलक्षाद्यैस्तर्हि तृप्यतु लोभवान् ॥

दुष्ट आशाकी दावाग्निमें सुमेरु पर्वत भी घीके एक बिन्दुके समान दग्ध हो जाता है। फिर भला लोभी पुरुष हजार-लाख-करोड़की सम्पत्तिसे किस प्रकार तृप्त हो सकता है? सारांश यह है कि धनके सञ्चयसे लोभ कभी दूर नहीं किया जा सकता, वरं वह अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है।

आनिद्रं प्रातरारभ्य जाग्रति स्वप्नपूर्ष्वपि ।
भ्रमन्नो लभते शान्तिं स लोभस्य पराक्रमः ॥

बेचारा जीव जो प्रातःकालसे लेकर सोनेतक जाग्रत् अवस्थामें, तथा सपनेके कल्पित नगरोंमें भटकता रहता है, फिर भी शान्ति नहीं पाता यह सब लोभके पराक्रमका ही फल है।

निधानं यक्षसर्पाद्या यदाक्रामन्ति यत्नतः ।
न पिबन्ति न खादन्ति तेषां हि गुरवः शठाः ॥

यक्ष, सर्प आदि जिस खजानेपर अधिकार कर बैठे रहते हैं उसे खान-पानमें खर्च नहीं करते, उनको इस स्वभावकी शिक्षा देनेवाले उनके गुरु ये दुष्ट लोभी ही हैं।

दानभोगविहीनं च यदेव धनिनो धनम् ।
न तु तस्य मुखे धूलिर्दीयते भूमिगोपनैः ॥

जिस लोभी धनीका धन न तो दान देकर परलोकके काम आता है और न इस लोकके भोगोंमें ही लगता है, वह धन उसका नहीं समझना चाहिये। वह तो उस धनका सिर्फ चौकीदार है। पुरुषके मरनेपर उसके मुखमें सोना डालनेकी परिपाटीके अनुसार उसके मरनेपर राजा लोग जो उसकी सम्पत्तिपर अधिकार करते हैं, उसके मुखमें सोना डालना तो दूर रहा, धूल भी नहीं डालते।

मूढस्ताम्रमये पात्रे संस्थापयति किं धनम् ।
पात्रे स्थितं धनं भद्रं किन्तु पात्रं परीक्ष्य ॥

लोग कहते हैं 'आपदर्थे धनं रक्षेत्' परन्तु वे इसका अर्थ नहीं समझते। इसका अभिप्राय यह है कि 'धनं रक्षेत् चेत् तद्धनमापदर्थे स्यात्' अगर धन जोड़ोगे तो उससे तुम्हारा नाश होगा, तुमपर आपत्ति आयगी। अथवा 'धनं रक्षेत् चेत् न सम्भवति यतः अर्थे आपद् नाशो नियतः' धन जोड़ोगे तो भी वह नष्ट हो ही जायगा। अथवा 'धने आपत्' धनमें ही विनाश या बरबादी समायी हुई है। इसलिये धन जोड़नेका सवाल केवल वहम है, भ्रान्त कल्पना है। इसीलिये अन्तमें नीतिकारने कहा है—'आत्मानं सततं रक्षेत्' आत्माकी ही सतत रक्षा करो। लोभ-मोहादि उसे ग्राहोंकी तरह अपनी-अपनी ओर खींच-खोंचकर बरबाद किये डालते हैं। स्वरूप-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिज्ञानके द्वारा उसीकी रक्षा करो, परन्तु संसारके मूढ़ लोगोंका क्या किया जाय, वे तो ताँबेके पात्रोंमें बन्दकर करके धनको भूमि आदिमें गाड़ देते हैं। उन्होंने तो केवल इतना कहींसे सुन लिया है कि 'पात्रे स्थितं धनं भद्रम्' अर्थात् पात्रमें रक्खा हुआ धन कल्याणकारी होता है। परन्तु पहले उन्हें पात्रका अभिप्राय जानना चाहिये। यहाँ पात्रका अभिप्राय सत्पात्र, ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय आदिसे है न कि ताँबेके बरतनसे, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियको दान देना चाहिये।

काकविष्ठा धनस्यार्थे कायक्लेशेन भूयसा।
मदान्धा धनिनः सेव्या महतीयं विडम्बना॥

कौएके बींटके समान हेय (तुच्छ) धनके लिये बड़ा भारी शारीरिक क्लेश सहकर अपने द्रव्यमदसे अन्धे श्रीमान् लोगोंके आगे पीछे फिरना, यह भारी विडम्बना है।

न लोभस्योपचाराय मणिमन्त्रौषधादयः।
मणिमन्त्रौषधश्लाघी सोऽपि लोभपरायणः॥

मणि, मन्त्र तथा औषध आदिसे लोभका शमन नहीं होता। इनसे शमन हो जाता तो इनके जाननेवाले लोभी क्यों होते?

किञ्चिद्धनकणं ध्यात्वा मुखमाढयस्य पश्यसि।
करोषि श्वेव चाटूनि लोभेनापकृतं स्मर॥

जैसे कुत्ता छोटेसे टुकड़के लोभमें टुकड़ा देनेवालेको प्रसन्न करनेके लिये कभी पेट दिखाता, कभी पूँछ हिलाता और कभी पैरोंमें पड़ता है, इसी प्रकार 'कोई भी अपना सम्पूर्ण धन तो दे ही नहीं देता—थोड़े धनका भी देना न देना सन्दिग्ध होता है' यह जानता हुआ भी तू विद्वान् होकर उसको प्रसन्न करनेके लिये कभी गायनसे, कभी हास्यसे, कभी विनोदसे और कभी शास्त्र-चर्चासे उसकी खुशामदें करता है। इस उत्तम मनुष्य-स्वभावको छिपाकर तुझमें लोभने कुत्तेका स्वभाव उत्पन्न कर दिया है; हे विद्वन्! लोभकी की हुई इस बुराईकी ओर ध्यान दे।

लोहार्गलो भद्रहरो लोलातङ्को भयप्रदः।
लुनात्युभौ च यल्लोकौ तेन लोभः प्रकीर्तितः॥

लोभीकी बुद्धि जिस-जिस विषयमें फँस जाती है वह वहाँसे स्वाधीनतासे नहीं निकल सकती। इसलिये लोभको लोहार्गल (लोहेकी बेड़ी) कहा है। जिसकी बुद्धिपर लोभ सवार हो जाता है, उसे सुख-चैन नहीं रहता; इसलिये लोभको भद्रहर (कल्याण-नाशक) कहा गया है। सजीव पदार्थोंमें जहाँ-जहाँ चञ्चलता—चेष्टा, गति है वहाँ-वहाँ लोभ रहता है अर्थात् चञ्चलता लोभका चिह्न है इसलिये लोभको लोलातङ्क (चञ्चलताका रोग) बताया जाता है, जहाँ-जहाँ भय है, वहाँ-वहाँ कोई-न-कोई लोभ है। इसलिये लोभको भयप्रद कहा जाता है। लोभी मनुष्य न तो दान करता है, जिससे उसका परलोक नष्ट हो जाता है, और न भोग ही कर सकता है जिससे उसका यह लोक भी दुःखमय हो जाता है। इसप्रकार 'उभौ लोकौ लुनाति'—दोनों लोकोंको नाश कर डालनेसे उसे लोभ कहा गया है।

सकामा कामिनीलुब्धा निष्कामा मोक्षलोभिनः।
भावलुब्धो हि भगवान् निर्लोभोऽत्यन्तदुर्लभः॥

सकामी लोग कामिनी और काञ्चनके लोभी हैं। निष्काम लोगोंको भी मोक्षका लोभ लगा ही हुआ है। भगवान् भी भावके (प्रेमके) लोभी प्रसिद्ध ही हैं। निर्लोभ (लोभरहित, केवल ब्रह्मनिष्ठ) पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है। उन्हींके आश्रयसे लोभको जीता जा सकता है।

दुग्धफेनोज्ज्वला शय्या बाला चरणसेविनी।
निद्रां न लभते भूपः परराष्ट्रजिगीषया॥

सोनेके लिये दूधके झागके समान श्वेत पलङ्ग और चरण-सेवाके लिये नयी युवती जैसे साधनोंके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होनेपर भी राजाको दूसरेके राज्यको जीतनेके लोभसे सुखकी नींद नहीं आती, उसकी रातें करवटें बदलते चिन्तामें ही कटती हैं अर्थात् जो जितना बड़ा है उसपर उतना ही बड़ा लोभ सवार है!

मार्गेषु मिलिताश्चौराः सख्यं तैः सह वर्धितम्।
ते गता धनमादाय पश्चाच्छोचति मन्दधीः॥

पहले तो संसाररूपी घने जंगलमें घूमते-घूमते स्त्री-पुत्रादि रूपधारी चोर मिले, फिर उनके साथ मित्रता बढ़ने लगी, वे लोग अपनी गाढ़ी कमाईका धनादि व्यय कराकर अपनी-अपनी कर्मगतिसे परलोक आदिको चले गये, पीछेसे यह मूढ़ मनुष्य शोक करने लगता है।

स्वामी तु चौरवद् द्रव्यं गोपायति यतस्ततः।
भार्यापुत्रादयश्चौराः भुञ्जते स्वामिनो यथा॥

कमानेवाला मालिक तो चोरोंकी तरह जैसे तैसे धनको बचाता है (न दान करता है, न स्वयं भोग करता है) और भार्यापुत्रादि रूपधारी चोर मालिककी तरह खुल्लमखुल्ला प्रकटरूपमें उस धनको भोगते रहते हैं।

पुत्रमित्रकलत्रेभ्यो गोप्यते यद्धनं जनैः।
तेन मन्येऽधनं पापं सुकृत्या गोप्यते नहि॥

पुत्र-मित्र-कलत्रादि किसीको न देकर सबसे धनको बचा रखना भी केवल पापरूप अर्थात् दुःखदायक है, इसलिये पुण्यकर्मा लोग धनको जोड़ते नहीं।

रागिणी गणिका वित्तं यद्वाञ्छति वरं हि सा।
धिक्तं वैराग्यवक्तारं वाचालं वित्तलम्पटम्॥

रागिणी वेश्याका धन चाहना तो किसी हद-तक ठीक है, किन्तु ऊपरसे वैराग्यका उपदेश करने-वाले और अन्दरसे धनलोभी वञ्चक वाचालको धिक्कार है।

धनिभ्यो धनमादाय श्लाघते शास्त्रपाठकः।
बहुभ्यो मिथुनीभूय धनिभ्यो गणिका यथा॥

बहुत से धनियोंसे व्यभिचारद्वारा धन प्राप्त करके वेश्या जिस तरह अपने विपुल धन, सुन्दर रूप और चतुरताका बखान करती रहती है इसी प्रकार कोरा शास्त्रपाठी मनुष्य भी बहुत-से धनियोंके रञ्जनद्वारा धनोपार्जन करके 'मैं बड़ा पण्डित हूँ, मैंने इतना धनोपार्जन किया, मेरे समान और कौन है' इत्यादि नाना प्रकारसे अपना बड़प्पन बघारता रहता है। उस कोरे शास्त्रपाठीकी यह आत्मप्रशंसा कामियोंमें वेश्याओंकी आत्मप्रशंसाके समान उपेक्षणीय ही होती है।

न शोभते तथैवायं लोभी वेदान्तवाचकः।
चौर्येण निगडे दत्तो जटाभस्मधरो यथा॥

जटा और भस्म आदि वैराग्यके चिह्नोंको धारण किये हुए किन्तु चोरीके अपराधमें बेड़ियोंसे बँधे हुए साधुवेशधारीकी तरह लोभके कारण वेदान्तकी कथा कहनेवाला पण्डित भी शोभा नहीं पाता।

यदि वित्तार्जनेनैव विद्वांसो यान्ति गौरवम्।
कस्तर्हि वेश्याविदुषोर्विशेष इति वर्णय॥

यदि धन कमानेमें ही विद्वानोंका गौरव होता हो तो धन कमानेमें एक-सी चतुरता रखनेवाले विद्वान् और वेश्याका अन्तर तो बताओ?

अनित्यमिति यो वक्ति सेवते नित्यमेव तत्।
बहिर्मुखस्य तस्यास्य मा दर्शय महेश्वर!॥

लोगोंको दिखानेके लिये जो आदमी नित्य ही इस संसारको अनित्य बताता रहता है, परन्तु स्वयं निरन्तर उसी नाशवान् संसारमें उसे नित्य समझकर लिप्त हो रहा है, हे भगवन्! उस अन्तर्विषयी विरक्ताधमका हमें कभी मुँह भी न दिखाओ।

कामकिंकरतां प्राप्य सकामा सर्वकिंकराः।
कामेनैव परित्यक्तो निष्कामः कस्य किंकरः॥

लोभका दास बननेसे सम्पूर्ण विषयोंकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। फिर तो उसे सम्पूर्ण विषयोंका दास बनना पड़ जाता है, परन्तु जिन महापुरुषोंका लोभ ही नष्ट हो गया है ऐसे निष्काम लोग किसीके दास नहीं रहते, अर्थात् निर्लोभको ही स्वाराज्यसिद्धि प्राप्त हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्म-निवेदन

(लेखक–श्रीसुरेशचन्द्र शर्मा 'मञ्जु' भारतीय)

प्यारे कृष्ण !

(१)

हुआ है जबसे विकट वियोग,
न दी, ली सुधि कुछ तुमने आह !
मिलन को उत्सुक रहे नित नैन,
दहकती चितमें दुखकी दाह ॥

(२)

फड़कते अशुभ अंग हृदयेश !
चुभाते चितमें पैने तीर।
बढ़ेगा कब तक प्रियतम ये
विरहका पंचाली-सा चीर ॥

(३)

बढ़ाकर नेह-लता सुन्दर,
मिला हमको क्या सुन्दर फल।
विरहकी दावा है भड़की,
पड़े हम उसमें हैं निश्चल ॥

(४)

प्रणयका लाये सुन्दर फूल,
जपी फिर आँसूकी माला।
हृदय है भोग लगानेको,
दृगोंमें पानीका प्याला ॥

(५)

अजब है दान तुम्हारा हाय,
बिगड़ता उससे प्यारा राग।
चिता और चिंतासे ही नाथ !
मिलनका बढ़ता है अनुराग ॥

(६)

मगर ये सच मानो प्राणेश !
नहीं है इसमें कुछ सन्देह।
तुम्हें ही अंक भरेंगे पा,
करेंगे निर्जनमें हम गेह ॥

(७)

मधुप बन चाखेंगे या तो,
तुम्हारे हृदय-कमलका सार।
विरह-विष पीकर अथवा प्राण,
स्वर्ग-हित होवेंगे तैयार ॥

(८)

प्रथम तो बालक से बनकर,
झँकोरे हृत्तन्त्रीके तार।
अलापूँ कैसे कोई राग
बिगड़ कर बोली ये झंकार ॥

(९)

पकड़ यदि पाऊँगा तुमको
कहीं भी निर्जनमें जनमें।
लगाकर छातीसे कवि 'मंजु'
रुलाकर रोऊँगा तब मैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मचर्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी)

नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका संयम, गृहस्थाश्रमकी धार्मिक प्रवृत्ति, वानप्रस्थाश्रमकी तपस्या और संन्यासाश्रमका ब्रह्मज्ञान सभी ब्रह्मचर्याश्रमकी वीर्यरक्षा पर निर्भर करते हैं। संसारमें देखा जाता है कि प्रायः प्रत्येक वस्तुमें आधिभौतिक, आधिदैविक या आध्यात्मिक उन्नति करनेकी शक्ति विद्यमान है, परन्तु यदि किसी वस्तुमें, एकाधारमें ही सब प्रकारकी उन्नति करनेकी शक्ति है तो यही कहना पड़ेगा कि वह परम वस्तु ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्यके द्वारा आध्यात्मिक आदि उन्नति किसप्रकार होती है, यहाँ इसी बातको क्रमसे संक्षेपमें बतलाना है।

मुण्डकोपनिषद्में कहा गया है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्।

'सत्य, तपस्या, ज्ञान और ब्रह्मचर्यके द्वारा आत्माकी उपलब्धि होती है।' ब्रह्मचर्य ज्ञानरूप प्रदीपके लिये स्नेह (तैल) रूप है। संसार-समुद्रमें दिशा भूले हुए जीवोंके लिये ध्रुवरूप है। जगत्-यन्त्रकी जीवनी शक्ति है। इसीका आश्रय करके आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ जीव परमात्माका साक्षात्कार कर सकता है।

छान्दोग्योपनिषद्में कहा गया है—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्यवेष्टात्मानमनुविन्दते।

ब्रह्मचर्य ही यज्ञ और इष्टरूप है जिससे मनुष्य आत्माको प्राप्त हो सकता है।

श्रीभगवान् गीताजीमें कहते हैं।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

'वेदवित् ज्ञानीगण जिसको अक्षर पुरुष कहते हैं, वासनारहित यतीगण जिस परमपदको प्राप्त करते हैं और जिस परमपदकी इच्छासे साधक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हैं उसके विषयमें मैं संक्षेपसे कहता हूँ।' श्रीभगवान्ने इस श्लोकमें ब्रह्मचर्यके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति और आत्माकी उपलब्धि होती है यही बतलाया है।

जिस शक्तिके द्वारा प्राचीन कालमें महर्षि लोग ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके दसों दिशाओंमें उसकी प्रतिभा फैलाते थे और जिस शक्तिद्वारा उनके समाधि-शुद्ध अन्तःकरणमें वेदकी ज्योति जग उठती थी वह शक्ति ऊर्ध्वरेता महर्षियोंमें ब्रह्मचर्यकी ही शक्ति थी। आज हीनवीर्य भारतवासियोंमें ब्रह्मचर्यकी शक्ति नष्ट होनेसे वेदको देखना तो दूर रहा, उसका अर्थ करना और उच्चारण करना भी असम्भव-सा हो गया है एवं वेदके अर्थपर हजारों प्रकारके सन्देह हो रहे हैं। छान्दोग्योपनिषद्में इन्द्र-विरोचन-संवादमें इस सिद्धान्तको स्पष्ट करके दिखलाया है कि केवल ब्रह्मचर्यके द्वारा ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है।

समाधिके समय शरीरके अन्दर जो वैद्युतिक शक्ति भर जाती है उसका धारण केवल ब्रह्मचर्य शक्तिके द्वारा ही योगीगण कर सकते हैं अन्यथा अल्पवीर्य साधक यदि योगानुष्ठान कर तो वह कठिन रोगका शिकार हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव-शरीर श्रीभगवान्‌का पवित्र मन्दिर है, परन्तु इस मन्दिरकी नींव ब्रह्मचर्य ही है, उसके बिना श्रीभगवान् कदापि हृदय-मन्दिरमें सुशोभित नहीं हो सकते।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही है, विषयासक्त मन बन्धन और निर्विषय मन मोक्षका कारण है। योगशास्त्रका सिद्धान्त है कि मन, वायु और वीर्य तीनों एक सम्बन्धसे युक्त हैं, इनमें एकके वशीभूत होनेसे शेष दोनों आप ही वशमें हो जाते हैं। जिसका वीर्य वशीभूत हो जाता है उसका मन भी वशमें हो जाता है, मनके वशीभूत होनेसे निर्विषय अन्तःकरणमें ब्रह्मज्ञानका स्फुरण होता है। यही सब ब्रह्मचर्यके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति होनेके प्रमाण हैं।

अब ब्रह्मचर्यके द्वारा आधिदैविक उन्नति किसप्रकार होती है, इसे भी देखिये—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठासे परमशक्तिकी प्राप्ति होती है। योगदर्शनके विभूतिपादमें जितने प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन किया गया है, जैसे सूर्यमें संयमसे भुवनज्ञान, संस्कारमें संयम करनेसे परचित्त-ज्ञान आदि सभी ब्रह्मचर्यके द्वारा दैवी शक्ति प्राप्त होनेका ही फल है। महर्षिलोग जो अष्ट सिद्धि प्राप्त करके संसारमें सभी दैवी बातोंको कर दिखाते थे, जिनकी शक्तियोंका स्मरण करनेसे आज भी दीन-हीन भारतवासियोंके मृत कङ्कालमें नवीन प्राणका सञ्चार होने लगता है। संसारमें जो बड़े-बड़े कर्मवीर, धर्मवीर अपनी शक्तिके प्रतापसे अलौकिक कार्य कर गये और करते हैं वह सब ब्रह्मचर्यके द्वारा दैवी शक्ति प्राप्त होनेका ही फल है। इस शक्तिके प्राप्त होनेसे ही भीष्मपितामहको इच्छामृत्युकी शक्ति मिली थी और शरशय्यापर शयन करके उन्होंने पवित्र ब्रह्मज्ञान तथा धर्मका उपदेश दिया था। मनुजी कहते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥

परिव्राजक योगी और सम्मुख रणमें प्राण त्याग करनेवाले महापुरुष ये दोनों ही सूर्यमण्डलको भेदकर उत्तरायण-गतिको प्राप्त करते हैं, उनको दुःखमय संसारमें फिरसे लौटकर आना नहीं पड़ता। इस उत्तरायण-गतिकी प्राप्तिसे ब्रह्मचर्यकी ही महिमा प्रकट होती है।

अब ब्रह्मचर्यके द्वारा आधिभौतिक उन्नति किस तरह होती है, इस बातपर विचार किया जाता है—

शरीरमाद्यं खलु सर्वसाधनम्।

स्थूल शरीरकी रक्षा किये बिना मनुष्य किसी प्रकारकी उन्नति नहीं कर सकता। मानसिक उन्नति या आध्यात्मिक उन्नति सभी प्रकारकी उन्नति शारीरिक स्वास्थ्यपर ही निर्भर है। शरीरमें सबसे उत्तम धातु वीर्य है जिसकी रक्षासे स्वास्थ्यकी रक्षा हुआ करती है। चिकित्साशास्त्रका सिद्धान्त है कि भोजन किया हुआ अन्न पाकस्थलीमें जाकर पहले रस बनता है, रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे शुक्र (वीर्य) बनता है। इस तरह एक महीनेमें वीर्य बनता है और चालीस बूँद रक्तका एक बूँद वीर्य बनता है। इसीसे समझ सकते हैं कि स्वास्थ्यके साथ वीर्यका कितना बड़ा सम्बन्ध है। वीर्य ही सारे शरीरका प्राणरूप है। वीर्यकी ही रुकावटसे प्राणकी पुष्टि, समस्त शरीरमें कान्ति और मानसिक शान्ति बनी रहती है। वीर्यके नाशसे प्राण-नाश और सभी प्रकारके रोग होते हैं। शरीरकी नीरोगताके विषयमें महर्षियोंने कहा है—

सत्त्वं रजस्तमः प्रकृतेः स्युस्त्रयो गुणाः।
तेषां गुणानां यत्साम्यं तदाहुः स्वास्थ्यलक्षणम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

76165

प्रकृतिके तीन गुण हैं, उनके सम रहनेसे शरीर और मनकी स्वास्थ्य-रक्षा होती है, इन तीनों गुणोंके अनुसार शरीरमें पित्त, वायु और कफ रहा करता है। पित्त सात्विक, वायु राजसिक और कफ तामसिक है। पित्त वायु और कफकी समतासे शरीर नीरोग और अन्तःकरणमें भी शान्ति तथा आनन्द बना रहता है। वीर्यके साथ वायुका सम्बन्ध होनेसे वीर्यकी स्थिरतासे वायु भी शान्त रहता है जिससे मन भी शान्त रहता है। अन्तःकरणके शान्त रहनेसे ही मनुष्य परम सुखी और आध्यात्मिक उन्नतिशील होता है, इससे सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य-रक्षा ही सब प्रकारके आनन्दका मूल निदान है। वीर्यकी रक्षा न करनेवाला किसी भी साधनमें सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।

शरीरके भीतर एक मनोवहा नामकी नाड़ी है जो मनुष्यके चित्तमें काम-भावके पैदा होते ही दूधको मथकर मक्खन निकालनेकी तरह शरीर और रक्तको मथकर वीर्यको निकालती है। मनोवहा नाड़ीके साथ शरीरकी सब नाड़ियोंका सम्बन्ध है, इसलिये शुक्रनाशके समय शरीरकी सब नाड़ियाँ काँप उठती हैं। शरीरके सब यन्त्र हिल जाते हैं जिसकी प्रतिक्रिया शरीर और मनपर इतनी होती है कि उस पाशविक क्रियाके अन्तमें शरीर और मन अति दीन हीन खिन्न दुर्बल और मृतप्राय होकर दुःखके अनन्त समुद्रमें डूब जाता है। इसीलिये श्रीगीताजीमें भगवान् कहते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

जिस तरह मरे हुए मनुष्यके सामने काम या क्रोधका कोई विषय उपस्थित करनेपर उस मुर्देमें किसी प्रकारकी चञ्चलता नहीं होती, इसी तरह जीते ही जिसने शरीर और मनको इतना शान्त कर लिया है कि किसी प्रकार भी काम और क्रोधसे इन्द्रियाँ चञ्चल न हों, वही योगी और वही सुखी है।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

वीर्यनाशसे मनुष्यकी मृत्यु और वीर्य धारणसे मनुष्यका जीवन है। शरीरके समस्त यन्त्रोंमेंसे स्नायु, पाकस्थली, हृदय और मस्तिष्क, ये चार मुख्य यन्त्र हैं। वीर्य-नाशसे इन चारों यन्त्रोंपर कठिन आघात पहुँचता है। कामका तुच्छ सुख केवल इन्द्रियोंके स्नायुओंकी चञ्चलतासे होता है। परन्तु वह बार-बार चञ्चल होनेसे नसें दुर्बल हो जाती हैं और साथ ही शरीरके सब स्नायुओंमें आघात लगनेसे वे सब भी दुर्बल हो जाते हैं। फल यह होता है कि उनमें वीर्य-धारण करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे सामान्य काम-संकल्प या चाञ्चल्यसे ही वीर्य नष्ट होने लगता है और धातु-दौर्बल्य, प्रमेह, स्वप्नमेह, मधुमेह आदि कठिन-कठिन रोग हो जाते हैं। शरीरके स्नायुओंपर अधिक धक्का लगनेसे लकुआ, मिर्गी और गठिया आदि कितने भीषण रोग हो जाते हैं। इतना ही नहीं, जिस विषय-सुखके लिये विषयी लोग ब्रह्मानन्दको भी तुच्छ समझते हैं वह विषय-सुख भी ब्रह्मचर्य न पालन करनेसे धारण-शक्ति नष्ट हो जानेके कारण नहीं मिल सकता। इससे और भी अनेक बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं।

दूसरी बात यह है कि प्राण-वायुके साथ अपान-वायुका और अपान-वायुके साथ वीर्यका सम्बन्ध रहनेसे अपान-वायुके खराब होनेसे पायु यन्त्र सम्बन्धी सब रोग हो जाते हैं। जैसे, समयपर शौच न होना, अधिक दस्त होना, दस्त बन्द हो जाना, पेटमें आम होना आदि। जिस उष्णताके रहनेसे पेटमें अन्न पचता है, वीर्य-नाशसे वह उष्णता जाती रहती है, जिससे पित्त-प्रकृति नष्ट होकर कफ-प्रकृति होती है और पित्त दुर्बल होनेसे अजीर्ण होता है।

तीसरे, वीर्य-नाशके समय हृदयको बहुत धक्का लगता है, क्योंकि हृदय ही रक्तका मूल स्थान है। जितने बार दुग्धके सारभूत मक्खनकी तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्तका सारभूत वीर्य नष्ट होगा उतनी ही बार दुर्बल रक्तको पुष्ट करनेके लिये हृद्-यन्त्रसे रक्तका प्रवाह होगा। जिसका फल यह होगा कि हृद्-यन्त्र पर चोट लगेगी जिससे क्षय, कास, यक्ष्मा आदि कठिन रोग उत्पन्न होकर मनुष्यको अकाल मृत्युके ग्रासमें डाल देंगे।

चौथी बात यह है कि वीर्य-नाशसे मस्तिष्कको बहुत ही धक्का लगता है। शरीरका सर्वोत्तम अङ्ग मस्तिष्क है। उसमें शरीरके सारभूत पदार्थ भरे रहते हैं। मस्तिष्क ही समस्त स्नायुओंका भी केन्द्रस्थान है इसलिये वीर्य-नाशसे मस्तिष्क निःसार और दुर्बल हो जाता है जिससे स्मृति, बुद्धि, प्रतिभा सभी नष्ट होने लगती हैं। मनुष्य सामान्य दिमागी परिश्रमसे ही थक जाता है। उसका सिर घूमने लगता है। वह आध्यात्मिक विषयोंपर विचार नहीं कर सकता। बहुत देरतक किसी बातपर चित्त लगाकर विचार नहीं कर सकता। थोड़ी-थोड़ी-सी बातमें घबराहट होने लगती है। प्रकृति रूखी, क्रोधी तथा भीरु हो जाती है। आँख, कान आदि सब दुर्बल हो जाते हैं। यह सब वीर्य-नाशका ही फल है।

भारतवर्षमें जो आज आर्य-शास्त्रोंपर इतना सन्देह फैल गया है। अनन्त मतभेद हो गये हैं। शास्त्रोंका सिद्धान्त ठीक-ठीक ज्ञात नहीं हो रहा है। यह सब भारतवासियोंमें ब्रह्मचर्यहीनताहीका फल है।

आज सच्चे ब्राह्मण और क्षत्रिय विरले ही मिलते हैं। ब्राह्मणोंकी वह शक्ति और क्षत्रियोंका वह तेज कुछ भी नहीं है। जो ऋषि पहले अमोघ वीर्य होते थे, उनके पुत्र आज निर्वीर्य हो रहे हैं, आर्यसन्तान आज तेजहीन होकर भारतमाताके मुखपर कलङ्क आरोपण कर रहे हैं। ऋषियोंके दिव्य नेत्र और ज्ञान-नेत्र नष्ट होकर आज चश्मेके बिना देखा नहीं जाता। हमारा शरीर और मन श्मशानके दृश्यको स्मरण करा रहे हैं। वेदके मन्त्र देखना और शुद्ध उच्चारण करना तो दूर रहा, वेदके अर्थोंपर भी हजारों प्रकारकी लड़ाइयाँ चल पड़ी हैं। तपस्याके फलसे ज्ञानार्जन कर ब्रह्म-साक्षात्कार करना तो दूर रहा, आज अज्ञानकी घनघोर घटा भारताकाशको सब ओरसे आच्छन्न कर रही है। ये सब दुर्भाग्य और दुर्दशाएँ आर्य-जातिमें ब्रह्मचर्य-हीनताका ही फल है।

अतएव ब्रह्मचर्य-पालनकी प्रतिष्ठा अवश्य ही होनी चाहिये। द्विज-बालकोंको उपनयन-संस्कारके बाद अवश्य ही ब्रह्मचर्यव्रत पालन कराना चाहिये। जिससे उनका समस्त जीवन शान्ति-सुखमय और देश तथा धर्मके लिये सुखकर हो जाय।

यहाँ ब्रह्मचर्य-पालनके कुछ नियम लिखे जाते हैं। आशा है कि सर्वसाधारण विशेषतः साधक लोग तो कम-से-कम इन बातोंपर अवश्य ही ध्यान देंगे।

साधन

स्त्रियोंका स्मरण, कीर्तन, केलि, दर्शन, गुप्त बात, संकल्प, चेष्टा और क्रिया-समाप्ति यही आठ अङ्ग मैथुनके हैं, इन सबसे विपरीत होना ब्रह्मचर्य है जोकि सदा पालन करना चाहिये। स्त्री-पुरुष दोनों ही परस्पर इन नियमोंका पालन करें। इन नियमोंका पालन करनेके लिये शरीर मन और बुद्धि तीनोंको ही संयत रखना ब्रह्मचारीके लिये कर्तव्य होना चाहिये।

पहले शरीरको संयत रखनेके लिये अन्यान्य उपायोंके अतिरिक्त खान-पानका भी विचार अवश्य रखना चाहिये। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें त्रिविध आहारके विषयमें कहा है—

आयु, प्राणशक्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिका बढ़ानेवाला सरस, स्निग्ध, सारयुक्त और चित्तको सन्तोष देनेवाला आहार सात्विक मनुष्यको प्रिय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे दुःख, शोक और रोग हो, इसप्रकारका कड़ुआ, खट्टा, नमकीन, बहुत गरम, तीखा, रूखा और शरीरमें जलन पैदा करनेवाला आहार राजसिक लोगोंको प्रिय है।

कच्चा, रसहीन, दुर्गन्धियुक्त, बासी, उच्छिष्ट और अभक्ष्य आहार तामसिक लोगोंको प्रिय है। ब्रह्मचारीको सात्विक आहार करना चाहिये।

प्याज,लहसुन,लाल मिरच,खटाई आदि राजसिक-तामसिक पदार्थ हैं। गरिष्ठ और मसालेदार अन्न ब्रह्मचारीको कभी नहीं खाना चाहिये। तमाखू, भाँग आदि मादक द्रव्योंका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये। पलंग आदिपर नहीं सोना चाहिये। जहाँतक हो जमीनपर सोना चाहिये।

बुरे विचार पैदा करनेवाली खराब पुस्तकें पढ़ना, कुसङ्ग, कुचिन्ता, बुरे चित्र देखना और आपसमें कामविषयक बातें करना बिल्कुल छोड़ देना चाहिये। एकाहार अथवा रातको लघु भोजन करना चाहिये। सोते समय ठण्डा जल पीना, प्रातःकाल निद्रा टूटनेपर फिर सोना, पान खाना, दिनमें सोना और प्रातःकालतक सोते रहना आदि ब्रह्मचारीको कभी नहीं चाहिये।

ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर शौचादिसे निवृत्त हो प्रातःसन्ध्या एवं देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करना चाहिये। सन्ध्याके साथ-साथ गुरुकी आज्ञानुसार पूजा, प्राणायाम और मुद्रा आदिका अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम और मुद्रा आदिके अभ्याससे चित्त शान्त और एकाग्र होता है और स्नायु भी सतेज रहते हैं, जिससे ब्रह्मचर्यकी रक्षा और शारीरिक नीरोगता रहती है। पूजा करनेसे मानसिक उन्नति और भक्ति बढ़ेगी। मनको संयत करनेके लिये सदा ब्रह्मचारीको यत्न करना चाहिये।

ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये बुद्धिकी भी सहायता लेनी चाहिये। बुद्धिके द्वारा विचार करके सत्या-सत्यका निर्णय करना चाहिये। संसारमें त्यागका सात्त्विक सुख, भोगके राजसिक सुखसे कहीं उत्तम है। विषय-सुखके अन्तमें किसप्रकार परिणाम-दुःख मनुष्यके चित्तको दुखी करता है और निवृत्तिका आनन्द किसप्रकार मनुष्यके लिये प्रवृत्तिसे उत्तम और नित्यानन्दमय है इन बातोंका विचार ब्रह्मचारीको सदा ही अपने हृदयमें धारणकर व्रतके पालनमें तत्पर होना चाहिये।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यसुखं महत्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

संसारमें जो काम-सुख और स्वर्गमें जो महान् दिव्य सुख हैं वे कोई भी सुख वासना-नाश-सुखके षोडशांशमें एक अंशके बराबर भी सुख देनेवाले नहीं हैं, इसीलिये श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

जो इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले भोग हैं वे विषयी पुरुषोंको मोहवश सुखरूप दीखनेपर भी वास्तवमें दुःखके ही हेतु और आदि अन्तवाले हैं, इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी जन उनमें मन नहीं लगाता।

ब्रह्मचर्याश्रमका प्रधान कर्तव्य गुरुसेवा है। श्रुतिमें भी लिखा है 'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव' 'आचार्य देवो भव' माता-पिता और गुरुकी सेवा करनी चाहिये।

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्य्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥

जिसप्रकार खनित्रसे खोदनेसे जल मिलता है, उसी तरह सेवाके द्वारा गुरुसे विद्या मिलती है। ब्रह्मचर्याश्रमके धर्म मनु महाराजने अपनी संहितामें विशेषरूपसे बतलाये हैं, वहाँ देखने चाहिये।

आजकल गुरुसेवाकी रीति बहुत घट गयी है। पाश्चात्य-शिक्षालयोंमें तो यह रीति एक प्रकारसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठ ही गयी है, वहाँ केवल अर्थके विनिमयसे विद्या प्राप्त होती है इसलिये शिक्षा भी ऐसी ही होती है, जिससे अहंकार और अश्रद्धामात्र बढ़ती जाती है। आध्यात्मिक उन्नति कुछ भी नहीं होती। यह रीति सुधारने योग्य है। प्राचीन रीतिकी फिरसे प्रतिष्ठा होनी चाहिये।

प्रत्येक धर्मकी विधिके देशकालानुकूल होनेसे ही उससे सुफल फलनेकी आशा होती है। इसलिये ब्रह्मचर्याश्रममें प्राचीन वैदिक शिक्षाके साथ-साथ देश-काल-ज्ञान और देश-कालके अनुकूल शिक्षा भी अवश्य होनी चाहिये। जिससे गृहस्थाश्रममें वृत्ति भी सुलभ हो और धर्म भी बना रहे। ब्रह्मचर्याश्रमकी शिक्षा साधारण पाटशालाकी तरह नहीं होनी चाहिये। उसकी विशेषता और गौरवपर ध्यान रहना चाहिये। कलियुगमें गर्भाधानादि संस्कार ठीक-ठीक न होनेसे सन्तानका शरीर प्रायः कामज होता है। इसलिये अनेक चेष्टा करनेपर भी पूरी ब्रह्मचर्य-रक्षा कठिन हो गयी है, तथापि जहाँतक हो सके, इसके पालनमें सबको तत्पर होना चाहिये। यदि व्यावहारिक शिक्षालयमें ही प्रविष्ट होना पड़े तो उस दशामें भी जहाँतक हो सके ब्रह्मचर्यरक्षा, गुरुसेवा, व्यावहारिक अर्थकरी विद्याके साथ-साथ शास्त्रीय शिक्षा भी प्राप्त करनी चाहिये, जिससे भविष्यत् जीवन धर्ममय, सुखमय और शान्तिमय हो।

पिता-माताका कर्तव्य है कि अपनी सन्तानको बालकपनमें पहले धार्मिक शिक्षा देकर पीछे व्यावहारिक शिक्षा दें। क्योंकि बाल्यावस्थामें धर्मका संस्कार चित्तपर जम जानेसे सन्तान भविष्य-जीवनमें कभी नहीं बिगड़ सकेगी। ये सब बातें ध्यान देने योग्य हैं।

विरह वेदना

(लेखक—श्रीवियोगी हरिजी)

प्रियतम! इस हृदय-विहारिणी विरह-वेदनाका मैं स्वयमेव स्वागत करता हूँ; मेरा विदीर्ण मानस इस मधुमयी यंत्रणासे सदा आन्दोलित होता रहे—बस, यही एक अन्यतम अभिलाषा है।

तबसे फिर तुम कहाँ मिले! हाथ छुड़ाकर भागे सो भागे। मुझे यह नहीं कहना है कि, मेरा तुम क्या लेकर भागे। हृदय-हारी! मेरा था ही क्या? अपना एक चञ्चल चित्त ही तो था। सो उसे अपना कर अच्छा ही किया। मुझे उसका कोई उपालम्भ देनेको नहीं। तुम जो मेरे तुच्छ चित्तापहरणके बदले अपनी अमूल्य स्मृति-मणि दे गये, उसे पाकर मैं आज किसी अलकेशसे कम भाग्यवान् नहीं। उसी अमन्द मणिके प्रकाशमें मैंने अपनी भावना-लेखनीसे इस हृदय-पटलपर तुम्हारा एक चित्र अङ्कित किया है। उसी मणिके आलोकमें मुझे इस प्रेम-सुधाका दिव्य दर्शन हुआ है। उस मणि-प्रकाशमें मेरा यह सुधा-घट मुझसे कौन छीनकर ले जा सकता है?

दया-धाम! काँटा निकालकर क्या करोगे? चुभा सो चुभा। उसकी कसकीली चुभन ही तो अबतक मेरे इन अधीर प्राणोंको धैर्य्य बँधाती आयी है। सच मानो, प्रीति-गलीके इस काँटेकी कसकीली चुभन या चुभीली कसक ही मेरे जीर्ण-शीर्ण जीवनका एक मधुरतम अनुभव है। सो, नाथ! यह काँटा अब ऐसा ही चुभा रहने दो।

करुणाकर! कृपा करो, किरकिरी निकालकर क्या करोगे? पड़ी सो पड़ी। इस कसक-किरकिरीकी ही बदौलत ये आँखें तुम्हें देखनेको अबतक खुली हैं। सच कहता हूँ, प्रेम-तूफानकी कसकीली किरकिरी ही मेरी आँखोंकी एकमात्र ज्योति है। सो, प्यारे! यह किरकिरी अब ऐसी ही पड़ी रहने दो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामचरितमानसका गुप्त तापस

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

तेहि अवसर एक तापस आवा। तेज पुंज लघु बयस सुहावा॥
कवि अलखित गति बेष बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी॥

सजल नयन तनु पुलक निज इष्टदेव पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि॥१०६॥

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा॥
मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु कह सब कोऊ॥
बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाय उमँगि अनुरागा॥
पुनि सियचरनधूरि धरि शीशा। जननि जानि शिशु दीन्ह अशीशा॥
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि राम सनेही॥
पियत नयनपुट रूप पियूषा। मुदित सुअशन पाइ जिमि भूखा॥

उपर्युक्त प्रसंग श्रीअवधकाण्डके अन्तर्गत १०५ वें दोहेके पश्चात् छठी चौपाईसे आरम्भ होकर १०६ वें दोहेके पश्चात् छः चौपाइयोंमें वर्णित है श्रीरघुनाथजीकी वनयात्रामें यमुनापार होते ही यह घटना हुई है। मूल पदान्तर्गत केवल 'एक तापस आवा' मात्रके अवलम्बनसे श्रीरामायणके टीकाकारों तथा कथावाचक महानुभावोंद्वारा जो अनुमान प्रकट किये गये हैं वे प्रायः इसप्रकार हैं:—

(१) किसीका मत है कि वह तापस अग्निदेव थे, क्योंकि 'तेजपुंज' रूप कहा है।

(२) कोई कहते हैं कि वह तापस वाल्मीकि ऋषि थे जो स्वागतार्थ आये थे।

(३) कुछ लोगोंका कहना है कि चित्रकूट-गिरि ही तापसवेषमें स्वागतार्थ आये थे। *

(४) कोई कहते हैं कि वह तापसरूप स्वयं सूर्य-देव थे, जिन्होंने तीन पथिकोंकी यात्रा निषेधात्मक समझकर निज कुलोत्पन्न प्रभुके चौथे साथी होनेका प्रयत्न किया था।

(५) कोई कहते हैं कि महारामायणमें अगस्त्य-जीके शिष्यका मिलना सुना जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि जब मूल पद ही महाकूट काव्य बन रहा है जिसमें केवल पहेली-सी ही बुझायी गयी है तो फिर अपनी-अपनी अटकल लगानेके सिवा और किया ही क्या जा सकता है? परन्तु आश्चर्यकी बात तो यह है कि जिन श्रीगोस्वामीजीके निश्चित वाक्य ग्रन्थके आदिमें ही उनकी सम्मतिका प्रगाढ़ प्रमाण स्पष्ट कर रहे हैं। यथा:—

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥१४॥
(बालकाण्ड)

साधारण बोधवाले भी इस महालाभसे वञ्चित न रह जायँ अतः जिनकी सरल काव्य करनेकी प्रतिज्ञा "भाषा बंध करब मैं सोई" से भी सूचित है। उन सर्वहितैषी सरलचित्त सन्तभूषण श्रीगोस्वामीजीके द्वारा ऐसे कूट प्रसंगकी रचना अकस्मात् और ऐसी अप्रासङ्गिक कैसे हो सकती है? इस विचारपर सूक्ष्म दृष्टि डालनेसे इसमें एक विलक्षण और अद्भुत भगवत्-भागवत रहस्यकी तहका पता लगता है जिससे परमकृपालु करुणाधाम चरित-नायक श्रीरघुनाथजीके वात्सल्य, विरद एवं विशुद्ध-प्रेमी सच्चे शरणागत चरितकार श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके अनन्य प्रेम, की 'सही' (प्रमाणता) विनय-पत्रिकाकी—'तुलसी अनाथकी परी रघुनाथ हाथ सही है'—ही भाँति चरितार्थ हो जाती है।

श्रीरामचरित-मानसके केवल एक अवधकाण्ड-का श्रीगोस्वामीजीने 'निश्चल नियमपरायण' श्री-भरतलालका मुख्यतः चरित जानकर जिनके 'नेम देखि मुनिराज लजाहीं' तथा 'भरतचरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं'—का ही प्रधान लक्ष्य करते

* चित्रकूट अस श्रवण सुनि यमुनतीर भगवान। बाल बिरागी बेष धरि गये लेन अगवान॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए इस नियमके अनुसार रचा है कि ८ चौपाईपर १ दोहा और २४ दोहोंके उपरान्त २५ वें दोहेकी जगह १ छन्द तथा १ सोरठा रक्खा है। बराबर इसी संख्याके अनुसार इस काण्डकी रचना हुई है। यद्यपि अन्य काण्डोंमें ऐसा नियम नहीं पाया जाता परन्तु अवधकाण्डमें इस नियमके अनुसार ही कुल १३ छन्द और १३ सोरठे तथा ३१३ दोहोंकी संख्या पायी जाती है।

उपर्युक्त संख्याका जोड़ देखते हुए दोहोंकी संख्या ३१२ होनेकी जगह ३१३ क्यों हो गयी है? क्योंकि २४×१३=३१२ ही होते हैं। यह खटकनेकी बात है। विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इस उपर्युक्त तापसके ही प्रसंगवश (जो ८ चौपाई और १ दोहेका है) इसी स्थलके भागमें १ दोहेकी संख्या बढ़ाकर २४ की जगह २५ दोहेके पश्चात् छन्दकी रचना की गयी है। तात्पर्य यह कि इस प्रसंगके पूर्ववाला छन्द ९६ दोहोंके पश्चात् है जो चौथा है "पदकमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।" यहाँतक २४-२४ दोहोंके बाद छन्द-संख्या चौथे-पदकी दोहा-संख्या ९६ वां (२४×४=९६) ठीक ही है। इस प्रसङ्गका अगला छन्द ९६ से २४ जोड़कर १२० दोहेके बाद होना चाहिये था। परन्तु १२० की जगह १२१ दोहेके पश्चात् ५ वाँ छन्द श्रीवाल्मीकि वचन-'श्रुतिसेतु पालक राम! तुम जगदीश माया जानकी' विद्यमान है। इन्हीं ४ थे और ५ वें दोनों छन्दोंके ही बीचमें १०६ दोहेपर यह तापस प्रसङ्ग है और केवल इस तापसप्रसङ्ग वाले १ दोहेकी अधिकता छोड़कर आगे फिर काण्डभरमें पहलेकी भाँति वही २४-२४ दोहेका ही क्रम अन्ततक ठीक चला गया है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि यह तापस-प्रसङ्गका एक दोहा जो ग्रन्थकारकी नियमित संख्यायुक्त रचनासे अधिक तथा उनके रचित प्रसङ्गके बीचमें अप्रासंगिक घुसा हुआ पाया जाता है। इसके पूर्व और पश्चात्के ग्रन्थकार रचित पदोंका मेल भी स्पष्ट दीखता है। यथा 'तेहि अवसर एक तापस आवा।' के पूर्वकी चौपाई है:—

सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानीराय कीन्ह भल नाहीं॥

और इस प्रसंगके अन्तिम पद 'मुदित सुअशन पाइ जिमि भूखा' के पश्चात्की चौपाई है:—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे॥

अर्थात् समस्त यमुनातीरवासी नर-नारी वन-गमनका प्रसंग सुनकर पछताते हैं कि राजा-रानीने अच्छा नहीं किया। स्त्रियाँ आपसमें कहती हैं कि 'हे सखी! वे पिता-माता कैसे होंगे कि जिन्होंने ऐसे बालकोंको वनमें भेज दिया!' 'कहहु सखि कैसे' वह वचन तापसका हो ही नहीं सकता। उसका प्रसंग तो 'पियत नयनपुट रूपपियूषा' अर्थात् दर्शनानन्द लेने लगा—यहीं समाप्त है। अतएव श्रीगोस्वामीजीद्वारा इस प्रसंगकी रचना न होनेकी और भी पुष्टि हो रही है। यदि ग्रन्थकारजीको किसीके भी आगमन या मिलनकी कथा रचनी होती तो उसका स्पष्ट नाम लिखनेमें क्या आपत्ति थी, चाहे वह अग्निदेव हों या वाल्मीकिजी, चित्रकूट हों या सूर्यदेव, अगस्त्यके शिष्य हों वा स्वयं अगस्त्यजी हों। क्या उपर्युक्त नामोंके उल्लेख न करनेका ग्रन्थमें कहीं किञ्चित् भी ख्याल किया गया है? कदापि नहीं। बल्कि जब जहाँ प्रसंग आया है, बराबर स्पष्ट नाम दिये गये हैं। प्रमाणार्थ एक-एक पद दिखा दिये जाते हैं। वैसे तो अनेक स्थलोंमें पाये जाते हैं।

अग्नि—प्रगटे अग्नि चरू कर लीन्हें।
वाल्मीकि—बालमीक मन आनँद भारी।
चित्रकूट—चित्रकूट गिर करहु निवासू।
सूर्य—कौतुक देखि पतंग भुलाना।
अगस्त्य—मुनि अगस्त्यकर शिष्य सुजाना।
शिष्य—नाम सुतीक्षण रति भगवाना।

इन उल्लिखित व्यक्तियोंके सिवा और भी जिस किसीको रामचरितसे सम्बन्ध दिया गया है उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम भी आवश्यकतानुसार हर जगह अवश्य दिया है, फिर यहाँ तो अति आवश्यक है, कारण कि जिसका इतने आह्लाद—प्रेमसे ८ चौपाई और १ दोहेमें मिलन-वर्णन किया गया हो उसका नाम पता न बताना कैसे सम्भव है ? इसलिये ग्रन्थकारके लिये तो जानकर छिपाना असम्भव ही है। इसी प्रकार कविको मालूम न होना उससे भी अधिक आश्चर्यमय है, जब कि 'बहुरि राम अस मन अनुमाना। होइहि भीर सबहि मोहि जाना' से स्वयं परमप्रभुके मनका अनुमानतक भी ज्ञात हो गया है। क्योंकि अन्तर्यामी सूत्रधार श्रीरामजी शारदाको दारुनारि (कठपुतली) बनाकर—'जेहिपर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी'—अपने कृपापात्र कविजनके उरमें नृत्य कराते हैं तो उसके जाननेमें रचनाके प्रसङ्गका कौन अंग बाकी रह सकता है ? अतः निश्चय मानना पड़ता है कि यह प्रसङ्ग ग्रन्थकारका स्वरचित होना सम्भव नहीं है। परन्तु आधुनिक क्षेपकोंकी भाँति ग्रन्थ-रचना हो जानेके पश्चात्का भी यह प्रसङ्ग कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक प्रामाणिक प्रतियोंमें पाये जानेके अतिरिक्त सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि स्वयं ग्रन्थकारने ही इसे अपनी नियमित संख्यामें जोड़कर ग्रन्थका मूल स्वीकार कर लिया है जैसा कि पञ्चम छन्दके प्रथम (पूर्व) की दोहा-संख्या १२० होनेकी जगह १२१ स्वयं ग्रन्थ-रचयिताने ही दे रक्खी है जो ऊपर दिये हुए हिसाबसे स्पष्ट हो गयी होगी। तात्पर्य, श्रीगोस्वामीजीके रचनाकालमें ही यह प्रसङ्ग बीचमें रचा जाना और किसी ऐसे पूज्यके द्वारा रचित होना सिद्ध होता है जिसको ग्रन्थ-कारने हृदयसे स्वीकार कर अपने ग्रन्थमें मूलरूपसे माननेका एक आह्लादपूर्ण विषय बना लिया है। क्योंकि इसे प्रेम-भावानुसार ही ग्रन्थमें ज्यों-का-त्यों भगवत्-प्रसाद मानकर अचल स्थान देकर अपने नियम-भंगकी संख्या अङ्कित करनेमें भी हर्ष माना गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आगन्तुक तापस कोई ऐसा ही पुरुष है, जिसका नाम-पता देना उक्त प्रसंगके रचयिताके लिये किसी कारण-विशेषसे सम्भव नहीं हो सका और मिलन कराके पुनः वियोग कराना भी सर्वथा अयोग्य—अनुचित समझा गया, इससे उसकी सदा सन्निधि ही प्रमाणित कर दी गयी है, सो भी इस गौरवके साथ कि प्रकटमें आगे चलकर कहीं पता ही नहीं लगता, जैसा कि ग्रन्थकारके रचित पदोंसे स्पष्ट है। यथाः—

चले ससीय मुदित दोउ भाई। रवितनुजा कै करत बड़ाई॥

× × ×

जे भरि नयन बिलोकहि रामहिं। सीता लखन सहित घनस्यामहिं॥

× × ×

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहि जाई॥

× × ×

राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फल होहिं सुखारी॥

× × ×

राम लखन सिय सुन्दरताई। सब चितवहिं मन मति चितलाई॥

उपर्युक्त पदोंसे सूचित है कि श्रीरघुनाथजी, श्रीलखनलाल और श्रीसीताजीके सिवा और कोई भी चौथा व्यक्ति साथ नहीं था। केवल तीन ही मूर्तियोंकी यात्राका बराबर प्रमाण है। बल्कि मार्ग-निवासी रक्षा और सेवाके लिये प्रार्थना करते हैं कि आप दोनों सुकुमार हैं, आपके साथ सुकुमारी नारी है और कोई सेवक सहायक भी नहीं है। अतः आज्ञा हो तो हम साथ चलें और जहाँ जाना है वहाँ पहुँचा आवें। इस प्रमाणसे किसीका भी स्वागतार्थ आना या तीन पथिकोंकी जगह चार संख्या करनेके लिये सम्मिलित होना इत्यादि सभी अनुमान असंगत हो जाते हैं। फिर इस समयतक तो गुहराज भी साथ मौजूद थे, जिन्हें लेकर चारकी संख्या है ही। उनकी बिदाईका प्रसङ्ग इसके पश्चात्के दोहा १०७ में है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तब रघुबीर अनेक बिधि, सखहिं सिखावन दीन्ह ।
राम रजायसु शीश धरि, भवन गवन तेहि कीन्ह ॥

बल्कि निषादका तो तापससे मिलना सिद्ध ही है, अतः उनके रहते पाँच व्यक्तियोंकी संख्या थी। अतएव अब यह स्पष्ट होनेकी बड़ी ही आवश्यकता है कि यह प्रसङ्ग किसके निमित्त और किस भावसे यहाँ आया है ?

श्रीअयोध्याके प्रसिद्ध रामायणी वैकुण्ठ-वासी बाबा माधवदासजी, जो श्रीकाशी चौकाघाट वरुणा-तीरपर निवास करते थे, इस 'दीन' से इस प्रसङ्गकी खोजपर इसीप्रकार सहमत थे, तथा मेरे परम कृपालु सद्गुरु श्री १०८ स्वामी परमहंसजी महाराज त्रिवेणी-बाँधगुफा प्रयाग-निवासीकी भी कृपा-अनुमति इसी प्रकार है कि यह प्रसङ्ग कोई दूसरे व्यक्तिके सम्बन्धमें न होकर केवल श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजके अन्तरंग भावकी साक्षात्कारताका ही प्रमाण है और वह इसप्रकार है कि जब ग्रन्थकारजी यमुना-पार होनेका चरित लिखकर वहाँके निकट (तट) वासी ग्रामीण मनुष्योंके आनन्दकी कथा, जो श्रीकृपालु प्रभु (श्रीसीता-राम-लक्ष्मणजी) के प्राप्त होनेसे उन्हें मिल रहा था, रचने लगे तो आपको अपने निवास-स्थानके सम्बन्धसे करुणार्द्र चित्त-वृत्तिमें एक प्रेमभाव उत्पन्न हो उठा। कारण कि जहाँ इस समय यमुनाजीके दक्षिण तटपर प्रभु पहुँचे हैं वहीं राजापुर (जिला बाँदा) श्रीगोस्वामीजीके निवास-से सम्बन्ध रखता है। बहुधा तो जीवनचरितद्वारा यही आपकी जन्मभूमि भी प्रमाणित है, परन्तु इतना तो निस्सन्देह है कि वहाँ आपका निवास अवश्य था जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण घाटकी माफ़ी और सङ्कट-मोचनादि मन्दिरोंका होना तथा श्रीअवधकाण्ड रामचरित-मानसकी प्राचीन प्रतिकी विद्यमानता है जो श्रीतुलसीमन्दिर राजापुरमें ही वर्तमान है।

श्रीग्रन्थकारजी इस भावको स्मरणकर भगवत्-प्रेममें मग्न हो गये कि 'यही भूमि है जहाँ यह अभागा कलियुगमें प्रवासी बना, यदि कहीं त्रेता-युगमें ही इसका जन्म हुआ होता तो सम्पूर्ण ग्राम-वासियोंकी ही भाँति यह आत्मा भी मङ्गलमूर्तियोंकी साक्षात् सन्निधि प्राप्त कर कृतार्थ हो गया होता।' यह अनुराग-दशा इतनी गहरी तहतक पहुँची कि देहानुसन्धान जाता रहा और लेखनी हाथसे छूट कर गिर पड़ी। भक्तवत्सल भगवान्ने सच्चे प्रेमकी आर्तदशाका निरीक्षण कर, श्रीसुतीक्ष्णजीकी ही भाँति—'अतिशय प्रेम देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय-हरण भव-भीरा'—अपने 'राम पुनीत प्रेम अनुगामी' विरदको सत्य करते हुए ग्रन्थकारजीके अन्तःकरणमें अनुज-जानकी-सहित श्रीरघुनाथजी बल्कि निषादराजको भी सङ्ग लिये हुए प्रकट हो गये और जो कल्पना श्रीगोस्वामीजीके हृदयमें स्फुरण हो रही थी उसीकी पूर्तिके लिये दूसरे ग्रामवासियोंकी ही भाँति हृदयानुसन्धानद्वारा मानसिक मिलन उसी प्रकार प्रदान कर दिया जैसा इन ८ चौपाई और १ दोहेमें वर्णित है। तात्पर्य श्रीविरदपाल प्रभुने अपनी भक्त-वत्सलतासे इस बातका पूर्ण सन्तोष प्रदान कर दिया कि ग्रन्थकारजीको कोई पश्चात्ताप न रह जाय, उनका भी मिलन स्वीकार है। श्रीरामचरित-मानसमें यह स्थल अपूर्व और दिव्य है। जब श्रीगोस्वामीजी उस आनन्दको उपलब्ध कर सचेत होते हैं तो क्या देखते हैं कि वही बातें जो आपको ध्यानमें स्फुरित हुईं, आपके द्वारा रचित चौपाईसे आगे ग्रन्थमें ८ चौपाई और १ दोहेमें ज्यों-की-त्यों लिखी विद्यमान हैं। इस दिव्य महाप्रदानका साक्षात् कर गोस्वामीजी कृतकृत्य हो जाते हैं और अपनेको धन्य मान उस प्रसादको यथास्थान ज्यों-का-त्यों सुरक्षित कर उसे भी अपने ग्रन्थकी मूल संख्यामें जोड़ पहले छोड़ी हुई कथासे मिलाते हुए आगेका वर्णन आरम्भ करते हैं कि 'ते पितु मातु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठये बन बालक ऐसे' इत्यादि। एक प्रमाण ग्रन्थकारके मुग्ध-हृदयताकी पुष्टिका और भी है, जो उनके आनन्दकी सीमाको स्मरण करा रहा है कि इस दिव्य सुखानुभूतिसे जगनेपर उस प्रेमशिथिल हृदयसे नवीन पद रचनेकी चैतन्यता भी शिथिल हो गयी और अपना ही पूर्व-रचित पद जो शृंगवेरपुर पहुँचनेपर दोहा ८५ के पीछे दूसरी चौपाईमें– ते पितु मातु कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठये बन बालक ऐसे'–शृंगवेरपुरवासी नर-नारियोंद्वारा वर्णन कर चुके थे, वही अक्षर-अक्षर फिर दोहरा उठे ।

इस तापस-प्रसंगके शब्दार्थोंकी तारतम्यता विचारनेमें भी कोई खटकने लायक बेमेल बात नहीं प्रतीत होती । विरक्तवेष श्रीगोस्वामीजीको तापस कहना उचित ही है । तेजपुंज ब्राह्मणशरीर स्वभाव-कर्मानुसार होता ही है । लघुवयस 'बालक सुत सम दास अमानी' सिद्ध ही है । सुहावा भजनानन्दका स्वरूप ही है। बेष बिरागी तो आप थे ही और मन क्रम बचन राम अनुरागी के बारेमें आपके लिये क्या कहना है । कबि अलखित गति तो मानो इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये कहा गया है कि सचमुच यह दैहिक मिलन न होकर केवल मानसिक सन्निधिका ही प्रकरण है, जब श्रीमानसके कवि स्वयं ही देहानुसन्धानरहित (बेहोश) दशामें हैं तभी तो उनमें लखनेकी शक्ति नहीं है । अतएव अलखितगति यथार्थ संगत है । सजल नयन तनु पुलक आदि सात्विकभाव प्रेम-दशामें होते ही हैं प्रेम और परमारथके मिलनकी उपमा भी गोस्वामीजी और सरकारके लिये सर्वथा सार्थक है । श्रीलखनलालके पग लगना श्रीसीताचरण-रजको मातृभावानुसार शीश धरना ग्रन्थकारके ही भावोंका द्योतक है । निषादराजका वर्णाश्रम-धर्मानुसार ब्राह्मण सन्तवेष विरक्त श्रीगोस्वामीजी-को मर्यादा देना मर्यादापुरुषोत्तमको अभीष्ट ही है । 'पियत नयनपुट रूपपियूषा । मुदित सुअसन पाइ जिमि भूषा' के भावनार्थ तो करुणा ही उठी थी जो सदा अनन्तररूपसे प्रदान की गयी है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द श्रीगोस्वामीजीके ही लिये संगत हो जाता है । अतएव जिसप्रकार विनय-पत्रिकाके अन्तिम पद—

'मारुति मन रुचि भरतकी लखि लखन कही है ।
कलिकालहूँ नाथ नाम सो प्रतीति प्रीति एक किङ्करकी निबही है
सकल सभा सुनि लै उठी जानि रीति रही है ।
कृपा गरीब निवाजकी देखत गरीबको साहेब बाँह गही है ॥
बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैंहूँ लही है ।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथकी परी रघुनाथ हाथ सही है

—से श्रीराम दरबारकी सही प्राप्त है तथा श्रीरामगीतावलि आदि अपर ग्रन्थोंके मार्मिक पदों—

'राम लखन रिपुदवन भरतके चरित सरित अन्हवैया ।
तुलसी तबकेसे अजहुँ जानिये रघुबर नगर बसैया ॥'

तथा—

'तुलसी राम बिमल यश बरनत सो समाज उर आनी'

—द्वारा भी इस रहस्यकी पुष्टि होती है, उसी प्रकार श्रीरामचरित-मानसके अन्तर्गत यह प्रसंग अनन्यभक्तिभूषण श्रीगोस्वामी श्रीतुलसीदासजी-के ही प्रेम-मिलनके परमानन्दकी सही है । किसी अन्य व्यक्तिके आनेकी भिन्न कथा नहीं है। इसे भगवद्भक्त कदापि आश्चर्य न मान भगवान् शिवजीके इस वचनपर विश्वास कर मग्नचित्त होनेकी श्रद्धा करें किः—

'जाके हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा यह रीती ॥'

सियावर रामचन्द्रकी जय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्त-गाथा

(लेखक—चतुर्वेदी पं० श्रीद्वारिकाप्रसादजी शर्मा)

भक्तराज प्रह्लादके लिये भगवान्‌का नृसिंहावतार

यत्पादपद्ममवनम्य महाधमोऽपि
पापं विहाय व्रजति स्वमनोभिलाषम् ।
तं सर्वदेवमुकुटेडितपादपीठं
श्रीमन्नृसिंहमनिशं मनसा स्मरामि ॥

प्रह्लादजीका समावर्तन-संस्कार अभी नहीं हुआ था, अतएव शिक्षालाभ करनेपर भी अभी वे गुरुजीके आश्रममें निवास करते तथा पठन-पाठनके व्यसनमें ही लगे रहते थे। एक दिन गुरुजीकी अनुपस्थितिमें प्रह्लादजीके सहपाठी दैत्यबालकोंने उनसे पूछा कि—'राजकुमार! आपके मारनेके लिये इतने प्रबल प्रयत्न किये गये, किन्तु आपका बाल भी बाँका नहीं हुआ, इसका क्या कारण है? ऐसी कठिन आपत्तियोंमें आपकी किसने रक्षा की?' बालकोंके वचनोंको सुनकर प्रह्लादजीने ईश्वरकी महिमाका सविस्तर वर्णन किया और अन्तमें कहा कि—'हे असुरबालको! भगवान् हरि ही सबके रक्षक और सहायक हैं, तुम लोग ध्यान देकर सुनो, मैं उनकी और उनकी भक्तिकी कुछ महिमा तुम लोगोंको सुनाता हूँ—

'बड़ोंकी सेवा, भक्ति, समस्त प्राप्त वस्तुओंका समर्पण, साधु-भक्तोंका संग, ईश्वरका आराधन, भगवान्‌की कथामें श्रद्धा, भगवान्‌के गुण और कर्मोंका कीर्तन, भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान, भगवान्‌की मूर्तियोंके दर्शन और उनका पूजन एवं हमारे ईश्वर भगवान् श्रीहरि ही सर्वभूतप्राणियोंमें विराजमान हैं, इस निश्चयसे सब जीवोंमें समदृष्टि रखना। इन सब साधनोंके द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छओंको जीतकर भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये। ऐसा करनेसे वासुदेव भगवान्‌में अनन्य रति पैदा होती है। भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर, भगवान्‌ने अपनी लीलासे अवतार धारण कर जो विलक्षण कर्म किये हैं, उन्हें सुन-सुनकर जब अति हर्षके कारण मनुष्यका शरीर पुलकित हो जाता है, आनन्दके आँसू बहने लगते हैं, कण्ठ गद्गद् हो जाता है तब वह ऊँचे स्वरसे कभी नाचता-गाता हुआ आनन्दकी ध्वनि करता है, कभी पागलकी भाँति हँसता है, कभी रोता है, कभी ध्यान करता है, कभी सबमें हरि जानकर सभी लोगोंको प्रणाम करने लगता है, कभी बारम्बार साँस लेता हुआ लाज छोड़कर—'हे हरे, हे जगत्पते, हे नारायण' पुकारता है। इस दशामें वह समस्त बन्धनोंसे छूट जाता है। भगवान्‌की भावनासे उसका अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है, अनन्य भक्तिके प्रयोगसे उसके वासनारूप संसारका बीज दग्ध हो जाता है और वह पूर्णरूपसे अधोक्षज भगवान् श्रीहरिको प्राप्त होता है। भगवान् विष्णुका आश्रय ही संसारासक्त लोगोंके लिये संसार-चक्रका नाश करनेवाला है, इसीको विद्वान् लोग ब्रह्मनिर्वाण-सुख कहते हैं, अतएव तुम लोग अपने-अपने हृदयमें हृदीश्वर भगवान्‌का भजन करो। हे असुरबालको! सबके हृदयमें आकाशके समान स्थित आत्माके परम सुहृद् श्रीहरिकी उपासनामें प्रयास ही कौन-सा है? सांसारिक विषयोंके उपार्जनसे क्या प्रयोजन है? धन, स्त्री, पशु, पुत्रादि, घर, जमीन, हाथी, खज़ाना आदि सभी अर्थ और काम क्षणभङ्गुर हैं, इन चञ्चल पदार्थोंसे मनुष्यको क्या प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है? इन्हीं विषयोंकी भाँति, यज्ञ आदि कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गादि लोक भी स्थायी और निर्मल नहीं हैं। अतएव जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई भी दोष देखने या सुननेमें नहीं आता, आत्मस्वरूपकी उपलब्धिके लिये उस परमेश्वरको ही अनन्य भक्तिसे भजो। अर्थ, काम और धर्म सब जिसके अधीन हैं, तुम लोग निष्कामभावसे उस निरीह आत्मा हरि ईश्वरका ही भजन करो।

हे असुरबालको! समस्त प्राणियोंके आत्मा, ईश्वर और सबसे अधिक प्रिय एकमात्र हरि भगवान् हैं, वे अपने उत्पन्न किये हुए पञ्चमहाभूतों-द्वारा रचित प्राणियोंके अन्तर्यामी जीवसंज्ञक हैं। तुम लोग इस बातका सन्देह न करो कि हम दैत्य हैं, अतः ईश्वरकी भक्ति करनेके योग्य नहीं हैं क्योंकि जिसप्रकार हम भगवान्की भक्तिके प्रभावसे कल्याणको प्राप्त हुए हैं इसी प्रकार देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व आदि समस्त योनियोंके प्राणी, भगवान् मुकुन्दके चरण-कमलोंको भजते हुए कल्याणभाजन होते हैं। भगवान् मुकुन्दके प्रसन्नार्थ न तो केवल ब्राह्मण होना और न देवता होना और न ऋषि-महर्षि होना ही पर्याप्त है और न कोई वृत्त, बहुज्ञता, दान, तप, यज्ञ, आचार, विचार और केवल व्रत करना आदि ही पर्याप्त है। वे भगवान् तो विशुद्धा अच्युता भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। भक्ति-रहित होकर अन्यान्य कर्मोंको करना तो विडम्बना, तमाशामात्र है। हे असुरबालको! इसी कारण मैं कहता हूँ कि तुम लोग अपने कल्याणके लिये भगवान् 'हरि' में भक्ति करो और सारे प्राणियोंको अपने आत्माके समान ही मानकर उन सबके अन्तर्यामी भगवान् हरिका भजन करो। हे मित्रो! केवल उनकी भक्तिके प्रभावसे न-जाने कितने दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, व्रजवासी, पशु, पक्षी तथा अन्यान्य पापी जीव अमृतत्वको प्राप्त हो चुके हैं। अतएव इस लोकमें मनुष्योंका सबसे बड़ा स्वार्थ यही है कि वे भगवान् गोविन्दकी एकान्त (अनन्य) भक्ति करें, जो उन्हें भगवान्की दृष्टिमें सबसे बड़ा सम्मान प्रदान करनेवाली है।'

पुरोहित लोग छिपे हुए प्रह्लादजीका व्याख्यान सुन रहे थे। जैसे ही उनका व्याख्यान समाप्त हुआ वैसे ही वे सामने आकर कहने लगे कि—'राजकुमार! अब आप हम लोगोंपर कृपा करें और अपने स्थानको चलें। क्योंकि आपके यहाँ रहनेसे हमारे अन्यान्य छात्र भी भक्ति-भावनाके पागलपन-में पड़ न-जाने किस दिन किस यातनाको प्राप्त हो जायँगे।' इतना कहकर पुरोहितजीने प्रह्लादको साथ लेकर राजसभाके लिये प्रस्थान किया। प्रह्लादजी-के सहपाठी असुर-बालकोंको पुरोहितोंका यह बर्ताव कितना अप्रिय लगा होगा इसका अनुमान सहजहीमें किया जा सकता है, किन्तु उनमें छात्रधर्म था और गुरुकी गुरुताका आदर था। इसका कारण यह था कि उन्हें योग्य धर्मशिक्षा मिली थी। इसीलिये असुर होनेपर भी वे आजकल-के धर्महीन विदेशी शिक्षाके पात्र स्वेच्छाचारी भूसुर विद्यार्थियोंसे ऊँचे विचारके छात्र थे। उनमें आजकलके छात्रोंकी जैसी धृष्टता, उच्छृङ्खलता और गुरुद्रोहिताके भाव नहीं थे। उस समय गुरुकुलमें न कोई पुलिस थी और न पलटन थी। तथापि-राजकुमार-जैसे प्रभावशाली विद्यार्थीको अकेले गुरुजी राजद्रोहके अपराधमें अपनी पाठशालासे निकालकर राजसभामें उनको प्राणदण्डके समान कोई भयङ्कर दण्ड दिलानेके लिये ले जा रहे हैं। इतनेपर भी पाठशालामें कोई अशान्ति नहीं हुई। वहाँ शान्तिका ही राज्य रहा और हृदयमें चञ्चलता होनेपर भी उन भगवद्भक्त निर्भीक छात्रोंमेंसे किसीका शरीर इतनी बड़ी घटना होनेपर भी चञ्चल नहीं हुआ। आज हमको यह आश्चर्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु यही उस समयके विद्यालयों, गुरुओं और छात्रोंका आदर्श था। प्रह्लादजीके साथ उनके गुरु लोग राजसभाको चले गये और पाठशालामें छात्रगण मर्यादाके अनुसार शान्त बैठे अपना-अपना पाठ पढ़ते रहे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर पाठशालामें यह सब कुछ हो ही रहा था कि उधर तीर्थयात्रासे लौटकर शुक्राचार्यजी महाराज हिरण्यपुरमें आ गये। वे सबसे पहले राजसभामें न जाकर, राजमहलमें पहुँचे। गुरुके शुभागमनका समाचार सुन दैत्यराजने पाँव-पियादे राजद्वारपर जाकर उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अपने साथ राजमहलमें ले जाकर अर्घ्य-पादार्घ्य आदिके द्वारा उनका यथोचित पूजन किया। शुक्राचार्यजीने भी आशीर्वाद देकर, कुशल-प्रश्न पूछा। दैत्यराजने प्रह्लादजीके सारे चरित्रोंका वर्णन किया और अन्तमें कहा कि 'महाराज! आज रातको मैंने बहुत ही विचित्र स्वप्न देखे हैं। मैंने देखा कि राजसभामें मेरे सामने ही वज्रपात हुआ, जिससे सारी सभा नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। मैं शिकार खेलने गया तो मुझे जंगली हाथियोंने खदेड़ा, जिससे मुझे भागना पड़ा। सबसे बुरी बात मैंने यह देखी कि महारानी कयाधू बड़ी ही विकलतासे विलाप करती हुई रो रही हैं। यह तो स्वप्नकी बातें हुईं। इसके सिवा आजकल शकुन भी अच्छे नहीं हो रहे हैं, इन सबका क्या कारण है और क्या फल है? आपके अतिरिक्त यह सब मुझे और कौन बतला सकता है?'

शुक्राचार्य—'हे वत्स! तुमको जो स्वप्न हुए हैं न तो वे ही मङ्गलकारी हैं और न ये भौम, आन्तरिक्ष और दिव्य शकुनरूप उत्पात ही शुभ हैं। हे महासुर हिरण्यकशिपु! जिस राजाको ऐसे स्वप्न दिखलायी देते हैं और जिस राजाके देशमें ऐसे उत्पात एवं अपशकुन होते हैं, उस राजाका या तो देश छीना जाता है या वह स्वयं मारा जाता है। अतएव इस बातको तुम खूब सोच लो कि बहुत ही शीघ्र कोई बहुत बड़ा भय उपस्थित होनेवाला है जिससे सर्वनाश हो जायगा।'

इतना कहकर शुक्राचार्यजीने दैत्यराजको आशीर्वाद दे अपने आश्रमको जाना चाहा। भय एवं शोकसे व्याकुल दैत्यराजने उनको सादर साष्टाङ्ग प्रणामकर विदा किया। इस समय दैत्यराजके चित्तपर अत्यन्त विषाद छाया था, भय एवं शोकका पूर्ण आवेश था। इसी समय ब्रह्मशापका भी काल आकर उपस्थित हो गया। शापके प्रभावसे उसके हृदयमें पुनः अपने पुत्र प्रह्लादकी हरिभक्तिकी ओर ध्यान गया। यह स्वाभाविक बात है कि भयातुर व्यक्तिको चारों ओर भय-ही-भय दिखलायी देने लगता है। यही दशा हिरण्यकशिपुकी थी। भय एवं शोकसे व्याकुल दैत्यराज कुछ देर बाद राजसभाको गया, वहाँ पहुँचते ही उसने देखा कि शोक एवं चिन्तायुक्त गुरुपुत्र षण्ड और अमर्क प्रह्लादको साथ लिये चले आ रहे हैं।

दैत्यराज एवं पुरोहितसहित राजकुमार, सब लोग एक ही साथ सभामें पहुँचे और सबका यथोचित स्वागत अभिवादन आदि हुआ। प्रह्लादजीने पिताके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। दैत्यराजने उनको आशीर्वाद दे अपने आसनपर बैठनेकी आज्ञा दी। राजसभा ठसाठस भरी थी। हिरण्यकशिपुकी राजसभा समस्त ऐश्वर्यकी मूर्तिमान छटा थी, परन्तु आज दैत्यराजकी उदासीनतासे सारी-की-सारी सभा उदासीन-सी प्रतीत हो रही थी। भावी शोककी छाया मानो सबके हृदयोंपर पड़ रही थी। सारे सभासद चुपचाप बैठे थे, कोई किसीसे कुछ भी कहता-सुनता नहीं था।

राजसभा शान्त थी, दैत्यराज भी चुपचाप बैठे थे, इसी बीचमें दैत्य-गुरुओंने पाठशालामें छात्रोंको प्रह्लादद्वारा दी जानेवाली हरिभक्तिरूपी राजद्रोही वक्तृताओंका समाचार सुनाया। दैत्यराजका चित्त ब्रह्मशापके प्रभावसे पहलेसे ही भय और शोकसे सन्तप्त हो रहा था, अतः जैसे ही उसने गुरुवरोंके मुखसे प्रह्लादकी बातें सुनीं, वैसे ही उसके शरीरमें आग-सी लग गयी। उसने क्रोधपूर्ण विकराल नेत्रोंसे प्रह्लादकी ओर देखा और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तड़ककर कहा कि-'रे दुष्ट क्या अभीतक तेरी मूर्खता नहीं गयी ? सुनता हूँ तेरे गुरुवर क्या कह रहे हैं ? क्या सचमुच तू अब मेरे हाथों मरना चाहता है ? क्या अब भी अपनी दुष्टता छोड़कर मेरी आज्ञाका पालन नहीं करेगा ? मेरा यह अन्तिम आदेश है कि—

अहमेवेश्वरो लोके त्रैलोक्याधिपतिर्यतः ।
मामेवार्चय गोविन्दं त्यज शत्रुं दुरासदम् ॥

अर्थात्—तीनों लोकोंका एकमात्र मैं ही स्वामी हूँ, इसलिये तू मुझको ही ईश्वर मान और मेरी ही पूजाकर, उस दुष्ट शत्रु गोविन्दका नाम छोड़ दे ।

दैत्यराजके वचन समाप्त होते ही राजपुरोहितों-ने भी उनकी ही हाँ में हाँ मिला दी । पिता एवं पुरोहितजीके वचन सुनकर परम भागवत प्रह्लादजी हँसते हुए कहने लगे—

'बड़े आश्चर्यकी बात है कि वेद-वेदान्तके जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मण, जिनको सारा संसार आदरकी दृष्टिसे देखता और पूजता है, वे भी भगवान्‌की मायासे मोहित हो धृष्टताके साथ—अभिमानके साथ आज इस प्रकारकी अनर्गल बातें कह रहे हैं । जिन भगवान्‌की मायासे यह सारा जगत् मोहित है उनकी बड़ाई कहाँतक की जाय ? मेरे विचारमें तो नारायण ही परब्रह्म हैं, नारायण ही परम तत्त्व हैं, नारायण ही सबसे बड़े ध्यान करनेवाले और नारायण ही सबसे बड़े ध्यान हैं । वे ही जगत्‌की गति हैं, वे ही इस अनवरत चलनेवाले विश्वकी गति हैं और वे ही अच्युत एवं भगवान् शिव हैं । वे ही नारायण संसारके धाता-विधाता हैं और वे ही सनातन वासुदेव हैं । उन्हीं नारायणने ब्रह्मा और शिव इन दोनों देवताओं-को सर्व देवताओंमें उत्तम उत्पन्न किया है और उन्हींकी आज्ञासे ये दोनों अपना कार्य करते हैं । उन्हीं भगवान् विष्णुको विद्वान् लोग सबसे परे मानते हैं । परन्तु आज उन सर्वोपनिषदोंसे प्रतिपादित नारायणको छोड़कर, ये ब्राह्मणोंमें उत्तम विद्वान् भी राग, लोभ अथवा भयवश न जाने क्या कह रहे हैं और अपने चित्तको कहाँ बहका रहे हैं ! जिन परब्रह्म भगवान् कृष्णका सनकादि योगिराज ध्यान करते हैं, जिनको ब्रह्मा, शिव आदि देवतागण पूजते हैं और जो सदा ही देवताओंके रक्षक रहते हैं, मैं उन्हीं परब्रह्म नारायणकी, लक्ष्मीजीके सहित सदा पूजा करूँगा ।'

प्रह्लादजीके निर्भीक और ओजस्वी वचनोंको सुनकर दैत्यराजके शरीरमें आग लग गयी । क्रोधके मारे उसके अंग काँपने लगे और वह तिरछी नजरसे प्रह्लादकी ओर देखता हुआ घुड़क कर तिरस्कारयुक्त वचन बोला 'रे दुष्ट राजकुमार ! बता, तेरा विष्णु है कहाँ, जिसकी तू इतनी प्रशंसा करता है ? यदि तेरा विष्णु सर्व-व्यापी है तो क्या इस राजसभामें भी है । यदि है तो दिखला, कहाँ है ? यदि नहीं दिखलाता, तो अब तेरा अन्त समय आ गया । अबतक हमने तुझको अपना सुपुत्र समझकर अपने हाथों वध करना उचित नहीं समझा था, किन्तु अब ऐसा प्रतीत होता है कि तेरी मृत्यु हमारे ही हाथ है । शीघ्र बतला और दिखला तेरा विष्णु कहाँ है ?' यों कहते-कहते दैत्यराज आपेसे बाहर हो गया और बोला 'रे दुर्विनीत, रे मन्द-बुद्धि, कुलाङ्गार अधम ! मेरी आज्ञाका उलङ्घन करनेवाले तुझको मैं अभी यमलोक पहुँचाता हूँ । मेरे कुपित होते ही लोकपालोंके सहित तीनों लोक थर-थर काँपने लगते हैं, अरे मूढ़ ! तू किसके बलपर निडर होकर मेरी आज्ञाका उलङ्घन कर रहा है ?'

परम विश्वासी प्रह्लादने शान्ति और गम्भीरता-के साथ उत्तर दिया—

'हे महाराज ! जिन्होंने ब्रह्मासे लेकर एक तिनके तक समस्त स्थावर-जङ्गम जगत्‌को अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वशमें कर रक्खा है वे भगवान् ही मेरे बल हैं; मेरे ही नहीं, आपके और अन्यान्य सबके बल भी वही हैं। वही महापराक्रमी भगवान् ईश्वर हैं, काल हैं और ओज हैं; वही साहस, सत्त्व, बल, इन्द्रिय और आत्मा हैं; वही तीनों गुणोंके स्वामी अपनी परम शक्तिसे विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। आप अपने इस आसुरी भावको छोड़कर सबमें समभावसे परमात्माको देखिये। फिर आपको पता लगेगा कि आपका ही क्या किसीका भी कहीं कोई शत्रु नहीं है। कुमार्गपर चलनेवाला बिना जीता हुआ मन ही परम शत्रु है। अतएव मनको वशमें करके समत्वको प्राप्त होना ही अनन्त भगवान्की मुख्य आराधना है। कुछ मूर्ख लोग अपने अन्दर रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर छः डाकुओंको पहले न जीतकर ही मान बैठते हैं कि हमने दसों दिशाओंको जीत लिया है। जिन्होंने अपने मन-इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है उन समस्त भूत-प्राणियोंमें समदृष्टि हुए विद्वान् साधुओं-के लिये अपने अज्ञानसे कल्पित शत्रु कोई भी नहीं है। हे पितृचरण! आप क्रोध न कर शान्त हों, दैत्योंके नहीं, अपने मनके राजा बन क्रोधादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त करें। अभी समय है, अब भी आप उन करुणावरुणालयकी भक्तिमें चित्त लगाइये। फिर आप देखेंगे कि मेरा वह प्रभु आपकी इस राजसभामें विद्यमान है। यदि आप ऐसा करें तो आप आजहीसे परम सुखी और सन्तुष्ट होकर परम-पदको प्राप्त कर सकते हैं।'

प्रह्लादके इन वचनोंको सुनकर हिरण्यकशिपु क्रोधसे अधीर हो उठा और बोला--

'रे मन्दभागी, अब निश्चय ही तेरी मरनेकी इच्छा है—'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' ठीक ही है-इसीसे तू मेरे सामने धृष्टताके साथ अनाप-सनाप बक रहा है। इस धृष्टताका फल अभी तुमको मिलता है। अच्छा! जब तू अपने विष्णुको हमारी सभामें भी बतलाता है और उसे जगदीश्वर मानता है तो दिखला वह कहाँ है? क्या इस सामनेवाले खम्भेमें भी है? यदि है तो जल्दी दिखला, नहीं तो अब तेरा सिर इसी तलवारके द्वारा धड़से अलग करता हूँ। देखूँगा, तेरा हरि कहाँसे आकर तुझे बचाता है?'

प्रह्लादजीने पिताजीको प्रणामकर, हाथ जोड़कर कहा कि—'पूज्यपाद पिताजी! आप शान्त हों, क्रोध न करें। मैंने मिथ्या नहीं, सत्य ही कहा है। मेरे विष्णु सर्वव्यापी हैं और इस खम्भेमें भी हैं। भगवन्! देखिये, मुझे तो इस खम्भेमें वे स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं, मैं नहीं कह सकता आपको भी दिखलायी पड़ते या नहीं।

'पितु बावरो! तू कछु जाने नहीं प्रभु मेरो सबै थलमें बिचरै।
अवनीमें अकाशमें शैलहु सिन्धुमें मो महँ तो महँ तेज भरै॥
'रघुराज' बड़ो करुणाकर सो निज भक्तनको प्रण पूरो करै।
यह खम्भमें मोहि तो देखि परै तोहि देखि परै धौं न देखि परै'॥

—महाराज रघुराजसिंह

परमभागवत प्रह्लादजीके इन वचनोंको सुनकर दैत्यराज हिरण्यकशिपु राजसिंहासनसे सहसा कूद पड़ा और क्रोधके आवेशमें प्रह्लादजीको न-जाने कितने कटु एवं अवाच्य वचन कहता हुआ खड्ग लेकर, भाँति-भाँतिके रत्नों एवं मोतियोंकी झालरों-से सुशोभित सामनेके स्फटिक-स्तम्भकी ओर लपका एवं उसपर बड़े जोरसे एक ऐसा मुष्टि-प्रहार किया कि जिससे न केवल राजसभा ही किन्तु सारा भूमण्डल डगमगा गया। मुष्टि-प्रहारके शब्दके साथ ही खम्भेमें-से सहसा एक ऐसा भयङ्कर एवं घोर शब्द हुआ जिससे तीनों लोक और चौदहों भुवन शब्दायमान हो गये। ब्रह्माण्डके फूटनेके समान घोर भैरव शब्दको सुनकर सारे संसारके समस्त भूतप्राणी घबड़ा गये। लोगोंने समझा कि प्रलयकाल उपस्थित है। अगणित असुर-स्त्रियोंके गर्भ असमयमें ही गिर गये। कायर असुर भयानक शब्द सुनते ही सभासे भाग निकले। आकाशसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तारे टूट-टूटकर गिरने लगे। दिग्गजोंके दाँत हिल गये। सहसा भूमण्डलमें भारी भूकम्प-सा आ गया और न-जाने कितने ऊँचे ऊँचे पहाड़ एवं उनके शृङ्ग टूट-टूटकर वेगसे उछले और दूर-दूर देशोंमें जा गिरे। जब पहाड़ोंकी यह दशा हुई तब विशाल राजमहलोंकी विशेषकर हिरण्यपुरके राजप्रासादों-की दशा कैसी हुई होगी, इसका अनुमान करना कठिन नहीं। सारे नगरके लोग भयभीत होकर अपने अपने घरोंसे निकल-निकल कर भागने लगे और सर्वत्र हाहाकार मच गया !

इसप्रकार महाभैरव शब्दके साथही दैत्यराजने अपने सामने ही सहसा स्तम्भको फटते हुए देखा-

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं,
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् ,
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥

अर्थात्-'भगवान् मुझे तो इस खम्भमें भी दिखलायी पड़ते हैं' अपने भक्त प्रह्लादके इन वचनों-को और अपनी सर्वव्यापकताको प्रत्यक्ष सत्य सिद्ध करनेके लिये भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरि सभाके बीच स्तम्भके भीतरसे अद्भुत नरहरि-रूप धारणकर प्रकट हो गये।

दैत्यराजने परम आश्चर्य और भयके साथ अद्भुत नृसिंहरूपको देखा, जिसका सारा शरीर तो चतुर्भुज सुन्दर मनुष्यका-सा है और सिर महा-भयङ्कर सिंहका-सा दीख रहा है। प्रज्वलित अग्निमें तपाये हुए सोनेके-से चमचमाते हुए भयावने नेत्र हैं और सिरपर आकाशतक फैली हुई सोनेकी-सी जटाएँ फहरा रही हैं। बड़े-बड़े तीखे भयङ्कर दाँतों और बिजलीकी चपलताको भी लज्जित करनेवाली चमचमाती हुई लपलप करती जिह्वाको देखकर अजेय वीर दैत्यराजका हृदय काँप उठा और उसका मुख सहसा सूख गया। भगवान् नृसिंहके पर्वताकार शरीरके विशाल भुजदण्डों और ब्रह्माण्डको फाड़ डालने योग्य बड़े-बड़े नखोंको देखकर दैत्यराजका धीरज छूट गया और भयभीत हो जानेके कारण, उसकी आँखें सहसा बन्द हो गयीं। यह पहला ही अवसर था कि दैत्यराजको अपने जीवनमें भय प्राप्त हुआ था। उसने भयभीत होकर शत्रुके सामने आँखें मूँद लीं। लोग कह सकते हैं कि, दैत्यराज-जैसे वीरके लिये मृत्युसे डरकर भयभीत हो आँख मूँद लेना कभी सम्भव नहीं था। उसने अपने स्वामीको अपने सामने देख, अपने उस अपराधको स्मरण किया जिसके कारण उसको सनकादि महर्षियोंने शाप दिया था और अपने ही अपराधके कारण दयामय स्वामीको यह रूप धारण करनेका कष्ट उठाना पड़ा था, इसलिये उसने लज्जित होकर अपनी आँखें मूँद ली थीं। यह भावना भी बड़ी सुन्दर है।

इधर दैत्यराजकी जीते-ही-जी आँखें मुँद गयीं, तीनों लोकों तथा चौदहों भुवनोंके जीतनेवाले अजेय वीरका शरीर मृतप्राय हो गया। उधर घोर गर्जना करते हुए उन भयङ्कर मूर्तिधारी भगवान् श्रीनृसिंहजीने तड़ककर एक छोटी भूमिकाके समान दैत्यराजको उठाकर अपनी जंघापर रख तीक्ष्ण नखोंसे उसका उदर विदीर्ण कर डाला और अँतड़ियोंको निकाल अपने गलेमें माला—विजय-मालाके रूपमें धारण कर लिया। दैत्यराजका अन्त पलक मारते-मारते ही हो गया। साथ ही उसके साथी अन्यान्य शूर असुर भी भगवान् नृसिंहकी कोपज्वालामें भस्म होकर वहीं ढेर हो गये।

त्रिभुवनविजेता दत्यराज हिरण्यकशिपुके सहसा वध होनेका समाचार बिजलीके समान सर्वत्र फैल गया। देवताओंके अधीश्वर इन्द्र और अन्यान्य दिक्पाल कारागारसे तुरन्त मुक्त कर दिये गये। सारे संसारमें विशेषकर देवता और उनके भक्त धार्मिक विश्वनिवासियोंमें आनन्दमय कोलाहल मच गया। असुरोंसे सन्तप्त देवताओंमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस समय जो आनन्द-समुद्र उमड़ा, उसका वर्णन करना तो लेखनीकी शक्तिके सर्वथा बाहर है। हाँ, उस आनन्दका आंशिक अनुभव वे ही कर सकते हैं जो घोर अत्याचारी, धर्मद्रोही प्रबलतर शासकके पश्चात् उसके दुःशासनके अन्त और सुशासनके आरम्भको देखनेका सुख पा चुके हैं। अस्तु, दैत्यराजके वधसे स्वर्गके आनन्दका ठिकाना न रहा, जहाँ देखिये वहीं आनन्द-ध्वनि हो रही है, भगवान् नरहरिका जय-जयकार मनाया जा रहा है और परमभागवत प्रह्लादजीका गुण गाया जा रहा है। चारों ओर मङ्गलमय उत्सव होते दिखलायी दे रहे हैं और पटह-दुन्दुभी ही नहीं, बड़े-बड़े नगाड़ोंसे आकाशमण्डल घहरा उठा है। गन्धर्वोंके सङ्गीत और अप्सराओंके नृत्यसे सारा स्वर्ग मङ्गलधाम बन गया है। इस आनन्दोत्सवमें गन्धर्वों और अप्सराओंके साथ देवतालोग भी आकाशमण्डलमें हिरण्यपुरके ऊपर टिड्डियोंकी तरह उड़ने लगे और विश्वम्भरकी विजयध्वनिसे विश्वको कम्पायमान करते हुए भगवान् श्रीनृसिंहजी महाराजके तथा उनके परमभक्त प्रह्लादके ऊपर पुष्पवृष्टि करने लगे।

अवश्य ही दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध उसके वरदानकी शर्तोंको पालन करते हुए ही हुआ। उसने शर्तें लगायी थीं कि 'न दिनमें मरूँ न रातमें' अतएव उसका वध सन्ध्या-समय किया गया; उसने माँगा था कि 'मुझे न मनुष्य मारे न पशु' अतएव 'न मृगं न मानुषं' नृसिंहरूप भगवान्को धारण करना पड़ा, और उसने वरमें माँगा था कि 'मैं न हथियारसे मारा जाऊँ और न ब्रह्माजीके उत्पन्न किये हुए किसी प्राणीसे' अतएव नखोंद्वारा और ब्रह्माकी सृष्टिके किसी प्राणीने नहीं, स्वयम्भू भगवान् नृसिंहजीने उसको मारा। उसकी यह भी एक शर्त थी कि 'मैं न भीतर मरूँ न बाहर तथा न जलमें न थलमें' अतएव भगवान्ने उसे देहरीपर और अपनी जंघापर गिराकर मारा। सारांश यह कि भक्तवत्सल भगवान्ने अपने पार्षदकी, जो इस समय दैत्यराजके रूपमें था, सारी शर्तें पूरी कीं और उसने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार शत्रुतापूर्ण उनका जैसा भजन किया, उसके फलस्वरूप यह प्रथम जन्मका काण्ड समाप्त हुआ।

हिरण्यकशिपु मारा गया, सारे संसारमें आनन्द छा गया और देवताओंके दुःखका अन्त हो गया, किन्तु राजसभाके मध्य भगवान् नृसिंहकी उस विकराल मूर्तिके तेजसे उनके सम्मुख डरके मारे किसीका भी जानेका साहस नहीं होता। अन्य देवताओंकी कौन कहे, ब्रह्मा और शिव भी दूर ही खड़े उस छविको देखते हैं। भगवान्की वह मूर्ति, मानों मूर्तिमान् क्रोधमयी मूर्ति बन गयी है। भगवान्का घोर गर्जन, उनके गलेमें दैत्यराजकी अँतड़ियोंकी माला और रक्तरञ्जित शरीरकी ओर किसीको देखनेका साहस नहीं होता था। अन्तमें सब देवताओंने जगन्माता महालक्ष्मीका स्मरण किया, उनकी स्तुति की। जगज्जननी प्रसन्न होकर उपस्थित हुईं। ब्रह्मादि देवताओंने उनसे प्रार्थना की कि 'माता! इस समय जगत्पिता प्रभुका जैसा विकराल स्वरूप है, उनका जैसा क्रोध है और वे जैसे घोरगर्जनसे बारम्बार भूमण्डलको कम्पायमान कर रहे हैं, ऐसा स्वरूप हमलोगोंने इससे पूर्व कभी नहीं देखा था। अतएव हम लोग भयभीत हो रहे हैं। किसीका साहस नहीं होता कि उनके चरणकमलोंतक जाय और प्रार्थना करके उनके कोपको शान्त करावे। इसीलिये हमलोगोंने आपको कष्ट दिया है। माताजी! इस समय आप ही उनके क्रोधको शान्त कर सारे संसारको इस महान् आतङ्करूपी सङ्कटसे मुक्त कर सकती हैं।'

देवताओंके प्रार्थनानुसार जगन्माता महालक्ष्मी कुछ दूरतक तो गयीं, परन्तु भगवान्का भयङ्कर नृसिंहरूप और उनका प्रचण्ड तेज देखकर तुरन्त ही लौट आयीं। महालक्ष्मीने देवताओंसे कहा कि 'देवगण! आजतक मैंने भी न तो भगवान्का ऐसा स्वरूप ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी देखा और न ऐसी क्रोधभरी प्रज्वलित आँखें ही देखी हैं, अतएव मेरा साहस नहीं होता कि मैं उनके समीपतक जाऊँ और उनके क्रोधको शान्त कराऊँ। शेषमें सब देवताओंकी सम्मतिसे ब्रह्माजीने प्रह्लादजीसे कहा—'बेटा प्रह्लाद! अब इस त्रिलोकीमें भगवान्‌का क्रोध शान्त करानेवाला तुम्हारे अतिरिक्त कोई नहीं है। यह क्रोध तुम्हारे पिताजीको मारकर तुम्हारी रक्षा करनेके लिये ही हुआ है, अतएव तुम्हीं इस क्रोधको शान्त करा सकते हो।' ब्रह्माजीकी आज्ञाको शिरोधार्य कर प्रह्लादजी शान्तचित्तसे निर्भय हो, भगवान्‌के समीप जा पहुँचे और उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। जिस भयानक स्वरूपके भयसे ब्रह्मादि देवता कोसों दूर भागते थे, उन श्रीनृसिंहजीके चरणोंमें प्रह्लादजी निर्भय साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहे हैं। यह है क्या? किसके प्रभावसे आज प्रह्लाद निर्भय हैं? यह है भक्तका महत्त्व और अनन्य भगवद्भक्तिकी अनन्त महिमा, जिसके वश होकर भगवान्‌को इसप्रकारकी अलौकिक लीलाएँ करनी पड़ती हैं।

भगवान्‌ने देखा कि प्रिय बालक प्रह्लाद चरणों-पर पड़ा साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा है, किन्तु हमारे प्रभावसे उसकी वाणी रुक रही है, वह भयभीत नहीं, किन्तु आनन्द-मुग्ध हो रहा है। अतएव उन्होंने उसको अपने भक्तभयहारी भुजदण्डोंसे उठाकर अपनी गोदमें बैठा लिया और कालरूपी सर्पके भयसे भीत चित्तवाले लोगोंको अभय प्रदान करनेवाला अपना करकमल वे प्रह्लादके सिरपर फेरने लगे। भगवान्‌का कोप शान्त हुआ और उनके हृदयमें दयाकी बाढ़-सी आ गयी। भगवान्‌के करकमलोंका मधुर स्पर्श होते ही प्रह्लादकी सारी किंकर्तव्य विमूढ़ता जाती रही, उनका शरीर असीम हर्षसे रोमाञ्चित हो गया, नेत्रोंसे आनन्दाश्रुओंकी धारा बहने लगी और उसी क्षण उनके हृदयमें अपूर्व ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो गया। प्रह्लाद परमानन्दको प्राप्त होकर भगवान्‌के चरण-कमलोंके ध्यानमें शरीरकी सुध-बुध भूल गये। भगवान्‌ने स्नेहमयी जननीकी भाँति प्रह्लादका मस्तक सूँघते हुए बड़े ही कोमल वचनोंमें संकुचित होते हुए-से कहा—

> केदं वपुः क च वयः सुकुमारमेतत्,
> कैता प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
> आलोचितं विषयमेतदभूतपूर्वं,
> क्षन्तव्यमंग यदि मे समये विलम्बः॥

'बेटा प्रह्लाद! कहाँ तो तेरा कोमल शरीर और तेरी सुकुमार अवस्था और कहाँ उस उन्मत्तके द्वारा की हुई तुझपर दारुण यातनाएँ! ओह! कैसा अभूतपूर्व प्रसंग देखनेमें आया। प्रिय वत्स! मुझे आनेमें यदि कुछ देर हो गयी हो तो तू मुझपर क्षमा करना। धन्य भक्तवत्सलता!

प्रतीक्षा

दिवस प्रतीक्षामें कैसे यों मेरे बीते जाते हैं। पल-पल घड़ी गिनाते हैं पर वे स्वामी नहिं आते हैं॥
क्या कारण है? किससे पूँछूँ? कौन मुझे बतलाएगा?। प्रियतम कब मेरे आयेंगे? पहर कौन-सा आएगा?॥
जब मैं प्यारेको सन्मुख पा, छबि लूँगा आँखोंमें मूँद। बरस पड़ेंगी नेत्र-जलदसे प्रेम-बारिकी दो दो बूँद॥

अवन्तविहारी माथुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमधर्म तथा मोक्ष-मार्ग

(ब्रह्म-पुराणसे)

मुनिगण बोले—जिस धर्मसे बड़ा संसारमें और कोई धर्म नहीं है, प्राणियोंके लिये जो सर्व-श्रेष्ठ धर्म है, कृपया उसीको आप हमारे प्रति कहिये।

श्रीव्यासजीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठगण ! सुनो, मैं तुम्हारे प्रति उस प्राचीन धर्मको कहता हूँ जो ऋषियोंद्वारा प्रशंसित है और सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है। जिसप्रकार पिता अपने बालकोंको एकत्रित कर लेता है, उसी प्रकार तत्त्वबुद्धिके द्वारा स्वच्छन्द इन्द्रियोंका संयम करके उन्हें एकाग्र करो। मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परमतप है, यही सब धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म है। मन जिस समय बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह करके उनके विषयोंका चिन्तन नहीं करेगा, तब वह आत्मतृप्त हो जायगा। इन्द्रियाँ विषयोंसे निवृत्त होकर जब अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर हो जायँगी, तभी तुम स्वयं अपने आत्मामें शाश्वत परमात्माको देख लोगे। महात्मा मनीषी ब्राह्मणगण उस सर्वात्मा परमात्माको धूम्ररहित अग्निवत् देखते हैं। जिसप्रकार पुष्प-फल-सम्पन्न, बहु-शाखा-शाली महावृक्ष यह नहीं जानता कि मेरे पुष्प कहाँ हैं, और फल कहाँ हैं ? उसी प्रकार आत्मा भी यह नहीं जानता कि मुझे कहाँ जाना है और मैं कहाँसे आया हूँ ? इसका एक और अन्तरात्मा है जो यह सब कुछ अनुभव करता है। अतिप्रदीप्त ज्ञान-दीपकके द्वारा वह स्वयं अपने आपको देखता है। हे द्विजगण ! तुम भी उस आत्माका दर्शन करके वैराग्य-लाभ करो, और जिसप्रकार सर्प अपनी काँचुलीको छोड़ देता है उसी प्रकार तुम भी समस्त पापोंसे मुक्त हो जाओ तथा परा बुद्धिको प्राप्त करके निश्चिन्त और दुःखरहित हो जाओ। जिसका सब ओर प्रवाह है, जो समस्त लोकोंको बहा ले जानेवाली है, पाँचों इन्द्रियाँ ही जिसमें ग्राह हैं, मनके संकल्प ही किनारे हैं, लोभ और मोहरूपी तृणोंसे जो आच्छादित है, काम और क्रोध ही जिसमें सरीसृपादि हैं, सत्य ही तीर्थ है, मिथ्या जल क्षोभ है, क्रोध कीचड़ है, अव्यक्त उद्गम-स्थान है तथा जो अजितेन्द्रियोंके लिये अतिदुस्तर है उस अति-वेगवती घोर नदीको तुम बुद्धिद्वारा पार करो। उस संसार-सागर-गामिनी, पातालान्त गम्भीरा, जन्मके साथ ही उत्पन्न हुई, तथा जिह्वारूपी आवर्तों (भँवरों) के कारण दुस्तरा सरिताको बुद्धिमान् धैर्यवान् और मनस्वी महात्मागण ही तरते हैं। उसको पार करके सर्वथा मुक्त हुए निर्मलात्मा और शुद्धचेता जन उत्तम प्रज्ञामें प्रतिष्ठित होकर सम्पूर्ण क्लेशोंसे पार हुए तथा प्रसन्नात्मा और निष्पाप हुए ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं। उस स्थितिको प्राप्त कर लेनेपर तुम क्रोध, कृपा तथा क्रूरतासे भी रहित होकर समस्त प्राणियोंको इसप्रकारकी स्थितिमें देखोगे जिस-प्रकार पर्वतारूढ़ पुरुष पृथ्वीपरके प्राणियोंको देखता है। तब तुम तटस्थ वृत्तिसे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति और उनके विनाशको देखोगे। धार्मिक-प्रधान, सत्यदर्शी बुधजन इस विभु आत्माके ज्ञानको ही समस्त धर्मोंमें विशिष्ट धर्म मानते हैं। हे विप्रगण ! अपने संयमी, हितकारी और अनुगत शिष्योंको तुम इसी गुह्यतम आत्मज्ञानका उपदेश करो। मैंने जिस आत्मशान्तिप्रद परमात्माके विषयमें कहा है वह न पुरुष है, न स्त्री है और न नपुंसक है; वह सुख-दुःखादिसे रहित और भूत, भविष्य, वर्तमानात्मक है। उसको जान लेनेपर पुरुष हो अथवा स्त्री, फिर वह पुनर्जन्मके चक्रमें नहीं पड़ता।

× × ×

मुनिगण बोले—पितामह श्रीब्रह्माजीने कहा है कि मोक्ष उपायसे ही होती है, बिना उपाय नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती, सो हे मुने! हम उस उपायको यथोचित सुनना चाहते हैं।

श्रीव्यासजी बोले—हे महाप्राज्ञ मुनिजन! तुम लोगोंने जिस उपायका आश्रय लिया है वह ठीक ही है। हे अनघ, उसीके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको प्राप्त कर सकते हो। घटकी सामग्रीमें जो बुद्धि होती है घटोत्पत्तिमें वह नहीं होती; उसी प्रकार धर्मादिके कारणोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। जो मार्ग पूर्व समुद्रके लिये होता है वह पश्चिमको कभी नहीं जाता। मोक्षका भी एक ही मार्ग है, उसे हे अनघगण! मुझसे सुनो। धीर पुरुष क्षमासे क्रोधका उच्छेद करे, निःसंकल्पतासे कामका ध्वंस करे और सत्त्वसेवनके द्वारा निद्राका जय करे, अप्रमादके द्वारा भयका उच्छेद करके बुद्धि तथा वित्तकी रक्षा करे और धैर्यके द्वारा इच्छा, द्वेष और कामका वर्जन करे। निद्रा तथा चञ्चलताको तत्त्ववित् पुरुष ज्ञानाभ्यासके द्वारा निरस्त करे तथा योगी हित-मित और सुपाच्य भोजनके द्वारा सम्पूर्ण विघ्नोंको हटावे। लोभ और मोहको सन्तोषसे, विषयोंको तत्त्वदर्शनसे, अधर्मको दयासे और धर्मको उपेक्षाके द्वारा जीते। विद्वान् पुरुष अनागत भावनाके त्यागद्वारा आशाको, संगत्याग-के द्वारा सामर्थ्यको, संसारके अनित्य चिन्तनके द्वारा स्नेहको और योगसिद्धिके द्वारा क्षुधाको जीते। करुणाके द्वारा स्वभावको, सन्तोषके द्वारा तृष्णाको, मौनके द्वारा बहुभाषणको और शौर्यके द्वारा भयको विजय करे। वाणी और मनका बुद्धिमें, बुद्धिका ज्ञानात्मामें, ज्ञानात्माका महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वका शान्तात्मामें लय करे। इसप्रकार शान्तात्मासे संयुक्त होकर वह शुचिकर्मा योगी शान्ति लाभ करता है। विद्वानोंके बतलाये हुए काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न योगके इन पाँच विघ्नोंका परित्याग करके, यथावत् योग-साधनके द्वारा ध्यान, स्वाध्याय, दान, सत्य, लज्जा, कोमलता, क्षमा, शौच, आचारशुद्धि और इन्द्रिय-संयमका सेवन करे। इनके द्वारा तेजकी वृद्धि और पापकी क्षति होती है, संकल्प सिद्ध हो जाते हैं और विज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। इसप्रकार निष्पाप हुआ वह तेजस्वी, लघ्वाहारी और जितेन्द्रिय पुरुष काम-क्रोधादिको जीतकर परमपदकी प्राप्ति करता है। अमूढ़त्व, असंगित्व, काम-क्रोधराहित्य, अदीनत्व, उद्वेगराहित्य तथा वाक्, काम और मनका यथा-योग्य संयम—यही मोक्षका प्रसादजनक विमल और विशुद्ध मार्ग है।

स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराजका वचनामृत

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

(५९) जाव जो अपना आयु वृथा बितावते हैं, सो आयुष्का माहात्म्य नहीं जानते, जब यमकिङ्कर लेने आवेंगे तब जानि पड़ेगा, और सङ्कट पड़ेपर कहेंगे कि एक दिनके लिये हमें छोड़ जाओ, हम अपना भला कर लेवें, तब यमदूत कहेंगे, कि 'रे मूढ़, हजारों दिनमें तूने अपना भला न किया, संसारके धन्धोंमें फँसिके, अब क्या करेगा? अब तो एक क्षण रहने न पावेगा। तेरा हुकुम मानें, कि अपने मालिकका। यह सुनिके जीव रोवेगा, हाय! ऐसे जन्म-चिन्तामणि अमोल स्वासको हँसने-खेलनेमें नशाया, क्या किया?

(६०) जीवकी आयु और पदार्थ तबहीं प्रभु दिशि लगता है, जब श्रीसत्गुरु महाराज पूरा बता देते हैं। जैसे मसक नदीते पार तबहीं करता है, जब स्वास, मनुष्य साथ मिलता है, तैसे ही श्रीसत्गुरु विमल बिना, धन, स्वास सफल नहीं होता।

(६१) जीव जो परमेश्वरके कियेपर राजी नहीं होता है, सो मानो परमेश्वरसे यह कहता है कि हमारे मनके अनुसार सब बातें काहे न किया? देखो इसकी अक्ल, परमेश्वरका किया होयके उनहींपर हुकुम करता है। अरु स्त्री जो मृतक-अर्थ कमर बाँधिके रोती है, सो मानो प्रभु साथ झगड़ा करती है। जो परमेश्वर प्रत्यक्ष होयँ तो बहुत लड़ाई करैं, इसी अवज्ञासे उनके मुखपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनहींके हाथसे तमाचा लगाया जाता है। मानो पापका फल मिलता है, जो तुम विमुख हौ तो हाथ तो हुकुम मानते हैं। उनके हाथ नहीं हैं, जो होते तो सिरपर छार अरु तमाचा न मारते।

(६२) काम-क्रोधादिक जो तीव्र अग्नि हैं सो महादीर्घ हैं। काहेते कि यह अनल सब संसारको ग्रस लिया है। जो पुरुष भगवन्तकी स्मरणरूपी अतिशीतल जलकी धारासे शान्त भया है, उसी शीतलताका नाम शान्ति है। तिस समेत सन्त-पद है। सो ऐसी शीतलताई सन्तोंके पास रहती है औरके पास नहीं।

(६३) किसी साधुसे साधुने पूछा—कि विश्वमें बुद्धिमान् कौन है ? साधुने उत्तर दिया—कि 'जो मरनेसे प्रथम चेता है।' 'जगत्में सुखी कौन है ?' 'जिसकी परमेश्वरसे बनि आयी है।' 'जगत्में धनी कौन है ?' 'जिसने परमेश्वरके साथ प्रीति, मित्रता किया है, सो धनी है।'

(६४) एक सन्त सब आयुष्भर रात्री जागा किया, और दिनभर व्रत करता रहा। तब किसी-ने पूछा, कि इतना कष्ट करते हौ ? यह जानते हौ कि प्रमाण परमेश्वर करेगा कि नहीं ? तब सन्तने कहा, कि भजन करना मेरा काम है। प्रमाण करना उसका काम है। हमारा काम हम करते हैं, उसका काम वह करेगा ?

(६५) प्रभुके प्रीतिमान वह है, कि जो मायाके छलको पहिचाने, जब भले कर्मका उद्यम करने लगता है, तब मन क्रोध करिके टाला चाहता है। सो प्रीतिमान मनका कहा न माने, खण्डन किया करे। मन मुखको नष्ट करि डारता है।

(६६) मन और इन्द्रियोंका एक मत है, जिस विषयको मन चाहता है, उसी बिषे इन्द्री भी पुलकि आवती है। दोनों एकमेक हो जाते हैं। पर जो गुरुमुख साधू हैं, सो दोनोंका कहा नहीं करते। जातें प्रभु-विमुखताका कारण है, सदा मनादिकन-से भिन्न होयके श्रीसियाराम-नाम स्मरण करते हैं।

जैसे हाथी चला जाता है अपने रंगसे, स्वान पीछे भूँकते रहते हैं। मतङ्ग कूकरकी ओर नहीं देखता।

(६७) किसी साधुने सन्तसे सन्तका रहस्य पूछा, तब सन्तने उत्तर दिया कि सन्तनका रहस्य बालसे सूक्ष्म, और तलवारके धारसे तीखा है, जड़-चेतनकी जो गाँठि है तिसको खोलते हैं, जड़-को भिन्न और चेतन अपने स्वरूपको जुदा करते हैं, जीवनमरनतें भिन्न हो गये हैं। काल, कर्म, गुण, स्वभावको जीते हैं। अपना दास कर लिया है, इस तरहकी दशा सन्तोंहीमें पायी जाती है।

(६८) किसी साधुसे साधुने पूछा, कि जगत्में श्रेष्ठ कर्म कौन है, तब साधुने कहा कि सन्तका दर्शन है। दर्शनसे नेत्र पुनीत होता है, वचनसे श्रवण पुनीत, तैसे ही स्पर्श, सेवासे शरीर पुनीत होता है और शब्द धारण करनेसे हृदय पुनीत होता है। ताते सन्तदर्शन ही श्रेष्ठ कर्म है।

(६९) श्रीरामजीकी कुदरति देखि-देखि सन्त प्रसन्न होते हैं। धरतीसे जो अनाज-उत्पत्ति होती है-सो भूमिमें अन्न नहीं, प्रभुकी शक्तिमें है, धरतीके मिस करिके अन्न प्रभु ही देता है। जैसे पिता पुत्रको कोठेपर चढ़िके बतासा देवै, लड़का जानै मेघ बरसता है, बुद्धिमान् पिताहीको जानते हैं तैसे ही विचारना।

(७०) फिर सन्तने पूछा, कि परमेश्वर प्रत्यक्ष रिजक काहे नहीं देता, धरतीका सम्बन्ध काहे किया है ? साधुने कहा, दो भाँतिसे, जैसे प्रभुको रिजक देना जरूर है, तैसे जीवोंको परचावनी भी जरूर है, परमेश्वर साथ तो जीवों-का परचा कुछ नहीं। जो माया साथ भी न होय तो महादुःखी होवें, इसी निमित्त भूमिसे रिजक देता है। जिसमें जीव सब परचे रहैं। दूजा उत्तर यह है, कि वही बात गुरुमुख प्रगट समुझते हैं, मनमुख परदेसे समुझते हैं, भूमिसे जीविका प्रभु ही प्रत्यक्ष देता है, सन्तोंके मतमें, विमुख भूमिसे मानते हैं। उनपर परदा डारा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रानीको ब्राह्मणीका उपदेश

(लेखिका—बहिन जयदेवीजी)

पद्मावती एक बड़े जिमींदारकी बेटी थी और एक बड़े जिमींदारको ही व्याही गयी थी। उसका पति राजा कहलाता था, और उसे सब रानी कहते थे। धन-ऐश्वर्य बहुत था, दासी-दास भी अनेक थे, इसलिये सब प्रकारका सुख था, परन्तु एक कष्ट था, वह यह कि उसके बच्चे जीते न थे, दो-दो तीन-तीन अथवा चार-चार वर्षके हो-होकर मर जाते थे। इसलिये वह बहुत दुखी रहती थी, शोकसे बहुत ही व्याकुल और अत्यन्त खेदयुक्त रहा करती। उसकी सखी एक ब्राह्मणी बहुत ही चतुर थी, वह उसको खेदातुर देखकर एक दिन इसप्रकार समझाने लगी—

ब्राह्मणी–हे बहिन! यह संसार निस्सार है, इसमें कुछ भी सार नहीं है, यहाँकी कोई वस्तु स्थायी नहीं है, सब वस्तुएँ क्षण-क्षणमें क्षीण होती रहती हैं। जो जन्मता है, देर-सबेर अवश्य मरता है। जबसे बालक जन्मता है उसी दिनसे उसकी आयु घटने लगती है, माता समझती है, मेरा पुत्र बड़ा हो रहा है, पुत्र दिनों-दिन छोटा होता जाता है। संसारकी वस्तुओंको पाकर हर्ष करना और उनके चले जानेपर शोक करना बुद्धिमानी नहीं है। बुद्धिमान् वही है, जो यथाप्राप्तमें सन्तुष्ट रहता है, तू बच्चोंके मर जानेसे शोक क्यों करती है? तुझे शोक करना उचित नहीं है। जन्म-मरण ईश्वराधीन अथवा कर्माधीन है, ईश्वरने कर्माधीन विश्व बनाया है, यहाँ जो कुछ किसीको मिलता है, पूर्वका किया हुआ ही मिलता है। अच्छा-बुरा जो कुछ हमने पूर्वमें किया है, इस जन्ममें भोग रहे हैं, फिर उसे दुखी होकर क्यों भोगना चाहिये? जो कुछ अच्छे-बुरे भोग आवें, सुखसे भोग लेने चाहियें, भोगने तो पड़ेहींगे, फिर रोकर क्यों भोगें, हँस-हँसकर ही क्यों न भोगें? जिस कालमें जो होनेवाला होता है अवश्य होता है, टल नहीं सकता, फिर परवश बातमें दुखी क्यों होना चाहिये?

रानीजी! हम तुम सब मरनेको ही बैठे हैं; जो जन्मा है अवश्य मरेगा, हम तुम सभी शोचनीय हैं। जैसे हम दूसरोंका शोक करते हैं, उसी प्रकार दूसरे हमारा शोच करेंगे। मैं, तू और अन्य सब जो तेरे पास रहते हैं, वे सब जहाँसे आये हैं, वहाँ अवश्य जायँगें, यहाँ ठहरनेवाला कोई नहीं है। दुनिया सराय है, यहाँ एक आता है, एक जाता है। यहाँ ठहरने कोई नहीं पाता, फिर कौन किसका शोच करे? शोच करना वृथा ही है।

रानी–हे विदुषी! संसारमें सब स्त्री-पुरुष दुखी ही देखनेमें आते हैं, सुखी होनेका क्या उपाय है, वह तू मुझे बतला। वह कौन-सा तप है, कौन-सी विद्या है, जिससे प्राणी दुखी न होकर सर्वदा सुखी ही रहे। हे बहिन! दया करके बता।

ब्राह्मणी–रानीजी! इस जगत्‌में उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके प्राणी हैं, वे सब अनेक प्रकारके कर्मोंमें आसक्त होकर दुखी हो रहे हैं। संसारमें सच्चा कुछ भी नहीं है, जो कुछ दिखायी दे रहा है, सब मिथ्या है। यह पृथिवी अपनी नहीं है, यह देह अपना नहीं है, इस देहमें 'मैं' और 'मेरा' जो कर रहा है, वह भी अपना नहीं है, एक परमात्मा ही सच्चा है, इसके सिवा सब माया-कल्पित इन्द्रजालके समान असत् है, वह परमात्मा मेरा आत्मा है, मुझसे भिन्न नहीं है, इसलिये मैं ही एक सच्चा हूँ, ऐसा मेरा निश्चय है, इस निश्चयसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे दुःख नहीं होता, ऐसी बुद्धि धारण करनेसे न तो मुझे कभी हर्ष होता है, न कभी शोक होता है। मैं सदा-सर्वदा प्रसन्न रहती हूँ। यह जो तूने पूछा था कि किस बुद्धिसे दुःख नहीं होता, उसका उत्तर तो यह है। अब तप बताती हूँ, ध्यान देकर सुन—

हे बहिन! जैसे महासागरमें एक काष्ठसे दूसरा काष्ठ आकर मिलता है और मिलकर फिर अलग हो जाता है, इसी प्रकार प्राणियोंका संसारमें मिलना और बिछुड़ना होता रहता है। पुत्र, पौत्र और ज्ञातिजनोंका समागम भी काष्ठोंके समान हुआ ही करता है, ऐसा जानकर उनके स्नेहके बन्धनमें बँधना उचित नहीं है, क्योंकि समागम होनेके पीछे वियोग निश्चय ही होता है। तेरे बालक कहाँसे आते हैं और कहाँ चले जाते हैं, इसकी तुझे खबर नहीं है, तेरे अनजानमेंसे वे आते हैं और अनजानमें ही चले जाते हैं, क्योंकि तुझे उनके आने-जानेकी खबर नहीं है। हे बहिन! जैसे तू उनके आने-जानेको नहीं जानती कि वे कहाँसे आते हैं और कहाँ चले जाते हैं, इसी प्रकार तू अपनेको भी नहीं जानती कि तू कौन है? फिर तू किसलिये शोक करती है? पहले अपने स्वरूपका विचार कर। विचारका नाम ही तप है।

रानीजी! तृष्णारूप पीड़ासे दुःख उत्पन्न होता है, दुःखरूप पीड़ासे फिर सुख उत्पन्न होता है; इस सुखसे फिर दुःख उत्पन्न होता है, इसी प्रकार दुःखके पीछे सुख और सुखके पीछे दुःख उत्पन्न होता रहता है। यों सुख-दुःख बारम्बार होते ही रहते हैं। जैसे गाड़ीका पहिया फिरता रहता है, वैसे ही दुःख-सुख फिरते ही रहते हैं। पहले तुझे सुख मिला था, फिर तुझे सुखमेंसे दुःख मिला, फिर तुझे दुःखमेंसे सुख मिलेगा, क्योंकि न तो दुःख ही सदा रहता है और न सुख ही।

हे बहिन! सुख तथा दुखका स्थान शरीर ही है, इसलिये जो-जो कर्म प्राणी जिस शरीरसे करता है उस शरीरसे ही उन कर्मोंके फल भोगता है। जीवनका हेतुभूत लिङ्गशरीर स्वभावसे स्थूल शरीरके साथ उत्पन्न होता है अथवा यों कहना चाहिये कि आविर्भाव होता है, साथ ही रहा करता है और साथ ही नाशको प्राप्त होता है यानी अदृश्य हो जाता है। जिनका शरीर अनेक प्रकारके स्नेहके पाशोंमें बँधा होता है, वे अपने कार्यको पूरा करनेसे पहले ही इसप्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कि बालूकी बनी भीत पानीकी लहरोंसे नष्ट हो जाती है। स्नेह नाम चिकनाईका है। जैसे स्नेहके कारण तेली तिलोंको घानीमें पेलता है, इसी प्रकार सृष्टिरूपी घानीमें स्नेहके कारणसे अविद्या आदि क्लेशोंसे समस्त जीव पीसे जाते हैं। जो कोई अपने बाल-बच्चोंके लिये अशुभ कर्म करता है, उसका क्लेशरूप फल वह स्वयं ही इस लोक अथवा परलोकमें भोगता है। जैसे वृद्ध हाथी भारी दलदलमें फँसकर मर जाता है, इसी प्रकार सब प्राणी पुत्र-पौत्रादिमें आसक्त होकर शोकरूप दलदलमें डूबकर मर जाते हैं।

हे रानी! पुत्र-पौत्रादिका मरण, सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु दैवके अधीन है। अमीर, गरीब, बुद्धिमान्, मूर्ख, बलवान्, दुर्बल सभीको सुख तो दैव-बलसे ही होता है। बात यह है कि चाहे जितनी अनुकूलता प्राप्त हो, तृष्णाका त्याग किये बिना सुख नहीं मिलता। जिसको किसी प्रकारकी भी अनुकूलता नहीं है, परन्तु जिसने तृष्णाका त्याग कर दिया है, वही सुखी होता है। न तो मित्रोंका समुदाय मनुष्यको सुखी करनेमें समर्थ है और न शत्रुवर्ग ही उसे दुःख दे सकता है। बुद्धि होनेपर भी बहुतसे कार्य सिद्ध नहीं होते और धन होते हुए भी बहुत लोगोंको सुख नहीं मिलता। बुद्धि होनेसे धनका लाभ अवश्य ही होगा, यह नहीं कह सकते और मूढ़ता होनेसे समृद्धि नहीं मिलती, ऐसा भी नहीं है। बहुतसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पण्डित निर्धन देखनेमें आते हैं और बहुतसे मूढ़ पुरुष धनवान् देखे जाते हैं।

हे बहिन! लोकव्यवहार किसप्रकार चलता है, इस बातको तत्त्वदर्शी भाई-बहिन ही जानते हैं। दूसरा कोई नहीं जानता। सम्यग्दर्शी पुरुष संसारको मरुभूमिके जलके समान मिथ्या जानता है, इसलिये वह दुःख आनेपर खेद नहीं करता और सुख प्राप्त होनेपर हर्ष नहीं करता। मनुष्य चाहे बुद्धिमान् हो या मूढ़ हो, शूर हो या भीरु हो, आलसी हो या कर्मशील हो, बलवान् हो या दुर्बल हो, परन्तु दैव-बलवालेको स्वयं ही सुख आकर प्राप्त होता है, उसको कोई यत्न नहीं करना पड़ता और दैव प्रतिकूल होता है, तो दुःख भी बिना ही यत्न आ जाता है, दैवाधीन जीवोंको दुःखमें भी सुखबुद्धि हो जाती है और सुखमें दुःखबुद्धि हो जाती है। एक गायको मालिक अपनी जानता है, बछड़ा अपनी जानता है। चरवाहा अपनी मानता है और दाव लग जाय तो चोर अपनी मानता है, परन्तु जो पुरुष गायका दूध पीता है, वस्तुतः गाय उसीकी है, यह बात सत्य ही है। कहावत है कि मनुष्यके पास भले ही बहुत-सी गायें हों, परन्तु जिसका वह दूध पीता है, वही उसकी गाय है। घरमें सैकड़ों मन अनाज भरा हो, परन्तु जितना अनाज वह खाता है, वस्तुतः उतना ही उसका है। इसी प्रकार महल-जैसे बड़े-बड़े मकान हों, परन्तु जितनेमें खाट बिछती है, उतना ही स्थान उसका है। शेष दूसरोंका है। उसे जो भोगते हैं, उनका है।

हे बहिन! अत्यन्त मूढ़ और अत्यन्त बुद्धि-सम्पन्न स्त्री-पुरुष ही सुख भोगते हैं। बीचके तो दुःखके ही पात्र हैं। भाव यह है सुषुप्ति अवस्थामें रहा हुआ जड़ और समाधिमें स्थित योगीन्द्र ये दोनों सुखी हैं, जिनको द्वैतभाव है और जिनको जगत्में भिन्नता भासती है, वे क्लेश पाते हैं। धीर पुरुष इन दोनोंमेंसे अन्तकी स्थिति यानी समाधिमें रमण करता है, बीचकी स्थितिमें आनन्द नहीं मानता, क्योंकि वेदवेत्ताओंने अन्तकी स्थितिको ही सुखप्रद कहा है, बीचकी स्थितिमें दुःख है। मध्यम स्थितिमें रहकर भी जिन्होंने ज्ञानसे आनन्द-स्वरूप आत्माका साक्षात्कार किया है, वे सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित और मत्सरसे रहित हैं, उनको अप्रियकी प्राप्ति या प्रियके वियोगसे दुःख नहीं होता। जो मूढ़ आनन्दस्वरूप आत्माको नहीं जानते, वे ही सुख देखकर हर्षित होते हैं और दुःख देखकर शोक करते हैं। मूढ़बुद्धि अज्ञानी थोड़ा-सा वैभव पाकर देवताओंके समान गर्वसे हर्षित होते हैं और पुत्रादिसे तिरस्कार पानेपर भी सत्या-सत्यके विवेकसे हीन होनेसे अपनेको सुखी समझते हैं, विचारवान् भाई-बहिन ऐसे तुच्छ सुखकी इच्छा नहीं करते, क्योंकि लोकका सुख परिणाममें दुःखरूप है। ज्ञानके साधनोंमें भी यद्यपि दुःख है, परन्तु वह दुःख सुखका उदय करनेवाला है। जो भाई-बहिन ज्ञान प्राप्त करनेमें दक्ष हैं, उनको लक्ष्मीसहित ऐश्वर्य मिलता है परन्तु आलसीको कुछ नहीं मिलता, इसलिये प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख जो कुछ प्राप्त हो, उसको धैर्य धारण करके सहन करना चाहिये। यही उत्तम विद्या है।

हे बहिन! इष्टके वियोगसे शोक उत्पन्न होनेके हजारों स्थान हैं और अनिष्टकी प्राप्तिसे भय उत्पन्न होनेके भी सैकड़ों स्थान हैं, परन्तु वे शोक और भय मूढ़ मनुष्योंके हृदयमें ही प्रतिदिन वास करते हैं, चतुर मनुष्योंके हृदयमें नहीं रहते। जिस किसीमें ग्रन्थके ज्ञानको धारण करनेकी जितनी बुद्धि होती है, भोग त्याग करनेमें जितनी कुशलता होती है, वह शास्त्रके अर्थको उतना ही समझ सकता है। जो कोई शास्त्रका अभ्यास करनेवाला, शास्त्रके अर्थमें दोषदृष्टि न करनेवाला, बाहरकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला होता है, उसको स्वप्नमें भी कभी शोक नहीं छू सकता। चतुर बहिन-भाइयोंको काम-क्रोधादिसे मनकी रक्षा करके ऐसी बुद्धिसे कार्य करना चाहिये कि जिससे शोक पास भी न फटके।

हे बहिन! जिस ब्रह्ममेंसे यह संसार उदय होता है और जिस ब्रह्ममें लय होता है उस ब्रह्मके जाननेवालेको शोक स्पर्श नहीं करता। जिससे शोक, परिताप, दुःख अथवा आयास होता हो, वह यदि शरीरका कोई अंग भी हो, तो भी उसको त्याग देना चाहिये। जिस पदार्थमें जितनी ममता की जाती है, वह पदार्थ उतना ही परिताप देता है, ममता बिना कोई पदार्थ परिताप नहीं देता। सैकड़ों प्राणी प्रतिदिन मरते रहते हैं, उनका शोक नहीं होता, परन्तु जिनमें ममता बाँधी हुई होती है, उन्हींके मरणका शोक होता है। हे बहिन! अनुभवकी बात है कि जिस-जिस कामनाको हम त्याग देते हैं, उस कामनाका त्याग हमको सुखसे पूर्ण करता है। जो कोई कामनाके अनुसार चलता है, वह कामनाके नाश होनेपर कामनाके साथ स्वयं भी नष्ट हो जाता है। संसारमें सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्णतासे जो सुख मिलता है, वह सुख तृष्णाके क्षय होनेसे जो सुख उत्पन्न होता है उस सुखके शतांशके बराबर भी नहीं है।

हे बहिन! शुभ या अशुभ जो कर्म पूर्व देहसे किया होता है, उसी कर्मके अनुसार मूढ़ और शूर दोनोंको ही सुख-दुःख आकर घेरते हैं। इसप्रकार प्रीतिकर सुख और अप्रीतिकर दुःख प्राणीको बारम्बार प्राप्त होते रहते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। ऐसा समझकर चतुर स्त्री-पुरुष तृष्णाको त्यागकर सुखी रहते हैं, इसलिये हे बहिन! तू समस्त कामनाओंका और क्रोधका त्याग करके सुखी हो जा। स्त्री-पुरुषोंके मनमें उत्पन्न होनेवाला और हृदयमें निवास करनेवाला काम प्रौढ़ मृत्युरूप है और यही काम किसी प्रतिबन्धके कारण क्रोध हो जाता है। जैसे कछुवा अपने सब अंगोंको सिकोड़ लेता है, इसी प्रकार जो कोई प्राणी अपने सर्व मनोरथोंको खींच लेता है, उसको अपने अन्तःकरणमें चित्स्वरूपसे आत्माका दर्शन होता है, जिससे फिर वह सबमेंसे प्रेम हटाकर अपने आत्मामें ही आनन्द मानता है।

हे बहिन! जैसे कछुवेके अंग कछुवेसे भिन्न नहीं हैं उसके अपने ही अधीन हैं, इसी प्रकार काम भी आत्मासे भिन्न नहीं है, इसलिये कामका लय भी आत्मामें हो सकता है, स्थूल उपाधि (जाग्रत्-अवस्था), सूक्ष्म उपाधि (स्वप्न-अवस्था) और कारण उपाधि (सुषुप्ति-अवस्था), इन तीनोंके द्वारा कामका भोग हो सकता है, स्थूल काम संग-त्यागसे त्यागा जा सकता है, सूक्ष्म यानी वासनामय काम वैराग्यकी दृढ़तासे त्यागा जा सकता है और जिसमें सब विषयोंके स्मरणका अभाव है, ऐसा कारणमय काम गुरुकी बतायी हुई योग-समाधिसे त्यागा जा सकता है। इसके त्यागनेका कारण यह है कि जब कारणदेहमें योगीको सब कामनाओंकी स्वयं प्राप्ति होती है, तब वह योगी लोभवश उनको अंगीकार करनेसे फिर जन्म-मरण-चक्रमें फँस जाता है, इसलिये कारणरूप कामको भी त्यागना चाहिये, इसप्रकार सब कामनाओंका त्याग करनेसे प्राणी सुखी होता है और ममता करनेसे दुखी होता है।

हे बहिन! जिसका मन स्थिर हो जाता है, उसको किसीसे भय नहीं होता, क्योंकि लज्जा, भय आदि सब मनके ही धर्म हैं। जब प्राणीका मन स्थिर हो जाता है, तब न तो वह किसीसे भय करता है और न उससे भी कोई भय करता है। ऐसा पुरुष न तो किसी पदार्थकी इच्छा करता है और न किसी पदार्थसे द्वेष करता है। वह सर्वमें समान रहता है। ब्रह्म समान है, इसलिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह भी ब्रह्मरूप हो जाता है। जब प्राणी मनसे, वचनसे और कर्मसे हिंसाका त्याग कर देता है, तब उसको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।

हे बहिन! निर्बल स्त्री-पुरुषोंके लिये तृष्णाका त्याग कठिन है। मनुष्य वृद्ध हो जाता है, परन्तु तृष्णा वृद्ध नहीं होती। वह तो उलटी तरुण होती जाती है और प्राणोंके अन्ततक रहती है। तृष्णा प्राणोंको अन्त करनेवाले रोगके समान है, ऐसी तृष्णाके त्यागसे ही स्त्री-पुरुष सुखी होते हैं। हे बहिन! आनन्दस्वरूप आत्मा पाससे भी पास है, सबकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित है, परन्तु शोककी बात है कि उसे कोई विरला ही जानता है। सब उसको नहीं देख सकते। काम-क्रोधवाले विकारी स्त्री-पुरुष निर्विकार आनन्दस्वरूप आत्माके पास ही बसते हैं, परन्तु काम-क्रोधादि अहङ्कारके धर्मोंपर दृष्टि करके उन्होंने आत्माको ढक रक्खा है। इसलिये पास-से-पास भी आनन्दस्वरूप आत्मा उनको दिखायी नहीं देता। हे बहिन! अविद्यारूप थाँभला है, इस थाँभलेके ऊपर चार अन्तःकरण और पाँच इन्द्रियरूप नव द्वारवाला देहरूप घर बना हुआ है, उस घरने आत्माको ढक रक्खा है। देहरूप घरपर दृष्टि मत दे! ऐसा करनेसे तुझे शीघ्र ही आत्माके दर्शन होंगे। आशा परम शत्रु है और निराशा परम मित्र है। निराशाको भजनेवाला ही सुखी होता है। इसलिये पुत्रादि किसीकी आशा मत कर और यथाप्राप्तमें सदा सुखी रह।

ब्राह्मणीका यह उपदेश सुनकर सब पदार्थोंकी आशा छोड़कर रानी निराश हो यथाप्राप्तमें सन्तुष्ट होकर बर्तने लगी। पीछे उसके कई पुत्र हुए, शनैः शनैः पौत्र भी हुए, परन्तु फिर वह कभी हर्ष-शोकको प्राप्त न होकर सर्वदा सुखी रही। सच कहा है—

कुं०—आशा फाँसी दुःखदा, सुखदा एक निरास।
आशा त्यागे धीर नर, होय न परका दास॥
होय न परका दास, आस भगवतकी करता।
जीवत करता चैन, मरे भवसागर तरता॥
जयदेवी! तज आस, नित्य भज एक निराशा।
अपना अपने पास, करे क्यों परकी आशा॥

साध्वी कैथेरिन

(लेखक—श्रीजयदयाल डालमिया)

संसारकी जड़ और चेतन सभी शक्तियोंमें एक ऐसा प्राकृतिक भाव है कि वे परस्पर आकर्षित होकर एक दूसरेकी सेवामें अपना उपयोग करना चाहती हैं, इसी भावको सेवा कहते हैं। इस सेवा-भावका जिसमें जितना ज्यादा विकास होता है वह उतना ही उत्तम पुरुष है। साधारणतः संसारमें जो वस्तुएँ अनुपयोगी समझी जाकर जितनी लापरवाहीसे देखी जाती हैं उनमें भी प्रायः उतनी ही ज्यादा उपयोगिता होती है। उनके द्वारा अज्ञात-रूपसे संसारकी ठोस सेवा हुआ करती है। जगत्में कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो प्रत्यक्षमें उदासीन-सी दिखायी देनेके कारण संसारके लिये निरर्थक समझी जाती हैं, लेकिन गम्भीरतापूर्वक विचारा जाय तो संसारको जितनी शक्ति और जितना लाभ इनसे मिलता है उतना शायद प्रत्यक्ष दीखनेवाली शक्तियोंसे नहीं मिलता। भारतवर्ष तो ऐसी शक्तियोंकी खान माना जाता था। मेरा विश्वास है कि आज भी इस भूमिमें ऐसी शक्तियाँ, ऐसी विभूतियाँ हैं जो जगत्के दूसरे हिस्सोंके लिये अभूतपूर्व हैं और जो अपने प्रभावसे संसारको आश्चर्यमें डाल सकती हैं। आज मैं पाश्चात्य देशकी एक ऐसी शक्तिका चरित्र पाठकोंकी सेवामें रखना चाहता हूँ जिसने प्रेम-भक्ति-रञ्जित हृदय, आदर्श सेवाभाव, विलक्षण धैर्य, भोगोंकी विरक्ति और दृढ़ निश्चयके साथ संसारके रंगमञ्चपर अपना अनोखा पार्ट खेलकर पाश्चात्य धार्मिक आकाशको अपनी तेजोमय शान्ति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण किरणोंसे देदीप्यमान कर दिया था, इस शक्तिका नाम था—साध्वी कैथेरिन।

कैथेरिन सन् १३४७ ई० में इटलीके अन्तर्गत सायेना नगरमें जेकोपो नामक एक सरल-चित्त, विनयी, दयालु और धार्मिक सद्गृहस्थके घर स्नेहमयी साध्वी नारी लापाके उदरसे पैदा हुई थी। अपने सन्तानपर माता-पिताका तो सहज स्नेह होता ही है, लेकिन कैथेरिनके खिले हुए कोमल गुलाब-से मुखड़ेको और उसकी सरल हँसीको देखकर अड़ोस-पड़ोसके नर-नारियोंको भी मुग्ध होना पड़ता था। इसीसे लोगोंने उसका एक नाम 'आनन्दमयी' रख लिया था। कैथेरिनके माँ-बाप बड़े ही धार्मिक थे। बालकके जीवनपर जैसा माता-पिताके आचरणोंका प्रभाव पड़ता है वैसा दूसरे किसीकी शिक्षाका नहीं पड़ता। इसीके अनुसार जैकोपो और लापाका प्रभाव कैथेरिनके जीवनपर खूब पड़ा। वह बालिका भी उन्हींके-से आचरण करनेका प्रयत्न करने लगी। फलस्वरूप उसे एक दिन छः ही वर्षकी अवस्थामें स्वप्नमें प्रभुकी ज्योतिर्मयी मूर्ति अपने सामने खड़ी दिखायी दी। इस घटनाका उसके कोमल चित्तपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा और उसी समयसे उसकी धर्मवृत्ति दिनों-दिन बढ़ने लगी। इस अवस्थामें साधारणतः बालकोंका मन खेल-कूद और किस्से-कहानीमें ही लगा रहता है। परन्तु 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात' की लोकोक्तिके अनुसार कैथेरिनका मन आरम्भसे ही सन्त-महात्माओंके जीवनचरित सुननेमें लगता था। वह सन्तोंकी जीवन-लीलाओंको केवल सुनकर ही सन्तुष्ट नहीं होती वरं उसी आदर्शके अनुसार अपने जीवनको भी पवित्र बनानेकी कोशिश किया करती।

फल ज्यों-ज्यों पकता है त्यों-ही-त्यों उसमें छिपी हुई मधुरता प्रकट होने लगती है, इसी प्रकार कैथेरिनकी वयोवृद्धिके साथ-साथ उसके हृदयमें भी मधुर धर्मभावका विकास होने लगा। वह एकान्तमें ईश्वरसे प्रार्थना किया करती और अपने मनके भावोंपर सदा सावधानीसे निगरानी रक्खा करती। उस समय यूरोपमें स्त्रियाँ एक प्रकारका संन्यास लिया करती थीं, उनके जीवनका उद्देश्य तपस्या और लोक-सेवा ही हुआ करता था। कैथेरिनके मनमें वैराग्य तो था ही अतः उसका मन भी संन्यासकी ओर आकर्षित हुआ। एक दिन प्रातःकालीन सूर्यकी लाल-लाल किरणोंके सहारे वह पक्षियोंका सुमधुर गान सुनती हुई किसी निर्जन स्थानकी ओर जाने लगी। रास्तेमें एक सुन्दर बागको देखकर उसे प्रभुकी लीलाका स्मरण हो आया और उसीका गुणगान करती हुई वह वहीं ध्यान-मग्न हो गयी। अकस्मात् संसारके अनेकानेक प्रलोभन प्रकट होकर उसे अपने ध्येयसे डिगानेकी चेष्टा करने लगे। यह देख कैथेरिन घबरा गयी और उनके चङ्गुलसे छूटनेका दूसरा उपाय न देख कातर-स्वरसे ईश्वरसे प्रार्थना करने लगी। शरणागत भक्त-बालिकाकी कातर पुकार सुनकर भगवान्ने उसी क्षण सारे प्रलोभनोंको नष्ट कर उसके हृदयमें दिव्य ज्योतिका उदय कर दिया। अब विषयोंकी बाधासे बचनेके लिये कैथेरिनने आजन्म ब्रह्मचारिणी रहनेका निश्चय कर लिया और वह प्रेमसे परमात्मासे विनय करने लगी कि—'हे प्रभु, ऐसा उपाय करो, जिसमें मैं बस, तुमको ही पतिरूपसे वर सकूँ।' अचल सुहागिनी मीराने भी एक दिन यही गाया था—

ऐसे बरको के बरूँ जो जनमे और मर जाय।
बर बरिये एक साँवरोजी चुड़लो अमर होय जाय॥

कैथेरिनके माता-पिता अपनी स्नेहकी पुतली कन्याके लिये नाना प्रकारके विचार बाँधा करते थे। वे उसे भाँति-भाँतिके गहने-कपड़ोंसे सजाकर उसका प्रफुल्ल मुखकमल देखा चाहते थे, लेकिन कैथेरिनको यह सब बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था। धीरे-धीरे कैथेरिनकी उम्र विवाहके योग्य हो गयी। जननी लापाने एक दिन उसके सामने विवाहकी चर्चा चलायी। स्नेहमयी माताके सङ्कोचसे कैथेरिन स्पष्टरूपसे कुछ भी नहीं कह सकी, उसने केवल इतना ही कहा—'मैं मनुष्यका प्रिय कार्य पूर्ण करनेकी अपेक्षा ईश्वरका प्रिय कार्य करना ज्यादा कल्याणकारी समझती हूँ।' कैथरिनके इन अस्पष्ट वचनोंसे माता लापा उसके मनके भावको बहुत-कुछ समझ गयी, इससे उसका चेहरा उदास हो गया।

कैथेरिनकी माँ और उसकी एक बड़ी बहिनने, जिसका विवाह हो चुका था, कैथेरिनको निश्चयसे डिगानेका बहुतेरा प्रयत्न किया, लेकिन सब व्यर्थ हुआ। उसके कुछ रिश्तेदारोंने एक बार उसकी इच्छाके विरुद्ध एक वरको अपने घर बुला लिया, जिसे देखते ही कैथेरिन चमक उठी और बोली—'क्या मेरी इच्छाके विरुद्ध यह जाल फैलाया गया है? क्या यह युवक मेरा मन हरण करने आया है?' इसप्रकार कहती हुई वह फौरन् उस घरसे बाहर निकल गयी और दूसरे घरमें जाकर उसने दरवाज़ा बन्द कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया। बेचारे युवकको निराश होकर वापस लौट जाना पड़ा।

इस घटनासे घरके लोग कैथेरिनपर बहुत बिगड़े। आखिर उसकी बड़ी बहिनने उसे फुसलानेके उद्देश्यसे विष-मिश्रित मधुर वचनोंमें कहा—'बहिन, तेरी विवाहकी इच्छा नहीं है तो न सही, लेकिन घरमें आये हुए अतिथिके साथ सभ्यताका व्यवहार तो करना ही चाहिये था। तू उससे दो मीठे शब्द बोल लेती तो तेरा क्या बिगड़ जाता? तेरे इस रूखे व्यवहारसे हमलोग कहीं मुँह दिखाने लायक भी नहीं रह गये।' यह सुनकर सरलहृदया बालिका कैथेरिन घरवालोंके दुःखसे दुखी होकर रो पड़ी और अपना अपराध स्वीकार करती हुई क्षमा-प्रार्थना करती हुई बोली कि 'आपलोग इसके लिये मुझे जो दण्ड देना चाहें, दें, मैं सहर्ष स्वीकार करूँगी।'

कुछ ही दिनों बाद इस बहिनका देहान्त हो गया। प्यारी बहिनकी असामयिक मृत्युसे कैथेरिनके हृदयपर बड़ा आघात लगा। परन्तु इस आघातने वैराग्यकी अग्निमें घीकी आहुतिका काम किया। कैथेरिनने अनित्य जीवनका दृश्य सामने देखा। उसने मांसाहार, सुन्दर गहने-कपड़े, आमोद-प्रमोद और नृत्य-गीतादि तो पहलेहीसे छोड़ दिये थे, अब वैराग्यकी तीव्रतासे वह अपना समय और भी तपस्या, भजन तथा ध्यानमें बिताने लगी। इन्हीं दिनों एक नामधारी धर्मोपदेशक, जो कैथेरिनको अपने निश्चयसे डिगानेके लिये फुसलानेमें विफलमनोरथ हो चुके थे, कैथेरिनकी संन्यास लेनेकी इच्छाको जाँचनेके लिये उससे बोले कि—'क्या तुम अपने इन सुन्दर बालोंको काट सकती हो?' कैथेरिनके सिरके बाल बड़े ही सुन्दर थे। धर्मोपदेशकका विश्वास था कि वह इन केशोंका मोह कभी नहीं छोड़ सकेगी। परन्तु जिसका चित्त संसारके सभी विषयोंसे उदासीन हो उठा था, उसकी दृष्टिमें उन केशोंका क्या मूल्य था? यह तो धर्मोपदेशक बने हुए उस मनुष्यका अपना मोह था जो उसके कोमल चिकने काले-काले केशोंको चित्ताकर्षक और प्रिय वस्तु मानता था। कैथेरिनने तुरन्त ही कैंची ली और एक ही सपाटेमें सारे बालोंको काट डाला। धर्मोपदेशकका मुँह फीका पड़ गया। इस घटनासे घरवालोंको निश्चय-सा हो गया कि अब यह संन्यास लिये बिना नहीं मानेगी। इसलिये वे उसपर विशेष निगरानी रखने लगे और घरके कार्योंमें मन फँसानेके उद्देश्यसे उन्होंने नौकर-चाकरोंको जवाब देकर रसोई बनाना, झाड़ू देना, चीज-वस्त सँभालना आदि सारे कामोंका भार कैथेरिनपर डाल दिया। उनका उद्देश्य था कि इससे यह निर्जनमें जाकर उपासना आदि नहीं कर सकेगी। परन्तु कैथेरिनने इस सारे बोझको हर्षके साथ सिरपर उठा लिया, वह इस कार्य-भारसे घबरायी नहीं, भगवत्-भजनरूपी असली कार्यमें लक्ष्य रखती हुई ही वह इन कार्योंको करने लगी।

भगवान्‌की यथार्थ भक्ति करनेवालोंको समयानुकूल नियत कर्तव्य-कर्म कभी बाधक नहीं होते और न ऐसे भक्त इन कामोंसे जी ही चुराते हैं। जो शरीरक्लेशके भयसे कर्मोंको दुःखरूप मानकर उनसे पिण्ड छुड़ानेके लिये संन्यास लेकर संसारसे अलग होते हैं, उन्हें ज्ञान-प्राप्तिरूप परमसिद्धि नहीं प्राप्त होती—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥
(गीता १८।८)

काम, क्रोध, लोभ और मोहयुक्त कर्म, जो ईश्वरसे विमुख कर मनुष्यको संसारके चक्करमें डाल देते हैं उनको छोड़कर शेष सभी कर्तव्य-कर्मोंको सर्वत्र ईश्वरको देखनेवाले भक्तजन भगवान्‌की सेवा समझकर ही किया करते हैं। कैथेरिन भी इसी भावसे कार्यके समय कर्तव्य-कर्मोंको बड़ी सावधानीसे करती और रातको जब सब लोग प्रकृति-देवीकी गोदमें आनन्दसे आराम करते, तब वह ईश्वर-चिन्तनमें निमग्न हो जाती, उस समय भगवत्प्रेमकी विह्वलतासे उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती, उसका मस्तक दिव्य ज्योतिसे जगमगा उठता।

एक दिन रातको उसके पिताने कैथेरिनको इस-प्रकारकी स्थितिमें देख लिया, जिससे उसके आश्चर्यका पार न रहा। कैथेरिन दिनभर घरके सब काम करती है और रातको जगकर इस तरह भगवान्‌की सेवा करती है, यह सोचकर उसका हृदय द्रवित हो गया। अब उसके द्वारा दिनमें काम करवाना पिताको बहुत अनुचित जान पड़ा, अतएव उसी दिनसे उसने कैथेरिनको घरके कामोंकी जिम्मेवारीसे मुक्त कर दिया।

इस समय उसकी पन्द्रह वर्षकी अवस्था थी। अब वह अलग एकान्त स्थानमें रहकर साधना करने लगी। वह हठयोगीकी तरह शरीरको नाना प्रकारसे संयममें रखती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी यह धारणा थी कि ईश्वरकी प्राप्तिमें इस पापी देहकी ममता और इसके भोग ही बाधक हैं इसलिये वह कभी-कभी शरीरको संयमित करनेके लिये लोहेकी जञ्जीरोंसे जकड़ रखती। इससे उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। वह दीन-दुखियोंकी सेवा और सहायताके लिये सदा सब प्रकारसे तत्पर रहती, उन्हें धीरज और आश्वासन देती। स्वयं साधारण रोटी और शाक-सब्ज़ी खाकर ही अपना निर्वाह कर लेती, मोटे वस्त्र पहनती और सदा जमीनपर सोया करती। शरीर-निर्वाहमात्रके लिये बहुत ही थोड़ा आहार किया करती। इन सब साधनोंसे उसे नींद बहुत ही कम आती, जिससे रात्रिमें वह अपना अधिकांश समय भजन-ध्यानमें ही बिताया करती।

कैथेरिनकी पहलेसे ही सेण्ट डोमिनिक-सम्प्रदायके नियमानुसार संन्यास ग्रहण करनेकी इच्छा थी। अब इस बातको छिपाये रखना उचित न समझ उसने एक दिन अपने बन्धु-बान्धवों और माता-पिताके सामने दृढ़ताके साथ उत्साह-भरे शब्दोंमें अपनी अवस्था और गहरी जिम्मेवारी, एवं ईश्वरकी कृपाका अनुभव दरसाते हुए अपने संन्यास लेनेका विचार उपस्थित किया। हृदय-दुलारी कुमारी कन्या कैथेरिनके इस दृढ़ विचारको सुनकर स्नेहमयी माता लापाका चेहरा बरबस आँसुओंसे भींग गया। सब बन्धु-बान्धव चकित हो गये। पिताको भी पुत्रीकी इस बातसे कुछ विषाद हुआ। परन्तु आदर्श पिताने कन्याकी इच्छाकी कद्र करते हुए करुण-स्वरमें कहा—'बेटी कैथेरिन! भगवान् कृपा करके तुझे अपनी ओर खींच रहे हैं, तो अब हमलोग तेरे इस पवित्र मार्गके काँटे बनकर ईश्वरके अपराधी न बनेंगे। तू निर्भय चित्तसे परमेश्वरकी आज्ञाका पालन करती हुई अपने लक्ष्यकी ओर आगे बढ़, ईश्वर तेरा कल्याण करें!'

अब कैथेरिन अठारह वर्षकी हो गयी, उसके संन्यास-ग्रहणका समय आ गया। इसके लिये एक बड़ा उत्सव किया गया। माता-पिता, बन्धु-बान्धवादि सभी निमन्त्रित किये गये। कैथेरिन संन्यासिनीकी पोशाक पहने उपासना-मन्दिरमें आयी, उसे देखकर उपस्थित जनसमुदायमें करुणाका स्रोत उमड़ पड़ा। वे लोग इस पोशाकमें कैथेरिनकी साध्वी मूर्तिको श्रद्धा और भक्तिपूर्वक देव-कन्याकी तरह अनुभव करने लगे। जिसप्रकार सूर्यकी किरणें घने बादलोंको भी भेदकर पृथ्वीपर उतर आती हैं, उसी प्रकार कैथेरिनका अपूर्व तेज संन्यासके कृष्णवर्ण कपड़ोंके अन्दरसे बाहर निकला पड़ता था। प्रार्थनाका समय हुआ। सब प्रभुकी प्रार्थनामें लीन हो गये। इसके बाद कैथेरिनने वहाँके नियमानुसार संन्यास-ग्रहण किया और तबसे वह दीनता, पवित्रता और प्रभु-सेवा इन तीन व्रतोंको धारण करके अपना जीवन बिताने लगी। तीन वर्ष तो उसने लगातार मौन-व्रतका पालन किया। इस बीचमें वह अपने आचार्यके सिवा अन्य किसीसे भी नहीं बोलती थी। दिन-रात भजन-ध्यानमें लगी रहती। इससे उसका हृदय पवित्र होकर आनन्दसे भर उठता, उसके चेहरेपर दिव्य प्रकाश झलकता और हृदयमें प्रभु-प्रेमकी लहरें उछलती हुई स्पष्ट दिखायी पड़ती थीं।

छोटी उम्रके संन्यासियोंपर अनेक प्रकारकी विपत्तियाँ आती हैं, विषयोंके प्रलोभन और विषय-संगसे पतित हो जानेका डर तो रहता ही है। न मालूम किस समय किस कुसंग-से विषय-वृत्ति जाग उठे। इस विषयमें बड़े-बड़े तपस्वी भी हार मान जाते हैं। परन्तु यदि साधक ईश्वरके शरणागत होता है तो वह भगवत्कृपासे सारी विपत्तियोंको लाँघकर अपने लक्ष्यतक पहुँच जाता है और अन्तमें अनन्त शान्तिका अनुभव करता है। जिसप्रकार सोना अग्निमें तपाये बिना शुद्ध और देदीप्यमान नहीं होता इसी प्रकार भक्त भी जब-तक विपत्ति-रूपी अग्निमें तपाकर शुद्ध नहीं कर लिया जाता तबतक उसका साधन अपूर्ण ही रहता है। इसीलिये भगवान् कृपा करके भक्तोंको कष्ट और विपत्तियोंसे बनी हुई कठिन घाटियोंमें ले जाते हैं। इन घाटियोंको लाँघते समय जो भगवान्को भूलकर अपने बुद्धिबलका अहङ्कार कर बैठता है, वह फँस जाता है और जो सर्वतोभावसे उनके शरणागत रहता है, वह सारे विघ्नोंको लात मारकर आगे बढ़ जाता है।

सुखी मीन जिमि नीर अगाधा। तिमि हरि शरण न एको बाधा॥

कैथेरिनको भी अनेक विपत्तियोंका सामना करना पड़ा। बीच-बीचमें उसे संसारके अनेकानेक प्रलोभन सताने लगते। पवित्रहृदया संन्यासिनीको इन पापों और प्रलोभनोंके साथ बड़ा भारी संग्राम करना पड़ा। एक बार तमोगुणप्रधान दुर्बुद्धि नामक शैतानने उसे नीतिके आलङ्कारिक शब्दोंमें अनेक विवाहिता धार्मिक नारियोंके चरित सुनाकर और संसारके सुख-वैभवोंके सब्ज़बाग दिखलाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाहित-जीवन बितानेकी सलाह दी। संगका प्रभाव बड़ा प्रबल होता है। विषयी जीवोंके आचरणका विचार या उनकी चर्चातक भी साधकका पतन करनेवाली होती है, फिर उनका संग करना तो महाविषधर सर्पके संगके समान है। इसीसे प्रातःस्मरणीय महात्मा सूरदासजीने कहा है—'तज मन हरिविमुखनको संग।' कैथेरिनपर भी इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। कुछ समयके लिये उसका मन रसहीन और उसका निर्मल पवित्र हृदय भक्ति-शून्य-सा प्रतीत होने लगा। इस आक्रमणसे वह एक बार तो अचेत-सी हो गयी। परन्तु इस अवस्थामें भी उसने अपने ग्रहण किये हुए व्रतोंको नहीं छोड़ा। जिसके प्रभावसे उसका मन अपने मार्गसे डिग नहीं सका। साथ ही उसने अपने परम प्रियतम भगवान्‌की प्रार्थनारूपी मजबूत ढालको भी बड़ी सावधानीसे पकड़े रक्खा। फलस्वरूप दुर्बुद्धिको हार मानकर लौट जाना पड़ा। कैथेरिन बच गयी। अब उसे अपने हृदयमें ईश्वरके आविर्भावका प्रत्यक्ष-सा अनुभव होने लगा और उसकी परमात्म-दर्शनकी लालसा अत्यन्त प्रबल हो उठी। (शेष आगे)

बुद्धियोग

(लेखक—श्रीअरविन्द)

पिछले दो लेखोंमें हमने केवल बाह्य भावसे दार्शनिक मतवादकी आलोचना की है। वह आलोचना बिलकुल ही गम्भीर या यथेष्ट नहीं है। गीताकी विशेष पद्धतिका समझाना ही उक्त आलोचनाका उद्देश्य है। गीता पहले एक आंशिक सत्यकी व्याख्या करती है एवं उसके गूढ़तम अर्थके सम्बन्धमें संयत-भावसे दो-एक सङ्केत कर देती है। पश्चात् फिर लौटकर इन्हीं सङ्केतोंका यथार्थ अर्थ प्रकाशित करती है, एवं क्रमसे उसका शेष भाग महान् वक्तव्य बन जाता है। गीताका यह अन्तिम वक्तव्य ही श्रेष्ठ रहस्य है, गीता इस रहस्यकी बिलकुल ही व्याख्या नहीं करती, इसे जीवनमें स्फुटित करनेके लिये कहकर छोड़ देती है। परवर्ती युगके भारतीय साधकोंने प्रेम, आत्म-समर्पण और भावोल्लासके महान् तरङ्गोंमें इसीको जीवनमें परिस्फुटित करनेकी चेष्टा की है। गीताकी दृष्टि सदा समन्वयकी ओर रही है एवं गीताकी सारी बातें इसी अन्तिम महान् सिद्धान्तकी आयोजनामात्र हैं।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि 'सांख्यमें मुक्तिके उपाय-स्वरूप बुद्धि किसप्रकारकी है, यह तुमसे मैंने कहा, योगमें वह एक दूसरे प्रकारसे है, उसीको मुझसे सुनो (२।३९)। तुम अपने कर्मफलका विचार कर पीछे हटते हो, तुम दूसरे प्रकारसे फलकी कामना करते हो एवं उस फलकी सम्भावना न देखकर अपने कर्तव्य-पथके छोड़नेके लिये तैयार हो गये हो। किन्तु कर्म एवं कर्मके फलके सम्बन्धमें इसप्रकारका भाव—कि 'फलकामनासे ही कर्म करना पड़ता है, कर्म केवल वासनाकी तृप्तिका ही उपाय है।' इसप्रकारके भाव अज्ञानियोंके बन्धनके कारण हैं। इस प्रकारके अज्ञानी यह नहीं जानते कि कर्म क्या वस्तु है, कर्मका यथार्थ उद्गम कहाँसे होता है? कर्मकी यथार्थ गति क्या है एवं उसकी महान् उपयोगिता क्या है? मैं जिस योगकी बात कहूँगा, उससे तुम सारे कर्म-बन्धनसे छूट जाओगे—कर्मबन्धं प्रहास्यसि। तुम बहुत-सी वस्तुओंसे भय करते हो—पापसे भयभीत होते हो, दुःखसे डरते हो, नरक और दण्डसे डरते हो, भगवान्‌से भय करते हो, इहकालसे भय करते हो, परकालका भय करते हो, तुम अपने-आपसे डरते हो। तुम क्षत्रिय होकर, जगत्‌के श्रेष्ठ वीर होकर भी किससे नहीं डर रहे हो? किन्तु जो महाभय सब मनुष्योंपर आक्रमण करता है वही यह है—पापका भय,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इहलौकिक-पारलौकिक दुःखका भय, जिस संसारके यथार्थ स्वरूपको वे नहीं जानते, उसी संसारका भय, जिस भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको उन्होंने नहीं देखा, जिसकी विश्वलीलाका गूढ़ रहस्य नहीं समझा, उसी भगवान्‌का भय। मैं जिस योगकी बात कहूँगा, वह तुम्हें इस महाभयसे छुड़ा देगा एवं इसकी अति अल्पमात्रा भी तुम्हें मुक्ति प्रदान कर देगी–'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' एक बार तुम इस मार्गमें चलनेपर देखोगे कि तुम्हारा एक पैर चलना भी व्यर्थ नहीं जाता, प्रत्येक सामान्य घटनासे भी कुछ-न-कुछ लाभ ही होगा; तुम देखोगे कि ऐसी कोई बाधा नहीं जो तुम्हारे आगे बढ़नेको रोक सके।' भगवान्‌ने जो इसप्रकारकी महान प्रतिज्ञा की,–इस प्रतिज्ञापर, जो भयसे ग्रस्त हुए लोग इधर-उधर भटकते हुए जीवनमें पद-पदपर बाधा देखते हैं, ठगाते हैं, वे सहसा विश्वास नहीं कर सकते। भगवान्‌की इस प्रतिज्ञाका पूर्ण अर्थ भी हम हृदयङ्गम नहीं कर सकते, यदि गीताकी वाणीकी इन पहली बातोंके साथ ही इस अन्तिम बातको याद न करें–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—'धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्यके सब विधि-निषेधोंका परित्याग कर एकमात्र मेरा आश्रय ग्रहण करो। मैं ही तुम्हें सर्व प्रकारसे पाप और अशुभसे मुक्त करूँगा, शोक मत करो।'

किन्तु, मनुष्यके प्रति भगवान्‌की यह गम्भीर मर्मस्पर्शी वाणी आरम्भमें ही नहीं कही गयी है। मार्गके लिये जितने प्रकाशकी आवश्यकता है पहले उतना ही दिया गया है। यह प्रकाश आत्माके ऊपर नहीं, बुद्धिके ऊपर ही डाला गया है। भगवान्‌ने पहले मनुष्यके सुहृद् और प्रेमीके रूपमें बातें नहीं कहीं। गुरु और पथप्रदर्शकके रूपमें ही ऐसी बातें कहीं, जिससे कि मनुष्यकी यथार्थ आत्माके सम्बन्धकी, संसारके यथार्थ स्वरूपके सम्बन्धकी एवं कार्यके यथार्थ उद्गम और मूलके सम्बन्धकी उसकी अज्ञानता दूर हो जाय। क्योंकि मनुष्य अज्ञानसे, भ्रान्त-बुद्धिसे एवं इसीलिये भ्रान्त इच्छासे कार्य करता है, इसी कारण तो वह कार्योंके द्वारा बद्ध होता है या अपनेको बद्ध हुआ समझता है, नहीं तो मुक्त आत्माके लिये कर्मबन्धन कैसे हो सकता है? इस भ्रान्त बुद्धिके कारण ही मनुष्यको आशा और आशङ्का, क्रोध, शोक और क्षणस्थायी हर्ष होता है, ऐसा न हो तो उसका सम्पूर्ण शान्ति और मुक्तिके साथ कर्म करना सम्भव है। इसलिये अर्जुनको पहले ही बुद्धियोगका परामर्श दिया गया। अभ्रान्त-बुद्धिके साथ एवं इसीलिये अभ्रान्त इच्छाके साथ, तदेकचित्त होकर सर्वभूतोंमें एक आत्माको जानकर आत्माकी शान्त समतामें कार्य करना, अज्ञानवशतः मनकी असंख्य कामनाओंके वश होकर इधर-उधर न भटकना–यही बुद्धियोग है।

गीता कहती है, मनुष्यकी दो प्रकारकी बुद्धि है। प्रथम प्रकारकी बुद्धि शान्त, व्यवस्थित, एक और सम है, केवल सत्य ही इसका लक्ष्य है। ऐक्य इसका लक्षण है, स्थिर एकाग्रता इसका स्वरूप है।

दूसरे प्रकारकी बुद्धिमें कोई एकाग्र इच्छा नहीं है, कोई निश्चयात्मिका नहीं है। जीवनमें जितनी कामनाएँ उठती हैं, उन्हींके द्वारा वह सदा इधर-उधर दौड़ती है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
(२।४१)

बुद्धि शब्दका ठीक अर्थ होता है मनकी बोध-शक्ति–किन्तु गीतामें इसका व्यापक दार्शनिक अर्थमें व्यवहार किया गया है। मनकी जिस क्रियाके द्वारा हम विचार करते हैं एवं निश्चय करते हैं कि हमारा विचार किसप्रकारका होना चाहिये–हमारा कर्म किसप्रकारका होना चाहिये–इन सभी क्रियाओंको गीतामें बुद्धि कहा गया है। चिन्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Thought), बुद्धि (Intelligence), विचार (Judgement) प्रत्यक्ष निर्वाचन (Perceptive choice) एवं लक्ष्य (Aim) इन सभीको बुद्धि-क्रियाके अन्तर्गत माना गया है। कारण, केवल ज्ञानप्राप्तिके व्यापारमें मनकी निश्चयात्मिकता ही एकनिष्ठ बुद्धिका लक्षण नहीं, किन्तु कर्मके लक्ष्यका निर्धारण एवं उसपर अविचलित रहना और व्यवसाय, विशेषकर यही एकनिष्ठ बुद्धिका लक्षण है; दूसरी ओर चिन्तनकी विक्षिप्तता ही विक्षिप्त बुद्धिका प्रधान लक्षण नहीं—जिसके लक्ष्यकी स्थिरता नहीं है, 'लक्ष्यशून्य लाखों वासनाओंके' पीछे-पीछे जो भटकते फिरते हैं, विशेषकर उन्हींकी बुद्धि विक्षिप्त है। अतएव इच्छा (Will) एवं ज्ञान (Knowledge) यही दोनों बुद्धि (Intelligent will)की क्रिया हैं। व्यवसायात्मिका एकनिष्ठा बुद्धि आत्माके आलोकमें बँधी रहती है, यह आभ्यन्तरीय आत्मज्ञानमें केन्द्रीभूत होती है। दूसरी ओर अव्यवसायियोंकी अनन्त और बहुशाखावाली बुद्धि है-जो, जिस एकमात्र वस्तुकी आवश्यकता है उसीको भुलाकर चञ्चल विक्षिप्त मनके वश होती है, बाह्य-जीवनके कर्म और कर्मफलमें सैकड़ों ओर दौड़ती है, सैकड़ों स्वार्थोंमें रत होती है। भगवान् कहते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

—'हे धनञ्जय, बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है; अतः तुम बुद्धियोगका आश्रय लो, जो कर्मफलकी चिन्ता करते हैं, फलके उद्देश्यसे कार्य करते हैं वह अतिनिकृष्ट और अभागे हैं।'

हमें यह याद रखना होगा कि सांख्य मनस्तत्त्वकी जिस परम्पराका निर्देश करता है गीता उसको स्वीकार करती है। एक ओर पुरुष शान्त आत्मा, निष्क्रिय, अक्षर, एक है–उसका विकास नहीं है; और दूसरी ओर प्रकृति चेतन पुरुषके बिना निष्क्रिय (Inert) है परन्तु सचेतन पुरुषकी सन्निधिमात्रसे ही वह क्रियाशीला हो जाती है। प्रकृति निरवयव (Indeterminnate) त्रिगुणमयी, विकाशशीला एवं सृष्टि और प्रलयमें समर्थ है। हम अपने भीतर और बाहर जो कुछ प्रत्यक्ष करते हैं वह सभी प्रकृति और पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है। हमारे निकट जो भीतरका (Subjective) है, वही पहले उत्पन्न होता है, क्योंकि आत्मचेतना ही प्रथम कारण है–अचेतन प्राकृतिक शक्ति द्वितीय कारण है और यह पहलेके अधीन है। किन्तु तिसपर भी हमारे अन्तःकरणको वृत्तियोंको बनानेवाली प्रकृति हैं, पुरुष नहीं। क्रमसे पहले बुद्धि आती है तब उसके अधीन अहङ्कार आता है। क्रमविकासके दूसरे स्तरमें बुद्धि और अहङ्कारसे मन (Sense-mind) उत्पन्न होता है जिस शक्तिके द्वारा विषय-वैचित्र्यका ग्रहण किया जाता है, वह यही है। विकासके तीसरे स्तरमें मनसे दस इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय। उसके बाद प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय-की शक्ति उत्पन्न होते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं इनकी भित्तिस्वरूप पञ्चभूत। आकाश, वायु, अग्नि आदि पञ्चभूतोंके विभिन्न मिश्रणसे बाह्य जगत्की वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं।

प्राकृतिक शक्तिका यह सारा विभिन्न क्रम और सारी शक्तियाँ पुरुषकी शुद्ध चेतनामें प्रति-फलित हो हमारे अशुद्ध अन्तःकरणका उपादान बनती हैं—अशुद्ध इसलिये कि इसकी क्रिया बाह्य जगत्के प्रत्यक्ष समूहके ऊपर एवं उनकी आन्तरिक प्रतिक्रियाके ऊपर निर्भर करती है। प्राकृतिक जड़ बुद्धि और जड़ मनकी क्रिया आत्माकी चेतनापर प्रतिफलित हो चेतन-बुद्धि और चेतन-मनके रूपमें प्रतिभात होती है। वासना, कामना और उद्वेग यह मनके खेल हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय अन्तःकरणके साथ बाह्य जगत्का संयोग करा देती हैं। शेष पञ्चतन्मात्रा और पञ्चभूत इन्द्रियों-के विषय हैं और इनसे ही बाह्य जगत् बना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सृष्टिका जो क्रम, जो परम्परा दिखायी गयी है, बाह्य जगत्‌में इससे उलटा ही देखा जाता है, ऐसा जान पड़ता है। किन्तु यदि हम स्मरण रक्खें कि बुद्धि स्वयं अचेतन प्रकृतिकी जड़ क्रियामात्र है एवं जड़ अणुमें भी इसी प्रकारकी अचेतन बोध शक्ति एवं इच्छाशक्ति होती है—यदि वृक्षलतामें हम सुख-दुःख-बोध, इच्छा, स्मृति प्रभृतिकी सूचना पा सकें, यदि हम देख लें कि इस प्रकृतिकी यह सारी शक्तियाँ अन्यान्य जीवों और मनुष्यके चैतन्यके क्रम-विकासमें अन्तःकरण बन जाती हैं तो इससे हम समझ सकेंगे कि वर्तमान विज्ञान जड़-जगत्‌के पर्यवेक्षणके फलस्वरूप जिस सिद्धान्त-पर पहुँचा है उसका सांख्य-प्रणालीके साथ यथेष्ट साम्य हो जाता है। आत्मा जब प्रकृतिसे पुरुषकी अवस्थाको लौटा जाता है तब प्रकृतिके पूर्व अभिव्यक्तिसे उलटा क्रम अवलम्बन करना पड़ता है। उपनिषदोंमें आत्मशक्तिके क्रमविकासका ऐसा ही क्रम दिखलाया गया है। एवं गीता इस विषयमें उपनिषदोंका ही अनुसरण करती है, प्रायः उपनिषद् वाक्योंका ही अवलम्बन करती है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
(३।४२)

'इन्द्रियाँ अपने विषयोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, मन इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, बुद्धि मनकी अपेक्षा श्रेष्ठ, और बुद्धिकी अपेक्षा जो श्रेष्ठ है, वही वह है।'—वही चैतन्य आत्मा, पुरुष है, अतः गीता कहती है कि इसी पुरुषको, अन्तर्जीवनके इसी श्रेष्ठ कारणको बुद्धिके द्वारा समझना होगा, देखना होगा; उसीमें हमें अपनी इच्छाओंको न्यस्त करना पड़ेगा।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(३।४३)

इसप्रकार अपने निम्नप्रकृतिस्थ आत्माको श्रेष्ठ, प्रकृत, चेतन आत्माके द्वारा स्थिर और शान्त करके हम अपनी शान्ति और आत्मसंयमके दुर्द्धर्ष अशान्त सदा व्यस्त शत्रु कामका विनाश कर सकते हैं।

बुद्धिकी क्रिया दो प्रकार हो सकती है। बुद्धि नीचेकी ओर त्रैगुण्यमयी प्रकृतिके खेलकी तरफ अथवा ऊपरकी ओर चैतन्यमय आत्माकी पवित्र स्थायी शान्तिकी तरफ जा सकती है। पहली बहिर्मुखी गति है। इस क्षेत्रमें मनुष्य इन्द्रिय-विषयोंके अधीन होता है। बाह्यस्पर्श लेकर ही रहता है। यह जीवन कामनाका जीवन है। कारण, इन्द्रियाँ अपने विषयोंके द्वारा उत्तेजित होकर अशान्ति उत्पन्न करती हैं, यहाँतक कि बहुधा अत्युग्र उपद्रव उत्पन्न कर बैठती हैं, इन सारे विषयोंकी प्राप्ति और उनके भोगके लिये बाहरकी ओर ही प्रबल रुचि पैदा कर देती हैं एवं फिर वे विषय मनको हर लेते हैं—'वायुर्नावमिवाम्भसि' 'जिस-प्रकार वायु नौकाको समुद्रमें विशृंखलरूपसे घुमाया करती है।' इन्द्रियोंके इन उपद्रवोंसे, मन वासना, आवेग, उद्वेग और तीव्र लालसाके अधीन हो जाता है, एवं यह कामाधीन मन बुद्धि-को भी खींच लेता है-तब बुद्धि शान्त विचार शक्ति और विवेकको खो बैठती है-संयमको खो देती है। बुद्धिकी इसप्रकारकी निम्न गतिके फल-स्वरूप आत्मा प्रकृतिके गुणात्रयके चिर द्वन्द्वके अधीन हो जाता है। अज्ञान, मिथ्या इन्द्रिय-परायण जीवन, शोक-दुःखकी अधीनता, आसक्ति, काम, क्रोध—यही सब निम्नगामिनी बुद्धिके परिणाम हैं। यही साधारण, अज्ञानी, असंयमी मनुष्यका दुःखमय जीवन है। वेदवादीकी भाँति जो इन्द्रियभोगको ही कर्मका लक्ष्य मानते हैं एवं इन्द्रियतृप्तिको ही आत्माका श्रेय समझते हैं, वे मनुष्यको भ्रान्त पथ दिखलाते हैं। बाह्य विषयोंकी अधीनता छोड़कर अन्तःकरणके भीतर जो आत्माराम हैं वही हमारे प्रकृत लक्ष्य हैं एवं वही शान्ति और मुक्तिकी उच्च उदार अवस्था हैं। (शेष फिर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक-वाटिका

यह आत्मा महान्, जन्म जरा और मृत्यु आदिसे रहित, अमृतरूप, भयरहित और ब्रह्मरूप है, ब्रह्म वास्तवमें अभयरूप है। जो आत्माको इसप्रकार जानता है वह वास्तवमें अभय ब्रह्मरूप ही हो जाता है। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोधके परायण हुए दूसरोंसे डाह करनेवाले लोग अपने और दूसरोंके शरीरोंमें स्थित भगवान्से द्वेष करनेवाले हैं, ऐसे द्वेषी, पापी, क्रूर नराधमोंको भगवान् बारम्बार आसुरी योनियोंमें गिराते हैं। —श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀ ❀

सपना सच्चा न होनेपर भी स्वप्नकी अवस्थामें जैसे स्वप्नसम्बन्धी दुःख नहीं मिटता, वैसे ही संसार सत्य न होनेपर भी विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषका अज्ञान-अवस्थामें जन्म-मरण नहीं छूटता। अतएव अज्ञानके नाशका प्रयत्न करना चाहिये। —श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀ ❀

सद्गुणोंको पानेके लिये प्रयत्न करो, बाहरी आडम्बरोंसे क्या लाभ है। बिना दूधकी गाय केवल गलेमें घण्टा बाँधनेसे ही नहीं बिकती। —भगवान् व्यासदेव

❀ ❀ ❀ ❀

यदि भगवान् विष्णुका परमपद शीघ्र पाना चाहते हो तो शत्रु-मित्र, पुत्र-बन्धु आदिके बखेड़ोंसे चित्त हटाकर सर्वत्र समबुद्धि करो। —श्रीशंकराचार्य

❀ ❀ ❀ ❀

पुत्र और पशु आदि विषयोंमें आसक्त मनुष्योंपर मृत्यु उसी प्रकार आक्रमण करती है जैसे रातके समय बाढ़ आकर गाँवोंमें सोये हुए लोगोंको बहा ले जाती है। जब मृत्यु आजाती है, तब उसे पुत्र, पिता या बन्धु कोई नहीं बचा सकते। शीलवान् पण्डित इस बातको समझकर अपने लिये निर्वाणका रास्ता साफ करते हैं। —बुद्धदेव

❀ ❀ ❀ ❀

जिसके संगसे तुम्हारे अन्दर अहंकार पैदा होता हो, उसका संग छोड़ दो और जो मनुष्य तुम्हारे दोषोंको दिखलावे, उसकी खुशामद करो। —सुकरात

❀ ❀ ❀ ❀

जो पुरुष वनमें या घरमें कहीं भी रहकर विश्वके स्वामी, विश्वके हितैषी, विश्वके धारण-पोषण करनेवाले प्रसिद्ध-प्रभाव परमात्मामें मन लगाता है वही पुण्यात्मा है और वही कृतार्थ है। —भर्तृहरि

❀ ❀ ❀ ❀

दया बिनाका जीवन यथार्थ जीवन नहीं है, वह जीते ही मरण है। इसलिये अपने हृदयमें सब ओरसे दया-प्रेमका प्रवाह बहने दो, इसमें तुम्हें दिव्य आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति होगी। क्योंकि ईश्वर ही प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है। —राल्फ वाल्डो ट्राइन

❀ ❀ ❀ ❀

जबतक मनमें काम, क्रोध, मद और लोभकी खान बनी हुई है तबतक पण्डित और मूर्ख एक-से ही हैं। —गोसाईं तुलसीदास

❀ ❀ ❀ ❀

श्रीरामके शरणागत हो जाओ, यही भवसागरकी नौका हैं, संसारसे तरनेका और कोई उपाय नहीं है। —रहीम

❀ ❀ ❀ ❀

जो मनुष्य ईश्वरी-वाणीकी मधुरता चाखे बिना ही इस लोकसे चले जाते हैं वे बेचारे शान्ति और कल्याणसे वञ्चित ही रहते हैं। लोगोंके साथ सद्भावसे बरतना, प्रभु-प्रेरित पुरुषोत्तमकी सेवा करना और आज्ञामें रहना तथा प्रभुके ध्यान-स्मरणमें पवित्रतासे जीवन बिताना, यही हमारा यथार्थ कर्तव्य है। —अबु हसन ख़रक़ानी

❀ ❀ ❀ ❀

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

१७७–स्वप्नावस्थामें मानसिक अथवा सूक्ष्म शरीरमें कोई-न-कोई काम होता ही रहता है, उस समय अनेक घटनाएँ ऐसी भी उपस्थित होती हैं जो जाग्रत् अवस्थाकी चेतनापर अपना प्रभाव डालती हैं। उदाहरणके लिये, जो लोग पूर्णताकी प्राप्तिके लिये अति उत्सुक होते हैं और दिनमें उसके लिये महान् प्रयत्न करते हैं। वे सोते हैं और जब वे दूसरे दिन उठते हैं तो उन्हें पहले दिनके प्रयत्नका कोई फल नहीं दिखलायी देता तथा उनको फिर उसी पथपर चलना होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनका प्रयत्न और उससे जो कुछ प्राप्त हुआ था वह सब जाग्रतावस्थाकी बाह्यवृत्तिमें ही थे, उसकी सूक्ष्म और गम्भीरतर आन्तरिक वृत्तिपर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ था। स्वप्नावस्थामें तुम्हारा अप्रबुद्ध (सोई हुई) वृत्तियोंसे सम्बन्ध होता है और वे तुम्हारी प्रबुद्ध वृत्तियोंके सम्पूर्ण प्रयासका मर्म खोलकर उसको अपनेमें लीन कर लेती हैं।

१७८–जैसे एक मूढ़ मधु-मक्षिका यह जानकर कि अमुक पौधेमें फूल खिल रहे हैं, इतनी तेज़ीसे उड़ती है कि उस पौधेसे आगे बढ़ जाती है और फिर लौटकर उसके पास उस समय पहुँचती है जब रस समाप्त हो जाता है; एक दूसरी मक्खी इतनी धीरे-धीरे उड़ती है कि वह भी रस समाप्त होनेपर ही वहाँ पहुँचती है; परन्तु तीसरी एक चतुर मधु-मक्षिका तेजीसे ठीक समयपर उसके पास पहुँच जाती है, इच्छानुसार रस चूसती है और उसका मधु बनाकर मज़ेमें स्वाद लेती है। इसी प्रकार जैसे Surgery (चीर-फाड़की विद्या) सीखनेवाले छात्रोंमेंसे जो एक पानीके बर्तनमें रक्खे हुए कमलके पुष्पपर चीर-फाड़की क्रियाका अभ्यास कर रहे हों, एक मूर्ख छात्र चाकूको खूब तेजीसे चलाकर या तो उस पुष्पके दो टुकड़े कर डालता है या उसे पानीमें डुबा देता है, एक दूसरा मूर्ख लड़का उसके कट जाने तथा पानीमें डूब जानेके डरसे उससे चाकूके छुवानेका भी साहस नहीं करता; परन्तु एक तीसरा चतुर लड़का चाकू चलाता है और अपनी इस क्रियामें सफल होता है और अवसरके अनुसार इसी प्रकारके कार्य कर धन कमाता है। जैसे एक राजाकी इस घोषणापर कि 'जो मनुष्य चार हाथ लम्बा मकड़ीका जाला लावेगा, चार हजार रुपये इनाम पावेगा,' एक मूर्ख आदमी जल्दीसे जाकर एक जालेको खींचता है और उसे तोड़ डालता है; दूसरा मूर्ख जालेके टूटनेके डरसे उसे छूतातक नहीं; परन्तु तीसरा एक चतुर मनुष्य सामान्यभावसे एक छड़ीके सिरेसे उसे लपेट लेता है और राजाके पास लाकर इनाम पाता है। इसी प्रकार, जैसे एक मूर्ख नाविक (मल्लाह) तो तेज हवामें पूरा पाल तान देता है जिससे नाव अपने निर्दिष्ट स्थानसे दूर चली जाती है और दूसरा मूर्ख धीमी हवामें अपने पालको उतार देता है और उसी स्थानपर पड़ा रह जाता है आगे नहीं बढ़ता; परन्तु तीसरा एक चतुर मल्लाह जब हवा धीमी रहती है तो पूरा पाल तानता है और जब तेज होती है तो आधा, और आसानीसे अपने लक्ष्य (गन्तव्य) स्थानपर पहुँच जाता है। जैसे एक शिक्षक अपने विद्यार्थियोंको सूचना देता है कि 'जो इस नलीको तेलसे, बिना तेल नष्ट किये, भर देगा वह इनाम पावेगा' एक मूर्ख लड़का इनामके लोभसे जल्दी करता है और तेलको बाहर उँडेल देता है; दूसरा मूर्ख लड़का तेल बाहर गिर जानेके डरसे उसके उँडेलनेका साहस तक नहीं करता; परन्तु तीसरा एक चतुर लड़का तेजीसे नलीको तेलसे भर देता है और इनाम पाता है। ठीक इसी प्रकारसे, एक साधक तो जब कोई चमत्कार देख पाता है तो यह कहता हुआ कि 'मैं शीघ्र ही समाधि प्राप्त कर लूँगा' कठिन प्रयत्न करने लगता है, परन्तु उसका मन अत्यधिक प्रयासके कारण विक्षिप्त हो जाता है और वह परम आनन्द या समाधिको प्राप्त नहीं होता, तथा एक दूसरा मनुष्य अत्यधिक प्रयासमें दोष देखकर प्रयत्न ही छोड़ देता है और कहता है—'मुझे समाधिकी अभी क्या आवश्यकता है?' उसका मन भी संकल्पकी शिथिलताके कारण प्रमादी हो जाता है और वह भी समाधिको प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु वह मनुष्य जो अपने मनके शिथिल पड़नेपर उसको शिथिलतासे और विक्षिप्त होनेपर उसको विक्षेपसे अति सावधानीपूर्वक समानभावसे मुक्त करता है, वह उसे अपने लक्ष्य (ब्रह्म)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर ले जाता है और फलस्वरूप निर्विकल्प समाधि (अद्वैत निष्ठा) को प्राप्त कर लेता है। प्रत्येकको ऐसा ही होना चाहिये।

१७९—सचेत रहो। जैसे दिनमें सचेत रहते हो वैसे ही रातमें भी रहो। पहले तुमको सचेत रहना होगा तब कहीं मनका संयम कर सकोगे। तुममेंसे जो अपने पूर्व स्वप्नोंका स्मरण रख सकेंगे तो वे स्वप्न देखते समय भी ऐसा अनुभव करेंगे कि यह स्वप्न है। वे समझेंगे कि जो कुछ स्वप्नमें दिखलायी दे रहा है वह भौतिक जगत्‌का नहीं है। एक बार इसके जान लेनेपर तुम स्वप्नमें भी वैसा ही (अभ्यास) करने लगोगे जैसा जागृतिके समय भौतिक जगत्‌में करते हो। स्वप्न देखते समय भी, तुम अपनी इच्छा-शक्तिको काममें लाकर अपने स्वप्नकी सारी क्रियाओंको बदल सकते हो। और जितना ही तुम अधिक सावधान (सचेत) होते जाओगे उतना ही,—कदाचित् उससे भी अधिक—तुम रातमें भी वैसे ही अपने जीवनको वशमें रख सकोगे, जैसे तुम दिनमें रखते हो, क्योंकि रातमें तुम शरीर-यन्त्रकी दासतासे मुक्त रहते हो। जाग्रतावस्थाकी क्रियाओंको वशीभूत करना अधिक कठिन होता है, क्योंकि वे मानसिक अथवा सूक्ष्म क्रियाओंकी अपेक्षा अधिक दृढ़ होती हैं और उनके बदलनेमें अपना वश भी कम चलता है। रातमें मन और प्राण, खासकर प्राण ही, अधिक कार्यशील होते हैं। दिनमें ये दबे रहते हैं, जाग्रत्-चेतना यन्त्रवत् उनके खुले खेलों और भावोंको प्रकट करती रहती है। रातमें उनपर कोई दबाव नहीं रहता और वे अपनी स्वाभाविक और स्वच्छन्द गतिमें दीख पड़ते हैं।

१८०—तुम अपने भावोंको ध्यान, सचिन्तन, विवेक और विचारके द्वारा शुद्ध कर सकते हो।

१८१—आँख और कान वृत्तिजनक ज्ञानके द्वार हैं। आँखोंको मूँद लो और कानोंको रूईके फोएसे या मोम मिले हुए फोएसे अथवा योनि-मुद्रा बनाते हुए दोनों अँगूठोंसे मूँद लो। ऐसा करनेसे तुम जगत्‌के पाँच भागमेंसे दोको नष्ट कर देते हो। इन दोनों द्वारोंसे किसी प्रकारके वृत्तिज्ञानको मनमें न घुसने दो। वाणी (वाक् इन्द्रिय) के द्वारा मनकी किसी बातको बाहर न आने दो। मौन धारण करो। इससे तुम्हें साधनामें सहायता मिलेगी। इसप्रकार तुम विघ्नोंके तीन रास्तोंको बन्द कर दोगे और इससे तुम्हें शान्ति-सुख मिलेगा। फिर ब्रह्ममें यत्नपूर्वक ध्यान लगाओ।

१८२—चेहरेको देखकर मनके अन्दर क्रोधका अन्दाज किया जा सकता है, परन्तु दूसरोंके मनके अन्दरकी सूक्ष्म वासनाओंका जान लेना बड़ा ही कठिन है और खासकर आध्यात्मिक साधकोंके लिये तो यह बात और लागू होती है। यद्यपि देखने, बोलने, हाव-भाव, चाल-ढाल आदिसे कुछ पता लग जाता है।

१८३—जब तुम किसी बड़े शहरमें किसी बड़ी सड़क पर होकर निकलते हो तो प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने-अपने विषयकी ओर उनके सेवन करने तथा उनका भोग करनेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करने लगती है। यदि उनके भोग उन्हें प्राप्त न हों तो वे बड़ी तेजीसे कुपित हो उठती हैं। जिह्वा तुम्हें काफी होटल या अंग्रेजी होटलकी ओर खींच ले जाती है। त्वचा कहती है—'उस बड़े सेठकी दूकानपर चलो और बढ़िया रेशमी कपड़ा खरीदो,' कान कहता है 'एक ग्रामोफोन या हारमोनियम लेना चाहिये,' नाक कहती है—'एक शीशी गुलाबका इत्र खरीदें'। मन इन इन्द्रियोंकी जड़में बैठा हुआ इन्हें उसकाता रहता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंमें भीतर-ही-भीतर एक तुमुल युद्ध मच जाता है और प्रत्येक भोगके पदार्थोंमें अपना ही अधिक हिस्सा लेना चाहती हैं। विवेक (सदसद्-विचारकी शक्ति) को सदा काममें लाओ। इन्द्रियाँ तुम्हें प्रलोभनमें डालकर ठगती हैं। इन्द्रियाँ मायावी हैं। मन और इन्द्रियोंके द्वारा माया अपने मायामोहका जाल फैलाती है। वैराग्य और वासनात्यागके द्वारा दमका अभ्यास करो, इन्द्रियोंके दमन और मनके शमनसे आनन्दकी प्राप्ति होती है। काफी पैसे लेकर हलवाइयोंकी दूकानोंकी ओर जाओ। पन्द्रह मिनट तक घूमो। भाँति-भाँतिकी मिठाइयोंकी ओर खूब लुभीली आँखोंसे देखो। परन्तु खरीदो मत। घर लौट आओ। यदि घरपर भी उस दिन अच्छी चीजें बनी हों तो वहाँ भी वैसा ही करो। केवल दाल-रोटी खाओ। ऐसा करनेसे जिह्वा-पर तुम्हारा अधिकार हो जायगा जो सारी बुराइयोंकी मूल है और अन्तमें तुम मनको भी वशमें कर लोगे और तुम्हारी इच्छाशक्ति भी बढ़ेगी।

१८४—कभी-कभी तुम कुछ स्मरण करना चाहते हो परन्तु तुम्हें वह बात याद ही नहीं आती। वही बात कुछ समयके उपरान्त चित्तमें अचानक झलक जाती है। यह कैसे होता है? यह एक प्रकारका स्मृतिदोष है, उस विशेष बातका संस्कार खूब गहरे जाकर विलीन हो जाता है। चित्त,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो संस्कारोंका खजाना (कोषागार) है, जिसका काम ही स्मरण करना है, कुछ प्रयत्न करता है, संस्कारोंकी छान-बीन करता है और उन्हें मायाजालके द्वारसे मनके सामने उपस्थित करता है। कुछ प्रयत्न करनेपर पुराने संस्कार पुनः जागने लगते हैं और कोई भूला हुआ विचार या किसी आदमीका नाम जिसे तुम कुछ समय पहले स्मरण करना चाहते थे, चेतनामें अचानक झलक जाता है। मस्तिष्कमें कुछ ऐसा सञ्चय हो जाता है जो किसी भूले हुए विचार, भाव या मनुष्यके नामके पुनः स्मरण होनेमें बाधक हो जाता है। जैसे ही उस सञ्चयको अलग करते हैं भूली हुई बात मनके सामने प्रकट हो जाती है। जब मन शान्त होता है तो स्मृति बहुत ही तीक्ष्ण होती है।

१८५-सिद्ध योगीमें, यह नहीं कहा जा सकता कि कब प्रत्याहार समाप्त होता है और धारणा प्रारम्भ होती है, अथवा कब धारणा समाप्त होती है और ध्यान प्रारम्भ होता है तथा कब ध्यान समाप्त होता है और समाधि शुरू होती है। जैसे ही वे आसनपर बैठते हैं बिजलीकी गतिके समान सारी क्रियाएँ एक साथ होती दीखती हैं और वे अपनी इच्छासे समाधिस्थ हो जाते हैं। नये साधकमें पहले प्रत्याहार होता है, तब धारणा शुरू होती है। उसके बाद धीरे-धीरे ध्यान प्रारम्भ होता है और समाधिस्थ होनेके पूर्व ही उसका मन अधीर हो जाता है और वह थककर बैठ जाता है। पुष्टिप्रद और लघु आहारका सेवन करते हुए लगातार और गम्भीरतापूर्वक साधना करनेसे समाधिकी प्राप्तिमें आशातीत सफलता मिलेगी।

१८६-जब तुम्हें अत्यन्त क्रोध हो तो तुरन्त आधे घण्टेके लिये अपने स्थानको छोड़ दो और दूरतक टहलते चले जाओ। 'ॐ शान्तिः' इस मन्त्रको १०८ बार जपो। तुम्हारा क्रोध दूर हो जायगा। मैं एक दूसरा और आसान तरीका तुम्हें बतलाता हूँ। जब तुम्हें क्रोध होने लगे तो (भगवन्नामके साथ) एकसे तीसतक गिन जाओ, क्रोध शान्त हो जायगा।

१८७-इस असार संसारके भाँति-भाँतिके दुःखोंका बारम्बार स्मरण करो। गीता अध्याय १३ श्लोक ८ को बार-बार दुहराओ—'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्' अर्थात् जन्म-मृत्यु बुढ़ापा और रोगके दोष और दुःखका अन्तःकरणमें विवेचन करो। मोह नाश हो जायगा। सदा मनको समझाते रहो कि जगत्‌में सिर्फ दुःख-ही-दुःख है। साधनाके अभिलाषीके लिये यह पहली साधना है। इससे वैराग्य बढ़ेगा। मन विषयोंसे मुख मोड़ेगा और इन्द्रियोंके विषयोंका आकर्षण जाता रहेगा।

१८८-जब ईर्ष्या-द्वेषके विचार मनमें उठें तो पहले शरीर और वाणीको सँभालनेकी चेष्टा करो। बुरे और कठोर शब्द न बोलो। निन्दा मत करो। दूसरोंको कष्ट पहुँचानेकी चेष्टा न करो। यदि कुछ महीनोंतक इसप्रकारके साधन करनेमें तुम सफल हुए तो बदलेके विचार बाहर प्रकट होनेका मौका न पाकर अपने आप ही मर जायँगे। शरीर और मनको बिना सँभाले प्रारम्भहीमें ऐसे विचारोंपर विजय पाना बहुत ही कठिन है।

१८९-मनमें दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं—विरोधात्मक और हितकारक। वासना विरोधात्मक शक्ति है और वह तुम्हें अधःपतनकी ओर घसीटती है। शुद्ध बुद्धि हितकारक शक्ति है जो तुम्हें उठाती है और देवत्वमें स्थापित करती है। इसलिये मेरे प्यारे कृष्णचन्द्र ! परमानन्दकी प्राप्ति और परब्रह्मके ज्ञानके लिये शुद्ध बुद्धिको बढ़ाओ। वासना अपने-आप मर जायगी।

१९०-राजसिक मनको सदा संग और बातचीतकी ही धुन रहती है। यह दोनों दोष हैं जो मनको विक्षिप्त करते रहते हैं। संग छोड़ो; एकान्त-वास करो; मौन रहो; तुम्हें मनकी शान्ति प्राप्त होगी। बहुत-से दुःख कुसङ्गसे होते हैं। सङ्ग करनेमें खूब सावधान रहो। अच्छा और असली मित्र पाना बहुत कठिन है। काफी परीक्षा किये बिना किसीको अपना आन्तरिक मित्र न बनाओ। असङ्ग और अशब्द ब्रह्ममें सङ्ग या बातचीत नहीं हो सकती—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' एक ब्रह्म ही है दूसरा कुछ नहीं।

१९१-प्रत्येक भावना अपने-आप बहुत ही कमज़ोर होती है, क्योंकि मन भाँति-भाँतिकी असंख्यों भावनाओंमें विक्षिप्त होता रहता है। जितनी ही भावनाएँ रोकी जाती हैं मन उतना ही एकाग्र होता जाता है और फल यह होता है कि अन्तमें मनको अधिक शक्ति और बल मिलता है। भावनाओंको एक-एक करके नष्ट कर दो। इसमें सन्देह नहीं कि इसके लिये धीरतापूर्वक काम करनेकी आवश्यकता है।

१९२-मनके सात्त्विक होनेपर ही आत्मविचार हो सकता है, अन्यथा नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९३-संसारके किसी भी विषयमें आनन्द बिल्कुल ही नहीं है। यह समझना नितान्त अज्ञान है कि मनसे या इन्द्रियोंके विषयोंसे आनन्द पाया जा सकता है। जब कभी हम अपनी अभिलाषाओंको पूर्ण हुआ-सा पाते हैं, हम देखते हैं कि मन अपने मूलस्थान आत्मामें संलग्न हो जाता है और आत्म-सुख भोगता है। जब इच्छित विषय प्राप्त होते हैं तो मन अन्दरकी ओर लौटता है और आत्मिक सुखका उपभोग करता है।

१९४-सच पूछिये तो संसार केवल भावना मात्र है। जब मन चिन्तन छोड़ देता है तो संसार लुप्त हो जाता है और अवर्णनीय आनन्दकी प्राप्ति होती है। जब मन चिन्तन करने लगता है तो फिर जगत् उपस्थित हो जाता है और दुःख भी आ जाता है।

१९५-आत्मा या ब्रह्ममें मनको सदा लगाये रखनेके प्रयत्नको ही आत्मविचार कहते हैं।

१९६-स्वप्नावस्था और जाग्रतावस्था दोनोंमें ही विचार, नाम और रूप एक साथ उपस्थित होते हैं।

१९७-यदि मन वशमें है तो कोई बात नहीं—चाहे तुम महलमें रहो या ऋषिकेशसे चौदह मील दूर स्थित वशिष्ठगुफा (जहाँ स्वामी रामतीर्थजी रहते थे) के समान किसी हिमालयकी गुफामें रहो; चाहे जगत्-व्यवहारमें रहो या चुपचाप बैठे रहो।

१९८-पुरुष अपनी पत्नीका तभी सेवन करता है जब वह सहानुभूतिपूर्ण हृदयसे आती है। उसके साथके भोगकी स्मृति उसके मनमें बन जाती है और स्त्रीसे अलग होनेके बाद भी उसकी अनुभूति बनी रहती है। आध्यात्मिक साधकके लिये यह अनुभूति और स्मृति दो प्रकारकी बुरी वृत्तियाँ हैं। यद्यपि सांसारिक पुरुषके लिये यह लाभदायक हैं। अनुभूति मनको स्थूल बनाती है और बेचैनी पैदा करती है। किसी चीज़की प्रतीक्षा मत करो। इससे मानसिक बाधा पहुँचती है। यदि तुम प्रतीक्षा नहीं करते तो तुम्हें निराशा भी नहीं हो सकती। सारी सांसारिक बातोंको भूलते जाओ। केवल एक ईश्वरको ही याद रक्खो। 'हरि-हरि जपना और सब सपना।' हरि-हरिका जाप करते रहो। सब कुछ सपना है। संसार एक दीर्घ स्वप्न है।

१९९-जब तुम किसी बुरी आदतको हटाकर उसके स्थानमें एक नयी अच्छी आदत डालना चाहते हो तो इच्छा-शक्ति और स्वभावमें एक आन्तरिक युद्ध मच जाता है। स्वभाव अपनी आदतको पकड़े रहनेकी शक्तिभर चेष्टा करेगा। उसके अनुकूल कभी मत बनो। इच्छा-शक्तिकी अन्तमें विजय होगी। कुछ परवा नहीं, यदि तुम एक-दो बार असफल भी हो जाओ। बारम्बार इच्छा-शक्तिको काममें लाओ। मनके भीतर कौन-सी क्रियाएँ हो रही हैं इसको अच्छी तरहसे समझनेके लिये शुद्ध बुद्धि और सूक्ष्म प्रज्ञाकी आवश्यकता है जो अन्तःप्रेक्षण (भीतरकी ओर देखने) का काम करें। एक सुनसान कोठरीमें अकेले शान्त चित्तसे बैठ जाओ और भाँति-भाँतिके मानसिक दृश्योंका तथा मानसिक दशाओं और भावोंका, एवं मनके सङ्कल्प-विकल्प, आवेग, संक्षोभ, चापल्य और रुचि प्रभृतिका निरीक्षण करो। अन्तःप्राणमय जीवनकी सूक्ष्म अवस्थाओंका निरीक्षण बहुत ही कुतूहलप्रद होगा।

२००-रे मन, इन्द्रियों और विषयोंका संग करके अपने आप ही बर्बाद मत हो। बस, बस, जो हो गया सो हो गया। अब ब्रह्मस्वरूपमें एकाग्र होजा। यही तेरा मूल स्थान है। यही तेरा वास्तविक और प्यारा घर है। जब ॐका गान करो तो इस बातको निरन्तर याद रक्खो। अब ब्रह्माकार या अखण्डाकार वृत्तिको जागृत होने दो। स्वरूप ही तुम्हारा असली घर है। मैं इस बातको बारम्बार तुमसे इसलिये कहता हूँ क्योंकि तुम बारबार अपने असली स्वभावको भूल जाते हो। स्वरूपसे ही तुमने जन्म ग्रहण किया है। निरन्तर निदिध्यासन, तैल धारावत् ध्यानाभ्यास-से, 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्योंके अनुसन्धानसे उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्तिकी सहायतासे अपने मूल स्थानको लौट जाओ। तब अविद्या नष्ट हो जायगी और तुम सब प्रकारके दुःख और शोकसे छूट जाओगे एवं परमानन्द-अवस्थाको प्राप्त कर लोगे। जब स्वरूपाकार वृत्ति जागेगी तो मनके तुच्छ सङ्कल्प दूर हो जायँगे। तुम सहजानन्दके साथ तुरीयावस्थाको प्राप्त होगे। तब, हे मन, तुम जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाओगे। फिर तुम इस दोषमय भौतिक शरीरमें प्रवेश नहीं करोगे। तुम्हें हड्डी और मांससे सज्जित नहीं होना पड़ेगा। तुम अपने अधिष्ठान सत्-चित्-आनन्दमें लीन हो जाओगे।

२०१-नये सुन्दर विचारोंके द्वारा नये सुन्दर संस्कारोंका बीज बोया जा सकता है। मान लो कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मस्तिष्क एक तख्ता है, जिसमें भावों, अभ्यासों और वृत्तियोंकी कीलें लगी हुई हैं, जिनके द्वारा तुम कर्ममें लगते हो। यदि तुमको यह प्रतीत हो कि तुम्हारे भीतर एक रद्दी कीलके समान कोई बुरा भाव, अभ्यास अथवा वृत्ति मौजूद है—तो तुम्हें उसके सिरेपर एक अच्छे भाव, अच्छे अभ्यास अथवा अच्छी वृत्तिरूप कील रखकर उसे हथौड़ेसे ठोंक देना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें (बुरी भावनाको निकालनेके लिये) तुम्हें उपयोगी और सुन्दर भावना करनी चाहिये। नयी कील यदि एक इंचके लगभग तख्तेमें घुस जायगी तो पुरानी उतनी ही बाहर निकल आयगी। जब-जब हथौड़े लगाओगे अर्थात् प्रत्येक सुन्दर विचारके साथ, नयी कील दृढ़ होती जायगी और पुरानी उतनी ही निकलती जायगी। कई बार हथौड़े लगानेके बाद अन्तमें पुरानी कील बिल्कुल निकल जायगी और उसके स्थानमें नयी अपना घर बना लेगी। पूर्ण प्रयत्न करनेपर पुरानी आदतें, पुराने भाव और पुरानी वृत्तियोंके स्थानमें नयी आदतें और नये विचार पूरा-पूरा स्थान जमा सकते हैं। निःसन्देह इसमें पूर्ण परिश्रमकी आवश्यकता है। इसके लिये निरन्तर नये सुन्दर विचारोंके दुहराते रहनेकी आवश्यकता है। आदत एक दूसरी प्रकृति हो जाती है। किन्तु अन्तमें विजय शुद्ध, दृढ़ और अनिवार्य इच्छा-शक्तिकी ही होती है।

भगवच्चरणोंमें

भगवन्! आपके दरबारमें हाथ जोड़े खड़ा हूँ और अपने कल्पित कष्ट निवारणके लिये प्रार्थना कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि मेरी सभी इच्छाएँ पूरी हों, एक भी वासना अपूर्ण न रहे। मेरी इस स्वार्थमयी कामोपभोगकी लगनको देखकर आप मनही मन मुसकुराते होंगे। पर मुझे इसका विचार कहाँ? मैं तो अपनी भावनामें मस्त हूँ। चाहता हूँ बस, मैं ही सारे भोगोंको प्राप्त कर लूँ। परन्तु यदि एक गरीब भिखारी, अन्न-वस्त्रसे मुहताज आपका ही सेवक मेरे दरवाजेपर आकर खड़ा हो जाता है, तो मैं क्या करता हूँ, उसको दुत्कारता हूँ, कटु वचन सुनाकर उसे कोसता हूँ, उसकी दीनताकी दिल्लगी उड़ाता हूँ। एक अवस्थामें जो मैं अपनी दीनता दिखाकर आपको रिझाना चाहता हूँ, वही मैं उस अवस्थामें ऐसा उन्मत्त बन जाता हूँ कि दीन-आर्त्तकी आर्ततासे घृणा करता हूँ। क्या मेरी इस दुरंगी चालसे आप प्रसन्न होंगे? क्या इसी चालसे मैं आपका कृपापात्र सेवक बन सकता हूँ? भगवन्! दया करो, मेरी इस नीच वृत्तिका नाश कर दो, मेरी बिगड़ी बना दो दयामय!

भगवन्! तुम युग-युगमें अवतार लेकर दुष्टोंका दलन और साधुओं, भक्तों, दीनोंका पालन—संरक्षण करते हो। इन दीनरक्षाके कार्यमें तुम्हारी कितनी तत्परता है। दिन-रात एक करके तुम एकनिष्ठासे इसी महत्कार्यमें लगे रहते हो, पर मैं—आपका भक्त कहलानेवाला,-आपकी चालका अनुसरण करनेवाला मैं साधुओं—दीनोंपर होनेवाले अन्याय-को, उनके कष्टको खुली आँखोंसे देखता हूँ, फिर आँखें मूँदकर आगे बढ़ जाता हूँ। कभी-कभी तो नाथ! मैं अभागा स्वयं ही उन्हें दुःख पहुँचानेमें सहायक बन जाता हूँ, यह कितना अधःपतन है? क्या आपके सेवकका यही धर्म है? पर भगवन्! मुझे इसका विचार कहाँ? मेरे हृदयमें तो यही विचार रहता है कि मेरा नीच स्वार्थ और मेरी नीच वृत्तियाँ फूलें-फलें। इसी विचारके परिणामरूप मैं दुःखोंका घर बन रहा हूँ।

भगवन्, मुझे सुबुद्धि दो, नीचवृत्तियोंका नाशकर सत्वृत्तियोंको उदय करो और अपना सच्चा सेवक बनानेको सौभाग्य प्रदान करोदयालु-शिरोमणि!

—भूला हुआ

चित्रपरिचय

श्रीहनुमानजी छोटेसे बन्दरके रूपमें अशोक-वाटिकामें जाकर पेड़की डालीपर बैठे हैं। अंगूठी नीचे डाल दी है। सीताजी श्रीरामकी अंगूठीको पहचानकर हर्ष-विषादसे व्याकुल होकर भाँति-भाँतिसे सङ्कल्प विकल्प कर रही हैं। दृश्य बड़ा ही मर्म-स्पर्शी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समुद्र-तीर पर श्रीचैतन्यदेव।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

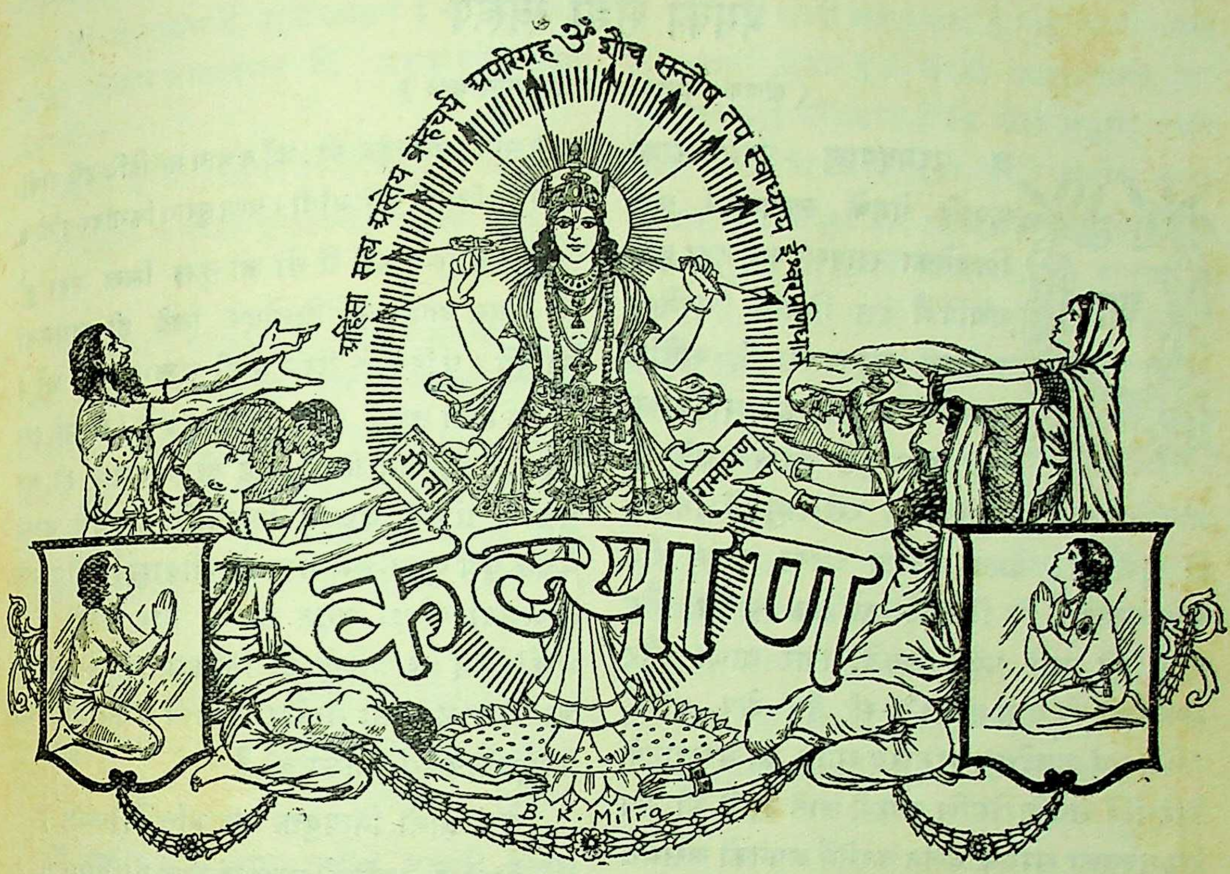

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

वर्ष ५ खण्ड १ — फाल्गुन कृष्ण ११ संवत् १९८७ फरवरी १९३१ — संख्या ८ पूर्ण सं० ५६

चितचोर

नयनों रे ! चित-चोर बतावौ ।
तुमही रहत भवन रखवारे , बाँके बीर कहावौ ॥
तुम्हरे बीच गयो मन मेरो , चाहे सौहें खावौ ।
अब क्यों रोवत हौ दई-मारे , कहूँ तौ थाह लगावौ ॥
घरके भेदी बैठि द्वारपै , दिनमें घर लुटवावौ ।
'नारायण' मोहि वस्तु न चहिये लेनेहार दिखावौ ॥

—नारायण स्वामी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमका सच्चा स्वरूप

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आज परमदयालु परमात्माकी कृपासे प्रेमके सम्बन्धमें कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ। यद्यपि मैं इस विषयमें अपनेको असमर्थ समझता हूँ, क्योंकि प्रेमकी वास्तविक महिमापर वही पुरुष कुछ लिख सकते हैं, जो पवित्रतम भगवत्-प्रेमके रस-समुद्रमें निमग्न हो चुके हों। प्रेमका विषय इतना गहन और कल्पनातीत है कि जिसकी तह तक विद्वान् और ज्ञानी भी नहीं पहुँच सकते, फिर वाणी और लेखनीकी तो बात ही कौन-सी है? शेष, महेश, गणेश एवं शुकदेव तथा नारद आदि, जो भगवान्‌के प्रेमियोंमें सर्वशिरोमणि समझे जाते हैं, वे भी जब प्रेम-तत्त्वका सम्यक् वर्णन करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं, तब मुझ-जैसा साधारण मनुष्य तो किस गिनतीमें है। अन्तःकरणमें जब प्रेम-रसकी बाढ़ आती है तब मनुष्यके सम्पूर्ण अंग पुलकित हो उठते हैं, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी रुक जाती है और नेत्रोंसे आँसुओंकी अजस्र धारा बहने लगती है। शास्त्र और प्रेमी महात्माओंका ऐसा ही कथन और अनुभव है। परन्तु यह सब प्रेमके बाहरी चिह्न हैं, इसीसे इनका भी वर्णन किया जा सकता है। हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ आनेपर जब प्रेमी उसमें डूब जाता है उस अवस्थाका वर्णन तो वह स्वयं भी नहीं कर सकता, फिर दूसरेकी तो सामर्थ्य ही क्या है? श्रीराम और भरतके प्रेम-मिलनके प्रसंगमें गुसाईंजी महाराज अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं—

कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि-मति अनुसरई ॥
कबिहिं अरथ-आखर-बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा ॥
अगम सनेह भरत-रघुबरको। जहँ न जाय मन बिधि-हरि-हरको।
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाजु सुराग कि गाँडर-ताँती ॥

ऐसी स्थितिमें मैं तो जो कुछ लिख रहा हूँ सो केवल अपने मनोविनोदके लिये ही समझना चाहिये। त्रुटियोंके लिये प्रेमी सज्जन क्षमा करें।

प्रेमका तत्त्व परम रहस्यमय है। जिसने इस तत्त्वको पहचान लिया, वह तो प्रेममय ही बन गया। प्रेमके यथार्थ रहस्यको तो पूर्ण रूपसे केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीवासुदेव ही जानते हैं अथवा थोड़ा बहुत इसका ज्ञान उनके प्रेमी भक्तोंको है। इसीलिये उन निष्काम, प्रेमके तत्त्वको जानने वाले ज्ञानी भक्तोंकी गीतामें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे स्वयं प्रशंसा की है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
(७।१७)

'उन (चार प्रकारके भक्तोंमें) भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य प्रेम-भक्ति-सम्पन्न ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझको अत्यन्त प्रिय है।'

वास्तवमें प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है। जिसको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति होगयी, वह भगवान्‌को पा चुका। भगवान् प्रेममय हैं, और भगवान् ही प्रेम करनेके योग्य हैं। अतएव चाहे जैसे भी हो, हमलोगोंको सब प्रकारसे भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम करनेकी कोशिश करनी चाहिये। यहाँ यह प्रश्न उठते हैं कि, भगवान् कैसे हैं? उनका क्या स्वरूप है? और उनमें प्रेम किस प्रकारसे किया जा सकता है? इनका उत्तर संक्षेपमें यों समझना चाहिये कि वे सर्वव्यापक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान् अमृतमय हैं, सुख-स्वरूप हैं और नित्य, सत्य, विज्ञान-आनन्दघन हैं, भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याऽव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(गीता १४ । २७)

'अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य (सनातन) धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं ही हूँ अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं।' ऐसे परमात्मा समस्त भूत-प्राणियोंके हृदयमें आत्म-रूपसे निवास करते हैं। वे कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
(गीता १० । २०)

'हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ और समस्त भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।' इसप्रकारसे परमात्माके स्वरूपको समझकर सर्वभूतस्थित परमात्माके साथ विशुद्ध प्रेम करना ही भगवान्‌में प्रेम करना है। विश्वके सारे जीव परमात्माके निवास-स्थान हैं, इसका अनुभव कर सभीके साथ विशुद्ध प्रेम करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। जो पुरुष इस भगवत्-प्रेमके रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, उसका सभी प्राणियोंके साथ अपने आत्माके समान प्रेम हो जाता है, ऐसे प्रेमीकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(गीता ६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।' अपनी सादृश्यतासे सम देखनेका यही अभिप्राय है कि जैसे मनुष्य अपने सिर, हाथ, पैर और गुदा आदि अंगोंके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिके समान बर्ताव करता हुआ भी उनमें समानरूपसे आत्मभाव रखता है अर्थात् सारे अंगोंमें अपनापन समान होनेसे सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें समानभावसे देखना चाहिये। इसप्रकारके समत्वभावको प्राप्त भक्तका हृदय प्रेमसे सराबोर रहता है। वह केवल प्रेमकी ही दृष्टिसे सब ओर ताकना सीख जाता है, उसके हृदयमें किसीके भी साथ घृणा और द्वेषका लेश भी नहीं रहता। श्रुति कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(ईश० ६)

'जो विद्वान् सर्व भूतोंको अपने आत्मासे भेद-रहित देखता है और अपने आत्माको सर्व भूतोंमें देखता है, वह किसीकी भी निन्दा नहीं करता।'

दूसरा हो तो निन्दा करे, उसकी दृष्टिमें तो सम्पूर्ण संसार ही एक वासुदेवरूप हो जाता है। इस परमतत्त्वको न जाननेके कारण ही प्रायः मनुष्य परमात्माको छोड़कर सांसारिक तुच्छ विषय-भोगोंकी ओर दौड़ते हैं और फलरूपमें बारम्बार दुःखको प्राप्त होते हैं। मनुष्य जो स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थोंमें सुख समझकर प्रेम करते हैं, उन आपात रमणीय विषयोंमें उन्हें जो सुखकी प्रतीति होती है सो केवल भ्रान्तिसे होती है। वास्तवमें विषयोंमें सुख है ही नहीं, परन्तु जिसप्रकार सूर्यकी किरणोंसे बिना ही हुए मरुभूमिमें जलकी प्रतीति होती है और प्यासे हरिण भ्रमसे उसकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें निराश होकर मर जाते हैं। ठीक इसी प्रकार सांसारिक मनुष्य संसारके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदार्थोंके पीछे सुखकी आशासे दौड़ते हुए जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ ही बिता देते हैं और असली नित्य परमात्म-सुखसे वञ्चित रह जाते हैं।

स्त्री-पुत्र-धन आदि पदार्थोंकी अपेक्षा मनुष्यको अपना जीवन अधिक प्रिय है, क्योंकि जीवनकी रक्षाके लिये मनुष्य स्त्री-पुत्र-धनादि सम्पूर्ण पदार्थोंको त्याग सकता है। इस जीवनसे भी आत्मा अधिक प्रिय है, क्योंकि आत्माके लिये मनुष्य जीवनके त्यागकी भी इच्छा कर लेता है। विशेषरूपसे कष्टकी प्राप्ति होनेपर जब जीवन दुःखमय हो जाता है, तो मूर्खतासे वह आत्महत्या करनेके लिये अनेक प्रकारके प्रयत्न करता है एवं आत्माके यथार्थ तत्त्वको न जाननेके कारण दुःख-नाशका वास्तविक उपाय न कर आत्म-सुखकी इच्छासे आत्मघात कर बैठता है और उसके फलस्वरूप घोर नरकोंको प्राप्त कर दुःख भोगता है। मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर आत्म-तत्त्वको बिना जाने चले जाना भी एक प्रकारसे आत्मघात ही है। आत्मघातीकी गतिका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

> असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता।
> ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना॥
> (ईश० ३)

'जो मनुष्य आत्माके हनन करनेवाले हैं वे मर कर घोर अन्धकारसे आच्छादित आसुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं।' इस तत्त्वको समझकर मनुष्यको इस अज्ञानकृत आत्मघातसे बचना चाहिये और आत्माकी उन्नति एवं मुक्तिके लिये उस परमपिता परमेश्वरसे परम प्रेम करना चाहिये जो सबके आत्मा हैं। परमेश्वरमें प्रेम होना ही विश्वमें प्रेम होना है और विश्वके समस्त प्राणियोंमें प्रेम ही भगवान्‌में प्रेम है, क्योंकि स्वयं परमात्मा ही सबके आत्मारूपसे विराजमान हैं।

सबसे प्रेम करनेका सहज उपाय है, स्वार्थ छोड़कर सेवा करना। 'स्वार्थ' शब्दसे केवल स्त्री-पुत्र-धन आदि ही नहीं समझने चाहिये, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, कीर्ति, सुन्दर लोकोंकी प्राप्ति आदि सभी कुछ स्वार्थके अन्तर्गत हैं। परमात्माकी सेवा तो परमात्माके लिये ही करनी चाहिये। उन प्रेममूर्ति परमात्मासे प्रेमहीके लिये प्रेम करना चाहिये। जो पुरुष परमात्मासे प्रेम करनेकी चेष्टा करते हैं, प्रेमस्वरूप परमात्मा उन प्रेमी पुरुषोंके अत्यन्त ही समीप हैं। विशुद्ध प्रेममें आकर्षण करनेकी जितनी शक्ति है, उतनी चुम्बक आदि किसी भी पदार्थमें नहीं है, चुम्बक आदि पदार्थ तो केवल जड़को ही टानते हैं, वे चेतनको नहीं खींच सकते। परन्तु यह प्रेम ऐसा अनोखा चुम्बक है जो साक्षात् चेतनस्वरूप परमेश्वरको भी खींचनेका सामर्थ्य रखता है। मित्रो! भगवान् अमूल्य वस्तु हैं, यद्यपि उनकी प्राप्तिकी वास्तविक पूरी कीमत हो ही नहीं सकती, तथापि वे प्रेमीको बहुत ही सस्तेमें मिल जाते हैं। जब मनुष्य भगवत्-प्रेममें मस्त होकर अपने आपको श्रीभगवान्‌के पावन चरणोंपर न्यौछावर कर देता है—भगवत्-प्रेमके लिये सहज ही परम उत्साहके साथ अपने प्राणोंको छोड़नेके लिये प्रस्तुत हो जाता है तब भगवान् उसके प्रेमसे आकर्षित होकर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं। प्रह्लादके लिये खम्भसे और गोपियोंके लिये मुरली-वनमें प्रकट होनेकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। क्या इसप्रकार भगवान्‌का मिल जाना बहुत ही सस्ता सौदा नहीं है? कहाँ हम और कहाँ शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा; अरे तुच्छ प्राणोंके बदले परमात्मा प्राप्त हो जायँ, तो और क्या चाहिये? कविने कहा है—

> जो सिर साटे हरि मिले, तो तेहि लीजे दौर।
> ना जानौं या देरमें, गाँहक आवै और॥
> सिर दीन्हे जो पाइये, देत न कीजै कानि।
> सिर साटे हरि मिलै तो, बीजै सस्ता जानि॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबै रसायन हम किये, हरि-रस सम नहिं कोय ।
रंचक घटमें सचरे, (तो) सब तन कंचन होय ॥

प्रेमको पहचाननेवाले वह प्रभु केवल प्रेमको ही देखते हैं। जब मनुष्यका प्रेम अपने आत्मासे भी कहीं बढ़कर भगवान्‌में हो जाता है—जब वह प्राणोंसहित अपने सारे अपनेपनको, लोक-परलोकको भगवान्‌के अर्पण करनेके लिये तैयार हो जाता है, तब भगवान् उससे मिले बिना रह ही नहीं सकते। परन्तु प्रेम सच्चा होना चाहिये। झूठे प्रेमसे उन्हें कोई नहीं रिझा सकता।

कृष्ण कृष्ण सबही कहै, ठग ठाकुर अरु चोर ।
बिना प्रेम रीझै नहीं, प्रेमी नन्दकिसोर ॥

सच्चे प्रेमीके हाथ तो वह बिक जाते हैं। प्रेम ही भगवान्‌का मूल्य है। इस प्रेमके रहस्यको जाननेवाला पुरुष भगवान्‌को प्राप्त किये बिना कैसे रह सकता है? क्योंकि भगवान्‌के बिना वह अपने जीवनको व्यर्थ समझता है, फिर तुच्छ जीवनके मूल्यमें ही जब भगवान् मिलनेके लिये बाध्य हैं, तो वह कैसे देर कर सकता है? भगवान्-सरीखी अमूल्य वस्तुको इतनी-सी कीमतके लिये वह कैसे छोड़ सकता है? जो भगवान्‌के इस प्रेम-तत्त्वको नहीं जानते वे मनुष्यरूपमें भी पशुके ही समान हैं। ऐसे ही पशुधर्मी मनुष्य संसारके सुख-विलास और भोगोंके लिये जीवन धारण करके मनुष्य-शरीरको कलंकित करते हुए व्यर्थ अपना जीवन नष्ट किया करते हैं। जो भाग्यवान् पुरुष भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर प्राण-त्याग कर देते हैं, उनको प्राण-त्याग करनेमें कोई भी क्लेश नहीं होता। वे परम प्रसन्नता और अपार आनन्दके साथ प्रभुके चरणोंपर अपना शरीर अर्पण कर देते हैं। उस समय उनके हृदयमें आनन्दका जो दिव्य समुद्र उमड़ता है, सारे पाप-ताप, दुःख-कष्ट उसके अतल तलमें सदाके लिये डूब जाते हैं। हिरण्यकशिपुके द्वारा प्रह्लादको बार-बार मृत्युके मुखमें डालकर अपार कष्ट पहुँचाये गये परन्तु उनसे उसे तनिक-सा भी क्लेश नहीं हुआ। भगवान्‌के प्रेमके कारण परम आनन्दमें मग्न होकर वह सदा ही निर्भय बना रहा, उसके आनन्द और अभयकी स्थितिका वर्णन करना असम्भव है। प्रह्लादकी स्थितिका तो प्रह्लादको ही पता है, प्रह्लादजीकी जीवनी पढ़नेवाले मनुष्योंमें भी जब आनन्द, निर्भयता, ईश्वरमें प्रेम एवं विश्वासकी वृद्धि होती है, तब स्वयं प्रह्लादकी श्रद्धा, प्रेम, शान्ति और निर्भयता आदि गुणोंका वर्णन तो कोई कैसे कर सकता है?

भगवान्‌का सच्चा प्रेमी भगवानके सिवा और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता। भगवान्‌का चिन्तन भी वह भगवान्‌के प्रेमके लिये ही करता है। प्रेमके सिवा न तो वह भगवान्‌से ही कुछ चाहता है और न भगवान्‌के किसी प्रेमी भक्तसे ही। भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंसे वह जब कभी मिलता है तब प्रेममें मग्न हो जाता है और भगवत्-प्रेमरसकी प्राप्तिके लिये वह उनसे वैसे ही आकाङ्क्षा करता है, जैसे पपीहा बादलोंको देखकर स्वातीके बूँदकी आकांक्षासे बादलोंको अपनी टेकपर अड़ा हुआ मधुर स्वरसे 'पीव पीव' पुकारा करता है। भगवत् प्रेमका प्यासा सन्त भी महात्मारूपी बादलोंसे प्रेमरूपी स्वाती-बूँदके लिये मधुर स्वरसे विनय करता है। जैसे पपीहेका यह दृढ़ नियम है कि वह स्वाती-बूँदके अतिरिक्त भूमिपर पड़े हुए कैसे भी पवित्र गंगाजलकी कभी इच्छा नहीं करता। गुसाईंजी कहते हैं—

तुलसी चातक देत सिख, सुतहिं बारही बार ।
तात न तर्पन कीजियो, बिना बारिधर-धार ॥
जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहिं ।
सुरसरिहूको बारि मरत न माँगेउ अरध जल ॥
सुनि रे तुलसीदास, प्यास पपीहहिं प्रेमकी ।
परिहरि चारिउ मास, जो अँचवै जल स्वातिको ॥

—वैसे ही भगवत्-प्रेमी पुरुष भी प्रेमके सिवा तुच्छ सांसारिक पदार्थोंके भोगोंकी कभी इच्छा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करता। यही उसका दृढ़ नियम है–सहज स्वभाव है।

सर्वत्र भगवत्‌के स्वरूपका चिन्तन करनेवाले पुरुषका भगवान्‌में इतना प्रेम हो जाता है कि वह क्षणमात्र भी भगवान्‌के चिन्तनको भूल नहीं सकता। यदि किसी कारणवश भगवत्‌का चिन्तन छूट जाता है तो उसको इतनी व्याकुलता होती है जैसे जलके बिना मछलीको!

तदर्पिताऽखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।

देवर्षि नारदजी इसीको प्रेम-भक्ति बतलाते हैं। भगवत्-प्रेममें मतवाला पुरुष जब प्रेममें मग्न हुआ फिरता है, तब उसकी कुछ विचित्र ही अवस्था हो जाती है। अपने प्रेमास्पदके नाम, गुण और रूपकी महिमा सुनकर प्रेमकी विह्वलताके कारण अपनी सुध-बुध भूल जाता है।

प्रेम पियाला जिन्ह पिया, झूमत तिन्हके नैन।
नारायण वे रूप मद, छके रहे दिन रैन॥

प्रेम अधीन्यो छाक्यो डोलै, क्योंकी क्योंही बाणी बोलै।
जैसे गोपी भूली देहा, तैसो चाहे जासों नेहा॥

प्रीतिकि रीति कछू नहिं राखत,
जाति न पाँति नहीं कुलगारो।
प्रेमको नेम कहूँ नहिं दीसत,
लाज न कान लग्यो सब खारो॥
लीन भयो हरिसूँ अभिअन्तर,
आठहु जाम रहै मतवारो।
सुन्दर कोउक जानि सकै यह,
गोकुल गाँवको पैंडोहि न्यारो॥

कहते हैं कि, एक बार किसी प्रेमोन्मादिनी गोपीको यह शंका हो गयी थी कि श्रीकृष्णका मैं जो इतना ध्यान करती हूँ, सो कहीं ध्यान करते-करते स्वयं श्रीकृष्ण ही न बन जाऊँ। क्योंकि 'भ्रमर-कीट-न्याय' से ध्याता अपने ध्येयाकारमें परिणत हो जाया करता है। यदि ऐसा हुआ और मैं श्रीकृष्ण बन गयी तो फिर मुझे अपने प्रेमास्पद श्रीकृष्णके साथ प्रेम-विलासका आनन्द कैसे मिलेगा? एक दूसरी गोपीने उससे कहा कि 'इसके लिये तू चिन्ता न कर, श्रीकृष्णके ध्यानसे जब तू कृष्ण बन जायगी तो श्रीकृष्ण तेरे ध्यानसे गोपी बन जायँगे। प्रेमी-प्रेमास्पदका आनन्द ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। अतएव तू श्रीकृष्णके ध्यानमें ही निमग्न रह।

प्रेमकी दशाका क्या वर्णन किया जाय? प्रेमी अपने प्रेमास्पदके नाम, गुण और रूपादिके संकेत मात्रसे इतना विह्वल हो जाता है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। श्याम रंगमें रँगी हुई गोपियाँ काले रंगके कौवे, कोयल, काजल, कोयले आदि पदार्थोंको देखते ही या श्रीकृष्णके नामसे मिलते-जुलते नामोंको सुनते ही श्रीकृष्णके प्रेममें परम विह्वल हो जाती थीं। प्रेम-रसके छके हुए महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव पुरीमें समुद्रकी श्यामताको देख उसे श्यामसुन्दर समझकर पागल हो गये और तन,मनकी सुधि भुलाकर उसीमें कूद पड़े।* तल्लीनतामें ऐसी ही स्थिति होती है।

भयबुद्धिसे भजनेवाले मारीचने कहा था कि मुझको श्रीरामका इतना भय लगता है कि रज्जु, रथ, रत्न आदि जिन शब्दके आदिमें रकार हो, उन शब्दोंके सुननेमात्रसे श्रीराम मुझे अपने समीप खड़े दीखते हैं।

राममेव सततं विभावये
भीतभीत इव भोगराशितः।
राजरत्नरमणीरथादिकं
श्रोत्रयोर्यदि गतं भयं भवेत्॥
राम आगत इहेति शंकया
बाह्यकार्यमपि सर्वमत्यजम्।
निद्रया परिवृतो यदा स्वपे
राममेव मनसानुचिन्तयन्॥

* समुद्रकी श्यामताको देखकर मुग्ध हुए समुद्र-किनारे पड़े श्रीचैतन्यका सुन्दर चित्र इसी अंकमें दिया जा रहा है। प्रसिद्ध चित्रकार श्रीशारदाचरण उकीलने बहुत ही सुन्दर भाव चित्रित किया है।–सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वप्नदृष्टिगतराघवं तदा
बोधितो विगतनिद्र आस्थितः ।
तद्भवानपि विमुच्य चाग्रहं
राघवं प्रति गृहं प्रयाहि भो ॥

(अध्यात्मरामायण अरण्यकाण्ड ६ । २२-२४)

जब भयकी प्रेरणासे ऐसी दशा हो सकती है तब विशुद्ध प्रेमकी प्रेरणासे प्रेमास्पदके लिये वैसी दशा हो जानेमें क्या आश्चर्य है ? अवश्य ही प्रेमका मार्ग है बड़ा ही गहन—बड़ा ही दुर्गम, तीक्ष्ण तलवारकी धारके समान ! केवल बातें बनानेसे उसकी प्राप्ति नहीं होती । बाहरी भेष या चिन्हका नाम ही प्रेम नहीं है ।

प्रेम प्रेम सब कोइ कहे, प्रेम न चीन्हे कोय ।
जेहि प्रेमहिं साहिब मिले, प्रेम कहावे सोय ॥

सच्चा प्रेम वही है जिससे स्वामी श्रीरामका मिलन हो जाय । वे राम मिलते हैं, प्रेमभरी विरहकी व्याकुलतासे, करुणापूर्ण हृदयकी सच्ची पुकारसे, सच्ची श्रद्धा और भक्तिसे एवं सच्चे हृदयकी उत्कट इच्छासे ! ये सब प्रेमके ही पर्याय हैं । मिलनेकी उत्कट इच्छा होनेपर भगवान्‌के विरहमें व्याकुल प्रेमीकी अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के मिलनेका सन्देश मिलनेपर बड़ी ही मधुर अवस्था होती है । श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें सुतीक्ष्णजीके प्रेमकी महिमा दिखाते हुए कहा है—

पन्नगारि सुनु प्रेम सम, भजन न दूसर आन ।
यह विचारि पुनि-पुनि मुनी, करत राम गुन-गान ॥
होइहि सुफल आजु मम लोचन । देखि बदन-पंकज भवमोचन ॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी । कहि न जाय सो दशा भवानी ॥
दिशि अरु विदिशि पंथ नहिं सूझा । को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा ॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई । कबहुँक नृत्य करे गुन गाई ॥
अविरल प्रेम भक्ति मुनि पाई । प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई ॥

अहा ! क्या ही अनोखे आनन्दका दृश्य है !

प्रेमी जब अपने प्रेमास्पदके विरहमें व्याकुल रहता है और प्रेमीके मिलनकी उत्कण्ठासे उसके आनेकी प्रतीक्षा करता है, उस समय उसे पल-पलमें अपने प्रेमास्पदके पैरोंकी आहट ही सुनायी देती है । कोई भी आता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो मेरा प्रेमी ही आ रहा है । गोपियोंके पास जब उद्धव आये, तब उन्होंने यही समझा कि प्यारे श्रीकृष्ण ही पधारे हैं । बहुत समीप आनेपर ही वे यह जान सकीं कि ये श्रीकृष्ण नहीं हैं, उद्धव हैं; पर श्रीकृष्ण नहीं हैं तो क्या हुआ, ये प्राणप्यारे श्रीकृष्णका सन्देशा लेकर तो आये हैं, इसलिये ये भी श्रीकृष्णके समान प्यारे हैं । भागवतके दशम स्कन्दमें इस समयकी गोपिकाओंकी विचित्र दशाका बड़ा ही मार्मिक वर्णन है ।

श्रीकृष्णकी प्रियतमा रुक्मिणीजी भगवान्‌के विरहमें जैसी व्याकुल हुई थीं, भगवान्‌के पहुँचनेमें विलम्ब होनेपर श्रीरुक्मिणीजीकी जो करुणा-जनक अवस्था हुई थी, वह अत्यन्त ही रोमाञ्चकारक है । यह प्रसङ्ग प्रेमियोंको श्रीमद्भागवतमें देखना चाहिये ।

भरतके विरहकी अवस्था रामायणके पाठकोंसे छिपी नहीं है । जब श्रीहनूमान्‌जी प्रभु श्रीरामजीका सन्देश लेकर आते हैं, तब भरतकी आश्चर्यमयी अवस्थाको देखकर वे भी प्रेममें निमग्न हो जाते हैं । वहाँका वर्णन पढ़िये—

को तुम तात कहाँ ते आये । मोहिं परम प्रिय बचन सुनाये ॥
दीनबन्धु रघुपतिकर किंकर । सुनत भरत भेंटे उठि सादर ॥
मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता । नयन श्रवत जल पुलकित गाता ॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते । मिले आज मोहिं राम-सप्रीते ॥
यहि सन्देश सरिस जग माहीं । करि विचार देखेउँ कछु नाहीं ॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही । अब प्रभु चरित सुनावहु मोही ॥

निज दास ज्यों रघुवंश भूषण
कबहु मम सुमिरन करयौ,
सुनि भरत बचन बिनीत अति
कपि पुलकि तनु चरननि परयौ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रघुबीर निज मुख जासु गुनगन
कहत अग जग नाथ सो,
काहे न होहु बिनीत परम
पुनीत सद्गुन सिन्धु सो॥

राम प्रानप्रिय नाथ तुम, सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सन, प्रेम न हृदय समात॥

अपने प्रेमास्पद द्वारा प्रेरित सन्देश पानेपर या प्रेमीका कुछभी समाचार मिलनेपर जब गोपी, रुक्मिणी और भरतकी-सी अवस्था होने लगे तब समझना चाहिये कि असली विरहकी उत्पत्ति हुई है।

अहा! कृष्ण-प्राणा मीराजीकी दशा देखिये। श्रीकृष्णनाममें रत, हरिके प्रेम-समुद्रमें डूबी हुई वह मतवाली प्रेमराती गाती है—

नातो नामको जी म्हाँस्यूँ तनक न तोड़्यौ जाय।
पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे लोग कहे पिंड रोग।
छाने लाँघण मैं किया रे, राम मिलणके जोग॥
बाबल बैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख बैद मरम नहिं जाणै, कसक कलेजे माँह॥
जाओ बैद घर आपणे रे, म्हारो नाम न लेय।
मैं तो दाझी बिरहकी रे, काहे कूँ औषध देय॥
मांस गल गल छीजियो रे, करक रह्या गल आय।
आंगलियाँकी मूँदड़ी म्हारे, आवण लागी बाँय॥
रह रह पापी पपीहरा रे, पिवको नाम न लेय।
जो कोई बिरहण सांभले तो, पिव कारण जिव देय॥
छिन मन्दिर छिन आंगणे, छिन छिन ठाढी होय।
घायल सी घूमूँ खड़ी म्हारी, व्यथा न बूझे कोय॥
काढ़ कलेजो मैं धरूँ रे, कौवा तू ले जाय।
ज्याँ देशाँ म्हारो हरि बसै रे, वाँ देखत तू खाय॥
म्हारे नातो नामको रे, और न नातो कोय।
मीरा व्याकुल बिरहणी, हरि दर्शन दीज्यो मोय॥

यही विशुद्ध प्रेम श्रीपरमात्माका मूल्य है या यों समझिये कि यही परमात्माका स्वरूप है। ऐसे विशुद्ध प्रेमकी जितनी ही वृद्धि होती है उतना ही मनुष्य परमात्माके नजदीक पहुँचता है। जैसे सूर्य प्रकाशका समूह है, वैसे ही परमेश्वर प्रेमके समूह हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों सूर्यके समीप जाता है त्यों-ही-त्यों क्रमशः प्रकाशकी वृद्धि होती जाती है। इसी प्रकार जब वह प्रेममय भगवान्‌के जितना ही समीप पहुँचता है, उतनी ही उसमें प्रेमकी वृद्धि होती है। या यों समझिये, ज्यों-ज्यों प्रेमकी वृद्धि होती है त्यों-ही-त्यों वह परमात्माके समीप पहुँचता है। जैसे सूर्य और प्रकाश दो वस्तु नहीं है, प्रकाश सूर्यका स्वरूप ही है, वैसे ही प्रेम और भगवान् भी दो वस्तु नहीं है। प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है।

जब मनुष्य भगवत्-प्रेमके रंगमें रँग जाता है तब वह प्रेममय हो जाता है, उस समय प्रेम (भक्ति) प्रेमी (भक्त), और प्रेमास्पद भगवान् तीनों एक ही रूपमें परिणत हो एक ही वस्तु बन जाते हैं। प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद कहनेके लिये ही तीन हैं, वास्तवमें तो वही एक वस्तु मानो तीन रूपोंमें प्रकट हो रही है। भगवान्‌के ज्ञानी प्रेमी भक्त ऐसा ही कहा करते हैं। जब मनुष्य भगवान् वासुदेवके प्रेममें आत्यन्तिकरूपसे निमग्न हो जाता है, तब उसे सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र पद-पदमें भगवान् वासुदेव-ही-वासुदेव दीखते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७।१९)

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। इस प्रकार मुझको भजता है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है। यही प्रेमका सच्चा स्वरूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संशयात्मा विनश्यति

(लेखक-श्रीभूपेन्द्रनाथ सन्याल)

जान पड़ता है कि संसारके वे दिन चले गये, जब कि लोग गुरु, वृद्ध, आचार्य और शास्त्र-वचनोंको बिना किसी तर्कके मान लेते थे, एवं सरल-हृदयसे स्वाभाविक ही एक दूसरे पर विश्वास करते हुए शास्त्रोक्त सदाचारके प्रति श्रद्धायुक्त होकर बड़े सुखसे उद्वेगहीन जीवन व्यतीत करते थे। यह बात नहीं कि, उस समय उन सब सरल चित्तके सज्जनोंको बीच-बीचमें अवसर पाकर दुष्ट लोग कभी न सताते हों। परन्तु अधिकांशमें मनुष्य उस समय सुखी थे। यह बात संसारके काव्य, इतिहास और पुराणादिसे भलीभाँति सिद्ध है। दुष्टोंके बुरे कर्मोंकी बातें कभी कभी सुनाई देने पर भी अधिकांश मनुष्य सरल, सत्यवादी और ईश्वरपरायण थे। काम-क्रोधादि प्रबल शत्रुओंकी उत्तेजनावश किसीसे कभी कोई दुष्कर्म बन जाता था, परन्तु वे उसमें निमग्न नहीं हो जाते थे। बल, पुरुषार्थ और विवेकसे सञ्चालित बुद्धिके द्वारा वे तत्काल ही फिर अपनी स्थिति पर कायम हो सकते थे। रिपुओंके वशमें होकर अपने सारे जीवनको उन्हींकी सेवामें नहीं लगा देते थे। सामयिक उत्तेजनाके कारण कोई कुकार्य बन जाने पर वे उसे कायरकी तरह छिपा रखना नहीं जानते थे। दण्ड मिलनेका निश्चय होने पर भी निर्भय होकर अपने दोष सबके सामने कह देनेमें उनके मनमें तनिक भी कमज़ोरी नहीं आती थी क्योंकि उनका विश्वास था कि सत्यकी जय होती है, झूठकी नहीं—'सत्यमेव जयते नानृतम्'। यही कारण है कि आजकलकी तरह उस ज़मानेमें इतने कानून और अदालतें न थीं और न झूठको सच बनानेका पेशा करनेवाले इतने वकील और मुख्तारोंकी ही आवश्यकता थी।

उस समय मनुष्य जैसे सरल और सत्यवादी थे वैसे ही वे निर्भीक और ईश्वर-परायण भी थे। वे शरीरसे शुद्ध रहना जानते थे। बुद्धिकी शुद्धिका भी खूब सावधानीसे रक्षण किया जाता था। वे न्यायरहित और अनुचित लोभका दमन करना जानते थे। इसीलिये उस समय झूठी धोखेधड़ीकी इतनी अधिकता नहीं थी। लोगोंके बलवान शरीर और मन भगवान्‌की आराधना और दूसरोंके दुःख दूर करनेमें सदा लगे रहते थे। तब देश पर देवताओंकी कृपा भी खूब रहती थी। विधिपूर्वक पूजासे सन्तुष्ट होकर देवता ठीक समय पर वृष्टि करते थे। जिससे लोग अपने परिश्रमसे कहीं अधिक अन्न प्राप्त कर निर्विघ्नतापूर्वक परिवारका पालन, देवताओंकी आराधना और अतिथियोंकी सेवा किया करते थे। अर्थार्थी और आशा करके आया हुआ कोई भी प्राणी द्वारसे कभी विमुख नहीं लौटता था। सभी अपनी शक्तिसे कहीं अधिक याचककी माँग पूरी करनेकी चेष्टा करते थे। देशका जलवायु नीरोग था, किसी भी संक्रामक रोगका प्रबल प्रकोप नहीं होता था। कभी होनेकी सम्भावना होती तो उसको दूर करनेके लिये लोग ख़ूब सावधान रहते थे। भलीभाँति विचार और परीक्षा किये हुए नियमोंको निर्धारित करनेमें वे ज़रा भी आलस्य नहीं करते थे। मन्त्र और ओषधियोंका प्रभाव भी उस समय ख़ूब था। लोगोंके शरीर और मन स्वस्थ थे, जीवन-निर्वाहकी प्रणाली सरल और सुन्दर थी, इसीलिये आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक किसी प्रकारके भी उपद्रव आजकलकी तरह कभी बढ़ ही नहीं सकते थे। मनुष्य आपसमें एक दूसरेको प्रेमकी नज़रसे देखना जानते थे। अतः जीवमात्रके प्रति उनमें हार्दिक सहानुभूति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृपाके भाव थे। समाजके बड़े-बड़े नेता विवेक-बुद्धिसे सम्पन्न और असाधारण प्रतिभाशाली थे। इसीलिये समाज-शरीरका कोई भी छिद्र उनकी नज़रसे बचकर चुपचाप समाजमें बुराई पैदा नहीं कर पाता था। जनता बड़ी ही श्रद्धाके साथ इन सदाशय और उदार समाज-पतियोंकी—पञ्चोंकी आज्ञा पालन करनेके लिये सदा तैयार रहती थी। पञ्चोंसे कभी धोखा होगा, जनताके हृदयमें ऐसी आशंकाके पैदा होनेका ही अवसर कभी नहीं आता था। राजा और धनी लोग शास्त्र और गौ-ब्राह्मण आदिके प्रति श्रद्धा करना जानते थे और प्रजाका हित करना ही राजाओंके राज्य-सञ्चालनका मूल मन्त्र था।

पता नहीं, संसारके किस अचिन्तनीय कर्म-फलसे कालचक्र पलट गया और उसीके साथ-साथ ऐसे समय और ऐसे जीवोंका आविर्भाव हो गया कि जिनसे पहलेकी किसी बातका मेल नहीं खाता। स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र, विद्वान्-मूर्ख और वृद्ध-बालक सभीने मानों आजकल एक नया ही पन्थ पकड़ लिया है। इनकी शिक्षा-दीक्षा, चाल-चलन, भाव-भङ्गी और बोलचाल सभी कुछ मानों दूसरे प्रकारके हैं। कोई किसीके सामने सिर झुकाना नहीं चाहता, श्रद्धा और भक्तिकी बातोंका मानों पुस्तकोंसे बहिष्कार ही कर दिया गया है। बड़े-बूढ़ोंके प्रति वह आदर नहीं है, उपकार करनेवालोंके प्रति वह कृतज्ञता नहीं है। पूजनीय व्यक्तियोंके प्रति अब वैसी अपूर्व श्रद्धाका भाव कहीं नहीं पाया जाता। स्त्रियोंके चरित्रमें जिस आदर्श 'ह्री' और 'श्री' के दर्शन होते थे, आजकल वह मानों स्वप्नवत् हो गया है। अश्रद्धा, अविश्वास, अभिमान और गर्व ही मानों बड़े वेगसे जगत्का शासन-दण्ड चला रहे हैं। तनिक-सी बाह्य लौकिक विद्या सीखकर लोगोंके चित्त इतने उद्धत हो गये हैं कि वे ऋषियोंके साधन-लब्ध अलौकिक ज्ञानकी दिल्लगी उड़ानेमें ज़रा-सा भी नहीं हिचकते। तपःपरायण त्यागी-श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंके लिये आज हम बिना किसी संकोचके यह घोषणा कर रहे हैं कि वे बेईमान और स्वार्थ-परायण थे! शास्त्रोंके सिद्धान्तोंके प्रति कटाक्ष करते हैं एवं घमण्डमें भरकर उनकी लौकिकता और असारता सिद्ध करनेमें तनिक भी नहीं हिचकिचाते। प्रत्यक्ष देवता पिता-माता और आचार्यगण आज हमारी आज्ञाके पात्र बन रहे हैं। भाई-बन्धुओंके प्रति वह अकृत्रिम स्नेह और प्रेम लोप हो गया है और ईश्वरपरायण विरक्त साधु-संन्यासियोंके प्रति यह धारणा उत्पन्न हो गयी है कि ये आलसी, निकम्मे और समाजके लिये भाररूप हैं। हमलोग आज सरल और सत्यवादी पुरुषको मूर्ख और निकम्मा समझना सीख गये हैं !!

इसीसे यह विचार उठता है कि इस आर्य-सेवित पवित्र भारतभूमिमें इसप्रकारके अनार्यो-चित संस्कारोंका सूत्रपात किसप्रकार आरम्भ हुआ ? देखते-ही-देखते दया-धर्म, पूजा-भक्ति, साधना-ज्ञान, श्रद्धा-विश्वास, यज्ञ-तप आदि सारे आर्यसदाचार मानों स्वप्नके समान कैसे अदृश्य हो गये ? आज सभी लोग छलांग मारकर बड़े होनेके लिये मानों अत्यन्त लालायित हैं। पूर्वकालमें योग्य पुरुष ही जनसाधारणमें पूजा और सम्मान प्राप्त करते थे। किन्तु आजकल मनुष्य सब प्रकारसे हेय होनेपर भी अनधिकार पूजा पानेके लिये भीखकी झोली काँधेपर लटकाये द्वार-द्वार श्रद्धा-याचना करनेमें ज़रा भी लज्जित नहीं होते! देशवासियोंकी वह ह्री और वह श्री कहाँ चली गयी! आज देशमें न तो कोई दुर्वचन बोलनेमें सकुचाता है और न दुष्कार्य करनेमें ही हिचकता है। साधुताका ढोंग करते हुए लोग असाधु कार्योंमें लग रहे हैं और मिथ्याके द्वारा सत्यको ढँक देनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं। आज झूठ बोलनेमें कोई बाधा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं रही, परद्रव्यहरणमें कोई हिचकिचाहट नहीं रही। विश्वासघातकता, धोखेबाजी, परद्रोह और कपट मानों चित्तके स्वाभाविक धर्म हो गये हैं। हमें जिन विषयोंका रत्तीभर भी ज्ञान नहीं, उनको मानो हम पूरा-पूरा जानते हैं इसप्रकारके ज्ञानका ढोंग आजकल मानो सर्वव्यापी हो गया है। सभी लोग प्रत्येक विषयके पण्डित बने हुए हैं। लोगोंकी बुद्धिवृत्ति अन्धकारसे इतनी ढँक गयी है कि जिस कार्यसे धर्मके ध्वंस होनेकी अधिक सम्भावना है, आज उसी कार्यकी ओर लोग मानों ध्वंसके मुखमें प्रवेश करनेके लिये वैसे ही 'समृद्ध वेग' से दौड़ रहे हैं, जैसे आगके मुखमें प्रवेश करनेको मोहावृत पतंग! कहाँ है ब्राह्मणोंकी वह महती तपस्या, अत्युग्र ब्रह्मचर्य, शास्त्राचारके पालनमें एकान्तनिष्ठा, शम, दम, तितिक्षा और निर्लोभता? कहाँ गयी वह क्षत्रियोंका प्रदीप्त वीर्य, विपद्-त्राण-परायणता, अद्भुत शौर्य-शक्ति, वेद और ब्राह्मणोंकी सेवा? कहाँ गयी, वैश्योंकी वह सरल जीवन-निर्वाहको प्रणाली, कृषि, वाणिज्य और गो-सेवा? कहाँ गया शूद्रोंका वह स्वाभाविक परिचर्याका भाव? और कहाँ चली गयी वह साधु-तपस्वियोंकी अत्युग्र साधन-निष्ठा एवं ज्ञानकी विमल दीप्ति?

वर्तमान युगमें क्यों लोग इतने दुष्ट और दम्भी हो गये हैं, इसका एक कारण यही जान पड़ता है कि लोगोंकी चित्तवृत्तियाँ बाह्य विषयों-की ओर अतिमात्रामें आकर्षित हो गयी हैं। बाह्य विषय, वेष-भूषा, खान-पानादिने मानो मनुष्यको मृग-तृष्णामें डालकर अनेक बुराइयाँ सिखा दी हैं। लोग अपने वेष-भूषा, लौकिकता, सामाजिकता, खान-पान और विषय-सम्भोगमें इतने मग्न हो गये हैं और इसी कारण धनाकांक्षा भी इतने ज़ोरसे बढ़ गयी है कि उनको किसी दूसरे विषयके सोचनेके लिये समय ही नहीं मिलता। वर्तमान युगमें भोग-विलासकी सामग्रियाँ जितनी बढ़ गयी हैं, भोगकी आशा और भोगनेकी इच्छा भी उतनी ही उत्कट हो उठी है। इसीलिये अर्थकी आवश्यकता भी अत्यधिक बढ़ गयी है। लोग आज उसीकी पूर्तिके लिये विशेष व्याकुल हैं। इसी कारण वे अन्तः-करणकी विवेक-वाणी नहीं सुन पाते; शास्त्र और ऋषि-वाक्योंके मर्मको नहीं समझ सकते, परलोक-की आस्थाको खोकर उन्होंने अपनी सारी शक्तिको अतिलोभके वशमें होनेके कारण विषयोंकी प्राप्तिमें ही लगा रक्खा है। पूरी शक्ति लगानेपर भी मनमाना अर्थसञ्चय नहीं होनेसे लोग आज अशुभ-वृत्ति और दुराचारके अवलम्बन करनेसे नहीं हटते। इसीसे जाना जा सकता है कि हमारे भाव कहाँतक तामसिक हो गये हैं, क्योंकि धनोपासना ही तामसिकताकी अन्तिम अवस्था है। जिन्होंने धनको ही सर्वार्थ-सिद्धिका मूल समझ लिया है, एवं जो दिन-रात उसीके संग्रहमें लगे रहते हैं, उनके हृदयमें ईश्वरपरायणता और परमात्माके शुद्ध चिन्मय स्वरूपका विकास नहीं हो सकता। इसप्रकार महास्थूल जडकी उपासना करके मनुष्य अन्तमें काठ-पत्थर आदिके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इसप्रकारकी जडोपासना सीख जानेके कारण ही आज हम अपने आपको भूल गये हैं, हृदय-देवताको भुला बैठे हैं। इसीके फलस्वरूप आज हमने देवताके स्थानमें स्वार्थ और भोगके देवताकी मूर्ति बनाकर उसीकी पूजामें अपने तन-मन और प्राणोंको समर्पण कर दिया है। हम दूसरेके भाग्यपर डाह करना सीख गये हैं और जगत्‌के सारे धन-धान्य और भोग्यवस्तुओंको हड़प जानेके लिये अपने दुर्दमनीय लोलुप हाथोंको चारों ओर फैला रहे हैं। कविने ठीक ही कहा है—

कनक कनकतें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात हैं यह पाये बौराय॥

भोगोंमें आसक्त हुए इस चित्तमें भोगोंकी बातोंको छोड़कर और कोई बात ठहरती ही नहीं है। क्या आज हम बलपूर्वक कह सकते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि–'येनाहं नामृता स्याम्, तेनाहं किं कुर्याम् ?' 'हमें और किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं, हम केवल तुम्हें ही चाहते हैं, हे भगवन्, और जो कुछ है वह सब पड़ा रहे। प्रभु, तुम्हीं हमारे हृदयमें विराजमान होओ।' इस मन्त्रको हम आज कहाँ उतने ज़ोरसे उच्चारण कर सकते हैं ? हृदयके सत्य भावसे आज कितने मनुष्य उनको (भगवान्को) चाहते हैं। हम जो कुछ करते हैं, देखादेखी करते हैं अथवा लोगोंको दिखलानेके लिये करते हैं। हम धनकी कामना कितने आग्रहके साथ करते हैं। अन्य कितनी वस्तुओंकी अभिलाषा करते हैं, परन्तु प्रभुके लिये हमारे हृदयके एक कोनेमें भी तो वैसी प्रबल आकांक्षा जागृत नहीं हुई। हाय, हाय! हम क्या कर रहे हैं, इसपर हमने कभी विचार नहीं किया। जो हमारे प्राण हैं, जो सर्वस्व हैं, जब हमने उन्हींकी अभिलाषा नहीं की, तब हमने क्या चाहा ? हम किस वस्तुकी आकांक्षाके पीछे भटक रहे हैं। अपने प्राणाराम, प्राणेश्वरकी ओर तो नज़र फिराकर हमने कभी नहीं ताका! रे मूर्ख चित्त! तू अमूल्य रत्नके बदलेमें काँच लेकर फूल रहा है ? पारस-मणिका अनादर कर आज किस धनको पाकर उन्मत्त हो रहा है ? कुछ भी विचार नहीं करता ? रूपके नशेमें चूर हो रहा है, परन्तु सब रूपोंमें जिस एकका ही रूप प्रस्फुटित हो रहा है, जो सब प्रकारकी शोभा और सुन्दरताकी उत्तमोत्तम सीमा है, हाय! इन नयनोंने उस रूपको देखनेके लिये कभी आग्रह नहीं किया!

धन चाहते हो ? असंख्य साम्राज्योंके धन-भण्डार जिसके चरणनखोंकी मणिप्रभाके साथ भी समता नहीं कर सकते, जिन चरणकमलोंको ब्रह्मादि देवेन्द्रगण अपने हृदयोंमें धारण करते हैं उन्हें छोड़कर और कौन-से धनकी आशा करते हो ? जो विनाशशील है, चञ्चल है, उसके प्रचुर परिमाणमें मिल जानेपर भी क्या लाभ होगा ? वह महा-विनाशसे तुम्हारी रक्षा करनेमें कभी समर्थ नहीं होगा। शिक्षा, दीक्षा, विद्या, अर्थ, आरोग्यता अथवा स्त्री-पुत्र, स्वजन-बान्धव आदि कोई भी उससे बड़ा नहीं है। ये सब उस एक ही प्रेममय परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप हैं। वह नहीं मिले, तो इन सबका मूल्य एक कौड़ीके बराबर भी नहीं है। यही नहीं, ये सब यदि उसकी प्राप्तिमें बाधक होते हैं, तो सर्पकी काटी हुई अंगुलीके समान इनके त्याग कर देनेमें ज़रा भी हिचकिचाना उचित नहीं।

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरीसम जद्यपि परम सनेही।

अब एक बार विचार करके देखिये, कि वर्तमान शिक्षाप्रणाली हमारा किसप्रकार सर्वनाश कर रही है! बिना ही कारण बाह्य वस्तुओंके लिये हमारे लोभकी मात्रा जितनी बढ़ी जा रही है, उतने ही परिमाणमें हम भगवान्को भी भूले जा रहे हैं। बुद्धिमान् पुरुष इस बातको सहज ही समझ सकेंगे कि यह देश और देशवासियोंके लिये कदापि सौभाग्यके लक्षण नहीं हैं। अंग्रेजी शिक्षाका ही यह परिणाम है कि हम अपने धर्म-विश्वासको खो बैठे हैं, एवं इसीलिये अमृतके बदलेमें ज़हर खरीदकर आज हम महामृत्युको आलिङ्गन करने जा रहे हैं। आज हम शिक्षित कहलानेवाले व्यक्ति परमार्थ-तत्त्वको और भगवान्को, देवताको और मन्त्रोंको संशयकी दृष्टिसे देखना सीख गये हैं, भगवान्पर अब उतने ज़ोरसे विश्वास नहीं कर पाते, मानो उसके और हमारे बीचमें न जाने एक कैसा व्यवधान आ गया है। आज भगवान्को अनायास ही स्वीकार करनेका साहस हमारे हृदयमें नहीं है। उनके साथ हमारा खान-पानके समान ही जो एक सहज और सत्य सम्बन्ध था, वह मानों कहीं टूट गया है! उसे जोड़नेकी इच्छा होनेपर भी पहलेकी तरह उसे हम नहीं जोड़ पाते। यही कारण है कि आज हमारी हृदयवीणासे केवल बेसुरा सुर ही बज उठता है! हा, आर्य-ऋषियोंकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्तान ! तुम्हारे पूर्व-पितामहोंने जिन प्रभुको प्रदीप्त सूर्यके समान अपनी-अपनी हृदय-गुफामें देखा था, एवं इस विराट् ब्रह्माण्डको उन्हींकी महिमाका प्रकाश जान जो हाथ उठाकर सरल शिशुकी भाँति यह गा उठे थे कि 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' जो गान आज भी भारतके आकाशमें, वायुमण्डलमें, अन्तरिक्षमें प्रतिध्वनित हो रहा है—और आज हम उन्हींके वंशज होकर अपने हृदयाकाशमें उस अमृतवाणीको नहीं सुन पाते ! यह क्या कम दुःखका विषय है ?

'संशयात्मा विनश्यति !' आज हम सब विषयोंमें सन्देहयुक्त होकर तो विनाशकी ओर अग्रसर नहीं हो रहे हैं ? संशयात्माके लिये न इहलोक है, न परलोक है और न कोई सुख ही है, इसीलिये क्या हम भी चिरदुखी होकर दिन काट रहे हैं ?

जो भगवान्को नहीं मानता, वह मृत्युके अनन्तर लोक-लोकान्तरोंमें भी स्थिर होकर नहीं ठहर सकता। वह बवण्डरमें पड़े हुए तृणके समान एक नरकसे दूसरे नरकको जाता है और कहीं भी सुख-शान्ति न पाकर अन्तमें काठ-पत्थरके रूपमें आविर्भूत होता है ! जीवके इस भयङ्कर परिणामको स्मरण करते ही भयसे सारा शरीर काँप उठता है !

हे हमारे प्रभु, हे दीनानाथ भक्तवत्सल, इस संशयरूपी महाविनाशसे जीवको बचाओ ! हे करुणानिधे ! तुम्हारी कृपा-वारिकी वृष्टिसे त्रिताप-तप्त जीवका हृदय-मरुस्थल एकबार फिर सिक्त और कुसुमित हो उठे दयामय ! जिससे यह दुखी जीव फिर तुम्हें कभी अस्वीकार न करे !

मैं जिस किसी भी अवस्थामें रहूँ, तुम्हारे हाथकी कठपुतली बनकर तुम्हारे ही प्रेममय नामका स्मरण करता रहूँ ! प्रभो, तुम्हारी कृपा बिना, कोई तुम्हारी इसप्रकारसे कैसे अभिलाषा कर सकता है ? नाथ ! न जाने मेरे और भी कितने जन्म होंगे, किन्तु तुम एक दिन मेरे हृदय-सिंहासनको प्रकाशित कर उसपर विराजोगे ही, तुम्हारे इसी सुदूर मिलनके समयका स्मरण करके आज इन अनेक कर्म-पाशोंको और तज्जनित अनेक जन्म-जन्मान्तरोंको हाथसे ढकेलकर शेष कर डालनेकी इच्छा होती है। इस आर्त-दीनको अपनी सेवाके योग्य बना लो ! तुम्हें प्राप्त करनेकी जो कुछ भी कीमत हो, उसे कड़ाईके साथ वसूल कर लो मेरे स्वामी ! केवल एक यही शक्ति दो कि जिससे उन सब परीक्षाओंके सङ्कट-समयमें मैं तुम्हारे अभय चरण-युगलोंको कभी न भूलूँ। तुम हमारे प्रभु हो, हमारे सखा हो, और हमारे सर्वस्व हो—इस बातकी तो तुम्हींने गीतामें अपने श्रीमुखसे घोषणा कर दी है। मैं तुम्हारी इस घोषणाको कभी न भूलूँ एवं तुम भी अपने उन वचनोंको कभी भूल न जाओ मेरे प्रभु !

प्रार्थना (त्रिभंगी)

जय जय रघुनन्दन, असुरनिकन्दन, रावणमर्दन, विश्व-विभो ।
हम शरण तुम्हारी, संकट भारी, विनय हमारी सुनो प्रभो ॥
हे सीतास्वामी, अन्तर्यामी, खगपतिगामी, कृपा करो ।
सुर-मुनि-रंजन, भव-भय-भंजन, कल्मष-गंजन, दुःख हरो ॥
भव-सिन्धु अपारा, अति विस्तारा, नहिं निस्तारा, कहा करों ।
अब तन-मन हारा, नहीं सहारा, नाम अधारा, चरण धरों ॥

— जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तरी

(श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी)

कुछ समयपूर्व सत्याग्रह-आश्रम वर्धाके एक बाल-ब्रह्मचारी गीताभक्त भाईने पूज्य गान्धीजीसे गीता और अन्य तात्त्विक विषयोंके सम्बन्धमें तेरह प्रश्न पूछे थे। उन दिनों गान्धीजी सारे भारतकी यात्रा करके कुछ समयतक आराम लेनेके लिये साबरमती आश्रमको लौट आये थे। इसी दरम्यान गान्धीजीने उक्त भाईके प्रश्नोंके उत्तर भी भेजे थे। यह प्रश्नोत्तरी 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंके लिये अत्यन्त उपयोगी, मार्गसूचक और बोधक होगी, इसे पढ़कर वे एक हदतक, अपना मनोरञ्जन भी कर सकेंगे, इसी आशासे इसका अनुवाद नीचे देता हूँ—

प्रश्न

रविवार, वर्धा

'पूज्य बापूकी पवित्र सेवामें,

मद्रासके पतेसे भेजे हुए मेरे पत्र आपको मिले होंगे। अतएव उस सम्बन्धमें कुछ नहीं लिखूँगा। परन्तु जबतक आप आश्रममें हैं, मुझे कुछ बातें पूछनेकी जिज्ञासा है। आपको जब फुरसत हो तभी इन प्रश्नोंके उत्तर दीजियेगा।

१–ब्राह्मी स्थिति किसे कहते हैं ? मोक्ष क्या है ?

२–'जगत् मिथ्या है' इसका अर्थ क्या ?

३–प्रवाहपतित कर्मका क्या अर्थ है ?

४–ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग, ध्यान, इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? जीवनकी दृष्टिसे इनका कितना और किसप्रकार उपयोग हो सकता है ? इन सबका पृथक्-पृथक् अर्थ क्या है ? एक ही मनुष्यके लिये सबका उपयोग करना सम्भव है या नहीं ? क्या गीताका ऐसा कोई आशय है ? या ये अलग-अलग पन्थ बताये गये हैं ? यदि अलग-अलग पन्थ हों तो इनमें सहज कौन-सा है ?

५–गीताके १२ वें अध्यायके ९-१०-११-१२ श्लोकोंका अर्थ क्या है ? इनमें भी अन्तिम अर्थात् १२ वें श्लोकका अर्थ विशेष स्पष्ट किया जा सके तो अच्छा हो।

६–संन्यास और त्यागमें अन्तर क्या है ?

७–एक मनुष्यकी परमेश्वरमें दृढ़ श्रद्धा है, पर परमेश्वरका नाम सुनते ही अश्रुधारा नहीं बह निकलती, न शरीर ही पुलकित होता है, तथापि वह रागद्वेषरहित है, अहंकार-रहित है और निष्कामभावसे लोगोंकी एकमात्र सेवा करना ही जानता है। दूसरा मनुष्य ऐसा है कि वह सेवा वगैरा तो कुछ करता नहीं, पर उसका मन अत्यन्त शुद्ध है। परमेश्वरका स्मरण होते ही शरीर पुलकित हो जाता है, अश्रुधारा बह चलती है, अहंकार-रहित, रागद्वेष-रहित है, लोगोंमें ही रहता है। इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन ? दोनोंको भक्तिमान् कहेंगे या भिन्न नामोंसे पुकारेंगे ?

८–एक मनुष्य स्वभावहीसे संयमी है, ब्रह्मचारी है; स्वभावहीसे वह क्रोधरहित, शान्त है; दूसरा मनुष्य ऐसा है कि ये तीनों चीज़ें उसमें हैं, तो भी ये उसके लिये कष्ट-साध्य हैं, खूब प्रयत्न करना पड़ता है। उदाहरणके लिये, पहला व्यक्ति स्त्रीको देखते ही विकारवश नहीं होता, निर्विकार रहनेके लिये उसे मनके साथ विवेक नहीं करना पड़ता, अत्यन्त जागृत रहनेकी ज़रूरत नहीं होती; परन्तु दूसरेको अतिशय जागृत रहना पड़ता है, विवेक करना पड़ता है—तभी वह थोड़ी निर्विकारिताका आनन्द पा सकता है। दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है ? नैतिक दृष्टिसे अधिक गुण (मार्क्स) किसे दीजियेगा ?

९–एक मनुष्य स्वभावहीसे निर्विकारी ब्रह्मचारी है; दूसरा वैसा नहीं है, परन्तु प्रयत्नकी तो पराकाष्ठा है। अत्यन्त प्रामाणिक रहकर वह खूब प्रयत्न करता है, फिर भी संपूर्ण विजयी नहीं हो पाता, वह विकारवश हो जाता है। दोनोंमें श्रेष्ठ कौन ?

१०–परमेश्वर है, तबतक यह व्यक्त मायिक जगत् किसी-न-किसी रूपमें दीख ही पड़ेगा, या इसके अन्तकी भी आप कल्पना कर सकते हैं ? इस समस्त विश्वके सञ्चालनमें आप परमेश्वरके किस हेतुकी कल्पना कर सकते हैं ?

११–कामका समय छोड़कर आपका मन हमेशा किस दशामें रहता है ? परमेश्वरके स्मरणमें रहता है या निर्विषय होता है अथवा ब्रह्मविषयक विचारोंमें लगा रहता है ? दोनों समयकी प्रार्थनामें क्या आपका मन भावावस्थामें रहता है ? अश्रुधारा बहना, या शरीर पुलकित होना, इसप्रकारका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई अनुभव आपको परमेश्वरका स्मरण करते हुए कभी होता है ?

१२-आप पुनर्जन्म किसप्रकार सिद्ध करते हैं ? कितने कारण आप दीजियेगा ?

१३-संगीत और चित्रकला सीखनेसे किन-किन गुणोंका विकास होता है ? विद्यार्थीके लिये इसका कितना परिचय आवश्यक है ?

अभी गीतासम्बन्धी अनेक प्रश्न पूछनेकी मेरी इच्छा है। पर इस बार तो यहीं समाप्त करता हूँ। × × ×

......के साष्टांग दण्डवत्

उत्तर

सात्याग्रह-आश्रम, साबरमती

चि०...............

बहुत समय हुआ, तुम्हारा पत्र संभालकर रख छोड़ा था। आज तो जवाब दिये ही देता हूँ।

१-ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ज्ञान-पूर्वक रागद्वेष-रहित होना और रहना। यही मोक्ष है।

२-जगत् मिथ्या है, अर्थात् ऐसा है, जो प्रतिक्षण बदलता रहता है।

३-प्रवाहपतित कर्म अर्थात् बिना खोजने गये हमारे पास आ जानेवाला यज्ञ-कर्म।

४-ज्ञान अर्थात् आत्माका अनुभव। कर्म अर्थात् उस अनुभवको पानेके लिये की जानेवाली चेष्टामात्र। यह कर्म जब श्रद्धापूर्वक होता है, तब वह भक्ति कही जाती है। ऐसे कर्ममें कुशलता और उससे पैदा होनेवाली समता योग है। ध्यान अर्थात् कर्ममें तन्मयता। इन अर्थोंके बतानेमें ही इनका परस्पर सम्बन्ध भी आ जाता है। और अगर यह कल्पना सच हो तो जीवनकी दृष्टिसे एक ही मनुष्य इनका उपयोग कर सकता है और करना उचित है।

५-बारहवें अध्यायके ९, १०, ११, १२ श्लोकोंका मैं इसप्रकार अर्थ करूँगा; यदि तू मुझमें भलीभाँति अपना चित्त स्थिर न कर सके तो अभ्यास अर्थात् वाचन आदि प्रयत्नोंद्वारा मुझे प्राप्त करना। यदि इसप्रकारके अभ्याससे भी न कर सके तो मेरे निमित्त कार्यपरायण बनना। अर्थात् जो भी कर्म करे वह इस भावनासे करना कि वह मुझे पानेके लिये ही है। ऐसा करनेसे तू सिद्धि पावेगा। मत्कर्म-परायण न हो सके तो जो कुछ भी कर्म करे, उसके फलका त्याग करना, क्योंकि कर्मके फलको छोड़नेसे अहंभावका नाश होगा, स्वभावतः सत्कर्म ही होंगे और ऐसा करते-करते चित्त-शुद्धि होगी ही अर्थात् भगवान्में चित्त स्थिर होगा। उक्त अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान अर्थात् आत्माविषयक निश्चय अधिक है, पर इस ज्ञानसे भी यदि आत्मामें सतत ध्यान रहा करे तो वह (ध्यान) विशेष है। परन्तु ऐसा ध्यान होते हुए भी यदि कर्ममें लोलुपता रहती हो तो कर्म-फल-त्याग ध्यानसे भी बढ़ जाता है, क्योंकि इस त्यागसे ही परम शान्ति मिलती है। इस जगह ज्ञानका अर्थ मेरी उस व्याख्यासे भिन्न किया गया है, जो मैंने ऊपर की है। इस ओर ध्यान दिलाता हूँ। यह जो अर्थ बताया है, इसके अतिरिक्त दूसरा अर्थ भी हो सकता है, पर मैं एक बात सीखा हूँ और वह यह कि यदि हम अपनी शान्तिके लिये आवश्यक सम्भाव्य अर्थ लगाकर उसपर डटे रहें और उसके अनुसार आचरण करना शुरू कर दें तो अनेक शंकाओंसे छूट जायँ और टीकाकारोंके झगड़ोंसे तथा बुद्धिवादोंसे अलिप्त रह सकें।

६-संन्यास और त्यागका भेद १८ वें अध्यायमें बताया ही है। पर गीताकी ध्वनि तो मुझे इन दोनोंमें अभेद ही सिखाती है। क्योंकि कर्म-फल-त्याग तो गीताका पहला और अन्तिम पाठ है। गीता सूत्ररूपसे गुँथा हुआ ग्रन्थ नहीं है, बल्कि एक ही वस्तुको अनेक प्रकारसे बतानेवाला ग्रन्थ है। उसमें उस समयके भिन्न-भिन्न प्रचलित मार्गोंके एकीकरणका प्रयत्न भी है। इस कारण गीताकी व्याख्याएँ भी कानूनकी व्याख्याओं-जैसी नहीं हैं, वे केवल मार्ग-दर्शक हैं।

७-दोनों कल्पनाओंमें जो अध्याहार हैं, यदि मैं उनकी पूर्ति कर सकूँ तो कहूँगा कि दोनों भक्तिमान् हैं और दोनों समान हैं। जो सेवा नहीं करता, ऐसा दिखायी पड़ता है, हो सकता है कि वह अपनी विचारशक्तिद्वारा सेवा करता हो। पर मैं ऐसे रोनेवालोंको भी जानता हूँ, जो अपनी कल्पनाके वशीभूत होकर ही बरतते हैं। पर मूलकी जाँच करने जायँ तो हमें उसमें शुद्ध ज्ञान नहीं मिलता, मात्र बाह्याचार ही मिलता है। इसलिये मैं स्वयं तो उसी कर्मको भक्ति कहूँगा जो सेवाके निमित्त श्रद्धापूर्वक किया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८—यह प्रश्न पूछने-जैसा तो नहीं था, पर पूछा गया है, इसलिये जवाब देता हूँ। जो मनुष्य स्वभावहीसे निर्विकार है, उसकी निर्विकारिता पूर्व-जन्मकी ऋणी है, और दूसरा जिसे निर्विकारिता कष्ट-साध्य है, उसे पहलेके पूर्व जन्ममें किये हुए प्रयत्न आज करने पड़ते हैं। तो अब कहो कौन किसे कितने गुण अधिक देगा ?

९—इस प्रश्नका उत्तर ८ वें प्रश्नके उत्तरमें आ जाता है।

१०—यह व्यक्त जगत् किसी-न-किसी रूपमें तो बना ही रहेगा। परमेश्वरके हेतुकी यदि हम शुद्ध रीतिसे कल्पना कर सकें, तो परमेश्वर ही बन जायँ; पर परमेश्वर तो कल्पनातीत है। यदि प्रत्येक आध्यात्मिक प्रश्नको हम बुद्धिद्वारा हल कर सकते होते तो श्रद्धाका काम ही क्या रहता ? इसी कारण आखिर थक-थका कर नरसिंह मेहताने गाया—'ब्रह्म लटकाँ करे ब्रह्म पासे'। इस उत्तरमें तुम मेरा उलाहना न पढ़ना, पर इसमें मेरी नम्रताको देखना, कल्पनाके घोड़े तो बहुत दौड़ाऊँ, एक समय दौड़ाता भी था, पर अब उसमें दिलचस्पी नहीं रही, अतएव शान्त बना हूँ। परमेश्वर विश्वका सञ्चालन क्यों करता है, इसे जाननेकी तुम्हें जबतक इच्छा होती रहेगी, तबतक तुम्हें कल्पनाके घोड़े पैदा करते ही रहना होगा। किसीकी कल्पना चुराकर या लूटकर हम शान्ति नहीं पा सकते, और इससे अस्तेय-व्रतका जो भंग होता है, सो अलग।

११—मेरा मन कामके समय और काम न हो तब भी परमेश्वरके ध्यानमें ही रहता है, आत्मा तो इसी बातकी साक्षी देती है; पर इस कथनमें शंका है, क्योंकि यदि यह बात बिल्कुल सच हो तो मुझे सब समय, सर्वथा निर्विकार होना चाहिये। यह रत्न अभी मुझे मिला नहीं है। पर यह होते हुए भी आत्माकी साक्षी तो मैं जो कह रहा हूँ, वही है। अतएव हम इस परिस्थितिको १२ वें अध्यायमें जैसे देख गये हैं, उस अभ्यासरूपमें पहचानें। प्रार्थनाके समय मेरी स्थिति कुछ हदतक ध्यानस्थ होती है। प्रार्थनाके श्लोक इत्यादिके अर्थमें मैं हमेशा जितना तन्मय रहना चाहता हूँ उतना नहीं रहता। भिन्न-भिन्न अवसरोंपर भिन्न-भिन्न भावोंका अनुभव करता हूँ। पर कर्म-फल-त्यागका पाठ सूक्ष्मतापूर्वक नहीं समझ चुका हूँ, इस कारण प्रार्थनाके समय भिन्न-भिन्न सेवा-कार्योंके विचार मूर्तिमन्त होकर दारुण युद्ध मचाते हैं। कभी-कभी जब भजनोंमें लीन होता हूँ, तब अश्रुधारा भी बहती है। पर ऐसे एक भी अनुभवमें विशेषताका आरोपण करनेकी आवश्यकता नहीं।

१२—पुनर्जन्म सिद्ध करनेके लिये एक ही कारण बस है। और वह दूसरे अध्यायमें दिया गया है। इस शरीरके पैदा होनेसे पहले आत्मा थी; इसलिये शरीर-नाशके बाद भी रहेगी, यह न हो तो शरीर ही आत्मा बन जाय। दूसरे सब कारण इस मूल कारणमेंसे स्थापित किये जा सकते हैं।

१३—संगीतसे ईश्वरका ध्यान आसानीके साथ हो सकता है। संगीत और चित्रकला समस्त विश्वकी एक भाषा है। विशेषकर संगीतसे कण्ठ खुलता है और चित्रकलासे हाथ और आँख खुलती है। भक्तिपरायणता सीखनेके लिये पर्याप्त, इतना इसका परिचय आवश्यक कहा जा सकता है।

और कुछ पूछना हो तो पूछना। इन उत्तरोंको समझनेमें तुम्हें मदद मिले, इसलिये तुम्हारा पत्र साथमें भेजता हूँ।× × ×'

बापूके आशीर्वाद

आकुलता !

छिपी वह कहाँ मधुर मुसकान।
तरस रहीं फिरसे ये अँखियाँ सुख-सागर रसखान॥
आकुल नैन विलोकत चहुँदिसि पीताम्बर फहरान।
पै नहिं दीसत पीताम्बर-धर छिन छिन तलफत प्रान॥
गुंज-मालकी हलनि न भूलति नैननकी वह सान।
कहा कहाँ मन खींचि लियो है प्रीतम प्रेम-निधान॥
अब न सतावहु सुरति करहु निज जन प्रतिपालनि बान।
निमिख निमिख हैं जुग सम बीतत देउ दरसको दान॥

—लक्ष्मणाचार्य वाणी भूषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

[मणि ९]

हे डोरूशंकर! पूर्वके अध्यायोंमें सगुण ब्रह्मकी उपासनासे देवयानमार्गरूप गति कही जा चुकी है। इस पाँचवें अध्यायमें पंचाग्नि-विद्यावाले गृहस्थकी और श्रद्धावान् तथा पंचाग्नि-विद्यासे अन्य सगुण विद्याओंमें निष्ठावाले ब्रह्मचारी आदिकी गतिका अनुवाद करके दक्षिण दिशासे सम्बन्ध रखनेवाले केवल कर्मकर्ताओंकी धूम आदि लक्षणवाली पुनरावृत्तिरूप दूसरी गति श्रुति कहेगी और इन दोनों गतियोंसे भिन्न अत्यन्त कष्टरूप तीसरी संसारकी गति वैराग्यके निमित्त श्रुति वर्णन करेगी। वाक् आदि इन्द्रियोंके साथ मिलकर प्राण कार्य करता है इसलिये प्राण भी वाक् आदिके समान ही है, फिर भी वाक् आदिमें प्राण श्रेष्ठ क्यों है? और उसकी उपासना किस प्रकार होती है? इस शंकाके निवारण करनेके लिये प्रथम श्रुति प्राणकी श्रेष्ठता आदि गुण दिखलानेके निमित्त प्राणोपासनाका फल इसप्रकार कहती है:—'जो अवस्थासे ज्येष्ठ और गुणोंसे श्रेष्ठको जानता है, वह निश्चय ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। वाक् आदि इन्द्रियोंमें प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो वसिष्ठ—अति धनवान्को जानता है, वह अपनी जातिवालोंमें अत्यन्त धनवान् होता है। उत्तम वाणीवाला अत्यन्त धन प्राप्त करता है इसलिये वाणी ही अत्यन्त धनवान् है। जो प्रतिष्ठा—स्थितिको जानता है, वह इसलोक और परलोकमें प्रतिष्ठा पाता है। चक्षुसे पुरुष सम और विषम स्थानोंमें स्थित होता है इसलिये चक्षु ही प्रतिष्ठा है। जो सम्पत्को जानता है, उसको स्वर्ग आदिके देव-सम्बन्धी विषय और पशु आदि मनुष्य-सम्बन्धी विषय प्राप्त होते हैं। श्रोत्रसे वेद तथा वेदके अर्थका विज्ञान ग्रहण किया जाता है, उसको ग्रहण करके प्राणी कर्म करता है और उस कर्मसे विषय प्राप्त होते हैं इसलिये श्रोत्र ही सम्पत् है। जो आश्रयको जानता है, वह अपनी जातिवालोंका आश्रय होता है। भोक्ताका प्रयोजन ज्ञानरूप विषयोंसे सिद्ध होता है और इन्द्रियाँ ज्ञानरूप विषयोंको प्राप्त करानेवाली हैं। ज्ञानरूप विषयोंका आश्रय मन है इसलिये मन ही प्रसिद्ध आश्रय है।' उपर्युक्त सब गुण मुख्य प्राणमें ही रहते हैं, वाणी आदि एक-एकमें नहीं रहते, इसी बातको श्रुति भगवती आख्यायिकाद्वारा सिद्ध करती है:—

'मैं श्रेष्ठ हूँ' 'मैं श्रेष्ठ हूँ' इसप्रकार कहती हुई अपनी श्रेष्ठताके विषयमें वाणी आदि इन्द्रियाँ विवाद करने लगीं और विवाद करती-करती अपनी श्रेष्ठता जाननेके लिये प्रजापतिरूप पिताके पास जाकर कहने लगीं, 'हे भगवन्! हममें श्रेष्ठ कौन है?' प्रजापतिने कहा 'हे इन्द्रियो! तुममेंसे जिस किसीके शरीरमेंसे निकल जानेपर शरीर अधिक पापिष्ठ (मुर्दा) दीखने लगे, वही तुममें सबसे श्रेष्ठ है।' प्रजापतिकी यह बात सुनकर प्रथम वाणी शरीरमेंसे निकली यानी वाणीने अपना व्यापार बन्द कर दिया, वह एक वर्षतक बाहर रही—एक वर्षतक वाणीने कोई व्यापार नहीं किया। एक वर्षके बाद लौटकर कहने लगी, 'हे इन्द्रियो! तुमने मेरे बिना किस प्रकार जीवन धारण किया था?' अन्य इन्द्रियाँ कहने लगीं, 'जैसे गूँगे प्राणी एक

३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाणीका उच्चारण न कर सकनेपर भी प्राणके द्वारा श्वास-प्रश्वास लेते हुए, चक्षुसे देखते हुए, कानोंसे सुनते हुए और मनसे मनन करते हुए जीते हैं, इसी प्रकार हमने भी जीवन धारण किया था।' यह सुनकर वाणीको निश्चय हो गया कि मैं इनमें मुख्य नहीं हूँ और वह शरीरमें फिर प्रवेश करके अपना व्यापार करने लगी। पश्चात् चक्षु शरीरमेंसे निकला। एक वर्षपर्यन्त बाहर रहा, तदनन्तर लौटकर आया और कहने लगा-'हे इन्द्रियो! तुमने मेरे बिना कैसे जीवन धारण किया था?' अन्य इन्द्रियाँ बोलीं-'जैसे अन्धोंको दीखता तो नहीं है परन्तु वे प्राणसे श्वास-प्रश्वास लेते हुए, वाणीसे बोलते हुए, कानोंसे सुनते हुए और मनसे मनन करते हुए जीते रहते हैं, इसी प्रकार हमने भी तेरे बिना जीवन धारण किया था।' यह बात सुनकर चक्षुको निश्चय हो गया कि मैं इनमें श्रेष्ठ नहीं हूँ और वह शरीरमें फिर प्रवेश करके अपना व्यापार करने लगा। पश्चात् श्रोत्र शरीरमेंसे निकला, साल भरतक बाहर रहकर लौट आया और कहने लगा-'हे इन्द्रियो! तुमने मेरे बिना कैसे जीवन धारण किया था?' अन्य इन्द्रियोंने कहा-'हे श्रोत्र! जैसे बहिरे प्राणी कानोंसे नहीं सुन सकते, परन्तु प्राणसे श्वास-प्रश्वास लेते हुए, वाणीसे बोलते हुए, चक्षुसे देखते हुए और मनसे मनन करते हुए अपना जीवन धारण करते हैं, इसी प्रकार हमने भी अपना जीवन धारण किया था।' यह सुनकर श्रोत्रको निश्चय हो गया कि मैं इनमें मुख्य नहीं हूँ और वह फिर शरीरमें प्रवेश करके अपना व्यापार करने लगा। पश्चात् मन शरीरमेंसे निकला, एक वर्षतक बाहर रहकर लौट आया और कहने लगा-'हे इन्द्रियो! तुमने मेरे बिना किसप्रकार जीवन धारण किया था?' अन्य इन्द्रियाँ बोलीं-'हे मन! जैसे बालकोंमें मनकी वृत्तिका अभाव होता है, अर्थात् जैसे अज्ञ बालक मनसे मनन करनेमें असमर्थ होकर भी प्राणसे श्वास-प्रश्वास लेते हुए, वाणीसे बोलते हुए, नेत्रोंसे देखते हुए और कानोंसे सुनते हुए जीते रहते हैं इसी प्रकार हमने भी जीवन धारण किया था।' यह सुनकर मनको निश्चय हो गया कि मैं इनमें मुख्य नहीं हूँ और वह फिर शरीरमें प्रवेश करके अपना व्यापार करने लगा।

वाक् आदि इन्द्रियाँ मुख्य नहीं हैं, इस बातका निश्चय हो जानेके बाद मुख्य प्राणने शरीरमेंसे निकलना चाहा, उसी समय जैसे एक बलवान् घोड़ा परीक्षा करनेके लिये चाबुक मारनेपर पैर बाँधनेके खूँटोंको उखाड़ डालता है उसी प्रकार निकलते हुए प्राणने वाक् आदि अन्य इन्द्रियोंको उखाड़ डाला। तब उन सबने एकत्र होकर प्राणसे कहा-'हे भगवन्! आप अपने स्थानपर जाकर स्थित हों, आप हम सबमें श्रेष्ठ हैं। इसलिये आप इस शरीरमेंसे उत्क्रमण न करें।' पश्चात् वाणी बोली-'हे प्राण! आप ही मुख्य हैं, मैं जो धनवान् हूँ, सो मेरा यह धनवान्पना आपका ही है।' चक्षुने कहा-'हे प्राण! आप ही हम सबमें मुख्य हैं, मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, वह प्रतिष्ठारूप आप ही हैं!' श्रोत्र बोला-'हे प्राण! मैं जो सम्पत् कहलाता हूँ, वह सम्पत् आप ही हैं!' मन बोला-'हे प्राण! मैं जो आश्रय हूँ, वह आश्रय आप ही हैं।' इसप्रकार वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मनने अपनेमें प्रतीत होनेवाले गुणोंको अपना न कहकर प्राणके ही गुण बताये। वाक् आदि इन्द्रियाँ प्राण बिना अपना व्यापार करनेमें स्वतन्त्र नहीं हैं इसलिये लौकिक अथवा शास्त्रज्ञ पुरुष, यह वाणी है, यह चक्षु हैं, यह श्रोत्र हैं, अथवा यह मन है, ऐसा नहीं कहते; किन्तु इनको प्राण-नामसे पुकारते हैं, क्योंकि इन सबकी मूलशक्ति प्राण ही है। इति प्रथम खण्ड।

पश्चात् मुख्य प्राणने कहा-'हे इन्द्रियो! मेरा अन्न क्या होगा?' वाक् आदि इन्द्रियाँ बोलीं-'हे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राण ! यह जो श्वानों और पक्षियों पर्यन्त प्राणियोंका अन्न है, वही आपका अन्न है।' 'अन्न' यानी चेष्टा करनेवाला, यह प्राणका प्रत्यक्ष और प्रसिद्ध नाम है। समस्त भूतोंमें स्थित और सकल अन्नका भक्षक प्राण मैं हूँ, ऐसा जो जानता है, उसको सब प्राणियोंका भक्ष्य भक्ष्य हो जाता है, उसको कुछ भी अभक्ष्य नहीं रहता।

तदनन्तर प्राणने कहा—'हे इन्द्रियो! मेरा वस्त्र क्या होगा?' वाक् आदि इन्द्रियाँ बोलीं—'हे प्राण! जल आपका वस्त्र है।' जल प्राणका वस्त्र है, इसीलिये भोजन करनेवाले और भोजन करते हुए विद्वान् भोजनसे पूर्व और पश्चात् मुख्य प्राणको जलसे आचमनरूप वस्त्र पहिनाते हैं, जो ऐसा जानता है, वह पहरनेके वस्त्रोंको पाता है और ओढ़नेके वस्त्रोंको भी पाता है, कभी नंगा नहीं रहता।

जबालाके पुत्र सत्यकामने इस प्राणोपासनाका उपदेश व्याघ्रपदके पुत्र गोश्रुतिको दिया और फिर कहा—'हे प्रियदर्शन! यदि कोई प्राणोपासनाका जाननेवाला सूखे ठूँठको भी इस प्राणोपासनाका उपदेश करे तो उस सूखे ठूँठमें भी निःसन्देह शाखाएँ निकल आवें और पत्ते आ जायँ, फिर यदि जीवधारी प्राणीको इसका उपदेश किया जाय तो उसको महाफलकी प्राप्ति हो, इसमें सन्देह ही क्या है?'

प्राणविद्याकी सिद्धि होनेपर यदि महत्त्व—प्रतिष्ठा पानेकी इच्छा हो तो अमावस्याके दिन दीक्षा लेकर भूमिमें सोना, दूध पीना, सत्य बोलना और ब्रह्मचर्यसे रहना, इत्यादि नियमोंका पालन करके पूर्णिमाकी रात्रिको सकल औषधियोंकी लुगदी बनाकर उसको दही और शहदमें मथकर आगे रख ले और 'ज्येष्ठाय स्वाहा' 'श्रेष्ठाय स्वाहा' 'वशिष्ठाय स्वाहा' 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' 'सम्पदे स्वाहा' 'आयतनाय स्वाहा' इन छओं मन्त्रोंमेंसे एक-एकको पढ़कर अग्निमें घीकी आहुति दे और स्रुवेमें लगा हुआ जो घी टपकता आवे उसको लुगदीमें टपका दे, पश्चात् अग्निके कुछ समीप जाकर पीठीको अञ्जलिमें लेकर इस मन्त्रको जपे :—'हे मन्थ! तू प्राण नामवाला है क्योंकि प्राणसहित सब जगत् तेरे अधीन है। तू ही ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, प्रकाशवान् और पालक है, ऐसा तू मुझे ज्येष्ठपना, श्रेष्ठपना, प्रकाशपना और पालकपना प्राप्त करवा। प्राणके समान मैं सर्व जगत्रूप हो जाऊँ।' पश्चात्—

'तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि॥'
(ऋ०, ५।८२।१)

इस मन्त्रके एक-एक पादसे मन्थके एक-एक ग्रासका भक्षण करे! 'तत्सवितुर्वृणीमहे' (मन्थरूप आदित्यके भोजनकी हम प्रार्थना करते हैं) इस पादको बोलकर एक ग्रास खाय। 'वयं देवस्य भोजनम्' (हम देवके भोजनको माँगते हैं) इस पादको बोलकर दूसरा ग्रास खाय। 'श्रेष्ठं सर्वधातमम्' (श्रेष्ठ और सबके धारण करनेवाले भोजनको माँगते हैं) इस पादको बोलकर तीसरा ग्रास खाय। 'तुरं भगस्य धीमहि' (सूर्यके स्वरूपका शीघ्र ध्यान करते हैं) इस पादको बोलकर कंस या चमस नामक पात्रको धोकर उस मन्थके समस्त लेपको पी जाय। फिर आचमन करके अग्निके पश्चिम भागमें पूर्वको मुख करके मृगचर्म पर अथवा खुली भूमिपर चुपचाप होकर और चित्तको वशमें करके यानी काम, क्रोधादिके वश न होकर शयन करे। यदि स्वप्नमें किसी स्त्री (शक्ति) को देखे तो समझले कि मेरा अनुष्ठान सफल हुआ। इस विषयमें यह मन्त्र है:—'काम्य कर्मोंके समय जब स्वप्नमें शक्तिरूपिणी स्त्रीका दर्शन हो तो उस स्वप्नको देखकर कर्मको सफल हुआ समझे।' इति दूसरा खण्ड।

इसप्रकार प्राण-विद्या और प्राण विद्याका अंग कर्म कहकर पञ्चाग्नि-विद्याका निरूपण करनेके लिये श्रुति आख्यायिका रचती है:—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालदेश-वासियोंकी सभामें गया। वहाँ जीवलके पुत्र प्रवाहणने कहा—'हे कुमार! क्या तुझे तेरे पिताने शिक्षा दी है?' श्वेतकेतुने कहा-'हाँ भगवन्! मेरे पिताने मुझे शिक्षा दी है।' प्रवाहण बोला-'हे श्वेतकेतु! यदि तूने अपने पितासे शिक्षा पायी है तो मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे। बता, मरनेके बाद प्रजाएँ इस लोकसे ऊपर कहाँ जाती हैं?' श्वेतकेतु बोला-'हे भगवन्! इस तत्त्वको मैं नहीं जानता।' प्रवाहण बोला-'जिस प्रकार प्रजाएँ लौटकर यहाँ आती हैं, क्या तू उस तत्त्वको जानता है?' श्वेतकेतुने कहा-'भगवन्! उसको भी मैं नहीं जानता।' प्रवाहण बोला-'उपासकों और कर्म करनेवालोंके दो मार्ग हैं, देवयान और पितृयान। मरनेके पश्चात् एक ही दशामें जानेवाले प्राणी अपने अपने कर्म-फल-भोगके अनुसार दोनों मार्गोंमें जानेके लिये अलग कहाँ-से होते हैं? क्या तू इस तत्त्वको जानता है?' श्वेतकेतु बोला-'हे भगवन्! मैं इसको भी नहीं जानता।' प्रवाहण बोला-'हे श्वेतकेतु! बहुत-से लोग मरकर पितृलोकको जाते हैं; जिस कारणसे पितृलोक बहुत-से मरनेवालोंसे भर नहीं जाता, क्या तू उस कारणको जानता है?' श्वेतकेतु बोला-'भगवन्! मैं नहीं जनता।' प्रवाहण फिर बोला-'हे श्वेतकेतु! जिस क्रमसे पाँचवीं आहुतिमें जलका पुरुष नाम हो जाता है, क्या तू उस क्रमको जानता है?' श्वेतकेतुने कहा-'हे भगवन्! मैं नहीं जानता।' राजा प्रवाहण बोला-'जब तू इतना भी नहीं जानता तो तूने कैसे कहा था कि मैंने अपने पितासे शिक्षा पायी है? जो इन बातोंको नहीं जानता, वह कैसे कह सकता है कि मैंने शिक्षा पायी है?' राजाके ऐसा कहनेपर श्वेतकेतुको बड़ा खेद हुआ और वह उसी समय लौटकर अपने पिताके स्थानपर आया और उनसे कहने लगा-'हे भगवन्! आपने समावर्त्तनके समय यथोचित उपदेश दिये बिना ही मुझसे कैसे कह दिया कि मैंने तुझे शिक्षा दे दी है? देखिये, जो क्षत्रियोंका भाई है यानी क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर भी जो क्षत्रियोंके-से काम नहीं करता, उस प्रवाहणने मुझसे पाँच प्रश्न किये थे। मैं उनमेंसे, एकका भी उत्तर न दे सका।' यह सुनकर श्वेतकेतुके पिताने कहा-'हे पुत्र! तूने आते ही मुझसे जो प्रश्न किये हैं, उनमेंसे एकको भी तेरे समान मैं भी नहीं जानता। यदि मैं जानता होता तो समावर्त्तनके समय तुझे क्यों नहीं बताता? अवश्य ही बताता।'

पश्चात् गौतम गोत्रवाले वह उद्दालक प्रवाहण राजाके यहाँ गये। राजाने उनको अपने घर आया हुआ जानकर आदर-सत्कारसहित उनकी पूजा की और यथायोग्य स्थानपर टिका दिया। दूसरे दिन उद्दालक प्रातःकालके समय सभामें बैठे हुए राजाके पास गये। राजा उनसे विनयपूर्वक कहने लगा-'हे गौतम गोत्रवाले उद्दालक! मनुष्योंके कार्यसाधक ग्राम आदि जिस किसी पदार्थकी भी आपकी इच्छा हो, वह पदार्थ आप मुझसे माँग लीजिये।' यह सुनकर उद्दालकने कहा-'हे राजन्! मनुष्योंकी उपयोगी अपनी सम्पदाको आप अपने ही पास रहने दें, आपने मेरे पुत्रसे जो पाँच प्रश्न किये थे, उन पाँचोंके उत्तर मुझसे कहिये।' उद्दालकके ऐसे वचन सुनकर राजा असमंजसमें पड़ गया और इसप्रकार विचार करने लगा-'इससे पहले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास नहीं गयी, अबतक इस विद्याको क्षत्रिय ही जानते हैं, अब यह विद्या ब्राह्मणोंको कैसे दूँ? क्षत्रियको ब्राह्मणका गुरु बनना भी उचित नहीं है, परन्तु ब्राह्मणोंको निषेध करना भी ठीक नहीं। क्षत्रिय ब्राह्मणका गुरु नहीं बन सकता, फिर भी ब्राह्मणको क्षत्रिय दान दे सकता है इसलिये ब्राह्मणको इस विद्याका दान मुझे देना चाहिये।' ऐसा विचारकर राजाने गौतमको एक वर्षतक अपने यहाँ ठहराया और पश्चात् उस विद्याका उपदेश दिया। इति तीसरा खण्ड।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नक्रम त्यागकर अर्थक्रमका आश्रय करके राजा पाँचवें प्रश्नका उत्तर इसप्रकार देने लगा:—

हे गौतम! स्वर्गलोक प्रथम अग्नि है, आदित्यसे स्वर्ग दीप्तिमान होता है इसलिये स्वर्गरूप अग्निको दीप्त करनेवाला आदित्य स्वर्गरूप अग्निका काष्ठ है। चारों ओर फैलनेवाली आदित्यकी किरणें स्वर्गरूप अग्निका धुआँ है। दिन इस अग्निकी उदय होकर अस्त हो जानेवाली लपट है। चन्द्रमा इसका दहकता हुआ अंगार है और नक्षत्र इसकी चिनगारियाँ हैं। इस अग्निमें देवता यानी यजमानकी इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके देवता श्रद्धाका होम करते हैं, यानी अग्निहोत्रकी आहुतियोंके परिणाम की अवस्थारूप सूक्ष्म जलका होम करते हैं। इस आहुतिसे स्वर्गरूप अग्निमें होमे हुए जलोंके परिणामसे राजा सोम उत्पन्न होता है यानी सूक्ष्म जलके साथ यजमान सम्बन्धवाला होता है और स्वर्गमें प्रवेश करता हुआ चन्द्रमाके समान जलसे रचे हुए शरीरवाला हो जाता है, यही चन्द्रमाका उत्पन्न होना है।' इति चौथा खण्ड।

पर्जन्यरूप अग्निमें होमा हुआ वह चन्द्रमा वृष्टिरूपमें परिणत होता है, यह बात राजा कहता है:—'हे गौतम! पर्जन्य यानी वर्षाकी सामग्रीका अभिमानी देवता दूसरा अग्नि है। वायु उसका काष्ठ है, बादल धूम है, बिजली ज्वाला है, वज्र अँगार है और गर्जनाएँ चिनगारियाँ हैं, ऐसे इस अग्निमें चन्द्ररूपमें परिणत हुए सूक्ष्म जलको देवता होमते हैं, उस आहुतिसे वर्षा होती है।' इति पाँचवाँ खण्ड।

इसप्रकार उत्पन्न हुई वर्षा इस लोकमें अन्नरूपसे परिणत होती है, यह बात राजा कहता है:—'हे गौतम! पृथिवी ही तीसरा अग्नि है। संवत्सर उसका काष्ठ है, आकाश धूम है, रात्रि लपट है, दिशाएँ अंगार हैं और उपदिशाएँ चिनगारियाँ हैं। इस पृथिवीरूप अग्निमें देवता वर्षाकी आहुति छोड़ते हैं, उस आहुतिसे अन्न उत्पन्न होता है।' इति छठा खण्ड।

'हे गौतम! यह पुरुष ही चौथा अग्नि है। वाणी उसकी समिधा यानी काष्ठ है, प्राण धूम है, जीभ ज्वाला है, नेत्र अंगार है और कान चिनगारियाँ हैं। इस अग्निमें देवता अन्नकी आहुति छोड़ते हैं और उस आहुतिसे वीर्य उत्पन्न होता है।' इति सातवाँ खण्ड।

'हे गौतम! स्त्री पाँचवाँ अग्नि है। उपस्थ समिधा है, रति सम्भाषण धूम है, योनि ज्वाला है, संगम अंगार है और आनन्द चिनगारियाँ हैं। इस अग्निमें देवता वीर्यका होम करते हैं और उस आहुतिके छोड़नेसे गर्भ होता है।' इति आठवाँ खण्ड।

अब आवागमनवाले जीवको अग्निमेंसे ही उत्पत्ति होती है और अन्तमें वह अग्निमें ही लीन हो जाता है, इस बातको दिखानेके लिये राजा कहता है:—'इसप्रकार पाँचवीं आहुतिमें जलका पुरुष नाम हो जाता है।' यहाँतक पाँचवें प्रश्नका उत्तर कहा, अब पहले प्रश्नका उत्तर कहते हैं:— 'वह गर्भमें झिल्लीसे लिपटा हुआ नौ या दश मासतक माताके पेटके भीतर शयन करता रहता है और वहाँ सब अवयव पुष्ट हो जानेपर जन्म लेता है। जन्म लेकर कर्मभोगके अनुकूल जितना आयु प्राप्त होता है, उतने कालपर्यन्त जीवित रहता है और उस जीवनकालमें यदि वह वैदिक कर्म अथवा उपासनाका अधिकारी हुआ होता है तो मरनेके पीछे उस मृत जीवको कर्मसे निश्चय किये हुए परलोकमें भेजनेके लिये अपने निवासस्थानसे ऋत्विज या पुत्र अग्निमें और्ध्वदैहिक कर्म करनेके लिये ले जाते हैं। जल आदि आहुतियोंके क्रमसे अग्निमेंसे ही आया है और जिन पाँच अग्नियोंमेंसे आया है, उन्हीं अपनी कारण अग्नियोंको वह प्राप्त होता है।' इति नवाँ खण्ड।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब दूसरे, तीसरे और चौथे प्रश्नका उत्तर राजा कहता है:—जो गृहस्थ इसप्रकार पञ्चाग्नि-विद्याको जानते हैं और जो नैष्ठिक-ब्रह्मचारी वानप्रस्थ तथा त्रिदण्डी संन्यासी वनमें रहकर श्रद्धापूर्वक तप करते हैं, जो सत्य भाषण करते हैं तथा हिरण्यगर्भकी उपासना करते हैं, वे सूर्यकी किरणोंके अभिमानी अर्चि-देवताको प्राप्त होते हैं। अर्चिसे दिनके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। दिनके देवतासे शुक्लपक्षके देवताको प्राप्त होते हैं और शुक्लपक्षके देवतासे छः महीने उत्तरायणके देवताको प्राप्त होते हैं। उन मासोंके देवतासे संवत्सरके देवताको प्राप्त होते हैं। संवत्सरके देवतासे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे बिजलीको प्राप्त होते हैं। वहाँ अमानव दिव्य पुरुष आता है, वह उन उपासकोंको ब्रह्माके समीप ले जाता है, यही देवयान मार्ग है।'

'जो गृहस्थ ग्राममें रहकर इष्ट यानी अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म, पूर्त्त यानी कूप, बावड़ी, तालाब, बाग आदि लगाना और दत्त यानी वेदीसे बाहर दान देना, इत्यादिका अनुष्ठान करते हैं, वे धूमके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। धूमसे रात्रिके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। रात्रिसे कृष्णपक्षके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं और कृष्णपक्षसे छः मास दक्षिणायनके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। ये कर्म करनेवाले संवत्सरको नहीं प्राप्त होते किन्तु दक्षिणायन छः मासोंसे पितृलोकको प्राप्त होते हैं, पितृलोकसे आकाशको प्राप्त होते हैं और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। अन्तरिक्षमें जो सोम नामक ब्राह्मणोंका राजा दीखता है, वही चन्द्रमा है। यह चन्द्रमा देवताओंका अन्न यानी भोगका साधन है। चन्द्रलोकमें जानेवाले उपासकको देवता भक्षण करते हैं यानी उससे अपनी सेवा कराते हैं। सेवारूप उपभोगमें लगना ही देवताओंका भक्षण है। चन्द्रमण्डलमें फल देनेवाले कर्मोंकी समाप्तिपर्यन्त उपासक वहाँ निवास करते हैं और जब कर्मफलकी समाप्ति हो जाती है तब उपासक वहाँसे लौटा दिये जाते हैं। लौटनेमें क्रम उलटा होता है यानी चन्द्र-लोकसे उपासक आकाशमें आता है, आकाशसे वायुको प्राप्त होता है, वायुसे धूमयुक्त हो मेघमें आता है और मेघसे युक्त हुआ वह समुद्र आदिसे भिन्न देशोंमें बरसता है—पृथिवीपर आकर वह जीव धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल अथवा उड़द आदिके साथ सम्बन्धवाला होता है। यहाँसे निकलना बहुत ही कठिन होता है। जब वीर्य-सिञ्चन करनेवाला पुरुष इस जीवसंयुक्त अन्नको खाता है तब जीव पुरुषके शरीरमें आता है और जब वह पुरुष ऋतुकालमें स्त्रीमें वीर्य-सिञ्चन करता है तब वह जीव उन पुरुष-स्त्रीकी आकृतिवाला उत्पन्न होता है।'

'उन धान्य आदिके साथ सम्बन्धको प्राप्त होनेवालोंमें जो शेष कर्मवाले जीव इस जगत्में शुभ आचरण करते हैं, वे क्रूरता आदिसे रहित रमणीय योनिको प्राप्त होते हैं यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य-योनिको अपने कर्मानुसार प्राप्त होते हैं। यह फल उनको शीघ्र ही मिल जाता है। और उनमें जो अशुभ कर्मवाले होते हैं वे धर्म-सम्बन्धसे रहित अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं यानी श्वानकी, शूकरकी अथवा चाण्डालकी योनिको प्राप्त होते हैं। यह फल उनको अपने कर्मानुसार शीघ्र ही प्राप्त होता है।'

'जो इन दोनों मार्गोंसे किसी एक मार्गसे भी नहीं जाते वे बारम्बार जन्मते, मरते, तुच्छ जन्तु होते रहते हैं। सर्वेश्वर उन जन्तुओंको प्रेरणा करता है कि जन्म लेते और मरते रहो। उपर्युक्त दोनों मार्गोंसे विलक्षण यह तीसरा मार्ग है। ये जीव चन्द्रलोकको भी नहीं प्राप्त होते इसलिये चन्द्रलोक भरता नहीं है, क्योंकि पापी जीव तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहाँ जाते ही नहीं और पुण्यात्मा अपने पुण्यकर्मका फल भोगकर लौट आते हैं। संसारकी ऐसी कष्टमयी गति देखकर इससे बचनेका विचार करो।'

'पञ्चाग्नि-विद्याकी स्तुतिमें यह मन्त्र है:—सोना चुरानेवाला, मद्य पीनेवाला, गुरु-स्त्री-गमन करनेवाला और ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला ये चारों पतित हो जाते हैं और इन चारोंके साथ व्यवहार करनेवाला पाँचवाँ भी पतित होता है परन्तु जो इन पाँच अग्नियोंको इसप्रकार जानता है वह उन महापापियोंके साथ व्यवहार करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता। जो पाँच प्रश्नोंसे पूछे हुए विषयको इसप्रकार जानता है, वह शुद्ध, पवित्र और प्राजापत्य आदि पवित्र लोकोंवाला होता है।' इति दशवाँ खण्ड।

'दक्षिण-मार्गसे जानेवाले देवताओंके अन्न यानी भोग्य बनते हैं और क्षुद्र जन्तुओंको अति कष्टप्रद संसारगति प्राप्त होती है इसलिये इन दोनों दोषोंकी निवृत्तिके लिये और अन्ताभावको प्राप्त होनेके लिये वैश्वानरकी उपासना श्रुति कहती है और यह उपासना सरल रीतिसे समझानेके लिये आख्यायिका रचती है:—

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवका पौत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्वका पुत्र बुडिल ये पाँचों महागृहस्थ, श्रवण-अध्ययन करनेवाले तथा सदाचारी और महाश्रोत्रिय थे। ये सब एकत्र होकर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है? इन सब पूज्य ऋषियोंने विचार तो किया परन्तु कुछ निश्चय न कर सके। तब उन्होंने दूसरे उपदेष्टाके पास जानेका निश्चय किया और आपसमें कहने लगे—'यह अरुणिका पुत्र उद्दालक इस समय आत्मारूप वैश्वानरको सम्यक् प्रकारसे जानता है, यदि सम्मति हो तो हम सब उसके पास चलें। सबकी सम्मति हुई और वे सब उद्दालकके पास गये।

उद्दालक उनको देखते ही उनके आनेका प्रयोजन जान गया और विचार करने लगा—'ये महागृहस्थ महाश्रोत्रिय मुझसे प्रश्न पूछेंगे और मैं इनको पूरा-पूरा उत्तर न दे सकूँगा इसलिये यही अच्छा है कि मैं इन्हें दूसरेको बता दूँ।' ऐसा विचारकर उद्दालक उनसे कहने लगा—'हे पूज्य मुनियो! आप अवश्य ही मुझसे कुछ प्रश्न करने आये होंगे, परन्तु आजकल केकयका पुत्र अश्वपति आत्मरूप वैश्वानरको भली-भाँति जानता है। यदि सम्मति हो तो हम सब उसके पास चलें।' सबकी सम्मति हुई और सब एकत्र होकर उस अश्वपतिके पास गये।

राजा अश्वपतिने उन आये हुए अतिथियोंकी पुरोहित और दासोंसे अलग-अलग पूजा करवायी। दूसरे दिन राजा प्रातःकाल सोकर उठा और उनके पास जाकर कहने लगा—'हे मुनियो! आप मुझसे कुछ धन लीजिये।' मुनि कुछ न बोले। राजाने समझा कि ये मुझे दुराचारी समझते हैं इसलिये मेरा धन नहीं लेते। ऐसा विचारकर वह कहने लगा—'हे मुनियो! मेरे देशमें कोई चोर नहीं है, ऐसा कोई धनी मेरे देशमें नहीं है जो दान न करता हो, ब्राह्मणोंमें कोई मद्य पीनेवाला नहीं है। गौओंवाला होकर अग्निहोत्र न करनेवाला कोई द्विज नहीं है। अपने-अपने अधिकारके अनुसार विद्या न पढ़ी हो, ऐसा कोई नहीं है। कोई व्यभिचारी पुरुष मेरे देशमें नहीं है। जब कोई पुरुष ही व्यभिचारी नहीं तो स्त्री तो व्यभिचारिणी हो ही कहाँसे? फिर आप मेरा धन क्यों नहीं लेते?' मुनि फिर कुछ न बोले। राजा मनमें ऐसा विचारकर कि कहीं थोड़ा धन होनेके कारण न लेते हों, फिर कहने लगा—'हे भगवन्! आजकल मैं यज्ञके अनुष्ठानमें लग रहा हूँ, उस यज्ञमें मैं एक-एक ऋत्विजको जितना-जितना धन दूँगा, उतना ही आपमेंसे भी प्रत्येकको दूँगा। हे भगवन्! ठहरिये और मेरे यज्ञको देखिये।' मुनियोंने कहा—'हे राजन्! पुरुष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस प्रयोजनके लिये जिसके पास जाय, उस प्रयोजनको ही उससे कहे, यह शिष्ट पुरुषोंका नियम है, हमारी इच्छा वैश्वानरका ज्ञान प्राप्त करनेकी है और इस समयमें आप उस वैश्वानरको भली प्रकार जानते हैं, इसलिये आप हमको वैश्वानरका स्वरूप समझाइये।' राजा बोला—'हे मुनियो! कल प्रातःकालके समय मैं आपको इसका उत्तर दूँगा।' राजाकी यह बात सुनकर मुनि अपने-अपने स्थानपर चले गये और दूसरे दिन अभिमान त्यागकर समिधा लिये दोपहरसे पहले विनयके साथ राजाके पास गये, राजाने उनसे अपने चरणोंमें प्रणाम नहीं करवाया और वैश्वानरका तत्त्व उनके सामने इसप्रकार वर्णन करने लगा। इति ग्यारहवाँ खण्ड।

राजा—हे उपमन्युकुमार! आप किस आत्माकी उपासना करते हैं?

प्राचीनशाल—हे पूजनीय राजन्! मैं स्वर्गलोकरूप वैश्वानरकी उपासना करता हूँ।

राजा—आप जिस स्वर्गलोक नामक वैश्वानरकी उपासना करते हैं, वह तो परमतेजस्वी आत्माका एक अंश है, इसकी उपासनाके कारण ही आपके कुलमें सुत यानी एक दिनके यज्ञमेंका निकाला हुआ सोमलताका रस, प्रसुत यानी दो सौ बारह दिन पर्यन्तके यज्ञमेंका निकाला हुआ सोमलताका रस और प्रासुत यानी तेरह सौ वर्ष पर्यन्तके यज्ञमेंका निकाला हुआ सोमलताका रस देखनेमें आता है। तात्पर्य यह है कि आपके कुलमें बड़े-बड़े कर्मनिष्ठ पुरुष देखनेमें आते हैं अथवा इस उपासनाके कारणसे आपके कुलमें सुत यानी पुत्र, प्रसुत यानी पौत्र, और प्रासुत यानी प्रपौत्र देखनेमें आते हैं। इसी कारण आप प्रदीप्त अग्निवाले होकर अन्नका भोजन करते हैं और पुत्र, पौत्र आदि प्रियजनोंको देखते हैं, जो इसप्रकार इस आत्मारूप वैश्वानरकी उपासना करता है, वह प्रदीप्त अग्निवाला होकर अन्नका भोजन करता है और पुत्र, पौत्र आदि प्रियजनोंका मुख देखता है तथा उसके कुलमें कर्मेष्ठीरूप ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होती है, परन्तु यह स्वर्गलोक नामक वैश्वानर आत्माका शिर यानी एक देश है। यदि आप मेरे पास न आकर समस्त बुद्धिसे इस एक देशकी उपासनामें ही तत्पर रहते तो इस उपासनासे आपका मस्तक गिर पड़ता। इति बारहवाँ खण्ड। (क्रमशः)

चेतावनी

(१)

जिसने दिया है जन्म उसे ही भुलाया तूने ,
तुझको न प्राप्त होगा सुख स्वप्नमें कहीं।
खाता ठोकरें फिरेगा बात कोई पूछेगा न ,
होगा अपमान तेरा जायेगा जहाँ तहीं॥
देगा न सहायता विपत्तिमें भी कोई तुझे ,
जहाँ खड़ा होगा तू बजेंगी तालियाँ वहीं।
कष्ट गर्भवासका उठाता ही रहेगा सदा ,
उच्च 'विष्णु' पदको तू पायेगा कभी नहीं॥

(२)

गर्भयंत्रणासे त्रस्त होके जो करार तूने ,
उदरदरीमें किया था उसे तू पूरा कर।
देख सोच ले अभी नहीं हुई है हानि कुछ ,
इस नर-देह-रत्नको न घास-कूड़ा कर॥
कर्म करनेके हेतु आया कर्मभूमिमें है ,
शुद्ध-बुद्ध होके मत काम तू अधूरा कर।
'विष्णु' ने जो बुद्धि तुझे दी है काम ले उसीसे ,
मूढ़तासे महल ढहाके मत घूरा कर॥

—गंगाविष्णु पाण्डेय विद्याभूषण 'विष्णु'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी)

(पूर्व प्रकाशितसे आगे)

महेन्द्रनाथ गुप्त

महेन्द्रनाथ ब्राह्मसमाजके अनुयायी थे और कलकत्तेमें विद्यासागर हाई स्कूल-के हेडमाष्टर थे। यह गृहस्थ थे, और अपने परिवारसहित कलकत्तेमें ही रहा करते थे। मार्च सन् १८८२ में अकस्मात् ठाकुरसे इनकी भेंट हुई। रानी राशमणिके बगीचेमें घूमते-घूमते इन्होंने ठाकुरको कमरेमें बैठे देखा। यह वहाँ गये और प्रणाम कर बैठ गये। बातें करते-करते श्रीरामकृष्णने पूछा कि 'भगवान्की साकार तथा निराकार अवस्थामेंसे तुम्हें कौन-सी अच्छी लगती है ?' महेन्द्रबाबूने कहा 'निराकार।' ठाकुरने कहा कि 'एक आदर्शपर दृढ़तासे चले जाना श्रेष्ठ है। निराकार भगवान्का चिन्तन भी अच्छा है। परन्तु यह धारणा न बनी रहे कि परमेश्वरकी केवल यही अवस्था सत्य है। क्योंकि भगवान् निराकार भी हैं और साकार भी। तुम्हें जो प्रिय हो उसीपर आरूढ़ रहो।' महेन्द्रको यह बात सुनकर आश्चर्य हुआ, क्योंकि उन्होंने भगवान्की दो अवस्थाओंका होना पहले कभी नहीं सुना था। पश्चात् महेन्द्र और ठाकुरमें इस प्रकार बातें होने लगीं—

महेन्द्र-मान भी लें कि भगवान् निराकार और साकार दोनों हैं, परन्तु वह मिट्टीकी मूर्त्ति तो कभी नहीं हो सकते ?

ठाकुर-मिट्टीकी मूर्त्तिमें तो वे अवश्य नहीं हैं, वे चैतन्यज्ञानघन हैं।

महेन्द्र-इसलिये हमें मूर्त्तिपूजक लोगोंको बता देना चाहिये कि भगवान् मूर्त्ति नहीं हैं, उन लोगों-को मूर्त्तिमें विद्यमान ईश्वरको पूजना चाहिये।

ठाकुर-वाह ! आजकलके लोगोंका यह फैशन हो गया है कि वह दूसरोंको उपदेश देनेमें बड़े चतुर बनते हैं। पहले स्वयं अपनेको उपदेश दो, पीछे दूसरोंको शिक्षा दो। भगवान्ने ही यह सारी सृष्टि उत्पन्न की है, यह सब उन्हींकी विभूति है, वही इस चराचर जगत्के रक्षक तथा शिक्षक हैं, उन्होंने प्रजाके लिये यह सब कुछ रचा है। क्या वह उनकी शिक्षाकी ओरसे अवहेलना करेंगे ? वह सबके अन्तर्यामी हैं। यदि मनुष्य मूर्त्तिको पूजते हैं तो क्या वह उनके हृदयके भावको नहीं जानते कि वह उन्हींकी आराधना करते हैं ? तुम दूसरोंकी चिन्ता न करो, अपनी चिन्ता करो, भक्ति और ज्ञान प्राप्त करनेकी कोशिश करो।

ठाकुरके इन वचनोंसे महेन्द्रका हृदय जाग्रत हो उठा और उनका दूसरोंको शिक्षा देनेका घमण्ड नष्ट हो गया, अहङ्काररूपी पिशाच भाग गया और तबसे फिर कभी उन्होंने ठाकुरसे तर्क-वितर्क नहीं किया।

ठाकुर-तुम मूर्त्ति-पूजाकी बात कह रहे थे। ईश्वरने ही अनेक प्रकारकी उपासनाके मार्ग भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी प्रकृतियोंके अनुसार निर्माण किये हैं। माता बच्चोंको उनकी पाचन शक्ति तथा रुचिके अनुकूल ही भोजन बनाकर देती है।

महेन्द्र-ठाकुर ! मनुष्यका मन परमेश्वरमें किस तरह लग सकता है ?

ठाकुर-साधकको सदैव उनके नाम और गुणोंका कीर्तन करना चाहिये। सत्संगमें रहना चाहिये। कुसंगसे सदा दूर रहना चाहिये, क्योंकि कुसंग मनको विक्षिप्त करता है। कभी-कभी एकान्त-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास कर भजन ध्यान करना भी आवश्यक है। इन साधनोंके बिना भगवान्‌में प्रीति होना महा कठिन है।

महेन्द्र-महाराज ! गृहस्थोंको संसारमें कैसे रहना चाहिये ?

ठाकुर-अपने गृहस्थ-धर्मोंका पालन करो, परन्तु मन ईश्वरमें लगाये रक्खो। अपने परिवारका पालन करो, परन्तु परिवारमें सबको परमेश्वरहीकी विभूति समझो, उनमेंसे अपना ममत्व हटा लो। जैसे दासी मालिकके बच्चोंसे प्रीति तो रखती है परन्तु वह सदैव इस बातको याद रखती है कि यह उसके नहीं हैं। यदि जगत्‌के पदार्थोंमें मन फँसाये रक्खोगे तो मन उनमें अधिकाधिक फँसेगा और तुम परमेश्वरको भूल जाओगे। भक्तिरूपी तेल हाथमें लगाकर यदि विषयरूपी कटहलको काटोगे तो उसका वासनारूपी दूध तुम्हारे हाथोंमें न चिपटेगा। भक्तिकी प्राप्ति एकान्तवाससे हो सकती है। जगत् जलकी भाँति है और मन दूधके समान; जब दोनों मिल जाते हैं तो साधारण मनुष्यके लिये उन्हें अलग-अलग करना असम्भव है। मनको विषयोंसे अलग रखनेका उपाय यह है कि पहले दूधका दही जमाकर उससे मक्खन निकाल लो, फिर चाहे सदैव ही उस माखनको पानीमें क्यों न डुबाये रक्खो, फिर वह उसमें घुलमिल नहीं सकता। इसी तरह पहले ज्ञान और भक्तिका माखन तैयार करके तब संसारके पदार्थोंको भोगो, फिर आसक्ति न रहेगी। यह भी सदैव ध्यानमें रखना चाहिये कि कामिनी और काञ्चन असत्य पदार्थ हैं। केवल भगवान् ही एक सत्य वस्तु हैं। इसीका नाम विवेक है।

महेन्द्र-महाशय ! क्या भगवान्‌का साक्षात्कार होना सम्भव है ?

ठाकुर-निःसन्देह !

महेन्द्र-भगवान्‌के दर्शन किस प्रकार हो सकते हैं ?

ठाकुर-कोई शुद्ध हृदयसे रो-रोकर उन्हें पुकारे तो उसे उनके दर्शन अवश्य होंगे। मनुष्य धन-स्त्री-पुत्रके लिये अधीर हो रो-रोकर जीवनमें आँखोंसे घड़ों पानी बहा देते हैं, परन्तु ईश्वरके लिये कौन रोता है ? उनके दर्शनकी उत्कण्ठा ज्यों-ज्यों तीव्र होती जायगी त्यों-ही-त्यों तुम सफलताकी ओर बढ़ते जाओगे। अतः सब कमनाओंको त्यागकर केवल उनके दर्शनकी ही कामना करो। सब सांसारिक पदार्थोंकी लालसा छोड़कर उनसे मिलनेकी ही लालसा रक्खो, तब उनके दर्शन होंगे।

ठाकुरके इस वचनामृतको सुनकर महेन्द्रका हृदय शान्त और सन्तुष्ट हो गया। वह घर जाकर ठाकुरका ही चिन्तन करते रहे। श्रीरामकृष्णसे मिलकर महेन्द्रको जो आनन्द मिला, इससे उन्हें ठाकुरसे मिलनेकी उत्कण्ठा बढ़ती गयी और समय-समयपर वह उनके पास जाने लगे। कलकत्तेमें भी जब कभी वह ठाकुरके आनेकी खबर पाते तो अवश्य वहाँ जाते। अब वह ठाकुरके अन्तरङ्ग शिष्योंमें शामिल हो गये, ठाकुर भी उनके साथ बड़े प्रेमका बर्ताव करने लगे। महेन्द्रने ठाकुरके वचनोंको लिखना आरम्भ कर दिया। सत्संगमें ठाकुर जो कुछ कहते उसको वह लिख लिया करते थे। इन्हीं महानुभावके परिश्रम और दूरदर्शिताका फल है कि आज अनेक सज्जनोंको ठाकुरकी आध्यात्मिक वाणीका लाभ प्राप्त हो रहा है। 'श्रीरामकृष्ण-कथामृत' नामकी बंगला-भाषाकी पुस्तकें चार जिल्दोंमें इस समय प्राप्य हैं तथा उन्हींका भावार्थ कुछ संक्षेपमें दो जिल्दोंमें अंग्रेजी भाषामें भी छपा हुआ है जिसका नाम Gospel of Sri Ram-Krishna है।

पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागरसे वार्तालाप

श्रीरामकृष्णने बचपनसे ही विद्यासागर महाशयका नाम तथा उनके अनेक गुणोंकी चर्चा सुनी थी, इसलिये उनसे मिलनेकी इच्छासे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५ अगस्त सन् १८८२ को कुछ शिष्योंको साथ लेकर वह कलकत्ते गये। उनके घर पहुँचनेपर पण्डितजीने उनका स्वागत किया और कुछ मिष्ठान्न उनके सामने रक्खा जो उन्होंने शिष्योंके सहित खा लिया। तत्पश्चात् ठाकुरमें और उनमें इसप्रकार बात-चीत हुई—

ठाकुर—आज मैंने सागरका दर्शन किया; अबतक तो नदी-नाले ही देखे थे, परन्तु आज सागरके देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

विद्यासागर—महाशय! यहाँसे तो आपको खारा पानी ही मिल सकेगा

ठाकुर—नहीं नहीं, आप विद्याके सागर हैं, अविद्याके नहीं!

विद्यासागर—आपकी जो इच्छा हो सो कहिये।

ठाकुर—आप जो कर्म करते हैं वह सात्त्विक हैं, निष्काम हैं, क्योंकि दया सत्त्वगुणसे ही उत्पन्न होती है। जो काम दया-भावसे किये जाते हैं, राजसिक होते हुए भी वह सत्त्वगुणसे उत्पन्न होते हैं। शुकदेव आदि महात्माओंने लोक-कल्याणके लिये ही सांसारिक जीवोंको ब्रह्मोपदेश दिया था। आप लोगोंको विद्या और भोजन-दान दे रहे हैं। यह भगवत्प्राप्तिके साधन हैं और आप तो सिद्ध-पुरुष ही हैं।

विद्यासागर—महाराज! मैं सिद्ध कैसे हूँ?

ठाकुर—आलू, बैंगन आदि तरकारियाँ सिद्ध होनेपर नरम हो जाती हैं। (यह नरमी ही सिद्धका लक्षण है) आपका हृदय दयाके प्रभावसे कोमल है।

विद्यासागर—परन्तु कुछ चीजें सिद्ध होनेसे उल्टी सख्त हो जाती हैं, जैसे दालकी पीठी।

ठाकुर—नहीं नहीं, आप उस तरहके नहीं हैं। विषयासक्ति अविद्यासे पैदा होती है और दया, भक्ति तथा वैराग्य विद्यासे। ब्रह्म, विद्या और अविद्या दोनोंसे परे है। वह अनिर्वचनीय है। वेद, पुराणादि शास्त्र उच्चारण किये जानेसे उच्छिष्ट हो गये हैं। एक ब्रह्म ही ऐसी वस्तु है जिसका आजतक जिह्वासे उच्चारण नहीं किया जा सका कि वह क्या है।

विद्यासागर—आज मैंने बिलकुल नयी बात सुनी है।

ठाकुर—लोग समझते हैं कि हमने ब्रह्मको जान लिया, परन्तु वह यह नहीं जानते कि ब्रह्म मन-वाणीका विषय नहीं। वह अगोचर है, अनिर्वचनीय है। समाधि अवस्थामें ही उसका अनुभव होता है जब कि मन-बुद्धि शान्त हो जाते हैं। ब्रह्मका यथार्थ वर्णन शब्दोंसे नहीं किया जा सकता। नमककी पुतली समुद्रकी थाह लेने जलमें घुसी और घुसकर जलहीमें घुल-मिल गयी एवं अभिन्न हो गयी। अब थाह कौन ले?

उपस्थित लोगोंमेंसे एकने पूछा—क्या योगी समाधिके पीछे ब्रह्मका वर्णन नहीं कर सकता?

ठाकुर—शंकराचार्यने मनुष्योंको शिक्षा देनेके लिये थोड़ा-सा शुद्ध सात्त्विक अहंकार रख छोड़ा था, इसी कारण वह उपदेश दे सके। ब्रह्मसाक्षात्-कारके बाद मनुष्य मौन रहता है, क्योंकि बुद्धिका कार्य तभीतक रहता है जबतक साक्षात्कार नहीं हुआ। घी जबतक पूर्णरूपसे नहीं पक जाता तबतक बोलता है, पकनेपर शान्त हो जाता ह। पूरी छोड़नेसे फिर बोलने लगता है, पूरी पक जानेपर फिर शान्त हो जाता है। घड़ा जबतक पूरा नहीं भर जाता तभीतक शब्द करता है। भर जानेपर शब्द बन्द हो जाता है, परन्तु जब उसमेंसे किसी दूसरे बरतनमें पानी डालो तो फिर शब्द होने लगता है। इसी प्रकार अनुभवसिद्ध योगीकी अवस्था है। समाधिसे नीचे उतर कर लोक-शिक्षाके निमित्त योगीको कुछ बोलना पड़ता है। (फिर ठाकुर उस ब्रह्मवित् पुरुषकी दशा बतलाने लगे) ब्रह्मवित् समस्त जगत्‌को ब्रह्मका ही रूपान्तर देखता है। सब धर्म-मार्ग सत्य हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान्‌ने पृथक्-पृथक् मनुष्योंको न्यूनाधिक शक्ति दी है। चींटीसे ब्रह्मापर्यन्त सबमें ईश्वर विराजमान हैं। परन्तु किसीमें उनका विकास थोड़ा है, किसीमें ज्यादा। कोई एक आदमी दसको पछाड़ सकता है, तो दूसरा एकहीसे डरकर भाग जाता है। ऐसा न होता तो जनता आपका इतना मान न करती, क्या आपके सिरपर सींग लगे हैं? आपमें दया है, विद्या है, दूसरोंमें इतनी बात नहीं। इसीसे आपका सम्मान है। ठीक है न?'

विद्यासागर उत्तरमें मुसकरा पड़े।

ठाकुर–केवल विद्या कण्ठ कर लेनेसे कुछ लाभ नहीं, ईश्वर-प्राप्तिके लिये ही पुस्तकोंका पढ़ना है। केवल गीता पढ़नेसे पूरा लाभ नहीं जबतक वैराग्य प्राप्त कर ब्रह्मका साक्षात्कार करनेकी चेष्टा न की जाय। गृहस्थ हो वा संन्यासी, सभीको मनसे विषयासक्ति निकालनी होगी; तब ध्येयकी प्राप्ति होगी। समाधिके पीछे भी योगीको भक्तिकी ज़रूरत है। अहंभाव समाधिमें तो लीन हो जाता है परन्तु पीछे वह फिर आ घेरता है। यह अहङ्कार बड़ा प्रबल है, जबतक यह नष्ट नहीं होता, तबतक जीवके दुःखोंका अन्त नहीं होता। बैल 'हम, हम' किया करता है, गाड़ीमें जुतता है, हलमें जोता जाता है और अनेक कष्ट भोगता है, परन्तु 'हम, हम' करना नहीं छोड़ता। मरे पीछे चमार उसके चामसे जूते बनाते हैं, ढोल मँढ़ते हैं, तब वह बे-दरदीसे पीटा जाता है। फिर भी उसके दुःखोंका अन्त नहीं होता जबतक कि उसकी आँतोंसे ताँत नहीं खींची जाती। जब वह धुनकीमें लगाया हुआ 'तुँहुँ-तुँहुँ' करने लगता है तब कहीं उसे छुटकारा मिलता है। रामने हनुमान्‌से पूछा कि 'तू मुझे क्या समझता है।' हनुमान्‌ने कहा कि 'हे राम! जबतक मुझमें अहङ्कार है तबतक मैं तुम्हें अंशी और अपनेको अंश मानता हूँ, तुम सेव्य हो, मैं सेवक।' परम ज्ञानकी अवस्थामें 'तू मैं हूँ' और 'मैं तू है' ऐसा अनुभव होता है। कोई भी बुद्धि-बलसे उसे जान नहीं सकता। दास्यभावसे भगवान्‌की आराधना करो और सर्वस्व ही उनको सौंप दो।

फिर ठाकुरने विद्यासागरसे पूछा कि 'आपका भाव कैसा है?'

विद्यासागर-(मुसकराते हुए) किसी दिन एकान्तमें आपसे कहूँगा।

श्रीरामकृष्ण–परमेश्वरको कोई अपने विद्या, बुद्धिबलसे नहीं पा सकता। षट्दर्शनोंकी भी वहाँतक पहुँच नहीं। इसके लिये तो श्रद्धा और भक्ति ही चाहिये। (यह कहते-कहते ठाकुर भजन गाने लगे और गाते-गाते समाधिस्थ हो गये, ईश्वरचन्द्र यह घटना देखकर आश्चर्यमें पड़ गये। फिर समाधिसे उतर कर ठाकुर बोले) ब्रह्म और मायामें अभेद है। उन्हें प्राप्त करनेके लिये केवल प्रेम ही चाहिये। यदि किसीके हृदयमें भक्ति और प्रेम है तो उसे वैध पूजन आदि उपचारोंकी जरूरत नहीं। पंखेकी तभीतक जरूरत है जबतक हवा नहीं चलती। आप अच्छे परोपकारके कामोंमें लगे हुए हैं। यदि सब कर्म निष्कामभावसे किये जायँ तो उससे ईश्वरमें प्रेम बढ़ने लगता है, इस तरह वह भगवान्‌के साक्षात्कार करनेका अधिकारी बन जाता है। जितनी ही भक्ति बढ़ती जायगी उतने ही कर्म कम होते जायँगे। मनुष्य कर्म करके संसारका क्या भला कर सकता है? सब कुछ भगवान्‌हीके हाथमें है। परन्तु निष्काम बुद्धिसे कर्म करना जीवके लिये उपयोगी है। आगे बढ़े चलो। एक लकड़हारा जंगलमें लकड़ीकी तलाशमें गया। एक साधुने उससे कहा कि 'आगे बढ़ा चला जा, चन्दनके पेड़ोंको पाकर वहीं न ठहर जाना।' लकड़हारेको चलते-चलते चन्दनके वृक्ष मिले, परन्तु साधुकी बातपर विश्वास कर वह बढ़ता ही गया तो उसे चाँदीकी खान मिली, और आगे गया तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोनेकी खानतक पहुँच गया, और आगे गया तो हीरे-जवाहरातकी खान मिली। जिसे पाकर वह बड़ा धनी बन गया। इसीप्रकार धृति और उत्साहसे निष्काम कर्म करते-करते ईश्वर-भक्ति प्राप्त होती है और परमात्माकी कृपासे उसे स्वयं परात्पर ब्रह्मकी उपलब्धि हो जाती है। इस तरह वह भगवान्का दर्शन करता है और उनसे वैसे ही बातचीत करता है जैसे मैं आपलोगोंसे बातें कर रहा हूँ।

यह तत्त्वकी बातें सुनकर श्रोतागण मुग्ध हो गये। तत्पश्चात् ठाकुर विदा हो शिष्योंसहित दक्षिणेश्वर चले गये। (क्रमशः)

स्वामी युगलानन्यशरणजीका वचनामृत

(पूर्व प्रकाशितसे आगे)

७१-फिर सन्तने पूछा, कि मायाका वृक्ष कौन है? अरु जड़ कौन है? उत्तर दिया, कि वृक्ष बामा है, नारीसे भिन्न पदार्थ सब साखा है, पेड़के गहे सब साखा प्राप्त हो जाती है, पेड़ बिना साखा सूख जाती है। दूसरा दृष्टान्त सुनो, दीपक, अरु प्रकाश, दीपक नारी है, स्पर्श किये दग्ध करती है। प्रकाश; अन्य पदार्थ गरममात्र है। सर्वदा बामासे बचे रक्षा है। पटल दोनों हैं। लघु-दीर्घका भेद है।

७२-जैसे सती स्त्री अपना कन्त मानिके संग जलती है, प्राणसहित सर्व पदार्थ त्याग करती है। ऐसे ही जीवको अपने प्रभु स्वामीके प्रेम ऊपर न्यौछावर हो जाना चाहिये।

७३-प्रेम परमेश्वरका सखा है। जीवोंका उद्धार प्रेमके हाथसे स्थापन किया है। जिन-जिन पुरुषोंने प्रेमका अञ्चल पकड़ा है, सोई भवसागरसे पार उतरे हैं। जो-जो जीव प्रेम-संग किये हैं तिनको अटकावता भी कोई नहीं। सो प्रभु कर-कञ्जमें प्राप्त भये हैं।

७४-किसी सन्तसे सन्तने पूछा, कि १ यती, २ धीरज, ३ सन्तोष, ४ विराग और ५ सेवकाईका क्या स्वरूप है? स्पष्ट कृपा करके कहिये। सन्तने कहा, आठ प्रकारके काम त्यागे तब यति, यथार्थ है, यथा—१ नारी सम्बन्धी विषय-वार्ता श्रवण-कीर्तन, २ रूप-चिन्तवन, ३ सम्भाषण, ४ सुमिरन, ५ गुप्त वार्ता, ६ हास, ७ रति, ८ स्पर्श। आठहु नहीं होय तब यति यथार्थ। धीरज चार प्रकारके जानो, प्रथम क्रोध करनेवालेसे क्रोध न करना, तन मनसे कोप न करना—मनका क्रोध यह है कि भीतरसे शाप देना, सो सन्तनको उचित नहीं। भीतर-बाहर सीतल रहे। दूजे धीरज यह है कि मान-अपमानमें सम मति राखनी। तीसरा धीरज यह है, यह मनमें न लावै कि हमने साधन बहुत किया, प्रभुने आशा पूरी न करी, ताते साधनका त्याग करता हौं। यह बात समझना मूढ़पना है, साधन न त्यागै कबहूँ, काहेते कि परमेश्वर तो सदा वेपरवाही हैं। पाप-पुन्य दोनोंसे अलेप हैं। जीव जो कुछ करै सो अपनी भलाईके लिये करै, प्रभु मंगलमय एकरस हैं। जीवके ज्ञान-अज्ञानसे रहित हैं। अज्ञानद्वारे चौरासी दुःख, ज्ञान द्वारे परमानन्द जीव ही पावेगा, ताते प्रभु-कथित साधन करै, सब संकट सहिके पड़ा रहे, प्रभु रीझैगा। चौथा धीरज सुनो, ज्ञानी अथवा अज्ञानी, जो साँचा वचन कहे तिसे मनमें विचारिके धारण करै, विवाद न करै, जो वाद करैगा, तो अपनी जिज्ञासाका बीज नाश करैगा, जैसे वैद्य रोगीको औषध देवे, रोगी उसपर क्रोध करै, तौ रोगी मर जाता है। जैसे लोहार लोहेको तापके पीटता है जो लोहा बिलरि जाता है तिसकी आरसी नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनती, जो सिमटा रहता है तिसका सब कुछ बनता है। तैसे ही असन्त सन्त तब होता है, जब वचन सहारन करे। सन्तोषका स्वरूप सुनो। तीनों लोकका सम्पदा दुःखरूप जानना, देखिके प्रसन्न न होना, परम सन्तोष है। मोद मानना महा आत्महन दोष है। ब्रह्मानन्दसागरमें सन्त मगन हैं। प्राप्त, अप्राप्त, सम मानते हैं, राग-द्वेषहीन हृदय हैं। वैराग्य कहिये, प्रभु बिना औरके साथ प्रेम, रतिमात्र न होय। जाते एक मनमें दो प्रीति असम्भव है। इसपर एक वार्ता है। एक गृहस्थ सन्त प्रभुका प्यारा था, सो अपने दूध पीनेवाले बच्चेसे एक बार प्यार किया, तब पुत्रके द्वारा प्रभुने उपदेश किया, पुत्र बोला, 'हे पिताजी ! बड़ा आश्चर्य है ?' पिता बोले, 'कौन आश्चर्य ?' पुत्रने पूछा, 'मन एक है ?' पिताने कहा 'एक है।' पुत्रने कहा 'तब दो प्यार कैसे सम्भवें, मेरे साथ प्रेम करता है, और परमेश्वर-साथ प्रीति करता है ? दो प्रीति एक मनमें कैसे समाती है ? इस रहस्यको बिचारो।' तब पिताने जाना, कि पुत्रके द्वारा प्रभु प्रणतपाल, मुझको उपदेश करता है, लड़केके योग्य यह बात नहीं। सन्त जबतक जीवता रहा, तबतक प्रभु बिना सबसे मौन करि रहा। इसको चोट कहते हैं। पञ्चम दासताका स्वरूप सुनो। अपनेको शुद्ध परब्रह्मका अंश मानै, देहादिक सृष्टि मिथ्या मानै, तब सेवाधिकारी होयगा। आत्मा, अनात्माका विवेचन करता रहै। जैसे भूसीसे चावल भिन्न है, ऐसे ही आपको भिन्न मानै। फिर प्रभुमें आपको लीन करि देवै, प्रभु ही रहै।

७५-सन्तजन सदा अचल-अडोल सागर सम महागम्भीर-धीर हैं, जो पर्वत, तरु, पाषाण मुखसे बोलिके प्रशंसा करैं, तौ भी हर्ष नहीं होते, अपने स्वरूपमें स्थित हैं। निन्दामें दुख नहीं, जैसा आपको समुझे हैं, तिसमें मगन हैं। जब जड़के कहे खुश नहीं, तौ चेतनकी कहा कथा है ? विश्वके मानको भूत दीपक सम चञ्चल दुखद मानते हैं। सन्तकी उपमा लायक कोई पदार्थ नहीं है दोनों लोकोंमें।

७६-जौन जीव दासभाव धारा है, सो प्रभुते सहायता चाहा है और जो अभिमान ग्रहण किया है, सो मानो प्रभुसों वैर किया है। काहेसे कि परमेश्वर दासोंकी सदा रक्षा, सहाय करता आया है और अभिमानियोंका क्षय करता आया है।

७७-श्रीसदनजीका जन्म बकर-कसाईके घर हुआ था। एक बकरा रोज मारते रहे। उसीको बेचिके जीविका करते थे। जब उद्धारका समय आया, तब प्रभुने चमत्कार चरित्र देखाय दिया। उस नगरका राजा रहा, तिसकी रानी गर्भवती रही। रानीका मन रात्रिके समय मांसपर चला, तब राजाने सदनजीके घर मांसार्थ सिपाही भेजा। उसदिन एकादशी रही। सदनजीके घर एक बकरा रहा, सदनजी उसके अण्डकोष काटनेकी इच्छा करी। क्योंकि एकादशीके दिन कोई और मांस नहीं लेगा। ताते, गला न काटा। अण्डकोष जब छुरीसे काटने लगा, तब बकरा बहुत हँसा। और कहा कि—मेरा तेरा व्यवहार गर्दन काटनेका इकहत्तर सौ जन्मसे चला आता है—परस्पर, अब तू नयी रीति करता है। दोनों दुखी होवेंगे।

इस बातके सुनते ही सदनजी महाभय पाया। छुरी फेंक दिया, विचारा कि इस बकरेके भीतरसे प्रभु परेशने मुझे उपदेश दिया, सदनजी उसी समय अहिंसाव्रत धारण कर सन्तोंके शरण जाय, आरत समेत वचन सुनाया। पापोंका प्रायश्चित्त पूछा। सन्तोंने कहा, कि जैसे तुम जीवोंको दुख दिया है, तैसे ही दीन-दुखी जीवोंकी सेवा कर, तब पुनीत होयगा ? तब श्रीसदनजी, उस नगरमें अन्धा, पँगुला, कोढ़ी, रोगी, जो मिलैं तिनको अपने घरमें लायके बन्धुसे अधिक भोजन, वस्त्रसे सबकी सेवा करैं, सबकी प्रसन्नता लेवैं। पशु, पक्षी सबकी सेवा करैं। सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाँतिसे उन सबकी आशिष लेवैं। याही भाँति सदनजी, कृतार्थ हो गये। उत्तम पद पाइ गये। सब पाप प्रभुने क्षमा किया। सन्त पूजनीय भये। ऋद्धि, सिद्धि, मुक्ति सब आधीन होती भयी।

७६-प्रभु-भक्तनको चाहिये कि यह छः गुण सदा धारण करैं। प्रथम यह मनको सदा अपने वश राखे रहैं, यह महा नीच, ठग, चोर है। दैवी सम्पत्तिको चोराया करता है। दूजे अपने मौतको सदा हाजिर देखै। तब आवश्यक पयान परलोकका बिलोकिके राह-खर्च बनावेगा। तीसरे यह कि प्रभु-अनुकूल कर्म करे, जिसमें महाराज रीझैं। प्रतिकूल कर्मसे संसृति ताप सदा सहैगा। चौथा परमात्माको प्रगट देखै, तब नीच आचरण न करैगा। पञ्चम, दृष्टि पदार्थमें मोह न करै, जिसके प्रभावसे परब्रह्ममें मिलेगा। छठा, सुखसे दुःखको श्रेष्ठ मानै, तब संसारके दुःखसे रहित होयगा। यह छः बात प्रभु-भक्तनको सदा मनन करना चाहिये।

७६-जिज्ञासुओंको मन और प्रभुसे सदा डरना चाहिये। मनकी खोटी गति है और प्रभु बेपरवाह हैं। ताते दोनोंते डरे। मनका भय यह है कि कुपन्थमें चलने न देवे, प्रभुका भय यह है कि निरहंकार रहना। अहंकारके फुरे मायाग्रसित करेगी, ताते दीनतासहित बहुत डरता रहे। दृष्टान्त, जैसे घृतके सहित मिठाई शोभनीक होती है, ऐसे ही भयसमेत सुमिरन है।

प्रेम-विह्वला गोपियाँ

उनकी ही रहीं प्रिय प्रेम-लता, जिनकी जग-जाहिर जोतिनियाँ।
'रज' नाम अकाम सकाम सदा तिनकी हिय-हारकी मोतिनियाँ॥
उपदेस लियौ तबहीं सबने बनि नेह-निवासिनि तोतिनियाँ।
अब ऊधव, हैं हम मोहनकी बिन पाँखनि प्रेम-कपोतिनियाँ॥

ब्रजमें जब गोकुलचन्द रहे, तबहूँ बिहरीं बनि जामिनियाँ।
घनस्याम छये छबिसों जबलों, तबलों दमकीं बनि दामिनियाँ॥
जिनकों 'रज' उद्धव, ब्रह्म कहौ उनकी हम हैं सब भामिनियाँ।
अब मोहन मूरति हीय रही अरु भानु-सुता प्रिय-स्वामिनियाँ॥

जनि कोउ हमैं इमि छेड़हु जू, हम तौ अब नीरस जोगिनियाँ।
'रज' भागकी बात कहैं किनसों, हम हैं निज भागकी भोगिनियाँ॥
रस-रास लह्यौ, उपहास सह्यौ, बनिकैं अलि स्याम-सँजोगिनियाँ।
अबला सबला अब ना, हम तौ ब्रजराजकी प्रेम-बियोगिनियाँ॥

चंद्रभानुसिंह 'रज' (दीवान बहादुर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेरी महिमा

तिहारी महिमा अपरंपार !

'नेति नेति' नित निगम निरूपै, को पावै प्रभु पार ?
पाहनपै पंकज बिगसावौ, स्रवौ अनल रस-धार ।
मरुथलपै सृजि सुधा-सरोवर, सरसावौ सुख-सार ॥
अधरम छेदि धरम-धुज रोपौ, हरौ सकल भू-भार ।
चितै तिहारी कृपा-कोर जन गावत मंगलचार ॥

—वियोगी हरि

सबसे बड़ा कौन है ?

(लेखिका-बहिन जयदेवीजी)

श्रेय-साधिका बहिनोंने संयुक्तप्रान्तमें कुछ समय हुआ 'सञ्जीवनी मण्डली' नामकी एक सभा कठिन प्रश्नोंका निर्णय करनेके लिये स्थापित की थी । सबसे बड़ा कौन है, इस बातका निर्णय करनेके लिये एक दिन सभा बैठी और सभानेत्री सञ्जीवनी इसप्रकार भाषण देने लगी।

सञ्जीवनी—हे बहिनो ! परमेश्वरने ब्रह्माण्डको परतन्त्र बनाया है। ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त कोई प्राणी भी स्वतन्त्र नहीं है, एक परमेश्वर ही स्वतन्त्र है। बच्चा माता-पिताके अधीन होता है, माता-पिता राजाके अधीन होते हैं, राजा प्रजाके अधीन होता है, प्रजाकी परतन्त्रताका तो कुछ कहना ही नहीं है, प्रजाके तो छोटे-बड़े बहुतसे स्वामी होते ही हैं। कहावत भी है कि 'भेड़ जहाँ जायगी मुँड़ेगी।' शरीरधारी स्वतन्त्र नहीं हो सकता । यदि कोई संसारभरको जीत ले, तो भी क्षुधा और मृत्युके अधीन तो उसे भी रहना ही पड़ेगा ! मृत्यु एक-न-एक दिन सबको खा जाती है। राजा-रंक, छोटा-बड़ा कोई भी मृत्युके मुखसे नहीं बच सकता, देर-सबेर सभीको मृत्युका ग्रास बनना पड़ता है। मृत्युसे बढ़कर क्षुधा है। जब देखो तभी सामने खड़ी दिखायी देती है। इसीसे तो वेदमें क्षुधाको मृत्यु कहा है। एक जाटका यह कथन ठीक ही है कि 'मौतसे तो भूख बड़ी, साँझ निवारि सवेरे खड़ी !' लोकोक्ति भी है—'इन पेटोंने जग जीते । रात भरे पर दिन रीते ।' सारांश यह है कि मृत्यु और क्षुधा सबके पीछे लग रही हैं, इसलिये सारा संसार दुखी है। इन दोनोंसे छूटे बिना कोई सुखी स्वतन्त्र नहीं हो सकता, और स्वतन्त्र हुए बिना सुखी नहीं हो सकता । 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' पराधीन कभी सुखी नहीं हो सकता। जो सबसे बड़ा होता है, वही स्वतन्त्र होता है, जो स्वतन्त्रका संग करता है, वह भी स्वतन्त्र हो जाता है 'जैसा संग वैसा रंग।' श्रुति कहती है—'जिसकी उपासना करता है, वही हो जाता है।' गीतामें भी भगवान्‌का वचन है—'जो जैसे मुझको भजते हैं, वैसे ही मैं उनको भजता हूँ ।' इसलिये आज हमको विचारना चाहिये कि सबसे बड़ा कौन है, जिसकी उपासना करके हम भी वैसे ही होकर स्वतन्त्र हो जायँ ! आप सब बहनें अपनी-अपनी सम्मति दें। इतना स्मरण रहे कि आपका कथन श्रुति और युक्तिके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुकूल होना चाहिये, क्योंकि मनुष्यकी बुद्धि तुच्छ है। तुच्छ बुद्धिका समझा हुआ सिद्धान्त यथार्थ नहीं होता, श्रुति-युक्तिसे समझा हुआ ही यथार्थ होता है।

सभानेत्री सञ्जीवनीकी यह बात सुनकर सब बहिनें एकाग्र मनसे विचार करने लगीं, थोड़ी देर बाद वसुन्धरादेवी बोली—

वसुन्धरा-हे बहिनो! मेरी तुच्छ बुद्धिसे तो पृथ्वी सबसे बड़ी है, पृथ्वीने सब चराचर प्राणियोंको धारण कर रक्खा है, प्राणियोंको ही नहीं, बड़े-बड़े वृक्षों, पर्वतों, नदियों और सागरोंको भी धारण कर रक्खा है। पृथ्वीसे अन्न उत्पन्न होता है, जिसको खाकर पशु, पक्षी और मनुष्य जीते हैं, अन्नसे ही रज-वीर्य बनते हैं, जिनसे सब स्त्री-पुरुषोंकी उत्पत्ति है। पृथ्वी न हो, तो कोई प्राणी रह ही न सके, इसलिये पृथ्वी सबसे बड़ी है। श्रुतिमें भी पृथ्वीको सब भूतोंका रस कहा है, इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी ही सबसे बड़ी है और वही पूज्य है।

वसुन्धरा देवीकी बात सुनकर अनन्तभामा कहने लगी—

अनन्तभामा-हे बहिनो! सब भूतोंको धारण करनेसे पृथ्वी बड़ी है, यह तो ठीक ही है, परन्तु पृथ्वीको तो शेष भगवान्‌ने अपने फणोंपर धारण कर रक्खा है। यदि शेष भगवान् पृथ्वीको छोड़ दें तो वह तुरन्त रसातलको चली जाय और उसीके साथ सब जीव भी चले जायँ। इसलिये पृथ्वीसे शेषजी बड़े हैं और वे ही पूज्य हैं। अनन्त-चौदसको भारतमें उनका पूजन होता भी है। श्रुतिमें भी कहा है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

अनन्तभामाकी इस बातको सुनकर उमादेवी उसका खण्डन करती हुई बोली—

उमादेवी-बहिनो! पृथ्वीको धारण करनेसे शेषनाग बड़े हैं, यह तो ठीक है परन्तु रुद्र भगवान् तो शेषनाग-जैसे अनेक सर्प, वासुकी, तक्षक आदिको अपनी भुजा और गलेमें लटकाये रहते हैं। इसलिये रुद्र भगवान् ही बड़े और पूज्य हैं। शिव-चतुर्दशीको शिव-भक्त उनका तीन-तीन अभिषेकद्वारा पूजन किया करते हैं, व्रत रखते हैं और जागरण करते हैं। रुद्रीमें रुद्रकी महिमा प्रसिद्ध है।

उमादेवीके चुप होनेपर कैलाशीबाई कहने लगी—

कैलाशीबाई-बहिनो! शिवजी बड़े और पूज्य हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, परन्तु आधेयसे आधार बड़ा होता है, यह विद्वानोंका मत है। शिवजी कैलाशके एक कोनेमें अथवा एक टीलेपर रहा करते हैं। कैलाश उनसे कई गुणा बड़ा है। कैलाशके कारणसे ही शिवजी कैलाशनाथ कहलाते हैं, कैलाश न हो तो शिवजीको कैलाशनाथ कौन कहे? अतएव कैलाश ही बड़ा और पूज्य है।

कैलाशीबाईकी बात सरस्वतीदेवीको न रुची, वह इसप्रकार भाषण देने लगी—

सरस्वतीदेवी-बहिनो! कैलाश बड़ा है, यह बात मानी, परन्तु कैलाश ब्रह्माण्डका एक अंश ही तो है। ब्रह्माण्डभरको उत्पन्न करनेवाले ब्रह्माजी हैं, इसलिये वे ही सबसे बड़े और पूज्य हैं।

सरस्वतीदेवीकी इस बातको काटनेके लिये रमादेवी कहने लगी—

रमादेवी-बहिनो! ब्रह्माजी सृष्टिकर्ता होनेसे बड़े हैं, यह बात मान्य है, परन्तु ब्रह्माजी तो विष्णु भगवान्‌की नाभि-कमलसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये विष्णु भगवान् ही बड़े और पूज्य हैं। पितामहका पूजन पितासे पहले करना चाहिये, विष्णु भगवान् जगत्-कर्ता ब्रह्माके भी कर्ता हैं, इसलिये वे ही सबसे बड़े और पूजनीय हैं।

रमादेवीके व्याख्यानके बाद सरलादेवीने अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरला—बहिनों ! विष्णु भगवान् सबसे बड़े हैं, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। सबके उत्पत्ति, स्थिति और लयकर्ता भगवान् ही हैं; फिर बड़े और पूज्य क्यों न हों ? अवश्य ही वे सर्वश्रेष्ठ और पूज्य हैं, फिर भी मेरी तुच्छ बुद्धिमें ऐसा आता है और ऐसा ही शास्त्रोंसे मैंने निश्चय किया है कि भगवत्से भी भगवद्भक्त बड़े हैं। कारण यह है कि भगवान् तो एक स्थानपर मिलते हैं और उनका मिलना भी सहज नहीं है, करोड़ों जन्मोंके पुण्यसे किसी विरलेहीको उनकी प्राप्ति होती है और वह प्राप्ति भी भक्तोंद्वारा ही होती है। भगवद्भक्त सब स्थानोंपर मिलते हैं, नमस्कार करनेमात्रसे ही प्रसन्न हो जाते हैं और शीघ्र ही भगवत्की प्राप्ति करा देते हैं। भक्तोंके हृदयमें भगवत् वास करते हैं और भगवान्का स्वयं वचन है कि मैं भक्तोंके अधीन हूँ, इसलिये भगवत्को अपने हृदयमें बसानेवाले और दूसरोंको भगवत्-प्राप्ति करानेवाले भगवद्भक्त ही बड़े हैं। उन्हें ही हम सबको पूजना चाहिये।

सरला देवीकी युक्तियुक्त मार्मिक वाणी सुनकर सब बहिनें 'साधु' 'साधु' कहने लगीं। पश्चात् सभानेत्री सञ्जीवनीबाई भक्तोंकी महिमा इसप्रकार गाने लगी—

सञ्जीवनी-बहिनो ! सरला बहिनका कथन सर्वाङ्ग युक्त है। विद्वानोंका वचन है कि चिन्तामणिसे इस लोकका सुख प्राप्त होता है, कल्पवृक्ष स्वर्ग-सुख देता है परन्तु भगवद्भक्त तो प्रसन्न होकर अचल विष्णु-पदकी प्राप्ति करवा देते हैं। भक्तोंकी महिमा अपार है, मैं उसका दिग्दर्शनमात्र आपके कर्णगोचर करती हूँ, सुनिये—

भक्तोंकी महिमा

परमात्मा परम आनन्दरूप है, चिन्मय है, नित्य है, निर्मल है, स्वरूपावस्थितिरूप है, नित्यधाम है, परसे पर है, और परम तीर्थ है। जिस शिवस्वरूप योगीन्द्रका सेवन मनुष्यको परमतीर्थमें ले जाता है, वह भक्त सर्वदा सेवन करने योग्य है, क्योंकि ऐसा भक्त महातीर्थस्वरूप है। भक्तके चरणकमलके रजसे तीर्थ पवित्र होते हैं, जगत् पवित्र होता है और भक्तोंके दर्शन, स्पर्श, सेवन आदिसे मनुष्य सर्वदा ही पावन होते हैं। भक्तके चित्तमें श्रीकृष्ण वास करते हैं, जनार्दनके चित्तमें भक्त निवास करता है, जिस पुरुषको परम शान्तिकी इच्छा हो, उसको चाहिये कि भक्तोंका समागम करे। भक्तोंका हृदयरूप क्षेत्र मुकुन्द भगवान्का प्यारा मन्दिर है। भक्तोंके हृदयमें भगवान् प्रेम-लीलारूप विनोद किया करते हैं। ब्रह्मकी महिमा दिन-रात भक्तमें भासती है। सत् शास्त्रोंका व्याख्यान-रूप भक्तोंका शुद्ध कर्म यानी जीवन है। परब्रह्म बहुत ही सूक्ष्म होनेसे अभक्त पुरुषोंके लिये दुर्विज्ञेय है,—कठिनाईसे जाननेमें आता है, वही दुर्विज्ञेय ब्रह्म भक्तके देहसे प्रकाशित होता है, इसीलिये भक्तोंका संग सर्वदा मुक्तिका देनेवाला है। 'यह अपना है' 'यह पराया है' इसप्रकारका भाव भक्तमें कभी भी नहीं होता, उसकी दृष्टिमें सभी कुछ ब्रह्ममय है। समस्त वसुधा भक्तका कुटुम्ब है। भक्तकी कृपा-वर्षा प्राज्ञ और जड़के ऊपर समान ही होती है, क्योंकि भक्त समदर्शी होते हैं। उनके लिये प्राज्ञ और जड़ समान ही हैं। चतुर पुरुषोंको चाहिये कि श्रद्धासहित नम्र-बुद्धिसे भक्तकी कृपाको भोगें। भक्तोंकी कृपा परमकल्याण करने-वाली है। जैसे सूर्यपुत्री यमुना परमपावनी जाह्नवीमें मिलती है, इसी प्रकार मुक्तिकी कामना-वाले विद्वान् परम उत्साहसे भक्तोंका समागम करते हैं। भक्तोंका दर्शन, भक्तोंका स्पर्श, भक्तोंको भोजन कराके भोजन करना, भक्तोंको भक्तिपूर्वक नमस्कार करना और भक्तोंका सेवन, ये सब महा-भयके नाश करनेवाले हैं, भक्तोंको सिर झुकाकर नमस्कार करे और भक्तिपूर्वक उपहार निवेदन करे, क्योंकि शिष्ट पुरुषोंका कथन है कि गुरु, भक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और देवताके समीप खाली हाथ न जाय। दम्भको त्यागकर श्रद्धा और भक्तिसे भक्तोंकी सेवा करे, भक्तोंकी सेवा करनेसे ही भक्तवत्सल भगवान् सन्तुष्ट होते हैं।

भगवान्के वचन हैं—हे अर्जुन! जो भक्त किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता यानी दुःख देनेवालेको भी दुःख नहीं देता, सबको अपना आत्मा जानता है, सबसे मित्रभाव रखता है, सबपर दया करता है। घरमें, देहमें, कुलमें और धनमें ममता नहीं करता। अहंकाररहित होता है, सुख-दुःखमें समान होता है, क्षमावान् होता है, सर्वदा सन्तुष्ट रहता है, मनको समाहित रखता है, देह और इन्द्रियोंको वशमें रखता है, दृढ़ निश्चयवाला होता है और मन-बुद्धि मुझमें लगाये रहता है, वह भक्त मुझको प्यारा है। जिससे कोई अप्रसन्न नहीं होता; जो किसीसे अप्रसन्न नहीं होता, हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगसे जो मुक्त होता है, वह भक्त मुझको प्यारा है। इष्टकी प्राप्तिमें मन ऊँचा करनेका नाम हर्ष है, दूसरेकी बड़ाईको न सह सकनेका नाम अमर्ष है और घबराहटका नाम उद्वेग है। जो भक्त किसी वस्तुकी अपेक्षा—स्पृहा नहीं करता, पवित्र और चतुर होता है, किसी कर्मका आरम्भ करनेवाला अपनेको नहीं मानता, वह भक्त मुझको प्यारा है। जो पुरुष न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न सोचता है, न आकांक्षा करता है और शुभाशुभका त्यागी है, वह भक्त मुझको प्यारा है। जो भक्त शत्रुमें, मित्रमें, मानमें, अपमानमें, शीतमें उष्णमें, सुखमें और दुःखमें समान है, आसक्तिरहित है, निन्दा-स्तुतिमें समान है, मौनी है, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट है, घररहित है, स्थिर बुद्धिवाला है, वह भक्त मुझको प्यारा है। जो मेरे बताये हुए इस धर्मरूप अमृतका आचरण करते हैं, श्रद्धावाले हैं, मुझको ही परम मानते हैं, वे भक्त मुझको बहुत ही प्यारे हैं *।

हे बहिनो! यदि कोई भक्तोंका तिरस्कार करे, उनको धोखा दे, शाप दे, अपमान कर, अथवा ताड़न करे तो भी वे खिन्न नहीं होते। वे अपकार करनेवालेका अपकारसे बदला नहीं देते, किन्तु उसका उपकार ही करते हैं। गलेमें मृतक सर्प डालनेपर भी शमीक ऋषिने परीक्षितपर क्रोध नहीं किया, उल्टा अपने पुत्र शृंगीऋषिको ही राजाको शाप देनेका अपराधी बताया और समझाया कि पुत्र! तूने उचित नहीं किया, जो धर्मात्मा राजाको शाप दिया! हे बहिनो! सच्चे भक्त दूसरोंके मान या अपमान करनेसे न तो हर्षित होते हैं, न व्यथाको प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे गुणोंसे अतीत होते हैं और सबमें एक ही परमात्माको देखते हैं। हे बहिनो! सरल, प्रेमपूर्ण चित्तसे प्रयत्नपूर्वक भक्तोंकी नित्य उपासना करनेसे मोक्षका द्वार सहज ही खुल जाता है। भगवत्की प्रीतिके लिये निष्काम होकर, लाभालाभका विचार न करके विचारवान् पुरुषको भक्तराजकी सेवा करनी चाहिये। भक्तोंके गुणगान करनेसे, उनका नाम लेनेसे, उनको नमस्कार करनेसे पाप क्षय होते हैं। आओ! हम सब मिलकर अपनी वाणीको शुद्ध और हृदयको पवित्र करनेके लिये जिन-जिन भक्त-बहिनोंका स्मरण आ जाय, उनको नमस्कार करें—

दक्ष-पुत्री सतीजीको नमस्कार है, जिन्होंने दक्षके यज्ञमें अपने स्वामीका अपमान देखकर योगाग्नि प्रज्वलित करके अपना शरीर त्याग दिया और हिमाचलके यहाँ जन्म लेकर ऐसी कठिन तपस्या करके शिवको प्राप्त किया कि वैसी न किसीने आजतक की है, न कोई आगे करेगा।

* ऐसे भक्त ही सच्चे भक्त हैं, इन भक्तोंकी सच्ची परम सेवा इनके कथनानुसार भगवत्प्राप्तिके लिये साधन और शुद्ध आचरण करनेमें ही है, न कि खिलाने, पिलाने और नमस्कार-पूजा करनेमें! जो खाने पीने और पूजा प्राप्त करनेके लिये ही भक्तका नाम और स्वांग धारण करते हैं, उनसे तो सावधान ही रहना उचित है। —सम्पादक

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनकनन्दिनी श्रीसीता महारानीको नमस्कार है, जिन्होंने स्वप्नमें भी पर-पुरुषका ध्यान नहीं किया। अग्निमें प्रवेश करके अपने पातिव्रत-धर्मकी परीक्षा दी। वाल्मीकिजीके आश्रममें लव-कुश नामक दो ऐसे वीर पुत्र उत्पन्न किये, जिन्होंने मारुति आदि सेनापतियों सहित श्रीरघुनाथजीकी सेनाको परास्त कर दिया। यह भी पातिव्रतका ही प्रताप था। पातिव्रतके प्रभावसे उनकी प्रार्थना सुनकर पृथ्वीने उनको अपनी गोदमें बैठा लिया। उनका नाम लेकर आजकलकी बहिनें पातिव्रत-धर्मपर आरूढ़ होती हैं।

मण्डन मिश्रकी प्रिया सरस्वतीको नमस्कार है, जिनको वार्तिककार और भाष्यकारने अपने विवादमें मध्यस्थ बनाया और जिनकी मालाओंने हार-जीतका निर्णय कर दिया। बात यह थी कि सरस्वतीने अपने पति और आचार्यके गलेमें माला बनाकर डाल दी थी और कह दिया था कि जिसके गलेकी माला सूख जायगी, वही हारा समझा जायगा। मण्डन मिश्रकी माला सूख गयी, उनकी हार हुई और उनका नाम सुरेश्वराचार्य रक्खा गया!

सत्यवान्की धर्मपत्नी सावित्रीको नमस्कार है, जिसने धर्मराजको धर्मके पाशमें बाँधकर अपने स्वामीको छुड़ा लिया, सास-श्वशुरको नेत्र दिलवाये और साथ ही राजपाट भी दिलवाया!

गार्गी वाचक्नवीको नमस्कार है, जिसने विदेहराजकी सभामें याज्ञवल्क्य आदि ब्राह्मणोंके सम्मुख यह बात सिद्ध कर दी कि स्त्री स्त्री नहीं है किन्तु अज्ञानी जीव ही स्त्री है, चाहे वह स्त्री हो, चाहे पुरुष।

मदालसा रानीको नमस्कार है, जिसने अपने सब पुत्रोंको विरक्त और ब्रह्मज्ञानी बना दिया और सबसे छोटे पुत्र अलर्कको तो राजपाट करते हुए ही विरक्त और ज्ञानियोंमें शिरोमणि बनाया।

चूडाला रानीको नमस्कार है, जिसने अपने पति राजा शिखिध्वजको कर्मके कीचड़मेंसे निकालकर मोक्षके सबसे ऊँचे शिखरपर चढ़ा दिया!

सुमित्रा रानीको नमस्कार है, जिन्होंने पटरानी कौशल्या और पतिकी परमप्यारी कैकेयी इन दोनोंको अपने सुन्दर शीलके कारण ऐसा वशमें कर रक्खा था कि मांगलिक कार्य उन्हींसे कराये जाते थे। इनके पुत्र लक्ष्मण परम भागवत हुए, जिनके समान कोई दूसरा नहीं हुआ, शरणागतिमें इनके समान दूसरेको विश्वास नहीं था!

अहल्या, तारा, मन्दोदरी, कुन्ती और द्रौपदी इन पञ्च कन्याओंको नमस्कार है, जिनको कभी स्वप्नमें भी भगवत्का विस्मरण नहीं हुआ!

धृतराष्ट्र-पत्नी सती गान्धारीको नमस्कार है, जिसने पतिके अन्धे होनेके कारणसे जीवनभर आँखोंपर पट्टी बाँधे रक्खी, जिसकी दृष्टिमात्रसे दुर्योधनका शरीर वज्रका हो गया था।

मीराबाईको नमस्कार है, जिसकी भक्तिके प्रतापसे विष भी अमृत हो गया, जिसकी स्थिति देखकर जीव गोस्वामीजी-सरीखे महात्मा चकित हो गये।

इसका वृत्तान्त इसप्रकार है कि मीराबाई भारतमें पर्यटन करती हुई, सन्त-महात्माओंका दर्शन करती हुई श्रीजीव गोस्वामीजीके स्थानपर वृन्दावन पहुँची और उनको अपने आनेका समाचार पहुँचाया। शिष्यने आकर कहा कि 'स्वामीजीने कहा है कि हमारी प्रतिज्ञा है कि हम स्त्रीसे नहीं मिलते; न तो स्त्रीके पास बैठते हैं, न बातचीत करते हैं; यहाँतक कि दर्शन भी नहीं करते! हमको मालूम है कि मीराबाई सन्त है, सन्तोंमें उसकी ख्याति है, फिर भी हम प्रतिज्ञा तोड़ नहीं सकते, इसलिये उससे कह दो कि वापस चली जाय।' इतना सुनकर मीराबाईने कहा कि 'जब यही बात है, तब तो मैं स्वामीजीके अवश्य दर्शन करूँगी, क्योंकि मैंने तो सुना है कि पुरुष एक ही है। एकके सिवा दूसरा पुरुष ही नहीं, सब स्त्रियाँ ही हैं, फिर यह दूसरे पुरुष कहाँसे आ गये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो स्त्रीका मुख नहीं देखते! क्या स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाला अपनेको पुरुष कह सकता है? पुरुष तो असंग है, अजन्मा है, निष्कल है, निर्गुण है, निराकार है। स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाला श्रुतिसे, युक्तिसे और प्रमाणसे किसी प्रकार अपनेको पुरुष सिद्ध नहीं कर सकता। हाँ, अज्ञानमें वह सब कुछ बनता है! विद्वान् अज्ञानको प्रमाण नहीं मानते!' मीराबाईकी ये सब बातें उसने जाकर स्वामीजीसे निवेदन कीं। युक्तियुक्त बातें सुनकर स्वामीजीका रहा-सहा लेश भ्रम जाता रहा, वे दौड़कर द्वारपर आये और मीराबाईको बड़े सम्मानके साथ भीतर लिवा ले गये और जाकर कहने लगे—

स्वामीजी—हे देवी! तू धन्य है, तेरी स्थिति मुझसे चढ़-बढ़कर है, मुझे अभीतक स्त्री-पुरुषका भाव बना हुआ था, तेरी बातें सुनकर मेरी भूल निकल गयी। सच है, एक परमेश्वर ही पुरुष है, वही सबमें पूर्ण है, वही स्वतन्त्र है, इसके सिवा सब परतन्त्र हैं, इसलिये पुरुष होनेकी प्रतिज्ञा नहीं कर सकते। आज तूने मेरा भ्रम निवृत्त कर दिया है। इसलिये तू धन्य है और तेरा दर्शन करनेसे मैं भी धन्य हूँ। सच है, सन्तोंके समागमके समान अन्य कोई सुख नहीं है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सन्तोंके समागमके ही अधीन हैं।

हे बहिनो! यहाँ यह शङ्का करना उचित नहीं है कि हमने केवल बहिनोंको ही क्यों नमस्कार किया? किसी भक्त भाईका नाम क्यों नहीं लिया? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो अपनी जातिका सबको कुछ पक्ष होता ही है, यह बात सबके अनुभवसिद्ध है। दूसरी बात यह है कि भाई तो स्वभावसे उत्तम और पवित्र हैं ही, उनके लिये भक्त होना आश्चर्यरूप नहीं है, नारीके लिये ही भक्त होना दुस्तर है, भगवान्का वचन इसमें प्रमाण है। तीसरी बात यह है कि पुरुष तो निर्विशेष है, उसमें नमस्कार आदि बनते ही नहीं हैं, इसलिये बहिनोंको ही प्रत्यक्षमें नमस्कार किया है, मनसे ब्रह्मादि सब भाई भक्तोंको नमस्कार है!

इतना कहकर सभानेत्रीने अपना भाषण समाप्त किया, सब बहिनोंने भगवत्-भक्तोंकी शरण लीं, वे उनका ही कीर्तन और अनुसरण करती हुई अन्तमें कृतार्थ हो गयीं। सच कहा है—

मंगलकारक भक्त हैं, सर्व अमंगलहार।
भक्तोंकी जो ले शरण, भवसे होवे पार॥
भवसे होवे पार, धाम वैकुंठ सिधारे।
करे अकंटक राज्य, देह दूजी नहिं धारे॥
जयदेवी! भज ईश, नगर बस अथवा जंगल।
भक्त-गुणन कर गान, होयगा निश्चय मंगल॥

परम सत्य

इतै सब स्वारथ केई मीत।
होवै चाहै रीत भली यह चाहै हो अनरीत॥
माता पिता बन्धु सुत दारा सबकी याही नीत।
स्वारथ चिन्ता बस ह्वै सिगरे लखैं नेहकी डीठ॥
साँचे झूठे हितू अहितू सब निबल बली औ भीत।
एक न एक काज हित अपुने निबहैं आछी प्रीत॥
छाँड़ु कपट जंजाल 'प्रेम' यह यातें सुनिये मीत।
राम-पदारविन्द हिय धारिकै लीजै खल-दल जीत॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी "प्रेम"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक— स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

२०२—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनुस्मृति)

मनु भगवान् धर्मके दश लक्षण बतलाते हैं—धैर्य धारण करना, क्षमा, मनका दमन करना, चोरी नहीं करना, अन्दर और बाहरसे पवित्र रहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, शास्त्र-ज्ञान, आत्म-ज्ञान, सत्य बोलना और क्रोध नहीं करना ।

२०३—आँखें केवल देख सकती हैं, कान केवल सुन सकते हैं, जिह्वा केवल स्वाद ले सकती है, त्वचा स्पर्श कर सकती है, नाक सूँघ सकती है; परन्तु मन देखना, सुनना, चखना, सूँघना और स्पर्श करना आदि सब कर सकता है । सारी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ मनकी ओर झुकी हुई होती हैं । योगाभ्यासके द्वारा तुम केवल मनसे देख और सुन सकते हो । पाश्चात्य प्रत्यक्ष ज्ञानका सिद्धान्त इसके सामने काफूर हो जाता है ।

२०४—मनको पूरा-पूरा काममें लगाये रक्खो । तुम मानसिक और शारीरिक ब्रह्मचर्यमें स्थित हो सकते हो । मैं तुम्हारा कार्य-क्रम बनाये देता हूँ; दस बजे रातसे चार बजे प्रातःकालतक छः घण्टे सोओ; सवेरे चार बजेसे सात बजेतक और सायं सात बजेसे दस बजेतक छः घण्टे ध्यान करो; चार घण्टे दरिद्रनारायण तथा रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषामें निष्काम कर्म करो; दो घण्टे खुली हवामें टहलो या व्यायाम करो, इससे मन सदा कर्म-रत रहेगा ।

२०५—उलाहना एक प्रकारकी व्यंगपूर्ण निन्दा ही है । चिढ़ाकर किसीकी हँसी करनेसे उसे दुःख ही होता है । उपहास करनेमें नाक टेढ़ी करके और मुँह बनाकर घृणा ही प्रकट करनी होती है । घुड़कनेमें क्रोधके समान भौं टेढ़ी करनी पड़ती है । दिल्लगी उड़ानेमें आक्षेप करते हुए हँसना होता है, उपहासके लिये हँसी उत्पन्न करनेको वाक्चातुरी प्रकट की जाती है । यही हँसी दिल्लगी कहलाती है । इससे दिलबहलाव होता है । जब तुम दूसरोंसे मिलो तो इन सबसे दूर रहो, क्योंकि इससे विचार उग्र होते हैं और द्वेषका भाव उत्पन्न होता है । शब्द नम्र होने चाहिये और तर्क कठिन; यदि शब्द ही कठिन हुए तो इससे विरोध उत्पन्न होगा । केवल एक कर्कश शब्द वर्षोंकी मित्रताको मिनटभरमें नष्ट कर देता है । शब्द या ध्वनिमें अद्भुत शक्ति होती है । यह शब्द-ब्रह्म है, यह शक्ति है, बोलनेके पहले अपने शब्दोंके चुननेमें ध्यान रक्खो । बोलनेके पहले तीन बार सोचो । विचारो कि तुम्हारे शब्दोंका दूसरोंके मनपर क्या प्रभाव पड़ेगा । दो वर्षतक मौन साधन करो । यह वाङ्मय तप है ।

२०६—कामनासे मन और इन्द्रियाँ उत्तेजित होती हैं । जब-जब काम्य विषयोंके उपभोगसे कामना शान्त होती है तो तृप्ति मिलती है । भोगके उपरान्त इन्द्रियाँ सङ्कुचित होती हैं । यही कारण है कि तृप्ति प्राप्त होती है । तब कामना शान्त हो जाती है । जब कामना होती है तभी विषयमें सुख होता है । जब भूख नहीं होती है तब स्वादिष्ट भोजनसे भी तुम्हें कोई सुख नहीं मिलता । जब प्यास नहीं रहती तो स्वच्छ जलसे वैसा आनन्द भी नहीं मिलता । इसलिये भूख ही सबसे अच्छा व्यञ्जन है ।

भोगके उपरान्त इन्द्रियोंके सङ्कुचित होनेपर वही विषय जो कुछ समय पहले सुखदायी था दुःखदायी हो जाता है । गर्म दूधका पहला ग्लास सुखद होता है, परन्तु दूसरा ग्लास अरुचि उत्पन्न कर देता है । भोगकी समाप्ति-पर तृप्ति आती है । उस समय इन्द्रियाँ सङ्कुचित हो जाती हैं—वे कुछ समयके लिये शान्ति प्राप्त करती हैं । इसलिये जब दूसरा ग्लास लिया जाता है तो उद्वेग उत्पन्न होता है । असलमें दूधमें सुख नहीं है । आत्मामें ही सुख है । अविद्याके द्वारा भ्रान्तिवश वह दूधमें जान पड़ता है, यह भ्रान्ति-सुख है । यदि दूधमें वास्तविक सुख होता तो उससे सदा ही सुख प्राप्त होता, पर ऐसी बात नहीं है ।

२०७—मनमें तैजसका निवास रहता है—'मनस्यन्तर तु तैजसः' (गौडपादाचार्यकी कारिका ७ । २)

स्वप्नावस्थासे संयुक्त चेतनता तैजस है । तैजस सूक्ष्म जगत्का भोक्ता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०८–मनमें विषयाकार होनेकी एक शक्ति है। इसी शक्तिके द्वारा वह बहिर्मुख वृत्तिको प्राप्त होता है। मन विषयोंकी ओर आकर्षित हो जाता है। निरन्तर साधनाके द्वारा मनको विषयाकार होनेसे रोक देना चाहिये। इसे अवश्य ही ब्रह्मकी ओर, इसके मूल स्थानकी ओर अग्रसर करना चाहिये।

२०९–मन भूतोंकी (प्रकृतिकी) सूक्ष्मावस्था है, इसलिये वह शरीरको प्रेरित करता रहता है।

२१०–जब कभी मनमें कोई कामना उठे, सदा विवेककी शरण लो; विवेक शीघ्र ही तुम्हें बतला देगा कि कामनाके साथ दुःख रहता है। यह मनका व्यर्थ प्रलोभन है। वह तुम्हें कामनाको शीघ्र ही त्यागनेके लिये अनुमति देगा तथा उपनिषदोंका स्वाध्याय करने और ॐका जप तथा गंगातीरपर एकान्तमें समाधिनिष्ठाकी चेष्टा करनेके लिये कहेगा। बार-बार विचारो–जो नवीन कामना तुम्हारे मनमें उठती है क्या वह तुम्हें अधिक सुख, अधिक आध्यात्मिक लाभ प्रदान करती है? इच्छाशक्तिकी सहायतासे विवेक तुम्हारी रक्षा करेगा और बलपूर्वक कामनाको दूर भगावेगा। विवेक और इच्छा-शक्ति दो आवश्यक अस्त्र हैं जिनसे ज्ञान-योगका साधक अपने पथके सारे छोटे-बड़े विघ्नोंको नष्ट कर देता है।

२११–मन सदा तुम्हें भाँति-भाँतिके दृश्योंको अवलोकन करनेके लिये प्रलोभन देता है; इसप्रकार तुमको लक्ष्यसे हटानेकी मनकी चेष्टा निरर्थक होती है। विवेकसे सदा काम लो, मनसे पूछो–'रे मूर्ख मन, क्या तुमने अनेक स्थान और दृश्य नहीं देखे हैं। बाहरी दृश्योंके अवलोकनमें क्या रक्खा हुआ है? भीतर आत्मामें विश्राम कर। यह अपनेहीमें तृप्त है। तुम प्रत्येक वस्तु इसीमें देख सकते हो। यह पूर्णकाम है, यह पूर्णरूप है। बाहर तुम क्या देखने जाते हो? क्या बाहर सर्वत्र वही आकाश, वही भूमि, वही विषय, वही भोग, वही बातचीत, वही तन्द्रा, वही निद्रा, वही पुरीष, वही मूत्र और वही श्मशान भूमि नहीं है?

२१२–प्रज्ञा तीन प्रकारकी होती है—

१–बहिःप्रज्ञा–जाग्रतावस्थाकी विषयाकार वृत्ति।

२–अन्तःप्रज्ञा–स्वप्नावस्थाकी सूक्ष्म वृत्ति।

३–ज्ञानप्रज्ञा–सुषुप्तिकी घनीभूत वृत्ति।

परब्रह्मके चार रूप हैं और वह सब प्राणियोंके शरीरमें विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय नामसे वर्तमान है। विश्व दहिनी आँखमें निवास करता है, तैजस मनमें रहता है और प्राज्ञ हृदयाकाशमें रहता है। विषय भी तीन प्रकारके हैं–स्थूल, सूक्ष्म और आनन्द। तृप्ति भी तीन प्रकारकी होती है, 'त्रिधा भोगं त्रिधा तृप्तिः।'

२१३–बुरी भावनाओंको तुम कैसे दूर कर सकते हो? विस्मृतिके द्वारा। विस्मृति कैसे होगी? उसका पुनः विचार नहीं करनेसे। पुनः विचारसे मनको कैसे रोकोगे? किसी अधिक सुखप्रद विषयके चिन्तनके द्वारा। 'उपेक्षा करो, भूल जाओ। किसी अधिक आकर्षक वस्तुका चिन्तन करो।' यह एक महान् साधना है। गीताके उच्चतम भावोंका चिन्तन करो। उपनिषदों और योगवासिष्ठके सौम्य तथा आत्मोत्कर्षक भावोंको स्मरण करते रहो। अपने आप तर्क करो, चिन्तन करो, विचार करो, ध्यान करो। सांसारिक भाव, शत्रुता, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और काम-वासनाके सारे भाव नष्ट हो जायँगे।

२१४–याद रक्खो कि ध्याता ध्यानसे भिन्न वस्तु है। इससे तुम्हें इस तथ्यका पता लगेगा कि तुम मनसे अलगकी वस्तु हो। तुम स्वस्थ हो, केवल मनमें उठनेवाले विकारोंके साक्षी हो। तुम कूटस्थ ब्रह्म हो, तुम प्रत्यगात्मा हो।

२१५–मन ही सङ्कल्प-विकल्पमें हेतु है, इसलिये तुम अवश्य ही मनको वशमें करो, तुम्हें मनको बाँधना होगा। मनको वशमें करनेके लिये कुम्भक अत्यन्त आवश्यक है। तुम्हें कुम्भकका प्रतिदिन अभ्यास करना पड़ेगा। तुम्हें पूरक, कुम्भक और रेचक करना होगा तब मन एकाग्रताको प्राप्त होगा। आहार-विहारसे युक्त नियमित अभ्यासके द्वारा कुम्भककी मात्रा बढ़ेगी। यह हठयोगकी क्रिया है। कुम्भकका अभ्यास एक अच्छे अनुभवी योगी गुरुके देख-भालमें होना चाहिये।

२१६–सङ्कल्प-विकल्पको त्यागकर द्वैतभावनासे रहित हो जाओ। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये कठिन साधन करो। यही अद्वैतनिष्ठा है।

२१७–ब्रह्मकी व्यक्तावस्था ही मन है। मन स्पन्दित ब्रह्म है।

२१८–तुच्छ भौतिक पदार्थोंकी अभिलाषा और उनके पीछे इधर-उधर भटकना छोड़ देनेसे तुम्हारा मन पर्वतके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान अचल हो जायगा। जिनका मन अनासक्त हो जाता है उनसे पुनर्जन्म बहुत दूर भाग जाता है, इधर-उधर भटकनेसे मन भयके चङ्गुलमें फँस जाता है।

२१९–जब ज्ञानशास्त्रके अध्ययनसे, सत्सङ्गसे तथा निरन्तर ध्यानके अभ्याससे शुद्ध मन एकाग्र हो जायगा तब उस मनुष्यके मनमें उन्नत ज्ञान और दिव्य-दृष्टिका प्रादुर्भाव होगा जिससे उसे अद्वैत तत्त्वका प्रत्यक्ष अनुभव होगा।

२२०–हृदयमें निरन्तर परमात्माकी भावना करनेसे सहज कुम्भक सिद्ध होगा, हृदयमें मन तल्लीन हो जायगा, वह अन्तिम अवस्था और पदकी प्राप्ति होगी जिसके लिये मुनिलोग यत्न करते हैं।

२२१–जिसप्रकार पुष्प और फल बीजमें छिपे होते हैं उसी प्रकार सत्त्वका अंश, चेतनाका सार सदा हृदयमें अवस्थित रहता है। जीवन्मुक्त अवस्थामें भी केवल वैकारिक मन नष्ट होता है। सात्त्विक मनका नाश नहीं होता। क्योंकि बिना मनरूपी साधनके व्यवहार तो हो नहीं सकेगा। उसका मन भोगोंमें रहते हुए उसके सुख-दुःखसे अभिभूत नहीं होगा, वह तो उनसे परिचित रहेगा।

२२२–योगी भौतिक शरीरसे सूक्ष्म शरीरको अलग कर संसारके भिन्न भिन्न भागोंमें रमता है और पलभरमें ऊँचे-से-ऊँचे स्थानको जाकर पुनः भौतिक शरीरमें लौट आता है, जैसे एक चिड़िया अपने पिञ्जरेमें लौट आती है। प्राणका एक सूक्ष्म सूत्र भौतिक और सूक्ष्म शरीरको जोड़ता है। योगी जैसे ही अपने शरीरसे निकलता है वह सूक्ष्म-दृष्टिसे अपने भौतिक शरीरको छोड़ी हुई कञ्चुकीके समान देखता है, यदि एक बार आप भौतिक शरीरसे अपने आपको अलग करनेकी यौगिक विधिको जान लें तो यह क्रिया बहुत ही सामान्य है।

२२३–ध्यानके लिये तुम्हें एक भली-भाँति सधे हुए मनकी आवश्यकता है, यह शान्त, शुद्ध, पवित्र, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, दृढ़ और एकाग्र होना चाहिये। ब्रह्म शुद्ध और सूक्ष्म है एवं तुम्हें एक शुद्ध और सूक्ष्म मनकी आवश्यकता है जिससे तुम उस ब्रह्मको प्राप्त हो सकते हो।

२२४–स्वाभाविक मौन और मानसिक दिगम्बरता, यही आवश्यक हैं। शरीरको नग्न करनेसे क्या लाभ ? यह तो मूर्खोंका तामसिक तप है जो शास्त्र और तर्क दोनोंके विरुद्ध है। जीवन्मुक्त या मुक्तात्मामें जैसे ही वह ज्ञानकी सातवीं भूमिकामें पहुँच कर ब्रह्ममें लीन होता है दिगम्बरता अपने-आप आ जाती है।

२२५–हरतालके शोधनेमें बहुत समय लगता है। सात दिनतक उसे गौके मूत्रमें रखते हैं, उसके बाद सात दिन तक चूनेके पानीमें रखते हैं और फिर सात दिन दूधमें रखनेके बाद उसे निकालकर एक सौ आठ बार पुट देकर अग्निमें जलाते हैं तब कहीं शुद्ध भस्म तैयार होती है। चित्त-शुद्धिके लिये भी इसी प्रकार अधिक समय लगानेकी आवश्यकता है। कठिन तप करना पड़ेगा। चित्त-शुद्धि योगकी पहली सीढ़ी है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो मुक्तिकी ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है।

२२६–पतितपावनी गंगा गंगोत्रीसे निकलती है और निरन्तर गंगासागरकी ओर प्रवाहित होती है। इसी प्रकार विचार धारा मनके संस्कारोंमें जिसमें कि वासनाएँ छिपी रहती हैं, निकलती है तथा जाग्रत और स्वप्नावस्था दोनोंके विषयोंकी ओर निरन्तर बहती रहती है। एक रेलवे इञ्जिन भी जब उसके पहिये बहुत अधिक गर्म हो जाते हैं तो वह इञ्जिन-घरमें आरामके लिये भेज दिया जाता है, परन्तु यह मनरूपी रहस्यमय इञ्जिन बिना एक क्षणके विश्राम किये हुए बराबर विचारमें ही लगा रहता है। सुषुप्तिरूपी विश्रामकी इच्छा तो (स्वप्नावस्थामें) मस्तिष्क करता है, मन कभी नहीं करता। एक योगी जो अपने मनको वशमें किये हुए है सदा जागता ही रहता है, वह तो ध्यानके द्वारा ही पूर्ण विश्राम पाता है। मन आत्मशक्तिके सिवा और कुछ नहीं है।

२२७–'ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' किसके द्वारा इच्छा किया हुआ और प्रेरित किया हुआ मन अपने इष्ट विषयोंकी ओर अग्रसर होता है ? (केनोपनिषद् मन्त्र १)

–मन एक इन्द्रिय है जिसमें सङ्कल्प और वेदना होती है। इसको अवश्य उसके नियन्त्रणमें रखना चाहिये जो इसको यन्त्ररूपसे काममें लाता है। जीव मनका प्रेरक नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि साधारण मनुष्य अपने मनको वशमें नहीं कर सकते। वे निरे राग-द्वेषके द्वारा इधर-उधर भटका करते हैं। इसलिये अवश्य ही वह कोई और है जो मनका प्रेरक है। वह कौन है ? वह मनस्पति (मनका मालिक) अन्तर्यामी, कूटस्थ ब्रह्म है।

२२८–यदि तुम्हारे मनमें वासना न हो तो बाहरी किसी विषयके लिये उत्तेजना, चाह या आकर्षण न हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकेगा। यह तो वासना ही है जो तुम्हारी सारी विपत्तियों और दुःखोंका मूल कारण है। दैवी सृष्टि तो किसीको कष्ट नहीं देती। जल तुम्हारी प्यास बुझाता है। मन्द-मन्द पवन तुम्हें सुख प्रदान करता है। सूर्य तुम्हें प्रकाश और जीवनदान देता है। अग्निसे गर्मी मिलती है। मनुष्यको बन्धनमें डालनेवाली तो जीव-सृष्टि ही है। अहङ्कार, द्वेष, अभिमान और राग यह सब जीव-सृष्टिके अन्तर्गत हैं। निरन्तर विचार, ब्रह्मभावना और ॐ के विचार एवं अर्थयुक्त ध्यानसे वासना निर्मूल हो जायगी। सात्त्विक मनके कोषागारसे निरन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्तिकी धारा (ब्रह्माकार वृत्ति) उद्भूत होती रहती है। यह बलिष्ठ विषघ्न ओषधि है। इसको अपने पास सुरक्षित रक्खो। जब अहङ्कार, मिथ्या 'मैं-पन' तुम्हारे ऊपर आक्रमण करे, तुम्हें दबाना चाहे, और इसप्रकार तुम्हारा सर्वनाश करना चाहे तो चटसे इस ओषधिका प्रयोग करो।

२२९-स्वार्थ और वासनासे भरी हुई व्यावहारिक बुद्धि, विचार तथा दार्शनिक युक्तिवादके लिये अत्यन्त ही अयोग्य होती है। स्वार्थ-कामनासे मति ढँक जाती है। स्वार्थ जीवनके विनाशका हेतु है। आत्म-जिज्ञासा अथवा उपनिषद्के स्वाध्यायके लिये तीक्ष्ण, सूक्ष्म और एकाग्र शुद्ध चित्तकी आवश्यकता है।

२३०-सुखमें भी मनमें क्षोभ होता है। यह फैलता है और हृदय अर्थात् अन्तरात्माकी ओर बढ़ता है।

२३१-विस्मयमें कई भाव मिले होते हैं। इसमें स्तुति और भयकी मिलावट होती है।

२३२-आदरमें भी कई भाव मिले होते हैं। इसमें दबाव और सत्कारका मेल होता है। यह एक प्रकारकी मानसिक वृत्ति है।

२३३-अमर्ष भी एक संयुक्त भाव है, इसमें ईर्ष्या और द्वेष मिले होते हैं। जैसे ही किसी मनुष्यको नीचा देखना पड़ा कि उससे नीची स्थितिके मनुष्यका रोष जो कि पहले उससे द्वेष रखता था, काफ़ूर हो जाता है।

२३४-अभिमान दूसरोंके प्रति अपनी महानताके विचारसे होता है। यह नौ प्रकारका होता है—

(१) शारीरिक अभिमान-अधिक शारीरिक शक्ति रखनेका अभिमान करना।

(२) बुद्धिका अभिमान-अधिक समझदार होनेका अभिमान करना।

(३) सदाचारका अभिमान-सुन्दर आचारवान् होनेका अभिमान करना।

(४) चित्तशक्तिका अभिमान-महान् चित्तशक्ति अर्थात् सिद्धियोंके होनेका अभिमान करना।

(५) आध्यात्मिक अभिमान।

(६) कुलीनताका अभिमान।

(७) शक्ति, धन और दूसरी वस्तुओंके अधिकारका अभिमान।

(८) सुन्दरताका अभिमान।

(९) राजमद—राजा होनेका अभिमान।

इन सब प्रकारके अभिमानोंको एकदम निर्मूल कर देना चाहिये।

२३५-दम्भ आडम्बर है। यह एक प्रकारकी व्यर्थ बनावट है, व्यर्थकी दिखलावट (प्रदर्शन) है। यह मानसिक वृत्तिका एक रूप है। वस्तुतः मनुष्यके पास कुछ नहीं रहनेपर भी यह उसे फुलाये रखता है। अभिमानी मनुष्यके पास तो कुछ-न-कुछ रहता भी है, परन्तु दम्भीके पास कुछ रहता ही नहीं। यही दोनोंमें अन्तर है। अभिमान जब खूब चढ़-बढ़ जाता है तो वह दम्भका रूप धारण कर लेता है। (क्रमशः)

भक्तकी प्रार्थना

गर, माया करो अपनी तो करो, पर, सेवकपै नरमाया करो।
न रमाया करो फिरसे अघमें, न कभी भवमें भरमाया करो॥
परमा या करो गति मेरी प्रभो! निज बातपै या शरमाया करो।
नर-माया करो तो करो जगमें, पर, नाहक ना फ़रमाया करो॥

—श्रीमधुसूदनप्रसाद मिश्र 'मधुर'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धियोग

(लेखक-श्रीअरविन्द)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

अतः बुद्धिकी जो ऊर्ध्व अन्तर्मुखी गति है उसीको हमें दृढ़ सङ्कल्पके साथ, स्थिर निश्चयता और अध्यवसायके साथ अवलम्बन करना होगा, बुद्धिको दृढ़भावसे पुरुषके शान्त आत्मज्ञानमें लगा रखना होगा। पहले तो हमें कामनाके परित्यागकी चेष्टा करनी ही होगी, यह अच्छी तरह समझमें आ जाता है। कारण, यही सारे अशुभ और दुःखोंका मूल है, एवं कामनाको छोड़नेके लिये कामनाके कारणका भी अन्त कर देना होगा—इन्द्रियाँ जो बाह्य वस्तुको पकड़ने और उनका भोग करनेके लिये दौड़ी जाती हैं, इनको बन्द करना होगा। इन्द्रियाँ जब बाहरकी ओर दौड़ना चाहें तब उन्हें लौटाना होगा, उन्हें भोग्य वस्तुकी ओरसे हटा लाना होगा—कछुवा जिस प्रकार अपने कर-चरण आदि अङ्गोंको बाहरसे संकुचित कर देहके अन्दर रख लेता है उसी प्रकार इन्द्रियोंको उनके मूलस्थानमें रखना होगा, मनमें उन्हें विलीन करना होगा, मनको बुद्धिमें और बुद्धिको आत्मामें एवं आत्मज्ञानमें विलीन कर डालना होगा। प्रकृतिके कार्योंको देखते रहना होगा, परन्तु उसके अधीन होनेसे काम नहीं चलेगा। बाह्य जगत्‌से जिसकी प्राप्ति होती है, ऐसी किसी वस्तुकी कामना करनेसे नहीं चलेगा। आगे चलकर समझनेमें भूल न हो, इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् इसके अनन्तर ही निर्देश करते हैं कि मैंने बाह्य कठोरता, इन्द्रियग्राह्य वस्तुओंके शारीरिक प्रत्याख्यानकी बात नहीं कही है। सांख्य जिस संन्यासकी शिक्षा देता है, अथवा उपवास, शरीरके पीड़न आदिके द्वारा कठोर तपस्वीगण जो तपस्या करते हैं, भगवान्‌का वह उपदेश नहीं है; भगवान् जिस प्रत्याहार और संयमकी शिक्षा देते हैं वह दूसरे ही प्रकारकी है। वह तो आन्तरिक प्रत्याहार है, कामनाका त्याग है। देही आत्माको देहकी साधारण क्रियाके लिये साधारणतः आहारकी आवश्यकता है। आहारका परित्याग करनेसे इन्द्रियभोग्य वस्तुके साथ बाह्य-संस्पर्श अवश्य दूर हो जाता है, किन्तु जिस आभ्यन्तरीय सम्बन्धके लिये यह संस्पर्श अनिष्टकारी है वह सम्बन्ध नहीं छूटता। विषयमें इन्द्रियोंको जो सुख, रस मिलता है वह तो रह ही जाता है,—राग और द्वेष तो बने ही रहते हैं, क्योंकि यही दोनों, रसकी दो दिशाएँ हैं, राग-द्वेषसे शून्य होकर जो विषय ग्रहण करनेकी सामर्थ्य है, उसीको प्राप्त करना होगा। नहीं तो विषयोंकी निवृत्ति तो होगी, परन्तु मनकी निवृत्ति नहीं होगी। इन्द्रियाँ तो सब मनके ही अन्दरकी वस्तु हैं एवं अन्दरके रसका अन्त ही आत्मविजयका यथार्थ चिह्न है। परन्तु यह किसप्रकार सम्भव है कि विषयके साथ इन्द्रियका संयोग होगा और कामना नहीं होगी, राग-द्वेष नहीं रहेगा ?—'परं दृष्ट्वा' होनेसे पर, आत्मा, पुरुषका दर्शन कर एवं बुद्धि-योगके द्वारा सारे मन-प्राणको लेकर उसके साथ मिलकर, एक होकर उसके अन्दर रहनेसे यह सम्भव है। कारण, वह एक आत्मा शान्तिमय है, आत्मानन्दमें ही सन्तुष्ट है। हम यदि एक बार उस परमवस्तुको अपने अन्दर देख सकें एवं अपने मन-बुद्धिको उसमें निविष्ट कर सकें तो इन्द्रिय-भोग्य विषयोंमें हमारा जो राग-द्वेष है उसके बदले हम, द्वन्द्वशून्य उस आत्मानन्दको प्राप्त करेंगे। यही मुक्तिका यथार्थ मार्ग है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें सन्देह नहीं कि आत्मसंयम, आत्मजय सहज नहीं। सभी बुद्धिमान् पुरुष जानते हैं कि उन्हें किसी-न-किसी प्रकार आत्मसंयम करना ही होगा, एवं इन्द्रिय-संयमके लिये जितने उपदेश दिये जाते हैं उतने शायद अन्य किसी विषयके लिये नहीं दिये जाते; किन्तु साधारणतः ऐसे उपदेश अधूरी रीतिसे ही दिये गये हैं एवं नितान्त अपूर्ण और सङ्कीर्णभावसे उनका पालन होता है। यही क्यों जो ज्ञानी, विवेकी पुरुष पूर्णतः आत्मजयके निमित्त वास्तवमें चेष्टा करते हैं, इन्द्रियाँ उनके मनको भी बलपूर्वक हरण कर लेती हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

(२। ६०)

इसका कारण यह है कि मन स्वभावतः ही इन्द्रियोंका अनुगामी होता है। मन इन्द्रियोंके विषयोंमें रस पाता है, उनमें निविष्ट होता है एवं उनको बुद्धिकी एकमात्र चिन्ताका विषय, एवं इच्छाके तीव्र आकर्षणका विषय बना डालता है। इसी प्रकार आसक्तिका उदय होता है, आसक्तिसे कामना होती है, इसी कामनाकी तृप्ति नहीं होनेसे दुःख होता है, बाधा होनेसे क्रोध होता है, क्रोधसे आत्माको मोह होता है, उस समय बुद्धि शान्त, साक्षी आत्माको देखना और उसमें निविष्ट होना भूल जाती है--यथार्थ आत्माकी स्मृति लुप्त हो जाती है, एवं इसप्रकार लुप्त होनेके कारण बुद्धि भी मोहग्रस्त हो जाती है, यहाँतक कि वह नष्ट हो जाती है। कारण, कुछ समयके लिये वह हमारी आत्मस्मृतिमें नहीं रहती--दुःख, क्रोधादिकी अधिकतामें वह अदृश्य हो जाती है, हम आत्मा और बुद्धिके बदले क्रोध, शोक और दुःखादिमय हो उठते हैं।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(२। ६२-६३)

अतएव किसी प्रकारसे भी ऐसा न होने देना होगा और समस्त इन्द्रियोंको पूर्णरूपसे वशमें करना ही होगा, क्योंकि इन्द्रियोंको वशमें करनेहीसे प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(२। ६१)

केवल बुद्धिके द्वारा मानसिक-संयमके द्वारा इन्द्रियोंको पूर्णरूपसे वशीभूत कर लेना सम्भव नहीं, इसके लिये किसी उच्चतर सत्ताके साथ संयोग होना चाहिये। ऐसी किसी वस्तुके साथ संयोग चाहिये, जिसमें शान्ति और आत्मसंयम स्वभावतः ही है। अपनेको पूर्णरूपसे भगवान्‌के प्रति समर्पण कर देनेसे, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि, 'मुझमें' समर्पण करनेसे ही इस योगमें सफलता प्राप्त हो सकती है, कारण, मुक्तिदाता हमारे अन्दर ही विराजित हैं, परन्तु हमारे मन, बुद्धि या इच्छा वह नहीं हैं—यह सब तो उनके यन्त्रमात्र हैं। वह वही ईश्वर हैं, जिनकी सर्वतोभावसे शरण ग्रहण करनेके लिये गीताके अन्तमें कहा गया है। एवं इसीलिये हमें पहले उन्हींको अपने सारे जीवनका लक्ष्य बना लेना होगा एवं उनके साथ आत्माका स्पर्श रखना होगा। 'युक्त आसीत मत्परः' इस वाक्यका यही वास्तविक अर्थ है। किन्तु गीताकी चालके अनुसार, यहाँ इस अर्थका केवल सङ्केतमात्र किया गया है। जो सर्वोत्तम रहस्य आगे व्यक्त किया जायगा उसका सारमात्र बीजरूपमें इन तीन शब्दोंमें रक्खा हुआ है—युक्त आसीत मत्परः।

यदि ऐसा हो तो उससे इन्द्रियोंको पूर्णरूपसे अन्तरात्माके वशमें कर विषयोंमें विचरण किया जा सकता है-उनका स्पर्श किया जा सकता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके ऊपर कार्य किया जा सकता है--इससे उन सारे विषयोंके और इन्द्रियोंके प्रति राग-द्वेषके अधीन नहीं होना पड़ेगा--वह अन्तरात्मा फिर परमात्माके—पुरुषके अधीन हो जाता है। तब विषयोंकी प्रतिक्रियासे मुक्त इन्द्रियाँ राग-द्वेषके प्रभावसे छूट जायँगी, कामना-वासनाके द्वन्द्वसे वे मुक्त होंगी एवं मनुष्य सुखमय शान्ति और आत्मप्रसादको प्राप्त करेगा।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(२।६५)

यह आत्मप्रसाद ही आत्माके वास्तविक सुखका मूल है। इसप्रकार शान्त प्रसन्न आत्माको कोई भी दुःख स्पर्श नहीं कर सकता, दुःखका अवसान हो जाता है। इसप्रकारके आत्मज्ञानमें, आत्मप्रसादमें प्रतिष्ठित बुद्धिकी शान्त, वासनाशून्य, लोकशून्य स्थिरताको ही गीतामें समाधि कहा गया है।

समाधिस्थ पुरुषोंका लक्षण यह नहीं कि उनके बाह्य विषयोंका ज्ञान लुप्त हो जाय, उनके शरीर और मनका ज्ञान भी लुप्त हो जाय, उनके शरीरको दग्ध करनेपर भी उसका ज्ञान उन्हें नहीं हो; साधारणतः समाधि शब्दसे इसी अवस्थाका बोध होता है-परन्तु यह समाधिका प्रधान लक्षण नहीं है, केवल एक विशेष गम्भीर अवस्था है। यह बात नहीं है कि समाधि होनेसे ऐसी ही अवस्था होगी। समाधिस्थ पुरुषका यथार्थ लक्षण यही है कि उनके अन्दरसे सारी कामनाएँ हट जाती हैं, वह उसमें प्रवेश नहीं कर सकतीं। जिस आन्तरिक अवस्थासे इसप्रकारकी मुक्तिकी उत्पत्ति होती है-शुभाशुभ, सुख-दुःख, विपद्-सम्पद्में अविचलित मनसे जो आत्मामें ही आत्माकी तृप्ति है, वही वास्तविक समाधि है। समाधिस्थ व्यक्तिके बाहरसे कार्य करते रहनेपर भी उसका भाव अन्तर्मुखी है; जिस समय वह बाहरकी वस्तुकी ओर देखते हैं उस समय भी आत्मामें ही निबद्ध रहते हैं; जिस समय लोग अपनी दृष्टिसे उन्हें सांसारिक कार्योंमें व्यस्त देखते हैं उस समय भी उनका लक्ष्य संपूर्णरूपसे भगवान्की ओर ही होता है। साधारण मनुष्यकी तरह अर्जुन यही जानना चाहते थे कि इस महान् समाधिका ऐसा बाह्य लक्षण कौन-सा है जिसके द्वारा यह अवस्था पहचानी जाय-

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥
(२।५४)

हे केशव! समाधिमें अवस्थित स्थितप्रज्ञका लक्षण क्या है? स्थितप्रज्ञ व्यक्ति क्या बोलते हैं? कैसे रहते हैं? और कैसे चलते हैं?

किन्तु इसप्रकारका कोई लक्षण बतलाया नहीं जा सकता एवं गुरुने उसके बतलानेकी चेष्टा भी नहीं की, कारण, इसप्रकारकी अवस्थाका निदर्शन एकमात्र आभ्यन्तरिक है। जो आत्मा मुक्ति-लाभ करता है, उसका महान् भाव समता है। एवं जिन सहज लक्षणोंसे इस समताकी अवस्था जानी जाती है वे सब भी आभ्यन्तरिक (Subjective) ही हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
(२।५६)

जो मुनि दुःख उपस्थित होनेपर क्षुब्धचित्त न हो, सुखमें निस्पृह हो, एवं आसक्ति, भय और क्रोधशून्य हो वही स्थितप्रज्ञ कहे जा सकते हैं। उनमें प्रकृतिके त्रिगुणकी क्रिया नहीं, द्वन्द्व नहीं है-वे अपनी यथार्थ सत्तामें प्रतिष्ठित हैं, उनके लिये प्राप्त करना या रहना कुछ भी नहीं है, वह तो आत्माको पा चुके हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
(२।४५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बार यदि हम आत्माको पा जायँ तो सभी वस्तुएँ हमें प्राप्त हो जाती हैं।

तो भी वे कर्मसे विरत नहीं होते। यही गीताकी मौलिकता और शक्ति है, कि इसप्रकार समाधिकी बात कहकर, एवं मुक्त आत्माके लिये प्रकृतिकी साधारण क्रियाकी शून्यताको दिखलाकर भी वह कर्म का समर्थन करती है, कर्म करनेका आदेश देती है। जो दर्शन-शास्त्र केवल कठोर तपस्या और नीरवताकी प्रशंसा करके लोगोंको कर्महीन बना डालते हैं, गीता उनके इस दोषका इसप्रकार संशोधन करती है, और आज हम देखते हैं कि सारे दार्शनिक मत इस दोषसे बचनेकी चेष्टा करते हैं।

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
> (२।४७)

तुम्हारा कर्ममें अधिकार है, परन्तु वह है केवल कर्ममें ही, फलमें नहीं, कर्मके फलके लिये कर्म न करो, और कर्म न करनेमें भी तुम्हारी प्रवृत्ति न हो।' अतएव वेदवादीगण जो कामनाके साथ कर्म करते हैं, यहाँ वैसे कर्मोंका अनुमोदन नहीं किया गया है; रजोगुण-सम्पन्न अस्थिर चित्तवाले पुरुष कर्मोंसे तृप्त होते हैं तथा सर्वदा कर्म करनेके लिये जिनका मन व्याकुल रहता है उनकी तरह कर्म करनेके लिये भी गीता यहाँ उपदेश नहीं देती।

> योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
> सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
> (२।४८)

योगस्थ होकर, आसक्तिका परित्यागपूर्वक, सिद्धि और असिद्धिमें मनको न लगाकर तुम कर्मका अनुष्ठान करो। चित्तकी इस समताका ही नाम योग है। प्रश्न उठ सकता है कि इनमें कौन-सा अपेक्षाकृत अच्छा या बुरा है। इसका विचार करके कार्य करनेसे, पापका भय रहनेसे पुण्यके लिये कठिन चेष्टा करनेमें कर्म करना मुश्किल हो जाता है। किन्तु जो मुक्त पुरुष अपनी बुद्धि और इच्छाको भगवान्‌के साथ युक्त कर चुके हैं वे इस द्वन्द्वमय संसारमें ही पाप और पुण्य दोनोंका ही परित्याग कर देते हैं।

> बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

कारण, वह उस नीतिपर पहुँच जाते हैं जो पाप-पुण्य दोनोंसे ऊपर है, वह नीति आत्मज्ञानकी स्वाधीनताके ऊपर प्रतिष्ठित है। प्रश्न हो सकता है कि इसप्रकारके कामनाशून्य कर्मकी स्थिर निश्चयता अथवा सफलता नहीं हो सकती, किसी विशेष उद्देश्यको सामने रखकर कार्य नहीं करनेसे वह कार्य अच्छा नहीं होता, उद्भाविनी शक्तिका भी सम्यक् विकास नहीं हो सकता। किन्तु यह ठीक नहीं, योगस्थ होकर जो कर्म किये जाते हैं वह केवल सर्वोच्च ही नहीं, वही सर्वापेक्षा विज्ञान-संगत हैं। सांसारिक व्यापारमें भी इसी प्रकारके कर्म सर्वापेक्षा अधिक शक्तिशाली और कार्यकारी होते हैं; कारण, जो सब कर्मोंके अधीश्वर हैं, उनकी इच्छा और ज्ञानके प्रकाशसे इसप्रकारके कर्म आलोकित हैं— 'योगः कर्मसु कौशलम्।' 'किन्तु दुःख-यन्त्रणामय मानवजन्मके बन्धनसे छुटकारा पाना ही योगीका सर्वसम्मत लक्ष्य कहा जाता है— सांसारिक कर्म करते रहनेसे क्या उसको इस लक्ष्यसे भ्रष्ट नहीं होना पड़ेगा?' नहीं, नहीं होना पड़ेगा? जो ज्ञानी पुरुष फलकामनाका परित्याग करके भगवान्‌के साथ युक्त होकर कर्म करते हैं वह जन्म-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं एवं उसी परमपदको प्राप्त होते हैं जहाँ शोक-दुःखमय मानव-जीवनकी यन्त्रणाका भोग नहीं करना पड़ता।

> कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
> जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
> (२।५१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह जिस पदको प्राप्त करते हैं वह ब्राह्मी स्थिति है; वह ब्रह्ममें दृढ़भावसे प्रतिष्ठित होते हैं। संसार-बद्ध जीवकी अवस्था, ज्ञान, अभिज्ञता, अनुभूति उसके विपरीत हैं। यह द्वन्द्वमय जीवन उनके समीप दिवस-स्वरूप है—यह जीवन उनकी जाग्रतावस्था है, उनकी चेतना है-इस अवस्थासे ही वे कार्य करने, ज्ञान-लाभ करनेका सुयोग प्राप्त करते हैं—परन्तु योगीके लिये ऐसा जीवन रात्रि-स्वरूप है, आत्माकी कष्टकर निद्रा एवं अन्धकार-स्वरूप है। और उनकी जो रात्रि है जिसमें निद्राकी अवस्थामें समस्त ज्ञान और इच्छाएँ रुक जाती हैं, उसीमें संयमी जाग्रत होते हैं, इसी अवस्थामें संयमीका वास्तविक जीवन है, यही उसके ज्ञान और शक्तिका उज्ज्वल दिवस है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
(२।६९)

'साधारण व्यक्तिके लिये जो रात्रिस्वरूप है उस रात्रिमें जितेन्द्रिय योगी जगे रहते हैं; जिसमें साधारण व्यक्ति जगे रहते हैं, स्थितप्रज्ञके लिये वह रात्रिस्वरूप है।' संसारबद्ध अज्ञानी व्यक्ति कीचड़से भरे हुए सामान्य जलके समान—कामनाके सामान्य वेगसे विचलित हो उठते हैं; योगी चेतनाके विशाल समुद्रके समान—यद्यपि वह सभी समय पूरित होता है तथापि वह आत्माकी विराट् शान्तिमें स्थिर और निश्चल है, समुद्रमें जैसे जल प्रवेश करता है, वैसे ही संसारकी समस्त कामनाएँ उनमें प्रवेश कर जाती हैं—तथापि उन्हें कोई कामना नहीं, वे तनिक भी विचलित नहीं होते—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
(२।७०)

जिसप्रकार सारी नद-नदियोंके जलसे परिपूर्ण अतल गम्भीर समुद्रमें वर्षाकी वारिधारा भी आकर प्रवेश करती है उसी प्रकार शब्दादि सारे विषय स्थितप्रज्ञ पुरुषमें प्रविष्ट होते हैं सही, किन्तु उससे वह महात्मा कभी विक्षोभयुक्त नहीं होता प्रत्युत शान्ति ही प्राप्त करता रहता है। कारण, साधारण व्यक्ति 'मैं, मेरा, तुम्हारा' इन सब दुःखदायक भावोंसे भरे रहते हैं, किन्तु योगी पुरुष सर्वव्यापक आत्माके साथ एक होकर रहते हैं एवं उनमें 'मैं, मेरा' का भाव नहीं होता। वे दूसरोंकी तरह ही कार्य तो करते हैं किन्तु वे सारी कामना, सारी लालसाको छोड़ चुके हैं। वे परमशान्ति प्राप्त करते हैं, एवं बाह्य दृश्योंसे कभी विचलित नहीं होते। वे उस एकके अन्दर अपनी क्षुद्र 'अहंता' को निर्वापित कर देते हैं, वे उसी एकत्वमें निवास करते हैं एवं मृत्युकालमें उसी ब्राह्मी स्थितिमें रहते हुए ब्रह्मनिर्वाण-लाभ करते हैं।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥
(२।७२)

गीतामें यह जो निर्वाणकी बात कही गयी है यह बौद्धमतानुयायी आत्मलोपका साधन नहीं है; व्यक्तिगत स्वतन्त्रसत्ताको उस एक अनन्त सत्ताके विराट् सत्यके अन्दर डुबा देनेको ही गीतामें निर्वाण कहा गया है।

इसप्रकार सांख्य, योग और वेदान्तको सूक्ष्म-रूपसे मिश्रित कर गीताशिक्षाकी प्रथम भित्ति स्थापित होती है। पर यह गीताका सर्वस्व बिल्कुल नहीं है, कार्यतः ज्ञान और कर्मके एकत्व-साधन-की अत्यन्त आवश्यकता है, वही यहाँ बतलाया गया है; आत्माकी चरम पूर्णताका जो तीसरा उपादान—भगवत्प्रेम और भक्ति है, उसका तो अभी केवल सङ्केतमात्र ही किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साध्वी कैथेरिन

(लेखक—श्रीजयदयाल डालमिया)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

संसारके रहस्यमय परदेकी आड़में होनेवाली परमात्माकी सृष्टि-सञ्चालन-लीलाको जाननेवाले तत्त्वज्ञानी और प्रभु-प्रेमी सन्तजनोंने कहा है कि ईश्वरीय गुणोंवाले मनुष्यका जन्म संसारमें ईश्वरके प्रेमसम्पादनके लिये ही होता है। साध्वी कैथेरिन तत्त्वज्ञोंकी इस वाणीका रहस्य समझ चुकी थी। उसका चित्त प्रभुकी असीम सुन्दरताको देखनेके लिये व्याकुल हो उठा। दिन-रात वह केवल इसी विचारमें डूबी रहती थी। उसने प्रभुके साथ अपना आध्यात्मिक विवाह कर लिया और उन्हींको वह अपना सर्वस्व समझने लगी। स्त्रियोंके लिये पतिका अनन्त मिलन ही अमर सौभाग्य और उसका वियोग ही दुर्भाग्य या वैधव्य है। कैथेरिन इस अमर-सौभाग्य-प्राप्तिके लिये प्रभुकी प्रेममयी मधुर मूर्तिका अनवरत ध्यान करने लगी। प्रभुका ध्यान ही उसका आहार, और प्रार्थना ही उसकी तृषा-शान्तिके लिये सुधा-सरोवर था। लगातार अनेक दिनोंतक उसने प्रभुके भोगमेंसे ही एक-आध टुकड़ा खाकर जीवन धारण किया था। सच्ची प्रेमभरी इस कठिन साधनाके फलस्वरूप अन्तमें उसको प्रियतम प्रभुने दर्शन दिये, जिससे वह कृतकृत्य हो गयी।

एक दिन कैथेरिनको प्रभुकी मूर्ति एक हाथमें सोनेका और दूसरेमें काँटोंका मुकुट लिये यह कहते हुए दिखायी दी कि 'इन दोनोंमेंसे तुम अपनी इच्छानुसार कोई-सा एक मुकुट ले सकती हो।' कैथेरिन चाहती तो स्वर्ण-मुकुट लेकर संसारके समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कर सकती थी, लेकिन उसने अपने प्रियतमका सदा स्मरण दिलानेवाला काँटोंका मुकुट ही ग्रहण किया। पाण्डवजननी कुन्तीने भी भगवान्‌से दुःखका ही वरदान माँगा था, धन्य है भक्तोंके अनोखे भावको—

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम रटाय॥

अब कैथेरिनकी सुख्याति चारों ओर फैलने लगी। उसपर लोगोंकी भक्ति और श्रद्धा दिनों-दिन बढ़ने लगी। झुण्ड-के-झुण्ड नर-नारी उसके दर्शन और उपदेश प्राप्त करनेके लिये आने लगे। कैथेरिनके दर्शन, संग और सदुपदेशोंका ऐसा प्रभाव था कि उन्हें पाकर पापीलोग भी पाप-पथसे हटकर धर्म-मार्गपर आ जाते थे। लोगोंका विश्वास इतना अधिक बढ़ गया कि महान् दुराचारी स्त्री-पुरुष उसके पास आते और जैसे छोटे बच्चे अपनी स्नेहमयी जननीके सामने निःसंकोच मनकी बात कह देते हैं, वैसे ही अपनी पाप-करनियोंको बयान कर पश्चात्ताप करते; कैथेरिन उनसे घृणा न कर विशेष प्रेम दिखलाती हुई उन्हें सान्त्वना देती और प्रभुसे क्षमा-याचना करनेका उपदेश करती, साथ ही स्वयं भी उनके लिये सच्चे हृदयसे प्रार्थनाएँ किया करतीं। एक बार नन्नेस (Nennes) नामक एक दुराचारी कैथेरिनके पास आया। बहुत चेष्टा करनेपर भी जब उसकी वृत्तियाँ नहीं सुधरीं, तब दयासे प्रेरित होकर कैथेरिन उसके लिये गद्गद्-कण्ठसे भगवान्‌से कातर-प्रार्थना करने लगी। भक्तिमयी कैथेरिनकी प्रार्थना प्रभुने सुन ली; थोड़े ही समयमें उस मनुष्यमें अद्भुत परिवर्तन हुआ और वह पश्चात्तापके आँसू बहाता हुआ कैथेरिनके चरणोंमें गिर कृतज्ञता प्रकट करने लगा। उसने आग्रह करके कैथेरिनको एक सुन्दर मकान अर्पण किया। कैथेरिनने इसी घरमें आश्रमकी स्थापना कर दी। क्या ही सुन्दर सुधारका उपाय है। आपसमें एक दूसरेका प्रतिवाद करनेसे द्वेष, वैमनस्य, द्रोह और अशान्ति बढ़नेके सिवा और कोई विशेष लाभ नहीं होता। सच्चे सुधारक इसप्रकारके प्रतिवादसे दूर रहकर जिनका सुधार करना चाहते हैं, उनसे सच्चा प्रेम रखते हुए उनके लिये ईश्वरसे सच्चे हृदयसे यही प्रार्थना करते हैं कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्‌दुःखभाग्भवेत्॥

सांसारिक विषय-भोगोंमें संन्यासिनी कैथेरिनकी ज़रा भी आसक्ति नहीं थी। परन्तु वह सांसारिक लोगोंसे घृणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी नहीं करती थी। वह सबके साथ सगे भाई-बन्धु आत्मीय स्वजन एवं माता-पिताकी तरह स्नेह करती। अपने माता-पिता आदि कुटुम्बियों सहित सबकी सेवा करना उसने अपने धर्मका एक अंग बना रक्खा था। इसलिये कई बार वह अपने माँ-बापकी सेवा करनेके लिये भी घरपर जाकर रहा करती थी। एक दिन उसके हृदयमें ईश्वरकी यह आदेशवाणी स्फुरित हुई कि 'तुम अबसे अपना सर्वस्व लगाकर दीन-दुखियोंकी सेवा करो।' तदनुसार उसी समयसे उसने दीनसेवाको अपने जीवनका एक मुख्य अङ्ग बना लिया। सन् १३७० ई० में पिताके स्वर्गवासके बाद कैथेरिन अपनी माता एवं भाई-बन्धुओंकी सेवा करनेके लिये फिर घर आयी। वहाँ कभी तो वह दीन-दुखियोंकी सेवामें, और कभी माता आदिकी शुश्रूषामें लगी रहती। इसप्रकार दिन-रातका उसका अधिकतर समय इसी काममें बीतने लगा। सन् १३७४ ई० में देशमें भयङ्कर महामारी फैली, हजारों मनुष्य मरने लगे। लोगोंके असीम कष्टको देखकर कैथेरिन, जैसे माता अपने बालकोंके संक्रामक रोगका विचार किये बिना ही उनकी सेवा करती है, वैसे ही सबकी सेवामें लग गयी। इसी समयसे कैथेरिनकी ख्याति दूर देशोंमें भी फैलने लगी और देश-देशान्तरोंसे लोग श्रद्धा और भक्तिपूर्वक उसके दर्शनको आने लगे।

सन् १३७५ ई० में फ्लारेंस-नगरके निवासियोंने पोपके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उस समय पोपको इस विवादके मिटानेमें कैथेरिनपर बड़ा भरोसा था। इसी गरजसे वह बोले कि 'मैं शान्तिके सिवा और कुछ भी नहीं चाहता। इस विवादके मिटानेका भार मैं तुमपर देता हूँ। लेकिन इतना ध्यान रखना कि गिरजेके सम्मानमें बट्टा न लगने पावे।' इसके जवाबमें कैथेरिनने पोपको बड़े ही प्रभावशाली शब्दोंमें उसके और उसके अधीनस्थ धर्मोपदेशकोंके कार्योंकी तीव्र आलोचना करते हुए और पुराने धर्माचार्योंकी महत्ता दिखाते हुए एक बड़ा ही शिक्षाप्रद पत्र लिखा था। पत्रमें उसने समझाया था कि 'ईश्वरके कार्यके लिये नियुक्त रहनेवाले लोग यदि अपने शारीरिक और इन्द्रियजनित सुखकी ओर देखने लगें तो उनके द्वारा संसारका भला होना बड़ा ही कठिन है।' इस झगड़ेको निपटानेके लिये देशके बड़े-बड़े न्यायाधीशोंने भी कैथेरिनको लिखा था। कैथेरिनकी कार्य-कुशलतासे झगड़ा तो मिट गया, लेकिन बेचारे पोपके भाग्यमें इस शान्तिका उपभोग नहीं बदा था, इसलिये वह पहले ही परलोक सिधार गया।

कैथेरिनकी आत्मशक्तिमें इतनी प्रबलता और इतना प्रभाव हो गया कि प्रायः असम्भव मानी जानेवाली अघटनाएँ भी उसके प्रभावसे सत्य सिद्ध होने लगीं। एक समयकी बात है कि पेरुगुआ शहरके एक नवयुवक जमींदारको सायेनाकी सरकारने राजद्रोहके अभियोगमें प्राणदण्डकी सजा दी। उस युवक जमींदारने वहाँकी गवर्नमेण्टकी कड़े शब्दोंमें आलोचना की थी। ईश्वर और धर्मके रहते हुए भी केवल इस थोड़े-से अपराधके लिये इतना भयङ्कर दण्ड दिये जानेके अन्यायपर युवकको बड़ा क्रोध और दुःख हुआ और वह ईश्वरको भला-बुरा कहकर प्रलाप करने लगा। उसकी स्थिति बड़ी करुणोत्पादक हो गयी थी। अशान्तिके मारे उसको तनिक भी चैन नहीं पड़ती थी। इस युवककी ऐसी दुर्दशाका हाल सुनकर कैथेरिनके हृदयमें स्नेह उमड़ आया और वह स्वयं सान्त्वना देनेके लिये उसके पास गयी। कैथेरिनके स्नेहपूर्ण वचनोंसे युवकको बड़ी शान्ति मिली और उसने कैथेरिनके सामने अपने हृदयको खोलकर रख दिया। कैथेरिनके उपदेशसे वह मृत्युको सहर्ष आलिङ्गन करनेके लिये तैयार हो गया। मृत्यु-समयमें भी उसका ईश्वरके प्रति पूर्ण विश्वास था। उसने अन्त समयमें कैथेरिनसे अपने पास रहनेके लिये प्रार्थना की थी, इस कारण प्राणदण्डके समय वह वहीं उपस्थित थी। युवकने कैथेरिनके साथ मिलकर अन्तिम प्रार्थना की। कैथेरिनने चाहा कि युवककी जगह मैं ही फाँसीपर लटका दी जाऊँ, और इसके लिये उसने फाँसीके तख्तेपर अपना सिर भी रक्खा, लेकिन ऐसा न हो सका। उसने उसके लिये ईश्वरसे प्रार्थना की—'हे ईश्वर, इस युवकके हृदयमें प्रकाश और शान्ति प्रदान करो' और वह उसके प्रसन्न मुखकी ओर देखने लगी। युवक भी भीड़के सामने हँसता हुआ बध-स्थानपर जा पहुँचा। कैथेरिन उसे ईसाकी मृत्यु-कथाका स्मरण दिलाती हुई उसका मस्तक फाँसीके तख्तेपर रखकर बोली—'प्यारे भाई, अब तुम अपना मस्तक नीचे करो और प्रभुका स्मरण कर तैयार हो जाओ।' युवकके मुँहसे 'ईश्वर' और 'कैथेरिन' दो अन्तिम शब्द निकले और वह सदाके लिये ईश्वरके साम्राज्यमें अनन्त शान्ति लाभ करने चला गया। कैथेरिनने 'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो' कहकर आँखें बन्द कर लीं और उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथोंपर उस युवकका छिन्न मस्तक आ पड़ा। अहो! भक्तोंकी क्या ही विचित्र महिमा है? उनके थोड़ेसे संगसे ही मनुष्य सदाके लिये प्रभु-परायण निर्भय हो जाता है।

एक समय टेक्का नामक एक स्त्रीको भयानक कोढ़ हो गया। उसके घावोंकी दुर्गन्धसे कोई भी मनुष्य क्षणभरके लिये भी उसके पास शान्तिसे नहीं ठहर सकता था। इसलिये वहाँके अफसरने उसको ग्रामके बाहर किसी एक मठमें रखनेकी आज्ञा दी। टेक्का असहनीय वेदनाके मारे व्याकुल थी। यह करुण-कथा कैथेरिनके कानोंमें पड़ते ही वह उसकी सेवाके लिये जानेको तैयार हो गयी, लेकिन उसके स्वजन-बान्धवोंको यह बात नहीं रुची, वे बोले कि 'हमलोग तुम्हें एक कोढ़ी स्त्रीकी सेवा करके अपना अमूल्य जीवन नष्ट नहीं करने देंगे।' उनकी यह धारणा थी कि यदि कैथेरिन इसप्रकार अपने जीवनसे हाथ न धोकर और और सेवाके कार्य करेगी तो संसारका ज्यादा उपकार होगा। लेकिन कैथेरिन इस बातको कब मानने लगी। उसके सामने जो कार्य आता वह उसीमें लग जाती। फिर हाथमें आये भगवत्सेवाके अवसरको वह कैसे जाने देती। भगवान्‌का आदेश उसे स्मरण था, कैथेरिन टेक्काके पास गयी और बहिनकी तरह उसकी सेवा करने लगी।

टेक्काका पीड़ाके मारे दिमाग ठिकाने नहीं था, इसलिये वह कैथेरिनको जब वह प्रार्थना करनेके लिये अलग एकान्तमें जाती, तब क्रोधमें भरकर बुरी तरह कोसने लगती। परन्तु कैथेरिनने उसके सब प्रकारके दुर्वचन सहकर भी उसकी सेवा करना नहीं छोड़ा।

लोग प्रायः ऐसे अवसरोंपर किसी प्रकारका बहाना बनाकर कह दिया करते हैं कि 'अमुक सेवा-कार्य तो कोई भी कर सकता है, हम अपना अमूल्य समय किसी दूसरे महत्त्वके काममें देंगे तो संसारका विशेष लाभ होगा।' परन्तु ऐसी धारणा ग़लत है। मनुष्यके क्षणभङ्गुर जीवनकी क्या निश्चयता है? जीवनमें सेवाके असली अवसर बार-बार नहीं आया करते। इसलिये हाथ आये हुए मौकेको कभी न छोड़ना चाहिये, चाहे वह सेवाका कार्य मामूली हो या बड़ा, आसान हो या कठिन। यदि परोपकारके कार्यमें सर्वस्व भी होमना पड़े तो भी पीछे न हटना चाहिये। जो परोपकारके लिये सर्वस्व त्याग करनेको तैयार नहीं, वह सेवाका महत्त्व नहीं समझता।

इतना सब हो चुकनेपर भी कैथेरिनके इष्टदेवको सन्तोष न हुआ। वे उसे स्वर्णकी तरह और भी तपाकर कान्तिमय बनाना चाहते थे। इसलिये अबकी बार उसके सामने और भी भयङ्कर परीक्षा-अग्नि प्रकट की गयी। कैथेरिनके साथ एण्ड्रिया नामक एक संन्यासिनी भी उसी आश्रममें रहती थी। वह संन्यासिनी तो थी, लेकिन उसका ध्येय किसी प्रकारसे यश प्राप्त करना था। अच्छे कर्म तो उससे बनते नहीं थे, जिससे उसकी ख्याति होती। वह दूसरोंकी ख्यातिसे ईर्षा करने लगी। उसके वक्षःस्थलपर एक घाव हो जानेसे उसमें बड़ी दुर्गन्ध निकलती थी, जिससे कोई भी उसकी सेवा नहीं कर सकता था। इसलिये उसकी परिचर्यामें भी कैथेरिन ही रहने लगी। द्वेषाग्निसे जलती हुई कृतघ्ना एण्ड्रिया प्राणपणसे सेवा करनेवाली कैथेरिनकी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा न देख सकी। इसलिये अन्य उपाय न देख, उसने उसके शीलपर मिथ्या कलङ्क लगाना शुरू किया और कहने लगी कि 'कैथेरिन मेरी सेवाके बहाने अपना पाप-कार्य चरितार्थ कर छिपाना चाहती है।' उस राक्षसीने इसप्रकार ऐसी चतुराईसे इस मिथ्या बातका प्रचार करना शुरू किया कि जिससे बहुतोंको उसपर विश्वास होने लगा। यहाँतक हुआ, कि एक दिन आश्रमवासिनी कई स्त्रियोंने कैथेरिनकी बड़ी भर्त्सना की। परन्तु कैथेरिनकी इससे शान्ति भंग नहीं हुई और वह दृढ़ताके साथ उनको समझा-बुझाकर कहने लगी—'आप लोग विश्वास रक्खें, मैं जन्मसे कुमारी हूँ। प्रभुकृपासे मेरे ब्रह्मचर्यव्रतमें दुनियाकी कोई भी शक्ति बाधक नहीं हो सकती।' कैथेरिन एकान्तमें कलङ्क-भञ्जन ईश्वरसे प्रार्थना करने लगी।

परमात्माने स्त्रियोंको स्वाभाविक ही सहनशक्ति दी है। कष्ट-सहिष्णुता और क्षमाकी तो मानो वे मूर्ति ही हैं, परन्तु वे अपने शीलव्रतपर किसी भी प्रकारका मिथ्या आक्षेप या कलङ्क नहीं सह सकती। कैथेरिनकी माता लापाने भी जब यह सुना कि उसकी पवित्रताकी मूर्ति प्यारी बेटी कैथेरिनपर इसप्रकार झूठे कलङ्क लगाये जा रहे हैं तो वह पगलीकी भाँति दौड़ी उसके पास आयी और बोली—'मैं तुम्हारा अपमान किसी प्रकार नहीं सह सकती और न तुम्हें कृतघ्ना एण्ड्रियाके पास उसकी सेवा करनेके लिये जाने दूँगी। यदि तू अब उसके पास गयी तो मैं समझूँगी कि हम तुम्हारे कोई नहीं हैं।' बेचारी कैथेरिन बड़े धर्म-सङ्कटमें पड़ गयी। वह धीरज धरकर मातासे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोली--'माता! मनुष्य तो न मालूम कितनी बार ईश्वरको अस्वीकार कर उसके कितने अपराध करता है। क्या इससे ईश्वर उनपर दया करना छोड़ देता है? क्या हमारे प्रभुने शूलीपर चढ़ते समय अपने शत्रुओंकी मङ्गलकामना नहीं की थी? तब फिर हम भी एग्डियाको क्षमा क्यों नहीं कर देतीं? ईश्वरने उसकी सेवाका भार हमारे ऊपर दिया है। यदि हम अपने कर्तव्यसे च्युत होती हैं तो क्या हम ईश्वरके अपराधी न होंगी?' कैथेरिनके करुणामय शब्दोंसे माताकी आँखोंसे अश्रुधारा बह चली और अपनी कोखसे ऐसा रत्न पैदा करनेके लिये वह ईश्वरको धन्यवाद देने लगी। कन्याके हृदयको मानापमानसे इतना ऊँचा उठा देख वह और कुछ न कह सकी।

कितनी कठिन परीक्षा है? मनुष्य अपनी इज्जत बनाये रखनेके लिये धन, जन तथा कभी-कभी तो प्राणोंतकका विसर्जन कर देता है। लेकिन--

कञ्चन तजना सहज है सहज त्रियाका नेह।
मान बड़ाई ईर्षा, दुर्लभ तजना येह॥

धन्य कैथेरिन! तुमने कितनी सरलता और दृढ़ताके साथ इस मान-बड़ाईकी कठिनतम दुर्गम घाटीको पार कर लिया! हमलोग स्वयंसेवककी चपरास (बैज) मात्र लगाकर अपनेको धन्य समझते हैं और अभिमानमें अकड़े जाते हैं। लेकिन सच्चा सेवक वही है जो अपनेको 'तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना' बना सकता है।

कैथेरिनने अपना सेवा-कार्य पूर्ववत् जारी रक्खा। सत्य कबतक छिपा रह सकता है? क्या मेघ सूर्यको छिपाकर उसका अस्तित्व मिटा सकते हैं? अन्तमें प्रेमसे पाषाणहृदय पिघल ही गया। एग्डियाका हृदय आजन्म ब्रह्मचारिणी पवित्र संन्यासनीपर झूठा कलङ्क लगानेके अपराधसे जलने लगा। अब वह पश्चात्तापकी प्रज्वलित अग्निका ताप न सह सकी और रोती हुई कैथेरिनके चरणोंमें गिर अपना अपराध स्वीकार कर क्षमा-प्रार्थना करने लगी।

इस घटनाके बाद कैथेरिनपर लोगोंकी भक्ति और श्रद्धा और भी बढ़ गयी। पुण्यके प्रकाशसे उसका जीवन उज्ज्वल हो गया। वह अन्तरमें दिव्य शान्ति और परमानन्दका अनुभव करने लगी। उसके नेत्र सर्वदा अपने प्रभुके दर्शनकर तृप्ति-लाभ करने लगे और उसे प्रेम-समाधि होने लगी। भगवत्-दर्शन और नाम-श्रवणमात्रसे उसका बाह्यज्ञान जाता रहता और शरीर मृतकतुल्य स्थिर हो जाता। उसकी आत्मा परमात्मामें तल्लीन हो जाती। अब वह शरीरको और विशेष दिन धारण न कर सकी और परलोकयात्राकी तैयारी करने लगी। अन्तमें सन् १३८० ईस्वीके २९ वीं अप्रैलके दिन कैथेरिन अपने समीप उपस्थित प्रत्येकसे विदा माँगकर जानेको प्रस्तुत हो गयी और मुँहसे 'हे प्रभो! यह आत्मा अब तुम्हारे ही हाथोंमें अर्पण करती हूँ' कहकर ३३ वर्षकी अवस्थामें ही नश्वर शरीरको छोड़ परलोक चली गयी।

कैथेरिनके उपदेशवाक्य, जिनमेंसे कुछ नीचे उद्धृत हैं, बड़े ही सुन्दर और शिक्षाप्रद हैं। दुःख है कि ऐसे ऊँचे सिद्धान्तोंवाले ईसाई-धर्मके अनुयायी लोग आज ईसाई बननेका दावा करते हुए भी निःशस्त्र निरीह लोगोंपर जुल्म करनेसे बाज नहीं आते।

'जो जीव आत्मविस्तृत होकर एवं समस्त संसारको भुलाकर केवल स्रष्टाकी ओर दृष्टि रखता है वही सिद्ध है।'

'जो जीव अपने तन-मनकी अयोग्यता और निर्बलताको समझ सकता है और उसके लिये जो कुछ भी सुखदायक या मङ्गलकारी है वह सब उसे ईश्वरसे ही प्राप्त होता है' ऐसा अनुभव करता है वही आत्मा सर्वभावसे ईश्वरको आत्मसमर्पण कर सकता है और वही परमात्मामें तल्लीन हो सकता है।'

'जो जीव ईश्वरके साथ योगयुक्त होकर जितना उससे मिल सकता है उतना ही वह अपने पापों और मलिन भावोंकी तरफ घृणा प्रकट कर सकता है। जिसके हृदयमें अपने पापों और मलिन भावोंके प्रति घृणा उत्पन्न नहीं होती, उसके हृदयमें ईश्वरका प्रेम सञ्चरित नहीं होता, यह निश्चित बात है।

'तुम विनयी बनो। परीक्षा और दुःखके समय सहिष्णुता रक्खो। सौभाग्यके समय गर्वमें फूल न जाओ। इसप्रकार अपने आपको सर्वदा संयम और शासनमें रक्खो। इसप्रकार आचरण करनेसे तुम ईश्वर और मनुष्योंके प्रियपात्र बन सकोगे।'*

* गुजराती और बंगला जीवनियोंके आधारपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश-तत्त्व

(लेखक—पं० कृष्णदत्तजी भारद्वाज, आचार्य, शास्त्री, बी०ए०)

अनन्त नभोमण्डलमें असंख्येय तारावली जिनके भृकुटि-विलाससे सतत परिभ्रमण किया करती है, जिनकी आज्ञासे उत्तुङ्ग तरङ्ग मालाकुल अपार पारावार तथा गगनचुम्बी हिमाच्छादित गिरि-श्रेणियाँ अपनी मर्यादामें अवस्थित हैं, जिनके शासनसे सूर्यदेव तथा चन्द्रदेव अनवरत परिक्रमणमें दत्तचित्त हैं, किंबहुना—जगत्‌का समस्त व्यापार जिनकी इच्छासे हो रहा है वे ही ईश्वर, परमेश्वर, महेश्वर, प्रणवके वाच्य श्रीभगवान् हैं।

जीव-तत्त्वसे ईश-तत्त्वमें इतना अन्तर है कि जीव तो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाँच क्लेशोंसे, कुशल तथा अकुशल इन दो प्रकारके कर्मोंसे, कर्मके फलसे, और कर्मगत वासनासे संयुक्त है, परन्तु ईश्वर इन अविद्यादिसे सर्वथा वियुक्त हैं। यद्यपि जीव भी मोक्षावस्थामें क्लेशादिसे रहित हो जाते हैं तथापि वे ईश्वर नहीं हो जाते। जीव तो प्राकृतबन्ध, वैकारिकबन्ध तथा दक्षिणाबन्ध इन तीन बन्धनोंको काटनेके अनन्तर मुक्त होता है, परन्तु ईश्वर सदैव मुक्त हैं। इसको यों समझ सकते हैं कि यदि कोई जीव आज मुक्त हुआ है तो आजसे पहले वह बद्ध था, और जो आज प्रकृतिलीन हुआ है उसकी अभी भविष्यमें कुछ दिनों तक और बन्धनकी सम्भावना है, परन्तु ईश्वर न कभी बद्ध थे, न हैं और न होंगे। औत्तानपादि ध्रुवने स्तुति करते समय कहा था 'त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा

कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः' (भा० ४।९।१५)

योगिजनोंके विषयमें कहा गया है 'सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च' अर्थात् वे सर्वाधिष्ठाता एवम् सर्वज्ञाता हो जाते हैं, परन्तु योगियोंका यह सर्वज्ञातृत्व सातिशय है अर्थात् ईश्वरीय सर्वज्ञातृत्वके समान नहीं है अतएव ईश्वरके वर्णनमें शास्त्रमें लिखा है 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' 'यत्र काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेषः' अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान ही सबसे बढ़कर है। गीतामें भी इसी भावके कतिपय वचन मिलते हैं यथा—'तानहं वेद सर्वाणि' 'मां तु वेद न कश्चन' 'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।' वायुपुराणमें ईश्वरीय गुणोंकी गणनामें सर्वज्ञत्वको ही प्रथम स्थान दिया है। यथा—

सर्वज्ञतातृप्तिरनादिबोधः
स्वतन्त्रतानित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥

'मुक्तोंका प्रभाव निरवग्रह, अनन्त, निरतिशय, निरर्गल होना चाहिये' यह कतिपय मनीषी शङ्का करते हैं और अपने मतके पोषणमें वे 'आप्नोति स्वाराज्यम्' आदि श्रुतिवचनोंको उद्धृत करते हैं। परन्तु इस शङ्काका निरसन करते हुए शङ्कराचार्यजीने लिखा है कि 'आधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थित ईश्वरस्तदायत्तैवेयं स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते। याकारणमनन्तरम् 'आप्नोति मनसस्पतिम्' इत्याह। यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नोतीत्येतदुक्तं भवति।' उक्त संस्कृत-वचनोंका आशय यही है कि विशेष दिव्य धामोंमें विराजमान पूर्वसिद्ध जो ईश्वर हैं उनके ही अधीन मुक्तोंकी स्वाराज्य-प्राप्ति है।

मुक्त पुरुष अनेक हैं ('कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः'—योगभाष्य) उनको अणिमादि सिद्धि प्राप्त हो जाती हैं। पतञ्जलिजीका 'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च' यह सूत्र इसी बातको कह रहा है तथा शंकराचार्यजीने भी कहा है कि 'जगदुत्पत्त्यादि व्यापारं वर्जयित्वा अन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति ।' यद्यपि मुक्त पुरुषोंका भी यथाकाम विचरणादि प्रभाव परम विस्मयकारक होता है तथापि ईश्वरमें उनसे एक विशेषता है, और वह है जगद्व्यापार, अर्थात् मुक्तपुरुष जगत्की सृष्टि, स्थिति, प्रलय, नहीं कर सकते। यह लीला तो नित्यमुक्त परमेश्वर पुरुषोत्तमकी ही है।

बद्ध जीवकी अपेक्षा स्वतन्त्र होते हुए भी मुक्त जीव परमेश्वरके अधीन ही हैं। अतएव शंकराचार्यजीने कहा है 'परमेश्वराकूततन्त्रत्वमेवे तरेषामिति व्यवतिष्ठते ।'

मुक्त पुरुषका सृष्टिकार्यमें असमर्थ होना पढ़कर कदाचित् कतिपय पाठक इसे उचित न कहें तथापि यह तो शास्त्रनिर्धारित तथ्य ही है। एक और स्थलमें भाष्यकार शंकरजीने लिखा है 'यत् सर्वज्ञं सर्वशक्तिब्रह्मनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम् शारीरदधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः ।' तथा 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च' इस श्रीव्याससूत्रके भाष्यमें कहा गया है 'जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य । कुतः ? तस्य तत्र प्रकृतत्वात् असंनिहितत्वाच्चेतरेषाम् । पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः । तमेव प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात् नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च । तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकं तु इतरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते । तेनासंनिहितास्ते जगद्व्यापारे ।'

साधुपरित्राण एवं धर्मरक्षाके निमित्त अवतीर्ण होना भी श्रीभगवान्की एक विशेषता है जो जीवमें नहीं है।

भगवान्की ऐसी ही कुछ अप्रतर्क्य महा महिमा है कि उनके मेघसमान नीलवर्णका पुण्यदर्शन कर मनमयूर स्वयं बोलने लगता है कि-

'पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।'

समस्त सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त होनेपर भी जो जीव भगवान्में भक्ति करते हैं इसका क्या कारण है ? केवल उनकी अज्ञेय गुणावली ही। शास्त्रका वचन है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

हे विश्वेश्वर ! हमें भी अपने चरणारविन्द युगलमें अनुराग दीजिये।

गणेश-वन्दना

गणपति जय राष्ट्र-देव हिन्द-प्राण हे !
आर्य-मान सुख-निधान दुःख-त्राण हे !
विद्या बुध ज्ञान सदन,
निज-जन-दुख-भार-हरन,
भारत-उद्धार-करन, बल महान हे !
सर्वश्रेष्ठ लसत भाल,
एक्य रूप भुज विशाल,
सेवत खल रूप व्याल, शक्तिमान हे !
अमल अगम ओज अमित,
वन्दनीय विश्व-विदित,
'कुसुमाकर' बन्दत नित, हित-विधान हे !

—देवीप्रसाद गुप्त (कुसुमाकर) बी० ए०, एल-एल० बी०,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैकुण्ठ या साकेत

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

रायबहादुर अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी बी० ए० लिखित 'साकेत' शीर्षक एक लेख 'कल्याण' के अङ्क ४ (कार्तिक) पृष्ठ ७४६ में छपा है। उसमें रामायणाङ्कके परिशिष्टाङ्कमें प्रकाशित लेख 'श्रीसुतीक्ष्णजीकी प्रमाभक्ति' को कुछ परिमार्जन करनेकी कृपा की गयी है, इसके लिये हार्दिक धन्यवाद है। लालाजीके विशेष सन्तोषके लिये तो 'श्रीरामावतारके विभिन्न हेतु और उनका रहस्य' शीर्षक लेख ही है जो कल्याणके अङ्क ५ (मार्गशीर्ष) के पृष्ठ ८२२ से प्रकाशित हो रहा है, जिसके अवलोकनसे श्रीरामचरित-मानसके 'कोशलपति राम' सम्बन्धी सारे भेद-भाव, अर्थात् वे वैकुण्ठनाथ परवासुदेवसे पृथक् कोई और हैं या वही हैं, उनका नित्यधाम परवैकुण्ठ ही है या कोई और है एवं श्रीरामकृष्णादि अवतारोंमें स्वरूपसे ऐक्य है अथवा न्यूनाधिक्य है? इनका पूर्णतया समाधान हो जायगा। रही 'साकेत' शब्दकी बात; जिसका आरोपण करके प्रभुके परधाममें द्वैत पैदा किया गया है। उसका तो ग्रन्थकार श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने ही रामचरित-मानसके सातों काण्डोंमें कहीं नाम भी नहीं लिया है। रामायण ही क्यों, श्रीतुलसी-रचित किसी भी ग्रन्थमें 'साकेत' शब्दका उल्लेखतक नहीं हुआ है। इसका कारण यही है कि श्रीगोस्वामीजीके ग्रन्थ किसी एक सम्प्रदायके पोषक तथा पक्षपाती न होकर उनके सङ्कल्पानुसार 'नानापुराणनिगमागमसम्मतम्' के ही प्रतिपादनार्थ रचित हैं। राम बड़े हैं या कृष्ण बड़े हैं, इन झगड़ोंसे बचनेके लिये गोस्वामीजीने 'साकेत', 'गोलोक' आदि शब्दोंको छुआ तक नहीं है। यदि गोस्वामीजी अपने प्रतिपाद्य भगवान् श्रीरामको अखिल ब्रह्माण्डनायक परवासुदेव वैकुण्ठनाथ वा व्यापक ब्रह्म अथवा श्रीक्षीराब्धिनाथसे अन्य पृथक् कोई साकेतनाथ मानते होते तो जहाँ-जहाँ श्रुतिप्रतिपाद्य शब्द 'वैकुण्ठ' आया है वहाँ-वहाँ क्या 'साकेत' नहीं रख देते? मात्राकी समतासे ऐसा सहज ही किया भी जा सकता था। यथा—

अस कहि जोग अगिन तनु जारा। राम कृपा बैकुण्ठ सिधारा॥

—की जगह,

अस कहि जोग अगिन तनु जारा। रामकृपा साकेत सिधारा॥

—लिख देनेमें क्या आपत्ति थी? तात्पर्य, श्रीशरभंगजी 'अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धरि राम' का ध्यान माँगकर वैकुण्ठ नहीं गये वरं साकेतको ही गये, यही उल्लेख मिलता। परन्तु ऐसा कदापि नहीं पाया जाता। स्पष्ट वैकुण्ठ जाना सिद्ध है। पुनः—

'गयो गरुड़ बैकुण्ठ तब हृदय राखि रघुबीर'

की जगह—

'गयो गरुड़ साकेत तब हृदय राखि रघुबीर'

—यही लिखना था अर्थात् गरुड़जी श्रीरघुवीरको हृदयमें धारण करके उनके धाम वैकुण्ठ नहीं गये, साकेतको ही गये हैं। परन्तु ऐसा कदापि नहीं है, उनका भी वैकुण्ठ ही जाना स्पष्ट लिखा है। बल्कि जिस चौपाईका प्रमाण देकर लालाजी साकेत सिद्ध करना चाहते हैं, उसमें भी साकेत न लिख करके 'बैकुण्ठ' शब्द ही दिया गया है। अर्थात् 'यद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना' पाया जाता है न कि 'यद्यपि सब साकेत बखाना'। यहाँ तो अवश्य ही 'साकेत' का प्रयोग होना चाहिये था क्योंकि 'अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ' से स्पष्ट है कि अवध शब्द इस लीलाधामका ही सूचक है, क्योंकि 'कपिन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखावत नगर मनोहर'—कपियोंको अंगुलि-निर्देश करके दिखला रहे हैं कि यह जो अवध मेरी (जन्मभूमि) पुरी है, सो मुझे नित्यधाम उस वैकुण्ठसे भी प्रिय है जिस वैकुण्ठकी बड़ाई सभी करते हैं, जिसका महत्त्व वेद-पुराणोंमें विदित है एवं जिसे संसार जानता है। इससे स्पष्ट है कि श्रीमुख-वाक्यसे भी प्रभुका नित्यधाम नित्य विभूतिमें साकेत न होकर वैकुण्ठ ही है तथा वही वैकुण्ठ वेदपुराणोंमें विदित है, जिन वेद-पुराणादिसे सम्मत रामचरित-मानसकी रचनाका गोस्वामी-जीका संकल्प है।

ग्रन्थकारको कालिदास या कबीरका अनुयायी होकर किसी मतमतान्तरके पक्षकी सिद्धि करना अभीष्ट नहीं था, जिनके वाक्योंको लालाजीने अपने लेखमें प्रमाणरूपसे रक्खा है। यदि यह स्वीकार होता तो श्रीगोस्वामीजी 'नानापुराण-निगमागमसम्मत' क्यों कहते ? फिर यह लिखना कि 'फिर यदि ब्रह्मलोकमें विष्णु और लक्ष्मीके रूपमें विराजेंगे और लक्ष्मणजी फिर रसातलमें निवास करेंगे तो सुतीक्ष्णजीकी प्रार्थना व्यर्थ हो जायगी।' परिशिष्टाङ्कमें प्रकाशित लेखके किसी भागमें ऐसा नहीं है। श्रीलक्ष्मीनारायण पर-वासुदेवका नित्यधाम ब्रह्मलोक कैसे माना जा सकता है ? जिसके लिये गीता स्पष्ट घोषणा कर रही है कि—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(८-१६)

यह 'मामुपेत्य' उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णका वाक्य है जिनका धाम 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।' है। और नित्यशेष श्रीलखनलालजीका नित्यधाम वैकुण्ठ और क्षीरसागर छोड़कर (अनित्य) रसातल लोक बताना कहाँतक ठीक है? परिशिष्टांकके लेखमें 'परधाम' शब्द स्पष्ट लिखा गया है जिसका अर्थ ब्रह्मलोक और रसातल लगाना उचित नहीं, इसी प्रकार श्रीसुतीक्ष्णके प्रति भगवद्ध्यानकी आर्तावस्थाका विनोदसूचक, भगवत्—भागवत-रहस्य-प्रकरण, उनकी प्रार्थना ही व्यर्थ हो जानेके अर्थमें खींचकर लगाना भी समुचित नहीं जान पड़ता। सुतीक्ष्णजीकी प्रार्थना तो श्रीमुखसे 'एव-मस्तु कहि रमानिवासा' प्रमाणद्वारा सफल हो ही जाती है, इसकी व्यर्थताकी कल्पना ही व्यर्थ है।*

आत्मदृढ़ता

चाहे कितने ही कष्ट झेलने पड़ें न मुझे, किन्तु मन-मंदिरसे तुम्हें न हटाऊँगा।
यंत्रणाएँ विश्वकी अशेष क्यों न फाट पड़ें, चरण-नखोंसे किन्तु चित्त न वटाऊँगा॥
आपके प्रपंचने भुलाया मुझे खूब नाथ! किन्तु शेष जीवन न व्यर्थ यों लुटाऊँगा।
सादर स्वीकार, जिस भाँतिसे रखोगे मुझे, प्रेम-भावनासे सब हुकुम उठाऊँगा॥

—चतुर्वेदी रामचन्द्र-शर्मा 'विद्यार्थी'

* सम्मान्य श्रीजयरामदासजीके लेखपर श्रद्धेय लाला सीतारामजीका साकेत शीर्षक लेख कल्याणमें प्रकाशित हो गया था, इसीसे उसके उत्तरमें यह लेख प्रकाशित करना पड़ा। अब भविष्यमें इस सम्बन्धमें कोई लेख नहीं छापा जायगा। भगवान्के परमधामका रहस्य भगवत्प्राप्त तत्त्वज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। भक्त अपनी इच्छा और भावनानुसार वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक, कैलास आदि भिन्न-भिन्न नामोंसे उसे पुकारते हैं और अपनी-अपनी भावनाके अनुसार उन्हें वैसा ही दीखता है जो वास्तवमें सत्य ही है। भगवान्में सभी नाम रूप समाते हैं। 'जिन्हकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।' यही बात भगवान्के परमधामके सम्बन्धमें समझनी चाहिये।—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुलसीकृत रामायणमें करुणा-रस

(१)

प्रस्तावना

(लेखक—श्रीराजबहादुर लमगोड़ा एम०ए०, एल-एल०बी०)

बर्नार्ड शा (Bernard Shaw) की पुस्तकोंके अध्ययनसे मुझे यह ज्ञात हुआ कि पाश्चात्य साहित्य-जगत् दुःखान्त कविता (Tragedy) को सर्वोत्तम समझता है और जैसा शा (Shaw) महोदय लिखते हैं। संसार-काव्यने अपनी साहित्यिक शक्तिको "हैम्लेट" (Hamlet) और "डोन जुअन" (Don Juan) अथवा आदर्शवादी वा स्वेच्छाचारी, दो प्रकारके व्यक्तियोंके निर्माणमें व्यय किया है। हमें यहाँ यह देखना है कि हमारे कवि तुलसी करुणा-रसकी कविता लिखनेमें कहाँ तक सफल हुए हैं और उनके भरत और शेक्सपियर (Shakespeare) "हैम्लेट" में क्या समानता और क्या अन्तर है।

"प्रभा" और "माधुरी" के पृष्ठोंमें मेरी फुलवारी-लीलाके पदोंकी व्याख्या बहुत दिनोंसे निकल रही है। वह तुलसीके श्रृंगार-रस अथवा Comedic Side (सुखान्त दृष्टिकोण) का स्पष्टीकरण है। परन्तु मुझे स्वयं "वनोवास" अथवा अयोध्या-काण्डमें तुलसीकी जिन अपूर्व शक्तियोंका विकास दिखायी पड़ता है वह अन्यत्र नहीं दिखता। ग्रौसे (Growse) महोदयका कथन है कि तुलसीदासजीकी कविता अपने उच्चतम शिखर पर इसी काण्डमें पहुँची है और फिर उसमें बहुत उतार है। अस्तु ! इस बात पर आगे लिखा जायगा। परन्तु इस लेख-मालाके लिखनेसे मेरा अभिप्राय यह दिखलाना है कि तुलसीका संसारकी करुणा-रसकी कवितामें क्या स्थान है। "माधुरी" की लेख-माला तो पूर्ववत् जारीही है। परन्तु इस द्वितीय विषयके छेड़नेकी आवश्यकता इस कारण हुई है कि आलोचना कहीं एकाङ्गीण न रह जावे, क्योंकि मेरा क़ानूनी-पेशा ऐसा है जिसमें साहित्य-सेवाके लिये बहुत कम अवकाश मिलता है। मैं अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार "दागबेल" लगाये देता हूँ। "कारे दुनिया कसे तमाम न कर्द" (दुनियाका काम किसीने खतम नहीं किया) के अनुसार अगर काम अपूर्ण रह गया तो अन्य साहित्य-मर्मज्ञ उसे पूरा करही लेंगे।

(२)

श्री गुरु चरण सरोज रज निज मन मुकुर सुधार।
बरनौं रघुवर बिमल यश जो दायक फल चार॥

(१) उपर्युक्त दोहेमें अयोध्या-काण्डका आरम्भ होता है। यह विदितही है कि तुलसी संसारके उन महाकवियोंमें से हैं जिनका आदर्श संसारका उद्धार करना था। वह संसारके भले-बुरे दृश्यों और चरित्रोंको केवल चित्रण करकेही (Holding mirror to Nature) हमें भूल-भुलैयामें नहीं छोड़ जाना चाहते, पर 'अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष' चारोंकी प्राप्तिका निश्चित मार्ग बताना चाहते हैं। किन्तु कोरा उपदेश नहीं है प्रत्युत काव्य-रस और काव्य-कलाका भी पर्याप्त प्रदर्शन है।

The truth is, the world was to Shakespeare a great "stage of fools" on which he was utterly bewildered. He could see no sort of sense in living at all; and Dickens saved him-self from the despair of the dream in "The chimes" by taking the world for granted and busying him-self with its details. Neither of them could do anything with a serious positive character; *they could place a human figure before you with perfect verisimilitude*; but when the moment came for making it live and move they found, unless it made them laugh, that they had a puppet on their hands and had to invent some artificial external stimulus to make it work ....you suddenly see that Shakespeare, with all his flashes and divinations, never understood virtue and courage, never concerned how any man who was not a fool could like Bunyan's hero look back from the bank of the river of Death over the strife ane labour of his pilgrimage and say, "yet do I not repent me"; or

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

with the panche of a millionaire, bequeath "my sword to him that shall succeed me in my pilgrimage and my courage and skill to him that can get it." This is the true joy in life, the being used for a purpose recognized by yourself as a mighty one ....the being a force of Nature instead of a feverish selfish little clod of ailments and grievances complaining that the world will not devote itself to making you happy. And also the only real tragedy in life is the being used by personaly-minded men for purposes which you recognize to be base." [सत्य तो यह है कि शेक्सपियरकी दृष्टिमें संसार मूर्ख विदूषकोंका एक विशद रंगमंच है जहाँ वह सर्वथा श्रान्त हो जाता है। उसे जीवनमें कोई सार्थकता नहीं दिखती; और डिकेन्स (Dickens) ने "The chimes" में अपनेको इस निराशाजनक स्वप्नसे इस प्रकार बचा लिया है कि यह संसारको जैसा-का-तैसा मान कर उसकी व्याख्यामें संलग्न हो जाता है। उनमेंसे कोई भी गंभीर व्यक्तित्वपूर्ण चरित्रका निर्माण नहीं कर सका। वे किसी मानवी आकृतिको तुम्हारे सामने बिलकुल ज्यों-की-त्यों रख देते हैं पर जब उस आकृतिको जीवन प्रदान करने और उसे संचालित करनेका समय आता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो या तो वह उस आकृति पर हँसते हैं या उसे अपने हाथका खिलौना समझते हैं जिसे वह किसी वाह्य कृत्रिम साधन द्वारा उत्तेजित करके काममें लगा देते हैं·················तुम अगत्या देखोगे कि शेक्सपियर आध्यात्मिक छटाएँ रखकर भी सदाचार और साहसको नहीं समझ सका और न उसे इस बातकी परवाह हुई कि कोई मनुष्य जो मूर्ख-विदूषक न हो, वह किस प्रकार बनयन (Bunyan) के नायककी भाँति अपने जीवनके संघर्षण एवं परिश्रम पर सिंहावलोकन करते हुए यह कह सकता है कि 'अब भी मुझे पश्चात्ताप नहीं है'; और एक कोटाधीशके गर्वके साथ यह वसीयत कैसे कर सकता है कि 'मेरी तलवार उसको मिले जो जीवन-यात्रामें मेरा अनुयायी हो और मेरा साहस एवं चातुर्य उसे मिले जो उन्हें पानेका प्रयत्न करे।' वस्तुतः जीवनका महानतम आनन्द यही है कि मनुष्यको यह ज्ञात हो कि उसका जीवन एसे उद्देश्यकी पूर्तिमें लग रहा है जिसे वह स्वयं अत्यन्त महत्वपूर्ण समझता है ·············और यह कि वह व्यथाओं और भर्त्सनाओंका ज्वराक्रान्त और स्वार्थपूर्ण ढेला न होकर जो इस बातकी शिकायतही करता रहे कि संसार उसे सुखी नहीं बना रहा, वह स्वयं संसारकी एक सञ्चालक शक्ति है। और वस्तुतः सबसे अधिक करुणाजनक वह अवस्था है जिसमें मनुष्यको यह ज्ञात हो कि वह स्वार्थी मनुष्यों द्वारा ऐसे हेतुमें लगाया जा रहा है जिसे वह स्वयं नीच समझता है।] बर्नाड शा कृत Man and Superman के पत्ररूपी प्रस्तावनासे उद्धृत इस विवेचनाको मैं कविवर शेक्पियरकी कुछ कड़ी आलोचना समझता हूँ पर उद्धृत करनेका प्रयोजन यह है कि शा प्रभृति अर्वाचीन विद्वान् जिस आदर्श-कवि वा आदर्श Tragedy की कल्पना मात्र करते हैं वह अधिकांशमें तुलसीदास और उनकी रामायणके अयोध्या-काण्डमें विद्यमान् है।

मेरे पूज्य पितामह कहा करते थे कि "दीवाने-हाफ़िज़" और रामायणको चाहे जहाँसे पढ़ो, आनन्द-ही-आनन्द है। उनका यह कथन अधिकांशमें सत्यही है—विशेषतः —रामायणके विषयमें। संसारका सच्चा चित्र भी है, भले और बुरे अङ्गोंका यथार्थ स्पष्टीकरण; जिसमें बाल-बराबर भी फ़र्क नहीं और साथ ही रास्ता भी साफ़ बतला दिया गया है। वस्तुतः नाटकीय (Dramatic) और महाकाव्य सम्बन्धी (Apic) शक्तियोंका ऐसा एकीकरण संसारके साहित्यमें बहुत ही कम है। मिल्टन (Milton) और स्पेंसर (Spencer) प्रभृति कवियोंने इस एकीकरणके लिये अपनेमें पर्याप्त शक्ति न पाकर केवल एक-आध दृश्यही लिखकर अपना प्रयास छोड़ दिया। सच तो यह है कि ज़मीन और आसमानके कुलाबे मिलाना बड़ा कठिन काम है।

(ख) दूसरी बात जो उपर्युक्त दोहेसे विदित होती है वह यह है कि मिल्टनकी तरह तुलसीदासजी भी यही समझते थे कि जो मनुष्य आदर्श कविता लिखनेका ख़्याल करे उसे अपने जीवनको स्वयं 'कवितामय' (Poem) बना देना चाहिये। 'बादाख़्वारी' (मदिरापान) और 'मसायले-तसव्वुफ़' (वेदान्तके गूढ़ प्रश्न) साथ-साथ निभ नहीं सकते और अगर निभानेकी कोशिश होगी तो नतीजा यह होगा कि 'उमर-खैयाम' और 'ग़ालिब' जैसे महाकवि भी वह न कर सके जो 'सादी' वा 'तुलसी' ने कर दिखाया। सच है, उपनिषदसे लेकर वेदान्त या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तसव्वुफ़" सबमें यही सिद्धान्त काम करता है। 'दिलके आईनेमें है तस्वीरे-यार, जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली' वही हृदयका छोटासा आईना (दर्पण) है जिसमें भगवान्‌के सगुण स्वरूपके दर्शन होते हैं, फिर चाहे 'सगुण' शब्दको गुणवाचक कहिये वा व्यक्तिवाचक। तुलसीदासजी योंही किसी नाटक-कम्पनीके लिये या चार पैसे कमानेके लिये जवानीके अल्हड़पनेकी उमंगमें रामायण लिखने नहीं बैठ गये थे बल्कि ४२ वर्षकी परिपक्व आयुमें संवत् १६३१ में उसे लिखना आरम्भ किया था जब वह गुरुदेवकी सेवामें अपना अध्ययन समाप्त कर चुके थे। तुलसीने मिल्टनकी तरह पूरी तैयारीके बाद क़लम उठाया। अयोध्या-काण्ड तक पहुँचते-पहुँचते तो उनकी बुद्धि एवं काव्य-शक्ति और भी प्रौढ़ हो गयी होगी। यही तो बात है कि जहाँ शेक्सपियरके अन्तिम कवितामें प्रौढ़ता पायी जाती है वहाँ वह तुलसीदासजीकी रामायणमें आदिसे ही दिखती है। कविवर शेक्सपियरने केवल ५२ वर्षकी ही आयु पायी और उसमें भी अन्तके कई वर्षोंमें कुछ नहीं लिखा। हम कभी-कभी यह बात भूल जाते हैं और शेक्सपियरमें आद्योपान्त एक-सी प्रौढ़ता न पाकर उस आँग्ल भाषाके सर्वश्रेष्ठ कविकी कुछ कड़ी आलोचना करने लगते हैं जो न्याय-विरुद्ध है।

(ग) मैं भी इस बातको मानता रहा हूँ कि सिद्धान्तों और विचारोंको दृढ़ किये बिना झट-पट लिख मारना और संसारको भ्रममें डाल देना नितान्त अनुचित है। इसीलिये अबसे पूर्व अयोध्या-काण्डकी आलोचना प्रकाशित करनेका साहस मैंने नहीं किया; यद्यपि जब मैं बी० ए० में पढ़ता था तभी 'अथेलो' (Othelo) नामी शेक्सपियरकी Tragedy कोर्समें होनेके कारण उसकी और 'वनोवास' की पारस्परिक तुलनाका मुझे अवसर मिलता था। प्रथम-प्रथम मन्थरा और आइगो (Iago) की विवेचनाने ही तुलसीकी महत्ताका कुछ-कुछ अनुभव मुझे कराया था। मुझे तो चीनका वह प्राचीन सिद्धान्त बहुत पसन्द है कि वहाँ ४० वर्षकी अवस्थासे कमवाले व्यक्तिको नेता नहीं मानते। इसके विपरीत माननेसे वही हाल होता है जैसा स्टैवेन्सन (Stevenson) महोदयने कहा है कि प्रत्येक नवदीक्षित (Convert) यह कोशिश करता है कि वह उन्हींको दीक्षा दे जो उस मतमें बूढ़े हो चुके हैं। कभी-कभी अपवाद (Exception) होते हैं—यह दूसरी बात है।

अब वैसे साहसके होनेके कारण हैं। एक तो मेरी आयुका ४२ वाँ वर्ष शुरू है, दूसरे जो कुछ हिचक थी वह साहित्याचार्य पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी (Living grand old man of Hindi literature) के आशीर्वादपूर्ण पत्रोंसे दूर हो गयी—यानी भगवान्‌की कृपासे मुझे 'श्रीगुरुचरण-सरोजरज' मिल गयी। अस्तु।'

आचार्य महोदयसे मेरा कोई साक्षात् परिचय नहीं, फिर भी उन्होंने कृपाकर मेरी साहित्यसेवाकी अभिलाषाको आन्दोलित कर दिया है। पत्रोंके अंश 'माधुरी' के सहृदय सम्पादकोंके पास हैं जिन्हें वह प्रकाशित करने जा रहे हैं। मुझे वह पत्र अपनी सब डिग्रियोंसे अधिक प्रिय हैं और उन्हें पढ़कर मेरा हृदय आनन्दोल्लाससे भर जाता है।

पर मुझको उन पत्रोंके प्रशंसापूर्ण शब्द इतने प्रिय नहीं हैं जितनी वह बातें जिनके द्वारा उन्होंने मेरी शैलीकी त्रुटियोंकी सम्भावनाओंकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया है। शब्द प्रेमसे ओत-प्रोत हैं। कदाचित् इस काण्डकी आलोचना करनेसे पूर्व मेरे साहित्यिक 'मन-मुकुर' के लिये उस 'सरोजरज' के प्रेमकी रगड़की जरूरत थी। पाठकोंके सामने मैं केवल उन बातोंको अपने शब्दोंमें रख दूँगा जिसमें इस लेखमाला और 'प्रभा' एवं 'माधुरी' वाली लेख-मालाका अन्तर भी मालूम रहेः—

(१) पाण्डित्यसे शब्दोंकी व्याख्या करनेमें रस तथा भावसे ध्यान न हटना चाहिये।

(२) किसी कविताके पूरे ढाँचे और एक हिस्सेके दूसरे हिस्सेसे पारस्परिक सम्बन्धको भूल न जाना चाहिये।

(३) कविताका वह प्रभाव सबसे अधिक लाभदायक है कि दिलकी कही हुई दिलमें बैठ जाय। आचार्यवर लिखते हैं कि मैं तो जब रामायण पढ़ता हूँ तो इतना मुग्ध हो जाता हूँ कि विचार-शक्ति ही स्तम्भित हो जाती है।

एक बार जब मुझे श्रीपद्मसिंह शर्माके सभापतित्वमें, आगरा-नागरी-प्रचारिणी-सभामें भाषण देनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उस समय मैंने अपनेको उस हिन्दी-साहित्य-साम्राज्यका केवल एक दूत (Ambassador) कहा था, जिसके शासक श्रीपद्मसिंहजी शर्मा या पूज्यवर श्रीद्विवेदीजी प्रभृति महानुभाव हैं। वस्तुतः मैं उससे अधिक कुछ नहीं हूँ। मैं तो विशेषतः तुलनात्मक अध्ययन (Comparative study) से उन महानुभावोंकी सेवामें कुछ कहनेका साहस करता हूँ जो मिल्टन, शेक्सपियर, बाइरन, शेली, हेनीसन अथवा ग़ालिब, नसीम, हाली अथवा सादी, उमरख़ैयाम इत्यादि अन्य भाषाके महाकवियोंकी रचनाओं-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर रीझ रहे हैं, या यों समझिये कि मैं तो एक प्रदर्शक (Guide) की तरह आपको इस साहित्यके 'ताज' में ले जाकर अपनी बुद्धिके अनुसार उसकी प्रशंसा करता हूँ। आह, मुझ सेवकको उस साहित्यकी आनन्दजनित समाधिमें निमग्न होनेका अवसर बहुत कम मिलता है। भई, इस निमग्नताको Surrender of critical faculty (आलोचनात्मक शक्तिका त्याग) हरगिज़ न समझना, यह उसका Sublimation (उत्थान) है। मगर प्रत्येक साहित्य-प्रेमीसे मेरी यह प्रार्थना अवश्य है कि कुछ देरके लिये सब व्याख्या इत्यादिको छोड़कर भी किसी बड़े कवि वा लेखककी रचना अवश्य पढ़नी चाहिये, जिसमें दिलकी बात दिलतक पहुँचे।

(क्रमशः)

विश्वात्म-रूप-मदिरा

(श्रीबालकृष्णजी बलदुआ बी० ए०)

(कुछ प्रसिद्ध सूफ़ी कवियोंके काव्य-जगत्की झलकें)

तीसरा प्याला

अनादिकालसे प्रियतमने अपने सौन्दर्यको अदृश्य एकान्तमें आवरण-रहित किया है।

उसने अपने ही श्रीमुखके सम्मुख दर्पण रक्खा, उसने अपनेहीको अपनी लुनाई दिखायी।

वह दृश्य और द्रष्टा—दोनों ही था। उसके अतिरिक्त और किसीके नेत्रोंने विश्वका पर्यावलोकन नहीं किया।

सब एकमें निहित थे। द्वैतभाव न था। मेरे-तेरेका बहाना न था।

आकाशका बड़ा गोला अपने असंख्य घटाव-बढ़ावके साथ, एक विन्दुमें निहित था।

सृष्टि अनस्तित्वकी नींदमें झुलाई जा रही थी, उसी प्रकार जिसप्रकार श्वास-सञ्चारके पहले शिशु।

प्रियतमके नेत्र अभावको देखते हुए अनस्तित्वको ही अस्तित्व माने हुए थे।

यद्यपि वह अपने सार-तत्त्वमें अपने गुणोंको सम्पूर्ण देख रहा था, फिर भी उसे इच्छा हुई कि किसी दूसरे दर्पणमें वे दीख पड़े, और उसके प्रत्येक अमर गुणका प्रकटीकरण विभिन्न स्वरूपोंमें हो।

चौथा प्याला

इसीलिये उसने समय और स्थानके हरे-भरे खेत और जीवन-प्रदायिनी विश्व-वाटिका बनायी, कि जिससे प्रत्येक शाखा, पत्ती और फूल उसके पूर्णत्वका वैभिन्न्य प्रदर्शित करे।

सनोबर (Cypress) उसके सुन्दर गठनकी ओर इंगित करता है।

गुलाब उसके लावण्य-मुखका परिचायक है।

पाँचवाँ प्याला

जहाँ भी सौन्दर्यकी झलकें मिलीं, प्रेमको उसके साथ पाया।

गुलाबी गालोंपर सुन्दरता चमक उठी। प्रेमने उससे अपना प्रदीप जलाया।

अलकोंमें सुन्दरताने अपना निवास-स्थान बनाया। प्रेमने आकर लटोंमें हृदयको उलझा पाया।

सौन्दर्य-प्रेम शरीर-आत्मा है।

सौन्दर्य खान है, प्रेम बहुमूल्य हीरा।

प्रारम्भसे ही वे साथ-साथ रहे। एक दूसरेको छोड़कर उन्होंने कभी भी यात्रा न की।

छठवाँ प्याला

(१)

जहाँ भी तेरे श्रीमुखकी आभा पड़ती है, प्रेम उपस्थित मिलता है।

संघारामका प्राचीर हो, चाहे मद्यगृहका फ़र्श,
सभी उसी अविनश्वर ज्योतिसे जगमगा रहे हैं।

(२)

जहाँ दरवेश[१] दिन-रात खुदाका[२] ध्यान करता है, वहीं सलीब (Cross) है और गिरजेकी घण्टियाँ प्रार्थनाको बुलाती हैं।

१–संन्यासी २–ईश्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खादीकी पवित्रता

(लेखिका—कुमारी रमा)

कल्याणके तीसरे वर्षके बारहवें अङ्कमें प्रकाशित श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया-के 'कल्याणकामीके लिये खादीकी आवश्यकता' शीर्षक लेखमें यह बात भलीभाँति सिद्ध कर दी गयी है कि खादीके समान पवित्र, सस्ता, मज़बूत और देशहितकर वस्त्र दूसरा नहीं है। साथ ही अनुभवसे भी यही सिद्ध है, अतः इसकी पवित्रता और सस्तेपनपर तो तर्क करना वृथा हैं। कल्याण-के इस वर्षके छठे अङ्कके 'खादी और परमार्थ' शीर्षक सम्पादकीय लेखसे यह बात भी स्पष्ट हो गयी कि खादीका स्थान राजनीतिकी अपेक्षा धर्म और परमार्थमें कहीं ऊँचा है। परन्तु कुछ लोगोंकी यह धारणा है कि कुछ मिलें ऐसी हैं जिनमें कपड़ोंकी पालिसमें चरबी नहीं लगती और मोटे सूतके कपड़े बनते हैं, जो पवित्र, मजबूत और सस्ते भी हैं, इसलिये उन मिलोंका कपड़ा पहननेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यद्यपि ऐसी धारणा देखनेमें ठीक मालूम होती है परन्तु विचार करने-पर जान पड़ता है कि वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। मिलोंका कपड़ा सस्ता एवं मजबूत तो हो सकता है परन्तु वह, केवल पालिसमें चरबी न लगनेके कारण ही पवित्र नहीं कहा जा सकता। अपवित्रताके अन्य भी कई कारण हैं।

प्रथम, मिलोंकी मशीनें चलानेमें चिकनाईके लिये पशुओंकी चर्बी काममें लायी जाती है, जिससे जीव-हिंसा होना अनिवार्य है। दूसरे, मिलोंमें काम करनेवाले गरीब मजदूरोंको अपने गाँवोंको छोड़कर शहरमें आना पड़ता है और दिनभर मिलोंके धुएँसे बिगड़ी हुई वायुमें काम करना पड़ता है। शहरकी जल-वायु यों ही खराब हुआ करती है। इससे उनके स्वास्थ्यपर बुरा प्रभाव पड़ता है। नागरिक जीवनके विलासिता आदि अनेक दोष उनके सादे जीवनको बरबाद कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त कई मनुष्योंसे होनेवाले कामको मशीनद्वारा एक ही आदमी कर डालता है जिससे बचे हुए मनुष्य बेकार रह जाते हैं। यद्यपि शहरोंमें मजदूरोंकी आमदनी कुछ बढ़ जाती है परन्तु साथ ही विलासिता और अनेक व्यसनों-की आदत पड़ जानेसे खर्च भी अत्यधिक बढ़ जाता है, जिससे उन्हें उस ज्यादा आमदनीसे सुख और आनन्दकी अपेक्षा उलटा दुःख ही भोगना पड़ता है। आवश्यकताओंके बढ़ जानेसे लालचवश अधिक कमानेके लिये वे सामर्थ्यसे बाहर परिश्रम करने लग जाते हैं और फिर उस थकावटको मिटानेके लिये शराब-ताड़ी आदि पीने लगते हैं। इधर काम न रहनेसे बेकार आदमी भूखों मरने लगते हैं, जिससे उन्हें विवश होकर चोरी-डकैती, खून इत्यादि नानाप्रकारके कुकार्य इच्छा न होनेपर भी करने पड़ते हैं। जो करते-करते आदत और पेशेके रूपमें बदल जाते हैं। क्षुधासे पीड़ित मनुष्य क्या नहीं कर डालता।

बुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा नराः निष्करुणा भवन्ति।

उन सब मनुष्योंके द्वारा होनेवाले पापोंके जिम्मेवार वे सभी होते हैं जो उपर्युक्त कारखानोंके सञ्चालक, मालिक और पोषक आदि हैं।

आज संसारमें जो भयानक बेकारी फैली हुई है उसके कारण ये बड़े-बड़े कारखाने (Mill Industries) ही हैं। जितनी अधिक मिलें बढ़ती जायँगी, उतनी ही बेकारी भी बढ़ती जायगी। कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्योंका मत है कि भारत भी संसारमें है, इसको भी युग-धर्मके अनुसार सारे संसारके साथ चलना पड़ेगा, जब सारा जगत् मिलोंसे काम चलावेगा तो भारतका काम बिना मिलोंके नहीं चल सकता। परन्तु यह दलील अदूरदर्शितासे खाली नहीं है। अधिक लोगोंका गरीब और दुखी होना एवं कुछ लोगोंका धनी हो जाना यह मिल इण्डष्ट्रीका अनिवार्य परिणाम है। सबसे बड़े धनी देश अमेरिकाकी आज क्या दशा है? जहाँ रोड़े कूट-कूटकर मनुष्य सैकड़ों रुपये माहवार आसानीसे कमा सकता था, वहाँ आज अच्छे-अच्छे कला-कौशलमें प्रवीण मनुष्य दस-बारह रुपये मासिकतककी नौकरी करनेके लिये तैयार हैं, परन्तु उन्हें काम नहीं मिलता। गत ता० २०-१२-३० के 'स्टेट्समैन'में छपा है कि अमेरिकाकी राजधानी न्यूयार्क शहरमें सड़कोंपर झुण्ड-के-झुण्ड लोग अपने सीनेपर कार्ड लटकाये घूमते हैं, जिनपर लिखा होता है कि वे क्लर्क, दरजी, बढ़ई आदिका काम चाहते हैं। ये लोग एक डालर प्रति सप्ताहपर काम करनेको तैयार हैं।* एक डालर आजकल लगभग २॥) का है इस हिसाबसे मासिक ११) होते हैं।

मिल इण्डष्ट्रीके हिमायतियोंका कहना है कि मिलोंद्वारा थोड़े समयमें अपनी आवश्यकताएँ पूरी करके शेष समयको मनुष्य आत्मोन्नतिमें लगा सकता है। परन्तु यह बात सम्भव ही कैसे हो सकती है जब कि हम अपनी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेमें तो हिंसापूर्ण तामसी कार्य करें और बाकी समयमें मनको सात्त्विक कामोंमें लगाये रक्खें। क्या गोहत्या करके उसके चमड़ेके जूते दान करनेसे उस पापसे छुटकारा मिल जायगा? इसके सिवा निकम्मे रहनेके समयमें मनको अच्छे काममें लगाये रखना बड़ा ही कठिन है। प्रायः देखा जाता है कि जो मनुष्य ज्यादा निठल्ले रहते हैं वे ही बुरे मार्गोंमें अधिक लगते हैं। मनको तो कोई-न-कोई काम चाहिये ही; वह निकम्मा कभी नहीं रह सकता। उसको जब कोई काम न मिलेगा तो वह इधर-उधरके बुरे विचारों या विषयोंका चिन्तन करेगा। विषयोंके चिन्तनका अन्तिम फल, भगवान् गीतामें कहते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

मिलका पैसा अधिकांश उन्हीं मनुष्योंको प्राप्त होता है जिनके पास बहुत धन है। परिश्रम तो करते हैं गरीब, परन्तु सुख भोगते हैं मिल-मालिक। इन सब विषयोंपर विचार करनेसे मिलके बने वस्त्रोंकी अपवित्रता सिद्ध हो जाती है। खद्दरमें यह दोष बिलकुल नहीं है। इसका एक-एक पैसा परिश्रमी और भूखे गरीब भाइयोंको मिलता है। यदि हम एक रुपयेका खद्दर पहनते हैं तो उसके पैसे रूई उपजानेवाले, बिनौला साफ करनेवाले, धुननेवाले, सूत कातनेवाले, कपड़ा बुननेवाले तथा धोनेवाले और फेरी करनेवाले—आदि सात गरीब भाइयोंमें बँट जाते हैं। इसप्रकार खादीमें खर्च किया हुआ पैसा देशके दरिद्र भाइयोंकी झोपड़ियोंमें पहुँचता है। यदि हमने किसी मनुष्यको एक दिन भोजन करवा दिया तो उससे केवल उसी दिन उसका पेट भरेगा। परन्तु यदि हम खद्दर पहनते हैं तो गरीबोंको एक कला सिखाकर उन्हें एक आजीविकाका काम दे देते हैं। वे जन्म-भर उससे स्वतन्त्रतापूर्वक अपना काम चला सकते हैं। इस तरह खादीके अन्दर गुप्त दान भी समाया हुआ है।

अतएव प्रत्येक भाई-बहिनको खादी पहननेका नियम ले लेना चाहिये।

* A common sight in Newyork's street is a parade of men bearing cards on their chests indicating their trade such as 'clerk' 'plumber' 'chef', and 'carpenter'. These men are willing to work for one dollar a week. —'Statesmen'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गान्धीजीका एक सुन्दर पत्र

(श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी)

नीचे यरवदा मन्दिरसे भेजा हुआ पूज्य गान्धीजीका एक अत्यन्त सुन्दर पत्र देता हूँ। 'कल्याण'के पाठक इस एक पत्रद्वारा गान्धीजीकी महानताका अनुभव करेंगे। गान्धीजीका जीवन आरम्भसे एक उग्र साधक और सत्य-शोधकका जीवन रहा है। सत्यकी प्राप्तिके लिये उन्होंने इस जीवनमें अपनी देह और आत्मापर जितने और जैसे प्रयोग किये हैं, वैसे बहुत कम मुमुक्षुओंने किये होंगे। दूध-त्याग-सम्बन्धी अपना अनुभव लिखते हुए गान्धीजी स्वयं इसे कबूल करते हैं। गान्धीजी प्रकृतिके और प्राकृतिक उपायोंके कितने चुस्त हिमायती हैं, प्रकृतिकी प्राणदायिनी शक्तिपर उनका कितना गहरा विश्वास है, इस पत्रसे यह भी हमें मालूम होता है।

पत्रके दूसरे भागमें गान्धीजीने आत्मदर्शनसम्बन्धी अपना अनुभव बताया है। यह भाग इतना सुन्दर और बोधप्रद है कि बार-बार पढ़नेपर भी जी नहीं अघाता। मनुष्यके आत्मानन्दमें राग-द्वेष कितने बाधक हैं, और उनका पूर्ण या आंशिक क्षय कितना शुद्ध आनन्दका देनेवाला है, गान्धीजीकी इन पंक्तियोंसे हमें यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। इन्हीं पंक्तियोंमें हमें सरलता और नम्रताकी जीती-जागती मूर्तिके रूपमें श्रीगान्धीजीके दर्शन होते हैं। क्योंकि उनके लिये गूढ़ और प्रकट इस संसारमें कुछ है ही नहीं, उनका सर्वस्व जगत्‌के कल्याणके लिये समर्पित है।

पत्रके अन्तिम भागमें अपनेको 'ग्रामीण' कहकर तो गान्धीजीने अनोखी सरलताका परिचय दिया है। अनेक बार गान्धीजी भाषणों और लेखोंमें यह स्वीकार कर चुके हैं कि वह विद्वान् नहीं। फिर भी उनकी कृतियाँ उनके उच्च, शुद्ध, पवित्र आचरणके कारण इतनी श्रेष्ठ और हृदयग्राही होती हैं कि बड़े-बड़े विद्वानोंको भी उनका लोहा मानना पड़ता है। गीताको गान्धीजीने अपने जीवनकी संगिनी बनाया है, जीवनको गीतारूप, गीतामय और गीतोक्त बनानेकी गान्धीजीकी तत्परता अलौकिक है, अदम्य है, महान् है, तो भी ऐसी नहीं कि सर्वसाधारण उसका अनुकरण न कर सके। गान्धीजी अपने आचरणसे यह सिद्ध कर रहे हैं, कर देना चाहते हैं कि मनुष्यमात्रके लिये गीताका निर्दिष्ट अनासक्त कर्मयोग सम्भव है। पात्रताके अनुसार वह कष्टसाध्य, या अल्प कष्टसाध्य भले हो। अस्तु, यह रहा गान्धीजीका वह सुन्दर पत्र :—

चि........

तुम्हारा पत्र मिला।

दूधके बारेमें तो जैसा कि मैं कह चुका हूँ, जबतक मैं न छोड़ूँ तबतक दूध छोड़नेका आग्रह न रक्खो। दूध छोड़नेके जितने प्रयत्न मैंने किये हैं, उतने किसी दूसरेने किये हों, सो मैं नहीं जानता। जिसका शरीर अच्छा है, वह दूधके बिना भी टिक सकता है। पर जिसका शरीर—स्वास्थ्य—गिरा हुआ है, वह बिना दूधके शरीरको स्वस्थ और मजबूत नहीं बना सकता, यह अनुभवकी बात है। असंख्य वनस्पतिमें ऐसी कोई वनस्पति अवश्य है, जो दूधकी गरज पूरी करे, पर उस वनस्पतिकी शोध तो कोई सात्त्विक वैद्य या योगी ही कर सकता है। जिसप्रकार हम प्रयत्न करते हैं, कर सकते हैं, उस प्रकारसे यह शोध नहीं हो सकती। अपनी मर्यादा समझकर मध्यम मार्गपर चलना भी मेरी रायमें, गीताका एक पाठ है।

ब्राह्मी स्थिति आदि अवस्थामें मैं भेद नहीं करता, हो तो जानता नहीं। जो अनुभव है, वह तो यह कहता है कि रागद्वेष-रहितता ही आत्मदर्शन है। मैं इस स्थितिका वर्णन नहीं कर सकता। बुद्धि उसे पहचानती है, अनुभव रोज़ उसकी झाँकी करता है, इसलिये मेरा कथन निश्चयात्मक है। यदि मैं रागद्वेषसे सर्वथा मुक्त बनूँ तो आजकी प्रवृत्तियोंमें लगा रहनेपर भी सम्पूर्ण आत्मानन्दका अनुभव करूँ, जिसका आज अनुभव नहीं करता। पर जिस हदतक आज अनुभव करता हूँ, उसपरसे इसका पता चल सकता है कि रागद्वेषका पूर्ण क्षय हो जानेपर क्या स्थिति होगी। इस सम्बन्धमें और कुछ पूछनेकी इच्छा हो तो पूछना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजकी कही जानेवाली एकान्त स्थितिमें और बाहरकी स्थितिमें मुझे बहुत अन्तर नहीं मालूम पड़ता। होना चाहिये, क्योंकि अभी राग-द्वेष बाकी हैं।

गीताके सम्बन्धमें तुम जिस कार्यकी मुझसे आशा रखते हो वह विद्वान्‌का है, मैं ठहरा ग्रामीण; अतएव इस काम-को मैं अपनी शक्तिसे परे समझता हूँ। और उसका जितना भाग शक्य है उसके लिये अवकाश नहीं है। मुझे तो गीता-धर्मका पालन करना है और वैसा करते हुए जो बताया जा सके वही बताना है। इससे कुछ समय बचा तो जिस प्रकार टिप्पणी आदि लिखे हैं वैसा कुछ लिखूँ। यह ठीक है न?

'बापूके आशीर्वाद'

मेरी भूल सुधार दो, नाथ!

(लेखक—पं० श्रीनन्दलालजी शर्मा)

हे करुणानिधान! सच्चिदानन्दघन प्रभो! हे अखिल लोक-लीला-निकेतन! हे पतितपावन! हे दयानिधे! क्या मैं क्षमाके योग्य नहीं हूँ? क्या मेरा उद्धार कदापि न हो सकेगा? क्या मैं आपके मधुर दर्शनानन्दका परमानन्द नहीं लूट सकूँगा? हाँ, हाँ, मैं अति नीच वृत्तियोंका पूर्ण दासत्व प्राप्त कर चुका हूँ—ठीक, मैं पामर हूँ मैंने सर्वभावेन अपना हृदय-पुण्डरीक कलुषित तुषाराघातसे, विषमयी वासनाओंके प्रहारसे, अतिदूषित दुश्चरित्र-चित्रणसे नितान्त म्लान कर डाला है, मेरा अन्तः-करण जिस सुभग एवं सौम्यावस्थाको समासादित कर सदाके लिये शान्ति-पथका अनुगामी होने योग्य था, उस प्रशंसनीय भावका अब उसमें अत्यन्त अभाव हो गया है। स्वल्प एवं परिवर्तन-शील सांसारिक सुखोंके अभिनिवेशमें प्रवेशकर अवर्णनीय आनन्द नन्दन-काननपर मैंने लात मार दी है। तुच्छ मिथ्या-सुखके लिये विशाल सत्य-सुखका अपमान, विषय-विषके लिये सच्चिदानन्द-सुधाका त्याग, थोड़े के लिये असीमका अभिभव, कूपके लिये समुद्रका परिहास! हा! मैंने यही किया! यही तो मेरा पूर्ण पातक है। स्वयं ही महा-मूल्यवान् राम-रत्नराशिको छोड़कर विषयोंके घोर अन्धकारमय कूपकी दुर्गन्धयुक्त बालुकाको प्राप्त करनेकी सतत चेष्टा कर रहा हूँ। चेष्टा क्या, अरे, मैं तो उसमें गिर ही गया। पतित-श्रेणीमें पहुँच गया हूँ प्रभो! पर, नाथ! आप तो करुणाके भण्डार हैं, दयाके सागर हैं। सागरका गम्भीर मुख सबके लिये खुला रहता है। क्या उस अनन्त सुख-समुद्रकी हृदयहारिणी हिलोरोंसे उद्भूत एक दिव्य कण मुझे प्रदान नहीं करेंगे? क्या उस अनिर्वचनीय मनोहारी स्वर्ग-दुर्लभ सर्वाङ्गसुन्दर अद्भुत सदनका दिव्य दर्शन मुझे नहीं करायँगे? क्या उस भूले हुए मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये फिरसे अपनी आनन्दमयी अकाट्य आज्ञा प्रदान नहीं करेंगे?

भूला! भूला!! मैं तो भूल गया! मुझसे भारी भूल हो गयी! ठीक है, मैं आपके अनुपम दयासदनके द्वारके योग्य नहीं हूँ। आपने, कृपालो! अज्ञ एवं अनाथ जानकर मुझे बारम्बार दिव्यधाम-के दिव्य-मार्गका रहस्यमय भेद दिखलाया, अदम्य दया-दृष्टिकी वृष्टिकर पतनसे बचानेके लिये सम्पूर्ण रुग्णको अमृतौषध प्रदान की, पर दीनबन्धो! मैं ऐसा नीच, निरतिशय निन्द्य-चरित्र, घोर कृतघ्न हूँ, ऐसा जड़ता-जड़ित महामूढ़ हूँ कि आपके उस विमल कृपा-कटाक्षको भूल ही गया। आपके प्रदान किये हुए अनन्त आनन्दको ठुकराकर सांसारिक स्वप्न-सुखोंमें ही मैंने मनको विलीन कर डाला है। आपकी प्रदान की हुई निर्मल ज्योतिको अज्ञान-पटसे प्रच्छन्नकर मोह-मुग्ध हो रहा हूँ। मैंने उस अद्भुत चमत्कार-युक्त आपके नाम-जप-रूपी दिव्य-भूषणको विषय-वासना-मञ्जूषाके नीचे दबा दिया!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपने, नाथ ! उस महा-मोदमय पवित्र पथपर आरूढ़ होनेके लिये सुगमतासे मुझे अपना हाथ पकड़ा देना चाहा, परन्तु मुझ महा-मोहमय मन्दमतिने उसका अनादर किया ! आपने मन दिया भगवच्चिन्तनके लिये, अपनी परमपुनीत प्रीतिके लिये और चिरशान्तिके लिये । पर, विश्वपते ! मैंने तो विपरीत आचरण कर अपने ही हाथोंसे अपने पैरोंपर कुठाराघात किया ! भगवच्चिन्तनके बदले सांसारिक विषय-चिन्तन, आपसे प्रीतिके बदले अनन्त विषयोंमें प्रीति, इन्द्रियोंको रोकनेके बदले उनके उत्तेजन, वासना-क्षयके स्थानमें अनन्त इच्छाविस्तार, एकाग्रताके बदले चञ्चलता, और चिरशान्तिके बदले अपार अघरूपी अशान्तिमें उसे चिरकालके लिये अर्पण कर दिया। स्वामिन् ! आपने करुणा-सलिलकी वृष्टिकर दो नयन भी दिये, शुभ दृश्य-हरिचरणारविन्द-तीर्थ-सन्त-संघ-दर्शनके लिये; पर मैंने तो, विभो ! उनका पूर्ण दुरुपयोग कर उन्हें महान विषयलोलुप ही बना दिया ! सदा-सर्वदा अशुभ दृश्योंमें, कामिनीके व्यर्थ कमनीय कल्पित सौन्दर्यमें लगा दिया ! शुभको अशुभ बना दिया ! यही क्यों ? कर्ण, नासिका, जिह्वा, हस्त-पद आदि सभीको विपरीतमार्गी बनाया। स्वामिन् ! ठीक है, जब घोड़ोंकी रस्सी ढीली हो जाती है तब वे उन्मत्त होकर यदृच्छा गर्त्तमें गिरते ही हैं; फिर ये सर्वतन्त्र स्वतन्त्र इन्द्रियरूपी घोड़े विषयरूपी गढ़ेमें क्यों न गिरेंगे नाथ ?

मेरी ही भूल है भगवन् ! जैसे शिवसे 'इ' कार निकाल लिया जाय तो केवल 'शव' रह जाता है ! कहाँ कल्याणस्वरूप शिव और कहाँ निर्जीव देह। मेरी भी यही स्थिति है, तभी तो दयालो ! आपसे इतना दूर हो रहा हूँ। इतनेपर भी आपकी उपदेश-धारा फिर भी अनवरत प्रवाहित होती ही रही नाथ ! कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें अर्जुनके व्याजसे कितने महत्त्वपूर्ण निष्काम कर्मयोगरूप समत्व बुद्धिका पावन पाठ पढ़ा दिया था विभो ! चतुर्विध भक्तोंका स्वरूप और भक्ति, वैराग्य, ज्ञान, मोक्षको मानो प्रत्यक्ष ही दिखला दिया। परन्तु नाथ ! मैं तो किसी बातपर अटूट श्रद्धा धारण कर कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण नहीं हुआ ! तभी तो विभीषिकामय भवसागरकी भयानक उन्मत्त तुङ्ग तरङ्गोंमें पड़ा अनन्त गोते खा रहा हूँ, मेरे अनन्त कृपासागर ! नाथ ! आप पतितपावन और अनाथनाथ हैं, और मैं पूर्ण पतित एवं आधारशून्य अनाथ हूँ। फिर बताइये कहाँ जाऊँ ? एक आपका ही आश्रय है इस निराश्रयको ! अनाथके माथपर नाथ ! धर दो अपना अभयप्रद भवसन्ताप-हरण हाथ ! आओ, आओ, एक बार फिर भी क्षमा कर दो प्रभो ! मार्जन कर दो मेरे दूषणोंको, निश्चल बना दो मनको ! निर्मल बना दो मेरी बुद्धिको ! विशुद्ध भावोंकी छबीली छटा छिटका दो मेरी मतिमें ! विशाल और विशुद्ध बना दो मेरे क्षुद्र और कलुषित हृदय-मन्दिरको, और विराजमान् हो जाओ उसमें दैवीसम्पदाके दिव्य कनकरचित सिंहासनपर ! मैं भूला-भटका जो कुछ हूँ आखिर तो तुम्हारा ही हूँ। मैं नीच, कायर, पामर सिवा आपके और कहाँ आश्रय ढूँढ़ता फिरूँ मेरे भगवन् ! मेरे हृदय-पुण्डरीकपर अधिष्ठित होकर चरितार्थ कर दो अपने कमलासन नामको ! दूर कर दो प्रज्ञा बनकर अपनी प्रभासे मेरे अन्धकारमय जीवनके गम्भीर तिमिरको ! धर्म बनकर चञ्चल हृदयको धैर्य प्रदान करो श्रीश ! सर्वस्व बनकर पूर्ण कर दो सर्वस्वको । यही अन्तिम निवेदन है भगवन् ! मैं जहाजका कौआ, निराश्रय, आपके बिना भवसागरमें किसकी शरण जाऊँ ? नाथ ! एक बार करुणार्द्र दृष्टिका पूर्ण सम्पात करो इस अनेक वासना तप्त हृदयपर ! बना लो इसे अपना निवासस्थान। बन जाओ मेरे परमाराध्य देवाधिदेव सदाके लिये शपथ खाकर ! मेरी भूल सुधार दो नाथ ! आपके श्रीपाद-पद्ममें प्रणाम हो सहस्रों बार !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठण्डे छींटे

(लेखक—श्रीवियोगी हरिजी)

१—हमारे इस मंगल प्रभातका नव्य नमस्कार स्वीकार करो, प्रभो! तुम्हारी पवित्र प्रेरणाकी सुनहरी किरणें हमारे विश्वधर्मके शुभ संकल्प-पर पड़ें—यही आशीर्वाद दो, अखिल विश्वेश! पुनः एक बार नमस्कार स्वीकार करो, विश्वात्मन्!

२—परमपिता तुम्हें मुक्त सन्तानके रूपमें ही देखना चाहता है। फिर उतार क्यों नहीं देते अपनी ये प्यारी सुनहरी बेड़ियाँ? 'तुम उस विश्वेशकी वात्सल्यमयी गोदमें खेलने जा रहे हो'—यही बन्धन क्या कम है?

३—इससे कौन इनकार कर सकता है कि यह भी उस सिरजनहारका एक रूप है? पर यह कैसे मान लें, कि बस, यही उस विश्व-विहारीका पूर्ण रूप है?

४—भोले भाइयो! भला, बताओ तो, तुम्हारा दयालु पिता हिन्दू है या मुसलमान? बौद्ध है या पारसी? यहूदी है या ईसाई? फिर तुम 'कुछ बन कर' अपने पवित्र पितृकुलमें क्यों कलंक लगाते हो?

५—धर्मवीरो! ज़रा आँख खोलो; पहचानो, ये तुम्हारे प्यारे भाई ही तो हैं। हाँ, उसी जगत्पिताके प्यारे पुत्र, जिसका दुलार-प्यार पानेको तुम आज गली-गलीकी ख़ाक छानते फिरते हो?

६—तुम्हारी यह कैसी पिताकी पूजा है? भाईका हृदय-रक्त पीकर अपने श्रद्धेय पिताके पैर पखारने जा रहे हो न?

७—दयालु पिता तुम्हारी यह दुशालेकी महँगी भेंट पसन्द न करेगा। यह जानते हो न, भाई, कि इस कीमती दुशालेका एक-एक रेशा उसके सैकड़ों दुर्बल बच्चोंकी रक्तहीन नसोंसे खिंच-खिंच कर तयार हुआ है?

८—अरे, यह किस सहोदर भाईके रुधिरसे रँग लाये हो अपनी तेज़ तलवार! तुम्हारी धार्मिक दृष्टिमें परमपिताके आँसुओंका क्या कुछ भी मूल्य नहीं है?

९—तुम्हारा परमपिता उस अधजली झोंपड़ीकी टूटी खटियाके पास खड़ा कबसे तुम्हारी राह देख रहा है। तुम ये रेशमी गद्दे क्या उसीके लिये बिछा रहे हो इस मौजमहलमें? मित्र! ये मुलायम गद्दे तुमने अपने ही भाइयोंके कफनके टुकड़ोंसे तैयार किये हैं न?

१०—कञ्चनकी कटोरीमें यह केसरिया दूध किसे पिलाने जा रहे हो? सावधान! इसमें तुम्हारी सगी बहनोंके कलेजेका ख़ून मिला हुआ है। तुम्हारा प्रेमी पिता इसे कैसे पियेगा?

११—और क्या सुबूत चाहते हो? हमारी आस्तिकताका यही सबसे बड़ा सुबूत माना जा सकता है, कि आज हम पश्चात्तापकी पुनीत वेदीपर अपने हृदयके कुछ वेदना भरे गरम-गरम आँसू चढ़ा रहे हैं। हम अपने रूठे रामको रो-रोकर ही रिझा सकेंगे, भाई, हमारा तो कुछ ऐसा ही विश्वास है। हम अब और क्या प्रमाण पेश करें तुम्हारे इजलासमें अपने आत्म-विश्वासका?

१२—भाई! तुम बड़े भोले हो! न जाने, किस अज्ञात आलीशान मकानकी खोजमें परेशान हो रहे हो! दयालु स्वामीका स्वागत क्या इस मौजूदा झोंपड़ीमें न हो सकेगा? अरे, इसीको बनाओ, इसीको सजाओ।

१३—भाई! यह सब उस विश्वेशके दया-दरबारमें हाज़िर होनेकी ही तैयारी कर रहे हो न? तो फिर अपना यह रंगीन मजहबी लिबास उतार डालो। वहाँ तो, बस, 'मनुष्यता' की एक सादी सफ़ेद चादर ओढ़कर जाओ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४—मत घिनाओ छूनेसे; धो दो न प्रेमपूर्वक उजले हाथोंसे अपने इस प्यारे बन्धुका घिनौना घाव। तनिक देखो तो, इस सड़े घावके मवादमें होकर तुम्हारे परमपिताकी प्यारभरी नज़र तुम्हारे ऊपर क्या छन-छन कर नहीं पड़ रही है ?

१५—ध्वंस करना आसान है। सृजन करो, तो हम तुम्हें पुरुषार्थी मानें। हाँ, भाई! एक बार तो दुनियाको विनाशमेंसे विकाशकी एक प्यारी झलक दिखा दो। पर, याद है न—यह पुरुषार्थ-प्रदर्शन केवल प्रभुकृपासाध्य है।

१६—मित्र! क्यों किसी ग़रीबका जी जलाते हो? वह तेज़ आँच क्या कभी तुम्हारे अन्तस्तल-तक नहीं पहुँचती? यदि नहीं, तो क्यों 'एकात्मवाद'-का थोथा प्रचार कर रहे हो?

१७—एक बार स्वार्थत्याग कर तो देखो। पड़ता है दूसरोंपर इसका कुछ प्रभाव या नहीं?—निश्चय है, कि वे लोग भी तुम्हारे आत्म-त्यागका अनुकरण करेंगे और इसप्रकार तुम सब उस प्रशस्त पथपर पहुँच जाओगे, जहाँ परार्थ ही स्वार्थ माना जाता है।

१८—मित्र! अपनी अन्तरात्माका अनादर न करो। क्योंकि इसका स्पष्ट अर्थ है जगत्का तिरस्कार और ईश्वरका विद्रोह! तुमने इसका क्या कोई और अर्थ लगाया है?

गरीबी बूटी

(लेखक—स्वामी श्रीमाधवानन्दजी)

एक समय गुरुजीके पास जाकर शिष्यने प्रणाम किया और कहा 'हे दीनदयालो! मैं बड़ा गरीब हूँ, मुझे अमीर बना दो।' गुरुजी बोले—'पुत्र, तू धन्य है, जो तुझे गरीबीरूपी बूटी प्राप्त हुई है, इसे जतनसे रख और अमीरीकी हबशको छोड़कर इस गरीबीरूपी बूटीका सेवन करता रह। देख, स्वयं सबसे छोटा बनना और सबको अपनेसे बड़ा बनाना ही इस बूटीका पथ्य है। पथ्य न बिगाड़ना। पथ्य बिगड़नेसे सन्निपात हो जाता है। तू इस संसारमें ऊँचे-ऊँचे महल और हाथी घोड़े आदि सवारियाँ देखकर ललचाता है। याद रख, ये सब चीज़ें तेरा पथ्य बिगाड़नेवाली हैं। सावधानीसे पथ्य करते हुए गरीबीरूपी बूटीका सेवन कर। यह बूटी अमृततुल्य है। इसके पान करनेसे तू अमर होगा, सर्व दुःखोंसे छूट जायगा। यह गरीबी बूटी अवश्य ही देखनेमें खरखरी और स्वादमें कड़वी है, परन्तु इसका गुण अमृतके समान है, यह अमरता देती है, इससे मोक्ष मिलता है। भारतके ऋषि-मुनि इसी बूटीका सेवन करनेसे सर्वशक्तिमान् हुए और जगत्में पूज्य माने गये। अमीरोंको यह बूटी नहीं मिल सकती। अमीर बननेकी इच्छासे प्रकृतिके बिगड़नेसे सन्निपात हो जानेका डर है। अतएव इस इच्छाको ही छोड़ दे!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्त-गाथा

भक्त बालीग्रामदास

(१)

भगवान्‌के भक्तोंमें कोई ऊँचा-नीचा नहीं। वहाँ तो केवल प्रेमकी ही पूछ है। जिसने अपना तन-मन-धन प्रभुके श्रीचरणोंमें अर्पण कर अपने जीवनको प्रेममय बना डाला, वही भगवान्‌का परम प्रिय भक्त हो गया। बालीग्रामदास भी इसीप्रकारके भगवान्‌के एक अनन्य भक्त थे। श्रीजगन्नाथपुरीसे दो कोसपर बालीग्राम नामक एक छोटा-सा कसबा है। बालीग्रामदासका जन्म इसी गाँवमें हुआ था। इनका जन्म-नाम 'दासिया बावरी' था। यह जातिके भील, और इनका पेशा कपड़े बुननेका था। घरकी स्थिति बहुत ही गरीब थी, उनके कोई सन्तान नहीं थी। संसारमें उनके आत्मीय-स्वजनोंमें एक पतिव्रता पत्नी ही थी। स्त्री-पुरुष कपड़े बुनकर बड़ी ही गरीबीके साथ अपना पेट पालते थे। उनके आचार-विचार तो अपनी जातिके अनुकूल ही थे, परन्तु भगवद्भजनमें उन्हें बहुत ही रस मिलता था। गाँवमें कहीं भी किसी उत्सवपर भजन-कीर्तन होता तो वह वहाँ ज़रूर पहुँचते। यद्यपि उनको कीर्तनके भावों और अर्थोंका कोई ज्ञान नहीं था परन्तु कीर्तन सुननेमें उन्हें बड़ा ही आनन्द मिलता और वह गद्गद होकर आँसू बहाने लगते। इसीलिये जहाँ कहीं कीर्तन होता, वहीं वह सब कामोंको छोड़कर दौड़ जाते।

लगातार वर्षोंतक भगवन्नाम-कीर्तन सुनते-सुनते दासियाके मनका मैल मिट गया। उनकी भगवान्‌में रुचि उत्पन्न हो गयी और वह भगवत्कृपासे कुछ-कुछ भगवद्भावोंको भी समझने लगे। अब उन्होंने गुरुमन्त्र लेकर भगवान्‌के भजन-पूजनमें और उनके पतितपावन कीर्तनके गाने-सुननेमें समय लगाना शुरू किया। भजनके प्रभावसे विवेक उत्पन्न हो गया और उनके निर्मल मनमें यह भाव आया कि 'संसारमें एक भगवान्‌को छोड़कर और सभी कुछ मायाका खेल है। सोने और लोहेकी बेड़ीके समान पुण्य और पाप दोनों ही बाँधनेवाले हैं। अतएव इनसे मन हटाकर भगवान्‌में मन लगाना ही कल्याणका एकमात्र साधन है।' इसप्रकारके विचारोंसे उनके हृदयमें संसारसे वैराग्य हो गया। वह भगवत्प्रेमके नशेमें झूमते हुए फिरने लगे। समय-पर भोजन करने और सोनेकी भी सुधि उन्हें नहीं रही। कभी कुछ खानेको मिल गया तो ठीक, नहीं तो न सही। जिस घोर चिन्ताके चितानलमें मनुष्य जीते ही जी निरन्तर जलते रहते हैं उस चिन्ताका मानो दासियाके हृदयमें अभाव ही हो गया। अवश्य ही एक चिन्ता उनके हृदयको सदा-सर्वदा व्याकुल रक्खा करती थी। वह हमेशा यह विचार किया करते कि 'हाय ईश्वर, तूने मुझे बड़ी नीच जातिमें जन्म दिया है, मैं हरिभक्तिका नाम भी नहीं जानता। मुझ नीचको श्रीहरिके देववन्दित चरणकमलोंकी पहचान कैसे होगी? हाय, क्या मेरा मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही जायगा?'

(२)

यह कहा जा चुका है कि बालीग्राम कसबा पुरीसे दो ही कोसपर था। वहाँके लोग सदा ही पुरी आया-जाया करते थे। पुरीमें प्रतिवर्ष भगवान्‌की रथयात्राका महोत्सव बड़े ही धूम-धामसे होता है, उत्सवका आनन्द लूटनेके लिये दूर दूरसे लाखों मनुष्य आया करते हैं, परन्तु दासियाने अबतक भगवान्‌की रथयात्राका दर्शन नहीं किया था। रथयात्राके दिन समीप थे, उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँवसे होकर लोगोंके दल-के-दल श्रीजगन्नाथजीका जय-घोष करते हुए दर्शनको जा रहे थे। उन्हें देखकर दासियाने अपने मनमें सोचा—कि 'हाय, कितनी दूर-दूरसे भगवान्‌के दर्शनको लोग आते हैं, किन्तु मैं ऐसा अभागा हूँ कि इतना नजदीक रहनेपर भी आजतक दर्शनसे वञ्चित रहा ! क्या मेरे भाग्यमें पतितपावन अधम-उद्धारक अनाथोंके नाथ श्रीजगन्नाथके दर्शन लिखे ही नहीं हैं ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। दयामय भगवान् मेरे लिये ही ऐसा क्यों करने लगे। यह मेरी ही नीचता है जो अबतक मैं दर्शनको नहीं गया। पर अब तो दर्शन किये बिना दूसरा काम ही नहीं करूँगा।' यों सोचकर, वह अन्यान्य यात्रियोंके साथ जगन्नाथ-जीकी ओर चल पड़े।

वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि श्रीजगन्नाथजीका नन्दीघोष नामक रथ गुंडिचेकी ओर जा रहा है। लाखों नर-नारी दर्शनके लिये इकट्ठे हो रहे हैं। सभीके मुखसे श्रीहरिनामकी जय-ध्वनि हो रही है, हजारों मनुष्य नाच रहे हैं, हजारों ही गा रहे हैं, हजारों भाँति-भाँतिके बाजे बजा रहे हैं और हजारों ही भगवान्‌के रथके मोटे-मोटे रस्सोंको प्रेमसे खींच रहे हैं। इस हरि-प्रेमके आनन्द-दृश्यको देखकर दासियाका मन भी आनन्द-सिन्धुमें डूब गया। उन्होंने भी दोनों हाथ उठाकर प्रणाम किया और प्रेम-विह्वल नेत्रोंसे भगवान्‌के दर्शन कर 'जय जय श्रीजगन्नाथ' की ध्वनि की। तदनन्तर वह भगवान्‌के ध्यानमें निमग्न हो गये। ध्यानकी गाढ़ स्थितिमें उन्होंने देखा कि शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे विभूषित, नीलकान्तमणि-सदृश सुन्दर भगवान् श्रीहरि मधुर मुसकानके साथ उनकी ओर करुण-दृष्टिसे देख रहे हैं और मानो उन्हें प्रेम-दान दे रहे हैं !

अब दासियासे नहीं रहा गया, उन्होंने दोनों हाथ उठाकर प्रभुकी ओर ताकते हुए गद्गद्‌कण्ठसे कहा—'हे पतितपावन, हे मेरे प्रभो, आपने जब दया करके मुझे अपने देव-दुर्लभ दर्शन दे दिये तो अब मैं पतित नहीं रहा। हे प्रभो ! क्या आप पतितपावनको इन नेत्रोंसे देखकर भी कोई पतित रह सकता है ? यदि अब भी मैं पतित ही हूँ, तो हे नाथ, सबसे पहले मेरा उद्धार करके आपको अपने पतितपावन नामकी सार्थकता करनी होगी। प्रभो ! प्रभो !! मुझ सरीखे पामर महापापी-के भाग्यमें आपके दर्शन कहाँ ? दयामय ! यह तो आपकी दया ही है कि जिसके प्रतापसे मैं आपकी दयाका पात्र बन सका हूँ। मुझे निराश न करो मेरे नाथ ! अब तो इस अधमका उद्धार करना ही पड़ेगा। प्रभो ! मुझे अपनालो। मेरे सारे पाप-ताप सदाके लिये दूर कर दो। मेरे हृदयमें ज्ञानका दिव्य दीपक जला दो, और ऐसे अलौकिक आलोकसे मेरे सारे अन्तर और बाहरको प्रकाशित कर दो कि जिसके प्रकाशसे मैं आपकी त्रिभुवन-प्रकाशक परम कमनीय मधुर रूप-छटाका सदा-सर्वदा दर्शन पाया करूँ। नाथ, क्या कहूँ, अब तो आपको मुझे अपनाना ही होगा। अपने नामको, विरदको सफल करना ही पड़ेगा।'

एक दिन प्रेमविह्वल हठीले भक्त सूरदासने भी प्यारे श्यामसुन्दरसे हठ करके गाया था—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमही माधव अपुन भरोसे लरिहौं॥
हौं तो पतित सात पीढ़िनकौ पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहतहौं तुम्हें बिरद बिनु करिहौं॥
कत अपनी परतीति नसावत मैं पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तबही लै उठिहै जब हँसि दैहो बीरा॥

दासियाको मानो भगवान‌ने हँसते हुए 'तथास्तु' कहा। वह दण्डकी ज्यों ज़मीनपर गिर-कर धरतीमें लोट-लोटकर बारम्बार प्रणाम करने लगे और अतृप्त नेत्रोंसे भगवान्‌की अप्राकृत सौन्दर्य-सुधाका पान करने लगे। तदनन्तर भगवान्‌की आज्ञा और आश्वासनयुक्त वचन प्राप्त कर उनकी अनुमति ले वह वहाँसे अपने गाँवकी ओर चल पड़े।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३)

दासिया घर पहुँचे। पतिव्रता स्त्रीने स्वामीको आया देख हँसते हुए कहा—'अहो, आप रथयात्राके दर्शन कर आये, बहुत ही अच्छा हुआ। भूख लग रही होगी, रसोई तैयार है, हाथ-पग धोकर पहले भोजन कर लीजिये।' दासिया बिना ही कुछ बोले पागलकी तरह हाथ-पैर धोकर खानेको बैठ गये। पर वह तो दूसरे ही भावोंमें मस्त थे, भगवत्प्रेममें तल्लीन थे, उनपर एक ऐसा सात्त्विक नशा छा रहा था जो बड़े-बड़े विद्वान्-तार्किकोंको स्वप्नमें भी नसीब नहीं होता। आज दासियाकी स्त्रीने एक नयी हँड़ियामें भात बनाये थे। उफान आनेसे भातके फाग बाहर हाँड़ीपर चिपक गये थे। भातपर तरकारी रखकर स्त्रीने वही हाँड़ी दासियाके सामने रख दी। दासियाको बाह्यज्ञान नहीं था, अतः उन्हें तरकारीके बदले हाँड़ीमें कुछ दूसरी ही चीज दिखी। लाल हँड़ियामें सफेद भातोंपर काले शाकको इन्होंने अपने प्रभुकी आँख समझा, और वह मन-ही-मन विचार करने लगे कि 'अहा! यह तो उसी विश्वनियन्ताका वही श्वेत पद्मसदृश नेत्र है। अहा! यह उस नेत्रका लाल अंश है, उसके अन्दर यह सफेदी है, और अहा! इस सफेदीमें प्रभुकी काली-काली पुतली कैसी शोभित हो रही है!' भक्ति-भावके प्रबल आवेगसे दासियाका शरीर रोमाञ्चित हो उठा, उनकी वाणी रुक गयी और सहसा नेत्रोंके बाँधको तोड़कर प्रेम-नदीकी धारा प्रबल वेगसे बहने लगी। वह इस स्थितिमें न जाने कितनी देर अचल बैठे रहे। इसके बाद एक पगलेकी तरह व्याकुलचित्तसे एकदम उठकर खड़े हो गये और मन-ही-मन न जाने क्या बड़बड़ाने लगे। वह कभी हँसते, कभी रोते, कभी 'हा नाथ!' 'हा नाथ!' पुकार उठते, और कभी सहसा आवेशमें आकर तालियाँ बजा-बजाकर नाचने लगते। उनकी ऐसी स्थिति देखकर बेचारी स्त्रीको बड़ा ही भय हुआ, उसने मन-ही-मन सोचा कि हो-न-हो पतिको या तो रास्तेमें कोई भूत लग गया है या किसीने जादू कर दिया है। वह व्याकुल हो उठी और एकदम घरसे बाहर निकलकर अड़ोस-पड़ोसके लोगोंको पुकारकर कहने लगी—'अरे! देखो तो मेरे पतिको क्या हो गया? वह श्रीजगन्नाथजी गये थे, रास्तेमें न मालूम क्या हुआ कि वे एक दम पगले हो गये हैं, और जो मनमें आ रहा है वही बक रहे हैं। अरे, मेरा नसीब फूट गया! मैं अब क्या करूँ?'

भाग्यवती! तेरा नसीब नहीं फूटा। वह तो चमक उठा है, और ऐसा चमका है कि जिसके लिये देवाङ्गनाएँ भी तरसती रहती हैं। जिनको देव-दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त होता है उन्हींका यों नसीब खुला करता है। अहा! तेरा स्वामी आज उस ऋषि-मुनि-वन्दित देव-देव जगन्नाथकी प्रेम-माधुरीमें उन्मत्त है कि जिसका अन्तकालमें नाम भी बड़े पुण्योंके सञ्चित होनेपर मनुष्यके मुँहसे निकलता है!

जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अन्त राम कहि आवत नाहीं॥

अस्तु, स्त्रीकी बात सुनकर लोगोंने उसे धीरज दिया और दासियाके पास जाकर कुछ लोग कहने लगे कि 'रे दासिया, तू यह क्या कर रहा है? भोजन सामने रक्खा है और तू नाच रहा है, पागल तो नहीं हो गया?' लोगोंने चारों ओरसे जब बार-बार इस तरह कहा, तब उनको कुछ बाह्यज्ञान हुआ। पागलपन कुछ उतरा समझकर लोगोंने अधिक पूछना शुरू किया, तब उन्होंने एक दीन-हीन कंगालकी भाँति दोनों हाथ जोड़कर रोते-रोते सबको सम्बोधन करते हुए कहा—'भाइयो, अरे तुम यह क्या कह रहे हो? ज़रा सोचो तो सही, मुझे क्या चीज़ खानेके लिये कह रहे हो, क्या रथपर विराजित भगवान् श्रीजगन्नाथजीका यह पद्मनेत्र तुम लोगोंको नहीं दीखता? अहा! देखो, देखो, भगवान्की यह रतनारी आँख, यह उसके अन्दरका सफेद भाग, और यह उसमेंकी काली-काली सुन्दर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुतली। अहा! कैसी सुन्दर है! कैसी मनोहर है!' इसप्रकार बोलते-बोलते वह भक्तिके आवेशसे विवश होकर फिर उन्मत्तकी भाँति नाचने-गाने लगे!

दासियाके घरके पास बहुत लोग इकट्ठे हो गये थे, और उनमें अच्छे-बुरे सभी प्रकारके मनुष्य थे। रथयात्राके कारण बहुत-से रसज्ञ, भावुक, सन्त-महात्मा भी पुरी जाते हुए वहाँ ठहर गये थे। वे लोग दासियाकी इस भक्तिविह्वल पवित्र स्थितिको देखकर मुग्ध हो गये और कहने लगे— 'भाई, तेरे निर्मल प्रेमभावकी बलिहारी! ऐसा ऊँचा प्रेम तुझे कहाँसे प्राप्त हुआ? सचमुच तू श्रीहरिके मनको हरण कर लाया है। भाई, तू धन्य है! धन्य है!! आज तुझे देखकर हमलोगोंको बड़ा ही आनन्द हुआ है। आजसे हम तेरा नाम 'बालीग्राम-दास' रखते हैं। तेरे जन्मसे यह गाँव कृतार्थ हो गया। हे माता दास-पत्नी! तुम अपने पतिके लिये कोई चिन्ता न करो, तुम सचमुच बड़भागिनी हो, जो तुम्हें ऐसा भक्त-पति प्राप्त हुआ है! तुम एक काम करो, हाँड़ीमेंसे भात और तरकारीको निकालकर किसी दूसरे बरतनमें अलग-अलग परोस दो, तब तुम्हारे पति भोजन कर लेंगे। अहा! जिसके मनमें प्रभुके तेजस्वी नेत्रने अपना स्थान कर लिया है वह क्या इस तरह भोजन कर सकता है? माता, इस लाल हाँड़ीके ऊपर झाग, अन्दर भात और उसके बीचमें रखी तरकारी क्या तुम नहीं देखती। तुम्हारे स्वामीको यह साक्षात् श्रीहरिके पद्मनेत्रके समान दिखता है, इसीसे यह इसे नहीं खाते!'

इतना कहकर साधु वहाँसे चल दिये। स्त्रीने उनके कथनानुसार भात और तरकारीको निकाल कर अलग-अलग बरतनोंमें परोस दिया और भोजन करनेके लिये पतिसे प्रार्थना की। बालीग्राम-दासका भाव बदला, और वह भोजन करने लगे।

(४)

परन्तु अब यह दासिया दूसरे ही दासिया हो गये! मामूली दाससे बदलकर त्रिभुवनपतिके दास बन गये। उनके विचारोंमें अद्भुत परिवर्तन हो गया। आजकल वे चौबीसों घण्टे भगवान्‌के ध्यानमें लीन रहते हैं। बाहरसे कुछ भी काम करते हैं, परन्तु उनके अन्दर तो एक ही ध्यान, एक ही चिन्तन चालू रहता है। वे जब सोते हैं तो श्रीप्रभुके अभय चरणकमलोंपर मस्तक टेककर सोते हैं, आँखें मूँदकर ध्यानमें उन्हींको देखते-देखते निद्रा-वश हो जाते हैं और जागते समय भी, वही छबीली छटा सामने रहती है। वे ध्यानमें ही सोते और ध्यानमें ही जागते हैं।

एक दिन रातके समय वे सो रहे थे, उनका चित्त चिन्तामणिके चरणकमलोंका चञ्चरीक बन रहा था, उसी समय वह घबड़ाकर पुकार उठे—'हा! क्या शंखचक्रधारी भगवान् मुझपर कृपा नहीं करेंगे? क्या मुझको उनके साक्षात् दर्शन नहीं होंगे?' इसी विचारसे उनके हृदयमें एक भयानक आग-सी लग गयी, वे अस्थिर हो उठे। चित्तमें भगवान्‌के दर्शनकी तीव्र और अत्यन्त उत्कट उत्कण्ठा उत्पन्न हो उठी! अब क्षणभरका भी विलम्ब सहन नहीं हो सका। चित्त अस्तव्यस्त हो गया, ऐसी अवस्था हुई कि जिसका वर्णन वाणीसे तो हो ही नहीं सकता, किन्तु कल्पनामें भी नहीं आ सकता। समझने-समझानेके लिये दिग्दर्शनमात्रको जलसे बिछुड़ी हुई मछलीकी दशाकी कल्पना कर अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तवमें तो इस स्थितिको वही जानता है कि जिसके चित्तकी सारी वृत्तियाँ सब ओरसे सम्पूर्णभावेन सिमटकर सागराभिमुखी गंगाकी धाराकी भाँति अभिसारिका बनकर प्रबल वेगसे अपने प्रियतमकी ओर प्रवाहित होती है। बड़ी भारी प्यास लगनेपर एक जलके सिवा और कुछ भी नहीं सूझता, परन्तु परमात्माके दिव्य दर्शनकी उत्कण्ठा उत्पन्न होनेपर भाग्यवान्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्यका हृदय, उस पिपासुकी व्याकुल पिपासासे भी कितना अनन्त अधिक गुण तृषित हो उठता है, इसको वही जानता है; और जानते हैं उसके परम प्यारे भगवान्,जो भक्त-हृदयकी सच्ची व्याकुलताको पहचानकर तुरन्त ही प्रकट होकर उसे कृतार्थ कर देते हैं ! भक्तिमती मीराने व्याकुल होकर गाया था—

मैं तो राम दीवानी मेरा दरद न जानै कोय ।

× × ×

घायलकी गति घायल जानै जो कोई घायल होय ॥

× × ×

मीराकी प्रभु पीर मिटै जब बैद साँवलिया होय ॥

जिस शुभ क्षणमें भक्तका प्रेमविह्वल हृदय व्याकुलताके मूक स्वरोंमें इसप्रकार पुकार उठता है, उसी क्षण भगवान् उसके समीप उपस्थित हो जाते हैं । वे वहाँ न जाति-पाँति देखते हैं, न विद्या-बुद्धि देखते हैं और न कुल-आचारकी ही परवाह करते हैं । पुकार सुनते ही दौड़ते हैं और प्यारे भक्तको हृदयसे लगाकर कृपाके आँसुओंकी धारासे उसका अभिषेक करते हैं । आज दासियाकी प्रेम-पुकार सुनकर भगवान् उनके समीप आ पहुँचे । दासियाका आवेश उतरा, आँखें खुल गयीं और उन्होंने चकित मुग्ध नेत्रोंसे अपने जीवनधन मनमोहन श्रीहरिको मन्द-मन्द मुस्कराते सामने खड़े देखा । नेत्रोंद्वारा प्रभुके रूपामृतका पानकर उन्होंने अपने अनेक युगोंकी पिपासाको शान्त किया । पता नहीं, कितने समयतक मन्त्रमुग्धकी भाँति वह भगवान्की दर्शन-मदिरामें छके रहे । फिर दोनों हाथ जोड़कर प्रेमाश्रुओंकी धारा बहाते हुए बोले—'दयामय, उस दिन रथयात्राके समय ध्यानमें आपने जिस दिव्य मूर्तिसे दर्शन दिये थे, आज उसी तेजपुञ्ज अलौकिक मूर्तिमें आप मेरे सामने साक्षात् उपस्थित हैं । सचमुच आप बड़े दयालु हैं । प्रभो ! आप निराधारके आधार हैं, अहो ! सुर-असुर, गन्धर्व-किन्नर, योगीन्द्र-मुनीन्द्र आदि भी जिनके दर्शनको सदा तरसते रहते हैं वही प्रभु आज मुझ-सरीखे दीन-हीन ज्ञान भक्ति-विहीन कंगालके घर पधारे हैं । अहा ! मैं प्रभुका कैसे सत्कार करूँ ?'

प्यारे भक्तकी बात सुनकर दयामय प्रभुने मुस्कराते हुए मधुर वाणीसे कहा—'मेरे प्यारे ! नीच हो या ऊँच, जो मुझपर प्रेम रखता है वह मुझे बड़ा ही प्यारा है । जो लोग स्वर्ग-सुख या किसी दूसरे पदार्थके लिये मेरी भक्ति करते हैं या उतने-हीके लिये मेरे साथ प्रेम दिखलाते हैं, वे मेरे हृदयको कभी पिघला नहीं सकते, परन्तु जो निष्काम अनन्य प्रेमभावसे मेरा भजन करता है उसके लिये–उसके वियोगमें तो मैं स्वयं झूर-झूरकर मरा करता हूँ । मैं तेरे विशुद्ध भावपर बड़ा ही प्रसन्न हूँ और तेरी उसी प्रेम-डोरीसे खिचकर यहाँ आया हूँ । हे प्रियतम ! आज मैं तुझपर बहुत ही प्रसन्न हूँ, माँग ले, माँग ले, दिल खोलकर मुझसे मनमाना वरदान !'

अहा ! समस्त ऐश्वर्यके आधार साक्षात् सच्चिदानन्दघन प्रभु जिसके सामने खड़े हैं उसको फिर दूसरी किस वस्तुकी आकांक्षा रह जाती है? बालीग्रामदासने परम आनन्दसे प्रभुके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर कहा—'मेरे नाथ, प्रभो ! आपके चरणकमलोंको सामने देखते-देखते ही मैं मर जाऊँ, बस, मुझे यही चाहिये । हे प्रभो ! मैं आपसे और क्या माँगूँ ? पतितपावन ! इसपर भी यदि आपका मन न मानता हो तो मुझे यही शुभ आशीर्वाद दीजिये कि मेरा मन-भ्रमर सदा-सर्वदा आपके पवित्र चरणकमलोंका मधुर मकरन्द ही पान करता रहे, और जब-जब मैं आपका ध्यान करूँ तब-ही-तब आपके प्रत्यक्ष दर्शनका मुझे सौभाग्य प्राप्त हो । हे दीनदयालो, मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये ।'

भक्तकी प्रेमभरी प्रार्थना सुनकर भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए, और स्मित-हास्य कर कहने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगे—'वत्स, तेरे जीवनको धन्य है, तुझ-जैसा निष्काम चित्तका भक्त बहुत ही दुर्लभ है। तेरी सारी प्रार्थना पूर्ण होगी। एक बात और, जब तू पुरी आवेगा तब मैं मन्दिरके नीलचक्रपर बैठ जाऊँगा और उस समय तुझको मेरे जैसे दर्शनकी इच्छा होगी, वैसे ही दर्शन होंगे। तब तू मुझे जो कुछ भी पदार्थ देगा, उसे मैं बड़े ही प्रेमसे खाऊँगा।'

भगवान् तो प्रेमके भूखे हैं। बिना प्रेमके छप्पन भोग ठुकराकर भगवान् प्रेमसे अर्पित की हुई शाक-भाजी बड़े आनन्दसे भोग लगाते हैं। स्वयं ही आपने कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गी० ९।२६)

'मनुष्य यदि पत्र, पुष्प, फल या जल ही मेरे-लिये प्रेमपूर्वक अर्पण करता है तो उस मेरे प्रेमका सम्पादन करनेवालेके द्वारा प्रेमपूर्वक दिया हुआ वह पदार्थ मैं स्वयं प्रकट होकर खा लेता हूँ।'

दीनता भक्तका सहज स्वभाव है, प्रभुके परम भक्त अपनेको 'तृणादपि सुनीच' ही मानते हैं। दासिया भी अपनी जातिको बहुत नीच मानते थे और इसी कारण इच्छा होनेपर भी उन्होंने भगवान्को कुछ खानेके लिये न कहकर केवल दर्शन देनेकी ही प्रार्थना की थी, परन्तु अन्तर्यामी भगवान्से भक्तके हृदयकी इच्छा कैसे छिपी रह सकती है? भगवान्ने इसीलिये बालीग्रामदाससे उपर्युक्त बातें कहीं। भगवान्की आज्ञा सुनकर बालीग्रामदास मनमें सोचने लगे। 'आहा! भगवान्की कितनी कृपा है, सचमुच इतनी कृपाके कारण ही भक्त आपको कृपासागर कहा करते हैं। प्रभो, धन्य है आपकी कृपाको और आपके स्वामीपनको!'

(५)

यों विचार करते-करते रात बीत गयी, सबेरा हुआ और बालीग्रामदास उठकर भगवान्के भोगके लिये विचार करने लगे। उन्होंने कुछ कपड़ा बुन रक्खा था, उसे बेचनेके लिये घरसे निकल पड़े और एक ब्राह्मणके दरवाज़े जा पहुँचे। ब्राह्मण कपड़ा खरीदकर पैसे लेने घरके अन्दर गया। भक्त बाहर खड़े थे और भगवान्के प्रसादके लिये क्या ले जाना चाहिये, इसीपर विचार कर रहे थे। अकस्मात् उनकी नज़र नारियलके पेड़की ओर गयी, उन्होंने देखा, एक सुन्दर नारियल लगा हुआ है, उसीको भगवान्के लिये ले जानेका विचार किया और सोचने लगे कि ब्राह्मण कृपा करके मुझे यदि यह श्रीफल दे दें तो क्या ही अच्छा हो। यह इस पेड़का पहला ही फल है, इससे भगवान्को बड़ी ही प्रसन्नता होगी। इतनेहीमें ब्राह्मणने आकर पैसा लेनेको कहा। पर पैसा न लेकर बालीग्रामदास बोले—'हे देव! दया करके मुझे यह नारियल दे दो और इसके जितने पैसे हों, कपड़ेकी कीमतमेंसे काट लो।' ब्राह्मणने रुखाईसे जवाब दिया—'ऐसा नहीं हो सकता, यह पेड़का पहला ही फल है, नहीं दिया जा सकता।' ब्राह्मणने यह कह तो दिया, फिर उसके मनमें विचार आया कि नारियल देनेसे पैसे बच जायँगे।' इधर बालीग्रामदास बहुत ही आग्रह करने लगे। उनके आग्रह और पैसोंके लोभसे ब्राह्मणका मन बदला। उसने कहा—'तू जब इतना आग्रह करता है, तो मुझसे नाहीं नहीं की जा सकती। लेकिन तू कितने पैसे देगा?' दासने कहा कि 'महाराज, पैसे तो सारे आपके ही हाथमें हैं जितने चाहें, ले लीजिये।' ब्राह्मणने सोचा कि दाँव तो अच्छा है, खूब कसके पैसे लेने चाहिये। तदनन्तर उसने कहा कि 'भाई, इस नारियलको देनेकी मेरी इच्छा तो बिल्कुल नहीं है। पर तेरे हठको देखकर कुछ-कुछ मन होता है। तुझे नारियल चाहिये तो ले ले, पर बदलेमें कपड़ेकी कीमत कुछ भी नहीं मिलेगी।' दासने आनन्दोल्लास-के साथ कहा—'अच्छी बात है, जल्दीसे नारियल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोड़ दो ।' ब्राह्मणने नारियल तोड़ दिया । बालीग्रामदास पासके ही तालाबमें नहाकर शुद्ध हो नारियल लेकर चल दिये । उन्हें इस समय बड़ा आनन्द है । भगवत्प्रेममें मस्त भक्त इस बातको भूल गये कि घरमें कुछ भी नहीं है और बिना पैसे घर जानेपर स्त्री-पुरुष दोनोंको भूखों मरना पड़ेगा ।

बालीग्रामदास रोज़ जितना कपड़ा बुनते, उतना बेंचकर उन्हीं पैसोंसे कुछ तो दूसरे दिनके लिये सूत खरीद लाते और जो कुछ बचता उससे रूखा-सूखा खाकर काम चलाते । आज कपड़ेकी कीमत बिल्कुल न मिलनेसे केवल एक दिन भूख ही मरनेकी बात नहीं, किन्तु कलके लिये सूत भी लानेको पैसे नहीं रहे । प्रेममें तल्लीन होनेपर भविष्यका विचार कौन करे ? अस्तु, ब्राह्मणसे नारियल लेकर दासजी सीधे पुरीकी ओर चल पड़े । रास्तेमें उन्होंने पूजाकी सामग्री लिये एक ब्राह्मणको जाते देखा । उसे देखकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ और वे कहने लगे कि 'हे देव ! तनिक मेरी प्रार्थना तो सुनो, तुम भगवान्‌की पूजा करने जाते हो तो कृपाकर मेरा यह नारियल भी लेते जाओ । इसको भी भगवान्‌के अर्पण कर देना, इसमें तुमको कोई तकलीफ तो नहीं होगी ?' ब्राह्मणने कहा, 'भाई, तकलीफ कैसी ? इतनी सामग्री भगवान्‌को चढ़ायी जायगी, उसीके साथ यह नारियल भी चढ़ा दिया जायगा । लाओ, दो ।' ब्राह्मणके वचन सुनकर बालीग्रामदासने बड़ी सरलतासे कहा, 'महाराज, मेरा यह श्रीफल आप इन सामग्रियोंके साथ निवेदन न करना । इसको तो अपनी सारी सामग्रियोंके अर्पण कर देनेके बाद याद करना । परन्तु यह श्रीफल भगवान्‌के सामने केवल रख ही देनेको नहीं है, इसे लेकर गरुड़स्तम्भके पास खड़े हो भगवान्‌का स्मरण करके यह कहना कि 'हे प्रभो ! बालीग्रामदासने आपके लिये यह श्रीफल भेजा है इसे ग्रहण कीजिये ।' महाराज ! इतना कहकर तुम वहीं चुपचाप खड़े रहना, कुछ बोलना नहीं । तुम्हारी प्रार्थना सुनकर भगवान् यदि अपने हाथसे श्रीफल ले लें तो दे देना, नहीं तो मेरा वापस लौटा लाना । कहीं महाराज, मेरी इस विनतीको भूल न जाना ।'

बालीग्रामदासकी सरल और सच्ची बातोंको सुनकर संसारी विद्वान् ब्राह्मण हँस पड़े और बोले 'अच्छा भाई, ऐसा ही होगा ।' यों कहकर उन्होंने नारियल ले लिया । ब्राह्मण बहुत ही सुशील, शान्त और श्रद्धालु थे, इसलिये दासने उनका विश्वास करके उन्हें नारियल दे दिया और वह अपने घर लौट आये । ब्राह्मण प्रभुके मन्दिरमें पहुँचे । षोडश उपचारोंसे भगवान्‌की पूजा की । अपनी सारी सामग्रियाँ भगवान्‌के अर्पण कीं । तदनन्तर महाप्रसाद लेकर कुछ देर विश्राम करनेके बाद जब घर लौटने लगे तब उन्हें बालीग्रामदासका श्रीफल याद आया और उन्होंने मन्दिरमें जाकर गरुड़स्तम्भके पास खड़े हो नारियल हाथमें लेकर भगवान्‌के सामने कहा—'हे प्रभो, आपके लिये बालीग्रामदासने यह श्रीफल भेजा है और कह दिया है कि यदि भगवान् स्वयं अपने हाथसे श्रीफल लें तो देना, नहीं तो लौटा लाना । अब आप या तो कृपा करके इस फलको स्वीकार कीजिये, नहीं तो मैं लौटा ले जाऊँगा ।' इतना कहकर ब्राह्मण आँखें मूँद भगवान्‌का ध्यान करने लगे । भक्त-वत्सल भगवान्‌ने हाथ बढ़ाया और ब्राह्मणके हाथसे नारियल लेकर भोग लगाने लगे ! इस अद्भुत घटनाको देखकर पण्डितजी तो स्तब्ध हो गये । भगवान्‌के कर-स्पर्शसे उन्हें परम आनन्द हुआ, वे ध्यानमें तल्लीन हो गये । उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी और वह मन-ही-मन बालीग्रामदासका स्मरणकर कहने लगे—'अहा ! भक्त ! तेरे अटल विश्वासको धन्य है ! तुझको और तेरी जन्मदातृ बड़भागिनी माताको भी धन्य है ! एवं तुझ-जैसे भक्तके आविर्भावसे बालीग्राम गाँव भी धन्यवादका पात्र हो गया है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहा! पुरुषोत्तम भगवान् तुझपर पूर्ण प्रसन्न हैं, आज तेरा यह प्रेमपूर्ण श्रीफल भगवान्को निवेदन कर मैं भी धन्य हो गया हूँ। भक्त! प्रभुके प्यारे भक्त! तुझे धन्य है! धन्य है!!'

इस बातकी चर्चा फैलते ही बहुत-से लोग वहाँ इकट्ठे हो गये। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ और सभी बालीग्रामदासकी और उसके प्रेमकी प्रशंसा करने लगे। ब्राह्मण अपने घर लौट आये और श्रीमन्दिरकी सारी घटनाएँ बालीग्रामदासको उन्होंने सुना दी।

(६)

दासियाको आज बड़ा ही आनन्द है। आज उसके मनमें दृढ़ विश्वास हो गया कि अखिल ब्रह्माण्डके नाथ नीच मनुष्यकी भी परम भक्ति-भावसे दी हुई प्रत्येक वस्तुको ग्रहण करते हैं। अब उनका सारा संकोच जाता रहा। इस घटनासे उनके प्रेममें और भी वृद्धि हुई और अब वे स्वयं प्रसाद लेकर निःसङ्कोच प्रभुके पास जानेका विचार करने लगे। इतनेमें उन्हें नीलचक्रपर दर्शन देनेकी भगवान्की आज्ञाका स्मरण हो आया और वह जानेको तैयार हो गये। परन्तु खाली हाथ कैसे जायँ? इतनेहीमें एक माली आमका टोकरा लिये बचने आया। बड़े सुन्दर आमोंको भगवान्के भोग-के योग्य समझकर भक्तने मुँहमाँगे दाम देकर उन्हें खरीद लिया। आमोंको दो टोकरियोंमें रख उन्हें काँवरिमें लटकाया और कन्धेपर रखकर भक्तराज वहाँसे चल दिये। भगवान्के मन्दिरके पास पहुँचने पर उनको पण्डोंने घेर लिया। सुन्दर पके हुए आम देखकर पण्डोंके मुँहमें पानी भर आया। उनमेंसे एकने कहा—'भैया! आम मुझे दे दे, मैं भगवान्को भोग लगा दूँगा।' दूसरेने कहा—'जा, जा, तेरा क्या अधिकार है? भोग तो मैं लगाऊँगा।' इतनेमें तीसरा आकर पुकार उठा—'अरे, मेरे रहते किसकी ताक़त है जो इन आमोंको भगवान्के भोग लगाये।' आमोंके लालची, भगवान्के ठेकेदार बने हुए पण्डे आपसमें लड़ने लगे। बालीग्रामदास उनका यह ढंग देखकर घबराये। पण्डोंने जब छीनने-का विचार किया, तब भक्तने हाथ जोड़कर कहा—'भाइयो! यह आम आपलोगोंमेंसे किसीको नहीं मिल सकते। यह तो मेरे प्रभु खायँगे।' इतना कहकर भक्त अपने भगवान्का चिन्तन करने लगे। पण्डे कुछ शान्त हुए और किसीको भी आम न देते देख-कर बालीग्रामदाससे बोले कि 'भाई, जब भगवान्-के लिये आम लाये हो, तब हमें क्यों नहीं देते? यहाँ तो कोई कुछ भी लाता है तो पहले हमें ही देता है और फिर उसे हमीं लोग भगवान्के आगे रक्खा करते हैं। तुम हममेंसे किसी भी एकको ही दे दो। व्यर्थ देर क्यों कर रहे हो?' पण्डोंके वचन सुनकर भक्तने हँसते हुए कहा—'यह आम मैं किसीको नहीं दूँगा। इन्हें तो मैं अपने हाथोंसे भगवान्को खिलाऊँगा। आप लोगोंको कोई दूसरा काम होगा। अतएव यहाँसे चले जाइये।' इतना सुनते ही पण्डे आग-बबूला हो गये, और धमकाते हुए दाससे बोले—'पगला कहींका! आया है अपने हाथसे भोग लगाने। भीतर घुस पावेगा तब न!' फिर जरा नम्र होकर बोले—'भाई, भगवान्के लिये लाया है तो उनके सेवकोंको क्यों नहीं दे देता। हमलोगों-को दिये बिना भगवान् कैसे भोग लगावेंगे? ला हमें दे दे।' पण्डोंके वचन सुनकर बालीग्रामदासको हँसी आ गयी। और वह हाथ-पैर जोड़कर किसी तरह पण्डोंको राजीकर मन्दिरमें जा पहुँचे, एवं भगवान्के श्रीनीलचक्रके दर्शन किये। नीलचक्रके सामने जाते ही भक्तके हृदयमें प्रेम उमड़ उठा। उन्होंने देखा वास्तवमें भगवान् नीलचक्रपर विराज रहे हैं। वह हर्षविमुग्ध होकर पुकार उठे—'अहाहा! वही तो हैं, वही मेरे स्वामी वही कृपासागर नाथ, इस रंकपर कृपाकर यहाँ आ बिराजे हैं। प्रभो! धन्य है आपकी दयाको!' बालीग्रामदास ज्यों-ज्यों तल्लीनतासे भगवान्के दर्शन करने लगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्यों-ही-त्यों भगवान्‌के भी माधुर्यका उत्तरोत्तर, अधिक-से-अधिक विकाश होने लगा। मानो सौन्दर्यसागर आज मूर्तिमान होकर नीलचक्रके ऊपर प्रकट हो गया! दास, प्रभुका प्यारा दास, नेत्रोंद्वारा भगवानकी सौन्दर्य-मदिराका पानकर उसकी मादकतासे मतवाला बन गया। बारम्बार साष्टाङ्ग प्रणामकर उन्होंने भगवान्‌की स्तुति की। तदनन्तर दोनों हाथोंमें एक-एक आम लेकर भगवान्‌के सामने कर कहने लगे। 'प्रभो! खाओ, खाओ, खूब खाओ! इस दासको कृतार्थ करो नाथ!' देखते-ही-देखते दोनों टोकरियाँ खाली हो गयीं। पण्डोंने पहले समझा था कि यह आदमी पागल है, परन्तु अब आमोंको अदृश्य होते देख उनके आश्चर्यका पार नहीं रहा और उन्होंने समझा कि 'हो-न-हो यह कोई जादूगर है!' क्योंकि उन्हें भगवान्‌को आमका भोग लगाते देखनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ! वे सन्देह कर बालीग्रामदाससे पूछने लगे और बालीग्रामके यह कहनेपर कि 'आम भगवान्‌ने खाये हैं।' वे आपसमें कहने लगे कि 'यह सब तो बातें हैं। कभी भगवान् भी यों आम खाते हैं?' पर जब उन्होंने मन्दिरमें जाकर देखा कि रत्नवेदीके पास आमोंके छिलके और गुठलियोंका ढेर लगा है तब तो वे सभी अचरजमें डूब गये, और बालीग्रामदासके समीप आकर उन्हें प्रभु-प्रसादकी माला पहना कहने लगे कि 'धन्य है आपके जीवनको! आपने अपने विशुद्ध प्रेमसे भगवान्‌को वशमें कर लिया है! अरे, हम तो केवल नाममात्रके सेवक हैं, सच्चे सेवक तो आप हैं। आज आप-जैसे भक्तके दर्शनकर सचमुच हम कृतार्थ हो गये! अहा! शास्त्रकी यह बात आज सर्वथा सत्य हो गयी कि भगवान् अपने भक्तके अधीन हैं! वे भक्तिके वश हैं। भक्तिके नातेमें वे कोई भी ऊँच-नीचका खयाल नहीं करते! भगवान् आपपर परमप्रसन्न हैं, इसीसे आपके फलोंका उन्होंने आनन्दपूर्वक भोग लगाया है। मनुष्य किसी भी बातमें कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो परन्तु यदि वह भक्तिहीन है तो भगवान् उसकी दी हुई सामग्रीको छूतेतक नहीं। आप धन्य हैं जो विश्वम्भर भगवान्‌को अपने हाथों आम खिला सके।'

बालीग्रामदासने हाथ जोड़कर नम्रतासे कहा—'महाराज, मैं तो अत्यन्त तुच्छ हूँ, नीच जातिका हूँ, मुझमें भक्ति कहाँ? यह तो भक्तभावन पतितपावन भगवान्‌की और उनके भक्तोंकी कृपा है। आपलोगोंको धन्य है जो सदा भगवान्‌के चरणोंमें रहते हैं।' इसप्रकार कहते हुए बालीग्रामदास उनके चरणोंमें लोट गये और चरण-रजको अपने मस्तकपर लगाने लगे। बालीग्रामदास प्रेम-विह्वल हो पुकार-पुकारकर रोने लगे; और बोले—'हे प्रभो, अब मैं यहाँ कभी नहीं आऊँगा। दयासागर! कहाँ तो मैं नीच-जातिका महापतित अधम गँवार, और कहाँ आप सच्चिदानन्दघन विश्वाधार परमात्मा! नाथ, आज आपने मुझे प्रकट कर दिया। लोग मुझे क्या कहेंगे? वे तो यही कहेंगे कि यह भगवान्‌का अनन्यभक्त है, तब मैं लज्जाके मारे अपना मुँह कहाँ छिपाऊँगा मेरे प्रभो! कहीं लोगोंसे प्रशंसा सुनकर यदि मुझे अहंकार हो गया तो मेरी क्या गति होगी? लोक-परलोक अन्धकारमय हो जायँगे। मैं अब क्या करूँ? यहाँ तो भविष्यमें कभी आनेका ही नहीं। मुझे यही आशीर्वाद दो कि जहाँ कहीं भी मैं आपको स्मरण करूँ वहीं मुझे आपके दर्शन प्राप्त हो जायँ। हाँ, महाराज! एक इच्छा है और वह बहुत समयसे है। मैं प्रभुके दसों अवतारोंके अभी प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ।'

भक्तके सच्चे हृदयकी शुभ अभिलाषा भगवान् कैसे अपूर्ण रख सकते हैं? दयामयने दयाकर अपने दसों अवतारोंके दर्शन कराये, और उन्हें आश्वासन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा आशीर्वाद देकर विदा किया। हरि-गुण गाते हुए भक्त उस मन्दिरको छोड़, हृदय-मन्दिरमें भगवान्का ध्यान करते हुए घर लौट आये।

आज बीसवीं सदीके शिक्षाके अभिमानी और जड़ बुद्धिवादका आश्रय लेनेवाले हमलोग भगवान्‌की इन लीलाओंपर अविश्वास कर इन्हें कोरी कहानी कह बैठते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है। किन्तु भक्तोंकी दृष्टिमें ऐसी बातें सर्वथा सत्य हैं और सत्य ही रहेंगी। अस्तु।

प्रतिष्ठाके भयसे डरकर बालीग्रामदास पुरी छोड़ कर घर आये। पर यहाँ भी उनके पास आनेवालोंका ताँता लगा ही रहा। बालीग्रामदास अपनी प्रशंसा सुनकर लज्जासे धरतीमें गड़े जाते थे। अन्तमें उन्होंने घरसे बाहर निकलनातक छोड़ दिया और वे केवल प्रभुके चिन्तनमें लीन हो रहे। अब वे श्रीहरिका स्मरण करने और उनके सामने हँसने-खेलने और नाचने-गानेके आनन्दमें ही अपना जीवन बिताने लगे। विश्वपतिकी प्रेरणासे उनके जीवन-निर्वाहके लिये कोई अभाव नहीं रहा। स्त्री-पुरुष दोनोंका सारा जीवन भगवान्‌के प्रेममें परम आनन्दसे बीता और नश्वर शरीरको छोड़नेके बाद दोनों दिव्यधाममें जाकर सदाके लिये भगवान्‌के चरणकमलोंके सेवक बन गये।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

(भक्तेरजय)

वैधव्य-पालनके उपाय

(लेखक—स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी)

विधवाका जीवन संन्यासीका जीवन है, उसमें निवृत्तिकी शान्ति और त्यागका तमहीन विमल आनन्द है, फिर विधवा स्त्री हतभागिनी क्यों समझी जाती है? क्या त्याग करना हत-भाग्य होनेका लक्षण है? संन्यासी गृहस्थोंके गुरु और आनन्द-पद-धारी क्यों होते हैं? जबतक वे गृहस्थमें रहते हैं तब तक तो आनन्द-पद-धारी नहीं होते, फिर संन्यासमें ऐसा क्या हो गया जिससे वे आनन्द-पद-धारी हो गये? सोचनेसे पता लगेगा कि आनन्द निवृत्तिमें है, प्रवृत्तिमें नहीं। आनन्द त्यागमें है, भोगमें नहीं। और आनन्द वासनाके क्षयमें है, वासनाके अधीन बननेमें नहीं। गृहस्थ विषयी होनेसे दुखी है और संन्यासी विषय-त्याग करनेसे सुखी है। जब यही अवस्था विधवाकी है, तब वह हतभागिनी है या उत्तम भाग्यवती है? विचार-शील लोग इस बातको सोच सकते हैं। विधवाका काम-भोग छूट गया है, क्या इसीलिये वह दुःखिनी हो गयी? क्या कामके द्वारा किसीको भी कभी सच्चा सुख मिला है? या किसी भी शास्त्रमें ऐसा कहा गया है कि कामोपभोगसे यथार्थ सुखकी प्राप्ति होती है? गीताजीमें कामको साक्षात् नरकका द्वार कहा गया है, आनन्दका नहीं। काम चित्तका एक उन्मादमात्र है। मनुष्य उस उन्मादमें फँस जाया करता है, और भ्रमसे अपनेको सुखी समझ लेता है। सुख प्रतीत होना दूसरी बात है और यथार्थ सुखका प्राप्त होना दूसरी। कामके द्वारा किसीको भी सुख प्राप्त नहीं होता, इस बातको तो विषयबद्ध लोग भी स्वीकार करेंगे, क्योंकि वे भी चाहते हैं कि वासना छूटकर शान्ति हो जाय। परन्तु पूर्व-जन्मके संस्कार दूसरे होनेसे उनकी वासना छूटती नहीं, इसीलिये वे विषयोंमें मत्त रहते हैं। परन्तु चित्तकी दुर्बलताके कारण विषयोंमें मत्त रहनेसे ही वे विषय सुखकर हो जायँगे, यह बात तो कोई नहीं कहेगा। जिसके विषय छूटते हैं, उसपर असलमें भगवान्‌की कृपा ही समझनी चाहिये, क्योंकि वही निवृत्तिके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखका अधिकारी होता है। इसीसे जब विधवाओंको विषयोंका त्याग करके निवृत्तिके परमानन्द-लाभ करनेका मौका मिला है, तब वास्तवमें वह दुःखिनी नहीं, सुखिनी हैं और हतभागिनी न होकर बड़भागिनी हैं। उसे गृहस्थ सधवा स्त्रियोंसे कदापि अधम नहीं समझना चाहिये, वह तो उनकी वैसे ही गुरु और पूजनीया है, जैसे संन्यासी गृहस्थोंके गुरु और पूज्य होते हैं।

आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि तो पशुओंमें भी होते हैं, फिर मनुष्यकी विशेषता क्या है? यह काम तो लाखों जन्मोंसे जीव करता ही आया है। एक जन्ममें नहीं किया तो कौन-सी आपत्ति है ? फिर यदि इसके त्यागसे उसमें यथार्थ मनुष्यत्व आ गया और निवृत्तिके फलस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिरूपी सुखको प्राप्त हो गया तब तो कहना ही क्या है? यदि विधवा गृहस्थमें रहकर बाल-बच्चे पैदा करती, तो वह उन्हीं लाखों जन्मके किये हुए कामोंको ही और एक बार करती, परन्तु इसमें उसका क्या कल्याण होता ? भोगोंको छोड़कर यदि वह परमात्माका चिन्तन करेगी तो उसे अवश्य परमानन्द मिलेगा।

अनन्त जन्मोंतक संसारका दुःख भोगनेपर भी विषय-मदोन्मत्त जीवको जो श्रीभगवान्के अलभ्य चरण-कमलोंकी प्राप्ति नहीं होती है और अप्रत्यक्ष-रूपसे जिसके लिये लालायित होकर समस्त जीव इस संसार-चक्रमें घड़ी-यन्त्रकी भाँति सदा-सर्वदा घूम रहे हैं, उसी चरण-कमलमें श्रीभगवान्ने यदि विधवाको संसारसे अलग करके शीघ्र बुलाया है और निवृत्तिका सेवन करके नित्यानन्द प्राप्त करनेका मौका दिया है, तो इससे अधिक दूसरी सौभाग्यकी बात उसके लिये और क्या हो सकती है ? विधवा बहनोंको शान्तचित्तसे इस रहस्यपर विचार करना चाहिये और घरमें जब कोई स्त्री विधवा हो जाय तब वहाँके सब शिष्ट लोगोंका यह प्रथम कर्तव्य होना चाहिये कि विधवाओंको उनकी अवस्थाका सच्चा गौरव समझा दें और उनपर श्रद्धा रखते हुए उनके साथ पूज्य-बुद्धिका बर्ताव करें। उनके समीप गृहस्थाश्रमके अनन्त दुःखोंका और विषयोंकी परिणाम-दुःखताका वर्णन करें और साथ ही निवृत्ति-मार्गमें परायण होनेके कारण उनको कितना आनन्द, कितनी शान्ति और कितना सौभाग्य प्राप्त हो सकता है, इसका ध्यान दिलावें। और उनको यह समझा दें कि उनके भाग्यकी यह एक अपूर्वता है कि उनके संसार-बन्धनसे छूटनेका भगवान्ने मौका दे दिया है, जोकि उनकी सङ्गिनी गृहस्थ-स्त्रियोंको न जाने कितने जन्मोंके बाद मिलेगा ? उनको इसी जन्ममें वह सुअवसर मिल गया है, इसलिये वे धन्य हैं, पूज्य हैं। इसप्रकारके भाव विधवाके हृदयमें खूब जमा दें। ऐसा समझा देनेसे विधवाको अपनी दशाके लिये दुःख न होकर सुख ही होगा। क्या सच्चे संन्यासियोंको कभी तप और त्यागमय जीवनसे दुःख होता है ? संन्यासीकी तरह त्यागी बननेमें (तत्त्व समझ लेनेपर विधवाको भी) गौरव प्रतीत होगा, शमदमादि परमार्थके साधन उसको क्लेशकारी और पीड़ा देनेवाले प्रतीत नहीं होंगे। वे संयम और अनन्त आनन्दकी प्राप्तिमें सहायक ही दिखायी देंगे। वैधव्य-दशामें पातिव्रत रखने और अविद्या-भाव दूरकर विद्या-भाव बढ़ानेका यह प्रथम उपाय है। जो लोग विधवाओंके सामने विषयसुख वर्णन कर उन्हें निवृत्तिसे डिगाकर परमात्माके मार्गसे हटाते हैं, वे उनके साथ बड़ा भारी अन्याय और दुर्व्यवहार करते हैं। संसारमें दुःख सुख वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है। भिन्न-भिन्न दशाओंमें, चित्तके भिन्न-भिन्न भावोंके कारण ही सुख-दुःखकी प्रतीति होती है। यह बुद्धिके विकार हैं। एक ही वस्तु एक भावमें देखनेसे सुख देनेवाली और वही दूसरे भावमें देखनेसे दुःख देनेवाली हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक मनुष्यकी मृत्यु होनेपर उससे मित्रभाव रखनेवालोंको दुःख और शत्रुभाववालोंको सुख होता है। सुख-दुःख केवल भावके कारण होते हैं। संसारी मनुष्यके लिये जो कामिनी-काञ्चन आदि सुख हैं, सच्चे संन्यासीके लिये वही दुःख हैं, इसी तरह संन्यासीके लिये जो सुख है, गृहस्थके लिये वही दुःख है। प्रवृत्तिकी दृष्टिसे देखनेपर सांसारिक भोग्य वस्तुओंमें सुख प्रतीत होने लगता है और वे ही सब वस्तु निवृत्तिकी दृष्टिसे देखी जानेपर दुःखदायी मालूम होने लगती हैं। इसलिये विधवाओंके अन्दर ऐसी सद्बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिये जिससे वे सांसारिक सभी वस्तुओंको निवृत्तिकी दृष्टिसे तुच्छ, त्याग करने योग्य और परिणाममें महान् दुःख देनेवाली समझें। यह वैधव्य-दशामें पातिव्रत-पालनका दूसरा उपाय है।

विधवाके हृदयमें रहनेवाली पवित्र प्रेमधाराको उसके हृदयमें ही रोक कर सड़ जाने देना नहीं चाहिये। संन्यासीकी तरह उसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भावमें परिणत करना चाहिये। परिवारमें जितने बाल-बच्चे हैं उन सबकी माता मानो विधवा ही है। इसप्रकारका भाव विधवाके हृदयमें उत्पन्न करना चाहिये, और घरवालोंको भी उसके साथ ऐसा ही व्यवहार बड़ी सावधानीसे करना चाहिये।

उनके हृदयमें निःस्वार्थ प्रेम और परोपकारकी प्रवृत्तिका भाव जगाना चाहिये। यह वैधव्य-दशामें पातिव्रत-रक्षाका तीसरा उपाय है।

चौथा उपाय सबसे सहज और सबसे कठिन है, वह यह कि विधवा पीहरमें यदि रहे तो उसके माता-पिताको और ससुरारमें रहे तो उसके सास-श्वसुरको जिस दिनसे स्त्री घरमें विधवा हो, उसी दिनसे विलास-क्रिया सर्वथा छोड़ देनी चाहिये। ऐसा होनेसे घरकी विधवा कभी नहीं बिगड़ सकती। नित्य सामने दीखनेवाला त्यागका ज्वलन्त आदर्श उसके चित्तको कभी मलिन नहीं होने देता। इसके सिवा जिस घरमें कोई विधवा हो, वहाँके सभी स्त्री-पुरुषोंको विषय-सम्बन्ध बहुत ही सावधानीसे करना चाहिये, जिसमें विधवाको उसका कुछ भी पता न लगे।

पाँचवाँ उपाय सदाचार है। विधवा स्त्रियोंको सदाचारका पालन करना चाहिये। खान-पानादिके विषयमें सदा सावधान रहना चाहिये। सदा सफेद कपड़ा पहिनना चाहिये। गहने नहीं पहनने चाहिये। क्योंकि रंगीन कपड़े और गहनोंसे तथा सजावटसे स्नायविक उत्तेजना उत्पन्न होती है जिससे विधवाके ब्रह्मचर्य-व्रतमें हानि पहुँच सकती है। इसमें बहुत-से वैज्ञानिक कारण हैं। उनको लाज छोड़कर इधर-उधर घूमना नहीं चाहिये। नाटक देखना, हर किसीके मकानपर जाना और संसारसम्बन्धी बातें करना, विषय-सम्बन्धी तसवीरें देखना और पुस्तकें पढ़ना बहुत हानिकर है, इन सबको बिलकुल छोड़ देना चाहिये। घरवालोंको भी चाहिये कि स्वयं सीधा-सादा वेष और बर्ताव रक्खें, जिससे विधवाके मनमें विकार उत्पन्न ही न हो। विधवाके खान-पानकी व्यवस्था घरके स्वामी ही करें दूसरे लोग न करें। जिसप्रकार देवताके नाम-पर आयी हुई वस्तुएँ अन्य कोई नहीं खाते, उसी प्रकार विधवाके लिये निर्दिष्ट वस्तुको भी कोई ग्रहण न करे। रातको एक दो छोटे बच्चोंको विधवाके पास सुलाना चाहिये। विधवाको किसी बातकी आज्ञा करनी हो तो सासु, श्वसुर और पिता-माता स्वयं करें। और वह भी बड़े आदर, स्नेह और सहानुभूतिके साथ! वधू या कन्या या अन्य किसीके द्वारा यथासाध्य आज्ञा कभी न करावें। उनको गृहकार्यमें उन्मुख करके सधवाओंकी सहचारिणी और उनपर कृपा करनेवाली बना देवें। विधवा कोई व्रत करना चाहे तो उसी समय करा देना चाहिये। यथासाध्य उसमें कृपणता कभी नहीं करनी चाहिये। सधवाओंकी अपेक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधवाके व्रतोद्यापनमें यथासाध्य अधिक व्यय करना चाहिये। इससे उनको सन्तोष होगा।

छठा उपाय यह है कि बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह सर्वथा उठा देने चाहिये। अवश्य ही कन्याका विवाह रजस्वला होनेसे पहले ही कर देना चाहिये। वृद्धावस्थामें किसी भी कारणसे विवाह नहीं करना-कराना चाहिये।

सातवाँ उपाय ब्रह्मचर्य और संन्यास आश्रममें पुरुषके लिये जितने शारीरिक,वाचनिक व मानसिक तपोंका विधान किया है और जितने सात्त्विक भोजन, मनः संयम, सदाचार पालन आदिके नियम बताये गये हैं, उन सबका ठीक ठीक पालन विधवा स्त्रियाँ किया करें। विधवा बहनोंको प्रेम और शान्तिसे यह सारी बातें समझानी चाहिये।

भगवद्भजन, शास्त्र-चर्चा, वैराग्य-सम्बन्धी ग्रन्थोंका पठन, पातिव्रतकी महिमा विषयके ग्रन्थोंका विचार और आध्यात्मिक उन्नतिकारी ग्रन्थों और उपदेशोंका श्रवण-मनन बहुत ही हितकारी है। गृहस्थ-दशामें पति देवताकी साकार मूर्तिकी उपासना थी, अब वैधव्य-दशामें संन्यासकी तरह उनके निराकार स्वरूपकी उपासनाका अधिकार उन्हें प्राप्त हुआ है, जिसमें उपासनाद्वारा तन्मयता प्राप्त करनेसे मुक्ति प्राप्त होगी। यह अवस्था तुच्छ विषय-सुखमें पागल हुए गृहस्थ नर-नारियोंकी अवस्थासे कहीं ऊंची और बड़े गौरवकी है। विधवाओंके चित्तोंमें सदा ही ऐसे भाव भरने और स्थिर कराने चाहिये।

जिस परम पति श्रीभगवान्‌की कृपासे प्रारब्धानुसार यह उन्नत साधनदशा प्राप्त हुई है, उनके चरण-कमलोंमें कृतज्ञता और भक्तिके साथ नित्य बार बार प्रणाम और उनका नियमितरूपसे ध्यान करना उन्हें सिखाना चाहिये।

इन सब उपायोंका अवलम्बन करनेसे घरमें विधवा स्त्री साक्षात् जगदम्बारूपिणी बन जाती है, उसकी अविद्याप्रकृतिका लय होकर विद्याप्रकृति-का पूर्ण प्रकाश हो जाता है, जिससे वह और उसके घरवाले सभी इस लोक और परलोकमें परम सुखी हो जाते हैं।

ऐसी विधवाएँ भोगवासनाका त्याग स्वयं ही बड़े आनन्दके साथ कर देती हैं। उनको विषयका नाम लेनेसे ही घृणा आती है। वे गृहकार्यमें परम निपुण होती हैं। अतिथि-सत्कार, अभ्यागत-कुटुम्ब और आत्मीय जनोंकी संवर्धना आदि कार्य वे परम प्रेमके साथ करने लगती हैं। वे सबल नीरोग और तेजस्विनी हो जाती हैं, और ईर्षा आदि दोषोंका त्याग करके सधवा स्त्रियोंके प्रति माताकी तरह स्नेह करनेवाली बन जाती हैं।

संसारमें जहाँ इसप्रकारकी विधवाएँ विद्यमान् हैं, वहाँ प्रत्यक्ष ही जगज्जननी भगवती देवीकी मूर्तिका अधिष्ठान समझना चाहिये। वहाँपर सभी लोग एक ऋषिचरित्रके द्रष्टा और फलभोक्ता हैं। एवं जहाँपर इसप्रकार दृष्टिभाव और फलभोग है वहाँपर अदूरदर्शी व्यक्तियोंकी पाप और भ्रूण-हत्याकी शङ्काओं और कल्पनाओंको कभी स्थान ही नहीं मिलता।

एक समय यह हिन्दू-जाति ऐसी ही थी और यदि भारतको यथार्थ उन्नत करना हो, तो ऐसे ही आदर्शकी पुनः प्रतिष्ठा करनी चाहिये। अन्य किसी आदर्शके द्वारा यह जाति अपने स्वरूपमें स्थित रहकर उन्नत नहीं हो सकती। अपने जातिगत मौलिक त्यागके आदर्शको त्यागकर अन्य देशोंके भोगमय आदर्श ग्रहण करनेकी चेष्टा करनेसे संस्कार-विरुद्ध होनेके कारण हमलोगोंको उभयभ्रष्ट होना ही पड़ेगा, हिन्दू-जाति घोर अवनतिको प्राप्त हो जायगी। अतः जातिके सभी शुभेच्छुकोंको नारी-धर्मसम्बन्धी विज्ञानोंका रहस्य समझकर यथार्थ उन्नतिके उद्योगमें लग जाना चाहिये। भोगोंकी माया-मरीचिकासे दृष्टि हटाकर परमात्माकी—सत्यकी ओर देखकर संयमका ही पाठ पढ़ना-पढ़ाना चाहिये। धर्म ही भारतीय सभ्यताका आधार है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षिगण संसारमें धर्मका प्रचार करते थे, अधर्मका नहीं। इसलिये—उन्होंने विधवा स्त्रियोंके लिये निवृत्ति धर्म ही शास्त्रोंमें बताया है हारीत-संहितामें कहा है—

केशरञ्जनताम्बूलगन्धपुष्पादि सेवनम् ।
भूषणं रङ्गवस्त्रञ्च कांस्यपात्रेषु भोजनम् ॥
द्विवारभोजनञ्चाऽक्ष्णो रञ्जनं वर्जयेत्सदा ।
स्नात्वा शुक्लाम्बरधरा जितक्रोधा जितेन्द्रिया ॥
न कल्पकुहका साध्वी तन्द्रालस्यविवर्जिता ।
सुनिर्मला शुभाऽचारा नित्यं सम्पूजयेद्धरिम् ॥
क्षितिशायी भवेद्रात्रौ शुचौ देशे कुशोत्तरे ।
ध्यानयोगपरा नित्यं सतां सङ्गे व्यवस्थिता ॥
तपश्चरणसंयुक्ता यावज्जीवं समाचरेत् ।
तावत्तिष्ठेन्निराहारा भवेद्यदि रजस्वला ॥

अन्य शास्त्रोंमें भी वर्णन किया है—

द्विर्भोजनं परान्नञ्च मैथुनामिषभूषणम् ।
पर्यङ्करः[illegible]पश्च विधवा परिवर्जयेत् ॥
नाङ्गमुद्वर्तयेद्वासैर्ग्राम्याऽलापामपि त्यजेत् ।
देवव्रता नयेत्कालं वैधव्यं धर्म माश्रिता ॥

परम पूज्यपाद परमाराध्य भगवान् वेदव्यास-जीने भी आज्ञा की है—

अनुयाति न भर्तारं यदि दैवात्कथञ्चन ।
तत्रापि शीलं संरक्ष्यं शीलभङ्गात्पत्यत्यधः ॥
विधवाकवरी बन्धो भर्तृबन्धाय जायते ।
शिरसो वपनं कार्यं तस्माद्विधवया सदा ॥
एकाहारः सदा कार्यो न द्वितीयः कदाचन ।
पर्यङ्कशायिनी नारी विधवा पातयेत्पतिम् ॥
तस्माद्भूशयनं कार्यं पतिसौख्यसमीहया ।
नैवाङ्गोद्वर्तनं कार्यं न ताम्बूलस्य भक्षणम् ॥
गन्धद्रव्यस्य सम्भोगो नैव कार्यस्तया क्वचित् ।
श्वेतवस्त्रं सदा धार्यमन्यथा रौरवंव्रजेत् ॥
इत्येवं नियमैर्युक्ता विधवापि पतिव्रता ।

केशरञ्जन, पान, गन्ध-पुष्प आदि सेवन, रंगीन वस्त्र, कांसीके बर्तनमें भोजन, दो बार भोजन, और आँखोंमें सुरमा आदि लगाना ये सब विधवाको त्याग देना चाहिये। विधवा स्नानके अनन्तर सफेद वस्त्र पहिना करे, क्रोध और इन्द्रियोंको जीते। पाप और छलका आश्रय न ले। तन्द्रा और आलस्यका त्याग करे। निर्मल और शुद्धाचारी होकर भगवान्की पूजा करे। पवित्र और कुश बिछाये हुए स्थानमें जमीनपर सोना चाहिये, सदा-सर्वदा ध्यानमें रत रहना और सत्संग करना चाहिये। सारा जीवन तपस्विनी होकर बिताना चाहिये, और रजस्वला होनेके समय भोजनका त्याग अथवा देश, काल और शरीरके विचारसे स्वल्पाहार करना चाहिये।

दो बार भोजन, दूसरेका अन्न ग्रहण, (अष्टांग) मैथुन, मांस, गहने, पलंगपर सोना, रंगीन कपड़े विधवा स्त्री त्याग दे। वस्त्रसे देह-मार्जन और गन्दी बातचीतका त्याग करे, एवं विधवा-धर्मका आश्रय करके देवव्रत होकर जीवन बितावे।

पतिके साथ यदि किसी कारणसे सहमृता न हो सके तो विधवा स्त्री शीलकी रक्षा तो अवश्य करे, क्योंकि शीलके भङ्ग होनेसे पतन होता है। विधवाका वेणी-बन्धन पतिके बन्धनका कारण होता है। अतः विधवाओंको मुण्डन करना चाहिये। विधवाको एक समय भोजन करना चाहिये। पलंगपर नहीं सोना चाहिये इससे उसके पतिका पतन होता है। शरीरका माँजना, पान खाना, और सुगन्ध द्रव्यका सेवन करना विधवाको उचित नहीं। सदा ही सफेद वस्त्र पहिनना चाहिये, अन्यथा पाप होता है। इसप्रकार नियमसे युक्त होनेपर विधवा होकर भी स्त्री अपने पातिव्रतका पूरा पालन कर सकती है।

इन सब नियमोंका महत्व विधवाओंको प्रेम और सहानुभूतिके साथ समझाकर उन्हें पालन करनेके लिये उत्साहित करना चाहिये। स्वयं भी यथा-साध्य त्याग करके विधवाओंके नियम-पालनमें सहायक बनना चाहिये! यह सभी लोगोंका धर्म है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक-वाटिका

जिनके राग, भय और क्रोधका नाश हो गया है और जो वेदके तत्त्वको समझ गये हैं ऐसे ही मननशील मुनिगण कल्पनासे और समस्त प्रपञ्चोंसे रहित अद्वय आत्माका दर्शन पाते हैं। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀

दुःखोंकी प्राप्तिसे जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी स्पृहा जिसके मनसे चली गयी है, तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं वही मुनि स्थिरबुद्धि कहलाता है। —श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀

झूठ बोलनेसे यज्ञका फल नष्ट हो जाता है, गर्व करनेसे तपका नाश होता है, ब्राह्मणकी निन्दा करनेसे आयु घटती है और किसीको दिया हुआ दान बतला देनेसे वह निष्फल हो जाता है। —मनु महाराज

❀ ❀ ❀

जब शान्त और सतोगुणी होकर चित्त आत्मामें लग जाता है तब धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यकी प्राप्ति आप ही हो जाती है और जब वही शरीर तथा घर आदि मिथ्या पदार्थोंमें लगकर प्रबल रजोगुणी और विषयोंका अनुरागी बन जाता है तब अधर्म, अज्ञान, विषय-लोलुपता और अनैश्वर्यता छा जाती है। —श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀

चाहे द्विज हो या शूद्र, जो दयाहीन मनुष्य जीवोंकी हिंसा करता है, वही वृषल है; चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी, जो पराया धन हरता या चोरी करता है अथवा बिना दिये हुए पदार्थको ले जाता है वह वृषल है; जो माता-पिता आदि पूज्य वृद्धजनोंका भरण-पोषण नहीं करता और पाप करके उसे छिपाता है वही वृषल है। —भगवान् बुद्धदेव

❀ ❀ ❀

जो परस्त्रीको बुरी दृष्टिसे देखता है, वह अपने सिर मानसिक व्यभिचारका पाप चढ़ाता है। —ईसामसीह

❀ ❀ ❀

सत्संगके बिना भगवान्‌का रहस्य सुननेको नहीं मिलता, उसके सुने बिना मोह दूर नहीं होता और मोहका नाश हुए बिना भगवान्‌के चरणोंमें दृढ़ अनुराग (प्रेम) नहीं होता। —गुसाईं तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀

जो परमात्मा जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करते हैं, जो विश्वके ईश्वर हैं, सातों समुद्र जिनकी आज्ञामें रहते हुए पृथ्वीको डुबो नहीं देते, उन वेद और उपनिषदोंद्वारा प्रतिपादित सब जगत्‌के साक्षी और सर्वज्ञ प्रभुको धन और जवानीमें मतवाले हुए मूर्ख लोग नहीं मानते। —भर्तृहरि

❀ ❀ ❀

स्वामीपनमें नम्रता, गुणोंमें प्रेम, हर्षमें सावधानता, मन्त्रमें गुप्तता, शास्त्रोंमें सुबुद्धि, धन होनेपर उदारता, साधुओंका सम्मान, दुष्टोंसे विमुखता, पापोंसे भय, दुःखमें कष्ट सहिष्णुता, ये सब कल्याण चाहनेवाले महात्माओंके गुण हैं। —क्षेमेन्द्र

❀ ❀ ❀

उपवास, अल्प भोजन, आजीविकाका नियम, रस-त्याग, सर्दी-गर्मीका समभावसे सहन करना और स्थिर आसनसे रहना यह छः प्रकारका बाह्य तप है, और प्रायश्चित्त, ध्यान, सेवा, विनय, शरीरोत्सर्ग और स्वाध्याय यह छः प्रकारका आभ्यन्तर तप है। —महावीर तीर्थङ्कर

❀ ❀ ❀

अगर कोई बोलना जाने तो बोली बड़ी ही अनमोल चीज़ है। पहले हृदयके तराजूपर तौलकर ही बोलनेके लिये मुँह खोलना चाहिये। —कबीर

❀ ❀ ❀

मनुष्य जितना ही मनकी वासनाओंका आदेश पालन करता है, उतना ही अधिक रोगी, दुखी और असन्तोषी बनता है। —राल्फ वाल्डो ट्राइन

❀ ❀ ❀

जब तुम्हारी ईश्वरकी ओर अनन्यदृष्टि हो जायगी तब तुरन्तही प्रभुके साथ तुम्हारा मिलन होगा और जब तुम अपने तुच्छ स्वार्थों तथा सांसारिक पदार्थोंकी ओर देखोगे तब तुरन्तही भगवान्‌से तुम्हारा वियोग हो जायगा। —अबूबकर वासती

❀ ❀ ❀

सच्चा मित्र वह है जो दर्पणके समान तुम्हारे दोषोंको यथार्थरूपसे तुम्हें दिखा देता है। जो तुम्हारे अवगुणोंको गुण बतलाता है वह तो खुशामदी है, मित्र नहीं! —गज़ाली

❀ ❀ ❀

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

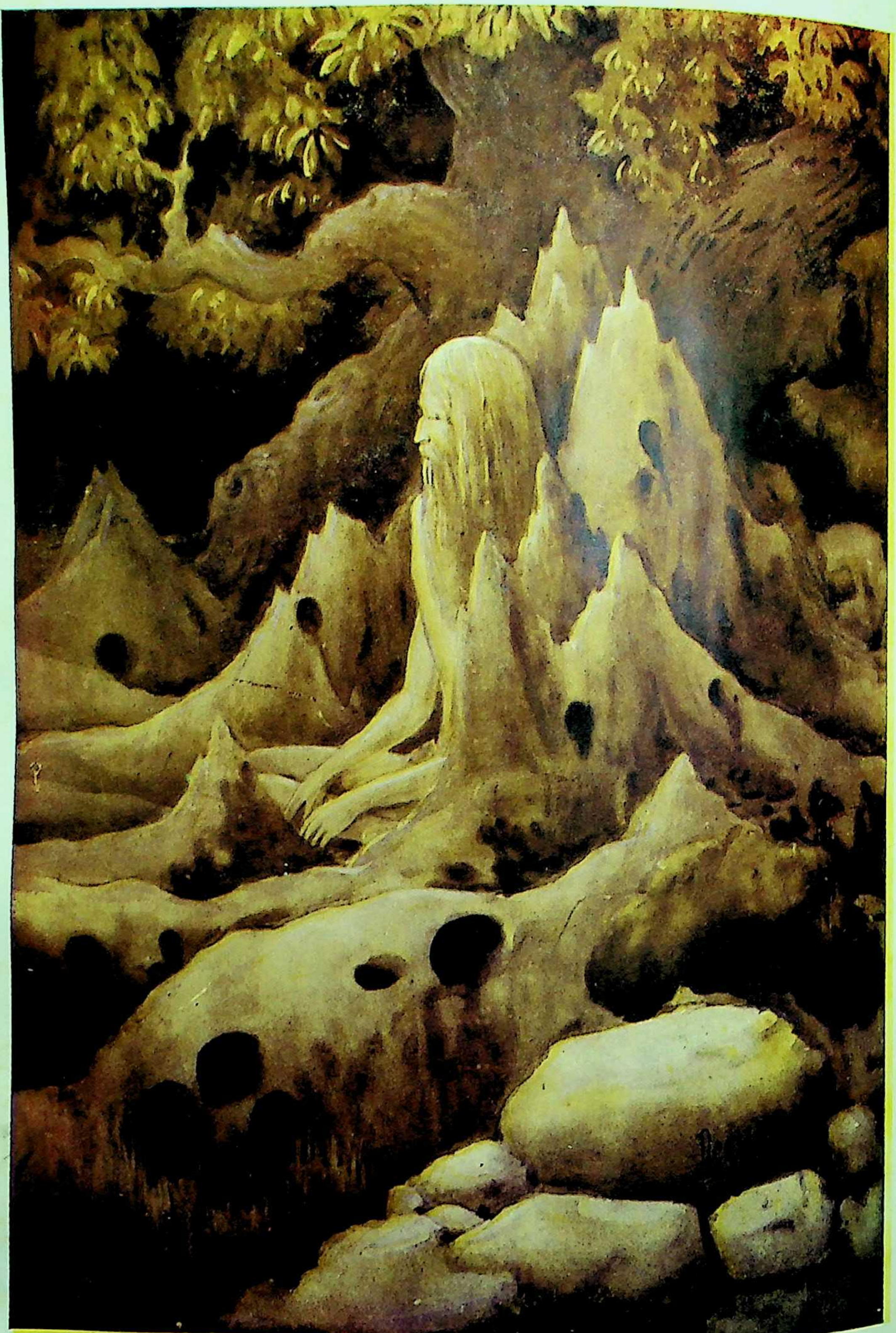

दीमकोंसे घिरे हुए राम-नाम-लीन श्रीवाल्मीकिजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

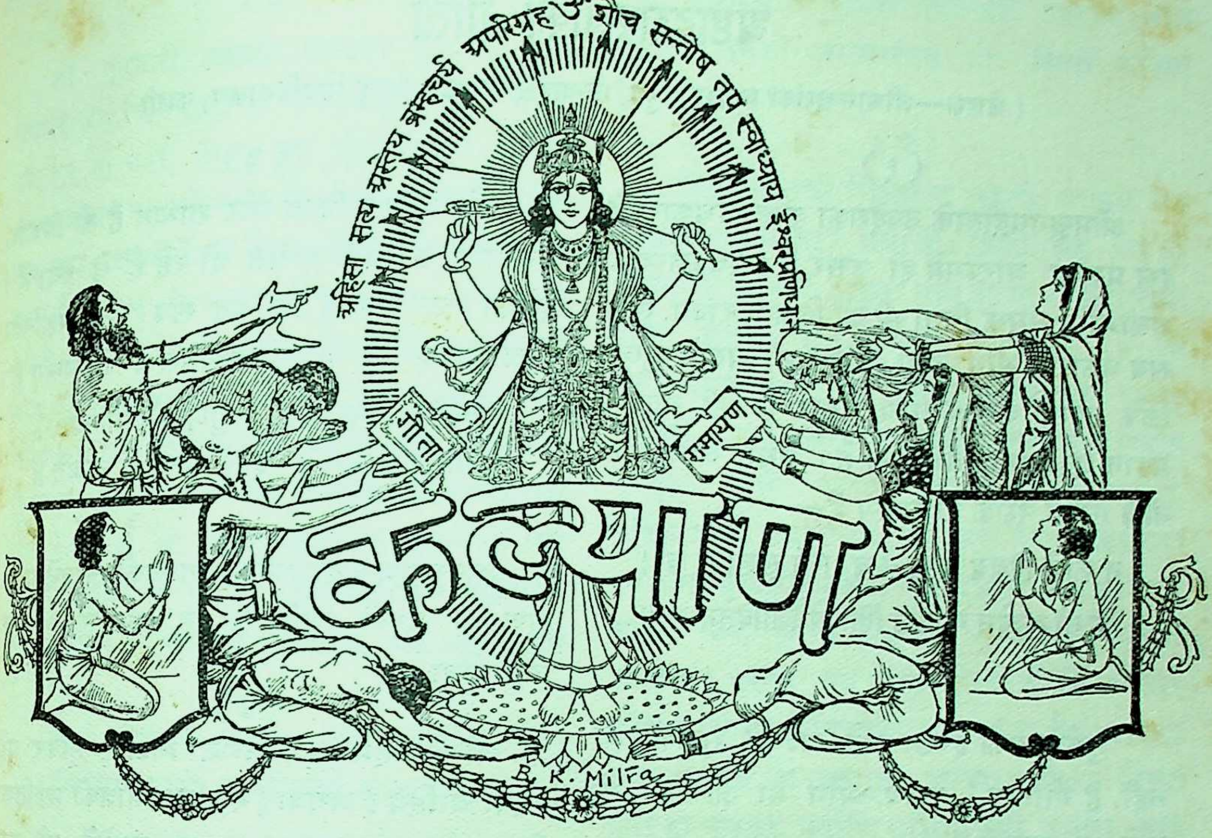

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

वर्ष ५ खण्ड १ — चैत्र कृष्ण ११ संवत् १९८७ मार्च १९३१ — संख्या ९ पूर्ण सं० ५७

सुन्दर श्याम

कहाँ लौं कीजै बहुत बड़ाई ।
अति अगाध मन अगम अगोचर मनसो तहाँ न जाई ।।
जाके रूप न रेख बरन बपु नाहिन संगत सखा सहाई ।
ता निरगुन सों नेह निरन्तर क्यों निबहै री माई ।।
जल बिन तरँग, भीति बिन लेखन, बिन चेतहिं चतुराई ।
या ब्रजमें कछु नहीं चाह है ऊधो आनि सुनाई ।।
मन चुभि रह्यो माधुरी मूरति अंग अंग उरझाई ।
सुन्दर श्याम कमल-दल-लोचन सूरदास सुखदाई ।।

—सूरदासजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टादशश्लोकी गीता

(लेखक—श्रीआनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव, प्रो-वाइस चैन्सलर, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी)

(१)

श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेशका कौन अधिकारी है, इस प्रश्नका आरम्भमें ही उत्तर है। स्वकर्तव्यको भलीभाँति समझे बिना भी जो विजय, राज्य, सुख, सब प्रकारके भोग तथा जीवन भी पराये सुखके लिये त्याग करनेके लिये तत्पर है वही गीताके महान् उपदेशका अधिकारी है। प्रथम अध्यायका नीचे लिखा श्लोक रहस्यरूप है—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

(१ । ३२)

'मुझे जयकी इच्छा नहीं, राज्यके सुखकी भी नहीं, हे गोविन्द ! राज्य, भोग वा जीवनसे भी मुझे क्या काम है?'

(२)

आत्मा नित्य है इस सिद्धान्तपर नीति और धर्मका आधार है। यदि आत्मा जडका आविर्भाव-मात्र हो तो हमारी कर्तव्य-भावनाका प्रयोजन केवल क्षणिक एवं निःसार हो जाता है। अतएव श्रीकृष्ण नीचे लिखे शब्दोंमें अपने परम गम्भीर उपदेशकी नींव डालते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(२ । २०) (सांख्य)

'कभी भी न जन्मता है, न मरता है,-वह होकर भी फिर होनेवाला नहीं। अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, शरीरके हत होनेपर भी नष्ट नहीं होता।'

(३)

यदि आत्मा नित्य और शाश्वत है तो विकार, मरणादि जो हमें प्रतीत हो रहे हैं वे क्या हैं? इसका उत्तर यही है कि यह सब 'गुण' प्रकृतिका विलासमात्र है। आत्मा प्रकृतिसे परे है, असंग है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

(३ । २८) (कर्म)

किन्तु गुण-कर्म-विभागके तत्त्वको जाननेवाला, गुण ही गुणमें रहते हैं यह मानकर आसक्त नहीं होता।

(४)

तो क्या हमें (१) स्तब्ध, निश्चेष्ट होकर पड़े रहना चाहिये ? अथवा (२) क्रियामात्रको प्रकृतिका विलास समझकर पापाचरण करनेमें भी कुछ संकोच न करना चाहिये ?

उत्तर—दोनों बातोंमें एक भी न करनी चाहिये, क्योंकि, (१) आत्मा प्रकृतिसे 'पर' है, किन्तु प्रकृतिसे भिन्न नहीं। अर्थात् आत्मा प्रकृतिमें रहता हुआ प्रकृतिसे पर है। यही सांख्य और वेदान्त-शास्त्रोंके बीचमें बड़ा भेद है। कर्तव्यबुद्धिकी दृष्टिसे यह भेद बड़े महत्त्वका है। (२) प्रकृतिको आत्मामें लय करना चाहिये, न कि आत्माको प्रकृतिमें डुबाना चाहिये। अर्थात् आत्माका दिव्य स्वरूप प्रकृतिमें प्रकटित करना उचित है, न कि प्रकृतिके दोषसे आत्माको मलिन करना। ऐसी स्थितिमें ब्रह्मज्ञानीकी जीवनचर्या कैसी होती है, यह निम्नलिखित श्लोकमें कहते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

(४ । २४)
(कर्मब्रह्मार्पण)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५)

तो दूरवर्ती ब्रह्मकी भावना पुरःसर यदि यज्ञादि कर्म किये जायँ तो क्या बस होगा ? नहीं। ब्रह्म दूर ही नहीं, किन्तु दूर और निकट भी है। वह सब दृश्य पदार्थोंसे पर है। इतना ही नहीं, बल्कि सब दृश्य पदार्थोंमें भी है। अर्थात् ब्रह्मभावना एक दूरवर्ती महान् चेतनकी ही भावना नहीं, किन्तु हमारे सामने जो-जो दृश्य पदार्थ हैं उन सबमें परम चेतनकी भावना करना, इसका नाम ब्रह्म-भावना है। ईश्वरको स्वर्गमें बैठे हुए एक व्यक्तिरूप-से माननेवाला मनुष्य भले ही दुनियाँके व्यवहारमें खोटे आचरण करे, किन्तु जिसे व्यवहारमें भी ब्रह्म दृष्टिगत होता है उसकी जीवनचर्यामें अलौकिक उत्कर्ष होना ही चाहिये। अतएव, यह कहाजाता है कि—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

(५ । १८)
(कर्मसंन्यास)

'विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हस्ति, श्वान अथवा श्वपच इन सबके प्रति पण्डित समदर्शी होता है।'

(६)

पूर्वोक्त 'समदृष्टि' कैसे प्राप्त हो ? विश्वमें इतने भेदभाव हैं कि साधारण दृष्टिसे सर्वत्र अभेद-दृष्टिका होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। किन्तु यह बात नहीं है। भेद-भावोंको ढँक देनेसे वा भूल जानेसे काम नहीं बनता, भेदका समतामें—अभेदमें—लय करना उचित है अर्थात् भेदमें अभेदानुभव करना सीखना चाहिये। अतएव भेदमें अभेदानुभव किस रीतिसे किया जाय, इसकी युक्ति नीचे कहते हैं—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

(६ । २५)
(आत्मसंयम)

'धृतिगृहीत बुद्धिसे धीरे-धीरे उपराम प्राप्त करना, मनको आत्मसंस्थ कर किसी बातका चिन्तन न करना।'

(७)

'किसी बातकी चिन्ता न करनी चाहिये' यह पिछले श्लोकमें कहा गया है। इससे यह प्रश्न हो सकता है कि क्या जड़ता प्राप्त करना ही वेदान्तका परम उपदेश है? हमारा उत्तर यह है कि ब्रह्मातिरिक्त किसी भी वस्तुका चिन्तन न करना चाहिये।' यही पूर्वोक्त कथनका तात्पर्य है। अर्थात् वस्तुतः सारे पदार्थ ब्रह्मरूप देखने चाहियें, वृत्तिमात्रको ब्रह्मविषया, ब्रह्मरससे भरपूर, ब्रह्मरूपा कर देना चाहिये। मनकी चञ्चल वृत्तियोंका नियमन करके उन्हें आत्माभिमुखी, आत्मसंस्थ करना चाहिये। परन्तु यह शंका होती है कि आत्मा वृत्तिका विषय किसप्रकार बन सकता है ? इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः आत्मा वृत्तिका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वृत्तियाँ भी उसीसे बनी हुई हैं। परन्तु चैतन्यमें ऐसी विलक्षणता प्रतीत होती है कि वह स्वयं विषय और विषयी दोनों ही हो सकता है। ऐसी स्थितिमें वृत्तियाँ ब्रह्मरूप होकर ब्रह्मको विषय करती हैं। जैसे समुद्रकी एक तरङ्ग दूसरी तरङ्गसे टकराकर उसमें मिल जाती है, इसी भाँति वृत्तियाँ भी ब्रह्माकार हो जाती हैं।

अतएव, ध्यान करने योग्य ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन नीचेके श्लोकमें किया गया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

(७ । ४)

'भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश, मन और बुद्धि तथा अहंकार ये इतनी मेरी भिन्न प्रकृति आठ प्रकारकी हैं।'

(८)

इस अष्टविध प्रकृतिमें ब्रह्मदर्शन किसप्रकार करना चाहिये ? इसका उपाय यह बतलाते हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकार, उकार, मकार तथा अर्धमात्रा और बिन्दु मिलकर होनेवाला प्रणव मन्त्र (उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाला जो सगुण ब्रह्म--निर्गुण ब्रह्ममें कारणताकी उद्भावना करनेवाला-स्वयं अखण्डित होते हुए भी 'मात्रा' अर्थात् परिच्छिन्न करनेवाली जो माया, और इससे भी उत्कृष्ट बिन्दु-मात्रसे जो लक्षित परब्रह्म, इन सब पदार्थोंका सूचक मन्त्र) उसका उच्चारण करना—तोतेकी तरह बिना समझे नहीं—किन्तु अर्थकी भावनासे युक्त—अर्थात् सदाचरण और मन्त्रोच्चारके साथ ही मेरा भी स्मरण रखकर जो देह-त्यागके समय ऐसे करता-करता जाता है वह परमगतिरूप मुझको प्राप्त होता है, यह बात नीचेके श्लोकमें कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(८ । १३)
(अक्षरब्रह्म)

'जो ॐ इस एकाक्षर ब्रह्मको जपता तथा मेरा स्मरण रखता हुआ देह तजकर जाता है वह परम गतिको पाता है।'

(९)

परन्तु जो पुरुष अहर्निश इस तरह परमात्माका नाम-कीर्तन और स्मरण करता रहता है, उसकी संसार-यात्रा कैसे चल सकती है ? यह प्रश्न तो सांसारिक पामर जीव ही कर सकता है। जिसे एक बार भी परमात्माकी झाँकी हुई है उसे सांसारिक बातोंके लिये चिन्ता होना सम्भव ही नहीं। क्या गोपियोंको अपने गृहकृत्यकी चिन्ता रहती थी ? उनके गृहकृत्य अपने आप होते जाते थे, क्योंकि उनकी चिन्ता परप्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं करते थे। वे अपने भक्तके 'योगक्षेम' का वहन स्वयं ही करते हैं। जो भक्त अनन्यभावसे उनका चिन्तन करता रहे, उनकी सब प्रकारसे उपासना करे और नित्य-निरन्तर प्रेमसे उछलकर उनमें तल्लीन हो जाय, उनके साथ एकताका अनुभव करे तो नीचेका श्लोक यह बतलाता है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(९ । २२)
(राजविद्याराजगुह्य)

'जो अनन्य होकर मेरा ही चिन्तन करता है, मुझे ही सब प्रकारसे भजता है, ऐसे नित्य अभियुक्तको मैं योगक्षेम देता हूँ।'

(१०)

यह पूर्वमें कहा जा चुका है कि जिस परमात्माका अष्टविध प्रकृतिमें आविर्भाव हुआ है उसका ध्यान, उपासना तथा भजन करना चाहिये। परन्तु इससे तो परमात्माको प्रकृतिभाव प्राप्त होता है तथा वह परिच्छिन्न हो जाता है, यही निष्कर्ष निकलता है। इस शंकाके समाधानमें यह कहा जाता है कि परमात्माको प्रकृतिभाव प्राप्त हुआ न समझना चाहिये। प्रकृति परमात्मारूप है और उसमें ज्ञानीको परमात्माका दर्शन होता है, अर्थात् उसे प्रकृति प्रकृतिरूपसे नहीं, किन्तु परमात्मरूपसे दीख पड़ती है। जैसे बर्फ जलसे भिन्न नहीं, जैसे तरंग समुद्रसे भिन्न नहीं, जैसे घटाकाश महाकाशसे भिन्न नहीं, कुछ इसी रीतिसे, प्रकृति परमात्मासे भिन्न नहीं। यदि वह भिन्न नहीं तो परमात्माको परिच्छिन्न कैसे कर सकती है ? इसका उत्तर यह है कि प्रकृति परमात्मासे भिन्न तो नहीं है, किन्तु परमात्मा प्रकृतिमात्र है यह न समझना चाहिये। प्रकृति तो एक देशमें उसका रूप है। उसका अवशिष्ट स्वरूप तो प्रकृतिसे पर है और केवल 'नेति नेति' कहकर ही बताया जा सकता है। परन्तु उसका सम्पूर्ण स्वरूपके उस पार ही नहीं है, कुछ तो प्रकृतिमें है और शेष उसकी अमित महिमा प्रकृतिसे पर है। दोनों प्रकारकी यह वस्तुस्थिति नीचे बतलायी गयी है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(१० । ४२)
(विभूति)

'अथवा यह बहुत जाननेसे भी क्या लाभ है ? हे अर्जुन ! मैं एकमात्र अंशसे इस निखिल जगत्‌को धारण कर रहा हूँ ।'

(११)

परमात्माकी उज्ज्वल कीर्तिका दर्शन होते ही, भिन्न-भिन्न प्राणियोंको कैसे भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न होते हैं यह आगेके श्लोकमें बतलाया गया है। कुछको अत्यन्त हर्ष होता है, कुछ उसपर प्रेम करते हैं, राक्षस उससे डर कर भागते हैं, सिद्ध पुरुष उसे नमस्कार करते हैं, अर्थात् ज्ञानी हर्षसे प्रोत्फुल्ल रहते हैं, भक्त प्रेमसे द्रवीभूत होते हैं, दुष्ट भयसे भागते हैं, सिद्धि-शक्ति प्राप्त करनेवाले पुरुष उसकी महिमाका अतिशय देखकर शिर झुकाते हैं।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥
(११ । ३६)
(विश्वरूपदर्शन)

(१२)

उपर्युक्त रीतिके अनुसार जो भगवद्भक्त हो चुका है उसकी स्थिति कैसी होती है यह अब आगे कहते हैं। भगवद्भक्तको किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं कि वह उपयोगी वस्तुका उपयोग ही नहीं करता। किसी भी वस्तुको अकारण छोड़ना और छोड़नेमें कृतकृत्यता मानना, इसप्रकारकी द्वैतबुद्धि उसे नहीं होती। जो माया-को ब्रह्मसे भिन्न मानता है वही उसका त्याग करना आवश्यक समझता है। अद्वैतवादीको तो मायामें भी ब्रह्म-साक्षात्कार ही अभीष्ट है। शुद्ध जलसे वह अपना शरीर पवित्र करता है, मधुर शब्दसे वाणी पवित्र करता है और उत्तम विचारोंसे मन पवित्र करता है-अर्थात् मन, वाणी और कायासे वह 'शुचि'-भगवद्भजनके अनुकूल स्थितिमें-रहता है। इतना ही नहीं कि उसकी वृत्ति सर्वथा शुद्ध है, बल्कि वह 'दक्ष' अर्थात् चतुर और समझदार है। वह ज्ञानीके सदृश 'उदासीन' अर्थात् राग-द्वेषादि द्वन्द्वसे मुक्त है और संसारी जीवोंको जो व्यथा-दुख हुआ करते हैं वे तो उसे लेशभर भी नहीं होते। इस उत्तम दशाका रहस्यभूत कारण यह है कि उसने अपनी सब आरम्भ-प्रवृत्तियों-को सब प्रकारसे परमात्माको समर्पित कर दिया है। ऐसा भक्त परमात्माको बहुत प्रिय है। नीचे लिखे श्लोक-का यही अर्थ है—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
(१२ । १६)
(भक्ति)

(१३)

अब यह शङ्का उठती है कि सब प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें पड़ा हुआ मनुष्य किस तरह 'उदासीन' कहा जा सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर आकाशका दृष्टान्त देकर कहते हैं। जैसे आकाश सूक्ष्मताको लेकर सर्वत्र व्याप्त हो रहा है तथापि किसी वस्तुसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा सर्वत्र देहमें रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि निर्लेप रहनेके लिये आत्माको बाहर जाना आवश्यक नहीं। देह और व्यवहारमें रहता हुआ भी वह निर्लेप ही है। जैसे डिब्बीमें हीरा रक्खा रहता है वैसे देह वा जगत्‌में कहीं आत्मा नहीं रहता। डिब्बीकी मलिनता जैसे हीरेको नहीं लगती, वैसे ही देह और व्यवहारके धर्मोंसे आत्माको दोष नहीं लगता। वह आत्मा तो देह और व्यवहारका अस्तित्व स्थिर रखनेवाला, उस सबका अन्तर्यामी, उस सबके असंख्य भेदोंके मध्य एक अखण्ड रहनेवाला तत्त्व है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥
(१३ । ३२)
(प्रकृतिपुरुषनिर्देश वा क्षेत्रक्षेत्रज्ञ)

'जैसे सर्वगत आकाश अति सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे सर्वत्र देहमें स्थित आत्मा लिप्त नहीं होता।'

(१४)

ऊपरके श्लोकमें, प्रकृतिमें विराजमान और प्रकृतिसे पर जिस आत्मतत्त्वका वर्णन किया गया है उसका जिसने साक्षात्कार किया है, अर्थात् उसे जिसने आत्मरूपसे अनुभव किया है, उसे त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें अपनापन रहता ही नहीं। सत्त्वगुणका धर्म 'प्रकाश', रजोगुणका धर्म 'प्रवृत्ति' और तमोगुणका धर्म 'मोह' ये सब गुण आवें तो भले, और चले जायँ तो भले, ज्ञानीका आत्मभाव तो जुदी ही वस्तुमें है। उसका आत्मभाव तो उस वस्तुमें है जो तीनों गुणोंसे और तीनों गुणोंके धर्मोंसे उत्कृष्ट है, जिसके समक्ष ये सारे गुण और गुणोंके धर्म मायाके पटकी भाँति फैल रहे हैं—प्रकृतिरूपी समुद्रमें तरङ्गकी नाईं हिलोरें मार रहे हैं—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥
(१४ । २२)
(गुणत्रयविभाग)

'प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह इनकी संप्रवृत्तिका, हे पाण्डव ! वह द्वेष नहीं करता, और न इनकी निवृत्तिकी इच्छा करता है।'

(१५)

पूर्वोक्त कथनसे देह और व्यवहारके धर्म तो प्राकृतिक सिद्ध हुए और ब्रह्मके अद्वैत साम्राज्यका भंग हुआ ! इस शङ्काके समाधानमें यह कहना पड़ता है कि ये धर्म प्रकृतिके तो हैं, किन्तु प्रकृतिसे सिद्ध नहीं होते। जैसे मन्त्रीका अस्तित्व राजाके होनेसे सिद्ध होता है वैसे ही प्रकृतिकी सत्ता आत्माकी ही सत्तासे सिद्ध होती है। आत्मा प्राणिमात्रके देहमें रहता है और उसकी ही सत्तासे देह देहके धर्म करता है, अन्न पचाता है और उसी अधिष्ठानपर स्थित है। देहका अधिष्ठान प्राणापान वायु नहीं है बल्कि वह उस वायुके साथ जुड़ा हुआ आत्मा है । मुझमें, तुममें और सबमें उस एक ही आत्माका प्रकाश है। उस आत्माका प्रति देह पृथक्-पृथक् आविर्भाव होता है, किन्तु वह स्वयं सर्वत्र एक ही है। अतएव उसे 'वैश्वानर' आत्मा कहते हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
(१५ । १४)
(पुरुषोत्तम)

'मैं वैश्वानर बनकर प्राणियोंके देहमें रहता हूँ और प्राणापानसमायुक्त होकर चतुर्विध अन्नका परिपाक करता हूँ।'

(१६)

इसप्रकार जिसने प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध समझ लिया है वह किसी भी समय प्रकृतिसे छूटनेका व्यर्थ यत्न नहीं करता, किन्तु प्रकृतिमें रहता हुआ ही स्व-स्वरूपके अनुभव करनेमें तत्पर रहता है। यदि प्रकृतिमें रहना ही अनिवार्य है तो यह निश्चय होना चाहिये कि वह किस नियमके अनुसार रहे। इस विषयमें भगवान् कहते हैं कि मनुष्यके हृदयमें 'शास्त्र' और 'काम' का झगड़ा चलता रहता है । इसमें जो पुरुष 'काम' को अपनाकर 'शास्त्र' को छोड़ बैठता है वह सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता, सुख भी प्राप्त नहीं कर सकता, और 'परागति' तो उसकी किसी भाँति नहीं हो सकती। यही नीचेके श्लोकका अभिप्राय है। इसका रहस्य समझना आवश्यक है। स्थूल-मार्गी पुरुषोंके लिये तो 'शास्त्र' शब्दका अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मशास्त्रके वाक्य हैं, किन्तु सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंके लिये उसका अर्थ धर्मशास्त्रका अन्तिम प्रभवस्थान जो परमात्मा है, उसकी इच्छा है। जिस-जिस प्रसंगमें मनुष्यको कर्तव्य-बुद्धि होती है उसे वह परमात्माहीकी इच्छारूपसे समझता है। ऐसी कर्तव्यबुद्धि एक ओर अन्तःशास्त्र (Subjective Conscience) के रूपसे प्रत्यक्ष होती है, और दूसरी ओर बाह्यशास्त्र (Objective Conscience) भी उसके ही परिणामरूपसे विकसित होता है। आन्तर और बाह्यशास्त्रमें एक ही परमात्माका 'अनहद-अनाहत-नाद' बजता है। प्रमाता और प्रमेयमें एक ही चैतन्य प्रकट होता है इस वेदान्तके सिद्धान्तको माननेवाला पूर्वोक्त कथनको भलीभाँति समझ सकता है। आन्तरशास्त्र बाह्यशास्त्रको नियममें रखता है। दोनोंका परस्परका मेल ही इस शास्त्र-की उत्तम स्थिति है। 'हृदय-दौर्बल्य' से आक्रान्त और क्षात्र-धर्मको भूलनेवाले अर्जुनको श्रीकृष्ण उपदेश करते हैं कि अपने हृदयके 'काम' के वश न होकर, अनेक विद्वान् पुरुषोंने प्रकृतिके स्वरूपको खूब खोजकर क्षत्रियके लिये जो नियम 'शास्त्र' रूपसे रचे हैं उनका ही तुम्हें पालन करना चाहिये। जिसे बाह्यशास्त्रके सुधारनेकी उच्च योग्यता और अधिकार प्राप्त नहीं हुआ, उसे अपने आन्तरशास्त्रको बाह्यशास्त्रके अधीन ही रखना चाहिये, क्योंकि उसका आन्तरशास्त्र भलोंसे भरा हो सकता है। उत्तमाधिकारीको आन्तरशास्त्रके द्वारा बाह्यशास्त्रके सुधारनेका अधिकार है, क्योंकि जिस समय जनतामें शास्त्रकी यथार्थ भावनाकी विस्मृति हो जाती है उस समय भी जो पुरुष भगवद्रूप हो गया है उसमें वह भावना शुद्ध और प्रबल रहती है। इस उपर्युक्त व्याख्याको दृष्टिगत करते हुए नीचेका श्लोक समझना चाहिये--

> यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
>
> (१६। २३)
>
> (दैवासुरसंपद्विभाग)

'जो शास्त्रविधिको छोड़कर कामचारसे रहता है वह सिद्धि नहीं पाता, सुख और परम गति भी नहीं पाता।'

(१७)

परमात्माद्वारा व्यवस्थित लोक और शास्त्रकी मर्यादाका मान करनेवाला पुरुष लोकके प्रति कैसा व्यवहार करता है यह नीचे लिखे श्लोकमें बतलाया गया है। सब व्यवहारोंका वाणी ही मुख्य साधन है। इसलिये वाणीको ही उपलक्षण मानकर, वह वाणी कैसी होनी चाहिये इसका निर्वचन किया गया है। कहते हैं कि उस पुरुषका वाक्य किसीको उद्वेग करनेवाला नहीं होता तथा सत्य, प्रिय और हितकारी होता है। निःसन्देह प्रत्येक वाक्य अवश्य सत्य, प्रिय और हितकारी होना ही चाहिये। परन्तु विशेषतः यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यदि सत्य और हितपर श्रोताका प्रेम न हो तो सत्य और हित निष्फल हो जाता है। अतएव, सत्य और हितकारिताके साथ प्रिय लगनेवाला वाक्य ही बोलना चाहिये। कई वार सत्य, हित और प्रियका विरोध उपस्थित होता है, किन्तु सर्वत्र तीनोंके समन्वय करनेकी भावना रखना आवश्यक है। ऐसी भावना रखनेसे बहुत उत्तम फल सिद्ध होता है। किन्तु जहाँ तीनोंका विरोध मिटाया न जा सके वहाँ क्या करना चाहिये? इसका उत्तर भी श्लोकमें 'सत्य' शब्दको अलग रख और मुख्य ठहराकर, तथा प्रिय और हित शब्दको सत्यसे कुछ पीछे रख और गौण बनाकर दे दिया गया है। सत्य और हितका विरोध होना विरल है तथापि जहाँ ऐसा विरोध नज़र आवे वहाँ सत्यको प्राधान्य देना उचित है, क्योंकि सत्य ही परिणाममें हित है। यद्यपि सत्य और हितकी अपेक्षा प्रिय-वादिताका कम महत्त्व है तथापि इतना तो परमावश्यक है कि चाहे प्रत्येक वाक्य प्रिय न लगे तो भी उद्वेग करनेवाला वाक्य न बोला जाना चाहिये। सत्य और हित बिना उद्वेग उत्पन्न किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोला जा सकता है। जिसने अपनी कर्तव्य-भावनाको स्वाध्यायरूपसे परिशीलन नहीं किया है वह दूसरेके प्रति पूर्वोक्त गुणवाली वाणीका उपयोग कैसे कर सकता है ? यदि करेगा तो भी वह दम्भमात्र ही माना जायगा। अतएव, 'स्वाध्याय' का 'अभ्यास' भी आवश्यक है। अन्तका 'तप' शब्द भी ध्यान देने योग्य है। अर्थात् यह सब धार्मिक कर्तव्यरूपसे परमात्माके निमित्त करना चाहिये। यह 'तप' है, क्योंकि इसमें 'काम' का—स्वार्थका निरोध है। इतना विवरण नीचेके श्लोकके लिये पर्याप्त है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

(१७।१६)

(श्रद्धात्रय-विभाग)

'अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय और हित वाक्य और स्वाध्यायाभ्यसन—यह वाङ्मय तप कहलाता है।

(१८)

इसप्रकार श्रीकृष्णका समग्र उपदेश सुनकर अर्जुन कहता है—

'हे अच्युत! तुम्हारे प्रसादसे मेरा मोह नष्ट हुआ, स्मृति प्राप्त हुई, गतसन्देह होकर मैं तुम्हारे पास खड़ा हूँ। तुम्हारे वचनोंके अनुसार करूँगा।' अन्तिम अध्यायका श्लोक होनेके कारण इस वाक्यमें अनेक गूढ़ अर्थ भरे हुए हैं।

मोक्ष ज्ञानलभ्य है, क्रियालभ्य नहीं, यही इसका भावार्थ है। अर्थात् मोक्षमें कुछ नवीन बात प्राप्त नहीं होती, किन्तु स्वरूपका ही अनुसन्धानमात्र होता है। आत्माका स्वभाव ही ऐसा है कि उसका ज्ञान ही होना सम्भव है। उसपर किसी भी प्रकारकी क्रिया हो ही नहीं सकती। क्रिया तो प्रकृतिकी—द्रष्टाकी नहीं किन्तु दृश्यकी—भूमिमें होती है। क्रियासे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, ज्ञानके प्रकाशसे क्रिया नवीन और चमत्कारपूर्ण रूप धारण करती है। इसलिये वह मुमुक्षु यह मानता है कि वेदान्त-वृक्षके मूलमें ही अमृत सिञ्चन करना उचित है, क्योंकि उसीके सिञ्चनसे पुष्प-पल्लवादि उसके साथ ही दिव्यरूपसे प्रफुल्लित हो जाया करते हैं। डाल और पत्तोंको चाहे जितना धोओ किन्तु यदि मूल सूख जाय तो वृक्षके जीवित रखनेका सारा प्रयत्न व्यर्थ होगा।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि अमृतरूप ज्ञान ही निस्त्रैगुण्यकी अवस्था है, तमोगुणकी अवस्था नहीं। अकर्मण्य होकर जड़वत् पड़े रहनेका यत्न करना वेदान्तका अभीष्ट नहीं है, किन्तु कर्मको ज्ञानसे प्रदीप्तकर उसे ज्ञानरूप बना डालना उसका प्रयोजन है। यही गीताके 'कर्मयोग' तथा 'कर्मसंन्यास' का आशय है। इस रीतिसे 'योग' और 'संन्यास' की एकता जिसने समझ ली, वह निर्भय होकर परमात्माकी इच्छानुसार व्यवहार करता है। वह यह अच्छी तरह समझता है कि जैसे इस विश्वका व्यवहार परमात्माको नहीं बाँध सकता-उसके 'अच्युत' रूपको भ्रष्ट नहीं कर सकता (प्रकृति वा मायासे ब्रह्ममें द्वैतापत्ति नहीं होती) वैसे इस देहका व्यवहार आत्माको लिप्त नहीं कर सकता-उसके परमार्थ स्वरूपको बाँध नहीं सकता।

जैसे देह प्रकृतिका अंश है वैसे ही आत्मा परमात्माका अंश है। लेकिन क्या चैतन्यमें अंशांशिभाव सम्भव है ? जैसे अपनी कल्पनाद्वारा हम अपने देहको प्रकृतिका एक टुकड़ा मानते हैं वैसेही आत्मा परमात्माका अंश है यह हम कल्पना कर लेते हैं। वस्तुतः जैसे प्रकृति ही देहरूप है, वैसे ही परमात्मा भी आत्मरूप है। जैसे 'मैं' और 'तुम' हो, वैसे आत्मा और परमात्मा नहीं; परमात्मा तो हम दोनोंमें ही अनुस्यूत तत्त्व है। जैसे ये दृश्य विषय हैं उस प्रकारका वह एक विषय नहीं, किन्तु विषयमात्रका विषयता-साधक परम तत्त्व है। इस बातपर मनन करनेसे परमात्माकी आत्मासे भिन्नता असंगत प्रतीत होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा और परमात्मा एकही वस्तु है। वही नाना आत्मारूपसे विलास करता है। इस वस्तु-स्थितिका निदिध्यासन आत्मामें परमात्माका भाव स्फुरित करता है—आत्मामें निगूढ़ परमात्मा-को प्रकट करता है। इस रीतिसे आत्म-अनात्म-पदार्थ-के अविवेकजन्य मोहका नाश, स्वरूपकी स्मृतिका लाभ जिसको हो चुका है उसे प्रकृतिमें द्वैत-बुद्धि नहीं होती। उसकी यह धारणा हो जाती है कि वह स्वयं जो कुछ करता हुआ प्रतीत होता है वह भी वस्तुतः परमात्मा ही करता है। क्योंकि 'करना' तो प्रकृतिका ही भाव है और प्रकृति परमात्मासे अभिन्न है। इस कारण यह सब कुछ परमात्माहीका स्फुरण है। इसीका नाम अद्वैतका अनुभव है।

ऐसा अनुभव किस रीतिसे प्राप्त हो? श्रीकृष्ण-रूपी जो परमगुरु और परमात्मा हैं, उनके निर्मल आविर्भाव—'प्रसाद' के द्वारा ही। इस आशयका नीचे लिखा श्लोक है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥

(१८। ७३) (संन्यास)

'हे अच्युत! तुम्हारे प्रसादसे मोह नष्ट हुआ, स्मृति प्राप्त हुई, (मैं) गतसन्देह होकर खड़ा हूँ, तुम्हारा वचन करूँगा।'

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

'जहाँ कृष्ण योगेश्वर और पार्थ धनुर्धर हैं वहाँ श्री, विजय, भूति, ध्रुव नीति सर्वदा है यह मेरा मत है।'

गीता समाप्त हुई। संजय यथार्थ कहता है कि जहाँ श्रीकृष्ण-जैसे योगेश्वर और अर्जुन-जैसे धनुर्धरका वास है, वहाँ श्री, विजय, भूति और ध्रुव नीति रहती है। ये मङ्गल गुण 'निर्वेद' 'कार्पण्य' 'कर्म-अनारम्भ' आदिके सहचारी नहीं हैं। जहाँ 'कर्मयोग' के नियन्ता श्रीकृष्णका, और आसुरी-सम्पत्‌के नष्ट करनेके लिये स्वकर्तव्यपरायण अर्जुन-सरीखे धनुर्धरका स्वरूप है, वहीं उन मङ्गल गुणों-का वास है।

अन्तमें इस अष्टादशश्लोकी गीताकी फल-श्रुतिका इसप्रकार वर्णन है—

इति संमुह्य ते स्तोत्रं श्रोतुमिच्छति पाण्डव।
सोऽहमेकेन श्लोकेन स्तुत एव न संशयः॥
गीता अष्टदशश्लोका यः पठेद्भक्तिभावतः।
अष्टादशाध्यायपाठस्य फलज्ञाने अवाप्नुयात्॥

(अ० पं० गंगाप्रसादजी मेहता एम० ए०)

प्रार्थना

(त्रिभंगी)

जय जय अविनासी, पापविनासी, काशीवासी, शिवशंकर।
हर गंगाधारी, गरलाहारी, मंगलकारी, शशिशेखर॥
भूषन अहिमाला, जटा विशाला, परमकृपाला, त्रिपुरारी।
जगनाथ पुकारत, अति ही आरत, है शरनागत, अघहारी॥

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमूल्य वचन

'सत्संगकी बातें रोज सुननेसे जो असर होता है वह पाँच मिनटके कुसंगसे चला जाता है, क्योंकि कुसंग पाते ही पूर्वके कुविचार जग उठते हैं, इसलिये कुसंगका सर्वथा त्याग करे।'

'बुरे कर्म करनेवालोंकी दुर्गति होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है, बुरे कर्म करनेवालोंका जो चिन्तन करते हैं, उनकी भी दुर्गति होती है। व्यभिचारीको याद करनेसे कामकी जागृति होती है और सच्चे वैराग्यवान् पुरुषके स्मरणसे वैराग्य उत्पन्न होता है।'

'भगवान्‌का भजन गुप्तरूपसे करना चाहिये, नहीं तो कपूरकी भाँति मान-बड़ाईमें उड़ जाता है।'

'स्वार्थको छोड़कर दूसरेके हितके लिये चेष्टा करना, यही उसे प्रेममें बाँधनेका उपाय है।'

'दूसरेको सुख पहुँचाना ही उसे अपना बना लेना है। अपना तन, मन, धन जो कुछ दूसरेके काममें लग जाय वही सार्थक है, बाकी तो सब व्यर्थ जाता है। जो इस बातको ध्यानमें रखकर चलता है उसे कभी पछताना नहीं पड़ता।'

'भगवान्‌को बुलाना हो तो अनन्य प्रेम करना चाहिये। प्यारे मनमोहनकी माधुरी मूर्तिको मनसे कभी न भुलावे। आर्त्त-भावसे भगवान्‌के लिये रोवे। भगवान् अपने प्रेमी भक्तके साथ रहते हैं। तुम अनन्य प्रेम करोगे तो तुम्हें भगवत्‌की प्राप्ति अवश्य हो जायगी।'

'चाहे सारी दुनियाँसे नाता टूट जाय, और प्राण अभी चले जायँ परन्तु भगवान्‌के प्रेममें किञ्चित् भी कलङ्क नहीं लगने देना चाहिये।'

'जैसे विषनाशनी विद्या जाने बिना सर्पको पकड़ रखनेसे वह काट लेता है, फिर विष चढ़ जानेसे मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य विषयोंको पकड़कर अन्तमें उनमें मतवाला होकर मृत्युको प्राप्त हो जाता है।'

'ज्ञानी पुरुषोंकी वाणीसे निकली हुई ज्ञानरूपी चिनगारियाँ जिसके कानोंद्वारा अन्तःकरणतक पहुँच जाती हैं, उसके सारे पाप जलकर भस्म हो जाते हैं।'

'काम, क्रोध तभीतक रहते हैं, जबतक अज्ञान है। अज्ञानरूप कारणका नाश हो जानेपर कामादि कार्य नहीं हो सकते।'

भगवान्‌का भजन अमृतसे भी बढ़कर है, यह बात कहनेसे समझमें नहीं आ सकती। जिनका भजनमें प्रेम होता है, वे इस बातका अनुभव करते हैं।

'जिस मनुष्यकी भगवान् या किसी महात्मामें पूर्ण श्रद्धा हो जाती है वह तो उनके परायण ही हो जाता है। परायणतामें जितनी कमी है, उतनी ही कमी विश्वासमें भी समझनी चाहिये।

महापुरुषोंद्वारा किये गये उत्तम वर्त्तावको भगवान्‌का वर्त्ताव ही समझना चाहिये। क्योंकि महापुरुषके अन्दरसे भगवान् ही सब कुछ करते कराते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'एक श्रीसच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण है । जैसे समुद्र सब ओरसे जलसे व्याप्त है इसी प्रकार यह संसार परमात्मासे व्याप्त है ।'

'भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंद्वारा भगवान्‌के प्रभाव और प्रेमरहस्यकी बातें सुननी चाहिये और उन्हींके अनुसार साधन करना चाहिये । ऐसा करनेसे उद्धारमें कोई शंका नहीं है ।'

'समय बीत रहा है, बहुत सोच-समझकर इसे कीमती काममें लगाना चाहिये । वह कीमती काम भगवान्‌का भजन, और सन्तोंका संग ही है ।'

'भगवान्‌को सर्वोत्तम समझनेके बाद एक क्षणके लिये भी भगवान्‌का ध्यान नहीं छूट सकता । जबतक भगवान्‌के ध्यानका आनन्द-रस नहीं मिलता, तभीतक वह संसारके विषयोंकी धूल चाटता है ।'

'जो मनुष्य संसारके क्षणभंगुर नाशवान् पदार्थोंको सच्चे और सुखदायी समझकर उनका चिन्तन करता है, उनसे प्रेम करता है और अज्ञानसे उनमें अपना जीवन लगाता है वह महामूर्ख है ।'

'श्रीनारायणदेवके समान अपना परम सुहृद्, दयालु, निःस्वार्थ प्रेमी और कोई भी नहीं है, इतना होनेपर भी अज्ञानी जीव उन्हें भुलाकर क्षणविनाशी विषय-भोगोंमें लग रहा है, अपने अमूल्य जीवनको धूलमें मिला रहा है । अज्ञानकी यही महिमा है ।'

'अपने आपको श्रीभगवान्‌के शरण होना चाहिये और दूसरोंको परमात्माके शरणमें लगाना चाहिये, इससे बढ़कर लोक-सेवा और कोई भी नहीं है ।'

'मान, बड़ाई, स्वाद, शौकीनी, सुख-भोग, आलस्य-प्रमाद सबको छोड़कर श्रीपरमात्माके शरण होना चाहिये । भगवान्‌की शरणागति बिना कल्याण होना कठिन है ।'

'भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन, भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें सन्तुष्ट रहना, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना और निष्काम-भाव रखना यही भगवान्‌की शरणागति है ।'

'ध्यानके लिये वैराग्य और उपरामता ही मुख्य साधन है । आनन्दकी नदी बह रही है । मायाका बाँध तोड़ डालो, फिर तुम्हारा अन्तःकरणरूपी खेत आप ही आनन्दसे भर जायगा, तुम आनन्दस्वरूप हो जाओगे ।'

'मनुष्यको अपने दोषोंपर विचार करना चाहिये । दोषोंपर ध्यान देनेसे उनके नाशके लिये आप ही चेष्टा होगी ।'

'जहाँ मन जाय, वहाँ या तो परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये या उसे वहाँसे हटाकर पुनः जोरसे भगवान्‌में लगाना चाहिये । नाम-जप करते रहनेसे मन लगानेमें बहुत सहायता मिलती है ।'

(क्रमशः)

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यान और पत्रोंसे संकलित)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ही बात

(लेखक—श्रीवियोगी हरिजी)

(१)

इस मन्दिरमें भी मिलेगा खुदा,
कुछ अन्दर इश्ककी आग भी हो;
उस मस्जिदमें भी दिखेगा तुम्हें,
मनमोहनसे अनुराग भी हो।
वह हाज़िर है हरके दिलमें,
उसे चाहनेकी चित चाह भी हो;
मिल लो उस पीवसे, राह तो है,
पर दर्द-भरी कुछ आह भी हो।

(२)

गिरजा हो, चहे मठ-मन्दिर हो,
उस रामका ध्यान धरो तो सही;
फिर वेदसे हो, या कुरानसे हो
प्रभु-प्रेमका भाव भरो तो सही।
मक़सूदका मंजिल है दिलमें
कुछ राहखुदा पै चलो तो सही;
वह कृष्ण करीम मिलेगा यहीं,
तुम त्यागकी आग जलो तो सही।

(३)

वह नाथ बड़ा या अनाथ बड़ा—
यह भेद कोई बतला दे ज़रा;
उस मालिकका वो इशारा हमें
दुख-दर्द-भरा जतला दे ज़रा।
पर-पीरका कोई कृपा करके
गुरु-मंत्र हमें सिखला दे ज़रा;
वह सूरत कृष्णकी आँसुओंमें
दुखियोंके हमें दिखला दे ज़रा।

(४)

मुझे वेद-पुरान-कुरानसे क्या—
मुझे सत्यका पाठ पढ़ा दे कोई;
मुझे स्वर्ग या मुक्तिकी चाह नहीं,
मुझे त्यागका रंग चढ़ा दे कोई।
मुझे धर्म-अधर्मसे क्या करना,
मुझे प्रेमका प्याला पिला दे कोई;
मुझे मन्दिर-मस्जिद जाना नहीं,
मुझे राम रहीम मिला दे कोई।

(५)

मत-मेल न हो, मत-भेद ही हो,
पर प्रेममें मेल मिलाया करो;
इस मैल-भरे मचले मनको
मत खेल खुदीका खिलाया करो।
अपराधियोंको भी सदा प्रभुसे
तुम दान दयाका दिलाया करो,
पर-पीरकी प्यास लगी हो जिसे
उसे प्यारका प्याला पिलाया करो।

(६)

दिल खोल दया ही लुटाया करो,
दुख-दर्दका दान दिया न करो;
तुम वेद-कुरानकी ओटमें हाय!
ईमानकी जान लिया न करो।
उस बापके नाम पै भाइयोंका
तुम नाहक़ रक्त पिया न करो;
कुरबानी खुदीकी करो सरकार!
खुदाईका खून किया न करो।

(७)

पुजती हो ग़रीबकी आह जहाँ,
कहते हों जिसे सब प्रेम-मही;
मेरी काशी वही, मेरा काबा वही,
मेरा स्वर्ग वही, मेरा धाम वही।
दिखता हो अनाथके आँसुओंमें,
दिलदार जो दीन-दुखीका सही,
मेरा अल्ला वही, मेरा बुद्ध वही,
मेरा राम वही, मेरा श्याम वही।

(८)

जहाँ ऊँच या नीचका नाम न हो,
जहाँ जात या पाँतकी बात नहीं;
न हो मंदिर-मस्जिद-चर्च जहाँ,
न हो पूजा-नमाजमें भेद कहीं।
जहाँ सत्य ही सार हो जीवनका
रिझवार सिंगार हो त्याग जहीं;
जहाँ प्रेम-ही-प्रेमकी सृष्टि मिले,
चलो, नावको ले चलें खेके वहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामनवमी

श्रीरामनवमी सारे जगत्के लिये सौभाग्यका दिन है, क्योंकि अखिल विश्वपति सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान् इसी दिन दुर्दान्त रावणके अत्याचारसे पीड़ित पृथ्वीको सुखी करने और सनातनधर्मकी मर्यादा स्थापन करनेके लिये मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामके रूपमें प्रकट हुए थे। श्रीराम केवल हिन्दुओंके ही 'राम' नहीं हैं, वे अखिल विश्वके प्राणाराम हैं। भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णको केवल हिन्दूजातिकी सम्पत्ति मानना उनके गुणोंको घटाना है, असीमको सीमाबद्ध करना है। विश्व-चराचरमें आत्मरूपसे नित्य रमण करनेवाले और स्वयं ही विश्व-चराचरके रूपमें प्रतिभासित सर्व-व्यापी सर्वान्तर्यामी सर्वरूप नारायण किसी एक देश या व्यक्तिकी ही वस्तु कैसे हो सकते हैं? वे सबके हैं, सबमें हैं, सबके साथ सदा संयुक्त हैं और सर्वमय हैं। जो कोई भी जीव उनकी आदर्श मर्यादा-लीला—उनके पुण्यचरित्रका श्रद्धापूर्वक गान, श्रवण और अनुकरण करता है, वही पवित्र-हृदय होकर परम सुखको प्राप्त कर सकता है। श्रीरामके समान आदर्श पुरुष, आदर्श धर्मात्मा, आदर्श नरपति, आदर्श मित्र, आदर्श शत्रु, आदर्श भाई, आदर्श पुत्र, आदर्श गुरु, आदर्श शिष्य, आदर्श पति, आदर्श स्वामी, आदर्श सेवक, आदर्श वीर, आदर्श दयालु, आदर्श शरणागत-वत्सल, आदर्श तपस्वी, आदर्श सत्यवादी, आदर्श दृढ़प्रतिज्ञ और आदर्श संयमी और कौन हुआ? जगत्में इतिहासमें श्रीरामकी तुलनामें एक श्रीराम ही हैं। श्रीरामने साक्षात् परमपुरुष परमात्मा होनेपर भी जीवोंको सत्पथपर आरूढ़ करानेके लिये ऐसी आदर्श लीलाएँ कीं जिनका अनुकरण सभी लोग सुखपूर्वक कर सकते हैं। उन्हीं हमारे श्रीरामका पुण्य जन्मदिवस आगामी चैत्र शुक्ला नवमी है। इस सुअवसरपर सभी लोगोंको, खासकरके उनको, जो श्रीरामको साक्षात् भगवान् और अपने आदर्श पूर्वपुरुषके रूपमें अवतरित मानते हैं, श्रीराम-जन्मका पुण्योत्सव मनाना चाहिये। इस उत्सवका प्रधान उद्देश्य होना चाहिये श्रीरामको प्रसन्न करना और श्रीरामके आदर्श गुणोंका अपनेमें विकास कर श्रीराम-कृपा प्राप्त करनेका अधिकारी बनना। अतएव विशेष ध्यान श्रीरामके आदर्श चरित्रके अनुकरणपर ही रखना चाहिये। विधि इस प्रकार की जासकती है—

१—चैत्र शुदी १ से चैत्र शु० ९ तक नौ दिन उत्सव मनाया जाय।

२—प्रत्येक मनुष्य (स्त्री, पुरुष, बालक) प्रति-दिन अपनी रुचिके अनुसार श्रीरामके दो अक्षरी, पंचाक्षरी या चार अक्षरी*मन्त्रका नियमपूर्वक जप करे, पहले दिन नियम करले, उसीके अनुसार नौ दिन तक करते रहना चाहिये, कम-से-कम १०८ मन्त्रका जप रोज हो जाना चाहिये। उत्साह और समय मिले तो नौ दिनमें नौ लाख नामका जप कर सकते हैं।

३—रोज सुबह या शामको कुछ समय तक नियमित रूपसे श्रीराम-नामका कीर्तन हो।

४—श्रीरामायणका नौ दिनोंमें पूरा पाठ किया जाय। वाल्मीकि, अध्यात्म या श्री-गोसाईंजी कृत मानस, इनमेंसे अपनी रुचिके अनुसार किसी भी रामायणका

*'राम', 'रामाय नमः' या 'सीताराम'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठ कर सकते हैं। जो ऐसा न कर सकें वे कुछ समय तक रोज़ रामायण बाँचें या सुनें।

५–मातापिताके चरणोंमें रोज़ सुबह प्रणाम करें।

६–यथासाध्य खूब सावधानीसे सत्य भाषण करें (सच बोलें)।

७–घरमें माता, पिता, भाई, भौजाई, स्वामी, स्त्री, नौकर, मालिक सभी आपसमें प्रेम रक्खें, अपने अच्छे बर्तावसे सबको प्रसन्न रक्खें, किसीसे झगड़ा न करें।

८–ब्रह्मचर्यका पालन करें।

९–रामनवमीका व्रत करें।

१०–रामनवमीके दिन श्रीरामजन्मोत्सव मनाया जाय, सभायें की जायँ, जिनमें रामायणका प्रवचन और रामायण सम्बन्धी शिक्षाप्रद व्याख्यान हों। कहने और सुननेवाले अपने अन्दर श्रीरामके-से गुण आवें, इसके लिये दृढ़ निश्चय करें और श्रीरामसे प्रार्थना करें।

११–आपसके मेलमें बाधा न आती हो तो श्रीरामकी सवारीका जुलूस नगर-कीर्तनके साथ निकाला जाय।

इन ग्यारह बातोंमेंसे जिनसे जितनी पालन हो सकें, उतनी ही करनेकी चेष्टा करें। श्रीरामनामका जप, कीर्तन, मातापिता आदिके चरणोंमें प्रणाम, सबसे प्रेम, ब्रह्मचर्यका अधिकसे अधिक पालन, सत्य-भाषण आदि बातें तो जीवन भर पालन करने योग्य हैं। इनका अभ्यास अधिकसे अधिक बढ़ाना चाहिये। श्रीरामकी भक्तिके लिये इन्हीं व्रतोंकी आवश्यकता है।

श्रीभगवन्नाम

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

भगवान्‌के नामकी अपार महिमा है। खास करके इस कलियुगमें तो जीवोंके उद्धारके लिये श्रीहरिनाम ही प्रधान साधन है। श्रीहरिनाम अनेक रूपोंमें मानों साक्षात् श्रीहरिका अवतार ही है जो संसार-तापसे जलते हुए जीवोंको सच्ची शान्ति पहुँचानेके लिये प्रकट हुआ है। 'कल्याण' में प्रतिवर्षकी भाँति इस वर्ष भी पौष कृ० ३० से फाल्गुन शु० १५ तक ढाई महीने नाम-जपके लिये प्रेमी पाठकोंसे प्रार्थनाकी गयी थी। यद्यपि अनेक प्रेमी सज्जनों और माता बहिनोंने स्वयं नाम-जप करके और दूसरोंसे करवाकर बड़ा ही आदर्श सत्-कार्य किया है परन्तु इस वर्षकी अबतक-की सूचनाओंसे जो संख्या आयी है वह इस वर्षकी ग्राहक-संख्या देखते गत वर्षसे कम है। इस कमीमें एक कारण यह अवश्य है कि बहुतसे स्त्री-पुरुष बारहों महीने स्थायी रूपसे जप करने लगे हैं, उन्होंने अपनी जप-संख्या नहीं लिखायी। अनेक प्रेमियोंने जप-संख्या बतलाना उचित भी नहीं समझा, तो भी इस बार कम ही कार्य हुआ, यह बड़े खेदकी बात है। भविष्यमें कल्याणके प्रेमी ग्राहक इस ओर विशेष ध्यान रक्खेंगे तो बड़ी कृपा होगी। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—इस कलियुगमें जो मनुष्य स्वयं श्रीहरिनामका स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं, वे निश्चय ही कृतार्थ हो जाते हैं।

अभीतक जप-संख्याकी सूचनायें आरही हैं। आगामी संख्यामें पूरी संख्या तथा स्थानोंके नाम प्रकाशित करनेका विचार है।

—नामजपविभाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थोड़े जीवन-सूत्र

(महात्मा टालस्टायके लेखोंसे)

मनुष्य जीवनका आधार अत्याचारपर नहीं, प्रेम पर है।

× × ×

ईश्वर शान्ति ही चाहता है, और ईश्वरकी इच्छाके अधीन रहना, यह प्रथम कर्त्तव्य है।

× × ×

ईश्वरेच्छाका अनुसरण = सरलता

× × ×

ईश्वरके कार्योंपर हम अपनी राय नहीं दे सकते; वह हमारे विवेक या विचारके अनुसार नहीं, अपनी इच्छानुसार निश्चय करता है।

× × ×

ईश्वर अर्थात् प्रेम; जो प्यार नहीं करता वह ईश्वरको नहीं जानता।

× × ×

जैसे-जैसे मनुष्यकी ईश्वरविषयक कल्पनाएँ उच्चतर बनती जायँ, वैसे-वैसे वह उसे अधिक पहचाने उसके अधिक निकट रहे, उसकी दया, भलाई और मानव-प्रेमका अनुकरण करे।

× × ×

दूसरे किन मन्दिरोंमें महासागरके समान कुण्ड और आकाशके समान गुम्बद हैं? सूर्य, चन्द्र, और तारोंके समान दीपमालिका और जीते-जागते प्यार करते, परस्पर सहायता करते हुए मनुष्योंके समान मण्डल प्रतिमाएँ हैं? ईश्वरके उपकारको समझनेके लिये प्राणीमात्रके सुखार्थ सृष्टिभरमें फैले हुए असंख्य साधनोंके सिवा और किस ज़रियेसे अधिक जाना जा सकता है? और अन्तःकरणमेंसे प्रकट होनेवाले नियमोंकी अपेक्षा सुन्दर नियमावली किस जगह लिखी गयी है? वे कौनसे विशिष्ट बलिदान हैं, जो प्रेमसे छलकती हुई मनुष्यजातिके पारस्परिक बलिदानोंसे बढ़ कर हों? और भले मनुष्योंके हृदयोंकी अपेक्षा और दूसरी कौनसी यज्ञ-वेदी हो सकती है, जहाँ परमेश्वर बलिदान स्वीकार कर सकता है?

× × ×

सारे विश्वमें व्याप्त परमात्माका जिन्हें खयाल है उन्हें भगवान् सूर्यनारायणकी एकाध किरणरूप देवताकी आराधना करनेवाले मनुष्योंका तिरस्कार नहीं करना चाहिये।

× × ×

भलाई करते-करते यदि हमारे किसी समयके संकल्प पूरे न हों तो विश्वास रखना चाहिये कि वे संकल्प दयाघन प्रभुके लिये किये गये थे, और वह प्रभु त्रुटियोंको माफ करता है।

× × ×

आपकी निराशाका कारण यही है कि आप अपने सुखके लिये ही जीना चाहते हैं।

× × ×

अपने सुखके लिये नहीं, बल्कि ईश्वरके लिये जीना चाहिये। जीवन ईश्वरने दिया है आप ईश्वरके लिये जीना सीखें, बस, आपके दुःख दूर होंगे, मार्ग सरल बनेगा।

× × ×

मनुष्य ईर्ष्यासे अन्धा बनता है। दूसरोंके पाप तो अपनी आँखोंके सामने रखता है, पर अपने पाप पीठ पीछे। दूसरोंके पाप क्षमा करो, यदि ऐसा नहीं करोगे तो तुम्हारे पाप माफ न होंगे। पाप दूसरेके प्रकट न करो; ईश्वर तुम्हारे पाप क्षमा करेगा।

× × ×

मनुष्य अपनी या दूसरेकी आवश्यकताओंको समझनेमें असमर्थ है। इसे तो ईश्वर ही जानता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम अपनी चिन्ता छोड़ो, तभी तुम्हारा हृदय साफ होगा। और दूसरेके हृदयको साफ कर सकोगे।

× × ×

तुम स्वयं मौतका भय छोड़ो और ईश्वरमें जीवनको दृढ़ बनाओ तभी तुम दूसरोंके हृदय जीत सकोगे।

× × ×

जब तुम्हारा हृदय ज्वालाएँ उगलता होगा, तभी तुम दूसरोंके हृदयमें जाग्रति पैदा कर सकोगे।

× × ×

हँसीकी बात नहीं है; यह जीवनका एक सत्य है—मनुष्य मूर्ख है, यदि अपना नुकसान देखकर रोता है; नुकसान होनेपर ही आत्माको विचार करने और ईश्वरको पूजनेका समय मिलता है; और सत्यका दर्शन भी प्रभु तभी कराता है

× × ×

जीवन और मरण ईश्वरके अधीन हैं; हम जीते हैं, और सशक्त हैं तब तक हमें सत्कार्य कर डालने चाहिये।

× × ×

यह एक ईश्वरीय नियम है—अपना अपने पास रखना और दूसरेकी आमदनीसे लालचमें न फँसना।

× × ×

एक मूर्खने कहा—जिसे जो चाहिये उसे वह ले जाने दो।

× × ×

सिपाहीसे मनुष्य मरते हों तो सिपाहीकी ज़रूरत नहीं। पैसेसे दूसरोंकी चीज़ोंपर अधिकार मिलता हो तो पैसेकी आवश्यकता नहीं।

× × ×

सर्वत्र एक ही आत्मा है; एक मनुष्यका आत्मा समूचे आत्माका विभाग है। इस विभागको वह स्वयं ही अच्छा या बुरा बना सकता है। दूसरे आत्माओंके साथ भेदभावको घटानेसे और उन्हें अपने समान मानकर चाहनेसे मनुष्य स्वयं अच्छा बनता है, जबकि दूसरोंके जीवन-सुखोंको हानि पहुँचानेसे वह अपना नुक़सान करता है।

× × ×

आत्मा स्थल और कालसे अबाधित है। उसका नाश करनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं! फिर भले ही वह किसी दूसरी देहमें क्यों न हो।

× × ×

ईश्वरेच्छाके अधीन रहनेके लिये बस इतनाही आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य अन्तिम साँस तक दूसरोंसे प्रेम करे और उनका भला करे।

काशीनाथ नारायण त्रिवेदी

आप अपनाते हैं

साथी सब स्वार्थके सनेही जो कहाते नाथ!
मित्र, पुत्र, बान्धव न कोई काम आते हैं।
प्रेमरस-प्यासे प्राण प्यासे ही रहे हैं सदा,
प्यारे प्रेमघनकी न छाया कहीं पाते हैं॥
देखे बिना जिनको न पाते कल एक पल,
वे ही छल-बलसे हमें ही कलपाते हैं।
'श्रीहरि' सुना है यश आपका विशद यह,
'जिसका न कोई' उसे आप अपनाते हैं॥

श्रीहरि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

[मणि ९]

पश्चात् राजा और पुलुषके पुत्र सत्ययज्ञमें यह बातचीत हुई—

राजा—हे प्राचीनयोग्य ! आप किस आत्माकी उपासना करते हैं ?

सत्ययज्ञ—हे माननीय राजन् ! मैं आदित्य नामक आत्माकी उपासना करता हूँ ।

राजा—हे मुने ! आप जिस आत्माकी उपासना करते हैं वह विश्वरूप आत्मा वैश्वानरका अंश है। इस विश्वरूप आदित्यकी उपासनासे ही आपके कुलमें बहुत लोक-परलोकके साधनरूप पदार्थ दीखते हैं। इस कारणसे ही आपके पास खच्चरियों-से जुता हुआ रथ, और दासियों सहित हार विद्यमान हैं। इसी कारण आप प्रदीप्ताग्नि होकर अन्न भोजन करते हैं और प्रिय परिवारको देखते हैं। जो इस विश्वरूप वैश्वानर आत्माकी इसप्रकार उपासना करता है, वह प्रदीप्ताग्नि होकर अन्नका भक्षण करता है, प्रिय परिवारका मुख देखा करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। परन्तु यह आत्मरूप वैश्वानरका चक्षु है। पूर्ण वैश्वानर नहीं है। यदि आप मेरे पास न आये होते तो इस उपासनासे आप अन्धे हो जाते। इति तेरहवाँ खण्ड।

पश्चात् राजा और भल्लविके पौत्र इन्द्रद्युम्नमें यह बातचीत हुई—

राजा—हे वैयाघ्रपद्य ! आप किस आत्माकी उपासना करते हैं ?

इन्द्रद्युम्न—हे मान्य राजन् ! मैं वायुकी उपासना करता हूँ ।

राजा—हे मुने ! आप जिस आत्माकी उपासना करते हैं, वह अनेक मार्गवाला आत्मा वैश्वानरका अंश है। इस उपासनाके करनेसे ही आपको सब दिशाओंमेंसे वस्त्र, अन्न आदिकी भेंट मिलती हैं और अनेक रथोंकी पंक्तियाँ आपके पीछे चलती हैं। इस कारण ही आप भोग भोगते हैं और पुत्र, पौत्र आदि प्रियवर्गको देखते हैं। जो कोई इस आत्मरूप वैश्वानरकी उपासना करता है, वह भोगोंको भोगता है, प्रियवर्गको देखता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। परन्तु यह आत्मरूप वैश्वानर-का प्राण है। समस्त वैश्वानर नहीं है। यदि आप मेरे पास न आये होते तो आपका प्राण निकल जाता। इति चौदहवाँ खण्ड।

तदनन्तर राजा और शर्कराक्षके पुत्र जनमें यह बातचीत हुई—

राजा—हे शार्कराक्ष्य ! आप किस आत्माकी उपासना करते हैं ?

जन—हे मान्य राजन् ! मैं आकाशकी उपासना करता हूँ ।

राजा—हे मुने ! आप जिस आत्माकी उपासना करते हैं, वह बहुल नामका वैश्वानरका अंश है, इसलिये आप उसकी उपासना करनेसे पुत्र, पौत्र आदि प्रजासे और सुवर्ण आदि धनसे भरपूर रहते हैं। इसी कारण आप भोग्य पदार्थोंको भोगते हैं और प्रियवर्गको देखते हैं। जो इस आत्म-रूप वैश्वानरकी इस शक्तिकी उपासना करता है, वह सब प्रकारके भोगोंको भोगता है, पुत्र-पौत्रादि प्रिय परिवारको देखता है और उसके कुलमें ब्रह्म-तेज रहता है। परन्तु यह आत्मरूप वैश्वानरका उदर है, पूर्ण वैश्वानर नहीं है। यदि आप मेरे पास न आये होते तो आपका उदर फट जाता। इति पन्द्रहवाँ खण्ड ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चात् राजा अश्वतराश्वके पुत्र बुडिलसे पूछने लगा—

राजा—हे वैयाघ्रपद्य ! आप किस आत्माकी उपासना करते हैं ?

बुडिल—हे मान्य राजन् ! मैं तो जलकी उपासना करता हूँ ।

राजा—हे मुने ! आप जिस आत्माकी उपासना करते हैं, वह धनरूप वैश्वानर आत्मा है । उसकी उपासना करनेसे ही आप धनवान् और पुष्टियुक्त हैं, क्योंकि जलसे अन्न उत्पन्न होता है और उस अन्नसे धनकी प्राप्ति और शरीरकी पुष्टि होती है । इस कारण ही आप भोग भोगते हैं और प्रिय परिवारको देखते हैं । जो इस आत्मरूप वैश्वानरकी इसप्रकार उपासना करता है, वह भोग भोगता है, पुत्र-पौत्रादि प्रिय परिवारको देखता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज रहता है । परन्तु यह आत्मरूप वैश्वानरका मूत्राशय है, समस्त वैश्वानर नहीं है । यदि आप मेरे पास न आये होते तो आपका मूत्राशय टूट जाता । इति सोलहवाँ खण्ड ।

पश्चात् राजाने अरुणके पुत्र उद्दालकसे कहा—

राजा—हे गौतम ! आप कौन-से आत्माकी उपासना करते हैं ?

उद्दालक—हे पूज्य राजन् ! मैं पृथ्वीकी उपासना करता हूँ ।

राजा—हे मुने ! आप जिस आत्माकी उपासना करते हैं, वह चरणरूप वैश्वानर आत्मा है । उसकी उपासना करनेसे आप पुत्र-पौत्रादि प्रजा और गौ, घोड़े आदि पशुओंके साथ संसारमें रहते हैं । इस कारण ही आप भोग भोगते हैं और प्रिय परिवारको नेत्रोंके सामने देखते हैं । जो इस आत्मरूप वैश्वानरकी इसप्रकार उपासना करता है, वह सब प्रकारके भोग भोगता है, प्यारे परिवारको नेत्रोंसे देखता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज रहता है । परन्तु यह आत्मरूप वैश्वानरके चरण हैं, समस्त वैश्वानर नहीं है । यदि आप मेरे पास न आये होते तो आपके चरण शिथिल हो जाते । इति सत्तरहवाँ खण्ड ।

पश्चात् समस्तरूपसे वैश्वानर-विद्याका उपदेश करनेके लिये राजा उनके मिथ्या ज्ञानका इसप्रकार अनुवाद करने लगे—

राजा—हे मुनियो ! जैसे बहुत-से अन्धोंने हाथीके शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंको स्पर्श करके, जिसने जिस अंगका स्पर्श किया, उसने उसी आकारवाला हाथीको जाना, इसी प्रकार आप सब, जो वैश्वानर-आत्मा विविध रूपधारी नहीं है, उसको भिन्न-भिन्न रूपवाला समझकर संसारके भोग भोगते हैं । परन्तु जो इस वैश्वानरको यानी सर्वात्म ईश्वरको स्वर्गलोकसे लेकर पृथ्वीतकके प्रदेशोंके परिमाणवाला और सब भूतोंमें व्यापक जानता है यानी स्वर्गलोकरूप मस्तकसे लेकर पृथ्वीरूप चरणों पर्यन्त पूर्वोक्त अवयवोंवाला जानकर उपासना करता है, वह सब लोकोंमें, सब भूतोंमें, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि सब आत्माओंमें स्थित होकर संसारके भोगोंको भोगता है । इस आत्म-वैश्वानरका मस्तक स्वर्ग है, चक्षु सूर्य है, प्राण वायु है, उदर आकाश है, मूत्राशय जल है और पृथ्वी दोनों चरण हैं । ऐसा जानकर उपासना करे । वैश्वानर वेत्ताको अपने भोजनमें इसप्रकार अग्निहोत्रका भाव करना चाहिये—वैश्वानररूप भोक्ताकी वक्षःस्थल वेदी है, रोम कुशा हैं, हृदय गार्हपत्य अग्नि है, मन दक्षिणाग्नि है और मुख आहवनीय अग्नि है । इति अठारहवाँ खण्ड ।

राजा—हे मुनियो ! वैश्वानरके उपासकको उचित है कि भोजनके लिये जो रँधा हुआ अन्न प्रथम सामने आवे, उसका होम अवश्य करे । होमकी रीति यह है—जब भोजन करनेवाला प्रथम आहुति मुखमें छोड़े तो 'प्राणाय स्वाहा' इस मन्त्रका उच्चारण करे । क्योंकि इस मन्त्रको बोलकर जो आहुति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुखमें छोड़ी जाती है, उस आहुतिसे प्राण तृप्त होता है, प्राणके तृप्त होनेसे नेत्र तृप्त होते हैं, नेत्रोंके तृप्त होनेसे सूर्य तृप्त होता है, सूर्यके तृप्त होनेसे स्वर्ग तृप्त होता है और स्वर्गके तृप्त होनेसे स्वर्ग और सूर्य जिस जिसके स्वामी बनकर स्थित हैं, वे सब तृप्त हो जाते हैं और उनकी तृप्ति हो जानेसे यजमान तृप्त होता है, क्योंकि यजमानको प्रजा, पशु और भक्षण करने योग्य प्रचुर अन्नकी प्राप्ति होती है, यजमानका शरीर पुष्ट होता है, उसकी बुद्धिमें प्रकाश होता है। ऐसा होनेसे यजमान सदाचारी होकर स्वाध्यायमें तत्पर होता है। सदाचार और स्वाध्यायसे ब्रह्मतेजकी उत्पत्ति होती है और ब्रह्मतेज द्वारा यजमान तृप्त होता है। इति उन्नीसवाँ खण्ड।

राजा–हे मुनियो ! पश्चात् उपासक 'व्यानाय स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर दूसरी आहुति मुखमें छोड़े। इस मन्त्रके प्रभावसे व्यान तृप्त होता है, व्यानके तृप्त होनेसे श्रोत्र-इन्द्रिय तृप्त होती हैं, श्रोत्र इन्द्रियके तृप्त होनेसे चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमाके तृप्त होनेसे दिशाएँ तृप्त हो जाती हैं, दिशाओंके तृप्त होनेसे जिन-जिन वस्तुओंपर दिशाओंकी और चन्द्रमाकी प्रभुता है, वे सब तृप्त हो जाती हैं, उन सबके तृप्त हो जानेसे भोजन करनेवाला सन्ततिसे, पशुओंसे, उत्तम अन्नसे, शरीर तथा बुद्धिके प्रकाशसे और ब्रह्मतेजसे तृप्त होता है। इति बीसवाँ खण्ड।

राजा–हे मुनियो ! पश्चात् उपासक 'अपानाय स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर तीसरी आहुति मुखमें छोड़े। ऐसा करनेसे अपान तृप्त होता है। अपानके तृप्त होनेसे वाणी तृप्त होती है, वाणीके तृप्त होनेसे अग्नि तृप्त होता है, अग्निके तृप्त होनेसे पृथ्वी तृप्त होती है, पृथ्वीके तृप्त होनेपर जिन जिन वस्तुओंपर पृथ्वी और अग्निकी प्रभुता है वे सब तृप्त हो जाती हैं और उनकी तृप्ति हो जानेसे भोजन करनेवाला प्रजा, पशु, भक्षण योग्य अन्न, शरीर और बुद्धिके प्रकाश और ब्रह्मतेजसे तृप्त होता है। इति इक्कीसवाँ खण्ड।

राजा–हे मुनियो ! पश्चात् उपासक 'समानाय स्वाहा' इस मन्त्रको उच्चारण करके चौथी आहुति मुखमें छोड़े। ऐसा करनेसे समान तृप्त होता है, समानके तृप्त होनेसे मन तृप्त होता है, मनके तृप्त होनेसे मेघ तृप्त होता है, मेघके तृप्त होनेसे बिजली तृप्त होती है, बिजलीके तृप्त होनेसे जिन-जिन वस्तुओंपर मेघ और बिजलीकी प्रभुता है, वे सब तृप्त हो जाती हैं। ऐसा होनेसे भोजन करनेवाला सन्तान, पशु, खाने योग्य अन्न, शरीर और बुद्धिके प्रकाश और ब्रह्मतेजसे तृप्त होता है। इति बाईसवाँ खण्ड।

राजा—हे मुनियो ! पश्चात् भोक्ता 'उदानाय स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर पाँचवीं आहुति मुखमें डाले। ऐसा करनेसे उदान तृप्त होता है, उदानके तृप्त होनेसे त्वचा तृप्त होती है, त्वचाके तृप्त होनेसे वायु तृप्त होता है, वायुके तृप्त होनेसे आकाश तृप्त होता है, आकाशके तृप्त होनेसे जिन-जिन वस्तुओंके ऊपर वायु और आकाशकी प्रभुता है, वे सब तृप्त हो जाती हैं और उनके तृप्त होनेसे भोक्ता सन्तान, पशु, खाने योग्य अन्न, शरीर और बुद्धिके प्रकाश और ब्रह्मतेजसे तृप्त होता है। इति तेईसवाँ खण्ड।

जो कोई इस कही हुई वैश्वानर-विद्याको न जानकर अग्निहोत्रकी आहुतियाँ होमता है, उसका यज्ञ वैश्वानर-विद्याके जाननेवालेकी अपेक्षासे इस-प्रकार निरर्थक होता है जैसे कि अंगारोंको अलग करके राखमें किया हुआ होम निष्फल होता है। जो इसप्रकार जानता हुआ अग्निहोत्रमें होम करता है यानी पूर्वोक्त विधिसे भोजन करता है, उसका सब लोकोंमें, सब भूतोंमें, और देह, इन्द्रियादि रूप सब आत्माओंमें होमा हुआ अर्थात् भोजन किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ होता है। जिसप्रकार मूँजके भीतरकी तूलीको निकालकर अग्निमें डाल दिया जाय तो वह तत्काल भस्म हो जाती है इसी प्रकार जो इस अग्निहोत्रकी विधिको जानता हुआ भोजनरूप होम करता है, उसके सब पाप भस्म हो जाते हैं। इसलिये इस तत्त्वको जाननेवाला यदि कदाचित् चाण्डालको अपनी जूठन दे दे तो भी उस चाण्डालके शरीरमें स्थित आत्मरूप वैश्वानरमें उस उपासकका होम ही होता है इसलिये उसको अधर्म नहीं होता। इस अग्निहोत्रकी प्रशंसामें यह मन्त्र है:—जिस प्रकार इस लोकमें भूखे बालक 'हमें कब अन्न देगी' इसप्रकार बाट देखते हुए माताकी उपासना करते हैं इसी प्रकार उस वैश्वानर-विद्याको जाननेवालेके भोजनरूप अग्निहोत्रकी सब प्राणी 'यह कब भोजन करेगा ?' इसप्रकार बाट देखते हुए उपासना करते हैं। इति चौबीसवाँ खण्ड। पाँचवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय ६

हे डोरूशंकर! पूर्व अध्यायमें यह कहा है कि एक विद्वान्के भोजन कर लेनेसे सब जगत् तृप्त हो जाता है, परन्तु ऐसा तब ही हो सकता है कि जब सकल भूतोंमें एक ही आत्मा हो इसलिये सब भूतोंमें एक ही आत्मा किसप्रकार है, इस बातको श्रुति पिता-पुत्रकी आख्यायिकाद्वारा समझाती है—

पूर्वमें श्वेतकेतु नामक एक बालक था। माता-पिताका उसपर बड़ा ही स्नेह था। माता-पिताके अत्यन्त स्नेहके कारण श्वेतकेतु स्वच्छन्द रीतिसे घूमता रहा। उसका चित्त सर्वदा क्रीड़ामें ही मोद मानता था इसलिये बारह वर्षतक उसका उपनयन संस्कार करनेमें नहीं आया। वह खेलनेमें ऐसा लीन हो जाता था कि कभी-कभी उसको भोजन करनेकी भी सुधि नहीं रहती थी। स्वभावका भी वह क्रूर था। दूसरे बालकों, स्त्रियों, ब्राह्मण तथा गौ आदि पशुओंका कठोर वचनोंसे तिरस्कार करता और लकड़ी मारकर घर भाग आता था। बारह वर्षकी आयुपर्यन्त वह खेलता-कूदता ही रहा। एक दिन वह विनयसहित अपने पिता आरुणिके पास गया। आरुणि ऋषि अपने पुत्रकी ऐसी शोचनीय अवस्था देखकर मनमें अत्यन्त खिन्न हुए, पुत्रको पुचकारकर पास बैठा लिया और इसप्रकार समझाने लगे—

आरुणि—हे पुत्र! स्नेहके कारण मैंने और तेरी माताने तुझे अभीतक किसी प्रकारकी शिक्षा नहीं दी। हमारे लालन-पालनसे तू महान् उन्मत्त दशाको प्राप्त हो गया है। पुत्र, स्त्री और शिष्य इन तीनोंके लालन करनेसे उनमें बड़े दोष आ जाते हैं और उनके ताड़न करनेसे उनमें बहुतसे शुभ गुण आते हैं, ऐसा नीतिशास्त्र जाननेवालोंका वचन ठीक ही है। जो माता-पिता स्नेहके वशसे पुत्रको शिक्षा नहीं देते और उसका केवल लालन किया करते हैं, वे उस बालकके शत्रु हैं, क्योंकि माता-पिताके लालनसे ही पुत्रमें अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और उन दोषोंके कारण इस लोकमें पुत्रको महान् कष्ट उठाना पड़ता है और वह परलोकमें भी कष्ट पाता है। माता-पिताको पुत्रको अवश्य शिक्षा देनी चाहिये। जन्मसे तीन वर्षतक माताको शिक्षा देनी चाहिये, तीन वर्षसे आठ वर्षतक पिताको और आठ वर्षसे सोलह वर्षतक गुरुको शिक्षा देनी चाहिये, सोलह वर्ष उपरान्त पुत्र अथवा शिष्यको यदि शिक्षा देनी हो तो पिता अथवा गुरुको चाहिये कि पुत्र अथवा शिष्यको ताड़न करके शिक्षा न दें, किन्तु मित्रके समान वाणीमात्रसे शिक्षा देवें। जो मूढ़ बालक माताकी, पिताकी अथवा आचार्यकी शिक्षा नहीं मानता वह मूढ़बुद्धि यौवन अवस्थामें महान् क्लेश पाता है। तेरी माताने और मैंने तुझे अभीतक शिक्षा नहीं दी इसलिये बारह वर्ष हो जानेपर भी तू कुछ पढ़ा-लिखा नहीं है। हे पुत्र! अशिक्षित होनेके कारण तू मेरे कुलमें अधम ब्राह्मणके समान उत्पन्न हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। नीतिशास्त्रकी मर्यादाका त्याग करके मैं अभीतक तेरा लालन पालन करता रहा और तेरा उपनयन-संस्कार भी नहीं किया। यदि तेरा उपनयन संस्कार करके अब मैं तुझे शिक्षा दूँ, तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि मुझ स्नेहयुक्त पितामें तेरी श्रद्धा नहीं हो सकती और श्रद्धा विना विद्याका उपदेश करना भस्ममें आहुति देनेके समान निरर्थक है। हे पुत्र! अपढ़ मनुष्य पशु-समान होता है इसलिये तू किसी दूसरे आचार्यके पास जाकर विद्या-अध्ययन आदि ब्रह्मचारीके धर्मका सम्पादन कर। हे पुत्र! यदि तू ब्रह्मचर्याश्रम धारण करके वेदाध्ययन नहीं करेगा तो इस लोकमें ही नरकके समान दुःख देनेवाली तेरी अपकीर्ति होगी। तेरा जन्म मेरे कुलमें हुआ है, यदि तेरी अपकीर्ति होगी तो वह हमारे पूर्वजोंकी ही अपकीर्ति है। श्रेष्ठ पुरुषकी अपकीर्ति मरणसे भी अधिक कष्ट देनेवाली होती है इसलिये हे पुत्र! तू किसी ब्रह्मवेत्ता गुरुके पास जाकर वेद-विद्याका अध्ययन कर।

श्वेतकेतु आरुणि पिताका यह वचन सुनकर माता-पिताकी आज्ञा लेकर घरका त्याग कर किसी अन्य देशमें चला गया और वहाँ जाकर किसी वेदवेत्ता ब्राह्मणको गुरु करके व्याकरणादि छः अंगों सहित चारों वेदोंका उसने अध्ययन किया और उपनिषद्रूप वेदान्त भागके सिवा समस्त वेदार्थका विचार किया। अर्थ सहित चारों वेदोंका अध्ययन करनेके पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर श्वेतकेतु अपने घरकी तरफ लौटा। मार्गमें इस-प्रकार विचार करने लगा 'मैंने सर्व वेदोंका अध्ययन किया है और उनका अर्थ मैं भलीप्रकार जानता हूँ, मैं अत्यन्त विद्वान् और बुद्धिमान हूँ, जैसा वेदका पाठ और अर्थ मैं जानता हूँ मेरा पिता नहीं जानता, क्योंकि यदि वह जानता होता तो मुझे दूसरेके पास पढ़ने क्यों भेजता? मेरे गुरु भी मेरी तीक्ष्ण-बुद्धि देखकर मुझपर स्नेह करते थे, पुत्रसे भी अधिक मुझे प्यार करते थे, यदि मैं तीक्ष्ण बुद्धिवाला न होता तो वे मुझपर पुत्रसे भी अधिक स्नेह क्यों करते? गुरुजीने एक बार मुझसे कहा भी तो था कि हे श्वेतकेतु! मुझे जितनी वेदविद्या आती है, वह सब मैंने तुझे पढ़ा दी है, इससे अधिक वेद-विद्या मेरे पास नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि मैं पितासे अधिक बुद्धिमान् हूँ। और पुत्र पितासे अधिक बुद्धिमान् होना भी चाहिये, क्योंकि पूर्वमें बृहस्पतिका पुत्र अज अपने पितासे भी अधिक विद्वान् था। अजका शास्त्रमें दूसरा नाम शंकु कहा है। इस शंकुने शुक्रसे मृत्युसञ्जीवनी विद्या सीखी थी और बृहस्पति आदि सब देवताओंको पढ़ायी थी। यह बात वेदके शतपथ ब्राह्मणमें तथा मनुस्मृतिमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार मैं भी पितासे अधिक विद्यावाला हूँ।' इसप्रकार विचार कर श्वेतकेतु महागर्वको प्राप्त हुआ, गर्वसे मोह उत्पन्न हुआ, मोहसे बुद्धि नष्ट हो गयी, इसलिये घरपर जाकर उसने पिताको नमनतक नहीं किया, किन्तु ठूँठके समान नम्रभावसे रहित होकर ऊँचे आसनपर जा बैठा। पुत्रको नम्रतारहित देखकर आरुणिने क्रोध नहीं किया। किसीने सच कहा है—जैसे ऊसर भूमिमें अङ्कुर नहीं जमता इसीप्रकार तत्त्वदर्शी पुरुषोंके चित्तमें काम, क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते। आरुणि ऋषि कृपायुक्त हो इसप्रकार कहने लगे—

आरुणि—हे पुत्र! अभिमान महा अनर्थका मूल है, अभिमानी पुरुषको सब गुण त्याग देते हैं और समस्त दोष उसके चित्तमें अपना घर बना लेते हैं। हे पुत्र! अभिमानके कारण तू नम्रतासे रहित हो गया है, तू अपनेको पण्डित मानता है, समझता है कि छः अंगोंसहित वेद मैं जानता हूँ, मेरे समान कोई विद्वान् नहीं है, हे पुत्र! यह तो बता कि तुझमें अतिशयता क्या है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतना सुनकर श्वेतकेतु अभिमानसहित कहने लगा—

श्वेतकेतु–पिताजी ! आप मेरी परीक्षा लीजिये, तब आपको मालूम हो जायगा कि मुझमें अतिशयता है या नहीं।

पिता–हे पुत्र ! वह वस्तु कौन-सी है कि जिस एक वस्तुके सुननेसे सब बिना सुनी हुई वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है, जिस एक वस्तुके मनन करनेसे सब बिना मननकी हुई वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है, और जिस एक वस्तुके विज्ञानसे सब नहीं जाने हुए पदार्थोंका विज्ञान हो जाता है। यदि तू वह वस्तु जानता हो और तेरे गुरुने तुझे बतायी हो तो मुझसे कह।

आरुणिका यह प्रश्न सुनते ही श्वेतकेतुका गर्व जाता रहा और उसको बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि वह ऐसी वस्तुको जानता न था, श्रद्धा-भक्तिसहित पिताको नमस्कारकर हाथ जोड़कर कहने लगा—

पुत्र—हे पिता ! जिस एक वस्तुके श्रवण, मनन और विज्ञानसे सब पदार्थोंका श्रवण, मनन और विज्ञान हो जाय, उस एक वस्तुको मैं नहीं जानता, मुझे उस वस्तुका उपदेश कीजिये।

आरुणि—हे पुत्र ! उस एक वस्तुके जाननेके लिये पहले तू तेज, जल और पृथ्वी इन तीन दृष्टान्तोंसे इस सर्व जगत्‌को तीन भूतरूप समझ और फिर इन तीन दृष्टोंसे तेज, जल तथा पृथ्वी इन तीनोंके कारण परमात्माको सर्व जगत्‌का कारण निश्चय कर।

तीन दृष्टान्त

हे श्वेतकेतु ! जैसे इस लोकमें मृत्तिका घट शरावादिका कारण है। पृथ्वीरूपी मृत्तिकाके पिण्डके ज्ञानसे मृत्तिकाके कार्य घट, शरावादि सब पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, जैसे तेजरूप सुवर्ण पिंडके ज्ञानसे कड़े, कुण्डलादि सर्व पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है और जैसे नख काटनेके निहन्ना आदिमें रहे हुए लोहेका ज्ञान हो जानेसे, उस लोहेके कार्यरूप खड्गादि सब पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है अर्थात् जो एक बार यह निश्चय कर लेता है कि मृत्तिकाके कार्यरूप घटमें मत्तिका ही है, वह घटसे भिन्न दूसरे मृत्तिकाके कार्यको देखकर इस बातका संशय नहीं करता कि मृत्तिका है या नहीं, किन्तु मृत्तिकाके कार्यरूप सब पदार्थोंको मृत्तिकारूप ही देखता है, ऐसे ही लोह पिण्ड और सुवर्णके पदार्थोंको भी लोह और सुवर्णरूप देखता है। जैसे सुवर्ण, लोहा और मृत्तिकाको जान लेनेसे उन तीनोंके कार्यरूप पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार तेज जल, तथा पृथ्वी इन तीन भूतोंके कारणरूप परमात्माका ज्ञान होनेसे जीवको तेज, जल और पृथ्वीरूप सर्व जगत्‌का ज्ञान हो जाता है।

पुत्र–हे पिता ! मृत्तिका-पिण्ड पृथ्वीरूप है इसलिये पृथ्वी भूतमें मृत्तिकाके पिण्डका दृष्टान्त सम्भव है और सुवर्ण-पिण्ड भी तेजरूप है इसलिये तेजभूतके सुवर्णका दृष्टान्त सम्भव है, परन्तु नख काटनेवाले निहन्ना आदि लोहेके पदार्थ जलरूप नहीं हैं इसलिये जलभूतमें लोह-पिण्डका दृष्टान्त किसप्रकार सम्भव हो सकता है?

पिता–हे पुत्र ! द्रवीभूत जलके सम्बन्धसे पृथ्वी आदिसे नाना प्रकारके कार्य उत्पन्न होते हैं, जल बिना पृथ्वी आदिमेंसे कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता। इसलिये अन्वय-व्यतिरेकसे जलमें सर्व कार्योंकी कारणता प्रसिद्ध है तो भी पृथ्वी आदिके सम्बन्धरहित केवल जल-पिण्डमें किसी प्रकारकी कारणता लोकमें प्रसिद्ध नहीं है, इस कारणसे ही लौकिक बुद्धिको अंगीकार करके हिमकटकादिरूप जलके समान निर्मलतारूपसे जो नख काटनेवाले लोहेके निहन्ना आदि हैं, उनका तीसरा दृष्टान्त दिया है इसलिये जलभूतमें लोह-पिण्डका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टान्त सम्भव है। लोहेके खड्ग आदिकी धारको पानी कहते भी हैं इसलिये जलमें लोहेका दृष्टान्त युक्त है।

कारणमें अद्वितीयता

पुत्र-हे पिता ! द्वैतवादी तो कार्य-कारणका अभेद नहीं मानते किन्तु भेद मानते हैं, फिर कार्य कारणका अभेद कैसे सिद्ध हो ?

पिता-हे पुत्र ! सांख्यशास्त्रवाले तथा भट्टपादादि मीमांसक उपादानकारण और कार्यका भेदाभेद मानते हैं और नैयायिक तो उपादान-कारणका और कार्यका केवल भेद मानते हैं। इन दोनोंका मत समीचीन नहीं है क्योंकि इस लोकमें जो-जो पदार्थ भेदवाले होते हैं, वे-वे पदार्थ परस्पर भिन्न-भिन्न देशमें रहते हैं, जैसे गाय और घोड़ा। इन दोनोंका परस्पर भेद होनेसे गाय तथा घोड़ा दोनों भिन्न-भिन्न देशमें रहते हैं। तन्तु और पट तथा मृत्तिका और घट भिन्न-भिन्न देशमें नहीं रहते किन्तु एक ही देशमें रहते हैं, इसलिये उनका परस्पर भेद नहीं हो सकता, जैसे अग्निरूप व्यापकके अभाव होनेसे धूमरूप व्याप्यका भी अभाव हो जाता है इसी प्रकार भिन्न देशवृत्तित्वरूप व्यापकका अभाव होनेसे भेदरूप व्याप्यका भी अभाव हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि मृत्तिका तथा घट दोनों भिन्न देशवृत्तित्वके अभाववाले होनेसे परस्पर अभिन्न हैं, क्योंकि जो परस्पर अभिन्न नहीं होते वे भिन्न देशवृत्तित्वके अभाववाले भी नहीं होते। इससे मृत्तिका और घटका अभेद है, यह सिद्ध हुआ।

शंका-हे भगवन् ! पटादि कार्य तन्तु आदि देशमें रहते हैं और तन्तु आदि कारण भूतल आदि देशमें रहते हैं इसलिये उपादान-कारण और कार्यका देश भिन्न भिन्न है इसलिये तुम्हारे हेतु-पक्षमें वृत्ति न होनेसे स्वरूपासिद्ध नामका हेत्वाभास है, उस स्वरूपासिद्ध हेत्वाभाससे कार्य-कारणका अभेद सिद्ध नहीं हो सकता।

समाधान-हे पुत्र ! कार्यकारणका भिन्न-भिन्न देश जो तूने कहा है, वह केवल अपनी कल्पना-मात्रसे कहा है, वास्तवमें उनका भिन्न-भिन्न अधिकरण नहीं है, क्योंकि भूतल आदि देशोंमें घट-पटादि पदार्थोंके वृत्तित्वको अनुभव करनेवाले जो लोग हैं, उन्होंने कार्य-कारणका भिन्न-भिन्न अधिकरण अनुभव नहीं किया है इसलिये उन कार्य-कारणोंका भेद सिद्ध नहीं होता और भेद अभेद ये दोनों विरुद्ध हैं। जहाँ भेद रहता है वहाँ अभेद नहीं रहता और जहाँ अभेद रहता है वहाँ भेद नहीं रहता है, इसलिये भेदाभेद पक्ष भी नहीं बनता। अतएव उन कार्य-कारणका अभेद पक्ष ही सब वादियोंको मानना चाहिये। जैसे रज्जुमें कल्पित जो सर्प दण्डादि हैं, वे सर्पादि कार्य-कारणसे भिन्न प्रतीत नहीं होते इसलिये व सर्पादि रज्जुसे अभिन्न हैं वैसे ही ये घट-पटादि कार्य भी मृत्तिकादि कारणोंसे भिन्न प्रतीत नहीं होते। इसलिये ये घटादि कार्य भी मृत्तिका आदि कारणोंसे अभिन्न हैं। जैसे रज्जुके वास्तविक स्वरूपके ज्ञान होनेसे सर्पादि प्रतीत नहीं होते इसी प्रकार मृत्तिका आदि कारणोंके वास्तविक स्वरूपके ज्ञान होनेसे घटादि कार्य भी प्रतीत नहीं होते। इस प्रकार कारणकी अद्वितीयता सर्व विद्वान् पुरुषोंके अनुभवसे सिद्ध है। (क्रमशः)

गहि सरनागति रामकी, भवसागरकी नाव।
रहिमन जगत उधारकर, और न कछू उपाव॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देहकी दशा

(श्रीशंकराचार्यकृत प्रबोधसुधाकर* से)

नित्यानन्दैकरसं सच्चिन्मात्रं स्वयंज्योतिः ।
पुरुषोत्तममजमीशं वन्दे श्रीयादवाधीशम् ॥१॥

नित्य, आनन्दस्वरूप, एकरस, सच्चित्स्वरूप, स्वयंप्रकाश, पुरुषोत्तम, अजन्मा और ईश्वर, यदुनाथ श्रीकृष्णचन्द्रकी वन्दना करता हूँ ।

यं वर्णयितुं साक्षाच्छ्रुतिरपि मूकेव मौनमाचरति ।
सोऽस्माकं मनुजानां किं वाचां गोचरो भवति ॥२॥

जिसका साक्षात् (विधि-मुखसे) वर्णन करनेमें श्रुति भी मूकके समान मौन हो जाती है, वह (भगवान्) क्या हम मनुष्योंकी वाणीका विषय हो सकते हैं ?

यद्यप्येवं विदितं तथापि परिभाषितो भवेदेव ।
अध्यात्मशास्त्रसारैर्हरिचिन्तनकीर्तनाभ्यासैः ॥३॥

यद्यपि भगवान् ऐसे हैं तथापि अध्यात्मशास्त्रोंके सार-रूप हरि-चिन्तन और कीर्तनाभ्यासादिसे उनका विचार तथा कथोपकथन आदि किया ही जाता है ।

क्लृप्तैर्बहुभिरुपायैरभ्यासज्ञानभक्त्याद्यैः ।
पुंसो विना विरागं मुक्तेरधिकारिता न स्यात् ॥४॥

अभ्यास, ज्ञान और भक्ति आदि मोक्ष-साधनमें समर्थ नाना उपायोंसे भी विना वैराग्यके मनुष्य मुक्तिका अधिकारी नहीं होता ।

वैराग्यमात्मबोधो भक्तिश्चेति त्रयं गदितम् ।
मुक्तेः साधनमादौ तत्र विरागो वितृष्णता प्रोक्ता ॥५॥

वैराग्य, आत्मज्ञान और भक्ति—मुक्तिके ये तीन साधन बतलाये गये हैं, इनमें तृष्णाहीनता-रूप वैराग्य ही प्रथम है ।

सा चाहंममताभ्यां प्रच्छन्ना सर्वदेहेषु ।
तत्राहंता देहे ममता भार्यादिविषयेषु ॥६॥

वह तृष्णा अहंता और ममतारूपसे समस्त देहधारियोंके अन्दर छिपी हुई है । अहंता देहमें होती है और ममता स्त्री (धन) आदि विषयोंमें हुआ करती है ।

देहः किमात्मकोऽयं कः सम्बन्धोऽस्य वा विषयैः ।
एवं विचार्यमाणेऽहंताममते निवर्तेते ॥७॥

'यह देह क्या है और इसका विषयोंसे क्या सम्बन्ध है ?' ऐसा विचार करते रहनेसे अहंता और ममता निवृत्त हो जाती हैं ।

स्त्रीपुंसोः संयोगात्सम्पाते शुक्रशोणितयोः ।
प्रविशञ्जीवः शनकैः स्वकर्मणा देहमाधत्ते ॥८॥

स्त्री और पुरुषके संयोगसे रज और वीर्यका मेल होनेपर जीव अपने कर्मानुसार गर्भमें प्रवेश करके देह धारण करता है ।

मातृगुरूदरदर्यां कफमूत्रपुरीषपूर्णायाम् ।
जठराग्निज्वालाभिर्नवमासं पच्यते जन्तुः ॥९॥

फिर नौ मासतक मल-मूत्र और कफादिसे पूर्ण माताकी महामलिन कोखमें पड़ा हुआ यह जीव जठरानलसे जला करता है ।

दैवात्प्रसूतिसमये शिशुस्तिरश्चीनतां यदा याति ।
शस्त्रैर्विखण्डय स तदा बहिरिह निष्कास्यतेऽतिबलात् ॥

प्रसवके समय यदि दैववश बालक टेढ़ा हो जाता है तो शस्त्रोंसे काट-काटकर बलपूर्वक (उसे) बाहर निकाला जाता है ।

---

* यह 'ग्रन्थ' गीता-प्रेससे प्रकाशित होनेवाला है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा यन्त्रच्छिद्राद्यदा तु निःसार्यते प्रबलैः ।
प्रसवसमीरैश्च तदा यः क्लेशः सोऽप्यनिर्वाच्यः ॥११॥

अथवा यदि ठीक-ठीक प्रसव भी हुआ तो उस समय जब प्रबल प्रसूतिवायुके द्वारा संकुचित योनिछिद्रसे वह निकाला जाता है तो उस समयका क्लेश भी अकथनीय होता है।

आधिव्याधिवियोगात्मीयविपत्कलहदीर्घदारिद्र्यैः ।
जन्मानन्तरमपि यः क्लेशः किं शक्यते वक्तुम् ॥१२॥

जन्मके अनन्तर भी आधि, व्याधि, स्वजनोंके वियोग, विपत्ति, कलह और भयानक दरिद्रता आदिसे जितना दुःख उठाना पड़ता है क्या उसका वर्णन किया जा सकता है ?

नरपशुविहंगतिर्यग्योनीनां चतुरशीतिलक्षाणाम् ।
कर्मनिबद्धो जीवः परिभ्रमन्यातना भुङ्क्ते ॥१३॥

कर्मबन्धनसे बँधा हुआ जीव मनुष्य, पशु, पक्षी और तिर्यगादि चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमता हुआ नाना प्रकारकी विपत्तियाँ झेलता है।

चरमस्तत्र नृदेहस्तत्रोज्जन्मान्वयोत्पत्तिः ।
स्वकुलाचारविचारः श्रुतिप्रचारश्च तत्रापि ॥१४॥
आत्मानात्मविवेको नो देहस्य च विनाशिताज्ञानम् ।
एवं सति स्वमायुः प्राज्ञैरपि नीयते मिथ्या ॥१५॥

उन सब योनियोंमें मनुष्य-देह सर्वश्रेष्ठ है; उस नरदेहमें भी उच्च कुलमें जन्म और अपने कुटुम्बके आचार-विचार तथा श्रुतिज्ञानको पाकर भी जिसको आत्मा और अनात्माका विवेक तथा देहकी विनाशशीलताका ज्ञान नहीं हुआ, वह भले ही बड़ा भारी बुद्धिमान् हो, उसकी आयु व्यर्थ ही जाती है।

आयुः क्षणलवमात्रं न लभ्यते हेमकोटिभिः क्वापि ।
तच्चेद्गच्छति सर्वं मृषा ततः काधिका हानिः ॥१६॥

क्षण और पलभरकी आयु भी, करोड़ों सुवर्ण-मुद्राओंके बदलेमें कभी नहीं मिल सकती। यदि ऐसी अमूल्य आयु व्यर्थ ही चली गयी तो इससे बढ़कर और क्या हानि होगी ?

नरदेहातिक्रमणात्प्राप्तौ पश्वादिदेहानाम् ।
स्वतनोरप्यज्ञाने परमार्थस्यात्र का वार्ता ॥१७॥

नर-देहके छिन जानेपर यदि पशु आदिकी योनि मिली तो उसमें तो भलीभाँति अपने शरीरकी भी सुधि नहीं रहती, परमार्थकी तो बात ही क्या है ?

सततं प्रवाह्यमानैर्वृषभैरश्वैः खरैर्गजैर्महिषैः ।
हा कष्टं क्षुत्क्षामैः श्रान्तैर्नो शक्यते वक्तुम् ॥१८॥

हा ! (उन) भूखे-प्यासे और थके हुए भी निरन्तर बोझा ढोते हुए बैल, घोड़ों, गधों, हाथियों और भैंसोंको जितना कष्ट होता है वह कहा नहीं जा सकता।

रुधिरत्रिधातुमज्जामेदोमांसास्थिसंहतिर्देहः ।
स बहिस्त्वचा पिनद्धस्तस्मान्नो भक्ष्यते काकैः ॥१९॥

यह शरीर रुधिर, त्रिधातु, मज्जा, मेद और मांसका समूह है; बाहरसे यह त्वचासे मँढा हुआ है इसलिये इसे कौए भी नहीं खाते।

नासाग्राद्वदनाद्वा कफं मलं पायुतो विसृजन् ।
स्वयमेवैति जुगुप्सामन्तः प्रसृतं च नो वेत्ति ॥२०॥

नासिकासे अथवा थूकनेसे कफको और गुदासे मलको त्याग करते समय स्वयं भी घृणा मानता है तथापि अपने शरीरके भीतर भरे हुए इनको नहीं जानता।

पथि पतितमस्थि दृष्ट्वा स्पर्शभयादन्यमार्गतो याति ।
नो पश्यति निजदेहं चास्थि सहस्रावृतं परितः ॥२१॥

मार्गमें पड़ी हुई हड्डीको देखकर उससे छू जानेके डरसे दूसरे मार्गसे होकर निकल जाता है, परन्तु (यह) अपने शरीरको हजारों हड्डियोंसे भरा हुआ नहीं देखता ?

केशावधिनखराग्रादिदमन्तःपूतिगन्धसम्पूर्णम् ।
बहिरपि चागरुचन्दनकर्पूराद्यैर्विलेपयति ॥२२॥

नखसे लेकर शिखापर्यन्त यह (सारा) शरीर दुर्गन्धसे भरा हुआ है, फिर भी बाहरसे इसपर अगर, चन्दन और कपूर आदिका लेप करता है !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्नादस्य पिधत्ते स्वाभाविकदोषसंघातम् ।
औपाधिकगुणनिवहं प्रकाशयञ्छ्लाघते मूढः ॥२३॥

मूढ़ पुरुष इसके स्वाभाविक दोषोंको यत्न-पूर्वक छिपाता है, और औपाधिक (ऊपरी) गुणोंको प्रकट करता हुआ इसकी प्रशंसा करता है।

क्षतमुत्पन्नं देहे यदि न प्रक्षाल्यते त्रिदिनम् ।
तत्रोत्पतन्ति बहवः कृमयो दुर्गन्धसंकीर्णाः ॥२४॥

शरीरमें कहीं थोड़ा-सा घाव हो जाय और उसको तीन दिन भी न धोया जाय तो दुर्गन्धके कारण उसमें बहुत-से कीड़े पड़ जाते हैं।

यो देहः सुप्तोऽभूत्सुपुष्पशय्योपशोभिते तल्पे ।
सम्प्रति स रज्जुकाष्ठैर्नियन्त्रितः क्षिप्यते वह्नौ ॥२५॥

देखो, जो शरीर अति सुशोभित फूलोंकी सेजपर सुख-पूर्वक सोया हुआ था वह अब रस्सी और काठसे जकड़ा जाकर अग्निमें फेंका जा रहा है!

सिंहासनोपविष्टं दृष्ट्वा यं मुदमवाप लोकोऽयम् ।
तं कालाकृष्टतनुं विलोक्य नेत्रे निमीलयति ॥२६॥

जिस शरीरको सिंहासनपर विराजमान देखकर लोग आनन्दित होते थे उसीको आज कालके गालमें पड़ा देखकर वे नेत्र मूँद लेते हैं।

एवंविधोऽतिमलिनो देहो यत्सत्तया चलति ।
तं विस्मृत्य परेशं वहत्यहंतामनित्येऽस्मिन् ॥२७॥

ऐसा महामलिन देह जिसकी सत्तासे चलता है उस परमात्माको भुलाकर इस अनित्य और अपवित्र देहमें लोग 'अहं बुद्धि' करते हैं!

क्वात्मा सच्चिद्रूपः क्व मांसरुधिरास्थिनिर्मितो देहः ।
इति यो लज्जति धीमानितरशरीरं स किं मनुते ॥२८॥

'कहाँ तो सत् और चित्‌रूप आत्मा और कहाँ अस्थि, मांस और रुधिर आदिका बना हुआ यह अति घृणित देह!' ऐसा विचारकर जो बुद्धिमान् अपनी मूर्खताके लिये लज्जित होता है, वह अपनेसे अत्यन्त भिन्न शरीरमें अहंबुद्धि कैसे कर सकता है!

विनय

जो तजिकै खगराजहुको पुनि, दौरि परे गजराज पुकारे ।
जानि जिन्हैं सुरलोक गई, गनिका करि काम तमाम नकारे ॥
रीझि उठे निज हाँथेन सों, करि दाहक्रिया जिन गीध उबारे ।
बारहिं बार हरैं भुवभार, करैं सोइ पूरन काम हमारे ॥१॥
जानि निषादको नेह खरो, बढ़िकै उर लागि गये जो अगारे ।
पावन प्रेमहिंके बस जो भये, पारथके रथके हँकवारे ॥
पूर किये प्रन भक्तनके, करिकै जिनने अपने प्रन टारे ।
बारहिं बार हरैं भुवभार, करैं सोइ पूरन काम हमारे ॥२॥

भगवतीप्रसाद त्रिपाठी विशारद एम० ए०, एल-एल० बी०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पावन-प्रेम

(१)

सार है संसारमें बस प्रेम ही,
प्रेम ही आनन्दका आगार है।
भक्तिका भी जन्मदाता है यही,
ज्ञानका भी आदि यह आधार है॥

(२)

प्रेममय परमात्मा भी सर्वदा—
वश्य रहता प्रेमियोंके प्रेमके।
प्रेमहीसे स्वच्छ होता चित्त है,
प्रेम ही तो काम करता क्षेम[1]के॥

(३)

प्रेमके कारण त्रिलोकीनाथ भी—
लात[2] खाते एक अपने वक्षपर।
प्रेमहीके फन्दमें फँस कर भला—
शम्भु रहते अर्द्ध[3] अपना अङ्ग कर॥

(४)

पद्मिनीके प्रेममें जकड़े हुए—
पद्मिनी-नायक उदित होते सदा।
कुमुदिनीपर डालते हैं प्रेमसे—
कुमुदिनी-नायक विशद[4] निज-सम्पदा॥

(५)

मेघ-मालाको गगनमें देखकर—
मुदित होता प्रेमसे है मौर-मन।
चित्तमें आह्लाद पाते हैं सदा,
चन्द्रमाको देख चारु-चकोर-गण॥

(६)

दिव्य-दिनकर-कर-निकरका स्पर्श कर
खिल उठेगी क्यों नहीं कलिकावली?
और उसको देखकर खिलती हुई—
गीत गावेगी न क्यों भृङ्गावली?

(७)

प्रेम पशुओंमें दिखाई दे रहा,
पक्षियोंमें भी यही है दृष्टि-गत।
मानवोंको चाहिए बस इसलिये—
सर्वदा रहना सुपावन-प्रेम-रत॥

(८)

प्रेमकी महिमा कहाँतक हम कहें
देव भी पाते न इसके पारको।
सत्य, अपने प्रेमियोंसे, 'और' है
प्रेमहीसे प्रेम जगदाधारको॥

(९)

आदि-शिक्षक प्रेमके परमेश हैं
प्रेम करना प्रथम उनका काम है।
देहधारी प्रेम वे ही एक हैं
प्रेममय-प्रेमी उन्हींका नाम है॥

(१०)

वश्य रह सकता न कोई सर्वदा—
बुद्धिके, बलके, विभवके, हेम[5]के।
किन्तु बन्धनमें सभी रहते बँधे—
एक सच्चे और पावन-प्रेमके॥

कुमार प्रतापनारायण

---

१ कल्याण। २ भृगुजीसे लात खाना। ३ शिवजीके आधे शरीरमें पार्वतीजीका निवास है। ४ चाँदनी। ५ सोना; धन-दौलत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

कलकत्तेके अन्यान्य सज्जनोंका समागम

श्रीरामकृष्ण अपने भक्तोंके साथ बातचीत करते हुए कह रहे हैं कि 'लोग बात तो परम ज्ञानकी करते हैं, परन्तु तुच्छ नाशवान् पदार्थोंकी आसक्ति नहीं छोड़ते। जबतक थोड़ी-सी भी विषयासक्ति रहेगी तबतक भगवान्का साक्षात्कार असम्भव है। सूतमें तूस रहते वह सूईके छेदमेंसे नहीं निकल सकता। मनुष्य जितना ही भगवान्के समीप पहुँचता जाता है उतना ही उसे शान्ति-सुख मिलता है। गंगाके निकट पहुँचनेसे शीतलता प्रतीत होती है, गंगा-जलमें स्नान करनेसे और भी अधिक शीतलता और प्रसन्नताका अनुभव होता है।' फिर दूसरी बार ठाकुर कहने लगे कि 'मैं देख रहा हूँ वही परात्पर ब्रह्म नानारूपोंमें क्रीड़ा कर रहे हैं, वही धर्मात्माके रूपमें लीला कर रहे हैं और वही ढोंगी एवं पापीका स्वांग बनाकर संसारमें विचर रहे हैं। इसीलिये मैं कहता हूँ कि नारायण ही धर्मात्मा हैं, नारायण ही ढोंगी हैं, नारायण ही पापी और विषयी हैं। परन्तु यह भाव ब्रह्म-साक्षात्कारके बादका है। पहले तो विवेकद्वारा चित्तमें जगत्के मिथ्यापनका निश्चय करके वैराग्य उत्पन्न करना होगा। विवेक और वैराग्यमें चित्त स्थिर हो जानेपर संसार असत्य जान पड़ता है। वैराग्यसे विषयासक्तिका अत्यन्त नाश होनेपर ही ब्रह्म-साक्षात्कार होता है तदुपरान्त यह स्पष्ट भान होने लगता है कि वही ब्रह्म अनेक रूपोंसे जगत्में लीला कर रहे हैं। वही माया हैं और वही जगत्रूप हैं। उनसे भिन्न और कुछ नहीं है। तब ब्रह्म और मायाका भेद दूर हो जाता है।'

एक बार एक सज्जनसे, जो अपने कुटुम्बियोंकी इच्छाके विपरीत भी ठाकुरके पास कभी-कभी आते थे, ठाकुर कहने लगे कि 'कामिनी और काञ्चनसे सदा मन हटाये रखना, यदि इनके फन्देमें फँस जाओगे तो फिर छुटकारा पाना महाकठिन हो जायगा, इसलिये कभी-कभी यहाँ आया करो।' इसपर उन्होंने कहा कि 'महाराज! मेरे परिवारके लोग मुझे यहाँ आनेसे रोका करते हैं, मैं क्या करूँ?' ठाकुरने कहा—'यदि माता-पिता सत्संगमें जानेसे रोकें तो वे एक तरहसे शत्रु हैं, ऐसे सम्बन्धियोंकी आज्ञा नहीं माननेसे पाप नहीं होता। भरतने रामके प्रेममें विघ्न डालनेसे माताका तिरस्कार कर दिया था, गोपियोंने अपने पतियोंकी आज्ञाका उल्लंघन कर भगवान् श्रीकृष्णसे मिलना नहीं छोड़ा, तथा प्रह्लादने पिताकी और बलिने गुरुकी आज्ञा नहीं मानी थी। यदि अपना कोई कुटुम्बी भगवत्-प्राप्तिके पथमें बाधक हो तो उसकी बात न माननेमें पाप नहीं लगता।*

एक समय ठाकुर दक्षिणेश्वरमें अकेले टहल रहे थे कि अचानक समाधि-मग्न हो गये। उस समय कोई सहारा देनेवाला न होनेके कारण वह गिर पड़े, जिससे उनके बायें हाथकी हड्डी टूट गयी। चिकित्साका प्रबन्ध किया गया, परन्तु चोट सख्त होनेके कारण पीड़ा बहुत होती थी, तथापि वह पीड़ाकी परवा न करके कभी-कभी समाधिस्थ हो

* गोसाईं तुलसीदासजीने यही कहा था—

पिता तज्यो प्रहलाद बिभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रज-बनितनि भये जग-मंगलकारी॥
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँख जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते थे और शरीरकी सुध भूल जाते थे। इसी अवस्थामें एक दिन ठाकुर भक्तोंके साथ तख्तपर बैठे थे कि महेन्द्र उनके पास आये, और उन्हें प्रणाम करके बैठ गये। श्रीरामकृष्ण जगन्माताको सम्बोधन कर कहने लगे कि 'मैं यन्त्र हूँ, तू यन्त्री है फिर भी यह घटना क्यों हुई? हे दयामयि! तूने मेरी बाँह क्यों तोड़ दी? बहुत पीड़ा हो रही है।' फिर कहने लगे 'ॐ ॐ ॐ माँ! क्या मैं बोल रहा हूँ। ब्रह्मज्ञान देकर माँ! मेरा बाह्यज्ञान मत छीन। क्या मैं तेरा बच्चा नहीं हूँ? ब्रह्मज्ञानको मैं दूरसे ही नमस्कार करता हूँ, यह उसीको दे जो इसकी चाह करता हो।' हे आनन्दमयी माँ! हे आनन्दमयी माँ! कहते-कहते वे रोने लगे। फिर कहने लगे 'माँ! क्या मैंने कुछ अनुचित काम किया था, मैं जो कुछ भी करता हूँ, तू ही तो सब कराती है। मैं तो यन्त्र हूँ तू यन्त्री है।' तत्पश्चात् वे बालकके समान मुसकराते हुए मन-मानी बातें कहने लगे और बच्चोंकी तरह खेलने लगे। एक उपस्थित सज्जनसे उन्होंने कहा कि 'यदि ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं किया तो कुछ भी नहीं किया। ईश्वर-प्राप्तिकी महान् कामना होनी चाहिये। भगवान् ही हमारे पिता हैं, वही माता हैं। हम उनसे हठ करके कह सकते हैं कि मुझे दर्शन दो, नहीं तो मैं आत्मघात करता हूँ। मैं तो माँसे कहा करता था कि 'माँ! मुझे दर्शन देना होगा, तू पतितोंकी ईश्वरी है, सारे जगतकी माँ है। क्या मैं जगत्से बाहर हूँ। मुझमें न ज्ञान है, न भक्ति है, और न कोई साधन ही मुझसे बन पड़ता है। मैं कुछ नहीं जानता। हे दयामयि! अपनी असीम कृपासे मेरे पास आकर मुझे दर्शन दे।'

कुछ लोग शिवपुरसे आये तो ठाकुर उनसे कहने लगे कि:—'पहले भगवान्को प्राप्त करो, उनसे सुबह-शाम हार्दिक प्रार्थना करो। जबतक मनुष्य संसारके विषयोंमें ही आसक्त है तबतक उसे भगवत्प्राप्तिकी इच्छा ही नहीं होती।' इतनेमें उनके बाँहकी पट्टी बाँधनेके लिये डाक्टर मधुसूदन आ गये, ठाकुर उनसे कहने लगे कि 'इसलोक और परलोकमें मधुसूदन ही शरण्य हैं।'

डाक्टर—मैं तो केवल नामका ही भार ढो रहा हूँ।

ठाकुर—तुम्हें नामको तुच्छ न समझना चाहिये। नाम और नामीमें भेद नहीं। सत्यभामा भगवान् श्रीकृष्णको तराजूमें तौलने लगी। एक पलड़ेमें श्रीकृष्णको और दूसरेमें मणियोंके ढेर रक्खे, परन्तु भगवान्का पलड़ा भारी ही रहा। फिर जब रुक्मिणीने मणियोंके स्थानमें तुलसीका एक पत्ता ही रक्खा तो दोनों पलड़े बराबर हो गये। यदि तुम भगवान्की अहैतुकी भक्ति कर सकते हो तो वही सब कुछ है। भगवन्! मुझे मुक्ति भी नहीं चाहिये। नाम, ऐश्वर्य और आरोग्यता भी नहीं चाहिये, मैं तो केवल तुम्हें ही चाहता हूँ। प्रह्लादकी ऐसी ही भक्ति थी।'

ठाकुरका हाथ कई महीनोंमें अच्छा हुआ था।

एक समय ठाकुर ब्राह्मसमाजमें गये, वहाँ और लोगोंके साथ एक सबजज भी बैठे थे, जिनसे इस तरह बातचीत होने लगी।

सबजज—हमलोग गृहस्थ हैं, हमलोगोंको गृहस्थ-धर्म कबतक पालना चाहिये?

ठाकुर—तुम्हें अपनी सन्तानका यथायोग्य पालन-पोषण करना चाहिये। अपनी स्त्रीका पालन-पोषण करो और गृहस्थ-त्यागसे पहले उसके शरीर-निर्वाहका यथोचित प्रबन्ध कर दो। यदि ऐसा न करोगे तो तुम दयाहीन हो। जिसमें दया नहीं, वह मनुष्य कहलानेके योग्य नहीं।

सबजज—हमें गृहस्थीका पालन कबतक करना उचित है?

ठाकुर—जबतक पुत्र गृहस्थीका भार सँभालनेके योग्य न हो जाय।

सबजज—अपनी भार्याके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठाकुर–अपने जीवनमें उसे योग्य धार्मिक शिक्षा देनी चाहिये और उसका यथार्थ पालन-पोषण करना चाहिये। यदि वह पतिव्रता है तो अपनी मृत्युके पीछे उसके शरीर-निर्वाहका यथोचित प्रबन्ध करना पतिका धर्म है। परन्तु यदि पुरुष भगवत्प्राप्तिके लिये उन्मत्त हो जाय तो सारे धर्म और नियम क्षीण हो जाते हैं। उस अवस्थामें भगवान् ही उसके कुटुम्बका पालन करते हैं। जब कोई धनी नाबालिग् सन्तान छोड़ मरता है तो Court of Wards उसका प्रबन्ध करती है।

सबजज–महाशय ! क्या गृहस्थमें रहकर मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है ?

ठाकुर–अवश्य ! गृहस्थको तत्त्व-ज्ञान हो सकता है और वह ईश्वर-दर्शन भी कर सकता है। जब भगवान्का नाम लेने और सुननेमात्रसे ही रोमाञ्च हो जाय और आँखोंमें सच्चे प्रेमके आँसू बहने लगें, तो समझना चाहिये कि कामिनी-काञ्चनमें आसक्ति नहीं रही और ईश्वरका अनुभव हो गया है। दियासलाई सूखी होती है तो थोड़ी-सी ही रगड़से जल जाती है। गीली सलाईको कितना ही रगड़ो, वह न जलेगी।

एक भक्त–महाराज ! यदि किसीने अपने जीवनमें तो ईश्वरका चिन्तन बहुत किया हो परन्तु मरते समय वह भगवत्स्मरण न कर सके तो क्या उसका पुनर्जन्म होगा ?

ठाकुर–मनुष्य ईश्वर-चिन्तन तो करते हैं, परन्तु उनमें पूर्ण विश्वास और श्रद्धा नहीं होती। वह भगवान्को भूल जाते हैं और उनकी विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। जैसे हाथी स्नानके पश्चात् फिर शरीरको धूलसे भर लेता है, ऐसा ही मनका भी स्वभाव है। परन्तु यदि हाथीको स्नानके बाद जञ्जीरसे बाँध दिया जाय तो वह धूल फेंकनेमें असमर्थ हो जाता है। इसी तरह यदि मनुष्य मृत्यु-समय भगवान्का चिन्तन करे तो उसका मन शुद्ध हो जाता है फिर उसे कामिनी-काञ्चनमें लिप्त होनेका मौका ही नहीं मिलता।

इस वार्तालापके बाद ठाकुर दक्षिणेश्वर चले गये।

एक दिन नन्दनबागानके ब्राह्मसमाजने ठाकुरको निमन्त्रण दिया। ठाकुर राखाल, महेन्द्रप्रभृति शिष्यों सहित वहाँ पधारे। एक ब्राह्म सदस्यने ठाकुरसे प्रश्न किया कि 'भगवन् ! मानसिक विकारोंके वेगको रोकनेका क्या उपाय है ?'

ठाकुर–मनके सारे वेगोंको भगवान्की ओर लगा दो अर्थात् कामके वेगको परमात्माके मिलनेकी तीव्र कामनामें लीन कर दो, क्रोध उनपर करो, जो भगवान्की प्राप्तिमें बाधक हों। लोभ परमेश्वरके दर्शनका ही रक्खो, मोह भी उन्हींसे करो और 'मम' शब्दको अन्तर्यामी परमेश्वरमें ही जोड़ दो- जैसे 'मेरे कृष्ण,' 'मेरे राम'। यदि गर्व और अभिमान हो तो विभीषणकी भाँति गर्व करो कि यह मस्तक जब श्रीरामके सामने झुका है तो अब दूसरोंके आगे नहीं झुकेगा।

एक सज्जन–यदि वही सब कुछ हमसे कराते हैं तो फिर हम पाप-कर्मके जिम्मेवार कैसे होते हैं?

ठाकुर–दुर्योधनने भी ऐसा ही कहा था कि 'हे कृष्ण ! तुम ही हृदयमें विराजमान हो जैसा कराते हो वैसा ही करता हूँ।' जो निष्कपटभावसे समझता है कि कर्त्ता परमात्मा ही हैं, मैं नहीं हूँ, तो फिर उससे कभी पाप-कर्म हो ही नहीं सकते। निपुण नर्तकी कभी ग़लत पाँव नहीं उठायगी। जबतक हृदय नितान्त पवित्र नहीं हो जाता, तबतक भगवान्के अस्तित्वमें विश्वास ही नहीं होता।

गिरीशचन्द्र घोष

गिरीशचन्द्र घोष बंगलाके प्रसिद्ध नाट्यकार हो गये हैं। वह कुसंगके कारण बीचमें बहुत ही विषयी और पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे बड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देहात्मवादी हो गये थे। उन्हें पाश्चात्य सभ्यतासे बड़ा प्रेम था, परन्तु उस सभ्यताके अच्छे गुण ग्रहण न कर मनचले नवयुवकोंकी भाँति उन्होंने उसके मदिरापान आदि दुर्गुण ही अपने जीवनमें धारण कर लिये थे। इधर भारतीय सभ्यता तथा धर्मसे गिरीश बाबूको घृणा हो गयी थी। धर्मशिक्षक तथा धर्मके रक्षक कहलानेवाले मनुष्योंके ढोंग और कपट-व्यवहारने गिरीशबाबूके मनको इधरसे हटा दिया था। इसलिये घोर नास्तिकताकी ओर रुचि बढ़नेसे वे भाँति-भाँतिके विषयोंमें रत हो गये थे। इस अवस्थामें चौदह साल बीतनेपर समयने पलटा खाया और कुछ ऐसे कारण उपस्थित हुए कि जिनसे गिरीश बाबूको अनेक दुःखों और कष्टोंका सामना करना पड़ा। यह देखा जाता है कि दुःख और आपत्तियाँ मनुष्यके जीवनमें बड़ा उपकार करती हैं। बहुत-से मनुष्य भीषण दुःखोंके आघातसे ही जीवनको उच्च बनानेमें समर्थ हुए हैं। यही दशा गिरीशकी हुई। उन्होंने सुन रक्खा था कि तारकेश्वरमें भगवान् शिव आर्त्त मनुष्योंके संकट नाश कर देते हैं और जो दुखी जीव वहाँ धरना देकर उनकी शरणमें जा पड़ते हैं उनकी मनोकामना पूर्ण हो जाती है। इस हेतुसे वह भी शंकर भगवान्की शरणमें गये और प्रारब्ध-वश उनके कष्टोंका भी अन्त हो गया। इससे गिरीश-की भगवान्में कुछ श्रद्धा हो गयी। यह भी सुना गया कि बिना गुरु किये भगवान्को प्राप्त करना असम्भव है। समाचारपत्रोंमें उन्होंने पढ़ा था कि दक्षिणेश्वरमें एक परमहंस रहते हैं और केशवचन्द्र सेन एवं उनके अनुयायी उनसे मिलने वहाँ जाया करते हैं। उन्होंने समझा कि उन महात्मामें अवश्य ही कुछ विशेष गुण होंगे, जिनसे केशव बाबू-सरीखे विख्यात विद्वान् भी आकर्षित हो रहे हैं। एक दिन उन्होंने सुना कि पड़ोसहीमें एक सज्जनके घर परमहंसजी आये हुए हैं, उनके दर्शनकी इच्छासे वह भी वहाँ गये। श्रीरामकृष्ण भक्त-मण्डलीमें अर्द्ध-बाह्यज्ञान-अवस्थामें बैठे हुए थे, सन्ध्याका समय था, दीपक जल चुके थे, परन्तु उस अवस्थामें उन्हें अन्धेरे-उजालेका भान न था। ठाकुरने पूछा कि 'क्या सन्ध्या हो गयी है?' गिरीश बाबूको उनका यह प्रश्न ढोंग-सा जान पड़ा। इसलिये वह श्रद्धारहित-चित्तसे उठकर वहाँसे चल दिये। कई वर्षों बाद गिरीश बाबूके स्टार थियेटरमें एक रात चैतन्यलीलाका नाटक होनेवाला था, श्रीरामकृष्णकी इच्छा भी नाटक देखनेकी हुई। वह शिष्यों सहित वहाँ गये। भीतर जाकर ठाकुरने गिरीश बाबूको प्रणाम किया। गिरीशने उन्हें थियेटरके एक बक्समें बिठला दिया और एक नौकरको पंखा करनेके लिये नियुक्त कर कुछ अस्वस्थ होनेके कारण स्वयं घर चले गये।

किसी दूसरे दिन ठाकुर फिर नाटक देखने गये। गिरीशने उन्हें भीतर बिठला दिया और आप भी पास कुर्सीपर बैठ गये। परमहंसजीने कहा कि 'तुम्हारे अन्दर कई बुरी वासनाएँ हैं।' गिरीश जानते थे कि उनका मन विषयोंमें बहुत लम्पट है, इस कारण उन्होंने कहा कि 'महाशय! यह वासनाएँ कैसे नष्ट होंगी?' ठाकुरने कहा कि 'ईश्वरमें विश्वास करो।' फिर जब उन्होंने पूछा कि 'क्या मेरी बुरी वासनाएँ नष्ट हो जायँगी' तो ठाकुरने कहा कि 'अवश्य नष्ट होंगी।' एक दिन उन्होंने ठाकुरसे पूछा कि 'भगवन्! क्या मैं यही काम (नाटक) करता रहूँ।' ठाकुरने कहा कि 'किये जाओ।' ठाकुरको पूर्ण विश्वास था कि गिरीशकी समस्त दुष्ट वासनाएँ शुभ वासना-ओंमें पलट जायँगी क्योंकि गिरीशमें श्रद्धा अद्भुत थी, उनका हृदय कोमल, श्रद्धालु और सरल था। सबसे ज्यादा प्रबल दोष उनमें मदिरापानका था, जिससे वह प्रायः मदोन्मत्त हो जाया करते थे। एक दिन गिरीशने नशेमें ठाकुरको बहुतसे कुवाक्य कहे, उस दिन ठाकुर बिना ही कुछ कहे वहाँसे उठकर चले गये। अगले दिन ठाकुर दोपहरके समय ही तेज धूपमें गाड़ीमें बैठ गिरीशके घरपर गये। गिरीश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े दुःख और पश्चात्तापमें डूब रहे थे कि इतनेहीमें श्रीरामकृष्ण वहाँ जा पहुँचे। इतनी चिन्तामें देखकर उन्होंने गिरीशको शान्त किया। उस दिनसे गिरीशने अपने आपको एकदम ठाकुरके चरणोंमें समर्पण कर दिया। एक सज्जनने एक दिन ठाकुरसे कहा कि 'महाशय! गिरीशको मदिरापान करनेसे रोको।' ठाकुरने कहा कि 'जिसने उसका भार अपने ऊपर लिया है वही उसे सँभालेगा, तुम क्यों चिन्ता करते हो?' ठाकुर जानते थे कि केवल शब्दोंसे उसकी वासनाएँ नष्ट न होंगी। ठाकुरके प्रेमभावके बलसे उनकी पाप-वृत्ति धीरे-धीरे नष्ट होने लगी।

एक दिन गिरीशने एक वेश्याके घर जाकर इतना शराब पिया कि रातभर वहीं बेसुध पड़े रहे। सबेरे होश आनेपर वह बहुत पछताने लगे और सीधे वहाँसे चलकर दक्षिणेश्वरमें ठाकुरके चरण पकड़कर रोने लगे। ठाकुरने पास बैठे हुए एक व्यक्तिसे कहा कि 'गाड़ीमेंसे गिरीशकी शराबकी बोतल, जूते और चादर उठा ला।' जब गिरीश कुछ शान्त हुए तो उन्हें फिर शराब पीनेकी इच्छा होने लगी। ठाकुरने बोतल उनके सामने रख दी। गिरीश वहीं सबके सामने पीने लगे, परन्तु ऐसा करके वह बहुत लज्जित हुए। ठाकुरने कहा कि 'जितनी पी सकते हो पी लो, थोड़े ही दिनोंमें तुम्हारी यह लत छूट जायगी।' इस घटनाके बाद गिरीशकी यह आदत छूट ही गयी।

एक दिन ठाकुरने गिरीशसे कहा कि 'और सब काम करते हुए सुबह और शाम भगवत्स्मरण भी किया करो।' इसपर वह बोले कि 'मैं इस बातका प्रण नहीं कर सकता, क्योंकि मुझे कामोंसे फुरसत ही नहीं मिलती, यहाँतक कि प्रायः खाने-सोनेका भी समय नियत नहीं रहता, फिर मैं भगवत्-चिन्तनका वचन कैसे दे सकता हूँ?' ठाकुरने कहा कि 'अच्छा, भोजन और शयनके समय ही ईश्वर-चिन्तन कर लिया करो।' यह भी गिरीश स्वीकार न कर सके, क्योंकि वह नियमबद्ध होनेसे सदैव घृणा किया करते थे। ठाकुरने जब देखा कि वह किसी बातका भी प्रण नहीं कर सकते तो कहा 'अच्छा तुम मुझे आममुख़तारी (Power of attorney) दे दो, अबसे तुम्हारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेता हूँ, तुम्हें कुछ करनेकी जरूरत नहीं।' यह सुनकर गिरीशको बड़ा सन्तोष हुआ। मानो बहुत बड़ा भार सिरपरसे उतर गया। ठाकुरकी इस असीम अहैतुकी दयाको देख वह अपने-आपको उनके चरणोंमें समर्पण कर निश्चिन्त हो गये। ठाकुर भी गिरीशको आत्म-समर्पणभावकी शिक्षा देने लगे। एक दिन गिरीशने किसी बातपर कहा कि 'मैं अमुक काम कर लूँगा' इसपर ठाकुरने कहा कि 'ऐसा मत कहो, शायद वह काम तुमसे न बन पड़े। तुम्हें कहना चाहिये कि ईश्वर चाहेंगे तो मैं वह काम कर लूँगा।' तबसे गिरीशने सब काम भगवान्‌को सौंप दिये और उनका आधारमात्र बनकर जीवनयात्रा करने लगे, जिससे उनकी सारी दुष्ट प्रवृत्तियाँ क्रमशः नष्ट हो गयीं।

(क्रमशः)

अनन्त-दर्शन

देख रहा है खड़ा खड़ा क्या, तू अनन्तकी ओर,
किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बना-सा, हो आश्चर्यविभोर?
जिनका करना था आवाहन, नित कर करके ध्यान,
वे ही सन्मुख खड़े हुए हैं, ये अनन्त भगवान॥

बढ़कर उन अनन्त चरणोंको, कर ले अरे प्रणाम,
मिलें ना मिलें फिर पीछे ये, तुझे मोक्षके धाम।
सबको तज केवल अब इनसे, अपना नाता जोड़,
देख पकड़ अब इन्हें न देना, तू हाथोंसे छोड़॥

देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर' बी० ए०, एल-एल० बी०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्चा आवाहन

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल)

वास्तविक प्रयोजन होनेपर केवल देशके लिये ही क्यों, किसी भी प्राप्त कर्तव्यके आह्वानको स्वीकार कर अपनेको उसके प्रति समर्पण कर देनेके लिये तैयार रहना चाहिये। चित्तकी ऐसी अवस्था होजानी चाहिये कि बाहरका कोई उत्साह या किसी प्रकारका बाह्य आन्दोलन न होनेपर भी मन सत्यके आह्वानको स्वीकार कर सके।

आवश्यक कर्तव्य प्राप्त होनेपर सुत-वित-प्रिय-परिजन।
देह गेह अरु तत्सम्बन्धी ममताके सारे बन्धन॥
धर्म हेतु इन सबका क्षोभरहित हो करना होगा त्याग।
मरण वरण करना होगा निश्चिन्त अकेले सह-अनुराग॥

यही मनुष्यत्वका लक्ष्य है। इसी सिद्धिकी प्राप्तिके लिये सारे साधन हैं। सच्चा आह्वान आया है या नहीं एवं अन्तःकरणने उसका उत्तर दिया या नहीं,इसका निश्चित प्रमाण यही है कि जब चित्त किसी उत्तेजनाके वश होकर नहीं, किन्तु यथार्थ सत्यके आघातसे मृत्युको भी आलिंगन कर लेता है, पर इसके लिये न तो उसमें कोई क्षोभ उत्पन्न होता है, एवं न संसारका कोई भी बन्धन उसके मार्गमें रुकावट ही डाल सकता है। यह मिलनका—आनन्दका ऐसा महावेग होता है कि चारों ओरके अन्यान्य बन्धन,चाहे वे कितने ही दृढ़ हों,इस मिलनके प्रवाहकी गतिको नहीं रोक सकते। उस समय मुक्तिका मलय-मारुत उसके चारों ओर मृदुल हिल्लोलमें प्रवाहित होने लगता है। इसीसे उसके प्राणकी सारी व्यथाओंका आत्यन्तिक अन्त हो जाता है। फिर वासनाका बन्धन नहीं रह जाता। इसलिये वह फिर किसीसे भी भय नहीं करता। उसे यदि इस आनन्दका स्वाद नहीं मिला होता तो उसकी गति समुद्रकी ओर प्रवाहित सरिताके समान सब दिशाओंको प्लावित कर इस प्रकार नहीं फूट निकलती।

मातृभूमिके आह्वान आदिके ऊपर मेरा उतना अधिक विश्वास नहीं है। ये तो अधिकांशमें मनुष्यकी कल्पनाएँ हैं। इसीलिये हमलोग कभी-कभी दल बटोर-कर इन कल्पनाओंके लिये अपने हृदयका जो आवेग प्रदर्शित करते हैं वह प्रायः साराका सारा ही बाह्य होता है। मनुष्यके अपने अन्दर जब कभी आत्माका जो आह्वान जग उठता है, वही सत्य और स्वाभाविक है और उसीपर मेरा विश्वास है। ऐसे आह्वानमें कल्पनाका या स्वार्थका मिश्रण नहीं होता। यह एक-बारगी आत्माकी निखालिस पुकार होती है, जिसे सुनते ही सारी इन्द्रियाँ एक ही साथ उसे स्वीकार करनेको तैयार हो जाती हैं। मानव-समाजमें इस प्रकारके आत्माके आह्वानको जिस समय अधिक लोग सुन पाते हैं, तभी देशके अन्दर धर्म, नीति, तेज, सत्य, ज्ञान और भक्ति आदि सद्भाव जाग उठते हैं। किसी व्यक्तिविशेषमें भी जिस समय मनुष्यत्वकी प्राप्तिकी सच्ची उत्कण्ठा जाग उठती है, उस समय भाद्रमासकी भरी नदीके अनन्त सिन्धुकी ओर अभिसारकी भाँति आनन्दके प्रचण्ड कम्पनसे उसकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठती हैं, उस समय न तो वह लोगोंके मुखकी ओर देखकर कुछ करता है और न सैकड़ों विधि-निषेधकी बातोंकी ओर ही अपने कान लगाता है। वह तो सत्यकी पुकार सुन चुका है, एवं उसके हृदयने उसे स्वीकार कर लिया है। ऐसे मौकेपर इन्द्रियोंकी और विषय-सुखकी उत्तेजना नहीं होती, परन्तु आत्माकी अनन्त प्रेमारुण-किरणोंसे बुद्धिका अजस्र आनन्द प्रकम्पित होने लगता है। वहाँ शत्रु, मित्र, द्वेष्य या आत्मीय-स्वजनका स्मरण नहीं रहता, वहाँ तो केवल परमात्माके प्रेम-स्पर्शसे त्यागकी बाढ़ आ जाती है जो उसके सब किनारोंको बहा ले जाती है। यह पुकार एक दिन बुद्धदेवने सुनी थी, शङ्करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुनी थी, ईसाने सुनी थी और सुनी थी चैतन्यने। इसीलिये वे अपनी आत्माके आह्वानमें स्वयं जग उठे थे और दूसरे लोगोंको भी जगा सके थे। अपने सर्वस्वको उसके चरणोंमें अर्पण कर अकिञ्चन बन जगत्में उन्होंने भिक्षु या परमहंस-पदवीको प्राप्त किया था।

जगद्गुरु श्रीकृष्णसे हमने जो महामन्त्र प्राप्त किया है, उसमें स्वार्थ या निजेन्द्रिय-तृप्तिको स्थान नहीं है, अतः लौकिक उत्तेजनाकी भी आवश्यकता नहीं है। इन भावोंमें अपने हृदयको जो मनुष्य जितना तैयार कर सका है वह उतना ही प्रभुकी ओर अग्रसर हो गया है। यह साधना पूर्ण नहीं होनेपर भी कुछ अंशमें ठीक हो चली है, इसको परखनेकी कसौटी यही है कि अतीत, अनागत तथा उपस्थित किसी भी दुःखके भारसे उसका चित्त दुखी नहीं होता, एवं कोई भी भय या आशङ्का उसके मनमें स्थान नहीं पा सकती। असत्—मिथ्यासे ही तो भय और आशङ्काकी उत्पत्ति होती है। जिसने सत्यका मुख देख लिया है, वह 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।' किसीसे क्यों डरेगा ? वह जगत्के लाभालाभकी ओर क्यों दृष्टिपात करने लगा। ? वह तो उसके चरणकमलोंमें अपने मन, प्राण और बुद्धिको समर्पण कर सभी अवस्थाओंको सानन्द वरण करनेका सामर्थ्य पा चुका है। चित्तकी ऐसी अवस्था जबतक नहीं होती, तबतक साधन करो, तप करो, गुप्तरूपसे अपनेको तैयार करते रहो और अपने अन्दर जो वेग दीख पड़ा है, उसे धारण करनेकी चेष्टा करो।

लोग कर रहे हैं, इसीसे हमें भी वही काम करना होगा—यह कोई अच्छी दलील नहीं है। यह तो केवल चित्तका आवेग या मनका विलासमात्र है। केवल इस मनके आवेगपर ही निर्भर कर कुछ भी कर बैठना न तो कर्तव्य है और न धर्म ही है। जेल जाना या फाँसी लटक जाना ही तो जीवनका एकमात्र लक्ष्य नहीं है। जीवनका लक्ष्य तो वह (भगवान्) हैं—उनके लिये हमें यदि फाँसीपर लटकना पड़े तो अवश्य लटकना चाहिये। मनकी इस-प्रकारकी स्थितिकी ओर लक्ष्य रखकर ही जीवनके कर्तव्योंका निरूपण करना कर्तव्य है, इसी लक्ष्यकी ओर दृष्टि रखकर चलते रहनेसे हृदयमें शुद्ध बुद्धिका आविर्भाव होता है एवं उस शुद्ध बुद्धिकी प्रेरणाके अनुसार कार्य करनेसे ही जीवन सार्थक होता है। केवल देशके लिये ही कष्ट सहनेसे उद्देश्य सफल नहीं होगा। संसारके अनन्त कर्तव्य-कर्मोंको जो अकुण्ठित चित्तसे किये चले जाते हैं एवं भगवान्की भक्ति करना सीखकर उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर सकते हैं, उनमें देशानुभूति जाग्रत न होनेपर भी कोई हानि नहीं। केवल देशके रूपमें ही भगवान्को देखनेकी अभिलाषा उनकी पूर्णरूपसे प्राप्तिकी अभिलाषा नहीं है। देशके कल्याणके लिये जो लोग अपार कष्ट भोग रहे हैं, वे निःसन्देह त्यागी और तपस्वी हैं, परन्तु उनसे बढ़कर श्रेष्ठ त्यागी वे हैं जो लोकदृष्टिसे दूर रहकर, मान और यशकी इच्छा न रख, लौकिक स्वार्थमूलक उत्तेजनाकी अपेक्षा न कर केवल कर्तव्य और धर्मबुद्धिसे एकमात्र वासुदेवके ही प्रीत्यर्थ संसारके अनन्त कर्तव्योंका अतन्द्रित और संयत-चित्तसे साधन कर रहे हैं, उन्हींकी तपस्या और उन्हींका त्याग यथार्थ तपस्या और त्याग है। एवं वह निश्चय ही उस महा-महेश्वरके चरणप्रान्तमें जा पहुँचता है और भक्तके भगवान् भक्तकी इस त्यागाञ्जलिको बड़े आदरके साथ ग्रहण करते हैं। किन्तु जो देश-प्रेम दूसरोंके प्रति हृदयको अत्याचारसे उत्तेजित करता है, मनुष्यको अनेक अशुभ कर्मोंमें लगाता है केवल स्वदेशके कल्याणके लिये जगत्के जीवोंकी उपेक्षा वा उनसे द्वेष कराता है उस स्वदेश-प्रेमका मूल्य लोकदृष्टिमें कितना ही अधिक क्यों न हो, वह भगवत्-प्रेमके अन्तर्गत नहीं है, प्रत्युत विरुद्ध है। स्वदेश और स्वदेशवासियोंके प्रति होनेवाला प्रेम यदि विश्वप्रेमका बाधक हो तो उसके भी विरुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खड़े होना पड़ेगा। यही धर्मका गूढ़ रहस्य है। जो स्वदेशप्रेम अन्धता और स्वार्थपरताका नामान्तर-मात्र है उसके सेवनसे कदापि कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जीव-प्रेम, भगवद्भक्ति और सत्य-की उपासना–इन तीनोंपर लक्ष्य रखकर ही समस्त कर्तव्य-कर्म करने होंगे। इन तीन परम धर्मोंके पालन करनेमें यदि सर्वस्व नष्ट होता हो, प्राण जाते हों, स्त्री-पुत्र, स्वजन-बान्धव आदि सबका त्याग करना पड़ता हो तो उसे परम प्रसन्नतासे स्वीकार कर लेना चाहिये। इन तीनोंके सामने संसारमें और कछ भी प्राप्त या वरण करने योग्य नहीं है।

पाश्चात्य सभ्यता और तदनुकूल शिक्षा-दीक्षा-के फलस्वरूप पाश्चात्य देशवासी स्वदेश और स्वजनोंकी हितकामनाके नामपर जिस प्रकार अनुदार स्वार्थयुक्त कार्य करते हैं, एवं जिस प्रकार अन्याय और अधर्मको आश्रय देते हैं, हमें उस महाभ्रममें कभी नहीं फँसना चाहिये। इसप्रकारकी नीति आत्मदर्शनके अनुकूल नहीं है, अतएव उससे विश्वहित नहीं हो सकता और जिसमें विश्वहित नहीं, वह कदापि यथार्थ कल्याण नहीं है, वह वासुदेवकी वास्तविक पूजा कदापि नहीं समझी जा सकती !

अनन्त-रागिनी

(१)

किस अनन्तकी अन्तर्ध्वनिसे
विश्व-तन्त्रि नादित है आज ?
किस रहस्यमय स्वर-लहरीपर
बहा जा रहा जीवन-साज ?

(२)

निर्झरकी असंख्य धारा-सी
प्लावित करती सब संसार।
तरुण उषाकी किरणावलि-सी
जगा रही है जगका प्यार ॥

(३)

अहो ! कौन-सा रागी है यह
स्वर्ण रागिनीका उद्घोष ?
झूम झूम कर लुटा रहा है
मधुर रागका अक्षय कोष ॥

(४)

कौन भला मेरे जीवनसे
खेल रहा है अनुपम खेल ?
शान्त हृदयके अन्तस्तलमें
मचा रहा अभिनव रँगरेल ॥

(५)

किसी विश्व-वीणा-वाहीका
अद्भुत है यह स्वर प्रस्तार।
मधुमय गायनके प्रदेशमें
करता निर्भय ललित विहार ॥

(६)

मधुर तन्त्रि-वादनसे सहसा
सुप्त हृदय कलिकाको खोल।
ढाल रहा है कर-पल्लवसे
मादकमय जीवनको घोल ॥

(७)

उत्कण्ठा-प्रसून सम जीवन
पहन रागमय कोमल जाल।
खिले कमल-सा नाच रहा है
थिरक-थिरक दे कर मृदु ताल ॥

(८)

छेड़े जावो रागी ऐसी
बाधा रहित स्वर्गकी तान।
निखिल विश्वके हृदय-देशमें
बस जा उस अनन्तका गान ॥

सत्याचरण 'सत्य' बी० ए०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवन्नामाधार

(लेखिका—बहिन जयदेवीजी)

भजनलाल था तो अभी दस-ग्यारह वर्षका ही, परन्तु बुद्धिका पैना था। उसकी ननिहाल एक ग्राममें थी, एक दिन वह अपनी ननिहाल गया। वहाँ उसने देखा कि एक कुएँपर चैर चल रही है, एक मनुष्य बैल हाँक रहा है और दूसरा चरस थाम रहा है। जब कुएँमेंसे चरस बाहर आता है, तभी चरस लेनेवाला इसप्रकार पुकारता है—'राम भजन करि गाढो। तोय धूप लगे ना जाडो!' यह शब्द सुनकर भजनलालके कान खड़े हुए और वह मन-ही-मन विचारने लगा—

'ओहो! तमाम दुनिया धूप और जाड़ेके कारण ही तो दुखी हो रही है! जब गर्मी आती है, तो खसकी टट्टी आदि अनेक प्रकारका प्रबन्ध करना पड़ता है। कोई-कोई अमीर प्रबन्ध कर लेते हैं, कोई नहीं भी करते। गरीब बेचारे धूपमें ही काम करते हैं और कभी-कभी जलती पृथ्वीपर नंगे पैरों चलना पड़ता है, सारांश यह कि गर्मीमें सबको कष्ट होता है। इसी प्रकार जाड़ेमें सोड़ें भरवानी पड़ती हैं, तापनेको आग जलानी पड़ती है, फिर भी किसी-न-किसीको जाड़ा मार ही जाता है और कष्ट तो सभीको होता है। कुएँवाला कहता है—'राम भजन करि गाढो। तोय धूप लगे ना जाडो!' यह तो बड़ी अच्छी बात है कि भजन करनेसे गर्मी-जाड़ेसे छुटकारा मिल जायगा! तब तो मुझे भजन अवश्य करना चाहिये, परन्तु भजन किया कैसे जाता है? यहाँ ग्राममें तो कोई भजन करता हुआ दिखायी नहीं देता और अपनी बस्तीमें भी मैंने किसीको भजन करते हुए नहीं देखा! हाँ! मेरी माँ तो अवश्य माला घुमाया करती है और रामायण तथा भागवतका पाठ भी नित्यप्रति किया करती है, उसीने मुझे इन पुस्तकोंके नाम बताये थे। इससे सिद्ध होता है कि रामायण, भागवतका पाठ करना और माला फिराना भजन है। माँ सवेरे चार बजेही उठकर स्नान करती है, इससे यह अनुमान होता है कि नहा-धोकर ही भजन होता है। अच्छा! मैं घर जाकर अपनी माँसे भजनके विषयमें पूछूँगा। जब घरमें ही मेरी शंका निवृत्त हो सकती है, तो मुझे बाहर जानेकी क्या आवश्यकता है। 'घर आये नाग न पूजिये, बाहर पूजन जाय' यह मूर्खता ही है।

ऐसा विचारकर भजनलालने घर पहुँच अपनी माँसे इसप्रकार प्रश्न किया—

भजनलाल—अम्मा! मैंने सुना है कि भजन करनेसे जाड़ा-गर्मी कुछ नहीं लगता, यदि यह सच है तो आप मुझे भी भजन करना बता दीजिये। इसके सिवा भजन करनेसे और भी जो कुछ लाभ होता हो, वह भी बताइये! मैं अवश्य भजन करूँगा और आपके कथनानुसार बरतूँगा।

भजनलालकी माँका नाम सरस्वती था और 'यथा नाम तथा गुण' सचमुच वह सरस्वती ही थी, वेद-शास्त्रोंमें पारंगत थी और सम्यक् दर्शनवाली भी थी। पुत्रकी बात सुनकर पुत्रका उत्साह बढ़ाती हुई वह सत्य, मधुर, हितकारिणी और गम्भीर आशययुक्त वाणी इसप्रकार बोली—

सरस्वती—हे वत्स! तेरा प्रश्न बहुत सुन्दर है और तेरा विचार भी परम उत्तम है। भजन करनेके लिये ही मनुष्यका शरीर प्राप्त हुआ है, ईश्वर-भजनके सिवा मनुष्य-शरीरका अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं है। पाँच प्रकारके अथवा दस प्रकारके भोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं, विषय-भोग मनुष्य-शरीरका प्रयोजन नहीं है, ईश्वरका ज्ञान मनुष्य-योनिमें होता है और शास्त्रका भी मनुष्यको ही अधिकार है, इसलिये मनुष्य-शरीरका प्रयोजन ईश्वर-भजन ही है! 'मैं भजन करूँगा' तेरे ये शब्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे बहुत ही प्यारे लगे हैं। हे पुत्र ! यदि तू भजन करने लगा, तो मैं अपनेको धन्य मानूँगी क्योंकि बड़ी-बूढ़ियोंका कथन है—'पुत्रवती युवती जग सोई। रघुबर-भगत जासु सुत होई ॥' तेरे भजन करनेसे ही मैं यथार्थ पुत्रवती कहलाऊँगी ! शिष्ट पुरुषोंका यह भी कथन है कि जिसका पुत्र रामभक्त न हो, उस स्त्रीका तो बाँझ ही रहना भला है। पुत्रवती तो वही है जिसका पुत्र ईश्वर-भक्त है।

हे पुत्र ! ईश्वर-भजन करनेसे केवल शीतोष्ण निवृत्त हो जाते हैं, इतनी ही बात नहीं है, भजन करनेवाले भगवद्भक्तके तो समस्त द्वन्द्व निवृत्त हो जाते हैं। शीतोष्ण, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, जन्म-मरण, भूख-प्यास, इन सभीका नाम द्वन्द्व है, इनसे आदि लेकर समस्त द्वन्द्व ईश्वर-भजन करनेसे निवृत्त हो जाते हैं। ईश्वर-भजनसे जब जन्म-मरणतककी निवृत्ति हो जाती है, तो अन्य द्वन्द्वोंका तो कहना ही क्या है ? जैसे सिंहको देखकर मृग भाग जाते हैं,इसी प्रकार ईश्वर-भक्तको देखकर पाप भाग जाते हैं। पापोंका ही परिणाम दुःख है, जब पाप ही नहीं तो दुःख कहाँ ? ईश्वरभक्तके वैरी भी मित्र हो जाते हैं। राजा, चोर, अग्नि, जल, सर्प, बिच्छू आदि बाहरके शत्रु हैं और काम, क्रोध,लोभ, हर्ष, शोक, मोह, मद, मान, चिन्ता, भय एवं आधि-व्याधि आदि भीतरके शत्रु हैं। बाहर और भीतर दोनों प्रकारके शत्रु ईश्वर-भक्तके मित्र बन जाते हैं, विष भी ईश्वर-प्रेमीके लिये अमृतका काम देता है, सारांश यह कि ईश्वर-भक्त सारी उम्र सुखसे जीता है, भाई-बान्धवोंमें मान्य होता है, मरनेके बाद इस लोकमें उसकी कीर्ति गायी जाती है और परलोकमें अखण्ड सुखकी प्राप्ति होती है। भजनकी बात पूछनेवाला तू भजनलाल पुत्र धन्य है और भजनको बतानेवाली मैं सरस्वती माता धन्य हूँ। अच्छा ! अब मैं तुझे बताती हूँ कि भजन किसप्रकार होता है, ध्यान देकर सुन—

हे श्रेयकांक्षी ! ईश्वरको जानने और ईश्वरमें प्रेम बढ़ानेका नाम ईश्वरभजन है। जाने बिना प्रेम नहीं होता और प्रेम बिना यथार्थ जानना नहीं होता। इसलिये ईश्वरको जानने और ईश्वरमें प्रेम बढ़ानेका नाम भजन है अथवा जानने और प्रेम बढ़ानेके साधनोंका नाम भजन है। सत्य-युगमें तप करना भजन समझा जाता था, त्रेतामें यज्ञ करना भजन कहलाता था और द्वापरमें भगवान्‌के अर्चनका नाम भजन था, परन्तु कलियुगमें तो भगवन्नाम-कीर्तन ही भजन है। जैसे लोकमें नाम लेनेसे नामी आ जाता है अथवा मिल जाता है, इसी प्रकार भगवन्नाम जपनेसे भगवत् आ जाते हैं अथवा मिल जाते हैं। क्योंकि भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं, कोई देश, काल, वस्तु भगवत् बिना नहीं है। भगवन्नामका आधार लेना और उसका जप करना ही कलियुगमें भगवद्भजनहै। नानकजी कहते हैं—

'नानक ! दुखिया सब संसारा, सुखी वही जो नाम-अधारा।'

सच है, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है कि भगवन्नामका आधार लेनेवाला ही सुखी है, अन्य सभी दुखी हैं। गोस्वामीजीका कथन है—

'भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नामं जपत मङ्गल दिसि दसहूँ ॥'

यह भी सच ही है कि नामके जापकके लिये दसों दिशाओंमें मङ्गल-ही-मङ्गल है, क्योंकि नामके जपनेमें अन्य मन्त्रोंके समान दिशा बन्धनकी आवश्यकता नहीं है और नाम जपनेवालेको देवता आदि भी कोई विघ्न नहीं करते। भगवान्‌का वचन है—'यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ।' अन्य यज्ञोंमें व्यय, परिश्रम और हिंसा होती है, परन्तु जपयज्ञमें इनमेंसे कुछ भी नहीं होता, इसलिये जप-यज्ञ श्रेष्ठ है। 'हर्र लगे ना फिटकरी रंग झकाझक आय' यही कहावत है। पतञ्जलि भगवान्‌का सूत्र है— 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' यानी—ईश्वरका नाम जपना और नामके अर्थकी भावना करना,ईश्वर-प्रणिधान यानी ईश्वर-भजन है। श्रुति भगवती आदेश करती हैं—'हे श्रेयसाधको ! परब्रह्मके नाम ॐकारको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धनुष बनाओ, उस धनुषके ऊपर आत्मा यानी अन्तःकरणरूपी शर–बाण चढ़ाओ, ब्रह्मको लक्ष्य बनाओ, आत्मारूप बाणको ब्रह्मरूप लक्ष्यमें बेधकर तन्मय हो जाओ, दुईको मेटकर एक हो जाओ और अक्षय पदको प्राप्त करो !'

हे प्रियदर्शन ! ध्यानकालमें अथवा ध्यानके अन्तमें समाहित होकर भगवान्के नाम-रूप मन्त्रका जप करना चाहिये। जप करनेसे मनुष्य शीघ्र ही शान्ति और संसिद्धिको प्राप्त होता है। शास्त्र अथवा गुरुकी बतायी हुई विधिके अनुसार मन्त्र उच्चारण करनेका नाम जप है। याज्ञवल्क्यजीका कथन है—'घूमता हुआ, हँसता हुआ, इधर-उधर देखता हुआ, सहारा लेकर, सिरको हिलाता हुआ, पैरपर पैर रखकर, हाथोंको स्मरणीके बाहर करके जप न करे और जप दूसरेको न सुनावे।' और भी कहा है—'जपकालमें भाषण न करे। क्रोध, मोह, छींक, निद्रा, थूकना, जँभाई लेना और स्त्रियोंका दर्शन इन सबका जपके कर्ममें निषेध है। स्त्रीके लिये पुरुषका दर्शन निषेध है। मनको विषयोंसे रोककर मन्त्रके अर्थमें मन लगाकर न तो देरसे न जल्दीसे किन्तु मणियोंकी पंक्तिके समान जप करे। श्रीगुरुके मुखसे प्राप्त हुआ मन्त्र सनातन बीजरूप है, मनन करनेसे पापोंका नाश करता है और संसारसे रक्षा करता है, इसीलिये वह मन्त्र कहलाता है। मन्त्रमें मन लगाकर, मन्त्रके वाच्य और लक्ष्य अर्थका स्मरण करता हुआ परमानन्द देनेवाले मन्त्रका सर्वदा ही जप करे। विष्णु शब्दका वाच्य-अर्थ शंख, चक्र, गदा, पद्म और पीताम्बरधारी पुरुष मूर्ति हैं और लक्ष्य-अर्थ सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वान्तर्वर्ती परमात्मा हैं। इसी प्रकार परमेश्वरवाची अन्य शब्दोंका अर्थ समझ लेना चाहिये।

हे सौम्य ! तन्त्रसारमें दो प्रकारका जप कहा हैं, एक उपांशु और दूसरा मानस। जिह्वा कुछ-कुछ चलती रहे, देवतामें मन लगा रहे, अपनेको ही मन्त्र सुनायी दे और दूसरेको न सुनायी दे, ऐसे जपका नाम उपांशु-जप है। अर्थके उद्देश्यसे जिस जपमें वर्ण, स्वर और पदरूप अक्षरोंकी श्रेणीको बुद्धिसे उच्चारण करे, वह मानस-जप कहलाता है। उपांशु-जप श्रेष्ठ है, इसमें संशय नहीं है परन्तु उपांशु-जपसे भी मानस-जप श्रेष्ठ है, गुरुकी सम्मति लेकर इन दोनोंमेंसे कोई-सा एक जप अवश्य करना चाहिये।

वेदवेत्ताओंका कथन है कि शुचि हो अथवा अशुचि, सर्वदा सर्व देशमें एक मन्त्रकी ही शरण लेकर योगी मन्त्रका अभ्यास करे। भाव यह, कि कर्मोंके समान मन्त्र-जपमें बाहरकी शुद्धि-अशुद्धि-का नियम नहीं है, क्योंकि भगवान्का नाम लेनेवाला बाहरसे शुद्ध हो अथवा न हो, सर्वथा शुद्ध ही है।

हे प्रियदर्शन ! शब्दमय मन्त्र स्थूल, विग्रहरूप और बाह्य कहलाता है एवं हृदयगत मन्त्र सूक्ष्म, ज्योतिर्मय और चिन्तामय कहलाता है। चिन्तामय मन्त्र श्रेष्ठ माना जाता है, चिन्तारहित मन्त्र श्रेष्ठतम माना गया है, क्योंकि वह तत्त्वस्वरूप ही है। इसप्रकार महामन्त्रका ध्यान करनेसे अधिकारी परम गतिको प्राप्त होता है। जब जप करते-करते थक जाय तो भावयुक्त होकर जनार्दनसे प्रार्थना करे, क्योंकि प्रार्थना और स्तुति करनेसे स्वर्गका द्वार खुल जाता है। भक्तवत्सल भगवान् जीवोंका दुःख और रोना नहीं देख सकते, भक्तकी पुकार सुनकर वे तुरन्त ही दौड़े आते हैं और भक्तका दुःख निवारण करते हैं। गज, ग्राह, द्रौपदी आदिकी अनेक गाथाएँ इसमें प्रमाण हैं, इसलिये आर्त-बन्धु, दयासिन्धु, करुणानिधि श्रीकृष्ण भगवान्का नित्य प्रेमके अश्रुओंसे अभिषेक करे! सच्चे मनसे यदि आँसुओंकी एक बूँद भी निकलती है, तो वह कठिन-से-कठिन पापोंको धोकर अन्तःकरणको शुद्ध करके जीवको भगवान्के सम्मुख कर देती है और भगवान्को जीवके सम्मुख कर देती है, इसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। तुलसीदासजी आदि परम भक्तोंका अनुभव इसमें प्रमाण है। प्रार्थनाके प्रभावसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है, कोई ऐसी दुर्लभ वस्तु नहीं है, जो प्रार्थना करनेसे प्राप्त न हो! मनुष्यको लोकमें जिस-जिस वस्तुकी आकांक्षा हो,उस-उस वस्तुके लिये महेश्वरसे ही प्रार्थना करे, अन्य किसीसे न करे, क्योंकि सिवा दीनानाथके दूसरा कोई दानी नहीं है, उस एक ही दाताका सर्वदा आश्रय ले। जबतक प्रार्थना की हुई वस्तु प्राप्त न हो, तबतक सरल भावसे सम्पन्न होकर सर्वदा ही प्रार्थना करता रहे। वही सबका जन्मदाता है, वही सबका पालन करनेवाला भी है, इसलिये वही सच्चा पिता है, जो वस्तु मनुष्योंको इष्टतम होती है, परम पिता वह अवश्य देता है। परमेश्वरसे धर्म माँगे, क्षेम माँगे, शुभकी याचना करे, पुण्यकी याचना करे। मूढ़ पुरुषोंके समान विश्वके सम्राट्से मुट्ठीभर धूल माँग लेना उचित नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि जो सर्वदा ही उदार है और स्वभावसे ही कल्याण देता है, उसके शरणमें रहनेवालोंको प्रार्थना करने और स्तुति करनेका प्रयोजन ही क्या है? वह अन्तर्यामी तो बिना ही कहे सबकी मनोकामना पूर्ण करता है। अथवा जब परमार्थसे सिवा ब्रह्मके अन्य कुछ है ही नहीं, सब ब्रह्म ही है, तो क्या, किससे, किसलिये, कौन याचना करे? तब तो मौन ही सच्ची और उत्तम प्रार्थना है। ज्ञान, ध्यान, और जपकी मौन ही परम गति है। चित्तका मर जाना मौन है, भाषण नहीं करना मौन नहीं है। इसलिये मनुष्यको मनका अ-मन करना ही साधनीय है। जब चित्त मर जाता है तब सारा विश्व आप ही लय हो जाता है और योगियोंको सत्य महान् सामर्थ्य प्राप्त होता है। उसी समय योगियोंके चित्तमें ब्रह्मरूप सूर्य उदय होता है जिससे अविद्यारूपी रात्रि तुरन्त ही भाग जाती है।

हे प्रियदर्शन! जप करनेके पीछे अथवा पहले परमेश्वरसे इसप्रकार आर्त्त-प्रार्थना करनी चाहिये—

प्रार्थना—हे सच्चिदानन्द! आपको नमस्कार है! हे पुरुषोत्तम! आपको नमस्कार है! हे विश्व-स्वामिन्! लीलासे विश्वको रचनेवाले आपको नमस्कार है! आप उत्पत्ति-नाशसे रहित हैं, निर्गुण हैं, फिर भी आपमें दया और करुणादि अनेक शुभ गुण हैं! मैं मायासे मोहित हूँ, जड़बुद्धि-वाला हूँ और संसारमें आसक्त हूँ, फिर मैं आप संगहीन, निराधार, चिद्रूप और मायासे अतीतको आपकी कृपा बिना कैसे जान सकता हूँ? मैं भूलके समुद्रमें स्नान करके अपनेको भूल गया हूँ, अणु—छोटा बन गया हूँ, अपनेको साढ़े तीन हाथका मानने लगा हूँ, ममतासे युक्त हूँ, अहंतासे पूर्ण हूँ और देही यानी देहवाला हूँ, फिर आप विभु—सर्वव्यापकको आपकी करुणा बिना कैसे जान सकता हूँ? मैंने अपनेमें कर्ता-भोक्ता-पनेका आरोप कर लिया है, शुभ-अशुभ और प्रिय-अप्रियको देखकर कामी चञ्चल बन गया हूँ, फिर मैं आप अकामी, अचञ्चलको आपकी सहायता बिना कैसे भजूँ? मैं सैकड़ों आशाओंकी पाशमें बँधा हूँ, कर्मके चक्रमें अनवरत घूम रहा हूँ, संसारमें पिस रहा हूँ, हे प्रभो! आपको मैं कैसे प्राप्त होऊँ? हे क्षेमङ्कर! प्रसन्न हूजिये, मुझपर दया कीजिये! हे करुणाकान्त! मुझ अज्ञानी, चञ्चल और बद्धको संसार-बन्धनसे छुड़ाइये, आपकी कृपाके सिवा मेरी अन्य गति नहीं है! धनसे क्लेश, मद और हिंसा होती है, धर्मकी हानि होती है, मैं धन नहीं माँगता, मान नहीं चाहता। हे भवेश्वर! मुझे तो अपनी विशुद्ध भक्ति दीजिये! यह देह दुःखरूप, दीनता-मय, अशुद्ध और विनश्वर है, देहका सुख मैं नहीं चाहता। हे जनार्दन! मुझे तो अपनी अनपायिनी भक्ति दीजिये! बान्धव बन्धन हैं, फिर मैं उनकी क्यों इच्छा करूँ? हे सदाशिव! मेरा मोह काट दीजिये और अपनी अनन्य भक्ति दीजिये! हे विश्वस्रष्टा! हे देवादिदेव! हे परिपूर्णस्वरूप!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपको नमस्कार है ! नमस्कार है !! बारम्बार नमस्कार है !!!

हे सौम्य ! इसप्रकार भगवत्का नाम जपा कर, उपर्युक्त प्रकारसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे प्रार्थना किया कर और भगवान्के गुणानुवाद गाया कर, हरिने चाहा तो वे शीघ्र ही तुझे दर्शन देंगे और तेरी मनोकामना पूर्ण करेंगे !

भजनलाल था हुशियार, त्याग दिया संसार, माताके उपदेशानुसार पकड़ लिया भगवन्नामाधार, भगवद्भक्तोंका-सा ग्रहण किया आचार, थोड़े दिनों में जान गया सारासार, भवसे हो गया पार और बन गया सर्दारोंका सर्दार ! बोलो, श्रुति माताका जयजयकार, स्मृति-बहिनोंका वषट्कार, स्वधाकार, स्वस्तिकार, स्वाहाकार !

विरागमें

(कटु)

क्या होगा तड़पन-ज्वालाको दिखलानेसे अपनी !
व्यङ्ग, हँसी, उपदेश; मिलेगी करुणाकी न कनी ।।

× ×

शान्त रहो, चुपचाप रहो, मन-ही-मन चाहे रो लो ।
पर न कभी दुनियाँसे अपने दुखकी बातें बोलो ।।

× ×

एकमात्र छलना–मृगतृष्णा, यदि करुणाकी खोज ।
यह न प्राप्य मानव-पृथ्वीपर, यह तो गगन-सरोज ।।

× ×

कभी न आशा करो विश्व सान्त्वना-नीर दे देगा ।
वह तो सूखे गले बीच जलता पारा डालेगा ।।

× ×

मेरी दुनियाँमें उन्मूलित हो जायें तरु-मूल ।
पर न कभी संकेत मिले दुनियाँको उसका भूल ।।

× ×

'मधुवन है–बसन्तका प्यारा' मृग-मरीचिका-भ्रान्ति ।
तप्त मरुस्थलके राही ! विश्राम न, और अशान्ति ।।

× ×

(अतथ्य)

जय-ध्वनियाँ पलमें विनष्ट हों, विजयमाल दो दिनमें सूखें ।
इनमें तनिक न स्थिरता है, फिर भी तुम क्यों इनके भूखे !

× ×

यह क्या ? है यश-मदिरा-प्याली, भरी लबालब ओठ लगा लो ।
फिर न मिलेगी ऐसी जूठन आदि-सृष्टिकी, खुशी मना लो ।।

× ×

अबतक, गिन सकते हो ? कितने अकड़-अकड़कर चले गये हैं ।
जीवनमें पा अर्घ्य प्रतिदिवस, मृत्युबाद धूसरित भये हैं ।।

ये हैं कौन ? समाज, राज्य, साहित्य, ज्ञानकी उज्ज्वल मणियाँ ।
कैसा दुख ! कहलावेगी कल ये ही शंख-सीपकी लड़ियाँ ।।

—बालकृष्ण बलदुवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामका धर्ममय रथ

(लेखक–साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

१—रावन रथी बिरथ रघुबीरा ।
देखि बिभीषन भयउ अधीरा ॥

अर्थ–रावणको रथी और रघुवीरको विरथ देख करके विभीषण अधीर हो उठे ।

रावण रथी–एक तो आप ही रावण 'रावयतीति रावणः' तिसपर रथी, अस्त्र-शस्त्र-ध्वजा-पताकादिसे सुसज्जित, जिसके पैदल चलनेसे 'सुरपुर नितहि परावन होई । चलत दशानन डोलत अवनी । गर्जत गर्भ श्रवहिं सुर-रवनी ।' वही आज कवच धारण किये रथारूढ होकर आया है और—

विरथ रघुवीरा–ये रघुवीर हैं, 'जिनके लहैं न रिपु रन पीठी' युद्ध अवश्य करेंगे, पर रथ है नहीं । पैदल और रथीका कोई जोड़ नहीं है । इस समय जोड़ी जान-जानकर युद्ध हो रहा है 'दुहु दिशि जयजयकार करि निज निज जोरी जानि' रावणके जोड़ सरकार ही हैं ।

देखि विभीषन भयउ अधीरा–जानते तो पहलेसे ही थे कि सेनामें एक टट्टुआ भी नहीं है । सरकारको पैदल ही युद्ध करना पड़ेगा, पर घर बैठे जानना दूसरी बात है, और समराङ्गणमें देखनेसे दूसरे ही भाव उत्पन्न होते हैं, अतएव विभीषण अधीर हो उठे । खटकी तो यह बात बन्दरोंको भी थी । यथा—

'रथारूढ रघुनाथहिं देखी । धाये कपि बलु पाय विशेषी ॥'

परन्तु वे अधीर नहीं हुए, क्योंकि उन लोगोंमें पैदल ही युद्ध करनेकी प्रथा है, परन्तु विभीषण लङ्केश ठहरे, रथीकी गरिमाको जानते हैं और पदातिकी असुविधाका भी उन्हें सम्यक् बोध है अतएव वे अधीर हो उठे, मोहको प्राप्त हुए और आर्त्त हो गये । इसप्रकार विभीषणका आर्त्त अधिकारी होना भी सिद्ध होता है ।

'गूढौ तत्त्व न साधु दुरावहिं । आरत अधिकारी जहँ पावहिं ॥'

२—अधिक प्रीति उर भा सन्देहा ।
बन्दि चरन कह सहित सनेहा ॥

अर्थ–अधिक प्रीतिसे हृदयमें सन्देह हुआ और चरण-वन्दन करके स्नेहके साथ उन्होंने कहा ।

अधिक प्रीति उर भा सन्देहा–विभीषणको सरकारकी विजयमें कभी सन्देह नहीं था और इसी कारण रावणने इनका त्याग किया एवं चलती समय इन्होंने पुकारकर कहा भी कि 'राम सत्यसङ्कल्प प्रभु सभा काल बस तोरि' परन्तु उस समय सरकारको देखा नहीं था, देखनेपर प्रीति बढ़ी और समरके सङ्कटमें देखकर वह प्रीति अधिक बढ़ गयी एवं अधिक प्रीति बढ़नेपर चित्त पापाशङ्की हो उठता है, अतएव 'उर भा सन्देहा ।'

बन्दि चरन–गुरुशुश्रूषण-विधा, अतएव जिज्ञासाके पूर्व प्रणाम शास्त्रसम्मत है ।

कह सहित सनेहा–तेजोवधके लिये नहीं । विभीषणका सरकारके शरीरपर प्रेम है, उसे अरक्षित देखकर स्नेहके कारण उनसे नहीं रहा गया । वे यह भी जानते हैं कि श्रीराम सत्यसङ्कल्प प्रभु हैं । अवश्य जीतेंगे, परन्तु जीतनेकी कोई विधि नहीं दिखायी पड़ती, कदाचित् वीरताके आवेशमें विधिका ध्यान न करते हों, अतएव ऐसे विषम समयमें प्रश्न कर ही बैठे ।

३—नाथ न रथ नहि तनु पदत्राना ।
केहि बिधि जितब बीर बलवाना ॥

अर्थ–हे नाथ ! न तो रथ है, न वर्म है और न पदत्राण है (रावण-सरीखे) वीर बलवान्‌को आप किसप्रकार जीतियेगा ?

नाथ–कहनेका भाव यह है कि मुझ अनाथके तो आप ही नाथ हैं, यथा—लक्ष्मणको शक्ति लगनेके समय सरकारका विलाप—

'गिरि कानन जैहैं साखा-मृग हौं पुनि अनुज संघाती ।
ह्वैहै कहा विभीषनकी गति रही शोक भरि छाती ॥'

अतएव मुझे पूछनेका अधिकार है ।

न रथ, नहि तनु पदत्राना–युद्धके दो प्रधान साधन हैं-रथ और कवच । सारथी रथको फेरकर रथीकी स्थिति सुरक्षित रखता है और चोट करनेके लिये अवसर देता है । रथपर समर-साहित्य सब प्रस्तुत रहता है, तिसपर भी यदि आघात पहुँच जाय तो कवचसे रक्षा हो जाती है । पैदलको इनमेंसे कोई-सा भी सुभीता नहीं, और यहाँ तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदत्राण भी नहीं, जो पदातिके लिये भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि युद्धके समय 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्' तो हो नहीं सकता ।

केहि विधि जितब–यदि कहिये कि पदाति रहकर ही हम सदा राक्षसोंको जय करते आये हैं, सो ठीक है, परन्तु रावण उन सबकी श्रेणीमें नहीं है—

'रावन जातुधान-कुल-टीका । भुज बल अतुल जासु जगलीका ।।'

४—सुनहु सखा कह कृपानिधाना । जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना ।।

अर्थ–(विभीषणकी बात सुनकर) कृपानिधान श्रीरामजीने कहा कि 'हे सखा ! सुनो, जिससे जीत होती है, वह तो रथ ही दूसरा है ।

सुनहु सखा–सखा सम्बोधनका भाव यह है कि तुम सखा हो, अतएव इस रहस्यके जाननेके अधिकारी हो 'भक्तोऽसि मे सखा चेति ।'

जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना–तुम्हारा कहना ठीक है, रथ और कवचसे ही विजय होती है, परन्तु वे रथ और कवच ये नहीं हैं जिन्हें तुम रावणके पास देखते हो । इस भौतिक रथसे जय नहीं होती । जय देनेवाला तो आध्यात्मिक रथ है और वह भीतर है । बाहरका रथ तो उसकी एक नक़ल है जिसे रावणके पास देखकर तुम अधीर हो उठे ।

५—सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य शील दृढ ध्वजा पताका ।।

अर्थ–शूरता और धैर्य उस (भीतरके) रथके पहिये हैं; सत्य, शील, दृढ़ ध्वजा और पताका हैं ।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका–वह आध्यात्मिक रथ धर्ममय है, यथा—'सखा धर्ममय अस रथ जाके ।' उस रथके चक्र हैं शौर्य और धैर्य । रावणके पास उस रथका पहियामात्र है, एक घोड़ा भी है, परन्तु रथ तो है ही नहीं । युद्धके रथके दो पहिये होते थे, चार नहीं । धर्ममय रथके आधार और गतिदाता शौर्य और धैर्य हैं । जो धर्मात्मा तो हैं परन्तु उनमें शौर्य और धैर्य इन दोनोंमेंसे यदि किसीकी भी त्रुटि है, तो उनका धर्म पंगु है, वह उनके निस्तार करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं । तुम्हारे दोनों भाइयोंमेंसे टूटा-फूटा अदृढ़ पंगु रथ तो तुम्हारे पास है और पहिया तथा एक घोड़ा रावणके पास है, इसलिये तुम दोनोंके एक साथ रहनेसे वह अजेय रहा, यथा—

'रावनु जबहि विभीषण त्यागा । भयउ बिभव-बिनु तबहि अभागा ।।'

सत्य शील दृढ ध्वजा पताका–सत्य ध्वजा और शील पताका । जैसे ध्वजा-पताका रथके ख्यातिका चिह्न है, वैसे ही सत्य-शील उस धर्ममय रथके ख्यातिके चिह्न हैं । आते हुए रथके दूर तथा अदृश्य रहनेपर भी ध्वजा-पताका पहलेसे ही दिखायी देने लगती हैं और वह रथीके आगमन तथा सुरक्षित रहनेकी सूचक है । जहाँ सत्य-शीलरूपी ध्वजा पताका गिरी, वहीं रथीको भी संकटापन्न समझना पड़ेगा । इसीलिये शत्रुका प्रहार ध्वजा-पताकापर अवश्य होता है । अतएव ध्वजा-पताका रूपी सत्य और शील दृढ होना चाहिये ।

६—बल विवेक दम परहित घोरे । क्षमा कृपा समता रजु जोरे ।।

अर्थ—बल, विवेक, दम और परहित ये चार घोड़े हैं । ये क्षमा कृपा और समता इन तीन रस्सियोंसे जोड़े हुए हैं ।

बल विवेक दम परहित घोरे—रथका बहिरङ्ग वर्णन करनेके बाद अब उपयोगी सामग्रीका वर्णन करते हैं । शौर्य और धैर्यरूपी पहियोंके होनेपर भी यदि धर्मरूपी घोड़े न हुए तब भी रथ बेकार है । रथमें चार घोड़े लगा करते हैं, अतः इस रथमें भी चार घोड़े होने चाहिये । इसमें बल, विवेक, दम और परहित ये चार घोड़े हैं । बलसे प्राणमय कोषकी पुष्टि होती है, दमसे अन्नमयकी, परहितसे मनोमयकी और विवेकसे विज्ञानमयकी पुष्टि होती है । ये चारों कोष जबतक स्वस्थ न होंगे, तबतक धर्ममय रथकी गति हो नहीं सकती । बलवान् दमसम्पन्न परहितैकव्रत और विवेकी पुरुष ही धर्ममय रथके भारको वहन कर सकता है । जो निर्बल, विषयी, द्रोही और अविवेकी है वह शूर, धीर, धर्मध्वज होकर ही क्या कर लेगा ? उससे धर्ममय रथ नहीं खींचा जा सकता ।

क्षमा कृपा समता रजु जोरे—रथके लिये चार उपयुक्त घोड़े भी हुए परन्तु रज्जुसे जोड़े हुए न हों तो भी काम नहीं चल सकता । अतः उनके जोड़नेके लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१-क्षमा २-कृपा और ३-समता रज्जु हैं। रथके अगले दो घोड़े बल और विवेक हैं, इनको जोड़नेवाली क्षमा है। जहाँ क्षमा नहीं है, वहाँ बल और विवेक इन दोनोंमेंसे एकका घाटा अवश्य है। निर्बल या अविवेकी पुरुष क्षमा नहीं कर सकता। जहाँ क्षमा है, वहाँ बल और विवेकका जोड़ा अवश्य रहता है।

पिछले दो घोड़े दम और परहित हैं। दम और परहितको जोड़नेवाली रज्जु कृपा है। जहाँ कृपा नहीं है, वहाँ इन्द्रियदमन या परहितका अभाव है। जहाँ कृपा कार्यमें परिणत होती है, वहाँ दया और दम दोनों रहते हैं। बिना इन्द्रियदमनके मनुष्य दयावीर हो नहीं सकता।

क्षमाने बल-विवेकको जोड़ा और कृपाने दम और परहितको! अब यदि क्षमा और कृपा जोड़ दी जावें तो चारों घोड़े जुत जाते हैं, अतः क्षमा और कृपाको जोड़नेवाली रज्जु समता है। जहाँ क्षमा और कृपा दोमेंसे एकका अभाव हो, वहाँ समता नहीं रहती। जहाँ क्षमा कृपा दोनों हैं, वहाँ समता भी अवश्य है।

७---ईस-भजन सारथी सुजाना।
विरति चर्म संतोष कृपाना॥

अर्थ—ईश्वरका भजन सुजान सारथी है, वैराग्य ढाल और सन्तोष तलवार है।

ईस-भजन सारथी सुजाना—रथमें घोड़े जुत गये। अब अपने लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये सुजान सारथीकी आवश्यकता है जो समस्त बाधाओंका अतिक्रमण करके रथीकी रक्षा करते हुए उसे लक्ष्य या जय प्राप्त करा दे। यहाँपर ईश-भजन सुजान सारथी है। ईश्वर-प्रणिधानसे सभी अन्तरायोंका नाश होता है। यथा—

'सकल विघ्न व्यापहि नहिं तेही। राम-सुकृपा बिलोकहिं जेही॥'

यही ईश-भजन, बल, विवेक, दम और परहितको यथार्थ मार्गसे ले चलता है, नहीं तो घोड़े रथीसहित रथको और अपनेको विपत्तिमें डाल दें। परन्तु इतनेसे ही रथीका काम नहीं चलता, उसे बाधक शत्रुओंसे युद्ध करके उनपर विजय प्राप्त करना है, अतएव उसे रक्षा और प्रहारके लिये हथियारोंकी आवश्यकता है जो रथपर प्रस्तुत रहने ही चाहिये। अतएव कहते हैं:—

विरति चर्म सन्तोष कृपाना—शत्रुकी चोटसे रक्षा पानेका प्रधान साधन चर्म अर्थात् ढाल है। पहले अपनेको बचानेकी चिन्ता होनी चाहिये। यहाँ शत्रु हैं—काम, क्रोध, लोभ, मत्सर, दम्भ और पाखण्डादि। इनकी चोटसे बचनेके लिये ढाल है वैराग्य। यथ—'सुखसम्पति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥' ये सब रामभक्तिके बाधक हैं।

इन शत्रुओंके मारनेपर जिस विजयकी प्राप्ति होती है वह है 'हरि-भक्ति'; यथा—'बिरति चर्म असि ज्ञान मद क्रोध लोभ रिपु मारि। जय पाइय सो 'हरिभगति' देखु खगेश बिचारि।' इस जय-प्राप्तिके बाधक हैं--'सुख सम्पति परिवार बड़ाई' इनमेंसे भी सबका क्षेत्र (विषय) सुख है। इस सुखका छोड़ना ही संक्षेपमें वैराग्य है। जिसने (विषय-) सुख छोड़ा उसपर काम, क्रोधादि शत्रुओंकी चोट लग ही नहीं सकती। इसीलिये विरति अर्थात् वैराग्यको ढाल कहा गया, इसका होना परमावश्यक है।

परन्तु इतना ही यथेष्ट नहीं है, रथीको सारथीकी भी रक्षा करनी है और शत्रुओंका नाश भी करना है। इसलिये प्रहार करनेवाले शस्त्रोंकी भी आवश्यकता है। अति निकट आये शत्रुपर कृपाणसे चोट की जाती है। वह कृपाण है यहाँ 'सन्तोष'। जितनी सुखकी सामग्री अत्यन्त निकट है, प्राप्त हो चुकी है उतनेहीसे बस कर देना सन्तोष है, यथा—
'आठवँ यथालाभ सन्तोषा।'

८—दान परशु बुधि शक्ति प्रचण्डा।
वर विज्ञान कठिन कोदण्डा॥

अर्थ—दान परशु और बुद्धि बरछी है, श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है।

दान परशु—तलवार तो अत्यन्त निकटके शत्रुपर चोट करती है। परन्तु जहाँ तलवार नहीं पहुँच सकती वहाँ परशु पहुँच जाता है और जो तलवारका काटा नहीं कटता, उसे परशु काट डालता है। यहाँपर दान ही परशु है। सुख-साधनकी ओरके खिंचावको तो सन्तोष कृपाणने काटा, परन्तु प्राप्त सुख-साधनकी ममताको दूर करनेमें सन्तोष असमर्थ है, उसे दान-परशुसे दूर कर सकते हैं।

बुधि शक्ति प्रचण्डा—जहाँ परशुसे काम नहीं चलता वहाँ बरछी काम करती है। यह अस्त्र-शस्त्र दोनों हैं, अर्थात यह हाथसे भी मारी जाती है और फेंककर चलायी भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती है। यहाँपर बुद्धि बरछी है। इससे सुखके साधन तो तुच्छ हो ही जाते हैं, दुःखपर भी इसकी गहरी चोट बैठती है। यथा—'एहि ते विपरीत क्रिया करिये। दुखको सुख मानि सुखी चरिये।' मानना बुद्धिका काम है।

वर विज्ञान कठिन कोदण्डा—कठिन कोदण्ड (धनुष) बड़ी भारी मार सहन कर सकता है। शत्रुके अस्त्रसे कटता नहीं और बहुत दूरतक मार करता है। यहाँ 'वर विज्ञान' कठिन कोदण्ड है। विज्ञानसे कोई शिल्पकला न समझ ले, इसलिये 'वर विज्ञान' कहा। विज्ञान ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानको कहते हैं यथा-'दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी।' इस धनुषमें भारी भार वहन करनेकी शक्ति है। काम, क्रोधादिके चोटसे यह कट भी नहीं सकता और इसकी चोटसे कामादि कहीं भागकर बच नहीं सकते, परन्तु केवल धनुषसे ही उपर्युक्त कार्य नहीं हो सकता। उसके लिये बहुत-से बाण भी चाहिये, सो—

९—अमल अचल मन त्रोन समाना।
संयम नियम शिलीमुख नाना॥

अर्थ-निर्मल और निश्चल मन तरकसके समान है और उसमें संयमके नियम नाना प्रकारके बाण हैं।

अमल अचल मन त्रोन समाना—यहाँ शुद्ध और समाहित मन ही तरकस है, उसीमें कामादिके वध करने योग्य बाण भरे हैं। चञ्चल और मलिन मनपर तो शत्रुका अधिकार है, उसमें शत्रु-वधके योग्य बाणोंकी सम्भावना ही नहीं हो सकती।

संयम नियम शिलीमुख नाना—ध्यान, धारणा, समाधिके एकत्र होनेको संयम कहते हैं। यहाँपर संयमके नियमोंको बाण कहा है, संयमसे पृथक् नियमका ग्रहण करनेसे पुनरुक्ति होगी। एक तरकसमें तीस तीर होते हैं। संयमके नियम भी तीस हैं। ये संयम जब वर विज्ञानपर आरूढ़ हों तो अशेष शत्रुओंका नाश कर सकते हैं।

युद्धके समय शत्रु भी कुछ उठा नहीं रखते। बराबर छिद्रान्वेषण किया ही करते हैं। छिद्र पाया कि प्रहार किया। अतः सारथी, रथ, अस्त्र-शस्त्र, ढालके होते हुए भी शत्रुके शस्त्र अपने शरीरपर प्रहार कर ही बैठते हैं। जो प्रहार विज्ञान, वैराग्यादिका रोका न रुका, उसके लिये—

१०—कवच अभेद विप्र-गुरु-पूजा।
इहि सम विजय उपाय न दूजा॥

अर्थ-ब्राह्मण और गुरुकी पूजा अभेद्य कवच हैं। इसके समान विजयका दूसरा कोई उपाय नहीं।

ब्राह्मण और गुरुकी पूजा अभेद्य कवच है। यह कवच कटता ही नहीं। यदि ब्राह्मण और गुरुकी पूजामें छिद्र न हो तो पूजकपर शत्रुका शस्त्र कुछ भी काम नहीं कर सकता। क्योंकि ब्राह्मणका बल तप है। यथा—'तपबल विप्र सदा बरियारा।' तपस्वी ब्राह्मणोंके प्रसादसे सदा रक्षा होती है और 'राखै गुरु जो कोप विधाता' फिर शत्रु क्या कर सकता है? इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं कि—

इहि सम विजय उपाय न दूजा—विजयके उपाय दुर्ग, सेना और भौतिक रथादि बहुत-से हैं, परन्तु इसके बराबरका कोई भी उपाय नहीं है क्योंकि उनके होते हुए भी पराजय बराबर देखी जाती है और—

११—सखा धर्ममय अस रथ जाके।
जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥

अर्थ—हे सखा! जिसके ऐसा धर्ममय रथ हो, उसे जीतनेके लिये इसलोकमें तो क्या परलोकमें भी कहीं कोई शत्रु नहीं है।

सखा—उत्तरका उपक्रम सखा शब्दसे किया। यथा-'सुनहु सखा कह कृपानिधाना' और उपसंहार भी सखा सम्बोधनसे करते हैं—'सखा धर्ममय अस रथ जाके'

धर्ममय—वेदके विधि वाक्यका अनुसरण धर्माचरण है यथा—'वर्णाश्रम निज निज धरम-निरत वेद पथ लोग।' वेदका विधिवाक्य रथका शरीर है। इस धर्ममय रथके सामने लोहकाष्ठमय रथ कोई वस्तु नहीं है।

अस रथ जाके—ऐसा कहकर अपने पास ऐसे रथका होना बतलाया। तुम हमें रथहीन कैसे समझते हो?

जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके—यह न समझना कि इससे केवल परलोक ही जय होता है। लौकिक शत्रुसे तो यह रथी सदा अजेय है इसकी हार होती ही नहीं।

सरकारके पास ऐसा रथ है, इसे रामायणसे भी दिखलाना चाहिये। अतः संक्षेपमें दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा—

शौर्य—

एक बार कैसेउ सुधि पावौं।
कालहु जीति निमिषमहँ लावौं॥

धैर्य—

जौ रन हमहिं प्रचारै कोई।
लरौं सुखेन काल किन होई॥

सत्य—

सखा वचन मम मृषा न होई।

शील—

'तुलसी कहँ न रामसे साहिब शीलनिधान।
मुनि पुलके लखि शील-सुभाऊ।'

विवेक—

'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ।
कोउ न राम सम जान जथारथ॥'

दम—

'सब कोउ कहै राम सुहि साधू।
राम सुजान विषय-रस रूखे।'

परहित—

विप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार।

क्षमा—

निज अपराध रिसाहिं न काऊ।

कृपा—

'निसिचर निकर सकल मुनि राखे।
सुनि रघुनाथ नयन जल छाये।
निसिचरहीन करहुँ महि भुज उठाय प्रन कीन्ह।
सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाय जाय सुख दीन्ह॥'

समता—

सब मम प्रिय सब मम उपजाये।

ईश-भजन—

पूजि पारथिव नायउ माथा।

विरति—

'नवगयन्द रघुवीर मन राज अलान समान।
छूट जानि वन गवन सुनि उर आनँद अधिकान॥'

सन्तोष—

सकृत प्रणाम किये अपनाये।

दान—

'जो सम्पति शिव रावनहि दीन्ह दये दस माथ।
सो सम्पदा विभीषणहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥'

बुद्धि—

राम तेज बल बुधि बिपुलाई।
शेष सहस सत सकहिं न गाई॥
खरदूषण विराध-वध पण्डित।

वर विज्ञान—

यथा अनेक रूप धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव दिखावैं आपु न होइ न सोइ॥

संयम-नियम—

योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितम्।
अमित रूप प्रकटे तेहि काला। यथा योग मिलि सबहि कृपाला।

विप्र-गुरु-पूजा—

अस कहि रथ रघुनाथ चलावा।
विप्र-चरण पङ्कज शिर नावा॥
गुरु-पद-पदुम पलोटत प्रीते।

धर्ममय रथ—

चारिउ चरन धरम जगमाँही।
पूरि रहा सपनेहु अघ नाही॥

१२—महा अजय संसार रिपु,
जीति सकै सो वीर।
जाकहँ अस रथ होय दृढ़,
सुनहु सखा मतिधीर॥

अर्थ— हे सखा! मतिधीर! सुनो जिसके ऐसा दृढ़ रथ हो, सो महाअजय भी संसार-रिपुको जीत सकता है। संसार-शत्रु महाअजय है। क्योंकि यहाँ यह बात नहीं है कि देश अलग हो और सेना अलग हो, यहाँ तो देश-का-देश सेना ही है, यथा— 'व्यापि रहेउ संसार महँ माया कटक प्रचण्ड। सेनापति कामादि भट दम्भ कपट पाखण्ड॥' जिनमेंसे एक-एक महा अजय है, रावणने इन्द्रादिको जीता पर कामादिसे वह स्वयं जीता हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीति सकै सो वीर–इस महाअजय संसार-शत्रुको वह वीर जीत सकता है। रावण तो केवल अजेय है। इसको जीतना कौन-सी बात है। यथा—

'तात सकल तव पुण्य प्रभाऊ। जीतेउँ अजय निशाचर राऊ ॥'

जाको अस रथ होय दृढ़–ऐसा रथ होनेपर भी यदि दृढ़ न हुआ, ढीला-ढाला रह गया तो भी वह संग्राम-योग्य न होगा।

सुनहु सखा मतिधीर–मतिधीर सखा कहनेका भाव यह है कि यह उपदेश हमारे सखाके श्रेणीके लोगोंके लिये है, जो मतिधीर है। दूसरा इसको सुनकर भी धारण नहीं कर सकेगा।

१३—सुनत विभीषण प्रभु वचन,
हरषि गहे पदकंज।
इहि मिस मोहि उपदेश किय,
राम कृपा सुख-पुंज ॥

अर्थ–विभीषणने प्रभुका वचन सुनते ही प्रसन्न होकर चरण पकड़ लिया कि राम-कृपा-सुख-पुञ्जने इस मिससे मुझे उपदेश किया।

हरषि गहे पदकंज–शिष्यकी कृतकृत्यता 'बन्दि चरण कह सहित सनेहा' प्रश्न हुआ, उत्तर पानेपर 'हरषि गहे पदकंज' विषादका नाश हुआ। पदकंज कहना सफलतासूचक है, यथा—

'रिपु दल धरषि हरषि हिय बालि-तनय सुखपुंज।
पुलक शरीर नयन जल गहे राम-पदकंज ॥'

इहि मिस मोहि उपदेश किय–रावणके विजयकी विधि बतलानेके मिससे मुझे उपदेश दिया। संसार-सागरसे तरनेका यथार्थ उपाय बतलाया, सो भी दूसरे ब्याजसे, क्योंकि सरकार कृपा-सुख-पुञ्ज हैं। बिना कहे ही दुःख दूर करते हैं। ब्याजसे उपदेशका दूसरा भाव यह है कि पहले विभीषण कह चुके हैं कि 'उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभुपद प्रीति सरित सो बही ॥' फिर भी इसे रावणके विजयकी चिन्ता है, अपने परलोककी नहीं।

सुनत विभीषण प्रभु वचन–'देखि विभीषण भयउ अधीरा' उन्हींका सन्देह प्रभुके वचन सुनते ही नष्ट हो गया। संग्रामके समय जब कि जीवन-मरणका प्रश्न उपस्थित होता है, मानुषी-प्रकृति कृत्रिम आडम्बरको छोड़ अपने यथार्थ रूपमें आ जाती है और वही उपदेशका यथार्थ समय है।

प्रभु वचन–भाव यह कि 'प्रभु' 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः' हैं। अतः संग्राम-जयके साधन तथा सिद्धिका निश्चय उनको ही हो सकता है। ये संग्राममें जीत-हारको समान माननेका उपदेश विभीषणको नहीं देते, परन्तु ऐसी विधिका उपदेश देते हैं जिससे पराजय हो ही नहीं सकती।

प्रबोध

हे मन! चरन हरिके लागु।
भाग सिरजें उभय तो हित कर्म गुन अनुरागु ॥
ज्ञान रति जप जोग दीनों बिमल बिधि बिलगाय।
निज महत सों प्रगट कीनों प्रकृतिमें बिलसाय ॥
प्रान तन सर्वस्व हरिकौ जितिक जग-संबंध।
आप-सह सब सौंपि ताकों, हो मगन निरबंध ॥
कितिक अवगुन तोर नित लखु, मन, न धारत ताय।
पर-धरोहर मूढ़, तू किमि देतमें ललचाय ॥
अखिलवासी सगुन निर्गुन, बनत तो हित, जागु।
स्याम राधे भजहु 'रज' अब प्रेम-रसमें पागु ॥

चन्द्रभान सिंह 'रज' (दीवान बहादुर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुलसीकृत रामायणमें करुणा-रस

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा, एम० ए०, एल-एल० बी०)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

यद्यपि इस लेखमालामें शब्द-व्याख्याको परित्यक्त नहीं किया जायगा, पर दूसरे अंगोंपर विशेष ध्यान रहेगा। मुग़ल-कालके Architects (गृहनिर्माताओं) के लिये किसीने ख़ूब कहा है कि They designed like giants and finished like jewellers (वह दानवों-की-सी कल्पना करते थे और रत्नकारोंकी तरह समाप्त करते थे)। तुलसीकी कविताके लिये भी ठीक यही बात लागू होती है। रामायणके समाप्त करते समय मुझे प्रत्येक बार तुलसी ऐसे महान् व्यक्तिके रूपमें दिखायी देता है, जिसके रचित काव्य-जगत्में न केवल भूलोक प्रत्युत देवलोक इत्यादि भी आ गये हैं*। फिर उसने एक-एक शब्दको उसी प्रकार चुन-चुनकर रक्खा है जैसे कोई जौहरी रत्नोंकी जड़ाई करे। यह बात तुलसीमें शेक्सपियरसे अधिक है। ब्रैडले (Bradley) क्या, किसी भी शेक्सपियरके आलोचकको उठाकर पढ़िये तो आपको अनेक स्थानोंपर शब्द-रचनाकी त्रुटियोंकी शिकायत मिलेगी—कहीं शीघ्रताके कारण, कहीं दर्शकोंकी बुद्धि वा रुचिके कारण; पर हमारा कवि तुलसी अपने आदर्शका पक्का है और यद्यपि उसने ऐसी पुस्तक लिखी है जो 'ताज' की तरह साधारणतः प्रत्येक मनुष्यको आनन्द-विभोर बना दे, पर क्या मजाल कि सूक्ष्मदर्शी भी वही आनन्द न प्राप्त करें जो 'ताज' की पच्चीकारीमें मिलता है।

(घ) दोहेकी बहुत-सी बातें तो ऊपर प्रकट हो गयीं; पर यह साहित्यका एक अच्छा प्रश्न है कि यह दोहा इसी काण्डके आरम्भमें क्यों लिखा गया? मेरी रायमें कारण यह है कि वस्तुतः भगवान् रामके 'बिमल यश' का स्पष्टीकरण इस काण्डमें हुआ है। धनुषको तोड़ना और रावणको जीतना इस अपनी जीतके पासंगभर भी नहीं हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तमकी सीमाका पता यहीं लगता है। अगर आप हैमलेट (Hamlet) और अयोध्याकाण्डको साथ-साथ पढ़ें और सोचें कि डेन्मार्क (Denmark) के राजकुमारकी असफलता या ख़ूनी सफलता और अयोध्याके राजकुमारकी सफलतामें अन्तरके कारण क्या हैं तो दोनों राजकुमारोंके चरित्रके अतिरिक्त आपको मानना पड़ेगा कि डेन्मार्ककी घटनाओंमें उसके शान्त तथा सुव्यवस्थित नेतृत्व (Calm and balanced guidance) की कसर थी। चित्रकूटमें भी अन्तिम गुत्थीको रामने ही खोला और सचमुच ही करुणा-रसके प्रवाहको शान्त-रसके सागरतक पहुँचा दिया जो उन्हींका काम था। जिस समयमें शेक्स-पियरने अपनी Tragedies (दुःखान्त-रचनायें) लिखी हैं उसे बहुधा साहित्य-मर्मज्ञ जन In the depth (हार्दिक गहनता) की अवस्था कहते हैं और कहते हैं कि मानो इस समय शेक्सपियर मानवी हृदयकी वेदनाओंमें ग़ोते लगा रहा था। कहीं-कहीं थाह भी मिली है पर वस्तुतः यदि थाह मिली है तो उसके बादकी अवस्थामें, जब टेम्पेस्ट (Tempest) मर्चेन्ट आफ वेनिस (Merchant of Venice) इत्यादि लिखे गये और जिस अवस्थाको On the height (उच्चतापर) का नाम दिया जाता है। हमारे कविने इन दोनों अवस्थाओंका इस काण्डमें ऐसा एकीकरण किया है कि बयानसे बाहर है। तुलसीका यही तो विशेष गुण है कि नवों रसोंको नव धाराओंकी तरह लाकर अन्तमें उसी शान्ति और आनन्दके समुद्रमें मिला देता है जहाँ सच्चिदानन्दरूपी अमृत ही भरा हुआ है। सत्य है, भगवान्के चरित्रका चित्र उतारनेके लिये 'मन-मुकुर' स्वच्छ होना ही चाहिये। उसकी अस्वच्छतासे चित्रका धुँधला हो जाना स्वाभाविक है।

मैंने पहले ही फुलवारी-लीला-सम्बन्धी लेखमालामें लिखा है कि रामजी पर संसारके नेतृत्वका भार (Charge) उनके हाथोंमें परशुरामजीके धनुष देनेके समयसे हुआ है; और फुलवारी तथा धनुषयज्ञ मानो उनकी Semi-official appearances (अर्धअधिकारयुक्त उपस्थिति) हैं। वस्तुतः उनकी Official appearances (अधिकारयुक्त उपस्थिति) अयोध्याकाण्डसे ही समझिये और उन गुणोंका विकास देखिये जिनके होनेकी State of Ayodhya

*उसने कहीं-कहीं तो काव्य-कल्पनाद्वारा ब्रह्माकी निपुणताको भी शिक्षा दी है जैसे सीताकी उपमाके लिये नयी लक्ष्मी बनानेमें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अयोध्या-राज्य) में ज़रूरत थी और जिनके बिना State of Denmark (डेन्मार्क-राज्य) में Something rotten (त्रुटि) का अनुभव होता है। इसीलिये इस दोहेरूपी संकल्पकी यहीं आवश्कता है।

[नोट (१) 'सरोज--रज' की शाब्दिक योजना और दोहेके आधेसे अधिक भागमें 'र'की आवृत्ति मानो 'मन-मुकुर' पर रगड़का शाब्दिक चित्र पेश करती है और फिर 'विमल-यश, जो दायक फल चार'की सचिक्कणता (Polished smoothness) भी दर्शनीय है।

(२) कुल दोहा रूपकका एक अमूल्य उदाहरण है जिसकी जितनी ही व्याख्या की जाय उतनी ही आनन्दप्रद हो सकती है। तुलसीदासजीने स्वयं लिखा है:—

एक घड़ी आधी घड़ी आधीकी पुनि आध।
तुलसी संगत साधुकी कटहिं कोट अपराध॥

क्यों? इन्हीं अवसरोंपर तो उपदेशरूपी 'सरोज-रज' मिलती है जो 'मन-मुकुर' को रगड़कर साफ कर देती है। महाभारतमें भी एक जगह लिखा है कि एक क्या, आधे मन्त्रके वास्तविक बोधसे भी उद्धार हो जाता है, नहीं तो 'चारपाये बरू किता चन्द' (चतुष्पदपर कुछ पुस्तकें)का हाल तो चारों ओर दिखता ही है।

(३) दुःखान्त कविता (Tragedy)—इस प्रारम्भिक लेखको समाप्त करनेसे पहले मैं दुःखान्त कविताके विषयको तनिक और सुस्पष्ट कर देना चाहता हूँ। पश्चिमीय साहित्यमें सुखान्त (Comedy) और दुःखान्त (Tragedy) कविताके दो बड़े भाग हैं। कारण कि पाश्चात्य विद्याका श्रीगणेश अथवा यूनान-देशकी कविताकी आलोचना करते समय अरस्तू (Aristotle) ने दुःखान्त कविता (Tragedy) की परिभाषा निश्चित की थी और दुःखान्त कविताका हेतु यह बतलाया था कि If affects by means of pity and fear the purificationor rather the purging of these emotions (वह करुणा तथा भयद्वारा हृदयस्थ भावोंको शुद्ध तथा निर्मल बना देती है)। वर्तमान शताब्दिके साहित्य-मर्मज्ञ भी थोड़े ही हेर-फेरसे वहीं क़ायम हैं। कहा यह जाता है कि लोहा लोहेको काटता है (Like cures like), अतः सकरुण और भयानक अन्तवाली कविताओंसे इन दोनों दोषोंका कुछ निवारण होता है, परन्तु इसप्रकार हृदयोंमें निराशाका जो राज्य स्थापित हो जाता है उसका फल भी तो देखना चाहिये। श्रीअवध उपाध्यायने हालमें अपने एक लेखमें पाण्डित्यके साथ विचार किया है कि इस निराशाजनक दुःखान्त कविता और उसकी प्रतिष्ठाका परिणाम, विशेषतः दुःखान्त उपन्यासों (Tragic novels) का प्रभाव पाश्चात्य देशों-पर उपर्युक्त धारणाके विपरीत हुआ है और आये दिन ज़रा-ज़रा-सी बातोंपर आत्म-हत्याका दृश्य दिखने लगता है। आश्चर्य तो यह है कि पाश्चात्य जगत् अपनेको आशावादी (Optimist) कहता है और पूर्वीय देशोंको निराशावादी (Pessimist), पर वस्तुतः संस्कृत क्या प्राचीन हिन्दी कवितातकमें दुःखान्त बातोंका पता नहीं है। इसी अन्तरके कारणोंको समझ लेना अयोध्याकाण्डके महत्त्वको समझनेके लिये अत्यावश्यक है, अतः यहाँ कुछ व्याख्या की जाती है:—

(१) यह सच है कि लोहा लोहेसे कटता है (Like cures like) करुणा-रससे करुणाके और भयानक-रससे भयके भाव शुद्ध होते हैं; पर ऐसी दवा इतनी कड़ी न होनी चाहिये कि जीवन-शक्तिको ही नष्ट कर दे। बर्नार्ड शा महोदय भी शिक्षाप्रणालीमें उपर्युक्त सिद्धान्तको प्रयुक्त करते हैं और कहते हैं कि विद्यार्थीमें होमियोपैथिक दवाओं (Homeopathic doses) के सदृश वह संशोधक शक्ति उत्पन्न कर देनी चाहिये कि वह ज़रा-सी बाहरकी आयी हुई औषधरूपी ख़राबीके साथ अन्दरकी ख़राबीको भी साफ़ कर दे। उदाहरणमें वह कहते हैं कि अगर तुम किसी बिल्लीको बलात् नहलाओ तो कभी-कभी वह लोट जाती है और बहुत गन्दी हो जाती है, पर यदि तुम उसपर थोड़ी-सी धूल छिड़क दो तो वह स्वयं जिह्वासे चाटकर न केवल छिड़के मैलको साफ़ कर देगी बल्कि अपने समूचे शरीरको भी*। मेरी समझमें ठीक यही अन्तर पाश्चात्य

*Therefore if you want to see a cat clean, you should throw a bucket of mud over it, when it will immediately take extraordinary pains to lick the mud off and finally be cleaner than it was before. In the same way doctors.........that are up-to-date (.........) when they want to rid you of a disease or a symptom, inoculate you will that disease or give you a drug that produces that symptom, in order to provoke you to resist it as the mind provokes the cat to wash itself (Back to Methuselah 1926 Ed. Preface XII.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशकी दुःखान्त कविता और संस्कृत वा तुलसीकी करुणा-रसवाली कवितामें है । दुःखान्त कवितामें आशाकी झलक मिट-सी जाती है पर यहीं कुहू-निशामें भी चन्द्र वा तारागणकी ज्योति बनी ही रहती है । हमको भगवान्पर अविश्वास कर कभी रोना नहीं पड़ता, जैसे कि 'In His ways with men I found Him not' (मनुष्योंके प्रति अपने व्यवहारोंद्वारा तो ईश्वर अपना अस्तित्व प्रमाणित नहीं कर सकता) ।

(२) पश्चिमकी दुःखान्त कविताका सिद्धान्त तभी ठीक उतरता है जब भौतिक सत्तासे पृथक् कुछ न माना जाय और मरणके पश्चात् किसी अन्य लोककी कोई बात ही न हो । मैं तो यह समझता हूँ कि जिसने दुःखान्त कविता लिखी उसने जीवनके रहस्यको एकाङ्गी कर दिया । इसीलिये तो 'हरिश्चन्द्र' और 'शकुन्तला' जैसे सकरुण नाटकोंके अन्तमें ईश्वरीय शक्तियोंके विकासके कारण, उधर ईश्वरका विमान-पर स्वयं स्वागतके लिये आना और इधर इन्द्रके यहाँ दुष्यन्त और शकुन्तलाके मिलनसे यह दिखा दिया गया कि ईश्वरीय प्रबन्धमें सबके लिये आशा है । आह ! पाश्चात्य देश भगवान् ईसाके इन बहुमूल्य सिद्धान्तोंको अबतक अपना नहीं सका:—

Blessed are they that mourn, for they shall be comforted. (भाग्यवान् हैं वह जो दुःखालाप करते हैं क्योंकि वही सान्त्वनाके पात्र होंगे) ।

Blessed are they that are persecuted for righteousness's sake, for there is the Kingdom of Heaven. (भाग्यवान् हैं वह जो सत्यके लिये सताये जाते हैं क्योंकि उन्हींका स्वर्गमें साम्राज्य है ।)

इन आशापूर्ण वचनों और दुःखान्त कविताके आदर्शमें कितना अन्तर है ? दुःखान्त कविताके अन्तमें मुझे तो यही ज्ञात होता है कि बीचसे हठात् भगवान्के रहस्यको लुप्त कर दिया गया है, या यह कहिये कि जीवनकी Negative side (नकार-पक्ष) ही दिखलायी गयी है और Positive side (सकार-पक्ष) का तो लेखकको पता ही नहीं है ।

कविवर शेक्सपियरकी दुःखान्त कविताओंकी आलोचना करते समय ब्रैडले (Bradley) महोदयने यह दिखलानेकी चेष्टा की है कि उक्त कविवरने इस निराशाके अन्धकारमें There is Divinity that shapes our end. (ईश्वर है जो हमारे अन्तका निर्माण करता है ।) की झलक क़ायम रक्खी है, परन्तु वह निशावसानके टिमटिमाते तारोंके प्रकाशकी तरह है, तुलसीके आनन्दमय प्रभातकी तरह नहीं है । तुलसीके संसारमें न केवल भरत, सीता और दशरथको आशाका प्रसाद मिला है पर मन्थरा और कैकेयी भी सरस्वतीद्वारा भगवान्के ही रहस्यके साधन (means) के रूपमें रक्खे गये हैं । सर्वकालीन दण्ड (eternal punishment) के निराशावादका तो वहाँ पता भी नहीं है । बुराई (evil) चाहे रावणके रूपमें ही क्यों न हो, सान्त (finite) है, और अन्ततोगत्वा एक वही अगाध आनन्दमयी शक्ति रह जाती है जिसमें रावणकी आत्मा भी लीन हो गयी थी । From the great deep to great deep he goes. (उसका अथाह गहराईसे अथाह गहराईमें गमन होता है) यह वाक्य यदि आत्मापर लागू किया जाय तो मर्लिन (Merlin) की तरह यह वाक्य किसी अपरिचित अवस्थाके सूचक होकर तुलसीकी विश्व-व्याख्यामें आत्माका भगवान्की आनन्दमयी शक्तिके अगाध समुद्रसे निकलकर दुनियामें अपना काम पूरा करके (फिर चाहे कितना ही घूमकर सही) उस समुद्रमें विलीन हो जानेकी सूचना देते हैं । कबीरका भी यही सिद्धान्त है कि 'दरियावकी लहर उसीमें फिर समा जाती है ।' श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरने अपनी 'साधन' नामक पुस्तकमें लिखा है कि बुराई (evil) क्यों है, यह प्रश्न रूपान्तरसे वही प्रश्न है कि अपूर्णता (Imperfection) क्यों है या उत्पत्ति (Creation) क्यों है ? वह कहते हैं कि बुराई (evil) स्थायीरूपवाली वस्तु नहीं है । सत्य है, और इसीलिये तो चाहे मनुष्यको दिखायी देनेवाले जीवनका भाग दुःखान्त दिखे, पर वास्तवमें कोई जीवन आध्यात्मिक दृष्टिसे दुःखान्त हो नहीं सकता ।

उपर्युक्त विवेचनाके बाद यह प्रश्न रह जाता है कि फिर अयोध्याकाण्डको Tragedy (दुःखान्त) कहा जाय या नहीं ? यदि हम पाश्चात्य सिद्धान्तको अक्षरशः मान लें तो फिर इसे 'दुःखान्त' नहीं कह सकते, क्योंकि यद्यपि अभी अयोध्यामें भगवान्का पुनरागमन बहुत दूरकी बात है और इसी कारण अभी वह आनन्दकी हिलोर कहाँ जो उत्तर-काण्डके आरम्भमें उमड़ेगी, पर करुणा रस शान्त-रससे मिलकर आशाजनक व्रतके रूपमें परिवर्तित हो गया है । हमें प्रत्येक दशामें अरस्तू (Aristotle) के जीवन-सुधार सम्बन्धी उपदेशकी दृष्टिसे तो इसे पाश्चात्य जगत्की दुःखान्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवितासे अधिक लाभदायक मानना ही पड़ेगा। पौर्वात्य नाटकोंके विभाग करनेमें रसोंकी प्रधानताके विचारसे ही दुःखान्त (Tragedy) तथा सुखान्त (Comedy) कविताओंके नाम लिये जा सकते हैं।

मुझे शेक्सपियरके चार दुःखान्त नाटक—हैमलेट, अथेलो, मैकबेथ और किंग लियर (Hamlet, Othello, Macbeth and King Lear) इतने पसन्द रहे हैं कि मैंने इनपर न जाने कितनी ही आलोचनाएँ कितनी ही बार पढ़ीं और Bradley's Shakesperean Tragedy तो इस समय भी मेरे पास है। अतः इस लेखमालाकी तुलनात्मक आलोचनामें विशेषतः इन्हीं सबका हवाला मिलेगा। कालेजोंके हिन्दी-साहित्यके विद्यार्थियोंको इस तुलनात्मक आलोचनासे विशेष लाभकी सम्भावना है। मुझे स्वयं इस तुलनात्मक विचारसे यह अनुभव हुआ है कि I do not love Shakespeare less but love Tulsi more (मुझे शेक्सपियर कम प्रिय नहीं, परन्तु तुलसी अधिक प्रिय हैं), और इसी भावको बराबर सामने रखनेकी प्रार्थना मैं अपने पाठकोंसे भी करता हूँ। (क्रमशः)

सन्तके उपदेश

(‘कल्याण’-संख्या ७ पृष्ठ ६४६ से आगे)

एक दिन स्वामीजी महाराज कहने लगे कि गीतामें तो कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम्॥
(९।२७)

पर तुम लोग छोटा भजन करते हो। जो कुछ करे सो सभी उसके अर्पण कर देना चाहिये, इसके समान तो कोई भजन है ही नहीं।

एक सज्जन—हाँ, हमलोग तो जितनी देर नाम-स्मरणादि करते हैं, समझते हैं कि उतना समय तो भजनमें गया, इसके सिवा जो समय अन्य कार्योंमें जाता है, उसमें ऐसा नहीं समझते कि यह समय भी भजनमें गया, परन्तु महाराज! केवल मुखसे कृष्णार्पण कर देनेसे तो कुछ नहीं होता, मनसे करना चाहिये।

दूसरे सज्जनने कहा—पहले-पहले तो ज़बानसे कहा जाता है, उसके साथ मनका भाव रक्खे, फिर अभ्यास होनेपर कहनेकी कोई ज़रूरत नहीं रहती, महाराज! आप बताइये, कैसे अर्पण कर दे?

महाराज—जिसप्रकार किसी आदमीके सिरपर बोझा होता है और वह उसको उतार दूसरेको दे देता है वैसे ही।

प्रश्न—कुछ रख ले तो?

महाराज—तो फिर सारा-का-सारा ही क्यों न रख ले? क्योंकि थोड़ा रखनेवालेके पास तो सारा ही रह जाता है। असल बात तो यह है कि नौकरके माफ़िक काम करे। नौकर जिस प्रकार सम्पूर्ण कार्य मालिककी प्रसन्नताके लिये करता है, बस, वैसे ही भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही सब कार्य करे। यही समझे कि—

‘अनेन मत्कृतेन ईश्वरः प्रसीदतु’

× × ×

महाराज—माता-पिताकी सेवा करनी चाहिये, उनको कड़ुआ वचन नहीं कहना चाहिये। उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये, शरीरसे जिसप्रकार उनका भला हो वैसी ही चेष्टा करनी चाहिये। यदि वे अपनेको बुरा-भला कहें या लड़ाई-झगड़ा भी करें तो भी आप तो उनसे वैसा न करे।

प्रश्न—आप कहते हैं कि उनकी आज्ञा माननी चाहिये, परन्तु यदि कोई सत्सङ्गमें जाता हो और उससे उनको कोई नुकसान होनेकी सम्भावना न हो, उलटे सत्सङ्गके प्रभावसे उनकी सेवामें ही विशेष प्रवृत्ति होना सम्भव हो, ऐसे सत्सङ्गमें जानेसे भी माता-पिता रोकें तो फिर उनकी आज्ञाका पालन कैसे करे?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाराज–भगवान्‌के भजनमें यदि वे बाधा दें तो उनका कहना नहीं मानना चाहिये क्योंकि इसमें कोई लाभ नहीं है।

मात तात गुरु नार, जो विघनी हरि-भजनमें।
ताको डार उदार, हरि भज जीवन सफल कर॥

× × ×

प्रश्न–महाराज! कोई कोई कहते हैं कि षट्पदी, शिवमानसपूजा, देवी, विष्णु और श्रीकृष्ण आदिके स्तोत्र जो भगवान् श्रीशंकराचार्यके बनाये हुए कहे जाते हैं, वे उनके बनाये नहीं हैं।

महाराज–कौन कहते हैं?

प्रश्न–जो केवल वेदान्तको यानी अद्वैतको ही मानते हैं। शिव-विष्णु आदिको नहीं मानते।

महाराज–वे लोग सच्चे अद्वैतको नहीं जानते। मधुसूदन सरस्वती तो कहते हैं कि—

यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम्।
तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम्॥

× × ×

प्रश्न–कोई-कोई कहते हैं कि मनुष्योंके मरनेके बाद जो कुछ दिया जाता है (श्राद्धादि करते हैं) सो उनको मिलता थोड़े ही है। यद्यपि हम तो ऐसा नहीं मानते।

महाराज–वे लोग ईश्वरको मानते हैं या नहीं?

प्रश्न–ईश्वरको तो मानते ही होंगे। कोई शायद न भी माने!

महाराज–उन मूर्खोंसे कहना चाहिये कि जैसे विलायतमें दिये हुए रुपयोंको जब यह सरकार, जो तुच्छाति-तुच्छ है मनिआर्डर आदि साधनों द्वारा, दूसरे देशोंमें पहुँचा देती है, तो फिर ईश्वर, जो सर्वशक्तिमान् है, क्या मरनेके बाद दिये हुए पदार्थको उनके पास नहीं पहुँचा सकेगा? हाँ, जो ईश्वरको ही नहीं मानते, उनके लिये तो कुछ कहना ही नहीं है!

× × ×

प्रश्न–महाराज! हमें रातको जङ्गलसे होकर जानेमें डर लगता है।

महाराज–सब जगह भगवान् ही हैं, ऐसा समझना चाहिये; गीतामें कहा ही है 'वासुदेवः सर्वमिति' फिर डर काहेका?

प्रश्न–यह बात जानते तो हैं, परन्तु पहलेके संस्कार इतने जमे हुए हैं कि भय होने ही लगता है।

महाराज–तो जहाँ भय-सा मालूम हो, वहीं–

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥

इस, गीताके अध्याय ११के श्लोक ३६को पढ़ते हुए चले जाना चाहिये।

प्रश्नकर्त्ताने कहा–ठीक है महाराज!

महाराज–एक बारकी बात है, महात्मा……महाराज कहते थे कि मैं एक दिन रातको जङ्गलमें घूम रहा था, रात अँधेरी थी, दो मनुष्य ऊँटपर सवार हुए जा रहे थे। उनके हाथमें बहुत लम्बी बन्दूक थी, जिसपर मसाल जल रही थी। मुझे अँधेरेमें वे तो दीखे नहीं, केवल प्रकाश ही दिखायी दिया। मैंने समझा आज तो कोई गड़बड़ है, शायद भूत-प्रेत हो। मैं यही श्लोक पढ़ते-पढ़ते जाने लगा, आगे जानेपर उनका और हमारा रास्ता मिलता था। उसके पास पहुँचते ही मेरे पैरोंकी आहट ऊँटको सुनायी पड़ी, तो ऊँट उछला, जिससे वे दोनों सवार नीचे गिर पड़े। जब मैं पास पहुँचा तो उन्होंने कहा 'महाराज! हमारा बहुत हर्ज हो गया।' मैंने भी अपने मनमें कहा कि 'हर्ज तो हमारा भी बहुत हो गया।'

प्रश्न–उनका क्या हर्ज हो गया?

महाराज–उनको भय हुआ, सो हर्ज ही हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न–यह बात कोई दस-बीस वर्षकी होगी ?

महाराज–खबर नहीं ! हमहीको सुने करीब बीस वर्ष तो हो गये होंगे।

× × ×

एक दिन एक सज्जन वेदान्तके ग्रन्थ (अनुभव-प्रकाश) का अध्ययन कर रहे थे, उसमें यह आया कि भगवान्‌के सिवा अन्य जो कुछ भी है, सब शश-शृंगके समान मिथ्या है। जब महाराजसे इसका खुलासा पूछा गया तब महाराज कहने लगे कि—हमारे शास्त्रकारोंकी बड़ी कृपा है (हाथ जोड़ते हैं) उन्होंने अनेक तरहके साधन बतलाये हैं। जिसप्रकार निशाना सिखानेवाला पहले अत्यन्त नज़दीक और स्थूल वस्तुमें निशाना मारना सिखाता है, इसी प्रकार हमारे शास्त्रकार भी पहले तो मिट्टी और पत्थरकी मूर्तिमें ही ईश्वरकी भावना कराते हैं, कहते हैं कि यही ईश्वर है। फिर धीरे-धीरे प्रधान प्रधान पदार्थोंमें बताते हैं। अन्तिम यही वेदान्त शास्त्र है जो कहता है कि भगवान्‌के सिवा अन्य जो कुछ भी है सो सब मिथ्या है। असली तत्त्व यही है।'

× × ×

भगवन्नाम-सप्ताहका नोटिस छपा हुआ था जिसके ऊपर—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

यह श्लोक था, इसपर एक सज्जनने पूछा—महाराज ! भगवान् तो सर्वत्र ही रहते हैं, फिर इस श्लोकमें ऐसा क्यों लिखा है कि वहाँ ही रहते हैं।

महाराज–

'एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(भागवत ११।३।४०)

'ऐसे लोग जब अपने परम प्रिय हरिके गुण और नामोंका कीर्तन करते हैं तब बढ़े हुए प्रेमके रसमें उनका हृदय मग्न हो जाता है, वे विवश होकर अर्थात् इस जगत्‌को भूलकर उन्मत्तोंकी भाँति कभी उच्च स्वरसे हँसते हैं, कभी रोने लगते हैं, कभी अत्यन्त उच्च स्वरसे हरिके नाम लेते हैं, कभी गाते हैं और कभी नाचने लगते हैं। इसप्रकार जहाँ नृत्य और कीर्तन होता है, वहाँ भगवान् रहते हैं।

प्रश्न–तो क्या और जगह नहीं रहते ?

महाराज–भगवान् तो सर्वत्र ही हैं, परन्तु वहाँ विशेषरूपसे स्थित रहते हैं। यह मायापति हैं सर्वशक्तिमान् हैं, सब कुछ कर सकते हैं। तुमने एक बाजीगरका दृष्टान्त नहीं सुना ? एक बाजीगर था। एक समय वह अपनी स्त्रीको साथ लेकर एक राजाके यहाँ तमाशा दिखाने गया, राजासे प्रार्थना की कि मैं तमाशा दिखलाना चाहता हूँ। राजाने आज्ञा दे दी, तब उसने एक पतंग उड़ाई और कहने लगा कि 'अब मैं देवताओंसे लड़ने जाता हूँ, मेरी स्त्री यहीं रहती है, आप इसकी रक्षा कीजिये।' राजाने कहा, 'ठीक है।' तदनन्तर वह आकाशमें कुछ दूरतक तो पतंगकी डोरपर चढ़ता हुआ दीख पड़ा, फिर अदृश्य हो गया। कुछ ही देरमें आकाशमें तोपों और बन्दूकोंके शब्द होने लगे। कुछ समयतक ऐसे शब्द होते रहे, फिर सब क्या देखते हैं कि बाजीगरके धड़ और सिर अलग-अलग आकर जमीनपर गिर पड़े, सब लोगोंको बड़ा अचम्भा और दुःख हुआ। स्त्री कहने लगी कि 'मैं अपने पतिके साथ सती होऊँगी।' उस समय ऐसी ही प्रथा थी, सब लोगोंने कहा 'ठीक है।' बाजीगरकी देहको लोग स्मशानमें ले गये और चितापर रखकर अग्नि-संस्कार कर दिया। उसकी स्त्री भी साथ ही सती हो गयी। फिर सब लोग आकर बैठे तो थोड़ी ही देर बाद आकाशमें पुनः वैसे ही शब्द होने लगे। कुछ समय बाद वही बाजीगर उसी डोरके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहरे नीचे उतर आया और राजाको सलाम करके पूछने लगा कि—'मेरी स्त्री कहाँ है ।' राजाने कहा—'अभी तो हम तुम्हारी देहके साथ उसे सती करके आये हैं ।' उसने कहा—'यह कैसे हो सकता है, मैं तो अभी ज़िन्दा हूँ ।' इतना कहकर उसने अपनी स्त्रीको पुकारा, तब अन्दरसे आवाज आयी कि 'मुझे तो इन लोगोंने कमरेके अन्दर बन्द कर रक्खा है, मैं कैसे आऊँ ?' बाजीगरने कहा, 'सच है, राजा लोग बड़े लोभी होते हैं, दूसरोंकी स्त्रियोंको ज़बरदस्ती छीनना चाहते हैं ।' कमरा खोलनेपर वह स्त्री बाहर निकल आयी। बाजीगरने सलाम करके इनाम चाहा । राजाने उसे बहुत पुरस्कार दिया । सारांश यह कि जब एक साधारण बाजीगरके कार्य भी समझमें नहीं आते तो फिर महामायेश्वर भगवान्के कार्य कैसे समझमें आ सकते हैं !

× × ×

ठण्डे छींटे

(लेखक—श्रीवियोगी हरिजी)

(गतांकसे आगे)

१९-आश्चर्य ! सदा जिह्वापर शास्त्र रखनेवाले उस पण्डितको तुम धर्मवान् मानते हो ? तो फिर सम्भव है, कि इसी तरह हमेशा हाथमें शस्त्र रखनेवाले पुरुषको तुम वीर मानते होगे !

२०-सावधान ! इन प्रियवादी समर्थकोंके सरस समर्थनमें भूल न जाओ । खुदाका घर दूर है, बहुत दूर है ! ये सब तो तुम्हें खुदीकी राह दिखाकर अलग हो जायँगे ।

२१-इन कटुवादी निन्दकोंकी नीरस निन्दाका निरादर न करो। हो सके तो, इनकी अनमाँगी सहायतासे शैतानको ठुकरा दो। रामकी राह यही अप्रिय गुरुजन दिखायँगे ।

२२-भाई ! किसीपर दोषारोपण करना आज आसान है; किन्तु परम पिताके आगे अपनी सफ़ाई देना भी क्या उस दिन उतना ही आसान होगा ? सत्यके सामने तुम्हारा दम्भी द्वेष वहाँ कैसे टिक सकेगा ?

२३-क्षमा ही तो तुम्हारे पास आज सबसे बड़ी दैन है । खोल दो न मित्र, माफ़ीका वह भारी खज़ाना । दोनों हाथों लुटा दो न अपनी उस दिली दौलतको । करुणाके आशीर्वादसे रँगते बने, तो रँग लो अपनी प्यारी ज़िंदगीका यह मैला दामन !

२४-कितनी प्रसन्नताकी बात है, कि वे तुम्हारी निन्दा करके किसी प्रकार प्रसन्न तो हो जाते हैं । तुम्हें इसीमें सन्तोष कर लेना चाहिये, कि तुम अपने निन्दकोंकी प्रसन्नताके एक हेतु हो । फिर कहने दो भाई, मौजसे तुम्हारे बारेमें जिसे जो कहना हो !

२५-भाई ! तुम्हारे मुहँपर कोई थूक दे, तो बुरा मत मानो, बल्कि उसकी ओर मुसकरा दो । जिस दिन तुम अपने आलोचकके थूकको फूल समझने लगोगे, उसी दिन तुम्हें दयालु स्वामीके कृपा-कोषसे दुर्लभ 'अभयदान' मिल जायगा ।

२६- हाँ बताओ, जीवनका तुमने यदि कोई नया अर्थ लगाया हो । ऋषियोंने तो 'जन-सेवा' ही में उसका एकमात्र अर्थ लिया है । भोग तो उसका पर्यायवाची हो ही नहीं सकता और योग सेवाके अन्तर्गत आ जाता है ।

२७-ललित कलाओंके प्रति क्या यही तुम्हारी श्रेयस्करी भावना है ? मनुष्यताका तिरस्कार भी क्या कोई कला-प्रेम है ? मित्र ! इस सुन्दर सृष्टिमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्यता ही तो उस सुन्दरतम कलाकारकी अन्यतम कला है।

२८–दयानिधि क्राइस्टसे सम्बद्ध 'किरानी' शब्दको तुम क्यों घृणाकी दृष्टिसे देखते हो? शर्मसे मुहँ क्यों नहीं छुपा लेते? उस महात्माके पवित्र खूनके काले दाग आज भी तुम्हारे हृदयके विद्रोही वस्त्रपर लगे हुए हैं। मनुष्यो! अब भी उसके कृपालु 'क्रास' की करुणासे अपने-अपने पापोंको पखार डालो।

२९–प्यारे मौलाना साहब! तअज्जुब ही क्या, जो आपका वह मौजी मौला आज उस मोहन-मन्दिरमें बाँसुरी बजा रहा है और आपकी मसजिदकी गर्वीली गोपियोंको छकाकर प्रेमवती गीताकी सदा पर नचा रहा है?

३०–बुद्धकी शरणमें क्या हमें फिर जाना होगा? विमूढ़ विश्व शायद एक बार फिर उस तिरस्कृत 'शरण-त्रयी'के समन्वयमें अपने कल्याणका मार्ग देखेगा। हमारे इस सम्मोहन सुखवादने ही हमें निर्वाणके ब्रह्मानन्दसे विमुख कर दिया है। अतः अपनी भारी भूल हमें सुधारनी ही होगी।

३१–लोकमें अमुक जन-समुदाय तुम्हारी नवीन कार्य-पद्धतिका विरोध कर रहा है, तो करने दो। यह तो, भाई तुम्हारी सफलताका एक शुभ चिह्न है। परम पिता परमात्मासे प्रार्थना करते जाओगे, तो वह विरोधी समुदाय भी किसी दिन तुम्हारे ईश्वर-प्रेरित संघका एक बलिष्ठ अंग बन जायगा।

३२–ओ परिश्रान्त पथिको! पी लो प्रेमका यह दो घूँट ठण्डा-ठण्डा शर्बत। इसे पीकर पड़ रहो फिर मौजसे प्यारे रामके पैरोंके पास। तुम्हारे जीर्ण जीवनका एकमात्र लक्ष्य यही है न?

३३–एक बार खटखटाओ तो, भाई, उस प्यारे रामका दरवाज़ा। द्वार खुलेगा और तुम अन्दर जाओगे। एक बार पुकारो तो, मित्र, प्रेमसे उस प्यारे कृष्णको। वह सुनेगा और तुमसे दिल खोलकर मिलेगा।

३४–न जाने, धर्मके नामपर तुमने क्या-क्या ठूँस-ठूँसकर पेटमें भर लिया है। आश्चर्य! धर्मका अजीर्ण हो गया, पर खुदाके घरसे फिर भी तुम कोसों दूर रहे!!

३५–नहीं तो और कौन आज्ञा देगा? हमारे रामहीकी तो यह राजाज्ञा है। हाँ, भाई, यही कि—'धूल-भरे दलितों और पतितोंकी गीली आँखोंमें ईश्वरीय प्रेमका प्रकाश देखो।'

३६–सावधान! यों ही न अपरिपक्व विचारोंको जहाँ-तहाँ बिखेर देना। भोली-भाली दुनियाँ तुम्हारे मोहक वाग्जालमें फँस तो जायगी, पर अन्तमें तुम परम सत्यका तिरस्कार न कर सकोगे। मित्र! अन्तस्तलमें अपने प्रत्येक विचारको त्यागकी कसौटी पर कसकर ही जानता-जनार्दनके चरणोंपर चढ़ाना। यरवदा-मन्दिरके उस महान् तपस्वीसे भी पूछ देखो, वह क्या कहता है।

प्रभुजी!

विनती करी ही, ग्राह गजको गह्यो हो जब, कहा दौरि स्वामी! तब ताहि तुम तारौ ना?
विपदा हरी जबै पुकारी ही द्रुपदसुता, नाथ जू! तिहारे बिना एक हू हमारौ ना॥
प्रभुजी! सहारौ है तिहारौ ही निहारौ नेकु, बिगरी सुधारौ क्यों 'अवन्त' की सम्हारौ ना।
अरजी सुनो हो प्रभु! मरजी करौ हो श्याम! गरजी गरीबनपै गजब गुजारौ ना॥

अवन्तविहारी माथुर 'अवन्त'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यजीवनकी विशेषता

(लेखक—स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी)

संसारमें जीवन धारण कौन नहीं करता है? एक पशु भी प्रकृतिके दिये हुए अन्नसे परितुष्ट होकर अपनी निर्दिष्ट आयु बिताया करता है। परन्तु यथार्थ आर्यका सच्चा जीवन धारण तो वही है, जिसमें आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त होकर अपना और जगत्‌का परम कल्याण हो। प्रकृति माताका अन्न व्यर्थ ध्वंस करके विषयके मलिन प्रवाहमें अपने आत्माको डालकर जीवन बिताना तो अनार्य-जीवन है।

बाल्य-जीवनकी सार्थकता तभी होती है जब बालकपनके सदाचरण और शिक्षासे जवानीका जीवन धर्ममय और आत्माकी उन्नतिसे परिपूर्ण हो। यौवन-जीवन तभी सार्थक है जब उसकी पवित्रताके परिणामस्वरूप वृद्धावस्थामें आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त हो। वृद्धावस्थाकी तभी सार्थकता है जब उस अवस्थाकी मुनिवृत्तिके प्रतापसे पुनर्जन्म मधुरिमामय हो जाय। इस लोककी सार्थकता तभी है जब इस लोकके धर्म–पुरुषार्थके प्रभावसे परलोक सुधर जाय। जन्म वही सफल है, जिसके पुण्य साधनके फलस्वरूप पुनर्जन्म रुककर दुःखमय संसारमें जन्म-मरणका चक्र सदाके लिये शान्त हो जाय और मृत्यु वही यथार्थ है जिसके कारण अमृतके अतल समुद्रमें स्नान करके जीवको फिर कभी मरना न पड़े।

जीवनका एक मुहूर्त या एक अवस्था यदि दूसरे मुहूर्त या दूसरी अवस्थाकी उन्नतिका कारण हो तो वह मुहूर्त या अवस्था सार्थक है। अन्यथा दुःखमय संसारमें कौन नहीं जीता मरता? आर्य-संस्कृतिके अनुसार जीवन-यात्राका यही सिद्धान्त है। इसके विपरीत जो कुछ है सो तो अनार्य-विचार है।

आर्योंका आर्यत्व इसीमें है कि उनका जीवन आध्यात्मिक (Spiritual) है। उनके जीवनकी गति स्थूलमें प्रारम्भ हो आध्यात्ममें जाकर समाप्त होती है। हमारा लक्ष्य स्थूल नहीं है, आध्यात्मिक है। स्थूल जीवनका कोई भी मूल्य नहीं है यदि वह आध्यात्मिक जीवनमें बाधक हो या उसमें सहायक न हो।

तात्पर्य यह कि आर्य-संस्कृतिमें सभी शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ केवल आत्माकी उन्नतिके लिये होती हैं। लौकिक उन्नतिकी इच्छा भी आत्मोन्नतिमें सहायकरूपसे ही की जाती है। हमारा ब्रह्मचर्याश्रम तभी यथार्थमें ब्रह्मचर्याश्रम है, जब उसके द्वारा गृहस्थाश्रममें धर्ममूलक कर्म करनेकी शिक्षाप्राप्त हो; हमारे गृहस्थाश्रमके कर्म तभी धर्ममूलक यथार्थ कर्म हैं जब उनके द्वारा वानप्रस्थ और संन्यासाश्रमकी पूर्ण निवृत्तिमें सहायता मिले। हमारा वानप्रस्थाश्रम तभी सार्थक होगा, जब उसके द्वारा संन्यासकी यथार्थ सिद्धि हो और हमारा संन्यासाश्रम भी तभी सत्य और सफल होगा जब उसके फल-स्वरूप परम कल्याण-पदकी प्राप्ति हो। अन्यथा ब्रह्मचारी बनकर कपटाचारी बनना, गृहस्थ बनकर घोर विषयी होना, वानप्रस्थ बनकर बाहरी आडम्बरमात्र रखना और संन्यासी होकर असंयमी और प्रच्छन्न विषयी होना तो अनार्य-भाव है।

हमारा अग्निहोत्र यदि केवल स्थूल प्रकृतिपर प्रभाव डालकर वायुकी शुद्धिमात्र करके ही शक्ति-हीन हो जाय, तो वह आर्योचित अग्निहोत्र नहीं कहा जा सकता। आर्योचित तो वह तभी होगा, जब वह अग्निमुख देवताओंके साथ अधिदैव-सम्बन्ध स्थापन करके अधिदैव शक्तिकी प्रसन्नता तथा संवर्धनाके द्वारा संसारमें धन-धान्य, पशु-प्रजा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति-सुख और यश-समृद्धिकी वृद्धि करेगा। श्रीमनुजीने कहा है—

अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अग्निमें समर्पित आहुति सूर्यात्माको प्राप्त होती है, समस्त दैवी शक्तिके मूलरूप सूर्यात्माकी तृप्ति होनेसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। यही यथार्थमें आर्योचित होम है।

संसारमें पेट भरनेके लिये भोजन कौन नहीं करता, परन्तु आर्य-भोजन केवल उदर-पूर्तिके लिये नहीं होता, वह तो वैश्वानरको आहुति देकर उन्हें तृप्त करनेके लिये होता है। जीभकी तृप्तिके लिये भोजन करना तो अनार्य-भोजन है। भोजनसे स्थूल शरीरकी रक्षा होती है और स्थूलकी रक्षा होनेसे सूक्ष्म शरीरकी रक्षा होकर उसके द्वारा आत्मोद्धार करनेमें सहायता मिलती है। इसीलिये भोजन करना चाहिये। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

यज्ञके द्वारा परितुष्ट होकर देवतागण धनादि भोग्य वस्तु प्रदान करेंगे। परन्तु उनके द्वारा दी हुई वस्तुओंको उन्हें निवेदन न करके जो भोजन करता है वह चोर है। यज्ञसे बचा हुआ अन्न भोजन करनेपर जीव समस्त पापोंसे मुक्त होता है। केवल अपनी उदर-पूर्तिके लिये भोजन करना तो पाप भोजन करना है। इसप्रकार समस्त अन्न भी भगवान्के समर्पण कर उनका प्रसाद ग्रहण करना ही आर्योचित भोजन है। भोजनमें भगवत्-प्रसाद-बुद्धि उत्पन्न होनेसे भोग-बुद्धि नष्ट हो जाती है। भोजनके प्रति लोभ न होनेसे भोग्य वस्तुके द्वारा बन्धन नहीं होता है और प्रसाद-बुद्धिके फलसे पाप-नाश, शान्ति और आत्मोन्नति होती है।

आर्योंका भोजन इष्ट देवकी सेवाके लिये निवेदित अतिथि-सेवा और पोष्यवर्गकी सेवा आदिके द्वारा पवित्र होकर केवल शरीर-रक्षाके लिये ही किया जाता है। जिस भोजनमें यह सब लक्षण न पाये जायँ, वही अनार्य-भोजन है।

संसारमें धनकी इच्छाके परायण होकर अपना सारा पुरुषार्थ और समूची शक्ति केवल धन-सम्पत्तिकी प्राप्ति और वृद्धिके लिये लगा देना और उसीको जीवनका लक्ष्य बना लेना आर्योचित लक्ष्य नहीं है। जहाँपर स्थूल शरीरकी रक्षा भी आत्मोन्नतिके साधनमात्रके लिये है, स्थूल वैषयिक तृप्तिके लिये नहीं, वहाँ धन-सम्पत्तिका संग्रह जीवनका लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता।

आर्य-संस्कृतिमें परम पूज्य तथा परम श्रेष्ठ पुरुष वे माने जाते हैं जो कि गीतोक्त 'सम-लोष्टाश्मकाञ्चनः' (पत्थर और सोनेमें समबुद्धि) स्थितिको प्राप्त कर चुके हैं और जिनके सामने समस्त संसारकी सम्पत्ति तुच्छ है। इसप्रकार जहाँ त्यागकी महिमाको ही सर्वोत्तम माना गया है वहाँ भला धनलोलुपता कब आदर्श हो सकती है? इसीलिये आर्योंका अर्थोपार्जन विषय-विलासके लिये नहीं, किन्तु शरीर-यात्रा-निर्वाह और परोपकार-साधनके लिये होता है। इसके विपरीत जो कुछ होता है सो तो अनार्य-आदर्श है।

आर्य-जातीय-जीवनमें भावकी कैसी अपूर्व महिमा प्राप्त होती है। उसमें नीच-से-नीच कार्य भी भाव-शुद्धिद्वारा धर्ममय और अमृतमय बन सकता है। भाव-जगत्की यह विलक्षणता पुण्यश्लोक आर्य-संस्कृतिके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है।

काम-जैसा प्रबल शत्रु और काम-क्रिया-सदृश पाशविक क्रिया और क्या हो सकती है? परन्तु उसको भी सृष्टि-विस्तारके लिये आवश्यक, प्राकृतिक प्रेरणासे सम्बन्धित और एकापक त्याग करनेमें जीवकी असमर्थताकी ओर देखकर उसमेंसे भाव-शुद्धिद्वारा पशुताका अंश निकालकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसको भी आत्मोन्नतिमें ही सहायक बनानेका प्रयत्न किया गया है। इसीलिये आर्योंका विवाह-संस्कार कामकी प्रेरणासे इन्द्रिय तथा चित्तवृत्तिको काम-तरङ्गमें डालकर पशुभाव प्राप्त करनेके लिये नहीं होता, परन्तु स्वाभाविक विषय-स्पृहाको नियमबद्ध करके धीरे-धीरे उसे नष्ट करके निवृत्तिसेवी बननेके लिये होता है। आर्योंका गृहस्थाश्रम अनर्गल भोग-विलासमें लिप्त होनेके लिये नहीं, किन्तु प्रारब्ध-कर्म-जनित भोग-संस्कारको निर्बीज करके संन्यासकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये है। आर्योंमें पति-पत्नीका सम्बन्ध कामके दास बननेके लिये नहीं, किन्तु गर्भाधान-संस्कारके अनुसार 'धर्माविरुद्ध काम'के द्वारा संसारमें धार्मिक सन्तान उत्पन्न करनेके लिये है। यही आर्य-संस्कृतिकी विशेषता है। इसप्रकार जीवनकी सभी प्रवृत्तियोंको आध्यात्मिकरूपमें परिणत कर आर्य-संस्कृति मनुष्य-जीवनको उपासनामय और ज्ञानमय बना देती है; जिससे मनुष्यकी समस्त इन्द्रियोंकी गति अध्यात्म-सिन्धुकी ओर एवं बुद्धिवृत्तिकी गति सीधी ज्ञानार्णवकी ओर हो जाती है।

आर्य-नेत्र गंगा-यमुनाकी पवित्र धाराओंमें भगवान्की प्रेम-धाराकी झाँकी देखते हैं। हिमालयके विराट् शरीरमें भगवान्की विराट् मूर्तिका दर्शन करते हैं और समुद्रके अनन्त विस्तार तथा गम्भीरतामें भगवान्की असीम उदारता और अनादि अनन्त शक्तिका परिदर्शन करते हैं।

इसीप्रकार पुष्पोंके अविश्रान्त विकासमें आनन्दकन्द भगवान्की आनन्द-सत्ता देखना, वसन्ती विलास तथा वर्षाके प्राकृतिक सौन्दर्यमें चिदानन्दकी लहराती हुई लहरें निरीक्षण करना, तारागण-सुशोभित गम्भीर अमानिशाके गगनमें दिव्य ज्योतिर्मय अक्षर-संग्रथित भगवत्-भजनावली-का दर्शन करना, मत्त मयूरोंके थिरक-थिरककर नाचनेमें श्यामसुन्दरकी नाट्य-लीलाओंको निरखना, आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्य जगत्की नित्य गतिको शान्ति-मय सच्चिदानन्द समुद्रकी ओर उपासनाकी अनन्त नदियोंकी गतिके रूपसे देखना और देखते-देखते भावसिन्धुके उमड़ आनेसे भावमय विराट् भगवान्के अनन्त स्वरूपोंमें सान्त देह, मन और प्राणको विलीन करके परम निःश्रेयस् पदको प्राप्त करना ही आर्य-नेत्रोंका यथार्थ दर्शन और चरम परिणाम है।

आर्य-जातिके कर्ण कोलाहलमय संसारके कौतूहलप्रद अनन्त नादमें व्याकुल नहीं हो जाते, किन्तु सकल नादोंके मूलमें ओंकारके अविच्छिन्न मधुर गम्भीर नित्य निनादको सुनते हैं। जाह्नवी तथा यमुनाकी तरङ्ग-भङ्गिमामें श्रुति-विमोहन मधुर सुधा-सङ्गीतका आस्वादन करते हैं। प्रभातके विहङ्ग-गानमें और भ्रमरोंकी गुञ्जारमें भगवान्की स्तुति सुनते हैं यही आर्य-कर्णोंकी विशेषता है।

आँखोंमें चाहे दूरवीक्षण या अणवीक्षण (दुरबीन या क्षुद्रबीन) यन्त्रका संयोग हो जाय, कानोंकी शक्ति वैज्ञानिक यन्त्रके योगसे चाहे बढ़ जाय, परन्तु यदि आर्य-नेत्र संसारके समस्त दृश्योंकी विलास-कलामें भगवल्लीला-माधुरीका निरीक्षण न कर सकें, या आर्य-कर्ण दसों दिशाओंमें लीलामय परमात्मा श्रीकृष्णकी मधुर वंशी-ध्वनि न सुन सकें तो भारत-जननीकी पवित्र गोदमें ऐसे आर्य-ज्ञान-गुण-हीन सन्तानकी उत्पत्ति ही केवल वृथा भारमात्र ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

संसारके समस्त भावोंके मूलमें भगवद्भावका अनुभव करना ही आर्य-मनकी आर्यता है। संसारकी सम्पूर्ण सत्ताओंमें ब्रह्म-सत्ताकी उपलब्धि करना ही आर्य-बुद्धिकी चरितार्थता है। जब हम अपने जीवनकी गतिको उपर्युक्त आदर्शके अनुकूल बना सकेंगे, तभी स्पर्द्धाके साथ भगवान् शङ्करकी वाणीमें ऐसा कह सकेंगे कि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः
प्राणाः शरीरं गृहं,
पूजा ते विषयोपभोग रचना
निद्रा समाधिस्थितिः ।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः
स्तोत्राणि सर्वा गिरो,
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं
शम्भो तवाराधनम् ॥

हे भगवन्! आप आत्मा हैं, जगदम्बा मति है, पञ्च प्राण सहचर हैं और शरीर गृह है। समस्त विषय-भोग भोगके लिये नहीं, किन्तु आपकी पूजाके लिये हैं। निद्रा तमोगुणकी परिणामरूपा नहीं है किन्तु समाधिरूप शान्तिमें विश्राम—आनन्द—भोगरूप है। इधर-उधर घूमना आपकी अनन्त मूर्तिकी प्रदक्षिणा करना है, जो कुछ बोला जाता है सो सभी आपकी स्तुतिरूप है और कर्ममात्र विषय-विलासमय संसारमें भोग प्रवृत्तिके लिये नहीं, किन्तु आपकी आराधनारूप हैं।

इसप्रकार समस्त कार्य, समस्त चेष्टाएँ और समस्त चित्तवृत्तियाँ जब भगवत्-कार्य तथा भगवद्भावमें ही भावित हो जाती हैं, तभी आर्य-जीवन उपासनामय होकर आध्यात्मिक उन्नतिकी चरम सीमामें पहुँच सकता है।

यही कल्याणवाहिनी आर्य-जीवन-तरङ्गिणीकी सच्चिदानन्द-समुद्रकी ओर अविराम गति है और यही अनार्य-संस्कृतिसे आर्य-संस्कृतिकी विशेषताका एक प्रधान लक्षण है।

श्रीरामचरित-मानसके मार्मिक प्रसङ्ग

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने श्रीरामचरित-मानसमें तीन चौपाइयोंकी अक्षरशः दो बार रचना कर एक बड़े गूढ़ आशयको व्यक्त किया है। मानस-प्रेमियोंके विनोदार्थ यहाँ उनका कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है। चौपाइयाँ ये हैं—

(१)

सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥

(२)

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे॥

(३)

उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म जीव बिच माया जैसे॥

अब इनपर क्रमशः विचार करना है—

(१) बालकाण्डके ८७ के दोहेमें श्रीरामजी प्रकट होकर भगवान् शिवसे विवाह करनेके लिये अनुरोध कर रहे हैं। यथा—

अब बिनती मम सुनहु शिव, जो मोपर निज नेहु।
जाय बिबाहहु शैलजहि, यह मोहिं माँगे देहु॥

इसीके बाद यह चौपाई है कि—

'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥'

अभिप्राय यह, कि विवाह न करना ही उचित धर्म था, परन्तु स्वामीकी आज्ञा तो परम धर्म है। दूसरी बार यही चौपाई अयोध्याकाण्डके २०४ के दोहेके नीचे तीसरी चौपाईके रूपमें है, जो महर्षि भारद्वाजके आतिथ्य स्वीकार करा लेनेपर श्रीभरतजीने कही है। 'भयउ कुअवसर कठिन सकोचू' की स्थितिमें 'जानि गरुइ गुरु गिरा बहोरी' हाथ जोड़ चरण-वन्दना करते हुए भरतजी महाराज कहते हैं कि—

'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥'

अर्थात् विरक्त ऋषिका अन्न ग्रहण न करना ही धर्म था परन्तु आज्ञा-पालन करना परम धर्म है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोस्वामीजी महाराज कोई साधारण कवि तो थे ही नहीं, जिन्हें उपर्युक्त भावको प्रकट करनेके लिये दूसरे शब्दोंकी स्फुरणा ही न हुई हो और इसलिये बाध्य होकर पुनरुक्ति करनी पड़ी हो। गुसाईंजी एक महाकवि थे और उन्होंने समझ-सोचकर ही इस सिद्धान्तको अक्षरशः अटल प्रमाणित किया है, कि भगवत् और भागवतकी आज्ञा पालन करना ही जीवका परम धर्म है। इस सिद्धान्त-को आपने निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों ही मार्गोंके सर्वशिरोमणि आचार्योंके मुखसे एक ही शब्दोंमें प्रकट कराया है। भगवान् शिवजी निवृत्ति-निष्ठाके अवधि हैं—'वैष्णवानां यथा शम्भुः'; और महाराज श्रीभरतजी प्रवृत्ति-निष्ठाके मुकुटमणि हैं—'भरत भवन बसि तप तनु कसहीं।' मानसमें उनके शिरोमणि होनेके अनेक प्रमाण हैं, यथा—

'भगत-शिरोमणि भरत तें, जनि डरपहु सुरपाल।'

श्रीमुखके भी वचन हैं—

'पुण्य सलोक तात तर तोरे।'

अतएव सन्त और भगवन्तकी आज्ञाका पालन ही परम धर्म है; चाहे गृहस्थ हो या विरक्त। यही जीवमात्रका सर्वोत्तम कर्तव्य है। इस महान् सिद्धान्त-की पुष्टि दोनों भक्त-शिरोमणियोंके श्रीमुखसे एक ही शब्दोंमें करवाकर ग्रन्थकारने यह सिद्ध कर दिया है कि यह सिद्धान्त अक्षरशः सत्य है, इसमें एक मात्रा भी घटाने-बढ़ानेको गुंजाइश नहीं है।

(२) दूसरी चौपाई अयोध्याकाण्डके ८५ के दोहेके पश्चात् शृंगवेरपुरके नर-नारियोंके मुखसे श्रीरामके वन-गमनको देखकर क्षोभ प्रकट करते हुए कहलायी गयी है। यथा—

राम लषण सिय रूप निहारी। कहहिं सप्रेम ग्राम नर-नारी॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे॥

दूसरी बार यही चौपाई श्रीयमुनाके पार पहुँचने-पर तीर-निवासियोंने पछतावा करते हुए कही है, जो मानसमें 'तापस-मिलन' के पश्चात् १०६ के दोहेके बाद सातवीं चौपाई है। इस चौपाईके दुबारा रचे जानेका प्रधान कारण तो श्रीगोस्वामीजीके मनकी मुग्धता है, जो प्रभुके साक्षात् मानसिक-मिलनके समय हुई थी। इस विषयका पूर्ण विवेचन 'रामचरित-मानसका गुप्त तापस' शीर्षक लेखमें किया जा चुका है, अतएव उसके दुहरानेकी आवश्यकता नहीं। दूसरा भाव यह है, कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताकी सिर-आँखोंपर रखने लायक सुकोमल मनोहर त्रिमूर्तियोंका जंगलके कठिन मार्गमें पैदल चलना प्रत्येक नर-नारीके लिये असह्य हो गया था, इसीसे जहाँ-तहाँ सबके मुखसे हर जगह यही शब्द निकल रहे थे, कि 'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे॥'

(३) यह चौपाई प्रथम अयोध्याकाण्डके दोहा ११८ के पश्चात् दूसरी चौपाईके रूपमें है, जहाँ लगातार तीन उपमाएँ दी गयी हैं। यथा—

'आगे राम लषन बन पाछे। तापस बेष बिराजत काछे॥
उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म जीव बिच माया जैसे॥

बहुरि कहौं छबि जसि मन बसई।
जनु मधु मदन मध्य रति लसई॥
उपमा बहुरि कहौं जिय जोही।
जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥'

यही चौपाई ज्यों-की-त्यों पुनः अरण्यकाण्डमें श्रीअत्रि मुनिसे विदा होनेके पश्चात् सोरठा ६ के बाद तीसरी चौपाईके रूपमें आयी है। इसके दुबारा रचित होनेका हेतु बतलानेके पूर्व उपर्युक्त तीनों उपमाओंका रहस्य बतलाना आवश्यक है।

(क) प्रथम उपमामें श्रीरामजी ब्रह्म हैं, श्री-लखनलालजी जीव हैं और इन दोनोंके मध्य श्रीसीताजी माया हैं। परन्तु 'सोहति' शब्द देकर ग्रन्थकारने यहाँ बन्धनकारिणी अविद्या माया और भेदकरी विद्या माया इन दोनों प्रकृतिरूपा यवनिका-से विलक्षण भगवान्की नित्य आह्लादिनी शक्ति साक्षात् श्रीदेवीजीका लक्ष्य कराया है, जिसकी तारतम्यता दिव्य वैकुण्ठकी घटनाको सूचित कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रही है। प्राकृत माया तो जीव-ब्रह्मके साक्षात्कारमें आवरणरूप बनी हुई है—

'मायाच्छन्न न देखिये जैसे निर्गुण ब्रह्म।
पुरइन ओर सघन जल बेगि न पाइय मर्म॥'

वह तो मोह और अज्ञानकी हेतु है 'नाथ जीव तव माया मोहा' 'तव मायावश फिरौं भुलाना' अतएव यह संसारी माया 'सोहति' नहीं बल्कि 'मोहति' है। इस मायाकी उपमा श्रीसीताजीके लिये संगत नहीं हो सकती। फिर श्रीलखनलालजीके— जिनको कि जीवकी उपमा दी गयी है—श्रीसीताजी ध्येय (सेव्य) हैं और यह संसारी माया हेय (त्याज्य) है। इसलिये भी यहाँ संसारी माया नहीं समझनी चाहिये। यह उपमा तो परधामके उस मुख्य अवसरकी है, कि जब यह जीव संसारी मायासे मुक्त होकर नित्य धामको प्राप्त हो, परम प्रभु श्रीनिवास वैकुण्ठनाथ पूर्ण ब्रह्मके सम्मुख उपस्थित होता है, तब बीचमें स्वयं श्रीअम्बा साक्षात् लक्ष्मीजी खड़ी होकर भगवान्‌से अनुरोध करती हैं, जिससे उस चेतनको भगवान् स्वीकार करते हैं। उस समय ब्रह्म और जीवके बीच श्रीलक्ष्मीजीकी जो शोभा होती है, वही शोभा यहाँ श्रीरघुनाथजी और श्रीलखनलालजीके बीच श्रीसीताजीकी है। *

श्रीसीताजीका बीचमें चलना श्रीलखनलालजीके सेवाधर्मको प्रकट करनेका कारण बनकर उनके भगवान्‌को अनुरोध करनेके कर्तव्यका भी औचित्य सिद्ध कर रहा है। मानसकार लिखते हैं—

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता।
धरति चरण मग चलति सभीता॥
सीय-राम-पद-अंक बराये,
लखन चलहिं मग दाहिन लाये †॥

अभिप्राय यह कि, श्रीसीताजी भगवान् श्रीरामके पद-चिह्नोंको बचा-बचाकर चल रही हैं और भगवान्‌के चरण-चिह्नोंके बीचकी जगहपर बड़ी सावधानीसे अपने पैर रखती हैं, जिससे कहीं स्वामीकी चरण-रेखपर उनके पैर न टिक जायँ। श्रीलखनलालजी तो दोनोंके सेवक ठहरे, अतः वे स्वामी-स्वामिनी दोनोंके चरण-चिह्नोंको बचाकर चलना चाहते हैं। बीचमें तो उन्हें पैर रखनेकी कहीं जगह मिलती नहीं, इसलिये वे श्रीराम-सीताको अपनेसे दाहिने लेकर उनसे बाँये चल रहे हैं। यों करनेसे अपने दोनों सेव्योंके चरण-चिह्न दाहिने रहनेसे उनका सम्मान भी हो रहा है और राहसे हटकर चलनेसे प्रेम-भावकी निष्ठा भी स्पष्ट सिद्ध हो रही है—

'रीति चलिबेकी भली प्रीति पहिचानिये।'
(गीतावली)

यह प्रथम उपमा ऐश्वर्य-सूचक है जिसके द्वारा श्रीसरकारके परधामकी तारतम्यताका लक्ष्यकर यह बतलाया गया है, कि श्रीरघुनाथजी साक्षात् वैकुण्ठनाथ परविष्णु (वासुदेव) हैं, श्रीसीताजी साक्षात् अम्बा श्रीलक्ष्मी देवीजी हैं और श्रीलखनलालजी नित्यमुक्त जीव साक्षात् श्रीशेषजी हैं, इसमें शेष-शेषी भाव है।

* प्राचीन अलवारोंके आप्त वचन हैं, कि जब श्रीअम्बाजी जीवको स्वीकार करनेके लिये भगवान्‌से अनुरोध करती हैं, तब प्रभु उनसे पूछते हैं, कि 'इस जीवकी किस योग्यतासे मैं इसे स्वीकार करूँ।' उस समय श्रीअम्बाजीका हृदय चेतनपर इतना करुणापूर्ण रहता है, कि वह भगवान्‌से विनय करती हैं, कि 'हे नाथ! आप किञ्चित् भी विलम्ब न करके पहले इसे स्वीकार कर लें, तदनन्तर मैं इसके गुण सेवामें निवेदन करूँगी।'

† किसी-किसी प्रतिमें 'दाहिन लाये' की जगह 'दाहिन बाँये' पाठ शुद्ध माना गया है, परन्तु ऐसा माननेसे बड़ा अनर्थ हो जाता है; मानो लक्ष्मणजी कभी दाँये और कभी बाँये कूद-कूदकर चल रहे हैं, कूदनेसे चरण-चिह्नोंका उल्लंघन होता है—अपने चरणोंकी रज उनपर पड़ती है और दाहिने चलते समय चरण-चिह्नोंके बाँये रह जानेसे उनका अनादर भी होता है। इन सब कारणोंको देखते 'दाहिन लाये' पाठ ही शुद्ध और मूल सिद्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

(ख) दूसरी उपमामें श्रीरामजी मदन (कामदेव) हैं, श्रीलखनलालजी मधु (वसन्तऋतु) हैं और श्रीसीताजी रति (कामदेवकी स्त्री) की भाँति बीचमें सुशोभित हैं। यह उपमा सौन्दर्य-सूचक है। श्रीरामजीका सौन्दर्य मदन-सदृश है, श्रीसीताजी-का रतिके समान है और श्रीलखनलालजी ऋतु-राजकी भाँति प्रफुल्लित हैं। इसमें सेव्य-सेवक भाव है। जैसे मदन-रतिका सेवक वसन्त ऋतु है 'निज माया वसन्त निर्मयऊ' वैसे ही श्रीसीता-रामजी स्वामिनि-स्वामी हैं और श्रीलखनलालजी सेवक हैं जो प्रफुल्लित-चित्तसे सदा सेवामें तत्पर हैं—

'सेव्य सेवक भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।'

(ग) तीसरी उपमामें श्रीरामजी विधु (चन्द्र-देव) हैं, श्रीलखनलालजी बुध (चन्द्रमाके पुत्र) हैं और श्रीसीताजी रोहिणी (चन्द्रदेवकी स्त्री, बुधकी माता) की भाँति शोभित हो रही हैं। यह उपमा माधुर्य-सूचक है। जैसे चन्द्रमा और रोहिणीके पुत्र बुध हैं, वैसे ही यहाँ श्रीलखनलाल पुत्र-स्थानीय हैं और श्रीसीता-रामजी माता-पिता हैं—

'तुलसी सुखी निशोच राज ज्यों बालक माय-बबाके।'

पुत्रपर माता-पिताका जैसे स्वाभाविक स्नेह होता है, वैसे ही यहाँ श्रीसीता-रामजीका लखन-लालजीके प्रति भाव है, इस उपमासे पारस्परिक प्रीति सूचित हो रही है।

तीनों उपमाओंमें क्रमसे सुलभ, सुलभतर और सुलभतमका भाव दिखाया गया है, अर्थात् शेष-शेषी भावकी निष्ठा ज्ञानादि साधनोंकी अपेक्षा सुलभ है। सेव्य-सेवक भावकी उसकी अपेक्षा सुलभतर है और पिता-पुत्र भावकी तो सबकी अपेक्षा सुलभतम है, क्योंकि सेवकके लिये भी सचेत रहना आवश्यक है, सावधानीसे सेवा करनेसे ही स्वामी प्रसन्न रहते हैं, परन्तु छोटे बालकके लिये तो अनन्य गति ही पर्याप्त है, उसका पालन-पोषण, योग-क्षेम माता-पिता स्वयमेव करते हैं—

गह शिशु बिच्छु अनल अहि धाई। तहँ राखहिं जननी अरगाई॥

इसी सुलभ, सुलभतर और सुलभतमके भावको दिखलानेके लिये ही प्रथम उपमाके पदमें 'सोहति' शब्द आया है जो नेत्र-इन्द्रियका बाह्य विषय है। दूसरीमें 'जस मन बसई' कहकर मनकी टटोल की गयी है, और तीसरीमें 'उपमा बहुरि कहौं जिय जोई' से यह लक्ष्य कराया गया है कि तीसरी बार हृदयमें ढूँढ़कर अर्थात् दिलकी टटोली हुई उपमा दी जा रही है, परन्तु निष्ठाओंकी साधनावस्थामें ही सुलभताके यह भेद हो जाते हैं; अन्तिम परिणाम तो 'सर्व भाव भजु कपट तजि' का भगवत्-धाममें उसी अवस्थाकी प्राप्ति है—जिसका निर्देश प्रथम उपमा 'ब्रह्म जीव बिच माया जैसे' में किया गया है। तात्पर्य यह, कि उपर्युक्त निष्ठाओंद्वारा यह जीव मुक्त होकर जब कभी भगवान्‌के परधाममें भगवान्‌के द्वारा स्वीकृत होगा तो श्रीअम्बाजीके अनुरोधसे ही होगा। इसी महान् अनुकम्पाकी आनन्दमयी अवस्था और ऐसे अखण्ड नित्य ऐश्वर्यकी प्रामाणिकता बतलानेके लिये इस चौपाईके शब्दोंको अक्षरशः दुहराकर गोस्वामीजीने बड़े ही महत्त्वका काम किया है। यही तीसरी चौपाईके दुबारा आनेका कारण है।

उपर्युक्त तीन चौपाइयोंको छोड़कर और कोई पूरा पद मानसमें ऐसा नहीं मिलता जो अक्षरशः ज्यों-का-त्यों दुहराया गया हो। किसी मानस-प्रेमीको मिला हो या भविष्यमें मिले तो उसकी सूचना पानेपर यथाशक्ति उसके भावकी भी खोज करनेका प्रयत्न किया जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणजी शर्मा, शास्त्री)

ऋषिप्रणीत संस्कृत-साहित्यमें कितने ही शब्द-प्रयोग ऐसे मिलते हैं जिनका भावार्थ स्फोरित करनेके लिये भारी गवेषणाकी आवश्यकता होती है। उनमें 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इस भगवद्गीताके प्रथमाऽध्यायके प्रथम श्लोकके प्रथम पादमें 'धर्मक्षेत्रे' यह भी एक पद है। भगवद्गीतापर आजतक अनेक भाषाओंमें अनेक प्रकारकी व्याख्याएँ प्रकट हो चुकीं, परन्तु आरम्भके इस चरणमें कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र क्यों कहा गया है इस बातका रहस्योद्घाटन अबतक कहीं भी देखनेमें नहीं आया है। इस विषयमें सामान्यरूपसे लोगोंकी यह धारणा है कि जैसे काशी, नैमिषारण्य, प्रयाग आदिको धर्म-सम्पादन करनेका स्थान होनेके कारण धर्मक्षेत्र कहा जा सकता है, उसी प्रकार कुरुक्षेत्र भी पुण्य-भूमि होनेसे धर्मक्षेत्र कहकर पुकारा गया है; परन्तु गवेषणासे मालूम होता है कि यह बात इतनी-सी ही दूर जाकर समाप्त नहीं हो जाती, वास्तवमें कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र कहनेमें ग्रन्थकारका तात्पर्य कुछ और ही है।

वह यह है कि धर्मशास्त्रने जो मनुष्य-जातिको लोक-व्यवहार-व्यवस्थाका पाठ पढ़ाया है उसका उद्गम-स्थान कुरुक्षेत्र ही है। धर्मशास्त्रका प्रवर्तक होनेके कारण ही कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र यह अनन्य-साधारण उपाधि प्राप्त हुई है। इस बातकी पुष्टिपर यहाँ अन्य भी कतिपय प्रमाण-वचन उद्धृत करके दिखलाये जाते हैं।

कर्णपर्व अध्याय ४५ में जहाँ कर्ण और मद्राऽधिप शल्यका कुत्सापूर्ण संवाद चला है वहाँ एक श्लोक ऐसा है, जिसके द्वारा उस समयके भारतवर्षकी जनताकी परिस्थितिपर प्रकाश डाला गया है। वह श्लोक यह है—

ब्राह्मं पाञ्चालाः कौरवेयाश्च धर्म्यं
सत्यं मत्स्याः शौरसेनाश्च यज्ञम्।
प्राच्या दासा वृषला दाक्षिणात्या
स्तेना बाह्लीकाः संकरा वै सुराष्ट्राः॥

इसमें कहा गया है कि पाञ्चाल—अर्थात् नैमिषारण्य-प्रान्तकी प्रजा वेदाभ्यास करनेमें प्रसिद्ध है और कुरुक्षेत्रकी जनता धर्माधर्मकी व्यवस्थाको माननेमें अधिक प्रसिद्ध है। मत्स्यदेश-अर्थात् इस समयके जयपुर, अलवर-प्रान्तकी प्रजा सत्य-भाषणके नामसे अंकित है और शूरसेन—अर्थात् व्रजभूमिके लोग यज्ञ-यागादि करनेमें विशेष ख्याति प्राप्त किये हुए हैं। अंग, बंग, कलिंग, मगध आदि देशोंके मनुष्य दास-स्वभावके, दक्षिणके अधर्मी, बाह्लीक—पञ्जाब—प्रान्तके देशविशेषके लोग चोरी, लूट-खसोट करनेमें प्रसिद्ध हैं। इत्यादि………।

इस श्लोकमें कुरुक्षेत्रको धर्माधर्मकी व्यवस्था-माननेमें अग्रसर बतलाया गया है; जिसकी कि 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इस गीताजीके पाठके साथ सम्पूर्ण रूपमें तुलना होती है। सुतरां इससे स्पष्ट हो जाता है कि पवित्र स्थान होनेके सामान्य कारणको लेकर कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र नहीं कहा गया है, अपितु व्यवहारके धारक नियमोंका आदि प्रवर्तक होनेसे उसे धर्मक्षेत्र कहनेमें आया है।

इस मतकी पुष्टिमें अन्य भी अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। महाभारतके उद्योग-पर्वमें जहाँ पाण्डवोंका दौत्य करनेके लिये श्रीकृष्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान् कौरव-सभामें गये हैं वहाँ दुर्योधनको उपदेश करते हुए आपने कहा है कि—

कृपाऽनुकम्पाकारुण्यमानृशंस्यं च भारत ।
क्षमाऽर्जवं तथा सत्यं कुरुष्वेतद्विशिष्यते ॥

कृपा—अन्यके सुखके लिये यत्नशील होना, अनुकम्पा—अन्यके दुखसे दुखी होना, कारुण्य—अन्यके दुःख-निवारणार्थ तत्परता दिखलाना, आनृशंस्य—अन्यको दुःख न पहुँचाना आदि गुणोंमें कुरुवंशी जनता प्रसिद्ध है, एवं क्षमा, आर्जव, सत्यप्रियता आदि गुण भी उसमें विशेषरूपसे चमकते हैं। अतः कौरव-कुलकी ओरसे उक्त गुणोंके विरोधी भावोंका प्रकट होना कदापि समर्थनीय नहीं हो सकता, इत्यादि ।

यहाँ भी कृपा—अनुकम्पा आदि समाजके धारक गुणोंको कुरुक्षेत्रकी जनताकी ओरसे आश्रय मिलनेकी बात विशेषरूपसे उल्लिखित हुई मिलती है। इसी प्रकार-

रेवातीरे तपः कुर्यात् मरणं जाह्नवीतटे ।
दानं दद्यात्कुरुक्षेत्रे पिण्डं दद्याद्गयाशिरे ॥

इत्यादि निबन्ध ग्रन्थोंके श्लोकोंमें जो दानकी महिमाको कुरुक्षेत्रके साथ बढ़ाया है उससे भी वहाँकी जनताकी धार्मिक भावोंमें श्रेष्ठता ही विदित होती है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि पिता प्रजापतिका रूप; माता वसुन्धरादेवी; आचार्य ब्रह्मदेव; बड़ा भाई इन्द्र; स्त्री श्री; बड़ी बहिन और भौजाई मातृ-समान; छोटी बहिन, कनिष्ठ भ्राताकी स्त्री और पुत्रवधू ये पुत्री-समान; आदि जो व्यवहारकी बातें मध्यदेशकी जनतामें आज प्रचलित हुई दिखायी देती हैं और जन्म, मृत्यु, विवाह आदिके प्रसङ्गोंपर जो रीतियाँ समाजमें बद्धमूल हुई दिखायी देती हैं उनका उद्गम-स्थान कुरुक्षेत्र है। बस, इसी आशयको लेकर कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र कहनेमें आया है।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

२३६-वास्तवमें जैसा न हो वैसा दिखलाना धूर्तता है। यह कपट है, इससे मनुष्यका यथार्थ स्वरूप छिप जाता है। यह दम्भका ही एक प्रकार है। यह गीता (१३-७) के 'अदम्भित्वम्' का विरोधी है। धूर्त मनुष्य अपने असली रूपको छिपाकर केवल दूसरोंसे धन या दूसरी वस्तु खींचनेकी गरजसे ही बनावटी रूप धारण करता है।

२३७-ईर्ष्या सहनशीलताके अभावको कहते हैं, यह द्वेष और घृणाका ही एक रूप-विशेष होता है।

२३८-जब द्वेष लगातार बना रहता है तो वह अमर्षका रूप धारण करता है।

२३९-दर्प अभिमानका एक रूप है। यह असन्तोषकी अनधिकार चेष्टा है। यह अपनी मर्यादासे अधिक दावा करना है।

२४०-धृष्टता प्रकृतिके आगे बढ़कर जाना है। वह उद्दण्डता है जो दूसरोंके प्रति तिरस्कारके बर्तावके रूपमें प्रकट होती है। इससे मनुष्य उद्धत हो दूसरेका अनादर कर बैठता है। यह पाशविक धूर्तता है। इससे व्यवहार और बोलचालमें असभ्यता आती है। यह बिल्कुल ही बेहूदा और अनादरणीय स्वभाव है। धृष्टता एक भद्दी और उद्दण्ड नीति है जो प्रचलित सामाजिक नियमोंका तिरस्कार करती है। धृष्ट मनुष्य दूसरोंकी भावनाओंकी रञ्चकमात्र परवा नहीं करता। वह किसीके प्रति घृणा अथवा अपनी उत्कृष्टता दिखलानेकी गरजसे अपने व्यवहार या बातचीतके द्वारा वैयक्तिक आक्रमण कर बैठता है।

२४१-साधकको २३५ से २४० तक कही गयी इन सारी वृत्तियोंका पूरा-पूरा त्याग कर देना चाहिये। वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आसुरी सम्पत्ति है। करुणा, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दया आदि दैवी सम्पत्तियोंके बढ़ानेसे आसुरी सम्पत्ति दूर हो जायगी। सदा अनुभव करो कि तुम शुद्ध सत्, चित्, आनन्द, व्यापक आत्मा हो। यह सारे दुर्गुण नष्ट हो जायँगे और सात्त्विक गुण अपने-आप प्रकट हो जायँगे।

२४२–कभी-कभी मनके लिये अन्तःकरण शब्दका प्रयोग किया जाता है; इसमें मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार इन चारोंका समावेश होता है। इसका व्यापक अर्थमें प्रयोग करते हैं। इसका अर्थ है आन्तरिक साधन। अन्तः यानी आन्तरिक, और करण यानी साधन। यह आन्तरिक साधन है जिनके द्वारा तुम प्रत्यक्ष करते हो, अनुभव करते हो, सङ्कल्प करते हो और विचार करते हो।

२४३–वृत्तिका अर्थ है घूमना, यह एक विचारकी तरङ्ग है जो अन्तःकरणमें उठती है।

२४४–अन्तःकरणकी वृत्तियाँ इन्द्रियोंके द्वारसे निकलती हैं और विषय-अज्ञानको दूरकर विषयाकारको ग्रहण करती हैं और विषयको तुम्हारे सामने उपस्थित करती हैं। वृत्तियोंका मुख्य कार्य आवरण-भंग है, वे स्थूल अविद्याके परदेको दूर करती हैं जोकि सब विषयोंको ढके रहता है।

२४५–अविद्याहीके कारण तुम 'मैं अप्रसन्न हूँ' इसप्रकारकी वृत्तिके साथ अपना अभेद करते हो।

२४६– बुद्धि ही विषयोंका विवेचन करती है।

२४७–कूटस्थब्रह्म ही—जो कि जीव और उसके कर्मोंका निर्विकार साक्षी है—साफ-साफ सारी बातें समझता है।

२४८–ब्रह्म कोई विषय नहीं, वह अचिन्त्य और अदृश्य है। साक्षात्कारके द्वारा उसका अनुभव होता है।

२४९–प्रपञ्चके जाननेके लिये इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीवोंकी आवश्यकता है।

२५०–इन्द्रियाँ विषयको देखती हैं, मन इसको प्रकट करता है। बुद्धि-चैतन्याभासकी सहायतासे इसका निश्चय करती है।

२५१–ब्रह्म तो सर्वसाक्षी होनेके कारण सब कुछ देखता है, परन्तु इन्द्रियाँ ब्रह्मको नहीं देख सकतीं। इन्द्रियाँ जड़ हैं। ब्रह्मको देखनेके लिये नेत्रकी जरूरत नहीं पड़ती। वह अपने-आप ही अपनेमें अपने-आपको देखता है। वह सम्पूर्ण विश्वको विवर्तरूपसे अपना ही संकल्प जानता है, वह इन्द्रियोंको प्रकाश और शक्ति प्रदान करता है।

२५२–उसे प्रत्यक्ष करने, विचारने और मनन करनेके लिये अन्तःकरणकी आवश्यकता नहीं। वह स्वयंप्रकाश है, वह प्रत्येक वस्तुको प्रकाश प्रदान करता है। वह चित्स्वरूप है। वह चिद्घन है। वह ज्ञानकी राशि है। वह आत्मज्ञानके द्वारा सब कुछ जानता है। वह अन्तःकरण-को प्रकाश प्रदान करता है।

२५३–ध्यानमें चार प्रकारके विघ्न होते हैं—लय (निद्रा), विक्षेप (मनका एक विषयसे दूसरे विषयपर भटकते फिरना), कषाय (विषय-सुखकी स्मृति) और रसस्वाद अर्थात् सविकल्प समाधिसे प्राप्त सुख। सविकल्प समाधिसे प्राप्त सुख भी एक प्रकारका विघ्न ही है, क्योंकि यह तुम्हें निर्विकल्प अवस्थामें पहुँचनेमें बाधा देता है। इससे व्यर्थकी तुष्टि मिलती है जिससे तुम साधनामें आगे नहीं बढ़ सकते। मनको इन सारे विघ्नोंसे बचाये रखना चाहिये, क्योंकि तभी तुम शुद्ध अद्वैत निर्विकल्प अवस्थामें प्रवेश कर सकते हो। इस परमावस्थाको प्राप्त होनेमें विचार और ब्रह्मभावना ही सहायक होते हैं।

२५४–सामान्यतः साधनाहीन पुरुषके मनमें एक समयमें कई प्रकारके विचार उठते हैं। पारिवारिक विचार, व्यवसाय-सम्बन्धी विचार, कार्यालय-सम्बन्धी विचार, शारीरिक विचार, खान-पानका विचार, आशा और प्रतीक्षा, धन प्राप्त करनेके लिये कुछ उपाय सोचना, किसीसे बदला लेनेका विचार, कुछ स्वाभाविक प्रकृतिकी आवश्यकताओंकी पूर्ति-सम्बन्धी विचार, शौच-स्नानादिके विचार एक साथ मनमें आने लगते हैं। जब तुम साढ़ेतीन बजेके समय दिल लगाकर कोई पुस्तक पढ़ते रहते हो, उस समय चार बजे क्रिकेटका मैच देखनेकी भावना बार-बार तुम्हारे अध्ययनमें बाधा पहुँचाती है। केवल योगी ही—जिसका मन एकाग्र है—एक ही विचारको जबतक चाहे तबतक मनमें बनाये रख सकता है।

२५५–वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं—

१–मनोवृत्ति

२–बुद्धि-वृत्ति

३–साक्षी-वृत्ति

४–अखण्डाकार-वृत्ति

५–अखण्ड एकरस-वृत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनमें पहली तो वासनात्मक मनमें ही रहती है और शेष चार सात्त्विक मनमें रहती हैं। मनोवृत्ति सांसारिकोंकी विषयाकारवृत्ति है। बुद्धिवृत्ति विवेकी पुरुषोंको होती है। यदि तुम साक्षीवृत्तिको प्राप्त हो तो तुम्हें मनके विकार प्रत्यक्ष देख पड़ेंगे। जब तुम अनुभव करने लगते हो कि तुम एक व्यापक आत्मा हो तो उस समय अखण्डाकारवृत्ति उत्पन्न होती है। इसीको दूसरे शब्दोंमें ब्रह्माकारवृत्ति कहते हैं। वास्तवमें ब्रह्ममें तो कोई वृत्ति है नहीं।

२५६-आसन भी वस्तुतः मानसिक होता है। मानसिक पद्मासन या मानसिक सिद्धासनकी चेष्टा करो। यदि मन भटका फिरता है तो तुम शरीरको स्थिर नहीं रख सकते और न दृढ़ शारीरिक दशाको प्राप्त हो सकते हो। यदि मन ब्रह्ममें स्थिर हो जाय तो शरीरकी स्थिरता यन्त्रवत् स्वयं ही हो जायगी। 'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्' योगदर्शन २। ४७

२५७-इत्र आदिकी सुगन्ध, कोमल शय्या, उपन्यास पढ़ना, नाटक, थियेटर, सिनेमा, भद्दे गीत, नाच, फूलोंका गजरा, स्त्रियोंका सहवास, राजसिक भोजन—यह सब वासनाको उत्तेजित करते और मनमें अशान्ति उत्पन्न करते हैं। अधिक लवण, अधिक मिर्च, अधिक मिठाइयाँ, इनसे प्यास ज़ोर करती है और ध्यानमें विघ्न होता है। अधिक बातचीत, अधिक घूमना-फिरना और अधिक मिलने-जुलने-से भी ध्यानमें बाधा होती है। आहारका मनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है और मनके निर्माण करनेमें इसका भारी हाथ रहता है। सात्त्विक भोजन मनको शान्त करता है। राजस आहार मनको उत्तेजित करता है। बाघ जो जानवरोंका मांस खाकर जीता है तथा हाथी और गौ जो घासके ऊपर जीवन निर्वाह करते हैं, इनके स्वभावमें कितना अन्तर हो जाता है?

२५८-हठयोगी अपना साधन शरीर और प्राणसे प्रारम्भ करता है। राजयोगका साधक मनके अभ्याससे साधन प्रारम्भ करता है, ज्ञानयोगी बुद्धि और आत्माके सहारे साधन करता है। अथवा यों कहिये कि वह ब्रह्मके सहारे अपनी साधना प्रारम्भ करता है। वह बारम्बार 'अहं ब्रह्मास्मि' का जाप करता है।

२५९-मनको छठी इन्द्रिय कहा है—'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि', अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंमें मन छठा है, शेष पाँच चक्षुस्त्वक् आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। गीता १५। ७

२६०-मन अष्ट प्रकृतियोंमेंसे एक है।-'पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—यह मेरी आठ प्रकारकी प्रकृति है।' गीता ७। ४

२६१-उच्च उन्नत मनका कम उन्नतपर कैसा प्रभाव पड़ता है, इसपर ध्यान दो। किसी स्वामीके सम्मुख होनेमें कैसी अवस्था हो जाती है, इसका वर्णन करना असम्भव-सा है। उसके सामने बैठनेमें भी दिल काँपता रहता है, यद्यपि वह एक शब्द भी नहीं बोलता। जान पड़ता है कि कोई मानसिक नया प्रभाव पड़ रहा है। यह एक अद्भुत अनुभव है।

(क्रमशः)

राम

(१)

कौशल्याके बारे राम,
दशरथ-नेत्र-सितारे राम।
वैदेहीके प्यारे राम,
साधु-संत-रखवारे राम॥

(२)

सरयू-अवध-विहारी राम,
राक्षस-कुल-संहारी राम।
निर्विकार भयहारी राम,
योगि-हृदय-संचारी राम॥

(३)

गुणि-गण-मध्य निदर्शन राम,
तापत्रय-संकर्षण राम।
पूजनीय शुभ-दर्शन राम,
'विष्णु' मंत्र-अघमर्षण राम॥

(४)

पूर्ण कलाके ज्ञाता राम,
सभी सुखोंके दाता राम।
सकल विश्वके त्राता राम,
धाताके भी धाता राम॥

गंगाविष्णु पाण्डेय विद्याभूषण 'विष्णु'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्त-गाथा

साध्वी सखूबाई

जिन्होंने अपनेको सब प्रकारसे प्रियतम परमात्माके चरणोंमें अर्पण कर दिया है, उनकी अपार महिमा है। ऐसे ही लोग यथार्थ सन्त हैं और ऐसे ही शान्त दान्त भगवत्परायण लोगोंको सुख पहुँचानेके लिये शान्त शुद्ध सच्चिदानन्दघन भगवान्को अनेक अवतार धारणकर विविध लीलाएँ करनी पड़ती हैं। ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो भगवान् अपने प्यारे भक्तोंके लिये नहीं कर सकते। भक्तोंको विपत्तिसे मुक्त करनेके लिये, भक्तोंके अनोखे भावोंकी पूर्तिके लिये, भक्तोंकी महत्ताको बढ़ानेके लिये और भक्तों-के मनोरञ्जनके लिये भगवान् नीच-से-नीच कार्य करनेमें भी कोई सङ्कोच नहीं करते। सन्त सखूबाई-की प्रेम-भक्तिके वश होकर भगवान्ने जो कुछ किया, उसे पढ़-सुनकर तो हृदय भगवत्-प्रेममें विभोर हो जाता है।

महाराष्ट्रमें कृष्णा-नदीके तीरपर कराड़ नामक एक स्थान है। वहाँ एक ब्राह्मण रहता था, उसके घरमें कुल चार प्राणी थे—ब्राह्मण, उसकी स्त्री, पुत्र और साध्वी पुत्र-वधू। ब्राह्मणकी पुत्र-वधूका नाम ही सखूबाई था। सखू जितनी अधिक भगवान्की भक्त, सुशीला, विनम्र, आज्ञाकारिणी और सरल-हृदया थी, उसकी सास उतनी ही अधिक दुष्टा, अभिमानिनी, कुटिल और कठोरहृदया थी। पति-पुत्र भी उसीके दुष्ट स्वभावका अनुसरण करनेवाले थे। तीनों मानो एक ही मालाके मणिये थे, वे अपनी शक्तिभर सखूको सतानेमें कोई बात बाकी नहीं रखते थे। तड़केसे लेकर रातको सबके सो जानेके बादतक सखूको घरके सारे काम मशीनकी भाँति बिना विश्राम करने पड़ते थे। सखूका शरीर शक्तिसे कहीं अधिक परिश्रम करनेके कारण अस्वस्थ हो गया था, परन्तु वह काम करनेमें कभी आलस्य या कष्टका अनुभव नहीं करती थी। उसने इसको अपना कर्तव्य ही मान रक्खा था। मन-ही-मन भगवान्के त्रिभुवन-मोहन स्वरूपका अखण्ड ध्यान और केशव, विट्ठल, राम, कृष्ण, गोविन्द आदि नामोंका प्रेमपूर्वक स्मरण करती हुई वह घरके काम-काजको बड़े ही सुचारुरूपसे किया करती थी। परन्तु सास तो अपने स्वभावसे लाचार थी, दिनभरमें दस-बीस बार सखूको और उसके मा-बापको गालियाँ सुनाये और दो-चार लात-घूँसे लगाये बिना उसे सन्तोष नहीं होता था। बिना कुसूर मार और गालियोंकी बौछार सखूके हृदयमें कभी-कभी क्षणभरके लिये शूलकी तरह चुभती थी, परन्तु वह अपने शील-स्वभाव-वश दूसरे ही क्षण उसे भूल जाती थी। सासके सामने वह कभी जबान नहीं खोलती। पतिके सामने भी दो बूँद आँसू निकाल कर हृदयको शीतल करना उसके नसीबमें नहीं था, क्योंकि वह भी अपनी माताके सदृश सखूपर सदा खड्ग-हस्त ही रहा करता था। अधिक क्या, निर्दय-हृदया पिशाचिनी बुढ़िया सखूको पेटभर खानेको भी नहीं देती थी। घरमें अनेक पदार्थ बनते और सखूको ही वे बनाने पड़ते, माता-पिता और पुत्र सुखपूर्वक उनसे अपने पापी पेटोंको भर लेते, परन्तु सखूको तो चौबीस घण्टेमें वही एक वक्त बासी टुकड़े मिलते। इतना होनेपर भी सखू अपने दारुण दुःखोंको भगवान्का आशीर्वाद समझकर उन्हें सुखरूपमें परिणत कर सदा प्रसन्न रहती। सखूकी दशापर गाँवके स्त्री-पुरुषोंको तरस आता, परन्तु वे भी बिना बात लड़नेको कमर बाँधे रहने-वाले ब्राह्मण-ब्राह्मणीके डरसे कुछ कह नहीं सकते। सखू मन-ही-मन भगवत्कृपाका अनुभव करती हुई सोचती, कि भगवान्ने बड़ा ही अच्छा किया जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे इस घरमें भेजा, कहीं मुझपर अनुराग करनेवाले सास-ससुर और स्वामी मिल जाते तो मैं मोह-वश माया-जालमें फँस गयी होती। यों विचार करती-करती वह आनन्दमग्न हो जाया करती और भगवान्‌के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती।

एक दिन पड़ोसिनने मौका पाकर उससे पूछा, 'बहिन! क्या तेरे नैहरमें कोई नहीं है? तू इतना दुःख भोगती है, परन्तु वे कभी तेरी खोज-खबर ही नहीं लेते।'

सखूने मुस्कराते हुए कहा, 'मेरा नैहर पंढरपुर है और वह यहाँसे बहुत दूर है। मेरे माँ-बाप श्रीरुक्मिणी-कृष्ण हैं, उनके असंख्य सन्तान हैं, मालूम होता है,इसीलिये वे मुझे भूल गये हैं,परन्तु कभी-न-कभी तो अवश्य ही बुलाकर मेरा दुःख दूर करेंगे?"

पंढरपुर महाराष्ट्रका प्रसिद्ध तीर्थ है, यहाँ आषाढ़ शुक्ला ११ को बड़ा भारी मेला होता है, भगवान् पंढरीनाथ श्रीविट्ठलके दर्शनार्थ लाखों नर-नारी दूर-दूरसे भगवन्नाम-कीर्तन करते हुए वहाँ आते हैं। पंढरपुरकी यात्राके दिन आ गये। भक्तोंकी यात्रा शुरू हो गयी, चारों ओरसे दल-के-दल श्रद्धालु नर-नारी हाथमें छोटी-छोटी पताकाएँ लिये भगवन्नामका कीर्तन करते हुए जा रहे हैं। मृदंग, करताल और झाँझकी एक-स्वर मधुर ध्वनिसे आकाश गुञ्जायमान हो रहा है। पैरोंमें घुँघुरू बाँधे प्रेम-मतवाले भक्तगण नाच रहे हैं। श्रीहरिके गुण-गान और चरित्र-कीर्तनसे लोग आनन्द-सिन्धुमें डूबे जा रहे हैं, मानो साक्षात् नादब्रह्म ही मूर्तिमान होकर प्रकट हो गये हैं।

इसी प्रकारके भक्तोंके कुछ दल कराड़ होकर जा रहे थे। सखूबाई उस समय पानी भरने कृष्णा-नदीके तटपर गयी थी। प्रेमी भक्तोंके सङ्कीर्तन-दलको देखकर सखूके हृदयमें प्रेम उमड़ उठा। उसकी पंढरपुर जानेकी प्रबल इच्छा हो गयी। उसने सोचा कि घरवालोंसे आज्ञा प्राप्त करना तो मेरेलिये असम्भव है; बात पूछते ही मार और गालियोंकी बौछार शुरू हो जायगी परन्तु पंढरपुर जाना निश्चय है, अतः यहींसे इस सन्तमण्डलीके साथ चली जाऊँ तो अच्छा है। यह विचारकर सखू सन्तमण्डलीके साथ हो ली। पड़ोसिनने जाकर यह समाचार उसकी दुष्टा सासको सुनाया, वह सुनते ही जहरीली नागिनकी तरह फुफकार उठी और सिखा-पढ़ाकर उसी समय लड़केको कृष्णाके किनारे भेजा। क्रोधसे आगबबूला हुआ वह दौड़ कर नदी-तीरपर आया और सखूकी चोटी पकड़ कर उसे घसीटते एवं मारते-पीटते घर ले गया। गालियोंकी पुष्पाञ्जलि तो सारे रास्ते चढ़ ही रही थी। तीनों निर्दयहृदय मिलकर सोचने लगे कि 'यह तो बिल्कुल बेकाबू हुई जा रही है, अब मामूली मार-पीटसे काम नहीं चलेगा, यह सीधी राहसे माननेवाली नहीं।' मार-पीट तो उनके मन सीधी राह थी! अन्तमें उन्होंने निश्चय किया कि अभी पंढरपुरकी यात्रा दो सप्ताहतक जारी रहेगी, इसलिये इस बीच इसे जकड़कर खम्भेसे बाँध रखना चाहिये और खानेको रोटी बिल्कुल नहीं देनी चाहिये। ऐसा करनेपर यह जरूर सीधी हो जायगी। निश्चयके अनुसार ही काम भी तुरन्त किया गया, उन्होंने मिलकर सखूको बड़ी ही निर्दयतासे बाँध दिया। रस्सी इतने जोरसे खींचकर बाँधी गयी कि सखूके सूखे शरीरमें उससे गड़हे पड़ गये।

सखूका शरीर बँध गया, परन्तु उसके मनको कोई नहीं बाँध सका, वह तो सारे बाँध तुड़ाकर पहले ही भगवान्‌के चरणोंतक पहुँच चुका था। द्वापर-युगकी बात है, व्रजभूमिके अन्दर विद्यामदमें चूर एक याज्ञिक ब्राह्मणने भी अपनी साध्वी पत्नीको इसी प्रकार श्रीकृष्ण-दर्शनार्थ जानेसे रोककर कोठरीमें बन्द कर दिया था, परन्तु उसका मन भगवान्‌में लग चुका था, इससे वह अपने शरीरको यहीं छोड़कर सबसे पहले श्रीहरिसे जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिली थी। आज सखू भी बँधकर कुछ भी दुःखका अनुभव नहीं करती हुई भगवान्‌से कहती हैं—'भगवन्! कृपा करो, मैंने अपनेको तुम्हारे चरणोंसे बाँधना चाहा था, परन्तु बीचमें ही यह नया बन्धन कैसे हो गया? क्या इन नेत्रोंसे तुम्हारे पंढरपुरी रूपके दर्शन नहीं होंगे प्रभो! मुझे मरनेकी चिन्ता नहीं है, न मुझे कोई कष्ट ही है। एक बार ये नेत्र तुम्हारे चरण दर्शनकर कृतार्थ होना चाहते थे, इतना होनेपर प्राण निकलते तो इनकी इच्छा पूर्ण हो जाती। हे मेरे जीवन-धन, हे जगज्जीवन! तुमसे कुछ भी छिपा नहीं है। मेरे तो मा-बाप, भाई-बहिन, इष्ट-मित्र जो कुछ हो—सब तुम्हीं हो, मैं भली-बुरी जो कुछ हूँ, तुम्हारी ही हूँ। क्या मेरी इतनी-सी बात नहीं सुनोगे दयामय?'

'हे निर्गुण, हे सर्वगुणाश्रय, हे निरुपम, हे उपमामय!
हे अरूप, हे सर्वरूप-मय, हे शाश्वत, हे शान्ति-निलय!!
हे अज, आदि, अनादि, अनामय, हे अनन्त, हे अविनाशी!
हे सच्चित-आनन्द-ज्ञान-घन, द्वैत-हीन, घट-घट-वासी!!
हे शिव, साक्षी, शुद्ध, सनातन, सर्वरहित, हे सर्वाधार!
हे शुभ-मन्दिर, सुन्दर, हे शुचि, सौम्य, साम्यमति, रहितविकार!!
हे अन्तर्यामी, अन्तरतर, अमल, अचल, हे अकल, अपार!
हे निरीह, हे नर-नारायण, नित्य, निरञ्जन, नव-सुकुमार!!
हे नव-नीरद-नील नराकृति, निराकार, हे नीराकार!
हे समदर्शी, सन्त-सुखाकर, हे लीलामय, प्रभु साकार!!
हे भूमा, हे विभु, त्रिभुवनपति, सुरपति, मायापति, भगवान!
हे अनाथपति, पतित-उधारन, जन-तारन, हे दयानिधान!!
हे दुर्बलकी शक्ति, निराश्रयके आश्रय, हे दीन-दयाल!
हे दानी, हे प्रणत-पाल, हे शरणागत-वत्सल, जन-पाल!!
हे केशव, हे करुणा-सागर, हे कोमल अति सुहृद महान!
करुणा कर अब उभय अभय चरणोंमें मुझे दीजिये स्थान!।
सुर-मुनि-वन्दित, कमलानन्दित, चरण-धूलि तव मस्तक धार!
परम सुखी हो जाऊँगी मैं, हूँगी सहज भवार्णव पार!!'

भक्तके अन्तस्तलकी सच्ची पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाती। भगवान् सब सुनते हैं, परन्तु नकली पुकारका जवाब नहीं देते, असली पुकार चाहे जितनी धीमी हो, वह त्रिभुवनको भेदकर भगवान्‌के कर्णछिद्रोंमें तुरन्त प्रवेश कर जाती है और उनके हृदयको उसी क्षण द्रवीभूत कर देती है।

सखूकी आर्त पुकारसे भगवान्‌का आसन हिल गया, नाथके मुखमण्डलपर उद्विग्नता छा गयी। जगज्जननी रुक्मिणीजी भगवान्‌की उदासीका कारण जानती हैं। सदा प्रसन्नरूप श्रीहरिके उदास होनेकी किसी भी अवस्थामें कोई सम्भावना नहीं, परन्तु जब कोई भक्त उदास होता है तो उसकी उदासीका हूबहू चित्र उनके मुखमण्डलपर तुरन्त खिंच जाया करता है, इसीसे देवीने पूछा—'भगवन्, आज किस भक्तकी बुलाहट है? किस भक्तको आज दुष्टोंने सताया है?' भगवान् बोले—'प्रिये! अधिक बात करनेका समय नहीं है, सखूबाई-नाम्नी मेरी एक भक्त है, वह हमारे दर्शनार्थ पंढरपुर जा रही थी, उसकी दुष्ट सास और पतिने उसे बाँध रक्खा है, मुझे तुरन्त वहाँ जाना है!' भगवान्‌का कहीं जाना-आना कैसा? यह तो भक्तोंके साथ उनका विनोद है।

'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेमते प्रकट होइँ मैं जाना॥'

जहाँ प्रेम होता है, वहीं प्रेमी प्रभु प्रकट हो जाते हैं। बस, सुन्दर स्त्रीका रूप धारणकर भगवान् उसी क्षण सखूके पास जा पहुँचे और बड़ी ही मधुर वाणीसे बोले—'बाई! मैं पंढरपुर जा रही हूँ, क्या तू वहाँ न चलेगी?' सखूने उदास होकर कहा—'जाना तो चाहती हूँ, परन्तु कैसे जाऊँ, मैं तो यहाँ बँध रही हूँ, मुझ पापिनीके भाग्यमें पंढरपुरकी यात्रा कहाँ है?' स्त्रीरूपी भगवान्‌ने कहा—'बाई! मैं तेरी सदाकी सहचरी हूँ, तू उदास क्यों हो रही है, तेरे बदले मैं यहाँ बँध जाऊँगी, तू चिन्ता न कर।' सखूबाई बदलेमें कुछ कहने ही नहीं पायी कि भगवान्‌ने उसके बन्धन खोल दिये और देखते-ही-देखते उसे पंढरपुर पहुँचा दिया। अहा! आज सखूके सौभाग्यका क्या ठिकाना है? स्वयं नारायण अपने हाथों उसे बन्धनमुक्त कर रहे हैं, आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सखूका केवल यही बन्धन नहीं खुला, उसके सारे बन्धन सदाके लिये खुल गये। वह मुक्त हो गयी! धन्य भगवन्!

प्रेम-पाशमें बँधे हुए भगवान् सखूका स्वरूप धारणकर उसकी जगह स्वयं बँध गये। जिनके नाम-स्मरणमात्रसे मायाके दृढ़ बन्धन पटापट् टूट जाते हैं, आज वही सच्चिदानन्दघन भक्तके लिये स्वयं बन्धन स्वीकार करते हैं। एक दिन आप यशोदा मैया-के द्वारा ऊखलमें बँधे थे, प्रेममयी गोपिकाओंने तो न मालूम कितनी बार आपको बाँधा था, परन्तु आजका यह बन्धन सबसे अनोखा है। वहाँ तो आप बालक बने थे, सबको तंग करते थे, तब बँधना पड़ा था, यहाँ तो अपनी भक्त सखूबाईके लिये सखूबाई बनकर बँधना पड़ा है। भक्त-प्रेमाधीन होकर आपको सब कुछ करना पड़ता है!

सखूबाई बने नाथ बँध रहे हैं, सखूबाईके निर्दयी सास-ससुर और निष्ठुर स्वामी बार-बार आते हैं और मनमानी गालियाँ बक जाते हैं। भगवान् सुशीला वधूकी भाँति सब कुछ सह लेते हैं। इस-प्रकार बँधे हुए पूरे पन्द्रह दिन बीत गये। सास-ससुरका मन तो इतनेपर भी नहीं पसीजा, परन्तु सखूके पतिके मनमें यह विचार आया कि 'पूरे दो सप्ताह इसको बिना अन्न-जल ग्रहण किये बीत गये हैं, कहीं बँधी-की-बँधी ही मर गयी तो मुश्किल होगी। हम अपनी करतूतोंसे गाँवभरमें प्रसिद्ध हो चुके हैं, ऐसा कौन है जो मेरी और मेरे मा-बापकी काली कीर्ति न सुन चुका हो, यह मर गयी तो दूसरा विवाह होना असम्भव ही है, हजारों रुपये देनेपर भी कोई अपनी लड़की देनेको राजी न होगा' इन सब स्वार्थके विचारोंके साथ ही बँधी हुई इस सखूके पास जानेसे कई बार उसके मनमें कुछ आकर्षण भी हो गया था, सखूरूपी भगवान्के उदास मुखमण्डलको देख-कर उसके हृदयमें दया उत्पन्न हो गयी और उसे अपनी क्रूर करतूतोंपर पश्चात्ताप होने लगा था। अब उससे नहीं रह गया, उसने आकर सारे बन्धन काट दिये और बड़े ही मीठे बचनोंसे सान्त्वना देने लगा। उसने कहा—'प्रिये! मैं बहुत ही निष्ठुर हूँ, मेरे माता-पिताने भी तुझे बहुत सताया है, तुम तो सती हो, मुझपर क्षमा करो और शीघ्र स्नान करके कुछ खाओ।'

भव-बन्धन-हारी अनन्त आनन्दके सागर भगवान् ठीक पतिव्रता पत्नीकी भाँति शान्त और विनम्र भावसे मानो सन्तुष्ट होते हुए सिर नीचा किये खड़े रह गये। भगवान्ने सोचा, कि यदि मैं अभी अन्तर्धान हो जाऊँगा, तो ये दुष्ट सखूको लौटने-पर फिर सतावेंगे इससे उसके लौटनेतक यहीं ठहरना चाहिये। ठीक है, नाथ, यहीं रहिये, जब आपने सखूके बदले बन्धन स्वीकार किया तो अब अपनी सखूके स्वामीकी पत्नी बननेमें क्या संकोच है?

पतिकी आज्ञानुसार सखूरूपी भगवान्ने स्नान-कर रसोई बनायी और स्वयं अपने हाथसे तीनोंको जिमाया। आजके भोजनका स्वाद कुछ विलक्षण ही है। पुत्र और माता-पिता तीनोंने बड़ी सराहना करते हुए भोजन किया। पुत्र-वधूके बनाये भोजनकी सराहना करनेका सास-ससुरके लिये जीवनमें यह पहला ही अवसर है। क्यों न हो, आज पुत्र-वधूके रूपमें माधुर्यके निधि भगवान् स्वयं विराजमान् हैं और अपने हाथसे भोजन करा रहे हैं। अहा! सखूके संगसे ऐसे दुष्ट भी भगवान्के सेवा-पात्र बन गये!

सबके बाद सखूरूपी भगवान्ने भोजन किया। सारा दिन घरके काम-काजमें बीता, पानी भरना, झाड़ू देना, चक्की पीसना, बर्तन माँजना, चौका देना, सासके पैर दबाना आदि सारे कार्य भगवान् बड़ी ही दक्षतासे करने लगे। चतुर-चूड़ामणि ही तो ठहरे! जिन्होंने व्रजके बालकों और बछड़ोंके बदलेमें सालभरतक विविध रूप-धारी बालक और वत्स बनकर अपनी-अपनी माताओंको सुख दिया था, उनके लिये यहाँ वधू बनकर पति और सास-सुसुर-को सुखी करना कौन बड़ी बात है? आपने रातको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शयनागारमें पतिके पैर दबाकर उसकी यथेच्छ सेवा की और उसे सन्तुष्ट किया। स्त्री-पुरुषका भेद भगवान्‌की दृष्टिमें कुछ भी नहीं है, जो सबके अन्तरात्मा हैं; जो स्त्री, पुरुष, नपुंसक समस्त शरीरोपाधियोंके एकमात्र अधिष्ठान हैं; जो सर्वमय, सर्वसाक्षी और सर्वाधार हैं; जो अज अव्यय रहते हुए ही जन्म लेकर विविध लीला करते हुए-से दिखायी देते हैं; जो समस्त चराचरके रूपमें अभिव्यक्त हो रहे हैं, उन परमात्मामें स्त्री-पुरुषका भेद कैसा? कुम्हार मिट्टीका घड़ा भी बनाता है और हाँडी भी, सुनार सोनेका कड़ा भी बनाता है और कण्ठी भी, यह लिङ्ग-भेद नाममें है, न कि अधिष्ठानरूप मिट्टी या सोनेमें। आकाश सर्वत्र एकरूप होनेपर भी उसमें ध्वनि नाना प्रकारकी सुनायी पड़ती है, इसी प्रकार भगवान् भी उपाधि-भेदसे ही अनन्त प्रकारके भासते हैं, वास्तवमें तत्त्वतः वे एक ही हैं। अस्तु! सखूरूपी भगवान्‌ने अपनी सेवा और सुन्दर व्यवहारसे पति और सास-ससुरको सन्तुष्ट कर लिया। अब वे सब प्रकारसे इस सखूके अनुकूल हो गये। उनके स्वभावमें विलक्षण परिवर्तन हो गया। ठीक ही है, अब भी परिवर्तन न होता तो फिर होता ही कब?

उधर सखू पंढरपुर पहुँचकर भगवन्नामके आनन्दमें मग्न हो गयी। भगवान्‌की मायासे वह इस बातको भूल गयी कि मेरे बदलेमें कोई दूसरी स्त्री वहाँ बँधी है और मैं यहाँ आ गयी हूँ। उसने देखा, भक्तगण हाथोंमें निशान लिये ताल-मृदंग और झाँझ बजाते हुए नामका घोष करते हैं और मस्त हुए नृत्य कर रहे हैं। आज छोटे-बड़े और ऊँचे-नीचे, अमीर-गरीब और ब्राह्मण-शूद्रका कोई भेद नहीं रह गया है, सभी प्रेममें मत्त हो रहे हैं, भगवन्नामकी तुमुल गर्जनासे आकाश प्रकम्पित हो रहा है। इस आनन्दरसमें विभोर हुई सखूबाई चन्द्रभागामें स्नान करके भगवान् पंढरीनाथके दर्शनार्थ मन्दिरकी ओर चली। मन्दिरमें जाकर भगवान्‌के दर्शन कर वह आनन्द-सिन्धुमें डूब गयी। भगवान्‌की श्यामसुन्दर मनोहर मूर्ति है, आप दिव्य पीताम्बर धारण किये हुए हैं, परम सुन्दर श्रीमुख है, कानोंमें दिव्य मकराकृति कुण्डल हैं, वक्षःस्थलपर सुगन्धित पुष्प और तुलसीकी माला सुशोभित हो रही है। इस रूप-माधुरीको भक्तदृष्टिसे देखते ही सखू मुग्ध हो गयी, उसके त्रिताप सदाके लिये शान्त हो गये, वह अपने देहकी सुध-बुध भूल गयी। वहाँ उसका मन ऐसा लगा कि उसने भगवान्‌के सामने यह प्रतिज्ञा कर ली कि जबतक इस शरीरमें प्राण हैं, तबतक पंढरपुरकी सीमाके बाहर नहीं जाऊँगी। उसे क्या पता था कि मेरे बदलेमें मेरे नाथ वहाँ सासके सामने बहू सजकर संसार चला रहे हैं। प्रेममुग्धा सखू भगवान् पाण्डुरंगके ध्यानमें संलग्न हो गयी, उसे समाधि हो गयी। अन्तमें अष्ट सात्त्विक भावोंमें अन्तिम भावका उदय हो गया, जिससे सखूके प्राण कलेवरको छोड़कर निकल भागे। शरीर अचेतन होकर जमीनपर गिर पड़ा।

दैवसंयोगसे यात्रा करनेको आया हुआ कराड़के निकटवर्ती किवल नामक गाँवका एक ब्राह्मण उधरसे आ निकला। उसने सखूकी लाशको पहचानकर अपने साथियोंको बुलाया और सबने मिलकर उसका अन्त्येष्टि संस्कार कर दिया। इधर जगज्जननी रुक्मिणीजीने सोचा कि 'यह तो खूब रही, इसने तो यहाँ प्राण छोड़ दिये, उधर इसकी जगह मेरे स्वामी बहू बने बैठे हैं, बेढब फँसावट हुई।' यह विचारकर रुक्मिणीजी श्मसानमें पहुँचीं और सखूकी अस्थियोंका सञ्चय कर अपनी इच्छासे ही उसे जीवित कर दिया। जिस मायादेवीके प्रतापसे समस्त ब्रह्माण्डकी रचना और विनाश होता है, जो निर्गुणको सगुण और अविकारीको विकारी-सा बनाकर दिखा देती हैं, जो बिना ही हुए नाना दृश्य उत्पन्न कर देती हैं, उस महा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मायाकी अमृत-दृष्टिसे सखूके जीवित हो जानेमें कौन आश्चर्य है ?

सखू नींदसे जागनेकी भाँति उठ बैठी। रातको स्वप्नमें जगन्माताने उससे कहा कि—'पुत्री ! तेरा प्रण तो यही था न कि मैं इस देहसे पंढरपुरसे बाहर नहीं जाऊँगी, तेरा वह शरीर तो जलाया जा चुका है, यह दूसरा देह है, अतएव तू घर लौट जा, तेरा कल्याण होगा।' इस आदेशको पाकर सखू दो दिन बाद यात्रियोंके साथ कराड़ लौट आयी। सखूका आना जानकर सखू-वेष-धारी नारायण पानीका घड़ा लेकर घाटपर चले आये और पूर्वपरिचित सखीका वेष धारणकर सखूसे जा मिले। उन्हें देखते ही सखूको सारी बातें याद हो आयीं। वह पश्चात्ताप और कृतज्ञता प्रकट करती हुई चरण पकड़कर बोली—'बहिन तुम्हें, बड़ा कष्ट हुआ होगा, तुम मेरे बदले बन्धनमें रहीं। मैंने तो तुम्हारी ही कृपासे भगवान्के दर्शन किये हैं। मैं तुम्हारे उपकारका बदला नहीं चुका सकती।' दो चार मीठी-मीठी बातें बनाकर भगवान्ने कहा कि—'ले, यह घड़ा तू ले जा, मैं जाती हूँ' इतना कहकर वे तो अदृश्य हो गये। सखू घड़ा उठाकर घर पहुँची और स्वाभाविक ही अपने घरके काममें लग गयी। सास-ससुर और स्वामीके स्वभावमें विचित्र परिवर्तन देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ !

दूसरे दिन किवल गाँवका वह ब्राह्मण सखूके मरनेका समाचार सुनाने कराड़ आया। उसने सखूके घर पहुँचकर सखूको घरका काम करते देखा तो उसके आश्चर्यका पार नहीं रहा, वह सखूके ससुरको बाहर बुलाकर कहने लगा, 'तुम्हारी बहू तो पंढरपुरमें मर गयी थी, उसे तो हमलोग जलाकर आये हैं। यहाँ उसे तुम्हारे घरमें काम करते देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है, कहीं प्रेत होकर तो वह यहाँ नहीं आ गयी?' सखूके ससुर और पतिने कहा कि 'वह पंढरपुर गयी ही नहीं, तुम भूलसे ऐसा कहते हो ? आखिर ब्राह्मणके बहुत कहनेपर ससुरने सखूको अपने पास बुलाकर पूछा कि 'बहू ! तुमको तो हमने यहाँ बाँध रक्खा था, ये कहते हैं कि तुम पण्ढरपुरमें मर गयी थी–यह कैसी बात है ?' सखूने कहा कि 'मेरे ही जैसी एक स्त्री यहाँ आकर स्वयं बँध गयी थी और मुझे छुड़ाकर वहाँ भेज दिया था, मैं पण्ढरपुर जरूर गयी थी और वहाँ एक दिन मुझे बेहोशी भी हुई थी, पीछे स्वप्नमें मालूम हुआ कि मैं मर गयी थी, परन्तु माता रुक्मिणीजीने मुझे जिला दिया। यहाँ लौटनेपर वह स्त्री कृष्णा-नदीके घाटपर मुझे घड़ा देकर चली गयी। हो न, हो, वह मेरे नाथ श्रीपाण्डुरंग थे। आपलोगोंका बड़ा सौभाग्य है जो आपने उनके दर्शन पाये।' यह सुनते ही सखूके सास-ससुर और स्वामीको बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ। वे कहने लगे कि 'निश्चय ही वे साक्षात् लक्ष्मीपति थे, हम बड़े ही नीच और भक्तिहीन हैं, हमने उनको न पहचानकर व्यर्थ ही बाँध रक्खा और उन्हें न मालूम कितने क्लेश दिये।' तीनोंका हृदय शुद्ध हो ही चुका था, अब वे भगवान्के भजनमें लग गये और सखूका बड़ा ही उपकार मानने लगे। भगवान् भक्तोंके लिये क्या नहीं करते ? सच्चा प्रेम होना चाहिये, फिर भगवान्के वश होते देर नहीं लगती। वे न जाति-कुल देखते हैं और न ऊँच-नीच कार्यका विचार करते हैं। वास्तवमें भगवान् और भक्तमें कोई भेद नहीं है। वह विश्वव्यापक सच्चिदानन्द जगदीश्वर ही भक्तरूपमें विचरते हैं और असंख्य अज्ञानीजनोंको भक्तिके सुखमय मार्गपर लाकर उनका उद्धार कर देते हैं। धन्य ! बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय।

(सन्तलीलामृतके आधारपर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवधूतिनका उपदेश

(लेखक—स्वामीजी श्रीआत्मानन्दजी)

एक राजकुमार स्वाभाविक ही विषयोंसे उदासीन हो सच्चे आत्यन्तिक सुखकी प्राप्तिके लिये जहाँ-तहाँ साधु-महात्माओंके पास जाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनसे पूछ-ताछ करने लगा। सभी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उसे समझानेका प्रयत्न करते थे, परन्तु कहीं भी यथार्थ शान्ति न मिलनेके कारण वह इधर-उधर घूमता ही रहा। एक दिन दैवयोगसे उसकी एक सिद्धा अवधूतिनसे भेंट हो गयी। राजकुमार उसे साष्टांग दण्डवत् कर उसके बताये हुए आसनपर बैठ गया और आज्ञा लेकर पूछने लगा—

'हे देवी ! कुछ समय पूर्व मुझे संसारकी चीजें बहुत ही सुखदायक प्रतीत होती थीं, परन्तु अब उनमें मुझे कोई भी सुख नहीं दीखता। यद्यपि पिताजीने मुझे बहुतेरे भोग्य-पदार्थ दे रक्खे हैं और मैं उनमेंसे कुछका सेवन भी करता हूँ, परन्तु मुझे उनके सेवनमें कोई उत्साह नहीं है। जैसे बध्य पुरुषको विषयोंसे सुख नहीं मिलता, वैसे ही और उन्हीं कारणोंसे, मुझे भी उनसे कोई सुख नहीं मिलता। हे माता ! आप कृपाकर ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मुझे सच्चा और आत्यन्तिक सुख मिले।'

राजकुमारके इन वचनोंको सुनकर अवधूतिनी मन-ही-मन विचार करने लगी कि सचमुच इसके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न हो गया है, इसकी अवस्था देखकर यह कहा जा सकता है कि इसके अन्दर मोक्ष-प्राप्तिका बीज वर्तमान है। जो मोक्षके अनधिकारी होते हैं, वे तो विषयोंसे तनिक-सा भी अलग होना नहीं चाहते। बहुत समयतक ईश्वरकी आराधना करनेसे जिसपर स्वात्मदेव प्रसन्न होते हैं, उसीको विषय-विरागकी ऐसी दुर्लभ अवस्था प्राप्त होती है। ऐसा विचारकर उसने राजकुमारको बोध करानेका निश्चय कर लिया और अपनी विद्वत्ताका परिचय न देकर एक निराले ही ढंगसे उसे उपदेश देना शुरू कर दिया। अवधूतिनीने कहा—

हे राजकुमार ! मेरी बात सुनो, बहुत पहले, मेरी माँने मेरे साथ खेलनेके लिये मुझे एक सखी दी थी। मेरी वह सहचरी बड़े ही शुद्ध स्वभावकी थी, परन्तु आगे चलकर वह शून्या नामक एक दुष्ट प्रकृतिकी स्त्रीकी संगतिमें पड़ गयी। वह दुष्टा स्त्री ऐसी शक्तिशालिनी थी कि बिल्कुल नयी और आश्चर्यजनक सृष्टि-सी रचकर दिखा सकती थी। उस दुष्टाकी संगतिका पता मेरी माताको भी न लगा। मेरी सखी मुझको प्राणोंसे अधिक प्यारी थी, मैं उसका साथ एक पलको भी नहीं छोड़ती थी, उसने अपने निर्मल स्वभावसे मुझे अपने वश कर रक्खा था, मेरी इस सखीका उस दुष्टापर बड़ा प्रेम था, अतएव मैं भी उससे प्रेम करने लगी और सहज ही उसके जालमें फँस गयी। कुछ ही दिनों बाद उस विचित्र स्वभाववाली जादूगरनीने झूठे लालच दिखाकर मेरी सखीको अपने मूढ़ नामक लड़केके अधीन कर दिया। वह लड़का बड़ा ही मूर्ख और दुष्ट था, नशेसे उसकी आँखें सदा चढ़ी रहती थीं। वह मेरी सखीके साथ सदा दुर्व्यवहार करता था। सखी इस नित्यकी पीड़ासे बहुत ही तंग आ गयी, परन्तु उसने मेरा साथ नहीं छोड़ा। दिन-रात सखीके पास रहनेके कारण एक दिन उस दुष्टने मुझे भी स्पर्श कर लिया। कुछ समय बाद मेरी सखीके एक पुत्र हुआ, उसका आकारप्रकार भी ठीक अपने बापका-सा था। उसका स्वभाव बहुत ही चञ्चल था, इससे उसका नाम अस्थिर रक्खा गया। इस लड़केको पितासे मूढ़ता मिली और दादीसे अनेक प्रकारके जादू रचनेकी शक्ति प्राप्त हुई। पिता और दादीने उसे और भी अनेक विद्याएँ सिखा-पढ़ाकर पक्का कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप वह बहुत ही बलवान् और बिल्कुल बेलगाम हो गया। संगके प्रभावसे मेरी सखीका भी क्रमशः अपने मूढ़ नामक पति और अस्थिर पुत्रपर प्रेम बढ़ने लगा, साथ ही मेरे प्रेममें कुछ कमी आने लगी। अभिप्राय यह कि मेरी सखी जन्मसे शुद्ध स्वभावकी और सती होनेपर भी बुरे संगसे अधोगतिको पहुँच गयी। इतना होनेपर भी मैंने अपनी स्वाभाविक सरलतासे उसका साथ छोड़ना नहीं चाहा और उसे प्रसन्न रखनेके लिये उसकी रुचिके अनुसार कार्य करने लगी। एक दिन मूढ़ने मुझपर भी बलात्कार करना चाहा, परन्तु स्वभावसे ही शुद्ध होनेके कारण मैं उसके वशमें नहीं हुई। मेरे शुद्ध होनेपर भी साथ रहनेके कारण संसारमें लोग मेरे सम्बन्धमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनमानी चर्चा करने लगे और मुझको भी व्यभिचारिणी समझने लगे। मेरी सखी अब पूरे तौरसे पतिकी अनुगामिनी हो गयी, उसने अपने पुत्र अस्थिरको मेरे पास छोड़ दिया और स्वयं पतिके साथ सदा अलग रहने लगी!

अस्थिर मेरे पास रहने लगा, मैं उसकी माताकी सखीके नातेसे उसका पालन-पोषण करने लगी। बड़ा होनेपर उसने अपनी दादीकी सलाहसे चपला नामक एक स्त्रीसे विवाह कर लिया। दोनोंकी अच्छी जोड़ी मिल गयी। चपला स्वामीकी रुचिके अनुसार क्षण-क्षणमें तरह-तरहके रूप बनाया करती। अस्थिर तो क्षणमात्रमें चाहे जितनी दूर जाकर तुरन्त वापस लौट आता। विश्राम करना तो मानो उसकी जन्मपत्रीमें ही नहीं लिखा था। अस्थिर जहाँ कहीं जाना चाहता, चपला भी वहीं साथ जाकर उसीकी रुचिके अनुसार बेष बनाकर उसे प्रसन्न किया करती। समय पाकर चपलाने पाँच पुत्र प्रसव किये। ये पाँचों ही मातृ-पितृ-परायण थे। मेरी सखीने इन पाँचोंको भी मेरे हवाले कर दिया। सखीके प्रेमवश उनका भी मैंने भलीभाँति पालन-पोषण किया।

पाँचों लड़कोंने अपने निवासके लिये अलग-अलग पाँच महल बनवा लिये। तदनन्तर माताकी सहायतासे इन्होंने अपने पिता अस्थिरको वशमें कर लिया। ये जहाँ जाते, वहीं उसे अपने साथ-साथ रखते। एक बार अस्थिरने अपने बड़े लड़केके घर जाकर बहुत अच्छे-अच्छे मनहरण गाने और मीठे-मीठे शब्द सुने। फिर जब वह सर्वथा उसके कथनानुसार चलने लगा तब तो बापको अपने वशमें पाकर उसने अनेक प्रकारके भयानक, कठोर तथा रोने-विलपनेके शब्द सुनाये। जिससे वह चकित हो गया।

एक बार दूसरा लड़का उसे अपने यहाँ ले गया, वहाँ उसे मृदुस्पर्श और कोमल आसन प्राप्त हुए। मुलायम और कड़े तथा ठण्डे और गरम भाँति-भाँतिके कपड़े मिले। फिर तीसरे पुत्रके यहाँ गया तो उसे अनेक आकारके रंग-विरंगे छोटे-बड़े, मोटे-दुबले, सुन्दर-भयानक दृश्य दिखायी दिये। वह इन सब दृश्योंको देख ही रहा था कि चौथे लड़केने उसे अपने यहाँ ले जाकर भाँति-भाँतिके खट्टे, मीठे, तीखे, कड़ुए और चरपरे पदार्थ खिलाये। तदनन्तर वह पाँचवें लड़केके घर गया, वहाँ उसने तरह-तरहकी सुगन्धि और दुर्गन्धिका सेवन किया।

लड़कोंका वशवर्ती होकर अस्थिर उनके साथ स्वच्छन्द गतिसे जीवन बिताने लगा। वह कभी अपनी इच्छाके अनुकूल विषय प्राप्त कर सुखी होता तो कभी प्रतिकूल पाकर दुःखका अनुभव करता।

चपलाकी महाशना नाम्नी एक बहिन थी। संयोगसे वह भी अस्थिरके पास आ पहुँची। दोनोंका शीघ्र ही पारस्परिक प्रणय हो गया। अतः दोनों वैवाहिक-सूत्रमें बँधकर अपना समय बिताने लगे। अस्थिरकी यह प्रणयिनी अधिक आहार-प्रिया थी। उसके लिये अस्थिर अपने लड़कोंसे बहुत कुछ चुरा लाता, परन्तु उसके पाँचों लड़के जितना अर्जित करते, उतनेसे उसकी उदर-ज्वाला शान्त न होती। अस्थिर सदा ही इस विषयमें चिन्तित रहता। समयके योगसे महाशनाने ज्वालामुखी और निन्द्यवृत्त नामक दो पुत्र प्रसव किये। दोनों ही लड़के माँको बड़े प्यारे थे। प्रेमोन्मादमें इस पत्नीके पास पहुँचकर अस्थिर कभी तो ज्वालामुखीकी ज्वालासे विदग्ध हो उठता तो कभी निन्द्यवृत्तके सान्निध्य और गुण-प्रसादसे उसे सारे जगत्‌में निन्दित और अपमानित होना पड़ता। अस्थिरको चारों ओरसे निन्द्य और विपन्न देख मेरी सखीको भी अपने लड़केकी इस स्थितिपर बड़ा दुःख होता। निन्द्यवृत्त और ज्वालामुखीने उसे भी निन्दाके योग्य तथा मृतप्राय बना दिया। सखीके सहवाससे मुझे भी वर्षों दुःख भोगना पड़ा। कालान्तरसे भाग्य-वश अस्थिर एक नगरका अधिपति बन बैठा। उस नगरमें दस दरवाजे थे। वह अपने (पाँच और दो) सातों लड़कों और महाशनाको लेकर माताके साथ इस नये नगरमें ही निवास करने लगा। परन्तु अस्थिर सदा सुख पानेकी जितनी ही अभिलाषा करता, उतना ही उसे दुःख मिलता। निन्द्यवृत्त यदि प्रतिपल उसकी मर्यादाको मिट्टीमें मिलाता तो ज्वालामुखी उसके शरीरमें असह्य दाह उत्पन्न कर देता। इनकी माता महाशना भी प्रतिक्षण उसे सताया करती। अस्थिरकी दादी शून्या तथा पिता मूढ़ने ज्वालामुखी और निन्द्यवृत्तका बड़े ही लाड़-चावसे पालन-पोषण किया। उसकी दोनों पत्नियोंमें भी परस्पर खूब बनती। उन दोनोंने मिलकर अस्थिरको पूरा-पूरा अपने वशमें कर लिया। मैं भी अपनी सखीके साथ ही रहती थी। उसे दुःखिनी देखकर सदा मेरे मानसमें पीड़ा हुआ करती।

अवधूतिनने पुनः राजकुमारको सम्बोधित करके कहा—यदि मैं अपनी सखीके साथ न होती तो उसे दुःखके योग्य कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटना न होती। मैंने ही उन सबकी प्रतिक्षण रक्षा की। सहचरीके सङ्गति-फलकी मैं भी सहभागिनी बनी। शून्याकी शून्यता, मूढ़की मन्द-बुद्धि, अस्थिरकी अस्थिरता, चपलाके चापल्य, ज्वालामुखीके दाह और निन्द्यवृत्तकी निन्दावृत्तिने मुझपर भी अपना अधिकार जमाया। इन सबके संगमें मैं भी ऐसी ही बन गयी। परन्तु यदि मैं अपनी सखीका साथ छोड़ देती तो उसका कहाँ ठिकाना था? उसके सहवाससे मैं व्यभिचारिणी भी कहलायी। मेरे निकटके सम्बन्धियोंको ही मेरे सर्वथा निष्पाप होनेकी बातका पता था। मेरी साध्वी माँ सर्वथा निर्दोष, शुद्ध, आकाशसे भी अधिक विस्तीर्ण और परमाणुकी अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्म स्वरूपवाली थी। वह सब कुछ समझती थी परन्तु उन्हें कुछ पता ही नहीं लगता था। वे सब कुछ करती थीं, परन्तु उन्हें कुछ भी करना नहीं आता था। वे विश्वका आधार होकर किसीका आधार नहीं होती थीं। सब उनके आश्रय होकर भी उनके आश्रित कोई न था। वे सर्वरूपमयी होकर भी रूपहीना थीं। वे आनन्दमयी होकर भी आनन्दशून्या थीं। वे मातृ-पितृ-हीना थीं। सर्वत्र दिखायी पड़नेपर भी उनको कोई पहचानता नहीं था। हे राजकुमार! समुद्रकी लहरोंके समान ही मेरे असंख्य बहिनें हैं। उन सबका आचरण मेरे ही सदृश है। माँकी तरह मुझमें मान्त्रिक-शक्ति विद्यमान है। केवल इसीलिये ऐसी संगतिमें रहकर भी मैं अपनी माताकी भाँति स्वरूपतः शुद्ध बनी रह सकी।

प्रचार नामक अस्थिरका एक मित्र था। अस्थिर जब हार-थककर माँकी गोदमें शान्तिपूर्वक सो जाता तब उसके सारे लड़के भी सो जाया करते। अस्थिरके साथ जब उसकी माँ भी सो जाती तो उसकी असत्-स्वभावा वृद्धा सास अपने आच्छादनसे उन सबकी रक्षा करती। इन सबकी निद्रावस्थामें प्रचार पूर्वाङ्गके दो दरवाजोंसे नगरकी रक्षा करता। ऐसे समय मैं भी अपनी माँके पास जाकर आनन्दपूर्वक रहती और उन सबके जागनेके पहले ही वहाँ आकर पुनः उनका अनुसरण करती।

अस्थिरका मित्र प्रचार अस्थिरके साथ ही सबका पोषण करता था। अकेला होनेपर भी वह दस-पाँच प्रकारके वेष बनाकर सारे शहरमें सदा व्याप्त रहता। मालामें गुँथी हुई मणियाँ जैसे सूत्रसे अलग अलग हो जाती हैं, वैसे ही उसके विना सब छिन्न-भिन्न हो जाते थे, मैंने ही उसे नगरका सूत्रधार बना दिया था। एक नगरके जीर्ण हो जानेपर प्रचार तुरन्त सबको दूसरे नगरमें ले जाता। इसप्रकार प्रचारकी मित्रतासे अस्थिर अनन्त विभिन्न और अद्भुत देशोंका अधिपति बना।

अस्थिरकी माँ सती-साध्वी थी, उसे महाबली प्रचारका आश्रय मिला, अपनी स्नेहमयी प्रवृत्तिसे मैंने उसे पाल-पोषकर इतना बड़ा किया था, परन्तु फिर भी, भाग्य-दोषसे वह सदा दुखी ही रहा। चपला और महाशना-नाम्नी उसकी दोनों पत्नियाँ ज्वालामुखी, निन्द्यवृत्त तथा पाँचों पुत्र सब प्रकार उसे सदा सताया ही करते। कभी कोई खींचता, कभी किसीके पीछे दौड़ना पड़ता, कभी महाशनाका पेट भरनेकी चिन्तामें अस्थिरको देश-देशान्तरका परिभ्रमण करना पड़ता। वह कभी व्याकुल होता, कभी ज्वालामुखीसे मिलते ही जल उठता, सारांश यह—वह अपनी दुष्टा स्त्रियों और दुष्ट पुत्रोंका इच्छानुवर्ती होकर नगर-जङ्गल, गर्म तथा ठण्डे प्रदेशोंके हिंस्र पशुओंके बीच तथा भयावह एवं घृणास्पद स्थानोंमें सदा मारा-मारा फिरा। सङ्ग-दोषसे अपनी सहचरीके साथ मुझे भी कम कष्ट नहीं उठाने पड़े। मोह-वश मैं ही उसके सारे कुटुम्बकी सदा देखभाल करती रही!

इसप्रकार अनेक दिन बीत जानेपर एक दिन एकान्तमें, अत्यन्त खिन्न-मलिन अवस्थामें मेरी सहचरी मेरे पास आयी और मेरी सलाहसे उसने एक बुद्धिमान् पुरुषसे अपना नव-प्रणय करके अस्थिरको जीतकर अपना वशानुवर्ती बनाया। उसने कुछ लड़कोंको कैद कर लिया और कुछका वध कर डाला और अन्तमें मेरी ही सहायतासे एक दिन वह मेरी माँके अन्तःपुरमें प्रवेश कर उसके गले लग गयी। अब मेरी वह निर्मल स्वभाववाली सरला सहचरी सहज ही स्वाभाविक आनन्दपूर्वक दिवस-यापन करने लगी। हे राजकुमार! आप भी इसी प्रकार अपनी सखीके दुष्ट लड़केको वशमें कर मातासे मिलिये और नित्य सुखको उपलब्ध कीजिये!

मातारूपा शुद्ध चेतन है, सहचरीसे बुद्धिकी ओर एवं अवधूतिनसे जीव-स्वरूप चेतनकी ओर लक्ष्य है। क्रीड़नरूपी बुद्धिकी संगतिसे ही जीवको सुख-दुःख होता है। शुद्ध बुद्धि अविद्याकी संगतिमें पड़ गयी। बुद्धिपर शुद्ध चेतनका पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही जीव है। फिर वह बुद्धिको छोड़कर कैसे रह सकता है? असत्-स्वभावा स्त्रीकी उपमासे अविद्याकी ओर संकेत है। अविद्याका पुत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही मूढ़ मोह है। अविद्याके कारण ही बुद्धि उसके अधीन हो गयी। जब जीवकी बुद्धि मोहाधीन हो गयी, तो उसीसे अस्थिररूपी मन उत्पन्न हुआ। मन सङ्कल्प-विकल्पात्मक है। शुद्ध बुद्धिसे संकल्प-विकल्पकी खींचतान नहीं होती, वह मोहकी संगतिसे ही उत्पन्न होती है। मोह और मनका रूप एक-सा होता है। तारुण्यकी उपमाका तात्पर्य व्यवहारसे है। व्यवहार करनेवाला मन ही होता है। पिता मोहसे मूढ़ताकी प्राप्ति होती है। दादीरूपी अविद्या है, क्योंकि अविद्यासे ही जगत् उत्पन्न होता है। यह जगत् मनोराज्य या स्वप्नके सदृश ही है। असत् स्वभावा स्त्री अर्थात् अविद्याकी कोई सत्ता नहीं है। इसीलिये उसे शून्या कहा गया है। अविद्याके संगसे मूढ़भावको प्राप्त बुद्धि जीव चैतन्यका विस्मरण कर देती है तब उसे केवल मन और मोह ही दीखता है। चपलाकी उपमा कल्पनासे है। कल्पना मनकी सहायिका है, यही तो उसका परिणाम है। मन और कल्पनाके संयोगसे ही उसके पाँच पुत्रों अर्थात् पञ्च-ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। यह सारा विस्तार केवल मनका है। मातृ-पितृ-परायणतासे इन्द्रियोंका मन और कल्पनाके परायण अभीष्ट है।

अलग-अलग महल बनानेका मतलब इन्द्रियोंका शरीरके पाँचों अवयवोंपर स्थित होना है। अस्थिरका पुत्रोंके वश होना मनका इन्द्रियोंके वशमें होनेसे तात्पर्य है। वस्तुओंको चुराकर भोग करनेसे मनोराज्यमें स्वप्न आदि मानसिक विषय-भोग समझना चाहिये। विषय-भोगोंके बढ़नेसे चित्तमें आशा उत्पन्न होती है। यह आशा ही कल्पनारूपी चपलाकी महाशना नामक बहिन है। वस्तु विषय है, महाशनारूपी आशाका पुत्र ज्वालामुखी काम एवं निन्द्यवृत्त लोभ है। अस्थिरपर प्रेम होनेके कारण मेरी सहचरीको बड़ा दुःख हुआ, इसका अर्थ मन और बुद्धिकी एकतासे बुद्धिका दुःखी होना है। नगरका तात्पर्य शरीरसे है। शून्या दादी और मूढ़ नामक अस्थिरके पिताने महाशना और उसके दोनों लड़कोंका भलीभाँति पालन-पोषण किया, इसका अर्थ यह है कि अविद्या और मोहसे ही आशा और उससे उत्पन्न काम और लोभकी पुष्टि होती है। आशाकी सौत कल्पना है। दोनोंकी आपसमें खूब बनती है, परन्तु मन इन दोनोंके वशमें हो जाता है तब बुद्धिको और बुद्धिके प्रेमसे जीव—चेतन—को भी उनके साथ रहना पड़ता है। बुद्धिके दुःखसे जीव—चेतन—को भी दुखी होना पड़ता है अर्थात् चेतनरूपी जीवको भी उनके सदृश ही बनना होता है, इसीसे अज्ञानी शुद्ध आत्माको व्यभिचारी कहते हैं। परन्तु जिनको तत्त्वका बोध हो जाता है उन्हीं आत्माके निकट सम्बन्धियों-को आत्माकी निर्मलताका ज्ञान रहता है। अर्थात् आत्मा निर्लिप्त, अविकारी, शुद्ध, बुद्ध, नित्य मुक्तस्वरूप है। गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—

'मघवन्मर्त्यं वा इदꣳ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्या-शरीरस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।।' (छान्दोग्य अ० ८ खण्ड १२ मं० १)

अर्थात्—हे इन्द्र, यह शरीर मरण-धर्म संयुक्त है, और मृत्युद्वारा गृहीत है। वह शरीर इस अमर शरीर-रहित जीवात्माके भोगनेका अधिष्ठान है। निश्चय ही शरीर-सम्बन्धी आत्मा सुख-दुःखद्वारा गृहीत है। क्योंकि शरीरोपाधिविशिष्ट विद्यमान आत्माके सुख-दुःखका नाश नहीं होता एवं अशरीरी आत्मा एवं ब्रह्मको सुख-दुःख कभी स्पर्श नहीं करते।

यही भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।
(गीता अ० ३ श्लोक २८)

मित्र प्रचारकी उपमासे प्राण-वायुको समझना चाहिये। जब मन निद्रा-मग्न हो जाता है, तब भी प्राण-वायु चलता रहता है। यही प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, किरिकल, देवदत्त, धनञ्जय आदि रूप धारण करके शरीर-रूपी नगरकी रक्षा करता है। साँसके आच्छादनसे नींदमें मन और बुद्धिपर अविद्याका तात्पर्य आच्छादन समझना चाहिये। नींदमें सबके लय हो जानेपर जीवकी स्थिति शुद्ध स्वरूपमें रहती है, यही अवधूतिनका माताके पास जाना है। प्रचारके पोषणसे यह अभिप्राय है कि प्राण-वायुसे ही सब क्रियाएँ होती हैं। जीर्ण नगरको त्यागकर दूसरेमें पहुँचा देनेका अर्थ वासनाओंके साथ रहनेपर प्राणका मनको भिन्न-भिन्न योनियोंमें पहुँचा देना है। अनेक नगरोंमें घूमना अनेक योनियोंका प्राप्त करना है। मूर्खकी संगतिसे दुखी हुई इसका अर्थ मनके संगसे शुद्ध-बुद्धिका ग्लानियुत होना है। सखी एकान्तमें मेरे पास आयी, इसका मतलब स्वरूपका भान होना है। मेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सलाहसे बुद्धिमान् पुरुषसे विवाह करना, वैराग्यके द्वारा विवेकको प्राप्त करना है। अस्थिरको पराजित करना, मनको वशमें करना, कुछ लड़कोंको बाँधना और कुछका वध करना, ज्ञानेन्द्रियोंको वश करना और काम-लोभको मारना है। स्नेहमयी माँके गले लगना शुद्ध चित्स्वरूपमें बुद्धिका लीन हो जाना है। निष्कर्ष यह कि मनको वशमें करके शुद्ध चैतन्यका साक्षात् कर नित्य-सुख-लाभ करना ही जीवनके परम श्रेयको प्राप्त करना है।

सामुदायिक उपासना

(लेखक—श्रीकिशोरलाल घनश्याम मश्रूवाला)

(१)

सामुदायिक उपासनाका विरोध

पाठशालाओं, छात्रालयों और इसी प्रकारकी अन्य संस्थाओंमें सामुदायिक उपासनाके ढंगपर कुछ करनेका कार्यक्रम आज लगभग रूढ़-सा हो गया है।

साथ ही विद्यार्थियों और शिक्षकोंमें भी सामुदायिक उपासनाके विरुद्ध एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है। देशकी हर एक संस्थामें आज यह प्रश्न प्रायः उत्पन्न हो गया है।

इस विरोधके मूलमें अनेक प्रकारकी दलीलें और मानसिक वृत्तियाँ हैं। उदाहरणार्थ, कुछको सिर्फ इसलिये अरुचि है कि वह अनिवार्य रक्खी जाती है। शिक्षण-शास्त्रियोंमें ऐच्छिक और अनिवार्यको लेकर एक खासी चर्चा-सी चल पड़ी है, और वह चर्चा इस सम्बन्धमें भी चलायी जाती है। कुछ इस विचारसे विरोध करते हैं कि उपासना सामुदायिक नहीं, बल्कि व्यक्तिगत ही होनी चाहिये; दूसरे इसलिये विरोध करते हैं कि उपासनामें उनकी श्रद्धा ही मन्द पड़ गयी है। इसप्रकार कुछ लोग विचार-पूर्वक विरोधी हैं, और फिर कुछ देखा-देखी विरोध करने लगते हैं।

इस वादको एक संस्थामें पैदा करनेके लिये एक बार मैं भी निमित्त बना था। जिस समय मैंने इस वाद-विवादमें भाग लिया था, उस समय मेरे विचारोंमें कुछ अपक्वता थी। आज मैं इसे अनुभव करता हूँ। क्योंकि विचार प्रकट करनेमें जिस समतोलनाकी रक्षाके लिये मैं प्रयत्नशील रहता हूँ, वह इस बार नहीं रही थी, और मेरे विचारोंका सीधा फल, उस समय भी, जैसा मैं चाहता था, उससे भिन्न निकल सकता था। इसलिये वे दूसरोंमें गलतफ़हमी पैदा करनेवाले भी थे।

इस कारण यहाँ मैंने इस विषयका आरम्भसे ही विचार करनेका प्रयत्न किया है। आशा है, इससे दूसरोंको भी कुछ मदद मिलेगी।

उपासना एक प्रकारका ईश्वरका आलम्बन है। आलम्बन विषयक अपने विचार मैं 'जीवन शोधन'* के पहले भागमें विस्तारपूर्वक लिख चुका हूँ, इसलिये यहाँ उसकी लम्बी चर्चा नहीं करूँगा। सम्भव है, रूढ उपासकको इस चर्चाकी बहुत आवश्यकता मालूम न हो। पर मैं यह भी मानता हूँ कि शुद्ध उपासकके लिये इसका विचार अनिवार्य-सा है। इसलिये जिज्ञासु पाठकोंसे, उक्त विषयकी चर्चाको मेरी पुस्तकसे ही पढ़ लेनेकी प्रार्थना करके, मैं यह मान लेता हूँ, कि पाठक ईश्वरके किसी-न-किसी प्रकारके आलम्बनकी और फलतः किसी प्रकारकी उपासनाकी आवश्यकता समझते हैं; पर, इस उपासनाका स्वरूप कैसा होना चाहिये, यह सामुदायिक हो या व्यक्तिगत—ऐच्छिक हो या अनिवार्य—आदि विषयोंका वे स्पष्ट विचार करना चाहते हैं।

स्तवन-उपासना और सहज-उपासना

सामुदायिक तथा व्यक्तिगत उपासनाके प्रचलित स्वरूपका वर्णन कुछ इसप्रकार किया जा सकता है; कोई निश्चित किया हुआ स्तोत्रपाठ, कोई भजन, धुन, (मन्दिर वगैरामें) आरती, किसी शास्त्रका पाठ या अध्ययन, प्रवचन, इत्यादि। व्यक्तिगत उपासनामें इसके सिवा सन्ध्या, जप (माला), वन्दन दण्डवत् प्रणाम, प्रदक्षिणा या नैवेद्य वगैरा

* मूल पुस्तक गुजरातीमें है और 'नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद' से मिल सकती है। अनुवादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। इसप्रकारकी उपासनाको, सुभीतेके लिये, इस लेखमें मैं, 'स्तवन-उपासना' के नामसे पुकारूँगा।

जो ईश्वरका आलम्बन स्वीकार करते हैं, उनमें भी स्तवन-उपासनाके औचित्यके बारेमें अश्रद्धा और शंका उत्पन्न हो गयी है। Work is worship–ब्रह्मार्पणकी बुद्धिसे जीवनके नित्य नैमित्तिक कर्म करना ही उपासना है, इसके सिवा अन्य किसी स्तवन वगैराकी ज़रूरत नहीं—यह 'सूत्र', स्तवन-उपासनाका विरोध करनेके लिये उपस्थित किया जाता है। और भक्त-साहित्यमें इसके अनुकूल प्रमाण भी मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ कबीर एक जगह कहते हैं।

'ना मैं जानूँ सेवा बन्दगी, ना मैं घंटा बजाई;
ना मैं मूरत धरी सिंहासन, ना मैं पुष्प चढ़ाई।'

एक दूसरे भजनमें वह कहते हैं—

'कहूँ सो नाम, सुनूँ सो सुमिरन, जो करूँ सो पूजा;
'गिरह उधान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा।
'जहँ-जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो कुछ करूँ सो सेवा;
'जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा।'
'साधो, सहज समाध भली।'

सुभीतेके लिये इस दूसरी विचारशैलीको 'सहज-उपासना' अथवा 'कर्मयोगी-उपासना' कहूँगा।

इसप्रकारके ये दो पक्ष होनेसे, इन दो प्रकारकी उपासनाकी वास्तविक मर्यादा और उपयोगिता कितनी है, और इनका जीवनमें वास्तविक स्थान क्या है, इसकी जाँच करना उचित होगा।

(२)

बुद्धि और जीवनमें भेद

स्तवन-उपासना और सहज-उपासनाकी विस्तृत चर्चा करनेसे पहले मैं पाठकोंको एक बातकी चेतावनी दिया चाहता हूँ। साधारणतः जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली हर बातके लिये यह चेतावनी उपयोगी है, पर आध्यात्मिक विषयमें प्रामाणिकतया श्रेयके लिये प्रयत्न करनेवालेको यह बात ख़ास तौरपर ध्यानमें रखने-जैसी है। और वह है बुद्धि और जीवनके बीचके अन्तरको ध्यानमें रखना। इसे अधिक स्पष्ट करता हूँ—

बुद्धिसे हम जितना समझ सकते हैं, वह सब हम तुरन्त ही जीवनमें नहीं ला सकते। अच्छे-से-अच्छा सत्याग्रही भी जीवनको बुद्धिके निर्णयोंके पीछे खींचनेका मात्र प्रयत्न ही करता है वह अपने जीवनको ऐसा नहीं बना सकता, जो बुद्धिके साँचेमें बिल्कुल ढल जाय। इसमें बुद्धिका दोष नहीं। पर जिस परिस्थिति और संस्कारोंमें पूर्वजीवन बीता है, वह मनुष्यकी पुरुषार्थ करनेकी शक्तिको मर्यादित बनाता है, और इसलिये जीवन बुद्धिके साथ दौड़में पीछे रह जाता है। बुद्धि कर्तृत्व-शक्तिकी अपेक्षा अधिक व्यापक क्षेत्रमें विहार कर सकती है, पर बुद्धिके अनुरूप पुरुषार्थ करनेमें शरीर, इन्द्रिय, संस्कार, आदत, समाज, वातावरण वगैरा अनेक अन्तरायों-रुकावटोंके साथ झगड़ना पड़ता है, और ये झटपट दूर नहीं किये जा सकते। इस कारण 'धर्म क्या है, सो जानता हूँ, पर तदनुसार काम नहीं कर सकता; अधर्म क्या है, सो भी जानता हूँ, पर उससे रुक नहीं सकता' यह स्थिति दुर्योधन-जैसोंकी ही नहीं, पर हममेंसे प्रति सहस्र नौसौ निन्नानबेकी होती है।

अतएव, बुद्धिसे एक विचारशैली या सिद्धान्तको समझ चुकनेपर भी, एक बातका विचार करना होता है, और वह है, अपने वास्तविक जीवन और बुद्धिके बीचका अन्तर। जो इस बातको ध्यानमें नहीं रखता, उसकी स्थिति उस मजदूरकी-सी होती है, जिसका किस्सा इसप्रकार है *—

एक मजदूरने लाटरीका टिकट खरीदा। बोझा ढोनेके लिये वह अपने पास एक जंजीरवाला बाँस रखता था। उस बाँसकी पोलमें उसने वह टिकट रख दिया। फलके दिन उसके टिकटका नम्बर पहला आया। यह समाचार सुनते ही वह हर्षोन्मत्त हो उठा और 'अब मजदूरके बाँसका क्या काम है, यह सोचकर उसने वह बाँस नदीमें फेंक दिया। बाँसके बह जानेके बाद उसे याद आया कि इनामका आधार जो टिकट है, वह तो बाँसके साथ ही बह गया! तब तो वह डाढ़ मारकर रोने लगा।

* यह घटना चीनके प्रजासत्ता-राज्यके स्थापक डाक्टर सनयातसेनके एक भाषणसे ली है। उनका कहना है कि यह घटना सच्ची है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणाम प्रकट होनेसे, इनाम भी मानो मिल चुका-मज़दूरने यह मानकर भूल की। स्तवनोपासना और कर्मयोगी-उपासनाके वादमें भी ऐसी भूल होना सम्भव है। बुद्धिके बदलनेसे जीवन भी बदल जाता हो, सो नहीं।

इसके विपरीत, दूसरे प्रकारकी भूल भी हो सकती है। उसकी ओर उचित स्थान पर ध्यान खींचूँगा। इतनी सूचनाके बाद मूल विषयपर आता हूँ।

(३)

सहज-उपासनाका सिद्धान्त

"थतुं जे कायाथी, घडीक घडी वाणी थी उचरुं
कृति इंद्रियोनी, मुज मन विषे भावज स्मरुं,
स्वभावे बुद्धि थी, शुभ-अशुभ जे कांईक करूँ'
सहु पूजारूपे*—"तव चरण माँ नाथजी, धरूँ" †

इस पदका उच्चारण नहीं, बल्कि इसमें वर्णित भावका जीवनका स्वभाव बन जाना ही सहज या कर्मयोगी-उपासना कहा जा सकता है। यह अतिशय उन्नत अवस्था है और जो सचमुच ही इस दशामें स्थिर हुआ है, इसमें शक नहीं कि उसके लिये स्तवन-उपासनाके कम-से-कम कुछ अंग तो निरर्थक हो जाते हैं। पर साथ ही यह भी समझ रखना चाहिये कि जबतक उस मनुष्यको ऐसे पद या श्लोकके उच्चारणकी अथवा उसमें निहित भावके स्मरणकी जरूरत मालूम होती है, तबतक सहज उपासना मात्र बुद्धि-द्वारा समझी हुई वस्तु और कदाचित् कर्मयोगका प्रयत्नमात्र है। स्वभावरूप बना हुआ जीवन नहीं।

और, दूसरे, कर्मयोग ही ईश्वरोपासना है, इस सिद्धान्त-पर रहकर मनुष्य चित्तमें शान्ति और समाधानका अनुभव कर सके, इसके लिये तीन बातोंकी आवश्यकता रहती है:—

(१) स्वयं जो कुछ करता है, वे कर्तव्य-कर्म ही हैं, इस बातके विश्वासकी; (२) उन कर्मोंके आचरणमें प्रामाणिक भक्तको स्तवन-पूजनमें भक्ति या प्रेमानन्दकी जैसी भावना होती है, वैसी भावनाकी, क्षुद्र राग-द्वेषकी नहीं, और न शुष्क तटस्थताकी ही; और (३) ज्ञानकी; अर्थात् कर्म करते हुए भी कर्मका तत्त्व, कर्मका प्रयोजन, उसका अन्तिम फल और जीवनका ध्येय भलीभाँति समझा हुआ होनेसे उस विषयमें भ्रमका अभाव; कर्म करते हुए भी अपनी नश्वरताका स्पष्ट दर्शन, और इस बातका पूरा भान कि सब कर्मोंके परिणाम हमेशा शुभ और अशुभ इन दो प्रकारके होते हैं, और इतनी जागृति कि अपने ही खड़े किये हुए कर्मोंमें आप ही गुम न हो जाय। 'सगुणीं भजे लेश नाहीं भ्रमाचा' ‡ (रामदास)

जबतक ये तीनों शर्तें सिद्ध नहीं होतीं, तबतक चाहे मनुष्य स्तवनोपासनाके बिना जीवन बितावे, पर उसके लिये सहज-उपासनामें स्थिर रहना मुमकिन नहीं। अर्थात् सम्भव है, उस मनुष्यको जीवनमें कभी भी अशान्त बननेका, कसौटीके वक्तपर धैर्य खो बैठनेका, किसीका आलम्बन ढूँढ़नेका और यह इच्छा करनेका अवसर आवे, कि स्तवन करनेकी जिस शक्तिको उसने गँवाई है, वह शक्ति उसमें होती तो कितना अच्छा होता!

अपनेको नास्तिक कहनेवाले मनुष्य ऐसे मौकेपर भ्रमवश इतने श्रद्धालु बने हुए पाये गये हैं कि वे ग्रहोंका अनुष्ठान करने बैठे हैं। क्योंकि यह सम्भव नहीं कि कर्तव्य कर्मोंमें ही नहीं, बल्कि काम्य कर्मोंमें आसक्ति, कर्तव्य कर्मोंमें भी रागद्वेषका जोर और ज्ञानका अभाव, किसीको सहज स्थितिमें टिकने दें। (क्रमशः)

---

* कविवर न्हानालालके इस प्रसिद्ध पदके 'क्षमादृष्टे जो जो' शब्दोंको इसप्रकार बदलनेके लिये उनसे क्षमा माँगता हूँ। मुझे यहाँ जो कहना है उसके लिये ये शब्द अधिक अनुकूल हैं। इसी पदको हमने अपनी शालाकी प्रार्थनामें दूसरे ढंगसे वदलनेकी छूट ली है। उसमें अन्तिम पद नीचे लिखे अनुसार रक्खा है:— 'क्षमादृष्टे जो जो, तव शरण मां मस्तक धरूँ' वहाँ क्षमायाचनापर भार होनेसे और परमेश्वरके शरणमें कर्म धरनेकी अपेक्षा शरणमें मस्तक धरना अधिक उचित मालूम होनेसे यह परिवर्तन किया है। इसप्रकार छूटके साथ दूसरेकी कृतिमें हेर-फेर करना अनुचित है। मैं इस बातको समझता हूँ। अब तो छापाखानोंके कारण कोई ख़तरा नहीं रहा, अन्यथा प्राचीनकालमें ऐसी छूटके कारण भी पाठान्तरोंका निर्माण होता होगा। मैं फिर आशा करता हूँ कि कवि भी इसे दरगुजर करेंगे।

†अर्थ लगभग स्पष्ट है—भावार्थ देनेकी आवश्यकता नहीं देखता।—अनुवादक

‡ गुणोंको भजते हुए भी भ्रमका लेश न होना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक-वाटिका

जिन्हें मोक्षकी इच्छा है, उन्हें परमात्माके शरणमें जाना चाहिये। वह परमात्मा प्रकाशयुक्त है। परमात्माने ही सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करके उन्हें वेद प्रदान किये थे। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

जिसकी बुद्धि सर्वत्र आसक्तिरहित है, जिसको कोई स्पृहा नहीं है, जिसका अन्तःकरण जीता हुआ है वही पुरुष संन्यासके द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त होता है। —श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀ ❀

हित करनेवाला शत्रु भी मित्र है और अहित करनेवाला मित्र भी शत्रु है। रोग अपने शरीरसे उत्पन्न होनेपर भी शत्रु है और दवा जङ्गलमें पैदा होनेपर भी मित्र है। —भगवान् वेदव्यास

❀ ❀ ❀ ❀

छिपकर पाप करनेवाले मनुष्य समझते हैं कि हमें कोई नहीं देखता, परन्तु देवता लोग और उनका अन्तर्यामी आत्मा उनके सभी कामोंको देखते हैं। —मनु महाराज

❀ ❀ ❀ ❀

उठो, आलस्य मत करो, सच्चे धर्मका आचरण करो, धर्मका आचरण करनेवाला ही लोक-परलोकमें सुखी रहता है। बुरे मार्गमें भूलकर भी मत जाओ। —बुद्धदेव

❀ ❀ ❀ ❀

धनहीन दरिद्रका किसी दिन धनी होना सम्भव है, परन्तु जो दयाहीन हैं, उनका दरिद्र होकर पुनः धनी होना सम्भव नहीं। —तिरुवल्लुवर

❀ ❀ ❀ ❀

प्रेम सदा ही सहनशील और मधुर है; प्रेम ईर्षा नहीं करता, आत्मश्लाघा नहीं करता, गर्व नहीं करता, दुष्ट आचरण नहीं करता, स्वार्थकी चेष्टा नहीं करता, शीघ्र क्रोध नहीं करता, बुरा नहीं मानता, अधर्ममें सुखी नहीं होता और सदा सत्यके साथ आनन्द करता है। —ईसामसीह

❀ ❀ ❀ ❀

जिनको जगना है वे अभी जाग जायँ, यही अवसर जागनेका है, जब पैर पसारके सदाके लिये सो जाओगे, फिर क्या जागोगे? —गुरु नानक

❀ ❀ ❀ ❀

जहाँ दया है, वहीं धर्म है; जहाँ लोभ है, वहीं पाप है; जहाँ क्रोध है, वहीं काल है; और जहाँ क्षमा है, वहाँ तो आप श्रीभगवान् बसते हैं। —कबीर

❀ ❀ ❀ ❀

सारे छल-कपट छोड़कर श्रीरामसे प्रेम करो, अरे, जो स्वामी सारा शरीर देख चुका है, उससे छिपाना क्या है? —तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

इस असार संसारके उलट-फेरके फेरमें न पड़कर सर्वत्र समताका पवित्र भाव हृदयमें रक्खो; सर्व भूत-प्राणियोंमें समता रखना ही भगवान्‌की सबसे बड़ी भक्ति है। —प्रह्लाद

❀ ❀ ❀ ❀

भगवान्‌के शरण होना और उनके दर्शनके लिये हृदयसे प्रार्थना करना साधकका परम कर्तव्य है। जिसको ईश्वरका साक्षात् हो चुका है, उसके लिये तो आशा या याचनाकी कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। —परमहंस रामकृष्णदेव

❀ ❀ ❀ ❀

सांसारिक विषयोंसे उपरामता, ईश्वरकी आज्ञाका पालन और ईश्वरकी इच्छासे जो कुछ हो रहा है, उसीमें प्रसन्न रहना, यही सच्ची भक्तिके लक्षण हैं। —अबु मुर्तीज़

❀ ❀ ❀ ❀

हाथ और मनको काममें लगे रहने दे, परन्तु अपने हृदयको तो केवल भगवान्‌में ही रख, भगवान् आत्मा हैं। आत्मामें निवास कर, आत्मामें कर्म कर, आत्मामें प्रार्थना कर, सब कुछ आत्मामें ही कर, तू भी आत्मा ही है, भगवान्‌की मूर्ति ही है। —जैकब बेहोमी

❀ ❀ ❀ ❀

तुम अपनी प्रत्येक वासनाको जीत सकते हो, क्योंकि तुम उसी अनन्त परमात्माके ही अंश हो, जिसकी शक्तिका सामना कोई नहीं कर सकता। —राल्फ वाल्डो ट्राइन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी युगलानन्यशरणजीका वचनामृत

(पूर्व प्रकाशितसे आगे)

८०-फूल अरु काँटा एक ही वृक्षसे उत्पन्न होता है। तैसे गुण अरु औगुनका नियन्ता प्रभु हैं। दोनों प्रकारके मनुष्य हैं। गुनी और औगुनी, कर्म, काल, स्वभावादिके वश सब पराधीन हैं। परमेश्वर स्वतन्त्र हैं। जिसको जैसा चाहैं तैसा करि डारैं। चाहैं गुणको औगुन और औगुनको गुण, ताते सन्त, गुरु, परमेश्वर तथा जीवमात्रसे अभिमान करना महा निन्द्य है। नम्रता विनयसहित रहना सार है।

८१-कामादिक संगसे जीव सब पाप करते हैं। जब प्रभुकी दया होती है तब सन्त-समागम होता है। तिसतें सत बिचार पायके कामादिकको जीत लेते हैं।

८२-मृतक मनुष्य अपना काम नहीं कर सकता। ऐसे ही नारी-नेही, अपना परलोक बना नहीं सकता ? गृही शक्तिहीन हैं। नीच दशासहित हैं। धनाभिमान राखते हैं। जैसे स्वान कच्चा अन्न खायके ज्यों-का-त्यों वमन करि डारता है सो वह अन्न देखनेमात्रका है। परन्तु कुछ कामका नहीं। ऐसे ही संसारी लोग सोगग्रसित जीवते दृष्टि आवते हैं। परन्तु मृतक हैं। हरि, गुरु, सन्त तथा परलोकके कार्यके नहीं। परमार्थ-शक्ति-हीन हैं।

८३-एक गृहस्थ सन्त रहे परिवार-सम्पन्न, जब वह शरीर त्यागने लगे, तब अपनी सब सम्पत्ति प्रभुके अर्थ उठाय दिया। दुःखी दरिद्र ब्राह्मण साधुओंको बाँट दिया। तब संसारी लोग कहने लगे, कि सन्तजी ! आपके पुत्रादिक परिवार थे उनको कुछ नहीं दिया ? सन्तजी बोले, जो प्रभु अनुकूल होवेंगे, तब उनको सर्व सुख प्रभु ही देवेगा ! जो विमुख भये, तो मेरे दिये भी सन्तुष्ट न होवेंगे। ताते उनको न दिया। (क्रमशः)

पं० मोतीलालजीका देहावसान

भारतीय राजनीतिक क्षेत्रके विलक्षण कार्यकर्ता पं० मोतीलालजी नेहरूके देहका उस दिन अवसान हो गया। लौकिक-दृष्टिसे देशकी बड़ी भारी क्षति हो गयी। हमारे बीचसे हमारा एक बड़ा हितैषी उठ गया, इससे देशवासियोंको सन्ताप होना स्वाभाविक ही है। परन्तु विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो इसमें शोककी वस्तुतः कोई भी बात नहीं है, शोक उसके लिये किया जाना चाहिये जो मनुष्य होकर भी मनुष्यकी मौत न मरता हो। मोतीलालजीका देहावसान तो वीर पुरुषका-सा हुआ। अपने ध्येयपर डटे रहना, उसके लिये सर्वस्व त्याग कर देना और उसीमें लगे हुए शरीर छोड़ देना, बड़े गौरवकी बात है। आत्मा अमर है, उसका तो कोई कालमें भी अभाव नहीं होता। शरीर नाश होनेवाला है ही, कर्तव्य-पालन करते हुए उसका नाश हो जाना ही मनुष्यको इष्ट है। मोतीलालजीका देहावसान कर्तव्य-पालन करते हुए ही हुआ, और सबसे अधिक आनन्द और सन्तोषकी बात तो यह हुई कि महात्मा गान्धीजीके संगलाभसे उनका अन्तिम समय गायत्री और श्रीराम-नामके रूपमें भगवान्का स्मरण करते बीता, अन्त समयमें भगवान्का स्मरण रह जाना मनुष्य-जीवनका एक परम लाभ है, जो परम दुर्लभ भी है। सभी क्षेत्रोंमें काम करनेवालोंको यही प्रयत्न करना चाहिये कि उनका देहावसान कर्तव्य-पालन करते हुए हो और अन्तमें भगवान्का स्मरण अवश्य रहे। जो मनुष्यजीवनका परम ध्येय है।

चित्रपरिचय

समाधिस्थ महर्षि वाल्मीकि

महर्षि वाल्मीकि भगवन्नामका जप करते करते समाधिस्थ हो गये और हजारों वर्षोंतक उसी स्थितिमें रहे, उनके शरीरके चारों ओर दीमकोंने अपने घर बना लिये। मिट्टीकी ऊँची ऊँची दीवारें खड़ी हो गयीं। इस चित्रमें इसी भावका प्रदर्शन कुशल चित्रकारने किया है। चित्र देखते ही बनता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामावतार

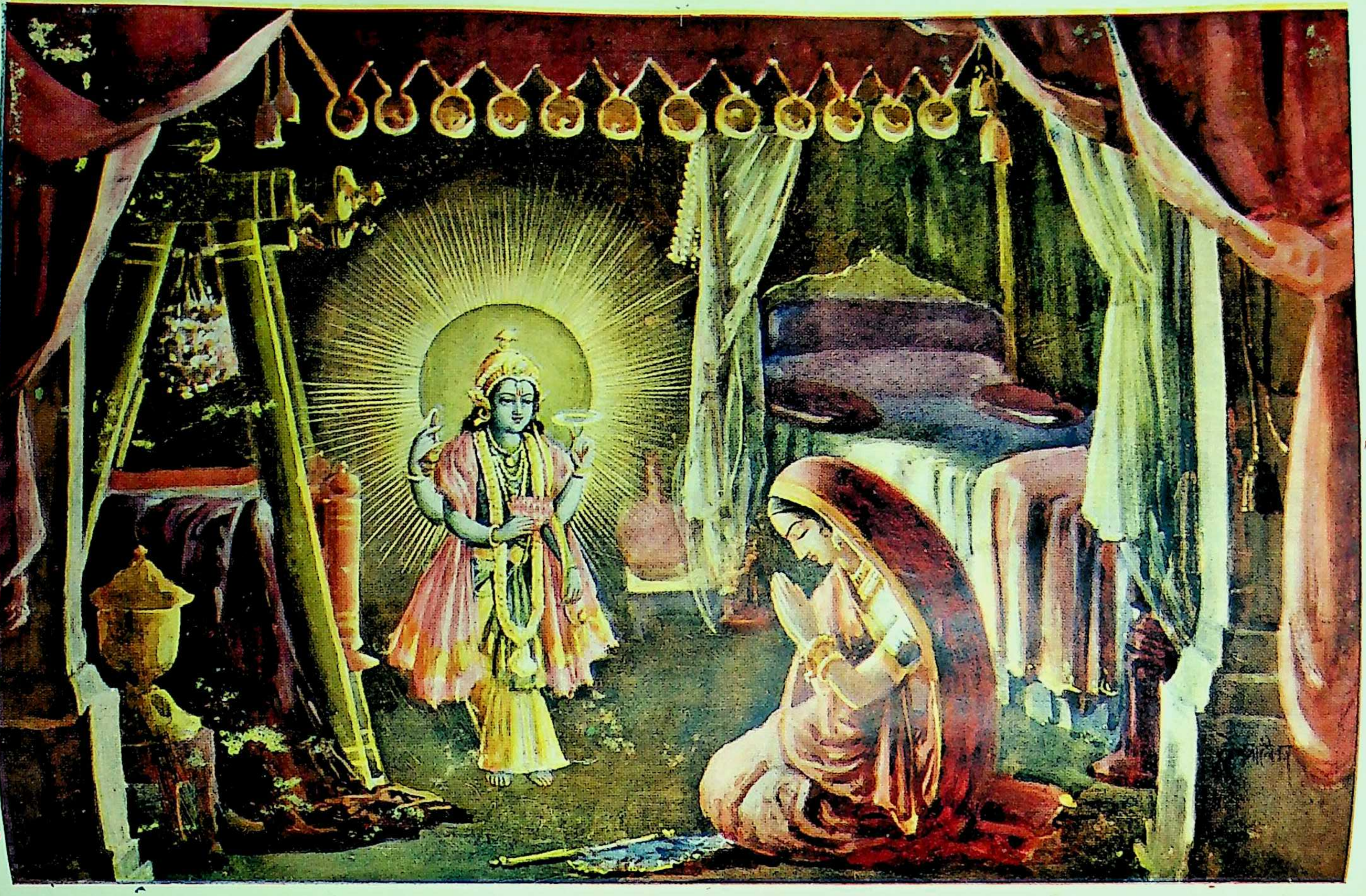

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनन्ता। माया गुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान भनन्ता॥
करुना-गुन-सागर सब गुन-आगर जेहि गावहिं स्रुति-सन्ता। सो मम हित लागी जन अनुरागी प्रगट भये श्रीकन्ता॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

वर्ष ५ खण्ड १ | वैशाख कृष्ण ११ संवत् १९८८ अप्रैल १९३१ | संख्या १० पूर्ण सं० ५८

ताप मिटै ना

लाभ कहा कंचन तन पाये ।
भजे न मृदुल कमल-दल-लोचन, दुख-मोचन हरि हरखि न ध्याये ॥
तन मन धन अरपन ना कीन्हों, प्रान प्रानपति गुननि न गाये ।
जोबन, धन, कलधौत-धाम सब, मिथ्या आयु गँवाय गँवाये ॥
गुरुजन गर्व विमुख रँग राते, डोलत सुख संपति बिसराये ।
ललित किसोरी मिटै ताप ना बिनु दृढ़ चिन्तामणि उर लाये ॥

—ललितकिशोरीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमूल्य वचन

'निष्काम भावसे जीवोंकी सेवा करनेसे और किसीकी भी आत्माको कष्ट न पहुँचानेसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है ।'

'जो मनुष्य भगवान्‌की नित्य समान दयाका प्रभाव जान लेता है, वह भगवत्-भजनके सिवा अन्य कुछ भी नहीं कर सकता ।'

'जबतक मनुष्यको भगवान्‌के ध्यानका पूर्ण आनन्द नहीं आता, तभीतक वह संसारके विनाशी विषयोंका चिन्तन करता है, उनमें राग करता है और उन्हें प्राप्त करनेकी कामना करता है । भगवान्‌के ध्यानका आनन्द मिल जानेपर तो वह एक पलके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूल सकता ।'

'विषयोंमें फँसे हुए मनुष्योंको प्रेमपूर्वक सत्संगमें लगाना चाहिये । जीवोंको श्रीनारायणके शरण करनेके समान उनकी दूसरी कोई भी सेवा नहीं है; यह सेवा सच्चे प्रेमियोंको अवश्य ही करनी चाहिये ।'

'१—मनसे निरन्तर श्रीभगवान्‌का ध्यान करना और उन्हें प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा करनी चाहिये । २—वाणीसे श्रीभगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन सदा-सर्वदा करना चाहिये । ३—शरीरसे प्राणीमात्रको भगवान्‌का स्वरूप समझकर निष्काम भावसे उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये ।'

'मन बड़ा ही पाजी और हरामी है । इससे दबना नहीं चाहिये । संसारके आरामोंसे हटाकर इसे बहुत जोरसे श्रीहरिके भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये ।'

'संसारके अनित्य पदार्थोंमें प्रेम करके अमूल्य जीवनको व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये । सच्चे दयालु और परम धन परमात्माके साथ प्रेम करना चाहिये और उनकी शरण होकर उनकी दयालुता और प्रेमका आनन्द लूटना चाहिये ।'

'श्रीभगवान्‌में अनन्य प्रेम होना चाहिये, निरन्तर विशुद्ध प्रेमसे उनका स्मरण होना चाहिये । दर्शन न हो तो कोई परवा नहीं, प्रेमको छोड़कर दर्शनोंकी अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिये । सच्चे प्रेमी भक्त दर्शनके भूखे नहीं होते, प्रेमके पिपासु होते हैं । प्रेमके सामने मुक्ति भी कोई वस्तु नहीं है ।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'प्रभुके मिलनेमें इसीलिये विलम्ब होता है कि साधक भक्त उस विलम्बको सह रहा है, जिस क्षण उसके लिये प्रभुका वियोग असह्य हो जायगा, प्रभु बिना उसके प्राण निकलने लगेंगे, उसी क्षण भगवान्‌का मिलन होगा। जबतक भगवान्‌के बिना उसका काम चल रहा है, तबतक भगवान् भी देखते हैं कि इसका मेरे बिना काम तो चल ही रहा है फिर मुझे ही इतनी क्या जल्दी है !'

'भगवान्‌की प्रबल शक्तिके सामने मायाकी शक्ति कुछ भी नहीं है। जो मायाके वशमें हैं, माया उन्हींके लिये प्रबल है। परमात्मा और उसके प्रभावको जाननेवाले भक्तोंके सामने मायाकी शक्ति कुछ भी नहीं है। यदि मनुष्य परमात्माके शरण होकर उसके स्वरूपको जान ले तो मायाकी शक्ति कुछ भी न रह जाय। जीव परमात्माका सनातन अंश है, अपनी शक्तिको भूल रहा है, इसीसे उसे माया प्रबल प्रतीत होती है, यदि भगवत्कृपासे अपनी शक्तिको जाग्रत कर ले तो मायाकी शक्ति सहज ही परास्त हो जाय। मायामें अज्ञान ही हेतु है। अज्ञानके नाशसे ही मायाका नाश है, अज्ञानका नाश भगवत्-शरणागतिसे हो सकता है।'

'गुणातीतकी वास्तविक स्थितिको दूसरा कोई भी नहीं जान सकता। वह स्वसंवेद्य अवस्था है। परन्तु जो अपनेमें ज्ञानीके लक्षण हैं कि नहीं, इस बातकी परीक्षा करता है, उसे ज्ञानी नहीं समझना चाहिये। लक्षणोंके खोजनेसे उसकी स्थिति शरीरमें सिद्ध होती है। ज्ञानीकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न है नहीं, फिर खोजनेवाला कौन ?'

'जो द्रव्य परोपकार या लोक-सेवामें खर्च किया जाता है, वह इसलोक और परलोकमें सुख देनेवाला होता है। यदि निष्काम भावसे खर्च किया जाय तो वही मुक्तिदायक बन जाता है, यह बात युक्ति और शास्त्र दोनों ही प्रमाणोंसे सिद्ध है।'

'श्रीभगवान्‌के नाम-जपसे मनकी स्फुरणाएँ रुकती हैं, पापोंका नाश होता है, मनुष्य गिरनेसे बचता है, उसे शान्ति मिलती है। नाम-जप ईश्वर-प्राप्तिमें सर्वश्रेष्ठ साधन है। यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि कुछ भी न बन सके तो केवल नाम-जपसे ही भगवान्‌की स्मृति रह सकती है। नाम-महिमा सर्वशास्त्रसम्मत है और युक्ति तथा अनुभवसे सिद्ध है।' (क्रमशः)

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यान और पत्रोंसे संकलित)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय और भगवान्

संसारके विषयोंमें न मालूम कैसी मोहनी है, देखते और सुनते ही मन ललचाता है, उनकी प्राप्तिके लिये अनेक उचित, अनुचित उपाय किये जाते हैं, मनुष्य मोह-वश मन-ही-मन सोचता है कि इनकी प्राप्तिसे सुख हो जायगा, परन्तु उसका विचार कभी सफल होता ही नहीं। कितने ही लोगोंके जीवन तो अभीष्ट विषयकी प्राप्ति होनेके पूर्व ही पूरे हो जाते हैं। सारा जीवन विषय-सुखके लोभमें अनन्त प्रकारकी मानसिक और शारीरिक विपत्तियोंको सहन करते-करते ही चला जाता है। किसीको कोई मनचाही वस्तु मिलती है तब एक बार तो उसे कुछ सुख-सा प्रतीत होता है, परन्तु दूसरे ही क्षण नयी कामना उत्पन्न होकर उसके चित्तको हिला देती है और फिर तुरन्त ही वह अशान्त और व्याकुल होकर उसको पूरी करनेकी चेष्टामें लग जाता है। वह पूरी होती है तो फिर तीसरी उदय हो जाती है। सारांश यह कि कामनाओंका तार कभी टूटता ही नहीं, वह बराबर बढ़ता चला जाता है। इसका कारण यह है कि संसारका कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो पूर्ण और सारे अभावोंको सदा-सर्वदा मिटा देनेवाला हो। और जबतक अभावका अनुभव है तबतक सुखकी प्राप्ति असम्भव है। सारा संसार इसी अभावके फेरमें पड़ा हुआ है। अच्छे-अच्छे विद्वान्, बुद्धिमान् और चिन्ताशील पुरुष इस अभावकी पूर्तिके लिये ही चिन्तामग्न हैं। युग बीत गये, नाना प्रकारके नवीन-नवीन औपाधिक आविष्कार हुए, और रोज-रोज हो रहे हैं। परन्तु यह अभाव ऐसा अनन्त है कि इसका कभी शेष होता ही नहीं। बड़ी कठिनतासे, बड़े पुरुषार्थसे, बड़े भारी त्याग और अध्ययनसे मनुष्य एक अभावको मिटाता है, तत्काल ही दूसरा अभाव हृदयमें न मालूम कहाँसे आकर प्रकट हो जाता है! यों एक-एक अभावको दूर करनेमें केवल एक ही जीवन नहीं, न मालूम कितने जन्म बीत गये हैं, बीत रहे हैं और अभाव-की जड़ न कटनेतक बीतते ही रहेंगे। कलमी पेड़की डालोंको काटनेसे वह और भी अधिक फैलता है, इसी प्रकार एक विषयकी कामना पूरी होते ही—उसके कटते ही न मालूम कितनी ही नयी कामनाएँ और जाग उठती हैं। किसी कंगालको राज्य पाने-की कामना है, वह उसकी प्राप्तिके लिये न मालूम कितने जप, तप, विद्या, बुद्धि, बल, परिश्रम आदिका प्रयोग करता है। उसे कर्मकी सफलताके रूपमें यदि राज्य मिल जाता है तो राज्य मिलते ही अनेक प्रकारकी ऐसी आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका वह पहले विचार भी नहीं कर सका था। अब उन्हीं आवश्यकताओंकी पूर्तिकी कामना होती है और वह फिर वैसा ही दुखी बन जाता है। इसलिये आवश्यकता है अभावकी जड़ काटकर ऐसी वस्तुको प्राप्त करनेकी जो नित्य पूर्ण, सत् और सर्वाभावशून्य हो, जिसे पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता हो, आप्तकाम और पूर्ण-काम हो जाता हो, अभावकी आग सदाके लिये बुझ जाती हो। यह सत् और पूर्ण वस्तु केवल परमात्मा है, परन्तु उस परमात्माकी प्राप्ति वहाँतक नहीं होती, जहाँतक जगत्के विषयोंका मोह त्यागकर मनुष्य परमात्माको पानेके लिये एकान्त-इच्छुक नहीं हो जाता। जो इस परम वस्तुको पानेके लिये व्याकुल हो उठता है, उसके हृदयसे भोगोंकी शक्ति नष्ट हो ही जाती है, क्योंकि जहाँ भगवान्का प्रेम रहता है, वहाँ भोग-कामना उसी प्रकार नहीं ठहर सकती जिसप्रकार सूर्यके सामने अन्धकार नहीं ठहरता।

जो चाहौ हरि मिलनकौ, तजौ विषय विष मान।
हियमें बसैं न एक सँग, भोग और भगवान॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्हें भगवान्‌के मिलनकी चाह है उन्हें और समस्त इच्छाओंकी जड़ बिल्कुल काट डालनी पड़ेगी । परन्तु वह जड़ बड़ी मजबूत है, केवल बातोंसे उसका कटना सम्भव नहीं, उसके काटनेके लिये वैराग्यरूपी दृढ़ शस्त्रकी आवश्यकता है। विषय-वैराग्य हुए बिना कामनाका नाश नहीं होता। इसके लिये बड़े ही प्रयत्नकी आवश्यकता है। तनिक से प्रयत्नमें घबरा जानेसे काम नहीं चलेगा। जब संसारके साधारण नाशवान् पदार्थोंको पानेके लिये मनुष्यको बहुत-से त्याग करने पड़ते हैं तब अविनाशी परमात्माकी प्राप्तिके लिये तो विनाशी वस्तुमात्रका त्याग कर देना आवश्यक है ही। ऐसा कौन-सा कष्ट है जो अपने इस परम ध्येयकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको नहीं सहना चाहिये ? जो जरासेमें ही घबरा उठते हैं, उनके लिये इस पथका पथिक बनना असम्भव है। यहाँ तो तन-मन और लोक-परलोककी बाजी लगा देनी पड़ती है। सब कुछ न्योछावर कर देना पड़ता है उस प्रेमीके चारु-चरणोंपर ! महात्मा श्रीकृष्णानन्दजी महाराज कहा करते थे-

एक धनी जमींदारका नौजवान लड़का किसी महात्माके पास जाया करता था, साधु-संगके प्रभावसे उसके मनमें कुछ वैराग्य पैदा हो गया, उसकी महात्मामें बड़ी श्रद्धा थी, वह प्रेमके साथ महात्माकी सेवा करता था। कुछ दिन बीतनेपर महात्माने कृपा करके उसे शिष्य बना लिया, अब वह बड़ी श्रद्धाके साथ गुरु महाराजकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। कुछ दिनतक तो उसने बड़े चावसे सारे काम किये, परन्तु आगे चलकर धीरे-धीरे उसका मन चञ्चल हो उठा, संस्कारवश पूर्वस्मृति जाग उठी और कई तरहकी चाहोंके चक्करमें पड़नेसे उसका चित्त डावाँडोल हो गया। उसे महात्माके संगसे बहुत लाभ हुआ था, परन्तु इस समय कामनाकी जागृति होनेके कारण वह उस लाभको भूल गया और उसके मनमें विषाद छा गया। एक दिन वह दुपहरकी कड़ी धूपमें गंगा-जलका घड़ा सिरपर रखकर ला रहा था, रास्तेमें उसने सोचा कि मैंने कितना साधु-सङ्ग किया, कितनी गुरु-सेवा की, कितने कष्ट सहे, परन्तु अभीतक कोई फल तो नहीं हुआ। कहीं यह साधु ढोंगी तो नहीं है ? इतने दिन व्यर्थ खोये ! *

---

* जो साधक थोड़ेमें ही बहुत ऊँची स्थिति प्राप्त करनेकी आशा कर बैठता है उसके मनकी इसप्रकारकी दशा समय-समयपर हुआ करती है, यह साधनमें विघ्न है, ऐसे समय घबराकर साधनको छोड़ नहीं बैठना चाहिये। धीरता और दृढ़ताके साथ बिना उकताये साधन किये जाना ही साधकका कर्तव्य है, सच्चे साधकको तो यह विचारनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती कि मेरी उन्नति हो रही है, या नहीं। जो हरिभजन और गुरुशुश्रूषाके बदलेमें उन्नति चाहता है और उन्नतिकी कामनासे ही हरिभजन और गुरुशुश्रूषा करता है वह तो हरिभजन और गुरुशुश्रूषारूपी सहज धर्मको—प्रेमके परम कर्तव्यको उन्नतिके मूल्यपर बेचता है, वह सौदागर है, हरिभक्त और शिष्य नहीं। भक्त और शिष्यका तो केवल यही कर्तव्य है कि गुरूपदिष्ट मार्गसे निष्कामभावसे विशुद्ध प्रेमके साथ स्वाभाविक ही साधन करता रहे। मैं साधन कर रहा हूँ, ऐसी भावना ही मनमें न आने दे। ऐसी भावनासे अपने अन्दर साधनपनका अभिमान उत्पन्न होगा और साधनके फलकी स्पृहा जाग्रत् हो उठेगी, ईश्वरेच्छासे इच्छित फल न मिलने या विपरीत परिणाम होनेपर उसके मनमें साधन और साधन बतलानेवाले सद्‌गुरुके प्रति शंका और अश्रद्धा हो जायगी, जिसका फल यह होगा कि वह साधनसे गिर जायगा। सच्चे साधकको फलकी चिन्ता ही न करनी चाहिये, फलकी बात भगवान् जाने, उसे फलसे कोई मतलब नहीं, अनुकूल हो तो हर्ष नहीं और प्रतिकूल हो तो शोक नहीं। भगवान् कहते हैं—

'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्'

—जिस वस्तुको लोग प्रिय समझते हैं उसकी प्राप्तिमें तो वह हर्षित नहीं होता, और जो वस्तु लोगोंकी दृष्टिमें बहुत ही अप्रिय है, उसको पाकर वह दुःखित नहीं होता। वह तो जानता है केवल अनन्यभावसे भजन करना, उसे लाभ-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह विचारकर उसने घड़ा जमीनपर रख दिया और भागनेका विचार किया। गुरु महाराज बड़े ही महात्मा पुरुष थे और परम योगी थे। उन्होंने शिष्यके मनकी बात जानकर उसे चेतानेके लिये योगबलसे एक विचित्र कार्य किया, उनकी योगशक्तिसे जलके जड़ घड़ेमेंसे मनुष्यकी भाँति आवाज़ निकलने लगी। घड़ेने पुकारकर पूछा, 'भाई! तुम कहाँ जा रहे हो?' शिष्यने कहा, 'इतने दिन यहाँ रहकर सत्संग की, परन्तु कुछ भी नहीं मिला, इससे इसे छोड़कर कहीं दूसरी जगह जा रहा हूँ।' घड़ेमेंसे फिर आवाज आयी, 'जरा ठहरो, मेरी कुछ बातें मन लगाकर सुन लो, मैं तुम्हें अपनी जीवनी सुनाता हूँ, उसे सुननेके बाद जाना उचित समझो तो चले जाना।' शिष्यके स्वीकार करनेपर घड़ा बोलने लगा—'देखो, मैं एक तालाबके किनारे मिट्टीके रूपमें पड़ा था, किसीकी भी कुछ भी बुराई नहीं करता था, एक जगह चुपचाप पड़ा रहता था, लोग आकर मेरे ऊपर मल-त्याग कर जाते, सियार-कुत्ते बिना बाधा पेशाब करते। मैं सभी कुछ सहता, मनका दुःख कभी किसीके सामने नहीं कहता। मेरा किसीके साथ कोई वैर नहीं था, तो भी न मालूम क्यों एक दिन कुम्हारने आकर मुझपर तीखी कुदालका वार किया, मेरे शरीरको जहाँ-तहाँसे काटकर अपने घर ले गया। वहाँ बड़ी ही निर्दयतासे मूसलोंकी मार मारकर मेरा चकनाचूर कर डाला, पैरोंसे रौंदकर मेरी बड़ी ही दुर्दशा की। फिर वह एक चक्रमें डालकर मुझे घुमाने लगा, बड़ी मुश्किलसे जब घूमनेसे पिण्ड छूटा, तब मैंने सोचा कि अब तो इस विपत्तिसे छुटकारा होगा, परन्तु परिणाम उलटा ही हुआ। कुम्हारने कुछ देरतक पीटकर मुझे कड़ी धूपमें डाल दिया और फिर जलती हुई आगमें डालकर जलाने लगा। शेषमें वह मुझे एक दुकानपर रख आया, मैंने समझा कि अब तो छूट ही जाऊँगा, लेकिन फिर भी नहीं छूट सका। वहाँ मुझे जो कोई भी लेने आता, ठोककर बजाये बिना नहीं हटता, यों लोगोंकी थप्पड़ खाते-खाते मेरे नाकोंदम हो गया। इसप्रकार कितना ही काल बीतनेपर मैं इस साधुके आश्रममें पहुँच सका हूँ, यहाँ मुझे पवित्र गंगाजलको हृदयपर धारण कर भगवानकी सेवा करनेका मौका मिला है। इतने कष्ट, इतनी भयानक यातनाएँ भोगनेके बाद कहीं मैं परम प्रभुकी सेवामें लग सका हूँ। जीवनभर महान् दुःखोंकी चक्कीमें पिसनेपर ही आज विश्वनाथकी चरण-सेवाका साधन बनकर धन्य हो सका हूँ। भाई! उन्नतिके—यथार्थ उन्नतिके ऊँचे सिंहासनपर चढ़नेवालेको प्रथम बाधा-विघ्न-जनित भयानक निराशाके थपेड़े अटल, अचलरूपसे सहने पड़ते हैं, शून्यताके घोर जलशून्य मरुस्थलको स्थिर धीर भावसे लाँघकर आगे बढ़ना पड़ता है। इस अग्निपरीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर फिर कोई भय नहीं है। अतएव मेरे भाई! तुम निराश न होओ, जितना दुःख या कष्ट आवे, जितनी ही अधिक निराशा, शून्यता, अभाव और अन्धकारकी काली-काली घटाएँ जीवनाकाशमें चारों ओर फैल जायँ, उतना ही तुम भगवान्की ओर अग्रसर हो सकोगे। यातनाकी अग्निशिखा जितनी ही अधिक धधकेगी, तुम उतने ही शान्तिधामके समीप पहुँचोगे।'

हानि, स्वर्ग-नरक, सिद्धि-असिद्धि और मोक्ष-बन्धनसे कोई लेन-देन नहीं। यदि भजन होता है तो वह सभी अवस्थाओंमें सदा परम सुखी है। उसके मनमें यदि कोई विपत्ति है, तो यही है कि जब किसी कारणवश प्रभुका स्मरण छूट जाता है—

'कह हनुमान बिपति प्रभु सोई। जब तव साधन भजन न होई॥'

—वह तभी भयानक मनःपीड़ासे छटपटाता है, जब उसे प्रियतमकी पलभरकी विस्मृति हो जाती है तो—

'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घड़ेके सदुपदेशसे शिष्यकी आँखें खुल गयीं, उसने अपनी पूर्व स्थितिके साथ वर्तमान स्थितिकी तुलना की तो उसे साधना और गुरु-सेवाका प्रत्यक्ष महान् फल दिखायी दिया। वह घड़ेको उठाकर गुरुकी कुटियाको चल दिया और वहाँ पहुँचकर गुरुके चरणोंमें लोट गया।

इस दृष्टान्तसे यह समझना चाहिये कि हमें यदि सत्, चित्, आनन्द, नित्य निरञ्जन परमात्माको प्राप्त करना है तो किसी भी विपत्ति और कष्टसे घबराना नहीं चाहिये। संसारी विपत्तियाँ और कष्ट तो इस मार्गमें पद-पदपर आवेंगे। वास्तवमें अपने मनसे सारे भोगोंका सर्वथा नाश ही कर देना पड़ेगा। विरागकी आगमें विषयोंकी पूर्णाहुति दे देनी पड़ेगी। भगवान् तो कहते हैं—

यस्तु मां भजते नित्यं वित्तं तस्य हराम्यहम्।
करोमि बन्धुविच्छेदं स तु दुःखेन जीवति॥
सन्तापेष्वेषु कौन्तेय! यदि मां न परित्यजेत्।
ददामि स्वीयपदं च देवानामपि दुर्लभम्॥

जो मेरा प्रेमसे भजन करता है, मैं उसके वित्तको (उसकी सम्पत्तिको) हर लेता हूँ (सम्पत्तिसे केवल रुपये ही नहीं समझने चाहिये, जिसका मन जिस वस्तुको सम्पत्ति समझता है वही उसकी सम्पत्ति है—जैसे लोभी धनको, कामी स्त्रीको और मानी मानको सम्पत्ति मानता है) और उसका भाइयोंसे, घरवालोंसे विच्छेद करवा देता हूँ, इससे वह बड़े ही दुःखसे जीवन काटता है। इतना सन्ताप प्राप्त होनेपर भी जो मेरा त्याग नहीं करता, प्रेमसे मेरा भजन करता ही रहता है, उसे मैं अपना देव-दुर्लभ परमपद प्रदान कर देता हूँ। श्रीमद्भागवतमें एक दूसरी जगह भगवान् कहते हैं—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥
तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्।
अतो मां सुदुराराध्यं हित्वाऽन्यान्भजते जनः॥
ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान्विस्मरन्त्यवजानते॥

(श्रीमद्भागवत १०। ८८। ८ से ११)

जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसके सारे धन (रत्न-धन, स्वर्ण-धन, पुत्र-धन, गो-धन, कीर्ति-धन) आदिको शनैः-शनैः हर लेता हूँ, तब उस दुःखोंसे घिरे हुए निर्धन मनुष्यको उसके स्वजन लोग भी छोड़ देते हैं। यदि फिर भी वह घरवालोंके आग्रहसे धन कमानेका कोई उद्योग करता है तो मेरी कृपासे उसके सारे उद्योग व्यर्थ हो जाते हैं। तब वह विरक्त होकर मत्परायण भक्तोंके साथ मैत्री करता है, तदनन्तर उसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसे मुझ परमसूक्ष्म, सत्-चैतन्य-घन, अनन्त परमात्माकी प्राप्ति होती है। इसीलिये लोग मेरी आराधनाको कठिन समझकर दूसरोंको भजते हैं और उन शीघ्र ही प्रसन्न होनेवाले दूसरोंसे राज्य-लक्ष्मी पाकर उद्धत, मतवाले और असावधान होकर अपने उन वरदान देनेवालोंको भूलकर उन्हींका अपमान करने लगते हैं।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि जिनके पास धन है, उनपर भगवत्की कृपा और उन्हें भगवत्प्राप्ति होती ही नहीं, अवश्य ही जबतक धनका अभिमान है और धनमें आसक्ति है तबतक भगवत्कृपा और भगवत्प्राप्ति नहीं होती। जिन्होंने अपना माना हुआ सर्वस्व भगवान्के चरणोंमें अर्पण कर दिया, जिनकी सारी अहंता. ममतापर भगवान्का अधिकार हो गया, वे अवश्य ही धन रहते हुए भी अकिञ्चन हैं, ऐसे धनी अकिञ्चनोंपर भगवान्की कृपा अवश्य ही है। त्याग मनसे ही होना चाहिये। परन्तु जो लोग मनसे त्याग नहीं करते, जिनके अहंकार और ममत्वकी बीमारी बहुत बढ़ी हुई होती है, उन्हींके लिये भगवान् कृपाकर उपर्युक्त दिव्यौषधिकी व्यवस्था कर उन्हें रोगसे छुड़ाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतएव भगवान्‌के विधान किये हुए प्रत्येक फलमें मनुष्यको आनन्दका अनुभव होना चाहिये, जो हमारे परम पिता हैं, परम सुहृद् हैं, परम सखा हैं, परम आत्मीय हैं, उनकी प्रेमभरी देनपर जो मनुष्य मन मैला करता है, वह प्रेमी कहाँ है, वह परमात्माकी प्राप्तिका साधक कहाँ है. वह तो भोगोंका गुलाम और कामका दास है। ऐसे मनुष्यको नित्य, परम सुखरूप समस्त अभावोंका सदाके लिये अभाव कर देनेवाले 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये प्रत्येक कष्ट और विपत्तिको भगवान्‌के आशीर्वादके रूपमें आदरपूर्वक सिर चढ़ाना चाहिये और सब विषयोंसे मन हटाकर सच्ची लगनसे एक चित्तसे उस परम सुहृद् परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

हम लोग बहुत ही भूलमें हैं जो सर्वाधार भगवान्‌को छोड़कर वाह्य विनाशी वस्तुओंके पीछे भटक-भटककर अपना अमूल्य मानव-जीवन व्यर्थ खो रहे हैं। कामनाके इस दासत्वने—आठों पहरके भिखमंगेपनने हमें बहुत ही नीचाशय बना दिया है। हम बड़े ही अभिमानसे अपनेको 'महत्त्वाकांक्षा' वाला प्रसिद्ध करते हैं परन्तु हमारी वह महत्त्वाकांक्षा होती है प्रायः उन्हीं पदार्थोंके लिये जो विनाशी और वियोगशील हैं। असत् और अनित्यकी आकांक्षा—महत्त्वाकांक्षा कदापि नहीं है, हमें उस अनन्त, महान्‌की आकांक्षा करनी चाहिये, जिसके संकल्पमात्रसे विश्व-चराचरकी उत्पत्ति और लय होता है और जो सदा सबमें समाया हुआ है। जबतक मनुष्य उसे पानेकी इच्छा नहीं करता, तबतक उसकी सारी इच्छाएँ तुच्छ और नीच ही हैं। इन तुच्छ, नीच इच्छाओंके कारण ही हमें अनेक प्रकारकी याचनाओंका शिकार बनना पड़ता है। यदि किसी प्रकार भी हम अपनी इन इच्छाओंका दमन न कर सकें तो कम-से-कम हमें अपनी इन इच्छाओंकी पूर्ति चाहनी चाहिये—भक्तराज ध्रुवकी भाँति—उस परम सुहृद् एक परमात्मासे ही। माँगना ही है तो फिर उसीसे माँगना चाहिये, उसीका 'अर्थार्थी' भक्त बनना चाहिये जिसके सामने इन्द्र, ब्रह्मा सभी हाथ पसारते हैं और जो अपने सामने हाथ पसारनेवालेको अपनाकर उसे बिना पूर्णताकी प्राप्ति कराये, बिना अपनी अनूप-रूप-माधुरी दिखाये कभी छोड़ना ही नहीं चाहता। परम भक्तवर गोसाईं श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जाके विलोकत लोकप होत
विसोक लहैं सुरलोक सुठौरहि,
सो कमला तजि चंचलता
अरु कोटि कला रिझवै सिर मौरहि।
ताको कहाय कहै तुलसी
तु लजाहि न माँगत कूकर कौरहि,
जानकी-जीवनको जन है जरि
जाहु सो जीहसे जाँचत औरहि॥
जग जाँचिये कोउ न, जाँचिय जो
जिय जाँचिय जानकि जानहि रे,
जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाइ
जो जारति जोर जहानहि रे।
गति देखु विचारि विभीषणकी
अरु आनि हिये हनुमानहि रे,
तुलसी भजु दारिद-दोष-दवानल,
संकट कोटि कृपानहि रे॥

आत्म-सुधार

मोह मद द्वेषको निकाल मन मंदिरसे, संयम विशेष साध ज्ञानको बढ़ाऊँगा।
आश अभिलाष छोड़–विश्वसे सनेह तोड़, मोड़ मनमूढ़को सुमार्गपै लगाऊँगा॥
गाऊँगा नवीन राग आनँद अपार भरी, प्यारके प्रवाहमें अथाह गोते खाऊँगा।
राम-नाम रटमें डटूँगा भक्ति-पथ-बीच, नीच जग छोड़ राम-रूप बन जाऊँगा॥

गोपालनारायण पारीक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदाचार

धर्मराज युधिष्ठिरके पूछनेपर पितामह भीष्मने सदाचारका वर्णन इसप्रकार किया—

दुराचारी, दुष्ट चेष्टावाला, दुष्ट-बुद्धि और घोर दुष्ट कामोंके करनेमें साहसी मनुष्य असत् पुरुष कहलाता है। इसके विपरीत सदाचारमें लगे हुए पुरुषको सत्पुरुष कहते हैं। जो पुरुष राजमार्गमें (आम रास्तोंपर), गोशालामें और अन्नके ढेरके पास या अन्नसे भरे खेतमें मल-मूत्रका त्याग नहीं करते, नित्य प्रातःकाल शौचादि क्रियाके बाद मिट्टी-जलसे भलीभाँति हाथ-पैर आदि धोकर नदीमें स्नान-आचमन कर शुद्ध जलसे पितरोंका तर्पण करते हैं, वही सत्पुरुष कहलाते हैं। जहाँ नदी न हो, वहाँ सरोवर, बावड़ी या कूएँपर स्नान करके तर्पण आदि नित्य कर्म करने चाहिये। नित्य सूर्यका उपस्थान करना, सूर्योदय होनेपर न सोना, प्रातःकाल पूर्वाभिमुख होकर और सायंकाल पश्चिमकी ओर मुख करके दोनों समय नियमसे सन्ध्या-वन्दन करना, भोजनके समय दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख धोकर पूर्वकी ओर मुख करके मौन धारणकर भोजनकी निन्दा न करते हुए सात्त्विक और रुचिकर पदार्थ खाना, भोजनके बाद हाथ धोकर उठना, रात्रिमें भीगे पैर न सोना ये सभी सदाचार हैं। कल्याण चाहनेवाले पुरुषको मार्गमें आये हुए यज्ञशालादि पवित्र स्थान, बैल, देवता और गायोंके बैठनेके स्थान, चौरास्ते, ब्राह्मण, धर्मनिष्ठ मनुष्य और पवित्र वृक्षादिकी प्रदक्षिणा करनी चाहिये और अतिथि, अपने नौकर और पोष्य वर्गके लिये भोजनमें कदापि पंक्तिभेद न करना चाहिये (अर्थात् अपने लिये अच्छा और इन सबको उससे हीन भोजन न देना चाहिये)। मनुष्यको उचित है कि प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय सन्धिकालमें भोजन न करे। हवनके समय अग्निमें हवन करनेवाला और केवल ऋतुकालमें ही स्त्री-समागम करनेवाला पुरुष ब्रह्मचारी ही मानने योग्य होता है। ब्राह्मणोंके भोजनके बाद अवशिष्ट बचा भोजन माताके दूधके समान हितकारी होता है, इसलिये कल्याणकामी पुरुषोंको ऐसा ही भोजन करना चाहिये। वृथा मिट्टीको खुरचनेवाले, दाँतोंसे नख काटनेवाले, तिनका तोड़नेवाले और सर्वदा जूँठे हाथ रखने-वालेकी आयु कम हो जाती है। मांस-त्यागी पुरुष यजुर्वेदको जाननेवाले अध्वर्युके संस्कारयुक्त यज्ञका, मनुष्योंके लिये वध किया हुआ आदि कोई सा भी मांस न खाय और ऐसे हिंसायुक्त कोई भी कर्म न करे। अपने देशमें या परदेशमें कहीं भी अपने स्थानपर आये हुए अतिथिको भूखा नहीं रहने देना चाहिये। जीविकाके लिये उपार्जन किया हुआ हर एक प्रकारका द्रव्य पिता आदि बड़ोंको समर्पण कर देना चाहिये। गुरुजन जब अपने पास आवें, तब उन्हें उत्तम आसन देकर प्रणाम पूजादिद्वारा उनका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये। ऐसा आचरण करनेवाले मनुष्य दीर्घायु, यशस्वी और लक्ष्मीवान् होते हैं। उदय होते हुए सूर्यको और नंगी पर-स्त्रीको किसी भी कालमें नहीं देखना चाहिये। अपनी स्त्रीसे भी केवल ऋतुकालमें एकान्तमें समागम करना चाहिये। इसके सिवा न तो अपनी नग्न स्त्रीको देखना चाहिये और न उसके साथ एक शय्यापर सोना चाहिये और न स्त्रीके साथ एक थालीमें भोजन ही करना चाहिये। गुरु ही सब तीर्थोंका सार है और अग्नि सब पवित्र पदार्थोंका निचोड़ है। शिष्ट पुरुषोंके आचरण पवित्र हैं और गायकी पूँछके बालोंका स्पर्श किये हुए पदार्थ पवित्र माने जाते हैं। अपने परिचितोंसे मिलनेपर उनसे कुशल-समाचार पूछना और प्रातः सायं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मणोंको प्रणाम करना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। देव-मन्दिरमें, गायोंके बीचमें, ब्राह्मणोंके कर्मोंमें, वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें और भोजन करते समय द्विजोंको दहिना हाथ ऊपर रखना चाहिये। सबेरे, शाम नित्य ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन करनेसे व्यापारियोंकी व्यापारमें उन्नति होती है, किसानोंकी खेती उत्तम होती है, धनधान्यकी वृद्धि होती है और इन्द्रिय-तृप्तिकारक उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। ब्राह्मणको भोजन कराते समय यजमान अन्न परोसकर पूछे कि 'ठीक है न ?' तब भोजन करनेवाला उत्तर दे कि 'बहुत ठीक है' जल देकर कहे 'तृप्तिकारक है न ?' तब पीनेवाला कहे कि 'सुतर्पणम्' (बड़ा तृप्तिकारक है)। पायस आदि देकर कहे कि 'अच्छी बनी है ?' तब ब्राह्मण कहे कि 'सुश्रुतम्' (अच्छी बनी है)। हर एक रोगी मनुष्य हजामत बनवानेपर, छींक आनेपर, स्नान और भोजन करनेपर (सब पुरुष) ब्राह्मणोंको प्रणाम करें, यह प्रणाम आयु देनेवाला होता है। सूर्यके सामने बैठकर लघुशंका नहीं करनी चाहिये और अपने मलको नहीं देखना चाहिये। अपनेसे बड़ोंको न तो 'तू' कहना चाहिये और न उनका नाम लेकर ही पुकारना चाहिये। अपनेसे छोटे या समान अवस्थावालोंका नाम लेनेमें अथवा उन्हें 'तू' कहनेमें दोष नहीं है। पापी मनुष्योंका हृदय ही उनके पाप-कर्मोंको बता देता है, जो अपने किये हुए पापोंको जान-बूझकर महापुरुषोंके सामने छिपाते हैं वे निःसन्देह पतित हो जाते हैं। अपने किये हुए पापोंको मनुष्य नहीं बतलाते तो क्या है (अन्तरिक्षचारी) देवता तो उन्हें देखते ही हैं। अपने पापोंको गुप्त रखनेसे किया हुआ पाप-कर्म उलटा पापमें और प्रवृत्ति करके मनुष्यके पापोंको बढ़ाता है और धर्मको गुप्त रखनेसे धर्मकी वृद्धि होती है। इसलिये धर्मको सदा गुप्त रखनेका प्रयत्न करना चाहिये और पापको कभी नहीं छिपाना चाहिये। किये हुए पापोंको मनुष्य भूल जाता है, परन्तु वह धर्मविरुद्ध पाप करनेवाला यह नहीं जानता कि उसका वह पाप उसे वैसे ही ग्रस लेगा जैसे चन्द्रमाको राहु ग्रसे बिना नहीं छोड़ता। आशासे एकत्र किया हुआ धन बड़े ही दुःखसे भोगनेमें आता है। विद्वान् ऐसे धनसंग्रहके कार्यकी प्रशंसा नहीं करते और मृत्यु भी उसकी यह राह नहीं देखती कि उसने आशापूर्वक एकत्रित किये हुए धनका उपभोग किया है या नहीं। धर्मका आचरण शुद्ध मनसे होता है इसलिये मनसे सदा सबका भला मनना चाहिये। धर्माचरण करनेमें दूसरेकी सहायता या साथकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। धर्म ही मनुष्योंकी जड़ है, धर्म ही स्वर्गमें देवताओंको अमर बनाता है। जो धर्माचरण करते हैं, वे मृत्युके अनन्तर भी नित्य सुख भोगते हैं।

एक प्रस्ताव

(लेखक—श्रीकालीप्रसादजी 'विरही')

'अंधकार' हूँ मैं, 'प्रकाश' तुम, कैसे तुमको पाऊँ ?
इस असीम अन्तरको हा ! मैं, कैसे आज मिटाऊँ ?
तुम आते हो, मैं सकुचाकर, अपना रूप छिपाता ;
तुम जाते हो रूठ, हाय ! तब, शिर धुनकर पछताता !

× × ×

करता हूँ प्रस्ताव 'उषा' के—द्वारा, हे—प्राणेश !
क्या, आना स्वीकार करोगे ? 'संध्या' का रख वेश !!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्त-गाथा

भक्तवर विट्ठलदासजी

दक्षिणके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण कुलमें दो सगे भाई राजपुरोहित थे। घरमें धन-सम्पत्तिकी कमी नहीं थी। ब्राह्मण-कुलमें होनेसे विद्या भी यथेष्ट थी। परन्तु संसारमें धनसे जितनी बुराई होती है उतनी शायद दूसरी किसी भी वस्तुसे नहीं होती। विद्वान् होनेपर भी धनके कारण दोनों भाइयोंमें परस्पर मन-मुटाव रहने लगा। फलस्वरूप दोनोंने सम्पत्तिका बटवारा कर अलग-अलग रहनेका विचार किया। लोभ-वश दोनों ही एक दूसरेसे कुछ-न-कुछ अधिक हड़पनेकी इच्छासे लड़ने लगे। यहाँ-तक नौबत आ गयी कि दोनों परस्पर सर्वस्व नाश करनेको तैयार हो गये। बन्धु-बान्धवोंने समझा-बुझाकर झगड़ा मिटाना चाहा, परन्तु दैव-वश दोनोंकी बुद्धिने किसीकी बातपर ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि दोनों ही एक दूसरेके प्राण-घातक बन इस लोकसे विदा हो गये। इस दुर्घटनाको सुनकर राजाको भी बड़ा दुःख हुआ। पर कोई उपाय न देख ब्राह्मणके घरवालोंको समझा-बुझाकर अन्तमें राजाको भी चुप बैठना पड़ा। अब इस ब्राह्मण-परिवारमें दो विधवा स्त्रियों और छोटे भाईके एक बच्चे विट्ठलदासको छोड़कर और कोई नहीं रह गया।

बालक विट्ठलदास आदर्श सद्गुणी और होनहार लड़का था। वह जब कुछ समझने लगा तब एक दिन उसने अपनी मातासे पिताका हाल पूछा। इसपर उसकी माताने उसके पिता और ताऊके कलह और परस्पर लड़ मरनेका सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया। बालकके मनपर धनके कारण होनेवाली इस दुर्घटनाका विलक्षण प्रभाव पड़ा और वह चिन्तामग्न हो गया। सब अनर्थोंकी जड़ धनको जानकर उसने मन-ही-मन धनके त्यागका संकल्प किया और दृढ़ताके साथ प्रपञ्चकी आशा छोड़कर पुरोहित-वृत्तिका त्याग कर दिया। उसी समयसे विट्ठलदासका मन सांसारिक बातोंसे विरक्त रहने लगा और उसका अधिकांश समय भजन, ध्यान और भगवन्नाम-कीर्तनमें बीतने लगा। उसी दिनसे उसने अपने आपको सर्वतोभावेन भगवच्चरणोंमें अर्पण कर दिया। अपने इकलौते पुत्रकी यह स्थिति देख माताको यह चिन्ता होने लगी कि कहीं यह घर छोड़कर चला न जाय और इसी आशंकासे उसने उसका विवाह कर दिया और यों उसे सांसारिक बन्धनमें बाँधकर गृहस्थमें जकड़ रखना चाहा। परन्तु जिसने एक बार उस अमिय-रसका पान कर लिया उसको अपने लक्ष्यसे कौन डिगा सकता है? दिनों-दिन उसका ईश्वर-प्रेम बढ़ने लगा और अब तो उसका एक क्षण भी बिना भगवत्-स्मरणके नहीं बीतता था। साधु-सन्तोंकी सेवा करना, ब्राह्मणों और भूखोंको भोजन-अन्न देना आदि उसके नित्य कर्म थे। भगवान्‌की पूजा करनेके अनन्तर हाथोंमें करताल और वीणा लेकर 'गोविन्द गोपाल श्रीपति! अच्युतानन्त वामनमूर्ति! भक्तवत्सल विश्वपति! राधा-मन-मानस-रञ्जन! गोकुलनिवासी जनार्दन! गोपवेश-गोवर्धन-धारण! नन्दनन्दन श्रीहरि!' आदि नामोंका प्रेमपूर्वक उच्च स्वरसे कीर्तन करते-करते विट्ठलदास प्रेम-विह्वलताके कारण बेसुध हो जाते और लगातार तीन-तीन घण्टोंतक वैसे ही पड़े रहते। उनकी इस प्रेम-भक्तिकी विलक्षण दशा देखकर सन्त और भक्तजनोंको तो बड़ा आनन्द होता। अवश्य ही इस रहस्यको न जाननेवाले दुष्ट-प्रकृतिके कुछ संसारी मनुष्य उनकी यह स्थिति देखकर उनपर सन्देह करते और उन्हें दाम्भिक बतलाया करते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दिन राजाको अपने पुरोहित-पुत्र विट्ठलदासका स्मरण हुआ। उसने मन्त्रीसे उसका वृत्तान्त पूछा। मन्त्रीने विट्ठलदासके पिताकी मृत्यु-घटनाके प्रभावसे उसकी बदली हुई स्थिति और भगवत्-निष्ठाका सारा हाल कह सुनाया। इसे सुनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह अपनी कुछ सम्पत्तिको पवित्र करनेकी इच्छासे विट्ठलदासको धन-धान्य देनेका विचारकर उन्हें बुलानेके लिये कुछ कर्मचारियोंको भेजा। उन्होंने भक्तवर विट्ठलदासजीके समीप जाकर उन्हें राजाकी प्रार्थना सुनायी और बड़े सम्मानपूर्वक उन्हें साथ चलनेके लिये कहा। परन्तु प्रतिष्ठाको 'शूकरी-विष्ठा-सदृश' और रमा-विलासको 'वमन-सदृश' समझनेवाले भक्तने राजकर्मचारियोंको नम्रता-पूर्वक समझा-बुझाकर लौटा दिया। विट्ठलदासकी इस निस्पृहता और विरतिको देखकर उनपर राजाकी श्रद्धा और भी बढ़ गयी और उसने किसी प्रकार भी उन्हें अपने घरमें बुलाकर उनकी पवित्र पद-रज और दर्शनसे अपने घर और कुटुम्बको पवित्र करना चाहा। इसलिये अबकी बार उसने कुछ खास-खास लोगोंको किसी प्रकार विनती कर उन्हें लिवा लानेके लिये फिर उनके पास भेजा। अबकी विट्ठलदासजी अस्वीकार नहीं कर सके और ईश्वर-प्रेरणा समझकर उन शिष्ट-पुरुषोंके साथ श्रीभगवन्नाम-कीर्तन करते हुए राजासे मिलनेके लिये दरबारमें गये। भक्तवर विट्ठलदासजीको आया देखकर राजाको बड़ा ही आनन्द हुआ और उसने सिंहासनसे उठकर अत्यन्त भक्ति और सम्मान-पूर्वक उनका अभिवादन कर बैठनेके लिये आसन दिया। विट्ठलदासजीके शान्त, सौम्य, तेजपूर्ण मुख-मण्डलको देखकर राजा मन्त्रमुग्ध-सा हो गया और अपनेको धन्य मानने लगा। उसने उनसे भगवत् गुणानुवाद और भजन सुनानेकी प्रार्थना की। भक्तोंको अपने भगवान्‌की गुण-चर्चामें जितना अधिक आनन्द होता है उतना और किसी बातमें नहीं होता। राजाकी बात सुनकर विट्ठलदासजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने आनन्द-पुलकित हो इसे स्वीकार कर लिया। हरि-कीर्तनकी तैयारी होने लगी। वीणा, करताल, मृदङ्ग आदि कीर्तनका सामान मँगवाया गया। देखते-ही-देखते सारी तैयारियाँ हो गयीं। समाजमें अच्छे-बुरे सभी प्रकारके मनुष्य थे। उनमेंसे कितने ही भक्त और सन्तोंके अकारण द्रोही भी थे। उन्हें भगवन्नाम आदिमें श्रद्धा नहीं थी और वे भ्रमवश विट्ठलदासजीसे भी द्वेष रखा करते थे। उनकी तन्मयताकी परीक्षा करनेके लिये मन्द-बुद्धि, कलुषित-हृदय दुष्टोंने आजके दिनको अच्छा मौका समझकर राजासे कहा कि आजका कीर्तन खुली छतपर होनेसे बड़ा आनन्द आवेगा। सरल-प्रकृति राजाने दुष्टोंके कुभावको न समझकर वैसा करनेकी अनुमति दे दी। दुष्टोंने षड्यन्त्र रचकर भक्तवर विट्ठलदासजीका आसन ऐसी जगह लगाया कि जहाँसे कीर्तन करते हुए विट्ठलदास यदि तन्मयताके कारण मूर्छित होकर गिरें, तो सीधे छतके नीचे ही आकर ठहरें।

विट्ठलदासजी आसनपर आ विराजे। सारा समाज यथायोग्य स्थानपर बैठ गया। कीर्तन आरम्भ हुआ। सबने बड़े प्रेमसे योग दिया। प्रेम-रसमें निमग्न हो सभी प्रेमी श्रोतागण कीर्तनमें अपूर्व आनन्दका अनुभव करने लगे। प्रेमियोंके मुखकी हरि-ध्वनि और करताल, वीणा, मृदंगादिकी तालबद्ध मधुर-ध्वनिसे दशों दिशाएँ गूँज उठीं। बीच-बीचमें हरि-गुण-गान भी होता था। विट्ठलदासजी प्रेममदमें छक गये और मतवाले होकर नाचने लगे। हृदयके प्रेम और उत्साह तथा पैरोंमें बँधे हुए घुँघुरुओंने तल्लीनता बढ़ानेमें और भी सहायता की। 'पतितपावन जगदोद्धारा। आदि सर्वेश वैकुण्ठविहारा। भक्तवत्सल इन्दिरावर।' आदि नाम-रत्नोंकी माला गूँथते हुए वे मुक्तकण्ठसे कीर्तन करने लगे और अन्तमें प्रेमावेशमें पागल हो मूर्छित होकर गिरे तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकदम छतसे नीचे आ ठहरे। कुछ दुष्ट प्रकृतिके लोगोंके सिवा सभी श्रोतागण कीर्तन-रसके पानसे मुग्ध हो रहे थे। भक्तवर विट्ठलदासजीके मूर्छित होकर नीचे गिरनेकी सम्भावना किसीके भी खयालमें पहले न आयी थी, परन्तु अब उन्हें नीचे गिरते देख सब घबरा गये और इस घटनासे सभीके हृदयमें बड़ी भारी चोट पहुँची। दुष्टोंकी मनचाही हो गयी। अब तो वे अपनी सफलताके आनन्द और अभिमानमें फूले नहीं समाये। राजाने नीचे आकर देखा, भक्तके हृदयकी धड़कन और श्वासकी गति बन्द हो गयी है। राजा यह दशा देखकर एकदम व्याकुल हो गये। उनके दुःखका पार नहीं रहा। किसी तरह धीरज धरकर राजाने उस मृत-शरीरको उठवाया और उनकी माताके पास उनके घर ले गये। अपने जीवनाधार एकमात्र पुत्रकी यह स्थिति देखकर माताके दुःखका पार नहीं रहा। राजाने अनेक प्रकारसे उन्हें धीरज दिया और बहुत-सा धन देकर किसी प्रकार यत्किञ्चित् सन्तोष करा अपने घर लौट आये।

यद्यपि माताको इस जीवनमें अपने पुत्रसे मिलनेकी अब कोई भी आशा नहीं रही थी तथापि घोर निराशामें तनिक-सी भी आशा मनुष्यके हृदयमें अकथनीय उत्साह और जीवन देनेवाली होती है। अतएव उसको भी यह बात याद आयी कि विट्ठलदास कीर्तनके समय सदा ही मूर्छित हुआ करता है, आजकी मूर्छा शायद विशेष गहरी हो और उसके प्राण न निकले हों, इसलिये उसने शवका दाह-कर्म न करवा उसे एक चद्दरसे ढाँककर सुरक्षित रख दिया और उसके निस्तेज मुखको बारम्बार देखकर प्राण-सञ्चारकी प्रतीक्षा करने लगी। इसी तरह तीन दिन बीत गये। शवमें किसी प्रकारकी चेतनता नहीं आयी। भगवान्की अपार महिमा है। उनकी कृपासे सभी कुछ सम्भव है। चौथे दिन विट्ठलदासजी अपनी उस प्रेम-मूर्छा या काल-मूर्छासे सबको आनन्दित करते हुए जाग उठे और अपनेको राजमहलके बदले अपने घरमें देखकर बड़े आश्चर्यान्वित हुए तथा मातासे इसका कारण पूछने लगे। माताने छतसे गिरनेकी घटनासे लेकर राजाके द्रव्यदानतककी सारी रामकहानी संक्षेपमें कह सुनायी। छतसे गिरनेपर भी शरीर-रक्षा हुई जानकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और भगवत्कृपाका बारम्बार स्मरणकर वे आनन्दसे गद्गद् हो गये। परन्तु माताका लोभवश राजद्रव्य स्वीकार करना उन्हें बहुत ही बुरा लगा और भविष्यमें इससे एवं ऐसी आश्चर्यजनक घटनासे प्रसिद्धि फैलनेके कारण बड़ी भारी हानि होनेकी आशंकासे उन्होंने मन-ही-मन रात्रिमें चुपचाप घर छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जानेका निश्चय कर लिया।

आधी रातका समय है। चारों तरफ निस्तब्धता छायी है। दिनभरके परिश्रमसे थके-हारे संसारी लोग प्रकृतिकी आनन्दमयी गोदमें विश्राम पाकर जीवनी-शक्ति प्राप्त कर रहे हैं। ऐसे समय विट्ठलदासजी चुपचाप उठे और घरका द्वार खोल निर्भयताके साथ तेज चालसे मथुराकी ओर चल पड़े। उनके जानेका हाल किसीको मालूम नहीं हुआ। सबेरे माता और पत्नीने पुत्र और स्वामीको घरमें न पाकर विलाप करना शुरू कर दिया। राजाके पास शीघ्र ही इसकी खबर पहुँची, समाचार पाते ही उन्हें खोजनेके लिये राजाने इधर-उधर दूत दौड़ाये, परन्तु सब व्यर्थ हुआ। माता अपने प्यारे पुत्रको फिर खो बैठनेके दुःखमें प्राण त्यागनेकी प्रतिज्ञा कर अनशन-व्रत करने लगी। दयामय भगवान्से अपने भक्तकी माताका पुत्र-वियोग-जनित दुःख न देखा गया। विट्ठलदासकी माताको स्वप्नमें यह ज्ञात हो गया कि विट्ठलदास मथुरामें हैं। सबेरा होते ही माता भी पुत्र-वधूको साथ ले मथुराकी ओर चल दी और वहाँ अपने नयनोंके तारे प्यारे पुत्रको देख प्रसन्नताके मारे फूली न समायी। माताके आग्रहसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विट्ठलदासजीने उनको अपने पास रख लिया और सकुटुम्ब अपना सारा समय भगवद्भजनमें बिताते हुए व्रजभूमिका आनन्द लूटने लगे।

विट्ठलदासकी पत्नी भी परमभावुका और पतिव्रता थी। वह प्रत्येक काम पतिकी इच्छानुसार किया करती एवं अपना सारा समय सत्संग, भजन, कीर्तन, भगवद्दर्शन एवं सास और पतिकी सेवामें बिताया करती। एक दिन चूल्हा पोतनेके लिये वह मिट्टी लाने गयी, तो मिट्टी खोदते समय उसे भूमिमें शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज भगवान्‌की मूर्ति मिली और इस मूर्तिके पास ही बहुत-सा धन देखा। धनको सब अनर्थोंकी जड़ समझनेवाले भक्तकी पतिव्रता स्त्रीके मनमें उस धनका जरा-सा भी लोभ नहीं आया और उसे देखते ही वह पतिके पास दौड़ी आयी और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। हाल सुनकर विट्ठलदासजीने कहा कि–'इस स्थानके स्वामीको इसकी सूचना दे दो, जिससे वह अपना धन ले जाय।' आज्ञानुसार मालिकके पास खबर भेजी गयी, वह आया और धन देखकर उसने हाथ जोड़कर कहा कि–'महाराज! यह धन तो आपका ही है, आप इसे ग्रहण कीजिये। मेरा होता तो पहले मुझे मिलता, पर जब यह आपको मिला है तो आप ही इसके मालिक हैं।' इसपर विट्ठलदासजी बोले कि–'भाई! जिसकी जमीनमें जो चीज मिलती है, उसपर उस जमीनके मालिकका ही हक होता है। हमारा तो इस स्थानमें रहनेभरका अधिकार है, बाकी इसके और इसके अन्दरसे मिलनेवाली वस्तुके मालिक तुम्हीं हो।' उसने इसे स्वीकार नहीं किया और इसी तरह बात बढ़ते-बढ़ते यहाँतक बढ़ गयी कि आखिर यह मामला ग्रामके पञ्चोंके सामने गया। उन दिनों न तो आजकलकी तरह मुकदमेबाजीका ही युग था, न आपसमें मुकदमा लड़ानेका पेशा करनेवाले वकील—मुख्तार ही थे, न बालकी खालको खींचकर कानूनका अर्थ करनेवाले जज, मजिस्ट्रेट थे और न गवाहोंको डरा-धमकाकर या वाग्जालमें फँसाकर उनसे उल्टी-सीधी कहलानेवाले पब्लिक-प्रासिक्यूटर या वकील-बैरिष्टर थे। जो कुछ भी आपसका मतभेद होता, उसका निपटारा करानेके लिये केवल मतभेदवाले व्यक्ति ग्रामके पञ्चोंके सामने जाकर सच्चा-सच्चा हाल बयान कर दिया करते और दोनोंकी सुनकर पञ्च जो कुछ फैसला कर देते वही दोनोंको शिरोधार्य होता। पाठकगण! क्या आप लोगोंने आजकलकी अदालतोंमें भी कहीं ऐसा दिलचस्प मुकदमा देखा-सुना है? सुनते भी कहाँसे? अब न तो वैसी ईमानदार प्रजा है और न वैसे धर्म एवं न्यायशील राजा हैं। अब तो हमलोगोंकी संस्कृतिमें ही कुछ ऐसा परिवर्तन हो गया है कि हम बिना ही कारण लोभवश एक दूसरेके स्वत्वपर अपना हक जमाना चाहते हैं और इसीलिये उपरोक्त घटनाको प्रायः कल्पनामात्र समझ लेते हैं। अस्तु! मामलेको सुनकर पञ्चोंने फैसला कर दिया कि यह धन भगवान्‌की मूर्तिके साथ मिला है इसलिये इस धनसे इसी स्थानपर एक भगवत्-उपासनाके लिये मन्दिर बनवाकर उसमें वही मूर्ति स्थापित की जाय। इस निर्णयको दोनोंने बड़ी प्रसन्नतासे मान लिया और उसी स्थानपर उस धनसे एक बड़ा सुन्दर मन्दिर निर्माण करवाकर उसमें उसी मूर्तिकी स्थापना करवा दी गयी और भगवदुपासकोंके लिये—वहाँ रहकर उपासना करनेवालोंके लिये यथोचित प्रबन्ध कर दिया गया। भक्त विट्ठलदास सपरिवार भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए अन्तमें उन्हें प्राप्त कर सदाके लिये परम सुखी हो गये।

(सन्तलीलामृतसे)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वात्म-रूप-मदिरा

(श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०)

सातवाँ प्याला

क्या तुम कोई ऐसा नाम जानते हो, जिसकी पर्याय-वस्तुसे तुम परिचित न हो ?

क्या तुम गुलाबसे कभी गुलाब तोड़ पाये हो ? तुम उसका नाम लेते हो । जाओ, उस नामकी पर्याय-वस्तु ढूँढ़ो ।

चन्द्रमाके लिये आकाशको देखो, जलको नहीं। यदि तुम शब्द और अक्षरोंसे ऊपर उठना चाहते हो, तो, एक झटकेमें अपनेको अहंत्वके बन्धनसे स्वतन्त्र कर लो ।

अहंत्वकी समस्त भावनाओंसे अलग हो जाओ, जिससे तुम अपना ज्योतिर्मय तत्त्व देख सको ।

हाँ, पैगम्बरी[1] ज्ञानको अपने हृदयमें देखो.—बिना किसी पुस्तकके, बिना किसी शिक्षकके, बिना किसी गुरुके ।

आठवाँ प्याला

यहाँतक तो कहानी कथनीय है ।

यहाँसे वह अदृश्य और अवर्णनीय हो जाती है ।

भले ही उसे प्रकट करनेके तुम सैकड़ों प्रयत्न करो, वे सब व्यर्थ हैं । रहस्य-भेद नहीं होता ।

सागर-तटतक तुम घोड़ेपर सवार जा सकते हो ।

पर वहाँ तुम्हें काष्ठ-अश्वपर चढ़ना होगा ।

यह पृथ्वीपर अनुपयोगी है ।

यह तो समुद्र-यात्राका ही साधनविशेष है ।

वह काष्ठ-अश्व है—मौन ।

मौन ही समुद्रमें मनुष्यका प्रदर्शक एवम् आलम्बन है।

रज-कण

(लेखक—श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी)

कीचड़में पैदा होना एक आकस्मिक बात है, उसमें महत्ता भी नहीं, और लघुता भी नहीं, पर उसमेंसे कमल बननेमें सच्ची खूबी है ।

मनुष्य चाहे जो काम करे, राज़का, कारीगरका या कलाकारका, पर जिस कामसे उसके हृदयको आनन्द नहीं होता, वैसा प्रत्येक काम उसे मनुष्यत्वसे नीचे गिराता है ।

× × ×

जो मनुष्य अपने बारेमें कभी भी विचार नहीं करता, वह वर्षों ज़िन्दा रहकर भी कुछ नहीं करता।

बहुतेरे मनुष्य सारे दिन काम करते हैं, बहुत उद्योगी होते हैं, पर उनका उद्योग आलस्यको दिखावटी सुन्दरताका रूप देने-जैसा होता है। ऐसे उद्योगकी अपेक्षा निरुद्योगीका एकान्त चिन्तन अधिक अच्छा है । जिसे कुछ जाननेकी इच्छा हो, वह सबसे पहले अपना जीवन देखे। सब प्रकारके ज्ञानका वहाँसे आरम्भ होता है।

× × ×

जिसने कभी परिस्थितिविशेषमें पड़कर अपने नैतिक बलकी आवश्यक जाँच नहीं की है, वह मनुष्य न नीतिमान है, न अनीतिमान; उसमें अनीतिका न होना कोई सद्गुण नहीं, बल्कि अज्ञानका दुर्गुण है ।जो नैतिक बल कसौटीपर कसा नहीं गया है, वह नैतिक बल नहीं, यन्त्रकी-सी जड़ अवस्था है । यही कभी बचा लेता है, पर अकसर तो डुबाता ही है ।

× × ×

जो विशुद्ध आनन्द अपनेको मिला है, उसे दूसरोंके लिये भी सुलभ बना देना कलाकारका धर्म है।

× × ×

१ ईश्वरीय ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही सत्य है, दूसरा सत्य नहीं; इस कथनमें ही असत्यका अंश है।

स्वभावसे यह माननेवाला मनुष्य, कि मुझमें दोष नहीं है, चाहे जितना विद्वान् क्यों न हो, अपढ़ ही है, जब कि अपना सिर्फ एक ही दोष देखकर उसे दूर करनेका प्रयत्न करनेवाला मनुष्य अपढ़ होते हुए भी विद्वान् है।

× × ×

जिस वाचनसे विचारको प्रेरणा नहीं मिलती, और जो वाचन विचार या चिन्तनके लिये नहीं होता, वह वाचन शराब, बीड़ी या तम्बाकूके व्यसनकी भाँति निरुद्योगीका व्यसन है। बहुतेरे मनुष्योंको पढ़नेका व्यसन ही होता है।

× × ×

हृदय-दौर्बल्यसे उत्पन्न सन्तोष मनुष्यको तृप्तिका आनन्द नहीं पहुँचाता। हाँ, अज्ञानपूर्ण दारिद्र्यकी ओर जड़तापूर्ण श्रद्धा अवश्य पैदा करता है। सन्तोष मनुष्यका परम मित्र है, पर इसके समान भयंकर शत्रु भी दूसरा कोई नहीं है।

× × ×

जो मनुष्य संस्कारवान् बननेका प्रयत्न कर रहा है, वही सच्ची विद्याका उपासक है।

× × ×

कसौटीपर कसे जानेपर जो सौ टंच साबित हो, वह संस्कार है। बहुतेरे मनुष्य पढ़े-लिखे प्रतीत होते हैं। कई विद्वत्ताको देशका साधन मानते हैं, कुछके लिये यह यश-प्राप्तिका साधन है। आजीविकाके लिये भी इसका उपयोग हो सकता है। पर अकसर एक दस वर्षका हाज़िरजवाब बालक जितना संस्कारवान् होता है, उतना सौ वर्षोंका अनुभवार्थी या विद्वान् नहीं बन सकता। संस्कारके बीजके लिये कल्पनाके क्षेत्रकी, प्रेरणाके जलकी और कठिनाइयोंसे पूर्ण मैदानकी आवश्यकता होती है।

× × ×

शक्य हो या अशक्य, पर जो सत्य है, वही ध्येय रहना चाहिये, अशक्यताकी इन महान् चट्टानोंके साथ टकराकर जो सत्य चकनाचूर हो जाता है, उसीसे मनोरम सृष्टिकी रचना होती है।

× × ×

अशक्यताकी चट्टानपर सत्यके लिये चकनाचूर हो जाना ही पुरुषार्थ है, जीवन है, मनुष्यत्व है।

(संकलित)

प्रभुकी बानि !

चहत तुम काहू सों कछु नायँ।
बिरथा डरत लोभ बस चेतन भ्रमत जगत्के मायँ॥
निर्हेतुक ही द्रवत जननपै चाहत साँचो प्रेम।
भाग्यवान हैं वे जो राखत अनन्यताको नेम॥
छप्पन भोग न चाहत कबहूँ अति प्रिय छिलका बेर।
जूँठे साक-पातके कनिका लेत पात्रसों हेर॥
डोलत फिरत जननके पीछे घर बनमें दिन रात।
छावत कितहुँ छान, झारन महँ पीत वसन उरझात॥
कैसे कहें कठोर, दयामय! वत्सलताके सोत।
भवसागरके तारक साँचे जुगुल चरण हैं पोत॥
ऐसे दीनदयाल नाथके सरन परै जो आय।
ताहीकी वह अमर आतमा प्रेम रूप ह्वै जाय॥

—लक्ष्मणाचार्य वाणीभूषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

[मणि ९]

श्वेतकेतु—हे भगवन्! उपर्युक्त कथनसे कार्य-कारणका अभेद सिद्ध हुआ, परन्तु भेदभ्रमकी निवृत्ति किसप्रकार होती है?

आरुणि—हे श्वेतकेतु! घटादि कार्योंमें जो भेदभ्रम प्रतीत होता है, सो भेदभ्रम अपरोक्षरूप है। अपरोक्ष-भ्रमकी निवृत्ति कारणके परोक्ष-ज्ञानसे नहीं होती, अपरोक्ष-ज्ञानसे होती है। पूर्वादि दिशाओंमें जो पश्चिमादि दिशाओंका भ्रम है, वह भ्रम अपरोक्ष है इसलिये पूर्वादि दिशाओंके परोक्ष-ज्ञानसे उस भ्रमकी निवृत्ति नहीं होती, किन्तु अपरोक्ष-ज्ञानसे ही होती है। इसी प्रकार कारणके अपरोक्ष ज्ञानसे कार्यके भेद-भ्रमकी निवृत्ति होती है।

हे श्वेतकेतु! जैसे घट, शरावादि पदार्थ परस्पर भेदवाले हैं इसलिये कार्यरूप हैं और कार्यरूप होनेसे वे पृथ्वी, जल, तेजरूप कारणोंसे भिन्न सत्तावाले नहीं हैं। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज भी परस्पर भेदवाले होनेसे कार्यरूप ही हैं और कार्यरूप होनेसे वे परमात्मारूप कारणसे भिन्न सत्तावाले नहीं हैं। तात्पर्य यह कि यह अधिकारी पुरुष प्रथम पृथ्वी, जल, तेज इन तीन भूतरूप कारणोंमें घटादि कार्योंके भेदके अभावका निश्चय करके पश्चात् उसी दृष्टान्तसे पृथ्वी, जल, तेजरूप कार्यके भेदके अभावको परमात्मारूप कारण-में निश्चय करे।

शंका—हे भगवन्! घटादि पदार्थ भेदवाले हैं इसलिये कार्यरूप हैं, यह जो ऊपर भेदरूप हेतुसे कार्यरूपता सिद्ध की, वह ठीक नहीं है, क्योंकि जो हेतु अपने साध्य पदार्थको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहे, उस हेतुसे ही उस साध्य पदार्थकी सिद्धि होती है और जो हेतु अपने साध्यको छोड़कर अन्यमें भी रहे, वह हेतु व्यभिचारी होता है, व्यभिचारी हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती। उपर्युक्त भेदरूप हेतु कार्यत्वके अभाववाले आत्मामें रहता है इसलिये वह भेदरूप हेतु व्यभिचारी है, उस भेदरूप हेतुसे कार्यत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती।

समाधान—हे वत्स! जड़ता-धर्म-विशिष्ट जो भेद है, वह भेदरूप हेतु ही कार्यत्वकी सिद्धि करता है, जड़ताभेद आत्मामें है नहीं, इसलिये आत्मामें कार्यरूपता सिद्ध नहीं होती।

शंका—हे भगवन्! वह जड़ताविशिष्ट भेद अविद्या-में रहता है और सिद्धान्तमें अविद्याको कार्यरूप नहीं, किन्तु अनादि माना है, इसलिये जड़ताविशिष्ट हेतु भी व्यभिचारी ही है।

समाधान—हे प्रियदर्शन! यद्यपि अविद्यामें उत्पत्ति-रूप कार्यता नहीं रहती तो भी अधिष्ठानमें कल्पितत्व-रूप कार्यता अविद्यामें भी रहती है, इसलिये जड़ता-विशिष्ट हेतु व्यभिचारी नहीं है।

शंका—हे भगवन्! आत्मामें जड़ताविशिष्ट हेतुका अभाव है, तो कार्यरूपता क्यों नहीं है?

समाधान—हे सौम्य! आत्मामें जड़ताविशिष्ट हेतु न रहनेपर भी जो लोग कार्यरूपता मानते हैं, उनसे पूछना चाहिये कि आत्मामें जो कार्यता है, वह कारणसे रहित अथवा कारणसहित है। यदि कारणरहित है, ऐसा माने तो हो नहीं सकता, क्योंकि जैसे आत्मामें स्थित कार्यता कारणसे रहित है, वैसे ही घट-पटादि जगत्‌में स्थित कार्यता भी कारणसे रहित होनी चाहिये। यदि वादी इस अर्थमें इष्टापत्ति माने तो सम्भव नहीं है, क्योंकि घट-पटादि कार्योंमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृत्तिका तन्तु, आदिकी कारणता सबके अनुभवसिद्ध है, इसलिये कारणरहित कार्यता सिद्ध नहीं होती। यदि आत्मामें स्थित कार्यता कारणसहित है, यह दूसरा पक्ष माने तो उससे पूछना चाहिये कि आत्माका कारण सत्य है अथवा असत्य है, यदि आत्माका कारण असत्य है, वादी यह दूसरा पक्ष माने तो सम्भव नहीं है, क्योंकि इस लोकमें सत्यरूपसे प्रसिद्ध जो घट-पटादि कार्य हैं, वे मृत्तिका, तन्तु आदि सत्य कारणोंसे ही उत्पन्न हुए हैं, असत्यसे सत्यकी उत्पत्ति कहीं देखनेमें नहीं आती और यह आत्मादेव भी सबके अनुभव और श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्रोंसे सत्यरूप ही प्रतीत होता है। इसलिये सत्य आत्माकी असत्य कारणसे उत्पत्ति नहीं बनती। यदि आत्माकी असत्य कारणसे उत्पत्ति हो तो आत्मा भी अपने कारणके समान असत्य ही होना चाहिये। ऐसा कहना अत्यन्त विरुद्ध है। अथवा यदि आत्माका कारण असत्य है, इस वचनमें स्थित जो असत्य शब्द है, उस असत्य शब्दका अर्थ सत्य वस्तुका अभाव प्रतीत होता है और इस लोकमें जो जो अभाव होता है, वह अपने ज्ञानमें प्रतियोगीकी अपेक्षा अवश्य करता है। प्रतियोगीके ज्ञान बिना अभावका ज्ञान होता नहीं, इसलिये सत्यका अभावरूप असत्य भी अपनी सिद्धिके लिये सत्यरूप प्रतियोगीकी अवश्य अपेक्षा करेगा। अतएव उस सत्य वस्तुमें ही आत्माकी कारणता बन सकती है, सत्य वस्तुके अभावमें आत्माकी कारणता मानना निष्फल है। अथवा इस लोकमें कोई भी अभाव किसी भाव-कार्यका कारण नहीं हो सकता, यह नियम देखनेमें आता है, इसलिये आत्माका कारण असत्य है, यह दूसरा पक्ष नहीं बनता। और आत्माका कारण सत्य है, यह प्रथम पक्ष जो वादी माने तो उससे पूछना चाहिये कि आत्माका सत्य कारण परिच्छिन्न है अथवा अपरिच्छिन्न है। उनमें आत्माका सत्य कारण परिच्छिन्न है, यह प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि इस लोकमें जो पदार्थ परिच्छिन्न होता है, वह पदार्थ जड ही होता है और जो पदार्थ जड होता है, वह कार्यरूप ही होता है और जो पदार्थ कार्यरूप होता है, वह अपनी उत्पत्तिमें दूसरे कारणकी अपेक्षा अवश्य करता है। जैसे घटादि पदार्थ परिच्छिन्न होनेसे जड हैं, जड़ होनेसे कार्यरूप हैं और कार्यरूप होनेसे कारणकी अपेक्षावाले हैं। इसलिये आत्माका सत्य कारण भी परिच्छिन्न होनेसे जड होगा, जड होनेसे कार्य होगा, और कार्यरूप होनेसे अपनी उत्पत्तिमें दूसरे कारणकी अपेक्षा करेगा। वह कारण अपनी उत्पत्तिमें दूसरे कारणकी अपेक्षा करेगा, दूसरा तीसरेकी अपेक्षा करेगा, इसप्रकार कारणोंकी परम्परा माननेमें अनवस्था-दोषकी प्राप्ति होगी। अनवस्था-दोषके दूर करनेके लिये आत्माका सत्यकारण चेतनरूप और अपरिच्छिन्न है, यह दूसरा पक्ष ही वादीको मानना पड़ेगा। इसमें यह विचार करना चाहिये कि आत्माका सत्यरूप कारण आत्मासे भिन्न है अथवा अभिन्न है। यदि भिन्न है यह प्रथम पक्ष वादी माने तो बन नहीं सकता, क्योंकि इस लोकमें जो पदार्थ आत्मासे भिन्न होता है, वह पदार्थ अनात्मा ही होता है। जैसे गृहादि पदार्थ आत्मासे भिन्न होनेसे अनात्मा हैं। जो पदार्थ अनात्मा होता है, वह आत्माके सुखका साधन होता है, जैसे कि गृह आदि पदार्थ अनात्मा होनेसे भोक्ता आत्माके सुखके साधन हैं; जो पदार्थ आत्माके सुखका साधन होता है वह पदार्थ जड होता है, जैसे कि भोक्ताके सुखका साधन होनेसे गृह आदि जड हैं। जो पदार्थ जड होता है, वह कार्यरूप होता है, जैसे कि गृह आदि जड होनेसे कार्यरूप हैं। जो पदार्थ कार्य होता है, वह पदार्थ किसी कारणसे जन्य होता है जैसे कि कार्यरूप होनेसे गृह आदि पदार्थ मृत्तिकासे जन्य हैं, इसी प्रकार आत्माका सत्य कारण आत्मासे भिन्न होनेसे पूर्वोक्त परम्परासे कार्यरूप भी अवश्य होगा और कार्यरूप होनेसे किसी दूसरे कारणसे अवश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्य होगा, दूसरा कारण भी तीसरे कारणसे जन्य होगा। इसप्रकार कारणोंकी परम्परा माननेमें पूर्वके समान अनवस्था-दोषकी प्राप्ति होगी। अनवस्था-दोषकी निवृत्तिके लिये सत्यरूप आत्माके कारणको आत्मारूप ही मानना पड़ेगा, साथ ही उसे चेतन, आनन्दरूप, सर्व भेदसे रहित, अपरिच्छिन्न, और कारणसे रहित मानना पड़ेगा। ऐसे सत्यरूप कारणको जब वादीने आत्माका कारण माना तब तो आत्मारूप सत्य कारणके सिवा अन्य किसी कार्यमें आत्मरूपता सिद्ध नहीं होती इसलिये वादीने आत्माका सत्यरूप कारण जो माना है, उसी सत्यरूप कारणको वेदवेत्ता आत्मारूप मानते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह आत्मादेव किसी कारणसे उत्पन्न नहीं होता। इसीलिये वेदकी श्रुतियाँ आत्माको अज, नित्य, कारणोंका कारण और स्वयंज्योति कहती हैं।

हे पुत्र! यहाँ सत् शब्दसे श्रुति आत्माको सत्य ही नहीं कहती, किन्तु सच्चिदानन्द आत्मा कहती है।

पुत्र—हे भगवन्! सत्, चित्, आनन्द तथा आत्मा ये चारों शब्द एक ही अर्थके वाचक हों तो उनमें पुनरुक्ति दोष प्राप्त होगा।

पिता—हे पुत्र! आत्मामें भ्रान्तिसे असत्पना, जडपना, दुःखरूपता और परिच्छिन्नपना प्रतीत होता है, उस असत्पनेकी सत्-शब्द निवृत्ति करता है, जडपनेकी निवृत्ति चित्-शब्द करता है, दुःखरूपताकी निवृत्ति आनन्द-शब्द करता है और परिच्छिन्नताकी निवृत्ति आत्म-शब्द करता है। इस प्रकार असत्, जड, दुःख और परिच्छिन्नकी निवृत्ति करके सत्यादि शब्द अज्ञान आत्माके स्वरूपका कथन करते हैं, इसलिये सत्यादि शब्दोंमें पुनरुक्ति दोषकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे आकाशसे गन्धर्वनगर उत्पन्न होता है, वैसे ही सत्यरूप परमात्मासे तेज, जल तथा पृथ्वीरूप सब जगत् उत्पन्न होता है। हे श्वेतकेतु! जैसे घट, शरावादि कार्योंमें मृत्तिकारूप कारण सर्वदा अनुगत हुआ प्रतीत होता है वैसे ही आत्मारूप सत्ता भी इस जगत्के सर्व पदार्थोंमें अनुगत हुई प्रतीत होती है।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! जैसे रज्जुरूप अधिष्ठानके ज्ञानके पश्चात् सर्परूप अध्यासकी निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार अधिष्ठानरूप सत्ताके ज्ञानके पीछे संसाररूप अध्यासकी निवृत्ति देखनेमें नहीं आती।

उद्दालक—हे श्वेतकेतु! जैसे मूढ़ बालक यद्यपि महाराजको मनुष्यरूपसे जानता है तो भी पिता आदि वृद्ध पुरुषोंके उपदेश बिना वह बालक राजाको राजारूपसे नहीं जानता और वृद्ध पुरुषोंके उपदेशसे वह बालक राजाको राजा जानता है इसी प्रकार आत्मारूप सत्ता सर्वत्र भासमान होनेपर भी ब्रह्मवेत्ता गुरुके उपदेश बिना पुरुषको अपने आत्मारूपसे प्रतीति नहीं होती। जबतक अधिकारीकी 'तत्' पदार्थ सत्ताका अपने आत्मारूपसे ज्ञान नहीं होता तबतक अज्ञानरूप मायाकी निवृत्ति नहीं होती और जबतक अज्ञानरूप मायाकी निवृत्ति नहीं होती तबतक मायाका कार्यरूप जगत् भी निवृत्त नहीं होता। गुरु, शास्त्रके उपदेशसे जब अधिकारी परमात्मारूप सत्ताको अपने आत्मरूपसे देखता है तब अज्ञानरूपी मायाकी निवृत्ति हो जाती है और मायारूप कारणके निवृत्त होनेके बाद अधिकारी जगत्रूप अध्यासको स्वप्नमें भी नहीं देखता। जैसे दोषरहित आकाशमें कभी भी गन्धर्वनगर दिखायी नहीं देता, इसी प्रकार मायारूप दोषसे रहित आत्मामें जगत्की किञ्चित् भी प्रतीति नहीं होती। जैसे आकाशके अज्ञानसे गन्धर्वनगर उत्पन्न होता है इसी प्रकार आत्माके अज्ञानसे जगत् उत्पन्न होता है। जैसे आकाशमें गन्धर्वनगर तीनों कालमें नहीं है, नाममात्र ही प्रतीत होता है इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मामें जगत् तीनों कालमें वस्तुतः नहीं है, किन्तु नाममात्र ही प्रतीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। इसलिये गन्धर्वनगरके समान जगत् भी मिथ्या है। हे श्वेतकेतु! आकाशमें गन्धर्वनगर तीनों कालमें असत्य है तो भी मायाके वश किसी दोषदर्शीको मध्य कालमें प्रतीत होता है इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मामें तीनों कालमें जगत् असत्य होनेपर भी मायाके वशसे मध्य कालमें किसी दोषदर्शीको दिखायी देता है इसलिये जगत् मिथ्या है। जैसे मायासे मोहित हुआ पुरुष आकाशमें गन्धर्वनगर देखता है और मायासे रहित पुरुषको गन्धर्वनगर दिखायी नहीं देता इसी प्रकार मायाके दोषवाले अज्ञानी आनन्दस्वरूप आत्मामें जगत्‌को देखते हैं और माया-दोषसे रहित विद्वान्‌को आत्मामें जगत् नहीं दीखता इसलिये अज्ञानी जीव बन्धनको प्राप्त होते हैं और विद्वान् मोक्षको प्राप्त होते हैं। जैसे स्वप्नावस्थामें एक ही स्वप्नद्रष्टा अनेक रूप धारण करके कितने ही रूपोंसे बन्धनको प्राप्त होता है और कितने ही रूपोंसे मोक्षको प्राप्त होता है। इसी प्रकार एक ही आत्मा अविद्याके सम्बन्धसे अनेक रूप धारण करके किसी रूपसे बन्धनको प्राप्त होता है और किसी रूपसे मोक्षको प्राप्त होता है। जैसे स्वप्नावस्थामें स्वप्नद्रष्टा पुरुषमें बन्ध तथा मोक्ष वास्तविक नहीं है वैसे ही जाग्रत अवस्थामें आत्मदेवमें बन्ध तथा मोक्ष वास्तविक नहीं है, बन्ध तथा मोक्ष आदि सब जगत्‌को साक्षीरूपसे जो आत्मा सर्वदा देखता है, वह आत्मा परम सत्य है, उससे भिन्न सर्व दृश्य-प्रपञ्च मिथ्या है। इस जगत्‌में सर्व जगत्‌का द्रष्टा—साक्षी, सर्व जगत्‌का कारण होनेसे आत्मा परम सत्यरूप है, सर्व दृश्य पदार्थ कार्यरूप होनेसे तथा नाममात्र होनेसे असत्य हैं। इसप्रकार परमात्मारूप कारण परम सत्य है और मृत्तिका, सुवर्ण और लोहा ये तीनों अपने-अपने कार्योंकी अपेक्षासे सत्य हैं और घट, भूषण एवं खड्गादि कार्य असत्यरूप हैं। जैसे मृत्तिका, सुवर्ण तथा लोहा ये तीनों अपने-अपने कार्यों घट, भूषण, और खड्गादिकी अपेक्षा सत्य हैं, वैसे ही परमात्मा भी पृथ्वी, जल, तेजरूप सब जगत्‌की अपेक्षासे परम सत्य है इसलिये वेदवेत्ता परमात्माको सत्यका भी सत्य कहते हैं। हे श्वेतकेतु! तुझे परमात्माको अवश्य जानना चाहिये। परमात्माके जाननेके बाद इसलोकमें कोई पदार्थ जानने योग्य नहीं रहता। हे पुत्र! तूने प्रमादके कारण अपने गुरुसे यह प्रश्न नहीं किया इसलिये तेरे गुरुने तुझे परमात्माका स्वरूप नहीं बताया। हे पुत्र! परमात्माका स्वरूप जाननेके लिये तू फिर गुरुके पास जाकर प्रश्न कर। गुरुके उपदेशसे परमात्माका स्वरूप जानकर तब मेरे पास आना। परमात्माके स्वरूपको जाने बिना सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती।

श्वेतकेतु—हे पिता! जिस परमात्माके ज्ञानसे सब जगत्‌का ज्ञान हो जाता है, उस परमात्माके स्वरूपको मेरे गुरु नहीं जानते, क्योंकि यदि वे जानते होते तो मुझे अवश्य परमात्माका स्वरूप बताते क्योंकि उनका मुझपर अत्यन्त स्नेह था। अत्यन्त स्नेह होनेपर भी उन्होंने आजतक मुझे परमात्माका उपदेश नहीं दिया, इससे सिद्ध होता है कि वे परमात्माका स्वरूप जानते नहीं हैं। यदि वे जानते होते तो मुझसे छिपाकर क्यों रखते? इसलिये अब गुरुके पास जानेका मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है, गुरुकी आज्ञा लेकर समावर्तन-संस्कार प्राप्त करके मैं यहाँ आया हूँ। अविश्वासीके समान गुरुके पास जाना और फिर प्रश्न करना मुझे योग्य नहीं है। जिस परमात्माके ज्ञानसे सब ज्ञात-अज्ञात पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, उस परमात्माके ज्ञानके लिये आप ही मुझे उपदेश दीजिये! आप पिताको छोड़कर अब कौन-से गुरुके पास जाऊँ? आप ही मेरे गुरु हैं! (इति प्रथम खण्ड)

पुत्रका इसप्रकार वचन सुनकर आरुणि प्रसन्न होकर कहने लगे—

आरुणि—हे पुत्र! जिस परमात्माका स्वरूप श्रुतिने कहा है, उस परमात्माके स्वरूपको मैं तुझसे कहता हूँ, तू अपनी विद्याके गर्वको त्यागकर सावधान होकर सुन—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्माका स्वरूप

हे श्वेतकेतु! यह नाम, रूप तथा क्रियास्वरूप जगत् स्थूल, सूक्ष्मवाचक सत्, असत्-शब्दसे कहनेमें आता है, सत् तथा असत्-शब्दसे उत्पन्न हुई स्थूल, सूक्ष्म-विषयक बुद्धिका विषय है और सत् तथा असत्-शब्द बुद्धिसे युक्त है। यह दृश्यमान् जगत् अपनी उत्पत्तिसे पूर्व सत्तामात्र था, और सत्, असत् इसप्रकारके शब्द-ज्ञानसे रहित था तो भी सत्तासे भिन्न नहीं था। हे श्वेतकेतु! जगत्की उत्पत्तिसे पहले जो सत्ता कारणरूपसे स्थित है और जिसको श्रुति अव्याकृत कहती है, वह निर्गुण ब्रह्म ही है, उस निर्गुण ब्रह्मको विद्वान्के मन, वाणी भी नहीं ग्रहण कर सकते किन्तु वहाँसे लौट आते हैं, इसमें 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। निर्गुण ब्रह्ममें देश-काल, स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ न तो पूर्वकालमें थे, न वर्तमानकालमें हैं, और न भविष्यकालमें होंगे, ऐसे निर्गुण ब्रह्ममें 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुतिने 'आसीत्' यानी 'था' शब्दसे भूतकालका जो कथन किया है, वह कालकी वासनायुक्त शिष्यकी बुद्धिके अनुसार कथन किया है, वस्तुतः ब्रह्म तीनों कालसे रहित है। भूत, भविष्य अथवा वर्तमान कोई भी काल ब्रह्ममें नहीं है।

ब्रह्ममें स्वगतादि भेदका अभाव

हे श्वेतकेतु! जैसे इस लोकमें एक ही वृक्ष अपने पत्र, पुष्प, फल, शाखा और स्कन्ध इत्यादि अवयवोंके भेदसे स्वगत-भेदवाला होता है; वैसे परमात्मा स्वगत-भेदवाला नहीं है, क्योंकि परमात्मा अवयवरहित है, जैसे गाय, अश्व आदि अपने समान जातिवाले दूसरे गाय, अश्व आदिसे सजातीय भेदवाले हैं; इसप्रकार परमात्मा सजातीय भेदवाला नहीं है, क्योंकि आत्मा एक है। जैसे गाय, अश्व आदि अपनेसे विरुद्ध जातिवाले महिष आदिसे विजातीय भेदवाले हैं वैसे परमात्मा विजातीय भेदसे रहित है, क्योंकि परमात्माके सिवा दूसरा है नहीं। परमात्मा सजातीय, विजातीय और स्वगत तीनों भेदोंसे रहित है, इसलिये वेदवेत्ता परमात्माको सत्तारूप कहते हैं, अतएव 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिमेंके एक शब्दसे परमात्मामें सजातीय भेदका अभाव, 'एव' शब्दसे स्वगत-भेदका अभाव और अद्वितीय शब्दसे विजातीय भेदका अभाव जानना चाहिये।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व यद्यपि ब्रह्ममें कार्यरूप जगत् नहीं है तो भी जिस कालमें माया विद्यमान है, उस कालमें मायाके विद्यमान होनेसे ब्रह्ममें द्वितीयता कैसे नहीं है? मायाकालमें तो द्वैत है ही।

आरुणि—हे श्वेतकेतु! निर्गुण ब्रह्ममें जगत्की कारणता माया सिद्ध करती है इसलिये मायासे द्वितीयरूपता सिद्ध होनेकी सम्भावना है किन्तु ब्रह्ममें माया वस्तुतः नहीं है इसलिये द्वितीयपना सिद्ध नहीं होता। मायासे मोहित अज्ञानी जीव ब्रह्ममें मायाको देखते हैं इसलिये ब्रह्ममें मायासे ही माया सिद्ध है, परमार्थसे नहीं है, जैसे मनुष्यको प्रत्यक्ष प्रमाणसे दिन दिखायी देता है और उल्लू दिनको रात्रि मानता है। दिनके बदले उल्लूको जो रात्रि दीखती है, उसमें उसका अनुभव ही प्रमाण है, दूसरा कोई प्रमाण नहीं है, इसी प्रकार मायामें अज्ञानी जीवोंका अनुभव ही प्रमाण है, दूसरे कोई प्रमाण नहीं हैं, इसलिये मायाकी सिद्धि मायासे ही है, इसमें संशय नहीं है। जैसे अन्धकाररहित सूर्य भगवान् जब सुमेरु-पर्वतके शिखरपर जाते हैं तो मूढ़ पुरुष सूर्यमें अन्धकारकी कल्पना करते हैं। इसी प्रकार मायासे रहित परमात्मामें मूढ़ पुरुष मायाकी कल्पना करते हैं। जैसे सूर्य भगवान्के उदय होनेसे मनुष्योंको अन्धकार दिखायी नहीं देता, इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता गुरुके उपदेशसे आत्मसाक्षात्कारका उदय होनेसे विद्वान्को माया दिखायी नहीं देती। जैसे सूर्य भगवान्को तीन कालमें भी अन्धकार स्पर्श नहीं कर सकता, इसी प्रकार आत्मदेवको तीन कालमें माया स्पर्श नहीं करती। जैसे अन्धकार अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेघादि देखनेवालेके नेत्रोंको ढँककर आकाशमें स्थित सूर्यमण्डलको ढँक लेते हैं इसी प्रकार अज्ञान-रूप माया भी अज्ञानी पुरुषकी बुद्धिको ढँककर परमात्मादेवको ढँक देती है। परमात्मामें परमार्थसे माया नहीं है और मायाके स्थूल, सूक्ष्म कार्य भी परमात्मामें नहीं हैं। जगत्‌की उत्पत्तिसे पूर्व यह परमात्मादेव ही था, परमात्माके सिवा स्थूल, सूक्ष्म जगत् नहीं था और न जगत्‌का कारण माया ही थी। इतने कथनसे सत्-परमात्मारूप कारणमें अद्वितीय-रूपता सिद्ध की। अब असत्-कारणवादीका मत निरूपण करता हूँ, ध्यान देकर सुन—

हे पुत्र! यद्यपि सर्व भेदसे रहित सत्तारूप कारण सिद्ध हुआ तो भी कोई-कोई ब्रह्मबोधसे रहित पण्डित सत्तारूप कारणके स्थानमें असत्ताको जगत्‌का कारण मानते हैं और परमात्मारूप सत्ताको जगत्‌का कारण माननेवाले वेदवेत्ताओंके मतमें असत् कारण-वादी इसप्रकारके दूषण देते हैं—जगत्‌की कारण-रूप सत्ता सत्‌रूप है अथवा असत्‌रूप है? यदि वादी सत्‌रूप माने तो उससे पूछना चाहिये कि वह सत्-रूपता अपने स्वरूपसे सिद्ध होती है अथवा किसी धर्मरूप दूसरी सत्तासे सिद्ध है? वहाँ सत्तामें सत्-रूपता स्वरूपसे सिद्ध है, यह प्रथम पक्ष जो वादी माने तो सत्तामें असत्तासे विलक्षणता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि सत्तामें जैसे स्वरूपसे सत्‌रूपता है ऐसे ही असत्तामें भी स्वरूपसे सत्‌रूपता हो सकती है। इसकी निवृत्ति करनेको कोई वादी समर्थ नहीं है। इसी प्रकार यदि वादी ऐसा कहे कि सत्तामें 'अस्ति' इसप्रकारकी विधि-मुख-प्रतीतिकी विषयता रहती है और असत्तामें विधि-मुख-प्रतीतिकी विषयता नहीं रहती, इसलिये विधि-मुख-प्रतीतिकी विषयता सत्तामें असत्तासे विलक्षण है, तो वादीका यह कहना बन नहीं सकता, क्योंकि सत्तामें विधि-मुख-प्रतीतिकी विषयता रहती है और असत्तामें नहीं रहती, यह बात जो वादीने मानी है, वह केवल अपने कुल-धर्मके समान वृद्ध पुरुषोंके संकेतमात्रसे सिद्ध है, वस्तुके स्वभावके अनुसार सिद्ध नहीं है। इसलिये असत्तामें विधि-मुख-प्रतीतिकी विषयता माननेमें कोई प्रतिबन्ध नहीं। क्योंकि एक अधिकरणवाले पदार्थोंका ही परस्पर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव होता,है इसलिये सत्ताके समान असत्तामें भी विधि-मुख-प्रतीतिकी विषयता बन सकती है, अथवा इस जगत्‌की उत्पत्तिकालमें यद्यपि सत्तामें विधि-मुख विषयता बन सकती है परन्तु जगत्‌की उत्पत्तिके पूर्वकालमें सत्तामें विधि-मुख-प्रतीतिकी विषयता नहीं बन सकती, क्योंकि चिदाभासयुक्त अन्तःकरण-की वृत्तिका नाम प्रतीति है। वह प्रतीति चिदाभास-युक्त अन्तःकरणरूप प्रमाताके आश्रित रहती है। जगत्‌की उत्पत्तिसे पूर्व प्रमाता है नहीं, प्रमाताके अभावसे प्रतीति बन नहीं सकती। इसलिये जगत्‌की उत्पत्तिसे पूर्व अविद्यमान विधि-मुख-प्रतीति सत्ताकी सिद्धि नहीं कर सकती। यदि सत्तामें सत्यरूपता किसी दूसरी सत्तासे सिद्ध है, यह दूसरा पक्ष वेदान्ती माने तो दूसरी सत्तामें सत्यरूपता सिद्ध करनेके लिये कोई तीसरी सत्ता माननी पड़ेगी और तीसरी सत्तामें सत्यरूपता सिद्ध करनेको चौथी सत्ता माननी पड़ेगी। इसप्रकार पूर्व-पूर्व सत्तामें सत्यता सिद्ध करनेके लिये जो उत्तर-उत्तर सत्ताएँ हैं, वे सब संख्याएँ नियत संख्यासे रहित असंख्य हैं अथवा नियत संख्यावाली हैं? उनमें असख्य सत्ता मानना ठीक नहीं है, क्योंकि असंख्य सत्ता क्रमसे अथवा एक कालमें किसीको प्रतीत नहीं होतीं इसलिये असंख्य सत्ताओंमें कोई एक सत्ता ही सिद्ध होगी, सब सिद्ध न होंगी। यदि सत्ताएँ नियत संख्या-वाली मानी जायँ तो वह भी नहीं बनता, क्योंकि सब सत्ताओंसे अन्तकी सत्ता विलक्षण सिद्ध नहीं होगी किन्तु दूसरी सत्ताओंके समान ही सिद्ध होगी। यदि अन्तकी सत्तामें दूसरी सत्ताओंसे बिना ही सत्यरूपता मानोगे तो अन्तकी सत्तासे पूर्व सत्ताओंमें भी उत्तर-उत्तर सत्तासे बिना ही सत्य-रूपता सिद्ध होगी इसलिये अन्त सत्तासे पूर्व-पूर्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्ताओंकी कल्पना व्यर्थ होगी। अथवा वेदान्तियों-ने सर्व जगत्की उपादान-कारणरूप जो सत्ता मानी है, वह सत्ता निर्विकार स्वभाववाली होनेसे एक-रूप है अथवा परिणामी स्वभाववाली होनेसे अनेक-रूप है? यदि सत्ता एक रूपवाली मानी जाय तो एक रूप सत्तामें असत्तासे कुछ विलक्षणता सिद्ध न होगी किन्तु सत्ता असत्ताके समान ही होगी। यदि सत्ता अनेकरूप मानी जाय तो उस सत्तामें घटादि पदार्थों-की तुल्यता सिद्ध होगी। यदि घटादि पदार्थोंके समान सत्ताको मानकर उस सत्ताकी जगत्से पूर्व जो स्थिति मानोगे तो उस कालमें घटादि पदार्थोंने क्या अपराध किया है, वे भी जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व अवश्य रहेंगे। ऐसा होनेसे पूर्वकालकी और वर्तमानकालकी विशेषता सिद्ध न होगी इसलिये सत्तामें अनेकरूपता भी नहीं बनती। इससे आदि लेकर अनेक प्रकारके दूषण सत्तामें प्राप्त होते हैं इसलिये सत्ता इस जगत्का कारण नहीं है किन्तु असत्ता ही कारण है।

हे श्वेतकेतु! इसप्रकार असत्कारणकी सिद्धि-के लिये अनेक प्रकारकी वादी कुतर्क करते हैं, उनसे पूछना चाहिये कि आदिकालमें असत् कारणसे जो यह जगत्रूप कार्य उत्पन्न होते हैं, वह कार्य सत्-रूप है अथवा असत्रूप है, यदि कार्य सत् है, तो यह नहीं बनता क्योंकि जैसे सृष्टिके आदिमें असत्से सत् उत्पन्न हो आता है ऐसे ही अब भी असत्से सत् उत्पन्न होना चाहिये। सृष्टिकालमें हो और अब न हो, इसमें कोई युक्ति नहीं है। और कार्य असत्रूप है, यह पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि असत्कारणसे असत्कार्यकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये असत् कारणवादियोंके सब विकल्प व्यर्थ हैं। वह कारणरूप सत्ता अपने स्वरूप-से ही सत्य हो तो इसमें क्या दूषण है?

श्वेतकेतु-हे भगवन्! जैसे सत्ता अपने स्वरूपसे सत्यरूप है वैसे ही असत्ता भी स्वरूपसे सत्यरूप है, ऐसा प्रतिबन्धी रूप दूषण आपके मतानुसार क्यों न सिद्ध हो?

आरुणि-हे पुत्र! सत्तामें स्वरूपसे सत्यरूपता मानी जायगी तो असत्तामें भी स्वरूपसे सत्य-रूपता होनी चाहिये, यह तेरा कहा हुआ दूषण व्याप्ति-से रहित है, क्योंकि जहाँ-जहाँ स्वरूप होता है, वहाँ-वहाँ सत्यरूपता होती हो, इसप्रकारकी व्याप्ति सम्भव नहीं है। यदि इसप्रकारकी व्याप्ति मानी जाय तो अग्निमें स्वरूपसे उष्णता है इसलिये जलमें भी स्वरूपसे उष्णता होनी चाहिये। जैसे घटसे जल लानेकी क्रिया सिद्ध होती है ऐसे ही मिट्टीके ढेलेसे भी होनी चाहिये, इत्यादि अनेक दूषण वादीके मतमें हैं, अथवा वादीके कहनेसे ही सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि असत्तासे जो भिन्न हो, उसका नाम सत्ता है और सत्तासे जो भिन्न हो, उसका नाम असत्ता है, इसप्रकार सत्ता-असत्ता शब्दका अर्थ वादीने अंगीकार किया है। यदि वादी सत्ता न मानेगा तो सत्ताकी भेदवाली असत्ता सिद्ध ही न होगी इसलिये असत्ताकी सिद्धिके लिये वादीको सत्ता भी माननी पड़ेगी। अथवा सत्ताके स्थानपर वादीने जो असत्ता मानी है और उस असत्तारूप कारणको अपने स्वरूपके बलसे वादीने सत्यता कही है, वह सत्कारण वादियोंको इष्ट ही है, क्योंकि सर्व पदार्थोंका आत्मा ही परमार्थस्वरूप है, इस आत्माकी सत्यता हमको इष्ट है अथवा 'अस्ति' इसप्रकारकी विधि-मुख-प्रतीतिका जो विषय हो, उसका नाम सत्ता है। इसप्रकारके सत्ताके लक्षणमें वादीमें कुलधर्मकी समानता कही थी, वह दूषण वादीके मतमें भी है क्योंकि 'नास्ति' इसप्रकारकी निषेधमुख-प्रतीतिका जो विषय हो, उसका नाम असत्ता है। सत्ता-असत्ताका यह लक्षण जो वादीने किया है, उस लक्षणमें भी अपने कुलकी परम्परा ही माननी होगी।

श्वेतकेतु-हे भगवन्! जो सत्ता तथा असत्ताकी सिद्धि अपने कुल-धर्मके समान मानोगे तो उन दोनों-का भेद किसप्रकार सिद्ध होगा?

आरुणि-हे श्वेतकेतु! सत्ता-असत्ता एकरूपताको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त होनेपर भी उन दोनोंमें महान् भेद है, सत्ता भावरूप है, असत्ता अभावरूप है। इसप्रकारका भेद सब लोकोंके अनुभव सिद्ध है इसलिये दोनोंकी एक-रूपता सिद्ध नहीं होती, यह तेरी शङ्काका लौकिक दृष्टिसे समाधान है, अब तेरे और अपने सिद्धान्तसे समाधान सुन। देख, 'अस्ति' इस विधि-मुख-प्रतीति-के विषयका नाम सत्ता है, इस सत्ताके लक्षणका जो खण्डन किया वह मुझे भी इष्ट है। वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार अद्वितीय ब्रह्मरूप सत्तामें विधि-मुख-प्रतीति-की विषयतारूप लक्षण सम्भव नहीं है किन्तु ब्रह्म-रूप सत्ताका लक्षण मन तथा वाणीकी अविषयता-रूप है और यह लक्षण सर्व लक्षणोंसे रहित है। यानी सर्व लक्षणोंसे रहितपना ही ब्रह्मसत्ताका लक्षण है।

श्वेतकेतु–जैसे सत्ता मन, वाणीकी अविषयतारूप तथा सर्व लक्षणोंसे रहित है वैसे ही वन्ध्यापुत्रादि असत् पदार्थ भी मन, वाणीके अविषयरूप तथा सर्व लक्षणोंसे रहित हैं इसलिये असत् पदार्थोंमें सत्ता-के लक्षणकी अतिव्याप्ति क्यों नहीं है?

आरुणि–प्रतियोगी तथा अनुयोगीरूप दो सत्य पदार्थोंसे ही अभावका निरूपण होता है, यह सब शास्त्रकारोंका मत है, असत्पदार्थमें मन, वाणीकी अविषयता और सर्व लक्षणोंका अभाव नहीं बनता। इससे सिद्ध होता है कि इस लोकमें जो मूढ़ पुरुष सूर्यकी तरफ धूल फेंकते हैं, वे मूढ़ आप ही धूलसे व्याप्त होते हैं। जैसे सूर्यको धूलका सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही वेदमें कहे हुए सत्तारूप सूर्यमें जो मूढ़ कुतर्करूप धूल फकते हैं, वे मूढ़ कुतर्करूपी धूलसे आप ही पराजयको प्राप्त होते हैं, सत्तारूप सूर्यको कुतर्करूपी धूलका स्पर्श नहीं होता। हे श्वेतकेतु! असत् ही जगत्का कारण है, यह वचन मिथ्या है। मुमुक्षु पुरुषोंको ऐसे तार्किकोंके वचन कभी भी ग्रहण करने उचित नहीं हैं, किन्तु वेदमें कहे हुए सत्तारूप कारणको अंगीकार करना चाहिये। किसी स्थलपर इस लोकमें असत् कारणसे सत् कार्यकी उत्पत्ति देखनेमें नहीं आती इसलिये जगत्-रूप सत्कार्यका कारण भी सत्यरूप ही मानना चाहिये। जैसे मृत्तिका, सुवर्ण तथा लोहरूप कारणोंके ज्ञानसे घट, भूषण तथा खड्गादि सर्व कार्योंका ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार सत्तारूप कारणके ज्ञानसे सर्व कार्यरूप जगत्का ज्ञान हो जाता है इसलिये सर्वज्ञतारूप फलकी प्राप्तिके लिये अधिकारियोंको सत्तारूप कारणको अवश्य जानना चाहिये। (क्रमशः)

तरी

अरी तरी! तू कहाँ लिये जा रही मुझे लहरोंमें लोल?
किस तटपर जाकर तू हाय! लगेगी जर्जरिते! कुछ बोल?
आ पहुँची नीरव-दिगन्तपर धूसर-सन्ध्या बनी विभोर;
लौट रहा है तम-छायामें पक्षी-दल नीड़ोंकी ओर॥
आ असीमके अन्धकारसे उस विराट-वीणाकी तान;
करती है अशान्त-अन्तरमें चंचल-भावोंका उत्थान!

× × × ×

स्तब्ध-रात्रिके अंचलमें सन्ध्याके अन्तिम-रश्मि-समान;
नहीं जानता, कब होवेगी तरी हाय! यह अन्तर्धान!

प्रभात बी० ए०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिद्धात्मानन्दजी)

(गतांकसे आगे)

दुर्गाचरण नाग

(१)

श्रीरामकृष्णके गृहस्थ शिष्योंमें दुर्गाचरण नाग परम त्यागी और निष्ठावान् महात्मा थे। दुर्गाचरणजी सन् १८४६ में एक निर्धन परिवारमें पैदा हुए थे। बाल्यावस्थामें ही इनकी माताका स्वर्गवास हो गया था। इससे इनके पालन-पोषणका सारा भार इनके पिता और चाचीपर पड़ा। इनके पिता एक दयालु, धर्मनिष्ठ, सनातन-धर्मावलम्बी सज्जन थे और कलकत्तेमें एक व्यापारीके यहाँ साधारण वेतनपर नौकरी करते थे। कुछ समय बाद दुर्गाचरणकी चाचीका भी देहान्त हो गया। उसने मरते समय दुर्गाचरणसे कहा, 'बेटा! सदा श्रीभगवान्के चरणोंमें ही अपने मनको लगाये रखना।' इससे जान पड़ता है कि उनकी शिक्षा और पालन-पोषण भी धार्मिक वायु-मण्डलमें हुआ था। बचपनहीसे यह अपने सरल और नम्र स्वभावके कारण अपने समवयस्क बालकोंके प्रेमपात्र बन गये थे। निर्धनताके कारण इन्हें उच्च शिक्षा ग्रहण करनेका अवसर न मिल सका। इनके ग्रामके निकट एक स्कूल था, जिसमें इन्होंने तीसरी कक्षातक पढ़ायी की थी। पश्चात् इन्होंने अपने पितासे प्रार्थना की, कि मुझे कलकत्तेमें पढ़ाइये, परन्तु वहाँका खर्च बरदास्त करनेकी शक्ति उनमें नहीं थी। दुर्गाचरणने सुना कि ढाकामें बड़े अच्छे-अच्छे स्कूल हैं। विद्योपार्जनकी तीव्र इच्छा होनेके कारण इनके मनमें वहाँ जाकर पढ़नेकी इच्छा हुई। इन्होंने अपनी चाचीसे कहा कि 'मैं कल ढाका पढ़ने जाऊँगा, सबेरे ही मेरेलिये भोजन तैयार कर देना।' तदनन्तर दूसरे ही दिनसे वह प्रतिदिन पढ़नेको ढाका जाने लगे। सबेरे जाते और शामको वापस घर आया करते। ढाका उनके ग्रामसे दस मील था, परन्तु पढ़नेकी इच्छासे वह रोज़ इतनी दूर जाने-आनेका कष्ट सुखपूर्वक सहने लगे। सवा वर्षतक प्रतिदिन वहाँ जाकर पढ़ते रहे, केवल दो दिन ही इनकी गैरहाजिरी रही। अन्तमें इन्हें कलकत्तेमें भी पढ़नेका मौका मिल गया और वह मेडिकल-कालेजमें भरती हो गये। डेढ़ सालतक वहाँ चिकित्सा शास्त्रका अध्ययन किया। तत्पश्चात् कलकत्तेमें ही प्रसिद्ध डाक्टर बिहारीलाल भादुड़ीसे होमियोपैथिक-चिकित्साकी शिक्षा पूर्ण रीतिसे ग्रहणकर वह वहीं चिकित्सा करने लगे और थोड़े ही दिनोंमें अच्छे निपुण चिकित्सक हो गये। रोगके निदान करनेकी इनमें असाधारण शक्ति थी। कालेजमें शिक्षा ग्रहण करते समय भी इन्होंने कई आश्चर्यजनक इलाज किये थे। निर्लोभी इतने थे कि कभी किसीसे अपनी नियत फीस नहीं माँगी, जिसने जो दे दिया, ले लिया, वह भी दो रुपयेसे ज्यादा नहीं।

एक बार इन्होंने अपने पिताके मालिकके कुटुम्बकी एक स्त्रीको बड़े कष्टसाध्य रोगसे मुक्त किया, इसपर उन्होंने इन्हें कुछ धन देना चाहा परन्तु नाग महाशयने वह सारा धन लेना अस्वीकार कर केवल बीस ही रुपये लिये। इस बातपर इनके पिता बहुत अप्रसन्न हुए और बोले कि 'तुम इस तरह करोगे तो अपने काममें कभी सफल नहीं हो सकोगे।' दुर्गाचरणने कहा 'पिताजी! मैं उचितसे ज्यादा कभी नहीं ले सकता, जितना उचित था, उतना ले ही लिया। चौदह रुपये सात दिनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फीसके और छः रुपये दवाके दाम। बीससे अधिक लेनेका मुझे क्या हक था ? फिर कहा 'क्या आपने मुझे सत्यपर आरूढ़ रहनेकी शिक्षा नहीं दे रखी है ? मैं सत्यसे विचलित नहीं हो सकता, चाहे जो कुछ भी हो।' इतना ही नहीं, दुर्गाचरण गरीब रोगियोंको ओषधि और भोजन भी मुफ्त दिया करते थे। कभी-कभी उन्हें रुपये उधार भी दे देते थे जो कभी उन्हें वापस नहीं मिले। कई बार ऐसा भी होता था कि वह अपने निर्वाहमात्रको भी कुछ नहीं बचा सकते थे। गरीब रोगीको देखनेके लिये मीलोंतक पैदल चले जाते। कोई असहाय रोगी कभी रास्तेमें मिल जाता तो उसे अपने घर ले आते और बड़े ही ध्यानसे चिकित्सा कर उसे रोगमुक्त करनेकी चेष्टा करते।

एक दिन इन्होंने एक आदमीको एक झोंपड़ीके अन्दर बड़ी दुर्दशामें पड़े देखा, वह तुरन्त अपने घर आये और घरसे अपना बिछौना लाकर उस गरीबको आरामसे उसपर लिटा दिया। एक दूसरे दिन सख्त जाड़ेकी रातमें इन्होंने एक ठिठुरते हुए रोगीको अपनी ऊनी चादर उतारकर उढ़ा दी और स्वयं उसके पास बैठकर रातभर उसकी सेवा करते रहे। इनमें ऐसी अपूर्व दया और निर्लोभता तो थी ही, साथ ही वह निर्भय भी पूरे थे। कलकत्तेमें प्लेगके दिनोंमें गरीब रोगियोंकी स्वयं सेवा किया करते थे। एक दिन एक निर्धन रोगीकी सेवा करते-करते उसकी इच्छा पूरी करनेके हेतु उसे अपने कन्धेपर उठाकर गंगा-तीरपर ले गये और उसे अपनी गोदमें बिठा लिया। वहीं उसका देहान्त हो गया। तब उसका दाह-कर्म करके आप घर लौट आये।

वह अपने दुःखकी तो बिल्कुल परवा न करते परन्तु दूसरेके दुःखको सहन नहीं कर सकते थे। वह केवल मनुष्योंपर ही दया करके नहीं रह जाते थे वरं अन्य जीव-जन्तुओंपर भी इनकी वैसी ही दया थी। कभी मछलियाँ बेचते हुए मछुए इनके घरके सामनेसे गुजरते तो वह जीती हुई मछलियाँ मोल लेकर तालाबमें छुड़वा देते। यहाँतक कि विषैले सर्पोंमें भी इनका मित्र-भाव था। एक दिन एक साँप इनके बगीचेमें घुस आया, इनकी स्त्रीने कहा कि 'इसे मार डालो।' इसपर नाग महाशय बोले कि 'जङ्गलका सर्प किसीको कुछ हानि नहीं पहुँचाता, यह तो मनका सर्प है जो मनुष्यको मारे डालता है।' तदुपरान्त इन्होंने साँपसे प्रार्थना की तो वह इनके पीछे-पीछे बाहर जङ्गलमें चला गया। इनकी यह धारणा थी कि दृश्यमान जगत् केवल मनकी ही कल्पना है, तुम जैसा अपने मनमें सोचते हो, वैसा ही जगत्को देखते हो। अपना मुँह जैसा होगा, दर्पणमें ठीक वैसा ही दिखायी देगा।

दुर्गाचरणका विवाह बाल्यावस्थामें ही हो गया था, परन्तु इन्हें विषय-भोगसे पहलेहीसे घृणा थी। पहली स्त्रीका देहान्त होनेपर इनके पिताने आग्रह करके इनका दूसरा विवाह कर दिया, परन्तु इनके पवित्र मनको काम-वासनाने बहुत ही कम सताया। वह जगत्की असारताको भलीभाँति जानते थे, इस कारण वह उसके फन्देसे बचे रहे। इनकी प्रबल इच्छा भगवान्के साक्षात्कार करनेकी थी। किसी साधुने इनसे एक दिन कहा कि 'गुरुके बिना भगवद्दर्शन नहीं हो सकता।' इसलिये वह गंगा-तटपर बैठकर अकेले जगन्मातासे प्रार्थना किया करते कि 'हे दयामयि! कृपा करके मेरेलिये किसी गुरुको भेज।' सुरेश उनका मित्र था, उसने केशवबाबूसे दक्षिणेश्वरके परमहंसकी बाबत सुन रक्खा था। एक दिन उसने नाग महाशयसे उनका जिक्र किया। नाग महाशयकी इच्छा परमहंसके दर्शन करनेकी बड़ी तीव्र हुई। अगले दिन सबेरे ही दोनों मित्र दक्षिणेश्वरकी ओर चल दिये। गरमीके दिन थे, सूर्य भगवान् अपनी तीक्ष्ण किरणोंसे धरातलको तपा रहे थे। परन्तु यह दोनों मित्र उस कड़ाकेकी धूपमें ही परमहंससे मिलनेकी इच्छासे दोपहरको दो बजे दक्षिणेश्वरके फाटकपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा पहुँचे और अन्दर जाकर ठाकुरके कमरेके दरवाजेपर खड़े हो गये। एक आदमीको वहाँ बैठे देखकर पूछा कि 'महाशय! परमहंस कहाँ रहते हैं?' उसने कहा कि 'रहते तो यहीं हैं परन्तु इस समय वह चन्दननगर गये हुए हैं।' यह सुनकर वह निराश होकर लौटना ही चाहते थे कि भीतरसे किसीने इन्हें अन्दर आनेको कहा। वह स्वयं परमहंस ही थे। ठाकुरने इन्हें बैठनेको कहा और कहने लगे कि 'यह हाज़राकी करतूत है वह नये आदमियोंको आनेसे रोका करता है।' दोनों मित्र कई घण्टे वहाँ ठहरे। ठाकुर इनसे बात कर रहे थे और नाग महाशय उनके मुखकी ओर टकटकी लगाकर देख रहे थे। ठाकुरने पूछा कि 'इस तरह घूरकर मुझे क्यों देख रहे हो? नागने कहा कि 'महाराज! बहुत दिनोंसे आपके दर्शनकी इच्छा थी, आज अपना मनोरथ सफल कर रहा हूँ।'

दूसरे सप्ताह वह फिर ठाकुरके पास गये। भीतर घुसे ही थे कि श्रीरामकृष्णने कहा कि 'अच्छा हुआ, तुम आ गये, मैं तुम्हारी बाट ही देख रहा था।' थोड़ी देर बाद ठाकुरने कहा 'बेटा! चिन्ता न करो, तुम ऊँची कोटिपर पहुँच चुके हो।' नाग अब बार-बार दक्षिणेश्वर जाने लगे और ठाकुरके बड़े प्रेम-पात्र बन गये। वह ऐसे अभिमानरहित थे कि रविवारको तथा और छुट्टियोंके दिनोंमें वहाँ जानेमें बहुत सकुचाते थे, क्योंकि ऐसे दिनोंमें कलकत्तेके बहुत बड़े-बड़े प्रसिद्ध लोग ठाकुरके पास जाया करते थे। दुर्गाचरण अपनेको एक अयोग्य तुच्छ व्यक्ति समझकर उन लोगोंसे मिलनेका साहस नहीं करते थे परन्तु जब उन लोगोंने नाग महाशयकी असाधारण योग्यताको जान लिया, तो वह लोग उनका बड़ा आदर करने लगे।

पिताको प्रसन्न रखनेके अभिप्रायसे वह अपना व्यवसाय—चिकित्सा-कार्य बराबर करते रहे। एक दिन उन्होंने ठाकुरका एक भक्तसे यह कहते सुना कि 'यदि मन औषधकी नन्हीं-नन्हीं बूँदोंमें ही फँसा रहा तो परमात्माके अनन्त स्वरूपका विचार ही कैसे कर सकेगा?' इतना सुनना ही उनके लिये काफी था। घर पहुँचते ही उन्होंने दवाइयों और पुस्तकोंको गंगामें बहा दिया। आजसे इनका नव-जीवन आरम्भ हो गया। वह जितना ही ठाकुरसे मिलते, उतनी ही इनमें वैराग्यकी मात्रा बढ़ती जाती। यहाँतक कि इनकी प्रबल इच्छा गृहस्थ त्यागकर संन्यास-आश्रममें प्रवेश करनेकी हो गयी। इसके लिये वह ठाकुरसे आज्ञा लेने गये तो ठाकुरने कहा कि 'बेटा! गृहस्थमें रहनेसे क्या हानि है? केवल मनको परात्पर ब्रह्ममें लगाये रक्खो। तुम्हारा पवित्र जीवन गृहस्थोंके लिये आदर्श बनेगा और लोग तुम्हारे अद्भुत जीवनसे चकित हो जायँगे।'

गुरुकी आज्ञा शिरोधार्यकर वह गृहस्थहीमें रहे और अपना धर्म भलीभाँति निबाहते रहे। इनके घरका दरवाज़ा सबके लिये खुला था। प्राणीमात्रकी सेवा करना इनका व्रत था। इनके घर जो अतिथि आते, उनका वह भोजनसे तो सत्कार करते ही वरं आवश्यक समझकर उनके मार्ग-व्ययका भी प्रबन्ध कर देते। इतना ही नहीं, यदि कोई इनके घरमें बीमार पड़ जाता तो उसकी सेवाकर अच्छा हो जानेपर अपने खर्चसे उसे उसके घर पहुँचा देते। अब इनके और कोई आमदनी नहीं रह गयी थी, केवल एक मकानका किराया आता था, जो इस तरहकी सेवाके लिये भी काफी नहीं था, इसलिये अब इनके पास कभी एक पैसा भी नहीं रहता था।

एक दिन जाड़ेके दिनोंमें दो अतिथि इनके घर आये। जोरसे पानी बरस रहा था। घरके चार कमरोंमेंसे केवल एक कमरा ही सूखा था, जिसे इन्होंने अतिथियोंके विश्रामके लिये दे दिया और अपनी धर्मपत्नीको बुलाकर कहा 'आज हमारे बड़े भाग्य हैं, आओ, हमलोग बरामदेमें बैठकर भगवान्‌का स्मरण करते-करते रात बितावें।' नाग महाशयके घरमें उपस्थित रहते घरकी मरम्मत कराना महा-कठिन था, क्योंकि जब कोई मजदूर मकानकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मरम्मत करनेको बुलाया जाता तो पहले नाग महाशय उसके लिये चिलम भरकर देते, फिर भोजन देते और यदि वह काम करनेका हठ ही करता तो उसके पास बैठकर उसके ऊपर छत्ता ताने इसे पंखा किया करते। नौकामें बैठकर यदि कभी कहीं जाना होता तो मल्लाहको अलग बिठलाकर स्वयं डाँड़ चलाकर नाव खेते। इसलिये नाववाले इन्हें अपनी नावमें बिठानेसे झिझकते थे, क्योंकि वह समझते थे कि ऐसे ऋषि-स्वभाव सन्तको परिश्रम करते देखना और स्वयं खाली बैठे रहना पाप है। नाग महाशयमें प्राणीमात्रकी सेवा करनेका भाव ऐसा परिपक्व हो गया था कि किसीसे भी अपनी सेवा कराना इनके लिये असम्भव हो गया था।

नाग महाशयका जीवन वैराग्य और तपसे इतना पूर्ण था कि विरक्त संन्यासी भी इनके-जैसा जीवन नहीं बिता सकता। अपने शरीरको वह एक मोटे कपड़ेसे ढके रखते। इनका भोजन भी अत्यन्त सादा होता। कई दिनोंतक निराहार ही रह जाते। कोई मित्र भोजन करनेके लिये इनसे आग्रह करने लगता तो कहते कि 'मैं रात-दिन भोजनकी ही चिन्तामें लगा रहूँगा तो भगवद्भजनका समय कब मिल सकेगा। रात-दिन भोजनकी चिन्ता करना तो पागलपन है।'

चार वर्षतक वह ठाकुरकी पवित्र संगतिमें रह-कर उनकी निःस्वार्थभावसे सेवा करते रहे। ठाकुरके अन्तिम दिनसे पाँच दिन पहले जब वह श्रीराम-कृष्णके कमरेमें पहुँचे तो ठाकुरने उपस्थित लोगोंसे आँवला खानेकी इच्छा प्रकट की। इसपर वह लोग बोले कि 'महाराज! आजकल आँवलोंका मौसम नहीं है।' नाग महाशय महामायासे प्रार्थना करने लगे कि 'हे इच्छामयि! मुझे ठाकुरकी अभिलाषा पूरी करनेमें सहायता दे।' बिना किसीसे कहे ही वह वहाँसे चल दिये और कलकत्तेके सारे बाग-बगीचे छान डाले। दो दिनतक वह आँवला ढूँढ़ते रहे, अन्तमें उन्हें एक वृक्षपर लगे हुए आँवले मिल ही गये। बड़े हर्षके साथ वह फल लेकर ठाकुरके पास पहुँचे और उन्हें दे दिया। श्रीरामकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और इन्हें आशीर्वाद देकर संसार-लीला समाप्त कर स्वधामको पधार गये।

यद्यपि नाग महाशय गृहस्थमें रहते थे, परन्तु इनका अधिकांश समय भगवत्स्मरणमें ही व्यतीत होता था। पिताके नौकरी छोड़नेपर वह उनकी जगह रह गये।' परन्तु ऐसे मनुष्यके लिये जो भगवद्भजनमें खाना-पीना भी भूल जाता था, दफ़्तर-का रोज़ाना काम पूरा करना असम्भव था। इसलिये इनका एक दूसरा साथी कर्मचारी इनके बहुतसे काम पूरे कर दिया करता था। वैराग्यकी इतनी अधिकता देखकर श्रीरामकृष्णने एक दिन इनसे कहा कि 'तुम आजीविकाके लिये कहीं बाहर न जाओ' तुम्हारा जीवन-निर्वाह किसी-न-किसी तरह होता ही रहेगा।

नाग महाशय–जगत्‌में रहना महा कठिन है। दुखी जीवोंके कष्ट मुझसे सहे नहीं जाते।

ठाकुर–विश्वास रक्खो, कोई तुमपर दोष नहीं लगा सकेगा, तुम्हारा जीवन देखकर लोग चकित होंगे।

नाग महाशय–मैं अपना जीवन किस तरह बिताऊँ?

ठाकुर–तुम्हें कुछ करनेकी जरूरत नहीं, तुम्हारे लिये केवल साधु-संग ही पर्याप्त है।

नाग महाशय–आप जानते हैं, मैं महामूढ़ हूँ, साधुको किस तरह पहचान सकूँगा।

ठाकुर–तुम्हें सच्चे साधुओंके ढूँढ़नेकी भी जरूरत नहीं, वह स्वयं तुम्हारे घर आकर तुम्हारा सत्कार करेंगे।

नाग महाशय नम्रताकी मूर्ति ही थे। अहंकार इन्हें छू तक नहीं गया था। इनके विषयमें गिरीश बाबू कहा करते थे कि 'यदि किसीका हृदय अत्यन्त सरल और अहंकारशून्य है तो वह नाग महाशयकी दशामें पहुँच गया है। ऐसे प्राणीके चरण-स्पर्शसे ही पृथ्वी पवित्र हो जाती है।' नरेन्द्रनाथ भी कहा करते थे कि हम लोगोंका जीवन सत्यकी खोजमें वृथा ही बीता, हम लोगोंमेंसे केवल नाग महाशय ही ठाकुरके सच्चे पुत्र हैं।

(क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामुदायिक उपासना

(लेखक—श्रीकिशोरलाल घनश्याम मश्रूवाला)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

(४)

तीन शर्तोंकी कुछ अधिक चर्चा

इन तीन शर्त्तोंकी कुछ अधिक चर्चा निरर्थक न होगी। क्योंकि यदि ये तीन शर्त्तें बराबर सिद्ध न हों तो सहज अथवा कर्मद्वारा उपासनासे उपासना नहीं, बल्कि कर्म-जड़ता, जड़वादित्व अथवा तीव्र असन्तोषका ही निर्माण होगा। और इसका ऐसा परिणाम हो सकता है, इसलिये इस बहाने हम यह भी जाँच सकेंगे कि इन शर्त्तोंको सिद्ध करनेके साधनरूपमें स्तवन-उपासना क्या सहायता कर सकती है। प्रथम पहली शर्त्तको लीजिये—

हम असाधारण महात्माका विचार नहीं करेंगे। बल्कि साधारण, किन्तु विचारशील और कर्तव्यनिष्ठ रहनेका प्रयत्न करनेवाले मनुष्योंको ही अपनी दृष्टिके सामने रक्खेंगे।

ऐसा मनुष्य शायद ही कभी यह कह सकेगा कि वह कर्तव्य-कर्मोंको छोड़कर और कोई कर्म करता ही नहीं। इसके विपरीत यदि पूछा जाय तो, जिनके कारण और जिनकी ओरसे ये सब वादविवाद उत्पन्न होते हैं, वे हमसब जब अपने जीवनकी जाँच करते हैं तो हमें यह स्पष्ट ही दिखायी पड़ता है कि रोज़ रोज़ हमारे द्वारा ऐसे अनेक कर्म होते हैं जो न केवल कर्तव्यरूप ही नहीं होते बल्कि स्पष्टतया अकर्म (न कर्म करने योग्य) भी होते हैं और इसे जानते हुए भी हम उन्हें करनेसे रुक नहीं सकते।

'यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥'
'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥'
(गीता)

हे अर्जुन ! प्रयत्न करते भी
विद्वज्जनके इन्द्रिय-वृन्द।
बलपूर्वक मन आकुल करके
आकर्षित करते स्वच्छन्द॥

जब संचारी सकल इन्द्रियां-
के पीछे हों मनके भाव।
वही, बुद्धि नरकी यों खैंचे
जैसे वायु सलिलमें नाव॥
(श्रीकृष्णविज्ञान)

जबतक वस्तुतः हमारी जीवनस्थिति इसप्रकारकी हो, तबतक यह कहना मुश्किल है कि हमारी सर्व कर्म-प्रवृत्ति ईश्वरोपासनाके स्वरूपकी है। अपने कुछ कर्मोंके लिये कदाचित् हम ऐसा दावा कर सकें, पर सब कर्मोंके लिये ऐसा नहीं कह सकते। जिन कर्मोंके बारेमें हम यह नहीं कह सकते कि वे ईश्वरोपासनाके स्वरूपके हैं, उन कर्मोंके विषयमें हमें अपनी चित्त-शुद्धि करनी है और उनसे परावृत्त होने—हटनेकी शक्ति प्राप्त करनी है। और जो कर्म हमें कर्तव्यरूप प्रतीत होते हैं, पर जिन्हें हम कर नहीं सकते, और इस कारण सत्यमार्गपर चल नहीं पाते, वैसे कर्म करनेकी शक्ति भी हमें प्राप्त करनी है।

जो कर्म अनिच्छाके रहते हुए भी हो जाते हैं और इच्छा होते हुए भी किये नहीं जा सकते, उन कर्मोंके लिये प्रामाणिक मनुष्यको उसकी अन्तरात्मा डंक मारा करती है। दूसरेका अपराध करके जिसप्रकार वह उससे क्षमा माँगता है, उसी प्रकार प्रामाणिक मनुष्यकी—भक्तकी भाषामें कहें तो— ईश्वरसे, और ज्ञानीकी भाषामें कहें तो अपनी सदसद्-विवेक-बुद्धिसे क्षमा माँगनेकी वृत्ति रहती है।

अन्तरात्माके डंककी इस जलनको ऐसा मनुष्य किस प्रकार शान्त करे ?

अब दूसरी शर्त लीजिये। वह शर्त यह है कि मनुष्यको अपने कर्त्तव्य-कर्म करते हुए उनमें भक्ति-भाव होना चाहिये।

साधारण मनुष्यकी दृष्टिमें कर्त्तव्यनिष्ठा और भक्तिमें बहुत अन्तर रहता है। उदाहरणके लिये, यदि कोई शिक्षक उसे सौंपे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गये सब विषयोंको जी-तोड़ मेहनत करके और शास्त्रीय रीतिसे सिखाता है तो कह सकते हैं कि वह अपना कर्त्तव्य भली-भाँति करता है पर यह भी हो सकता है कि उन विषयोंमें से कुछको, कुछ भलीभाँति सिखाता हो और तो भी उनसे उसे प्रेम न हो; और पाठशाला या पेशेकी वफ़ादारी और विद्यार्थियोंके प्रति कर्त्तव्यके खयालसे ही वह उन्हें वे विषय सिखाता हो। कुछ मनुष्योंका, उन्हें मिली हुई तालीमके कारण, स्वभाव ही ऐसा बन जाता है, कि जिन कर्मोंके लिये उन्हें प्रेम या श्रद्धा नहीं होती, बल्कि उकताहट या तिरस्कार होता है, वैसे कर्म भी, जब वे उनपर आ पड़ते हैं, इस प्रकार परिश्रमपूर्वक करते हैं, मानो उन्हें उन्हींमें आसक्ति हो। ऐसा मनुष्य कर्तव्यनिष्ठ है, कर्मयोगी है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसे अपने कर्ममें भक्ति भी पैदा होती है। ऐसा मनुष्य अपने कर्मयोगका ठीक-ठीक आचरण करता है; पर उसमेंसे वह ईश्वरोपासना-का समाधान नहीं पा सकता। क्योंकि ईश्वरोपासनासे केवल बुद्धिका ही समाधान नहीं होता, पर भावनाका भी समाधान होता है। 'मैंने अपना कर्त्तव्य किया है' इतना समाधान ही मनुष्यके लिये हमेशा सन्तोषकारक नहीं होता। पर जिन कर्मोंमें मनुष्यकी निष्ठा होती है, वैसे ही कर्म कर्त्तव्यरूप भी बनें और उन्हें वह बराबर कर सके, तभी उसे पूरा समाधान प्राप्त होता है। जबतक यह नहीं होता, तबतक मनुष्य प्राप्त-कर्त्तव्योंको करता हुआ भी, अनजानमें ही क्यों न हो, पर अपने मनोनुकूल कर्म-मार्गकी शोध करता रहता है; तबतक कोई-कोई असन्तोषी भी रहते हैं।

असन्तोषकी यह आग और अनुकूल कर्म-मार्गकी व्याकुलताको वह किसप्रकार शान्त करे?

अब तीसरी शर्त्त लीजिये—

मनुष्य कर्त्तव्य-कर्ममें ही प्रवृत्त रहता हो, और कभी अकर्त्तव्य न करता हो; कर्त्तव्यमें उसे भक्तिनिष्ठा भी हो, तो भी हो सकता है, कि सहज-उपासनाकी सिद्धिको न पा सके और इसका कारण अज्ञान हो।

'जिसके अधीन हो कर्मका चक्र चलता है' इस नियमको वह न समझता हो, कर्मोंके परिणामके बारेमें भुलावेमें पड़ा हो, कर्मका खटाटोप किसलिये है, इसकी सूझ न पड़ती हो, तो सब कर्मोंका यथार्थ पालन करते हुए भी मनुष्य शान्ति या समाधान प्राप्त नहीं कर सकता।

किसी चतुर कविने ब्रह्माको कर्मजड़ कहा है। सबेरेसे शामतक पैदा करना, पैदा करना और पैदा करना ही ब्रह्माका काम माना गया है। सृष्टिमें लाखों जीव दूसरे ही क्षण मरनेके लिये ही पैदा होते हुए दिखायी देते हैं। जिन्हें बचाया नहीं जा सकता, ऐसे असंख्य जीवों-को पैदा करनेका क्या हेतु है, इस बारेमें शंका पैदा होना स्वाभाविक है। और यह काम करनेवाला कोई ब्रह्मा-जैसा व्यक्ति हो, तो वह 'कर्मजड़' ही प्रतीत होगा—अर्थात् वह बिना विचारे केवल पैदा करनेवाला ही जान पड़ेगा।

कर्मविषयक जड़ता तीन प्रकारकी हो सकती है।

इसमें दो प्रकारकी कर्मजड़ताका कविवर रवीन्द्रनाथने अपनी 'अचलायतन' में सुन्दर आलेखन किया है। शोणपांशुओंको कर्मके व्यतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं। बावरे भूतकी भाँति सदैव कुछ-न-कुछ करनेको चाहिये ही। निकम्मा हो, हितकर हो, अहितकर हो, नीतियुक्त हो, अनीतियुक्त हो इसकी पर्वा किये बिना 'कुछ काम चाहिये' यही उनका स्वभाव होता है। बगैर कामके शान्त बैठा ही नहीं जा सकता। कब कर्ममें प्रवृत्त होना और कब उससे निवृत्त होना, इन दोनोंके लिये ज्ञानकी आवश्यकता-अपेक्षा-रहती है; जैसे प्रावृत्ति आवश्यक है, वैसे ही परावृत्ति या निवृत्ति भी कभी-कभी आवश्यक है, शोण-पांशुओंको पहली बाजूका ही ख़याल रहता है।

उपनिषत्कारके शब्दोंमें उनका वर्णन इसप्रकार है:—

*अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥
(मुण्डक. १.२.९.)

'अचलायतन' के स्थविर दूसरे प्रकारके कर्मजड़ हैं। ये लोग निवृत्तिमार्गी नहीं हैं, पर काल्पनिक कर्मकाण्डमें लगे हुए हैं। इन्हें शोणपांशुओंके सामान्य कर्मयोगमें रही हुई एकांगिताका ख़याल है, पर इसी वजहसे इन्होंने

* अनेक प्रकारकी अविद्यामें आसक्त ये अज्ञानी (बालक) यह अभिमान रखते हैं कि 'हम कृतार्थ हैं'। रागवश होनेके कारण ये कर्ममार्गी अज्ञान हैं; इस कारण दुःखी होकर [illegible] पतित होते हैं, नीचे गिरते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके आवश्यक भागका भी निरादर किया है, और तो भी सुखकी वासना शोणपांशुओंसे कम न होनेके कारण काल्पनिक कर्मकाण्डका निर्माण कर बैठे हैं। इनके हृदय शोणपांशुओंसे भी अधिक शून्य हैं, अर्थात् इनमें शोणपांशुओंकी स्वाभाविकता भी नहीं है, तो फिर दर्शकोंकी सरलता तो कहाँसे हो ? इसप्रकार ये शोणपांशुओंकी अपेक्षा भी अधिक जड़ हैं।

तीसरे प्रकारकी कर्मजड़ता एकांगी निवृत्तिकी है। कर्ममार्ग संकटोंसे पूर्ण है, कर्मलोक नाशवन्त है, हर एक कर्म शुभ-अशुभ दोनों फल देनेवाला होता है, विचारद्वारा इसे जानकर वह कर्ममात्रका बलात्कारपूर्वक त्याग करता है। यह भी एकांगी विचार है। जिसप्रकार तूफानमें फँसे हुए किसी जहाज़का कप्तान यह सोचकर कि यात्रियोंको डोंगियोंमें उतारना भी ख़तरनाक है, और न सबकी रक्षा ही की जा सकती है, उन्हें बचानेका कोई प्रयत्न ही नहीं करता, अथवा कोई शस्त्रवैद्य यह सोचकर कि माता और बालकमेंसे किसी एककी हत्या तो होगी ही, शस्त्र रख दे, बस, ठीक वैसी ही यह निवृत्ति है। यह भी कर्मविषयक एक प्रकारकी जड़ता ही कही जायगी।

वस्तुतः यह जान रखना भी जरूरी है कि कर्मलोक नाशवन्त और संकटोंसे पूर्ण है; और यह जानकर भी प्राप्त परिस्थितिमें यथासम्भव ज्ञान और विवेक-बुद्धिका उपयोग करके कर्म करना है।

जगत्के श्रमजीवी लोगोंका जीवन अधिकतर आवश्यक कर्म करनेमें ही बीतता है। अनावश्यक, अतः कर्तव्यरूप न कहे जाने योग्य कर्म करनेकी उन्हें बहुत ही कम सुविधा प्राप्त होती है। यदि केवल कर्तव्य-कर्मोंके आचरणहीसे जीवन कृतार्थ हो सकता हो, तो किसान और मजदूरको जीवनमें सबसे अधिक कृतार्थताका अनुभव होना चाहिये, और उसका सबसे अधिक विकास होना चाहिये; पर कर्मयोगके साथ जिस ज्ञानदृष्टिकी आवश्यकता है, वह न होनेसे उसकी स्थिति भी अपूर्ण है और वस्तुतः 'जगत्का तात' होनेपर भी वह अधिक पीड़ित स्थितिमें जीवन बिताता है।

पर जीवनके संस्कारोंको बदलनेमें बुद्धि-बलकी अपनी मर्यादा है। इसके लिये बुद्धिके अतिरिक्त भावनाका बल भी आवश्यक है; इस बलके अभावमें बुद्धिमान्वर्ग भी दूसरे प्रकारका कर्म-जड़ बनकर बैठ जाता है।

सारांश यह कि कर्मयोग ही ईश्वरोपासना है (Work is Worship) , यह सूत्र पूर्ण सत्य नहीं। यह सच है कि ईश्वरोपासनाका एक अङ्ग और महत्त्वपूर्ण अंग कर्मयोग है; पूर्ण विवेक और संयमप्राप्त मनुष्यके लिये यही एक अंग रहता है, यों भी कहा जा सकता है। पर जबतक कर्मयोगका आचरण करते हुए भी कर्मयोगको सहज-उपासना बनानेके लिये जो शर्त्तें आवश्यक हैं, उन शर्त्तोंकी पूर्ति केवल कर्मयोगसे नहीं हो सकती, पर दूसरे ढंगसे करनी पड़ती है। जैसे वैद्यकशास्त्रके अभ्यासीका काम केवल शरीर-विज्ञान और दवाओंकी जानकारीसे नहीं चल सकता, पर उस शास्त्रकी भूमिकाके रूपमें पदार्थ-विज्ञान, रसायन-शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र इत्यादि विषयोंका भी अभ्यास करना पड़ता है, और फिर इन सबका वैद्यकमें उपयोग करना पड़ता है, वैसे ही, जिसकी धारणा कर्मयोगद्वारा ही जीवनका लक्ष्य सिद्ध करनेकी हो, उसके लिये भी ज्ञान और भक्तिको पुष्ट करके उन्हें कर्मयोगमें उतारनेकी आवश्यकता रहती है। अर्थात् कर्मयोगके सिवा दूसरे प्रकारसे भी ईश्वरोपासना करनी शेष रहती है और वह दूसरा प्रकार स्तवन-उपासनाका है

(५)

स्तवन-उपासनाका 'नेति' स्वरूप

इसप्रकार असत्यसे मुक्त होने और सत्यका अनुसरण करनेकी शक्ति प्राप्त करनेके लिये जिस एकाग्रताकी ज़रूरत है, उसे पानेके लिये, भावनाके अनुशीलनके लिये, और जिस ज्ञानके अभावमें हमारा ही बनाया हुआ कर्मजाल हमें ही उलझनमें डाल देता है, उस ज्ञानकी वृद्धिके लिये, सांसारिक कर्म करते रहना और उन्हींको ईश्वरोपासना मानना, इतना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि ऐसी प्रवृत्तिको हाथमें लेना आवश्यक होता है, जिसमें सांसारिक कर्मोंका सम्बन्ध न हो।

सांसारिक कर्मोंको स्वाभाविक प्रवृत्ति माननेके हम आदी हैं इसलिये सम्भव है कि हमें स्तवन वगैराकी प्रवृत्ति कृत्रिम प्रतीत हो; और एक बार इसके लिये कृत्रिम विशेषणका उपयोग करनेपर इसके प्रति अरुचिका पैदा हो जाना आसान है। हक़ीक़त तो यह है कि सांसारिक कर्म होनेके कारण ही कोई प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं बनती और न स्तवनादिकी होनेके कारण कृत्रिम ही बनती है। सांसारिक कर्मोंमें भी कृत्रिम प्रवृत्तियोंकी कमी नहीं होती। जहाँ-जहाँ दूसरोंको चौंधिया देनेकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गरजसे प्रवृत्ति होती है, वहाँ-वहाँ कृत्रिम प्रवृत्ति ही होती है। धर्मप्रवर्तक जिसप्रकार मन्दिर, मस्जिद, होम, पूजा वगैराकी बाह्य विधियाँ रचकर धर्मको कृत्रिम बनाते हैं, उसी प्रकार राजपुरुष भी भव्य दिखावटका आडम्बर रचते हैं। दिल्ली-दरबारका भव्य आडम्बर और किसी आचार्यके स्वागतमें किया गया भव्य आडम्बर, दोनों प्रायः एक ही कोटिके हैं।

इसलिये, स्तवन-उपासनाको, वह स्तवन है, इसीलिये कृत्रिम प्रवृत्ति कहना ठीक नहीं। हरएक आदमी कभी भी स्तवन करता ही है; किसी कारण-वश स्तवन करनेकी शक्ति स्तवनकी इच्छा करती है, और उसको स्तवन करनेकी शक्तिको खोनेके लिये दुःख होता है। कृत्रिमताके पीछे भी आधार तो स्वाभाविक ही होता है। इसलिये अकसर देखा जाता है कि स्तवन-उपासनाके ऊपर कृत्रिमताकी बड़ीभारी चुनायी की गयी है; और यदि कोई इसप्रकारका आक्षेप करे तो उसे स्वीकार करना पड़ता है। ऐसी अनावश्यक और दिखावटी इमारतको गिराना उचित है, और उसे न गिराने देनेका आग्रह ही स्तवन-उपासनाके प्रति अरुचि पैदा करके उसके आवश्यक तत्त्वोंको अस्वीकार करनेका प्रत्याग्रह निर्माण करता है, इसे ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है।

इसलिये, हमें पहले इतनी बात मंजूर करनी चाहिये कि हम स्तवन-उपासनाको क़बूल करेंगे, पर उसे शुद्ध करनेके लिये उसके स्वरूपमें जब-जब जो हेर-फेर करना पड़ेगा, उसे करनेमें हिचकिचायँगे नहीं। सामुदायिक उपासनाको ख़ासतौरपर यह बात लागू होती है। क्योंकि व्यक्तिगत उपासनामें हेर-फेर करनेमें कोई रुकावट खड़ी ही नहीं होती। ऐसे हेर-फेर पुरानी परम्पराको हटानेवाले प्रतीत हों तो भी निरुपाय है। यदि हम इसे कबूल करनेको तैयार न हों तो सामुदायिक उपासना लूली ही रहेगी, और केवल कुछ दिनके धन, यौवन या सत्ताके मदसे अन्धे बने हुओंको ही नहीं, बल्कि अति प्रामाणिक आस्तिकोंके लिये भी अस्वीकार्य और अनाकर्षक रहेगी।

ऊपर कर्मयोगका भी जो महत्त्व बताया है, उसपरसे यह भी फलित होता है कि स्तवन-उपासना कर्मयोगकी विरोधिनी या उससे विसंगत न होनी चाहिये, बल्कि कर्मयोगको शुद्ध बनानेवाली और केवल कर्मयोगमें रह जानेवाली कमीको पूरा करनेवाली होनी चाहिये।

(६)

स्तवन-उपासनाकी 'इति' याँ

किसी भी सम्प्रदाय या धर्मकी विधियोंका विश्लेषण करके, उसकी उपासनाका पृथक्करण करनेपर उसमें तीन बातें रही हुई मालूम होंगी, या होनी चाहिये (१) परमेश्वरके साथ या जिस ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक व्यक्तिमें परमेश्वर बुद्धि हो उसके साथ अनुसन्धान करनेका प्रयत्न, (२) चित्तमें सात्त्विक, पवित्र और प्रसन्न करनेवाले भावोंको पैदा करनेका प्रयत्न, और (३) परमात्माके, जगत्के, जीवनके या धर्माधर्मके विषयमें विचारशुद्धि करनेका प्रयत्न।

परमात्माके साथ अनुसन्धान करनेके प्रयत्नमें, उपासकका परमात्माके कुछ समीप होने, जिसे स्वयं जानता नहीं तो भी मानो, जन्मसिद्ध बुद्धिसे (Instinctively) उसे समझता हुआ प्रतीत होता है, जो कहाँ होगा, इस बातको स्वयं कह नहीं सकता अथवा कहने जाता है तो झूठे प्रकारसे कहता मालूम पड़ता है, तो भी, जिसप्रकार अतिशय प्यारा मित्र दूर रहनेपर भी हृदयमें बसा हुआ-सा प्रतीत होता है, वैसे, जो, मानो अपने नज़दीक रहकर अपने हृदयपर कब्ज़ा करता हुआ मालूम होता है, उसके साथ चित्त जोड़नेका प्रयत्न होता है। उपासना-शब्दके धात्वर्थमें ही यह भाव निहित है।

चित्तमें सात्त्विक, पवित्र और प्रसन्न करनेवाले भाव पैदा करनेके प्रयत्न अनेक स्वरूप धारण करते हैं; उदाहरणके लिये, नाम-स्मरण, धुन, विविध भावयुक्त भजन, पुण्यकारी चरित्रका कीर्तन, स्तोत्र-पाठ आदि। इसके साथ सहायककी तरह स्नान, धुले हुए वस्त्र, साफ़ आसन, स्वच्छ की हुई जगह, पुष्प, धूप, दीप, वाद्य, मूर्त्तियाँ, चित्र आदि इन्द्रियोंका रञ्जन करनेवाली सामग्री होती हैं। मनुष्य-स्वभावकी एक दुर्बलताके कारण ऐसी कोई विधि और उसके साथके उपकरण ही मानो महत्त्वके हों, ऐसा मान लेनेकी भूलमें बहुतेरे मनुष्य और पुरोहित तक फँस जाते हैं। और बहुधा पुरोहितोंकी ओरसे मनुष्यको इसप्रकारकी भूलोंमें फँसा रखनेका प्रयत्न भी होता है। पर इस विषयमें आगे अधिक विचार करनेकी ज़रूरत पड़ेगी। यहाँ तो उसका मूल हेतु समझानेके लिये ही उल्लेख किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार-शुद्धिके प्रयत्नमें किसी तात्त्विक ग्रन्थका या सत्पुरुषकी वाणीका वाचन, भजन, तात्त्विक चर्चा या प्रवचन आदि होते हैं।

यदि यह निरूपण ठीक हो तो स्तवन-उपासनामें इन तीन तत्त्वोंका पोषण होना चाहिये, फिर भले वह व्यक्तिगत हो या सामुदायिक।

अब पहले इसका विचार कर लें कि स्तवन-उपासना व्यक्तिगत होनी चाहिये या सामुदायिक।

(७)

व्यक्तिगत या सामुदायिक ?

'प्रार्थना' (स्तवन-उपासना) का अतिशय महत्त्व समझनेवाले और कहनेवाले टाल्स्टायका मत है कि—

'३७५—इसप्रकारकी प्रार्थना जन-समुदायमें नहीं हो सकती। परन्तु संपूर्णतया एकान्त स्थलमें और सब प्रकारकी बाह्य चित्ताकर्षक वस्तुका जहाँ अभाव हो, वहीं सर्वथा हो सकती है।' (जीवनसिद्धि)

यहाँ टाल्स्टायके 'इसप्रकार' के शब्द तो महत्त्वके हैं ही, पर इन शब्दोंपर ही ज़ोर देकर इस विषयकी चर्चा करना उचित न होगा। क्योंकि अगर यह कहें कि टाल्स्टायका अधिकतर झुकाव स्तवन-उपासनाके प्रतिकूल है, तो कोई हर्ज़ न होगा। दूसरोंको मार्गदर्शक होनेके उद्देश्य-से प्रचण्ड साहित्यका निर्माण करनेकी प्रवृत्ति करते हुए और ईसामसीहके सच्चे अनुयायी ही बननेकी इच्छा रखते हुए भी वह कहते हैं—

'मिथ्या श्रद्धामें फँस न जायँ, इसलिये अपनी बुद्धिके सिवा दूसरे किसीपर, दूसरे किसी मनुष्यपर भी, विश्वास न रखना आवश्यक है'—(३६२)

यह वदतोव्याघात-जैसा तो है ही। पर जब मनुष्यने अनेक ठोकरें खायी होती हैं, तब उसकी ऐसी ही मनोदशा हो जाती है। उसका अनुभव और प्रकोप उपयोगी होता है, पर उसका निरूपण आवेशमय होनेके कारण सम्पूर्णतया युक्त न हो तो आश्चर्यकी कोई बात नहीं।

हम यह भी जानते हैं कि टाल्स्टायसे प्रभावित होनेपर भी गान्धीजी सामुदायिक उपासनापर बहुत ज़ोर देते हैं। महम्मद पैगम्बर भी, मालूम होता है, इसे बहुत महत्त्व देते थे; यद्यपि, जैसा कि मैं समझा हूँ, वह व्यक्तिगत उपासना-को भी अतिशय आवश्यक मानते थे।

इस कारण, हम किसीके मतको प्रमाणभूत न मानकर सामान्य अनुभव और तात्त्विक रीतिसे ही इसका विचार करेंगे।

'जीवन शोधन' के पहले भागवाले 'परमात्माका अनुसन्धान और श्रद्धालु नास्तिकता' शीर्षक प्रकरणमें मैंने इस सम्बन्धकी बहुत कुछ चर्चा की है, उस सबको फिर यहाँ दोहराना नहीं चाहता, पर उस विषयका विस्तार करना चाहता हूँ। उसमें इस विषयके लिये उपयोगी होनेवाली दो बातें मैंने पेश की हैं। वे इसप्रकार हैं—

१—'अनुसन्धान कुछ हदतक एकाकी चिन्तनकी अपेक्षा रखता ही है; एकाकीका अर्थ मनुष्य-समाजसे दूर रहकर नहीं, पर कुछ शान्तिमय स्थानमें कोई खलल न डाले इसप्रकार; और—'

२—'अनुसन्धान कुछ हदतक सत्संगकी भी अपेक्षा रखता है, सत्संग अर्थात् अपनेसे विशेष पवित्र जनों-का सहवास और समान प्रकृतिवाले श्रेयार्थीके साथ अनुसन्धानमें सहकार।'

हकीक़त यह है कि जिसमें परमात्माके साथ अनुसन्धान करनेकी वृत्ति पैदा होती है, उसे उस समय निरुपाधिकता—दूसरे किन्हीं कामों या मनुष्योंका उपद्रव न होना—आवश्यक मालूम होता है। गड़बड़, शोर-बकोर, कामकी या मनुष्योंकी दस्तन्दाज़ी खलल—रुचिकर नहीं हो सकती। इस वृत्तिकी तीव्र स्थितिमें—टाल्स्टायके शब्दोंमें —'उच्चतम आध्यात्मिक मनोदशाके समय'—वह अपनी उपासना एकान्तमें ही करना चाहता है। 'उच्चतम मनोदशा' न हो, तब अधम मनोदशा ही होती है, सो बात नहीं। बड़े-से बड़े भक्तोंको भी, और साधारण मनुष्योंको तो अधिकांशतः, 'उच्चतम मनोदशा' के व्यतिरिक्त मध्यम मनोदशा ही प्राप्त होती है। वैसे समयमें परमात्माका अनुसन्धान न कर सके, तो भी उस स्थितिको पहुँचनेके लिये सोपान-रूप हो, इसप्रकारका स्मरण, तथा भक्ति आदि कोमल भाव और धर्माधर्म एवं तत्त्वविचारकी वृत्ति होती है। इस स्थितिमें वह अपने-जैसी रुचिके दूसरे मनुष्योंका सहयोग ढूँढ़ता है। इसप्रकारका सहयोग खोजनेवाला चाहे जिसको इकट्ठा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना नहीं चाहता। इच्छा या अनिच्छासे चाहे जैसे मनुष्य आवें, इसकी अपेक्षा वह स्वयं अकेला होना पसन्द करता है।

मनुष्योंमेंसे अनेक इस बीचकी स्थितिके होते हैं। अर्थात् न तो इतनी तीव्र वृत्तिवाले ही कि मात्र एकान्तमें ही प्रयत्न कर सकें और न ऐसे ही कि केवल समुदायमें ही ऐसा प्रयत्न करना चाहें; पर कुछ एकान्तमें भी अनुसन्धान करना चाहें, और समान रुचिवाले दूसरे साथियोंके मिलनेपर उनका सहवास भी चाहें। कई तो सामुदायिक स्तवनमें सम्मिलित होते-होते व्यक्तिगत उपासना करने लगे होते हैं। ऐसे मनुष्य जैसे-जैसे अपने प्रयत्नमें बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे वे एकान्त प्रयत्नकी ओर अधिक झुकते जाते हैं, और समुदायमें बैठनेपर धीरे-धीरे स्वयं मध्यबिन्दुकी ओर आते जाते हैं, परिधिपर नहीं रहते। साफ शब्दोंमें वे अपने आसपास मण्डल इकट्ठा करते जाते हैं और अपनी रुचिका चेप दूसरोंको लगाते जाते हैं। ऐसे परिणामके कारण ही इस तरहका सहवास संग कहलाता, और वह अच्छे हेतुसे तथा अच्छी रुचिवाले मनुष्योंका होनेसे सत्संग कहलाता है। टाल्स्टायने पाखण्डखण्डनके आवेशमें भले ही ऐसी भाषाका प्रयोग किया हो, जिससे समुदायमात्रका निषेध हो जाय, पर उन्होंने स्वयं भी सत्पुरुषोंकी संगति ढूँढ़ी थी और उससे लाभ उठाया था; जगत्का अनुभव भी ऐसा ही है। तुलसीदासजीने कहा है-

मुद मंगलमय संत-समाजू। जिमि जग जंगम तीरथराजू॥

और

बिनु सत्संग विवेक न होई।

सत्संग बिना विवेकका—स्तवन-उपासनाके तीसरे अंगका—विकास हो नहीं सकता। इसलिये टाल्स्टायके निषेधको सम्प्रदायों और उनमें पोषण पानेवाली रूढ़ियोंके लिये ही समझना चाहिये।

इसप्रकार समान रुचिवाले मनुष्योंकी परमात्माके साथ अनुसन्धान करनेकी मध्यम वृत्तिमेंसे ऐकान्तिक उपासनाके उपरान्त सामुदायिक उपासना* का निर्माण हो रहता है। उचित प्रकारसे पोषित इसप्रकारकी उपासना कभी ऐकान्तिक उपासनाकी नाशक नहीं होती, बल्कि उस समुदायकी व्यक्तियोंको उस ओर झुकानेवाली होती है। जो सामुदायिक उपासना ऐसा परिणाम न ला सके उसमें दोष होना चाहिये।

सारांश, यदि सामुदायिक स्तवन-उपासनाका स्वरूप ठीक हो तो वह (१) व्यक्तिगत उपासनाकी नाशक नहीं, पोषक होगी; जिनमें व्यक्तिगत उपासनाकी वृत्ति पैदा नहीं हुई है, उनमें उसे निर्माण करेगी।

(२) मनुष्यको अपना श्रेय खोजने और समझनेके लिये सद्ग्रन्थ और सत्पुरुषके परिचयकी जो ज़रूरत होती है, उसे पूरी करनेमें साधनरूप बनेगी।

(३) जिसप्रकार शालाओंमें कराया जानेवाला अपरा-विद्याओंका अभ्यास विद्यार्थीमें यदि उन विद्याओंका व्यक्तिगत अनुशीलन करनेकी वृत्ति पैदा न कर सके तो निष्फल माना जाता है, वैसे ही पराविद्याके सम्बन्धमें स्तवन-उपासनाको समझना चाहिये।

(४) यह सम्भव है कि अमुक मानसिक स्थितिमें मनुष्य व्यक्तिगत उपासना ही करना चाहे; ऐसे परिणामका निकलना इष्ट है; और उस वक्त उसके सामुदायिक उपासनामें सम्मिलित न होनेमें दोष नहीं।

(५) सामुदायिक स्तवन-उपासनामें मिलनेवाले सत्संग-मेंसे गुजरे बिना कोई व्यक्ति आगे बढ़ ही नहीं सकता, ऐसे किसी निरपवाद नियमकी बात तत्त्वतः भले न कही जा सके, तथापि इसके बिना कोई मनुष्य आगे बढ़ा हो, ऐसा नहीं सुना। फिर भी, यदि अपवाद हों तो वैसे व्यक्ति अपना मार्ग स्वयं ही ढूँढ़ लें।† (अपूर्ण)

अनुवादक-काशीनाथ नारायण त्रिवेदी

* या, चाहें तो उलटे ढंगसे कहिये। † गुजराती 'प्रस्थान' से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामचरितमानसमें रामावतारके विभिन्न हेतु और उनका रहस्य

(पूर्वप्रकाशित लेखकी पूर्ति)

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

कल्याणके भाग ५ संख्या ५ में, श्रीरामचरितमानसमें 'रामावतारके विभिन्न हेतु और उनका रहस्य' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, उसमें जो सिद्धान्त निश्चित किया गया है उसके अनुरूप कुछ प्रामाणिक वचन श्रीरामचरित-मानससे, श्रीपूज्यपाद गोस्वामीजीके अन्य काव्योंसे, एवं 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं' के अनुसार श्रुतियों, तथा भागवतादि पुराणोंसे यथामति संग्रह कर पाठकोंके अवलोकनार्थ उद्धृत किये जाते हैं। इनसे विदित हो जायगा कि अवतार अपर या पर, किस ब्रह्मसे होता है, तथा ब्रह्म और अवतारोंमें भेद है या ऐक्य है; राम दो हैं या एक ही हैं, राम पर हैं अथवा अपर; एवं वह श्रीवैकुण्ठनाथ श्रीक्षीराब्धिनाथ व्यापक ब्रह्मके अवतार हैं अथवा साकेतके—तथा श्रीमानसगत 'हरि' शब्दका प्रसङ्गानुसार कहाँपर प्रभुके अर्थमें प्रयोग हुआ है, और कहाँ त्रिदेवस्थ हरिके अर्थमें; इसी प्रकार खरारिका नर अवतार है अथवा वह स्वयं विग्रह हो कहींसे आये हैं। श्रीरामावतार-सम्बन्धकी ये सारी बातें आगेके उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाती हैं।

'जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम।'
'निज आयुध भुजचारी', 'प्रगट भये श्रीकंत।'
'विप्रचरण देखत मन लोभा।'
'व्यापक ब्रह्म निरंजन निरगुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम-भक्तिबस कौसल्याके गोद॥'
'व्यापक अकल अनीह अज निरगुन नाम न रूप।'
'बसै नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर वेष।'
'सगुण ब्रह्म सुन्दर सुत जाके।'
'जे पद सरोज मनोज अरि उर सर-सदैव बिराजहीं।'
'जे परसि मुनि बनिता लही गति रही जो पातक मई।
मकरंद जिनको शंभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई॥'
'सोइ कृपालु केवटहिं निहोरा। जेहि किय जग तिहुँ पगते थोरा॥
(श्रीवामन)
'पय पयोधि तजि अवधि बिहाई। जहँ सिय लखन राम रहे आई॥'
नमामि इन्दरापतिं (लक्ष्मीपति) शचीपति प्रियानुजं (श्रीवामन)
'अस कहि योग अग्नि तनु जारा। राम कृपा वैकुण्ठ सिधारा॥'
'भूप रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप दिखावा॥'
'यद्यपि ब्रह्म अखंड अनन्ता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि सन्ता
अस तव रूप बखानौं जानौं। पुनि पुनि सगुण ब्रह्म रति मानौं॥
'गीध देह तजि धरि हरि-रूपा। भूषण बहु पट पीत अनूपा॥'
'श्याम गात बिसाल भुजचारी। स्तुति करत नयन भरि बारी।'
'जय राम रूप अनूप निर्गुन, सगुन गुन प्रेरक सही।
जेहि स्तुति निरंतर ब्रह्म व्यापक विरज अज कहि गावहीं।
सोइ राम रमानिवास संतत दास बस त्रिभुवन धनी।'
गीध गयो हरि धाम।'
'मोर शाप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥
'मंगलरूप भयो बन तबते। कीन्ह निवास रमापति जबते॥'
'तात राम कहँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥
'हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥
जबहिं त्रिविक्रम भयउ खरारी। तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी
'बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ सो तन बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्ह मैं सात प्रदच्छिन जाइ॥'

उपर्युक्त पदोंको देखकर सारे संशय दूर हो जाते हैं और यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि परात्पर ब्रह्म और श्रीराममें भेद नहीं है, तथा त्रिविक्रम (श्रीवामन भगवान्) और खरारि (श्रीराम) एक ही हैं। श्रीरामही ने वामनरूपसे बलिको बाँधा था। अन्तिम पद तो उस अनन्य भक्त तथा भगवान्के बूढ़े मन्त्री श्रीजाम्बवन्तजीके हैं जिन्होंने निज नयनोंसे भगवान्के दोनों (श्रीराम और श्रीकृष्ण) अवतारोंकी लीलाएँ देखी थी। इन स्पष्ट प्रमाणोंके होते हुए भी द्वैत-बुद्धि रह जाय तो आश्चर्यकी बात होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ब्रह्म अनामय अज भगवंता। व्यापक अजित अनादि अनंता॥
गो द्विज देव धेनु हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनु धारी॥'
'अति बल मधुकैटभ जिन मारे। महाबीर दितिसुत संहारे॥
जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा।सोइ अवतरेउ हरन महिभारा

हिरण्याक्ष भ्राता सहित मधुकैटभ बलवान।
जो मारेउ सो अवतरेउ कृपासिंधु भगवान॥

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त रावणके प्रति उसके मन्त्री श्रीमाल्यवन्तने समझाया है; सारांश यह कि जिन अमित शक्तिवाले प्रभुने मधु दैत्यका वध किया, तथा वाराह रूप धारणकर हिरण्याक्षका वध किया, नरसिंहावतार लेकर हिरण्यकशिपुको मारा, श्रीवामनावतारसे बलिको बाँधा, श्रीपरशुरामावतारसे सहस्रबाहुको मारा, उसी श्रीभगवान् विष्णु, ब्रह्म, अनामय, अज, अनन्त व्यापक ब्रह्मने गो-द्विज-धेनु-देवके हितके लिये मानव-रूपमें अवतार लिया है।

'स्ववश अनन्त एक अविकारी।'

'भुज दंड पीन मनोहरायत उर धरासुरपद लस्यो।'
'अति हर्ष तन मन पुलक लोचन सजल कह पुनि पति रमा।'
'तब अनल भूसुर रूप कर गहि सत्य श्रीश्रुति विदित जो।
जिमि क्षीर सागर इन्दिरा रामहिं समर्पी आनि सो॥'
'तुम सम रूप ब्रह्म अविनाशी। सदा एकरस सहज उदासी॥
अलख अगुन अज अनघ अनामय।अजित अमोघशक्तिकरुणामय॥
मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुख पावा। नाना तन धरि तुमहीं॥'
'अज व्यापकमेकमनादि सदा। छबिधाम नमामि रमासहितं।
सुख मन्दिर सुन्दर श्रीरमनं।' (ब्रह्मास्तुति)

मोहि जानिये निज दास। दे भक्ति रमानिवास॥'
'दे भक्ति रमानिवास त्रासहरन सरन सुखदायकं।'
'सिंहासन अति उच्च मनोहर। श्रीसमेत बैठे प्रभु तापर॥'
'तब रघुनायक श्रीसहित अवधहिं कीन्ह प्रणाम।'
'लिय हृदय लाय कृपानिधान सुजान राम रमापती।'
'राम बाम दिसि सोभित रमा रूप गुण खानि॥'
'श्रीसहित दिनकर-वंश-भूषण काम बहु छवि सोभई।'
'मखनिर्गता मुनि बंदिता त्रैलोक्य पावनि सुरसरी।'

(बामन)

'पदकंज द्वन्द मुकुन्द राम रमेश नित्य भजामहे।'
'जय राम रमारमणं। प्रणमामि निरन्तर श्रीरमणं।'

'हरषि देहु श्रीरंग। जहँ भूप रमानिवास।'
'रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाय।'
'ब्रह्म सच्चिदानन्दघन रघुनायक जहँ भूप।'

'परमात्मा ब्रह्म नर रूपा। होइहैं रघुकुल-भूषण भूपा॥'
'जीव अनेक एक श्रीकन्ता। परबस जीव स्ववश भगवंता॥'

'अगनित भुवन फिरेउ मैं राम न देखा आन।'
गयो गरुड़ बैकुण्ठ तब हृदय राखि रघुवीर।

उपर्युक्त पदोंमें श्रीरमण, रमानिवास, ब्रह्म सच्चिदानन्दघन आदि शब्द श्रीरघुकुल-भूषण भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके लिये आये हैं जो स्पष्ट रूपसे अभेदका बोध करा रहे हैं, तात्पर्य यह कि श्रीरामचन्द्रजी वही ब्रह्म सच्चिदानन्द, रमानिवास हैं, अन्य नहीं; इनमें भेद-बुद्धि करना महाभ्रम है। आगेकी पंक्तियोंमें 'हरि' शब्द श्रीअवतारी हरि पर वैकुण्ठ-निवासीके अर्थमें आया है—

'बुध बरनहिं हरि यश अस जानी।' 'औरौ जे हरि भक्त सुजाना।'
'हरि रघुबंश लीन अवतारा।' 'लगे कहन हरि कथा रसाला।'
'जिनहरि कथा सुनी नहिं काना।' 'हरिमायावश जगत भ्रमाहीं।'

'हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित।'

'हरि अवतार हेतु जेहि होई।' 'द्वारपाल हरिके प्रिय दोऊ।'

'करहु कृपा हरि यश कहउँ पुनि पुनि करौं निहोर।'

'कलप भेद हरि चरित सुहाये।' 'हरि इच्छा भावी बलवाना।'

'सती जरत हरि सन बर माँगा।'
'जिन्ह हरि भक्ति हृदय नहिं आनी।'
'यहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।'
'सुन गिरिजा हरि चरित सुहाये।'
'तासु शाप हरि कीन्ह प्रमाना।'
'सुमिरत हरिहि शाप गति बाधी।'
'नारद विष्णुभक्त पुनि ज्ञानी।'
भयउ रमापति पद अनुरागा।'

'हरि इच्छा बलवान।' 'गावत हरिगुन-गान प्रवीना।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जहँ बस श्रीनिवास श्रुति नाथा ।'
'तब नारद हरि-पद सिरनाई ।'
'श्रीपति निज माया तब प्रेरी ।'
'हरि सन माँगौं सुन्दरताई ।'
'मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ ।'
'समुझी नहिं हरि गिरा निगूढ़ा ।'
'धरिहैं विष्णु मनुज तनु तहियाँ ।'
'समर मरन हरि हाथ तुम्हारा ।'
'पुनि हरिहेतु करन तप लागे ।'
'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी ।'
'हरि व्यापक सर्वत्र समाना ।'
'जा दिन ते हरि गर्भहिं आये ।'
'हरिजननिहिं बहुबिधि समुझाई ।'
'अस प्रभु दीनबन्धु हरि ।'
'तजि योग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ।'
(शबरी)
'हरिजन जाहि प्रीति अति बाढ़ी ।'
'ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा । मिटै न जीवनकेर कलेसा ॥'
'हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या ।'
'हरि माया कृत दोषगुन बिन हरिभजन न जाहिं ।
भजिय राम सब काम तजि अस बिचारि मन माँहि ॥'
'हर कहँ हरि सेवक गुरु कहेउ ।'
'सुनु खगेस हरि-भक्ति बिहाई ।'
'जो हरि कृपा हृदय बसि आई ।'
'अस हरि-भक्ति सुगम सुखदाई ।'
'चंदन तरु हरि संत समीरा ।'
'बिनु हरि कृपा न होइ ।'
'बिनु हरि भजन न भव तरिहि यह सिद्धान्त अपेल ।'

उपर्युक्त अवतरण श्रीरामचरितमानसके हैं, श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके अन्य ग्रन्थोंसे इस विषयके अवतरण आगे दिये जाते हैं—

श्रीरामगीतावली—

'जय जय जय जयति कैटभारे ।' पद (३८)
'हिय हरषाने जाने शेषशयन ।' ,, (४७)
'उर भृगुचरण चिन्ह सुखदायी ।' ,, (१०८)
'भृगुपद चिन्ह पदिक इन शोभित ।' ,, (३०८)
'हृदय पदिक भृगुचरण चिन्हवर
बाहु बिशाल जानु लगि पहुँचति ।'
पद (३०४)
'उर भृगुचरण विराजत द्विज प्रिय चरित अनूप ।'
पद (३१३)

श्रीकवित्तरामायण—

'अपराध अगाध भये जनते अपने उर आनत नाहिन जू ।
गनिका गज गीध अजामिलके गनि पातकपुञ्ज सिराहि न जू ।
लिये बारक नाम सुधाम दिये जेहि धाम महामुनि जाहि न जू ।
तुलसी भजु दीनदयालहि रे रघुनाथ अनाथके दाहिन जू ॥'
'प्रभु सत्य करी प्रह्लाद-गिरा प्रगटे नरकेहरि खम्भ महा ।
झषराज ग्रस्यो गजराज कृपा ततकाल विलम्ब न कीन्ह तहाँ ।
सुर साखी दै राखी है पांडुबधू पट लूटत कोटिन्ह भूप जहाँ ।
तुलसी भजु सोच बिमोचनको जनको प्रन राम न राखे कहाँ ॥'
'नर-नारि उघारि सभा महँ होत दिये पट सोच हरयो मनको ।
प्रह्लाद विषाद निवारण वारण तारण मीत अकारण को ।
जो कहावत दीनदयाल सही जेहि भीर सदा अपने जनको ।
तुलसी तजि आन भरोस भजै भगवान् भलो करिहैं जनको ॥'

श्रीविनयपत्रिका—

'ग्रसतभवव्याल अतित्रास
तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारिपानम् ।'
'चाहत अभय भेक शरणागत खगपतिनाथ बिसारी ।'
'कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम ।
जेहि करुना सुनि स्रवन दीन दुख धावत हौ तजि धाम ॥
नागराज निज बल विचारि हिय हारि चरन चित दीन्ह ।
आरत गिरा सुनत खगपति तजि चलत बिलम्ब न कीन्ह ॥
दितिसुत त्रास त्रसित निशिदिन प्रह्लाद प्रतिज्ञा राखी ।
अतुलित बल मृगराज मनुज तनु दनुज हते स्रुति-साखी ॥
भूप सदसि सब नृप विलोकि प्रभु राखु कह्यौ नर-नारी ।
बसन पूरि अरि दर्प दूरि करि भूरि कृपा दनुजारी ॥
एक एक रिपु तें त्रासित जन तुम राखे रघुवीर ।
अब मोहिं देत दुसह दुख बहु रिपु कस न हरहु भव पीर ॥'
'जो पै हरिजनके औगुन गहते ।
तौ सुरपति कुरुराज बालिसों कत हठि बैर बिसहते ॥
जो जप जाग जोग व्रत वरजित केवल प्रेम न चहते ।
तौ कत सुरमुनिवर विहाइ ब्रजगोप गेह बसि रहते ॥'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ऐसी हरि करत दासपर प्रीति ।
निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यह रीति ॥
जिन बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करमकी डोरि ।
सोइ अवछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरि ॥
जाकी मायावश विरंचि सिव नाचत पार न पायो ।
करतल ताल बजाइ ग्वाल-युवतिन तेहि नाच नचायो ॥
विश्वंभर श्रीपति त्रिभुवनपति बेद बिदित यह लीख ।
बलिसों कछु न चली प्रभुता वरु ह्वै द्विज माँगी भीख ॥
जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुखभार ।
अम्बरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यो दस बार ॥
जोग बिराग ध्यान जप तप करि जो खोजत मुनि ज्ञानी ।
बानर भालु चपल पशु पाँवर नाथ तहाँ रति मानी ॥
लोकपाल यम काल पवन रवि ससि सब आज्ञाकारी ।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेनके द्वार बेंत कर धारी ॥'

'सो धौं को जो नाम लाज ते नहिं राख्यो रघुवीर ।
कारुणीक बिनु कारण ही हरि हरी सकल भव-पीर ॥
बेद विदित जग विदित अजामिल विप्र बन्धु अघधामा ।
घोर यमालय जात निवारयो सुत हित सुमिरत नामा ॥
पशु पाँवर अभिमानसिन्धु गज ग्रसेउ आइ जब ग्राह ।
सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु हरेउ दुसह उर दाह ॥
व्याध निषाद गीध गनिकादिक अगनित अवगुनमूल ।
नाम ओटते राम सबनिकी दूरि करी सब शूल ॥
केहि आचरण घाटि हौं, तिन्हते रघुकुलभूषण भूष ।
सीदत तुलसिदास निसि बासर परयो भीम तम कूप ॥'

'एकै दानि सिरोमनि साँचे ।
हरिहु और अवतार आपने राखी वेद बड़ाई ।
लै चिउरा निधि दई सुदामहि यद्यपि बाल मिताई ॥
कपि शबरी सुग्रीव विभीषण को नहिं कियो अयाची ।
अब तुलसिहिं दुख देति कृपानिधि दारुण आस पिसाची ॥'

'जाके प्रिय न राम बैदेही ।
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण बन्धु भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रज बनितन भये जग मंगलकारी ॥'

'मैं तोहिं अब जान्यो संसार ।
सुनु खल छल बल कोटि किये वश होइ न भक्त उदार ॥
सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नन्दकुमार ॥'

'ऐसी कौन प्रभुकी रीति ।
विरुद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ।
गई मारन पूतना कुच काल कूट लगाइ ।
मातुकी गति दई ताहि कृपालु जादवराइ ॥
काम मोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्हि ।
जगत पिता बिरञ्चि जिन्हके चरनकी रज लीन्हि ॥

× × ×

कौन तिन्हकी कहै जिनके सुकृत अरु अघ दोउ ।
प्रगट पातक रूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥'

'जो पै दूसरो कोउ होइ ।
तो हौं बारहिं बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ ।
काहि ममता दीन पर काको पतित पावन नामु ॥
पापमूल अजामिलहिं केहि दियो अपने धामु ॥
रहे संभु विरंचि सुरपति लोकपाल अनेक ।
सोकसरि बूड़त करीसहिं दई काहु न टेक ॥
विपुल भूपति सदसि महँ नर-नारि कह्यौ प्रभु पाहि ।
सकल समरथ रहे काहु न बसन दीन्हे ताहि ॥
एक मुख किमि कहौं करुणासिन्धुके गुणगाथ ।
भगत हित धरि देह काह न कियो कौसलनाथ ॥'

'कबहुँ देखाइहौ हरिचरन ।
गंग-जनक अनंग अरि प्रिय कपट्ट बटु बलि छरन ।
विप्रतिय नृग बधिकके दुख दोष दारुन हरन ॥
कृपासिन्धु सुजान रघुबर प्रनत आरति हरन ।
दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन ॥'

'सिला गुह गीध कपि भील भालु रातिचर
ख्याल ही कृपालु कीन्हे तारन तरन ।
पील उद्धरन सीलसिन्धु ढील देखियत
तुलसी पै चाहत गलानि ह्वै गरन ॥

नारायणोपनिषद् (श्रुति)—

'अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावर्णनानि ज्वलन्ति। चतुर्मुख पंचमुखषड्मुखसप्तमुखाष्टमुखादि संख्याक्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशैः, रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वराख्यैर्नारायणांशैः, सत्त्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकर्तृभिरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुदबुदानन्तसंघवद् भ्रमन्ति ।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'एकस्मिन्नविद्यापादेऽनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावर्णानि भूयन्ते । तस्मिन्नेकस्मिन्नण्डे बहवो लोकाश्च बहवो वैकुण्ठाश्चानन्तविभूतयश्च सन्त्येव ।'

'संख्या चेद् रजसामपि विश्वानां न कदाचन ।'

लिंगपुराणे—

कोटिकोट्ययुतानीशे चाण्डानि कथितानि तु ।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्मणो हरयो भवा ॥
असंख्याश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः ।
हरयश्च असंख्याता एक एव महेश्वरः ॥

श्रीमद्भागवते एकादशस्कन्धे—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः ॥
यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्त्ता ॥
आदावभूच्छतधृती रजसाऽस्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्यः
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रयासुः ॥

तृतीयस्कन्धे—

यो वा अहं च गिरिश्च विभुः स्वयं च
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आदि मूलम् ।
भित्वा त्रिपादवपृधेक उरप्ररोह-
स्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥

श्रीअध्यात्मरामायणे—

एष रामः परो विष्णुरादिनारायणः स्मृतः ।
एषा सा जानकी लक्ष्मी योगमायेति विश्रुताः ॥
असौ शेषस्तमन्वेति लक्ष्मणाख्यश्च सांप्रतम् ।
एष मायागुणैर्युक्तस्तत्तदाकारवानिव ॥
एष एव रजोयुक्तो ब्रह्माभूद्विश्वभावनः ।
सत्वविष्टस्तथा विष्णुस्त्रिजगत् प्रतिपालकः ॥
एष रुद्रस्तामसोऽन्ते जगत्प्रलयकारणम् ।
एष मत्स्यः पुरा भूत्वा भक्तं वैवस्वतं मनुम् ॥
नाव्यारोप्य लयस्यान्तं पालयामास राघवः ।
समुद्रमथने पूर्वं मंदरे सुतलं गते ॥
अधारयत्स्वपृष्ठेऽद्रिं कूर्मरूपी रघूत्तमः ।
मही रसातलं जाता प्रलये सूकरोऽभवत् ॥
तोलयामास दंष्ट्राग्रे तां क्षोणीं रघुनन्दनः ।
नारसिंहं वपुः कृत्वा प्रह्लादवरदः पुरा ॥
त्रिलोककण्टकं रक्षः पारयामास तन्नखैः ।
पुत्रराज्यं हृतं दृष्ट्वा ह्यदित्यायाचितः पुरा ॥
वामनत्वमुपागम्य याचया चाहरत्पुनः ।
दुष्टक्षत्रिय भूभार निवृत्यैर्भार्गवोऽभवत् ॥
स एष जगतां नाथ इदानीं रामतां गतः ।
रावणादीनि रक्षांसि कोटिशान हनिष्यति ॥

श्रीहरिवंशपुराणे भविष्यपर्वे—

विष्णुर्विष्णुत्वमापन्नो देहान्तर विसृष्टवान् ।
संरक्षति महायोगी सर्वांस्तान्सहचारिणः ॥

यहाँतक तो श्रीरामका परब्रह्म सच्चिदानन्दघन क्षीराब्धिशायी विष्णुके साथ अभेद दिखलाया गया। अब आगेकी पंक्तियोंमें श्रीरामचरितमानसमें हरि 'शब्द' त्रिदेवगत हरिके लिये कहाँ-कहाँ प्रयुक्त हुआ है सो उद्धृत किया जाता है—

'बिधि हरिहर कवि कोविद बानी।' 'बिधि हरिहर मय बेद प्रान सो'
'देखे शिव बिधि बिष्णु अनेका।' 'बिष्णु बिरंचि महेश बिहाई॥'
'तप बल बिष्णु सकल जग त्राता। तप बल रचे प्रपंच बिधाता॥'
'सब सुर बिष्णु बिरंचि समेता।' 'बिष्णु बिरंचि आदि सुरत्राता॥'
'बिष्णु बिरंचि देव सब जाती।' शंभु बिरंचि बिष्णु भगवाना।'
'बिधि हरिहर तप देखि अपारा।' बिधि हरिहर बन्दित पदरेनू।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तप बल विष्णु भये परि त्राता।' 'तपबल ते जग सृजै बिधाता ॥'
'विष्णु चारिमुख विधि मुखचारी।' 'विधिहरिहरदिशिपति दिनराऊ'
'विधि हरि शंभु नचावन हारे।' 'विधि हरिहर सुरपति दिशिनाथा।'
'भरतहिं होइ न राज मद विधि हरिहर पद पाइ।'
'जहँ न जाइ मन विधिहरिहरको।' 'विधिहरिहर शशि रविदिशिपाला'
'विधि हरिहर माया बड़ि भारी।' 'जाके बल विरंचि हरि ईसा॥'
'शंकर सहस विष्णु अज तोही।'
'राम विरोध न उबरेसि सरन विष्णु अज ईश।'
'भिन्न विष्णु शिव मनु दिश त्राता।'
'विष्णु कोटि सम पालन करता। रुद्र कोटि शत सम संहरता॥'

यही इस मानस ग्रन्थका मुख्य मर्म है कि जहाँ कहीं ब्रह्माण्डनायक हरि वा विष्णुका प्रयोग हुआ है, जो स्वयं परवासुदेव श्रीमन्नारायणके अंश हैं, वहाँ उन्हें कहीं अकेले न कह कर ब्रह्मा-विष्णुके साथ ही रक्खा गया है। ऐसे स्थलोंपर इस बातका विचार नहीं रखनेसे परस्वरूप हरि या विष्णुको त्रिदेवगत हरि वा विष्णुके अर्थमें मान लेनेसे भ्रममें पड़नेकी पूरी सम्भावना रहती है। इसीलिये दोनों प्रकारके उद्धरणोंको दिखलाकर इस विषयको स्पष्ट कर दिया गया है। विनयपत्रिकाके पद (५७) में तो स्पष्ट तीन त्रिदेवको क्षीराब्धिवासीसे पृथक् गौणरूपमें वर्णन करके उपर्युक्त सिद्धान्तको और भी साफ कर दिया गया है।

'यत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अज शर्व हरि सहित गच्छन्ति क्षीराब्धिवासी'

हे जगदीश !

(कोरस-गान)

परम-पिता प्रभुवर, परमेश्वर, संकट सर्व हरो,
शान्ति-सदन, आनन्द-प्रेम-घन, सुखकी वृष्टि करो।
संकट सर्व हरो।

(१)

दीनोंके नाथ, तुम्हीं हो,
सुख-दुखमें साथ, तुम्हीं हो।
कीर्ति तुम्हारी, हे सुखकारी,
भक्ति-विहारी, हे जगदीश!
हे जगदीश! हे जगदीश!!
भूमि-भार हर, धर्म-ध्वजा धर, शक्ति सहित बिचरो।
संकट सर्व हरो। परम०।

(२)

है भारत प्रभुका प्यारा,
क्यों इसका ध्यान बिसारा?
याद दिलाते, झुक-झुक जाते—
सुख पाते, चरणोंमें शीश।
हे जगदीश! हे जगदीश!!
तरस रहे 'रसिकेन्द्र' दरसको फिर अवतार धरो,
संकट सर्व हरो।
परम-पिता प्रभुवर परमेश्वर, संकट सर्वहरो। शान्ति०।

रसिकेन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी युगलानन्यशरणजीका वचनामृत

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

८४–जीवोंपर प्रभु निरहेतु दयाल हैं। मातासे अधिक। ताते जो कोई पापी दीख पड़े, तिसपर ग्लानि न करे। जाने, कि महाराज, पतितपावन हैं। को जाने सुकृतिनसे पहिले उसको ही तारि देवें?

८५–पिता पुत्र दोनों नहाने चले, तब राहमें बैलोंको रहँट साथ चलते देखि, पुत्र पूछता भया, 'हे पिताजी! यह बरद बिश्राम करने बैठि क्यों नहीं जाते? दिनभर फिरा करते हैं?' तब पिताने कहा, 'पुत्र! बरद तो बहुत चाहते हैं बिश्राम! परन्तु परवश हैं। मालिकके हुकुम बिना नहीं बैठ सकते। ऐसे ही सकल जीव प्रभु-पराधीन हैं। अपने मनके अनुकूल कुछ कर नहीं सकते, नथे हुए हैं, ताते सन्तजन सदा सीतल रहते हैं. हुकुम बिचारिके जैसी जिसकी बूझ है तैसी तिसकी दशा है। जैसे बालककी तुच्छ बूझ है, तैसे ही उसकी दशा नीच है। थोरी बातपर रोवता है। सन्तोंकी बूझ बड़ी है, तैसे ही दशा भी ऊँची है। संसारी पदार्थ आये गये, सम-मति आनन्दमय रहते हैं। उनके संगियोंकी भी ऊँची अवस्था होती है। जैसे चन्दन-वृक्ष-सम्बन्धसे सब वन चन्दनसम हो जाता है। सन्तोंकी संगति फलदायक तब ही होती है, जब युक्तिसमेत होय। प्रभुका संकेत ऐसे ही है। ज्यों-ज्यों सन्तोंकी संगति करेगा, त्यों-त्यों संसारसे उपराम होता ही जायगा। स्थूल ब्रह्मलोकतक त्यागिके, सूक्ष्म चैतन्यघनको प्राप्त होगा। याही रीतिसे सन्तोंको परमपद-प्राप्ति होती है।

८६–सन्तोंके बचनका माहात्म्य सोई जानता है जो प्रभु प्राप्तिकी इच्छा राखता है। दूसरा मनुष्य जानि नहीं सका। सन्तोंके स्वरूपपर दो दृष्टान्त है—

जिसको रोग दूरि करनेकी इच्छा नहीं, सो वैद्यसों प्रीति काहेको करेगा? या उसके पास क्योंकर जावेगा? दूसरा, व्यभिचारिणी नारी पतिव्रतासे स्नेह काहेको करेगी? तैसे ही प्रभु विमुख जीव सन्तोंसे स्नेह क्यों करेंगे?

८७–प्रभु परेशकी सेवा बिना अन्य त्रिगुणमय देवतोंसे मोक्ष न होगा, जैसे रात्रीका अन्धकार दीपकसे दूरि न होगा, जैसे सपनेमें सीखी विद्या प्राप्ति न होगी, माटीके धेनु दुहे दूध न मिलेगा, ऐसे ही प्रभु-भजन बिना मोक्ष न होगा कबहूँ!

८८–किसी जिज्ञासूने एक सन्तके पास जाकर चौरासी लक्ष योनिका कष्ट पूछा। तब उस सन्तजीने उनको आगे बैठाकर, अपना शरीर त्याग दिया। तब उसने समझा कि ओह महादुःख है।

८९–जो मनुष्य परमेश्वरका सम्बन्ध मानिके सब जीवोंसे सब प्रकार प्रेम करते हैं। तिनपर प्रभु प्रसन्न होता है। ताते सबसे स्नेह करे।

९०–मनरूपी चन्द्रमा है। बुरे स्वभाव राहु-केतु हैं। बिना बुरे स्वभावरूपी राहु-केतुके छूटे, मनरूपी चन्द्रमापर ज्ञानरूप प्रकाश सदा न रहेगा।

९१–एक शिष्य श्रीगुरुजीके समीप हाथ जोरिके खड़ा रहा! तब आज्ञा भई, क्या चाहता है? शिष्यने कहा, महाराज! शान्तिदान माँगता हूँ। श्रीगुरुजी बोले कि 'तू तो गुरुकी गादी लेना चाहता है।' शिष्य बोला 'हे गुरो! मुझे गादीकी चाह नहीं, शान्ति मिले' श्रीगुरु बोले 'हे शिष्य! तन, मन, धन, अर्पण करिके जब सेवा करेगा तब शान्ति प्राप्ति होयगी! बिना सेवा किये अबतक किसीको प्राप्ति नहीं भई, न होयगी। ताते सेवासे सब सुख होगा बातोंसे नहीं।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९२-सब मनुष्योंमें प्रभु-भजन करनेवाला श्रेष्ठ है। जैसे देवतोंमें विष्णु, गिरियोंमें सुमेरु, नदियोंमें समुद्र श्रेष्ठ है।

९३-स्वप्नकी सृष्टि स्वप्नमें सत्य भासती है। जाग्रतमें नहीं। ऐसे ही अनन्त ब्रह्माण्ड दृष्टि पड़ें तौ भी कुछ है नहीं, सपने सम समझना—केवल ब्रह्मसत्ता ही सत्य विचारना।

९४-किसी गृहस्थने सन्तकी सेवा बहुत की। एक रोज सन्त प्रसन्न होयके बोले, 'बच्चा तेरी सेवासे मैं प्रसन्न होय तुझे यह मन्त्र बताय देता हूँ। तू दृढ़तासे मनमें धारन करिले। तू यह निश्चय जान, कि मेरा सहायक प्रभु बिना कोई नहीं है। बस यही मन्त्र है।' तब वह बोला 'महाराज! मेरे परिवार बड़ा स्नेही और सहायक है। ताते कृपा करिके इस जगत सम्बन्धियोंकी झुठाई आँखोंसे दिखाय दीजिये तब दृढ़ प्रतीति होय। बातोंके कहे मन न मानेगा!' सन्तजीने कहा अच्छा, तू प्रत्यक्ष देखिले, तब प्रतीति करना। जो तेरेको बहुत प्यार करता होय तिसके साथ परीक्षा करिके देखिले, उसने कहा 'स्त्री हमसे बहुत प्यार करती है और मैं सब परिवारसे अलग हूँ।' सन्तजीने कहा। 'पाँच सात दिन तू रोगी बन जा, खाना पीना कम करदे। फिर एक दिन आँख बन्द करिके स्वासा बन्द करि लेना, थोरे देरके लिये, स्त्रीके बोलाये बोलना नहीं, मृतक सम हो जाना—भीतरसे सचेत रहना तब तुमको स्त्रीकी रीति प्रीति जानि पड़ेगी?' उसने घर जाय वही आचरण किया—जब स्त्री बोलायके हार गई, तब मुरदा जानिके विचारने लगी, बोली कि 'अब तो यह मर गया, हमको पांच सात दिन रोटी न मिलेगी—ताते पुष्ट पकवान खाइ लेऔं, और मोटे वस्त्र पहिन लेवों। जिस्में जमीनमें लोटनेसे अच्छी धोती मलीन न हो जाय' ऐसा कहि भीतर जाय पुष्ट पकवान पेटभर खाय लई और मलीन वस्त्र पहिन लई। बाहरकी सब वस्तु कोठरीमें बन्द करि ताला लगाय तब सास ससुरके पास रोती हुई गई। पतिके मरनेका हाल कहा। तब सब सम्बन्धी रोते हुऐ दौड़े। जब उनके पास गये, तब वह आदमी सचेत होय बैठ गये, कुछ एक दो घण्टेके बाद सन्तके पास गया। सब हाल कह दिया। सन्तजी बोले, 'क्यों बच्चा! अब तुमको निश्चय भया?' उसने कहा, 'भलीभाँतिसे' तब महात्माजीने उसको श्रीवैष्णव संस्कार करि मन्त्र दे भलीभाँति शिक्षा करि घर जानेको कहा। वह रहता तो घरमें भया-परन्तु अपना परम स्नेही परमात्मा तथा महात्माजीको मानता भया। अपना सर्वस्व प्रभुपर नौछावर करता भया। सन्तोंके संगतिका प्रताप सदा मनन करता भया।

९५-अपर वृक्षमें छः मासमें फल लगता है। मनरूपी वृक्षमें संकल्प फूल तथा कर्म फल उसी क्षणमें लगता है ताते संकल्प रोके, मन साथ समर करे, प्रभु-प्रतिकूल कर्म तथा सम्बन्ध त्यागना उचित है।

९६-जिन जिन पुरुषोंने प्रभु भजनरूप पुरुषार्थ किया है। तिनका सुयश सदा सब लोकोंमें छाय रहा है। प्रसिद्ध श्रीप्रहलाद, श्रीध्रुव, श्रीशुकदेवजी तथा अनन्त सन्तोंकी कीरति छाय रही है। भजनरूप पुरुषार्थहीन चौरासी लक्ष योनियोंमें नाचते फिरते हैं। सस्यादिक शरीर पायके बाजारमें नाचते फिरते हैं। मत्स्यादिक शरीर पायके बाजारमें बिकते हैं। लोग उनके तनको भक्षण करते हैं। महादुःख पावते हैं। ताते आलस त्यागिके प्रभु-भजन-रूप पुरुषार्थ करो।

९७-एक गाय राहमें चली जाती रही। उसको गदहेने कहा 'वृथा जाती है। आओ, यह खेत महा पुष्ट अन्नका है हम तुम दोनों चरें।' यह बात सुनिके गाय चरने लगी, उसी समय खेतवाला आया. गऊको पकड़ लिया, गदहा भाग गया। गऊको पकड़के एकान्तमें उसने बाँधा जिसमें उसका मालिक न देखे गऊ बहुत दुःखित भई भूख प्याससे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब एक दो रोजके बाद गायवाला मालिक छुड़ाके लेगया-घरमें दृढ़ बन्धन साथ बाँधा। जिस्में रात्री-में तोड़कर किसी खेतमें न जाय-जब दिनको चरनेको जावे, तब बली बैलके साथ बाँधिके भेजे। जिसमें छूटे नहीं। गऊ बैलके साथ खाने पीने न पावे. बहुत दुखी भई. तब प्रभुसे अरज किया। 'हे प्रभो! हमने, कुसंगी खरका एक शब्द सुना! तिसका फल इतना दुःख भोगती हूँ। जो दिन रात कुसंग करते हैं. तिनकी कौन गति होयगी!' गऊकी पुकार प्रभु सुनिके उसका दुःख दूरि करि दिया।

९८-मायारूपी बन्दीखाना है। तिसमें प्रभु-बिमुखनको कैद करि राखा है। कैदीके पाँवमें बेड़ी होती हैं। सो गृहधन्धा बेड़ी, आशा मोहादिक तौक है। कैदी तमासा देखने नहीं पाते, संसारी मनुष्य सत्संगसे विमुख हैं। कैदोको सीतल पवन, सुन्दर भोजन नहीं मिलता। संसारियोंको प्रभु-प्रिय-वार्ता पवन, शान्ती समाधी दिव्य भोजन नहीं मिलता। तात्पर्य. उस मोदसे विमुख हैं।

९९-किसी सन्तने एक साधुसे पूछा—'कहो दयालजी सन्तोंका क्या रहस्य है।' साधुने कहा 'सन्त सत्यलोकके निवासी हैं। उसही ठौरसे आयके प्रभु-प्रेमरूप बेगमपुरमें रहते हैं। सन्तोष महल बनायके, विवेकी पुरुष परिवार हैं। शान्ति नारी है। तिससे मिलिके केलि करते। गुण शुभ सम्पति है, प्रभु यश कथन व्योहार है। श्रीप्रभु उनका रक्षक कामकारी हैं। यही सब सन्तोंका रीति रहस्य है।

१००-एक सन्त सावधान होयके प्रभुसे अरज करता था 'हे पूरण कृपालजी! आपने हमको बहुत सोभनीक वेष भरि दीना तथा मनुष्य तनु दीना है। इन्द्री-मति दीनी हैं। अपनी प्रीतिकी रीति सन्तोंके द्वारा श्रवण कराये हैं। सब वस्तु आपने अमोलक दिये हैं। सो इस खेपका फल आपका दर्शन है। मायाका फल माया है। हे दीनदयाल! इस खेपके ऊपर कामादिक तस्कर भीतर रहनेवाले लूटा चाहते हैं। तिस्का रक्षा आप कीजिये। जिस्में मेरी खेप नष्ट न होय। मायाकी खेप जो तस्कर हैं, सो चोरावते हैं। तिस्में साहु अरु व्यापारी दोनों दुखी होते हैं। इसमें हमारे ही हानि है। आपसे विमुख होयके नाना कुयोनी भोगना पड़ेगा'। ताते हे दीनबन्धु! मन मायासे हमारे खेपकी रक्षा करो, जिस्में हम आपको प्राप्त होयँ।

१०१-जितने विषय-भोग-विलास प्रभुने रचे हैं। तिसकरिके भक्त अभक्तकी परीक्षा हो जाती है। जो मनुष्य विवेक भजनके द्वारे, विवेक विगत विषय-बन्धनसे बचि गया, सो प्रभु-प्रीतम भया है। जो फँसि गया, सो नरकमें पड़ा, सोई अभक्त है।

जगतारण !

दीनबन्धु ! नारायण ! प्यारे ! सकल सृष्टिके स्वामी !
दीनानाथ ! दयालु ! प्रभो ! तुम ही हो अन्तर्यामी ॥
हे नटनागर ! हे मधुसूदन ! हे श्रीकुंजविहारी !
विनय सुनो इस अधम दासकी, हे श्रीगिरवरधारी !
ईश ! चरणकमलोंमें अपने इस सेवकको वारो !
भवसागरकी तीव्र तरंगोंमें जगतारण ! तारो ॥

अवन्तविहारी माथुर 'अवन्त'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी राम

(लेखक-श्रीरामरलजी अवस्थी)

मानव-जातिका इतिहास इस बातका साक्षी है कि जिस-प्रकार आधिभौतिक उन्नतिके लिये यूरोप आज अग्रगण्य हो रहा है, उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नतिके लिये एसिया और प्रधानतः भारतवर्ष सदैव विख्यात रहा है। यह बात भारतीय इतिहाससे ही नहीं, किन्तु संसारके अन्य देशोंके इतिहाससे भी सिद्ध है। समय-समयपर ऐसे अनेक विद्वान्, महात्मा और योगीजन इस भूमि-पर जन्म लेते रहते हैं जो अपनी अलौकिक प्रतिभा-के प्रभावसे जन-समाजके सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विचारोंमें हलचल पैदा कर देते हैं।

वैसे तो भारतवर्ष साधु संन्यासियोंके लिये एक खानके सदृश है--देशमें साधुओंकी कमी नहीं। किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसे सच्चे साधु-संन्यासियोंकी आज बहुत कमी हो गयी है,--जिनके जीवनका एकमात्र व्रत परमात्माको प्राप्त करना हो।

हमारे चरित्रनायक स्वामी रामतीर्थ परमात्माकी प्राप्तिके लिये अटलव्रती उच्चकोटिके उन साधुओंमेंसे एक थे, जिन्होंने अपनी प्रतिभाके बलपर थोड़े ही समयमें संसारभरमें जागृति उत्पन्न कर दी थी। ये उन महात्माओंमेंसे थे, जिन्होंने अपनी अमृत-वाणीद्वारा समस्त संसारको गम्भीर आध्यात्मिक प्रकाशसे चौंधिया दिया था! जिनका उद्देश्य था सारी अनेकताओंको एकतामें परिणत करके मत-मतान्तर-सम्बन्धी द्वेषभावका नाश कर दिव्य विशुद्ध प्रेमका प्रसार करना।

इस महापुरुषका जन्म पञ्जाबकी उस वीर भूमि-पर हुआ था, जहाँके पुरुष धर्मवीर, रणवीर, कर्मवीर और उद्योगवीरके नामसे आज भी इतिहासको उज्ज्वल कर रहे हैं। वहाँके गुजरानवाला प्रान्तके 'मराली' नामक गाँवमें गोस्वामी हीरानन्दजी नामक ब्राह्मण रहते थे। इन्हींकी परम सुशीला धर्मपत्नीके गर्भसे स्वामी रामका जन्म संवत् १९३० में दिवालीके दूसरे दिन हुआ था।

माताके मर जानेपर इनकी बुआने इनका पालन-पोषण किया था। बालक रामके बचपनका नाम 'तीर्थराम' था। उस समय कौन जानता था कि एक दिन यह बालक तीर्थराम, स्वामी रामतीर्थके नामसे अपनी बुद्धि और प्रतिभाद्वारा समस्त संसारको चकित और स्तम्भित कर देगा।

बालक तीर्थरामको अपनी माताके दुग्धपानका अवसर नहीं मिला था, इसलिये वह बचपनमें बहुत दुर्बल रहते थे। उनमें शारीरिक शक्ति बहुत ही थोड़ी थी। किन्तु इसकी परवा न कर वह पढ़ने-लिखनेमें खूब ही दत्तचित्त रहते थे! अपने गाँव 'मरालीवाला' में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करनेके बाद वे गुजरानवालामें आकर विद्याभ्यास करने लगे।

विद्यार्थी-जीवनमें तीर्थरामजी, अपने विशेष परिश्रम और विलक्षण प्रतिभासे अध्यापकोंको सदा प्रसन्न रखते थे। इनकी स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। ये प्रत्येक विषयका बहुत सोच-समझकर उत्तर देते थे। पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें इन्होंने पञ्जाब यूनिवर्सिटीसे एण्ट्रेंसकी परीक्षा पास की।

कहा जाता है कि इनके पिताकी इच्छा और अधिक पढ़ानेकी न थी, इसलिये तीर्थरामको उन्होंने नौकरीके लिये कहा, किन्तु इन्होंने नौकरी करना उचित न समझा और अपना अध्ययन जारी रखनेके लिये पितासे हठ किया। इस बातसे पिताने रुष्ट होकर इनको घरसे निकाल दिया। पर ये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने संकल्पसे तिलमात्र भी न डिगे और किसी प्रकार कालेजमें भर्ती हो गये। यह बात इनके पिता-को बहुत बुरी लगी, इससे उन्होंने इनकी धर्मपत्नीको भी इनके पास भेज दिया। किन्तु तीर्थराम अपने कर्तव्यपथसे विचलित न हुए और इन्होंने छात्र-वृत्ति तथा एक-दो ट्यूशनद्वारा जीविका-निर्वाह करते हुए अपने अध्ययनको जारी रक्खा।

इस विपत्ति-कालमें इनको धन्ना भगत नामक एक सज्जनसे बहुत सहायता मिली। धन्ना भगत किसी आधुनिक विश्वविद्यालयके उपाधिधारी पढ़े-लिखे पुरुष नहीं थे। वह एक सरलहृदयके सच्चे उपदेशक थे। उनकी वक्तृता वर्तमान-कालकी भाँति किसी समाचार-पत्रमें नहीं छपती थी, परन्तु आस-पास उनके उपदेशोंका बड़ा प्रभाव था। लोग उनके उपदेशोंको बड़े चाव तथा श्रद्धाके साथ सुनते थे।

एक दिन धन्ना भगत सत्संगमें वेदान्त-सम्बन्धी उपदेश दे रहे थे। उस समय विद्यार्थी तीर्थराम भी वहाँ उपस्थित थे। वहींपर दोनों सज्जनोंका परिचय हुआ और परस्पर दोनों एक दूसरेके परम प्रेमी हो गये।

पढ़ाईके पश्चात् तीर्थरामको जो समय मिलता, वे उसे भगतजीके सत्संगमें व्यतीत करते। भगतजी-के सदुपदेशोंका प्रभाव इनके कोमल हृदयपर बहुत ही विलक्षण पड़ा। भगतजी वेदान्ती थे। उन्होंने विद्यार्थी तीर्थरामको भी वेदान्तकी ही शिक्षा दी। सचमुच धन्ना भगतके ही उपदेशोंद्वारा तीर्थरामके वैराग्यका मार्ग खुला। यदि छात्रावस्थामें कुशाग्रबुद्धि तीर्थरामजीकी धन्नाभगतसे भेंट न होती तो पता नहीं, उनका जीवन-स्रोत किस ओर-को जाता।

कुछ दिनों बाद तीर्थराम लाहौरके 'फोरमैन-क्रिश्चियन' कालेजमें पढ़नेको चले गये। इस कालेजमें सब तरहके विद्यार्थी पढ़ते थे। फैशनकी प्रतियोगिता हुआ करती थी। किन्तु इन सब बातोंका प्रभाव हमारे चरित्रनायकपर जरा भी न पड़ा। ये दूसरे विद्यार्थियोंकी तरह कभी फैशनके शिकार न हुए। तीर्थरामजी सदैव बहुत ही सादे वेश-भूषामें रहते थे। इनको सिवा कालेजकी पढ़ाई और आध्यात्मिक चिन्तनके दूसरी कोई बात सूझती ही नहीं थी। अपनी विलक्षण बुद्धिद्वारा इन्होंने 'फोरमैन-कालेज' से बी० ए० की परीक्षा पास कर ली और पञ्जाब-विश्वविद्यालयमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। इसके दो ही वर्ष बाद आपने एम० ए० की परीक्षा भी पास कर ली। उस समय इनकी अवस्था २१ वर्षसे अधिक न थी। यहाँपर भी इनके गुरु धन्ना भगत इनसे बहुत मिलने आते और इन्हें यथोचित उपदेश दिया करते थे। धन्ना भगतके उपदेशोंमें बड़ी भारी शक्ति थी, वस्तुतः उसीके प्रतापसे हमारे तीर्थरामजी थोड़े ही समयके पश्चात् स्वामी रामतीर्थ हो सके और अपने तर्क-वितर्कद्वारा देश-देशान्तरोंको चकित कर दिया।

विद्यार्थी-जीवनमें ये अपने गुरु भगतजीको समय-समयपर जो चिट्ठियाँ लिखते थे, उनसे इनकी स्थितिका पूरा पता लग जाता है। एक पत्रमें ये अपनी दिनचर्या और अध्ययनके बारेमें लिखते हैं—

'मैं आजकल प्रातःकाल ५ बजे सोकर उठता हूँ और दो घण्टे लगातार पढ़ता रहता हूँ। फिर शौच इत्यादिसे निवृत्त हो तथा स्नानकर व्यायाम करता हूँ, उसके बाद पण्डितजीकी ओर जाता हूँ। मार्गमें पढ़ता रहता हूँ और घण्टेभरमें ही भोजनादिसे निवृत्त हो, पण्डितजीके साथ गाड़ीमें बैठकर, कालेज चला जाता हूँ। कालेजसे लौटकर कुछ जलपान करता हूँ, फिर नदीकी ओर घूमने निकल जाता हूँ। वहाँ आध घण्टे घूमनेके पश्चात् घर लौट आता हूँ और फिर छतपर चहलकदमी किया करता हूँ! किन्तु यह स्मरण रहे कि मेरा घूमना व्यर्थ नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता । मैं उसका भी सदुपयोग करता हूँ और चलते-फिरते बराबर पढ़ता रहता हूँ । शामको फिर कसरत करता और सात बजेतक लैम्प जलाकर पढ़ता हूँ ! इसके पश्चात् भोजन करता हूँ और कुछ समय ईश्वर-चिन्तन करनेके बाद फिर साढ़े दस बजेतक पढ़ता हूँ !'

इसप्रकार हमारे राम अपना साधारण जीवन व्यतीत करते हुए विद्याध्ययनमें संलग्न रहते थे। इनकी स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। ये जिस बातको एक बार पढ़ अथवा सुन लेते थे उसको कभी नहीं भूलते थे !

इन्हें गणितसे विशेष अनुराग था। चाहे जैसा कठिन-से-कठिन गणित-सम्बन्धी प्रश्न इनके सामने क्यों न आ जाय, ये कभी भी उससे घबराते न थे और धैर्यके साथ उसे हल कर लेते थे। कहा जाता है कि छात्रावस्थामें रामको एक बारसे दूसरी बार सवाल हल करनेका कभी भी अवसर न मिला। एक ही बार सवाल लगानेसे वह ठीक हो जाता था ! वर्तमानकालकी गणितकी प्रश्नावलियाँ ये मिनटोंमें खतम कर देते थे ! इन्हें सवालोंको हल करनेका इतना अभ्यास हो गया था कि पूरी गणितकी पुस्तकको ये एक दिनमें खतम कर सकते थे !

एम० ए० पास करनेके पश्चात् ही आप स्यालकोट-मिशन-कालेजमें प्रोफ़ेसर हो गये थे। परन्तु वहाँ थोड़े ही समय रह सके, क्योंकि वहाँका वायुमण्डल आपकी मनोवृत्तिके अनुकूल न था ! इसके पश्चात् आप लाहौरके फोरमैन-क्रिश्चियन कालेजमें दो वर्षतक गणितके प्रोफेसर रहे।

वैसे तो स्वामी रामतीर्थजीकी विद्यार्थी-जीवनसे ही संसारसे विरक्ति और परमात्मामें अनुरक्ति हो गयी थी, किन्तु अध्यापन-कालमें तो आपकी मनोवृत्ति इस असार संसारसे बिल्कुल ही पलट गयी । विद्यार्थी-जीवनमें आपने अपने

गुरु धन्ना भगतजीके पास एक पत्र भेजा था, वह अत्यन्त ही मनोरञ्जक और साथ-ही-साथ हृदय-ग्राही था। गुरु धन्ना भगतको 'महाराजाजी' शब्दसे सम्बोधन करते हुए आप लिखते हैं—

'ईश्वरका नाम मुझे बहुत प्रिय लगता है। यद्यपि मुझे यह नहीं मालूम कि वह मेरा ईश्वर सूरत और शकलमें सचमुच कैसा है, तथापि मैं नहीं कह सकता कि मेरा अनुराग उसके नामपर इतना अधिक दिन-प्रति-दिन क्यों होता चला जा रहा है ! हे महाराजाजी ! आप भी उसके साथ प्रेम रक्खा करें। ऐसा करनेसे आपका मेरे ऊपर अनुग्रह होगा। कभी-कभी मेरा मालिक आपके प्रति कठोर व्यवहार करता होगा, किन्तु इससे आपको चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह सब बातें जो हमलोगोंको कष्टकर प्रतीत होती हैं, उसके लिये विनोदस्वरूप हैं ! गुरुजी, मेरा मालिक बड़ा मन-मौजी है ! उसे सदैव मनोरञ्जन अच्छा लगता है, तभी तो देखिये न, इस संसारमें वह एक-से-एक विलक्षण मस्तिष्कवाले मनुष्योंको उत्पन्न करता है—किसीको हँसते हुए उठा लेता है और किसीको रोता हुआ भेज देता है। आकृतिमें सभी भिन्न होते हैं, इसलिये हे महाराजाजी ! आप हमारे मालिकसे कभी नाराज न होना।'

पत्रमें आगे चलकर आप आलंकारिक भाषामें एक अत्यन्त ही दिलचस्प घटना लिखते हैं—

'मैं यह पत्र एक मेजपर रखकर लिख रहा हूँ। इस मेजपर आज सुबह कुछ शक्कर गिर गयी थी, जिसके कारण चार-पाँच चींटियाँ इकट्ठी हो रही हैं। और वे सब मेरी कलम तथा अक्षरोंकी ओर बड़े ध्यानसे देख रही हैं और वे आपसमें मानो इस-प्रकार बातें कर रही हैं—

एक चींटी कहती है—'मेरी समझमें तो इस कलमकी प्रशंसा करनी चाहिये, जिसके द्वारा यह सुन्दर-सुन्दर अक्षर लिखे जा रहे हैं, क्योंकि अगर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलम न होती तो यह आदमी इसप्रकार इतने सुन्दर और स्पष्ट अक्षर कभी न लिख सकता !'

दूसरी चींटी कहती है—'नहीं भाई, यह बात नहीं है, प्रशंसा तो अंगुलियोंकी करनी चाहिये, जिनके सहारे यह कलम चल रही है। अगर अंगुलियाँ न होतीं तो भला कलम किस तरह पकड़कर लिखा जाता ? इसलिये इस लिखनेका सारा दारमदार अंगुलियोंपर ही है !'

तीसरी चींटी बोल उठती है—'वाह भाई वाह—तुमने भी खूब कहा, अरे ! यह अंगुलियोंकी प्रशंसा नहीं है, बल्कि लम्बे-लम्बे बाजुओं (हाथों) की प्रशंसा है। जिनके आधारपर—तुम लोगोंके कहनेके अनुसार—सभी बातें निर्भर हैं ! बाजूके न होनेसे अंगुलियाँ और कलम—सभी व्यर्थ हैं ! इसलिये हम सबलोगोंको इस लम्बे हाथहीकी प्रशंसा करनी चाहिये।'

इसपर सबसे बड़ी चींटीने बड़ी नम्रताके साथ कहा कि 'देखो, तुम सबलोग भ्रममें पड़ी हो। अभीतक यथार्थ बात किसीके दिमागमें नहीं आयी। तुमलोग मेरी बात मानो चाहे न मानो, लेकिन मेरे हिसाबसे यह सारी करामात इस लम्बे-चौड़े धड़की है जिसे तुम लोग सामने मेजपर बैठा हुआ देख रही हो। देखो—इसी धड़के सहारे सब कार्य हो रहे हैं ! अगर यह धड़ न होता तो लम्बे-लम्बे हाथ और उसमें अंगुलियाँ तथा उन अंगुलियोंमें कलम कभी न होती।'

'ऐ महाराजाजी ! ये सब चींटियाँ इसप्रकार हमारे इस धड़का मनोरञ्जन कर रही हैं।'

आगे चलकर स्वामी रामतीर्थजी अपने उसी पत्रमें उपर्युक्त कथनका इसप्रकार स्पष्टीकरण करते हैं !—

'मनुष्यके परे भी एक शक्ति है जिसे 'परमात्मा' कहते हैं। शरीर और प्राण ये सब अंग उसके अन्तर्गत हैं। इस संसारमें जो कुछ आप नित्य देखते हैं वह सब उसी परमात्माकी प्रेरणाद्वारा होता है। जिसप्रकार बजानेवालेकी अनुपस्थितिमें बीण नहीं बज सकती, बिना तारके पुतली कार्यरूप-में परिणत नहीं की जा सकती, उसी प्रकार बिना परमात्माके हम सबका यह शरीर भी व्यर्थ सिद्ध होता है और बिना उसकी इच्छाके हम कोई भी कार्य नहीं कर सकते। यद्यपि एक तलवारका काम किसीको कष्ट पहुँचाना ही होता है, किन्तु अगर तलवारका उपयोग करनेवाला नहीं है तो उसका प्रभाव व्यर्थ सिद्ध होता है ! इसी प्रकार चाहे कोई कितना भी दुष्ट प्रकृतिका मनुष्य क्यों न हो अगर 'परमात्मा' की इच्छा नहीं है तो वह किसीको कष्ट नहीं दे सकता। इसलिये हे महाराजाजी ! आप भी परमात्माको न भूलियेगा।'

उपर्युक्त पत्रके एक-एक शब्दसे आपकी परमात्म-निष्ठाके भाव टपक रहे हैं।

अध्यापनकालमें इनकी विरक्तिने उग्ररूप धारण कर लिया और ये श्रीकृष्ण-भक्तिमें इतने तल्लीन हुए कि दिन-रात उसीमें मग्न रहने लगे। श्रीकृष्णका नाम सुनते ही कभी कभी ये प्रेममें विह्वल हो बेसुध हो जाते थे। कभी उठकर नाचने लगते थे। एक दिन आप लाहौरमें रामायणकी कथा सुन रहे थे। कथामें जहाँ जैसा प्रसंग आता था वहाँ इनके चेहरेका वैसा ही भाव बन जाता था। पास बैठे हुए दर्शक इनकी विचित्र आकृतियोंको देख-देखकर हँसते थे, किन्तु इन्हें इसका कुछ भी पता न था। थोड़ी देर बाद आप रोने लगे। कथा समाप्त होनेके बाद आप यह कहते हुए सुनायी पड़े—'प्यारे कृष्ण ! मुझ दीनपर दया करो। हे नाथ, क्या मैं किष्किन्धाके बन्दरोंसे भी गया बीता हूँ—क्या मैं उस भीलनीसे भी नीच हूँ जिसने आपको जूँठे बेर खिलाये थे ! यदि आपके दर्शन न हुए तो चूल्हेमें जाय यह विद्या, खाकमें मिल जाय यह बड़प्पन और भाड़में जाय यह जीवन और शरीर !'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी रामतीर्थ श्रीराम और कृष्णमें कोई अन्तर नहीं समझते थे। उनके लिये राम-कृष्ण एक ही विभूति थी।

एक दिन आप रावी-नदीके किनारे घूमने गये। श्रीकृष्ण-भक्तिमें लीन थे। इतनेमें कोयलकी कूक सुनकर चौंक पड़े—कहने लगे—'अरी काली कोयल, बता, तूने यह मधुरता कहाँसे पायी ? क्या मुझे भी यह मिल सकती है ? अगर हाँ, तो सच-सच बता कब और किस उपायसे ? ऐ आँखो ! अगर तुम प्यारे कृष्णको नहीं देख सकती तो तुम्हारा होना नहींके तुल्य है। ऐ हाथो ! अगर तुम मेरे प्रभुके चरण स्पर्श नहीं कर सकते तो मैं तुमको रखकर क्या करूँगा ? तुम क्यों मेरे शरीरपर भाररूप हो रहे हो ? क्यों नहीं कटकर पृथ्वीपर गिर पड़ते ? ऐ मेरे कन्हैया ! क्या कहा ? मैं पापी हूँ ? अच्छा पापी ही सही ! किन्तु अब तो मैं तुम्हारी शरण आ गया। क्या अब भी नहीं अपनाओगे ? अपनी श्याम-झाँकी दिखाकर क्या मेरा जीवन सफल न करोगे ? क्यों श्याम ! कहाँ गये ? बोलते क्यों नहीं ? मैं नहीं जानता कि मैंने तुम्हारी क्या बुराई की, जिसका फल तुम मुझे इसप्रकार दे रहे हो ? कुछ भी हो मेरे श्याम, मैं तुम्हारे दर्शन किये बिना चैन न लूँगा ! तुम्हारी कृपा बिना मेरा जीवन निरर्थक है।'

कैसा जीता-जागता प्रेम और विशुद्ध भक्तिका नमूना है !

स्वामी रामतीर्थ इसप्रकार भक्तिमें इतने मस्त हो गये कि उन्हें अपनी जीविका आदि तकका भी विचार न रहा ! कक्षामें बैठे-बैठे वह चिल्ला उठते थे—'हे भगवन् कहाँ हो ? अब सच-सच बता दो, कब दर्शन दोगे ?' कभी-कभी चिल्ला कर रोने लगते थे और श्रीकृष्णकी निष्ठुरताकी आलोचना बड़े कड़े शब्दोंमें करने लगते थे।

ये सब बातें कक्षाके विद्यार्थियोंके लिये विनोदकी वस्तु थीं। परन्तु इनके लिये सर्वथा सत्य थीं। स्वामी रामतीर्थ कालेज छोड़नेके बाद कभी नदीके किनारे तो कभी किसी घने जङ्गलमें विचरण करते हुए दिखायी देने लगे। लोगोंने इन्हें 'पागल' कहना शुरू किया। ठीक है, जो महापुरुष सांसारिक विषय-वासनाओंको तुच्छ समझकर छोड़ देता है, उसे लोग 'पागल' ही कहा करते हैं। संसारी मनुष्योंकी दृष्टिमें वस्तुतः वह पागल है ही। परन्तु जो लोग ऐसे पागल हैं—वे सचमुच धन्य हैं। यों तो संसारमें प्राणीमात्र पागल है। कोई धनके लिये पागल है तो कोई सुखके लिये। एक यशके लिये पागल है तो दूसरा किसी अन्य सांसारिक पदार्थके लिये। इसप्रकार अखिल ब्रह्माण्ड ही पागल हो रहा है। किन्तु सच्चे पागल और स्तुत्य पागल वे हैं जो ईश्वरकी प्राप्तिके लिये उन्मत्त हो रहे हैं। निस्सन्देह ऐसे भाग्यवान् पागल संसारमें बिरले ही होते हैं।

इनके जीवनमें यह एक बात अवश्य आश्चर्य-जनक प्रतीत होती है कि इनका जन्म दिवालीके ही दिन हुआ, संन्यास भी दिवालीहीके अवसरपर ग्रहण किया और इनका शरीर भी उसी दिन छूटा।

संन्यास ग्रहण करनेके समय सन १८९७ के अक्टूबरमें इन्होंने एक बड़ा मार्मिक पत्र अपने पिताके नाम लिखा, जिसका संक्षेपमें आशय इसप्रकार था—

'पिताजी ! दिवालीका दिन है। सब लोग जुआ खेलनेमें मस्त हैं। आपके प्यारे पुत्रकी भी इच्छा हुई कि आज वह भी सदैवके लिये जुआ खेल ले। मेरे पिता ! आपको सुनकर शायद दुःख होगा कि आपका प्रिय पुत्र इस जुएमें हार गया। किन्तु कौड़ियोंके साथ नहीं, उसने तो अपनेको जान-बूझकर परमेश्वरके हाथों हार दिया। यही मेरी दिवाली है और यही मेरा जुआ है। अब आपको जिस बातकी आवश्यकता हो, वह आप मेरे मालिकसे माँगें। वह आपकी इच्छाको शीघ्र ही पूर्ण करेगा। क्योंकि परमेश्वर ही अब तो हम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे गुसाँइयोंका सब कुछ है। पिताजी! आप किसी प्रकारका दुःख न करना, क्योंकि मेरा अभीष्ट अपनी निजकी सम्पत्तिको त्यागकर संसारकी भूठी कौड़ियोंके पीछे पड़ना नहीं है।'

जिस समय हमारे चरित्रनायक श्रीरामतीर्थजी-ने संन्यास ग्रहण किया था उस समय उनके कुटुम्बियों, मित्रों, प्यारे पिता, वृद्धा माता और हृदयेश्वरी धर्मपत्नी तथा छोटे-छोटे बच्चोंकी क्या दशा थी? उनको कितनी मनोवेदना थी, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। स्वामी राम-तीर्थके पिताने जब अपने इकलौते पुत्रकी यह दशा देखी तो वह रो पड़े। जिसने अनेक कष्ट सहन करते हुए इतनी शिक्षा दी थी–बड़े लाड़-प्यारसे पाल-पोसकर इतना बड़ा किया था–जिसने वृद्धावस्थामें पुत्रसे सुखकी अभिलाषा की थी–उसका इस अवसरपर रो पड़ना ही अनिवार्य हो जाता है। स्वामी रामकी वृद्धा माताकी दशा अत्यन्त हृदय-विदारक थी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो करुणा स्वयं मूर्तिमान होकर वहाँ प्रकट हो गयी है। उस समयकी मानसिक वेदनाका जीता-जागता दृश्य उस कवितासे मिलता है जो इनके संन्यासोपलक्ष्यमें, काशीके प्रसिद्ध मासिक पत्र 'सुदर्शन' में प्रकाशित हुई थी। उस कविताकी मुख्य-मुख्य पंक्तियाँ ही मैं नीचे उद्धृत करता हूँ। कविताका शीर्षक था 'युवा संन्यासी'!

गुणनिधान मतिमान सुखी सबभाँति एक लवपुरवासी,
युवा अवस्था बीच विप्र-कुल-केतु हुआ है संन्यासी।
विविध रीतिसे उस विरक्तको सुहृद बन्धु समुझाय थके,
गंगाजीके प्रवाह ज्यों, पर उसे न वे सब रोक सके।
वृद्ध पिता-माताकी आशा, बिन ब्याही कन्याका भार,
शिक्षाहीन सुतोंकी ममता, पतिव्रता नारीका प्यार।
सन्मित्रोंकी प्रीति और कालेजवालोंका निर्मल प्रेम,
त्याग एक अनुराग किया उसने विरागमें तज सब नेम!
'प्राणनाथ! बालक सुत दुहिता' यों कहती प्यारी छोड़ी,
'हाय! वत्स! वृद्धाके धन!!' यों रोती महतारी छोड़ी!

शोक-ग्रसित हो गई लवपुरी उसकी हुई बिदाई जब,
द्रवीभूत कैसे न होय मन, संन्यासी हो भाई जब।
लगे बरसने पुष्प और जय-जयकी तब हो उठी ध्वनी,
मानो भिक्षुक नहीं वहाँसे चला विश्वका कोइ धनी!
निष्कण्टक पथ हुआ पवनसे वारिदने जल छिड़क दिया,
कड़क, तड़ितने दई सलामी, आतपत्र वृक्षोंने किया!
विहङ्गकुलने निज कलरवसे उसका स्वागत गान किया,
श्वापद शान्त हुए, मृग-गणने दक्षिणमें आ मान किया।
खड़ा हिमालय निज उन्नत मस्तकपर तत्-पद धारनको,
हुई तरंगित सुरसरि तब अभिषेक पुनीत करावनको!
शिक्षा देती मानो सबको जननी सदृश प्रकृति सारी,
विषय-विरक्त ब्रह्म-चिन्तन-पर नर सब जग-अधिकारी!!

उपर्युक्त कवितासे उस समयकी स्थितिका पता अच्छी तरह लग जाता है। स्वामी रामतीर्थ-के माता-पिता वृद्ध थे, उनके और कोई अन्य आधार नहीं था, छोटे-छोटे बच्चे थे। इन सब प्राणियोंके आधार हमारे चरित्रनायक ही थे। सब लोग इन्हींके मुखकी ओर देखते थे और इन्हींसे सुखकी आशा करते थे। किन्तु स्वामी राम-तीर्थजी कर्तव्यके सामने इन सब बातोंको हेय समझते थे। उनको पूर्ण विश्वास था कि उनके बिना कोई भूखा नहीं मर सकता। ईश्वर अवश्य इनके परिवारकी रक्षा करेगा! इसलिये इन्होंने क्षणिक सुखकी ओर न झुक कर अपना मन परमात्माके चरणोंमें न्योछावर कर दिया!

संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् स्वामीजी एकान्त-सेवनार्थ हिमालय-पर्वतपर जाकर रहने लगे। हिमालयकी हिमाच्छादित सघन कन्दराओंमें रहते हुए तथा ईश्वर-भजन करते हुए, आपने 'हिमालयके दृश्य' नामकी एक छोटी-सी पुस्तक लिखी, जिसमें भिन्न-भिन्न शीर्षकोंके द्वारा आपने वेदान्त-सम्बन्धी विचार बड़ी ही सरल भाषामें प्रकट किये हैं। पुस्तकमें एक जगह आप लिखते हैं—

'हे मनुष्यो! तुमलोग यह समझकर गलती करते हो कि सुमेरुकी काल्पनिक सुन्दरता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युवतियोंके कपोलोंकी लालिमामें, अथवा बहुमूल्य रत्नकी राशिमें या बड़े-बड़े महलोंमें मिल सकती है। इनमें तो तुमको सच्ची सुन्दरताका आभास भी नहीं मिलेगा। किन्तु युवतियोंके कपोलों तथा रत्नोंकी बात कौन कहे—तुममें ऐसे अगणित सुमेरु स्वयं दिखायी देने लगेंगे अगर तुम अपने आत्म-स्वरूपका बोध प्राप्त कर लेनेमें सफल हो जाओगे। फिर तो सारी प्रकृति तुम्हारी दासी हो जायगी और वह तुम्हारी पूजा करेगी। गगन-स्पर्शी बादलोंसे लेकर छोटे-छोटे अणुमात्रतक—अनन्त आकाशसे लेकर पातालतक—जितने प्राणी इस संसारमें विद्यमान हैं वे सब तुम्हारे गुलाम हो जायँगे और सदैव तुम्हारे आज्ञापालक बने रहेंगे। मनुष्यकी क्या गिनती, स्वर्गके देवतातक भी तुम्हारी आज्ञा नहीं टाल सकेंगे। अब तुम्हीं निर्णय कर लो कि किसमें अधिक आनन्द है। अगर स्वर्गीय सुख भोगनेकी इच्छा रखते हो तो तुम्हें परमात्माकी शरणमें जाना ही पड़ेगा।'

दूसरी जगह, वासनाओंको दमन न करनेमें जो हानि होती है उसको आप एक उदाहरणद्वारा बड़ी खूबीसे समझाते हैं। लिखते हैं—

'एक दिन रामके सामने एक मनचले मनुष्यने एक गुलाबका फूल सूँघनेके लिये तोड़ा। वह मनुष्य ज्यों ही उस सुन्दर फूलको अपनी नासिकाके समीप ले गया त्यों ही उसमें बैठी हुई एक मक्खीने उसको काट खाया। दर्दसे व्याकुल होकर वह मनुष्य रोने लगा और क्रुद्ध होकर उसने गुलाबके फूलको फेंक दिया।'

आगे चलकर इसीको इसप्रकार स्पष्ट करते हैं।

'निस्सन्देह ऐसा कोई भी विषयोंसे परिपूर्ण गुलाबका पुष्प नहीं है जिसमें दुःखरूपी मक्खी न छिपी बैठी हो। जो वासनाएँ रोकी नहीं जा सकतीं उनका अन्तिम परिणाम भयानक होता है। इसलिये हे मनुष्यो! तुमलोग वासनाओंके वशीभूत मत हो। अपनी इच्छाओंका दमन करो। इसीमें तुम्हारा भला है।'

स्वामीजीकी अलौकिक वक्तृत्वशक्ति, विचार-शैली और मधुर वार्तालापका जनतापर बड़ा प्रभाव पड़ता था। आपका भाषण अत्यन्त ही गम्भीर तथा प्रभावशाली होता था। मथुरामें धर्म-महोत्सवके अवसरपर स्वामीजीका व्याख्यान सुननेके लिये श्रोतागण लाखोंकी संख्यामें यमुनाजी-के तटपर एकत्रित हुए थे। उस समय जाड़ेका मौसम था। कड़ाकेकी ठण्ड पड़ रही थी। दर्शकोंके पास सर्दीसे बचनेके लिये कोई उपयुक्त कपड़ा न था, किन्तु ये लोग स्वामीजीका व्याख्यान सुननेके इतने उत्सुक थे कि ठण्डी हवा तथा सर्दीकी तनिक भी परवा न कर वहीं बैठे रहे। रात्रि हो गयी थी। बालू ठण्डसे पानी-पानी हो रही थी, ऊपरसे तुषार पड़ रहा था, किन्तु लोगोंको स्वामी रामतीर्थके भाषणमें इतना आनन्द आ रहा था कि उनको सर्दी मालूम ही न पड़ी। इनके उपदेशोंमें ऐसा अनुराग होता था कि अन्य मतवाले लोग भी सुनकर अनन्द-सागरमें डूब जाते थे। इनके उपदेशोंके विशेष प्रभाव होनेका कारण केवल उनका हृदय था। इनका हृदय परमात्म-प्रेमके नाते भूतप्रेमसे ओत-प्रोत था। शङ्काओंका ये इस-प्रकारसे समाधान करते थे कि द्वेषी भी इनका भक्त बन जाता था। विवादियोंकी अश्रद्धा तो स्वामीजीके दर्शनमात्रसे गायब हो जाती थी।

राम किसी मतसे द्वेष नहीं रखते थे। इनके पवित्र निर्मल अन्तःकरणमें मतमतान्तरोंको जगह न थी। यह धर्मसम्बन्धी व्याख्यान देते समय किसी दूसरे मतका खण्डन नहीं करते थे। इनके प्रत्येक शब्दमें माधुर्य भरा रहता था। और ये अध्यात्म-सम्बन्धी गम्भीर विचारोंको बड़े प्रेमके साथ सरल भाषामें इसप्रकार समझाते थे मानो कोई पिता अपने बालकको शिक्षा देता हो। यही कारण है कि स्वामीजीके उपदेशोंका जनतापर बहुत असर पड़ा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि राम भारतीय थे, किन्तु ये अपनेको किसी देशविशेष अथवा जातिविशेषका नहीं मानते थे। जिसप्रकार स्वामीजी किसी जातिविशेष, रंगविशेष अथवा धर्मविशेषका पक्ष नहीं करते थे उसी प्रकार दूसरे जाति, रंग तथा धर्मवाले भी इनसे द्वेष नहीं रखते थे। यही कारण था कि स्वामीजीका सभी देशके निवासी आदर करते थे और बड़ी श्रद्धाके साथ भाषण सुनते थे।

स्वामीजीको प्रत्येक कार्यमें ईश्वरका अंश ही काम करता दिखायी देता था। मिश्र-देशमें लोग इतने श्रद्धालु हुए कि मुसलमानोंने भी मसजिदमें व्याख्यान देनेके लिये स्वामीजीको निमन्त्रित किया। स्वामीजीने बड़ी खुशीके साथ मिश्र-निवासियोंका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और फारसी भाषामें एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया, जिसका प्रभाव वहाँके निवासियोंपर इतना अधिक पड़ा कि स्वामीजीका नाम सूर्यकी किरणोंके समान चतुर्दिक् प्रकाशमान् हो गया। मुसलमान लोग तो स्वामीजीके अनन्य-भक्त हो गये थे। उनमें द्वेष-भाव नाममात्रको भी न रह गया था।

मिश्र-देशसे स्वामीजी जापानको चले गये। वहाँ भी इनके व्याख्यानोंकी बड़ी धूम रही। जापानवाले तो इनके भाषणोंसे इतने खुश थे, वे स्वामीजीकी वक्तृतापर इतने मुग्ध हो गये थे कि स्वामीजीको अपना ही समझने लगे थे।

जापानसे स्वामीजी अमेरिका गये। वहाँ भी रामके त्याग और वैराग्यका इतना प्रभाव पड़ा कि वहाँके एक विद्वान्ने इनको देखकर कहा था कि 'यह एक अद्भुत पुरुष हैं। ऐसे साधुओंका शरीर और संसारसे बहुत कम सम्बन्ध रहता है।'

रामने देश-विदेशका खूब भ्रमण किया, किन्तु अपने पास न तो कभी एक पैसा रक्खा और न रहा। अमेरिका जाते समय एक विशेष घटना घटी, जो बड़ी ही मनोरञ्जक थी।

जिस समय स्वामीजी जहाजपर बैठे हुए थे, उसी समय एक अमेरिकन समाचारपत्रका रिपोर्टर भी आकर इनके पास बैठ गया। दोनों एक दूसरेसे बिलकुल अपरिचित थे। संवाददाताने स्वामीजीका गेरुवा वस्त्र देखकर उनको एक साधारण व्यक्ति समझ, उनकी हँसी उड़ायी और स्वामीजीसे हँसीकी तौरपर इसप्रकार वार्तालाप किया।

संवाददाता–आपका नाम क्या है?

स्वामीजी–राम बादशाह।

संवाददाता–आप कहाँ जा रहे हैं?

स्वामीजी–मैं अमेरिका जाता हूँ।

संवाददाता–क्या आप इसी वेषमें अमेरिका जा रहे हैं?

स्वामीजी–हाँ मैं इसी पोशाकसे जा रहा हूँ।

संवाददाता–क्या आप मेहरबानी करके बतलायँगे कि आपकी स्थिति कैसी है? आपके पास कितना धन है?

स्वामीजी–राम बादशाह अपने पास एक पैसा भी नहीं रखता।

संवाददाता–आप वहाँपर कहाँ ठहरेंगे?

स्वामीजी–यह तो भगवान् जानें मैं कहाँ ठहरूँगा। कोई निश्चित स्थान नहीं है।

इसपर संवाददाताको बड़ा क्रोध आया और उसने आवेशमें आकर पूछा—

'आप भी क्या कहते हैं? बिना पैसेके आप अमेरिका-जैसे एक धनी देशमें जा रहे हैं! फिर आपको यह भी ज्ञात नहीं कि आप कहाँ ठहरेंगे! आप यह अच्छी तरह समझ लीजिये कि आपको अमेरिकामें भूखों मरना पड़ेगा। इसलिये आपको खाने-पीनेका पहले ही इन्तजाम कर लेना चाहिये।

स्वामीजी–ऐ मनुष्य! तू भ्रममें पड़ा हुआ है। अरे! तू नहीं जानता–यह राम सारे संसारका है और समस्त संसार रामका है। रामको अमेरिकामें तो क्या, कहीं भी भूखों मरनेका अवसर न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवेगा। देख, अभी तेरी ये आँखें मुँदी हुई हैं। उनको खोल, तब तुझे रामकी स्थितिका पता चल जायगा।'

सचमुच रामका इस व्यक्तिपर इतना असर पड़ा कि उसने झट अपनी आँखें दोनों हाथोंसे रगड़ दीं। उस समय उसे मालूम हुआ कि यह और कोई नहीं सचमुच स्वामी रामतीर्थ हैं, जिनके व्याख्यानोंकी धूम सारे संसारमें मची हुई है और जिनके व्याख्यानोंका अनुवाद करनेके लिये ही मैं देश-विदेश मारा-मारा फिरता हूँ।

संवाददाताने फौरन् अमेरिकाको एक तार भेज दिया कि स्वामी रामतीर्थ आ रहे हैं। ज्यों ही स्वामीजी बन्दरगाहपर पहुँचे कि उनका स्टेशनपर इस ठाठ-बाठके साथ स्वागत किया गया जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस समय स्वामीजीने मुसकराते हुए उसी संवाददातासे जो इनके साथ था—पूछा—'क्यों साहब, अब भी मुझे भूखों मरना पड़ेगा ?'

स्वामीजीका वहाँपर इतना आदर हुआ कि इनको दम लेनेतकका अवकाश नहीं मिलता था। एक-एक दिनमें इन्हें छः छः और कभी-कभी आठ-आठ व्याख्यान देने पड़ते थे।

स्वामी रामतीर्थने जापान, अमेरिका आदि देशोंमें सार्वभौम भारतीय आदर्श परमात्म-धर्मका सन्देश पहुँचाया। भारतीय विद्यार्थियोंके लिये वहाँ विशेष सुविधाएँ करवायीं। पहले जापान और अमेरिका आदि देशोंमें भारतीय विद्यार्थियोंकी कुछ भी इज़्ज़त न थी। वे घृणाकी दृष्टिसे देखे जाते थे, किन्तु स्वामी रामतीर्थके प्रबल प्रयत्नोंद्वारा ही उनका वहाँपर आदर होने लगा और प्रत्येक बातमें उन्हें सुविधा प्राप्त होने लगी।

अमेरिकासे लौटनेके पश्चात् वहाँके कुछ भक्तोंने इनके नामसे एक पृथक् संस्था खोलनेकी चर्चा की। किन्तु स्वामीजीने इसका उत्तर बड़ी गम्भीरतापूर्वक दिया। आपने कहा—

'संसारभरमें जितनी सभाएँ तथा समाजें हैं वह सब रामकी हैं और राम उन्हींमें काम करेगा। संस्था खोलनेसे कोई प्रयोजन नहीं निकलेगा, क्योंकि ईसाई, आर्य, सिक्ख, पारसी और मुसलमान सब रामके हैं और राम उनका है।'

विश्व-प्रेमी होते हुए भी स्वामी रामतीर्थको अपने भारतवर्षका बड़ा ध्यान रहता था। आप अपने एक पत्रमें 'भारत'के विषयमें लिखते हैं कि—

'मैं सदेह भारत हूँ। कन्याकुमारी मेरा पैर और हिमालय मेरा सिर है। मेरे सिरमें गंगाका निवास है। मेरी जटाओंसे धारा निकलकर बह रही है। मैं सम्पूर्ण भारत हूँ। पूर्व और पश्चिम मेरी दोनों भुजाएँ हैं। भारतवर्ष मेरे शरीरका ढाँचा है और मेरी आत्मा सारे भारतकी आत्मा है। जब मैं बोलता हूँ तब अनुभव करता हूँ कि भारत बोल रहा है और जब मैं चलता हूँ तो समस्त भारतको चलता हुआ अनुभव करता हूँ।'

स्वामीजी विद्याके अगाध सागर थे। इन्होंने कणाद, कपिल, शंकर, गौतम, पातञ्जलि, जैमिनि, व्यास आदिके ग्रन्थोंका खूब मनन किया था। अंग्रेजीमें स्पेन्सर, डार्विन, हेवेल, गेटे, स्पाईनोजा और हेक्सले आदिके ग्रन्थोंमें भी पारदर्शिता प्राप्त की थी। यह फारसी, अंग्रेज़ी, हिन्दी, उर्दू, संस्कृत-साहित्यमें पूर्ण पण्डित थे।

स्वामीजी साधारणतः बोलते बहुत कम थे, किन्तु व्याख्यानके समय तीन-तीन और चार-चार घण्टेतक लगातार बोलते रहते थे। इनका भोजन थोड़ा और सादा था। इन्हें दूधसे विशेष प्रेम था। कभी-कभी कई दिनोंतक दूध ही पीकर रह जाते थे। मांस तथा मादक वस्तुओंसे आपको बहुत घृणा थी। जापान, अमेरिका आदिमें रहते हुए भी कभी आपने मादक पदार्थोंकी ओर ध्यान न दिया। वहाँका भोजन—भाजी, शाक, मेवे और दूध ही होता था।

वस्त्र भी बहुत साधारण रहते थे। गर्मीमें मलमलका कुरता, कोट जो विशेषकर सफेद जीनका होता था और धोती पहनते थे। जाड़ेमें पट्टूका गर्म कोट और धोती या पाजामा ही पहना करते थे।

यद्यपि स्वामी रामतीर्थ आज हमलोगोंके बीचमें नहीं हैं तथापि उनके भाषण और रचनाएँ आजन्म विद्यमान रहेंगी, जिनके द्वारा हमलोग चिरकालतक स्वामीजीकी अमृत-वाणी सुनते रहेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परा-भक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीसत्यानन्दतीर्थजी)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने अपने भक्तोंको आर्त (दुखी), जिज्ञासु (ज्ञानकी इच्छावाला), अर्थार्थी (लोक, वित्त, पुत्र, कलत्र आदि पदार्थोंकी कामनावाला), * इन चार विभागोंमें विभक्त करके ज्ञानीको अपना आत्मा निरूपण किया है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे,' ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। श्रुति भी कहती है-'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि' इत्यादि। अतः श्रुतिस्मृतिसमन्वयसे यह निश्चय होता है कि अद्वैतात्मज्ञानवान् ही सर्वश्रेष्ठ भक्त है, तथा अद्वैतात्मबोध ही परा-भक्ति है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यादि लोक-सिद्धार्थानुवादिनी श्रुतिसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि अपने आपमें ही मुख्य प्रीति है, और अपनेसे भिन्न पदार्थोंमें अपने लिये ही प्रीति है, उनमें तथा आत्मामें उन पदार्थोंके लिये प्रीति नहीं है, अतः आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें गौणी प्रीति है। इस न्याय-से यह निर्णय हुआ कि स्वभावतः (अज्ञानतः) प्राप्त जीवेश्वर भेद-विषयक दृष्टि जबतक विद्यमान है तबतक ईश्वरमें जो भक्ति (रति=प्रीति) है, वह ईश्वरके लिये नहीं, अपने लिये है, अतः वह परा-(मुख्या) भक्ति नहीं है, प्रत्युत अपरा (गौणी) है। जो भक्त 'तत्त्वं' पदार्थका शोधन करके अद्वैतात्म-दर्शनरूप महावाक्यार्थ-ज्ञानसे सम्पन्न है अर्थात् अद्वैतात्मदर्शी है, उसीकी ईश्वरमें परा (मुख्या) भक्ति है, अतएव वही ईश्वरका पर-भक्त है, क्योंकि ईश्वरका वह आत्मा है और ईश्वर उसका आत्मा है और इसीलिये श्रीभगवान् कहते हैं कि मैं ज्ञानीके लिये अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मेरेलिये अत्यन्त प्रिय है।

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥'

मेरे भक्तोंमेंसे ज्ञानी विशिष्ट (श्रेष्ठ) भक्त है, क्योंकि वह 'नित्ययुक्त' है और 'एकभक्त' है। आर्त भक्तका आर्तिसे छूटकर, जिज्ञासुका ज्ञान पाकर, और अर्थार्थीका अर्थको पाकर भक्तिसे विरत हो जाना सम्भव है, अतः यह तीनों भक्त नित्ययुक्त नहीं हैं और अज्ञानी होनेके कारण 'एक-भक्ति' भी नहीं हैं। परन्तु अद्वैतात्मदर्शी 'एकभक्ति' है। 'यह जगत्, मैं और ईश्वर एक (अभिन्न) ही हैं' जिस पुरुषकी ऐसी अन्तःकरणवृत्ति है, वह 'एकभक्ति' कहाता है, इसप्रकार सर्वभूतात्म-भूतात्मा पुरुष ही निर्व्याज भक्त है, अतएव भागवतोत्तम है और उसीकी भक्ति 'परा' भक्ति है।

एक भक्त-श्रेणी ऐसी भी है जिसका यह विश्वास और निश्चय है कि यह जगत्, जीव और परमेश्वर परस्पर विभिन्न हैं, तथा वह भेद पारमार्थिक (सत्य) है। तथापि 'सर्वं वासुदेवः, सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि शास्त्रविधिवशात् जगत्, जीव और ईश्वरमें अभेद-का आरोप (आहार्य्यबुद्धि) करके वह भक्त-श्रेणी, मैं और यह विश्व नारायणस्वरूप हैं' ऐसी उपासना निष्कामभावसे करती है, इस श्रेणीका पुरुष भी अतिशीघ्र ज्ञानवान् हो जायगा, क्योंकि जो अभेद उसकी दृष्टिसे आरोपित है वह वस्तुतः यथार्थ है, संवादिभ्रमवत् वह दृष्टि भगवदनुग्रहसे शीघ्र ही यथार्थ अद्वैतबोधरूपताको प्राप्त होती है, इसी अभिप्रायसे शिष्ट लोगोंकी यह उक्ति प्रचलित हुई है कि 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते'। भक्ति ज्ञानरूपमें परिणत होती है, अतः ऐसे भक्तको भी भागवतोत्तम ही मानना चाहिये। ऐसा महात्मा भी सुदुर्लभ है।

---

* ... और ज्ञानी (सर्वं वासुदेवः--माननेवाला ज्ञानवान्)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि इन दोनों भक्तोंमें ज्ञानाज्ञानप्रयुक्त भेद अवश्य है तथापि भेद-दृष्टि-भक्त भी सत्वर ही अभेद-दृष्टि हो ही जाता है, अतः इदानीं 'भागवतोत्तमजातीय' होते हुए भी भावी विचारसे वह भागवतोत्तम है।

निष्काम-भक्तिसे आराध्यमान परमात्मा शीघ्र ही आकृष्ट होता है, अहैतुकी भक्तिसे बढ़कर भगवान्‌के वशीकरणके लिये और कोई मन्त्र-तन्त्र नहीं है। 'भक्तिप्रियो माधवः' माधव भक्तिप्रिय हैं, या माधव भक्तप्रिय हैं, और 'भक्तो माधवप्रियः' भक्त माधवप्रिय है। अन्योन्य प्रेमाभिभूत हो एक दूसरेका परित्याग या वियोग सहन कर नहीं सकते। भक्तलोग यद्यपि निःस्पृह हैं तथापि भगवान् उनके हृदय-कमलमें निविष्ट होकर उनके पापपुञ्जको निःशेष विनष्ट कर देते हैं और उनके योगक्षेमको स्वयं वहन करते हैं, यह उनकी प्रतिज्ञा है—

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

साधु दम्पति

(लेखक—श्रीमनोरञ्जन चक्रवर्ती एस० बी०)

रामलाल बहुत ही गरीब था, बाल-बच्चों सहित कई बार तो उसे भूखे रहकर दिन बिताने पड़ते थे। वह कलकत्तेमें भगतराम नामक एक मारवाड़ी सेठकी दूकानपर नौकरी करता था। मामूली तनख्वाह थी। सबके पेट भी भलीभाँति नहीं भरते थे। सुबहसे लेकर शामतक अविराम परिश्रम करना पड़ता था। अपने सुख-दुःखकी बात सोचनेके लिये भी पूरा मौका नहीं मिलता था। खूब सबेरे गंगा-स्नान और सन्ध्या-तर्पण करके रामलाल दूकान पहुँच जाता था। रामलालकी निर्लोभ वृत्ति और कर्तव्यपरायणताके कारण मालिक उसपर बहुत ही प्रसन्न रहता था।

रामलालकी स्त्री दयावती पुत्र-कन्याको लेकर काशीपुरमें एक छोटी-सी कोठरीमें रहती। सन्तानके भरण-पोषण और पतिके कठोर क्लेशकी चिन्तासे दयावतीका हृदय विदीर्ण हुआ जाता था। वह दिन-रात इसी चिन्तामें रहती कि कैसे स्वामीका परिश्रम कम हो। रामलाल रोज घर नहीं जा सकता था, बीच-बीचमें जाया करता था। महीना पूरा होते ही तनख्वाहके पन्द्रह रुपयोंको घर पहुँचाना उसका प्रधान काम था। इसके सिवा अपनी खुराकीसे चावल, दाल, आटा, नमक, तैल आदि जो कुछ भी सामान रामलाल बचा सकता, हर पन्द्रहवें दिन उसे भी वह दयावतीको दे आता था।

दयावती घरपर काशीपुरमें रहती, रामलाल कलकत्ते रहता, काम पड़नेपर खबर लेने-देनेका भी कोई सुभीता नहीं था। कोई खास अड़चन होनेपर दयावती एकाग्र चित्तसे पतिका स्मरण किया करती और मन-ही-मन अपने अभावका समाचार पति तक पहुँचा देती। बेतारके तारकी भाँति रामलाल-पर भी पत्नीके चिन्तनका प्रभाव पड़ता और वह उसी दिन घर जाकर सुख-दुखके समाचार पूछ आता। इसी प्रकार उनका काम चलता था।

आज माघकी पूर्णिमा है, रामलालने अभीतक भोजन नहीं किया है, कामकाजकी भीड़में रामलाल-को रसोई बनाने और खानेकी फुरसत नहीं मिली। दिन बीत जानेपर काम-काजसे निपटकर रामलाल गंगा-किनारे जाकर स्वस्थचित्तसे बैठ गया। इसी समय अकस्मात् उसका चित्त दयावतीकी चिन्तासे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भर गया, उसने अनुभव किया, मानो दयावती मुझे याद कर रही है, वह उठकर घरकी ओर लपका। घर पहुँचते-पहुँचते रातके ग्यारह बज गये।

घर पहुँचकर रामलालने देखा, छोटा बच्चा बुखार और शीतलाके आक्रमणसे छटपटा रहा है, दयावतीसे मालूम हुआ कि पड़ोसी गृहस्थ होमियोपैथिक दवा देते थे, परन्तु आज बीमारी बढ़ जाने और शरीरमें शीतलाका जोर हो जानेके कारण उन्होंने दवा देना बन्द कर दिया है और दयावतीसे कह दिया है कि हमारे घर दवाके लिये न आना। शीतला संक्रामक रोग है, पड़ोसी गृहस्थके घर भी छोटे-छोटे कई बच्चे हैं, ऐसी अवस्थामें उनका ऐसा करना स्वाभाविक ही है।

दयावती बीमार बच्चेको गोदमें लिये अनवरत आँसू बहा रही है। घरके कोनेमें क्षुद्र दीपक टिमटिमा रहा है। रामलालने बच्चेको भलीभाँति देखनेकी इच्छासे दीपककी बत्तीको ठीक करना चाहा, परन्तु दीपकमें तैल नहीं था। पत्नीसे पता लगा कि न तो घरमें तैल है और न तैल मँगानेको एक पैसा ही है। कुछ ही क्षणों बाद दीपक बुझ गया, घरमें अँधेरा छा गया। दयावती गला फाड़कर रोने लगी। रामलालने दयावतीको धीरज रखनेका उपदेश देते हुए कहा 'तुम उद्वेग छोड़कर मा दुर्गाका स्मरण करो और उन्हींका आश्रय रक्खो। मैं अभी बत्ती जलानेकी व्यवस्था करता हूँ।'

इतना कहकर रामलाल घरसे निकल गया और पड़ोसीके दरवाजेपर जाकर पुकारने लगा। परन्तु कोई जवाब नहीं मिला। अँधेरी आधीरातके समय आर्त्तकी पुकार सुननेवाले प्राण मानो किसीमें नहीं थे! रामलालने घर जाकर बच्चेको हृदयसे लगा आँसुओंकी धारासे उसका ताप शान्त करनेकी इच्छा की, वह जल्दीसे घरकी ओर चला, परन्तु उन्मनी भावके कारण घर न जाकर गंगा-तीरपर पहुँच गया। अब उसे घरका स्मरण आया, उसने सोचा कि अबतक बच्चा जरूर ही चल बसा होगा और दयावती भी अवश्य ही बेहोश हो गयी होगी। मैं भी जरा विश्राम करके घर जाऊँगा। यों विचारकर वह घाटकी सीढ़ियोंपर बैठ गया और 'दुर्गा दुर्गा' स्मरण करता हुआ आवेगके वश होकर रोने लगा।

उधर दयावती स्वामीकी याद कर करके अँधेरेमें व्याकुल होकर रो रही है और सोच रही है कि बच्चेका श्वास रुक गया है, कफसे रुके हुए कण्ठसे अब तो कठोर ऊर्ध्व श्वासका शब्द नहीं सुनायी देता, बच्चा जरूर ही मर गया है। यों सोचती-सोचती 'मा दुर्गा, बचाओ बचाओ' पुकारकर दयावती मूर्छित हो गयी। थोड़ी ही देर बीमार बच्चेकी 'मा मा'की पुकार सुनकर दयावतीको होश हुआ, उसने देखा, स्नेह और दयाकी प्रतिमूर्ति एक रमणी हाथ फैलाकर उसकी गोदसे बच्चेको अपनी गोदमें ले रही है। 'हाय मा!' कहकर दयावती उसके चरणोंमें लोट गयी!

रमणीने कहा, 'बेटी, घबरा मत, कोई डरकी बात नहीं है, तेरा बच्चा अच्छा हो गया है।' दयावतीने पूछा, 'मा, तुम कौन हो?' रमणीने कहा, 'मैं तुमलोगोंकी मा हूँ, रामलालके मुझे पुकारते ही मैं आ गयी हूँ, तू कोई चिन्ता न कर, मैं अभी सब ठीक कर देती हूँ।' यों कहकर उसने जल्दी-जल्दी बच्चेके शरीरपर एक दिव्य औषधका लेप कर दिया। लेपकी स्निग्धता और मनोरम सुगन्धसे बच्चेके मुखपर हँसी आ गयी, उसने कहा 'मा, मुझे भूख लगी है।' मा फल, दूध आदि सामान साथ लायी थी, भोजन करके बालकको बड़ी ही तृप्ति और शान्ति मिली। अब माने बच्चेको दयावतीकी गोदमें देकर उससे विदा माँगी, दयावतीने आपत्ति की, इसपर मा बोली 'बेटी! रामलाल मेरे दरवाज़ेपर बैठा है, मेरे गये बिना वह आ नहीं सकेगा।' इतना कहकर वह वहाँसे चली गयी!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर आवेगपूर्ण अनन्यचित्तसे माका स्मरण करता हुआ रामलाल ध्यानस्थ हो गया, भीतरसे जागृति और बाहरसे निद्रा आ गयी। रामलालने देखा 'मानो उसके देह नहीं है, वह स्वयं ही एक आनन्दघन ज्योति है। उसके बाद ही उसने देखा, जगत् या संसार कुछ भी नहीं है, है एक आनन्दघन-ज्योतिका सागर। ऊपर, नीचे, दिशाओंमें वही एक निष्पन्द–निश्चल प्रेम-मधुर-ज्योति-राशि है। उसको विश्वास हो गया कि यह ज्योति-राशि ही वह है,—यही मा दुर्गा है। कुछ ही क्षण पूर्व वह चित्तके आवेगसे व्याकुल था, अब व्याकुलताका लेश भी नहीं है। रामलालकी रात इसी तरह कटी। प्रातःकालके प्रकाशसे और घाटपर लोगोंके आने-जानेसे उसका ध्यान भंग हुआ। पहले-पहले तो रामलालको कुछ भी याद नहीं रहा, परन्तु जब पूर्वस्मृति जागृत हुई तब वह उठकर जल्दी-जल्दी घरकी ओर चला।

घर पहुँचते ही बच्चेको आरोग्य देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, पीछे दयावतीसे माके आनेकी बात सुनकर रामलाल रोने लगा और दयावतीसे बोला, 'सती! तुम बड़ी भाग्यवती हो, जो तुमको मा ने दर्शन दिये। मैं बड़ा मन्दभागी हूँ, इसीसे मा ने मुझे वञ्चित कर दिया।' रामलाल दुर्गा-दुर्गा पुकारकर रोने लगा। जब दयावतीने यह समझा कि 'पुत्रको बचानेके लिये जो मा आयी थी वह इस संसारकी आरोपित माता नहीं थी, स्वयं जगज्जननी थी।' तब वह भी दुर्गा-दुर्गा पुकारकर रोने लगी।

उसी रातको रामलालके मालिकने स्वप्नमें देखा, उसकी स्वर्गीया जननी आकर उससे कह रही है–'अरे भगत! तू बड़ा ही कठोरहृदय है जो सुखकी नींद सो रहा है। तेरे बड़े भाईके सदृश सम्मान्य रामलाल आज तेरे कारण भूखा है, उसका लड़का मौतके मुँहमें पड़ा है, तू उसकी कोई खबर नहीं लेता?' भगतरामकी मा बचपनमें ही मर गयी थी, उसने होश सँभालनेपर कभी माको नहीं देखा था, इसीसे वह माकी कोपभरी मूर्तिको देखकर डर गया, और पसीनेमें भरा हुआ चकित चित्तसे बिछौनेपर उठ बैठा। उसके मनमें बड़ी ही घबराहट हुई। वह दौड़कर रामलालके डेरेपर गया, परन्तु वहाँ रामलाल नहीं मिला। पता लगानेपर मालूम हुआ कि कल काम-काजकी भीड़में उसे भोजन करनेकी फुरसत नहीं मिली थी और वह शामको सन्ध्या करनेके बाद गंगाजीकी ओर चला गया था, तबसे लौटकर नहीं आया। भगतरामने विस्मित और भीतचित्तसे स्वयं गंगातीरपर जाकर रामलालको खोजा, परन्तु कहीं पता नहीं चला। तब वह रामलालके घर काशीपुर पहुँचा, वहाँ जाकर देखा कि दोनों स्त्री-पुरुष दुर्गा-दुर्गा पुकारते हुए रो रहे हैं। रामलालने मालिकको आया देखकर नम्रतासे कहा, 'बड़ा अच्छा हुआ, आप आ गये, आजसे दया करके मुझे कामसे छुट्टी दे दीजिये।' इतना कहकर रामलाल रोने लगा। भगतराम सारा हाल देखकर रामलालके चरणोंपर गिरकर कहने लगा, 'रामलाल! तुम मेरे बड़े भाई हो, छोटे भाईका कसूर माफ करो, आजसे मेरी सारी धन-सम्पत्ति और व्यापारमें तुम्हारा आधा हिस्सा है। तुम मुझे छोड़ो नहीं, दया करके आश्रय दो।'

भगतरामने बहुत चेष्टा की, परन्तु रामलालको वह किसी तरह राजी नहीं कर सका। उसी समय भगतराम अपने घर, सम्पत्ति आदिका ठीक आधा बटवारा कर रामलालसे भाँति-भाँतिसे विनय करने लगा। रामलालने कहा 'भाई! तुम्हीं मेरी ओरसे इस सम्पत्तिकी रक्षा करो, और इसे देव-ब्राह्मणोंकी सेवामें लगाओ। मुझे अब मा बुला रही है, अतः तुरन्त उसकी गोदमें पहुँच जाने दो।' इतना कहकर रामलाल और उसकी पत्नी दोनों गंगाकी ओर चले गये। किसीकी इच्छा होनेपर कभी कभी गंगातीरपर खोजनेसे अबतक भी इन साधु स्त्री-पुरुषके दर्शन हो जाते हैं। (उत्सव)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बलिदान

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ सन्याल)

जैसे माता तुम्हारे लिये व्याकुल होती है, ठीक वैसे ही जगन्मयी जगन्माता भी अपनी सन्तानके लिये व्याकुल है। अपनी गर्भधारिणी माको देखकर उसके हृदयमें जगन्माताके हृदयको देखो। फिर उसकी करुणाके सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं रह जायगा। असली माका हृदय तो वहीं है, वही प्रेमका आदिस्थान है, कैसा प्रेमका अनन्त उच्छ्‌वास है वहाँ? फिर यह तो उसका प्रतिबिम्ब है, जब प्रतिबिम्बमें ही इतनी करुणा, इतनी व्याकुलता है, तब विम्बमें—असलीमें कितनी अधिक होगी, इसका अनुमान कर लेना चाहिये। आत्मदर्शन न होनेके कारण ही इस मा का स्नेह मोहावृत है। केवल हमारा शरीर ही उसके परिचयका विषय हो रहा है। असली मा क्या करती है, जानते हो? वह विश्व-ब्रह्माण्डकी जननी है, त्रिदेवोंकी प्रसविनी है। करोड़ों जन्मोंसे तुम्हारे साथ घूम रही है, पर तुम शरारती लड़के हो, इससे केवल बाहर-ही-बाहर दौड़े फिरते हो और राहके धूल-कीचड़को मलकर भूत बने धूलमें खेल रहे हो, तथा चारों ओर धूल उड़ा रहे हो। न घरकी बात याद है और न मा का ही स्मरण है। इसीसे वह तुम्हें पुकार रही है, ऊँचे स्वरसे पुकार रही है, कितने प्रकार हैं उसकी पुकारके? जन्म-मृत्यु और सुख-दुःखकी सैकड़ों व्याकुलताएँ—उस मा की ही आवाज है। इसीसे प्रकृतिके सहस्रों स्थानोंसे मानो हम सुन रहे हैं 'अरे, तू कहाँ गया, कहाँ चला गया?' मा के इस बन्धनहारी स्वरसे बीच-बीचमें सारा विश्व चमक उठता है। सारे कामोंको छोड़कर, स्तम्भित होकर, विश्वजननीका यह मानव-शिशु बीच-बीचमें अविश्रान्त कार्यस्रोतके अन्दर रुककर खड़ा हो जाता है, खड़ा-खड़ा ध्यानसे सुनता है परन्तु वह आवाज दूरसे सुनायी देनेवाले विहागकी भाँति केवल एक बार हृदयको हिलाकर चली जाती है। यद्यपि वह किसकी आवाज है, यह बात ठीक उसके समझमें नहीं आती, तथापि कई बार मनमें आता है कि एक बार घर लौट चलूँ, एक बार मा के अभय चरण-युगलोंका स्पर्श कर आऊँ। फिर मोहका झकोरा आता है, जिससे वह इस बातको भूल जाता है!

माके शरीरसे ही पुत्रका शरीर है, अतएव तुम्हारे देहके रूपमें, प्राणशक्तिके रूपमें वह मा सदा तुम्हारे साथ है, तुम उससे छिपकर कहीं बाहर नहीं भटक सकते; तुम खेलते-खेलते कितनी ही बार गिर पड़ते हो, वह अन्तर्यामीरूपसे इस बातको देखती है, इसीसे वह तुम्हें पतनसे बचानेके लिये व्याकुल स्वरमें पुकार उठती है, 'आ, लौट आ, मेरे हृदयसे लग जा मेरे लाल!' जब तुम इस करुण-स्वरको भी नहीं सुनते, तब वह दुःखका—ज्वालाका भेष धारण कर तुम्हारे विवेकको जगानेके लिये आती है। उसके उस करुण-आह्वानको गाँव-गँवईके लोग, जो जगे रहते हैं, खूब सुन पाते हैं। जग-ज्जननीके मातृहृदयकी तो यही चिर-आकांक्षा है कि तुम कब खेल छोड़कर बार-बार आवागमनकी दौड़धूपको बन्द कर सकोगे, कब तुम शान्त होकर अपनेको भूलकर मातृप्रेममें मग्न होकर मातृचरणोंमें आत्म-समर्पण करोगे और कब उसकी सुखमयी गोदमें सोकर नित्य निवृत्ति और परम शान्तिको प्राप्त कर सकोगे?

गुरु तुम्हें संन्यासी बनाकर ही छोड़ेंगे, उन्होंने तुमको उसीका मार्ग दिखलाया है, परन्तु वह संन्यास, गेरुआ-धारण या गृह-त्याग नहीं है, वह तो आत्मसमर्पित सर्वस्व लुटा देनेवाला संन्यास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उस संन्यासकी अपेक्षा श्रेष्ठ पदार्थ स्वर्ग और मर्त्यलोकमें कहीं भी नहीं है। याद है तो, तुमने गुरुके चरणोंमें सिर टेककर क्या कहा था ? तुमने कहा था--

'नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे ।
विद्यावतारसंसिद्धौ स्वीकृतानेकविग्रहः ॥
नारायणस्वरूपाय परमात्मैकमूर्तये ।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनायते ॥
तत्प्रसादादहं देव कृतकृत्योऽस्मि सर्वतः ।
मायामृत्युमहापाशाद् वियुक्तोऽस्मि शिवोऽस्मि च ॥'

गुरुने इसके उत्तरमें कहा था--

उत्तिष्ठ वत्स ! मुक्तोऽसि सम्यगाचारवान् भव !

मुक्तिका इश्तिहार तो जारी हो ही चुका है, परन्तु इसका पता कब लगता है, जब गुरुके प्रति आत्मसमर्पण प्रगाढ़ और पूर्ण होता है। तब उसका देहाभिमान चला जाता है, अभिमानके चले जानेपर वह मुक्त नहीं तो क्या है ? गुरुने तो कह ही दिया-'मुक्तोऽसि'। वे अपनी प्रतिज्ञा कैसे भूल सकते हैं ? इस शरीरकी मुक्ति या बन्धन तो वास्तविक मुक्ति या बन्धन नहीं है, इसका तो न मालूम कितनी बार त्याग और ग्रहण करना पड़ता है। जो जन्म-जन्मान्तर और कल्प-कल्पान्तरमें अनवरत घूम रहा है, वह किसी प्रकार भी नहीं बदला जाता। बस, मूल अज्ञान ही जीवका कारणदेह है, गुरु उसीपर लक्ष्य कर अमोघ-अस्त्र प्रयोग किया करते हैं। वे संसार-वृक्षका मूलोच्छेद करनेके लिये ही ज्ञान-खड्गको हाथमें लेकर खड़े हैं, इसीसे गुरुस्तोत्रमें कहा है—

वामाङ्गपीठे स्थितदिव्यशक्तिं,
मन्दस्मितं पूर्णकृपानिधानम् ।

इस कारण-देहमें ही जीवका अविद्या-बीज सञ्चित रहता है, इस 'ऊर्ध्वमूल अधःशाख' वृक्षकी जड़ बड़ी ही कठिन है, परन्तु गुरुके प्रति आत्मसमर्पित शिष्य गुरुकृपासे मिले हुए असङ्गशस्त्रके द्वारा दृढ़तासे इसकी जड़को काट डालता है। वह ज्ञानखड्ग जिसके सुन्दर हाथोंमें शोभा पाता है, जिसकी प्रसन्नता ही जीवकी मुक्तिका हेतु होता है, गुरु-कृपासे जो शिष्यकी हृदय-गुफामें प्रज्वलित होमाग्नि-शिखाकी भाँति प्रस्फुरित होकर शिष्यके अज्ञानान्धकारको सदाके लिये भस्म कर डालती है, उसीके विश्ववन्दित चरण-युगलोंमें,—आओ, हम अपना सिर टेकें और शिशुकी भाँति रोते-रोते उससे कहें—

प्रणतानां प्रसीद त्वं देवि ! विश्वार्तिहारिणि ।
त्रैलोक्यवासिनामीड्ये लोकानां वरदा भव ॥

पुनः पुनः नमस्कार करो उस ज्ञानखड्गको, जिसके प्रचण्ड आघातसे अज्ञान-महामोहासुरका विनाश होता है—

असुरासृग्वसापङ्क चर्चितस्ते करोज्ज्वले ।
शुभाय खड्गो भवतु चण्डिके त्वां नतावयम् ॥

इस ज्ञानकुठारकी चोट अविद्या क्षेत्रपर पड़ती है, इसीसे लोग व्याकुल होकर विद्याकी उपासना करते हैं और विद्याकी उपासना आरम्भ होते ही अविद्या टुकड़े-टुकड़े होकर गिरने लगती है। आगे चलकर सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति होते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है।

बस, इस जन्मके बाद और जन्म नहीं है, जब गुरुके चरणोंमें आ पड़े, तभीसे अज्ञानरूपी संसार-वृक्षकी जड़पर कुठारकी चोटें पड़ने लगीं। वह कितनी चोटें सहेगा ? फिर मा के प्रति पशुबलि देनी होगी, ज्यों-ज्यों अज्ञान-पशु काम-क्रोधादिका दल सामने आकर नाचने लगे, त्यों-ही-त्यों उन्हें पकड़-पकड़कर मा के बलि चढ़ाता जाय। यह पशुबलि माको बहुत ही प्रिय है। प्रवृत्तिरूपी पशुओंकी माके चरणतलों-में बलि चढ़ाते ही वे दिव्यभावको प्राप्त होकर निवृत्तिरूप बन जाते हैं। माके प्रति यह बलि चढ़ानी ही पड़ेगी। तभी हमारा जन्म-जीवन सार्थक होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक-स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

२६२-ज्ञानी अपनेको सर्वव्यापी ब्रह्मके साथ अभेदरूपसे देखता है और अपने मन एवं शरीरको केवल व्यवहारका साधन समझता है। अज्ञानी अपनेको शरीरके साथ तद्रूप समझता है।

२६३-अधिकांश मनुष्य मनके अस्तित्व और इसके क्रिया-कलापसे परिचित नहीं होते। यहाँतक कि बहुत-से शिक्षित कहलानेवाले सज्जन, मन क्या है, उसका क्या स्वभाव है और उसकी क्या क्रियाएँ हैं, इन बातोंको नहीं जानते। उन्होंने सिर्फ मन शब्दको सुन लिया है। केवल योगी और वे, जो ध्यान और स्वतन्त्र अन्तःप्रेक्षणका अभ्यास करते हैं, मनके अस्तित्व, उसके स्वभाव और सूक्ष्म कर्मोंको जानते हैं। वे मनको वशमें करनेके भाँति-भाँतिके साधनोंको भी जानते हैं। पाश्चात्य मानस-शास्त्रविद् भी कुछ जानते हैं।

२६४-पाश्चात्य चिकित्सक (डाक्टर) मनके विषयमें केवल इतना ही जानते हैं कि यह तन्तुओंका जाल है जो बाह्य विषयोंका संवेदन मेरुदण्डतक पहुँचाता है। तब संवेदन सिरके पिछले भागमें स्थित मज्जामें पहुँचता है, जहाँसे नाड़ियाँ बिखरती हैं। वहाँसे प्रधान सामनेके चक्र या सिरके अगले भागमें स्थित मस्तिष्कके प्रधान क्रियात्मक केन्द्रमें पहुँचता है जिसे मन या बुद्धिके आवास होनेकी कल्पना करते हैं। मन उस संवेदनका अनुभव करता है और क्रियात्मक शक्तिको क्रियाशील तन्तुओंके द्वारा हाथ पैर आदि बाह्य प्रान्तको भेजता है। संवेदनके लिये यह सारी क्रियाएँ मस्तिष्कद्वारा होती हैं, जैसे यकृत्से पित्तकी क्रिया होती है। पाश्चात्य डाक्टर मनके यथार्थ स्वभाव और क्रियासे परिचित नहीं होते। वे अभी अँधेरेमें टटोलनेवाले अन्धोंके समान हैं। हिन्दू दार्शनिक भावोंके समझनेके लिये उनके मस्तिष्कमें बलवती प्रज्ञा आवश्यक है।

२६५-सबसे पहले स्थूल चक्षु कारण या साधन है। यह ऐन्द्रिय संस्कारोंको केन्द्रकी ओर इन्द्रियोंको प्रदान करता है। मन तब इन्द्रियों तथा बाह्य साधनों-भौतिक नेत्र, श्रोत्र आदिसे संयुक्त होता है। मन उन संस्कारोंको और आगे बढ़ाता है एवं उन्हें बुद्धिके सामने उपस्थित करता है जो विचार करती है, प्रतिक्रिया करती है। तब अहङ्कारकी भावना चमक उठती है जो आत्माभिमान प्रकट करती है तथा अभेद भाव दिखलाती है। इसके पश्चात् क्रिया और प्रतिक्रियाका यह मिश्रण पुरुषके सम्मुख उपस्थित होता है, जो वस्तुतः जीव है और इस मिश्रणमें विषयको प्रत्यक्ष करता है। प्रत्यक्ष ज्ञानका वास्तविक अधिष्ठान पुरुष है, जिसको पाश्चात्य डाक्टर और मानस-शास्त्रविद् नहीं जानते। तदनन्तर बुद्धि उपयुक्त निर्णय और निश्चय तथा उपस्थित विषयकी पूरी छान-बीन कर लेनेके पश्चात् मनको उसे कार्यान्वित करनेकी आज्ञा देती है। बुद्धि ही प्रधान मन्त्री और जज है जो मनरूपी एडवोकेटके बयानको सुनती है। मनको दो प्रकारका कार्य करना पड़ता है-एक तो एडवोकेट (वकील) का और दूसरा कमाण्डर-इन-चीफ (प्रधान सेनापति)का। बुद्धिकी निश्चय की हुई आज्ञाको प्राप्त कर मन कमाण्डर-इन-चीफका कार्य प्रारम्भ कर देता है और बुद्धिकी आज्ञाको अपने पाँच सिपाहियोंके द्वारा कार्यान्वित कराता है, यह पाँच सिपाही पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। देखिये, हिन्दू-दर्शनमें सब बातें किसप्रकार साफ-साफ बतला दी गयी हैं। यह विषय सांख्यदर्शनके अनुसार लिखा गया है।

२६६-ध्यानके समय मनके साथ कुश्ती न लड़ो, यह एक भारी भूल है। बहुत-से नये अभ्यासी यह भारी भूल कर बैठते हैं। यही कारण है कि वे शीघ्र थक जाते हैं। उनका सिर दुखने लगता है तथा मेरुदण्डके स्नायुकेन्द्रमें उत्तेजन होनेके कारण उन्हें बार-बार मूत्रत्यागके लिये उठना पड़ता है। आसानीसे, सुखपूर्वक पद्म, सिद्ध, सुख या स्वस्तिक आसनसे बैठो। सिर, गर्दन और बदनको एकसीधमें रक्खो। पुट्ठों, नस-नाड़ियों और मस्तिष्कको ढीला छोड़ दो। वासनात्मक मनको शान्त कर दो। आँखोंको मूँद लो। ब्राह्ममुहूर्तमें चार बजे उठो। मनके साथ भिड़ो मत। इसको शान्त और ढीला कर दो। केवल एक निरन्तर सौम्य-भावसे प्रवाहित होनेवाली ब्रह्मभावनाका इसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवेश होने दो। धीरे-धीरे दूसरी बाह्य सांसारिक भावनाओंको बाहर निकालो। बार-बार 'ॐ' या 'अहं ब्रह्मास्मि' का मानसिक जप करते हुए ब्रह्माकार-वृत्तिको सतत बनाये रखनेकी चेष्टा करो। अनन्तकी भावना, प्रकाशके सिन्धुकी भावना, पूर्णज्ञान और पूर्णानन्दकी भावना 'ॐ' के मानसिक जपके साथ-साथ होनी चाहिये। यदि मन भटके तो साढ़े तीन मात्राके दीर्घ प्रणवका छः बार जप कर जाओ। यह क्रिया विक्षेप और दूसरे विघ्नोंको दूर हटायगी।

२६७-मनकी कामना ही इस शरीरकी रचना करती है। जिसप्रकारका संस्कार होता है, कामना भी मनमें वैसी ही उठती है। यदि संस्कार अच्छे और धार्मिक हैं तो कामनाएँ भी अच्छी ही उठेंगी। और यदि कामनाएँ अच्छी हैं तो संस्कार भी अच्छे ही पड़ेंगे। बुद्धि भी कर्मानुसार बनती है। पुनीत धर्मशास्त्रोंके उपदेशानुसार विचारने और कर्ममें प्रवृत्त होनेके, बार-बार प्रयत्न करके, इसे विशेषरूपसे बनानेकी आवश्यकता है। कामनाओंसे विचार उत्पन्न होते हैं और विचार कार्यरूपमें परिणत हो जाते हैं। एक बुरी कामना बुरे विचार और बुरे कर्मको उपस्थित करती है। सदा धार्मिक कर्म, दान, तप, जप, दम, ध्यान, धर्म-ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो। शास्त्रोंके द्वारा निषिद्ध कर्मोंको छोड़ो। सदा सत्सङ्ग करो। यह अत्यन्त ही उपयोगी है। मनसे बुरे संस्कारोंके बदलनेका यह एक ही उपाय है। ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये दृढ़ सङ्कल्प करो। इससे सारी सांसारिक कामनाएँ नष्ट हो जायँगी।

२६८-मानसिक कर्म ही वास्तविक कर्म है। वस्तुतः विचार ही कर्म है, विचार एक गत्यात्मक शक्ति है। विचार संक्रामक होता है। द्वेषका विचार उनमें भी द्वेषको उत्पन्न करता है जो तुम्हें घेरे रहते हैं। आनन्दके विचार सहानुभूतिके द्वारा दूसरोंमें भी आनन्दके विचारको उत्पन्न करते हैं। यही हाल उन्नत और उत्कर्षप्रद विचारोंका है, इनसे अशुभ विचार नष्ट हो जाते हैं। अशुभ विचारके विपरीत क्रिया करनेमें उत्तम विचार अत्यन्त ही महत्त्वके होते हैं।

२६९-गम्भीर ध्यानसे समाधि अर्थात् ब्रह्मके साथ एकत्वकी प्राप्ति होती है। मन अपने व्यक्तित्वको नष्ट कर ध्येय वस्तुके साथ एकाकार हो जाता है। अर्थात् तच्चित्त, तन्मय, तदाकार हो जाता है। मन आत्मासे पूर्ण हो जाता है (गीतामें अ० २-४५ कथित आत्मवान् अवस्थाको प्राप्त हो जाता है), ध्यान करते समय मनमें जो तीन प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं उनपर ध्यान दो, वे हैं विचार, अनुभव और तद्रूपता। समाधि-दशामें न तो ध्यान रहता है और न ध्याता ही। त्रिपुटी अन्तर्हित हो जाती है। ध्याता अपने व्यक्तित्वको ब्रह्मकी व्यापकतामें विलीन कर देता है, डुबो देता है और भुला देता है, एवं अन्तमें वह भगवान्‌के हाथका खिलौना (साधन) मात्र हो जाता है। जब वह मुँह खोलता है तो बिना प्रयासके, बिना सोचे सहज ज्ञानके द्वारा भगवान्‌की वाणी बोलने लगता है। जब वह हाथ उठाता है तो भगवान् उसके द्वारा चमत्कारके कार्य सम्पन्न कराते हैं।

२७०-सांसारिक कामनाओंमें पड़ा हुआ मनुष्य वासनात्मक विचार तथा ईर्ष्या-द्वेष और घृणाके विचारोंका ही शिकार बनता है। यही दो प्रकारके विचार यथार्थमें उसके मनपर अधिकार जमा लेते हैं, वह इन दोनों प्रकारके विचारोंका दास बन जाता है। वह किसी दूसरे अच्छे और उच्च विचारोंमें मनको रमाना और उनमें उसे स्थिर करना नहीं जानता। वह विचार करनेकी विधिको नहीं जानता। वह मनके स्वभाव और सूक्ष्म क्रियाओंसे पूर्णतः अनवधान रहता है। अतः भौतिक सम्पत्ति और विश्वविद्यालयोंके मिथ्या ज्ञानके होते हुए भी उसकी अवस्था अत्यन्त शोक-जनक रहती है। उसका सारा ज्ञान खोखला होता है। उसमें विवेकका उदय नहीं होता। उसको सन्तों, शास्त्रों और भगवान्‌में श्रद्धा नहीं होती। वह अपनी सङ्कल्प-शक्तिकी हीनताके कारण बुरी कामनाओं, प्रवृत्तियों और प्रलोभनोंके हटानेमें असमर्थ होता है। इस सांसारिक नशे, सांसारिक टोने और सांसारिक मायाजालके दूर करनेकी एकमात्र ओषधि है, सदा सत्सङ्ग करना, सच्चे साधु-संन्यासी और महात्माओंके साथ रहना।

२७१-मनको आत्मामें लगाओ। मनको स्वयं-ज्योति, शुद्ध बुद्ध और व्यापक ब्रह्ममें लगाओ। ब्रह्ममें खूब दृढ़तापूर्वक स्थिर हो। तब तुम छान्दोग्य उपनिषद् २-१३ में कही हुई ब्रह्मसंस्थ-अवस्थाको प्राप्त होगे।

२७२-हे सांसारिक मूढ़ पुरुषो! तुम सुखको बाह्य जगत्‌के कामिनी और काञ्चनमें क्या ढूँढ़ते हो? तुम्हें वहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुख कभी नहीं मिलेगा। तुम्हें पूर्णतया भ्रान्ति हो गयी है, तुम एकदम मायाजालमें फँस गये हो। अपने हृदयमें, अपने आत्मामें खोजो, जो सारे सुखोंका मूल स्रोत है। अपने भीतर शक्तिभर जी-जानसे खोज करो। मन और इन्द्रियोंपर विश्वास मत करो, वे तुम्हारे शत्रु हैं। कामिनी और काञ्चन तुम्हारे भयानक शत्रु हैं। यह दो प्रकारके दोष हैं।

२७३—वह मनुष्य ही असलमें अधिपति और महाराजा है जिसने मनपर विजय प्राप्त कर लिया है। वही मनुष्य सबसे बड़ा धनी है जिसने कामनाओं, वासनाओं और अपने मनको जीत लिया है।

२७४—वही असल क्षत्रिय है जो मनसे आन्तरिक युद्ध छेड़े हुए है, जो विवेक और सङ्कल्प-शक्तिके द्वारा इन्द्रियोंके साथ, स्वभावके साथ युद्ध करता है और मनके ऊपर एकाधिपत्य प्राप्त करता है। वही असल क्षत्रिय है जो बुरे संस्कारों, बुरे विचारों, रजोगुण-तमोगुणकी सेनाके साथ अपने सत्त्वगुणको जागृत करते हुए तथा बढ़ाते हुए युद्ध करता है। वही असल क्षत्रिय है जिसका शस्त्र सङ्कल्प और अस्त्र विवेक है, जिसका युद्ध-क्षेत्र अन्तःकरण है, जिसका शङ्ख (बैण्ड) प्रणव, ॐ और छान्दोग्यकी उद्गीथका गान है; विवेक, वैराग्य, शम-दमादि साधन-सम्पदा और मुमुक्षुत्व जिसके कवच हैं।

२७५—मनमें राग-द्वेषका होना ही यथार्थमें कर्म है। यही मौलिक कर्म है। अविद्यासे अविवेक उत्पन्न होता है, अविवेकसे अहङ्कार और अभिमान होते हैं, अभिमानसे राग-द्वेष उत्पन्न होता है और राग-द्वेषसे कर्म, कर्मसे शरीर मिलता है और शरीरसे दुःख प्राप्त होता है। यही सात कड़ियोंके द्वारा बन्धनकी शृङ्खला है। यही दुःखकी जंजीर है। ब्रह्मज्ञानके द्वारा इनके मूल अविद्याको ही नष्ट कर दो, सारी कड़ियाँ छिन्न-भिन्न हो जायँगी। मुक्ति ब्रह्मज्ञानसे ही प्राप्त होती है।

मुक्तावलीका स्वर्णकण

सात्त्विक प्रेम प्रकाश है एवं तामसिक प्रेम अन्धकार है।

* * *

विषय-वासना-जन्य प्रेम सन्देह और सन्तापका मूल स्रोत है।

* * *

निराश प्रेमी यदि प्रेमपात्रके दोषोंके ऊपर दृक्पात करनेके प्रथम अन्तर्दृष्टि होकर अपने ही दोषोंके ऊपर दृक्पात किया करें तो उन्हें बहुत अधिक शान्ति मिल सकती है।

* * *

'प्रेम अन्धा होता है' यह लोकोक्ति ठीक नहीं है, 'प्रेम' स्वतःप्रकाशरूप होनेके कारण अन्धत्वकी प्रतीति औपाधिक है। मलिन विषय-वासनाकी उपाधिके कारण ही लोकमें इसप्रकारकी कल्पना की जाती है।

* * *

बाह्य सौन्दर्य या आभ्यन्तर सौन्दर्य ये दोनों अथवा इनमेंसे कोई एक ही प्रेमका जनक है, यह विचार भी वस्तुतः कल्पना-जगत्‌का चमत्कार है। सौन्दर्य और प्रेममें जन्य-जनक-भावकी कल्पना करना नितान्त तर्कसङ्गत नहीं है।

* * *

हाँ, सौन्दर्य यदि शरीर है तो 'प्रेम' उसका आत्मा है, सौन्दर्य यदि सुन्दर मन्दिर है तो 'प्रेम' उसका प्रभापूर्ण मणिमय प्रदीप है, सौन्दर्य यदि स्वर्गिक पारिजात-प्रसून है तो 'प्रेम' उसका पुण्य परिमल है एवं सौन्दर्य यदि भूरिभाग्य-लब्ध भगवद्विभूति है तो 'प्रेम' साक्षात् भगवत्स्वरूप है।

—श्रीहरि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वोत्तम तीर्थ

(लेखिका—बहिन जयदेवीजी)

श्रेयसाधिका-बहिन ! आपने तीर्थयात्रा बहुत की हैं, बड़े-बड़े तीर्थोंमें हो आयी हैं। कृपया तीर्थोंके नाम, तीर्थयात्राकी विधि और उसका फल बताइये और यह भी बताइये कि आपने कौन-सा तीर्थ सर्वोत्तम निश्चय किया है ?

तीर्थाबाई-बहिन ! तीर्थोंमें जानेका नाम तीर्थयात्रा है। जैसे शरीरके कई स्थान पवित्र समझे जाते हैं, इसी प्रकार पृथ्वीके कई स्थान पवित्र माने जाते हैं। भूमिके, जलके और तेजके प्रभावसे दानमें, मुनियोंमें और तीर्थोंमें पवित्रता मानी जाती है, साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं, उनमेंसे कुछ तीर्थोंके नाम बताती हूँ—

(१) पुष्कर—यह ब्रह्माका स्थान है, तीर्थराज नामसे प्रसिद्ध है, (२) गङ्गा—कलियुगमें गङ्गाका ही आश्रय ले, यह विद्वानोंका मत है, (३) नर्मदा नदी, (४) दक्षिण सिन्धु, (५) प्रभासक्षेत्र, (६) द्वारावती, (७) समुद्र-सिन्धु-संगम, (८) कुमारिका, (९) केदारखण्ड, (१०) बदरिकाश्रम, (११) नैमिषारण्य, (१२) कुरुक्षेत्र, (१३) गङ्गाद्वार, (१४) सप्तगङ्गा (१५) प्रयाग, (१६) कनखल, (१७) गङ्गोद्भेद, (१८) सरस्वती, (१९) लोहित्य, (२०) करतोया, (२१) गङ्गा-सागर-संगम, (२२) वृन्दावन, (२३) मथुरा, (२४) काशी, (२५) काञ्ची, (२६) पुरुषोत्तम-क्षेत्र, (२७) अयोध्या, (२८) गोदावरी, (२९) दण्डकारण्य, (३०) चित्रकूट पर्वत।

हे बहिन ! तीर्थयात्रामें भाई-बहिनोंको संयमी होकर भक्तिभाव और नम्र-बुद्धिसे जाना चाहिये और वहाँ जाकर तीर्थके सभी कृत्योंको अपनी शक्तिभर विधिपूर्वक करना चाहिये। पुण्य-स्थानका नाम तीर्थ है। जहाँ पुण्य प्राप्त करनेके लिये जाते हैं, वही तीर्थ कहलाता है। जो तीर्थमें पाप करता है, वह तीर्थके फलको प्राप्त नहीं होता, वह उलटा पापके फलका भागी होता है। प्रायश्चित्त-तत्त्व-ग्रन्थमें कहा है कि अश्रद्धालु, पापात्मा, नास्तिक, तीर्थफलमें संशय करनेवाला और किसी प्रकारका धन्धा करनेकी इच्छासे तीर्थमें जानेवाला ये पाँचों तीर्थफलके यथार्थ भागी नहीं होते। हे बहिन ! जैसे तीर्थमें पुण्य करनेसे दशगुणा पण्य होता है इसी प्रकार तीर्थमें पाप करनेसे वह भी दशगुणा हो जाता है, ऐसा विद्वानोंका मत है, इसलिये तीर्थोंमें विशुद्ध मनसे जाना चाहिये।

हे बहिन ! तीर्थोंमें बड़ा-छोटा कोई नहीं है, सब तीर्थ एक-से ही हैं। फल भावनाका होता है। विशुद्ध मन ही सर्वोत्तम तीर्थ है। कहा भी है कि 'मन चंगा तो कठौतीमें गंगा !' भक्तोंका चित्त विशुद्ध होता है, क्योंकि भक्तोंके चित्तमें श्रीकृष्ण भगवान् निवास करते हैं और भगवान्‌के चित्तमें भक्त रहते हैं, इसलिये जिसको परम शान्तिकी इच्छा हो, वह भक्तोंका समागम करे। 'जैसा संग वैसा रंग' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। जो कोई भक्तोंका समागम करता है, वह स्वयं भक्त बन जाता है। भक्तोंका चित्त निर्मल होता है, इसलिये जो उनका संग करता है, वह भी निर्मल चित्तवाला हो जाता है। यह सर्वोत्तम तीर्थ मन अपने पास ही है, और भक्त भी अपने पास ही हैं, परन्तु भाई-बहिनोंका दुर्भाग्य है कि वे भक्तोंको देख नहीं सकते और देखते हुए भी पहचान नहीं सकते।

श्रेयसाधिका-बहिन ! चित्त निर्मल बनानेका उपाय बताइये, जिससे वह सर्वोत्तम तीर्थ बन जाय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीर्थीबाई—हे बहिन ! भगवत्‌का भजन करनेसे मन शुद्ध होता है। भगवत् कहीं दूर नहीं हैं, उनको ढूँढ़नेके लिये बाहर जाना नहीं पड़ता, भगवत् मनमें ही हैं। अशुद्ध मन होनेसे भगवान् देखनेमें नहीं आते, शुद्ध मनवालेको भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। हृदयाकाशमें बैठे हुए अन्तर्यामी महेश्वरमें अनन्य ममता करनेका नाम ही भजन अर्थात् शुभा भक्ति है, परन्तु जिन बहिनों-के मनमें वैराग्य नहीं है, जिनके मन दुर्भावनाओंसे भरे हुए हैं, उनसे भक्ति नहीं हो सकती। जो वैराग्यवान् है, जिसका मन तृष्णा और दुर्भावनाओं-से रहित है, वही परमेश्वरकी भक्ति कर सकता है। यह विश्व माया है, यहाँकी कोई वस्तु स्थिर नहीं है, सब वस्तुएँ क्षणभङ्गुर हैं। वस्तुएँ ही नहीं, अपना यह शरीर भी कभी एक-सा नहीं रहता। आयुका भरोसा नहीं है, मृत्यु हर घड़ी शिरपर सवार है, फिर ऐसे शरीरकी ममता करना व्यर्थ ही है। इस-प्रकार विश्वको मायामय जानकर जो मनसे सबका संग त्याग देता है, वही वैराग्यवान् ईश्वरके भजनमें मन लगाता है। ईश्वरके भजनसे तत्त्व-ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। गरुड़पुराणमें कहा है कि परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, इस विश्वरूप परमात्माको जानकर मनुष्य मोहित नहीं होता। गीतामें कहा है कि सब कुछ वासुदेव ही है। 'वासुदेवः सर्वमिति।'

हे बहिन! जो चित्त शुद्ध होता है, पुण्यसे यानी पवित्रतासे पूर्ण होता है, गम्भीर, शान्त, निर्मल और स्थिर होता है, उसी चित्तमें यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। निष्काम कर्म, संयम और सदाचारसे चित्तकी शुद्धि होती है। निष्कामभावसे अपने कर्म-धर्म करना ही महेश्वरका पूजन है, महेश्वरके पूजनसे बुद्धिमान् स्त्री-पुरुष अव्यय और नित्य पदको पाकर परम सुखी होते हैं। जो स्त्री-पुरुष अपने धर्म-कर्मका पालन नहीं करते, वे आलसी घोर संकटमें पड़ते हैं, इसलिये अपने धर्मका पालन सभीको अवश्य करना चाहिये।

हे बहिन! सत्पुरुषोंका संग और शुभ शास्त्र ये दो नेत्र हैं, जो इन दोनों नेत्रोंसे हीन हैं, वे अवश्य ही अन्धे हैं। यह संसार-वन अन्धकारसे छाया हुआ है, इसलिये यहाँ किसीको मार्ग नहीं सूझता। काम, क्रोध, लोभ आदि इस संसार-वनमें अनेक वृक्ष हैं और काल इस संसारमें भयंकर सर्प है, जो सबको डसता रहता है। इस संसारमें सभी महामायासे मोहित हैं, कोई विरला ही बचा हुआ है। जैसे बालक मोदकसे ठगे जाते हैं, इसी प्रकार कामने सब प्राणियोंको ठग रक्खा है। जैसे राहुसे ग्रसित चाँदकी चाँदनी नहीं भासती, इसी प्रकार मोहसे दबी हुई शुभ बुद्धि भी भासती नहीं है। इसप्रकार मोहसे अन्धे हुए दुर्बल पथिकोंके लिये सत्पुरुषोंका संग और शुभ शास्त्र ये दो ही अवलम्बनरूप हैं। इन्हींके सहारे मनुष्य अन्धकार-मय संसार-वनसे पार हो सकता है, इन दो सहारों-के सिवा अन्य कोई भी सहारा नहीं है, इसलिये सत्पुरुष और शुभ शास्त्रोंका ही हम सबको अवलम्बन लेना चाहिये। अनादिकालसे आजतक जिस किसीका कल्याण हुआ है, सत्संग और सत्शास्त्रोंसे ही हुआ है। ये दोनों ही सर्वोत्तम तीर्थ हैं, इन दोनोंको सेवन करनेवालेका मन भी सर्वोत्तम तीर्थ बन जाता है।

हे बहिन! सत्पुरुषोंका मन और सत्शास्त्र ये दोनों ही सर्वोत्तम तीर्थ हैं, मैं तुझे इन दोनोंके लक्षण बहुत ही संक्षेपमें सुनाती हूँ। इनको जाननेसे मन निर्मल होता है। प्रथम सत्पुरुषोंके लक्षण सुन—जो सज्जन ब्रह्मके सिवा कभी कोई अन्य वस्तु नहीं देखता। सर्वत्र, सर्वदा सब वस्तुओंमें एक ब्रह्मको ही देखता है, वह सत्पुरुष है, उसका सेवन करनेसे महामोह दूर होता है। जो सज्जन विष्णु भगवान्‌के प्रेममें निमग्न हो, तप और वैराग्यसे भूषित है, वह सत्पुरुष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, चित्तका संयम करनेके लिये उस शिष्ट पुरुषकी सेवा करनी चाहिये। पुरुष हो या स्त्री, वही सेवा करनेके योग्य है, जो सब भूतोंपर दया करता है, कपट-त्यागी सरलतायुक्त है, सत्यपरायण है, स्वधर्ममें निरत है, ईश्वरभक्त है, निःस्वार्थी है और निर्मल आशयवाला है, शुभेच्छाकी वृद्धिके लिये ऐसे सज्जनकी सेवा करनी चाहिये।

हे बहिन! जो सब वर्ण-आश्रमोंपर शासन करता है और सबको पापोंसे तारता है, उसका नाम शास्त्र है। वेद, पुराण, इतिहास, भागवत, गीता, विष्णु-सहस्रनाम, रामायण आदि सब सत्शास्त्र हैं। इनके सुनने और पाठ करनेसे मन शुद्ध होता है। पुराणोंमें बहुत ही रोचक कथाओंद्वारा ज्ञान, वैराग्य, भक्ति-का वर्णन है। पुराणोंमें भागवत-पुराण बहुत ही उपयोगी शिक्षाप्रद और सन्मार्ग दिखानेवाला है। इतिहासोंमें तुलसीकृत रामायण बहुत ही सुन्दर है, भाषा ललित है, पद-पदपर धर्म, नीति, भक्ति, ज्ञान-का वर्णन है,मूढ़-से-मूढ़ स्त्री-पुरुष इसका पाठ करने-से सुधर चुके हैं, सुधर रहे हैं और सुधरते रहेंगे।

हे बहिन! सत्पुरुषोंका संग करे, सद्ग्रन्थोंका अवलम्बन ग्रहण करे और सत्कर्म करे। दुर्जनोंके संग-से संगदोष होता है, संगदोष शुभ गुणोंको हर लेता है, इसलिये दुर्जनोंका संग सर्वथा त्याग देना चाहिये। दुर्जनोंके पास बैठनेसे, उनके साथ भाषण करनेसे, उनको छूनेसे, उनके साथ भोजन करनेसे पापकी वृद्धि होती है। बुरी पुस्तकके पढ़नेसे चित्त विक्षिप्त होता है। विद्वानोंका वचन है कि कुसंग, कुचिन्तन, कुपुस्तक, कुवचन, कुश्रवण, कुकर्म और कुमित्रको शीघ्र ही त्याग दे। जैसे दुर्जनोंका संग भय उत्पन्न करनेवाला है, इसी प्रकार सत्पुरुषोंका संग दुःखनाशकी परम ओषधि है।

हे बहिन! बिना परिश्रम किये कुछ प्राप्त नहीं होता, जो कुछ प्राप्त होता है, श्रमसे ही होता है इसलिये धैर्य और उद्यमसे सम्पन्न होकर आलस्यको दूर करना चाहिये। आलस्य कल्याण और उन्नतिका रोकनेवाला है, आलस्य तमोगुणसे आच्छादित होता है, इस आलस्यमें सारे दोष भरे हैं। हे बहिन! आलस्यसे अपनी तो हानि होती ही है, दूसरोंकी भी हानि होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आलस्य-से विषाद तथा जड़ता होती है और स्त्री-पुरुषोंको अधोगति प्राप्त होती है। पुरुषार्थशील पुरुषोंकी विश्वनाथ सहायता करते हैं, इसलिये नित्य निर्भय होकर हम सबको प्रयत्नपूर्वक उद्यमी बनना चाहिये। काल और नदीका जल किसीकी प्रतीक्षा नहीं करते, अतएव अधर्मके बीजोंको चित्तसे निकाल कर शीघ्र ही फेंक देना चाहिये।

हे बहिन! काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, मिथ्या-चार, अनाचार और मात्सर्य ये सब चित्तके रोग हैं। इन रोगोंके कारण चित्त दुखी रहता है, दुखी चित्त हिताहितका निर्णय नहीं कर सकता। जैसे रोगी अपनी चिकित्सा आप नहीं कर सकता, किन्तु निपुण वैद्यसे अपने रोगका निदान करवाकर वैद्यकी दी हुई ओषधिका सेवन करनेपर नीरोग होता है। इसीप्रकार विक्षिप्त और रोगी मनवालोंके लिये सत्पुरुष वैद्य और सत्शास्त्र ओषधिरूप हैं। सत्पुरुषों-के उपदेशरूप ओषधिका सेवन करनेसे मन आरोग्य हो जाता है। स्वस्थ मन सुखी होता है। मद गर्वको कहते हैं। क्रिया-योग-सागरमें कहा है कि 'मैं महात्मा हूँ, धनवान हूँ, मेरे समान पृथ्वीपर कोई नहीं है' इस प्रकारके अभिमानको पण्डितगण मद कहते हैं। मोह अविद्याका नाम है। देहादिमें आत्मबुद्धि करना मोह है। पद्मपुराणमें कहा है कि 'यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा घर है, इत्यादि ममताका नाम मोह है। कपटके आचारका नाम मिथ्याचार है। विहित कर्मोंको न करना और निषिद्ध कर्मोंका करना अनाचार है। दूसरेके शुभसे द्वेष करनेका नाम मात्सर्य है। हे बहिन! उपर्युक्त काम-क्रोधादि दोषोंको चित्तसे सर्वथा निकाल देना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे बहिन! अश्लील भाषण (गन्दी जबान) कभी नहीं करना चाहिये। दिल्लगी करना, कठोर वचन बोलना, व्यर्थ भाषण करना आदि दोष कल्याण चाहनेवाले स्त्री-पुरुषोंको सर्वथा त्याग देने चाहिये। कहा भी है कि 'खोय चटोरी एक घर दो घर खोय बतोर।' अपनी प्रशंसा करना, दूसरेकी चुगली खाना, परायी निन्दा करना, चोरी करना, विश्वासघात करना, दूसरेका अनिष्ट चिन्तन करना, ये सब दोष चित्तको चित्तसे दबाकर सर्वथा त्याग देने चाहिये, निन्दित कर्मोंसे चित्त और इन्द्रियोंको निवारण करे, सर्वदा गुणग्राही और दोष-त्यागी होवे, ऐसा करनेसे चित्त शुद्ध होकर सर्वोत्तम तीर्थ बन जाता है।

हे बहिन! सदा सच्ची, सरल, मधुर और दूसरोंके हितकी वाणी बोले। मधुर भाषण करना उत्तम गुण है। मधुरके साथ हितकर भी हो तो सोना और सुगन्ध दोनों है। मधुर हो, हितकर हो और सत्य हो, तो समझना चाहिये कि सुगन्धित सोना मीठा भी हो गया। अनसूया (असूयाका त्याग), क्षमा, शौच, सन्तोष और तितिक्षा, श्रद्धा, भक्ति, स्थैर्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा प्रयत्नपूर्वक करे और देह-निर्वाहके योग्य वस्तुओंके अतिरिक्त शेष समस्त भोगोंका त्याग कर देवे। पराये गुणोंमें दोषारोपण और दोषोंमें गुणारोपण करनेका नाम असूया है, इससे विरुद्धका नाम अनसूया है। अत्रिसंहितामें कहा है कि 'गुणी पुरुषोंके गुणको न छिपाना, दूसरोंके थोड़े गुणोंकी भी स्तुति करना और अन्यके दोषोंपर न हँसना, इसका नाम अनसूया है। बाहर और भीतरके दुःख आनेपर न तो कोप करे और न दूसरेको पीड़ा दे, इसका नाम क्षमा है। शरीर और मनकी शुद्धिका नाम शौच है। शीतोष्णादि द्वन्द्वोंके सहन करनेका नाम तितिक्षा है, तितिक्षाका दूसरा नाम सहिष्णुता है।

हे बहिन! स्वप्नमें भी दूसरेकी बुराई न चीते। सर्वदा प्रेम-भरे चित्तसे सबका कल्याण-चिन्तन करे। जो दुःखका क्षय करता है, उसका नाम कल्याण है, कल्याणको कुशल, क्षेम और मोक्ष भी कहते हैं। विद्वान् अनुक्रोशपरायण होकर सब प्राणियोंकी सेवा करे। करुणा और दयाका नाम अनुक्रोश है अथवा पराये दुःखको देखकर दुखी होना और उसके दुःखके निवारणके लिये प्रयत्न करना, इसका नाम अनुक्रोश है। कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको चाहिये कि शिष्टाचार, अमानित्व और नम्रताका पालन करें, तथा विद्या और विनयसे सम्पन्न होकर सदा मोक्षकी कामना करें। शिष्ट पुरुषोंके आचरण यानी सद्व्यवहारका नाम शिष्टाचरण है। 'मेरे समान दूसरा नहीं है' इसप्रकार माननेका नाम मानित्व है अथवा अपनेमें पूज्य-बुद्धि होनेका नाम मानित्व है और इससे विरुद्धका नाम अमानित्व है।

हे बहिन! राम, कृष्ण, शिव, नारायण, वासुदेव आदि ईश्वरके और गंगा, गोमती, सीता, शिवादि ईश्वरीके नामोंका उठते-बैठते, चलते-फिरते निरन्तर प्रेमपूर्वक जप करनेसे शनैः-शनैः पाप क्षीण हो जाते हैं, मन निर्मल हो जाता है और समस्त उत्तम गुण आप ही आ जाते हैं। मनको सर्वोत्तम तीर्थ बनानेका यह सबसे सुगम उपाय है, ऐसा मैंने सत्पुरुषोंसे सुना है और स्वयं भी अनुभव किया है।

श्रेयसाधिका—(प्रसन्न होकर) बहिन! यह बात तो आपने मेरे मनकी-सी कह दी, इसका मुझे भी स्वयं अनुभव है। मैं भी ऐसा ही किया करती हूँ, पूर्वकी अपेक्षा अब मेरा चित्त बहुत शुद्ध हो गया है और दिनोंदिन होता जा रहा है, हृदय शीतल बना रहता है, सुख-दुःखादि द्वन्द्व नहीं सताते, मन प्रसन्न बना रहता है, शान्ति, सन्तोषादि शुभगुण भी बढ़ते जा रहे हैं। यद्यपि अपनी प्रशंसा करना दोषरूप है, परन्तु आप-सरीखी साध्वीसे मनकी बात छिपानी भी नहीं चाहिये। कहा भी है—'गुरुसे कपट मित्रसे चोरी, के हो अन्धा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हो कोई !' इसीलिये आपसे कहा है। इसके सिवा वस्तुतः यह अपनी बड़ाई भी नहीं है, यह तो श्रीराम-नामकी बड़ाई है, राम-नामका अवलम्बन लेकर कौन सुखी नहीं हुआ ? नामका अवलम्बन लेकर ही सब सुखी हुए हैं और हो रहे हैं। लोकोक्ति है-'संसारभर दुखिया, नामाधारी केवल सुखिया !' बहिन ! बस, मेरा तो भगवन्नाम ही आधार है। मैं न निर्गुण ब्रह्मको जानती हूँ, और न सगुण ब्रह्मको ही पहचानती हूँ। बस, मुझे तो राम-नाम जपनेसे सुख होता है और सुख ही ब्रह्म है, ब्रह्म नाम बहुतका है, बहुत ही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है इसमें श्रुति, स्मृति और सन्तोंकी वाणी प्रमाण है। मुझे विश्वास है कि जब मैं भगवन्नाम जपते-जपते सब कुछ भूल जाऊँगी, तब केवल एक भगवत् ही शेष रह जायँगे। इस अवस्थामें मैं राम-नामकी शरण क्यों न लूँ ? सच कहा है—

कुं०—जपनेसे हरि नामके, छीण होय हैं पाप।
ताप सकल मिट जायँ हैं, जीव होय निष्पाप॥
जीव होय निष्पाप, दर्श भगवत्का होता।
दुःख होय सब दूर, जीव सुखसे है सोता॥
जयदेवी ! जप नाम, मुक्त हो जा तपनेसे।
सर्वोत्तम हो तीर्थ, शुद्ध मन हरि जपनेसे॥

विरहिणी

यमुन-सलिलसे सिक्त कुञ्जमें,
प्रियतम ! रचकर पर्ण-कुटीर;
तेरी पुनर्मिलन आशा हित,
रहूँ सँभाले क्षीण शरीर।

× × × ×

नयन पात्रमें अश्रु अर्घ्य भर,
प्रक्षालन हित चरण विशाल;
प्रिय शब्दोंकी गूँथा करती,
पहनानेको नित वरमाल।

× × × ×

तेरे इस निर्दिष्ट मार्गमें,
जाकर मैं नव-सुषुमागार;
विरहानल भड़का लाती हूँ,
और द्विगुण ही प्राणाधार !

× × × ×

अखिल निशा तेरे चिन्तनमें,
पार्श्व बदलते जाती बीत;
कभी एक क्षण मिलती आँखें,
गाते गाते तेरा गीत।

× × × ×

अँधियारी इस दीन कुटीमें,
कब होगा प्रिय ! विमल प्रकाश;
देखूँगी कब अरुण अधरपर,
प्रियतम ! तेरा मंजुल हास।

× × × ×

उन्मादक नव-प्रेम-सुधाका,
दोगे कब भर प्याला नाथ;
उतराकर आनन्द सिन्धुमें,
झूमूँगी कब तुम्हरे साथ !

× × × ×

प्यारे ! कबसे चुभा हुआ है,
तेरी चितवनका हिय तीर;
भिषक्मणे ! आ, रह रह खींचो !
आह ! असह, उह कैसी पीर !

'शिशु'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरक्त किसे कहते हैं ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीमाधवानन्दजी)

एक समय एक गृहस्थ पुरुषने किसी शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप संन्यासी महात्माके समीप जाकर कहा कि 'हे प्रभो! मैं विरक्त होना चाहता हूँ !' इसपर वे महात्मा बोले—'भाई ! विरक्त तो उसे कहते हैं जो किसीसे राग-द्वेष न करे । परन्तु तू तो गृहस्थादि पदार्थोंको त्यागकर मोक्ष प्राप्त करनेके लिये विरक्तका वेश धारण करता है, ऐसा करनेसे त विरक्त नहीं होगा । तुझे अहङ्कारको त्यागकर आत्माका अनुभव करना चाहिये जो सुखका हेतु है, उसे न करके तू उल्टा काम करना चाहता है । जो स्वच्छ सूतके वस्त्र और धातुके पात्रको त्यागकर मृगछाला और आशा-कमण्डलुको ग्रहण कर विरक्त होता है वह सच्चा विरक्त नहीं । उसने क्या त्यागा और क्या ग्रहण किया ? जो एक पदार्थका त्यागकर दूसरे एकका ग्रहण करता है वह संन्यासी अथवा विरक्त नहीं है । विरक्त न तो किसीको त्यागता है और न किसीको ग्रहण करता है, वह सिर्फ प्रारब्ध-भोगको भोगता और सबमें समान दृष्टि रखता है ।' महात्माके ऐसे वचन सुनकर गृहस्थ फिर बोला कि 'महाराज ! जैसे विरक्तलोग भेष, मेखला आदि रखा करते हैं वैसे ही मैं भी रक्खूँगा ।' गृहस्थकी इस बातपर महात्माने हँसते हुए कहा कि 'तेरी बुद्धि हँसनेयोग्य है । अरे भाई ! सच्चे विरक्तको भेष, मेखलासे क्या प्रयोजन है ? सच्चा विरक्त वही है जिसने केवल अहङ्कारको त्याग दिया है।'

त्याग करै दुरमन बने, मेल करे सोइ योग ।
मित्र बनावे सर्वको, 'माधव' धिक सुखभोग ॥

निज रूपमें मिला लो तुम

[१]

आओ न भले ही पास, क्रूर बन जाओ देव !
मुझे असहाय-क्षीण देखके जला लो तुम ।
आधि-व्याधियोंसे पूर्ण विश्वके बाज़ार बीच—
छोड़के भले ही दीन दासको रुला लो तुम ॥
अंतमें पड़ेगी यह आपके गलेमें माल,
बनो निराकार 'उस' रूपको छिपा लो तुम ।
कहता हूँ बार-बार बोझ न बढ़ाओ नाथ !
इसे अविलम्ब निज रूपमें मिला लो तुम ॥

—चतुर्वेदी रामचन्द्र शर्मा 'विद्यार्थी'

१—कठिन [शब्दार्थ परिज्ञात]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घर और समाज

(लेखक—स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी)

वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंके अनुसार हिन्दू-परिवार एक छोटा-सा राज्य है और घरका स्वामी उस छोटे-से राज्यका राजा है। अतः हिन्दूसमाज-की सुरक्षा और सुव्यवस्था सर्वप्रथम हिन्दू-गृहसे हिन्दू-गृह-पतिके द्वारा होती है। घरका मालिक हिन्दू-समाजमें सबसे पहले आवश्यकीय नेता है। इस नेतृत्वमें घर ही राज्य और परिवार-वर्ग प्रजा होनेके कारण बाहरके शत्रुओंसे राज्य-रक्षा करनेकी अपेक्षा भीतरकी शान्ति-रक्षाका हो प्रयोजन अधिक रहता है। बाल-बच्चोंमें कलह, परिवारके स्त्री-पुरुषोंमें अनबन आदि इसमें अशान्ति पैदा करते हैं। घरके मालिकका कर्तव्य है, जिससे ऐसी अशान्तिका कोई कारण ही उत्पन्न न हो सके, ऐसा प्रयत्न करे और कदाचित् कुछ हो भी जाय तो, जिससे वह अशान्ति शीघ्र ही नष्ट हो जाय और परिणाममें अशुभ फल उत्पन्न न करे, ऐसा प्रयत्न गृह-पतिको अवश्य ही करना चाहिये। सामाजिक शान्ति-रक्षा-का जो मूल सूत्र है, वही पारिवारिक शान्ति-रक्षाका भी है। वह मूल सूत्र है, अकृत्रिम पक्षपात-शून्यता। जो गृह-पति निष्पक्ष होकर परिवारका झगड़ा मिटा सकते हैं और दोषीका तिरस्कार तथा निर्दोषीका पुरस्कार कर सकते हैं, वे केवल अपनेको और परिवारको ही शान्ति सुख देते हैं, इतना ही नहीं, प्रत्युत परिवारके भीतर धर्मका बीज बोकर अपने जीवनको भी सफल कर सकते हैं।

दया, विनय, महत्ता, कर्तव्य-परायणता आदि समस्त सद्गुणोंके मूलमें न्यायपरायणताका रहना अत्यन्त आवश्यक है। परिवारमें न्यायपरायणता-का अभाव होनेसे समाजमें भी इसका अभाव होगा, और फलस्वरूप सत्यनिष्ठा और श्रद्धाका ह्रास होकर समाज भी हीन-बल हो जायगा। अतः गृह-पतिका कर्तव्य है कि दया, क्षमा, दानशीलता आदि कोमल वृत्तियोंके साथ न्यायपरायणता, सत्याचार, दृढ़ प्रतिज्ञा आदि पवित्र दृढ़ वृत्तियोंको मिलाकर दोनोंका सामञ्जस्य करके परिवारके सदस्योंके साथ व्यवहार रक्खें, तभी वह अपने छोटे-से राज्यमें असीम शान्तिका विस्तार कर सकेंगे।

समाज मनुष्योंके सम्मेलनसे बनता है। इसलिये अन्तःसम्मिलन (भीतरी मेल) जितना दृढ़ होगा, समाज उतना ही बलवान् होगा और उसकी क्रिया-शक्ति भी उतनी ही बढ़ेगी। यह मेल सहानुभूतिकी वृद्धि और स्वार्थ-त्यागसे बढ़ता है। सहानुभूति और स्वार्थत्यागका आधार धर्म है। अतः जिस समाजमें धर्मकी जितनी ही वृद्धि होगी, समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नति भी उतनी ही अधिक होगी।

समाजकी यथार्थ उन्नति न तो केवल शिल्प-कला आदिके विस्तार और उत्कर्षसे होती है, न स्थूल जीवनकी भोग्य वस्तुओंको सुलभ बनानेसे होती है, न धनकी विशेष बढ़तीसे होती है, न बाहरी साम्य-भावके विस्तारसे होती है और न आत्मप्रशंसा करने और होनेपर ही होती है। जिस समाजमें मनुष्योचित आदर्श जितना ऊँचा है, उसके प्रति प्रीति, भक्ति और उसकी साधन-चेष्टा जितनी अधिक है, वह समाज निःसन्देह उतना ही यथार्थ धार्मिक और उन्नत है।

शोकका विषय है कि वर्तमान हिन्दू-समाजमें-से उपर्युक्त आदर्श दिनों-दिन लुप्त होता चला जा रहा है। हिन्दू-समाजसे त्याग, विषय-वैराग्य और सदाचारका प्रवाह घटकर उसमें दिनों-दिन विषयतृष्णाका प्रबल वेग बढ़ता जाता है। वर्णाश्रमकी मर्यादा इतनी शिथिल हो गयी है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथार्थ वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्मका आदर्श जीवन कदाचित् बहुत ही ढूँढ़नेपर कहीं दिखायी पड़ता है। साध्वी-शिरोमणि आर्य-नारियोंमें पति-सेवा-रूपी धर्मकी न्यूनता होकर क्रमशः विलास-बुद्धि बढ़ रही है। आर्य-पुरुषोंमें सत्यप्रियताका अभाव हो रहा है और आर्य-बालक-बालिकाओंमें पितृ-मातृ-भक्ति और गुरुजनोंमें भक्तिका अभाव दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है। अन्तःशुद्धि जो आर्य-सभ्यता-का प्रधान लक्ष्य था, क्रमशः लुप्त हो रही है और उसके स्थानमें बाह्याडम्बरकी प्रधानता होने लगी है। सच्ची परोपकार-प्रवृत्ति, यथार्थ स्वजाति-अनुराग और स्वदेश-प्रेम, पवित्र-उत्साह, निष्पक्ष न्यायदृष्टि, बाल-सुलभ सरलता, बाहर-भीतरकी पवित्रता, एकता, आस्तिकता, शौर्य और पुरुषार्थ-शक्ति आदि मनुष्य-जातिके उन्नत गुणोंका अभाव द्रुतगतिसे बढ़ता जाता है। यथार्थ गुण-परीक्षाकी शक्ति तो मानो एकबारगी ही जाती रही है।

स्वजातीय ऐक्यका अभाव और परजातीय अनुकरणकी वृद्धिद्वारा आज हिन्दू-समाज भीषण हीनताको प्राप्त हो गया है। वेष और भाषाकी तो इतनी दुर्दशा हो गयी है कि अपना जातीय वेष और अपनी मातृ-भाषाको छोड़कर विजातीय वेष और भाषाके ग्रहण करनेमें ही सम्मानका भ्रम होने लगा है। विचार करनेपर यह अनुमान होता है कि नाना प्रकारसे लाञ्छित और पीड़ित होनेपर भी मुसलमान-साम्राज्यके समय इस हिन्दू-समाजके सात्त्विक तेजकी इतनी क्षति नहीं हुई थी, जितनी इस समयमें प्रतीत होती है। जाति और समाज-गत बन्धनोंकी शिथिलताके कारण अब हिन्दू-समाजके मनुष्योंको न तो पिता-माताके सम्मानका ध्यान है, न कुटुम्बके लोगोंकी लज्जाका विचार है और न समाजमें निन्दनीय होनेका ही कुछ भय है। सर्वत्र ही एक भीषण निरङ्कुशता, आचारहीनता और असच्चरित्रता फैल गयी है।

जिस आर्य-जातिका लक्ष्य स्थिर करानेके लिये श्रीभगवान्ने स्वयं आज्ञा की है कि मैं पुरुषोंमें पुरुषार्थ हूँ 'पौरुषं नृषु'। जिस जातिमें प्राचीन-कालके निवृत्तिपथगामी वानप्रस्थ और संन्यासी महानुभावतक संसार-हितकर कार्योंमें प्रवृत्त रहकर एकमात्र पुरुषार्थके अवलम्बनद्वारा निष्काम कर्म-योगी हो अपनी जीवन-यात्राका निर्वाह किया करते थे, उस जातिमें आज निवृत्ति-सेवी संन्यासियोंका तो कहना ही क्या है, प्रवृत्तिमार्गके अधिकारी गृहस्थ भी आलस्यग्रसित होकर उद्यम-हीन बन रहे हैं और तुरीयाश्रमी संन्यासी अपने आश्रम-धर्मको भूलकर कामिनी-काञ्चनमें आसक्त हो रहे हैं। ब्राह्मणोंमें तप, संयम, जितेन्द्रियता और त्यागका नाश होकर धन-लालसा, आलस्य, लोभ, विषय-भोग-प्रवृत्ति तथा इन्द्रिय-परायणताकी वृद्धि हो गयी है। क्षत्रियोंमें शौर्यका विनाश होकर घोर कामासक्ति बढ़ रही है। वैश्य उद्यमहीन होकर असदाचारी निर्धन हो रहे हैं और शूद्रगण सेवा-धर्म छोड़कर अनधिकार चर्चामें प्रवृत्त हो रहे हैं। संस्कृतके विद्वान् प्रायः आचार और धर्म-ज्ञानसे हीन हो रहे हैं। अङ्गरेजी पढ़े-लिखे लोग शास्त्रमें अश्रद्धालु, स्वेच्छाचारी और अनार्य-भावापन्न हो रहे हैं। कलियुगमें दान, धर्मप्रधान होनेपर भी धनाढ्य पुरुष प्रायः केवल नामके लिये और राज-सम्मान-प्राप्तिके लिये ही दान करते हैं। सारांश यह कि सभी ओर विपरीत लक्षण दिखायी देते हैं।

धर्म समाजका पिता है, क्योंकि धर्मसे ही समाजका जन्म तथा रक्षण होता है। इसी प्रकार भाषा समाजकी माता है, भाषाके द्वारा समाजकी स्थिति तथा पुष्टि होती है। धन, वाणिज्य, राजनैतिक स्वाधीनता आदिको खोकर भी समाज जीता रह सकता है,परन्तु जिन लोगोंमेंसे स्वधर्म और स्वभाषा लुप्त हो जाती है, उनके किसी समाज या जातीय-जीवनका अस्तित्व नहीं रह सकता। स्वजातीय आचारोंकी रक्षाके बिना कोई भी जाति अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातीयताको चिरकालतक प्रतिष्ठित रखनेमें समर्थ नहीं होती।

बहिःप्रकृति तो अन्तःप्रकृतिका केवल विकास मात्र है। जीवोंकी अन्तःप्रकृति जिन-जिन भावोंसे सम्मिलित रहती है, उसके बहिर्लक्षण भी ऐसे ही भावोंसे भरे हुआ करते हैं। आचारके साथ-साथ चरित्रकी उन्नति भी सामाजिक उन्नतिमें परम सहायक हुआ करती है।

जिस जाति या समाजमें चरित्रका उच्च आदर्श नहीं है, वह जाति या समाज कदापि उन्नत नहीं हो सकता। प्रत्येक उन्नति बीजवृक्ष-न्यायसे होनेके कारण जिस जातिके अतीत जीवनके गर्भमें जिस-प्रकार आदर्श चरित्रका बीज रहता है, उस जातिमें भविष्य जीवनका आदर्श भी उसी प्रकारका होता है। जिस जातिका अतीत जीवन गौरवमय और संस्कारयुक्त नहीं है, उस जातिका भविष्य जीवन भी गौरवमय बनना प्रायः कठिन ही होता है। जिस देशके प्राचीन जीवनमें भीष्मपितामहका संस्कार विद्यमान है, उस देशमें भविष्यद्में भी भीष्म-पितामह उत्पन्न हो सकते हैं। जिस देशके अतीत जीवनमें याज्ञवल्क्य, शुकदेव आदि ज्ञानी महर्षियोंके चरित्रका आदर्श विद्यमान रहता है, उस देशमें ज्ञानी महर्षियोंका पुनः आविर्भाव हो सकता है। जिस जातिके अतीत जीवनमें सावित्री और सीता-सरीखी स्त्रियोंके सती-धर्मका संस्कार विद्यमान है, उस जातिके भविष्य जीवनमें सतीत्वका आदर्श उत्पन्न हो सकता है और जिस जातिके अतीत जीवनमें श्रीशंकराचार्य-जैसे संन्यासीका आदर्श विद्यमान है, उसी आर्य-जातिके भविष्य जीवनमें संन्यासका यथार्थ आदर्श उत्पन्न हो सकता है।

हिन्दू-जातिके आदर्श नर-नारी भगवान् श्रीराम-चन्द्र और सीता हैं। हिन्दू-जातिके शिरोभूत ब्राह्मणोंके आदर्श महर्षि वशिष्ठ हैं और संन्यासीके आदर्श महर्षि याज्ञवल्क्य एवं शङ्कराचार्य हैं। त्यागी और ब्रह्मचारीके आदर्श भीष्मदेव हैं। गृहस्थके आदर्श राजर्षि जनक और पूर्णताके आदर्श भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इन सब आदर्शोंसे उच्चतर आदर्श कभी किसी भी देशमें नहीं मिलता। इससे सिद्ध है कि हिन्दू-जाति-का अतीत, उसकी प्राचीन सभ्यता सर्वोत्तम है। इतना होनेपर भी आज हिन्दू-जातिकी दुर्दशा इसीलिये है कि वह इन आदर्शोंके सदाचरणोंका अनुसरण नहीं करती। बहुत ही थोड़े मनुष्य ऐसे हैं जो इस ओर यथार्थ ध्यान देते हैं। इसीलिये सर्वोत्तम—आदर्श संस्कृति और परम धर्मशीलता होनेपर भी अवनति होती चली जा रही है, अतः हिन्दू-जातिके नेताओंका कर्तव्य है कि जिससे समाजके लोगोंमें प्राचीनत्वके प्रति मर्यादा नष्ट न हो जाय और समाजके हृदयमें प्राचीन महापुरुषोंके आदर्श-पर जीवन संगठन करनेकी इच्छा और चेष्टा बनी रहे। ऐसा उपाय और पुरुषार्थ खूब तत्परताके साथ करें। ऐसा करनेसे भारतके इस दुर्दिनमें भी हिन्दू-नर-नारियोंमें राम-सीताके आदर्शकी बीजरक्षा, ब्राह्मणोंमें महर्षि वशिष्ठके आदर्शकी बीजरक्षा, त्यागी और ब्रह्मचारियोंमें पितामह भीष्मदेवके आदर्शकी बीजरक्षा और संन्यासियोंमें भगवान् याज्ञवल्क्य और शङ्कराचार्यके आदर्शकी बीजरक्षा अवश्य होगी। परार्थपरता ही हिन्दू-जीवनका तथा हिन्दू-समाजका सार तत्त्व है। त्याग, संयम, धर्म-भीरुता, क्षमा, दया, धैर्य, पवित्रता और सन्तोष आदि देवदुर्लभ गुणावली ही हिन्दू-समाजका भूषण है, शान्ति ही आर्य जातिकी चिर सहचरी है। दुःखका विषय है कि आधुनिक हिन्दू-जीवनमें शिक्षा, सङ्ग और अनुकरणके दोषसे महर्षि-सुलभ परार्थपरता विलुप्त होकर इहलौकिक तथा पारलौकिक क्षुद्र स्वार्थपरताकी वृद्धि हो रही है। जिस जातिके लिये श्रीभगवान्ने—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।

केवल अपने लिये भोजन पकाना पाप-भोजन मात्र है, ऐसा कहकर परार्थपरताकी पराकाष्ठाका उपदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया है, उस जातिके पवित्र जीवनमें आज विजातीय कुसङ्गके कारण स्वार्थपरताका कलंक लग रहा है।

किसी महाशयने कहा था, 'जब उस कार्यमें मेरा स्वार्थ है तब मैं उसे क्यों नहीं करूँगा ?' उनसे कहा गया कि उसे मत करिये जिसके करनेसे परार्थ नष्ट होता हो; उन्होंने कहा–परार्थ-रक्षा करनेमें मेरा क्या इष्ट है ? विचार समाप्त हो गया। मालूम होता है कि इतने दिनोंतक पवित्र शास्त्रशिक्षाके प्रभावसे हिन्दू-हृदयमें परार्थताका जो भाव प्रविष्ट हुआ था वह विजातीय शिक्षा तथा सङ्गके प्रभावसे एकदम नष्ट हो गया।

हिन्दू-जातीय पवित्र चरित्रमें इन्हीं सब कुभावों-का प्रभाव आजकल पड़ रहा है, अतः प्रमुख पुरुषोंकी दृष्टि इस ओर शीघ्र आकृष्ट होनी चाहिये और विचारके साथ उपर्युक्त जातीय-चरित्रकी आदर्श रक्षाके प्रति उन्हें पूर्ण पुरुषार्थशील होना चाहिये।

यहाँपर यह कह देना अवश्य ही युक्तियुक्त होगा कि इसप्रकार हिन्दू-जातीय-चरित्रकी आदर्श-रक्षा के लिये वर्णोंके नेता ब्राह्मण तथा गुरु और आश्रमों-के नेता संन्यासियोंके वर्तमान आचार-विचारोंका संस्कार अवश्य ही होना उचित है। वे दोनों ही वर्णाश्रम-धर्मके शीर्ष-स्थानीय हैं। अतः उनकी पुनरुन्नति हुए बिना आर्य जाति या समाजकी स्थायी उन्नति होना बहुत ही कठिन है। ब्राह्मण चारों वर्णोंमें प्रधान हैं, ब्राह्मण ही आर्य-प्रजाके सदा सञ्चालक होते आये हैं। अतः ब्राह्मण जितनी ही अधिक योग्यता प्राप्त करेंगे और समाजमें उनका जितना ही सात्त्विक आदर्श बढ़ेगा, चातुर्वर्ण्यका उतना ही कल्याण हो सकेगा। ब्राह्मण-जातिकी उन्नतिपर ही आर्य-जातिकी उन्नति निर्भर रही है। शरीरमें मस्तक सर्वश्रेष्ठ अङ्ग है। मस्तकके बिगड़नेसे सारा शरीर बिगड़ जाता है और उसके ठीक रहनेसे ही सारा शरीर ठीक रहता है। हिन्दू-समाज-रूपी विराट् शरीरका मस्तक ब्राह्मण तथा संन्यासी हैं। अतः इनकी स्वरूपस्थितिपर ही हिन्दू-समाजकी सब प्रकारकी उन्नति पूर्णरूपसे निर्भर है, इन्हें अपने यथार्थ पुनरुत्थानकी पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये।

गीध तरयो

(१)

गीध तरयो तुम्हरे करसों ऋषि-नारि तरी तुव पाँय सहारे।
केवट पार भयो छिनमें भवसागरसों प्रभु पार उतारे॥
कोऊ तरयो करसों पगसों पुनि कोउ तरयो दृगु नेक निहारे।
साँचि कहौ कछु जानत हौ, कितनी विधि सों कितने तुम तारे॥ १॥

(२)

आँगुरि पै गिरिराज उठाय जु गोकुल, गोपिन, ग्वाल उबारे।
चाँवर चारि चुरावत ही तिन रङ्क सों राव बनावन हारे॥
धाय बचाय लियो गजराजहिं आपतिमें हरिनाम उचारे।
रोमहुँ तौ गनिजाय, सकैं नहिं जात गने जितने तुम तारे॥ २॥

—चतुर्वेदी सूर्य्यनारायण मिश्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोरक्षा

[रचयिता—श्रीदामोदरसहायसिंहजी, एल० टी०, कविकिंकर]

नमो नमो गोमात ! विश्वकी जननी प्यारी ।
उऋण हो नहीं सकती तुझसे दुनिया सारी ॥
निसन्देह तू है यथार्थ धन धान्य हमारा ।
द्वापरान्तमें व्यास देवने तथ्य विचारा ॥
सोना चाँदी औ रत्न मणि सब धन है केवल नामका ।
यदि है कोई धन जगतमें गोधन* है बस कामका ॥१॥

इसीलिये जन तुझे 'माल' हैं अब भी कहते ।
अन्न वस्त्र खेती कर तव पुत्रोंसे लहते ॥
यदि तू होती नहीं भूखके मारे मरते ।
नंगे रह बनमानुष होनेका दम भरते ॥
बिना दही घी दूधके बढ़ता नहीं विचार भी ।
इस भाँति सभ्यताका कहीं, होता नहीं प्रचार भी ॥२॥

पालन करती हमें बालपनसे तू सुत सम ।
देकर मीठा दूध† शुभ्र सुन्दर अमृतोपम ॥
भोजनके जो सकल वस्तुओंसे है उत्तम ।
एक जिसे ही पीकर भी जी सकते हैं हम ॥
पय‡ स्वास्थ्य सौख्य बल प्रद सदा सर्व रोग निर्बीजकर ।
हे माता ! है तुझसे मिला मानो कोई इष्टवर ॥३॥

पयसे बनता दही किन्तु रखता गुण न्यारा ।
स्वाद बढ़ाता है भोजनका, किसे न प्यारा ॥
परम पुष्ट स्वादिष्ट मिष्ट खट्टा मट्ठा वर ।
उदररोगके समन हेतु औषध अति सुन्दर ॥
सुर पूजा ब्याह उछाह सब भोज अधूरा ही रहा ।
है जहाँ नहीं दधि-सा सरस वस्तु सुमंगलमय महा ॥४॥

दधि मथनेसे मिलता है घृत सार सुहावन ।
जिसकी उपमा नहीं, भोज्य करता जो पावन ॥
यज्ञ हवनकी मुख्य वस्तु जो है कहलाता ।
सुर महिसुर भोजन न बिना जिसके बन पाता ॥
पूरी पूआ हलवा मृदुल बहु मिठाइयाँ स्वादुपर ।
बनती न कहींपर वे कभी मोद प्रदायक स्वास्थ्यकर ॥५॥

गोबरका उपयोग यहाँ हम सभी जानते ।
उड़ती रोगोंका बाधक है सभी मानते ॥
घर आँगन चौका चूल्हाको शुद्ध बनाता ।
खेत खाद उत्तम, इन्धनका काम चलाता ॥
हे गोबर ! जो होता न तू, मूरत गौरि गणेशकी ।
तो कैसे बनती देशमें, तू विभूति परमेशकी ॥६॥

दूध दही घी गोबर औ गोमूत्र गव्यमें ।
पंच बने निष्पक्ष रोगमें, हव्य कव्यमें ॥
यह न समझिये आप मूत्र उपयोगी कम है ।
कुछ रोगोंकी दवा एक नहिं इसके सम है ॥
यों देती हमको नित्य प्रति गोमाता कल्याण है ।
खा करके भूसा घास ही अहह ! बचाती प्राण है ॥७॥

सीधी सादी गाय सदृश, लोकोक्ति सुप्रचलित ।
पाल जिसे भगवान कृष्ण गोपाल हैं कथित ॥
गो ब्राह्मणकी रक्षा हित परमेश्वर आते ।
धर्म सेतुको पाल पापका नाश कराते ॥
बैतरणी करते पार हम पूछ पकड़ जिसकी सदा ।
सुर बसते जिसकी देहमें, क्या उपेक्ष्य वह है कदा ॥८॥

नृप दिलीपने एक नन्दिनीकी रक्षा हित ।
नव वय वपु साम्राज्य प्राण थे किये समर्पित ॥
पर अब तो लाखों गायें कटतीं मनमाने ।
हम उनके सन्तान पड़े हैं चादर ताने ॥
सम जननी गो विमुख हो हम आलसमें सो रहे ।
इसीलिये हमारा ह्रास है रंक भिखारी हो रहे ॥९॥

---

* 'धनं च गोधनं प्राहुः' और 'गावः विश्वस्य मातरः' ये व्यासजीके वचन हैं ।

† एम. जे. रोज़िन्यू साहब कहते हैं—यथार्थमें केवल दूध ही एक ऐसी भोज्य वस्तु है जो सभी भोज्य तत्वोंसे परिपूर्ण होनेका दावा कर सकती है ।

‡ प्रोफेसर गैम्बर्स कहते हैं—रोगोंको आराम करनेके लिये गायका दूध सर्वोत्तम पथ्यौषधि है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ओर है गो-रक्षाका प्रश्न उपस्थित।
कठिन गृह-नियम-भंग दूसरी ओर समुत्थित॥
वह न करें तो धर्म जाय गो-द्विज दुख पाता।
यह न करें तो धनुष-बाण कैसे कर आता॥
यों धीर वीर अर्जुन बड़ा असमंजसमें था पड़ा।
पर उसने कष्ट सहकर, की गो-रक्षा कर जी कड़ा॥१०॥

गो-कुलके ही साथ मनुज-कुल बढ़ सकता है।
उन्नति-गिरिके उच्च शिखरपर चढ़ सकता है॥
भारतीय ऋषियोंका यह सिद्धान्त पुराना।
पश्चिमके सभ्यता-मानियोंने जब जाना॥
तब वैज्ञानिक विधिसे वहाँ गोपालन करने लगे।
नव-सुख-समृद्धि-सौभाग्यसे निज समाज भरने लगे॥११॥

करते वे उत्पन्न घास उपयुक्त पुष्टिकर।
देते चारा अन्न-धेनुओंको भोजन भर॥
पक्के सुन्दर स्वच्छ भवनमें उन्हें बँधाते।
भलीभाँतिसे जहाँ प्रकाश पवन हैं जाते॥
मच्छड़ पिल्लू दुर्गन्धका पता वहाँ पाते नहीं।
है मन प्रसन्न होता बहुत गो-गृहमें जाते जहीं॥१२॥

भोजन-गृह है अलग शयन-गृह अलग बना है।
जहाँ घासका मृदुल बिछावन बिछा हुआ है॥
होती दोहन-क्रिया अलग शुचि स्वच्छ भवनमें।
रहने पाता नहीं मैल कुछ भी गो-तनमें॥
यों गोपाल विधिमें चतुर ग्वाले रखते गाय हैं।
उनको सुख देनेके लिये करते विविध उपाय हैं॥१३॥

जो योरपके चतुर विज्ञ! सुविचारशील जन।
गो-पालन-शिक्षा-प्रचारमें देते तन मन॥
लाखों और करोड़ों अपने द्रव्य लगाते।
फिर वे इस उत्तम व्ययका मीठा फल पाते॥
उनकी गलती चाँदी सदा सब विधिसे संपन्न हो।
क्या गो-सेवक संसारमें सहता दुख अवसन्न हो ? ॥१४॥

कृषिप्रधान यह देश त्राण गो-गणसे पाता।
पर गो-कुलका कष्ट हाय! कुछ कहा न जाता॥
गोशालामें जहाँ लखो दुर्गन्ध सड़ी है।
मशक-दंशसे गो-माता अति व्यग्र खड़ी है॥
जाती न वायु नहिं रोशनी नहीं बैठनेकी जगह।
दम घुटता है रहते वहाँ मानो कोई नरक वह॥१५॥

भोजन भूसा घास नहीं भर पेट खिलाते।
पानी तक भी साफ़ समयपर नहीं पिलाते॥
जब तक रही दुधार दूहते रहे बराबर।
जब विसुखी तो दिया बेच थोड़े दामों पर॥
देते कसाइयोंको हमी हिन्दू नित यों धेनुधन।
औरोंसे झगड़ा व्यर्थ है, निज मनसे समुझो सुजन!॥१६॥

गो-कुलका ही नाश हमें कमज़ोर बनाता।
दूध-दही जनताको है नहिं मिलने पाता॥
दूध न पाते बच्चे तक दुधमुँहे हमारे।
इसी हेतुसे काल-कवल हो जाते प्यारे॥
बहती रहती थीं रात-दिन गो-रसकी नदियाँ जहाँ।
गो-वंश-अनादर-हेतुसे दुर्गति है ऐसी वहाँ॥१७॥

जो समर्थ स्वच्छन्द बड़े गो-रक्षामें हैं।
बड़े खेदकी बात ध्यान नहिं देते वे हैं॥
वे चाहें तो गो-हत्या तक रुक सकती है।
साधारण जनता सुधारपर झुक सकती है॥
पर जूँ तक है नहिं रेंगती उनके कानोंपर कभी।
यदि कृपा करें तो आज ही गो-दुख टल सकते सभी॥१८॥

अब भी चेतो आर्य वैश्य कुलकी सन्तानो!
गो-पालन प्रधान कर्तव्योंमें निज जानो॥
गो-धनकी सम्हाल करो धन आय जुटेगा।
सुख-सम्पत पाओगे दुख-दारिद्रय छुटेगा॥
वर गो-पालन-साहित्यका अन्धकार अज्ञान हर।
विज्ञान प्रचार करो सदा, हे भारतके मनुजवर!॥१९॥

दानवीर धनियोंका यहाँ नहीं टोटा है।
पर अपना ही भाग्य समझ पड़ता खोटा है॥
सस्ता गो-साहित्य-प्रचार अगर हो पावे।
तो सम्भव है गो-कुलका दुख कम हो जावे॥
है कमी समझकी ही यहाँ, कमी न धनकी है कभी।
फिर भारत सुख-सम्पन्न हो यदि हम चाहें तो अभी॥२०॥

गो-सेवा नित करो हाथसे लज्जा छोड़ो।
हो उद्योग-परायण आलससे मुँह मोड़ो॥
करके विपुल प्रयत्न रोक दो गो-वध सारा।
गो-वधहीसे सर्व नाश हो रहा हमारा॥
हे हे सेठो पूँजीपतियो! राजा-बाबू नरवरो!।
हे नेताओ! मिलकर सभी गो-रक्षा हो सो करो॥२१॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपासना

(लेखक–श्रीभैरवसिंहजी राठौर, वैद्य)

भगवान्‌के चिन्तन, पूजन, गुणकीर्तन, जप आदिका नाम उपासना है। उपासनाकी विधि क्या होनी चाहिये इसमें जितना मतभेद है उतना कदाचित् ही किसी अन्य विषयमें हो। कोई कहता है—भगवान् निराकार हैं, निर्गुण हैं, उनकी उपासना हो ही नहीं सकती। कोई कहता है—हमें त्रिकाल नहीं तो कम-से-कम दो बार सन्ध्या करके भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये। कोई मन्दिरमें जाकर भगवान्‌की मूर्तिके सामने हाथ जोड़कर विनय-प्रार्थना करता है, उन्हें स्नान कराता है, खाना खिलाता है। कोई कहता है—

'मम सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन माने जोई॥'

ऐसा भगवान्‌का कथन है, अतएव दिनभर मूर्तिके सामने हाथ जोड़नेके बजाय हमें भगवान्‌की आज्ञानुसार चलना चाहिये। 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' अतएव हमें यथासम्भव परोपकार—निष्काम-कर्म अथवा यज्ञ करना चाहिये। कोई कहता है—

'सन्तत सुमिरिय गाइय रामहिं'

बस—

'कलियुग केवल हरि गुण गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥'

अतः हमें केवल राम-राम जपना चाहिये और राम-गुण गाना चाहिये। बस, इसीसे हमारी मुक्ति हो जायगी और हमें संसारमें कुछ नहीं करना है। इसतरह विविध प्रकारके मनुष्य उपासनाकी विविध विधियाँ बतलाते हैं और वास्तवमें यह सभी बातें ठीक भी हैं। जब भगवान् अनन्त हैं, तब उनकी उपासनाकी विधियाँ भी अनन्त होंगी, इसमें सन्देह नहीं। पर गड़बड़ तो वहाँ है, जहाँ लोग कहते हैं कि बस, मेरी ही विधि ठीक है और अन्य सब गलत। आर्यसमाजी सनातनधर्मियोंको पूजा करते देखकर कहते हैं-'देखो! कैसे मूर्ख हैं, पत्थरसे सिर मार रहे हैं।' सनातनधर्मी उन्हें सन्ध्या करते हुए देखते हैं तो कहते हैं कि ढोंगी हैं, बगुला भक्त हैं, आँखें बन्द किये हैं, पर मनमें विषयोंका चिन्तन करते हैं। बस, यही झगड़ा चला करता है। वास्तविकतातक कोई नहीं पहुँचता। महात्मा तुलसीदासजीने रामायणमें इस विषयपर प्रकाश डाला है। आज कल्याणके पाठकोंके लाभार्थ मैं उसे प्रस्तुत करता हूँ। महात्माने उत्तरकाण्डमें कलियुगका वर्णन करते हुए कागभुसुण्डिके मुखसे कहलाया है—

'कृतयुग सब ज्ञानी विज्ञानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेता विविध यज्ञ नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति-पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥
कलियुग केवल हरि गुण गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥

× × ×

नित युग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम मायाके प्रेरे॥
शुद्ध सत्त्व समता विज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥
सत्त्व बहुत कछु रज रति कर्मा। सब विधि शुभ त्रेता कर धर्मा॥
बहु रज सत्त्व स्वल्प कछु तामस। द्वापर धर्म हर्ष भय मानस॥
तामस बहुत रजोगुण थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा॥
बुध युग धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं॥'

बस, इन्हीं १० चौपाइयोंमें उन्होंने उपासनाका सारा तत्त्व बतला दिया है। प्रथम ४ चौपाइयोंमें उन्होंने हर एक युगके अनुसार भगवान्‌की उपासना-विधि बतलायी है। उनका कहना है कि कृतयुगमें सभी ज्ञानी-विज्ञानी होते हैं और वे भगवान्‌का ध्यान करके संसारको तर जाते हैं। त्रेतामें विविध प्रकारके यज्ञ करके और उन कर्मोंको भगवान्‌को समर्पित करके मनुष्य संसार-सागरसे पार पाते हैं। द्वापरमें भगवान्‌की पद-पूजा करना ही मोक्षका साधन है और कलियुगमें तो केवल भगवान्‌का गुणगान करना—उनका नाम जपना ही एकमात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधन है। इसप्रकार उन्होंने युगोंके अनुसार उपासना-विधि बतलायी है। इसको पढ़कर आज-कलके अभिमानी पण्डित कह सकते हैं कि आज-कल कलियुग है और 'कलियुग केवल हरि गुण गाहा; गावत नर पावहिं भव थाहा' अतएव हमें भगवान्‌के गुणगान करने चाहिये; उनका नाम जपना चाहिये। बस, इसीसे हमारी मुक्ति हो जायगी। इसीलिये महात्माने दूसरी छः चौपाइयोंमें स्पष्ट कर दिया है कि यह युग-धर्म भगवान्‌की मायासे हर एकके हृदयमें होते हैं। जिसका मन प्रसन्न है, शुद्ध सतोगुणी है, समता और विज्ञानयुक्त है, उसके हृदयमें कृतयुग प्रवर्त रहा है। वह कलियुगमें होते हुए भी कृतयुगमें है जिसके अन्दर सतोगुण बहुत है और कुछ रजोगुण भी है वह त्रेतायुगमें है। बहुत रजोगुण तथा थोड़ा सतोगुण और कुछ तमोगुणयुक्त मनुष्य द्वापरमें है और उसके मनमें हर्ष और भयका निवास होता है। बहुत तमोगुण और थोड़ा रजोगुणवाला मनुष्य कलियुगमें है और उसका प्रभाव यह होता है कि वह सभीसे विरोध करता है। इसप्रकार सभीके अन्दर युग-धर्म हो रहे हैं। ज्ञानी पुरुष मनमें युग-धर्मका विचार करके अधर्मको छोड़कर धर्म करते हैं अर्थात् युगके अनुसार जो भगवान्‌की मायासे उनके हृदयमें वर्त रहा है भगवान्‌की उपासना करते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। जिसके हृदयमें कलियुगका वास है, जो तमोगुणी है और कुछ रजोगुणी भी है, उसे भगवान्‌के गुणोंका गान करना चाहिये, उनका नाम जपना चाहिये।

'कलियुग केवल हरि गुण गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलियुग योग, यज्ञ नहि ज्ञाना। एक अधार रामगुण गाना॥
सब भरोस तजि जो भजु रामहिं। प्रेम समेत गाव गुण ग्रामहिं॥
सो भव तरु कछु संशय नाहीं। नाम प्रताप प्रकट कलि माहीं॥'

इसप्रकार कलियुगमें केवल रामनाम जपना ही सार है, वही मुक्तिका साधन है। उपरोक्त गुणवाला मनुष्य यदि राम-नामको छोड़कर यज्ञ, ध्यान अथवा पाद-पूजाकी ओर भटकेगा तो वह अधर्मी गिना जायगा और उससे वह धर्म सध भी नहीं सकता। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' उसके लिये वह पर-धर्म भयानक होगा। तामसी मनुष्य यदि आँखें बन्द करके सन्ध्या करने बैठेगा तो गीताके अनुसार वह दाम्भिक और मिथ्याचारीकी पदवी पावेगा।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

उसका मन सुसंस्कृत न होनेसे इधर-उधर भागा-भागा फिरेगा और विषयोंका चिन्तन करेगा। उसे ध्यानजनित सुख भी प्राप्त न होगा, अतएव उसका विश्वास शिथिल हो जायगा और वह न तो सन्ध्या कर सकेगा, न नाम-जप ही। वह उभयभ्रष्ट हो जायगा। 'दोनों दीनसे गये पाण्डे, हलुश्रा मिले न माण्डे' वाली गति उसकी होगी। अतएव ऐसे मनुष्यको तो केवल नाम ही जपना चाहिये। इसके फलस्वरूप उसका तमोगुण कम होगा और रजोगुण बढ़ेगा तथा कुछ सतोगुण-के लक्षण भी प्रकट होंगे। इसप्रकार 'बहु रज सत्व स्वल्प कछु तामस। द्वापर धर्म हर्ष भय मानस॥' के अनुसार वह दूसरी श्रेणी द्वापर-युगमें आ जायगा। वहाँ उसे 'द्वापर करि रघुपति-पद-पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥' भगवान्‌की पूजा—मूर्तिपूजा का अधिकार होगा, फिर ऐसा करनेसे उसका तमोगुण बिल्कुल नष्ट हो जायगा और सतोगुण बढ़ जायगा तथा रजोगुण भी कम हो जायगा और 'सत्व बहुत कछु रज रति कर्मा। सब विधि शुभ त्रेता कर धर्मा॥' वह त्रेतायुगमें आ जायगा, वहाँ उसे 'त्रेता विविध यज्ञ नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं॥' के अनुसार परोपकार करनेका अधिकार होगा और निष्काम कर्म करते-करते उसका रजोगुण भी शान्त हो जायगा और वह 'शुद्ध सत्व समता विज्ञाना' होकर प्रसन्न मनवाला होगा। यह कृतयुगके लक्षण हैं। तब उसे ध्यानका अधिकार होगा। 'कृतयुग सब ज्ञानी विज्ञानी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी ॥' यहींपर उसे सन्ध्याका अधिकार होगा और वह सन्ध्या कर भी सकेगा। अब यदि वह मूर्ति-पूजा करेगा अथवा नाम जपेगा तो यह नहीं कि वह जप न सकेगा या मूर्ति-पूजा कर न सकेगा, पर उसका वैसा करना एक खिलवाड़ होगा। एम० ए० पास यदि तीसरे दर्जेमें पढ़ने बैठे तो पढ़ तो सकेगा पर सभीको अटपटा और निरर्थक मालूम होगा। उसे तो अब आचार्य होनेका प्रयत्न करना चाहिये और इसी प्रकार ध्यान लगाते लगाते उसका सतोगुण भी समाप्त हो जायगा और वह त्रिगुणातीत होकर जीवन्मुक्त हो जायगा।

इसप्रकार ध्यान, यज्ञ (निष्काम-कर्म) मूर्ति-पूजा, जप आदि भगवान्के पास पहुँचनेकी सीढ़ियाँ हैं। हमें अपनी शक्ति देखकर जिस सीढ़ीके योग्य हम हों, उसपर पैर जमाना चाहिये तथा वहींसे आगेके लिये उन्नति करनी चाहिये। पर हमें सच्चा होना चाहिये; अपने मनको धोखा नहीं देना चाहिये। यदि हम पूरे सतोगुणी हैं तो हमें ध्यान लगाना चाहिये। सतोगुणी और रजोगुणी हैं तो हमें निष्कामकर्मसे आरम्भ करना चाहिये। रजोगुण, सतोगुण तथा तमोगुण तीनोंका मिश्रण हो तो हमारे लिये मूर्ति-पूजा श्रेयस्कर है। यदि तमोगुणकी अधिकता हो और कुछ थोड़ा रजोगुण भी हो तो भगवान्का नाम जपना चाहिये।* पर यदि केवल तमोगुण ही हो तो क्या करना चाहिये? महात्मा तुलसीदासजीने यहाँ उसका उत्तर नहीं दिया। पर अरण्यकाण्डमें रावणके मुखसे उन्होंने इस प्रश्नका उत्तर दिलाया है—

सुर-रञ्जन भंजन महि भारा। जो जगदीश लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाय बैर हठि करिहौं। प्रभु शरते भवसागर तरिहौं॥
होय भजन नहिं तामस देहा। मन, क्रम, बचन मंत्र दृढ़ येहा॥

बस, उसके लिये रावणका बतलाया हुआ यह मार्ग है। भगवान्से वैर करो; उन्हें गाली दो; उनकी शक्ति—मायाको चुरा लो और अन्तमें भगवान्से लड़कर उनके बाणसे मरकर मुक्त हो जाओ। पर यह मन्त्र मन, क्रम, वचनसे दृढ़ होना चाहिये। यह नहीं कि आज भगवान्को गाली दो, कल उनकी खुशामद करो। यों दो नावोंपर चढ़नेवाला संसार-सागरमें डूबता—उतराता रहेगा। वह पुनरावर्तनके चक्करसे छूट नहीं सकता। इसलिये भाइयो! अपने अन्दरके गुणोंका विचार करके तदनुसार भगवान्की विश्वासपूर्वक आराधना करो। वे तुम्हें, अवश्य पार करेंगे। वे तुम्हारे हैं और बड़े दयालु हैं—

'तुलसी अपने रामको, रीझि भजो की खीज।
खेत परे ते जामि हैं, उलटे सीधे बीज॥'

—पर भजो ज़रूर; खेतमें बीज अवश्य डालो तभी फल होगा।

अतएव प्यारे भाइयो! मेरा मार्ग अच्छा है, तुम्हारा बुरा, इस वृथाके झगड़ेको छोड़कर अपने हृदयको टटोलो; देखो कि तुम्हारे अन्दर कौन-सा युग चल रहा है? तुलसीदासजीने युगोंके लक्षण बतला दिये हैं, जो मैं ऊपर लिख आया हूँ उसके अनुसार अपने लक्षण मिलाओ और फिर अपने हृदयगत धर्मके अनुसार ध्यान, निष्कामकर्म, पूजा अथवा जप आदिमेंसे कोई चुन लो और विश्वास-पूर्वक उसीपर चलते जाओ। इसीमें तुम्हारा कल्याण है। यदि तुम बिलकुल ही तमोगुणी हो और रावणकी भाँति तुमसे यह दैवी काम—भजन आदि नहीं हो सकते तो फिर उसकी तरह सोच-समझकर भगवान्से वैर ही करो और उनके शरसे मरकर भवसागरसे पार हो जाओ। किसी तरह भी भजो, भगवान्को भजो अवश्य।

* यह ठीक है कि कलियुगके लोगोंमें किञ्चित् रजोगुणसहित तमोगुणकी अधिकता है और श्रीभगवन्नाम ही ऐसे लोगोंके उद्धारका प्रधान उपाय है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि पूरे सतोगुणी पुरुषोंके लिये भगवन्नाम उपेक्षणीय है। भगवन्नामकी महिमा सर्वत्र है, भगवन्नाम भावभेदसे प्रारम्भिकसे लेकर ऊँचे-से-ऊँचा साधन है और जीवन्मुक्त या भगवत्प्रेमको प्राप्त पुरुषोंके लिये भी यह परम-प्रिय वस्तु है। —सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक-वाटिका

वेदोंके प्रवचनसे, अच्छी धारणासे और बहुत शास्त्रोंके ज्ञानसे ही परमात्मा नहीं मिलता, वह जिसपर कृपा करता है, उसीके सामने अपना रूप प्रकट करता है।

—उपनिषद्

❀ ❀ ❀

परमात्माके ध्यानमें लगा हुआ योगीका चित्त वैसे ही स्थिर रहता है जैसे वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योति।

—श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀

जिन वाक्योंके उच्चारणमें श्रीहरिके नाम और गुण आते हैं वे ही वाक्य पापनाशक हैं, चाहे उनकी रचना अशुद्ध ही क्यों न हो। साधुगण उन्हीं वाक्योंको सुनते, रटते और गाते हैं।

—श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀

दूसरे किसीमें भी ममता न रहकर एक भगवान्में जो अनन्य ममता होती है, उसीको प्रेम कहते हैं। इसी प्रेमको भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद आदिने भक्ति बतलाया है।

—नारदपञ्चरात्र

❀ ❀ ❀

जो किसी प्रकारके भयमें पड़ा हुआ है, जो मेरा भक्त है, जो कहीं आश्रय न मिलनेसे आर्त हो रहा है, जो हीन दशाको प्राप्त है, जो अपने प्राण बचाना चाहता है, ऐसे किसीको मैं कदापि नहीं त्याग सकता, इसमें मेरे प्राण भले ही चले जायँ। यह मेरा नित्य व्रत है।

—धर्मराज युधिष्ठिर

❀ ❀ ❀

मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मोक्ष चाहता हूँ। मैं तो केवल दुःखमें पड़े हुए प्राणियोंके दुःखका नाश चाहता हूँ।

—महाराज शिवि

❀ ❀ ❀

भगवान् श्रीविष्णुको प्रसन्न करना वास्तवमें बहुत कठिन कार्य नहीं है, क्योंकि वह सब भूतप्राणियोंका आत्मा और सर्वव्यापी है।

—प्रह्लाद

❀ ❀ ❀

सद्विचारोंके परायण होना ईश्वरकी कृपाका चिह्न है। भगवत्कृपा बिना किसीका परम कल्याण नहीं हो सकता।

—दत्तात्रेय

❀ ❀ ❀

सत्कर्म करनेवालोंकी देवता भी सहायता करते हैं और असत्-मार्गपर चलनेवालेका साथ सगा भाई भी छोड़ देता है।

—श्रीकृष्ण मिश्र यति

❀ ❀ ❀

इस संसारमें दो ही अमूल्य रत्न हैं, एक भगवान् और दूसरा सन्त। इन दोनोंका कोई मोल-तोल नहीं हो सकता।

—दादूजी

❀ ❀ ❀

विरागकी प्राप्तिसे ही मनुष्य विरक्त होता है, विरक्त होनेपर ज्ञान होता है, तभी उसका जन्म-क्षय होता है, तभी उसे ब्रह्मचर्यका फल मिलता है, तब उसका कर्तव्य समाप्त हो जाता है, फिर उसे यहाँ आकर जन्म नहीं लेना पड़ता।

—भगवान् बुद्धदेव

❀ ❀ ❀

विषय-सुखोंके त्यागद्वारा जिन्होंने भय और रागद्वेषको छोड़ दिया है, ऐसे त्यागी पुरुष ही निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

—महावीर तीर्थङ्कर

❀ ❀ ❀

सूर्यकी किरणें सब जगह समान पड़नेपर भी जैसे जल और दर्पणमें प्रकाश अधिक दिखायी देता है वैसे ही भगवान्का विकास सबके हृदयोंमें समानरूपसे होनेपर भी साधुके हृदयमें उसका विशेष प्रकाश होता है।

—रामकृष्ण परमहंस

❀ ❀ ❀

जो मनुष्य विपत्तिमें भी अपने ऊपर भगवान्की कृपाका अनुभव करता है, वह कभी दुःखमयी मृत्युके अधीन नहीं होता।

—अबुहाफिज खुरासानी

❀ ❀ ❀

एक बार अपने अन्दर प्रेमकी आग जाने दो, फिर तुम्हारे जिस दोषके साथ उसका स्पर्श होगा, वही दोष जल जायगा। तुम्हारा 'तूपन' जल जायगा, अहंकार नाश हो जायगा, 'मैं' 'मेरा' आदि भाव भस्म हो जायँगे और जब नया भाव सुलग उठेगा तब उसके तापमें प्रेमसे इतना महान् सुख मिलेगा कि उसके सामने विश्वका सारा सुख तुच्छ हो जायगा।

—जैकब बैहोमी

❀ ❀ ❀

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमी और कृपालु लेखकोंसे प्रार्थना

इस बार 'कल्याण' का 'श्रीरामायणाङ्क' निकला था। रामायणाङ्ककी १५२५० प्रतियाँ छपवायी गयी थीं, परन्तु लोगोंको वह अङ्क इतना अच्छा लगा कि सात ही महीनोंमें कार्यालयमें सुरक्षित रक्खी जानेवाली कुछ प्रतियोंके अतिरिक्त शेष सारी प्रतियाँ निकल गयीं। सैकड़ों प्रेमी सज्जनोंको बाध्य होकर कोरा जवाब देना पड़ा। 'कल्याण' की इस समय १५००० प्रतियाँ छप रही हैं। लगभग १४५०० स्थायी ग्राहक हैं। भगवान्‌की प्रेरणासे कल्याणका प्रचार भारतके प्रायः सभी प्रान्तों और सभी क्षेत्रोंमें है। जनता इससे यत्किञ्चित् आध्यात्मिक लाभ भी उठा रही है। लोगोंके आये हुए सैकडों, हजारों पत्रोंसे ऐसा ज्ञात होता है। इसमें सर्वनियन्ता परमात्माकी इच्छा ही प्रधान कारण है। दो संख्या और निकलनेपर आगामी आषाढ़में कल्याणका पाँचवाँ साल समाप्त हो जायगा। अगले वर्षका पहला अङ्क 'श्रीमद्भागवताङ्क' निकालनेके लिये अनेक गणमान्य सन्तों और विद्वानोंने सम्मति दी थी। परन्तु श्रीमद्भागवत बहुत बड़ा ग्रन्थ होनेके कारण वैसा करनेका साहस नहीं हुआ। श्रीमद्भागवतका सार भगवान् श्रीकृष्णका पुनीत चरित्र है। अतएव 'श्रीकृष्णाङ्क' निकालना निश्चय किया गया।

श्रीकृष्णाङ्क

गीताङ्क और रामायणाङ्ककी भाँति इस अङ्कमें अनेक सन्त, महात्मा और गणमान्य विद्वानोंके महत्त्वपूर्ण लेख संग्रह करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। इसी प्रकार चित्रोंके लिये भी यथासाध्य चेष्टा की जा रही है। इस अङ्कके लिये नीचे लिखे विषयोंपर निबन्ध लिखनेके लिये माननीय सन्त, महात्मा और विद्वान् पुरुषोंसे प्रार्थना की जाती है। बहुत-से लेख तो आ भी गये हैं। मैं अपने पूज्य और प्रेमी सन्तों, विद्वान् लेखकों और कवियोंसे करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि वे इस अङ्कके लिये यथासाध्य उत्तम-से-उत्तम निबन्ध या कविता भेजकर भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें सम्मिलित हों। लेख या कविता यथासम्भव अधिक-से-अधिक आगामी वैशाख शुक्ला १५ तक भेजनेकी कृपा करें। लेख संक्षिप्त, साफ अक्षरोंमें हासिया छोड़कर कागजकी एक पीठपर ही लिखे हुए होने चाहिये। सूची संख्या १ और ४७ पर कई लेख आ गये हैं और आ रहे हैं, अतः इन दोनों विषयोंपर लेख नहीं भेजने चाहिये।

श्रीवृन्दावन, मथुरा, द्वारका आदि तीर्थोंके श्रीकृष्णसम्बन्धी प्रधान-प्रधान स्थानों और मन्दिरोंके चित्रोंकी आवश्यकता है, जिन महाशयोंके पास ऐसे चित्र हों या जो उतारकर भेज सकें वे कृपापूर्वक पत्र-व्यवहार करें। इस सहायताके लिये मैं बड़ा ही कृतज्ञ हूँगा। कोई सज्जन लेखके साथ या ऐसे ही श्रीकृष्णसम्बन्धी चित्र भेजेंगे तो उनकी बड़ी कृपा होगी। ब्लाक बनानेपर आज्ञानुसार चित्र लौटा दिये जा सकते हैं।

लेख-सूची

१–'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'	८–गीतावक्ता श्रीकृष्ण।	१५–वीरशिरोमणि श्रीकृष्ण।
२–श्रीकृष्णके अवतारका हेतु।	९–सर्व-गुणाधार श्रीकृष्ण।	१६–शास्त्रज्ञ श्रीकृष्ण।
३–जगद्गुरु श्रीकृष्ण।	१०–सर्वव्यापी श्रीकृष्ण।	१७–सुधारक श्रीकृष्ण।
४–प्रेमावतार श्रीकृष्ण।	११–मुक्तिदाता श्रीकृष्ण।	१८–राजनीतिज्ञ श्रीकृष्ण।
५–योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण।	१२–समदर्शी श्रीकृष्ण।	१९–पतितपावन श्रीकृष्ण।
६–पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण।	१३–पथ-प्रदर्शक श्रीकृष्ण।	२०–दीनवत्सल श्रीकृष्ण।
७–लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण।	१४–भक्तवत्सल श्रीकृष्ण।	२१–गो-पालक श्रीकृष्ण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२२–गुरु-भक्त श्रीकृष्ण ।
२३–मातृ-पितृ-भक्त श्रीकृष्ण ।
२४–ब्राह्मण-भक्त श्रीकृष्ण ।
२५–आदर्श मित्र श्रीकृष्ण ।
२६–सेवक श्रीकृष्ण ।
२७–श्रीकृष्णलीलामें हास्य-रस ।
२८–श्रीकृष्णलीलामें सख्य-रस ।
२९–श्रीकृष्णलीलामें वात्सल्य-रस ।
३०–श्रीकृष्णलीलामें माधुर्य-रस ।
३१–श्रीकृष्णलीलामें शान्त-रस ।
३२–श्रीकृष्णचरित्रमें वैराग्य ।
३३–श्रीकृष्णचरित्रमें मूर्तिमान अनासक्ति ।
३४–श्रीकृष्णचरित्रसे सर्वतोमुखी शिक्षा ।
३५–श्रीकृष्णचरित्रसे धार्मिक शिक्षा ।
३६–श्रीकृष्णचरित्रसे नैतिक शिक्षा ।
३७–श्रीकृष्णोपदिष्ट तत्त्व-ज्ञान ।
३८–श्रीकृष्णोपदिष्ट कर्मयोगका स्वरूप ।
३९–श्रीकृष्णोपदिष्ट भक्तिका स्वरूप ।
४०–श्रीकृष्णोपदिष्ट संन्यासका स्वरूप ।
४१–श्रीकृष्णोपदिष्ट यज्ञका स्वरूप ।
४२–श्रीकृष्ण और श्रीरामका तुलनात्मक जीवन ।
४३–श्रीकृष्णके दिव्य जन्म-कर्म ।
४४–श्रीकृष्णचरित्रके कूट रहस्य ।
४५–श्रीकृष्णके बालचरित्रका महत्त्व ।
४६–चीर-हरणका रहस्य ।
४७–रासलीलाका रहस्य ।
४८–श्रीराधा-तत्त्व ।
४९–गोपी-प्रेमकी पवित्रता और महानता ।
५०–श्रीकृष्ण और नन्द-यशोदा ।
५१–श्रीकृष्ण और बलराम ।
५२–श्रीकृष्णकी आठ पटरानियाँ ।
५३–श्रीकृष्ण और रुक्मिणी ।
५४–श्रीकृष्ण और सत्यभामा ।
५५–सत्यभामा और द्रौपदी ।
५६–श्रीकृष्ण और कर्ण ।
५७–श्रीकृष्ण-तत्त्वज्ञ महर्षि व्यास और संजय ।
५८ श्रीकृष्ण-भक्त विदुर ।
५९–कुब्जाकी कथाका रहस्य ।
६०–श्रीकृष्ण और अर्जुन ।
६१–श्रीकृष्ण और द्रौपदी ।
६२–श्रीकृष्ण और उद्धव ।
६३–श्रीकृष्ण और भीष्म ।
६४–श्रीकृष्ण और अक्रूर ।
६५–श्रीकृष्णका सार्वभौम प्रेम ।
६६–श्रीकृष्णका सार्वभौम उपदेश ।
६७–श्रीकृष्णका दानवदलन ।
६८–श्रीकृष्णका साधु-परित्राण ।
६९–श्रीकृष्णका धर्म-संस्थापन ।
७०–मुरलीधर और चक्रपाणि ।
७१–श्रीकृष्ण द्विभुज और चतुर्भुज ।
७२–श्रीकृष्णके विराटरूप ।
७३–श्रीकृष्णका दूतके रूपमें कर्म ।
७४–श्रीकृष्णका सारथीके रूपमें कर्म ।
७५–श्रीकृष्ण-शिक्षा-सार ।
७६–आध्यात्मिक दृष्टिसे श्रीकृष्ण-चरित्रपर विचार ।
७७–ऐतिहासिक दृष्टिसे श्रीकृष्ण-चरित्रपर विचार ।
७८–श्रीकृष्ण ऐतिहासिक पुरुष हैं ।
७९–श्रीकृष्णचरित्रका काल ।
८०–श्रीकृष्णकृत दर्शन-शास्त्रोंका समन्वय ।
८१–श्रीकृष्णोपासनासे सर्वार्थ-सिद्धि ।
८२–श्रीकृष्णोपासनाकी प्राचीनता ।
८३–पुराणोंमें श्रीकृष्ण-चरित्र ।
८४–श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण-चरित्र ।
८५–श्रीमद्भागवत भगवान् व्यास-कृत है ।
८६–महाभारतमें श्रीकृष्णचरित्र ।
८७–श्रीकृष्णका जगत्के महापुरुषों-पर प्रभाव ।
८८–श्रीकृष्णका संसारके साहित्य-पर प्रभाव ।
८९–श्रीकृष्णका अध्यात्मजगत्पर प्रभाव ।
९०–श्रीकृष्ण और संस्कृत साहित्य ।
९१–श्रीकृष्ण और अंग्रेजी साहित्य ।
९२–श्रीकृष्ण और भारतीय साहित्य ।
९३–श्रीकृष्ण और हिन्दी साहित्य ।
९४–श्रीकृष्णकी मोहनी मुरली ।
९५–श्रीकृष्ण-प्रेमके आँसुओंकी पवित्रता ।
९६–श्रीकृष्णनामकी महत्ता ।
९७–व्रजरजकी चाह ।
९८–श्रीकृष्णचरित्रका मोहवश दुरुपयोग ।
९९–श्रीकृष्ण-चरित्रका रहस्य न समझकर अनधिकार और भ्रान्त अनुकरण तथा उसका दुष्परिणाम ।
१००–श्रीकृष्ण और शंकराचार्य ।
१०१–श्रीकृष्ण और भारतीय सम्प्रदायाचार्य ।
१०२–श्रीचैतन्यकी कृष्ण-भक्ति ।
१०३–भारतीय सन्तोंकी श्रीकृष्ण-भक्ति ।
१०४–सूरदास आदि सन्त-कवियों-की श्रीकृष्ण-भक्ति ।
१०५–संसारको सुखकी आशा, श्रीकृष्ण-चरित्रके सविवेक अनुकरणमें ही है ।
१०६–अवतारवादकी सत्यता ।
१०७–श्रीकृष्णके अप्रसिद्ध चरित्र ।
१०८–श्रीकृष्ण और भावी जगत् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीभगवन्नाम

इस बार नाम-जपके सम्बन्धमें पहले बहुत कम उत्साह मालूम होता था। परन्तु आगे चलकर पीछेसे जिसप्रकार सूचनाएँ आने लगीं, उनसे मालूम हुआ कि हम जितनी कमी समझते थे, उतनी नहीं है। लगातार सूचनाएँ आ ही रही हैं। अबतक जो सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उनके अनुसार फाल्गुण शुक्ला १५ तक १६ नामके मन्त्रका १५,६५,१३,१०० जप हो चुका है। नामकी संख्या जोड़नेसे २,५०,४१,०६,६०० होती है। जिन भाई-बहनोंने स्वयं नाम-जप किया है और प्रेरणा करके अन्यान्य भाई बहनोंसे करवाया है, उनके हम हृदयसे चिरकृतज्ञ हैं। इस बार अबतक निम्नलिखित ११८ स्थानोंसे सूचनाएँ मिली हैं—

अलीगढ़, अहमदाबाद, अमलीडीह, अमरबाड़ा, आकोट, आकोठा, उदयपुर, ऋषिकेश, ओझागंज, औरंगाबाद, कलकत्ता, कानपुर, कलानोर, कासगंज, काशीपुर, कटनी, कर्णप्रयाग, काजिमाबाद, कोटरा, केशरबाजार, कोलारस, कोटा, कौंच, खैरपुर, खम्भात, खैरा, खारवा, गोरखपुर, गणेशबाड़ी, गडेर, चन्दौसी, चक्रधरपुर, चनोदा, चरखीदादरी, जालना, झोजू, ठाकुरद्वारा, तारापुरथाना, तिनसुकिया, तेराजाकट, दाउदनगर, दिल्ली, देवरीखवासा, देवरी, धौलपुर, नजीबाबाद, नरकटा, नवादा, नौगछिया, नोहर, नर्वदातर, नड़ियाद, नविनगर, पिलकिछा, पिपरियाँकला, पछायागाँव, पचवान, पाली, पुरा, पटना, पिण्डी, पण्ढरपुर, परबत्ता, पीपलरावा, पाटन, पुरेशलई, बड़ाराजपुर, बनखेड़ी, बहरोड, बिजनौर, बेनोदा, बीना, बसुआड़ा, बेवाना, बीकानेर, बीकासराय, बड़वाह, बाँसडीह, भादराँ, भिवानी, महमूदाबाद, मुडियार, मेरठ, मांडले, रबपुर, रतनगढ़, रावलपिण्डी, रूपावटी, रंगाटी, रतनपुर, लालसरैया, लाहौर, लखनऊ, लालगंज, विलासपुर, विजयराघवगढ़, वालोदसंजोरी, शाहजहाँपुर, शिवरीनारायण, शिवसागर, शिमला, सीतापुर, सांडी, सरदारशहर, सकुटिया, सुजानगढ़, सिहोरछावनी, सिरसा, सांडवा, सनावद, सम्बलपुर, साहपुर, सारंगगढ़, सहसवान, हलदौर, हाँसूपुर, हरदोई, हनुमानगढ़।

—नाम-जप-विभाग

महात्मा गोमतीदासजीका देहावसान

श्रीअयोध्याजी हनुमन्निवासके प्रसिद्ध सन्त पूज्यपाद श्रीगोमतीदासजी महाराजका उस दिन देहावसान हो गया। आप बड़े ही महात्मा, सन्त, सौम्य और भक्त पुरुष थे। कहते हैं कि रुद्रावतार श्रीहनूमान्‌जी महाराजका आपको साक्षात्कार था। आप श्रीश्रीराम-नामके बड़े ही प्रेमी और प्रचारक थे। श्रीराम-नामपर आपका अटल विश्वास था। दर्शनार्थ जानेवाले लोगोंको श्रीराम-नाम-जपका नियम दिलवाना आप अपना कर्तव्य समझते थे। कुछ महीनों पूर्व इन पंक्तियोंके लेखकने आपका दर्शन किया था। वास्तवमें आपके शुभ दर्शन और उपदेश-श्रवणसे चित्तको शान्ति मिलती थी। अवश्य ही ऐसे महात्माका स्थूल शरीर जनताके बीचसे उठ जाना उनके लिये दुःखकी ही बात है! परन्तु श्रीराम-गत प्राण सन्तोंके लिये जीना-मरना एक-सा ही है।

चित्र-परिचय

श्रीराम-जन्मके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी माता कौशल्याको अपने चतुर्भुजरूपका दर्शन दे रहे हैं। कौशल्याजी भगवान्‌के विश्व-विमोहन रूपको देखकर भावमग्न हो उनकी स्तुति कर रही हैं। कौशल्या-माताकी मुख-मुद्राका भाव क्या ही दर्शनीय और श्रद्धा-प्रेमसे युक्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

76165

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाबा भोलेनाथ

Printed by:—
Gita Press, Gorakhpur.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

वर्ष ५ खण्ड १ — ज्येष्ठ कृष्ण ११ संवत् १९८८ अप्रैल १९३१ — संख्या ११ पूर्ण सं० ५९

नन्दके कुमारको

कहा रसखान सुख सम्पति सुमार महँ, कहा महा योगी ह्वै लगाये अंग छारको ।
कहा साधे पंचानल, कहा सोये बीच जल, कहा जीत लीने राज-सिन्धु वारपारको ॥
जप बार बार, तप, संयम, अपार व्रत, तीरथ हजार, अरे बूझत लबारको ।
सोई है गँवार, जिहि कीन्हों नहीं प्यार, नहीं सेयो दरबार, यार नन्दके कुमारको ॥

—रसखान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महात्मा श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके उद्गार*

'गुरुका अंग, साधुका संग, नामका रंग, विवेकका अभंग और प्रभुका विश्वास होना आवश्यक है। (अर्थात् गुरुकी सेवा, सत्संग, हरिनाममें प्रेम, विवेककी जागृति और भगवान्में विश्वास होनेसे सब कुछ सिद्ध हो जाता है।)'

'स्थिरसुखमासनम्—इस सूत्रके अनुसार स्थिर आसन रखकर ध्यान करना चाहिये। चेतनत्वकी भावनापूर्वक इष्टका ध्यान दस मिनट प्रतिदिन करनेसे अभ्यासका फल प्रतीत होगा, तीस मिनटके अभ्याससे विशेष अवस्था प्रतीत होगी और एक घण्टे पैंतीस मिनटके अटूट ध्यानसे देहाध्यासकी निवृत्ति यानी समाधि हो जायगी, यही परम योग है।'

'एक घण्टे ध्यानके अभ्याससे ध्येय ही सर्वत्र दीखेगा।'

'ध्यानसे ज्ञान होता है; ध्यान बिना ज्ञान रह ही नहीं सकता।'

'कम-से-कम दस मिनट तो ध्यान प्रतिदिन करना ही चाहिये। इससे एकाग्रता बढ़कर शनैः-शनैः तद्रूपता हो जायगी। एकाग्रता या संयम ही मुख्य है।'

'चिन्तन-स्मरणसे सब कुछ हो जायगा, चिन्तनका अभ्यास जितना बढ़ेगा, उतनी ही संसारसे विरक्ति और भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति होगी।'

'मनोराज्य केवल पूर्ण भगवत्-सम्बन्धी ही होना चाहिये। अर्थात् मनको प्रभुके लीला-ध्यानरूपमें ही पूर्णरूपसे लगाना चाहिये।'

'अनेक जन्मोंके शुभ संस्कार इकट्ठे होनेपर श्रीकृष्णमें भक्ति होती है—'जन्मान्तर सहस्रेषु कृष्णे भक्तिः प्रजायते।'

भक्तिका रूप—'भक्ति नाम भजनका है। भजनीय नाम अथवा प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन ही भक्ति है।'

भक्तिके लक्षण—'प्रह्लादजीने जो वर माँगा कि मुझे कभी कुछ इच्छा ही न हो, यही भक्तिका लक्षण है।'

भक्ति-प्राप्तिका उपाय—'भगवत्-चिन्तन ही उपाय है, इसीसे प्रेम उत्पन्न होता है।'

'प्रेमी भक्त तो ज्ञानकी इच्छा ही नहीं करता। किन्तु ज्ञानमिश्रा भक्तिमें ज्ञान-भक्ति मिले रहते हैं। जैसी श्रीरामायणमें ज्ञानमिश्रा भक्ति है, शुद्धा या केवल भक्ति नहीं।'

'श्रीचैतन्य महाप्रभुने भक्तिका लक्षण इस श्लोकमें बतलाया है—

अनन्यममताविष्णोर्ममता प्रेमसंज्ञिता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥

श्रीभगवान्में अनन्य ममताको ही भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद आदिने प्रेम और भक्ति बतलाया है।'

'भक्तकी वाञ्छा यह होती है—भगवान् कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
(भा० ३। २९। १३)

उन भक्तोंको मैं सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति देता हूँ, परन्तु वे मेरी सेवाको छोड़कर उन्हें नहीं लेते।'

'सच्चिदानन्द-वस्तु परमात्माका भजन, ध्यान करनेसे ज्ञान हो ही जायगा। इसके लिये यत्नकी आवश्यकता नहीं, विश्वास चाहिये। जिसको विश्वास नहीं होता उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी।'

* पं० श्रीरामशंकरजी मेहताकी कृपासे प्राप्त।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'श्रीगीताजीके अध्याय ८।१४ के श्लोकमें परम साधनका वर्णन है। इसको सब धर्म, सब मजहबवाले मानेंगे। इसके अतिरिक्त और कोई साधन हो ही नहीं सकता।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥'

'यह विश्वास रहना चाहिये कि प्रभु हमारी रक्षा करेंगे ही! जीवकी ओरसे चिन्तन कर्तव्य है, प्रभुकी ओरसे कृपा होगी ही! जितना-जितना चिन्तन बढ़ेगा, उतना-उतना ही आनन्द बढ़ेगा।'

'निर्गुण-उपासकको प्रभुके दर्शन नहीं होते, क्योंकि वह सगुण-उपासनाको हेय समझ चुका है।'

'सगुण-उपासकको निर्गुण-उपासनाका फल अवान्तररूपसे मिल ही जायगा; परन्तु उसे प्रभु-दर्शन और रसकी प्राप्ति अधिक है।'

'उपासनाके बिना चित्तकी शान्ति नहीं होती, मनोराज्य विचारसे नहीं हट सकता, वह तो उपासनासे ही शान्त होगा।'

'ज्ञानीकी जैसी इच्छा है वैसा ही फल होगा, वह ध्येयाकार हो जायगा। ऐसे ही भक्त ध्येयाकार हो जाते हैं।

साधू तो हारो भलो, जीतो सब संसार।
हारो तो हरिसों मिले, जीतो यमपुर जाय ॥'

'ज्ञानकी जिज्ञासा अनेक जन्म-भजनसे होती है। भक्ति सुलभ है। कारण उसमें 'करुणा-समुद्र' की आशा है, वही पार करेगा। कर्णधारं नमोऽस्तु ते।'

'भक्तकी दशा वैसी है, जैसे नदीके पार जानेवाले यात्रीकी होती है, जो नावमें मल्लाहद्वारा सुखपूर्वक पार किया जाता है।'

'ज्ञानीकी दशा वैसी है जैसे कोई नदीको बिना नावके तैरकर पार करे और छः नक्रोंके खा जानेका डर भी हो। इसीलिये गीता, भागवत आदिमें ज्ञानको कठिन बतलाया है। श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धके अध्याय २२ वेंमें राजा पृथु और सनकादिके संवादमें यही ज्ञान-भक्तिके अन्तरका प्रसंग है।'

'किसी प्रकारसे भी प्रेमकी पराकाष्ठापर पहुँच जाय, फिर कल्याण ही है।'

'चित्तके चित्तत्वको हटाना ही होगा, इसके बिना शान्ति नहीं। उपासनाके बिना न शान्ति हुई, न होगी। ज्ञानीको भी बिना उपासनाके शान्ति नहीं; किसी भी प्रकारसे नानात्वको उड़ाओ, यह नानात्व ही दुःख दे रहा है।'

'सच्चिदानन्दकी भावना सर्वत्र होनेसे किसी भी वस्तुका ध्यान कर सकते हैं। मनसे संसार निकलना चाहिये। सब चिन्मय है। इसलिये उपासना भी चिन्मयकी होनी चाहिये। चाहे वह व्रजलीलाकी हो, चाहे और हो। प्रभुकी लीला चिन्मय, प्रभुका ध्यान चिन्मय और प्रभुका लोक भी चिन्मय। इसलिये चिन्मय प्रभुका ध्यान करना चाहिये। स्थूल दृष्टिका सदा-सर्वदा त्याग करना चाहिये। मनसे स्थूल दृष्टि हटानी चाहिये। गुरुको भी चिन्मय ही समझना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(भा० ११।२।४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, तेज, प्राणिजन, दिशाएँ, वृक्षादि, नदियाँ, समुद्र एवं अन्य जो कुछ भी है सो सब भगवान् श्रीहरिका ही शरीर है यह समझकर अनन्यभावसे सबको प्रणाम करना चाहिये।'

'मैं और मेरा हटनेपर फिर सब चिन्मय हो जाता है।'

'नाम रूप नित्य है, भक्त जिस रूपसे प्रभुको चाहता है, वह उसी रूपसे उसे दर्शन देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु एक बात रहस्यकी है। अनेक भक्तोंने जिस रूपसे प्रभुकी उपासना की है, वही रूप उपासना करने योग्य है। कारण, इसमें उन भक्तोंकी शक्तिकी सहायता मिलती है। अर्थात् श्रीकृष्णरूपसे उपासना करनेवालेको पूर्वके सब भक्तोंकी शक्तिकी सहायता मिलेगी। इसलिये नवीन कल्पना ठीक नहीं है। रूप-समुद्रमेंसे जैसे चाहो, उसी प्रकार दर्शन होंगे।'

'निष्ठा और मन्त्र एक और पक्का होना चाहिये, चाहे कोई भी निष्ठा हो।'

'निष्ठा उसे कहते हैं जो बात दिमागमें समा जाय, हर समय दिमागमें भरी रहे।'

'ज्ञानी और भक्त दोनोंमें दैवी-सम्पत्तिकी आवश्यकता है। दैवी-सम्पत्ति बिना ज्ञान और भक्ति दोनों व्यर्थ हैं। योगवाशिष्ठमें ज्ञानी राक्षस-का वृत्तान्त है। वह ज्ञानी राक्षस बहुत-से जीवोंका भक्षण करता था, ऐसे ज्ञानसे क्या लाभ है ? दैवी-सम्पत्ति बिना न ज्ञान शोभा पाता है न भक्ति।* इसीलिये श्रीगीताजीमें कहा है—दैवीसम्पद्विमोक्षाय।'

'दैवी सम्पत्ति मुख्यतः चार बातोंमें आ जाती है—(१) दया, (२) कोमलता, (३) बुरे कार्योंमें लज्जा और (४) मनकी चञ्चलताका नाश।'

'दयाका स्वरूप सबका कल्याण चाहना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥'

'कठोर वचन या व्यवहार कुछ भी न हो। कोमलतासे लोभ नाश होता है।'

'बुरे कर्म होनेसे पूर्व लज्जा होनेसे वह बुरे कर्मोंसे रक्षा कर लेगी।'

'मन, शरीर, वाणीकी चञ्चलता दूर हुए बिना शान्ति, समता, ज्ञान, भक्ति आदि कुछ भी नहीं हो सकता।'

'विपत्तिमें हृदयको दृढ़ रखना तथा धैर्य और साहस रखना चाहिये।'

'सा हानिस्तन्महच्छिद्रं साचान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्तक्षणार्द्धं वा वासुदेवे न चिन्तनम्॥

जिस मुहूर्त या क्षणके आधे भागमें श्रीभगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन नहीं किया गया, वही सबसे बड़ी हानि, भूल, अन्धता, जडता तथा मूर्खता है।'

'श्रीकृष्णका जन तब ही हुआ जानिये, जब संसार गौण और परमार्थ मुख्य हो जाय। तभी उसे श्रीकृष्णका जन हुआ समझना चाहिये।'

'परमार्थी वही है जिसको भगवान् मुख्य और संसार गौण हो जाय।'

'श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है कि विषयकी उपस्थितिमें इन्द्रियोंकी अप्रवृत्ति यानी उनमें अरुचि होना वैराग्यका लक्षण है।'

'विषयोंमें अरुचि तब होगी जब प्रभुमें पूर्ण रुचि होगी।'

'प्रभुका एक नाम वाञ्छाकल्पतरु भी है, फिर उपासकको भय क्यों होना चाहिये ? सच्ची वाञ्छा होगी तो प्रभु पूरी करेंगे ही।'

'स्नेहमें स्मरण बना रहना चाहिये। आश्रय पूरा रहे।'

'दुःख प्रभुकी ओर लगन लगानेमें सहायक है।'

'दुःख प्रभु-प्राप्तिका साधन है। प्रभुकी याद जैसी दुःखमें आती है, सुखमें वैसी नहीं आ सकती। सुखमें जीव भूल जाता है। माया न होती तो ज्ञान होता ही नहीं। मायाकी कृपासे ही प्रभुकी प्राप्ति है। सब कुछ जीवके कल्याणके लिये ही है।'

'भगवत्प्रेम स्वाभाविक ही सबमें है परन्तु वह रजोगुण-तमोगुणसे ढक रहा है।'

* यथार्थ ज्ञान या भक्ति हो जानेपर दैवी-सम्पत्ति आप ही आ जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'प्रियतम प्रभु चाहे नरकमें भेजे या और कहीं भेजे, प्यारेकी वस्तु तो प्यारी लगनी ही चाहिये। प्रभु प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं।'

'कीर्तनमें एकाग्रता उत्पन्न होती है। शब्दमें आकर्षणशक्ति रूपके सदृश ही है। इसलिये प्रभु श्रीकृष्णने वंशी और रूप दोनोंसे ही सबको वश किया था। मिलकर कीर्तन करनेसे तुमुल ध्वनि होती है और उससे एकाग्रता होती है। दूसरी बात यह है कि सब कीर्तन करनेवालोंमेंसे एकका भी चित्त सत्त्वगुणमें होगा तो सबका चित्त सत्त्व गुणमें हो जायगा। पहले कीर्तनद्वारा चित्तकी एकाग्रता लाभ करनेपर प्रभुका ध्यान होगा।'

'वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान्वेगान्सहते यस्तु विद्वान्
निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात् ॥

जो वाणी मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थके वेगको सहन कर ले वही दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष है।'

'भाव सर्वत्र ही चल रहा है। भावकी कल्पनासे ही सर्वत्र व्यवहार है। भाव शब्दका अर्थ यह है कि औरमें और बुद्धि, जैसे शरीर और बीज है बाप और, किन्तु उसमें भाव या कल्पनासे पिता आदि भाव कर लिये जाते हैं।'

राग द्वेषकी निवृत्ति–'इनमें खास करके द्वेषकी निवृत्ति करनी चाहिये।'

'श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें ये दो श्लोक हैं—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभंगनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥

अस्थि, मांस और रुधिरसे भरे हुए इस देहमें अभिमान छोड़ दो, स्त्री-पुत्रादिकी ममताका सर्वथा त्याग कर दो। यह जगत् क्षणभंगुर है, ऐसा निरन्तर विचार करो, वैराग्यमें रसिक बनो और भक्तिनिष्ठ होओ। निरन्तर धर्मका सेवन करो, लौकिक धर्मोंका त्याग कर दो, साधु पुरुषोंकी सेवा करो, विषयोंकी तृष्णाको त्याग दो। दूसरेके गुण-दोषोंका विचार तुरन्त छोड़कर भगवत्-सेवा-कथा-रसका भरपेट पान करो।'

राम-रस-माधुरी

साचे बैन सुनै क्यों न, काचे रस चाखे किम ?
रसना ! रसज्ञा ह्वैके भूल रही कैसी है ?
दाखनके चाखनमें नाहिं मृदु माखनमें
आँबनकी साखनमें स्वादुता न वैसी है ॥
मोदकके चयमें न, मधुके निचयमें न
सौरभेयि पयमें न मिष्ठताई तैसी है।
'राम-रस-माधुरी' मयंकके मयूखमें न
शालिग पियूखमें न ऊखमें न ऐसी है ॥

—शालिग्राम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यकी शरणसे मुक्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मेरे कुछ प्रेमी बन्धु सत्यपर कुछ लिखनेके लिये मुझे बार-बार कहते आये हैं, किन्तु जब मैं अपनी योग्यतापर विचार करता हूँ तो मुझे यही सूझता है कि मैं इस विषयपर लिखनेमें असमर्थ हूँ, क्योंकि वास्तवमें इस सम्बन्धमें वही पुरुष अपने भाव प्रकट कर सकता है जो सत्यके तत्त्वको यथार्थरूपसे जानता हो। असल बात तो यह है कि इसके तत्त्वको यथार्थतः जाननेवाला पुरुष भी अपने भावोंको सम्पूर्णतासे लिख नहीं सकता, परन्तु हाँ, यदि वह लिखना चाहे तो उसे लिखनेका अधिकार है। मेरा इस विषयमें न तो अधिकार ही है और न योग्यता ही; इसलिये इस सम्बन्धमें अबतक विशेषरूपसे लिखनेकी चेष्टा नहीं की गयी। फिर भी अपने मित्रोंके आग्रहके कारण इस विषयमें अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ पुस्तकोंमें पढ़ा हुआ, सन्तोंसे सुना हुआ और विचारसे अपने दिलमें समझा हुआ भाव है उसे बालकवत् लिखनेका साहस कर रहा हूँ। आशा है, विद्वज्जन इस धृष्टताके लिये क्षमा करेंगे।

मनुष्य जिस विषयपर जो कुछ लिखता है वह उसके मनका निश्चय किया हुआ भावमात्र होता है। वास्तविक तत्त्व तो वही जानता है जो सर्वज्ञ होता है। ऐसे सब विषयोंके ज्ञाता पूर्णतया सर्वज्ञ परमात्मादेव हैं—वही सब प्रकारसे कह सकते हैं। मनुष्य तो उनकी दयासे ही अपनी समझके अनुसार यत्किञ्चित् अपने भावोंको प्रकट कर सकता है।

सत्—यह शब्द व्यापक है, असलमें तो 'सत्' शब्दपर विचार करनेसे यही सूझता है कि यह परमात्माका ही स्वरूप है—उसीका नाम है। जो पुरुष सत्के तत्त्वको जानता है वह परमात्माको जानता है। जो सत् है वही नित्य है—अमृत है। इसके तत्त्वका ज्ञाता मृत्युको जीत लेता है, शोक और मोहको लाँघकर निर्भय-नित्य परमधामको जा पहुँचता है। वह सदाके लिये अभय अमृत-पदको प्राप्त हो जाता है। उसीको लोग संसारमें जीवन्मुक्त, ज्ञानी, महात्मा आदि नामोंसे पुकारते हैं। उसकी सबमें समबुद्धि हो जाती है, क्योंकि सत् परमात्मा सबमें सम है और वह सत्में स्थित है, इसलिये उसमें विषमताका दोष नहीं रह सकता। वह कभी असत्य नहीं बोलता। उसके मन, वाणी और शरीरके होनेवाले सभी कर्म सत्य होते हैं। उसकी कोई भी क्रिया असत्य न होनेसे उसके द्वारा किया हुआ प्रत्येक आचरण सत्य समझा जाता है। वह जो आचरण करता या बतलाता है वही लोकमें प्रामाणिक माना जाता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(गीता ३। २१)

ऐसे पुरुषका अन्तःकरण, शरीर और उसकी इन्द्रियाँ सत्यसे पूर्ण हो जाती हैं। उसके आहार-व्यवहार और क्रियाओंमें सत्य साक्षात् मूर्ति धारण करके विराजता है। ऐसे नर-रत्नोंका जन्म संसारमें धन्य है। अतः हमलोगोंको इसप्रकार समझकर सत्यकी शरण लेनी चाहिये अर्थात् उसे दृढ़तापूर्वक भलीभाँति धारण करना चाहिये।

सत्यका स्वरूप

सत्य उसका नाम है जिसका किसी कालमें बाध नहीं होता, जो नित्य एकरस, सदा-सर्वदा सब जगह समभावसे स्थित है और जो स्वतः प्रमाण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

(गीता २ । १६)

ऐसा 'सत्य' एक विज्ञान आनन्दघन चेतन परमात्मादेव ही है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

जीवात्मा भी सत् है । परमेश्वरका अंश होनेके नाते उसको भी सनातन–नित्य कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

(गीता १५ । ७)

गीता अध्याय २ श्लोक १७ से २१ और २३ से २५ तकमें इस विषयका वर्णन किया गया है। अतएव उस सनातन, अव्यक्त, सत्यरूप परमात्मा-की शरण लेनेसे यह जीव मायाको लाँघकर सत्य-स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा सत्य है, इसलिये उसका नाम भी सत् कहा गया है, क्योंकि रूपके अनुसार ही नाम होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

(गीता १७ । २३)

ॐ, तत्, सत्–ये तीन नाम ब्रह्मके बताये गये हैं। 'सत्' शब्द भावका अर्थात् अस्तित्वका वाचक है। संसारमें जो कुछ भी सिद्ध होता है वह 'सत्' के आधारपर ही होता है। अतएव सारे संसार-का आधार सत्य ही है। सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथ्वी आदि सब सत्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। सत्यकी ही प्रतिष्ठासे सूर्य तपता है और वायु बहता है। बिना सत्यके किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती। सत्य परमात्माका स्वरूप है और परमात्मा सबसे उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ है, इसलिये श्रेष्ठ गुण, उत्तम कर्म और साधु-भावमें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया गया है अर्थात् जो कुछ भी श्रेष्ठ गुण, उत्तम कर्म और साधु-भाव होता है वह सद्गुण, सद्भाव और सत्कर्म नामसे ही लोक और शास्त्रमें विख्यात है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥

(गीता १७ । २६)

उत्तम कर्म होनेके नाते यज्ञ, दान और तप भी सत्कर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं एवं इनमें जो निष्ठा तथा स्थिति है उसे भी 'सत्' कहते हैं। स्वार्थको त्यागकर सत्स्वरूप परमात्माके अर्थ किया हुआ प्रत्येक कर्म लोक और शास्त्रमें सत्कर्मके नामसे ही विख्यात है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

(गी० १७ । २७)

विचारनेसे यह बात युक्तियुक्त भी सिद्ध होती है कि सत्यके अर्थ जो भी क्रिया की जाती है वह सत्य ही समझी जाती है। इसीलिये सत्यके निमित्त कर्म करनेवालेकी कायिक, मानसिक और वाचिक सम्पूर्ण क्रियाएँ सत्य ही होती हैं यानी वे सब क्रियाएँ लोकमें सत्य प्रमाणित होती हैं।

सत्य भाषण

कपट, शब्दचातुरी और कूटनीतिको छोड़कर हिंसावर्जित सरलताके साथ जैसा देखा, सुना और समझा हो उसे वैसा-का-वैसा—न कम, न ज्यादा—कह देना सत्य-भाषण है। सत्य-भाषणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये—

(१) न स्वयं झूठ कभी बोलना चाहिये और न किसीको प्रेरित करके बुलवाना चाहिये। दूसरेको प्रेरणा करके अथवा उसपर दबाव डाल-कर जो उससे झूठ बुलवाता है वह स्वयं झूठ बोलनेकी अपेक्षा गुरुतर मिथ्या भाषण करता है, क्योंकि इससे झूठका प्रचार अधिक होता है। किसी झूठ बोलनेवालेसे सहमत भी नहीं होना चाहिये। उस समय मौन साधे रहना भी एक प्रकारसे झूठ ही समझा जाता है। तात्पर्य यह कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृत, कारित और अनुमोदित-इनमेंसे किसी प्रकारका मिथ्या भाषण नहीं होना चाहिये।

(२) जहाँतक बन पड़े किसीकी निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिये। निन्दा-स्तुति करनेवाला व्यक्ति स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय एवं उद्वेग आदिके वशीभूत होकर जोशमें आकर कम या अधिक निन्दा-स्तुति करने लग जाता है। इनमें निन्दा करना तो सर्वथा ही अनुचित है। विशेष योग्यता प्राप्त होनेपर यदि कहीं स्तुति करनी पड़े तो वहाँ भी बड़ी सावधानीके साथ काम लेना चाहिये।

जो अधिक स्तुतिके योग्य हो और उसकी कम स्तुति की जाय तो अर्थान्तरसे वह स्तुति निन्दाके तुल्य ही हो जाती है।

जो कम स्तुतिके योग्य हो, उसकी अधिक स्तुति हो जाय तो उससे जनतामें भ्रम फैलकर लाभके बदले हानि होनेकी सम्भावना है। इस प्रकारकी झूठी स्तुतिसे स्वयं अपनी और जिसकी स्तुति की जाय उसको लाभके बदले हानि ही होती है। परन्तु किसी बातका निर्णय करनेके लिये राज्यमें या पञ्चायतमें जो यथार्थ बात कही जाय तो उसका नाम निन्दा-स्तुति नहीं है। उसमें यदि किसीकी निन्दा-स्तुतिके वाक्य कहने पड़ें तो भी उसे वास्तवमें वक्ताकी नीयत शुद्ध होनेसे उसे निन्दा-स्तुतिमें परिगणित नहीं करना चाहिये।

कोई व्यक्ति यदि अपने दोष जाननेके लिये पूछनेका आग्रह करे तो प्रेमपूर्वक शान्तिसे उसे उसका यथार्थ दोष बतला देना भी निन्दा नहीं है।

(३) यथासाध्य भविष्यत्की क्रियाओंका प्रयोग नहीं करना चाहिये। ऐसी क्रियाओंका प्रयोग विशेष करनेसे उनका सर्वथा पालन होना कठिन है; अतः उनके मिथ्या होनेकी सम्भावना पद-पदपर बनी रहती है। जैसे किसीको कह दिया कि 'मैं कल निश्चय ही आपसे मिलूँगा,' किन्तु फिर यदि किसी कारणवश वहाँ जाना न हो सका तो उसकी प्रतिज्ञा झूठी समझी जाती है। अतः ऐसे अवसरोंपर यही कहना उचित है कि 'आपके घरपर कल मेरा आनेका विचार है या इरादा है।'

(४) किसीको शाप या वर नहीं देना चाहिये। इससे तपकी हानि होती है। शाप देनेसे तो पापका भी भागी होना सम्भव है। इस प्रकारके बुरे अभ्याससे स्वभावके बिगड़ जानेपर सत्यकी हानि और आत्माका पतन होता है।

(५) किसीके साथ हँसी-मज़ाक़ नहीं करना चाहिये। इसमें प्रायः विनोद-बुद्धिसे असत्य-शब्दोंका प्रयोग हो ही जाया करता है। जिसकी हम हँसी उड़ाते हैं वह बात उसके मनके प्रतिकूल पड़ जानेपर उसके चित्तपर आघात पहुँच सकता है, जिससे हिंसा आदि दोषोंके आ जानेकी सम्भावना है।

(६) व्यंग और कटाक्षके वचन भी नहीं बोलने चाहिये। इनमें भी झूठ, कपट और हिंसादि दोष घट सकते हैं।

(७) शब्दचातुरीके वचनोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये। जैसे, शब्दोंसे तो कोई बात सत्य है परन्तु उसका आन्तरिक अभिप्राय है विपरीत। राजा युधिष्ठिरने अपने गुरु-पुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युके सम्बन्धमें अश्वत्थामा नामक हाथीका आश्रय लेकर शब्दचातुर्यका प्रयोग किया था। वह मिथ्या भाषण ही समझा गया था।

(८) मितभाषी बनना अर्थात् गम्भीरताके साथ विचारकर यथासाध्य बहुत कम बोलना चाहिये, क्योंकि अधिक शब्दोंका प्रयोग करनेसे विशेष विचारके लिये समय न मिलनेके कारण भूलसे असत्य शब्दका प्रयोग हो सकता है।

सत्यके पालन करनेवाले मनुष्यको काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, द्वेष, ईर्ष्या और स्नेहादि दोषोंसे बचकर वचन बोलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय सत्यकी प्रतिष्ठा हो जाती है उस समय उपर्युक्त दोष प्रायः नष्ट हो जाते हैं। जब कि इनमेंसे किसी एक दोषके कारण भी मनुष्य सत्यसे विचलित हो जाता है तो फिर अधिक दोषोंके वशमें होकर असत्य-भाषण करनेमें तो आश्चर्य ही क्या है?

सत्य बोलनेवाले पुरुषको हिंसा और कपटसे खूब सावधानी रखनी चाहिये। जिस सत्य-भाषणसे किसीकी हिंसा होती है तो वह सत्य सत्य नहीं है। सत्य-भाषणके सम्बन्धमें महाभारतमें काष्ठ मुनिकी कथा प्रसिद्ध है। ऐसे अवसरपर सत्य-भाषणकी अपेक्षा मौन रहना अथवा न बतलाना ही सत्य है। हाँ, अपनी या दूसरेकी प्राण-रक्षाके लिये झूठ बोलना पड़े तो वह सत्य तो नहीं समझा जाता परन्तु उसमें पाप भी नहीं माना गया है।

जिस सत्यमें कपट होता है वह सत्य सत्य नहीं समझा जाता। सत्य बोलनेवाला मनुष्य जान-बूझकर सत्यका जितना अंश शब्दोंसे या भावसे छिपाता है, वह उतने अंशकी चोरी करता है। जिस सत्यके बोलनेसे किसीकी हिंसा होती है वह सत्य भी सत्य नहीं है। हिंसा और कपट—ये दोनों ही सत्यमें कलङ्क लगानेवाले हैं। इसलिये जिस सत्यमें हिंसा और कपटका थोड़ा भी अंश रहता है वह सत्य शब्दोंसे सत्य होनेपर भी झूठ ही समझा जाता है।

जो विषयी और पामर पुरुष हैं वे तो बिना ही कारण प्रमादवश झूठ बोल दिया करते हैं, क्योंकि वे सत्य-भाषणके रहस्य और महत्त्वसे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। उनका पतन होना भी फलतः स्वाभाविक ही है। परन्तु जो विचारशील पुरुष हैं वे सत्यको उत्तम समझकर उसके पालनकी इच्छा तो रखते हैं किन्तु उनसे भी सर्वथा सत्यका पालन होना कठिन है। अनन्त जन्मोंका मिथ्या-भाषणका अभ्यास होनेके कारण उनके लिये भी सत्यकी सिद्धि दुष्कर है। पर विवेक बुद्धिके द्वारा स्वार्थको छोड़कर जो सत्यके पालनकी विशेष चेष्टा करते हैं उनके लिये इसका पालन होना—इसकी प्रतिष्ठा होनी सम्भव है, असाध्य नहीं। जो सत्यका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लेता है अर्थात् जिसकी सत्यमें सर्वाङ्ग प्रतिष्ठा हो जाती है उसकी वाणी सत्य हो जाती है अर्थात् वह जो कुछ कहता है वह सत्य हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि भी योगपाद २ सूत्र ३६ में कहते हैं—

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'

अगस्त्यके वचनोंसे नहुषका पतन हो जाना आदि अनेक कथाएँ शास्त्रोंमें प्रसिद्ध ही हैं।

सत्य बोलनेवाला पुरुष निर्भय हो जाता है क्योंकि जबतक भय रहता है तबतक वह यथार्थ-भाषी नहीं होता—भयके कारण कहीं-न-कहीं मिथ्याभाषण घट ही जाता है। जो सर्वथा सत्यको जीत लेता है वह क्षमाशील होता है, वह क्रोधके वशीभूत नहीं होता। क्रोधी मनुष्य सत्यके पालनमें सर्वथा असमर्थ रहता है। क्रोधोन्मादमें वह क्या-क्या नहीं बक बैठता?

सत्यपालनके प्रभावसे मनुष्यमें निरभिमानता आ जाती है। मान और प्रतिष्ठाकी जहाँ इच्छा होती है वहाँ दम्भ और कपटको आश्रय मिल जाता है। और बस जहाँ इन्होंने प्रवेश किया वहाँसे सत्य तत्काल कूच कर जाता है। निःसन्देह कपटी और दम्भीका सत्यसे पतन हो जाना अनिवार्य है।

जब सर्वथा सत्यकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो उस सत्यवादीमें किसी प्रकारकी इच्छा या कामना नहीं रहती। भोगोंकी इच्छावाला मनुष्य भला क्या-क्या अनर्थ नहीं कर बैठता? क्योंकि काम ही पापोंका मूल है। इसीलिये कामके वशीभूत हुआ कामी पुरुष झूठ, कपट, छल आदि दोषोंकी खान बन जाता है। अतएव सत्यके सम्यक् पालनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और अहङ्कार आदि दोषोंका नाश हो जाता है और वह मनुष्य एक सत्यके ही पालनसे दया, शान्ति, क्षमा, समता, निर्भयता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि सम्पूर्ण गुणोंका भण्डार बन जाता है। अतः मनुष्यको सत्यभाषणपर कटिबद्ध होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

सत्य आहार

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी क्यों न हो, शास्त्रके द्वारा बतलायी हुई विधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने परिश्रमसे उपार्जित द्रव्यसे वह जो सात्त्विक आहार करता है उसका नाम सत्य आहार है।* यद्यपि ब्राह्मणके लिये दान लेकर भी जीविका-निर्वाह करना शास्त्रानुकूल है तथापि दाताका उपकार किये बिना जो याचनावृत्तिसे अपना धर्म समझकर जीविका करता है वह ब्राह्मणोंमें निन्दनीय समझा जाता है। उससे तपका नाश, आलस्य तथा अकर्मण्यताकी वृद्धि होती है। इसलिये शास्त्रोक्त होनेपर भी उस प्रकारकी जीविकासे किया हुआ सत्य आहार सत्य आहार नहीं है। इसलिये ब्राह्मणको विद्यादान आदिद्वारा दाताका प्रत्युपकार करके अथवा शिलोञ्छ-वृत्तिसे जीविका-निर्वाह करना चाहिये। इसी प्रकार क्षत्रियको भी स्वधर्मके अनुसार सत्य और न्यायसे उपार्जित शुद्ध द्रव्यसे जीविका चलानी चाहिये।

यद्यपि वैश्यके लिये व्याज लेकर जीविका-निर्वाह करना धर्मशास्त्रानुकूल है तथापि क्रय-विक्रय-व्यापारके बिना केवल व्याज-वृत्तिकी शास्त्रकारोंने निन्दा की है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें इसका उल्लेख ही नहीं किया। इससे आलस्य और निरुद्यमताकी वृद्धि होती है। गिरवी रखे हुए आभूषण और जमीन आदिकी कीमतसे भी मूलसहित व्याजकी रकम जब अधिक हो जाती है तो कर्जदार उनको छुड़ाकर वापस नहीं ले सकता। इससे उसकी आत्माको बड़ा कष्ट पहुँचता है। अतः केवल व्याजकी जीविका निन्दनीय है। इसप्रकारकी जीविकासे जो वैश्य आहार करता है वह आहार भी सत्य नहीं है। इसी प्रकार क्षत्रिय आदिके लिये समझ लेना चाहिये।

जो पुरुष शास्त्रविहित अपने वर्णाश्रमके अनुकूल परिश्रम करके न्यायसे प्राप्त हुए सात्त्विक द्रव्यका आहार करता है उसका वह आहार सत्य आहार कहलाता है। जैसे कोई वैश्य झूठ और कपटको त्यागकर ईश्वरकी आज्ञासे अपना धर्म समझकर क्रय-विक्रय आदि न्याययुक्त जीविकाद्वारा प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करता है तो उसका वह आहार सत्य आहार है। व्यापार करनेवाले वैश्यको उचित है कि वह यथासाध्य कम-से-कम मुनाफा लेकर माल बिक्री करे; गिनती, नाप और वजनमें न कम दे और न अधिक ले; व्याज, मुनाफा, आढ़त और दलाली ठहराकर न किसीको कम दे और न अधिक ले; लेन-देनके विषयमें जैसा सौदा चतुर और समझदार आदमीसे किया जाय उसी दरसे मूर्ख, भोले और सीधे-सादे आदमीके साथ करे अर्थात् सबके साथ सम बर्ताव करे। जो कुछ सम्पत्ति हो उसे ईश्वरकी समझकर लाभ हानिमें सम रहते हुए दक्षतापूर्वक व्यापार करे और ऐसी चेष्टा की जाय कि जिससे मूलधनका नाश न हो; जहाँतक हो सके किसीकी जीविकाकी हानि न करके विशेष हिंसाका बचाव रखते हुए न्यायसे धन उपार्जन करे और सादगीसे रहे; जितने कमसे अपना और अपने कुटुम्बका निर्वाह हो सके—ऐसी चेष्टा करे; बढ़े हुए धनमें भी अपना स्वत्व न समझकर संसारका हितचिन्तन करके लोकोपकारके ही लिये व्यय करे, यही सत्य व्यापार है। इसप्रकारके व्यापारसे उपार्जित द्रव्यसे जो सात्त्विक अन्नादिका आहार किया जाता है वह वैश्यके लिये सत्य आहार है, इसी प्रकार अन्य सबके लिये समझ लेना चाहिये।

---

* आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(गी० १७।८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सद्भाव और सद्व्यवहार

ऊपर लिखा जा चुका है कि 'सत्' परमेश्वरका नाम है। अतः उसे प्राप्त करवानेवाले भाव और व्यवहार ही सद्भाव और सद्व्यवहार हैं। उन्हींको साधुभाव कहा गया है। गीताके १३ वें अध्यायमें ये ज्ञानके नामसे एवं १६ वेंमें दैवी-सम्पदाके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनमें जो भाववाचक शब्द हैं वे सब साधुभाव समझे जाने चाहिये। जिन पुरुषोंमें उत्तम भाव रहते हैं वे परमात्माकी प्राप्तिके पात्र समझे जाते हैं; अतः प्राप्तिमें हेतु होनेसे इनको सद्भाव कहा गया है।

अमानित्व (मानका न चाहना), क्षमा (अपने साथ किये गये अत्याचारोंका बदला न चाहना), कोमलता, सरलता, पवित्रता, शान्ति, शीतलता, समता, वैराग्य, श्रद्धा, दया, उदारता, सुहृदता इत्यादि भाव सत्स्वरूप सगुण परमेश्वरमें—जो अवतार लेते हैं—स्वाभाविक होते हैं एवं भगवान्की शरण होकर उनकी उपासना करनेवाले भक्तोंमें उनकी दयासे विकसित हो जाते हैं। ऐसे सद्भावोंसे युक्त भक्त परमात्म-दर्शनके अधिकारी होते हैं। अतः हमलोगोंको ऐसे भावोंको प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण लेनी चाहिये। भगवत्-दयासे जिस मनुष्यमें उपर्युक्त सद्भाव आ जाते हैं उसके आचरण भी सत्य ही होते हैं, क्योंकि सदाचारमें सद्भाव ही हेतु बतलाये गये हैं। जैसा आन्तरिक भाव होता है वसी ही बाहरी चेष्टा होती है। अतः सद्भावसे मुक्ति और असद्भावसे पतन समझना चाहिये। उपर्युक्त सद्गुणोंसे सम्पन्न पुरुष यथासाध्य उस जगह नहीं जाता जहाँ मान, बड़ाई और पूजा मिलनेकी सम्भावना होती है। यदि कोई व्यक्ति उसका अनिष्ट कर देता है तो वह यही समझता है कि यह तो मेरे पूर्वकृत कर्मोंके फलसे हुआ है; यह तो निमित्तमात्र है—ऐसा मानकर वह किसीसे द्वेष या घृणा नहीं करता; बल्कि अवसर पड़नेपर उसके हितके लिये उसके हृदयसे संकोच, ग्लानि, भय और द्वेषको दूर करनेकी ही चेष्टा करता है।

यदि उसके साथ कोई असद्व्यवहार करता है अथवा उसके प्रति व्यंग और कठोर वाक्योंका प्रयोग करता है तो भी वह विनय और सरलतासे सनी हुई मधुर वाणीसे उसी प्रकार शान्तिपूर्वक उत्तर देता है जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने कैकेयीको दिया—

चौपाई

सुन जननी सोइ सुत बड़भागी। जे पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषन हारा। दुर्लभ जननी यह संसारा॥
मुनिगण मिलन बिशेष बन, सबहिं भाँति हित मोर।
तेहिमँह पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर॥
भरत प्राणप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहिं सम्मुख आजू॥
जो न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहिं मूढ़समाजा॥

वास्तवमें ऐसा सद्भावोंसे सम्पन्न पुरुष सारे जगत्में अपने परम प्रिय स्वामी परमात्माका स्वरूप देखता है और मन-ही-मन सबको प्रणाम करता हुआ सबके साथ सद्व्यवहार करता है।

सीय राममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि युग पानी॥

(शेष आगे)

कुसङ्गति

तिल तैलके संग लहैं दुखको रस संगहिते जग ईख पेराये।
फल संग ते पादप ईट सहैं अरु गन्धके संगते फूल तपाये॥
कर तन्दुल संगतिको जगमें पुनि शीश विषे तुष मूसल खाये।
तिल ईख समंकर खोटन संगत या जगमें दुख कौन न पाये॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्य गुरु-भक्ति

भारतीय संस्कृतिमें गुरुभक्ति और गुरुसेवाका स्थान बहुत ऊँचा है। शिष्यका अपनेको सद्गुरुके चरण-कमलोंमें समर्पित कर देना और गुरुका उसके लोक-परलोकको सुधारनेके प्रयत्नमें प्राणपणसे लग जाना आर्य-संस्कृतिमें ही देखा गया है। गुरुने जो कुछ भी साधन बतला दिया उसीको मन लगाकर करना, दूसरोंकी निन्दा न करते और सबसे प्रेम रखते हुए भी किसीके साधनकी ओर मन न चलाना शिष्यका स्वधर्म था। गुरु अपने शिष्यकी कड़ी-से-कड़ी परीक्षा लेकर उसे सब प्रकारसे योग्य बनाते थे। आज भारतमें प्रायः न वैसे गुरु हैं और न शिष्य हैं। महाभारतमें गुरु-भक्तिका एक बड़ा ही उत्तम इतिहास है—

आपादे धौम्य नामक एक तपस्वी महर्षि थे। ब्राह्मणकुमार उपमन्यु उनका शिष्य था। एक बार शिष्यके कल्याणार्थ गुरुने उससे कहा—'पुत्र उपमन्यु! तुम हमारी गायें वनमें चरा लाया करो।' गुरुकी आज्ञा पाते ही वह बिना कुछ बोले गौ चराने चला गया। सन्ध्याको वनसे लौटकर उसने गुरुको प्रणाम किया। गुरुने उपमन्युको हृष्ट-पुष्ट देखकर पूछा—'वत्स! तुमने आज क्या खाया है जो इसप्रकार हृष्ट-पुष्ट बन रहे हो? तुम्हारा मुख बिल्कुल नहीं सूखा?'

उपमन्यु—'देव! भिक्षा माँगकर खायी।'

गुरु—'अबसे हमें निवेदन किये बिना भिक्षा न खाया करो।' दूसरे दिन उपमन्युने भिक्षा लाकर सब-की-सब गुरुके आगे रख दी। गुरुने भिक्षा ले ली, उपमन्युको एक दाना भी नहीं दिया। वह नियमानुसार गौ चराने चला गया। दिनभर गौओं-को चराकर सन्ध्याको लौटकर उसने गरुके चरणोंमें प्रणाम किया। गुरुने आज भी उसे हृष्ट-पुष्ट देखकर पूछा—'बेटा उपमन्यु! तुम्हारी लायी हुई सारी भिक्षा तो हमने ले ली थी, तुम आज क्या खाकर रहे?'

उपमन्यु—'गुरुदेव! मैं दुबारा भिक्षा माँग लाया था और उसीको खाकर रहा।'

गुरु—'यह तो तुमने अन्याय किया। गुरुके प्रति तुम्हें ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये। इससे दूसरे भीख माँगनेवालोंकी बड़ी हानि हुई। नित्य यदि इसी प्रकार दो-दो बार भिक्षा माँगा करोगे तो भिक्षा देनेवालोंकी श्रद्धा घट जायगी। इससे तो भिक्षा देनेकी प्रथा ही बन्द हो जायगी। ऐसा करनेसे लोग तुमको लोभी बतावेंगे।'

उपमन्युने संकेतसे कहा, अब ऐसा नहीं करूँगा।

दूसरे दिन उपमन्यु फिर गौ चराने गया और सन्ध्या-समय वनसे लौटकर उसने गुरुके चरण-कमलोंमें प्रणाम किया। आज भी उसे हृष्ट-पुष्ट देखकर गुरुने पूछा—'बेटा! हमने तुम्हारी सारी भीख ले ली थी और दुबारा माँगनेके लिये रोक भी दिया था, फिर तुम क्या खाकर रहे?'

उपमन्यु—'देव! आज मैं गायोंका दूध पीकर रहा।'

गुरु—'यह तो तुमने अन्याय किया, हमसे पूछे बिना दूध क्यों पीया, अबसे ऐसा न किया करो।'

उपमन्यु—'जो आज्ञा, नहीं पीऊँगा।'

अगले दिन फिर सन्ध्याको उपमन्युने उसी प्रकार आकर गुरुचरणोंमें मस्तक रक्खा। गुरुने पूछा—'वत्स उपमन्यु! भीख माँगनेकी तुम्हें आज्ञा नहीं थी, दूध पीनेको हमने निषेध कर दिया था, फिर आज तुमने क्या खाया?'

उपमन्यु—'बछड़े दूध पीते समय जो मुँहसे फेन गिराते हैं, उसीको पीकर रहा।'

गुरु—'ये बछड़े दयालु और गुणी हैं। तुम्हें फेन पीते देखकर दयावश ये आप दूध नहीं पीवेंगे और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फेन बनाकर तुम्हारे लिये गिरा देंगे। इसप्रकार तुम्हारे कारण ये भूखे रहेंगे, तुम इनका हक छीननेवाले बनोगे। इसलिये ऐसा न किया करो।'

आजकलकी-सी स्थिति होती तो ऐसे गुरुको अत्याचारी बतलाकर कभीका उसके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हो गया होता। परन्तु वह युग ही दूसरा था।

उपमन्यु दूसरे दिन फिर गौ चराने गया। भूख बहुत जोरकी लगी थी, परन्तु गुरुकी आज्ञा बिना भीख माँगना, दूध पीना और फेन पीकर रहना उसके लिये अधर्म था। चोरीकी तो यहाँ कल्पना करना भी पाप है। उससे रहा नहीं गया। तब उसने मदारके पत्ते चबाकर दिन बिताया। मदारके पत्ते बड़े ही गरम, कड़वे और रूखे होते हैं। उनके खानेके कारण वह अन्धा हो गया और सन्ध्याको गुरुकुल लौटते समय वह रास्तेमें कुएँमें गिर पड़ा। सूर्यास्त होनेपर भी जब उपमन्यु नहीं लौटा तो दयालु गुरुदेवको चिन्ता हुई, उन्होंने दूसरे शिष्योंसे कहा–

'वत्स उपमन्यु आज कैसे नहीं आया, मैंने उसे सब चीजें खानेसे रोक दिया है, इस कारण वह रूठ तो नहीं गया? चलो उसे ढूँढ़ें।' शिष्योंको साथ लेकर गुरुजी रातके समय वनमें ढूँढ़ने निकले और सब ओर पुकारने लगे–'बेटा उपमन्यु! कहाँ हो, शीघ्र यहाँ आओ!' गुरुकी आवाज पहचानकर उपमन्यु कुएँके अन्दरसे ही बड़े जोरसे बोला–'गुरुदेव! मैं इस कुएँमें गिर पड़ा हूँ।'

गुरु–'तुम इसमें कैसे गिरे?'

उपमन्यु–'मैंने आज मदारके पत्ते खाये थे, इससे मैं अन्धा हो गया और लौटता हुआ रास्तेमें कुएँमें गिर गया।'

गुरुने उसे कुएँमेंसे निकालकर कहा–'बेटा! तुम अश्विनीकुमारकी स्तुति करो, वे देवताओंके वैद्य हैं। तुम्हारी आँखें जरूर अच्छी कर देंगे।'

पूर्णविश्वासी गुरु-भक्त उपमन्युने अश्विनीकुमारोंकी स्तुति की। उसकी स्तुति सुनते ही अश्विनीकुमार आये और बोले—'तुम्हारी गुरुभक्तिसे हम बड़े ही प्रसन्न हैं, तुम्हारी आँखें अभी पहलेकी तरह हो जायँगी और तुम्हारा कल्याण होगा।' इतना कहते ही उसका अन्धापन मिट गया। उसने गुरुके चरणोंमें गिरकर आदरपूर्वक प्रणाम किया।

गुरुने परम प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया—

'यथाश्विनावाहतुस्तथा त्वं श्रेयोऽवाप्स्यसीति। सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति। सर्वाणि धर्मशास्त्राणि।'

'बेटा! अश्विनीकुमारके कथनानुसार तुम्हारा कल्याण होगा। तुम्हें समस्त वेद और धर्मशास्त्र आप ही आ जायँगे।'

पछतावा

ढिग बैठ धनी नरके हरिजी निज प्राणन रोक सु बैन उचारे।
नहिं बैठ तपो बनमें हरिजी फल खाय सदा तव नाम सँभारे॥
धन पावनको निशि नींद तजी हरि पावनको नहिं नैन उघारे।
जगमें शुभ काज बिसारत हौं बिधि कौन सुधा सुख पाऊँ मुरारे॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीहरिरायजीके सर्वोपयोगी उपदेश !

१-भगवदीय वैष्णवको मनमें सदा प्रसन्न रहना चाहिये, अमंगल उदासीमें नहीं रहना चाहिये।

२-श्रीठाकुरजीके मन्दिरमें नित्य उत्सव जानना चाहिये।

३-श्रीठाकुरजीकी सेवा किसी दूसरेके भरोसे नहीं छोड़नी चाहिये; जिस सेवाका स्वरूप अपने सिर हो, उसकी सेवा अपने ही करनी चाहिये।

४-किसीका विरोध नहीं करना और सबसे मीठे वचन बोलना चाहिये।

५-विषय और तृष्णाका त्याग करना चाहिये।

६-प्रभुकी सेवा भय और स्नेहपूर्वक करनी चाहिये।

७-अपने शरीरको अनित्य समझना चाहिये।

८-वैष्णवके सत्संगमें रहना चाहिये।

९-भगवत्-स्वरूप और भगवदीय वैष्णवोंको मित्र समझने चाहिये।

१०-अपनी बुद्धिको चलायमान न होने देकर स्थिर रखनी चाहिये।

११-भगवत्-दर्शनमें आलस्य नहीं करना चाहिये।

१२-भगवत्-दर्शनमें आलस्य करनेसे आसुरी भाव उत्पन्न होता है।

१३-प्रसाद थोड़ा लेना चाहिये।

१४-निद्रा कम लेनी चाहिये।

१५-भगवदीयके समीप स्वयं चलकर जाना चाहिये।

१६-किसीपर क्रोध नहीं करना चाहिये; क्रोधके द्वारा हृदयमेंसे भगवदावेश निकल जाता है।

१७-जहाँ स्वधर्म-विरुद्ध चर्चा होती हो वहाँ मौन रहना चाहिये।

१८-अवैष्णवका सङ्ग नहीं करना चाहिये।

१९-सेवाकार्यमें अवैष्णवको नहीं लाना चाहिये और भगवदीयकी सेवा करनी चाहिये।

२०-धैर्य धारण करना चाहिये।

२१-मनको श्रीठाकुरजीके चरणारविन्दमें रखकर ही संसारका काम करते रहना चाहिये।

२२-भगवदीयके साथ उत्तम भावसे रहना चाहिये।

२३-सेवामें बकवाद नहीं करना चाहिये अर्थात् मौन रहना चाहिये।

२४-सेवा प्रसन्नताके साथ करनी चाहिये।

२५-सेवाके बदलेमें ठाकुरजीसे किसी भी वस्तुकी याचना नहीं करनी चाहिये।

२६-श्रीठाकुरजीके नामपर जो भी कोई वस्तु माँगकर लायी जाय वह पहले ठाकुरजीके सम्मुख रखकर पीछे अपने खान-पान इत्यादिके काममें लानी चाहिये।

२७-भगवदीयके साथ मनमें दासभाव रखना चाहिये।

२८-भगवदीयसे द्वेष नहीं रखना चाहिये।

२९-श्रीठाकुरजीके उत्सवका लोप नहीं करना चाहिये।

३०-भगवदीयका स्मरण रखना चाहिये।

३१-मार्गके नियमानुसार सेवा करनी चाहिये।

३२-भगवदीयमें छल-छिद्र नहीं देखने चाहिये।

३३-नयी वस्तु श्रीठाकुरजीकी सामग्रीमें अवश्य रखनी चाहिये।

३४-प्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें हर्ष नहीं करना चाहिये।

३५-कुछ भी नुकसान हो जाय तो मनमें शोक नहीं करना चाहिये (गतं न शोचामि)।

३६-सुख-दुःखको समान समझना चाहिये।

३७-भगवत्-वार्ता नित्य नियमपूर्वक करनी चाहिये।

३८-जयन्ती-व्रत और एकादशी-व्रत अवश्य करने चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३९-पाक-सामग्री पवित्रतासे तैयार करनी चाहिये।

४०-समर्पण किये बिना कोई वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिये।

४१-मनमें उदारता रखनी चाहिये।

४२-सबसे मित्रता रखनी चाहिये।

४३-स्वधर्मके लिये तन, मन और धनसे सहायता करनी चाहिये।

४४-अहंता और ममताको त्याग देना चाहिये।

४५-क्षमावान् होकर रहना चाहिये।

४६-जो कुछ भी मिले उसीमें सन्तोष मानना चाहिये।

४७-बाहर-भीतरसे पवित्रतापूर्वक रहना चाहिये।

४८-आलस्यरहित रहना चाहिये।

४९-किसीका भी पक्षपात किये बिना न्यायी होना चाहिये।

५०-सब प्रकारके भोगादिका त्याग करना चाहिये।

५१-मनमें किसी बातकी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

५२-सहजमें जो कुछ प्राप्त हो जाय उतनेही-से अपना काम चला लेना चाहिये।

५३-किसी वस्तुमें आसक्त नहीं होना चाहिये।

५४-शत्रु और मित्र--दोनोंके प्रति समान बुद्धि रखनी चाहिये।

५५-असत्य व्यवहार नहीं करना चाहिये।

५६-किसीका भी अपमान न करना चाहिये।

५७-निन्दा-स्तुतिको समान समझना चाहिये।

५८-स्थिरता रखना--चित्तको वशमें रखना चाहिये।

५९-इन्द्रियोंके प्रति प्रीति नहीं रखनी चाहिये।

६०-स्त्री, पुत्र और घरके प्रति प्रीति नहीं करनी चाहिये।

६१-स्त्री-पुत्रादिका सुख-दुःख अपनेमें नहीं मानना चाहिये।

६२-मनमें किसी बातका गर्व नहीं करना चाहिये।

६३-कुटिलतारहित रहना चाहिये।

६४-मिथ्या भाषण नहीं करना चाहिये।

६५-सत्य बोलना चाहिये।

६६-चित्त शान्त रखना चाहिये।

६७-प्राणीमात्रके ऊपर दया रखनी चाहिये।

६८-एकाग्र चित्तसे सेवा करनी चाहिये।

६९-अन्तःकरणको कोमल रखना चाहिये।

७०-निन्दित कार्य किसी दिन भी नहीं करना चाहिये।

७१-महापुरुषोंके चरित्र पढ़ने चाहिये।

७२-अपने मनमें अभिमान नहीं रखना चाहिये।

७३-किसीके मनको कष्ट पहुँचे ऐसा वचन कभी नहीं बोलना चाहिये।

७४-सत्य हो और सुननेवालेको प्रिय भी लगे ऐसे वचन बोलने चाहिये।

७५-पुरुषोत्तम-सहस्रनाम तथा श्रीवल्लभाचार्य-जीके ग्रन्थोंका पाठ अवश्य करना चाहिये।

७६-जो कुछ भी किया जाय उसका फल नहीं चाहना चाहिये।

७७-श्रीठाकुरजीकी सेवा और कीर्तनको ही परम फल मानना चाहिये।

७८-वैष्णवमण्डलीमें नित्य नियमपूर्वक जाना और वहाँ निःशंक होकर कथा-वार्ता कहना और सुनना चाहिये।

७९-दूसरेका आश्रय कभी नहीं लेना चाहिये। पराया आश्रय बड़ा बाधक होता है, इसलिये इससे डरते रहना चाहिये।

८०-श्रीठाकुरजीकेही शरणागत रहना चाहिये; दूसरेसे किसी भी प्रकारके फलकी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मलयानिलके प्रति

(१)

ठहरो पवन ! कौन ? मलयानिल ? सुमनोंका किञ्जल्क लिये ।
प्रतिहिंसाका रूप बनाये जाते क्यों अपमान किये ?
फूलोंके कमनीय दलोंपर सुस्पन्दनका रास रचा ।
छीन मधुर यौवन-शकलोंको रँगरलियोंकी धूम मचा ॥
किस प्रवञ्चनाकी सरणीका करते हो अब उद्घाटन ?
सीखा नहीं इन्दु-किरणोंसे क्या दीनोंका निर्यातन ?

(२)

देख जीर्ण कुटियाको मेरी आनेमें यदि झिझक रहे !
तृणमय सङ्कुल पथसे छलिये धीरे धीरे खिसक रहे ॥
सुनो ! वहींसे करुण-हृदयका देता हूँ सन्देश सुना ।
चन्द्र-रश्मिके सोपानों पर चढ़कर नीरव प्रेम चुभा ॥
चढ़ा पराग-पुञ्ज चरणोंपर कोमल सौरभको फैला ।
ज्योतिर्मय प्रिय चन्द्र-लोकसे हरिकी चरण-रेणु दे ला ॥

सत्याचरण 'सत्य', बी०ए०, विशारद

प्रार्थना

हे नाथ तुम्हीं सबके मालिक, तुम ही सबके रखवारे हो ।
तुम ही सब जगमें व्याप रहे, विभु ! रूप अनेकों धारे हो ॥
तुम ही नभ जल थल अग्नि तुम्हीं, तुम सूरज चाँद सितारे हो ।
यह सभी चराचर है तुममें, तुम ही सब ध्रुवके तारे हो ॥

× × ×

हम महामूढ अज्ञानी जन, प्रभु ! भवसागरमें डूब रहे ।
नहिं नेक तुम्हारी भक्ति करें, मन मलिन विषयमें खूब रहे ॥
सतसंगतिमें नहिं जायँ कभी, खल-संगतिमें भरपूर रहे ।
सहते दारुण दुख दिवस-रैन, हम सच्चे सुखसे दूर रहे ॥

× × ×

तुम दीनबन्धु जगपावन हो, हम दीन पतित अति भारी हैं ।
है नहीं जगत्में ठौर कहीं, हम आये शरण तुम्हारी हैं ॥
हम पड़े तुम्हारे हैं दर पर, तुमपर तन मन धन वारी हैं ।
अब कष्ट हरो हरि, हे हमरे, हम निंदित निपट दुखारी हैं ॥

× × ×

इस टूटी फूटी नैयाको, भवसागरसे खेना होगा ।
फिर निज हाथोंसे नाथ उठाकर, पास बिठा लेना होगा ॥
हो अशरण-शरण अनाथ-नाथ, अब तो आश्रय देना होगा ।
हमको इन चरणोंका निश्चित, निज दास बना लेना होगा ॥

अकिञ्चन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

[मणि ९]

जगत्की उत्पत्तिका प्रकार

हे श्वेतकेतु! अद्वितीय सत्तारूप ब्रह्म जिसप्रकार जगत्को उत्पन्न करता है, सो कहता हूँ, सुन—सर्वभेदसे रहित तथा मायाके सम्बन्धसे रहित सत्य ब्रह्म कल्पित मायासे सम्बन्ध पाकर सृष्टिके आदिकालमें इसप्रकार विचार करने लगा—

'मैं परमात्मा बहुत रूपसे उत्पन्न होऊँ, मेरे जन्मसे बहुत-से रूप हो जायँ, मेरे जन्म बिना बहु-रूपता कभी नहीं हो सकती।' इसप्रकार चिन्तन करके इस परमात्माने यथाक्रम तेज आदि तीन भूतोंको रचना आरम्भ किया।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! भूत तो पाँच हैं, आप तीन भूत कसे कहते हैं?

आरुणि—हे पुत्र! तू जो कहता है, सो ठीक ही है, वेदवेत्ताओंने पाँच ही भूतोंकी उत्पत्ति कही है। छान्दोग्यश्रुति तेज, जल और पृथ्वी तीन भूतोंकी उत्पत्ति ही कहती है। तीन भूत कहनेसे श्रुतिका अभिप्राय यह है कि अल्पबुद्धिवाले पुरुषोंके लिये पञ्चीकरणकी प्रक्रिया जानना अत्यन्त कठिन है। इसलिये पञ्चीकरणमें उपयोगी आकाश और वायु दो भूत न कहकर श्रुतिने स्थूल बुद्धिवालोंपर अनुग्रह करके तेज, जल तथा पृथ्वी इन तीन भूतोंका त्रिवृत्करण कहा है। इसलिये यद्यपि छान्दोग्यश्रुतिमें इन तीन भूतोंकी उत्पत्ति ही कही है तो भी श्रुतिका तात्पर्य पाँच भूत कथन करनेका ही है। त्रिवृत्करण कहनेसे पञ्चीकरणमें ही श्रुतिका अभिप्राय है, इसलिये उपनिषदोंका परस्पर विरोध नहीं है।

हे श्वेतकेतु! सत्-ब्रह्मने प्रथम तेजको उत्पन्न किया, तेजके पश्चात् जलको और जलके पीछे पृथ्वीको उत्पन्न किया। श्रुतिमें पृथ्वीको अन्न कहा है। इसप्रकार तेज, जल और पृथ्वी इन तीन भूतोंको उत्पन्न करके कारण-ब्रह्मने उन भूतोंमें प्रवेश किया। जैसे सृष्टिके आदिकालमें तेज, जल तथा पृथ्वी इन तीनों भूतोंमें प्रथम तेज जलका कारण था तथा जल पृथ्वीका कारण था इसी प्रकार आजकल भी देखनेमें आता है कि जब गर्मी अधिक पड़ती है तो जलकी वृष्टि होती है और जलकी वृष्टिसे अन्नकी उत्पत्ति होती है, यह बात सबके अनुभवसिद्ध है। (इति दूसरा खण्ड)

हे श्वेतकेतु! तेज, जल तथा पृथ्वी ये तीन भूत सब जगत्के कारण हैं इसलिये कारणके स्वभावके अनुसार शास्त्रवेत्ताओंने सर्वदेहधारी जीवोंके तीन प्रकारके कारण कहे हैं, उनमें जरायुज नामके जीवोंकी जाति प्रथम देहधारी जीवोंका बीज है, क्योंकि गर्भमें लिपटी हुई झिल्ली जठराग्निके तेजसे उत्पन्न होती है इसलिये तैजस पदार्थरूप है। स्वेदज दो प्रकारके होते हैं, एक मच्छर आदि जीव स्वेदजतथा उद्भिजरूप हैं और दूसरे जूँ आदि जीव स्वेदज तथा अण्डजरूप हैं इसलिये एक ही स्वेदजका जलमय उद्भिजरूपमें और पार्थिव अण्डजरूपमें संग्रह हो सकता है। अतएव जरायुज, अण्डज और उद्भिज ये तीन सर्व देहधारियोंके कारणरूप हैं।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! ब्रह्मसूत्रके तीसरे अध्याय-के प्रथम पादमें व्यास भगवान्ने स्वेदजका उद्भिजमें अन्तर्भाव कहा है और यहाँ आपने स्वेदजका उद्भिज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अण्डजमें अन्तर्भाव कहा, अतः सूत्र और आपके कथनमें विरोध आता है।

आरुणि—हे श्वेतकेतु ! जैसे प्रसिद्ध वृक्षादि भूमिको फोड़कर उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार मशकादि उद्भिज तथा यूकादि अण्डज ये दोनों प्रकारके स्वेदज भी अपने उपादान-कारणरूप जल-को फोड़कर उत्पन्न होते हैं। मशकादि उद्भिजके समान यूकादि अण्डजमें भी उद्भिज-शब्दका अर्थ घटता है, इसप्रकारका अर्थ बतलानेके लिये व्यासजीने उद्भिजमें स्वेदजका अन्तर्भाव कहा है। व्यासजीका यह तात्पर्य नहीं है कि अण्डजमें स्वेदजका अन्तर्भाव नहीं है। ऐतरेय उपनिषद्में कहे हुए चौथे स्वेदजका जरायुज, अण्डज तथा उद्भिजकी अपेक्षासे असत्यपना नहीं है, किन्तु जरायुजादिके समान स्वेदज भी विद्यमान ही है। स्वेदजके असत्यपनेकी निवृत्ति करनेमें व्यास भगवान्का तात्पर्य है, उद्भिजमें स्वेदजका अन्तर्भाव है। इस अर्थमें व्यास भगवान्का तात्पर्य नहीं है, किन्तु पक्षी, सर्पादि जीव अण्डज हैं और वृक्ष-मशकादि शरीर उद्भिज हैं, इन दोसे भिन्न सर्व जीव जरायुज हैं, यही व्यास भगवान्का तात्पर्य है। जैसे लोकप्रसिद्ध शरीरादि अध्यात्म-कार्योंके कारणमें जरायुज, उद्भिज तथा अण्डज इन तीन भेदोंसे त्रणरूपता रहती है इसी प्रकार सर्व जगत्के कारणोंमें तेज, जल और पृथ्वी इन तीन भेदोंसे त्रणरूपता है।

श्वेतकेतु—हे भगवन् ! तेजादि कारणोंके ज्ञानसे अधिकारीको किस फलकी प्राप्ति होती है।

आरुणि—हे श्वेतकेतु ! जैसे तेज, जल और पृथ्वी ये तीनों कारण अपने-अपने कार्योंमें अनुगत रहते हैं इसी प्रकार तेज, जल और पृथ्वी इन तीनोंमें अपनी सत्तारूपसे परमात्मा अनुगत रहता है। इस सर्व जगत्के कारणरूप परमात्मदेवको हम अधिकारियोंको जानना चाहिये। परमात्मरूप कारण-में बुद्धिकी स्थिति ही कारणके विचारका फल है।

तेजादि भूतोंमें अनुगत परमात्मा

हे श्वेतकेतु ! जैसे घट-शरावादि कार्योंमें मृत्तिका कारणरूपसे प्रवेश करती है, वैसे ही तेज, जल और पृथ्वी इन तीनोंमें परमात्माने प्रथम कारणरूपसे प्रवेश किया, क्योंकि परमात्माका असाधारण धर्म ईक्षण 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यादि श्रुतिमें प्रतिपादन किया है अर्थात् जैसे परमात्मा सृष्टिके आदिकालमें 'मैं बहुत रूप होऊँ' इस-प्रकार विचार करके आप बहुत रूप हुआ, इसी प्रकार तेज और जल ये दोनों भी विचार करके बहुरूप हुए। जड-तेजमें तथा जड़-जलमें चेतनके प्रवेश बिना विचार होना सम्भव नहीं है इससे सिद्ध होता है कि चेतन परमात्माने तेज तथा जलमें प्रवेश करके विचार किया।

श्वेतकेतु—हे भगवन् ! जब परमात्मा तेजादिमें पूर्वसे ही अनुगत है तो श्रुतिमें परमात्माका जीव-रूपसे फिर प्रवेश करना क्यों कहा है ?

आरुणि—हे श्वेतकेतु ! यद्यपि सत् परमात्मा कारणरूपसे तेजादिमें पूर्वसे ही प्रविष्ट है तो भी जीवरूपसे प्रविष्ट नहीं है, क्योंकि प्राणके धारणका नाम जीव है। प्राण-धारणादि जीवके धर्म उस कालमें नहीं होते। जो चेतन प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पाँचों प्राणोंको धारण करता है, बारम्बार जन्मता-मरता है, शुभाशुभ फल भोगता है और बन्ध-निवृत्तिरूप मोक्षको प्राप्त होता है, उस चेतनका नाम जीव है अथवा सब देहधारियोंका हृदय-कमल अङ्गुष्ठ-परिमाणवाला होता है, हृदय-कमलमें ज्ञान-शक्तिवाला अन्तःकरण सर्वदा रहता है। जो चेतन अन्तःकरणके साथ तादात्म्य अध्यासको प्राप्त होता है, उस अन्तःकरण-उपहित चेतनका नाम जीव है।

श्वेतकेतु—हे भगवन् ! सुषुप्तिमें अन्तःकरणका नाश हो जाता है। यदि अन्तःकरण जीवकी उपाधि है तो अन्तःकरणके नाश होनेपर जीवका भी नाश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाना चाहिये, किन्तु सुषुप्तिमें जीवका नाश कोई नहीं मानता।

आरुणि–हे श्वेतकेतु! सुषुप्तिमें अन्तःकरणका सर्वथा नाश नहीं होता, किन्तु संस्कारभूत सूक्ष्म वासनारूपसे सुषुप्तिमें अन्तःकरण बना रहता है, क्योंकि सुषुप्तिके पूर्वकालमें जिसप्रकारका अन्तःकरण प्रतीत होता था उसी प्रकारका अन्तःकरण सुषुप्तिके पीछे जाग्रत्-कालमें प्रतीत होता है। यदि सुषुप्तिमें अन्तःकरणका सर्वथा नाश हो जाता होता तो पहले दिनके अन्तःकरणसे दूसरे दिनका अन्तःकरण विलक्षण होना चाहिये, किन्तु विलक्षण अन्तःकरण नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिमें अन्तःकरणका नाश नहीं होता।

श्वेतकेतु–हे भगवन्! अन्तःकरण और अन्तःकरणकी वासनाओंको यदि आप जीवकी उपाधि मानियेगा तो अन्तःकरण और वासनाएँ अनेक हैं इसलिये जीव भी अनेक होंगे। और 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते' इत्यादि श्रुतियोंमें जीव एक कहा है इसलिये विरोध आवेगा।

आरुणि–हे श्वेतकेतु! मायाविशिष्ट परमात्मरूप कारणमें अन्तःकरण-वासना-विशिष्ट जीवका तादात्म्य-सम्बन्ध शास्त्रवेत्ताओंने कहा है इसलिये अन्तःकरणादि कार्यके साथ जीवात्माका तादात्म्य अध्यास प्रयत्न बिना ही प्राप्त है, यदि अन्तःकरणके साथ जीवात्माका तादात्म्य-सम्बन्ध न हो तो अन्तःकरणके उदयकालमें जीवात्माका अन्तःकरणके साथ जो तादात्म्य अध्यास होता है, वह न होना चाहिये। अन्तःकरणकी उत्पत्ति तथा नाशसे जीवात्माका नाश नहीं होता, किन्तु जीवात्मा तो सर्वदा एकरूप ही है। यद्यपि भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंमें रहनेसे जीवात्मा भिन्न-भिन्न रूपवाला प्रतीत होता है तो भी अन्तःकरणके कारणभूत अज्ञानके साथ तादात्म्य-सम्बन्धवाला है। अन्तःकरणकी वासनाओंका आधारभूत अज्ञान एक है, आत्मज्ञान बिना अज्ञानका नाश नहीं होता। इस अज्ञानरूप उपाधिको ग्रहण करके शास्त्रवेत्ता जीवात्माको एक और नित्य कहते हैं। हे श्वेतकेतु! जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंके निमित्त-कारणभूत संस्काररूप कर्मकी वासनाओंका और वृत्ति-ज्ञानरूप अन्तःकरणके निमित्त-कारणभूत संस्काररूप ज्ञानकी वासनाओंका आश्रय अज्ञान है। अज्ञानरूप आश्रयके नाशसे जब सर्व वासनाओंका नाश हो जाता है, तब जीवात्मा मोक्षको प्राप्त होता है।

वासना-नाशमें मोक्षकी कारणता

हे श्वेतकेतु! जैसे जिस वृक्षका मूल नष्ट हो जाता है, वही वृक्ष नष्ट हो जाता है, दूसरे वृक्षका नाश नहीं होता इसी प्रकार मायामें स्थित जीवोंमेंसे जिस जीवके अन्तःकरणकी वासनाओंका नाश हो जाता है, वही जीव मोक्षको प्राप्त होता है। जिस जीवके अन्तःकरणकी वासनाएँ नष्ट नहीं होतीं, वह मोक्षको नहीं, किन्तु बन्धनको प्राप्त होता है।

श्वेतकेतु–हे भगवन्! पूर्वमें आपने जीव एक कहा और अब आप अनेक जीव कहते हैं, इसलिये आपके कथनमें पूर्वापरका विरोध आता है।

आरुणि–हे श्वेतकेतु! जैसे स्वप्नमें एक ही स्वप्नद्रष्टा अज्ञानके वशसे अनेक रूप धारण करके किसी एक रूपसे बन्धनको प्राप्त होता है और किसी एक रूपसे मोक्षको प्राप्त होता है, इसी प्रकार एक ही जीवात्मा मायाके वशसे अनेक रूप धारण करके किसी एक रूपसे बन्धनको प्राप्त होता है और किसी एक रूपसे मोक्षको प्राप्त होता है। जैसे स्वप्नके नाश होनेपर स्वप्नके बन्ध और मोक्ष स्वप्नद्रष्टा पुरुषको नहीं होते, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार होनेके बाद आत्माका बन्ध अथवा मोक्ष नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि जीवोंका परस्पर भेद और जीवात्माका परमात्माके साथ जो भेद प्रतीत होता है, वह केवल उपाधिके सम्बन्धसे प्रतीत होता है, परमार्थसे जीवात्मा अद्वितीय ब्रह्मरूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्वेतकेतु–हे भगवन् ! परमात्मा जगत्में प्रवेश करे, यह बात बन नहीं सकती, क्योंकि इसलोकमें परिच्छिन्न वस्तुका प्रवेश देखनेमें आता है, व्यापक वस्तुका प्रवेश देखनेमें नहीं आता।

आरुणि–हे पुत्र ! जैसे सर्प अपने बिलमें प्रवेश करता है, परमात्मा जगत्में वैसे प्रवेश नहीं करता, किन्तु जैसे सर्वत्र व्यापक आकाश घट-पटादि उपाधियोंमें प्रवेश करता है, वैसे ही सर्वत्र व्यापक परमात्मा तेजादि भूतोंमें प्रवेश करता है। जैसे सुषुप्तिको प्राप्त हुआ पुरुष यद्यपि सामान्यरूपसे प्रविष्ट हुआ होता है तो भी विशेषरूपसे प्रविष्ट नहीं होता, वही पुरुष जाग्रत्-अवस्थामें विशेषरूपसे फिर शरीरमें प्रवेश करता है, इसी प्रकार तेज, जल तथा पृथ्वी इन तीन भूतोंमें परमात्माका प्रवेश पूर्वमें सामान्यरूपसे हुआ है, विशेषरूपसे प्रवेश नहीं हुआ है इसलिये परमात्मा तेजादिमें जीवात्मारूपसे विशेषरूपसे प्रवेश करता है और विशेषरूपसे प्रवेश करनेके लिये इसप्रकार विचार करता है—

'अपने-अपने कार्यमें प्रविष्ट हुए तेज, जल और पृथ्वी, इन तीनोंमें मैं परमात्मा जीवरूपसे प्रवेश करके नाम तथा रूप इन दोनोंको अनेक प्रकारका करके दोनोंको स्पष्ट करूँ। नाम तथा रूपको अनेक प्रकारका करनेमें मुझे यह उपाय करना चाहिये कि तेज,जल तथा पृथ्वी इन तीन भूतरूप देवताओंमें प्रवेश करके मैं परमात्मा एक-एक भूतको नौ-नौ प्रकारका करूँ। इन तीन भूतोंको नौ-नौ प्रकारका करनेसे नाम तथा रूप स्पष्ट-भावको प्राप्त होंगे और ऐसा होनेसे यह सब जगत् उत्पन्न होगा।' ऐसा विचारकर परमात्मा उन भूतोंको इसप्रकारका करने लगा यानी तेज, जल और पृथ्वी इन तीन भूतोंमेंसे एक-एक भूतके तीन-तीन समान विभाग किये। उनमें तीन भूतोंके दो-दो भागोंको जुदा-जुदा रक्खा और तीनों भूतोंके तीसरे भागके फिर तीन-तीन समान भाग किये। उन तीन भागोंमें एक-एक भागको यथाक्रम तीन भूतोंके दो-दो भागोंमें मिलाया। इसप्रकार तेजादि भूतोंके अपने-अपने सात-सात भाग होते हैं और दूसरे भूतोंके दो-दो भाग होते हैं। इस प्रक्रियाका नाम त्रिवृत्करण है। (इति तीसरा खण्ड)

हे श्वेतकेतु ! यहाँतक मैंने तुझसे त्रिवृत्करण-रूप सृष्टिका अध्यारोप कहा। अब यह बतलानेके लिये कि कार्यरूप जगत् कारणरूप ही है, इस-प्रकारका अपवाद अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत् इन चार दृष्टान्तोंसे समझाता हूँ। अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत् इन चारोंमें जो रक्त-रूप दीखता है, वह रक्तरूप सात भागवाले तेजका है। अग्नि आदि चारोंमें जो शुक्लरूप प्रतीत होता है, वह जलके आठवें भागका है और अग्नि आदि चारोंमें जो कृष्णरूप प्रतीत होता है, वह पृथ्वीके नवमें भागका है। इसप्रकार अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत् ये चारों तेज, जल और पृथ्वीरूप हैं। रक्तरूपवाला तेज है, शुक्लरूपवाला जल है और कृष्णरूपवाली पृथ्वी है, इन तीनों कारणोंको जब अग्नि आदि कार्योंमेंसे पृथक् कर लेते हैं तो वे अग्नि आदि कार्य प्रतीत नहीं होते, इसलिये वे मिथ्या हैं। इसी प्रकार जलरूप जो नदी आदि हैं और पृथ्वीरूप जो पर्वत आदि हैं, वे भी पूर्वोक्त रीतिसे तेज, जल तथा पृथ्वी इन तीनोंके कार्य हैं। उन तेजादि कारणोंको जब नदी, पर्वत आदि कार्योंमेंसे पृथक् करते हैं तो नदी, पर्वत आदि कार्य प्रतीत नहीं होते, इसलिये वे नदी, पर्वत आदि पदार्थ भी मिथ्या हैं, क्योंकि अग्नि आदि विकार वाणीमात्रसे सिद्ध हैं, परमार्थसे अग्नि आदि विकार नहीं हैं। इसलिये तेज, जल और पृथ्वी इन तीन कारणोंसे पृथक् किये हुए अग्नि आदि विकार मिथ्या हैं। अग्नि आदि विकारोंके कारण तेज आदि तीन भूत विकारोंकी अपेक्षासे सत्य हैं। जैसे अग्नि आदि कार्यरूप होनेसे मिथ्या हैं इसी प्रकार तेज, जल और पृथ्वी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये तीन भूत भी कार्यरूप होनेसे मिथ्या हैं। इन मिथ्या तेजादि भूतोंका परमात्मा कारण है इसलिये परमात्मा ही सत्य है, परमात्माके सिवा सब जगत् मिथ्या है और सत्य-परमात्माके ज्ञानसे सर्व जगत्-का ज्ञान हो जाता है। हे श्वेतकेतु! कारणकी सत्य-रूपताको जानकर कई विद्वान् परम हर्षको प्राप्त होकर परस्पर मिलकर इसप्रकार कहने लगे–'हम विद्वान् ब्राह्मणोंके विद्यारूप-कुलमें जितने पुरुष उत्पन्न होंगे, उनमेंसे कोई भी पुरुष अज्ञात-वस्तुका कथन नहीं करेगा, किन्तु कारणकी सत्यरूपता और कार्यकी मिथ्यारूपताको जानकर वह पुरुष ज्ञात-वस्तुका ही कथन करेगा, क्योंकि इसलोकमें अपने कारणसे कार्य किञ्चिन्मात्र भी भिन्न नहीं होता, इसलिये कारणरूप सत्वस्तुके ज्ञानसे वे सब सर्वज्ञ ही होंगे।' हे श्वेतकेतु! विद्वान् ब्राह्मणोंका इसप्रकारका कथन यथार्थ ही है, क्योंकि इस सब जगत्के कारण-रूप जो तेज, जल, पृथ्वी ये तीन भूत हैं, उनको उन विद्वानोंने भली प्रकार जान लिया है और उन तेजादिका कारणभूत जो सत् परमात्मदेव है, उस परमात्मदेवको भी उन्होंने भली प्रकार जाना है। ऐसे विद्वानोंको इस सब जगत्का ज्ञान होना कुछ दुर्लभ नहीं है। (इति चौथा खण्ड)

तेजादि भूतोंकी कार्यता

हे डोरूशंकर! उद्दालक नामके आरुणि मुनि अपने पुत्र श्वेतकेतुको बाह्य प्रपञ्चमें भौतिकता समझाकर मन, प्राणादि आन्तर प्रपञ्चमें तेजादि भूतोंकी कार्यता समझाने लगे—

आरुणि–हे श्वेतकेतु! इसलोकमें अन्न तथा जलका भक्षण करनेवाला प्रत्येक देहधारी जिस त्रिवृत्‌रूप अन्नका भक्षण करता है और जिस जलका पान करता है, वह अन्न तथा जल जठराग्निके सम्बन्धसे पृथ्वी, जल तथा तेज इन तीन रूपसे तीन प्रकारका हो जाता है। अर्थात् जठराग्निद्वारा पचे हुए अन्न तथा जलका तैजस भाग सूक्ष्म, मध्यम और स्थूल-भेदसे तीन प्रकारका हो जाता है। उनमेंसे सूक्ष्म तैजस भाग वाणीरूप परिणामको प्राप्त होता है, मध्यम तैजस भाग मज्जारूप परिणामको प्राप्त होता है और स्थूल तैजस भाग अस्थिरूप परिणामको प्राप्त होता है। जलवाला भाग भी सूक्ष्म, मध्यम तथा स्थूल तीन प्रकारका हो जाता है। उसमेंसे सूक्ष्म जलका भाग प्राणरूप परिणामको प्राप्त होता है, मध्यम जलका भाग रक्त-रूप परिणामको प्राप्त होता है और स्थूल जलका भाग मूत्ररूप परिणामको प्राप्त होता है। इसी प्रकार पृथ्वीका भाग भी सूक्ष्म, मध्यम और स्थूल तीन भेद करके तीन प्रकारका हो जाता है। उसमेंसे सूक्ष्म पृथ्वी भाग मनरूप परिणामको प्राप्त होता है, मध्यम पृथ्वी भाग मांसरूप परिणामको प्राप्त होता है और स्थूल पृथ्वी भाग विष्ठारूप परिणामको प्राप्त होता है। हे श्वेतकेतु! वाणी तेजका कार्य है, प्राण जलका काय है और मन पृथ्वीरूप अन्नका कार्य है। (इति पाँचवाँ खण्ड)

श्वेतकेतु–हे पिता! अन्न-जलादिरूपको प्राप्त हुए तेज, जल और पृथ्वी ये तीनों अत्यन्त स्थूल हैं और वाणी, प्राण और मन ये तीनों अत्यन्त सूक्ष्म हैं इसलिये तेजादि स्थूल भूतोंसे वाणी आदि सूक्ष्म वस्तुओंकी उत्पत्ति नहीं बनती, क्योंकि इसलोकमें समान स्वभाववाले तन्तु-पटादिका ही परस्पर कार्य-कारण-भाव देखनेमें आता है, विलक्षण स्वभाववाले पदार्थोंका परस्पर कार्य-कारण-भाव देखनेमें नहीं आता, इसलिये आप अपने पूर्वोक्त कथनको किसी युक्तिपूर्वक समझाइये, जिससे यथार्थ अर्थ मेरी समझमें आ जाय।

आरुणि–हे श्वेतकेतु! स्थूलसे सूक्ष्मकी उत्पत्ति-का दृष्टान्त सुन। जैसे घनीभाव होकर स्थूलता-को प्राप्त हुए दहीमें यद्यपि बिलोनेसे पूर्व छाछ, फैन और घी प्रतीत नहीं होते। बिलोनेके बाद स्थूल दही छाछ, फैन और घी इन तीन सूक्ष्मरूपमें परिणामको प्राप्त हो जाता है इसी प्रकार अन्न-जल-भावको प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए तेज, जल और पृथ्वी ये तीन स्थूलभूत भी वाणी, प्राण और मन इन तीन सूक्ष्मभूत रूपमें परिणत हो जाते हैं। हे श्वतकेतु! जैसे बिलोये हुए दहीका सूक्ष्म अंश घीरूपसे ऊर्ध्व देशको प्राप्त होता है, इसी प्रकार अन्न, जलरूपसे जठराग्निमेंके तेज, जल और पृथ्वी, इन तीन स्थूल भूतोंसे यथाक्रम वाणी, प्राण और मन ये तीनों सूक्ष्म उत्पन्न होते हैं। (इति छठाँ खण्ड)

श्वेतकेतु—हे पिता! पहले आपने वाणीमें तेजरूपता कही, यह तो सम्भव है, क्योंकि इसलोकमें जैसे जलसे तेजका पराभव देखनेमें आता है, इसी प्रकार शरीरमें जलरूप कफ-धातुकी वृद्धिसे जब तेजका पराभव होता है, तब सब देहधारी जीवोंकी वाणी शिथिल हो जाती है और कफ-धातुकी वृद्धिके अभावमें वाणी स्पष्ट प्रतीत होती है। इसप्रकार अन्वय-व्यतिरेक करके वाणीमें तेजकी कार्यताका निश्चय हो सकता है, परन्तु प्राणमें जलकी कार्यता और मनमें पृथ्वीरूप अन्नकी कार्यताका निश्चय कैसे हो? क्योंकि वाणीके समान प्राण तथा मनमें कोई अन्वय-व्यतिरेक देखनेमें नहीं आता।

आरुणि—हे श्वेतकेतु! श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, आकाश आदि पञ्च भूत और एक प्राण इन सोलह तत्त्वोंका समुदाय तप्त लोह-पिण्डके समान चेतनके तादात्म्य-सम्बन्धसे पुरुष कहलाता है। चन्द्रमा देवतावाले मन और मनःप्रधान पुरुषकी सोलह कलाएँ वेदवेत्ताओंने कही हैं, प्रतिदिन भोजन किये हुए अन्नसे उत्पन्न हुई मनकी वृत्तियोंकी उपादान-कारणरूप शक्तियोंका नाम कला है। उनमें एक-एक दिन अन्नका भक्षण करनेसे मनमें एक-एक कला उत्पन्न होती है। इसप्रकार सोलह दिनतक अन्नके भक्षण करनेसे मनोमय पुरुषमें सोलह कलाएँ उत्पन्न होती हैं। जो पुरुष अन्नका भक्षण नहीं करता, उस पुरुषकी एक-एक दिनमें एक-एक कला नष्ट होती जाती है और सोलह दिनतक अन्न भक्षण न करनेसे सब कलाएँ नष्ट हो जाती हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। यह बात रोगरहित पुरुषोंमें ही घटती है। हे श्वेतकेतु! जल बिना प्राण एक दिन भी शरीरमें नहीं रह सकता और प्राणके नाश होनेपर भक्षणका अन्वय-व्यतिरेक जाननेमें नहीं आ सकता। इसलिये अन्वय-व्यतिरेकके ज्ञानमें उपयोगी प्राणकी रक्षाके लिये तू इच्छापूर्वक जलका पान कर और पन्द्रह दिनतक अन्नका भक्षण मत कर! यदि तू अन्नका भक्षण नहीं करेगा तो तू स्वयं ही जिस अन्वय-व्यतिरेकको जानना चाहता है, उसका निश्चय करेगा।

जब पिताने श्वेतकेतुसे इसप्रकार कहा तो उसने अपने पिताकी आज्ञा मानकर पन्द्रह दिनतक भोजन नहीं किया। पन्द्रह दिन बाद वह पिताके पास जाकर बैठ गया। क्षुधासे क्षीण हुए मनवाले श्वेतकेतुको अपने पास आया हुआ देखकर आरुणि इसप्रकार कहने लगे—

आरुणि—हे पुत्र! पूर्वमें तूने ऋक्, यजुष् और साम ये तीनों वेद पढ़े हैं, उन वेदोंको अर्थसहित मुझको सुना!

जब पिताने इसप्रकार कहा तो श्वेतकेतु पढ़े हुए वेदोंका चिन्तन करने लगा, परन्तु चिन्तन करनेपर भी श्वेतकेतु किञ्चित् भी वेदोंका स्मरण न कर सका। जैसे दुर्बुद्धि पुरुष किसी भी अर्थका स्मरण नहीं कर सकता इसी प्रकार श्वेतकेतुको भी पूर्व अध्ययन किये हुएका कुछ भी स्मरण न हुआ, इसलिये खिन्न होकर श्वेतकेतु अपने पितासे इसप्रकार कहने लगा—

श्वेतकेतु—हे पिताजी! पूर्वमें मैंने जिन ऋग् वेदादिका अर्थसहित अध्ययन किया था, उनका मुझे इस समय स्मरण नहीं है। जैसे किसी पुरुषके बहुत कालतक आराधन किये हुए मन्त्र पुरुषके भाग्यके क्षय हो जानेसे निष्फल हो जायँ इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार पूर्वमें मैंने जिन वेदोंका अध्ययन किया था, वे सब इस समय निष्फल हो गये हैं।

पुत्रके ये वचन सुनकर पिता आरुणि कहने लगे—

आरुणि–हे पुत्र! अब तू अन्नका भक्षण कर। अन्नके भक्षण करनेसे तू सर्व वेदोंके अर्थको पूर्वके समान जानने लगेगा। जैसे महान् प्रज्वलित अग्निसे जब काष्ठादि ईंधन जलकर भस्म हो जाते हैं, तब छोटी-छोटी चिनगारियाँ शेष रह जाती हैं, वे चिनगारियाँ बड़ी लकड़ियोंको जला नहीं सकतीं, इसी प्रकार पन्द्रह दिनतक भोजन न करनेसे तेरे मनकी पन्द्रह कलाएँ नष्ट हो गयी हैं, अब एक कला शेष रही है, इसलिये तेरा मन किञ्चित् भी अर्थके जानने और स्मरण करनेमें समर्थ नहीं है। अब तू भोजन कर और अपने मनकी कलाओंको बढ़ाकर मेरे पास आ!

इसप्रकार पिताके वचन सुनकर श्वेतकेतु भोजन करने लगा और पन्द्रह दिन बाद पिताके पास गया, पुत्रको देखकर पिताने अध्ययन किये वेदोंका अर्थ पूछा और श्वेतकेतुने सब पूर्वकेसमान अध्ययन करके सुना दिया। तब पिता कहने लगा–हे पुत्र! अन्नके अभावसे मनका अभाव हो जाता है और अन्नके विद्यमान होनेसे मन विद्यमान होता है। अन्नका अभाव व्यतिरेक है और अन्नका विद्यमान होना अन्वय है, अन्नके अन्वय-व्यतिरेकसे ही मनका होना और न होना है। जैसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ बड़े-बड़े लकड़ोंको नहीं जला सकतीं परन्तु उनपर सूखा फूस रखनेसे वे चिनगारियाँ धीरे-धीरे बढ़कर बड़े-बड़े काठके लकड़ोंको जला देती हैं इसी प्रकार आहार न लेनेसे तेरा मन जो एक कलामात्र रह गया था, उससे तू वेदोंका स्मरण न कर सका और अब आहार ग्रहण करनेसे वही मन सर्वज्ञताको प्राप्त हुआ है इसप्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे तू मनमें अन्नमयताका निश्चय कर और प्राणमें जलमयता-का निश्चय कर! क्योंकि जैसे अन्न बिना मनका क्षय हो जाता है इसी प्रकार जल बिना प्राणका क्षय हो जाता है। हे पुत्र! इससे सिद्ध हुआ कि वाणी तेजोमयी है, प्राण जलमय है और मन अन्नमय है। (इति सातवाँ खण्ड) (क्रमशः)

प्रश्न

कबलौं फिराइहौ न कलित-कृपाकौ कोर,
कबलौं भरम-भावनामैं भरमाइहौ?
कबलौं न नेक नख-कोरकी किरन दैहौ,
कबलौं न घोर-अन्धकारको नसाइहौ?
कबलौं न आइकै बुझाइहौ बिरह-आगि,
कबलौं न 'सारथी' सुबैनन सुनाइहौ?
तरस रहे हैं दिन-रैन ये दुखित नैन,
कहो, कबलौं न इन्हें दरस दिखाइहौ?

—बैजनाथसिंह 'सारथी'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

पं० शशधर तर्कचूड़ामणिसे वार्तालाप

श्री रामकृष्ण एक दिन अपने शिष्य नरेन्द्र, राखाल और हाजराके साथ कलकत्तेमें एक भक्तके घर गये और वहाँसे सन्ध्या समय पं० शशधर तर्क-चूड़ामणिसे मिलने गये। पण्डितजी हिन्दूधर्मके एक प्रसिद्ध व्याख्याता और बड़े विद्वान् थे। ठाकुरने उनसे पूछा कि 'आप किस विषयपर व्याख्यान दिया करते हैं ?'

पण्डित—मैं शास्त्रोंका रहस्य समझानेकी चेष्टा किया करता हूँ।

ठाकुर—इस कलियुगमें नारदीय भक्ति-मार्ग ही सबसे उत्तम है। शास्त्रोंमें वर्णित नाना प्रकारके विधि-विधानोंके अनुकरण करनेका यह समय नहीं। तुम्हारे व्याख्यानोंका असर लोगोंपर बहुत कम होता है, इसका तुम्हें शीघ्र ही अनुभव हो जायगा। पहले अपनेमें शक्ति पैदा करो और अधिकाधिक साधना करो। तुमने बहुत शीघ्र गुरु-भाव ग्रहण कर लिया है। अवश्य ही तुम्हारा उद्देश्य अच्छा ह क्योंकि तुम दूसरोंकी सहायता करना चाहते हो। मैंने जब तुम्हारा हाल सुना तो पूछा था, कि तुम कोरे विद्वान् ही हो या विवेक-वैराग्य-सम्पन्न भी हो, विवेकके बिना विद्या व्यर्थ है। गुरुभाव रखनेमें हानि नहीं, यदि भगवान्से आदेश मिल चुका हो। जलते हुए दीपकके पास सैकड़ों कीड़े-मकोड़े आप ही आ जाते हैं, उन्हें कोई बुलाने नहीं जाता। इसी प्रकार जिसे भगवान्का आदेश प्राप्त है उसे अपने भाषणमें किसीको बुलानेकी जरूरत नहीं। चुम्बक पत्थर लोहेके टुकड़ोंको बुलाने नहीं जाता, वे स्वयं ही खिंचे चले आते हैं। इसीलिये मैं पूछता हूँ कि 'क्या तुम्हें दूसरोंको शिक्षा देनेके लिये भगवान्का आदेश मिल चुका है ?'

पण्डित—नहीं महाशय ! मैं इस बातका गर्व नहीं कर सकता।

ठाकुर—तो फिर बिना आदेश पाये, तुम्हारे व्याख्यानोंकी क्या कद्र हो सकती है। देखो, अमृत-सागरको जानेके अनन्त पथ हैं, उस सागरमें किसी भी प्रकार मज्जन कर लेना काफी है। उसमें एकदम कूद पड़ना, धीरे-धीरे घुसना या किसीके धक्केसे उसमें गिर पड़ना सब एक ही बात है। यदि उस अमृतकी एक बूँदका भी पान कर पाओगे तो अमर हो जाओगे। भगवान्की प्राप्तिके अनेक मार्ग हैं, इनमें ज्ञान, भक्ति और कर्म मुख्य हैं। इन मार्गोंमेंसे किसी एकका अवलम्बन कर सरल हृदयसे साधन करना चाहिये, तब भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।

ज्ञानयोग—ज्ञानी ब्रह्मको जानना चाहता है, 'नेतिनेति' विचारद्वारा जगत्का मिथ्यात्व समझकर 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' निश्चय कर लेता है। जहाँ विचार शेष हो जाते हैं वहीं समाधि हो जाती है, और ब्रह्मज्ञान-लाभ होता है।

कर्मयोग—कर्मद्वारा ईश्वरमें मन लगाये रखना कर्मयोग कहलाता है। जसे तुम शिक्षा दिया करते हो। अनासक्त-बुद्धिसे प्राणायाम, ध्यान-धारणादि कर्म करना कर्मयोग है। ईश्वरको फल समर्पणकर पूजा-जपादि कर्म करना भी कर्मयोग है। अनासक्त हो भगवान्को फल समर्पण कर भक्तिके साथ सांसारिक कर्म करना भी कर्मयोग कहलाता है। ईश्वरकी प्राप्ति ही कर्मयोगका उद्देश्य है।

भक्तियोग—ईश्वरका नाम-गुण-कीर्तन करना और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हींके चरणोंमें मनको लगाये रखना ही भक्तियोग है। कलियुगमें भक्तियोग ही सहज मार्ग है। कर्म-योग बड़ा कठिन है। शास्त्रोंमें अनेक कर्म करनेका विधान है, अब उनका समय नहीं। आयु कम है, फिर फल-कामना छोड़कर अनासक्तभावसे कर्म करना महाकठिन है। ज्ञानयोग भी इस युगमें महान् कष्टसाध्य है। जीवका अन्नगत प्राण है, आयु कम है, फिर देह-बुद्धि किसी तरह छूटती नहीं। देह-बुद्धिके नष्ट हुए बिना ज्ञान होना असम्भव है। ज्ञानी कहता है, मैं ब्रह्म हूँ, शरीर नहीं; मुझे क्षुधा-तृष्णा, रोग-शोक, जन्म-मरण, सुख-दुःख कुछ भी नहीं है। यदि रोग-शोकादिका बोध हो तो ज्ञान कहाँ? हाथमें काँटा चुभ गया है, बड़ी पीड़ा होती है, फिर भी कहता है कि हाथमें काँटा नहीं लगा। इसीलिये मैं कहता हूँ कि इस युगमें केवल भक्ति-योग ही सहज है। ज्ञानयोग और कर्मयोगद्वारा भी ईश्वर-दर्शन हो सकता है, परन्तु है महाकठिन।

भक्त ईश्वरका साकार रूप देखना चाहता है, उसे प्रायः ब्रह्मज्ञानकी इच्छा नहीं होती। फिर भी भगवान् इच्छामय हैं, भक्तको भक्ति और ज्ञान दोनों ही दे सकते हैं। कलकत्तेमें जो एक बार जा पहुँचा, वह वहाँका सभी कुछ देख लेता है। जगन्माताको पा लेनेसे भक्ति और ज्ञान दोनों ही मिल जायँगे। भाव-समाधिमें रूप-दर्शन भी होगा और निर्विकल्प-समाधिमें अखण्ड सच्चिदानन्दका साक्षात्कार होगा, तब अहंकार तथा नाम-रूपका तिरोभाव हो जायगा। भक्त यही कहता है—माँ! सकाम कर्मोंसे मुझे भय तो बहुत लगता है, परन्तु मेरी वासना है उन्हीं कर्मोंमें। सकाम कर्मोंसे फल अवश्य मिलेगा, अनासक्त होकर कर्म करना महाकठिन है, सकाम कर्म करते-करते तुझे भूल जाऊँगा। इसलिये माँ! जबतक तेरा दर्शन न हो, तबतक कर्म कम होते जायँ और जो कर्म रहें वह अनासक्तभावसे ही करूँ और साथ-साथ भक्ति भी खूब दृढ़ होती जाय। जबतक तेरा दर्शन न हो, तबतक नये कर्म करनेमें मन न लगे। तेरा जैसा आदेश होगा वैसे ही तेरे कर्म करता रहूँगा, नहीं तो नहीं!

पण्डित—महाराज! आपने कहाँतक तीर्थयात्रा की है?

ठाकुर—मैंने कुछ तीर्थोंका दर्शन किया है, परन्तु हाजरा बहुत दूरतक गया है और बहुत ऊँचे भी चढ़ा है। वह हृषीकेशतक हो आया है। मैं न इतनी दूर गया हूँ और न इतना ऊँचा चढ़ा हूँ। चील और गीध आकाशमें बहुत ऊँचे चढ़ जाते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि पृथ्वीपर सड़े मुर्दोंकी ओर ही लगी रहती है। यदि यहीं बैठे तुम्हें भगवद्भक्ति मिल सके तो तीर्थोंपर जानेसे क्या प्रयोजन है? तीर्थ-यात्रासे यदि भक्तिकी प्राप्ति नहीं हुई तो क्या हुआ? भक्ति ही सार है। एक बात और समझो। तुम चाहे किसीको कितनी ही शिक्षा दो, परन्तु जबतक उपयुक्त समय नहीं आता, तुम्हारी शिक्षाका कोई फल नहीं हो सकता। एक बालकने अपनी माँसे कहा कि 'माँ! जब मुझे टट्टी जानेकी हाजत हो तो जगा देना।' माँने कहा 'बेटा! फिकर मत कर, तुझे हाजत होगी, तब तू आप ही जग जायगा।' इसी प्रकार भगवत्प्राप्तिकी तीव्र इच्छा उपयुक्त समयपर ही होती है।

चिकित्सक तीन प्रकारके होते हैं, पहली प्रकारके वह हैं, जो आकर रोगीको देख नुसखा लिखकर चले जाते हैं। दूसरे वह, जो नुसखा लिखकर रोगीको दवा खानेके लिये हठ करते हैं, रोगीकी इच्छा दवा खानेकी नहीं हो तो उसे समझा-बुझाकर दवा खानेके लिये आग्रह करते हैं। तीसरे वह हैं, जो रोगीका हाथ पकड़कर यदि वह स्वयं न खाना चाहे तो उसे जबरदस्ती दवा खिलाते हैं; ऐसे ही तीन तरहके शिक्षक भी होते हैं। पहली प्रकारके वह होते हैं जो शिक्षा देकर चले जाते हैं, चाहे पीछेसे शिष्य उनके उपदेशोंपर अमल करे या न करे। दूसरी तरहके वह हैं जो शिष्यको शिक्षा देनेके उपरान्त उसको अच्छी तरह समझाकर उसपर अमल करनेके लिये आग्रह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं और तीसरी तरहके वह होते हैं जो शिष्यको बलात्कारसे भी धर्म-पथपर चलनेमें सहायता करते हैं।

पण्डित–यदि उत्तम प्रकारके शिक्षक भी हैं तो आप क्यों कहते हैं कि यथार्थ समय न आनेसे कुछ असर न होगा ?

ठाकुर–यदि ओषधि पेटमें न जाने पावे और मुँहसे ही बाहर निकल पड़े तो फिर चिकित्सक क्या कर सकता है ? ऐसी दशामें उत्तम वैद्य भी कुछ नहीं कर सकता। तुम्हें शिष्यकी योग्यतानुसार ही शिक्षा देनी चाहिये। परन्तु तुम ऐसा नहीं करते। कोई लड़का मेरे पास आता है तो पहले मैं उसके कुटुम्बका हाल पूछता हूँ। मान लो, उसके पिता नहीं है और पिता ऋण छोड़ गया है जो बेटेको देना पड़ेगा। इस दशामें वह लड़का भगवान्‌में मन कैसे लगा सकता है ? एक दिन दक्षिणेश्वरमें कुछ सिक्ख सिपाही आये और कहने लगे कि 'ईश्वर बड़ा दयालु है।' मैंने पूछा 'तुम किस तरह जानते हो कि वह दयालु है ?' उन्होंने कहा कि 'वह हमारा पालन करते हैं और रक्षा करते हैं।' मैंने कहा 'इसमें क्या आश्चर्य है यदि पिता पुत्रकी रक्षा न करे तो क्या पराये लोग करेंगे ?'

नरेन्द्र–तो क्या हम भगवान्‌को दयालु न कहें ?

ठाकुर–बेशक कहो। मेरा अभिप्राय यह है कि भगवान् हमारे आत्मीय सम्बन्धी हैं, पराये नहीं।

पण्डित–कैसे अमूल्य वचन हैं ?

ठाकुर अब बिदा होकर चले गये।

एक दिन पण्डित शशधर अपने ज्येष्ठ भ्राताको साथ लेकर दक्षिणेश्वर गये। पण्डितको देखकर ठाकुर भावावेशमें हो गये। तत्पश्चात् ठाकुरने कहा–'तुम विद्यासम्पन्न हो, मुझे कुछ सुनाओ।'

पण्डित–मेरा हृदय विद्याकी अधिकताके कारण शुष्क हो गया है। मैं आपके पास कुछ भक्ति लेने आया हूं। आप ही कुछ सुनाइये।

ठाकुर–'मैं क्या कह सकता हूँ। ब्रह्मका यथार्थ वर्णन नहीं किया जा सकता।' फिर ठाकुर भावावेशमें जगन्माताका एक गान गाने लगे। तदुपरान्त पण्डितसे कहने लगे कि 'और भी अधिक साधना करो और भगवान्‌से सरल हृदयसे भक्तिके लिये प्रार्थना करो। पढ़नेकी अपेक्षा गुरु-मुखसे सुनना श्रेष्ठ है और सुननेकी अपेक्षा भी साक्षात्कार करना श्रेष्ठतर है, उससे समस्त शंकाएँ निवृत्त हो जाती हैं। पढ़ना-सुनना सब व्यर्थ है यदि मन पवित्र न हुआ और भगवान्‌के पाद-पद्ममें श्रद्धा-भक्ति न उत्पन्न हुई।'

तीन दिन पीछे शशधर ठाकुरसे फिर मिले। ठाकुरने कहा कि 'भक्ति तीन तरहकी है–सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक-भक्तिको तो ईश्वर ही जानते हैं, क्योंकि ऐसा भक्त अपने भावों तथा साधनाको सदैव गुप्त रखता है, वह किसीको कुछ बतलानेकी इच्छा नहीं करता। ऐसा भक्त आत्मानुभवके बहुत निकट है। जो राजस भक्त हैं, वह दूसरोंको दिखानेकी इच्छा रखते हैं, बड़े आडम्बरके साथ पूजा आदि कर्म करते हैं, रेशमी धोती पहनकर पूजा-घरमें जाते हैं, रुद्राक्षकी माला (मोती और सोनेके दानोंसहित) गलेमें धारण करते हैं और तामस-प्रकृतिके भक्त ऐसे होते हैं, जैसे डाकू किसीके घरपर डाका मारने जाय। ये शस्त्रादि लेकर दस-बीस पुलिसवालोंका भी मुकाबिला कर सकते हैं और मारो लूटोकी गर्जना करते रहते हैं। इसी प्रकारके भक्त 'हर हर हर बम बम' वा 'जय काली' इत्यादि शब्दोंकी गर्जना करते हैं। इन लोगोंमें मनकी बड़ी प्रबलता होती है और श्रद्धा भी अद्भुत। कालीके उपासक इस तरहकी श्रद्धा रखते हैं। वह कहते हैं कि काली-का नाम एक बार ले लिया तो फिर पाप नहीं बन सकते। वैष्णव भक्त सदैव अपनेको तुच्छ समझते हैं, सदा माला जपते रहते हैं और भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो! मुझपर दया करो, मैं पापी हूँ अधम हूँ' इत्यादि, परन्तु भक्तको पूरा दृढ़ विश्वास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखना चाहिये कि ईश्वरका नाम जपनेसे पाप-कर्म ठहर ही नहीं पाते। यह कैसी मूर्खता है कि रात-दिन नाम-जप करते हैं और फिर भी पापोंका स्मरण रखते हैं?'

तत्पश्चात् ठाकुर गान गाने लगे, जिसका सारांश यह था कि 'माँ! यदि मैं तेरा नाम उच्चारण करते-करते प्राणत्याग करूँ तो तू उस कठिन समयमें मेरा त्याग नहीं कर सकती!'

ये बातें सुनते-सुनते पण्डितकी आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगी। ठाकुरकी प्रेमामृत-वर्षाने पण्डितके हृदयको द्रवित कर दिया। ठाकुर भक्तों सहित नाचने-गाने लगे और कहा कि 'यह आध्यात्मिक साधनाका आनन्द है, संसारी लोग कामिनी-काञ्चनमें आनन्द खोजते हैं। इस आध्यात्मिक साधनामें जब भगवान्के दर्शन होते हैं तो वही परमानन्द है—ब्रह्मानन्द है।

पण्डित-महाराज! इसप्रकारका आनन्द प्राप्त करनेके लिये किस तरहकी उत्सुकता चाहिये?

ठाकुर-यह उत्सुकता तब होती है, जब हृदय भगवद्दर्शनके लिये व्याकुल हो उठे। गुरुने शिष्यसे कहा कि 'आ, मैं तुझे दिखलाऊँ कि भगवद्दर्शनकी व्याकुलता कैसी होती है।' गुरु शिष्यको सरोवरके पास ले गया और जलमें उसके सिरको डुबो दिया। कुछ देर पीछे उसका सिर निकालकर बोला 'कहो कैसा अनुभव किया।' शिष्यने कहा 'भगवन्! उस समय मुझे केवल साँस लेनेकी ही उत्कण्ठा थी।' इतनी व्याकुलता होती है तभी उनके दर्शन होते हैं।

पण्डित-अब यथार्थ रीतिसे स्पष्ट समझमें आया।

ठाकुर-ईश्वरमें प्रेम ही मुख्य और सार वस्तु है और सब गौण। केवल भक्ति ही चाहिये।

शिष्य-महिलाएँ

श्रीरामकृष्णके पास जो स्त्रियाँ आया करती थीं, वे कहा करती थीं कि 'ठाकुरको हम पुरुष ही नहीं समझतीं, उनके सत्संगमें बैठकर स्त्री-पुरुषका भाव ही नहीं रहता। इसीलिये हमें उनके पास बैठनेमें कुछ संकोच नहीं होता। अपने घरोंकी सब बातें निःसंकोच होकर हम कह देती हैं और बहुत-सी बातोंमें उनसे सलाह भी लिया करती हैं। कुछ स्त्रियोंको ठाकुरके शिष्य बननेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मनमोहन मित्रकी माँको ठाकुर शिष्य-महिलाओंमें शिरोमणि समझते थे। वास्तवमें उसकी आध्यात्मिक स्थिति उच्च कोटिकी थी। वह पूर्ण पतिव्रता नारी थी और अपने पतिके देह-त्यागके पश्चात् अपने आपको मृतक-तुल्य ही मानती थी। एक दिन वह अन्य महिलाओंके साथ ठाकुरके पास बैठी हुई थी। ठाकुर स्त्रीधर्मका वर्णन करने लगे और कहने लगे कि 'स्त्रियोंके वास्ते पति-सेवा ही पर्याप्त है, उत्तम नारियाँ अपने पतिको ईश्वर-तुल्य ही समझती हैं, ऐसी भी स्त्रियाँ हो चुकी हैं जो पतिके देहान्तके बाद पतिदेवको श्रीकृष्ण समझकर पूजा करती थीं। एक रानी अपने पतिके जीवनकालमें लोह-कंकण पहना करती थी, परन्तु जब अपने पति-राजाका देहान्त हो गया, तब उसने स्वर्ण-कंकण पहनना शुरू किया। अन्य स्त्रियोंने इसका कारण पूछा तो कहने लगी कि 'जबतक मेरे पतिदेव एक परिवर्तनशील शरीरमें थे तो लोह-कंकण पहनना उचित समझा, परन्तु अब वह अविनाशी परात्पर ब्रह्ममें लीन हो गये हैं तो मुझे स्वर्ण-कंकण धारण करना योग्य है, यही कारण है कि यह (मनमोहन-की माँ) भी, स्वर्ण-आभूषण पहना करती है, इसका भी वही भाव है।' पाठकोंको याद होगा कि ठाकुरके शिष्य राखालकी यह सास थी। जब राखालके गृह-त्यागकी चर्चा होने लगती तो उसकी सास बहुत प्रसन्न होती थी और कहती थी कि 'यदि राखाल ब्रह्म-प्राप्तिके अभिप्रायसे घर-बार छोड़ संन्यासी हो जायगा तो मैं अपनेको बहुत भाग्यवती समझूँगी।'

एक दूसरी शिष्या योगेन्द्रकी माँ थी। यह एक धनी पुरुषकी पत्नी थी, परन्तु वह गार्हस्थ्य दुर्घटनाओंके कारण सदा दुखी रहती थी। जबसे उसकी भेंट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठाकुरसे हुई, उसने अपनी आत्माको ठाकुरके अर्पण कर दिया था। वह जब कभी दक्षिणेश्वर आती तो ठाकुरकी धर्मपत्नीके साथ कई दिनोंतक रह जाती, जिससे दोनोंमें अत्यन्त प्रेम हो गया। श्रीरामकृष्णने इसकी योग्यता देखकर इसे मन्त्र-दीक्षा भी दी थी। ठाकुर इसकी भी आध्यात्मिक अवस्थाको ऊँची मानते थे और कहा करते थे कि कुछ समय पीछे इसके जीवनको देखकर लोग चकित हुआ करेंगे। हुआ भी ऐसा ही। कुछ साधना करनेके बाद ध्यानावस्थामें उसे समाधि भी होने लगी।

गुलाबकी माँ एक दूसरी भाग्यशालिनी विधवा स्त्री थी, जिसे ठाकुरके सत्संगसे ईश्वर-प्रेम प्राप्त हुआ था। एक विचित्र घटना हुई। एक दिन ठाकुर, गुलाबकी माँ और तीन अन्य शिष्योंको साथ लेकर कलकत्ते गये। वहाँसे लौटते हुए सबको बड़ी भूख लगी। ठाकुरने पूछा कि 'किसीके पास कुछ पैसे भी हैं?' और तो किसीके पास कुछ न था। गुलाबकी माँके पास चार पैसे निकले। ठाकुरने एक शिष्यको इन पैसोंसे बाजारसे कुछ खाद्य-वस्तु लानेको कहा। वह कुछ मिठाई ले आया और ठाकुरको दे दी तो वह सब खा गये। बाकी सब देखते ही रह गये। फिर जल पीया और कहने लगे कि 'अब तृप्ति हुई।' आश्चर्यकी बात थी कि इससे सब-के-सब ही तृप्त हो गये। इस घटनापर श्रीकृष्ण और दुर्वासा ऋषिकी कथा याद आती है। सिद्ध पुरुष प्रकृतिके प्रभु होते हैं, वह जैसी इच्छा करते हैं वैसा ही हो जाता है।

तीन शिष्य-स्त्रियोंकी सेवासे ठाकुर बड़े प्रसन्न रहते थे और उनके हाथका बनाया हुआ भोजन भी वह रुचिसे खाते थे। उनमेंसे एक गोपालकी माँ भी थी। यह नवगोपाल घोषकी पत्नी थी, इसका नाम अघोरमणि था। आठ वर्षकी अवस्थामें ही यह विधवा हो गयी थी। साठ वर्षकी आयुमें सन् १८८४ में इसका ठाकुरसे मिलन हुआ था। बचपनसे ही भगवान् श्रीकृष्णपर वह वात्सल्य-भाव रखती थी और सदैव अपने आपको गोपालकी माँ समझती थी। जो कुछ भी काम करती, गोपालके लिये ही करती। घरमें झाड़ू लगाती तो गोपालके वास्ते और भोजन बनाती तो गोपालके निमित्त। इस प्रकार उसका चित्त गोपालमय ही हो गया था। एक दिन वह भोजन बनाने लगी तो लकड़ी गीली होनेके कारण धुआँ निकलने लगा और उल्टी हवा होनेसे धुआँ उसकी आँखोंमें घुसने लगा, परन्तु किसी तरह दाल-भात तैयार करके उसने पत्तेपर परोसा तो हवाने पत्ता ही उड़ा दिया। इसपर वह भगवान्को ही कोसने लगी कि गोपालको भोजन देनेमें इतनी बाधा डालते हैं। इतनेमें ही एक छोटा-सा बालक आया और उसने पत्ता उठा लाकर बिछा दिया। गोपालकी माँने उसपर दाल-भात परोस दिया, परन्तु वह बालक न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गया। वह अपने अदृष्ट गोपालको सदाकी भाँति दाल-भात खिलाने लगी। पत्ता उठाकर देनेवाले बालकका विचार करते-करते वह समझी कि गोपाल वही था। फिर तो उसकी यादमें वह बहुत दुखी होने लगी, यहाँतक कि खाना-सोना भी भूल गयी, सदैव 'मेरा गोपाल कहाँ है' 'मेरा गोपाल कहाँ है' यही पुकारने लगी। लोगोंने समझा कि यह पागल हो गयी है। एक दिन पड़ोसके लोग दक्षिणेश्वर जाने लगे तो इसे भी साथ ले गये। यह सोचकर कि साधुके पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिये, गोपालकी माँने कुछ कच्चे दाल-चावल मिलाकर पल्लेमें बाँध लिये। जब सब ठाकुरके पास पहुँचे तो सबने अच्छे-अच्छे फल ठाकुरकी भेंट किये। अघोरमणि कच्चा अन्न भेंट करनेमें शरमाने लगी, वह उन्हें छिपाती हुई दूर कोनेमें बैठ गयी। जब सब लोग अपनी भेंट दे चुके तो ठाकुर गोपालकी माँके पीछे जा खड़े हुए और कहने लगे कि 'मैं भूखा हूँ, क्या मुझे कुछ खानेको दोगी?' गोपालकी माँने कहा कि 'महाराज! मैं क्या दे सकती हूँ, मैं निर्धन स्त्री हूँ।' ठाकुरने उस बँधी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई गँठड़ीकी तरफ इशारा करके कहा कि 'यह क्या है।' उसने लज्जित-सी होकर गँठड़ीको खोलकर दिखाया तो ठाकुरने कहा कि 'मेरेलिये इसकी खिचड़ी बना दे।' इतना कहकर उसे स्वयं रसोई-घर दिखा आये। खिचड़ी बन जानेपर वह सोचने लगी कि 'मेरे पास न घी है, न मसाला। इस रूखी-सूखी खिचड़ीको कैसे दूँ।' इतनेहीमें ठाकुर आ गये और पूछने लगे कि 'माँ! खिचड़ी तैयार हो गयी?' गोपालकी माँने वह खिचड़ी उनके आगे परोस दी। ठाकुर बोले कि 'अपने हाथसे मुझे खिला दे।' वह खिलाने लगी तो उसने ठाकुरकी जगह अपने उसी गोपालको देखा जो पत्ता उठाकर लाया था। 'तू ही मेरा गोपाल है' कहकर वह बड़ी प्रसन्न हुई। ठाकुरने खिचड़ी खाकर सबसे कहा कि 'आज मैंने असली अमृतका भोजन किया।' उस दिनसे वह सदैव प्रसन्न रहने लगी। कभी-कभी दक्षिणेश्वर जाकर अपने लाये हुए दाल-चावल पकाकर वह ठाकुरको खिला आती और बड़ी सन्तुष्ट रहती। घरके धन्धोंसे फुरसत मिलनेपर वह जप करने लगती।

एक दिन अपना जप समाप्त कर जब वह जप-का फल गोपालको समर्पण करने लगी तो ठाकुर-को अपने पास बैठे देखा। वह मुसकुरा रहे थे। अघोरमणि आश्चर्यमें डूब गयी। उसने जब उनका हाथ पकड़ा तो वह गोपालकी आकृतिमें एक हाथ उठाकर माखन माँगने लगे। उसने कहा 'बेटा! मैं गरीब विधवा हूँ माखन कहाँसे लाऊँ?' गोपालका हठ देखकर कुछ मिठाई लाकर उसने दी और कहने लगी कि 'मेरे प्यारे! इस समय यही है खा ले।' इस घटनाके पीछे वह जप वगैरह कुछ न कर सकी। दिन निकलते ही वह पागलोंकी तरह गोपाल-गोपाल पुकारती हुई दक्षिणेश्वरकी तरफ चली। वहाँ जाकर कमरेमें घुसी और ठाकुरके पास जा बैठी। ठाकुर समाधिस्थ हो गये। अघोरमणिकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही थी। अपने साथ जो माखन-मिसरी लायी थी, वह ठाकुर-को अत्यन्त प्रेमसे खिलाने लगी। ठाकुर बाह्य-ज्ञानमें आ गये, परन्तु गोपालकी माँके हृदयमें प्रेम-समुद्र वैसे ही लहरें मार रहा था, वह किसी दूसरी ही दुनियामें थी, मस्त होकर नाच रही थी। तदुपरान्त वह वापस चली गयी। भोजन बनाते समय गोपाल उसके सामने खेला करता, कभी वह नटखट उसके काममें बाधा डालता तो वह प्यार करने लगती, न मानता तो कभी उसे झिड़कने लगती।

दक्षिणेश्वरमें एक दिन वह माला जप रही थी तो ठाकुरने कहा कि 'अब भी क्यों जप किया करती है, तेरे सब कर्म समाप्त हो गये और तूने अपना ध्येय भी प्राप्त कर लिया।' तीस वर्षकी निरन्तर साधनासे अघोरमणिने अपना इष्ट प्राप्त किया। दो मासतक वह निरन्तर गोपालका साक्षात्कार करती रही। रात-दिन गोपाल उसकी दृष्टिमें बसे रहते थे। ऐसी परमोच्च अवस्था इस युगमें बहुत ही कम किसीको प्राप्त होती है। कुछ समय पश्चात् ध्यानमें उसे गोपालकी जगह ठाकुरका रूप दिखायी देने लगा। इसपर वह एक दिन ठाकुरसे पूछने लगी कि 'गोपाल! मैंने क्या अपराध किया कि अब तेरा पहला रूप नहीं देखती?' ठाकुर उसे सान्त्वना देते हुए कहने लगे कि 'ऐसी परमोच्च अवस्थामें रहकर इस युगमें शरीर बहुत दिनोंतक नहीं ठहर सकता।' ठाकुर कहा करते थे कि 'सबमें कुछ-न-कुछ अहंभाव बाकी रहता ही है, केवल दो ही व्यक्ति हैं जिनमें इसका नामोनिशान भी नहीं। एक नरेन्द्र है जिसकी ज्ञानाग्निने अहंकाररूपी समस्त कूड़े-करकटको भस्म कर दिया है। दूसरी गोपालकी माँ है जो सांसारिक तहसे एकदम ऊँची उठी हुई है, उसके भीतर और कुछ वस्तु नहीं रही, सिरसे पैरतक केवल गोपाल-ही-गोपाल भरा हुआ है।'

श्रीरामकृष्णका यह स्वभाव था कि जब कोई मनुष्य पहली बार दक्षिणेश्वर आता, तो ठाकुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी भक्ति बढ़ानेके अभिप्रायसे उसके घर जाया करते थे। इसी प्रकार वह एक दिन किसी शिष्या-के घर गये। वहाँ एक उद्धत युवक रहा करता था जो ठाकुरके अन्तःपुरमें जानेसे बहुत क्रोधित होता था। वह कहा करता था कि यह साधुवेषधारी ढोंगी है, इसी बहाने स्त्रियोंके घरोंमें जाया करता है। उसने अपने साथियोंसे मिलकर निश्चय किया कि इस ढोंगीको किसी दिन अच्छी तरह शिक्षा दूँगा। कुछ दिन बाद ठाकुर फिर एक दिन उसी घरमें गये। वहाँ चालीस-पचास स्त्रियाँ बैठी हुई थीं। ठाकुर उन्हें उपदेश करते करते अचानक वहाँसे उठकर बाहरके आँगनमें चले गये और जिस कमरेमें कुछ छोकरे बैठे हुए थे, वहाँ जाकर उन लड़कोंके सरदारकी बाँह पकड़कर बोले कि 'क्या तू ही भलीभाँति मुझे ठोंकना चाहता है।' लड़केने जब ठाकुरके चेहरेकी ओर देखा तो बहुत लज्जित हुआ और उसका क्रोध एकदम शान्त हो गया। उसने फिर दूसरे साथियोंसे कहा कि 'यदि कोई इनके ऊपर हाथ उठावेगा तो मैं उसे बहुत मारूँगा।' इस घटनाके बाद वह ठाकुरका भक्त बन गया, उसकी क्रूरता जाती रही और जीवन ही पलट गया।

ठाकुरकी कई और भी शिष्याएँ थीं, उसका विस्तारभयसे जिक्र नहीं किया जाता। नारी-समाजके प्रति ठाकुरका बड़ा आदर था, वह उन्हें भगवती-का रूप मानते थे। यहाँतक कि वेश्या भी उनकी दृष्टिमें जगन्माताका निवासस्थान ही थी।

श्रीरामकृष्णकी शिक्षा-प्रणाली

ठाकुरका शिक्षा देनेका ढंग बड़ा ही मधुर और रसीला था। यद्यपि कभी-कभी वह कठोर भी हो जाया करते थे, परन्तु साधारणतः उनका भाव मातृवत् ही रहता था। जैसे माता खेल-कूदके लिये तैयार कर पुत्रको खेलने भेज देती है और जब खेलते-खेलते उसके कपड़े धूलमें भरकर मैले हो जाते हैं तो साफ भी स्वयं ही करती है। इसी प्रकार ठाकुर भी अपने शिष्योंकी आध्यात्मिक उन्नतिका भार अपने ऊपर ले लेते थे। ठाकुरकी जीवनीमें एक जगह कहा जा चुका है कि जब विख्यात नाट्यकार गिरीशचन्द्र घोष केवल एक बार भी भगवत्स्मरण करनेका प्रण करनेमें असमर्थ हुए तो ठाकुरने उनसे कहा था कि 'मुझे आम-मुख्तारी दे दो, मैं तुम्हारे मोक्षका जिम्मेवार बनता हूँ।' उनका सार्वभौम प्रेम सबकी सहायता ही करना जानता था। यद्यपि उन्होंने अपनी साधनामें कठोर-से-कठोर तपस्या की, परन्तु अपना लक्ष्य प्राप्त कर वह जगत्को सुलभ रीतिसे भगवत्प्राप्तिके साधन बतलाते थे, वह कहा करते थे कि 'यदि तुम मेरी की हुई साधनाका सोलहवाँ हिस्सा भी कर सको तो तुम ईश्वर-प्राप्ति कर सकते हो, परन्तु कुछ साधना तो अवश्य करनी ही होगी, बिना कुछ किये साधक कुछ प्राप्ति नहीं कर सकता।' एक दिन किसीने उनसे कहा कि 'महाराज! आपमें तो स्पर्शमात्रसे ही मनुष्यको सिद्ध बना देनेकी शक्ति है, तो क्यों आप सबके लिये ऐसा नहीं करते।' ठाकुरने कहा कि 'यदि मैं ऐसा करूँ तो वे लोग सिद्धिको रख नहीं सकेंगे, शिष्यको उस लक्ष्य-प्राप्तिके वास्ते तैयार होना चाहिये, तभी वह स्थायीरूपसे सिद्धिको धारण कर सकता है।' उन्होंने किसीको घोर त्याग वा घोर तपस्या करनेके लिये कभी नहीं कहा। वह संसार त्यागनेके लिये नहीं कहा करते थे, वरं शिष्यको सांसारिक भोग भोगनेका आदेश देते थे और कहा करते कि 'बेटा! आनन्दमयी माँके रचे हुए भोगोंको जी भरकर भोगो, परन्तु भोगो माँका निरन्तर स्मरण रखते हुए! इस तरह भोगनेसे विषय-वासना स्वयं नष्ट हो जायगी।' किसीकी कोई बुरी आदत छुड़ानेके लिये वे एकदम छोड़ने-को कभी नहीं कहा करते थे, धीरे-धीरे छुड़ाना ही उनका नियम था। उन्होंने एक दिन कहा कि 'एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषने किसी वैद्यके पास जाकर कहा कि 'महाशय! मैं अपनी अफीम खानेकी आदतको कैसे छोड़ूँ?' वैद्यने कहा कि 'छोड़नेकी कुछ जरूरत नहीं, केवल इतना ही किया करो कि जितनी अफीम रोज खाते हो, उतनी ही खड़ियाकी एक डली तोल लो, उस डलीसे रोज तोलकर अफीम खाया करो, परन्तु इतना किया करो कि खानेके पीछे उस डलीसे रोज़ जमीनपर एक लकीर खींच दिया करना।' इस तरह करते-करते डली भी समाप्त हो गयी और अफीम खाना भी बन्द हो गया। जबतक विषयोंमें प्रीति है, लाख कोशिश करो, कभी लालसा नहीं मिटती। परन्तु घृणा उत्पन्न होते ही उनसे छुटकारा मिल जाता है और वह भगवत्स्मरण और सत्संग-से ही हो सकता है।' भले-बुरे सभी उनकी सहायताके पात्र बनते थे, सबका पुनरुत्थान करना उनकी बान थी, सब ही उनके प्रेमभाजन थे। वह किसीके चेहरेपर उदासी देखना पसन्द नहीं करते थे और कहा करते थे कि आनन्दमयी माँके पुत्रोंको सदैव प्रसन्न-वदन रहना चाहिये, यदि कोई प्रसन्न-मुख नहीं रख सकता तो उसे चाहिये कि किसीको अपना दुखी चेहरा न दिखावे। चेहरेसे ही वह समझ जाते थे कि अमुक व्यक्ति किस योग्य है। यदि कोई झूठे धार्मिक जीवनका ढोंग बनाता तो उसे कह देते कि 'जाओ, पहले गृहस्थ भोगो।' किसीमें वैराग्यकी मात्रा देखते थे तो उसे भी एकदम गृह-त्यागका आदेश नहीं देते थे, उसे ऐसी साधना बतलाते, जिससे धीरे-धीरे स्वयं ही वह गृहस्थ-त्याग कर दे।

श्रीरामकृष्ण सब मुमुक्षुओंके प्रति एक प्रकारकी ही साधना-विधिका उपदेश नहीं करते थे, जैसे प्रायः साम्प्रदायिक गुरुओंकी रीति है, बल्कि प्रत्येक शिष्यके भाव, प्रकृति तथा आध्यात्मिक अवस्थाके अनुसार ही उनकी शिक्षा होती थी। इसीलिये किसीको ज्ञान-मार्ग, किसीको भक्ति-मार्ग तथा किसीको कर्म-पथपर आरूढ़ होनेका आदेश करते थे। वह स्वयं बहुत थोड़ा और साधारण आहार करते थे, परन्तु दूसरोंको सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ खिलाकर बड़े प्रसन्न होते थे। जब कभी भक्त लोग फलादि वा मिष्टान्न लाकर उन्हें भेंट देते थे, वह अपने शिष्योंके लिये उन्हें रख छोड़ते और उन्हें खिलाकर बड़े सन्तुष्ट होते। कभी शिष्योंको वट-वृक्षके नीचे ध्यान करनेकी आज्ञा देते तो स्वयं आसनोंको उठाकर वहाँ ले जाते और मातृवत् उनकी देख-भाल रखते। कभी छोटे बालकोंसे आँख-मिचौनी खेलते और कभी उन्हें कहानियाँ सुनाकर प्रसन्न करते। उनके विचारमें धार्मिक जीवन आमोद-प्रमोद और आनन्दपूर्ण था। उदास, चिन्तामय तथा गम्भीरभावको वह पसन्द नहीं करते थे। धर्म-पथको वह ऊँचे चढ़नेका मार्ग समझते थे। शिष्यको उसकी वर्तमान स्थितिसे उठाकर ऊँची श्रेणीपर पहुँचा देना उनकी रीति थी। वह कहा करते थे कि जीवको ब्रह्मसे विमुख करनेका कारण केवल अहंकार ही है, यह बड़ा भयानक शत्रु है, इसका नाश होते ही मुक्ति तो सम्मुख खड़ी है। इस अहंकारका नाश करना महा-कठिन है, यदि यह नाश न हो तो इसे परमेश्वरका दास बनाये रक्खो। जबतक अहंभाव बाकी है, तबतक 'शिवोऽहं' कहनेका किसीको भी अधिकार नहीं, इस अवस्थामें तो 'दासोऽहं' की ही रटन करते रहना चाहिये। (क्रमशः)

दीनबन्धु

माया नटी तेरी नाथ! कैसो ये बिछायो जाल,
पञ्च तार ताने पञ्च बानेमें लगाये हैं।
देखि सुनि सूँघि चाखि परसि फँसाय मन,
निकसत नाँहि कोटि यतन कराये हैं॥
जो है दुख-मूल ताहि सुखको निधान जान्यो,
मानत न मन बारबार समझाये हैं।
श्रम कर थाके शीलनिधि बलहीन भये,
दीनबन्धु आस अब तेरी ही लगाये हैं॥

–'शील'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म किसका है ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीआत्मानन्दजी)

किसी समय एक धर्मके तत्त्वज्ञ उपदेशक साधु एक जगह धर्मका उपदेश देते हुए संसारके भिन्न-भिन्न धर्मोंकी और सत्पुरुषोंकी श्रेष्ठता बताकर अन्तमें सब धर्मोंकी एकताका निरूपण कर रहे थे। इसी बीच एक ढोंगी मनुष्य, जो अपनेको बड़ा ही धर्मात्मा बतलाकर भोले लोगोंको ठगा करता था और बड़ी-बड़ी डींगें हाँका करता था, बोल उठा कि 'महाराज! आप दूसरे धर्मोंकी चाहे जितनी बड़ाई करें, लेकिन संसारभरमें हमारे धर्मके समान कोई भी दूसरा उत्तम धर्म नहीं है। हमारे धर्मके कैसे उत्तम सिद्धान्त हैं! यदि इनमेंसे कोई एक-आध सिद्धान्तको भी भलीभाँति पालन करने लगे तो उसका बेड़ा पार हो जाय। मालूम होता है आप हमारे धर्मके प्रचारक मूल पुरुषोंकी महत्ताको नहीं जानते, जिन्होंने धर्म-प्रचारके लिये कैसे-कैसे भयानक कष्ट भोगे थे और संसारभरमें भ्रमण कर दिग्विजय प्राप्त की थी। आज भी उनके नामपर सहस्रों मनुष्योंकी जीविका चलती है। आप उनसे परिचित नहीं हैं, अन्यथा आप परधर्मी पुरुषोंकी इसप्रकार बड़ाई नहीं करते।'

साधु महाराज बड़े ही महात्मा थे। इस ढोंगी मनुष्यकी बातें सुनकर उन्हें इसपर बड़ी दया आयी। सचमुच 'सन्त हृदय नवनीत समाना' ही होता है जो दूसरोंके तापसे द्रवित होने लगता है। उन्होंने बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें उसे समझाना शुरू किया। सन्त बोले—

'भाई! तुम्हारी बात बावन तोले पाव रत्ती सही है। वास्तवमें तुम्हारे पूर्वजोंका धर्म सौ टंचके सोनेके समान है। उसका तनिक-सा भी पालन महान भयसे तारनेवाला है। इस धर्मके मन्त्रोंसे मुर्देमें भी जीवनका सञ्चार होता है। परन्तु भाई मेरे! इसमें तुम्हारा क्या? धर्म तो उसीका होता है जो उसे हृदयसे अपनाता है। क्या तुमने उसे हृदयसे अपनाया है? अपनाया होता तो तुम्हारे मुँहसे उपर्युक्त शब्द नहीं निकलते। मेरी समझसे तो तुमने उसे जबानतक ही रक्खा है। क्या तुम अपने प्रातःस्मरणीय पूर्वजोंद्वारा आचरित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अभय, पवित्रता, विषयोंमें अनासक्ति, अक्रोध, क्षमा, दान, करुणा, मुदिता, स्वाध्याय, दैन्य, श्रद्धा, कृतज्ञता, परोपकार, गुरुजनोंकी सेवा, असूया, परनिन्दाका त्याग, सब कामनाओंका त्याग, निष्कामकर्म और भगवत्-शरणागति आदि धर्मके नियमोंका यथाविधि पालन करते हो? मेरी समझसे आजकल प्रायः लोगोंके आचरण इस धर्मके प्रतिकूल ही रहते हैं। आज जरा-से स्वार्थके लिये दूसरेकी मन, वचन, कर्मसे हिंसा करनेको तैयार रहना, बात-बातपर असत्य-भाषण और आचरण करना, सभ्यताकी आड़में दूसरेका स्वत्वापहरण करके भी उसे चोरी न समझना, परस्त्रियोंके सामने आते ही उनकी ओर आँखे घूरना, बिना ही आवश्यकताके संसारके अनेकानेक पदार्थ एकत्र करना, बुराई करनेमें ईश्वरसे न डरना, संसारके डरसे गुप्तरूपसे बुराई करना, बाहर-भीतरसे अपवित्र रहना, सर्वदा विषयोंका चिन्तन करना, स्वयं गलतियाँ करते रहनेपर भी दूसरेकी जरा-सी भूलपर क्रोधसे जलते लगना, अपने दोषोंके लिये दण्ड-भोगकी इच्छा न रखना, पर दूसरेको जरा-से दोषका भीषण दण्ड देना, शुद्ध ब्राह्मणों और दीन-दुखियोंको दान न देकर जिससे अपना मतलब निकलता हो उसे देना, दूसरेके दुःखमें उदासीनता दिखाना और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने तनिक-से दुःखसे व्याकुल हो उठना, विषाद-युक्त रहना, सत्-शास्त्रोंका अध्ययन न करना, महान् पुरुषोंके सामने भी नम्र न रहकर अपना बड़प्पन दिखाना; ईश्वर, शास्त्र और गुरु-वाक्योंमें श्रद्धा न कर उनपर सन्देह करना और दूसरे श्रद्धा करनेवाले सदाचारीको अन्ध-श्रद्धावाला बतलाना, अपनी भलाई करनेवालेका उपकार न मानना, दूसरेसे उपकारकी इच्छा रखते हुए भी किसीका उपकार करनेमें प्रवृत्त न होना और उल्टा उसका बिगाड़ कर बैठना, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवा न कर उनसे उल्टी सेवा कराना, अपने अवगुणोंको गुण कहकर बखान करना और दूसरेके गुणोंमें भी दोषदृष्टि रखना, परायी निन्दा करना, नित्य नयी-नयी कामनाएँ करके किसी भी अवस्थामें सन्तोष न करना, कर्मफलका त्याग तो दूर रहा, अल्प सत्-कर्म करके बहुत बड़ा फल चाहना और ईश्वरका आश्रय ग्रहण न कर संसारी-जनोंका सेवन करना। इसप्रकारके आचरण करते हुए भी लोग अपनेको धर्मात्मा बतलाते और धर्मकी हिमायत करते हैं यह कैसी नादानी है ? भाई! अपने पूर्वजोंद्वारा आचरित सदाचारको ग्रहण कर ईश्वरकी शरण ग्रहण करो, तभी तुम्हारा धर्म सब धर्मोंसे श्रेष्ठ हो सकता है, अन्यथा नहीं। देखो, संसारमें किसी धनी-मानी सज्जनका या किसी राजा-महाराजा या बड़े शक्तिशाली पुरुषका आश्रय ग्रहण करके भी जब मनुष्य निर्भय बन जाता है, तब संसारभरके स्वामी भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करनेवालेकी तो बात ही क्या है ? वही धर्म हमारा है, जो हमारे काम आवे और हमारी रक्षा करे। हमारे पूर्वजोंका धर्म हमारे किस काम आवेगा, यदि हम उसका पालन न करें। इसप्रकार तो कोई भी कह सकता है कि मैसूरके सोनेकी खान मेरी है। मैसूरके सोनेकी खान तो सच्ची है, परन्तु जबतक हम उसका मूल्य न चुकावें, तबतक उसपर हमारा क्या अधिकार है ? किसी दूसरेकी चीजको बिना अधिकार प्राप्त किये अपनी नहीं कहना चाहिये, नहीं तो वह हमारे ऊपर अपनी वस्तुपर अन्याय-रूपसे हक जमानेका फौजदारी दावा कर सकता है। इस बातको सदा ध्यानमें रखना चाहिये कि जबतक हम अपने पूर्वज ध्रुव, प्रह्लाद, शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, नामदेव और मीरा आदिके-से आचरण स्वयं नहीं करते, तबतक उनका धर्म हमारा है, यह कहनेका हमको कोई हक नहीं है।'

महात्माके इसप्रकारके सच्चे वचनोंका उस मनुष्यपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा और उसी समयसे उसने वास्तविक रूपसे धर्मको क्रियारूपमें अपनाना आरम्भ कर दिया।

श्रीचरणोंमें *

प्रेम छोड़कर और नहीं है कुछ भी मेरे पास।
इसीलिये तुझको देता हूँ प्रिय! तेरा ही प्रेम॥
दे वह तुझको और वस्तु जो रखता हो देनेको।
जिसके पास पंख हो, उड़नेका वह करे प्रयास॥
मुझपर हृदय, उसे श्रीपदपर रखना मेरा नेम।
क्योंकि प्यार तेरा आवश्यक है जीवित रहनेको॥

—बालकृष्ण बलदुवा बी० ए०

* प्रसिद्ध अंग्रेज कवि स्विनबर्नकी एक रचना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयोगी प्रश्नोत्तर

(लेखिका—बहिन जयदेवीजी)

विद्यावती लड़की थी भोली-भाली, परन्तु थी बुद्धिशालिनी! अभी उसकी अवस्था थी ग्यारह वर्षकी बाली, प्रथमामें थी उत्तीर्ण होनेवाली! वह एक दिन अपनी माता ज्ञानवतीसे इसप्रकार कहने लगी—

विद्यावती—माताजी! आज अध्यापिकाजीने एक पद लिखाया है और उसके सम्बन्धमें चार पृष्ठका एक निबन्ध लिखनेको सब लड़कियोंसे कहा है। पद यह है—

हो तुम कौन कहाँसे आये, जाना तुम्हें कहाँ है।
क्या क्या वस्तु साथमें लाये, क्या कर्तव्य यहाँ है॥
ये सब बातें प्रथम सिखावे, पीछे वेद पढ़ावे।
सोही शिक्षक चतुर सयाना, पण्डित वही कहावे॥

आगामी शनिवारको सब लड़कियाँ निबन्ध लिखकर ले जायँगी। अध्यापिकाजीने माता-पिता आदिसे पूछ लेनेकी आज्ञा दे दी है, परन्तु इतना कह दिया है कि समझे बिना मत लिखना। इसलिये माताजी! उपर्युक्त प्रश्नोंके उत्तर ऐसी सरल रीतिसे समझा दीजिये कि जो मेरी समझमें आजायँ और समझकर मैं उनका उत्तर लिख सकूँ। प्रश्न बहुत गूढ़ हैं, मेरी समझमें आवेंगे कि नहीं, इसमें मुझे सन्देह है, इसलिये मेरी बुद्धिके अनुसार समझानेके लिये आपसे विनय करती हूँ।

ज्ञानवती—बेटी! अवश्य ही प्रश्न गूढ़ हैं, वेदवेत्ता ही इन प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर दे सकते हैं। वेदवेत्ताओंने अनेक प्रकारसे इन प्रश्नोंका स्पष्ट रीतिसे निर्णय किया है, परन्तु उनका निर्णय अभी तेरी समझमें नहीं आ सकता और अध्यापिकाजी का भी यह अभिप्राय नहीं होगा कि इन प्रश्नोंका सूक्ष्म उत्तर दिया जाय। मैं तुझे स्थूल दृष्टिसे तेरी बुद्धिके अनुसार ही समझाती हूँ, ध्यान देकर सुन।*

हम सब मनु-शतरूपाकी सन्तान हैं, इसलिये मनुष्य कहलाते हैं। अन्य प्राणियोंमें अपने हिताहित जाननेकी बुद्धि नहीं होती। मनुष्य अपने हिताहितको जानता है, इसलिये मनुष्य सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ है। अन्य प्राणियोंकी बुद्धि परिमित है, वे अपनी बुद्धिको बढ़ा नहीं सकते। मनुष्यकी बुद्धि अपरिमित है, मनुष्यको ब्रह्मासे लेकर ऋषि, मुनि, विद्वानोंके शास्त्र प्राप्त हैं। इसलिये मनुष्य अपनी बुद्धिको विकसित करके अपना हित-अहित करनेमें समर्थ है। जो स्त्री-पुरुष शास्त्रका अवलम्बन लेते हैं, वे अपना हित कर लेते हैं और जो शास्त्रका अवलम्बन नहीं लेते अथवा शास्त्रसे विरुद्ध आचरण करते हैं, वे अपना हित नहीं किन्तु अहित ही करते हैं। उनको न तो यहाँ सुख मिलता है, और न आगे देव आदि उत्तम योनियाँ ही मिलतीं हैं। देव आदि योनियाँ तो दूर रहीं उन्हें मनुष्ययोनि भी नहीं मिलती। उल्टे तिर्यक् आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं, यही उनका अहित है। अब तू समझ गयी होगी कि हम मनुष्य हैं। मनु-शतरूपासे अपने माता-पिताद्वारा यहाँ आये हैं और आगे हमको यत्न करके देवादि उच्च योनियोंमें अथवा कम-से-कम मनुष्ययोनिमें फिरसे जाना है। जो ऐसा मानते हैं कि मरनेके बाद कहीं जाना-आना नहीं होता, देहके साथ ही हम उत्पन्न होते हैं और देहके साथ ही मर जाते हैं, उनका मत बहुत पोच है, उनमें कई दोष हैं, प्रथम बिना कुछ किये ही कर्मका भोग सुख-दुःख-

* इन प्रश्नोंके सूक्ष्म उत्तर कल्याणके पिछले सालोंके कई अङ्कोंमें आ चुके हैं।—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना रूप दोष है और दूसरा यह दोष है कि जो कुछ हम भला-बुरा कर रहे हैं, इसका फल न मिलना। यह युक्तियुक्त नहीं है। तीसरे यदि पूर्व-जन्म न माने, तो हालके जन्मे हुए बालकको दूध पीनेमें रुचि नहीं होनी चाहिये क्योंकि बिना अनुभव की हुई बातका किसीको स्मरण नहीं हो सकता। बालकको दूधमें रुचि होनेसे सिद्ध होता है कि उसने पूर्व-जन्ममें दूधको अपने सुखका साधन समझा था। प्रत्येक लड़के-लड़कीकी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है, इससे भी पूर्वजन्म सिद्ध होता है। यहाँ तक तीन प्रश्नोंका उत्तर हुआ, अब चौथे और पाँचवें प्रश्नका उत्तर सुन—

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, नासिका, मुख, हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ और मन ये सब हम अपने साथ लाये हैं। इन्द्रियाँ और मन हमारे औजार हैं यानी काम करनेके साधन हैं। जैसे बसूला, आरी आदि बढ़ईके औजार अथवा अस्तुरा, कैंची आदि नाईके औजार हैं, इसी प्रकार ये हमारे औजार हैं। जैसे उत्तम औजार बिना बढ़ई और नाई काम नहीं कर सकते, इसी प्रकार उत्तम इन्द्रियों और मन बिना हम कार्य नहीं कर सकते, इसलिये इन्द्रियोंको और मनको उत्तम बनाना ही हमारा प्रथम और मुख्य कर्तव्य है। अथवा इन्द्रियाँ और मन हमारे नौकर हैं, जैसे मन्त्री आदि नौकरोंको स्वाधीन रक्खे बिना राजा राजका कार्य भलीभाँति नहीं कर सकता, इसी प्रकार यदि इन्द्रियाँ और मन हमारे वशमें न हों, तो यहाँ हम ठीक-ठीक कार्य नहीं कर सकते, इसलिये इन्द्रियोंको और मनको वशमें रखना हमारा कर्तव्य है। अथवा इन्द्रियाँ और मन हमारी सन्तान हैं, जो माता-पिता अपने बच्चोंको वशमें नहीं रख सकते, वे बच्चोंका और अपना हित नहीं कर सकते, किन्तु अहित ही करते हैं। इसी प्रकार जो स्त्री-पुरुष अपनी इन्द्रियों और मनको स्वाधीन नहीं रखते, वे अपना और मन-इन्द्रियोंका अहित ही करते हैं, इसलिये मन-इन्द्रियोंको वशमें रखना हमारा कर्तव्य है। उपर्युक्त पाँचों प्रश्नोंका स्थूल दृष्टिसे और संक्षेपसे यह उत्तर है। बोल, अब क्या पूछती है?

विद्यावती—माताजी! मन और इन्द्रियोंके वश करनेका उपाय क्या है। उपाय जाने बिना मन, इन्द्रियाँ वश नहीं हो सकतीं और उनके वश हुए बिना हम सुखी नहीं हो सकते। आगेकी तो खबर नहीं, प्रत्यक्षमें ही हमारा सुख या दुःख इन्द्रियोंके वश और अवश होनेपर निर्भर है, इसलिये इन्द्रियोंके और मनके वश करनेका सुगम उपाय बताइये।

ज्ञानवती—(प्रसन्न होकर) हे पुत्री! गृहस्थको चाहिये कि ईश्वर-परायण होवे यानी ईश्वरको ही सबसे श्रेष्ठ समझकर उसका भजन करे, गुरुकी आज्ञामें रहे और करने योग्य कर्मको यथायोग्य यथासमय करे, श्रद्धा और प्रेमसे युक्त होकर पोष्यवर्गका पालन करे, उनको पीड़ा न दे, पीड़ा देनेको पापका रूप और पीड़ा न देनेको कल्याणका मार्ग समझे। महाभारतमें भगवान्‌का वचन है कि—'हे कौन्तेय! दरिद्रका पोषण कर, धनी पुरुषोंको धन मत दे। श्रीगुरु, माता, पिता, पत्नी, सन्तान, आश्रित, अभ्यागत और अतिथि इन सबका गृहस्थको यत्नपूर्वक पालन-पोषण करना चाहिये। पहलेकी जान-पहचानका जो कोई अपने घरपर आवे, उसे अभ्यागत कहते हैं। अपरिचित (न जाना हुआ) व्यक्ति घरपर आवे, उसका नाम अतिथि है। विष्णु-पुराणमें कहा है कि जिसका नाम, गोत्र और स्थान मालूम न हो, जो अकस्मात् घरपर आ जाय, उसको विद्वान् अतिथि कहते हैं। घरपर आकर गोदोहन-मात्र समयतक अतिथि घरके आँगनमें ठहरे अथवा अपनी इच्छासे अधिक ठहरे। मूहूर्तका आठवाँ भाग गो-दोहनका समय है। स्वाध्याय, गोत्र, आचरण और कुल पूछे बिना घरपर आये हुए अतिथिको हिरण्यगर्भ मानकर गृहस्थ उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूजन करे, यह धर्मशास्त्रकी आज्ञा है। अतिथि-पूजन-का नाम ही नरयज्ञ है।

माता-पितारूप नेत्रगोचर देवताओंकी गृहस्थ मन, शरीर, द्रव्य और वाणीसे प्रसन्न होकर सेवा करे, सन्तान और आश्रित बालकोंको शुभ-विद्याका अभ्यास करावे और सन्तानका यथाकाल, यथा-शास्त्र उपनयन करावे, जो माता-पिता बालक-बालिकाओंको पढ़ाते नहीं, वे उनके वैरी हैं, ऐसा नीतिशास्त्रका वचन है। माता-पिता बालकोंको नीति-धर्मयुक्त सदाचार सिखावें और निरन्तर यत्नपूर्वक उनकी ओर देखते रहें। अपने मङ्गलके लिये और सन्तानकी उन्नतिके लिये माता-पिताओंको स्वयं ब्रह्मनिष्ठ, पवित्र, संयमी और जितेन्द्रिय होना चाहिये।

हे बेटी! संयमसे मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। उपर्युक्त सदाचार संयममें बहुत सहायक है। संयमसे सदाचारमें मदद मिलती है। अथवा यों कहना चाहिये कि संयम और सदाचार परस्पर सहायक हैं। विद्वानोंका कथन है कि संयम परम धर्म है, संयम परम तप है, संयम पुण्योंमें महापुण्य है और संयम महाबल है। योगशास्त्रकी परिभाषामें धारणा, ध्यान और समाधिका नाम संयम है। जिसके पासमें ऐसा संयम है, मुक्ति तो उसके हाथमें स्थित है। हे बेटी! यह संयम किसी भाग्यवान् योगी अथवा योगिनीको ही प्राप्त होता है। मैं तुझे गृहस्थोंका संयम बताती हूँ, जो बालकों और बालिकाओंके लिये विशेष रूपसे उपयोगी है।

जो पूज्य, वृद्ध, रोगी, स्त्री, दुर्बल और बोझेवाले-का मार्ग छोड़ देता है, वह पुरुष संयमी है। जो वृथा अंगोंको चलाना, जुआ खेलना और जोरसे हँसना त्याग देता है, वह संयमी है; जो जोरसे बोलना, वृथा बोलना, कड़ुवा बोलना, परायी निन्दा करना, और झूठ बोलना त्याग देता है, वह संयमी है। अहिंसामें प्रीति करनेवाला, शिष्टाचरणवाला और विचारकर कार्य करनेवाला संयमी कहलाता है। जो स्त्री-पुरुष अपने कार्यको यथाकाल और यथा-विधि करते हैं तथा पापसे बचे रहते हैं, वे संयमी कहलाते हैं।

विद्वानोंका वचन है कि अतिथि, सज्जन, शास्त्र, देवता, कम अंगवाले, अधम तथा किसी मनुष्यको कभी भी दोष न लगावे और न उनको देखकर हँसे। पूज्य और देवताओंकी छायाको न लाँघे। पूज्योंके सामने पैर करके न बैठे, गुरुके समीप नीचे आसनपर बैठे, किसीकी, विशेषकरके पूज्योंकी गति, भाषण अथवा चेष्टाकी नकल न करे। पूजनीयों-के आगे होकर न चले, झुककर पूजनीय-जनका अभिनन्दन करे। नग्न होकर न स्नान करे और न सोवे। ऊपरको, इधर-उधर और दूर देखता हुआ मार्गमें न चले, नेत्रोंको चपल न होने दे, मुख खोलकर जम्हाई न ले, जितेन्द्रिय होवे, बुरी सवारी आदिपर न चढ़े। देवता, सज्जन, आचार्य और अन्य पूज्योंकी श्रद्धापूर्वक सेवा करे, संन्ध्या आदि यथाकाल करे, अपनी बड़ाई कभी न करे और सर्वदा आचार्यके अधीन रहे। ऐसा करनेवाले सब संयमी कहलाते हैं।

हे पुत्री! जो श्रमरहित और श्रद्धायुक्त होकर अपना सुख त्यागकर सबकी सेवा करता है, वही पुरुष संयमी है। जो स्वास्थ्यरक्षक, सात्त्विक, परिमित, शुद्ध भोजन ईश्वरकी प्रीतिके लिये करता है, वही पुरुष संयमी है। जो सबका हित करने-वाली, सत्य, मधुर, परिमित वाणी बोलता है और विष्णुके संकीर्तनमें मग्न रहता है, वही पुरुष संयमी है।

संकीर्तन-पद्मपुराणमें कहा है कि जिस स्थान पर श्रीकृष्ण परमात्माके नामोंका सम्यक् प्रकारसे उच्चारण और उनके गुणोंका कथनरूप नाम-संकीर्तन होता है, वह स्थान पवित्र हो जाता है और मनुष्योंको मुक्ति देनेवाला होता है। नारदपञ्चरात्रमें कहा है कि पापियोंके देहमें तीन प्रकारके पाप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहते हैं। महापाप, उपपाप और अतिपाप, ये पापोंके नाम हैं। आश्चर्य है कि श्रीकृष्णके संकीर्तन-से, ध्यानसे और उनका मन्त्र ग्रहण करनेसे तीनों प्रकारके पापोंसे मनुष्य छूट जाते हैं। श्रीभागवतमें कहा है कि 'अज्ञानसे अथवा ज्ञानसे भगवान्‌का जो नाम-संकीर्तन किया जाता है, वह पुरुषके पापको इसप्रकार जला देता है, जैसे अग्नि ईंधन-को जला देता है। हरि-भक्ति-विलासमें कहा है कि हरिके नाम-कीर्तनसे नरकमें पड़े हुए मनुष्योंकी पापोंसे मुक्ति हो जाती है।

हे पुत्री! शान्त, दान्त, तितिक्षु, भक्तिमान, विनययुक्त और गुरुसेवामें प्रीतिवाला पुरुष ही संयमी है। जो हरिके चरणोंका आश्रय लेता है, भगवत्‌की आज्ञा जिसको प्रिय है, जो बाहर-भीतर शिवमें ही चित्त लगाये रहता है, वही पुरुष संयमी है। जो इन्द्रियोंको, प्राणको और मनको विषयोंसे रोककर योगमें स्थित होता है, वही पुरुष संयमी है। 'मैं ही एक परब्रह्म हूँ', इसप्रकारका जिसको दृढ़ निश्चय है और जिसकी सब आशाएँ गल गयी हैं, वही पुरुष संयमी है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि जो परमात्मा सब प्राणियोंकी रात है, उसमें संयमी पुरुष जागता है, और जिस संसारमें प्राणी जागते हैं, वह संयमी मुनिकी रात है। इसप्रकार संयममें आस्था रखकर विचक्षण पुरुषको सब कार्य करने चाहिये और बाहर तथा भीतरके शौचका पालन करना चाहिये। सारांश यह कि संयम और सदाचारसे मन और इन्द्रियाँ वशमें रहती हैं। मन, इन्द्रियोंके वश होनेसे लोक, परलोक और परमार्थके सभी कार्य यथार्थ होते हैं, इसलिये संयमी स्त्री-पुरुष सर्वदा सुखी रहते हैं।

हे बेटी! जो स्त्री-पुरुष संयम नहीं कर सकते, उनका कोई कार्य सिद्ध नहीं होता और जो स्त्री-पुरुष संयमशील होते हैं, उनके लिये कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो प्राप्त न हो सके। संयमसे सब कुछ प्राप्त हो सकता है, जो पुरुष संयमशील है, वह पापरहित और भयरहित होकर महान् पदार्थ मोक्षको प्राप्त होता है, संयमी पुरुष सुखसे शयन करता है, सुखसे जागता है, सुखसे व्यवहार करता है और उसका मन सर्वदा प्रसन्न रहता है। संयमसे तेज धारण किया जाता है, संयमसे राजस-तामस गुण जीते जा सकते हैं और सतोगुणकी वृद्धि की जा सकती है। जैसे व्याघ्रादि पशुओंसे सबको भय लगता है इसी प्रकार असंयमी पुरुषसे सबको भय रहता है। असंयमी पुरुषोंका दमन करनेके लिये परमेश्वरने राजाको उत्पन्न किया है। सब आश्रमोंके धर्ममें संयम ही मुख्य है। जितना फल सब धर्मोंके पालनसे होता है, उससे भी कहीं अधिक फल संयमीको प्राप्त होता है। संयमी पुरुषमें अदीनता, सन्तोष, श्रद्धा, अक्रोध, सरलता, अचपलता, निरहंकार, गुरुपूजा, अनसूया, दया, सत्यभाषण, उदारता, गम्भीरता, निर्भयता, निर्द्वन्द्वता, विवेक, वैराग्य, शम, दम, आर्जवादि गुण सहजमें ही आ जाते हैं। संयमी पुरुष किसीसे वैर नहीं करता, किसीकी निन्दा नहीं करता। वह न हर्ष करता है, न शोक करता है। शील-गुणसे सम्पन्न होता है, धैर्यवान् होता है और काम-क्रोधादि दोषोंसे रहित होता है। ऐसा संयमी पुरुष लोकमें सत्कार पाता है और मरनेके पश्चात् सद्गति प्राप्त करता है। सारांश यह कि संयम उत्तम गुण है और संयमी पुरुष कभी दुखी नहीं होता। वह सर्वदा सुखी रहता है। संयमी स्त्री-पुरुष धन्य हैं, उनका ही जन्म सफल है।

विद्यावतीने माताके वचनामृत हृदयमें धर लिये और उपर्युक्त प्रश्नोंपर अपनी भाषामें सुन्दर निबन्ध बनाकर नियत दिन अध्यापिकाके पास ले गयी। अन्य बालिकाएँ भी अपने-अपने निबन्ध लिखकर लायीं थीं। विद्यावतीका निबन्ध सबसे बढ़कर रहा। भाषा भागवत्‌की एक पुस्तक उसे इनाममें मिली। उस पुस्तकको लेकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यावती प्रसन्न होती हुई अपनी माताके पास आयी और इसप्रकार कहने लगी—

विद्यावती-माताजी ! आपके बताये अनुसार निबन्ध लिखनेपर मुझे यह पुस्तक इनाममें मिली है । अध्यापिकाजी निबन्ध देखकर प्रसन्न हो मुझे इसप्रकार कहने लगीं—

अध्यापिका-सच है, संसारमें मनुष्यके लिये कर्तव्य बहुत हैं। सबके कर्तव्य अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार हैं। विद्वान् स्त्री-पुरुषोंका मुख्य कर्तव्य ब्रह्म-विचार है। जो ब्रह्म-विचार नहीं कर सकते, वे निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं। जो निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करनेमें असमर्थ हैं, वे सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं। जो यह भी नहीं कर सकते, वे भगवन्नामका जप करते हुए भगवत्के गुण गाते हुए प्रसन्नतापूर्वक काल व्यतीत करते हैं। जिनसे नाम भी नहीं जपा जाता, वे निष्काम कर्म करते हैं। जो यह भी नहीं कर सकते, वे सकाम कर्म करते हैं। जिनको शास्त्र-संस्कार नहीं है, वे भोजन बनाना, खेती करना, चर्खा कातना, व्यापार करना आदिको ही अपना कर्तव्य समझकर उनमें ही लगे रहते हैं। अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार सब कर्म करते हैं। कर्म करनेवाले निकम्मे आलसी पुरुषोंसे श्रेष्ठ हैं। आलसी पुरुष मृतकके समान हैं और जो मूढ़ परस्पर कलह करते हैं और अपने भाइयोंमें भी कलह कराते रहते हैं, जिनको कलह ही प्रिय है, वे सबसे अधम हैं। उपर्युक्त कर्तव्य अपनी अपनी योग्यतानुसार सभी अच्छे हैं परन्तु संयम तो सबके लिये उपयोगी है, इसलिये सबसे श्रेष्ठ है। हे विद्यावती ! मैं तेरे निबन्धसे बहुत ही प्रसन्न हूँ, यदि तू ऐसे ही निबन्ध लिखती रही और इसीके अनुसार आचरण करती रही, तो एक दिन तू परम विदुषी हो जायगी, ले यह पुस्तक मैं तुझे देती हूँ, इसको पढ़नेसे तेरी बुद्धि दिन-दूनी और रात चौगुनी निर्मल होती जायगी और अन्तमें जैसा तेरा नाम है, तू वैसी ही हो जायगी। होनी भी चाहिये, तेरी माता ज्ञानवती भी तो ऐसी ही है, जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। यह अटल नियम है। सच कहा है कि—

कु०—संयम जिसका सिद्ध है, सो ही योगी सिद्ध।
नर होवे या नारि हो, बाल युवा या वृद्ध॥
बाल युवा या वृद्ध, पूज्य सबका है होता।
जागत करता चैन, नींद सुखकी है सोता॥
जयदेवी कर योग, योग लक्षण है शम दम।
भजन वही कहलाय, वही कहलाता संयम॥

सङ्केत

ऐ रे नर पण्डित गुरु ज्ञानी बनो बैठो तैं,
है भूल्यो खानपानमें बसीठीमें लुभायो ।
छलिया छलीन बनि बनिया बखील सील
तजि या कुलीन चाल सुधि लौं बिसरायो ॥
ऐसो चोम तेरो सो छिनेकमें मिलैगो धूरि
जो पै सु राम-नाम चित लायकै न ध्यायो ।
कर ले कमाई जर भर ले तिजोरिनमें,
डर ले रे जु नेक देख काल-चक्र धायो ॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी "प्रेम"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराजका वचनामृत

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

१०२–जीवमें प्रभु और माया दोनोंका सम्बन्ध पाया जाता है। परमेश्वर-सनेहसे वह प्रभुरूप होता है। माया-चिन्तनसे अविद्यामय होता है। ताते सत्-चिन्तन करे, असत् भुलावे। इसमें मोद है।

१०३–सब जीवोंको सुखकी वाञ्छा है। दुःखकी इच्छा कोई नहीं करते। यह बड़ा रोग है। सो इस रोगकी औषधी सुख दुःखमें सम मति करना, दुःखकी चाह करना और सुखकी इच्छा न करना है—यह मोक्षका मार्ग है। प्रभुने जो दुःख उत्पन्न किया है सो इसी राहसे जीवोंको उपदेश करता है। जो यह दुःख न होता तो कोई परमेश्वरका भजन-स्मरण तथा मुक्तिकी इच्छा न करता। ताते दुःख-की इच्छा करो। सुख संसारी भुलावो, परमानन्द पावो। जैसे कोई ऊँचे चढ़िके बुलावे, तैसे ही प्रभु दुःख द्वारा जीवोंको बुलावता है कि हे जीवो! मेरे तरफ आवो, सुख पावो, बिना रोनाके शब्द बड़ा हो रहा है। परन्तु उस सब्द-सुहावनेको सन्त सुनते हैं। अपर नहीं सुनता। अरु मनमुख दुःख पावते हैं। दुःखका प्रयोजन नहीं जानते हैं।

१०४–एक ब्राह्मण निर्धनी धनार्थ दुःखी होयके नाना उद्यम किया, बित्त प्राप्त न भया, तब वह अत्यन्त दुःख पाय उद्यानमें जायके लकड़ी बटोर आग लगाय जलनेकी इच्छा करी, तब दीनबन्धु भगवान्ने उसकी ऐसी अवस्था देखिके एक गीदड़के भीतर उपदेश करनेकी शक्ति दई। जिस्में उसका दुर्लभ मनुष्य तनु नाश न हो जाय। श्रीप्रभु प्रेरित गीदड़ उस जगह आयके उस ब्राह्मणसे कहा कि हे ब्राह्मण देवता, तू यह क्या मूर्खता करता है, ऐसा न कर। यह सुनिके उस ब्राह्मणने उससे अपना दुःख कहा। तब गीदड़ने उपदेश आरम्भ किया कि 'हे अज्ञानी मनुष्य! तू यह जानता है कि मैं मर जानेसे सुखी हो जाऊँगा, सो यह तेरा संकल्प झूठा है। सुन, मरनेके पीछे यमदूत लोग महाकष्ट देइके नरक भोगावते हैं। नाना कुयोनियोंका दुःख भोगावते हैं। अभी तो तू मनुष्य है। करन, मति सहित समर्थ है। प्रभु समेत अपने रूपका ज्ञान है। शुभाशुभ जानता है। प्रारब्ध अनुसार भोजन भी पावता है। सीतल जल पान करता है। सपरिवार सहरमें रहता है। बसनादि सुख लेता है। मरिके दुःखी होयगा। मैं भी तेरे समान मानुष था। मायाके तलासमें फिरता था। प्रभु-भजनसे विमुख था, तिसका यह फल पाया है। नाना योनि भोगि-के गीदड़ भया हौं। इस शरीरमें सबसे अधिक कष्ट पावता हौं। प्रथम तौ हाथके बिना मच्छर डंस जुवाँदिक जंतु दुखदायक उड़ाय नहीं सक्ता। वह अति दुःख देते हैं। फिर भोजन बिना हाथके मट्टी मिला हुआ खाता हूँ। जन्मसे लेकर अबतक शरीरका मल हाथ बिना धारण किया हौं। और दुःख सुनो, भोजन हमारा मांस और अन्न भी है। सो जब मृतक भक्षनार्थ ग्रामके निकट जाता हौं। तब स्वान लोग हमको काटने दौड़ते हैं। उनके मारे खाने नहीं पावता। और अनाज तो अति दुर्लभ है। ताते मल खायके जीवता हौं। फिर बरसातमें गड़हेके मलीन पानी पीता हौं। ग्रीषममें जंगलकी नदी सेवता हौं। नगरमें डरके मारे नहीं जाता। सीतकालमें घर बिना दुःख सहता हौं। किससे सीत उतारौं। शिकारी मनुष्य या पशू व्याघ्रादिका डर लगा रहता है। और दुःख सुनो। जब परिवार क्षुधा करिके दीन होते हैं तब हमारा मन बहुत दुखित होता है, अपनी निर्बलता बिचारि के, ताते तन मन दोनों दुखी रहता है। ऐसे ही बहुत दुख है, कहाँतक कथन करूँ। तुमने दुर्लभ मानुष तनु पाया है। बल बुद्धि इंद्री सब समर्थ पाया है, सतसंग द्वारा प्रभुको प्राप्त भया चाहे तो हो सक्ता है। नहीं तो शरीर त्यागके कुयोनि हमारे सम पावेगा।मनुष्य-तनकी प्रसन्नता नष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जायगी। जो मायाकी प्रसन्नता तेरे पास नहीं है तो मानुष तनकी तो प्रसन्नता है ? तिसको मत नसावो। वानरवाला काम मत करो। जब वानरको खाज होती है तब खुजलायके घाव करि डालता है और उसीमें मरि जाता है! तैसेही मायाकी प्रीतिसे तू अपना मानुषी-जन्म नष्ट किया चाहता है, सो ऐसे सुन्दर दुर्लभ तनको मत नशावो। सावधान हो जावो। सब सुखका दाता यह तन है। ऐसा तन पाय श्रीरामभक्ति करिके परमपद पाइ जावो। बारम्बार प्रभुका उपकार मानो, जिसने यह शरीर दिया है। माया जो मिलती तो प्रभुसे विमुख हो जाता, व्यर्थ धन्धेमें फँसिके। अब तू सर्व पापोंसे तथा बन्धनोंसे मुक्त है। ताते प्रभुकी बड़ी कृपा मानकर दिन-रात प्रभुका नाम स्मरण कर लेवो। नीच-संकल्प अपने मनसे दूरि करि डारो। इसीमें भलाई है। इतनी बातें सुनिके ब्राह्मण बोला 'हे श्रीगीदड़जी, आप मेरे परम गुरू हैं। आपके उपदेश सुनि मेरे मनसे सब चाह दूरि हो गई। अब मैं जीवनेको श्रेष्ठ मानता हौं और निरधनताई ही श्रेष्ठ थी जिस करि आपका दर्शन पाया। मैं कृतार्थ भया। धन्यसे धन्य भया! आप प्रभुरूप ही हौ क्योंकि आपके शरीर योग्य यह बातें नहीं हैं— दूसरा ऐसा उपदेश संसारमें कौन कर सक्ता है ? यह रहस्य विचार करना।

१०५–किसी सन्तने मायाको नारीरूपसे देखा तब पूछा कि तेरे केस आगे पीछेके भूरे काहे हैं ? तब माया बोली कि सन्तोंके आगे माथा टेकते टेकते मेरे आगेके केस भूरे भये हैं। हम शिर पटकते हैं कि हमसे कुछ लेलो, वह लेते नहीं। अपने प्रभुके नाम-रसमें मगन मुदित हैं और संसारी मनुष्य मुझे चाहते हैं। मैं भागती हौं। पीछेके वह केश खींचते हैं। ताते पीछेके वाल भूरे भये हैं। सन्तोंका रहस्य अगम है।

१०६–बीजसे वृक्ष तबहीं होता है। जब भली भूमिमें बोइये, जलसे सींचिये, बाड़ी करिये, पशु ते रक्षा करिये। धूप सम्बन्धसे हरा होता है। जब वृक्ष पुष्ट भया, तब हाथीके बाँधेसे भी कुछ खटका नहीं। ऐसेही जीवरूप बीज है, परमेश्वररूप धरती है। सन्तोंकी शिक्षा बाड़ी है। माया पशु है। वेद-वाक्य जल है। प्रभु भय धूप है। यह सब सम्बन्ध मिले तब व्यष्टीसे समष्टी होय। तब माया दुःख-देनी सुख-प्रदा होती है।

१०७–किसी साधुसे साधुने पूछा कि 'हे दयालजी! ज्ञान और ध्यानका स्वरूप क्या है सो कहिये ? साधुने कहा ज्ञानका स्वरूप यही है कि जितना प्रभुके स्वरूपका बोध होय तिसको बार बार बढ़ावे और ध्यानका स्वरूप यह है कि जैसे परमेश्वर इसका स्मरण सदा राखता है तैसे इसको भी उचित है कि सदैव परमात्माका स्मरण करै।

१०८–कोई सन्तसे साधुने भजनका स्वरूप पूछा, तब सन्तने कहा कि सम्पूर्ण शुभकर्म ही भजन है। जप, तप, तीर्थ, नेम, जागरन, इन्द्रीदमन, स्वल्पभोजनादि सबही भजन है। जिससे प्रभु रीझैं सो नामस्मरण है। अशुभ कर्म त्यागना भी भजन है।

१०९–संसारमें माया चाहनेहारे सब दुखी हैं। एक अचाही ही सुखी हैं। मायाके रक्षामें जन्म बिगाड़ते हैं माया रहती नहीं, तब रोवते हैं, हाय! हमने मायाके राखनेकी रीति नहीं जानी ताते चली गई। महामूर्ख हैं। अपनी चतुराईके मारे प्रभु-इच्छा और प्रारब्ध दोनों भुलाय दिये हैं। हवाई आकाशमें तभीतक ठहरती है जबतक उसमें बारूद होता है। बिना बारूदके गिर पड़ती है। ऐसे ही प्रारब्ध बिना कोई पदार्थ नहीं रह जाता। ताते चिन्ता करना वृथा है।

११०–जैसे रात्रीको दिन नष्ट करि डारता है और दृश्य पदार्थको काल नष्ट करि डारता है तैसे ही सुख दुःखका कारण प्रारब्ध है।

१११–जिनको संत समागम रीति समेत भया है। तिनमें पाँच लक्षण अवश्य होते हैं। प्रथम तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके सु-मनमें श्रीगुरु शब्दका प्रकाश होता है। दूसरे अपने जोत-हारके स्वरूपको वह यथार्थ जानते हैं। तीसरे मन मायाको अपना अति वैरी जानता है। चौथे स्वाँस स्वाँस प्रति नाम "श्रीसियाराम" स्मरण करते हैं। पाँचवाँ मनुष्य जन्मका लाभ सपरिवार सफल करि लेते हैं।

११२-जो कुछ सुकृत करिये तिसका फल शीघ्र न माँगिये क्योंकि इसमें दो अवगुण दीखता है। एक तो अधीरता, दूसरा कर्म करनेका अहंकार होता है। यह दोनों बातें प्रभुको प्रिय नहीं लगती। ताते त्यागना उचित है। आप प्रभु भी धीरसम्पन्न हैं। ताते सबुर प्रिय लागता है।

११३-जीव सब नाना दुःखों करिके दुःखी हैं। कोई तो मूर्खता करिके दुखी है। जो काम गुरु करिके सिद्ध होना है सो आप किया चाहता है, ताते दुःखी है। कोई विष बोयके अमृत फल चाहता है ताते दुखी है। कोई जीभ करिके दुखी है। कोई लोभ करिके, कोई काम-क्रोधादिके बश होयके दुखी हैं इसीप्रकार सब जीव दुखी हैं। सुखी सन्त हैं, जिन्होंने श्री सद्गुरुद्वारा सत्-असत्का ज्ञान प्राप्त-कर रात्री दिन श्रीसियाराम नाम स्मरणकर संसारके मोह-ममतादिकका त्यागन कर निर्भय संसारमें भ्रमण करते जीवोंका कल्याण करनेमें तत्पर हैं।

११४-जो पुरुष पुण्य-पापसे रहित भये हैं सो प्रभुके माशूक हैं। आशिक अपना मनोरथ त्याग करके माशूकका मनोरथ पूरा करता है। ऐसे ही प्रभु संतनका मनोरथ पूरण करते हैं। संतनको कुछ करना रहि नहीं गया। उन्होंने अपना सब कुछ कर लिया। इसपर एक वार्ता है। एक प्रभु-प्रिय सन्त एक वृक्षके नीचे सोया पड़ा था। उनको कोई और सन्तने जगायके कहा 'हे सन्तजी! तुमपर प्रभुकी प्रीति है कि तेरी प्रीति प्रभुपर है?' तब सन्तने कहा कि 'महाराजकी प्रीति मेरेपर है। मेरी प्रीति प्रभुपर नहीं!' यह सुनकर उन सन्तने साष्टांग प्रणाम किया और अपना अपराध क्षमा कराया और कहा कि 'सन्तजी! आप सोइये चाहे जागिये कृतार्थ हैं।'

११५-प्रभुके सहायसे संसार छूटता है। प्रभुका भाव सदा सहायक है। जैसे जरासन्धादिक सेना-सहित रुक्मिणीजीको शिशुपालकी फौजने सब तरफ सहरके घेर लिया, असित चतुरंगिनी सेना समेत, विवाह होनेको सिर्फ बाँकी था। इसी बीचमें श्रीकृष्णचन्द्रजीने प्रेम भावके वश द्वारकासे शीघ्र श्रीरुक्मिणीके सहरमें पहुँचि गये। राजा सब शस्त्र लिये चारों ओर घेरे खड़े थे जिसमें श्रीकृष्णजी कन्याको न ले जाने पावें। उसी समय सबके देखते ही रुक्मिणीजीको श्रीकृष्णजी ले गये। किसीकी कुछ न चली। ऐसे ही संसारका क्लेशरूप जनेत है। मोह शिशुपाल है। जीव रुक्मिणी है। परमात्माके भाव-रूप श्रीकृष्ण, मोहरूप शिशुपालसे छुड़ायके, जीव-रूप रुक्मिणीको द्वारकारूप परधामको प्राप्त कर देता है जहाँ नित्य बिहार है।

११६-कोई सन्त प्रभुसे विनय करता था कि हे पूरण प्रभु! तेरी अनन्त शक्ति सब सृष्टिमें पूरण हो रही है कोई जीव जन्तु उससे बाहर नहीं। सब समय सर्वमें तेरी शक्ति छाय रही है। सब पदार्थ सुन्दर सुखदायक केवल तेरी शक्तिसे है। आपकी शक्ति पायके वृक्ष काष्टमय तिसमें फल हो गये हैं। तृण सब शक्ति-सम्बन्धसे अन्न हो गये हैं। लोहूमें शक्ति बरताई है तब लोहू दूध होगया है। जब बूँद मलीनपर शक्ति बरतती है तब सुन्दर चमत्कार मनुष्य तनु पाया है। जब आपकी कृपाशक्ति जीवपर होती है तब ब्रह्मरूप होय जाता है। ऐसी प्रबल शक्तिकी आशा सब निरन्तर करते हैं। मेरेको और आश्रय नहीं है। ताते हे प्रभो! मेरी रक्षा शीघ्र कीजिये। संसार ताप करके बहुत तपित हौं। शीघ्र शीतल कीजिये। (क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णाश्रम-धर्म

चारों वर्णोंके धर्म

श्रीभगवान् कृष्ण भक्तवर उद्धवजीसे कहते हैं—

शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य— ये ब्राह्मण-वर्णके स्वभाव हैं। तेज, बल, धैर्य, शूरवीरता, सहनशीलता, उदारता, पुरुषार्थ, स्थिरता, ब्रह्मण्यता (ब्राह्मण-भक्ति) और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय-वर्णके स्वभाव हैं। आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, विप्र परायणता और लगातार धन-सञ्चय करते रहना— ये वैश्य-वर्णके स्वभाव हैं। ब्राह्मण, गौ और देवताओं की निष्कपट भावसे सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहना—ये शूद्र-वर्णके स्वभाव हैं। × × × × अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम, क्रोध और लोभसे रहित होना और प्राणियोंकी प्रिय हितकारिणी चेष्टामें तत्पर रहना— ये सभी वर्णोंके धर्म हैं।

ब्रह्मचारीके धर्म

अब चारों आश्रमोंमें पहले ब्रह्मचारीके धर्म बतलाते हैं—

जाति-कर्म आदि संस्कारोंके क्रमसे उपनयन संस्कारद्वारा दूसरा जन्म पाकर द्विज-कुमार (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य-वर्णका बालक) इन्द्रिय-दमन-पूर्वक गुरु-गृहमें वास करता हुआ गुरुद्वारा बुलाये जानेपर वेदका अध्ययन करे। ऐसे ब्रह्मचारीको चाहिये कि मूँजकी मेखला, मृगचर्म, दण्ड, रुद्राक्ष, ब्रह्मसूत्र, कमण्डलु और आप-से-आप बढ़ी हुई जटाओंको धारण करे, वस्त्रोंको (शौकीनीके लिये) न धुलवावे, रंगीन आसन-पर न बैठे तथा कुशाओंको धारण करे। स्नान, भोजन, होम, जपके समय मौन रहे; नख, कक्ष तथा उपस्थके बालोंको भी न कटवाव। पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए स्वयं कभी वीर्यपात न करे और यदि असावधानता-वश स्वप्नादिमें कभी हो जाय तो जलमें स्नान करके प्राणायाम-पूर्वक गायत्रीका जप करे। प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय मौनावलम्बन-पूर्वक गायत्रीका जप करते हुए पवित्रता और एकाग्रतायुक्त होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओंकी उपासना और सन्ध्योपासन करे। आचार्यको साक्षात् मेरा ही स्वरूप समझे, उसका कभी भी निरादर न करे और न कभी साधारण मनुष्य समझकर उसकी किसी बातकी उपेक्षा या अवहेलना ही करे, क्योंकि गुरु सर्व-देव-मय होता है। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ भिक्षा मिले अथवा और भी जो कुछ प्राप्त हो, गुरुके आगे रख दे और फिर उनकी आज्ञानुसार उसमेंसे लेकर संयमपूर्वक उपभोग करे। आचार्यके जाने, लेटने, बैठने और ठहरनेमें सदा अति नम्रतासे हाथ जोड़े हुए साथ ही रहे और अति नीचके समान सदा उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगा रहे। इसप्रकार सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर जबतक विद्या समाप्त न हो जाय, अखण्डित ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करता हुआ वह गुरुकुलमें रहे। यदि स्वर्गादि लोक अथवा जहाँ मूर्तिमान् वेद रहते हैं, उस ब्रह्म-लोकको जानेकी इच्छा हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य लेकर यावज्जीवन वेदाध्ययन करनेके लिये गुरुको अपना शरीर समर्पण कर दे। उस ब्रह्मवर्चस्वी निष्पाप बाल-ब्रह्मचारीको चाहिये कि अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियोंमें अभिन्न भावसे मेरी उपासना करे। गृहस्थाश्रममें न जानेवाला ब्रह्मचारी स्त्रियोंका दर्शन, स्पर्श, उनसे वार्तालाप तथा हँसी-मसखरी आदि कभी न करे तथा न किसी भी नर-मादा प्राणियोंको विषय-रत होते दूरसे भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखे। हे यदुकुल-नन्दन ! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवन, जप, अस्पृश्य, अभक्ष्य और अवाच्यका त्याग, समस्त प्राणियोंमें मुझे देखना तथा मन, वाणी और शरीर-संयम—ये धर्म सभी आश्रमोंके हैं। इसप्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-का पालन करनेवाला अग्निके समान तेजस्वी होता है; तीव्र तपके द्वारा उसकी कर्म-वासना दग्ध हो जानेके कारण, चित्त निर्मल हो जानेसे वह मेरा भक्त हो जाता है और अन्तमें मेरे परम पदको प्राप्त होता है। यदि अपने इच्छित शास्त्रोंका अध्ययन समाप्त कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छा हो तो गुरुको दक्षिणा देकर उनकी अनुमतिसे स्नान आदि करे अर्थात् समावर्तन संस्कार करके ब्रह्मचर्य-आश्रमको छोड़ दे। श्रेष्ठ ब्रह्मचारीको चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके उपरान्त गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे अथवा यदि विरक्त हो तो संन्यास लेवे। इसप्रकार एक आश्रमको छोड़कर अन्य आश्रमका अवश्य ग्रहण करे; मेरा भक्त होकर अन्यथा आचरण कभी न करे अर्थात् निराश्रमी रहकर स्वच्छन्द व्यवहारमें प्रवृत्त न हो।

गृहस्थके धर्म

जो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहे वह अपने अनुरूप निष्कलङ्क कुलकी तथा अवस्थामें अपनेसे छोटी, अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह करे अथवा अपनेसे नीचे-नीचेके वर्णोंमेंसे भी विवाह कर सकता है।

यज्ञ करना, पढ़ना और दान देना—ये धर्म तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनोंके लिये विहित हैं किन्तु दान लेना, पढ़ाना और यज्ञ कराना—ये केवल ब्राह्मण ही करे। किन्तु प्रतिग्रह (दान लेना) तप, तेज और यशका विघातक है इसलिये ब्राह्मण पढ़ाने और यज्ञ करानेसे ही जीविका निर्वाह करे अथवा यदि इनमें भी (परावलम्बन और दीनता आदि) दोष दिखलायी दे तो केवल शिलोञ्छ-वृत्ति* से ही रहे। यह अति दुर्लभ ब्राह्मण-शरीर क्षुद्र विषय-भोग आदिके लिये नहीं है। इसके द्वारा तो यावज्जीवन कठिन तपस्या और अन्तमें अनन्त आनन्दरूप मोक्षका सम्पादन होना चाहिये। इसप्रकार सन्तोष पूर्वक शिलोञ्छ-वृत्तिसे रहकर अपने अति निर्मल महान् धर्मका निष्कामतासे आचरण करता हुआ जो ब्राह्मणश्रेष्ठ सर्वतोभावसे मुझे आत्म-समर्पण करके अनासक्तभावसे अपने घरहीमें रहता है वह अन्तमें परमशान्तिरूप मोक्ष पदको प्राप्त करता है। जो कोई मेरे आपत्तिग्रस्त ब्राह्मण भक्तका कष्टसे उद्धार करते हैं उनको मैं भी समुद्रमें डूबते हुएको नौकाके समान शीघ्र ही सम्पूर्ण विपत्तियोंसे बचा लेता हूँ।

धीर और विचारवान् राजाको चाहिये कि पिताके समान सम्पूर्ण प्रजाकी और स्वयं अपनी भी इसीप्रकार आपत्तिसे रक्षा करे जिसप्रकार कि यूथपति गजराज अपने यूथके अन्य हाथियों और स्वयं अपने आपको भी (अपनी ही बुद्धि और बल-विक्रमसे) विपत्तियोंसे बचाता है। ऐसा धर्मपरायण नरपति इसलोकमें सम्पूर्ण दोषोंसे मुक्त होकर अन्त समयमें सूर्य-सदृश प्रकाशमान विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको जाता है और वहाँ इन्द्रके साथ सुख भोग करता है।

जिस ब्राह्मणको अधिक अर्थकष्ट हो वह या तो वणिक्वृत्तिके द्वारा व्यापार आदिसे उसको पार करे अथवा खड्ग धारणपूर्वक क्षत्रिय-वृत्तिका अवलम्बन करे; लेकिन किसी भी दशामें नीच-सेवा-रूप श्ववृत्तिका आश्रय न ले। क्षत्रियको यदि दारिद्र्यसे कष्ट हो तो या तो वैश्यवृत्ति या मृगया (शिकार) और या ब्राह्मणवृत्ति (पढ़ानेसे) कालयापन करे किन्तु नीच-सेवाका आश्रय कभी न ले। इसीप्रकार आपत्तिग्रस्त वैश्य शूद्रवृत्तिरूप सेवाका और शूद्र प्रतिलोम (उच्च वर्णकी स्त्रीमें नीचवर्णके पुरुषसे उत्पन्न) जातिके कारु (धुना)

* खेतोंसे किसानके अन्न ले जानेपर बिखरे हुए दानोंको बटोर लाना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिकी चटाई आदि बुननेकी वृत्तिका आश्रय ले। (ये सब विधान आपत्कालके लिये ही है।) आपत्तिसे मुक्त होनेपर लोभपूर्वक नीचवृत्तिका अवलम्बन कोई न करे।

गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि वेदाध्ययन, स्वधा (पितृ-यज्ञ), स्वाहा (देव-यज्ञ); बलिवैश्वदेव तथा अन्न-दानादिके द्वारा मेरे ही रूप देव, ऋषि, पितर और अन्य समस्त प्राणियोंकी यथाशक्ति पूजा करता रहे। स्वयं प्राप्त तथा शुद्धवृत्तिके द्वारा उपार्जित धनसे, अपने द्वारा जिनका भरण-पोषण होता हो उन लोगोंको कष्ट न पहुँचाकर न्यायपूर्वक यज्ञादि शुभ कर्म करता रहे। अपने कुटुम्बमें ही आसक्त न हो जाय, बड़ा कुटुम्बी होकर प्रमादवश भगवत्-भजनको न भुलावे। बुद्धिमान् विवेकीको उचित है कि प्रत्यक्ष प्रपञ्चके समान स्वर्गादिको भी नाशवान् जाने। यह पुत्र-स्त्री-कुटुम्ब आदिका संयोग मार्गमें चलनेवाले पथिकोंके संयोगके समान आगमापायी है। निद्रावश होनेपर स्वप्नके समान जन्म-जन्मान्तरमें ऐसे नाना संयोग-वियोग होते रहते हैं। ऐसा विचार करके मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि घरमें अतिथिके समान ममता और अहङ्कारसे रहित होकर रहे, आसक्तिवश उसमें लिप्त न हो जाय। गृहस्थोचित कर्मोंके द्वारा मेरा यजन करता हुआ मेरी भक्तिसे युक्त होकर चाहे घरमें रहे, चाहे वानप्रस्थ होकर वनमें बसे अथवा यदि पुत्रवान् हो तो (स्त्रीके पालन-पोषणका भार पुत्रको सौंपकर) संन्यास ले लेवे। किन्तु जो गृहमें आसक्त है, पुत्रैषणा और वित्तैषणासे व्याकुल है, स्त्री-लम्पट, लोभी और मन्दमति है वह मूढ़ 'मैं हूँ-मेरा है' इस मोह-बन्धनमें बँध जाता है। वह सोचता है—'अहो! मेरे माता-पिता बूढ़े हैं, स्त्री बाला (छोटी अवस्थाकी) है, बाल-बच्चे हैं; मेरे बिना ये अति दीन, अनाथ और दुखी होकर कैसे जीवेंगे?' इसप्रकार गृहासक्तिसे विक्षिप्त-चित्त हुआ यह मूढ़-बुद्धि विषय-भोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता और इसी चिन्तामें पड़ा रहकर एक दिन मरकर घोर अन्धकारमें पड़ता है।

वानप्रस्थके धर्म

जो वानप्रस्थ होना चाहे वह अपनी स्त्रीको पुत्रोंके पास छोड़कर अथवा अपने ही साथ रखकर शान्त चित्तसे अपनी आयुके तीसरे भागको वनमें रहकर ही बितावे। वह वनके शुद्ध कन्द, मूल और फलोंसे ही शरीर निर्वाह करे, वस्त्रके स्थानपर वल्कल धारण करे अथवा तृण, पर्ण और मृग-चर्मादिसे काम निकाल ले। केश, रोम, नख, श्मश्रु (मूछ-दाढ़ी) और शरीरके मैल* आदिको बढ़ने दे, दन्त धावन न करे, जलमें घुसकर नित्य त्रिकाल स्नान करे और पृथ्वीपर सोवे। ग्रीष्ममें पञ्चाग्नि तपे, वर्षामें खुले मैदानमें रहकर अभ्रावकाश-व्रतका पालन करे तथा शरद्-ऋतुमें कण्ठ-पर्यन्त जलमें डूबा रहे—इसप्रकार घोर तपस्या करे। अग्निसे पके हुए अन्नादि अथवा काल पाकर स्वयं पके हुए (फल आदि) को ओखलीमें अथवा पत्थरसे कूटकर या दाँतोंसे पीसकर ही खावे। अपने उदर-पोषणके लिये कन्द-मूलादि स्वयं ही संग्रह करके ले आवे; देश, काल और बलको भलीभाँति जाननेवाला मुनि दूसरोंके लाये हुए पदार्थ ग्रहण न करे (अर्थात् मुनि इस बातको जानकर कि अमुक पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, कितनी देर-तकका खानेसे हानिकारक न होगा और कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं—स्वयं ही कन्द-मूल-फल आदिका सञ्चय करे; देश-कालादिसे अनभिज्ञ अन्य जनोंके लाये पदार्थोंके सेवनसे व्याधि आदिके कारण तपस्यामें विघ्न होनेकी आशंका है)।

* मैल बढ़ने देनेसे तात्पर्य यही है कि उबटन तैल आदि न लगावे, साधारण मल तो नित्य त्रिकाल स्नान करनेसे छूटता ही रहेगा। विशेष देहाभ्याससे शरीर मले भी नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समयानुसार प्राप्त हुए वन्य कन्द-मूल आदिसे ही देवताओं और पितरोंके लिये चरु और पुरोडाश निकाले। वानप्रस्थ होकर वेद-विहित पशुओंद्वारा मेरा यजन न करे। हाँ, वेद-वेत्ताओंके आदेशानुसार अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास और चातुर्मास्यादिको पूर्ववत् करता रहे। इसप्रकार घोर तपस्याके कारण (मांस सूख जानेसे) जिसकी नसें दीखने लगी हैं, वह मुनि मुझ तपोमयकी आराधना करके ऋषि-लोकादिमें जाकर फिर वहाँसे कालान्तरमें मुझको प्राप्त कर लेता है। जो कोई इस अति कष्ट-साध्य मोक्ष-फलदायक तपको क्षुद्र फलों (स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक आदि) की कामनासे करता है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ? जब यह नियम-पालनमें असमर्थ हो और बुढ़ापेसे शरीर काँपने लगे तो अपने शरीरमें अग्नियोंको आरोपित करके, मेरेमें चित्त लगाकर अर्थात् मेरा स्मरण करता हुआ उस (अपने शरीरसे ही प्रगट हुई) अग्निमें शरीरको भस्म कर दे, यदि पुण्य-कर्म-विपाकसे किसीको अति दुःखमय होनेसे नरक-तुल्य इन लोकोंमें पूर्ण वैराग्य हो जाय तो आह्वनीयादि अग्नियोंको त्यागकर संन्यास ग्रहण कर ले। ऐसे विरक्त वानप्रस्थको चाहिये कि वेद-विधिके अनुसार (अष्टका श्राद्ध और प्राजापात्य-यज्ञसे) यजन करके अपना सर्वस्व ऋत्विज्को दे दे और अग्नियोंको अपने प्राणमें लय करके निरपेक्ष होकर स्वच्छन्द विचरे। इस विचारसे कि 'यह हमारे लोकको लाँघकर परम धामको जायगा' स्त्री आदिके रूपसे देवगण ब्राह्मणके संन्यास लेते समय विघ्न किया करते हैं (अतः उस समय सावधान रहना चाहिये)।

संन्यासीके धर्म

संन्यासीको यदि वस्त्र धारण करनेकी आवश्यकता हो तो एक कौपीन और एक ऊपरसे ओढ़नेको—बस, इतना ही वस्त्र रक्खे और आपत्-कालको छोड़कर दण्ड और कमण्डलुके अतिरिक्त और कोई वस्तु पास न रक्खे। पहले देखकर पैर रक्खे, वस्त्रसे छानकर जल पीवे, सत्यभाषण करे और मनमें भलीभाँति विचारकर कोई काम करे। मौनरूप वाणीका दण्ड, निष्क्रियतारूप शरीरका दण्ड और प्राणायामरूप मनका दण्ड—ये तीनों दण्ड जिसके पास नहीं हैं वह केवल बाँसके दण्ड ले लेनेमात्रसे (त्रिदण्डी) संन्यासी थोड़े ही हो जायगा ? जातिच्युत अथवा गोघातक आदि पतित लोगोंको छोड़कर चारों वर्णोंकी भिक्षा करे। अनिश्चित सात घरोंमें माँगे, उनसे जो कुछ मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहे। बस्तीके बाहर जलाशयपर जाकर जल छिड़ककर स्थल-शुद्धि करे और समयपर यदि कोई और भी आ जाय तो उसको भी बाँटकर बचे हुए सम्पूर्ण अन्न-को चुपचाप खा ले (आगेके लिये बचाकर न रक्खे)। जितेन्द्रिय, अनासक्त, आत्माराम, आत्मप्रेमी, आत्मनिष्ठ और समदर्शी होकर अकेला ही पृथ्वी-तलपर विचरे। मुनिको चाहिये कि निर्भय और निर्जन देशमें रहे और मेरी भक्तिसे निर्मल-चित्त होकर अपने आत्माका मेरे साथ अभेद-पूर्वक चिन्तन करे। ज्ञाननिष्ठ होकर अपने आत्माके बन्धन और मोक्षका इसप्रकार विचार करे कि इन्द्रिय-चाञ्चल्य ही बन्धन है तथा उनका संयम ही मोक्ष है। इसलिये मुनिको चाहिये कि छओं इन्द्रियों (मन एवं पञ्च ज्ञानेन्द्रियों) को जीतकर समस्त क्षुद्र कामनाओंका परित्याग करके अन्तःकरणमें परमानन्दका अनुभव करके निरन्तर मेरी ही भावना करता हुआ स्वच्छन्द विचरे। केवल भिक्षाके लिये ही पुर, ग्राम, गोष्ठ और यात्रियोंमें जाता हुआ पुण्य-देश (तीर्थ-स्थानादि) नदी, पर्वत, वन और आश्रमादियुक्त भूखण्डमें विचरता रहे। भिक्षा भी अधिकतर वानप्रस्थियोंके यहाँसे ही ले, क्योंकि शिलोञ्छ-वृत्तिसे प्राप्त हुए अन्नके खानेसे बहुत शीघ्र ही शुद्ध-चित्त और निर्मोह हो जानेसे (जीवन्मुक्तिकी) सिद्धि हो जाती है। इस नाश-वान् दृश्य प्रपञ्चको कभी वास्तविक न समझे;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें अनासक्त रहकर लौकिक और पारलौकिक समस्त कामनाओं (काम्य-कर्मों) से उपराम हो जाय। मन, वाणी और प्राणका संघातरूप यह सम्पूर्ण जगत् मायामय ही है—ऐसे विचार द्वारा अन्तःकरणमें निश्चय करके स्व-स्वरूपमें स्थित हो जाय और फिर इसका स्मरण भी न करे।

जो ज्ञाननिष्ठ विरक्त हो अथवा मेरा अहैतुक (निष्काम) भक्त हो, वह आश्रमादिको उनके चिह्नों सहित छोड़कर वेद-शास्त्रके विधि-निषेधके बन्धनसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरे। वह अति बुद्धिमान् होकर भी बालकोंके समान क्रीड़ा करे, अति निपुण होकर भी जड़वत् रहे, विद्वान् होकर भी उन्मत्त (पागल) के समान बातचीत करे और सब प्रकार शास्त्र-विधिको जानकर भी पशु-वृत्तिसे रहे। उसे चाहिये कि वेद-विहित कर्मकाण्डादिमें प्रवृत्त न हो और उसके विरुद्ध होकर पाखण्ड अथवा स्वेच्छाचारमें भी न लग जाय तथा व्यर्थके वाद-विवादमें पड़कर कोई पक्ष न ले बैठे। वह धीर पुरुष अन्य लोगोंसे उद्विग्न न हो और न औरोंको ही अपनेसे उद्विग्न होने दे; निन्दा आदिको सहन करके कभी चित्तमें बुरा न माने और इस शरीरके लिये पशुओंके समान किसीसे वैर न करे। एक ही परमात्मा समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित है, जैसे कि एक ही चन्द्रमाके भिन्न-भिन्न जल-पात्रोंमें अनेक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं उसी प्रकार सभी प्राणियोंमें एक ही आत्मा है।

कभी समयपर भिक्षा न मिले तो दुःख न माने और मिल जाय तो प्रसन्न न हो, क्योंकि दोनों ही अवस्थाएँ दैवाधीन हैं। प्राण-रक्षा आवश्यक है इसलिये आहारमात्रके लिये चेष्टा भी करे क्योंकि प्राण रहेंगे तो तत्त्व-चिन्तन होगा और उसके द्वारा आत्म-स्वरूपको जान लेनेसे मोक्षकी प्राप्ति होगी। विरक्त मुनिको उचित है कि दैववशात् जैसा आहार मिल जाय, अच्छा हो या बुरा, उसीको खा ले; इसी प्रकार वस्त्र और बिछौना भी जैसा मिले वैसेहीसे काम चला ले। ज्ञाननिष्ठ परमहंस शौच, आचमन, स्नान तथा अन्य नियमोंको भी शास्त्र-विधिकी प्रेरणासे न करे बल्कि मुझ ईश्वरके समान केवल लीलापूर्वक करता रहे। उसके लिये यह विकल्प*रूप प्रपञ्च नहीं रहता, वह तो मेरे साक्षात्कारसे नष्ट हो चुका; प्रारब्धवश जबतक देह है तबतक उसकी प्रतीति होती है। उसके पतन होनेपर तो वह मुझमें ही मिल जाता है।

(अबतक सिद्ध ज्ञानीके धर्म कहे अब जिज्ञासुके कर्तव्य बताते हैं) जिस विचारवान्‌को इन अत्यन्त दुःखमय विषय-वासनाओंसे वैराग्य हो गया है और मेरे भागवत-धर्मोंसे जो अनभिज्ञ है, वह किन्हीं विरक्त मुनिवरको गुरु मानकर उनकी शरण जाय। उन गुरुदेवको मेरा ही रूप जानकर वह अति आदरपूर्वक भक्ति और श्रद्धासे तबतक उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगा रहे जबतक कि उसको ब्रह्मज्ञान न हो जाय, तथा उनकी कभी किसीसे निन्दा न करे। जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छः शत्रुओंको नहीं जीता, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े अति प्रचण्ड हो रहे हैं, तथा जो ज्ञान और वैराग्यसे शून्य है, तथापि दण्ड-कमण्डलुसे पेट पालता है, वह यतिधर्मका घातक है और अपनी इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको, अपनेको और अपने अन्तःकरणमें स्थित मुझको ठगता है; वासनाके वशीभूत हुआ वह इहलोक और परलोक दोनों ओरसे मारा जाता है।

* भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें विकल्पका यह लक्षण किया है—'शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् जिसमें केवल शब्द-ज्ञान ही हो, शब्दकी अर्थरूप वस्तुका सर्वथा अभाव हो, वह विकल्प है। यह संसार भी जैसा कि श्रुति भी कहती है 'वाचारम्भणमात्र' अर्थात् शब्दजालरूप ही है, वस्तुतः कुछ नहीं है; इसलिये इसे भी विकल्प कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबके धर्म

शान्ति और अहिंसा यति (संन्यासी) के मुख्य धर्म हैं, तप और ईश्वर-चिन्तन वानप्रस्थके धर्म हैं, प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ करना गृहस्थके मुख्य धर्म हैं तथा गुरु-सेवा ही ब्रह्मचारीका परम धर्म है । ऋतुगामी गृहस्थके लिये भी ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष तथा भूत-दया—ये आवश्यक धर्म हैं और मेरी उपासना करना तो मनुष्यमात्रका परम धर्म है । इसप्रकार स्वधर्म-पालनके द्वारा जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी भावना रखता हुआ अनन्यभावसे मेरा भजन करता है वह शीघ्र ही मेरी विशुद्ध भक्ति पाता है । हे उद्धव! मेरी अनपायिनी (जिसका कभी ह्रास नहीं होता, ऐसी) भक्तिके द्वारा वह सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी और सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके आदि कारण मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है । इसप्रकार स्वधर्म-पालनसे जिसका अन्तःकरण निर्मल हो गया है और जो मेरी गतिको जान गया है, ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न हुआ वह शीघ्र ही मुझको प्राप्त कर लेता है । वर्णाश्रमाचारियोंके धर्म, आचार और लक्षण ये ही हैं; इन्हींका यदि मेरी भक्तिके सहित आचरण किया जाय तो ये परम निःश्रेयस् (मोक्ष) के कारण हो जाते हैं । हे साधो ! तुमने जो पूछा था कि स्वधर्मका पालन करता हुआ भक्त पुरुष किसप्रकार मुझको प्राप्त होता है सो यह सब मैंने तुमसे कह दिया । (श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध*)

दिव्य-झाँकी

(लेखक—पं० श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा 'शिशु')

रजत-कान्ति-सम जल-तरङ्गिणी, सुमन्द-मृदु-कल्लोलिनी, चन्द्रआभा नामक सरिताके कलित कूलपर, विविध वर्णमय सुरभित-सुमनोंसे सुशोभित, कुसुमाङ्कित लतिकाओंसे आछन्न सांसारिक कोलाहल-शून्य, एक सघन हरा-भरा निकुञ्ज है । उसमें ही मेरी विश्रामदात्री छोटी-सी पर्णकुटी है । निशाकालमें उसके ही शान्तिपूर्ण विमल अङ्कमें निर्भय होकर मैं शयन करता हूँ । प्रातःकालीन समीर अप्रतिहत गतिसे पर्णकुटीमें प्रवेश कर, मेरी प्रसुप्त हृत्कलिकाको प्रस्फुटित कर जाता है । नाना वर्णमयी छोटी-छोटी चिड़ियाँ यत्र-तत्र चहचहाने लगती हैं; मानो प्रकृति-सुन्दरी, अपने सुदक्ष कर-कमलोंसे वीणा-वादनकर मुझे प्रबुद्ध करती है । तब झङ्कृत-वीणाके स्वर इसप्रकार व्यक्त हो उठते हैं—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'

मैं उठ बैठता हूँ । जब निकुञ्जमें, गोल बाँधे हुए छोटी चिड़ियाँ एक स्थानसे दूसरे स्थानपर उड़कर जाती हैं, तो एकदम बहुरङ्गमयी पताका-सी फहरा जाती है । उनका शब्द निकुञ्जकी निस्तब्धतामें कुछ अन्तर नहीं डालता और न उनसे मेरे ही एकान्त-ध्यानमें कुछ बाधा आती है, क्योंकि मैंने उनको निजत्व प्रदान कर दिया है । वह इसप्रकारसे कि जब मैं विचार-लहरोंपर उड़ता हूँ, तो उनकी उड़ान भी मुझसे साम्य प्राप्त कर लेती है । मैं उनके स्वरमें स्वर मिलाकर चहचहाता हूँ । उनके साथ ही कल्पनाकाशमें उड़कर

* श्रीमद्भागवतका एकादशस्कन्ध मूल हिन्दी-भाषान्तरसहित गीताप्रेससे प्रकाशित होनेवाला है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊँची उचकान भरता हूँ। पृथ्वी घूमती है। दृश्य-पर दृश्य बदलने आरम्भ होते हैं। मैं विजन-कानन, दिव्य सुमनोंसे अलङ्कृत हरियालीसे भरी हुई पर्वत-श्रेणियाँ, गिरि-शिखरोंसे झरझराते हुए निर्झर, तर्रारे भरता हुआ नील-गगन-सम अपार जल-सागर, धाँय-धाँय करती हुई वेग-वाहिनी नदियाँ और अज्ञात-विचित्र-आलोक, सिनेमाके दृश्यकी तरह देखने लगता हूँ। तभी मलय-मारुत, लतिकाओं और द्रुम-दलोंके साथ अठखेलियाँ करता है, वे भी कृतज्ञतासे उसके ऊपर प्रसूनोंका वर्षण कर देते हैं। मैं भी प्रत्येक सुमनके साथ बिखर जाता हूँ।

भगवान् भास्करका सप्ताश्व दिव्य यान, उदय-गिरिकी ओर तेजीसे बढ़ता है। अखिल-प्रकृति, निज स्वामीका स्वागत करनेके लिये सजग हो उठती है। प्राणनाथ अंशुमाली भी अपने अमृतमय पावन करोंसे प्रियतमाका आलिङ्गन कर उसमें नव-जीवनका सञ्चार करते हैं। वह भी उल्लसित-हृदय-मृदुल-कलिकाओंके रूपमें, अपने लावण्य-पूर्ण मञ्जुल मुखको खोलकर मुस्करा देती है। मैं किसी अव्यक्त आनन्द-सिन्धुकी तरल तरङ्गोंपर उतराने लगता हूँ। तभी उन्मादिनी उषा, रक्त-वर्णा मदिराको, आकाशके प्यालेमें उँड़ेलकर, मतवाली हँसीसे हँसने लगती है। मैं उसे पीकर बेसुध हो जाता हूँ।

× × × ×

पिछले मधुमासकी माधुरी-पूर्णिमा थी। शान्त-हृदया शुभा-यामिनी, रति-विलासमें अर्द्ध-काल बिता चुकी थी। सुधांशुप्रिया रोहिणी, सरिताकी कल-कलित वीचियोंपर दिव्य नृत्य कर रही थी। प्रकृति-सुन्दरी, दुग्धफेन-सम धवल सारी धारण किये, चैतन्य-पुरुषसे दृढ़ालिङ्गन कर मधुर-शयन कर रही थी। मैं अकेला, कल्लोलिनीके तटपर खड़ा हुआ उसका विमल-सौन्दर्य निहार रहा था। उसकी सारीमें टके हुए नक्षत्रगण झिलमिला रहे थे। मन्द-मन्द शीतल वायु बह रहा था। मैं तन्मय था। सहसा एक स्थानसे सरिताका जल उद्वेलित हो उठा। कौतूहल-वश मेरी दृष्टि उस ओर बँध गयी। तभी सलिल-पृष्ठपर, वर्तुलाकार प्रकाशपुञ्ज दिखायी दिया। देखते-ही-देखते एक तेजोमय मानवाकार, तटकी ओर बढ़ा। वह कमर तक जलमें था। मालूम हो रहा था, मानो सरित-वारिकी समस्त-विद्युत्-रश्मियोंसे रचित कलेवर चला आ रहा है। मैं पाषाणवत् खड़ा हुआ देख रहा था। वह तटके समीप आकर रुक गया। आँखें उसकी ओर अधिक न देख सकीं। पलकें लग गयीं। हृदय आलोकित था, पर धड़क रहा था। कल्पनाएँ, कल्पनातीत स्थानकी ओर जा रही थीं। सहसा एक विचित्र-ध्वनि सुनकर वे रुक गयीं। तभी स्फुट-स्वरमें सुनायी दिया—

'इष्टहीन जीवन, निःसार है, 'वह' जीवनका जीवन है, उसको प्राप्त करो।'

धड़कते हुए हृदयने कहा—सत्य है, तरङ्गिणी प्रतिध्वनित हो उठी—शिव है, दिशाओंने गूँजकर कहा—सुन्दर है। नेत्र खुल गये। वह ज्योतिष्मान् पुरुष वहाँ न था। हाँ! एक वस्तु थी, जो दूरीपर कमनीय-चन्द्रकान्तिमें विलस रही थी। उसमें दिव्याकर्षण था। मैं खिंच गया। देखा एक मन-मोहिनी मूर्ति है। वह विराट्-सौन्दर्यका सार थी। वृत्तियाँ दिशाओंसे लौट आयीं। हृदयकी अनन्त-स्मृति जाग्रत् हो गयी। उसने कहा—यह इष्टदेवकी प्रतिमा है, इसमें रहस्य है, इसको समझो! सान्तमें अनन्त और अनन्तमें सान्तको अवलोकन करो। वह आन मिलेंगे। मैंने प्रेम-विभोर होकर प्यारेकी प्रतिमाको उठा लिया। हृदय-कमल प्रस्फुटित हो उठा, उसके रक्त-वर्ण-मृदुल-पर्णोंपर मधुर-कान्ति छिटक गयी। मन-चन्द्रमाके आगेसे मायाकी घोर घटाएँ दूर हुईं। हृदयाकाश, अनन्त-प्रेमसे आलोकित हो उठा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्याग

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

द्रव्यत्यागे तु कर्माणि भोगत्यागे व्रतानि च।
सुखत्यागे तपो योगं सर्वत्यागे समापना ॥

लोकपितामह ब्रह्माजीने त्यागके साथ ही सृष्टिकी उत्पत्ति की और सबसे पूर्व उन्होंने त्यागका ही उपदेश किया। उन्होंने प्रजाओंसे कहा—'त्यागके द्वारा ही तुम देवताओंको प्रसन्न कर सकते हो। देवता तुम्हारे त्यागसे प्रसन्न होकर तुम्हें अभिमत फल प्रदान करेंगे। इसप्रकार तुम त्यागके द्वारा ही सुखी हो सकते हो।' जिस त्यागका उपदेश ब्रह्माजीने सब उपदेशोंसे पूर्व किया था, वह त्याग है क्या चीज़? 'जिस भावमें अपने शरीरको सुखी बनानेकी चिन्ता नहीं होती, जहाँ स्व-अर्थ-सिद्धिको ही प्रधान नहीं समझा जाता, हृदयकी उसी उदार-वृत्तिका नाम त्याग है।' यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो इस सम्पूर्ण संसारकी स्थिति ही त्यागके ऊपर अवलम्बित है। यदि एक प्राणी दूसरे प्राणीके लिये स्वार्थ-त्याग न करे तो यह संसार एक क्षणभर भी न टिक सके।

हम जितने पदार्थोंको उदरस्थ करते हैं, यदि अपानवायु मल बनाकर उनका त्याग करना बन्द कर दे, तो यह शरीर कितने दिन रह सकता है? यदि वृक्ष प्रतिवर्ष अपने शरीरके पत्तोंका त्याग न करें तो उनकी उन्नति किसप्रकार हो सकती है? सूर्यदेव समुद्रमेंसे जितना जल पीते हैं, यदि उसे वर्षामें त्यागें नहीं तो सृष्टिका व्यवहार कितने दिन चल सकता है? इन सब उदाहरणोंसे यही सिद्ध होता है कि त्याग ही सृष्टि-स्थितिका प्रधान कारण है।

लोकमें वही पुरुष श्रेष्ठ समझा जाता है, जो सबसे बड़ा त्यागी हो, क्योंकि लोकके लिये वह सबसे अधिक उपयोगी है। दानी भी उत्तम और आदरणीय समझा जाता है, किन्तु वह त्यागीकी बराबरी नहीं कर सकता, यद्यपि दानी भी द्रव्य-त्याग करनेके कारण त्यागी कहा जा सकता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर इन दोनोंमें स्पष्ट भेद मालूम पड़ जायगा। दानी उसे कहते हैं, जो अपने द्रव्यका कुछ भाग दूसरोंके लिये खर्च करता है और त्यागी उसे कहते हैं, जो अपना कुछ समझता ही नहीं। जिसने शरीर, मन, वचन और सम्पूर्ण कर्मों तथा अपने अहंभाव तकको भी प्रभुके पावन पाद-पद्मोंमें समर्पित कर दिया हो। यही सच्चे त्यागीकी परिभाषा है। ऐसे ही त्यागियोंके कारण यह संसार स्थित है। इसप्रकारका त्यागी चाहे पहाड़की सबसे भीतरी गुफामें बैठकर चिन्तन कर रहा हो, अथवा सुमेरुके शिखरपर खड़ा होकर उपदेश दे रहा हो। दोनों ही स्थानोंसे वह संसारकी अपूर्व सेवा कर रहा है। उसके मनोभाव वायुके साथ उड़कर आकाश-मण्डलमें छा जाते हैं और वहींसे प्राणियोंके मस्तिष्कोंको उद्वेलित करते रहते हैं। यदि हमारा वायु-मण्डल ऐसे त्यागियोंके सुविचारोंकी सुगन्धसे परिमार्जित न हुआ करे, तो यह सम्पूर्ण संसार ही रौरव-नर्क बन जाय और प्राणियोंमेंसे सद्वृत्तियोंके भावोंका एकदम लोप हो जाय। इन सर्वत्यागी महात्माओंके ही विचारोंसे तो मनुष्य त्यागकी शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसीलिये जिस स्थानमें जितने ही अधिक त्याग-वृत्तिवाले पुरुष होंगे, वहाँका वायुमण्डल भी उतना ही अधिक पवित्र होगा। यह जो अनन्त आकाश हमें खाली-ही-खाली दिखायी पड़ता है, असलमें खाली नहीं है; इसमें असंख्य प्रकारकी सद्वृत्तियाँ और दुर्वृत्तियाँ भरी हुई हैं। जिसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हृदयमें सद्वृत्तियोंका प्राबल्य है, वह आकाशमण्डलसे सद्वृत्तियोंको ग्रहण करता है और जिसकी दुर्वृत्तियाँ बढ़ी-चढ़ी हैं, वह वहींसे दुर्वृत्तियोंको लेता है। प्रत्येक श्वासमें हम भीतर केवल वायु ही नहीं ले जाते, किन्तु अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिके अनुसार सद्वृत्ति तथा दुर्वृत्तियोंके भावोंको भी हृदयंगम करते रहते हैं। इच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक त्यागके थोड़े-बहुत भाव सभी प्राणियोंको ग्रहण करने पड़ते हैं, क्योंकि इसके बिना काम चलनेका ही नहीं। जो त्यागके भावोंको सदा ग्रहण करनेकी चेष्टा करते रहते हैं, वे अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा अधिक सुखी होते हैं। जो जितना ही बड़ा त्यागी होगा, वह उतना ही अधिक सुखी समझा जावेगा।

माता सन्तानके लिये कितना भारी त्याग करती है। पहले तो गर्भ धारण करनेमें ही बड़ा भारी क्लेश होता है। गर्भ रह जानेपर उसे दस मासतक पेटमें लादे फिरती है। गर्भ-भारके कारण तबियत अच्छी नहीं रहती, मन चञ्चल हो जाता है, शरीर पीला पड़ जाता है, जी मचलाने लगता है। इन सब दुःखोंको वह पुत्रके लिये सहन करती है। प्रसवके समयकी वेदना अकथनीय है, उसका अनुभव मनुष्यको तो कभी हो ही नहीं सकता। एक सङ्कुचित और अति कोमल मार्गसे पत्थरके समान कड़े बच्चेका बड़ा भारी सिर बड़े कष्टके साथ निकलता है। उस समय ऐसी कौन-सी माता है जो दुःखसे बिलबिला न उठती हो। प्रसवके पश्चात् भी वह वर्षोंतक बच्चेके मलमूत्रोंको बिना किसी संकोचके साफ करती रहती है। कितना भारी त्याग है, माताको ऐसे भारी त्यागकी शिक्षा कहाँसे मिलती है?

पत्नीके त्यागकी कल्पना करके शरीर रोमाञ्चित होते हैं। पतिके लिये वह अपनी प्राणप्यारी माताको, अपने सहोदर भाइयोंको और सभी सगे-सम्बन्धियोंको छोड़कर पतिगृहमें ही आकर रहने लगती है। अपने कुटुम्बियोंको ही त्याग देती हो, यहींतक नहीं, किन्तु वह अपने कुलगोत्रको भी पतिके कुलगोत्रमें मिला देती है। इसके अनन्तर वह एकचित्त होकर पतिके कार्योंमें सहयोग करती है। पतिके लिये वह अपनी सभी इच्छाओंको उठाकर रख देती है। सदा उसीकी प्रसन्नताके निमित्त कार्य करती है। पतिकी बीमारीमें रातों जागती है। थकनेपर उसके चरणोंको सुहराती है और सभी प्रकारसे अपने शरीरको समर्पित करके उसे सुखी बनाती है। पत्नीको ऐसे त्यागका पाठ किसने पढ़ाया?

वृक्षोंका त्याग कैसा अपूर्व है। जङ्गलमें पैदा होते हैं, वे मल-मिट्टी तथा सड़े-गले पत्तोंको खाकर अपने शरीरकी रक्षा करते हैं। गर्मी, जाड़ा तथा वर्षा सभी ऋतुओंको खड़े-ही-खड़े अपने सिरपर बिताते हैं। अपनी छायामें बैठे हुए पथिकोंको धूपसे बचाते हैं और आप स्वयं धूप सहते हैं। सूखी लकड़ियोंसे प्राणियोंकी सेवा करते हैं। फल-फूल तथा पत्तियोंसे सदा लोकोपकार करते रहते हैं। इनका त्याग क्या बनावटी है?

गौओंको, नदियोंको तथा पर्वतोंको हम सदा त्यागमें ही रत हुए देखते हैं। इन सबमें ये त्यागके भाव स्वाभाविक ही हैं। ये इसप्रकारके त्यागके भावोंका आदान अपने आसपासके आकाशमण्डलसे करते हैं। मनुष्यमें यही विशेषता है कि वह सद्भावोंका आदान अपने समीपके मनुष्योंसे भी कर सकता है। इसीलिये मनुष्यके लिये सत्संगकी इतनी महिमा गायी गयी है। तुम यदि त्यागियोंके संसर्गमें रहोगे, तो तुम्हारे भाव त्यागमय होंगे और यदि तुम्हारी संगति संसारी विषयी लोगोंकी है, तो सदा तुम विषयोंके चिन्तनमें ही लगे रहोगे।

बिना त्यागके कोई भी कार्य नहीं होता। धर्मके लिये बुरी बातोंका त्याग, दानके लिये द्रव्यका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्याग, यज्ञके लिये हविष्यका त्याग, परोपकारके लिये स्वार्थका त्याग, तपके लिये इन्द्रिय-सुखोंका त्याग, मैत्रीके लिये कपटका त्याग, सेवाके लिये आलस्यका त्याग, विद्याके लिये बड़प्पनका त्याग और मोक्षके लिये समस्त संसारका त्याग करना होगा। तभी अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है। त्यागके सिवा सिद्धिका अन्य मार्ग है ही नहीं। त्यागके मार्गमें सबसे बड़ा विघ्न है स्वार्थ। जहाँ अपने ही सुखका ध्यान रक्खा जाता है, वहाँ त्याग नहीं जाता। त्यागके न जानेसे वहाँ शान्ति भी नहीं पहुँच पाती। परिणाम यह होता है कि वहाँपर कलहका साम्राज्य हो जाता है और चारों ही ओर अशान्तिकी तूती बजने लगती है। पति यदि अपने ही स्वार्थमें रत रहे और पत्नीकी आवश्यकताओंकी कुछ भी परवा न करे, तो वहाँ दाम्पत्य-प्रेम कैसे रह सकता है? पत्नी यदि सदा ही अपने शरीरके 'शृंगारमें लगी रहे और पतिके लिये थोड़ा भी स्वार्थ-त्याग न करे तो परिवारमें सुखका निवास कैसे हो सकता है? मित्र अपने मित्रके प्रत्येक कार्यमें सन्देह करने लगे, उसके लिये यदि वह सन्देहका त्याग न करे, तो मैत्री-धर्म कितने दिन निभ सकता है? शिष्य गुरुके लिये अपनी सम्पूर्ण इच्छाओंका त्याग न कर दे तो वह सत्‌शिष्य बनकर कैसे सत्यका साक्षात्कार कर सकता है?

बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ, बड़े-बड़े झगड़े, बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ और बड़े-बड़े सन्देह सब त्यागके ही कारण क्षणभरमें मिट गये हैं। जिस झगड़ेको तुम्हें मिटाना हो, वहाँ यों मत कहो कि यह तो मेरा अधिकार ही है। वहाँ श्रीरामचन्द्रजीकी भाँति यही कह दो कि 'जैसा ही अयोध्याका राज्य, वैसा ही जंगलका राज्य, लो मैं वनको जाता हूँ।' ऐसा कहनेपर अन्तमें विपक्षी भी तुम्हारी ही ओर हो जायगा। त्यागमें सन्देह करनेके लिये स्थान ही नहीं है। वह त्याग त्याग ही नहीं कहा जा सकता जिसे करके पीछे पछताना पड़े। त्यागका फल सदा मीठा ही होता है। उसे जिस समय, जैसी दशामें जहाँपर भी खाओ, वहीं वह मीठा ही लगेगा। त्यागमें सुखोपभोगकी इच्छा ही नहीं रहती। त्यागके लिये कहीं अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं। मनुष्य जहाँ हो, जैसी परिस्थितिमें हो, वहींपर उसी परिस्थितिमें वह त्याग-मन्त्रकी दीक्षा ले सकता है। साधारणतः त्यागका यह क्रम रक्खा गया है। अपने परिवारके लिये अपने शरीरके सुखोंका त्याग करना चाहिये। कुटुम्बके लिये परिवारके स्वार्थका त्याग, ग्रामके लिये कुटुम्बका त्याग, प्रान्तके लिये ग्रामका त्याग, देशके लिये प्रान्तका त्याग, विश्वके लिये देशका त्याग और आत्माके लिये सर्वस्वका त्याग करना श्रेयस्कर है।

यह कोई नियम नहीं है कि सभीको एक इसी जन्ममें इन सभी सीढ़ियोंको क्रमशः पार करना ही चाहिये। बहुत-से ऐसे महापुरुष होते हैं कि वे अनेक जन्मोंमें परिवार, देश और संसारके स्वार्थोंके त्यागका अभ्यास करके ही उत्पन्न हुए हैं। उनके लिये फिरसे कुटुम्ब देश और संसार बनानेकी आवश्यकता नहीं है। वे उत्पन्न होते ही आत्मकल्याणमें लग सकते हैं। जैसे महामुनि शुकदेवजी उत्पन्न होते ही सर्वस्व त्यागकर संन्यासी हो गये। यह भी कोई आवश्यक नहीं कि एक स्थितिको बिना अन्ततक पहुँचाये दूसरीमें प्रवेश न करे। एक स्थितिको अधूरी छोड़कर जो उससे ऊँची परिस्थितिमें पहुँच गया, वहाँ यह समझना चाहिये कि पहले परिस्थितिके इतने ही भोग इसके शेष थे। चैतन्य महाप्रभु तथा भगवान् बुद्धने ऐसा ही किया। वे एकदम गृहस्थ-धर्मको अधूरा ही छोड़कर आत्मकल्याणके मार्गमें अग्रसर हो गये। इन महापुरुषोंने संसारके कल्याणके लिये अपनी नवोढा पत्नियोंका निर्दयताके साथ त्याग कर दिया। इस धर्मका अनुसरण सभी पुरुष नहीं कर सकते। ऐसे महापुरुष विरले ही होते हैं, किन्तु इतना स्मरण सभीको रखना चाहिये कि पार होनेका एकमात्र सर्वोत्तम उपाय त्याग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही है। अतः सभीको अन्तमें त्यागी बननेका प्रयत्न करना चाहिये। एक जन्ममें, दो जन्ममें, दस, बीस अथवा लाखों जन्ममें क्यों न सही, बिना सर्वतोभावेन संन्यासी बने कल्याण नहीं। वर्णाश्रम-धर्मकी पद्धति इसीलिये रक्खी गयी है। वर्णाश्रम-धर्म यह आग्रह नहीं करता कि सभी ब्रह्मचारियोंको गृहस्थ होना ही चाहिये अथवा सभी गृहस्थ इसी जन्ममें संन्यास धारण कर ही लें। उसका कहना है जो ब्रह्मचारी गृहस्थ नहीं होना चाहता, वह तो संन्यासी होकर उत्पन्न ही हुआ है, इसलिये उसे फिरसे संन्यास लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इसी कारण नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये विवाह और संन्यास दोनोंका ही निषेध है। सब गृहस्थ वानप्रस्थी अथवा संन्यासी बन ही जायँ, ऐसा भी आग्रह नहीं, यदि इस जन्ममें तुम संन्यास-धर्मके योग्य नहीं हुए हो, तो कोई चिन्ता नहीं, अगलेमें बन जाओगे; किन्तु अपना उद्देश्य यही रक्खो कि हमें एक दिन सर्वस्व त्यागकर सर्वतोभावेन संन्यासी अवश्य बनना है। वर्णाश्रम-धर्मका अन्तिम ध्येय त्याग है। त्याग बिना किये हुए कोई भी निरामय अथवा सुखी नहीं बन सकता। बिना सर्वस्व त्याग किये कल्याण नहीं। इसीलिये कहा है—

धर्मं चापि त्यजाधर्मं त्यज सत्यानृतं धियम्।
सर्वं त्यक्त्वा स्वरूपस्थः सुखी भव निरामयः॥

एक झाँकी !

बिराजे वे निकुंजमें स्याम !

चहुँदिसि ललित लताएँ लहरत कदँबछाँह अभिराम॥
मधुर मधुर कालिन्दी कलरव ढिग स्रवनन सुख दैन।
केकी कूक लगाइ थिरकिहैं चले बलैया लैन॥
कटि पटपीत किये हैं धारन अरु पटुका फहरात।
बनमाला चरननि्हं लौं हलरत जन-मन-मधुप लुभात॥
अलकावली कपोलन छिटकीं जनु कोमल शिशु व्याल।
शोभित मुकुट सीस पै जगमग कलँगी झुकी विशाल॥
मकराकृति कुंडल स्रवनन महँ भाल तिलककी रेख।
आभा पसरि रही है चहुँ दिसि लजत भानु छबि देख॥
स्याम-बदन पंकज-दल लोचन मुख मुसकनि सरसाय।
मनमोहन मन-मोहनहारी मुरली फेंट सुहाय॥
लगी टकटकी पच्छिम दिसि पै तिरछी लोचन कोर।
अपने साँचे जनकी कृति पै मानौं भये बिभोर॥
करत कौतुकी, विविध भक्त जन पै हौ दीनानाथ!
कठिन परिच्छा लेउ न अबतौ करिय कृपालु सनाथ॥

—लक्ष्मणाचार्य वाणीभूषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

२७६-यदि तुम दुःखसे मुक्त रहना चाहते हो तो शरीरको मत धारण करो। यदि तुम्हें शरीरकी आवश्यकता नहीं, तो कर्म मत करो। यदि तुम कर्म करना नहीं चाहते तो राग-द्वेषको त्याग दो। यदि राग-द्वेषको छोड़ना चाहते हो तो अभिमानको दूर करो। अभिमानको छोड़नेके लिये अविवेकको दूर करना आवश्यक है। अविवेक भी तभी दूर हट सकता है जब अविद्या दूर होती है। अतः अविद्यासे पिण्ड छुड़ानेके लिये, हे राम! ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करो।

२७७-जैसे ही अभिमान प्रकट होता है, राग-द्वेष आ जाते हैं। जब तुम अपनेको 'मैं स्वामी हूँ'—इसप्रकार चिन्तन करते हो उसी समय तुम्हें अपने स्वामीपनमें राग उपस्थित हो जाता है। जैसे ही तुम्हारे मनमें 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसी भावना जम जाती है, वैसे ही तुम्हारे अन्दर शूद्रोंके लिये घृणा और ब्राह्मणोंके लिये प्रेमका भाव उत्पन्न हो उठता है। यदि तुम राग-द्वेषको समूल नष्ट करना चाहते हो तो अभिमानको छोड़ो।

२७८-केवल चित्त-त्यागके द्वारा सारी वस्तुओंका त्याग हो जाता है। मन ही सर्वेसर्वा है, इसके ऊपर अधिकार होते ही सबका त्याग हो जाता है। इसप्रकारके मानसिक संयमसे तुम सारे दुःखोंसे छुटकारा पानेमें समर्थ होगे।

२७९-'मैंपन' अथवा अहंकारके अतिरिक्त मन कुछ नहीं है। निस्सन्देह इस 'मैं' की भावनाको दूर करना कठिन है।

२८०-हृदय-प्राण, मन, अहङ्कार और आत्मा—इन चारोंका आवासस्थान है।

२८१-वस्तुतः अन्यान्य सांसारिक दुःखोंकी कोई सत्ता ही नहीं है। जब तुम सो जाते हो, तो सब कष्ट दूर हो जाते हैं। केवल मनका शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे ही कष्ट उत्पन्न होता है। मन और बुद्धिका अभेद (अभिमान) ही अविद्याके कारण कष्ट पहुँचाता है। ब्रह्मभावनाके यथार्थ साधनसे इस अहङ्कारका निमेषमात्रमें अथवा जितना विलम्ब एक फूलके मसलनेमें लगता है, उतनी ही देरमें उन्मूलन हो जाता है।

२८२-केवल एक ही रस है 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।' एक ही ब्रह्म है, दूसरा नहीं। यह शुद्ध, परिपूर्ण और अनन्त है। बिना मनको इधर-उधर डुलाये इसीका ध्यान करो और मनकी सच्ची शान्तिके साथ अपनेको सब कष्टोंसे मुक्त करो। अत्यन्त मिथ्या होनेके कारण अहङ्कार अभ्यासके द्वारा नष्ट हो जायगा।

२८३-'मैं', 'तू', 'वह', 'घर', 'पर' आदि नाना भावोंको तथा द्वैत भावको छोड़ो। इनके स्थानमें ब्रह्मभावनाको ग्रहण करो। मनके सङ्कल्प-विकल्पको नष्ट करो। इसको ब्रह्मनिष्ठा या अद्वैतनिष्ठा कहते हैं।

२८४-अहङ्कार-नाशके चार उपाय हैं, दो अद्वैतकी अन्वय एवं व्यतिरेक-विधियाँ; तीसरा भक्तोंका आत्मसमर्पण और चौथा निष्काम-कर्मयोगीका सम्पूर्ण आत्मत्याग। वेदान्तकी व्यतिरेक-विधि आत्म-निरोध है। 'मैं शरीर नहीं हूँ', 'मैं मन नहीं हूँ।' 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या', 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् ब्रह्म ही केवल सत्य है, जगत् मिथ्या है। (वस्तुतः) जीव ब्रह्मका अभेद है। इस भावनाका ध्यान करो। अहंभावका लोप हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायगा। वेदान्तकी अन्वय-विधिके अनुसार सब कुछ आत्मा ही है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब कुछ ब्रह्म है, ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ नहीं।

२८५-मैत्री, करुणा, दया, विश्व-प्रेम, क्षमा, धृति, तितिक्षा और सहिष्णुता मनके सात्त्विक गुण हैं। मानव-जीवनको ये आनन्द और शान्ति प्रदान करते हैं। इनका पूर्ण विकाश करना होगा।

२८६-सन्तोष, धृति, उत्साह और दृढ़ सङ्कल्प यह आत्मानुभवमें सफलता प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। आध्यात्मिक साधकको इन्हें विशेषरूपसे अधिक-से-अधिक बढ़ाना चाहिये।

२८७-कामनाओंका नाश, अहङ्कारका नाश और सङ्कल्पका नाश—इन सबका तात्पर्य मनको वशमें करना अथवा मनोनाश करना है।

२८८-मन, प्राण और वीर्य, ये तीनों एक ही शृङ्खलाकी तीन ग्रन्थियाँ हैं। ये सभी एक ही सम्बन्धके अन्तर्गत हैं। ये जीवात्माके महलके तीन स्तम्भ हैं। प्राण, मन या वीर्य इनमेंसे किसी एक स्तम्भको नष्ट कर दो, सारा महल चूर-चूर हो धराशायी हो जायगा। तुम्हारा मिथ्या व्यक्तित्व टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। यदि तुम अखण्ड ब्रह्मचर्य बारह वर्षतक पालन करो तो तुम बिना प्रयास यों ही निर्विकल्प-समाधिमें प्रवेश करोगे। मन अपने आप वशमें हो जायगा। वीर्य-शक्ति ही सर्वप्रधान शक्ति है, वीर्य ही स्वयं ब्रह्म है, नैष्ठिक ब्रह्मचारी जो बारह वर्षतक अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन कर लेता है वह 'तत्त्वमसि' महावाक्यका उपदेश सुनते ही निर्विकल्प-समाधिमें स्थित हो जाता है। उसका मन अत्यन्त पवित्र, दृढ़ और एकाग्र होता है। उसे श्रवण-मननके अभ्यासकी जरूरत ही नहीं रहती। चालीस बूँद रक्तसे एक बूँद वीर्य बनता है। एक बारके स्त्री-सहवाससे जितनी शक्ति क्षीण होती है, वह चौबीस घण्टेके मानसिक परिश्रमद्वारा मानसिक शक्तिकी क्षीणता अथवा तीन दिनके शारीरिक-श्रमके द्वारा शारीरिक शक्तिकी क्षीणताके तुल्य है। देखो, वीर्य कैसी बहुमूल्य और महँगी वस्तु है। इस शक्तिको व्यर्थ नष्ट न करो। खूब सावधानीसे इसकी रक्षा करो, तुम्हें अद्भुत उत्साह और शक्ति प्राप्त होगी। जब यह उपयोगमें नहीं आता है तो यह ओजमें परिणत हो जाता है और मस्तिष्कमें इकट्ठा होने लगता है। इसी मुख्य बातको पाश्चात्य डाक्टर नहीं जानते। तुम्हारे अधिकांश कष्ट वीर्यकी बरबादीके कारण ही होते हैं।

२८९-संकल्प, इच्छा, राग, द्वेष, अहंकार, मन, यह जीवरूपी प्रासादकी छः ईंटें हैं। ये उस शृङ्खलाकी छः ग्रन्थियाँ हैं, जिसके द्वारा जीवके व्यक्तित्वका निर्माण होता है। एक ईंट या एक ग्रन्थिके नष्ट होते ही सारा महल, सारी शृङ्खला नष्ट हो जाती है।

२९०-सिद्धियोंके लिये अधिक चिन्ता मत करो। दिव्य चक्षु और दिव्य श्रोत्र होनेसे कोई लाभ नहीं है जब कि इनके होनेकी अपेक्षा इनके न होनेसे कहीं अधिक प्रकाश और शान्ति मिलती है।

२९१-ज्ञानी इन सिद्धियोंकी कभी परवा नहीं करता, क्योंकि उसके दैनिक जीवनमें उनकी उसे कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

२९२-यदि तुम बैठकर इस बातका अनुभव करो कि जो कुछ तुम सोचते-विचारते हो उसका कारण एक जीवन है तथा जो मन एक जीवनके द्वारा अनुप्राणित होकर विचार-कार्यमें रत हो जाता है वह परमात्माके समष्टिरूपका एक अङ्ग है तो तुम्हारे हृदयमें यह तर्क उठेगा कि मनकी अलग कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। परिणामतः मन और शरीर अपने स्वरूपसे अन्तर्हित होने लगते हैं और तब जो कुछ शेष रह जाता है, वही जीवन अथवा सत्ता है और उसका वर्णन शब्दोंमें नहीं किया जा सकता।

२९३-उस कामको करो जिसको मन नहीं करना चाहता। मन जिसको चाहता है उस कामको मत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करो, यह मनके वशमें करने और इच्छाशक्ति बढ़ानेका एक मार्ग है।

२९४–जब तुम मनको वशमें कर लेते हो तब तुम्हारा शरीरपर पूरा अधिकार हो जाता है, शरीर तो मनकी छायामात्र है। यह एक साँचा है जिसे मनने अपने लूटका साधन बनाया है। जब तुम मनको वशमें कर लेते हो तो शरीर तुम्हारा गुलाम बन जाता है।

२९५–मन समस्त इन्द्रियोंका केन्द्र है, इसी एक स्थलपर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मिलती हैं। यह इन्द्रियोंके बिना भी, स्वतन्त्ररूपसे देख सकता है, सुन सकता है, सूँघ सकता है, स्वाद ले सकता है और अनुभव कर सकता है। यह पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका समुच्चय है।

२९६–प्राणायाम, जप, विचार और भक्तिके द्वारा रज और तमको दूर करो, जो मनके सत्त्वको ढँके रहते हैं। तब मन ध्यानके योग्य बन जाता है।

२९७–जिस समय कि तुम सदा प्रसन्न रहते हो, जब तुम्हारा मन स्थिर और एकाग्र रहता है तब तुम समझ लो कि तुम योगमें आगे बढ़ रहे हो और तुम्हारे सत्त्व-गुणमें अभिवृद्धि हो रही है।

२९८–राग-द्वेषकी चार अवस्थाएँ हैं—दग्ध, तनु, विच्छिन्न, उदार। पहली दो अवस्थाएँ योगियोंकी होती हैं और अन्तिम दो सांसारिक पुरुषोंकी। जो योगी अभ्यास-रत है उसमें राग-द्वेषके संस्कार बहुत ही पतले होते हैं और वह अत्यन्त सूक्ष्मावस्थामें रहते हैं। वह तो इन दोनों वृत्तियोंको भी वशीभूत किये रहते हैं। जो सांसारिक विषयोंमें रममाण होते हैं उनमें राग-द्वेष छिपे हुए और पूर्णतः फैले हुए रहते हैं। इनकी अन्तिम उदारावस्थामें अनुकूल वातावरण मिल जानेके कारण राग-द्वेषके संस्कार महान् कार्योंमें लग जाते हैं। सांसारिक पुरुष राग-द्वेषके प्रवाहका केवल गुलाम होता है। आकर्षण और विकर्षणके इन दो प्रकारके प्रवाहोंमें वह इधर-उधर थपेड़े खाता रहता है। जो पूर्ण योगी हैं उनमें राग-द्वेषकी वृत्तियाँ निर्विकल्प-समाधिके द्वारा दग्ध हो जाती हैं। और वे जले हुए बीजके समान हो जाते हैं। विच्छिन्न-दशामें राग-द्वेष छिपे हुए होते हैं। जब स्त्री अपने पतिके प्रति प्रेम प्रदर्शित करती है तो उसकी अप्रसन्नता और उपेक्षा कुछ कालके लिये अन्तर्हित हो जाती हैं और रागवृत्ति काम करने लगती है। जैसे ही वह किसी विशेष कारणसे अपने पतिसे अप्रसन्न होती है उसी समय द्वेषवृत्ति प्रकट हो जाती है।

२९९–शम (वासनात्यागके द्वारा मनकी शान्ति), दम (इन्द्रियोंका संयम) ये दोनों षट्-सम्पत्तिके दो महत्वपूर्ण अङ्ग हैं, जो ज्ञानके मार्गमें साधन करनेवालोंके लिये मोक्षके चार उपायोंमेंसे एक उपाय है। शम और दम वस्तुतः यौगिक क्रियाएँ हैं। जब यह साधन समाप्त हो तब तुम्हें श्रवण (श्रुतिका सुनना) और मनन (गम्भीर चिन्तन) के साधनमें प्रवेश करना होगा। इसके पश्चात् जब तुम गम्भीर निदिध्यासनको प्रारम्भ करोगे तो उसके लिये तीन वर्षका एकान्तवास आवश्यक होगा।

३००–योगिनी रानी चूडालाने–जिसका वर्णन योगवाशिष्ठमें आता है--अपने पति शिखिध्वजकी सुषुम्ना नाड़ीको हिला दिया था। शुद्ध सात्त्विक वासनाकी शक्तिसे वृत्ति उत्पन्न हुई। वह (शिखिध्वज) निर्विकल्प-दशासे स्थूल भौतिक चेतनाको प्राप्त हुआ और उसे पुनः दृश्य जगत्का भान होने लगा।

३०१–मन अभ्यासोंका पुञ्ज है। मनुष्यकी प्रकृतिमें बुरी आदतें और पक्षपात निहित होते हैं, अनुकूल अवसर मिलनेपर वे मनकी भूमिमें अवतरित हो जाते हैं।

३०२–जीव मन और वृत्तियोंसे संयुक्त होकर, विषयोंका उपभोग करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३०३–जब मन और इन्द्रियाँ पतली हो जाती हैं और पूर्णतः वशमें हो जाती हैं तब कारण-इन्द्रिय-व्यापार बन्द हो जाता है। जीवत्व तिरोहित हो जाता है, ब्रह्मत्व बच जाता है और वही 'केवल अस्ति' है।

३०४–जब मन विषयोंसे हटा लिया जाता है और गम्भीर ध्यानमें लग जाता है, तब विषयाकार वृत्ति बन्द हो जाती है, और सविकल्प-समाधि प्रारम्भ होती है। तर्कना, विश्लेषण, संश्लेषण, अन्वेषण और अमूर्त तर्क उठने लगते हैं, यह तार्किक समाधि है, इसमें बुरे विचार प्रवेश नहीं कर सकते। मन सात्त्विक हो जाता है।

३०५–सांसारिक पुरुषोंका मन सदा वासनात्मक विचारोंको ही ग्रहण करनेके लिये उद्यत रहता है। वह सूक्ष्म दार्शनिक भावोंको नहीं ग्रहण कर सकता। वह शिथिल होता है और उसकी गति दार्शनिक भावोंको ग्रहण करनेके लिये उपयुक्त नहीं होती। तुम मिट्टीमें कील गाड़ सकते हो, परन्तु पत्थरमें नहीं। मन निष्काम कर्म, जप, प्राणायाम और दूसरे आध्यात्मिक साधनाओंसे शुद्ध किया जा सकता है।

३०६–चित्त-शुद्धिके साथ दार्शनिक ग्रन्थोंका गम्भीर अध्ययन स्वयमेव एक प्रकारकी समाधि है। क्योंकि मन उस समय सांसारिक विचारोंसे मुक्त रहता है।

३०७–विवेक केवल श्रुतिके श्रवण और लगातार सत्सङ्ग करनेसे ही जाग्रत् होता है। वे पुरुष जिन्होंने पूर्व जन्ममें असंख्य पुण्यके कर्म किये होते हैं, उन्हें भगवान्‌की दयासे महात्माओं, साधु-संन्यासियों, भक्तों, ज्ञानी और योगियोंका सत्सङ्ग प्राप्त करनेका सौभाग्य मिलता है।

३०८–विलासात्मक भोजन और सब प्रकारके इन्द्रिय-भोगके पदार्थोंको त्याग दो। कठिन तप-साधन करो; तपसे इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं, इससे मनका संयम होता है।

३०९–यज्ञ, दान, दया, वेद और सत्यवचन—ये पाँच शुद्धिके साधन हैं और छठा अच्छी तरह अभ्यास किया हुआ तप है। इनमेंसे सत्य वचन अत्यधिक शुद्धि प्रदान करता है। तीर्थ-स्थानोंकी यात्रा भी पवित्र करती है। वहाँ तुम्हें महात्माओंसे मिलनेका और उनके सत्सङ्गसे लाभ उठानेका अवसर मिलता है।

३१०–तात्त्विक दृष्टिसे मनुष्य स्त्री (प्रकृति) है, मन भी स्त्री (प्रकृति) है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरके सब आवश्यक अङ्ग उसी मूल प्रकृतिसे निकले हैं।

३११–मानसिक कल्पनाएँ सदा अत्युक्ति उपस्थित करती हैं। वे अत्युक्तियाँ असत्‌का स्वरूप हैं। साधकको अत्युक्तिमें नहीं पड़ना चाहिये, उन्हें रेखागणितके समान सत्य एवं निश्चित बातें कहनी चाहिये। उन्हें ऐसे शब्द तौलकर कहने चाहिये जो गणित और विज्ञानके तथ्योंके समान तुले हुए हों। महात्मा गाँधीजीने इस शक्तिको उन्नत किया है। वह प्रायः बढ़कर बातें (अत्युक्ति) नहीं करते।

३१२–एक नवयुवती अपने पति और नवजात शिशुका ही स्वप्न देखा करती है, उसके मनमें अपने पति और शिशुकी दो मानसिक मूर्तियाँ बनी रहती हैं। लगातार विचार करनेसे मानसिक मूर्तियाँ दृढ़ हो जाती हैं। डाक्टर अपने यहाँ आये हुए रोगियोंका स्वप्न देखता है और एक बैरिस्टर अपने मुअक्किलोंका स्वप्न देखा करता है।

३१३–मनुष्यके भौतिक जीवनमें जो विभिन्न मानसिक मूर्तियाँ बनती रहती हैं उनके तत्त्व मानस-क्षेत्रमें कार्यान्वित होते रहते हैं। इन्हींपर आनेवाले जीवनका आधार होता है। जैसे प्रत्येक जीवनमें एक नया भौतिक शरीर बनता है वैसे ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक जीवनमें नई बुद्धि और नये मनका भी निर्माण होता रहता है।

३१४–उत्तरकाशी, ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला, कनखल और बद्रीनारायण-जैसे ठण्ढे सात्त्विक स्थान ध्यानके लिये आवश्यक हैं, क्योंकि ध्यान करते समय मस्तिष्क गर्म हो जाता है। दूसरे, साधनाकी योग्यता होनी चाहिये। तीसरे, अच्छा, सात्त्विक, बलप्रद, लघु और पुष्ट आहार होना चाहिये। चौथे, एक अनुभवी गुरुकी आवश्यकता है, जिसकी देख-रेखमें साधन हो। पाँचवें, स्वाध्यायके लिये उत्तम पुस्तकें आवश्यक हैं। छठे, तुम्हारे अन्दर परम वैराग्य, दृढ़ विवेक और उत्कट मुमुक्षा होनी चाहिये। सातवें ब्रह्म-तत्त्व या ब्रह्म-वस्तुको समझनेके लिये तुम्हारी बुद्धि तीक्ष्ण, सूक्ष्म, शान्त और एकाग्र होनी चाहिये। केवल तभी आत्मानुभव सम्भव हो सकता है। आध्यात्मिक साधनाके लिये बहुतोंको उपर्युक्त अवस्थाएँ नहीं प्राप्त होतीं, यही कारण है कि वे असफल होते हैं।

३१५–शक्ति, अधिकार, धन और ज्ञान मनुष्यमें अभिमान, 'अहं'-भावको दृढ़ करते हैं। वे मनको भी मोटा करते हैं। 'अहं' और मनको क्षीण बनानेके लिये इनका त्याग कर देना चाहिये।

३१६–अन्तःप्रेक्षण (भीतरकी ओर देखना) के द्वारा तुम्हारे दोषोंको खोज निकालनेके लिये तुम्हारी अन्तर्मुख-वृत्ति, कारणात्मक मन और सूक्ष्म बुद्धिका होना आवश्यक है। तुम्हें एकान्त कोठरीमें आँखें मूँदकर चुपचाप बैठ जाना चाहिये और मनकी क्रियाओंका निरीक्षण करना चाहिये, तब तुम्हारा स्वभाव बदलने लगेगा और तुम्हें दोषोंके दूर करनेका यथार्थ उपाय मिल जायगा। तुम्हें उस उपायको बारम्बार काममें लाना, साधना-को लगातार बनाये रखना अनिवार्यरूपसे आवश्यक है। तुम्हें सप्ताह, पक्ष या महीनेमें अपनी उन्नतिकी एक बार जाँच अवश्य करनी चाहिये। तुम्हें अपनी उन्नतिका एक हिसाब रखना होगा, एक आध्यात्मिक डायरी रखनी पड़ेगी। यदि एक उपायसे इष्ट-परिणामकी प्राप्ति नहीं होती हो तो तुम्हें यौगिक और विचारके दोनों साधनोंको काममें लाना पड़ेगा। सन्तोष, प्रयत्न, प्रयोग, रुचि, श्रद्धा, उत्साह, साहस और प्रतिज्ञा—ये साधनाके लिये आवश्यक हैं। इन गुणोंका विकाश करना होगा। तभी सफलता सम्भव है। उन विभिन्न विघ्नोंको देखो, जो मार्गमें रोड़े अटकाते हैं। आध्यात्मिक साधन इसीलिये कठिन है। (गीताके अनुसार) बहुत ही कम मनुष्य,–सहस्रमें कोई एक–इस साधन-पथमें आते हैं और उनमें भी बहुत कमको सफलता मिलती है। बहुतेरे तो साधनाका अन्ततक निर्वाह करना कठिन जानकर उसे अधूरी ही छोड़ देते हैं। केवल धीर पुरुष ही धैर्य और उत्साहके द्वारा सच्चिदानन्दको प्राप्त होते हैं, ऐसे सत्पुरुष धन्य हैं! धन्य हैं!!

३१७–प्रत्येक मनुष्यका अपना मानसिक जगत् भिन्न होता है और उनकी स्वप्न सृष्टि भी भिन्न होती है।

३१८–जिन विषयोंमें मनकी अधिक आसक्ति हो, उसे अवश्य ही त्याग देना चाहिये। जिन-जिन विषयोंमें मन बार-बार रमता हो, तथा जिनकी चिन्ता करता हो उनका त्याग करना चाहिये। यदि तुम बैंगन और सेवको बहुत चाहते हो तो उन्हें पहले छोड़ो। तुम्हें इससे अधिक शान्ति, इच्छा-शक्ति और धीरे-धीरे मनःसंयमकी शक्ति प्राप्त होगी।

३१९–साधारण मनुष्य नहीं जानता कि गम्भीर विचार क्या वस्तु है। उसके मानसिक चित्र बड़े ही विकृत (अव्यवस्थित) होते हैं। केवल विचारक, तत्त्वज्ञानी और योगियोंको ही यथार्थ और स्पष्ट मानसिक चित्रोंके दर्शन होते हैं। दिव्य दृष्टिसे उनका स्पष्टरूपसे दर्शन हो सकता है। जो एकाग्रता और ध्यानका अभ्यास करते हैं, वे मानसिक चित्रोंको सुन्दर और दृढ़ बना सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३२०–ध्यानमें आहारका प्रधान हाथ रहता है। इसका मनके साथ सीधा और घनिष्ट सम्बन्ध रहता है, क्योंकि मन आहारके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वसे बनता है। मस्तिष्कके विभिन्न भागोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भोजनका भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। नमक, मिर्च, मसालेसे युक्त व्यञ्जन, प्याज, शलगम, मद्य, मांस, सरसोंका तेल, इत्यादि पदार्थ वासना और भावनाको उत्तेजित करते हैं। साधकोंको विशेषरूपसे इनका त्याग करना चाहिये। भारी आहारसे तन्द्रा और आलस्य उत्पन्न होते हैं। साधकके लिये भोजन हल्का, सात्त्विक और पुष्टिकर होना चाहिये। शरीर अन्नमय है। अन्नमय कोषमें भैरवी चक्र रहता है, भैरवी चक्र माया है। लघु, सात्त्विक आहार, दुग्ध आदि विष्णु-चक्रकी ओर ले जाते हैं और पश्चात् वे ही सहजहीमें निर्विकल्प-अवस्थाकी ओर भी ले जाते हैं।

३२१–बार-बार स्वादु भोजनोंका आस्वादन, गप-शप करना, मनोरञ्जक दृश्योंका देखना, नाच-गान और स्त्रियोंका सहवास आदि जो मनके विलासके केन्द्र हैं उन्हें धीरे-धीरे और सावधानीके साथ नष्ट करो। मनुष्य-जातिकी सेवा, ध्यान और आत्मज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थोंका अध्ययन, ये तीन सात्त्विक सुखके केन्द्र हैं इन्हें बनाये रक्खो। जब तुम्हारा ध्यान बढ़ता जाय तो अध्ययन और जन-सेवाको भी कम करते जाओ। निर्वाण प्राप्त करनेके पश्चात् धर्म-प्रचार करो, काम करो और दिव्य ज्ञानका प्रसार करो। (गी० १८। ७०)

३२२–बार-बारका संशय पक्षपातका रूप धारण करता है। पक्षपात, घृणा और असहिष्णुताका रूप धारण करता है। बार-बारकी घृणासे द्वेष उत्पन्न होता है और द्वेषके बार-बार होनेसे मनुष्य जानी दुश्मन बन जाता है, ये सारी वृत्तियाँ द्वेष-भावनाके ही विभिन्न रूप हैं। उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता, तिरस्कार, घृणा ये सभी द्वेषके अनेक रूप हैं। सब मनुष्योंकी सेवा करो। सबमें भगवान्‌की सेवा करो। सबसे प्रेम करो। सबका सत्कार करो। विश्वप्रेमको बढ़ाओ। आत्मभाव और आत्म-दृष्टि ग्रहण करो। समभावसे देखो, सारे द्वेष नष्ट हो जायँगे। सम-दृष्टिकी साधना अत्यन्त कठिन है, पर उत्कट और सतत प्रयाससे अन्तमें सफलता प्राप्त होगी।

३२३–हँसीका अर्थ चतुरतासे किसीकी मान-हानि करना है; इससे मित्रोंमें अनबन हो जाती है, शत्रुताके भाव और विचारोंको उत्तेजना मिलती है। किसीकी निन्दा करना, अपराधी ठहराना, दिल्लगी करना, हँसी उड़ाना और अनुचित टीका-टिप्पणी करना, अपयश देना, मिथ्याभियोग, परिवाद, पिशुनता, उपक्रोश, असूया, छिद्रान्वेषण तथा दोषारोपण—इन सबको सूक्ष्म या स्थूल ईर्ष्याका ही विभिन्न रूप समझना चाहिये। ये द्वेषके भिन्न प्रकार हैं। ये सब मनुष्यकी तुच्छता और वास्तविक मानसिक संस्कृतिके अभावके द्योतक होते हैं। इनको दूर हटाना चाहिये।

३२४–मन्त्रसे मन शुद्ध होता है। केवल शुकवत् मन्त्र-पाठ करनेसे बहुत कम प्रभाव होता है, इसमें कुछ ही लाभ होता है। मन्त्र भावपूर्वक जपना चाहिये, तब यह आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न करता है। जबतक पुरुष अपने मनकी दृढ़ इच्छाशक्तिसे प्रोत्साहित नहीं होता, तबतक मन्त्रजपसे अधिक फल नहीं मिलता।

३२५–द्वेष केवल इच्छाका एक रूप है। जहाँ कहीं सुख और राग है, वहीं साथ-ही-साथ भय और द्वेष भी मौजूद होते हैं। भय और द्वेष सुख और रागके बहुत ही पुराने साथी हैं, वे सदा मनको दुःख दिया करते हैं। भय और द्वेष रागमें छिपे रहते हैं।

३२६–ज्ञानीमें तुच्छ इच्छाओंसे भरा वासनात्मक मन नहीं होता, परन्तु वह आध्यात्मिक सात्त्विक रूप रहता है। इसप्रकारके मनके स्वभावका अवलोकन करो, क्रोध या राग नष्ट हो जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसप्रकारके मनमें बुरे कर्मोंकी प्रेरणा नहीं होगी। यह सर्वथा स्थिर और सम होगा। सारी वासनाएँ अन्तर्हित हो जायँगी। आन्तरिक सन्तोष और दुःखसे छुटकारा पानेपर ज्ञानीके मनमें सर्वत्र सब पदार्थोंमें समत्वभाव उत्पन्न होता है। यहाँतक कि उसके शरीरसे सम्बद्ध दुःखादि जब उसके सामने आते हैं तो भी उसका मन कभी उनमें नहीं फँसता और न उनके विपक्षी सुख आदिमें ही रत होता है।

३२७–मनकी तुलना दर्पणसे की जाती है। यदि दर्पण मैला हो तो तुम अपने मुखको उसमें साफ-तौरसे नहीं देख सकते, उसी प्रकार जब मनमें मैल रहता है, तब तुम उसमें ईश्वरको स्पष्ट नहीं देख सकते और वहाँ ब्रह्मकी ज्योति स्पष्ट छिटकी हुई नहीं दीख पड़ती। खूब परिश्रमसे प्रतिदिन आध्यात्मिक साधना, ध्यान, निःस्वार्थकार्य, भक्ति आदिके द्वारा मनको शुद्ध करो, तुम्हें ब्रह्मका अनुभव होगा।

३२८–समाधिमें देखना, सुनना नहीं होता। इसमें भौतिक या मानसिक चेतना नहीं होती। इसमें केवल आध्यात्मिक चेतना होती है। इसमें तो केवल सत् रहता है, जो तुम्हारा असली स्वरूप है।

क्या करूँ ?

(ले०–श्रीसनकसनन्दनजी शर्मा श्रोत्रिय)

जीना चाहे तो जीवकी रक्षा कर। हरदम प्रभुका ध्यान रक्खा कर। अपने आश्रित प्राणियोंकी रक्षा कर। संसारमें शुद्ध जीवन बितानेका आयोजन कर।

निर्दिष्ट स्थानकी ओर दृष्टि लगाये हुए धैर्य और अध्यवसायके साथ चलता रह।

पापी होकर निष्पाप कहलवानेका स्वांग मत भरा कर।

अपना ही राग न अलापकर औरोंकी भी सुना कर।

यथासमय यथा सिद्धान्तसे काम लिया कर।

जो सच्चे सिद्ध कहें उसे किया कर। तेरे पास यदि कुछ काम नहीं हो तो परोपयोगी कामोंको ही किया कर; क्योंकि काहिल मनुष्य शीघ्र ही जाहिल हो जाता है। अतः काहिलीसे बचा कर।

शुद्ध वासना रक्खा कर। फिर इस शुद्ध वासनासे संसारमें जो भी तू चाहे उसके विशेषज्ञोंके पास जा, उनकी सेवा कर और अपना अभीष्ट सिद्ध कर।

जहाँ रहे वहाँकी हवा देख, यदि शुद्ध हो तो उसीमें साँस लिया कर, दूषित हो तो यदि कर सके उसे शुद्ध करले या प्राणायाम चढ़ा जा, या ऐसा करनेमें भी असमर्थ हो तो वहाँसे नाकपर कपड़ा डाल तुरन्त अन्य किसी सुवासित स्थानको भाग जा।

जीवनको उत्साहमयी उच्च शुद्ध तरङ्गोंमें ही बहाया कर।

अपने आचरणरूपी धवल वस्त्रमें पापरूपी कलिमा मत लगने दे, यदि सचेत रहते हुए भी लग ही जाय तो प्रायश्चित्तके साबुनसे उसे धो डाल।

तन (स्वस्थ) चाहिये ? इसे (तनको) शुद्ध रख।

मन निश्चिन्त चाहिये ? इसे (मनको) शुद्ध रख।

धन चाहिये ? इसे (धनको) शुद्ध रख, अधर्ममें मत लगा। धन-वृद्धि होगी।

ईश्वर चाहिये ? मन, वचन और कर्म तीनोंको शुद्ध रख।

यदि कुछ समझमें नहीं आता तो ध्यान लगाकर एकान्तमें बैठ और ईश्वरकी शरण जा। सन्त दावेसे कहा करते हैं कि तेरी बुद्धिमें वह प्रकाश आ जायगा जो तेरे मार्गको स्पष्ट दिखा देगा और तुझे अपने अभीष्ट स्थानपर पहुँचा देगा। यदि ध्यान भी नहीं लगता तो मित्र! मेरे कहनेहीसे एक बार कह दे कि 'यह सब जो कुछ मेरे चर्म-चक्षुओंके सम्मुख हैं वह सब विश्व-नियन्ताकी लीला है।' बैठ जा और उसे देखता रह, थोड़ी ही देरमें तेरा मन ध्यानमें स्वयं लग जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीगीता-ज्ञान-गङ्गोत्तरी

(श्रीगङ्गातीर-निवासी एक महात्माद्वारा प्राप्त भावपूर्ण रचना)

दोहा

पंच तत्त्व दस इन्द्रियाँ, यह सर्वत्र समान ।
देह सदा जडरूप है, आत्मा चेतन जान ।।

छन्द

दस पंच मध्य चैतन्य एक जिसका प्रकाश सारोंमें है,
जैसे सूरजका गुप्त तेज चन्द्रमा और तारोंमें है ।
उसके प्रकाशहीसे यह देह चैतन्य-रूप दिखलाती है,
वह व्यापक औ चैतन्य कला सच्चिदानन्द कहलाती है ।।

वह सच्चिदानन्द तुम ही तो हो, और वोही देश तुम्हारा है,
जो तीन गुणोंसे परेमें है और पंच कोशसे न्यारा है ।
ब्यौहारमें कर्म प्रधान है वह पर यथार्थमें निष्कर्मी है,
उस जगह तो 'ॐ तत्सत्' पद और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ही है ।।

दोहा

वह सबकी गति जानता उसे न जाने कोय ।
और अजन्मा वह सदा मरन न उसका होय ।।

छन्द

कट सकता नहीं शस्त्रसे वह अग्नि भी नहीं जला सकती,
उड़ सकता नहीं हवासे वह वर्षा भी नहीं बहा सकती ।
यह जन्म-मरन और काल कर्म इन सबका उसमें लेश नहीं,
आनन्द आपमें आप है वह उसको कुछ होता क्लेश नहीं ।।

उसमें ही यह नाना शरीर बनते व बिगड़ते जाते हैं,
जिस तरह पुराने होनेपर यह वस्त्र बदलते जाते हैं ।
उसकी उस अद्भुत शक्तिको नहीं जड़ शरीर पहिचाने है,
वह इस शरीरकी सभी दशा सर्वत्र हर समय जाने है ।।

दोहा

कान्तिरूप है आतमा देह भ्रान्ति ही भ्रान्त ।
इसी रूपका एक मैं कहता हूँ दृष्टान्त ।।

छन्द

मिट्टीके घड़े अनेकों हैं और सब पानीसे भरे हुए,
वह एक जगह या कई जगह या बहुत जगह हैं धरे हुए ।
देखो सूरज आकाशमें है और छाया सभी घड़ोंमें है,
है एक विलक्षण अटल तेज और माया सभी घड़ोंमें है ।।

जिस घड़ेको जाकर अब देखा सूरज ही नज़रमें आता है,
नहीं एक ही जगह है वह सबमें जल्वा दिखलाता है,
अच्छा अब घड़ा टूटता है जल गया सहारा नहीं रहा,
सूरज औ छाया अब भी है पर वह उजियारा नहीं रहा ।।

दोहा

इसी तरह संसारमें घटरूपी यह देह ।
छाया रूपी जीवके लिये यही है गेह ।।

छन्द

सूर्य रूप है वही एक जो सब पर तेज डालता है,
यथार्थमें है वही अंश पर नाना रूप भासता है ।
जो घड़ा टूटता जाता है सो सब मिट्टी ही मिट्टी है,
छाया अब नज़र नहीं आती यह ही धोखेकी टट्टी है ।।
वास्तवमें सूरज भी है औ छाया भी कहीं नहीं जाती,
ऐसे ही ब्रह्म अटल है और माया भी कहीं नहीं जाती ।
छायाका आना जन्म हुआ जाना मरना कहलाता है,
वास्तवमें जन्म मरन होना एक स्वप्न नज़रमें आता है ।।

दोहा

यों ही सब संसारका चलता है बस कार्य ।
सोचो अब कहाँ अर्जुन और कहाँ आचार्य ।।

छन्द

तुम सच्चे बनो कर्मयोगी निष्काम करो कर्तव्य सदा,
उस ज्ञानानलमें भस्म करो सब पाप और भवितव्य सदा ।
अपने अपने कर्मानुसार सब शरीर दुख-सुख भरते हैं,
तुम नहीं किसीको मार रहे सब निज मृत्युसे मरते हैं ।।
स्थिर होकर अपने पदमें सम दृष्टी शोभा पाती है,
क्षत्रीके यहाँ जन्म लेकर कायरता नहीं सुहाती है ।
सुन लिया और सब समझ गये अब मनमें तुम न डरो अर्जुन,
गुरुओंका संशय दूर करो अपना कर्तव्य करो अर्जुन ।।

दोहा

समझो सोचो है यही श्रीगीताका ज्ञान ।
घटमें ही है प्रगट सच्चिदानन्द भगवान ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नयनन आगे नूर है कहाँ बताऊँ दूर ।
बिन सतगुरु नहिं पाइये कोटि जनम पच कूर ।।
तेरा साहिब तुझीमें ज्यों पथरीमें आग ।
मिलना चाहे पियासे तो चकमक होकर लाग ।।
ज्यों तिलमाँही तेल है ज्यों चकमकमें आग ।
तेरा साईं तुझीमें है जाग सके तो जाग ।।

हरिको ढूँढत कहँ फिरे हरि हिरदैके माहिं ।
परदा डाला मरमका तासों दीखत नाहिं ।।
जो गीताको जानिहैं जोगी ताको जान ।
जो गीता नहिं जानिहैं ताहि न जोगी मान ।।
यह तो गति है अटपटी झटपट लखै न कोय ।
जो मनकी खटपट मिटै तो चटपट दरसन होय ।।

लक्ष्मीनारायण गुप्त

ज्ञानाग्नि

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल)

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

सभी जानते हैं कि अग्नि क्या करती है। फिर भी कुछ बता देता हूँ। काठ पाती है तो उसे जलाकर खाक कर डालती है, लोहा या किसी दूसरी धातुमें लगती है तो उसे गलाकर जलवत् कर देती है, सोना चाँदी आदि कीमती धातुओंमें कोई खाद मिली होती है तो अग्नि उसे निकालकर धातुको निर्मल और उज्ज्वल बना देती है, उसकी चमक बढ़ा देती है। कहीं घर-द्वारमें लग जाय तब तो कहना ही क्या है? भलीभाँति जलाकर उसके चारों ओर मनुष्यके शरीर और मनद्वारा रचित व्यवधानोंको नष्ट कर डालती है। ठीक नजर रक्खी जाय तो खाद्य-वस्तुओंको पकाकर भोजनके उपयोगी बना देती है। जलका लोटा आगपर चढ़ा दो, वह उसको पकाकर उसके अन्दर रहनेवाले बुरे कीटाणुओंका नाश कर उसे स्वास्थ्यके अनुकूल बना देती है। तुम्हारी देहपर यदि एक लाल अँगारा डाल दिया जाय तो तुम कैसे ही सहिष्णु क्यों न हो, तुरन्त उठकर नाचना शुरू कर दोगे। प्राचीनकालमें यही अग्निदेव एक दक्ष जजकी भाँति धर्माधर्म और सत्यासत्यका निर्णय करते थे। पता नहीं, हमारे सौभाग्य या दुर्भाग्यसे आजकल उन्होंने इस कामसे पेन्सन ले रक्खी है। जो कुछ भी हो, जिस अग्निमें इतने गुण हैं, वह देवता नहीं तो क्या है? जो जडबुद्धि हैं, वे ही अग्निकी गणना जड पदार्थोंमें करते हैं।

बड़े जोरसे चिल्लाहट मचती है 'अरे आग लग गयी, सब कुछ खाक हो गया। मुहल्ला, गाँव, देश सब भस्म हो गया, हाय मरे!' अग्निकी इस भीषण विकराल मूर्तिको देखकर लोग 'त्राहि त्राहि' पुकारने लगते हैं, किन्तु भाई! यह आग लोगोंका सर्वस्व नाश करनेके समय भी उनका जितना उपकार करती है, उपकार करनेके लिये कमर कसकर आनेवाले मनुष्य उतना उपकार नहीं कर सकते। वायुके अन्दर रहनेवाले जो रोगके बीजाणु विविध भोग्य-पदार्थोंमें स्थान पानेके लिये चौबीसों घण्टे घूमा करते हैं, घर जलानेके बहाने यह अग्नि उन सब डाकुओंको देश-निकाला दे देती है। मनुष्यका ऐसा मित्र और कौन होगा? इसीलिये तो आर्य-ऋषियोंने अग्निदेवको अपने यज्ञ कर्मोंमें पुरोहितका पद दिया था।

इस अग्निके अनेक रूप हैं और वे सभी सर्वत्र ही जलानेके काममें लगे हुए हैं। पेटके अन्दर यही जठराग्नि है। यह प्रतिदिन खाये हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चर्व, चोष्य, लेह्य, पेय चतुर्विध आहारको पकाती है और उसका पकाया हुआ आहार ही मनुष्यके अन्दर कान्ति, शक्ति और बुद्धिके रूपमें परिणत होता है। यही मनुष्य जातिमें पुष्टि, नीरोगता और शान्ति फैलाकर मनुष्यको एक अपूर्व श्री प्रदान करती है। प्राणोंमें तनिक-सी अग्नि मन्द होते ही मनुष्यको वैद्योंके दरवाजे खटखटाने पड़ते हैं और जलवायु बदलनेके लिये देश-विदेश यात्राकी धूम मच जाती है। मनके अन्दर भी इसी अग्निका एकछत्र साम्राज्य है। उसमें कभी कामाग्नि, कभी चिन्ताग्नि और कभी क्रोधाग्निके रूपमें इसका उदय होता है। उस समय यह सारा विश्व भ्रमसे एक कुम्हारके चक्रके समान जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमें शरीर और शरीरकी धातुएँ ही काठका काम देती हैं। वही जलकर खाक होती हैं।

इसी अग्निकी एक और मूर्ति है एवं उसके समान पवित्र और हितकारी संसारमें और कुछ भी नहीं है। उसका नाम है 'ज्ञानाग्नि'।

देहाभिमान, उसके कर्म और समस्त प्रवृत्तियाँ इस ज्ञानाग्निमें ईंधन बन जाते हैं। जैसे अग्निमें जितना ही ईंधन पड़ता है, वह उतनी ही जोरसे धधकती है और शेषमें जैसे एक अपूर्व ज्योति बनकर सब दिशाओंको प्रकाशित कर देती है वैसे ही तप और पुण्यके प्रभावसे जब यह ज्ञानाग्नि जल उठती है, तब समस्त कर्मराशि एकबारगी ही भस्म होकर चित्तपर अपूर्व ज्योतिका अधिकार हो जाता है। इसी ज्योतिकी सहायतासे हम शुक्ल या देवयान-मार्गको पहचान सकते हैं।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।

अग्नि जबतक काठके अन्दर रहती है, तबतक उसे कोई देख नहीं सकता, वह अव्यक्त रहती है इसलिये केवल काठ ही दीखता है, परन्तु उसके प्रकट हो जानेपर फिर वह काठ—काठ नहीं रह जाता; वह भी अग्नि ही बन जाता है। इसी प्रकार यह ज्ञानाग्नि हमारे अन्दर गुप्तरूपसे निवास करती है, जब सन्त या गुरुकी कृपासे यह प्रकट हो जाती है, तब इस देहतकको ज्योतिर्मय बना देती है। शरीर भी फिर केवल ज्योतिरूप ही प्रतीत होता है। फिर जड कुछ रह ही नहीं जाता। जैसे अग्निमें जलकर जब काठ भस्मावशेषरूपमें परिणत हो जाता है, तब केवल अग्नि ज्योतिका एक 'अरूप' तेज ही सर्वत्र छाया देखा जाता है, वैसे ही जब मनुष्यके अगणित कर्मकाष्ठ इस ज्ञानाग्निमें जलकर खाक हो जाते हैं, तब केवल ज्ञानाग्नि ही जलती रहती है; मनुष्यकी दुष्ट चिन्ताएँ संकल्प-विकल्प और अहंकार आदि समस्त काम-शरीर इस प्रदीप्त ज्ञानाग्निकी लपटोंमें विलीन हो जाते हैं। यह अग्नि हमारे-तुम्हारे सबके अन्दर है। इसी ज्योतिका विकास करनेके लिये गुरुरूपी चकमककी आवश्यकता है। इसीके लिये मनुष्यकी जीवनव्यापिनी साधना है। इस अग्निके प्रकट होते ही, सूर्योदयसे अन्धकारके विलीन हो जानेकी भाँति, समस्त अज्ञान, सभी जडता और कर्मके कुल बन्धन कहाँ समा जाते हैं, कुछ पता ही नहीं लगता। तब रह जाती है केवल अग्नि—सर्वमयी अग्नि। केवल प्रकाश, केवल ज्योति, केवल आलोक। तब केवल आनन्दसे समस्त दिशाएँ सर्वथा भर जाती हैं। आनन्द और आलोक प्रकाशसे समस्त दृश्योंमें एक अपूर्व सौन्दर्यका विकाश हो जाता है। उस समय यह प्रतीत होता है कि बस, एक ही अखण्ड चेतन त्रिभुवनमें छाया हुआ है।

जडता शरीरको भारी कर देती है, प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि आलसी मनुष्य उठना ही नहीं चाहता। ऐसे लोगोंको सभी काम भारी मालूम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं। अग्निके समीप रहनेसे जडताका नाश होता है। जाड़के दिनोंमें जब सरदीके मारे सारा शरीर ठिठुरकर जडवत् हो जाता है, तब अग्निकी कृपासे ही हम जडत्वके कठिन बन्धनसे छूटा करते हैं। अग्नि शोकका हरण करती है। मोहरूपी कारणका कार्य ही तो शोक है, अग्नि प्रकाशस्वरूप है, इसीलिये अग्निकी प्रकाशमयी सत्त्व-शक्तिके सामने मोहकी तामसिक-शक्ति नहीं ठहर सकती। अग्निकी शोकनाशकताका पता शव-दाहके समय खूब लगता है। अग्निमें इतने गुण होनेके कारण ही प्राचीन कालमें ब्राह्मणोंने अग्निको जीवनका चिरसंगी बनाया था। वे अपने भीतर-बाहर सदा-सर्वदा ही इस अग्निकी धूनी जगाये रखते थे। बाहरकी अग्नि तो हमारे सामने ही है, भीतरकी अग्नि है ज्ञान। वह भी लौकिक और अलौकिकके भेदसे दो प्रकारका है। जिससे इन्द्रियसाध्य वस्तुएँ जानी जाती हैं, वह लौकिक-ज्ञान है और जिससे अतीन्द्रिय-वस्तुका ज्ञान होता है, वह अलौकिक है। इस अग्निकी उपासना करते-करते 'यो देव अग्नौ' अग्निदेव प्रकट हो जाते हैं। वह अग्निदेव ही हैं हमारे 'सच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योति।' आत्माकी खोज करनेवाले इसीका पता पाकर निश्चिन्त हो जाते हैं। इस परम तत्त्वको पाकर इसके सामने वे अन्यान्य लाभोंको कोई लाभ ही नहीं मानते। आत्मतत्त्वकी खोज करनेवाले साधक इसी परमज्ञानके लिये जीवनभर ब्रह्मचर्यमें अचलप्रतिष्ठ होकर रहते हैं। इस ज्योतिके प्रत्यक्ष दर्शन करके अर्जुन भयभीत होकर विह्वल स्वरोंमें पुकार उठे थे—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥

पहले-पहले मनुष्य रोग, शोक, अभाव और दुःखकी अग्निमें जला करता है, तो भी उस अग्निको सिरसे नीचे उतारना नहीं चाहता, वह इसी अग्निके प्रवाहमें तैरा करता है। इसके बाद गुरु-कृपासे जब वह स्थितिको समझकर यथायोग्य व्यवस्था करता है, तब अग्नि प्रदीप्त होनेके पहले धूएँकी भाँति साधनके पहले भागमें धूएँकी तरह चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार देखता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो इस यात्रामें कुछ भी नहीं होगा। किन्तु यदि साधक धीरज नहीं छोड़ता तो धीरे-धीरे वह रसा-स्वाद पाने लगता है। तदनन्तर वह आप ही मजबूत हो जाता है। फिर उसके मनमें किसी भी कारणसे विषाद नहीं होता। इसके बाद वह इस विद्युत्-ज्वालामय प्रकाशके अन्दर कोटि-कोटि सूर्योंका प्रकाश और उसके अन्दर 'चन्द्रकोटिसुशीतलम्' को देखकर शान्त हो जाता है। उसका मनुष्य-जीवन धन्य होता है। जिसको इस परमज्योतिका पता नहीं लगता, उसे केवल अग्निकी जलती हुई लपटोंका ही अनुभव होता है। वह इसकी प्रकाश-शक्तिको, इसकी दिव्य-शक्तिको नहीं समझ पाता। आइये! हम सब इस प्रकाशमान् शुभ्र ज्योतिर्मय पुरुषकी चरण-वन्दना करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्त-गाथा

बन्धु महान्ति

उड़ीसा-जिलेके याजपुर-गाँवमें बन्धु महान्ति रहता था, उसके घरमें पतिपरायणा धर्मपत्नी, एक बालक और दो बालिकाएँ थीं। बन्धु बड़ा ही गरीब था, भीख ही उसकी आजीविका थी, परन्तु भीख माँगकर धन जोड़ना और रुपये जमीनमें गाड़ रखना उसका काम नहीं था। वह गाँवमें जाता, आजभरके खानेके लिये अन्न मिल जाता तो लौट आता और उसे लाकर पत्नीको दे देता। उसी अन्नसे अतिथि-सेवा होती, बच्चोंको खिलाया-पिलाया जाता, शेषमें कुछ बच रहता तो दोनों खा लेते, नहीं तो हरिका नाम लेकर उपवासी रह जाते। बाहरसे देखनेपर बन्धु-परिवारकी स्थिति बड़ी ही कष्टपूर्ण प्रतीत होती थी, परन्तु उसके हृदयमें लेशमात्र भी क्लेश नहीं था। भगवान्में अटल विश्वास और प्रगाढ़ प्रेमने उसके अन्तस्तलको बड़ा ही मधुमय बना रक्खा था। दोनों स्त्री-पुरुष दिन-रात भगवान्के स्मरणमें लगे रहते थे। भगवान्का नाम ही उनके लिये महामन्त्र था, भगवान्के भक्त ही उनके प्रत्यक्ष देवता थे। भगवान् और भक्तोंका प्रसाद ही उनके लिये उत्तम आहार था और उनका चरणोदक ही उनके मन सर्वव्याधि-नाशक महौषधि थी। उनको किसी भी वस्तुकी चाह नहीं थी, वे विषयी मनुष्योंकी दृष्टिमें सञ्चय-हीन दरिद्र भिखारी होनेपर भी मनमें महाधनी थे, बादशाहोंके बादशाह थे, सच है—

चाह गयी चिन्ता गयी मनुवाँ बेपरवाह।
जिनको कछु ना चाहिये सोई शाहनशाह॥

—बड़ा सम्राट् है, परन्तु उसका हृदय यदि चिन्तानलसे दग्ध हो रहा है तो वह भिखारीसे भी बढ़कर दुखी है। इधर जो चाहसे छूटा हुआ निःस्पृही पुरुष है, वह कंगाल होनेपर भी परम धनवान् है। बादशाह उसके चरणोंमें आकर चाहे सिर झुकावे, वह किसी बादशाहके दरवाजेपर नहीं जाता। फिर जिसके पास भजनरूपी धन हो, सारे ऐश्वर्यके आधार ईश्वरका जिसको आश्रय हो, उसकी तो बात ही निराली है। इसी कारण बन्धु महान्ति दरिद्र होनेपर भी परम सुखी है। उसकी टूटी मढ़ैया, फूटी हँड़िया, फटा कन्था, सौ-सौ गाँठ लगी हुई धोती और जीर्ण शरीरके आवरणको भेदकर अन्दरकी ओर देखनेसे पता लगता है, मानो विश्वका सारा आनन्द उसीके अधिकारमें आ गया है, समस्त आनन्द केवल उसीकी सम्पत्ति बन गया है—

जाके पल्ले श्याम-धन ता सम धनी न कोय।
चिन्तन ही करतो रहै, तन-मनकी सुधि खोय॥

(१)

देशमें भयानक अकाल पड़ा। खेतोंमें अनाज नहीं, जंगलमें घास नहीं और कुएँ-तालाबोंमें पानी नहीं। चारों ओर हाहाकार मच गया है। कहीं भीख नहीं मिलती। तीन दिन हो गये, बन्धु-परिवार उपवास कर रहा है। बन्धु और उसकी पत्नीको अपने लिये तो कोई क्षोभ नहीं है, परन्तु बच्चोंकी बिलबिलाहटसे माताका हृदय कभी-कभी काँप जाता है। सतीने पतिसे कहा—'स्वामिन्! मेरे तो नैहरमें कोई भी नहीं रहा है, जिससे कुछ सहायता मिल सके, परन्तु क्या आपके भी कोई बन्धु-बान्धव नहीं हैं? यदि कहीं हों तो वहाँ चले चलिये। बच्चोंको दो मुट्ठी अन्न मिल जायगा तो दुर्भिक्षके दारुण दिन किसी तरह कट जायँगे।'

बन्धुने उत्तरमें कहा—'सति! मेरे इस जगत्में तो कोई भी आत्मीय स्वजन नहीं है। हाँ, एक हृदयके मित्र हैं, परन्तु वह रहते हैं बहुत दूर, यहाँसे पूरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँच दिनका रास्ता है। हमलोग यदि उनके पास पहुँच जायँ तो हमारी सारी भूख सदाके लिये मिट सकती है। आहा! उनका नाम ही कितना मीठा है। प्रिये! मेरे उस बन्धुका नाम है 'दीनबन्धु', वह हम-सरीखे दीनोंके प्रति बड़ा ही प्रेम करते हैं।'

सतीको पतिके वचनोंसे बड़ा सुख मिला, उसने हर्षावेशमें आकर कहा—'नाथ! पाँच दिनोंका पथ है तो क्या है? चलिये, वहाँ दीनबन्धुके दरबारमें जाकर अपना सारा दारिद्र्य-दुःख सदाके लिये दूर कर लें। छोटे बच्चेको आप कन्धेपर उठाइये, छोटी लड़कीको मैं लेती हूँ, बड़ी लड़की पैदल चली जायगी। सामान तो कुछ है ही नहीं जो उठाना पड़ेगा। पाँच ही दिन तो हैं, घास-पत्ते खाते-खाते पहुँच ही जायँगे।'

बन्धुने मुसकुराकर इशारेसे सम्मति दे दी, पत्नी घरके अन्दर गयी। इधर बन्धु मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना करने लगा—'प्रभो! मेरे नाथ! तुम अन्तर्यामी हो, घट-घटकी जानते हो! मैं क्यों देश छोड़कर जा रहा हूँ, तुमसे कुछ भी छिपा नहीं है। प्रभो! तुम्हारा प्रेम ही मुझे खींचे लिये जा रहा है। बहुत दिनोंसे तुम्हारे चरण-दर्शनकी अभिलाषा थी। आज इस दुर्भिक्षरूपी बन्धुकी सहायतासे जगद्बन्धुके दर्शनका मनोरथ सफल होगा। मृत्युके भयसे देश छोड़ना तो पागलोंका काम है। मृत्यु कहाँ नहीं है? संसारमें तुम्हारी सत्तासे शून्य ऐसा कौन-सा स्थान है, जहाँ तुम मृत्युरूपसे क्रीड़ा नहीं करते? क्या अन्न न मिलनेके कारण कोई भगवान्का विश्वासी कहीं जाता है? नाथ! तुम विश्वम्भर हो, जल-थलमें सबका पेट भरते हो, समुद्रके अन्दर रहनेवाले, पहाड़के क्षुद्र कीड़ेकी भी सुधि तुम लेते हो,ऐसे विश्वम्भरको पाकर तुम्हारी सत्ता और महत्ताको समझकर कौन ऐसा है जो पेटके लिये दर-दर दौड़ेगा? भाँति-भाँतिके पाप करेगा? यह तो अविश्वासी मनुष्योंका काम है जो तुम्हारे विश्वम्भरपनको न मानकर पेटके लिये पाप करते हैं। मेरे नाथ! मैं तो आज इन लोगोंको लेकर तुम्हारी मनमोहनी छबि देखनेके लिये जा रहा हूँ। मेरे नाथ! वह दिन कब होगा, जब मुझे तुम्हारे चरणकमलोंके दर्शनका सौभाग्य मिलेगा। ऐसा होगा तो मैं समझूँगा कि यह दुर्भिक्ष मेरा बड़ा ही हितकारी बन्धु है,जिसने सर्वकल्याणमयी तुम्हारी श्रीमूर्तिका मुझे दर्शन कराया। नाथ! आशीर्वाद दो, जिससे नीलाचल पहुँचकर तुम्हारे सुर-मुनि-वन्दित चरणोंके दर्शन कर सकूँ।'

इतनेमें स्त्री बच्चोंको लेकर बाहर आ गयी। बन्धुने फटे कन्थेकी गँठरी सिरपर रक्खी, लोटा हाथमें लिया, बच्चेको कन्धेपर बैठाया और 'श्रीहरि, हरि' कहकर चल पड़ा। पत्नी छोटी लड़कीको कन्धेपर उठाकर और बड़ीकी अंगुली पकड़ पीछे-पीछे चलने लगी।

रास्तेमें कहीं अन्न नहीं मिला। शाक-पत्ते खाकर ही काम चलाया गया। बन्धुको तो भूख-प्यासकी खबर ही नहीं है, वह तो प्रियतमके मिलनार्थ अभिसारिकाकी भाँति छूट जाना चाहता है, परन्तु भूखे स्त्री-बच्चोंको साथ रखनेके कारण वैसा कर नहीं पाता। पाँचवें दिन सन्ध्या होते-होते बन्धु परिवार-सहित श्रीपुरुषोत्तम-क्षेत्र (पुरी) में पहुँचा। श्रीमन्दिरके दूरसे ही दर्शन कर वह गद्गद हो गया और बोला—'सति! वह देखो, मेरे प्यारे बन्धु दीनबन्धुका मन्दिर दिखायी पड़ता है।' पतिके वचन सुनकर ब्राह्मणीके शरीरमें भी बल आ गया, उसने सोचा, अब बच्चोंके प्राण अवश्य बच जायँगे। नवीन आशासे उसका हृदय भर गया। मलिन मुख सहसा खिल उठा। देखते-ही-देखते सब सिंहद्वारके सामने आ पहुँचे। आनन्दके आवेशमें सारी थकावट दूर हो गयी!

(२)

सिंहद्वारपर बड़ी भीड़ है, इस समय भूखे स्त्री-बच्चोंको साथ लेकर भीतर जाना असम्भव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझकर बन्धुने दूरसे ही भगवान् जगद्बन्धुके दर्शन किये और मन्दिरके दक्षिणकी ओर पेज-नाले (फेन बाहर निकलनेके नाले) के पास लाकर सबको बैठा दिया। थोड़ी देर बाद स्त्रीने कहा-'स्वामिन्! बन्धुके घर आकर भी इस पेजनाले-पर क्यों बैठे हो ? देखो, सन्ध्या हो गयी है, अभी घोर अन्धकार सारे धरती-आकाशपर छा जायगा, तब इन बच्चोंको लेकर कहाँ जाओगे ? एक बार अपने बन्धुसे मिल तो आओ, कुछ मिले तो लाकर इन बच्चोंके प्राण बचाओ।'

एक बार द्वापरयुगमें सुदामाकी भोली पत्नीने भी दरिद्रताके कारण दुखी होकर पतिदेवको उनके बन्धुवर श्रीद्वारकाधीशजीके समीप भेजा था। उसीकी पुनरावृत्ति यहाँ भी हो रही है। दृढ़-निश्चयी बन्धुने मन-ही-मन सोचा—'तुच्छ आहार-की कामनासे दीनबन्धुके पास जाना उचित नहीं, सबेरे मन्दिर खुलनेपर दर्शनार्थ जाऊँगा।' अतएव उसने कहा-'सति ! हमलोग बड़े कुअवसरसे आये हैं। इस समय बन्धुके साथ भेंट होना बड़ा कठिन है। आज अनेक जगहसे—दूर-दूरसे—उनके और भी बहुत-से मित्र आये हैं, उनकी भीड़के मारे मन्दिरमें प्रवेश करना कठिन हो रहा है। आज यही पेजपानी (नालेका फेन) पीकर रात बिताओ। सबेरे एकान्तमें बन्धुसे मिलकर सारी बातें कहूँगा।'

आदर्श पतिव्रताके मनमें पतिकी बात जँच गयी, उसने कहा-'अच्छी बात है, अभी फेनसे ही काम चलाया जाय।' बन्धु कहींसे एक फूटी हँड़िया उठा लाया और फेनके कुण्डमें उसे डुबो-डुबोकर पत्नीको देने लगा। स्त्रीने तीनों बच्चोंको पिलाया और खुद भी पेटभर पीया। आह! अन्नकी कद्र भूखे ही जानते हैं, जिनको अधिक खानेके कारण मन्दाग्नि हुई रहती है उन्हें भूखकी व्याकुलताका पता नहीं। आज इन भूखे प्राणियोंको यह फेन कितना मीठा लगता है, कैसे अमृतका स्वाद देता है; इस बातका दूसरोंको अनुभव ही नहीं हो सकता। फिर यह तो भगवान्के प्रसादका फेन था। इसमें तो महान् माधुरी होनी ही चाहिये।

स्त्री-बच्चोंका पेट भर गया, वे सो गये। इधर बन्धु महान्ति प्रेमपूर्ण हृदयसे अपने बन्धुका चिन्तन करने लगा, उसने मन-ही-मन कहा—

'मेरे नाथ ! तुम्हारे चरणोंमें नमस्कार है, तुम सारे चराचरमें व्याप्त हो, तुम्हीं सब जीवोंके मनोरथ पूर्ण करते हो, इस जगत्में तुम्हारे सिवा और कोई भी स्वतन्त्र कर्ता नहीं है। तुम बड़े कृपालु हो, जीवोंपर कृपा करना ही तुम्हारा कार्य है। मेरे मनमें कोई कामना हो तो उसे दूर कर दो और ऐसी कृपा करो, जिससे मैं तुम्हारी कृपाके दर्शन प्रतिपल कर सकूँ। स्त्रीसे कह दिया है सबेरे तुमसे मिलकर सारी दुःख-कहानी सुनाऊँगा। परन्तु नाथ ! मैं क्या सुनाऊँ। तुम सभी तो जानते हो।' यों प्रार्थना करते-करते बन्धु महान्ति ध्यानस्थ हो गया।

इधर श्रीजगन्नाथजीकी सेवा समाप्त हुई, पुष्पाञ्जलि दी गयी, सेज बिछी, प्रभु सोये, भण्डारी-ने भण्डारमें ताला लगाया, पण्डोंने मन्दिर-द्वारपर रस्सी बाँधकर उसपर मुहर लगा दी, मशालें जल गयीं, मन्दिरमेंसे सब कोई बाहर चले गये, चारों ओर किवाँड़ लग गये, सब दरवाजों-पर ताले लग गये, सेवकगण अपने-अपने घर जा कर निद्रामग्न हो गये।

सब सो गये, परन्तु भक्तवत्सल भगवान्को नींद नहीं आयी। भक्तकी करुणाजनक स्थितिका खयाल आ जानेसे उनके लिये सुकोमल शय्यापर सोना और जगन्माता श्रीलक्ष्मीजीसे सेवा कराना भार हो गया। वे उठे और तुरन्त भण्डारमें आये। 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' के लिये कौन बड़ी बात थी! भण्डारसे रत्नथाल निकाला, उसमें पहलेसे ही बचाकर रखा हुआ छप्पन भोग प्रसाद सजाया और स्वयं एक ब्राह्मणके वेशमें दक्षिण द्वार-के बाहर आकर पुकारने लगे—'बन्धु ! ओ बन्धु !'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुकार सुनकर बन्धुकी आँखें खुलीं। उसने सोचा, इतनी रातको मुझे कौन पुकारने आवेगा? किसी दूसरेका नाम 'बन्धु' होगा, फिर सोचा कि कहीं प्रभु तो नहीं आ गये परन्तु निश्चय किये बिना बोलना उचित नहीं समझा।

फिर 'बन्धु, बन्धु' की आवाज आयी, स्त्रीने जगकर पतिको जगाते हुए कहा—'सुनिये तो कौन पुकार रहा है?' बन्धु बोले—'मुझे कौन पुकारेगा, क्या पुरीमें किसी दूसरेका नाम 'बन्धु' नहीं हो सकता? सो रहो, घबराओ नहीं।'

पतिकी आज्ञा पाकर स्त्री सो गयी। अन्तर्यामी भगवान्‌ने भक्तके मनकी बात जानकर फिर ऊँचे स्वरसे पुकारा, परन्तु इस बार केवल 'बन्धु' नहीं कहा, आप बोले—'ओ याजपुरिया बन्धु! ओ, ओ पेजनालेपर सपरिवार भूखे पड़े हुए बन्धु! उठो भाई! यहाँ आओ। मैं तुम्हारे लिये प्रसाद लिये खड़ा हूँ।'

बन्धुने सब सुना, उसका शरीर पुलकित हो गया, उसने सोचा—'क्या सचमुच मुझे दीनबन्धु पुकार रहे हैं? मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। नहीं, स्वप्न तो नहीं है। वह फिर पुकार रहे हैं। उनके बिना मुझे कौन पहचानता? कौन सबकी स्थिति जानता है? अवश्य वही हैं।' यह विचारकर हड़बड़ाता हुआ बन्धु उठा, देखता है तो एक ब्राह्मण रत्नथाल लिये खड़ा है। बन्धुके सामने जाते ही ब्राह्मणने कहा—'आनेमें क्या इतनी देर की जाती है? पुकारते-पुकारते मेरा गला छिल गया। देखो न, थालके बोझसे मेरे हाथ थरथर काँप रहे हैं। यह थाल लो, जाओ, आज इसीसे काम चलाओ, कलसे तुम्हारे रहने-खानेका सारा प्रबन्ध हो जायगा। कोई चिन्ता न करो, सुखसे खाकर सो रहो।'

बन्धु महान्ति तो मन्त्र-मुग्धकी भाँति हो गया, वह चकित नेत्रोंसे देखता ही रह गया, आज्ञानुसार उसने थाल ले लिया, परन्तु कुछ बोल नहीं सका! साहस करके कुछ कहना चाहता था, इतनेमें ही ब्राह्मण-वेषधारी भगवान् अन्तर्धान हो गये! बन्धु जड पत्थरकी तरह वहीं खड़ा रह गया। न मालूम यह दशा कितनी देर रही। तदनन्तर उसने मतवालेकी भाँति झूमते हुए पेजनालेके पास आकर स्त्री-बच्चोंको जगाया। सबने मिलकर परमानन्दसे महाप्रसादका भोजन किया। प्रसाद खाते ही सारी भूख सदाके लिये मिट गयी। जल लेकर स्त्रीने थाल धोया, बन्धु थाल लौटानेको उसे लेकर सिंहद्वारतक गया, परन्तु वहाँ किसीको न देखकर वापस लौट आया और उसे एक फटे-पुराने चिथड़ेमें लपेट अपने सिरहाने रखकर सो गया। और तो सबको नींद आ गयी, परन्तु बन्धु-की अवस्था कुछ विलक्षण ही है, वह अवस्था न नींद है और न जाग्रत् ही है। वह मोहालस्यसे अतीत, तामस सुखसे परेकी आत्मानन्दसे उद्भासित एक महानन्दकी मादकता है। जिसे यह अवस्था प्राप्त होती है, वही इसका आनन्द जानता है। भगवान्‌का रत्नथाल आज बन्धुके लिये भगवान्‌का रूप हो रहा है और वह उसे कभी हृदयसे लगाता है, कभी मस्तकपर रखता है, कभी नेत्रोंसे स्पर्श करता है। धीरे-धीरे आनन्द-मदिराका नशा बढ़ता ही गया। उसका शरीर अवश हो गया और थालीपर सिर रखकर वह अचेत होकर गिर पड़ा।

(३)

प्रातःकाल भगवान्‌का मन्दिर खुला, सेवक अपने-अपने काममें लगे। भण्डारीने भण्डार खोला, तो देखते ही उसके होश हवा हो गये। सारी चीजें अस्त-व्यस्त पड़ी हैं। प्रभुका बहुमूल्य रत्नथाल नहीं है। उसने हल्ला मचाया, सब लोग इकट्ठे हो गये। थालकी खोज होने लगी। न मालूम किस-किसपर सन्देह हुआ और इस निमित्तसे पूर्व कर्मके भोगवश किस-किसपर मार पड़ी। चारों ओर शोर मच गया। ढूँढते-ढाँढते कुछ लोग पेजनालेके पास आये, देखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो थालपर सिर रक्खे एक आदमी सो रहा है, उसके पास एक स्त्री और तीन बच्चे भी सोते हैं। 'पकड़ो, पकड़ो' की पुकार मच गयी। बन्धु परिवार-सहित जागा और सामने ही लाल-लाल आँखोंवाली विकराल मूर्तियोंको देखकर दंग रह गया। पूछनेका भी अवसर नहीं मिला, गालियों और थप्पड़ोंकी बौछार होने लगी। स्त्री-बच्चे रोने लगे, परन्तु परम विश्वासी बन्धु अचल अटल-रूपसे 'गोविन्द, गोविन्द' पुकार रहा है। इस शरीरसे मानो उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। शरीरके सुख-दुख मानो उसपर कोई असर ही नहीं कर रहे हैं। कैसे करते ? वह तो परमात्माके प्रेमानन्दसागरमें डूब रहा है। महान् आनन्दमें सराबोर हो रहा है। परमानन्दरूप बन रहा है, उसे इन बाह्य दुःखोंसे क्या मतलब है ?

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

बन्धु पकड़ लिया गया, कोटवालके पूछनेपर उसने सारी कथा सच-सच सुना दी कि इस तरह रातको एक ब्राह्मण इस रत्नथालमें मुझे महाप्रसाद दे गया था। परन्तु बाहरके पुजारी इस अन्तरंग प्रेमीकी बातपर कैसे विश्वास करते ? उन्होंने बच्चोंसमेत दोनों स्त्री-पुरुषको कैदखानेमें भेज दिया। हाथ-पैरोंमें हथकड़ी-बेड़ी डाल दी गयी। उसने मन-ही-मन सोचा कि 'यह भी मेरे प्रभुकी लीला है, वह मेरी परीक्षा करता है कि मैं कहीं दुःखमें पड़कर उसे भूल तो नहीं जाऊँगा। परन्तु नाथ ! तुम्हारी की हुई परीक्षामें कौन उत्तीर्ण हो सकता है ? हाँ, तुम ही बल दो तो कोई बड़ी बात नहीं ! मेरे मनमें तो बस तुम्हारा स्मरण बना रहे, तुम्हारी माधुरी मूर्ति सदा अन्तरमें नाचती रहे, फिर चाहे जो कुछ भी हो।' कविने प्रेमीकी दशा बतलाते हुए क्या ही सुन्दर कहा है--

तौक पहिराओ, पाँव बेड़ी लै भराओ,
गाढ़े बन्धन बँधावो औ खिंचाओ काँची खालसों।
विष लै पिलाओ, तापै मूठ भी चलाओ,
मँझधारमें डुबाओ बाँधि पत्थर कमालसों॥
बिच्छू लै बिछाओ तापै मोहि लै सुलाओ फेरि
आग भी लगाओ बाँधि कापड़ दुसालसों।
गिरितें गिराओ, काले नागतें डसाओ हा, हा!
प्रीति ना छुड़ाओ गिरधारी नंदलालसों॥

लोग आते हैं और दो-चार गालियाँ सुनाकर चले जाते हैं। बन्धुके स्त्री-पुत्र कातर स्वरसे रो रहे हैं। बन्धु उन्हें समझाते हैं, उनके मुख-मण्डलपर आनन्द छाया है। मुखसे अनवरत 'गोविन्द, गोविन्द'की ध्वनि हो रही है। उस ईश्वर-विश्वासी भक्तके हृदयमें तनिक भी क्षोभ नहीं है।

बन्धुने मन-ही-मन कहा, 'देव ! मैं बड़ा ही पापी हूँ, महान् अपराधी हूँ, मुझे जो दण्ड मिल रहा है, वह मेरे पापका ही फल है। नाथ ! तुम्हारी महान् कृपा है। मेरे नाथ ! चाहे जैसे रक्खो परन्तु रक्खो नित्य अपने चरणोंमें। यह ध्यान रक्खो कि तुम्हारे सिवा मेरे और कोई शरण नहीं है। जो कुछ हो सो केवल एक तुम्हीं हो, मैं केवल एक तुम्हें ही जानता हूँ।'

(४)

दिन बीत गया। मन्दिर बन्द हो गया, परन्तु श्रीजगन्नाथकी आज ही सारी व्यवस्था करनी है। राजा प्रतापरुद्र खुरदा (Khorda) नामक स्थानमें अपने महलमें सोये हैं। राजा भगवान्के बड़े ही भक्त हैं। भगवान्ने आज इसी निमित्त उन्हें स्वप्नमें दर्शन दिये और कर्कश स्वरसे कहा-'राजन्! मेरी आज्ञा सुनो ! अरे मेरा भक्त भूखसे तड़फता हुआ याजपुरसे चलकर पाँच दिनोंमें स्त्री-बच्चों सहित मेरे नगरमें आया, तेरे कर्मचारियोंद्वारा अतिथिका सत्कार होना चाहिये था, परन्तु किसीने उससे कुछ भी नहीं पूछा। वह भूखा पड़ा रहा, तब मैं स्वयं अपने रत्नथालमें प्रसाद रखकर उसे दे आया। रत्नथाल तो मेरा था, उसमें तेरे या तेरे बापका क्या था ? मैं उसे दे आया, वह मेरा भक्त है। इसपर तेरे सेवकोंने उसे मारा-पीटा, उस बेचारेने सारी घटना सच-सच सुना दी, परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन लोगोंने उसकी एक भी नहीं सुनी और उसे चोर बतलाकर मारते-मारते कैदखानेमें ले गये। वहाँ बेड़ी-हथकड़ी डालकर उसे पटक दिया। अब तू यदि अपना भला चाहता है तो अभी जाकर उसे मुक्त कर और पूरे सम्मानके साथ उसका सारा प्रबन्ध कर। आजसे मन्दिरके हिसाब-रक्षकके पदपर उसीकी नियुक्ति कर दे। देर न कर! मैं स्वयं नीलाचलनाथ नारायण तुझे यह आदेश कर रहा हूँ।'

भगवान् इतना कहकर अन्तर्धान हो गये। राजा हड़बड़ाकर उठा, उसी समय घोड़ा मँगवाया और सीधा पुरीके कारागारमें पहुँचा। वहाँ जाकर देखा कि स्वप्नकी बात रत्ती-रत्ती सच्ची है। उसने अपने हाथों बन्धुकी बेड़ी-हथकड़ी खोली, और बड़े ही सम्मानके साथ उसे हृदयसे लगा लिया और करुण शब्दोंमें क्षमा-याचना करने लगा। राजाने कहा—'यहाँके लोगोंने आपको जो कष्ट पहुँचाया है, यह उनका अपराध नहीं है, वह तो मेरा अपराध है। मुझपर आपको क्षमा करनी ही होगी।' इतना कहकर राजा रोने लगा।

भक्त सच्चे विनयी होते हैं, उनसे दूसरोंका दुःख तो देखा ही नहीं जाता। गोसाईंजी महाराजने कहा है कि सन्तोंका हृदय मक्खनसे भी अधिक नरम होता है। मक्खन स्वयं ताप पाकर पिघलता है, परन्तु सन्तका हृदय तो दूसरोंके तापसे पिघल जाता है। राजाके दुःखसे बन्धुको बड़ा दुःख हुआ, उसने कहा–'महाराज! यह आप क्या करते हैं, मैं तुच्छ, घृणित, पामर हूँ, महापापी हूँ, मुझे आप स्पर्श न करें।' राजाने उसे नहीं छोड़ा। अन्तमें बहुत सम्मानके साथ उसे अन्दर ले गया, तीर्थजलोंसे स्नान करवाकर सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाये गये। उसके स्त्री-पुत्रादिका भी बड़ा सत्कार किया गया। मन्दिरके दक्षिणकी ओर उन्हें रहनेको स्थान दिया गया और सदाके लिये प्रसादकी लिखित सनद और दानपत्र कर दिया गया।

जापर कृपा रामकी होई। तापर कृपा करहिं सब कोई॥

राजाने मन-ही-मन भगवान्से विनय की कि 'नाथ! आपके सामने ही आपका आदेश पालन कर चुका हूँ, अपराध क्षमा हो!' भगवान्ने मानो संकेतसे सम्मति और प्रसन्नता प्रकट की।

भक्तका प्रभाव सब ओर छा गया, जो लोग उनको गालियाँ दे गये थे, वही अब आ-आकर क्षमा माँगने लगे और चरणोंमें गिरने लगे। बन्धुको इन बातोंसे बड़ा ही संकोच हुआ और उसने मन-ही-मन अपनेको अपराधी समझा। परन्तु करता तो क्या?

बन्धु वहीं रहने लगा। बाहर और भीतर भगवान्के नित्य दर्शन प्राप्त कर वह कृतार्थ हो गया। धन्य बन्धु! तुमको और तुम्हारे दीनबन्धुको! आज दीनबन्धुकी कृपासे बन्धु महापुरुष हो गया! जगबन्धु जिसके बन्धु हैं, उसके लिये सभी कुछ सम्भव है। श्रीजगन्नाथजीके आय-व्ययका हिसाब अबतक श्रीबन्धु महान्तिके वंशज ही करते चले आते हैं।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

(भक्तचरितावलीके आधारपर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्ची शिक्षिका

(१)

प्राणियोंका आदि-शिक्षक कौन है ?
एक केवल प्रकृतिका भण्डार है।
ज्ञान देता है सभीको यह प्रथम,
सत्य-शिक्षाका यही आगार है ॥

(२)

रुदन कर, कर मधुरतर, शिशु दुधमुँहे,
प्रेम-प्रतिमा-जननि-पयका पानकर।
प्रेमका ही पाठ पहले सीखते-
दुग्ध-पयमें प्रेम पूरा जानकर ॥

(३)

फूलना, खिलना कलीका और फिर-
खेलना अलिका वहाँपर देखकर।
फूल-सा खिलता निरख माता-वदन,
फूलते, खिलते सभी हैं बाल-वर ॥

(४)

मेघसे वे गर्जना हैं सीखते,
सीखते हैं सिंहसे चिंघाड़ना।
वानरोंसे सीखते वे, वस्तु ले,
कर-बदनसे तोड़ना या फाड़ना ॥

(५)

देखकर वे खलखलाहट सिन्धुमें,
और हलचल, अचलता भी सर्वदा।
चुलबुलाहट जान जाते हैं सभी,
और फिर पाना प्रतिज्ञा-सम्पदा[1] ॥

(६)

देख अस्तोदय तरणिका[2], चन्द्रका,
रात-दिनके नित्य-क्रमको जानकर।
दुःख-सुख-अनिवार्यताको बस उन्हें,
आप ही रहना पड़ेगा मानकर ॥

(७)

तुङ्ग-पर्वत-अचलतासे आयगी,
उच्चता, दृढ़ता विचारोंमें, सभी।
मक्खियोंके, चींटियोंके मेलसे,
सङ्घटन-बल-विज्ञ वे होंगे कभी ॥

(८)

देख करके मिथुनता सर्वत्र ही,
युग्मताका ज्ञान फिर हो जायगा।
पुस्तकोंके पठनसे उस ज्ञानका,
पूर्ण उनको ध्यान फिर हो जायगा ॥

(९)

हो रहा शिक्षण इसी ही रीतिसे,
आदि-कल्पारम्भसे संसारका।
किन्तु फिर भी है पता कुछ भी नहीं,
प्रकृतिके अति गुप्ततम व्यापारका ॥

(१०)

शिक्षिका, साहाय्यदा अपनी सदा,
विज्ञ हैं वेही, इसे जो मानते।
जो, विजेता आप अपनेको कहें,
वस्तुतः कुछ भी नहीं वे जानते ॥

कुमार प्रतापनारायण 'कविरत्न'

१ प्रतिज्ञाकी सम्पदा अर्थात् उसकी पूर्त्ति। बाल-हठ या निज प्रतिज्ञाको पूर्ण करना। २ सूर्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्याण-मार्ग

(लेखक—श्रीमाधुकरी बाबाजी)

इस संसारमें मनुष्यको अधिकतर दुःख ही प्राप्त होता है, सुख तो बहुत ही कम मिलता है। पुनः-पुनः दुःखोंको भोगता हुआ यह जीव चित्तमें विचार करता है कि क्या इस संसारमें इन सब दुःखोंकी निवृत्तिका कोई उपाय नहीं है ? यदि है तो किस प्रकारसे ये सब दुःख जड़सहित नष्ट हो सकते हैं ? दुःख तो तीन प्रकारके हैं, (१) आध्यात्मिक अर्थात् स्थूल शरीरसम्बन्धी ज्वर, मस्तककी पीड़ा इत्यादि और सूक्ष्म शरीरसम्बन्धी काम-क्रोधादिके विकार, (२) आधिभौतिक अर्थात् चोर-डाकू, बिच्छू तथा सर्पादि प्राणियोंसे प्राप्त होनेवाला और (३) आधिदैविक अर्थात् भूत, प्रेत, वैताल, शनि, राहु आदि अदृश्य प्राणियोंसे मिलनेवाला। दुःखमात्र ही सर्वप्राणियोंके प्रतिकूल होनेसे विरुद्ध बुद्धिका विषय होता है इसलिये द्वेषबुद्धि उत्पन्न करता है। अतएव प्राणिमात्र ही इसको जड़से उखाड़नेकी इच्छा करता है। इस विषयको सांख्यकारिकामें आचार्य ईश्वरकृष्णने भी लिखा है—

दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदवघातके हेतौ। दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्।

उपर्युक्त दुःखवादके फलस्वरूप ही सब दार्शनिक नित्य सुख-अन्वेषणमें प्रयत्नशील ही हुए हैं। यदि इस संसारमें कोई प्राणी तीव्र कषाघातवत् भीषण दुःखसे पीड़ित न होता तो शायद ही सच्चे सुखका अनुसन्धान किया जाता। इसके उत्तरमें वाह्योपचारवादी कहते हैं कि पूर्वोक्त तीनों प्रकारके दुःखोंकी निवृत्तिके लिये तो वाह्योपचार यानी ओषधियोंका प्रयोग ही पर्याप्त है, अन्य प्रयत्नोंकी कोई आवश्यकता नहीं।

इसके उत्तरमें विचारशील पुरुष कहते हैं कि ये सब साधन दुःखोंको समूल नष्ट करनेमें असमर्थ हैं, अतएव साधन तो ऐसा होना चाहिये जिसके द्वारा उपर्युक्त व्याधियोंसे छुटकारा सदैवके लिये हो जावे। इस विषयमें कर्मकाण्डियोंका भी कथन है कि सर्व अदृश्य भोगोंमें सर्वश्रेष्ठ प्रमाण श्रीवेदभगवान् हैं, जिनमें वैदिक कर्मोंका प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, अश्वमेध इत्यादि यज्ञोंद्वारा इष्ट-फलोंकी प्राप्ति होना बतलाया गया है—

दक्षिणावन्तो अमृतत्वं भजन्ते, अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनमे सुकृतं भवति।

'यज्ञमें दक्षिणा देनेसे अमृतत्व अर्थात् मुक्ति-पदका लाभ होता है तथा चातुर्मास्य-यज्ञके कर्ताको अक्षय पुण्यकी प्राप्ति होती है।' यहाँ 'अमृतत्व' और 'अक्षय' शब्दोंसे अविनाशी सुखसे तात्पर्य है परन्तु इसके उत्तरमें सिद्धान्तवादीका कथन है कि 'सो हि अविशुद्धि क्षयातिशययुक्तः' अर्थात् इन यज्ञादि क्रियाओंमें तो हिंसादि कर्म होनेसे पाप भी होता है, यज्ञोंसे प्राप्त पुण्य भी भोगसे नष्ट हो जाते हैं और यज्ञ कृतकर्मोंके भेदसे पुण्य-फल-प्राप्तिमें भी भेद हो जाता है यानी किसीमें पुण्यकी विशेषता हो जाती है और किसीमें न्यूनता। एवं यह पुण्य-न्यूनाधिकता ही ईर्षादिका कारण बनकर महान् दुःख उत्पन्न करती है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि इन क्रियाओंके द्वारा भी पारस्परिक राग-द्वेष उत्पन्न होनेसे दुःख बढ़ता ही है, घटता नहीं। अतएव यह साधन भी समीचीन नहीं है। इसीके प्रमाणमें श्रुति और श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादि 'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते तथैव पुण्यचितो लोकः क्षीयते,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा' इत्यादि। उपर्युक्त लौकिक और वैदिक सर्व साधनोंके असफल होनेसे यही मालूम होता है कि समूल दुःख-निवृत्तिका कोई उपाय है ही नहीं, परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है; क्योंकि सर्व पुरुषार्थोंका हेतु वेद निष्फल नहीं हो सकता। उसके कर्म-काण्ड-भागके असमर्थ होनेपर भी उसके ज्ञानकाण्ड और भक्तिकाण्डमें कहे हुए साधनद्वारा महान् उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य होगी। इसमें ये श्रुतियाँ प्रमाण हैं—

'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'

'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन'

'भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः'

'यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गमद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥'

(भा० ११।२०।३२, ३३)

अर्थात् कैवल्य-मुक्ति ज्ञानसे ही मिलती है। ज्ञानप्राप्तिसे समग्र मायाकी निवृत्ति होती है। मन, वाणी, शरीरसे जो मेरे शरणागत होता है, वह इस मायासे छुटकारा पा जाता है। ज्ञानरूपी अग्नि सर्व कर्मोंको भस्म कर डालती है। मैं तो अव्यभिचारिणी भक्तिसे ही प्राप्त होता हूँ। कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्यसे जो कुछ लाभ हो सकता है, वह सब भक्तिके बलसे ही मेरा भक्त पा सकता है अर्थात् यदि कभी उसके मनमें इच्छा हो तो वह स्वर्ग, मोक्ष, वैकुण्ठादि स्थानोंको पा सकता है, परन्तु भक्त इन सबको चाहता ही नहीं।

अब यह विचार करना है कि क्या कर्मकाण्डमें कहा हुआ यज्ञादिका फल मिथ्या है? नहीं, मिथ्या नहीं है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि वेदका कर्मकाण्ड 'गुड़जिह्विकान्याय' से रोचक है। 'गुड़जिह्विकान्याय' यह है कि जैसे कोई बच्चा रोगग्रस्त हो तो उसके माता-पिता औषधका प्रयोग कर उसको रोगमुक्त करना चाहते हैं, परन्तु औषध कटु होनेसे बच्चा उसे खाना नहीं चाहता; अतएव माता-पिता उसका रोग हटाना अपना प्रधान कर्तव्य समझकर उससे कहते हैं कि बच्चा, तुम औषध खा लो तो तुमको मिठाई दी जायगी। बच्चा मिठाईके लोभसे दवा तो खा लेता है परन्तु इस खिलानेकी क्रियाका उद्देश्य बच्चेको रोगमुक्त करना है, न कि मिठाई खिलाकर उसे जिह्वाका स्वाद प्रदान करना। इसप्रकार तुच्छ कामनाओंको छोड़कर भगवत्-प्रीतिके हेतु कर्मकाण्ड-विधिके अनुसार कर्मोंका सम्पादन करके अन्तःकरणकी शुद्धि कर ज्ञान-प्राप्तिद्वारा मुक्ति-लाभ करना ही परम्परासे कर्मका उद्देश्य है। अतएव कर्मकाण्ड-फल-श्रुति अर्थवाद है।

सद्गुरुका सेवन

वर्णाश्रम-धर्मको निष्काम अनुष्ठानसे (यथाशक्ति समाज, देश और जातिके कल्याणके लिये निःस्वार्थसेवा करके) शुद्धचित्त होकर जिसको जीव, जगत् और ईश्वर-सम्बन्धी रहस्य जाननेके लिये तीव्र आकांक्षा या जिज्ञासा हुई हो, उसको सद्गुरुके पास जाकर अधिकारानुसार भक्ति, योग या तत्त्वज्ञानका अभ्यास करना चाहिये। आजकल कुछ लोगोंका विचार है कि गुरुकी क्या आवश्यकता है? मनुष्य अपने आप ही अनुष्ठान करके तत्त्वको जान लेगा। यह मत सुननेमें अच्छा हो सकता है, पर इसमें न तो युक्ति है और न शास्त्र-प्रमाण ही। जब लौकिक स्थूल विषयोंके ज्ञानके लिये भी माता, पिता, अध्यापक आदिकी सहायता लेनी पड़ती है तब विशाल और गूढ़ आत्मतत्त्वका रहस्य समझनेके लिये सद्गुरुका आश्रय लेना पड़ेगा, इसमें तो कहना ही क्या है? इसीलिये शास्त्र भी कहता है कि—'तद्विज्ञानार्थं स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् समितपाणिः ।' 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।' 'आचार्यवान् पुरुषो वेद ।' 'आचार्याद्धि विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत् ।' अर्थात् 'हाथमें समिधादि भेंट लेकर उस आत्म-तत्त्वको जाननेके लिये विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जावे।' 'वेदज्ञ और साक्षात् तत्त्वदर्शी लोग तुमको उस आत्मतत्त्वका उपदेश करेंगे।' 'आचार्यको प्राप्त हुआ पुरुष ब्रह्मको जानता है।' 'आचार्यद्वारा ही प्राप्त हुई ब्रह्मविद्या परमकल्याण अर्थात् मोक्षको देती है।' गुरु कैसा होना चाहिये, इस विषयमें भाष्यकारका मत देखिये 'श्रोत्रियोऽवृजिनहतो ब्रह्मनिष्ठः।' 'सद्गुरु शास्त्रके मर्मको जाननेवाला, पापरहित तथा ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये।' हिरण्यगर्भ वामदेव-प्रभृति दो एक दृष्टान्तोंमें सद्गुरुके बिना भी विद्या प्राप्त हुई जान पड़ती है, पर उसे सुप्तप्रबुद्धन्याय ही जानना चाहिये। वह न्याय इसप्रकार है—जैसे कोई मनुष्य रात्रिमें पढ़कर शयनके पश्चात् सबेरे उठकर ग्रन्थको सुनाता है, उसको देखकर जैसे उसके रात्रिके अध्ययनसे अज्ञात मनुष्यको आश्चर्य मालूम होता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मादिकों-के इस जन्म या पूर्व जन्ममें किये हुए तप आदिको न जानते हुए मान लेते हैं कि इन्हें स्वयं ही ज्ञान प्राप्त हुआ है। वास्तवमें उन लोगोंके पूर्व जन्मार्जित पुण्यविशेषसे ही ऐसी विद्याकी स्फूर्ति हुई है। इसमें 'ज्ञानमप्रतिघं यस्य' इत्यादि वाक्य प्रमाण हैं। फिर कई स्थलोंमें उनको भी उपदेश हुआ दीख पड़ता है। लेकिन बुद्धिके मार्जित होनेसे उन लोगोंको शीघ्र ही बोध हो जाता है। वर्तमानकालमें भी बुद्धिमान्को थोड़े ही परिश्रमसे विषयका ज्ञान हो जाता है। इसमें श्रुति-स्मृतिका प्रमाण भी देखिये—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' 'प्रणोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।' अर्थात् 'जो परमात्मा सृष्टिके आदिमें ब्रह्मा-जीको उत्पन्न करते हैं, और फिर उनमें वेदविद्याकी प्रेरणा करते हैं।' 'उस परमात्माकी प्रेरणासे देवी सरस्वतीने कल्पके आदिमें ब्रह्माजीके हृदयमें वेदोंका ज्ञान विस्तीर्ण किया था।'

जैसे बिजलीके तारोंके सम्बन्ध बिना बिजली अन्य स्थानोंमें नहीं पहुँच सकती उसी प्रकार विद्या भी गुरु-संस्कार बिना प्राप्त नहीं होती। गुरु तीन प्रकारके हैं। उत्तम, मध्यम, और कनिष्ठ। उत्तम आचार्य तो स्वयंप्राप्त योगशक्ति या मनद्वारा अपनी शक्ति शिष्यमें प्रेरित कर सकते हैं जैसे कछुआ और मगर पानीमें रह करके मानसिक ध्यानद्वारा ही अण्डोंसे बच्चा उत्पन्न करते हैं, वैसे ही कृष्णद्वारा भीष्मको उपदेशके लिये ज्ञान और शक्ति प्राप्त हुई। मध्यम आचार्य शिष्यको दृष्टिमात्र-से विद्या प्रदान करते हैं। जैसे मछली केवल दृष्टि-द्वारा ही अण्डोंसे बच्चा उत्पन्न करती है, जैसे उपमन्युको गुरुकृपामात्रसे ही विद्या प्राप्त हुई। सान्दीपनि मुनिके द्वारा श्रीकृष्णको भी ज्ञान प्राप्त हुआ। कनिष्ठ तो कुण्डादि निर्माणपूर्वक विहित मन्त्रों-को कर्णमें उपदेश करते हैं। इसी प्रकार शिष्य भी तीन प्रकारके होते हैं—(१) उत्तम (२) मध्यम (३) कनिष्ठ।

उत्तम शिष्य—विषय-वैराग्यकी दृढ़तासे जो जितेन्द्रिय होकर गुरु-प्राप्त प्रणालीसे साधनमें तत्पर है, उसको परमेश्वरकी कृपासे शीघ्र ही कल्याण-प्राप्ति होती है।

मध्यम शिष्य—विषय-वैराग्य पूर्णरूपसे न होनेपर भी जो संयमी होकर गुरु-वाक्यमें तत्पर रहता है, उसका साधन-बलसे कुछ देरसे कल्याण होता है।

अधम शिष्य—जो विषयोंमें अति आसक्त, असंयमी है तथा गुरुके वाक्योंपर श्रद्धा न करके अपनी ही बुद्धिके अनुसार चलता है। कई व्यक्ति ऐसे भी हैं जो किसीके पास दीनता स्वीकार करना नहीं चाहते, उनसे गुरु-सेवा असम्भव है। यह अहङ्कार जीवोंके लिये बन्धनकारक है।

अन्य दृष्टिसे भी आचार्य तीन प्रकारके हैं—

(१) उत्तम—जो उपदेश दे करके पुनः सुधि लेते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि विद्यार्थी उपदेशके अनुसार कार्य करता है या नहीं। न करे तो फिर समझाता है और आवश्यकतानुसार शासन भी करता है, जैसे उत्तम वैद्य औषध न खानेवाले रोगीको बलात् औषध खिलाता है।

(२) मध्यम-उपदेशके अनुसार कार्य न करते देख कर फिर समझाता है। जैसे मध्यम श्रेणीका वैद्य औषध न खाते हुए रोगीको औषधकी प्रशंसा करते हुए उसके खानेके गुण बताता है।

(३) अधम—गुरु तो उपदेश देकर पूजा-पाठ स्वीकार करनेमें ही अपनेको कृतकृत्य समझते हैं, जैसे अधम वैद्य अपनी दवाके दामसे ही मतलब रखते हैं। इस विषयमें कहावत प्रसिद्ध है कि 'कान फूँका गुरु हदका' नहीं तो विधिपूर्वक दीक्षा सभीके कर्णरन्ध्रहीमें मन्त्र कहकर दी जाती है। अब यहाँपर प्रश्न यह होता है कि एक व्यक्तिको दूसरे किसी व्यक्तिकी सेवा क्यों करनी चाहिये? सेवा सामान्यतः श्रेष्ठ व्यक्तिकी ही की जाती है। श्रेष्ठता कई प्रकारसे गिनी जाती है। जैसे ज्ञानसे, बलसे, धनसे और वयसे। उसमें ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठता ज्ञानसे गिनी जाती है, यथा 'योऽनूचानः स उत्तमः।' अर्थात् जो विद्वान् है वह सबसे श्रेष्ठ है। दृष्टान्तरूपसे देखिये कि—जब राजा परीक्षित प्रायोपवेशन करके गङ्गातीरपर बैठा था और सब ऋषि लोग उनको घेरकर बैठे थे, उस समय ज्ञान-वैराग्यादि शुभ सम्पदाओंसे सम्पन्न श्रीशुकदेवजीके आगमनसे उनके सम्मानके लिये वशिष्ठादि बड़े-बड़े ऋषि लोग भी उठकर खड़े हुए। मनुस्मृतिमें भृगुवंशियोंका दृष्टान्त स्पष्ट ही है। क्षत्रियोंमें शस्त्रादिके बलसे श्रेष्ठता गिनी जाती है। वैश्योंमें धनसे और शूद्रोंमें वयके हिसाबसे श्रेष्ठता गिनी जाती है। व्यवहारमें भी जो मनुष्य धनादिसे श्रेष्ठ होता है, उसकी सेवा-पूजा सभी कोई करते हैं, तब आत्मज्ञान-लाभ करानेवाले पुरुषोंकी सच्चे हृदयसे सेवा करनी चाहिये इसमें तो कहना ही क्या है?

'गुकारश्चान्धकारः स्याद् स शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभीधीयते ॥'

समग्र सृष्ट जगत् भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है और भगवान्‌की ही विभूति है। जैसे रूप, बल, बुद्धिके भेदसे सब मनुष्य समान नहीं हैं उसी तरहसे ज्ञान, भक्ति आदिसे भी मनुष्य समान नहीं हैं। अपनी ज्ञान, भक्ति, तपोबल आदि शक्तियोंद्वारा ब्रह्मरूप परमात्माने ऋषियोंकी सृष्टि की। गुरुपरम्परासे वही शक्ति शिष्यमें पहुँचकर उसके मनको बिजलीके तारके समान परमात्माके साथ जोड़ देती है। इसीलिये शास्त्रोंमें गुरुपरम्परा ढूँढ़ी जाती है। उपनिषदोंमें भी वंश-कथन है, क्योंकि शुद्धसम्प्रदाय-शून्य दीक्षा सम्यक् फल नहीं दे सकती। यह ज्ञान-सम्प्रदान करनेका मुख्य अधिकार ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणको ही है। वैसे ब्राह्मणके अभावमें ज्ञानकी प्राप्ति और किसीसे भी हो सकती है। यदि किसीको जातिमात्रके मिथ्याभिमानसे इस विषयमें शङ्का हो तो वह आचार्यपादका 'मनीषापञ्चक' देखे। 'चण्डालोऽस्तु द्विजोऽस्तु वा सो वा गुरुरित्येषा मनीषा मम।' इसका विस्तार शंकरानन्द स्वामी-प्रणीत आत्मपुराणमें किया गया है। जिस व्यक्तिने योगानुष्ठानपूर्वक ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार किया है उसीमें शास्त्र-कथित सद्गुरुके पूर्ण लक्षण प्राप्त होते हैं। ऐसा पूर्ण लक्षणयुक्त उत्तम अथवा मध्यम कोटिका गुरु उत्तम शिष्यका शीघ्र ही कल्याण कर सकता है, क्योंकि ऐसे ब्रह्मवेत्ता गुरु और ईश्वरमें विशेष भेद नहीं रहता। श्रुतिमें भी कहा है कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' 'ईश्वर एव हि सः।' 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः।' अर्थात् ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, वही ईश्वर है; इसलिये आत्मोन्नतिकी कामनावालेको आत्मज्ञानीका ही अर्चन करना चाहिये। व्यासादि आचार्योंमें अलौकिक शक्ति इसी कारणसे देखी जाती है। योगाभ्यास न करते हुए जिसने केवल विचारद्वारा ही आत्मविवेक करके साक्षात्कार किया है उसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपदेशका सामर्थ्य तो रहता है लेकिन पूर्व-कथित शक्ति-प्रदान-सामर्थ्य नहीं रहता। इन दोनों कोटिके आचार्योंमें जो शक्ति देखी जाती है वह साक्षात् ईश्वरीय शक्ति है। ऐसी ईश्वरीय शक्तिसे रहित परम्परासे उपदेश देनेवाला भी यदि स्वच्छ-हृदय हो तो उसमें भी शिष्यके उत्कट भक्तिभावसे वही ईश्वरीय शक्ति तत्काल ही आविर्भूत हो जाती है। यही बात पञ्चदशीके टीकाकारने शैवागम-प्रमाणसे स्पष्ट दिखलायी है। यथा 'परिपक्वमलोपेतानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन योजयति परे तत्त्वे स दीक्षाचार्यं मूर्तिस्थः ॥' वही परमात्मा दीक्षा देनेवाले आचार्यकी मूर्तिमें स्थित होकर, जिनके (अन्तःकरणके विक्षेप और आवरणरूप) मल परिपक्व (दूरीभूत) हो गये हैं उनको उत्सादन (आत्मोन्नति) के हेतुभूत शक्ति देकर परमतत्त्व (ब्रह्मस्वरूप) के साथ जोड़ देता है। आत्मज्ञानरूप प्रकाशके बिना अज्ञानरूप अन्धकार दूर होना नितान्त असम्भव है। यही ज्ञानाग्नि उत्तम और मध्यम-कोटिके आचार्योंमें प्रज्वलित रहती है और वे लोग अपने शक्ति-सामर्थ्यसे उसी ज्ञानाग्निको उत्तम अधिकारियोंमें बिजलीके समान सञ्चारित कर देते हैं जिससे उनके शिष्य कृतकृत्य हो जाते हैं। भक्तिशास्त्रोंमें भी कहा है कि-'महत्संगस्तु दुर्लभोऽमोघश्च लभ्यते तत्कृपयैव।' अर्थात् 'महान्‌की संगति भी दुर्लभ और अव्यर्थ है और ईश्वरकृपासे ही प्राप्त होती है।' जब राम-कृष्णादि अवतारी पुरुष भी गुरुकी शरणमें गये हुए देखे जाते हैं, तब मिथ्याभिमानसे अल्पबुद्धि अर्वाचीन पुरुषोंका गुरु-शरणसे विमुख होना बुद्धिमत्ता नहीं है। जब गृहस्थाश्रममें ज्ञानोपलब्धि हो जानेपर भी जीवन्मुक्तिके लिये गुरुके पास जाकर विद्वान् संन्यास लेता हुआ विधिपूर्वक दण्डादि ग्रहण करके बादमें त्याग देता है तो गृहस्थाश्रममें रहते हुए जिसने ज्ञानका आभासतक प्राप्त नहीं किया, उसको गुरु-शरणमें जाना नितान्त आवश्यक है, इसमें कहना ही क्या है? गुरुभक्ति ही उत्तम सिद्धिको देनेवाली है जैसे-

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

जिसकी परमात्मामें जैसी अनन्यभक्ति है वैसी ही यदि गुरुमें भी हो तो उस महापुरुषको उक्त गुह्य तत्त्वोंका बोध (प्रकाश) होता है। सभी सम्प्रदायोंमें यह आचार्य-परम्परा देखी जाती है। मुसलमान, ईसाई आदि धर्मोंमें भी गुरु-प्रणाली वर्तमान है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि गुरुकी सेवा किस तरह करनी चाहिये। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि-'गुर्वात्मदैवतः।' अर्थात् गुरुमें आत्मा और ईश्वर-तुल्य प्रेम और पूज्य-बुद्धि रखनी चाहिये। ईश्वर-तत्त्वके आविर्भावसे प्रथम और मध्यम कोटिके गुरुओंद्वारा शीघ्र और साक्षात् फल-प्राप्ति हो जाती है। अन्तिम श्रेणीके गुरुमें भी यदि शिष्यकी श्रद्धा और भक्ति अनन्य हो तो उसको भी फल-प्राप्ति हुई देखी गयी है।

गुरुकृपाद्वारा कृतार्थ होनेका प्रधान उपाय तो यही है कि जिज्ञासु इन्द्रियोंको संयत करके श्रद्धावान् होकर एक निष्ठासे गुरूपदेशको श्रवण करे। ऐसे करनेसे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है। 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः' और 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।' अर्थात् तत्त्वज्ञानी गुरुकी सेवा, प्रणिपात (दण्डवत्-प्रणाम) पूर्वक विनय करके प्रश्नद्वारा उस आत्मतत्त्वको जानना चाहिये। आत्मतत्त्वको प्राप्त करनेका यह गौण उपाय है। क्योंकि प्रणिपात सेवादि कपटभावसे भी सम्भव होनेसे निश्चित साधन नहीं है। कोई इसमें यह शङ्का करते हैं कि जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ अग्निकी प्राप्ति होना जैसे असम्भव है वैसे ही अपूर्ण ज्ञानी गुरुसे ज्ञानकी प्राप्ति असम्भव है। यह कथन कुछ अंशोंमें सत्य है, लेकिन सर्वथा नहीं। जैसे रज्जुमें सर्पका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रान्तिजन्य ज्ञान भी हृत्कम्पन आदिका कारण हो जाता है,(प्रेतादिका भय इससे भी स्पष्ट दृष्टान्त है) उसी प्रकार मनोवृत्तिजन्य विशेषता देखी जाती है। यथा शालिग्राम नर्मदेश्वर आदि प्रतिमाओंमें साक्षात् ईश्वर न होनेपर भी भक्तके अनन्य-भक्ति-भावसे उनमें उस-उस रूपसे ईश्वरका साक्षात्कार हो जाता है वैसे ही शिष्यके अनन्यभावसे गुरुमें ईश्वरीय शक्तिका आविर्भाव होना क्या असम्भव है ? जब जड़-आधारमें ही मार्कण्डेयादिको परमात्माका साक्षात्कार हो गया,तब चेतन मनुष्य-शरीरमें उसका दीखना कौन-सा असम्भव कार्य है ? महाभारतमें एकलव्यका दृष्टान्त प्रसिद्ध है। उसने मृण्मय आचार्य-प्रतिमासे (द्रोणाचार्यकी) धनुर्विद्या इसप्रकार प्राप्त की कि वैसी अर्जुनादिको हर समय निकट सेवामें रहते हुए भी उपलब्ध न हुई। उसमें प्रधान कारण गुरु-भक्तिकी पराकाष्ठा ही है, क्योंकि उद्यमादि सहकारी कारण तो सर्वत्र विद्यमान हैं। जैसे पति-भक्ति, अतिथि-सेवा, दान-पुण्यादि सब पुण्यकर्मोंका फल उस-उस रूपसे ईश्वर ही देता है , इसी प्रकार गुरु-सेवाके फलकी भी प्राप्ति समझनी चाहिये। सर्वदा दीनभावसे गुरु-सेवामें तत्पर रहना चाहिये। 'आचार्यं मां विजानीयान्न मर्त्यबुद्ध्या सूयेत।' 'गुरुको ईश्वरस्वरूप जानो, मनुष्य-बुद्धिसे उसकी अवज्ञा न करो।' अन्यत्र भी कहा है, यथा-'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥' अर्थात् गुरु ब्रह्माजीका रूप है, गुरु विष्णुरूप है, गुरु महेश्वर-रूप है और गुरु ही साक्षात् परब्रह्म-परमात्माका स्वरूप है उन्हीं गुरुजीको हमारा नमस्कार हो।' 'सद्गुरु-नमस्कार-मन्त्र'में भी कहा है—

नित्यानन्दं* परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं,
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

अर्थात् गुरु नित्य आनन्दस्वरूप, परमसुख अर्थात् मोक्षको देनेवाला और शुद्ध ज्ञानकी मूर्ति है। शीतोष्ण सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे अतीत,आकाश-की तरह निर्मल निर्लेप और व्यापक है। तत्त्वादि महावाक्योंका लक्ष्यभूत अखण्डवस्तुरूप (परब्रह्म-रूप) एक या तीन प्रकार भेद-शून्य, नित्य, निर्मल, अचल (निश्चलचित्त), सर्व बुद्धि-वृत्तिके साक्षीभूत, द्वैतादि सर्वभावसे परे, तीन प्रकारके गुण और उनके विकारोंसे रहित ऐसे सद्गुरुकी मैं वन्दना करता हूं। और भी 'ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्ति-भेदविभागिने' अर्थात् एक ही चेतन वस्तु स्थूलरूपसे ईश्वर, गुरु और आत्मा तीन रूपमें विभक्त है,साधारण व्यवहारमें गुरु-शिष्यका पितापुत्र-तुल्य सम्बन्ध रहता है। प्रश्नोपनिषद्में गुरुकृपासे कृतार्थ हुए शिष्योंने अभिवन्दन करते हुए इसप्रकार कहा है-- 'त्वं हि नः पिता यस्तमसः परं पारं दर्शयसि।' आपने हमें अज्ञानसे परे ब्रह्मस्वरूपको दर्शाया है, इसलिये आप ही हमारे पिता-स्वरूप हैं। 'गुरुः पिता गुरु-र्माता' इत्यादिसे उक्त वाद सिद्ध होता है। इस गुरुमाहात्म्यके कथन-प्रसङ्गमें श्रीआचार्यपाद अपने वेदान्तकेशरी वा शतश्लोकी ग्रन्थमें लिखते हैं—

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः,
स्पर्शश्चेत् तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतां अश्मसारम्।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये,
स्वीयं साम्यं विधत्ते,भवति निरुपमस्तेनचालौकिकोऽपि॥

अर्थात् त्रैलोक्यमें कहीं भी ज्ञानदाता सद्गुरु-की उपमा नहीं मिलती। यदि स्पर्शमणिकी—जो लोहेका सोना बना देती है—उपमा दी जाय तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह लोहेको सोना तो बना देती है लेकिन अपने समान स्पर्शमणिके गुणयुक्त नहीं कर पाती, किन्तु सद्गुरु तो अपने चरण-शरणगत शिष्यको अपने ही तुल्य बना देता है

* आनन्दं इति पाठान्तरम्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिये उसकी उपमा कोई नहीं है अतः वह अलौकिक ही है। और भी—

'यद्वच्छ्रीखण्डवृक्षप्रसृतपरिमलेनाभितोऽन्येऽपि वृक्षाः,
शश्वत् सौगन्ध्यभाजोऽप्यतनुतनुभृतां तापमुन्मूलयन्ति।
आचार्यल्लब्धबोधाअपिविधिवशतः सन्निधौ संस्थितानां
त्रेधा तापं च पापं सकरुणहृदयाः स्वोक्तिभिः क्षालयन्ति॥

जैसे चन्दनवृक्षसे फैली हुई सुगन्धसे चारों ओरके वृक्ष सुगन्धमय हो जाते हैं और बहुत-से देहधारियोंका मूल वृक्षकी तरह ताप दूर कर देते हैं वैसे ही आचार्यसे ज्ञान-प्राप्त शिष्य भी विधि-वशात् अपने समीप उपस्थित मनुष्योंको करुणा-पूर्ण हृदयसे उपदेश देकर कायिक, वाचिक, मानसिक तीन प्रकारके पाप और आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीन प्रकारके तापोंका शमन करते हैं। अन्यत्र भी कहा है कि 'मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षाक्षततमाः।' अर्थात् (कृपापूर्वक) गुरु-दीक्षासे जिसका रजोगुण, तमोगुण नष्ट हो गया है वह फिर विशेष मोह (अज्ञान) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पापसञ्चयः तस्माद् दीक्षेति संप्रोक्ता।' जो परमज्ञानको प्राप्त कराती है और पाप-राशिको क्षीण करती है, उसको दीक्षा कहते हैं। कल्याणकामी मुमुक्षु पुरुष श्रीसद्गुरुकी सेवामें अपना तन, मन, धन सब कुछ अर्पण कर देता है। सच्चा शिष्य तो जनककी तरह कहता है—'इमे विदेहाः मां चापि (तुभ्यं) सह दास्याय' (बृ० आ०) यह समग्र मिथिलापुरी-का राज्य अपनेसहित आपकी सेवामें उपस्थित है। कोई नीतिशास्त्रज्ञ कहेगा कि क्या इतने उपदेश-मात्रके लिये सारा राज्य छोड़ देना और इतनी दीनता दिखाना उचित है? किन्तु राजा जनकको जो वस्तु प्राप्त हुई थी, उसने निमेषभरमें सारे ब्रह्माण्डको रचा है। उस वस्तुके सामने तुच्छ मिथिला-राज्य किस गणनामें है? जबतक इतना त्याग नहीं है—जबतक तुच्छ पदार्थोंके भोगका तीव्र लोभ वर्तमान है तबतक मनुष्य ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी भी नहीं हो सकता। उपदेश प्राप्त करके कृतार्थ होना तो दूरकी बात है।

अतः श्रद्धापूर्वक गुरुसे विधिपूर्वक दीक्षा लेकर ज्ञान, भक्ति या राजयोगका अपने अधिकारानुसार अभ्यास करके सफलता प्राप्त करनी चाहिये। प्रत्येक प्रकारसे सद्गुरुकी आवश्यकता है। (शेष आगे)

मौन कल्पना

तुम हो करुणासिन्धु अनुग्रह इच्छुक मैं हूँ।
हो दानिन शिर मौर प्रभू तुम भिक्षुक मैं हूँ॥
हो तुम शान्ति-समुद्र चिरस्थिति शान्ति मुझे दो।
जैसे तुम निर्भ्रान्त वही निर्भ्रान्ति मुझे दो॥
तुम ईश्वर मैं जीव हूँ हो व्यापक परिछिन्न हूँ।
तुम अंशी मैं अंश फिर क्यों मैं तुमसे भिन्न हूँ॥१॥

तुम हो सिन्धु अगाध अमित मैं केवल कण हूँ।
हो तुम अगणित कल्प उसीका मैं एक क्षण हूँ॥
तुम प्रेरक मैं प्रेर्य दृश्य मैं द्रष्टा तुम हो।
हो कारण मैं कार्य सृष्टि मैं स्रष्टा तुम हो॥
उडुगण हूँ मैं व्योम तुम आश्रित हूँ आश्रेय हो।
ज्ञाता हूँ मैं ज्ञेय तुम ध्याता हूँ मैं ध्येय हो॥२॥

व्यापक हो मैं व्याप्य प्राप्य तुम प्रापक मैं हूँ।
सेवक मैं तुम सेव्य जाप्य तुम जापक मैं हूँ॥
मैं परवश तुम स्ववश बध्य मैं मुक्त तुम्हीं हो।
अज्ञानी मैं नित्य ज्ञान संयुक्त तुम्हीं हो॥
मेरे चित्त चकोर हित तुम अकलङ्की इन्दु हो।
मुझ चातकके लिये तुम निर्मल वारिद विन्दु हो॥३॥

तुम रवि मैं राजीव तुम्हींसे खिलनेवाला।
मुझको अभ्युत्थान तुम्हींसे मिलनेवाला॥
मैं तेरे आधीन मीन तू सुधा सरोवर।
हूँ मैं मधुकर लुब्ध प्रभो! तुम कंज मनोहर॥
आशा पूर्ण प्रभात तुम तवाधार मैं कोक हूँ।
पाकर तव आलोकको रहता सदा विशोक हूँ॥४॥

—रामलाल शर्म्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक-वाटिका

वह परब्रह्म सबके मुखरूप, मस्तकरूप तथा ग्रीवारूप है, वह प्राणीमात्रकी हृदयरूपी गुहामें रहता है। वह सब वस्तुओंमें व्याप्त है, सबकी समृद्धिका दाता है। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

उस परमपुरुष परमात्माको कुछ लोग विशुद्ध सूक्ष्म बुद्धिसे, कुछ ध्यानके द्वारा हृदयमें, कुछ ज्ञानयोगके द्वारा और कुछ लोग निष्कामकर्मयोगके द्वारा देखते हैं।

—श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀ ❀

आध्यात्मिक शास्त्रोंके श्रवण, भगवान्‌के नाम-कीर्तन, मनकी सरलता, सत्पुरुषोंका समागम, देहाभिमानके त्यागका अभ्यास, इन भागवत-धर्मोंके आचरणसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, फिर वह अनायास ही भगवान्‌में आसक्त हो जाता है। - श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀ ❀

सोच करनेसे कोई लाभ नहीं है, सोच करनेवाला केवल दुःख ही भोगता है। जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको त्याग देता है, जो ज्ञानसे तृप्त है और बुद्धिमान् है, वही सुख पाता है। —महाभारत

❀ ❀ ❀ ❀

सदाचारके पालनसे मनुष्य दीर्घ आयु, मनचाही सन्तान और अटूट सम्पत्ति पाता है। इससे अपमृत्यु आदिका भी नाश होता है। —मनु महाराज

❀ ❀ ❀ ❀

सब प्रकारसे अपने हितके कार्य करने चाहिये, जो बहुत बोलते हैं, उनसे कुछ भी नहीं होता, संसारमें ऐसा कोई उपाय नहीं, जिससे सब लोग प्रसन्न हो सकें। —भारवि

❀ ❀ ❀ ❀

अरे विषयोंमें इतना क्यों रम रहा है? कभी उनसे मुख नहीं मोड़ता, श्रीहरिका भजन कर, जिससे यमके फन्देमें न पड़ना पड़े। —गुरु नानक

❀ ❀ ❀ ❀

जिस गृहस्थमें सत्य, धर्म, धृति और त्यागनामक चार धर्म होते हैं, उसे मरकर इसलोकसे परलोकको प्राप्त होनेपर सोच नहीं करना पड़ता। —भगवान् बुद्धदेव

❀ ❀ ❀ ❀

जिसके चित्तसे राग-द्वेषका नाश हो गया है, वही ज्ञानी, गुणी, दानी और ध्यानी है। —गोसाईं तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

मनके अहंकारको छोड़कर ऐसी जबान बोलनी चाहिये, जिससे दूसरोंको भी शान्ति पहुँचे और अपनेको भी शान्ति मिले। —कबीरजी

❀ ❀ ❀ ❀

रातको सोना और दिनको खाना भूलकर और सारी बकवास छोड़कर दिन-रात श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये। —रैदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

जैसे शत्रु हुए बिना मित्रकी कीमत नहीं मालूम होती, वैसे ही प्रेमकी शक्तिके व्यवहारका स्थान न हो तो प्रेमकी शक्तिका भी पता नहीं लगता। —जैकब बेहोमी

❀ ❀ ❀ ❀

लोग भाँति-भाँतिकी चर्चा किया करते हैं, परन्तु उन्हें अपने भीतरी और बाहरी जीवनकी जाँच तथा समालोचना करनी चाहिये; अपने कार्य तथा स्वभावकी ओरसे सदा सावधान रहना और सन्मार्ग कभी नहीं छोड़ना चाहिये, यही सर्वोत्तम कार्य है। —अबु उस्मान सैयद

❀ ❀ ❀ ❀

प्रेमका परिचय केवल स्तुतियोंसे नहीं मिलता, अनेक दुःख झेलकर समस्त स्वार्थको तिलाञ्जलि देकर प्रेमको प्रमाणित करना पड़ता है। —सन्त टेरेसा

❀ ❀ ❀ ❀

जो स्वच्छ मनसे ईश्वरका स्मरण किया करता है, उसके लिये किसी दूसरे मित्रकी आवश्यकता नहीं है। —रन्नुवान

❀ ❀ ❀ ❀

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीकृष्णशरणं मम

(परलोकगत लाला श्रीलज्जारामजी लिखित)

कैसा मजबूत सहारा है। क्यों न हो भगवन्! आप ही तो ज्ञान, शक्ति और ऐश्वर्यके भण्डार हैं फिर कमी ही किस बातकी है और भय भी किसका है? प्रिय पाठकवृन्द! हमपर जब भी कोई न सुलझने योग्य उलझन आ पड़े या हम किसी अत्यन्त दुःखदायी और विपरीत अवस्थामें फँस जायँ तो हमें घबराना नहीं चाहिये। सब प्रकारकी दुःख-पूर्ण दुरावस्था और झगड़ोंसे बचनेका एक ही महामन्त्र है-'सच्चे हृदयसे भगवत्-शरणागति।' जब कभी हम घबराहटके कारण अन्धकारमें फँस जायँ और उससे निकलनेका कोई मार्ग न सूझे तथा मोह-तिमिरको विनाश करनेवाली ज्योति न दिखायी दे, उस समय भगवत्-शरणागत होकर 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' इस भगवद्वाक्य-का हृदयसे स्मरण कर लेना चाहिये। बस, फिर हमारे कल्याणके किसी भी कार्यमें बाधा नहीं रहेगी। केवल एक बार पूर्ण विश्वासपूर्वक 'श्रीकृष्ण-शरणं मम' कहनेमात्रकी देर है फिर आप ही आँखें खुल जायँगी, अन्धकार दूर होकर स्वयमेव प्रकाश दिखायी देने लगेगा, आगे बढ़नेके लिये दूरतकका मार्ग सूझने लगेगा और जिसे हम दुःख मानते हैं वही हमारे लिये तत्काल सुखके रूपमें परिणत हो जायगा। हमको किसी भी वस्तुकी इच्छा करनेकी या किसीसे याचना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान्की 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' की प्रतिज्ञाको याद रखना चाहिये फिर सारी उलझनें आप-से-आप दूर हो जायँगी और जीवन-निर्वाहके लिये आप ही देश-कालके अनुसार परिस्थिति अनुकूल हो जायगी। दुनियाँके हँसने और अन्धविश्वासी कहनेकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। सारी चिन्ता छोड़कर एक उसी चिन्ताहरणका आश्रय लेनेकी आवश्यकता है, फिर जो काम जैसे और जिस समय होनेमें हमारी भलाई होगी, भगवान् वैसी ही परिस्थिति उत्पन्न कर देंगे। समयपर हमको इसका पता भी लग जायगा कि अन्ध-विश्वास बतलायी जानेवाली वस्तु वास्तवमें क्या चीज है? उस समय हम उन हँसी करनेवालोंसे भी दृढ़ निश्चयके साथ कह सकेंगे कि—'भाई! करके देख लो, यह तो अनुभवका सौदा है।' साधारण संसारीजनकी शरणमें रहनेसे वह भी जब हमारे लिये यथाशक्ति सब कुछ करता है, फिर उस सर्वशक्तिमान्के शरण होनेपर चिन्ता ही किस बात-की रह सकती है?

चाहे सारा संसार विरोधी हो जाय, सारे प्रिय-परिजन भी साथ छोड़ दें, चारों ओरसे घोर संकटके भयानक जंगलमें हम फँस जायँ तो भी हमें अपने हृदयमें नित्यस्थित प्रेमके समुद्र श्रीभगवान्को कभी न भूलना चाहिये। उनकी 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इस प्रतिज्ञापर सदा विश्वास रखना चाहिये। यदि हम अर्जुनकी तरह अपने रथकी बाग-डोर उनके हाथोंमें सौंपकर उनके सच्चे शरणागत भक्त बन गये हैं तो संसारकी कोई भी विपरीत स्थिति हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। जिसमें हमारी सर्वोपरि भलाई होगी वही काम भगवान् हमको निमित्त बनाकर आप ही करवा देंगे।

जैसे लोहा काठ सँग, चलत फिरत जल माँह।
बड़े न बूड़न देत हैं जाकी पकड़े बाँह॥

सर्वव्यापक भगवान् सदा हमारे पास रहकर हमारी रक्षा और पालन करनेके लिये उत्सुक रहते हैं, परन्तु हम अभागे उनकी रक्षा और पालन करनेकी उत्सुकताकी ओर ध्यान न देकर स्वयं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी रक्षा और पालन करनेमें असमर्थ संसारी-जनोंसे अपनी रक्षा और पालनकी आशा रखते हैं। समस्त दुविधाओंको त्यागकर सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्ति पानेका उपाय स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे बतलाते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

पूर्ण श्रद्धायुक्त होकर उनकी शरण हो जाओ, सारी दुविधाको भगा दो, विश्वास रक्खो कि सब काम आप ही ठीक हो जायँगे। दुःख, शोक तथा भयका लेशमात्र भी नहीं रह सकेगा। भगवान्‌के दरबारसे कभी दुःख, शोक और नीच गतिका प्रसाद दासको नहीं मिल सकता। परम पिता यह कभी नहीं चाहते कि हम उच्च गतिसे वञ्चित रहें। याद रक्खो, भगवान्‌की शरणागतिसे ही 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' तुम्हें प्रत्यक्ष हो जायगा। उनकी ओर मुँह घुमानेमात्रकी देर है, फिर तो वे आप ही अनन्त क्लेशोंसे छुड़ाकर, पापबुद्धि और अहङ्कार आदि सर्व दुर्गुणोंका नाश करके सब ओरसे हटाकर पूर्णानन्द और मोक्षकी ओर खींच ले जायँगे। एक बार पूर्ण श्रद्धा, विश्वास और दृढ़तापूर्वक अर्जुनकी तरह 'करिष्ये वचनं तव' कह दो, फिर अवश्य वे अपनी 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' इस प्रतिज्ञाको पूरी करेंगे। जो कुछ हम चाहते हैं वही नहीं, उससे भी कहीं अधिककी प्राप्ति हमें हो जायगी।

बोलो शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्णकी जय!

चित्र-परिचय

बाबा भोलेनाथ—कैलाश पर्वतके शिखरपर एक सुन्दर उद्यानमें बाघम्बरपर आसीन हुए भगवान् शङ्कर ध्यानावस्थित हो रहे हैं, बड़ी ही सौम्य मूर्ति है। सामने फव्वारेसे जलकी धारा निकल रही है। भाँति-भाँतिके रङ्ग-विरङ्गे पुष्प खिले हुए हैं। चित्र आकर्षक है।

कौन ?

किसकी यह छाया पड़ती है, कौन इधर हो आता है?
हृदय-कमलकी पंखड़ियोंको मन्द-मन्द उसकाता है॥१॥
मरी हुई आशामें जीवन-किरण एक छिटकाता है।
गड़ी हुई आन्तरिक वेदना, कौन जगाता जाता है?॥२॥
इस निर्जनमें, इस ऊजड़में किसकी आहट आती है?
इस अनन्त निस्तब्ध निशासे टकराती जो जाती है॥३॥
ऐसे दारुण अन्धकारमें आभा कैसी भाती है?
इस अगाध कारण-वारिधिमें रचना क्या दिखलाती है॥४॥
अन्तरकी गम्भीर शान्ति मम, भङ्ग करै, अब, मत कोई।
इस कैवल्य-कुञ्जमें मुझको तङ्ग करै, अब, मत कोई॥५॥
इस असङ्ग लय-पुण्य-पंथपर, सङ्ग करै, अब, मत कोई।
ज्वलितानल, सुस्पर्श हमारा अङ्ग करै, अब, मत कोई॥६॥
मेरी हृत्तन्त्रीमें, यह किस ध्वनिका अहो! प्रवेश हुआ?
निरहङ्कार आत्मामें किस आत्माका आवेश हुआ?॥७॥
जो तुम, सो हम, जो हम, सो तुम, सिद्ध परम उपदेश हुआ।
हम उसके हो गए, हमारा वह प्यारा प्राणेश हुआ॥८॥

—बिन्दु ब्रह्मचारी,

दीनदयालो!

(श्रीभगवतीप्रसाद त्रिपाठी विशारद, एम० ए०, एल-एल० बी०)

छै रिपु हैं मुझे घेरे हुए,
उनसे मुझको प्रभो! शीघ्र बचा लो।
जाता जला मैं भवाग्निमें हूँ,
अपने करसे करुणेश! निकालो॥
और हितेच्छु न आप बिना,
अजमा चुके हो फिरसे अजमा लो।
पा चुका हूँ अपने कियेका फल,
दीनदयालो! सम्हालो सम्हालो॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दयार्द्र गौतमबुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

❀ श्रीहरिः ❀

प्रेमी ग्राहकोंको सूचना

इस अंकमें आपका इस सालका मूल्य समाप्त हो गया है। इसके बाद अब अधिक मासका कोई अंक न निकलकर छठे वर्षका प्रथमांक श्रीकृष्णांक ही निकलेगा। यदि आपने अभी आगामी सालके लिये वार्षिक मूल्य नहीं भेज दिया है तो कृपाकर अब मनीआर्डरद्वारा बहुत शीघ्र ४≈) (चार रुपया दो आना) भेज दीजिये। कृष्णांकके लगभग ४०० से अधिक पृष्ठ और लगभग १०० चित्र रहेंगे। श्रीकृष्णांककी अलग कीमत २।।≈) है, जो बहुत ही कम है, परन्तु सालभरके लिये ग्राहक बननेवालोंको यह अंक ६ ठे.वर्षके प्रथम अंकके रूपमें यों ही मिल जायगा। बाकी ११ संख्याओंकी कीमत लगभग ३।।।-) बाद देनेसे यह अंक ग्राहकोंको सिर्फ पाँच ही आनेमें मिल जाता है यानी सालभरके लिये ग्राहक बननेवालोंको २।-) का फायदा रहता है। श्रीकृष्णांककी सिर्फ १७५०० प्रतियाँ ही छप रही हैं, अतएव ग्राहकोंको बहुत जल्दी रुपये भेजकर आगामी वर्षके लिये ग्राहक बन जाना चाहिये। इस समय कल्याणके प्रायः १५००० ग्राहक हैं। इनकी प्रतियाँ बाद देनेपर सिर्फ २५०० प्रतियाँ बच रहती हैं। इस बार श्रीकृष्णांक बहुत ही मनोहर और शिक्षाप्रद होनेसे अलग खुली प्रतियाँ भी अधिक बिकनेकी सम्भावना है अतः नये ग्राहकोंको बहुत जल्दी रुपये भेजने चाहिये। साथ ही पुराने ग्राहकोंको भी वी० पी० की बाट नहीं देखकर मनीआर्डरसे जल्दी रुपये भेज देने चाहिये। पहलेसे रुपये आ जायँगे तो उन्हें श्रीकृष्णांक निकलते ही मिल जायगा। इस बार रही सही वी० पी० बहुत पीछे भेजनेका विचार है। कारण, डाकखानेके नये कानूनके अनुसार तीन ही दिन वी० पी० डाकखानेमें रक्खी जायगी। तीन दिनमें न छुड़ानेसे वापस लौट आवेगी, ऐसी हालतमें ग्राहकगण यदि कुछ भी लापरवाही करें तो बहुत-सी वी० पी० वापस लौट सकती हैं, इसलिये जहाँतक बनेगा, वी० पी० कम ही भेजी जायगी।

इस वर्ष 'रामायणांक' सात ही महीनेमें प्रायः समाप्त हो गया, सैकड़ों प्रेमियोंको निराश होना पड़ा, दुबारा छपनेकी भी आशा नहीं है, इसी प्रकार श्रीकृष्णांक भी यदि जल्दी निकल गया तो पहले ग्राहक न होनेवालोंको 'कृष्णांक' मिलना कठिन हो जायगा, यह बात याद रखनी चाहिये।

व्यवस्थापक.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

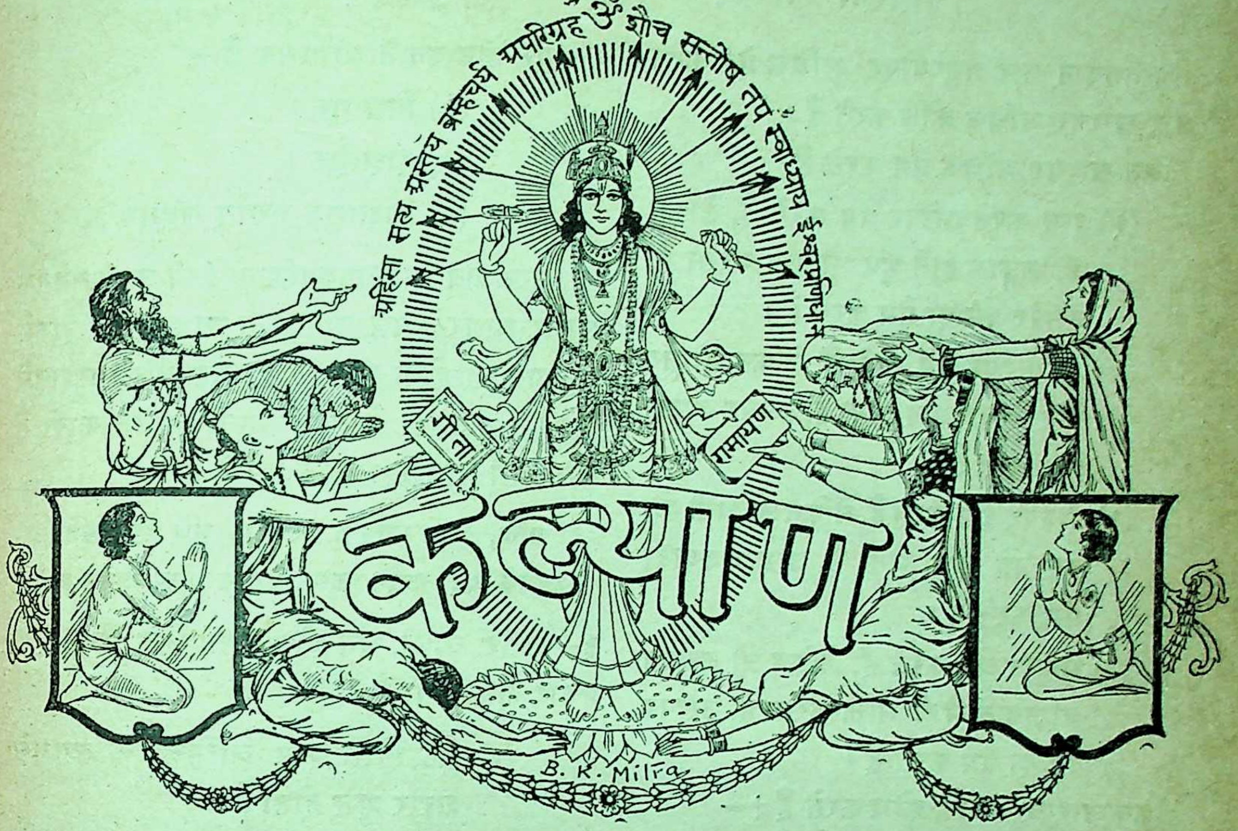

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

वर्ष ५ खण्ड १ — आषाढ़ कृष्ण ११ संवत् १९८८ मई १९३१ — संख्या १२ पूर्ण सं० ६०

श्याम कैसे मिलें

जन्म सिरानो ऐसे ऐसे ।
कै घर-घर भरमत यदुपति बिनु कै सोवत कै बैसे ॥
कै कहुँ खानपान रसनादिक कै कहुँ बाद अनैसे ।
कै कहुँ रंक कहूँ ईश्वरता नट बाजीगर जैसे ॥
चेत्यो नहीं गयो टरि अवसर मीन बिना जल जैसे ।
यह गति भई 'सूर'की ऐसी श्याम मिलैं धौं कैसे ?

—सूरदासजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महात्मा श्रीउड़िया बाबाजीके सदुपदेश*

१—श्रीभगवान् चार मनुष्योंपर अधिक प्रेम करते हैं और चारपर अधिक क्रोध करते हैं।

किन चारपर अधिक प्रेम करते हैं—

(१) दान करनेवालेपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो कङ्गाल होते हुए भी दान करता है, उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

(२) शूरवीरपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो शूरवीर विचारवान् होता है, उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

(३) दीनपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो धनी होकर भी दीन होता है, उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

(४) भक्तपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो बचपन या जवानीसे ही भक्ति करता है, उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

किन चारपर अधिक क्रोध करते हैं†—

(१) लोभीपर क्रोध करते हैं, लेकिन जो धनी होकर लोभ करता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं।

(२) पाप करनेवालेपर क्रोध करते हैं लेकिन जो बुढ़ापेमें पाप करता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं।

(३) अहंकारीपर क्रोध करते हैं, लेकिन जो भक्त होकर अहंकार करता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं।

(४) क्रियाभ्रष्टपर क्रोध करते हैं, लेकिन जो विद्वान् होकर क्रियाभ्रष्ट होता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं।

२—गुरु तीन बनाने आवश्यक हैं—

(१) विद्यागुरु।

(२) दीक्षागुरु।

(३) शिक्षागुरु अर्थात् सद्गुरु।

गुरुमें जबतक भगवद्बुद्धि नहीं की जाती, तबतक संसार-सागरसे पार नहीं हुआ जा सकता। गुरुमें मनुष्य-बुद्धि होना ही पाप है। गुरु और भगवान्में बिल्कुल भेद नहीं है, यही मानना कल्याणकारी है और इसी भावसे भगवान् मिलते हैं—

भक्ति, भक्त भगवन्त गुरु नाम चार बपु एक।
इनके पद बन्दन करूँ, नासत बिघ्न अनेक॥

३—शरीर, वाणी, धन और अन्तःकरण किस-प्रकार शुद्ध होता है?

(१) झूठ, हिंसा और व्यभिचारके त्यागसे शरीर शुद्ध होता है।

(२) भगवन्नामके जपसे वाणी शुद्ध होती है।

(३) दानसे धन शुद्ध होता है।

(४) धारणा और ध्यानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है।

४—सिर्फ चार बातोंसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है—

(१) कथा-पुराण सुननेसे।

(२) लोगोंका मरना देखकर अपनी मृत्युका विचार करनेसे।

(३) साधु-महात्मा, विरक्त-पुरुषोंकी सङ्गति करनेसे।

(४) संसारी व्यवहारको झूठा समझनेसे।

---

* अनूपशहर-निवासी लाला प्यारेलालजीकी कृपासे प्राप्त।

† याद रखना चाहिये कि भगवान्का क्रोध भी वरदानके समान होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यकी शरणसे मुक्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

(गतांकसे आगे)

ऐसे पुरुषोंका वैरी अथवा मित्रमें समभाव रहता है और काम पड़नेपर वे वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा श्रीकृष्णने अर्जुन और दुर्योधनके साथ किया था। महाभारतके युद्ध-आरम्भके पूर्व जब वे दोनों श्रीकृष्णके पास गये तो उन्होंने यही कहा कि मेरे लिये तुम दोनों ही समान हो। मेरे पास जो कुछ है उसे तुम दोनों इच्छानुसार बाँटकर ले सकते हो। एक ओर मेरी अक्षौहिणी सेना है और दूसरी ओर मैं स्वयं निःशस्त्र! तुम्हारे परस्परके युद्धमें मैं शस्त्र ग्रहण न करूँगा। इन दोनोंमेंसे जिसे जो जँचे वह ले सकता है। इसपर दुर्योधनने सेनाको लिया और अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको!

उस पुरुषको बड़े भारी विषयभोग भी वैसे ही विचलित नहीं कर सकते, जैसे यमराजका दिया हुआ प्रलोभन नचिकेताको न कर सका। उसने रथ, घोड़े और स्वर्गादिके ऊँचे-से-ऊँचे भोगोंको तत्काल ठुकराकर परमात्म-धनको ही पसन्द किया—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥

(कठ० १।१।२७-२९)

'मनुष्य द्रव्यसे तृप्त नहीं होता। धन तो आपके दर्शनसे मिल ही जायगा। जबतक आप अनुग्रह पूर्वक प्राणियोंपर शासन करते हैं, तबतक मैं जीवित भी रह सकूँगा, परन्तु मैं तो वही वर चाहता हूँ जो मैंने माँगा है। जरा-रहित अमृतरूप देवोंके समीप जाकर जरामरणयुक्त तथा पृथ्वी-रूपी अधःस्थानमें स्थित रहा हुआ कौन पुरुष अनित्य वस्तुको चाहेगा? रूप, क्रीड़ा और उससे उत्पन्न होनेवाले सुखको अनित्य जानकर भी कौन पुरुष लम्बी आयुसे सन्तुष्ट होगा? हे मृत्यो! परलोक सम्बन्धी आत्मतत्त्वमें जो शंका की जाती है, वह आत्मविज्ञान ही मुझसे कहिये, इस अत्यन्त गूढ़ वरके अतिरिक्त नचिकेता और कुछ नहीं माँगता।'

ऐसे पुरुषोंका वेद, शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास होता है। कल्याण-कामी सत्यकामका गुरु-वचनोंमें बड़ा भारी विश्वास था। वह उद्दालककी सेवामें ब्रह्मज्ञानके उपदेशार्थ उपस्थित होता है। गुरु तत्काल आज्ञा दे देते हैं कि—'जाओ, ये चार सौ गायें वनमें ले जाओ; पूरी हजार हो जानेपर वापस चले आना।' कहना नहीं होगा कि अपनी दृढ़ श्रद्धा और गुरुप्रसादके कारण सत्यकाम वनमें ही आत्मज्ञान प्राप्तकर कृतकृत्य हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यन्त निष्ठुरता और निर्दयताका व्यवहार करनेवालेके साथ भी उत्तम पुरुष उदारता, दया और सुहृदताका ही बर्ताव करते हैं। इस सम्बन्धमें भक्त जयदेव कविका चरित्र बड़े महत्त्वका है—

एक बार भक्तशिरोमणि अयाचक जयदेवको किसी राजाने अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय करके बहुमूल्य रत्न प्रदान किये। उस विपुल धन-राशिको लेकर जब वह अपने घरको जा रहे थे तो मार्गमें डाकुओंसे भेंट हुई। लोभ किससे क्या नहीं करवा लेता ? डाकुओंने रत्न छीनकर बेचारे निःस्पृही भक्तके हाथ काट डाले! धनलिप्साकी इतिश्री यहीं नहीं हो गयी! उन्होंने निर्दयतापूर्वक उन्हें पासके किसी जलहीन सूखे कूएँमें डालकर और भी अधिक पापकी पोटली बाँधी! दैवयोगसे राजा उसी कूएँपर प्याससे व्याकुल होकर आ पहुँचा। ज्यों ही पानी खींचनेके लिये रस्सी अन्दर लटकायी, त्यों ही परिचित-सी आवाज़ सुन पड़ी। पूछनेपर पता चला कि वह कष्टापन्न व्यक्ति जयदेवके सिवा कोई दूसरा न था! राजाने उसे बाहर निकलवाकर दुःखभरे चकित भावसे पूछा, 'यह क्या हुआ जयदेव ? किस निष्ठुरने तुम्हारे साथ यह दुर्व्यवहार कर अपनी मौतको याद किया है ?' भक्त चुप रहा—अनेक बार आग्रह करनेपर भी न बोला। राजाका कोई वश न चला। वह उसे अपने राजमहलमें ले जाकर रात-दिन उसकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रहने लगा। संयोगसे वे ही डाकू महलकी ओर आते हुए दीख पड़े। आनन्दोल्लास-भरे स्वरमें जयदेव बोल उठा—'राजन्! आप मुझे धन लेनेके लिये अनेक बार प्रार्थना किया करते हैं! आज आप इच्छानुसार खुले दिलसे मेरे इन मित्रोंको दान कर सकते हैं।' कहनेभरकी देरी थी। राजाने उनको—उन भय-कम्पित डाकुओंको अपने पास बुलवाया। अपराधी लुटेरोंके प्राण कण्ठको आने लगे—टाँगें परस्पर टकराने लगीं। बहुत देरतक आशा-आश्वासन पानेके बाद उनका धड़कता हुआ हृदय थमा! साहस करके जो मनमें आया वही माँगा! अपने दुष्कृत्योंका उल्टा फल पाकर वे अचम्भित और हर्षित हुए! साथमें कोतवालको नियुक्त करके उन्हें सादर विदायी दी गयी। कोतवालने इस अद्भुत रहस्यके जाननेके लिये उत्सुकतापूर्ण भावसे पूछा—'क्यों-जी, आपका जयदेव भक्तजीके साथ क्या सम्बन्ध है ? उन्होंने इतनी अधिक सम्पत्ति दिलवाकर किस कृतज्ञताका बदला चुकाया है ?'

डाकुओंने छलभरी मुस्कराहटके साथ कहा—'कोतवाल साहब ! हमलोगोंने इस जयदेवको एक बार मृत्युके मुखसे बचाया था—अब यह उसी प्राण-दानका बदला चुका रहा है।' अन्तिम अक्षरोंके निकलते ही उनके आगेकी पृथ्वी झटसे फट पड़ी और उन पतितोंको उसने अपनेमें सदाके लिये समा लिया। कोतवालने राज-दरबारमें उपस्थित होकर दोनोंके सम्मुख सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुनते ही जयदेवकी आँखोंसे आँसू बह निकले! आँसू पोंछनेपर उनके दोनों हाथ निकल आये, राजाके विस्मित होकर बार-बार पूछनेपर परम भागवत जयदेवने सारा हाल कह सुनाया! राजाका आश्चर्य घटनेकी अपेक्षा और भी अधिक बढ़ गया। उसने तत्काल पूछा—'जब आपके हाथ इन्होंने काट दिये तो ये मित्र कैसे ?'

जयदेव—मैंने प्रतिग्रह स्वीकार न करनेकी जो प्रतिज्ञा कर रक्खी थी उसे आपके आग्रहवश तोड़नी पड़ी। उसी प्रतिज्ञा-भंगके दण्डस्वरूप मेरे हाथ काटकर इन्होंने मुझे उपदेश दिया। इसप्रकारके क्रियात्मक उपदेशद्वारा हित-साधन करनेवाले लोग मित्र नहीं तो क्या हैं ?'

राजा—इनको आपने धन कैसे दिलवाया ?

जयदेव—कहीं धनकी लालसा रहनेपर ये फिर भी कभी समय पाकर किसी निरपराधका खून कर सकते हैं, ऐसा विचारकर इनकी कामना-पूर्ति और सन्तोषके लिये मैंने आपसे धन दिलवाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मित्रताके नाते भी धन दिलवाना न्यायसङ्गत ही था।

राजा–इनकी मृत्युसे आप रोने कैसे लगे ?

जयदेव–मेरे निमित्तसे इन्हें प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा। मुझे लोग श्रेष्ठ कहते हैं, श्रेष्ठके सङ्गका फल श्रेष्ठ होना चाहिये, पर हुई बात इसके विपरीत। इसीलिये मैं रोता हूँ कि—'हे प्रभो! मैंने ऐसा कौनसा अपराध किया था कि जिससे इनको मेरे सङ्गका यह दुष्परिणाम भोगना पड़ा ?'

राजा–तो आपके हाथ कैसे आ गये ?

जयदेव–यह ईश्वरकी दया है! वे अपने सेवकके अपराधोंका विचार न कर अपने विरद—अपने दयापूर्ण स्वभावकी ओर ही देखते हैं।

भक्त-शिरोमणि जयदेवके ये वचन सुनकर राजा पुलकित हो उठा–आनन्दसे गद्गद् हो गया। इसका नाम है सत्यपालकका सद्भाव और उसकी सहृदयता!

सत्कर्म

परम पिता परमेश्वर सत् हैं, इसलिये उनके निमित्त किये जानेवाले कर्म भी सत्कर्म हैं।

कर्मचैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

(गी० १७। २७)

अतएव मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषद्वारा जो कुछ भी कर्म किया जाता है वह भगवदर्थ ही होता है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥

(गी० १७।२५)

इसप्रकार ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण कर्म करनेसे मनुष्य पुण्य और पापोंसे छूटकर सत्स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण दोनों ही प्रकारके कर्म मुक्तिके देनेवाले हैं।* भगवान् श्रीकृष्णने स्थान-स्थानपर इस-प्रकार कर्म करनेकी आज्ञा अर्जुनको दी है। देखिये—गी० अ० ३ श्लो० ९, अ० ९ श्लो० २२-२७, अ० १२ श्लो० १०-११ आदि।

इसलिये यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा या जीविका आदिके सभी कर्म ईश्वरार्थ ही करने चाहिये। जैसे सच्चा सेवक (मुनीम, गुमाश्ता) प्रत्येक कार्य स्वामीके नामपर, उसीके निमित्त, उसीकी इच्छाके अनुसार करता हुआ किसी कर्म अथवा धनपर अपना अधिकार नहीं समझता है और स्वप्नमें भी किसी वस्तुपर उसके अन्तःकरणमें ममत्वका भाव न आनेसे वह न्याययुक्त की हुई प्रत्येक क्रियामें हर्ष-शोकसे मुक्त रहता है, उसी प्रकार भगवान्के भक्तको उचित है कि वह अपने अधिकार-गत धन, परिवार आदि सामग्रीको ईश्वरकी ही समझकर उसकी आज्ञाके अनुसार उसीके कार्यमें लगानेकी न्याययुक्त चेष्टा करे और वह जो भी नवीन कर्म अथवा क्रिया करे उसे उसकी प्रसन्नता और आज्ञाके अनुकूल ठीक उसी प्रकार करे जिस-प्रकार बन्दर नटकी इच्छा और आज्ञानुसार करता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वरकी इच्छाका पता किसप्रकार चले ? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि आप इस सम्बन्धमें ईश्वरसे पूछ सकते हैं। वह आपके हृदयमें विराज-मान है—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

(गी० १५। १५)

'हमारे लिये क्या करना उचित है और क्या अनुचित है' यह बात आप अपने हृदयस्थ परमात्मासे यदि जानना चाहेंगे तो वह न्यायकारी प्रभु आपके हृदयमें सत्प्रेरणा ही करेंगे। जब कोई व्यक्ति सद्भावसे अन्तरात्मासे परामर्श लेता है तो उसे पवित्र आत्माद्वारा सत्परामर्श ही प्राप्त होता है।

* इस सम्बन्धकी विस्तृत व्याख्या 'गीतोक्त सांख्य-योग और निष्कामकर्मयोग' में की गयी है। यह पुस्तिका गीताप्रेस, गोरखपुरसे ‐)॥ में मिल सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारणतः जैसे कोई अपनी आत्मासे पूछता है कि 'चोरी, व्यभिचार, झूठ और कपट आदि कर्म कैसे हैं' तो उत्तर मिलता है कि 'त्याज्य हैं—निषिद्ध हैं!' इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, अहिंसा और सत्य आदिके विषयमें सम्मति माँगनेपर यही उत्तर मिलता है कि 'अवश्य पालनीय हैं।' अज्ञान, राग-द्वेष और संशय आदि दोषों द्वारा हृदयके आच्छादित रहनेपर किसी-किसी विषयमें निश्चित उत्तर नहीं मिलता; अतः ऐसे अवसरपर अपनी दृष्टिमें जो भगवान्के तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष हों, उनके द्वारा बतलाये हुए विधानको ईश्वरकी आज्ञा मानकर तदनुकूल आचरण करना चाहिये।

सत्स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करवानेवाले व्यवहारका नाम ही सद्व्यवहार है। इसीको सदाचार कहते हैं। अपना कल्याण चाहनेवाले साधकोंको उचित है कि वे इसके पालनकी ओर विशेषरूपसे सचेष्ट रहें। भगवत्प्राप्त पुरुषोंमें तो सत्यका आचरण स्वाभाविक होता है।

संसारमें किसी जीवको कभी भी किसी प्रकारसे दुःख, भय और क्लेश नहीं पहुँचाना चाहिये और न पहुँचानेकी इच्छा या प्रेरणा ही करनी चाहिये। यदि कोई किसीको कष्ट पहुँचाता हो तो उसको किसी प्रकारसे न तो सहायता ही देनी चाहिये और न उसका अनुमोदन ही करना चाहिये। इतना ही नहीं, वरं भीतरमें प्रसन्नता भी न माननी चाहिये।

अज्ञान और राग-द्वेष सदाचारके लिये परम विघातक हैं। अतः साधकको इनसे खूब ही बचकर रहना चाहिये। भ्रम और मूर्खताके कारण मनुष्य हर एक प्रकारके दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये सदाचारी मनुष्यको सत्य और असत्यके विषयमें शास्त्र और साधु-पुरुषोंकी सहायतासे अपनी बुद्धि-द्वारा निर्णय करके सत्यका आचरण करना चाहिये। अन्यथा वह सत्यको असत्य और दुराचारको सदाचारका रूप देकर दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाता है, जिससे उसका परमार्थ-भ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

राग

यह साधकका बड़ा भारी शत्रु है। यही काम और लोभके रूपमें परिणत होकर समस्त अनर्थोंका मूल बन जाता है। इसीके कारण यह विषयोंका दास होकर अर्थकी कामनाके लिये संसारमें भटकता फिरता है। आत्मसुधारकी कामनावाले पुरुषको इस बातका पद-पदपर ध्यान रखना चाहिये कि कहीं मैं स्वार्थके चंगुलमें फँसकर आचरण-भ्रष्ट न हो जाऊँ! जब मनुष्य किसी कार्यको आरम्भ करता है तो आसक्तिके स्वाभाविक दोषके कारण उस कार्यकी सिद्धि-असिद्धिमें निजी स्वार्थका अन्वेषण करने लगता है और सोचता है कि उस कार्यके करनेमें मुझे क्या लाभ प्राप्त होगा? इसप्रकारकी अर्थ-कामना उसे सब विषयोंका दास बनाकर श्रेय-मार्गसे तत्काल गिरा देती है। अतः कल्याणकामी साधकको उचित है कि वह कार्य-आरम्भके पूर्व ही सावधान हो जाय कि जिससे स्वार्थको घर कर लेनेका अवसर न मिल सके। मनमें स्वार्थके प्रवेश कर जानेसे सदाचार दुराचारके रूपमें परिणत हो जाता है। सदाचारका पालन करनेमें यदि भूलसे कुछ कमी आ जाय या किसी अंशमें कहीं पालन न बन सके तो पुरुष दोषी नहीं समझा जाता। दोष तो सारा स्वार्थसे आता है। परन्तु स्वार्थ है बड़ा ही प्रबल, इसका ऐसा विस्तार और प्रसार है कि यह पद-पदपर व्याप्त होनेपर भी धोखा हो जाता है। संसारके सम्पूर्ण कर्मों और समस्त पदार्थोंमें इसने अपना स्थान बना रक्खा है। अच्छे-अच्छे विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुष भी इसके फेरमें पड़कर कर्तव्यको भूल जाते हैं। स्वार्थसे बचने, स्वार्थका समूल नाश करनेके लिये मनुष्यको सतत सावधानीसे प्रयत्न करते रहना चाहिये और बार-बार अन्तर्वृत्ति करके देखना चाहिये। जो पुरुष इस स्वार्थपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजय पाता है, सब प्रकारकी कामना और स्पृहाको त्यागकर विचरता है वही परम शान्तिको प्राप्त होता है । विषय-लोलुप मनुष्योंके न तो आचरणोंमें ही सम्यक् सुधार होता है और न उन्हें कभी कहीं शान्ति ही मिलती है ।

द्वेष

रागकी भाँति द्वेष भी मनुष्यका परम शत्रु है । इसीके कारण वह क्रोधके वशीभूत हो कर्तव्य भूलकर विपरीत आचरण करने लगता है, जिससे उसका सर्वनाश हो जाता है । परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि द्वेषका मूल कारण वास्तवमें राग या आसक्ति ही है । इसी राग या आसक्तिसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भीषण शत्रुओंका दल उत्पन्न होकर मनुष्यको सदाचारसे गिराकर उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर देते हैं जिससे वह परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है, इसलिये आसक्तिके त्यागपर विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

आसक्तिरहित पुरुषकी प्रत्येक क्रिया स्वार्थ-हीन होती है, इससे उसके हर एक आचरणमें प्रेम और दयाका भाव विकसित हुआ रहता है । किसी भी पदार्थमें राग न रहनेके कारण, संसारके जितने भोग्य पदार्थ उसके अधीन होते हैं, उन सबको वह उदार चित्तसे देश-काल-पात्रके अनुसार लोकहितार्थ सद्व्यय करनेकी चेष्टामें रहता है । ऐसे सत्पुरुषोंकी सारी क्रियाएँ मूर्ख और अज्ञानियोंकी समझमें नहीं आतीं । वे उसकी क्रियाओंको, अपनी अज्ञानावृत क्रियाओंसे तुलना करके उनमें दोष ही देखा करते हैं । परन्तु वास्तवमें ऐसे महात्माओंकी स्वार्थरहित क्रियाओंमें दोषका लेशमात्र भी प्रवेश नहीं हो सकता । इसलोक या परलोककी कोई भी कामना या स्वार्थ न रहनेके कारण ऐसे महापुरुषोंके आचरण अज्ञानी मनुष्योंकी दृष्टिमें दोषयुक्त होनेपर भी सर्वथा पवित्र होते हैं । मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका और संसारकी किसी भी स्थितिका लोभ नहीं होनेके कारण संसार-की कोई भी वस्तु इन्हें अपनी ओर नहीं खींच सकती, वे नित्य निर्भय पदमें स्थिर रहते हुए न तो किसीसे डरते हैं और न किसीके साथ कठोर बर्ताव ही करते हैं । विनय, कोमलता, सत्य और शान्तिकी तो वे साक्षात् मूर्ति होते हैं । क्षमा उनका स्वभाव बन जाता है इससे क्रोधकी उत्पत्ति उनमें कभी होती ही नहीं, कभी योग्यता प्राप्त होनेपर उनमें कोई क्रोध की-सी बाहरी क्रिया देखी जाती है परन्तु वस्तुतः उनमें क्रोध नहीं हो सकता । सर्वत्र सबमें समबुद्धि होनेके कारण वे किसीकी अनुचित निन्दा-स्तुति नहीं करते । झूठ कपटका उनमें सर्वथा अभाव होता है । जहाँ, जिस बातके प्रकट हो जानेसे किसीको हानि पहुँचती हो या अपनी प्रशंसा होती है उसे वे यदि छिपा लेते हैं तो उनका यह आचरण कपट, असत्य या स्तेयमें नहीं गिना जाता ।

उपसंहार

सदाचारका विषय बड़ा व्यापक है । इसपर बहुत अधिक लिखा जा चुका है तो भी इसमें मनके सब भाव व्यक्त नहीं हो पाये हैं । इसकी विशदरूपसे व्याख्या करनेकी आवश्यकता है । किन्तु लेख बढ़ जानेके संकोचसे जहाँतक बन पड़ा, संक्षिप्तमें ही समाप्त करनेकी चेष्टा की है ।

सत्य एक ऐसी वस्तु है जिसका आश्रय लेनेसे सम्पूर्ण उत्तम गुणोंकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है । सत्यका आश्रयी सत्पुरुष सद्गुणोंका समुद्र और ज्ञानका भण्डार बन जाता है । यद्यपि सत्यके पालनमें आरम्भमें साधकको अनेक प्रकारकी कठिनाइयों और क्लेशोंका सामना करना पड़ता है, किन्तु सत्यकी सिद्धि हो जानेपर उसके शोक और मोहका आत्यन्तिक अभाव हो जाता है । अतः सत्यके पालन करनेवाले पुरुषको निर्भयतासे अपने लक्ष्यपर डटे रहना चाहिये । एक ओर सत्यका त्याग और दूसरी ओर प्राणोंका त्याग—इन दोनोंको तौलनेपर सत्यका पलड़ा ही भारी मालूम देता है । इसलिये यदि मनुष्य प्राणोंकी भी परवा न करके सत्यपर डटा रहेगा तो सभी आपत्तियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखते-ही-देखते आप ही नष्ट हो जायँगी। अन्तमें उस सत्यकी विजय होगी। उदाहरणार्थ प्रह्लादका इतिहास प्रसिद्ध है। सत्यके लिये प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं है। वह तो स्वयं स्वतःप्रमाण है। अन्य सब प्रमाणोंकी सिद्धि सत्यपर ही अवलम्बित है। सत्यका प्रतिपक्षी सत्यको नष्ट करनेके लिये चाहे जितने उपाय करे, सत्यको ज़रा भी आँच नहीं आती–बल्कि वह जितना ही कसौटीपर कसा जाता है—जितना ही तपाया जाता है उतना ही वह उज्ज्वल रूप धारण करता रहता है। जो ताड़नासे, तापसे मिट जाय वह सत्य ही नहीं है। जो सत्य-पालनका थोड़ा-सा भी महत्त्व समझ गया है उससे सत्यका त्याग होना कठिन है, फिर जिन्होंने इसके तत्त्वका सम्यक् परिज्ञान प्राप्त कर लिया है वे कैसे विचलित हो सकते हैं। केवल एक सत्यका तत्त्व जान लेनेपर मनुष्य सब तत्त्वोंका ज्ञाता बन जाता है, क्योंकि सत्य परमात्माका स्वरूप है और परमात्माके ज्ञानसे सब ज्ञान हो जाना प्रसिद्ध है। अतः मन, वाणी और इन्द्रियोंद्वारा सत्यकी शरण लेनी चाहिये। सत्य सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त है। अन्वेषण करनेपर सर्वत्र सत्यकी ही प्रतीति और अनुभूति होने लगेगी। जो कुछ भी प्रतीत होता है, विचारपूर्वक परीक्षा करनेसे सबका बाध होकर एक सत्य ही शेष रहता है। सम्पूर्ण संसारका अस्तित्व सत्यपर टिका हुआ है। इसके बिना किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कोई भ्रमवश इसके विपरीत मान लेता है, वह विपरीतता ठहरती नहीं। वर्षा होनेसे जैसे बालूकी दीवार विशेष समयतक नहीं ठहर सकती, इसी प्रकार विचार-बुद्धिसे अन्वेषण करनेपर असत्यका अस्तित्व तुरन्त ही लुप्त हो जाता है। बालूकी दीवारके नष्ट होनेपर बालूके कण तो रहते भी हैं पर इस असत्यका तो नामोनिशान भी मिट जाता है। जो असत्य है उसे भले ही कितने ही साधनोंसे सत्य प्रमाणित करनेकी चेष्टा की जाय पर अन्तमें असत्य ही रहेगा—अस्तित्वहीन रहेगा और सत्यको मिटानेके सभी प्रयत्न निष्फल होंगे। ऐसा महत्त्व होनेपर भी जो मूढ़ इसे छोड़कर असत्यका आश्रय लेते हैं वे निस्सन्देह दयनीय हैं। अतएव कल्याणकामी बन्धुओंको प्राणोंसे भी बढ़कर सत्यका आदर करना चाहिये और उसके पालनार्थ कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

प्रतिज्ञा

(लेखक—पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०)

नयनमें पूतरी सरिस मैं बसाऊँ
बैनमें बरनमाला ही सो तो कहँ सजाऊँ मैं।
मोह अन्धकारके समान ही हृदय माहिं
मूरति तिहारी नेह सानिकै जमाऊँ मैं॥
मस्तकमें कारे केस ही सो बेस तेरो ध्यान
सकल सुज्ञान सीस ऊपर मढ़ाऊँ मैं।
नस नस रोम रोम तेरो रूप छाऊँ
जो पै कवि राजहंस मेरे श्याम! तोहिं पाऊँ मैं॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रार्थनाकी आवश्यकता और उसका रहस्य

(महात्मा गान्धीजीका एक प्रवचन)

मैं मानता हूँ कि प्रार्थना हरएक धर्मका अविभाज्य अंग है और इसी कारण वह हरएक मनुष्य और समाजके जीवनका भी अविभाज्य अंग है। होना चाहिये, क्योंकि कोई भी मनुष्य या समाज बिना धर्मके नहीं रह सकता। हाँ, कुछ लोग ऐसे हैं ज़रूर, जो बुद्धिका प्रयोग करके कहते हैं कि हमें धर्मसे कोई सरोकार नहीं है, परन्तु यह तो वही बात हुई कि एक आदमी श्वासोच्छ्‌वास लेते हुए भी यह कहे कि मेरे नाक नहीं है! मनुष्य जानमें हो या अनजानमें धर्मको मानता ही है, क्योंकि वह किसी-न-किसी नियमको मानता है, उस नियममें पारलौकिक भाव रहता है, इसलिये बुद्धिसे कहिये या वहमकी वजहसे कहिये या प्ररणावश कहिये, मनुष्य कुछ-न-कुछ पारलौकिक सम्बन्ध रखता है, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म यत्किञ्चित् ही क्यों न हो, पर पारलौकिक सम्बन्ध रहता है। नास्तिक-से नास्तिक मनुष्य भी नीतिके किसी-न-किसी नियमका सहारा लेता है और वह मानता है कि उस नियमके पालनसे कुछ मिलेगा तथा नहीं पालनेसे कुछ न्यूनता रह जायगी या अहित होगा। ब्रैडलॉ एक प्रसिद्ध नास्तिक कहा गया है। वह अपनी नास्तिकताका दुनियाभरमें ढिंढोरा पीटा करता और इसीमें प्रसन्न होता था, फिर भी सत्यका पालन करके उसके कठोर फलोंको भोगनेमें वह गर्वका अनुभव करता था। वह यह तो नहीं बता सकता था कि इस सत्यका उसे कोई ऐहिक फल मिला था या ऐहिक परिणाम तो दुःख ही था, फिर भी वह उसपर गर्व करता था, क्योंकि उसे उससे सन्तोष मिलता था, आनन्द प्राप्त होता था। वह कहता था कि सत्यका बदला सत्य ही हो सकता है, फिर भी यह तो निर्विवाद है कि उसके पालनसे वह सूक्ष्म आनन्दका अनुभव करता था। यह आनन्द ऐहिक नहीं, अलौकिक और इन्द्रियातीत था। इसीलिये कहा गया है कि धर्मको न माननेवाला मनुष्य भी अलौकिक तत्त्वको मानता है, इसलिये वह इच्छा न रहते हुए भी धर्मको मानता है। और यदि धर्म है, तो उसका ध्यान भी है—इसीका नाम प्रार्थना है।

प्रार्थना अनेक प्रकारकी होती है। हम दोका विचार करेंगे—एक ईश्वरसे कुछ माँगनेकी और दूसरी अन्तर्मुखी होकर ईश्वरका अनुसन्धान करनेकी, इसे हम उपासना कहते हैं। ईश्वरको कोई बाह्यतत्त्व मानकर हम उससे कुछ माँगें या उसे अन्तर्यामी जानकर अपने अन्तरमें जागृत रहें और उसकी आराधना करें, उपासना करें—आखिर परिणाम दोनोंका एक ही होगा। पहले प्रकारका आदमी भक्त कहा जायगा, दूसरे प्रकारका ज्ञानी। हम भक्त गिने जायँ, तो भी बहुत है। ईश्वरसे कुछ माँगना हो, तो वह हमारी माँग भी आत्मशुद्धिके लिये ही होनी चाहिये। आत्माका शौच, आत्माका परिशोधन, यही प्रार्थना है। हममें आत्मा मूर्छित स्थितिमें है, उसपर अन्धकार—अज्ञानके कितने ही थर जमे हुए हैं, वह ढँक चुकी है। प्रार्थना करके हम एक-एक तहको हटाते हैं, इसलिये जो आदमी आत्म-जागृतिको या धर्म-जागृतिको मानता हैं, उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदमीके लिये प्रार्थना एक बड़े-से-बड़ा तत्त्व है। कुछ लोग मानते हैं कि केवल मन्दिरमें जाने, आरती उतारने, भजनमें शामिल होने और रामनाम लेनेसे ही प्रार्थना हो जाती है। लेकिन भजन, राम-नाम वगैरह सब प्रार्थनाके साधन हैं, साध्य ईश्वरके साथ अनुसन्धान है। यह काम निश्चेष्ट रहकर भी हो सकता है, चुप बैठकर भी प्रार्थना की जा सकती है, शब्दविहीन पर दिलसे की जानेवाली प्रार्थना कामकी है, पर हृदयविहीन लेकिन शब्दाडम्बरयुक्त प्रार्थना बेकाम है। आत्मापर पड़े हुए थरोंको हटानेका जाग्रत प्रयत्न किया जाय, तभी प्रार्थना सार्थक है। उसमें दम्भ न हो, आडम्बर न हो। जिस तरह भूखे आदमीको भोजन मिलनेपर वह स्वादिष्ट लगता है, उसी तरह भूखी आत्माको प्रार्थनाका स्वाद जानना चाहिये। हृदयसे की जानेवाली प्रार्थना अपनेको अवश्य ही स्वच्छ बनाती है। मैं स्वयं अपने और अपने कुछ साथियों-के अनुभवसे कहता हूँ कि जिसे प्रार्थना हृदयगत है, वह कई दिनों तक बिना खाये तो रह सकता है, पर प्रार्थना बिना नहीं रह सकता। यदि भूलसे भी कोई दिन उसका बिना प्रार्थनाके बीत जाता है, तो चित्त-शुद्धि करके वह अपनी आत्माका मैल मिटाता है और तभी उसे शान्ति मिलती है।

तो क्या ऐसी प्रार्थनाका कोई नियत समय होता है? जिसे सतत आत्मशुद्धि करनी है, उसके तो चौबीसों घण्टे प्रार्थनामय ही होंगे। यह बात सच है, परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि हम पामर हैं, मोहवश हैं, सतत प्रार्थना करनेमें असमर्थ हैं, इसीलिये हम कोई एक समय ठहरा लेते हैं। सूरदासने कहा है—'मो सम कौन कुटिल खल कामी' क्या वह दम्भी थे? नहीं, वे हमारे मापके अनुसार तो निर्विकारी थे, साधु थे। परन्तु उन्होंने तो अपने-को अपने गजसे नापा था और तदनुसार वह विकारी थे; अपनेमें गहरे छिपे हुए सूक्ष्म विकार उन्हें बिच्छूकी तरह डंक मारते थे। इसी कारण वह अपने-को 'खल' कहकर सन्तप्त हो उठते थे, राग-द्वेष पैदा होते ही वह विकल हो जाते थे और जैसे-जैसे वह इस मूर्च्छाको दूर करनेकी कोशिश करते वैसे-वैसे वह देखते कि 'मैं अभी कितनी दूर पड़ा हुआ हूँ।' फिर भी सूरदास हमसे हजारों योजन आगे थे, परन्तु उनकी आत्मजागृति उनसे अपनेको 'निमकहरामी' कहलाती थी और पुकार मचवाती थी कि 'मैं अभी कितनी दूर हूँ!' इस वृत्तिमें चौबीसों घण्टोंकी प्रार्थना मौजूद है, पर हममें इस-प्रकार आठों प्रहर प्रार्थना करनेकी शक्ति नहीं, इसी-लिये हम एक समय रखते हैं, उस वक्त जगत्‌की, शरीरके झंझटोंको झटकार डालते हैं, जिससे बारह घण्टों तक उसकी झनक हमारे हृदयमें बनी रहती है। रातको फिर वैसी ही प्रार्थना करके सोते हैं, जिससे रातभर हमारी आत्माकी रक्षा होती है। इस तरह एक नियत समय रखना हम-जैसे साधारण लोगों-का कर्तव्य है। हम यह कहकर अपने आपको धोखा न दें कि हम तो सदा प्रार्थनामय ही हैं।

इस जगत्‌में हम सेवा करनेके लिये पैदा किये गये हैं, सेवाके काम करना चाहते हैं। यदि हम जाग्रत रहते होंगे, तो हमारे काम दैवी होंगे, राक्षसी नहीं। मनुष्यका धर्म राक्षसी बनना नहीं है, दैवी बनना है। परन्तु प्रार्थना-रहित मनुष्यके काम आसुरी होंगे, उसका व्यवहार अशुद्ध होगा, अप्रामाणिक होगा। एकका व्यवहार अपनेको और संसारको सुखी बनानेवाला होगा। दूसरेका अपनेको और जगत्‌को दुखी बनानेवाला। अतएव परलोककी बात जाने दें, तो भी, इसलोकके लिये भी प्रार्थना सुख और शान्ति देनेवाला साधन है। कविने रावणके महलका उस वक्तका वर्णन किया है, जब हनुमान् लंका गये थे। वह महल तो था, पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें सब अस्तव्यस्त था, अपने अंगोंका किसीको भान न था; राक्षसी नगरीमें सुव्यवस्था हो ही नहीं सकती। हम अपनी देहरूपी नगरीको दैवी बनाकर उसमें सुव्यवस्था पैदा करना चाहते हैं। इस सुव्यवस्थाके लिये प्रार्थना आवश्यक है।

यहाँ (आश्रममें) भी प्रार्थनाका काम बहुत ही ढिलाईसे चलता था—बैलगाड़ीकी तरह चलता था और हम उसे निबाह लेते थे। यहाँ आनेवाले बहुतेरे जिज्ञासु तो थे, सत्याग्रह सीखनेकी लगनसे आये थे। परन्तु मेरी शिथिलता देखकर वे भी प्रार्थनाके सम्बन्धमें लापरवाह बने। दूसरी बातोंकी हमें जितनी चिन्ता थी, उतनी प्रार्थनाकी नहीं। आखिर मेरी मूर्छा दूर हुई। मैंने सोचा कि यदि मैं इस संस्थाका संरक्षक हूँ, तो जिस चीजको मैं इतना महत्त्व देता हूँ उसके बारेमें इतना लापरवाह कैसे रह सकता हूँ? मैं जगा और मैंने प्रार्थना-सम्बन्धी कड़े नियम बनाये। मुझे विश्वास था कि इस एक बातको सिद्ध करनेसे दूसरी बातें सिद्ध हो जायँगी और मुझे आशा है कि उन कड़े नियमोंसे किसीकी हानि नहीं हुई है। चौरस चीजका एक कोना सीधा करनेपर सब कोने आप ही बराबर हो जाते हैं।

इसलिये मैं तो आपको यह सलाह दूँगा कि आप प्रार्थनासे भूतकी तरह चिपटे रहें। यह न पूछिये कि प्रार्थना किस तरहसे की जाय। केवल रामनाम बोलकर भी प्रार्थना की जा सकती है। प्रार्थना की रीति चाहे जो हो, मतलब भगवान्‌का ध्यान करनेसे है, जैसा कि अखा भगतने कहा है—

'सूतर आवे त्यम तुं रहे।
जेम तेम करीने हरिने लहे॥'

जिस रीतिसे 'हरिको प्राप्त' किया जा सकता है, वह रीति पसन्द कर लेनी है, इतना याद रखिये कि प्रार्थना जीभकी चीज नहीं, हृदयकी है। विद्यार्थियोंको मैं सलाह देता हूँ कि आप गृहपतियोंकी चुन्हीं पकड़ उनसे कहिये कि—'क्या आप प्रार्थना अनिवार्य बनानेवाले थे, हमीं आपसे कहते हैं कि वह अनिवार्य कर दीजिये। हम उसका महत्त्व समझते हैं, परन्तु आलस्यके कारण करते नहीं। इसलिये हम अपने ऊपर अङ्कुश रखना चाहते हैं। प्रार्थनाके पाशमें बाँधकर हमें सीधा कीजिये।' आपको प्रार्थना प्रिय हो, प्रार्थनामें श्रद्धा हो, तो इस बन्धनमें इच्छापूर्वक बँधिये, इस बन्धनमें पड़कर ही इच्छित फल प्राप्त कर सकेंगे। अनेक आदमी स्वेच्छाचारी बनकर मानते हैं कि हम स्वतन्त्रताका उपभोग कर रहे हैं, परन्तु वे विषय-विकारके बन्धनमें अधिक बँध जाते हैं, जब कि दूसरे लोग संयमका बन्धन स्वीकार करके विकारोंके बन्धनसे छूट जाते हैं। आपका अपनेपर बलात्कार करना, क्या कोई बलात्कार है? सारी दुनिया नियमोंसे बनी है, सूर्य-चन्द्र नियमानुसार बरतते हैं, बिना नियमके विश्व एक क्षण भी नहीं टिक सकता। आपने तो सेवा करनेका धर्म अपनाया है, यदि आप नियमके अनुसार न चलेंगे तो याद रखिये कि आप चूर-चूर हो जायँगे। हममें पशुता तो भरी ही है, पर नियमद्वारा हम पशुसे अलग हो सकते हैं। हम सीधे खड़े रहनेके लिये पैदा किये गये हैं, चौपायोंकी तरह घुटनोंके बल चलनेके लिये नहीं। अतएव यदि हमें मनुष्य बनना है, तो हमें चाहिये कि हम जीवनको प्रार्थनाद्वारा रसमय और सार्थक बना डालें।

(अनुवादक—काशीनाथ नारायण त्रिवेदी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषोत्तम-मासके नियम

पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना

इस वर्ष पुरुषोत्तम-मास है। आगामी आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदासे आरम्भ होगा। इसका दूसरा नाम मलमास है। 'मल' कहते हैं पापको और 'पुरुषोत्तम' नाम है भगवान्‌का। इसलिये हमें इसका अर्थ यों लगाना चाहिये कि पापोंको छोड़कर भगवान् पुरुषोत्तममें प्रेम करें और वह ऐसा करें कि इस एक महीनेका प्रेम अनन्त कालके लिये चिरस्थायी हो जाय। भगवान्‌में प्रेम करना ही तो जीवका परम पुरुषार्थ है, इसीके लिये तो हमें दुर्लभ मनुष्य-जीवन और सदसद्विवेक प्राप्त हुआ है। हमारे ऋषियोंने पर्वों और शुभ दिनोंकी रचनाकर उस विवेकको निरन्तर जाग्रत रखनेके लिये सुलभ साधन बना दिया है, इसपर भी यदि हम न चेतें तो हमारी बड़ी भूल है।

इस पुरुषोत्तम-मासमें परमात्माका प्रेम प्राप्त करनेके लिये यदि 'कल्याण' के पाठक और पाठिकाएँ निम्नलिखित नियमोंको महीनेभरतक सावधानीके साथ पालें तो उन्हें बहुत कुछ लाभ होनेकी सम्भावना है।

१-प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले उठें।

२-गीताके पुरुषोत्तम-योग-नामक पन्द्रहवें अध्यायका प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक पाठ करें।

३-स्त्री-पुरुष दोनों एक मतसे महीनेभरतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करें।

४-प्रतिदिन घण्टेभर किसी भी नियत समय-पर मौन रहकर अपनी-अपनी रुचि और विश्वासके अनुसार भगवान्‌का भजन करें।

५-जान बूझकर झूठ न बोलें।

६-भोजन और वस्त्रोंमें जहाँतक बन सके, खूब शुद्धि और सादगी रक्खी जाय।

७-घरमें माता, पिता, गुरु, स्वामी आदि बड़ोंके चरणोंमें प्रतिदिन प्रणाम करें।

पुरुषोत्तम-मासमें दान देनेका और त्याग करनेका बड़ा महत्त्व माना गया है, इसलिये जहाँतक बन सके, जिसके पास जो चीज़ हो, वही योग्य पात्रके प्रति दान देकर परमात्माकी सेवा करनी चाहिये। त्याग करनेमें तो पापोंका त्याग ही सबसे पहले करना है। जो भाई या बहिन हिम्मत करके कर सकें, वे जीवनभरके लिये झूठ, क्रोध और दूसरोंकी जान-बूझकर बुराई करना छोड़ दें।

जीवनभरका व्रत लेनेकी हिम्मत न हो सके तो जितने अधिक दिनोंका ले सकें, उतना ही लें। परन्तु जो भाई-बहिन दिलकी कमजोरी, इन्द्रियोंकी आसक्ति, बुरी संगत अथवा बिगड़ी हुई आदतके कारण मांस, मद्य खाते-पीते हैं और पर-स्त्री और पर-पुरुषसे अनुचित सम्बन्ध रखते हैं, उनसे तो मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि वे इन बुराइयोंको हमेशाके लिये छोड़कर दयामय प्रभुसे अबतककी भूलके लिये माफी माँगें।

जो भाई-बहिन ऊपर लिखे सातों नियम जीवनभर पाल सकें, पालनेकी चेष्टा करें; कम-से-कम चातुर्मास, नहीं तो पुरुषोत्तम-महीनेभर तो जरूर ही पालें और आइन्दे सदा पालनेके लिये अपनेको तैयार करें। अपनी कमजोरी देखकर निराश न हों, दयाके सागर परम सुहृद भगवान्‌का आश्रय लेनेसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है।*

प्रार्थी—हनुमानप्रसाद पोद्दार

* जिनसे जितने नियमोंका पालन हो सके वे उतने ही पालें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामुदायिक प्रार्थना

[गत वर्ष वर्धा सत्याग्रह-आश्रमके आचार्य श्रीविनोबाजी भावेने साबरमती सत्याग्रह-आश्रमवासियोंको प्रातःकालकी प्रार्थनाके बाद सामुदायिक प्रार्थनाकी आवश्यकता समझायी थी। कल्याणके पाठकोंके लिये उनके नीचे लिखे विचार उपयोगी जानकर यहाँ दे रहा हूँ।—काशीनाथ नारायण त्रिवेदी]

'मुझसे यह सवाल पूछा गया था कि जब हरएक आदमी अपनी व्यक्तिगत प्रार्थना एकान्तमें कर लेता है, तो फिर उसे सामुदायिक प्रार्थनामें भी शामिल होनेकी क्या आवश्यकता है? साधारणतः आजकल वर्धामें भी मैंने प्रार्थनाके बाद बोलनेकी प्रथा नहीं रक्खी है, क्योंकि मैं मानता हूँ कि ईश्वरका मधुर सङ्गीत हो जानेके बाद हमें अपनी वैखरी—वाणी—का प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। लेकिन आज मुझसे कुछ कहनेको कहा गया है, आज्ञा की गयी है, इसलिये उक्त प्रश्नका जो जवाब मैंने दिया था, वह यहाँ देता हूँ।

जहाँ साधकोंका एक बड़ा समुदाय इकट्ठा हुआ है और जहाँ प्रार्थनामें शामिल होनेके नियम कठोर बन रहे हैं, वहाँ इस तरहके सवालोंका पूछा जाना स्वाभाविक है। पहला जवाब तो यह है कि व्यक्तिगत प्रार्थनामें हम केवल अपने बलपर ईश्वरके अनुसन्धान करनेका प्रयत्न करते हैं, जब कि सामुदायिक प्रार्थनामें हमें अपने बलके उपरान्त सन्तोंकी सहायता मिलती है। सन्तोंकी सहायता दो प्रकारसे प्राप्त होती है। जब गान्धीजीकी ओरसे यह सूचना मिली कि यहाँकी और वर्धाकी प्रार्थनाका समय एक ही रक्खा जाय, जिससे हम सब एक साथ प्रार्थना करने लगें, तो मैंने देखा कि यह उत्तम सूचना है। क्योंकि एक ही समय प्रार्थनाके लिये एकत्र होकर हम केवल वर्धावालोंकी ही नहीं; बल्कि सन्तसमाजकी भी सहायता प्राप्त करते हैं। मैंने तो समुदायमें प्रार्थना करते हुए सदा यह अनुभव किया है कि भक्तिभावसे प्रेरित होकर प्रार्थनाके लिये एकत्र होनेवाला प्रत्येक व्यक्ति साधु-सन्त ही है और साधु-सन्तका यह समुदाय सामुदायिक प्रार्थना करके एक दूसरेकी मदद करता है। व्यक्तिगत प्रार्थनामें केवल अपने बलपर आधार रखना पड़ता है, जब कि सामुदायिकमें अपने सिवा अनेकोंका बल मिलता है। हाँ, अपना बल ही न हो, तो उस दशामें मनुष्यके लिये सामुदायिक प्रार्थना निरर्थक हो जाती है, क्योंकि यह मशहूर है कि शून्यको अनेक शून्योंसे गुणा करनेपर भी परिणाम शून्य आता है। अतएव सामुदायिक प्रार्थनासे लाभ उठानेके लिये मनुष्यको व्यक्तिगत प्रार्थना तो करते रहना ही चाहिये और यदि वह इतना करता होगा तो सन्त-समुदायका बल मिलनेसे उसका बल अनेक गुना हो जायगा। सन्तोंकी सहायताका दूसरा अर्थ यह है कि जब हम कबीर या सूरदासका भजन गाते हैं, तब कबीर और सूरदासको हम प्रत्यक्ष करते हैं, ऐसा वातावरण उत्पन्न करते हैं, मानो कबीर और सूरदास अपने समुदायके साथ अपने भजन हमारे सामने गाते हों। इसप्रकार केवल प्रार्थना करनेवाले समुदायकी ही नहीं, बल्कि भूतकालके अनेक साधु-सन्तों और उनके समुदायकी सहायता हमें मिलती रहती है।

एक और बात ध्यानमें रखने योग्य है। एक प्रसिद्ध उक्तिके अनुसार भगवान्का यह कथन है कि जहाँ योगीजन एकान्तमें ध्यान करते हों, उसकी अपेक्षा जहाँ मेरे भक्त इकट्ठा होकर मेरा कीर्तन करते हैं, वहाँ मैं हाज़िर रहता हूँ। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। योगी अपने अकेलेके बलपर साधना करता है; मुमकिन है कि कभी किसी समय उसका ध्यान अखण्ड न रहनेसे ईश्वर उसके सामने हाज़िर न रहें। लेकिन जहाँ एक बड़ा समुदाय मस्त होकर भगवद्-भजन करता है, वहाँ तो ईश्वर उपस्थित रहेंगे ही—खासकर यहाँकी तरह जहाँ आग्रहपूर्वक, कुछ कष्ट उठाकर भी, किसी खास वक्तपर ही प्रार्थना करनेके नियमका कठोरतापूर्वक पालन किया जाता हो।

तीसरी बात। प्राचीन ऋषि-मुनियोंने जो व्यक्तिगत प्रार्थनाएँ की हैं, उनमें भी दृष्टि उन्होंने समुदायकी ही रक्खी है। हमारे प्रसिद्ध गायत्री मन्त्रको ही लीजिये। यह मन्त्र तो एकान्तमें बैठकर स्थिर चित्तसे जपनेके लिये है, पर उसका जप करते हुए भी हम दृष्टि सामुदायिक ही रखते हैं। उस तेजस्वी सविताके वरेण्य भर्गका मैं ध्यान करता हूँ, कहनेके बजाय कहा यह जाता है कि हम उसका ध्यान करते हैं। वह भर्ग मेरी बुद्धिको प्रेरित करे, ऐसी प्रार्थना भी हम नहीं करते, बल्कि यह प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी बुद्धिको प्रेरित करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तिम बात। हम सफरपर रवाना होते हैं, तो यह नहीं चाहते कि 'मैं अकेला ही जाऊँगा, मेरे साथ कोई न आवे, बल्कि हमारी इच्छा तो यह होती है कि कोई साथी हमें मिले। हम कहते हैं 'एकसे दो भले।' हमारे दिलमें यह सवालतक नहीं खड़ा होता कि समुदायको एक साथ क्यों यात्रा करनी चाहिये? यही बात प्रार्थनाके विषयमें भी होनी चाहिये। प्रार्थनाका राजमार्ग तो मुक्त है ही, परन्तु उस रास्ते घुट-पुट इक्के-दुक्के जानेके बजाय कोई समुदाय साथ चलता हो, तो यह स्पष्ट है कि सबको एक दूसरेके अनुभवका लाभ मिलेगा, सबको एक दूसरेके बलकी सहायता मिलेगी। यह बल गणितके नियमानुसार नहीं बढ़ता, बल्कि उन्हें पीछे छोड़कर भी आगे बढ़ता है। यदि हम मानें कि हर आदमीका बल एक तोला है और यदि हम पचास आदमी इकट्ठा हुए हों, तो सामुदायिक बल पचास तोला नहीं होता, बल्कि पाँचसौ तोला हो रहता है। जहाँ पञ्च है वहाँ परमेश्वर है, इस कहावतका यही रहस्य है।

विचित्र स्वप्न

(लेखक—'रामकृष्ण')

ग्रीष्म-ऋतुके तीसरे पहरका समय था। सूर्यके तापसे व्याकुल होकर मैं किसी वृक्षकी शीतल छायामें बैठकर मनुष्य-जीवनकी अमूल्यतापर विचार कर रहा था। वास्तवमें अपनी सच्ची भलाईके लिये लगाये जानेवाले मनुष्य-जीवनके मूल्यमें हजारों चक्रवर्ती साम्राज्य भी तुच्छ हैं। ऐसे जीवनको, क्षणभंगुर सांसारिक विषय-भोगोंमें तथा उनके प्राप्त करनेके साधनमें लगाकर और सब प्रकारसे अकारण ही अपना हित करनेवाले दयामय ईश्वरतकको भूलकर, नष्ट कर देना कितनी बड़ी मूर्खता है? ईश्वरने संसारकी सारी वस्तुओंको इसीलिये उत्पन्न किया है कि वे मनुष्यको सुख पहुँचाकर उसके ध्येय प्राप्त करानेमें सहायक बनें, परन्तु हम मनुष्य प्राणी तो ऐसे बन गये हैं कि जो दूसरोंको कष्ट देकर पाप और अनर्थ करते हैं। प्रथम तो हम किसीका कोई उपकार करते ही नहीं, यदि कहीं अपने स्वार्थके लिये थोड़ा-बहुत किसीका काम हमसे हो जाता है तो अपने बुरे कृत्योंको छिपाकर, स्वार्थ-साधनके लिये किये हुए उस ज़रा-से अच्छे कार्यको बड़े भारी परोपकारके नामसे समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित कर उसकी डुग्गी पीटते हुए अपनेको धन्य समझते हैं और दूसरोंको अपनी तुलनामें तुच्छ गिनने लगते हैं। क्या मनुष्यके सिवा ईश्वर-निर्मित अन्य सृष्टि भी इसप्रकार अपने किसी सुकार्यके लिये डुग्गी पीटती हैं? मेरे मनमें इसप्रकारकी विचार-तरंगे लहरा रही थीं। थोड़ी ही देरमें सूर्यदेवका ताप कुछ कम हुआ और वे अस्ताचलकी ओर तेजीसे बढ़ने लगे। उस समय मेरी यह जाननेकी इच्छा हुई कि 'सबका चुपचाप उपकार करनेवाले पदार्थ अपने आदर्शोंका प्रचार कर उसके द्वारा दूसरोंको सत्कार्य करनेके लिये उत्साहित क्यों नहीं करते?'

इसप्रकार विचार कर सर्वप्रथम मैं, अपने आश्रयदाता वृक्षसे पूछने लगा—

'हे सर्वोपकारी तरुवर! आप सबको अपने अमृत-सदृश मधुर फल देते हैं, अपने अंगकी शीतल छायासे ताप-पीड़ित प्राणियोंका ताप निवारण करते हैं, सर्दीसे जकड़े हुए जीवोंको तो आप अपने शरीरकी खाक करके गरमी पहुँचाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुख देते हैं। आपको मनुष्य काटने आता है और काटता है, पर आप उसपर तनिक भी क्रोध नहीं करते। बल्कि अपनी शीतल-सुखद छायाद्वारा अपने शरीरको काटनेमें उत्पन्न होनेवाले उसके श्रमको दूर कर शान्ति देते हैं। बरसात,आँधी और धूपको स्वयं धीरतापूर्वक सहते हुए भी अपने आश्रयमें आनेवालोंको सब प्रकारसे सुख पहुँचाते हैं। अपने अंग-प्रत्यंगोंको तोड़-मरोड़कर तहस-नहस कर डालनेवाले हाथी आदि पशुओंकी क्षुधा निवृत्त कर उनको तृप्त करते हैं इसप्रकार अपना सारा जीवन दूसरोंके उपकारमें लगानेपर भी आप सदा हिमालयकी भाँति शान्त स्थिर रहते हैं। इससे मालूम होता है कि आपने दुनियाँकी भलाईके लिये ही देह धारण कर रक्खा है। आपके ऐसे आदर्श परोपकारी कार्योंके समाचार समाचार-पत्रोंमें खूब मोटे-मोटे शीर्षक देकर आप छपवा क्यों नहीं देते, जिससे आपकी देखादेखी दूसरोंको भी सत्कार्य करनेमें उत्साह हो ?' मेरे इन शब्दोंका कोई उत्तर न देकर वृक्षने मौन धारण कर लिया। मानो मूक-भाषामें मेरी भर्त्सना करते हुए कहा–'रे दो दिनके मेहमान! हम अपने पूर्वकृत कर्मोंके फल भोगते हुए ईश्वरकी आज्ञा-पालनद्वारा सृष्टिके नियमानुसार अपना जीवन उन्नतिशील बनाते हुए क्रमसे मनुष्य-शरीरकी ओर बढ़ रहे हैं—मनुष्य बननेकी तैयारी कर रहे हैं; हमको नाम करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।'

मैं जड वृक्षको मूर्ख समझकर और उसको समझाना पत्थरके ऊपर घास जमानेके समान असम्भव मानकर वहाँसे उठ दूसरी ओर घूमनेके लिये चल दिया। रास्तेमें दिनभर सूर्यतापसे तपे हुए वायुको तेज चालसे चलते देखकर मैंने उससे पूछा—'हे पवनदेव! आप आकाशसे निकलकर संसारके समस्त चराचर प्राणियोंके प्राणरूप हो उन्हें जीवन प्रदान करते हैं और अपनी शक्तिसे तृण, फल एवं अन्नादिको पकाकर और यथोचितरूपसे सुखाकर सबके जीवन धारणका उपयोगी साधन बना देते हैं। मालूम होता है आपने दिन-रात संसारका उपकार करनेका ठेका ही ले रक्खा है। फिर आप अपने इस उपकारकी सूचना समाचार-पत्रोंमें क्यों नहीं प्रकाशित करवा देते? आप तो पेड़की तरह जड नहीं हैं फिर संसारमें अपना नाम फैलाकर कृतकृत्य क्यों नहीं होते?' मेरे शब्द सुनकर मुझसे दो बातें करनेके लिये वायुदेवने कृपाकर अपनी तीव्र गतिको मानो कुछ मन्द कर दिया और वे कहने लगे 'अरे जलके बुद्बुदेसे उत्पन्न क्षुद्र प्राणी! क्या तेरे अखबार अबसे पहलेके अतीत युगोंमें भी थे?' मैंने गम्भीरतासे कहा कि—'हे देव! उस जमानेके मध्य एशियासे आये हुए असभ्य लोग अपढ़ और निरे सीधे-सादे होते थे। तब उन्हें इन बातोंका पता ही नहीं था। आजकल विकासका युग है। इस समय चारों ओर विमान, जहाज, रेल, तार, बेतारके तार, टेलीफोन, मील, मशीन आदि अनेक उपकारी वस्तुओंका विस्तार हो रहा है, उस समय इन सबको वे नहीं जानते थे। उन्हें इस बातका ज्ञान ही नहीं था कि अपने सत्कर्मोंको समाचार-पत्रों द्वारा प्रकाशमें लानेसे दुनियाँके साधारण प्राणी भी वैसे सत्कर्म करना सीखेंगे और इससे दूसरोंको सत्कर्ममें लगानेके महत्पुण्य-का लाभ भी होगा।' मेरी बात सुनकर पवनदेव हँसते हुए बोले–'अरे शिक्षाके अभिमानी पठित मूर्ख! मालूम होता है तेरी जडता सीमाको पहुँच रही है, तभी तो तू अपने पूर्वजोंको मध्य एशियासे आये हुए असभ्य बतला रहा है। अरे भोले भाई! स्वार्थवश अपनी प्रसिद्धिके लिये किये हुए तुच्छ-से दान आदि कर्मोंको बढ़ा-बढ़ाकर पत्रोंमें छपवानेका तुम्हारा उद्देश्य क्या वास्तवमें दूसरोंको सन्मार्गपर लगानेका है? जरा अपनी छातीपर हाथ रख, विचार कर। हमलोग जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ भी हों, तुमलोगोंकी भाँति किसी कार्यविशेषके लिये मकान बनानेमें सहायता देकर उसकी शिला-पर अपना नाम सबसे ऊपर खुदवानेके लिये लड़ना नहीं जानते । तनिक-सा काम करके अखबारोंमें छपाकर बड़े बननेकी हमारी भावना नहीं है। हमारा काम तो ईश्वरकी आज्ञा-पालन करते हुए चुपचाप दूसरोंका उपकार कर उन्हें सुखी बनाना है। प्राणीमात्रके हृदय ही हमलोगोंके अखबार हैं, फिर वे उन्हें पढ़ें या न पढ़ें। इसकी हम चिन्ता नहीं करते।' इतना कहकर वायुदेव चलते बने।

मैं कुछ उदास-सा होकर आगे बढ़ा। इतनेमें मेरी दृष्टि फिर अस्ताचलकी ओर जाते हुए सूर्यदेव-की ओर गयी। सूर्यदेव मेरी ओर देखते हुए धीरे-धीरे नीचे जा रहे थे, मानो मुझसे कह रहे थे कि तेरी जीवन-ज्योति भी इसी प्रकार प्रतिक्षण रसातल-की ओर जा रही है। मैं तो अपनी धुनमें था, मैंने सूर्यदेवसे भी वही प्रश्न किया—'हे चराचरके साक्षी! आप पृथ्वी आदि समस्त ग्रहोंको अपने चारों ओर घुमाते हुए उन्हें यथास्थान स्थित रखकर रसातलमें जानेसे रोकते हैं, सब प्राणियोंके उदरमें जठराग्नि-रूपसे स्थित हो उनके भोजनको सिद्ध करके उन्हें जीवनी-शक्ति प्रदान करते हैं, वृक्षोंको जीवन देते हैं, अपने तेजसे दूषित परमाणुओंको नष्ट करके सर्वत्र निर्मलता और पवित्रताका विस्तार करते हैं, समुद्रसे जल शोषण करके उसे यथावश्यक खेतोंमें बरसाकर प्राणियोंके लिये जीवन-सामग्री उत्पन्न करते हैं और अपने पास कुछ भी न रखकर निरपेक्ष हो सारे जगत्का सदा उपकार करते हैं पर आप अपने इस महान् कार्यकी पूरी रिपोर्ट खास सजधजके साथ पत्रोंमें क्यों नहीं प्रकाशित करवा देते? मेरी बहुत-से नामी-गरामी सम्पादकोंसे जान-पहचान है, आप कहें तो मैं प्रबन्ध करवा दूँ, इससे आपकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी और आपके आदर्शोंसे दुनियाँको महान् सत्शिक्षा मिलेगी!' मेरी बात सुनकर सूर्यदेवने दयार्द्र होते हुए अपनी किरणों द्वारा मुझे यह सन्देश दिया कि—'अरे कूपमण्डूक! क्षुद्र विद्याके अभिमानी अविद्याग्रस्त जीव! क्या तेरे ये समाचार-पत्र पृथ्वीलोकके एक हिस्सेको छोड़कर चन्द्र और वरुणादि लोकोंमें भी पहुँचते हैं? तुम लोगोंने आजतक समाचार-पत्रों द्वारा आदर्शों-का प्रचार करके कितनोंको सुधारा है? क्या तूने परमहंस स्वामी श्रीरामकृष्णजीका हाल नहीं सुना, जिन्होंने श्रीकेशवचन्द्रसेनके यहाँ दुनियाँकी झूठी निन्दा-स्तुतिसे भरे समाचार-पत्रपर बैठनेसे भी इन्कार कर दिया था? इसके सिवा क्या तूने इस आधुनिक विद्याके विद्वान् ब्रह्मलीन स्वामी रामके ये वाक्य नहीं सुने कि—'वे धन्य हैं, जो अखबार नहीं पढ़ते!' इसपर मैंने कहा—'देव! आप यह क्या कहते हैं? अखबार बिना दुनियाँका काम ही कैसे चल सकता है? आज संसारके सर्वश्रेष्ठ कहलानेवाले पुरुष महात्मा गान्धी भी समाचारपत्रोंके पढ़नेमें क्या घण्टों समय नहीं लगाते?' अब तो सूर्यदेव मानो मेरी मूर्खतापर मन-ही-मन हँसकर मुस्कराते हुए कहने लगे—'भोले प्राणी! किसने कहा कि वे घण्टों अखबार पढ़ते हैं और पढ़ते भी हों तो क्या सभी लोग समर्थोंकी समता कर सकते हैं? क्या तेरे अन्दर गान्धीके समान यम-नियम-पालनका आग्रह है? क्या तू लँगोटीमात्र धारण करनेवाले और अपने अपमान करनेवालेका भी उपकार माननेवाले यम-नियमरूपी शस्त्रधारी उस सत्याग्रही महात्माकी बराबरी करना चाहता है?'

इतना कहकर सूर्यदेव मेरी आँखोंसे ओझल हो गये। मैं भी उनसे कुछ निराश-सा होकर पीछेकी ओर लौटा। रात पड़ गयी थी, सामने ही सहसा चन्द्रदेवके दर्शन हुए। मेरा मचला मन उनसे भी प्रश्न कर ही बैठा। मैंने कहा—'हे चन्द्रदेव! आप सूर्यके प्रबल तापसे पीड़ित स्थावर-जंगम जीवोंको अपनी सुधासनी शीतलतासे शान्ति प्रदान करते हैं। वनस्पति आदिमें आप ही अमृत-सदृश मधुर-रस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पन्न करते हैं। आपसे कोई भी प्राणी कष्ट नहीं पाता। शान्तिके तो मानो आप अवतार ही हैं। फिर आप अपने उपकारोंकी खबर (बढ़ा-चढ़ाकर न सही) अखबारोंमें क्यों नहीं भेजते? सुनते हैं कि आजकलके विद्वान् वैज्ञानिकोंने आपके समीपतक पहुँचनेकी शक्ति भी प्राप्त कर ली है। इसलिये आप तो बड़ी ही सुगमतासे अपने उपकारोंको दुनियाँपर प्रकट कर यशके भागी बन सकते हैं और ऐसा करके दुनियाँको भी सन्मार्गपर लगा सकते हैं।' चन्द्रदेवने उत्तरमें केवल इतना ही कहा—

फूलै फलै न बेंत, जदपि सुधा बरसहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं बिरंचि सम॥

मैं चन्द्रदेवके वचनोंका भाव नहीं समझ सका और अपनी बुद्धिके अभिमानमें सोचने लगा कि— 'जैसे शूद्र और पशु आदिको ईश्वरने मनुष्योंको लाभ पहुँचानेके लिये बनाया है ऐसे ही सूर्य-चन्द्र आदि भी हमलोगोंकी सेवा करनेके लिये रचे गये हैं। इन बेचारोंको इतना ज्ञान कहाँ, जो हमारी सूक्ष्म बुद्धितक पहुँच सकें। यों विचार करता हुआ मैं चला जा रहा था। लगभग एकपहर रात बीत चुकी होगी, मैंने देखा एक प्रसन्नमुख संन्यासी सामनेसे इसप्रकार गाते हुए धीरे-धीरे चले आ रहे हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

योगिराजके मधुर संगीतमय शब्दोंने और उनके चेहरेके तेजने मेरा मन बरबस अपनी ओर खींच लिया। यद्यपि मुझे आजकलके गेरुए वस्त्र-धारियोंपर स्वाभाविक ही अश्रद्धा थी, तो भी वशीकरण-मन्त्रसे मोहित हुएकी भाँति मैं उनके पीछे हो लिया। कुछ ही देरमें मैं उनके साथ एक आश्रममें पहुँचा। वहाँ पहुँचकर योगिराज एक मृगचर्मपर विराज गये और मुझे भी एक कुशासन देकर बैठनेके लिये ऐसी प्रेम-भरी नजरसे इशारा किया मानो मैं उनका कोई चिरपरिचित ही हूँ। थोड़ी देर बैठे रहनेके बाद मैं कुछ बोलना ही चाहता था कि योगिराज कहने लगे—

'वत्स! मैं तेरे मनकी सारी बातें जानता हूँ। तुझे कहनेकी आवश्यकता नहीं। सूर्य, चन्द्र और वायु आदिसे तेरी जो बातें हुई वह सारी मुझे मालूम हैं। यदि तुझे ऐसे सुअवसरपर भी शिक्षा न मिली तब फिर आगे कैसे मिलेगी? जिस-प्रकार कोल्हूका बैल दिनभर आँखोंपर पट्टी बँधाये चारों ओर अनवरत घूमता रहता है और समझता है कि मैंने कोसोंकी सफर कर ली, उसी प्रकार तुम मनुष्य-शरीरधारी बैल अज्ञानकी पट्टी बाँधकर प्रारब्धरूपी तेलीद्वारा सञ्चालित बार-बार दुःखरूपी मार खाते हुए गृहस्थके ममतारूपी कोल्हूके चारों ओर घूम रहे हो और इसप्रकार संसारक्षेत्रमें विचरते हुए समझते हो कि हमने बड़ी भारी मंज़िल तय कर ली। यानी हम इतने अग्रसर हो गये, हमने इतनी अक्ल हासिल कर ली, अमुक सुधारद्वारा इतनी उन्नति कर ली, हम बहुत आगे बढ़ गये। परन्तु वास्तवमें विचारकर देखा जाय तो वह बैल तो वहीं-का-वहीं रहता है पर तुमलोग कर्मफल भोगते हुए आगे बढ़नेकी अपेक्षा उल्टे पीछे हटे जा रहे हो। जहाँ देखो वहीं दुःखकी ज्वाला धधक रही है, कहीं सामाजिक लड़ाइयाँ हो रही हैं तो कहीं धर्मके नामपर लोग हिंसा-जैसा जघन्य कर्म कर रहे हैं, कहीं अन्नाभावसे लोग तड़प रहे हैं तो कहीं तन्दुरुस्तीका अभाव दारुण दुःख दे रहा है, कोई मानकी इच्छासे अपने कर्तव्योंका त्यागकर मनमानी कर रहे हैं तो कोई एक दूसरेकी धन-सम्पत्ति हड़पनेके लिये नानाप्रकारके अमानुषिक वैज्ञानिक आविष्कारके पीछे पड़े हैं। क्या कहा जाय, जिसप्रकार ग्रामके कुएँमें भाँग डाल देनेसे उस कुएँका जल पीनेवाले सभी मनुष्य पागल हो जाते हैं उसी प्रकार तुमलोग भी आसक्तिरूपी भाँग पीकर कुटुम्बके मोहरूपी नशेमें इतने पागल हो रहे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो कि अपने भले-बुरेका भी जरा विचार नहीं करते। कुछ दिन हुए, क्या तूने उस पागलखानेमें आग लगनेकी घटना नहीं सुनी जहाँ किसी कारण-वश आग लग गयी थी और वहाँ रहनेवाले पागलोंने उसे दिवालीकी रोशनी समझकर छतपर चढ़ नाचना-गाना शुरू कर दिया था? आग बुझानेके लिये दमकल लेकर आये हुए सरकारी कर्मचारी उन्हें समझाते थे कि-'भाई! नीचे आ जाओ, नहीं तो जलकर खाक हो जाओगे।' किन्तु वे पागल किसीकी कुछ भी नहीं सुनते थे। आग बुझानेवाले उन्हें फिर समझाने लगे कि-'भाई! पागल बनकर अपना जीवन क्यों देते हो?' लेकिन वे पागल उल्टे समझानेवालोंको ही पागल मानकर कहने लगे कि-'तुम्हारे नसीबमें तो यह सुख लिखा नहीं और तुम हमें भी इस सुखसे वञ्चित करना चाहते हो।' आग जब बिल्कुल नजदीक पहुँच गयी तो कुछ दयार्द्र-हृदय आग बुझानेवालोंने अपनी जानको खतरेमें डालकर जबरदस्ती उनमेंसे कुछको चिल्लाते रहनेपर भी घसीटकर बचा लिया। परन्तु उनमेंसे भी कुछ फिर जबरदस्ती उस आगमें कूदकर जल ही मरे। योगिराजके मुखसे पागलोंकी यह कथा सुनकर मैं आश्चर्य और दुःख करने लगा। इसपर उन महापुरुषने कहा कि-'सोचते क्या हो? क्या तुम उनसे कम पागल हो?' मैंने कहा—'स्वामिन्! यह आप क्या कह रहे हैं? हमलोग पढ़े-लिखे हैं, हमको अपने भले-बुरेका ज्ञान है, फिर आप हमें पागल क्यों बताते हैं?' महात्माने उत्तर दिया—'भाई! इसप्रकारका पढ़ना-लिखना ही तो तुम्हारे लिये हानिकारक है। मैं विद्याकी बुराई नहीं करता। पर सच्ची विद्या है कहाँ? भारतके ऋषियोंने इस लौकिक विद्या और धनको विचाररूपी तराजूके एक पलड़ेपर रखकर और त्यागका वस्त्र धारण करनेवाली अध्यात्म विद्याको दूसरे पलड़ेपर रखकर जाँचा तो उन्होंने अध्यात्म विद्याको ही लाभकारी, सच्ची सुखदायिनी और कीमती पाया। इसीलिये उन्होंने तुम्हारी इस विद्याको निस्सार समझकर इस तरफ पूरा ध्यान भी नहीं दिया था। भाई! विद्याका अर्थ विवेक है, विवेकसे विनय आती है। पर तुम-जैसे पढ़े-लिखोंके साथ विनयका क्या सम्बन्ध? तुमको शायद यह भी पता नहीं कि धर्म किस चिड़ियाका नाम है? अब यह सुनो कि तुम उन पागलोंसे कम नहीं, परन्तु ज्यादा पागल हो। संसाररूपी पागलखानेके अन्दर गृहस्थ-रूपी पींजरेमें स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियोंने तुम्हें आसक्तिरूपी रेशमकी रस्सियोंसे बाँध रक्खा है और इस सांसारिक सुख, धन-दौलत, गाड़ी-मोटर, महल-बगीचे, पुत्र-परिवार, मान-बड़ाई आदि अग्निसे तुम नित्य जले जा रहे हो और इसको दिवालीकी रोशनी समझकर हर्ष मानते हो। संयोगवश संसारके ईश्वररूपी मालिकके अनुरागी सच्चे सेवक—वास्तविक साधु-महात्मा तुम-जैसे संसारासक्त लोगोंके संगसे अपनी उन्नतिको जोखिममें डालकर भी दयावश तुम लोगोंको समझाते हैं कि यह संसारी-सुख चार दिनकी चाँदनी-जैसा है, इसके पीछे फिर वही दुःखरूपी अमावस्याकी घोर अँधेरी रात बहुत शीघ्र ही आनेवाली है, कालरूपी अग्नि सिरपर जल रही है, मृत्यु तुम्हारे कामोंसे निवृत्त होनेकी अपेक्षा किये बिना ही जैसे कबूतरको बाज झपटता है उसी तरह तुमको झपटनेके लिये तैयार खड़ी है। उनकी यह बातें सुनकर भी तुम्हारे कानों-पर जूँ नहीं रेंगती, तुमलोग उल्टे यह कह देते हो कि इनके अपने पास तो कुछ रहा नहीं और ये हमें भी इस सुखसे निकालकर बाबाजी बनाकर दुखी करना चाहते हैं। तुम्हारे ऐसा कहनेपर भी वे लोग दयावश तुम लोगोंमेंसे कितनोंको जबरदस्ती इस दुःखाग्निसे निकाल लेते हैं, पर उन निकाले हुए लोगोंमेंसे कितने ही फिर उसी आगमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हीं पागलोंकी तरह कूदकर अपने आपको भस्म कर देते हैं। अब तुम्हीं विचार लो कि तुमलोग उन पागलोंसे कम पागल हो या ज्यादा ? कहा जाता है कि यह मायाका सुख बूरके लड्डू-जैसा है। इन लड्डुओंको खानेवाले और नहीं खानेवाले, दोनों ही पछताते हैं। पर वास्तवमें तो यह संसार-सुख जहरके लड्डुओं-जैसा है जिनको धोखेमें खा लेनेसे मृत्यु निश्चित है। मामूली विषके लड्डुओंको खानेवाला तो एक ही बार मरता है किन्तु संसार-सुखके लड्डुओंको धोखेमें भूलसे खानेवालेको अनन्त बार मरना और जन्मना पड़ता है। इसीसे महात्मा अष्टावक्रजीने विषयोंको विषकी भाँति छोड़ देनेको कहा है। 'विषयान् विषवत्त्यज'

कल एक मोटर-ड्राइवर कुछ मिठाई बाँटने आया था। उस समय कुछ जिज्ञासु यहाँ बैठे थे। उनमेंसे एकने उससे मिठाई बाँटनेका कारण पूछा। इसपर वह कहने लगा कि-'मैं कहीं गया हुआ था, पीछेसे मेरी मोटर चोरी हो गयी पर मैं उस समय उससे अलग रहनेसे बच गया। उसी आनन्दमें मिठाई बाँट रहा हूँ।' सुननेवाले हँसकर कहने लगे कि-'कैसा भोला आदमी है? अगर यह अलग न होता तो मोटर चोरी ही क्यों होती ?' भारतके लोगोंका यह सीधापन ही तो उनके पतनका कारण है। मुझे भी उस मनुष्यके भोलेपनपर दया आयी। तब वे महात्मा समझाने लगे कि—'दूसरोंके गुण और अवगुणोंकी आलोचना करनेमें हम लोग इतने तेज़ होते हैं कि न्यायालयके बड़े-से-बड़े न्यायाधीशको भी मात कर देते हैं। यदि इस वृत्तिको अन्तर्मुख करके हम अपने अवगुण देखने लगें तो दुःखका नाम भी न रहे। उस भोले मनुष्यका अभिप्राय अच्छी प्रकार समझो। क्या तुम लोग उससे अधिक मूर्ख और अज्ञानी नहीं हो ? तुम पढ़े तो हो लेकिन गुने नहीं। पढ़-लिख लेनेका अर्थ खूब धन पैदा करना और यश कमाना ही नहीं होता। आजकल यदि कोई पढ़ने-लिखनेका रहस्य जानता भी है तो उसके अनुसार आचरण नहीं करता। भाई ! तू अपनेपर ही समझ ले कि 'मनुष्य जन्म किसलिये है' आदि बातोंको वास्तवमें नहीं जानता होता तो दूसरेके बतानेसे रास्तेपर आ जाता। परन्तु अब तो तू ज्ञान-पापी हो गया। तुझे किसीका उपदेश तो लगता नहीं। यदि कोई तुझे कुछ उपदेश करता है तो तू समझता है कि 'ये बातें तो मैं जानता ही हूँ इनके अनुसार करता नहीं तो इससे क्या !' ऐसी स्थितिमें तेरे लिये तो सीधी राहपर आकर सच्चा सुख प्राप्त करना कठिन ही नहीं, महा कठिन है। जिस संसाररूपी रात्रिमें बुद्धिमान् सोते हैं उसमें तुमलोग जागते हो और जिस आत्मारूपी दिनमें साधुलोग जागते हैं उसमें तुम संसारीलोग मोहवश सोते हो। देखो, जिसको तुम भोला और अनपढ़ ड्राइवर समझते हो, वह तुम लोगोंसे कहीं ज्यादा चतुर और बुद्धिमान् है। उसने तो मोटररूपी जडशरीरको खोकर अपने आपको—आत्मारूपी ड्राइवरको बचा लिया पर तुम लोगोंमें-से अधिकांश शरीररूपी मोटरको बचाकर आत्मा-रूपी ड्राइवरको खो रहे हैं। भाई ! कितने आदमी अपने आपको जानते हैं ? यदि किसीसे पूछा जाय कि-'तुम कौन हो ?' तो उसका प्रायः यही उत्तर मिलता है कि-'मैं अमुक व्यक्ति, अमुक डिग्रीधारी और अमुक पेशेवाला हूँ।' अपने आपका—आत्माका पता कोई भी नहीं बताता। सवाल पूछा जाता है आकाशका तो उत्तर मिलता है पातालका। तुम लोग आत्माको खोकर शरीरको बचा रहे हो। तुझे जितने उपदेश मिलते हैं उनमेंसे यदि तू एक भी अच्छी प्रकारसे ग्रहण कर ले तो जिसप्रकार सूर्यसे अन्धकार नाश हो जाते हैं उसी प्रकार तेरे सब दुर्गुण उसी क्षण नष्ट हो जायँ। जिसप्रकार ठोस वस्तुका एक कोना पकड़कर खींचनेसे वह सम्पूर्ण घसीटी चली आती है उसी प्रकार एक सद्गुणको अच्छी तरह ग्रहण कर लेनेसे शेष सब गुण तेरे समीप आप ही खिंचे चले आवेंगे और तू सच्चा सुखी हो जायगा। यह दिखावा या नाम तभीतक है जबतक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम अपने आपको नहीं जानते। आत्मामें नाम और मानकी भावना कभी हो ही नहीं सकती। ये माया-के गुण मायामें ही रहते हैं। तुमलोग शरीरको मैं मानकर आत्माको अपनेसे भिन्न मानते हो,इसीलिये दुःखमें फँसे हो। इस नाम करनेकी भावनामें—अखबारोंमें अपनी बड़ाई करानेमें कितनी हानि होती है, कितना पतन होता है, अपनी मेहनतके बदले किसप्रकार चावलकी जगह धानका भूसा लिया जाता है और इसमें कितना दम्भका आश्रय लेना पड़ता है, इसको फिर कभी किसी समय समझाऊँगा।'

इस तरह वे महात्मा कह ही रहे थे कि मेरी आँखें खुल गयीं, मैंने देखा, मैं अपने बंगलेमें बिस्तरेपर पड़ा हूँ। सवेरा होनेवाला है, चिड़ियाँ चुहचुहाने लगी हैं। मैं विचारने लगा कि यह सब अपने ही–मेरे ही मनकी कल्पना है—सब मनके कार्य हैं अपने मनोमय सृष्टिमें यह सारी घटनाएँ हुई हैं। आत्माके प्रकाशमें सूर्य, चन्द्र, पवनदेव और महात्मारूपमें मुझे उपदेश देनेवाला मैं आप ही हूँ।

कभी-कभी स्वप्न भी बड़े उपदेशप्रद होते हैं। यदि इनसे उपदेश लें तो अपना इसीमें कल्याण हो सकता है, फिर तुम जो रात-दिन जलते रहते हो और तमने जो इतनी अशान्ति मोल ले रक्खी है, उससे आसानीसे छूट सकते हो।

कौन ?

गगन नीलिमाकी छाया-सा तम-अञ्चल छाता सब ओर।
प्रलय-नृत्य सा करने लगता सागरका जब कम्पित छोर॥
विश्व-निलयपर बिछा आवरण प्रलयङ्कर-सा कर उद्घोष।
खोल कालिमा-झोली रजनी वितरण करती कज्जल कोष॥

ज्योतिविहीन क्षितिज रेखापर छेड़ गगन मुरलीकी तान ?
स्वर्गंगा सा तब देता है कौन हमें आश्वासन दान।

सत्याचरण 'सत्य', एम० ए०

भारी भूल

गुरु ज्ञान-निधानके पाँयनकी न बन्यौ रज कीन्ह अजानपनो तू।
चहुँ साधनहू न समाधि सधी मन! कैसे लहै अजपा जपनो तू॥
बिच भौंहन प्रानन रोकि, न रोकि सक्यो त्रय तापनतें तपनो तू।
सपनो जग मायिक, सो अपनो गुनि भूलि सरूप रह्यो अपनो तू॥

अर्जुनदास केडिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

[मणि ९]

हे डोरूशंकर! त्वं-पदार्थरूप आत्मामें तीन प्रकारकी प्रत्यक्‌रूपता वेदान्तमें कही है। पहली अन्तःकरण आदिमें स्थित चिदाभासकी बिम्बरूपता, दूसरी शरीरके अधिष्ठानद्वारा प्रत्यक्‌रूपता और तीसरी इन्द्रियोंके अधिष्ठानद्वारा प्रत्यक्‌रूपता, इसप्रकार तीन प्रकारकी प्रत्यक्‌रूपता कही है। उसमें प्रथम प्रत्यक्‌रूपता छान्दोग्यमें शकुनि-पक्षीके दृष्टान्तसे वर्णन की है। हे वत्स! पूर्वोक्त रीति-अनुसार वाणी, प्राण और मनका उपादान-कारण तेज, जल और अन्नको बताकर अद्वितीय ब्रह्मका निश्चय करानेके लिये त्वं-पदार्थरूप आत्माके शोधनार्थ आरुणि-मुनि अपने पुत्र श्वेतकेतुसे इस-प्रकार कहने लगे—

आरुणि—हे श्वेतकेतु! पूर्वमें मैंने तुझसे जिस मनको अन्नमय कहा है, उस मनका तेज, जल तथा पृथिवीरूप सब जगत् विलासरूप है। मनसे ही पुरुष बारम्बार अध्यासरूप मोहको प्राप्त होता है। यदि मन न हो तो मनमें प्रतिबिम्बरूप मोहको यह जीव प्राप्त न हो। प्रतिबिम्बरूप मोहके अभावसे जीवात्माको रागद्वेषादि विकार प्राप्त न हों। राग-द्वेषादि विकारके अभावसे जीवात्मा संसारको प्राप्त न हो, इसलिये चिदाभासयुक्त मन ही समस्त जगत्का निर्वाह करता है।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! क्या मनको वश करनेवाला कोई नहीं है?

आरुणि—हे पुत्र! कारणरूप शरीर ही मनको वश करनेवाला है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये तीन प्रकारके शरीरोंका निरूपण किया जाता है। सम्पूर्ण देहधारी जीवोंका अज्ञान कारण-शरीर है। अज्ञान एक होनेसे सर्व देहधारियोंको साधारण है और सारे दुःखोंका कारण है। अज्ञानरूप कारण-शरीर स्थूल तथा सूक्ष्म इन दोनों शरीरोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट है।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! अज्ञानरूप कारण-शरीरमें प्रमाण क्या है?

आरुणि—हे पुत्र! प्रत्येक देहधारी जीव सुषुप्तिमेंसे उठकर इसप्रकारका स्मरण करता है कि 'मैं सुखसे सोता था, उस समय मुझे कुछ खबर न थी।' इसप्रकार सब लोगोंके स्मरणसे सिद्ध होता है कि जीव सुषुप्ति-अवस्थाको प्राप्त होकर, वहाँ सर्व दुःखोंसे रहित आनन्दका अनुभव करता है तथा अज्ञानका भी अनुभव करता है। अनुभव-संस्कारसे जाग्रत्-अवस्थामें आनन्दकी तथा अज्ञानकी स्मृति होती है, इसलिये जीवके जाग्रत्-अवस्थाके स्मरणरूप हेतुसे अनुमान किये हुए सुषुप्तिके अनुभवसे अज्ञानरूप कारण-शरीर सिद्ध होता है। हे श्वेतकेतु! अब सूक्ष्म-शरीरके सम्बन्धमें कहता हूँ। सुन, कारण-अज्ञानविशिष्ट आत्मासे आकाशादि पाँच सूक्ष्म-भूत तथा मन, इन्द्रिय आदि भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। समष्टि-सूक्ष्म-पदार्थोंके अभिमानी हिरण्यगर्भको शास्त्रवेत्ता 'अधिदैव' कहते हैं और मन-प्रधान व्यष्टि-सूक्ष्म-पदार्थोंके अभिमानी तैजसको शास्त्रवेत्ता 'अध्यात्म' कहते हैं।

अब स्थूल-शरीरका वर्णन करता हूँ। सुन, सूक्ष्म-भूतोंसे स्थूल-भूत उत्पन्न होते हैं और स्थूल-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूतोंसे शरीरादि भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इस समष्टि-स्थूल-भूत भौतिक पदार्थोंके अभिमानी देवको शास्त्रवेत्ता 'विराट्' कहते हैं और व्यष्टि-स्थूल-पदार्थोंके अभिमानीको 'विश्व' कहते हैं। इन दोनोंमें विराट् अधिदैवरूप है और विश्व अध्यात्मरूप है।

हे श्वेतकेतु ! सर्वदेहधारी जीवोंको अपने शरीर भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीत होते हैं। स्थूल-शरीर जाग्रत्-अवस्थाका और सूक्ष्म-शरीर स्वप्ना-वस्थाका स्थान है। स्वप्नावस्थाके आश्रयरूप अन्तः-करणकी दो अवस्थाएँ हैं—एक स्वरूपसे अभिव्यक्ति-रूप अवस्था और दूसरी संस्कारोंकी स्थितिरूप अवस्था। अन्तःकरणकी इन दो अवस्थाओंके भेदसे स्वप्नावस्था दो प्रकारकी है एक स्वप्नावस्था और दूसरी स्वप्नरहित अवस्था। इनमें प्रसिद्ध स्वप्नावस्थाको 'स्वप्नावस्था' कहते हैं और स्वप्नरहित अवस्थाको 'सुषुप्ति' कहते हैं। सुषुप्तिमें सर्व दुःखोंका लय हो जाता है, क्योंकि सुषुप्ति-अवस्थामें प्रतिबिम्बरूप जीव अपने बिम्बरूप परमात्मामें लय-भावको प्राप्त हो जाता है। परमात्मा परमानन्दस्वरूप है और सर्वभेदसे रहित है इसलिये क्षुधा-पिपासा, हर्ष-शोक, जन्म-मरण इन छः ऊर्मियोंसे रहित है। जीव भी परमात्मामें लय-भावको प्राप्त होकर दुःखोंसे रहित हो जाता है अर्थात् जैसे दर्पणरूप उपाधिके लयसे दर्पणमें स्थित प्रतिबिम्ब अपने वास्तविक स्वरूप बिम्बमें लय हो जाता है, इसी प्रकार सुषुप्तिमें मनरूप उपाधिके लय हो जानेसे मनमें स्थित प्रतिबिम्बरूप जीव अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मदेवरूप बिम्बमें लय-भावको प्राप्त हो जाता है। कोई-कोई बुद्धिमान् लौकिक-दृष्टिसे इस अवस्थाको स्वपिति कहते हैं और कोई ऐसा कहते हैं कि यह स्वपिति पद-अवस्थाका वाचक नहीं, किन्तु परमात्माका वाचक है, क्योंकि सुषुप्ति-में जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। उसको श्रुति 'स्वमपीत' कहती है और श्रेष्ठ पुरुषोंके समान इन्द्रादि देवताओंको परोक्ष नाम प्रिय होता है इसलिये विद्वान् परमात्माको 'स्वमपीत' नहीं कहते, किन्तु 'स्वपिति' इस परोक्ष नामसे पुकारते हैं। जैसे जाग्रत् तथा स्वप्न मनके ही परिणाम हैं, ऐसे ही सुषुप्ति भी मन-का ही परिणाम है, क्योंकि जाग्रत् तथा स्वप्ना-वस्थामें पूर्वादि दिशाओंमें भ्रमता हुआ मन परिश्रमको प्राप्त होकर लयरूप सुषुप्ति-अवस्थाको प्राप्त होता है। जैसे पिंजरेके भीतर डोरीसे बँधा हुआ शकुनि आहारकी इच्छासे पिंजरेके मध्यमें ही रहकर अपने पंख फड़फड़ाया करता है और आहार मिले अथवा न मिले, तो भी परिश्रम-को प्राप्त होकर पिंजरेके मध्य-देशमें अपनी बैठक-पर पूर्वके भ्रमणसे होनेवाले दुःखसे रहित तथा निश्चल होकर पुरुषके समान पड़ रहता है, इसी प्रकार पुण्य-पापरूप कर्मसूत्रसे शरीररूप पिंजरेमें हृदय-देशमें बँधा हुआ तथा रागरूप क्षुधासे उत्पन्न हुए अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूप तीन प्रकारके दुःखोंसे तपा हुआ मनरूप शकुनि विषय-सुखकी प्राप्तिके लिये जाग्रत् तथा स्वप्ना-वस्थामें भ्रमता रहता है। इस भ्रमणसे जब मन अत्यन्त थक जाता है और जाग्रत् तथा स्वप्नके भोग देनेवाले कर्मोंका क्षय हो जाता है, तब मन परिश्रम दूर करनेके लिये हृदय-देशमें सुषुप्तिको प्राप्त होता है। सुषुप्तिमें कारण-अज्ञान-से उपहित आनन्दस्वरूप परमात्मा इन्द्रियों सहित मनका लय-स्थान है। अज्ञान-उपहित परमात्माके सिवा दूसरा कोई पदार्थ मनका लय-स्थान नहीं है, इसलिये मन अज्ञान-उपहित परमात्माके सिवा अन्य किसी वस्तुका आश्रय नहीं करता यानी सुषुप्तिमें मनका लय कारण-अज्ञानमें होता है और मनमें स्थित प्रतिबिम्बका परमात्मारूप बिम्बमें लय होता है। जैसे घट-पटादि कार्य मृत्तिका-तन्तु आदि कारणोंसे पीछे बनते हैं ऐसे ही मनके कार्य स्थूल, सूक्ष्म-पदार्थ भी मनरूप कारणसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीछे बनते हैं। ये कार्यरूप पदार्थ मनरूप कारणका आश्रय नहीं हो सकते, इसलिये अज्ञान-उपहित परमात्मा ही मनका आश्रय है, इससे मन अज्ञान-उपहित परमात्मामें लय होता है। जिस परमात्मामें मन लय होता है, वह परमात्मा पूर्वोक्त तेज, जल तथा पृथिवी इन तीनोंका कारण है इसलिये सत्परमात्मामें ही सर्वान्तर्यामीपना है।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! परमात्माकी प्राप्तिसे जीवकी संसारके बन्धसे निवृत्ति हो जाती है, ऐसा वेदवेत्ताओंका मत है। जब सुषुप्तिमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है तो जीवको फिर संसारकी प्राप्ति क्यों होती है?

आरुणि—हे पुत्र! यद्यपि सुषुप्तिमें जीवको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है तो भी सुषुप्ति और मुक्तिकी अवस्थामें इतना भेद है कि सुषुप्तिमें कारण-अज्ञानमें मनका लय होता है और सूक्ष्म संस्कार रहते हैं इसलिये मन फिर जाग्रत्-अवस्थामें उत्पन्न हो आता है और मुक्तावस्थामें अधिष्ठान-आत्मामें लय-भावको प्राप्त हुआ फिर उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि मुक्तावस्थामें आत्मज्ञानरूप अग्निसे मनके संस्कारोंका आश्रयरूप अज्ञान नष्ट हो जाता है। इसप्रकार मुक्तावस्था और सुषुप्ति-अवस्थामें भेद होनेसे सुषुप्तिमें परमात्माकी प्राप्ति होनेपर भी संसारकी निवृत्ति नहीं होती। यद्यपि आत्मादेव सर्वत्र एक है तो भी सर्वजीवोंका मन एक नहीं, किन्तु अनेक है और सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष इत्यादि सब धर्म मनके होनेसे कोई सुखी, कोई दुःखी कोई बद्ध और कोई मुक्त इत्यादि सर्व अवस्थाएँ बन सकती हैं।

आत्मदेव, स्थूल-शरीरके अभिमानवाली जाग्रत्-अवस्थामें तथा सूक्ष्म-शरीरके अभिमानवाली स्वप्नावस्थामें 'अशनाया' तथा 'उदन्या' इन दो नामोंको प्राप्त होता है। ये दोनों नाम प्राणरूप उपाधिके कारण आत्माके कहलाते हैं, क्योंकि आनन्दस्वरूप आत्मामें साक्षात् क्षुधा अथवा पिपासा है नहीं। क्षुधा और पिपासा प्राणके धर्म हैं और प्राण सर्व शरीरमें व्यापक है, इसलिये सर्व जीवोंके उदरमें रहे हुए अन्न और जलको नाड़ीद्वारा प्राण सब अंगोंमें ले जाता है इसलिये 'अशनाया' और 'उदन्या' ये दोनों नाम मुख्य-वृत्तिसे प्राणमें घटते हैं। प्राणका आत्माके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध है, इसलिये प्राणद्वारा वे दोनों नाम आत्माके भी कहनेमें आते हैं। यद्यपि आत्माकी अपेक्षासे ये दोनों नाम प्राणमें मुख्य हैं तो भी तेज और जलकी अपेक्षासे व नाम प्राणमें मुख्य नहीं हैं, किन्तु तेज और जलमें मुख्य हैं, क्योंकि भोजन किये हुए अन्नको जल द्रवीभाव-द्वारा ले जाता है, इसलिये जलको 'अशनाया' कहा है। इसी प्रकार पीये हुए जलको सुखाकर तेज ले जाता है इसलिये तेजको 'उदन्या' कहा है। जैसे इसलोकमें गायके ले जानेवाले पुरुषको 'गोनाया' कहते हैं और घोड़ेको ले जानेवाला 'अश्वनाया' कहलाता है, इसी प्रकार जल भी द्राविक-स्वभाव-वाला होनेसे भोजन किये हुए अन्नको ले जाता है इसलिये श्रुतिने जलको 'अशनाया' कहा है और तेज शोषण-स्वभाववाला होनेसे पान किये हुए जलको ले जाता है इसलिये श्रुतिने उसको 'उदन्या' कहा है। आनन्दस्वरूप आत्माका जल तथा तेजके साथ तादात्म्य-अध्यास होनेसे जल तथा तेजद्वारा आत्मा भी इन दोनों नामोंसे पुकारा जाता है।

हे श्वेतकेतु! प्रथम तू स्थूल-शरीरको, फिर अन्नको, पीछे पृथिवीको, पश्चात् जलको और अन्तमें तेजको कारणरूप जान, यानी शरीरका कारण अन्न है, अन्नका कारण पृथिवी है, पृथिवीका कारण जल है और जलका कारण तेज है, तेजका मूल-कारण पूर्वोक्त सत्य वस्तु है, वही जलका मूल-कारण है, वही पृथिवीका मूल-कारण है, वही अन्नका मूल-कारण है और वही शरीरका मूल-कारण है। जैसे लोकप्रसिद्धवृक्षका एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल होता है, पीछे मूलसे अङ्कुर फूटते हैं इसी प्रकार श्रुतिने 'शृंग' पदसे शरीरादि विकारोंको अंकुररूप कहा है और अन्नसे लेकर सत्य-वस्तु-पर्यन्त पदार्थोंको मूल-कारणरूप कहा है इसलिये जैसे अंकुररूप लिङ्गसे मूलका अनुमान होता है इसी प्रकार शरीररूप कार्यसे अन्नरूप मूल-कारणका निश्चय कर, अन्नरूप कार्यसे पृथिवीरूप मूल-कारणका निश्चय कर, पृथिवीरूप कार्यसे जलरूप मूल-कारणका निश्चय कर, जलरूप कार्यसे तेजरूप मूल-कारणका निश्चय कर और तेजरूप कार्यसे परमात्मारूप मूल-कारणका निश्चय कर। परमात्मारूप सत्-वस्तु सर्वभूत तथा भौतिक-जगत्की उत्पत्तिका कारण है इसलिये श्रुतिने सत्-वस्तुको मूल कहा है, वही सत्-वस्तु जगत्की स्थितिका कारण है इसलिये श्रुतिने उसको 'आयतन' कहा है और वही सत्-वस्तु जगत्के लयका कारण है इसलिये श्रुतिने उसको 'प्रतिष्ठा' कहा है। वस्तुतः सत्-वस्तु मूल, 'आयतन' और 'प्रतिष्ठा' तीनोंसे रहित है। हे श्वेतकेतु! जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंमें विचरनेवाला जीवात्मा अज्ञानके कारण अनेक शरीर ग्रहण करता और छोड़ता रहता है।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! यह जीवात्मा किसप्रकार शरीरका त्याग करता है?

आरुणि—हे श्वेतकेतु! जब जीव मरणावस्थाके समीप होता है, तब अपने पूर्वके किये हुए पाप-कर्मोंका स्मरण करता हुआ पश्चात्ताप करता है। उस पुरुषके पुत्रादि बान्धव उसको खाटसे उतारकर कठिन भूमिमें सुला देते हैं और चारों तरफसे घेर लेते हैं। उसका गला घुर-घुर करने लगता है, श्वास ऊपरको चलने लगता है, दोनों नेत्र ऊपरकी तरफ खुल जाते हैं और उसके मुँहसे लार बहने लगती है, इसप्रकार मरणावस्थाको प्राप्त हुए पुरुषकी नेत्रादि इन्द्रियों सहित वाणी-इन्द्रियकी वृत्ति मनमें लय हो जाती है, मनकी वृत्ति क्रियारूप प्राणमें लय हो जाती है, प्राणकी वृत्ति सूक्ष्म-पञ्चभूतयुक्त जीवात्मामें लय हो जाती है और पाँच भूतों सहित जीवात्मा सुषुप्तिके समान संस्काररूपसे शेष रही हुई, मायासे उपहित आनन्दस्वरूप आत्मामें लय हो जाता है। सुषुप्ति तथा मरणावस्थामें संस्कारमात्र बन्धवाले जीवात्माका सत्-वस्तु लयका स्थान है और जीवरूपसे संघातमें प्रविष्ट तथा तेजादि भूतोंका कारणरूप वह सत्-वस्तु ही तेरा आत्मा है। जो सत्-वस्तु तेरा आत्मा है, वह सूक्ष्म-पदार्थोंसे भी अत्यन्त सूक्ष्म है, काल और आकाशादि महान् पदार्थोंसे भी अत्यन्त महान् है। जैसे रज्जुमें कल्पित सर्प, दण्ड, जल-धारा आदि कल्पित पदार्थ रज्जुमात्र ही हैं। इसी प्रकार तेज, जल और पृथिवीरूप सर्व जगत्का सत्-वस्तु ही वास्तविक स्वरूप है। इस सर्व जगत्का अधिष्ठान-रूप परमात्मादेव तेरे स्वरूपसे भिन्न नहीं है, किन्तु 'तू ही वह परमात्मारूप है।' तू देहादि संघात नहीं है, बुद्धि आदिका साक्षी है, सर्वत्र प्रतीत होनेवाला है, अद्वितीय रूप है, परमानन्दस्वरूप है और सर्व पदार्थोंका प्रकाशक है। सर्व पदार्थोंका प्रकाशक होनेसे वह आत्मादेव स्वयंज्योति है और वही तेरा वास्तविक स्वरूप है। इसलिये तू कर्ता, भोक्ता तथा प्रमाता नहीं है, किन्तु स्वयंज्योति आनन्द-स्वरूप परमात्मा ही है। हे पुत्र! प्रिय पुत्रके समान तेरा गर्व दूर करनेके लिये मैंने तुझे यह उपदेश दिया है।

पिताका एक बार 'तत्त्वमसि'—वह सत्-वस्तु तू ही है—इसप्रकार वचन सुनकर श्वेतकेतु सत्-वस्तुको भली प्रकार समझनेके लिये दूसरी बार प्रश्न करने लगा—

श्वेतकेतु—हे भगवन्! आपने सुषुप्ति और मरणावस्थामें सब जीवोंको सत्-वस्तुकी प्राप्ति कही, उसमें मुझे संशय होता है कि यदि सुषुप्ति और मरणावस्थामें सब जीवोंको सत्-वस्तुकी प्राप्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाती है तो 'मुझे सत्-वस्तुकी प्राप्ति हुई थी' ऐसा कोई क्यों नहीं जानता? सत्-वस्तु प्राप्त होनेपर भी सत्-वस्तुका अज्ञान क्यों रहता है?

श्वेतकेतुका यह वचन सुनकर आरुणि पिता इसप्रकार उत्तर देने लगा। (इति आठवाँ खण्ड।)

आरुणि—हे श्वेतकेतु! जैसे शहदकी मक्खी अपने छत्तेमें अनेक प्रकारके वृक्षोंके रसको लेकर उसको शहदरूपमें परिणत करती है। शहद-भावको प्राप्त हुआ वह अनेक प्रकारका रस 'मैं आम-वृक्षका रस हूँ, मैं जामुन-वृक्षका रस नहीं हूँ' ऐसा नहीं जानता, इसी प्रकार सुषुप्ति और मरणावस्थामें अनेक प्रकारकी जातिवाले जीव सत्-वस्तुके साथ एकभावको प्राप्त होनेके बाद अपने आत्माको विशेषरूपसे नहीं जानते यानी शहदरूप दृष्टान्तमें अपने स्वरूपका अविवेक अपने जड़ स्वभावसे है और दार्ष्टान्तिक जीवमें अपने स्वरूपका अविवेक अपने स्वभावसे नहीं होता किन्तु अविद्यावाले आवरणसे होता है। शहदरूप दृष्टान्तमें रससे भिन्न प्रमाता पुरुषमें रहे हुए अविवेकका आरोपण रसमें ही होता है और दार्ष्टान्तिकमें अज्ञानसे आवृत जीवमें अविवेक मुख्य है। इसप्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमेंकी विशेषताका त्याग करके केवल अज्ञानकी समानता ही दोनोंमें लेनी चाहिये।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! यदि सुषुप्ति-अवस्थामें यह जीव कदापि सत्-वस्तुके साथ एकताको प्राप्त हो जाता हो तो सुषुप्तिमेंसे उठकर जीवको फिर उसी जातिवाले शरीरकी प्राप्ति न होनी चाहिये?

आरुणि—हे पुत्र! व्याघ्र-सर्पादि तामस-जातिवाले जीव, राजा आदि राजस-जातिवाले जीव और ब्राह्मणादि सात्त्विक-जातिवाले सब जीव जो सुषुप्तिमें सत्-वस्तुको प्राप्त होते हैं, वे सुषुप्तिमेंसे उठकर पूर्वके शरीरको ही प्राप्त होते हैं, उससे विलक्षण शरीरको प्राप्त नहीं होते। जैसे वर्षा-ऋतुके समाप्त होनेपर सब मेंढक मृत्तिका-भावको प्राप्त हो जाते हैं और उन मेंढकोंके सूक्ष्म संस्काररूप अवयव पृथिवीमें रहते हैं। जब फिर वर्षा होती है तो वे मेंढक संस्कारोंके कारण फिर उसी शरीरको प्राप्त होते हैं, किसी विलक्षण शरीरको प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्थामें सब जीवोंका सत्-वस्तुमें लय होनेपर भी उन जीवोंके वासनारूप सूक्ष्म संस्कार उनमें रहते हैं, इसलिये सुषुप्तिसे उठकर वे सब जीव अपने-अपने शरीरको प्राप्त होते हैं।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! सुषुप्ति तथा मरणावस्थामें वाणी आदि सर्व इन्द्रियाँ लय हो जाती हैं और अविद्यारूप माया विद्यमान रहती है तो जैसे एक पुरुष अपने घरमेंसे बाहर निकलता है तो उसको अनुभव होता है कि मैं घरमेंसे बाहर निकला हूँ वैसे ही सुषुप्तिमें जीव सत्-वस्तुको प्राप्त होकर जब जाग्रत्-अवस्थाको प्राप्त होता है तो उसे ऐसा अनुभव क्यों नहीं होता कि मैं सत्-वस्तुमेंसे आया हूँ?

श्वेतकेतुके इस तीसरे प्रश्नका उत्तर आरुणि इसप्रकार देने लगे। (इति नवाँ खण्ड।)

आरुणि—हे श्वेतकेतु! जसे गंगा आदि नदियाँ अपने नामरूपका त्याग करके समुद्रमें मिलकर समुद्र-भावको प्राप्त होती हैं और फिर मेघद्वारा वृष्टिरूपसे समुद्रसे बाहर आती हैं, किन्तु वे यह नहीं जानतीं कि हम समुद्रसे बाहर आयी हैं। इसी प्रकार ये जीव सुषुप्ति-अवस्थामें सत्-ब्रह्मको प्राप्त होकर भी यह नहीं जानते कि हम सत्-ब्रह्मसे आये हैं। सत्-ब्रह्मकी प्राप्तिके समय जो मूल अज्ञान सत्-ब्रह्मके ज्ञानको होने नहीं देता, वही मूल अज्ञान जाग्रत्-अवस्थामें भी विद्यमान होता है। इस अज्ञानरूप मोहको प्राप्त हुआ जीव सत्-ब्रह्मको जान नहीं सकता।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! जैसे सर्व नदियाँ समुद्रमें लय-भावको प्राप्त होती हैं वैसे ही सुषुप्ति और मरणावस्थामें जीवका सत्-वस्तुमें लय होता है। इसप्रकार समुद्रके दृष्टान्तसे जीवका सत्-वस्तुमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लय मानियेगा तो जैसे समुद्रमें लय-भावको प्राप्त हुई नदियोंका फिर समुद्रसे उद्भव नहीं होता, वे नदियाँ समुद्रको प्राप्त होकर नष्ट ही हो जाती हैं, इसी प्रकार सुषुप्ति तथा मरणावस्थामें जीव भी सत्-वस्तुको प्राप्त होकर नष्ट हो जाय तो जीवके नष्ट हो जानेसे जीवको ब्रह्मकी प्राप्ति किसप्रकार होगी ?

श्वेतकेतुके इस प्रश्नका उत्तर आरुणि इसप्रकार देने लगे। (इति दशवाँ खण्ड।)

आरुणि—हे श्वेतकेतु! यह जीव सुषुप्ति-अवस्थामें जिस जातिवाला होकर जिस सत्-वस्तुको प्राप्त होता है, उसी सत्-वस्तुमेंसे आकर यह जीव उसी जातिवाला हो जाता है, क्योंकि जो-जो जीव सुषुप्ति-अवस्थामें सत्-वस्तुके साथ अभेद-भावको प्राप्त होता है, उस-उस जीवका यदि उठना न होता हो तो सुषुप्तिमें सत्-वस्तुमें लयमात्रसे प्रतिदिन उस जीवका पात हो जाना चाहिये, परन्तु ऐसा होता देखनेमें नहीं आता। जो जीव सुषुप्ति-अवस्थाको प्राप्त होता है, वह जीव ही सुषुप्तिसे उठता है, क्योंकि उस जीवका नाश कोई देख नहीं सकता। और जिस-जिस पदार्थका जीव परित्याग करता है, उस-उस पदार्थका नाश देखनेमें आता है, जैसे वृक्षमें स्थित जीव वृक्षकी शाखाओंमेंसे जिस-जिस शाखाका त्याग करता है, वह-वह शाखा सूख जाती है और जो शाखा जीवनरहित हो जाती है, वह फिर कभी भी जीवनको प्राप्त नहीं होती।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! जैसे वृक्षमें रहा हुआ जीव जिस शाखाका त्याग करता है, उस शाखामें यदि दूसरा जीव प्रवेश करे तो वह शाखा न सूखे। इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्थामें यह जीव सत्-ब्रह्मको प्राप्त हो जानेपर यदि दूसरा जीव उस शरीरमें प्रवेश करके शरीरको उठावे तो शरीरका पतन न हो।

आरुणि—हे श्वेतकेतु! वृक्षकी शाखाके समान यदि कदापि सुषुप्तिके समय शरीरमें दूसरा कोई जीव प्रवेश करके शरीरको उठाता होता तो शरीरका नाश कभी न होना चाहिये, क्योंकि यदि दूसरा जीव सुषुप्तिके पीछे शरीरमें प्रवेश करके उठाता हो तो वह दूसरा जीव मरणके पश्चात् भी शरीरमें प्रवेश करके उसको उठावेगा, किन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता। इसलिये जो जीव सुषुप्ति-अवस्थाको प्राप्त होता है, वही जीव सुषुप्तिसे उठता है, कोई दूसरा जीव नहीं उठता। जैसे सुषुप्तिको प्राप्त हुआ जीव सुषुप्तिसे उठता है इसी प्रकार मरणावस्थामें सत्-ब्रह्मको प्राप्त हुआ जीव मरणावस्थाके पश्चात् पुण्य-पाप-कर्मोंके वशसे दूसरे शरीरको प्राप्त होता है। दूसरा कोई जीव उस शरीरको प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार जीवरूप अधिकारीका नित्यपना होनेसे मोक्षशास्त्रकी व्यर्थता नहीं होती और कृतनाश और अकृताभ्यागमरूप दोष भी प्राप्त नहीं होता। किये हुए कर्मके नाशको 'कृतनाश' कहते हैं और नहीं किये हुए कर्मके भोगनेको 'अकृताभ्यागम' कहते हैं।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! आत्माको आपने अत्यन्त सूक्ष्म कहा, सूक्ष्म आत्मा स्थूल जगत्का आधार किसप्रकार हो सकता है ?

श्वेतकेतुके इस प्रश्नका उत्तर आरुणि इसप्रकार देने लगे। (इति ग्यारहवाँ खण्ड।)

आरुणि—हे श्वेतकेतु! जैसे अत्यन्त सूक्ष्म वटका बीज महान् वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार स्थूल जगत्का सूक्ष्म आत्मा आधार है, यदि कदापि वटकी उत्पत्ति असत्य बीजसे होती हो तो असत्य वन्ध्यापुत्रकी भी उत्पत्ति होनी चाहिये। यद्यपि महान् वृक्ष अपनी उत्पत्तिके पूर्व बीजमें रहता है, किन्तु बीज-दशामें उसके स्कन्ध, शाखा तथा पत्र इत्यादि भेद प्रतीत नहीं होते, वैसे ही जगत्के सूक्ष्म संस्कारवाली मायासे ढका हुआ आत्मा सूक्ष्म होनेपर भी जगत्की उत्पत्तिसे पहले सर्व जगत्का आश्रयरूप है तो भी शास्त्र-दृष्टिसे रहित पुरुषोंको आत्मा विद्यमान है, ऐसा जाननेमें नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आता, किन्तु 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत' इत्यादि शास्त्ररूपी चक्षुवाले विद्वानोंको ही उसका निश्चय होता है।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! आपने कहा कि श्रद्धासे अधिकारीको आत्मदेव प्राप्त होता है। श्रद्धा अनुभव किये हुए पदार्थमें ही होती है तो जिस पदार्थका कभी पूर्वमें अनुभव नहीं हुआ हो और उस पदार्थमें शब्द भी प्रवेश न कर सके तो उसमें श्रद्धा कैसे उत्पन्न हो?

इस प्रश्नका उत्तर आरुणि इसप्रकार देने लगे। (इति बारहवाँ खण्ड।)

आरुणि—हे श्वेतकेतु! सर्व जगत्‌का उपादान-कारणरूप आत्मा यद्यपि प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणोंसे जाननेमें नहीं आता तो भी गुरुशास्त्रके वचनमें विश्वासरूप श्रद्धा होनेसे जाना जा सकता है। जैसे जलमें रहा हुआ लवण यद्यपि चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जाननेमें नहीं आता तो भी रसनेन्द्रियसे जाननेमें आ सकता है, इसी प्रकार आत्मा यद्यपि सर्व जड-प्रपञ्चमें विद्यमान है तो भी गुरु-शास्त्रके वचनोंमें विश्वासरूप श्रद्धासे रहित पुरुष आत्माको जान नहीं सकता। शास्त्रके वचनमें श्रद्धावान् पुरुष ही तत्त्वं-पदार्थके शोधनद्वारा आनन्दस्वरूप चैतन्य आत्माका साक्षात्कार करता है।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! इसलोकमें जिस वस्तुका स्वरूप इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य है, उस वस्तुका स्वरूप किसी इन्द्रियसे ग्रहण होता है जैसे नेत्र-इन्द्रिय-का अविषय होनेपर भी जीभ इन्द्रियसे रस ग्रहण करनेमें आता है। आत्मदेवका तो किसी इन्द्रियसे ग्रहण नहीं हो सकता, तब आत्मा किस उपायसे जाननेमें आवे।

इस प्रश्नका उत्तर आरुणि उत्तरखण्डसे देते हैं। (इति तेरहवाँ खण्ड।)

आरुणि—हे श्वेतकेतु! यद्यपि इन्द्रियादिसे आत्माका साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु ब्रह्मवेत्ता गुरुके उपदेशरूप अपूर्व उपायसे आत्माका साक्षात्कार होता है, जैसे गान्धार-देशमें रहनेवाले किसी पुरुषको चोरोंने आँखें बन्द करके महान् वनमें ले जाकर छोड़ दिया। वह अपने देश जानेकी इच्छा करता हुआ अत्यन्त दुखी होकर पुकार करने लगा—'इस जंगलमें चोर मुझे छोड़ गये हैं' उसकी पुकार सुनकर किसी दयालु पुरुषने दया करके उसकी आँखोंकी पट्टी खोल दी और गान्धार-देश कौन-सी दिशामें है, यह भी बता दिया। पश्चात् वह पुरुष दयालु पुरुषके वचनपर श्रद्धा रखकर परम हर्षको प्राप्त हुआ और उसके बताये हुए मार्गसे अपने गान्धार-देशमें पहुँच गया। इसी प्रकार बुद्धिमान् अधिकारी पुरुष ब्रह्मवेत्ता गुरुके उपदेशसे अपने आत्मारूप देशको प्राप्त हो जाता है। उपर्युक्त दृष्टान्तका सिद्धान्त यह है—अधिकारी पुरुषको काम-क्रोधादि चोरोंने आत्मारूप देशमेंसे लाकर संसाररूपी वनमें डाल दिया है, अज्ञानरूपी पट्टीसे साक्षीरूपी नेत्र बाँध दिये हैं। जीव संसाररूप वनमें भ्रमण करता हुआ परम दुःखको प्राप्त होता है, ब्रह्मवेत्ता गुरुरूप दयालु जब महावाक्यरूप अपने हाथोंसे अधिकारीके साक्षीरूप नेत्रोंकी अज्ञान-रूप पट्टी खोल देता है, तब अज्ञानरूपी आवरणसे रहित होकर अधिकारी अपने अद्वितीय आत्मारूप देशको प्राप्त हो जाता है और ब्रह्मवेत्ता गुरुके उपदेशसे काम-क्रोधादि चोरोंको संसाररूपी वनमें ले जानेवाला जानकर उनके वश नहीं होता, इसलिये ब्रह्मवेत्ता गुरुका उपदेश ही आनन्दस्वरूप आत्माकी प्राप्तिका उपाय है।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! जैसे मरणकालमें अज्ञानी जीवकी इन्द्रियाँ सूक्ष्मरूपसे रहती हैं वैसे ही मरणसमय विद्वान्‌की इन्द्रियाँ सूक्ष्मरूपसे रहती होवें तो जैसे मरण-पीछे अज्ञानी जीवका फिर जन्म होता है वैसे ही विद्वान्-पुरुषका जन्म क्यों न हो?

इस प्रश्नका उत्तर आरुणि आगेके खण्डसे देते हैं। (इति चौदहवाँ खण्ड।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरुणि—हे श्वेतकेतु ! मरण-समय वागादि इन्द्रियोंका मनादिमें स्वरूपसे लय नहीं होता, किन्तु वृत्तिरूपसे लय होता है। मैं तुझसे ऊपर कह चुका हूँ कि संस्काररूपसे वागादि इन्द्रियोंका स्वरूप अज्ञानी पुरुषका मरण-समय भी बना रहता है और विद्वान् पुरुषका मरण-समय ब्रह्मज्ञानके प्रभावसे अपने-अपने व्यापारसहित सर्व वागादि प्रपञ्चस्वरूपसे ही लय-भावको प्राप्त हो जाता है, इसलिये अज्ञानी जीवके समान विद्वान् फिर शरीरको प्राप्त नहीं होता। हे श्वेतकेतु ! विद्वान्के मरणमें और अज्ञानीके मरणमें यह जो विशेषता कही है, वह शास्त्रदृष्टिसे कही है। लोकदृष्टिसे तो ज्ञानी तथा अज्ञानीका मरण समान ही है। क्योंकि जब अज्ञानीके मरणका समय आता है, तब उसके माता-पिता आदि बान्धव चारों तरफ बैठकर रुदन करते हैं और मरनेवालेसे कहते हैं—'हे पुत्र ! मुझ माताको तू प्राण-समान प्रिय जानता है। हे भ्राता ! मुझ भाईको तू प्राण-समान प्यारा जानता है !' जबतक मरनेवालेकी वागादि इन्द्रियाँ मरण-समयको नहीं प्राप्त होतीं, तबतक इसप्रकारके रुदनके वचन मरनेवाला पुरुष सुनता है और वागादि इन्द्रियोंके लय होनेके पीछे वह पुरुष किसी भी वस्तुको नहीं जानता। इसी प्रकार विद्वान् पुरुष भी जब मरण-समयको प्राप्त होता है, तब उसकी वागादि इन्द्रियोंके लयपर्यन्त तो बान्धवोंके नाना प्रकारके वचन सुनता रहता है और वागादि इन्द्रियोंके लय होनेके बाद वह विद्वान् भी कुछ नहीं जानता। इसप्रकार विद्वान् और अविद्वान्के मरणमें समानता है तो भी इतनी विशेषता है कि विद्वान् फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता और अज्ञानी पुनर्जन्मको प्राप्त होता है।

श्वेतकेतु—हे भगवन् ! जैसे मरण अवस्थामें विद्वान् पुरुषकी वागादि इन्द्रियाँ निर्विशेष लय-भावको प्राप्त होती हैं इसी प्रकार अज्ञानी पुरुषकी वागादि इन्द्रियाँ भी निर्विशेष लय-भावको क्यों नहीं प्राप्त होतीं ?

इस प्रश्नका उत्तर आरुणि आगेके खण्डमें देते हैं। (इति पन्द्रहवाँ खण्ड।)

आरुणि—हे श्वेतकेतु ! विद्वान् तथा अविद्वान्की मरणावस्था समान है तो भी विद्वान् मरणके पीछे पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता और अविद्वान् पुनर्जन्मको प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि विद्वान् सत्यस्वरूप आत्माको आत्मारूप जानता है और अविद्वान् मिथ्यारूप शरीरको ही आत्मारूप जानता है, इसलिये विद्वान् सत्य आत्माके साक्षात्कारसे मायारूप पाशसे रहित होकर मरणकालमें वागादि इन्द्रियोंके लय होनेके पीछे पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता और अविद्वान् तो मिथ्या शरीरको आत्मारूप जाननेसे मरणकालमें वागादि इन्द्रियोंके लय होनेके पश्चात् संस्कारोंके कारण पुनः शरीरको प्राप्त होता है। जैसे एक चोर और दूसरे साधु पुरुषको राजाके चाकर चोर जानकर बलात्कारसे राजाके पास ले जाते हैं, पीछे राजसभामें दोनों ऐसा कहते हैं कि हमने चोरी नहीं की है। तदनन्तर संशय दूर करनेके लिये दोनोंके हाथमें तपा हुआ लोहा रखते हैं तो मिथ्या बोलनेवालेका हाथ जल जाता है और सत्यवादीका हाथ नहीं जलता। ऐसा देखकर सत्यवादीको राजा छोड़ देता है और असत्यवादीको कारागृहमें भेज देता है। इसी प्रकार विद्वान् तथा अविद्वान् दोनोंका मरण समान है तो भी सत्य-आत्माके साक्षात्कार करनेवालेकी वागादि इन्द्रियाँ मरण-समय स्वरूपसे ही लय-भावको प्राप्त होती हैं, इसलिये सत्यात्मवादी पुरुष पुनर्जन्म आदि दुःखको प्राप्त नहीं होता और मिथ्या देहादिको आत्मारूप जाननेवाले अविद्वान्की वागादि इन्द्रियाँ मरण-समय स्वरूपसे लय-भावको प्राप्त नहीं होतीं, किन्तु संस्काररूपसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीहरिः

कल्याणका

मनोहर, शिक्षाप्रद, शान्तिप्रद, प्रेमपूर्ण

श्रीकृष्णांक

बड़ी सजधजके साथ निकलनेवाला है।

ग्राहकोंको चाहिये

वार्षिक मूल्य मनीआर्डरसे बहुत जल्दी भेज दें

क्योंकि

श्रीकृष्णांक अत्यन्त ही आकर्षक और मनोहर होगा। श्रीकृष्णकी मधुर और शिक्षाप्रद लीलाओंके चरित्र और चित्रोंसे इसका कलेवर सुसज्जित रहेगा। सिद्धान्त, शिक्षा, ज्ञान, प्रेम, भक्ति और लीला-सम्बन्धी ऐसे अनेक लेख रहेंगे जिनके पढ़ने और मनन करनेसे जीवन सहज ही परम आनन्दमय हो सकता है। 'श्रीकृष्णांक' के लेखकोंमें भगवान् श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य और श्रीचैतन्य आदि पूज्यचरण प्रातःस्मरणीय महापुरुषों द्वारा स्थापित सम्प्रदायोंके कतिपय आचार्य और विद्वानोंके अतिरिक्त अनेक साधु-महात्मा, भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंके चुने हुए विद्वान् और कुछ विदेशी महानुभाव हैं। जिन महानुभावोंने लेख भेज दिये और भेजनेका वादा किया है, उनमेंसे कुछके नाम ये हैं, इन नामोंसे ही आपको अन्दाज हो जायगा कि यह अङ्क कैसा होगा—

स्वामी श्रीविद्यानन्दजी, स्वामी श्रीभोलेबाबाजी, स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी, स्वामी श्रीदयानन्दजी, पं० श्रीआनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव प्रो०वाइस चैन्सलर हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी, डा० पं० श्रीगंगानाथजी झा, वाइस चैन्सलर इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए० प्रिंसपल, संस्कृतकालेज काशी, महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण, पं०श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न, पं०श्रीरामदयालुजी मजूमदार एम० ए०, पं०श्रीविधुशेखरजी भट्टाचार्य एम०ए० विश्वभारती शान्तिनिकेतन, श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल, भागवत-रत्न श्रीकुलदाप्रसाद मल्लिक, श्रीअमूल्यचरन विद्याभूषण, श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त एम०ए०, साधु श्री टी० एल० वास्वानीजी, श्रीमती डा० एनी बेसेन्ट, पं०श्रीनत्थूरामजी शर्मा गुजरात, के० एस०रामस्वामी, श्री पी० एन० शंकरनारायण ऐयर, श्री वी० सेथूराव महाराजा कालेज मैसूर, आचार्य पं० श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, दे० पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री, आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी, साहित्यरत्न पं०श्रीशालग्रामजी शास्त्री, पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय, पं० श्रीपद्मसिंहजी शर्मा, पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी, श्रीप्रेमचन्दजी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं०श्रीबद्रीनाथजी भट्ट, पं०श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक एम०ए०, पं० श्रीगंगाप्रसादजी मेहता एम० ए०, हरिभक्त श्रीयादवजी महाराज, विद्वद्वर पं० श्रीआनन्दघनरामजी, श्री आर० के० कामत, श्री जी० बी० केतकर बी० ए० गीताधर्ममण्डल, पं० श्रीसदाशिव शास्त्री भिड़े, म० म० पं० श्रीगिरधरजी शर्मा चतुर्वेदी, श्रीजयदयालजी गोयन्दका, श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया, श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार, श्री० बी० एच० वाडेर एम० ए०, प्रो० जयेन्द्रराव दुरकाल एम० ए०, डा० एच० बी० मोरेनो, श्री० सी० एफ० मोलेन इंगलैण्ड, श्रीजार्ज चैनी कैलिफोर्निया, प्रो० एफ० सी० दावर एम० ए०, प्रिं० तारापुरवाला एम० ए० बार-एट-ला० अंगरेज भक्तवर श्रीकृष्णप्रेमजी वैरागी, डा० कुन्हन, श्रीसदानन्दजी सम्पादक 'मेसेज', पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी सांख्य-वेदान्त-स्मृतितीर्थ, श्रीरामचन्द्र शंकर टक्की बी० ए०, श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर बी० ए० सम्पादक 'मुमुक्षु', रावबहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य; बाबा श्रीराघवदासजी आदि आदि।

कवियोंमें—श्री 'हरिऔध' जी, पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी, पं० श्रीरामसेवकजी त्रिपाठी, सम्पादक 'माधुरी', महामहोपाध्याय पं० श्रीदेवीप्रसादजी कवि चक्रवर्ती, पं० श्रीसुमित्रानन्दनजी पन्त, पं० श्रीसूर्यकान्तजी त्रिपाठी निराला, पं० श्रीलोचनप्रसादजी पाण्डेय, श्रीरमाशंकरजी मिश्र, श्रीसत्याचरणजी 'सत्य' एम० ए०, श्रीरसिकेन्द्रजी, श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त 'कुसुमाकर', श्रीशान्तिप्रियजी द्विवेदी, पं० श्रीरामवचनजी 'अरविन्द' आदि आदि।

चित्रोंका खास प्रबन्ध

श्रीकृष्णाङ्कके लिये प्रसिद्ध चित्रकार श्रीदेवलालीकर और श्रीशारदा उकीलसे तथा श्रीकृष्णलीला-सम्बन्धी चित्र बनानेमें निपुण नाथद्वाराके खास चित्रकारसे चित्र बनवाये जाते हैं। कुछ चित्रोंके भाव—

लीलामय श्रीकृष्ण, सारथि श्रीकृष्ण, विराट्रूप श्रीकृष्ण, वीरशिरोमणि श्रीकृष्ण, पहलवान श्रीकृष्ण, नृगोद्धारक श्रीकृष्ण, प्रेमी श्रीकृष्ण, गोसेवक श्रीकृष्ण, मुरलीधारी श्रीकृष्ण, भक्तवत्सल श्रीकृष्ण, योगेश्वर श्रीकृष्ण, सखा श्रीकृष्ण, श्रीशंकराचार्यके उपास्य श्रीकृष्ण आदि आदि। इनके सिवा मथुरा, वृन्दावन, बरसाना, नन्दगाँव, द्वारका आदिके खास-खास स्थानोंके चित्र भी हैं।

इस अङ्कका मूल्य सिर्फ २॥=)

गत वर्षके रामायणांककी भाँति इस वर्ष भी 'श्रीकृष्णांक' जल्दी ही खतम हो जानेकी सम्भावना है। इसलिये पुराने ग्राहक सालाना कीमत ४=) बहुत जल्दी मनीआर्डरसे भेज देवें।

नये ग्राहक बनने-बनानेवाले जल्दी करें—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहती हैं इसलिये मिथ्यावादी अविद्वान् बारम्बार जन्मादि दुःखोंको प्राप्त होता है।

हे डोरूशंकर ! इसप्रकार उद्दालक मुनिने नौ बार श्वेतकेतुको 'तत्त्वमसि' का उपदेश किया। पिताके उपदेशको सुनकर श्वेतकेतु नौ वचनोंमेंके पहले वचनसे आत्माके वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार करने लगा और अन्तके वचनसे आत्मज्ञानको प्राप्त करके कुछ समयतक घर रहा और पश्चात् परम वैराग्यको प्राप्त होकर पिताके समान उसने भी परमहंस-संन्यास ग्रहण कर लिया। उद्दालकने श्वेतकेतुको अत्यन्त बुद्धिमान् जानकर आत्मरूप सत्तामें सुखरूपताका उपदेश नहीं किया और श्वेतकेतुने भी अपने पितासे यह प्रश्न नहीं किया कि कारणरूप सत्ता सुखरूप है या नहीं। किन्तु सनत्कुमारने नारद-मुनिके बिना पूछे ही आत्मरूप सत्तामें सुखरूपता कही थी। (इति सोलहवाँ खण्ड।) छठा अध्याय समाप्त।

(क्रमशः)

जिज्ञासा

माँ ! पर्देमें छिपकरके वह पुतली कौन नचा जाता ?
राह बतानेके मिस फिर-फिर चुपकेसे समझा जाता ॥
अपना जब करतब दिखलाता,
सूने घरमें दीप जलाता,
उजड़े बनमें बाग लगाता,
रश्मितागमें ओसोंके मुक्ताओंको गूँथे जाता ॥
नभ-उपवनमें सुमन सजाता,
राका-सरमें कमल खिलाता,
दुग्ध-सरितकी धार बहाता,
ऊषाके अञ्चलमें सबको न्यौछावर करता जाता ॥
मन्द-मन्द मलयानिल आता,
सास्मित मुखसे क्या कह जाता ?
किसका है सन्देश सुनाता ?
जननि ! तुम्हारे आँगनमें सुखसौरभ भी भरता जाता ॥
'गुन-गुन-गुन' मधुकर गुन गाता,
परभृत अपना शब्द सुनाता,
चातक 'पी' रट किसे बुलाता ?
द्विजवर किसका सायं-प्रातः गुणकीर्तन करता जाता ॥
अभ्र भला क्यों अश्रु बहाता ?
विद्युत् हास विलास दिखाता,
झरना कल-कल गान सुनाता,
किसकी आशामें चञ्चल चित सागर शोर किये जाता ?

—गौरीशंकर द्विवेदी साहित्यरत्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी)

(गतांकसे आगे)

यहाँतक ठाकुरके अद्भुत, अपूर्व और भावपूर्ण चरित्रोंका वर्णन किया गया। आशा है पाठकोंको यह चरित्र अत्यन्त शिक्षाप्रद तथा आध्यात्मिक जीवनके लिये लाभदायक होगा। महापुरुषोंके चरित्रोंके मनन तथा अनुवर्तनसे हम अपनी आत्माको बहुत उन्नत बना सकते हैं। अब श्रीरामकृष्णकी अन्तिम ऐहलौकिक लीलाका कुछ उल्लेख कर यह लेखमाला समाप्त की जाती है।

सन् १८८५ के गर्मीके मौसममें ठाकुरको गर्मीकी सख्तीने बहुत सताया, बार-बार जल पीनेसे कण्ठमें पीड़ा होने लगी। पहले तो रोग साधारण समझा गया था परन्तु वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। ठाकुर जब कभी बोलते या समाधिमग्न होते तो पीड़ा बढ़ जाती। इससे शिष्योंको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने कण्ठ-रोगके विशेषज्ञ डाक्टर राखालचन्द्र घोषको बुलाकर उनका इलाज कराना शुरू किया। डाक्टरने कुछ दवा दी और कहा कि यदि बोलना और समाधिस्थ होना बन्द कर दिया जाय तो रोग शीघ्र ही शान्त हो जायगा। परन्तु यहाँ शरीरकी किसे परवा थी, चिकित्सककी आज्ञाके विरुद्ध ठाकुर एक दिन एक संकीर्तनमें चले गये, वहाँ बारम्बार समाधिस्थ होनेके कारण रोग बहुत बढ़ गया। डाक्टरने कहा कि 'यदि ऐसा ही होता रहा तो रोग असाध्य हो जायगा।' शिष्य लोग अब बड़ी सावधानीसे रक्षा करने लगे, जहाँ तक होता वे बोलने और समाधिस्थ होनेके कारणोंको रोका करते। परन्तु कोई भक्त दर्शनार्थ आ जाता तो वह बोलनेसे न रुकते। कोई मने करता तो कहते कि 'लोग दूरसे मिलने आते हैं,यदि कुछ न बोलूँ तो वह निराश होंगे।' इसप्रकार पीड़ा बढ़ते-बढ़ते इतनी तीव्र हो गयी कि खानेमें भी बड़ा कष्ट होने लगा, लेकिन उन्होंने बोलना और समाधिमग्न होना न छोड़ा। लोगोंका भी आना-जाना बढ़ने लगा। दयार्द्र-हृदय होनेके कारण वह आनेवाले लोगोंको निराश करना नहीं चाहते थे इसलिये भगवत्-चर्चा किये बिना उनसे रहा नहीं जाता था। यद्यपि वह किसीसे अपनी तन्दुरुस्ती खराब होते जानेकी बात नहीं कहा करते थे परन्तु उन्हें इस बातका बोध अवश्य था कि शरीरकी अवस्था बिगड़ती जा रही है। कभी-कभी वह जगन्मातासे यों कहते सुने गये कि 'माँ! तू मेरे पास ऐसे लोगोंको क्यों भेजती है जो एक भाग दूधके साथ पाँच भाग पानी मिले हुएकी तरह हैं, उनके पानीको जलानेके लिये अत्यन्त परिश्रम करते-करते यह शरीर रोगी हो गया। अब मेरी शक्तिसे परे है, यदि तुझे ऐसा ही शौक है तो तू आप ही उपाय कर या ऐसे लोगोंको भेज जो थोड़े ही शब्दोंसे जागृत हो जायँ।' कभी-कभी वे कहते—'तू भीड़-की-भीड़ लोगोंकी यहाँ भेजती है, जिससे मुझे खाने-सोनेका भी अवकाश नहीं मिलता, अब यह शरीर खोखला, फूटा ढोल-सा हो गया है, यदि अब भी इसे बजाती रहेगी तो कबतक चलेगा।'

शिष्योंने जब देखा कि रोग घटता ही नहीं तो सबको बड़ी चिन्ता हुई। आखिर यही निश्चय किया गया कि उन्हें कलकत्ते ले जाकर इलाज कराया जाय। इस अभिप्रायसे वे उन्हें कलकत्ते ले गये। श्यामापुकुरमें एक मकान किरायेपर लेकर वहीं डाक्टरका इलाज करने लगे। ठाकुरकी पत्नी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी वहीं आ गयीं और सब लोग तन-मनसे उनकी सेवा करने लगे। कुछ शिष्य भी सेवा करनेके लिये रात-दिन वहीं रहने लगे। वे रातको बारी-बारीसे जागते रहते। कलकत्तेमें रहनेके लिये खर्च-की सबको चिन्ता थी। ब्रह्मचारी शिष्य लोग तो सब निर्धन थे, गृहस्थोंमें भी किसीके पास इतना धन नहीं था कि अपने कुटुम्बका पालन करनेके बाद ठाकुरका और शिष्योंका खर्च स्वयं बरदाश्त कर सके। उनकी सेवा करनेके अभिप्रायसे आपसमें यह सम्मति हुई कि सुरेन्द्र घरका किराया दे और बलराम, रामचन्द्र, महेन्द्र और गिरीश आदि भक्त बाकी खर्च चलावें। इसप्रकार एकान्त-सेवा-भावसे वे लोग गुरुदेवकी निःस्वार्थ सेवामें तत्पर हो गये।

डाक्टर महेन्द्रलाल सरकारको ठाकुरकी चिकित्सा करनेका कार्य सौंपा गया। यह कलकत्ते-के बड़े प्रसिद्ध डाक्टर थे। इन्होंने जी-जानसे ठाकुरकी सेवा करना शुरू किया। ठाकुरके महत्त्व-का उन्हें भी पता लग गया। वह कई बार रोज उन्हें देखने आने लगे और ठाकुरके वचनामृतसे शान्ति प्राप्त करने लगे। सरल स्वभाव और पवित्र हृदयवाले शिष्योंसे भी उनका प्रेम बढ़ गया। एक दिन ठाकुरको समाधिस्थ देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि पहले यह अवस्था उन्होंने कभी नहीं देखी थी। नाड़ी तथा हृदयकी चाल देखनेसे उन्हें मालूम हुआ कि दोनों बन्द हैं और आँखोंमें दृष्टि भी नहीं है परन्तु वे जीवित जरूर मालूम होते हैं। इसपर वह कहने लगे कि 'यहाँ पाश्चात्य-विज्ञानकी पहुँच नहीं है।' कई सप्ताह हो गये, परन्तु रोगमें कुछ फरक न पड़ा। जब डाक्टरने देखा कि इतने दिनोंतक इलाज करनेसे भी रोगमें कुछ कमी न हुई तो उन्होंने सलाह दी कि इन्हें शहरसे बाहर किसी बगीचेमें ठहराया जाय जहाँ निर्मल वायु हो। सम्भव है, हवा बदलने-से रोग कुछ घटे। ऐसा ही किया गया और काशीपुरमें एक अच्छा खुला हुआ मकान ८०) भाड़ेमें लेकर ठाकुरको वहाँ ले गये। इस सुन्दर स्थानको देखकर ठाकुर बड़े प्रसन्न हुए। यह ११ दिसम्बर सन् १८८५ की घटना थी।

महासमाधि

मकानमें श्रीरामकृष्णके आरामके लिये सब तरहका बन्दोबस्त कर दिया गया। नरेन्द्रने ठाकुर-की सेवाका भार अपने जिम्मे लिया। यद्यपि वे वकालतकी परीक्षाकी तैयारी कर रहे थे और उधर अपने कुटुम्बियोंसे मुकद्दमा भी छिड़ा हुआ था, परन्तु इसकी परवा न करके वह रात-दिन वहीं रहने लगे और उनकी सेवामें तत्पर हो गये। जब सेवासे समय मिलता तो कुछ अध्ययन भी कर लेते। उनका विचार था कि अपनी माँ और भाइयोंके लिये कुछ धन जमा करके उनके निर्वाह-मात्रका प्रबन्ध कर फिर गृहस्थ त्यागकर संन्यासाश्रममें प्रविष्ट हो जाऊँगा, परन्तु ईश्वरको कुछ और ही मंजूर था।

ठाकुर दिनोंदिन कमजोर होते गये, तो एक दिन उन्होंने कहा कि 'निर्बलता बढ़ती जानेसे कमरेके बाहर जाकर शौचादि क्रिया करना भी असम्भव हो जायगा।' इस इशारेपर लाटू बोला कि 'महाराज! मैं आपका भंगी बन जाऊँगा।' इसपर सब हँसने लगे। सब काम नियमपूर्वक चलने लगा। नवयुवक शिष्य प्रायः रातदिन वहीं रहने लगे और नरेन्द्र सबके मुखिया बने। जब ये लोग ठाकुरकी सेवासे फुरसत पाते तो नरेन्द्र सबको इकट्ठा कर उन्हें ध्यान, भजन तथा अध्ययनमें लगा देते वा उनसे आध्यात्मिक विषयोंपर बातचीत करने लगते। इसप्रकार इन युवकोंका संघ नरेन्द्रके नेतृत्वमें सुदृढ़रूपसे संगठित हो गया। इन युवकोंकी संख्या बारह थी। उत्तम जल-वायु-संयुत स्थानमें रहनेसे ठाकुरका रोग कुछ घटता दिखायी देने लगा। निर्बलता कम होती जा रही थी और कमरेसे बाहर निकलकर वह कुछ टहल भी लेते थे। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय पं० शशधर आये और ठाकुरसे कहने लगे कि 'महाशय ! शास्त्रोंमें लिखा है कि आप-जैसे महापुरुष अपनी मानसिक शक्तिसे ही रोगको नष्ट कर सकते हैं, यदि आप भी ऐसा ही करें तो शीघ्र रोग निवृत्त हो जाय।' इसपर ठाकुर कहने लगे कि 'तुम पण्डित हो फिर भी ऐसी विचारहीन बात कहते हो। यह मन तो अब भगवान्के पादपद्मोंमें समर्पित हो चुका, अब इसे वापस लेकर इस नाशवान् शरीरमें कैसे जोड़ूँ।' शशधर चुप रह गये। उनके चले जानेपर नरेन्द्र आदि ठाकुरके इन वचनोंसे सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने उनसे कहा कि 'महाराज ! इस रोगको हमारे हितार्थ ही नष्ट कर दीजिये।' ठाकुरने कहा—'यह काम माँपर निर्भर है, मैं कुछ नहीं जानता।' नरेन्द्रने कहा कि 'माँसे प्रार्थना कीजिये, वह आपकी बात जरूर मान लेगी।'

ठाकुर–'मैं ऐसा नहीं कर सकता।'

नरेन्द्र–'नहीं, आपको हमारे लिये ऐसा करना ही होगा।'

ठाकुर–'अच्छा, मैं कोशिश करूँगा।'

कुछ समय पीछे नरेन्द्रने पूछा कि 'आपने प्रार्थना की थी ?' ठाकुर बोले–'हाँ, मैंने उससे कहा कि इस पीड़ाके कारण मैं खा भी नहीं सकता, ऐसा उपाय कर कि थोड़ा-सा खा तो लिया करूँ। इसपर माँ बोली कि क्या तू इतने मुखोंसे नहीं खा रहा है (शिष्योंकी तरफ इशारा करके)। मुझे फिर लज्जा आ गयी और कुछ न कह सका।'

एक दिन ठाकुरने महेन्द्रसे कहा कि 'मेरा कार्य पूरा हो गया, अब मैं किसीको शिक्षा नहीं दे सकता। अब समस्त जगत्को ईश्वररूप ही देख रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि यह जगत् नाम-रूप-रहित साक्षात् सच्चिदानन्द ही है।' एक समय ठाकुर बगीचेमें थोड़ा टहलने गये, वहाँ कुछ शिष्य बैठे बात कर रहे थे, वहीं ठाकुर चले गये और गिरीशको सम्बोधन कर बोले–'गिरीश ! मेरे अन्दर तू क्या देखता है जो सबसे कहता फिरता है कि यह भगवान्का ही अवतार है।' गिरीशने चरणोंमें गिरकर कहा कि 'भगवन् ! मैं तुच्छ प्राणी उस परात्पर-ब्रह्मकी क्या महिमा वर्णन कर सकता हूँ जिसे व्यासादि ऋषि-मुनि भी स्वरूपतः नहीं जान सके।' इसपर ठाकुरने सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद दिया कि 'तुम सबको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो।' फिर भावावस्थित हो गये। सब शिष्य साष्टांग चरणोंपर गिर गये, इसपर ठाकुरने एक-एकको स्पर्श किया। स्पर्श होते ही किसीको अपने इष्टदेवके साक्षात् दर्शन हुए, किसीको देदीप्यमान ज्योतिके दर्शन हुए। सबने अपूर्व आनन्दका अनुभव किया। इस घटनाके बाद ठाकुरके शरीरमें जलन मालूम होने लगी जिससे जाना गया कि ठाकुरने सबके पाप अपने ऊपर ले लिये। ठाकुरने अपने शरीरपर गंगाजल छिड़कनेको कहा। जल छिड़कनेसे दाह शान्त हो गया। यह १ जनवरी सन् १८८६ की घटना थी।

नरेन्द्रके मनमें इस समय ब्रह्म-साक्षात्कारकी तीव्र उत्कण्ठा हुई। इस दशाका वर्णन उसने महेन्द्रसे इसप्रकार किया था।

नरेन्द्र–'दो जनवरीको मैं ध्यान कर रहा था कि अचानक मेरे हृदयमें एक विचित्र स्फुरणा हुई।'

महेन्द्र–'क्या कुण्डलिनीकी जागृति ?'

नरेन्द्र–'शायद ऐसा ही हुआ हो, क्योंकि उस समय मैंने ईड़ा, पिंगला नाड़ियोंका प्रत्यक्ष अनुभव किया। फिर मैं ठाकुरके पास गया और बोला कि सबको तो आपने ब्रह्म-साक्षात्कार करा दिया, क्या मैं ही वञ्चित रहूँगा ? उन्होंने कहा-'पहले तू अपने कुटुम्बके निर्वाहका कुछ प्रबन्ध कर दे, फिर तुझे सब कुछ मिल जायगा। तू क्या चाहता है ?' मैंने कहा कि मैं तीन-चार दिनोंतक निरन्तर समाधिमें रहना चाहता हूँ। उन्होंने कहा तू मूर्ख है, इस समाधिसे भी ऊँची अवस्था और है। जब तू कुटुम्बके निर्वाहका प्रबन्ध कर ले तो मेरे पास आना, फिर तुझे समाधिसे भी उच्च अवस्था प्राप्त होगी। मैं घर गया और कमरेमें बैठकर वकालतकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकोंका अध्ययन करने लगा तो मुझे पढ़नेसे भयानक डर मालूम होने लगा। पुस्तकोंको छोड़ मैं यहाँ भाग आया। चार जनवरीकी रातको ठाकुरका रोग बढ़ने लगा, पीड़ा बहुत होने लगी, परन्तु फिर भी धीमी-धीमी आवाजसे कहने लगे–'नरेन्द्रकी अद्भुत दशाको देखो। वह ब्रह्म-साक्षात्कारके लिये लालायित हो रहा है, वह शीघ्र ही अपना ध्येय प्राप्त करेगा।' उसी रातको मैं अपने दो गुरु-भाइयोंके साथ बैठकर ध्यान करने लगा। ठाकुरकी आज्ञानुसार साधन करते-करते मुझे भिन्न प्रकारके अनुभव होने लगे, जिन अनुभवोंद्वारा ठाकुरके पश्चात् मुझे बहुत कुछ कार्य करना था।

फिर ठाकुरने नरेन्द्रसे कहा कि 'इन बालकोंको मैं तेरी देख-भालमें छोड़ता हूँ, सावधान रहना ऐसा न होने पावे कि यह ध्यानादि छोड़कर घरोंको लौट जायँ।' ठाकुर इन शिष्योंको संन्यास-मार्गकी तरफ बढ़ा रहे थे। एक दिन उन्होंने उनसे कहा कि 'आज गृहस्थोंके घरोंसे कुछ भिक्षा माँग लाओ।' वह सब इस बातसे बड़े प्रसन्न हुए और झोली लेकर भिक्षा ले आये। भिक्षान्नसे भोजन तैयार कर ठाकुरको अर्पण किया तो उन्होंने एक-दो चावल खाकर कहा कि 'यह बड़ा पवित्र अन्न है।'

शिवरात्रिको शिष्योंने रातभर भजन, ध्यान किया। नरेन्द्रने अपनी पैदा की हुई शक्ति और सिद्धिकी परीक्षा करनेके अभिप्रायसे कालीसे कहा— 'जब मैं ध्यानमें बैठूँ तो तू मुझे स्पर्श करना।' वह ध्यानमें बैठा तो कालीने थोड़ी देर पीछे उसे स्पर्श किया। उसी क्षण विना इच्छाके भी काली-ध्यान-मग्न हो गया। यह बात ठाकुरके भी कानों-तक जा पहुँची तो ठाकुरने नरेन्द्रको बहुत झिड़का कि अपनी शक्तियोंको क्यों वृथा नष्ट करता है? ठाकुरकी दशा दिनोंदिन बिगड़ती जाती थी, यहाँ-तक कि अब आहार भी नाममात्र ही रह गया था। इस अवस्थामें रुधिर-स्राव होनेसे उन्हें निश्चय हुआ कि ठाकुर अब शरीर छोड़ना ही चाहते हैं, परन्तु ठाकुरकी मुखाकृति सदैवकी भाँति प्रसन्न ही रही। वे कहने लगे कि 'हे मन! इस शरीर और उसकी वेदनाकी चिन्ता छोड़ और आनन्दमें ही निवास कर।' फिर कहा कि 'मैं परमात्माके नाना रूपोंको देख रहा हूँ और यह (अपनी तरफ इशारा कर) भी उन्हींमेंसे एक है। जानते हो मैं क्या देख रहा हूँ? सब कुछ ब्रह्म ही है, चराचर जगत् उन्हींका रूप है, वही सबको चैतन्यता दे रहे हैं।'

जब कोई भी इलाज ठाकुरके रोगको नष्ट न कर सका तो माताजी (उनकी धर्मपत्नी) ने तारकेश्वरनाथ शिवसे प्रार्थना करके ठाकुरको रोगमुक्त करानेकी चेष्टा की। इस अभिप्रायसे वह तारकेश्वर गयीं और मन्दिरमें लेटकर प्रण किया कि जबतक मेरी मनोकामना पूर्ण न होगी, तबतक अन्न-जल स्पर्श न करूँगी। दूसरी रातको उन्हें एक जोरका शब्द सुनायी दिया, जिससे उनके मनमें तीव्र वैराग्यका सञ्चार हुआ और सोचने लगीं कि यह सांसारिक सम्बन्ध स्वप्नवत् भ्रममात्र ही है। इस अनुभवके पीछे वह वहाँसे लौटकर काशीपुर आ गयीं तो ठाकुरने पूछा कि क्या हुआ? माताजीने सब हाल सुनाया, ठाकुर मुसकुराकर चुप हो गये।

एक दिन नरेन्द्र ध्यानमें बैठा था कि अचानक निर्विकल्प समाधिमें मग्न हो गया। थोड़े समय बाद जब उसे जगत्का भान हुआ तो पागल-सा हो गया, मानो किसी अपरिचित स्थानमें आ गया हो, उसे अपने शरीरकी भी सुध न थी, ठाकुरको जब यह बात सुनायी तो वह कहने लगे कि वह बारम्बार इसके लिये कहता रहता था, उसे अभी कुछ देर इस अवस्थामें रहने दो। नरेन्द्रके चेहरेपर अपूर्व आनन्दकी छटा थी। वह ठाकुरके पास आया तो उन्होंने कहा—'माँने अब तुझे सब कुछ दिखा दिया है, परन्तु यह अद्वितीय अनुभव (निर्विकल्प समाधि) अभी सन्दूकमें बन्द रहेगा, ताली उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे पास रहेगी। जब तू 'माँ' का कार्य पूरा कर लेगा, तब वह वस्तु तुझे फिर मिलेगी।' एक और दिन ठाकुरने नरेन्द्रको राम-नामकी दीक्षा दी, जिससे उसके हृदयमें अद्भुत आनन्दका सञ्चार हुआ और उसीमें आनन्द-विभोर होकर राम-नाम उच्चारण करता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा। प्रायः कई घण्टे उसकी यह दशा रही थी, तत्पश्चात् वह अपनी साधारण अवस्थामें हो गया।

ठाकुर जबसे काशीपुरके बगीचेमें पधारे थे तबसे नाग महाशय उनसे मिलने बहुत कम आते थे, क्योंकि उनकी तीव्र वेदनाको देखना उनके लिये असह्य था। एक दिन वह मिलने गये तो ठाकुरने उन्हें छातीसे लगाकर कहा—'दुर्गाचरण! डाक्टरोंसे तो कुछ न हो सका क्या तू कुछ उपाय रोग-निवृत्तिका कर सकता है?' नाग महाशय कुछ देर सोचते रहे और यह निश्चय करके कि इनका रोग मैं अपने शरीरमें ले लूँगा, कहने लगे—'हाँ महाशय! मैं आपके रोगका इलाज कर सकता हूँ।' यह कहकर वह ठाकुरकी तरफ बढ़े। परन्तु ठाकुर उनके मनकी शक्तिका प्रभाव जानते थे कि यह मेरा रोग अपने शरीरमें परिवर्तन कर लेगा, इसलिये उन्हें हटा दिया और कहा कि 'मैं जानता हूँ, तू कर सकता है।'

अपनी महासमाधिसे आठ नौ दिन पहले श्रीरामकृष्णने योगेन्द्रसे कहा कि श्रावणकी २५ तारीखसे आगेके दिनोंका हाल पत्रेमेंसे मुझे सुना। यह ९ अगस्तकी बात है। योगेन्द्र सुना रहा था कि सुनते-सुनते श्रावणके अन्तिम दिनका वृत्तान्त सुनकर ठाकुरने कहा कि 'बस और सुनानेकी जरूरत नहीं।' पाँच छः दिन पीछे उन्होंने नरेन्द्रको बुलाया। उस समय कमरेमें दूसरा कोई आदमी न था। उसे अपने सामने बिठाकर उसकी तरफ देखने लगे और समाधिस्थ हो गये। इसपर नरेन्द्रके शरीरमें बिजली-सी दौड़ने लगी और वह भी बाह्य-ज्ञान-शून्य हो गया। नरेन्द्रको कुछ न जान पड़ा कि वह उस दशामें कितनी देर रहा, जब होश आया तो ठाकुरको रोते देखा। कारण पूछनेपर उन्होंने कहा कि 'आज मैंने अपनी सारी पूँजी तुझे दे दी है और फकीर हो गया हूँ। इस शक्तिसे तू जगत्का बड़ा उपकार करके फिर निज धामको जायगा।'

रविवार १५ अगस्तको ठाकुरके शरीरमें बहुत पीड़ा होने लगी। नाड़ी भी रुक-रुककर चलने लगी और श्वास-प्रश्वासमें भी कठिनाई प्रतीत होने लगी। शिष्य लोग रोने लगे और सब उनके बिछौनेके पास खड़े हो गये। ठाकुरको भूख मालूम हुई तो उन्हें कुछ पतली-सी चीज पीनेको दी गयी। तदुपरान्त वह समाधिमग्न हो गये और फिर शरीर भी अचेतन-सा हो गया। आधी रातको उन्हें फिर होश आया तो बड़ी भूख मालूम होने लगी। कुछ आहार देनेके बाद उन्हें फिर लिटा दिया गया। उस समय उन्होंने 'माँ काली' का नाम तीन बार उच्चारण किया और धीरेसे लेट गये। एक घण्टे बाद शरीरमें कुछ कम्प हुआ और रोमाञ्च हो गया। आँखोंकी दृष्टि नासिकाके अग्र भागमें जम गयी, चेहरा प्रदीप्त और प्रसन्न दीखने लगा और फिर महासमाधिमें प्रवेश कर गये। शिष्यगण अत्यन्त शोकग्रस्त हुए। अनाथोंकी भाँति अपने आपको सहायहीन समझने लगे। यह सूचना पाकर बहुत लोग ठाकुरके अन्तिम दर्शन करनेके निमित्त आये। उनके शरीरकी अन्तिम क्रिया करके जयध्वनि करते हुए सब बगीचेमें लौट आये।

ठाकुरके शरीरकी अन्तिम क्रिया करनेके बाद उनकी अस्थियों और राखका बहुत-सा भाग तो बलराम बोसके घर पहुँचाया गया और बाकीको काँकड़गाछीमें ले जाकर जन्माष्टमीके दिन पृथ्वीमें गाड़ दिया और रामने वहाँ नित्य पूजा आरम्भ कर दी। बगीचेके मकानमें कुछ शिष्य तो वहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रात-दिन रहने लगे और कुछ रोज़ वहाँ आते और सन्ध्याको वापस अपने-अपने घर चले जाते। जो वहाँ रहने लगे थे उन्होंने तो गृहस्थ-त्याग ही दिया था, दूसरे भी त्यागनेका विचार करने लगे। सुरेन्द्रनाथ मित्रने बरानगरमें एक मकान किरायेपर ले लिया और वह त्यागी युवक वहाँ रहने लगे। यह श्रीरामकृष्ण-संघका पहला मठ था। युवकोंके हृदयमें वैराग्यकी अग्नि धधक रही थी। उन्होंने अपने माता-पिता तथा सम्बन्धियोंके समझाने-बुझानेपर भी गृहस्थमें रहना स्वीकार नहीं किया और वे ब्रह्मसाक्षात्कार करनेकी तीव्र इच्छासे साधनामें तत्पर हो गये। उसी बरानगर-मठमें वे बलराम बोसके घरसे अस्थियाँ लाकर स्थापित कर नित्य पूजा करने लगे। माताजी भी वृन्दावन, कलकत्ते और कभी अपने जन्मस्थानमें रहकर साधनामें लग गयीं। गृहस्थ शिष्य भी ब्रह्मदर्शनके लिये लालायित हुए। नाग महाशय तो मानो आत्मानुभवके लिये पागल ही हो गये। उन्होंने इस लगनमें खाना-पीना और सोना भी भुला दिया। जब कोई उनसे खानेके लिये आग्रह करता तो कहते कि 'क्या इस शरीरको मैं भोजन दूँ जिसने अभीतक ईश्वर-दर्शन नहीं किया?' महेन्द्र, बलराम, गिरीश, देवेन्द्र आदि भी ठाकुरके अन्तर्धान होनेसे बड़े दुखी हुए, परन्तु इन युवकोंके उत्कट वैराग्यको देखकर वे लोग सन्तुष्ट रहते थे। नरेन्द्रनाथ, जो अब स्वामी सच्चिदानन्द हो गये थे (पीछेसे अमेरिका जाते हुए उन्होंने नाम बदलकर अपना नाम स्वामी विवेकानन्द रखा था) उन सब संन्यासियोंके नेता थे। सभी युवक अब संन्यासी बन गये थे। नरेन्द्र सबको इकट्ठा करके अपनी अद्भुत बुद्धि और आत्मबलके प्रभावसे अपने गुरुभाइयोंके जीवनको उन्नत बनानेमें लग गये। उनके साथ विविध विषयोंपर गम्भीरतासे वार्तालाप करते वा शास्त्रचर्चा किया करते, जिससे वैराग्य अधिकाधिक बढ़ने लगा। उनका रहन-सहन बड़ा ही सादा था। भिक्षासे जो कुछ अन्न मिल जाता था, उसीको खाकर जीवन-निर्वाह करते थे। अब सबकी इच्छा देशाटन करनेकी हुई। एक-एक करके सब बाहर निकल गये। एक शशि (स्वामी रामकृष्णानन्द) कहीं नहीं गये। वह मठमें ही रहकर ठाकुरकी अस्थियोंकी पूजा करनेमें लगे रहे। परम त्यागकी ये मूर्तियाँ सारे भारतमें भ्रमण करने लगीं। यह सारा चमत्कार और इन युवकोंको परम धर्म तथा आत्मबलके साँचेमें ढालना श्रीरामकृष्ण परमहंसका ही काम था। उनके अपूर्व जीवन, अनुपम शक्ति तथा उपदेशोंके प्रभावके कारण इन युवकोंमें अध्यात्म-विद्याकी परम ज्योति जगमगाने लगी, जिससे जगत्‌का बड़ा भारी कल्याण हुआ। सच तो यह है कि भारतमें उन दिनों जो पाश्चात्य शिक्षाके कारण नास्तिकता, धर्मग्लानि और अपनी प्राचीन सभ्यतासे घृणाकी बाढ़ बढ़ती जा रही थी वह श्रीरामकृष्णके भारतमें अवतीर्ण होनेसे रुकने लगी। स्वामी विवेकानन्दके अमेरिकासे लौटनेपर उनके प्रभावशाली व्याख्यानोंने तो मानो सारे देश-को सोतेसे जगा दिया था। जो जागृति देशमें आज देखनेमें आ रही है इसका प्रधान कारण स्वामीजी महाराजकी वक्तृताएँ थीं। अमेरिकामें व्याख्यान देते हुए स्वामी विवेकानन्दने एक बार कहा था कि 'यदि मैंने मन, वचन, कर्मसे कुछ प्राप्त किया है या मेरे मुखसे कुछ ऐसे शब्द निकले हैं जिनसे संसारका कुछ कल्याण हुआ है, तो इसका समस्त श्रेय उन महापुरुषका है मेरा कुछ नहीं। परन्तु यदि मेरे किसी शब्दने किसीके चित्त-को दुखाया हो वा मेरी वाणीसे घृणाके शब्द निकले हों तो वह मेरे हैं उनके नहीं। जितनी भी मुझमें कमजोरियाँ हैं, सब मेरी हैं और मुझमें जो पवित्रता, पुरुषार्थ है, वह उसी महात्माका दान है। मेरे मित्रो! जगत् कभी उनके गुणोंको भलीभाँति समझकर कल्याण-पथका अनुगामी होगा!'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धैर्य

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

अस्तं गतोऽयमरविन्ददिनैकबन्धुः
भास्वं न लंघयति कोऽपि विधिः प्रणीतम् ।
रे चक्रवाक ! धैर्य्यमवलम्ब्य विमुञ्च शोचं
धीराः तरन्ति विपदं न तु दीनचित्ताः ॥

जिस बातको हम नहीं चाहते हैं और दैवगतिसे वह हो जाती है, उसके होनेपर भी जो दुखित नहीं होते, किन्तु उसे दैवेच्छा समझकर सह लेते हैं, वे ही धैर्यवान् पुरुष कहाते हैं। दुःख और सुखमें चित्त-की वृत्तिको समान रखना धैर्य कहलाता है। जिसने शरीर धारण किया है, उसे सुख-दुःख दोनोंका ही अनुभव करना होगा। शरीरधारियोंको केवल सुख-ही-सुख या केवल दुःख-ही-दुःख कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। जब यही बात है, शरीर धारण करनेपर सुख-दुःख दोनोंहीका भोग करना है, तो फिर दुःखमें अधिक उद्विग्न क्यों हों और सुखमें फूलकर कुप्पा क्यों हो जायँ? दुःख-सुख तो शरीरके साथ लगे ही रहते हैं। हम धैर्य धारण करके उनकी प्रगतिको ही क्यों न देखते रहें! जिन्होंने इस रहस्यको समझकर धैर्यका आश्रय ग्रहण किया है, संसारमें वे ही सुखी समझे जाते हैं। ऐसे ही पुरुषोंके गलेमें कीर्तिदेवी जयमाला डालती है, ऐसे ही पुरुषोंकी संसार पूजा करता है और ऐसे ही महापुरुष प्रातःस्मरणीय समझे जाते हैं।

धैर्यकी परीक्षा सुखकी अपेक्षा दुःखमें ही अधिक होती है। दुःखोंकी भयंकरताको देखकर विचलित होना यह प्राणियोंका स्वाभाविक धर्म है, किन्तु जो ऐसे समयमें भी विचलित नहीं होता वही पुरुषसिंह धैर्यशाली कहलाता है। हम आखिर अधीर होते क्यों हैं? इसका कारण हमारे दिलकी कमजोरीके सिवा और कुछ भी नहीं है। इस बातको सब कोई जानते हैं कि आजतक संसारमें ब्रह्मासे लेकर कृमि-कीट-पर्यन्त सम्पूर्णरूपसे सुखी कोई भी नहीं हुआ। सभीको कुछ-न-कुछ दुःख अवश्य हुए हैं, फिर भी मनुष्य दुःखोंके आगमनसे व्याकुल होता है तो यह उसकी कमजोरी ही कही जा सकती है। महापुरुषोंके सिरपर सींग नहीं होते, वे भी हमारी ही तरह दो हाथ और दो पैरवाले साढ़े तीन हाथके मनुष्यके आकारके जीव होते हैं। किन्तु उनमें यही विशेषता होती है कि दुःखोंके आनेपर वे हमारी तरह अधीर नहीं हो जाते, उन्हें प्रारब्ध कर्मोंका भोग समझकर वे प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं। बस, इसी एक गुणसे वे जगद्वन्द्य और सबके आदरणीय समझे जाते हैं। पाण्डव दुःखोंसे कातर होकर अपने भाइयोंके दास बन गये होते, मोरध्वज पुत्र-शोकसे दुखी होकर मर गये होते, हरिश्चन्द्र राज्य-लोभसे अपने वचनोंसे फिर गये होते, श्रीरामचन्द्र वनके दुःखोंकी भयंकरतासे घबड़ाकर अयोध्यापुरीमें रह गये होते, राजा शिविने यदि शरीरके कटनेके दुःखसे कातर होकर कबूतरको बाजके लिये दे दिया होता तो उनका नाम आज कौन जानता? ये भी अन्य असंख्य नरपतियोंकी भाँति कालके गालमें चले गये, किन्तु इनका नाम अभीतक ज्यों-का-त्यों ही जीवित है। इसका एक-मात्र कारण उनका धैर्य ही है।

कोई भी प्राणी यह नहीं चाहता कि हमें दुःख हो। ऐसा कौन पुरुष होगा जो अपनी प्रियतमासे पृथक् होनेकी इच्छा करता हो। जिसे हम प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते हैं, जिसके प्राप्त होनेपर हम स्वर्ग-सुखको भी तुच्छ समझते हैं, उसका विषमय वियोग किसको नहीं अखरेगा, किन्तु अभागे चक्रवाकके भाग्यमें तो यही दारुण वियोग बदा है। वह रात्रिमें अपनी प्रियाके साथ रह ही नहीं सकता! इसके लिये क्या उपाय है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या वह रात्रिभर उसके वियोगमें तड़पता ही रहे? यदि तड़पता ही रहे तो इससे क्या लाभ? क्या उसके तड़पनेसे चक्रवाकी उसके पास आ सकती है? यदि नहीं तो फिर धैर्यका आश्रय क्यों नहीं लेता! जो अवश्यम्भावी है, जिसमें कभी हेर-फेर हो ही नहीं सकता, उसके लिये चिन्ता कैसी? धैर्य धारण करो, चित्तको स्थिर बनाओ, यह भयंकर रजनी सदा थोड़े ही बनी रहेगी। कभी-न-कभी तो इसका अन्त होगा ही। इसके अन्तके साथ ही तुम्हारी विपत्तिका भी अन्त हो जायगा। सूर्यदेवके आगमनसे जहाँ यह शर्वरी भागी कि आनन्दकी शुभ घड़ी आयी, तब तुम जी चाहे जितनी देर अपनी प्रियाके साथ आनन्द-विहार करना। बस, फिर आनन्द-ही-आनन्द है। धैर्यका फल मीठा होता है। यदि तुम वियोगकी पीड़ामें तड़प-तड़पकर प्राण दे दोगे, तो तुम्हारा अन्त दुःखमय होगा और भविष्यमें जो सुख मिलनेवाला है, उससे भी वञ्चित रह जाओगे। दीनतासे विपत्तिके बादल और घिर आते हैं। अधीर पुरुष विपत्तिके दल-दलको पार नहीं कर सकते। वे उसमें फँसकर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु जो धैर्यवान् पुरुष हैं, वे किनारेकी ओर देखते हुए उस दलदलकी कुछ भी परवा नहीं करते। वे अविचलित-भावसे आगेकी ही ओर बढ़ते चले जाते हैं। वे बात-की-बातमें उस दलदलको पार करके किनारेपर आ खड़े होते हैं। विपत्तियोंके सागरसे पार उतरनेके लिये धैर्यरूपी जहाज ही एकमात्र अमोघ अवलम्ब है। बिना धैर्यके जहाजपर सवार हुए इस सागरको कोई पार कर ही नहीं सका है।

अपने प्रियजनके वियोगसे हम अधीर हो जाते हैं। क्योंकि वह हमें छोड़कर चल दिया। इस विषयमें अधीर होनेसे क्या काम चलेगा? क्या वह हमारी अधीरताको देखकर लौट आवेगा? यदि नहीं, तो हमारा अधीर होना व्यर्थ है। फिर हमारे अधीर होनेका कोई समुचित कारण भी तो नहीं। क्योंकि जिसने जन्म धारण किया है, उसे एक दिन मरना तो अवश्य है ही। जो जन्मा है वह मरेगा भी। सम्पूर्ण सृष्टिके कारण पितामह ब्रह्मा हैं, चराचर सृष्टि उन्हींसे उत्पन्न हुई है। अपनी आयु समाप्त होनेपर वे भी नहीं रहते, क्योंकि वे भी भगवान् विष्णुके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए हैं। अतः महाप्रलयकालमें वे भी भगवान् विष्णुके शरीरमें अन्तर्धान हो जाते हैं। जब यह अटल सिद्धान्त है कि जायमान वस्तुका नाश होगा ही, तो फिर तुम उस अपने प्रियजनके शरीरका शोक क्यों करते हो? उसे तो मरना ही था, आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों। सदा कोई जीवित रहा भी है जो वह रहता? जहाँसे आया था, वहाँ चला गया। छोड़ो उसका शोक और गाओ गुण गोविन्दके। व्यर्थके शोकमें रक्खा ही क्या है, एक दिन तुम्हें भी जानाही है। जो दिन शेष हैं उन्हें धैर्यके साथ गुणागारके गुणोंके चिन्तवनमें बिताओ।

शरीरमें व्याधि होते ही हम विकल हो जाते हैं। विकल होनेसे आजतक कोई नीरोग बन सका है? उलटे और भी अधिक व्यथित हुए हैं। यह शरीर ही व्याधियोंका घर है। जाति, आयु और भोगोंको साथ लेकर ही तो यह शरीर उत्पन्न हुआ है। पूर्वजन्मके जो भोग हैं, वे तो भोगने ही पड़ेंगे। चीं-चपड़ करनेसे काम थोड़े ही चलेगा। चाहे जो करो, भोग बिना अपनी अवधि पूर्ण किये पीछा नहीं छोड़नेके। दान, पुण्य, जप, तप और ओषधि उपचार करो अवश्य, किन्तु उनसे आराम न होने-पर अधीर मत हो जाओ। क्योंकि भोगकी समाप्तिमें ही दान, पुण्य और ओषधि कारण बन जाते हैं। बिना कारणके कार्य नहीं होता, तुम्हें क्या पता है कि तुम्हारी व्याधिमें क्या कारण बनेगा। इसलिये आप्त पुरुषोंने शास्त्रमें जो उपाय बताये हैं, उन्हें ही करो। साथ ही धैर्य भी धारण किये रहो। धैर्यसे ही तुम व्याधियोंके चक्करसे सुखपूर्वक छूट सकोगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवनकी आवश्यक वस्तुएँ जब नहीं प्राप्त होती हैं तो हम अधीर हो जाते हैं। हा! घरमें कलको खानेके लिये मुट्ठीभर अन्न नहीं। स्त्रीकी साड़ी बिलकुल चिथड़ा बन गयी है, बच्चा भयंकर बीमारीमें पड़ा हुआ है, इसकी दवा-दारूका कुछ भी प्रबन्ध नहीं। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? इन्हीं विचारोंमें विकल हुए हम रात-रातभर रोया करते हैं और हमारी आँखें सूज जाती हैं। ऐसा करनेसे न तो अन्न ही आ जाता है, और न स्त्रीकी साड़ी ही नयी हो जाती है। बच्चेकी भी दशा नहीं बदलती। केवल हम ही अपनी अच्छी-भली आँखोंको सुजाकर उलटे बीमार बन जाते हैं। सोचना चाहिये, हमारे ही ऊपर ऐसी विपत्तियाँ आयी हैं सो बात नहीं। विपत्तियोंका शिकार किसे नहीं बनना पड़ा? त्रैलोकेश इन्द्र ब्रह्महत्याके भयसे वर्षों घोर अन्धकारमें पड़े रहे। चक्रवर्ती महाराज हरिश्चन्द्र डोमके घर जाकर नौकरी करते रहे। उनकी स्त्री अपने मृत बच्चेको जलानेके लिये कफनतक नहीं प्राप्त कर सकी। सबसे ऊँचे लोकोंमें रहनेवाले सप्तर्षि भूखके कारण मरे हुए राजाके लड़केके मांसको चुराकर खाने लगे। जगत्के आदिकारण मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी चौदह वर्षोंतक घोर जंगलोंकी खाक छानते डोले। वे अपने पिता चक्रवर्ती महाराज दशरथको पावभर आटेके पिण्ड भी न दे सके। जंगलके इंगुदी-फलोंके पिण्डसे ही उन्होंने चक्रवर्ती राजाकी तृप्ति की। शरीरधारी कोई भी ऐसा नहीं है जिसने विपत्तियोंके कड़वे फलोंका स्वाद न चाखा हो। सभी उन अवश्य प्राप्त होनेवाले फलोंके स्वादसे परिचित हैं। फिर हम अधीर क्यों हों, भोग तो भोगनेसे ही समाप्त होगा। हमारे अधीर होनेसे हमारे आश्रित भी दुःखी होंगे, इसलिये हम धैर्य धारण करके क्यों नहीं उन्हें समझावें? जो होना होगा सो होगा। बस, ज्ञानी और अज्ञानियोंमें यही अन्तर है। लोक-दृष्टिमें जरा, मृत्यु और व्याधियाँ ज्ञानी-अज्ञानी दोनोंको ही होती हैं, किन्तु ज्ञानी उन्हें अवश्यम्भावी समझकर धैर्यके साथ सहन करता है और अज्ञानी विकल होकर विपत्तियोंको और बढ़ा लेता है। थोड़ी या कम सभी शरीरधारियोंको आपदाएँ झेलनी पड़ती हैं।

ज्ञानी काटे ज्ञानते, अज्ञानी काटे रोय।
मौत, बुढ़ापा, आपदा, सब काहूको होय॥

जो धैर्यका आश्रय नहीं लेते, वे दीन हो जाते हैं, परमुखापेक्षी बन जाते हैं, इससे वे और भी दुखी होते हैं। संसारमें परमुखापेक्षी बनना, दूसरेके सामने जाकर गिड़गिड़ाना, दूसरेसे किसी प्रकारकी आशा रखना इससे बढ़कर दूसरा कष्ट और कोई नहीं है। अरे, वासनाओंका पुतला यह अभिमानी मनुष्य क्या हमारे दुःखोंको दूर कर सकता है? कोई मनुष्य आजतक किसीको सुखी बना सका है? यदि कोई इस बातका दावा करता है, तो वह झूठा है, दम्भी है और परले सिरेका स्वार्थी है। अरे, अभिमानी प्राणी! पहले तू स्वयं तो सुखी बन जा, तब दूसरोंको बनानेका प्रयत्न करना। तुझे जो अपने चार पैसोंका अभिमान है, उनका मूल्य ही क्या है? संसारके सभी रत्नोंके स्वामी धनाधिप कुबेरतक तो सुखी नहीं। उनके सामने तेरी सम्पत्तिकी गणना ही क्या है? अनन्त महासागरकी बूँदका तो कुछ अस्तित्व भी है, तेरा धन तो कुबेरके खजानेके सामने उतना भी नहीं। फिर तू दुखियोंके सामने अकड़कर यों क्यों कहता है कि मेरी ही वजहसे तुम रोटी-कपड़ा पा रहे हो। अरे, सबको रोटी-कपड़ा देनेवाला तो कोई और ही है जो तुझे भी देता है। तू तो केवल निमित्तमात्र है।

ओ! दुःखोंसे घबड़ाये हुए अधीर मनुष्य! तू इतना व्याकुल क्यों होता है। जितना धन, जितने भोग, जितनी सम्पत्ति तेरे भाग्यमें लिखी होगी, वह तुझे अवश्य ही प्राप्त होगी। यदि तू उससे अधिककी इच्छा करके सोनेके पर्वत, सुमेरुके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिखरपर ही जाकर क्यों न बैठ जा, वहाँ भी उससे अधिक प्राप्त न होगी । और यदि मारवाड़की ऊसर भूमिमें उससे कमकी इच्छासे चला जाय तो वहाँ भी तुझे कहीं-न-कहींसे उतनी ही प्राप्त हो जायगी । जब यही बात है, जब इसमें रत्तीभर भी हेर-फेर नहीं होनेका तो फिर मेरे प्यारे ! अधीर क्यों होता है ? अधीर होनेमें क्या रक्खा है ? क्यों इन घमण्डी धनिकोंके पीछे-पीछे कुत्तेकी भाँति लगा डोलता है । अरे, तेरा घड़ा जितना बड़ा होगा उसमें उतना ही तो पानी आवेगा । चाहे तो तू उसे अनन्त समुद्रमें ले जा या कुएँपर जाकर भर ले । जल उसमें बराबर ही आवेगा । किसी मनुष्यसे आशा मत रख । ईशोंके भी ईश सम्पूर्ण विश्वके ईश विश्वेश्वरकी शरणमें जा । संसारी भोगोंके प्रति धैर्यका अवलम्बन कर, तभी तेरा निस्तार होगा। योगिराज भर्तृहरिने क्या ही अच्छा कहा है—

यद्धात्रा विधिभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनम् ।
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरोः ततो नाधिकम् ॥
तद्धीरा भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः ।
कूपं पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥

लक्ष्मीजी कहाँ रहती हैं ?

(लेखिका—बहिन जयदेवीजी)

एक दिन देवर्षि नारद और इन्द्रदेव गंगाके किनारे बैठे थे । दैवयोगसे श्रीलक्ष्मीजी भी वहीं आ निकलीं । देवराज इन्द्रने लक्ष्मीको उच्च आसनपर बैठाकर इसप्रकार कहा—

इन्द्र–हे देवी ! आपका स्वरूप क्या है, आपके नाम कितने हैं और आप किस आचरणसे प्रसन्न होकर प्राणियोंकी रक्षा करती हैं और अब आप कहाँ जा रही हैं ? जिस प्राणीपर आप प्रसन्न हों, उसको मैं अहोभाग्य समझता हूँ ।

लक्ष्मी–हे देवेन्द्र ! मैं सर्व-लक्षण-सम्पन्ना हूँ, अथवा लक्षणा-वृत्तिसे मैं ब्रह्मका साक्षात्कार कराती हूँ, इसलिये वेदवेत्ता मुझे 'लक्ष्मी' कहते हैं । समस्त जगत्की शोभा मुझमें एकत्र है, इसलिये विद्वान् मुझे 'श्री' कहते हैं । मेरे इस 'श्री' नामका शिष्ट पुरुष बहुत आदर करते हैं । देव, गुरु, गुरुस्थान, क्षेत्र, क्षेत्राधिदेवता, सिद्ध और सिद्धोंके अधिकारोंके प्रथम मेरा 'श्री' नाम लगाया जाता है। मैं विष्णु भगवान्को बहुत प्यारी हूँ अथवा विष्णु भगवान् मुझे बहुत प्यारे हैं, इसलिये भक्तजन मुझे 'हरिप्रिया' कहते हैं । सब लोकोंकी मैं माता हूँ, इसलिये वेदवेत्ता मुझे 'लोकमातृ' कहते हैं । कमलके समान निर्लेप रहती हूँ अथवा पद्मनाभकी शक्ति हूँ, इसलिये मेरे दो नाम 'कमला' और 'पद्मा' हैं । सब प्राणियोंके हृदय-कमलमें रहती हूँ, इसलिये निपुण पुरुष मुझे 'पद्मालया' कहते हैं । सर्वत्र रमण करती हूँ, इसलिये योगी मुझे 'रमा' कहते हैं । प्रलयमें और ब्रह्मज्ञानके पश्चात् मैं ब्रह्मके साथ अभिन्न हो जाती हूँ, मेरा पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, इसलिये सिद्ध पुरुष मुझे 'माँ' नामसे पुकारते हैं। क्षीर-समुद्रमेंसे मैं उत्पन्न हुई हूँ, इसलिये कवि मुझे 'क्षीरोदतनया' नामसे पुकारते हैं । चन्द्रमा मेरा भाई है, इस सम्बन्धसे ज्योतिषशास्त्रविशारद मुझे 'इन्दिरा' कहते हैं ।

प्रलयकालमें मैं विष्णु भगवान्के साथ अभिन्न होकर रहती हूँ । यद्यपि सृष्टिकालमें भी अभिन्न ही हूँ, फिर भी भिन्न भासती हूँ । यह समस्त जगत् हम दोनोंका स्वरूप है। मैं लक्ष्मी हूँ, भगवान् विष्णु हैं, यह तो प्रसिद्ध ही है। मैं ब्रह्माणी हूँ, विष्णु ब्रह्मा हैं, मैं उमा हूँ, विष्णु शिव हैं, मैं प्रकृति हूँ, विष्णु पुरुष हैं, मैं प्रभा हूँ, विष्णु भास्कर हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं शची हूँ, विष्णु इन्द्र हैं, मैं स्वाहा हूँ, विष्णु अग्नि हैं, मैं यमप्रिया हूँ और विष्णु यम हैं, मैं रोहिणी हूँ और विष्णु चन्द्रमा हैं, मैं शतरूपा हूँ और विष्णु मनु हैं, मैं प्रसूति हूँ और विष्णु दक्ष हैं, मैं आकूति हूँ और विष्णु रुचि हैं, मैं स्मृति हूँ और विष्णु अङ्गिरा हैं, मैं प्रीति हूँ और विष्णु पुलस्त्य हैं, मैं अनुसूया हूँ और विष्णु अत्रि हैं, मैं देवमाता हूँ और विष्णु कश्यप हैं, मैं अरुन्धती हूँ और विष्णु वशिष्ठ हैं, सर्व स्त्रियाँ मैं हूँ और सर्व पुरुष विष्णु हैं, सब स्त्री-पुरुष हम दोनोंकी विभूति हैं, चराचर जगत् हम दोनोंसे व्याप्त है।

जहाँ धर्म होता है, वहीं मैं निवास करती हूँ; जहाँ अधर्म होता है, उस स्थानको मैं त्याग देती हूँ। धर्म नाम शिष्टाचारका है, शिष्टाचार सब विश्वको धारण करता है। इसलिये शिष्टाचार धर्म है। जो अधर्मको त्याग देता है और धर्मको ग्रहण करता है, उसीको मैं प्राप्त होती हूँ। इसी बातको विस्तारसे समझाती हूँ।

हे इन्द्र! जो स्त्री-पुरुष धर्मानुसार वर्तते हैं, धैर्यसे विचलित नहीं होते, जिनकी इच्छा स्वर्गमें जानेकी होती है, उनके यहाँ मैं निवास करती हूँ। जो दान देते हैं, वेदका अध्ययन करते हैं, यज्ञ करते हैं, पितृ और देवताओंका पूजन करते हैं, अतिथिका सत्कार करते हैं और सत्यका पालन करते हैं, उनके यहाँ मैं सर्वदा निवास करती हूँ। जिनके अन्तःकरण निर्मल होते हैं, जो जितेन्द्रिय होते हैं, अग्निमें होम करते हैं, गुरुओंकी सेवा करते हैं, क्रोधको जीतते हैं, ब्राह्मणोंका सत्कार करते हैं, दूसरोंका उत्कर्ष देखकर प्रसन्न होते हैं, अपने कुटुम्बका पालन करते हैं और किसीसे ईर्ष्या नहीं करते, उनके घरको छोड़कर मैं कभी नहीं जाती।

हे देवराज! जो दूसरोंकी समृद्धि देखकर कुढ़ते नहीं हैं, दातार होते हैं, संग्रह रखते हैं, सज्जन होते हैं, जिनके हृदय कोमल होते हैं, जो सबपर दया-दृष्टि रखते हैं, सरल स्वभाववाले होते हैं और ईश्वरके भक्त होते हैं, उनको मैं कभी नहीं त्यागती। जिन धनी पुरुषोंके सेवक सन्तुष्ट रहते हैं, जो कृतज्ञ और प्रियवचन बोलनेवाले होते हैं, सबको यथायोग्य सम्मान देते हैं, लज्जावाले और नियम-पूर्वक कार्य करनेवाले होते हैं, उनका घर मेरा निवासस्थान है। जो स्त्री-पुरुष पर्व आनेपर उत्तम रीतिसे स्नान करते हैं, सुन्दर चन्दनादिका लेप करते हैं, शुद्ध वस्त्र अलङ्कार धारण करते हैं, उपवास और तप करते हैं, उनके यहाँ मैं प्रसन्नतापूर्वक रहती हूँ।

हे शचीपते! जो सूर्य उदय होनेसे पहले ही जाग जाते हैं, सूर्यास्त होनेसे पहले नहीं सोते, रात्रिमें दही नहीं खाते, बाहर जाते समय मङ्गल वस्तुओंका दर्शन करते हैं, गुरु, ब्राह्मण और बड़ोंका नित्य पूजन करते हैं, सदा धर्मयुक्त वचन बोलते हैं, दान नहीं लेते, छः घण्टे रात्रिमें सोते हैं और दिनमें कभी नहीं सोते, उनका घर मेरा प्यारा मन्दिर है। जो दीन, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी और स्त्रियोंके ऊपर दया करते हैं और उनके लिये अपनी आमदनीमें-से हिस्सा निकाल देना अपना धर्म समझते हैं, डरे हुए मनुष्योंको, विषादी पुरुषोंको, उद्विग्नोंको, व्याधिवालोंको और जिनका धन चला गया है, उनको आश्वासन देते हैं, धर्मपरायण होते हैं, परस्पर कलह नहीं करते, एक दूसरेकी सहायता करते हैं और गुरु वृद्धोंकी उपासना करते हैं उनके यहाँ मैं निरन्तर वास करती हूँ।

हे वज्रधारी! जो पितृ, देव और अतिथिका यथायोग्य पूजन करते हैं, उनको भोजन करानेके पीछे शेष बचे हुए अन्नका भोजन करते हैं, जो निरन्तर सत्य और तपका व्रत रखते हैं, अत्यन्त स्वादिष्ट भोजनकी इच्छा नहीं करते, पर-स्त्रीको माता बहिन समझते हैं और जैसे अपने ऊपर दया करते हैं, उसी प्रकार सब प्राणियोंपर दया करते हैं, उनके यहाँ मैं सर्वदा निवास करती हूँ। जो ऋतुकालमें अपनी ही स्त्रीका समागम करते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यपरायण होते हैं, त्याग, दान, दक्षता, आर्जव, उत्साह और क्षमासे सम्पन्न होते हैं, अहङ्काररहित परम सुहृद्, पावन, करुणावाले, मधुरभाषी होते हैं और मित्रोंसे द्रोह नहीं करते, उनके घरको छोड़कर मैं कभी नहीं जाती। निद्रा, निद्रासम्बन्धी आलस्य, अप्रीति, असूया यानी परायी उन्नतिको न सहना, लापरवाही, स्नेहहीनता, खेद, स्पृहा, ये अवगुण जिनमें नहीं होते, उनके यहाँ मैं प्रसन्नतापूर्वक वास करती हूँ।

हे सहस्रनेत्र ! जो काम, क्रोध, लोभयुक्त होते हैं, धर्मपरायण नहीं होते, बड़े-बूढ़ोंकी दिल्लगी उड़ाया करते हैं, उनके कहे अनुसार नहीं चलते, दूसरेका सम्मान नहीं करते, अन्यके मानको सह नहीं सकते, युवा पुरुष वृद्धोंको देखकर नमस्कार नहीं करते, सत्कार भी नहीं करते, उनको मैं त्याग देती हूँ। पिता व्यवहार चलानेको समर्थ हो, फिर भी जो पुत्र सबका स्वामी होकर व्यवहार चलाता है, राजसेवक न होकर भी निर्लज्जतासे राजसेवक बनकर अपनी प्रसिद्धि करनेको दूसरोंको धमकाता है, जो बहू सासपर आज्ञा चलाती है, साससे काम कराती है, आप काम नहीं करती, ऐसोंके घरको छोड़कर मैं चली जाती हूँ।

हे देवेन्द्र ! जो अधर्मयुक्त निन्द्य कर्मसे प्रचुर धन एकत्र करते हैं, जिनकी होमशालामें अग्नि मन्द रहती है, पुत्र पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, बहू सासका कहा नहीं मानती, स्त्रियाँ अपने स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन करती हैं, उनके घर मैं निवास नहीं करती, उनको छोड़कर चली जाती हूँ। लोग माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरुका सम्मान नहीं करते, अपने बालकोंका पालन नहीं करते, उनको शिक्षा नहीं देते, भिक्षुकको भिक्षा और देवताओंको बलि दिये बिना अन्न भोजन करते हैं, पितृ, देव, अतिथि और गुरुका पूजन किये बिना और उनका भाग निकाले बिना भोजन करते हैं, जहाँ रसोइया मन, वाणी और कर्मसे पवित्रताका पालन नहीं करता, जिनका भोजन ढँका हुआ नहीं रहता, कौवे-चूहे खायँ इसप्रकार जिनका अन्न बिखरा रहता है, जो दूधको खुला छोड़ देते हैं और जूँठे मुख-हाथोंसे घृत छू लेते हैं, उनके घरको मैं त्याग देती हूँ।

हे सुरेन्द्र ! जो स्त्रियाँ चाकू, हँसिया, सन्दूक, कोठी, आटा, काँसेके बर्तन, द्रव्य और अन्य घरके सामानकी सँभाल नहीं रखतीं, जो लोग घरकी दीवार गिर जानेपर भी उसे नहीं बनाते, पशुओंको आंगनमें बाँधकर उनको दाना, घास, भूसा नहीं डालते, बालकके देखते हुए आप खा लेते हैं, पोष्य वर्गको भोजन कराये बिना आप अकेले भोजन कर लेते हैं, उनके घरको मैं त्याग देती हूँ। जो लोग दूधपाक, मोहनभोग, मालपुवे, जलेबी आदि भोजन अपने लिये ही बनाते हैं और यज्ञके निमित्त दिये बिना आप ही भक्षण कर लेते हैं, सूर्य उदय होनेके पीछे शय्यासे उठते हैं, प्रभातकालमें ऊँघते रहते हैं, उनके घरमें मैं कभी नहीं रहती।

हे सुरराज ! जिनके घरमें रात-दिन कलह होता रहता है, जहाँ अनार्य पुरुष आर्य पुरुषको बैठा हुआ देखकर उसकी सेवा नहीं करता, जहाँ ब्रह्मचर्यादि आश्रममें रहकर आश्रमधर्म पालनेवाले आस्तिक पुरुषोंसे अनाश्रमी और विधर्मी पुरुष द्वेष करते हैं और परस्पर भी द्वेष करते हैं, वहाँ मैं नहीं रहती। जहाँ प्रजामें वर्णसंकरता होती है, पवित्रताका कोई पालन नहीं करता, जहाँ ब्राह्मण भी वेद नहीं जानता, जानकर भी वेदका आचरण नहीं करता, ब्राह्मण-कर्म न करते हुए भी दान लेता है, जहाँ मानके लिये वेदका अध्ययन होता है, धर्मके अर्थ नहीं होता, जहाँ स्त्रियाँ हारादि आभूषणोंकी सँभाल नहीं रखतीं, वहाँ मैं नहीं रहती, उस स्थानको छोड़ देती हूँ।

हे मघवन् ! जहाँ पुरुष दासियोंका सेवन करते हैं और जहाँ स्त्रियाँ दुर्जन मनुष्योंका आचरण करती हैं, जहाँ पुरुष स्त्रियोंका वेष धारण करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और स्त्रियाँ पुरुषोंका वेष धारण किये हुए फिरती हैं, जहाँ पुरुष रमण, गमन और स्त्री-सेवनादि विहारमें ही हर्ष मानते हैं, जहाँ दान धर्मके कारणसे वंश-परम्परा धर्म-मर्यादा नहीं पाली जाती और यदि पाली जाती है तो श्रद्धा बिना पाली जाती है, वहाँ मैं निवास नहीं करती। जो पुरुष ऋण लेकर फिर चुकाना नहीं चाहते और जो ऋण देकर एक-एकके तीन-तीन ले लेनेपर भी खाता बन्द नहीं करते, जो थोड़े-से स्वार्थके लिये अपने और दूसरेके द्रव्यका नाश करते हैं, जो आर्य होकर भी दूसरोंका धनहरण करनेके लिये अनार्यका व्यापार करते हैं, और शूद्र मिथ्या व्रत धारण करके तप और वेदका अध्ययन करते हैं, वहाँ मैं नहीं रहती।

हे पुरन्दर! जहाँ विवाह होनेके पीछे पुत्र वृद्ध पिता-माताको अन्न नहीं देता और देता भी है तो अनादरसे देता है, जहाँ वेदपाठी ब्राह्मण खेती आदि कर्ममें आसक्त होते हैं, जहाँ मूर्ख श्राद्धमें भोजन करते हैं, जहाँ गुरु शिष्यके घर जाकर कुशल पूछते हैं, शिष्य गुरुके घरपर नहीं आते, जहाँ सास-ससुरके सामने बहू खड़ी होकर घरके मनुष्योंको और अपने स्वामीको भी शिक्षा देती है अथवा स्वामीको अपने पास बुलाकर बात करती है, वहाँ मैं निवास नहीं करती। जहाँ पिता प्रयत्नपूर्वक पुत्रका मन रखता है अथवा क्रोधके आवेशसे पुत्रका भाग देकर अलग कर देता है और आप दुखी रहता है, जहाँ अग्नि लग जानेसे अथवा चोरी हो जानेसे किसीका धन चला जाय, उसको देखकर पड़ोसी हँसते हैं, जहाँ कृतघ्न, नास्तिक, पापी, पर-स्त्रीपर कुदृष्टि करनेवाले होते हैं, वहाँ मैं नहीं रहती।

हे वृद्धश्रवस्! जो अभक्ष्य भोजनमें प्रीति करते हैं, मर्यादारहित और नष्ट तेजवाले होते हैं, धर्मको नहीं मानते, शास्त्रको नहीं जानते, ईश्वरको स्वीकार नहीं करते, वेदोंको ईश्वरकी आज्ञा नहीं मानते, कालको नहीं मानते, रातके कार्य दिनमें, दिनके कार्य रातमें करते हैं, संक्रान्ति, व्यतिपात, पर्व, एकादशी आदि पुण्यकालमें पुण्यकर्म नहीं करते, तीर्थ आदि पवित्र देश नहीं मानते, गंगा-जल और अन्य जलमें भेद नहीं समझते, सब कार्य विपरीत करते हैं, उनके यहाँ मैं वास नहीं करती, छोड़कर चली जाती हूँ।

हे शक्र! जो मेरा पूजन करते हैं यानी सब देवताओंमें मुझे श्रेष्ठ मानते हैं, उनके यहाँ मैं निवास करती हूँ और जहाँ मैं रहती हूँ, वहाँ मेरे समान तेजवाली, मेरे समान गुणवाली, सर्वदा मेरे साथ रहनेवाली सात देवियाँ और रहती हैं। उनके नाम श्रद्धा, धृति, आशा, क्षान्ति, विजिति, सन्नति और क्षमा हैं। हम सब आठों देवियाँ अधर्मी पुरुषोंको त्याग देती हैं और धर्मपरायण पुरुषोंके साथ रहती हैं। आजकल दैत्य अधर्मी हो गये हैं और देवता धर्मनिष्ठ हैं, इसलिये अब मैं दैत्योंको त्यागकर देवताओंमें रहूँगी।

देवीकी बात सुनकर देवर्षि नारद और देवराज इन्द्रने देवीको प्रसन्न करनेके लिये उसकी स्तुति और पूजा की। पीछे सुगन्धयुक्त, सुखकर स्पर्शवाला और सब इन्द्रियोंको सुख उत्पन्न करनेवाला अग्निका मित्र वायु वहन करने लगा और सब देवताओंने इन्द्र और लक्ष्मीके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा की।

पश्चात् देवताओंका स्वामी सहस्रनेत्रवाला इन्द्र देवताओं, स्त्रियों, महर्षियों और नारदादि देवर्षियों सहित अश्वयुक्त रथोंमें बैठकर अपनी सभामें गया। इसी समय वहाँपर कैलासवासी महादेव और पितामह ब्रह्मा आये। उनके आते ही अन्तरिक्षमेंसे अमृतकी वर्षा होने लगी, बिना बजाये ही दुन्दुभि बजने लगी, सब दिशाएँ निर्मल होकर प्रकाशने लगीं। इसप्रकार इन्द्रसभामें देवताओंने अपूर्व उत्सव मनाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चात् इन्द्र और लक्ष्मीका अभिप्राय समझकर सब देवता धर्म-परायण हुए। मेघ ऋतु-अनुसार अन्न और वनस्पति आदिमें वृष्टि करने लगे, पृथिवी अनेक रत्नोंकी खानोंसे अलंकृत हुई और देवताओंके स्थानोंमें ध्वनियुक्त जयके बाजे बजने लगे, मनुष्य भी पुण्यकर्म करनेवालोंके मार्गपर चलते हुए धर्मपरायण हुए और यज्ञादि क्रियाएँ करते हुए शोभा पाने लगे। मनुष्य, दैव, किन्नर, यक्ष, राक्षस सब प्रसन्न मनवाले और समृद्धिवाले हुए। उस समय पवनसे कँपाये हुए वृक्षपरसे अकालमें पुष्प नहीं गिरते थे फिर फल तो गिरते ही कहाँसे ? गायें प्रचुर दूध देनेसे कामधेनुके समान हो गयीं। उस समय किसीके मुखसे कठोर वाणी नहीं निकलती थी, सब मधुर वाणी बोलते थे। इसप्रकार इन्द्रादि देवताओंने सब कामनाओंकी देनेवाली लक्ष्मीकी पूजा की। जो कोई इस लक्ष्मीकी पूजाका पाठ ब्राह्मणोंकी सभामें करता है, उसका मनोरथ सिद्ध होता है। शिष्टाचार लक्ष्मीका पूजन है, शिष्टाचारी सर्वदा सुखसे रहते हैं, सच कहा है—

शिष्टाचारी नारि नर, सुखी रहें दिन रैन।
लोक तथा परलोकमें, करें सदा ही चैन॥
करें सदा ही चैन, कष्ट नहिं कभी उठावें।
औरोंको दें फूल, फूल वे निश्चय पावें॥
जयदेवी ! भज धर्म, धर्म केवल सुखकारी।
धन्य धन्य जगमन्य, नारि-नर शिष्टाचारी॥

स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराजका वचनामृत

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

११७–मोह-मायाकी नींद और सुषुप्ति नींद दोनों पेड़का बीज अज्ञान है। सुषुप्ति क्षुद्र नींद है। मोह-मायाकी नींद दीर्घ है। अमित कल्पकी है। सुषुप्ति नींद प्रत्यक्ष है। मोहमयी गुप्त है। जब मोहमयी नींदसे जागे तब मन सावधान होय। तब क्षुद्र नींद भी नष्ट हो जाय और स्वप्नमें भी उनको भजन सतसंग होय और प्रभु विस्मृति कभी नहीं होय।

११८–साखी भाई अड्डुनजीकी। किसी साधुने भाई अड्डुनजीसे प्रश्न किया। हे भाईजी ! परमेश्वर व्यापक हैं और यह सब जगत् उसकी लीला है सो नाना भाँतिकी देखि पड़ती है। तिसमें प्रधान पुरुषेश्वर किस भाँतिसे बरतता है ? सो रहस्य साफ करिके सुनाइये दयालजी। तब भाईजीने उत्तर दिया उसी ठौर रहँट चलता था। तिसमें बरद चलते थे। तिनकी तरफ दृष्टि करिके कहा कि इन बैलोंको देखिके परमेश्वरकी व्यापकता, ईशता समुझ लेवो। प्रथम तो प्रभुने जीवोंसे करार किया है जब तुम पुरुषार्थसमेत हमारा नाम स्मरण करिके काम, क्रोधादिक जीति लेवोगे, तब हम तुमको मुक्त कर देवेंगे, सो यह बैल पुरुषार्थहीन है। ताते बँधे हुए चौरासीका दुःख पड़े भोगते हैं। मुक्त नहीं होते। प्रभु पूरण सबमें हैं। परन्तु न्यायकर्ता हैं। पिछले जन्मका देना यह बैल दुःख सहिके देते हैं। नाना क्लेश परतन्त्रतासमेत भोगते हैं। प्रगट देखि लीजिये छिपा नहीं है। बिना दोषके कोई बाँधा नहीं जाता। प्रभुके घरमें अन्याय नहीं है। जैसा करै तैसा पावै। जीव समर्थ मुक्त होनेमें नहीं। जो होता तो दुःख न सहता। ताते दुःख-सुख सब कर्माधीन हैं। और सुनो प्रभु दयाल हैं। उनकी दया सर्वत्र परिपूरि रही है। प्रत्यक्ष देखि लीजिये। बैलको बल दिया है, जामा दिया है, घास-पानी दिया है। प्रथमे बल दिया है, पीछे देना देता है। सिद्धान्त, अंगचेतन परमेश्वरका शुद्ध अपना आप है। दूसरा तो कुछ नहीं। बरद, रहँट चलानेवाला, सब सामग्री आप ही हैं। दूसरा भ्रम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। और सांख्यकी रीतिसे सब कारज करता है। आप भिन्न है। विश्व सब भ्रममात्र रस्सी साँप-सम है। पर भया कुछ नहीं, बिचारि करिके देख, सब उसीका प्रकाश रंग है।

११६-साखी दूसरी भाई अड्डनजीकी! जिस देशमें प्रथमे भाईजी रहते थे, उस देशके चौधरी जो था, तिसका दीवान खत्री भाईजीके दर्शनको आया। और दश अरहट माफीका पट्टा सामने धरिके कहने लगा, हे दयालजी! आपके पास सन्त बहुत रहते हैं। तिनके भोजन निमित्त दश अरहटका पट्टा चौधरीके मोहरसे लिखा लाया हूँ। सो ग्रहण कीजिये। जिसमें सन्तोंका भोजन सुख-समेत चले। तब भाई अड्डनजी बोले, हे दीवानजी! सुनिये। मतिमान बुद्धिमान वह मनुष्य है कि जिस कामको करै तिसकी रीति गुणदोषमयी बिचारि लेवे, कि इसका फल अन्तमें कहा होयगो। बिना विचारे जो करते हैं तिनको हर्ष शोकरूपी ग्राह ग्रसि लेता है। ताते सर्वत्र बिचार सार है। तुम जो अरहटका पट्टा लिखि लाये हो, तिसमें विपुल कलेश मुझे प्रत्यक्ष मालूम होता है। सुखका इसमें कथनमात्र है। दुःख इसमें पूरन भरा है। ताते हम नहीं राखते। परन्तु तुमने दिया, हमने लिया, तुम्हारा प्रेम प्रभु बनाये रहें। सफल करें, हम ग्रहण नहीं करेंगे। तब दीवानने कहा, इसका दुःख हमको भी खोलि सुनाइये। तब श्री-भाईजी बोले, अच्छा, तुम भी सुनि लेवो। प्रथम तो जब हम अरहट लिया तब सब देशमें हिन्दू, तुरक, मुसलमान सुनि लेवेंगे कि भाईजीको दश अरहट चलते हुए मिले हैं। सो तुम्हारे देशमें बहुत-से अद, कुरसी, मुलना रहते हैं। वह सब चौधरीके आगे जायके कहेंगे कि देखो अनरीति। हिन्दू फकीरको दश अरहट चलते हुए मिले हैं। हमको एक भी नहीं! सो हिन्दू फकीर हमसे कौन बातमें श्रेष्ठ है? यह बात हम भी सुनेंगे और सुनिके कोपेंगे कि कहीं चौधरी उनकी बात सुनिके हमारा अरहट छीनि न लेवे और ऐसी बात चलानेवालेको अपना बैरी जानेंगे। जब हमने अरहटका ग्रहण न किया तब कोपनेसे, वैरसे रहित हैं, सुखी हैं और दुःख सुनो, अब जो धर्मशालामें साधु आवते हैं, तिनकी सेवा प्रभुके नातेसे की जाती है। फेर यह संकल्प फुरेगा कि यह खान दीवानका निकटवर्ती सम्बन्धी न होय। ताते सेवा करिये जिसमें स्तुति करें उनके पास जायके निन्दा न करे। ऐसे ही मनसा सबके सेवामें होगी। ताते प्रभुकी पूजा रही अरहटकी पूजा चली! महादोष भया। और दोष सुनो! अब तो प्रभु सबके भीतर प्रेरणा करिके अनेक पदार्थ खानेको भेजता है। लोग पाँव परिके दे जाते हैं। जब अरहट लेवेंगे, तब पूज्यसे पूजक हो जायँगे। कोई कहेगा आपके खेतका ऊख हमने नहीं खाया। कोई कहेगा चना न खाया। कोई कहेगा साग न खाया। ऐसे ही नाना प्रकारके उरहने लोग देवेंगे। बिना पाये वैर मानेंगे। कृपण कठोर कहेंगे। ताते ग्रहण करना महा दोष है। और दुःख सुनिये। अब जो हम कुटुम्बोंसे छूटे हैं सो बावरे निकम्मे होयके छूटे हैं। जब अरहट ग्रहण करेंगे तब सब सम्बन्धी आयके घेरेंगे और कहेंगे कि जबतक तुम विरक्त बनवासी थे तबतक तुमको हमलोग निकम्मा जानिके त्याग दिया था। अब तो तुम दश अरहट चलावता है हम लोगोंको भी पालना करो। जब वह आय पड़ेंगे तब किसके काढ़े कढ़ेंगे? और अब असंगका सुख लेते हैं। और दुःख सुनो। हम वनमें रहते हैं। यहाँ चोरोंका भय रहता है। ताते हम दीपक जलाय प्रकाश करि राखते हैं। सो हमारा घर भलीभाँति देखि जाते हैं और हमको मित्रवत् मानते हैं। हम भी उन लोगोंको मित्रवत् मानते हैं। जब पट्टा लेवेंगे तब पदार्थके निमित्त तस्कर लोग ईर्षा करेंगे और हमारा भी निवाह शस्त्र बिना न हो सकेगा। ताते शस्त्रवालेको राखना पड़ेगा। क्योंकि साधुनसे शस्त्र नहीं चल सकता। एक दिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध भी अवश्य होगा। लोग मारे जायेंगे। जो यहाँके मरे तो दुःख, जो उनके मरे तो भी दुःख होगा; काहेतें जोकि हमारा निवास बनमें है। सन्त लकड़ी आदिको अर्थ जाया चाहैं बाहर, तब तस्कर बैर बाँधेंगे। महादुःख होगा। अभी हम सब सनेही बैरबिगत हैं। और दुःख सुनो। अब जो नागा संन्यासी आवते हैं जमातवाले तब हमको देख निरधन जानकर सीधे राह चले जाते हैं। जब पट्टा ग्रहण करेंगे तब वह सब दंगा मचावेंगे। गाँजा, अफीम, सुन्दर अशन-बसन मागेंगे। एकको देकर बिदा करेंगे, फिर दूसरा दंगा करेगा। तब इसही प्रपञ्चमें जन्म नष्ट हो जायगा। ताते अब वेषके तरफ-से भी निरवैर हैं। और दुःख सुनो। जब बोनेका समय आवेगा तब कोई किसान बीज, कोई बरद, कोई रुपैया माँगेगा। कोई कहेगा मेरा अन्न थोरा भया है तुम अधिक माँगते हो? ताते हम चले जाते हैं। बहुरि लोकहुँके पशु खेत खावेंगे। उनको किसान बाँधेंगे। तब उनके मालिक मेरे पास आवेगा। जो छोड़ाय देवें तो किसान बुरा मानेंगे, जो न छुड़ावें तो लोग बैर करेंगे। ताते ग्रहण बिना सब बैरसे छूटे हैं। और दुःख सुनो। शरीर क्षण-भंगुर है एक दिन छूट जायगा। सरदार भी दूसरे हो जायेंगे तब वह अरहटका जमा आप लेने लगेंगे। हमारे साधू सब आलसी हो जाँयेंगे। तब पट्टा लेके चौधरीको घेरेंगे, खुशामद करेंगे। वह ताने देगा कि देखो गुदड़ी टोपी लँगोटी पहिरके पट्टा लिये फिरते हैं प्रभुके सन्त कहावते हैं। ऐसे ऐसे दुर्वचन कहिके निकाल देगा। तब महा पीड़ित होवेंगे। ई सब खेद अरहटके ग्रहणसे होगा, अब तौ अनालस शौकसमेत उद्यम करिके प्रसन्नता-समेत प्रसाद पावते हैं, खुशी रहते हैं, विवेक धारे हैं। और दुख श्रवण करो। मनमें विचारो। अब लोग प्रभुकी बातें श्रवण रहस्य निकट आवते हैं। तब दिन रात्री संसारी झगड़ेमें दिन बितावेंगे। हमारा भी काल व्यर्थ बीतेगा। प्रभु-मिलन-योग दुर्लभ तन सो नष्ट हो जायगा। झगड़ा गले पड़ जायगा। अब सतविचार-स्मरणमें दिन बीतता है, जब अरहट छूट जायगा तब राजसी जीवोंकी खुशामद करेंगे। दर-दर घूमेंगे। धान कुधानका विचार कुछ न करेंगे ताते अरहट लेनेमें दुःखोंका खान है, सुख लेश भी नहीं, ताते तुम इस मलीन कागजको राखो। हमारा कामका नहीं। यह बातें सुनिके दीवान वाह वाह किया! सब भाँति सराहा आप धन्य हैं जो मायाका त्याग किया है। हमारे द्वारपर बहुत फकीर धूनी लगाये धरना दिये बैठे हैं एक अरहटके लिये। और आपने अनइच्छित आया हुआ दश अरहटका त्याग किया। और जितने दोष कहे सो सब सत्य सत्य है। माया महा दुःखदायनी है। दीवानने फिर कुछ धन रक्खा। भाईजी उनको भी न लेवें। तब बहुत विनती किया। तब भाई जी लेकर उस धनको और काममें लगाय दिया। साधुओंको खानेको नहीं दिया। इस रहस्यको विचारिये।

१२०-साखी तीसरी भाई अडुनजीकी। एक बार तस्कर लोग भाईजीकी गऊ चोराय ले गये। तब भाईजीने उनके बछरू भी भेज दिये। दोनोंका दुःख बिचारिके चोर लोग बछरू पायके मुदित भये। कहने लगे कि मनमाना सुख पाया है। तिसके पीछे चोरोंके घरमें आग लगी, बुझायेसे न बुझै। तब लोगोंने कहा, कि ऐसे महात्माकी गऊ लायके को जानै तुम्हारी कौन दशा होयगी। यह सुनि बिचारिके धर्मशालामें गये और साधुओंसे कहा कि अपना गऊ ले आओ। साधुओंने कहा, बिना गुरुजीके आज्ञा हमलोग नहीं लावेंगे। तब चोर लोग बहुत दण्डवत करी, और विनयसमेत अपने घर ले गये। बहुत सत्कार करके गऊ सौंप दिया। साधुओंने गऊ लायके भाईजीसे सब कथा कही। भाईजी बोले, प्रथम तो मायाके पदार्थ सन्तको रखना उचित नहीं। और जो राखे, तो ममता त्यागिके राखे। आये-गये हर्ष शोक न करे, तब तो भला है। जो प्रारब्ध-अनुसार आ गयी तो रख लेवो। सन्तोंकी यही रीति है। (क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्याण-मार्ग

(लेखक-श्रीमाधुकरी बाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

अधिकारी-काम्य और निषिद्ध कर्मोंको त्याग-कर, नित्य, नैमित्तिक तथा प्रायश्चित्तके अनुष्ठान-द्वारा जिसका चित्त स्वच्छ दर्पणकी तरह नितान्त निर्मल हो गया है, उपासनासे जिसका विक्षेप (चञ्चलता) दोष निवृत्त हो चुका है, नित्यानित्य वस्तुओंका जिसे विवेक तथा इसलोक और परलोक-के विषयभोगोंमें वैराग्य प्राप्त हुआ है, शम, दमादि षट् सम्पत् जिसको प्राप्त हुई है, 'तापत्रयकी ज्वालासे कैसे छुटकारा पाऊँ'-ऐसी जिसकी तीव्र आकांक्षा हुई है और अग्निसे जलता हुआ मनुष्य जैसे शीतल होनेके लिये जलकी ओर दौड़ता है, बड़े जोरकी भूख-प्याससे घबराया हुआ व्यक्ति जैसे अन्नजलके लिये व्याकुल होता है, फाँसीकी आज्ञा पाये हुए पुरुषकी जैसे अन्नपानादि पदार्थोंमें अभिरुचि नहीं रहती, उसी तरह जिसको विषयभोग नितान्त फीके लगते हैं, वही वेदान्तका मुख्य अधिकारी है।

काम्यादि कर्म और षट्सम्पत्तिके लक्षण

(१) काम्यकर्म-धन, स्त्री और पुत्रादि फलोंकी प्राप्तिके लिये जिन कर्मोंका विधान है (कामना रहे तो करे और कामना न रहे तो न करे) ये सब काम्य-कर्म कहलाते हैं, यथा-'दध्ना इन्द्रियकामो जुहुयात्' इन्द्रिय-पुष्टि चाहनेवाला दहीसे हवन करे।

(२) निषिद्ध कर्म-जिन कर्मोंको करनेमें शास्त्रका निषेध है। यथा 'परस्त्रियं न गच्छेत्' पर-स्त्रीके साथ संयोग न करे।

(३) नित्य कर्म-उस-उस वर्ण और आश्रममें रहकर जिन नियत कर्मोंको नित्य अवश्य करना चाहिये, उन्हें न करे तो पाप है। जैसे 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' प्रतिदिन तीन समय सन्ध्या करनी चाहिये।

(४) नैमित्तिक-जिसका पुत्रजन्मादि निमित्त करके उस कालमात्रके लिये विधान है, नित्य करनेका नहीं है उसे नैमित्तिक कर्म कहते हैं। यथा-'पुत्रे जाते इष्टिं कुर्यात्' पुत्र जन्म होनेपर तत्काल यज्ञ-करना चाहिये, न करनेसे दोष है। यह प्रतिदिन करनेका नहीं है। उसी कालमें एक बार करनेका है।

(५) प्रायश्चित्त-ज्ञानसे या अज्ञानसे शास्त्रविहित कर्मोंके न करनेसे तथा निषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठानसे जो पाप होता है उसका नाश करनेके लिये शास्त्र-विहित जो कर्म हैं उन्हें प्रायश्चित्त कहते हैं। जैसे-चान्द्रायणादि व्रत, तीर्थाटन, दान, परमात्माका स्मरण, ध्यान, जप, प्राणायाम इत्यादि।

(६) उपासना-जिसमें परमात्माके पास सम्यक् प्रकारसे बैठा जाता है ऐसी मनोवृत्तिको उपासना कहते हैं। यह ध्यानात्मक वृत्ति है।

(७) शमादि षट् सम्पत्ति ये हैं—

(क) शम-चित्तका संयम।

(ख) दम-इन्द्रियनिग्रह।

(ग) उपरति-कर्मोंका शास्त्रोक्त विधिसे त्याग अथवा संन्यास (गृहस्थोंके लिये कर्म करते हुए भी तज्जन्य विक्षेपसे रहित होना)।

(घ) तितिक्षा-शीतोष्ण सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंको सहन करना।

(ङ) समाधान-नाना विषयोंसे विक्षिप्त चित्तको हटाकर ध्येय विषयमें उसको एकाग्र करना। यह उपासनाका फल है।

(च) श्रद्धा-शास्त्र और गुरुवाक्यको 'यह ऐसा ही है' इसप्रकार संशय-रहित होकर दृढ़विश्वाससे माननेका नाम श्रद्धा है। यह श्रद्धा सब धर्मोंका मूल है। इसीसे तत्त्व वस्तुकी उपलब्धि होती है, क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।' अज्ञानी,श्रद्धा-शून्य, संशयवाला ये तीनों पुरुषार्थसे भ्रष्ट होते हैं। 'श्रद्धा हि मातेव योगिनं पाति।' श्रद्धा ही माताकी भाँति योगियोंकी रक्षा करती है।

इसप्रकार साधन-सम्पत्तिसे पूर्ण उत्तम मुमुक्षु ज्ञानयोगका श्रेष्ठ अधिकारी है। जबतक इन सद्गुणोंकी प्राप्ति न हो तबतक ज्ञान या मुक्ति होना नितान्त असम्भव है। भागवतमें लिखा है कि-'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः।' उत्तम वैराग्यादिसम्पन्न पुरुषका ही ज्ञानयोगमें अधिकार है। मध्यम श्रेणीका विरागी अर्थात् जिसमें न तो बहुत आसक्ति हो और न बहुत विरक्ति, ऐसा मनुष्य भक्तिका अधिकारी है। स्वल्प विरागी अर्थात् स्वर्गादि तुच्छ फलोंको न चाहता हुआ ईश्वर-प्रीत्यर्थ कर्म करके उसके द्वारा बहुत समयमें मुक्तिको चाहनेवाला अधिकारी कर्मयोगका ही अनुष्ठान करे 'यज्ञेन विविदिषन्ति, ज्ञानेन तपसाऽनाशकेन।' अर्थात् यज्ञ दानादि कर्म, तपस्या तथा उपवासादिका निष्काम-भावसे अनुष्ठान करनेसे विविदिषा-जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

वैराग्य दो प्रकारका है--(१) अपर वैराग्य (२) परवैराग्य।

अपर वैराग्य चार प्रकारका है--(१) यतमान-संज्ञा (२) व्यतिरेक-संज्ञा (३) एकेन्द्रिय-संज्ञा (४) वशीकार-संज्ञा।

(१) यतमान-संज्ञा—जगत्में क्या सार है, क्या असार है-इसको गुरु-शास्त्रद्वारा जाननेके उद्योगका नाम यतमान है।

(२) व्यतिरेक-संज्ञा—स्वचित्तमें पूर्व विद्यमान दोषोंमेंसे 'इतने दोष नष्ट हुए,इतने विषयोंमें वैराग्य हुआ, इतने विषयोंमें नहीं हुआ और इतने बाकी रहे।' इसप्रकार अभ्यासजन्य विवेकद्वारा विवेचन करनेका नाम व्यतिरेक है।

(३) एकेन्द्रिय-संज्ञा—दृष्ट और श्रुत विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति दुःखात्मक जाननेसे उनमें बाह्य इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति न होनेपर भी उत्सुकतामात्रसे तृष्णाका मनमें रह जानेका नाम एकेन्द्रिय-संज्ञा है।

(४) वशीकार-संज्ञा—मनमें भी तृष्णा न रहने-पर दृष्ट और श्रुत इह-पारलौकिक विषयोंमें सर्वथा वैराग्य यानी तृष्णाविरोधिनी ज्ञानप्रसादरूप चित्तवृत्तिका नाम वशीकार-संज्ञा वैराग्य है। परवैराग्य फलस्वरूप है। जिसमें ब्रह्मलोकका अपूर्व ऐश्वर्य तो दूर रहा, ईश्वरके ऐश्वर्य अष्टसिद्धि आदिमें भी वितृष्णा हो जाती है। योगसूत्रमें उसका यह लक्षण लिखा है-'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' अर्थात् विवेकके तीव्र अभ्यासद्वारा पुरुषके अधीन प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंके ऐश्वर्योंमें वितृष्णा पर-वैराग्य कहलाता है। परमतत्त्वको प्राप्त करनेमें साक्षात् साधन यही है। अभ्याससे कठिन विषय भी सरल हो जाते हैं। ऐसा साधनसम्पन्न पुरुष पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त सद्गुरुके पास जाकर उनके उपदेशद्वारा महावाक्यके लक्ष्यार्थ अखण्ड वस्तुका निश्चय करे।

महावाक्य—महावाक्य वेद-भेदसे चार प्रकार है। (१) प्रज्ञानं ब्रह्म। (ऋग्वेद ऐत० उप०) (२) अहं ब्रह्मास्मि। (बृ० आ० १ यजुर्वेद) (३) तत्त्वमसि। (सामवेद छा० प्र०६) (४) अयमात्मा ब्रह्म। (अथर्ववेद माण्डू० उ० मन्त्र २)

इन सब वाक्योंका अर्थ मुख्यरूपसे यही है कि 'जीव ब्रह्मस्वरूप ही है।'

शब्दार्थके बोधसे वाक्यार्थ-बोध होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यमें तीन पद या शब्द हैं। अहं, ब्रह्म और अस्मि। 'अहं' शब्दका अर्थ 'मैं जीव', 'ब्रह्म' का अर्थ 'ईश्वर' और 'अस्मि' का अर्थ 'हूँ' है। समग्र वाक्यका स्थूल अर्थ 'मैं (जीव) ईश्वर (स्वरूप) हूँ।' अंश-अंशी-भाव या प्रभु-दास-भाव परमार्थ नहीं है। अविवेकयुक्त बुद्धिसे तो यह विरुद्ध ही मालूम होता है। क्योंकि कहाँ तो अज्ञान, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न, नित्य दुःखी, बन्धनमें फँसा हुआ जीव और कहाँ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापक, परमानन्दस्वरूप, नित्यमुक्त ईश्वर! दोनोंमें परमाणु-पर्वतवत् अन्तर है। जैसे खद्योत और सूर्य, सुमेरु और सरसों, सार्वभौम राजा और जन्म-दरिद्र इनकी तुलना नहीं हो सकती, उसी प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मवाले जीव और ईश्वरकी तुलना करना केवल उन्मत्त प्रलापवत् ही है। प्रत्यक्ष देखिये, सभी वस्तुएँ जगत्में भिन्न प्रतीत होती हैं। यदि अभिन्न हों तो सब शब्द एकहीका पर्याय होना चाहिये। लेकिन वैसा नहीं है। घट, कलसादि एक पर्याय नहीं किन्तु भिन्न ही है। इसके उत्तरमें अद्वैतवादी जवाब देते हैं कि प्रथम तो जिस प्रत्यक्षको तुम मुख्य मानते हो सो प्रत्यक्ष भी कितने स्थलमें भ्रमात्मक होता है। जैसे रज्जुमें सर्पाभास, चन्द्रका प्रादेशमात्र प्रतीत होना इत्यादि। ज्ञानीकी दृष्टिसे प्रत्यक्ष दीखनेवाला जगत् मृगजलकी तरह भ्रान्तिमात्र ही है, जैसे मेंढककी चरबीके अञ्जनसे सर्वत्र सर्प-ही-सर्प दीख पड़ते हैं, वैसे ही अविद्यारूप अञ्जनके प्रभावसे यह बहुत्व प्रतीत होता है, वास्तवमें सब एक परमात्मस्वरूप ही है। जैसे कृत्रिम अञ्जनको पोंछ देनेसे जगत्की वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों ठीक प्रतीत होती हैं, उसी तरह अविद्यारूप परदेके हट जानेसे सर्वत्र जगत् ब्रह्मरूप ही दीखता है। जैसे 'अग्नि शीतल है' यह कथन प्रत्यक्ष प्रबलतर बाधित है, वैसे ही लौकिक प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण भ्रान्त, इन्द्रिय, मनआदि जन्य होनेसे स्वतःसिद्ध ईश्वरप्रणीत वेदप्रमाणसे विरुद्ध हो तो अप्रमाण है। लौकिक वाक्योंमें पाँच दोष हैं। वे ये हैं-(१) भ्रम (२) प्रमाद (३) विप्रलिप्सा (ठगनेकी इच्छा) (४) इन्द्रियोंकी अपूर्णता (५) मनकी अस्थिरता। उपर्युक्त दोषोंसे मनुष्यका ज्ञान भ्रमात्मक है। ईश्वरमें ये दोष नहीं हैं, अतः उनका ज्ञान सर्वथा निर्भ्रान्त है, उनमें न तो भ्रमप्रमाद है और न आप्तकाम होनेसे किसीको ठगनेकी इच्छा ही है। उनका ज्ञान मन, इन्द्रिय-जन्य नहीं है, अतः सर्वथा निर्भ्रान्त ही है। वेद ईश्वरकी साक्षात् वाणी होनेसे सर्व प्रमाणोंका शिरोमणि है, उसके सामने सर्व प्रमाण अप्रमाण हैं। इस विषयमें बहुमतसे कोई सत्यका निर्धारण करना चाहे सो ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे हजार अन्धोंमें भी एक कानेकी देखी हुई बात प्रमाणभूत मानी जाती है और हजार कानोंसे एक स्वच्छ दृष्टिवालेकी बात अधिक प्रमाणभूत है उसी तरह हजार अज्ञानी पुरुषोंकी अपेक्षा एक ही निर्भ्रान्त पुरुषकी बात अधिक प्रमाणभूत है। यह परम वस्तु वेदद्वारा ही ज्ञेय है, जैसे 'ना वेदविन्मनुते तं महान्तं' 'तं त्वा औपनिषदं पृच्छामि।' अर्थात् वेदको न जाननेवाला उस महान् परमात्माको जान नहीं सकता। (हे शाकल्य!) मैं आपको उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित परमात्माके स्वरूपको पूछता हूँ। 'वेद ईश्वर-प्रोक्त ज्ञानसमष्टि हो तो उसमें जनकादि अर्वाचीन पुरुष तथा ऋषियोंका नाम कैसे आया' ऐसी बहुत प्रकारकी शंकाओंका महर्षि जैमिनिजीने स्वकृत पूर्वमीमांसादर्शनमें अच्छी तरह निराकरण किया है। अन्यत्र भी लिखा है कि ऋषिलोग वेदके कर्ता नहीं, किन्तु स्मरणकर्ता हैं। यथा 'स्मर्तारो न कर्तारो।' 'तपसा लेभिरे पूर्वं।' 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्, देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' अर्थात् पूर्व कालमें ऋषियोंने ध्यान, योग, तपस्यादि करके वेदोंको प्राप्त किया था और ईश्वरकी शक्तिका पता पाया था। वेद केवल कपोलकल्पना नहीं है। सभी मौलिक धर्मोंमें किसी-न-किसी प्रकारसे ईश्वरवाणीको ही मुख्य प्रमाण माना है। एक ही ईश्वर होनेपर उसका उपदेश देश, काल, जाति तथा अधिकारी-भेदसे भिन्न प्रकारका होता है। फौजके सिपाही भिन्न-भिन्न होनेपर भी जैसे सभीका लक्ष्य एक ही चाँद है उसी तरह उपदेश भिन्न-भिन्न होनेपर भी सबका लक्ष्य एक ही परमवस्तु है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रयीसांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

अर्थात् तीनों वेद और वेदान्तमार्ग, कपिल मुनिका सांख्यमत, पतञ्जलि महाराजका योगमत, वीर शैवमत, वीर वैष्णवमत आदि भिन्न-भिन्न (मतों) में यह मत श्रेष्ठ है, यह हितकर है—इसप्रकार रुचिभेदसे सीधे और टेढ़े नाना प्रकार-के रास्तोंसे चलकर मनुष्य एकमात्र आपहीको प्राप्त होते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी जलयुक्त नदियाँ सीधे और टेढ़े किसी रास्तेसे जाकर एक ही समुद्रको प्राप्त होती हैं।

जगत्‌के सब धर्मोंको देखनेसे तीन बातें प्रधान मालूम होती हैं—(१) कर्म (२) उपासना (३) ज्ञान। इनमें कर्म और उपासनाकाण्डमें जो ज्ञान है सो कर्म-उपासनाका अङ्गभूत है। अर्थात् कर्म और उपासनाका ज्ञान होनेके बाद कर्म और उपासना करने पड़ते हैं और ज्ञानकाण्डमें जो ज्ञान है सो स्वयं पुरुषार्थ है अर्थात् आत्माका दृढ़ अपरोक्ष होनेपर कर्म-उपासना आदि कुछ भी करनेको शेष नहीं रहता। ज्ञानसे ही कृतकृत्य हो जाता है। इस ज्ञानका विस्तारपूर्वक वर्णन श्रीमच्छङ्कराचार्य-जी महाराजके मतमें ही है अन्यत्र नहीं पाया जाता। इस ज्ञानको बहुत प्राचीन कालसे ऋषि लोग जानते थे। तत्पश्चात् यह लुप्त हो गया था। उसका श्रीशङ्कराचार्यने पुनरुद्धार किया, अब विचार यह होता है कि भेदसे परमार्थ है या अभेदसे? प्रमाणोंपर विचार करनेसे अभेद ही सत्य दीख पड़ता है, क्योंकि प्रमाण तो अज्ञात विषयका बोध कराता है, और भेद प्रत्यक्षगम्य है तब उसमें प्रमाणका पर्यवसान हो तो वह पूर्वज्ञान होनेसे अनुवादमात्र होगा। अद्वैत ही अज्ञात होनेसे प्रमाणका विषय है। सर्व शास्त्रोंमें इसी बातका मुख्य प्रतिपादन है। ज्ञान-प्राप्तिके साधन होनेसे कर्म-उपासनाकी भी आवश्यकता है। 'उपायः सोऽवताराय' इसप्रकार सृष्टिवर्णन उस परमवस्तु प्राप्त होनेका साधन है। 'न हि अस्ति द्वैतसिद्धिः अद्वैतं परमार्थतः, अद्वैतामृतवर्षिणीम्' अर्थात् द्वैत परमार्थ सत्य नहीं है अद्वैत ही परमार्थ सत्य है। गीता इसी अद्वैतामृतको वर्षाती है। आगम इसमें प्रमाण है। आस्तिक छहों दर्शनोंने आत्माको व्यापक माना है। केवल आधुनिक वैष्णवमात्र ही वेद-प्रमाणको न मानते हुए पुराणप्राप्त द्वैतानुवादको प्रधान मानकर अनुवादको ही परमार्थ स्वीकार करते हैं। प्राचीन स्मार्त, वैष्णवादि सब सम्प्रदायोंको तो अद्वैत ही परमार्थ मान्य है। जैसे प्रह्लादजीने कहा है—'सकलमिदमहं च वासुदेवः' इस दृष्टिको लेकर पूर्वोक्त महावाक्यका अर्थ समझनेमें सुभीता होगा। देखो 'अहं' शब्दका प्रयोग शरीरसे लेकर शुद्ध आत्मातक सभीमें होता है। स्थूल दृष्टिसे इसके तीन भाग हैं। (१) शुद्ध चेतन (२) अज्ञान और उसका कार्य (३) उसमें चेतनका प्रतिबिम्ब, वैसे ब्रह्म भी (१) शुद्ध चेतन (२) माया और उसका कार्य (३) मायामें चेतनाका आभास 'अस्मि' शब्द दोनोंका अभेद बोधन कराता है। अहं और ब्रह्म शब्दके वाच्यार्थ चेतनमें भेद नहीं है। भेद है उपाधि अंशमें—अर्थात् सकार्य अज्ञान और उसमें चेतनका आभास तथा माया और उसमें चैतन्याभास इन दोनोंमें भेद है। इसमें वाच्य-शक्ति वृत्तिसे अभेद असम्भव होनेसे लक्षणाके आश्रय अभेद सिद्ध होता है।

'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः.' अर्थात् शब्दका तात्पर्य ही शब्दार्थ है। इनमें वाच्यवृत्तिसे तात्पर्यबोध न होनेसे लक्षणाका आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि तात्पर्यकी अनुपपत्ति-सिद्ध न होना ही लक्षणाका बीज या हेतु है।

लक्षणा तीन प्रकार है—(१) जहती (२) अजहती (३) जहती-अजहती या भागत्यागलक्षणा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) जहती–जहाँ वाच्यार्थका सम्पूर्ण त्याग होकर तत्सम्बन्धी लक्ष्यार्थमें ही वृत्ति रहती है वहाँ वाच्यका त्याग या हानि होनेसे जहती कही जाती है। यथा–'गंगायां घोषः' गङ्गामें अहीरोंका गाँव। गंगा-शब्दका वाच्यार्थ जलप्रवाह है, लेकिन जलप्रवाहमें गाँवका होना असम्भव होनेसे लक्ष्यार्थ गंगातीर ऐसा लेना होगा। क्योंकि तीरपर ही गाँवका होना सम्भव है। यहाँ वाच्यार्थको त्यागकर लक्ष्यार्थ लिया जाता है, इसलिये इसको जहती लक्षणावृत्ति कहते हैं।

(२) अजहती–जिसमें वाच्यार्थको कायम रखकर लक्ष्यार्थ लेना पड़ता है अर्थात् जहतीकी तरह वाच्यार्थका त्याग नहीं करना होता उसका नाम अजहती लक्षणावृत्ति है। जैसे–'शोणो धावति' अर्थात् लाल दौड़ता है। यहाँ लाल-शब्दका वाच्यार्थ लाल रंग है सो गुण है, उसमें दौड़ना क्रिया असम्भव होनेसे क्रियाका आश्रय द्रव्य 'घोड़ा' शब्दमें लक्षणा करनी पड़ती है। साथमें वाच्यार्थ लाल रंगका भी त्याग न होनेसे अजहती लक्षणावृत्ति कही जाती है।

(३) भागत्याग या जहती-अजहती-जिसमें वाच्यार्थके कुछ अंशका त्याग किया जाता है और कुछ अंशका ग्रहण किया जाता है उसका नाम भागत्यागलक्षणा है। जैसे–'सोऽयं देवदत्तः' वह यह देवदत्त है। इसमें 'सो' शब्दका अर्थ पूर्वदेश और पूर्वकालविशिष्ट है। और 'यह' शब्दका अर्थ वर्तमान देश और वर्तमान कालविशिष्ट है। इन दोनों विशेषणोंकी एकता होना असम्भव है, अतः इनका त्यागकर, अभिन्न जो 'देवदत्त' शरीर है उसमें एकता सम्भव है। इसमें देश, काल, रूप, भागका त्याग होनेसे इसकी भागत्याग-लक्षणावृत्ति हुई।

इसी 'अहं' और 'ब्रह्म' दोनोंके उपाधि-भागको त्याग करके चैतन्यमात्रमें एकता बनती है। अचेतन अंश माया कल्पितमात्र होनेसे मिथ्या है। इससे अद्वैत ही परमार्थ है, द्वैत नहीं। 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते नेह नानास्ति किंचन, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं' श्रुति-स्मृति-प्रमाणसे द्वैत असत्य है अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिके बाद द्वैत नहीं रहता। एक ब्रह्मके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। घटादि कार्य वाणीसे बोला जाना नाममात्र है, सत्य नहीं है; जैसे सूतसे भिन्न कपड़ा सत्य नहीं है वैसे ही कारणातिरिक्त कार्य भी नहीं है। पहले जो लक्षणावृत्तिसे अद्वैतका प्रतिपादन किया, वह श्रीमच्छङ्कराचार्य-प्रभृति प्राचीन आचार्योंके मतसे किया गया। वेदान्त-परिभाषा तत्त्वानुसन्धान आदि ग्रन्थोंमें तो शक्ति-वृत्तिसे भी महावाक्योंका अभेद अर्थ प्रतिपादन किया है किन्तु प्रतिपादन प्रक्रिया कठिन है, इसलिये यहाँ नहीं दी गयी।

मनन–इसप्रकार गुरु-मुखसे महावाक्यका अर्थ श्रवण करके उसमें उत्पन्न शङ्काओंको हटानेके लिये युक्तिपूर्वक बार-बार विचारनेका नाम मनन है। पश्चात् निश्चित हुए तत्त्वके पुनः-पुनः अभ्याससे प्रतिबन्धरहित ज्ञानके बलसे कृतकृत्यता प्राप्त हो जाती है। 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।' अर्थात् तुरीय ब्रह्मस्वरूपको जाननेसे परमशान्ति प्राप्त होती है। यह जीव प्रकाशस्वरूप परमात्माको जानकर सर्व बन्धनोंसे छूट जाता है।

अभ्यास–वह अभ्यास इसप्रकार है—तच्चिन्तनं, तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः।' उसी स्वरूपका स्वयं चिन्तन करना, मुमुक्षु जनोंमें उसीका कथन करना और गुरु-शिष्योंके बीचमें परस्पर उसीका संवाद होना और उसीमें एकान्तनिष्ठा रखना—इसका नाम अभ्यास है।

निदिध्यासन–'मैं जीव हूँ, कर्ता-भोक्ता हूँ, ईश्वरसे भिन्न हूँ' इत्यादि विपरीत भावनाओंको त्यागकर पुनः-पुनः मैं अखण्ड हूँ, पूर्ण ब्रह्म हूँ, जन्म-मरण-रहित हूँ, इसप्रकार चिन्तनका नाम निदिध्यासन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निदिध्यासनकी परिपक्वावस्थामें दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कारसे सर्व दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है। ऐसे व्यक्तिका फिर जन्म नहीं होता। जबतक प्रारब्धका भोग रहता है तबतक उसका शरीर रहता है, उसके बाद शरीरके सभी तत्त्व अपने-अपने कारणमें लय हो जाते हैं। लोकान्तरमें गमन नहीं होता। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति तत्रैव समवनीयन्ते' उसका प्राणादियुक्त सूक्ष्म देह लोकान्तरमें नहीं जाता, यहीं समा जाता है।

ज्ञानियोंके द्वारा स्वाभाविक ही शुभ कर्म होते हैं। श्रीसुरेश्वराचार्यने लिखा है

बुद्ध्वाद्वैतस्य तत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वविदां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥

अर्थात् 'अद्वैत तत्त्वको जान करके भी यदि यथेष्टाचरण अशुचि भक्षण करे तो ज्ञानी और कुत्तेमें भेद ही क्या है?' अतः हे ज्ञानी! तुम विष्ठा-भोजी शूकर-तुल्य मत हो, किन्तु सदाचरणसे देवताके समान लोगोंसे पूज्य हो। क्योंकि जिस दुराचरणका मुमुक्षु-अवस्थामें त्याग किया है और सदाचरणकी वृद्धिसे ज्ञान प्राप्त हुआ है उस सदाचारका संस्कार क्या दुराचारमें परिणत हो सकता है? 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' अर्थात् हिरण्यगर्भ जिससे अवर यानी निकृष्ट है ऐसे परमात्माको जाननेपर उस ज्ञानीके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं। लोकदृष्टिमें केवल प्रारब्धमात्र रह जाता है! वास्तवमें तो उसका भी कोई भोक्ता न होनेसे वह भी नहीं है।

पूर्वोक्त अधिकारी प्रसंगमें उपासनाके विषयमें इतना और जानना चाहिये कि जिसको उपास्य देवका साक्षात्कार हो गया है उसकी विक्षेप-निवृत्ति स्वभावसिद्ध होनेसे महावाक्य-श्रवणमात्रसे ही अप्रतिबन्ध-साक्षात्कार हो जाता है, पर इतने दूर पहुँचनेसे पहले ही जिसकी वेदान्त-चर्चामें प्रवृत्ति हुई, उसकी विक्षेपनिवृत्ति कुछ शेष रहनेसे विचारके पश्चात् निदिध्यासनकी विशेष जरूरत होती है। इसलिये वेदान्तसूत्रमें भी लिखा है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्।' जबतक विपरीत भावना स्वभावसे दूर न हो जाय तबतक साधकको पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये। ऐसे कृतार्थ पुरुषकी अवस्थाका आचार्यने इसप्रकार वर्णन किया है—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः।
गांगं वारि समस्तवारि निवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः॥
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी।
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि॥

अर्थात् जिसने परमात्माको आत्मरूपसे पूर्णतया अनुभव किया उसके लिये समस्त जगत् नन्दनवनकी तरह सर्वदा सुखरूप है, सर्व वृक्ष कल्पवृक्षके समान वाञ्छित फल देनेवाले हैं, समस्त जल गंगाजल-सा पवित्र है, समग्र क्रियाएँ पवित्र हैं, भाषामें या संस्कृतमें जो कुछ बोले उपनिषदवत् प्रमाण है और समग्र पृथ्वी जहाँ वह विचरे काशीके समान मुक्तिक्षेत्र है। इसप्रकार इसकी सब अवस्थाओंमें इसकी स्थिति ब्रह्ममय ही है। 'सुखं आत्यन्तिकं यत्' वह सुखकी पराकाष्ठाको प्राप्त होता है।

अभ्यास या आवृत्ति करनेसे दृढ़निश्चय हो करके ज्ञान-प्राप्तिद्वारा मोक्ष होता है। जिसको विचारद्वारा निश्चय नहीं प्राप्त होता उसको निर्गुण-उपासना या महावाक्योंका अर्थसहित पुनः-पुनः जप करनेसे कुछ कालमें ब्रह्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। क्योंकि शब्दमें ऐसी शक्ति है कि जैसे सोये हुए पुरुषकी ज्ञानेन्द्रियाँ सुषुप्ति-अवस्थामें लय होनेपर भी नाम लेकर पुकारनेसे वह मनुष्य तत्काल जाग पड़ता है उसी तरह महावाक्यादिकी पुनः पुनः आवृत्तिसे स्वरूप प्रकट हो जाता है। यह बात वार्तिककार सुरेश्वराचार्यने भी कही है। 'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद् विद्मस्तं मोहहानतः।' अर्थात् महावाक्यादि शब्दनिष्ठ अपूर्व शक्तिके बलसे मोह नष्ट होनेसे हम परमात्माको जानते हैं। वैसे ही माण्डूक्य, नृसिंहतापनी आदि उपनिषदुक्त प्रकारसे ॐकारकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपासनासे भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह प्रणाली इन्हीं ग्रन्थोंसे जान लेनी चाहिये, विस्तारभयसे यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया।

लयचिन्तन भी अद्वैतभावकी प्राप्तिमें सहायक है। वह इसप्रकार है। सृष्टिको विपरीत क्रमसे सृष्टिके सब कार्य-तत्त्वोंको कारणमें लय करके सबके आदिकारण परमात्माको अपना स्वरूप जानना। वह सृष्टिक्रम इसप्रकार है—मायाविशिष्ट ब्रह्ममें पूर्व-पूर्व कल्पोंके जीवोंके संस्कार-बलसे सृष्टिकी इच्छा होती है। 'एको हि बहु स्याम् प्रजायेय' इत्यादि। मायाविशिष्ट ब्रह्मसे प्रथम आकाशकी उत्पत्ति होती है। चैतन्याधिष्ठित आकाशसे वायुकी, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। ये सब पञ्चतन्मात्रा या पञ्च-सूक्ष्मभूत कहे जाते हैं। इन सबके सत्त्वांशकी समष्टिसे मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त इस तरह वृत्तिभेदसे चार प्रकारका अन्तःकरण बनता है और इन्हीं तत्त्वोंके समष्टि-रजोगुणसे प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान ये पाँच प्रकारके प्राण उत्पन्न होते हैं। इन्हीं पञ्चभूतोंसे प्रत्येकके सत्त्वगुणसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं जो इसप्रकार है—आकाशके सत्त्व अंशसे श्रोत्र, वायुसे त्वक्, अग्निसे चक्षु, जलसे जिह्वा और पृथ्वीसे नासिका।

वैसे ही इन्हीं पञ्चभूतोंके प्रत्येकके रजोगुणसे पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई। जैसे आकाशसे वाक्, वायुसे हाथ, अग्निसे पाद, जलसे उपस्थ वा जननेन्द्रिय (पञ्चदशीके मतसे गुदा), पृथ्वीसे गुदा (पञ्चदशीके मतसे उपस्थ)।

इन्हीं तमोगुणविशिष्ट पञ्च सूक्ष्मभूतोंके पञ्चीकरणसे पाँच स्थूल भूत हुए जो इसप्रकार हैं। हर एकका अपना आधा हिस्सा और बाकी चारका आठ-आठवाँ हिस्सा मिलकर एक-एक स्थूल भूत उत्पन्न हुआ अर्थात् स्थूल आकाश (आकाश $\frac{1}{2}$, वायु $\frac{1}{8}$, तेज $\frac{1}{8}$, जल $\frac{1}{8}$, पृथ्वी $\frac{1}{8}$) मिलके उत्पन्न हुआ। इसप्रकार पञ्चीकरणसे औरोंकी भी उत्पत्ति समझ लें। इसप्रकार प्रत्येक स्थूलभूतमें अपने सूक्ष्मका $\frac{1}{2}$ और बाकी चारका अष्टम-अष्टम भाग है। यही सृष्टि-प्रक्रिया है। इसप्रकार प्रत्येक स्थूलभूत पञ्चात्मक होते हुए भी आधिक्यसे आकाशादि नाम हुए। यथा-'वैशेष्यात्तु तद्वादः।' विशेषतासे नामकरण होता है। कार्यसत्ता कारणसे भिन्न न होनेसे पञ्च सूक्ष्मभूतोंका सात्त्विक राजस व्यष्टि, समष्टि, तथा तामस कार्य सब कारण पञ्चसूक्ष्म भूतरूप ही है। भूतोंमें भी पृथ्वी आदि कार्य अपने कारण जलादिसे भिन्न नहीं है। इस-प्रकार माया भी ब्रह्ममें कल्पित होनेसे ब्रह्मके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। सब ब्रह्ममय ही है। मायाके कारण ही जीव, ब्रह्म आदि भेद था। यथा-'मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौजीवेश्वरावुभौ।' अर्थात् मायारूप कामधेनुके जीव ईश्वर दोनों वत्स हैं। मायाके प्रतापसे जीव ईश्वरमें भिन्नता मालूम होती थी। रात्रिके चले जानेसे जैसी वेतालादिकी क्रिया नहीं दीख पड़ती वैसे ही मायाके लुप्त होनेपर दोनों जीव, ईश्वर एक ही हो जाते हैं। 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।' 'ब्रह्म' जीव ईश, इस-प्रकार भेदहीन एक अखण्ड वस्तु होनेपर भी शिष्य-कल्पित अविद्यासे भिन्न प्रतीत होता है। उस भ्रमको मिटानेके लिये सृष्टि आदिकी कल्पना है। जैसे आकाशमें बादल आते जाते हैं लेकिन आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है उसी प्रकार सृष्टिके होने या चले जानेमें ब्रह्म भी ज्यों-का-त्यों रह जाता है। असंग, निर्विकार ब्रह्ममें कोई सङ्ग वा विकार नहीं हो सकता। इसप्रकार विचार, स्थिति और निष्ठाका निरूपण श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत ग्रन्थोंमें अवधूतगीता, अष्टावक्रगीता, योगवाशिष्ठ, आत्म-पुराण, और उपनिषदादि ग्रन्थोंमें अच्छी तरह किया है। वहाँ देखना चाहिये और तदनुसार साधन कर परमकल्याणकी प्राप्ति करनी चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक-वाटिका

वह परब्रह्म महान्, प्रभुरूप, पूर्णरूप, सबका प्रवर्त्तक, अतिशय निर्मल, आनन्दरूप, ज्योतिरूप और अविनाशी है।
—उपनिषद्

❀ ❀ ❀

जिसप्रकार सर्वत्र व्याप्त होकर भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिपायमान नहीं होता उसी प्रकार सर्वत्र देहमें स्थित होकर भी आत्मा गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे लिपायमान नहीं होता। जिसप्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा समस्त क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है।—श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀

जिनके संगसे सत्य, पवित्रता, दया, मौन, बुद्धि, श्री, लज्जा, कीर्ति, क्षमा, शम, दम और सौभाग्यका नाश हो, ऐसे अशान्त, मूर्ख, स्त्रियोंके वशमें रहनेवाले, देहाभिमानी मनुष्योंका संग कभी नहीं करना चाहिये। —श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀

कुसंगतिको बिल्कुल छोड़ देना चाहिये, क्योंकि उसमें काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और अन्तमें सर्वनाश हो जाता है। —देवर्षि नारद

❀ ❀ ❀

मूर्खलोग ही असन्तोषी होते हैं। असन्तोषकी कोई सीमा नहीं है, परन्तु सन्तोषसे ही परम सुख मिलता है।
—महाभारत

❀ ❀ ❀

दुराचारी मनुष्यकी जगत्में निन्दा होती है, वह सदा दुःख भोगता है, रोगी रहता है और उसकी आयु बहुत कम होती है। —मनु महाराज

❀ ❀ ❀

अन्तःकरणमें रागद्वेष रहते हैं, इसीसे रति, आरति और लोमहर्ष उत्पन्न होते हैं, इसीसे मनमें वितर्क उत्पन्न होता है। जो इनका निदान जानते हैं, वे आनन्द प्राप्त करते हैं और इस दुस्तर ओघको पार करके निर्वाण प्राप्त करते हैं, उनका पुनर्भव नहीं होता। —भगवान् बुद्धदेव

❀ ❀ ❀

सन्तोष हुए बिना कामनाका नाश नहीं होता और कामना रहते कभी स्वप्नमें भी सुख नहीं हो सकता, कामना श्रीरामके भजन बिना नहीं मिटती। —गोसाईं तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀

जो तेरे लिये काँटे बोवें, तू उनके लिये भी फूल बो।
—कबीरजी

❀ ❀ ❀

धनकी लालसासे जमीनको खोदा, पहाड़ोंकी धातुओंको फूँका, समुद्र-यात्रा की, बड़े प्रयत्नसे राजाओंको खुश किया, मन्त्र-सिद्धिके लिये श्मशानमें रातें बितायी, पर कहीं भी एक फूटी कौड़ी न मिली। हे तृष्णे! तू अब तो मेरा पिण्ड छोड़। —भर्तृहरि

❀ ❀ ❀

प्रेम ही प्रभुका ऐश्वर्य है, जिसको प्रेम मिल जाता है उसे सब कुछ मिल जाता है। —जैकब बेहोमी

❀ ❀ ❀

केवल उपासनासे ही आत्माकी उन्नति और पूर्णता नहीं होती, उसके लिये प्रेम चाहिये, प्रेमसे ही आत्माका पूर्ण विकास होता है। —सन्त टेरेसा

❀ ❀ ❀

तुम जितना प्रयत्न संसारके विषयोंकी प्राप्तिके लिये करते हो, उतना यदि परमधामके लिये करो तो तुम्हें वहाँ अवश्य ही स्थान मिले। —दाऊद ताई

❀ ❀ ❀

यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि कोई मनुष्य तुम्हारा भला-बुरा नहीं कर सकता, जो कुछ होता है, ईश्वर ही करता है। —रन्नुवाज

❀ ❀ ❀

गोविन्दके गुण नहीं गानेसे जीवन व्यर्थ जा रहा है, रे मन! श्रीहरिको वैसे ही भज, जैसे मछली जलको भजती है। —गुरु नानक

❀ ❀ ❀

विवेक-वाटिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हंस-गति

(लेखक—श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी)

यह निबन्ध भगवती मञ्जुकेशी देवी* के एक गीतका भाष्यरूप है, वह गीत यह है—

हंस-गति नव-तीन ।
चारि कर्म अकामभागी, चारि तद्गति-लीन ।
चारि गोपी लहि विदित जग, हरि-रहस्य नवीन ॥
परमहंस पुरारि पशुपति, जो सँवारत दीन ।
लोकमैं 'केशी' विलोकहु, मोर-चातक-मीन ॥

अर्थात् हंस-गतियाँ बारह हैं—चार मयूररूप निष्काम-कर्मयोगियोंकी, चार चातकरूप तद्गति-लीनों अथवा ज्ञानयोगियोंकी और चार मीनरूप गोपियों अथवा प्रेम-योगियोंकी । परमहंस भगवान् शङ्कर हैं, जो दीनोंका कल्याण करते हैं ।

भाष्य

'हंस-गति' । हंस-गति हंस-पदको कहते हैं । चेतनताके विकाससे जब जीवको तुरीयावस्था या ऐसे दिव्य देशकी प्राप्ति होती है, जहाँ उसे 'मैं वह हूँ' अथवा 'मैं उसका हूँ' ऐसा साक्षात् अनुभव होता है, तब वह हंस-पदको प्राप्त होता है । उस हंस-पद या उन हंसोंकी बारह स्थितियाँ या गतियाँ होती हैं । 'चारि कर्म' । यदि निष्काम-कर्म-मार्गसे वह गति प्राप्त हुई तो उसके ये चार भेद होते हैं,—(१) सुकृत, (२) उद्ध, (३) सम्मद, (४) प्रमद । यदि वह तद्गति-लीन या ज्ञान-योगसे सिद्ध हुई तो उसकी चार गतियाँ या पद ये होते हैं,—(१) शिवरस, (२) भद्रभूत, (३) भविक, (४) भव्य । 'चारि गोपी लहि' † । भक्ति-योग-मार्गसे, सेव्य-सेवक-भावके सुदृढ़ होनेसे, निर्दिष्ट गतिको गोपियोंने इन चार रूपोंमें प्राप्त किया,—(१) प्रीति-भाजन, (२) आनन्दोल्लसित, (३) क्षेमकर एवं (४) शान्त । 'परमहंस' । जो स्वतः किंवा निरपेक्ष साधन हो इस गतिको प्राप्त हैं अर्थात् जो स्वयं तुरीय हैं, हंस-पदके स्वरूप ही हैं, वह भगवान् शिव हैं, यथा—'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते ।'

वे शिव कैसे हैं ? कवि कहती हैं कि—'जो सँवारत दीन ।' जो दीनजनोंका कल्याण करते हैं, तुरीय-पदसे जो गिर गये हैं, उन जीवोंको वे पुनः उसपर अधिष्ठित करते हैं ।

'लोकमैं' । सृष्टिमें मयूर, चातक और मीन क्रमशः उनकी उपमा हैं । इनमें निष्काम-कर्मनिष्ठों-की तुलना मयूरोंसे, ज्ञानियोंकी चातकोंसे और भक्तोंकी मीनोंसे है । अब इनके विशेष विवरण आगे देखिये ।

मयूर—कर्मयोगी

मयूर चार प्रकारके होते हैं, (१) बर्ही, (२) नीलकण्ठ, (३) शिखावल और (४) मेघनादी । ऐसे ही कर्मयोगियोंकी चार हंस-गतियाँ क्रमशः ये हैं—(१) सुकृत, (२) उद्ध, (३) सम्मद और (४) प्रमद जो पूर्वमें कह आये हैं । अब इनकी चतुर्विध मयूर-जातिसे तुलना करते हैं ।

लक्षण-सादृश्य

१—बर्ही । (१) इसका चन्द्रक गोल होता है, (२) शिखा छोटी होती है, (३) यह मघा-नक्षत्रमें केका करता है और (४) इसकी केका मधुर होती है ।

१—सुकृत । (१) इस गतिगामीके भालमें सौम्य तेज रहता है, (२) वृत्ति सङ्कीर्ण होती है, (३) कभी-कभी ईश्वरपरायण होता है, (४) भाषण-प्रिय होता है ।

---

* अतीत कालकी एक रामभक्ता विदुषी देवी, सिद्ध-योगिनी, सत्कवि ।

† 'तदर्पिताऽखिलाचारता, तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति यथा व्रजगोपिकानाम्'—नारदभक्तिसूत्र ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२—नीलकण्ठ। (१) इसका कण्ठ गाढ़े और चमकीले श्याम रङ्गका होता है, (२) सूर्य-किरणों-पर तड़पता है, (३) चन्द्रक त्रिवलीके आकारका होता है, (४) शिखा झुकी होती है, (५) यह स्वभावतः कण्ठपर चोंच फेरा करता है, (६) बहुत कम केका करता है, (७) जङ्गलमें एक जगह पसन्द करके घूम-फिरकर वहीं रहता है और कहीं नहीं जाता, (८) श्लेषा-नक्षत्रमें केका करता है।

२—उद्ध। (१) उद्ध गतिगामी गम्भीर विचार-वान् तथा (२) प्रतापी होता है, (३) त्रिगुणात्मक भाव रखता है, (४) वृत्ति या स्वभाव नम्र होता है, (५) विचारमग्न रहता है, (६) मितभाषी तथा (७) एकान्तप्रिय होता है, (८) यथावसर बोलता है।

३—शिखावल। (१) इसकी शिखा ऊँची होती है, (२) सदा ऊँचे ही स्थानपर रहता है, (३) चन्द्रक पतला होता है, (४) कण्ठमें गाढ़ी श्यामता होती है, (५) चातुर्मास्यमें पुनर्वसु-नक्षत्र जिस दिन चढ़ता है, उसी दिन यह केका करता है।

३—सम्मद। (१) इस गतिके हंसकी वृत्ति उदार होती है, (२) वह उन्नत भावोंमें स्थित रहता है, (३) दीप्ति सूक्ष्म होती है, (४) गम्भीर विचारशील होता है, (५) नियमित और निश्चित समयपर बोलता है।

४—मेघनादी। (१) यह विशेषतः लता-कुञ्जोंमें रहता है, (२) इसका चन्द्रक गोल मिला हुआ और बड़ा होता है, (३) शिखावलकी ही तरह शिखा ऊँची होती है और उसपरसे तीन पीली धारियाँ कण्ठपर आती हैं एवं उसके चारों ओर घूम जाती हैं, (४) आर्द्रासे स्वातीतक प्रत्येक नक्षत्रमें बोलता है और खूब नृत्य करता है।

४—प्रमद। (१) इस गतिका हंस रमणीय एवं एकान्त भावोंमें मग्न रहता है, (२) इसकी दीप्ति समशील और व्यापक होती है, (३) सम्मद गतिगामीकी तरह वृत्ति उदार होती है और इसमें ध्याता-ध्यान-ध्येय इस त्रयीका एकाकार हो जाता है, (४) बोला करता है और आनन्दसे तरङ्गित तथा आत्मविस्मृत हो उठता है।

चातक—ज्ञानयोगी

चातक चार प्रकारके होते हैं—(१) सारङ्ग, जिसकी तुलना शिवरस, ज्ञानयोगकी प्रथम गतिसे है, (२) तोकक, जिसकी तुलना भद्रभूत, उसकी द्वितीय गतिसे है, (३) चातक, जिसकी समता भविक, उसकी तृतीय गतिसे है, (४) खञ्चातक, जिसका सादृश्य भव्य, उसकी चतुर्थ हंस-गतिसे है।

लक्षण-सादृश्य

१—सारङ्ग। (१) इसका आकार छोटा होता है, (२) रङ्ग श्याम-श्वेत, (३) ठोंड़ निकली हुई होती है, (४) आषाढ़की शुक्ला एकादशीसे देवोत्थानकी एकादशीतक ऊपर मुँह किये आकाशकी ओर देखा करता है और (५) 'पी पी' की रट लगाये रहता है, (६) पहाड़ या किसी ऊँचे वृक्षपर रहता है।

१-शिवरस। (१) इस गतिमें स्थित अनागामी अथवा हंस सूक्ष्म शरीरमें रहता है, (२) सञ्चित शुभाशुभ कर्मोंका वरण करता है, (३) वृत्ति चढ़ी हुई रहती है, (४) नियमशील होता है, (५) 'सोऽहं' जप करता है, (६) किसी सिद्ध गुरुका आश्रय रखता है।

२-तोकक। (१) इसका एक पैर टेढ़ा और एक सीधा होता है, टेढ़े पैरको सीधे पैरपर रखकर बैठता है, (२) समुद्र या किसी बड़ी नदीके किनारे रहता है, (३) रङ्ग तप्त काञ्चन-सा तथा श्याम होता है, (४) सदा सिर नीचे किये रहता है, (५) सारङ्ग-की तरह यह भी चतुर्मासी है, (६) आधी रातके बाद बोलता है।

२-भद्रभूत। (१) इस गतिका हंस समशील होता है अर्थात् विषमभावको समता अथवा अद्वैत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म-बुद्धिमें लीन करता है, (२) महा मर्यादामें स्थित रहता है, (३) सञ्चित कर्मोंको ज्ञानाग्निमें जला देता है, (४) विनयशील होता है, (५) इसका भी भावोद्रेक नियत समयपर होता है, सबके सोनेपर रामेति गान करता है।

३-चातक। (१) यह ताल या झीलके किनारे रहता है, (२) स्थान बदला करता है, (३) इसका रङ्ग चित्रित होता है, (४) स्वातीके चढ़ते ही ऊँचे वृक्षपर बैठकर ऊर्ध्वमुख हो जाता है, (५) यह कभी-कभी 'पी' की रट लगाता है और एकबारगी घण्टों रटा करता है।

३-भविक। इस गतिका हंस (१) ऐकान्तिक मर्यादामें स्थित रहता है, (२) परिव्राजक होता है, (३) यह भी दग्धकर्मा होता है, (४) ब्रह्म-साक्षात्कारके समय अपने स्वरूपमें स्थित होता है, (५) उद्गीथ करता है।

४-खञ्जातक। (१) यह आकाशमें रहता और वहीं अण्डा देता है, (२) तुरत अण्डेसे बच्चे पैदा होते और उड़ जाते हैं, (३) इसका रङ्ग श्वेत होता है, (४) आकार बड़ा (५) पैर छोटे होते हैं, (६) पूर्वा-नक्षत्रमें यह कभी-कभी दिखलायी देता है और उसी समय पन्द्रह दिनों तक 'पी' की रट लगाता है।

४-भव्य। (१) इस गतिके सन्त अथवा हंस अन्तरिक्षस्थ और अदृश्य रहते हैं, (२) सत्य सङ्कल्प होते हैं, (३) शुद्धान्तःकरण होते हैं, (४) आश्रय सूक्ष्म होता है, (५) कभी-कभी संयोगसे प्रकट हो जाते हैं और उद्गीथ करते हैं।

मीन—भक्तियोगी

मीनके भी चार प्रकार होते हैं—(१) सहस्रदंष्ट्र, (२) नलमीन, (३) राजीव और (४) तिमिङ्गिल। इन चारोंकी क्रमशः (१) प्रीति-भाजन, (२) आनन्दोल्लसित, (३) क्षेमकर और (४) शातसे तुलना है।

लक्षण-सादृश्य

१-सहस्रदंष्ट्र। (१) यह बड़ी मोटी मछली होती है, जिसे पाठीन भी कहते हैं, (२) मनुष्य-परिमाण जलकी गहराईमें रहती है, (३) इसके चुँइटे तीक्ष्ण धारके समान होते हैं, (४) सीधे पानीपर चलती है और मूँछ सदा पानीके भीतर रखती है, (५) पानी सूखनेपर यह कीचड़में गड़ जाती है, (६) कँटीली छोटी मछलियाँ इसका आहार हैं।

१-प्रीति-भाजन। (१) इस गतिका हंस पूर्ण स्वसुखी होता है, (२) प्रपत्ति अर्थात् शरणागतिके निर्भय सुखको भोगता है, यथा—'सुखी मीन जहँ नीर अगाधा। जिमि हरिशरण न एकौ बाधा॥' (३) सदा अनासक्त रहता है, (४) सञ्चारी भावोंमें विचरता है, (५) पूर्वानुरागान्तर्गत वियोगमें, प्रिय-गुण-स्वभाव-चिन्तामें लीन रहता है, (६) दुःखोंको सहन करता है।

२-नलमीन। यह छोटी मछली चेल्हवा कहलाती है। (१) इसके पूँछसे सिरतक एक ही चुँइटा होता है, (२) यह थोड़े पानीमें भी रहती है, (३) ऊपर सिर किये पानीमें भीतर-ही-भीतर चलती है और (४) वर्षाके पानीसे मर जाती है।

२-आनन्दोल्लसित। (१) इस गतिका हंस आशावलम्बी होता है, (२) इसमें प्रणयासक्ति होती है, यथा—कुब्जा। (३) इसका प्रेम भी प्रीति-भाजनकी तरह स्वसुखी-भाव-गर्भित होता है, (४) कुसंस्कार-वश अनुराग-वृत्ति दब जाती है।

३-राजीव। राजीव राया मछलीको कहते हैं। (१) यह बड़ी शोभायमान होती है, (२) आँखें बड़ी ही सुन्दर और (३) मूँछें निकली हुई होती हैं, (४) कुण्ड या सरोवरमें पायी जाती है, (५) आर्द्रा-नक्षत्रमें और फिर उत्तरामें पानीपर उतराती है, (६) उस समय शिकारी लोग इसका शिकार (वध) करते हैं।

३-क्षेमकर। (१) इस गतिके हंसकी अनुराग-वृत्ति बड़ी सुन्दर होती है, (२) तत्सुखी-भावकी आद्यवस्थामें प्राप्त रहती है, (३) प्रेमोल्लास होता है (४) आदिसंयोग और आदिवियोगमें उद्गार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकलते हैं, (५) लोकापवादका लक्ष्य बनता है। यथा—ललिता और चन्द्रकलाजी।

४-तिमिङ्गिल। (१) यह सबसे बड़ी मछलीका नाम है, (२) समुद्र या बड़े झीलमें पायी जाती है, (३) तीन योजन-परिमाण-आकार होता है, (४) तिमि नाम मछली इसका आहार है, (५) ढाई ताड़की गहराईमें रहती है; (६) वर्षभरमें एक बार राधा-अष्टमीको उदयामें निकलती है, (७) जहाजके लिये भयङ्कर है।

४-शान्त। (१) इस गतिका हंस उत्कृष्ट तत्सुखी होता है, यथा—श्रीराधिकाजी, (२) दिव्य नायक श्रीकृष्णमें प्रवृत्त होता है, (३) त्रैलोक्य-व्यापिनी तुरीयावस्थाके प्रेमके परिणामको प्राप्त होता है, (४) सर्वग्रास-वृत्ति होती है अर्थात् सम्पूर्ण वृत्तियोंका लय कर देता है, (५) परात्परा प्रेमवृत्ति होती है—एक प्रेमा, एक परा और अर्द्ध मात्र परात्परा अतएव यह ढाई प्रीतिका बोधक है।

भगवतीके पद सूत्ररूप हैं। उनमें गम्भीर आशय भरे हुए हैं। उनके प्रस्तुत गीतसे यह स्पष्ट हो गया है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति, भिन्न-भिन्न रुचि और प्रवृत्तिके मनुष्योंके लिये एक ही साध्यके पृथक्-पृथक् साधन हैं—एक ही धामके भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। वे तीनों एक ही तत्त्व और आनन्दको भोगते हैं तथा समान गतिको प्राप्त होते हैं। कर्मयोगी कामनाका त्याग करता है और अपनी आत्मासे अभिन्न परमात्मरूप विश्वकी सेवा करता है। इससे उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और चैतनता या ब्रह्म-बुद्धिका विकास होते-होते वह ब्रह्मरूप या ब्रह्मभूत हो जाता है। ज्ञानी शुभाशुभ कर्मोंका परिहार करके ब्रह्मात्मैक्य-बुद्धिकी धारणा करता है और भक्त अपने अखिलाचारको उसी सर्वव्यापक परमात्मा पुरुषोत्तमके पाद-पद्मोंपर अर्पण करके तत्परायण एवं तद्भावापन्न हो जाता है। इस प्रवचनसे यह सिद्ध हुआ कि तीनों अपनी-अपनी मति और रुचिके अनुसार एक ही योगका तीन रूपोंमें अभ्यास करते हैं—जैसे निर्गुणवादमें 'पाद' से अवस्थाका अर्थ ग्रहण करेंगे और सगुणवादमें उसे तरुणारुण कमलदलोपम चरण कहेंगे, जैसे एक ही इतिवृत्त वा चरित इतिहासमें किसी और ढङ्गसे लिखा जाता है और नाटकमें किसी और शैलीसे! वस्तुतः लक्ष्य और तत्त्व एक ही है, भेद प्रवृत्ति और संस्कृति अथवा मति और रुचि एवं भाषा और शैलीमात्रका है—

नदिया एक घाट बहुतेरे। कहैं कबीर वचनके फेरे॥

त्रयीसांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

हंस-यन्त्र

मयूर	कर्मयोगी	चातक	ज्ञानयोगी
वर्ही	सुकृत	सारङ्ग	शिवरस
नीलकण्ठ	उद्ध	तोकक	भद्रभूत
शिखावल	सम्मद	चातक	भविक
मेघनादी	प्रमद	खञ्जातक	भव्य

मीन	भक्तियोगी
सहस्रदंष्ट्र	प्रीति-भाजन
नलमीन	आनन्दोल्लसित
राजीव	क्षेमकर
तिमिङ्गिल	शान्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिवेणीमें कुसुमाभास

(लेखक—म० श्रीबालकरामजी विनायक)

सच्चा वैष्णव

(१)

वैक्रम संवत् १७८१ के कुम्भकी घटना है। इस पुण्य-पर्वपर स्नानके लिये लाखों गृहस्थ-विरक्त, भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंके यात्री तीर्थराज प्रयागमें एकत्र हैं। शृङ्गेरी-मठके शङ्कराचार्य, स्वामी सोमनाथाचार्य तथा अन्यान्य वैष्णवाचार्य अपने सहस्रों अनुयायियोंके साथ त्रिवेणी-पुलिनमें आसन लगाये हुए हैं। कितने ही राजा-रईस, सेठ-साहूकार, विद्वान्-ब्राह्मण तथा अन्य साधारण धार्मिक हिन्दू कुम्भ-वास कर रहे हैं। काम-कौतुकी-जातिके सङ्गीतकला-कुशल गुणिजनोंके भी कतिपय सङ्कीर्तन-समाज आये हुए हैं। वे अपनी सङ्गीत-पटुतासे श्रद्धालु यात्रियोंको अपनी कलाका चमत्कार दिखाते हुए अलौकिक आनन्दका अनुभव करा रहे हैं। चारों ओर उनकी चर्चा चल रही है और भूरि-भूरि प्रशंसा हो रही है।

आज माघ-कृष्णा त्रयोदशी है। काम-कौतुकियोंका कीर्तन हो रहा है। दर्शकोंकी भीड़ लगी हुई है। वे अपने नृत्य-गानसे सबको मोहित कर रहे हैं। विशेषता यह है कि वे भगवद्विषयक ही गायन करते हैं। उनके इस समाजमें कतिपय नव-विवाहित दम्पति भी सम्मिलित हुए हैं, उनके साथ उन्होंने भी नृत्य-गान किया है। क्योंकि वर्षके भीतर परिणीत हुए तद्देशीय वर-वधुओंको उस वर्ष दक्षिणमें योग-दान करनेकी प्रथा है।

सब अपनी-अपनी सङ्गीत-पटुता दिखा चुके। अब प्रसिद्ध सङ्गीताचार्या तपस्विनी श्रीमती गुण-मञ्जरी देवीकी बारी है। तपस्विनीजी अपनी तपश्चर्या और सङ्गीत-कुशलताके लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। अनेक कृच्छ्र-चान्द्रायणका अनुष्ठान वे कर चुकी हैं। केवल दो-चार फल खाकर रह जाती हैं। अब उन्हींका सङ्कीर्तन होनेवाला है। इस अवसरपर शृङ्गेरी-मठाधीश स्वामी सोमनाथाचार्यजी भी समुचित-सम्मान-पुरस्सर पधराये गये हैं। तपस्विनीजी रङ्ग-पीठपर आयीं। उनकी मधुर स्वरभङ्गियाँ पवनसे अठखेलियाँ करती हुई आकाशमें लहराने लगीं! पाद-विन्यासके साथ पृथ्वी थिरकने लगी। चारों ओर स्तब्धता छा गयी। उनके लयमें सभीके मनोंका मानो लय हो गया। एकाएक आकाशमें मेघ उमड़ आया, बूँदें पड़ने लगीं। बिजली कड़कने लगी। एक तो माघका महीना, जाड़ोंके दिन, दूसरे वर्षा! ठण्डक बढ़ गयी। सबकी तन्मयता और एकाग्रता भङ्ग हुई। सब आतुरसे दीखने लगे और भागनेको उत्सुक हुए। इस समय शृङ्गेरी-मठाधीशने सबको सावधान करते हुए कहा—'आप लोग अधीर न हों, यह मेघ स्वाभाविक मेघ नहीं है, किन्तु तपस्विनीके स्वरालापजन्य है। अतः क्षणिक है।'

स्वामीजीकी घोषणा सुनकर दर्शकगण सावधान हुए, फिर एक अद्भुत चमत्कार हुआ। आकाशसे, मेघमण्डलसे निकली हुई सौदामिनीकी भाँति एक सुन्दरी आती हुई दिखायी दी और क्षणमात्रमें सबके देखते-देखते वह पृथ्वीपर उसी सङ्गीत-समाजमें उतर पड़ी। तपस्विनीसे मिलकर नृत्य करने लगी। उसके नृत्य और गानसे सबके मन एक साथ एक अलौकिक आनन्दमय जगत्में विचरण करने लगे। टकटकी बँध गयी, सन्नाटा छा गया। केवल उन देवियोंके पाद-विन्यासमें नूपुरोंका कलरव और गायनमें उनकी स्वर-भङ्गियोंके अतिरिक्त और कोई शब्द नहीं सुनायी देता था। कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देरतक यह अलौकिक आनन्द छाया रहा। फिर सङ्गीतका विसर्जन हुआ और वह देवाङ्गना उड़कर देखते-देखते गगन-गह्वरमें अदृश्य हो गयी।

अनन्तर श्रीशङ्कराचार्य स्वामीका उपदेश आरम्भ हुआ। वे बोले—'आप लोगोंने उस देवाङ्गनाको देखा। उसे आकाशसे उतरते हुए सबने प्रत्यक्ष देखा और उसके नृत्य-गानका भी पूर्णतया अनुभव किया। इसका कारण क्या आपने समझा? इसका कारण यह है कि इस पवित्र पर्व-योगपर पुण्यतोया त्रिवेणीमें स्नान करनेसे आप-लोग निष्पाप हो गये हैं। तभी सूक्ष्म देवलोककी उस देवीके आपको दर्शन हो सके! अन्यथा ऐसा सम्भव नहीं था। इस तमोमय कलियुगके मनुष्योंमें स्वभावतः स्थूलता अधिक होनेसे उन्हें दिव्य जीवोंके दर्शन नहीं होते। अतः यह सविशेष कारणवशात् एक असाधारण घटना है। हमलोग देवत्वसे मनुष्यत्वको प्राप्त हुए हैं। हमारे पूर्व पुरुष देवलोकसे भूतलपर अवतरित हुए और वहीं गये। हम भारतवर्षीयोंका मूलस्थान स्वर्ग ही है। वहींसे हम भी अपने पूर्वजोंकी तरह आये हैं और वहीं जाना है। इसी हेतु वैदिक-कर्मोंका यथाविधि अनुष्ठान किया जाता है। उन कर्मोंमें दिव्य शक्तियाँ व्याप्त होती हैं। अनुष्ठानसे वे विकसित होकर कर्त्तामें अपूर्वरूपसे प्रविष्ट हो जाती हैं और अन्त समय उनके बलसे वह ऊर्ध्वलोकको खिंच जाता है। यही सामान्यतः भारतवर्षीय आर्यजातिका अपूर्व वैशिष्ट्य है। इसके परे सर्वोत्कृष्ट धर्म जीवमात्रका परम लक्ष्य मोक्ष है, जिसमें सम्पूर्ण दुःखोंका आत्यन्तिक अभाव है, आवागमन-का राहित्य है, भव-बन्धकी निवृत्ति है। इसे भागवत-धर्म कहते हैं। इसका एकमात्र लक्ष्य भगवत् ही हैं। वैदिक-कर्म इस विशेष धर्मके साधक हैं। जैसे सामान्य धर्म, कर्म, यज्ञका उद्देश्य देवत्व है वैसे ही इस विशेष धर्मका लक्ष्य भगवत्त्व है। भगवत्पदको प्राप्त होना ही जीवमात्रका उपेय है। जैसे स्वर्ग देवत्वका क्षेत्र है वैसे ही भगवद्धाम अपराजिता भगवत्त्वका देश है। स्वर्गमें पतनका भय है, सम्पूर्ण अमरत्व नहीं है, परन्तु परम दिव्य त्रिगुणातीत देशकालाद्यनवच्छिन्न भगवल्लोक अभय पद है। वह निश्चल निर्विकार और नित्य है। वहीं पूर्ण अमरत्व है। परन्तु वह पद अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि वह वाङ्मनोगोचरातीत है। परमात्माका शब्द ब्रह्मरूप ही विश्वमें प्रकट है। वही सम्पूर्ण सृष्टिको अपनी आनन्दमयी सर्वव्यापिनी अन्तर्गतिसे जीवन प्रदान कर रहा है। वह राम-नाम है। प्रणव भी उसीका भेद है। परन्तु यह नियताधिकार है और राम-नाम सर्वाधिकार है। प्राणिमात्रको उसके जपका अधिकार है। जैसे प्रणव कर्मका साधक होता हुआ ब्रह्मज्ञानका उत्पादक है वैसे ही राम-नाम पुरुषोत्तमकी भक्तिका परितोषक होता हुआ परमात्मज्ञानका परिपोषक है। अतएव उसका जप सबको करना चाहिये। कलियुगमें यही संसृति-संस्तरणका सर्वोपरि सुगम साधन और विधि-निषेध-रहित अमोघ दिव्य मन्त्र है, कल्याण-कल्पतरुका बीज एवं फल दोनों है।

इस अवसरपर स्नानके भी कुछ विधानका निर्देश करना आवश्यक जान पड़ता है। स्नानके दिन ब्राह्म-मुहूर्तमें हरिस्मरणपूर्वक उठकर शौचादिसे निवृत्त हो साधारण स्नान कर लेना चाहिये। अनन्तर अपना नित्यकृत्य सन्ध्या-वन्दनादि करके राम-नामका उच्चारण स्वगतभावसे करते हुए शान्तिपूर्वक अपने-अपने समाजके साथ स्नान-यात्रा करनी चाहिये। फिर तटपर जाकर त्रिवेणीको प्रणाम एवं उसके पुण्य-सलिलको शिरोधार्य करके उसमें प्रवेश करना उचित है। उस दिन मौन रहना चाहिये। इससे उस सुकृतका यथावत् सम्पादन होता है। यदि सम्पूर्ण दिन और रात न कर सके तो स्नान करनेतक तो अवश्य ही मौनावलम्बन करना उचित है। मौनसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुकृतकी धारणा और रक्षा होती है, उससे वृत्ति अन्तर्मुखी होती है और अन्तःकरणमें सत्त्वका सञ्चार होता है। पुण्यतोयाके योगसे जो पवित्रता उत्पन्न होती है वह स्थूल शरीरको क्षालित करती हुई सूक्ष्म शरीरमें प्रवेश कर जाती है और उसके मलको भी धो देती है। इससे सत्त्वगुणका विकास और तमका निराश होता है। सत्त्व-गुणके प्रकाशकी किरणें जिन कर्मोंमें व्याप्त होती हैं उन्हें ही सुकृत कहते हैं और जिन जल-स्थलोंमें वास करती हैं वे तीर्थ तथा पुण्यक्षेत्र कहलाते हैं। उनके अनुष्ठान और सेवनसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और आत्मप्रकाशके ग्रहण करनेका पात्र बनता है। एक बात और आप जान लें। स्नान करके जब आपलोग अपने-अपने घर जायँ तब अपने चरण स्वयं धोयें, किसी दूसरेसे न धुलायें, क्योंकि इससे पुण्यकी हानि होती है। वहाँ हवन और साधु-ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उन्हें दान-मानसे सन्तुष्ट करें। इसप्रकार आपकी यह स्नान-विधि पूर्ण होगी।'

इसी समय एक साधु आकर खड़े हो गये और कहने लगे—'मैं बहुत भूखा हूँ। क्या आप लोगोंमेंसे ऐसा कोई पुण्यात्मा है जो मुझे पेट-भर भोजन करा सके?' सब लोग उनकी बात सुनकर चकित रह गये कि 'क्या इस महासमारोहमें इनको भरपेट भोजन ही नहीं मिला!' सब बोल उठे—'जो वस्तु कहिये और जितनी कहिये आपके भोजनके लिये प्रस्तुत की जाय।' यह सुनकर उन साधुने कहा—'और हम क्या खायँ, जो कुछ खायँगे वह मल-मूत्र होकर निकल जायगा। यदि आपलोग हमको सन्तुष्ट करके खिलाना चाहते हैं तो हम और कुछ नहीं खायँगे, केवल आप सब लोग अपने पर्व-स्नान-समयका 'राम-नाम' हमें दे दीजिये। उसीसे हमारा पेट पूर्णतया भरेगा। कहिये, भरियेगा साधुका पेट?' सब लोग उनकी भिक्षा सुनकर अवाक् रह गये, किसीसे कुछ कहते न बना। जब चारों ओर सन्नाटा छा गया तब स्वामी सोमनाथाचार्यजीने कहा—'अच्छा, बाबा! हम तुम्हें अपना 'राम-नाम' देते हैं।' उनकी प्रतिज्ञा सुनकर धीरे-धीरे और लोग भी कहने लगे—'हम भी देते हैं, हम भी देते हैं।' सबकी प्रतिज्ञा सुनकर उन साधुने कहा—'हाँ, अब हमारा पेट भर गया! आपके इस महादानसे आपके उस सुकृतविशेषकी कुछ भी हानि नहीं हुई, किन्तु उसकी और वृद्धि हो गयी। राम-नाम आपका कल्याण करे।'

अनन्तर रामध्वनि करके सब लोग अपने-अपने आसनको गये।

(२)

आज माघ वदी अमावस्या है। त्रिवेणी-तट-पर स्नानका विराट् समारोह हुआ है। चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके यात्री जुटे हैं। विरक्त वैष्णवोंके दोनों दल, तपस्वी और दण्डी अपनी-अपनी सजधजसे उपस्थित हैं। सभी उदाराशय, शान्तशील, दयालु और श्रद्धालु दिखायी देते हैं। सबके मुखमण्डलोंपर तेज और दीप्ति झलक रही है। उस समय श्रीरामानन्दीय विरक्तोंके पूर्वज श्रीसम्प्रदायावलम्बी विरागी महात्माओंको ही तपस्वी वैष्णव कहते थे (जो शिखा-सूत्र-धारी होते थे) और (शिखा-सूत्र-त्यागी) संन्यासी दण्डी वैष्णव कहलाते थे। वे दोनों दल परस्पर प्रेमपूर्वक स्नानके पुण्य कृत्यका सम्पादन कर रहे हैं। तटपर बहुत अधिक भीड़ है। क्योंकि उसमें सभी श्रेणीके यात्री हैं। प्रायः सब सज्जन, सभ्य एवं श्रद्धालु प्रतीत होते हैं। सबके हृदयोंमें धर्मका आतङ्क है। कोई किसीको धक्का नहीं देता, सभी सबको सादर अवकाश देते हैं। अहङ्कारवश कोई किसीके पथका अतिक्रमण करके आगे बढ़नेकी चेष्टा नहीं करता। सभी स्त्रियोंके पथको बचाते हैं और आवश्यकता पड़नेपर सभी एक दूसरेकी सहायता करनेका हृदयमें भाव रखते हैं। इतनी बड़ी भीड़में कोई भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधम-उपद्रव दिखायी-सुनायी नहीं देता। सब श्रद्धा और प्रसन्नतासे सुकृत-रक्षामें सावधान हो स्नान कर रहे हैं। पण्डोंको दान-दक्षिणा दे रहे हैं। वे भी बिना कुछ आपत्ति किये, जो कुछ, श्रद्धासे जो कोई दे देता है, उसे आशीर्वाद देते हुए वह ले लेते हैं। यात्रियों और यजमानोंको सुविधा देनेका पूरा ध्यान रखते हैं।

इतनेमें त्रिवेणीकी धारामें एक अपूर्व दृश्य दिखायी दिया। सब लोग कौतूहलाक्रान्त हो उसी ओर एकटक देखने लगे। धारामें एक सुन्दर कमल अथवा गुलाबके फूल-सा कोई पदार्थ बहता दृष्टिगोचर हुआ। वह तैरता हुआ आकर एक जगह धारापर रुक गया और वहीं स्थिर हो गया। सभी देख-देख चकित होते थे कि वह क्या है? यदि वह टूटा हुआ फूल है तो एकाएक बहता हुआ ठहर क्यों गया? सो भी धारापर! उसे तो बहना ही चाहिये, धारामें रुका कैसे? इसी कौतुकावह समस्याको सुलझानेमें लोग भाँति-भाँतिकी कल्पनाएँ कर रहे हैं। सबके ध्यानको उसने आकर्षित कर लिया है, सबके नेत्र उसीपर लगे हुए हैं। इतनेमें विदर्भ-देशके सामन्त विजयपाल राष्ट्रकूटने अपनी सुन्दर-सुविशाल नौका मँगायी और उसपर सवार होकर धाराकी ओर उधर ही गये जिधर वह फूल-सा पदार्थ था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा तो कुछ और ही दृश्य दिखायी दिया। वह कुसुमवत् प्रतीयमान वस्तु एक अत्यन्त सुन्दरी गौरीरूपा कन्या थी। सात-आठ वर्षोंसे अधिक उसकी अवस्था नहीं थी। उसे उठाकर राष्ट्रकूट महोदयने अपनी गोदमें लिया और नौकाको तटकी ओर मोड़ा। जनता उत्सुकतासे नौकाकी ओर देखने लगी। जब तटपर वह आ लगी तब यात्रियोंकी भीड़ उमड़ पड़ी। सब उस शिशुको एकाएक निहारने लगे। कोई कहता—'शीतसे कुण्ठित हो गयी है, इसे आग तपाओ।' कोई कहता—'यह जल पी गयी है, इसे चाकपर घुमाओ।' अग्नि भी सिकायी गयी, चाक भी आया। जब चाकपर चढ़ानेको लोग तुले तब उस कन्याने इङ्गित करके निषेध किया। चाकपर फिराना रुका। एक ब्राह्मण, जो तटपर पूजा कर रहे थे, शालग्राम भगवान्का चरणामृत ले गये। उसे कन्याने पी लिया। अनन्तर विजयपाल राष्ट्रकूट उसे अपने शिविरमें ले गये और अपनी रानीकी गोदमें दिया।

राष्ट्रकूट-दम्पतिके कोई सन्तान न थी। अतः वे उस कन्याको त्रिवेणीका प्रसाद समझकर प्रसन्न हुए। उन लोगोंने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु उसने न कुछ खाया और न पीया और न वह कुछ बोली। हाँ, हाथसे वह कुछ सङ्केत करने लगी। परन्तु किसीने कुछ समझा नहीं। रानीने राष्ट्रकूट महोदयको बुलाया और उन्हें उसका सङ्केत दिखाया। पहले वे भी नहीं समझ सके। फिर एकाएक उनके ध्यानमें ईश्वरीय प्रेरणासे उसका कुछ मर्म आया। उन्होंने समझा कि वह किसी बड़े महात्माके पास ले चलनेको कहती है। अस्तु, वे उसे शृङ्गेरी-मठाधीश स्वामी सोमनाथाचार्यके पास ले गये और उसका वृत्तान्त कहा। कन्याने स्वामीजीसे देववाणीमें कहा—'किसी सद्वैष्णवको बुलाइये।' स्वामीजी बोले—'वैष्णव तो मैं भी हूँ।' फिर उस कन्याने कहा—'हाँ, वैष्णव तो हैं, परन्तु वैष्णवका स्वरूप नहीं प्राप्त किया है।' स्वामीजीने समझा कि तिलक आदि बाह्य चिह्नविशेषसे इसका तात्पर्य है, जो प्रायः तपस्वी (विरागी) वैष्णव धारण करते हैं। अतएव उन्होंने अपने एक पट्ट शिष्यसे कहा कि वह सङ्घमेंसे किसी उत्कृष्ट तपस्वी वैष्णवको ले आवे। वे महात्मा पीनस लेकर वैष्णव-समुदायमें गये और स्वामीजीका आदेश कहा। उसे सुनकर कतिपय वैष्णव महात्मा चलनेको उत्सुक हुए। तब उन दूत स्वामीने कहा—'पीनस तो एक ही आया है। आप लोग, जिन्हें इसमें बैठाना चाहें, उन्हें बैठा दें और अन्य महात्मागण पैदल चलें, तो सब लोग चल सकते हैं।' ऐसा ही हुआ, बहुत-से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैष्णव चले और स्वामी सोमनाथाचार्यके पास आये। उन्होंने सादर सबको बैठाया और कन्याका परिचय दिया।

उस अपूर्व कन्याने एक कटोरा तथा शालग्राम माँगा। स्वामीजीने अपना शालग्राम और पार्षदका चाँदीका कटोरा दिला दिया। कन्याने कटोरेमें गङ्गाजल भराया और उसमें शालग्राम भगवान्‌को छोड़ दिया। वैष्णवताकी परीक्षा उसने यह निर्धारित की कि जिसके देखनेसे शालग्रामजी तलेटीसे जलके ऊपर आ जायँ, वही सच्चा वैष्णव है।

उस कटोरेमें ताकनेके लिये सबसे प्रार्थना की गयी। सबने उसका अवलोकन किया, परन्तु शालग्रामजीने तलेटी न छोड़ी, तब स्वामीजीने स्वयं जाकर कटोरेमें देखा। उनके देखनेसे शालग्रामजीने पेंदेको छोड़ दिया और ऊपर उठकर कटोरेके मध्य जलमें आ गये। परन्तु जलके ऊपर नहीं आये। तब शृङ्गेरी-मठाधीशने अपने कतिपय विद्वान् और विवेकी शिष्योंको निर्देश किया कि वे बचे-बचाये वैष्णवोंमें अन्वेषण करें और सावधानतापूर्वक पहचानकर सद्वैष्णवको लावें।

वे दण्डी महात्मा सम्पूर्ण वैष्णव-समुदायों-(खालसों) में घूमे, परन्तु कोई वैष्णव नहीं मिला, अथवा उनकी दृष्टिमें नहीं जँचा। हाँ, एक किनारे एक गूदड़बाबा मिले, जिनमें ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि कोई भी वैष्णवताका चिह्न नहीं था। न तो वे तपस्वी अथवा विरागी वैष्णव जान पड़ते थे और न दण्डी ही, वे अपने निराले बेढङ्गे ढङ्गके महात्मा थे। एक कुबड़ी-लकुटी, एक फटी-कटी गुदड़ी और एक फूटी-सी तुम्मी--बस, यही उनका सामान था। उनसे स्वामीजीके शिष्योंने प्रार्थना की और गुरुकी आज्ञा सुनायी। गूदड़बाबा बोले, अनखाकर बोले—'बाबा, मुझे ले जाकर क्या करोगे, मैं कहाँ जाऊँ? तुम्हारे स्वामीजीने वैष्णवको बुलाया है, बहुत-से वैष्णव मिलेंगे, ले जाओ। मुझे क्यों छेड़ते हो! मैं तो एक दीन भिक्षुकमात्र हूँ।' स्वामीजीके गणोंने कहा—'जितने गये थे, उनमेंसे वैष्णवताकी परीक्षामें कोई भी उत्तीर्ण नहीं हुआ, कोई भी सच्चा वैष्णव नहीं निकला। इससे आचार्यचरणने आप-जैसे छिपे हुए वास्तविक वैष्णव-महात्माओंकी खोजमें भेजा है। अतः कृपया आप हमारे प्रयत्नको सफल कीजिये और चलनेका कष्ट उठाइये।' गूदड़बाबा बोले--'तुम्हारे स्वामीजीने जाने क्या कहा है! मुझमें कौन-सा वैष्णवताका लक्षण है? तुम व्यर्थमें क्यों अटक-भटक रहे हो? जाओ और कहीं ढूँढ़ो। अपना समय न नष्ट करो।' उन्होंने फिर भी प्रार्थनाएँ की, लेकिन बाबाजी टससे मस न हुए। वे दण्डी महात्मा भी मिले हुए शिकारकी तरह भरपूर उनके पीछे पड़ गये। उन्होंने कहा—'अब हम कहाँ किसको खोजते फिरें? आप ही कृपा कीजिये, फिर, हम आपको यहाँ पहुँचा देंगे। यदि आप यों नहीं चलेंगे तो हम आपको श्रद्धापूर्वक उठा ले चलेंगे। किसी-न-किसी तरह हम आपको वहाँ ले ही चलना चाहते हैं। हमारे अन्तरात्माकी ऐसी ही प्रेरणा हो रही है। अब, आप कृपया अधिक न उलझिये।' उनका ऐसा प्रेमाग्रह देखकर गूदड़-बाबा बोले—'अच्छा, भाई! चलो, फिर क्या करें, तुम नहीं मानते, तुल गये हो।' ऐसा कहकर वे उठे और उनके साथ हो लिये।

(३)

गूदड़बाबा आ गये। शृङ्गेरी-मठाधीशने प्रेमपूर्वक उनका स्वागत किया, वे आसनसे उठकर खड़े हो गये। सब वैष्णववृन्द उन्हें देखकर चकित रह गये कि ये अच्छे वैष्णव बुलाये गये हैं। कुछ लोगोंने तो कहा कि 'लानेवालोंने तङ्ग आकर जो मिला, उसे ही लाकर खड़ा कर दिया और किसी प्रकार गुरुकी गरीयसी आज्ञाका पालन किया। भला, ये लोग तो जिसे-तिसे लाये और जैसे-तैसे आदेशका पालन किया, पर ये स्वामी भी अच्छे रहे! कैसा आचार्यवत् सम्मान किया है!' इसी प्रकार भाँति-भाँतिकी जल्पनाएँ-कल्पनाएँ लोग करने लगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गूदड़बाबाको समादरसहित स्वामीजीके शिष्य उस कटोरेके पास ले गये जिसमें शालग्राम-जी थे। पर बाबाजीने तो आँखें ही बन्द कर लीं। तब, उनसे आँखें खोलने और उस कटोरेमें देखनेकी प्रार्थना की गयी। किसी प्रकार कहते-सुनते उन्होंने आँखें खोलीं और कटोरेकी ओर दृष्टि निक्षेप किया। उनके देखते ही भगवान् शालग्राम जलके ऊपर आ गये। 'धन्य-धन्य' और 'जय-जय' की ध्वनि चारों ओर गूँज उठी। लोग कहने लगे—'यही सच्चे वैष्णव हैं।' गूदड़ीके उस अमूल्य लालकी परख हो गयी, सच्चे वैष्णव वे निकले, जिनकी वैष्णवताकी कोई कल्पना भी नहीं करता था। ऐसे निःस्पृह-निरपेक्ष बेलाग फक्कड़ोंको कौन पहचान सकता है?

काहू आसहू न राखैं कछु पासहू न राखैं
नहिं काहूसों भाखैं न माखैं छाहँ घामकी।
खालमैं खली है खिली त्रिबली उदर-भाल
निकली नली है अचली है चाम छामकी॥
आह नहीं दाह नहीं चाहहू उछाह नहीं
काहूकी न राह परवाह नहीं दामकी।
तुमड़ी फुटी है 'बिन्दु' कटिकी पटी है फटी
पेटकी कटी है पै रटी है 'रामनाम'की॥

संसारमें अधिकांश दम्भ और पाखण्ड ही फैला हुआ है, उसमें सचाई छिपी हुई है, उसे कोई-कोई आँखवाले ही परखते हैं—

'दिलवाले हैं हरचन्द जिगरवाले हैं।
यह सच है निगाहोंमें असरवाले हैं॥
जो देखनेकी चीज़ थी देखी न गई।
यों कहनेको हमलोग नज़रवाले हैं॥'
—आज़र

न वे आँखें ही सर्वत्र हैं और न वे रत्न ही—

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥

हाट-हाट हीरा नहीं घर-घर राजा नाहिं।
'चतुर्भुज' विरही रामके कोऊ एक जग माहिं॥

तब वह कन्या उन सच्चे वैष्णवका चरणामृत लेनेके लिये आगे बढ़ी। पर वे बेढब महात्मा जल्द कब माननेवाले? उन्होंने कहा—'नहीं, नहीं, यह सब क्या?' उस समय उस अलौकिक कन्याने बड़े ही करुणार्द्र भावसे उनसे कहा—'भगवन्! मैं वैष्णवी देवी हूँ। त्रिवेणी-स्नानके निमित्त मैं आयी थी। परन्तु स्पर्श-दोषसे मेरी शक्ति नष्ट हो गयी। वह आपके चरणोदक-पानसे जाग्रत हो जायगी और मैं अपने लोकको चली जाऊँगी। इसी हेतु आपकी कृपाकी भिक्षा माँग रही हूँ। महज्जन उदाराशय और दयालु होते हैं, वे पर-दुःख-कातर होते हैं। मेरी दीन दशापर आप दया कीजिये और अपना चरणामृत मुझे लेने दीजिये।'

सब लोग उस कन्याकी दीन वाणी सुनकर करुणार्द्र और विस्मित हो गये। बाबाजी बोले—'अच्छा, बता, हमको भी अपने लोकको ले चलेगी?' कन्याने कहा—'हाँ, अवश्य, आप-जैसोंके लिये तो वह है ही। वहाँ तो आपको रहना ही चाहिये। यह कलियुगकी पृथ्वी तो आपके योग्य भी नहीं। परन्तु भगवन्! यह गूदड़ी तो उतार दीजिये और लकुटी रख दीजिये। केवल केलेका कौपीन धारण किये रहिये और फिर चलिये।' पर वे क्यों ऐसा करने लगे? वे बोले—'नहीं, नहीं, ये सब लिये चलेंगे।' क्या करे, हारकर उसने कहा—'अच्छा, जैसी आपकी इच्छा, इन्हें भी ले चलिये।'

बाबाने चरणामृत दे दिया। तत्काल उस देवीकी शक्ति जाग्रत हो उठी और उसमें उड़नेकी स्फूर्ति उत्पन्न हो गयी। वह आकाशमार्गमें उठी और गूदड़बाबासे बोली—'अच्छा, अपनी लकुटी हमें पकड़ाइये।' बाबाने लकुटीका कूबड़सिरा उसे थमाया और उसके साथ उड़ चले। सब लोग कौतूहलपूर्वक यह अभूतपूर्व दृश्य देखते रह गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान्‌की दया

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कुछ मित्र मुझे ईश्वरके सद्गुणोंके सम्बन्धमें लिखनेको कहते हैं, परन्तु मैं इस विषयमें अपनेको असमर्थ समझता हूँ, क्योंकि ईश्वरके सद्गुणोंका कोई पार नहीं है। संसारमें जितने उत्तम गुण देखने, सुनने और पढ़नेमें आते हैं, वे सभी परिमित—ससीम हैं और उस अप्रमेय—असीम परमात्माके एक अंशके द्वारा प्रकाशित हो रहे हैं। 'एकांशेन स्थितो जगत्' (गी० १० । ४२) परमात्माके गुणोंका सम्यक् प्रकारसे वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। वेद-शास्त्रमें जो कुछ कहा गया है, वह सर्वथा स्वल्प ही है, अन्य गुणोंकी बात तो अलग रही। उस दयामयकी केवल एक दयाके विषयमें खयाल किया जाय तो मुग्ध हो जाना पड़ता है। अहा ! उसकी असीम दयाकी थाह कौन पा सकता हैं ? जब एक दयाका वर्णन ही मनुष्यके लिये अशक्य है तो सम्पूर्ण सद्गुणोंका वर्णन करना असम्भव है। लोग उन्हें दयासिन्धु कहते हैं, वेद-शास्त्रोंने भी उनको दयाका समुद्र बताया है परन्तु विचार करनेपर प्रतीत होता है कि यह उपमा समीचीन नहीं है, यह तो उसकी अपरिमित दयाके एक अंशमात्रका ही परिचय है। क्योंकि समुद्र परिमित है और सब ओरसे सीमाबद्ध है परन्तु अपरिमेय परमात्माकी दया तो अपार है। उसके साथ अनन्त समुद्रोंकी भी तुलना नहीं की जा सकती। अवश्य ही जो उन्हें दयासिन्धु और दयासागर बताते हैं, मैं उनकी निन्दा नहीं करता। कारण, संसारमें जो बड़ी-से-बड़ी चीज़ प्रत्यक्ष देखनेमें आती है; बड़ोंके साथ उसीकी तुलना देकर लोग समझा-समझाया करते हैं।

जहाँ मन और बुद्धिकी पहुँच नहीं, वहाँ एकबारगी उसका वाणीसे तो वर्णन हो ही कैसे सकता है? तथापि जो कुछ वर्णन किया जाता है सो वाणीसे ही किया जाता है, चाहे वह कितना ही अल्प क्यों न हो, इसलिये भगवान्‌की दयाका जो वर्णन वाणीसे किया गया है, वह पर्याप्त नहीं है। ईश्वरकी दया उससे बहुत ही अपार है। परमात्माकी दया सम्पूर्ण जीवोंपर इतनी अपार है कि जो मनुष्य इसके तत्त्वको समझ जाता है वह भी निर्भय हो जाता है, शोक-मोहसे तर जाता है, अपार शान्तिको प्राप्त होता है और वह स्वयं दयामय ही बन जाता है। ऐसे पुरुषकी सम्पूर्ण क्रियाओंमें भी दया भरी रहती है। उससे किसीकी भी हिंसा तो हो ही नहीं सकती।

दयामय परमात्माकी सब जीवोंपर इतनी दया है कि सम्पूर्णरूपसे तो उस दयाको मनुष्य समझ ही नहीं सकता। वह अपनी समझके अनुसार अपने ऊपर जितनी अधिक-से-अधिक दया समझता है, वह भी नितान्त अल्प ही होती है। मनुष्य ईश्वर-दयाकी यथार्थ कल्पना ही नहीं कर सकता। भगवान्‌की वह अनन्त दया सबके ऊपर समभावसे गंगाके प्रवाहकी भाँति नित्य, निरन्तर चारों ओरसे बह रही है। इस दयासे जो मनुष्य जितना लाभ उठाना चाहता है, उतना ही उठा सकता है। खेदकी बात है कि लोग इस रहस्यको न जाननेके कारण ही दुखी हो रहे हैं। यह उनकी मूर्खता है। इन लोगोंकी वही दशा समझनी चाहिये, जैसी उस मूर्ख प्यासे मनुष्यकी है जो नित्य, निरन्तर शीतल, सुमधुर जलको प्रवाहित करनेवाली भगवती गंगाके किनारे पड़ा हो, परन्तु ज्ञान न होनेके कारण जल न ग्रहण कर प्यासके मारे तड़प रहा हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वरकी दया अपार है परन्तु जो जितनी मानता है उतनी ही दया उसको फलती है इसलिये उस ईश्वरकी जितनी अधिक-से-अधिक दया तुम अपने ऊपर समझ सको उतनी समझनी चाहिये। तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक होगी, तुम्हें उतना ही अधिक लाभ होगा। यद्यपि भगवान्‌की दयाका थाह उसी प्रकार किसीको नहीं मिलता, जैसे विमानपर बैठकर आकाशमें उड़नेवाले मनुष्यको आकाशका थाह नहीं मिलता, परन्तु इस दयाका थोड़ा-सा रहस्य जाननेपर भी मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। जैसे अथाह गंगाके प्रवाहमेंसे मनुष्यकी प्यास बुझानेके लिये एक लोटा गंगाजल ही पर्याप्त है वैसे ही उस अपार, अपरिमित दयासागरकी दयाके एक कणसे ही मनुष्यकी अनन्त जन्मोंकी शोकाग्नि सदाके लिये शान्त हो जाती है। यह तुलना भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि साधारण जल-बुद्धिसे पीये हुए गंगाजलके एक लोटे जलसे तो मनुष्यकी प्यास थोड़ी देरके लिये शान्त होती है, परन्तु ईश्वरकी दयाके कणसे तो भय, शोक और दुःखोंकी निवृत्ति एवं शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। अतएव सबको चाहिये,कि उस परमेश्वरके शरण होकर उसकी दयाकी खोज करें।

भगवान्‌की दया सर्वथा, सर्वदा और सर्वत्र व्याप्त है। सुख या दुःख, जय या पराजय जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह ईश्वरकी दयासे पूर्ण है और स्वयं ईश्वरका ही किया हुआ विधान है। उसीकी दया इस रूपमें प्रकट हुई है। मनुष्य जब इस रहस्यको जान लेता है तब उसे सुख और विजय मिलनेपर जो हर्ष प्राप्त होता है, वही दुःख और पराजयमें भी होता है। जबतक ईश्वरके विधानमें सन्तोष नहीं है और सांसारिक सुख-दुःखादिकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक होता है, तबतक मनुष्यने भगवान्‌की दयाके तत्त्वको वास्तवमें समझा ही नहीं है। जब ईश्वरको कर्मोंके अनुसार फल देनेवाला, न्यायकारी, परम प्रेमी, परम हितैषी, परम दयालु और सुहृद् समझ लिया जायगा, तब उनके किये हुए सभी विधानोंमें अपार आनन्द-का पार न रहेगा। विषयी और पामर पुरुषोंके हृदयमें तो स्त्री-पुत्र, धन-धामकी प्राप्तिमें क्षणिक आनन्द होता है, किन्तु दयाके मर्मज्ञ उस पुरुषको तो पुत्रकी उत्पत्ति और नाशमें, धनके लाभ और हानिमें, शरीरकी नीरोगता और रुग्णतामें तथा अन्यान्य सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशमें, जैसे-जैसे वह भगवान्‌की दयाके प्रभावको समझता जायगा, वैसे-वैसे ही नित्य, निरन्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विलक्षण आनन्द, शान्ति और समता-की वृद्धि होती जायगी।

जो पुरुष भगवान्‌की दयाके यथार्थ प्रभावको जान जाता है, उसके उद्धारकी तो बात ही क्या है? वह दूसरोंके लिये भी मुक्तिका दाता बन जाता है। क्योंकि भगवत्कृपा ऐसी ही वस्तु है। वह भगवत्कृपा मूकको वाचाल बना देती है और पङ्गुको पर्वत लाँघनेकी शक्ति देती है। संसारमें न होनेवाले काम वह दया करा देती है। परमात्मा सर्व-समर्थ हैं, उनके लिये कोई भी काम अशक्य नहीं है। जीव सब प्रकारसे असमर्थ है, पर परमेश्वरकी दया और आज्ञासे वह भी चाहे सो कर सकता है। मच्छर ब्रह्मा बन सकता है। अब यह प्रश्न उठता है कि जब सभी जीवोंपर भगवान्‌की दया सर्वथा अपार और सम है, तब उनकी दुर्दशा क्यों हो रही है? इसका उत्तर यह है कि लोग भगवान्‌की दयाके प्रभावको नहीं जानते। एक दरिद्रके घरमें पारस है, परन्तु जैसे वह पारसका ज्ञान न होनेके कारण दरिद्रताके दुःखसे दुखी हो दीनताके साथ भीख माँगता फिरता है वैसे ही दयाके तत्त्वको न समझनेके कारण सब जीव दुखी हो रहे हैं। लोगोंको चाहिये कि वे दयाके तत्त्वको जाननेके लिये तत्पर होकर चेष्टा करें। परमात्माकी दया जाननेके लिये मनुष्यको परमेश्वरसे नित्य गद्गद-वाणीसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनयपूर्ण प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थनासे, उसकी दयाके महत्त्वको यत्किञ्चित् जाननेवाले पुरुषोंका संग करनेसे, सत्शास्त्रोंके विचारसे और परमेश्वरके किये हुए समस्त विधानोंमें दयाकी खोज करनेसे मनुष्य दयाके तत्त्वको जान सकता है।

यद्यपि भगवान्की दयाके तत्त्वको बतानेवाले महात्माओंका मिलना बहुत कठिन है, तथापि चेष्टा करनी चाहिये। जो महात्मा दयाके महत्त्वको कुछ जानते हैं वे भी जितना जानते हैं उतना वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकते। क्योंकि भगवान्की इतनी दया है कि सारे संसारकी दयाको इकट्ठी करो तो वह भी दयासागरकी दयाके एक कणके बराबर नहीं हो सकती।

जिसके घरमें पारस है उसकी दरिद्रताका नाश-जैसे पारसके प्रभावको जानते ही हो जाता है, वैसे ही भगवान्की दयाके प्रभावको समझनेपर मनुष्यके सब प्रकारके दुःखोंका सर्वथा नाश हो जाता है। जो मनुष्य भगवान्की दयाके प्रभावको जान जाता है, वह पद-पदपर उस दयालुका स्मरण करके नित्य, निरन्तर आनन्दमें डूबा रहता है। अपने ऐसे प्रियतम सुहृद्को कोई कैसे भूल सकता है? वह जो कुछ क्रिया करता है, सब उस परम दयालु परमेश्वरकी आज्ञानुसार ही करता है। उसकी कोई भी क्रिया परमात्माकी इच्छाके विपरीत नहीं हो सकती। जब साधारण सत्पुरुष ही अपने उपकारी और दयालुको भूलकर उसके विपरीत क्रिया नहीं करता तब परमात्माकी दयाके प्रभावको जाननेवाले महात्मा पुरुष परमात्माको कैसे भूल सकते हैं और कैसे उनके विपरीत कोई क्रिया कर सकते है? ऐसे पुरुषों द्वारा किया हुआ आचरण ही 'सदाचार' कहलाता है और लोग उसे प्रमाण मानकर उसीके अनुसार चलते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गी० ३। २१)

अब यह समझना चाहिये कि दया किसको कहते हैं। 'किसी भी दुःखी, आर्त प्राणीको देखकर उसके दुःख एवं आर्तताकी निवृत्तिके लिये अन्तःकरणमें जो द्रवतायुक्त भाव पैदा होता है उसीका नाम दया है।' परमेश्वरकी यह दया सब जीवोंपर समान भावसे सदा-सर्वदा अपार है। जीव कितना भी परमेश्वरके विपरीत आचरण करे, परन्तु परमेश्वर उसको सदा ही दयाकी दृष्टिसे देखते हैं। इसके उपयुक्त हमें संसारमें कोई उदाहरण ही नहीं मिलता। माताका उदाहरण दिया जाता है, वह कुछ अंशमें ठीक भी है। बालक बहुत कुपात्र और नीच वृत्तिवाला है, नित्य अपनी माताको सताता है, गाली देता है, ऐसा होनेपर भी माता बालकके मंगलकी ही कामना करती है, कभी उसका पतन या नाश नहीं चाहती। यह उसकी दया है, परन्तु भगवान्की दयाको समझनेके लिये यह दृष्टान्त सर्वथा अपर्याप्त है। ऐसा भी देखा जाता है कि विशेष तंग करनेपर दुःख सहनेमें असमर्थ होनेके कारण स्वार्थवश माता भी बालकको त्याग देती है और कभी-कभी उसके अनिष्टकी इच्छा भी कर सकती है परन्तु परम पिता परमेश्वरके कोई कितना ही विरुद्ध आचरण क्यों न करे, वह कभी न तो उसका त्याग ही करते हैं और न अनिष्ट ही चाहते हैं। यह उनकी परम दयालुताका निदर्शन है। विपरीत आचरण करनेवालेको भगवान् जो दण्ड देते हैं वह भी उनकी परम दया है। बालकके अनुचित आचरण करनेपर जैसे गुरु उसके हितके लिये एवं उसे दुराचारसे हटानेके लिये दण्ड देता है अथवा जैसे चोरी करनेवाली और डाका डालनेवाली प्रजाको न्यायकारी राजा जो उचित दण्ड देता है, वह गुरु और राजाकी दया ही समझी जाती है वैसे ही परमात्मारूप गुरुके किये हुए दण्ड-विधानको भी परम दया समझना चाहिये। यह उदाहरण भी पर्याप्त नहीं है। गुरु तथा राजासे भूल भी हो सकती है, किसी अन्य कारणसे भी वे प्रमादवश दण्ड देते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु ईश्वरका दण्ड-विधान तो केवल दयाके कारण ही होता है। हम जब परमात्माकी दयापर विचार करते हैं तो हमें पद-पदपर परमात्माकी दयाके दर्शन होते हैं। प्रथम तो परमेश्वरके नियमोंकी ओर ही देखिये, वे कितने दयासे भरे हैं। कोई जीव कैसा भी पापी क्यों न हो, अनेक तिर्यक्‌-योनियोंके भोगनेपर उसको भी अन्तमें परमात्मा मनुष्यका शरीर देते ही हैं। यदि उसके पापोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो उसे मनुष्यका शरीर मिलनेकी बहुत ही कम गुञ्जाइश रह जाती है। परन्तु यह उस परमात्माकी हेतुरहित परम दयाका ही कार्य है जो पुनः उसको मनुष्य-शरीर देकर सुधारका मौका देती है। गुसाईंजी कहते हैं—

आकर चारलाख चौरासी। योनिन भ्रमत जीव अबिनासी।
कबहुँक करि करुणा नरदेही। देत ईश बिन हेतु सनेही॥

दूसरा कानून है, कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, जब वह भगवान्‌की शरण हो जाता है अर्थात् अबसे सम्पूर्ण पापोंको छोड़कर भगवान्‌के अनुकूल बन जाता है तो भगवान् उसके पिछले सारे पाप नाशकर उसे तत्काल मुक्ति-पद दे देते हैं। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

तीसरा कायदा है कि एक साधारण-से-साधारण मनुष्य भी परमात्माको प्रेमसे भजता है, तो परमेश्वर भी उसको उसी प्रकार भजते हैं। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' इतना ही नहीं, परमेश्वरके भजनके प्रतापसे उसके पूर्वके किये हुए सब पापोंका नाश हो जाता है और वह शीघ्र ही परम धर्मात्मा बनकर दुर्लभ परम गतिको प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गी० ९। ३०-३१)

जो परमेश्वरकी भक्ति करता है, उसकी वे सब प्रकारसे रक्षा और सहायता करते हैं एवं उचित बुद्धि देकर इस असार संसारसे उसका उद्धार कर देते हैं।

आप विचारिये कि इन कानूनोंमें परमात्माकी कितनी भारी दया भरी है। यही नहीं, भगवान्‌के सभी नियम इसी प्रकार दयापूर्ण हैं। विस्तार-भयसे यहाँ नहीं लिखे जाते। ऐसे दयाभरे नियम संसारमें माता, पिता, गुरु, राजा आदि किसीके यहाँ नहीं हैं।

अब दूसरी ओर ध्यान दीजिये ईश्वरने हमारी सुविधाके लिये संसारमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि ऐसे-ऐसे अद्भुत पदार्थ बनाये हैं जिनसे हम आरामसे जीवन धारण करते हैं और सुखसे विचरते हैं। यह सब चीज़ें सबको बिना मूल्य बिना किसी रुकावटके पूरी मात्रामें समान भावसे सहज ही प्राप्त हैं। कोई कैसा भी महान् पापी क्यों न हो, भगवान्‌के इस दानसे वह वञ्चित नहीं रहता।

संसारके विषयोंकी भी रचना ईश्वरने इस ढंगसे की है कि उनकी अवस्थापर विचार करनेसे भी बड़ा उपदेश मिलता है। हम जिस किसी भी पदार्थकी ओर नज़र उठाकर देखते हैं, वही क्षय और नाश होता हुआ प्रतीत होता है। यह भी एक दयाका ही निदर्शन है। संसारके इन सब पदार्थोंको देखनेसे हमें यह उपदेश मिलता है कि स्त्री, पुत्र, धन, संसारके सम्पूर्ण पदार्थ एवं हमारा शरीर भी क्षणभंगुर और नाशवान् है, इसलिये हमको उचित है कि अपने अमूल्य समयको इन विषयोंके भोगनेमें व्यर्थ नहीं बितावें।

परमात्माकी दया तो समान भावसे सबपर सदा ही है, परन्तु मनुष्य जब परमात्माकी शरण हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है तब तो ईश्वर उसपर विशेष दया करते हैं। जैसे सुनार सुवर्णको आगमें तपाकर पवित्र बना लेता है, वैसे ही परमात्मा अपने भक्तको अनेक प्रकारकी विपत्तियोंके द्वारा तपाकर पवित्र बना लेते हैं। जब भक्त प्रह्लादने भगवान्‌की शरण ली, तब पहले-पहले उसपर कैसी-कैसी विपत्तियाँ आयीं! वह अग्निमें जलाया गया, जलमें डुबाया गया, उसे विष पिलाया गया, वह शस्त्रोंसे कटाया गया। परन्तु जैसे-जैसे उसे संकटोंकी प्राप्ति अधिकाधिक होती गयी, वैसे-ही-वैसे दयाका अनुभव अधिकतर होता गया और इस कारण वह परम पवित्र होकर अन्तमें परमात्माको प्राप्त हो गया। लोगोंकी दृष्टिमें तो यही बात है कि प्रह्लादको बहुत दुःख झेलना पड़ा, उसपर अनेक अत्याचार हुए, उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा। कोई-कोई भोले भाई तो यहाँतक भी कहते हैं कि भगवान्‌की भक्ति करनेवालोंको भगवान् उत्तरोत्तर अधिक विपत्ति देते हैं, परन्तु वे बेचारे इस बातको समझते नहीं कि भगवान्‌की विधान की हुई इस विपत्तिमें कितनी भारी सम्पत्ति छिपी रहती है।

प्रह्लाद इस तत्त्वको समझता था, इसलिये उसे इन विपत्तियोंमें भगवद्दयारूपी सम्पत्तिके प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। जो मनुष्य प्रह्लाद भक्तकी तरह प्राप्त हुई विपत्तियोंमें परमात्माकी दया देखता है उसके लिये वे सारी विपत्तियाँ तत्काल ही सम्पत्तिके रूपमें परिणत हो जाती हैं।

आप प्रह्लादके चरित्रको पढ़िये, उसके वचनोंमें पद-पदपर कितना धैर्य, निर्भयता, शान्ति, निःस्पृहता, निष्कामता और आनन्द चमकता है। अग्निमें न जलकर प्रह्लाद कहते हैं—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि,
न मां दहत्यत्र समं ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि,
शितानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि॥

'हे तात! यह महान् वायुसे प्रेरित धधकती हुई अग्नि मुझे नहीं जलाती, इसमें आप कोई आश्चर्य न करें। क्योंकि मैं इस अग्निमें और अपनेमें समभावसे उस एक ही सर्वव्यापी भगवान् विष्णुको देखता हूँ, अतएव अग्निकी ये लपटें मुझको चारों ओर शीतल कमलपत्रके सदृश बिछी हुई सुखमयी प्रतीत होती हैं।'

जब गुरुपुत्र षण्डामर्कके द्वारा उत्पन्न की हुई कृत्याने प्रह्लादको मारनेमें असमर्थ होकर षण्डामर्कको ही मार डाला, तब दयामय प्रह्लाद श्रीभगवान्‌से कहने लगे—

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानो न पावकम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
तथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥

जैसे मैं आप श्रीविष्णुको सर्वगत मानकर अग्निसे बच गया हूँ, शत्रुओंको भी मैं वैसा ही समझता हूँ, अतएव ये पुरोहित जीवित हो जायँ। यदि मैं अपने मारनेकी इच्छावाले विषदाता, अग्निदाता, दिग्गज, सर्प आदि शत्रु-पक्षवालोंको भी मित्र समझता होऊँ और उनका किञ्चित् भी अनिष्ट न चाहता हूँ तो इसी मन्त्रके प्रभावसे हे भगवन्! ये दोनों पुरोहित जीवित हो जायँ।

साधन-कालमें भगवान् अपने भक्तोंपर जो विपत्तियाँ डालते हुए-से दीखते हैं और किसी-किसीकी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति भी हर लेते हैं, सो किसलिये? उन्हें अज्ञानरूपी निद्रासे जगानेके लिये, साधनकी रुकावटोंको हटानेके लिये, पापोंसे पवित्र करनेके लिये, कायरताका नाश करके उन्हें वीर और धीर बनानेके लिये, सच्ची भक्तिको बढ़ानेके लिये और उनकी ऐसी विमल कीर्ति फैलानेके लिये, जिसे गा-गाकर लोग पवित्र हो जायँ। क्योंकि विपत्तिकालमें भगवान् जितने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

याद आते हैं उतने सम्पत्तिकालमें नहीं आते। इसीलिये कुन्तीदेवीने भगवान्‌से विपत्तिका वर माँगा था।

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भागवत १।८।२५)

'हे जगद्गुरो! हम चाहती हैं कि पद-पदपर हमपर विपत्तियाँ आवें, जिनसे हमें संसारसे छुड़ानेवाला आपका दुर्लभ दर्शन मिलता रहे।'

परन्तु यह कोई नियम नहीं कि भक्ति करनेवालेको भगवान् अवश्य विपत्ति देते हैं। जैसा अधिकारी होता है; वैसी ही व्यवस्था की जाती है।

यदि आप खयाल कर-कर देखें तो आपको स्पष्ट दीखेगा कि परमात्माकी दयाकी निरन्तर अनवरत वर्षा हो रही है। इस वर्षाकी शीतल सुधाधाराका आनन्द उन्हींको मिलता है जो भगवान्‌की शरण होकर उनकी दयाकी ओर ध्यान देते हैं। दयाकी ऐसी अनवरत वृष्टि होते रहनेपर भी उनकी दयाका प्रभाव न जाननेके कारण लोग लाभ नहीं उठा सकते। कोई तो मूर्खतावश छाता लगा लेते हैं और कोई मकानमें घुस जाते हैं। कभी-कभी परमात्माकी विशेष दयासे पूर्वके पुण्योंके पुञ्जके कारण, उनके प्रेम, प्रभाव, गुण और रहस्यकी अमृतरूप कथा बिना चाहे और बिना चेष्टा किये स्वतः ही आ प्राप्त होती है, उसके तत्त्वको नहीं समझनेके कारण, उपेक्षा करके जो मनुष्य चला जाता है, उसका अमृतरूपी वर्षासे भागकर घरमें घुस जाना है और कथामें उपस्थित रहकर जो आलस्य और नींद लेना है, वह अपने ऊपर छाता लगा लेना है।

ईश्वरकी दयाके लिये क्या कहा जाय? सम्पूर्ण जीवोंके मस्तकपर उनका निरन्तर हाथ है, परन्तु अभागे जीव उस हाथको हटाकर परे कर देते हैं!

जब यह जीव कोई बुरा काम करनेके लिये तैयार होता है तो प्रायः ही उसीके हृदयसे यह आवाज़ आती है कि 'यह बुरा काम है।' इसप्रकारकी जो चेतावनी है, यह ईश्वरका मस्तकपर हाथ है। ईश्वर उसको समयपर चेता देते हैं। मालूम होता है, मानो हृदयस्थ कोई पुरुष निषेध करता है कि यह काम बुरा है, परन्तु काम या लोभके वश होकर ईश्वरकी आज्ञाकी अवहेलना करके बुरे काममें प्रवृत्त हो ही जाता है, यही उस कृपासिन्धुकी कृपाकी अवहेलना करना है अर्थात् अपने मस्तकपर जो उनका हाथ है उसको परे हटाना है।

समय-समयपर परमेश्वर उत्तम काम करनेके लिये भी हृदयमें प्रेरणा करते हैं। भजन-ध्यान, सेवा-सत्संग आदि करनेकी स्फुरणा होती है, परन्तु यह जीव उसकी अवहेलना करके संसारके विषय-भोग और प्रमादमें लग जाता है, यह भी उस दयामयका हमारे सिरपर जो हाथ है उसको परे करना है।

इसके सिवा जब संसारका ऐश्वर्य अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि आकर प्राप्त होते हैं, जिसको हम सुख और सम्पत्तिके नामसे कहते हैं, उनमें भी समय-समयपर क्षय और नाशकी भावना उत्पन्न होती है और वह भी स्वाभाविक हमको क्षणभङ्गुर और नाशवान् प्रतीत होते हैं। ऐसी प्रतीति होनेपर भी हम उनका त्याग या सदुपयोग नहीं करते, यह उस दयामय ईश्वरका हाथ अपने मस्तकसे परे हटाना है।

ईश्वरकी प्राप्तिके साधनमें बाधकरूप जो संसारके धन-जन-मान-ऐश्वर्य आदिके नाश होनेपर पुनः उन क्षणभङ्गुर, नाशवान्, दुःखमय पदार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छा जो करना है, यह भी उस दयामयका हाथ अपने मस्तकसे परे हटाना है।

जब भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और प्रभावकी स्वतः ही इनमें स्फुरणा होती है तो समझना चाहिये कि यह उनकी सबसे विशेष दया है। तिसपर भी हम उनको भुला देते हैं और स्मरण रखनेकी उचित कोशिश नहीं करते हैं, यही उस दयामयकी दयाका हाथ हमारे मस्तकसे परे कर देना है।

इसलिये हमलोगोंको चाहिये कि भगवान्‌की दयाको पहचानें और सर्वथा उसकी संरक्षकतामें रहकर नित्य निर्भय और परम सुखी हो जायँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साकेतवासी श्री१०८ स्वामी गोमतीदासजी

भौम त्रयोदशि असित मधु असीसातके जात ।
संत सिरोमनि सुखद गुरु त्याग्यौ भव हर्षात ॥
मंगल दिन मंगल अवध मंगल सरजू-नीर ।
मंगल तन मंगल महल भेट्यो सिय-रघुबीर ॥

परहित बस जिनके मन माहीं। तिनकहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

जिन श्रीअवधके प्राणस्वरूप पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी गोमतीदासजीकी युगलोपासनाकी अनन्य ईशभक्तिके मधुर रसास्वादनके लिये, आजकी नयी रोशनीकी नयी दुनियाँ भी अयोध्याके 'श्रीहनुमन्निवासपर' टूटी पड़ती थी और जिनकी अनन्य भक्त-वत्सलता, गुरुकृपा, निष्काम ईशसेवा तथा परोपकारिता और निःस्पृहताने श्रीहनुमन्निवासको यथार्थ ही 'ज्ञानिनामग्रगण्य' वानराधीश भक्त-शिरोमणि योगिराज हनुमान्‌की क्रीड़ा-स्थली तथा युगलसरकार श्रीसीतारामका विहारोद्यान ही बना रक्खा था, उन्हीं श्रीअवधके भक्ताग्रगण्य महान् आत्माकी 'साकेत विहारिता' गत चैत्र बदी १३ को अभूतपूर्व ढंगसे एक सच्चे भक्तशिरोमणि योगिराजकी-सी हुई !

कहते हैं कि आपका शुभ जन्म पञ्जाब प्रान्तके किसी सारस्वत सद्ब्राह्मणके घर हुआ था। यद्यपि आपकी जन्मतिथिका निर्णय विवादास्पद ही है तथापि यह तो निश्चित ही है कि अपने लीला-संवरण करनेके समय आपकी वय सौ वर्षसे अधिक ही थी !

कहते हैं कि प्रारब्धवश अपनी बाल्यावस्थामें ही आपको गृह-त्याग करना पड़ा था और आप किसी साधुके साथ अमृतसर (पंजाब) के दुर्ग्याना नामक गुरुद्वारे वा साधुओंके अखाड़ेमें सम्मिलित हो गये थे ! आपके दीक्षागुरु श्रीसरयूदासजी थे। इस गुरुद्वारेमें बड़े बड़े सिद्ध और विरक्त होते आये हैं, जिन्होंने अपने मठ अमृतसर, पेशावर और काबुल-जैसे कट्टर मुस्लिम स्थानोंमें भी स्थापित किये थे और जहाँ इन दिनों भी साधुसेवा तथा सन्तसमागमकी भीड़-सी रहा करती है। हमारे चरितनायकने अपना अधिकांश प्रारम्भिक जीवन इन्हीं साधुओंकी संगति और सेवामें बिताया। यौवनके समागमके साथ-ही-साथ आपसे 'मठाधीश' होनेका अनुरोध किया गया, पर आपके हृदयमें तो बाल्यावस्थासे ही वैराग्यका सच्चा भाव अङ्कुरित हो गया था और आपको 'प्रभुत्व' तथा 'अधिकार' का गन्ध भी नहीं छू गया था। आपको 'मठाधीश' की गद्दी दी जायगी, यह सुनते ही आप चुपचाप अपने गुरुद्वारेसे जो आपके बचपनसे ही आपका क्रीड़ा-स्थल बना हुआ था, नौ दो ग्यारह हो गये! आपके निर्मल और शुद्ध हृदयमें ठगिनी अविद्या-मायाका तो प्रवेश भी न हो पाया था, तभी तो आप अपनी बाल्यावस्थामें ही—स्वर्गादपि गरीयसी जननी जन्मभूमिको भी 'अन्तिम प्रणाम' कर चले आये थे। 'मठाधीश' होनेकी ही भयावनी अविद्या—मायाकी घोर आशङ्काने आपको दर-दर भटकाया और आप पैदल ही तीर्थोंमें घूमते फिरे। इस तीर्थाटनमें आपने कई सिद्ध महात्माओंसे योगविद्या भी सीखी। अतएव योगाभ्यासमें आपका विशेष अनुराग रहा। तीर्थोंमें इधर उधर विचरते हुए आप चित्रकूट पहुँचे। चित्रकूटमें आपने १२ वर्षतक मौनव्रतका अवलम्बन किया। उपरान्त आप मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजीकी जन्मभूमि जननी श्रीअयोध्याकी गोदमें आ विराजे और यहाँ भी मौनव्रतका ही पालन करते हुए बारह वर्षतक मणिपर्वतपर टिके रहे। अपना मौनव्रत समाप्त करनेपर आप एक ग्वालियरके सेठ प्रह्लाददासके प्रेमपूर्ण अनुरोधसे 'सन्तनिवास' में रहने लगे। आपने अपने तथा अपने ऐश्वर्य अर्थात् ईश्वरीय विभूतियोंको निरन्तर प्रकट न होने देनेकी ही चेष्टा की, पर क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं प्रज्वलित आगकी चिनगारियाँ भी घासोंमें छिपी रह सकती हैं? तत्कालीन स्थानीय 'लक्ष्मण-कोट' के महन्त श्रीरामोदारशरणजी आपके इस योगाभ्यास और अनुपम तपोबलपर लट्टू हो गये और आपको अपने प्रेमपाशसे ही आबद्ध कर लक्ष्मणकिलेमें ले आये। आप जहाँ ठहराये गये, उस स्थानका नाम आपने 'श्रीहनुमन्निवास' रक्खा। आपके इष्टदेव श्रीहनुमान्जी ही थे, यद्यपि आपकी अनन्य उपासना श्रीसीतारामके युगलनाम-कीर्तन-की ही थी।

कहते हैं कि आपको श्रीहनुमान्जीका प्रत्यक्ष साक्षात्कार भी हुआ करता था। अपनी अन्तिम जीवन-लीला भी आपने अपने श्रीहनुमन्निवासहीमें समाप्त की!

आपकी वय सौसे अधिक हो गयी थी, पर आपकी दिनचर्यामें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ा। आप रात्रिके १२ बजेतक जागते और पहर रात रहते उठकर ३ से ६ तक अपनी श्रीसीताराम-नाम पाठशालामें सम्मिलित होते और विशुद्ध भजनानन्दमें तल्लीन-से हो जाते। सूर्योदय होनेपर दुबारे श्रीपुण्यतोया सरयूके स्रोतमें गोते लगा अपने उपास्य और इष्टदेव श्रीराम तथा रामकिङ्कर श्रीहनुमान्जीकी पूजामें लग जाते। पूजा समाप्त कर प्रातःकालीन 'हवन' आदि धर्मकृत्य भी किया करते। मूर्तियोंका शृङ्गार और सेवा तथा अर्चा भी अपने ही हाथों किया करते! आलस्य तो आपमें आपकी वृद्धावस्थातक भी नहीं फटक पाया था। १०।११बजे फिर भी आप अपनी भजनमण्डलीके साथ श्रीसीतारामकी मधुर नामध्वनि करते हुए श्रीसरयूजी स्नान करने जाते और वहीं सरयू-तटपर घण्टाभर भजन-कीर्तनमें लगे रहते। उपरान्त मध्याह्नकालीन हवन समाप्त कर अपने सामने ही सन्तोंको भोजन कराते और बड़े ही विलक्षण प्रेमसे भगवत्प्रसाद पवाते। श्रीसीतारामजीकी जयध्वनि या 'रामधुनि' कराते हुए भजनानन्दमें मग्न हो जाते। साधु-सन्तोंके प्रसाद पा लेनेपर सन्तोंको निज हाथसे पान-इलाइची देते, अभ्यागतों और दरिद्र नारायणोंको भोजन कराते और तब आप फलाहार-मात्र करते। दोपहरसे चार बजेतक आप अपनी एकान्त कोठरीके किवाड़ बन्द कर ध्यानस्थ रहते। एक बार और स्नानार्थ बाहर आते और फिर सन्ध्या-प्रवेशतक जप-ध्यानमें ही लीन रहते। दीपालोकके बाद आँगनमें आसनपर विराजमान हो भजन करते और सन्त-समाजमें श्रीरामायणजी आदिकी कथा श्रीराम-नाम-कीर्तनका आनन्द लूटते। रात्रिके समय ८-८॥ बजे फिर स्नानादि कृत्योंसे निवृत्त हो हनुमान्जीकी सेवा करते और तब श्रीरामायणका गायन हुआ करता।

गौओंको अपने हाथ ही रोटियाँ खिलाते और स्वयं ही उनकी देखभाल किया करते। अपने सेवकों तथा शिष्यवर्गको भी गो-सेवाके लिये सदा उत्साहित किया करते। फिर शयनासनपर विराजमान हो अपनी उपस्थित शिष्य तथा सन्त मण्डलीमें 'रामकथा' वा विविध रहस्यमय रामचरित्रोंका आस्वादन किया करते।

आपके स्थानकी आय यद्यपि प्रवाहपतित मार्ग अथवा आकाशवृत्तिसे ही होती तथापि आपके स्थानमें मेला तथा भण्डारा आदि उत्सवोंके अतिरिक्त दिनोंमें भी सदा शताधिक साधुसन्तों, पण्डितों, दरिद्र-नारायणों और गौओंकी सेवा नियमितरूपसे हुआ करती। मेले तथा उत्सवोंके अवसरोंपर तो मानो 'कुम्भ' महापर्वका ही दृश्य उपस्थित हुआ करता था। आपके स्थानमें नियमितरूपसे रहनेवालोंके लिये, आपने एक भजन-नियमावली बना दी थी, जिसकी दिनचर्या इस रूपसे निर्द्धारित की गयी है कि यदि इसका उचित पालन किया जाय, तो स्थानके चञ्चलचित्त मनचले नवयुवक वैरागियोंको भी इधर उधर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घूमने फिरने वा भटकने अथवा अपने कर्तव्य-पथसे विचलित होनेका अवसर ही नहीं मिल सकता।

आप उच्च कोटिके अनन्य भगवद्भक्त, रामरस-रसिक और भक्तवत्सल 'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु' का अनुकरणीय आदर्श रखते हुए भी, बड़े ही नम्र, मधुर-भाषी, सहृदय दयालु, विविधशास्त्र पारंगत, सच्चे भजनानन्दी और सिद्ध महापुरुष थे!

आपकी मृत्युसे मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रकी जन्मभूमि अयोध्याकी भक्तमालिका-की एक श्रेष्ठ सुमिरिणी खो गयी।

शरीर-त्यागके ७-८ दिन पूर्व ही चैत्र कृष्ण ५ चन्द्रवारको आपका शरीर अस्वस्थ हो चला था। अतिसार (झड़ी) के आसार देख पड़े। आपके अनन्य प्रेमियों और शिष्योंने 'चिकित्सा' के लिये अनुरोध किया। अत्यन्त आग्रह करनेपर ही आपने कहा—प्यारे प्रेमियो—

इदं शरीरं शतसन्धिजर्जरं
पतत्यवश्यं परिणामदुर्वहम्।
किमोषधिं पृच्छसि मूढ दुर्मते,
निरामयं रामरसामृतं पिब॥

तथापि जब तुम लोगोंकी ऐसी ही इच्छा है तो 'राम सदा सेवक रुचि राखी' के नाते तुम लोगोंको जैसा रुचे, करो, पर सावधान, डाक्टरी ओषधिका प्रयोग हमारे इस शरीरके लिये कदापि न करना! निदान श्रीसियाकुञ्जविहारीशरणकी ओषधि होने लगी। श्रीरामकृपासे ओषधियोंने अपना गुण भी दिखाया, गुरुवारको पथ्य भी दिया गया। पर भावीको कौन मेट सकता है?

पथ्यके दिन आपकी असाधारण 'न भूतो न भविष्यति' क्षुधाकी अत्यन्त अधिक प्रखरता ही इस बातकी सूचना दे रही थी कि कोई 'अनहोनी' ही होनेको है। रोग घटकर फिर भी बढ़ने लग गया! दर्शनार्थ श्रीबालकदास रामायणीजी आ गये! श्यामघन मनहरण आनन्दकन्द सच्चिदानन्दके वियोग ध्यानमें मुँदे हुए नेत्र सहसा खुल पड़े, आपकी दृष्टि रामायणीजीकी ही ओर पड़ी। मन्द-मन्द मुसुकाते हुए ही आपने अपना करकमल रामायणीजीके शिरपर रख दिया और बड़े प्रेम-पूर्वक यह श्लोक कहा—

'अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च॥

अर्थात्—आज हो अथवा एकशत वर्ष बाद हो, जन्म लेनेवालेकी मृत्यु अवश्य होगी, अतएव इस मनुष्य शरीरकी चिन्ता ही क्यों?

शुक्रवारके प्रातःकाल ही हिचकियाँ आने लगीं, उस समय आपकी सेवामें श्रीरामकिशोरशरणजी ही थे। आपकी ओर दृष्टिपातकर स्वामीजीने कहा—

आया हूँ पिय पाससे, जाऊंगा पिय पास।
मुझे सोच करना नहीं, यह तन ध्रुवहि विनास॥

और नेत्र बन्द कर लिये। उसी दिन आपने पूछा—'क्या रघुनन्दनशरण आ गये?' पर श्री-रघुनन्दनशरणजी उस समयतक बाहरसे आये न थे। अतएव उपस्थित महानुभावोंने कहा—'वे अभीतक नहीं आये।' आपके किसी शिष्यके यह कहनेपर कि 'सरकार! इस जीवके मुख्य कर्तव्य तो बता जायँ।' आपने यह चौपाई पढ़ी—

यह कलिकाल न साधन दूजा। मन क्रम बचन रामपद पूजा॥
रामहि सुमिरिय गाइय रामहि। सन्तत सुनिय राम गुन ग्रामहि॥

जब श्रीरघुनन्दनशरणजी भी पहुँच गये तो सन्तोंने निवेदन किया कि 'श्रीरघुनन्दनशरणजी आ गये हैं, श्रीमुखसे क्या आज्ञा होती है?' आपने कहा—'भजन करें और करावें, धैर्य रखें और सावधान रहें!' उसी समय दो शिष्योंके 'विरक्ति संस्कार' के लिये प्रार्थना करनेपर आपने उन्हें 'लंगोटी और अँचला' प्रदान किया। श्रीरामतापनी उपनिषद्‌के मन्त्रोंका पाठ किया, 'सोऽमृतत्वं च गच्छति' का अर्थ किसी शिष्यके पूछनेपर आपने कहा 'कि जो श्रीमन्त्रराजका भजन करते हैं वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्य श्रीयुगलसरकारकी ही सेवाको प्राप्त होते हैं, मृत्युको प्राप्त ही नहीं होते।' आपने पूछा 'आज तिथि कौन-सी है?' तिथि द्वादशी थी। लोगोंके ऐसा कहनेपर आपने विस्मय प्रकट करते हुए कहा 'क्या अभी द्वादशी ही है!' मानो आप 'वारुणी' की पुण्य तिथिकी बाट जोह रहे हों। श्रीसिया-रघुनाथशरणजीके 'विकलता' प्रकट करने और यह कहनेपर कि 'सरकार' हम सबोंको छोड़े जाते हैं।' आपने कहा-'छोड़ते भी हैं और नहीं भी।'

कई महानुभावोंने आपके अन्तिम उपदेशका अनुरोध किया। सभी उपस्थित महानुभावोंसे आपका अन्तिम उपदेश यही रहा कि 'जिस भावसे हमारी सेवा-पूजा करते हो, तुम्हारा वह भाव बना रहे, इसी तरह करते चलो, धैर्य धारण करो और निरन्तर भजन किया करो।'

मृत्युके दिन चन्द्रवारको ११ बजे दिनको श्रीपुरुषोत्तमशरणजी आये और बोले कि 'सरकार' आपकी दशा देख लोग विकल हो रहे हैं? आप यह क्या लीला कर रहे हैं?' आपने उनकी ओर मुस्कुराते हुए ही कहा-'लीला क्या······पल छिन घड़ी·········इसके आगेके शब्द प्रकट न हो सके! और न किसीकी समझमें ही आये!! हाय कहें भी तो कैसे ?

'पीतमकी सुधि अचल लगी जब पल छिन घड़ी वियोगमई है।
कौन कहै अपनी हिय बातें अंग अंग प्रति पीर छई है॥
स्यामल अंग अनंग अनेकन अरुझि रहे छवि नई नई है।
ज़ुल्मी ज़ुल्फ छुटी मुख ऊपर पानखात मुसुकान लई है॥
भृकुटी कमान बान नैनन जेहि चोट करे जे बेधि गई है।
सो कस कहै दरद पूछे कोउ अद्भुत अलख चरित्र ठई है॥
आतुर मिलन हेतु बावर जस हाय करत मति विवश भई है।
श्रीमहाराज उदार शिरोमणि प्रेमप्रभा अस समुझि दई है॥

उपरान्त श्रीपुरुषोत्तमशरणजीको देरतक बैठे देख आपने आपको कहा-'बहुत देर भयी, अब जाओ' फिर दो बजे श्रीसियारघुनाथशरणजीने कहा—'सरकार! कई अशुभ लक्षण दीख रहे हैं।' आपने उत्तर दिया—'क्या सब दिन शुभ ही हुआ करते हैं, अशुभ भी होता है।' किसी दूसरे सन्तने कहा-'क्या सरकार और कोई नयी लीला करेंगे?' आपने कहा-'यह तो लीला करनेवाला ही जाने!' 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' आदि कहकर आपने उपदेश दिया-'इस शरीरका अति लोभ करना उचित नहीं, क्योंकि जाना अवश्य है!' आपके शरीरके बाह्य लक्षणोंसे यही प्रतीत होता था कि यद्यपि आपका शरीर वेदनाग्रस्त हो रहा था, तथापि आत्मा स्वच्छन्द भावसे श्रीजानकी-रमण, मनहरण, श्यामघन, मन-मोहन प्राणप्रीतम रघूत्तमोत्तम श्रीराममें ही रम रही थी और अन्ततक आप अपने निष्काम भक्ति-ज्ञान-समन्वित कर्मयोगकी अपूर्व 'आत्म-शक्ति' के ऐश्वर्यबलपर ही शान्तिपूर्ण समभावसे ही स्थिर रहे! बलिहारी है आपकी इस अनन्य भगवत्-उपासनाकी! इस विकलताके समय भी यदि कोई पूछता कि 'सरकारको विशेष पीड़ा किस अंगमें है तो आप झट अपना मनोभाव बदलते हुए बड़े ही प्रसन्न-चित्तसे कह देते कि-'हमें किसी तरहकी कोई पीड़ा किसी अंगमें भी नहीं है।' यह सुमधुर और जाज्वल्यमान् परिणाम था आपके निरन्तर राम-नाम-स्मरणका! यह आपके प्रति भगवान्‌की अनन्य शरणागत-वत्सलता ही थी। तभी तो भगवान्‌ने अपने दोनों ही विग्रह शरीरोंसे श्रीराम और श्रीकृष्णरूपसे यह सान्त्वनापूर्ण सुमधुर, मनोहर और सहज आश्वासन प्राणीमात्रको समरूप-से इसप्रकार दिया है—

श्रीराम—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

श्रीकृष्ण—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अचानक आपने ऐसा भाव प्रदर्शित किया मानो कोई दैवी पुरुष द्वारपर आया हो और आप उसकी अभ्यर्थनाके लिये व्याकुलता-नाट्य करते हुए झट बोल उठे—

'शीघ्र पान लाओ पान' और मुझे उठाकर बैठाओ, जल्दी करो जल्दी।' इतना कहकर आपने कहा–'लेटा दो' और लेट गये! मानो आपकी साकेत-यात्राके समय आपके 'स्वागत' के लिये श्रीप्रिया-प्रीतमके पार्षदगण आये हुए हैं और आप उनकी अगुआनीके लिये विकल हो पड़े।' तभी तो भगवान् श्रीकृष्णने अपनी 'गीता' में प्रकट रूपसे ही कह दिया कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

अर्थात् मन मुझमें लगा, मेरा भक्त हो, मेरी ही पूजा कर और मेरी ही वन्दना कर। इसप्रकार मत्परायण हो योगाभ्यास करनेसे मुझे ही प्राप्त करेगा और तब 'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे'— मैं तुमसे सत्य-प्रतिज्ञा कर कहता हूँ कि तू मुझमें आ मिलेगा, क्योंकि तू मेरा प्यारा है! यह आश्वासन तो अर्जुन-जैसे 'मत्परायण' योगियोंके लिये था, भगवान् तो यहाँतक कहते हैं कि—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

अर्थात् हे पार्थ! मेरे आश्रयसे स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र, अन्त्यज आदि पापयोनियाँ भी परमगतिको प्राप्त करती हैं। फिर पुण्यवान् ब्राह्मणोंकी, मेरे भक्तोंकी और राजर्षियोंकी बात ही क्या?

निदान पूज्यपाद स्वामीजी महाराज अपने अन्त-समयतक इसप्रकार अपने वचनामृत तथा अपनी चेष्टासे अस्मदादि जीवोंको कल्याणप्रद धर्मोपदेश करते व धैर्य तथा सन्तोष प्रदान करते हुए श्रीअयोध्या-निवासियोंको अपने गुण-कर्म-स्वभाववश ही अचेत कर हाहाकार करते हुए छोड़कर रात्रिके ८ बजे साकेतको चले गये और अपने नित्य 'महल' में पधार श्रीजानकी-जीवनके आनन्दमय 'चिरविहार' वनको प्राप्त हुए! जहाँका यह ध्यान आपके हृदयमें सदाके लिये बसेरा ही बनाये हुए था—

बसो यह सिय-रघुबरको ध्यान।
श्यामल गौर किसोर वयस दोउ जो जानहुँकी जान॥
लटकन लट लहरत श्रुतिकुण्डल गहननकी झमकान।
आपसमें हँसि हँसिके दोऊ खात खिआवत पान॥
जहँ बसन्त नित मह मह महकत लहरत लता वितान।
विहरत दोउ तेहि सुमन बागमें अलि कोकिल कर गान॥
वहि रहस्य सुखरसको कैसे जान सकै अज्ञान।
देवहुँकी जहँ मति पहुँचति नहीं थकि गयो वेद पुरान॥

तभी तो भगवान्‌को यह कहना ही पड़ा कि—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

'जो मुझमें सब कर्मोंका संन्यासकर अर्थात् अर्पणकर मत्परायण होते हुए अनन्ययोगसे मेरा ध्यानकर मुझे ही भजते हैं, हे पार्थ! मुझमें ही चित्त लगानेवाले उन लोगोंका उद्धार, इस मृत्युमय संसारसागरसे मैं बिना विलम्ब किये ही कर देता हूँ।'

बोलो भक्ति भक्त और उनके भगवन्त गुरुकी जय।

तदनन्तर आपके श्रीविग्रहधारी प्राणशून्य-आत्मविरही शरीरको सिंहासनपर सुशोभित कर पद्मासनसे उत्तराभिमुख जनताके दर्शनार्थ प्रतिष्ठित किया गया। ८ से ११ बजे रात्रितक दर्शकोंका-जनता-जनार्दनका विराट् समुद्र ही उमड़ आया।

अनन्तर मंगलवारके प्रातःकाल ही आपके विग्रह-शरीरका सुन्दर श्रृङ्गारकर आरती की गयी और पीताम्बरोंसे शवको सुसज्जितकर आपका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर स्वाभाविक मुद्रामें ही विमानपर रक्खा जाकर दर्शनार्थ अगम्य और अथाहरूपमें उमड़ती हुई जनताके सम्मुख उपस्थित किया गया। सहस्र-सहस्र नरनारी, साधु-सन्त, विरक्त-अनुरक्त, गृहस्थ-उदासी तथा बच्चे और बूढ़े भी आपके विमानके साथ हो लिये और घड़ियाल शङ्ख तथा विविध प्रकार बाजा आदि मंगलवाद्य बजाते हुए अबीर, गुलाल तथा आरती पूजाके साथ श्रीलक्ष्मणकोट, श्रीजन्मस्थान, कनकभवन (महल), श्रीहनुमानजी, प्रमोदवन, श्रीमणिरामकी छावनी आदिकी परिक्रमा करता हुआ, सर्वत्र पुष्पवृष्टिसे आच्छादित हो जगमगाता तथा दिव्यरूप धारण करता हुआ आपके 'श्रीविग्रहका विमान' श्रीसरयूकुञ्जमें अन्तिम अन्त्येष्टिसंस्कारके लिये पहुँचा और विधिवत् संस्कार आदि कृत्य निर्विघ्न समाप्त हुए!

रघुनन्दनशरण

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

३२९-जैसे तुम अपने सामनेके वृक्षको देखते हो, वैसे ही जीवोंके मनमें जो कुछ होता रहता है, उसे भी कोई-न-कोई ज़रूर देखता या जानता है। वह कूटस्थ है, कूटस्थ स्वयं ब्रह्म है। तुम्हारे सामने एक काँचका पात्र है, वह स्वयं नहीं देख सकता, एक करण, नेत्र और द्रष्टाकी आवश्यकता है। यदि तुम कहो कि काँचका पात्र स्वयं देख सकता है तो इससे कर्म-कर्तृत्व-भावका विरोध उत्पन्न होता है। यह एक तार्किक भूल होगी, अतः तुम्हें मानना पड़ेगा कि कोई मनका गुप्त साक्षी है, जो नित्य, निर्विकार, सर्वज्ञ और सतत ज्ञानमय है। वह जीवोंके मनमें उठनेवाले विकारों और वृत्तियोंको देखता रहता है।

३३०-स्वप्नमें जो विषय प्रत्यक्ष होते हैं, वे जाग्रतावस्थामें प्राप्त संस्कारोंकी पुनरावृत्तिस्वरूप हैं और केवल स्वप्न देखनेवालेके लिये वे बाहर भी मौजूद होते हैं। वह प्रत्यक्ष विषय अन्तरेन्द्रिय मनके द्वारा आविर्भूत होते हैं, इसलिये उन्हें आन्तर-प्रत्यक्ष कहते हैं।

'स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।'

(माण्डूक्योपनिषद् १-४)

ओंकारका दूसरा पाद तैजस है, जिसका स्थान स्वप्न है, जिसको स्वतः अन्तःचेतना है, जिसके सात अंग और उन्नीस मुख हैं और जो सूक्ष्म विषयोंका उपभोग करता है। स्वप्नमें मिथ्या अहङ्कार और कारण-भूत मनकी ही क्रीड़ा होती है।

३३१-'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।'

'ओंकारका प्रथम चरण वैश्वानर है, जिसका स्थान जाग्रतावस्था है, जिसकी बहिःचेतना है, जिसके सात अंग और उन्नीस मुख हैं और जो स्थूल विषयोंका भोग करता है। विषयात्मक मन जाग्रतावस्थामें क्रीड़ा करता है।'

सात अंग ये हैं—

१-द्यौ उसका सिर है।

२-सूर्य नेत्र है।

३-वायु प्राण है।

४-आकाश मध्य है।

५-जल बस्तिदेश है।

६-अग्नि मुख है।

७-पृथ्वी चरण हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्नीस मुँह हैं—

१-पाँच ज्ञानेन्द्रिय।

२-पाँच कर्मेन्द्रिय।

३-पाँच प्राण।

४-चार (अन्तःकरण) मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार। (माण्डूक्योपनिषद् १ । ३)

३३२-'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ।'

(माण्डूक्योपनिषद् १ । ५)

यह गहरी निद्राकी अवस्था है, जिसमें सुप्त पुरुष कुछ भी कामना नहीं करता और कोई स्वप्न नहीं देखता। ॐकारका तीसरा पाद प्राज्ञ है। जिसका स्थान गहरी निद्रा है, जिसमें सब एक हो जाता है। जो ज्ञानघन है, जो आनन्दमय है, जो आनन्दका भोग करता है, तथा जो जाग्रत और स्वप्नावस्था-दोनोंकी चेतनाओंका मुख (द्वार) है। सुषुप्तिमें मन वासनाओंके साथ हृदयमें मुख्य-प्राणमें विश्राम करता है।

३३३-यह सतत संक्षुब्ध मन, अनिर्वचनीय ब्रह्मसे उद्भूत होनेपर, अपने सङ्कल्पके द्वारा जगत्‌की सृष्टि करता है, यह मायात्मक जगत् मनके सङ्कल्पसे उत्पन्न होता है।

३३४-जिसप्रकार बीज अनुकूल समय और स्थान पानेपर अङ्कुरित होता है, वैसे ही द्रष्टा मनके सङ्कल्पके द्वारा दृश्यरूपमें प्रकट होता है। क्योंकि दृश्य, स्वयं द्रष्टाके अतिरिक्त कुछ नहीं।

३३५-एक तान्त्रिक अपने भौतिक, स्थूल नेत्रोंको काममें लाये बिना केवल अपने मनसे ही देख सकता है। एक भगवद्भक्त जो भगवान्‌से अभेद प्राप्त किये हुए है, भगवान्‌की आँखों (कारण-शरीरके नेत्रों) से देखता है, ज्ञानी आत्मज्ञानके नेत्रों (दिव्य-दृष्टि) से देखता है।

३३६-यह जगत्, अपने कारण-भूत ब्रह्मसे उद्भूत मनका ही रूप है। अतएव यह व्याप्त जगत् स्वयं चेतनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

३३७-व्यष्टिगत मन जो अविद्योपहित है, निराकार और सर्वव्यापी है। यद्यपि इसका नाम है, तथापि न तो बाह्य ही और न आभ्यन्तरिक ही दृष्टिसे इसका कोई रूप है। यह आकाशके समान चतुर्दिक व्याप्त है। भान होनेवाले सम्पूर्ण विषयोंका प्रत्यक्ष मन ही है। जहाँ-कहीं सङ्कल्प होता है, मन भी वहाँ रहता है।

३३८-सङ्कल्पके नाशके साथ ही द्रष्टा और दृश्यके सारे भाव तिरोहित हो जाते हैं और तब ब्रह्मतत्त्व अव्यवहित हो चमक उठता है तब इस सारे चराचर जगत्‌की छाया ब्रह्ममें एक अद्वैत-अवस्थामें लीन हो जाती है।

३३९-जैसे स्वप्न अपनेमें एक दूसरे स्वप्नको उत्पन्न करता है, वैसे ही मनका दृश्यस्वरूप न होनेपर भी असत् दृश्यको उत्पन्न करता है। किसी विषयपर दृढ़तापूर्वक बिना ठहरे मनका विशेषरूपसे अत्यन्त चञ्चल होना स्वभाव है, यह चलता है और श्रान्त हो जाता है। एक विषयसे उठता है और फिर उस विषयपर लौटता है। व्यर्थ ही आनन्दित होता है और अहङ्कारके साथ मतवाला बना रहता है।

३४०-यदि तुम मानसिक विकल्पों और विकारोंका त्यागकर ब्रह्मके साथ अपना संसर्ग जोड़ो तो मनका यह विकट बन्धन दूर हो जायगा और सारे संशय जाते रहेंगे और कर्मोंका अवसान हो जायगा।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

(कठोपनिषद्)

३४१-जीवन्मुक्त पुरुषमें मनके स्वभावका तो निरीक्षण करो। वह प्रत्येक परिस्थितिमें एक-सा रहता है। विषयोंके लिये उसमें तनिक भी चाह नहीं होती। उसका मन द्वन्द्वोंसे विकृत नहीं होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सदा शान्त रहता है। उसका मन हर्ष और शोकसे मुक्त होता है, वह न तो सुखसे उमङ्गमें आता है और न दुःख और शोकसे व्यथित होता है, वह अशुभ वासनाओंसे मुक्त होता है। उसका मन सांसारिक विषयोंसे ऊपर उठा रहता है।

३४२-यदि मनका विकार, जो वासनात्मक सुखका कारण होता है, नष्ट हो जाय तो आत्मा अहङ्कारके विगत होनेसे अनिर्वचनीय ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है।

३४३-मन जो विविध विषयोंका उपभोग करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होता, वह स्वयं ब्रह्म कहला सकता है।

३४४-एकाग्रतामें ध्यानकी प्रधानता होती है। यही इच्छा-शक्तिका आधार है। जब इसका यथार्थ संयमन होता है और जब यह अन्तःप्रेक्षण (अन्दर निरीक्षण करने) के उद्देश्यसे अन्तर्जगत्की ओर लगाया जाता है तो यह मनका विश्लेषण करता है और बहुत-सी अद्भुत बातोंको तुम्हारे सामने खोलता है।

३४५-मनकी शक्ति बिखरी हुई प्रकाशकी किरणोंके समान होती है। मनकी किरणें नाना विषयोंकी ओर खिंची होती हैं, तुम उन्हें धीरता-पूर्वक अभ्यास और वैराग्यके द्वारा तथा त्याग और तपके द्वारा समेट सकते हो और तब अत्यन्त उत्साहपूर्वक ब्रह्मकी ओर अग्रसर हो सकते हो।

३४६-ब्रह्म ईक्षणसे (बहिः-निःसृत-चेष्टासे) मन और इन्द्रियोंकी सृष्टि करता है। यही कारण है कि तुम बाह्य विषयोंको ही देखते हो, आन्तरिक आत्माको नहीं देखते। मायाकी विक्षेपशक्ति तुम्हें बाहरकी ओर खींचती है। बाल्यकालसे ही तुम्हें बाह्य-जगत्की ओर ही देखनेके लिये सिखाया जाता है, अन्तर्जगत्की ओर नहीं। तुम्हारी अन्तःप्रेक्षणकी शक्ति बिल्कुल नष्ट हो जाती है। तुम्हें मनको अन्दरकी ओर ले जाना (आवृत्त चक्षु करना) होगा और तब इसकी सारी शक्तियोंको एकाग्र करना होगा और उसे स्वयं मनके ऊपर फेंकना होगा, जिससे वह अपने आपको जान सके और अपना विश्लेषण कर सके, यह राजयोग है।

३४७-जब अपने मनका विश्लेषण कर तुम्हें उस विषयसे सम्पर्क हो जाता है, जो अविनाशी है, जो शाश्वत, शुद्ध, पूर्ण, स्वयंज्योति, निर्विकार है तब फिर तुम दुःख-शोकसे मुक्त हो जाते हो।

३४८-मनुष्यके मनकी अमित शक्ति है। यह जितना ही एकाग्र होता है उतना ही इसे किसी विशेष स्थलमें बने रहनेको अधिक शक्ति मिलती है। तुमने मानसिक किरणोंको नाना विषयोंसे एकत्रित कर भगवान्‌में मनको लगानेके लिये ही जन्म लिया है। यह तुम्हारा प्रधान कर्तव्य है। तुम परिवार, सन्तान, धन-दौलत, शक्ति, पद-प्रतिष्ठा, नाम और यशके मोहके कारण अपने कर्तव्यको भूल जाते हो।

३४९-बाह्य विषयोंपर मनको एकाग्र करना आसान है, मनकी बाहर जानेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। कामना भावनात्मक मनका एक रूप है, इसमें मनको बाहर घुमानेकी एक शक्ति है।

३५०-जब कोई साधक विशुद्धचित्त होकर एक गुरुके द्वारा आध्यात्मिक रहस्यमें प्रवेश करनेके लिये दीक्षित होता है तभी उसके मनको निश्चल शान्ति प्राप्त होती है। वही निर्विकल्प-दशामें प्रवेश करता है। निर्विकल्प-दशाको असंवेदन भी कहते हैं।

३५१-जब मनके सङ्कल्पोंके संस्कार नष्ट हो जाते हैं तभी निर्विकल्प ब्रह्मपद प्राप्त होता है। तब क्यों नहीं तुम इस सङ्कल्पके नाशके लिये अपने हृदयमें एकान्त चित्तसे धीरतापूर्वक चिन्तन करते हो? सङ्कल्पोंके नाश होनेसे मन ऐसी अवस्थाको प्राप्त होता है कि उसके सामने सार्वभौम-पद भी तुच्छ हो जाता है।

३५२-सङ्कल्प ही संसार है, इसका नाश ही मोक्ष है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३५३–आयतनका अर्थ है मन, (छान्दोग्य ४।८) जो सारी इन्द्रियोंके अनुभवका आधार है।

३५४–मानस-विज्ञानके सिद्धान्तसे पुरुष बहुपत्निक (अनेक स्त्रियोंवाला) है और स्त्री बहुभर्तृक (अनेक पतियोंवाली) है। मानसिक कर्म ही वास्तविक कर्म हैं। विचार ही वास्तविक कर्म हैं। वह मनुष्य जो प्रतिदिन स्त्री-सहवास करता है, छः महीनेपर एक बार वेश्यागमन करनेवालेसे कम व्यभिचारी नहीं माना जा सकता। सदाचार बदलनेवाली वस्तु है। मनुष्य यदि बार-बार बुरे विचारोंको धारण करता ह तो वह महा-व्यभिचार करता है।

३५५–वासना मनरूपी सरोवरकी तरङ्ग है। इसका स्थान कारण-शरीर है, जहाँ वह बीजरूपसे रहता है और मन-सरोवरमें प्रकट होता है साधकके लिये विज्ञानमय कोश एक महान् दुर्गका काम देता है; जहाँसे वह कारणशरीरसे निकलकर मनमें घुसनेकी चेष्टा करनेवाली वासनाओंपर आक्रमण कर सकता है। विज्ञानमय कोश (बुद्धि) की सहायतासे शम-साधनके द्वारा उसे शनैः-शनैः वासनाओंको नष्ट कर देना चाहिये। उसे चाहिये कि वह उन्हें तत्काल ही नष्ट कर दे। जैसे ही वे मन-सरोवरसे सिर ऊपर उठानेकी चेष्टा करें, उन्हें कभी अङ्कुरित न होने दे। यही वासना-त्याग है। यह आक्रमण या युद्ध आन्तरिक होता है। आक्रमण बाहरसे भी होना चाहिये। दम (इन्द्रिय-निग्रह) के द्वारा बाह्य-वृत्ति-निरोध होना चाहिये। तुम्हें चाहिये कि बाहरसे इन्द्रिय-प्रणालीके द्वारा मनमें वेदनात्मक कम्पनको न आने दो। यह भी आवश्यक है, केवल शम ही पर्याप्त न होगा। दमके द्वारा इन्द्रियोंको कुण्ठित कर देना होगा। मोदककी वासना, आन्तरिक वासनाओंको नाश कर उनके त्यागके द्वारा नष्ट कर देनी चाहिये। जैसे ही तुम बाजारमें होकर निकलते हो और तुम्हारी आँखें मोदक-विषयपर पड़ती हैं, उससे बाह्य-वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका नाश, तत्काल ही आँखोंको उधरसे हटाकर और मिठाई लेना त्याग-कर, कर देना चाहिये। मनके निग्रहमें दम शमका सहायक बनता है। वासनाओंके उन्मूलनके लिये दम सहायक होता है। वासनासे ही मनमें चञ्चलता उत्पन्न होती है। जैसे ही वासना प्रकट होती है, सतत प्रवाहित होनेवाली विषय-वृत्तियोंके द्वारा मन और विषयके बीच एक घनिष्ठ सम्पर्क हो जाता है। मन अपने पैर पीछे नहीं हटाता, जबतक वह उन विषयोंको प्राप्तकर उनका उपभोग नहीं कर लेता है और जबतक भोगकी प्राप्ति नहीं होती, चञ्चलता (अशान्ति) बनी ही रहती है। जबतक विषयोंकी प्राप्ति और उनका भोग नहीं होता तबतक वृत्तियाँ उसी ओर प्रवाहित होती रहती हैं। इच्छाकी दुर्बलताके कारण सामान्य जीवनमें मनुष्य वासनाओंको दबा या रोक नहीं सकता। हाँ, साधक कुछ समयके लिये वासनाको दबा सकता है। परन्तु जैसे ही उपयुक्त अवसर प्राप्त होता है वह फिर दुगुने बलके साथ प्रकट होती है, जैसे ही विषय उसके सामने आता है। वासनाका पूर्णतः मूलोच्छेद होना चाहिये।

३५६–व्यष्टि-मनका समष्टिगत मनके साथ सम्बन्ध है। यदि 'अ' 'ब' का मित्र है तो 'अ' के मनका सम्बन्ध 'ब' के मनके साथ है। 'अ' के भाई-बन्धु-मित्रादिके मनका सम्बन्ध 'अ' के मनसे है। उसी प्रकार बहुतसे मन 'ब' के मनसे सम्बन्ध बनाये हुए हैं। इसलिये उन लोगोंके मनका सम्बन्ध जो 'अ' के मनसे सम्बन्ध रखते हैं, 'ब' के मनके साथ सम्बन्ध रखनेवालोंके मनके साथ हो जाता है। इसप्रकारसे एकका मन सारे संसारके मनके साथ सम्बन्धित हो जाता है। राजयोगके सिद्धान्तके अनुसार यह मनकी विभु-अवस्था है। योगके अनुसार मन विभु (सर्वव्यापी) है। (क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीभरत-यश-चन्द्र

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

रामचरितमानसमें श्रीमद्गोस्वामीजीने श्रीभरतके यशका वर्णन करते समय उसकी समता चन्द्रमासे दिखलाते हुए बड़ा ही सुन्दर 'अधिक तद्रूप रूपक'-का उदाहरण उपस्थित किया है, उसीका रसास्वादन करानेके लिये 'श्रीभरत-कीर्ति-कलाधर' का अवतरण होता है—

नवबिधु बिमल तात यश तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन-दिन दूना॥

महर्षि भरद्वाज श्रीभरतजीसे कहते हैं कि हे तात! आपका यश नवीन निर्मल (द्वितीयाका) चन्द्ररूप है तथा श्रीरघुनाथजीके भक्त उसके लिये कुमुद और चकोररूप हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि भगवद्भक्तोंकी प्रीति सूचित करनेके लिये कुमुद और चकोरकी दो उपमाएँ क्यों दी गयीं? बात यह है कि श्रीराम-भक्तोंकी दो श्रेणियाँ हैं, निवृत्ति-मार्गी और प्रवृत्ति-मार्गी। श्रीनारद, सनकादि निवृत्ति-मार्गके उदाहरण हैं और श्रीप्रह्लाद और अम्बरीष प्रभृति प्रवृत्ति-मार्गके हैं। अतः कुमुदकी उपमासे निवृत्त-कोटिके भक्तोंकी ओर संकेत किया गया है और चकोरसे प्रवृत्ति-मार्गके भक्तोंकी ओर लक्ष्य है। क्योंकि कुमुदका जीवन जलपर निर्भर होते हुए भी वह जलसे निर्लेप (अनासक्त) रहता है तथा एकमात्र चन्द्रकी ओर आसक्त होनेके कारण उसके दर्शन-मात्रसे प्रफुल्लित (कृतकृत्य) हो जाता है; उसी प्रकार विरक्त भक्तोंकी शरीर-रक्षा (लालन-पालन) यद्यपि संसारसे ही होती है तथापि उससे निर्लिप्त रहकर वे भगवान्के अनन्य प्रेममें ही आसक्त होते हैं। 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' वह संसारमें रहते हुए भी संसारके बन्धनसे अपनेको मुक्त रखते हैं। तथा जैसे चकोर दाम्पत्य-जीवनमें रहते हुए, सन्तानादि पारिवारिक सम्बन्धका पालन करते हुए भी चन्द्रमें ही निश्चल प्रेम रखता है, एवं चन्द्रोदय होनेपर सब कुछ छोड़ चन्द्रमें ही एक-चित्त हो आसक्त हो जाता है, वैसे ही प्रवृत्त-कोटिके भक्त गृहमेधी धर्मोंसे सम्बन्ध रखते हुए भगवत्प्रेम-में भी निश्चल और दृढ़ व्रतका निर्वाह करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, ऐसे ही भक्तोंके विषयमें कहा गया है—

'दम्पति परम प्रेमवश कर शिशुचरित पुनीत।'
'पूजहिं तुमहिं सहित परिवारा।'

भगवान्के इन द्विविध उपासकोंकी कुमुद और चकोरकी उपमा अन्य स्थलोंमें भी परिलक्षित होती है—

रामचरित राकेशकर सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित विशेष बड़ लाहु॥

सारांश यह है कि श्रीभरतजीके चरितसे निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों मार्गके रामभक्त मुग्ध रहते हैं, जिसप्रकार चन्द्रमाके उदय होनेपर कुमुद प्रफुल्लित हो जड़ होते हुए चेतनवत् उपचार करते हैं, तथा चकोर चेतन होते हुए भी जगत्के लिये जड़स्वरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार विरक्त पुरुष भी श्रीभरतके यशोगानमें अनुरक्त हो जाते हैं, एवं संसारमें अनुरक्त पुरुष भी श्रीभरतके यशको सुनकर उसमें अनुरक्त एवं संसारसे विरक्त हो जाते हैं; इसप्रकार जीवमात्रके ऊपर भरत-चरितका अद्भुत प्रभाव पड़ता है। गोस्वामीजी कहते हैं—

होत न भूतल भाव भरतको। अचर सचर चर अचर करत को॥

सचमुच भरतका चरित्र बड़ा ही विलक्षण और भक्तोंके लिये उच्चतम आदर्शको उपस्थित करता है, तभी तो गोस्वामीजीने उसका 'रूपक चन्द्रसे बाँधते हुए 'अधिक तद्रूप रूपक' के रूपमें उसे उपस्थित किया है; चन्द्रके दोषयुक्त होनेसे उपमान-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जो अपूर्णता आ जाती है उसका मार्जन कर उपमेय श्रीभरत-यशका चित्रण आप द्वितीय पंक्तिसे प्रारम्भ करते हैं--'यह चन्द्रमा तो सदा उदित न होकर कालक्रमसे ही उदय होता है, परन्तु श्रीभरत-जीका यशरूपी चन्द्र कालकी अपेक्षा न रख सदा प्रकाशित रहता है; यहाँ 'सदा' शब्दसे केवल रात्रि ही नहीं, अपितु दिनका भी बोध हो जाता है, क्योंकि 'प्रभु प्रताप रबि छबिहिं न हरहीं' के अनुसार दिनमें भी श्रीभरत-यश-चन्द्र उसी प्रकार प्रकाशित रहता है। उसकी कलाका अपहरण श्रीसूर्यनारायण नहीं कर पाता। चन्द्रमा तो अस्त होता है, परन्तु श्रीभरत-यश-चन्द्र कभी अस्त नहीं होता। प्राकृत चन्द्र घटता बढ़ता है, परन्तु यश-चन्द्र घटता नहीं, सदा बढ़ता ही है, एवं--

कोक तिलोक प्रीति अति करहीं। प्रभु प्रताप रबि छबिहिं न हरहीं
निशि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसइ न कैकइ करतब राहू

अर्थात् प्राकृत चन्द्रसे तो चक्रवाक दुःखी होते हैं, परन्तु त्रिलोकरूपी चक्रवाक यश-चन्द्रसे अत्यन्त प्रीति करते हैं; यश-चन्द्रके लिये त्रिलोकके चक्रवाकरूप होनेका अभिप्राय—

परिहरि रामसीय जगमाहीं। कोउ न कहहिं मोर मत नाहीं॥

—इस भरत-वाक्यसे स्पष्ट झलकता है; एवं त्रिलोकरूप कमलके प्रसन्न होनेका प्रमाण भी—

दुहुँ दिशि देखि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन योगू॥

—इस चौपाईमें मिलता है।

सूर्यके प्रकाशित होनेपर प्राकृत चन्द्रकी छटा क्षीण हो जाती है परन्तु श्रीरामचन्द्रके प्रतापरूपी सूर्यके सामने भी यश-चन्द्र अपनी छवि-छटा छिटकाता ही रहता है। तात्पर्य यह है कि प्राकृत चन्द्र चकवाको शोकप्रद है, 'कोक शोकप्रद पङ्कजद्रोही' परन्तु यश-चन्द्रका स्वरूप सभीको मनभावन हो रहा है। मध्य दिवसमें चन्द्रकी शोभा जाती रहती है, परन्तु—

जबते राम प्रताप खगेशा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेशा॥

--तबसे उसके साथ-ही-साथ-

धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषित बरियाईं॥
निजगुन सहित रामगुनगाथा। सुनत जाहि सुमिरत रघुनाथा॥

इसके अनुसार श्रीभरत-यश भी विख्यात हो रहा है। फिर यह चन्द्रमा केवल रातमें सुख प्रदान करता है और वह भी सबको नहीं; विरही चक्रवाक, कमल प्रभृतिको तो यह सदा ही दुःख पहुँचाता है। परन्तु भरत-यश-चन्द्र सदा सभी ऋतुओं और अवस्थाओंमें सबको सुखप्रद होता है, यथा—

परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥

प्राकृत चन्द्रको राहु ग्रसता है, परन्तु भरतके यश-चन्द्रपर कैकयीका कुकर्तव्यरूपी राहु अपना प्रतिबिम्ब नहीं डाल सका और भरतकी यश-चन्द्र-कला सदा पूर्ण ही बनी रही—यह भाव 'भरतहिं जानि राम परिछाहीं' 'राम प्रेम मूरति तनु आहीं।' तथा 'साधन सिद्ध राम पद नेहू' आदि पदोंसे स्पष्ट झलकता है। श्रीभरत-यश-चन्द्रके अन्यान्य गुणोंका निर्देश करते हुए आगे कह रहे हैं-

पूरन राम सुप्रेम पियूषा। गुरु अपमान दोष नहिं दूषा॥
राम भगति अब अमिय अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥

अर्थात् प्राकृत चन्द्रमें यथेष्ट सुधा नहीं, परन्तु यश-चन्द्र श्रीरामजीके सुन्दर प्रेमरूपी अमृतसे लबालब भरा हुआ है। फिर यह चन्द्रमा गुरुके अपमानरूप दोषसे दोषी है परन्तु यश-चन्द्रने गुरु वशिष्ठको ही वश कर रक्खा है--

भरत महामहिमा जलरासी। मुनिमति ठाढ़ि तीर अबलासी॥
कह मुनि राम सत्य तुम भाषा। भरत सनेह बिचार न राखा॥
तेहि ते कहौं बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति मोरी॥

—इन वाक्योंसे स्पष्ट हो जाता है।

पुनः प्राकृत चन्द्र अपनी चन्द्रिकाद्वारा किञ्चित् अमृत-सिञ्चन करता है, परन्तु यश-चन्द्र परितृप्त करनेवाली रामभक्तिरूपी सुधाको पर्याप्त प्रदान करता है; इस चन्द्रद्वारा प्रदत्त सुधा अन्तरिक्षमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही विलीन हो जाती है, परन्तु यश-चन्द्र राम-भक्तिकी सुधासे सारी वसुधाको कृतकृत्य कर देता है। तात्पर्य यह है कि भरतके चरितने रामभक्तिको जगत्‌में ऐसा सुलभ बना दिया है कि उससे सभी सद्गति प्राप्त कर सकते हैं।

अब आगेकी चौपाइयोंमें श्रीभरतजीकी महत्ता-का वर्णन करते हुए श्रीभरद्वाजजी कहते हैं—

भूप भगीरथ सुरसरि आनी। सुमिरत सकल सुमंगल खानी॥
दशरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥

हे भरत! तुम साधारण कुलमें प्रसूत भी नहीं हुए हो, तुम तो उस विशिष्ट कुलके हो, जिसमें पूर्वसमयमें राजा भगीरथ-जैसे प्रातः-स्मरणीय पुरुषपुङ्गव हो गये हैं, जो जगत्‌के जीवोंके उपकार (कल्याण) के लिये तपस्या करके श्रीगंगाजीको पृथ्वीपर लाये थे, जिसका (दर्शन कौन कहे) स्मरणमात्र सारे शुभ मंगलोंकी खानि है; तथा उसी कुलमें श्रीदशरथजी महाराज हुए, जिनके गुणोंका वर्णन ही नहीं किया जा सकता और क्या, जिसके समान संसारमें और कोई नहीं। क्योंकि—

जासु सनेह सँकोचवश, राम प्रगट भे आइ।
जे हर हिय नयननि्ह कबहुँ, निरखे नहीं अघाइ॥

अर्थात् श्रीदशरथजीके प्रेममें बँधकर वे श्रीराम-चन्द्रजी स्वयं आकर प्रकट हो गये हैं, जिनका भगवान् शङ्कर भी अपने हृदयमें दर्शन कर नहीं अघाते। तब भला उस राजा दशरथकी समानता कौन कर सकता है?

कीरति बिधु तुम कीन्ह अनूपा। जहँ बस राम प्रेम मृग रूपा॥

फिर उस दशरथजीके आप ऐसे पुत्र हुए कि आपने एक अनुपम यश-चन्द्रको प्रकट किया, जिस चन्द्रमें श्रीरामका प्रेमरूप मृग बसता है। (प्राकृत चन्द्रमें मृगके बसनेकी कथा मिलती है और इसी कारण चन्द्रमाको शशाङ्क, मृगाङ्क प्रभृति नामोंसे पुकारते हैं।)

श्रीभरत-यश-चन्द्रमें श्रीरघुनाथजीका स्नेहरूपी मृग रहता है अर्थात् भरतजीकी भक्तिके वश होकर श्रीराम-प्रेम भरतजीसे अभिन्न हो रहता है, जैसे—

यह बड़ि बात भरत कै नाहीं। सुमिरत जिनहि राम मनमाहीं॥
भरत सरिस को रामसनेही। जग जपु राम राम जपु जेही॥

सारा संसार श्रीरामकी भक्ति करता है, परन्तु श्रीराम स्वयं श्रीभरतको भजते हैं; क्यों न भजें? उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया है कि—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।
(गीता ९। २९)

तथा—

'आये शरण तजौं न, भजौं तेहि यह जानत ऋषिराव'
(गीतावली)

'भक्तवर भरतहि भजे'
(विनयपत्रिका)

अतः यहाँ श्रीराम-प्रेमका अभिप्राय स्वयं श्रीरामजीके ही प्रेमी बन जानेके अर्थका द्योतन करता है, क्योंकि रामजीमें जो भरतका प्रेम है उसका उल्लेख तो 'पूरण राम सुप्रेम पियूषा' इस पदमें पहले ही हो चुका है, अर्थात् भरतकी श्रीराममें जो भक्ति है, वह चन्द्रमें पियूष (अमृत) रूप है, और रामजीका स्नेह जो भरतमें है, वह चन्द्रमें मृगरूप है।

भरद्वाजमुनि उत्तरोत्तर श्रेष्ठताको दिखलाते हुए श्रीभरतजीके ऐश्वर्यका वर्णन करते हैं— राजा भगीरथने भगवान्‌के चरणोदक गङ्गाजीको लाकर जगत्‌का कल्याण किया, श्रीदशरथजीने अपने प्रेमसे स्वयं भगवान्‌को जगत्‌में प्रकट किया और हे भरतजी! आपने तो अपना यश-चन्द्र ऐसा प्रकट किया कि श्रीरामजीने प्रेमी बनकर (स्वयं आपका स्मरणकर आपका गुणानुवाद करने लगे, स्वयं) अपने स्नेहरूपी मृगको उसमें बसा दिया। हे भरतजी! आप तो इसप्रकारके पुण्यश्लोक हैं, तथापि—

तात गलानि करहु जिय जाये। डरहु दरिद्रहि पारस पाये॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे तात! आप व्यर्थ ग्लानि करते हैं, एवं पारस पाकर भी दरिद्रसे डरते हैं; तात्पर्य यह कि एक धनवान् पुरुष भी दरिद्रसे नहीं डरता, फिर पारस पाकर तो दरिद्रसे क्या डरना? यहाँ दरिद्रसे अभिप्राय सांसारिक द्वन्द्व, संसृति, क्लेश आदि हैं, जिनसे हानि, ग्लानि, अपमान, अकीर्ति आदि लौकिक दुःख तथा दुर्गतितकका भय हुआ करता है और यह प्रभुकी प्रतिकूलतासे प्राप्त होते हैं परन्तु इनसे श्रीरामभक्तिरूप धनके धनवान् तनिक भी भय नहीं करते। तात्पर्य यह कि भगवत्अनुरागरूपी धन रहनेसे उपर्युक्त अनिष्ट-रूपी दरिद्रसे जीव निर्भय हो जाता है; फिर जहाँ स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने ही अनुरागी बन पारस-सुयोग प्रदान कर दिया है, वहाँ भय करना कहाँतक योग्य है? श्रीरामका प्रेम धनका प्राप्त होना है, एवं स्वयं श्रीरामका प्रेमी बन जाना पारसकी प्राप्ति है।

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥

हे भरतजी! सुनिये, हम झूठ नहीं बोलते हैं, क्योंकि एक तो हम 'उदासीन' रहते हैं, अर्थात् शत्रु-मित्र नहीं रखते हैं, (बहुधा राग-द्वेषके ही कारण मित्रोंके हितार्थ तथा शत्रुओंके पराजयार्थ झूठकी आवश्यकता पड़ती है।) इसलिये हमें राग-द्वेषहीन होनेके कारण झूठ बोलनेका योग नहीं पड़ता। दूसरे हम 'तापस' हैं, अर्थात् जो आ पड़ता है उसे सह लेते हैं, सहनशक्ति रखते हैं, अतः झूठ नहीं बोलते। तीसरे हम वनमें रहते हैं, अर्थात् किसीके वशमें नहीं हैं, जिससे भयभीत हो हमें झूठ बोलना पड़े। अतः हम सच कहते हैं कि—

सब साधनकर सुफल सुहावा। राम लखन सिय दरसन पावा॥
तेहि फलकर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग्य हमारा॥

अर्थात् आजतक जो कुछ साधन हमसे हो सका था, उसका अत्यन्त ही सुन्दर फल तो यह हुआ कि लक्ष्मण और सीताके साथ श्री-रामचन्द्रजीका दर्शन प्राप्त हुआ और उस दर्शनरूप सुकृतका फल यह हुआ कि आपका दर्शन मिला, जिससे हम आज सारे प्रयागके साथ बड़ भाग्य-शाली हो रहे हैं। यहाँ 'सुफल सुहावा' से फलकी सीमाका बोध होता है, जैसा कि श्रीरामचन्द्रजीके मिलनके अवसरपर भरद्वाजजी स्पष्ट कह चुके हैं—

लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुमरे दरश आस सब पूजी॥

वस्तुतः बात भी ऐसी ही है, क्योंकि लाभ तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-भेदसे चार ही प्रकारका है और इनमें मोक्षमें जाकर सुख और लाभकी सीमा हो जाती है, एवं श्रीरामचन्द्रजी मोक्षस्वरूप हैं ही—'रामब्रह्म परमारथरुपा' अतः श्रीराम-दर्शनसे भरद्वाजजीको अन्तिम सुन्दर फलकी प्राप्ति हो ही गयी थी, अब उससे भी बढ़कर, फला-तीत, सुखातीत, लाभातीत पदार्थका साक्षात्कार हुआ। वह कौन-सा पदार्थ है जो मुक्तिसे भी परे है? वह है भगवद्भक्ति, अर्थात् श्रीराम-प्रेम और उस श्रीराम-प्रेमकी मूर्ति हैं श्रीभरतजी—

भरतहिं कहहिं सराहि सराही। रामप्रेम मूरति जनु आही॥
तुम तो भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु रामसनेहू॥

अर्थात् सरकार श्रीरामचन्द्रजी मोक्षके स्वरूप प्राप्त हुए थे और आप उनके प्रेमकी मूर्ति साक्षात् भक्तिके स्वरूपमें मिले हैं, अतः निश्चय ही 'तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा' प्राप्त हुआ है और यह फल उस 'सुहावा सुफल' श्रीरामदर्शनसे भी बढ़कर है, अद्भुत है; क्योंकि इस फलकी उत्पत्ति 'फल' से हुई है, वृक्ष-लतादिसे नहीं, अतएव विलक्षण फलकी प्राप्ति हुई है। इस विषयमें कहा भी है कि—

संयम नियम फूल फल ज्ञाना। हरि पद रति 'रस' वेद बखाना॥

और वह भक्ति तन धारण कर प्राप्त हुई, अतः हम धन्य हैं!

भरत धन्य तुम जग यस जयऊ। कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ॥
सुनि मुनि बचन सभासद हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे॥
धन्य धन्य धुनि गगन प्रयागा। सुनि सुनि भरत मगन अनुरागा॥

हे भरतजी! आप धन्य हैं, जगत्भरके यशपर आपने विजय प्राप्त कर लिया, अर्थात् आपका यश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसारमें सबसे बढ़ गया। ऐसा कहकर भरद्वाजजी प्रेममें मग्न हो गये। मुनिकी बात सुनकर समस्त सभासद् हर्षित हो उठे और सुरगण श्रीभरतकी सराहना करते हुए सुमन-वृष्टि करने लगे। देवताओंकी धन्य-धन्य ध्वनिसे आकाश और सभासदोंके धन्यवादसे प्रयाग गूँज उठा एवं उसे सुनकर भरतजी रामप्रेममें मग्न होने लगे।

भगवद्भक्तोंकी यह रहनि है कि उनको चाहे कितनी भी प्रशंसा या प्रतिष्ठा प्राप्त हो, अहंकारका लेश भी उनमें नहीं उत्पन्न होता, बल्कि अधिकाधिक दैन्यभावका उदय होता जाता है। यहाँ भरतजी मनमें अपनेको 'मैं शठ सदा सदोष' समझ रहे हैं और फिर उनकी ऐसी प्रशंसा हो रही है। इसको करुणामय प्रभुकी दयारूप जानकर वह मन-ही-मन श्रीरामानुरागमें मग्न हो रहे हैं, वह लोकैषणासे अत्यन्त निर्लिप्त होकर मन, वचन, कर्मसे केवल राममें अनुरक्त हो रहे हैं—

पुलकगात हिय राम सिय सजल सरोरुह नयन।
करि प्रणाम मुनि मण्डलहिं बोले गद्गद बयन॥

श्रीभरतजीका 'हिय' राम-सियमें लगा है, इससे 'मन' पुलकगात सजल सरोरुह नयनसे 'तन' और बोले गद्गद बयनसे 'वचन'—यह तीनों श्रीराम प्रेममें शिथिल हो रहे हैं। श्रीभरत-यश-चन्द्रको धन्य है!

सन्तोष

(लेखिका—श्रीमती शिवशीला देवी भारद्वाज)

हर एक मनुष्यको अपने भाग्यपर, धनपर और ईश्वरके दिये हर-एक पदार्थपर जोकि उसके पास मौजूद हों, राग, द्वेष, ईर्ष्या, अभिमानको परित्याग कर उन्हीं वस्तुओंपर हृदयमें धैर्यके साथ सन्तोष रखना चाहिये। ईर्ष्या-द्वेष रखनेवाला मनुष्य और किसीका कुछ नहीं बिगाड़ता, केवल अपनी ही हर प्रकारसे हानि करता है। हर समय उसका हृदय व्याकुल रहता है। मुख मलिन तथा चिन्ताग्रस्त रहता है। शरीर दुबला-पतला और बलहीन हो जाता है। दिमाग़ कमज़ोर हो जाता है। सोचने-विचारनेकी शक्ति कम हो जाती है। दूसरोंकी हानिके उपाय सोचते-सोचते उसके हृदयको कभी शान्ति नहीं मिलती। हृदयकी व्याकुलताके कारण वह किसी बातका निश्चय नहीं कर सकता। हृदयकी व्याकुलता ही सब दुःखोंमें बड़ा दुःख है। इसीसे वह मनुष्य सर्वदा दुखी रहता है। उसको कभी चैन नहीं पड़ता। पर जो मनुष्य सन्तोषी है, जिसका हृदय शान्त है, वह हर समय सुखी है। सुखका मार्ग ही सन्तोष है। सन्तोषी मनुष्यको जो कुछ प्राप्त होता है, वह उसीमें प्रसन्न रहता है। न अधिक पानेकी उसे इच्छा ही होती है और न थोड़ा मिलनेपर वह दुखी होता है। सन्तोषी मनुष्यको किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं घेरती। चिन्ता ही सब दुःखोंका मूल है। जिसे चिन्ता नहीं, वही सच्चा सुखी है। मनुष्य-मात्रके लिये सन्तोष ही सर्वोत्तम वस्तु है। इसकी बराबरी करनेवाला कोई भी सांसारिक नियम नहीं है। सन्तोष एक ऐसा नियम है, जिसका अभ्यास करनेसे मनुष्य स्वयं ही सुखी रहता है। ऐसा मनुष्य विपत्तिके समय कठिन-से-कठिन दुःख भी धैर्यके साथ सह लेता है। दुःखसे शीघ्र ही विचलित नहीं हो जाता। एक छोटी-सी मसल मशहूर है। 'सन्तोषी सदा सुखी'। सन्तोषका फल सदा भला ही रहता है। जो मनुष्य विपत्तिके समय सन्तोषसे काम लेता है, ईश्वर उसपर सदा प्रसन्न रहता है। उसके लिये सुखके दिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

110346

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आनेमें अधिक देरी नहीं होती। देखिये, विपत्तिके समय राजा नलने कितने दुःख सहे, नीच-से-नीच काम किये, वनोंमें भूख-प्याससे व्याकुल होकर अनेक दुःख उठाये। स्वयं राजा होते हुए भी दूसरोंकी सेवा की। इतने भारी दुःख सहनेपर भी उन्होंने कभी सन्तोषका परित्याग नहीं किया। श्रीभगवान्‌की कृपासे वह दिन शीघ्र आया कि वह सकुशल अपने कुटुम्बसहित अपने राज्यको लौट आये, और जूएमें हारे हुए राज्यको फिरसे प्राप्त किया। ऐसी ही अनेकों उपमाएँ हैं किन्तु हमें कागज रँगना नहीं है। हमें तो केवल पाठकोंको यही दिखाना है कि संसारमें सन्तोष कैसी उत्तम वस्तु है। असन्तोषी राजाको भी सुख नहीं है। धनसे सुख नहीं मिलता, सन्तानसे किसीको वास्तविक सुख नहीं मिलता, सुख केवल सन्तोषमें है। देखिये, एक संन्यासीके पास न तो धन है और न सन्तान है, न सुख देनेवाली प्रिय पत्नी ही है। सुख देनेवाला कोई भी तो पदार्थ नहीं है। फिर उसके पास क्या है? केवल एक सन्तोष, उसीके द्वारा वह सर्वदा सुखी रहता है। उसको किसी प्रकारका दुःख नहीं होता है। इन सब बातोंसे यही तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्तिको सन्तोष करनेका अभ्यास करना चाहिये। जितना सन्तोष किया जाता है, उतना ही उसकी आत्माको शान्ति मिलती है और आत्माकी शान्तिमें ही सुख है। मनुष्य जितना असन्तोषी रहता है, वह उतना ही दुःख पाता है।

सन्त-वाणी

मगन रहे नित भजनमें, चलत न चाल कुचाल।
नारायण ते जानिये, लालनके ही लाल ॥ १ ॥

विद्यावन्त स्वरूप गुण, सुत दारा सुख भोग।
नारायण हरि भक्ति बिन, यह सबही है रोग ॥ २ ॥

चार दिननकी चाँदनी, यह सम्पति संसार।
नारायण हरि भजन कर, जासों होय उबार ॥ ३ ॥

नारायण सत्संग कर, सीख भजनकी रीत।
काम क्रोध मद लोभमें, गई आयु सब बीत ॥ ४ ॥

नारायण जब अन्तमें, यम पकरेंगे बाहिं।
तिनसों भी कहियो हमें, अबही फुरसत नाहिं ॥ ५ ॥

बाँट खाय हरिको भजे, तजै सकल अभिमान।
नारायण ता पुरुषको, उभय लोक कल्यान ॥ ६ ॥

बहुत गई थोड़ी रही, नारायण अब चेत।
काल चिरैया चुग रही, निशि-दिन आयु खेत ॥ ७ ॥

तेरे भावें कुछ करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठके, अपनो भवन बुहार ॥ ८ ॥

सन्त सभा झाकी नहीं, कियो न हरि-गुण गान।
नारायण फिर कौन विधि, तू चाहत कल्यान ॥ ९ ॥

विद्या पढ़ करतो फिरै, औरनको अपमान।
नारायण विद्या नहीं, ताहि अविद्या जान ॥ १० ॥

कथनी कथ कते गये, कर्म उपासन ज्ञान।
नारायण चारों युगन, करनी है परमान ॥ ११ ॥

नारायण सुख भोगमें, मस्त सभी संसार।
कोउ मस्त वा मौजमें, देखो आँख पसार ॥ १२ ॥

तनक मान मनमें नहीं, सबसों राखत प्यार।
नारायण ता सन्त पै, बार बार बलिहार ॥ १३ ॥

अति कृपालु सन्तोष वृति, युगलचरणमें प्रीत।
नारायण ते सन्तवर, कोमल वचन विनीत ॥ १४ ॥

चित्र-परिचय

निरीह पक्षीको बाण मारकर घातकने उसे नीचे गिरा दिया, दयालु-हृदय भगवान् बुद्धने दौड़कर उसे उठाया और वे अपने कोमल हाथ उसके शरीरपर फिराने लगे। घातकने कहा, 'तुमने मेरा शिकार क्यों ले लिया?' बुद्धने कहा, 'भाई, तुझे वनके एक निरीह पक्षीको बाण मारकर गिरानेका अधिकार है तो क्या मुझे उसे उठाकर पुचकारनेका भी अधिकार नहीं है?' यही भाव चित्रमें दिखाया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

गुरुकुल कांगड़ी

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1192
27/12/85

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri